कल्याण
सर्वात्मदर्शन
अहिंसा
सत्य
अस्तेय
ब्रह्मचर्य
शौर्य
कर्तव्य पालन
भक्ति
प्रेम
समता
हिन्दू संस्कृति अंक

वर्ष २४] [संख्या १

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश, जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। गौरी-शंकर सीता-राम॥
जय रघुनन्दन जय सिया-राम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीता-राम॥

मुखपृष्ठके चित्रमें हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

ध्यान धरे प्रणव-स्वरूप ज्योति ब्रह्मका जो 'स्वस्तिक' सुखद शिवरूप वह पाता है।
उर बीच सत्य आदि षोडश कमल-दल होते हैं प्रबुद्ध, चित्त शुद्ध बन जाता है॥
'भक्ति', 'प्रेम', 'समता' विराजती तभी हैं वहाँ, 'सर्व-आत्मदर्शन' अनावृत सुहाता है।
'भगवद्-धाम' में विराम है परम गति हिंदू-संस्कृतिका भव्य रूप यह साता है॥

'राम-चक्र'

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

इस अङ्कका मूल्य ६॥) विदेशमें ९) (१२½ शिलिङ्ग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

रामराज्य
अरण्य संस्कृति
जौहर
वैराग्य
बलिदान
हिन्दू संस्कृति अंक

श्रीहरिः

कल्याण-प्रेमियों तथा ग्राहकोंसे निवेदन

१—इस 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'में चित्रोंसमेत सब मिलाकर १०४६ पृष्ठ दिये गये हैं। 'उपनिषद्-अङ्क'में सब मिलाकर ८३० पृष्ठ थे, इस अङ्कमें पिछले अङ्कसे २१६ पृष्ठ अधिक हैं। कई बड़े सुन्दर सादे चित्र भी इसमें हैं।

२—जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ गये होंगे, उनके अङ्क जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी. पी. भेजी जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका एक कार्ड तुरंत डाल दें ताकि वी. पी. भेजकर 'कल्याण' को व्यर्थका नुकसान न उठाना पड़े। उनके तीन पैसेके खर्चसे 'कल्याण' के कई आने बच जायँगे। आशा है पुराने सम्बन्धके नाते वे इतना त्याग अवश्य स्वीकार करेंगे।

३—इस विशेषाङ्कका अलग मूल्य ६।।) है। जिन महानुभावोंको वितरणादिके लिये जितने अङ्क अलगसे मँगवाने हों, उनके लिये शीघ्र आर्डर देनेकी कृपा करें।

४—आजकल नये-नये उपद्रव तथा अशान्तिके कारण बन रहे हैं। इसलिये यदि किसी कारणवश आगेके अङ्क पूरे वर्षतक न भेजे जा सकें तो जितने अङ्क पहुँचें, उतनेमें ही मूल्य पूरा समझनेकी कृपा करें।

५—मनीआर्डर-कूपनमें अपना पता और ग्राहक-नंबर जरूर लिखें। ग्राहक-नंबर याद न हो तो कम-से-कम 'पुराना ग्राहक' अवश्य लिख दें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें।

६—ग्राहक-नंबर न लिखनेसे आपका नाम 'नये ग्राहकों'में दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' नये नंबरोंसे पहुँच जायगा और पुराने नंबरकी वी. पी. दुबारा जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उनके हमारे पास पहुँचनेके पहले ही आपके नाम वी. पी. चली जाय। दोनों ही सूरतोंमें आपसे यह प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी. पी. लौटायें नहीं, चेष्टा करके कृपया नया ग्राहक बनाकर उनके नाम-पते साफ-साफ हमें लिखनेकी कृपा करें। आप ऐसा करेंगे तो आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण' के प्रचारमें सहायता करके पुण्यके भागी बनें। अगर नया ग्राहक न मिले तो वी. पी. नहीं छुड़ानी चाहिये।

७—'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड पोस्टसे जायगा। सब अङ्कोंके जानेमें लगभग दो महीने लग जाते हैं; क्योंकि पोस्ट-आफिसवाले प्रतिदिन अधिक संख्यामें रजिस्टर्ड पैकेट नहीं ले पाते। इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें विशेषाङ्क नंबरवार जायगा। परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

८—जिन कल्याण-प्रेमी महानुभावोंने 'कल्याण' के नये ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। इस बार कल्याण-प्रेमी सज्जनोंको 'कल्याण' के नये ग्राहक बनानेकी फिर सफल चेष्टा करनी चाहिये। धर्मपर इस समय बड़ी विपत्ति आयी हुई है। ऐसे समयमें शुद्ध धर्म-सेवा समझकर 'कल्याण' का प्रचार बढ़ानेमें सभीको सहायक होना चाहिये।

९—गीताप्रेस पोस्ट-आफिस अब 'डिलेवरी आफिस' हो गया है। अतः 'कल्याण' व्यवस्था-विभाग तथा सम्पादन-विभाग और 'गीताप्रेस' तथा 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति'के नाम भेजे

जानेवाले सभी पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, बीमा आदिपर केवल 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) इस प्रकार लिखना चाहिये ।

१०–सजिल्द विशेषाङ्क वी. पी. द्वारा नहीं भेजे जायँगे । सजिल्द अङ्क चाहनेवाले ग्राहक ६।) जिल्दचार्जसहित ८।।।) मनीआर्डरद्वारा भेजनेकी कृपा करें ।

११–आपके विशेषाङ्कके लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नंबर और पता लिखा गया है, उसे खूब सावधानीपूर्वक नोट कर लें । रजिस्ट्री या वी. पी. नंबर भी नोट कर लेना चाहिये ।

१२–डाक-विभागके नियमानुसार रजिस्ट्री तथा मनीआर्डर यथास्थान न पहुँचनेकी शिकायत ६ मासके भीतर ही होनी चाहिये, अन्यथा वे शिकायतपर विचार नहीं करते । अतः रुपया भेजनेके बाद यदि दो मासके भीतर आपको पोस्ट-आफिससे कार्यालयकी सहीयुक्त वापसी रसीद न मिले तो अपने पोस्ट-आफिसमें तुरंत शिकायत कर देनी चाहिये । रुपया भेजनेकी रसीद मिलनेके बाद २ मासके भीतर आपको 'कल्याण'की रजिस्ट्री न मिले तो कार्यालयको सूचना देनी चाहिये ।

१३–विशेषाङ्क तो रजिस्टर्ड होनेसे पहुँच ही जाता है । शेष अङ्क साधारण डाकसे जानेके कारण कभी-कभी रास्तेमें खो जाते हैं । कार्यालयसे अङ्क बहुत सावधानीके साथ भेजे जाते हैं । गड़बड़ी पोस्ट-आफिसमें ही होनेकी सम्भावना है । अतः दो मासके भीतर अगला अङ्क प्राप्त न हो तो पोस्ट-आफिसमें कड़ी शिकायत लिखनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये । कुछ लोग चार-चार, पाँच-पाँच अङ्कोंकी शिकायत एक साथ लिखते हैं, पर देरी होनेसे न तो पोस्ट-आफिसपर शिकायतोंका प्रभाव पड़ता है और न खोये हुए अङ्क उनको मिल पाते हैं । अतः इस विषयमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये । जिनके अङ्क बराबर गुम होते रहें, वे अपने डिवीजनके 'सुपरिंटेंडेंट ऑफ पोस्ट आफिसेज' को शिकायत लिखनेकी कृपा करें । यदि हर महीने रजिस्ट्रीसे अङ्क मँगाना चाहें तो ।) प्रति अङ्क रजिस्ट्री-खर्च अतिरिक्त भेजना चाहिये ।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

कल्याणके पुराने प्राप्य विशेषाङ्क और साधारण अङ्क

वर्ष १५वाँ–साधारण अङ्क ३, ४ दो अङ्क एक साथ, मूल्य ॥)

वर्ष १८वाँ–साधारण अङ्क ६ ठा, मूल्य ।) प्रति ।

वर्ष १९वाँ–संक्षिप्त पद्मपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या ९७८, रंगीन चित्र २१, लाइन-चित्र २४१, मूल्य ४≡)

वर्ष २०वाँ–साधारण अङ्क ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ११, १२ नौ अङ्क एक साथ, मूल्य २।)

पुराने वर्षोंके साधारण अङ्क आधे मूल्यमें—

२१ वें वर्षके साधारण अङ्क २, ३, ४, ५, ९, १०, ११, १२ कुल आठ अङ्क एक साथ, मूल्य १।), रजिस्ट्रीखर्च ।) कुल १॥)

२२ वें वर्षके साधारण अङ्क २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ कुल दस अङ्क एक साथ, मूल्य १॥-), रजिस्ट्रीखर्च ।) कुल १॥।-)

उपर्युक्त दोनों वर्षोंके कुल १८ अङ्क एक साथ रजिस्ट्रीखर्चसहित मूल्य ३-)

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

हिंदू-संस्कृति-अङ्ककी विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

कुछ प्राचीन आदर्श परोपकारी भक्त राजा और सत्पुरुष (सु०) - ८२१–८३३

कुछ आदर्श हिंदू-देवियाँ (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न) ८३४–८४२

कुछ आचार्य, महात्मा और भक्त (सु०) ८४३–८६१

कविता

संगृहीत

चित्र-सूची

हिंदू-संस्कृतिमें ऋषि-आश्रम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर माघ २००६, जनवरी १९५० { संख्या १ पूर्ण संख्या २७८

प्रार्थना

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥
(श्रीमद्भागवत १० । १० । ३८)

भगवन् ! मेरी वाणी आपके गुण-कीर्तनमें लगी रहे । मेरे कान आपकी लीलाकथा सुननेमें संलग्न रहें । मेरे हाथ आपकी सेवाके कार्यमें और मन आपके चरणोंके चिन्तनमें तत्पर रहे । मेरा मस्तक आपके निवासभूत जगत्को नमस्कार करनेके लिये झुका रहे और मेरी आँखें आपके स्वरूपभूत संतजनोंके दर्शनमें निरत रहें ।

वैदिक राष्ट्र-गीत

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् ।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् ।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ।
योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

(यजु० सं० २२ । २२)

(अनुवाद)

भारतवर्ष हमारा प्यारा, अखिल विश्वसे न्यारा;
सब साधनसे रहे समुन्नत, भगवन् ! देश हमारा ।
हो ब्राह्मण विद्वान् राष्ट्रमें ब्रह्मतेज-व्रत-धारी,
महारथी हो शूर धनुर्धर क्षत्रिय लक्ष्य-प्रहारी ।
गौएँ भी अति मधुर दुग्धकी रहें बहाती धारा ॥
सब···· ॥ १ ॥

भारतमें बलवान वृषभ हों, बोझ उठायें भारी;
अश्व आशुगामी हों, दुर्गम पथमें विचरणकारी ।
जिनकी गति अवलोक लजाकर हो समीर भी हारा ॥
सब··· ॥ २ ॥

महिलाएँ हों सती सुन्दरी सद्गुणवती सयानी,
रथारूढ भारत-वीरोंकी करें विजय-अगवानी ।
जिनकी गुण-गाथासे गुंजित दिग्-दिगन्त हो सारा ॥
सब···· ॥ ३ ॥

यज्ञ-निरत भारतके सुत हों, शूर सुकृत-अवतारी,
युवक यहाँके सभ्य सुशिक्षित सौम्य सरल सुविचारी,
जो होंगे इस धन्य राष्ट्रका भावी सुदृढ़ सहारा ॥
सब···· ॥ ४ ॥

समय-समयपर आवश्यकतावश रस घन बरसायें,
अन्नौषधमें लगें प्रचुर फल और स्वयं पक जायें ।
योग हमारा, क्षेम हमारा स्वतः सिद्ध हो सारा ॥
सब···· ॥ ५ ॥

—'राम'

वैदिक सूक्त

(भाषान्तरकर्ता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

नासदीय सूक्त

(ऋग्वेद १० । १२९ । १–७)

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः
किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ १ ॥

'असत्' नहीं उस प्रलयकालमें, 'सत्' भी नहीं रहा कारण;
हुआ भूमि-पाताल प्रभृति भुवनोंकी सत्ताका वारण।
अन्तरिक्ष भी नहीं, नहीं वे स्वर्ग आदि रह गये प्रदेश;
क्या आवरण, कहाँ, किसके हित, गहन गभीर नीर था शेष ॥१॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥ २ ॥

मृत्यु नहीं थी, नहीं अमरता, रात-दिवसका ज्ञान नहीं;
था चेतन, बस, एक ब्रह्म ही, हैं जिसके मन-प्रान नहीं।
था मायाके साथ विराजित ब्रह्ममात्र ही सत्तावान्
विद्यमान थी वस्तु यहाँपर उससे भिन्न न कोई आन ॥२॥

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे-
ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ ३ ॥

आवृत हो अज्ञान-तिमिरसे पहले यह सब था तमरूप,
दुग्धराशिमें मिलित सलिल-सा अखिल विश्व अज्ञात अरूप।
तुच्छ अविद्यासे छादित जो तमसे एकीभूत हुआ,
वही विश्व विभुके तपकी महिमासे फिर उद्भूत हुआ ॥३॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥

हुआ सृष्टि-रचनाके पहले ईश्वरके मनमें संकल्प,
क्योंकि पुरातन कर्मराशि थी बीजरूपमें उदित अनल्प।
ज्ञानी पुरुषोंने मेधासे निज उरमें जब किया विचार,
'सत्' के साधनभूत कर्मका हुआ 'असत्'में साक्षात्कार ॥४॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषा-
मधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥

तना सृष्टिका सूर्यरश्मि-सा सहसा ही सब ओर वितान,
पहले मध्यलोकमें, ऊपर या नीचे—कुछ हुआ न भान।
कर्मोंके कर्ता-भोक्ता थे अगणित जीव हुए उत्पन्न,
भोग्य-स्थान महान् भूत भी, भोक्ता उच्च, अधम है अन्न[3] ॥५॥

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा
को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥

किस निमित्त, किस उपादानसे हुई प्रकट नानाविध सृष्टि—
कौन जानता, कौन बताये, किसकी वहाँ पहुँचती दृष्टि।
पैदा हुए देवगण भी तो भूत-सर्गके ही पश्चात्;
फिर किससे सब सृष्टि हुई है, यह रहस्य किसको है ज्ञात ॥६॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो
अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥

जिस विभुसे इस विविध सृष्टिका हुआ प्रकट अतिशय विस्तार,
वही इसे धारण करता है, रखता या कि बिना आधार।
जो इस जगका परम अधीश्वर रहता परम [4]व्योममय देश,
वही जानता या न जानता; नहीं अन्यका यहाँ प्रवेश ॥७॥

---

१. जगत्। २. अव्याकृत कारण। ३. भोग्यप्रपञ्च। ४. 'परम व्योम' नामसे प्रसिद्ध परम धाम।

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं
यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता
भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥१२॥

जो मध्य भाग, जो नाभिदेश हैं तेरे,
तुझसे प्रकटित जो पोषक तत्त्व घनेरे,
रख वहीं, उन्हींमें मुझे, मोद उर भर दे;
निज पुत्र अपावनको अतिपावन कर दे ।
हम सुत वसुधाके, वह हम सबकी माता;
जीवन-दाता पर्जन्य पिता, हो त्राता ॥ १२ ॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां
यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्या-
मूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥१३॥

जिस भूतलपर विद्वान बनाते वेदी,
जिसमें करते मख अखिल-कर्मविधि-वेदी,
आहुतिके पहले जहाँ बनाये जाते
ऊँचे, चमकीले यज्ञ-स्तम्भ सुहाते—
वह भूमि अन्नसे, वैभवसे बढ़ जाये,
हम सबको भी नित उन्नतिशील बनाये*॥ १३ ॥

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद्
योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

मा वसुधे ! जो लोग जगत्‌में रखते हमलोगोंसे द्वेष,
जो चढ़ आते सैन्य साजकर देनेके हित हमको क्लेश,
जो मनसे भी अहित चाहते, वध करनेको हैं तैयार—
रिपु-संहारिणि ! पहले ही तू कर दे उन सबका संहार ॥

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं
बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥१५॥

तुझसे हो उत्पन्न मर्त्यगण तुझपर ही कर रहे विहार;
द्विपद-चतुष्पद सब जीवोंकी केवल तू है पालनहार ।
भूदेवी ! ये मनुज पञ्चविध तेरे ही हैं तनुज-उदार¹
जिनके हित रवि उदित रश्मियोंसे करता है अमृत-प्रसार ॥

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

वे दिनमणिकी स्वर्ण-रश्मियाँ दें हमको सुन्दर संतान;
और ज्ञान दें सब वाङ्मयका; मेदिनि तू ! कर मधुका दान ॥

विश्वस्वं मातरमोषधीनां
ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥ १७ ॥

जिसे प्राप्तकर जग होता है बहुविध वैभवसे सम्पन्न,
व्रीहि-यवादिक ओषधियोंको जो करती रहती उत्पन्न—
भूदेवी वह अचल, धर्म ही है जिसका दृढतर आधार—
उसी शिवा सुखदा भूपर हम करें सदा सब ओर विहार ॥

महत् सधस्थं महती बभूविथ
महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे ।
महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् ।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव ।
संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥

तू महती, तू अखिल विश्वका, वसुधे ! महानिवास-स्थान;
वेग-प्रगति, हलचल-कम्पन हैं तेरे अद्भुत और महान ।
मातृभूमि ! तेरी रक्षामें सावधान रहते भगवान,
ऐसी महिमामयी जननि ! तू कर अपनी करुणाका दान ।
हमें बना प्रिय, रुचिर स्वर्ण-सम, सबके नयनोंमें छविमान;
कोई द्वेष न माने हमसे, हमको परम सुहृद निज जान ॥

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो
बिभ्रत्यग्निरश्मसु ।
अग्निरन्तः पुरुषेषु
गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥

भूतलमें सब ओर अनल है, ओषधियोंमें व्यापक अग्नि;
जल धारण करता बडवानल, पत्थरमें भी पावक अग्नि ।
पुरुष-देहके अभ्यन्तर भी जठरानलका नित्य-निवास,
गायों-घोड़ोंके भीतर भी अग्निदेव करते हैं वास ॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्ने-
र्देवस्योर्वन्तरिक्षम् ।
अग्निं मर्तास इन्धते
हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥

---

* यहाँसे आगे अनुवादका छन्द बदल गया है ।

१. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद (अन्त्यज) ये पाँच प्रकारके मानव हैं ।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥४२॥

पैदा होते जिस वसुधापर धान और जौ आदिक अन्न,
जिस वसुधासे हुए सभी ये पञ्चवर्ण[1] मानव उत्पन्न,
वर्षा ही मेदा है जिसका, जिससे पड़ा मेदिनी नाम—
उस पर्जन्य-पालिता पृथ्वीको है मेरा नित्य प्रणाम ॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भा-
माशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥४३॥

जिस पृथ्वीपर देवविनिर्मित शोभित नगर और पुर-ग्राम,
जिसके विपुल क्षेत्रमें क्रमशः होते विकृत देह-धन-धाम,
धारण करती सदा गर्भमें जो वसुधा यह विश्व अशेष—
उसकी दिशा-दिशा शुभ-सुन्दर करे हमारे लिये प्रजेश ॥

निधिं बिभ्रति बहुधा गुहा वसु
मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना
देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥

धरती, जो धरती निज उरमें गूढ़ विविध रत्नोंकी खान,
धन-वैभव, मणि-रत्न, स्वर्ण वह हमको संतत करे प्रदान।
वसुधा वह धन-रत्न-दायिनी देवी वरदायिनी प्रसन्न
होकर हमें अमित वैभव दे, जिससे हो हम सुख-सम्पन्न ॥

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

नानाविध धर्मोंके पालक, बहुविध भाषाके विद्वान,
जन-साधारणको धारण करती जो देकर वासस्थान,
धरणी वह अति शान्त-अचञ्चल रुचिर धेनु-सी हो साकार
सदा हमारे लिये बरसती धनकी रहे सहस्रों धार ॥

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा
हेमन्तजब्धो भृमलो गुहाशये।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि
तन्नः सर्पन्मोप सृपद् यच्छिवं तेन नो मृड ॥४६॥

तव ऊपर जो अहि-वृश्चिक,जिनके दंशनसे जगती प्यास,
हिम-पीडित हेमन्त-समय जो गूढ़ गुहामें करते वास,
जो विषधर कृमि पावसमें, भूदेवि ! विचरते तेरी गोद,
निकट न आयें; जो शिव हो, कर हमें उन्हींसे सुखी-समोद ॥

ये ते पन्थानो बहवो जनायना
रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं
जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥

मा ! जिनपर मानव चलते हैं, वे तेरे जो अध्व अनेक,
रथके और शकटके पथ जो,जिनपर चले बुरे औ नेक,
जीतें हम उस पुण्यपंथको, जहाँ शत्रु या चोर नहीं;
मङ्गलमय जो मार्ग, उसीमें सुखी हमें कर, मातृ-मही ! ॥

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्र-
पापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना
सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥४८॥

नीच-ऊँच, लघु-गुरु पदार्थको जो धारण करती धरती,
पुण्यात्मा-पापी जनके भी शवका भार सहन करती,
खोज रहे थे महासिन्धुमें जिसको श्रीभगवान वराह—
मृग-सूकर-तनुधारी हरिको मिली भूमि वह सहित उछाह ॥

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने
हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित
ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥४९॥

जो तेरे,भूदेवि ! वन्य पशु—हरिण-व्याघ्र,हिंसक मृगराज,
नर-भक्षी बहु जन्तु विपिनमें विचरण करते-फिरते आज,
चीता और भेड़िया, भालू-राक्षस आदि जीव जो क्रूर—
उन सबको पीडा देकर, हे जननि ! भगा दे हमसे दूर ॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥५०॥

जो गन्धर्व-अप्सराएँ, जो दान-विघातक दानव क्रूर,
राक्षस-भूत-पिशाच—सभीको, भूमि ! हटा दे हमसे दूर ॥

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति
हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि
कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥५१॥

जिसपर दो पगवाले पंछी—हंस-गरुड़ भर रहे उड़ान,
जिसपर धूल उड़ाती आँधी और गिराती वृक्ष महान—
जब समीपसे वसुधातलपर प्रखर समीरण है चलता,
लपटोंसे अनुसरण उसीका करता हुआ अनल जलता ॥

1. चार वर्ण और निषाद।

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते
अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो
दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि ॥५२॥

जिस वसुन्धरापर जब होता परम मनोरम प्रातःकाल,
मिलता श्यामरंग रजनीके संग दिवस दूलह-सा लाल—
वर्षाकी शत-शत धारासे आवृत हो वह भूमि महान
हम सबको प्रिय धाम-धाममें भद्र भावनासे दे स्थान ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥५३॥

स्वर्ग, भूमि औ अन्तरिक्षने दिया हमें विस्तृत मैदान ।
अनल, सूर्य, जल, विश्वेदेवोंने है की सद्बुद्धि प्रदान ॥

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥

रिपुका वेग रोकनेवाला मैं भूपर वर वीर उदार ।
संमुख लड़, सबपर विजयी हो दिशि-दिशि करूँ शत्रु-संहार ॥

अदो यद् देवि प्रथमाना
पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानी-
मकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

देवि ! प्रथम जब फैली थीं तुम देववृन्दका कहना मान,
अद्भुत था वह—लघु कायाको क्षणभरमें कर लिया महान ।
उसी समय सुन्दर भूतोंने अङ्क तुम्हारे किया प्रवेश,
चार दिशाओंके विभागका किया तुम्हींने तब निर्देश ॥

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥

भूतलपर जो ग्राम, गहन वन, जनपद-सभा, समाजस्थान,
मेले या संग्राम—वहाँ हम करते तेरे गुणका गान ॥

अश्व इव रजो दुधुवे वि ताञ्जनान्
य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत ।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा
वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥५७॥

यथा अश्व निज देह हिलाकर धूल झाड़ता, हुआ प्रसन्न,
तथा हटाती तू उनको, जो तुझमें स्थित, तुझसे उत्पन्न ।
तू मन्द्रा, तू अग्रगामिनी, करती सब जगका रक्षण;
ओषधियोंको और वनस्पतियोंको भी तू करती धारण ॥

यद् वदामि मधुमत्तद् वदामि
यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्
हन्मि दोधतः ॥५८॥

मैं जो कहता, उसे बोलता भीतर मधुका घोल मिठास;
मैं देखा करता, जैसे उस दर्शनका सबको अभिलाष ।
तेजस्वी हूँ, शक्तिमान हूँ, मुझपर पर-रक्षणका भार;
मुझे कँपाने जो आता, कर देता मैं उसका संहार ॥

शन्तिवा सुरभिः स्योना
कीलालोध्नी पयस्वती ।
भूमिरधि ब्रवीतु मे
पृथिवी पयसा सह ॥५९॥

सीधी, शान्त सुरभि-सी जो है जगको सुखका देती दान,
भरे अन्नसे थन जिसके, जो दुग्धदायिनी धेनु-समान—
वह वसुधा ले साथ अन्नके पुष्टिप्रद रस अन्न अशेष
सुख पहुँचाये हमें और दे सदा मानसिक शुभ उपदेश ॥

यामन्वैच्छद्धविषा विश्व-
कर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा
यदाविर्भोगे अभवन् मातृमद्भ्यः ॥६०॥

हुई विश्वकर्माको हविसे तुझे प्राप्त करनेकी चाह,
रही समायी-सी सिकतामें जब तू सागर बीच अथाह,
अवसर आया मातृमान जीवोंके जभी भोग-अनुरूप—
प्रकट हुआ तब अन्नपात्र-सा छिपा उदधिमें तेरा रूप ॥

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः
कामदुघा पप्रथाना।
यत् त ऊनं तत् त आ
पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥६१॥

अन्नौषधकी क्षेत्र-भूमि, तू जग-जीवोंकी योनि महान;
तू अखण्ड विस्तृत, तू करती सबको अभिमत काम प्रदान ।
जो तुझमें न्यूनता कहीं हो, जो कुछ तेरा रहा अपूर्ण,
सत्य—विष्णुके ज्येष्ठ तनय वे आदि प्रजापति करते पूर्ण ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥६२॥

मातृभूमि ! उत्संगरूप जो तेरे प्रकटित द्वीप-प्रदेश,
रोगरहित हों हम सबके हित,क्षय-भयका हो वहाँ न लेश ।
होवे लंबी आयु हमारी, सावधान हम जगे रहें;
तुझपर सब कुछ बलि देनेके शुभ उद्यममें लगे रहें ॥

भूमे मातर्नि धेहि मा
भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे
श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥६३॥

स्थापित कर, हे मातृभूमि ! तू मुझे भद्र भावोंके साथ;
सर्वज्ञे ! स्वर्गीय भूतिकी प्राप्ति करा तू करे सनाथ ।
पार्थिव सुख-सम्पत्ति-राशिमें,करुणामयि ! दे मुझको स्थान;
और साथ ही, जननि ! मुझे कर भागवती विभूतिका दान ॥

(३)

संज्ञान-सूक्त

(ऋ० १० । १९१)

सं समिद् युवसे वृषन्नग्ने
विश्वान्यर्य आ ।
इळस्पदे समिध्यसे
स नो वसून्या भर ॥ १ ॥

अग्निदेव, अभिमतफलदाता ! तुम ईश्वर, तुम स्वामी;
वैश्वानर, तुम सब भूतोंमें व्यापक अन्तर्यामी ।
उत्तर-वेदीपर याज्ञिकजन करते तुम्हें प्रदीपित;
धन दो हमें, ज्ञान दो हमको; है तव शक्ति असीमित ॥१॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं
सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे
संजानाना उपासते ॥ २ ॥

सब मिलकर तुम एक रहो, हे धर्म-निरत विद्वानो !
बात एक तुम बोलो, मनसे अर्थ एक तुम जानो ।
एकचित्त हो देव पुरातन ज्यों लेते निज भाग,
वैसे ही तुम भी लो, करके निज विरोधका त्याग ॥२॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

मन्त्र एक-सा हो इन सबका, होवे प्राप्ति समान;
अन्तःकरण समान सभीके; सम विचार, सम ज्ञान ।
तुम सबके हित मैं अभिमन्त्रित करता मन्त्र समान,
सम हविष्यसे लिये तुम्हारे करता आहुति-दान ॥३॥

समानी व आकूतिः
समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति ॥ ४ ॥

तुम सबकी चेष्टा समान हो, निश्चय एक-समान;
हृदय तुम्हारे एक-तुल्य हों, हो न विषमता-भान ।
एक-सदृश ही हो तुम सबके अन्तःकरण उदार;
हो सुन्दर सहवास तुम्हारा, ज्यों समता साकार ॥४॥

(४)

ऋत-सूक्त

(१० । १९०)

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥१-३॥

उग्र तपस्यासे विरञ्चिकी प्रकट हुए ऋत-सत्य प्रथम,
हुए निशा आदिक फिर विधिसे निर्मित कालभेद अनुपम ।
यह अनन्त जलराशि-संवलित लहराता जो सिंधु महान्,
उसी विधातासे इसका भी प्रादुर्भाव हुआ लो जान ॥
जलसे भरे महासागरका जब हो प्रादुर्भाव गया,
हुआ विधातासे फिर संवत्सरका आविर्भाव नया ।
संवत्सर वह, दिवस-रात्रिको जो धारण करनेवाला,
धृत-निमेष चर अचर विश्वको भी वशमें रखनेवाला ॥
पूर्वकल्प सम परमेष्ठीने रवि-शशिको सप्राण किया,
सुखमय स्वर्ग और भूतलका, नभका भी निर्माण किया ॥

(५)

धनान्नदानसूक्त

(ऋ० १० । ११७)

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं
ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्य-
त्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते ॥१॥

भूख नहीं दी, वध जीवोंका देवोंने कर डाला;
दाता वही, अन्न देकर जो बुझा सके यह ज्वाला ।
क्षुधा-क्षीणकी अवहेला कर जो खुद माल उड़ाता,
एक दिवस उसके प्राणोंको भी अन्तक ले जाता ॥
दाताका धन कभी न घटता, देता उसे विधाता;
किन्तु कृपणको कहीं न कोई सुख-दाता मिल पाता ॥ १ ॥

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्न-
वान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो
चित् स मर्डितारं न विन्दते ॥२॥

दुर्बल और भूखसे पीडित स्वयं द्वारपर आये,
लिये अन्नकी चाह, विकल हो संमुख कर फैलाये—
ऐसे याचकके प्रति भी जो हृदय कठोर बनाता,
अन्नवान है, किंतु नहीं देनेको हाथ बढ़ाता,
यही नहीं, तरसाकर उसको स्वयं सामने खाता—
सुखदाता उस महाक्रूरको कहीं नहीं मिल पाता ॥ २ ॥

स इद् भोजो यो गृहवे
ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता
उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥३॥

कृश-शरीर है माँग रहा घर आकर दाना-पानी,
ऐसे प्रतिग्रही याचकको जो देता, वह दानी ।
यज्ञोंमें पूरा-पूरा फल उसको ही मिल पाता,
शत्रु-मण्डलीमें भी वह है सबको मित्र बनाता ॥ ३ ॥

न स सखा यो न ददाति सख्ये
सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति
पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥४॥

संगी, अपना अंग, सखा, जो रखता स्नेह सही है,
उसको भी जो अन्न न देता, वह तो मित्र नहीं है ।
उसे छोड़ हट जाय दूर नर, उसका गेह नहीं वह;
अन्य किसी दाताका आश्रय कर ले ग्रहण कहीं वह ॥ ४ ॥

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्
द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव
चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥५॥

धनका दान करे याचकको निश्चय ही धनवान,
दिखलायी देता दाताको शुभका मार्ग महान ।
आवर्तित रथके चक्रों-सा होता विभव-विलास;
कभी एकके पास संपदा, कभी अन्यके पास ॥ ५ ॥

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी ॥६॥

व्यर्थ अन्न पैदा करता वह, जिसका मन न उदार;
सत्य कहता हूँ, वह संग्रह है उसका ही संहार ।
देव-तृप्तिके काम न आता जो, न मित्रके काम,
जो केवल निज पेट पालता, वह केवल अघधाम ॥ ६ ॥

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति
यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान्
पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ॥७॥

खेत जोतकर फाल कृषकको अन्न दे रहा उपकारी,
उपकृत करता आचरणोंसे पथको पांथ सदाचारी ।
वक्ता ब्राह्मण सदा अवक्तासे बढ़कर आदर पाता,
दाता पुरुष कृपणसे उत्तम बन्धु-सदृश माना जाता ॥ ७ ॥

एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे
द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे
संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः ॥८॥

एक अंशका धनी द्विगुणके पीछे चलता है चिरकाल;
वह भी तीन अंशवालेका अनुगम करता है सब काल ।
चार अंशवाला चलता है पीछे औरोंको अवलोक,
अतः विभव-अभिमान छोड़ धन-दान करें संतत सब लोक ।८

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः
सं मातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती
चित् सन्तौ न समं पृणीतः ॥९॥

दोनो हाथ समान यदपि हैं, करते कार्य न किंतु समान;
दो ब्यायी गौएँ भी करतीं एक सदृश क्या दुग्ध प्रदान ?
जुड़वीं संतानोंमें होता सदृश शक्तिका भान नहीं,
पुरुष एक कुलके दो होते दानी एक समान नहीं ॥ ९ ॥

(६)
श्रद्धासूक्त
(ऋ० १० । १५१)

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥१॥

श्रद्धासे ही अग्निहोत्रकी होती दीपित आग,
श्रद्धासे ही अर्पित होता उसमे हविका भाग ।
धन-ऐश्वर्योके मस्तकपर श्रद्धा रही विराज,
स्तुति-वाणीसे विज्ञापन यह हम करते है आज ॥१॥

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥२॥

श्रद्धे ! दाताके हित कर तू अभिमत फलका दान,
देनेकी इच्छावालेको भी प्रिय वस्तु प्रदान ।
भोग-प्राप्तिके अभिलाषी जो याज्ञिक मेरे इष्ट,
इनका भी पूर्वोक्त रूपसे कर दे पूर्ण अभीष्ट ॥२॥

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥३॥

'हम विजयी होंगे' देवोंने की श्रद्धा-विश्वास,
अतः उग्र असुरोंपर जैसे पाया जय-उल्लास—
वैसे ही श्रद्धालु हमारे जो ये याज्ञिक लोग,
भोगार्थी हैं; इनको भी दो, श्रद्धे ! प्रार्थित भोग ॥३॥

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाऽऽकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥४॥

देव और यजमान मनुज सब, जिनके रक्षक वायु,
श्रद्धा देवीकी उपासना करते सारी आयु ।
कर उरकी संकल्प-क्रियासे श्रद्धाका आराधन,
श्रद्धासे सब धन पाते हैं; श्रद्धा धनका साधन ॥४॥

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥५॥

श्रद्धा देवीको पुकारते हम प्रातः-पूर्वाह्न,
श्रद्धाके ही आवाहनमे बिता रहे मध्याह्न;
करते है सूर्यास्त-समय भी श्रद्धाका आह्वान,
श्रद्धे देवि ! करो हम सबमे श्रद्धाका आधान ॥५॥

वैदिक सूक्त

(भाषान्तरकर्ता—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, डी० लिट्०)

(१)
संज्ञानसूक्त
[अथर्ववेद, पैप्पलादशाखा, ५ । १९]

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

आप सबके मध्यमे विद्वेषको हटाकर मै सहृदयता, संमनस्कताका प्रचार करता हूँ । जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक दूसरेसे प्रेम करे ॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवति संयतः ।
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो । पत्नी अपने पतिसे शान्ति-युक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

भाई-भाई आपसमे द्वेष न करें । बहिन बहिनके साथ ईर्ष्या न रक्खे । आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदुवाणीका प्रयोग करे ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

जिस प्रेमसे देवगण एक-दूसरेसे पृथक् नहीं होते और न आपसमें द्वेष करते है, उसी ज्ञानको तुम्हारे परिवारमे स्थापित करता हूँ । सब पुरुषोंमे परस्पर मेल हो ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्योन्यस्मै वल्गु वदन्तो यात
समग्रास्थ सध्रीचीनान् ॥ ५ ॥

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ मिलकर रहो, कभी विलग न होओ । एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझेको खींच ले चलो ।

परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्त जनोंसे सदा मिले हुए रहो ॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा
नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

अन्न और जलकी सामग्री समान हो । एक ही बन्धनसे सबको युक्त करता हूँ ।

साथ मिलकर अग्निकी परिचर्या करो, जिस प्रकार रथकी नाभिके चारो ओर अरे लगे रहते हैं ॥ ६ ॥

सध्रीचीनान् वः संमनसः कृणोम्ये-
कश्नुष्टीन् संवननेन सहृदः ।
देवा इवेदमृतं रक्षमाणाः
सायंप्रातः सुसमितिर्वो अस्तु ॥ ७ ॥

समान गतिवाले आप सबको सममनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान भावोंके साथ एक अग्रणीका अनुसरण करें ।

देव जिस प्रकार समान चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी उत्तम समिति हो ॥ ७ ॥

(२)

एवा मे प्राण मा बिभेः

(प्राणोंकी अभयप्राप्ति)

[अथर्ववेद २ । १५]

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ १ ॥

जिस प्रकार द्यौ और पृथिवी न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी मत डरो, मत क्षीण हो ॥ १ ॥

यथा वायुश्चान्तरिक्षं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ २ ॥

जिस प्रकार वायु और अन्तरिक्ष न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ २ ॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ३ ॥

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ३ ॥

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार दिन और रात्रि न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ४ ॥

यथा धेनुश्चानड्वांश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार धेनु और वृषभ न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ५ ॥

यथा मित्रश्च वरुणश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ६ ॥

जिस प्रकार मित्र और वरुण न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ६ ॥

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार ब्रह्म और क्षत्र न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ७ ॥

यथेन्द्रश्चेन्द्रियं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार इन्द्र और इन्द्रियाँ न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ८ ॥

यथा वीरश्च वीर्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ९ ॥

जिस प्रकार वीर और वीर्य न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ९ ॥

यथा प्राणश्चापानश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ १० ॥

जिस प्रकार प्राण और अपान न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ १० ॥

यथा मृत्युश्चामृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार मृत्यु और अमृत न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो, न क्षीण हो ॥ ११ ॥

येन पूतः स्तनयित्नुरपामुत्सः प्रजापतिः।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम् ॥१९॥

जिससे विद्युत् और जलोंके आश्रय प्रजापालक मेघ पवित्र हुए हैं; उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे ॥ १९ ॥

येन पूतमृतं सत्यं तपो दीक्षां पूतयते।
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम् ॥२०॥

जिससे ऋत और सत्य पवित्र हुए हैं; जो तप और दीक्षाको पवित्र करता है; उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे ॥ २० ॥

येन पूतमिदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।*
तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम् ॥२१॥

जिससे जो कुछ भूत और भविष्य है; सभी पवित्र हुआ है; उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे ॥२१॥

(५)
दीर्घ आयु

[अथर्ववेद पैप्पलाद शाखा ६ । १८]

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।
सं मायमग्निः सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

मरुद्गण; पूषा; बृहस्पति और यह अग्नि मुझे प्रजा और धनसे सींचें; और मेरी आयुकी वृद्धि करें ॥ १ ॥

सं मा सिञ्चन्त्वादित्याः सं मा सिञ्चन्त्वग्नयः।
इन्द्रः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ २ ॥

आदित्य; अग्नि और इन्द्र मुझे प्रजा और धनसे सींचे; और मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें ॥ २ ॥

सं मा सिञ्चन्त्वरुषः समर्का ऋषयश्च ये।
पूषा समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ३ ॥

अग्निकी ज्वालाएँ; प्राण; ऋषिगण और पूषा मुझे प्रजा और धनसे सींचे, और मुझे दीर्घ आयु प्रदान करे ॥ ३ ॥

सं मा सिञ्चन्तु गन्धर्वाप्सरसः सं मा सिञ्चन्तु देवताः।
भगः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ४ ॥

गन्धर्व एवं अप्सराएँ; देवता और भग† मुझे प्रजा और धनसे सींचें, और दीर्घ आयु प्रदान करें ॥ ४ ॥

सं मा सिञ्चतु पृथिवी सं मा सिञ्चन्तु या दिवः।
अन्तरिक्षं समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ५ ॥

पृथ्वी; द्युलोक और अन्तरिक्ष मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें ॥ ५ ॥

सं मा सिञ्चन्तु प्रदिशः सं मा सिञ्चन्तु या दिशः।
आशाः समस्मान् सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ६ ॥

दिशा; प्रदिशाएँ और ऊपर-नीचेके प्रदेश मुझे प्रजा और धनसे सींचे तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करे ॥ ६ ॥

सं मा सिञ्चन्तु कृषयः सं मा सिञ्चन्त्वोषधीः।
सोमः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ७ ॥

कृषिसे उत्पन्न धान्य; ओषधियाँ और सोम मुझे प्रजा और धनसे सम्पन्न करे तथा दीर्घ आयु दे ॥ ७ ॥

सं मा सिञ्चन्तु नद्यः सं मा सिञ्चन्तु सिन्धवः।
समुद्रः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ८ ॥

नदी; सिंधु (नद) और समुद्र मुझे प्रजा और धनसे सम्पन्न करें। वे मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें ॥ ८ ॥

सं मा सिञ्चन्त्वापः सं मा सिञ्चन्तु कुष्टयः।
सत्यं समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ ९ ॥

जल और कुष्ट ओषधियाँ तथा सत्य हम सबको प्रजा और धनसे युक्त करें। वे हमें दीर्घ आयु प्रदान करे ॥ ९ ॥

* परिमितं वै भूतमपरिमितं भाव्यम्। (ऐ० ब्रा० ४ । ६ भाव्यम) † एक देवताका नाम।

पुरुष (मर्द) ! तेरे लिये ऊपर उठना है, न कि नीचे गिरना।

१८. मा नो द्विक्षत कश्चन। (१२ । १ । २४)

हमसे कोई भी द्वेष करनेवाला न हो।

१९. सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।

(३ । ३० । ३)

समान गति, समान कर्म, समान ज्ञान और समान नियमवाले बनकर परस्पर कल्याणी वाणीसे बोलो।

२०. मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युः। (१७ । १ । २९)

मुझे पाप और मौत न व्यापे।

२१. अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।

(६ । ७८ । २)

मनुष्य दुग्धादि पदार्थोंसे बढ़े और राज्यसे बढ़े।

२२. अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः। (५ । ३ । ५)

हम शरीरसे नीरोग हों और उत्तम वीर बनें।

२३. आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्।

(५ । ३० । ७)

उन्नत होना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीवका लक्ष्य है।

२४. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

(११ । ७ । १९)

ब्रह्मचर्यरूपी तपोबलसे ही विद्वान् लोगोंने मृत्युको जीता है।

२५. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।

(७ । ५२ । ८)

मेरे दाहिने हाथमें कर्म—पुरुषार्थ है और सफलता बायें हाथमें रक्खी हुई है।

२६. मधुमतीं वाचमुदेयम्। (१६ । २ । २)

मैं मीठी वाणी बोलूँ।

२७. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। (१२ । १ । १२)

भूमि मेरी माता है और मैं उस मातृभूमिका पुत्र हूँ।

२८. मर्त्यान् पथो अनृणा आ क्षियेम। (६ । ११७ । ३)

हमलोग ऋणरहित होकर परलोकके सभी मार्गोंपर चलें।

२९. वाचा वदामि मधुमद्। (१ । ३४ । ३)

मैं वाणीसे माधुर्ययुक्त ही बोलता हूँ।

३०. ज्योगेव दृशेम सूर्यम्। (१ । ३१ । ४)

हम सूर्यको बहुत कालतक देखते रहें।

३१. मा पुरा जरसो मृथाः। (५ । ३० । १७)

हे मनुष्य ! तू बुढ़ापेसे पहले मत मर।

३२. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।

(३ । २४ । ५)

सैंकड़ों हाथोंसे इकट्ठा करो और हजारों हाथोंसे बाँटो।

३३. परैतु मृत्युरमृतं न एतु। (१८ । ३ । ६२)

मृत्यु हमसे दूर हो और अमृत-पद हमें प्राप्त हो।

३४. सर्वमेव शमस्तु नः। (१९ । ९ । १४)

हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो।

३५. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।

(५ । १ । ७)

ब्रह्मचर्यरूप तपके द्वारा राजा राष्ट्रका संरक्षण करता है।

३६. शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु। (१९ । ९ । १३)

मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और किसी प्रकारका भय न हो।

३७. शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्। (६ । ७१ । ३)

मेरे लिये अन्न कल्याणकारी और स्वादिष्ट हो।

उपनिषदोंकी सूक्तियाँ

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केन० २ । ५)

इस जीवनमें यदि परब्रह्मको जान लिया, तब तो कुशल है; नहीं तो महान् विनाश है। बुद्धिमान् पुरुष प्रत्येक प्राणीमें परब्रह्मको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमरत्वको प्राप्त हो जाते हैं।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठ० १ । २ । २४)

जिस मनुष्यने बुरे आचरणोंका त्याग नहीं कर दिया है, जिसका मन शान्त नहीं है, जिसका चित्त एकाग्र नहीं है तथा जिसने मन-बुद्धिको वशमें नहीं कर लिया है, उसको प्रज्ञान—सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(कठ० २ । ६ । १४)

जब इसके हृदयमें स्थित सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मानव अमर हो जाता है और यहीं ब्रह्मका अनुभव करता है ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
(मुण्डक० २ । २ । ८)

कार्य-कारणरूप परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर हृदयकी अविद्यारूप ग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय-सन्देह कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

श्रीवाल्मीकीय रामायणकी सूक्तियाँ

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाऽऽश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च ।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत् ॥
(अयोध्या० १०९ । १३-१४)

जगत्में सत्य ही ईश्वर है, सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है । सत्य ही सबकी जड़ है । सत्यसे बढ़कर दूसरी कोई उत्तम गति नहीं है ।

दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आश्रय सत्य है; इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये ।

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः ।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥
(किष्किन्धा० ६४ । ९)

मनको विषादग्रस्त नहीं बनाना चाहिये; विषादमें बहुत बड़ा दोष है । जैसे क्रोधमें भरा हुआ साँप बालकको काट खाता है, वैसे ही विषाद पुरुषका नाश कर डालता है ।

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः ।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति ॥
(लङ्का० २ । ६)

जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहता है, उसके सब काम बिगड़ जाते हैं और वह बहुत बड़ी विपत्तिमें पड जाता है ।

महाभारतकी सूक्तियाँ

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
तान् सेवेत्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी ॥
(वन० १ । २६)

जिनके विद्या, कुल और कर्म—ये तीनों शुद्ध हों, उन साधु पुरुषोंकी सेवामें रहे । उनके साथ बैठना, उठना शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी श्रेष्ठ है ।

असतां दर्शनात् स्पर्शात् सञ्जल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः ॥
(वन० १२ । ८)

दुष्ट मनुष्योंके दर्शनसे, स्पर्शसे, उनके साथ वार्तालाप करनेसे तथा एक आसनपर बैठनेसे धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं; और मनुष्य किसी कार्यमें सफल नहीं हो पाते ।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥
(वन० ३१३ । १२८)

धर्म ही आहत (परित्यक्त) होनेपर मनुष्यको मारता है और वही रक्षित (पालित) होनेपर रक्षा करता है; अतः मैं धर्मका त्याग नहीं करता—इस भयसे कि कहीं मारा (त्याग किया) हुआ धर्म हमारा ही वध न कर डाले ।

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
धर्मेण देवता ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः ॥

धर्मके द्वारा ऋषिगण इस भवसागरसे पार हो गये । सम्पूर्ण लोक धर्मके आधारपर ही टिके हुए हैं; धर्मसे ही देवता बढ़े हैं और धन भी धर्मके ही आश्रित है ।

श्रीमद्भागवतकी सूक्तियाँ

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
(२ । ३ । १०)

जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, या जो सब कुछ पानेकी कामनावाला है अथवा जो उदारबुद्धि पुरुष केवल मोक्षकी ही कामना रखता है, सबको तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष भगवान् श्रीहरिकी ही आराधना करनी चाहिये ।

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
(३ । २९ । २३)

जो अभिमानी और भेददर्शी है, जिसने सम्पूर्ण प्राणियो-के प्रति वैर बाँध रक्खा है, अतएव जो दूसरेके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष रखता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिलती।

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥
(३।२९।३४)

इन सब भूतप्राणियोंमें सर्वेश्वर भगवान्‌ने ही अपने अंशभूत जीवके रूपमें प्रवेश किया है—यों मानकर सब प्राणियोंको अत्यन्त आदर देते हुए सबको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये।

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥
(७।७।३२)

समस्त भूत-प्राणियोंमें सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं, यों अपने मनमें समझते हुए उन सबको इच्छानुसार वस्तुएँ देकर भलीभाँति सम्मानित करना चाहिये।

स्तवन

हैम चूड़पर स्वर्ण रश्मि प्रभ
ज्योति मुकुट जाज्वल्य शीषपर,
शत सूर्योज्ज्वल कुवलय कोमल
स्फुरत् किरण मंडित मुख सुंदर !

नयन अकूल क्षमा गरिमामय
ज्योति प्रीतिके अतल सरोवर,
अधर प्रवालोंपर चिर गुंजित
मौन मधुर स्मितिके मुरली स्वर !

सहृदय वक्ष विशाल सिन्धुवत्
विश्व भार भृत अंस धुरंधर
करुणालंबित बाहु, वरद कर,
मृत्यु कलुष हर चारु धनुष शर !

बढ़ते युग-युग चरण, छोड़ निज
अक्षय चिह्न समयके पथपर,
विश्व हृदय शतदल पर स्थित तुम
हृदयेश्वर, जगदीश, परात्पर !

सृजन नृत्य उल्लास निरत नित
चिर त्रिभंगमय, रहस रतीश्वर,
अभय इङ्गितोंसे जीवनकी
शाश्वत शोभा पड़ती झर झर !

जय पुरुषोत्तम, प्रणत प्राण मन
नयनोंमें भर रूप मनोहर,
चिर श्रद्धा विश्वास भक्तिका
मंगलमय, निज जनको दो वर !!

—श्रीसुमित्रानन्दन पंत

हिंदू-संस्कृति

(भगवत्पूज्यपाद अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य प्रभु श्रीज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज ज्योतिर्मठ बदरिकाश्रमका प्रसाद)

धीशं सूर्यमथाम्बिकां हरिहरौ रूपाणि पञ्चावहन्
यो नित्यं सगुणः कृतार्थयति सन्मार्गानुगान् साधकान् ।
यो बुद्धेर्वरतेजसः क्रमगताच्छक्तेश्रितः सत्सतः
साहाय्यादवधार्यते स भगवान् पञ्चात्मको नम्यते ॥

हिंदू-संस्कृतिके स्वरूप और उसकी विशेषताओं आदि-पर विचार करनेके पूर्व यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि हिंदू कौन है और संस्कृतिका क्या अर्थ होता है । हिंदू कौन है, यह निश्चय करनेके लिये सर्वप्रथम जातिनिर्णयका आधार स्पष्ट हो जाना चाहिये

जातिनिर्णयका आधार

सामान्यतया जातिनिर्णयके दो आधार प्रतीत होते हैं—'देश' और 'धर्मग्रन्थ' । कुछ जातियोंके नाम देशोंके नामके आधारपर प्रचलित हैं—जैसे जर्मन, फ्रेंच, बंगाली, पंजाबी आदि । और कुछ जातियोंके नाम धर्मग्रन्थोंके आधार-पर हैं, जैसे बाइबिलको माननेवाली ईसाई जाति और कुरानको माननेवाली मुस्लिम जाति आदि ।

विचार करनेपर देशके आधारपर जातिका निर्णय पूर्ण रीतिसे नहीं होता । जैसे बंगालके निवासी मुस्लिम भी बंगाली हैं और हिंदू भी बंगाली हैं; किंतु दोनों बंगाली होते हुए भी वे एक जातिके नहीं माने जाते । उनकी जातिका निर्णय उनके धर्मग्रन्थोंके आधारपर ही होता है । कुरानको माननेवाले मुस्लिम और वेदादि शास्त्रोंको माननेवाले हिंदू जातिके माने जाते हैं । इससे स्पष्ट होता है कि स्थान या देशके नामके आधारपर जातिनिर्णयका कोई मूल्य नहीं होता; अन्ततः धर्मग्रन्थोंके (या शास्त्रके) आधारपर ही जातिनिर्णय होता है ।

कोई मनुष्य चाहे कोट-पेंट पहनकर मांस-मदिरा सेवन करता हुआ विलायतमें रहे या धोती-कुरता पहनकर शाका-हारी होकर भारतमें रहे; किंतु यदि वह बाइबिलको मानता है तो ईसाई ही कहा जायगा और यदि कुरानको मानता है तो मुस्लिम जातिमें ही उसकी गणना होगी । इससे स्पष्ट है कि जातिनिर्णयमें धर्मग्रन्थोंकी ही प्रधानता मानी जाती है और किसी देशविशेषमें निवास करनेसे अथवा ऊपरी वेष-भूषा, खान-पान आदिसे किसीकी जातिका निर्णय नहीं किया जा सकता । यह अवश्य है कि जिस देशमें जिस जातिका प्रादुर्भाव होता है, उस देशको वह जाति अपना देश मानती है; किंतु स्पष्ट है कि जातियोंकी भिन्नताका कारण देशका भेद न होकर शास्त्रभेद ही है ।

किसी एक जातिके लोगोंके भिन्न-भिन्न देशोंमें बस जानेके कारण जल-वायु आदिकी भिन्नतासे उनके वेष-भूषा, खान-पानादिमें अवश्य अन्तर पड़ जाता है और देशके आधारपर उनका नाम भी भिन्न हो जाता है; किंतु जबतक वे एक ही धर्मशास्त्रको मानते हैं, तबतक एक ही जातिके कहे जाते हैं या एक ही जातिकी विभिन्न उपजातियोंमें उनकी गणना होती है । जैसे देश या प्रान्तके आधारपर ईसाई जातिके लोग ही जर्मन, फ्रेंच, इंगलिश, अमेरिकन आदि नामोंसे और हिंदू-जातिके लोग ही बंगाली, पंजाबी, गुजराती, मराठी आदि विभिन्न नामोंसे कहे जाते हैं । इसलिये जातिनिर्णयमें शास्त्रकी ही प्रधानता सिद्ध होती है ।

माना जाता है कि पहले एक ही 'आर्य' जाति थी और वही विभिन्न देशोंमें बसकर विभिन्न जातियोंमें परिणत हो गयी । किंतु यदि विभिन्न देशोंमें बसे हुए आर्यलोग वेदादि-शास्त्रोंको बराबर मानते रहते तो दूर-दूर देशोंमें रहते हुए भी और जल-वायु आदिके कारण वेश-भूषा, खान-पान आदिकी भिन्नता रहते हुए भी वे एक ही 'आर्य' या 'हिंदू' जातिके कहे जाते । वेदादि शास्त्रोंसे भिन्न बाइबिल और कुरानको अपने धर्मग्रन्थ माननेके कारण ही ईसाई और मुस्लिम आदि जातियोंकी हिंदू-जातिसे भिन्न स्थिति है । इसलिये जाति-निर्णयका मुख्य आधार धर्मशास्त्र या धर्मग्रन्थ ही निश्चय होता है ।

हिंदू कौन ?

जातिनिर्णयके उक्त आधारसे स्पष्ट ही है कि वेदादि शास्त्रोंको माननेवाली जाति ही हिंदू-जाति है । इस प्रकार वेदादि हिंदू-शास्त्रोंपर विश्वास करनेवाला ही हिंदू कहा जा सकता है । जो श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहास-प्रतिपादित कर्मोंके आधारपर अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नतिपर विश्वास रखता है वही हिंदू है । अथवा श्रुति-स्मृतिमूलक समाज-व्यवस्था,

अर्थव्यवस्था, शासन-व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था आदिके द्वारा अपने जीवनके समस्त क्षेत्रोंमें लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयपर विश्वास रखनेवाला ही हिंदू कहा जा सकता है। वैदिक सिद्धान्तानुसार मानव-जीवनके समस्त क्षेत्रोंकी विभिन्न व्यवस्थाओंका सक्रिय रूप वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्थामें प्राप्त होता है। इसलिये वर्णाश्रमधर्मानुकूल आचार-विचारके द्वारा जीवन व्यतीत करनेवाला ही हिंदू माना जा सकता है। अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णोंमें उत्पन्न होकर वेद-शास्त्रोंको अपना धर्मग्रन्थ माननेवाला ही हिंदू है।

संस्कृति-शब्दार्थ

'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे भूषण-अर्थमें सुट्का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करनेसे 'संस्कृति' शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है—भूषणभूत सम्यक् कृति। इसलिये भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति कही जा सकती है। इस प्रकार भूषणभूत सम्यक् कृतियोंका सम्पूर्ण क्षेत्र संस्कृतिका क्षेत्र है।

पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि भोगयोनियोंमें जीवकी चेष्टाएँ स्वाभाविक ही हुआ करती हैं। उनमें सम्यक्-असम्यक्‌का भेद नहीं किया जा सकता। मनुष्ययोनिमें ही जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र माना गया है। मनुष्य सम्यक्-असम्यक् दोनों प्रकारकी चेष्टाएँ करनेमें समर्थ होता है। इसलिये सम्यक् चेष्टा या कृति—संस्कृतिका प्रयोग मनुष्यके सम्बन्धमें ही किया जा सकता है। इसलिये मनुष्यकी भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति है।

जिन चेष्टाओंके द्वारा मनुष्य अपने जीवनके समस्त क्षेत्रोंमें उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति प्राप्त करे, वे चेष्टाएँ ही उसके लिये भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ कही जा सकती हैं। अथवा मनुष्यकी आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नतिके अनुकूल चेष्टाएँ ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ हैं। या मनुष्यकी वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रोंमें लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयके अनुकूल देहेन्द्रिय, मन-बुद्धि, चित्ताहङ्कारकी चेष्टा ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टा या संस्कृति है। (देहेन्द्रियकी समस्त चेष्टाएँ 'आचार' के क्षेत्रमें और मन-बुद्धि-चित्ताहङ्कारकी चेष्टाएँ 'विचार'के क्षेत्रके अन्तर्गत कही जाती हैं; इसलिये) संक्षेपमें कहा जा सकता है कि मनुष्यके लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदयके अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है।

संस्कृतिका आधार

ऊपर 'संस्कृति' शब्दकी व्याख्या कर दी गयी है। उससे स्पष्ट है कि कोई जाति अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नतिका मार्ग जिस आधारपर निश्चय करती है, उसीके आधारपर उसकी संस्कृतिका निर्णय हो सकता है।

किसी जातिके लिये लौकिक-पारलौकिक विश्वासका आधार उस जातिका दर्शन-शास्त्र होता है। दर्शन-शास्त्र सत्यासत्यविवेचनात्मक, ज्ञानपरक होता है। मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, कहाँ जाऊँगा—इस नाना नाम-रूपमय जगत्‌का सच्चा स्वरूप क्या है, इसका कर्ता कौन है, वह जड है या चेतन और परम सुख-शान्तिका क्या स्वरूप है—आदिका समाधान दर्शन-शास्त्रसे होता है। कोई जाति अपने दर्शन-शास्त्रके अनुसार इहलोक और परलोकका जो स्वरूप निर्णय करती है, उसीके अनुरूप लौकिक-पारलौकिक उन्नतिका मार्गप्रदर्शक उस जातिका आचारशास्त्र होता है। आचार-शास्त्र या धर्म-शास्त्र विधि-निषेधात्मक, कर्तव्याकर्तव्य-सम्बन्धी आज्ञाप्रदायक, कर्मपरक होता है।

किसी जातिका धर्मशास्त्र अपने दर्शनशास्त्र-प्रतिपादित लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयमें सहायक जिन कर्मों या आचार-विचारोंका विधान करता है, वे कर्म ही उस जातिके लिये कर्तव्य होते हैं और उन्हींके द्वारा वह जाति अपनी लौकिक पारलौकिक उन्नति मानती है। इससे स्पष्ट है कि किसी जातिके धर्मशास्त्रद्वारा प्रतिपादित आचार-विचार ही उस जातिकी संस्कृतिका स्वरूप होता है। अतएव संस्कृतिका आधार शास्त्र या धर्मग्रन्थ ही है।

हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

हिंदू कौन है, संस्कृतिका क्या अर्थ होता है और उसका क्या आधार है—यह निश्चय हो जानेके बाद स्पष्ट ही है कि वेदादिशास्त्रसम्मत आचार-विचार ही हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप है। मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन आचार-विचारमय ही होता है। इसलिये संस्कृतिके क्षेत्रमें मानव-जीवनके समस्त क्षेत्र आ जाते हैं। अतएव मानव-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें वेदादि-शास्त्रानुकूल आचार-विचार ही हिंदू-संस्कृति है। जीवनके समस्त क्षेत्रोंमें वेदादि-शास्त्रानुकूल आचार-विचारकी व्यवस्थाका सक्रिय रूप वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्थामें प्राप्त होता है। इसलिये वर्णाश्रमानुकूल आचार-विचार ही हिंदू-संस्कृतिका प्रत्यक्षरूप है। और वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा कलाकौशल

श्रीराधाकृष्ण—दर्पण-दर्शन

पहाड़ी चित्रशैली १८ वीं शती] [भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

श्रीराधाकृष्ण — मुरली-लीला

पहाड़ी चित्रशैली १८ वीं शती]

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

भाषा, वेषभूषा, उपासना आदि-सम्बन्धी समस्त हलचलें या आचार-विचार वर्णाश्रमधर्मानुकूल हों—यही हिंदू-संस्कृतिका आदर्श है।

हिंदू-संस्कृतिकी विशेषताएँ

ऊपर इस बातपर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है कि कोई जाति अपने दर्शनशास्त्रके अनुसार लौकिक, पारलौकिक सत्यासत्य-विवेचनद्वारा परम सुख-शान्ति, मोक्ष, आत्मा, ब्रह्म या स्वर्गका जो स्वरूप निर्णय करती है, उसकी प्राप्तिमें सहायक, लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयप्रद, धर्मशास्त्र-प्रतिपादित, समस्त सम्यक् भूषणभूत चेष्टाएँ ही उस जातिकी संस्कृति कहलाती हैं। इसलिये किसी जातिकी संस्कृतिकी सबसे बड़ी विशेषता और उसकी समस्त विशेषताओंका मूल उस जातिका दर्शनशास्त्र होता है।

हिंदूदर्शन या वैदिक दर्शन-शास्त्र ही हिंदू-संस्कृतिकी समस्त विशेषताओंके मूलमें स्थित है। नानात्वमय समस्त दृश्य प्रपञ्चके प्रत्यक्ष बहुत्ववादसे अलक्ष्य, अगोचर, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षसे परे, निर्गुण-निराकार एक-तत्त्ववाद, अद्वैत-सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा ही हिंदू-दर्शनकी मौलिक विशेषता है। साकार-निराकारका पूर्ण समन्वय हिंदू-दर्शनोंमें ही पाया जाता है। यही कारण है कि हिंदू-संस्कृतिमें व्यावहारिक उत्तमता और पारमार्थिक श्रेष्ठता—दोनों पूर्णताकी सीमापर प्रतिष्ठित हैं। जगद्व्यवहारमें प्रतिपल व्यवहार करते हुए भी हिंदू द्वैत-प्रपञ्चसे उठकर अद्वैतस्वरूप-निष्ठा—जीवन्मुक्तिकी अवस्था प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। मनुष्यको मानव-विकासके उच्चतम शिखरपर पहुँचाकर जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें प्रतिष्ठित करा देना ही हिंदू-संस्कृतिकी सबसे बड़ी विशेषता है।

अद्वैतनिष्ठा या जीवन्मुक्तिकी अवस्थाको मानव-जीवनकी सर्वोत्कृष्ट अवस्था इसलिये माना गया है कि उस स्थितिमें या उसकी प्राप्तिके मार्गमें ही मनुष्य आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक क्षेत्रोंमें पूर्ण विकासको प्राप्त हो जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें वह निर्गुण-निरञ्जन परमतत्त्वसे एकत्व प्राप्त कर लेता है; और आधिदैविक एवं आधिभौतिक क्षेत्रमें उसके लिये कुछ अप्राप्य नहीं रह जाता, इच्छामात्रसे वह सब कुछ करनेमें समर्थ हो जाता है—

> यं यं लोकं मनसा संविभाति
> विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
> तं तं लोकं जयते तांश्च कामान्……
>
> (मुण्डक० ३।१।१०)

केवल विचारमात्रसे सब कुछ कर सकनेकी सामर्थ्यसे अधिक सामर्थ्य और हो ही क्या सकता है। इसलिये स्वरूप-निष्ठा ही मानव-जीवनके विकासकी श्रेष्ठतम अवस्था मानी गयी है और इसीकी प्राप्ति हिंदू-संस्कृतिका लक्ष्य है। मनुष्यको पूर्ण स्वातन्त्र्यमय अनन्त ज्ञानके क्षेत्रमें समासीनकर परमानन्दका अनुभव करा देनेकी सामर्थ्य हिंदू-संस्कृतिमें ही है। इसीलिये हिंदू-संस्कृति सर्वसामर्थ्यमय सर्वाङ्गीण पूर्ण संस्कृति है।

हिंदू-संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी है। इसके द्वारा न केवल अपने अनुयायियोंके लिये ही, अपितु समस्त ब्रह्माण्डके लिये विश्वपोषक मङ्गलकारी प्रभाव उत्पन्न होता है। हिंदू-संस्कृतिकी इस विश्वपोषकताका रहस्य हृदयङ्गम हो जानेपर उसकी समस्त विशेषताओंको समझनेके लिये एक आधार प्राप्त हो जाता है। इसलिये इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

जिस प्रकार सरोवरके जलमें पत्थर फेंकनेसे या किसी प्रकारकी हलचल करनेसे उसमें उत्पन्न हुई तरङ्गें समस्त सरोवरमें फैलकर सम्पूर्ण जल-राशिको प्रभावित करती हैं, उसी प्रकार समस्त जीवों और मनुष्योंकी देहेन्द्रिय आदिकी समस्त हलचलोंसे वायु-मण्डलमें स्पन्दन उत्पन्न होते हैं—जो स्थूल-सूक्ष्मरूपसे समस्त वायुमण्डलमें फैलकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त हो जाते हैं और सम्पूर्ण नभोमण्डल, तेजोमण्डल, पृथ्वीमण्डल एवं सम्पूर्ण जलराशिपर अपना प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार प्राणीके प्रत्येक कर्मका प्रभाव कर्तातक ही सीमित न रहकर समस्त ब्रह्माण्डपर पड़ता है। किंतु किस प्राणीके किस कर्मका प्रभाव सृष्टिके अनुकूल और किस कर्मका प्रभाव सृष्टिके प्रतिकूल पड़ता है—इसका पूर्णरूपसे निर्णय करना मानवी बुद्धिके परे है। मनुष्य अल्पज्ञ है, वह समस्त सृष्टिसे परिचित नहीं है और अनन्त प्राणियोंकी अनन्त कर्मराशिसे भी परिचित नहीं है; इसलिये किस प्राणीके किस कर्मका प्रभाव प्रकृतिके किस स्तरमें कैसा पड़ता है, यह निर्णय करना मनुष्यकी सामर्थ्यके बाहर है। इसका निर्णय वही कर सकता है, जो सर्वज्ञ हो। जिसने सृष्टिकी रचना की है, जिसने समस्त प्राणियोंको बनाया है और जिसने समस्त कर्मराशि एवं कर्मफल-राशिका सृजन किया है, वही सर्वज्ञ परमात्मा कर्मके सूक्ष्म शुभाशुभ प्रभावोंका पूर्णतया प्रकाश कर सकता है। इसलिये परमात्माके अङ्गरूप निःश्वासभूत सनातन वेद जिन कर्मोंको शुभ या उपादेय प्रतिपादन करते हैं, उनका प्रभाव पूर्णतया सृष्टि-पोषक, मङ्गलमय एवं सर्वकल्याणकारी होता है और जिन कर्मोंको वेद अशुभ या हेय निदय करते हैं, उनका प्रभाव सृष्टिके लिये

अवश्य ही अमङ्गलकारी होता है—इसमें सन्देह नहीं। इससे स्पष्ट है कि वेद-शास्त्रसम्मत समस्त शुभकर्म कर्ताके लिये सर्वविध कल्याणप्रद फलोत्पादन करते हुए समस्त ब्रह्माण्डपर दृष्टिपोषक प्रभाव डालते हैं; इसीलिये हिंदू-संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी मानी गयी है।

हिंदू-संस्कृतिके विभिन्न अङ्गोंपर दृष्टिपात करनेसे पद-पदपर उसकी महती विशेषताएँ प्रत्यक्ष होती हैं। हिंदू-संस्कृतिकी वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थाकी उत्कृष्टता, सर्वाङ्गीण पूर्णता एवं उपादेयताके प्रतिपादनमें अनन्त-रहस्यमय कोटिशः विशाल ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। यह चार वर्णों और चार आश्रमोंकी प्राकृतिक व्यवस्था मनुष्य-योनिमें जीवकी क्रमोन्नतिका सर्वोत्कृष्ट साधन है। इसके अनुसार चलकर हिंदू व्यक्तिगत एवं सामाजिक रूपमें मानव-विकासकी पूर्णताके उत्कृष्ट शिखरपर समासीन होनेकी सामर्थ्य प्राप्त करता है। मनुष्यको अल्प शक्ति और सीमित सामर्थ्यसे अनन्त शक्ति और अपरिमित सामर्थ्यकी ओर, अथवा जीवभावसे ईशभाव या ब्रह्मभावकी ओर स्वाभाविकरूपसे अग्रसर करनेवाली इस वर्णाश्रम-व्यवस्था या हिंदू-संस्कृतिकी प्रत्येक बात रहस्यपूर्ण विशेषतामय है।

ब्रह्मचर्याश्रममें गुरु-शिष्यके व्यवहारकी उत्कृष्टता और ब्रह्मचर्यव्रत-पालनद्वारा ऊर्ध्वरेतस्त्वकी प्राप्ति हिंदू-संस्कृतिकी अपनी विशेषताएँ हैं। गृहस्थाश्रममें पति-पत्नी, पिता पुत्र, लघु-ज्येष्ठ भ्राता आदिके परस्पर आदर्श व्यवहार; पत्नीके लिये पातिव्रत्य धर्म, सतीत्वकी श्रेष्ठता और पतिके लिये पत्नीका साक्षात् गृहलक्ष्मी-स्वरूप तथा पुत्रके लिये 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'का उपदेश आदि ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण हिंदू-संस्कृति अन्य संस्कृतियोंके समक्ष सदा ही उज्ज्वल-मुख और उन्नतभाल रही है॥

गृहस्थाश्रमके पश्चात् तृतीय अवस्थामें अधिकारानुसार वानप्रस्थ आश्रम और चतुर्थ अवस्थामें संन्यास आश्रमकी व्यवस्था है। गृहस्थाश्रममें नाना प्रकारके व्यवहार सम्पादन करनेमें मनुष्यकी बुद्धि प्रायः सांसारिक अधिक हो जाती है; इसलिये जगत्प्रपञ्चसे हटकर त्याग, वैराग्य और तपके सहारे हिंदू अपने बुद्धि-कल्मषको क्रमशः हटाकर अपना मन परमानन्दमय आत्मतत्त्व या ईश्वरतत्त्वमें नियोजित करता है। इस प्रकार आश्रम-व्यवस्था प्रवृत्ति-धर्म और निवृत्ति-धर्म दोनोंसे पूर्ण है। ब्रह्मचर्याश्रममें परमार्थ और व्यवहारका परिचय कराकर प्रवृत्ति सिखलायी जाती है; गृहस्थाश्रममें प्रवृत्ति करायी जाती है; वानप्रस्थाश्रममें निवृत्ति सिखलायी जाती है और संन्यास-आश्रममें निवृत्ति करायी जाती है। इस प्रकार हिंदू-संस्कृतिमें जीवनके व्यावहारिक और पारमार्थिक सामञ्जस्यकी पूर्ण शक्ति है, जिसके कारण हिंदू लौकिक और पारलौकिक दोनों सुख-शान्ति प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

हिंदुओंकी उपासना-पद्धतिकी पूर्णता हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता है। अधिकारानुसार मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग एवं भक्तिकी प्रक्रियाएँ मनुष्यको शक्तिपुञ्जका आगार (सिद्धिसम्पन्न) बनाकर उसे अनन्तानन्दके साम्राज्य-सिंहासनपर समासीन करती हैं। इसके अतिरिक्त निरन्तर व्यापारोंमें लगे हुए लोगोंके लिये हिंदू-संस्कृति निष्कामकर्मयोगका उपदेश देकर उनके सम्पूर्ण कार्यक्षेत्रको ही उपासनाका साधन बना देती है। और उनसे भगवदर्पणबुद्धिपूर्वक कर्म कराते हुए उनके लिये लौकिक, पारलौकिक सर्वोन्नतिका मार्ग प्रशस्त करती है। इसके अतिरिक्त यज्ञ, महायज्ञों एवं अनुष्ठानोंद्वारा उपासना करके स्थूल जगत्के नियामक सूक्ष्म दैवी जगत्के पदाधिकारी विभिन्न देवी-देवताओंको प्रसन्न करके हिंदू अपने वैयक्तिक, सामाजिक एवं विश्वकल्याणके लिये दैवी बल प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। यह हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है।

सामाजिक सर्वोन्नतिके लिये हिंदू-संस्कृतिमें प्राकृतिक गुणानुसारी कर्मोंके आधारपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी व्यवस्था है। इसके मूलमें हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता, जन्मान्तरवादकी मान्यता है। इस जन्ममें जीव प्रधानरूपसे जो कार्य करता है, उसके संस्कार जीवके चित्तमें अङ्कित हो जाते हैं। उन्हीं संस्कारोंको लेकर वह अग्रिम जन्ममें उन्हीं संस्कारोंके अनुरूप शरीर धारण करता है और उन संस्कारोंके अनुसार ही उसकी आसक्ति या कर्मोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसीलिये मीमांसाका सिद्धान्त है—'कर्मबीजं संस्कारः' और 'तन्निमित्ता सृष्टिः।' अर्थात् संस्कार ही कर्मका बीज है और वही सृष्टिका कारण है। जीव सर्वथा ही संस्कारोंका दास है। हिंदू-संस्कृतिमें जीवके संस्कारोंका निर्णय उसके जन्मके आधारपर किया जाता है। किसी जाति या वर्णमें किसी जीवका जन्म ही इस बातका प्रमाण है कि उसके संस्कार उसी वर्ण या जातिके संस्कारोंके अनुरूप हैं। इसलिये उसके पूर्व-संस्कारोंका निर्णय जन्मके आधारपर करके अधिकारानुसार गर्भाधानादि संस्कारोंके द्वारा उसके प्राक्तन संस्कारोंका मलापनयन (शोधन) करके, व्रतबन्धादि

संस्कारोंद्वारा उसमें विशिष्ट संस्कारोंका अतिशयाधान करते हुए उसे उसी जातिके कर्मोंमें नियोजितकर हिंदू-संस्कृति क्रमोन्नतिके राजमार्गपर आगे बढ़ाती है। यही जन्मना वर्ण-व्यवस्थाका रहस्य है।

यदि किसी मनुष्यको उसके स्वाभाविक संस्कारोंसे भिन्न प्रकृतिवाले कर्मोंमें लगाया जाय तो उसे समझने और करनेमें उसको विशेष मानसिक और शारीरिक परिश्रम करना पड़ेगा और इस परिश्रममें उसकी शक्तिका व्यर्थ ह्रास होगा। उसकी मानसिक शक्ति उसके स्वाभाविक संस्कारोंसे भिन्न नवीन कार्योंको सीखनेमें लग जानेके कारण उसका आध्यात्मिक पतन भी होता जायगा। इस प्रकार शक्तिके ह्रासमे समाजको बचानेके लिये और अपने प्राकृत संस्कारोंके अनुरूप जगत्कार्यमें लगे रहकर आध्यात्मिक मार्गमें भी सब लोगोंको आगे बढ़नेका अवकाश रहे—यही उद्देश्य वर्णाश्रम-शृङ्खलाके मूलमें निहित है।

जितने प्रकारके कार्य समाजमें होते हैं, वे सब करने ही पड़ेंगे—चाहे जो करे। एक नहीं करेगा तो दूसरेको वही करना होगा। इसलिये यदि सब मनुष्य अपने-अपने प्राकृत संस्कारोंके अनुरूप कर्म करें तो स्वाभाविकरूपसे सरलतासे ही सब कार्य होते जायँ और मनुष्यके प्राचीन-नवीन संस्कारोंमें संघर्ष बचा रहे और कर्म-साङ्कर्य न फैले। संस्कारोंके संघर्षसे अन्तःकरण दुर्बल होता है, जिसके कारण मनुष्यका आधिदैविक और आध्यात्मिक पतन होता है और कर्म-साङ्कर्यसे कर्मकी शक्ति क्षीण होती है (अर्थात् कर्म बलशाली नहीं होते), जो आधिभौतिक शक्तिके ह्रासका द्योतक है। इस प्रकार समाजके मनुष्योंको उनके प्राक्तन संस्कारोंसे भिन्न प्रकृतिवाले कर्मोंमें लगानेके कारण व्यक्ति तथा समाजकी आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक शक्तियोंका ह्रास होता जाता है। इस प्रकार शक्तिका सतत ह्रास ही ग्रीस, रोमन आदि जातियोंके ऐकान्तिक पतनका कारण हुआ और इस प्रकारके ह्राससे हिंदू-जातिको बचाये रखनेके लिये और उसे सतत शक्तिशाली तथा उन्नतिशील बनाये रखनेके लक्ष्यसे हिंदू-संस्कृतिमें जीवके प्राकृतिक संस्कारानुसारी कर्मोंका निश्चय करनेके लिये जन्मना चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाकी स्थापना है और यही हिंदू-जातिके चिरजीवी रहनेका एक प्रधान कारण है। प्रत्यक्ष भी अनुभव किया जाता है कि क्षत्रियका बालक जन्मसे ही वीर प्रकृतिका, वैश्यका बालक स्वाभाविक ही व्यवसायी दिमागका और शूद्रका बालक अपने गृहके कला-कौशलादिमें स्वभावसे ही रुचि रखनेवाला होता है और उसमें शीघ्र ही दक्ष हो जाता है। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्थामें सामाजिक कार्योंका स्वाभाविक सन्तुलन बना रहता है और अपने वर्गके कार्यमें प्रत्येक पीढ़ी उन्नति करती जाती है। इस प्रकार समाजके प्रत्येक वर्गके लिये उन्नतिका स्वाभाविक मार्ग जन्मना वर्णव्यवस्थासे प्रशस्त होता है। प्रत्येक वर्ण या जातिके लिये निर्धारित शास्त्रोक्त आचार-विचारोंका विस्तारसे विश्लेषण करके और उनके सूक्ष्म रहस्योंका उद्घाटन करके यह स्पष्ट किया जा सकता है कि वर्ण-व्यवस्था सबके लिये समानरूपसे अभ्युन्नतिकारी है और प्रत्येक वर्गको सम्पूर्ण समाजकी उन्नतिके लिये सन्नद्ध रखती है।

हिंदू-संस्कृतिकी यह विशेषता है कि आधिभौतिक क्षेत्रमें (अर्थात् व्यवहारमें) वर्ण एवं आश्रम-धर्मानुसारी कार्योंकी ही मान्यता होते हुए भी किसी भी वर्णका कोई भी मनुष्य भगवान्की प्रगाढ़ रागात्मिका भक्ति करके सर्वत्र अपने इष्टका दर्शन करता हुआ आध्यात्मिक विकासकी उच्चातिउच्च अवस्था प्राप्त कर सकता है। यह अवश्य है कि जबतक इष्टका पूर्ण बोध नहीं हो जाता और जबतक सर्वत्र परमात्मदर्शनके द्वारा वृत्ति भगवत्-तत्त्वमें लीन नहीं हो जाती, तबतक वर्णाश्रम-धर्मका अवलम्बन नहीं छोड़ना चाहिये। पूर्ण बोध हुए बिना अपने वर्णाश्रमानुसारी कर्मोंको छोड़ना अपने उन्नतिके प्रशस्त राजमार्गसे भ्रष्ट होना है। हिंदू-संस्कृतिकी यह विशेषता है कि वह अपने अनुयायियोंको क्रमोन्नतिके सांस्कृतिक राजमार्गपर चलाती हुई उनके लिये पूर्णोन्नतिका द्वार सदा खोले रखती है।

वर्ण या जातिके अपरिवर्तनका सिद्धान्त हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता है। हिंदू-संस्कृति वर्णसंकरतामें समाज एवं राष्ट्रका विनाश देखती है। हिंदू-संस्कृतिका वैदिक इतिहास बतलाता है कि (४,३२००० वर्षका एक कलियुग होता है, इससे द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण—क्रमशः द्वापर, त्रेता और सत्ययुग होते हैं। चारों युग मिलाकर एक महायुग कहलाता है और ऐसे ७१ महायुगोंका एक मन्वन्तर होता है; एक मन्वन्तरमें कालप्रमापक मनु और देवराज इन्द्रादि बड़े-बड़े देवपदाधिकारी बदल जाते हैं और उनके स्थानपर नये पदाधिकारी आ जाते हैं; ऐसे १४ मन्वन्तरोंका एक कल्प होता है) वर्तमान कल्पके प्रारम्भमें वैवस्वत मनु नामक मनु और भृगु, अङ्गिरा आदि ऋषिगण उत्पन्न हुए थे और उनके द्वारा गोत्र तथा प्रवरोंकी सृष्टि हुई थी। उस समयसे लेकर अबतक हिंदू-जातिमें गोत्र और प्रवरोंका यथाक्रम अखण्ड सम्बन्ध चला आ रहा है। इस प्रकार गोत्र-प्रवरके सम्बन्धसे हिंदू-संस्कृतिमें जन्मना

जातिके आधारपर विवाहादि सम्बन्धद्वारा रज-वीर्यकी शुद्धि ही हिंदू-जातिके चिरजीवी होनेका प्रधान कारण है।

शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पृश्यास्पृश्य-विवेक हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता है। आत्मा अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोषसे आवृत है; इसलिये उसकी अभिव्यक्तिके लिये इन समस्त कोषोंकी पवित्रता सम्पादन करनेके लक्ष्यसे अतिगम्भीर रहस्योंसे परिपूर्ण शुद्धाशुद्ध एवं स्पृश्यास्पृश्य-विवेककी मान्यता है।

जीवके आवागमन-चक्र और जन्मान्तरवादपर विश्वास भी हिंदू-संस्कृतिकी विशेषता है। इसीके आधारपर परलोकगामी जीवका पथ सरल रहे और उसे कष्ट न हो, इसके लिये नित्य-नैमित्तिक श्राद्ध-तर्पणादि कर्मकाण्डकी सुव्यवस्थाके लक्ष्यसे ही हिंदू-संस्कृतिमें दायभागकी विशेष व्यवस्था है और इसी लक्ष्यसे पवित्र धर्मनिष्ठ पुत्रकी प्राप्ति ही हिंदू संस्कृतिमें विवाह-संस्कारका पवित्र उद्देश्य है।

वृद्ध-पूजा हिंदू-संस्कृतिकी बहुत बड़ी विशेषता है। यहाँका सिद्धान्त है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

नारी-जातिके महान् गौरवकी मान्यता हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है। नारीको शक्तिका प्रतीक मानकर उसकी पूजा करना हिंदू-जातिने ही स्वीकार किया है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यह हिंदू-संस्कृतिका ही सिद्धान्त है।

हिंदू-संस्कृतिमें घृणाके लिये स्थान नहीं है। यहाँ तो—

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।

—का सिद्धान्त माना जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त हिंदू-संस्कृतिका ही उदात्त सिद्धान्त है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की दृष्टि हिंदू-संस्कृतिका उच्च आदर्श है। अतिथिसत्कारद्वारा समागत प्राणीको ईश्वर-तुल्य समझकर उसे यथासाध्य संतुष्ट करना हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है। 'मातृवत् परदारेषु' और 'परद्रव्येषु लोष्टवत्' की दृष्टि रखनेका आदर्श हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

—के सिद्धान्तको हिंदू-संस्कृतिने ही आदर्श माना है। संस्कारकी अत्यधिक मान्यता हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है। हिंदू-संस्कृतिमें संस्कारोंका इतना महत्त्व है कि षोडश, अष्टचत्वारिंशत् आदि संस्कारोंके सम्बन्धमें प्रयुक्त होनेवाला 'संस्कार' शब्द 'संस्कृति' का प्रायः समानार्थी माना जाता है। जैसे विभिन्न प्रकारकी मिट्टीको विधानानुसार संस्कारोंद्वारा शोधकर उसमें लोहा, ताँबा, सोना आदि बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त की जाती हैं, उसी प्रकार हिंदू-जाति अपने विशिष्ट संस्कारोंद्वारा मनुष्यका मलापनयन करके उसमें दिव्य ब्राह्म, क्षात्रादि तेजोंका अतिशयाधान करके उन्हें दैवी शक्तियोंके अवतरणानुकूल बनाती है। षोडश, अष्टचत्वारिंशत् आदि संस्कार हिंदू-संस्कृतिकी महती विशेषताएँ हैं।

हिंदू-संस्कृति सर्वांशमें विशेषतामय है। उसकी अनन्त विशेषताएँ और उनके गम्भीर रहस्योंका उद्घाटन करनेमें अगणित विशाल ग्रन्थोंकी सामग्री प्रयुक्त होगी। यहाँ उनका केवल सूक्ष्मरूपसे दिग्दर्शन ही किया गया है। यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि हिंदू-संस्कृतिकी समस्त विशेषताएँ और उनके लौकिक-पारलौकिक रहस्य लिखकर पूर्णतया व्यक्त नहीं किये जा सकते; क्योंकि हिंदू-संस्कृतिके क्षेत्रकी सीमा मानव-विकासकी पूर्णताकी उस सीमासे सम्बद्ध है, जिसे भगवती श्रुति—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

—कहकर मन, वाणीकी सीमाके परे निर्देश करती है। संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि चतुष्पादपूर्ण एवं चतुर्वर्गफलप्रद अपनी महती विशेषताओंके कारण ही हिंदू-संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी है, अमर है और विश्वकी इतर संस्कृतियोंकी जननी है।

हिंदू-जातिका कर्तव्य

प्रत्येक जातिका स्वाभाविक कर्तव्य है कि वह अपनी लौकिक, पारलौकिक उन्नतिका मूल न छोड़े। हिंदू-जातिका आधार और उसकी लौकिक, पारलौकिक उन्नतिका मूल वर्णाश्रमधर्मानुसारी आचार-विचार (या हिंदू-संस्कृति) है, इसपर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। हिंदुओंके लिये यह सर्वोन्नतिका राजमार्ग है। अपने जीवनके राजमार्गपर दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर उन्नति करते जाना ही बुद्धिमत्ता है।

इतर संस्कृतियाँ हमारी चतुष्पादपूर्ण चतुर्वर्गफलप्रद हिंदू-संस्कृतिकी शाखा-संस्कृतियाँ, राजमार्गसे फूटी हुई पगडंडियोंके समान हैं। पगडंडियोंका अवलम्बन करनेवाले कुछ दूर चलकर जहाँ पगडंडी समाप्त होती है, वहीं भटकते

रह जाते हैं; राजमार्गके लिये कभी भटकनेका अवसर नहीं आता। उनका मार्ग प्रशस्त है और निश्चित है कि वह अपने लक्ष्यकी प्राप्ति करेगा। अपने दीनता-दरिद्रता-अल्पज्ञतामय जीवत्वको मिटाकर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् अनन्तानन्दमय परमात्माकी प्राप्ति करना ही जीवनका परम लक्ष्य है। जीवनके इस महान् लक्ष्यकी प्राप्ति हिंदू-संस्कृतिके प्रशस्त राजमार्ग—वर्णाश्रमधर्मानुसारी आचार-विचार—के द्वारा ही हो सकती है। इसलिये हिंदू-जातिका परम कर्तव्य है कि इतर क्षुद्र संस्कृतियोंके ऊपरी चाकचिक्यमें विमोहित न होकर दृढ़तापूर्वक अपनी संस्कृतिके सहारे अपने महान् लक्ष्यकी प्राप्ति करे। अन्य संस्कृतियोंको हमारे सांस्कृतिक राजमार्गकी पगडंडियाँ इसलिये कहा गया है कि उनका क्षेत्र मनुष्यके एक जन्मतक ही सीमित रहता है। हिंदू संस्कृतिका क्षेत्र मनुष्यके अनन्त पिछले और पूर्णब्रह्मकी प्राप्तितकके अग्रिम अनिश्चितसंख्याक जन्मोंसे सम्बन्ध रखता है।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

—यह महान् सिद्धान्त जिस संस्कृतिका हो, उसके अनुयायी यदि उन संस्कृतियोंसे प्रभावित हों, जो अपने अनुयायियोंको मृत्युके बाद कब्रमें सुला देती हैं, तो उनका दुर्भाग्य ही है; और क्या कहा जा सकता है।

हिंदुओ! तुम्हारा सांस्कृतिक कोष अक्षय्य है, तुम्हें दूसरोंकी पूँजियोंका द्वार निहारनेकी आवश्यकता नहीं है। अपने घरका अटूट खजाना काममें लो। अपने गृहके अनन्त भण्डारकी अवहेलना कर जब तुम दूसरोंका नेत्र निहारते हो, तब तुम्हारे अन्तःकरणकी गरीबी देखकर हमें कष्ट होता है। रईसकी सन्तानको अपना गौरव और मर्यादा नष्ट नहीं करनी चाहिये। तुम्हारी संस्कृति विश्वकी समस्त संस्कृतियोंमें मूर्धन्य है। कोई ऐसी लौकिक-पारलौकिक वस्तु नहीं है, जो तुम्हारे लिये अप्राप्य हो। किंतु जब तुम बहिर्मुख होकर खोंचेवालोंकी टेरमें मुग्ध हो रहे हो तो अपने गृहके पवित्र भण्डारका रसास्वादन कैसे कर सकते हो। जैसे तुमने वर्णाश्रम-धर्मका यथासाध्य दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए अपनी सर्वोन्नतिके सांस्कृतिक राजमार्गको आजतक सुरक्षित रखा है और अनेकों बाह्य संस्कृतियोंके भीषण आक्रमणोंको निष्फल बनाया है, उसी प्रकार दृढ़ता बनाये रखनेका आज भी समय है। अपने वर्ण और आश्रम-धर्मोंका पालन करते चलो और उसके विरुद्ध प्रचारोंको अपनी सर्वोन्नतिके राजमार्गमें उड़कर आये हुए कण्टक समझकर उनसे बचते चलो।

वर्तमान समयमें भी हिंदुओंका वही कर्तव्य है, जो सदासे उनका कर्तव्य रहा है। प्रत्येक हिंदू अपने वर्णाश्रमके अनुकूल आचार-विचार, खान-पान, वेष-भूषा आदि रक्खे और अधिकारानुसार ईश्वरोपासनामें अवश्य ही कुछ समय लगाये। वर्णाश्रम-धर्मविरोधी, हिंदू-संस्कृतिके घातक, सुधारवाद-नामधारी वर्तमान भ्रष्टाचारसे अपने समाजको बचानेके लिये सुदृढ़ रूपमें सुसंघटित होना और इस प्रकारके असत्प्रचारोंका वेग कम करनेके लिये यथासाध्य उनका खण्डन करना भी वर्तमान समयमें हिंदुओंका कर्तव्य है। शासनसत्ताका प्रभाव जीवनपर पड़ता है; इसलिये अपने देशमें हिंदू-संस्कृतिपोषक, वर्णाश्रम-धर्मानुकूल शासन-व्यवस्था बनानेका प्रयत्न करना भी हिंदू-जातिका कर्तव्य है। आज भारतमें जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था है; इसलिये हिंदू-समाजको अवसर है और उसका इस समय परम कर्तव्य है कि अपनी संस्कृतिके अनुकूल शासनप्रणाली बनाकर अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नतिका मार्ग निष्कण्टक बना ले।

स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंको चेतावनी

हिंदुस्थानकी राजनैतिक स्वतन्त्रताका तभी कोई अर्थ हो सकता है, जब यहाँ हिंदू-जीवनके अनुकूल शासन-व्यवस्था हो। स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंका यह कर्तव्य है कि विदेशियोंने हिंदूजीवनकी सर्वोन्नतिके मार्ग हिंदू-संस्कृतिको विनष्ट करनेके लिये धर्महीन शिक्षा आदिके प्रसारद्वारा जो गम्भीर राजनैतिक षड्यन्त्र रचे थे, उन्हें निर्मूल कर भारतमें विशुद्ध भारतीय संस्कृतिके अनुकूल शासन-व्यवस्था बनायें। हिंदू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है; क्योंकि भारत या हिंदुस्थान, जैसा कि उसके नामसे ही प्रत्यक्ष है, हिंदुओंका ही देश है।

अन्य संस्कृतियोंके अनुयायी, अन्य देशोंमें हिंदुओंकी भाँति; अतिथिरूपमें यहाँ आकर रहें तो कोई हानि नहीं। किंतु स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंका यह कर्तव्य है कि वे इस बातपर ध्यान रक्खें कि हिंदुओंकी सर्वोन्नतिका सांस्कृतिक राजमार्ग निष्कण्टक बना रहे; क्योंकि किसी जातिकी लौकिक-पारलौकिक सर्वोन्नतिका मार्ग उसकी संस्कृति ही होती है—इसपर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। इसलिये यदि हिंदुस्थानकी राजनैतिक स्वतन्त्रताको सार्थक बनाना है और

हिंदुस्थानकी उन्नति करनी है तो हिंदू जीवनप्रणाली, हिंदू-संस्कृति या वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थाके अनुकूल शासन-व्यवस्था होनी अत्यावश्यक है। स्वतन्त्र हिंदुस्थानमें भी यदि हिंदू-संस्कृतिके अनुरूप शासन-व्यवस्था न हुई तो हिंदुस्थानकी राजनैतिक स्वतन्त्रताका अर्थ ही क्या और उसका मूल्य ही कितना रह जाता है।

हिंदू-संस्कृति या वर्णाश्रम-धर्मव्यवस्थाके अनुकूल शासन-व्यवस्था होनेका यही तात्पर्य है कि राजकीय नियम ऐसे हों कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमोंमे और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णोंमें हिंदुओंको स्वधर्मपालन करनेमे कोई कानूनी अड़चन न पड़े।

वर्तमान राजनैतिक नेतृवृन्दको समझना चाहिये कि पृथ्वीके अन्य देशों और अन्य जातियों तथा हमारी इस धर्मभूमि हिंदुस्थान और हिंदू-जातिमे दिन-रात-जैसा प्रबल अन्तर है। जिन-जिन विशेषताओंके कारण हिंदू-जाति करोड़ों वर्षोंसे अबतक जीवित है और उनके मूलमे जो संस्कृति विद्यमान है, उसको भली प्रकार समझकर तदनुकूल शासन-प्रणाली प्रयुक्त करनेसे ही हिंदुस्थान और हिंदू-जातिका उत्कर्ष होगा और सरकार भी दीर्घकालतक स्थायी रहेगी और सारे जगत्मे उसका सम्मान होगा।

वर्तमान राजनैतिक नेतागण यदि किसी कारणसे हिंदू-संस्कृतिपोषक शासन-व्यवस्था बनानेमे असमर्थ हों तो उनका कम-से-कम इतना तो अवश्य ही कर्तव्य है कि शासन-प्रणालीको हिंदू-संस्कृतिके प्रतिकूल न होने दे। हिंदू-संस्कृतिघातक नये-नये कानून बनाकर वे स्वयं अपने चरण-पर कुठाराघात कर रहे है। उन्हे यह समझ लेना चाहिये कि हिंदुस्थानमे कथमपि यह सम्भव नहीं है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णके भेदको मिटाकर समानताके आधारपर वर्गहीन, जातिहीन समाजका निर्माण किया जा सके। इतिहास साक्षी है कि बड़े-बड़े दूरदर्शी बौद्ध सम्राट् अशोक, कनिष्क आदिके बाद जब अदूरदर्शी परवर्ती बौद्ध राजाओंने समाजमे समानता फैलानेका प्रयत्न किया, तब उसका फल उलटा हुआ। बौद्ध-साम्राज्य नष्ट हो गया और बौद्ध शासक-गण भारतसे भगा दिये गये। अतः स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंको भारतीय इतिहाससे शिक्षा लेकर दूरदर्शितासे काम लेना चाहिये।

चतुष्पादपूर्ण वर्णाश्रम-व्यवस्थाके सुदृढ़ आधारपर सुप्रतिष्ठित एवं दैवी सूक्ष्म जगत्से सम्बद्ध हिंदू-संस्कृति अपनी रक्षाके लिये किसी शासन-सत्ताके पोषणकी अपेक्षा नहीं रखती। शत्रुओंसे मोर्चा लेनेके लिये उसका अपना बल इतना है कि अनादि कालसे मनुष्योंकी निम्नगामिनी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंका सतत संघर्ष और सहस्रों वर्षोंतक विरोधी संस्कृतियोंके भीषण आक्रमण तथा प्रतिकूल शासन-सत्ताओंके आन्तरिक और बाह्य प्रबल षड्यन्त्र भी उसे नष्ट नहीं कर सके। इस प्रकार सर्वसामर्थ्यवान् होते हुए भी हिंदू-संस्कृति अपने स्वतन्त्र हिंदुस्थानकी शासन-सत्तासे कम-से-कम इतनी आशा तो अवश्य ही रखती है कि वह विदेशियोंकी भाँति उसके स्वरूपपर आक्रमण न करेगी।

स्वतन्त्र भारतके वर्तमान शासनाधिकारी यह निश्चय रक्खें कि वे अपनी अदूरदर्शिताके कारण भारतीय संस्कृतिके विरुद्ध राजकीय नियम बनाकर वर्णाश्रम-व्यवस्थाको शिथिल करनेका प्रयत्न कर सकते है, पर उसकी महती उपादेयता और सर्वकल्याणकारितापर पानी नहीं डाला जा सकता। आज शासनाधिकारीगण राजकीय कानूनोंके बलपर भगवान् शङ्कर, विष्णु आदि देवताओंके पवित्र मन्दिरोंमें अन्त्यजों और वर्णवालोंका प्रवेश कराकर मन्दिरोंको भ्रष्ट कर सकते हैं; किंतु क्या वे भगवान् शङ्कर और विष्णुके प्रसन्न होनेके दैवी विधानोंमें परिवर्तन करके देवताओंके स्वभावको बदल सकने-की भी सामर्थ्य रखते हैं। शङ्कर और विष्णुको प्रसन्न करने-का जो उनके स्वभावके अनुकूल सनातन विधान है, उसीके द्वारा वे प्रसन्न हो सकते हैं। भूतलकी समर्थ शासन-सत्ताके कोटिशः कठोर राजकीय नियम भी उन नियमोंको बदल न सकेंगे। क्या गवर्नरके गृहमें प्रवेश कर लेनेमात्रसे ही कोई उनका सम्बन्धी या कृपापात्र माना जा सकता है? अनधिकारी-के लिये इस प्रकारकी चेष्टा अज्ञानमूलक या भ्रष्टाचारप्रवर्तक ही मानी जा सकती है।

गवर्नरके गृहमे बलपूर्वक घुस जाना कठिन नही है; पर उसके परिणाममे गवर्नरके अन्तःकरणमें उत्पन्न हुए क्षोभके कारण जो राजकीय दण्ड सहन करना पड़ेगा, क्या उससे बचनेका भी कोई उपाय है? जो अपराधी है, उसे दण्ड मिलना स्वाभाविक है। यदि गवर्नर दयावश उसे दण्ड नहीं देता तो शासनसत्ताकी दृष्टिमे वह स्वयं भ्रष्टाचारको प्रोत्साहन देनेवाला अपराधी माना जायगा। इसलिये उसे दण्ड देना ही पड़ता है। जिस प्रकार शासनसत्ताकी कृपा प्राप्त करनेके लिये

उचित रीतिसे राजकीय नियमोंका पालन करते हुए राज्यपदाधिकारियोंको प्रसन्न करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जगत्सञ्चालिका सूक्ष्म दैवी सत्ताकी कृपा प्राप्त करनेके लिये दैवी राज्यपदाधिकारी विभिन्न देवी-देवताओंको प्रसन्न करनेके लक्ष्यसे उनके अनुकूल नियमोंका पालन करना आवश्यक होता है। विभिन्न देवी-देवताओंकी आराधनाके विधान शास्त्रोंमें इसीलिये कहे गये हैं कि उनका स्वभाव समझकर उनके अनुकूल उपासना करके मनुष्य उनकी प्रसन्नता प्राप्त करके अपनी उन्नतिका मार्ग प्रशस्त कर सके और ऐसे कार्य न करे, जिससे उनकी अप्रसन्नता होती है।

वेद-शास्त्रका अनुशासन है कि अन्त्यज आदि जातियोंके प्रवेशसे वैदिक मन्दिर दूषित हो जाते हैं, उनकी देव-प्रतिमाओंमें देव-कलाकी हानि होती है और इन देवत्व-विहीन प्रतिमाओंमें भूत-प्रेत आदि आसुरी शक्तियोंका वास हो जाता है और इन भूत-प्रेतनिवासित प्रतिमाओंके पूजनसे आसुरी शक्तियाँ पुष्ट होती हैं और कलह, क्रोध, द्वेष आदि आसुरी भावोंकी वृद्धि होती है तथा बीमारी, अजारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, काल, भूकम्प आदिका प्रकोप होकर राजा-प्रजाका क्षय होता है। क्या किसी शासनसत्ताका बल है कि इस दैवी विधानको बदल सके ?

यह हो सकता है कि हिंदू-संस्कृतिके अभिमानी सत्प्रचारकोंको शासन-सत्ताके बलपर जेलोंमें बंद करके रक्खा जाय और शासनाधिकारी स्वच्छन्द रूपसे हिंदू-संस्कृति, हिंदू-धर्म और भारतकी प्राचीन परम्पराओंके विरुद्ध समानताके नामपर मन्दिर आदि पवित्र स्थानोंमें और सर्वत्र भ्रष्टाचार फैलायें; किंतु क्या इसके परिणाममें हुए दैवी प्रकोपको भी कोई रोक सकेगा ? रावण भारतीय था, ब्राह्मण था, वेद-शास्त्रका ज्ञाता विद्वान् था, बलशाली था और भगवान् शङ्करका कृपापात्र भक्त था; किंतु जब उसने हिंदू-संस्कृतिपर प्रहार किया, गो-ब्राह्मणोंको सताया, उनके धर्ममें हस्तक्षेप किया, महर्षियोंके दैवी यज्ञानुष्ठानोंको भ्रष्ट किया, धार्मिकोंका आचार-विचार नष्ट किया, तब उसके परिणाममें हुए दैवी प्रकोपको क्या वह रोक सका ? रावण स्वयं नष्ट हो गया, पर हिंदू-संस्कृतिको वह विनष्ट नहीं कर सका। इसलिये स्वतन्त्र भारतके शासनाधिकारियोंको हम सचेत कर देना चाहते हैं कि हिंदू-संस्कृति या वर्णाश्रम-व्यवस्था दैवी जगत्से सम्बद्ध है, इसलिये इसमें छेड़-छाड़ करनेका परिणाम उनके लिये और देशके लिये अच्छा नहीं होगा। उन्हें निश्चय रखना चाहिये कि इस प्रकारके उनके व्यवहारसे दैवी प्रकोप निश्चित है, चाहे वह जिस रूपमें और जब प्रकट हो।

स्वतन्त्र भारत, भारतीय शासन-सत्ता और भारतीय प्रजाके सर्वविध कल्याणकी दृष्टिसे वर्तमान शासनाधिकारियोंको इस धर्मपीठसे संक्षेपमें हमारा यही सत्परामर्श है कि—

(१) स्वतन्त्र भारतकी शासनप्रणाली हिंदू-संस्कृतिके अनुकूल रामराज्य-जैसी हो। यदि ऐसा न हो सके तो शासननीति कम-से-कम ऐसी हो, जो हिंदू-संस्कृतिकी घातक न हो।

शासनाधिकारी यदि उपनिषद्को सर्वोच्च दर्शन मानते हैं और गीतापर गौरव रखते हैं तो उनके सिद्धान्तोंका सक्रिय रूप हिंदू-संस्कृति या वर्णाश्रम-धर्मव्यवस्था भी मान्य होनी चाहिये। अन्यथा गीता और उपनिषद्के गौरवगीत गानेका क्या मूल्य है। और—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

....

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

यह गीताका ही उपदेश है। इसके अतिरिक्त शासनाधिकारियोंको यदि गीता और उपनिषद्के सिद्धान्त मान्य न भी हों, तो भी जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तकी रक्षाकी दृष्टिसे उन्हें भारतदेशके निवासी बहुसंख्यक हिंदुओंकी सांस्कृतिक वर्णाश्रम धर्मव्यवस्थाका सम्मान ही करना चाहिये। उनके द्वारा हिंदू-संस्कृतिपर आघातके प्रयत्न उनके लिये लज्जाकी बात है।

(२) राजकीय कानूनोंद्वारा अन्त्यज आदिकोंको वैदिक मन्दिरोंमें प्रवेश कराकर देशमें दैवी प्रकोप न बढ़ाया जाय।

(३) राजकीय कानूनद्वारा गोवध यथाशीघ्र बंद कराकर देशमें बढ़ता हुआ दैवी प्रकोप रोका जाय।

(४) छुआछूतका भेद मिटाने और वर्गहीन समाजका निर्माण करनेके लक्ष्यसे हिंदू-संस्कृतिके अति महत्त्वपूर्ण अङ्ग

शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पृश्यास्पृश्य-विवेकको राजकीय कानूनों-द्वारा नष्टकर हिंदू-जातिको पतनोन्मुख बनानेका प्रयत्न न किया जाय।

(५) सगोत्र-विवाह, असवर्ण-विवाह, तलाकादि पाप-पूर्ण कुकृत्योंको कानूनी प्रोत्साहन देकर हिंदू-संस्कृतिकी रज-वीर्य-शुद्धिमूलक व्यवस्थाको भ्रष्ट करके देशमें वर्णसंकर-सृष्टिकी वृद्धिद्वारा राष्ट्रके सर्वनाशका बीज न बोया जाय।

(६) देशमें वर्गहीन, जातिहीन समाज-निर्माणके लक्ष्यसे हिंदू-संस्कृतिको शिथिल करनेके लिये कूटनीतिमय राजकीय षड्यंत्र रचकर अपने चरणोंपर कुठाराघात न किया जाय।

(७) प्रत्यक्ष रूपसे हिंदू-संस्कृति-घातक हिंदूकोड आदि बिलोंको समाप्त कर दिया जाय और भविष्यमें ऐसी कुत्सित योजनाओंको राजकीय प्रोत्साहन न दिया जाय। इसीमें राष्ट्रकी भलाई है।

हिंदू-संस्कृतिके रक्षक भगवान्

हिंदू-संस्कृतिका मूल आधार सनातन अपौरुषेय वेद जिनका अङ्गरूप निःश्वासभूत तत्त्व है, वे ही कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ सर्वशक्तिमान् भगवान् हिंदू-संस्कृतिके जनक हैं और वे ही सदा इसके रक्षक रहे हैं। जब-जब हिंदू-संस्कृतिके धारक, पोषक एवं संवर्धक सनातन वैदिक धर्मका ह्रास भारतखण्ड या हिंदुस्थानमें हुआ, तब-तब किसी-न-किसी रूपमें प्रकट होकर उन्होंने अपनी इस प्रतिज्ञाका पालन किया ही है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

राम-कृष्ण-नृसिंहादि अवतारोंका इतिहास किसीसे छिपा नहीं है। बौद्धकालमें हिंदू-संस्कृतिका ह्रास होनेपर शङ्करावतार भाष्यकार भगवान् आदि-शङ्कराचार्यका प्रादुर्भाव प्रत्यक्ष ही है। इसलिये हिंदू-संस्कृतिके रक्षक स्वयं भगवान् हैं, यह निर्विवाद सिद्धान्त है। हिंदू-जाति अतीत कालसे इसका अनुभव करती आ रही है। अन्य संस्कृतियोंसे प्रभावित मस्तिष्कोंमें यह बात भले ही संगत प्रतीत न हो; किंतु हिंदुओंके लिये यह अनुभूत सत्य है।

इसलिये धार्मिकोंके प्रति इस धर्मपीठसे हमारा यही कथन है कि वर्तमान समयमें सनातनधर्म-विरुद्ध, हिंदू-संस्कृतिघातक प्रवाहको बढ़ते हुए देखकर निराश नहीं होना चाहिये। इस प्रकारकी आँधियाँ आया ही करती हैं। ऐसे झकोरे सनातनधर्मियोंने बहुत सहे हैं। यह प्रसन्नताकी बात है कि यह प्रवाह जिन लोगों (पाश्चात्यों) के सम्पर्कसे आया है, उनकी आचार-विचारशैलीका प्रभाव देशमें अब क्रमशः शिथिल होता जा रहा है और राजनैतिक नेतृवृन्दको भी किसी अंशमें अपनी प्राचीन संस्कृतिका गौरव स्मरण होने लगा है। कुछ समयमें व्यवस्था सुधरनेकी आशा की जा सकती है; किंतु जब आँधी आवे, तब सावधान हो जाना चाहिये। जो सावधान नहीं होता, वह प्रवाहमें उड़ जाता है और कहीं खाई-खंदकमें गिरकर नष्ट हो जाता है। इसलिये सावधान होकर अपने वर्ण और आश्रमका गौरव जाग्रत् रखकर यथासाध्य तदनुकूल व्यवहार सम्पादन करते हुए और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌का भजन, पूजन, चिन्तन करते हुए समयको बिताना चाहिये।

अपना कर्तव्य पालन करते चलो। परिस्थितियोंको देखकर भय खाने और व्यग्र होनेकी आवश्यकता नहीं है। परमात्मा सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और विश्वम्भर है। वही भारतीय संस्कृतिके प्राण—धर्मका संरक्षक है। उसने सदा इसकी रक्षा की है और आगे भी रक्षा करता हुआ अपने अनुयायियोंका सर्वविध कल्याण करेगा।

भगवान्‌के भक्तका लक्षण

न चलति निजवर्णधर्मतो यः सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे।
न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः सितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥ (विष्णुपु० ३।७।२०)

यमराज कहते हैं—जो पुरुष अपने वर्णधर्मसे विचलित नहीं होता, अपने सुहृद् और विपक्षियोंमें समान भाव रखता है, किसीका धन हरण नहीं करता, न किसी जीवको मारता ही है, उस अत्यन्त रागादिशून्य और निर्मलमन व्यक्तिको भगवान् विष्णुका भक्त जानो।

हिंदू-भारतकी स्तुति

(१)

ए हो देश भारत ! हमारे तुम प्यारे देव, महिमा अपार, तीन लोकसे उपरि हो;
गोदमें तुम्हारी जन्म चाहते समोद सुर, तुम भवसिन्धुसे उतारनेको तरि हो ।
काशीमें वृषध्वज, पुरीमें गरुडध्वज हो; शीश-पदतलमें भी धारे सुरसरि हो;
राका-से सुगौर-धाम, श्याम त्यों अमा-से तुम; जान पड़ता है नहीं, हर हो कि हरि हो ॥

(२)

अमित-महिम हिमगिरिका मुकुट माथ, सागर पखारता चरण लहराता है;
हास काशमीर, हीर-हार नदियोंकी धार, पञ्चनद-रव पाञ्चजन्य-सा सुहाता है ।
नव वनमालासे अलंकृत विशाल वक्ष, गौरव गदाका लिये विन्ध्यगिरि भाता है;
चक्र चित्रभानु, शक्र मस्तक झुकाता सदा, भारत अनूप विष्णुरूप छवि पाता है ॥

(३)

शारद प्रदेश मुख, अवध-विहार उर, दायाँ हाथ सिंध, वंग बायाँ हाथ प्यारा है;
गङ्गा-गोमतीने, गंडकीने, गौतमीने जिसे निज जलधार-हार देकर सँवारा है ।
मध्यम प्रदेश नाभिदेश है सुहाता, कटि किङ्किणी समान नर्मदाकी अम्बुधारा है;
आन्ध्र औ द्रविड, महाराष्ट्र हैं चरण; विश्व-वन्दित अखण्ड यही भारत हमारा है ॥

(४)

नव घन-मण्डलके भरित कमण्डलमें गङ्गवारि पावस तुम्हें ला नहलाती है;
शरद पिन्हाकर प्रफुल्ल पंकजोंके हार, चन्द्र-रश्मियोंके चारु चन्दन चढ़ाती है ।
पूजती हिमानी हिमविन्दु-मौक्तिकोंसे तुम्हें, शिशिर पदोंमें पत्र-पुष्प वरसाती है;
मधु ऋतु आती, मधुरसका लगाती भोग; तप्त ग्रीष्म ऋतु तुम्हें तपसे रिझाती है ॥

(५)

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षका निधान तू है; चार धाम, सप्त पुरियोंका तू सहारा है;
तू ही मातृभूमि, पितृभूमि और तीर्थभूमि; तूने कितनोंको यहाँ तारा है, उबारा है ।
तू है धर्म-क्षेत्र, तू ही कर्मक्षेत्र भी है; तेरे अङ्कमें अजन्मा प्रभुने भी जन्म धारा है;
वन्दनीय देश ! नन्दनन्दनका रूप मान तेरे चरणोंमें अभिवन्दन हमारा है ॥

—'राम'

सनातन संस्कृति-रक्षा

(अनन्तश्रीविभूषित परमहंसपरिव्राजकाचार्य पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य श्रीजगद्गुरु स्वामी श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी श्रीद्वारका-शारदापीठाधीश्वर महाराजका उपदेश)

त्रयीवेद्यं हृद्यं त्रिपुरहरमाद्यं त्रिनयनं
जटाभारोदारं चलदुरगहारं मृगधरम् ।
महादेवं देवं मयि सदयभावं पशुपतिं
चिदालम्बं साम्बं शिवमतिविडम्बं हृदि भजे॥

अनन्तसंसारसमुद्रतारनौकायिताभ्यां स्थिरभक्तिदाभ्याम् ।
वैराग्यसाम्राज्यदपूजनाभ्यां नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥

सनातन संस्कृति इतर सभी संस्कृतियोंसे श्रेष्ठ है तथा अनादि और अनन्त भी है । दूसरी संस्कृतियाँ सनातन संस्कृतिका अंश लेकर ही जीवित हैं । संस्कृतिका जन्मस्थान होनेके कारण भारतवर्षका माहात्म्य विश्वमें प्रख्यात है । ऐसी सर्वादरणीय आर्य भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है । विशेषतः आज तो उसकी प्रशंसा करनेकी अपेक्षा रक्षा करनेकी आवश्यकता ही अधिक है । अतः उस सनातन भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करनेके लिये तथा आत्मकल्याणके लिये निम्नलिखित सिद्धान्तोंपर ध्यान देना और उनका यथावत् अनुसरण करना प्रत्येक भारतीयके लिये अवश्यकर्तव्य और श्रेयस्कर है—

१. स्वधर्मपर महान् प्रेम रखो और यथाशक्ति धर्मका पालन करो । धर्मका यथावत् पालन करनेसे सुख, स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्त होते हैं । यह बात निश्चय करके मानो ।

२. तुम्हारे धर्मका नाम 'सनातन धर्म' है । यह धर्म किसी मानवका चलाया हुआ मत अथवा पंथ नहीं । यह तो सनातन प्रभुका सनातन धर्म है ।

३. जगत्कर्ता परमेश्वरने सूर्य, चन्द्रमा, मेघ, जल, पवन, पृथ्वी, वृक्ष, ओषधि, अन्न, पशु, पक्षी, मनुष्य आदिको बनाया तथा साथ-साथ इन सबका धर्म भी बनाया । धर्मके बिना किसीका अस्तित्व ही टिक नहीं सकता ।

४. धैर्य, क्षमा, सत्यभाषण, अहिंसा, सर्वप्रकारसे पवित्रता तथा स्वच्छता, मन तथा इन्द्रियोंका नियन्त्रण, भिन्न-भिन्न विद्याओं और कलाओंका शिक्षण, विवेकपूर्वक कार्यसम्पादन, क्रोध न करना, अस्तेय (चोरी न करना), मादक वस्तुओंका त्याग, ईश्वर-भक्ति, परलोकविषयमें ध्यान, माता-पिता, गुरु तथा वृद्धोंका आज्ञापालन, जन्म-भूमिकी सेवा, परस्त्रीमात्रमें मातृबुद्धि—ये सब सामान्य धर्म हैं । विशेष धर्ममें स्त्रियोंका धर्म, पुरुषोंका धर्म, पिताका धर्म, पुत्रका धर्म, राजाका धर्म, प्रजाका धर्म, गुरुका धर्म, शिष्यका धर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, युगधर्म, देशधर्म तथा अन्य भिन्न-भिन्न आपद्धर्म आदि हैं ।

५. धर्मको जाननेके लिये धर्मशास्त्रोंका अध्ययन करो अथवा सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणद्वारा धर्म-वार्ता श्रवण करो । चार वेद, दस उपनिषद्, छः दर्शन, अठारह स्मृतियाँ, अठारह पुराण, रामायण तथा महाभारत इत्यादि हमारे प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रन्थ हैं ।

६. गणेश, शिव, विष्णु, सूर्य और जगदम्बा—ये पाँच हमारे पूजनीय देवता हैं और परब्रह्म परमात्मा सर्वोपरि इष्ट-देवता हैं । ये सब देवता इन परब्रह्म परमात्माके ही लीलारूप हैं । एवं इन परमात्माके भी अनेक अवतार होते हैं ।

७. जिस कुलमें परम्परासे जिस देवताको इष्टदेवके रूपमें माना जाता है, उस कुलमें उसी देवताकी विशेष आराधना होनी चाहिये; परंतु अन्य किसी भी देवताकी निन्दा नहीं करनी चाहिये । प्रत्युत दूसरे सम्प्रदायके भक्तोंके साथ प्रेमका ही व्यवहार करना चाहिये ।

८. संसारके सब कार्य एक ओर रखकर सर्वप्रथम भगवान्का भजन करना आवश्यक है । यदि तुमने विश्वमें समस्त कार्य किये, किंतु भगवान्का भजन नहीं किया, तो मानव-शरीर पाकर क्या लाभ प्राप्त किया ? कुछ भी नहीं ।

९. आलस्य छोड़कर आगे बढ़नेका कार्य करो । अपनी कमाईमेंसे अच्छे पात्रोंको दान करो ।

१०. अपने जीवनको पवित्र एवं सुखी बनानेके लिये मादक वस्तुओं तथा अन्य दुर्व्यसनोंसे बचे रहो । बीड़ी, सिगरेट, भाँग, गाँजा, अफीम, शराब आदि धर्म, धन तथा आरोग्य आदिका नाश करनेवाले हैं; अतः उनका त्याग करनेसे ही तुम भगवान्के भक्त बन सकोगे ।

११. दूसरोंकी हानि न करो; परंतु तुम्हारे देश, धर्म, जाति तथा मानको यदि कोई हानि पहुँचाता हो तो उसको किसी भी धर्मसङ्गत उपायसे सन्मार्गपर लानेका प्रयत्न करो । स्वयं अत्याचार करना जितना पाप है, उतना ही पाप दूसरोंके द्वारा किये गये अत्याचार सहनेमें होता है; अतः धीर होकर पुरुषार्थ करो ।

१२. सदा देव-दर्शन, शास्त्रश्रवण, भगवदुपासना, पितृतर्पण, अतिथि-सत्कार, सत्संग तथा स्ववर्णाश्रमोचित सन्ध्या आदि सत्कर्म किया करो ।

संस्कृति-विमर्श

(अनन्तश्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके साथ भारतीय संस्कृतिकी रक्षा और उसके प्रचारकी चर्चा चल पड़ी—यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। वास्तवमें किसी देश या राष्ट्रका प्राण उसकी संस्कृति ही है; क्योंकि यदि उसकी कोई अपनी संस्कृति नहीं, तो संसारमें उसका अस्तित्व ही क्या। परंतु संस्कृतिका क्या अर्थ है और भारतीय संस्कृति क्या है—यह नहीं बतलाया जाता। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर'का अनुवाद संस्कृति किया जाता है। परंतु 'संस्कृति' संस्कृतभाषाका शब्द है, अतः संस्कृत-व्याकरणके अनुसार ही इसका अर्थ होना चाहिये। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे भूषण अर्थमें 'सुट्'आगम-पूर्वक 'क्तिन्' प्रत्यय होनेसे 'संस्कृति' शब्द सिद्ध होता है। इस तरह लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदयके उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कारादिकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें ही संस्कृति हैं।

संस्कृति और संस्कार

'संस्कार' या 'संस्करण' का भी संस्कृतिसे मिलता-जुलता अर्थ होता है। संस्कार दो प्रकारके होते हैं—'मलापनयन' और 'अतिशयाधान'। किसी दर्पणपर कोई चूर्ण घिसकर उसका मल साफ करना 'मलापनयन-संस्कार' है। तैल, रंगद्वारा हस्तीके मस्तक या काष्ठकी किसी वस्तुको चमकीला तथा सुन्दर बनाना 'अतिशयाधान-संस्कार' है। नैयायिकोंकी दृष्टिसे वेग, भावना और स्थितिस्थापक—ये ही त्रिविध संस्कार है। अनुभवजन्य स्मृतिका हेतु 'भावना' है। अन्यत्र किसी भी शिल्पादिमें बार-बार अभ्यास करनेसे उत्पन्न कौशलकी अतिशयता ही भावना मानी गयी है—

> तत्तज्जात्युचिते शिल्पे भूयोऽभ्यासेन वासना।
> कौशलातिशयाख्या या भावनेत्युच्यते हि सा॥

स्वाश्रयकी प्रागुद्भूत अवस्थाके समान अवस्थान्तरोत्पादक अतीन्द्रिय धर्म ही 'संस्कार' है—

> स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरोत्पादकोऽतीन्द्रियो धर्मः संस्कारः।

योगियोंकी दृष्टिमें न केवल मानस सङ्कल्प, विचार आदिसे ही, अपितु देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदिकी सभी हलचलों, चेष्टाओं, व्यापारोंसे संस्कार उत्पन्न होते हैं। अतएव 'कर्मसंस्कार' या 'कर्मवासना' शब्दसे उनका व्यवहार होता है। इस दृष्टिसे सम्यक्-असम्यक् सभी प्रकारके कर्मोंसे संस्कार उत्पन्न होते हैं।

संस्कारोंका प्रभाव

संस्कारोंसे आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है। इसलिये उत्तम और निकृष्ट संस्कार—इस रूपसे संस्कारोंमें उत्कृष्टता या निकृष्टताका भी व्यवहार होता है। षोडश एवं अष्टचत्वारिंशत् संस्कारोंद्वारा आत्मा अथवा अन्तःकरणको संस्कृत करना चाहिये—यह भी शास्त्रका आदेश है—

> यस्यैते अष्टचत्वारिंशत् संस्कारा भवन्ति स ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां प्राप्नोति।

यहाँ 'सम्'की आवृत्ति करके 'सम्यक् संस्कार' को ही संस्कृति कहा जाता है। इन सम्यक् संस्कारोंका पर्यवसान भी मलापनयन एवं अतिशयाधानमें होता है। कुछ कर्मोंद्वारा पाप, अज्ञानादिका अपनयन और कुछद्वारा पवित्रता, विद्या आदि अतिशयताका आधान किया जाता है। साधारणतः दार्शनिकोंके यहाँ यह सब आत्मामें होता है, पर वेदान्तकी दृष्टिसे अन्तःकरणमें। आत्मा तो सर्वथा असङ्ग ही रहता है। मोटे तौरपर कह सकते हैं कि जैसे खानसे निकले हुए हीरक एवं मणि आदिमें संस्कारद्वारा चमक या शोभा बढ़ायी जाती है, वैसे ही अविद्या-तत्कार्यात्मक प्रपञ्चमग्न स्वभावशुद्ध अन्तरात्माकी शोभा संस्कारोंद्वारा व्यक्त की जाती है। तथाच आत्माको प्राकृत निम्न स्तरोंसे मुक्त करके क्रमेण ऊपरी स्तरोंसे सम्बन्धित करने या प्रकृतिके सभी स्तरोंसे मुक्त करके उसे स्वाभाविक अनन्त आनन्दसाम्राज्य-सिंहासनपर समासीन करनेमें आत्माका संस्कार है। ऐसे संस्कारोंके उपयुक्त कृतियाँ ही 'संस्कृति' शब्दसे कही जा सकती हैं। जैसे वेदोक्त कर्म और कर्मजन्य अदृष्ट दोनों ही 'धर्म' शब्दसे व्यवहृत होते हैं, वैसे ही संस्कार और संस्कारोपयुक्त कृतियाँ दोनों ही 'संस्कृति' शब्दसे कही जा सकती है। इस तरह सांसारिक निम्नस्तरकी सीमाओंमें आबद्ध आत्माके उत्थानानुकूल सम्यक् भूषणभूत कृतियाँ ही 'संस्कृति' हैं।

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति और सभ्यतामें कोई भी खास अन्तर नहीं है। सम्यक्कृति ही संस्कृति है और सभामें साधुता ही सभ्यता है। आचार-विचार, रहन-सहन, बोल-चाल आदिकी सम्यक्ता या साधुताका निर्णय शास्त्रसे ही हो सकता है। वेदादि शास्त्रद्वारा निर्णीत सम्यक् एवं साधु चेष्टा ही सभ्यता है और वही संस्कृति भी है।

विभिन्न संस्कृतियाँ

विभिन्न देशों और जातियोंकी विभिन्न संस्कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। संस्कृतियोंमें प्रायः सङ्घर्ष भी चलता है—कहीं तो संस्कृतियोंकी खिचड़ी बन जाती है और कहीं एक सबल संस्कृति निर्बल संस्कृतिका विनाश कर देती है। संस्कृतिका भूमिके साथ सम्बन्ध होनेसे ही उसमें विभिन्नता आती है। किसी देशके जल-वायुका प्रभाव वहाँके निवासियोंके आचार-विचार, वेष-भूषा, भाषा-साहित्य आदिपर पड़ता ही है। कुछ पाश्चात्य विद्वानोंने तो इसी प्रभावको प्राधान्य दिया है। कुछ विद्वानोंका मत है कि 'किसी राष्ट्रके किसी असाधारण बड़प्पनके गर्वको ही संस्कृति कहना चाहिये। उदाहरणार्थ—इंग्लैंडके लोगोंको सबसे बड़ा गर्व अपनी 'पार्लमेंट्री शासनप्रणाली'के आविष्कारके लिये है। अमरीकाको गर्व है कि उसने संसारमें स्वतन्त्रताकी पताका फहरायी और दो महायुद्धोंमें विश्वको स्वतन्त्रताका वरदान दिया। हिटलरने जर्मनीमें आर्यत्वके विशुद्ध रुधिरका गर्व उत्पन्न किया। अतः उनकी यह विशेषता ही उनकी संस्कृतिका आधार है।' किसी अंशमें ये सब भाव ठीक हैं; परंतु संस्कृतिकी ऐसी परिभाषाएँ अन्धोंद्वारा किये गये हाथीके वर्णन-जैसी हैं।

धर्म और संस्कृति

धर्म और संस्कृतिमें इतना ही भेद है कि धर्म केवल शास्त्रैकसमधिगम्य है और संस्कृतिमें शास्त्रसे अविरुद्ध लौकिक कर्म भी परिगणित हो सकता है। युद्ध-भोजनादिमें लौकिकता, अलौकिकता—दोनों ही हैं। जितना अंश लोकप्रसिद्ध है, उतना लौकिक है; जितना शास्त्रैकसमधिगम्य है, उतना अलौकिक है। अलौकिक अंश धर्म है, धर्माविरुद्ध लौकिक अंश धर्म्य है। संस्कृतिमें दोनोंका अन्तर्भाव है।

संस्कृतिका आधार

एक परिभाषा, लक्षण एवं आधार स्वीकृत किये बिना संस्कृति क्या है—यह समझमें नहीं आ सकता। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि संस्कृतिका लक्ष्य आत्माका उत्थान है। जिसके द्वारा इसका मार्ग बतलाया जाय, वही संस्कृतिका आधार हो सकता है। यह विभिन्न जातियोंके धर्म-ग्रन्थोंद्वारा ही बतलाया जाता है। उनके अतिरिक्त किन्हीं भी चेष्टाओंकी भूषणता-दूषणता, सभ्यता या असभ्यताका निर्णायक या कसौटी और हो ही क्या सकता है। यद्यपि सामान्यरूपसे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके धर्मग्रन्थोंके आधारपर विभिन्न संस्कृतियाँ निर्णीत होती हैं, तथापि अनादि, अपौरुषेय ग्रन्थ वेद ही हैं। अतः वेद एवं वेदानुसारी आर्ष धर्म-ग्रन्थोंके अनुकूल लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयसोपयोगी व्यापार ही मुख्य संस्कृति है और वही हिंदू-संस्कृति, वैदिक संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति है। सनातन परमात्माने अपने अंशभूत सनातन जीवात्माओंको सनातन अभ्युदय एवं निःश्रेयस—परमपद प्राप्त करानेके लिये जिस सनातन मार्गका निर्देश किया है, तदनुकूल संस्कृति ही सनातन वैदिक संस्कृति है और वह वैदिक सनातन हिंदू-संस्कृति ही सम्पूर्ण संस्कृतियोंकी जननी है। डेढ़-दो हजार वर्षोंकी अर्वाचीन विभिन्न संस्कृतियाँ भी इसी सनातन संस्कृतिके कतिपय अंशोंको लेकर उद्भूत हुई हैं। यही कारण है कि विभिन्न देशोंकी विभिन्न संस्कृतियोंमें वैदिक संस्कृतिके विकृत एवं अविकृत अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। उसी सनातन संस्कृतिका पूजक हिंदू है। जैसे इस्लाम-संस्कृति और मुस्लिम-जातिका आधार 'कुरान' है, वैसे ही वैदिक सनातन संस्कृति एवं हिंदू-जातिका आधार वेद एवं तदनुसारी आर्ष धर्म-ग्रन्थ हैं।

भारतीय संस्कृति

इसमें सन्देह नहीं कि भारतमें कई विदेशी जातियाँ आयीं और बस गयीं। भारतीयोंके आचार-विचार, रहन-सहन आदिपर उनका कुछ प्रभाव भी पड़ा। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृतिका आधार ही बदल गया। भारत हिंदुओंका देश है, अतः उन्हींकी 'संस्कृति' 'भारतीय संस्कृति' है, जिसके मूलस्रोत वेदादि शास्त्र हैं। अतएव लौकिक-पारलौकिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक उन्नतिका वेदादिशास्त्रसम्मत मार्ग ही भारतीय संस्कृति है। दर्शन, भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, कला आदि संस्कृतिके सभी अङ्गोंपर वेदादिशास्त्रमूलक सिद्धान्तोंकी ही छाप है। बाहरी प्रभाव उससे पृथक् दीख पड़ता है। इस सम्बन्धमें एक बात और विचारणीय है। संसारके प्रायः

सभी देशोंकी प्राचीन संस्कृतियोंमें भारतीय संस्कृतिकी कितनी ही बातें विकृतरूपमें पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ—किसी-न-किसी रूपमें वर्णव्यवस्था सभी जगह मिलती है। विभिन्न देशोंके प्राचीन ग्रन्थोंमें यज्ञ-यागादिकी भी चर्चा आती है। दर्शनशास्त्र तो व्यापकरूपमें फैला हुआ है। ये सब बातें वहाँ कैसे पहुँचीं, यह दूसरा प्रश्न है। पर इतना तो सिद्ध ही है कि इन सबका सम्बन्ध हिंदू-संस्कृतिसे है—एतावता यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह हिंदू-संस्कृति है। भारतकी भूमिसे भी उसका सम्बन्ध है। जो बड़प्पनके गर्वकी बात कही जाती है, उसका भी अनुभव उसी संस्कृतिमें होता है। इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे यही मानना पड़ता है कि हिंदू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। यह मान लिया जाय तो विवादका अवसर ही नहीं रहता; क्योंकि हिंदू-संस्कृतिकी सीमा हिंदू-धर्मशास्त्रोंमें निर्धारित है। उनके द्वारा हमें उसके आधारभूत सिद्धान्तों और उसके विकसित रूपका सम्पूर्ण चित्र मिल सकता है।

हिंदू

परंतु आजकल वास्तविकतासे दूर हटकर अधिकाधिक संख्या बढ़ानेकी दृष्टिसे 'हिंदू' शब्दकी परिभाषा की जाती है। अतएव कई लोग वेद न माननेवालेको भी 'हिंदू' सिद्ध करनेके लिये—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

—ऐसी परिभाषा करते हैं; परंतु इस परिभाषाकी भी अति-व्याप्ति होती है। इसके अतिरिक्त भावनाकी दृढ़ताका कोई आधार नहीं रहता।

गोषु भक्तिर्भवेद्यस्य प्रणवे च दृढा मतिः।
पुनर्जन्मनि विश्वासः स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

—यह परिभाषा अभीष्ट समाजोंमें अनुगत हो जाती है। गोमातामें जिसकी भक्ति हो, प्रणव जिसका पूज्य मन्त्र हो, पुनर्जन्ममें जिसका विश्वास हो—वही हिंदू है। यह सिख, जैन, बौद्ध, वैदिक—सबमें घट जाती है। परंतु वेदोंके 'सिन्धवः', 'सप्तसिन्धवः' इत्यादि प्रयोगों और 'सरस्वती', 'हरस्वती' आदि प्रयोगोंकी दृष्टिसे तथा 'कालिकापुराण', 'मेदिनीकोष' आदिके आधारपर वर्तमान 'हिंदू ला' के मूलभूत आधारोंके अनुसार वेद-शास्त्रप्रतिपादित रीतिसे वैदिक धर्ममें विश्वास रखनेवाला हिंदू है। हिंदू-संस्कृतिकी दृष्टिसे अनादि परमेश्वरसे अनेक प्रकारका सङ्कोच और विकास होता रहता है। ईश्वररहित जडविकासवाद, जिसके अनुसार जडप्रकृतिसे ही चैतन्यका विकास होता है और जिस विकासवादकी दृष्टिसे अभीतक सर्वज्ञ ईश्वर और शास्त्र विकसित ही नहीं हुआ, वह सर्वथा अमान्य है। आध्यात्मिकता और धार्मिकतासे विहीन साम्यवाद, समाजवाद आदि भी हिंदू-संस्कृतिमें नहीं खप सकते।

खिचड़ी संस्कृति

आजकलके कुछ नेता कई संस्कृतियों, विशेषतः हिंदू-मुस्लिम-संस्कृतिके मिश्रित रूपको ही भारतीय संस्कृति मानते हैं। इसीको 'हिंदुस्तानी संस्कृति' का नाम भी दिया जाता है। किंतु इसे भारतीय संस्कृति कदापि नहीं कहा जा सकता। न इसका कोई आधार है और न कोई स्पष्ट रूप। प्रायः देखा तो यह गया है कि जहाँ-जहाँ भारतीय संस्कृतिके किसी अङ्गपर विदेशी प्रभाव पड़ा, वहीं उसमें निकृष्टता आ गयी। दर्शन, कला, साहित्य आदि सभीमें यह दिखलाया जा सकता है। नेताओंने 'इण्डियन यूनियन' (भारतसङ्घ) को सेक्युलर स्टेट (धर्मनिरपेक्ष राज्य) घोषित करके अनेक बार यह आश्वासन भी दिया है कि सबकी संस्कृतिकी रक्षा की जायगी, किसी संस्कृतिपर हस्तक्षेप न किया जायगा। कई नेताओंने यह भी कहा है कि 'रंग-बिरंगे पुष्पों या हीरोंद्वारा जैसे मालाकी शोभा बढ़ती है, वैसे ही अनेक धर्मों और संस्कृतियोंका यदि एक सूत्रमें सङ्ग्रथन हो तो उससे राष्ट्रकी शोभा बढ़ेगी, घटेगी नहीं। अतः किसी पुष्प, हीरक या उसके रंगके बिगाड़नेकी अपेक्षा नहीं।' ऐसी स्थितिमें संस्कृतिकी खिचड़ी कहाँतक ठीक है! हिंदू-जाति, हिंदू-संस्कृति, हिंदू-धर्म, वेदादिशास्त्र, मन्दिर और राम-कृष्ण आदि समझमें आ सकते हैं; उसी तरह कुरान, मस्जिद, इस्लाम, अरबी-उर्दू भाषा भी समझमें आ सकती है। परंतु इन दोनोंको बिगाड़कर वेद-पुरान, कलमा-कुरान, मन्दिर-मस्जिद, अल्लाह-राम आदिको मिलाकर हिंदुस्तानी संस्कृति, हिंदुस्तानी भाषा आदि कथमपि समझमें नहीं आते। राम भी अच्छा, खुदा भी अच्छा; परंतु 'रमखुदेया' खतरेसे खाली नहीं। दीनदार, ईमानदार हिंदू या मुसल्मान—दोनों ही ठीक; बेदीन, बेईमान दोनों ही खतरनाक हो सकते हैं। अपने-अपने मूल धर्मों, संस्कृतियों एवं मूल शास्त्रोंपर विश्वास न रहेगा तो कृत्रिम संस्कृतियों और उनके कृत्रिम आधारोंपर विश्वास होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

अपना निर्माण करनेके लिये साधनका भेद और साध्यकी एकता परम अनिवार्य है।

व्यक्ति-निर्माण ही समाज-निर्माण और समाज-निर्माण ही विश्वके हितका मुख्य हेतु है। व्यक्ति-निर्माण संस्कृतियुक्त धर्म अर्थात् हिंदुत्वके बिना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

हिंदुत्व मानव-जीवनको गुणोंका विकास, सीमित उपभोग, सेवा और त्याग—इन चार भागोंमे विभाजित करनेके लिये प्रेरित करता है। प्रथम भाग और तीसरा भाग उपार्जन-काल है, उपभोग-काल नहीं। दूसरा भाग विषयानन्द और चतुर्थ भाग निजानन्द तथा प्रेमानन्दको प्रदान करता है। प्रथम भागमे मानव दीक्षा तथा शिक्षाद्वारा अपनेको सुन्दर बनाता है अर्थात् ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओंद्वारा सुशोभित करता है, जिससे समाज उसको स्थान देता है। द्वितीय भागमें अर्थ और कामकी वास्तविकताका अनुभव करनेके लिये धर्मानुकूल उपभोगमें प्रवृत्त होता है—अर्थात् न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थसे रोगी, बालक एवं सेवक तथा विरक्तकी सेवा करता है तथा अपनेसे योग्य सन्तान उत्पन्न कर पितृ-ऋणसे मुक्त होता है। तृतीय भागमे जितेन्द्रियतापूर्वक सेवाद्वारा समाजके ऋणसे मुक्त हो सत्यकी खोज करता है। चतुर्थ भागमे असत्यको त्याग अपनेमें ही अपने प्रीतमका अनुभव कर कृतकृत्य हो जाता है।

१. तप (धर्मार्थ कठिनाइयोंको प्रसन्नतापूर्वक सहन करना)।

२. व्रत (अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये दृढ़ संकल्प करना)।

३. प्रायश्चित्त (की हुई भूल पुनः न करना)।

४. प्रार्थना (अपनी निर्बलताओंको मिटानेके लिये व्यथित हृदयसे प्रेम-पात्रको पुकारना)।

—ये चारों ही हिंदुत्वके मुख्य अङ्ग हैं, जिनके बिना कोई भी प्राणी—चाहे वह किसी भी देश, जाति अथवा वंशका क्यों न हो—विकास नहीं पाता। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मानव-विकास हिंदुत्वके बिना सम्भव नहीं है।

जिससे किसीको भय न हो अर्थात् जिसके हृदयमें केवल प्रीतिकी गङ्गा लहराती हो तथा जिसका शरीर विश्वके काम आ गया हो एवं जिसका अहं अभिमानशून्य हो और जिसको किसीसे भय न हो—अर्थात् नित्य जीवन, नित्य रस, नित्य प्यार सतत उपलब्ध हो, वही हिंदू है।

प्रत्येक अहिंदू हिंदू हो सकता है। क्योंकि हिंदुत्व प्राप्त करनेके लिये केवल प्राप्त योग्यताका सदुपयोग करना है, जिसके करनेमें मानव सर्वथा स्वतन्त्र है।

प्राणी परिस्थिति-परिवर्तनमें भले ही परतन्त्र हो, पर उसके सदुपयोगमें लेशमात्र भी परतन्त्रता नहीं है। इसी कारण हिंदू-धर्मको अपना लेनेमें किसीको भी कठिनाई नहीं है। जो जिस अवस्थामें है, उसीके अनुरूप साधन निर्माण करके हिंदुत्व प्राप्तकर अभय हो जाओ—यही मानव-समाजके लिये हिंदू-संस्कृतिका जयघोष है।

कर्मकी भिन्नता एवं स्नेहकी एकता ही हिंदुत्वका गौरव है।

सांस्कृतिक परम्परा

(श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानुजसम्प्रदायाचार्य आचार्यपीठाधिपति श्रीराघवाचार्य स्वामीजी महाराजका उपदेश)

संस्कृति है मानवकी जीवन-शक्ति, प्रगतिशील साधनाओंकी विमल विभूति, राष्ट्रिय आदर्शकी गौरवमयी मर्यादा और स्वतन्त्रताकी वास्तविक प्रतिष्ठा। इस तथ्यका चिन्तन करते हुए भारतीय परम्पराने सदा संस्कृति-निष्ठाके मङ्गलमय मार्गको अपनाया। फलस्वरूप संस्कृति भारतभूमिके कण-कणमे व्याप्त है, भारतीय साहित्यके पद-पदमें ओत-प्रोत है और भारतीय इतिहासके प्रत्येक पृष्ठपर अङ्कित है। इसके अधिष्ठान एवं अनुष्ठानको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये अपेक्षित है सांस्कृतिक आचार्योंके उन आचरणोंका अनुशीलन और अनुसरण, जिनके द्वारा संस्कृतिके तत्त्वोंकी अभिव्यक्ति होती है। कहना न होगा कि भारतीय संस्कृतिके निर्वाहक इन आचार्योंने संस्कृतिको अलङ्कारोंसे अलङ्कृत करनेकी चेष्टा न कर उसके द्वारा अपने-आपको संस्कृत करनेका ही प्रयत्न किया। इसीका सुखद परिणाम यह निकला कि विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों एवं सैद्धान्तिक मतभेदोंके रहनेपर भी सांस्कृतिक परम्पराकी अविच्छिन्न गतिमें किसी प्रकारका अन्तर न पड़ सका। आत्मकल्याणके साधनोंमें विविधता आनेपर भी सर्वभूतहितकी भावनापर किसी प्रकारकी ठेस नहीं लगने पायी। उसी परम्पराके अनुसरण करनेमें सबका हित है।

हिंदू-संस्कृति

(श्रीभारतधर्ममहामण्डलके एक महात्माद्वारा लिखित)

आर्य-संस्कृति

इधर प्रचलित भाषाओंमें अंग्रेजी 'कल्चर' शब्दके लिये 'संस्कृति' शब्द व्यवहृत होने लगा है। 'पालिसी' शब्दकी तरह 'कल्चर' शब्दका भी अर्थ बहुत व्यापक होनेपर भी उसके लिये 'संस्कृति' शब्द अच्छा गढ़ा गया है। सम्-पूर्वक 'कृ' धातुसे भाव-अर्थमें 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर 'संस्कृति' शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है परम्परागत अनुस्यूत संस्कार। यह दर्शन-शास्त्रका सिद्धान्त है कि संस्कार-रूपी बीजके ही अनुसार कर्म-रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। हमारे जैसे पूर्व-संस्कार होंगे, वैसे ही हमारे कर्म बनेंगे। आर्योंकी प्राचीन रहन-सहन, आचार-व्यवहार, धर्म, कर्म, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था, शास्त्रीय सिद्धान्त, शिक्षा-प्रणाली आदि जिसके प्रधान-प्रधान अवलम्बन हों, वही आर्य-संस्कृति कही जा सकती है।

आर्यजातिके लक्षण

आचारोंसे ही जाति मानी जाती है। शास्त्र कहते हैं 'आचार-मूला जातिः' अर्थात् आचार देखकर जाति बनायी जा सकती है। आर्यजातिकी विशेषता यह है कि वह जीवन-यात्रा-निर्वाहमें रजोवीर्य-शुद्धिमूलक वर्ण-व्यवस्था तथा प्रवृत्तिरोधक और निवृत्तिपोषक आश्रम-व्यवस्था मानती है। इसीसे शास्त्रमें उसका लक्षण कहा गया है 'उभयोपेता आर्यजातिः।' अर्थात् वर्णधर्म और आश्रम-धर्मके लक्षण जिस जातिमें पाये जायँ, उसे आर्यजाति कहते हैं। आर्यजातिके शारीरिक-व्यापार मूलक आचार पृथ्वीकी अन्य सब जातियोंसे कुछ विलक्षण हैं। हमारी संस्कृतिका विचार करनेवालोंको यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि जिस मनुष्य-जातिमें रजोवीर्य-शुद्धिमूलक जातिभेदका सिद्धान्त, सतीत्वधर्ममूलक स्त्री-जातिकी पवित्रता, प्रवृत्तिमूलक ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम और निवृत्तिमूलक वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम-ऐसे धर्मके लक्षण पाये जाते हों, वही मनुष्यजाति आर्यजाति कहाती है। ये सब बातें आर्य (हिंदू)-संस्कृतिके मौलिक सिद्धान्त हैं। इसी प्रकार पुरुष-धर्म और नारी-धर्मके अधिकार आर्य-धर्ममें अलग-अलग माने गये हैं।

पुरुष और स्त्रीके विभिन्न धर्म

मनुष्य-सृष्टिमें पुरुष और स्त्री—ये दो विभाग हैं और दोनोंके धर्म भिन्न-भिन्न हैं। कैवल्य-प्राप्तिके लिये पुरुष स्वतन्त्र है; परंतु स्त्री पुरुष होनेकी अपेक्षा रखती है। वह पतिमें तन्मय होकर जब पुरुष होगी, तभी कैवल्य प्राप्त कर सकेगी। पुरुष स्वतन्त्र होनेसे उसका धर्म यज्ञ-प्रधान है, कैवल्य प्रदान करनेवाले ज्ञानका यज्ञके साथ साक्षात् सम्बन्ध है। यज्ञ-धर्म कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीन काण्डोंमें विभक्त है। स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

यज्ञप्रधानतामेति नृणां धर्म इति श्रुतिः।

नारी-धर्म एक विशेष धर्म है। आदिसृष्टि जब आदि-पुरुष परमात्मा और प्रकृति महामायाके सम्बन्धसे आरम्भ होती है, तब जीवकी प्रथमोत्पत्तिमें भी वे ही दो सत्ताएँ विद्यमान रहेंगी—इसमें कोई सन्देह नहीं है। उद्भिज्जादि जीवोंमें भी पुरुष और नारीकी दो स्वतन्त्र शक्तियाँ देख पड़ती हैं। मनुष्य-योनिमें पहुँचकर जीव जबतक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक नवीन संस्कार भी संग्रह नहीं कर सकता। सहज कर्म परिवर्तित भी नहीं होते, इस कारण साधारण स्त्री स्त्री होकर और पुरुष पुरुष होकर ही अग्रसर होता है। अद्वैत-भावके बिना कैवल्यकी प्राप्ति नहीं होती। वह स्थिति परम पुरुषके स्व-स्वरूपमें ही विद्यमान है। इस कारण कैवल्याधिगमके लिये पुरुषको आत्म-ज्ञानके अवलम्बन-से स्व-स्वरूपको प्राप्त करना होता है और स्त्रीको पुरुषमें तन्मयता प्राप्त करके पुरुषधारामें पहुँचनेपर आत्म-ज्ञानके अवलम्बनसे अद्वैत भावमय स्व-स्वरूपकी उपलब्धि करनी पड़ती है। इस प्रकार जब स्त्रीको अपनी धारा बदलनी पड़ती है, तब उसके लिये तपोधर्मका आश्रय लेना अनिवार्य है। स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

तपःप्रधानतामेति नारीधर्मो यतः सदा।

आदिसृष्टिसे ही स्वाभाविक संस्कार और सहज कर्मके अनुसार पुरुषधारा और स्त्रीधारा दोनों पृथक्-पृथक् प्रवाहित हुआ करती हैं। परमपुरुष स्वाधीन, निःसङ्ग तथा चेतन-स्वरूप है और मूलप्रकृति जडा, सङ्गकी अपेक्षा रखनेवाली और पराधीना है। इसी कारण कार्यरूपी सृष्टिप्रवाहमें वे ही

गुण वर्तमान रहनेसे नारीका पराधीन होना विज्ञानसिद्ध है। यही कारण है कि हिंदू-जातिमें कन्यावस्थासे लेकर वृद्धावस्था-तक पिता, पति, पुत्र और आत्मीय स्वजनोंके संरक्षणमें नारी-के रहनेकी विधि है और यही आर्य-जातिकी प्राचीन संस्कृति है।

वैदिक दर्शनोंने यह भी सिद्ध किया है कि इस संसारके स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चके सब अङ्गोंमें दो प्रकारकी शक्तियाँ देखनेमें आती हैं—एक आकर्षणशक्ति और दूसरी विकर्षणशक्ति। स्थूल प्रपञ्चमें परमाणुसे लेकर ग्रह-उपग्रहोंतकमें आकर्षण और विकर्षणरूपी दोनों शक्तियोंका कार्य स्पष्ट देखनेमें आता है। ग्रह-उपग्रहादिकी सृष्टि-दशामें परमाणु एकत्र होते हैं और प्रलय-दशामें पृथक्-पृथक् होकर ब्रह्माण्डका प्रलय-संसाधन करते हैं। इसी स्थूल उदाहरणके अनुसार सूक्ष्म अन्तः-करणकी वृत्तियोंमें रागकी वृत्तियाँ आकर्षणजनित और द्वेषकी वृत्तियाँ विकर्षणजनित होती हैं। राग-मूलक आकर्षणशक्ति रजोगुण-समुद्भूत और द्वेषमूलक विकर्षणशक्ति तमोगुण-समुद्भूत है। इन्हीं दोनों शक्तियोंसे समस्त पिण्ड और ब्रह्माण्ड आच्छन्न हैं। दोनों शक्तियोंका विकास पुरुषशरीर और स्त्रीशरीरमें होता रहता है। पुरुष विकर्षण-शक्तिरूप और स्त्री आकर्षण-शक्तिरूप है। अन्ततः दोनोंके अधिकार और धर्म भी स्वतन्त्र हैं। आकर्षण-शक्तिसे सृष्टिक्रिया होती है और विकर्षणशक्तिसे लय-क्रिया। स्मृतिशास्त्र कहता है—

आकर्षणस्वरूपं हि शरीरं योषितामिह।
तथा विकर्षणं नृणां शरीरं स्यात्स्वरूपतः॥

जिस प्रकार अन्तर्जगत्‌में राग और द्वेष—दोनोंके समन्वयसे मुक्तिका उदय होता है अर्थात् साधक रजोगुणसंभूत राग और तमोगुण-संभूत द्वेषको जीतकर सत्त्व-गुणके अवलम्बनसे द्वन्द्वातीत हो जाता है—मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार बहिर्जगत्‌में ऊर्ध्वरेता होकर वह दाम्पत्य-सम्बन्धके आकर्षण और विकर्षणशक्तिकी जय करके द्वन्द्वातीत मुक्ति-भूमिमें पहुँच जाता है। इसीसे वानप्रस्थाश्रममें सस्त्रीक रहकर स्त्रीसम्बन्धी कामका जय करके मुक्तिमार्गमें अग्रसर होनेकी विधि शास्त्रोंमें पायी जाती है। पतिभक्ति और सतीत्वकी सहायतासे स्त्री मुक्तिमार्गमें अग्रसर होती है और पुरुष भी स्त्री-दुर्गद्वारा सुरक्षित रहकर मुक्तिमार्गपर विजय-लाभ करनेमें समर्थ होता है। दोनों शक्तियोंकी जहाँ सुन्दर समता होती है, वही सत्त्वगुणमय ज्ञान और आनन्दका स्थान है।

सृष्टि-कार्यमें प्रकृतिकी प्रधानता होती है, यह कहा जा चुका है। चाहे कोई दर्शनशास्त्र उसको मूलप्रकृति कहे, कोई महामाया कहे, कोई ब्रह्मशक्ति कहे—सब दर्शनशास्त्र प्रकृतिकी प्रधानता मानते हैं। यही कारण है कि वेद, पुराण और तन्त्र आदि शास्त्र एकवाक्य होकर नारीका सम्मान करने और उसको जगदम्बाका स्वरूप समझकर उसकी पूजा करनेकी आज्ञा देते हैं। आर्य-जातिके सदाचारोंमें और उसके पूजा-प्रकारमें कुमारी-पूजा और सुवासिनी-पूजाकी सर्वमान्य विधि पायी जाती है। पश्चिमकी वर्तमान सभ्य जातियोंमें इन सब दार्शनिक सिद्धान्तोंकी कल्पना भी नहीं पायी जाती। आर्य-जाति स्त्रीजातिको जगदम्बाकी प्रतिकृति समझकर उसकी पूजा करती है; परंतु पश्चिमी सभ्य जातियाँ स्त्रीजातिको केवल भोगविलासकी एक सामग्री समझती हैं और उसकी पवित्रता और अपवित्रताका कुछ भी विचार नहीं रखतीं।

सृष्टि-प्रकरणमें स्त्री और पुरुष—इन दोनोंके पृथक्-पृथक् अधिकारके विचारका स्थान सबसे प्रधान माना गया है। क्या प्राचीन साहित्य और क्या नवीन साहित्य, क्या प्राचीन वैदिक शास्त्र-समूह और क्या नवीन अर्थादि-शास्त्रसमूह और क्या प्राचीन संस्कृतिकी विद्वन्मण्डली और क्या नवीन संस्कृतिके विद्वज्जन—इन सबोंका एकमत इस विषयमें होगा कि स्त्री और पुरुष—इन दोनोंके अधिकारका प्रश्न सब तरहसे सृष्टि-प्रकरणमें सबसे प्रधान तथा परमावश्यक है; परंतु अज्ञानके कारण ऐसे बड़े आवश्यक विषयपर बहुत कम लोग ध्यान दे रहे हैं। वर्तमान समयकी राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक उथल-पुथल तथा धार्मिक उथल-पुथलकी सन्धिमें सबसे पहले स्त्री और पुरुषके अधिकार-विज्ञानपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

वेद और वेदसम्मत शास्त्र-समूह एकवाक्य होकर बताते हैं कि सृष्टिकी आदि अवस्थामें सृष्टि-कर्ता भगवान् ब्रह्माजीने जब सृष्टिका प्रारम्भ किया, तब उस समय सबसे पहले सनक, सनन्दन आदि पूर्णावयव मनुष्यरूपी महात्माओं-की सृष्टि हुई। वे पूर्णावयव होनेके कारण उनमें सृष्टिकी वासनातकका सम्बन्ध नहीं पाया गया और न उनसे सृष्टि बढ़ानेका कार्य ही हुआ। उसके बाद भगवान् ब्रह्माजीने दुबारा सृष्टिकी इच्छा की, जिससे प्रजापतिगण पैदा हुए। ये लोग एक प्रकारके देवता थे। उनको आज्ञा देनेपर उनसे मानसिक सृष्टि उत्पन्न हुई—यह सृष्टिकी दूसरी अवस्था है। उसके बाद सृष्टिकी तीसरी अवस्थामें, जब कि सृष्टिके पूर्णा-वयव जीव उत्पन्न हो गये थे, उस दशामें स्त्री-पुरुषके संयोगसे

मैजी सृष्टिका प्रारम्भ हुआ। यही साधारण मैथुनी (लौकिकी) सृष्टिकी पहली अवस्था है। हिंदू दर्शन-शास्त्र इसके पहलेकी अवस्थाको दैवी सृष्टिकी अवस्था मानते हैं। लौकिकी सृष्टिकी अवस्थामें स्त्री और पुरुष दोनोंके अधिकार समान रहनेपर भी नारी-जातिका स्थान प्रधान माना गया है। साधारण तौरपर देखा भी जाता है कि सृष्टि-प्रकरणमें पुरुषोंका कार्य मिनटोंका है, किंतु नारी-जातिका वर्षोंका है। क्योंकि उनको गर्भपालन और शिशुपालन आदि कार्य करने पड़ते हैं। आजकल साइंसकी उन्नतिके साथ-ही-साथ विज्ञानके द्वारा इस बातकी भी पुष्टि हो चुकी है कि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इन चारों प्रकारकी जीव-योनियोंमें स्त्री और पुरुषका होना समान रूपसे पाया जाता है। निम्नश्रेणीके उद्भिज्ज जीवोंमें स्त्री-रेणु और पुंरेणु—इन दोनोंके संगमसे सृष्टि होनेके प्रत्यक्ष प्रमाण बताये गये हैं। स्वेदज, अण्डज और जरायुज पिण्डोंकी सृष्टि तथा पूर्णावयव मानव-पिण्डोंकी सृष्टि—सभीमें इस विज्ञानकी सिद्धि होती है।

पिण्ड तीन प्रकारका होता है—उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज; और जरायुज पशुका सहज पिण्ड, मनुष्योंका मानव-पिण्ड और देवताओंका देवपिण्ड। दर्शनशास्त्र, पदार्थविद्याका विज्ञानशास्त्र और लौकिक अनुभव—इन सभोंसे प्रमाणित होता है कि सृष्टि-प्रकरणमें स्त्रीजातिकी जिम्मेवारी सबसे अधिक है। स्त्री भूमिरूपा है और पुरुष बीजरूप है। यही कारण है कि वेद और शास्त्रोंने एकवाक्य होकर स्त्रीजातिके लिये यज्ञमूलक आचारोंका उपदेश दिया है। दोनोंके लिये पृथक्-पृथक् धर्म और आचारका होना स्वतःसिद्ध है। इस विषयमें हिंदू-शास्त्र तो एकमत हैं ही, किंतु पृथ्वीके सब चिन्ताशील पण्डितोंको भी एकमत होना ही पड़ेगा; क्योंकि सत्य सत्य ही है।

सृष्टिकार्यको पवित्र रखनेके लिये वेद, स्मृति, पुराण, तन्त्र, हिंदुओंका ज्यौतिषशास्त्र और आयुर्वेद आदि सब शास्त्र-समूह एकवाक्य होकर स्त्री-पुरुषके पृथक् अधिकार-विज्ञानकी पुष्टि करते हैं। इस अलौकिक और परमावश्यक विषयकी ओर आधुनिक शिक्षित समाजकी दृष्टि आकृष्ट नहीं हुई है।

स्त्रीजातिकी पवित्रता-रक्षा और आध्यात्मिक विज्ञानसम्मत विवाह-पद्धति

सृष्टि-प्रकरणमें स्त्रीजातिकी पवित्रताकी रक्षा और धर्मानुकूल विवाह-पद्धतिकी प्रथाको स्थायी रखना परमावश्यक है। हिंदू-जातिके अतिरिक्त पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें स्त्री-जातिकी पवित्रताकी रक्षाकी ओर विशेष ध्यान नहीं है। उन जातियोंमें जैसे युवकोंकी स्वतन्त्रता है, वैसे ही युवतियोंको भी स्वतन्त्रता रक्खी गयी है। वयःप्राप्त होनेपर स्त्रियाँ अपनी इच्छासे मनमाने पुरुषोंसे सम्बन्ध कर लेती हैं और पीछेसे उनके अपने-अपने धर्मानुकूल विवाह होता है। विवाह होते ही स्वतन्त्र रीतिसे विवाहित दम्पति आनन्दोत्सव मनानेके लिये बाहर चले जाते हैं और यथेच्छा-विहार करते हैं तथा पतिसे अनबन होनेपर एक दूसरेसे अदालतके द्वारा विवाह-विच्छेद भी करा लेते हैं। स्त्रीके विधवा होनेपर उनके यहाँ विधवाओंका बार-बार पुनर्विवाह होता है। पृथ्वीके अन्यधर्मावलम्बियोंमें जन्मान्तरवादपर विश्वास न रहनेसे विवाहित दम्पतिके लोकान्तर होनेपर पति-पत्नीका सम्बन्ध स्थायी नहीं मानते। इन सब कारणोंसे अन्य जातियोंमें 'स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध परलोकमें भी स्थायी रहता है' ऐसा विश्वास नहीं है; किंतु वर्णाश्रमी हिंदू-जातिमें जन्मान्तर और लोक-लोकान्तर-वादका सम्बन्ध पूर्णरूपसे माना गया है। आर्य स्त्रियोंमें *सतीत्व-धर्मका अधिकार सर्वोपरि माने जानेसे उच्च श्रेणीकी* आर्य-नारियोंमें विधवा-विवाहकी आज्ञा नहीं है। शरीरकी तो बात ही क्या है, मनसे भी परपुरुषका सम्बन्ध होना आर्य स्त्रियाँ गर्हित समझती हैं। स्वेच्छासे विवाह और विहार न होने देना ही वेद और स्मृतिकी आज्ञा है। हिंदू-जातिका विवाह एक बड़ा भारी धर्मकार्य है। हिंदूका विवाह इन्द्रिय-सुखभोगके लिये नहीं, बल्कि परलोकगत पितरोंको चिर-सहायता पहुँचानेके लिये माना गया है। हिंदू-शास्त्रके अनुसार विवाहकी आठ श्रेणियाँ बतायी गयी हैं—यथा ब्राह्म, आर्ष, दैव, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। इन आठ श्रेणियोंके विवाहोंमेंसे ब्राह्मणजातिमें प्रथम चार श्रेणियोंके विवाह उपादेय हैं और पीछेकी चार श्रेणियोंके विवाह हेय हैं। क्षत्रियजातिके लिये अन्य विवाहोंके उदाहरण भी कहीं-कहीं पाये जाते हैं; परंतु उनके द्वारा कन्याका संग्रह होनेपर भी पीछेसे शास्त्रोक्त विवाह करनेकी विधि है, जैसे राजाओंके यहाँ गान्धर्व-विवाह हो जानेपर भी पीछेसे शास्त्रोक्त विवाह-विधिकी पूर्णता की जाती थी। हिंदू-शास्त्र-समूहका सिद्धान्त यह है कि कन्यामें रजोधर्म हो जानेसे पूर्व कन्याके चित्तको पतिदुर्गद्वारा सुरक्षित कर देना चाहिये। क्योंकि रजोधर्म पूर्णवयस्काका लक्षण है और पूर्णवयस्का कन्या होनेपर उसमें कामादिकी चेष्टा होना भी स्वाभाविक है, इस कारण आध्यात्मिक-उन्नतिशील हिंदू-जातिमें वाग्दानकी

प्रथा पहलेसे ही प्रचलित है और पूर्णवयस्का होनेसे पहले कन्याका चित्त पतिदुर्गद्वारा सुरक्षित हो जानेपर उसमें अपवित्रता-अनाचारका बीज पैदा ही नहीं होने पाता और सतीत्वका बीज सुरक्षित रहता है। इस कारण स्वेच्छा-विवाहका अनादर आर्य-संस्कृतिमें चिरकालसे चला आता है। आर्य-संस्कृतिमें दम्पतिके भेदका कुछ दिग्दर्शन तन्त्र और पुराणोंके आधारपर नीचे कराया जाता है। त्रिगुण-सम्बन्धी भेदके अनुसार नर और नारी तीन प्रकारके होते हैं—सात्त्विक गुणमोहित, राजसिक रूपमोहित और तामसिक नर-नारी काममोहित होते हैं। नर-नारियोंकी मिथुनी-भूतकालमें भी तीन दशाएँ होती हैं—सात्त्विककी प्राकृतदशा, राजसिककी विकृतदशा और तामसिककी उन्माददशा होती है। प्राकृतदशा मुक्तिप्रद है, विकृतदशा स्वर्गप्रद है और उन्माददशा नरकप्रद है—यों समझना चाहिये। सात्त्विक स्वल्प-मैथुनसेवी, राजसिक कामुक किंतु विचारवान् और तामसिक नर-नारी घोर कामासक्त तथा अविचारी होते हैं। सात्त्विक नर-नारी ज्ञाननिरत तथा परस्परार्थी होते हैं, राजसिक भोगनिरत और स्वार्थी होते हैं तथा तामसिक नर-नारी विचाररहित, प्रमादी, कामभोगपरायण और अनर्थकारी होते हैं। सात्त्विक नर-नारी पवित्र ज्ञान-कुशल, राजसिक अद्भुत क्रियाशील और तामसिक पशुभावके सदा पक्षपाती होते हैं। सात्त्विक स्वभावतः धीर, राजसिक चञ्चल और तामसिक उन्मादी होते हैं। सात्त्विक नित्य प्रेमिक, राजसिक कुटिल और तामसिक निर्लज्ज होते हैं। सात्त्विक नर-नारीकी सङ्गम-दशामें अध्यात्मकी ओर लक्ष्य और एक-दूसरेके आनन्दमें तत्परता, राजसिकका एकमात्र कामज सुखकी ओर लक्ष्य और भोगमें तत्परता तथा तामसिकका केवल अपना-अपना लक्ष्य और प्रमाद-जनित सुखमें तत्परता रहती है। सात्त्विक नर-नारियोंके चित्तमें ही आत्मज्ञान और धर्मका पूर्ण स्वरूप प्रकाशित हो सकता है। स्त्री और पुरुष यदि समान प्रकृति, प्रवृत्ति और धर्मवाले होकर सात्त्विक लक्षणोंको धारण कर सके तो उनके लिये अभ्युदयकी तो बात ही क्या, मुक्ति भी अति सुलभ है। यदि दोनों स्त्री-पुरुष ज्ञानी भक्त होकर जन्म ग्रहण करें तो ऐसा लोकातीत मेल हो सकता है। साधारणतः शास्त्रमें पुरुष और स्त्रीकी जो चार श्रेणियाँ बाँधी गयी हैं, उनमें उनके शरीरके लक्षण और मापका हिसाब भी दिया गया है। जिनका माप कम है, वे उत्तम समझे जाते हैं। यह विचित्रता है, जो ध्यान देने योग्य है। तन्त्र और पुराण आदि शास्त्रोंमें पुरुष और स्त्रीके सोलह-सोलह भेद कहे गये हैं। शश, मृग, वृषभ और अश्व—ये पुरुषकी चार श्रेणियाँ होती हैं। प्रत्येक श्रेणीमें प्रत्येकका अन्तर्भाव होनेसे पुरुषकी सोलह श्रेणियाँ होती हैं। पद्मिनी, चित्रिणी, शङ्खिनी और हस्तिनी—ये चार श्रेणियाँ स्त्रियोंकी होती हैं। इन चारोंमें प्रत्येकमें प्रत्येकका अन्तर्भाव होनेसे स्त्रियोंकी भी सोलह श्रेणियाँ हुईं। यदि इन सोलह प्रकारके पुरुष और सोलह प्रकारकी स्त्रियोंमें ठीक-ठीक समान श्रेणीमें दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित हो तो वह दोनोंके अभ्युदय और निःश्रेयसका कारण होता है। दोनोंमें स्त्रीकी श्रेणी यदि उच्च हो तो सात श्रेणियोंतक नारीकी प्रकृति सामञ्जस्यकी रक्षा करती है और अभ्युदयका क्रम बना रहता है। सात श्रेणीके अनन्तर अशान्ति, रोग और दुःख होता है। पुरुषका यथाक्रम सामञ्जस्य बना रहता है। तदनन्तर सृष्टिकी सामञ्जस्य-रक्षामें बाधा होती है। स्त्रियाँ और पुरुष यदि अपने-अपने धर्मसे च्युत हो जायँ तो सृष्टिका सामञ्जस्य ठीक-ठीक नहीं रहने पाता। क्योंकि नारीधर्म 'तमःप्रधान' है और पुरुषधर्म 'रजःप्रधान' है। नारीके लिये ह्री, श्री, मधुर वचन, त्रिविध पवित्रता, स्वार्थरहितता, पातिव्रत्य, वात्सल्यभाव, सेवापरायणता और पुरुषोंके उपयोगी भावोंसे भावित होनेसे सदा रुचि—ये आठ ही उत्तम गुण कहे गये हैं। पुरुषोंके लिये अपने वर्णाश्रमाचारका सदा प्रतिपालन ही उत्तम गुण कहा गया है। स्त्री और पुरुषोंकी परीक्षा बहुत ही कठिन है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा-युक्त ज्ञानी भक्त ही यथार्थ रूपसे स्त्री-परीक्षा और पुरुष-परीक्षा करनेमें समर्थ होते हैं। सामुद्रिकविद्या, स्वरोदयविद्या और ज्यौतिषविद्या आदिके द्वारा भी दोनोंकी परीक्षा की जाती है।

दाम्पत्य-सम्बन्ध करनेके लिये जिन पचीस बातोंपर ध्यान देना अभ्युदय और कैवल्यकी इच्छा रखनेवालोंको आवश्यक है, वे ये हैं—यथा कुल, शरीर, गण, योनि, ग्रह, राशि, दिन, माहेन्द्र, स्त्री-दीर्घ, राशिका अधिपति, रज्जु, वश्य, वेध, वर्णकूट, नाडीभूतलिङ्गाख्यकूट, योगिनी, गोत्र, जाति, पक्षिकूटक, तारा, भकूट, प्रवृत्ति, इन्द्रियदार्ढ्य, बुद्धि और पचीसवाँ—भाव। यदि समानाधिकारमें कल्याणकारी दाम्पत्य-सम्बन्ध हो तो अभ्युदयकी तो बात ही क्या, निःश्रेयस भी सुलभ है। ऐसा दाम्पत्य-सम्बन्ध होनेपर देवता, ऋषि और पितरोंकी प्रसन्नता होती है, कुल पवित्र होता है तथा दम्पति स्वयं ज्ञानवान् होकर एवं पूर्ण-ज्ञान-सम्पन्न सन्तान प्राप्तकर जगत्को धन्य करते हुए स्वयं भी धन्य होते हैं।

जिस दार्शनिक विज्ञान और सत्यपर वर्णाश्रमी आर्य-जातिके स्त्री-पुरुषोंका विवाह-संस्कार प्रतिष्ठित है; उसकी कल्पनातक पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें नहीं है और न उनके आचार-विचारमें हो सकती है। इस कारण पृथ्वीकी इस वर्तमान उथल-पुथलके दिनोंमें केवल इन्द्रिय-सुखको लक्ष्य करके हिंदुस्थानके नेतृवृन्दोंको बिना पूर्वापर-विचार किये विपथगामी नहीं होना चाहिये। उनको यह विचार लेना चाहिये कि आर्य-जातिका आध्यात्मिक लक्ष्य कहाँसे कहाँतक है और आर्योंके नारीधर्म और पुरुषधर्मके अधिकार निर्णय करनेमें हमारे पूर्वजोंने कितना सूक्ष्म विचार और दूरदर्शिताका काम किया है।

हिंदुस्थानके हिंदूलोग स्त्री-पुरुषोंके अधिकारविज्ञान और विवाह-पद्धतिके सिद्धान्तको परम आवश्यक धार्मिक सिद्धान्त समझते हैं; क्योंकि ये सब मौलिक विचार स्त्री-पुरुषोंके भविष्यत्को सम्हालनेवाले हैं, वंशकी संस्कृति स्थिर रखनेवाले हैं और जातिको पवित्र रखनेवाले हैं। कन्या और वर दोनोंके स्वेच्छाचारी होकर विवाह करनेकी आज्ञा आर्यजातिमें नहीं है; क्योंकि काम पशुभावका स्वाभाविक प्रेरक है। युवती कन्या और युवक—इन दोनोंमे संसारका अनुभव नहीं होता। इस कारण उनसे बड़ी-बड़ी भूलें हो सकती हैं। पिता-माता और पारिवारिक गुरुजनोंमें अनुभव अधिक होता है। अतः उनसे प्रमाद होनेकी सम्भावना कम होती है। इस कारण विवाहप्रथामें युवक और युवतियोंको स्वाधीनता न देकर उनको नियन्त्रित किया जाय, यही आर्य-संस्कृति है। कन्या-अवस्थामें बालिकाओंको देवीरूप समझना, उनके सामने कभी काम-चेष्टाकी बातें करना भी पापजनक समझना, बाल्यावस्थासे ही उन्हें धार्मिक शिक्षा देना और धार्मिक व्रतादि कराना, तुलसी-अन्नपूर्णा आदिकी पूजा कराना, कन्याके रजस्वला होनेसे पहले ही उसका विवाहसंस्कार कर देना, प्रथम रजोदर्शनमें गर्भाधान-संस्कार कराके देवता, ऋषि और पितरोंका संवर्धन कराते हुए गर्भाधान-संस्कारकी विधि सम्पन्न करना—ये सब बातें आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक हैं। पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें इस प्रकारकी पवित्रताके साधक संस्कारोंका नामतक नहीं है। वहाँ विवाह पशुधर्मका एक सहायक मात्र है।

संस्कार

अब गर्भाधानसे लेकर शरीरान्तपर्यन्त आर्य-जातिके आचारोंके विशेषत्व और महत्त्वके सम्बन्धमें प्रकाश डाला जाता है। साथ-ही-साथ लोककल्याण-बुद्धिसे तुलनात्मक गवेषणा की जायगी। आर्य-जातिमें विवाह-संस्कार सबसे बड़ा शास्त्रीय संस्कार है—जिसका सम्बन्ध केवल इसी लोकतक नहीं, किंतु लोक-लोकान्तरतक माना गया है। पृथ्वीकी अन्य सभ्य जातियों और विभिन्नधर्मावलम्बियोंमें विवाह स्थायी संस्कार नहीं है और न उसका सम्बन्ध शरीरान्तके उपरान्त माना ही गया है। उनमें इन्द्रिय-सुखकी चरितार्थता और इस जन्ममें सामयिक सुख-प्राप्तिके अतिरिक्त कुछ नहीं माना गया है। उनके यहाँ विवाह-विच्छेद साधारण-सी बात है; किंतु आर्य-संस्कृतिमें विवाह-विच्छेद हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि आर्य-जातिने विधवाका विवाह होना अशास्त्रीय माना है। छोटी जातियोंमें विधवाविवाह प्रचलित है; परंतु वह 'विवाह' नहीं, 'नाता' कहाता है। द्विजोंमें तो विधवाविवाह अधर्म समझा जाता है; क्योंकि विधवाविवाह प्रचलित होनेपर त्रिलोक-पवित्र-कारी सती-धर्मपर आघात पहुँचता है। आर्य-जातिमें विवाह-संस्कारका सबसे बड़ा उद्देश्य यह रक्खा गया है कि विवाह परलोकगामी पितरोंके आवागमन-चक्रमें श्राद्धादिसे सन्तति सहायता करे और यही कारण है कि इसी सिद्धान्तके अनुसार दायभागकी व्यवस्था बाँधी गयी है। इन सब सूक्ष्म विषयोंपर आजकलके नवशिक्षित सज्जन कभी ध्यान ही नहीं देते और मनमाने विधानोंको बनानेकी चेष्टा किया करते हैं। वे यह भी नहीं सोच सकते कि कानूनद्वारा सत्यकी जड़ काटना असम्भव है। सत्य सूर्यके समान सत्य ही है। सूर्य कभी-कभी बादलोंसे ढक जाता है; परंतु वह ढँकना सामयिक होता है।

पृथ्वीकी अन्य जातियोंमे विवाहका काल निश्चित नहीं किया गया है और न स्त्रीसंभोगके लिये कोई आध्यात्मिक लक्ष्य ही रक्खा गया है। हनीमून-जैसे वैषयिक आनन्दप्रद आचार उनमे किस प्रकार प्रचलित हैं, सभी जानते हैं। आर्य-संस्कृतिमे रजोदर्शनसे पूर्व विवाहसंस्कार करनेकी दृढ़ आज्ञा है। यदि ऐसा हो जाय कि विवाहसे पहले ही कन्यामे रजोदर्शन होने लगे तो प्रत्येक रजोदर्शनमे पिताको प्रायश्चित्त करके शुद्ध होनेकी आज्ञा है। प्रथम रजोदर्शन होनेके अनन्तर पशु-धर्मके अनुसार स्त्री-सम्बन्ध न करके ऋषि-देवता और नित्य-नैमित्तिक पितरोंका संवर्धन करते हुए एक संस्कार करनेकी आज्ञा है, जिसे 'गर्भाधान-संस्कार' कहते हैं।

तदनन्तर काम-वृत्तिसे नहीं, धर्म-वृत्तिसे स्त्रीसम्बन्ध करनेकी आज्ञा आर्य-शास्त्र देते हैं। तदनन्तर पूर्णिमा, अमावास्या आदि पुण्य तिथियो तथा अशास्त्रीय वार, कुयोग, पर्वदिन, आशौच-के दिन आदि दिनोको छोड़कर धर्म-बुद्धिसे युक्त होकर स्त्री-संसर्ग करनेकी आर्य-शास्त्र आज्ञा देते हैं। इसके विरुद्ध चलनेका धर्मशास्त्र निषेध करते हैं। अपनी उम्रसे अधिक उम्र-की कन्यासे विवाह करना आर्य-शास्त्रमे निषिद्ध है। गोत्र और प्रवरका सम्बन्ध इस कल्पके प्रारम्भसे ही माना गया है और अपने गोत्र तथा प्रवरसे सम्बद्ध कन्यासे विवाह करना मातासे विवाह करनेके समान समझा गया है। जन्मसे जाति मानना, अपनी जातिकी कन्यासे विवाह करना और रजोदर्शनसे पहले विवाहसम्बन्ध करना, आर्यविवाहके लक्षण हैं। कामज विवाह अन्य जातिकी स्त्रियोके साथ दूसरे युगोंमें हो सकता था; किंतु वह भी अनुलोम विवाह हो सकता था, प्रतिलोम नहीं। अपनेसे निम्न जातिकी स्त्रीसे विवाह करना अनुलोम और उच्च जातिकी स्त्रीसे विवाह करना प्रतिलोम कहाता है। प्रतिलोम नरकका कारण होता है और उसकी सन्तति पतित समझी जाती है। अनुलोम सन्तति माताकी जातिक होती है। ब्राह्मण यदि शूद्रासे विवाह करे, जैसा दक्षिणमें होता है, तो उसकी सन्तति शूद्र ही मानी जायगी। ऐसी जाति दक्षिण भारतमे विद्यमान भी है। पृथ्वीकी किसी अन्य सभ्य जातिमें विवाहके ऐसे दूरदर्शितापूर्ण नियम नही पाये जाते और स्मृति-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र एकमत होकर यह सिद्ध करते हैं कि इन्हीं सब मौलिक कारणोंसे आर्य-जाति सृष्टिके आरम्भ-कालसे अबतक अपने स्वरूपमे जीवित है। पृथ्वीकी अन्य मनुष्यजातियाँ, जिनमे रजोवीर्य-शुद्धि और वर्ण-धर्मकी शृङ्खला नहीं है, पतित हो गयीं और कालके कवलमे पहुँच गयीं। प्राचीन इतिहास और आधुनिक इतिहास हाथ उठाकर इसकी साक्षी दे रहे हैं।

आर्य-संस्कृतिके अनुसार वेद, स्मृति और तन्त्रमें सब मिलाकर ४२ संस्कार पाये जाते हैं। उनमेसे १६ मुख्य है, जिनकी मीमांसा वेदके 'कर्ममीमासा' दर्शनमे की गयी है। संस्कार-को भी मीमांसा-शास्त्रमें कर्मका बीज कहा है। जैसे बीजसे वृक्ष-की उत्पत्ति होती है, वैसे ही संस्कारसे कर्म प्रकट होता है। सुकौशल-पूर्ण उपायद्वारा ये १६ संस्कार ऐसे बॉधे गये हैं कि विधिपूर्वक उनका अनुष्ठान हो तो ये ही १६ संस्कार, जिनमें अन्य सब संस्कारोका अन्तर्भाव है, मनुष्यको प्रथम ८ संस्कारोंद्वारा प्रवृत्तिमार्गमे पूर्णोन्नति देते है और शेष ८ संस्कारोंद्वारा मुक्तिभूमिमें पहुँचा देते हैं। इन सोलह संस्कारोंमें प्रथम संस्कार गर्भाधान-संस्कार है और अन्तिम संस्कार संन्यास-संस्कार है। आर्य-शास्त्रोंने यह भलीभाँति सिद्ध किया है कि यदि माता और पिता दोनों सात्त्विक बुद्धिसे तथा अन्तःकरणसे इच्छा करें और विधिपूर्वक सावधान होकर संस्कार करें तो जैसी चाहें, वैसी सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। दम्पतिका साक्षात् सम्बन्ध दैवी जगत्से बॉधनेके लिये गर्भाधान-संस्कार किया जाता है। तदनन्तर कोई भी दैवी कार्य बिना स्त्री और पुरुष दोनोंके एकत्र हुए सम्पन्न नहीं हो सकता। इसीसे गठबन्धन-की प्रणाली हिंदू-जातिमें सर्वत्र प्रचलित है। इस प्रकार दोनों एकत्र होकर दैवी कार्य करें तो वहाँ एक दैवी पीठ बन जाता है। ये सिद्धान्त आर्य-संस्कृतिके मूलभूत हैं। पृथ्वीकी जो अन्य अवैदिक जातियाँ हैं, उनमें इन पवित्र सिद्धान्तोंकी गन्धमात्र भी नहीं है। ऐसे गूढ़ रहस्य-पूर्ण शास्त्रीय विषयोंका विचार न करके आजकलके नेतृवृन्द जो पश्चिमी जातियोंका अनुकरणकर हिंदू-जाति, हिंदू-संस्कृति, हिंदू-धर्म और हिंदू-आचार-विचारोंमें विप्लव मचाना चाहते हैं—यह कितनी हानि और अदूरदर्शिता-का कार्य है, इसे विचारशील पुरुष सुगमताके साथ समझ सकते हैं।

हिंदू-शास्त्रोंका यह सिद्धान्त है कि जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही वृक्ष होता है। अवश्य ही वृक्षोत्पत्तिमें और भी कई वस्तुओंकी आवश्यकता होती है—जैसे देश, काल, जल, भूमि आदि; किंतु सबसे अधिक महत्त्व बीजका है। वैदिक, पौराणिक, स्मार्त और तान्त्रिक संस्कारोंका तात्पर्य यही है कि द्रव्य-शुद्धि, क्रिया-शुद्धि और मन्त्र-शुद्धिसे सुकौशलपूर्ण रीतिपर इन वैदिक संस्कारोंके द्वारा अन्तर्जगत्में ऐसी शक्ति उत्पन्न की जाती है कि वही शक्ति समयान्तरमें वैसे ही वृक्ष और फलकी उत्पत्ति करती है, जैसी इच्छा बीज-रोपणके समयमें सङ्कल्पद्वारा की गयी थी। दार्शनिक विषयोंको समझनेके लिये दर्शनोंके अनुशीलनकी आवश्यकता है। इसीसे संस्कारशुद्धिके बलसे भारतवर्षमें (पृथ्वीमें) हिंदुस्थान (भारत-द्वीप) एक अनोखी भूमि है, जहाँ 'अर्थ' और 'काम'की अपेक्षा 'धर्म' और 'मोक्ष'को प्रधान माना जाता है और मनुष्य-जीवनमें आध्यात्मिक उन्नतिको ही श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। इसी अनादिसिद्ध संस्कार-शुद्धिके बलसे भारतखण्ड (हिंदुस्थान)-मे अनेक प्रान्त और भाषाएँ होनेपर भी सम्पूर्ण

भारत एक राष्ट्र माना गया है, जिस राष्ट्रमें निवृत्ति-परायण धन-ऐश्वर्यकी उपेक्षा करनेवाली, तपःस्वाध्याय-निरत ब्राह्मणजाति स्वाभाविक नेता समझी जाती है, जिसके शिष्ट लोगोंकी राष्ट्रभाषा संस्कृत है और जिसके सब ग्रन्थ अनादिकालसे संस्कृतमें ही बने हैं, जिसके सब शास्त्रीय संस्कार संस्कृतमें ही होते हैं। कोई कुछ भी कहे, किंतु ऐसी स्थायी और अपरिवर्तनीय अवस्था संसारकी किसी जातिमें नहीं पायी जाती।

सृष्टि होनेके सूत्रपातकी दशामें स्त्रीरूपी पीठमें दैवी जगत्से गर्भाधानके द्वारा सम्बन्ध बाँधा जाता है। तदनन्तर शुद्धाचारके द्वारा दैवी जगत्को सामने रखकर सृष्टि उत्पन्न की जाती है। पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म और नाम-करण आदि संस्कार दैवी जगत्से सम्बन्ध-स्थापनके लिये ही किये जाते हैं। यथासमय 'चूडाकर्म' तो हिंदू-जातिके सब वर्णोंमें होता है। इसका कारण यह है कि बालककी शिखा रखाकर उसका दैवी जगत्से सम्बन्ध कराया जाता है और उसका उत्तमाङ्ग (सिर) देव-मन्दिरके रूपमें परिणत किया जाता है। द्विज-बालकोंका यथासमय 'यज्ञोपवीतसंस्कार' कराके उसे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शुद्धिके लिये तीन लड़ोंका जनेऊ पहनाया जाता है और आजीवन व्रत धारण कराके उसको आध्यात्मिक जीवनके लिये प्रतिज्ञाबद्ध कराया जाता है। इसके अनन्तर बालककी पाठ्यावस्था आरम्भ होती है, जिसमें गुरुका प्राधान्य रक्खा गया है और गुरुका अधिकार सर्वोपरि माना गया है। तदनन्तर 'विवाहसंस्कार' होता है, जो स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये प्रवृत्तिमार्गका सबसे बड़ा संस्कार है। इस संस्कारमें स्त्री और पुरुषका पृथक्-पृथक् उत्तरदायित्व बताया जाता है और वह उत्तरदायित्व इसी जन्मतक सीमित न रहकर जन्म-जन्मान्तरतक बना रहता है। विवाहित दम्पति हिंदू-संस्कृतिके अनुसार केवल अपने ही गार्हस्थ्य-जीवनकी सुख-समृद्धिके लिये उत्तरदायी नहीं, किंतु समस्त ब्रह्माण्डकी सुख-समृद्धिके लिये उत्तरदायी होते हैं। यह महत्ता संसारकी किसी जातिमें नहीं पायी जाती। हिंदू-जातिका पञ्चमहायज्ञ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह स्थूल संसार दैवी जगत्की सहायतासे सुरक्षित रहता और परिचालित होता है। दैवी जगत्के सञ्चालकोंमें ज्ञान-के प्रवर्तक होनेसे भृगु, वशिष्ठ और अङ्गिरा आदि महर्षियों-का स्थान सबसे ऊँचा है। उनके संवर्धनके लिये नित्य यज्ञ करना प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है। यह 'ऋषियज्ञ' है। अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, देवराज इन्द्र, धर्मराज, यम आदिके संवर्धनके लिये प्रतिदिन नियमित रूपसे 'देवयज्ञ' करनेकी आज्ञा है; क्योंकि कर्मके दाता उक्त-पदधारी देवता ही समझे जाते हैं। तीसरे महायज्ञका नाम है 'पितृयज्ञ'। पितृगण एक प्रकारके देवता हैं, जो नित्यपितृ कहलाते हैं। उनकी कृपासे कुल—वंश और मनुष्य-समाजकी सुरक्षा होती है और स्त्रीकी गर्भावस्थामें उन्हींकी कृपासे गर्भ-के अन्तर्गत पूर्वकर्मानुसार देह बनता है। नैमित्तिक पितृ वे कहाते हैं, जो हमारे पितर शरीरान्तके पश्चात् पितृलोकमें पहुँचते हैं और आवागमनके नियमानुसार फिर लौटकर इसी लोकमें आ जाते हैं। इनके संवर्धनके लिये जो यज्ञ किया जाता है, वह 'पितृयज्ञ' कहाता है और यह श्राद्ध-तर्पणके द्वारा भी होता है। तर्पणकी यहाँतक महिमा है कि तर्पणके द्वारा साधक मिनटोंमें पञ्चमहायज्ञका यजन कर सकता है। चतुर्थ महायज्ञका नाम है 'भूतयज्ञ'। मनुष्यके अतिरिक्त संसारकी अन्य जो जीव-सृष्टि है, वह चार श्रेणियोंमें विभक्त है और वे चारों श्रेणियाँ स्वतन्त्ररूपसे देवताओंद्वारा परिचालित और संवर्द्धित होती हैं। जैसे वृक्षादिकी उद्भिज्ज सृष्टि, जो रोग उत्पन्न करती और नीरोगता भी उत्पन्न करती है; उसके बादकी स्वेदज-सृष्टि—जैसे जूँ, खटमल इत्यादि; अण्डेमें उत्पन्न होनेवाली अण्डज सृष्टि—पक्षी, मछली, सर्प आदिकी सृष्टि और चौथी सृष्टिका नाम है जरायुज सृष्टि—जैसे मृग, गाय, घोड़ा और हाथी आदि। मनुष्यकी सृष्टि यद्यपि जरायुज ही है, फिर भी वह उक्त स्वाभाविक जीव-सृष्टिसे भिन्न है; क्योंकि उसको धर्माधर्मका अधिकार प्राप्त हो जाता है। हिंदू-धर्मके महत्त्व, उदारता और आचारकी व्यापकताका यह ज्वलन्त प्रमाण है कि वह कृतज्ञताके वश होकर चतुर्विध भूतसंघके कल्याणके लिये प्रतिदिन भूतयज्ञका आदेश देता है। हिंदू-जातिका पञ्चम महायज्ञ 'नृयज्ञ' कहाता है। अपने भोजनसे पहले किसी वर्ण, किसी आश्रमका मनुष्य हो, आर्य-अनार्य, किसी जाति या देशका हो, उसे देवता समझते हुए पहले भोजन कराकर पीछे गृहस्थको स्वयं भोजन करनेकी विधि है। अतिथि-सेवा भी इसी महायज्ञका अङ्ग माना जाता है। जो अदूरदर्शी सज्जन हिंदुओंके ऊँच-नीचके अधिकारभेद और मनुष्योंमें स्पर्शास्पर्शविवेक और जातिभेद आदि माननेका कलङ्क लगाते हैं, वे यदि समाहित-अन्तःकरण होकर शान्तिसे विचार करेंगे तो देखेंगे कि भगवान्की सर्वव्यापी शक्ति तथा अनन्त प्राणियोंकी

इसी निरन्तर घूमनेको आवागमन-चक्र कहते हैं। इसी निरन्तर घूर्णायमान चक्रमें आत्मा या जीवको सहायता पहुँचानेके लिये नाना प्रकारकी श्राद्धविधि, तर्पणविधि और दाय-भागविधि स्मृतिकारोंने बाँधी है और श्राद्धादिके नाना अधिकार स्मृति-पुराणोंमें वर्णित हैं। आजकल दायभागको जैसा लोग समझते हैं, वैसी दायभागकी विधि साधारण विज्ञानसिद्ध नहीं है। वह बड़ी सदुव्यवस्थासे बाँधी गयी है। (१५) निर्गुण-उपासना और सगुण-उपासनाकी नाना विधियाँ जो हिंदू-शास्त्रोंमें बतायी गयी हैं, वह हिंदू-धर्मका पंद्रहवाँ अङ्ग है और (१६) जीवकी कैवल्य-प्राप्ति इसका सोलहवाँ अङ्ग है। हिंदू-संस्कृतिको समझनेके लिये सबसे पहले ऊपर लिखी इन सब बातोंकी ओर ध्यान देना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति और सूर्य

(लेखक—पू० योगिराज स्वामीजी श्रीमाधवानन्दजी महाराज)

किसी भी राष्ट्रका अस्तित्व उसकी संस्कृतिके कारण बना रह सकता है। संस्कृतिके उदयास्तसे ही राष्ट्रका उदयास्त होता है। भारतीय राष्ट्रके उत्थानका कारण भारतीय संस्कृतिका सर्वात्मना पालन ही हो सकता है और स्वकीय संस्कृतिका त्याग ही अवनतिका मूल है। इस सत्य और तथ्यको समझे बिना जो लोग भारतके उत्थानकार्यमें लगे हैं, चाहे वे बड़े-से-बड़े नेता ही क्यों न हों, वे सफल नहीं हो सकते। हो सकता है कि उन नेताओंकी मानसिक भावनाएँ भारतके कल्याणकी कामनासे प्रेरित हों और उसके लिये उन्होंने अतीतमें अनेक कष्ट भी सहन किये हों; किन्तु जिस पाश्चात्त्य मार्गसे वे अपने तथा-कथित पौरस्त्य ध्येयकी ओर जाना चाहते हैं, वह मार्ग उन्हें भारतीय संस्कृतिके निकट नहीं ले जाता, वरं उससे दूर कर रहा है—भले ही इस विपरीत-दिशा-गमनको उनका बुद्धि-चक्षु, जिसपर बिलायती चश्मा चढ़ा है, न देखता हो। अतः अपने मनमें भारतको भव्य बनानेकी स्तुत्य भावना रखते हुए भी 'बलादिव नियोजितः' की भाँति वे दिग्भ्रान्त होकर उस तरफ खिंचे जा रहे हैं, जिधर जानेमें भारतकी भारतीयताको खतरा है। भारत-भूमिकी ऋषिप्रणीत संस्कृति अथवा प्रकृतिके प्रतिकूल किये जा रहे कार्यके फलस्वरूप जिस परिवर्तनको वे यहाँ लाना चाहते हैं, वह विकास नहीं, विनाशका कारण होगा और 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' की उक्तिको चरितार्थ करेगा। खेद है कि हमारे राजनैतिक नेताओंने अंग्रेजोंसे और कई बातें सीखकर भी उनके स्व-सभ्यता-प्रचार-के आग्रहको नहीं सीखा।

विश्वमें आदान और विसर्ग, व्यष्टि और समष्टि, आध्यात्मिकता और भौतिकताके जितने सिद्धान्त प्रचलित हैं, उनमें भारतने विसर्ग, समष्टि और आध्यात्मिकताको ही क्यों अपनाया? वह आदान, व्यष्टि और भौतिकताके मनोरम मार्गसे क्यों न गया? यह एक प्रश्न है, जो आजके अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय युवकोंके हृदयमें उठता है। इसके उत्तरमें यहाँ संक्षेपमें इसपर प्रसंगोपात्त प्रकाश डाला जा रहा है। प्रतिदिन किये जानेवाले सन्ध्योपासनमें सूर्योपस्थानके चार मन्त्रोंमेंसे एक मन्त्र इस प्रकार है—

'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳसूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।'

इस मन्त्रने सूर्यको जगत्‌की आत्मा बताकर उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें दिया है। अर्थात् जिस प्रकार आत्माका चैतन्यमय प्रकाश प्रत्येक अङ्गको भिन्न-भिन्न अर्थोंमें संजीवित, प्रकाशित तथा प्रेरित किये हुए है, वैसे ही सूर्यनारायण अपनी सहस्र किरणोंद्वारा हर देशकी प्रकृति और प्रवृत्तिको भिन्न-भिन्नरूपसे प्रकाशित, प्रभावित तथा प्रेरित करते हैं। पिण्ड-स्थित आत्मा जैसे हाथोंको कार्य करनेकी, पैरोंको चलनेकी, नाकको सूँघनेकी, आँखोंको देखनेकी और कानोंको सुननेकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रवृत्तिमय शक्तियाँ प्रदान करता है, ठीक उसी तरह ब्रह्माण्डके आत्मरूप सूर्यकी भिन्न-भिन्न प्रभाववाली किरणें पृथक्-पृथक् देशोंको भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक और भौतिक प्रवृत्तियाँ प्रदान करती हैं। हमारे शरीरका कार्य करनेवाली इन्द्रियोंको अपना-अपना कार्य करनेकी जो प्रेरणा अथवा प्रवृत्ति मिलती है, उसका प्रकट कारण देह-स्थित आत्मा होते हुए भी मूलस्रोत अथवा उद्गम-स्थान सूर्यमण्डल ही है। वहींसे आत्माके द्वारा शरीरकी सब इन्द्रियोंको अपने-अपने कार्यकी प्रवृत्ति मिलती है। तभी तो उपर्युक्त 'चित्रं देवानाम्' इस सूर्योपस्थान-मन्त्रके आगेवाले मन्त्रमें प्रत्येक स्वधर्मरत हिंदू प्रातःकालकी पुनीत वेलामें ब्रह्माण्डके आत्मरूप सूर्यदेवसे 'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः' कहकर अपनी इन्द्रियोंको सत्प्रेरणा देनेकी प्रार्थना करता है।

सहस्रांशुकी सहस्र किरणोंके पृथक्-पृथक् प्रभाव हैं। सूर्यकी पहली किरण जहाँ आसुरी-सम्पत्तिमूलक भौतिक उन्नतिकी विधायक है, वहाँ उसकी सातवीं किरण दैवी-सम्पत्तिमूलक आध्यात्मिक उन्नतिकी प्रेरणा देनेवाली है। भौगोलिक स्थितिके कारण सूर्यकी सातवीं किरण भारतवर्षमे गङ्गा-यमुनाके मध्य अधिक समयतक पड़ती है। इसलिये यहाँ भारतवर्षमे अवतारादि और आध्यात्मिकताका प्रसार करनेवाले ऋषि-महर्षि तथा संत पैदा होकर समष्टिके हितमें विसर्गका अर्थात् त्यागका उपदेश देते आये हैं और देते रहेंगे। यूरोपमें सूर्यकी पहली किरण अधिक समयतक पड़ती है। अतः वहाँके लोग स्वभावतः ही भौतिक उन्नतिकी ओर प्रवृत्तिशील, व्यक्ति-वादी और आदानप्रिय होते हैं। उनमे आध्यात्मिकतामूलक त्यागकी भावना प्रायः उत्पन्न ही नही होती। उपर्युक्त तरीकेसे सूर्यकी किरणोके पृथक्-पृथक्रूपमे पडनेकी सम्भावना सूर्य और पृथ्वीके परस्पर गतियुक्त सम्बन्धके कारण होती है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतकी भारतीय अथवा हिंदू-संस्कृतिसे सूर्य-किरणोका कितना और कैसा विलक्षण सम्बन्ध है। सूर्यकी इतर किरणोके भी पृथक-पृथक् स्वभाव अथवा प्रभाव हैं, जिनका विशद विवेचन यहाँ शक्य नहीं।

जिस प्रकार सूर्यनारायण विसर्गमूलक देवता होनेसे विसर्ग अर्थात् त्यागकी शिक्षा देते हैं, उसी प्रकार वे अपने प्रकाशसे विना किसी भेदके स्थावर-जङ्गम सृष्टिको प्रकाशित भी करते हैं। कविवर कालिदासने सूर्यदेवके त्यागका वर्णन रघुवंशमें रघुवंशी राजाओंके त्यागकी महिमा गाते हुए यों किया है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥

श्लोकका तात्पर्य इतना ही है कि सूर्यदेव ग्रीष्मकालमें पृथ्वीके जिस रसको खींचते हैं या ग्रहण करते हैं, उसे चतुर्मासमे हजारगुना करके दे देते हैं। भारतने उनके इस विसर्गसे परहितके लिये त्याग करनेकी शिक्षा ली थी। अतएव भारतीय संस्कृति सूर्यवत् विसर्गमूलक बनी। वास्तवमे विसर्ग ही सब विपत्तियोके निराकरणका एकमात्र उपाय है। इसका यह अर्थ नहीं कि आदान सर्वथा हेय है। सीमित आदान और असीमित विसर्ग (त्याग) भारतकी विशेषता है। सूर्य-प्रकाशके औदार्य गुणको भी हिंदू-धर्मने अच्छी प्रकार ग्रहण किया है। भारतीय संस्कृतिमे व्यक्तिवादको विशेष स्थान नहीं दिया गया, किंतु व्यक्तिगत आत्मोन्नतिका पूरा-पूरा अवसर दिया गया। बुद्धके अनीश्वरवादको भारतने नहीं माना, किंतु स्वयं बुद्धको दशम अवतारके रूपमें स्थान दिया।

आधुनिक भारतमें पश्चिमकी देखा-देखी आदानका जो प्राधान्य होता जा रहा है, वह उस पाश्चिमात्य शिक्षाकी देन है, जिसे अंग्रेजोने स्व-सभ्यता-विस्तारकी छिपी इच्छासे यहाँ विस्तारित किया। आज कहनेको तो देशमें भारतीयोंका राज्य है, किंतु भारतीय संस्कृतिके विकासके लिये कोई सुदृढ़ प्रयास होता दिखायी नहीं देता। देशमे जबतक भारतीय संस्कृतिके अनुरूप प्राचीन कालकी भारतीय शिक्षा-पद्धतिका अथवा ऋषिप्रणीत मार्गका अनुसरण और अवलम्बन न किया जायगा, तबतक यह देश नामसे 'भारत' (अब तो नाम भी 'भारत' नहीं रहा) होते हुए भी अभारतीय भावोका शिकार बना रहेगा। अतः भारतीय संस्कृतिके प्रेमी भारतीयोको इस दिशामे कोई बड़ा प्रयत्न करना चाहिये। उन्हे निराश नहीं होना चाहिये। हजार प्रयत्न करनेपर भी इस देशकी अध्यात्मप्रधान प्रकृतिको बदला नहीं जा सकता; क्योंकि उसका आधारभूत कारण सूर्यकी सातवीं किरण है। अतः वह भारतको आध्यात्मिकताकी ओर खींचे बिना नही रह सकती। इस समय भारतकी आध्यात्मिकताका जो विकास रुका हुआ-सा दीखता है, इसका कारण यह है कि भारतको भारतकी प्रकृतिरूप सातवीं किरण तो आध्यात्मिकताकी ओर खींचती है और भारतीयोको दी जानेवाली पाश्चात्य शिक्षा उन्हें पश्चिमकी ओर खींचना चाहती है। अतः भारतीय बीचमे अवरुद्ध होकर 'लटकन्तनाथ' बने हुए हैं अर्थात् संशयमें पड़े हैं; किंतु यह अवस्था अधिक समयतक नहीं रह सकती। 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' के अनुसार भारतकी सूर्य-किरणप्रधान प्रकृति भारतीयोको रास्तेपर लाकर रहेगी। वे यदि स्वयं प्रयत्न करते हैं तो वह सुअवसर शीघ्र आ जायगा। यदि वे स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करते तो थोड़ा समय अधिक लग सकता है। जैसे बकरीको गलेमे रस्सी डालकर ले जानेवाले आदमीके साथ-साथ बकरी अपने पैर जल्दी-जल्दी उठाकर चलती है तो समय थोड़ा लगता है और बकरी पग रोप-रोपकर चलती है तो ले जानेवालेको थोड़ी कठिनाई भी होती है और समय भी अधिक खर्च होता है। इसी प्रकार भारतकी सूर्यकी सातवीं किरणरूपी प्रकृति जिस आध्यात्मिकताकी ओर खींचना चाहती है। यदि हम भी उधर ही बल लगाये तो समय थोड़ा लगेगा; और हम भौतिकतापर पग रोपकर अड़ जायँगे तो समय अधिक लगेगा। अन्तमे हम भारतीयोको जाना तो है उसी आध्यात्मिक मार्गकी ओर; क्योंकि हमारी प्रकृतिके अनुकूल, अनुरूप वही राजमार्ग है।

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

होनेमें धर्मकी असमर्थताका सारा मूल कारण इसी बातमें निहित है। उदाहरणतः, मन्दिरों, गिरजों और मत-सम्प्रदायोंने दर्शन तथा विज्ञानके मार्गमें जबरदस्त रुकावट डाली, एक गिओर्डानो ब्रूनो (Giordano Bruno) को जला दिया तथा एक गेलिलियो (Galileo) को बन्दी बनाया और इस मामलेमें इन्होंने इतने सामान्य रूपमें दुर्व्यवहार किया कि दर्शन और विज्ञानको अपने उचित विकासका खुला क्षेत्र प्राप्त करनेके लिये आत्मरक्षाके भावमें धर्मपर आक्रमण कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देना पड़ा; और यह सब इसलिये कि मनुष्योंने यह निश्चित धारणा बना ली थी कि धर्म ईश्वर तथा संसारके सम्बन्धमें कुछ ऐसे स्थिर बौद्धिक विचारोंसे बँधा हुआ है, जो कसौटीपर पूरे नहीं उतर सकते। अतएव उस कसौटीको आग तथा तलवारसे दबा देना आवश्यक था। धार्मिक भ्रान्तिके जीवित बने रहनेके लिये वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सत्यका निषेध करना आवश्यक था। हम यह भी देखते हैं कि अतिसंकीर्ण धार्मिक भावना असहिष्णु वैराग्य-वश जीवनके आनन्द एवं सौन्दर्यको कुचलकर उसे ऊसर बनाती रही है। प्यूरिटन सम्प्रदायके लोगोंने धर्मका सच्चा स्वरूप न जानते हुए जीवनके सौन्दर्य एवं आनन्दको कुचलनेकी चेष्टा की। वे नहीं देख सके कि धार्मिक तप धर्मका मुख्य अङ्ग भले ही हो; पर यह उसका सार-सर्वस्व नहीं—ईश्वरप्राप्तिका नीति-धर्ममय मार्ग एकमात्र यही नहीं; क्योंकि प्रेम, त्याग, सज्जनता, सहिष्णुता, दयालुता भी ईश्वरीय गुण हैं। इतना ही नहीं, बल्कि ये अधिक दिव्य वस्तुएँ हैं और वे भूल गये या वे कभी जानते ही न थे कि पवित्रताके समान प्रेम और सौन्दर्य भी ईश्वरका स्वरूप हैं। राजनीतिमें धर्मने प्रायः ही राजसत्ताका पक्षपोषण किया है और अधिक महान् राजनीतिक आदर्शोंके आविर्भावमें बाधा डाली है। क्योंकि स्वयं इसका स्वरूप राजसत्तासे पोषित धर्म-संस्थाका ही था और यह सम्प्रदाय और धर्मके अन्तरको हृदयङ्गम नहीं कर पाता था अथवा, क्योंकि यह झूठे दैवी राज्यका प्रतिनिधि बना हुआ था, यह भूलकर कि सच्चा दैवी राज्य ईश्वरका राज्य होता है, न कि पोप तथा पुरोहित-पुजारियोंका राज्य। इसी प्रकार इसने प्रायः कठोर तथा घिसी-पिटी समाज-व्यवस्थाका समर्थन किया है; क्योंकि इसने समझा कि इसका अपना जीवन उन सामाजिक रूपोंसे बँधा हुआ है, जिनके साथ यह अपने इतिहासके दीर्घ भागमें सम्बद्ध रहा था और इसने गलतीसे यह परिणाम निकाल लिया कि समाज-व्यवस्थामें किया गया आवश्यक परिवर्तन भी धर्मका उल्लङ्घन होगा और इसके अस्तित्वके लिये संकट—मानो मनुष्यकी धार्मिक भावना-जैसी शक्तिशाली और आभ्यन्तरिक वस्तु सामाजिक रूपके परिवर्तन-सरीखी तुच्छ वस्तु या सामाजिक पुनर्व्यवस्था-जैसी बाहरी वस्तुसे मिटायी जा सकती हो! यह भ्रान्ति अपने नाना रूपोंमें अतीतके क्रियात्मक धर्मकी महान् दुर्बलता रही है और साथ ही इससे बुद्धि, सौन्दर्यभावना, सामाजिक एवं राजनीतिक आदर्श—यहाँतक कि मानवकी नैतिक भावनाको ऐसा अवसर और बहाना मिला है कि वे उस वस्तुके विरुद्ध विद्रोह करें, जो उनकी अपनी सर्वोच्च प्रवृत्ति और नियम-नीति होनी चाहिये थी

प्राच्य और पाश्चात्त्य आदर्शोंका समन्वय

इस तथ्यमें प्राचीन तथा अर्वाचीन, प्राच्य और पाश्चात्त्य आदर्शोंकी विषमताका एक रहस्य निहित है और इसीमें उनके समन्वयका एक सूत्र भी। दोनों एक प्रबल न्यायसंगत आधारपर प्रतिष्ठित हैं और दोनोंके झगड़ेका कारण है मिथ्या भ्रान्ति। यह ठीक है कि धर्म जीवनमें प्रभावपूर्ण तत्त्व होना चाहिये। इसे जीवनका प्रकाश और विधि-विधान होना चाहिये; परंतु यहाँ धर्मसे हमारा मतलब धर्मके उस स्वरूपसे है जो कि उसका होना चाहिये और जो उसका अन्तरीय स्वरूप है। उसके अस्तित्वका मूल नियम है अर्थात् ईश्वरकी खोज एवं आध्यात्मिकताका सिद्धान्त। दूसरी ओर यह भी सच है कि धर्म जब अपने-आपको किसी मत, सम्प्रदाय या मठ-मन्दिरसे या रूढ विधि-विधानोंकी पद्धतिमात्रसे एकाकार कर लेता है, तब वह सहज ही बाधक शक्तिका रूप धारण कर सकता है और मानव आत्माके लिये यह आवश्यक हो सकता है कि वह जीवनकी विविध प्रवृत्तियोंपरसे इसका प्रभुत्व दूर करे।

परंतु यहाँ एक जटिलता आ उपस्थित होती है, जो विषमताका अधिक गम्भीर कारण प्रस्तुत करती है! क्योंकि धर्म आध्यात्मिकताको प्रायः ऐसी चीज समझता प्रतीत होता है, जो पार्थिव जीवनसे दूरस्थ, इससे भिन्न तथा इसकी विरोधी हो। यह ऐसी घोषणा करता प्रतीत होता है कि पार्थिव जीवनका अनुसरण तथा मनुष्यकी ऐहिक आशाएँ आध्यात्मिक जीवन या मनुष्यकी पारलौकिक आशासे असंगत हैं। तब तो आत्मा एक ऐसी अलग-अलग-सी वस्तु हो जाती है, जिसे मनुष्य अपने निम्नतर अङ्गोंके जीवनका बहिष्कार कर देनेपर ही प्राप्त कर सकता है और सो इस प्रकार कि या तो इस जीवनको एक विशेष अवस्थाके बाद, जब कि इसका प्रयोजन पूरा हो ले, त्याग दिया जाय, अथवा इसे निरन्तर अनुत्साहित

एवं पीड़ित करके नष्ट कर दिया जाय। यदि धर्मका सच्चा अर्थ यही हो तो यह स्पष्ट ही है कि न तो इसके पास सामाजिक प्रयत्न, आशा और अभीप्साके यथार्थ क्षेत्रमें मानव-समाजके लिये कोई निश्चित सन्देश है और न हमारी सत्ताके किसी भी निम्नतर अङ्गके लिये ही। क्योंकि हमारे जीवन-का प्रत्येक तत्त्व स्वभावतः ही अपने क्षेत्रमें अपनी पूर्णता चाहता है और यदि इसे उच्चतर शक्तिका अनुसरण करना ही हो तो वह इसलिये करेगा कि वह शक्ति इसे इसके अपने क्षेत्रमें भी महत्तर पूर्णता एवं समृद्धतर तृप्ति प्रदान करती है। परंतु यदि आध्यात्मिक प्रेरणा इसकी पूर्णता-प्राप्तिकी सम्भावनासे ही इन्कार करे और अतः इसकी पूर्णताकी अभीप्साको ही निकाल फेंके, तब या तो यह आत्मविश्वास खो बैठेगा और साथ ही अपनी सामर्थ्यों एवं प्रवृत्तियोंके स्वाभाविक विस्तारके सम्पादनकी क्षमता भी, अथवा इसे अपने शील-स्वभाव तथा स्वधर्मका अनुसरण करनेके लिये आत्माकी पुकारका परित्याग करना होगा। पृथिवी और स्वर्गका, आत्मा और उसके करणोंका यह कलह हमें और भी अधिक निःसत्त्व एवं पङ्गु बना देनेवाला हो जाता है। यदि आध्यात्मिकता दुःख-कष्ट, कठोर यातना और संसारकी निःसारताके धर्मका रूप धारण कर ले, तो यह दुःखवाद अपने बढ़े-चढ़े रूपमें आत्माके ऐसे घोर विषाद और निराशाके दुःस्वप्नोंको जन्म देता है, जैसे मध्ययुगमें उसकी हीनतम अवस्थामें छाये हुए थे—जब कि संसारका सन्निकट और प्रत्याशित अन्त या अवश्यम्भावी एवं अभीष्ट प्रलय ही मानवजातिका एकमात्र आश्वासन दीख पड़ता था। परंतु जगद्विषयक यह निराशा-वादी भावना अपने कम प्रकट और कम असहिष्णु रूपोंमें भी जीवनको निरुत्साहित करनेवाले बलका काम करती है, अतएव यह जीवनका सच्चा नियम एवं पथप्रदर्शक नहीं हो सकती। समस्त दुःखवाद इतने अंशमें आत्मसत्ता तथा इसके बल-वैभव एवं ऋद्धि-सिद्धिको अङ्गीकार न करनेवाला, संसारमें ईश्वरकी कार्यप्रणालियोंको सहन न करनेवाला और जगत्‌की उत्पादक तथा सञ्चालक दिव्यप्रज्ञा एवं शक्तिमें अपूर्ण विश्वास करनेवाला है। यह उस प्रज्ञा एवं शक्तिके सम्बन्धमें एक अशुद्ध विचारको अपनाता है और इसलिये यह स्वयं आत्माकी वह परम प्रज्ञा एवं शक्ति नहीं हो सकता, जिससे संसार ऐसी आशा लगा सके कि वह इसके सम्पूर्ण जीवनको पथपर चलाकर भगवान्‌की ओर ऊँचा उठा देगी।

पश्चिमकी धर्म-विमुखता एक दूसरी अति है, लटकनकी ठीक उलटी गति है। इसके अनुसार यूरोपने धर्मके दावे और आग्रहको न्यूनातिन्यून कर मध्ययुगीन धार्मिक भावनासे हटकर पुनरुज्जीवन (Renascence) और धार्मिक सुधार (Reformation)-मेंसे गुजरते हुए आधुनिक बुद्धिवादी भावनाका विकास किया, जो भावना साधारण पार्थिव जीवन-को ही अपना एकमात्र मुख्य धंधा समझती तथा निम्नतर अङ्गके अध्यात्मजिज्ञासाशून्य धर्मसे अपनेको चरितार्थ करना चाहती है। यह एक भूल है; क्योंकि पूर्णता ऐसी सीमा एवं संकीर्णताके भीतर प्राप्त नहीं की जा सकती, जो मानव-जीवनके पूर्ण विधान, गभीरतम प्रेरणा तथा गुह्यतम आवेगसे इन्कार करे। उच्चतमकी ज्योति और शक्तिसे ही निम्नतरको परिचालित, उदात्त और चरितार्थ किया जा सकता है। मनुष्यका निम्नतर जीवन अपने बाह्य रूपमें अदिव्य है, यद्यपि इसके भीतर दिव्यताका रहस्य निहित है और उच्चतर विधान तथा आध्यात्मिक प्रकाश अधिगत करके ही इसे दिव्य बनाया जा सकता है। दूसरी ओर जब मनुष्य वर्तमान जीवनकी अदिव्यता तथा आध्यात्मिक जीवनसे इसकी असंगतिके कारण व्याकुल होकर इससे भागता या इसके विकासको निरुत्साहित करता है तो उसकी यह व्याकुलता एवं वैराग्य भी एक गलती है। साधु या कोरा तपस्वी इससे अपना वैयक्तिक निजी मोक्ष अवश्य प्राप्त कर सकता है—जिस प्रकार जडवादी भी अपनी शक्ति और एकाग्र गवेषणाके उचित फल अधिगत कर सकता है; परंतु वह वैरागी साधु मनुष्यजातिका सच्चा मार्गदर्शक और उसका नियमोपदेष्टा शास्त्रकार नहीं हो सकता। क्योंकि इस सारे मनोभावमें जीवन और उसकी अभीप्साओंसे भय, घृणा तथा उनपर अविश्वास अन्तर्निहित है और जिस चीजसे मनुष्यको जरा भी सहानुभूति नहीं, जिसे वह न्यूनातिन्यून तथा निरुत्साहित करना चाहता है, उसका वह भला कैसे कुशलतासे सञ्चालन कर सकता है। शुद्ध वैराग्य-भावना जीवन और मानव-समाजका परिचालन करती हुई इन्हें केवल इस योग्य बना सकती है कि ये अपने-आपको ही अस्वीकृत करने तथा अपनेसे दूर भागनेके साधन बन जायँ; यह निम्नतर प्रवृत्तियोंको सहन तो कर सकती है, पर केवल ऐसी प्रेरणा देनेके लिये ही कि वे अपने-आपको यथासम्भव कम करके अन्ततोगत्वा अपनी क्रिया बंद कर दें। जो आध्यात्मिक पुरुष मानव-जीवनको इसकी पूर्णताकी ओर ले चल सकता है, उसका आदर्शरूप 'ऋषि' के प्राचीन भारतीय विचारमें निदर्शित है। जिस ऋषिने मनुष्यका-सा जीवन बिताते हुए अतिबौद्धिक, अतिमानसिक, आध्यात्मिक सत्यका दिव्य शब्द श्रवण किया होता है, वह इन शरीर-प्राण-मनकी निम्नतर सीमाओंसे ऊपर उठ चुका होता है और सभी वस्तुएँ ऊर्ध्वस्तरसे देख सकता है; पर साथ ही उसे उनके प्रयत्नके प्रति सहानुभूति होती है और वह उनके भीतर बैठकर उन्हें भीतरसे भी देख सकता है। वह पूर्ण ज्ञान एवं उच्चतर ज्ञानसे

युक्त होता है। अतः वह मानव-जगत्का उसी तरह पथ-प्रदर्शन कर सकता है, जिस तरह ईश्वर दिव्यरीतिसे इसका पथ-प्रदर्शन करते हैं; क्योंकि भगवान्के समान वह भी जगत्के जीवनमें रहता हुआ भी उससे ऊपर होता है।

धर्म और आध्यात्मिकता

अतः आध्यात्मिकताके इस अभिप्रायको हृदयङ्गमकर हमें मार्गदर्शक ज्योति और समन्वयकारी विधानकी खोज ऐसी आध्यात्मिकतामें ही करनी होगी और धर्ममें उसी हदतक, जहाँतक वह अपनेको इस आध्यात्मिकतामें तदाकार करता है। जबतक वह इससे दूर रहता है, तबतक वह अन्यान्य मानवी प्रवृत्तियों तथा शक्तियोंकी श्रेणीके ही अन्तर्गत होता है—भले ही वह उन सबसे अधिक मुख्य तथा अधिक प्रभावशाली ही क्यों न हो; और वह दूसरोंको पूरी तरह मार्ग नहीं दिखा सकता। यदि यह उन्हें सदा ही किसी सिद्धान्त, अपरिवर्तनीय धर्मशास्त्र तथा विशेष पद्धतिकी सीमाओंमें बाँधनेकी चेष्टा करता है तो इसे उन्हें इसके प्रभुत्वके विरुद्ध विद्रोह करते देखनेको तैयार रहना होगा। क्योंकि चाहे वे कुछ समयके लिये इसका प्रभाव अङ्गीकार-कर इससे महान् लाभ उठा सकती हैं, तो भी अन्तमें उन्हें अपनी सत्ताके नियम (स्वभाव) के अनुसार अधिक स्वतन्त्र क्षेत्र और कर्मकी ओर बढ़ना होगा। आध्यात्मिकता मानव-आत्माकी स्वतन्त्रताका सम्मान करती है; क्योंकि उस स्वतन्त्रतासे यह स्वयं चरितार्थता लाभ करती है। अपनी निजी प्रकृतिके नियम (स्वधर्म) के अनुसार पूर्णताकी ओर विस्तार एवं विकास-लाभ करनेकी क्षमता ही स्वतन्त्रताका अत्यन्त गम्भीर आशय है। ऐसी स्वाधीनता यह हमारी सत्ताके सभी मूल अङ्गोंको प्रदान करेगी। यह दर्शन तथा विज्ञानको वह स्वाधीनता देगी; जो प्राचीन भारतीय धर्मने दी थी;—यहाँतक कि उन्हें ऐसी स्वतन्त्रता भी देगी कि यदि वे चाहें तो आत्मासे इन्कार भी कर सकते हैं;—जिस स्वाधीनताके परिणाम-स्वरूप प्राचीन भारतमें दर्शन और विज्ञानने धर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी कभी आवश्यकता अनुभव नहीं की, बल्कि वे इसकी ज्योतिकी छत्रच्छायामें विकसित होकर इसीमें परिणत हो गये। यह मनुष्यकी राजनीतिक एवं सामाजिक पूर्णताकी खोजको तथा उसकी अन्य सभी शक्तियों एवं अभीप्साओंको भी वही स्वाधीनता प्रदान करेगी। हाँ, यह उन्हें आलोकित अवश्य करना चाहेगी; ताकि वे आत्माके प्रकाश एवं विधानमें विकसित हो जायँ—दबाव या बन्धनके कारण नहीं, वरं अपनी महत्तम, उच्चतम, गभीरतम सम्भाव्य शक्तियोंके विस्तार तथा बहुमुखी उपलब्धिके द्वारा। क्योंकि ये सभी आत्माकी ही सम्भाव्य शक्तियाँ हैं।

श्रद्धा

(लेखिका—श्रीअरविन्द-आश्रमकी अध्यक्षा श्रीमाताजी)

बाह्य चेतना-जन्य बोध आन्तरात्मिक बोधको अस्वीकार कर सकता है। तथापि, अन्तरात्मामें सच्चा ज्ञान एवं सहज स्फुरित ज्ञान निहित है। अन्तरात्मा कहती है, 'मैं जानती हूँ; मैं युक्तियाँ नहीं दे सकती, पर मैं जानती हूँ।' क्योंकि इसका ज्ञान मानसिक अनुभवपर आश्रित या प्रमाणोंसे सत्य सिद्ध किया हुआ नहीं होता। यह प्रमाण दिये जानेके बाद ही विश्वास करती हो ऐसी बात नहीं; अन्तरात्माका ज्ञान सहज-स्फुरित एवं प्रत्यक्ष होता है और ऐसी अन्तरात्माकी क्रियाको ही श्रद्धा कहते हैं। चाहे सारा संसार इन्कार करे और विरोधमें सहस्रों प्रमाण प्रस्तुत करे, तो भी उसका ज्ञान एक ऐसा अन्तर्ज्ञान एवं साक्षात् प्रत्यक्ष होता है, जो उन सबका निराकरण कर सकता है। वह होता है तादात्म्यलब्ध ज्ञान। अन्तरात्माका ज्ञान एक मूर्त्त एवं गोचर वस्तु तथा ठोस पिण्ड होता है। तुम इसे अपने मन, अपने प्राण तथा अपने शरीरमें भी ला सकते हो और तब तुममें पूर्ण श्रद्धा उदित होगी—ऐसी श्रद्धा जो सचमुच पहाड़ उठा सकती है। परंतु हमारी सत्ताके किसी भागको अविश्वासीके रूपमें प्रकट होकर यों नहीं कहना चाहिये; 'यह बात ऐसी नहीं है' और न उसे प्रमाणकी माँग ही करनी चाहिये। जरा भी अधूरे विश्वाससे तुम सब मामला बिगाड़ देते हो। यदि श्रद्धा पूर्ण एवं अटल न हो तो परम देव भला कैसे प्रकट हो सकते हैं। श्रद्धा अपने-आपमें सदा अविचल होती है—यह इसका निज स्वभाव ही है; क्योंकि अन्यथा इसे श्रद्धा कह ही नहीं सकते। परंतु, सम्भव है कि मन या प्राण या शरीर अन्तरात्माकी गतिका अनुसरण न करे। यह हो सकता है कि किसी मनुष्यमें एक योगीके पास जाकर सहसा ऐसी श्रद्धा पैदा हो कि यह व्यक्ति मुझे मेरे लक्ष्यपर पहुँचा देगा। उसे मालूम नहीं कि इस व्यक्तिको ज्ञान प्राप्त है या नहीं। उसे आन्तरात्मिक आवेगका अनुभव होता है और ऐसा जान पड़ता है कि उसे गुरु मिल गये हैं। वह बहुत देर मनमें सोच-विचारकर या अनेक चमत्कार देख लेनेपर ही विश्वास नहीं करता और केवल इसी कोटिकी श्रद्धा ही उपयोगी होती है। यदि तुम तर्क-वितर्क शुरू कर दो

व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण

शरत्‌ पूर्णिमा
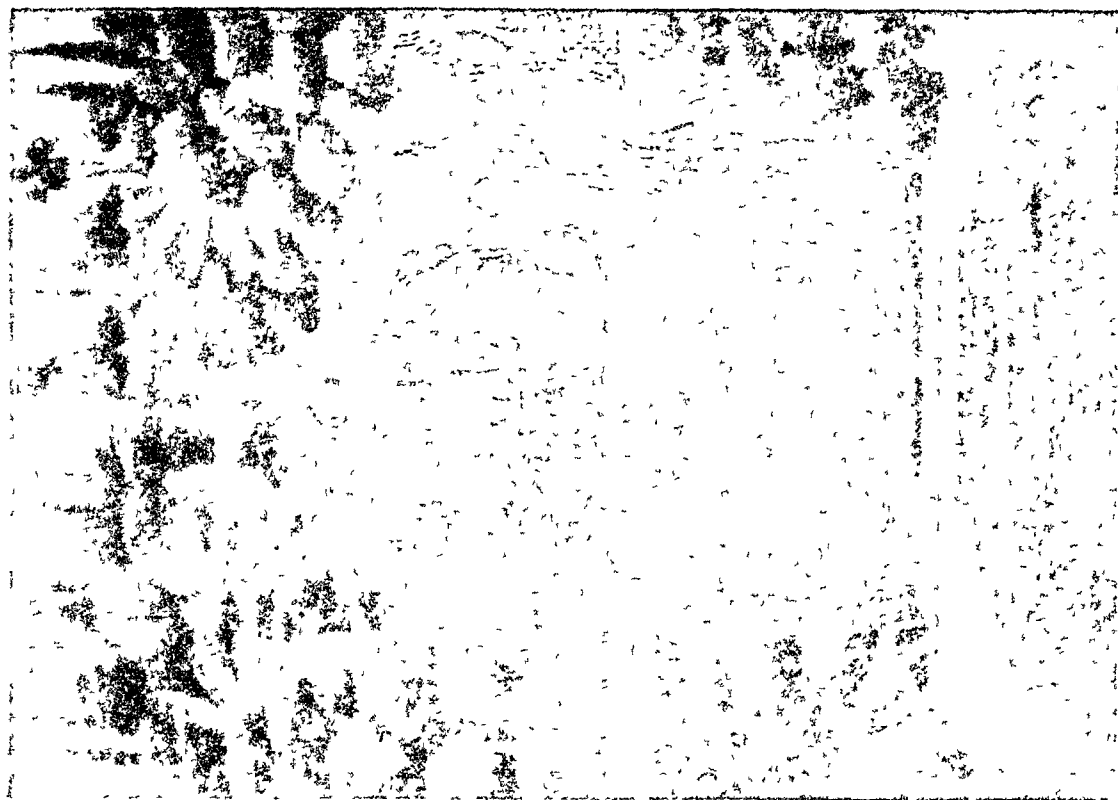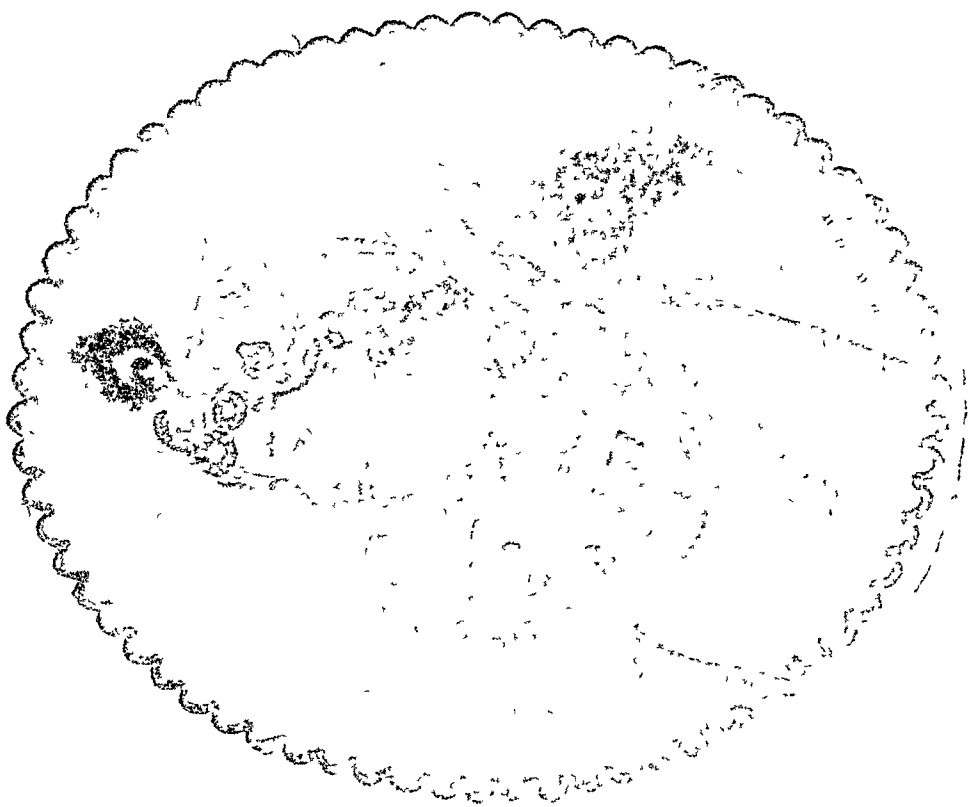
तो सदैव अपनी भवितव्यतासे हाथ धो बैठोगे । कुछ लोग यह सोचने बैठ जाते हैं कि आन्तरात्मिक आवेग युक्ति-सङ्गत है या नहीं ।

लोगोंके पथभ्रष्ट होनेका कारण वास्तवमें तथाकथित अन्धविश्वास नहीं होता । वे प्रायः कहते हैं, 'अहो, मैंने अमुक-अमुक व्यक्तिमें विश्वास किया और उसने मुझे धोखा दिया है ।' परंतु सच पूछिये तो दोष उस व्यक्तिका नहीं, बल्कि विश्वास करनेवालेका होता है । उसके अपने अंदर ही कोई कमजोरी होती है । यदि वह अपना विश्वास अटूट बनाये रखता तो वह उस व्यक्तिको बदल देता । क्योंकि वह उसी श्रद्धामय चेतनामें स्थिर नहीं रहा, अतएव उसने अपनेको प्रवञ्चित अनुभव किया और उस व्यक्तिको वह जिस रूपमें देखना चाहता था, उस रूपमें नहीं देख पाया । यदि उसमें पूर्ण श्रद्धा होती तो वह उस व्यक्तिको बदलनेके लिये बाध्य कर देता । श्रद्धासे ही सदा चमत्कारोंकी सृष्टि होती है । एक व्यक्ति किसी दूसरेके पास जाता है और वहाँ भागवत-उपस्थितिका सम्पर्क प्राप्त करता है; यदि वह इस सम्पर्कको शुद्ध और सुरक्षित रख सके तो इससे भागवत चेतना अत्यन्त जड भागतकमें प्रकट होनेको बाध्य होगी । परंतु सब कुछ तुम्हारी अपनी आदर्श-मर्यादा एवं तुम्हारी अपनी सत्यतापर निर्भर है; जितना ही अधिक तुम आन्तरात्मिक तौरपर तैयार होगे, उतना ही अधिक ठीक मार्ग तथा ठीक गुरुकी प्राप्तिकी दिशामें प्रेरित होगे । अन्तरात्मा और उसकी श्रद्धा सदा सच्ची होती है; पर यदि तुम्हारी बाह्य सत्तामें छल-कपट है और यदि तुम आध्यात्मिक जीवनके बदले वैयक्तिक सिद्धियोंकी प्राप्तिका यत्न कर रहे हो तो यह चीज तुम्हें पथभ्रष्ट कर सकती है । तुम्हें भटकानेवाली चीज यही है, न कि तुम्हारी श्रद्धा । यह संभव है कि श्रद्धा, अपने आपमें शुद्ध होनेपर भी, हमारी सत्तामें निम्न चेष्टाओंके योगसे मिलावटी बन जाय; और जब ऐसा होता है, तभी तुम गलत रास्तेपर जा पड़ते हो ।
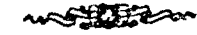
हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीमाधवराव सदाशिव गोळवलकर [पू० गुरुजी] सरसंघसंचालक, रा० स्व० संघ)

मनुष्यमात्रको परम सुखकी प्राप्ति करवा देनेका ध्येय सामने रखकर चलनेका दावा करनेवाले बहुत-से धर्म-पंथ तथा जीवन-रचनाएँ आज संसारमें विद्यमान हैं । उनके स्थूल-रूपसे दो भेद किये जा सकते हैं—(१) ईश्वरका अस्तित्व मानकर उसकी उपासनाद्वारा मनुष्यको सुख प्राप्त हो सकता है, यों कहनेवाली और (२) प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले इस भौतिक जगत्के अतिरिक्त और कोई सत्य है ही नहीं और इस जड जगत्में पाये जानेवाले साधनोंको सुलभतासे प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त करवा देकर उसकी स्वाभाविक आवश्यकताएँ या आकाङ्क्षाएँ पूरी करनेमें ही सब सुख है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली । शारीरिक क्षुधाओंकी पूर्तिमें सुख तथा उस पूर्तिके लिये आवश्यक वस्तुओंकी अप्राप्तिमें दुःख जीवमात्रको होता है । अतः भौतिक कामनाओंकी पूर्तिमें ही सुख है, यह बात आपाततः ठीक जँचती है । इसी बातको लेकर अनेक आधुनिक विचार-प्रणालियाँ उत्पन्न हुई हैं । मानवोंकी आर्थिक अधिष्ठानपर रचना करना, जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने शारीरिक सुख-साधनोंको प्राप्त करे, और उस आर्थिक अधिष्ठानके अनुकूल ही मनुष्यका समाज-जीवन और राजनैतिक रचना आदिका निर्माण करना—यह बात उन विचारप्रणालियोंमें एकमात्र उद्दिष्ट है । परंतु कुछ कालके लिये होनेवाली वासनापूर्ति, जीवसाधारण-विषयप्राप्ति सुखकारक होनेपर वह आगे चलकर मनुष्यको अशान्त करती हुई दिखायी देती है । इसके दो कारण हैं । एक तो विषय-वासनाओंकी पूर्ति सर्वथा असम्भव है । उनको तुष्ट करनेकी जितनी ही चेष्टा की जाती है, उतनी ही वे बढ़ती हैं । इस प्रकार व्यक्ति या समाजके लिये वासनाओंका उत्तरोत्तर बढ़ते जाना और उसपर सदा असंतोषका बना ही रहना, यही जगत्में बार-बार होनेवाले भयङ्कर युद्धोंका प्रमुख कारण है । जगत्में अशान्ति तथा असुख बनाये रखनेमें यही प्रबल कारण है । इस प्रकार वासनापूर्ति असम्भव होनेके कारण मानव-जीवन दुःखी होता हुआ दीखता है । दूसरे, मनुष्य केवल निर्बुद्ध प्राणी तो है नहीं । उसमें बुद्धि है, वह सोच सकता है और जीवसाधारण विकारोंके कारण तथा जगत्का ही प्रथम अनुभव और उससे कुछ भौतिक सुख-लाभकी सम्भावना देखनेके कारण वह उसमें कुछ काल रमण करता है परंतु आगे चलकर वह समझ जाता है कि इन आपाततः सुख देनेवाली वस्तुओंमें वास्तविक सुख देनेकी कोई शक्ति नहीं है । सुख तो अपने ही अंदर समय-समयपर उठनेवाली वासना-तरङ्गोंकी शान्तिसे होता है । यानी सुख बाह्य वस्तुमें नहीं, वासनापूर्तिमें भी नहीं; किंतु वासनाके शान्त होनेमें है ।

इस विचारके उत्पन्न होते ही मनुष्य भौतिक जीवनसे मुँह मोड़कर जगत्‌की चित्र-विचित्र रचना करनेवाली ईश्वर नामकी कोई सर्वगुणसम्पन्न सर्वसुखमयी शक्ति होनी ही चाहिये, ऐसा अनुमान करके भौतिक जीवनको केवल दुःखमय मान लेता है और उस शक्तिकी उपासना करनेसे सुख-प्राप्ति हो सकेगी, ऐसी भावना करता है। ऐसी भावना और अनुमान ही धर्म-पंथोंके जन्ममें कारण होते हैं (यहाँ निसर्गपूजा, प्रेतपूजा आदि अत्यन्त प्राथमिक स्वरूपोंकी उपासनाओंका विचार नहीं किया है)। भौतिक सुखमें सुख है ही नहीं, जीवन केवल दुःखमय है, इस जीवनके पश्चात् उस शक्तिकी उपासनासे चिरन्तन सुख प्राप्त हो सकेगा—इस भावको लेकर केवल श्रद्धाके ऊपर आधारित ये पंथ बन जाते हैं।

परंतु मनुष्य केवल श्रद्धाके भरोसे, मृत्युके पश्चात् आनेवाले ऐसे जीवनपर निर्भर रहकर, जिसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता नहीं, आजके प्रत्यक्ष जीवनके सुख-दुःखादिको भूल नहीं सकता। इन उपासनाओंमें प्रत्यक्ष मानव-जीवनकी रचना और उससे निर्मित सुखका कुछ भी प्रबन्ध नहीं होता। अतः जब प्रत्यक्ष जीवनको दुःखसे मुक्त करनेके प्रयत्नोंमें इस प्रकारकी केवल श्रद्धामूलक उपासनाएँ उसे अपर्याप्त दीखती हैं, तब उसे भयानक असमाधानका अनुभव होता है और श्रद्धाशून्य जडवादकी ओर वह झुक जाता है।

परंतु मनुष्यमें बुद्धि भी है। वह स्वयं जीवके, और सामने दीखनेवाले और दिन-प्रतिदिन अनुभवमें आनेवाले सुख-दुःखमिश्रित जगत्‌के विषयमें सोचता है। इस सारे दृश्य प्रपञ्चके किसी मूलभूत सत्तत्त्व (Reality) की खोज करता है। उस सत्तत्त्वके विचारसे प्राप्त निर्णयोंका जीवनमें उपयोग करके देखता है; किंतु सुखका मध्यबिन्दु प्राप्त नहीं होता। यह स्वाभाविक भी है। किसी वर्तुलके मध्यबिन्दुको खोजनेके लिये उसकी परिधिके दो ही बिन्दु लेनेसे काम नहीं चलता। एक तीसरा बिन्दु भी लेना पड़ता है, तभी वर्तुलका मध्य पाया जा सकता है। अन्यथा सभी सत्तत्त्व-जिज्ञासा असफल रह जाती है।

भारतीयेतर समाजोंमें, विशेषकर आजके भौतिक दृष्टिसे प्रगत पाश्चात्त्य समाजोंमें, उपर्युक्त तीनों प्रकार पाये जाते हैं। उन सबमें मनुष्यके जीवनको समाजरूपसे सुव्यवस्थितकर ऐहिक जीवनके सुखकी ओर ध्यान देनेमें समर्थ केवल प्रथमोक्त जडवादी विचार ही है। उर्वरित दोनोंका प्रत्यक्ष जीवनसे साक्षात् सम्बन्ध वे नहीं रख सके और इसीलिये उनके प्रति उनकी अधिकाधिक अश्रद्धा ही निर्माण होती जा रही है। प्रथम जडवाद ही मनुष्यमात्रके अन्तःकरणपर प्रभाव रखता हुआ दिखायी देता है। वह भी सुखका वास्तविक स्वरूप न जाननेके कारण जीवनमें एक तीव्र असमाधान और अशान्ति फैलाता हुआ प्रतीत होता है।

भारतमें इस विषयपर सब पहलुओंसे विचार किया गया है। इन तीनोंके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, अतएव—

यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

—इस प्रकारके पूर्णतया जडवादी विचारसे लेकर 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस पूर्णतया तत्त्व-ज्ञानात्मक सिद्धान्ततक सभी विचार अपने हिंदू-समाजके पूर्व ऋषि-मुनियोंने किये हैं। उन्होंने यह अनुभव किया कि 'सुखकी प्राप्ति किसी परलोकमें इस जीवनके अन्तके पश्चात् होगी, अभी कुछ भी नहीं मिलेगा।' इससे किसीका समाधान हो नहीं सकता। साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि 'ऐहिक जीवनके सुख-साधन पूर्णतया व्यर्थ न होनेपर भी ये चिरकाल सुख देनेमें समर्थ नहीं हैं। सुख वस्तुनिष्ठ नहीं, आत्मनिष्ठ है। कामपूर्तिके समस्त साधन समीप होनेपर भी मनुष्य दुःखी रह सकता है और ऐहिक सुख-लाभके किसी साधनके बिना ही मनुष्य चिरन्तन शान्तिका अनुभव कर सकता है।' उन्होंने यह भी देखा कि 'कामपूर्तिके साधनोंकी विपुलता कामको पूर्णकर सुख देनेके स्थानमें कामकी वृद्धि ही करके असमाधान और तज्जन्य दुःखको जन्म देती है।' तथापि इस जीवनमें भी सुख मिले और इस शरीरके अन्तके पश्चात् भी यदि कोई जीवन हो तो वह भी सुखसम्पन्न हो, यही मनुष्य चाहता है। यही सोचकर हिंदू-तत्त्वज्ञोंने 'धर्म' की व्याख्या 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः' इस प्रकार करके धर्मको अभ्युदय और निःश्रेयस, ऐहिक और पारलौकिक सुख, सिद्ध करनेके लिये समाजकी धारणा करनेवाला बतलाया।

मनुष्यमात्रको सुव्यवस्थित समाजरूपसे धारणकर प्रत्येक व्यक्तिके ऐहिक सुखलाभके साथ पारमार्थिक उन्नति करनेकी दृष्टिसे हिंदुओंकी तत्त्व-विचारणा हुई। सर्वप्रथम विचार अर्थात् सुखका वास्तविक स्वरूप निर्धारित करना रहा। अनुभवसे वह आत्मनिष्ठ है यानी जीव ही सुखमय है; अतः समस्त सृष्टि सुखमय, आनन्दमय चिरन्तन सत्यका

ही व्यक्त रूप है। इस विचारको पाकर उन्होंने जीव और जगत्—इन दो विन्दुओंके साथ सत्-चित्-आनन्दमय ईश्वररूप तीसरे बिंदुकी खोज की, और इन तीन विन्दुओं-को परस्पर जोड़कर इस अखण्ड-मण्डलाकार विश्वका मध्य एक अद्वितीय अनिर्वचनीय जो मध्यके नाते सबको व्याप्त करता हुआ भी उससे परे और सर्वथा स्वतन्त्र है, उस महान् तत्त्वका आविष्कार किया और उसे उन्होंने 'ब्रह्म' शब्द दिया। इस ब्रह्मका साक्षात्कार ही सुख—अखण्ड सुख दे सकता है। मनुष्य यानी जीव एक ओर जगत् और दूसरी ओर ईश्वरसे सम्बन्धित होता हुआ इस ब्रह्मको कैसे साक्षात् करे और सुखी हो, यह प्रश्न उन्होंने इसके साथ सामने रक्खा और उसके मार्ग प्रस्थापित किये—कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान। इन मार्गोंको इसके साक्षात्कारके हेतु प्रकट करके उन्होंने यह सिद्धान्त प्रस्थापित किया कि 'ब्रह्मका ज्ञान हुए विना अन्तिम और आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो नहीं सकती।' किसी भी वस्तु-का पूर्ण ज्ञान उससे ऐकात्म्य होनेपर ही मिलता है। इस नियम-के अनुसार यह स्पष्ट है कि जीव भी ब्रह्म होकर ही उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर सुखी हो सकता है। जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है; क्योंकि सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त करता हुआ ब्रह्म ही जीवका भी स्वरूप है। अन्तर केवल इतना ही है कि जीव मर्यादित (सीमित) है और ब्रह्म अमर्याद (असीम)। अतः जीव यदि अपनी मर्यादाओंको नष्ट कर दे तो वह ब्रह्म ही है और सुख भी।

इसपरसे यह स्पष्ट होता है कि जीव—मनुष्य अपने व्यक्तित्वको यानी मर्यादित्वको—अल्पत्वको दूरकर जितनी विशालताका अनुभव करेगा, उतना ही उसे सुख मिलेगा। यही विचार 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' इस श्रुतिवाक्यमें प्रकट किया गया है। मनुष्यका अल्पत्व इसी कारण है कि वह अपनेको एक शरीरधारीमात्र समझता है, अपने शरीरको ही सर्वस्व समझकर उसके सुखके निमित्त बाह्य साधन—परिवार, शरीर, भरण-पोषणके साधन इत्यादिमें ही मग्न रहकर 'मैं' और 'मेरा' इस भावनाकी अपने चारों ओर संकुचित मर्यादाएँ डाल लेता है। अतः विशालताका अनुभव कर सुखी होनेके लिये सर्वप्रथम इन मर्यादाओंको तोड़ना आवश्यक हैं। 'मैं' और 'मेरा' को छोड़ना जीवनको स्वार्थसे हटाकर, कामनाओंकी गुलामीको दूरकर उनपर विजय प्राप्त करना—त्यागी बनना है। हिंदू-तत्त्वज्ञ इस त्यागको सर्वप्रथम और श्रेष्ठ गुण इसीलिये बतलाते हैं कि उस गुणके विना संकुचित मर्यादाओंको तोड़कर सुखकी प्राप्ति करना असम्भव है। त्यागकी प्रखर अग्निमें स्वार्थ, कामना और ऐहिक सुख-लोलुपता-का होम करना ही सच्चा जीवन है। यही 'यज्ञ' है और यज्ञ ही नारायण—सर्वसुखमय ब्रह्मका साक्षात् स्वरूप है।

त्यागसे 'मैं' की संकुचित भावनाके भंग कर देनेपर सर्व-प्रथम जो सामने आता है, वह है अपना समाज—राष्ट्र। 'मैं' कहनेवाले जीवमें जो ब्रह्म है, वही इसमें अधिक विशाल रूपमें व्यक्त है—यह भाव उत्पन्न होता है। उपर्युक्त तीन विन्दुओंका इस दृष्टिसे व्यष्टि, समष्टि और परमेष्टि—व्यक्ति, समाज और विश्वात्मा—इन नामोंसे विचार करके व्यक्ति विशाल हो जाता है और समाजके साथ तादात्म्यका अनुभव कर अन्तमें संपूर्ण विश्व और ब्रह्मका साक्षात् कर चिरन्तन सुख-लाभ करता है, यह समझना सुलभ है। इस विशालताका अनुभव इसी जीवनमें करना जगत्में सुखप्राप्तिका साधन है।

वैयक्तिक जीवनकी संकुचिततासे ऊपर उठकर समष्टिके साथ व्यक्तिके तादात्म्यका अनुभव होना समाजके व्यावहारिक जीवनमें वास्तविक सुख और शान्तिका निर्माण करता है। समाज जिन व्यक्तियोंसे बना है, उन सबमें एकात्मभावसे उत्पन्न निरतिशय प्रेमके विना यह तादात्म्य नहीं हो सकता। अतः जब व्यक्ति संकुचितताको छोड़कर, वैयक्तिक वासनाओंपर विजय पाकर, त्यागी जीवनको अपनाकर इस बातको पहचान लेता है कि सारा समाज अपने-जैसे ही व्यक्तियोंका है, एक ही सत्तत्त्वसे प्रकट हुआ है, अपनेमें और अन्य व्यक्तियों-में अभेदरूपसे वह सत्तत्त्व भरा हुआ है, तभी वह वास्तविक प्रेम करनेमें समर्थ होकर समाजके साथ तादात्म्यका अनुभव कर सकता है, और इस तादात्म्यसे विशाल होकर सुखी होता है। समाजके साथ अभेददृष्टि रखनेसे प्रेमका प्रादुर्भाव होते ही प्रत्येक व्यक्तिके सुख-दुःखकी अनुभूति और प्रत्येक व्यक्ति-के दुःखको हटाकर उसे सुखी करनेके लिये उसकी सेवा करना तथा प्रत्येक व्यक्ति उस चिरन्तन सत्तत्त्व ईश्वरका ही रूप है—इस सद्भावसे उसकी सेवा करना स्वाभाविक होता है। इस धारणाको आत्मसात् कर समाजसेवा करनेवाले, समाजको मार्गदर्शन करनेवाले त्यागी ज्ञानी जितनी मात्रामें जिस समाजमें होंगे, वह समाज उतना ही सुखी, प्रगतिमान् तथा श्रेष्ठ होगा।

हिंदू-संस्कृतिने समाजरचनामें इस प्रकारके ब्रह्मको जाननेवाले ज्ञानी, समाजके साथ तादात्म्यका अनुभव कर सब व्यक्तियोंकी 'नारायण'-भावसे सेवा करनेवाले वासनाजयी,

त्यागी व्यक्तियोंकी आवश्यकता समझी । प्रयत्नपूर्वक सब व्यक्तियोंका इस प्रकार बनना उसने वाञ्छनीय समझा और यह अवस्था महान् परिश्रमपूर्वक सत्संस्कार-निर्माणके प्रयत्नोंसे ही प्राप्त हो सकती है । इस भावको प्रकट करनेके लिये जिस कालखण्डमें समाजकी ऐसी अवस्था होगी; उसे 'कृत' युग कहा । सम्पूर्ण समाज ही इस श्रेष्ठ चारित्र्यसे पूर्ण होनेके कारण समाजकी सुव्यवस्थित धारणाकर प्रत्येक व्यक्तिको अभ्युदय तथा निःश्रेयससिद्ध करवा देनेवाला धर्म पूर्णरूपसे वर्तमान रहता है और सब व्यक्तियोंमें परस्पर स्वार्थशून्य स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रखता है । अतः व्यक्तियोंमें अनाचारका नियमन कर समाजको स्वास्थ्य देनेवाली राजसत्ता, दण्डनियम आदि इस अवस्थामें अनावश्यक होते हैं । यही बात—

> न राज्यं न च राजाऽऽसीन्न दण्डो न च दाण्डिकः ।
> धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

—इस श्लोकमें निःसन्दिग्ध रूपसे कही गयी है । आज भी लोग Anarchism—withering away of the State आदिका स्वप्न देख रहे हैं; किंतु उनके द्वारा उसके अधिष्ठानका—धर्मका विचार नहीं किया गया होनेके कारण वह अवस्था कैसी होगी और किस प्रकार व्यक्ति समाजरूपमें रहेंगे—इसका उन लोगोंसे समाधानकारक स्पष्टीकरण नहीं मिलता । उस अवस्थाका यथार्थ वर्णन और उसकी प्राप्तिका साधन केवल हिंदू-संस्कृतिने ही पूर्ण समाधानकारक रीतिसे बतलाया है ।

परंतु जबतक यह वाञ्छनीय अवस्था प्राप्त नहीं होती, तबतक समाजधारणा कैसे हो ? तबतक तो राजसत्ताके बिना काम नहीं चलेगा । यह बात हिंदू-संस्कृतिने मान ली । राजसत्ताकी आवश्यकता होनेके बाद उन्होंने यह भी अनुभव किया कि अनियन्त्रित सत्ता समाजको स्वातन्त्र्य-सुख देनेके स्थानपर दासता और दुःख ही देगी । अतः उन्होंने सत्ताके ऊपर उपरिनिर्दिष्ट श्रेष्ठ पुरुषोंका नियन्त्रण डाला । राजसत्ताके द्वारा हो सकनेवाले अन्यायको अन्याय ही कहते हुए उसे बदल देनेका भी अधिकार उन्हें दिया; परंतु स्वयं स्वार्थनिरपेक्ष रहकर राजसत्ताके उपभोगसे उन्हें सर्वथा दूर रक्खा । धर्म और न्यायदाता तथा राजसत्ताको विभक्त रखकर अनिर्बन्ध हो सकनेवाली और इसी कारण अत्याचारी एवं दुःखदायक हो सकनेवाली सत्ताको नियन्त्रित रखनेका सुप्रबन्ध किया ।

इस विभक्तीकरणके अनुसार राजसत्ता और द्रव्योत्पादन—इन दोनों बातोंको भी विलग रखनेकी दक्षता हिंदू-संस्कृतिमें दीख पड़ती है । धन एक शक्ति है । राजसत्ता भी शक्ति है । दोनोंके द्वारा मद उत्पन्न होकर अन्यायकी प्रवृत्ति हो सकती है । राजसत्ता और द्रव्योत्पादनके साधनोंपर अधिकार—दोनों एकत्रित होनेपर कितनी उन्मत्तता उत्पन्न हो सकती है—यह कोई भी समझ सकता है । एक ही व्यक्तिमें या व्यक्तिसमूहमें दोनों शक्तियोंके केन्द्रित हो जानेसे शेष समस्त समाजका सर्वथा दीन—गुलाम-सा होकर पतित होना या अत्याचारके नीचे पिसे जानेके कारण निरुक्त विद्रोही बन जाना और इस प्रकार समाजकी शान्ति तथा सुखका नाश हो जाना स्वाभाविक ही है । इस विप्लवावस्थासे समाजको बचाकर चिरशान्ति देनेके हेतु राजसत्तासे धनहीन और धनयुक्त व्यक्तिको सत्ताहीन रखकर दोनोंको परस्परावलम्बी, अन्योन्याश्रित करके दोनोंके ऊपर त्यागी, स्वार्थनिरपेक्ष व्यक्तियोंका न्यायपूर्ण नियन्त्रण प्रस्थापित कर सत्ताधारी या धनवान्—कोई भी वर्गोंके समाजसे अन्यायपूर्ण व्यवहारकर उसे दुःखी न कर सके, अपनी समाजरचनामें हिंदू-संस्कृतिने इसके लिये सुव्यवस्था करनेकी चेष्टा की । इस प्रकार समाजमें परस्परावलम्बित्व, परस्परसहकार्य तथा परस्पर सद्भावपूर्ण स्नेह ही समाजको सुव्यवस्थित रखकर सब व्यक्तियोंको सुखका जीवन प्राप्त करा सकता है—हिंदू-संस्कृति इस सिद्धान्तको अपने सामने रखकर ही समाज-रचनाका प्रयास करती है ।

व्यावहारिक जीवनमें समाजकी यह व्यवस्था करते हुए सब व्यक्तियोंको यही भावना धारण करनी चाहिये कि यह समाज अमूर्त परमात्माका ही व्यक्त रूप है । परमात्मा इस जगत्का स्वामी है—इसी दृष्टिसे यह समाजरूपी, राष्ट्ररूपी परमात्मा भी इस राष्ट्रकी सारी सम्पत्तिका स्वामी है । इस राष्ट्रका ज्ञान, सत्ता, धन, कला—सब उसीका है । व्यक्ति तो उसके पास जो शरीर, शक्ति, गुण और सम्पत्ति आदि हैं, उनके द्वारा स्वार्थनिरपेक्ष होकर इस परमात्माकी सेवा करनेका अधिकारी है । राजसत्ताधीश राज्यका उपभोगशून्य अधिपति, धन प्राप्त करनेवाला धनका उपभोगशून्य रक्षक एवं संवर्धक—इस प्रकार स्वार्थरहित होकर प्रत्येकके लिये अपने-अपने स्थानसे, गुणादिकोंके द्वारा इस समाजस्वरूपकी एकात्मता, परमात्माकी सेवा करना ही परमश्रेष्ठ कर्तव्य है । व्यक्तिके लिये विशाल होकर सुखमय परमात्मस्वरूप बननेके लिये इस व्यक्त परमात्माकी एकात्मभावसे, त्यागसे, निःस्वार्थतासे, शरीर-मन-वाणीसे—तन-मन-धनका अर्पण करके सेवा करना ही परम कर्तव्य है । इस कर्तव्यको सर्वभावसे निभानेसे ही जीवनमें सफलता प्राप्त होती है, सुख मिलता है ।

> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।

हिंदू-संस्कृतिद्वारा निर्धारित समाज-रचनाके स्वरूपका अंशमात्र विचार यहाँ किया गया है। यह विषय इतना विशाल है कि इस छोटे-से प्रबन्धमे उसके सब पहलुओंका उल्लेख भी करना असम्भव है। अतः हिंदू-संस्कृतिके श्रेष्ठ पुरुषोंने ऐहिक सुखको भी दृष्टिमें रखते हुए किस प्रकारसे धर्मकी व्याख्या करनेका प्रयत्न किया एवं उसके आधारपर समाजकी सर्वाङ्गपूर्ण रचना करनेके उनके प्रयत्न प्रत्येक व्यक्तिको ऐहिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त करवा देकर उसके जीवनका भौतिक एवं नैतिक और आध्यात्मिक स्तर ऊँचा उठानेके हेतु कैसे रहे, इस ओर अङ्गुलिनिर्देशमात्र करनेके लिये ही यह लिखा गया है। आजकी अनेक समस्याएँ तथा अनेक विचारप्रवाहोंका भी अपनी सांस्कृतिक दृष्टिसे कुछ विचार स्वभावतः ही इसमे हुआ है। यदि कोई विद्वान् हिंदू-संस्कृतिका साङ्गोपाङ्ग अभ्यास कर उसकी सुखमयी विचारधारा तथा व्यवहारको प्रकट करे तथा आजकी अवस्थामें जगत्को भिन्न-भिन्न विचारोंसे 'यही विश्वशान्ति प्रदान करनेमे समर्थ है'—यह बात सबको सुगमतासे समझा दे तो उत्तम होगा और आज अपनी ही संस्कृतिको भूलनेवाले हिंदू-समाजका योग्य मार्ग-दर्शन होगा। मैं तो इस लेखमे कुछ अंशमे ही विचार कर सका हूँ। मेरे विचारकी जिस दिशाका निर्देश इसमें है, वह यदि किसीके लिये उपयुक्त हुआ और उससे अपनी सर्वश्रेष्ठ संस्कृतिके अध्ययन, मनन तथा आचरणकी प्रेरणा हुई तो मैं इस त्रुटियुक्त प्रयत्नको सफल ही मानूँगा।

अन्तमे हिंदू-संस्कृतिके विश्वशान्ति-महामन्त्र—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

—का स्मरण कर इस अल्प लेखको अपने हिंदुराष्ट्ररूपी परमात्माके चरणोमे समर्पित करता हूँ।

क्या हिंदुत्व साम्प्रदायिकता है ?

(लेखक—पू० महन्त श्रीदिग्विजयनाथजी महाराज)

आजके भारतके अधिकांश नागरिक और संसारके प्रमुख व्यक्ति, जो हिंदुत्वसे अनभिज्ञ हैं, प्रायः हिंदुत्वका अर्थ साम्प्रदायिकता और हिंदूका अर्थ साम्प्रदायिक समझते है। यह आजका एक प्रचलित नारा हो गया है और यह भी दावेके साथ कहा जा सकता है कि इसके सदृश भ्रमपूर्ण और अनर्गल नारा दूसरा हो भी नही सकता। यदि आजके अनभिज्ञ भारतीय और विशेषतः हिंदू यह समझ सकें कि हिंदुत्व और साम्प्रदायिकतामे उतना ही अन्तर है, जितना आकाश और पातालमे, तो इसमे सन्देह नहीं कि वे अपनी मानसिक दासताकी एक शृङ्खला और सबसे मजबूत शृङ्खलाको अवश्य तोड़नेमे समर्थ हो जायँगे। इस प्रश्नपर विचार करनेके पूर्व कि वास्तवमे हिंदुत्व साम्प्रदायिकता है या नहीं, यह उचित होगा कि हम इन दोनों महत्त्वपूर्ण शब्दों—'हिंदुत्व' और 'साम्प्रदायिकता' पर अलग-अलग विचार करें।

हिंदूकी परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकारसे की गयी है; पर सबसे विशद, प्रामाणिक और सरल परिभाषा अखिल-भारतवर्षीय हिंदू-महासभाकी ओरसे निम्नलिखित प्रकारसे हुई है—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिंदुरिति स्मृतः॥

अर्थात् जो इस सिन्धु नदसे लेकर सागर (कन्याकुमारी)-पर्यन्त विस्तृत इस भारत-भूमिको अपनी पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि मानता है, उसे ही हिंदू कहा जा सकता है (वह हिंदू है)।

कितनी असाम्प्रदायिक परिभाषा है यह ! साम्प्रदायिकताकी तो इसमे बूतक नही है। यह किसी भी सम्प्रदायविशेष या धर्मविशेषकी ओर इंगित करती प्रतीत नहीं होती; न तो इसके अनुसार केवल शिवलिङ्गकी पूजा करनेवाला हिंदू है और न गायत्रीमन्त्र जपनेवाला ही। पर हिंदू वह है, जो इस समग्र भारतभूमिको अपनी पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि मानता है। कितनी राष्ट्रियता है इसमें; और है कितनी देशभक्ति ! जो मनुष्य इस भूमिको अपनी पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि मानेगा, वह कभी इसको धोखा नही दे सकता। हिंदू हिंदुस्थानके लिये जी सकता है, मर सकता है और कर सकता है अपना सर्वस्व-समर्पण ! पर एक हिंदूके लिये इस भूमिको अपनी पितृ-भूमि मानना ही पर्याप्त नहीं है, उसको इसे अपनी पुण्य-भूमि भी मानना ही पड़ेगा और तभी वह हिंदू कहला सकता है।

पुण्य-भूमिका अर्थ—उसके तीर्थ और महापुरुष इस भारत-भूमिमे ही उत्पन्न हुए हो। उसके हृदयमे भाव हो—

'फिर जन्में हम इसी भूमिमें; यही भाव उर धरे मरें' न कि 'मेरे मौला ! मदीने बुला ले मुझे' । एक हिंदूके तीर्थ काशी और मथुरा होंगे, न कि मक्का और फिलस्तीन । हिंदू वास्तवमें शुद्ध राष्ट्रिय होगा । पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि माननेके पश्चात् फिर वह अपने देशके साथ किसी भी प्रकारका विश्वासघात नहीं कर सकता । एक मुसल्मान या अंग्रेज यह मानता है कि भारत-भूमि उसकी पितृ-भूमि है, पर वह हिंदू तबतक नहीं कहला सकता, जबतक वह उसे पुण्य-भूमि भी न माने अर्थात् यहाँके तीर्थोंको अपना तीर्थ न माने; यहाँके महापुरुषोंको अपना महापुरुष न माने । उसे फिलस्तीन और मक्काकी याद छोड़नी ही पड़ेगी और शुद्ध भारतीय बनना ही पड़ेगा । अतएव केवल पितृ-भूमि मानकर ही कोई राष्ट्रिय नहीं हो सकता, पुण्य-भूमि भी उसके लिये स्वीकार करना आवश्यक है ।

प्रत्येक मस्तिष्कमे दो प्रकारकी मनोवृत्तियाँ सुरक्षित रहती हैं—एक, जो पुण्य-भूमिकी ओर मनुष्यको आकर्षित करती है और दूसरी, जो पितृ-भूमिकी ओर । अब कल्पना कीजिये कि मक्कासे और भारतसे युद्ध प्रारम्भ हो जाता है । जिनकी पुण्य-भूमिकी ओर आकर्षित करनेवाली मनोवृत्ति अधिक बलवती रही, वे निश्चय ही मक्काका पक्ष ले लेंगे । पर एक मनुष्य जो भारतका शुद्ध राष्ट्रिय व्यक्ति सिद्ध होना चाहता है, उसके लिये यह आवश्यक है कि वह इसे अपनी पितृ-भूमि भी माने और पुण्य-भूमि भी । और चूँकि भारतका एकमात्र राष्ट्रिय हिंदू है, अतः उसके लिये भी इन दो बातोंका होना आवश्यक है । यह तो हुई हिंदूकी परिभाषा । अब लीजिये सम्प्रदायकी परिभाषाको । और इस परिभाषाकी कसौटीपर हिंदूको कसकर देखना है कि क्या वह वास्तवमें साम्प्रदायिक है ।

एक शब्दमे, चिरकालसे चली आनेवाली अविच्छिन्न परम्पराको सम्प्रदाय कहते हैं । अर्थात् सनातनधर्म एक सम्प्रदाय हो सकता है या बौद्धधर्मको हम एक सम्प्रदाय कह सकते हैं । क्योंकि चिरकालसे चली आ रही इनकी एक अविच्छिन्न परम्परा है । बौद्धधर्म या सनातनधर्म जिस प्रकार आज माना जाता है अर्थात् इनके पालन करनेके जो नियम आज हैं, आजके सहस्रों वर्ष पूर्व जब इन सम्प्रदायोंका प्रारम्भ हुआ था, तब भी इनके पालन करनेके नियम वे ही थे । दूसरे शब्दोंमे चिरकालसे चली आ रही इनकी एक अविच्छिन्न परम्परा है । परंतु हिंदू चिरकालसे चले आनेपर भी एक ही परम्परा, एक ही रुढि, एक ही नियममें आबद्ध नहीं । वेदविरोधी चार्वाक भी हिंदू थे, भगवान् व्यास भी हिंदू थे, जिन्होंने वेदकी सत्ताको सर्वोपरि माना । शाक्त भी हिंदू हैं, जो हिंसामें दोष नहीं मानते एवं बौद्ध और जैन भी हिंदू हैं, जो 'अहिंसा परमो धर्मः' के उपासक हैं ।

ये सब भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हैं, पर एक व्यापक रूपमें ये सभी केवल हिंदू हैं । एकत्रित होनेपर इनकी सत्ता एक राष्ट्रियताको जन्म देती है—जिसे हिंदुत्व कहते हैं । न तो ब्राह्मण अधिक हिंदू है और न शूद्र कम, दोनों हिंदू हैं; और उपर्युक्त सम्प्रदायकी परिभाषापर 'हिंदू' शब्दको कसनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो हिंदू साम्प्रदायिक है और न हिंदुत्वका अर्थ साम्प्रदायिकता है । हिंदुत्व एक सागर है, जिसमें भिन्न-भिन्न सम्प्रदायरूपी नदियाँ आकर विलीन हो जाती हैं और विलीन होनेपर वे सागरमय हो जाती हैं । वे विभिन्न तरंगोंके रूपमें लहराती हुई एकमात्र समुद्रकी ही शोभा बढ़ाती और उसकी महत्ताकी घोषणा करती हैं । ये सब मिलकर सागरका ही प्रतिनिधित्व करने लगती हैं । अतएव हिंदू एक महान् राष्ट्रका नाम है, न कि किसी फिरकेका ।

तब हिंदुत्व है क्या ? हिंदुत्व एक आदर्श भारतीय-राष्ट्रिय समाजवाद (An ideal Indian national Socialism) है, जिसने समस्त भारतीय समाजको एक सूत्रमें आबद्ध कर लिया है । बौद्धधर्मके नामपर केवल बौद्ध धर्मानुयायी आगे बढ़ेंगे, सनातनधर्मके नामपर केवल सनातनी आगे आयेंगे । पर हिंदुत्वके नामपर सब एक साथ आयँगे और सम्मिलित रूपसे आयँगेः और उनमें सनातनी, आर्यसमाजी, सिक्ख, बौद्ध, जैनी—सभी रहेंगे ।

अतएव हिंदुत्व साम्प्रदायिकता नहीं राष्ट्रियता है—ऐसी राष्ट्रियता, जिसका भारतके अतिरिक्त कोई अस्तित्व ही नहीं । स्मरण रखिये—कितने सम्प्रदाय नष्ट हो चुके हैं, नष्ट होंगे और हो रहे हैं; पर हिंदुत्व इन सबके ऊपर है और अमर है । वह न कभी नष्ट हुआ है, न होनेवाला है और न हो ही रहा है । यदि किसी दिन भारतकी इस राष्ट्रियता (हिंदुत्व) के समाप्त होनेकी बात सोची जा सकती है तो उसीके साथ यह भी सोच लेना चाहिये कि उस दिन भारत ही समाप्त हो जायगा ।

मेरा ख्याल है कि किन्हींके द्वारा स्वार्थवश मिलाया हुआ है; तथापि इस पुण्यमय साहित्याकाशमें गीता निरभ्र शारदीय आकाशके पूर्ण-चन्द्रके समान प्रकाशमान है। गीता इष्टपद-की सिद्धिके लिये ध्यान-धारणा, पूजा-अर्चा अथवा कैवल्यमें लीन होनेकी शिक्षा नहीं देती; प्रत्युत सतत कर्म और समाज-कल्याणार्थ सत्प्रयत्न करनेको ही सर्वोत्तम मार्ग बतलाती है। यह शिक्षा मन, वचन, कर्ममें अहिंसापर ही प्रतिष्ठित है। गीता दलगत निष्ठा नहीं सिखाती, न एक दलको दूसरे दलके विरुद्ध या अल्पसंख्यकोंको बहुसंख्यकोंके विरुद्ध उभाड़ती है। इसकी शिक्षा प्रत्येक व्यक्तिको उसीकी नैतिक उन्नतिके लिये है। इस शिक्षाकी खूबी यह है कि इसमें समाजका कल्याण और व्यक्तिका कल्याण दोनों अविभाज्य-रूपसे एक हो जाते हैं अथवा यों कहिये कि समाजका कल्याण स्वयं ही व्यक्तिके नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान-का साधन बन जाता है। मैं समझता हूँ, इस विषयमें गीता-की शिक्षा बिल्कुल बेजोड़ है। अन्य धर्मोपदेशकोंने दीन-दुखियों, पतितों और बीमारोंकी सेवा करनेको बहुत आग्रह-पूर्वक कहा है और इसे आत्मिक उद्धारका साधन बताया है। गीताने समाजके कल्याणके लिये समाजकी सेवाको उच्चतम स्तरपर रक्खा है। अर्थोत्पादनके लिये प्रयत्न करनेका आदेश गीता देती है। संसारसे विरक्त होकर ध्यान-धारणामें जीवन बितानेको गीता अच्छा नहीं बतलाती। उसने अखिल मानव-समाजके कर्म, योग्यता और सहज प्रवृत्तिके भेदसे चार बड़े विभाग माने हैं। कुछ लोगोंमें विद्याकी विशेष अभिरुचि होती है, उनके द्वारा अध्यापन और नवीन पीढ़ीको तैयार करनेका काम अच्छी तरहसे हो सकता है। कुछ लोग अपने शारीरिक बल और क्षात्रतेजके कारण पर-चक्रनिवारण और देशमें शान्ति-स्थापन करनेका काम अच्छा कर सकते हैं। कुछ अपनी सहज रुचि और बुद्धिसे राष्ट्रके साम्पत्तिक उत्पादनके काममें विशेष योग दे सकते हैं। अन्तमें वह वर्ग है, जिसे श्रमजीवी या मजदूरवर्ग कहते हैं। समाजकी उन्नतिके साधनमें ये चारों वर्ग जुटकर एक ही अविभक्त समाज बन जाते है। गीताकी यह शिक्षा है कि संसारसे विरक्त होकर अलग हो जानेका कुछ भी फल न होगा। सबका दुःख-मोचन करने और जीवनका मान ऊँचा करनेके लिये अर्थोत्पादन आवश्यक है। आध्यात्मिक और भौतिक भावनाओंका ऐसा पूर्ण सामञ्जस्य अन्य किसी धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष ग्रन्थमें न मिलेगा। गीताके प्रतिपादनका सार है वर्गहीन समाज। वर्गहीन समाजमें किसी मनुष्यकी प्रतिष्ठा उसके कर्मकी अच्छाईसे की जाती है। कर्मकी अच्छाई भी उसके अपने वैयक्तिक लाभसे नहीं, बल्कि समस्त समाजको उससे क्या लाभ हुआ—इस दृष्टिसे नापी जाती है। यह सब होना चाहिये अत्यन्त नम्रता और शुचिताके साथ—नम्रता और शुचिता ही इसका आधार है। 'अपने पड़ोसीको वैसे ही प्यार करो, जैसे अपने आपको करते हो।' दया, क्षमा, सहानुभूति इस प्राचीन मन्त्रके मुख्य स्वर हैं।

और विशेष बात यह कि यह शिक्षा किसी सम्प्रदायके साथ बँधी नहीं है। आप चाहे ईश्वरको मानें या न मानें। आप चाहे सगुण-साकार ईश्वरको मानें या अचिन्त्य, निर्गुण-निराकारको। असल चीज यह है कि 'कर्म ही भर करनेका तुम्हारा अधिकार है;' फल जो कुछ हो, श्रीकृष्ण कहते हैं कि, मुझे अर्पण करो। श्रीकृष्णके प्रति श्रद्धा-भक्ति न हो तो उनके स्थानमें आप समाजको रक्खें। इससे भी पहुँचेंगे उसी जगह। कारण, श्रद्धावान्की दृष्टिमें समाज स्वयं श्री-कृष्णकी ही सबसे महान् विभूति है। आप चाहे जिस दृष्टिसे देखें, फल वही होगा।

कोई-कोई यह कहते हैं कि पूँजीपतियोंकी सत्ता उठा दी जायगी और उद्योग-धंधे राष्ट्रकी सम्पत्ति बना लिये जायँगे तो बड़े-बड़े उद्योगपतियों और व्यापारी वर्गका सारा कौशल और सञ्चित अनुभव हमलोग खो बैठेंगे, कोई रास्ता दिखानेवाला या जानकारीके साथ मदद करनेवाला न रहेगा, समाज बड़े सङ्कटमें पड़ जायगा। मैं समझता हूँ, ऐसा न होगा। पर यदि ऐसा हुआ तो यह बहुत शोचनीय और भयानक बात होगी। मेरे विचारमें पूँजीपतियों और उद्योग-पतियोंकी असहयोगकी इस धमकीसे बढ़कर पूँजीपति-सत्ताका नाश करनेवाली और कोई चीज नहीं हो सकती। समाजके उन्नति-साधनमें यह काम अत्यन्त मूर्खतापूर्ण, नीति-विरुद्ध और देशहितविरोधी होगा। गीताके प्रकाशमें देखें तो यह काम सदाचार और धर्मके अत्यन्त विरुद्ध है। किसी व्यक्ति-को जो बौद्धिक आदि गुण प्राप्त होते हैं, वे केवल अपने स्वार्थसाधनके लिये नहीं, बल्कि समाजकी सेवाके लिये होते हैं। यदि भगवत्सत्तापर उसका विश्वास है तो उसका यह परम धर्म है कि वह अपने तन-मनके सब गुणों और शक्तियों-का उपयोग अपने भगवान्की सेवामें करे। जन-सेवा ही जनार्दनकी सेवा है। अतः उपस्थित प्रसङ्गमें सहयोगसे हाथ खींच लेना एक महान् नैतिक विधानका उल्लङ्घन करना है। जो लोग किसी प्रकारकी भगवत्सत्ता मानते हैं, उनके लिये

यह भगवदाज्ञाका ही उल्लङ्घन है । ऐसी अनीति सर्वथा त्याज्य है ।

यह जो कुछ लिखा, कोई धर्मोपदेश या किसी धर्ममतका प्रतिपादन करनेके लिये नहीं लिखा है । जो उद्देश्य इस समय हमलोगोंके सामने है अर्थात् एक ऐसी राष्ट्रिय अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना, जिसमें सब मनुष्य सर्वथा समान हों और कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्तिका शोषण न कर सके—उसीका यह अत्यन्त व्यावहारिक, साधनेतरोंसे अधिक अच्छा, अधिक सुविधाजनक और अधिक शीघ्र फलदायी उपाय है । मैं आग्रहपूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षियों और आचार्योंके सामने यह उद्देश्य सतत विद्यमान था और उन्हींकी शिक्षा भगवद्गीताकी विलक्षण शब्द-रचनाके अंदर संक्षिप्तरूपसे सदाके लिये भर दी गयी है । गीता केवल हिंदुओंका ग्रन्थ नहीं है । कारण, हिंदू-धर्म व्यतिरेकी धर्म नहीं है । अभीके कुछ रस्म-रिवाज हिंदू-धर्मके अङ्ग नहीं हैं । हिंदू-धर्मकी अत्युच्च भावनामें अखिल मानव-जाति समा जाती है । अतः गीतामें फलासक्तिरहित कर्म करनेका जो उपदेश है, उसे सभी स्त्री-पुरुष अपना सकते हैं—चाहे वे कहीं रहते हों, किसी धर्म-सम्प्रदायके माननेवाले हों । यह चीज ही ऐसी है कि इसका सार्वत्रिक उपयोग किया जा सकता है । यही हमारी भारतीय संस्कृति है । मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि कम्यूनिस्टवादका यही पूर्ण उत्तर है; क्योंकि यह उससे हर बातमें श्रेष्ठ है । कम्यूनिस्टवादमें जो द्वेष और हिंसा और वर्ग-वर्गके बीच सतत सङ्घर्षका विलक्षण आग्रह है, वह उसमेंसे निकल जाय तो गीताका ही गीत एक दूसरे रूपमें उसमें सुनायी देगा ।

हिंदू-संस्कृतिकी महत्ता

(लेखक—बिहारप्रान्तके गवर्नर माननीय श्रीयुत माधव श्रीहरि अणे महोदय)

हिंदू-संस्कृतिके अनुरागी सभी भारतवासी 'कल्याण' के 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' का हृदयसे स्वागत करेंगे । हिंदू-संस्कृतिका मूल वेदोंमें ही नहीं है अपितु वेदोंसे भी प्राचीन संस्कृतिमें निहित है, और इसलिये यह संस्कृति वर्तमान प्राचीनतम संस्कृतियोंमेंसे एक है । हजारों वर्षोंसे जो इसकी धारा अविच्छिन्नरूपसे चली आयी है, यही इसके सफल तथा मानव-जातिके लिये उपयोगी होनेका प्रमाण है । जनताके लिये यह आवश्यक है कि वह इसके मूल-सिद्धान्तोंको समझे । इन सिद्धान्तोंको भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेनेपर इस संस्कृतिका अनुगमन करनेवाले नर-नारी, चाहे जिस परिस्थितिमें रहें, उसके अनुकूल अपनेको बना सकते हैं । कालके प्रभावसे किसी भी मानव-समाजकी भौतिक अवस्थामें परिवर्तन हो सकता है; परंतु जो राष्ट्र सुसंगठित एवं बलवान् है, संस्कृतिका मुख्य उद्देश्य होता है उसके मानसिक गठनको अविकलरूपमें बनाये रखना । कालकृत विपरीत परिणामोंसे बचनेके लिये वह स्वयं ही स्वतन्त्र साधनाकी सृष्टि कर लेती है । अतः मेरी धारणामें अपनेको हिंदू-संस्कृतिका अनुयायी कहनेवाले प्रत्येक भारतवासीको यह जानना चाहिये कि इस संस्कृतिके आधारभूत एवं मुख्य सिद्धान्त क्या हैं । उसके लिये यह उचित है कि वह मुख्य एवं गौणके भेदको भलीभाँति समझे और तब वह अपने देशकी उन्नतिमें तथा मानव-जातिको उच्चतर ध्येयकी ओर अग्रसर करनेमें समुचित भाग ले सकेगा । मैं इस अङ्ककी महती सफलता चाहता हूँ ।

सन्देश

(माननीय डा० श्रीश्यामाप्रसाद मुकर्जी महोदय, उद्योगमन्त्री, केन्द्रिय-सरकार)

लगभग पचीस वर्षोंसे 'कल्याण' भारतीय संस्कृतिके संदेशको जनतामें पहुँचानेका कार्य कर रहा है और हमारे धर्म, राजनीति, समाज-संगठन, दर्शन, कला एवं साहित्यके तत्त्वोंको समझानेका एक महत्त्व-पूर्ण साधन बना हुआ है । अतः मुझे यह जानकर विशेष हर्ष हुआ कि वह अपनी आयुके चौबीसवें वर्षमें प्रवेश करनेके उपलक्षमें 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'के नामसे एक विशेषाङ्क निकालने जा रहा है । इसमें दार्शनिक तथा सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओंसे सम्बन्धित विविध विषयोंपर लेख रहेंगे, जो अपने-अपने क्षेत्रके नामाङ्कित विद्वानोंकी लेखनीसे प्रसूत होनेके कारण उच्च कोटिके होंगे । प्रस्तुत विशेषाङ्क सभी लोगोंके लिये विशेष आदरकी वस्तु होगा ।

वह दैन्य नहीं है, कोई महाकवि आज भक्तिकाल-जैसी रचना करके लोकप्रिय नहीं बन सकता। आज ऐसे भगवान्‌की खोज है, जो निर्बलोंका नहीं, वरं सबलोंका बल हो। लोकानुभूतिका प्रभाव योगियोंतकपर पड़े बिना नहीं रहता; एक ओर नानक-कबीर तथा दूसरी ओर गोरक्षकी वाणियोंको मिला लीजिये। जो याचनाभाव नानक-कबीरमें है, गोरक्ष उससे अपरिचित थे।

लोकानुभूतिका दार्शनिक विचारोंके साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। अच्छा-से-अच्छा, गम्भीर-से-गम्भीर दार्शनिक विचार हो; परंतु जनता उसे व्यापकरूपसे विशेष अवस्थाओंमें ही अङ्गीकार करती है। व्यक्तिवाद, समाजवाद, अध्यात्मवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, प्रधानवाद, शून्यवाद—बुद्धि-विलासके लिये सभी वाद अच्छे हो सकते हैं; परंतु कोई ऐसी परिस्थिति होती है, जिसमे किसी समाजविशेषको कोई वाद-विशेष रुचिकर प्रतीत होता है। कालान्तरमें वह विचारधारा उस स्थानको खो बैठती है। वादोंके संघर्षका इतिहास बड़ा रोचक है। उसमें मनुष्यके सांस्कृतिक विकासका इतिहास निहित है।

संस्कृति उस दृष्टिकोणको कहते हैं, जिससे कोई समुदाय-विशेष जीवनकी समस्याओंपर दृष्टिनिक्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातोंपर निर्भर रहता है। थोड़ेमें यह कह सकते हैं कि समुदायकी वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियोंके संस्कारोंके अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है। जो आजकी अनुभूति है, वह कल संस्कारके रूपमें अवशिष्ट रह जायगी और कलकी अनुभूति सम्भवतः दूसरे ढंगकी होगी। इसलिये दृष्टिकोण भी बदल जायगा। दूसरे शब्दोंमें यह समझ लेना चाहिये कि लकड़ी-पत्थरकी भाँति संस्कृति निश्चल, एकरस पदार्थ नहीं होती। वह बदलती रहती है। जब हम किसी देश या राष्ट्रकी संस्कृतिकी चर्चा करें तो उस कालविशेषका भी उल्लेख कर देना चाहिये, जो हमारे ध्यानमें है। अन्यथा हमारा कथन निरर्थक होगा। यूरोप तो वही है, परंतु आजसे ६०० वर्ष पहलेकी संस्कृति और आजकी संस्कृति एक दूसरेसे बहुत भिन्न हैं। १९१७ के पूर्व और उसके बादके रूसकी सांस्कृतिक अवस्थामें आकाश-पातालका अन्तर है। ऐसी दशामें यूरोपियन या रूसी संस्कृति कहनेसे किसी निश्चित भावका बोध नहीं हो सकता। ऐसे प्रयोग सुननेमें सरल लगते हैं, परंतु भ्रामक होते हैं।

परंतु इस कथनका तात्पर्य यह नहीं है कि संस्कृति जल्दीसे बदली जा सकती है। जो बातें संस्कृतिको सँवारती हैं, उनमें इतना स्थायित्व होता है कि संस्कृति भी बहुत कुछ अपरिवर्तनशील रहती है। देशका जल-वायु बदलता ही नहीं, न उसके भौगोलिक या दूसरे प्राकृतिक दृग्विषयोंमें परिवर्तन होता है। देशके राजनीतिक इतिहास और आर्थिक संघटनके बनानेमें बहुत कुछ हाथ उसकी भौगोलिक स्थितिका होता है। इसलिये घटनाओंमें उलट-फेर होते हुए भी राजनीतिक और आर्थिक जीवनकी रूप-रेखा भी बहुत कुछ एक-सी होगी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रिय स्मृति, पुरानी सामूहिक अनुभूतियोंके संस्कार भी संस्कृतिको जल्दी बदलनेसे रोकेंगे। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति भले ही हो जाय और एक बार वर्तमान और अतीतके सम्बन्धको विच्छिन्न भी कर दे; परंतु कुछ कालमें जब क्रान्तिके चण्डांशुका तेज कुछ धीमा पड़ता है, तब पुरानी स्मृतियाँ फिर जागने लगती हैं और संस्कृतिकी धाराको फिर पुराने मार्गकी ओर ले जानेका यत्न करती हैं। क्रान्तिका संस्कार मिटाया नहीं जा सकता, परंतु नयेके नयेपनमें पुरानेकी झलक आ जाती है।

इस भूमिकामें ही हम भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें विचार कर सकते हैं। भारतीय जनतामें हिंदुओंकी संख्या सर्वाधिक है। भारतका वह भाग, जिसके हम आज नागरिक हैं, सर्वतः हिंदूप्रधान है। वैदिक और पौराणिक कालके ही नहीं, प्रत्युत वर्तमान कालतककी प्रायः सभी ऐतिहासिक घटनाएँ इसी भूभागमें घटीं और प्रायः सभी आदरणीय व्यक्तियोंका यही कार्यक्षेत्र था और है। यहाँ रहनेवालोंको बहुत कुछ समान अनुभवोंका सामना करना पड़ा है। इन अनुभवोंसे जो संस्कार बने हैं, लोगोंके विचार जैसे साँचोंमें ढले हैं, उनका द्योतन संस्कृतमें होता है। प्रादेशिक भाषाएँ भी एक ही प्रकारके भावोंसे स्फूर्ति पा रही हैं—इसका प्रमाण इस बातसे मिलता है कि तुलसी और सूर, मीरा और कबीर, नरसी, रामदास और तुकाराम, प्रेमचन्द और रविठाकुरको सारा देश अपना मानता है। इस वेदनासाम्यके सबसे बड़े प्रतीक इस युगमें महात्मा गान्धी हुए हैं। उनकी वाणीमें भारतीय हृदय अपने स्पन्दनकी प्रतिध्वनि सुनता था।

इस हमारे देशमें हिंदुओंके अतिरिक्त ईसाई और मुसल्मान भी रहते हैं। ये लोग यहींके निवासी हैं; परंतु इनके धार्मिक विचार फिलिस्तीन और अरबसे आये हैं। मुसल्मानोंका ईरान, ईराक और अरबसे दीर्घकालतक जो सम्बन्ध रहा, उसके कारण उनके विचारोंपर उन देशोंकी छाप पड़े बिना नहीं रह सकती थी। हिंदुओंके वंशज हैं, हिंदुओंके बीचमें रहते हैं—इसलिये बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनमें हिंदुओंसे उनकी समता है। साथ ही उनका

प्रभाव उनके पड़ोसी हिंदुओंपर भी पड़ा है। इस प्रकार सैकड़ों वर्षोंमें एक मिली-जुली संस्कृति बन गयी है। इसकी प्रधान धारा तो वही है, जो आर्यजीवनके आदिपुरुषों, वेदके शब्दोंमें 'नः पूर्वे पितरः', प्राचीन ऋषियों और मनुओंके समयसे चली आती है। बीच-बीचमें यह सूखने लगी; परंतु बुद्ध और महावीर, शङ्कराचार्य और चैतन्य, नानक और कबीर, तुलसी और सूर, दयानन्द और रामकृष्ण-ने इसके पथको फिर प्रशस्त किया। इसमें कई सहायक छोटी धाराएँ मिली हैं। इसके जलमें वे बूँदें हैं, जिनके स्रोत शकद्वीप, ईरान, ईराक, अरबमें हैं। आर्य, द्रविड़, शक, पठान और मुगलने मिलकर इस प्रासादका निर्माण किया है। आज इसमें प्रबल वेगसे यूरोप और अमेरिकासे बहती हुई कई नदियाँ मिल गयी हैं।

इस मिली-जुली संस्कृतिको भारतीय संस्कृति कहना सर्वथा उपयुक्त होगा; परंतु यह निर्विवाद है कि इसका ताना वही है, जिसे आर्य या हिंदू नामसे उपलक्षित किया जा सकता है। बानेके सूत इधर-उधरसे आये हैं, पर वे सब तानेपर आश्रित हैं। गङ्गामें बहुत-सी छोटी-बड़ी नदियाँ मिली हैं; परंतु मिलनेपर जो पयस्विनी बनती है, वह गङ्गा ही कही जाती है। इस न्यायसे भारतीय संस्कृतिको हिंदू-संस्कृति भी कह सकते हैं। भारतके बाहर जब लोग 'भारतीय संस्कृति' का नाम लेते हैं तो निश्चय ही उनका सङ्केत इस संस्कृतिकी मुख्य धाराकी ओर ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार कि 'भारतीय दर्शन'की चर्चा करनेवालेके सामने सांख्य, योग, वेदान्तादि आर्यदर्शन होते हैं।

इस हिंदू या भारतीय संस्कृतिने अपनेको धर्म, वाङ्मय, चित्रकला, मूर्तिकलाके रूपमें व्यक्त किया है। समय-समयपर इसके स्वरूपमें हेर-फेर होता रहा है। अशोककालीन संस्कृति गुप्तकालीन संस्कृतिसे भिन्न थी, पठान और मुग़ल-कालमें संस्कृतिने कुछ और ही रंग पकड़ा था और उसी समयमें उत्तर तथा दक्षिण भारतमें अन्तर था। फिर भी, इन सब देश-कालानुगत भेदोंके रहते हुए भी, इसमें कुछ तो विशेषता है, कुछ अपना पृथक् व्यक्तित्व है, जो भेदमें भी अभेदको बनाये हुए है। यदि ऐसा न होता तो एक नामसे पुकारना किसी भी अंशमें सार्थक न होता। यह विशेषता इसकी प्रधान धारा, आर्य या वैदिक धारासे आयी है। यही वह गुण है, जो इसको अन्य संस्कृतियोंसे भिन्नता प्रदान करता है, जो भारतका मानवके लिये सन्देश है। विश्वसंस्कृतिकी रचनामें भारतकी यही देन होगी।

यदि इसे एक शब्दमें व्यक्त करना चाहें तो वह शब्द 'आध्यात्मिकता' होगा। इस बातको बहुत दिन हुए स्वामी विवेकानन्दने यों समझाया था; यदि पश्चिमके लोगोंके सामने कोई नयी योजना रक्खी जाती है तो उनका पहला प्रश्न यह होता है 'क्या इससे मेरी आयमें वृद्धि होगी ?' भारतीय ऐसे अवसरपर यह पूछता है 'क्या इससे मोक्ष मिलेगा ?' इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यहाँ सब लोग विरक्त, तपस्वी, मुमुक्षु हैं। भाव केवल इतना ही है कि हमारी सामूहिक आत्माका झुकाव आध्यात्मिकताकी ओर है। हम प्रश्नोंको आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे देखते हैं। जो बात आध्यात्मिक स्तरपर रक्खी जाती है, वह हमको अधिक रुचती है। व्यक्ति-व्यक्तिकी मनोवृत्तिमें बड़ा अन्तर है; पर सब मनोवृत्तियोंका समन्वय करके उनके महत्तम समापवर्त्यके रूपमें जो समष्टि मनोवृत्ति, सामुदायिक प्रवृत्ति बनती है, उसका ऐसा ही रूप है।

इस आध्यात्मिक भावका विश्लेषण करनेसे इसमें दो-तीन मुख्य विश्वासोंका सम्मिश्रण मिलता है। सबसे पहली धारणा तो अद्वैतधारणा है। द्वैतवादी दार्शनिक भी हुए हैं; परंतु द्वैतवाद विद्वद्गोष्ठियोंतक ही रह गया। मध्वादि सम्प्रदायोंके भक्तोंने लोकभाषामें भले ही द्वैतवादका प्रतिपादन किया हो, परंतु श्रोताओंने उनके शब्दोंमेंसे भी खींच-खाँचकर अद्वैतभावकी ही पुष्टि की। विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और अद्वैतवादोंमें जो सूक्ष्म भेद हैं, उनकी ओर सामान्य जनताकी सरल बुद्धिने ध्यान नहीं दिया; उसने उन सबमेंसे सीधा-सादा 'अद्वैत' भाव—जीवात्मा और परमात्माका तात्त्विक अभेदमात्र पकड़ लिया।

अद्वैतभावनाका परिणाम कट्टरपनका अभाव है, जो इस संस्कृतिकी दूसरी विशेषता है। हिंदूके नस-नसमें यह बात भर गयी है—

> रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
> नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

उसके लिये दूसरेके धर्मको सर्वथा मिथ्या मानना, दूसरेकी उपासनाशैलीको सर्वथा नरक ले जानेवाली समझना, असम्भव नहीं तो बहुत कठिन होता है। क्रोधकी तो दूसरी बात है, परंतु यों उसका हाथ दूसरेके देवालयको ढहानेके लिये उठता नहीं। इसीलिये वह सुगमतासे अपने उपास्योंकी सूचीमें वृद्धि कर लेता है और अपने देव-देवियोंके नामपर

उस कट्टरपनसे नहीं लड़ पाता, जो और लोग दिखला सकते हैं। परधर्मावलम्बियोंके साथ जैसा उदार व्यवहार हिंदुओंने किया है, वह वस्तुतः अप्रतिम है।

अद्वैतभावनाका दूसरा परिणाम अहिंसाभाव और दया है। हिंदू क्रोध भी करता है; क्रूरता भी दिखलाता है, मत्सर, द्वेष, निर्दयतामें नीचातिनीच गहराईतक भी पहुँच जाता है। फिर भी उसकी बुद्धि अहिंसानिम्न ही होती है। जब सभी प्राणी अपने ही रूपान्तर हैं, तब कौन किससे द्वेष करे, कौन किसका अहित करे। राग-द्वेषजनित स्वार्थके वशीभूत होकर हिंदू भी बुरे-से-बुरे काम कर बैठता है; परंतु सामान्यतः उसकी प्रवृत्ति स्वरक्षणात्मक होती है, आक्रमणात्मक नहीं। बल होते हुए भी वह अकारण, केवल अपने लिये, दूसरोंसे कम ही छेड़-छाड़ करता है। अज्ञानवश या मोहवश निर्दयता भी करता है, परंतु प्रत्यक्ष जीवदया, तिर्यक् प्राणियोंके प्रति समवेदना उसको अधिक रुचती है।

माया ऐसा शब्द है, जिसकी व्याख्या करनेमें बड़े-बड़े विद्वान् भी सङ्कोच कर सकते हैं; परंतु भ्रम, मिथ्या, धोखा—यह सब उसके पर्याय बन गये हैं। दार्शनिक सूक्ष्मताओंसे अनभिज्ञ अपढ़ ग्रामीण भी ऐसा मानता है कि यह जगत् माया है। माया बुरी चीज है, इसको तोड़ना चाहिये। इन्द्रिय विषयोंके पीछे दौड़नेमें मायाका बन्धन और दृढ़ होता है। अतः हमको इन्द्रियनिग्रहका अभ्यास करना चाहिये। प्रत्येक हिंदू यति नहीं होता; परंतु हिंदूके चित्तमें विषय-वासना-विरतिकी प्रतिष्ठा बैठी हुई है। वह त्यागीको भोगीसे ऊँचा मानता है, चाहे स्वयं त्यागी न हो सके। हिंदूजीवनमें इसी कारण तपस्याका थोड़ा-बहुत वातावरण रहता है। व्रत, उपवास, जागरण हिंदू घरोंमें होते ही रहते हैं। अमुक दिन मांस नहीं खाना, अमुक दिन अन्न नहीं खाना, शाकजातीय होते हुए भी अमुक वस्तुओंको त्याज्य मानना—इनसे हिंदू बचपनसे ही परिचित रहता है।

कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तपर अटल विश्वास हिंदू-संस्कृतिकी दूसरी विशेषता है। ईश्वर या अन्य उपास्यकी पूजा करते हुए और योग-क्षेमके लिये सैकड़ों देव-देवियोंकी डेवढ़ियोंपर माथा टेकते हुए भी हिंदू अन्ततोगत्वा अपनेको ही अपने सुख-दुःखका दायी मानता है। इस विश्वाससे उसमें अपूर्व शक्ति आती है। वह भले ही विपत्तियोंसे कातर हो जाय, फिर भी दुःख उसको दूसरोंकी भाँति विचलित नहीं करते। मृत्यु भी उसके लिये उतनी महत्त्वकी चीज नहीं है। वह ऐसा मानता है कि यह अनुभव उसे लाखों बार हो चुका है और अभी न जाने कितनी बार होना है। इसीलिये तो वह अपने महापुरुषोंकी देहावसानतिथि नहीं मनाता। जिसको बराबर यह उपदेश मिलता रहता है कि स्वर्ग और नरक भी अनित्य हैं, उसमें कष्ट सहनेकी अद्भुत क्षमता आ जाती है।

योगपर विश्वास भी इस संस्कृतिका एक गुण है। योगकी दार्शनिक परिभाषाएँ कुछ हों; परंतु साधारणतः यों कह सकते हैं कि आत्मसाक्षात्कारकी साधनाका नाम योग है। उसके भजन, ध्यान आदि कई पर्याय प्रचलित हैं; परंतु यों कह सकते हैं कि हिंदूको ऐसी धारणा-सी है कि किन्हीं उपायोंसे इसी जीवनमें ईश्वरसाक्षात्कार हो सकता है और मनुष्य अपनेको देवोपम बना सकता है।

इतना दिग्दर्शन पर्याप्त होना चाहिये। इससे हिंदूकी मानसिक बनावटका—और यह मानसिक बनावट ही संस्कृतिका मूल है—परिचय हो जाता है। थोड़ेमें कह सकते हैं कि इस लोकमें रहते हुए भी, हिंदूकी दृष्टि 'परलोक' को ढूँढ़ती रहती है। उसके सामने राम, कृष्ण, जनकके चरित्र रहते हैं—जिन्होंने राजपाटके साथ ज्ञान-वैराग्यको सफलतासे मिला दिया था।

आज कुछ परिवर्तन हो रहा है। पश्चिमके भौतिकता-प्रधान प्रभावने चकाचौंध पैदा कर दी है। जिस रूपमें हमारा धर्म सामने आता है, जिस प्रकारकी रूढ़ियोंको वह पुष्ट करता प्रतीत होता है, उनसे आजकी समस्याएँ सुलझती नहीं प्रतीत होतीं। हमारे विद्वान् विज्ञानसे अनभिज्ञ हैं और व्यावहारिक जगत्से दूर हैं। वे विज्ञान और मार्क्सवाद-जैसी विचारधाराओंका तर्कपूर्ण उत्तर नहीं दे सकते। फलतः पुराने विचारों और संस्कारोंकी ओरसे वैरस्य होता जाता है। पुरानी स्मृतियाँ नष्ट नहीं हुई हैं; परंतु व्यङ्ग और तर्कसे उनको भुलानेका यत्न किया जाता है। हमारी आँखोंके सामने संस्कृति कलेवर बदल रही है।

रूढ़िवादिता अच्छी नहीं होती। जहाँतक कि नये सम्पर्क, नये और पुराने विचारोंके सङ्घर्ष हमारी बुद्धिको उदार बनाते हैं—हमको उनका आदर करना चाहिये। हमारी संस्कृति नवयुगकी प्रतीक नयी विचारधारारूपी सहायक सरिताके मिलनेसे परिपुष्ट होगी। नवीन प्राचीनमें मिलकर उसकी शोभाको बढ़ायेगा। अतीत ज्यों-का-त्यों लौटाया नहीं

जा सकता; संस्कृति वर्तमानके अनुरूप होनी ही चाहिये।

परंतु यह भी न होना चाहिये कि नवीनकी खोजमें प्राचीन खो जाय। हमारी विशेषताएँ मनुष्यमात्रके लिये उपादेय हैं। अद्वैतभावना, अद्वेष, अहिंसा, दया, तपस्या, इन्द्रियनिग्रह और कर्मसिद्धान्तपर आस्थाकी आवश्यकता सबको है। इनके अभावमें संस्कृति स्वार्थमूलक पशुताका परिवर्द्धित और विकृत संस्करण होकर रह जाती है। हमारा यह सन्देश, हिंदू-संस्कृतिका यह सार, दिग्दिगन्तमें फैले; इससे जगत्‌का कल्याण होगा। यदि मानवसमाजका पुनर्निर्माण इन आधारोंके साथ आधुनिक विज्ञानके सिद्ध तत्त्वोंको मिलाकर किया जा सके तो सचमुच मनुष्यजातिका भविष्य उसके अतीत और वर्तमान दोनोंसे उज्ज्वल और श्रेयस्कर होगा।

हिंदू कौन ?

(लेखक—शास्त्रार्थमहारथी पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

यह बात अब निर्विवाद हो चुकी है कि भारतीय संस्कृतिके समस्त उपासकोंको एक सूत्रमें बाँधनेके लिये 'हिंदू' शब्दके जोड़का आर्य-वाङ्मयमें अन्य शब्द नहीं है। लगभग पौन शतीसे 'हिंदू' शब्दके विरुद्ध प्रयत्न होते आये हैं। इसे विदेशियोंकी देन, 'गुलाम' शब्दका पर्याय, असंस्कृत शब्द, अत्यन्त अर्वाचीन शब्द एवं आर्य-गौरवका अपमानसूचक शब्द सिद्ध करनेकी चेष्टाएँ की गयीं और जनगणनाके समय भी कुछ सज्जनोंने भावावेशमें हिंदूकी जगह अन्यान्य लिखवाकर हिंदुओंकी संख्याका ह्रास किया। परंतु आज अब प्रायः सभी इस बातको समझ रहे हैं—'हिंदू' नामके महत्त्वका अनुभव करने लगे हैं।

यदि सचमुच 'हिंदू' शब्द विजेता यवनोंकी ओरसे प्रदत्त गुलामीकी लानतका संसूचक होता तो महाराणा प्रताप-जैसे हिंदुत्वके प्रबल प्रतीक अपने आपको 'हिंदू-पति' उपाधिसे गौरवान्वित न समझते। छत्रपति महाराज शिवाजीके दरबारी कविभूषण भूषण उनको—'राखी हिंदुवानी' 'हिंदुवानको तिलक राख्यो—हिंदुनकी चोटी' 'राखी' शब्दोंमें स्मरण न करते; गुरु गोविन्दसिंह स्वयं अपनी कवितामें—'जगै धर्म हिंदू, सभी शण्ड भाजै' कहकर 'हिंदू' शब्दको सम्मान न देते!

'मेरुतन्त्र' 'कालिकापुराण' आदि ग्रन्थोंके अतिरिक्त पारसियोंकी प्रसिद्ध पुस्तक 'शातीर' में भी 'हिंदू' शब्दका सुस्पष्ट उल्लेख विद्यमान है। 'बृहस्पति-आगम' में तो हिंदुस्थानकी सीमा निर्धारित करते हुए इसे भौगोलिक प्रत्याहारज शब्द स्वीकार किया गया है। यथा—

हिमालयं समारभ्य यावदिन्दुसरोवरम्।
तं देवनिर्मितं देशं 'हिन्दुस्थानं' प्रचक्षते॥

अर्थात् हिमालय पर्वतके 'हि'-शब्दोपलक्षित परले किनारेसे आरम्भ करके इन्दु-सरोवर=कुमारी अन्तरीपके 'न्दु'-शब्दोपलक्षित अन्तिम प्रदेशकी समाप्तिपर्यन्त देवनिर्मित विस्तृत स्थलका नाम 'हि+न्दु=स्थान' है।

वेदमें निरुक्तके नियमानुसार सकार हकाररूपमें भी उच्चरित होता है—जैसे 'सरित्', 'सरस्वती', 'सिन्धु' आदि शब्द 'हरित्,' 'हरस्वती' 'हिन्धु' भी उच्चरित होते हैं। 'केसरी' का 'केहरी,' तथा भारतीय 'श्री' शब्दका आङ्गल 'सर' और जर्मनी 'हर' भी इसी कोटिके शब्द हैं।

अन्ताराष्ट्रिय हिंदू

कभी-कभी ऐसा विचार सामने आता है कि पाकिस्तानके साथ अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, फारस, सुदूर टर्कीतक मुसलमानोंका जाल बिछा है। पूर्वमें भी चीन और उसके निकट-वर्ती प्रदेशोंमें मुसलमान रहते हैं। सब मिलाकर अन्यून पैंतालीस करोड़ मुसलमान समय पड़नेपर एक झंडेके नीचे संगठित हो सकते हैं। 'पाकेशिया' और 'पान इस्लाम'का नारा इसी आधारपर बुलंद किया जा रहा है। इसी प्रकार यत्र-तत्र सर्वत्र सत्तर करोड़ ईसाई बसते हैं। परंतु हिंदू सब मिलाकर पैंतीस करोड़के लगभग हैं। अतः संख्याबलकी दृष्टिसे यह स्थिति चिन्ताजनक है! परंतु ऐसी आशङ्का करनेवाले सज्जन यह भूल जाते हैं कि यदि मुसलमानोंके बहत्तर फिरके और ईसाइयों-के रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टैंट आदि अनेक फिरके संगठित हो सकते हैं तो फिर सनातनी, समाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध—हिंदुओंके ये प्रधान पाँच सम्प्रदाय संगठित क्यों नहीं हो सकते? उक्त पाँचों भाइयोंके संगठित हो जानेपर हिंदुओं-की भी सम्मिलित संख्या एक अरबसे अधिक हो जाती है, जो अन्ताराष्ट्रिय दृष्टिसे समस्त विश्वकी जनसंख्याके आधे भागसे अधिक बन जाती है। इस प्रकार अकेला हिंदू संसारके अन्यान्य समस्त फिरकोंके सम्मिलित योगसे अधिक सिद्ध होता है। उक्त पाँचों सम्प्रदायोंको संगठित करनेवाले आधार प्राकृतिक एवं

अक्षुण्ण है, जो इनको अहिंदुओंसे पृथक् करके एक सूत्रमें आबद्ध करते हैं। यथा—

ओंकारमूलमन्त्राढ्यः पुनर्जन्मदृढाशयः ।
गोभक्तो भारतगुरुर्हिन्दुर्हिंसनदूषकः ॥
(माधवदिग्विजय)

अर्थात् (१) ओंकारको मूलमन्त्र माननेवाला, (२) पुनर्जन्मविश्वासी, (३) गोभक्त, (४) जिसका प्रवर्तक भारतीय हो और (५) हिंसाको निन्द्य माननेवाला 'हिंदू' कहा जाता है।

कहना न होगा कि उक्त पाँचों लक्षण सनातनी, आर्य-समाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध—इन पाँचों सम्प्रदायोंमें समान रीतिसे घटित होते हैं। इसलिये हिंदूका यह अव्याप्ति, अति-व्याप्ति और असम्भव रूप दोषत्रयशून्य सुनिश्चित लक्षण है।

(१) सनातनी प्रत्येक मन्त्रके साथ ओंकारका योग आवश्यक मानते हैं। अतः उनका यह परम पवित्र सर्ववेद-बीजभूत प्रधान मन्त्र है। आर्य-समाजी तो 'ओं'के सर्वाधिक उपासक हैं, स्वामी श्रीदयानन्दजीने सत्यार्थप्रकाशमें इसे परमात्माका निज नाम माना है। उनका ध्वज भी 'ओं'से चिह्नित होता है। सिक्खोंके धर्म-ग्रन्थमें सर्वप्रथम—'एक ओंकार सद्गुरुप्रसाद' यही मङ्गलाचरण मिलता है। जैनियों-का गुरुमन्त्र 'ओं नमो अरिहंताणम्' इत्यादि है, बौद्धोंका भी प्रधान मन्त्र 'ओं मणिपद्मे हुम्' है, इस प्रकार सभी 'ओं'को मूलमन्त्र मानते हैं।

(२) पुनर्जन्ममें सबका समान विश्वास है, कर्म-विपाक-के तारतम्यसे ही सब—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः' को मानते हैं।

(३) सनातनी गौके लिये अब भी प्राणोंकी बाजी लगानेको तत्पर रहते हैं। स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजके नेतृत्वमें पाँच हजार चोटीके महात्मा, विद्वान्, राजा, सेठ और सभी वर्गके लोग विगत वर्ष जेल-यातना सहन कर चुके हैं। तीन धर्मवीर प्राण भी प्रदान कर चुके हैं। आर्यसमाजमें भी गो-माताके लिये यही बात है, स्वामी दयानन्दजीने 'गोकरुणा-निधि' नामक स्वतन्त्र पुस्तक लिखकर गायका महत्त्व प्रकट किया है। सिक्खसम्प्रदायके सभी गुरुओंने—खासकर दशम गुरु श्रीगोविन्दसिंहजीने—अपने 'दशम ग्रन्थ' 'विचित्र नाटक' नामक पुस्तकमें लिखा है—

यही देहु आज्ञा तुरक को मिटाऊँ। गऊ घातका पाप जग से हटाऊँ॥

प्रत्यक्षमें भी उनका समस्त जीवन ही गोरक्षामें ही व्यय हुआ है; पंजाबका सुप्रसिद्ध 'कूकाविद्रोह' गोरक्षापर ही आधारित था, जिसमें सहस्रों नामधारी सिक्खोंको अंग्रेजोंने तोपसे उड़ा दिया था। जैनी तो मुखकी साँससे भी सूक्ष्म कीटाणुओंकी हत्यासे बचते हैं। अतः गायके सम्बन्धमें उनकी विचारधाराका उल्लेख करना मानो उनका अपमान करना है। जैनकवि नरहरिके उद्योगसे ही अकबरने अपने राज्यमें गोवध-बंदीका फर्मान निकाला था। बुद्ध भगवान्ने 'धम्मपद'में लिखा है—

गावो नो परमा मित्ता गावो नो परमं धनम्।

इस प्रकार ये पाँचों सम्प्रदाय परम गोभक्त हैं (आजके बौद्धोंका सर्वभक्षित्व तो अहिंदुओंके सम्पर्कका कलङ्क है। अतः वह उपेक्षणीय है। हम यहाँ केवल सिद्धान्त-सीमापर्यन्त चर्चा कर रहे हैं)।

(४) उक्त पाँचों सम्प्रदायोंके धर्माचार्य, धर्मगुरु, अवतार, तीर्थङ्कर और मूलप्रवर्तक भारतके ही सपूत हुए हैं।

(५) ये पाँचों ही मनसा, कर्मणा, वाचा हिंसासे घृणा करनेवाले हैं। इसलिये अन्यून सत्य अस्त्र हिंदुओंका यह सर्वसम्मत लक्षण है।

वर्णाश्रमी हिंदू

आदिकालमें सभी हिंदू थे; परंतु मनूक्तिके अनुसार 'ब्राह्मणानामदर्शनात्' अनेक क्षत्रिय-जातियाँ 'वृषल' हो गयीं। इसी प्रकार अहिंदुओंके कुसङ्गसे उक्त पाँचों सम्प्रदायों-में—खासकर बौद्धशाखामें—वर्णाश्रमसम्बन्धी खान-पानका अन्तर पड़ गया है। अतः अन्ताराष्ट्रिय दृष्टिसे ये सब समान हिंदू होते हुए भी वर्णाश्रमकी दृष्टिसे इनके अन्तर्गत खासकर सनातनी शाखामें विशुद्ध हिंदुत्वका अब भी दर्शन किया जा सकता है, जिसको सामने रखकर लोकमान्य तिलककृत हिंदू-लक्षण ठीक उतरता है। यथा—

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु नियमानामनेकता।
उपास्यानामनियमो हिन्दुधर्मस्य लक्षणम्॥

अर्थात् 'वेदोंमें प्रामाण्यबुद्धि रखनेवाला, नानाविध नियमोंका पालक, अनेक प्रकारसे ईश्वरकी उपासना करनेवाला हिंदू कहाता है।' इसीसे मिलता-जुलता लक्षण वीर सावरकरने किया है, यथा—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

अर्थात् सिन्धु नदसे लेकर समुद्रपर्यन्तकी भारतभूमि

जिसकी पैतृक सम्पत्ति और पवित्रभूमि हो, वही हिंदू है।' प्रभाकर श्रीधर रोड़ेने 'वृद्धस्मृति'के नामसे हिंदूका एक सुन्दर लक्षण उद्धृत किया है। यथा—

हिंसया दूयते यश्च सदाचरणतत्परः।
वेदगोप्रतिमासेवी स हिन्दुमुखशब्दभाक्॥

अर्थात् 'हिंसासे दुःखित होनेवाला एवं ब्राह्मण-सदाचरणमें तत्पर; क्षत्रिय—सदा-च-रण-तत्पर=सदैव रणके लिये उद्यत; वैश्य—सदा-चरण तत्पर=सदैव गमन—यात्रामें संलग्न; शूद्र—सदा-चरण-तत्पर=सदैव द्विजातिकी चरणसेवामें रत। वेद-गो-प्रतिमासेवी=ब्राह्मण—वेदवाणीके मूर्तिमान् शास्त्रोंका अनन्य सेवक; क्षत्रिय—वेदों, भूमि और देवप्रतिमाओंका विश्वासी; वैश्य—वेद, गो-जाति और देवसत्ताका सेवक; शूद्र—वेद और गौ जिस विराट् पुरुषकी प्रतिमा है, तदङ्गभूत वर्णत्रयका सेवक अर्थात्—वर्णाश्रम-मर्यादानुकूल आचरण करनेवाला पुरुष 'हिंदू' है।

इस प्रकार 'अन्ताराष्ट्रिय हिंदू' और 'वर्णाश्रमी हिंदू' कौन है? इस प्रश्नका विशद उत्तर उपर्युक्त पङ्क्तियोंमें संक्षेपतः आ जाता है।

भारतीय संस्कृति

(लेखक—श्रीशिवशरणजी)

आधुनिक लोगोंकी भाषामें 'संस्कृति', 'सभ्यता' आदि शब्दोंका बहुत प्रयोग होता है। वास्तवमें उन शब्दोंका यह नवीन प्रयोग 'धर्म', 'ज्ञान' आदि प्राचीन शब्दोंके स्थानपर होता है; परंतु यह उचित नहीं है। यदि नवशिक्षित लोग शब्दोंका ठीक अर्थ जानते होते तो इन शब्दोंका ऐसा दुरुपयोग नहीं करते।

वर्तमान पश्चिमियोंसे या उनके अनुयायियोंसे यदि पूछा जाता है कि 'संस्कृति क्या वस्तु है?' तो वे प्रश्नके अर्थपर विचार न करके तुरंत पश्चिमी सभ्यताकी प्रशंसा करने लगते हैं; परंतु यदि पुराने ढंगके पण्डितोंके सामने यही प्रश्न रक्खा जाय तो वे निःसंदेह 'संस्कृति' शब्दका अर्थ बतलाने लगेंगे, संस्कृतिका हर एक अवयव अलग करते हुए 'संस्कृति वास्तवमें क्या वस्तु है', इसपर विचार करनेका प्रयत्न करेंगे—जिससे विदित होगा कि संस्कृतिके कई अङ्ग हैं। कुछ अङ्ग सब संस्कृतियोंमें सामान्यरूपसे मिलते हैं और कुछ अङ्ग भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंमें अलग-अलग मिलते हैं।

इस एक प्रश्नके उत्तरसे स्पष्ट होगा कि पश्चिमी एवं भारतीय विद्वानोंकी दृष्टिमें कितना अन्तर है। तात्त्विक दर्शन भारतीय संस्कृतिके अनुपम मणि हैं। वर्तमान पाश्चात्त्य-दर्शन न्याय एवं वैशेषिकका अंश माना जा सकता है; परंतु उन दर्शनोंका पूर्ण ध्यान रखते हुए भी भारतीय दार्शनिक अपने योग, वेदान्त, सांख्य आदिके साधनोंसे उनकी त्रुटियोंको पूरा कर सकते हैं।

हर-एक युगमें हर-एक देशमें मनुष्य किसी भी रूपमें विद्याकी खोजमें लगा रहता है। कभी एक देशमें विद्या या समाजका स्वरूप बड़ी उन्नतितक पहुँचता है। परंतु उन्नत अवस्थापर ठहरनेके लिये यह आवश्यक है कि संस्कृतिके अन्य अंश भी उन्नत अवस्था प्राप्त करें। यदि कोई एक अंश उन्नत है और दूसरे अविकसित हैं, तो संस्कृतिका नाश अनिवार्य है। इसीलिये यह दिखायी पड़ता है कि अनेक देशोंमें कितनी ही सभ्यताएँ फूलीं-फलीं और नष्ट हो गयीं। भारतीय सभ्यता एक ही है, जो अनादि समयसे चली आ रही है और निःसंदेह आगे भी चलती रहेगी।

भारतीय दर्शनके अनुसार संस्कृतिके पाँच अवयव हैं; वे हैं—धर्म, दर्शन, इतिहास, वर्ण तथा रीति-रिवाज। 'संस्कृति' शब्दका यह अर्थ लगाते हुए यदि वर्तमान पश्चिमी संस्कृतिका परीक्षण किया जाय तो विदित होगा कि उसमें इतनी त्रुटियाँ हैं कि उसे संस्कृति कहनेमें भी संदेह होगा।

'संस्कृति' शब्दका लक्ष्यार्थ धर्म, विद्या आदिकी उन्नति है; परंतु वाच्यार्थ संस्करन—शुद्ध करनेकी क्रिया है। प्राकृत वस्तु जिस रूपमें साधारणतासे प्राप्य है, उसे संस्कृत नहीं कहा जा सकता। किसी स्थूल धातुसे सूक्ष्म शुद्ध तत्त्व निकालनेकी क्रियाका नाम संस्कृति है। एक हरी मिट्टीको संस्कृत करनेसे भास्वत् ताम्र मिल जाता है। वैसे ही मनुष्य-जातिके स्थूल धातुसे संस्कृतिद्वारा उत्तम मानसिक एवं सामाजिक गुण प्रादुर्भूत होते हैं।

संस्कृतिकी उत्पत्तिके विषयमें कुछ मतभेद है। इस बातपर इतिहासकारोंको वाद-प्रतिवाद करनेका अच्छा अवसर मिलता है। फिर भी संस्कृतिका रूप और मूल्य इसकी उत्पत्तिके प्रश्नसे अलग बात है। कुछ लोगोंका कहना है कि ताम्र आरम्भमें शुद्ध रूपमें उत्पन्न हुआ और धीरे-धीरे अशुद्ध होकर हरी मिट्टी बना, जिसे फिर संस्कृत करनेपर ताम्र पुनः

अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हो गया । दूसरे लोग कहते हैं कि संसारमें शुद्ध ताम्र कहीं नहीं दिखायी पड़ता; उसका प्राकृत रूप हरी मिट्टी ही है । उस मिट्टीको संस्कृत करके प्रकृतिकी ओटमें छिपा हुआ शुद्ध ताम्र-तत्त्व निकाला जा सकता है । प्रायः दोनों दृष्टियाँ अपने प्रमाणके उपायकी सीमाओंमें मान्य की जा सकती हैं । इसी तरह कहा जा सकता है कि पुरुष आरम्भमें देवताके समान था । फिर भी जहाँतक हमलोगोंका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, हम देखते हैं कि मनुष्य-जातिके मूढ स्थूल समूहमें भी संस्कृतिद्वारा शुद्ध संस्कृत भाषा एवं विद्वान् संस्कृत पुरुष बनते हैं ।

मनुष्य-जातिका इतिहास समझनेके लिये भारतवर्ष एक ही देश है; क्योंकि भारतीय संस्कृतिको छोड़कर कोई भी ऐसी दूसरी संस्कृति नहीं है, जो मनुष्यकी उत्पत्तिके समयसे आजतक अखण्ड धारासे चलती आयी हो । सब धर्मोंका आधार सनातन-धर्म—भारतीय-धर्म ही है । धर्मानुसार समाजके स्वरूपकी रक्षा केवल भारतमें हुई है । इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृतिमें ऐसे गुण होना अनिवार्य है, जिनसे संस्कृतिकी रक्षा होती है ।

आधुनिक पश्चिमी देशोंमें लोगोंको एक विचित्र अभिमान हो गया । वे कहने लगे कि 'हमलोगोंने वैज्ञानिक आविष्कारोंसे एक नया युग पैदा कर दिया है ।' परंतु इन नये आविष्कारोंका फल थोड़ा-सा भी अन्वेषण करनेसे स्पष्ट होता है कि मनुष्य इस नये विज्ञानसे अद्भुत यन्त्रोंके मालिक न रहकर निर्दयी निर्विचार भयङ्कर यन्त्ररूप राक्षसके गुलाम बन गये हैं ! किसीको पता नहीं कि वह राक्षस मनुष्य-जातिको कहाँ ले जा रहा है । बड़े-से-बड़े यन्त्रोंके चलानेके लिये अनेक देशोंके शासकोंको सारी प्रजासे काम लेना पड़ता है । इस कारणसे किसीके लिये स्वतन्त्रता नहीं रह सकती । लोगोंको इस अप्रिय काममें लगाये रखनेके लिये उनकी विचारशक्तिका नाश करना पड़ता है । आजकल कई देशोंमें एक नयी चिकित्साका प्रयोग चला है, जिसके द्वारा मनुष्यके मस्तिष्कका एक छोटा अंश निकालकर असाधारण विचार करनेकी शक्ति नष्ट कर दी जाती है । यदि किसी व्यक्तिको ऐसा विचार होने लगता है, जिसमें दूसरे खतरा देखते हैं, तब छोटी-सी शल्य-क्रियासे उसको अनुकूल बना लेते हैं । ऐसी सम्भावना अवश्य ही स्वतन्त्रता एवं उन्नतिकी द्योतक नहीं है । इस नये यन्त्रराज्यमें स्वतन्त्रता, धर्म, विद्या आदिका सत्यानाश अनिवार्य है ।

कुछ लोगोंका कहना है कि 'भारत वर्तमान उन्नतिसे वञ्चित रहा । अंग्रेजी जातियोंकी तरह भारतीयोंने वर्तमान उन्नतिके मार्गपर चलना नहीं सीखा । इसलिये भारतीयोंको चाहिये कि अपने पुराने विचार एवं रहन-सहनके ढंग आदिको छोड़कर नवीन युगकी रीतिसे रहने लगें ।' परंतु ऐसा कहनेवाले लोग प्राचीन संस्कृतिसे अपरिचित हैं । यदि वे लोग प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों संस्कृतियोंके गुणोंकी तुलना कर सकते तो कभी ऐसा विचार नहीं करते । यह प्रश्न अनुचित न होगा कि 'यदि प्राचीन संस्कृति वस्तुतः निर्मूल्य है तो अपने-आप मर ही जायगी । फिर उसका मूल्य गिराने, उसका प्रचार रोकनेके लिये क्यों इतना प्रयत्न हो रहा है ?' इसका उत्तर यह है कि यदि किसीको भारतीय सनातन विद्याके छोटे-से-छोटे अंशका लेशमात्र भी दर्शन करनेका सौभाग्य मिला तो वह कभी भी दूसरी विद्या, दूसरी संस्कृतिको नहीं मानता ।

संसारमें कोई ऐसी विद्या नहीं है, जिसकी प्राचीन हिंदुओंकी विद्याओंसे तुलना की जा सके । हिंदू न्याय, सांख्य, वेदान्त, व्याकरण, योग, नीति आदिके सामने समस्त वर्तमान पश्चिमी दर्शन लड़कोंके निरर्थक प्रलापसे दिखायी पड़ते हैं । हिंदू-दर्शनसे परिचित किसी भी विद्वानको वर्तमान पश्चिमी दर्शनके गुणगान करनेका साहस नहीं हो सकता ।

संस्कृत-व्याकरणकी पूर्णताके सामने अन्य भाषाओंकी रचनाविधि अनुपयुक्त एवं असमान दिखायी पड़ती है । और अन्य समाजोंका रूप हिंदू-समाजके सामने पशुओंके समाज-जैसा विदित होता है ।

हर-एक पुरुषार्थ, हर-एक उन्नतिका साधन अन्य देशोंसे अत्यन्त उत्तम रूपमें भारतकी पवित्र भूमिपर प्राप्य है । मानसिक प्रवृत्तिके साधनोंसे जीवन एक सुन्दर एवं मनोरञ्जक यात्रा बनता है— न कि रेल, वायुयान, रेडियो, कार आदि साधनोंसे । जीवनको सफल एवं शोभायमान करनेवाले उपायोंका खजाना भारतवर्ष ही है । इस पुण्य-देशकी विद्या-मणियोंको कौन गिन सकता है । मुझसे पूछा जाय कि 'यदि यह सच है कि इतनी अनुपम वस्तुएँ भारतमें मिलती हैं तो नमूनेके लिये कम-से-कम एक ऐसी वस्तुका नाम बताओ, जो यहाँ मिलती है और अन्य देशोंमें नहीं ।' तब मैं एक बात बतलाऊँगा, एक ऐसे गुणसे पूर्ण वस्तुका नाम लूँगा, अन्य सभी गुण जिसके अन्तर्गत हैं । भारत ही एक ऐसा शुभ देश है, जहाँ सत्संगका अनुपम लाभ मिल सकता है, यह एक ही धन्य देश है, जहाँ साधुलोग रहते हैं ।

हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

हिंदू-संस्कृति और रामायण

हिंदू-संस्कृतिके स्वरूपको बतलानेके लिये रामायण एक महान् आदर्श ग्रन्थ है। उसमें हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप कूट-कूटकर भरा है। हिमालयका 'हि' और सिन्धु (समुद्र)का 'इन्दु' लेकर 'हिन्दू' शब्द बना है। उसीका अपभ्रंश 'हिंदू' शब्द है। हिमालयसे समुद्रतकके स्थानका नाम है हिंदुस्थान और उसमें बसनेवाली जातिका नाम हिंदू है। हिंदूजातिका ही दूसरा नाम है आर्यजाति—श्रेष्ठजाति। इस जातिका चाल-चलन, रहन-सहन, आहार-व्यवहार आदि जो स्वाभाविक कल्याणमय आचरण है, उसका नाम है 'हिंदू-संस्कृति'। आर्यपुरुषोंकी उक्त संस्कृतिको सदाचार कहा जाता है। उनका चाल-चलन, आहार-विहार, खान-पान आदि प्रत्येक आचरण श्रुति-स्मृति-विहित, अतएव आत्माका कल्याण करनेवाला होता है। इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला होनेके कारण इस सदाचारको ही हिंदू 'धर्म' कहते हैं।* यह अनादि कालसे चला आ रहा है, इसलिये इसीको 'सनातन-धर्म' कहते हैं। मनुजीका वचन है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २। १२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचार तथा जिसके कारण आत्मामें सहज प्रसन्नता प्रकट हो, वह आत्मप्रिय (परोपकार आदि) कार्य—इस तरह चार प्रकारका यह धर्मका साक्षात् लक्षण कहा गया है।'

यह सनातनधर्म ईश्वरका कानून है और सदा ईश्वरमें निवास करता है। यह सृष्टिके आदिमें ईश्वरसे ही प्रकट होता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
(४। १)

'मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा।'

तथा यह प्रलयके समय ईश्वरमें ही समा जाता है। इसलिये ईश्वर ही इसकी प्रतिष्ठा हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(गीता १४। २७)

'क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

अतः इस शाश्वत धर्मको ईश्वरका स्वरूप ही कहा जाता है। यह सदासे है और सदा रहेगा, इसलिये इसका नाम 'सनातन-धर्म' है।

यह कभी प्रकटरूपसे रहता है, कभी अप्रकटरूपसे; किंतु इसका कभी विनाश नहीं होता। ईश्वरके अवतारकी भाँति इसका केवल प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है।

वाल्मीकीय और अध्यात्म-रामायणके समस्त श्लोक तथा तुलसीकृत रामचरितमानसके सारे दोहे, चौपाई, छन्द आदि सभी इसी शाश्वत धर्मरूप हिंदू-संस्कृतिका दिग्दर्शन करा रहे हैं। उनमें भी श्रीराम और सीताके आदर्श चरित्र एवं सभी भाइयोंका परस्पर भ्रातृप्रेम हिंदू-संस्कृतिके प्रधान निदर्शक हैं।

रामायणमें श्रीरामका आदर्श चरित्र

श्रीरामचन्द्रजीकी सारी ही चेष्टाएँ धर्म, ज्ञान, नीति, शिक्षा, गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यसे भरी हुई थीं। उनका व्यवहार देवता, ऋषि, मुनि, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभीके साथ बहुत ही प्रशंसनीय, अलौकिक और अतुलनीय था। देवता, ऋषि, मुनि और मनुष्योंकी तो बात ही क्या—जाम्बवान्, सुग्रीव, हनुमान् आदि रीछ-वानर, जटायु आदि पक्षी तथा विभीषण आदि राक्षसोंके साथ भी उनका ऐसा दयापूर्ण, प्रेमयुक्त और त्यागमय व्यवहार था कि जिसे स्मरण करनेसे ही रोमाञ्च हो आता है। भगवान् श्रीरामकी कोई भी चेष्टा ऐसी नहीं, जो कल्याणकारिणी न हो।

वे साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा होते हुए भी मित्रोंके साथ मित्रका-सा, माता-पिताके साथ पुत्रका-सा, स्त्रीके साथ पतिका-सा, भाइयोंके साथ भाईका-सा, सेवकोंके साथ स्वामीका-सा, मुनि और ब्राह्मणोंके साथ शिष्यका-सा—इसी प्रकार सबके साथ यथायोग्य त्यागयुक्त प्रेमपूर्ण व्यवहार करते थे। अतः उनके प्रत्येक व्यवहारसे हमलोगोंको शिक्षा लेनी चाहिये।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यका तो कहना ही क्या है, उसकी तो संसारमें एक कहावत हो गयी है। जहाँ कहीं सबसे बढ़कर सुन्दर शासन होता है, वहाँ 'रामराज्य'की उपमा दी जाती

* यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
(वैशेषिकदर्शन १। २)

है । श्रीरामके राज्यमें प्रायः सभी मनुष्य परस्पर प्रेम करनेवाले, तथा नीति, धर्म, सदाचार और ईश्वरकी भक्तिमें तत्पर रहकर अपने-अपने धर्मका पालन करनेवाले थे । प्रायः सभी उदार-चित्त और परोपकारी थे । वहाँके प्रायः सभी पुरुष एक-नारीव्रती और प्रायः सभी स्त्रियाँ पातिव्रत-धर्मका पालन करनेवाली थी । भगवान् श्रीरामका इतना प्रभाव था कि उनके राज्यमें मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी परस्पर वैर भुलाकर निर्भय विचरा करते थे । उनके चरित्र बड़े ही प्रभावोत्पादक और अलौकिक थे । यह हमारे आर्यपुरुषोंका स्वाभाविक ही व्यवहार था । इसी आदर्शको हिंदू-संस्कृति कहते हैं । हमें उसी आदर्शको लक्ष्यमें रखकर उसका अनुकरण करना चाहिये ।

रामायणमें सीताका अनुकरणीय चरित्र

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार पतिके साथ पत्नीको कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसकी शिक्षा माताएँ श्रीसीताके चरित्र-से ले सकती हैं । जगज्जननी श्रीसीताका प्रायः सारा जीवन ही माता-बहिनोंके लिये आदर्श और शिक्षाप्रद है । सास-ससुर, माता-पिता, देवरों, सेवकों तथा अन्य सभी स्त्री-पुरुषोंके साथ—यहाँतक कि दुष्टोंके साथ भी कैसा व्यवहार करना चाहिये —इसका सुन्दर उपदेश हमें श्रीसीताजीके जीवनसे विशेषरूपसे मिलता है । इसे किसी भी रामायणमें देख सकते हैं । श्रीसीता-जीकी सभी क्रियाएँ कल्याणकारिणी हैं । अतः माता-बहिनोंको सीताजीके जीवनमें जो शिक्षाएँ भरी हुई हैं, उन्हें अपने जीवन-में उतारनेकी कोशिश करनी चाहिये ।

रामायणमें भ्रातृ-प्रेम

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार भाइयोंके साथ कैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार होना चाहिये, इसकी शिक्षा हमें रामायणमें श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत एवं श्रीशत्रुघ्नके चरित्रोंसे स्थल-स्थलपर मिलती है । उनकी प्रत्येक क्रियामें स्वार्थत्याग और प्रेमका भाव झलक रहा है । श्रीराम और भरतके स्वार्थत्यागकी बात क्या कही जाय—श्रीरामचन्द्रजीका प्रत्येक संकेत, चेष्टा और प्रसन्नता भरतको राज्य दिलानेमें है और भरतकी श्रीरामको राज्य दिलानेमें । पाठकगण किसी भी रामायणके अयोध्याकाण्डमें इस विषयको विस्तारपूर्वक देख सकते हैं । द्वापरयुगमें युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंका परस्पर भ्रातृ-प्रेम आदर्श और अनुकरणीय है । यह है हिंदू-संस्कृति !

ईश्वरवाद

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरवाद एक प्रधान स्थान रखता है । ईश्वरको केवल हिंदू ही नहीं, ईसाई और मुसलमान आदि सभी मानते हैं । जिसे हम हरि, ओम्, ईश्वर, परमात्मा, नारायण, राम, कृष्ण आदि अनेक नामोंसे कहते हैं, उसे ही ईसाई गॉड और मुसलमान अल्लाह, खुदा आदि नामोंसे पुकारते हैं । जैसे जल, पानी, नीर, अप्, वाटर आदि सभी जलके ही नाम हैं, उसीके पर्याय हैं—वस्तुतः सबका अर्थ एक जल है—उसी प्रकार ये सभी नाम वस्तुतः एक ही ईश्वरके हैं ।

हमारे श्रुति, स्मृति, दर्शन, इतिहास,

१. श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदः सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
(यजुर्वेद ४० । १)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है ।'

२. मनुजी कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥
(मनु० १२ । १२२, १२४)

'जो सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म और सबका भली प्रकार शासन करनेवाला है एवं स्वर्णके समान उज्ज्वल और निर्मल तथा स्वप्नकालमें भी बुद्धिद्वारा प्रत्यक्ष होनेवाला है, उस परम पुरुष परमेश्वरको जानना चाहिये । यही सम्पूर्ण प्राणियोंको पञ्चभूतरूपी पाँच मूर्तियोंके द्वारा व्याप्त किये हुए है तथा जन्म, वृद्धि और क्षयके द्वारा निरन्तर समस्त प्राणियोंको चक्रकी भाँति घुमा रहा है ।'

३. महर्षि वेदव्यासजी कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतः । (ब्रह्मसूत्र १ । २)

'इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि जिससे होते हैं, वह ईश्वर है ।' महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।
(योग० १ । २४)

'क्लेश, (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (पाप-पुण्य), कर्मोंके फल (जाति, आयु, भोग) तथा वासनाओंसे रहित जो पुरुषोंमें विशेष है, वह ईश्वर है ।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् । (योग० १ । २५)

'सर्वज्ञताका बीज (कारण) अर्थात् सम्यक् ज्ञान उस परमेश्वर-में सबसे बढ़कर है, उससे बढ़कर किसीमें नहीं है ।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । (योग० १ । २६)

'वह ईश्वर ब्रह्मादिकोंको भी शिक्षा देनेवाला और सबसे बड़ा है; क्योंकि उसका कालके द्वारा अन्त नहीं होता ।'

४. महाभारतमें आया है—

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः ।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ॥
(अनुशासन० १४९ । १३८)

है । श्रीरामके राज्यमे प्रायः सभी मनुष्य परस्पर प्रेम करनेवाले, तथा नीति, धर्म, सदाचार और ईश्वरकी भक्तिमें तत्पर रहकर अपने-अपने धर्मका पालन करनेवाले थे । प्रायः सभी उदार-चित्त और परोपकारी थे । वहाँके प्रायः सभी पुरुष एक-नारीव्रती और प्रायः सभी स्त्रियाँ पातिव्रत-धर्मका पालन करनेवाली थीं । भगवान् श्रीरामका इतना प्रभाव था कि उनके राज्यमे मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी परस्पर वैर भुलाकर निर्भय विचरा करते थे । उनके चरित्र बड़े ही प्रभावोत्पादक और अलौकिक थे । यह हमारे आर्यपुरुषोंका स्वाभाविक ही व्यवहार था । इसी आदर्शको हिंदू-संस्कृति कहते है । हमे उसी आदर्शको लक्ष्यमे रखकर उसका अनुकरण करना चाहिये ।

रामायणमें सीताका अनुकरणीय चरित्र

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार पतिके साथ पत्नीको कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसकी शिक्षा माताएँ श्रीसीताके चरित्र-से ले सकती हैं । जगज्जननी श्रीसीताका प्रायः सारा जीवन ही माता-बहिनोंके लिये आदर्श और शिक्षाप्रद है । सास-ससुर, माता-पिता, देवरों, सेवकों तथा अन्य सभी स्त्री-पुरुषोंके साथ—यहाँतक कि दुष्टोंके साथ भी कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसका सुन्दर उपदेश हमे श्रीसीताजीके जीवनसे विशेषरूपसे मिलता है । इसे किसी भी रामायणमे देख सकते हैं । श्रीसीता-जीकी सभी क्रियाएँ कल्याणकारिणी हैं । अतः माता-बहिनोंको सीताजीके जीवनमे जो शिक्षाएँ भरी हुई हैं, उन्हें अपने जीवन-मे उतारनेकी कोशिश करनी चाहिये ।

रामायणमें भ्रातृ-प्रेम

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार भाइयोंके साथ कैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार होना चाहिये, इसकी शिक्षा हमे रामायणमे श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत एवं श्रीशत्रुघ्नके चरित्रोंसे स्थल-स्थलपर मिलती है । उनकी प्रत्येक क्रियामें स्वार्थत्याग और प्रेमका भाव झलक रहा है । श्रीराम और भरतके स्वार्थत्यागकी बात क्या कही जाय—श्रीरामचन्द्रजीका प्रत्येक संकेत, चेष्टा और प्रसन्नता भरतको राज्य दिलानेमें है और भरतकी श्रीरामको राज्य दिलानेमे । पाठकगण किसी भी रामायणके अयोध्याकाण्डमें इस विषयको विस्तारपूर्वक देख सकते हैं । द्वापरयुगमें युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंका परस्पर भ्रातृ-प्रेम आदर्श और अनुकरणीय है । यह है हिंदू-संस्कृति !

ईश्वरवाद

हिंदू-संस्कृतिमे ईश्वरवाद एक प्रधान स्थान रखता है । ईश्वरको केवल हिंदू ही नहीं, ईसाई और मुसल्मान आदि सभी मानते है । जिसे हम हरि, ओम्, ईश्वर, परमात्मा, नारायण, राम, कृष्ण आदि अनेक नामोंसे कहते हैं, उसे ही ईसाई गॉड और मुसल्मान अल्लाह, खुदा आदि नामोंसे पुकारते हैं । जैसे जल, पानी, नीर, अप्, वाटर आदि सभी जलके ही नाम हैं, उसीके पर्याय हैं—वस्तुतः सबका अर्थ एक जल है—उसी प्रकार ये सभी नाम वस्तुतः एक ही ईश्वरके हैं ।

हमारे श्रुति, स्मृति, दर्शन, इतिहास

१. श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

(यजुर्वेद ४० । १

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, व समस्त ईश्वरसे व्याप्त है ।'

२. मनुजी कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥

(मनु० १२ । १२२, १२४

'जो सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म और सबका भली प्रकार शासन करनेवाला है एवं स्वर्णके समान उज्ज्वल और निर्मल तथा स्वप्नकालमें भी बुद्धिद्वारा प्रत्यक्ष होनेवाला है, उस परम पुरुष परमेश्वरको जानना चाहिये । यही सम्पूर्ण प्राणियोंको पञ्चभूतरूपी पाँच मूर्तियोंके द्वारा व्याप्त किये हुए है तथा जन्म, वृद्धि और क्षयके द्वारा निरन्तर समस्त प्राणियोंको चक्रकी भाँति घुमा रहा है ।'

३. महर्षि वेदव्यासजी कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतः । (ब्रह्मसूत्र १ । २)

'इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि जिससे होते हैं वह ईश्वर है ।' महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

(योग० १ । २४)

'क्लेश, (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (पाप-पुण्य), कर्मोंके फल (जाति, आयु, भोग) तथा वासनाओंसे रहित जो पुरुषोंमें विशेष है, वह ईश्वर है ।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् । (योग० १ । २५)

'सर्वज्ञताका बीज (कारण) अर्थात् सम्यक् ज्ञान उस परमेश्वर-में सबसे बढ़कर है, उससे बढ़कर किसीमें नहीं है ।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । (योग० १ । २६)

'वह ईश्वर ब्रह्मादिकोंको भी शिक्षा देनेवाला और सबसे बड़ा है; क्योंकि उसका कालके द्वारा अन्त नहीं होता ।'

४. महाभारतमें आया है—

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः ।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ॥

(अनुशासन० १४९ । १३८)

श्रीरामकी कांस्यमूर्ति
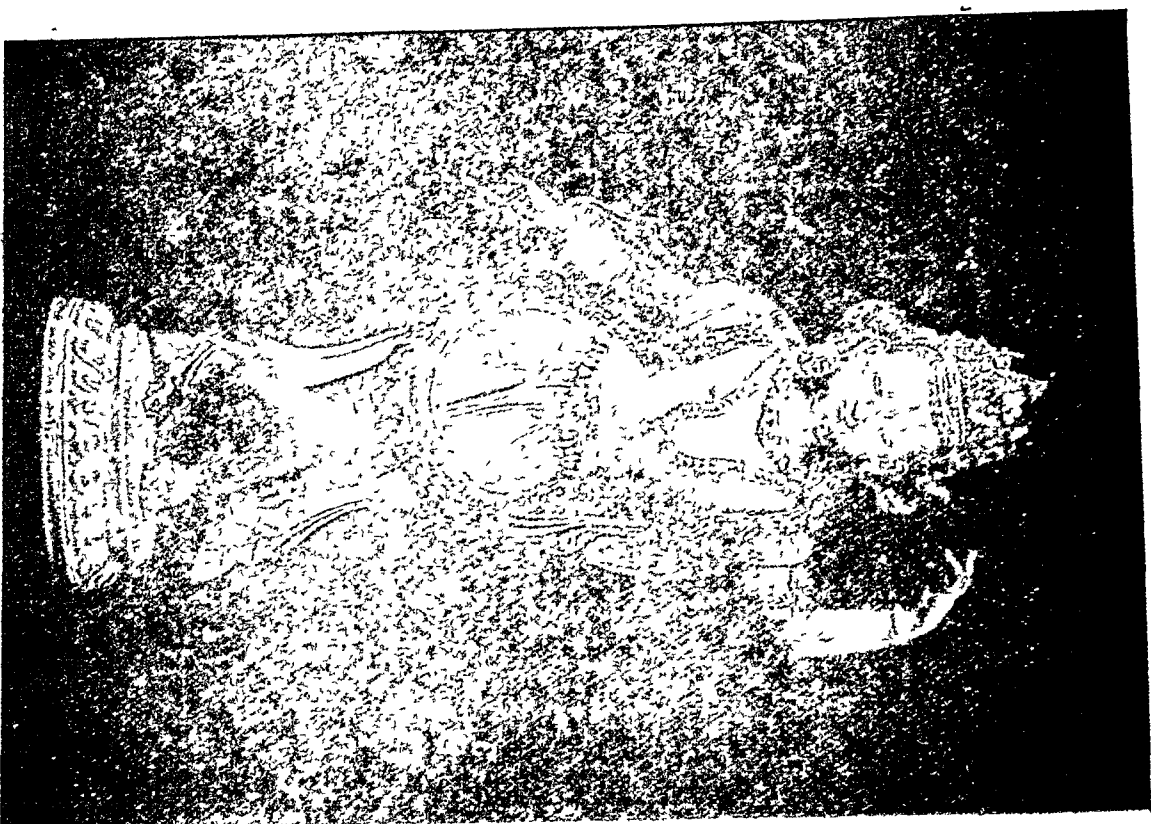
श्रीकृष्णकी कांस्यमूर्ति—नैपाल

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

श्रीराम-लक्ष्मण-सीतासे भरत एवं माताओंका मिलन
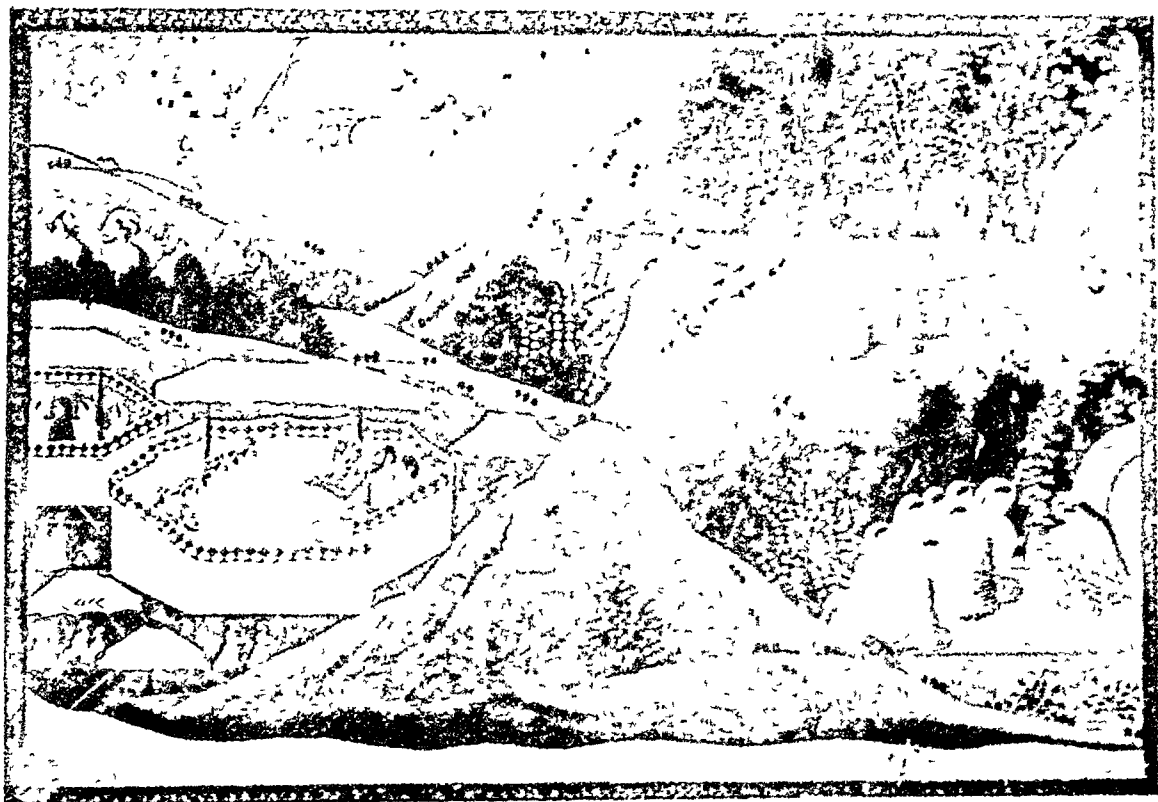
पहाड़ी (जम्मू) शैली १८ वीं शतीका मध्यभाग] (पृष्ठ ७११)

वाल्मीकि-आश्रममें नारद

पहाड़ी शैली १८ वीं शती] (पृष्ठ ७११)

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

यन्त्र भी उसीके अंदर होते हैं। उनसे भी सूक्ष्म जीव होते हैं, जो देखनेमें भी नहीं आते। अब विचारिये, उसका निर्माता कितना बुद्धिकुशल होना चाहिये। यह काम जड प्रकृति (नेचर) से सम्भव नहीं।

मनुष्योंकी प्रकृति, बुद्धि, इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न होनेसे उनके आचरण भी भिन्न-भिन्न होते है। ऐसे उन विभिन्न मनुष्योंके पाप-पुण्यरूप आचरणोंके अनुसार यथायोग्य सुख-दुःखादिका भुगताना भी जड प्रकृतिका काम नहीं हो सकता। अतः उसका फलदाता भी कोई बुद्धिका महान् सागर चेतन ही होना चाहिये और वह है एकमात्र परमात्मा।

देखिये, संसारमे ऐसा कोई भी यन्त्र देखनेमे नहीं आता, जिसका काम बिना सँभालके चल सके। उदाहरणार्थ कपड़ेकी या गंजीकी कल हैं; यदि उसका संचालक कोई चेतन पुरुष नहीं होगा तो न कपड़ा ही तैयार होगा और न गंजी ही; क्योंकि तार टूटनेपर संचालकके बिना उसे कौन जोड़ेगा। बल्कि यन्त्र ही नष्ट हो जायगा। बड़े-से-बड़ा यन्त्र रेलगाड़ी है। उसके इंजन, पटरी आदिकी सार-सँभाल आदि नहीं होगी तो उसका चलना सम्भव नहीं। किसी बुद्धिशाली चेतन संचालक, संयोजकके बिना एक दिन भी काम नहीं चलेगा और सब नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। इसी प्रकार यह सारा जगच्चक्र चल रहा है। यदि इसका निर्माता, संयोजक, संचालक तथा सँभाल-मरम्मत करनेवाला कोई बुद्धिशाली चेतन न हो तो इसकी भी वही दशा होगी।

हम, आप, कोई प्राणी अपनी सत्तामे सन्देह नहीं करते। हम है, साथ ही हम चेतन है; किंतु ज्ञानके लिये इच्छुक भी है। हमको और अधिक ज्ञान मिले, इस प्रयत्नमे रहते हैं। सभी ज्ञानके साथ सुख चाहते है और किसी-न-किसीको अपनेसे अधिक सुखी मानते है। इस प्रकार सत्ता, ज्ञान और सुख—सत्, चित्, आनन्दको हम मानते तो है और यह भी देखते है कि जगत्मे ज्ञान और आनन्द कहीं पूर्ण नहीं, सब उसको पानेके ही प्रयत्नमे है। जिसे सभी विद्वान् पाना चाहते है, वह हो ही नहीं—यह कैसे होगा। अतः जहाँ सत्ता, ज्ञान और आनन्द तीनों पूर्णरूपसे है, वही तो सच्चिदानन्द ईश्वर है। जगत्मे तो अकेली सत्ता ही है। जड पदार्थके परमाणुतकको तोड़ डाला गया, पर वहाँ तो ज्ञान-चेतना और सुख है नहीं; और सबसे छोटे प्राणी जो दूरबीनसे भी कठिनतासे दीखते हैं, उनमे भी सत्ताके साथ ज्ञान रहता है। वे अपने आहारको पहचानते हैं, वे भी सुख चाहते हैं; क्योंकि शत्रुसे डरकर भागते उन्हे भी देखा गया है। यह चेतना, ज्ञान और सुखकी इच्छा जब जडमे नहीं है, तब कहीं माननी पड़ेगी। जहाँ वह है, वही परमात्मा है। वह चेतन ही इस जडका संचालक है। वही सर्वेश्वर है।

इससे यही निर्णय हुआ कि इसका उत्पादक, निर्माता, संचालक, संयोजक, रक्षक—जो कोई है, वही चेतन परमात्मा है। यह हिंदुओंकी अनुभवयुक्त मान्यता सदासे चली आ रही है—इसीको हिंदू-संस्कृति कहते हैं।

अवतारवाद

भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा है, यह विश्वास हिंदू-जातिमे प्रायः सदासे ही चला आ रहा है। यह युक्तियुक्त और उचित ही है। निर्गुण-निराकाररूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सगुण-साकाररूपमे प्रकट होते हैं, जैसे आकाशमे परमाणुरूपसे स्थित जल ही बादलके रूपमे आकर फिर जल और बर्फके रूपमे प्रकट होकर बरसने लगता है। सर्गके आदिमे सारे पदार्थ भी निराकारसे साकार बनते है—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
(गीता ८। १८)

उस निराकाररूप ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरसे ही सारी स्थूल व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्वयं ही निराकाररूपसे साकार रूपको धारण करता है। इसीका नाम अवतार लेना है।

तुलसीकृत रामायणमे अवतारवाद स्थान-स्थानपर भरा हुआ है। यहाँ संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

बालकाण्डमे श्रीशिवजी पार्वतीसे कहते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहि निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

वाल्मीकीय रामायणमे लिखा है कि जब देवता और ऋषियोंने रावणके उपद्रवोंसे दुःखित हो ब्रह्माजीसे प्रार्थना की, तब ब्रह्माजी उन्हे सान्त्वना देने लगे। उसी समय भगवान् श्रीविष्णुके प्रकट होनेका वर्णन इस प्रकार आया है—

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः॥
वैनतेयं समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा।
तप्तहाटककेयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः॥
(वा० रा० बाल० १५। १६, १७)

'उसी समय महान् तेजस्वी जगत्पति भगवान् विष्णु, मेघपर चढ़े हुए सूर्यके समान गरुड़पर सवार हो, वहाँ आ पहुँचे। उनके शरीरपर पीताम्बर, हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि आयुध एवं भुजाओंमें चमकीले स्वर्णके बाजूबंद शोभा पा रहे थे। सभी देवताओंने उनको प्रणाम किया।'

भगवान्‌ने देवताओंकी प्रार्थनापर दशरथजीके घरमें मनुष्यरूपसे अवतार लेना स्वीकार कर लिया—

हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम्।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च॥
वत्स्यामि मानुषे रूपे पालयन्पृथिवीमिमाम्॥
(वा० रा० बाल० १५। २९, ३०)

'देवता और ऋषियोंको भय देनेवाले उस क्रूर एवं दुर्धर्ष राक्षसका नाश करके मैं ग्यारह हजार वर्षोंतक पृथ्वीका पालन करता हुआ मनुष्यलोकमें निवास करूँगा।'

अध्यात्मरामायणमें कथा आती है—जब विश्वामित्रजी श्रीराम-लक्ष्मणको यज्ञरक्षार्थ ले जानेके लिये आये, उस समय दशरथजीके द्वारा सलाहके रूपमें पूछे जानेपर वसिष्ठजीने कहा—

शृणु राजन् देवगुह्यं गोपनीयं प्रयत्नतः।
रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातनः॥
भूमेर्भारावताराय ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा।
स एव जातो भवने कौसल्यायां तवानघ॥
(अध्यात्म० बाल० ४। १२, १३)

'राजन्! यह देवताओंकी गुह्य लीला सुनो, इसे किसी प्रकार प्रकट न होने देना चाहिये। ये राम मनुष्य नहीं हैं, साक्षात् सनातन परमात्मा ही (अपनी मायासे) इस रूपमें प्रकट हुए हैं। हे अनघ! पूर्वकालमें पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ब्रह्माजीने भगवान्‌से प्रार्थना की थी, उसे पूर्ण करनेके लिये उन परमेश्वरने तुम्हारे यहाँ कौसल्याके गर्भसे जन्म लिया है।'

चित्रकूटमें माता कैकेयीने श्रीरामसे क्षमा-प्रार्थना करते हुए कहा है—

त्वं साक्षाद्विष्णुरव्यक्तः परमात्मा सनातनः।
मायामानुषरूपेण मोहयस्यखिलं जगत्॥
(अध्यात्म० अयोध्या० ९। ५७)

'आप साक्षात् विष्णुभगवान्, अव्यक्त परमात्मा और सनातन पुरुष हैं। अपने लीलामय मनुष्यरूपसे आप समस्त संसारको मोहित कर रहे हैं।'

रावणवधके अनन्तर ब्रह्मादि देवताओंसे बात-चीत करते हुए श्रीरामने कहा कि मैं तो अपनेको दशरथपुत्र राम ही समझता हूँ। वास्तवमें मैं जो हूँ, जैसा हूँ, आप ही बतलाइये। इसपर ब्रह्माजी श्रीरामका महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—

भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
....
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः।
....
वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्॥
(वा० रा० युद्ध० ११९। १३, २७, २८)

'आप साक्षात् चक्रपाणि लक्ष्मीपति प्रभु श्रीनारायणदेव हैं। सीता साक्षात् लक्ष्मी हैं और आप भगवान् विष्णु, कृष्ण एवं प्रजापति हैं। आपने रावणवधके लिये ही मानव-शरीर धारण किया है।'

भगवान्‌के परमधाम पधारनेके प्रकरणमें यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि श्रीराम साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर थे। उस समय ब्रह्माजीके कथनानुसार भगवान्‌ने अपने भाइयोंके साथ इस मानवविग्रहसे ही उस वैष्णव तेजमें प्रवेश किया—

विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः।
(वा० रा० उत्तर० ११०। १२)

इसी प्रकार गीता, भागवत आदि ग्रन्थोंमें भी अवतारवादका उल्लेख स्थान-स्थानपर मिलता है। इसके

१. गीताने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४। ६—८)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

२. भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण माता देवकीसे कहते हैं—

अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्।
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः॥

संस्कार प्रायः हिंदुओंके हृदयमें स्वाभाविक ही अङ्कित हैं। यह है हिंदू-संस्कृति !

परलोकवाद

बहुत-से आदमी यह शङ्का करते हैं कि 'मरनेके बाद आत्मा रहता है या नहीं; किये हुए कर्मोंका फल कर्ताको परलोकमें मिलता है या नहीं; मृत व्यक्तिके लिये दिया हुआ पदार्थ उसे मिलता है या नहीं और जो मृत व्यक्ति मुक्त हो गया है, उसके प्रति दिया हुआ पदार्थ किसको मिलता है ?' इन प्रश्नोंका समाधान यह है कि मरनेपर आत्मा अवश्य रहता है तथा किये हुए कर्मोंका फल कर्ताको अवश्यमेव मिलता है। वह इस लोकमें भी मिल जाता है और शेष बचा हुआ परलोकमें मिलता है। मृत व्यक्तिके प्रति जो कुछ दिया जाता है, वह सब उसे प्राप्त होता है। किंतु जो मृत व्यक्ति मुक्त हो गया है, उसके प्रति दिया हुआ कर्ताके कोषमें जमा होता है।

(क) कठोपनिषद्में यमराजके प्रति नचिकेताने भी यही प्रश्न किया था कि मरनेपर आत्मा रहता है या नहीं। यमराजने यही उत्तर दिया कि अवश्य रहता है*। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
(२।१२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे। और न ऐसा ही है कि इसके आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

वाल्मीकीय रामायणमें युद्धके बाद दशरथजीका आना तथा श्रीराम और लक्ष्मण आदिसे वार्तालाप करना परलोकका जीता-जागता प्रमाण है। इसके लिये वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड, १२१ वाँ सर्ग देखिये।

अन्यान्य शास्त्रोंमें भी जगह-जगह इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। हिंदू-जातिके हृदयमें यह संस्कार स्वाभाविक ही अङ्कित है। यह युक्तिसंगत भी है। जब मनुष्य जन्मता है, तब उसके जाति, आयु, भोग और स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। तथा मनुष्यका जन्मते ही रोना, हँसना, कम्पित होना, सोना, माताके स्तनोंसे स्वयं ही दूधको आकर्षित करना आदि उसके पूर्वजन्मके अभ्यासके द्योतक होनेसे पूर्वजन्मको सिद्ध करते हैं। इसलिये आत्मा नित्य है। शरीरके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता।†

नर्षीणां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्।
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः॥
तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम्।
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति॥
(१०।३।४२–४३)

"सत्पुरुषोंमें शील, उदारता आदि सद्गुणोंमें अपने सदृश दूसरेको न देखकर मैं स्वयं ही आप दोनोंका पुत्र होकर पहले 'पृश्निगर्भ' के नामसे विख्यात हुआ था। उसके बाद जब आप दोनो कश्यप और अदितिके रूपमें प्रकट हुए, तब मैं उत्पन्न होकर 'उपेन्द्र' के नामसे विख्यात हुआ; उस समय मेरा शरीर छोटा होनेके कारण मेरा दूसरा नाम 'वामन' हुआ था। इस तीसरे कल्पमें अब मैं ही उसी शरीरसे आप दोनोंके यहाँ पुनः उत्पन्न हुआ हूँ। हे सति! मैंने यह आपसे सत्य कहा है।"

* न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठ० १।२।६)

'जो धनके मोहसे मोहित हो रहा है, ऐसे प्रमादी, मूढ, अविवेकी पुरुषको परलोकमें श्रद्धा नहीं होती। यह लोक ही है, परलोक नहीं है—इस प्रकार माननेवाला वह मूढ पुरुष मृत्युके वशमें बार-बार पड़ता है अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।'

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(कठ० १।२।१८)

'नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो जन्मता है और न मरता ही है। यह न तो स्वयं किसीसे हुआ है, न इससे कोई भी हुआ है। अर्थात् यह न तो किसीका कार्य है और न कारण ही है। यह अजन्मा, नित्य, सदा एकरस रहनेवाला और पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धिसे रहित है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता।'

† गीतामें भी कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२।२०)

'यह आत्मा न तो किसी कालमें जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

(ख) श्रीरामचरितमानसमें दशरथजीने कहा है—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी । ईस देइ फलु हृदयँ बिचारी ॥
करइ जो करम पाव फल सोई । निगम नीति अस कह सबु कोई ॥

तथा वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः ।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः ॥
शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत्पापमश्नुते ।
(युद्ध० १११ । २५, २६)

'स्वामिन् ! इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि समय आनेपर कर्ताको उसके पाप-कर्मका फल अवश्य मिलता है । शुभ कर्म करनेवालेको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और पापीको पापका फल दुःख भोगना पड़ता है ।'

मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे उसका वैसा ही फल प्राप्त होता है—यह बात गीता आदि शास्त्रोंमें भलीभाँति बतलायी गयी है ।* यह युक्तियुक्त भी है । मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं । फिर उनके अनुसार ही उसके अन्तःकरणकी वृत्ति बनती है । वृत्तिके अनुसार ही अन्तकालमें स्मृति होती है और स्मृतिके अनुसार ही भावी जन्म होता है । इस कर्मोंके भेदके कारण ही मनुष्यके जाति, आयु, भोग और स्वभावकी भिन्नता होती है । अर्थात् सब प्राणियोंमें जो बुद्धि, स्वभाव और भोगकी भिन्नता देखी जाती है, इसका मूल कारण कर्म ही है । अतः कर्मफल प्राप्त होनेकी बात बिल्कुल युक्तिसंगत है और प्रत्यक्ष देखनेमें भी आती है ।

* गीता कहती है—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥
(१४ । १६)

'श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है; राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है ।'

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥
(१८ । १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है; किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता ।'

(ग) श्राद्ध-तर्पणका उल्लेख रामायणमें स्थान-स्थानपर आया है । श्रीरामचरितमानसमें महाराज दशरथकी मृत्यु होनेपर भरतके द्वारा उनकी यथोचित ऊर्ध्वक्रिया करनेका उल्लेख मिलता है । यथा—

नृपतनु बेद बिदित अन्हवावा । परम बिचित्र बिमानु बनावा ॥
चंदन अगर भार बहु आए । अमित अनेक सुगंध सुहाए ॥
सरजु तीर रचि चिता बनाई । जनु सुरपुर सोपान सुहाई ॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही । बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही ॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना । कीन्ह भरत दसगात बिधाना ॥
जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा । तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा ॥
भए बिसुद्ध दिए सब दाना । धेनु बाजि गज बाहन नाना ॥

श्रीरामचन्द्रजी महाराजने भी पिताकी मृत्युका संवाद सुनते ही मन्दाकिनीके तीरपर जाकर तर्पण किया एवं स्वयं जैसा भोजन किया करते थे, उसीके पिण्ड बनाकर दशरथजीके निमित्त दिये—

ततो मन्दाकिनीं गत्वा स्नात्वा ते वीतकल्मषाः ॥
राज्ञे ददुर्जलं तत्र सर्वे ते जलकाङ्क्षिणे ।
पिण्डान्निर्वापयामास रामो लक्ष्मणसंयुतः ॥
इङ्गुदीफलपिण्याकरचितान् मधुसम्प्लुतान् ।
वयं यदन्नाः पितरस्तदन्नाः स्मृतिनोदिताः ॥
(अध्यात्म० अयोध्या० ९ । १७–१९)

''फिर सब लोग मन्दाकिनीपर जाकर स्नान करके पवित्र हुए । वहाँ सबने जलकाङ्क्षी महाराज दशरथको जलाञ्जलि दी तथा लक्ष्मणजीके सहित श्रीरामचन्द्रजीने पिण्ड दिये । 'जो हमारा अन्न है, वही हमारे पितरोंको प्रिय होगा—यही स्मृतिकी आज्ञा है' यों कह उन्होंने इंगुदी फलकी पीठीके पिण्ड बना उनपर मधु डालकर उन्हें प्रदान किया ।''

रामायणके सिवा श्राद्धका प्रकरण गीता, मनुस्मृति आदि सभी शास्त्रोंमें पाया जाता है ।

१. गीतामें कहा है—

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥
(१ । ४२)

'वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है । लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वञ्चित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं ।'

२. मनुजी कहते हैं—

यद्यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥
(मनु० ३ । २७५)

यह बात युक्तिसंगत भी है। जो आदमी जिस व्यक्तिके नामसे बैंकमें रुपये जमा कराता है, उसी व्यक्तिके नाम रुपये जमा हो जाते हैं और जिसके नामसे जमा होते हैं, उसीको मिलते हैं, दूसरेको नहीं। उन रुपयोंके बदलेमें उसे आवश्यकता होती है, वही चीज उतनी कीमतकी मिल जाती है। इसी प्रकार पितरोंके नामसे किया हुआ पिण्ड, तर्पण, ब्राह्मणभोजन आदि कर्मका जितना मूल्य आँका जाता है, उतना ही फल उस प्राणीको वह जिस योनिमें होता है, वहीं आवश्यकतानुसार प्राप्त हो जाता है। अर्थात् यदि वह प्राणी गाय है तो उसे चारेके रूपमें, देवता है तो अमृतके रूपमें, मनुष्य है तो अन्नके रूपमें और बंदर आदि है तो फल आदिके रूपमें उतने ही मूल्यकी वस्तु मिल जाती है।

यदि कहें कि जीवित व्यक्तिके लिये भी अगर कोई यज्ञ, दान, अनुष्ठान, व्रत, उपवास आदि कर्म करता है तो क्या वह उसे भी मिलता है, तो इसका उत्तर यह है कि अवश्य उसे मिलता है। नहीं तो फिर यजमानके लिये जो ब्राह्मण यज्ञ, तप, अनुष्ठान, पूजा, पाठ आदि करता है, वह किसको मिलेगा? न्यायतः वह यजमानको ही मिलेगा, कर्म करनेवाले ब्राह्मणको नहीं।

यदि वह प्राणी मुक्त हो गया है तो उसके निमित्त किया हुआ कर्म कर्ताको ही मिलता है। जैसे किसी आदमीको रजिस्ट्री चिट्ठी या बीमा भेजी जाती है और जिसको भेजी जाय, वह आदमी मर गया हो तो फिर वह लौटकर भेजनेवालेको ही वापस मिल जाती है, उसी प्रकार इस विषयमें भी समझना चाहिये।

ये सब संस्कार हिंदुओंके रग-रगमें भरे हुए हैं। इन्हींको लेकर प्रायः सभी हिंदू सदासे श्राद्ध-तर्पण आदि करते आ रहे हैं। यह है हिंदू-संस्कृति!

ईश्वरोपासन

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरोपासना सदासे ही प्रधानरूपमें चली आ रही है। हिंदुओंकी तो बात ही क्या, इसको ईसाई और मुसल्मान भी मानते हैं। कोई ईश्वरके साकार रूपकी, कोई निराकारकी और कोई दोनोंकी उपासना करते हैं। यह भेद उचित ही है। हिंदुओंके हृदयमें तो ईश्वरोपासनाके भाव सदासे ही अङ्कित हैं। थोड़ी-सी विपत्ति पड़नेपर भी वे संकटनिवारणार्थ ईश्वरको ही पुकारते हैं और उन्हींका आश्रय ग्रहण करते हैं।

'मनुष्य श्रद्धावान् होकर जो-जो पदार्थ अच्छी तरह विधिपूर्वक पितरोंको देता है, वह-वह परलोकमें पितरोंको अनन्त और अक्षय रूपमें प्राप्त होता है।'

ईश्वरकी उपासनाका विषय श्रुति-स्मृतियोंमें तो आया

१. श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(कठ० २। १६-१७)

'यह अक्षर (ओंकार) ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है; इसी अक्षरको जानकर मनुष्य जो कुछ चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही अत्युत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है; इस आलम्बनको भलीभाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥
(श्वेताश्वतर० १। १०-११)

'प्रकृति तो विनाशशील है, इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है; इन विनाशशील जड-तत्त्व और अविनाशी चेतन आत्मा—दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है। इस प्रकार जानकर उस परमेश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उसमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे अन्तमें साधक उसीको प्राप्त हो जाता है; फिर समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है। तथा उस परम देव परमेश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे उस प्रकाशमय परमात्माको जान लेनेपर समस्त बन्धनोंका नाश हो जाता है; क्योंकि क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण जन्म-मृत्युका सर्वथा अभाव हो जाता है। अतः वह शरीरका नाश होनेपर तीसरे लोक (स्वर्ग) तकके समस्त ऐश्वर्यका त्याग करके सर्वथा विशुद्ध एवं पूर्णकाम हो जाता है।'

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥
(मुण्डक० ३। २। १)

'वह निष्कामभाववाला पुरुष इस परम विशुद्ध प्रकाशमान ब्रह्मधामरूप परमेश्वरको जान लेता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है; जो भी कोई निष्काम साधक परमपुरुषकी उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् रजोवीर्यमय इस जगत्‌को अतिक्रमण कर जाते हैं।'

२. मनुजी कहते हैं—

अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः।
विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
(मनु० २। ८४, ८५, ८६)

ही है, और भी सभी शास्त्रोंमें[३] इसका उल्लेख अनेक जगह मिलता है। पूर्वकालमें जितने ऋषि, मुनि, साधु, महात्मा और उच्चकोटिके पुरुष हुए हैं, उन्होंने हमारे सामने ईश्वरभक्तिका अत्युत्तम उदाहरण और आदर्श रक्खा है, जो कि हमारे लिये अनुकरणीय है।

इतिहास, पुराणोंमें[३] तो यह विषय कूट-कूटकर भरा है। महर्षि वेदव्यासजीने स्त्री और शूद्रोंका वेदोंमें अधिकार न होनेके कारण उनके लिये ही इतिहास-पुराणोंकी रचना की। अतः अठारह पुराणोंमें ऐसा कोई भी पुराण नहीं, जिसमें ईश्वरोपासनाका विषय न हो।

पुराणोंमें श्रीमद्भागवत[३] तो भक्तिप्रधान ग्रन्थ है ही, किन्तु गीतामें[४] भी उपासनाका विषय विशदरूपमें कहा गया

'अविनाशी तो उस अक्षर—ओंकारको जानना चाहिये, जो परब्रह्म तथा प्रजापतिका स्वरूप है। तथा (दर्शपौर्णमासादि) विधियज्ञसे जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशुजप (जिसे दूसरे न सुन सकें, ऐसा होठोंसे किया जानेवाला जप) सौगुना श्रेष्ठ है और मानसिक जप तो हजारगुना श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञ (दर्शपौर्णमास)-सहित जो चार पाकयज्ञ (बलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र, नित्यश्राद्ध और अतिथिपूजन) हैं, वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कला-के भी समान नहीं है।'

१. महर्षि पतञ्जलिजीने बतलाया है—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा। (योग० १। २३)

'ईश्वरकी भक्तिसे भी मन समाधिस्थ हो जाता है।'

तस्य वाचकः प्रणवः। (योग० १। २७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग० १। २८)

'उस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (योग० १। २९)

'उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

२. महाभारतमें बतलाया है—

तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्।
ध्यायन् स्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥
(अनुशासन० १४९। ५,६)

'जो मनुष्य उस अविनाशी परम पुरुषकी सदा भक्तिपूर्वक पूजा और ध्यान करता है तथा उसीका स्तवन और उसीको नमस्कार करता है, वह साधक उस अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वलोकमहेश्वर, अखिलाधिपति परमात्माकी नित्य स्तुति करता हुआ सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाता है।' एवं—

विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम्।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम्॥
(अनुशासन० १४९। १४२)

'जो जगत्की उत्पत्ति और विनाश करनेवाले और समस्त संसारके एकमात्र अधीश्वर उस अजन्मा कमललोचन परमदेवका निरन्तर भजन करते हैं, वे पराभवको नहीं प्राप्त होते।'

३. विष्णुपुराणमें ऋषि पुलस्त्यने कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथापरम्।
तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम्॥
(१। २२। ४६)

'जो पर—निर्गुण ब्रह्म और अपर—सगुण ब्रह्म है, वही परमधाम है; ऐसे उस हरिकी आराधना करके मनुष्य अति दुर्लभ मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है।'

तथा महात्मा और्वने भी बतलाया है—

भौमं मनोरथं स्वर्गं स्वर्गे रम्यं च यत्पदम्।
प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्॥
(३। ८। ६)

'भगवान् विष्णुकी आराधना करनेपर मनुष्य भूमण्डलसम्बन्धी समस्त मनोरथ, स्वर्ग, स्वर्गसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मपद और परम निर्वाण-पद भी प्राप्त कर लेता है।'

१—भागवतकार कहते हैं—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(२। ३। १०)

'किसी भी उदारबुद्धिवाले मनुष्यको—चाहे वह किसी भी प्रकारकी कामनावाला हो, चाहे निष्काम हो और चाहे मोक्षकी कामनावाला हो—तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष परमेश्वरका आदरपूर्वक भजन-स्मरण करना चाहिये।' तथा—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥
(३। ३२। २३)

'भगवान् वासुदेवमें भक्ति करके किया हुआ साधन शीघ्र ही वैराग्य और उस ज्ञानको उत्पन्न कर देता है जो कि परब्रह्मका साक्षात्कार करानेवाला है।' एवं—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
(६। २। १८)

'उत्तम कीर्तिवाले भगवान् वासुदेवके नामका कीर्तन—चाहे वह ज्ञानपूर्वक किया गया हो और चाहे अनजानमें ही किया गया हो—मनुष्यके पापोंको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे कि अग्नि ईंधनको।

२—गीता कहती है—

है, यहाँतक कि प्रायः सभी अध्यायोंमें इसका उल्लेख मिलता है*। एवं रामायणोंमें अध्यात्मरामायण और तुलसीकृत रामचरितमानस तो उपासनाप्रधान ग्रन्थ है ही; वाल्मीकीय रामायणमें भी उपासनाका अनेक स्थलोंपर वर्णन है। श्रीतुलसीदासजीने तो भक्तिका ऐसा प्रवाह बहा दिया कि उसे पढ़नेपर मनुष्यका हृदय भक्ति-भावोंसे सराबोर हो जाता है।

नाम-वन्दना करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥

भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

तथा और भी अनेक स्थलोंपर उपासनाका महत्त्व और प्रभाव वर्णित है। यथा—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(८।२२)

'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है।'

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(१२।३-४)

'तथा जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भलीप्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एक-रस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥
विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥*

अध्यात्मरामायणमें सुतीक्ष्ण ऋषिसे भगवान् कहते हैं—

मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गताः॥
निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम्।
(अरण्य० २।३६-३७)

'इस लोकमें जो मेरे मन्त्रके उपासक हैं, जो मेरे शरणागत हैं, जो किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखते और जिन्हें मेरे सिवा कोई अन्य गति नहीं, ऐसे भक्तोंको मैं नित्य दर्शन देता हूँ।'

पञ्चवटीमें लक्ष्मणके पूछनेपर भगवान्‌ने अति गोपनीय ज्ञान-विज्ञानका वर्णन करते हुए अन्तमें कहा है—

अतो मद्भक्तियुक्तस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च।
वैराग्यं च भवेच्छीघ्रं ततो मुक्तिमवाप्नुयात्॥
(अरण्य० ४।५१)

'इसलिये मेरी भक्तिसे युक्त पुरुषको शीघ्र ही ज्ञान और विज्ञान तथा वैराग्य भी प्राप्त हो जाता है, जिससे वह मुक्तिको पा लेता है।'

भगवान्‌ने शबरीके प्रति कहा है—

भक्तौ सञ्जातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि॥
(अरण्य० १०।२९)

'भक्तिके उत्पन्न होनेमात्रसे ही तत्काल मेरे स्वरूपका अनुभव हो जाता है और जिसे मेरा अनुभव हो जाता है, उसकी उसी जन्ममें निःसन्देह मुक्ति हो जाती है।'

श्रीहनुमान्‌जीने रावणके प्रति कहा है—

* देखिये गीता अ० २।६१; ३।३०; ४।११; ५।२९; ६।४७; ७।१४; ८।८; ९।३४; १०।१०; ११।५४; १२।८; १३।१०; १४।२६; १५।१९; १६।१; १७।२३; १८।६६ इत्यादि।

* काकभुशुण्डिजी गरुडजीसे कहते हैं—'मैं आपसे भलीभाँति निश्चित किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ—मेरे वचन अन्यथा (मिथ्या) नहीं हैं—कि जो मनुष्य श्रीहरिका भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरको सहज ही पार कर जाते हैं।'

उसका रहस्य यह है कि वह और उसका कानून एक ही है ।'

—(हरिजनसेवक १४ अप्रैल १९४६)

'भगवान् अपने ढंगसे हमारी प्रार्थना सुनता है । इन्सानोंके ढंगसे भगवान्‌का ढंग अलग होता है । इसलिये कोई उसे समझ नहीं सकता । प्रार्थनाके लिये श्रद्धाका होना जरूरी है । कोई प्रार्थना बेकार नहीं जाती । प्रार्थना भी दूसरे कामोंकी तरह एक काम ही है । हम देख सकें या न देख सकें, उसका फल तो मिलता ही है और नामधारी कर्मके फलके बनिस्बत दिलसे की जानेवाली प्रार्थनाका फल बहुत ज्यादा शक्ति रखता है ।'

—(हरिजनसेवक २९ जून १९४७)

महात्माजी प्रातः-सायं नित्य नियमित ईश्वरकी प्रार्थना करते थे; इससे सिद्ध होता है कि वे ईश्वरके भक्त और आस्तिक थे । दुःखकी बात है कि आज हमलोग उनके कथनपर ख्याल नहीं कर रहे हैं । हमें चाहिये कि हम उनके कथनानुसार ईश्वरपर विश्वास करके ईश्वर-प्रार्थना और रामनामके जपमें प्रवृत्त हो जायँ ।

इस प्रकार उपासनाकी परम्परा अनन्त कालसे चली आ रही है । अब भी हिंदुओंके हृदयोंमें यह भाव स्वाभाविक-रूपसे अङ्कित है । यह शास्त्रसंगत तो है ही, युक्तिसंगत भी है ।

मनुष्यकी जैसी श्रद्धा यानी जैसा भाव होता है, वही उसका स्वरूप है । उसीके अनुसार उसकी चेष्टा होती है । चेष्टाके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं तथा संस्कारोंके अनुसार ही उसके अन्तःकरणकी वृत्ति और स्वभाव बनता है, अन्तःकरणके स्वभावके अनुसार ही उसकी श्रद्धा तथा श्रद्धाके अनुसार ही उसकी स्थिति और स्वरूप होता है । एवं उसके अनुसार ही पुनः उसके आचरण होने लगते हैं । ये आचरण ही संस्कृति हैं । हिंदुओंमें अनन्त जन्मोंके प्रवाहसे जो संस्कृति चली आ रही है, उसके प्रवाहको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये शास्त्रके उपदेश और महात्माओंके चरित्र ही प्रधानतया आदरणीय और अनुकरणीय हैं । गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह अनुभव होता है कि मनुष्य जैसे-जैसे आचरण करता है, उसके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं और तदनुसार ही उसके अन्तःकरणका स्वभाव बन जाता है । जैसे एक आदमी कसाई-का काम करता है तो उसके हृदयमें मारकाटके संस्कार इतने अधिक बद्धमूल हो जाते हैं कि उसे स्वप्नमें भी वैसे ही दृश्य दिखायी देने लगते हैं और उसका हृदय कठोर हो जाता है । दूसरी ओर, एक परोपकारी पुरुष हर समय जीवोंके हितके लिये ही चेष्टा करता रहता है, जिससे उसका स्वभाव बड़ा ही कोमल और दयालु हो जाता है । उससे स्वप्नमें भी जीवोंका अहित नहीं होता । उस दयालुसे कसाईका काम और कसाईसे दयालुका काम होना असम्भव-सा है । यह बात युक्तियुक्त और प्रत्यक्ष है । इसी प्रकार हिंदुओंके हृदयमें स्वाभाविक ही ईश्वरमें आस्तिक भाव—श्रद्धा-प्रेम है । यह हिंदुओंकी संस्कृति है । इस ईश्वरोपासनाके प्रचारमें ही सब सफलताएँ और सबका परम हित सन्निहित है । इसलिये इसका हमें खूब प्रचार करना चाहिये ।

बड़ोंका आदर-सत्कार

प्राचीन धर्मग्रन्थोंको देखनेपर मालूम होता है कि माता-पिता आदि गुरुजनोंका आज्ञापालन, वन्दन और सेवा-पूजा करना—यह भी हिंदू-संस्कृतिका एक प्रधान अङ्ग है । इसका प्रसङ्ग श्रुति, स्मृति, गीता, रामायण, इतिहास, पुराण

१. श्रुति कहती है—

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव ।　　(तैत्तिरीय १ । ११ । २)

'माताको देव (ईश्वर) माननेवाला हो । पिताको ईश्वर माननेवाला हो । आचार्यको ईश्वर माननेवाला हो । अतिथिको ईश्वर माननेवाला हो ।'

२. मनुजी कहते हैं—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥

(मनु० २ । २३१)

'पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि, गुरु आहवनीय अग्नि—ऐसा कहा है । और वह अग्नित्रय अत्यन्त श्रेष्ठ है ।'

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥

(मनु० २ । २३०)

'वे ही तीनों लोक, वे ही तीनों आश्रम, वे ही तीनों वेद और वे ही तीनों अग्नि कहे गये हैं ।'

सर्वे तस्याहृता धर्मा यस्यैते त्रय आहृताः ।
अनाहृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥

(मनु० २ । २३४)

'जिसने इन तीनोंका आदर किया, उसने सब धर्मोंका आदर किया और जिसने इनका आदर नहीं किया, उसकी सब क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ।'

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥

(मनु० २ । २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सब कर्तव्य कर्म पूर्ण होता है । यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब धर्म 'उपधर्म' (गौण धर्म) कहे जाते हैं ।'

३. गीता कहती है—

आदि ग्रन्थोंमें कूट-कूटकर भरा है। उन स्थलोंको पढ़नेसे रोमाञ्च होने लगता है, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत, श्रीशत्रुघ्न आदि तो इसके विशेष आदर्श माने गये हैं। इस विषयमें उनके भाव बहुत ही विलक्षण, उच्चकोटिके और स्फूर्तिदायक हैं।

अध्यात्मरामायणमें वन जाते समय श्रीराम माता कैकेयीसे कहते हैं—

पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम्॥
सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम्।
(अयोध्या० ३। ५९, ६०)

'पिताजीके लिये मैं जीवन दे सकता हूँ, भयङ्कर विष पी सकता हूँ तथा सीता, कौसल्या और राज्यको भी छोड़ सकता हूँ।'

इसी प्रकार भरतका भी सेवा-पूजाका भाव बहुत विलक्षण है। वाल्मीकीय रामायणमें आता है, श्रीभरद्वाजजीने चित्रकूट जाते हुए भरत तथा उनके साथियोंका बहुत सत्कार-सम्मान किया। उन्होंने उन सबको सुख पहुँचानेके लिये अपनी शक्तिसे दिव्य विविध सामग्रियाँ और महल, राज्यासन आदि रच डाले; किंतु भरत उनमें आसक्त नहीं हुए। वे तो मनसे राज्यासनपर भगवान्‌को ही स्थापित समझकर उनकी पूजा और नमस्कार करते रहे—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
वालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने॥
(अयोध्या० ९१। ३८, ३९)

'भरतने वहाँ दिव्य राजसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे तथा उनमें राजा (राम) की भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन सबकी प्रदक्षिणा की। सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं, ऐसी धारणा बनाकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की। फिर वे अपने हाथमें चँवर ले मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।'

बादमें भी जब भरतजीको श्रीहनुमान्‌जीद्वारा भगवान्‌के अयोध्या लौटनेका शुभ संवाद प्राप्त हुआ, तब वे अत्यन्त हर्षके साथ भगवान्‌की चरणपादुकाओंको मस्तकपर रखकर भगवान्‌के दर्शनार्थ चल पड़े। वहाँका वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकिजी लिखते हैं—

आर्यपादौ गृहीत्वा तु शिरसा धर्मकोविदः।
पाण्डुरं छत्रमादाय शुक्लमाल्योपशोभितम्॥
प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः।
यथार्थेनार्घ्यपाद्याद्यैस्ततो राममपूजयत्॥
ततो विमानाग्रगतं भरतो भ्रातरं तदा।
ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम्॥
(युद्ध० १२९। १७, १८, ३५, ३७)

'धर्मज्ञ भरतने अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकाएँ सिरपर रखकर अपने साथ श्वेत मालाओंसे सुशोभित सफेद रंगका छत्र तथा राजाओंके योग्य सोनेसे मढ़े हुए सफेद चँवर भी ले लिये। फिर प्रसन्नवदन भरतजी श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दृष्टि लगाये हाथ जोड़कर खड़े हो गये। उन्होंने दूरसे ही बड़ी प्रसन्नतापूर्वक अर्घ्य, पाद्य आदिसे उनकी पूजा की और विनीतभावसे प्रणाम किया। (इतनेमें ही श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा पाकर वह विमान पृथ्वीपर उतर आया। भगवान्‌ने भरतको उसपर चढ़ा लिया।) भरत मेरुपर्वतपर स्थित-से दिखायी पड़नेवाले सूर्यकी तरह उस विमानमें स्थित भाई श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें नमस्कार करते हुए गिर गये।'

अध्यात्मरामायणमें लिखा है—जब भरतजी तथा माताएँ आदि सब चित्रकूट पहुँचे हैं, उस समय श्रीरामचन्द्रजी सब गुरुजनोंको प्रणाम करते हैं।

रामः स्वमातरं वीक्ष्य द्रुतमुत्थाय पादयोः।
ववन्दे साश्रु सा पुत्रमालिङ्ग्यातीव दुःखिता॥
इतराश्च तथा नत्वा जननी रघुनन्दनः।
ततः समागतं दृष्ट्वा वशिष्ठं मुनिपुङ्गवम्॥
साष्टाङ्गं प्रणिपत्याह धन्योऽस्मीति पुनः पुनः।
(अयोध्या० ९। ९, १०, ११)

'श्रीरामजीने अपनी माताको देखते ही शीघ्रतासे उठकर उनका चरणवन्दन किया और उन्होंने अत्यन्त दुःखसे नेत्रोंमें जल भरकर पुत्रको हृदयसे लगाया। फिर श्रीरघुनाथजीने उसी प्रकार अन्य माताओंको भी प्रणाम किया। तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठजीको आते देख उन्हें साष्टाङ्ग प्रणामकर बारंबार कहने लगे 'मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ।'

जब भरतजीकी प्रार्थनापर भगवान् उन्हें चौदह वर्षकी अवधिके आधारके लिये चरणपादुका देते हैं, तब वे उन्हें लेकर

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
(१७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

कोई रुकावट भी नहीं है। यह बड़े दुःखकी बात है। इससे बढ़कर धर्मपर और कुठाराघात क्या हो सकता है। सचमुच हिंदू-धर्मको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये ही हिंदूकोडकी सृष्टि हुई है। इसके अनुसार एक भंगी, चमार, विधर्मी या मांसाहारी भी उच्चजातिके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि निरामिषभोजीके साथ सम्बन्ध कर सकता है—इसमें भी कोई रुकावट नहीं।

इस कोडमें लड़कीको १६ वर्षकी होनेपर बिना अभिभावककी आज्ञाके स्वतन्त्रतासे विवाह करनेकी छूट दी गयी है। इसके अनुसार पिताकी इच्छा न होनेपर भी लड़की चाहे जिससे विवाह कर सकती है और इस प्रकार यदि पिताके घरमें चार लड़कियाँ हों तो उनके यहाँ एक निरामिषभोजी और एक मांसाहारी तथा एक अछूत और एक ब्राह्मण दामादके रूपमें आ सकते हैं और हिंदूकोडके कानूनके अनुसार उन्हें कोई हटा नहीं सकता। इससे घरवालोंको इतना क्लेश और दुःख हो सकता है, जिसकी कोई सीमा नहीं। इसके अतिरिक्त इस 'कोड' में अदालतमें रजिस्ट्रीद्वारा विवाहको वैध मान लिया गया है, यह बड़ा ही अनर्थका मूल है।

४—इसी प्रकार दत्तक पुत्र भी चाहे जिस जातिका लाया जा सकता है। एक हिंदू निरामिषभोजी ब्राह्मणके परिवारमें चार भाई हों, उनमें तीनके सन्तान हो और एकके न हो तो वह निःसन्तान भाई स्वेच्छानुसार अछूत-जातिके या मांसाहारी बालकको भी दत्तक पुत्र बना सकता है। अथवा जो पहले ईसाई या मुसलमान रहा है किंतु अब जिसने हिंदू-धर्म स्वीकार कर लिया है, उसे भी ला सकता है; इसके लिये भी कोई रुकावट नहीं है। देखिये, जिसे अपने भाइयोंको दुःख पहुँचाना हो, कोई वैर-बदला लेना हो तो उसके लिये उनको तंग करनेका यह बड़ा भयङ्कर उपाय निकल आता है। उस दत्तक पुत्रका कोई भी कानूनन विरोध नहीं कर सकता।

सम्पत्तिके अधिकारके विषयमें भी बड़ी गड़बड़ी होगी। यदि कोई पिता सम्पत्ति हटा दे तो नाबालिग बच्चे दावा करके भी उससे क्या पा सकेंगे। इसका फल क्या होगा ? वे बच्चे असहाय और अनाथ होकर भटक सकते हैं।

अतः यह हिंदूकोड हिंदू-संस्कृतिके सर्वथा विरुद्ध और घातक है।

भारतके लाखों-करोड़ों स्त्री-पुरुषोंने—जिनमें सम्मान्य आचार्य, विद्वान्, वकील, बैरिस्टर, सुविख्यात नेता और विदुषी महिलाएँ भी शामिल हैं, इस बिलका घोर विरोध किया है। फिर भी डाक्टर अम्बेडकरने बिलको कानूनरूपमें लानेके लिये धारासभामें उपस्थित कर दिया है; किंतु वास्तवमें धर्मके विषयमें कानून बनानेका इस धारासभाको कोई अधिकार नहीं है। इस विधानसभामें ही मूलभूत सिद्धान्तके रूपमें यह स्वीकृत हो चुका है कि किसीके भी धर्ममें हस्तक्षेप नहीं किया जायगा तथा इसे 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' घोषित किया गया है। ऐसी अवस्थामें किसी एक धर्मके विषयमें कानून बनाने जाना महान् अन्याय है। हिंदुओंके विवाह-संस्कार आदि कार्य पवित्रतम धार्मिक अनुष्ठान हैं—इसे कोई भी समझदार व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता।

यद्यपि डाक्टर अम्बेडकरने यह स्वीकार कर लिया है कि बहुमत इस बिलके विरोधमें है, फिर भी वे बलात्कारसे इसे हिंदुओंपर लादने जा रहे हैं। यह लोकतन्त्रात्मक सरकारके लिये बड़े ही अन्याय एवं लज्जाकी बात है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह हिंदूकोड बिल्कुल अशास्त्रीय और हिंदुओंकी समाज-व्यवस्थाको तोड़ देनेवाला है। यदि इसे कानूनका रूप दे दिया गया तो इसमें अनादिकालसे चली आती हुई हिंदुओंकी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होकर लोग दुःखोंके गर्तमें गिर जा सकते हैं।

अतः सभी भाई-बहिनोंसे प्रार्थना है कि वे इसका यथासाध्य खूब जोरोंसे विरोध करें; क्योंकि कानूनरूपमें आ जानेपर फिर इससे बचनेका कोई उपाय नहीं रह जायगा! फिर तो सभीको कष्टोंका सामना करना पड़ सकता है। सरकारसे भी हमारी प्रार्थना है कि वह हिंदू-लोकमतके विरुद्ध कानून बनानेका विचार छोड़ दे और बिलको वापस ले ले।

विचारनेका विषय है कि कांग्रेस-सरकार किसीके धर्मको शिक्षा-विभाग और कानून-विभागमें लानेका अधिकार नहीं रखती, किंतु वह हिंदू-धर्मको कानूनमें गाँठनेका विचार करती है—यह कौन-सा न्याय है ? यदि कानून भी बने तो केवल हिंदुओंके लिये ही क्यों; ईसाई, मुसलमान—सभीके लिये एक कानून बनना चाहिये। जैसे ईसाई और मुसलमानोंके धर्मके विषयमें सरकार हस्तक्षेप नहीं करती और उनको स्वतन्त्रता दे रक्खी है, उसी प्रकार हिंदुओंके धर्मके विषयको हिंदुओंपर छोड़ देना चाहिये। हिंदुओंके धर्मको कानूनका रूप देकर हिंदुओंके चित्तको आघात पहुँचाना—यह कांग्रेस-जैसी सरकारके लिये बहुत ही अनुचित है।

अतः सभी भाइयोंसे निवेदन है कि वे गाँव-गाँवमें सभाएँ करके इस हिंदूकोडके विरोधमें प्रधानमन्त्री श्रीनेहरूजीके तथा भारतीय-पार्लमेंटके स्पीकर श्रीमावलङ्करके नाम तार और विरोधपत्र भेजें और तबतक भेजते रहें, जबतक हिंदू-कोड वापस न ले लिया जाय।

भविष्यमें हिंदुओंको सतर्क रहना चाहिये। असेम्बली आदिका चुनाव हो, तब उन्हीं सज्जनोंको वोट देना चाहिये

था । पुरोहित ही नवीन नरेशसे प्रतिज्ञाएँ कराता और फिर उनके सिरपर मुकुट रखता । इसके पश्चात् दूसरे सामन्तादि नरेशको स्वीकार करते थे । वे लोग उस समय नवीन नरेशको भेंट देते थे । इसी प्रकार साधारण परिवारोंमें भी भूमि मृत-पुरुषके ज्येष्ठ पुत्रकी मानी जाती और वह अपने भाइयोंके साथ उस भूमिका उपयोग करता था ।

मेक्सिकोके समान ही पेरूमें भी हिंदू-संस्कृतिके अमिट चिह्न पाये जाते हैं । वहाँ ईसाई-धर्मके व्यापक होनेसे पहले-तक लोग पुनर्जन्ममें विश्वास करते थे । उनके समाजमें वर्ण एवं जातियोंके भेद थे और आश्रम-धर्मके पालनकी भी प्रथा थी । पेरूके लोग अपनी उद्योगशीलता, सदाचार, शिष्टता आदिके लिये विख्यात थे । यह 'वेश्याओंसे रहित देश' कहा जाता था । चोरी-डकैतीका वहाँ नामतक नहीं था । देवताओं-में उन लोगोंकी श्रद्धा थी ।

सबसे अधिक ध्यान देनेकी बात है अमेरिकामें विजया-दशमीका 'रामसीतव' महोत्सव । इस लेखके मूल लेखक श्री-चमनलालजी कहते हैं कि उन्होंने यह उत्सव स्वयं पेरूके 'चिलपनसिनको' नामक स्थानमें देखा है । इस दिन मेक्सिको-के लोग रंगमञ्चपर राम-रावण-युद्धका अभिनय करते हैं । कर्नल टॉडने इस सम्बन्धमें आलोचना करते हुए लिखा है—'यदि यह सम्भव हो कि गङ्गासे नील नदीकी भूमितकके किसी भी भागपरसे वह आवरण उठा दिया जाय जो इन प्राचीन आश्चर्योंको ढके हुए है तो रामकी विजय-यात्रा प्रारम्भसे इधर-के आरगोनॉट्सके समान विदित होगी । यदि अलेक्जेंडर (सिकन्दर) सिन्धुके मुहानेसे इन समुद्रोंको पंजाबमें वृक्षोंकी छालसे बने निम्नकोटिके बेड़ेसे पार करनेका साहस कर सका तो क्या हम कोसल-सम्राट् सगर-वंशज समुद्रराजके नामसे प्रख्यात साठ सहस्र पुत्रोंके पितासे, जिनमें सब-के-सब पुत्र कुशल नाविक थे, कुछ आशा नहीं कर सकते ?' टॉडके इस कथनका तात्पर्य इतना ही है कि टॉडके मतानुसार भारतके समुद्रराज नामक किसी अयोध्या-सम्राट्ने मिस्रमें अपना प्रभुत्व स्थापित किया और मिस्रसे वह प्रभाव अमेरिका पहुँचा ।

अमेरिकन इतिहासके प्राचीन मान्य विद्वान् जोन्स कहते हैं कि 'यहाँ (पेरूमें) राम सूर्यवंशी, सीतापति और महारानी कौसल्याके पुत्र माने गये हैं । यह विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है कि यहाँकी पेरूवि 'इन्का' जातिके लोग अपनेको गर्वपूर्वक इसी वंशका मानते हैं, और राम-सीता-उत्सव मनाते हैं । इस प्रकार हम अनुमान कर सकते हैं कि अमेरिका उस एक ही जातिद्वारा बसा है जो कि एशियाके दूरस्थ स्थानोंके संस्कार और रामकी भव्य गाथाको साथ ले गये थे । ये सब सन्देहहीन प्रमाण यह साधार सम्मत उपस्थित करते हैं कि एथियोपिया (मिस्र) और भारत एक ही असाधारण जातिद्वारा बसाये गये थे । इसकी पुष्टिमें यह और जोड़ा जा सकता है कि बंगाल और बिहार (पेलसा) के पहाड़ी अपनी कुछ आकृतियोंमें, विशेषतः नासिका और ओष्ठकी बनावटमें, एबीसीनियन जिन्हें अरबके लोग 'कुश-सन्तति' कहते हैं, उनके समान हैं ।'

पोकोकने अपनी पुस्तकके उपसंहारमें लिखा है—'मैंने अत्यन्त विश्वसनीय सावधानीके साथ अत्यन्त कठोर परीक्षण किये हैं । केवल सिद्धान्त ही नहीं, शब्दोंकी समानताने भी मुझे चकित किया है । यह कोरी कल्पना नहीं है; ऐसे परिणाम जो एकरूप होनेके साथ असंख्य हैं, इसे प्रमाणित करते हैं । प्राचीन जगत् (अमेरिका) की मनोवैज्ञानिक जाँच ऐसा व्याकरण है, जिसके अध्ययनसे हमारी (यूरोपियन) जातिसे पूर्व (भारतीय) ऋषियोंके भ्रमणके महान् वृत्तान्त अबतक सत्यताके साथ पढ़े जा सकते हैं ।'

'हिंदू अपने साथ मेक्सिकोमें पाण्डवोंका अठारह पर्वों-का वर्ष, वर्गव्यवसाय तथा भारतीय हाट-प्रणाली लाये थे ।'—ह्युएट ।

अमेरिकाके अन्वेषक कोलम्बसने लिखा है—'हिंदू और मंगोलियन आकृतिके सैकड़ों-हजारों मनुष्य हिंदू-रीति-प्रथाएँ, हिंदू-देवता गणेश-इन्द्र आदिका पूजन, हिंदू-शिक्षा-प्रणाली, पुरोहित-प्रथा, विवाह-संस्कार, शव-दाह, सती-प्रथाका यहाँ पालन करते हैं । इन सबकी उपस्थिति पूर्णतः सिद्ध करती है कि हिंदू और मंगोल स्थल या जलमार्गद्वारा बहुत बड़ी संख्यामें अमेरिका पहुँचे थे ।'

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अमेरिका किसी समय हिंदुओंका उपनिवेश था और वहाँके निवासी यूरोपियन लोगोंके पहुँचने तथा ईसाई-धर्मके व्यापक होनेसे पूर्व 'हिंदू-संस्कृति'का ही अनुसरण करते थे ।

(श्रीचमनलालजीकी 'हिंदू-अमेरिका'के आधारपर)

यवद्वीपके पूर्व बलिद्वीपके शिव
(षोडश शताब्दीका प्रस्तरमय चित्र)
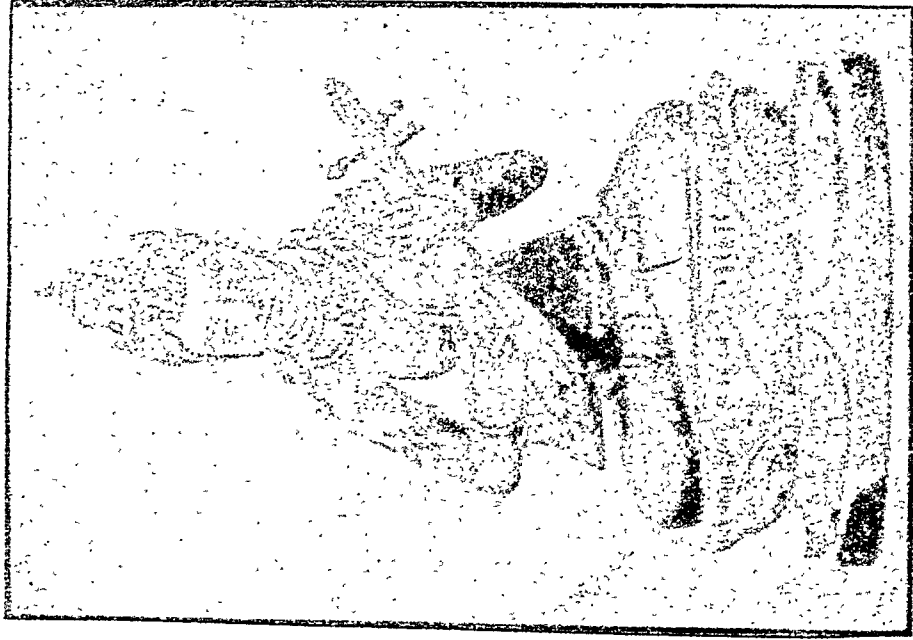
जावाद्वीपकी सरस्वतीमूर्ति
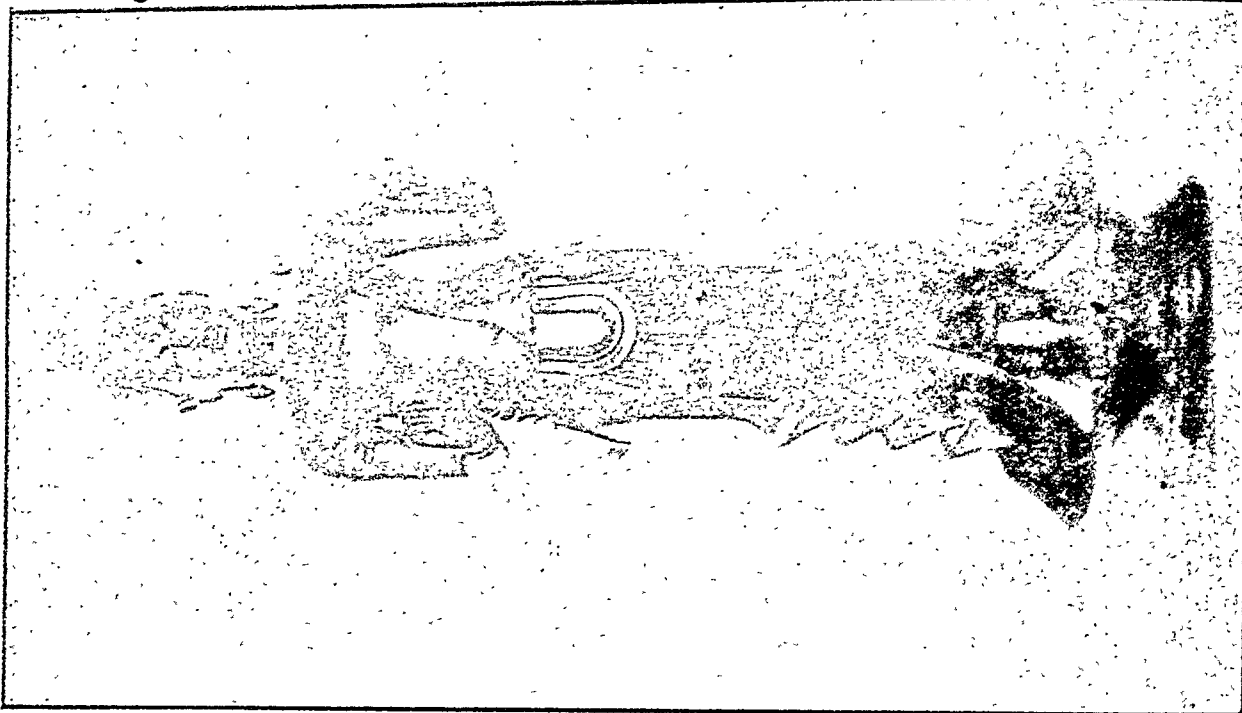
शिव—श्यामदेशकी धातुमूर्ति
(बंकोक राजकीय चित्रशालामें रक्षित द्वादश शताब्दी)

स्याममें भारतीय संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीरघुनाथजी शर्मा, वैङ्कोक, स्याम)

यह स्याम अथवा थाई देश भारतीय संस्कृतिसे सर्वाङ्गेण ओत-प्रोत है और इस देशके लोग इस बातको निर्विवाद स्वीकार भी करते हैं कि हमें भारतसे बहुत कुछ मिला है। उदाहरणके लिये यहाँका राजवंश श्रीरामचन्द्रजीके सूर्यवंशसे अपनी उत्पत्ति मानता है और राजा अपनेको रामाधिपति कहते थे। इस देशकी भाषामें, जिसे थाई-भाषा के नामसे व्यवहारमें लाया जा रहा है, प्रतिशत पचाससे ऊपर ही संस्कृत-शब्दोंका समावेश है और करीब पचीस प्रतिशत पालीशब्दोंका—जो संस्कृतके ही विकृत शब्द हैं—संमिश्रण है।

स्वर-मात्रा-व्यञ्जन 'अ, आ, इ, ई' तथा 'क, ख' आदि नामोंसे ही बोले जाते हैं। इस भाषामें सम्मिलित कुछ शब्द तो ऐसे हैं, जिनका न तो दूसरा कोई पर्यायवाची नाम ही है और न कोई दूसरा विकृत उच्चारण ही। जैसे—

आयु, प्रमाण, वेला, सामान्य, सामाजिक, साधारण, शिल्प, एकजन, शुल्क, रथयन्त्र आदि। कुछ शब्द केवल उच्चारणके कुछ ही उलट-फेरसे व्यवहारमें आ रहे हैं—विशेष, गुण, दोष, राष्ट्र, राष्ट्रपाल, राष्ट्रमन्त्री, सहराष्ट्र, सुराष्ट्र, प्रजाराष्ट्र, समागम, गुरु, आचार्य, शास्त्राचार्य, प्रकृति, शून्य, चक्रयान, चराचर, शान्तिपाल, देशपाल, नगरपाल, धनागार, हरिण्यक, स्थानी, प्रेषणीय पत्र, दूर-लेख, दूर-शब्द, नायक, अधिपति, अधिकारपति, स्थापनिक, स्थापत्यकर्म, विश्वक, विश्वकर्म आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनके पर्यायवाची दूसरे कोई शब्द शायद ही हों। पारिभाषिक शब्द तो इस भाषामें प्रायः संस्कृतके ही हैं, जो व्यवहारमें आ रहे हैं।

यहाँके पुरुषों, स्त्रियों, नगरों तथा सड़कों आदिके नाम भी प्रायः संस्कृतसे ही लिये गये हैं—जैसे क्रमशः भरत, कुमुद, सुमनजाति, श्रेष्ठिकर, धर्मनिदेश, अशोक-मन्त्री, रेणु, प्रभा, आभा, वीणा, लक्ष्मी, मालिनी तथा सुराष्ट्रधानी, उत्तरदिश, लवपुरी, सुरेन्द्रपुरी, प्राचीनपुरी, नगरस्वर्ग, राजवंश०, अनुवंश०, सूर्यवंश०, अशोक०, अयोध्या०, जययश० होड़ आदि। दूसरे शब्दोंमें संस्कृत-भाषाका अधिकार तथा प्रभाव इस देशकी भाषापर पूर्णरूपसे है। इस देशके रीति-रिवाज तो प्रायः सब-के-सब भारतीय संस्कृतिके ही द्योतक हैं। प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे भेंट-मुलाकातके अवसरपर बड़े नम्रभावसे दोनों ओरसे हाथ जोड़कर 'स्वस्ति' शब्दका उच्चारण करते हैं, और इस प्रथाके लिये इस देशमें 'स्वस्ति' शब्दको छोड़ दूसरा कोई भी शब्द व्यवहारमें आता ही नहीं। छोटे बड़ोंके सामने या तो नत-जानु हो या थोड़ा झुककर इसका अनुसरण करते हैं। उत्तरमें 'स्वस्ति' ही कहा जाता है। भिक्षु होनेकी प्रथा इस देश-वासियोंमें स्थायी अथवा अस्थायी दोनों रूपोंमें है। प्रत्येक भिक्षु प्रतिदिन प्रातःकाल भिक्षाके लिये जाता है और खानेके समय सब बाँटकर खाते हैं। भिक्षा दोनों हाथोंसे ही दी जाती है, और क्रमशः उपस्थितिपर ही भिक्षा ली जाती है। भिक्षा शेष हो जानेपर चाहे प्रतीक्षामें कितना भी समय क्यों न लग जाय, बाकी बचे सब-के-सब भिक्षु चुप-चाप आगे चले जाते हैं। भिक्षु-जीवनमें उन सब सद्गुणोंका अध्ययन तथा पारायण किया जाता है, जो मनुष्यजीवनको सार्थक बनानेमें उपयोगी होते हैं।

विवाहके लिये व्यवहृत शब्द यहाँपर 'स्वयंवर' है और इसकी प्रणाली भी बहुत कुछ भारतीय हिंदू-विवाहकी जैसी ही है। इस अवसरपर भिक्षुओं तथा वयोवृद्धोंद्वारा मन्त्रोच्चारण तथा आशीर्वादात्मक वचनोंका उच्चारण होता है, और जलाभिषेक आदि क्रियाएँ भी की जाती हैं। यह अवसर नाममात्रके खर्चसे ही सम्पन्न हो जाता है। परदेकी प्रथा इस देशमें नहीं है। व्याख्यानके लिये प्रयुक्त शब्द यहाँपर 'सुन्दर वचन' है तथा कथाके लिये 'कथा' ही है। ऐसे अवसरोंपर एकदम निस्तब्धता रहती है, सिवा वक्ताके किसी दूसरेकी आवाजतक नहीं आती। प्रत्येक मन्दिर-मठकी वार्षिक पूजा भी होती है, जो बड़े-बड़े उत्सवोंके रूपमें की जाती है।

शिष्टाचार इस देशका प्रधान गुण है, अर्थात् किसी भी वस्तुके आदान-प्रदानके अवसरपर बड़ी नम्रतासे 'कृतज्ञता' आदि शब्दोंका (जो इस भाषाके हैं) प्रयोग आवश्यकीय है। छोटा-मोटा अपराध हो जानेपर एक दूसरेसे 'कृपया क्षमा' के अतिरिक्त दूसरा कोई रिवाज है ही नहीं।

'शव' (मुर्दे) को यहाँपर 'शव' ही कहा जाता है और शवको जलाया जाता है। 'मृत्यु'के लिये व्यवहृत शब्द 'दिवंगत' है। दिवंगत प्राणीका दाह-संस्कार मृत्युके कुछ

बालिद्वीपकी दैनिक पूजा-विधि

(लेखक—डा० श्रीरघुवीरजी एम्०ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०, एट्०फिल्०)

बालीमें पूजाविधिको 'पूजा-परिक्रम' कहा जाता है। कपड़े पहनते हुए 'ॐ तं महादेवाय नमः' मन्त्रके उच्चारणसे वह आरम्भ की जाती है। उसके पश्चात् 'ॐ अं शिव-स्थितिकाय नमः' का उच्चारण करते हुए मेखला धारण करते हैं। तदनन्तर 'ॐ उं विष्णुसदाशिवाय नमः' का उच्चारण करते हुए उत्तरीय वस्त्र पहना जाता है और 'ॐ गं ईश्वरपरमशिवाय नमः' का पाठ करते हुए वक्षःस्थलपर वस्त्र डालते हैं। वस्त्र-धारणके पश्चात् 'ॐ अं कं क ईश्वराय नमः' कहते हुए पादक्षालन, 'ॐ हः उं फट् अस्त्राय नमः' कहते हुए आचमन और 'ॐ हः फट् अस्त्राय नमः' कहते हुए हाथ धोये जाते हैं। वस्त्रधारण और क्षालन समाप्त होनेके उपरान्त 'ॐ ॐ पद्मासनाय नमः' मन्त्रका जाप करते हुए उपासक पद्मासन लगाता है। इसके पश्चात् शरीर-शुद्धिका मन्त्र आता है, जिसे बाली भाषामें 'मन्त्राणि शरीर' कहा जाता है—

ॐ प्रसादस्थितिशरीरशिवशुचिनिर्मलाय नमः।

उपासकके सामने ढकी हुई पूजाकी थाली रक्खी रहती है। उसे अनावृत करनेके लिये ईश्वरको 'ॐ इं ईश्वरप्रतिष्ठां जनलीलाय नमः स्वाहा' से नमस्कार किया जाता है। कुछ बीजोंका भी उच्चारण किया जाता है—

'स ब त इ न म शि व य अं ऊं मं'

पूजाकी थालीमेंसे उपासक 'ॐ उं ब्रह्मा अमृतदीपाय नमः' का उच्चारणकर 'अमृतदीप' उठाता है। इसके पश्चात् 'ॐ उं रः फट् अस्त्राय नमः। आत्मतत्त्वाय नमः.........' मन्त्रके उच्चारणसे हाथमें पुष्पोंको लिया जाता है। जहाँ-कहीं भारतीय सभ्यता पहुँची, वहाँ पूजाविधिमें पुष्पोंके प्रयोगको बहुत महत्त्व दिया गया। पुष्प शुद्धता और प्रसन्नता-के प्रतीक हैं।

बालिद्वीपमें असंख्य हस्तमुद्राएँ प्रचलित हैं। प्रत्येक मुद्राका विशिष्ट अर्थ होता है। इनकी भाषा दार्शनिक और आध्यात्मिक है; परंतु बालिनिवासी उनका तात्पर्य भूल गये हैं।

पूजाका दूसरा क्रम तर्जनीको शुद्ध करनेसे आरम्भ होता है। इसे बाली भाषामें 'करशुद्धिचतुरंगुल' कहते हैं। इसका मन्त्र 'ॐ शोधाय मां......ॐ अग्निरुद्राय नमः' है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग-न्यास विशिष्ट मन्त्रोंके साथ किया जाता है। अर्घ्य-पात्रके ऊपर कमल रखना, त्रिपादको उठाना, हाथ जोड़ना, त्रिपाद नीचे रखना, गन्ध-अक्षत डालना, प्रदीपकी ओर मुख करना, धूपपात्रके साथ अर्घ्यसे सात बार आरती करना, धूपके धूम्रको ग्रहण करना, पूजाके पात्रोंको ढकना, ढक्कन खोलना, पात्रमें जल भरना, अँगुलीसे जलपर लिखना, तीन बार परिविच्छन करना, गन्ध तथा अक्षत प्रदान करना और फिर 'ॐ अं नमः कुम्भक। ॐ उं नमः पूरक। ॐ मं नमः रेचक' मन्त्रोंका उच्चारणकर कुम्भक, पूरक और रेचक किये जाते हैं। प्राणायाम ठीक विधिके अनुसार किया जाता है। इसके पश्चात् श्रीआत्माको शिवद्वारतक लाया जाता है। तदनन्तर—

ॐ शरी कुण्डमिस्युक्तमन्तःकरणमिन्धनम्।......

मन्त्रोच्चारणकर दग्धीकरण किया जाता है। इसके पीछे कुछ श्लोक आते हैं, जिन्हें 'अमृतकरणी' कहते हैं। स्पष्टतया ये तान्त्रिक और शैव क्रियाएँ हैं। नवशक्तियोंकी भी पूजा होती है। उनकी पूजाके अनेक क्रमों और मन्त्रोंका यहाँपर पूर्ण विवरण देना असम्भव है। उपरिलिखित तो उदाहरण मात्र हैं।

बालीका उपासक सप्ततीर्थ भी जानता है—

ॐ अं गङ्गायै नमः। ॐ अं सरस्वत्यै नमः। ॐ अं सिन्धवे नमः। ॐ अं विपाशायै नमः। ॐ अं कौशिक्यै नमः। ॐ अं यमुनायै नमः। ॐ अं शरयवे नमः।

गङ्गा, सिंधु, अन्य नदियों और समुद्रके लिये भी इनके दस-बारह स्तोत्र हैं।

शरीरके प्रत्येक अङ्गपर भस्म लगाया जाता है।

जब भारतीय अपनी और बालीनिवासियोंकी सांस्कृतिक एकात्मताको हृदयङ्गम करेंगे, तब प्रत्येक सुसंस्कृत भारतीयके लिये बालिद्वीप तीर्थस्थान बन जायगा (आजकल तो यह अमेरिकन और यूरोपीय यात्रियोंके लिये केवल रम्य स्थान है)। बालीनिवासी हृदयसे हमारा स्वागत करेंगे; पर हमें उनकी आशाके योग्य बननेके लिये प्रयत्न करना होगा और उनके आध्यात्मिक ज्ञानकी लालसाकी तृप्ति करनी होगी।

उनकी पूजाकी गरिमा अद्वितीय है। रोमन कैथलिक पादरियोंने भी माना है कि पूजामें व्यस्त पेदण्डाको देखनेसे बढ़कर कोई गम्भीर दृश्य नहीं है। बालीमें हम अपनी आत्माका ही प्रतिबिम्ब पाते हैं। बालीनिवासी संस्कृत मन्त्रोंका अर्थ जाने बिना ही उनका प्रतिदिन श्रद्धासे पाठ करते हैं।

गत छः शताब्दियोंसे अपनी उपेक्षा और अधःपतनके कारण बालीसे हमारा सम्बन्ध टूट गया था। हमें पुनः उससे मिलना चाहिये। बाली हमारी आत्माओंको नवबल प्रदान करेगा।

चम्पामें भारतीय संस्कृति

(लेखक—श्रीशिवकण्ठलालजी शुक्ल 'सरस' एम्० ए०)

प्राचीन कालमें भारतीय लोगोंने एशियाके भिन्न-भिन्न भागोंमें फैलकर उपनिवेश बनाये और वहाँके आदिम निवासियोंको एक नवीन स्थायी सभ्यता और संस्कृति प्रदान की। सुदूरपूर्वके द्वीपोंमें रहनेवालोंके आचार-विचार, भाषा तथा साहित्य और धर्म आदिमें जो भारतीयता मिलती है, वह स्पष्ट प्रमाणित करती है कि इन देशोंमें पूर्वकालमें भारतीय सभ्यता तथा संस्कृतिका प्रसार हुआ था। विष्णु, ब्रह्मा, गणेश तथा शिव आदिकी प्रतिमाओंसे भी इस कथनकी पुष्टि होती है। इन सुदूर पूर्वके द्वीपोंमें चम्पा अथवा अनामका वर्णन भी विशेष उल्लेखनीय है।

ऐतिहासिक खोजके अनुसार यह पता चलता है कि श्रीरास चम्पामें प्रथम हिंदू शासक हुआ है। उसके उपरान्त ३३६ ई० से लेकर ५२९ ई० तक पाँच और शासक हुए। उनके नाम फनवेन, भद्रवर्मन, गंगराज, देववर्मन तथा विजयवर्मन हैं। विजयवर्मनके उपरान्त रुद्रवर्मन तथा शम्भुवर्मन चम्पाके शासक हुए। उसके उपरान्त कन्दर्प धर्म-शान्तिप्रिय शासक हुआ। अन्तमें रुद्रवर्मन द्वितीयके मरनेपर (७५७ ई०में) चम्पाका राज्य दूसरे वंशके अधिकारमें चला गया।

नवीन वंशके शासक सत्यवर्मनने नष्ट मन्दिरोंको फिरसे बनवाया। इसके उपरान्त और भी राजा हुए। वे सब अधिकतर आसपासवालोंसे युद्ध करते रहे। सन् ८६०में अन्तिम राजा विक्रान्तवर्मनकी मृत्युके उपरान्त इस वंशका शासन भी समाप्त हो गया। इसके उपरान्त 'भृगुवंश'के लोग चम्पाके शासक हुए। इनमें इन्द्रवर्मन प्रतापी राजा हुआ। सन् ९७२ ई०में इन्द्रवर्मनकी मृत्युके उपरान्त जय परमेश्वरवर्मन देव ईश्वरमूर्ति नामक राजाने सन् ९८० ई० में एक नवीन वंशकी स्थापना की। इस वंशके रुद्रवर्मन चतुर्थने सन् १०६९ ई० तक राज्य किया।

सन् १०८१ ई० में चम्पाकी दशा डावाँडोल हुई। सारे राज्यमें विपत्तिके बादल छा गये। उसी समय श्रीराजेन्द्र राजाकी मृत्यु हुई और सन् ११३९ ई०में इन्द्रवर्मन राजा हुआ। वह बड़ा धार्मिक तथा उत्साही राजा था। उसने कई स्थानोंमें शिवलिङ्गोंकी स्थापना करायी। इसके उपरान्त चम्पा राज्यका भविष्य अन्धकारमें चला गया। आक्रमणकारियोंने चम्पाके शासकोंको पराजित करके अपने राज्योंमें मिला लिया। ११७० ई० में फिर जागृति हुई और इन्द्रवर्मनने कम्बुज राज्यके शासकको पराजितकर पुनः चम्पाका स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। इस प्रकार सदैव चम्पापर आक्रमण होते रहे और उसका भाग्य शासकोंकी शक्तिके अनुसार बनता-बिगड़ता रहा। जयपरमेश्वरदेव (१२२२), इन्द्रवर्मन दशम (१२५७) तथा महेन्द्रवर्मन (१३११) शक्तिशाली तथा प्रतापी राजा हुए। इन राजाओंने अपने समयमें आक्रमणकारियोंका सामना करके राज्यकी रक्षा की। इसके साथ ही राष्ट्रकी जर्जर कायाको भी नवजीवन प्रदानकर सशक्त बनाया। पर कभी भी चम्पाका राज्य युद्धकी विभीषिकाओंसे मुक्त न हो सका। सारा प्राचीन इतिहास रक्तरंजित कहानियोंसे भरा है। सन् १५०५–४३में अन्तिम राजाकी मृत्युके उपरान्त चम्पाकी स्वतन्त्रता सदाके लिये अतीतके गर्भमें विलीन हो गयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि चम्पामें भारतवासियोंने लगभग १५०० वर्षोंतक शासन किया। उसके उपरान्त उनका चिह्न भी नहीं मिलता। उनका सारा राज्य-वैभव गुलाबके फूलकी भाँति खिलकर विस्मृतिके उस पार छिप गया। पर हिंदू-संस्कृति और सभ्यता वहाँ अबतक जीती-जागती दिखायी पड़ती हैं।

चम्पामें भारतकी सबसे विशेष वस्तु है भारतवर्षका धर्म। अन्य द्वीपोंकी भाँति यहाँ भी भारतीय धर्मका प्रचार हुआ। शैव-धर्मकी प्रधानता अबतक मिलती है। जो शिलालेख मिलते हैं, उनमें शिव, विष्णु, ब्रह्मा तथा बुद्धका वर्णन मिलता है। पर उनमें शिवका अधिक वर्णन है। मन्दिर तथा शिलालेखोंमें महेश्वर, महादेव, पशुपति आदि अनेक नाम मिले हैं। शिवलिङ्गोंके नाम भी देवलिङ्गेश्वर, धर्मलिङ्गेश्वर आदि मिले हैं।

शिवके अतिरिक्त 'शक्ति' की भी उपासना होती थी। शक्तिके उमा, गौरी आदि नाम थे। शिव तथा शक्तिके अतिरिक्त गणेशकी भी पूजा होती थी। यहाँ वैष्णवधर्म और बौद्धधर्मका भी प्रचार हुआ था। शिवकी भाँति विष्णुकी

दिन बाद होता है और इस बीच हर रोज शव-पूजन तथा मन्त्रोच्चारण, दान आदि किये जाते हैं, तथा दाहके दिन सम्मिलित भोजनकी भी प्रथा है।

यहाँपर शिल्पको शिल्प ही कहते हैं और यह इस देशका एक विशेष गुण तथा सौन्दर्य है। यहाँके मन्दिर, मठ, विहार, प्रासाद आदि यहाँकी शिल्पकलाके प्रतीक हैं। यहाँका प्रत्येक स्त्री-पुरुष शिल्पकलाविशारद है और यहाँका प्रत्येक घर तथा इनकी दूकानें इसके द्योतक हैं। नाट्यशालाओंके पट (पर्दे) यहाँके शिल्पके नमूने हैं। नाटक जो यहाँपर खेले जाते हैं, उनमें प्रायः सभी पुरातन भारतके हिंदू ऐतिहासिक नाटक ही होते हैं। कुछ ही महीने हुए यहाँकी शिल्पाकरण नाट्यशालामें 'सावित्री-सत्यवान्'का नाटक खेला गया था।

यहाँका अजायबघर जिसे स्यामीमें 'विविधभण्डारस्थान' कहते हैं और जो दो हजारके ऊपर वर्षोंकी बहुत-सी वस्तुओं-के संग्रहसे भरपूर है, उसमें प्रायः भारतीय पुरातन शिल्प-वस्तुएँ ही प्रचुर मात्रामें दृष्टिगोचर होती हैं। उन्हें देखते ही दर्शकके चित्तपर भारतका पुरातन ऐतिहासिक चित्र अङ्कित हो उठता है।

यह देश इस समय बुद्ध-धर्मप्रधान है। राष्ट्र तथा राष्ट्रपाल यानी गवर्नमेन्टका एक ही धर्म है। बुद्ध-धर्मपर पूर्ण विश्वास है; पर साथ ही हिंदू-धर्मका भी शुरूसे ही इसमें इतना मेल-ज़ोल है जो कि पूर्ण विश्वाससे खाली नहीं। जहाँ भगवान् बुद्धकी मूर्तियाँ दिखायी देंगी, वहाँ दूसरे हिंदू-देवताओंकी प्रतिमाएँ भी दिखायी देती हैं। यहाँके शिल्प-विभागका चिह्न गणेशजीकी मूर्ति ही है।

ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, नारायण, ईश्वर, लक्ष्मी, उमा, सरस्वती, गणेश, शेषनाग, नन्दीगण, कुबेर, कार्तिकेय आदि देवता इन्हीं नामोंसे यहाँपर सम्बोधित होते हैं।

रामायण-महाभारत—खासकर रामायणसे यहाँकी जनता उतनी ही परिचित है, जितनी भारतीय जनता। रामायणको यहाँपर 'रामकीर्ति' कहा जाता है। उसके पात्र श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, सीता, अङ्गद, हनुमान्, वाली, सुग्रीव, जामवन्त, नल, नील, दशकन्धर, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि नामोंसे ही बोले जाते हैं। रामलीलाका यहाँपर बहुत ही प्रचार है। प्रायः हर अवसरपर रामायणका ही खेल खेला जाता है। यदि 'रामलीला ही इस देशके अभिनय तथा नाट्यकलाका आधार है' कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। साथ ही इसके रामलीला यहाँपर जितनी जनप्रिय है, शायद उतनी भारतमें भी नहीं। एक छोटी-सी उपाख्यानिकासे मालूम हो जायगा कि यहाँका आबाल-वृद्ध इसकी जानकारी कहाँतक रखता है।

मेरे यहाँके प्रारम्भिक वर्ष ही थे, जब एक बार मैं अपने भारतीय कुछ मित्रोंके साथ एक स्थानपर खड़ा था (उन मित्रोंमेंसे अब भी दो-एक यहाँपर विद्यमान हैं) एक स्यामी लड़केसे, जिसकी उस समय आयु तेरह-चौदह सालसे ऊपर न थी, पास खड़े मेरे एक मित्रने पूछा, 'क्या तुम रामायणकी कथा जानते हो?' उसने कहा—हाँ। तो बताओ कि 'जब सीता रावणके घर उसकी राजधानीमें थीं, तब रावणने निस्सहाय तथा अकेली होनेपर भी उनपर बलप्रयोग क्यों नहीं किया?' उत्तरमें उस लड़केने कहा—"सीता क्योंकि नारी-श्रेष्ठ थीं तथा उनमें पातिव्रत-धर्म पूर्ण मात्रामें था, इसलिये रावण जब भी उनकी ओर आगे बढ़ता था, त्यों ही वहीं उनका 'व्रत' आगका गोला हो उनके शरीरसे निकलने लगता था और रावणतक पहुँच उसको वहीं रोक देता था।" फिर पूछा गया 'तब रामके स्पर्शपर भी ऐसा होता था क्या?' उसने कहा—'नहीं; यह इसलिये कि वह उनकी धर्मपत्नी थीं।' मुझे पूरा स्मरण है इस उत्तरसे हम सब-के-सब अवाक् रह गये थे। अस्तु—

यहाँका सामाजिक जीवन जातीयतासे ओत-प्रोत है और विशेषतया एक धर्म, एक जाति, रहन-सहनकी एकता, खान-पानकी एकता आदि यहाँ प्रोत्साहक हैं। स्त्रीजातिके लिये यहाँपर पूरा सम्मान है। देशके कोने-कोनेपर इस देशकी तथा विदेशियोंकी स्त्रियाँ यहाँपर बिना किसी इज्जत-अपहरण-के भयसे बेखटके, बेरोकटोक, जहाँ भी चाहें, स्वच्छन्दतासे दिन अथवा रात घूम-फिर सकती हैं।

इस देशके विधानका आधार भी मनुशास्त्र ही है, जिसे यहाँपर 'रथ्यमनु' कहते हैं। यह एक दिग्दर्शनमात्र है इस देश तथा भारतकी संस्कृति-समन्वयका। हम भारतीय इस प्रकार उस संस्कृतिको, जिसका हमें अभिमान है, अपने इन पड़ोसी देशोंमें सुरक्षित पा रहे हैं।

चीनी यात्रियोंकी भारतसम्बन्धी जिज्ञासा

(लेखक—श्रीसीतारामजी सहगल)

इतिहासविशेषज्ञोंने बतलाया है कि प्राचीन भारतकी ऐतिहासिक परम्पराके अध्ययनके लिये जिस प्रकार संस्कृतके भिन्नकालीन मूलग्रन्थोंका पढ़ना आवश्यक है, उसी तरह विदेशी यात्रियोंके उल्लेख भी सम्माननीय हैं। इस दिशामें चीनी यात्रियोंके इतिहाससम्बन्धी ग्रन्थ और भी उपादेय हैं। इन यात्रियोंके नाम और उनकी कृतियाँ भारतीय इतिहासकी पूरक सामग्री हैं।

यह आश्चर्यकी बात है कि इन महान् यात्रियोंकी कृतियाँ यूरोपियन विद्वानोंके अनुवादसे पूर्व विस्मृतिके गर्भमें लीन थीं। श्रीजेम्स लेग, टामस वाटर्स, सेमूल बील और सेंट जूलियाँ आदि विद्वानोंने चीनी यात्रियोंकी कृतियोंके अनुवाद किये, जिससे भारतको अपने देशका प्राचीन इतिहास समझनेमें विशेष सहायता मिली। पुरातत्त्वके विशेषज्ञ प्रो० औरल स्टाइनने अपनी महत्त्वपूर्ण सेंट्रल एशियाकी खोजोंसे इन चीनी विद्वानोंके ग्रन्थोंकी प्रामाणिकताकी हृदयसे पुष्टि की। इन चीनी विद्वानों-के ग्रन्थोंका भारतकी कौन-सी भाषामें अनुवाद हुआ है, यह एक प्रश्न है !

सबसे पहले चीनके समर्थ यात्री श्रीह्वेनत्स्वाङ्गने अपनी यात्राका वर्णन किया है, जिसमें तत्कालीन भारतकी संस्कृति-शिक्षा, राजनीति, सामाजिक नीति, कृषि तथा औद्योगिक विकासका विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह चीनी यात्री शीलभद्रका अतिभाशाली योग्य और कर्मठ शिष्य था। उसके साथी इसकी सर्वतोमुखी प्रतिभासे इतने मुग्ध हो गये थे कि उसे नालन्दा-विश्वविद्यालयमें अध्यापक-पदसे सम्मानित किया। आजकी दुनियामें जो आदर यूनिवर्सिटी प्रोफेसर—डीनका होता है, वही प्रतिष्ठा और मान उस कालमें इस चीनी यात्रीका था। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि आजकलसे शिक्षाका उस समय आदर अधिक होनेसे इसका मान भी विशिष्ट था, और एक विदेशीको ऐसे प्रतिष्ठित पदपर रखना इसकी असाधारण प्रतिभाका द्योतक है। इस प्रकार यह चीनी यात्री भारत और चीनका अप्रतिम प्रेमपात्र बना। राष्ट्रकी संस्कृति और दर्शनशास्त्रकी सम्पत्तिका प्रचार इसने आशातीत रूपमें किया।

फां ही, स्वाङ्ग तथा इत्सिंगसे पूर्व और पीछे भी कई चीनी यात्री आठवीं शताब्दीतक आते रहे। यद्यपि इनके ग्रन्थ उपर्युक्त यात्रियोंके समान विस्तृत और सामग्रीपूर्ण नहीं हैं, तो भी इतिहासके छात्रके लिये उनकी उपयोगिता अमिट है। प्रो० लिंग चि च ओ नामक सुप्रसिद्ध समाजसुधारकने इन यात्रियोंके बारेमें पर्याप्त लिखा है, जिससे मालूम होता है कि इन विद्वानोंने चीन और भारतके पारस्परिक सम्बन्धोंको कितना बौद्धिक सूत्रों-से गूँथा। उसने लिखा है—'मेरा सदा प्रयास रहा है कि मैं उन चीनी यात्रियोंको प्रकाशमें लाऊँ, जो अभीतक भारतमें अज्ञात रहे हैं और जिन्होंने भारतके साथ हमारे सम्बन्ध स्थापित करनेमें समय-समयपर विराट् यत्न किये। मेरी गवेषणाओंके अनुसार ८२ ऐसे यात्री विद्वान् हैं, जिनका ऐतिहासिकोंने अभीतक ऋण नहीं चुकाया।'

भारतीयताका अध्ययन करनेके लिये आजतक १८७ चीनी यात्री यहाँ आये, जिनमेंसे १०५ का ज्ञान हो सका है। शेष ८२ विद्वानोंके बारेमें जानना गवेषणाधीन है। इनमेंसे ३७ यात्रियोंका शरीर भारतमें आते अथवा जाते समय ही शान्त हो गया होगा, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। छः चीनी यात्रियोंके बारेमें निश्चयसे कहा जाता है कि वे भारतमें मरे। मृत्युकी बड़ी संख्याका कारण तत्कालीन जलवायु रही होगी, जिसके कारण वे यात्री अपने कार्यमें असमर्थ रहे। जो यात्री अपने प्रचारमें सफल हुए, उन्होंने प्रसङ्गसे लिखा है "मैं 'मो हो येन' के जंगलमें हूँ, जहाँ प्यासके कारण एक पग भी आगे बढ़ना असम्भव हो रहा है। मेरी मृत्यु किसी क्षण हो सकती है। इन निर्जन और घोर जंगलोंमें चारों ओर यात्रियोंको मनुष्यों और पशुओंके अस्थिपञ्जर देखनेको मिलते हैं। सामुद्रिक यात्रा अँधेरी और भयानक झंझावातोंसे पूर्ण है।" फां ही जब भारतसे लौटा, तब उसे सामुद्रिक यात्रा करनी पड़ी। रास्तेमें उसे प्रचण्ड अँधेरीका सामना करना पड़ा। नाविकने उन्हें सामान छोड़नेको कहा। इसने सब कुछ सामान छोड़कर बौद्ध साहित्यकी पुस्तकें तथा मूर्तियोंको अपने साथ बाँध लिया। इस प्रकार इस चीनी बौद्धने समुद्र, पर्वत तथा मरुस्थलके अनेक कष्टोंको झेला। उसकी ज्ञानपिपासा, धार्मिक निष्ठा, भारतीय प्रेम, विश्वास, धैर्य और साहसने उसे प्रेरणा प्रदान की और वह अपने पथपर निश्चल रहा।

कई चीनी यात्रियोंने तो अपनी यात्राओंका वर्णन स्वयं नहीं लिखा। कई यात्रियोंने लिखकर भी खो दिया। कुछ विद्वानोंकी कृतियाँ हमतक पहुँच सकी हैं। तो ये की

भी पूजा होती थी। शिलालेखोंमें भगवान् विष्णुके कई नाम मिलते हैं। भारतवर्षकी भाँति वहाँ भी राम, कृष्णकी लीलाओंका प्रचार था। शिलालेखोंमें लीलाओंका वर्णन मिलता है। गरुड़ तथा वासुकिका भी वर्णन मिलता है। कई प्रतापी राजा तो अपनेको विष्णुका अवतार मानते थे। विष्णुके साथ ही लक्ष्मीकी भी पूजा होती थी। स्त्रियाँ लक्ष्मीपूजाको अधिक महत्त्व देती थीं। लक्ष्मीकी उत्पत्तिके विषयमें चम्पानिवासियोंकी धारणा भारतीय धारणासे कुछ भिन्न थी।

इसी प्रकार ब्रह्माका भी वर्णन मिलता है। शिलालेखोंपर उनकी मूर्तियाँ तथा कई एक नाम मिले हैं। चार मुखवाली मूर्तियाँ भी मिली हैं। इन सब मूर्तियोंको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि चम्पाकी मूर्तिकला भारतीय मूर्तिकलाकी भाँति ही थी। इन त्रिदेवोंके अतिरिक्त और भी बहुत-से देवी-देवताओंकी पूजा होती थी। इनमें सूर्य, चन्द्र, वरुण, अग्नि, कुबेर तथा यमराज आदि देवता प्रमुख थे। नागों और राक्षसोंकी भी पूजा होती थी। इन सबकी मूर्तियाँ बनती थीं और उन मूर्तियोंकी विधिपूर्वक पूजा होती थी।

कई स्थानोंपर बुद्धकी मूर्तियाँ मिलती हैं और उनसे विदित होता है कि उन मूर्तियोंकी उपासना की जाती थी। राजालोग बौद्धमठ और मूर्तियाँ बनवाते थे। बुद्धकी प्रतिमाएँ भी बहुत-सी मिलती हैं।

भारतीय धर्मके अतिरिक्त शासनप्रबन्ध तथा कला-कौशलका भी प्रभाव चम्पापर पड़ा। समाज भी अछूता नहीं बचा। धर्म, समाज, राजनीति तथा कला-कौशल—सभीपर भारतीयताकी गहरी छाप लगी थी। चम्पानिवासियोंके जीवनका कोई कोना भारतवर्षके व्यापक प्रभावसे बच न सका। भारतीय भवन-निर्माणकला तथा शिल्प-कलापर भारतीयताका प्रभाव प्रत्यक्ष मिलता है। वहाँके मन्दिर तथा मूर्तियाँ भारतीय ढंगसे बनी थीं। उनकी बनावट दक्षिण और उत्तरके मन्दिरोंसे मिलती-जुलती है। बुद्धभगवान्‌की प्रतिमाओंपर गान्धारकलाका प्रभाव है। शङ्कर, विष्णु आदिकी मूर्तियोंपर बंगाल तथा दक्षिण-भारतका प्रभाव था। मन्दिरोंकी छतें उत्तरी भारतके मन्दिरोंकी भाँति थीं। दक्षिण भारतीय भवन-निर्माण-कलाकी प्रधानता चम्पामें मिलती है।

चम्पाकी शासन-व्यवस्था भी भारतीय ढंगकी-सी थी। राजा साम्राज्यका सर्वेसर्वा होता था। प्रजा राजाको ईश्वरका अवतार मानती थी। सेनामें हाथी अधिक थे। राजालोग राजनीतिके ज्ञाता तथा धर्मधुरीण होते थे। अधिकतर राजालोग मनुकी आज्ञाके अनुसार कार्य करते थे।

चम्पाकी समाज-व्यवस्था भी भारतीय ढंगकी थी। भारतवर्षकी भाँति वहाँ भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। वहाँ भी ब्राह्मणोंका स्थान सर्वोच्च था। उनका सर्वत्र विशेष आदर था। ब्रह्महत्या महापाप समझा जाता था। धर्म-कर्मके नेता ब्राह्मण ही थे। विवाहका ढंग भी बहुत कुछ भारतीय था। वंश और गोत्रका ध्यान रखा जाता था। विवाह एक धार्मिक बन्धन माना जाता था। सती-प्रथाका भी चलन था। महीने भी भारतीय थे। वहाँकी भाषा भी भारतीय संस्कृत थी। कहीं-कहीं प्राचीन चम्पाकी भाषाका प्रयोग होता था, पर प्रधानता संस्कृतको ही प्राप्त थी। राजालोग शास्त्र-पुराण तथा वेदोंके ज्ञाता होते थे। व्याकरण-ज्यौतिषके भी अच्छे विद्वान् वहाँ थे। रामायण, महाभारत तथा धर्मशास्त्रोंसे चम्पानिवासी भलीभाँति परिचित थे। इसके अतिरिक्त और भी भारतीय बातें वहाँ पायी जाती थीं।

उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट हो गया कि चम्पा (अनाम) में भारतवासियोंने जिस सभ्यता तथा संस्कृतिका प्रसार किया था, वह आज भी वर्तमान है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृतिका प्रभाव अधिक व्यापक था। इसीलिये आज भी सारा विश्व उसके सामने नतमस्तक है।

समर्थका उपदेश

हे मन ! सत्यका त्याग कभी न कर, झूठका अनुमोदन कभी मत कर। वाणीसे जो कुछ सत्य है वही बोल और जो कुछ झूठ है उसको झूठ समझकर त्याग दे।

—समर्थ रामदास

'सारे वेद जिस पदका निर्देश करते हैं, जिसको लक्ष्य करके सारी तपस्या और ब्रह्मचर्य अनुष्ठित होते हैं, उस परम तत्त्वको संक्षेपमें कहता हूँ—वह 'ॐकार' है। यही अक्षर ब्रह्म है, यही परम अक्षर है; इस अक्षरको जान लेनेपर जिसकी जो इच्छा होगी, वह उसीको पा जायगा।' अनिर्वचनीय ब्रह्मका वाचक अक्षर ॐकार प्रत्येक वेदमन्त्रके आदि और अन्तमें उच्चारित और अङ्कित होकर वैदिक ऋषियोंके ब्रह्मानुभव और ब्रह्मदर्शनमें सहायक हुआ है। सृष्टिके किसी अज्ञात शुभारम्भके दिन स्रष्टा ब्रह्माके कण्ठसे, अनन्तकी प्रेरणासे यह प्रणवध्वनि उद्गीथ हुई थी। उसी अज्ञात अतीत कालसे वेदमें और धर्ममें नाद-ब्रह्मकी रूपाभिव्यक्ति प्रणव समादृत होता आ रहा है।

ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

'ॐकार' और 'अथ' शब्द मङ्गलवाचक हैं। ये दोनों शब्द सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माके कण्ठसे विनिर्गत हुए थे।'

वैदिक साधनाके प्रधान अवलम्बन, विश्वातीतके अत्यन्त प्रचुर प्रकाशक भगवान् सूर्यनारायण हैं। प्रतिदिन सन्ध्योपासनामें—क्या वैदिक, क्या तान्त्रिक—सर्वत्र उस सूर्यमण्डलको ही अवलम्बन करके उपस्थान, ध्यान, तर्पण, अर्घ्यदान आदि अनुष्ठित होते हैं। सूर्यको ही चर-अचर समस्त जगत्की आत्माके रूपमें स्वीकार किया जाता है। और भी देखा जाता है कि—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'आत्मघाती लोग मृत्युके बाद अज्ञान और अन्धकारसे परिपूर्ण, सूर्यके प्रकाशसे हीन, असूर्य नामक लोकको गमन करते हैं।' इससे यह पता लगता है कि वेदानुगामी साधुजन सूर्यमण्डलको किस श्रद्धाके साथ परमात्माके अभिव्यञ्जकरूपमें देखते थे। इस सूर्यको भी प्रणवरूपमें स्वीकार किया गया है।

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः।
इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति॥
(छान्दोग्य० १।५।१)

ऋक्, यजु और साम—तीन वेद; भूः, भुवः और स्वः—तीन लोक; गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण—तीन अग्नि; यही क्यों? ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—जो कुछ हिंदू-धर्ममें है, यह ॐकार उन सबका ज्ञान करा देता है।

ओमित्येतत् त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः।
विष्णुर्ब्रह्मा हरश्चैव ऋक्सामानि यजूंषि च॥
(मार्कण्डेयपुराण)

कोई-कोई पण्डित यज्ञवेदी बनाकर उसके यज्ञकुण्डकी सप्तजिह्व यज्ञाग्निको वैदिकधर्मका प्रतीक मानते हैं। इस प्रकारका कोई चिह्न प्राचीन साधुजन व्यवहार करते हों, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतएव इसका यहाँ विचार नहीं किया जाता।

अन्यान्य समस्त चिह्नों या प्रतीकोंपर विचार करनेके पहले हिंदूमात्रके लिये स्वीकृत नाना प्रकारके शिलाचक्र, शालग्राम तथा शिवलिङ्गके सम्बन्धमें अवहित होना आवश्यक है। छोटी-से-छोटी गण्डशिला (शालग्राम) में भी महत्तम सर्वव्यापक जगदीश्वरकी आराधना करनेकी रीति अतीतकालमें किस प्रकार किसकी प्रेरणासे प्रवर्तित हुई, यह पण्डितोंके लिये गवेषणाका विषय है। शिवलिङ्ग किस प्रकार योनिपीठसे संयुक्त होकर विश्वजनक-जननीके प्रतीकके रूपमें केवल भारतमें ही नहीं, बल्कि इससे बाहर भी चिरकाल पूर्वसे समादृत होता आया है—यह बात विद्वत्-समाजमें आज किसीको भी अविदित नहीं है।

पद्मपुराणमें लिखा है—

सौराश्च शैवगाणेशाः वैष्णवाः शक्तिपूजकाः।
मामेव ते प्रपद्यन्ते वर्षाम्भः सागरं यथा॥
एकोऽहं पञ्चधा भिन्नः क्रीडार्थं भुवने किल॥

भक्तवत्सल भगवान् कहते हैं कि 'संसारमें लीलाके लिये एक मैं ही पञ्चधा विभक्त हो रहा हूँ। वर्षाका पानी जिस प्रकार चारों ओरसे बहते-बहते एक समुद्रमें ही जाकर गिरता है, उसी प्रकार सौर, शैव, गाणपत्य, वैष्णव और शाक्त—सभीको आकर मुझमें ही आश्रय लेना पड़ता है।'

वेदानुगामी इन पञ्च उपासकोंमें प्रत्येकका एक विशिष्ट चिह्न या प्रतीक है। एक समवाय-परामर्शपूर्वक किसी चिह्नको विशिष्ट योग्यता दी गयी है, अथवा उसे अर्थयुक्त करके ग्रहण किया गया है—ऐसी भावना करना सत्यका अपलाप करना है।

ईसामसीहके जन्मके पूर्व, मूसाके जन्मके पूर्व फिनलैंडके निवासियोंको क्रॉस-चिह्न परिचित था। ईसाई-धर्मके प्रचारसे ही उसका उद्भव हुआ है, ऐसा समझना इतिहासकी मर्यादाके बाहरकी बात है। एक गोलाकार वृत्तरूप चिह्नको क्या कोई अपनी जातिका निजस्व मानकर दावा कर सकता

चरितावली, त्वां चिनका भिन्न देशोंका वर्णन और फाँ युअङ्गकी यात्राओंके उल्लेख ही मिलते हैं। मूलग्रन्थ प्राप्य नहीं हैं। ह्वाई चोङ्गकी भारतके पाँच प्रदेशोंमें यात्राका वर्णन कई शताब्दियोंतक लुप्त रहा। हालमें इस ग्रन्थका उद्धार ं नु प्रदेशमें हुआ। कुछ हिस्सा जो मिला है, उसमें छः हजार शब्द हैं। श्री लो त्सेन युने इसे सम्पादित किया और यह महार्घ्य ग्रन्थ प्रकाशमें लाया गया है। जिन ग्रन्थोंकी आंशिक रक्षा हो सकी है, उनमेंसे वांग हसिंचेहका दस जिल्दोंमें हर्षवर्धनके साम्राज्यका वर्णन है। यह पूरा ग्रन्थ कहीं भी प्राप्त नहीं हो सका। इसके कुछ खण्ड तो शीद्वारा सम्पादित कथा-ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं।

प्राचीन कालमें बुद्धमतके विचारतत्त्वोंने इन दो देशोंको एक सूत्रमें जोड़ा था। इसलिये विद्वान् चीनी यात्री विद्या-सम्बन्धी बातोंमें ही लगे रहते थे। भारतीय इतिहासकी दूसरी बातोंमें उन्हें कम रुचि रहती थी। अतएव उनके द्वारा लिखी पुस्तकोंमें भारतकी सर्वाङ्गीण ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। उदाहरणार्थ हुई चिओंकी 'प्रमुख बौद्धोंकी जीवनियाँ' नामक कृतिमें ऐतिहासिक सामग्रीके प्रासङ्गिक उल्लेख मिलते हैं, जो अपना महत्त्व अवश्य रखते हैं।

चीनी यात्रियोंके अतिरिक्त वहाँके इतिहासकार तु मचीने भी एक बृहद् इतिहास लिखा है, जिसमें उत्तर, पश्चिम और पड़ोसी राष्ट्रोंका इतिहास लिखा गया है। इसी मार्गपर चलते हुए उत्तरकालीन ऐतिहासिकोंने भी भारतके सम्बन्धमें लिखा है। इनमें पां कु तथा फां येने अपने-अपने इतिहास-ग्रन्थोंमें भारतके बारेमें लिखा है। वां सिउद्वारा लिखित वाईवंश-के इतिहासमें भारतका प्रासंगिक वर्णन है। ल्यु हुद्वारा लिखित तांगवंशके एवं तो कैन तोद्वारा लिखित सुङ्ग-वंशके इतिहासमें सामग्री पायी जाती है। खिन तन सु तथा सुङ्गयी नामक लेखकोंमें क्रमशः कास्मीर और भारतके बारेमें ऐतिहासिक सामग्री मिलती है।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त प्राचीन चीन राष्ट्रपर लिखी गयी पुस्तकोंमें भी भारतीय रीति-रिवाजपर प्रसङ्गतः प्रकाश डाला गया है। तु युद्वारा लिखित ताङ्ग-वंशके इतिहास तथा वंग चिन योके एक हजार जिल्दोंमें लिखे हुए इतिहासमें भारतीय इतिहासकी कुछ आंशिक सामग्री मिलती है। यदि इन ग्रन्थोंपर अनुसन्धान किया जाय तो अपने प्राचीन इतिहासपर अधिक प्रकाश पड़ सकता है। भारतीय दर्शन और विशेषतः बौद्ध-साहित्यके ज्ञानके लिये यह खोज महत्त्वपूर्ण होगी।

हिंदू-संस्कृति और प्रतीक

(लेखक—श्रीप्राणकिशोरजी गोस्वामी)

भारतीय हिंदू-धर्मने प्राचीनतामें ऐतिहासिकोंको विभ्रान्त कर रखा है। लिखित काष्ठ-लिपि, ताम्र-लिपि और प्रस्तर-लिपिसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरातत्त्वके द्वारा संगृहीत तथ्य दिन-प्रतिदिन हिंदू-धर्मके अस्तित्वके विषयमें सुदूर अतीत कालकी ओर निर्देश करते हैं। शास्त्रोंने धर्मको सनातन और शाश्वत कहकर सन्तोष प्राप्त किया है। अनादि सनातन वेदमूलक हिंदू-धर्मके द्वारा, विभिन्न समाजोंके द्वारा, विभिन्न कालोंमें विभिन्न रूपसे परिगृहीत आचार और निष्ठाने इस धर्मके ऊपर विचित्र चिह्न अङ्कित किये हैं। धर्म जीवन-सत्ताका अत्यन्त निगूढ़ रहस्य है। उसको बाहर अभिव्यक्त करनेकी प्रचेष्टा बहुत प्राचीन कालसे चल रही है। अन्य व्यक्ति या समाजके द्वारा परिचिन्तित धर्मसे अपनी विशेषताको बनाये रखनेके लिये अनेकों उपाय ग्रहण किये गये हैं। परम तत्त्व, पवित्र ज्ञान, अखण्ड आनन्द, विराट् सत्ताको विचित्र धारासे प्रकाशित करनेकी चेष्टा सभी समाजोंमें निर्बाध-रूपसे चलती आ रही है। उनके ज्ञान, कर्म अथवा उपासनाकी क्रम-परम्परामें उसी चिर-अनुसन्धेय, आकाङ्क्षणीय और परम सुन्दरका अनन्त रूपविलास आविष्कृत हुआ है।

प्रतीक या चिह्नोंके द्वारा अनन्तको सीमामें प्रकाशित करनेका प्रयास किया जाता है। असीम, अनिर्वचनीय, अव्यक्तको ससीम, वर्णनीय तथा अभिव्यक्त करनेके लिये कितने ही सङ्केतोंकी सृष्टि हुई है। ये विशिष्ट चिह्न या सङ्केत मानव-मनके अनभिव्यक्त भावकी व्यञ्जना करते हैं। विराट समाजके सभी स्तरोंके मानव-मनमें सुपवित्र सुनिर्दिष्ट भाव-प्रेरणा लानेके लिये सर्वकालमें चिह्नका व्यवहार होता आया है। भावोंके समाहार तथा गोष्ठीकी प्रीतिके द्वारा विशेष-विशेष चिह्नों या प्रतीकोंने सुपुष्ट भावकी अभिव्यञ्जनामें अजेय गौरव प्राप्त किया है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ० १। २। १५-१६)

जो कि हिंदू-धर्मके अनुयायी हों। यदि अनुयायी न हों तो कम-से-कम विरोधी तो न हों। जो हिंदू-धर्मको कानूनमें लाना चाहते हैं, उन्हें तो कभी वोट नहीं देना चाहिये।

इसी प्रकार गायोंकी रक्षा करना हिंदुओंका परमधर्म है। यह भारत अब अंग्रेजोंके हाथसे मुक्त हो गया, मुसल्मानोंने अपना पाकिस्तान अलग बना ही लिया; अब तो इसमें गायका वध किया जाना कतई बंद हो जाना चाहिये। यदि गो-वध सर्वथा बंद नहीं होगा और बूढ़ी तथा बेकार गायोंको मारनेकी छूट रहेगी तो जैसे वर्तमानमें छोटी बछिया और जवान दूधवाली गायें मारी जा रही हैं, वही सिलसिला जारी रह सकता है। क्योंकि घूस देकर कसाई उपयोगीको भी अनुपयोगी पास करा ले सकते हैं और इसपर कोई विरोध करेगा तो उसे सफलता मिलनी कठिन है। इससे केवल दुनिया-की आँखमें धूल झोंकना यानी धोखा देना होगा कि हमने उपयोगी गायोंका वध बंद कर दिया। अतः इसके लिये भी हिंदूमात्रको सरकारसे प्रार्थना करनी चाहिये कि गो-वध सर्वथा बंद कर दें। तथा अगले चुनावमें उन्हींको वोट देना चाहिये, जो सर्वथा गो-वध बंद करनेके समर्थक हों; जो गो-वधके लिये छूट देनेवाले हैं, उन्हें कभी वोट न दें। सरकारसे हमारी भी प्रार्थना है कि सरकार गम्भीरतासे सोचकर समस्त भारतमें गो-वधको सर्वथा बंद कर देनेका कानून बनानेकी कृपा करे। यदि स्वराज्य होनेपर कांग्रेस-सरकारसे भी हम ऐसी आशा न करें तो फिर किससे करें? स्वराज्य मिलनेके पूर्व नेताओंने यह विश्वास भी दिलाया था कि स्वराज्य होनेके बाद गो-वध कतई बंद किया जाना सहज हो जायगा; अब इस बातको काममें लाना कांग्रेस-सरकारका कर्तव्य है।

रामराज्यका स्वरूप

(लेखक—श्रीरामकृष्णजी पोद्दार)

रामराज्य

राम राज राजत सकल धरम निरत नर-नारि।
राग न रोष न दोष दुख सुलभ पदारथ चारि॥
राम राज संतोष सुख घर बन सकल सुपास।
तरु सुरतरु सुरधेनु महि अभिमत भोग बिलास॥
खेती बनि बिद्या बनिज सेवा सिलिप सुकाज।
तुलसी सुरतरु सरिस सब सुफल राम कें राज॥
दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥
कोपें सोच न पोचकर करिअ निहोर न काज।
तुलसी परमिति प्रीतिकी रीति राम कें राज॥
(दोहावली)

भारतवर्षमें अनेकानेक राज्य प्रतिष्ठापित हुए, जिनपर अनेकों प्रतापशाली तथा धर्मसम्पन्न राजाओंने शासन किया। नहुप, ययाति, शिबि, सत्यवादी हरिश्चन्द्र-जैसे प्रतापी सम्राट् भारतमें हुए। महाराज दशरथ-जैसे सच्चे भगवत्-प्रेमी तथा सत्यप्रिय सम्राट् भी भारतमें हुए—जिन्होंने शरीरका त्याग कर दिया, किंतु सत्यको नहीं छोड़ा। इन सबका हम श्रद्धा-सम्मानके साथ स्मरण करते हैं। परंतु हम इनके राज्योंको नहुपराज्य, शिबिराज्य, हरिश्चन्द्रराज्य अथवा दशरथराज्य कहकर स्मरण नहीं करते; पर हम 'रामका राज्य' अथवा 'रामराज्य' कहकर स्मरण करते हैं, राम और उनके राज्य—दोनोंके प्रति सप्रेम श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। इसका मुख्य कारण क्या है?

श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम क्यों?

वास्तवमें परब्रह्म परमात्माके रामस्वरूपको 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' क्यों कहते हैं, इसे कम लोग जानते हैं। श्रीरामने सब प्रकारकी सर्वोत्तम मर्यादाएँ प्रतिष्ठित की थीं। आपने सम्राट होनेके पूर्व अपने निर्मल पूत चरित्रोंद्वारा व्यष्टिकी सर्वोत्तम मर्यादाओंको स्वयं पालन करके दिखलाया। एक व्यक्ति समाज, परिवार आदिके साथ कैसा व्यवहार करे, एक व्यक्तिको जीवनयात्रा चलानेके लिये तथा जीवनके महान् उद्देश्य परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये किस प्रकारके गुणोंकी, किस प्रकारके त्याग-तपकी आवश्यकता होती है—इसका दिग्दर्शन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपनी लीलाओंद्वारा मर्यादाएँ प्रतिष्ठापित करके प्रत्यक्ष करा दिया।

राज्यारोहणके पश्चात् उन्होंने जो सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था, अर्थनीति, धर्मनीति, समाजनीति तथा राजनीतिकी मर्यादाएँ स्थापित कीं, उन सबके समूहका नाम ही 'रामराज्य' है। उन्होंने व्यष्टि तथा समष्टि—दोनोंके लिये ही रची हुई मर्यादाओंका अपने जीवनमें तथा राज्यके द्वारा भलीभाँति परिपालन किया।

रामराज्य क्या और कैसा?

अब प्रश्न उठता है 'रामराज्य क्या और कैसा था?' तो इसका उत्तर यह है—रामराज्यमें सभी वर्गोंके समस्त नर-नारी सच्चरित्र, वर्णाश्रम-धर्म-परिपालक तथा स्व-कर्तव्य-

है ? वह समस्त जगत्‌का सुपरिचित चिह्न है। एक बिन्दुरूप चिह्न—वह भी किसी विशिष्ट सम्प्रदायका नहीं है, वह सभी मनुष्योंका है। बहुतेरे लोग समझते हैं कि स्वस्तिक चिह्नको बौद्धोंने ही भारतसे ले जाकर समस्त संसारमें फैलाया है। वस्तुतः प्रमाण मिलता है कि बौद्धधर्मके आविर्भावके पूर्व ही बेबिलन, मिस्र आदि देशोंमें लोग इस प्रकारके चिह्नसे परिचित थे।

सौर-सम्प्रदायका धर्मचिह्न सूर्यमण्डल है। यह प्राचीनतम वैदिक ऋषियोंके सविता देवतासे भिन्न नहीं है। सूर्यमण्डल द्वादश-कलायुक्त है। ऋतु-परिवर्तनके साथ सूर्यका वर्णपरिवर्तन होता है। जैसे—

वसन्ते कपिलः सूर्यो ग्रीष्मे काञ्चनसप्रभः।
श्वेतो वर्षासु वर्णेन पाण्डरः शरदि प्रभुः॥

'सूर्य वसन्तकालमें कपिलवर्ण, ग्रीष्ममें स्वर्णोज्ज्वल, वर्षामें शुभ्र, शरत्कालमें पाण्डुर, हेमन्तमें ताम्रवर्ण तथा शीतकालमें रक्तवर्ण होते हैं।'

जेन्दावस्ताका अनुगमन करनेवाले जरदुस्तके द्वारा प्रवर्तित पारसी लोगोंके धर्मचिह्नमें अग्निकुण्ड, अग्निस्थली, अहुर मज्दा (पक्ष विस्तृतरूप) और सूर्यमण्डलको स्थान मिला है। इससे समझमें आ सकता है कि इन्दो-एरियन (भारतीय आर्य) लोगोंके प्राचीनतम इतिहासके साथ अग्नि और सूर्य-चिह्न पृथ्वीके एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तको अतिक्रम कर चुके थे। ऐतिहासिक समालोचनासे पता चलता है कि अनेकों चिह्न या प्रतीक देश या समाजकी सीमाका उल्लङ्घन कर दूर-दूरतक फैल गये हैं।

किसी समय शैवलोग परिख्यात, पाशुपत, कालदमन और कपाली नामसे चार श्रेणियोंमें विभक्त थे। पीछे उनमें अनेकों प्रकारके सम्प्रदाय-भेद हो गये।

आद्यं शैवं परिख्यातमन्यत् पाशुपतं मुने।
तृतीयं कालवदनं चतुर्थं च कपालिनम्॥
(विद्वन्मोदतरङ्गिणी)

शिवका आयुध त्रिशूल सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके प्रभावसे निर्मुक्तिका सूचक है। वह धूम्रवर्ण है और शैवोंद्वारा विशेष समादृत चिह्न है। शिवालयके ऊपर इस प्रकारके चिह्न देखनेमें आते हैं। कोई-कोई शैव त्रिशूल-चिह्नाङ्कित शरीरमें शङ्करकी उपासना श्रेष्ठ समझते हैं और यथासमय उस चिह्नको धारण करते हैं। शैव साधु लोहेके बने त्रिशूलको दण्डके समान साथ लेकर चलते हैं। मोहन-जो-दड़ोसे प्राचीनतम युगका जो कुछ पता मिलता है, उसमें पशुपतिका चिह्न और वृषचिह्न भी प्राप्त होते हैं। इस अत्यन्त प्राचीन कालमें भी वृषभको धर्मके प्रतीकरूपमें ग्रहण करते थे, यह सिद्ध होता है। वृषरूपी धर्मके चार पैर हैं—तपस्या, शौच, दया और सत्य।

पृथ्वीकी प्रतीक गाय है। पृथुने गो-दोहनके द्वारा समस्त पार्थिव सम्पत्‌को प्राप्तकर प्रजाकी दुर्भिक्षसे रक्षा की थी। गणाधिपति गणनाथ या गणेशने वेदानुगामी सभी सम्प्रदायोंके ऊपर अपना प्रभाव डाला था। प्राचीन कालमें एक विशिष्ट समाज प्रधानतः इस प्रसिद्ध वैदिक देवता गणपतिकी ही उपासना करता था। उनका पृथक् अस्तित्व इस समय विशेषरूपसे परिलक्षित न होनेपर भी हिंदूमात्रके द्वारा किसी देव-देवीकी पूजा होनेके पूर्व गण-देवताकी पूजा धर्मतः अनिवार्य है। इसीके द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि गणपतिका प्रभाव कितना है। भारतके महाराष्ट्र प्रदेशमें गणेशोत्सव एक प्रधान पर्व है। तन्त्रसारमें गणपतिके यन्त्रको सिन्दूर-वर्णसे अङ्कित करके उसमें गणेशजीकी पूजा करनेका विधान है। यह यन्त्र गणेशका प्रतीक है। गणेशने अपने गणोंके साथ एक परिवार बनाया है। सबके रूप एक प्रकारके हैं। उनकी शक्तियाँ भी संख्यामें अनुरूप ही हैं। वे रक्तमाला, रक्तवर्ण और रक्त आभूषण धारण करते हैं।

जो चिह्न हिंदू-धर्ममें अधिक परिमाणमें प्रचलित और परिगृहीत हैं, उनमें वैष्णवोंद्वारा समादृत पाञ्चजन्य भी एक है। पाञ्चजन्य शङ्ख भगवान् विष्णुका एक आयुध है। भागवतमें लिखा है कि प्रह्लादके भ्राता संह्लादकी पत्नी कृतुके गर्भसे पाञ्चजन्य नामक दैत्यने जन्म ग्रहण किया था। वह समुद्रकी तिमि मछलीके आकारमें निवास करता था। उसका वध हो जानेके उपरान्त उसीकी अस्थिसे पाञ्चजन्य शङ्खकी उत्पत्ति हुई। इसे वेदमय तथा जलतत्त्वका प्रतीक कहा गया है। यह शङ्ख समस्त भारतमें मङ्गलचिह्नके रूपमें तथा इसकी ध्वनि पवित्र प्रणवध्वनिके समान आदृत होती है।

अस्थिभिः शङ्खचूडस्य शङ्खजातिर्बभूव ह।
नानाप्रकाररूपा च शश्वत्पूता सुरार्चने॥

शङ्खचूड़ दानवकी अस्थिद्वारा नाना जातिके शङ्ख उत्पन्न हुए—ऐसी कथा ब्रह्मवैवर्तपुराणमें मिलती है। शङ्ख वामावर्त और दक्षिणावर्तभेदसे दो प्रकारके होते हैं। पाञ्चजन्य दक्षिणावर्त्त है। इसके गुणोंका विचारकर ब्राह्मणादि श्रेणीभेद

किया गया है। शङ्खके अस्थि होनेपर भी, उसमें जल लेकर भगवान्‌की आरती करने तथा उस जलसे पवित्र होनेका भी विधान किया गया है। दक्षिणावर्त शङ्ख महामूल्यवान् रत्न और सौभाग्यका प्रतीक माना जाता है। इस शङ्खचिह्नका भगवान् विष्णुके चरणतलमें ध्यान किया जाता है।

विष्णुके चक्रसुदर्शनने अन्यान्य चिह्नोंमें विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। प्रखर दीप्तिमन्त मार्तण्डको विश्वकर्मा अपने तेज यन्त्रमें डालकर उसकी प्रखरताको शान्त कर रहे थे। उससे एक तेज निकला। कहा जाता है कि उसीसे विष्णुका चक्र, शिवका त्रिशूल, कुबेरकी शिविका, यमका दण्ड, कार्तिकेयकी शक्ति तथा अन्यान्य देवताओंके आयुध निर्मित हुए। मार्कण्डेय-पुराणके वाक्य इस विषयमें विचारणीय हैं—

शातितं चास्य यत्तेजस्तेन चक्रं विनिर्मितम्।
विष्णोः शूलं च शर्वस्य शिबिका धनदस्य च॥
दण्डं प्रेतपतेः शक्तिर्देवसेनापतेस्तथा।
अन्येषाञ्चैव देवानामायुधानि स विश्वकृत्॥
चकार तेजसा भानोर्भासुराण्यरिशान्तये॥

सुदर्शन सहस्र अरोंसे युक्त होता है। साधारणतः उसे केशव आदि द्वादशमूर्ति विष्णुके प्रतीकके रूपमें द्वादश अरोंसे युक्त माना जाता है। उसमें मनस्तत्त्वका चिन्तन किया जाता है। भागवतमें इसे तेजस्तत्त्व कहा गया है। इसके मध्यस्थलमें नरसिंहमूर्ति अथवा विश्वरूप भगवान्‌का न्यास करनेका विधान है। भगवान् इस चक्रको दक्षिण हस्तमें धारण करते हैं। और उनके दक्षिण पदतलमें चिह्नरूपमें इसका उल्लेख मिलता है। विष्णुमन्दिरके ऊपर यह चिह्न व्यवहृत होता है। वैष्णवलोग दक्षिण बाहुमूलमें इस चिह्नको बड़े आदरके साथ अङ्कित करते हैं। कोई-कोई तप्तमुद्रा धारण करके देहको चक्राङ्कित करते हैं।

सौवर्णं राजतं ताम्रं कांस्यमायसमेव वा।
चक्रं कृत्वा तु मेधावी धारयेत विचक्षणः॥

(*नवप्रश्न पाञ्चरात्र*)

विष्णुकी प्रिय गदाका नाम कौमोदकी है। ओज और बलके सूचक मुख्य तत्त्व गदाको 'आयुधेश्वरी' नाम दिया गया है। दानव-वधमें इसका प्रयोग होता है। इस गदा-चिह्नको वैष्णवगण ललाटमें धारण करते हैं।

धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते।

—इस वाक्यसे भगवान्‌के कर-किसलयद्वारा संलालित लीला-कमलका रहस्य जाना जाता है। साधकके जीवनका निगूढ़ रहस्य भी इसी पद्ममें अन्तर्निहित है। योगशास्त्रके अनुसार मानव-देहमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रार प्रभृति चतुर्दल, षट्दल, दशदल, द्वादशदल, षोडशदल, द्विदल तथा सहस्रदल पद्म हैं। जीवनकी इच्छा, ज्ञान, क्रिया, काम और प्रेम—सभी इस पद्मके कोषमें अवस्थित हैं। साधनाके जीवनमें इस पद्मका सम्बन्ध अविच्छेद है, यह कहें तो अत्युक्ति न होगी। हिंदूके धर्म-कर्मके अनुष्ठानमें, मण्डलादिकी रचनामें, चित्रमें, शिल्पमें तथा अर्चनादिमें सर्वत्र किसी-न-किसी रूपमें पद्मको ग्रहण किया गया है। सूर्यके साथ पद्मका जैसा प्रेम-सम्बन्ध है, सविताके उपासक हिंदूका भी कमलके साथ भी वैसा ही सम्बन्ध होता है। विष्णुके लिये श्वेत पद्म तथा शक्तिके लिये रक्तपद्मका व्यवहार होता है। श्रीरामचन्द्रजीकी देवीपूजामें अष्टोत्तरशत नीलकमलकी ही प्रशंसा की गयी है।

श्रीरामोपासक वैष्णव धनुष और बाणके चिह्नको विशेष प्राधान्य प्रदान करते हैं—

यो वै नित्यं धनुर्बाणाङ्कितो भवति स पाप्मानं तरति स संसारं तरति स भगवदाश्रितो भवति स भगवद्रूपो भवति।

(श्रीरामचन्द्र परमवैदिक)

श्रीरामचरितमानसमें भी आया है—

रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ॥

गोपीचन्दनके द्वारा धनुष और दो बाणोंका चिह्न शरीरमें अङ्कित करना रामभक्तोंकी नित्यक्रियाका अङ्ग है।

गौड़ीय वैष्णवलोग महाप्रभु श्रीगौराङ्गके कीर्तनमें एक चिह्न धारण करते हैं, उसका नाम 'खुन्ती' है। कुछ लोग इस खुन्तीको हुसेनशाह बादशाहके समयका दिया हुआ-हाथ-पञ्जा या फरमानका प्रतीक समझते हैं; परंतु इस चिह्नको वैष्णवलोग विशेष आदर देते आ रहे हैं। खुन्तीके अनुरूप चिह्न कभी-कभी मुसल्मान फकीर या दरवेश लोगोंके हाथोंमें भी देखा जाता है। यह चिह्न कहींसे भी आया हो, पर अब तो बंगालियोंका अपना चिह्न बन गया है।

स्वस्तिक चिह्न विश्वके एक छोरसे दूसरे छोरतक अनेकों जातियोंके द्वारा अभिनन्दित हुआ है। यह वस्तुतः भारतीय है और इसे भारतीय मानकर ही इसका भगवान्‌के चरणतलमें ध्यान करते हैं। स्वस्तिक मङ्गलचिह्न है, विभिन्न सम्प्रदायोंमें विभिन्न प्रकारोंसे अङ्कित होता है। मूलनीति एक ही है। सम्भवतः यह सूर्यकी गतिका निर्धारण करनेवाला हो। इस दृश्यमान जगत्‌में विराट,

ज्योति, सत्य, मङ्गल तथा सुन्दरकी धारणा करनेका अवलम्बन सूर्य और चन्द्रके समान दूसरा कौन होगा ? हिंदुओंने सूर्य-मण्डलको प्रधान माना है और मुसल्मानोंने चन्द्रमाको प्रधानता दी है। स्वस्तिवाचन हुए बिना हिंदू-धर्मका कोई भी कर्म अनुष्ठित नहीं होता। सबके पहले स्वस्तिवाचन आवश्यक है। गृह-द्वार, मङ्गलघट—यहाँतक कि व्यवसायीकी लोहेकी तिजूरीतक भी स्वस्तिक-चिह्नसे चिह्नित होती है। किस प्रकार-से किस कालमें यह चिह्न हिंदू-धर्ममें अङ्गाङ्गिभावसे गृहीत हुआ है, यह बात रहस्यमें छिपी है। बारहवीं शताब्दीमें हेम-चन्द्रने कहा है कि जैनियोंके द्वारा स्वीकृत चौबीस चिह्नोंमें स्वस्तिक एक प्रधान चिह्न है। जैसे—

> वृषो गजोऽश्वः प्लवगः क्रौञ्चाब्जं स्वस्तिकं शशी।
> मकरः श्रीवत्सः खड्गी महिषः शूकरस्तथा॥
> श्येनो वज्रं मृगच्छागौ नन्दावर्तो घटोऽपि च।
> कूर्मो नीलोत्पलं शङ्खं फणी सिंहोऽर्हतां ध्वजाः॥

हिंदू-धर्मके प्रभावसे परिवर्द्धमान जैनोंके सर्वविदित आठ मङ्गल-चिह्नोंका उल्लेख यहाँ अवश्य ही अप्रासङ्गिक नहीं होगा—जैसे (१) मत्स्ययुगलम्, (२) नन्दावर्त्त, (३) भद्रासन, (४) कुम्भ, (५) श्रीवत्स, (६) दर्पण, (७) सम्पुट, (८) स्वस्तिक। पुराणोंमें प्राचीन कालसे ही बुद्धदेव भगवान्के एक अवतार माने गये हैं। वेदविरोधी कहकर बारंबार प्रतिहत होनेपर भी इस मतने सारे भारतके धर्मके ऊपर अपना प्रभाव डाला था, यह बात सभीको माननी ही पड़ती है। बौद्ध विहारोंमें स्तूप, बुद्धमन्दिरोंमें धर्मचिह्न, त्रिरत्न तथा स्वस्तिक इनके विशेष चिह्न हैं। बुद्धदेवके पदचिह्न-के नामपर भी बहुतसे चिह्न प्रचलित हैं।

भारतमें उत्पन्न, हिंदू-धर्मके ही एक विशेष रूप कबीरपन्थ-के साधुलोग शुभ्र ध्वजाको अपनी पवित्रताका सूचक मानते हैं। उनकी यह पताका समाधि-स्थान और मठोंके ऊपर फह-राया करती है। उनकी तिलकरेखा शुभ्र होती है। ग्रन्थादिमें श्रीसत्यनाम—यह चिह्न व्यवहृत होता है।

भारतीय जीवनके उच्छ्वलित आवेगने सिख-गुरुओंकी शिक्षाके द्वारा हिंदू-धर्मको पुष्ट बनाया है, इसे कौन नहीं स्वीकार करेगा ? उनकी स्वाधीनताकी आकाङ्क्षा, कर्मप्रवणता, आलस्यहीनता, त्याग तथा अनुगमन (अनुशासन)के आ-दर्श चिह्न चक्र, खाँडा तथा कृपाण—इन तीन अस्त्रोंके समन्वयरूप हैं।

दशनामी संन्यासी, जो आचार्य शङ्करके निर्देशानुसार जीवन-यापन करते हैं, गेरुआ वस्त्र धारण करते, सिर मुड़ाये रखते या जटा बढ़ाये रहते हैं तथा दण्डादि धारण करके त्यागमय जीवन बिताते हैं। इन लोगोंमें कहीं-कहीं गेरुआ रंगकी पताकामें रक्तवर्णका ॐकार लिखा हुआ देखा जाता है। प्रणवको छोड़कर अन्य कोई चिह्न ये व्यवहारमें लाते हों, यह ज्ञात नहीं। उदासी सम्प्रदाय अपने लाल झंडेके ऊपर मोर-पङ्खका व्यवहार करता है, ऐसा देखा जाता है।

भारतीय तत्त्वविद्यासमिति Theosophical Society ने गोलाकार वृत्तसे वेष्टित सर्पके बीच षट्कोणके भीतर स्वस्तिकका चिह्न अपनी विशेषताको प्रकट करनेके लिये स्वीकार किया है।

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके चरणतल और करतलमें जिन चिह्नोंका श्रीकृष्ण-भक्तगण स्मरण करते हैं, उनका उल्लेख किये बिना हिंदुओंके अर्थयुक्त चिह्नविशेषका वर्णन अधूरा रह जायगा। पद्मपुराणमें सोलह चिह्न कहे गये हैं, वाराह-पुराणमें उल्लिखित चिह्नोंको मिलाकर यह संख्या उन्नीस होती है। (कहीं-कहीं ३२, ६४ और १०८ चरणचिह्नोंका उल्लेख मिलता है।) स्कन्दपुराणमें विष्णुके छः पद-चिह्नोंका उल्लेख आता है। (१) चक्र-चिह्न—भक्तोंके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सररूप षड्रिपुओंके विनाशके लिये चिन्तनीय हैं, (२) पद्म—ध्यान करनेवालेके मन-भ्रमरको लुब्ध करता है, (३) अङ्कुश—भक्तके मदमत्त हस्तीके समान दुर्दान्त मनको वशमें करता है, (४) यव-चिह्न भोग और सम्पद्का प्रतीक है, (५) वज्र, (६) ध्वजा, (७) छत्र, (८) स्वस्तिक, (९) जम्बूफल, (१०) अष्टकोण, (११) ऊर्ध्वरेखा—ये भगवान्के दक्षिण चरणके चिह्न हैं। वाम चरणमें क्रमशः—(१) सर्वविद्याप्रकाशक शङ्ख, (२) आकाशमण्डल, (३) धनुष, (४) गोष्पद, (५) त्रिकोण, (६) कलश, (७) अर्द्धचन्द्र तथा (८) मत्स्यके चिह्नका ध्यान करना चाहिये।

श्रीकृष्णके समान श्रीराधारानीके चरणतलमें भी भक्तगण उन्नीस चिह्नोंका चिन्तन करते हैं—जैसे यव, चक्र, छत्र, वलय, ऊर्ध्वरेखा, कमल, ध्वजा, पताका, लता, पुष्प, अङ्कुश, अर्द्धचन्द्र, शङ्ख, गदा, वेदी, शक्ति, पर्वत, रथ और मत्स्य। हिंदू-धर्मके विभिन्न सम्प्रदाय विचित्र पुण्ड्र धारण करते हैं। पुण्ड्ररहित देवपूजा, होम, तर्पण-दान, ध्यानको शास्त्रमें विफल बतलाया है। पुण्ड्र जातीय और धार्मिक चिह्न है। वैदेशिक सभ्यताके प्रभावसे हिंदू इस जातीय चिह्नको

भुलाने लगे हैं । सदाचारसम्पन्न साधुसमाजमें पुण्ड्र चन्द्राकार, वेणुपत्राकार, अश्वत्थ-पत्राकार, हरिपद या मन्दिर-की आकृतिमें, ऊर्ध्वपुण्ड्र या तिलकके रूपमें किया जाता है। पुण्ड्रके द्वारा उपासनाविशेषका परिचय प्राप्त होता है। विचित्र पुण्ड्रयुक्त साधुमण्डलको देखकर हिंदू-धर्मकी अनेक शाखा-प्रशाखाओंमें जो समप्राणता है, उसका प्रकृष्ट प्रमाण मिलता है।

देवार्चनके समय आवश्यक तान्त्रिक प्रक्रियाके आधारपर विभिन्न प्रकारके अङ्गन्यास और करन्यासका उपदेश शास्त्रोंमें किया गया है। देवताकी आराधनामें आङ्गिक चेष्टाका अभिनव-समावेश मुद्राप्रदर्शनके द्वारा किया गया है। सभी जानते हैं कि अञ्जलि परम मुद्रा है। अञ्जलि बाँधकर देवताके उद्देश्यसे हृदयकी दीनता और श्रद्धा निवेदित की जाती है। इसके अतिरिक्त पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, धूप, दीप आदि निवेदन करनेके लिये विभिन्न अङ्गसन्निवेशका विधान है। देवताके आयुध चक्र, गदा, पद्म, त्रिशूल, खड्ग आदि भी करतल और अङ्गुलिके संयोग-वियोगके द्वारा (मुद्राके रूपमें) देवताको प्रदर्शित किये जाते हैं। इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि संकेतसे मनोभावोंको व्यक्त करनेका पारिभाषिक उपाय अतिप्राचीन कालमें इन मुद्राओंके प्रदर्शनकी रीतिके रूपमें निर्धारित किया गया था।

महाभारतके युद्धक्षेत्रके वर्णनमें देखा जाता है कि वीर-लोग अपनी पताकाओंमें वीर्य, शौर्य, ज्ञान, कर्मकुशलता, क्षिप्र-गति प्रभृतिके सूचक नाना प्रकारके चिह्न धारण करते थे। सिंह, वृष, मकर, वानर आदि जीवोंकी प्रतिकृति भी हिंदू-संस्कृतिके अङ्गमें अङ्गाङ्गिभावसे विजड़ित है। वर्ण और वस्तु हृद्गत भावोंके प्रकाशनके लिये प्रधान अवलम्बन हैं। विचित्र प्रकारके वर्णों और सामग्रियोंके समवायसे युग-युगमें मानव-मनके रहस्यमय भावोंका द्योतन होता है। सत्त्व, रज और तमोगुण शुभ्र, रक्त और कृष्णवर्णोंके द्वारा व्यञ्जित होते हैं। दूसरे देशोंमें ये ही पवित्रता, उत्सव और विषादके सूचक हैं। पीत भारतके उत्सवका वर्ण है, और गेरुआ त्यागका सूचक है। त्रिकोण, चतुष्कोण, वृत्त, विन्दु आदि चिह्नोंका उद्भव पहले-पहल प्राचीन कालकी यज्ञवेदियोंसे हुआ था या नहीं—यह ठीक-ठीक बतलाना सहज नहीं है। ये आजकल समस्त मानव-समाजकी सङ्केत-सम्पदा है।

स्वस्तिक

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव, बी०ए०)

स्वस्तिक चिरन्तन सत्य, शाश्वत शान्ति और अनन्त दिव्य ऐश्वर्य-सम्पन्न सौन्दर्यका माङ्गलिक चिह्न तथा प्रतीक है। इस प्रतीकका उपासक वही राष्ट्र होता आया है, जो दिव्य गुणों और शुभ-संस्कारोंसे युक्त रहा है। इसे धारण करनेमें आसुरी शक्ति सर्वथा असमर्थ है। सत्य और शान्तिका सन्देश तो कोई भाग्यशाली ही दिया करता है और यह सच बात है कि समय-समयपर सत्य और शान्तिका सन्देश देनेमें भारत सब देशोंसे आगे रहा है और यह भारतीय गौरवकी अक्षुण्ण ऐतिहासिकता है कि विश्वके आदिसाहित्य वेदमें 'स्वस्ति' मिलता है। सत्य, शिव और सुन्दरके रंगमञ्चपर अवस्थित होकर सोमका उन्माद नयनोंमें भरकर-विवेकी आर्य ही सभ्यताके आदिकालमें कहनेका साहस कर सका था—

> स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु
> स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
> विश्वं सुभूतं सुविदत्रं
> नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥
> (अथर्व० १ । ३१ । ४)

हमारी माताके लिये कल्याण हो। पिताके लिये कल्याण हो। हमारे गोधनका मङ्गल हो। विश्वके समस्त प्राणियोंका मङ्गल हो। हमारा यह सम्पूर्ण विश्व उत्तम धन और उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न हो। हमलोग चिरकालतक प्रतिदिन सूर्यका दर्शन करते रहें। हम दीर्घजीवी हों।

आर्योंने ऐसे ही स्वस्ति वचनोंके बलपर समस्त विश्वके लिये सुख और शान्तिके साम्राज्य-स्थापनकी घोषणाकर जन-कल्याणकी सिद्धि की थी। स्वस्तिक आर्योंका आदि माङ्गलिक प्रतीक है। स्वस्तिक आयु, प्रकाश, सूर्य और आकाशका मूर्त वाङ्मय है। जैन, बौद्ध तथा अन्य भारतीय धर्मग्रन्थोंमें भी स्वस्तिकके महत्त्वपर बड़ा प्रकाश डाला गया है। उनमें स्वस्तिकके विभिन्न आकार-प्रकार तथा रूप-रेखाकी जानकारी मिलती है।

'स्वस्तिक' शब्दकी ऐतिहासिकताके अध्ययनसे पता चलता है कि स्वस्तिक हठयोगका एक आसन है। यह एक प्रकारके यन्त्रका नाम है, जो शरीरमें गड़े हुए शल्य आदिको बाहर निकाल लेता है। चतुष्पथ अथवा 'चौराहा'के लिये भी

इसका प्रयोग होता है। सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार यह एक माङ्गलिक चिह्नका नाम है, जो बहुत शुभ माना जाता है और गणेशपूजनसे पहले माङ्गलिक द्रव्योंसे विशेष उत्सवों और शुभ अवसरोंपर अङ्कित किया जाता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र तथा भगवान् श्रीकृष्णके चरणमें इस प्रकारका चिह्न था। जैनी लोग जिन देवताके चौबीस लक्षणोंमेंसे इसे भी एक मानते हैं। स्वस्तिक प्राचीन कालकी एक प्रकारकी नावका भी नाम था, जो राजाओंकी सवारीके काममें आती थी। स्वस्तिकका अभिप्राय कुछ भी रहा हो, इस निबन्धमें तो उसकी माङ्गलिक चिह्नके रूपमें व्याख्या करनी है। स्वस्तिक स्वस्ति अथवा कल्याणका वाचक है। हिंदू-संस्कृतिसे सृष्टिके आदिकालसे उसका अविच्छिन्न और अमिट सम्बन्ध रहता चला आया है। विश्वकी समस्त सभ्य जातियोंमें हिंदू-जाति प्रतीक-उपासनाको अधिकाधिक विशेष महत्त्व देती है। जिस विषयको समझनेमें मस्तिष्क और जिह्वाके पंख झड़ जाते हैं, उसके बोधके लिये प्रतीकका हाथ पकड़ा जाता है। सीमित बुद्धि-क्षेत्रोंके काम न देनेपर तत्त्वबोध प्रतीकगत होनेसे सुगम और सरल हो जाता है।

स्वस्तिककी ऐतिहासिकताके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहकर मौन हो जाना पड़ता है कि यह उतना ही प्राचीन है, जितने प्राचीन वेद हैं। वेदोंमें प्रकाश, कल्याण, दीर्घायुके अर्थमें विशेष स्थलोंपर 'स्वस्ति'का प्रयोग मिलता है। कुछ विचारकोंका मत है कि कहीं-कहीं यह भ्रमणशील चक्रके आकारमें इसलिये दिखलाया गया है कि उससे सूर्यके प्रतीक होनेका बोध होता है। कुछ विद्वानोंका मत है कि स्वस्तिक उन दो अरणियों (काष्ठदण्डों) का प्रतीक है, जिनसे यज्ञके लिये अग्नि पैदा की जाती है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि स्वस्तिक प्रकाशका प्रतीक है। दक्षिण भारतमें प्राचीन कालके बने हुए कुछ मिट्टीके पात्र मिले हैं, जिनपर स्वस्तिक अङ्कित है। 'स्वस्तिक' पुस्तकके लेखक श्रीविलहेजने लिखा है कि यह साधिकार नहीं कहा जा सकता कि पहले-पहल किस देशने स्वस्तिकका प्रयोग किया; पर इतना तो है ही कि यह विश्वजनीन प्रतीक है और गौतम बुद्धसे भी पहले भारतमें इसका प्रचार था। हेजका मत स्तुत्य है; पर इस सम्बन्धमें इतना और जोड़ा जा सकता है कि स्वस्तिकका जन्मस्थान भारत देश है और पुरातत्त्वविदोंके प्रयत्नसे तथा प्राचीन साहित्य-शास्त्रोंसे यह बात स्पष्ट हो गयी है कि हिंदू-जातिने ही विश्वके अनेक भागोंके अपने उपनिवेशोंमें इसका प्रचार किया। श्रीसतीशचन्द्र कालाने अपनी पुस्तक 'मोहन-जो-दड़ो तथा सिन्धु-सभ्यता'में लिखा है कि 'मोहन-जो-दड़ो' की खुदाईमें स्वस्तिकका चित्रण मुद्राओं तथा पट्टियोंमें दीख पड़ता है। स्वस्तिक तथा चक्र सूर्यभगवान्के प्रतीक भी माने जाते हैं। स्वस्तिक और अग्निका सम्बन्ध भी सूर्यके कारण था। पारसियोंके एक प्राचीन मन्दिरके द्वारपर सूर्य, चन्द्र और स्वस्तिकके चिह्न बने हुए मिले हैं। इस कथनसे भी स्वस्तिककी प्राचीनताकी पुष्टि हो जाती है। श्री सी० जे० ब्राउनने अपनी पुस्तक 'काइंस आफ इंडिया' में कुछ ऐसे सिक्कोंका विवरण दिया है, जो ईसवी सन्से चार सौ साल पहलेके हैं। उनपर स्वस्तिक, बोधिवृक्ष आदिके चिह्न अङ्कित हैं। सिक्कोंपर स्वस्तिक चिह्नका अङ्कन संकेत करता है कि चौबीस सौ साल पहले अशोककालीन भारतमें स्वस्तिकका सांस्कृतिक महत्त्व मान्य था। वैदिक कालसे ही प्रचलित स्वस्तिक-परम्परा अक्षुण्ण और जीवित थी। जिस सीमातक स्वस्तिकका हिंदू-संस्कृतिसे सम्बन्ध है, उसके आधारपर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि महाकाव्यकालमें स्वस्तिक माङ्गलिक प्रतीकके साथ-साथ वस्तुके नाम तथा अन्य समाजोपयोगी चिह्नोंके रूपमें भी स्वीकार कर लिया गया था। संस्कृति और समाज दोनों क्षेत्रोंमें इसकी ख्याति बढ़ती गयी। श्रीविलहेजके कथनानुसार रामायणमें ऐसे जहाजका वर्णन मिलता है, जिसपर स्वस्तिकका चित्रण रहता था। महाभारतके सभापर्वमें जरासन्ध-वध-प्रकरणमें एक ऐसे नागका उल्लेख मिलता है, जिसका नाम स्वस्तिक था। शूद्रकरचित मृच्छकटिक नाटकका एक पात्र चोर चारुदत्तके घरमें सेंध लगाते समय विचार करता-सा चित्रित किया गया है कि स्वस्तिक सन्धि (सेंध) बनाये या घड़ेके आकारका सेंध लगाये। कुछ समय पहले हस्तलिखित पुस्तकोंकी समाप्ति स्वस्तिक चिह्न अङ्कित कर सूचित की जाती थी। बौद्धों और जैनियोंने भी स्वस्तिक चिह्नको बड़ा महत्त्व दिया है। बौद्ध और जैन-लेखोंसे सम्बन्धित प्राचीन गुफाओंमें भी स्वस्तिकका चित्रण मिलता है। अशोकके शिला-लेखोंमें स्वस्तिकके प्रयोगका बाहुल्य है। जैनियोंके समस्त कर्म-विज्ञानका आधार स्वस्तिक है। जैन-दर्शनके अनुसार एक दूसरेको परस्पर काटनेवाली स्वस्तिक-रेखाएँ (पुरुष और प्रकृति) आत्मा और पुद्गलकी प्रतीक हैं। दोनों रेखाओंके एक दूसरेको परस्पर काटनेपर चार भाग हो जाते हैं, जो प्राकृत जगत्के चार क्रम—पूर्ववर्तीसर्ग, वनस्पति-सर्ग, मनुष्य-सर्ग और देवसर्गके द्योतक हैं। मन्दिरोंमें पूजा करते समय जैन स्वस्तिक चिह्नका उपयोग करते हैं। आशीर्वाद अथवा स्वस्ति-दानमें भी वे स्वस्तिक चिह्नसे ही काम लेते हैं।

बौद्धधर्ममें भी यह चिह्न अत्यन्त पूज्य माना जाता है। बुद्ध-भगवान्‌के चरणके लक्षणोंमें स्वस्तिककी परिगणना होती है। अमरावतीके स्तूपमें जो बुद्धपद चित्रित है, उसमें स्वस्तिक अङ्कित है। जापान, चीन आदि देशोंमें बुद्ध भगवान्‌के चरणोंकी पूजा होनेसे विदेशोंमें स्वस्तिकका प्रचार सुगमतापूर्वक हो सका। विदेशोंमें स्वस्तिक-प्रचारके अन्य साधनोंमें भगवान् बुद्धका स्वस्तिक-अङ्कित चरण-पूजन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विशेष साधन रहा होगा। बौद्ध स्वस्तिकको बुद्धभगवान्‌के वक्षका भी एक शुभ लक्षण मानते हैं। निस्सन्देह भारतने ही अपने उपनिवेशों तथा विदेशोंमें स्वस्तिकका प्रचार किया। भिन्न-भिन्न देशोंमें स्वस्तिकके सम्बन्धमें विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित हैं। विदेशमें स्वस्तिक व्यापारका भी शुभ चिह्न कहीं-कहीं स्वीकार किया गया है। अनेक देशोंके सिक्कोंमें भी इसका अङ्कन दीख पड़ता है।

आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंडमें माबरी जातिके लोग स्वस्तिकको अपने जीवनके शुभ प्रतीकोंमेंसे एक मानते हैं। जापानमें स्वस्तिक 'मनजी' कहलाता है। बुद्धकी प्रतिमाओंमें जापानी इसका अङ्कन विशेषरूपसे करते हैं। जापानके परम-पवित्र पहाड़ फ्यूजीयामाके शृङ्गपर जब तीर्थयात्री पहुँचते हैं, तब उन्हें ऐसे घड़ोंका जल पीनेके लिये दिया जाता है, जिनपर स्वस्तिकके चिह्न बने रहते हैं। यह जल दीर्घायु दान करता है। कोरियामें तो स्वस्तिक तामझाम और पालकी आदिमें चित्रित दीख पड़ते हैं। चीनमें स्वस्तिक असंख्यताका बोधक है, अधिकताका प्रतीक है। चीनी भी हिंदुओंकी ही तरह इसे कल्याण, दीर्घायु और प्रकाशका प्रतीक मानते हैं। हजार वर्षोंसे पहले भी चीनी स्वस्तिकका अङ्कन वृत्तिमें करते थे और उसे सूर्यका प्रतीक स्वीकारकर उपासना करते थे। टैंग शासक बूका आदेश था कि सारे चीनमें स्वस्तिककी प्रतीकोपासना हो। टैंग-कालकी जनता यत्न करती थी कि काठके सामानों तथा दैनिक उपयोगकी अन्य वस्तुओंपर मकड़ी अपने वृत्ताकार जालेमें स्वस्तिक बनाये। ऐसा होना परम सौभाग्य समझा जाता था। चीनियोंकी मान्यता है कि आकाशमें विशेष तारोंके परस्पर मिलनेपर स्वस्तिकके आकार-प्रकारका एक चित्र नित्य बनता रहता है। तिब्बतमें तो लोग अपने शरीरमें स्वस्तिकके आकारका गोदना गोदवाते हैं। स्वस्तिकका प्रचलन फारसमें भी है। पुरोहितोंके चोगोंपर स्वस्तिकके चिह्न बनाये जाते हैं। कैकय देशमें स्वस्तिकको परम पवित्रताका प्रतीक मानते हैं। अलजीरिया और मिस्रमें भी इसका बाहुल्य है। मिस्रनिवासियोंका विश्वास है कि स्वस्तिक उनके देशमें यूनानसे आया। यूनानमें मिट्टी, पीतल और सोनेके बर्तनोंपर स्वस्तिकका बाहुल्य था। यह उसके प्राचीन कालके इतिहाससे ऐसा पता चलता है। साइप्रेस द्वीपमें देवताओंकी मूर्तियोंपर स्वस्तिकके चिह्न मिले हैं। क्रीटके एक रजत-सिक्केमें स्वस्तिक अङ्कित है। इससे यूरोपमें स्वस्तिककी प्राचीनताका संकेत मिलता है। इटलीमें स्वस्तिकका प्रचलन संकेत करता है कि यहींसे यूरोपके अन्य देशोंमें इसका प्रचार हुआ। हेजका कथन है कि आदिम ईसाइयोंमें स्वस्तिक विशेष और अत्यन्त पवित्र प्रतीककी तरह अवश्यमेव प्रचलित था। स्काटलैंडमें एबरडीन शायरमें चालीस अक्षरोंका एक शिला-लेख मिला है। अक्षरोंके मध्यभागमें स्वस्तिक है, अभीतक लिपिका पता नहीं चल सका है; सम्भव है कि इस शिलालेखमें स्वस्तिक किसी वर्ण या संख्याका सूचक हो। इस शिलालेखके आधारपर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन समयमें यूरोपने प्रतीकके साथ-साथ स्वस्तिकको वर्ण या संख्याके रूपमें भी स्वीकार कर लिया था। अमेरिकामें यूरोपियोंके प्रवेशके पहलेसे ही स्वस्तिकका प्रयोग था। कुछ टीलोंकी खुदाईमें ऐसे सामान प्राप्त हुए हैं, जिनपर स्वस्तिक अङ्कित है। इससे कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि कोलम्बससे कई सौ साल पहले बौद्धधर्म-प्रचारकोंके साथ अमेरिकामें स्वस्तिकका भी प्रवेश हुआ है। अमेरिकामें भगवान् बुद्धकी एक प्रतिमा मिली है, जो स्वस्तिक आसनमें प्रतिष्ठित है। अभीतक यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह प्रतिमा भगवान् बुद्धकी है या किसी अन्य देवताकी है। यह भी सम्भव है कि प्रतिमा किसी हिंदू देवताकी हो। हठयोगमें स्वस्तिक एक विशेष प्रकारका आसन है, अतएव स्वस्तिक आसनमें देव-प्रतिमाकी प्रतिष्ठा आश्चर्यकी बात नहीं है। श्रीचमनलालने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदू अमेरिका'में यह तो सिद्ध ही कर दिया है कि अमेरिका हिंदुओंका एक उपनिवेश था। सामाजिक जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें अमेरिकाके मूल निवासी स्वस्तिकका उपयोग आजतक करते हैं। आर्योंका अन्य महादेशोंसे प्राचीन और मध्यकालमें व्यापार-सम्बन्ध स्थापित ही था, इसलिये साधिकार कहा जा सकता है कि जिन देशोंमें स्वस्तिकका प्रचलन है, उनमें भारतने ही सत्य, शान्ति और कल्याणका सन्देश किसी समय अवश्य पहुँचाया था।

स्वस्तिक सर्वथा 'स्वस्ति' अथवा कल्याणकारी है। हिंदुओं तथा भारतेतर जातियोंके सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक जीवनमें स्वस्तिकका उपयोग

दीख पड़ता है । विश्वने एक स्वरसे इसे माङ्गलिक प्रतीक स्वीकार कर लिया है । ईसाइयोंका क्रॉस स्वस्तिकका ही एक रूपान्तर है । ॐ शब्दकी बनावट और वैज्ञानिक आकारकी समीक्षा करनेपर ऐसा कहनेका साहस होता है कि यह भी एक प्रकारका स्वस्तिक ही है । ॐ अखण्ड चिदानन्दकी सत्ताका प्रतीक है, भगवान्‌का अक्षर-रूप है । निस्सन्देह स्वस्तिक ही ॐ रूपमें परमात्माका प्रतीकगत बोध है । परम सत्य शान्ति और स्वस्तिका आश्रय है । इतिहासकी पुनरावृत्ति तो होती रहती है । इसलिये निस्संकोच कहा जा सकता है कि विश्व एक दिन स्वस्तिकगत आदर्शोंको अपना सकता है । उसकी सबसे बड़ी चाह है सत्यकी प्राप्ति । उसकी सबसे बड़ी भूख है शान्तिकी अनुभूति । उसका लक्ष्य है आत्मराज्य अथवा स्वराज्य । स्वस्तिक विश्व-कल्याणका दूत है । हिंदुओंका आदि माङ्गलिक प्रतीक है । इसलिये यह निश्चित है कि विश्व शाश्वत शान्ति, चिरन्तन सत्य और जन-कल्याणके लिये स्वस्तिकके उपासक भारतके चरणोंपर नत-मस्तक होकर हिंदू-संस्कृतिकी विजयके गीत गायेगा । भगवान् करें—दैवी शक्तिसे सम्पन्न विश्वका शान्तिदूत स्वस्तिक बने !

स्वस्तिक सनातन शास्त्रीय दृष्टिसे प्रणवका स्वरूप है । डा० जीवनजी जमशेदजी मोदीका कहना है कि सूर्यकी गतिसे स्वस्तिकका सम्बन्ध है । सूर्यकी विभिन्न गतियोंको सूचित करनेवाला यह चिह्न है । आदित्य, अग्नि, आरोग्य और आबादीका मूल स्वस्तिक है, यह पारसी धारणा है । श्री-मेकेंजीने स्वस्तिकको अनेक भावनाओंका सूचक माना है । उनमें चतुर्वर्ण, अग्निके भाव भी माने गये हैं । चारों वर्ण, चारों आश्रम, चारों वेद, यज्ञ एवं यज्ञके चारों होता, उद्गाता आदि कर्ता तथा चारों अग्नि इससे सूचित होते हैं । पारसी पवित्र अग्निसम्बन्धी 'बुई' कृत्यका इसे प्रतीक मानते हैं; क्योंकि उसमें अध्वर्यु इसी आकारमें अग्निके चारों ओर घूमते हैं । इसे पारसी चारों दिशा एवं चारों समयकी प्रार्थनाका भी प्रतीक मानते हैं ।

जैन अक्षत-पूजाके समय स्वस्तिक बनाकर उसके ऊपर तीन बिन्दु बनाते हैं । ये स्वस्तिककी रेखाओंको चारों गति (देव, नरक, तिर्यक् एवं मनुष्य) का प्रतीक मानते हैं और बिन्दुओंको रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) का । मध्य स्थानको वे मुक्तिका स्थान 'सिद्धिशिला' कहते हैं ।

आकारमें सामान्य अन्तरसे स्वस्तिक, श्रीवत्स और नन्दावर्त—ये हिंदू-शास्त्रोंके भेद होते हैं इस चिह्नमें । पारसी इसे जिस रूपमें अङ्कित करते हैं, वह अपस्तिक कहा जाता है । प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोंमें इसका एक और रूप मिलता है । स्वस्तिकके सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंने अनेक ग्रन्थ एवं निबन्ध लिखे हैं । कुछके नाम यहाँ दिये जाते हैं—

१. श्रीमती सिन्क्लेयर स्टिवेन्सन् (Mrs. Sinclair Stevenson) कृत The Heart of Jainism, पृष्ठ ५३, ५६, ९७, २५१ और २७९ ।

२. प्रो० हेल्मुथ ग्लाजेनप (Prof. Helmuth Glassenap) कृत जर्मन ग्रन्थ 'Der Jainismus' पृष्ठ ३६२ ।

३. श्री डब्ल्यू. एम. टीप (Mr. W. M. Teape) कृत The Secret Lore of India and the one perfect life for all.' पृष्ठ ११४ ।

४. श्रीमती ब्लैवेटस्की (Madame Blavatski) कृत 'Secret Doctrines' नामक पुस्तकमें स्वस्तिकका उल्लेख है ।

५. श्रीबर्डउड् (Birdwood) कृत 'Swa' नामक पुस्तकमें ।

६. श्रीगेरिनो (Guerinot) कृत फ्रेंच ग्रन्थमें ।

७. श्री एल० डी० मिलो (L. D. Milloue) कृत 'Annales du Musc'e Ginmet' नामक फ्रेंच ग्रन्थमें ।

८. श्रीकाउंट गोब्ले अल्वीला (Count Gobletd' Alviella) कृत 'The Migration of Symbols.

इनके अतिरिक्त और भी ग्रन्थ हैं, जिनमें स्वस्तिकपर अनुसन्धानपूर्ण लेख हैं । अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओंमें भी बहुतसे महत्त्वपूर्ण लेख निकले हैं ।

स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्हके सब तुम्ह तात ।
मन-मंदिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥

शिखा-रहस्य

(लेखक—पं० श्रीसत्यनारायणजी मिश्र)

हिंदूजातिके प्रमुख सोलह संस्कारोंमें 'चूडाकरण' भी एक विशेष संस्कार है। इसी संस्कारमें आर्यजातिके प्रतीक अथवा मुख्य जातीय चिह्न 'शिखाधारण' का विधान है। इसके धारणसे आयु, तेज, बल, ओज और पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है। 'चूडा क्रियते अनेन' अथवा 'चूडायाः करणम्' इस व्युत्पत्तिसे 'शिखा चूडा शिखण्डस्तु पिच्छवर्हे नपुंसके' इस अमरकोषके प्रमाणसे 'चूडा' शब्दसे शिखा ही अर्थरूपेण गृहीत है। पारस्कर, आश्वलायन, वैखानस, बौधायन, अग्निवेश्य, आपस्तम्ब और जैमिनीय आदि स्मार्त सूत्रग्रन्थोंमें चूडाकर्मके अन्तर्गत शिखा रखनेका स्पष्ट विधान मिलता है।

अथैनमेकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा यथैवैषां कुलधर्मः स्यात्। यथर्षिः शिखा निदधातीत्येके।

—इत्यादि सूत्रोंमें चूडाकर्ममें शिखा रखनेका ही स्पष्ट उल्लेख है। आपस्तम्बने 'प्रतिदिशं वपति' कहकर शिखाके चारों ओर केशमुण्डनका निर्देश किया है। बौधायनने—

चौलवत्तूष्णीं केशानोप्य स्नातं शुचिवाससं बद्धशिखं यज्ञोपवीतं प्रतिमुञ्चन् वाचयति।

—इस सूत्रमें शिखा रखनेकी आज्ञा देते हुए क्षौरका विधान बतलाकर कुमारके लिये 'बद्धशिखम्' यह विशेषण देकर शिखास्थापनकी दृढ़ता सिद्ध की है। यद्यपि पारस्करगृह्यमतानुयायियोंके लिये 'मुण्डाश्च भृगवो मताः' इत्यादि प्रमाण प्राप्त होते हैं, तथापि 'यथा मङ्गलं केशशेषकरणम्' इस सूत्रके अनुसार वे भी मङ्गलसूचक शिखा धारण करते ही हैं। बहुत-से लोग अपने ऋषि, कुल और गोत्रके अनुकूल अनेक शिखाएँ रखते हैं; परंतु उनमें मध्य शिखाकी ही प्रधानता मानी गयी है, जैसा कि धर्मसिन्धुकारने कहा है—

मध्ये मुख्या एका शिखा अन्याश्च पार्श्वादिभागेष्विति यथाकुलाचारप्रवरसंख्यया शिखाश्चूडासमये कार्याः।

सिरके मध्यमें स्थित केश-समूह ही 'चूडा' कहलाता है। यही चूडा प्रधान शिखा मानी जाती है। वशिष्ठ गोत्रवाले मध्य शिखासे दक्षिण भागमें स्थित केश-समुदायको चूडा कहते हैं। अत्रि और कश्यप गोत्रवाले मध्यभागमें स्थित शिखाके उभय पार्श्व (अगल-बगल) में स्थित केशोंको शिखा कहते हैं—

मध्ये शिरसि चूडा स्याद् वासिष्ठानां तु दक्षिणे।
उभयोः पार्श्वयोरत्रिकश्यपानां शिखा मता॥

उपनयनकालमें मध्यशिखाके अतिरिक्त अन्य गौण शिखाओंके वपनका विधान 'निर्णयसिन्धु' में स्पष्टरूपसे पाया जाता है—

तासां मध्यशिखवर्जमुपनयने वपनं कार्यम्।

धर्मसिन्धुकारने भी—

उपनयनकाले मध्यशिखेतरशिखानां वपनं कृत्वा मध्यभाग एवोपनयनोत्तरं शिखा धार्या।

—इस उक्तिसे निर्णयसिन्धुकारके सिद्धान्तका ही समर्थन किया है। सन्ध्या करते समय अङ्गन्यासके अन्तर्गत आगमग्रन्थोंमें 'भुवः शिखायै वषट्' इस मन्त्रद्वारा चोटीमें दक्षिण हाथके अङ्गुष्ठस्पर्शका विधान देखा जाता है। इन प्रमाणोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि चूडाकरण-संस्कारमें शिखा रखकर ही अन्य केशोंका मुण्डन कराना चाहिये। महर्षि हारीत कहते हैं कि जो लोग मोह, द्वेष या अज्ञानसे शिखा काट देते हैं, वे तप्तकृच्छ्र व्रत करनेसे शुद्ध होते हैं—

शिखां छिन्दन्ति ये मोहाद् द्वेषादज्ञानतोऽपि वा।
तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥

'काठक गृह्यसूत्र' और 'कौथुमि शाखा'में तो यहाँतक उल्लेख है कि यदि कोई पुरुष प्रमादवश शिखासहित क्षौर करा ले, तो वह ब्रह्मग्रन्थियुक्त कुशकी शिखा बनाकर दाहिने कानपर तबतक रक्खे, जबतक बाँधनेके लायक शिखा न बढ़ जाय—

अथ चेत् प्रमादान्निशिखं वपनं स्यात् तत्र कौशीं शिखां ब्रह्मग्रन्थिसमन्वितां दक्षिणकर्णोपरि आशिखाबन्धादवतिष्ठेत्।

इस उपर्युक्त दण्डविधानसे यह स्पष्ट प्रकट है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको शिखा, सूत्र और हिंदूमात्रको शिखा अवश्य धारण करनी चाहिये। बिना यज्ञोपवीत और शिखाके हिंदुओंका किया हुआ सभी सत्कार्य व्यर्थ हो जाता है और वह राक्षस-कर्म कहलाता है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

(देवलस्मृति)

विना यच्छिखया कर्म विना यज्ञोपवीतकम्।
राक्षसं तद्धि विज्ञेयं समस्ता निष्फलाः क्रियाः॥
(व्यासस्मृति)

शिखाके साथ बल, वीर्य, आयुर्वृद्धि, तेज और पराक्रमका गहरा सम्बन्ध है। इसीलिये हिंदुओंका यह सर्वोत्कृष्ट जातीय चिह्न माना गया है। जिस प्रकार फौजी सिपाहियोंका फौजी वेष वीरतासूचक, स्काउटोंका वेष स्फूर्तिसूचक, मुसल्मानोंकी दाढ़ी मुस्लिमपनकी सूचक और ईसाइयोंकी नेकटाई ईसाईमतकी सूचक है, ठीक उसी प्रकार हिंदुओंकी शिखा हिंदुत्वसूचक है। हिंदुत्वका प्रतीक यह शिखा जिसके सिरपर नहीं है, जिस हिंदूने प्रभावोत्पादक इस हिंदू-चिह्नको धारण नहीं किया, वह हिंदू 'शव'के समान है। सिरके मध्यभागमें सुरक्षित, सुस्थिर शिखा चिरन्तन आर्यगौरव तथा हिंदुत्वकी द्योतक है। इसीलिये आर्यजातिके लिये शिखा रखना नितान्त आवश्यक है। हिंदूजाति ज्ञान-विज्ञानरूपी रससे परिपूर्ण एक घटके समान है। उस घटका वह रस, जिसके एक-एक कणसे विश्वके अनेक नदी और नदरूपी मत प्रादुर्भूत हुए हैं, ब्रह्मरन्ध्रद्वारा कहीं अन्तःस्थित निरन्तर विद्युत्प्रवाहसे प्रवाहित होकर बाहर निकल न जाय, अतः उसकी रक्षाके लिये इस चोटीरूपी ढक्कनका रखना परमावश्यक है।

सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार पदार्थमात्रमें देव या प्राणशक्ति मानी गयी है। इस स्थावर-जङ्गमरूप संसारमें देव या प्राणशक्तिसे व्याप्त कोई भी व्यक्ति किसी भी प्राणीके किसी भी योनिमें किये गये कर्मका प्रतिफल है, जो अपने कर्मानुसार उद्भिज-संसारमें लता-वृक्षादिके रूपमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उद्भिज-संसारके ये लता-वृक्षादि हमारी अतीत भुक्त योनिमें किसी समयके हमारे पूर्वज अवश्य हैं, जो स्वकर्मानुसार लता-गुल्मादिके रूपमें व्यवस्थित हैं। हमारी शिखा उद्भिज-संसारका चिह्न है। नियमपूर्वक वेदादिके स्वाध्यायसे समुत्पन्न अमृत वायुवेगसे भी प्रबल तेजीसे शिखाके अधस्तलमें स्थित ब्रह्मरन्ध्रमें कर्णिकाद्वारा प्रविष्ट होता है। वह अमृत अपने केन्द्रस्थान सूर्यमें मिलनेके लिये बाहर निकलना चाहता है, किंतु शिखासङ्घर्षसे टकराकर वापस लौट आता है। अमृतसे सङ्घर्षित होनेके कारण शिखामें अमृतका लेश रह जाना स्वाभाविक है। निम्नकोटिकी स्थावर-चेतन योनियाँ इस अमृततत्त्वको प्राप्तकर उत्तरोत्तर उच्च योनियोंको प्राप्त करती जायँ, इसीलिये हमारे पारदृश्वा महर्षियोंने देवर्षि-पितृतर्पणके साथ चित्ररूप शिखाके अमृतजलसे उद्भिज-संसारमें प्रादुर्भूत लता-गुल्मादिरूपी पितरोंको तर्पण करनेका आदेश दिया है—

लतागुल्मेषु वृक्षेषु पितरो ये व्यवस्थिताः।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु मयोत्सृष्टैः शिखोदकैः॥
(संस्कारगणपति)

वेदान्त और योगदर्शनके सिद्धान्तानुसार शिखाका अधःस्थित भाग ब्रह्मरन्ध्र माना गया है। इस ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदल कमलमें अमृतरूपी ब्रह्मका स्थान है। विधिपूर्वक किये गये वेदादिके स्वाध्याय और सविधि श्रौत-स्मार्त-कर्मानुष्ठानसे समुत्पन्न अमृततत्त्व अतिक्रान्त वायुवेगसे सहस्रदल कर्णिकामें प्रविष्ट होता है। वह अमृततत्त्व सिरसे बाहर निकलकर ऊपरकी ओर अपने केन्द्रस्थान ऋग्यजुःसामरूप सहस्ररश्मि सूर्यदेवमें मिलना चाहता है, परंतु शिखा रखनेसे वह अमृत शिखा-ग्रन्थिकी उलझनमें टकराकर सहस्रदलकी कर्णिकामें रह जाता है। यदि वेदाध्ययन या सत्कर्मानुष्ठान करते समय शिखा खुली रहती है तो वह अमृत शिखासे बाहर होकर पृथ्वीमें प्रविष्ट हो जाता है। शिखाके न रहनेपर वह अमृत सिरसे बाहर निकलकर ऊपरको उठता है, किंतु प्रबलशक्तिसम्पन्न न होनेके कारण वायुसे टकराकर वह अन्तरिक्षमें विलीन हो जाता है। फलस्वरूप अनियमित कालमें की गयी सन्ध्याकी तरह वह सत्कार्य विफल हो जाता है। इसीलिये मन्वादि धर्मशास्त्रकारोंने कहा है कि स्नान, दान, जप, होम, सन्ध्या, स्वाध्याय और देवार्चन करते समय शिखामें ग्रन्थि अवश्य लगानी चाहिये—

स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

अस्तु, ऊपर बतलाया जा चुका है कि शिखाके निम्नतलमें ब्रह्मरन्ध्र और उसके ऊपर सहस्रदल कमलमें परमात्माका केन्द्रस्थान है। वर्तमान विज्ञानके अनुसार शिखास्थानके पीछे भीतर नीचेकी ओर ब्रह्मरन्ध्रके पीछे मस्तिष्कभागमें कामका केन्द्रस्थान है। इन उपर्युक्त दोनों स्थानोंमें गोखुर-प्रमाण शिखा रखनेसे आत्मिक शक्ति सुरक्षित रहती है और चिन्ताशक्ति (कामोद्रेकशक्ति) दबी रहती है। फलस्वरूप मनुष्य अपनी कामशक्तिको यथासाध्य दबाकर आध्यात्मिक जगत्में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ शिखाद्वारा व्यापक ब्रह्मकी यथेष्ट शक्तिका आकर्षण करता है। वैदिक विज्ञानसे यह बात सिद्ध है कि सर्वव्यापी परेश परमात्माकी अप्रमेय शक्तिको आकृष्ट करनेका सर्वोत्तम साधन शिखा-धारण है। (सिद्धान्त)

शङ्खध्वनि और घण्टानाद

(लेखक—पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी)

शङ्ख

शङ्ख हिंदूधर्मके पावनतम प्रतीकोंमें है। हिंदू-देवमन्दिरमें श्रीविग्रहके सम्मुख शङ्खकी उपस्थिति सर्वत्र समानरूपसे पायी जाती है। सभी मङ्गल-कार्योंमें शङ्खध्वनि परम मङ्गलमय समझी जाती है और युद्धमें तो शङ्खनाद उसके प्रारम्भका सूचक है ही। भारतवर्ष अनादि कालसे शङ्खसे परिचित है। 'यजुर्वेद-संहिता' के अध्याय ३० में 'शङ्खध्न' शब्द आता है। अथर्ववेद-संहिता, बृहदारण्यक उपनिषद् आदि श्रौतग्रन्थोंमें शङ्खके पर्याप्त प्रसङ्ग हैं। शङ्ख बजानेके साथ 'कौशिकसूत्र' में आयुवृद्धिके लिये बालकके शरीरमें अभिमन्त्रित शङ्ख बाँधनेका भी विधान है। 'नक्षत्र-कल्प' (१० । २) में शङ्खकी समुद्रसे उत्पत्ति बताकर वहीं 'शङ्खकृशनः पात्वंहसः' आदि सूत्रोंसे शङ्खको पापहारी, रक्षोघ्न, मुख्यरत्न, महौषध तथा दीर्घायुःप्रद बताया गया है। अथर्ववेदमें शङ्खोंके उत्पत्ति-स्थान, गुण एवं महत्त्वका वर्णन है।

शं खनति—जनयति, अर्थात् जो कल्याणको उत्पन्न करता और अलक्ष्मीका शमन करता है, उसे शङ्ख कहा जाता है; 'शङ्ख' शब्दका यह अर्थ कोषकारोंने किया है। अमृत-मन्थन-के समय समुद्रसे जो चौदह रत्न निकले, उनमें शङ्ख भी एक है और उसकी महत्ता इसीसे ज्ञात है कि भगवान् विष्णु उसे नित्य धारण करते हैं।

देव-पूजनमें शङ्खका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'वाराहपुराण' का आदेश है कि बिना शङ्खध्वनि किये देव-मन्दिरका द्वार नहीं खोलना चाहिये। जो मनुष्य शङ्खादिकी ध्वनि किये बिना भगवान्को जगा देता है, वह जन्मान्तरमें बहरा होता है। बिना शङ्ख बजाये भगवान्को जगाना, यह विष्णुपूजाके बत्तीस अपराधोंमेंसे एक अपराध है। 'बृहन्नारदीय-पुराण' के अनुसार देवमन्दिरमें शङ्खध्वनि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है।

शङ्खमध्यस्थितं तोयं भ्रामितं केशवोपरि ।
अङ्गलग्नं मनुष्याणां ब्रह्महत्यायुतं दहेत् ॥

'शङ्खमें स्थित जल भगवान् श्रीकेशवके ऊपर घुमाकर छिड़कनेसे उस जलके छींटे जिनके ऊपर पड़ते हैं, उनके सहस्रों ब्रह्महत्याके दोष नष्ट हो जाते हैं।' आरतीके पश्चात् शङ्खसहित भगवान्के ऊपर घुमाकर छिड़के हुए जलके छींटोंका यह महत्त्व तो पुराणोंमें है ही; साथ ही शङ्खमें जल लेकर भगवान्को अर्घ्य देने तथा शङ्खमें जल या दूध लेकर भगवान्को स्नान कराने, शङ्खमें चन्दन रखकर भगवान्को चढ़ानेका तथा शङ्खमें लेकर भगवान्को चढ़ाये हुए जल (चरणोदक) को पीनेका पुराणोंमें बहुत अधिक माहात्म्य बताया गया है। इसी प्रकार सभी देवताओंके पूजनमें शङ्खके जलसे अर्घ्य देने तथा स्नानादि करानेकी महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है। भगवान् शङ्कर और सूर्यके पूजनमें शङ्खका उपयोग वर्जित है; किंतु उनके मन्दिरमें और पूजनके समय शङ्ख बजानेका बहुत अधिक माहात्म्य बतलाया गया है।

देवपूजाके पूर्व शङ्खकी पूजाका विधान है। भगवान् विष्णु या शालग्रामजीके पूजनमें शङ्खका होना आवश्यक माना गया है। महर्षि शौनकका मत है कि शङ्खको भूमिपर नहीं रखना चाहिये। उसे सदा आठ बार गायत्रीसे अभिमन्त्रित करके त्रिपदी (शङ्ख रखनेकी तिपाई) पर रखना चाहिये; क्योंकि शङ्ख वेदरूप है, वेदमय है। शङ्खके दर्शनसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं। गरुडपुराणने शङ्खको सर्वतीर्थमय बतलाया है। शङ्खको जलसे अस्त्र-मन्त्र (फट्) द्वारा बाहरसे धोना चाहिये। कवच-मन्त्र (हुम्) द्वारा भीतरसे धोना चाहिये और हृदय-मन्त्र (नमः) द्वारा उसमें जल भरकर गन्धादिसे उसका पूजन करके स्तुति करनी चाहिये।

पाञ्चजन्याय विद्महे पावमानाय धीमहि । तन्नः शङ्खः प्रचोदयात् ॥

यह शङ्ख-गायत्री है। शङ्ख-पूजनमें इसका उपयोग होता है। इस मन्त्रके अतिरिक्त शङ्खमुद्रा*से शङ्खको अभिमन्त्रित करनेका विधान है। यह शङ्खमुद्रा भगवान् विष्णुकी उन्नीस मुद्राओंमें प्रमुख मुद्रा है। 'तत्त्वसार' ने शङ्खको ज्ञानप्रद बतलाया है।

शङ्ख भगवान् विष्णुका तो नित्यायुध है ही; उनके सभी अवतार-विग्रहोंका तथा सूर्य, महागणपति, कार्तवीर्य आदि

* दाहिने हाथकी मुट्ठीसे बायें हाथके अँगूठेको पकड़कर बायें हाथकी अँगुलियोंको सटाकर सामने फैलाकर उनके द्वारा दाहिने हाथके सामने फैले अँगूठेको स्पर्श करनेसे शङ्खमुद्रा बनती है।

निष्ठ थे। कर्तव्यका मानदण्ड अपनी इच्छामात्र नहीं था; गोस्वामीजीके शब्दोंमें 'करहु जाइ जा कहुँ जो भावा' नहीं था। वे वेदमार्गको—शास्त्रवचनोंको मानदण्ड मानकर जीवनशकटको अग्रगमित करते थे। इसके फलस्वरूप रोग, शोक तथा भयकी प्राप्ति उनको नहीं होती थी। सभी स्वधर्मपरायण तथा काम-क्रोध-लोभ-मदादिकोंसे सर्वथा रहित थे। कोई किसीसे वैर नहीं करता था। वैरके अभावमें प्रेम स्वाभाविक ही है। सभी गुणज्ञ, गुणसम्पन्न, पुण्यात्मा, ज्ञानी और चतुर थे; पर उनकी चतुरता भजनमें, ज्ञानमें थी—परदारा, परधनापहरणमें नहीं।

मानवद्वारा आचरित इस धर्मका—कर्तव्य-पालनका प्रभाव प्रकृति तथा पशु-पक्षियोंपर भी पड़े बिना नहीं रहा। गोस्वामीजी पशु-पक्षियोंके लिये लिखते हैं—'रहहिं एक सँग गज पंचानन।'

खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

स्वार्थत्याग तथा धर्मपालनका प्रकृतिपर कैसा प्रभाव पडा, इसको श्रीगोस्वामीजी इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

प्रगटीं गिरिन्ह बिबिधि मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥
सागर निज मरजादाँ रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥

बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज॥

त्रिविध तापका अभाव

तीन प्रकारके ताप होते हैं—दैहिक, दैविक, भौतिक। ये तीनों ही रामराज्यमें बिल्कुल नहीं रह गये थे।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

धर्म तथा तदन्तर्गत स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करनेवालोंको भय, शोक, रोग आदि दैहिक तापोंकी पीड़ा कैसे हो सकती थी। भौतिक ताप प्रकृतिके उपर्युक्त प्रकारसे प्रभावित हो जानेके पश्चात् कैसे हो सकते थे। दैविक ताप तो स्वकर्तव्यविमुख तथा अधार्मिक व्यक्तियोंको दण्डस्वरूप मिला करते हैं, उनकी रामराज्यमें स्थिति ही कहाँ थी?

त्रिविध विषमताका अभाव

रामराज्यमें (१) आत्मिक (आन्तरिक), (२) बाह्य और (३) आर्थिक विषमताएँ बिल्कुल नहीं थीं। १—सद्भाव, सद्विचार, सद्भावना और परमार्थ ही परम लक्ष्य होनेके कारण साधनाके द्वारा सभीके अन्तःकरण शुद्ध हो गये थे और सभी लोग भगवान्‌की प्रेमभक्तिमें निमग्न होकर परमपदके अधिकारी हो गये थे। इससे उनमें 'आत्मिक वैषम्य' नहीं था। वे सबमें अपने भगवान्‌को देखते थे—'निज प्रभुमय देखहिं जगत।'

२—आत्मिक विषमताके दूर हो जानेके कारण 'बाह्य विषमता' भी सर्वथा नष्ट हो गयी थी। किसीको किसी बातका गर्व करने अथवा छोटे-बड़ेका प्रश्न उठानेके लिये अवसर ही न था। शुद्ध अन्तःकरणवालोंको किसीसे राग-द्वेष अथवा छोटे-बड़ेका गर्व हो ही कैसे सकता था।

३—पर्वतोंके द्वारा मनोवाञ्छित मणिमाणिक्य दिये जानेसे, समुद्रद्वारा रत्नोंके बाहर फेंक देनेसे, विलासिता एवं आराम-तलबीके न रहनेसे, स्वकर्तव्यपालनकी निष्ठासे तथा मुद्राके सर्वथा न रहनेसे रामराज्यमें 'आर्थिक विषमता' भी नहीं थी। इसका अर्थ यह नहीं कि रामराज्यमें विशाल व्यापार ही नहीं था। वैश्यवर्ग अपना कर्तव्य समझकर बड़े-बड़े व्यापार करते थे। परंतु रामराज्यमें सभी वस्तुएँ बिना मूल्य बिकती थीं; जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, वह उसी वस्तुको बाजारसे जितनी चाहे, उतने परिमाणमें प्राप्त कर सकता था। इसलिये कोई विशेष संग्रह भी नहीं करता था।

राजा और प्रजाका सम्बन्ध

जिस राज्यमें पाप अथवा अपराधकी कभी स्थिति ही न हो, जिस राज्यके लिये श्रीगोस्वामीजीके अनुसार—

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥

—ऐसी स्थिति हो, उस राज्यमें, तथा जिसमें सम्राट् भगवान् रामचन्द्र प्रजासे कुछ आध्यात्मिक ज्ञानपर कहना चाहते हैं तो हाथ जोड़कर कहते हैं कि 'यदि आपलोगोंका आदेश हो तो मैं कुछ कहूँ। आपको अच्छा लगे तो सुनिये, अच्छा न लगे अथवा मैं कोई अनीतिपूर्ण बात कहूँ तो मुझे रोक दीजिये।'

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

—वहाँ, उस राज्यमें राजा-प्रजाके कैसे क्या सम्बन्ध हो सकते हैं—सो स्पष्ट है।

रामराज्यमें सभी व्यक्तियोंने इहलोक और परलोक दोनोंको सफल किया था। उस समयके-जैसा सर्वतोभावेन मर्यादा-मण्डित राज्य कभी स्थापित नहीं हो सका। इसीलिये आज भी, युगोंके पश्चात् भी भारतकी जनता पवित्र रामराज्यका स्मरण करती है!

तथा बेडौल शङ्ख निकृष्ट माने जाते हैं। नदी और समुद्रमें जो छोटे शङ्ख होते हैं, उन्हें शङ्खनख कहा जाता है। शङ्खके दो भेद मुख्य हैं—वामावर्त और दक्षिणावर्त। सामान्यतः वामावर्त शङ्ख ही पाये जाते हैं। दक्षिणावर्त शङ्ख थोड़े मिलते हैं और बहुत दामोंमें बिकते हैं, अतः लोग अब नकली दक्षिणावर्त शङ्ख भी बनाने लगे हैं। ठीक दक्षिणावर्त शङ्खके उस छिद्रको जिसे मुखपर लगाकर बजाया जाता है, यदि कानपर लगाया जाय तो बड़ी मधुरध्वनि सुनायी पड़ती है। दक्षिणावर्त शङ्ख अत्यन्त पुण्यप्रद माना जाता है। उसमें जल लेकर अर्घ्य देनेका बड़ा माहात्म्य शास्त्रोंने बताया है।

शङ्खका दर्शन और यात्राके समय शङ्खध्वनि मङ्गलसूचक मानी जाती है। शङ्खध्वनिसे संक्रामक रोगोंके जीवाणु नष्ट हो जाते हैं, यह कुछ वर्तमान चिकित्सकोंका मत है। शङ्ख भगवान् विष्णुका आश्रय है; अतः जहाँ शङ्ख रहता है, वहाँ भगवान् विष्णु तथा लक्ष्मीजीका निवास रहता है। स्त्री और शूद्रोंके लिये शङ्ख बजानेका निषेध है। वे यदि शङ्ख बजाते हैं तो लक्ष्मी रुष्ट होकर वहाँसे भाग जाती हैं, यह ब्रह्मवैवर्त-पुराणका आदेश है।

शङ्खका उपयोग केवल भारतमें ही भले होता रहा हो; परंतु इसी प्रकारके वाद्योंका उपयोग अन्य देशोंके भी इतिहास-में पाया जाता है। आस्ट्रेलिया और पोलीनेशिया द्वीपके निवासी शङ्खके बदले 'टिटनटोनिस' नामक एक प्रकारके शम्बूक (घोंघे) को काटकर शङ्खकी भाँति बजाते थे। इसी प्रकार पाश्चात्त्य सभ्य जातियोंमें भी 'बुक्सिनम् व्हेल्क' नामक शम्बूक बजानेकी प्रथा है।

घण्टा-नाद

प्रातःकाल मन्दिरोंसे उठनेवाली दीर्घ प्रणव-नाद-सी सुमधुर घण्टा-ध्वनि भारतीय हिंदू-कर्णोंके लिये अनादिकालसे परिचित एवं प्रिय है। देवपूजनमें घण्टा या छोटी घण्टीका नाद आवश्यक माना गया है।

स्नाने धूपे तथा दीपे नैवेद्ये भूषणे तथा।
घण्टानादं प्रकुर्वीत तथा नीराजनेऽपि च॥
(कालिकापुराण)

'देवताके श्रीविग्रहके स्नान, धूपदान, दीपदान, नैवेद्य-निवेदन, आभूषणदान तथा आरतीके समय भी घण्टानाद करना चाहिये।' भगवान्‌के आगे पूजनके समय घण्टा बजाने-से उत्तम फलकी प्राप्ति होती है, यह शास्त्रका आदेश है। घण्टा घनवाद्यमें माना गया है। कांस्यताल (झाल), ताल (मजीरा), घटिका (घड़ियाल), जयघण्टिका (विजयघण्ट), क्षुद्रघण्ट (पूजाकी घण्टी) और क्रम (लटकनेवाला घण्ट) —ये घण्टाके भेद हैं और इनमेंसे प्रायः सभीका मन्दिरोंमें उपयोग होता है। छोटे घण्टे (पूजाकी घण्टी) को पकड़कर बजानेके लिये ऊपरकी ओर धातुमय दण्ड होता है। उसमें ऊपरकी ओर गरुड़, हनुमान्, चक्र या पाँच फणोंके सर्पकी आकृति होती है। इन मूर्तियोंमेंसे किसी एकके घण्टादण्डपर रखनेका विधान है और उसका महत्त्व भी है। लटकनेवाले घण्टेपर देवताओंके नाम-मन्त्रादि अङ्कित करनेकी विधि है। भगवान्‌की मूर्तिके आगे शङ्खके साथ छोटी घण्टीका रखना आवश्यक बताया गया है। इस घण्टीकी पूजाका भी विधान है। गरुड़की मूर्तिसे युक्त घण्टीका बड़ा महत्त्व बताया गया है। जहाँ यह घण्टी रहती है, वहाँ सर्प, अग्नि तथा बिजलीका भय नहीं होता।

देव-मन्दिरमें घण्टानाद करना अत्यन्त पुण्यप्रद बताया गया है। 'मरते समय जो चक्रयुक्त घण्टानाद सुनता है, उसके समीप यमदूत नहीं आते।' यह स्कन्दपुराणका वचन है। इस प्रकार पुराणोंमें घण्टानादका व्यापक माहात्म्य वर्णित है। देव-मन्दिरको दुन्दुभिनाद अथवा शङ्खनाद करके ही खोलना चाहिये। बिना दुन्दुभिनाद, शङ्खनाद आदिके मन्दिर-द्वार खोलनेसे अपराध बताया गया है; किंतु यदि ये वाद्य न हों तो केवल घण्टानाद करके या घण्टी बजाकर द्वार खोलना चाहिये। घण्टा सर्ववाद्यमय एवं समस्त देवताओंको प्रिय है। हृदयमन्त्र (नमः) या अस्त्रमन्त्र (फट्) से घण्टा-पूजन करके उसे बजाना चाहिये। केवल देवी-पूजनके समय प्रणवयुक्त 'जयध्वनिमन्त्रमातः स्वाहा' इस मन्त्रसे घण्टा-पूजन-की विधि है। सिद्धि चाहनेवालेको बिना घण्टीके पूजा नहीं करनी चाहिये। 'हलायुध'ने श्रीशालग्रामजीके पादोदकके लिये आठ अङ्ग आवश्यक बतलाये हैं—१–शालग्रामशिला, २–ताम्रपात्र, जिसमें शालग्रामजी विराजें, ३–जल, ४–शङ्ख, जिससे स्नान कराया जाय, ५–पुरुषसूक्त, ६–चन्दन, ७–घण्टी, ८–तुलसी। पूजाके समय घण्टीको वाम-भागमें रखना चाहिये और बायें हाथसे नेत्रोंतक ऊँचा उठाकर बजाना चाहिये।

भगवान् विष्णुको तो घण्टा प्रिय है ही, भगवान् शङ्कर तथा भगवती एवं दूसरे सभी देवताओंको वह अत्यन्त प्रिय है। शिवमन्दिर तथा दूसरे मन्दिरोंमें भी बड़े-बड़े घण्टे चढ़ाने, लटकाने तथा उन्हें बजानेका माहात्म्य पुराणोंमें बहुत अधिक है। घण्टेकी ध्वनि देवताओंको प्रसन्न करने-

देवविग्रहों एवं गायत्री, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती प्रभृति सभी शक्ति-विग्रहोंका भी निजायुध है। सभी देवता शङ्खकी कामना करते हैं, इसीसे इसे 'कम्बु' कहा जाता है। भगवान् विष्णुका शङ्ख तो वेदमय ही है। भगवान्‌ने पाँच वर्षके बालक ध्रुवके कपोलका अपने शङ्खसे स्पर्श कर दिया; फलतः ध्रुवको परमात्मज्ञान तत्काल प्राप्त हो गया। गोपालतापनीय उपनिषद्‌के अनुसार श्रीकृष्णचन्द्रका पाञ्चजन्य शङ्ख पञ्चभूतात्मक रजोगुणरूप है। कृष्णोपनिषद्‌ने तो शङ्खको साक्षात् महालक्ष्मीका स्वरूप बताया है। महालक्ष्मी और शङ्ख एक साथ एक ही क्षीरसागरसे प्रकट हुए हैं, अतः दोनोंका एकत्व स्वतः सिद्ध है। तारसारोपनिषद्‌के अनुसार श्रीरामावतारमें श्रीभरतलालजीके रूपमें ही भगवान्‌के शङ्खका प्रादुर्भाव हुआ है।

शङ्ख-चिह्नाङ्कित शालग्राम-शिलामें श्रीलक्ष्मीजीका निवास शास्त्रोंने बताया है। भगवान् विष्णुके पूजनकी समस्त सामग्रीको शङ्खमें रक्खे जलसे प्रोक्षित करनेका विधान है और विष्णु-पार्षदोंमें विष्णुयन्त्रके आग्नेयकोणमें सर्वप्रथम शङ्ख-पूजनका आदेश है। देवपूजा और देवयात्रामें शङ्खनादका अपार महत्त्व है। सूर्य-मन्दिरमें दीर्घ नादवाले शङ्खको चढ़ानेका फल ब्रह्मलोककी प्राप्ति बताया गया है। सूर्य-मन्दिरमें शङ्खदानका महत्त्व सभी दानोंसे श्रेष्ठ बताया गया है। देवीपुराणमें शङ्खकी सूर्यमूर्ति बनाकर उसकी पूजाका विधान है। इसी प्रकार देवी-पूजन तथा भगवान् ब्रह्माके पूजनमें भी शङ्खका महत्त्व शास्त्रोंमें वर्णित है। इन सभी वर्णनोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अति प्राचीन कालसे हिंदुओंके धार्मिक आराधनादि कार्योंके साथ शङ्खका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। देवाराधनके अतिरिक्त यज्ञमें भी शङ्खध्वनिका बड़ा महत्त्व है और योगमें 'अनाहतनाद' शङ्खके शब्दकी भाँति ही सुनायी पड़ता है, यह योगशास्त्रके ग्रन्थोंमें अनेक स्थानोंपर बताया गया है।

भारतीय जीवनमें शङ्खका स्थान केवल आराधनातक ही सीमित नहीं है। वह तो सदासे हिंदू-जीवनका अङ्ग है। राजनैतिक जीवनमें शङ्ख युद्धकी घोषणा तथा विजयकी सूचना दोनोंका प्रतीक है। प्राचीनकालमें प्रत्येक योद्धा अपने साथ सदा शङ्ख रखता था। सबके शङ्खोंके पृथक्-पृथक् नाम होते थे तथा सबके शङ्ख-वादनके विभिन्न प्रकार होते थे। भगवान् श्रीकृष्णके शङ्खका नाम पाञ्चजन्य था। गुरुपुत्रको ढूँढ़ते हुए समुद्रमें प्रवेश करके वहाँ पञ्चजन नामक दैत्यको मारकर उसके शरीरसे यह शङ्ख भगवान्‌ने ग्रहण किया था। अर्जुनके शङ्खका नाम देवदत्त था। इसी प्रकार अनेक शङ्खोंके नाम महाभारतमें हैं। शङ्ख-धारणके कारण भगवतीका एक नाम ही 'शङ्खिनी' पड़ गया है। देवासुर-संग्राम, दुर्गा-असुर-युद्ध, महाभारत तथा दूसरे सभी युद्धोंमें शङ्ख-नाद या तो युद्धारम्भ, युद्धाह्वानका सूचक है या युद्धमें विजयका। शङ्खचूड़नामक दैत्यको मारकर भगवान् शङ्करने उसकी हड्डियाँ समुद्रमें फेंक दीं, उन्हीं अस्थियोंसे नाना प्रकारके शङ्ख उत्पन्न हुए। इसीसे शिवपूजामें शङ्खसे जल चढ़ाना वर्जित है। शेष सभी देवताओंको शङ्खोदक अत्यन्त प्रिय है। शङ्ख भारतका पुरातन राष्ट्रिय वाद्य है और वह सदा मङ्गलका प्रतीक माना गया है।

शङ्खका उपयोग यहींतक सीमित नहीं है। माला बनानेकी अनेक वस्तुओंमें शङ्खका नाम भी है। छोटे शङ्खोंकी माला बनती है। इस मालाके द्वारा जप करनेसे धन और कीर्ति प्राप्त होती है, यह रुद्रयामलका मत है। तन्त्रोंमें और भी कई सकाम अनुष्ठानोंमें शङ्खकी मालापर जप करनेका आदेश है। शङ्खकी माला और शङ्खकी चूड़ियाँ आभूषणोंके काम आती हैं। बंगालमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनी जाती हैं। ज्योतिषके ग्रन्थोंमें शङ्ख-धारणके मुहूर्त बताये गये हैं। औषधके रूपमें भी शङ्खका उपयोग अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रचलित है। औषधमें श्वेत शङ्ख उत्तम माना गया है। गण्डमाला रोगमें शङ्ख घिसकर लगानेसे लाभ होता है, यह बताया गया है। ग्रह तथा अलक्ष्मीकी पीड़ा, क्षय, कृशता, विष तथा नेत्ररोगोंपर शङ्खको लाभदायी कहा गया है। यह शूल, गुल्म, संग्रहणी, दन्तरोग, आँखकी फूली और फोड़ोंको नाश करता है। शोधनादि करके शङ्ख-भस्म बनायी जाती है। सामुद्रिकशास्त्रमें भी शङ्खाकृति, शङ्खरेखादिका बड़ा विशद वर्णन है।

रत्न-शास्त्रोंमें हाथी, सर्प, मछली, वराह, बाँस, सीप, सूअर तथा मेघकी भाँति शङ्खसे भी मोती निकलनेका वर्णन आता है। इस मोतीका रंग कुछ काला और आकार कबूतरके अंडेके समान बताया गया है। यह अनन्त ऐश्वर्यप्रद है और बहुत बड़ी तपस्याके फलरूपमें प्राप्त होता है। स्वयं शङ्खकी गणना रत्नोंमें है। यह हलके गुलाबी रंगका या सफेद होता है। गोलाई, चिकनापन और निर्मलता—ये शङ्खके तीन गुण हैं। भीतरके आवर्तमें यदि कोई खण्डित हो तो सोना लगा देनेसे वह दोष दूर हो जाता है। खुरदरे, बहुत भारी

संस्कृतिके प्रेरक

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'जय एकलिङ्ग !'

'जय एकलिङ्ग !' स्वभाववश प्रतिध्वनिकी भाँति कण्ठसे गम्भीर उत्तर निकलते-न-निकलते महाराणा अस्त-व्यस्त गुफा-द्वारकी ओर दौड़े। यह चिरपरिचित स्वर, नाभिसे उठनेवाली परा वाणीका यह जयघोष राजस्थानके आराध्य चरणोंको छोड़कर दूसरे कण्ठसे निकल नहीं सकता। द्वारपर दण्डकी भाँति महाराणा पृथ्वीपर सवेग प्रणत हुए। उनका स्वर्ण-मुकुट पाषाणपर घर्षित होकर झङ्कृत एवं कान्तिमान् हो गया। जैसे विनतने अपनी शुभ्रता व्यक्त कर दी हो।

'कल्याणमस्तु !' महाराणाके मस्तकपर जो वली-पलित कर आशीर्वाद देने फैल गया था, उसकी दिव्य छाया सुरपतिके लिये भी स्पर्धाकी ही वस्तु रहेगी।

'गुरुदेव !' पतिके चरणोंसे तनिक हटकर जीर्ण मलिन वस्त्रोंमें चित्तौड़की अधिष्ठात्रीने अपने यशोधवल भालसे भूमिका स्पर्श किया।

'सौभाग्यवती हो वीरमातः !' वृद्ध कुलगुरुकी दृष्टि नन्हे अमरकी ओर थी, जो उनके चरणोंपर मस्तक रखकर शीघ्रतासे गुफामें भाग गया था और अब एक नारिकेल-पात्रमें जल लिये आ रहा था।

'तू क्या कर रहा है ?' स्नेहसे गुरुदेवने पूछा।

'अर्घ्य दे रहा हूँ !' बालकने अपनी तोतली वाणीसे बताया। वह जलकी धारा गिराकर पात्र रिक्त कर चला था। वृद्धने स्नेहसे उसे खींच लिया। वे उसके मस्तकको वात्सल्यसे सूँघ रहे थे।

'प्रभु पधारें !' एक शिलापर महारानीने कुछ तृण बिछा दिये थे और बड़ी कठिनाईसे उनके भरे कण्ठसे ये शब्द निकलते थे। आज राजस्थान-सम्राट्के समीप दूसरा पात्र भी नहीं कि उससे कुलगुरुके चरणोदकका सौभाग्य प्राप्त हो। महारानीकी चिन्ता व्यर्थ नहीं थी; परंतु गुरुदेवके पादपद्म तो हिंदूकुलसूर्यने अपने नेत्रोंके जलसे धो दिये थे।

एक युग था। मानवको किसी उपकरणकी आवश्यकता नहीं थी। वह भगवती महाशक्तिकी खुली गोदमें निरन्तर महेश्वरका ध्यान करता था। उसके अन्तरकी श्रद्धा ही आराध्यका पूजोपकरण बनती और अतिथिका सत्कार! कुलगुरुने आसन स्वीकार कर लिया था। बालक अमर अभी उनकी गोदमें ही था। महाराणा उनके चरणोंके समीप मस्तक झुकाये हाथ जोड़े बैठे थे और बिना पीछे देखे भी वे जानते थे कि उनकी सहधर्मिणी उनकी ओटमें अपने अश्रु-प्रवाहको छिपानेका असफल प्रयास कर रही हैं।

'प्रताप !' तुम्हारे त्यागने सत्ययुगकी उस सात्त्विकताको यहाँ साकार कर दिया है !' ब्राह्मणके दीप्त भालकी ज्योति दुगुनी जगमगा उठी। उनके नेत्र अर्धोन्मीलित हुए और निर्वात दीपशिखाकी भाँति उनका निष्कम्प चित्त महेश्वरके ध्यानमें एकाग्र हो गया।

'सृष्टिके आदिमें कुलपुरुष भगवान् भास्करने जिनकी आत्मरूपसे आराधना की, पितामह वैवस्वतसे लेकर रघुवंशके आराध्य भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने राजसूय-अश्वमेधादि महामहायज्ञोंसे जिनकी अर्चा की, वे साक्षात् भगवान् वैश्वानर पधारे हैं, देवि !' महाराणाने पीछे देखा। उन्होंने सङ्केतसे ही पुत्रको गुरुदेवकी गोदसे नीचे बुला लिया था।

'अपने कंगाल कुटीरमें आज समिधाएँ भी कहाँ हैं ?' राजमहिषीकी वेदना दूसरा कोई कैसे समझेगा। महीनोंसे महाराणा प्रातःकालीन हवन समिधाओंसे ही सम्पन्न कर रहे हैं। इस वनमें शाकल्य और घृत कहाँ। आज साक्षात् अग्नि-स्वरूप गुरुदेव पधारे हैं; परंतु गुफामें तो सूखी समिधाएँ भी नहीं हैं। केवल जलसे अपने कुलगुरुकी अर्चना पूरी करनी है। और वह भी उसे, जो चित्तौड़का राजमुकुट सिरपर धारण करता है। दैव !........।

'प्रताप ! धन्य हो तुम !' गुरुदेवके नेत्र कुछ क्षणोंमें ही खुल गये। 'तुम्हें स्मरण है न—प्रत्येक कुम्भपर्वपर तीर्थकी पावनभूमिमें भारतके सम्राट् अपना सर्वस्व दान कर दिया करते थे ! एक ऐसे ही समय, जब महाराज रघुके समीप एक ऋषिकुमार पहुँचे, महाराजके समीप पाद्य एवं अर्घ्यके लिये केवल मृत्तिकाके पात्र थे !'

'गुरुदेव ! महाकवि कालिदासकी वाणी जिस यशोगानसे परिपूत हुई है, उसे कैसे विस्मृत किया जा सकता है; किंतु प्रतापका सर्वस्व क्या ? कंगाल है वह।'

वाली, असुर-राक्षसादि अपकार-कर्ताओंको भयभीत करके भगा देनेवाली, पापनिवर्तक एवं अरिष्टनाशक बतायी गयी है। भगवतीके दशभुजादि रूपोंमें घण्टा उनके करोंके आयुधोंमें है। अनेक कामनाओंकी पूर्ति तथा अरिष्टोंकी निवृत्तिके लिये विविध मुहूर्तोंमें मन्दिरमें घण्टा चढ़ानेका विधान पाया जाता है। देवपूजा, देवयात्रामें तो घण्टा-नादका वर्णन है ही, पितृ-पूजनमें भी घण्टानादकी विधि है। कुछ तन्त्रग्रन्थोंमें अपने रहनेके घरमें भी घण्टा बाँधने और उसका नाद सुननेका आदेश है। घण्टानाद मङ्गलमय है।

पूजनके अतिरिक्त हाथियोंके गलेमें घण्टा बाँधनेकी प्रथा-का उल्लेख सभी प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। सेनामें या जहाँ भी हाथी चलें, उनके घण्टेकी ध्वनिका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। रथ, छकड़ों आदिमें क्षुद्रघण्टिकाका वर्णन भी मिलता है। गायों, बछड़ों, साँड़ों आदिके गलेमें घण्टा बाँधनेका कौटिल्यने विधान किया है। इससे उनके चरनेका स्थान ज्ञात होगा और वन्यपशु उस ध्वनिसे डरकर भाग जायँगे। श्रीशुक्राचार्यजीने नीतिसारमें पहरेदारका एक काम यह भी बताया है कि वह समयपर घण्टा बजाया करे। यह प्रथा अब भी सर्वत्र प्रचलित है।

हिंदुओंके अतिरिक्त बौद्ध, जैन तो घण्टेका उपयोग करते ही हैं, ईसाई-धर्ममें भी इसका बड़ा महत्त्व है। भारतके अतिरिक्त बर्मा, चीन, जापान, मिस्र, यूनान, रोम, फ्रांस, रूस, इंग्लैंड आदिमें भी घण्टेका व्यवहार प्राचीन कालसे है। जैन-बौद्ध मन्दिरोंमें भी घण्टा लटकाया जाता है, जिसे लोग आते-जाते बजाया करते हैं। बर्मामें घण्टेमें लटकन नहीं होती। वह हरिणके सींग या हथौड़ीसे बजाया जाता है। बर्मा आदिमें बहुत बड़े घण्टोंका प्रचार है। रंगूनके 'श्वेदागुन' मन्दिरमें ११५४ मन १५ सेरका घण्टा है। मेंगूनका घण्टा १८ फुट ऊँचा और लगभग २५०० मनका है। चीनकी प्राचीन राजधानी पेकिंगके एक छोटे मठमें १४४७ मन २२ सेरका घण्टा है। और उसपर चीनी भाषामें बौद्धधर्मके उपदेश खुदे हैं। इसी नगरमें सात घण्टे हैं, जिनमेंसे प्रत्येकका बोझ १३६५ मनके लगभग है।

मिस्र और यूनानमें भी प्राचीन कालमें घण्टेका प्रचार था। मिस्रमें 'ओरिसिसका भोज' नामक उत्सवकी सूचना घण्टा बजाकर दी जाती थी। यहूदियोंके प्रधान याजक 'आरत' अपने कुर्तेमें छोटी-छोटी घण्टियाँ सिलवाते थे। यूनानके सैनिक शिविरोंमें घण्टा बजता था। रोममें घण्टा बजाकर स्नानादिकी सूचना देनेकी प्रथा थी। कैम्पानियामें पहले-पहले बड़ा घण्टा बना और उसे 'कैम्पना' नाम दिया गया। इसीसे गिर्जाघरोंके उन बुर्जोंको, जिनमें बड़े घण्टे टँगे रहते हैं, 'कम्पेनाइल' कहते हैं। गिर्जाघरोंमें प्रार्थनाके समयकी सूचना घण्टा बजाकर दी जाती है। गिर्जाघरोंके कुछ घण्टे विशालताके लिये विश्वमें प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे रूसके मास्को नगरमें १७०६ घण्टे थे। इनमें एक ३६०० मनका था। इसकी लटकन हिलानेके लिये २४ आदमी लगते थे। एक बार गिरकर यह टूट गया और तब सन् १७९१ में ८ लाख ७१ हजार रुपये लगाकर फिर ढाला गया। इस बार यह ६० फुट ९ इंच घेरेका, २ फुट मोटा और ४२८६ मन वजनका बना। तबसे इसका नाम 'घण्टाराज' पड़ गया। इसका एक भाग कुछ टूट गया है, जिससे उसमें दरवाजा-सा बन गया है। यह घण्टा आजकल 'छोटा गिर्जा' कहा जाता है। इसका टूटा अंश ही ११ मनका है। ईसाई भी प्राचीन कालसे घण्टेको पवित्र मानते आये हैं। घण्टा बनाते समय वे अनेक धार्मिक क्रियाएँ करते थे। बन जानेपर घण्टेका बपतिस्मा और नामकरण होता था। घण्टेपर वे पवित्र मन्त्र खुदवाते हैं। उनका विश्वास था कि घण्टेकी ध्वनिसे आँधी, बीमारी, अग्निभय आदि दूर होते हैं। संवत् १९०९ विक्रममें जब माल्टामें भयङ्कर आँधी आयी, तब वहाँ-के बिशपने समस्त गिर्जाघरोंमें घण्टा बजानेका आदेश भेजा। आँधी बंद करनेके लिये सब घण्टे कई घंटे लगातार बजते रहे। पहले किसीकी मृत्युके समय घण्टा बजानेकी प्रथा ईसाइयोंमें थी, पर वह धीरे-धीरे मृत्युसे एक घण्टे पूर्व बजानेकी हो गयी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि घण्टा-नादसे मृतककी देह पवित्र हो जाती है और पिशाचादि भाग जाते हैं। कहीं-कहीं अब भी मृतकके श्मशान पहुँचने तथा अन्त्येष्टि पूरी होनेतक घण्टी बजायी जाती है। गिर्जाघरोंमें प्रार्थना समाप्त होनेपर भी घण्टा बजता है। अन्तमें गिर्जाघरोंके घण्टेसे मृदु सङ्गीत-ध्वनि निकालनेका प्रयत्न हुआ। एक या अनेक घण्टोंकी ध्वनिसे सुस्वर सङ्गीत उत्पन्न किया जाता है। इंग्लैंड-फ्रांसादिमें ऐसे घण्टे हैं। भारतकी भाँति यूरोपमें भी प्राचीन समयसे घोड़ों तथा दूसरे पशुओंके गलेमें घण्टा बाँधनेकी प्रथा मिलती है, इससे भटके पशु सरलतासे खोज लिये जाते हैं।

इस प्रकार मुसल्मानोंको छोड़कर प्रायः सभी धर्मों और देशोंमें घण्टा बजानेकी प्रथा है और उसके नये-नये उपयोग बढ़ते जा रहे हैं। इतिहासके विद्वानोंकी धारणा है कि यह प्रथा भारतसे ही संसारमें फैली है।

शुद्धाचारी हैं; पर उनके तपःपूत विप्रोंके आहवनीय-कुण्डोंसे उठी धूम्र-शिखाएँ नेत्रोंको कलुषित, पीड़ित करती हैं, प्रताप!' गुरुदेवका वह सम्बोधन महाराणाके हृदयमें बाणकी भाँति अबतक चुभ रहा है। चुभता ही जा रहा है।

'भगवान् एकलिङ्गका पवित्र नाम लेनेमें उसी दिनसे जिह्वा काँपती है। आज गुरुदेवने मस्तक झुका लिया और अब यह पत्र आया है दिल्लीसे……।' जैसे कोई अपने प्राणदण्डके आज्ञापत्रको देख रहा हो।

'उसमें धागेके पाँच फेरे हैं। वे धागे पीले हैं!' भीलको स्वयं भी आश्चर्य था कि दिल्लीका पत्र इस प्रकार क्यों है।

'जय एकलिङ्ग!' जैसे महाराणामें पुनः जीवन लौट आया हो। उन्होंने पत्र खोला बड़ी शिथिलतासे था; किंतु शीघ्र ही वह शिथिलता दूर हो गयी। मुखमण्डल हर्ष, उत्साहसे दमक उठा। हाथ मूछोंपर गये और फिर कटिमें बँधे खड्गकी मूठपर।

'सिंहके शिशु बंदी होकर भी शृगाल नहीं हो जाते! दिल्लीमें भी सिंह तो हैं। भगवान् एकलिङ्ग! गुरुदेव!' महाराणाने पृथ्वीराजका ऐतिहासिक पत्र चकित राजमहिषीकी ओर बढ़ा दिया। उनकी दृष्टि कृतज्ञतापूर्वक ऊपर उठी और श्रद्धासे मस्तक झुक गया।

× × × ×

'एकलिङ्गेश्वरकी जय!' वल्गा खिंचनेसे अश्वोंके अगले पैर एक क्षण उठे ही रह गये और वीरोंके कण्ठोंने आश्रम-द्वारको जयघोषसे ध्वनित किया।

'जय एकलिङ्ग!' वृद्ध ब्राह्मणकी दृष्टि उठनेसे पूर्व राजस्थानका जाग्रत् शौर्य उनके पदोंमें प्रणिपात कर रहा था।

'महामन्त्री भामासाहका त्याग प्रतापका प्रोत्साहन बन गया है और भीलराजकी वन्यवाहिनी अदम्य है। विजयश्री तो श्रीचरणोंके आशीर्वादकी अनुगामिनी है।' महाराणा कुलगुरुके चरणोंके समीप सरल भावसे बैठ गये थे घुटनोंके बल। जैसे कोई आराधक अपने आराध्यके पदोंमें बैठा हो। महामन्त्री सङ्कुचित पीछे करबद्ध खड़े थे और आश्रमद्वारपर जानु टेके भीलराज अपनी 'पीछे खड़ी' सेनाके आगे ऐसे लगते थे जैसे शूरताकी उत्तुङ्ग जलराशि इस सत्त्वके पुलिनसे पवित्र होने आयी हो और उसे मर्यादाने साकार होकर सीमित कर दिया हो।

'धर्म नित्य विजयी है! वह आशीर्वादकी अपेक्षा नहीं करता! भगवान् हव्यवाह् तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करें!' आचार्य अब भी हवनके आसनपर ही खड़े थे। सम्मुख कुण्डमें आहुतितृप्त अग्निदेवकी निर्धूम लाल-लाल सीधी लपटें उठ रही थीं—लाल-लाल लपटें, ब्राह्मणके त्याग, तप, संयम एवं क्षत्रियके शौर्य, ओज, प्रचण्ड प्रतापकी प्रतीक। महाराणाने अतृप्त उल्लसित नेत्रोंसे दो क्षण अग्निदेवके दर्शन किये और फिर भूमिपर मस्तक रक्खा।

'ब्राह्मण—नित्य तुष्ट, प्रभुकी इच्छामें अपनी इच्छा विलीन करनेवाला, सबका शुभैषी होता है, प्रताप!' गुरुदेवकी वाणी स्नेह-स्निग्ध थी। 'उसके लिये न कोई शत्रु है, न मित्र। न दण्डनीय है और न स्नेह-पात्र; किंतु जब शासक शिथिल होता है, तब ब्राह्मणकी वृत्ति विकृत हो जाती है। उसकी शक्ति प्रकृतिके राजस क्षेत्रमें उन्मुक्त नहीं हो पाती!'

'गुरुदेव!' महाराणा इस वाणीका मर्म जानना चाहते हैं।

'ब्राह्मणकी तपस्या और पवित्रताके साथ शासकका अदम्य शौर्य अपेक्षित है, संस्कृतिके इस प्रोज्ज्वल प्रतीकको धूम्रहीन रखनेके लिये!'

'ओह!' महाराणाको विलम्ब नहीं लगा समझनेमें। उस दिन उन्होंने सोचा था कि गुरुदेवके हवनीय-कुण्डसे भी धूम्र क्यों उठना चाहिये और दयामय गुरुदेवने केवल सङ्केत किया था। आज इस यात्राके समय एक आदेश है इसमें उनके लिये। उन्होंने खड्ग खींच लिया और यज्ञाग्निके सम्मुख मस्तक झुका दिया। गुरुदेवका हाथ उनके मस्तकपर छाया करता फैल गया था।

इतिहास साक्षी है हिंदू-कुल-मुकुटमणिकी उस मूक प्रतिज्ञाका। वह शौर्य अन्ततक अग्नि-सा प्रज्वलित, प्रकाशमय, दुर्धर्ष रहा। सम्राट् अकबरका अपार अध्यवसाय उसमें आहुति बनकर रह गया!

वसुधा किय विख्यात समरथ कुळ सीसोदियाँ।
राणा जस री रात प्रगट्यो भलाँ प्रतापसी॥

सीसोदियोंके वंशकी सामर्थ्यको पृथ्वी भरमें प्रकाशित करनेके लिये हे राणा प्रतापसिंह! तुमने यशोमयी रात्रिमें भले ही जन्म लिया!

'राणा ! धर्मके सङ्कटकी पुण्यतिथिमें जिसने अपने सर्वस्वकी आहुति दे दी है, उस कंगालकी यशोगाथासे कवियोंकी वाणी पावन होगी ! मैं आज चक्रवर्ती खुर्रमके उस यशान्तका स्मरण कर रहा हूँ।'

'देव ! सन्तोष भी जिनके श्रीचरणोंसे प्रेरणा प्राप्त करता है, उनकी शाश्वत तुष्टिमें बाधा दे सके, ऐसी शक्ति कहाँ है !' महाराणाकी वाणी आगे कुछ कह न सकी; किंतु उनकी दृष्टि उस रिक्त नारिकेल जलपात्रपर थी, जो औंधा पड़ा था और वह दृष्टि अपनी व्यथा सुनानेके लिये वाणीकी अपेक्षा नहीं करती थी।

[२]

'जय एकलिङ्ग !' एक वन्य भीलने भूमिपर लेटकर प्रणाम किया और एक भूर्जपत्र आगे बढ़ा दिया। इस गुफामें इन निष्काम सेवकोंका प्रवेश अबाध है। अन्ततः इन्हींकी सेवा तो महाराणाको यहाँ निरापद रखती है।

'जय एकलिङ्ग !' महाराणाके कण्ठसे बड़ी कठिनतासे यह ध्वनि इधर निकलती है। वे इसके साथ ही चौंक पड़े। पत्रको ध्यानसे देखा, जैसे वह कोई विषैला जन्तु हो। 'पत्रमें पाँच तहें हैं, पाँच ही बार उनपर सूत्र लपेटा गया है। सूत्र भी पीत है, श्वेत नहीं। तब पत्र किसी अपने अनुचरका है।' दाहिने हाथमें पत्र ले लिया उन्होंने।

'एक राजपूतने दिया है ! वह उत्तरकी प्रतीक्षा करेगा घाटीके उस पार ! कहता था, दिल्लीसे आया है !' भीलके स्वरमें घृणा, तिरस्कार, उपेक्षा, उत्कण्ठा—पता नहीं क्या-क्या थी। वह स्थिर दृष्टिसे राणाकी ओर देख रहा था।

'दिल्लीसे आया है ?' राणा चौंके। पत्र हाथसे छूट गया।

'दिल्लीसे पत्र !' महारानीने सुना और पास आ गयीं। उनके नेत्रोंमें विस्मय था।

'उस दिन वन-बिलावने तुम्हारी घासकी रोटी कुमारके हाथसे छीन ली और वह क्रन्दन कर उठा !' महाराणा नीचे गिरे पत्रकी ओर मस्तक झुकाये स्थिर देख रहे थे।

'रहने भी दीजिये ! बालकोंकी रोने-गानेकी बातोंपर ध्यान देकर कहाँतक कोई कर्तव्यपर स्थिर रह सकता है !' वाणीमें चाहे जो कह लिया जाय, पर माताका हृदय क्या ऐसे स्मरण शान्तिसे सह पाता है ?

'मैं भी अन्ततः मनुष्य ही हूँ—दुर्बल मनुष्य ! मेरे धैर्यकी सीमा समाप्त हो गयी उस दिन। मैंने अकबरको पत्र भेज दिया।' महाराणा-जैसे किसी महापापकी गाथा सुना रहे हों।

'पत्र ! अकबरको ? क्या·······'

'यही कि मैं उसकी राज्य-सत्ताको स्वीकृति दे दूँगा यदि·······।'

'यदि वह आपपर, आपके बच्चेपर, आपकी स्त्रीपर दया करे ! आपको कोई दरबारमें बड़ा पद·····।' जैसे वज्रपातसे सिंहिनी चीत्कार कर उठी हो। वह जंगली भील उस महाशक्तिके चरणोंकी ओर पृथ्वीपर मस्तक रखकर बड़े जोरसे चिल्ला पड़ा—'जय एकलिङ्ग !'

'मैं आज प्रातः गुरुदेवके दर्शनार्थ गया था।' महाराणा अपराधीकी भाँति मस्तक झुकाये कहते जा रहे थे। गुरुदेवके नामने महारानीको तनिक शान्त कर दिया।

'मेरे प्रणिपातका उत्तर नहीं मिला। गुरुदेव हवन-कुण्डके समीप विराजमान थे। समिधाएँ प्रज्वलित नहीं हो रही थीं। धूम्रसे उनके नेत्र अश्रुपूर्ण एवं अरुण हो गये थे, जैसे उन दयामयने मेरे अपराधपर उठे रोषको भीतर ही रोक लिया हो। महारुद्रके समान वे लाल-लाल नेत्र अश्रुसे करुणापूर्ण हो गये थे।' महाराणाने दोनों हाथ मस्तकपर रख लिये। उनके नेत्रोंसे टप-टप बूँदें गिर रही थीं।

'पहली बार प्रतापको गुरुचरणोंसे आशीर्वाद नहीं मिला। उन तपोमयके आशीर्वादका अधिकारी अब मैं रहा ही नहीं। बड़ी ही वेधक करुणदृष्टिसे उन्होंने मेरी ओर देखा।' दो क्षणके लिये वाणी रुक गयी।

'आदियुगमें अग्निदेव ब्राह्मणके हृदयमें निवास करते थे। कल्मष था ही नहीं, तब शासन और पवित्रता किसकी की जाय। त्रेताके अन्ततक ब्राह्मणकी वाणी ही भगवान् वैश्वानरका वाहन थी। नरेशोंकी विशुद्ध श्रद्धासे सम्पन्न हुए यज्ञोंमें विप्रोंके सङ्कल्पसे मूर्तिमान् अग्निदेव प्रकट हो जाते थे। देवता स्वयं अपना भाग आकर स्वीकार करते थे। द्वापरका अन्तिम चरणतक साक्षी था कि जनमेजयके सर्पसत्रमें भी अग्निज्वालाएँ मन्त्रपाठका अनुगमन करती थीं। ब्राह्मणके लिये अरणि-मन्थन केवल उपचारमात्र था। अग्निदेव तो आह्वानकी प्रतीक्षा करते रहते थे। यह कलियुग है। अग्निका धाम ब्राह्मणका मुख हो गया है प्रताप ! केवल पवित्र शासन ही अग्निके उत्थानसे शुद्ध होता है। मैंने देखा है, तुम्हारी धर्मनिष्ठाने भगवान् हव्यवाहका पथ नित्य प्रशस्त रक्खा है। मैंने देखा है कि मानसिंह अत्यन्त धार्मिक, श्रद्धालु एवं

दिया। बाजारोंमें हड़ताल कर दी गयी। वैश्य-समाजके नेताओंने किलेके नीचे जाकर धरना दे दिया। गोलमाल सुनकर बादशाहने खिड़की खोली। पूछा 'क्या मामला है ?' सेठोंने सारी कहानी सुनायी। बादशाहने कहा—'इसी वक्त वह लड़की आपलोगोंकी सिपुर्दगीमें दे दी जायगी। कल हमारे दरबारमें यह मुकदमा पेश होगा, इतमीनान रखिये, मैं यह बात जानता हूँ कि जोर-जुल्म करनेवाली बादशाहत बादलकी छाँहकी तरह टिकाऊ नहीं होती।'

लड़कीको लेकर सेठलोग वापस चले गये।

× × ×

दूसरे दिन बादशाहके दरबारमें वह लड़की पेश की गयी। काजीजी भी बुलाये गये। काजीसे बादशाहने पूछा—

बादशाह—इस हिंदू लड़कीको, जो खुशीसे इस्लाम कबूल नहीं करती, क्यों जबरन मुसल्मान बनाया जा रहा है ?

काजी—जहाँपनाह! शरहके कानूनसे यह लड़की उसी वक्त मुसल्मान हो गयी कि जिस वक्त उसका बाप मुसल्मान हुआ। यह उस वक्त नाबालिग थी। रजस्वला नहीं हुई थी।

बादशाह—रजस्वला होना ही बालिग होनेका प्रमाण नहीं है। ऐसी भी लड़कियाँ हैं कि जो बालिग हैं, मगर रजस्वला नहीं हुईं।

काजी—गरीबपरवर! जो मुनासिब समझें, हुक्म दें।

बादशाह—शरहमें यह भी लिखा है कि जबरन किसीको मुसल्मान नहीं बनाना चाहिये। इसी दफाके मुताबिक हम इस लड़कीको बरी करते हैं। सेठ घनश्यामदासजीको यह लड़की सौंपी जाती है। वे ईमानदार तथा अच्छी चाल-चलनके आदमी हैं। वे जहाँ चाहें, इस कन्याका विवाह कर सकते हैं। लिहाजा मुकदमा खारिज और मिसिल दाखिल दफ्तर!

कन्या सेठजीके साथ चली गयी।

× × ×

दूसरे दिन थी जुम्मेकी नमाज। जुम्मा मस्जिदमें एक लाख मुसल्मान जमा हुए। बादशाह भी गये थे। मुल्ला लोगोंने बादशाहको आड़े हाथों लिया और उनके फैसले-को तार-तार कर दिया। इस्लामी बादशाही, वास्तवमें मौलवी लोगोंकी बादशाहत थी।

बादशाहने देखा कि मामला बिगड़ा जाता है। कहीं ऐसा न हो कि मुझे तख्त और ताजसे भी हाथ धोना पड़े। नरम पड़ गये और बोले—

बादशाह—आखिर आपलोग इस मामलेमें क्या चाहते हैं?

मौलवीलोग—यह मामला मजहबका है—राजनीतिका नहीं। इस मामलेका आखिरी फैसला 'जुम्मा मस्जिद'की अदालत यानी अंजुमने-मौलाना' ही कर सकती है।

बादशाह—तो अब क्या होना चाहिये ?

मौलवीलोग—उस लड़कीको फिर हिरासतमें ले लीजिये। कल उसकी पेशी जुम्मा मस्जिदकी अदालतमें होगी। आयन्दा धर्मके मामलेमें आप दखल न किया करें।

किरनको फिर जेलमें बंद कर दिया गया।

× × ×

एक टाटपर बैठी किरन भविष्यको सोच रही थी। कटार लिये एक जल्लाद आया। किरन खड़ी हो गयी और बोली—

किरन—तुम कौन हो ?

जल्लाद—मैं जल्लाद हूँ।

किरन—यहाँ क्यों आये ?

ज०—तुमको मारने।

किरन—किसके हुक्मसे ?

ज०—मौलानालोगोंके हुक्मसे

किरन—क्या हुक्म हुआ मेरे लिये ?

ज०—न रहे बाँस न बजे बाँसुरी।

किरन—बादशाहके हुक्मके खिलाफ ?

ज०—जुम्मा मस्जिदकी अदालत, बादशाहोंके बनाने और बिगाड़नेवाली अदालत है।

किरन—अच्छी बात है।

ज०—मुसल्मान हो जाओ या मरनेको तैयार हो जाओ।

किरन—मरनेको तैयार हूँ। अपना हिंदू-धर्म नहीं त्यागूँगी। जल्लादने कटार तानी।

किरन—तुम मत मारना। मेरा बदन एक यवन नहीं छू सकता।

ज०—फिर कौन मारेगा ?

किरन—मैं खुद मर जाऊँगी। यह कटार मुझे दो।

ज०—खूब! यह कटार मैं तुमको दे दूँ, ताकि यह तुम्हारे सीनेमें न जाकर मेरे सीनेमें घुस जाये ? चालाक तो तुम कम नहीं हो।

किरन—मुझे कटार भी नहीं चाहिये।

जल्लाद—तो फिर कैसे मरोगी ?

किरन—ऐसे।

हिंदू-धर्मका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—चौधरी श्रीशिवनारायणजी वर्मा)

सन् १७२५ की घटना है। भारतसम्राट् मुहम्मदशाह दिल्लीके सिंहासनपर आसीन थे। बादशाहका मीरमुंशी एक वैश्य था। सनम, शराब, शतरंज और सङ्गीतकी सुहबतसे वह मुसल्मान हो गया। हिंदू नाम था—रामजीदास सेठ। मुसल्मानी नाम मिला—मियाँ अहमदअली।

रामजीदासकी स्त्री मर चुकी थी। घरमें केवल एक कन्या थी। नाम था—किरन। उसने अपनी कन्याको बहुत समझाया; परंतु वह मुसल्मान होनेपर राजी न हुई, न हुई। अन्तमें काजीकी कचहरीमें अहमदने अर्जी दी कि 'जिस वक्त मैंने अपना मजहब तब्दील किया था, उस वक्त मेरी लड़की नाबालिग़ थी। इस्लामी कानूनके मुताबिक़, मेरे मुसल्मान होते ही वह भी मुसल्मान हो गयी। अब वह बालिग़ है—इसलिये उसे बाक़ायदा इस्लाम मजहब हासिल कर लेना चाहिये। उसे इनकार करनेका हक नहीं है। मगर वह इनकार करती है। लिहाजा सरकार सरकारी दबावसे उसे मुसल्मान बनावे। यही मेरी दिली तमन्ना है।'

काजीने किरनको कचहरीमें बुलाया। उस षोडशवर्षीया बालाने आकर अदालतको जगमगा दिया। लड़की अत्यन्त सुन्दरी थी। वह निर्भय खड़ी थी और उसकी त्यौरी चढ़ी हुई थी।

काजी—तुम अहमदअलीकी लड़की हो?

किरन—जी नहीं।

काजी—फिर किसकी हो?

किरन—सेठ रामजीदासकी।

काजी—दोनों एक ही तो हैं?

किरन—जी नहीं। मेरा बाप तो उसी क्षण मर गया था कि जिस क्षण उसने हिंदू-धर्मका त्याग किया था।

काजी—अहमदअली तुम्हारा बाप नहीं है?

किरन—जी नहीं।

काजी—तुम उसके साथ रहना नहीं चाहती हो?

किरन—जी नहीं।

काजी—कहाँ रहोगी?

किरन—किसी हिंदूके घर रहना चाहती हूँ।

काजी—लड़की! गुस्सेको थूक दो और समझसे काम लो। तुम्हारे हिंदू-धर्मसे हमारा इस्लाम-धर्म बढ़िया है। इस्लाम कहता है कि खुदा एक है—हिंदू-धर्म कहता है कि ईश्वर सैकड़ों हैं!

किरन—सैकड़ों नहीं—करोड़ों! जितने जीव हैं, वे सब वास्तवमें ईश्वर हैं, यही हमारे धर्मकी शिक्षा है। हिंदू-धर्म कहता है कि ईश्वरके सिवा और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार सूर्य और किरन! किरन भी तो सूर्य ही है। इसी प्रकार कहनेके लिये जीव और ईश दो हैं—वास्तवमें एक ही चीज है। हमारी गीतामें यही लिखा है।

काजी—अगर तुम मुसल्मान हो जाओ तो तुम्हारा नाम बजाय किरनके शम्स रख दिया जायगा। वजीर साहबके लड़केके साथ तुम्हारी शादी करा दी जायगी। इस वक्त तुम एक 'अनाथ लड़की' हो। फिर—'वजीरजादी' कहलाओगी। भिखारिनसे रानी बन जाओगी।

किरन—अपने धर्ममें भिखारिन रहना अच्छा है—पराये धर्ममें जाकर रानी बनना अच्छा नहीं। वह 'धर्मप्रियता' नहीं—वह 'धर्मनिश्चय' नहीं, जो लोभ या भयसे बदला जा सके।

काजी—जिस वक्त तुम्हारा बाप मुसल्मान हुआ था, उस वक्त तुम्हारी क्या उम्र थी?

किरन—तेरह साल।

काजी—रजस्वला हुई थी या नहीं?

किरन—जी नहीं।

काजी—तब तुम उस वक्त नाबालिग थीं?

किरन—जी हाँ।

काजी—तब तो तुम इस्लामी कानूनकी दफासे उसी वक्त मुसल्मान हो चुकीं कि जब तुम्हारा बाप मुसल्मान हुआ था।

किरन—इस्लामी कानून इस्लामके सिरपर सवार हो सकता है, हिंदू-धर्मपर नहीं। मैं इस कानूनको नहीं मानती।

काजी—'इस्लाम-धर्मकी तौहीनमें इस लड़कीको जेलमें भेजो।' बेचारी किरन शाही जेलखानेमें भेज दी गयी।

× × ×

यह सनसनीखेज समाचार सारे शहर दिल्लीमें व्यापक हो गया। वैश्यसमाजने कुपित होकर सारा कारोबार बंद कर

महारानी—बजरंगबली ब्रह्मचारी थे। आज भी वे मौजूद हैं। नारद, शुकदेव और दत्तात्रेय कब मरे थे ?

महाराज—मुझे तुम्हारी बातोंसे सन्तोष नहीं होता।

महारानी—(मुसकराकर) आखिर आप क्या चाहते हैं ?

महाराज—सन्तान।

महारानी—परंतु एक मेरी भी शर्त है।

महाराज—वह क्या ?

महारानी—सन्तानपर आपका कुछ भी अधिकार न होगा। उसकी शिक्षा-दीक्षा सर्वथा मेरे हाथमें रहेगी।

महाराज—स्वीकार है।

महारानी—मैं चाहे जो करूँ—चाहे उसे मार ही डालूँ—आप बीचमें कोई दखल नहीं देंगे ?

महाराज—स्वीकार है।

महारानी—त्रिवाचक कहिये।

महाराज—मेरी सन्तानपर, उसकी माताका पूर्ण अधिकार मुझे स्वीकार है ! स्वीकार है !! स्वीकार है !!!

महारानी—'परमात्माको व्यापक और द्रष्टा मानकर मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ'—यह भी कहिये !

महाराज—परमात्माको व्यापक और द्रष्टा मानकर मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ।

महारानी—तो मुझे भी आपकी बात स्वीकार है।

× × × ×

सालभर बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ। महारानीने अपने कमरेमें देवताओं तथा महात्माओंके चित्र लगा रक्खे थे। राजकुमारके शिक्षक एक विरक्त ब्राह्मण बनाये गये। रानी भी उसे वैराग्यकी शिक्षा देती थीं। राजा भी—'जिसमें तेरी रजा, उसीमें मेरी रजा'के अनुसार ज्ञानोपदेश किया करते थे। फल यह हुआ कि बारह सालका होते-न-होते राजकुमार साधु बनकर महलसे निकल गया। आत्मानन्द नाम हुआ उसका।

तीन साल बाद दूसरा लड़का पैदा हुआ। उसका भी वही हाल हुआ।

तीन साल बाद तीसरा लड़का पैदा हुआ। एक दिन राजा-रानीमें फिर विचित्र बातचीत हुई—

महाराज—इस लड़केको साधु मत बना देना।

महारानी—अवश्य बनाऊँगी।

महाराज—तब तो सिंहासन सूना-का-सूना ही रहेगा। सन्तान पैदा करनेका लक्ष्य क्या था ?

महारानी—मैं आपसे प्रतिज्ञा ले चुकी हूँ।

महाराज—मैं वह प्रतिज्ञा अस्वीकार नहीं करता। परंतु तुमसे पुनः प्रार्थना करता हूँ कि इस पुत्रको राजकीय शिक्षा दी जाय। इसकी शिक्षाका प्रबन्ध मेरे हाथोंमें दे दो।

महारानी—अच्छी बात है।

इस तीसरे कुमारका नाम था—अशोककुमार।

जब अशोककुमार एक सुयोग्य युवक हो गया, तब राजा और रानी उसे राजकाज सौंपकर वनमें तप करने चले गये। वे अपने बड़े कुमार आत्मानन्दके आश्रममें जा पहुँचे और वहीं रहने लगे। दूसरा कुमार न मालूम साधुओंके साथ कहाँ चला गया।

एक दिन आत्मानन्दने माता मदालसासे कहा—

आत्मा०—माताजी ! आप कभी-कभी बहुत चिन्तातुर हो जाती हैं।

मदालसा—हाँ, मुझे तुम्हारे छोटे भाईकी चिन्ता सताती है। वह राजकाजमें पड़ा हुआ ईश्वरको भूल रहा है। यों ही रहा तो वह मरकर अवश्य नरकमें जायगा। क्योंकि—'तपसे राज्य और राज्यसे नरक !'

आत्मा०—आपकी चिन्ता कैसे दूर हो सकती है ?

माता—तुम अपने मामाके पास जाओ। उनकी सेना लेकर अपने छोटे भाईपर चढ़ाई कर दो। उसे पराजित करके खुद राजा बन जाना और उसे वनमें तपके लिये भेज देना। जब तुम राजा हो जाओ, तब अपना विवाह कर लेना। एक पुत्र पैदा करना और उसे गद्दी देकर रानीके साथ यहाँ चले आना। इस प्रकार मेरी कोई सन्तान मूर्ख और पापी न रह सकेगी। मेरे तीनों पुत्र इस प्रकार भगवद्भजन कर सकेंगे और मुक्त हो सकेंगे। माताका आदर्श यही है कि जो जीव उसके गर्भमें आये—उसे मुक्त करा दे। उसे पुनः-पुनः जननी-जठरमें न आना पड़े। गर्भ भी एक नरक है।

आत्मा०—जो आज्ञा।

आत्मानन्द अपने मामाके पास गया। उसने सेना लेकर काशीपर चढ़ाई कर दी। अशोककुमार हार गया और बंदी हुआ। छः मास बाद आत्मानन्द अपने भाईके पास जेलमें गया और बोला—

आत्मा०—राजन् ! मैं आज आपका राज्य आपको लौटाने आया हूँ।

—कहकर उस कन्याने अपना सिर इतने जोरसे पत्थरकी दीवालमें दे मारा कि वह खरबूजेकी तरह फट गया। खूनका फव्वारा कोठरी भरमें बरसने लगा।

इस भयानक मौतको देखकर जल्लाद भी काँप गया। बोला—'शाबाश! हिंदू लड़की! शाबाश! हिंदू-धर्मके सिवा, इस तरहसे मरना और कौन सिखा सकता है।'

शहरके सेठोंने लाश माँग ली। रथीको खूब सजाया गया। कहते हैं कि उस कन्याके शवपर जनताने इतने फूल, फल, मेवा, बताशे और रुपये-पैसे न्यौछावर किये कि जितने किसी शवपर नहीं हुए थे!

सन् १७२५ ईस्वीकी गरमीकी मौसम थी। किरनने हकीकत रायकी भी धर्मप्रियता जीत ली थी। हिंदू-संस्कृतिका यही आदर्श है कि 'प्राण भले ही चले जायँ, अपना धर्म न जाने पाये! क्योंकि जो धर्मका हनन करता है, धर्म उसका हनन कर डालता है।' धर्मपर न्यौछावर होकर किरनदेवी अपना नाम सुनहरे अक्षरोंमें अमर कर गयी है।

माताका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—मुखिया विद्यासागर)

इतिहासप्रसिद्ध महारानी मदालसाका विवाह काशी-नरेशसे हुआ था। द्विरागमनमें जब वह पतिगृह आयी, तब एक दिन काशीनरेशने सहवासकी इच्छा प्रकट की। उस समय आधी रातका समय था। पतिकी इच्छापर मदालसाने कहा—

महारानी—मैं ब्रह्मचर्यसे रहूँगी।

महाराज—तो विवाह क्यों किया था?

महारानी—विवाह मेरी माताने कर दिया। पिताजी मेरे पक्षमें थे।

महाराज—विवाहके बाद ब्रह्मचर्य सम्भव नहीं।

महारानी—क्यों सम्भव नहीं? इस संसारमें कितने ही दम्पति आजन्म ब्रह्मचारी रहे हैं।

महाराज—परंतु मुझे तो राजकुमारकी प्रतीक्षा है। सिंहासन खाली न हो जायगा?

महारानी—आप अपना द्वितीय विवाह कर सकते हैं।

महाराज—राजा लोग अनेक विवाह करते अवश्य हैं—किंतु काशी-राजवंशमें एकपत्नीव्रतको ही संस्कृतिका आदर्श माना गया है।

महारानी—जबतक मुझे सन्तोष न हो, मैं ब्रह्मचर्यसे रहनेकी प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ।

महाराज—आखिर तुमने ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की? जबतक हम लोग सन्तान पैदा नहीं करेंगे, तबतक मातृ-पितृ-ऋणसे मुक्त न हो सकेंगे। यह भी एक आदर्श है। हिंदू-संस्कृतिका यह सन्तान-सम्बन्धी आदर्श है।

महारानी—पुत्र पैदा करनेमें मुझे एक डर है।

महाराज—वह क्या?

महारानी—न मालूम पुत्र कैसा पैदा हो!

महाराज—(हँसकर) यह कोई डर नहीं है।

महारानी—क्यों?

महाराज—तुम-सरीखी पवित्रहृदया माताका पुत्र, और मुझ-सरीखे पवित्र पिताका पुत्र अपवित्र कैसे होगा?

महारानी—स्वामिन्! वास्तवमें मैं अभक्त सन्तानसे घृणा करती हूँ। ईश्वर-विरोधी सन्तानसे मुझे जलन है। मेरा स्वभाव ही ऐसा है। पुलस्त्यके कुलमें रावणकी भाँति यदि किसी कारणवश ईश्वरद्रोही पुत्र हुआ तो मातृ-पितृ-ऋण अदा होगा या और बढ़ जायगा?

महाराज—अभक्त पुत्र न होगा।

महारानी—यदि हुआ तो?

महाराज—तुम विचित्र महिला हो।

महारानी—जी, मैं विचित्र स्त्री हूँ

महाराज—तो तुम्हीं बताओ कि क्या करना चाहिये।

महारानी—हम दोनोंको ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिये।

महाराज—सिंहासनपर कौन बैठेगा?

महारानी—आप।

महाराज—मेरे बाद?

महारानी—आप मरेंगे ही नहीं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहीं मरता है? जो मर जाय—वह ब्रह्मचारी ही नहीं।

महाराज—हूँ! यह कैसे?

हिंदू संस्कृतिके संक्षिप्त सूत्र

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

१. हिंदूकी दृष्टिमें धर्म, संस्कृति, जीवन—तीनों क्षेत्रोंका विस्तार समान है। एकको हटाकर एक नहीं रहता।

२. हिंदू संस्कृतिका दृष्टिकोण समन्वयप्रधान है। समन्वय हिंदुत्वकी सबसे बड़ी विशेषता है। विश्वके साथ अविरोध-भाव प्राप्त करनेकी पद्धति समन्वय है।

३. 'बहुधा' भावकी स्वीकृतिसे सहिष्णुताका जन्म होता है। हिंदू धर्म सहिष्णुताकी प्राणवायुसे जीवित है।

४. बहुधामें एकत्वकी पहचान हिंदू संस्कृतिका प्रयत्न रहा है। एकत्वका आग्रह बहुत्वका नाश करके हिंदू संस्कृतिको इष्ट नहीं है। बहुधासे ही एककी महिमा प्राप्त होती है—

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'

—यह हिंदू विचारोंका अन्तर्यामी सूत्र है।

५. अनेक संघर्षोंके बीचसे समन्वयकी प्राप्ति हिंदू संस्कृतिके इतिहासका राजमार्ग रहा है।

६. धार्मिक स्वातन्त्र्य, सामाजिक स्वातन्त्र्य, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य हिंदू संस्कृतिको इष्ट हैं; किंतु इनका उपभोग सत्यदर्शनके लिये होना चाहिये।

७. जड और चेतनका आपेक्षिक मूल्याङ्कन हिंदू संस्कृतिकी विशेषता है।

८. चैतन्य ही महान्, नित्य, रसपरिपूर्ण और प्राप्त करनेयोग्य तत्त्व है। इस प्रकारका सचेष्ट प्रयत्न और तीव्र विश्वास हिंदू संस्कृतिके प्रत्येक युगमें प्रकट होता रहा है।

९. संसार और उसके उपभोग अल्प, सीमित, तुच्छ और जीतने योग्य हैं—यह दृढ प्रतीति हिंदू मनमें सदा ऊँची प्रतिष्ठाकी पात्र बनी रही।

१०. सांसारिक जीवनका उचित मूल्य तो आँक लिया गया, किंतु उसकी उपेक्षा या अवहेलना करना हिंदू संस्कृतिको इष्ट नहीं। जो जडकी उलझनको नहीं समझ सका, वह चैतन्यको कैसे समझ सकता है? निःश्रेयसके साथ अभ्युदयकी प्राप्तिपर भी हिंदू दृष्टिकोणने बहुत बल दिया है। लोक और परलोकका समन्वय, जड और चेतनका समन्वय प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति हिंदू धर्मको मान्य है।

११. इसी दृष्टिकोणसे हिंदू संस्कृतिमें साहित्य, कला, सौन्दर्य और सँवारे हुए जीवनके अनेक वरदानोंको प्रतिष्ठित स्थान दिया गया।

१२. धर्म और जीवनका मेल हिंदू संस्कृतिके आग्रहका विषय है। धर्म धारणात्मक नियमोंकी समुदित संज्ञा थी।

'धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।' (व्यास)

सम्प्रदाय या मत-मतान्तरके लिये भी 'धर्म' शब्दका प्रयोग हुआ; परंतु नित्य धर्म-तत्त्व इन सबके ऊपर और बड़ा है। धर्म और सर्वोपरि चैतन्यका धरातल एक है।

१३. ऋत, सत्य, धर्म, ब्रह्म, चैतन्य अभिन्न और सर्वोपरि हैं। इनकी अखण्ड निष्ठा हिंदू संस्कृतिका महान् युग-युगव्यापी श्रद्धाका विषय रहा है।

अशोक०—(आश्चर्यसे) क्यों ? आपने तो मुझे जीत लिया है। हस्तगत राज्य क्यों छोड़ना चाहते हैं ? ऐसा तो कोई नहीं कर सकता।

आत्मा०—मैं संन्यासी था। मैंने सोचा कि शायद राज्यमें अधिक सुख होगा, इसीलिये आपपर चढ़ाई की थी। परंतु इस छमाहीमें अनुभव हुआ कि मैं पहले ईश्वरकी गोदमें बैठा था और अब मायाकी गोदमें बैठ गया हूँ। मुझे तो राजकाजमें कोई सुख प्रतीत नहीं होता। वह पक्का मूर्ख है कि जो तप छोड़ राज्यकी अभिलाषा करे। स्वर्ग छोड़ नरकमें रहनेकी अभिलाषा करना मूढ़ता नहीं तो और क्या है ?

अशोक०—तब तो मुझे भी तप करना चाहिये।

आत्मा०—जी नहीं। मैं तप करूँगा। आप अपना जंजाल सँभालें।

इतना कहकर आत्मानन्दने राजमुकुट उतारकर अशोकके सिरपर रख दिया। अशोकने पुनः उसे उतारकर आत्मानन्दके सिरपर रक्खा और कहा—

अशोक०—आप तप कर चुके हैं आप राज्य कीजिये। अपने पुत्रको गद्दी देकर फिर तप कर लेना। मुझे तप करने दीजिये।

आत्मानन्द भी यही चाहते थे। भाईके मुखसे यह सब कहलानेके लिये ही उन्होंने नाटक रचा था।

अशोककुमारको माता-पिताके पास भेज दिया गया। वहाँ जाकर उसने जाना कि उसे उसके बड़े भाईने ही पराजित किया था। सो भी माताकी आज्ञासे।

आत्मानन्दने अपना विवाह किया। एक पुत्र भी पैदा हुआ। परंतु वह राज्यकाजमें ऐसा लवलीन हुआ कि माताकी आज्ञा ही भूल गया। वह राजकाजसे ही प्रेम करने लगा।

× × × ×

संन्यासिनीका रूप धारणकर एक दिन मदालसा काशी-नरेशके महलमें जा पहुँची।

आत्मानन्दने सत्कारकर पूछा—

आत्मा०—मेरे राज्यमें अकाल क्यों पड़ गया है ?

संन्या०—राजाके पापसे अकाल पड़ता है।

आत्मा०—मैंने कौन-सा पाप किया ?

संन्या०—तुमने सबसे बड़ा पाप किया।

आत्मा०—वह कौन-सा ?

संन्या०—तुमने अपनी माताको धोखा दिया है।

आत्मा०—हाँ, हाँ। मैं तो अपनी प्रतिज्ञा ही भूल गया था।

संन्या०—अपने पुत्रको गद्दी देकर पत्नीके साथ अपनी माताके पास चले जाओ। तब अकाल दूर होगा।

उसी दिन राजाने अपने राजकुमारको राजतिलक दे दिया। वह संन्यासिनीके साथ वनमें चला गया।

आश्रममें पहुँचकर आत्मानन्दने जाना कि वह संन्यासिनी स्वयं उसकी माता ही थीं। तबतक दूसरा राजकुमार विनयकुमार भी समस्त तीर्थोंका दर्शन करके वहाँ आ गया।

एक दिन तीनों पुत्रों और पतिके समक्ष महारानी मदालसाने यह वक्तव्य प्रकट किया—

'यदि माता ज्ञानवती हो तो एक विराट् कुलको ज्ञानवान् बना सकती है। माता अज्ञानी हो तो वह एक विराट् कुलको नरकमें भेज सकती है। स्त्रियोंकी बड़ी भूल है कि वे धनवान् पति पसंद करती हैं। उनको चाहिये कि वे ज्ञानवान् पति पसंद किया करें।

हिंदू-संस्कृतिका आदर्श माताके लिये यही है कि वह अपनी किसी सन्तानको ईश्वर तथा धर्मके विरुद्ध न चलने दे। नहीं तो सन्तान स्वयं नरकमें जायगी और माता-पिताको भी नरकमें घसीट ले जायगी।

आज मुझे पूर्ण सन्तोष है कि मेरे तीनों पुत्र तथा मेरे पतिदेव मेरे साथ तप कर रहे हैं ! इससे बढ़कर एक साध्वी नारीका क्या सौभाग्य हो सकता है।

मैं जो अपने मातृ-आदर्शमें उत्तीर्ण हो सकी हूँ, उसमें मेरे पतिदेवने यथेष्ट सहायता पहुँचायी है। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करती हूँ कि—

हे दयालु ! हम पाँचोंको मुक्ति प्रदान करो !'

माताका उपदेश

तू शुद्ध है, तू बुद्ध है, तू है निरंजन सर्वदा। संसार-मायासे रहित तू है स्वरूपस्थित सदा॥
संसार सारा स्वप्न है अब मोह निद्रा त्याग तू। कह रही निज तनय से मा पुत्र सत्वर जाग तू॥

भ्राताका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

केवलपुरमें केवल एक घर ठाकुरोंका है। बड़े भाईका नाम श्यामसिंह और छोटे भाईका नाम रामसिंह। दोनोंमें अपार स्नेह। माता-पिता स्वर्ग चले गये थे। विवाह दोनों भाइयोंके हो चुके थे। छोटे भाईकी स्त्री मालती घरमें आयी तो अलग चूल्हा बनानेकी बात सोचने लगी। एक बार रातमें मालतीने अपने पतिसे कहा—

मालती—तुम्हारे बड़े भाई साहब केवल पूजा-पाठ क्रिया करते हैं और खेतीका सारा काम तुम करते हो।

रामसिंह—पूजा-पाठका काम हिंदू-संस्कृतिमें प्रधान काम है। खेतीका काम दूसरे दरजेका काम है।

मालती—पूजा-पाठसे क्या होता है?

राम०—देवतालोग प्रसन्न रहते हैं।

मालती—देवता क्या करते हैं?

राम०—खेतीके काममें सहायता देते हैं।

मालती—हल तुम चलाते हो, खाद तुम डालते हो, बीज तुम बोते हो और सिंचाई तुम करते हो—देवता क्या करते हैं?

राम०—खेतीके काममें देवतालोग सहायता न करें तो एक दाना भी पैदा न हो।

मालती—सो कैसे?

राम०—धरती माता, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, पवनदेव तथा इन्द्रदेवकी सहायतासे खेती होती है। ये लोग विरोधी हो जायँ तो अच्छी खाद, अच्छी जुताई एक तरफ रक्खी रहेगी।

मालती—इसलिये दिनभर देवताओंकी पूजा करना ही बड़े भाई साहबका काम हो गया है?

राम०—पूजा-पाठके अलावा वे और भी काम करते हैं।

मालती—सो क्या?

राम०—मुकदमोंका काम वही करते हैं।

मालती—मुकद्दमे सालमें दो एक आते हैं, सो तुम भी कर सकते हो। मिडिल पास किया है। कायदा-कानून जानते हो।

राम०—घरका सारा इन्तजाम बतलाते हैं।

मालती—घरका इन्तजाम मैं बतला दिया करूँगी।

राम०—उन्नतिके विचार बतलाते हैं।

मालती—विचार करना भी कोई काम है?

राम०—विचार ही तो काम है। इस संसारका राजा विचार ही तो है। प्रत्येक बातमें विचार है। विचारमें त्रुटि आयी कि सत्यानाश हुआ।

मालती—मेरा विचार है कि मैं अलग चूल्हा बनाऊँ। तुम अपनी जमीन बँटा लो। रुपया-पैसा और जेवर बड़ी बहूके पास है, उसे भी आधा-आधा कर लो!

राम०—क्यों?

मालती—यों कि कल बाल-बच्चे होंगे और परसों उनका ब्याह होगा; हमारी गुजर साथमें नहीं हो सकती।

राम०—हिंदू-संस्कृतिका यह आदर्श नहीं है।

मालती—क्या आदर्श है?

राम०—बड़ा भाई पिता-समान, वही घरका मालिक। बड़ी भावज माता-समान, वही घरकी मालकिन।

मालती—और तुम?

राम०—सेवक, अनुचर, नौकर, दास!

मालती—और मैं?

राम०—सेविका, अनुचरी, नौकरानी और दासी।

मालती—कहाँ लिखा है?

राम०—रामायणमें।

मालती—आग लगे रमाइनमें और धुँआ उठे पराइनमें।

राम०—हैं, हैं—।

मालती—(क्रोधमें भरकर) कैसी हैं-हैं? मैं दासी हूँ! जोरावरसिंहकी लड़कीको दासी लिखा है—रमाइनमें? मैं घरमें 'रमाइन' रक्खूँगी ही नहीं। कल सुबह उसे उठाकर तालमें फेंक दूँगी।

राम०—(हँसकर) अगर तुम रामायण नहीं मानोगी तो तुम हिंदू नहीं मानी जाओगी।

मालती—तो कौन मानी जाऊँगी?

राम०—कुछ भी नहीं। कोई जाति नहीं।

मालती—कोई जाति नहीं? मेरी जाति है ठाकुर। मैं

ठाकुरकी लड़की हूँ। असल क्षत्री—चौहानवंश! और तुम कहते हो कि मेरी जाति ही नहीं?

राम०—मालूम होता है कि तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है।

मालती—और तुम्हारा?

राम०—मेरा दिमाग खराब होनेका कोई कारण नहीं है।

मालती—मेरे खराब दिमागका कोई कारण है?

राम०—कारण प्रत्यक्ष है, नहीं तो तुम ऐसे विचार ही क्यों करती?

मालती—मेरे विचार ठीक नहीं—अच्छी बात है। कल मैं अपना विचार दिखलाऊँगी।

राम०—क्या करोगी?

मालती—अब क्या! अब तो मेरा दिमाग खराब ही है! जो जीमें आयेगा, वही करूँगी। क्योंकि मेरा दिमाग खराब है। अगर मेरा दिमाग खराब था तो मैंने दर्जा ४ कैसे पास किया था?

राम०—दर्जा ४ तो कोई चीज नहीं; यदि कोई संस्कृतमें एम्० ए० भी पास कर ले तो क्या होगा। जिसके ऐसे विचार हैं, उसका दिमाग तो खराब ही माना जायगा।

× × ×

प्रातः हल लेकर रामसिंह खेत जोतने चले गये। मालतीने अपनी जिठानीसे कहा—

मालती—मेरा विचार अलग रहनेका है। इस घरमें चार कमरे हैं। दो तुम ले लो और दो हम।

जिठानीका नाम था—माधवी। वह सकपकाकर बोली—'देवरजीकी राय ले ली है?'

मालती—उनकी रायसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं। वे मेरा दिमाग खराब बतलाते हैं। जोरावरसिंहकी लड़कीका दिमाग खराब है, यह उनकी किताबमें लिखा है।

माधवी—मेरी समझमें तुम्हारी बात आयी नहीं, देवरानी!

मालती—आ जायगी। घबराओ मत। बर्तन कितने हैं?

माधवी—कभी गिने नहीं।

मालती—लाओ, मैं गिनती हूँ। चार थाली, चार लोटे और चार कटोरे। दो-दो हो गये। यह लो अपने हिस्सेके बर्तन।

माधवी—हिस्सा-बाँट हम-तुम नहीं कर सकतीं।

मालती—और कौन करेगा?

माधवी—मर्द लोग।

मालती—मर्द जायँ भाड़में। मर्दकी नजरमें औरत पागल तो औरतकी नजरमें मर्द पागल। जब पागलपनका प्रस्ताव पास किया गया, तब पागलपन ही सही। मैं भागकर इस घरमें नहीं आयी हूँ। मेरा विवाह होकर आया है। मेरा हिस्सा है।

माधवी—मैं मानती हूँ कि तुम्हारा हिस्सा है।

मालती—तो फिर बहस किस बातकी। इन दो कमरोंमें तुम रहो। इन दो कमरोंमें मैं रहूँगी।

माधवी—अच्छी बात है।

मालती—आधे बर्तन ले जाओ।

माधवी—ले जाऊँगी।

मालती—ले कब जाओगी। अभी उठाओ। अनाज कितने बोरे हैं?

माधवी—सात बोरा।

मालती—आधा-आधा कर लो। रुपया-पैसा और जेवर भी निकालो।

माधवी—जरा गम खाओ। मैं पूजावाली कोठरीमें जाकर तुम्हारे जेठजीसे राय ले आऊँ।

मालती—यह भी कह देना कि मैं वह देवरानी नहीं हूँ, जो जेठजीके सामने डेढ़ हाथका घूँघट निकालकर कोठरीमें भाग जाती है। अगर जेठजीने इन्साफ न किया तो झाड़ू लेकर बात करूँगी।

× × ×

मकानके बाहर पूजाकी कोठरी थी, जो बैठकके बगलमें बनी थी। माधवीने जाकर देखा कि उसके स्वामी महादेवजीपर बेलपत्री चढ़ाते जाते हैं और 'नमः शिवाय' कहते जाते हैं।

माधवी—आप यहाँ पूजा कर रहे हैं और घरमें देवरानी हिस्सा-बाँट कर रही है।

श्यामसिंह—क्या बात है?

माधवीने सारा किस्सा कह सुनाया।

श्याम०—बहूसे कह दो कि आजसे वही मालकिन है। सारा रुपया-पैसा और जेवर उसे सौंप दो। वह पढ़ी-लिखी, होशियार है। तुमसे अच्छा प्रबन्ध करेगी।

माधवी भीतर गयी। रुपये-पैसे तथा जेवरवाला बक्स उठाकर मालतीके पास रख दिया।

मालती–जेठने क्या कहा ?

माधवी–यह कहा कि बहू पढ़ी-लिखी है। आजसे वही घरकी मालकिन है। सारा माल-खजाना, घर-बार—सब उसीको सौंप दो। यह लो घरकी चावियोंका गुच्छा। ये बक्स तुम्हारे सामने हैं। मुझसे जो कहो, सो करूँ।

मालती–धन-दौलतमें आधा हिस्सा तुम ले लो।

माधवी–मैं एक पैसा नहीं लूँगी।

मालती–क्यों ?

माधवी–स्वामीकी आज्ञा नहीं है।

मालती–स्वामीकी आज्ञासे अपना हिस्सा छोड़ दोगी ?

माधवी–अवश्य छोड़ दूँगी।

मालती–इस घरके सब लोग पागल दिखलायी पड़ते हैं। जेठजी भी 'स्वाहा-स्वाहा' करने लगे। जिठानी भी लीकपर लीक चलाने लगीं ! यानी जो बात मैं कहूँगी, उसे कोई नहीं मानेगा—अपनी-अपनी बात मेरे सिरपर थोपनेके लिये सभी तैयार हैं। मैं न तो दूसरेका हिस्सा लूँगी और न अपना हिस्सा दूँगी।

माधवी–ऐसा ही कर लेना। जल्दी क्या है। आज अलग रोटी बना लो। कल हिस्सा-बाँट कर लेना। कल देवर-को भी खेतपर न जाने दूँगी। चारों आदमी मिलकर हिस्सा कर लेना।

यह बात मालतीकी समझमें आ गयी। उसने अलग एक चूल्हा बनाया। उड़दकी दाल बनायी। रोटी बनायी। दोपहरको रामसिंह घरपर आये। श्यामसिंह भोजन करके कमरेमें लेटे हुए 'कल्याण' पढ़ रहे थे। रामसिंह स्नान करके भोजन करने जो घरमें गये तो दो चूल्हे दिखलायी पड़े। मालतीने उनको अपने चौकेमें बुलाया; परंतु वे भावजके चौकेमें चले गये और बोले—'आज क्या बनाया है, भौजी ?'

माधवी–खिचड़ी बनायी है।

राम०–लाओ, परोसो।

माधवी–बहूने सुन्दर उड़दकी धोई हुई दाल बनायी है। हींगसे छौंकी है। रोटी बनायी है—तिरबेनीकी। गेहूँ, जौ और चनेका आटा मिलाकर तिरबेनी रोटी बनायी है। वहीं जाकर खाओ।

राम०–अलग रोटी क्यों बनायी ?

माधवी–कहती है कि अलग रहूँगी।

राम०–रहेगी तो रहे अलग। परोसो मुझे खिचड़ी।

माधवी–उसे बुरा लगेगा।

राम०–मैं उससे बाततक न करूँगा।

माधवीने खिचड़ी परोस दी। रामसिंह खा-पीकर बाहर चले गये। मालतीने गुस्सेमें आकर रोटियाँ कुत्तेको डाल दीं। बेचारीको 'एकादशी' हो गयी।

× × ×

रातको जब दोनों इकट्ठे हुए, तब यों बात-चीत हुई—

मालती–तुमने मेरे चौकेमें रोटी नहीं खायी, और भावजके चौकेमें खिचड़ी खायी।

राम०–कहो एक बार कहूँ, कहो लाख बार और कहो तो पत्थरपर लिख दूँ।

मालती–क्या ?

राम०–मैं अपनी स्त्रीको छोड़ सकता हूँ परंतु अपने भाईको नहीं छोड़ सकता।

मालती–क्यों ?

राम०–हिंदू-संस्कृतिका आदर्श ही ऐसा है। श्रीलक्ष्मण-जीने भाईके लिये पत्नीको चौदह वर्ष त्याग दिया था।

मालती–अच्छी बात है। तब मैं ही अपना हठ छोड़े देती हूँ। सुबह होते ही अपना चूल्हा फोड़ डालूँगी। सारे घरसे अलग रहकर मैं कौन-सा सुख पा लूँगी ?

राम०–अब तुम्हारा पागलपन दूर हो गया।

तबसे आजीवन मालतीने हिस्सा-बाँटका नाम न लिया। माधवी कोई काम मालतीकी सलाह बिना न करती थी। चावियाँ भी बहूके पास ही रहती थीं।

एक हरि ही तेरे हैं

जगमें तेरा कुछ नहीं, मिथ्या ममता मोह।
एक हरी तेरे सदा चिदानंद संदोह ॥

भक्तकन्याका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीअवधूतानन्दजी गिरनारी)

बुन्देलखण्डमें बलभद्रपुर नामकी एक रियासत थी। वहाँ एक राजकुमारी पैदा हुई थी, जिसका नाम था विमलाकुमारी। विमलाको एक गुरुजी संस्कृत तथा हिंदी पढ़ाते थे। दोपहरीको जब गुरुजी स्नान करके ठाकुरजीकी पूजा किया करते थे, तब विमला एकटक ठाकुरजीको देखा करती थी। एक दिन विमलाने कहा—

विमला—गुरुजी! ये ठाकुरजी मुझे दे दीजिये।

गुरु—तुम क्या करोगी?

विमला—पूजन किया करूँगी। बातें किया करूँगी।

गुरु—तुम अभी कन्या हो। गुड्डे-गुड्डीका ब्याह खेला करोगी। फिर बड़ी हो जाओगी, तब तुम अपनी ससुराल चली जाओगी; ठाकुरजीकी पूजाका अवसर तुमको कभी न मिलेगा।

विमला—क्या कन्याका यही आदर्श है, गुरुजी?

गुरु—नहीं, कन्याका आदर्श तो दूसरा ही है।

विमला—वह कौन-सा?

गुरु—माता, पिता और भ्रातासे सद्व्यवहार रखना कन्याका प्रथम आदर्श है। गुरु तथा ईश्वरकी भक्ति रखना कन्याका दूसरा आदर्श है। पति तथा पुत्रकी सेवा करना उसका अन्तिम आदर्श है।

विमला—सबसे बड़ा आदर्श कन्याके लिये कौन-सा है?

गुरु—सबसे बड़ा आदर्श तो माता-पिता, भ्राता, गुरु-शिष्य, पति-पुत्र, पत्नी—सबके लिये एक ही है और वह है श्रीठाकुरजीकी भक्ति सीखना।

विमला—क्यों?

गुरु—ठाकुरजी ही संसारके स्वामी हैं। हर-एक जीव उनका नौकर है। जो नौकर अपने स्वामीकी सेवा नहीं करेगा, वह मेवा नहीं पायेगा। उसे कान पकड़कर निकाल दिया जायेगा।

विमला—तो ठाकुरजीकी सेवा करना सबका प्रधान आदर्श है?

गुरु—हाँ, बेटी! यही सबका प्रधान आदर्श है। यदि तुम ईश्वरकी भक्त बनोगी तो तुम्हारे आचरण स्वयं धार्मिक रहेंगे। ईश्वरकी छविकी छटाका नाम धर्म है। धर्म यानी कर्तव्य।

विमला—तब तो, गुरुजी! मैं इसी सबसे बड़े आदर्शको मानूँगी; बस, ये ठाकुरजी मुझे दे दो।

गुरु—नहीं। ये तो मेरे ठाकुरजी हैं।

विमला—और मेरे ठाकुरजी?

गुरु—तुम्हारे ठाकुरजी कल आ जायेंगे।

विमला—कैसे?

गुरु—कल सुबह मेरे साथ नर्मदाजी स्नान करने चलना। पाताल फोड़कर, नदीके द्वारा तुम्हारे ठाकुरजी आयेंगे।

गुरुजीने सोचा था कि नर्मदामें गोल-मोल पत्थरके टुकड़े पड़े रहते हैं, उन्हींमेंसे एक उठाकर दे दूँगा।

अपने ठाकुरजीकी प्रतीक्षामें विमलाको अपार आनन्द हुआ। प्रातः दोनों हाथीपर चढ़कर नर्मदास्नानके लिये गये। गुरुजीने जो डुबकी मारी तो एक श्वेत पत्थरकी गोल मूर्ति उनके हाथमें थी।

राजकुमारी चिल्लायी! 'हमारे ठाकुरजी आ गये!'

गुरुजीने बाहर निकलकर ठाकुरजी दे दिये।

विमलाने अपने ठाकुरजीके लिये सोनेकी संदूकची बनवायी, रेशमी कपड़े बनवाये और जवाहराती जेवर बनवाये। रोज फूल और धूप-दीपके साथ पूजा करने लगी।

राजा और रानीने विमलाके उत्साहमें और भी योग दे दिया। जो-जो उसने माँगा, राजा-रानी सब प्रसन्नतापूर्वक देने लगे। आजकलके मूढ़ माता-पिताकी तरह उन्होंने कन्याका भक्तिविलास रोका नहीं। पुत्र हो या पुत्री, हरिभक्तिसे किसीको रोकना नहीं चाहिये। इससे बढ़कर कोई पाप ही नहीं है। रामप्रेम रोकना ही महापाप है। कन्या तो जीव है, पशु-पक्षीतक रामसे प्रेम करते हैं।

× × ×

विमला—गुरुजी! ठाकुरजी तो आपकी कृपासे मिल गये; परंतु इनका नाम क्या है?

गुरुजीने देखा कि कन्या बहुत सीधी है। सीधेको 'सिलबिल्ला' कहते हैं ग्रामीण भाषामें।

गुरु—तुम्हारे ठाकुरजीका नाम है 'सिलबिल्ले ठाकुर।'

विमला—बिसमिल्ले ठाकुर ?

गुरु—वह तो फारसी भाषा हो गयी। सिलबिल्ले कहो।

विमला—सिलबिल्ले ठाकुरजी !

× × ×

एक दिन विमलाका विवाह हो गया। वह बारातके साथ ससुरालको चली। मार्गमें बारातने दोपहरी देखकर पड़ाव डाल दिया। राजकुमारीका पति पालकीके पास आया। राजकुमारीको अत्यन्त रूपवती देखकर बहुत प्रसन्न हुआ।

राजकुमार—इस सोनेकी संदूकचीमें क्या है ?

राजकुमारी—ठाकुरजी !

राजकुमार—देखूँ।

राजकुमारीने चाबी लेकर ताला खोला। रेशमी कपड़ोंमें फूलोंकी गद्दीपर पत्थरकी एक गोल बटरिया रक्खी थी। राजकुमार हँसा। उसे नयी दुनियाकी हैवानी हवा लगी थी। ईश्वर कहाँ है और यदि है भी तो वह अजर-अमर सच्चिदानन्द व्यापक होगा। और यह है नर्मदाकी बटिया। राजकुमारने कहा—'तुम बहुत सरल हो, राजकुमारी !'

इतना कहकर उसने ठाकुरजी उठा लिये। वहीं एक कुआँ था। हँसकर राजकुमारने उस ठाकुरजीको कुएँमें डाल दिया और चला गया।

× × ×

ससुराल पहुँचकर राजकुमारीने भोजन करना छोड़ दिया। केवल जल पीकर रहने लगी। हरदम ठाकुरजीका ध्यान। 'हाय ! हमारे सिलबिल्ले ठाकुरजी कब मिलेंगे ?' यही चिन्ता। ससुरालवालोंने सोचा कि घरकी यादसे बहू भोजन त्याग बैठी है। एक रातको वह खिड़कीके द्वारा महलसे बाहर हो गयी। भागती हुई उसी कुएँके पास जा पहुँची, जिसमें ठाकुरजी पड़े थे।

राजकुमारी रोने लगी। उसने पुकारा—'सिलबिल्ले !' आवश्यकतासे अधिक सीधे व्यक्तिको 'सिलबिल्ला' कहा जाता है देहाती भाषामें। बहुत सम्भव है कि ईश्वर भी आवश्यकतासे अधिक सीधा व्यक्तित्व रखते हों। लिहाजा कुएँमेंसे जवाब आया—'वाह ! मुझे यहाँ छोड़ तुम कहाँ चली गयी थीं ?'

राजकुमारी—बाहर आ जाओ !

आवाज—तुम्हीं यहाँ आ जाओ।

राजकुमारी कुएँमें कूद पड़ी।

× × ×

विमलाने देखा कि कुएँमें पानीकी जगह फूल-ही-फूल भरे पड़े हैं और बजाय पत्थरके साक्षात् ठाकुरजी विराजमान हैं। पीताम्बर, वनमाला, मोहनमुरली, मधुर मुसकान !

विमला—सिलबिल्ले !

ठाकुरजी—कहो, सिलबिल्ली !

विमला—मैं उस ठाकुरजीके विरोधी घरमें अब न जाऊँगी।

ठाकुरजी—तो ठाकुरजीके माननेवाले घरमें चलोगी ?

विमला—नहीं, मैं तो अब तुम्हारे ही साथ रहूँगी। तुम्हीं मेरे सब कुछ हो।

श्रीकृष्ण—विमले ! तुम राधारानीकी 'सरलता' से उत्पन्न हो। संसारकी समस्त स्त्रियाँ शक्तिके विविध अङ्गोंसे उत्पन्न हैं। आजकलके भयानक कलियुगमें तुम-सी सरलकी गुजर नहीं हो सकती। सरलको लोग बेवकूफ समझते हैं। मजा यह कि हैं खुद बेवकूफ !

विमला—तुम्हारा घर कहाँ है ?

श्रीकृष्ण—गोलोकमें !

विमला—वह कहाँ है ?

श्रीकृष्ण—पृथ्वीके ऊपर चन्द्र, चन्द्रसे दूर सूर्य, सूर्यसे ज्योति, ज्योतिके बाद गोलोक है !

विमला—बहुत दूर है।

श्रीकृष्ण—क्षणभरमें पहुँच चलेंगे।

इतना कहकर भगवान्‌ने विमलाके सिरपर हाथ फेरा। हाथके साथ ही उसकी आत्मा निकल आयी।

दोनों आकाशमार्गसे चले। यहाँ अपनी एक कहानी छोड़ गये।

जिन्ह कें रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

एक सप्ताहमें ही जयनारायण बाबू स्वस्थ हो गये। वे रामनारायणके कमरेमें आये। प्रेमा भी वहीं बैठी थी

जयनारायणने आकर रामनारायणके चरणोंपर अपना सिर रख दिया और रोने लगे। रामनारायणने उनको उठाया और छातीसे लगा लिया। रामनारायणकी आँखें भी बरस रही थीं।

जय०—भाई साहब! मेरी भूल क्षमा कीजिये। मैंने सुधारके भूतको विदा कर दिया है।

राम०—क्षमा किया।

जय०—मुझे फिर अपने घरमें रहनेकी आज्ञा दीजिये।

राम०—आज्ञा क्या देना, मकान तुम्हारा है। तुम्हीं चले गये थे। मैंने कब कहा था कि मकानसे निकल जाओ।

जय०—नहीं, आपने नहीं कहा था। आप पिताजीके समान हैं। आपने मुझे लिखाया-पढ़ाया और योग्य बनाया है।

राम०—आज ही आ जाओ।

जय०—प्रेमा बहिन!

प्रेमा—भया!

जय०—मेरी हिम्मत नहीं पड़ती जो तुम्हारी नजरसे अपनी नजर मिलाऊँ!

'सन्मुख होइ न सकत मन मोरा।'

प्रेमा—क्यों?

जय०—मैं भाईका आदर्श भूल गया, परंतु तुम बहिन का आदर्श नहीं भूली।

प्रेमा—हिंदू-संस्कृतिके अनुसार बहिनका जो आदर्श है, उसीका पालन मैंने किया है। अपना कर्तव्य पालन किया है। इसमें यदि कोई तारीफ है तो मेरी नहीं—हिंदू-संस्कृतिकी तारीफ है।

× × ×

दूसरे दिन जयनारायण बाबू इसी घरमें आ गये। तीन महीने बाद प्रेमाका द्विरागमन हुआ। वकील साहबने हजारों रुपये खर्च किये। बहिनको जेवर और कपड़े अलग दिये। बहनोईके चरण स्पर्श किये। घंटेभर उनसे बात-चीत करके उनके दिलका मैल भी धो डाला।

सच है—बहिनके प्रेमकी थाह नहीं है।

आदर्श भाई

[कहानी]

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

मा दुर्गाके चरणोंमें पुष्पोंके ढेर लगे थे। सामने छोटा-सा घृतदीप जल रहा था और धूपकी गन्धसे कमरा भर गया था।

अनिलने अच्छी तरह देखा, प्रमोद बाबू पद्मासन लगाये बैठे हैं। उनकी हथेली पालथीके बीचमें एक-दूसरेके ऊपर रक्खी है। आँखें बंद हैं और उनसे आँसूकी दो पतली धाराएँ बह रही हैं।

अनिल बोल नहीं सका, पूजाघरमें वह दबे पाँव आया था। प्रमोद इतना आस्तिक है, माके चरणोंमें उसका इतना अगाध स्नेह है—इसकी उसे कल्पना भी नहीं थी। पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रवाहसे विरले ही छात्र इस दिशाकी ओर आ पाते हैं। अनिलने माके चरणोंमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। उसने देखा, माके पूजागृहमें ही संगमर्मरकी एक और मानव-मूर्ति रक्खी हुई है। उसपर भी पुष्प अर्पित थे।

प्रमोद-जैसा अद्वितीय विद्वान् साधारण मनुष्यकी मूर्ति रक्खे, यह सम्भव नहीं। अवश्य ही यह किसी महान् पुरुषकी मूर्ति होगी। अनिल प्रमोदके गुरुसे परिचित था, यह मूर्ति उनकी नहीं थी। उसने ध्यानसे देखा, मूर्ति अपरिचित थी। सरल मुखाकृति और सजे बाल थे। खद्दरका कुर्ता दीख रहा था।

जिज्ञासा-निवृत्तिका समय न देखकर वह चुपचाप बाहर निकल आया।

× × ×

नारियलके झुरमुटके आगे सुपारीके पचासों पेड़ दीख रहे थे। वे पीछे छूट गये। केलेका विस्तृत बगीचा था, उससे भी आगे निकल गये। अब दोनों धानके मेड़ोंपर चल रहे थे। फलोंसे लदे सोनेकी भाँति पीले-पीले धान अत्यन्त सुहावने लग रहे थे।

प्रमोद चुपचाप चल रहा था। प्रकृतिके ये मोहक दृश्य उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाये। अनिलका मन रखनेके लिये उसने कहा, चलो उस खजूरके नीचे।

वहाँ खजूरके एक-दो नहीं, अस्सी वृक्ष थे। सामने एक पुष्करिणी थी और परिष्कृत तटपर जगज्जननी दुर्गाका एक मन्दिर था छोटा-सा। मन्दिरसे तीन मीलके भीतर कोई गाँव नहीं था, इस कारण यहाँ अत्यन्त श्रद्धालु जन ही आ पाते थे और उनकी संख्या अत्यल्प थी।

प्रमोदने अनिलके साथ माको प्रणाम किया। अनिलने देखा, प्रमोदकी आँखें फिर बरस पड़ीं। वह कुछ निश्चय नहीं कर सका।

आओ, यहाँ बैठें। प्रमोद अनिलको मा-मन्दिरके सामनेवाले छोटे चबूतरेपर ले गया। चबूतरा पक्का था और था पुष्करिणीके समीप।

पूर्णिमा थी उस दिन। नीले आकाशमें पूर्णचन्द्र खिले हुए थे। उनकी शीतल एवं स्निग्ध किरणें पुष्करिणीकी लघु-लहरियोंके साथ खेल रही थीं। तारिकाएँ शान्त एवं मौन थीं। मन्द पवन थिरक रहा था।

अनिल पूजा-गृहकी मूर्तिके सम्बन्धमें एक बार प्रश्न कर चुका था, बैठते हुए उसने फिर पूछा—'वे कौन थे, और तुम उनसे कैसे प्रभावित हुए? यदि कोई विशेष आपत्ति न हो तो मुझे भी बता दो।'

'आपत्तिकी कोई बात नहीं, अनिल!' प्रमोदने तुरंत कहा। 'तुम पहली बार मेरे गाँव आये हो। तुम्हारे-जैसे सहृदय, सदाचारी और स्नेही मित्रसे क्या छिपाया जा सकता है और यह छिपानेकी तो कोई बात भी नहीं है। यह मेरे बड़े भाईकी मूर्ति है, अनिल भैया! ये देवता थे। दैव-दुर्विपाकसे इनकी प्रत्यक्ष छत्रच्छायासे मुझे वञ्चित होना पड़ा, इसीसे मैंने इनकी मूर्ति बनवायी है और उसे पूजता हूँ। इनकी पूजासे मुझे पवित्रतम भाव और माकी भक्ति मिलती है। आज जो मैं विद्या, धन, गौरव और प्रतिष्ठाका पात्र बना हूँ, सो सब इन्हींकी कृपाका प्रसाद है। सबसे बढ़कर महत्त्वकी बात तो यह है कि मैं माको मा इन्हींके सदुपदेशोंसे समझ पाया था।'

प्रमोदने कहा—'वह देखो!' प्रमोदने पुष्करिणीमें उछलती हुई सफरियोंकी ओर संकेत किया। पुष्करिणीके पानीसे हाथ-डेढ़-हाथ ऊपर कूद-कूदकर वे क्रीड़ा कर रही थीं। चन्द्रदेवकी सुधासिक्त किरणोंमें वे सुकोमल चाँदीकी तरह चमक जाती थीं। 'आजसे सात वर्ष पूर्वतक इन्हीं छोटी मछलियोंकी भाँति मेरा जीवन निश्चिन्त एवं आनन्दपूर्ण था। मेरे जीवनमें सुख था, शान्ति थी और थी मस्ती। चिन्ता, शोक और विषादकी छाया भी मुझे स्पर्श नहीं कर पाती थी। पर अब यह निश्चिन्तता और आनन्द मुझसे छिन गया है।

'पिताजीका दर्शन मैं नहीं कर पाया और माता, जब मैं पाँच वर्षका था तभी चल बसी थीं। अब मेरा कहलानेवाले मेरे एक बड़े भाईके अतिरिक्त और कोई नहीं था। भैयाके बादकी दो-तीन सन्तानें जीवित नहीं रह सकी थीं। इस कारण माका अपूर्व प्रेम मुझपर था।

'माकी मृत्युके समय मैं रो पड़ा। भैयाने मुझे अपनी गोदमें उठा लिया और जाने क्या-क्या कहकर चुप करा दिया। माके परलोकगमनसे भैयाका हृदय टूट रहा है, मुझे इसका भान भी नहीं हो सका।

'मैं धीरे-धीरे बड़ा हो रहा था। भाभी तो मुझे चाहती ही थीं; किंतु भैया मुझे प्राणोंसे अधिक प्यार करते थे। उनकी वकालत खूब चल रही थी। पैसेका अभाव नहीं था, फिर भी वे अपने ही हाथों मेरी सेवा करते। मैं बारहका हो गया था, पर वे थपकी देकर मुझे सुलाया करते और जबतक मुझे गहरी नींद नहीं आ जाती, वे स्वयं नहीं सोते थे।

'उनकी इच्छा थी मुझे अद्वितीय विद्वान् बनानेकी। इसके लिये वे पूर्ण प्रयत्न करते। दो घंटे रात रहते ही वे स्नान-सन्ध्यासे निवृत्त होकर मा दुर्गाके चरणोंमें बैठ जाते। अरुणोदय हो जाता और माके समीप ही रहते। माके समीप रहनेमें उन्हें अपूर्व सुख मिलता। माके बिना वे नहीं रह पाते। माके बिना मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं, वे कहा करते। शयनके पूर्व भी माके समीप वे कुछ समय अवश्य बैठते।

''कम-से-कम आध घंटे मैं भी माके समीप बैठा करूँ, वे बार-बार प्रेमके साथ मुझसे कहते। वे कहते 'पुत्र माका हृदय-खण्ड होता है, प्रमोद। अत्यन्त क्रूरकर्मी पुत्रपर भी मा कभी कुपित नहीं होती। वह परम करुणामयी एवं स्नेहशीला है।' धीरे-धीरे मैं भी भगवती दुर्गाके समीप बैठने लगा। दिन जाते देर नहीं लगती। मैं सोलह पार कर गया।''

'संसार बड़ा विचित्र है, अनिल!' कुछ रुककर, प्रमोदने कहना शुरू किया। 'जहाँ फूल है, वहीं काँटा भी है। मैं मैट्रिक हो चुका था। भैयाका स्नेह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। पर जाने क्यों भाभी मुझपर रुष्ट रहने लगीं।

'बाहर मैं अधिक समय नहीं लगाता, पर कुछ भी देर होती तो वे बिगड़ जातीं। कदाचित् लाखोंकी सम्पत्तिसे उनका

मस्तिष्क फिर गया था। वे मुझे ऐसी जली-कटी सुनातीं, जो सहने लायक नहीं होती; पर मैं चुपचाप सह लेता और भैयासे कुछ न कहता। भाभी एक-न-एक बहाना निकालकर भैयासे मेरी शिकायत किया करतीं। पर वे सुनकर भी टाल जाते।

'भाभीका मन असाधारण रीतिसे बदल गया। उन्होंने मुझे अलग कर देनेके लिये भैयाके सामने प्रस्ताव रख दिया। भैया सन्न रह गये। उनका चेहरा उतर गया। उन्होंने भाभी-को बहुत समझाया, पर भाभीपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भैया यह नहीं चाहते थे, इससे कुछ दिन और निकल गये।

'मुझे खूब स्मरण है—तीन दिन निकल गये, भैयाके मुहमें जलकी एक बूँद भी नहीं गयी।' आँसू पोंछते हुए प्रमोदने कहा 'वे कचहरी तो कैसे जाते। उन्होंने मुझे बुलाया। भाभी वहा पहलेसे ही उपस्थित थीं। भैयाकी सूखी आकृति देखकर मेरी आँखें भर आयीं, पर मैं चुप था। सिर झुकाये खड़ा रहा। भैयाके हाथमें दो दस्तावेज कागज थे।

'तुम्हारी भाभीने तुमसे अलग हो जानेका निर्णय कर लिया है।' उन्होंने धीरे-धीरे कहा 'विवश होकर इनका प्रस्ताव मुझे स्वीकार करना पड़ा है। इसके लिये मेरी दो शर्तें हैं।' कुछ रुककर उन्होंने कहा। 'जिसे जो स्वीकार हो, ले ले; पर तुम्हारी भाभी तुमसे बड़ी हैं, इसलिये पहले माँगनेका अधिकार इन्हींका है।

''मैं अपराधीकी भाँति चुप था। उन्होंने स्पष्ट किया, 'एक ओर मेरी समस्त सम्पत्ति और एक ओर केवल मैं हूँ। कागज लिखे-लिखाये तैयार हैं, सिर्फ हस्ताक्षर करने शेष हैं।'

'मैं सम्पत्ति चाहती हूँ।' भाभीने कुछ देर रुककर कह दिया। मैं भैयाके चरणोंमें गिर गया। उन्होंने मुझे अपने वक्षसे चिपका लिया।

'कागजोंपर हस्ताक्षर हुआ। भैया मुझे लेकर उसी अवस्था-में एक-एक धोती-कुर्ता पहने घरसे निकल गये। हमलोग कलकत्तेके दूसरे मुहल्लेमें पहुँचे। मकान मिलनेमें कठिनाई नहीं हुई। भैयाकी प्रैक्टिस चल ही रही थी। दो-तीन महीनेमें ही सारी व्यवस्था ठीक हो गयी। कोई अभाव खल नहीं पाया।

'उन्हें यदि कोई चिन्ता थी तो मेरी। वे चाहते थे मैं महान् विद्वान्, अनुपम सदाचारी एवं माका नैष्ठिक भक्त बन जाऊँ। अपनी इसी लक्ष्यसिद्धिके लिये वे निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। और आज उनका ही प्रसाद है कि मैं माके समीप कुछ देर बैठ पाता हूँ, मासे बात कर पाता हूँ। माका अपूर्व प्यार मैं भैयाके सहारे ही जान पाया।'

प्रमोदकी आँखें भर आयी थीं। अनिल प्रमोदकी बात ध्यानसे सुन रहा था। वे कह रहे थे, 'एक वर्ष दस मास निकल गये। एक दिन मैंने देखा, भाभी भैयाके पैरोंपर गिरी हुई फूट-फूटकर रो रही हैं।

'सारी सम्पत्ति नष्ट हो रही है' हिचकियाँ लेती हुई वे कह रही थीं। 'मैंने बहुत बड़ा अपराध किया था। मुझे ज्ञान नहीं था, अब क्षमा कीजिये।' मेरी ओर दृष्टि पड़ते ही लपककर उन्होंने मुझे अपनी गोदमें दबा लिया, 'मुझे आपकी और इस भाईकी आवश्यकता है।' भाभी प्रायश्चित्त कर चुकी थीं।

'भैया तो सरलताकी जीवित प्रतिमा थे। उदारता उनमें कूट-कूटकर भरी थी। किसीका जी दुखाना उन्होंने सीखा ही नहीं था। मुझे लिये वे भाभीके साथ पुनः अपने घरमें आ गये।

'यह तो उनके सम्बन्धकी एक बात थी। उनका समस्त जीवन त्याग, तप और परोपकारमें ही बीता। वे मनुष्यके रूपमें देवता थे। उनकी मूर्तिसे मुझे आज भी प्रेरणा मिलती है। वे जैसे आज भी मेरा पथ-प्रदर्शन करते हैं। मुझे उनका वाक्य भूल नहीं पाता—'पुत्र माका हृदय-खण्ड होता है, प्रमोद!' वह मासे अलग नहीं हो सकता। वह माके समीप ही रहेगा। इसलिये माके पूजागृहमें ही मैं उनकी मूर्ति रखता हूँ।'

प्रमोद चुप हो गया। सुधांशुकी सुधामयी धवल किरणें पृथ्वीके कण-कणमें प्रविष्ट हो गयी थीं। घर चलनेके लिये खड़े होते हुए अनिलने कहा, 'तुम बड़े भाग्यवान् हो, प्रमोद, जो ऐसे देवोपम भाई तुम्हें मिल गये थे।'

सबसे मिलकर चलिये

तुलसी यहि संसारमें भाँति भाँतिके लोग।
सबसों हिलमिल चालिये नदीनाव संजोग॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ

सदस्य बननेके नियम और प्रार्थना

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घके सम्बन्धमें गतवर्ष कल्याणके दूसरे अङ्कमें कुछ चर्चा की गयी थी। अबतक गीता-रामायणके पाठ करनेवालोंकी संख्या लगभग ११५०० हो चुकी है। और भी उत्साहसे गीता-रामायण-प्रेमी स्वयं सदस्य बनते हैं और अपने साथी परिचितोंको सदस्य बनानेकी चेष्टा करते हैं।

गीता-विभागमें पाँच और रामायण-विभागमें तीन श्रेणियाँ पाठ करनेवालोंकी रक्खी गयी हैं।

श्रीगीता-विभाग—

(१) जो नित्य १८ अध्याय सम्पूर्ण गीताका पाठ करते हैं।

(२) जो नित्य ९ अध्यायका पाठ करें।

(३) जो नित्य ६ अध्यायका पाठ करें।

(४) जो वर्षभरमें सम्पूर्ण गीताके ४२ पाठ अर्थपर लक्ष्य रखते हुए करें।

(५) जो प्रतिदिन १ घंटा कम-से-कम चार श्लोकोंका मननपूर्वक पाठ करें।

श्रीरामायण-विभाग—

(१) जो नित्य नवाह्न-पारायणविधिसे पाठ करते हैं।

(२) जो नित्य मासपारायणविधिसे पाठ करते हैं।

(३) जो नित्य ७ दोहे अर्थसहित पाठ करते हैं।

जो पहलेसे सदस्य हैं उनकी सेवामें, 'पाठ चालू है या नहीं' यह जाननेके लिये जवाबी कार्ड भेजा गया था, परंतु कुछ सदस्योंने वे कार्ड लौटाये नहीं हैं; अतः जैसी उनकी परिस्थिति हो—कार्ड-पूर्ति करके लौटानेकी कृपा करनी चाहिये। जिससे पुनः पत्रव्यवहार नहीं करना पड़े। साथ ही पुराने सदस्य पत्र-व्यवहार करते समय सदस्य-संख्या और पूरा नाम-पता लिखनेकी कृपा करें।

'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंसे सविनय निवेदन है कि स्वयं सदस्य बनकर अपने साथी परिचितोंको गीता-रामायण-पाठकी ओर प्रवृत्त करना चाहिये।

निवेदक—रामजीदास बाजोरिया

संयोजक—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थना

आजकल कल्याण-सम्पादकके तथा मेरे व्यक्तिगत नामसे आनेवाले पत्रोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। मेरे कई साथी पत्रोंका उत्तर लिखते रहते हैं एवं कुछका मैं स्वयं लिखता हूँ, इतनेपर भी सब पत्रोंका उत्तर नहीं लिखा जाता। शङ्काओंके लंबे-लंबे पत्र आते हैं, जिनके उत्तरमें बहुत समय लगता है, अतएव समस्त महानुभावोंसे प्रार्थना है कि वे आवश्यक कार्य होनेपर ही मुझे पत्र लिखें एवं किसी पत्रका उत्तर न पहुँचे तो कृपया अप्रसन्न न हों तथा मेरी विवशता देखकर क्षमा करें।

इसी प्रकार हमारे पू० श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके नाम भी बहुत पत्र आते हैं, यद्यपि वे बड़ी सावधानीसे प्रत्येक पत्रका उत्तर लिखना चाहते हैं; परंतु एक आँखमें आपरेशन होनेके कुछ समय बाद उसकी रोशनी चले जानेसे उन्हें पत्रादि पढ़ने-लिखनेमें बड़ी कठिनता होती है अतएव उनको भी अत्यावश्यक होनेपर ही कम-से-कम पत्र लिखें। यह विनीत प्रार्थना है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

१४. हिंदू संस्कृति चैतन्यपर आश्रित होनेके कारण व्यक्तिको बाँधकर नहीं रखना चाहती। हिंदू समाजके बन्धन स्थितिके पोषक हैं, अर्थात् अपने केन्द्रसे दाहिने-बायें, आगे-पीछे भटकनेको व्यक्तिके लिये अनावश्यक विघ्न माना गया है। किंतु ऊर्ध्वगति या अपने केन्द्रसे मानस जगत्‌में ऊँचे उठना प्रत्येकके लिये प्रत्येक स्थितिमें बहुत आवश्यक माना गया है।

१५. ऊर्ध्वगति ही अध्यात्मका कल्याण है। अध्यात्मकी साधना हिंदू संस्कृतिके आग्रहका विषय है।

१६. कर्मपर हिंदू संस्कृतिमें पूरा जोर दिया गया है; किंतु कर्म बिना धर्मके अधूरा है। जिस कर्ममें ज्ञानका भाव नहीं, वह कर्म स्वार्थमें सना हुआ होनेसे व्यक्ति और समाजके जीवनको और भी उलझनमें डाल देता है।

१७. हिंदू धर्मकी दृष्टिमें कर्म जीवनका आवश्यक लक्षण है। कर्मके बिना जीवनकी स्थिति असम्भव है। ठीक विधिसे किये जानेवाले कर्मको योगकी पदवी दी गयी है।

१८. हिंदू संस्कृति लौकिक विजयसे उतनी तृप्त नहीं होती, जितनी आध्यात्मिक विजयसे। आज भी हिंदूका मन अध्यात्मसे प्रफुल्लित, रसतृप्त और आकर्षित होता है। लौकिक विजयके भीतर लोभ, स्वार्थ, हिंसा छिपी रह सकती हैं; किंतु अध्यात्मकी जय केवल धर्मपर टिकी रहती है और चार खूँट जागीरी या सार्वजनिक स्वागत प्राप्त करती है।

१९. हिंदुओंने राजनीति और दण्डनीतिका आविष्कार तो किया किंतु सर्वापहारी राजसत्ता उनको कभी नहीं रुची। जीवनका अधिक-से-अधिक क्षेत्र राजसत्तासे किस प्रकार बचा रह सकता है, इसका उपाय हिंदू सामाजिक जीवन और पारिवारिक जीवनकी पद्धतिमें पाया जाता है। जीवनके अनेक समझौतों-के बीचमें राज्य भी एक समझौता है, उसे सबका स्थान छीनकर जीवनपर छा जानेका अधिकार हिंदू संस्कृतिमें नहीं पाया जाता। हिंदू जीवनका अधिकतम क्षेत्र बाह्य नियन्त्रणसे जान-बूझकर अछूता रक्खा गया है। हिंदुओंके संस्कार जन्मसे मृत्युपर्यन्त जीवनका नियमन करनेके लिये पर्याप्त हैं, वे मनुष्यके आपसी प्रबन्धके बलसे प्रचलित और विकसित होते रहे हैं। बहुविधता उनकी विशेषता है, जो देशकालकृत भेदोंको स्वीकार करती है।

२०. हिंदूका मन हिंदू संस्कृतिका ही एक टुकड़ा है। वह मन उदार, सहिष्णु, नूतन भावोंका जागरूकतासे स्वागत करनेवाला है। अनुशासन या अङ्कुशकी अपेक्षा वह उच्च आदर्श, त्यागकी भावना, स्वगत कर्म-प्रेरणासे अधिक द्रवित होता है। उस मनको दृढ़तासे लोकहितमें बाँधनेके लिये, उसमें उदात्त भावोंको भरनेके लिये त्याग, तप या यज्ञका धरातल ही एकमात्र उपाय है। त्यागकी भावनाको सामाजिक स्तरपर जो उतार सकता है, वही हिंदू संस्कृतिकी छिपी हुई मानस निधितक पहुँच पाता है। अन्यथा भारतीय मन समाजकी ओरसे अपने तन्तु समेटे हुए पड़ा रहता है।

ब्रह्म कौन है ?

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म। (तैत्तिरीय उ०)

ये सब भूतप्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसकी सत्तासे जीवित रहते हैं और विनाशके समय जिसमें प्रवेश कर जाते हैं वह ब्रह्म है।

रजि० सं० ए० १७५

राम ही सब कुछ हैं

रामु हैं मातु, पिता, गुरु, बंधु, औ संगी, सखा, सुतु, स्वामि, सनेही।
रामकी सौंह, भरोसो है रामको, राम रँग्यो, रुचि राच्यो न केही॥
जीअत रामु, मुएँ पुनि रामु, सदा रघुनाथहि की गति जेही।
सोई जिए जगमें 'तुलसी' नतु डोलत और मुए धरि देही॥

(कवितावली)

भगवान् श्रीराम ही मेरी माता हैं, वे ही पिता हैं तथा वे ही गुरु, बन्धु, साथी, सखा, पुत्र, प्रभु और प्रेमी हैं। श्रीरामचन्द्रजीकी शपथ है, मुझे तो रामका ही भरोसा है, मैं रामहीके रंगमें रँगा हुआ हूँ, दूसरेमें रुचिपूर्वक मेरा मन ही नहीं लगता। गोसाईंजी कहते हैं—जिसे जीते हुए भी रामसे ही स्नेह है और जो मरनेपर भी रामहीमें मिल जाता है, इस प्रकार सदैव जिसे रामका ही भरोसा है वही संसारमें जीता है, नहीं और सब तो मरे हुए ही देह धारण किये डोलते हैं।

हिंदूका सामाजिक और राष्ट्रिय आदर्श

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

मनुष्यके साथ मनुष्यके जितने प्रकारके संघर्ष और संग्राम होते हैं, उन सबकी उत्पत्ति होती है उनके देह, इन्द्रिय और मनके अभाव, प्रयोजन एवं आकाङ्क्षाके क्षेत्रमें तथा बाह्य सुख-सम्पत् और प्रभुत्वके क्षेत्रमें। प्रत्येक मनुष्यको अन्न, वस्त्र और घर आदिकी आवश्यकता तथा सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्वकी आकाङ्क्षा होती है और इसी क्षेत्रमें एकका स्वार्थ दूसरेके स्वार्थका प्रतिद्वन्द्वी बनता है। यदि अन्न, वस्त्र, गृह, वित्तादि और पार्थिव सुख-सम्पत् एवं प्रभुत्व ही मानव-समाजमें श्रेष्ठ पुरुषार्थ माने जायँगे, तो इस जगत्‌में व्यक्तिगत विरोध, श्रेणिगत संघर्ष और जातिगत संग्राम निरन्तर चलते रहेंगे। किसी प्रकारकी भी राष्ट्रनीति अथवा समाजनीति मानव-समाजकी इस अशान्तिके दावानलसे रक्षा करनेमें समर्थ न होगी। आग बुझानेकी प्रत्येक चेष्टा नयी-नयी आग सुलगाती रहेगी।

भोगको ही आदर्श माननेवाली जडवादी जाति और समाजके जीवनमें बाह्य आपातरमणीय उन्नतिके साथ-साथ अशान्तिका दुर्भोग बढ़ना अनिवार्य है। पाश्चात्त्य जातियोंकी उन्नतिके इतिहास इस विषयमें सुस्पष्ट प्रमाण देते हैं। बाह्य सम्पत्‌के आदर्शको केन्द्र बनाकर यदि मनुष्य अपने ज्ञान और शक्तिका विकास करता है तथा समाज और राष्ट्रका निर्माण करता है, तो उससे स्थूल दृष्टिमें कुछ समयके लिये जातिविशेष और सम्प्रदायविशेषकी आर्थिक उन्नति, विषयसुखोंकी प्रचुरता तथा राष्ट्रिय प्रभावकी वृद्धि भले ही देखनेमें आवे; परंतु उसके साथ ही उन जातियोंके भीतर एक वर्गके साथ दूसरे वर्गका, एक सम्प्रदायके साथ दूसरे सम्प्रदायका तथा एक प्रान्तके साथ दूसरे प्रान्तका संग्राम अनिवार्यरूपमें तथा स्वाभाविक नियमानुसार उत्पन्न हो जाता है। भोगके आदर्शको केन्द्र बनाकर जो उन्नति होती है, वह प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता और संघर्षके अन्तरालमें ही होती है, और इस प्रकारके संग्रामके भीतर जो उन्नति प्राप्त होती है वह कभी सर्वसाधारणकी इच्छित उन्नति नहीं होती। समस्त व्यक्तियों तथा सारे दलोंके सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्वकी कामनाकी पूर्ति किसी भी नीति अथवा कौशलके द्वारा सम्भव नहीं है। जो संग्राममें सुदक्ष, निर्माण और संगठन-शक्तिमें श्रेष्ठ एवं कूटनीतिका जाल फैलानेमें सुचतुर होते हैं, धन-सम्पत् और प्रभुत्वपर उन्हींका अधिकार होता है, पार्थिव भाग्यलक्ष्मी उन्हींकी अङ्कशायिनी होती है—अवश्य ही कुछ समयके लिये ही। संग्राममें जो पटु नहीं होते, जिनमें प्रबल शक्ति नहीं होती, बुद्धिमें जो सीधे-सादे होते हैं, प्रतियोगितामें जो पराजित हो जाते हैं, वे भीतर द्वेष, हिंसा और घृणाका पोषण करते हुए भी उन लोगोंके चरणोंमें आत्म-विक्रय करनेके लिये बाध्य होते हैं, तथा उनके आज्ञानुसार चलते और उनके जूँठे टुकड़े खाते हुए जीवन-यापन करते-करते मनमें छिपी हुई प्रतिहिंसाको चरितार्थ करनेका सुयोग ढूँढ़ते रहते हैं। शक्तिशाली सम्पत्‌शाली प्रभुओंके भाग्यमें भी निर्बाध शान्ति-सुखका सम्भोग सम्भव नहीं होता। वे एक ओर तो अपने प्रतिद्वन्द्वी अन्यान्य शक्तिशाली और सम्पत्‌शाली धनलोलुप और राज्य-लोलुपोंके भयसे अस्तव्यस्त रहते हैं और दूसरी ओर जिनको शोषित और वञ्चित करके उन्होंने अपने श्रेष्ठत्वको स्थापित किया है, उनके विद्रोहकी आशङ्कासे भी सर्वदा आतङ्कित रहते हैं। उनको सर्वदा ही संग्रामके लिये प्रस्तुत रहना पड़ता है। वस्तुतः बाह्य सम्पत्‌में जिसकी निष्ठा है, उस जाति और समाजकी सभ्यता और संस्कृति संग्रामात्मिका हो जाती है। संग्राममें पटुता ही उसकी सभ्यताका लक्षण समझा जाता है। अतएव एक संग्रामके बाद दूसरा संग्राम और एक क्रान्तिके बाद दूसरी क्रान्ति अवश्यम्भावी हो जाती है। परिणाम यह होता है कि ऐश्वर्य और प्रभुत्व निरन्तर हस्तान्तरित होते रहते हैं और जगत्‌में शान्तिकी कोई सम्भावना नहीं रहती।

इस उत्कट समस्याके स्थायी समाधानका एकमात्र मार्ग है समाज-विधान, राष्ट्र-विधान और अर्थ-नीतिको आध्यात्मिक भित्तिके ऊपर प्रतिष्ठित करना, मनुष्यके व्यष्टि-जीवन और समष्टि-जीवनके सारे विभागको धर्मके आदर्शद्वारा सुनियन्त्रित करनेकी व्यवस्था करना और सभी श्रेणियोंके मनुष्योंको उनके समस्त कार्योंद्वारा आध्यात्मिक कल्याणनिष्ठ बना डालनेकी प्रबल चेष्टा करना। धर्मतत्त्वके सम्बन्धमें जिनकी तनिक भी यथार्थ अनुभूति है, वे जानते हैं कि धर्म कोई साम्प्रदायिक विशेष मतवाद नहीं है, कतिपय विशेष प्रकारके पारलौकिक कर्मकाण्ड भी नहीं हैं, कोई विशेष प्रकारकी उपासना-प्रणाली या आचार-व्यवहार भी नहीं है, एवं वास्तविक जीवनको

कर्म योगमें परिणत होगा और जीवन कल्याणमय हो जायगा। हिंदूके समाज-विधान, राष्ट्र-विधान तथा प्रत्येक कर्मक्षेत्रमें इसी यज्ञनीतिकी शिक्षा दी जाती है।

कोई मनुष्य समाजके चाहे किसी स्तरमें उत्पन्न क्यों न हुआ हो, चाहे किसी प्रकारकी शक्ति और सम्पत्का अधिकारी क्यों न हो, चाहे किसी प्रकारके सुख-दुःखका उपभोग क्यों न कर रहा हो—इन सबके द्वारा उसके जीवनका मूल्य निर्धारित नहीं होता, उसकी मानवोचित मर्यादाका निरूपण नहीं हो सकता। वह किस प्रकारके आदर्शकी सेवामें अपनी शक्ति और सम्पत्को लगाता है, किस प्रकारकी दृष्टिसे समाजमें औरोंके साथ व्यवहार करता है, किस तरह सुख-दुःखादिको वरण करता है तथा किस दृष्टिसे अपने कर्मोंको देखता है—इन्हीं बातोंपर उसके जीवनका मूल्य और मर्यादा निर्भर करती हैं। बहुत ही अल्प शक्ति, अल्प ज्ञान और अल्प धन-सम्पत्का अधिकारी होते हुए भी यदि कोई अपने जीवनको यज्ञमय कर डालता है और अपने समस्त कर्मोंको सेवा-बुद्धिसे सम्पादन कर सकता है तो उसका जीवन सार्थक है तथा उसके जीवनका अधिक-से-अधिक मूल्य है।

हिंदू समाजके शीर्षस्थानीय ब्राह्मण और संन्यासीगण जातिकी दृष्टिमें सत्य, प्रेम, पवित्रता, संयम, त्याग और निःस्वार्थ सेवाके जीवन्त विग्रहरूपमें सर्वत्र विचरण करते हैं। वे 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' सब प्रकारके लौकिक स्वार्थोंको त्यागकर आध्यात्मिक स्वार्थसिद्धिके आदर्शको समुज्ज्वलरूपसे सामने रखते हैं तथा जाति और समाजके सब स्तरोंके नर-नारियोंके विचारों और कर्मोंपर उनकी योग्यताके अनुरूप प्रभाव डालते हैं। जब समाजमें आध्यात्मिक स्वार्थ लौकिक स्वार्थकी अपेक्षा ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेता है, मनुष्यका जीवन जब कर्मक्षेत्रमें ही क्षणभङ्गुर बाह्य स्वार्थको कर्मयज्ञमें आहुति देकर अनन्त कालतक रहनेवाले विराट् स्वार्थके प्रति अनुरक्त होता है, तभी स्वार्थ और परार्थका द्वन्द्व, व्यष्टि-स्वार्थ और समष्टि-स्वार्थका संघर्ष, विभिन्न श्रेणियोंके स्वार्थोंकी प्रतियोगिता अधिकांशमें तिरोहित हो जाती है तथा सर्वत्र प्रेम, शान्ति और ऐक्यका राज्य स्थापित हो जाता है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि हिंदुओंके समाज-विधान और राष्ट्र-विधानमें जिस ब्राह्मण और संन्यासी-को आदर्श स्थान प्राप्त है, उसके लिये राष्ट्रिय अधिकार अपने हाथमें लेनेकी आज्ञा नहीं है, वेतनभोगी होकर उच्च राज-कर्मचारीका पद लेनेकी मनाही है, व्यवसाय-वाणिज्य, शिल्प, कृषि आदि अर्थकरी वृत्तिमें अपनेको नियोजित करना मना है, लौकिक धन-सम्पत् और प्रभुत्वपर अधिकार करनेकी चेष्टा निषिद्ध है तथा राजा या धनीके अधीन किसी प्रकारकी नौकरी स्वीकार करना वर्जित है। कोई ब्राह्मण या संन्यासी यदि राजा या शासनकर्ता, सेनापति या जमींदार होकर राष्ट्रिय सामर्थ्यके बलपर समाजके ऊपर अपना आधिपत्य जमाता है, अथवा किसी बड़ी फैक्टरी, किसी बड़े वाणिज्य-व्यवसाय अथवा कृषि-क्षेत्रका मालिक बनकर अर्थके उत्पादन और वितरणके कार्योंमें लगता है, अथवा नौकरी करके अपने स्वातन्त्र्यको खोकर जीविका अर्जन करता है तो वह पतित हो जाता है, ब्राह्मणोचित और संन्यासोचित अधिकारसे च्युत हो जाता है, जाति और समाजको आदर्शके पथपर परिचालित करनेमें अयोग्य हो जाता है। ब्राह्मण और संन्यासी स्वेच्छासे दारिद्र्य वरण करके सब प्रकारकी लौकिक पद-मर्यादा, शक्ति-मर्यादा और अर्थ-मर्यादाका लोभ त्याग करके सब प्रकारकी प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विताके क्षेत्रसे ऊपर उठकर ज्ञान-तपस्या और त्याग-व्रत तथा प्रेम-साधनाके द्वारा राष्ट्र और समाजके आध्यात्मिक आदर्शको जीवन्त रखते हैं तथा सब श्रेणियोंके नर-नारियोंको मानव-जीवनके इस आदर्शके सम्बन्धमें सर्वदा जाग्रत् रखते हैं; यही उनके लिये विहित है। जिससे उनकी आन्तरिक स्वाधीनता किसी प्रकार क्षुण्ण होनेकी सम्भावना हो, ऐसे किसी कार्यमें उन्हें लिप्त होना ठीक नहीं तथा ऐसी किसी वृत्तिका अवलम्बन करना भी उचित नहीं है। समाज और राष्ट्र उनके जीविका-संस्थान और स्वास्थ्य-विधानकी सुव्यवस्था करे; श्रद्धा, सत्कार और कृतज्ञताके कारण नत-मस्तक होकर सब श्रेणियोंके लोग उनकी सेवा करें तथा उनके प्रदर्शित मार्गमें अपने जीवनको नियन्त्रित करें। यही हिंदूकी समाज-विधि और राष्ट्र-विधिकी एक प्रधान बात है।

जिनकी आध्यात्मिकतामें निष्ठा हो, ऐसे आदर्श समाज-नेता तथा राष्ट्रनेताओंके निर्माणके लिये ही ब्राह्मणकी शिक्षा-दीक्षाकी व्यवस्था है तथा संन्यास-जीवन ही ब्राह्मण-जीवनका आदर्श है। 'आत्मनो मोक्षार्थं जगतो हिताय च' जीवनको सर्वतोभावेन ज्ञानसे समुज्ज्वल, प्रेमसे समुदार, कर्ममें सुदक्ष और त्यागमें सुमहान् बना देनेके उद्देश्यसे ही ब्राह्मणको बाल्यकालसे सुशिक्षा प्रदान करनेका विशेष प्रयत्न किया जाता है। जाति और समाजमें आदर्श नेताओं अथवा आचार्योंका निर्माण

होते रहनेसे ही सब श्रेणियोंके नर-नारी आदर्शके पथपर चलनेके अभ्यासी होते हैं। ऐसा होनेपर बीच-बीचमें प्रकृतिवश व्यभिचार उत्पन्न होनेपर भी जाति और समाज आदर्शसे च्युत नहीं होता। जो भविष्यमें समाजके आचार्य या जातिके नेता होंगे, उनको जीवनके प्रभातकालसे ही आध्यात्मिक आदर्शके द्वारा अनुप्राणित होकर, जिसमें वे ज्ञान, शक्ति और प्रेमका आहरण करना सीखें तथा त्याग, संयम, पवित्रता और चारित्रिक बलका अनुशीलन करनेके अभ्यासी बनें, इसी उद्देश्यसे उनके लिये सबसे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रमका विधान किया गया है। ब्रह्मचर्यकी शिक्षाको कर्म-जीवनमें, जाति और समाजमें कार्यान्वित करनेके लिये ही गार्हस्थ्याश्रम है। वयो-वृद्धिके साथ-साथ क्रमशः जीवनको पारिवारिक बन्धनसे मुक्त करके, उन्नत आध्यात्मिक स्वार्थबोधको पारिवारिक स्वार्थके घेरेसे क्रमशः मुक्त करके, लौकिक स्वार्थ और परार्थके द्वन्द्व और संघर्षको चित्तसे निकालकर आत्मबोधको समाजात्मबोधके द्वारा क्रमशः विश्वात्मबोधमें परिणत करना होगा। इसीसे वानप्रस्थ-आश्रमके अन्दरसे होते हुए अन्तमें सम्यक् संन्यासमें जीवनकी परिसमाप्ति होती है। इस प्रकार संन्यासादर्शसे अनुप्राणित, सम्पूर्ण समाजको आत्मस्वरूप अनुभव करनेवाले, ज्ञानतापस वेदवेदान्तविद् ब्राह्मण लोग ही हिंदूके समाज-विधान और राष्ट्र-विधानके प्रणेता हैं। वे लोग राष्ट्रके सञ्चालकोंके भी गुरु हैं, अर्थोपार्जन करनेवालोंके भी गुरु हैं तथा धनी और श्रमिक—सभीके गुरुस्थानीय हैं। सभी विषयोंमें वे नियम-संयमके उपदेष्टा हैं, शान्ति और प्रेमके आदर्शका प्रचार करनेवाले हैं; परंतु वे स्वयं राष्ट्रशक्ति और अर्थके प्रलोभनसे ऊँचे उठे हुए हैं।

जो लोग जातिमें सङ्घबद्धरूपमें शान्ति-व्यवस्था और साम्यको सुप्रतिष्ठित रखनेका उत्तरदायित्व अपने सिर लेते हैं, देशकी बाह्य आक्रमण और अन्तर्विप्लवसे रक्षा कर जन-साधारणको साधु-ब्राह्मणके द्वारा प्रदर्शित मार्गमें परिचालित करनेके लिये राष्ट्रिय सामर्थ्यका प्रयोग करते हैं तथा जिन्हें समष्टि-स्वार्थ और व्यष्टि-स्वार्थमें तथा विभिन्न प्रकारकी रुचि, बुद्धि, प्रवृत्ति एवं शक्तिवाले नर-नारियोंके विभिन्न प्रयोजनोंमें समन्वय स्थापित करनेके उद्देश्यसे न्याय और धर्मके अनुसार दण्डनीतिके प्रयोगका अधिकार दिया गया है, वे हिंदू समाजमें 'क्षत्रिय' नामसे कहे गये हैं। उस राष्ट्र-सेवक क्षत्रियवर्गकी मर्यादा ब्राह्मणके बाद ही पड़ती है। उनके लिये बाल्यकालसे ही देशात्मबोध और समाजात्मबोधकी शिक्षा आवश्यक होती है। वे समस्त देश, जाति और समाजके कल्याणको अपने कल्याणके रूपमें अनुभव करनेकी शिक्षा ग्रहण करते हैं। जाति और समाजकी सेवाके लिये योग्यता प्राप्त करनेके उद्देश्यसे वे शौर्य-वीर्यका अनुशीलन कर युद्ध-विद्यामें निपुणता प्राप्त करते हैं, निर्माण और सङ्गठन-शक्तिको विकसित करते हैं, सब प्रकारकी प्रतिकूल अवस्थाओंमें आदर्शको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये मनोबल अर्जन करते हैं तथा सब प्रकारके प्रलोभनों और दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये आत्मसंयम-संचालन करनेकी शक्ति प्राप्त करते हैं। इसीका नाम क्षात्रधर्म है। वे ब्राह्मण और संन्यासीको पथप्रदर्शक उपदेष्टाके रूपमें मानकर चलते हैं, परंतु ब्राह्मणत्वके लिये लालायित नहीं रहते और न सामाजिक और राष्ट्रिय उत्तरदायित्व छोड़कर संन्यासका अवलम्बन करनेके लिये ही उत्सुक होते हैं। समाज और राष्ट्र उनसे जिस प्रकारकी सेवाकी आशा करता है, जिस प्रकारकी सेवाका भार उनके सिरपर दिया गया है, क्षात्र-गौरवभावसे अनुप्राणित होकर वे अपनी सारी ज्ञान-शक्ति और कर्म-शक्तिको अकुण्ठित हृदयसे उसी प्रकारकी सेवामें ही लगा देते हैं और उसीके द्वारा अपने जीवनको सार्थक करते हैं। इस सेवाके द्वारा ही व्यष्टि-आत्माका समष्टि-आत्माके साथ योग होता है, उनके प्राण प्रेमपूर्वक विश्वप्राणके साथ मिल जाते हैं। हिंदू धर्म क्षात्रभावापन्न लोगोंको इस समुज्ज्वल आध्यात्मिक कर्म-योगमें दीक्षित करता है।

हिंदू संस्कृतिके अनुसार राष्ट्रिय शक्तिका परिचालन करने-वालोंके लिये कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि अर्थकरी वृत्तिमें लगना—अर्थके उत्पादन और वितरणमें स्वार्थ-लिप्त होना मना है। राष्ट्र-सेवकगण अर्थके लिये अर्थसेवकोंके ऊपर निर्भर रहते हैं; और अर्थसेवक लोग अपनेको निरापद रखनेके लिये तथा अर्थके सुनियत उत्पादन और वितरणके सुयोगके लिये राष्ट्र-सेवकोंके ऊपर निर्भर करते हैं। दारिद्र्य-व्रती, स्वार्थबुद्धिरहित, व्यापकदृष्टिसम्पन्न, आध्यात्मिक आदर्शमें निष्ठा रखनेवाले मनीषी ब्राह्मण और संन्यासियोंके द्वारा निर्धारित विधानका अनुगमन करते हुए राष्ट्र-सेवक क्षत्रियों तथा अर्थ-सेवक वैश्योंके प्रेमपूर्ण सहयोगसे सारी जाति और समाजमें साम्य, शृङ्खला, शान्ति, समृद्धि, न्याय और धर्मका राज्य प्रतिष्ठित होता है तथा विभिन्न श्रेणियोंमें प्रति-योगिताका कटु सम्बन्ध न होकर सहयोग और पारस्परिक निर्भरताका मधुर सम्बन्ध स्थापित होता है। इस प्रकार प्रत्येक

व्यक्ति अपने-अपने धर्मके आदर्शसे अनुप्राणित होनेके कारण दूसरोंके धनका लोभ नहीं करता तथा दूसरेकी मर्यादा (गौरव)-को देखकर ईर्ष्यान्वित भी नहीं होता।

अर्थके सुनियन्त्रित उत्पादन और वितरणके द्वारा समस्त जाति और समाजके कल्याणके विधानमें जो लगे हुए हैं, उनको हिंदूकी भाषामें 'वैश्य' कहते हैं। उनकी पारस्परिक प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता तीव्र न हो, उनमेंसे प्रत्येक अपने अपने अधिकारमें अनुरक्त रहकर स्वच्छन्दतापूर्वक जातिकी बाह्य सम्पत्तिको बढ़ा सके और समाजको श्रीसमन्वित कर सके, इसकी सुव्यवस्था हिंदू संस्कृतिने की है। अर्थकी सेवा अर्थके लिये नहीं है और न भोगके लिये ही हैं। 'धर्म' ही अर्थका सेव्य है। धर्मके लिये ही मनुष्यको जीवन धारण कर रखनेकी आवश्यकता है, धर्मके लिये ही मनुष्यको अन्न-वस्त्रादि बाह्य उपकरणोंकी आवश्यकता है, एवं धर्मसे मानव-समाजको समुज्ज्वल और शक्तिशाली बनाये रखनेके लिये ही राष्ट्र-व्यवस्थाकी आवश्यकता है। धर्म ही मनुष्यके व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवनकी सभी अवस्थाओंमें केन्द्रस्थानका अधिकार करके स्थित है—यही हिंदूका जीवनादर्श है। मनुष्यके साथ मनुष्यका सप्रेम मिलन ही धर्मका प्रधान लक्षण है और मानव-समाजमें विरोध, संघर्ष, हिंसा, विद्वेष, घृणा और भय ही अधर्मका लक्षण है। मानव-समाजमें अर्थकी वृद्धि, ज्ञान-विज्ञानका प्रसार, राष्ट्रिय शक्तिका प्राबल्य—इनसे यदि मनुष्यके साथ मनुष्यका सौहार्दपूर्ण मिलन नहीं होता तथा वैरभाव और संघर्ष बढ़ जाता है तो वह अर्थ, वह ज्ञान-विज्ञान, वह राष्ट्रशक्ति मनुष्यकी उन्नतिकी परिचायिका नहीं बन सकती। मनुष्यके ज्ञान, वीर्य, अर्थ और कर्म बढ़कर यदि उसे सुसभ्य न बनायें, प्रत्युत क्रमशः असभ्यताके मार्गमें ले जायँ तो उसकी अपेक्षा इन सबका विकास न होना ही अधिक वाञ्छनीय है। अतः सारा मानव-समाज तथा उसके अन्तर्गत प्रत्येक जाति, प्रत्येक श्रेणी, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक व्यक्तिका—जिसके द्वारा वह ज्ञान, वीर्य और अर्थसे समृद्ध होकर मनुष्योचित परम कल्याणके मार्गमें अग्रसर हो सके, उसी उद्देश्यको सामने रखकर राष्ट्रशक्ति, अर्थशक्ति और ब्राह्मण्य-शक्तिके द्वारा—धर्मके आदर्शद्वारा सुनियन्त्रित होना आवश्यक है।

हिंदू संस्कृतिकी आध्यात्मिक नीतिके अनुसार, जो देशकी बाह्य सम्पत्तिको बढ़ावेंगे, राष्ट्रिय शक्तिका सञ्चालन उनके हाथोंमें न होगा (वे शासक नहीं हो सकेंगे) तथा जो राष्ट्रिय शक्तिके सञ्चालनका भार ग्रहण करेंगे, शासक होंगे, वे अर्थ-सेवासे पृथक् रहेंगे। जाति और समाजके सर्वाङ्गीण कल्याणके लिये क्षात्रशक्ति और वैश्यशक्ति दोनोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। परंतु किसी एक श्रेणीके लिये दूसरी श्रेणीके गौरव, मर्यादा एवं सुयोग-सुविधाके प्रति लोलुप दृष्टि रखना ठीक नहीं। इसीसे संघर्ष उत्पन्न होता है। प्रत्येक श्रेणी स्वधर्मके गौरव-बोधसे अनुप्राणित होकर अपने कर्मक्षेत्रमें ही उत्कर्ष प्राप्त करे तथा उसके द्वारा देशके कल्याण तथा अपने आन्तर एवं बाह्य जीवनकी सार्थकता सम्पादन करे। इसे धर्मका निर्देश मानकर सब श्रेणियोंके लोग श्रद्धा और आनन्दके साथ स्वीकार करें। हिंदूके सामाजिक और राष्ट्रिय विधानमें श्रेणीके साथ श्रेणीकी एवं सम्प्रदायके साथ सम्प्रदाय-की प्रतियोगिता और संघर्षका कम-से-कम अवसर मिले, इसकी व्यवस्था करनेकी चेष्टा की गयी है।

समाजके जिस स्तरके नर-नारी स्वाधीनतापूर्वक विचार-शक्ति और कर्म-शक्तिके अनुशीलनके द्वारा देशके ज्ञान-विज्ञानकी उन्नति करने, शिक्षा-दीक्षाकी उन्नति करने, दक्षता-के साथ राष्ट्रका सञ्चालन करने, बाह्य सम्पत्तिके उत्पादन तथा जन-साधारणके सुख-स्वास्थ्यके विधानमें अपनेको लगानेमें असमर्थ हैं, जो अपने धर्मानुकूल कर्तव्योंके निरूपण और उनके भलीभाँति सम्पादन करनेके लिये परमुखापेक्षी हैं, अपने जीवनके सम्यक् विकासके लिये जिनको श्रेष्ठतर लोगोंके आदेश और उपदेशके अनुसार चलना पड़ता है, वे ही हिंदू समाजमें 'शूद्र' नामसे कहे जाते हैं। वे ही देशके जन-साधारण हैं, सभी देशोंमें इन्हींकी संख्या अधिक होती है। स्वाधीन विचार-शक्तिसे युक्त और सङ्गठनमें निपुण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यगण उनको विचार-शक्ति प्रदान करते हैं, उनके कर्मका नियमन करते हैं, उनके स्वार्थकी रक्षा करते हैं तथा उनकी उन्नतिमें सहायक होते हैं और वे ही उनके अभिभावक भी हैं। उनका महान् उत्तरदायित्व समाजके नीतिप्रवर्तक, शिक्षा-विधायक, राष्ट्र-सञ्चालक और धनोत्पादक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके ऊपर होता है। समस्त जातिके कल्याणकी दृष्टिसे यह अत्यन्त आवश्यक है कि उन (शूद्रों) की सुशिक्षा, उनके सन्तोष, उनके चित्तमें धार्मिक भावोंके उद्दीपन, उनके अन्न-वस्त्र और गृहादिकी सुव्यवस्था, उनके भीतर देशात्मबोध और समाजात्मबोधके जागरण तथा उनमें समाजके उच्चतर श्रेणीके लोगोंके प्रति आत्मीयताबोधके अनुकूल आचार-विचारके प्रचारका प्रबन्ध किया जाय।

हिंदू धर्मके अपौरुषेय शास्त्र 'वेद' स्मरणातीत कालसे घोषणा करते हैं कि समस्त मानव-समाज एक अखण्ड सत्तासे सत्तावान् है, एक अनन्त प्राण-शक्तिके द्वारा सञ्जीवित है, एक परम पुरुषका विराट् देह है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस विराट् देहके चार अवयव हैं। एक जीवित देहके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी भाँति किसी जाति, श्रेणी या सम्प्रदायको दूसरी जाति, श्रेणी या सम्प्रदायसे विच्छिन्न करके उसका कल्याण-साधन करना सम्भव नहीं है। इसका कोई भी अङ्ग स्वार्थ-निष्ठ होते ही व्याधिग्रस्त हो जाता है और समस्त देहको कलुषित करनेमें प्रवृत्त होता है। यदि कोई अङ्ग अपनेको श्रेष्ठ समझकर दूसरे अङ्गोंको नीच माने तो वह अपनेको ध्वंसके मार्गमें ले जायगा और साथ ही दूसरोंको भी ध्वंसके पथमें गिरा देगा। समाजरूपी शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें विभिन्नता जिस प्रकार स्वाभाविक है, भगवान्‌की विश्वलीलामें यह विभिन्नता जिस प्रकार अवश्यम्भावी होती है, उसी प्रकार सारी विभिन्नताओंमें एक जीवन्त एकत्व ही इसका यथार्थ परिचय है। प्रत्येक अङ्ग अपने-अपने धर्ममें निष्ठायुक्त रहकर उस अखण्ड एककी सेवामें लग जाय, तभी प्रत्येककी सत्ता सार्थक होती है। विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें प्रतियोगिता, प्रति-द्वन्द्विता, संघर्ष और संग्राम ही इस विराट् देहके व्याधि-स्वरूप हैं। सबकी एकप्राणतामें ही इस देहका सौन्दर्य, माधुर्य, वैभव और आनन्द प्रकाशित होता है। यह मानव-समाज भगवान्‌का विराट् विश्वमय शरीर है। इसके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गको उन्होंने स्वतन्त्रता प्रदान की है, वैशिष्ट्य प्रदान किया है तथा पृथक्-पृथक् कर्माधिकार और शक्ति-सामर्थ्य दिया है; परंतु सबके बीचमें एकत्वको ही उन्होंने सर्वविजयी बनाकर रक्खा है। यदि कोई अङ्ग एकत्वका विरोधी होगा, वैषम्यका उपासक होगा, तो वह नाना प्रकारके तापोंसे सन्तप्त होता हुआ समाजका अकल्याण करेगा। अपनी-अपनी शक्तिको विकसित करते हुए सारे समाजकी सेवा और उसके द्वारा सर्वान्तर्यामी भगवान्‌की सेवा करना प्रत्येक श्रेणीके लिये कर्तव्य है। यही हिंदू संस्कृतिका अन्तर्निहित आदर्श है।

अब मैं अथर्ववेदके ऋषिकी एक आशीर्वाणीको स्मरणकर इस प्रबन्धका उपसंहार करता हूँ। इसमें हिंदू संस्कृतिका आदर्श, राम-राज्यका आदर्श तथा साम्यवादियोंके साम्यका आदर्श कैसी सुन्दरताके साथ चित्रित किया गया है, यह देखने ही योग्य है।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त
एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणो-
म्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः
सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥
(अथर्व० ३। ३०)

मानव-समाजकी सारी जातियोंके समस्त वर्गोंके नर-नारियोंको लक्ष्य करके ऋषि कहते हैं कि मैं इस प्रकार परम अग्नि (विश्वदेवता) की सेवा करता हूँ, जिससे तुम सबके हृदयोंमें सम्यक् मिलन हो, मनोंमें सम्यक् मिलन हो और द्वेषभाव दूर हो जाय। गाय जिस प्रकार अपने नवजात बछड़ेके प्रति आकृष्ट होती है, तुम भी उसी प्रकार एक-दूसरेके प्रति आनन्दपूर्वक आकृष्ट होओ ॥ १ ॥ पुत्र पिताके कल्याण-व्रतका अनुसरण करे, माताके साथ एकमना हो जाय, स्त्री मधुमती वाक्के द्वारा स्वामीके चित्तको शान्तिमय करे ॥ २ ॥ भाई भाईसे द्वेष न करे, बहिन बहिनसे द्वेष न करे। सब-के-सब एक लक्ष्य-साधनमें, एक व्रतपालनमें सम्मिलित होकर सुभद्र वाक्यसे परस्पर सम्भाषण करें ॥ ३ ॥ जिस प्रकार 'ब्रह्म' या ईश्वरभावनाके बलसे देवगण परस्पर विच्छिन्न नहीं होते, कोई किसीसे विद्वेष नहीं करते, सारे मनुष्योंके लिये उसी प्रकार एक मतिका सम्पादन करनेवाले सम्यक् ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली ब्रह्मभावनाकी विधि प्रणयन करके मैं तुम्हारे घर-घरमें प्रतिष्ठित करता हूँ ॥ ४ ॥ एकमना होकर ज्येष्ठ-कनिष्ठ नियमके अनुसार, एक लक्ष्य-साधनके उद्देश्यसे-

प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कार्यभारको वहन करे। परस्पर विच्छिन्न न होओ, परस्पर प्रिय सम्भाषण करते-करते अग्रसर होओ। मैं तुमलोगोंको एक लक्ष्यमें निबद्धदृष्टि तथा एकमना होनेके लिये आह्वान करता हूँ ॥ ५ ॥ एक ही पौसलेमें तुम सब जल पियो, एक ही अन्नसत्रमें भाग करके अन्न भोग करो। मैं तुम सबको एक ही स्नेह-रज्जुमें एकत्र सम्बन्धित करता हूँ। एक ही लक्ष्यसे आबद्ध होकर तुम सब अग्निदेवकी परिचर्या करो। रथचक्रके अरे जिस प्रकार एक ही धुरीको केन्द्रित करके अपना-अपना कार्य करते हैं, तुम सब भी उसी प्रकारसे एक ही सुमहान् आदर्शसे अनुप्राणित होकर, एक ही परम देवताको जीवनके केन्द्रमें सुप्रतिष्ठित रखकर, अपने-अपने व्रतोंका सम्पादन करते हुए उनकी सेवा करो ॥ ६ ॥ एक ही संवनन अर्थात् साम्यसाधक स्तोत्रके द्वारा मैं तुम सबको एक लक्ष्यके साधनमें एकमना करता हूँ। सब एकान्न-भोजी बनो। स्वर्गके अमृतकी रक्षामें जिस प्रकार सारे देवता एकमना होते हैं, उसी प्रकार अखण्ड मानवताके आदर्शकी रक्षामें तुम सबमें रात-दिन निरन्तर ऐकमत्य प्रतिष्ठित रहे ॥ ७ ॥

भारतीय संस्कृतिकी मूलधारा

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

संस्कृति किसी देश या जातिकी आत्मा है। इससे उसके उन सब संस्कारोंका बोध होता है, जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवनके आदर्शोंका निर्माण करता है। यह विशिष्ट मानवसमूहके उन उदात्त गुणोंको सूचित करती है, जो मानव-जातिमें सर्वत्र पाये जानेपर भी उस समूहकी विशिष्टता प्रकट करते हैं और जिनपर उनके जीवनमें अधिक जोर दिया जाता है।

अपने दीर्घ अनुभव, तपःपूत ज्ञान और चिन्तनद्वारा भारतके आत्मदर्शी ऋषि इस निष्कर्षपर पहुँचे थे कि आत्मानुभव, आत्मसाक्षात्कार, आत्मदर्शन ही मानव-जीवनका परम पुरुषार्थ है। जीवन और जगत्में दो प्रकारके तत्त्व हैं। एक वह जो नित्य परिवर्तनशील है, जो प्रतिक्षण बदल रहा है; दूसरा वह जो इस परिवर्तनके मूलमें है, अव्यक्त है पर उसीके कारण और उसीको लेकर जगत्की सम्पूर्ण दृश्य वस्तुओं, सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थोंका अस्तित्व है। जगत्के पीछे जो यह महती अव्यक्त शक्ति है, उसका उद्घाटन करने और उसे अनुभव तथा धारण करनेसे यह ऊपरसे असहाय, दुर्बल, अशक्त दीखनेवाला मानव-जीवन असीम कल्याणकारी शक्ति एवं वैभवसे पूर्ण हो सकता है। हमारे पीछे शक्तिका जो अमित कोष छिपा हुआ है, उसकी खोज और सिद्धिसे ही मानव-जीवनका आदर्श पूर्ण हो सकता है। भारतीय सामाजिक जीवनकी विविध श्रेणियाँ अपनी शक्ति और मर्यादाके अनुसार इसी दिशामें, इसी गन्तव्य स्थलकी ओर परिचालित की गयी थीं।

दृष्टिदोषके कारण अथवा इस संस्कृतिके मूल अनुबन्धको न समझ सकनेके कारण अनेक छिद्रान्वेषी आलोचक यह आक्षेप करते हैं कि भारतीय संस्कृति स्वप्नों और कल्पनाओंकी अस्थिर भूमिपर खड़ी है और जगत्की ठोस भूमिसे उसका सम्बन्ध ही मिट गया है। यह सर्वथा मिथ्या धारणा है। भारतीय संस्कृति खड़ी तो इसी भूमिपर है, परंतु उसका सिर आकाशकी ओर उठा है। मानव चलता जमीनपर है, पर देखता सामने या ऊपर है—उसका सिर ऊपरकी ओर उठा है। भारतीय संस्कृति भी जीवनके अन्तरिक्षको भेदकर उसके अनन्त रहस्योंको जाननेके लिये विकल हुई थी। यह शुद्ध वैज्ञानिक वृत्ति थी। उसने अध्यात्मविद्यामें जो उन्नति की थी, उसमें पदार्थविद्याकी उपेक्षा न थी; बल्कि उसकी मूलप्रकृतिको जाननेके लिये यह आवश्यक था। उसने पदार्थविद्या, शासन-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, अर्थविद्या, शरीरशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, वास्तुकला, युद्धविद्या, जनन विज्ञान आदि भौतिक विद्याओंके क्षेत्रमें कुछ कम प्रगति न की थी। वह वायु-विज्ञानकी सहायतासे समय और दूरीके व्यवधानपर विजय प्राप्त कर सकी थी; वह सूर्य-विज्ञानके द्वारा वस्तुओंके रूपको तुरंत बदल देने, एक जातिके पदार्थको दूसरी जातिमें बदल देने, लोहेको सोना करने और मृत्युपर भी, एक सीमातक, विजय प्राप्त करनेमें समर्थ हुई थी; उसकी समाज व्यवस्थामें व्यक्तिके विकासकी सम्पूर्ण सुविधाओंके होते हुए भी समाज या समूहके अन्तिम हितकी भावना प्रधान थी; उसकी अर्थविद्या समाजके शोषणका कारण न बनकर उसके संरक्षण और संवर्द्धनका साधन बन सकी थी; धनने जीवन-

पर प्रभुत्व न प्राप्त किया था। हठयोगियोंने शरीरकी अनेक ऐसी शक्तियों एवं शक्ति-संस्थानोंका पता लगाया था, जिनका ज्ञान आधुनिक शरीरशास्त्रियोंको अबतक नहीं लग सका है अथवा किसी अंशमें लगनेपर भी वे उनका उपयोग नहीं जान पाये हैं। जीवनका कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था, जो उसने अछूता छोड़ा हो। हाँ, एक बात अवश्य थी। इन सब शास्त्रों अथवा विज्ञानोंके मूलमें उसी परम पुरुषार्थ या आदर्शकी प्रेरणा थी। सब विद्याएँ उसी ओर प्रधावित थीं। सबका आधार वही था। जीवनका यह आध्यात्मिक आधार ही भारतीय संस्कृतिकी विशेषता थी।

मानवसमाजमें दो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। एकको हम केन्द्रोन्मुखी ('सेन्ट्रीपेटल') प्रवृत्ति कहते हैं और दूसरीको वृत्तोन्मुखी। पहली परिधि या वृत्तसे केन्द्र-बिन्दुकी ओर जाती है; वह कहीं रहे, केन्द्रके साथ वह बँधी है, केन्द्रमें ध्यानस्थ है। दूसरी वह, जो केन्द्रसे परिधिकी ओर जाती है। भारतीय संस्कृति अपने मूलरूपमें केन्द्रोन्मुखी रही है। वह जगत्में रहकर भी आदर्शोन्मुख है; वह बाहर रहकर भी अन्तःस्थ, आत्मस्थ है। इसके विरुद्ध पाश्चात्त्य संस्कृति बाह्यप्रसारी है; वह बाहरकी ओर जाती है; केन्द्रसे दूर फैलनेकी ओर उसकी प्रवृत्ति है।

इन दो भिन्न प्रवृत्तियोंसे दो सभ्यताओंका जन्म हुआ है। जब प्रवृत्तियाँ मूलतः भिन्न थीं तो उनकी साधनाके रूपोंमें भी भिन्नता आयी। भारतीय संस्कृति आचरणप्रधान हुई; उसमें अन्तर्वृत्तियोंके उत्कर्षपर जोर दिया गया; उसमें समाजकी प्रत्येक इकाई या घटकसे आत्मशुद्धिकी आशा पहले की गयी; उसमें व्यक्तिके जीवनको त्यागकी ओर बढ़ाया गया। क्योंकि त्याग और आत्मनियन्त्रण एवं आत्मशुद्धिके बिना समाजके घटकोंमें सच्चे सामाजिक कल्याणकी भावना तथा तदनुकूल आचरणका होना कठिन है।

इसके विरुद्ध ग्रीक या पाश्चात्त्य संस्कृति मनुष्यके सामूहिक सुधारपर अधिक जोर देती है। समाज-सेवा उसका मुख्य उद्देश्य है; पर आत्मशुद्धिके मुख्य दृष्टिबिन्दुपर जोर न देनेके कारण वहाँ व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण या नीतिमें बहुत बड़ा अन्तर आ गया और धीरे-धीरे संस्कृति विकृत होकर नष्ट हो गयी। जब व्यक्ति अपने सुधार, अपने दोष-निवारणकी ओरसे आँखें मूँद लेता है, अथवा अपनी चरित्रगत दुर्बलताओंकी ओरसे उदासीन हो समाजके उद्धारका प्रयत्न करता है, तब सभ्यताका भ्रष्ट और विकृत होना स्वाभाविक है। इसके विरुद्ध जब समाजका प्रत्येक घटक आत्मशुद्धिपर ध्यान देता है, स्वार्थवृत्तिपर नियन्त्रण रखता है, तब सम्पूर्ण समाज अपने-आप निर्मल हो जाता है। लड़कपनमें मैंने बीरबलकी बुद्धिके चमत्कारके सम्बन्धमें अनेक कहानियाँ सुनी थीं। इन्हींमेंसे एक कथामें कहा गया था कि एक बार बीरबलकी सलाहसे अकबरने नगरके किनारेपर तालाब खुदवाया और प्रत्येकको आज्ञा दी गयी कि रातको एक-एक घड़ा दूध उसमें छोड़ दे। योजना यह थी कि एक दूधका तालाब दूसरे दिन तैयार हो जायगा। पर दूसरे दिन सुबह जब अकबर बीरबलके साथ वहाँ पहुँचे तो देखा कि तालाब जलसे पूर्ण है और दूधका नाम नहीं। बात यह थी कि प्रत्येकने सोचा कि सब तो दूध डालेंगे ही, यदि मैं एक घड़ा पानी डाल दूँगा तो उतने दूधमें क्या पता चलेगा। जहाँ व्यक्ति अपनी ओर नहीं देखता, आत्मशुद्धिसे प्रेरित नहीं होता, वहाँ यही स्थिति होती है।

हमारी समाज-व्यवस्थामें श्रमिकसे लेकर ज्ञानदातातक (शास्त्रकी शब्दावलीमें शूद्रसे ब्राह्मणतक) सबकी उपयोगिता थी; सबको उचित स्थान मिला था। पर क्षत्रिय और वैश्यवर्ग (अर्थात् शासन और धनसत्ता) मिलकर भी ज्ञानदाताको उसके सर्वोच्च स्थानसे नीचे न गिरा सके थे। जिस वर्गमें त्यागकी जितनी ही क्षमता थी, उसे समाजमें उतना ही ऊँचा स्थान मिला था: उसके शब्द, उसके आदेश उतने ही मान्य थे। समाजनीतिका नियन्त्रण राजाके हाथमें न था, बल्कि उन महात्माओंके हाथमें था, जो अपने सुखोपभोगकी समस्त बाह्य सामग्रियों एवं सुविधाओंका त्याग करके केवल आत्म-चिन्तन तथा अपने अनुभव एवं ज्ञानसे समाजके कल्याणके लिये जीते थे; जो समाजसे कम-से-कम लेते थे और अधिक-से-अधिक देते थे; जिनको स्वयं किसी बाह्य सुविधा या अधिकारकी आवश्यकता न थी; शासन-शक्तिके लिये भी उनके पथ-प्रदर्शनकी अवहेलना सम्भव न थी। यही आत्म-बलकी प्रतिष्ठा, संसारकी सम्पूर्ण शक्तियों या शक्ति-केन्द्रोंके ऊपर साधुत्व, त्याग, तपकी प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृतिकी मुख्य विशेषता रही है। समाज जीवनके आदर्शों और उच्च प्रेरणाओंके लिये ऋषियों और तपस्वियोंकी ओर देखता था। त्याग, न कि भोग, जीवनका आदर्श या प्राप्य था।

तब क्या हमारी संस्कृति व्यष्टिधर्मा थी? क्या उसने

समाज-धर्मके प्रति उदासीनताका भाव था ? नहीं । इस विषयमें भी वह मानव-प्रकृतिमें निहित सत्योंके मूलमें प्रविष्ट हुई थी । समाजका मूल मनुष्यका 'स्व' है। यह अहंताका भाव ही जीवन तथा उसकी समस्त प्रेरणाओंका आधार है । मनुष्य जो कुछ करता है, अपने इसी 'स्व'को लेकर करता है । जगत्के सारे सम्बन्ध आत्मरूपको लेकर हैं । 'स्व'में मनुष्यका जो प्रेम है, उसीसे वह टिका हुआ है । इसलिये 'स्व'का विरोध नहीं, बल्कि उसका अनुभव एवं संस्कार ही समाजके हितकी दृष्टिसे वाञ्छनीय है । सामाजिक कल्याण या परम पुरुषार्थके लिये इस 'स्व'का संस्कार करके इसे उच्च मनोभूमिकाओंपर स्थापित करनेकी आवश्यकता पड़ती है । इसके लिये क्षुद्र 'स्व' और महत् 'स्व'को एकत्र करना पड़ता है । क्षुद्र 'स्व' महत् 'स्व'का विरोधी नहीं, बीजरूप है । जैसे जरासे बीजमें सम्पूर्ण वृक्ष समाया हुआ है, वैसे ही क्षुद्र (यानी व्यक्तिके) 'स्व'में महत् 'स्व' घनीभूत एवं अन्तर्निहित है । ज्यों-ज्यों क्षुद्र 'स्व'का शोधन एवं संस्कार होता है, उसमें महत् 'स्व'की अनुभूति बढ़ती जाती है, आदमी स्वार्थसे ऊँचा उठता है और अन्तमें यही क्षुद्र 'स्व' विराट् 'स्व'में बदल जाता है। तब प्राणिमात्रसे अभिन्नता एवं परम ऐक्यकी अनुभूति होती है । इस प्रकार विश्वप्रेमकी सिद्धि होती है । इस आध्यात्मिक भावनाद्वारा समाजकी विभिन्न श्रेणियोंमें सामञ्जस्य स्थापित किया गया था और व्यक्ति तथा समाजकी तात्त्विक अभिन्नता-का अनुभव किया गया था ।

विद्या, धन और शक्तिकी अवज्ञा हमारे यहाँ नहीं की गयी । इनकी आवश्यकता औसत दर्जेके व्यक्ति, वर्ग या समाजको है; पर इनका उपयोग मनुष्य किस प्रकार करता है, इसे देखकर ही उसकी संस्कृतिका अनुमान लगाया जाता है । रावण ब्राह्मण था, परम विद्वान् था, शक्तिमान् भी था । उसने विद्या और शक्तिका दुरुपयोग किया, इसलिये राक्षस कहलाया । जब मनुष्य धनसे पर-पीड़न करता है तो कोई भी उसे उच्च संस्कृतिका नहीं कहता । आज संसारमें विद्याकी कमी नहीं; शक्तिकी कमी नहीं; धनकी कमी नहीं; तब भी इनके द्वारा मानव-जाति और मानव-शक्तियोंका भयङ्कर विनाश हो रहा है । पश्चिमके बड़े-बड़े वैज्ञानिक अत्यन्त भयङ्कर आविष्कारोंके द्वारा मानव-जातिके भविष्यको खतरेमें डाल रहे हैं । यह विद्याका व्यभिचार है । इसे संस्कृति नहीं कह सकते । भारतवर्षमें इन साधनोंपर साधुत्वका, आत्मबलका नियन्त्रण सिद्ध करता है कि हमारी संस्कृति न केवल श्रेष्ठ थी, बल्कि व्यावहारिक दृष्टिसे भी उसने श्रेष्ठ उदाहरणों एवं प्रतीकोंको जन्म दिया था । विद्या, धन और शक्तिके उचित उपयोगके लिये ही हमारे यहाँ उसे आध्यात्मिक आधारपर प्रतिष्ठित किया गया था ।

यह इसी आध्यात्मिक अधिष्ठानका परिणाम है कि मैक्समूलरके शब्दोंमें 'प्राचीन वंश विनष्ट हुए, परिवारोंका ह्रास हुआ, नये साम्राज्योंकी नींव पड़ी; किंतु इन आक्रमणों और हलचलोंसे हिंदुओंके आन्तरिक जीवनमें परिवर्तन नहीं हुआ ।' युग बीतते गये हैं, क्रान्तियाँ और खण्ड-क्रान्तियाँ हुई हैं, अनेक जातियाँ बाहरसे आयी हैं; किंतु भारतीय संस्कृतिकी मूलधारा आजतक वही है—आत्मशुद्धि, त्याग और तपके जीवनद्वारा सच्ची सामाजिक सभ्यताकी सिद्धि ।

हमारे धर्ममें, हमारी समाज-व्यवस्थामें, हमारे शिक्षा-क्रममें, हमारे चिकित्साशास्त्रमें, हमारे साहित्य और हमारी कलामें जीवनकी इसी उदात्त कल्पना और संस्कृतिकी धारा है—अन्धकारसे उठकर प्रकाश, असत्यसे सत्य और मृत्युसे अमरत्वके स्रोतकी ओर यात्रा करनेकी वृत्ति । जीवनकी सार्थकता त्यागमें, आत्मार्पणमें, अपनेको देनेमें है—यही सन्देश हमारी संस्कृतिका सन्देश है ।

क्या इसका अर्थ निष्क्रियता है ? क्या इसका अर्थ जीवनकी प्रेरणाओंकी उपेक्षा है ? क्या इसका अर्थ अकर्मण्यता है ? हमारे जीवनमें आज निष्क्रियता और अकर्मण्यता आ गयी है । हम जीवनकी महती प्रेरणाओंसे दूर हो गये हैं । पर इसका कारण यह है कि हम आत्म-विस्मृत, बेसुध, अपनी संस्कृतिके आदर्शोंकी ओरसे आँखें मूँदे बैठे हैं । अन्यथा उत्तरोत्तर जीवनके शोधनमें आत्मार्पण, जीवनपर परम नियन्त्रणकी स्थापना, मृत्युपर विजय, स्वार्थपर लोक-कल्याणके आदर्शकी प्रतिष्ठा—यही तो हमारी संस्कृति है । पहले अपनेको निर्मल करो, फिर निर्मल अन्तःकरणको जगत्के हितमें लगाओ—आत्मानुभव एवं आत्म-दर्शनमें लगाओ, यही हमारी संस्कृतिकी अमर वाणी है । वही वाणी, जो शताब्दियोंसे मानवताके हृदयको पुकार रही है—'सब सुखी हों, सब निरामय हों, सब श्रेयको देखें ।'

हिंदू संस्कृति

(लेखक—म० श्रीशम्भूदयालजी मोतिलावाला)

हिंदू संस्कृतिके गुण

हिंदू संस्कृतिके प्रवर्तक वे महापुरुष हैं, जिन्होंने ईश्वर और प्रकृतिके रहस्यको आदिसे अन्ततक अनुभव कर लिया था, जो जीवत्वसे ब्रह्मत्वको प्राप्त कर चुके थे। इसलिये इस संस्कृतिमें जीवको परमानन्दमें लय करनेके गुण हैं।

कामना ही भले या बुरे कार्यमें ले जानेवाली है

ईश्वर महान् और आनन्दमय है। कामना ईश्वरकी ही ज्योति है, अतः कामनाका 'बड़ाई' तथा 'स्वाद' में रहना स्वाभाविक है। लेकिन जब कामना मिथ्या भोगोंमें फँसकर उन्हींमें 'स्वाद' या 'बड़ाई' का रसास्वादन करती है तो वह अपने गुणोंको मिथ्या (संसार) में समझकर, उन मिथ्या भोगोंका अधिकाधिक निर्माण करती है और फलतः दुःख भोगती है। हिंदू संस्कृति कामनाको इस भ्रान्तिसे बचाकर वास्तविक मार्गपर चलनेका अभ्यास कराती है। तब इसे वस्तुतः सुख प्राप्त होता है।

सत् और असत् पथोंकी व्याख्या

हिंदूधर्ममें पुण्य और पापके ये मार्ग कहे गये हैं।

पुण्यमार्गकी सीढ़ियाँ—

(१) तन, मन तथा इन्द्रियोंको प्राकृत ढंगसे भीतर-बाहरसे पवित्र रखते हुए अपने वशमें करके युक्तिपूर्वक सत्कार्योंमें लगाना।

(२) नित्य परोपकार करना।

(३) जीवोंपर दया करना और यथाशक्ति सत्पात्रको दान देना आदि····।

पापके मार्गकी सीढ़ियाँ—

(१) तन, मन तथा इन्द्रियोंको मलिन करना और अपने वशसे बाहर होने देना तथा असन्तोषको बढ़ाना।

(२) झूट, चोरी और लूट आदि करना।

(३) हिंसा करना।

तात्पर्य यह कि जिस विचार या कार्यसे परिणाममें अपने और दूसरे प्राणियोंमें सुख-शान्तिकी वृद्धि हो, वह पुण्यमार्ग है और जिस विचार या कार्यसे अपने अथवा दूसरे प्राणियोंके दुःख एवं द्वन्द्व बढ़ें, वह पाप-मार्ग है।

सद्ग्रन्थोंमें पुण्य-पापकी विस्तारसे व्याख्या की गयी है। ऐसे बहुत अधिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इतनेपर भी जैसे वैद्यके बिना औषधका ठीक उपयोग नहीं होता, वैसे ही मर्मी व्याख्याताके बिना ग्रन्थोंकी दशा होती है। हिंदूधर्मके जिन आदेशों (आर्डिनेन्सों) में अपराधियोंके लिये इस लोक और परलोकमें भय बताया गया है, उन आदेशोंका आजकलके लोग उपहास करते हैं और कहते हैं—'इनसे वहम (भ्रम) होता है और वास्तविकता दब जाती है।' उनको यह पता नहीं कि भ्रम होता ही अपराधीको है और ये आदेश ग्रन्थ (शास्त्र) अपराध करनेसे मनुष्यको रोकते हैं। इनसे वास्तविकता दबती नहीं, उल्टे अधिक अच्छी तरह प्रकाशमें आती है। वास्तविकता मायाके आवरणमें ही पक्व होती है। पक्व होनेपर वह स्वतः आवरणको दूर फेंक देती है। जैसे शिशु गर्भाशयमें पकता है, पक्षी अण्डेमें पकता है, अन्न फलियोंमें पकता है, इसी प्रकार ज्ञान समाधिमें पक्व होता है। वास्तविकता निरपराध स्थितिमें परिपक्व होती है और निरपराध स्थिति इन पापसे डरनेवाले (शास्त्रीय) ग्रन्थोंसे दृढ़ होती है। निरपराध अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। निर्मल हृदयमें भक्तिका प्रवाह उमड़ता है और फलतः भक्त साकार ईश्वरको प्राप्त कर लेता है। इस दुनियाके विषयी 'अहरन चोर' (छली) प्राणी भक्त नहीं हो सकते। उनकी कूपमण्डूकी बुद्धि अपने अहङ्कारमें घिरी हुई इस संसाररूपी कुएँमें ही चक्कर लगाती रहती है।

अनुशासन

हिंदू संस्कृतिका अनुशासन फौजी या पुलिसका अनुशासन नहीं, वह प्रेमका अनुशासन है। प्रेममें स्वार्थ-कामना नहीं होती। प्रेममें आत्मसमर्पण किया जाता है। त्याग और उपकारकी बड़ी महिमा है इस संस्कृतिमें। त्याग—हठपूर्वक धर्म या कर्तव्यका त्याग त्याग नहीं है। त्यागका अर्थ है—मायामें फँसा जीव आसक्तिके बन्धनोंको युक्तिपूर्वक शिथिल करता हुआ कामनाओंको छोड़ दे और जिस कर्तव्यका सङ्कल्प किया हो, उसे पूर्ण करके या उसका उचित समाधान करके नवीन सङ्कल्पोंको प्रारम्भ न करे। जिनकी आशा अपनेसे बँधी है, उन्हें यथासम्भव निराश न करे।' इस त्यागसे भी दयाका महत्त्व अधिक है। संतवाणी है—'दया बिनु संत कसाई।'

किसीकी अनुचित कामनाकी सामग्रीको बढ़ा देना दया नहीं है। ऐसी दयाका अर्थ तो है कि किसी विवश जीवके बन्धन-यन्त्रके कल-पुर्जे और बिगाड़कर उसके छूटनेमें रुकावट कर दी गयी। दया है जीवको बन्धनोंसे छूटनेकी ओर प्रेरित करनेमें।

यह अनुशासन, जो प्रेम, त्याग और दयापर स्थित है, 'हिंदूकोड' या ऐसे किसी 'बिल'की अपेक्षा नहीं करता। विदेशी सभ्यतामें रँगे लोगोंको चाहिये कि वे कामनाको बढ़ाकर इस ऋषिभूमिके निर्मल प्रेमको दूषित न करें। प्रेमके अमृत-स्वादके सम्मुख कामना-वेश्याके विषय तुच्छ है। भारत उस निर्मल प्रेमका आराधक है, जहाँ दो भाइयोंके प्रेममें अयोध्याका राज्य चौदह वर्षतक गेंदके समान लुढ़कता रहा। इस प्रेममें राज्य या वैभवके लोभका लेश नहीं, अपने 'स्वत्व'का प्रश्न नहीं। यह वह आदर्श है, जिसमें पतिके वियोगमें दमयन्ती अपने पिताके राजभवनमें भी जंगली फल-फूलपर निर्वाह करती है। इस प्रेमका दिव्य अनुशासन है—

'बेटा-बेटी माँ-बापके, छोटा भाई बड़े भाईका, बहू सास-श्वसुरकी, देवरानी जेठानीकी, पत्नी पतिकी, देवर तथा छोटी ननद भाभीके—इस प्रकार सब छोटे अपने गुरुजनोंके आज्ञाकारी सेवक है।'

कन्या माता-पिताके घरमें देवी है, पतिके घरमें लक्ष्मी है, पुत्रोंके समीप जगदम्बा है। इस संस्कृतिमें स्त्री प्रत्येक स्थानपर आदरणीया है। इस संस्कृतिमें कामनाका मुख बँधा हुआ है। पुरुषके लिये अपनी पत्नीके अतिरिक्त शेष सभी स्त्रियोंको मा, बहिन या बेटी समझनेकी शिक्षा दी गयी है। विवाहके समय इसीलिये गोत्र, शासन आदि बड़ी सावधानीसे देखे जाते है कि लड़की कहीं किसी दूर सम्पर्कमें भी बहिन तो नहीं होती!

व्यवहारमें जाति-पाँतिका विचार चलनेपर भी सब गाँव-भरमें चाचा, ताऊ, बुआ, बहिन कहकर पुकारते है। इसमें जातिका कोई भेद नहीं है। प्रत्येक जातिका वृद्ध आदरणीय होता है। सेवक अपने स्वामीको पिताके समान और स्वामी सेवकको पुत्रके समान समझता है। यही पिता-पुत्र-सम्बन्ध गुरु तथा शिष्यका चलता है। जब हिंदू संस्कृतिका बोलबाला था, प्रेमके इस अनुशासनमें न तो 'हड़तालें' होती थीं और न 'कान्फ्रेन्स' की नौबत आती थी। श्रीरामने पिताकी आज्ञासे राज्य छोड़ दिया और प्रजाके प्रेमवश पत्नीको वनवास दे दिया। हरिश्चन्द्रने अपने सेवक-धर्मके कारण अपने ही मृत पुत्रका कफन उतरवा लिया। जिस संस्कृतिके पाये इतने दृढ़ एवं कामनारहित हों, उसे विदेशी आक्रमण कैसे मिटा सकते थे।

सब जातियाँ कर्तव्य तो अपनी जातिका पालन करती थीं, परंतु एक जातिसे दूसरी जातिका सम्बन्ध भाई-भाई-जैसा था। प्रेमके कारण छोटे-बड़ेका भाव नहीं था। न तो परस्पर द्वेष था और न एक दूसरेकी निन्दा करता था। हिंदुत्वके अनुशासनमें कुम्भ-जैसे मेलोंपर सब एकत्र स्नान करते थे। पूँजीपति अपना सर्वस्व दीनोंको लुटाकर कंगाल बन जानेमें गौरव मानते थे। दीपावलीपर एक समान सारे घरोंपर दीपक जगमग करते थे। करवा चौथको भारतकी समस्त स्त्रियाँ चन्द्रमाको अर्घ्य देकर एक साथ एक समय अपने-अपने घरोंमें मुखमें ग्रास उठाती थीं। कितनी बड़ी जन-संख्या प्रेमके कारण एकभावमें गुँथी थी। जहाँ भावोंमें विरोध न हो, वहाँ 'टंटा' (झगड़ा) क्या। प्रेमने सबको एक सामञ्जस्यके साथ अपने-अपने कर्तव्योंमें बाँध रक्खा था। वहाँ द्वेषके लिये अवकाश नहीं था।

तात्पर्य

यह सम्पूर्ण संसार सनातन देवता अर्थात् 'राम' की प्रकृति है, यही रामका राज्य है। इसकी गद्दीपर बैठकर ठीक-ठीक राज्य वही कर सकता है, जो रामसे अभिन्न हो चुका हो। जो ज्ञानी—आत्मानुभवी हो। उसके अधिकारी—कर्मचारियोंमें ये गुण होने चाहिये—

१. किसीसे वैर-भाव न हो।
२. अपने पदका अभिमान न हो।
३. न्याय करनेमें भयभीत न होता हो।
४. प्राणिमात्रपर दयाभाव रखता हो।
५. हिंसा करनेवाला न हो।
६. सत्य सहज प्रिय हो।
७. क्रोध करनेवाला न हो।
८. त्यागी हो।
९. किसी प्रकारकी लालसा न रखता हो।
१०. ईश्वरविश्वासी और निर्मल अन्तःकरणका हो।

भारत अब स्वतन्त्र हुआ है; परंतु इसे अभी विदेशी संस्कृतियोंके प्रभावोंसे स्वतन्त्र होना है। कामनाके पीछे दौड़नेवाले देशोंकी झूठी चमकमें भारतको नहीं फँसना चाहिये। जैसे इन्धनसे अग्निकी ज्वाला शान्त नहीं होती, ऐसे ही नये-नये आविष्कारों और भोगोंसे इन्द्रियोंकी तृप्ति

नहीं होगी। जो परमाणु बमसे रक्षाकी बात सोचते हैं, उन्हें ज्ञात नहीं कि बाहरी किलेबंदी कुछ नहीं कर सकती, जब कि कामनाका सर्प आस्तीनमें छिपा है। युक्त आहार-विहारकी चेष्टा ही शान्तिप्रद है। भारत सदासे शौच, स्नान, जप, तप, व्रत आदि प्राकृतिक नियमोंसे पञ्चतत्त्वोंका शोधन करता आया है। यही सुख-शान्ति पानेका सच्चा आविष्कार है। इसी संयमके कारण यहाँ ग्रामके शाकपातको स्वीकार करके, गायोंको चराता अखिलेश गोपाल बना पोले बाँसके छिद्रोंमें स्वतः अपना रहस्य गाया करता था—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
(गीता १४। ३)

विदेशी संस्कृतिके अनुयायी अरब-खरबपति सिनेमाकी बन्द खिड़कियोंमें, मखमलकी गद्दियोंपर बैठकर इस महान् तत्त्वज्ञानका स्वप्न भी नहीं देख सकते। यह तो आज भारतके लिये सोचनेकी बात है कि सुसंस्कृत कौन है, सुसभ्य कौन है। इधर-उधर भटकनेवाली अन्य संस्कृतियोंके पीछे भटककर सम्पूर्णाङ्ग समुज्ज्वल हिंदू संस्कृतिकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये।

संस्कृतिकी समस्या

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

प्रत्येक देशकी प्राचीन संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज, धार्मिक कृत्य, कला, साहित्य आदिमें कुछ ऐसी बातें अवश्य मिलती हैं, जो भारतीय-सी जान पड़ती हैं। प्रायः सभी प्राचीन धर्मग्रन्थों तथा दर्शन-शास्त्रोंमें यत्रतत्र प्राचीन भारतीय सिद्धान्त बिखरे हुए मिलते हैं। इनके एक नहीं, अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसी अङ्कके कई लेखोंमें यही दिखलाया गया है। देखना यह है कि यह समता आयी कैसे? इस सम्बन्धमें तीन ही बातें सम्भव हैं। एक तो यह कि विभिन्न देशोंमें स्वतन्त्र रीतिसे लोगोंके मस्तिष्कमें वैसी ही बातें आयीं। दूसरे यह कि वे किसी तरह भारतसे उन देशोंमें गयीं। इसीमें या तो भारतीयोंने उन देशोंमें जाकर अपनी संस्कृतिका प्रचार किया या वहाँके लोग भारत आकर यहाँकी कुछ बातें अपने साथ ले गये। तीसरे यह कि विभिन्न देशोंसे वे बातें भारतने ही लीं। पाश्चात्त्य विद्वान् प्रायः तीसरी ही बात मानते हैं। बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखकर उन्होंने सिद्ध किया है कि प्राचीन मिस्र, चीन, यूनान आदिसे भारतने क्या-क्या सीखा। ईसाई तथा इस्लामधर्मका वह कितना ऋणी है। एकसे उसने भक्ति, तो दूसरेसे उसने अद्वैतकी शिक्षा प्राप्त की। पर यदि यह दिखाया जा सके कि भारतीय संस्कृति ही सबसे प्राचीन है और उसीके आधार-पर अन्य देशोंकी संस्कृति विकसित हुई, तो इस मतका स्वतः खण्डन हो जाता है। उसके साथ ही प्रथम मत भी नहीं ठहरता, क्योंकि सबसे प्राचीन एक संस्कृति हो जानेपर अन्य संस्कृतियोंके साथ किसी-न-किसी रूपमें उसका सम्पर्क सिद्ध हो ही जाता है। संस्कृतिके इतिहासकारोंमें एक मत ऐसा अवश्य है कि विभिन्न देशोंकी संस्कृतिका विकास स्वतन्त्र रूपसे हुआ। पर उसके माननेवाले इने-गिने विद्वान् हैं। अधिकांश विद्वानोंका यही मत है कि विभिन्न संस्कृतियोंका कुछ-न-कुछ परस्पर सम्बन्ध अवश्य है। अन्ततः केवल दूसरा ही मत रह जाता है और उसके विवेचनमें देखना होगा कि विभिन्न देशोंकी संस्कृतियोंमें भारतीय संस्कृतिका समावेश कैसे हुआ।

इसपर विचार करनेके लिये हमें अपने प्राचीन इतिहासको ही आधार मानना पड़ेगा। पाश्चात्त्य विद्वानोंद्वारा लिखे इतिहासके आधारपर हम नहीं चल सकते, क्योंकि उनका मत तथा उनकी शैली भिन्न है। प्रस्तुत विषयपर विचार करनेमें सबसे प्रथम यही प्रश्न उठता है कि क्या मानव-सृष्टि किसी एक ही स्थानपर हुई और धीरे-धीरे मनुष्य सभी भू-भागोंपर फैल गये या विभिन्न भूखण्डोंमें समय-समयपर स्वतन्त्र रीतिसे मानव-सृष्टि हुई? हमारे यहाँके इतिहासको पहला ही मत मान्य है। पुराणोंमें जो सृष्टिक्रम दिया गया है, उससे यही सिद्ध होता है कि प्रथम मानव-सृष्टि भारतमें हुई और उसका विस्तार समस्त संसारमें हुआ। पुराणोंके अनुसार पहले महाशक्तिमान् नारद, मरीचि, वशिष्ठ आदि ब्रह्माके दस मानस पुत्र हुए, पर वे सृष्टिका विस्तार नहीं कर सके। ब्रह्माजी तब इस सोचमें पड़ गये कि सृष्टिका सन्तोषजनक विस्तार किस प्रकार हो। इसी समय उनका शरीर दो भागोंमें विभक्त हो गया और उनसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा उत्पन्न हुआ। उसमें पुरुष स्वायम्भुव मनु और स्त्री उनकी रानी शतरूपा हुई। तबसे मैथुन-धर्मद्वारा प्रजा बढ़ने लगी।

स्वायम्भुवने शतरूपासे पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं, जिनमें प्रियव्रत और उत्तानपाद नामके दो पुत्र और आकूति, देवहूति तथा प्रसूति—तीन कन्याएँ हुईं। उनमेंसे मनुने आकूतिका मरीचि प्रजापति, देवहूतिका कर्दम प्रजापति और प्रसूतिका दक्ष प्रजापतिके साथ विवाह कर दिया। उन्हींकी उत्पन्न सन्तानोंसे समस्त संसार भरा हुआ है। भागवतके तीसरे स्कन्धमें इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। पाँचवें स्कन्धमें बतलाया गया है कि पृथ्वीपर राजा प्रियव्रतके रथके पहियेकी लीकसे किस तरह सात समुद्र और सात द्वीपोंकी रचना हुई। चतुर्थ स्कन्धमें बतलाया गया है कि राजा पृथुके पहले इस भूमण्डल-पर कहीं भी पुर, ग्रामादिकी कल्पना नहीं थी। पिताके समान प्रजाओंको जीविका देनेवाले महाराज पृथुने सब पृथिवीपर जहाँ-तहाँ ग्राम, पुर, नगर, दुर्ग, वीरोंके रहने योग्य स्थान, पशुशालाएँ, छावनियाँ, खानें, किसानोंके गाँव और पर्वतोंकी तलहटीमें बस्तियाँ बसाकर सबको यथायोग्य निवासस्थान प्रदान किया—

> अथास्मिन् भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता ।
> निवासान् कल्पयाञ्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः ॥
> ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च ।
> घोषान् व्रजान् सशिविरानाकरान् खेटखर्वटान् ॥
> (श्रीमद्भा० ४ । १८ । ३०-३१)

इस तरह भारतसे ही मानव-सृष्टिका विस्तार अन्य भागोंमें हुआ। भारतवर्षमें भी मानव-सृष्टिका आरम्भ ब्रह्मावर्तमें माना गया है। यह प्रदेश देवताओंसे निर्मित और आध्यात्मिक बतलाया गया है। भगवान् राम, श्रीकृष्ण आदिके अवतार इसी प्रदेशमें हुए। हिंदू धर्म तथा संस्कृतिके आधार वेद हैं, जो अपौरुषेय तथा नित्य माने जाते हैं। पाश्चात्त्य विद्वान् भी उन्हें सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। जिन-जिन भूमियोंपर प्राचीन हिंदू आबाद होते गये, वहाँ उनके साथ वैदिक संस्कृति भी पहुँची। पर संसारका केन्द्र या हृदय भारत ही रहा। अपने शास्त्रोंमें उसे कर्मभूमि कहा गया है। अन्य देश तो केवल भोगभूमि हैं। कालान्तरमें भिन्न-भिन्न प्रदेशोंके जल-वायुकी भिन्नताके कारण वहाँ जाकर बसनेवाले भारतीयोंके वर्ण और आकृतियोंमें भी भिन्नता आ गयी। जल-वायुका आचार-विचारपर भी प्रभाव पड़ा। आने-जानेकी असुविधाओं-के कारण कई देशोंका भारतसे सम्पर्क छूट गया। इसका परिणाम यह हुआ कि शुद्ध आचार-विचारोंका पोषण बंद हो गया और रूप-रंग तथा रहन-सहनमें इतना परिवर्तन हुआ कि वहाँके प्रवासी भारतीय भारतमें विदेशी तथा भिन्न जातिके प्रतीत होने लगे। जब शरीरके किसी अङ्गको हृदयसे शुद्ध रक्त नहीं मिलता, तब उसकी क्या दशा होती है? कुरुक्षेत्रके आसपासवाले देशके सम्बन्धमें मनुका कहना है कि इस देशमें उत्पन्न ब्राह्मणद्वारा संसारके सब मनुष्य अपने-अपने चरित्र-को सीखें—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

पर कई दृष्ट तथा अदृष्ट कारणोंसे यह न हो सका। जब शुद्ध भारतीय विचारधाराका उन देशोंमें जाना रुक गया, तब वहाँके प्रवासी भारतीयोंका पतन होने लगा। अनुलोम, प्रतिलोम विवाह चल पड़े और कितनी ही संकर जातियाँ उत्पन्न हो गयीं। मनुके दसवें अध्यायमें ऐसी कई जातियोंका वर्णन है। वहाँ स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि क्षत्रिय जातिमें उपनयन आदि क्रियाओंके लोप होनेसे, याजन, अध्ययन, प्रायश्चित्त आदिके लिये ब्राह्मणोंके दर्शनका अभाव होनेसे वे शनैः-शनैः संसारमें शूद्रताको प्राप्त हुए। पौण्ड्र, चौण्ड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खश—इन देशोंमें उत्पन्न होनेवाले क्षत्रिय क्रिया लोप होनेसे शूद्र हो गये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इनकी क्रिया लोप होनेसे जो बाह्य जातियाँ हुईं, वे सब म्लेच्छ-भाषासे अथवा आर्यभाषासे युक्त दस्युसंज्ञक कहाती हैं—

> शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
> वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
> पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
> पारदा पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥
> मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
> म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥

इस तरह आर्य कौन थे और भारतमें कब तथा कहाँसे आये, ऐसे प्रश्न ही नहीं उठते। विदेशी इतिहासकारोंने वृथा ही ऐसे पचड़े उठा रक्खे हैं और भारतीय विद्वान् भी उन्हींका अन्धानुकरण करते जा रहे हैं! पहले स्वयं मैक्समूलर भी कोई आर्य-जाति नहीं मानते थे। विभिन्न भाषाओंमें उन्होंने ऐसे शब्द देखे, जो संस्कृत रूपमें ही या संस्कृत धातुओंसे बने हुए जान पड़े। इसपर उन्होंने यह अनुमान लगाया कि कोई भाषा ऐसी अवश्य रही होगी, जिसके शब्दकोषसे संसारकी विभिन्न भाषाओंने कुछ-न-कुछ उधार लिया; पर उनका दिमाग इस सीधी-सी बातकी कल्पना न कर सका कि

ऐसी भाषा संस्कृत है। जो बात एक साधारण व्यक्तिको सूझ जाती है, वह बड़े-बड़े विद्वानोंको नहीं सूझती; क्योंकि उनका दिमाग अपनी बुद्धिमत्ताके गर्वमें इधर-उधर चक्कर काटकर कोई नयी बात, जिसे आजकल 'मौलिक' भी कहा जाने लगा है, ढूँढ़ निकालनेकी धुनमें रहता है। इसीका नाम तो 'अनुसन्धान' है, जिसने आजकल जगत्में ख्याति प्राप्त होती है। विद्वान् मैक्समूलरके दिमागने यह बात खोज निकाली कि कोई एक ऐसी भाषा अवश्य रही होगी, जिससे संसारकी अन्य प्रधान भाषाएँ निकलीं। इसका कोई अन्य नाम समझमें न आनेपर उन्होंने 'आर्यभाषा' की कल्पना कर ली। जब ऐसी भाषा हुई, तो उसे बोलनेवाली कोई जाति भी चाहिये। उसके लिये 'आर्यजाति' गढ़ ली गयी। फिर क्या था, कल्पनाओंका प्रासाद खड़ा होने लगा। आर्योंका मूल स्थान कहीं उत्तरी ध्रुव, तो कहीं जर्मनीके आसपास ढूँढ़ा जाने लगा। उसकी शाखाएँ यूरोप तथा एशियाके विभिन्न देशोंमें पहुँचने लगीं। उनकी भाषाओं, उनकी संस्कृतिमें समता स्वाभाविक हो गयी। इस तरह इतिहास-कारोंने सोचा कि इतिहासकी एक बड़ी पहेली हल हो गयी।

परंतु यह तथाकथित ऐतिहासिक खोज भी भारतके लिये राजनीतिक उद्देश्यसे खाली न थी। हम यह पहले लिख चुके हैं कि कई दृष्ट तथा अदृष्ट कारणोंसे भारतका अपने दूरस्थ उपनिवेशोंसे सम्पर्क टूट गया। इस बीच इन उप-निवेशोंमें कितने ही उथल-पुथल हो गये। वैदिक संस्कार विकृत रूपमें रह गये। भाषा भी अशुद्ध होकर म्लेच्छ-भाषामें परिवर्तित हो गयी। नये अवैदिक सम्प्रदाय भी चल पड़े। पर इन सबमें छुपी-छिपी मूल वस्तु कहीं अपने शुद्धरूपमें, तो कहीं अपने विकृत रूपमें बनी रह गयी। भारतका अपने इन भूले हुए उपनिवेशोंसे फिर सम्पर्क स्थापित हुआ बौद्धकालमें। अशोकके समयसे बौद्ध प्रचारक विभिन्न देशोंमें पहुँचने लगे। विदेशोंके साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। यूनान, चीन आदिसे विद्वान् भी भारत आने लगे। कुछ दिन बाद कई एशियाई देशोंमें हिंदू राज्य भी पुनः स्थापित हुआ। इतिहासकारोंने इन्हींके आधारपर यह मत स्थिर कर लिया कि इसी कालमें भारतका विदेशोंसे सम्पर्क स्थापित हुआ। परंतु अपनी प्राचीन ऐतिहासिक दृष्टिसे यह बात बहुत पीछेकी है। वास्तवमें बौद्ध प्रचारकोंने विदेशोंमें जाकर वैदिक धर्म तथा संस्कृतिके सम्बन्धमें बहुत कुछ भ्रम फैलाया। वहाँ प्रचलित विकृत वैदिक संस्कृतिमें उन्होंने अपनी विकृत विचारधाराका समावेश कर दिया। प्रशान्त महासागरके देशोंमें बौद्धोंके पहुँचनेके बहुत पहलेसे ही वहाँ विकृतरूपमें हिंदू संस्कृति चल रही थी।* इसी प्रसङ्गमें पूर्वलिखित भारतीय संस्कृति-प्रचारके तीन मतोंमेंसे दूसरे मतपर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा। इसमें कहा गया है कि 'या तो भारतीयोंने उन देशोंमें जाकर अपनी संस्कृतिका प्रचार किया या वहाँके लोग भारत आकर कुछ बातें अपने साथ ले गये।' किसी अंशमें ये दोनों बातें अवश्य हैं, पर वस्तुस्थिति इन दोनोंसे भिन्न है। अन्य संस्कृतियोंमें जिस गहराईके साथ प्राचीन भारतीय बातें घुली हुई हैं, उन्हें देखते हुए ऐसा नहीं जान पड़ता कि इस थोड़े-से ऊपरी सम्पर्कद्वारा ऐसा हुआ। पूर्वमें बर्मासे लेकर अमेरिकातक प्रत्येक देशकी संस्कृतिपर प्राचीन भारतीय संस्कृतिकी छाप मिलती है। मिस्टर क्यूनिंगका कहना है कि "प्रायः इन देशोंकी सभी भाषाओंमें 'ईश्वर'के लिये जो शब्द आया है, वह संस्कृत 'देव'से बना हुआ जान पड़ता है।"

इसी तरह 'इंसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स' भाग ७ जिल्द २ में मिस्टर किंगका कहना है कि 'प्राचीन पोलिनेशियन गाथाओंमें वैदिक भावोंका आभास मिलता है। स्वर्ग-नरक, पृथ्वी-आकाश, लोक-परलोकके सम्बन्धमें इन लोगोंके विचार पढ़नेसे ऐसा जान पड़ता है कि मानो वहाँके द्वीप-द्वीपसे प्रशान्त महासागरके जलमें वैदिक मन्त्र प्रतिध्वनित हो रहे हैं।' डाक्टर रैंडीने अपने 'पोलिनेशियन रिलिजन' नामक ग्रन्थमें इन देशोंकी कितनी गाथाओंका अनुवाद करके दिखलाया है कि 'उनमें वैदिक भावोंसे कितनी समता है।' दीवान चमनलालने अपनी 'हिंदू अमेरिका' नामक पुस्तकमें दिखलाया है कि दोनों अमेरिकाओंमें हिंदू संस्कृतिका कितना प्रचार था। इधर पश्चिममें अफगानिस्तानसे लेकर मिस्रतक प्रायः सभी देशोंमें हिंदू संस्कृतिके बिखरे हुए चिह्न मिलते हैं। यूरोपीय दर्शन तथा विज्ञानका आदिगुरु यूनान माना जाता है। उसकी विचारधारा प्राचीन भारतीय सिद्धान्तोंसे रँगी हुई जान पड़ती है। स्कैंडिनेविया, जर्मनी, आयरलैंड आदि देशोंकी प्राचीन संस्कृतियोंमें भी भारतीय संस्कृतिसे बहुत कुछ समता पायी जाती है। यह सब कुछ केवल थोड़े कालके व्यापारिक सम्पर्क या दो-चार विद्वानोंके आवागमनसे नहीं हो सकता।

---

* 'सिद्धान्त' वर्ष ४ में प्रकाशित 'प्रशान्त महासागरके देशोंमें हिंदू संस्कृति'।
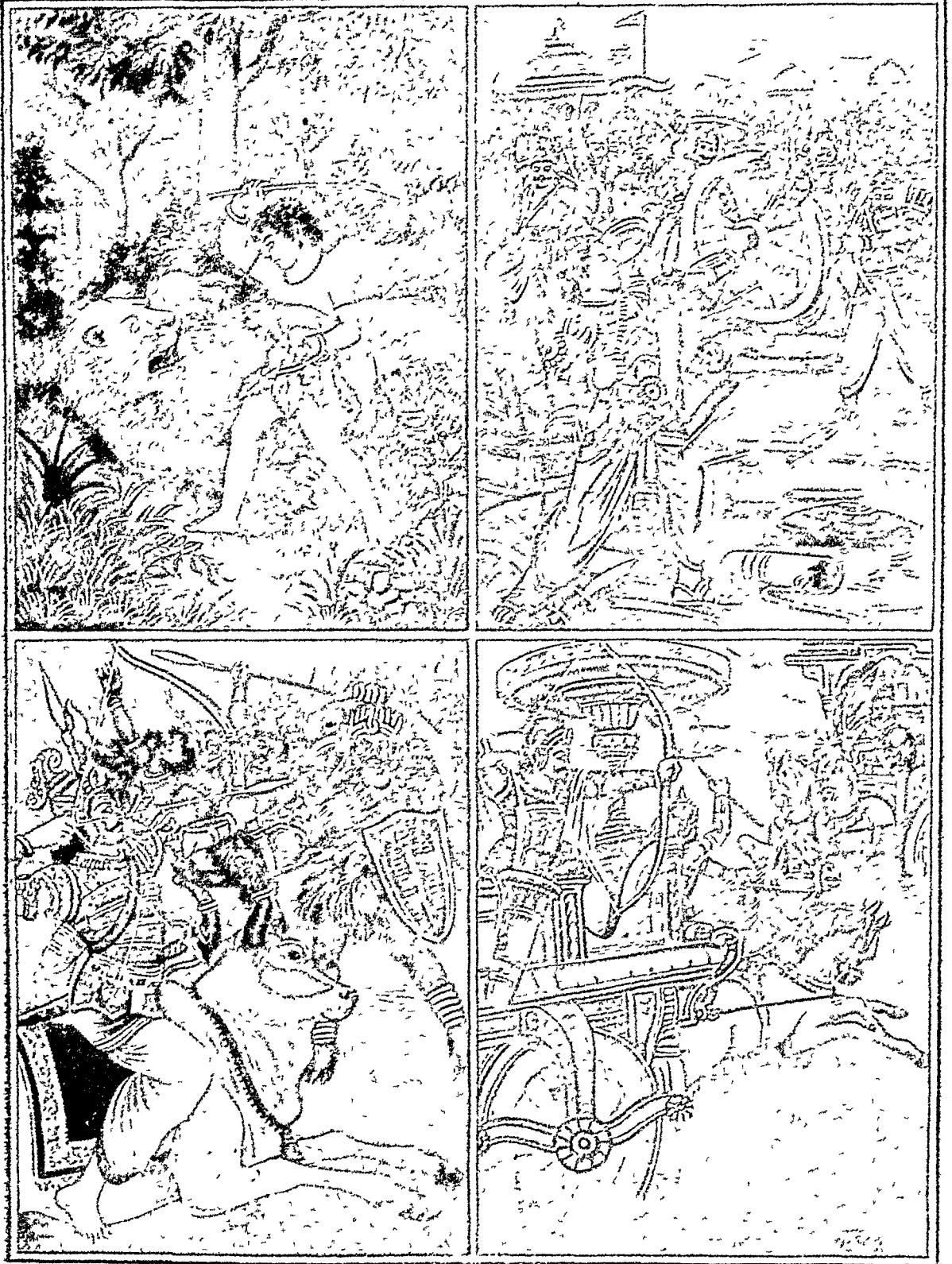
भरत छीन शिशु सिंह-वधूका, मार रहा उसको अति क्रुद्ध ,
करता है अभिमन्यु अकेला सप्त महारथियोंसे युद्ध ।
एकाकी ककुत्स्थने रणमें रिपुदलका कर दिया सँहार ,
वीर भीष्मसे समराङ्गणमें मानी परशुरामने हार ॥

आदर्श भक्त-चतुष्टय

नारद, ध्रुव, प्रहलाद वर, विदुर महामतिमान ।
ये चारों हरिभक्तिके हैं आदर्श महान ॥

फ्रांसीसी विद्वान् सिल्वाँ लेवीकी पूर्वी देशोंके सम्बन्धमें राय है कि 'सम्भवतः भारतमें आर्योंकी विजय होनेपर वहाँके आदिवासियोंने भागकर इन देशोंमें शरण ली।' यह कितना थोथा तर्क है! पहले तो भारतपर आर्योंकी विजय ही कपोल-कल्पित है, जैसा हम दिखला चुके हैं। दूसरे, शरणार्थियोंकी संस्कृतिका प्रभाव उन देशोंकी संस्कृतिपर पड़े, क्या यह सम्भव है? किसी देशमें जानेवाले मुट्ठीभर शरणार्थी तो अपनी संस्कृतिका प्रभाव डालनेकी अपेक्षा उसी देशकी संस्कृतिमें रँग जायँगे। एक मत यह भी है कि 'पहले इनमेंसे कुछ देशोंका भारतसे व्यापारिक सम्बन्ध था। वहाँ जाकर हिंदू अपने धर्मका प्रचार करने लगे और वहाँके राजाओंने हिंदू धर्म ग्रहण कर लिया।' यह मत भी तर्ककी कसौटीपर ठीक नहीं उतरता। कुछ आगन्तुक हिंदुओंके प्रचारसे प्रभावित होकर उन देशोंके राजा अपना परम्पराप्राप्त धर्म छोड़ बैठें, यह बात नहीं जँचती। कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि 'इन देशोंपर विजय प्राप्त करके हिंदुओंने अपने राज्य स्थापित किये और वैदिक संस्कृतिका प्रचार किया।' पर इस तर्कमें भी दोष है। मनु आदिने लिखा है कि 'किसी देशके विजय करनेपर वहाँके प्रचलित रीति-रिवाजोंमें विजेताको कदापि हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।' हिंदू नरेशोंने इस राजधर्मका बराबर ध्यान रक्खा। उन्होंने दूसरोंपर अपने धर्म या संस्कृतिके लादनेका कभी प्रयत्न नहीं किया। दूसरोको हिंदूधर्म ग्रहण करनेकी मनाही ऐसे तर्कोंकी असत्यता सिद्ध करती है।

भारतके प्राचीन इतिहासमें म्लेच्छ, यवन आदिका जो वर्णन आता है, वे आचारभ्रष्ट हिंदू ही थे। जब भारतमें ही जैन, बौद्ध आदि वेदबाह्य सम्प्रदाय चल पड़े, तब उन देशोंका कहना ही क्या, जिनका सम्पर्क भारतसे टूट चुका था। वहाँ यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि सम्प्रदाय चल पड़े, जो बौद्ध सम्प्रदायसे भी अधिक वेदबाह्य हैं, पर जिनमें प्राचीन संस्कारोके कारण इधर-उधर कुछ विकृतरूपमें वैदिक धर्मके सिद्धान्तोंकी झलक देख पड़ती है। पाश्चात्य देशोंमे रोमके साथ भारतका व्यापारिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन कालसे था। धीरे-धीरे वह व्यापार बहुत कुछ मुसल्मानोंके हाथ आ गया। सोलहवीं शताब्दीमें भारतका पाश्चात्योंसे फिर प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हुआ। अंग्रेज, फ्रांसीसी, डच आदि कई जातियोंके पाश्चात्य व्यापार करने भारत आये। मुस्लिम शासनकालमें भारतकी प्रगति बहुत कुछ रुक गयी। प्राचीन विज्ञान और दर्शनका अध्ययन शिथिल पड़ गया, कलाओंपर मुसल्मानी छाप आने लगी। हिंदुओंका अन्य देशोंमें आना-जाना बंद हो गया। पाश्चात्योंने आधुनिक विज्ञानके अध्ययनसे युद्ध तथा अन्य क्षेत्रोंके कई नये साधन ढूँढ़ निकाले। साथ ही उन्होंने अपनी कूटनीतिको भी परिपक्व किया। भारत-जैसा समृद्धिशाली देश उन्हें अपने नये साधनोंके उपयोगका अच्छा क्षेत्र मिल गया। पाश्चात्य कूटनीतिज्ञोंने देखा कि मुसल्मानोका पतन हो रहा है, पर हिंदू फिर जोर मार रहे हैं। यदि उनके हृदयोंसे अपने धर्म, अपने देश, अपनी जातिका अभिमान हटाया जा सके और उसके स्थानपर पाश्चात्य सभ्यताकी श्रेष्ठता स्थापित की जा सके, तो राजनीतिक प्रभुत्व जमानेमें बड़ी सहायता मिलेगी। इसी दृष्टिसे नवीन इतिहासकी रचना और आधुनिक शिक्षाका आरम्भ हुआ। इतिहासद्वारा भारतके आदिवासी असभ्य सिद्ध किये गये और यह दिखलाया गया कि बाहरसे आर्योंने आकर सभ्यताका प्रचार किया। इसीके आधारपर इतिहास गढ़ डाले गये और हिंदू धर्म, वर्णव्यवस्था आदिके उलटे-सीधे अर्थ कर दिये गये। बड़े-बड़े पाश्चात्य विद्वान् दो-चार भारतीय बातोंकी प्रशंसा करके अपनी निष्पक्षता दिखलाते हुए छिपे-छिपे अपनी रचनाओंमें विष घोलते रहे। मैक्समूलर-जैसा प्रसिद्ध विद्वान् भी इससे मुक्त न रह सका। भारतीय विचारोंकी यत्र-तत्र उसे प्रशंसा करते देखकर भारतीय विद्वान् उसपर लट्टू हो गये, पर वेदोंका अनुवाद उसने इसीलिये आरम्भ किया कि जिसमें हिंदू धर्मकी पोल खुल जाय, जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है।*

पाश्चात्योंके लिखे नहीं, अपने यहाँका इतिहास, जो पुराणोंमें उपलब्ध है, उसकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो कितनी ही ऐतिहासिक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। एक प्रश्न प्रायः उठता है कि संसारमें आज भी कितनी ही असभ्य तथा जंगली जातियाँ मिलती हैं। यदि सबकी उत्पत्ति प्राचीन भारतीयोसे ही, जिनकी सभ्यता बड़ी उच्च कोटिकी थी, मान ली जाय, तो उनकी सन्तानें इतनी जंगली तथा असभ्य कैसे बन गयीं? इस तरहके सन्देह उत्पन्न होनेका एक कारण यह है कि आजकल विद्वानोंका ऐतिहासिक काल पीछे दस हजार वर्षसे अधिक नहीं जाता। इतने ही कालमें वे सब ऐतिहासिक घटनाएँ ठूँस लेते हैं। पहले तो समझ

* देखिये—'सिद्धान्त' वर्ष २, अङ्क ९, मैक्समूलर और ईसाई-धर्मप्रचार।

जाता था कि जो कुछ हुआ, वह ईसवी सन्‌के भीतर ही; पर अब धीरे-धीरे बढ़कर यह दस हजार वर्षतक पहुँच गया है । परंतु भारतीयोंकी कालकी कल्पना बड़ी व्यापक है । ४ लाख ३२ हजार वर्षका एक युग माना जाता है । ऐसे १० युगोंका एक चतुर्युग या महायुग और १ हजार महायुगोंका अर्थात् ४ अरब ३२ करोड़ वर्षोंका एक कल्प होता है । इसके आगे फिर देवोंके अहोरात्रकी गणना है । एक कल्पका एक ब्राह्म दिन और ७२० कल्पोंका एक ब्राह्म वर्ष, फिर १०० ब्राह्मवर्ष अर्थात् ३१ नील, १० खरब, ४० अरब मानववर्ष ब्रह्माकी आयु मानी जाती है । ऐसी १ हजार ब्रह्मायु विष्णुकी एक घड़ी और १२ लाख विष्णु-आयु रुद्रकी केवल आधी कला होती है । ये संख्याएँ देख-कर बुद्धि चकराने लगती है । युगोंका चक्र बराबर चलता रहता है । उनकी अवधिके प्रचलित मानकी दृष्टिसे अन्तिम सत्ययुगके आरम्भ-कालको ३८ लाख ९३ हजार वर्ष हुए । इस तरह वर्तमान सृष्टिके आदिकालका अनुमान लगाया जा सकता है । फिर ऐसी सृष्टियाँ कितनी होती रहीं, इसका तो कुछ पता ही नहीं । इस कालका ध्यान रखते हुए ही भारतका इतिहास समझना है ।

इतने वर्षोंमें मनुष्यके जीवनमे कितनी उथल-पुथल हो सकती है । इतने दिनोंमें कितनी ही बार मनुष्य सभ्यसे जंगली और जंगलीसे सभ्य बना । यह तो इतने वर्षोंकी बात है, इतिहासमें थोड़े ही कालकी ऐसी घटनाएँ देखनेमे आती हैं । दक्षिणी अमेरिकाकी मय, ऐस्टिक, इंका आदि जातियाँ किसी समय सभ्यताके शिखरपर पहुँची थीं । मय जातिकी सभ्यता १० हजार वर्ष प्राचीन बतलायी जाती है । सन् ६३० तक दक्षिणी अमेरिकामें उसका विशाल साम्राज्य था । ऐस्टिक लोगोंके सम्बन्धमें लेखिका कोरावाकरका कहना है कि 'जब यूरोप जंगली बना हुआ था, ये लोग गमरमरके महलोमे रहते थे । विशाल मन्दिरोंके पास सुन्दर सरोवर थे । जब यहूदी असभ्य दशामे इधर-उधर भटकते फिरते थे, इन लोगोंमे खेती तथा व्यापारकी पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी ।' मिस्टर ड्रेकरके शब्दोमे 'प्राचीन मेक्सिकोकी सभ्यताने यूरोपको शिक्षा दी होगी' (हिंदू अमेरिका) । परंतु जब स्पेनवालोंका वहाँ आधिपत्य हुआ, उन्होंने उन जातियोंको नष्ट करनेमे कोई बात उठा न रक्खी । उन्हीं बचे-खुचे लोगोंकी सन्तान 'रेड इंडियन्स' (लाल भारतीय) कहलाते हैं, जो आजकल जंगली समझे जाते हैं । अफ्रीका, ईराक आदि देशोंमें भी यही हुआ । अब धीरे-धीरे वहाँकी प्राचीन सभ्यताका पता लग रहा है । जिन्हें आजकल असभ्य कहा जाता है, जब उनके जीवनका अध्ययन किया जाता है, उनमें कितनी ही ऐसी उच्च बातें मिलती हैं, जिनका ज्ञान सभ्यताका दम भरनेवालोंतकको नहीं । ऐसे संस्कार उनमे कहाँसे आये ? भेड़ियोंकी माँदमें पले हुए मनुष्योंके बच्चे अपनी मनुष्यता भूलकर उन्हींकी तरह आचरण करने लगते हैं । तब फिर यदि इतने कालमें सभ्यताके सम्पर्कसे रहित होकर कुछ जातियाँ जंगली बन जायँ तो इसमें आश्चर्य क्या !

कहा जा सकता है कि 'पुराणोंकी कपोलकल्पनाओंके आधारपर सच्चा इतिहास नहीं लिखा जा सकता ।' पर आधुनिकोंद्वारा जो इतिहास लिखा गया, वह सच्चा है—इसी-का क्या प्रमाण ? आँखोंदेखी घटनातक ठीक नहीं बतलायी जा सकती । दो व्यक्ति उसे भिन्न रूपमें ही देखते हैं; जो कुछ दिखायी देता है, उसमें भी प्रत्येक व्यक्तिकी कुछ-न-कुछ कल्पना रहती है । आजन्दी-कल कितनी बार छनकर समाचारपत्रोंद्वारा किसी घटनाका वर्णन सामने आता है फिर प्राचीन इतिहासका कहना ही क्या ? प्राचीन लेखों, खंडहरों, मुद्रा आदिके आधारपर आजकल प्राचीन कालका इतिहास लिखा जाता है; पर इनमें क्या एक भी विश्वसनीय है ? उनके द्वारा इतिहास पढ़नेमें भी बहुत कुछ लेखकका अनुमान चलता है । फिर आजकल तो जान-बूझकर इतिहास विकृत किया गया है, जैसा कि आर्योंके बाहरसे भारतमें आनेके मतके सम्बन्धमें हम दिखला चुके हैं । मिस्टर केल्टेनने अपनी 'प्रास्पेक्टस आफ हिस्ट्री' नामक पुस्तकमें ठीक ही लिखा है कि 'यदि शैतान झूठका पिता है तो स्वदेशभक्ति माता है ।' स्वदेशभक्तिके आवेशमें इतिहासको कितना तोड़ा-मरोड़ा गया है । कितने ही दिनोंसे जर्मन विद्वान् इतिहासोंमे यह दिखलानेका प्रयत्न करते रहे कि जर्मन लोग ही शुद्ध 'आर्य' हैं और उन्होंने ही सर्वत्र सभ्यता, संस्कृतिका सन्देश पहुँचाया । इस तरह 'बृहत्तर जर्मनी'की नींव सुदृढ़ करनेका प्रयत्न किया गया । तुर्कीके इतिहासकारोंका यही तुर्कोंके सम्बन्धमें कहना है । जिन लोगोंको अपने धर्मका प्रचार करना है, वे इतिहासद्वारा यह दिखलाना चाहते हैं कि उन्हींका धर्म सबसे प्राचीन है और किसी समय वही सबका धर्म था । इस तरह कभी राजनीतिक और कभी धार्मिक दृष्टिसे इतिहास दूषित किया गया है ।

ऐसी दशामें आधुनिकोंद्वारा लिखे इतिहासपर ही कैसे विश्वास किया जा सकता है।

हमारे यहाँके प्राचीन इतिहासकारोंने इतिहास लिखनेमे इन दूषित साधनोंसे काम नहीं लिया। उन्होंने ईंट-पत्थरोंमे माथा नहीं फोड़ा। व्यास, वाल्मीकि आदिने जो 'दिव्य-दृष्टि' से देखा, वही लिखा। योगसे ऐसा होना असम्भव नहीं; इसलिये उन्होंने जो लिखा, उसे झूठ नहीं कहा जा सकता। पुराणोंकी बहुत-सी बातें जँचतीं नहीं, क्योकि वे प्रायः असाधारण प्रतीत होती हैं। पर यह दोष है सङ्कुचित दृष्टि-का। जो वस्तु हम प्रतिदिन देखते हैं, उसे साधारण मानते हैं। अपने यहाँ लिखे विमानोंकी बात कुछ दिन पहले कोरी कल्पना ही प्रतीत होती थी, पर आज प्रतिदिन अपने सिर-पर उड़ते हुए हवाई जहाज देखकर ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह बात दूसरी है कि इतनेपर भी कुछ लोग केवल द्वेषबुद्धिसे प्रेरित होकर प्राचीन हिंदुओंको इतिहासमें सर्वप्रथम विमान बनानेका श्रेय देनेके लिये तैयार नहीं। प्राचीन ऋषियोंने झूठा इतिहास लिखा हो,' इसका कोई कारण भी नहीं जान पड़ता। व्यास, मनु, शुक्र, कौटिल्य आदिने बराबर यही राय दी है कि राजाको विजित राष्ट्रोंके गले अपना धर्म, अपनी संस्कृति, अपनी शासनपद्धति कभी ठूँसनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक देशको अपना धर्म पालन करने और अपनी संस्कृति-परम्परापर चलनेकी पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। रामायण, महाभारत तथा अन्य इतिहासोंसे पता लगता है कि अपने यहाँ बराबर इसी नीतिका अनुसरण होता रहा। राजसूय यज्ञ होते हैं, चक्रवर्ती बननेकी राजाओंको अभिलाषा होती है; पर अभिप्राय इतना ही रहता है कि उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया जाय। विजित देशोंको अपने राज्यमे मिलाना, उनमें अपना गवर्नर नियुक्त कर देना और जैसे-तैसे अपनी शासनव्यवस्था वहाँ घुसेड़ देना हमारे प्राचीन सम्राटोंको कभी अपेक्षित नहीं रहा। इसीलिये प्राचीन भारतमें छोटे-बड़े कितने राज्य मिलते हैं। सम्राट् हुए, बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए; पर इसी नीतिके कारण वे 'साम्राज्यवाद'के दुर्गुणोंसे बचते रहे। धार्मिक दृष्टिसे तो प्राचीन हिंदुओंने दूसरोंको अपने धर्ममें लानेका कभी प्रयत्न ही नहीं किया। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' उनका सिद्धान्त रहा। ऐसी दशामें रामायण, महाभारत, पुराण तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थोंमें वर्णित इतिहासपर विश्वास क्यो न किया जाय?

जैसा कि हम आरम्भमें ही कह आये हैं, विषय बड़ा जटिल है। इस लेखमें तो बहुत ही संक्षिप्त रूपमें उसका विचार किया गया है। यदि और गहराईमें घुसा जाय, तो कितनी ही ऐसी बातें मिलेंगी, जिनमें असङ्गति और परस्पर विरोध दिखायी देगा। पर उतनेहीसे यह अनुमान कर लेना कि सिद्धान्त ही गलत है, ठीक न होगा। ऐसा होनेपर और भी गहराईमें घुसना चाहिये, तब विरोधाभास आप ही दूर होने लगेगा। कहनेका तात्पर्य यह कि पाश्चात्त्य पद्धतियों-ने जो इतिहासका मार्ग दिखला दिया है, उसका अन्धानुकरण छोड़कर हमें अपने दृष्टिकोणसे अनुसन्धान करना चाहिये। यदि ऐसा हो तो इतिहासकी सबसे बड़ी पहेली सुलझ जायगी और उसकी कितनी ही बातें समझमें आ जायँगी। खेदकी बात है कि अबतक इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। इसमें कितनी ही कठिनाइयाँ हैं, इसे हम मानते हैं। जिन्हें पौराणिक रहस्योंका ज्ञान है, उन्हे आधुनिक अनुसन्धान और लेखनशैलीका ज्ञान नहीं और जिन्हे इनका ज्ञान है, उनका शास्त्र-रहस्योंमें प्रवेश नहीं। आजकल जबतक आधुनिक ढंगसे बात न समझायी जाय, लोगोंकी समझमें नहीं आती। बुद्धि ही बिगड़ रही है, उसका विकास नहीं, एक प्रकारसे ह्रास हो रहा है। वह केवल स्थूल दृष्टिसे देखने योग्य रह गयी है। क्या ही अच्छा होता यदि प्राचीन शैलीके विद्वानों और आधुनिक विद्वानोंको यह काम सौंपा जाता, जिसमे दोनों एक दूसरेकी बात समझकर इस ढंगसे वस्तु-स्थिति सामने लाते, जिसे माननेको सब लोगोंको बाध्य होना पड़ता। पर इधर न तो विद्वानोंका ध्यान है और न धनिकोंका ही, फलतः झूठे इतिहास पढ़-पढ़कर हमारी बुद्धि और भी बिगड़ती जा रही है!
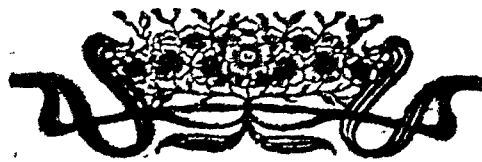
हिंदू-संस्कृतिके मूर्तिमान् स्वरूप

धर्म-विग्रह भगवान् श्रीरामचन्द्र

(लेखक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

आर्य-जातिके इतिहासमें अनेक धर्मप्राण ऋषि-महर्षि और राजर्षि हो गये हैं। उन सबमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका स्थान सर्वोपरि है। वेदों और धर्मशास्त्रोंमें हमें धर्मका स्वरूप और उपदेश तो प्राप्त होता है; किंतु उस धर्मका प्रयोग कैसे होना चाहिये, इसका उदाहरण भगवान् श्रीरामकी जीवनचर्यामें मिलेगा। तैत्तिरीय उपनिषद्में कहा है, जब धर्म या कर्मके स्वरूपमें सन्देह हो तो धर्मज्ञ पुरुषोंके बर्तावको देखकर उसके स्वरूपका निश्चय कर लेना चाहिये—'यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः।' इसके अनुसार यदि हम सम्पूर्ण धर्मों और धर्मपूर्ण बर्तावोंका आदर्श किन्हीं एक महापुरुषमें देखना चाहें तो सर्वप्रथम भगवान् श्रीरामके जीवनपर ही दृष्टिपात करना होगा। श्रीरामने जिसे धारण किया, वही आदर्श धर्म है; जिसे संस्कार प्रदान किया, वही आर्य-संस्कृति है और जिसको वे आचरणमें ले आये, वही आर्योंका आदर्श सदाचार एवं शिष्टाचार है। इसीलिये कहा गया है, 'रामो विग्रहवान् धर्मः'—श्रीरामचन्द्रजी धर्मके साक्षात् विग्रह हैं।

श्रीरामके गुण अनन्त हैं। वे ईश्वर हैं, फिर भी उन्हें इसका अभिमान नहीं है। वे एक साधारण मनुष्यके समान अधर्मसे बचते हुए धर्मकी मर्यादामें स्थित रहते हैं; इसीलिये सबकी दृष्टिमें वे 'मर्यादापुरुषोत्तम' हैं। शतकोटि रामायणोंने उनकी महिमाका वर्णन किया, फिर भी किसीने पार नहीं पाया। तथापि अपनी लेखनी और वाणी पवित्र करनेके लिये ही यहाँ श्रीरामके धर्ममय जीवनकी यत्किञ्चित् झाँकी करायी जाती है।

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि अपने आदिकाव्यके लिये एक ऐसे नायकका अनुसन्धान कर रहे थे, जिसमें सभी सद्गुणोंकी प्रतिष्ठा हो, जिसका जीवन ही धर्म और सदाचारकी कसौटी हो तथा जो सम्पूर्ण लोकोंका एकमात्र प्रियतम हो। महर्षिने ऐसे लोकोत्तर गुणोंकी एक सूची बनायी और अपने आश्रमपर कृपापूर्वक पधारे हुए देवर्षि नारदसे पूछा—'मुने! आपकी दृष्टिमें कोई ऐसे महापुरुष हैं, जिनमें ये सभी सद्गुण मौजूद हों?' नारदजीने इसके उत्तरमें भगवान् श्रीरामका परिचय दिया और उनके अलौकिक गुणोंका भी बखान किया। वाल्मीकि और नारदका यह संवाद ही समस्त रामायणका बीज है। आदिकविका सम्पूर्ण 'रामायण' काव्य श्रीरामके उन लोकोत्तर गुणों तथा धर्ममय आचारोंकी ही व्याख्या है।

वाल्मीकिका प्रश्न इस प्रकार है—

को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकः प्रियदर्शनः॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे॥
(वा० रा० बाल० १। २—४)

'इस समग्र संसारमें गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, कृतज्ञ (उपकार माननेवाला), सत्यवक्ता और दृढप्रतिज्ञ कौन है? सदाचारसे युक्त, समस्त प्राणियोंके हितका साधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली और एकमात्र प्रियदर्शन (सुन्दर) पुरुष कौन है? मनपर अधिकार रखनेवाला, क्रोधको जीतनेवाला, कान्तिमान् और किसीकी भी निन्दा नहीं करनेवाला कौन है? तथा संग्राममें कुपित होनेपर किससे देवता भी डरते हैं?'

प्रश्न सुनकर नारदजीने यों उत्तर दिया—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
बुद्धिमान्नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः।
(वा० रा० बाल० १। ८-९)

'राजा इक्ष्वाकुके वंशमें उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं, जो लोगोंमें राम नामसे विख्यात हैं। वे ही मनको वशमें रखनेवाले, महाबलवान्, कान्तिमान्, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय हैं। बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, शोभायमान तथा शत्रुओंके संहारक हैं।'

विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥

समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ॥
(वा० रा० बाल० १ । ९—११)

'उनके कंधे मोटे और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, ग्रीवा शङ्खके समान और ठोढ़ी मांसल है। उनकी छाती चौड़ी तथा धनुष बड़ा है। गलेके नीचेकी हड्डी (हँसली) मांससे छिपी हुई है। वे शत्रुओंका दमन करनेवाले हैं। भुजाएँ घुटनेतक लटकी हैं। मस्तक सुन्दर है। ललाट भव्य और चाल मनोहर है। उनका शरीर अधिक ऊँचा या नाटा न होकर मध्यम और सुडौल है। देहका रंग चिकना है। वे बड़े प्रतापी हैं। उनका वक्षःस्थल भरा हुआ है। नेत्र बड़े-बड़े हैं। वे लक्ष्मीवान् और शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न हैं।' आकृति-विज्ञानके सर्वश्रेष्ठ लक्षणोंसे युक्त शरीरका वर्णन है इन शब्दोंमें। फिर वे—

धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान् ।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥
स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः ।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ॥
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ।
(वा० रा० बाल० १ । १२—१९)

'धर्मके ज्ञाता, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजाके हित-साधनमें लगे रहनेवाले हैं। वे यशस्वी, ज्ञानी, पवित्र, जितेन्द्रिय और मनको एकाग्र रखनेवाले हैं। प्रजापतिके समान पालक, श्रीसम्पन्न, शत्रुनाशक और जीवों तथा धर्मके रक्षक हैं। स्वधर्म और स्वजनोंके पालक हैं। वेद-वेदाङ्गोंके तत्त्ववेत्ता तथा धनुर्वेदमें प्रवीण हैं। वे अखिल शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ, स्मरण-शक्तिसे युक्त और प्रतिभासम्पन्न हैं। अच्छे विचार और उदार हृदयवाले वे श्रीरामचन्द्रजी बातचीत करनेमें चतुर तथा समस्त लोकोंके प्रिय हैं। जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलती हैं, उसी प्रकार साधु पुरुष सदा श्रीरामसे मिलते रहते हैं। वे आर्य (श्रेष्ठ) हैं और सबके प्रति समान भाव रखनेवाले हैं। उनका दर्शन सदा ही प्रिय मालूम होता है। सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त वे श्रीरामचन्द्रजी अपनी माता कौसल्याके आनन्दको बढ़ानेवाले हैं। गम्भीरतामें समुद्र और धैर्यमें हिमालयके समान हैं। वे विष्णुभगवान्‌के समान बलवान् हैं, उनका दर्शन चन्द्रमाके समान मनोहर प्रतीत होता है। वे क्रोधमें कालाग्निके और क्षमामें पृथ्वीके सदृश हैं। त्यागमें कुबेर और सत्यमें द्वितीय धर्मराजके समान हैं।'

उपर्युक्त गुणावलीमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्माश्रित सभी प्रकारके गुणोंका वर्णन आ गया है। ये सभी भगवान् श्रीराममें एकत्र समवेत हैं। उनके जीवनमें कहाँ कब किस गुणका विशेष विकास दृष्टिगोचर हुआ है, इसकी समीक्षा करनेपर बहुत बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है। इस लेखमें विस्तारके लिये स्थान नहीं है; अतः कुछ थोड़ेसे प्रसङ्गोंद्वारा ही श्रीरामके धर्ममय जीवनपर संक्षेपसे प्रकाश डाला जायगा। आदिकविने सर्वप्रथम अपने प्रश्नमें 'गुणवान्'की चर्चा की है। श्रीरामके गुण अनन्त हैं।

वाल्मीकीय रामायणमें अयोध्याकाण्डके प्रारम्भमें ही श्रीरामचन्द्रजीके शील, स्वभाव तथा सद्व्यवहार आदि गुणोंका जो मनोरम चित्र प्रस्तुत किया गया है, वह मानव-मात्रके लिये पठनीय, मननीय तथा अनुकरणीय है। महर्षि लिखते हैं—'श्रीराम बड़े ही रूपवान् और पराक्रमी थे। वे किसीके दोष नहीं देखते थे। भूमण्डलमें उनकी समता करनेवाला कोई नहीं था। वे सदा शान्तचित्त रहते और मीठे वचन बोलते थे। यदि कोई कठोर बात भी कह देता तो वे उसका उत्तर नहीं देते थे। किसीके सैकड़ों अपराध करनेपर भी उसके अपराधोंको याद नहीं रखते थे। चरित्रमें, ज्ञानमें तथा अवस्थामें बड़े सत्पुरुषोंसे सदा बातचीत करते और उनसे शिक्षा लेते थे। सर्वदा मधुर और प्रिय बोलते थे। झूठी बात तो उनके मुखसे कभी निकलती ही नहीं थी। वे वृद्ध पुरुषोंका सदा सम्मान किया करते थे। प्रजाका रामके प्रति तथा रामका प्रजाके प्रति अनुराग था। वे परम दयालु, क्रोधको जीतनेवाले और ब्राह्मणोंके पुजारी थे। दीनोंपर कृपालु, धर्मका रहस्य जाननेवाले और इन्द्रिय-विजयी थे। श्रीरामचन्द्रजी बाहर और भीतरसे सदा ही शुद्ध रहते थे। शास्त्रविरुद्ध बातोंको सुननेमें उनकी कभी रुचि नहीं होती थी। वे अपने न्याययुक्त पक्षके समर्थनमें बृहस्पतिके समान एक-से-एक बढ़कर युक्तियाँ देते थे। उनका शरीर

नीरोग था और अवस्था तरुण। वे असाधारण वक्ता, सुन्दर विग्रहसे सुशोभित तथा देश-कालके तत्त्वको समझनेवाले थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो विधाताने संसारमें समस्त पुरुषोंके सार-तत्त्वको समझनेवाले साधु पुरुषके रूपमें एकमात्र श्रीरामको ही प्रकट किया है। श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त राजकुमार राम अपने सद्गुणोंके कारण प्रजाको बाह्य प्राणोंके समान प्रिय थे। वे सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात और साङ्ग वेदके ज्ञाता थे। बाण-विद्यामें तो अपने पितासे भी बढ़कर थे। कल्याणकी तो मानो जन्मभूमि ही थे। साधु, दीनतारहित, सत्यवादी और सरल थे। धर्म और अर्थके ज्ञाता वृद्ध ब्राह्मणोंद्वारा उन्हें उत्तम शिक्षा प्राप्त हुई थी। धर्म, काम तथा अर्थके तत्त्वका उन्हें सम्यक् ज्ञान था। वे स्मरणशक्तिसे सम्पन्न और प्रतिभाशाली थे। उनको सामयिक लोकाचारोंका विशेष ज्ञान था। वे बड़े गम्भीर, अपने आकारको छिपानेवाले और मन्त्रको गुप्त रखनेवाले थे। उन्हें सत्पुरुषोंके संग्रह, दीनोंपर अनुग्रह तथा दुष्ट पुरुषोंके निग्रहके अवसरोंका ठीक-ठीक ज्ञान था। उन्होंने सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रों तथा संस्कृत-प्राकृत आदि नाना प्रकारकी भाषाओंके ज्ञानमें निपुणता प्राप्त की थी।.......क्रोधमें भरकर आये हुए देवता और असुर भी उनको संग्राममें परास्त नहीं कर सकते थे। दोष-दृष्टिका तो उनमें लेशमात्र भी नहीं था। क्रोधको वे जीत चुके थे। घमंड और द्वेष उनके पास भी नहीं फटकने पाते थे। किसी प्राणीके मनमें उनके प्रति अवहेलनाका भाव नहीं था। वे कालके वशमें होकर उसके पीछे चलनेवाले नहीं थे; काल ही उनके पीछे चलता था।'

(वा० रा० अयोध्या० १। १—३१)

रामको वनमें भेजनेवाली विमाता कैकेयीपर भी उनके सद्गुणों तथा न्यायोचित व्यवहारोंका इतना प्रभाव था कि वे कुब्जाके बहकानेपर भी रामकी प्रशंसा करती नहीं अघातीं। वे कहती हैं—"कुब्जे! तू रामके राज्याभिषेकका शुभ संवाद सुनकर जलती क्यों है? मेरे लिये जैसे भरत आदरके पात्र हैं, वैसे ही, बल्कि उनसे भी बढ़कर श्रीराम आदरणीय हैं। वे अपनी सगी माता कौसल्यासे भी बढ़कर मेरी सेवा करते हैं; यदि रामको राज्य मिल रहा है, तो उसे भरतका ही समझ ले'।* इसी प्रकार सुन्दरकाण्डमें, जब हनुमान्जी सीताके सम्मुख गये हैं, उन्होंने श्रीरामके अलौकिक गुण और स्वभावका बड़े विस्तारके साथ वर्णन करके अपने प्रति माता सीताका विश्वास प्राप्त किया है।

इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि और देवर्षि नारदने संसारको यह बता दिया कि तीनों लोकोंमें सबसे बढ़कर गुणवान् श्रीराम ही हैं। गुण हों और वीर्य—पराक्रम न हो तो वे गुण किस कामके! लोकमें उसीका समादर होता है, जो गुणवान् होनेके साथ ही वीर्यवान्—पराक्रमी भी हो। इस दृष्टिसे देखनेपर भी श्रीराम ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। जनकपुरके उस दिव्य धनुषको, जो देवता, मानव और असुर—किसीके हाथसे भी हिलाया तक न जा सका, श्रीरघुनाथजीने अनायास ही तोड़ डाला। परशुराम-जैसे दुर्धर्ष वीरको, जिन्होंने इक्कीस बार इस पृथ्वीको वीर क्षत्रियोंसे सूना कर दिया था, अपने पराक्रमसे सन्तुष्ट करना रघुवीरका ही काम था। पञ्चवटीमें चौदह हजार राक्षसों तथा खर, दूषण और त्रिशिराको अकेले ही बिना किसीकी सहायता लिये थोड़ी ही देरमें संहार कर डालनेवाले श्रीरघुनाथजीके पराक्रमकी किससे तुलना हो सकती है? वालिवध, समुद्र-निग्रह तथा रावण-कुम्भकर्णादिका संहार भी केवल उन्हींके पराक्रमसे सम्भव हुआ। हनुमान्जीने तो रावणके दरबारमें पहले ही घोषित कर दिया था—

> ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा।
> इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥

(वा० रा० सुन्दर० ५१। ४४)

'औरोंकी तो बात ही क्या, चार मुखोंवाले स्वयम्भू ब्रह्मा, त्रिपुरसंहारक त्रिनेत्रधारी रुद्र तथा देवराज इन्द्र भी रघुनाथजीके सामने युद्धमें नहीं ठहर सकते।'

गुणवान् और वीर्यवान् होनेके साथ ही धर्मज्ञ होना भी आवश्यक है, अन्यथा वह पराक्रम अधर्ममें लगानेवाला हो सकता है। भगवान् श्रीरामके लिये 'धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः' (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके ज्ञाता और स्वामी) यह विशेषण आया है। वे धर्म और अर्थके तत्त्वको जानते थे। इसका सुन्दर उदाहरण वालि-वधका प्रसङ्ग है। वालीने जब श्रीरघुनाथजीके कार्यको अन्याय बताते हुए धर्मकी दुहाई देनी आरम्भ की, उस समय उन्होंने उसकी प्रत्येक बातका खण्डन करते हुए बड़ी सुन्दर युक्तियोंद्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि 'वाली! तुम्हें यह तुम्हारे पापका ही दण्ड मिला है। तुमने अपने छोटे भाईकी स्त्रीको, जो तुम्हारी पुत्रवधूके

---

* संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम्॥
यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च स तु शुश्रूषते हि माम्॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा।

(अयोध्या० ८। १५, १८, १९)

समान है, बलपूर्वक रख लिया है और उसपर बलात्कार किया है। मैंने तुम्हे दण्ड देकर राजधर्म, मित्रधर्म एवं अपनी प्रतिज्ञाका पालन किया है।' उन्होंने अपनी बातकी पुष्टिमे पूर्वजोंके द्वारा अपनायी हुई नीति तथा मनुस्मृतिके मतका भी उल्लेख किया है—'श्रूयेते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ।' यह प्रसंग वा० रा० किष्किन्धाकाण्डके १८वें सर्गमें विस्तारपूर्वक वर्णित है। वहीं देखना चाहिये।

श्रीरामकी धर्मज्ञताका दूसरा उदाहरण है विभीषण-शरणागतिका प्रसङ्ग। शरणमें आये हुए भयभीत पुरुषकी रक्षा करना प्रत्येक शक्तिशाली वीर पुरुषका धर्म है। भगवान् श्रीरामकी तो यहाँतक प्रतिज्ञा है कि 'जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर यह कह दे कि 'प्रभो! मैं आपका हूँ' उस शरणागत जनको मैं सब प्राणियोसे निर्भय कर देता हूँ।'* जब विभीषण अपने मन्त्रियोंके साथ आकर यह पुकार लगाता है कि 'मैं श्रीरघुनाथजीकी शरणमें आया हूँ,' उस समय वानर-सेनापतियोंमें हलचल-सी मच जाती है। सब-के-सब चौकन्ने हो उठते हैं। किसीको यह विश्वास नहीं होता कि विभीषण सद्भावसे आया है। सब यही समझते हैं, विभीषणके इस तरह आनेमें मायावी राक्षसोंकी कोई गहरी चाल है। रघुनाथजीके सामने यह बात पहुँचायी जाती है। सेनापतियोंकी गुप्त मन्त्रणा होती है। भगवान् सबकी सलाह लेते हैं। वानरराज सुग्रीव तो उसे मार डालनेका ही निर्णय देते हैं। अन्यान्य सेनापति भी सन्देहकी ही दृष्टिसे देखते हैं। केवल हनुमान्जी ही विभीषणको विश्वासके योग्य मानते और इसीके अनुसार अपना निर्णय देते हैं। सुग्रीवको यह बात नहीं रुचती। वे बार-बार प्रतिवाद करते हुए कहते हैं—'जो अपने सगे भाईको छोड़कर आ सकता है, वह किसको धोखा नहीं देगा?' श्रीराम सुग्रीवकी इस आशङ्काको यथार्थ बताते हुए उनकी बुद्धिकी सराहना करते हैं; फिर भी अपना प्रण—'शरणागतरक्षणरूपी धर्म' त्यागना नहीं चाहते। वे कहते हैं—'मन्त्रियो! यदि शत्रु भी शरणमें आये और दीनतापूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना करे तो उसपर चोट नहीं करनी चाहिये। शत्रु दुखी हो अथवा अभिमानी, यदि वह अपने विपक्षीकी शरणमें आ जाय तो धर्मात्मा पुरुषको अपने प्राणोंका मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिये।* अतः—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥
(वा० रा० युद्ध० १८। ३४)

'कपिवर सुग्रीव! वह विभीषण हो अथवा स्वयं रावण ही क्यों न आया हो, मैंने उसे अभयदान दे दिया। अब तुम उसे मेरे पास ले आओ।'

यह है मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी धर्मज्ञता, धर्मपरायणता तथा शरणागतवत्सलता! कौन है त्रिलोकीमें, जो उनकी समानता कर सके। धर्मज्ञ होनेके साथ ही वे कृतज्ञ भी अनुपम हैं। उनके कृतज्ञ स्वभावका महर्षिने इस प्रकार वर्णन किया है—

न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।
कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति॥

'मनपर नियन्त्रण रखनेके कारण वे दूसरोंद्वारा किये हुए सौ-सौ अपराधोंको भी भुला देते हैं, कभी एकको भी याद नहीं रखते। परंतु यदि कोई किसी प्रकार एक बार भी उपकार कर दे तो उसीसे सदा सन्तुष्ट रहते हैं, सर्वदा उस एक ही उपकारको याद रखते हैं।'

उदाहरणके लिये जब हनुमान्जी लङ्कासे सीताजीका पता लगाकर लौटते हैं, उस समय उनसे मिलकर भगवान् बड़े प्रसन्न होते हैं और उनके कार्योंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए यहाँतक कह डालते हैं—'आज हनुमान्जीने सीताका पता लगाकर धर्मानुसार मेरी, समस्त रघुवंशकी तथा लक्ष्मणकी भी रक्षा कर ली है। मैं दीन हूँ, असमर्थ हूँ, मेरे मनमें तो यही बात कसक रही है कि जिसने मुझे ऐसा प्रिय संवाद सुनाया, उसका मैं कोई वैसा ही प्रिय कार्य नहीं कर सका।' यों कहकर रघुनाथजीने हनुमान्जीको हृदयसे लगा लिया। केवल उसी समय ऐसा भाव, ऐसी कृतज्ञता प्रकट की गयी हो—यह बात नहीं है। राज्याभिषेकके पश्चात् जब श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्जीको विदा करते हैं, उस समय भी उनके उपकारोंका

* सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० युद्ध० १८। ३३)

* बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप॥
आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥
(वा० रा० युद्ध० २७-२८)

कारण करके वे आनन्द-गद्गद हो उठते हैं और भावावेशमें ये उद्गार प्रकट करने लगते हैं—

> एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे ।
> शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम् ॥
> मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे ।
> नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम् ॥
> (उत्तर० ४० । २३-२४)

'कपिश्रेष्ठ ! मुझपर तुम्हारे ऐसे महान् उपकार हैं कि उनमेंसे एक-एकके बदले अपने प्राणतक दे सकता हूँ । फिर भी शेष उपकारोंके लिये मुझे सदा तुम्हारा ऋणी बनकर ही रहना होगा । कपिवर ! तुमने जो भी उपकार किये हैं, वे सब मेरे शरीरमें ही विलीन हो जायँ—मुझे उनका बदला चुकानेका कभी अवसर न मिले । अर्थात् तुमपर कभी कोई विपत्ति आये ही नहीं । क्योंकि मनुष्य विपत्तियोंमें पड़नेपर ही प्रत्युपकारका पात्र बनता है ।'

गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ और कृतज्ञ श्रीराम सत्यवादी भी हैं । वे स्वयं कहते हैं—'अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन'—'मैंने पहले कभी न तो झूठ बात कही है और न आगे कभी कहूँगा ।' 'रामो द्विर्नाभिभाषते'—राम दो तरहकी बात नहीं बोलता । चौदह वर्षोंका वनवास स्वीकार कर लेनेपर उन्होंने कष्ट सहकर भी उसे निबाहा । अनेक प्रलोभन आये, माताने रोका, लक्ष्मणने ओज और उत्साहभरी बातोंसे राज्यपर बलपूर्वक अधिकार कर लेनेको उत्तेजित किया । फिर स्वयं भरत उन्हें मनाने गये । अयोध्या लौट चलनेके लिये बहुत आग्रह किया गया; किंतु श्रीरामचन्द्रजी विचलित नहीं हुए । उन्होंने वनमें रहकर पिताके तथा अपने सत्यकी पूर्णरूपसे रक्षा की । ये ही बातें उनके दृढ़व्रत होनेका भी परिचय देती हैं । वे स्वयं सीताजीसे कहते हैं—

> 'अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।
> न हि प्रतिज्ञां संश्रुत्य………………… ।'

'जनकनन्दिनी ! मैं अपने प्राण त्याग सकता हूँ, तुमको और लक्ष्मणको भी छोड़ सकता हूँ; परंतु प्रतिज्ञा करके उसे टाल नहीं सकता ।'

इस प्रकार महर्षिके द्वारा जिज्ञासित प्रारम्भिक छहों गुण श्रीरघुनाथजीमें पूर्णतया उपलब्ध होते हैं । ये सभी गुण हों और चरित्र-बल न हो तो इनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता; अतः महर्षि पूछते हैं—'चारित्रेण च को युक्तः' ('सदाचारसे युक्त कौन है ?)।' इस चारित्र्य-गुणमें भी श्रीरघुनाथजी ही अद्वितीय हैं । उनका एकपत्नीव्रत सर्वत्र प्रसिद्ध है । जनककी पुष्पवाटिकामें सीताजीकी अलौकिक शोभा देखकर उनका मन जब किशोरीजीकी ओर आकृष्ट हुआ तो वे चकित हो उठे । यह जीवनमें प्रथम घटना थी । उन्होंने अपने मनको टटोला और वहाँ कलुषित वासनाकी गन्ध भी न पाकर लक्ष्मणसे कहने लगे— भाई !

> मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहिं सपनेहु परनारि न हेरी ॥

वही मेरा सहज पुनीत मन आज क्षुब्ध क्यों हुआ !' इसका कारण विधाता ही जानते हैं । (जान पड़ता है, सीता अनादि कालसे मेरी हैं और मेरी ही रहेंगी—मानो यही सूचित करनेके लिये) मेरे दायें अङ्ग फड़क रहे हैं । मैं तो उस रघुकुलका हूँ, जहाँ—

> 'मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ ॥'
> 'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी ॥'

यह है श्रीरामका आत्मविश्वास ! न केवल श्रीरामका, अपितु प्रत्येक रघुवंशीका ही यह स्वभाव है कि उसके मनको परायी स्त्री न लुभा सके, उसकी दृष्टि पर-स्त्रीकी ओर कभी आकृष्ट न हो ।

'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी ॥' का आदर्श देखना हो तो शूर्पणखा-प्रसङ्गपर दृष्टिपात कीजिये । शूर्पणखा मायासे मनोहर रूप धारण करके आती है और मुसकाती हुई कहती है—

> तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ॥
> मम अनुरूप पुरुष जग माहीं । देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥
> तातें अब लगि रहिउँ कुमारी । मनु माना कछु तुम्हहि निहारी ॥

सर्वान्तर्यामी प्रभु उस मायाविनीके कपटपूर्ण वचनको तुरंत ही ताड़ जाते हैं । कौतुकी तो वे हैं ही; सोचते हैं, यह विवाहिता होकर भी अपनेको कुमारी बताती है । यदि विवाहितको भी कुमार कहा जा सकता है, तब तो हमारा लक्ष्मण भी कुआँरा ही है । अतः कहते हैं 'जैसी तू कुआँरी है, उसी तरह हमारा छोटा भाई भी कुमार है ।' यह तो उस मायाविनीकी बातका उत्तर था, जो देना ही आवश्यक था । परंतु प्रभुने एक बार भी उसके उस सुन्दर रूपकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं । उन्होंने सीताजीकी ओर देखते हुए वार्तालाप किया—'सीतहि चितइ कही प्रभु बाता ।' शूर्पणखाको न तो उनका मन प्राप्त हो सका और न उनकी दृष्टि ही ।

'सर्वभूतेषु को हितः ?' समस्त प्राणियोंका हितकारी कौन है ? यह महर्षिका नवाँ प्रश्न है । उत्तर एक ही है— श्रीराम । सर्वात्मा एवं सर्वेश्वर श्रीरामके सिवा दूसरा कौन सबका हित-साधन कर सकता है ? उनका अवतार, उनका हँसना, बोलना, चलना, उनकी बातचीत, उनका अनुपम रूप—यह सब कुछ सबको सुख देनेके लिये ही तो था । अवतार धारण करके अपनी बाल-लीलाओंसे पहले अयोध्या-वासियोंको सुख दिया—

एहि बिधि सिसुबिनोद प्रभु कीन्हा । सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा ॥

फिर जनकपुरवासियोंको परमानन्दमें निमग्न किया—

हियँ हरषहिं बरषहिं सुमन सुमुखि सुलोचनि बृंद ।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद ॥

वनवासके समय भी वे गाँव-गाँव आनन्द बाँटते फिरते थे—

गावँ गावँ अस होइ अनंदू । देखि भानुकुल कैरव चंदू ॥
एहि बिधि रघुकुल कमल रबि मग लोगन्ह सुख देत ।
जाहिं चले देखत बिपिन सिय सौमित्रि समेत ॥

वनमें जाकर मुनियोंका हित किया—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥

विद्वान्, समर्थ और प्रियदर्शन कौन है ?—इन प्रश्नों-के द्वारा आदिकविने लोकोत्तर विद्वत्ता, लोकोत्तर सामर्थ्य और लोकोत्तर सौन्दर्यकी जिज्ञासा की है । ये सभी बातें श्रीरघुनाथजीमें पूर्णतः प्रकट हैं । रामगीताके उपदेशक श्रीराम-की विद्वत्ता सबके समक्ष है । सामर्थ्यका परिचय 'वीर्यवान्' पदकी व्याख्यामें दिया जा चुका है । एकमात्र प्रियदर्शन तो वे थे ही । मनुष्योंकी तो बात ही क्या है—

खग मृग मगन देखि छबि होहीं ।

आत्मवान् (मनपर अधिकार रखनेवाले) तो वे ऐसे थे कि चौदह वर्षोंतक वनमें ही रहकर सब प्रकारके सुख-दुःख झेलते रहे; पर मित्रोंके आग्रहपर भी कभी एक दिनके लिये भी ग्राम या नगरमें नहीं गये । अवसर आनेपर उन्होंने स्पष्ट कह दिया—

'पिता बचन मैं नगर न आवउँ ।'

आत्मवान् होनेके कारण ही वे हर्ष-शोकसे ऊपर उठ चुके थे । राज्य पाकर वे प्रसन्न नहीं हुए और वनवास मिलनेसे उन्हें दुःख नहीं हुआ—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः ।

जो आत्मवान् है, वह क्रोधपर विजय पा ही लेता है । भगवान् श्रीरामने अपना अपराध करनेवालेपर भी कभी क्रोध नहीं किया । मन्थरा-जैसी दासी भी, जिसके अपराधकी कहीं तुलना नहीं थी, कभी श्रीरामके क्रोधका भाजन न बन सकी । उन्होंने कभी मन्थराके अपराधकी चर्चातक नहीं की । एक दिन वनमें लक्ष्मणने जब कैकेयीपर आक्षेप किया तो श्रीरामने तुरंत उन्हें रोक दिया और कहा—

'न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन ।'

'भैया लक्ष्मण ! तुम मझली माताकी कभी निन्दा मत किया करो ।' साथ ही भगवान् शरणागतवत्सल हैं । अतः जो लोग भक्तजनोंका या भगवदाश्रित जनोंका अपराध करते हैं, उन्हें श्रीरामचन्द्रजी अवश्य दण्ड देते हैं । जयन्त और रावण आदिको भी इसीलिये दण्ड मिला था । 'द्युतिमान्' कहते हैं कान्तिमान्को । त्रिलोकीमें कौन ऐसा देहधारी है, जो श्रीरामकी मनमोहिनी छविपर मुग्ध नहीं होता—

कहहु सखी अस को तनुधारी । जो न मोह यह रूप निहारी ॥
बय किसोर सुषमा सदन स्याम गौर सुख धाम ।
अंग अंग पर वारिअहि कोटि कोटि सत काम ॥

जो गुणोंमें भी दोष देखे, वह असूयक है । श्रीराम अनसूयक हैं । वे कभी किसीके दोष नहीं देखते । देखना तो दूर रहा, सुनते भी नहीं । इसीलिये तो कैकेयीकी निन्दा करते समय तुरंत ही लक्ष्मणको रोक दिया । अन्तिम प्रश्नमें महर्षिने प्रभावकी जिज्ञासा की है । संग्राममें क्रोधपूर्वक खड़े होनेपर किसके सामने जानेमें देवता भी थर्रा उठते हैं । देवता तो रावण और मेघनादसे ही डर जाते हैं । वे रावण आदि राक्षस भी जिनसे अपने प्राणोंकी रक्षा नहीं कर सके, उन भगवान् श्रीरामके अलौकिक प्रभावका पार कौन पा सकता है ?

महर्षिकी जिज्ञासाके उत्तरमें देवर्षिने श्रीरामके जो अलौकिक गुण बताये हैं, वे सब इन्हीं सद्गुणोंके विस्तार हैं ।

विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ।

—इत्यादि श्लोकोंमें भगवान्के शारीरिक शुभ लक्षणोंका वर्णन किया गया है, जो सामुद्रिक शास्त्रकी दृष्टिसे उनके महान् ऐश्वर्य, प्रभाव, सुख और सामर्थ्यके सूचक हैं ।*

---

* जैसे कंधोंका उन्नत होना सुखदायक माना गया है—
कक्षः कुक्षिश्च वक्षश्च घ्राणस्कन्धौ ललाटिका ।
सर्वभूतेषु निर्दिष्टा उन्नतास्ते सुखप्रदाः ॥ इत्यादि ।

इनके सिवा भगवान् श्रीरामने माता-पिताकी अनुपम भक्तिका आदर्श उपस्थित किया है। माताकी उपयुक्त आज्ञा माननेवाले तो बहुत हो सकते हैं; परंतु विमाताकी भी कठोरतम आज्ञाको शिरोधार्य करनेवाले केवल श्रीराम हैं। जब कैकेयीने वरदानकी आड़ लेकर श्रीरामको वनमें जानेका आदेश दिया, उस समय श्रीराम उलाहना देते हुए कहते हैं—'मा ! यह काम तो मैं तुम्हारे ही कहनेसे कर सकता था, तुमने पिताको क्यों कष्ट दिया ? मालूम होता है, अब तुम मुझमें इस तरहका कोई गुण नहीं देखतीं ! मुझपर तुम्हारा पूरा अधिकार है। फिर भी इस बातको सीधे मुझसे न कहकर तुमने पिताजीसे कहलाया है।'* पिताकी आज्ञाके पालनमें उनका कितना उत्साह था—यह निम्नाङ्कित वचनोंसे स्पष्ट है—'मैं पिताजीके कहनेसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीव्र विषका भी पान कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता हूँ।'† कौसल्याने जब वन जानेसे रोका तो श्रीरामने विवश होकर कहा—'मा ! मुझमें पिताजीकी आज्ञाको टाल देनेकी शक्ति नहीं है; मैं वनमें जानेकी ही इच्छा रखता हूँ। तुम बाधा न डालो; तुम्हारे चरणोंपर मस्तक रखकर प्रार्थना करता हूँ।'‡

उनका भ्रातृप्रेम भी संसारके लिये सदा अनुकरणीय बना रहेगा। उन्होंने सदा अपने भाइयोंके प्रति स्नेहका भाव रक्खा, उनके सुख और सुविधाका ख्याल किया। इतना ही नहीं, खेलमें हारी हुई बाजी भी उन्हें जिताते रहे—जिससे उनका मन न टूटे, उत्साह न भंग हो। चित्रकूटपर भरतके आगमनकी सूचना मिलनेपर श्रीरामने लक्ष्मणसे जो उद्गार प्रकट किया है, वह उनके अगाध भ्रातृ-स्नेहका प्रबल परिचायक है। वे कहते हैं—'लक्ष्मण ! मैं सत्य और आयुधकी शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम तथा सम्पूर्ण पृथ्वी—सब कुछ तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ। लक्ष्मण ! मैं भाइयोंकी भोग्य-सामग्री और उनके सुखके लिये ही राज्य भी चाहता हूँ। भरतको, तुमको और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिलता हो तो उसमें आग लग जाय। वह जलकर भस्म हो जाय।'§

प्रजाजनोंपर उनका इतना अटूट प्रेम था कि उनके वनगमनके समय सारी अयोध्या उनके साथ जानेको उद्यत हो गयी थी। तथा प्रजाको प्रसन्न रखनेके लिये ही वे अपनी प्राणोंसे प्यारी पत्नी सीताको भी वनमें भेज देनेके लिये विवश हुए थे। वे आदर्श राजा थे। उनके राज्यमें प्रजाको सब प्रकारका सुख था। सभी सब प्रकारकी चिन्ता और भयसे मुक्त थे। यह पृथ्वी धन-धान्यसे सम्पन्न थी। किसीकी अकाल मृत्यु नहीं होती थी। सब लोग स्वभावतः धर्मात्मा और सदाचारपरायण रहते थे। वे आदर्श पुत्र थे। बड़े-से-बड़े कष्टोंको सहकर भी गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करनेको उद्यत रहते थे। पिता उनके-जैसे पुत्रको पाकर अपनेको परम सौभाग्यशाली मानते थे। श्रीराम आदर्श पति थे, उनका एकपत्नीव्रत संसारको आज भी सदाचार और संयमका पाठ पढ़ा रहा है। वे आदर्श स्वामी थे; उनके सेवक उन्हें अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते थे। उनका सेवकोंपर पुत्रवत् स्नेह था। इसी प्रकार वे आदर्श मित्र और आदर्श शरणागतपालक थे। श्रीरामका सारा जीवन ही धर्ममय था। वे आदर्श राजा थे, इसीलिये उन्होंने प्रजारञ्जनके उद्देश्यसे सीता-सरीखी सतीको भी वनवास दे दिया। वे धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप थे। आर्य-संस्कृतिका मूर्तिमान् स्वरूप कहीं देखना हो तो भगवान् श्रीरामचन्द्रमें देखना चाहिये।

---

* न नूनं मयि कैकेयि किञ्चिदाशंससे गुणान्। यद्राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती ॥ (वा० रा० अ० १९। २४)

† अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके। भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥ (वा० रा० अ० १८। २८-२९)

‡ नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम। प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥ (वा० रा० अ० २१। ३०)

§ धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण। इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिशृणोमि ते ॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण। राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद। भवेन्मम सुखं किञ्चित् भस्म तत्कुरुतां शिखी ॥
(२। ९७। ५, ६, ८)

भगवान् श्रीकृष्ण

(लेखक—स्व० साहित्याचार्य पं० श्रीशालग्रामजी शास्त्री)

अवतारोंमें श्रीराम और श्रीकृष्णका नाम सबसे अधिक श्रद्धा, भक्ति तथा आदरके साथ लिया जाता है। इनमेसे एक 'मर्यादापुरुषोत्तम' कहे जाते हैं और दूसरे 'लीला-पुरुषोत्तम'। यद्यपि ये दोनों ही भगवान्‌के अवतार माने जाते हैं, परंतु स्वभाव आदिमे एक दूसरेसे नितान्त भिन्न दीखते हैं। श्रीरामको हम आदिसे अन्ततक एक समान गम्भीर मुद्रा और स्थिरभावमे देखते हैं तो श्रीकृष्णको चञ्चलता और हँसोड़पनकी प्रतिमूर्ति पाते हैं। यदि यह कहा जाय कि श्रीरामको किसीने कभी हँसते नही देखा और श्रीकृष्णको कभी रोते नही देखा तो अत्युक्ति न होगी। एकमे प्रसादकी कमी है तो दूसरेमें विषादका अत्यन्त अभाव है। एकने आजन्म एक रूप धारण किया तो दूसरेने क्षण-क्षणमे भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ धारण की और नयी-नयी लीलाएँ दिखायी। एकने मर्यादा बाँधनेके लिये स्वयं अपनेको मर्यादाओंके बन्धनमे बेतरह जकड़ लिया तो दूसरेने त्रिलोकीका सूत्रधार बनकर प्रकृति-नटीको नचानेमे कमाल कर दिखाया। एकको अपनी लीलामे अपने वास्तविक स्वरूपका स्मरण बहुत कम हुआ तो दूसरेको उसका विस्मरण कभी हुआ ही नही। श्रीरामको कई बार देवताओंके याद दिलानेपर भी अपने स्वरूपका ज्ञान कठिनतासे हुआ तो श्रीकृष्णको अपने विराट्‌रूप और त्रिलोकनायकत्वका भान सदा अपनी आँखोके आगे नाचता ही दीखता—

> यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
> न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥
> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
> अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
> विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
>
> (गीता १० । ३९, ४१-४२)

'अर्जुन! समस्त सृष्टिका आदि कारण मै ही हूँ। ससारमे ऐसी कोई वस्तु नही, जो मुझसे रहित हो। जगत्‌मे जहाँ-जहाँ वैभव, तेज और लक्ष्मी दीखती है, वह सब मेरी ही विभूतिका अंश समझो। अथवा बहुत-सी बातोसे क्या मतलब; तुम संक्षेपमे यह समझो कि इस समस्त ब्रह्माण्डको मेरे एक अंशने घेर रक्खा है।' 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।' वेदने कहा है कि भगवान्‌का केवल एक चतुर्थांश इस भूत-भौतिकमयी समस्त सृष्टिको व्याप्त किये हुए है और तीन अंश इससे बाहर है।

अर्जुनका सन्देह दूर करनेके लिये विराट्-स्वरूपका दर्शन कराते समय भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

> इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
> मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥
>
> (गीता ११ । ७)

'अर्जुन! चर और अचर सम्पूर्ण जगत्‌को तुम मेरे इस (विराट्) शरीरमे देखो और इसके अतिरिक्त जो कुछ और देखना चाहते हो, वह भी देखो।'

कोई पूछे कि निखिल ब्रह्माण्ड (सचराचर जगत्) देखनेके बाद और बचा ही क्या, जिसे अर्जुन देखना चाहेंगे? भगवान् यह क्या कह रहे हैं? चर और अचर अर्थात् चेतन और जड अथवा प्रकृति और पुरुषके सिवा क्या कुछ और भी संसारमे है, जिसे देखनेकी आज्ञा भगवान् दे रहे हैं? जी हाँ, है। वह है अनागत वस्तु। उसीकी ओर भगवान् संकेत कर रहे हैं। उस समय संसारमे जो-जो वस्तु अपने जिस-जिस रूपमे विद्यमान थी, वह सब अर्जुनको भगवान्‌के विराट्‌रूपमे दीख सकती थी और आगे चलकर उसकी जो दशा होनेवाली है—जो उस समय-तक नहीं हुई थी, संसारमे जो रूप उसका उस समयतक नही हुआ था, भावी या अनागत था, वह भी यदि अर्जुन चाहे तो भगवान्‌की देहमे देख सकते हैं। यही उक्त पद 'यच्चान्यद्' का तात्पर्य है। आगे चलकर हुआ भी वैसा ही। अर्जुनने भगवान्‌के अनेक विकराल मुखोकी भयानक दाढ़ोंके बीच भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुःशासन आदिको पिसते हुए देखा था। यह बात उस समयतक संसारमे विद्यमान नही थी। अनागतके गर्तमे प्रच्छन्न थी। वह भी अर्जुनको प्रत्यक्ष दीख पड़ी। इसीलिये तो अर्जुनको समझाते हुए भगवान्‌ने कहा था कि 'इन सबको तो मैंने ही मार रक्खा है, अर्जुन! तुम निमित्तमात्र होकर यशके भागी बनो।'

भगवान् श्रीरामके समान श्रीकृष्णको प्रौढ़ अवस्था प्राप्त होनेपर अपनी शक्तियोंका भान हुआ हो, यह बात नहीं है। ये तो जन्मसे ही 'हजरत' थे। यहाँ अर्जुनको

विराट्रूप दिखाकर कर्तव्यका ज्ञान कराया, उधर कौरवोंकी सभामें सन्धिका प्रस्ताव करते समय जब कर्ण, दुःशासन और दुर्योधन आदिने इन्हें (भगवान् श्रीकृष्णको) अकेला समझकर बाँध लेनेकी गुप्त मन्त्रणा की तो आपने यह कहते हुए कि 'बच्चा ! मुझे अकेला न समझो, मेरे साथ यहाँ भी बहुत कुछ है'—एक विकट अट्टहास करके अपने शरीरमें वह विश्वरूप दिखलाया कि विरोधियोंकी फूँक निकल गयी। शैशवकालमें जब माता यशोदाने इन्हें मिट्टी खाते देखकर डाँटा और मुँह खोलनेको कहा तो आपने मुँह खोलकर समस्त ब्रह्माण्डको अपने पेटमें दिखला दिया। वह बेचारी सीधी-सादी ग्वालिन हक्की-बक्की-सी होकर चौंधिया गयी और सोचने लगी कि 'समस्त पृथ्वी जिसके पेटमें समायी हुई है, वह यदि जरा-सी मिट्टी खा ही लेगा तो क्या विकार हो सकता है।' बात-की-बातमें आपने अपनी माया समेट ली। यशोदा सब बातें भूल गयीं और बालकृष्णको कोरा शिशु समझकर वात्सल्य-रससे परिपूर्ण हो गयीं। तात्पर्य यह कि भगवान् श्रीकृष्णको कठिन तपस्या, योगाभ्यास या वनवास आदिके द्वारा कोई सिद्धि प्राप्त हुई हो, यह बात नहीं है। विश्वामित्र या अगस्त्य आदि महर्षियोंके समान इन्हें किसीने दिव्य वस्त्र या 'बला' 'अतिबला' आदि विद्याएँ देनेकी कृपा नहीं की। इन्हें इसकी आवश्यकता भी नहीं थी। ये तो 'लीलापुरुषोत्तम' थे। इन्होंने जन्मसे ही अलौकिक खेलाएँ आरम्भ कर दी थीं। बिना सीखे-पढ़े ही शकटासुर और पूतना आदिका शिकार करना शुरू कर दिया था। जिस अवस्थामें बच्चोंको लँगोटी बाँधनेकी भी सुध-बुध नहीं हुआ करती, और शायद ये भी वैसे ही घूमा करते हों, तभीसे आपने अनेक असुरोंकी मरम्मत करना आरम्भ कर दिया था। इनका तो बिना सीखे-पढ़े ही यह हाल था। फिर यह सीखते भी कब और कैसे। इनके जन्मसे भी बहुत पहलेसे कंसकी विकराल दृष्टि इनकी खोजमें लगी थी। क्षण-क्षणमें उसकी भीषण भ्रुकुटी देवकी और वसुदेवका कलेजा कँपाया करती थी। यदि यह बात न होती तो आप माता-पिताको छोड़कर 'गोकुल गाँवके ग्वालन'से दोस्ती गाँठने कैसे पहुँचते ? ग्यारह वर्ष तो गौएँ चराने, ग्वालबालोंमें हुरदंग मचाने और गोपकन्याओंके साथ धमाचौकड़ी मचानेमें ही बीत गये। इसी बीचमें अनेक असुरोंकी भी चटनी घोंटी गयी। अन्तमें कंसका कचूमर निकालनेकी नौबत आयी। जब उग्रसेन (कंसके पिता) राजा हुए और वसुदेव-देवकी जेलखानेसे मुक्त हुए, तब लोगोंने समझा कि अब श्रीकृष्ण-बलदेवकी जानका खतरा दूर हुआ। इसके बाद इनके क्षत्रियोचित संस्कार हुए और उज्जयिनीमें सान्दीपनि मुनिके यहाँ आप विद्याभ्यासकी रस्म अदा करने पहुँचे। वहाँ कितने दिन रहे और क्या-क्या सीखा-पढ़ा, जरा इसका हाल भी सुन लीजिये। चौंसठ दिनमें चारों वेद और उनके छहों अङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द एवं आलेख्य, गणित, गानविद्या और वैद्यक—यह सब सीख लिया। बारह दिनमें हाथी-घोड़े आदिकी शिक्षा प्राप्त की और पचास दिनमें दसों अङ्गोंसहित धनुर्वेदकी शिक्षा समाप्त कर दी। महाभारतमें लिखा है—

> अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या साङ्गान् वेदानवापतुः।
> लेख्यं च गणितं चोभौ प्राप्नुतां यदुनन्दनौ॥
> गान्धर्ववेदं वैद्यं च सकलं समवापतुः।
> हस्तिशिक्षामश्वशिक्षां द्वादशाहेन चाप्नुताम्॥
> पञ्चाशद्भिरहोरात्रैर्दशाङ्गं सुप्रतिष्ठितम्।
> सरहस्यं धनुर्वेदं सकलं ताववापतुः॥

इसके अनन्तर गुरुदक्षिणा देनेकी बारी आयी। अगस्त्यकी भाँति अनेक विद्याओंके समुद्रको एक ही साँसमें सोख लेनेकी अद्भुत शक्ति देखकर गुरुजी भी इन्हें ताड़ गये थे। उन्होंने कसके गुरुदक्षिणा माँगी। बहुत दिन पहले उनके पुत्रको समुद्रमें एक मगर निगल गया था। उन्होंने उसीको ला देनेकी बात कही।

भगवान्‌ने गुरुको आर्त्त देखकर उनका पुत्र ला देनेकी प्रतिज्ञा की। महर्षि वेदव्यास कहते हैं कि जो काम प्राणिमात्रमें कोई नहीं कर सकता था, वह उस समय भगवान् श्रीकृष्णने कर दिखाया। सान्दीपनि मुनिका पुत्र आ गया, जिसे देखकर सभीको विस्मय हुआ। कहनेका मतलब यह है कि भगवान् श्रीकृष्णकी सभी बातें अलौकिक हैं। उनकी लीलाएँ जन्मसे ही आरम्भ हो जाती हैं। उनकी दिव्य शक्तियाँ तभीसे अप्रतिहतरूपसे अपना प्रसार दिखाती हैं। अघासुर, बकासुर आदि असुरों तथा ब्रह्मा, इन्द्र आदि सुरोंके साथ उन्होंने बचपनसे ही मोर्चा लिया था। उन्हें पढ़ने-लिखने या सीखनेकी परतन्त्रता नहीं थी। यदि होती तो सान्दीपनि मुनिका पुत्र कैसे आता ? यह विद्या उन्होंने किससे सीखी थी ? यदि सान्दीपनिजीको यह विद्या आती होती तो वे स्वयं ही अबतक अपने पुत्रको क्यों न ले आये होते ? इसीसे तो लोग श्रीकृष्णको पूर्णावतार बताते हैं।

इस साधारण—अत्यन्त साधारण शिक्षाके साथ अब

इनके ज्ञानका अनुमान कीजिये। 'ताण्डव' और 'लास्य' ये दो प्रकारके प्राचीन नृत्य प्रसिद्ध हैं। श्रीकृष्णने एक तीसरी नृत्यकलाकी सृष्टि की, जो शिव-नृत्य (ताण्डव) और पार्वती-नृत्य (लास्य)—इन दोनोंसे विलक्षण तथा चमत्कारी थी। जो व्यक्ति क्रोधोन्मत्त भीषण भुजङ्गमके फणोंपर नाच सकता हो, उसकी शरीर-साधना, चरणलाघव और लोकोत्तर कलामें किसे सन्देह हो सकता है? संगीतमें आज चार मत प्रसिद्ध हैं—१. नारदमत-सङ्गीत, २. भरतमत-सङ्गीत, ३. हनुमन्मत-संगीत और ४. श्रीकृष्णमत-सङ्गीत—इनमें अन्तिम सबसे कठिन और सबसे अधिक चमत्कारक बताया जाता है।

और देखिये, युद्धकी शिक्षा तो आपने सान्दीपनि मुनिके अखाड़ेमें पायी थी, परंतु हजारों हाथियोंका बल रखनेवाले कंस और चाणूरका चूरन बनानेकी विद्या किससे सीखी थी? इन प्रबल और कुशल पहलवानोंको पछाड़नेके दाव-पेंच किसने सिखाये थे? कुवलयापीड़का पुलाव पकानेकी तरकीब किसने बतायी थी? ग्वालोंने या गोपियोंने? ये बेचारे तो इन सबके नामसे ही थर-थर काँपते थे।

सङ्गीत तो सीखा उज्जैनके आचार्यकुलमें जाकर, परंतु कालियमथनका नृत्य किसने सिखाया? गोप और गोपियोंका हृदयाकर्षक सङ्गीत कहाँसे आया? त्रिभुवनमोहिनी मुरलीकी शिक्षा किसने दी? गोकुलभरमें किसी दूसरे मुरलीधरकी तो चर्चा ही नहीं मिलती। घोड़े हाँकनेमें मातलि (इन्द्रके सारथि) को भी मात करनेकी करामात इन्हें किसने दी थी? जिस समय आदित्यब्रह्मचारी भीष्मने युद्धमें प्रलय—दावानलके समान विकराल रूप धारण करके पाण्डवोंकी सेनाका विध्वंस आरम्भ किया था, तब उनके सामनेसे इन्हींने अपने अश्वचालन-कौशलके बलपर अर्जुनको सही-सलामत बचाया था, जिसे देखकर मातलि भी दंग रह गया था। सभी महारथियोंने और खासकर भीष्मपितामहने भी—दाँतोंतले अँगुली दबाकर उस सारथित्वको दाद दी थी। भला, बताइये तो सही कि इस प्रकारकी कुशलता प्राप्त करनेके लिये श्रीकृष्णने कौन-सी सड़कोंपर घोड़े दौड़ानेका अभ्यास किया था।

अच्छा, इन सब बातोंको छोड़िये। जरा 'भगवद्गीता' की ओर तो दृष्टि उठाकर देखिये। केवल चौंसठ दिनकी पढ़ाई-लिखाईके ज्ञानका यह परिणाम कि आज संसारमें उसके जोड़की दूसरी पुस्तक ही नहीं! पाँच हजार वर्ष बीत जानेपर भी—अनेक कवि, महर्षि, आचार्य और ग्रन्थकारोंका आविर्भाव हो जानेपर भी अबतक गीताके जोड़की दूसरी पुस्तक न बन सकी। इस गीता-निर्माणके पूर्व भी कोई ऐसी पुस्तक थी, इसका भी तो प्रमाण नहीं मिलता। इसके जोड़की पुस्तक बनानेकी तो बात ही छोड़िये। जिन भगवान् शङ्कराचार्यको आज भी बड़े-बड़े ज्ञानी (देशी तथा विदेशी भी) संसारका अद्वितीय दार्शनिक मानते हैं, उन्होंने भी भगवद्गीताके चरणोंमें मस्तक रगड़नेमें ही अपना अहोभाग्य समझा है। जब भगवान् शङ्कर-जैसे दिगन्त-विश्रान्त-कीर्ति आचार्यका यह हाल है तो दूसरोंकी तो बात ही क्या! 'किं तत्र परमाणुर्वै यत्र मज्जति मन्दरः।' औरोंने भी इन्हींका अनुकरण किया है और अपने मतको गीताके अनुकूल बतानेमें ही अपनेको कृतकृत्य समझा है। गीता वह अगाध सरोवर है कि जिसने इसमें जितनी ही गहरी डुबकी लगायी, उसको उतनी ही अधिक शान्ति और सन्तोष प्राप्त हुआ। यह वह कामधेनु है, जिसने सभी सेवकोंको सन्तोष प्रदान किया है। यह वह कल्पवृक्ष है कि जो जैसी भावना लेकर इसके आश्रित हुआ, उसे वैसा ही फल मिला।

श्रीमद्भगवद्गीता एक प्रकारसे भगवान्‌का प्रतिरूपक है। भगवान्‌ने कहा है कि 'मुझे जो जिस भावनासे भजता है, उसे मैं उसी रूपमें दीख पड़ता हूँ।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४।११)

श्रीभगवद्गीताके सम्बन्धमें भी यही बात प्रत्यक्षर सत्य प्रतीत होती है। इसे जिसने जिस भावसे देखा, उसे यह वैसी ही दीख पड़ी। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाले निःस्पृह संन्यासीकी बगलमें भी गीताकी पुस्तक मिली है और बम या पिस्तौलसे अंग्रेजोंको उड़ा देनेकी हिंसावृत्ति रखनेवाले नवयुवकोंकी झोलीमें भी यह पायी गयी है। कुछ दिन पहले तो यहाँकी पुलिस राजद्रोहात्मक साहित्यके साथ गीताकी पुस्तकको भी पकड़ा करती थी। इसके भाष्य भी सैकड़ों हैं। सभीको अपने-अपने मतोंका मूल इसमें दीख पड़ा है। सांख्य, योग, वेदान्त—सभी कुछ इसमें मिलता है। ज्ञानयोग, कर्मयोग, उपासनायोग, ध्यानयोग, कर्मसंन्यास, सर्वधर्म-संन्यास, द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि मतोंके माननेवाले अनेक आचार्योंने गीतापर भाष्य लिखे हैं और सभीने इसे अपने मतका पोषक बताया है। लोकमान्य श्रीबालगङ्गाधर तिलक महाराजने 'गीतारहस्य'की भूमिकामें गीतापर 'पिशाचभाष्य' होनेकी बात लिखी है। हमने एक

वाममार्गी सज्जनको यहाँतक कहते सुना है कि गीतामें मांस-शराबका सेवन करके भगवान्‌की उपासना करनेका विधान है। हमारे पूछनेपर उन्होंने कहा कि 'मद्य' और 'अज' (बकरा) खानेके बाद भगवान्‌को नमस्कार करना या उनकी उपासना करनी चाहिये। इसके प्रमाणमें उन्होंने गीताका यह पद्यांश उद्धृत किया—'मद्याजी मा नमस्कुरु'। इसका अर्थ करते समय उन्होंने 'मद्य' और 'अज' शब्दके समस्त रूपके आगे मत्वर्थीय तद्धित 'इनि' प्रत्यय बताया। 'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्' भी ऐसा ही वाक्य है।* मतलब यह कि गीतापर समस्त संसार मोहित है। सभी इसे अपनानेमें अपना गौरव समझते हैं। जिसे पूरा प्रकरण नहीं मिलता, वह दो एक शब्दोंसे ही अपना काम निकाल लेना चाहता है। गीतामें वह आकर्षण है कि सभी भले-बुरे इसकी ओर आकृष्ट होते हैं और इसमें वह लोकोत्तर वैचित्र्य है कि सब प्रकारकी भावना रखनेवालोंको इसमें अपना ही मुँह दीख पड़ता है।

अब सोचना यह चाहिये कि गीताका वास्तविक स्वरूप क्या है। उसका अपना कोई असली स्वरूप भी है या कि वह एक गोरख-धंधा है, जिसमें जाकर सभी उलझ जाते हैं? उसका कुछ वास्तविक तत्त्व भी है, या वह एक 'मोमकी नाक' है, जिसे जिसका जिधर जी चाहे उधर ही मोड़ ले?

हमें इसपर हिंदीके एक प्राचीन दोहेकी याद आती है। किसी ग्राममें एक नव-वधू आयी। उसके सौन्दर्यकी बड़ी प्रशंसा थी। सबने सुन रक्खा था कि वैसी सुन्दरी हजारों-लाखोंमें नहीं मिल सकती। गाँवकी स्त्रियोंमें उसे देखनेका बड़ा कौतूहल मचा। एक-एक करके सभी उसे देखने पहुँचीं, परंतु उसके रूपका मर्म किसीकी समझमें नहीं आया। जिसने देखा, उसने उसे अपनी ही सूरत-शकलका पाया। बालिका, बूढ़ी और जवान—सबने उसे अपने ही समान देखा। क्यों? इसलिये कि ये सब गँवार थीं। उसके रूपका मर्म न समझ सकीं। उसके कपोल दर्पणके समान दमकते थे और उनमें सामने बैठे मनुष्यका प्रतिबिम्ब भी पड़ता था। उनमें ये सब गँवार स्त्रियाँ अपना ही मुँह देखकर लौट आयीं। नववधूके वास्तविक स्वरूपका किसीको पता ही न चला। जरा देखिये तो कि इस जरासे दोहेमें ये सब विलक्षण भाव कितनी सुन्दरतासे सन्निविष्ट हैं—

> मरम न जान्यो रूपको मुकुर कपोलन पेखि।
> सबै गवाँरि गाँवकी गयीं आपु सम लेखि॥

*यद्यपि ऐसा अर्थ करना गीताका सर्वथा दुरुपयोग है।

भगवद्गीताके सम्बन्धमें भी ठीक यही बात घटित होती है। जिसने इसे देखा, उसे इसमें अपना ही मुँह दीख पड़ा। दर्पणका स्वरूप समझनेके पहले आपको अपने मुँहके प्रतिबिम्बसे दृष्टि हटानी पड़ेगी और गीताका तत्त्व समझनेके पहले आपको अपना मत भुला देना पड़ेगा। यदि पहलेसे अपना कोई मत स्थिर करके आपने गीताको देखा तो फिर आपको वही दीख पड़ेगा। जलका स्वरूप जाननेके लिये आपको क्यारियोंकी शकल भुलानी पड़ेगी, अन्यथा तीन कोनेकी क्यारीमें आपको जल भी तीन कोनेका दीखेगा और गोल क्यारीमें गोल। नववधूके मुखका वास्तविक मर्म समझनेके लिये आपको अपना मुख भुला देना पड़ेगा और गीताका रहस्य जाननेके लिये आपको अपने पिछले मत और अपना काल्पनिक स्वरूप भी भुला देना होगा। अस्तु!

भगवान् श्रीकृष्णकी अलौकिक लीलाओं और अद्भुत शक्तियोंका आविर्भाव जन्मसे ही आरम्भ हो गया था। पढ़ने-लिखने या सीखनेका इनसे विशेष सम्बन्ध नहीं था। इनमेंसे 'भगवद्गीता' आज भी हमारे सामने है, जो अपने अलौकिक गुणोंसे समस्त संसारको अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। यह ठीक है कि आज जो 'भगवद्गीता' हमारे सामने है, वह इस रूपमें महर्षि वेदव्यासकी बनायी है। श्रीकृष्णने जो कुछ अर्जुनको समझाया था, उसीको महर्षिने अपनी दिव्यदृष्टिसे देखकर तद्रूप ही इन पद्योंमें निबद्ध किया है। महर्षि व्यास दूसरोंको भी दिव्यदृष्टि देनेकी सामर्थ्य रखते थे। धृतराष्ट्रसे उन्होंने कहा था कि 'यदि महाभारतका युद्ध देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ। इससे तुम घर बैठे ही युद्धकी समस्त घटनाएँ अपनी आँखों देख सकोगे।' इसपर धृतराष्ट्रने कहा कि 'मैं अपने सम्बन्धियोंको मरते-कटते देखना नहीं चाहता। केवल हाल सुनना चाहता हूँ।' इसपर महर्षिने वह दृष्टि सञ्जयको थोड़े समयके लिये दी, जिससे उन्होंने महाभारतका सब हाल देखकर धृतराष्ट्रको सुनाया।

महर्षि वेदव्यास आजकलके वैसे लेखकोंकी तरह तो थे नहीं, जो इधर-उधरके सामानको लेकर धोखेसे कीर्ति कमाया करते हैं। इसीसे उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी बातोंको उन्हींके नामसे और उसी रूपमें प्रकाशित किया।

अलौकिक शक्तियोंसे सम्पन्न और त्यागी महर्षिने किसी ऐहिक लोभसे ऐसा किया होगा, इसकी तो आशंका करना ही मूर्खता है। हाँ, यह कोई कह सकता है कि उन्होंने श्रीकृष्णकी

भक्तिके कारण उनकी वार्तोंको बड़ी श्रद्धा-आदरके साथ स्थान दिया है; परंतु जिन श्रीकृष्णमें भगवान् व्यास-जैसे महर्षि भी भक्ति रखते हों, उनकी महिमाका अनुमान करना कठिन नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्णकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उनके सम-सामयिक बड़े-से-बड़े ज्ञानी, विज्ञानी, धर्मात्मा, तपस्वी, महर्षि, शूर, प्रतापी और पराक्रमी योद्धा भी उन्हें बड़ी भक्ति-श्रद्धा और आदरकी दृष्टिसे देखते थे एवं उनके लोकातिशायी ऐश्वर्यके कायल थे। व्यास-जैसे महर्षि, युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा, विदुर-जैसे नीतिज्ञ, धृतराष्ट्र-जैसे स्वार्थी, अर्जुन और भीम-जैसे योद्धा, सहदेव-जैसे ज्ञानी, द्रौपदी और कुन्ती-जैसी ज्ञान-वयोवृद्धा स्त्रियाँ और भीष्मपितामह-जैसे अलौकिक ब्रह्म-क्षत्रबल-सम्पन्न महात्मा ईश्वरबुद्धिसे इनके चरणोंमें नत-मस्तक होकर सुखी होते थे। यह एक बात ही इनके पूर्णावतार होनेका काफीसे भी अधिक प्रमाण है।

भीष्मपितामहके पराक्रमसे कौन परिचित नहीं। ये 'इच्छा-मृत्यु' थे। इक्कीस बार समस्त पृथ्वीके क्षत्रियोंका अकेले ही वध करनेवाले श्रीपरशुरामजी इनके शस्त्र-शिक्षक थे। सभी अलौकिक अस्त्रोंके ये ज्ञाता और प्रयोक्ता थे। एक बार परशुरामजीसे भी इनकी मुठभेड़ हो चुकी थी। बराबर तेईस दिनतक घोर संग्राम हो चुकनेके बाद जब ये हताश होने लगे तो स्वप्नमें इन्हें अपनी माता मन्दाकिनी (भागीरथी गङ्गा) और अष्ट वसुओंके दर्शन हुए। उन्होंने इन्हें प्रस्वापन अस्त्र दिया। युद्धमें स्मरण करते ही वह अस्त्र इनके सामने आकर उपस्थित हुआ। तब देवतालोग भी घबरा उठे और इन दोनोंका युद्ध बंद करा दिया। परशुरामने भीष्मकी विजय मान ली। इन्होंने उन्हें विजयी पुत्रके समान प्रणाम किया और उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर आशीर्वाद दिया। इसके अनन्तर वे तपस्या करने चले गये। तबसे भीष्मके पराक्रमकी धाक समस्त संसारमें जम गयी।

इन्हीं भीष्मने महाभारत-युद्धमें जब घोर कदन आरम्भ किया तो पाण्डवोंकी सेना आँधीमें पड़े तिनकोंके ढेरके समान उड़ने और बिखरने लगी। अर्जुनका पराक्रम एक बच्चेके समान दीखने लगा। बड़े-बड़े महारथी उसी तरह उड़ने लगे जैसे धुनकीके आघातसे रूईके फाहे। सब लोगोंको यह निश्चय हो गया कि अब पाण्डवोंकी खैर नहीं है। सबने यह प्रत्यक्ष देखा कि भीष्मके उस विकराल स्वरूपके आगे कालका भी ठहरना कठिन है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी चिन्तित हुए। इन्होंने यह समझा कि अब युधिष्ठिरकी सेनाका अन्तकाल उपस्थित है। यह भयानक भीष्म एक ही दिनमें देवताओं और दानवोंतकका बीज नाश कर सकता है। इसके आगे पाण्डवोंका यह तुच्छ बल किस खेतकी मूली है। जिसके सारथि बनकर आये हैं, उसे अपने सामने विनष्ट होता देखना पड़ेगा। जिस पक्षकी रक्षाका भार ग्रहण किया है, उसका अपनी आँखोंके सामने विध्वंस होते देखना पड़ेगा। इसपर भगवान्‌ने स्वयं पृथ्वीका भार उतारनेकी इच्छा की और सात्यकि-को अपना निश्चय सुनाकर सुदर्शन चक्रका स्मरण किया। स्मरण करते ही वह आपके हाथमें आ गया। भगवान् रथसे उतर पड़े, घोड़े छोड़ दिये और बड़े वेगसे चक्र घुमाते हुए भीष्मकी ओर झपटे। इनके भीषण पदाघातसे पृथ्वी हिलने लगी और दिशाएँ काँपने लगीं।

भीष्मने जब देखा कि भगवान् चक्र घुमाते हुए हमारे ऊपर बढ़े ही चले आ रहे हैं, तब उन्होंने बिना किसी घबराहटके अपने धनुषको और कसके पकड़ा एवं उसे घोर घोषके साथ रणमें आन्दोलित करते हुए अनन्त-पौरुष भगवान्‌से बोले—'आइये, भगवन् ! आइये, देवताओंके नाथ और जगत्‌के अन्तर्यामी भगवन् ! आइये, हे चक्रपाणे ! हे माधव ! आपको प्रणाम है। हे त्रिलोकीनाथ ! आज बलपूर्वक आप मुझे इस रथसे मार गिराइये, हे सर्वशरण्य ! (सबको शरण देनेवाले) स्वामिन् ! आज इस रणमें मेरा काम तमाम कीजिये। हे कृष्ण ! आपके द्वारा मारे जानेपर मेरा दोनो लोकों (पृथ्वी तथा स्वर्ग) में कल्याण होगा। हे यदुनाथ ! आज आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकों-में मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी है। सब लोग यही कहेंगे कि भीष्म धन्य हैं, जिनके लिये स्वयं भगवान्‌को अपनी प्रतिज्ञा (महाभारत-युद्धमें शस्त्र-ग्रहण न करनेकी) भुलाकर आगे आना पड़ा।'

कहना न होगा कि भगवान् श्रीकृष्णके रहस्यको जितना भीष्म समझते थे, उतना दूसरा नहीं समझता था। अब आप। पहले तो भीष्मपितामह-जैसे आदित्यब्रह्मचारीके अलौकिक बल और ज्ञानका अंदाज लगाइये। उसके बाद उनके प्रकृत वचनोंको देखकर श्रीकृष्णके ऊपर उनकी भक्ति-श्रद्धाका पता चलाइये। इसके अनन्तर भगवान् श्रीकृष्णकी अलौकिक शक्तियों-का अनुमान लगाइये। जो भीष्म एक ही दिनमें देवताओं और दानवोंका मूलोच्छेद कर सकते हैं और जो 'इच्छा-मृत्यु' हैं, वही यह समझ रहे हैं कि क्रुद्ध भगवान्‌के सामनेसे

जीते-जी वचना असम्भव है और साथ ही वह इस मृत्युको अपना अहोभाग्य भी मान रहे हैं। इन सब बातोंका मनन करते हुए आप भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको पहचाननेका प्रयत्न कीजिये।

श्रीभीष्मपितामहने इस प्रकरणमें भगवान्‌को 'सर्वशरण्य' सम्बोधन देकर बड़ी मीठी चुटकी ली है। वे कहते हैं कि आप तो 'सर्वशरण्य' (सबको शरण देनेवाले) हैं। आपकी दृष्टिमे तो मैं और अर्जुन बराबर होने चाहिये। क्या मेरी भक्ति अर्जुनसे कुछ कम है? फिर मेरे ऊपर यह विकराल रूप क्यो? क्या इसीका नाम सर्वशरण्यत्व है? साथ ही भीष्म वीर क्षत्रिय हैं। वे अपने क्षात्रधर्मके अनुसार रणमे वीरगतिको प्राप्त होना चाहते हैं। इसीसे भगवान्‌के ऊपर अनन्य श्रद्धा-भक्ति रखते हुए भी—उन्हे प्रणाम करते हुए भी, अपनी मृत्युको निश्चित समझते हुए भी, उसी वीरभावसे धनुष खींचे हुए युद्धके लिये सन्नद्ध खड़े हैं। यदि भगवान्‌ने लड़नेका ही निश्चय किया तो कसके दो-दो हाथ होंगे। भीष्म पहले भगवान्‌के चरणोमे और फिर उनके वक्षःस्थलमे अपने पैने बाणोंकी वीरमाला पहनाकर ही रणमे वीरगति प्राप्त करेंगे। इसीलिये प्रकृत प्रकरणमे भीष्मने अपने धनुषको आस्फालित करते हुए ही प्रणाम आदिकी सब बाते कही हैं। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण भी तो क्षत्रिय थे। यदि भीष्म शस्त्र छोड़कर एक ओर हाथ जोड़कर खड़े हो जाते तो वह उनके ऊपर आक्रमण ही कैसे कर सकते थे! न्यस्तशस्त्रके ऊपर आक्रमण करना तो क्षत्रिय-धर्म नहीं है।

युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमे जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सबसे प्रथम किसका पूजन किया जाय और युधिष्ठिरने ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध और पराक्रमवृद्ध समझकर भीष्मपितामहसे इसका निर्णय करनेकी बात कही, तब वे थोड़ी देरतक चुप रहे और फिर सोचकर बोले कि 'यह जो सब राजाओंके तेज, बल और पराक्रमका अभिभव करते हुए नक्षत्रोंमे सूर्यके समान विराजमान हैं, वही भगवान् सबसे प्रथम पूजनीय हैं। जिस प्रकार सूर्य और वायुके कारण संसार प्रकाशित तथा आनन्दित रहता है, उसी प्रकार यह सभा भगवान् श्रीकृष्णके कारण भासित और ह्लादित है। इनके बिना इस सभाकी वही दशा हो जायगी, जो सूर्य और वायुसे हीन जगत्‌की हो सकती है।'

> एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
> मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
> असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
> भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः॥
>
> (सभापर्व ३६। २८-२९)

इसपर शिशुपाल बिगड़ उठे, उन्होंने श्रीकृष्ण तथा भीष्मको बुरी तरह फटकारा। तब भीष्मने कहा कि 'मैंने श्रीकृष्णके बालचरितकी जो बहुत-सी अलौकिक कथाएँ लोगोंसे सुनी हैं, उन्हें देखते हुए भी आज संसारमें ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो वेद-वेदाङ्गोंके विज्ञानमें और क्षात्रबलमें श्रीकृष्णसे बढ़कर हो। समस्त भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयके आधार श्रीकृष्ण ही हैं। समस्त जगत्‌के आधार यही हैं, प्रकृति और पुरुष यही हैं, सब भूतोंसे परे इन्हींकी स्थिति है। अतः यही सबमें पूज्यतम हैं। व्यक्त और अव्यक्त प्रकृति श्रीकृष्णमे ही प्रतिष्ठित है। सूर्य-चन्द्रमा तथा दिशा-विदिशा आदि सब इन्हींमे आश्रित हैं। यह शिशुपाल तो अब भी कोरा बच्चा है, इसीसे कुछ नहीं समझता और श्रीकृष्णकी सदा निन्दा किया करता है। आज महानुभाव राजाओंमें बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक ऐसा कौन है, जो श्रीकृष्णको पूजनीय न मानता हो। अथवा यदि शिशुपाल हमारी इस श्रीकृष्ण-पूजाको अनुचित ही समझता हो तो जो उचित समझे, वह कर देखे। जिसे अपने प्राण भारू हों, वह रणमें श्रीकृष्णके सामने आकर अपने अनौचित्यका फल भोगनेको तैयार हो जाय।'

> कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः।
> बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे॥
> वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
> नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥
> कृष्ण एव हि भूतानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः।
> कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥
> एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
> परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात्पूज्यतमोऽच्युतः॥
> बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
> चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम्॥
> अयं तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते।
> सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते॥
> सबालवृद्धेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु।
> को नार्हं मन्यते कृष्णं को वाप्येनं न पूजयेत्॥
> अथवा दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति।
> दुष्कृतायां यथा न्याय्यं तथायं कर्तुमर्हति॥
>
> (सभापर्व ३८। १३, १४, १९, २३, २४, २६, ३०, ३२, ३३)

वाल-कृष्ण

वीर-कृष्ण
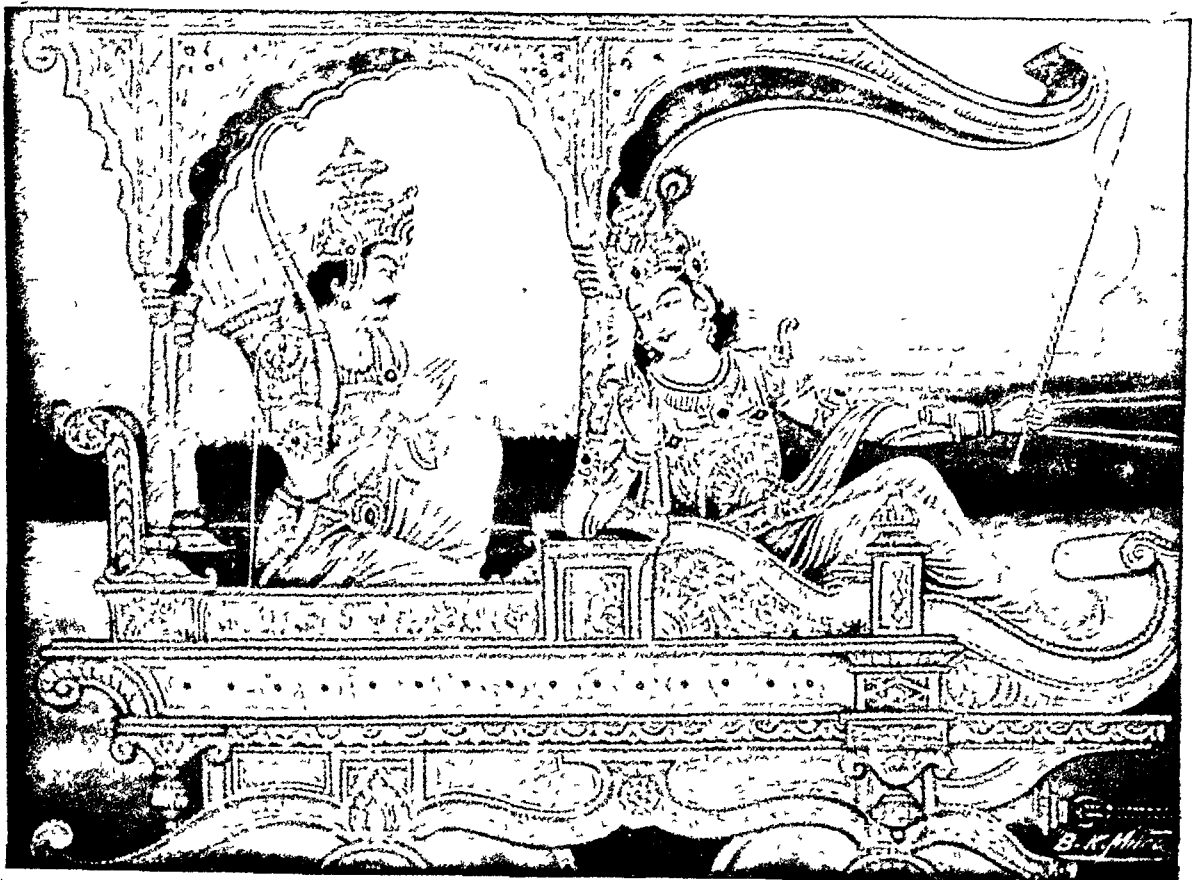
कुरुक्षेत्रके श्रीकृष्ण

सहदेव आदि अन्य भद्र पुरुषोंने भी भीष्मका समर्थन किया, परंतु शिशुपाल न माने । कुछ और राजा भी उनके साथ हो लिये । रण छिड़ गया । और राजा तो बात समझकर पीछे हट गये; परंतु शिशुपाल बहुत कुछ उछल-कूद दिखानेके बाद सुदर्शनचक्रके घाट उतर गये ।

पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर जब श्रीकृष्ण हस्तिनापुर पहुँचे, तब दुर्योधनने कर्ण, शकुनि और दुःशासन आदिकी सलाहसे सब बात उलट दी । वह इस प्रस्तावका अनादर करता हुआ सभासे उद्दण्डतापूर्वक उठकर चला गया और एकान्तमें जाकर श्रीकृष्णको कैद कर रखनेकी सलाह करने लगा । यह बात वृद्ध कौरवोंके कानोंतक पहुँची । धृतराष्ट्रने दुर्योधनको बुलवाया और भरी सभामें उसकी भर्त्सना करते हुए बोले कि 'तू इन अप्रधृष्य दुरासद पुण्डरीकाक्ष (विष्णु) को अपने पापात्मा सहायकोंके साथ मिलकर पकड़ना चाहता है ? जिन्हें इन्द्रसहित समस्त देवता भी नहीं रोक सकते, उन्हें तू रोकना चाहता है ? तेरी वही दशा है, जो हाथसे चन्द्रमाको पकड़नेकी इच्छा रखनेवाले दुधमुँहे बच्चेकी होती है । समस्त देवता, मनुष्य, गन्धर्व, असुर और उरग मिलकर भी जिनके सामने रणमें नहीं ठहर सकते, उन केशवके रूपको तू पहचानता ही नहीं । अरे मूर्ख ! जिस प्रकार वायु मुट्ठीमें बंद नहीं की जा सकती, चन्द्रमा हाथसे पकड़ा नहीं जा सकता और पृथ्वी उठाकर सिरपर नहीं रक्खी जा सकती, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण बलपूर्वक नहीं रोके जा सकते ।'

इसके अनन्तर विदुरने भी दुर्योधनको समझाते हुए तथा श्रीकृष्णके अनन्त अतीत चरितोंका स्मरण दिलाते हुए कहा कि 'भगवान् श्रीकृष्ण जगत्‌के कारण हैं । इनका कर्ता कोई नहीं । यह जो चाहें सो कर सकते हैं । तुम इनके घोर पराक्रमको नहीं जानते । हे दुर्योधन ! तुम इनकी धर्षणा करनेसे अमात्योंसहित उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे, जैसे अग्निमें पड़कर पतङ्ग ।'

इसके पश्चात् भगवान्‌ने विराट् रूप प्रकट किया, जिसे देखकर कर्ण-दुर्योधनादि मूर्च्छित हो गये और फिर आप सभासे उठकर चल दिये । इनके पीछे-पीछे भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर, धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा, युयुत्सु, विकर्ण आदि महारथी लोग विनीत शिष्यकी भाँति इन्हें पहुँचाने प्रधान द्वारतक आये ।

पूर्वोक्त कतिपय प्रकरणोंके उद्धृत करनेसे हमारा यह तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्णको उनके समकालीन बड़े-से-बड़े लोग ईश्वर समझते थे और उनकी अलौकिक शक्तियोंके कायल थे । साथ ही वे स्वयं भी जन्मसे ही अपनी दिव्य शक्तियोंके ज्ञाता और प्रयोक्ता बराबर रहे । हम यह तो नहीं कहते कि उस समय श्रीकृष्णका कोई विरोधी था ही नहीं । यदि ऐसा होता तो उनके अवतारका कुछ प्रयोजन ही नहीं रह जाता । केवल मक्खन खाने और गौएँ चरानेके लिये तो वे अवतीर्ण हुए ही नहीं थे । हमारे कहनेका अभिप्राय केवल इतना ही है कि महर्षि व्यास, आदित्यब्रह्मचारी भीष्मपितामह, ब्रह्मविद्या और क्षत्रविद्याकी प्रत्यक्ष मूर्ति आचार्य द्रोण आदि महानुभावोंके आगे कंस, चाणूर और शिशुपाल आदि स्वार्थप्रधान तामस व्यक्ति किस गिनतीमें थे ?

हमने यहाँ सब-के-सब उदाहरण जान-बूझकर महाभारतसे ही चुने हैं । इसके कई कारण हैं । पहले तो श्रीकृष्ण-चरितका पता देनेवाली पुस्तकोंमें 'महाभारत' ही सबसे प्राचीन है; फिर इसके लेखक महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासकी कही बातोंमें जितनी अक्षुण्ण प्रामाणिकता मानी जा सकती है, उतनी किसी अन्य लेखककी बातें विश्वसनीय नहीं हो सकतीं । काम और लोभसे रहित दिव्य-दृष्टिसम्पन्न महर्षिकी कही अलौकिक बातोंके आगे सिर झुकाना ही पड़ता है । सबसे बड़ी बात समसामयिकताकी है । चरित्रनायकका समकालीन निःस्पृह लेखक जितना सच्चा ऐतिहासिक विवरण दे सकेगा, उतना दूसरोंके लिये असम्भव है । फिर महर्षि व्यासमें तो प्रच्छन्न और प्रकट सभी बातें जाननेके लिये त्रिकालदर्शिनी दिव्यदृष्टि भी थी ।

साराश यह कि श्रीकृष्णको 'भगवान्' माननेवालोंकी सख्या उनके समयमें ही बहुत ऊँचे दर्जेतक पहुँच गयी थी । यह बात इतिहाससे सिद्ध है कि उनके समकालीन बड़े-बड़े महर्षि भी उनकी अद्भुत शक्तियोंको प्रत्यक्ष देखकर उन्हें ईश्वर या भगवान् मानने लगे थे । आगे यह कृष्णभक्त-परम्परा बहुत ही अधिक बढ़ी । यहाँतक कि इतनी अधिक संख्या शायद ही किसी अवतारके भक्तोंकी रही हो । इसका प्रभाव बौद्धकालके बादतक रहा । प्रसिद्ध पुस्तक 'अमरकोष'के कर्ता अमरसिंहको महाराज विक्रमकी सभाका अन्यतम रत्न बताया जाता है । इससे इनका समय आजसे लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व ठहरता है । ये बौद्ध थे । अमरकोषमें इन्होंने स्वर्ग और स्वर्गवासी देव-सामान्यका नाम निर्देश करनेके बाद सबसे पहले बुद्ध भगवान्‌की ही नामावली गिनायी है । रामका तो इन्होंने कहीं अन्ततक नाम ही नहीं लिया है । परंतु ये श्रीकृष्णके सम्बन्धमें यही बात न कर सके । श्रीकृष्णके

नामके आगे इनका मस्तक अनिच्छापूर्वक ही जबरदस्ती झुक गया। चाहे प्रच्छन्न श्रीकृष्ण-भक्तिके कारण हो, चाहे श्रीकृष्णकी अलौकिक शक्तियोंके ज्ञानके कारण हो और चाहे उस समय विश्वव्यापिनी श्रीकृष्णभक्तिके प्रबल प्रवाहके कारण हो— कारण चाहे जो कुछ हो; परंतु यह प्रत्यक्ष है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेशका वर्णन करते हुए अमरसिंहको श्रीकृष्णका नाम झख मारकर लेना पड़ा है। केवल नाम ही नहीं, उन्होंने तो विष्णुके स्थानमें इन्हींका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। 'विष्णुर्नारायणः कृष्णः'से आरम्भ करके उन्होंने उपेन्द्र (इन्द्रके छोटे भाई), कैटभजित् (मधु-कैटभके मारनेवाले), श्रीपति, स्वयम्भू, यज्ञपुरुष, विश्वरूप, जलशायीके साथ-साथ दामोदर, माधव, देवकीनन्दन और वसुदेवका पुत्र भी कहा है। क्षीरशायी विष्णु तो देवकीनन्दन या वसुदेवसूनु हो नहीं सकते; अतः यह स्पष्ट है कि अमरसिंहने विष्णुको श्रीकृष्णके रूपमें नहीं बल्कि श्रीकृष्णको ही विष्णुके रूपमें अङ्कित किया है। इसीके आगे बलरामजी भी आ गये हैं। प्रद्युम्नको (कृष्णपुत्रको) कामदेवके नामोंमें स्थान मिला है, यद्यपि कामके पर्यायवाचकोंके स्थानपर 'प्रद्युम्नका' प्रयोग संस्कृत-साहित्यमें कहीं नहीं होता। साराश यह कि श्रीकृष्णकी अलौकिक शक्तियों और लोकातिशायी प्रभावकी छाप उनके जन्मकालसे लेकर हजारों वर्ष बादतक—बौद्धधर्मके बादतक—विधर्मियोंतकपर भी अटूट बनी रही, इनके भक्तोंकी संख्या अपरिमेय रही और बराबर बढ़ती ही गयी।

× × ×

ऐतिहासिक दृष्टिसे महाभारतका श्रीकृष्णचरित ही सबसे अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है और उससे श्रीकृष्णका भगवान् होना और अवतार होना निर्विवाद सिद्ध होता है।

जहाँ श्रीकृष्ण इतने बड़े कुटुम्बी थे, वहाँ उन्होंने अपने ही कुटुम्बियोंको अन्यायी और अत्याचारी होते देखकर उनका जान-बूझकर अपनी आँखोंके सामने ही समूल संहार भी करा दिया था। इन्हीं सब बातोंको देखते हुए तो हम उन्हें प्रकृतिका वशवर्ती जीव नहीं बल्कि उसका अधिष्ठाता 'भगवान्' मानते हैं। इसीलिये तो महर्षि व्यासने उन्हें अनेक स्थानोंपर 'प्रकृति-नटीका नचानेवाला सूत्रधार' कहा है और इसी कारण उन्हें उनके समकालीन बड़े-से-बड़े ज्ञानी, विज्ञानी और पराक्रमी पुरुष 'भगवान्' कहा करते थे।

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरवाद

(लेखक—श्रीबाँकेबिहारीदासजी बी०एस्-सी०, बी०ए०, एल्-एल्०बी०)

एक अंग्रेज संतकी बात याद आ गयी—'A man cannot pay a more sincere compliment to Truth than to spend his life seeking It.'

'सत्यके अन्वेषणमें ही जीवन-यापन करनेसे बढ़कर सत्य-चिन्तन अथवा सत्यके पूजनकी कोई अन्य पद्धति है ही नहीं।'

प्यारेकी खोजमें चल पड़ा हूँ। जीवनकी उलझी पहेली सुलझानेको मन आतुर हो उठा है। मेरा ज्ञान केवल इतना ही है कि 'प्यारा है', और वह असंख्य कल्याण-गुणोंका सागर है। उसकी करुणाके स्वभावमें पूर्ण विश्वास रख उसके साक्षात्कारको जीवनका लक्ष्य बनाया है। वर्षों बाद मेरे भाग्य जागे हैं। यह शरीर जिसका परिणाम भस्म, कृमि या विष्ठा है, उसे श्यामसुन्दरके पथकी रेणु बना पाया हूँ। श्यामसुन्दर कभी प्रियाजीके साथ नग्नचरण वृन्दावनके केलि-कुञ्जोंमें विचरते इधर आये तो उनके चरणारविन्दोंमें ऐसा चिपट जाऊँगा कि फिर छूटूँगा ही नहीं।

हमारा ईश्वरवाद तर्ककी कसौटीसे परखी वस्तु है। अनुभूतिका विषय है। जो उसमें शङ्का करता है, उससे मैं दोनों हाथ उठाकर कहता हूँ—यदि सच्ची जिज्ञासा तुममें जाग गयी है तो साधनके क्षेत्रमें कूद पड़ो। मैं विश्वास दिलाता हूँ—उस ईश्वरको त्रिभङ्ग-ललित भङ्गिमासे कदम्बका सहारा लेकर स्थित, मुरली-रवसे जड़को चेतन और चेतनको अचेतन करते आज भी साक्षात् देख सकोगे।

हमारा ईश्वर कल्पित नहीं, वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। राधाका प्रियतम, नन्दका लाला, यशोदाका कन्हैया रसमय वपु धारणकर नित्य वृन्दावनमें विराजता है। उसके लीला, रूप, गुण, नाम—किसीका आश्रय लो। द्रौपदीके समान, गजेन्द्रके समान आर्त होकर आश्रय लो! वह आयेगा— अपने पीताम्बरके छोरसे जन्मोंसे ढुलकते तुम्हारे अश्रु पोंछता आयेगा। अनित्य संसारमें यही चार वस्तुएँ नित्य हैं, जिनको ग्रहणकर प्यारेके चरणारविन्द प्राप्तकर मुक्त हो सकते हो।

अनेक देशोंके महापुरुषोंने अब इस 'सार'को समझा है।

ईरानके सूफी संतने जब श्यामा-श्यामका आलिङ्गन प्राप्त किया, उनकी अनुभूति इस प्रकार व्यक्त हुई—

मियाने इस्म व मुसम्मा चू फर्क नेस्त बवीं
तो दर तजल्ली इस्मा जमाले खुदा बूद।
विसाले हक तलवी हमनशीं नामश बाश
बूद विसाले खुदा दर विसाले नामे खुदा॥
—मुईम

'देही तथा उसके आवरण देहमें कोई भी अन्तर मत देख। तेरे देहाभिमानके द्वारपर ईश्वरीय प्रकाश प्रत्यक्ष हो गया है। ईश्वरीय मिलनके लिये निरन्तर भगवन्नामके साथ रह। भगवन्नामकी प्राप्तिसे ही भगवत्प्राप्ति होती है।'

यूरोपके प्रसिद्ध वैज्ञानिक रिकेजक (Recejac) ने 'दास्यभाव'में आरूढ़ होकर अपना अनुभव इस प्रकार गाया है—

'I live, yet not I, but God in me.'

'मैं जीवित हूँ—पर मुझमें मेरा अहं नहीं। मुझमें मेरा ईश्वर ही ओतप्रोत है।'

हमारे ईश्वरवादकी अनुभूति असाधारण है। पश्चिम देशवालोंने उसकी गाथा यों गायी है—

Mere perceiving of Reality will not do, but participating in it, possessing and being possessed by It.

'सत्यका अनुशीलन ही पर्याप्त नहीं, सत्यमय हो जाना—भीतर-बाहर उसीसे ओतप्रोत रहना परम श्रेयस्कर है।' हम अपनी भाव-भाषामें एक शब्दमें कहेंगे—'गोपीवत्'। गोपियोंने प्रभासक्षेत्रमें अपने प्रियतमसे माँगा है—

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहंजुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥
(श्रीमद्भा० १०। ८२। ४९)

'हे पद्मनाभ! तुम्हारे चरणारविन्द अगाध ज्ञानी योगेश्वरोंके हृदयोंमें चिन्तनीय बताये गये हैं। गृहोंमें आसक्त संसाररूपी कूपमें गिरी हम सबके उद्धारके अवलम्बरूप वे श्रीचरण सदा हमारे मनोंमें प्रत्यक्ष रहें। असुरोंके पीछे दौड़नेसे श्रान्त तथा व्रज-वनकी कण्टक-कंकड़ियोंसे व्यथित उन चरणोंको अपने हृदयमें लालनद्वारा हम पोषित करें।'

हमारे 'ईश्वर' का जिज्ञासु अपनी यात्रा जबतक समाप्त नहीं कर लेता, जबतक प्यारेको पा नहीं लेता, प्रियतमकी प्राप्तिमें साधनाके अन्तकी प्राप्ति (Journey's end with lover's meeting) से पूर्व सन्तुष्ट नहीं होता। भक्तका स्वरूप कितना महामहिम है। श्यामसुन्दरने भक्तकी प्रशंसाका वर्णन करते हुए कहा है—

'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।'

'मैं नित्य मेरे उस अनन्य प्रेमी भक्तके पीछे-पीछे इस लिये चलता हूँ कि उसकी पवित्र चरण-रजसे अपनेको पवित्र बना लूँ।' यह उच्च स्वरूप कितना महान् त्याग नहीं मागता, कितनी महती गुरुकृपाकी आवश्यकता नहीं रखता। रहस्यको जाननेवालोंने कबसे इस तत्त्वको कह रक्खा है—

The Supreme Experience demands the whole man. No man can serve two masters.
(*Theologia Germanica*)

'अनन्य भावसे परमात्माका ही हो जाना पड़ेगा। एक म्यानमें दो तलवारें नहीं समा सकतीं।'

इसी अनुभूतिका वर्णन रसिकवर भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्रजीने किया है—

पिया प्यारे बिना यह माधुरी मूरति औरनको अब पेखिए का।
सुख छाडिकै संगमको तुम्हरे इन तुच्छनको अब लेखिए का॥
'हरिचंद' जू हीरन को बेवहार कै काचन को लै परेखिए का।
जिन ऑखिनमें तुव रूप बस्यो, उन ऑखिन सों अब देखिए का॥

हमारे ईश्वरको देखनेके लिये प्रेमका चश्मा लगाना पड़ेगा। भक्तोंकी पदधूलिमें लोटना पड़ेगा। इन नेत्रोंसे गङ्गा-यमुना बहा उस त्रिवेणीमें अपने आत्माको स्नान कराना होगा। प्यारेके लिये करुण पुकार करनी होगी—वैसी ही पुकार, जैसी कि स्वामी श्रीविवेकानन्दजीने अपने सर्वज्ञ गुरुदेवजीके सम्मुख रुद्ध कण्ठसे की थी। 'रुरुदुः सुस्वरं' 'कृष्णदर्शनलालसाः' जैसी गोपियोंकी पुकारके समान ही थी वह पुकार। वह उनकी रससे ओतप्रोत भाषा—

(राग जैजैवन्ती)

कत दिने हबे से प्रेम संचार।
हये पूर्णकाम, बलबो हरिनाम, नयने बहिबे प्रेम-अश्रुधार॥
कबे हबे आमार शुद्ध प्राण मन, कबे जाब आमि प्रेमेर वृन्दावन।
संसार बंधन हइबे मोचन, ज्ञानाञ्जने जाबे लोचन-आँधार॥
कबे परशमणि करि परशन, लौहमय देह हइबे काञ्चन।
हरिमय विश्व करिब दर्शन, लुटाइब भक्तिपथे अनिवार॥

(हाय) कबे जाबे आमार धर्म-कर्म, कबे जाबे जाति-कुलेर मर्म ।
कबे जाबे भय-भावना-भ्रम, परिहरि अभिमान लोकाचार ॥
माखि सर्व अंगे भक्त-पद-धूलि, काँधे लये चिर वैराग्येर झुलि ।
पिब प्रेमवारि दुइ हात तुलि अञ्जलि अञ्जलि प्रेम-यमुनार ॥
प्रेम-पागल हये हासिब-काँदिब, सच्चिदानन्द-सागरे भासिब ।
आपनि मातिये, सकले माताब, हरिपदे नित्य करिब विहार ॥

—श्रीरामकृष्णपरमहंसकथामृत (बँगला), पहला भाग

समर्थ गुरुदेवने 'तथास्तु' कहा । एक आलिङ्गनद्वारा आत्मदर्शन करा दिया । वे बोले—'नरेन्द्र ! आज मैं अपनी सम्पत्ति तुम्हें देकर भिखारी हो गया ।' प्रेम मूर्छाद्वारा शिष्यको ईश्वरानुभूति हो गयी । वह कृतकृत्य हो गया । स्वामी श्रीविवेकानन्दजीने गुरुसे प्राप्त वह महान् सम्पत्ति देशान्तरोंमें वितरित की और कितने ही शुष्क जीवनोंको रसमय और सुरभित बनाया ।

ईश्वरवाद ही एकमात्र सत्य है । उस सत्यका प्रकाश चाहे जब भी हो सकता है और चाहे जिस उद्दीपन-विभावसे हो सकता है । उसके लिये समय नहीं निर्धारित किया जा सकता—

"None can say when and how it shall come. It is not for me and you to fix the moment. After making some effort, Jacob Boehme gazed fixedly upon a 'burnished pewter' and fell into an ecstasy: St. Ignatius Loyola on seeing the running water."

(In Re. Fifth Veda—Harvard University)

'कोई कह नहीं सकता कि कबतक और किस प्रकार यह प्रकाश आयेगा । नगण्य प्रयत्नके फलस्वरूप हमारे और तुम्हारे लिये उस (लक्ष्यप्राप्तिके) क्षणको निर्धारित करना सम्भव नहीं । संत इग्नाशियस लोयला बहता पानी देखनेपर (निर्झरकी अनवरत अनन्तकालीन साधनाका संकेत समझकर) तथा जैकब चमकीली गिल्टके बर्तनको थोड़ी देरतक देखते रहनेके पश्चात् समाधिस्थ हो गया ।'

किंतु वह अनुभूत होता है, हुआ है और होगा; क्योंकि एकमात्र वही सत्य है ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(गीता २ । १६)

'जो असत् है, उसकी भावरूपसे विद्यमानता नहीं है और सत्का कभी अभाव नहीं होता । तत्त्वदर्शियोंने इन दोनों—असत् और सत्का अन्त देख लिया है ।' जो इस पथके पथिक हैं, उन सबका यही अनुभव है—

'There is a great experiment possible in this life and there is a great crown of the experiment; but in the nature of things it is not to be bought cheaply, for it demands the whole man. It has been said that the life of the mystic is one of awareness of God and as to this we must remember that we are dealing with a question of life and of a life problem .. ..(*Lamps of Western Mysticism by* A. E. Waite, p. 242)

'जीवनमें बड़ी-से-बड़ी अनुभूतिके लिये अवसर है और उसका बड़े-से-बड़ा फल भी है; परंतु है यह सौदा बड़ा महँगा । इसके लिये सर्वतोभावसे समर्पणकी आवश्यकता होती है । इस सम्बन्धमें इस बातका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि यह जीवनका तथा जीवन भर हल करते रहने योग्य प्रश्न है ।'

(ए० ई० वेट लिखित 'लैम्प आफ वेस्टर्न मिस्टिसिज्म')

हमारे देशके संतोंने कहा—इस अनुभूतिके लिये परम शुद्ध जीवन बिताना होगा। (Ethical life is a prelude to life spiritual.) सदाचार आध्यात्मिक जीवनकी भूमिका है । वह जीवन श्रद्धासे युक्त होगा । श्रद्धा क्या ?—निरंकुश आस्तिकता । भगवान्के चाहे जिस स्वरूपका साक्षात्कार करना हो, उनके व्यापक स्वरूपकी अनुभूतिके पश्चात् ही उस परम तत्त्व (सगुण स्वरूप) का साक्षात्कार होगा। 'ब्रह्मभूत' होनेके पश्चात् भगवत्कृपाद्वारा पराभक्ति पाकर जीव प्रभुको जानकर कृतकृत्य होता है । (गीता १८ । ५५-५६)

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन । जानहिं भगत भगत उर चंदन ॥

(श्रीतुलसीदासजी)

हमारे 'ईश्वरवाद'की सत्यताका अनुभव कर जर्मन दार्शनिक शोपेनहर (Schopenhaur) पुकार उठा—

'In the whole world there is no study so beneficial and elevating as that of the Upanisads. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death.'

'उपनिषदोंके उच्चातिउच्च कल्याणमय ज्ञानसे बढ़कर सारे संसारमें अध्ययनके लिये और कुछ है ही नहीं। मेरे जीवन एवं मृत्यु दोनोंका यही अवलम्बन है।'

जब अमेरिकन कविश्रेष्ठ इमर्सन (Emerson) संत थोरो (Thoreau) के पास वाल्डेनमें दर्शन करने गये तो देखा संत एक वृक्षतले एक टूटी खाटपर विराजमान हैं और नीचे सर्प निर्भय विचर रहे हैं। आपने प्रश्न किया—'महाराज! आपको इनसे डर नहीं लगता?' उत्तरमें श्रीगीताजीको सिरहानेसे निकाल अश्रुजलसे प्रभुकी उस शब्दमयी मूर्तिका अभिषेक करते हुए संत बोले—'Where is fear when Mother Gita is there to protect'

'मातेश्वरी गीताजीकी गोदमें उनके अबोध बालकको भयकी सम्भावना कहाँ?'

हिंदुओंके ईश्वरवादकी यदि कोई प्रत्यक्ष मूर्ति देखना चाहता है तो उसे श्रीमद्भगवद्गीता देखना चाहिये। उस गीता-पथप्रदर्शकके ये वाक्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो सब कहीं मुझे देखता है और सबको मुझमें देखता है, मैं उससे तिरोहित नहीं होता और वह मुझसे तिरोहित नहीं होता।' यदि यह वाक्य हृदयमें बैठ गया तो अवश्य जीव एक दिन श्यामसुन्दरके चरणारविन्दको प्राप्त कर लेगा। यह सब श्रद्धापर निर्भर है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'संयतेन्द्रिय होकर ज्ञान-प्राप्तिमें लगा हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञान प्राप्त करके अविलम्ब परम शान्ति पाता है।' यह श्रद्धा दैन्यसे उत्पन्न होती है। दैन्य कैसा?—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

(श्रीरामचरितमानस)

इस 'नमः' कारसे मन सदाके लिये नम्र हो जाता है। यह मन ही बन्धन तथा मोक्षका हेतु है। यह परम दुर्लभ दैन्य-सम्पत्ति, जिसके द्वारा श्यामसुन्दर वशीभूत होते हैं, जीव उन्हींकी बतलायी इस युक्तिमे प्राप्त करता है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

(गीता ९। १४)

'मेरे भक्त निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ़ नियमपूर्वक संयम करते हुए, मुझे नमस्कार करते हुए तथा नित्य मुझमें लगे हुए भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं।'

इस प्रकारका कीर्तन कैसे हो? यह श्रीचैतन्यमहाप्रभुने बतलाया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'तृणसे भी अपनेको छोटा मानकर, वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु रहते हुए, स्वयं सम्मानसे दूर तथा दूसरोंका सम्मान करते हुए सदा श्रीहरिका कीर्तन करना चाहिये।' उन प्रभुकी अनन्त नामावलीमेंसे जो नाम अपनेको प्रिय लगे, उसीका कीर्तन करना चाहिये।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

'श्रीहरिका नाम, हरिका नाम, एकमात्र श्रीहरिका नाम ही—इसके अतिरिक्त कलियुगमें दूसरी कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं ही है।' प्यारे (प्रभु) ने स्वयं कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(पञ्चरात्र)

'नारदजी! मैं वैकुण्ठमें निवास नहीं करता और न योगियोंके हृदयमें ही। मेरे भक्त जहाँ गायन (कीर्तन) करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ।' कीर्तनमें सात्त्विक विकारोंका प्रकाश (प्रादुर्भाव) होनेसे उन प्रभुके आगमनका अनुभव होता है।

प्रह्लादके लिये प्रेमवश पाषाण-स्तम्भसे प्रकट होनेवाले, सदा हमारे हृदयमें विराजनेवाले, श्यामसुन्दर अपने उस कमलासनको छोड़ अपनी रूप-माधुरीमें नेत्रोंको मुग्ध करते हुए अपनी ईश्वरताका अनुभव हमें क्यों नहीं करायेंगे।

न प्रेमा श्रवणादिभक्तिरपि वा योगोऽथवा वैष्णवो
ज्ञानं वा शुभकर्म वा कियदहो सज्जातिरप्यस्ति वा।
हीनार्थाधिकसाधके त्वयि तथाप्यच्छेद्यमूलासती
हे गोपीजनवल्लभ व्यथयते हा हन्त दासैव माम्॥

(श्रीचैतन्य महाप्रभु)

'मुझमें न प्रेमा भक्ति है, न श्रवणादि गौणी भक्ति है, न

वैष्णव योग है, न ज्ञान प्राप्त है, न मैंने कोई भी शुभ कर्म किये हैं, मेरी जाति भी अच्छी नहीं है; इस प्रकार अत्यन्त हीन मुझ साधकको यह अच्छेद्य जड़वाली होनेके कारण माया, हे गोपीजनवल्लभ ! तुम्हारे रहते ही हाय, हाय, निरन्तर कष्ट देती है ।'

इस भावमें आरूढ़ हो पुकारते चलना है—

श्रीकृष्ण गोपाल हरे मुकुन्द गोविन्द हे नन्दकिशोर कृष्ण ।
हा श्रीयशोदातनय प्रसीद श्रीवल्लवीजीवन राधिकेश ॥

(बृहद्भागवतामृत)

बड़ी माधुरी इस साधनमें है । यहाँ साध्य-साधन अभेदको प्राप्त हो जाते हैं । अहो, प्यारेके नामकी माधुरी कोई श्रीराधिकाजीसे पूछे—

तुण्डे ताण्डविनीरतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये
कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम् ।
चेतःप्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी ॥

(विदग्धमाधव)

'मुखमें पहुँचकर अनेक मुखोंकी प्राप्तिके लिये (जिससे बहुत मुखोंसे एक साथ ले सके) प्रबल उत्कण्ठा जाग्रत् करते हैं; कर्णकुहरोंमें पहुँचकर अरबों कानोंकी प्राप्तिकी स्पृहा उत्पन्न करते हैं (जिससे सबसे सुने जा सके); चित्तमें पहुँचकर सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी कृति एकत्र कर लेते हैं (इन्द्रिय-निरोध हो जाता है) ! पता नहीं 'कृष्ण' ये दो अक्षर कितने अमृतोंसे उत्पन्न हुए हैं ।'

उस 'कृष्ण' नामके आस्वादनकी युक्ति श्रीरासेश्वरीसे सीखनी चाहिये—

श्याम श्यामेत्यनुपमरसापूर्णवर्णैर्जपन्ती
स्थित्वा स्थित्वा मधुरमधुरोत्तारमुच्चारयन्ती ।
मुक्तास्थूलान्नयनगलितानश्रुबिन्दून् वहन्ती
हृष्यद्रोमा प्रतिपलचमत्कुर्वती पातु राधा ॥

(श्रीराधासुधानिधि)

'श्याम-श्याम' इस प्रकार अनुपम रससिन्धु इन वर्णोंका जप करती हुई, रुक-रुककर अत्यन्त मधुर तारस्वरसे इन्हींका उच्चारण करती, मोतियोंके समान अश्रुबिन्दुओंको नेत्रोंसे टपकाती, हर्षसे रोमाञ्चित होती तथा पल-पलपर चौंकती हुई श्रीराधा हमारी रक्षा करें ।'

जब सभी सम्बन्ध प्यारेसे सम्बद्ध हो जाते हैं, तब उसे किस वाणीसे पुकारा जा रहा है—इसकी वह चिन्ता नहीं करता । वह भावका रसिक है । मौलाना रूमीने अपनी 'मसनवी'में यह रहस्य इस प्रकार प्रकट किया है—

''मूसा पैगम्बरने एकान्त वनमें एक सरलहृदय भक्त गड़रियेको मन्द कण्ठसे विलाप करते सुना—

'हे स्वामी ! तू कहाँ है जो मैं तेरी चाकरी करूँ ? तेरा जूता सीऊँ । तुझे कँघी करूँ । हे नाथ ! तू कहाँ है कि मैं तेरी सेवा करूँ, तेरे वस्त्र धोऊँ, उनकी जूँवें मारूँ ? जब तू बीमार पड़े तो तेरे पास बैठकर तुझे आश्वासन दूँ । तेरे चरण चापूँ । तेरा बिस्तर लगाऊँ । यदि मैं तेरा घर देख पाऊँ तो तुझे रोज सबेरे और सन्ध्यासमय मालपूए और दूध खिलाऊँ । इन वस्तुओंको लाना मेरा काम रहा और खाना तेरा काम ।'

पैगम्बर मूसाने उसे धमकाकर कहा—'ओ दरिद्र ! कुफ्र मत बक ! अपना मुँह बंद कर ! अपने कुफ्रसे तू सारे संसारको गंदा कर रहा है । धर्मके रेशमी कपड़ोंमें चिथड़े सी रहा है ।'

वह बेचारा सहम गया । लेकिन करुणासागर भगवान्से यह सहा न गया । आकाशवाणी हुई—

वही आमद सूए मूसा अज खुदा ।
बंदा मारा अज मा करदी जुदा ॥
तू बराए वस्ल करदन आमदी ।
या बराए फस्ल करदन आमदी ॥
मा बरूँ न निगरेम न कालरा ।
मा दरूँरा बनिगरेम व कालरा ॥
नाजिर कल्बेम अगर खाशा बुवद ।
गर चे गुफ्ते लफ्जे नाखासा बुवद ॥
चद अजों अलफाजो अजमोरा मजाज ।
सोज खाहम सोज बआँ सोज साज ॥
आतिशे अज इश्क दरजा बर फरोज ।
सर बसर फिक्रो इबादत रॉ बसोज ॥
मूसया आदाबे दाना दीगरंद ।
सोख्ता जाना रवाना दीगरंद ॥
मिल्लते इश्क अज हमा दीनहा जुदास्त ।
आशिकां रा मिल्लतो मजहब खुदास्त ॥

'मूसा ! तूने मेरे प्यारेको मुझसे जुदा कर दिया । तू बिछुड़े हुओंको मुझसे मिलाने आया है या मिले हुओंको जुदा करने ? मैं बाहरी दशा और शब्द नहीं देखता । मैं तो अन्तःकरण

परखता हूँ। मैं निष्कपट द्रवीभूत हृदयसे आकर्षित होता हूँ। मैं तड़पन चाहता हूँ—तू तड़पन उत्पन्न कर। प्रेमकी सच्ची अग्नि पैदा कर। ज्ञानियों एवं पण्डितोंके ढंगसे प्रेमियोंके ढंग न्यारे होते हैं। इनमें तू पाण्डित्य मत ढूँढ़। इनको वस्त्र सम्हालनेको कहता है, फटेको सीनेको कहता है? इनको होश कहाँ कि इन्होंने कपड़े पहने भी हैं। प्रेमका धर्म तथा कर्म एकमात्र मैं हूँ। यह पन्थ ही निराला है।'

हिंदू संस्कृति प्रत्येक क्षेत्रमें सब देशोंकी संस्कृतियोंकी जननी है। पश्चिम देशके प्रकाण्ड विद्वान् प्रोफेसर मेक्समूलर (Maxmuller) ने इसे मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है—

'If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty that Nature can bestow, I should point to India.

'If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant, I should point to India.

'And, if I were asked myself from what literature we here in Europe, we who are nurtured almost exclusively on the thoughts of the Greeks and Romans and of the Semetic race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more universal, in fact more truly human, a life not for this life only, but a transfigured and Eternal life, again I should point to India.'

(In a letter to Queen Victoria in the year 1858)

'सम्पूर्ण विश्वमें समस्त प्राकृतिक साधनोंसे सम्पन्न, सौन्दर्य, शक्ति और सम्पत्तिसे समलङ्कृत देश मेरे विचारसे भारतवर्ष ही है।

'यदि मुझसे पूछा जाय कि किस देशमें मानव-मस्तिष्कने अपनी मुख्यतम शक्तियोंको विकसित किया, जीवनके बड़े-से-बड़े प्रश्नोंपर विचार किया और ऐसे समाधान ढूँढ़ निकाले, जिनकी ओर प्लेटो और काण्टके दर्शनका अध्ययन करनेवालोंका ध्यान भी आकृष्ट होना चाहिये, तो मैं भारतवर्षकी ही ओर सङ्केत करूँगा।

'यदि मैं अपने आपसे पूछूँ—किस साहित्यका आश्रय लेकर सेमेटिक, यूनानी और केवल रोमन विचारधारामें बहते हुए यूरोपीय अपने आध्यात्मिक जीवनको अधिकाधिक विकसित, अत्यन्त विश्वजनीन, उच्चतम मानवीय बना सकेंगे—जो जीवन इहलोकसे ही सम्बद्ध न हो अपितु शाश्वत एवं दिव्य हो, तो मैं फिर भारतवर्षकी ही ओर सङ्केत करूँगा।'

(सन् १८५८ में महारानी विक्टोरियाको भेजे गये एक पत्रसे)

यह स्वाभाविक है; क्योंकि स्वयं श्यामसुन्दरका कथन है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।

(गीता ९। १६)

'मैं ही इस जगत्का माता-पिता, रक्षक तथा पितामह भी हूँ।'

हमारे ईश्वरवादमें सभी मत-मतान्तरोंको स्थान है। यदि हम दूसरेकी वाणीका मर्म समझ लें तो विश्व-प्रेमकी अग्नि हममें धधक उठे। अपने ईश्वरवादको न समझकर ही हम खण्डन-मण्डनमें उलझते हैं। हमें प्रभुका यह वाक्य स्मरण रखना चाहिये—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

(गीता ७। १०, १३)

'धनंजय! मुझसे परे और कुछ भी नहीं है। सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति यह सब मेरेद्वारा व्याप्त है। इन तीन (सत्त्व, रज, तम) गुणोंके भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण विश्व इस जगत्से परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता।'

'वाणी'—शास्त्र न समझनेसे भ्रम होता है। अत्याचारकी सम्भावना होती है। हमारा ईश्वरवाद हमें हमारे ईश्वरको सबमें दिखाता है, विशेषकर द्वेषीमें। उसे देखकर रोम-रोम पुकार उठता है—

हजारों जाँ भी हों तो कर दूँ रकीब पर कुरबान।
मेरा उदू ही सही, पर है आशनाँ तेरा॥

मैं तो अपने ईश्वरवादका अर्थ इतना ही जान उसको अनुभव करनेकी चेष्टा करता हूँ—

ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाऽऽप्लुतदेहिनां स्यात्॥

(श्रीमद्भा० ७। ६। २७)

'यह अत्यन्त दुष्प्राप्य निर्मल ज्ञान, जो नरके सखा भगवान् नारायणने देवर्षि नारदजीको बतलाया था, भगवान्‌के अकिंचन अनन्य भक्तोंके चरण-कमलोंकी धूलि सर्वाङ्गमें लगानेवालोंको ही प्राप्त होता है।'

भक्तजन यदि अपनी चरण-रज देंगे तो मैं उस पहेलीको हल करके सफलमनोरथ होऊँगा। मेरे मनोरथका स्वरूप सूफी जलालुद्दीन रूमीने बताया है—

Thy love has pierced me through and through;
Its thrill with bone and nerve entwine.
I rest a flute laid on Thy lips,
A lute on Thy breast recline.
Breathe deep in me that I may sigh,
Yet strike my strings and tears shall be mine.
(Hastie's translation of *Masnavi*)

'मेरे रोम-रोममें पैठा, प्रियतम! प्रेम तुम्हारा।
तनके तार-तारमें धावित उसकी विद्युत्-धारा॥
मैं हूँ मुरली एक अधरपर, मोहन! धरी तुम्हारे।
मैं हूँ एक तुम्हारे उरपर पड़ी विपञ्ची, प्यारे॥
ऐसा स्वर मुरलीमें फूँको, आह उठे अन्तरसे।
ऐसा तारोंको झनकारो, नयन हमारे बरसें॥'

उसीको एक ईसाई संतने इस प्रकार व्यक्त किया है—

Oh to be nothing, nothing!
Only to lie at His feet.
A broken and empty vessel
For the master's use made meet.
Empty that He may fill me
As forth to His service I go;
Broken that so more freely
His life through mine may flow.

'ओह, और कुछ भी बननेकी इच्छा नहीं। कुछ भी नहीं।
बस, उनके चरणोंपर पड़ा रहूँ।
एक भग्न और रिक्त पात्र बनकर,
जो वास्तवमें मालिककी सेवाके ही लिये गढ़ा गया है।
यह रिक्त इसलिये कि वे ही इसे भरें;
जब मैं उनकी सेवाके लिये उपस्थित होऊँ।
और भग्न इसलिये कि अबाधरूपसे उनकी जीवनधारा मुझमें प्रवाहित हो सके।

हिंदू संस्कृति और स्वाधीनता

(लेखक—पं० श्रीजीवजो न्यायतीर्थ, एम्०ए०)

हिंदू संस्कृतिका प्रथम प्रभात किस पुण्यदिवसको दिखलायी दिया था, यह आज भी गवेषणाका ही विषय है। एक समय सिन्धुनदीके तट-प्रदेशमें फैली हुई एक विशिष्ट सभ्यताकी धारा प्रवाहित हुई थी तथा वही सभ्यता क्रमशः समस्त भारतमें फैल गयी, यह अनेकों वेद-मन्त्रों तथा मनु प्रभृति धर्मशास्त्रोंसे ज्ञात होता है।* सिन्धु, सरस्वती, दृषद्वती प्रभृति कुछ नद-नदियोंके सन्निहित बहनेवाली धाराओंसे प्लावित उत्तरभारतके भूखण्डमें आर्य-सभ्यता या हिंदू-संस्कृतिकी आदि जन्मभूमि है, यह बहुतोंका मत है।†

परवर्ती कालमें बाहरसे विदेशी जातियोंने भारतमें प्रवेश किया तथा सिन्धुनदके किनारेके प्रदेशोंपर आक्रमण करनेमें उनका जिस जातिके साथ संघर्ष हुआ, देशके नामके अनुसार

* दृष्टान्तरूपमें ऋग्वेद १० मण्डल ७५ सूक्त देखिये। इस प्रकारके बहुतसे मन्त्र हैं। मनुके द्वितीय अध्याय १७, १८, १९, २०, २१, २२ श्लोकमें ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल, शूरसेन, मध्यदेश तथा आर्यावर्तपर्यन्त क्रमिक सभ्यताका विस्तार दिखलाते हुए नामोल्लेख किया गया है। 'संस्कृति' शब्दका आधुनिक अर्थ प्राचीन कालमें आचार-सदाचार, चरित्र प्रभृति शब्दोंके द्वारा प्रकट किया जाता था। वर्तमानमें प्रचलित सभ्यता, कृष्टि, भावधारा—ये सारे शब्द भी आजकलके कल्पित culture शब्दके अनुवादमात्र हैं।

† मैक्समूलर साहब अपनी 'Vedic Index' नामक पुस्तककी भूमिकामें लिखते हैं—Here the home of the Indo-Aryans of the earliest period—that of the Ṛgveda is the territory drained by the Indus river system, × × × corresponding roughly to the North-west Frontier Province of the Punjab of the present day. × × × But the home of the fully developed culture of the Brahmanas lay in the territory extending in a south-easterly direction × × between the confluence of Saraswati and Dṛsadvati in the west and that of the Sadānira and Ganges on the east etc. (Vide page XIV)

उसी जातिको उन्होने 'सिन्धु' कहकर पुकारा। सम्भवतः आक्रमणकारी लोग सेमेटिक जातिके थे, इसी कारण उनके उच्चारण-वैकल्यके कारण 'सिन्धु' 'हिंदू' रूपमे परिणत हो गया। मेरुतन्त्रमे 'हिंदू' शब्दकी व्युत्पत्ति दूसरे प्रकार दी गयी है, तथापि अन्य किसी शास्त्र-ग्रन्थमे 'हिंदू' शब्दका उल्लेख न होने तथा मेरुतन्त्रमें लण्डन नगरका 'लण्ड्र' प्रभृति शब्दोके द्वारा उल्लेख होनेके कारण इसकी प्रामाणिकताके विषयमे सन्देहको पर्याप्त अवकाश है; परंतु 'हिंदू' शब्दका व्यवहार इतना व्यापक हो गया है कि इसे माने बिना काम नहीं चल सकता। इन बातोकी आलोचनाका प्रयोजन यही है कि किसीको यह भ्रम न हो जाय कि 'हिंदू' शब्दकी उत्पत्तिके साथ हिंदू-संस्कृति समकालीन है; बल्कि इस शब्दके उत्पन्न होनेके बहुत पहले ही हिंदू-संस्कृतिका पूर्ण विकास हो गया था, यह कहनेकी आवश्यकता नही है।

निश्चय ही हिंदू-संस्कृतिका काल-निर्णय करनेके लिये बहुतेरे मनस्वी पुरुषोने बहुत परिश्रम किया है। मनस्वी बालगङ्गाधर तिलक, हार्मैन जेकोबि, मैक्समूलर, मैक्डॉनेल, विल्सन, वेबर प्रभृति प्राच्य विद्याविशारदोका नाम इस विषयमे विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। परंतु खेदका विषय यह है कि इनमेसे किसी भी मतका दूसरेके साथ ऐक्य नही है। सभी विशेषज्ञ है, सभी तर्क और युक्ति उपस्थित करते है; परंतु इनके मतोमे इतनी विभिन्नता है कि किसीके मतको स्वीकार करनेकी इच्छा नही होती। पचीस हजार, आठ हजार, छः हजार, चार हजार और अन्ततः तीन हजार वर्ष पूर्व हिंदू-संस्कृतिका आविर्भाव-काल विभिन्न विद्वानोके मतसे है। कुछ वर्ष पूर्व सिन्धुनदके तट-भूमिस्थ प्रदेशमे 'मोहन-जो-दड़ो' तथा 'हरप्पा'के खण्डहरोका अन्वेषण हुआ है। इस अन्वेषणके बाद भारतीय इतिहासमे बहुत बड़े परिवर्तनकी सम्भावना दीख पड़ती है। यह ध्वंसावशेष छः हजारसे भी अधिक पूर्वकी किसी सभ्यताका निदर्शन करता है। इसे प्रायः सभी मतके लोग स्वीकार करते हैं। आर्य-सभ्यता अथवा हिंदू-संस्कृतिके आविर्भावके विषयमे पाश्चात्त्य पण्डितोमे अधिकांशका मत चार हजार वर्षसे अधिक पहले नहीं जाता। इस ध्वंसावशेषके समान जीवन्त प्रमाण प्राप्त हो जानेपर उनके मतका खण्डन सम्भव हो गया है। अन्तमे इस स्थानकी अनुसन्धान-समितिके परिचालकके रूपमे सर जॉन मार्शलकी नियुक्ति हुई। उन्होने अपने लिखित विवरणमे यह मत प्रकट किया कि 'यद्यपि वर्तमान हिंदू-सभ्यताके साथ उपर्युक्त ध्वंसावशेषका निदर्शन अनेकांशमें मिलता-जुलता है, जिसका कारण यह है कि वर्तमान हिंदू-संस्कृति अनार्य-सभ्यताके साथ मिश्रित हो गयी है, तथापि यह ध्वंसा-वशेष प्राग्वैदिक युगकी अनार्य सभ्यताका निदर्शन है।' यो युक्ति देकर उन्होने पूर्वप्रकाशित भारतीय इतिहासकी मर्यादा-की रक्षा करनेकी चेष्टा की है।

वस्तुतः 'मोहन-जो-दड़ो' और 'हरप्पा'के ध्वंसावशेषोके सम्बन्धमें अबतक गम्भीर विवेचना सम्भव नही हुई है। अतएव मार्शल साहबकी उक्तिका मूल्य कितना है, इसका निर्धारण नही हो सकता।

इस प्रसङ्गमे यह उल्लेख किया जा सकता है कि कलकत्ता विश्वविद्यालयके अध्यापक डा० बेनीमाधव बरुआ एम्० ए० ने इस विषयमे मनोयोगपूर्वक गवेषणा करके एक नवीन तथ्यका पता लगाया है; परंतु दुःखकी बात है कि इस कार्यके समाप्त करनेके पहले ही उनका देहावसान हो गया। वह तथ्य यह है कि उपर्युक्त ध्वंसावशेषके चित्र-संग्रहमे एक ऐसा चित्र मिला है, जिसमे एक वृक्षकी शाखापर दो पक्षी बैठे है। एकके मुखके पास कुछ फल है और दूसरेके मुखके निकट कोई फल नही है। इस चित्रकी ओर उन्होने विद्वानोकी दृष्टि आकर्षित की है और अनुरोध किया है कि इसका मिलान ऋग्वेदके इस मन्त्रके अर्थके साथ करे—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(ऋ० म० १ सू० १६४)

'सख्य और सायुज्ययुक्त दो पक्षी एक ही वृक्षका आश्रय लेकर बैठे हैं; उनमे एक तो स्वादु अश्वत्थ-फलको भक्षण करता है और दूसरा बिना कुछ खाये साक्षिरूपसे अवस्थित है।' इस मन्त्रमे जीव और ईश्वर दो पक्षियोके रूपमे वर्णित हैं। यह रूपक-चित्र मोहन-जो-दड़ोमे मिट्टीके साँचेमे गढ़ा हुआ निकला है, उसीका आलोक-चित्र मोहन-जो-दड़ोके विवरणमे है।

इसके सिवा श्मशानका आलोक-चित्र भी ध्यान देने योग्य है। वर्तमान हिंदू-संस्कृतिके मतसे अन्त्येष्टि-क्रिया जिस प्रकार अनुष्ठित होती है, मोहन-जो-दड़ोके ध्वंसावशेषमे भी उसी प्रकारके चित्र पाये गये हैं। एक घड़ा, अधजली लकड़ी, चिता-भस्म आदि चित्रमे दिखलाये गये हैं। शवका अग्नि-संस्कार करना एक वैदिक आचार है। ऋग्वेदके दशम मण्डल १५। १६ सूक्तोंमे, अग्नि ही मृत पुरुषको पितृलोकमे ले जाती है, यह वर्णित है। परंतु असुर (अनार्य लोगो) की संस्कृतिमें मृत देह वसन-आभूषणसे सजायी जाती है तथा

वहीं उसका शव-संस्कार होता है, यह छान्दोग्योपनिषद् ८ प्रपाठक, ८ खण्डमें स्पष्ट उल्लिखित है। रामायणमें विराध राक्षस (अनार्य)के अनुरोधसे ही उसकी मृत्युके बाद उसके मृतदेहको गर्तमें डाल दिया गया था और यही है मृत राक्षस-जातिका चिरन्तन धर्म। (अरण्यकाण्ड, चतुर्थ सर्ग)

अन्ततः इन दो चित्रोंके दृष्टान्तसे मोहन-जो-दड़ो और हरप्पामें वैदिक संस्कृतिका प्रभाव विद्यमान होनेकी सूचना मिलती है। अतएव यह प्रमाणित होता है कि उपर्युक्त ध्वंसावशेष प्राग्-वैदिक युगका निदर्शन नहीं है।

हिंदू-संस्कृतिके प्राथमिक काल-निरूपणके सम्बन्धमें चाहे कितना ही सन्देह और वैमत्य क्यों न हो, यह तो निर्विवाद है कि वेदोंसे ही हिंदू-संस्कृतिका प्राकट्य और प्रसार हुआ है। पाश्चात्त्य जगत्के किसी-किसी विद्वान्ने ऋग्वेदको सर्वापेक्षा प्राचीन धर्मग्रन्थ माना है,* परंतु उन्होंने भी काल-निर्णयके लिये कोई प्रयास नहीं किया।

वैदिक भावराशि हिंदू-संस्कृतिका मूल है। धर्मसूत्र, स्मृति, पुराण, तन्त्र—सभी वेदकी छायाको लेकर धन्य-धन्य हो रहे हैं तथा ये समस्त ग्रन्थ हिंदू-संस्कृतिके काण्ड, पत्र और फल-फूल हैं।

आज स्वाधीनताके नव-प्रभातमें प्राची दिशा उद्भासित हो उठी है। पराधीनताकी अन्धकारमयी रजनीके अवसानसे स्वाधीनताकी उषःप्रभा क्या विश्वकल्याणके सुप्रभातकी सूचना देगी ?

यही बात हृदयमें उठती है कि भारतकी स्वाधीनताके द्वारा जगत्का क्या कोई कल्याण हो सकता है ? अन्ततोगत्वा आज पराधीन भारत स्वातन्त्र्य प्राप्तकर विश्वके प्राङ्गणमें मर्यादावृद्धिके सिवा दूसरा कौन-सा अभ्युदय अर्जन करेगा ?

आज विश्वमें विज्ञानका एकछत्र साम्राज्य है। नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार विश्वके निवासियोंके मनको विस्मित कर रहे हैं। कहाँ तो बड़ी-बड़ी तोपें, सबमैरिन, वायुयान, जनपद-ध्वंसकारी एटम बम—और कहाँ हिंदू-संस्कृतिकी नीरव साधना, निष्पन्द गति और शान्तिमय प्रकृति ! यदि आज भारतको बाध्य होकर विज्ञानके पीछे ही दौड़ना पड़े, यन्त्र-शिल्पादिके लिये पाश्चात्त्योंका ही अनुकरण करना पड़े, परानुग्रहके द्वारा प्राप्त चावल, गेहूँ, औषधादिके द्वारा ही जीवन धारण करना पड़े, पाश्चात्त्य सभ्यताके अनुसरणमें अपनी संस्कृतिको तिलाञ्जलि देकर हिंदू-कोड बिलका आश्रय लेना पड़े, तो इस स्वातन्त्र्यकी सार्थकता कहाँतक रक्षित होगी —यह विचारणीय है।

हिंदू-संस्कृतिके भीतर छिपा हुआ स्वाधीनताका आदर्श क्या है, यही आज विचारणीय है। पराधीन भारतमें भी किसी रूपमें हिंदू-संस्कृति अवशिष्ट रह गयी थी, इसका कारण यह है कि उसकी आन्तरिक स्वाधीनताके बीजको कोई भी नष्ट नहीं कर सका था। यह स्वाधीनताका स्वरूप पृथ्वीके अन्य किसी देशमें है या नहीं, मैं नहीं जानता; परंतु भारतकी मिट्टीमें इसकी अभिव्यक्ति दूसरे ही रूपसे हुई है। प्रथमतः स्वाधीनता दो प्रकारकी होती है—एक भौमिक (राष्ट्रिय), और दूसरी आत्मिक। यह दोनों प्रकारकी स्वाधीनता ही पूर्ण स्वाधीनता कहलाती है।

राष्ट्र अथवा भूमिकी स्वाधीनता कालवश कभी-कभी विपर्ययको प्राप्त होती है। चिरकालतक समानरूपसे राष्ट्रकी स्वाधीनता अक्षुण्ण रहेगी, इस प्रकारका निश्चय प्रदान करनेकी क्षमता किसीमें नहीं। परंतु भूमिके पराधीन होनेपर भी आत्मिक स्वाधीनतामें विपर्यय नहीं होता, यदि उस भूमिके निवासी स्वेच्छापूर्वक अपने स्वरूपको परकीय भावोंके अधीन न बनायें। जबतक आत्मिक स्वाधीनताका ज्ञान बना रहता है, तबतक किसी भी देशके निवासी अपने आहार-विहार, आचार-व्यवहार, वेश-भूषा आदि समस्त विषयोंमें सचेत रहते हैं, अर्थात् इन विषयोंपर अपने देशकी संस्कृतिके अनुसार ही विचार करते हैं।

भौमिक (राष्ट्रिय) स्वाधीनताका कुछ कालतक व्याघात भी हो तो आत्मिक स्वतन्त्रताके द्वारा उसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है; परंतु आत्मिक स्वाधीनताका त्याग करनेपर राष्ट्रिय स्वाधीनता भी चली जाती है। फारस देशके प्राचीन अधिवासी किसी समय अग्निपूजक थे, और उनका धर्मग्रन्थ था 'जेन्दावस्ता'। जब अरबके मुसलमानोंने इस देशको जीत लिया तो सहस्रों पारसी भारतमें आत्मरक्षाके लिये भाग आये। परंतु अवशिष्ट पारसीलोग अपनी आत्मिक स्वाधीनताको खोकर चिरकालके लिये विजेताके साथ मिल-जुल गये। आज भी भारतमें उसी प्राचीन पारसी जातिके अनेकों लोग आत्म-संस्कृतिकी रक्षा करके विपुल धन और सम्मानके अधिकारी हो रहे हैं।

अनेकों जातियोंने भारतपर आक्रमण किया है, भारतके भूखण्डपर अधिकार किया है तथा उन विजेताओंने अपनी-

* The Ṛgvedas are the Hindu sacred writings which are probably the oldest literary compositions in the world. (Wall's 'Sex and Sex-worship', page 8)

अपनी संस्कृतिके प्रसारके लिये अदम्य चेष्टा भी की है; परंतु हिंदू-संस्कृतिको आंशिकरूपसे विकृत करनेके सिवा वे इसको विलुप्त नहीं कर सके। संस्कृतिकी महिमासे, आत्मिक स्वाधीनताके बलसे भारतकी हिंदू-जाति अजेय बनी रही। अतएव इस स्वाधीनताका उपालोक देखनेका आज सौभाग्य प्राप्त हुआ। भगवान् मनु कहते हैं—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

'जो कुछ पराधीन है, दुःखप्रद है और जो कुछ स्वाधीन है, वही सुखप्रद है। यही सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण है, ऐसा जानना चाहिये।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि भौमिक और आत्मिक अर्थात् बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकारकी स्वाधीनताकी रक्षा होनी चाहिये।

दिल्लीके सिंहासनपर जब सम्राट् अकबर आरूढ़ था, तब उसने दीने-इलाहीका प्रचारकर मुस्लिम-धर्म-संस्कृतिके द्वारा हिंदू-संस्कृतिपर विजय प्राप्त करनेकी चेष्टा की थी। वह था नीतिज्ञ; मुसलमानोंकी पुरातन रीति—एक हाथमें तलवार और दूसरेमें कुरान लेकर धर्मप्रसारका वह पक्षपाती न था। वह कौशलपूर्वक मधुरताके द्वारा जनचित्तको आकर्षित करनेकी चेष्टामें लगा रहा। उसका फल यह हुआ कि सर्व-साधारणके मुखसे 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' इस प्रकारके प्रशंसासूचक शब्द निकलने लगे; परंतु उसका वह कौशल भी हिंदू-संस्कृतिके सामने न चल सका। बल्कि किसी-किसी विषयमें स्वयं सम्राट् अकबर हिंदू-संस्कृतिका अनुकरण कर कट्टरपंथी मुसलमानोंके कोपका भाजन बना। हिंदू-संस्कृति मुसल्मानी भावोंसे दूर रहकर आत्मरक्षाके लिये भारतवासियोंको सचेत करती रही, बल्कि मुसलमान भी हिंदू-संस्कृतिकी आबोहवामें पड़कर बहुत कुछ हिंदू-भावापन्न हो बैठे। * घर-घरमें सत्यपीर और सत्यनारायणकी उपासना, गाँव-गाँवमें मानिक पीरके स्थानमें दूध चढ़ाना, पीरकी दरगाहमें हिंदू-मुसल्मानोंका धरना और मनौती, औलाबीबी तथा शीतलाकी पूजा, दोनों सम्प्रदायोंके घर-घरमें इस मूर्तिकी परिक्रमा इत्यादि चल पड़े। निराकारवादी मुसलमान भी साकार उपासनामें धीरे-धीरे अग्रसर होने लगे, मानिक पीरके स्थान मिट्टीके घोड़ोंसे भर गये, औलाबीबीकी मूर्ति देखी गयी, स्थान-स्थानमें काली और दुर्गाकी पूजामें मुसलमान अपनी स्थितिके अनुसार आर्थिक सहायता प्रदान करने लगे। यदि कुछ दिन और इसी प्रकार चलता तो हिंदू-संस्कृति मुसल्मानोंको अपनी सीमाके अंदर और भी खींच लाती। यह कृपाणके बलसे नहीं होता, धर्मान्तरकरणसे नहीं होता, यह होता आत्मिक संयोग-स्थापनके द्वारा सांस्कृतिक मिलनके पथसे। परंतु आज तो स्थिति ऐसी प्रतिक्रियात्मक हो गयी है कि हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा भी कठिन हो चली है।

भारतमें शासनाधिकार प्राप्त करनेके बाद अंग्रेजोंको भी पहले मार्गमें बाधाओंका सामना करना पड़ा था—सिपाहियोंमें १८५७ ई०में जातीयता-बोध न होनेपर भी भारतीय संस्कृतिकी प्रेरणाने ही वैदेशिक शासनके प्रति विद्रोहकी भावना पैदा की थी। उस समय मुसल्मानोंके अत्याचारसे जर्जरित हिंदूलोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे; यही कारण था कि कुछ लोगोंने अंग्रेजोंका पक्ष ग्रहण किया और इसीसे अंग्रेज विजयी हुए। *

इस विद्रोहके बाद ही १८५८ ई० में पहली नवम्बरको महारानी विक्टोरियाने जो घोषणापत्र प्रकाशित किया, उसमें बाध्य होकर यह वचन देना पड़ा कि हिंदू-संस्कृतिके विषयमें हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। इस घोषणाके द्वारा हिंदू-जनसाधारणके चित्तमें सान्त्वना प्रदान करनेपर भी बुद्धिमान् अंग्रेज समझते थे कि हिंदू-संस्कृति हमको भारतमें बाहर-ही-बाहर रक्खेगी। दरवानके समान हम बाहरी शत्रुके आक्रमणसे भारतकी रक्षा करेंगे, परंतु भीतर हमारा प्रवेश न हो सकेगा। भीतर प्रवेश न करनेपर भारतका शासन और शोषण पूर्णरूपसे न हो सकेगा, अतएव अब एकमात्र उपाय रह गया है हिंदू-संस्कृतिमें परिवर्तन करना।

सिपाही-विद्रोहका धक्का खाकर अंग्रेज शासकवर्ग कुछ वर्षोंतक हिंदू-संस्कृतिको बड़े भयकी दृष्टिसे देखते रहे। मिशनरी लोगोंके ईसाई मतके प्रचारका भी समर्थन पहले उनसे नहीं हुआ; परंतु अन्तमें यही स्थिर हुआ कि यदि भारतको अधीन रखना है तो भारतको ईसाई बनानेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह सुयोग पाकर मिशनरियों-ने हिंदू-संस्कृतिके विरुद्ध विराट् प्रचार प्रारम्भ कर दिया। हिंदू-संस्कृतिके विषयमें कितनी ही कविताएँ रची गयीं

* The Mohamedans have themselves become Hinduized and have been brought into the meshes of Caste. (Rev. Sherring in "Castes and Tribes of India")

* We were only able to vanquish a sepoy army by the aid of gallant native troops, who remained faithful to the salt. (The Duke of Argyll)

तथा हिंदू-संस्कृतिका विकृत चित्र बनाकर देश-विदेशमें प्रचारित किया गया।

ब्रिटिश राजत्वके समय १८३५ ई० मे कलकत्ताके बन्दरगाहमें एक जहाज विलायती माल लेकर आया। वह जहाज नाना प्रकारकी लोभनीय वस्तुओंसे पूर्ण था। औषधसे लेकर सूईतक बहुतेरी व्यवहारयोग्य वस्तुएँ बिक्रीके लिये भारतमे भेजी गयी थीं; परंतु आश्चर्यकी बात यह है कि एक पैसेकी भी कोई वस्तु यहाँ नहीं बिक सकी। उस समयकी हिंदू जनता समझती थी कि म्लेच्छदेशकी तैयार की हुई वस्तुएँ हिंदुओंके लिये अस्पृश्य हैं, अव्यवहार्य हैं। यह संस्कार इतना दृढ़ और प्रबल था कि बहुत प्रयत्न करनेपर भी विलायती माल भारतमे न चल सका, और उस जहाजको जैसे आया था वैसे वापस लौट जाना पड़ा। उस समयके सेक्रेटरी आफ् स्टेट (भारतमन्त्री) लार्ड मैकालेने इस बातको देखकर प्रतिज्ञा की थी कि भारतमे हम अब एक ऐसी जाति पैदा करेंगे, जिसका रंग और रक्त भारतीय रहेगा, परंतु शिक्षा, दीक्षा और रुचिमे वह अंग्रेज हो जायगी।

इसी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये लार्ड मैकालेने भारतमे अंग्रेजी शिक्षाकी नींव डाली, और उनके सङ्कल्पित कार्यने पूर्ण सफलता प्राप्त की। चाय, चुरुट, विस्कुट, जमा हुआ दूध, औषध आदिसे लेकर विलासकी भाँति-भाँतिकी सामग्रियाँ आज विदेशोंसे आती हैं और करोड़ो-करोड़ों रुपये विदेश चले जाते है।

हिंदू-संस्कृतिने एक दिन शिक्षा दी थी कि भारतकी मिट्टीमें उत्पन्न वस्तु ही पवित्र और उपकारी है। भारतके फल-फूल, भारतकी ओषधि-लता, भारतके अन्न-वस्त्र—सभी पवित्र और सुन्दर है, अतएव व्यवहारयोग्य है। प्राचीनकालमे चीन देशसे भारतमे वस्त्र आता था; परन्तु इस प्रकारकी उस समय व्यवस्था थी, जिससे उसका भी भारतमें प्रसार न हो सका।

न स्यूतेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः।
मूषिकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्याद्विचक्षणः॥

'सिले हुए, जले हुए, खास करके विदेशोंमे बने हुए वस्त्रके द्वारा, चूहेके कुतरे हुए अथवा पुराने वस्त्रके द्वारा बुद्धिमान् पुरुष वैध कर्मोंको न करे।'

महाभारतके वनपर्वमें पाण्डुराजाके मृतदेहके दाह करनेके समय, लिखा है कि, उनका शरीर शुक्ल देशी वस्त्रद्वारा आच्छादित किया गया था। हिंदू-संस्कृतिके प्रति लक्ष्य रखनेपर ही समस्त विदेशी द्रव्य अमेध्य, अशुचि मानकर हिंदूके लिये अपने-आप ही वर्जनीय हो जाता है। यह दूसरोंके प्रति विद्वेषमूलक 'बायकाट' नहीं है, बल्कि स्वदेश-प्रेमका एक निदर्शन मात्र है। साथ ही, देशका धन देशमें ही रखकर अपनी स्वाधीनताकी रक्षा करनेका एक उपाय है।

हिंदू-संस्कृति भारतको यही शिक्षा देती है कि पर-मुखापेक्षी न होकर पूर्णतः अपने भावसे अपने पैरोंके बल भारतवर्ष जिससे संसारमें खड़ा रह सके, वही सर्वापेक्षा बड़ी स्वाधीनता है। हिमालयरूपी प्राचीर तथा समुद्ररूपी परिखाके द्वारा वेष्टित हो यह भारत जिस प्रकार भौगोलिक सत्तामें सब देशोंसे विच्छिन्न होकर एक वैशिष्ट्य धारण कर रहा है, उसी प्रकार इस भारतमें उत्पन्न शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति पृथ्वीके दूसरे भागोंकी अपेक्षा एक असाधारणता रखती हैं। वह असाधारणत्व कुछ अंशोंमें विस्मृतिके आवरणसे छिप जानेपर भी अभी सर्वथा विलुप्त नहीं हुआ है। इसीलिये श्री-उडरफ साहबने कहा था कि 'भारत वैसी कोई भौगोलिक सत्ता नहीं है, और न उस प्रकारकी कोई जन-समष्टि है, जो अचानक पृथ्वीके किसी अंशमें आकर पड़ गयी हो अथवा पृथ्वीके किसी प्रान्तमें पड़ी रह सकती हो। भारत ज्ञानका प्रतीक है।'

मैजिनीने कहा था कि "स्वाधीनता-शब्दके वास्तविक अर्थका विचार न करके केवल 'स्वाधीनता' शब्दकी रट लगाना केवल पीड़ित क्रीत दासकी मनोवृत्तिका परिचायक होनेके सिवा और कुछ नहीं।"*

अत्यन्त दुःखके साथ प्लेटोने कहा था कि 'जो मनुष्य अपने देशकी संस्कृतिके प्रति घृणा उत्पन्न करता है, उससे बढ़कर पापी दूसरा कोई नहीं; ऐसे मनुष्यका मर जाना ही श्रेयस्कर है।'†

एडमण्ड बर्क महोदयने कहा था कि 'स्वाधीनता एक भाव है, और दूसरे भावोंके समान यह भी प्रत्यक्षगम्य नहीं है। स्वाधीनताका ज्ञान बहुत कुछ अनुभवसिद्ध विषयोंके साथ जुड़ा रहता है, तथा प्रत्येक जाति अपनी कतिपय प्रिय वस्तुओंकी धारणाको लेकर स्वाधीनताके रूपको गठित करती है, जिसकी पूर्णताके ऊपर सुखके मानदण्डकी कल्पना की जाती है।'‡

---

* Merely to spout liberty without reflecting what it is intended the word should imply, is the instinct of the oppressed slave and no more.

† A man who brings into contempt the creed of his country is the deepest of the criminals; he deserves death and nothing else.

‡ Abstract liberty, like other abstractions, is

सचमुच ही स्वाधीनताका कोई निर्दिष्ट स्वरूप नहीं है। इंग्लैंडकी स्वाधीनतासे जिस प्रकार 'अपने ऊपर टैक्स लगानेका अधिकार' (Self-taxation) प्रधानतः समझा जाता है, उसी प्रकार भारतमें स्वाधीनता कहनेसे मुख्यतः 'हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा' ही समझी जाती है। सच पूछिये तो, राष्ट्र बड़ा है या संस्कृति, पार्थिव राज्य बड़ा है या मनोमय राज्य, भोग्य वस्तु बड़ी है या भोक्ता—यही संघर्ष आज संसारमें सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। भारतकी प्राचीन विचार-धारामें संस्कृति बड़ी मानी जाती थी, मनोराज्यकी प्रधानता थी तथा भोक्ताका प्रभुत्व था। आधुनिक विचारमें राष्ट्र ही बड़ा हो गया है। इन दोनों धाराओंकी तुलना करनेपर ज्ञात हो जायगा कि भारतमें संस्कृतिकी प्रधानता होनेके ही कारण राष्ट्रके पराधीन होनेपर भी उसकी स्वाधीन होनेकी अभिलाषा नष्ट नहीं हो सकी; परंतु यदि राष्ट्र प्रधान होता तथा अधिकांश जनता संस्कृतिकी उपेक्षा करती, तो राष्ट्र-विपर्ययके साथ-साथ संस्कृतिका भी नाश अवश्यम्भावी हो उठता। तब भारतका जो कुछ अतीत गौरव तथा पूर्वपुरुषोंकी कीर्ति थी, सब विस्मृतिके अतल-तलमें डूब जाते। आज मुसल्मान अपने हृदयसे यह बात समझने लगे हैं कि राष्ट्रके साथ संस्कृतिको एक सूत्रमें बाँधकर मुस्लिम-संस्कृतिको प्रधान स्थान देना पड़ेगा। इसी कारण उनके राष्ट्रका नाम 'पाकिस्तान' हुआ है, उनके राष्ट्रका शासन कुरानशरीफके आधारपर हो रहा है, तथा उनके लिये स्वाधीनताका अर्थ हो गया है—'मुस्लिम-संस्कृतिकी अबाध गति'।

आश्चर्यकी बात यह है कि मुस्लिम-संस्कृतिमें जगत्को प्रदान करने योग्य बहुत ही कम सम्पत्ति है; परंतु जो कुछ है, उसीका जय-डंका बजानेके लिये वे कटिबद्ध हैं और इधर हिंदू-संस्कृतिमें जो असीम रत्नभण्डार, समस्त जगत्के लिये लोभनीय सम्पद् विद्यमान है, उसकी आज उपेक्षा हो रही है। वेद, उपनिषद्, दर्शन, तन्त्र, राजनीति, साहित्य, भागवत, रामायण, महाभारत आदि अमूल्य ग्रन्थराशिमें कितने भाव, कितने ज्ञान-विज्ञान तथा कितने उपदेश निहित हैं, उनका वर्णन करना कठिन है; परंतु आज स्वाधीन भारतमें उनकी आलोचनाके लिये कोई सुयोग ही नहीं है!

यथार्थ तो यह है कि हिंदू-संस्कृति ही हिंदूके लिये परम प्रिय वस्तु है। इस संस्कृतिके ऊपर चाहे जितने आघात, चाहे जितने आक्रमण क्यों न हों, आज भी अधिकांश जनता इस संस्कृतिके प्रति अनुरक्त है। यह मनु-याज्ञवल्क्यसे लेकर धर्मव्याधपर्यन्त सबकी कीर्तिसे समृद्ध है। इस संस्कृतिकी आदिजननी अपौरुषेय वेदवाणी है। इस संस्कृतिके साथ स्वाधीनताका सम्बन्ध अच्छेद्य है, यह कहनेमें भी अत्युक्ति नहीं है। इसी संस्कृतिकी महिमामें स्वाधीनता प्रत्येक व्यक्ति, समाज और राष्ट्रमें प्रतिष्ठित थी।

वर्णाश्रम-धर्मका स्थान इस संस्कृतिमें केन्द्रीभूत हुआ था, और वह आज भी पूर्णतः उच्छिन्न नहीं हुआ है। आश्रम-धर्ममें वैयक्तिक स्वाधीनता, वर्णधर्ममें सामाजिक स्वाधीनता तथा वर्णाश्रमधर्मके यथायथ पालनमें राष्ट्रिय स्वाधीनताकी रक्षा होती थी।

आश्रमधर्ममें चरम और परम स्वाधीनता चतुर्थ आश्रम अर्थात् संन्यासमें विकसित होती है। संसारकी और कोई भी जाति इस स्वाधीनताके स्वरूपका चिन्तन नहीं कर सकी है। जो स्वाधीन होगा, उसके लिये कोई भी बन्धन नहीं रहेगा। जो स्त्री-पुत्रके अधीन हैं, विषयके अधीन हैं, समाजके अधीन हैं, मन-इन्द्रियोंके अधीन हैं, शुभाशुभ कर्मके अधीन हैं—वे स्वाधीन कैसे कहला सकते हैं? जो काम-क्रोधादि शत्रुओंके अधीन हैं, अन्न-वस्त्रके अधीन हैं, विलास-वासनाके अधीन हैं, वे स्वाधीन कैसे हो सकते हैं? वास्तविक संन्यासीके लिये वेष-भूषाकी आवश्यकता नहीं, भोजनके लिये बाध्यता नहीं, कामना-वासनाका बन्धन नहीं—इसकी अपेक्षा स्वाधीनताका श्रेष्ठ आदर्श और क्या हो सकता है? जो सब प्रकारके बन्धनसे मुक्त हैं, वस्तुतः वे ही स्वतन्त्र हैं।

ब्रह्मचर्य-आश्रममें देह और मनका गठन, गृहस्थ-धर्ममें कतिपय कर्तव्योंका पालन और परम्परा या धाराकी रक्षा करना—ये सारी बातें नियम-तन्त्रके अधीन होनेके कारण इनके द्वारा मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंका विकास होता है। व्यक्ति-समूहसे ही समाज बनता है। व्यक्ति-समूह यदि नियमानुसार वर्तने लगे तो समाज स्वस्थ और सबल हो उठे। हिंदू-संस्कृति कभी यह शिक्षा नहीं देती कि स्वाधीनताका अर्थ अनधीनता है अर्थात् स्वेच्छाचारिता या क़ामाचार है। स्वेच्छाचारिताके द्वारा कभी कोई भी महान् कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। संन्यासी सर्वबन्धनमुक्त होनेपर भी स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते; उनके भी नियम हैं, संयम हैं। परंतु गृहस्थके समान वे नियमोंके अधीन नहीं हैं। नियम स्वभावतः उनका आश्रय लेते हैं।

---

not to be found. Liberty inheres in some sensible object and every nation has formed to itself some favourite point, which by way of eminence becomes the criterion of their happiness.
(*Conciliation with America*)

गृहस्थाश्रममें रहकर भगवत्-आराधना और पितृ-श्राद्धादि वैध कर्मोंके करते-करते चित्तमें जो अनासक्तिका भाव आता है, उसीसे वैयक्तिक स्वाधीनताका विकास संभव होता है। अतएव गृहस्थ-धर्मके लिये उपदेश देते हुए मनु कहते हैं—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः॥

(मनु० ४। १५९)

यद् यत् कर्म पराधीनं परप्रार्थनादिसाध्यं तत्तद् यत्नतो वर्जयेत्। यद् यत् स्वाधीनदेहव्यापारसाध्यं परमात्मग्रहादि तत्तद् यत्नतोऽनुतिष्ठेत्॥ (कुल्लूकभट्टकी टीका)

'जो-जो कर्म पराधीन अर्थात् दूसरोंकी प्रार्थनादिसे सिद्ध होते हैं, उन-उन कर्मोंको यत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये, और जो कार्य स्वाधीन हैं, दैहिक व्यापारद्वारा सिद्ध हो सकते हैं, उन परमात्मज्ञान प्रभृति कार्योंका यत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये।'

इस प्रकार स्वातन्त्र्य-शिक्षाके द्वारा गृहस्थकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठाके लिये पद-पदपर उपदेश दिये गये हैं। क्या संन्यासी और क्या गृहस्थ, सबके लिये कहा है कि 'जो सब भूतोंमें आत्माको देखते हैं तथा जिन्हें आत्मामें सब भूत उपलब्ध दीखते हैं, वही समदर्शी आत्मयाजी पुरुष स्वाराज्य-को प्राप्त होता है।' स्वाराज्यप्राप्तिका अर्थ यह है कि वह परमात्मा-के समान स्वतन्त्र और स्वाधीन भावको प्राप्त होता है।*

वर्णधर्ममें सामाजिक स्वातन्त्र्यके विकासके लिये सुविधा प्रदान की गयी थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—प्रथमतः मनुष्य-जातिके इन चार प्राकृतिक विभागोंके द्वारा चार प्रधान एकाइयों (Units) की सृष्टि की गयी थी। जो कुछ ज्ञानसम्बन्धी कार्य था, वह सब ब्राह्मणोंके उत्तरदायित्व-पर निर्भर था। राष्ट्रकी रक्षा, पालनादिका समस्त उत्तरदायित्व क्षत्रियके ऊपर था। धनका आगम और वृद्धि तथा वाणिज्यादि कर्म वैश्यके हाथमें थे। शिल्प और सेवाका उत्तरदायित्व शूद्र जातिके ऊपर था। इनके बीचमें भी कितनी ही अवान्तर उपजातियोंका निर्माण कर श्रम-विभाग (Division of labour) के द्वारा विभिन्न जातियोंमें पारस्परिक प्रतियोगिता (Competition) का द्वार बंद कर दिया गया था। बल्कि समाजके विविध प्रयोजनोंकी सिद्धि तथा प्रत्येक उपजाति (Unit) का जीविकोपार्जन एक ही समय एक ही कर्मके द्वारा सम्पन्न हो जाता था। कोई तेली, जुलाहा या सूत्रधार अपने निजी व्यवसायका स्वयं स्वामी था। उसकी स्वतन्त्रतामें कोई बाधा डालनेवाला न था। स्वयं मनुष्य जितना अधिक परिश्रम और योग्य कार्य करता, उतना ही वह अपना तथा समाजका उपकार करता।*

हिंदू-संस्कृतिमें प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक सम्प्रदायने इस प्रकार स्वाधीनताका उपभोग किया है, तथा आज भी किसी अंशमें कर रहा है। उसके साथ तुलना करनेपर वर्तमान रूसका नव-कल्पित सम्प्रदायवाद (Communism) म्लान हो जाता है। रूसके सम्प्रदायवादमें व्यक्तिगत स्वाधीनताके लिये स्थान नहीं है, तथा मुट्ठीभर व्यक्तियोंके द्वारा परिचालित स्टेटके अधीन शेष समस्त जनता दासके समान कार्य करनेके लिये बाध्य है। उनका व्यक्तित्व नष्ट हो रहा है। जबतक स्टेटके किसी प्रधान पदपर बैठनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं होता, तबतक व्यक्तिका मूल्य चने-चबैनेके समान ही रहेगा। सम्प्रदायवादका मूल-मन्त्र है—समभावमें धन-विभाग, धनी और दरिद्रके वैषम्यको दूर करना।

हिंदू-संस्कृतिमें वर्णाश्रमधर्मके द्वारा धनी-दरिद्रके वैषम्य-को दूर करनेकी व्यवस्था भी पायी जाती है। समान वर्ण और समान कर्म करनेवालोंके बीच आदान-प्रदान, विवाहादि सम्बन्ध नियन्त्रित होनेके कारण एक ओर समस्त धनी और दूसरी ओर समस्त दरिद्रोंके दल नहीं हो सकते। एक ही सजातीय समाजमें धनी और दरिद्रका मिलना-जुलना होता है। धनियोंको माता-पिताके निधन, विवाह अथवा अन्यान्य संकट-कालमें दरिद्रोंकी सहायता प्राप्त करनी पड़ती है; अतएव उनका गर्व खर्व हो ही जाता है। धनीलोग कहीं विलासी-व्यसनी न हो जायँ, इसके लिये पूजा-पार्वण, श्राद्ध और विवाहमें

* सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

(मनु० १२। ९१)

× × × स्वे राज्ये भवं स्वाराज्यम् परमात्मवत् स्वतन्त्रः सम्पद्यते। (मेधातिथि-टीका)

यहाँ 'स्वाराज्य' स्वर्गराज्य-बोधक नहीं है, परतु अविनश्वर स्वराज्यका बोधक है।

* मनुसंहितामें यन्त्रशिल्पको निन्दित कहा गया है और गृहशिल्पकी प्रशंसा की गयी है। पापोंकी सूचीमें 'महायन्त्र-प्रवर्तनम्' ('बड़ी-बड़ी मशीनोंका चलाना') भी एक पाप माना गया है। (अ० ११)

धनीका धन समाजके प्रत्येक स्तरमे वितरित हो जाय, इसकी सुव्यवस्था भी देखी जाती है। एक दिन युधिष्ठिरने नारदजीसे पूछा कि गृहस्थके धर्म क्या हैं ? नारदजीने उत्तर दिया—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

'जितनेसे उदर-पूर्ति होती है, उतनेमें ही प्रत्येकका स्वत्व है। जो इससे अधिक सञ्चय करता जाता है, वह चोर और दण्डनीय है।' सम्प्रदायवाद (Communism) का चरम सिद्धान्त इसी एक श्लोकमें प्रकट कर दिया गया है।

हिंदू-संस्कृतिमें राष्ट्रके कल्याणकी आकाङ्क्षा कम नहीं थी। यजुर्वेदके अ० २२ मन्त्र २२ में एक प्रार्थना है—'हे ब्रह्मन्! हमारे राष्ट्रमें यज्ञ और अध्ययनशील ब्राह्मण उत्पन्न हों; शूर, शरक्षेपपटु, शत्रुभेदकारी, महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों। इस राष्ट्रमें दुग्धप्रदा धेनु, वहनशील वृषभ, तथा शीघ्रगति अश्व उत्पन्न हों। इस राष्ट्रमें पुरन्ध्री (जिसके पति-पुत्रादि जीवित हों) नारी तथा जयशील रथी उत्पन्न हों। इस यजमानके सभा-शोभाकारी, वीर, सामर्थ्यवान् पुत्र हों; हमारे इस राष्ट्रमें पर्जन्य हमारे इच्छानुसार वृष्टि प्रदान करें, ओषधियाँ (अन्न) फलवती होकर परिपक्व हों तथा राष्ट्रके योग-क्षेमका वहन करें।'

अश्वमेध, राजसूय प्रभृति यज्ञ जिनका वर्णन वेदोंमें पाया जाता है, उनसे समस्त राष्ट्रके अभ्युदयकी सूचना मिलती है।

बहुतोंकी धारणा यह है कि 'स्वाधीनताका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये देश-प्रेम (Patriotism) को जानना और समझना आवश्यक है। पर प्राचीन हिंदू-संस्कृतिमें देश-प्रेमकी बात कहाँ सुनी जाती है ?' कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'स्वाधीनता पञ्चम पुरुषार्थ है, जिसका पता प्राचीन ऋषियोंको न था। वे लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको ही लेकर सन्तुष्ट थे।'

वस्तुतः भारत जबतक आर्यप्रज्ञामें प्रतिष्ठित था, तबतक किसी प्रकारकी पराधीनताका प्रश्न ही नहीं उठा। तथापि भारत-भूमिके सम्बन्धमें जो उनकी श्रद्धा थी, वह अत्यन्त उन्नत 'देश-प्रेम'का स्वरूप था। विष्णुपुराणमें कहा है कि 'जो लोग भारतभूमिमें जन्म ग्रहण करते हैं, वे धन्य हैं। देवतालोग भी उनका कीर्तिगान करते हैं; क्योंकि भारत कर्मभूमि है—यहाँ जन्म ग्रहण करके ही स्वर्ग या अपवर्ग प्राप्त किया जाता है। देवताओंको भी अपवर्गकी प्राप्तिके लिये इस भारतमें ही आना पड़ेगा, अतएव भारतवासी स्वर्गके देवताओंकी अपेक्षा भी अधिक भाग्यशाली हैं।'*

श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि 'यह भारत वैकुण्ठका प्राङ्गण है; यहाँ जो मानव जन्म ग्रहण करता है, वह कितना सौभाग्यशाली है ! क्योंकि इससे उसे मुकुन्द-सेवा करनेका सुयोग प्राप्त होता है।'†

रामायणका यह प्रसिद्ध श्लोक है—

नेयं स्वर्णपुरी लङ्का रोचते मम लक्ष्मण।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

श्रीरामचन्द्र लङ्कामें रावण-वधके बाद अयोध्यामें लौटनेके लिये व्याकुल हैं, अतएव आग्रहपूर्वक कहते हैं कि 'हे लक्ष्मण ! यह स्वर्णपुरी लङ्का मुझे अच्छी नहीं लग रही है, क्योंकि जननी और जन्मभूमि स्वर्गसे भी बढ़कर है।'

इसीका अनुवाद-सा करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीके श्रीरामचरितमानसमें लङ्का-विजय करके पुष्पक-विमानके द्वारा श्रीअयोध्या लौटते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र अयोध्याको देखकर सुग्रीव, विभीषण और अङ्गदादिसे कहते हैं—

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥

इसके अतिरिक्त यह भारत-भूमि देवताके रूपमें वेदमें भी पूजित हुई है। 'वही स्नेहमयी माता है। सबको अपनी गोदमें स्थान देती है'—यह अनेकों मन्त्रोंमें आया है। यही मन्त्रार्थ गीता और सप्तशतीमें प्रकाशित हुआ है।

जिनकी देशमातृकाने हृदयपर इस प्रकार अधिकार किया था, वे स्वाधीनताके मूल्यको नहीं समझते थे—यह कहनेसे वक्ताकी मूर्खता ही प्रकट होती है। स्वाधीनताके

---

* गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
(विष्णुपुराण २। ३। २४)

† अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥
(श्रीमद्भा० ५। १९। २१)

द्वारा मनुष्य सुखी होगा, केवल इसीलिये स्वाधीनताकी कामना होती है; अन्यथा स्वाधीनता प्राप्त करके भी यदि देशवासी निरन्तर दुःख-कष्ट ही भोग करें तो उससे आन्तरिक असन्तोष और क्रमशः अशान्ति ही उत्पन्न होती है। मनुने सुख-दुःखके लक्षणमें बतलाया है कि 'जो कुछ पराधीन है, वही दुःखप्रद है तथा जो कुछ स्वाधीन है, वही सुखप्रद है।' इसका तात्पर्य यही है कि स्वाधीनताके नामपर यदि परमुखापेक्षिता और परकीय संस्कृतिका अनुकरण अथवा अपनी संस्कृतिका विसर्जन हो तो विदेशी शासनके स्थानमे केवल देशी शासनका प्रतिष्ठित होना स्वाधीनताका आभासमात्र है, यथार्थ स्वाधीनता नहीं है; और ऐसी स्वाधीनतासे कभी सुखकी प्राप्ति नही हो सकती।

आज भारतकी भूमिसे दूर खड़े होकर बृटिशलोग इस हिंदू-संस्कृतिके विनाशकी बाट देख रहे है। बृटिशलोग स्वयं जिस कार्यके करनेमे समर्थ नहीं हुए, आज भारतवासियोंके द्वारा वे उसी संस्कृति-विनाशके लिये चेष्टा कर रहे हैं।

एक ईसाई मिशनरीने प्रायः २५ वर्ष भारतमे वास करनेके पश्चात् सन् १९१७ ई० मे एक पुस्तक लिखी थी। वह उस पुस्तकमे लिखते है कि 'बहुत दिनोंके बाद इग्लैंड-मे आकर पाश्चात्त्य धर्मनीतिके जाननेकी चेष्टा करके मुझे आश्चर्य हो रहा है कि जर्मनी, अमेरिका, यहाँतक कि इंग्लैंडके भी धर्म-जगत्मे हिंदूधर्म और दर्शनशास्त्रका प्रभाव बढ़ता जा रहा है। इसका विनाशक प्रभाव इतनी दूर पहुँच गया है कि उसको समझानेके लिये मेरी अपेक्षा कई गुना अधिक बुद्धिमान् और विचक्षण लेखककी आवश्यकता है। इसका वर्तमान कालमे प्रभाव न होनेपर भी भविष्यमे जान पड़ता है कि यह ईसाई-मतका मूलोच्छेद कर डालेगा। अतएव इसका प्रतिरोध करना बहुत ही आवश्यक है।'*

महात्मा गांधीकी अहिसानीतिको कार्यान्वित करनेके लिये जो चेष्टाएँ हो रही हैं, उनमे यथार्थ साधना—आत्मोन्नति या हिंदू-संस्कृतिविषयक शिक्षाकी कोई व्यवस्था नहीं दीख पड़ती। हिंदू-संस्कृतिको विज्ञानके चरणतले लुण्ठित करने-की मनोवृत्ति क्रमशः बढ़ती जा रही है। इसका फल यही होगा कि भारतकी स्वाधीनता बाह्यरूपसे कुछ कालतक रहते हुए भी अन्तरकी पराधीनता क्रमशः जड़ पकड़ती जायगी और अन्तमें स्वाधीनताके नामपर स्वेच्छा-चारिताका राज्य हो जायगा। प्रत्येक प्रान्त-उपप्रान्तमे लोभ और असंयम बढ़ेगा, और उसके साथ चित्तकी मलिनताके कारण प्रान्तीयता उत्पन्न होगी, और क्रमशः अन्तर्विप्लव अनिवार्य हो जायगा और अपनी स्वाधीनता विपद्मे पड़ जायगी।

आज आवश्यकता यह है कि विज्ञानके ऊपर मानवताको प्रतिष्ठित करना, विज्ञानके ऊपर धर्मका स्थान निश्चित करना, विज्ञानको नियन्त्रित करनेके लिये लोगोंको परमार्थके अनुसन्धानमे लगाना। आज भारतका यही कर्तव्य है।

इस युगमे विज्ञान सर्वथा हेय नहीं माना जा सकता, यह सत्य है। पारस्परिक संघर्षसे बचनेके उद्देश्य भारतमें विज्ञानकौशल प्राप्त करनेके लिये शिक्षाकी आवश्यकता है, इसमे तनिक भी सन्देहकी बात नहीं है। परंतु इसीके साथ-साथ मध्यमार्गको ढूँढ़ना होगा। एक ऐसी योजना बनानी होगी, जिसके द्वारा विज्ञानकी अनिष्टकारिता और इष्टकारिताकी तुलनात्मक समालोचना निष्पक्षभावसे की जाय तथा विज्ञानके विनाशात्मक प्रभावको नष्ट करनेके लिये शान्ति और सन्तोषके आदर्शको विश्वके सामने उपस्थित किया जाय। इस प्रकारके आदर्शका प्रचार और प्रसार होनेसे हिंदू-संस्कृतिका अत्युच्च आसन विश्वके दरबारमें प्रतिष्ठित होगा और परस्पर विवादमे लीन पाश्चात्त्य जातियाँ आत्म-विनाशरूप रोगकी ओषधिके रूपमें इस आदर्शको ग्रहण करनेके लिये बाध्य होगी। यदि किसी दिन इस प्रकारका विश्व-कल्याण प्रतिष्ठित हो सका, तभी भारतकी स्वाधीनता सार्थक होगी।

* उड्फ-प्रणीत 'क्या भारत सभ्य है ?' ग्रन्थसे उद्धृत।
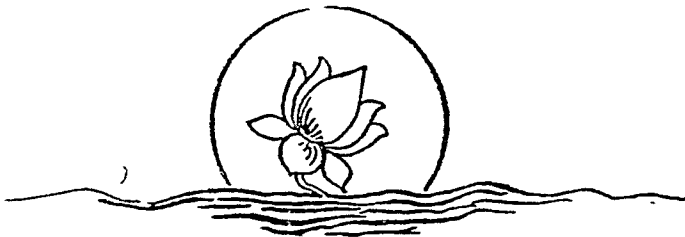
हिंदू-संस्कृतिकी कुछ विशेषताएँ

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पाण्ड्या बी०ए०)

'संस्कृति' शब्दका उद्‌गम 'संस्कार' शब्दसे है। 'संस्कार'का अर्थ वह क्रिया है, जिससे वस्तुके मल (दोष) दूर होकर वह शुद्ध—सिद्धिसाधक बनती है।

'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।'

द्विजका अर्थ है दुबारा जन्म लिया हुआ—रूपान्तरित हुआ। बाइबलमें भी ईसामसीहका वाक्य आया है कि 'मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि जबतक मनुष्यका दुबारा जन्म न हो, वह परमात्माके राज्यका दर्शन नहीं कर सकता' (जॉन ३। ३)। यहाँ भी दुबारा जन्मसे तात्पर्य मृत्युके बादके पुनर्जन्मसे नहीं, किंतु इसी जन्ममें आत्माकी अवस्थाको सुधार देनेसे है; और 'परमात्माके राज्य'से तात्पर्य 'सत्य और पवित्रता'के उन दिव्य तथ्योंसे है, जिनका आलोक अपनी निजकी अन्तरात्मासे ही प्रकट होता है। क्योंकि ईसामसीहके अनुसार परमात्माका राज्य स्वयं तुम्हारे ही अंदर है (सेंट-लूक १७। २१)। अतः संस्कृतिका अर्थ वह शिक्षा-दीक्षा है, जिससे मनुष्यका जीवन सुधरे। पुरातन अभ्यासों और आदतोंको भी संस्कार कहते हैं—यथा जन्म-जन्मान्तरके संस्कार। अतः किसी देश या जातिकी संस्कृतिका अर्थ उस देश या जातिकी वे पुरानी आदतें, प्रथाएँ, रहन-सहन आदि हैं, जो उस देश या जातिके मनुष्योंका चरित्र-निर्माण करती हैं या उस निर्माणमें प्रभावशाली होती हैं।

सभी संस्कृतियोंका लक्ष्य मानवात्माको उन्नत करनेका होता है। क्योंकि सभी मानव मूलतः एक प्रकृतिसे सदृश हैं, अतः सभी देशों और जातियोंकी संस्कृतियाँ कई अंशोंमें सदृश पायी जाती हैं। लेकिन फिर भी देश, काल और पात्रकी परिस्थितियों एवं संस्कृतियोंके प्रेरकों—निर्माताओं—के आदर्शकी विभिन्न अपेक्षाओंके प्रति मुख्यता और गौणताके दृष्टि-भेदोंके कारण विभिन्न देशों तथा जातियोंकी संस्कृतियोंमें कुछ विभिन्नताओं (विशेषताओं) का पाया जाना भी आश्चर्यजनक नहीं है।

हिंदू-संस्कृतिकी कुछ विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) समस्त प्राणियोंके प्रति समानता और प्रेमका भाव—समस्त जीवोंको अपने समान समझना तथा उनके प्रति प्रेम-भाव रखना और तदनुसार आचरण करना, यह हिंदू-संस्कृतिको छोड़कर और किसी संस्कृतिमें इतने पूर्ण और सच्चे रूपमें नहीं पाया जाता। यह हिंदू-संस्कृतिका प्राण है—यह सब हिंदुओंकी नस-नसको, उनके दैनिक जीवनके पल-पलको प्रभावित करता रहता है। हम निस्संकोच यह कह सकते हैं कि इस विशेषतामें हिंदू-संस्कृतिकी अन्य सब विशेषताएँ गर्भित हैं—एकमात्र इसीको बतानेसे हिंदू-संस्कृतिका सारा और पूरा वर्णन हो जाता है।

(२) पुनर्जन्म तथा आशावाद—प्रत्येक आत्मा सभी जीवधारियोंके स्वरूपोंमें जन्म ले सकती है, यह विश्वास। यह ऊपर वर्णित भावनाका कि 'मेरी-जैसी ही आत्मा सबकी है और सबकी-जैसी ही मेरी आत्मा है' का कारण भी है तथा परिणाम भी। इससे यह भी फलित होता है कि 'मेरी आत्माकी अवस्था भूतकालमें अन्य जीवों-जैसी हुई है और भविष्यमें भी हो सकती है', और यह कि 'सभी जीव किसी-न-किसी समय मेरे माता-पिता आदि सम्बन्धी रहे हैं और रह सकते हैं।' इन सब बातोंसे सब प्राणियोंके प्रति समानता एवं प्रेम-भाव दृढ़ होता है। इनसे यह भी सूचित होता है कि जीवकी कोई अवस्था (योनि) शाश्वत नहीं है। हिंदू-धर्मके अनुसार परलोकमें अनन्तकालीन स्वर्ग या अनन्तकालीन नरक नहीं है—जीवके किसी जन्म या किन्हीं जन्मोंके पुण्य या पापमें ऐसी शक्ति नहीं है कि सदाके लिये उस जीवका भाग्य निश्चित कर दे। पुरुषार्थसे सुपथगामी होकर आत्मा उन्नत अवस्थाको प्राप्त कर सकती है तथा पतित होकर—कुपथगामी होकर अधःस्वरूपको भी धारण कर सकती है। इस तरह सर्वदा पुरुषार्थ, सत्प्रयत्न और आशाको प्रेरणा मिलती रहती है।

(३) ब्रह्मचर्य तथा काम-तत्त्व—ब्रह्मचर्यपर जितना जोर हिंदू-संस्कृतिने दिया है, उतना अन्य किसी संस्कृतिने नहीं। इसका कारण भी वही सब आत्माओंकी समानतावाला सिद्धान्त है, अर्थात् यह विश्वास कि वस्तुतः आत्मा लिङ्गादिके भेदोंके परे है, लिङ्गादि तो उसकी सांसारिक अवस्थाएँ हैं जो कि परिवर्तनशील हैं। लेकिन साथ ही साधारण मनुष्योंकी योग्यताका खयाल रखते हुए काम-तत्त्वकी भी अवहेलना नहीं की गयी है, उसे परिमार्जित कर, धर्मके साथ संयुक्तकर, लौकिक तथा पारमार्थिक प्रयोजन—संयम एवं ब्रह्मचर्यके आदर्श—का साधन बना दिया गया है। इसीलिये गीतामें कामको, 'धर्मसे अविरुद्ध' कामको भगवान्-

का स्वरूप बताया गया है (१० । २८; ७ । ११)। विवाह-प्रथाका यह उद्देश्य है कि पति-पत्नी अपनी काम-वासनाको एक दूसरेमें सीमित करके सुसंयतरूपसे उसका उपयोग सुसन्तानोत्पत्तिके लिये पर्वदिनों आदिको छोड़कर ऋतुकालमें ही करें; क्योंकि धार्मिक समाजकी (अर्थात् धर्मकी) परम्परा सुसन्तानोंके होनेसे ही चल सकती है। परंतु पति-पत्नीका सम्बन्ध केवल काम-वासनाके लिये नहीं है। वे धर्म और अर्थ दोनोंमें परस्पर सहायक और सखा हैं; काम-सेवन तो इन दोनों सखाओंका एक धर्म-कार्यके लिये विहित कालमें पवित्र भावनासे सम्मिलन है। और फिर एक पुत्रकी उत्पत्तिके बाद तो सन्तानोत्पत्तिका भी उतना प्रयोजन नहीं रहता; क्योंकि धर्मके लिये तो एक ही पुत्र पर्याप्त है (मनु० ९ । १०६-७) और उसके बाद 'आत्मा वै पुत्रनामासि'के अनुसार स्व-स्त्रीके प्रति भी पवित्र जायाभाव रखनेका संकेत है (मनु० ९ । ८)। काम-वासनाको भी इतना पवित्र तथा संयममय स्वरूप दे देना अन्य संस्कृतियोंमें नहीं है।

(४) **संयुक्त पारिवारिक जीवन**—इसका भी उद्देश्य कुटुम्बके सब मनुष्योंको उनके धर्म, अर्थ और कामके साधनमें समुचित व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका अवसर देना और साथ ही पारस्परिक सहयोग देना है; क्योंकि प्रधान उद्देश्य यही है कि प्रत्येककी आत्माको उसकी योग्यताके अनुसार पूर्ण विकासकी ओर अग्रसर करना। पारस्परिक सहयोगके लिये परस्परके प्रति आदरका भाव रक्खा गया है। यदि पुत्रके लिये 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' है, तो पिताके लिये भी 'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्' और 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रत्वमाचरेत्' है। यदि पत्नीके लिये उपदेश है कि वह पतिको देवता समझे, तो पतिके लिये भी यह है कि वह स्त्रीको देवीस्वरूपा तथा सखाके समान माने—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥
(मनु० ३ । ५६)

'जहाँ नारियोंकी पूजा की जाती है—उनका सम्मान किया जाता है,वहाँ देवताओंकी प्रीति होती है। जहाँ स्त्रियोंकी पूजा नहीं की जाती, वहाँ सब काम निष्फल होते हैं।'

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥
(मनु० ३ । ५७)

'जहाँ स्त्रियाँ दुःखित होती हैं—सतायी जाती हैं, वे कुल शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। जहाँ स्त्रियाँ दुःखमें नहीं होतीं, वहाँ सदा ऋद्धिकी वृद्धि होती रहती है।'

और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥
(मनु० ३ । ६०)

'जिस कुलमें पत्नीसे पति प्रसन्न है और पतिसे पत्नी प्रसन्न है—दम्पति एक दूसरेको सन्तुष्ट रखते हैं—निश्चय जानो कि उस कुलमें कल्याणका सर्वदा निवास रहता है।'

इसी प्रकार भाई-बहिन और अन्य सगे-सम्बन्धियोंके भी प्रति बर्ताव किया जाता है।

(५) **आश्रम-व्यवस्था**—हिंदूकी दृष्टिमें जीवनका लक्ष्य भोग नहीं, संग्रह नहीं, किंतु त्याग और परोपकार है। उसका जीवन धर्म-प्रधान है। अतः उसका प्रारम्भ धार्मिक शिक्षा और पवित्र रहन-सहन—ब्रह्मचर्याश्रमसे होता है। गृहस्थाश्रममें भी, जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, वह 'त्यागमय भोग' का जीवन बिताता है तथा अन्तमें वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमोंमें पूर्णतः उच्चतर धर्मकी ओर लगता है। इस प्रकार गृहस्थाश्रमकी भित्ति ब्रह्मचर्याश्रम है तो उसका लक्ष्य वानप्रस्थाश्रम और संन्यास है। पुत्रकी इच्छा हिंदू इसीलिये करता है कि उसे गृहस्थाश्रमका भार सौंपकर स्वयं पूर्णतः उच्च धर्मकी ओर लग सके।

(६) **वर्ण-भेद**—Struggle for existence (जीवनके लिये संग्राम) नहीं, किंतु प्रतिस्पर्द्धाका अभाव हिंदू-संस्कृतिका ध्येय है; और इसीके एक उपाय-स्वरूप वर्ण-प्रथाका विधान है, जिसका मतलब है—सांसारिक सम्पत्तिके लिये अपने वर्ण और जातिकी यानी पैतृक आजीविकाको अपनाकर उससे सन्तुष्ट रहना और उसके द्वारा जो सम्पत्ति प्राप्त हो, उसे समाजमें वितरण करना। प्रायः मनुष्योंके लिये पैतृक व्यवसाय कितना उपयुक्त है और उसे अपनानेसे कितनी कठिनाइयों और अशान्तिसे त्राण हो जाता है, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि यदि किसीमें विशेष योग्यता हो तो वह क्या करे? इसका उत्तर यह है कि अर्थ-साधनके लिये वर्ण-प्रथाका नियम है, अहिंसा आदि धर्मोंके साधनके लिये नहीं। एक व्याध तथा एक जुलाहा भी तत्त्ववेत्ता और धर्मपरायण हो सकता है; परंतु आजीविकाके लिये वह अपने वर्णका उत्तम काम ही करे।

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने जपदानयोः॥

अर्थात् 'स्त्री, भोजन और धनमें—अर्थ और काममें—सन्तोष करे; परंतु ज्ञान-साधनमें, उपासनामें और दान करनेमें सन्तोष-वृत्ति न रक्खे।' यहाँ भी प्रश्न किया जा सकता है कि धनमें सन्तोष रखनेसे अर्थात् अल्प-धन या धनाभावमें भी संतुष्ट रहनेसे धनके विना दान किस तरह किया जा सकेगा। इसका उत्तर है कि अभय-दान एवं ज्ञान-दान तथा अपनी आत्माको पापोंसे बचाकर उसकी दुर्गतिसे रक्षा करना—ये दान सबसे बढ़कर हैं और इनमें पैसेकी आवश्यकता नहीं है। धनका दान तो धनोपार्जनमें जो पाप होता है, उसके किञ्चित् प्रायश्चित्तस्वरूप है। इसके अतिरिक्त अपनी धनोपार्जनकी तृष्णाको कम करनेसे औरोंको धनोपार्जनका अधिकतर अवसर मिलता है—आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा कम होती है, यह भी दान ही है। इस प्रकार यदि किसीमें विशेष योग्यता हो तो सामाजिक कल्याण तथा आत्मकल्याण विशेषरूपसे करे; किंतु आजीविकाके लिये अपने वर्णानुसार कार्यसे ही सन्तुष्ट रहे। हिंदू-संस्कृति जहाँ एक ओर लौकिक आकाङ्क्षाएँ घटाकर पूर्ण अपरिग्रहकी ओर ले जाती है, वहाँ दूसरी ओर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द और पूर्ण शक्तिका शाश्वत भोक्ता—साक्षात् परमात्मा—बननेकी ओर प्रेरणा करती है।

(७) सादगी और शान्ति—ये हिंदू-संस्कृतिकी महान् विभूतियाँ हैं। इसके अनुसार जीवन (Standard of life) को उन्नत करनेका अर्थ आवश्यकताओंको—सांसारिक पदार्थोंके संग्रहको—बढ़ाना नहीं है; किंतु अपने नैतिक स्तरको ऊँचा करना है, अपने सुख और शान्तिको सांसारिक पदार्थोंसे स्वाधीन बनाना है। इसलिये वर्ण-प्रथामें अपरिग्रही एवं त्यागमय जीवनको—ब्राह्मण वर्णको सर्वोच्च पद दिया गया है।

आजीविकाके अनुसार वर्ण विभिन्न होनेपर भी वे सभी समाजके अङ्ग हैं और उनमें पारस्परिक प्रेम एवं बन्धुत्वका अभाव नहीं समझना चाहिये। यदि उपमाके तौरपर शूद्रवर्णकी उत्पत्ति परमात्माके चरणोंसे और ब्राह्मणवर्णकी मुखसे बतायी गयी है तो इससे यही सूचित होता है कि ब्राह्मणकी तरह शूद्र भी उसी देहका एक आवश्यक अङ्ग है। चैतन्यकी दृष्टिसे मुखमें और पैरमें क्या अन्तर है ? और फिर उसी चरणसे गङ्गाजीकी भी तो उत्पत्ति है, उसी चरणको भक्तजन सबसे अधिक चाहते हैं, उसीसे तीर्थयात्रा होती है, जब कि मुखसे तो उच्छिष्टता भी आ जाती है। प्रजापति और मित्रावरुण तो पैरसे भी निकृष्टतर अङ्ग बताये गये हैं (भागवत २। १। ३२), तो क्या वे निकृष्ट हो गये ? स्वयं विष्णु भी पादेन्द्रियके अभिमानी देवता हैं (भागवत ३। २६। ५८), तब पैरको अधम कैसे कह सकते हैं ? अतः शूद्रोंकी श्रीचरणोंसे उत्पत्ति बताना उनकी अधमताका चिह्न नहीं है।

(८) सामाजिक जीवन—जितने त्यौहार हिंदू-संस्कृतिमें हैं, उतने अन्य किसी संस्कृतिमें नहीं हैं और उन सबका धर्मसे सम्बन्ध है। जहाँ हिंदूके लिये आत्मध्यानके लिये वनमें एकान्त-साधना है, वहाँ उसके त्यौहार और सामाजिक जीवन—

'सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै' तथा 'व्यशेम देवहितं यदायुः'

—के मूर्तिमान् उदाहरण हैं।

(९) मूर्ति-उपासना—अर्थात् अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अवाङ्मनसगोचर बताये गये निराकार ब्रह्मकी साकाररूपमें अवतारणा और धारणा करना—उसे भक्ति तथा साधन-सुलभ बनाना। तथाकथित एकेश्वरवादियोंकी ओरसे प्रायः यह निन्दा अथवा परिहासके ढंगसे कहा जाता है कि हिंदू तैंतीस करोड़ देवताओंको मानता है। लेकिन, क्योंकि परमात्मस्वरूप आत्मा सभीमें है, अतः सर्वमें परमात्मरूपकी भावना करनेवाले हिंदूके लिये देवताओंकी तैंतीस करोड़ संख्या भी बहुत कम है। वह तो जहाँ भी सौन्दर्य, पवित्रता, महानता देखेगा, वहीं परमात्माका दर्शन करना चाहेगा।

(१०) शौच—शरीरको अपवित्र मानते हुए भी उसके अशुचित्वको साक्षात् करनेके लिये तथा 'शुचित्व' के प्रति प्रेमको जगाकर परम शुचि आत्माका प्रेमी बनानेके लिये बाह्य शौचाचारका भी हिंदू-संस्कृतिमें विशेष विधान है।

संक्षेपमें हिंदू-संस्कृतिका मुख्य गुण विषमता, प्रतिस्पर्द्धा और अशान्तिको दूर कर समता, समानता और शान्तिका साम्राज्य स्थापित करना है और यही उसका गौरव और उसकी उपयोगिता है; और इसी महिमासे मण्डित होकर, आजकलके जगत्में और जबतक संसारमें दुःख है, अशान्ति है, भय है, तबतक एक माताके तौरपर, एक त्राताके तौरपर, हिंदू-संस्कृति अन्य सब संस्कृतियोंकी ओर निहार सकती है और निहारती रहेगी। माताके इसी गौरवकी रक्षा करना, अपने आपको इसका सुपात्र बनाना, यह प्रत्येक हिंदूका धर्म है।

हिंदू-धर्मके भेद

(लेखक—दीवानबहादुर के० एस्० रामस्वामी शास्त्री)

हमारे धर्मग्रन्थोंमें धर्मका विचार कई दृष्टियोंसे किया गया है। इन विविध विचारोंको एकत्रकर उनका समन्वय किया जा सकता है। धर्मका समग्र और अखण्ड रूप देखनेके लिये ऐसा करना आवश्यक है। हिंदू-धर्मशास्त्रोंमें धर्मकी अनेकानेक परिभाषाएँ मिलती हैं; उनमेंसे चुनी हुई कुछ खास परिभाषाएँ यहाँ दी जाती हैं—

चोदनालक्षणार्थो धर्मः।

'भगवदाज्ञा धर्मका लक्षण है।'

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिससे इस लोकमें अभ्युदय और आगे परम कल्याणकी प्राप्ति हो, वह धर्म है।'

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

'धर्मका हनन करनेसे धर्म मारता है और धर्मकी रक्षा करनेसे वह रक्षा करता है।'

यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।

'जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहाँ विजय है।'

'धर्मस्तमनुगच्छति।'

'धर्म ही साथी है, जो मरनेपर भी पीछे-पीछे चलता है।'

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः॥

'धारण करनेवालेको धर्म कहते हैं, धर्म प्रजाको धारण करता है।'

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चतुर्विध पुरुषार्थोंमेंसे अर्थ और कामकी लालसा, विशेषतः इस युगमें, इतनी प्रबल है कि लोग इस बातको भूल ही जाते हैं कि इस अर्थ और कामका मूल धर्म है। केवल अर्थ अथवा केवल कामोपभोग जीवनका कोई उदात्त उद्देश्य नहीं है। इनका त्याग न करे; पर इनका ग्रहण भी वहीं उचित है, जहाँ ये धर्मके विरुद्ध न हों—बल्कि धर्मसे ही प्राप्त हों। धर्मके विपरीत जहाँ अर्थ और कामको स्वार्थमय आसुरी उपायोंसे प्राप्त करनेमें जीवन लगता है, वहाँ घृणा और द्वेष ही फैलते हैं।

धर्मार्थकामाः किल तात लोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ते तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सुपुत्रा॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा
धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥

(वा० रा० अयो० २१। ५६-५७)

'धर्मसे प्राप्त होनेवाले सुख-सौभाग्यादिकी प्राप्तिमें जो धर्म-अर्थ-कामरूप उपाय माने गये हैं, वे एक धर्ममें ही स्थित हैं, जैसे पतिके अधीन रहनेवाली स्त्री ही प्रियाचरण करनेवाली और सुपुत्रवती होती है। इस विषयमें मुझे कोई संदेह नहीं है। जिस कर्ममें तीनों पुरुषार्थ सन्निविष्ट न हों (पर एक धर्म हो) तो जिससे धर्म बनता हो, वही कर्म करना चाहिये। (धर्मको छोड़) अर्थपरायण रहनेवाला पुरुष इस लोकमें द्वेष्य होता है। ऐसे ही कामपरायणकी कामात्मता भी निन्दनीय है।'

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥

(गीता ७। ११)

भगवान् कहते हैं, 'मैं वही काम हूँ, जो धर्मके अनुकूल है।'

धर्मरहित काम, जो रावणरूपमें मूर्तिमान् है, कितना अनर्थकारी है—इसकी शिक्षा रामायणने, और धर्मरहित अर्थ, जो दुर्योधनरूपमें मूर्तिमान् है, कितना नाशकारी है—इसकी शिक्षा महाभारतने दी है। भागवतने यह बतलाया है कि अर्थ और काम पशु-जीवन हैं, मनुष्यको सदाचारके द्वारा इन दोनोंका नियन्त्रण कर पशुकोटिसे ऊपर उठना चाहिये। इससे भी ऊपर देवकोटिमें मनुष्य तब पहुँच सकता है, जब जीवका परम लक्ष्य—अर्थात् मोक्ष, ईश्वर-भक्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सतत उसके सामने रहे। इस लक्ष्यके सम्मुख होनेसे धर्म, अर्थ, कामका परस्पर-सम्बन्ध और फ़िर मोक्षके साथ उनका सम्बन्ध जान पड़ता है।

तदाऽऽर्यधर्मश्च विलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः॥

(श्रीमद्भा० १। १८। ४५)

'तब—राजाके न रहनेपर—मनुष्योंका वर्णाश्रमाचारयुक्त वैदिक आर्यधर्म लुप्त हो जाता है; अर्थ-लोभ और कामवासनाके

विवश होकर लोग कुत्तों और वन्दरोंके समान वर्णसंकर हो जाते हैं।'

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥
(श्रीमद्भा० १।२।९-१०)

'धर्मका फल है—संसारके बन्धनोंसे मुक्ति। उससे यदि कुछ सांसारिक सम्पत्ति उपार्जन कर ली तो यह कोई उसकी सफलता नहीं है। धनका फल है एकमात्र धर्मका अनुष्ठान; वह न करके यदि उससे कामोपभोगकी कुछ सामग्री इकट्ठी कर ली तो वह कोई लाभकी बात नहीं है। भोगकी सामग्रियोंका भी यह लाभ नहीं है कि इन्द्रियोंको तृप्त किया जाय; जितनेसे जीवन-निर्वाह हो, उतना ही भोग पर्याप्त है। जीवन-निर्वाहका भी यह फल नहीं है कि अनेक प्रकारके कर्मोंके पचड़ेमें पड़ा रहे। उसका लाभ तो यही है कि तत्त्व-जिज्ञासा हो और सत्यानुसन्धान करे।'

धर्मसे ही चित्तशुद्धि होती है। चित्तशुद्धिके विना भगवान्‌की ओर ले चलनेवाले कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्ति-योग और ज्ञानयोगके मार्गपर कोई चल नहीं सकता।

धर्मके कुछ अङ्गोंका निरूपण वर्णाश्रम-धर्मसे होता है। चातुर्वर्ण्यके मूलमें श्रेष्ठ-कनिष्ठ होनेकी कोई भावना नहीं है, बल्कि श्रमविभाग तथा परस्पर आश्रयकी नींवपर यह एक बुद्धिसंगत स्थायी सामाजिक व्यवस्था है। १९२० में महात्मा गान्धीने अपने 'यंगइंडिया' पत्रमें लिखा था, 'चातुर्वर्ण्यके पीछे किसीके उद्दाम श्रेष्ठ होनेकी भावना नहीं है, बल्कि यह आत्मसंस्कृतिकी विभिन्न पद्धतियोंके आधारपर किया हुआ वर्गीकरण है। सामाजिक स्थैर्य और उत्कर्षकी यही सबसे अच्छी व्यवस्था बन सकती थी।......प्रत्येक वर्ण पवित्र जीवनके विशिष्ट मार्गपर चलनेवाले सब कुनबोंका एक समूह होता है।......आनुवंशिक परम्पराके सिद्धान्तमें इसकी निष्ठा होती है।......वर्णभेद उच्चता या नीचताका कोई संकेत नहीं करता। विभिन्न दृष्टिकोण रखनेवालोंके विभिन्न जीवन-मार्गोंका होना इसमें मान्य है।' अंग्रेजीका 'कास्ट' शब्द पुर्त्तगालसे आया हुआ है। उसके अर्थमें उच्च-नीचका भाव है। वर्णमें यह भाव नहीं है। प्रत्येक वर्णका अपना सहज धर्म होता है, उसको वर्णधर्म कहते हैं। आश्रमधर्म चार आश्रमोंसे सम्बन्ध रखता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये चार आश्रम हैं। आत्मज्ञानके मार्गमें ये चार पड़ाव हैं, इनमेंसे होते हुए मनुष्य सुगमताके साथ क्रमशः त्यागके द्वारा आत्मज्ञानके अधिकाधिक व्यापक क्षेत्रोंमें पहुँचता है।

धर्मका एक और वर्गीकरण है। इसमें नित्य और नैमित्तिक कर्म आते हैं। नित्यकर्म ये हैं—

सन्ध्या स्नानं जपो होमः देवतानां च पूजनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च षट् कर्माणि दिने दिने॥

'स्नान, सन्ध्योपासन तथा जप, होम, देवतार्चन, अतिथि-सत्कार और वैश्वदेव—ये प्रतिदिन करनेके षट्कर्म हैं।'

नैमित्तिक कर्म वे हैं, जो विशेष अवसरोंपर, जैसे अमावस्या एवं पूर्णिमाके दिन दर्शपूर्णमास आदि किये जाते हैं। काम्य कर्म वे हैं, जो विशेष-विशेष कामनाओंकी पूर्तिके लिये किये जाते हैं।

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥
(मनु० १।११०)

'इस प्रकार मुनियोंने आचारसे धर्मकी प्राप्ति देखकर सब तपोंका परम मूल आचारको ही माना है।'

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते॥
(मनु० ४।१४६)

'नित्य शुभ आचरण करने और मनको वशमें रखनेवालोंका, जप और होम करनेवालोंका कभी पतन नहीं होता।'

धर्मका एक वर्गीकरण है, सामान्य और विशेष। सामान्य धर्म, जो सबके लिये समान हैं, ये हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

'अहिंसा, सत्य, चोरी न करना तथा इन्द्रियोंको वशमें रखना—यह चारों वर्णोंके लिये समान धर्म मनुने बताये हैं।'

गौतमने अपने धर्मसूत्रोंमें सामान्य धर्मको इस प्रकार कहा है—

अथाष्टावात्मगुणाः। दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति॥
(७।२०, २२)

'सब प्राणियोंपर दया, क्षमा, अनसूया, शुचिता, अतिश्रमवर्जन, शुभमें प्रवृत्ति, दानशीलता और निर्लोभता—ये आठ आत्मगुण हैं।'

विशेष धर्म वे है, जो स्त्री-पुरुष, वर्ण-आश्रम आदिके भेदसे उत्पन्न होते हैं—जैसे स्त्रियोंका स्त्री-धर्म, पुरुषोंका पुरुष-धर्म। वर्णोंमें ब्राह्मण-धर्म आदि। आश्रमोंमें ब्रह्मचारि-धर्म, गृहस्थ-धर्म आदि।

गौतमादि स्मृतिकारोंने आत्मगुणोंके अतिरिक्त जीवनकी विशेष-विशेष अवस्थाओंमें करनेके विशेष-विशेष संस्कारोंका भी निर्देश किया है (गौतमधर्मसूत्र अ० ८)। गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितक ऐसे ४० संस्कार हैं। संस्कार उसे कहते हैं, जिससे दोष हटते हैं और गुणोंका उत्कर्ष होता है।

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥
(मनु० २। २७-२८)

'गर्भको पवित्र करनेवाले होमसे, जातकर्म, चूडाकर्म, मौञ्जीबन्धन (उपनयन) आदि संस्कारोंसे द्विजोंके बैजिक (बीजसे आये हुए) और गार्भिक (गर्भजनित) दोष नष्ट हो जाते हैं। स्वाध्याय, व्रत, होम; वेदत्रयीका अध्ययन और तदनुकूल कर्म, देव-ऋषि-पितृ-तर्पण, प्रजोत्पादन, पञ्च महायज्ञ तथा ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंके द्वारा मानव-शरीर ब्राह्म अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिका योग्य साधन बनता है।'

श्रीमत् शङ्कराचार्य अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें कहते हैं—

संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा।
(१। १। ४)

अर्थात् 'जिसका संस्कार किया जाता है, उसमें गुणोंका आधान अथवा उसके दोषोंको दूर करनेके लिये जो कर्म किया जाता है, उसे संस्कार कहते हैं।'

चालीस संस्कारोंमेंसे गृहस्थके २६ संस्कार हैं—पाँच महायज्ञ (देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और ब्रह्मयज्ञ), सात पाकयज्ञ (स्मार्त्त), सात हविर्यज्ञ (श्रौत) और सात सोमयज्ञ। इन यज्ञोंमेंसे बहुत थोड़े यज्ञ पीछे व्यवहारमें रह गये।

गौतम कहते हैं

यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टावात्मगुणा न स ब्रह्मणस्सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति। यस्मिंस्तु खलु संस्काराणामेकदेशोऽप्यष्टावात्मगुणा अथ स ब्रह्मणस्सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति।

अर्थात् 'जिसके ये चालीसों संस्कार हो चुके हों, पर जिसमें आठ आत्मगुण न हों, वह ब्रह्मका सायुज्य और सालोक्य नहीं पा सकता। परंतु जिसमें आठों आत्मगुण हों और संस्कारोंमेंसे जिसके केवल कुछ ही संस्कार हुए हों, वह ब्रह्मके साथ सायुज्य और सालोक्य प्राप्त कर सकता है।'

भगवान् मनु कहते हैं—

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नास्ति संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

मानव-धर्मशास्त्रमें इस प्रकार सब प्राणियोंके प्रति प्रेम और जप, इन्हीं दोनों सिद्धि बतलाती हैं; चाहे और कुछ कोई करे या न करे। कुल्लूक भट्टने इस श्लोककी टीका करते हुए कहा है—

ब्राह्मणो जप्येनैव निस्सन्देहां सिद्धिं लभते मोक्षप्राप्तियोग्यो भवति। अन्यद्वैदिकं करोतु न करोतु वा। यस्मान्मैत्रो ब्राह्मणः ब्रह्मणः सम्बन्धी ब्रह्मणि लीयते इत्यागमेषूच्यते। मित्रमेव मैत्रः। स्वार्थेऽण्। यागादिषु पशुबीजादिवधाच्च सर्वप्राणिप्रियता संभवति तस्माद्यागादिना विनापि प्रणवादिजपनिष्ठो निस्तरतीति जपप्रशंसा न तु यागादीनां निषेधस्तेषामपि शास्त्रीयत्वात्॥

'ब्राह्मण जपसे ही निस्सन्देह सिद्धिलाभ करता है, मोक्ष-प्राप्तिके योग्य होता है। वह और कुछ वैदिक कर्म करे या न करे। कारण, मैत्र ब्राह्मण, ब्रह्मसम्बन्धी, ब्रह्ममें लीन होता है—यह आगमोंमें कहा है। यज्ञादिमें पशुबीजादिवध होनेके कारण उनकी सर्वप्राणिप्रियता सम्भावित नहीं है। अतः यागादिके बिना भी प्रणवादि जपमें निष्ठावाला पुरुष तर जाता है। यह जपकी प्रशंसा है—यागादिकोंका निषेध नहीं; क्योंकि यागादिक भी शास्त्रीय हैं।'

धर्मका और एक विभाग छान्दोग्य उपनिषद्में और भगवद्गीताके १८ वें अध्यायमें वर्णित है—यज्ञ, दान और तप। इन्हींमें ईश्वरके प्रति, मनुष्योंके प्रति और अपने प्रति सब कर्तव्य आ जाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये पावन करनेवाले हैं। किसी भी अवस्थामें इनका त्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि अहंतायुक्त फलासक्तिका त्याग कर इन्हें अवश्य करना चाहिये (गीता १८। ५)। गीताके तृतीय अध्यायमें यह वर्णन आता है कि "यज्ञोंके साथ प्रजाओंको उत्पन्नकर प्रजापतिने उनसे कहा, इस यज्ञके द्वारा तुमलोग फूलो-फलो, यह तुम्हारी सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला होगा। इससे देवताओंको प्रसन्न करो, देवता तुम्हें प्रसन्न करें; इस प्रकार परस्पर प्रीति लाभकर परमश्रेयको प्राप्त करो। यज्ञसे प्रसन्न होकर देवता इष्ट भोग प्रदान करेंगे। उनके दिये हुए भोग उनका यजन किये बिना जो

स्वयं भोगता है, वह चोर ही है। यज्ञ करके जो शेष भाग ग्रहण करते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त होते हैं; जो अपने ही लिये पाक करते हैं, वे पाप भक्षण करते हैं।' (गीता ३। १०—१३)।

भिन्न-भिन्न वर्ण हैं, उनकी भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ हैं। इसी प्रकार आपत्कालके आपद्धर्म हैं। उनके सम्बन्धमें यहाँ विस्तारसे लिखना सम्भव नहीं है। सामान्यतः ब्राह्मणके लिये षट्कर्मसे जीवन-निर्वाह करनेको कहा गया है। षट्कर्म हैं— यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह। गीतामें अन्य वर्णोंके लिये तो वृत्तियोंका वर्णन है, पर ब्राह्मणोंके लिये कुछ नहीं कहा गया है। समयके साथ वृत्तियोंके प्रकार बहुत बढ़ गये हैं और उनमें बहुत कुछ परिवर्तन भी हुआ है। उदाहरणार्थ, पराशरस्मृतिमें कहा है कि 'षट्कर्मसहितो विप्रः कृषिकर्म च कारयेत्' (षट्कर्मके साथ ब्राह्मण कृषिकर्म भी करा सकता है)। (२। २)

स्वयं कृष्टे तथा क्षेत्रे धान्यैश्च स्वयमर्जितैः।
निर्वपेत् पञ्चयज्ञांश्च क्रतुदीक्षां च कारयेत्॥

(पाराशर० २। ६)

'स्वयं जोती हुई भूमिसे जो धान्य स्वयं अर्जित किया हुआ हो, उससे पञ्चयज्ञ करे और क्रतुदीक्षा भी कराये।'

गीताने वैश्योंके लिये केवल 'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम्' कहा, पर पाराशरस्मृतिने उसमें 'लाभकर्म' और 'रत्नकर्म' और जोड़ा है। शूद्रोंके लिये गीतामें केवल 'परिचर्यात्मक-कर्म' है, पर पाराशरस्मृतिमें—

लवणं मधु तैलं च दधि तक्रं घृतं पयः।
न दुष्येच्छूद्रजातीनां कुर्यात् सर्वेषु विक्रयम्॥

'लवण, मधु, तेल, दही, घी, दूध आदि बेचनेमें शूद्रोंके लिये कोई दोष नहीं माना है।' पीछे कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रमें शूद्रोंका वार्त्ता (कृषि, उद्योग और व्यापार) तथा कारुकुशीलवकर्म (कारीगरी और गाने बजानेके काम) में अधिकार माना है।

यह कहा जाता है कि कृतयुगमें मनुस्मृतिका तथा अन्य तीन युगोंमें यथाक्रम गौतम, शंख-लिखित और पाराशरस्मृतियोंका प्रामाण्य है। सामान्यतः मनुस्मृतिकी मान्यता ही सबसे अधिक है।

कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः।
द्वापरे शङ्खलिखितौ कलौ पाराशरः स्मृतः॥

× × × ×

मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते।

'मनुके अभिप्रायके विरुद्ध जो स्मृति होगी, वह न मानी जायगी।'

यद्वै किंचिन्मनुरवदत्तद्भेषजम्। (श्रुति)

'मनुने जो कुछ भी कहा है, वह औषध है।'

पाराशरस्मृतिका व्यवहार-प्रकरण लुप्त हो गया है, केवल आचार और प्रायश्चित्त-प्रकरण शेष हैं। ये सभी पुरातन स्मृतिग्रन्थ हैं और भारतवर्षमें सर्वत्र माने जाते हैं।

धर्मके मूल स्रोत वेद, वेदविदोंकी स्मृति और शील, सत्पुरुषोंके आचार और आत्मतुष्टि हैं; यथा—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

(मनु० २। ६)

कुल्लूक भट्ट इस श्लोककी टीका करते हुए 'आत्मनस्तुष्टि' का अर्थ करते हैं—

साधूनां धार्मिकाणाम् आत्मतुष्टिश्च वैकल्पिकपदार्थ-विषया धर्मे प्रमाणम्।

अर्थात् 'जिस विषयमें विकल्प हो, उस विषयमें सत्पुरुषोंकी आत्मतुष्टि धर्म-निर्णयमें प्रमाण है।'

विभिन्न धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों और निबन्धग्रन्थोंका स्वरूप और कालक्रम-वर्णन मैंने विस्तारपूर्वक एक ग्रन्थमें किया है। इन धर्मसूत्रादि ग्रन्थोंमें आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त-विषय वर्णित है। व्यवहार-प्रकरण अब बहुत कुछ कानूनों और न्यायालयोंके निर्णयोंद्वारा बदल गया है। प्रायश्चित्त-प्रकरण भी प्रार्थना, पूजा और भक्तिके प्रभावसे बहुत क्षीण हो गया है।

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां श्रीकृष्णानुस्मरणं परम्॥

'जो-जो तपःकर्मात्मक अशेष प्रायश्चित्त हैं, उन सबमें सर्वोपरि प्रायश्चित्त श्रीकृष्णानुस्मरण है।'

वृत्तियोंके विषयमें तो बहुत परिवर्तन हो गया है। अस्पृश्यता प्रायः उठ ही गयी है। पर बहुत-से संस्कार, विशेषतः षट्कर्म, उपनयन, विवाह, तर्पण, श्राद्ध और संन्यास अभीतक जीवित हैं। विज्ञान और राष्ट्रवाद, समाजवाद और साम्यवादके इस युगमें आत्मगुणोंका, विशेषतः सत्य और अहिंसाका आग्रह महात्मा गांधीके द्वारा इतना बढ़ा—यह बात कभी भुलायी नहीं जा सकती। धर्म और मोक्षकी भावना भारतीयोंके हृदयमें इतनी बद्धमूल है कि वह न्यूनाधिक-रूपमें सदा बनी रहेगी।

भारतीय धर्म-सम्प्रदायके मूलतत्त्व

(लेखक—श्रीमतिलाल राय)

भारतने धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रका गठन किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतवासियोंको धर्मविहीन होना चाहिये। इसका अर्थ है कि भारतकी राष्ट्र-शक्ति भारतके सर्व सम्प्रदायोंके धर्मको निरपेक्ष दृष्टिसे देखेगी। किसी धर्मके प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टि उसकी न होगी।

जब भारतवर्ष विभिन्न धर्मोंका आश्रय स्थल है तो राष्ट्र-शक्तिकी इस प्रकारकी दृष्टि प्रशंसनीय ही है। भारतराष्ट्र जिस प्रकार हिंदुओंके मन्दिर तथा तीर्थ-महिमाकी रक्षा करेगा, उसी प्रकार मुसलमानोंकी मस्जिदोंके प्रति भी श्रद्धावान् रहेगा। ईसाइयोंके गिरजो, बौद्धोंके विहार तथा सिक्खोंके गुरुद्वारोंकी वह समानभावसे रक्षा करेगा। इस प्रकारकी उदार और महान् हृदयशीलता भारतवासीके लिये ही सम्भव है।

हम हिंदू हैं, अतः हिंदू-धर्मकी विशेषता और स्वतन्त्रताकी हम निश्चय ही रक्षा करेंगे। हमारी जातीय शिक्षाका आधार होगी भारतकी सनातन संस्कृति और ऐतिह्य। इस स्वधर्मकी रक्षामें अग्रसर होनेपर विभिन्न सम्प्रदायोंकी सृष्टि अनिवार्य है। इस क्षेत्रमें साम्प्रदायिकताका नाम सुनते ही यदि राष्ट्र-शक्ति क्षुण्ण होती है, तो हमें कहना पड़ेगा कि इस प्रकारका राष्ट्रचक्र सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है। क्योंकि सम्प्रदायोंके न होनेपर भारत-की वैचित्र्यपूर्ण धर्म-भित्तिकी रक्षा कौन करेगा? बङ्गालमें दुर्गोत्सव कौन करेगा? कौन पिचकारी हाथमें लेकर होली खेलनेके लिये अग्रसर होगा? शिवरात्रिको उपवास करके कौन सारी रात घंटा-घड़ियाल बजाता हुआ शिवपूजामें रत रहेगा? सम्प्रदाय न रहनेपर ईद कौन मनावेगा? बकरीदमें किसका चित्त उन्मत्त हो उठेगा? मुहर्रममें झंडा उठाकर कौन जुलूसमें निकलेगा? ईसाई सम्प्रदायके बिना गुडफ्राइडे कौन मनावेगा? क्रिसमस डे मनानेका अधिकार किसको होगा? अतएव यह निश्चित है कि जबतक धर्म-वैचित्र्य रहेगा, तबतक सम्प्रदाय अवश्य रहेंगे। हम तो यह भी कहते हैं कि सम्प्रदाय अनादिकालसे चले आ रहे हैं, और अनन्त कालतक रहेंगे। अतएव साम्प्रदायिकताका नाम लेकर यदि राष्ट्र-शक्ति किसीको जिम्मेवार ठहराती है तो उसकी भ्रान्तिको दूर करनेके लिये सारे सम्प्रदायोंको सिर उठाना चाहिये और उसका प्रतिवाद करना चाहिये। हम इस शास्त्र-वाणीको सनातन-वाणीके रूपमें स्वीकार करते हैं कि—

सम्प्रदायविहीना ये धर्मास्ते निष्फला मताः।

'जो धर्म सम्प्रदायविहीन हैं, वे निष्फल मत हैं।' राष्ट्र-शक्ति असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति रखते हुए भी भारतके इन समस्त (ईश्वरकी ओर ले जानेवाले विभिन्न मार्गरूप) सम्प्रदायोंके महत्त्वकी रक्षा कर सकती है। यह बात अत्यन्त युक्तिपूर्ण है।

धर्मका लक्ष्य है—आत्माका अनुसंधान और मुक्ति। क्या विश्वमें इस प्रकारका मनुष्य आप खोज सकते हैं, जो आत्मचेतनाका अनुसंधान नहीं करना चाहता, प्राकृत द्वन्द्वोंको दूर कर मुक्ति प्राप्त करना नहीं चाहता? और यदि सभी धर्मोंका उद्देश्य और लक्ष्य एक है तो धर्मको हम अभिन्न अद्वयवस्तुके रूपमें ही ग्रहण करेंगे। परंतु यह धर्मलाभ प्रकृतिभेदसे विभिन्न आचारका आश्रय लेकर होता है। और ये विभिन्न आचार ही सम्प्रदाय-भेद रचते हैं। जिसका लक्ष्य धर्म है, वह हिंदू हो तो भी मस्जिदको दूसरे सम्प्रदायकी धर्मसाधना-का क्षेत्र समझकर मर्यादा प्रदान करनेमें कुण्ठित न होगा। इसी प्रकार यदि कोई मुसलमान या ईसाई पूर्णतः धर्मप्राण है तो वह भी हिंदूके मन्दिर और तीर्थको छोटी नजरसे नहीं देखेगा। खेद है कि आज मुसलमान-ईसाई ही क्यों, हिंदू भी इतने सङ्कीर्ण-हृदय हो गये हैं कि सम्प्रदाय-भेदसे परस्पर द्वेषभाव उत्पन्नकर मानवताका अपमान कर रहे हैं! भारतकी राष्ट्रशक्ति यदि इस प्रकारकी विकृत साम्प्रदायिकताका प्रतिवाद करती है तो हमारे लिये आपत्तिका कोई कारण नहीं रह जाता।

धर्म, कर्म और ज्ञान सापेक्ष हैं। कर्महीन धर्म अथवा ज्ञानविहीन धर्म जिस क्षेत्रमें आश्रय लेते हैं, उसी क्षेत्रमें उत्कट साम्प्रदायिक विद्वेषका उत्पन्न होना अवश्यम्भावी होता है। इस्लामके अनुयायी यदि हिंदूको प्रतिमापूजक कहकर गाली देते हैं, और हिंदू यदि प्रतिमाशून्य मस्जिदमें मुसलमानको पश्चिमाभिमुख खड़े होकर उपासनामें रत देखकर हँसते हैं, तो उन दोनोंको ही धर्मकी महिमाका पता नहीं है—यह मानना होगा। आज कर्म हो गया है स्वार्थसिद्धिका सेतु और ज्ञान हो गया है केवल पुस्तकीय विद्या। ईश्वरीय कर्म और ईश्वरीय ज्ञानसे वञ्चित होकर आज भूतलमें अधिकांश लोगोंने सच्चे धर्मको खोकर सम्प्रदायकी रचना की है। इस

नर-नारायण—देवगढ़ दशावतार-मन्दिर
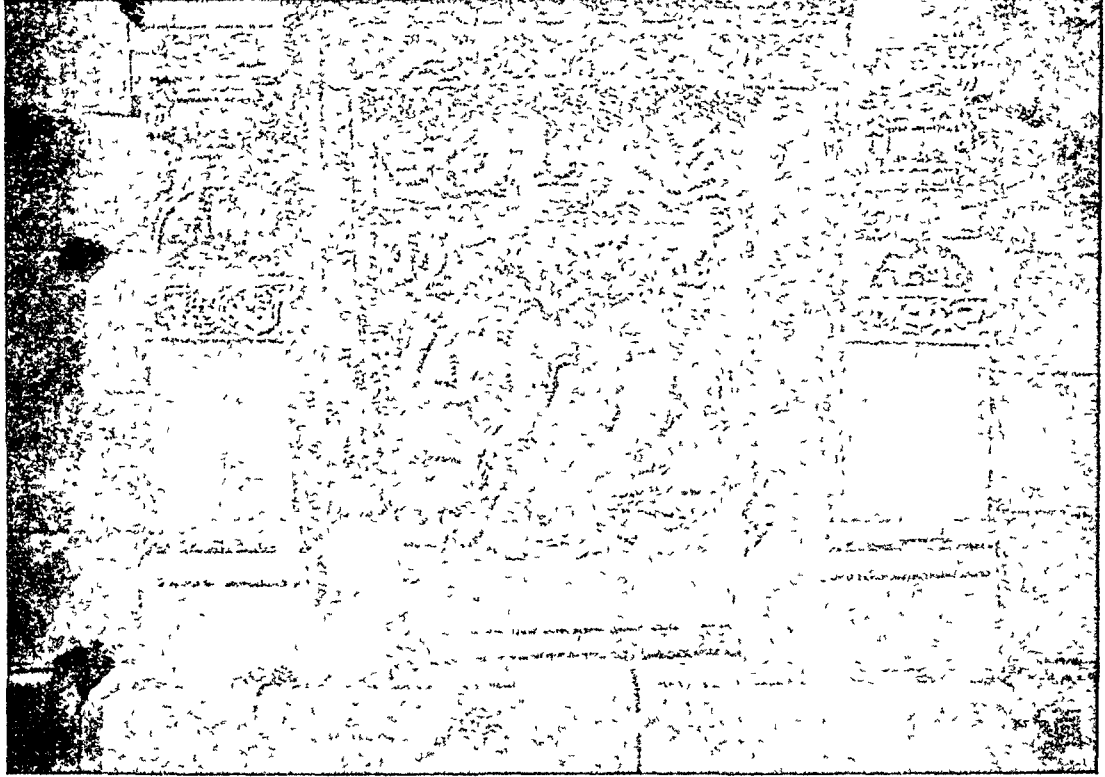
गजोद्धारका दृश्य—देवगढ़ दशावतार-मन्दिर

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे
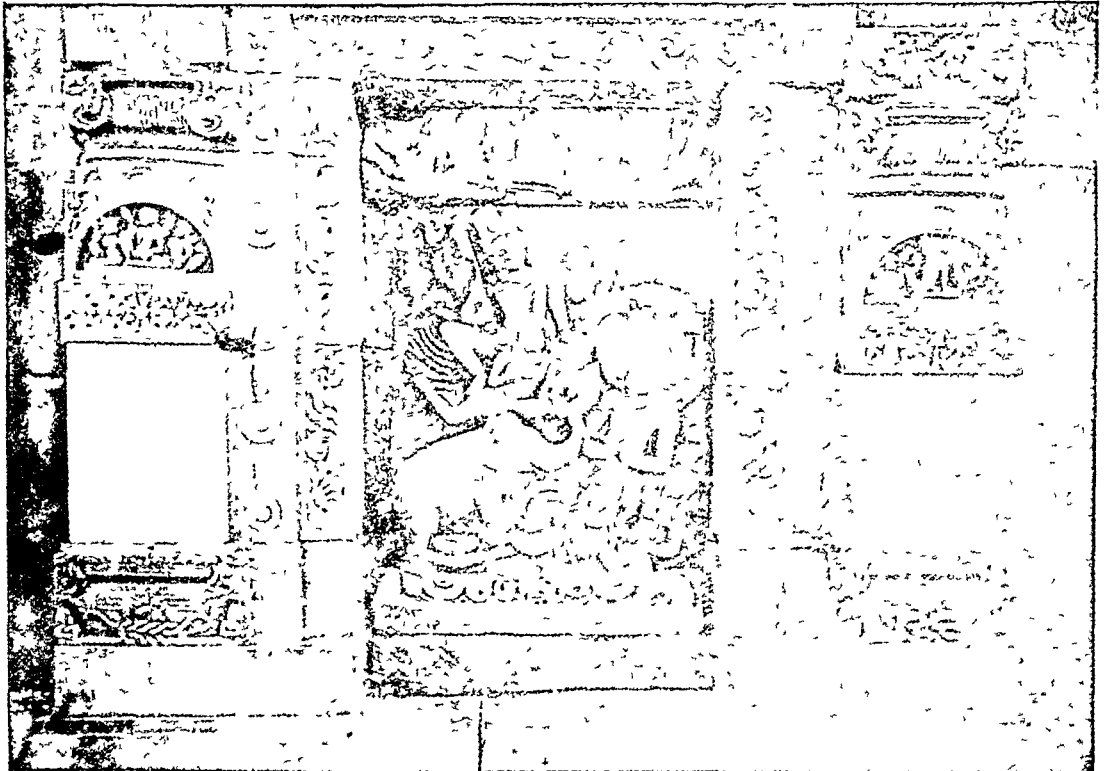
शेषशायी विष्णु—देवगढ़ दशावतार-मन्दिर
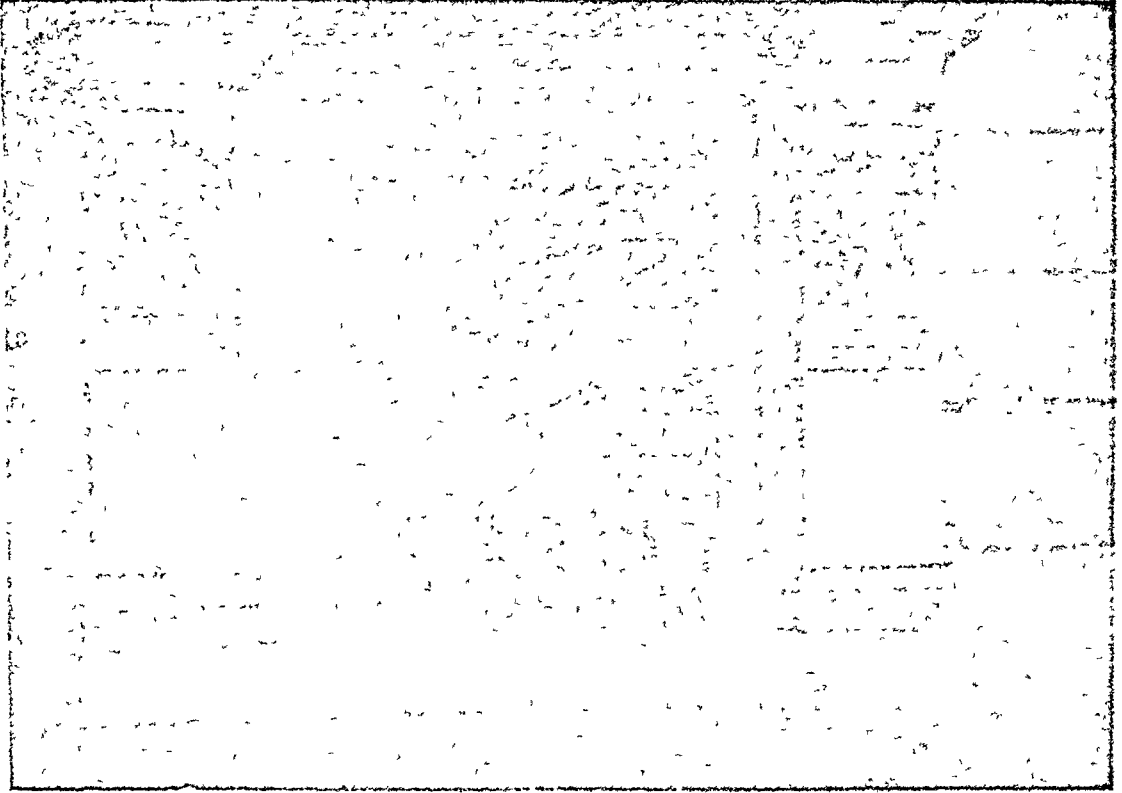
अहल्योद्धार—देवगढ़ दशावतार-मन्दिर

गुप्तकाल, लगभग ५ वीं शती]

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

प्रकारके सम्प्रदायोंको हेय समझकर अपनी जातिमें शुद्ध धार्मिक सम्प्रदायोंकी सृष्टि करनी होगी। भारतकी मुक्ति और अभ्युत्थान इसीके लिये हुआ है। राष्ट्र-शक्तिके धर्मनिरपेक्ष न होनेपर भारतके सब धर्मोंको मर्यादा प्रदान करनेमें बाधा आती है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस देशमें सम्प्रदायका नाम-गन्ध नहीं रहेगा। भगवान् न करें कि कभी हमारी इस प्रकारकी दुर्बुद्धि हो!

हिंदू-जाति इन सारी बातोंको अपने हृदयमें अनुभव करती है। इसी कारण उसने अपौरुषेय वेदका आश्रय लेकर स्मृति और न्यायके विधानको नतमस्तक होकर स्वीकार किया है। हिंदू धर्मको जानना चाहता है, पर अपनी कपोल-कल्पित बुद्धिके द्वारा नहीं। जो धर्म श्रुतिविरुद्ध है, जो धर्म युक्तिमूलक नहीं है, जो धर्म अनुभूतिके द्वारा ग्राह्य नहीं है, हिंदू उसे स्वीकार नहीं करता। हिंदू धर्मके लिये ही खोजता है ब्रह्मनिष्ठ गुरुको; मन्त्रका आश्रय लेकर वह भावको मूर्त बनाता है प्रतिमामें। यह तत्त्व पल्लवग्राही बुद्धिसे अवधारण नहीं किया जा सकता; इसी कारण अतीत कालमें एक श्रेणीके लोगोंने परधर्मके प्रभावसे भारतीय धर्मके इस साधन-पर्यायको अस्वीकार करना चाहा था; किंतु भारतमें सनातनधर्मका अनुसरण करते हुए ही विष्णुयशकी जाति सब धर्मोंके माहात्म्यकी रक्षा करनेमें समर्थ होगी। वेद-प्रसिद्ध वैध और निषिद्ध आचारका अतिक्रमण करके भी अनन्य चित्तसे ईश्वर-स्मरण सम्भव है, इसे हिंदू-जातिने स्वीकार किया है।

भारतमें प्रचलित विधि-निषेधके मार्गके बाहर खड़ा होकर भी यदि कोई मनुष्य ईश्वरपरायण होता है, तो वह भी भगवान्का मनुष्य है। जो मेरा आचार है, वह तुम्हारा नहीं भी हो सकता है। यहाँतक कि 'जो अत्यन्त दुराचारी है, वह भी ईश्वरपरायण हो सकता है'—यह भी घोषणा कर रहा है गीताका मन्त्र (९। ३०)। 'केवल असाम्प्रदायिक बनो, साम्प्रदायिकता मत रक्खो,' यह कहनेसे ही मौलिक सत्यकी प्रतिष्ठा नहीं होती। गीताके धर्मको हृदयके द्वारा ही ग्रहण और पालन करना होगा।

हम भारतकी हिंदू-जाति हैं। हमें प्राप्त हुआ है सनातन-धर्म—सार्वजनीन धर्म। हमारा धर्ममत शाश्वत है, उदार और विराट् है, इसमें सारे धर्मों और सम्प्रदायोंको स्थान है। ऐसा कोई खास आचार नहीं है, जिसका आश्रय न लेनेसे ईश्वरपरायण होनेमें बाधा पड़ती है। आचार-भेद है, इसी कारण सम्प्रदाय-भेद भी अनिवार्य है। इस बातको सबसे पहले भारतकी हिंदू-जातिने ही समझा था। केवल शास्त्र ही इसकी साक्षी नहीं देते। साधक रामप्रसादके गानमें भी हम देखते हैं—

'ओ रे मन, बलि भज काली, इच्छा हय तोर जे आचारे।'

अर्थात् 'हे मन! मैं कहता हूँ—तुम कालीको भजो; फिर चाहे तुम्हारी जिस किसी भी आचारमें रहनेकी इच्छा हो।'

आचारकी भिन्नतासे सम्प्रदायकी भिन्नता होगी ही; परतु जिस आचारमें मनुष्य ईश्वरपरायण होता है, उसी आचारको भारतने स्वीकार कर लिया है। इसी स्वीकृतिके ऊपर असाम्प्रदायिक भारत राष्ट्रकी सुप्रतिष्ठा हो, यह मेरी कामना है।

अपनी संस्कृति*

अपनी संस्कृतिका अभिमान,
करो सदा हिंदू-सन्तान।
सब आदर्शोंकी वह खान,
नररत्नत्व करेगी दान॥
अपनी चिरसंस्कृतिकी मूर्ति,
है मनुष्यताकी परिपूर्ति।
प्राणरूप उसका पुरुपार्थ,
साधन करता है परमार्थ॥
युग युगके सञ्चित संस्कार,
ऋषि-मुनियोंके उच्च विचार।
धीरों, वीरोंके व्यवहार,
हैं निज-संस्कृतिके शृंगार॥

—मैथिलीशरण गुप्त

* 'हिंदू' नामक काव्यसे।

हिंदू-संस्कृति और राष्ट्रियता

(लेखक—प० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

संस्कृतिका स्वरूप—बहुसंख्यक जनता या जाति एक ही प्रकारके संस्कारोंसे परिप्लुत होती है। ये संस्कार ही उस समूहको एक 'जाति' का नाम और रूप देते हैं। वस्तुतः एक-जैसे संस्कारोंके मूर्तरूपको ही संस्कृति कहते हैं, जिसकी व्यञ्जना वेष, भाषा, आचार-व्यवहार तथा रीति-रिवाज आदिसे होती है। चूँकि ये संस्कार परम्परारूपसे आते हैं, इसलिये एक संस्कृति माननेवालोंके पुरखे कभी भिन्न हो ही नहीं सकते। भारतमें रहनेवाले लोग चाहे जिस मत-मजहबको मानते हों, संस्कृति सबकी एक है। बौद्ध हों या वैदिक, जैन हों चाहे वैष्णव, सिक्ख हों चाहे ब्रह्मसमाजी, श्रीराम और श्रीकृष्णको अपना पूर्वज सब मानते हैं; भले ही वे अपने उन पूर्वजोंके जीवन-वृत्तोंको अपने मत-मजहबका रंग दें। इसलिये सब एक जातिके हैं, एक संस्कृतिके हैं। संस्कृति ही किसी जातिको दूसरी जातिसे पृथक करती है और संस्कृति ही राष्ट्र बनाती है। सुसंस्कृत और सुशासित देशको राष्ट्र कहते हैं। एक देश या एक राष्ट्रकी जनता एक 'जाति' है। उस जातिका जो स्वरूप है—जातीयता, उसीको 'राष्ट्रियता' कहते हैं। राष्ट्रियता ही किसी राष्ट्रका जीवन है, जो संस्कृतिका नामान्तरभर है। जिस देशसे उसकी अपनी संस्कृति, जातीयता या राष्ट्रियता नष्ट कर दी जाय, वह (राष्ट्र) नष्ट हो जाता है। नष्ट होनेका मतलब यह कि उसकी आत्मा मर जाती है। 'राष्ट्र' के खोलमें दूसरे राष्ट्रकी आत्मा समा जाती है, उसका अपनापन नष्ट हो जाता है। वह निर्जीव हो जाता है। इसीलिये जब कोई धूर्त और प्रबल राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्रपर राजनैतिक विजय प्राप्त करता है, तो उस (विजय) को स्थायित्व देनेके लिये उस (विजित) राष्ट्रकी राष्ट्रियताको, उसकी संस्कृति या जातीयताको नष्ट करनेका उद्योग करता है। वह विदेशी शासक विजित राष्ट्रकी भावनाको बदलना चाहता है। उसके चिर-प्ररूढ संस्कारोंको वह कुचलता है। संस्कृतिका उपहास करता है। किसी भी देशकी जन-भाषा पूर्णतः बदली नहीं जा सकती; भाषाकी आत्मा 'क्रिया-पद' कभी भी कोई बलात् बदल नहीं सकता। इन (क्रिया-पदों) का तो पूर्ववर्ती भाषाओंसे विकास होता है। सो, विजेता जाति यहाँ परवश होती है। 'करता है,' 'पीता है' आदि क्रियाओंकी जगह फारसी या अरबी-अंग्रेजीकी क्रियाएँ नहीं चलायी जा सकतीं। सर्वनाम भी नहीं बदलते। यहाँ विवशता है। परंतु विजित राष्ट्रकी भाषामें विजेता विदेशी अपने देशके शब्द भरता है। अपनी लिपि भी वह विजित राष्ट्रपर थोपता है। वह विजित राष्ट्रकी भाषाको विकृत करके अपनी भाषाके शब्दोंसे भरकर अपनी ही लिपिमें लिखता है। राज्य-शक्तिके द्वारा इस तरह विजित राष्ट्रकी आत्माका हनन किया जाता है। इसी उद्योगका फल 'उर्दू ज़बान' है। अंग्रेजोंने भी 'रोमन' लिपिमें इस देशकी भाषा लिखनेकी प्रवृत्ति जाग्रत् की थी और फौजमें उसे 'रोमन हिंदुस्तानी' कहकर प्रचलित किया था। यह 'दूसरी उर्दू' समझिये, जो लश्कर (फौज) में दूसरे विजेताके द्वारा चलायी गयी। संस्कृतिका मूल आधार भाषा है। सो, जन-भाषाको विकृत करके, उसमें विदेशी शब्दोंद्वारा विदेशी तत्त्व भरकर विजित राष्ट्रकी संस्कृतिका समूलोच्छेद करना विजेताका मुख्य काम है।

हमारे देशने विजेताओंके ये प्रहार दृढ़ताके साथ सहे हैं, परंतु अपनी संस्कृतिको छोड़ा नहीं। यही कारण है कि वह सदा इससे अनुप्राणित रहा, उसे बल मिलता रहा और उसका अपनापन नष्ट नहीं हुआ। राजनैतिक स्वातन्त्र्य लाभ करनेमें सांस्कृतिक चेतना मूल कारण है। सन् १८५७का प्रथम स्वातन्त्र्य-समर मूलतः संस्कृतिसे जाग्रत् हुआ था। भारतने गौको माताके रूपमें देखा और माना है। यह राष्ट्रकी नींव है। हमारे ऋषियोंने बताया है कि यदि जीवन चाहते हो, तो गौमाताकी सेवा करो। इस (कृषक) देशका 'शिव' (कल्याण) एकमात्र वृषभपर है। यह भावना बद्धमूल होकर संस्काररूपसे हममें विद्यमान है। हम गौके लिये जान दे देते हैं—यह जानकर कि इसकी रक्षामें ही हमारी जातिकी रक्षा है। हम जिस रूपमें गौका सम्मान करते हैं, उसे देखकर मूर्खलोग हँसते हैं। परंतु वे नहीं समझते कि भावना भी कोई चीज होती है। तीन रंगोंके तीन कपड़ोंको जोड़कर बनाया गया तिरंगा झंडा क्या है? साधारण कपड़ा है। परंतु उसे हमने राष्ट्रियताका प्रतीक मान लिया है। इसकी प्रतिष्ठा राष्ट्रकी प्रतिष्ठा और इसका अपमान राष्ट्रका अपमान समझा जाता है। इसीलिये, इस

तिरंगे झंडेकी शान बनाये रखनेके लिये, आजतक लाखों भारतीय अपने प्राण दे चुके हैं। इसी बलिदानका फल है कि आज यह हमारी राष्ट्रियताका प्रतीक अपने सर्वोच्च स्थानपर गर्वके साथ फहरा रहा है।

इसी तरह इस राष्ट्रने गौको अपनी संस्कृतिका प्रतीक माना है। उसकी हत्याको हम राष्ट्रकी हत्या समझते हैं। जैन, वैष्णव, आर्यसमाजी आदि किसी भी मत-मजहबका भारतीय इस प्रतीकका समान सम्मान करता है। इसकी रक्षाके लिये ही सन् १८५७का वह तूफान उठा था। पर हम हार गये। जीतकर भी हार गये और फिर विदेशी शासनने हमें जबड़ोंमें कसकर दबा लिया।

फिर हमारे राष्ट्र-पितामह (लोकमान्य पं० बालगङ्गाधर तिलक) ने जब राजनैतिक संघर्ष शुरू किया, तब उन्होंने भी उसे संस्कृति-मूलक ही रक्खा। जीवन ही संस्कृतिसे मिलता है। तिलकने महाराष्ट्रमें 'गणेश-उत्सव' तथा 'शिवाजी-उत्सव' प्रवर्तित किये, जिससे जनतामें पुनः अपनी संस्कृतिके प्रति ममता जागे और उसके लिये एक प्रबल संघर्ष हो, जिसका फल राजनैतिक स्वातन्त्र्य है। राजनैतिक स्वातन्त्र्य प्राप्त होनेपर तो संस्कृतिकी रक्षा हो ही जाती है। तुर्किस्तानको जब अरब विजेताओंने दबाया, तो वहाँकी भाषा (तुर्की) में अरबी भाषाके अनन्त शब्द भर गये, भर दिये गये। अरबवालोंने अपनी लिपि भी वहाँ जारी कर दी। सदियोंकी पराधीनतामें तुर्कलोग अपनी लिपि भूल गये; क्योंकि वहाँ ऐसा कोई राष्ट्रवादी दल था नहीं, जो सब कुछ सहकर भी अपनी लिपि आदिकी रक्षा करता। परंतु भाषाको कौन बदले ? उसकी आत्मा (क्रिया, सर्वनाम आदि) कोई कैसे बदल सकता था ? जब तुर्किस्तान स्वतन्त्र हुआ और मजहबके भूत (खिलाफत) से उसकी जान छूटी, तो उसके तेजस्वी उद्धारक श्रीकमालपाशाने अपनी संस्कृतिका पुनरुद्धार किया; क्योंकि वही राष्ट्रकी आत्मा है। अपना पुराना आचार-व्यवहार चालू किया। अरब देशके जो रीति-रिवाज आ गये थे, सब हटाये। तुर्की भाषासे अरबी शब्द छाँट-छाँटकर अलग किये गये। कमाल-पाशाने अपने नामका एक अंश भी बदल लिया था। 'पाशा' अरबी भाषाका शब्द है; इसलिये उस महान् तुर्क-नेताने अपना नाम 'कमाल अतातुर्क' कर लिया था। अरबी भाषामें नमाज पढ़ना तथा 'अजान' देना गैरकानूनी कर दिया गया। कुरान भी तुर्की भाषामें पढ़नेकी आज्ञा हुई। यह सब इसलिये किया गया कि तुर्किस्तानकी मूढ़ जनता 'अह्ले अरब' के प्रति कहीं मानसिक निष्ठा (वफादारी) न ग्रहण कर ले। यदि तुर्कोंमें अरबी भाषा तथा रीति-रिवाज आदिके प्रति सम्मानकी वैसी ही भावना बनी रहती, तो निःसन्देह उस देश (अरब) के प्रति उनका आकर्षण भी रहता और यह आकर्षण राष्ट्रियताका विघात करता। इसीलिये दूरदर्शी नेताने अपनी संस्कृतिका पुनरुद्धार किया। आज तुर्किस्तानकी गिनती संसारके प्रबल राष्ट्रोंमें है। हाँ, तुर्कलोगोंने अरबी लिपि भी त्याग दी। अपनी लिपि वे भूल ही चुके थे। फलतः रोमन लिपि स्वीकार की। परंतु अरबी लिपि न रक्खी; क्योंकि वह विजेता राष्ट्रद्वारा जबर्दस्ती लादी चीज थी, गुलामीका प्रतीक थी।

तिलकके बाद महात्मा गांधीने राष्ट्रके सूत्रधारका पद लिया, जो अन्ततः 'राष्ट्रपिता' के पदसे सम्मानित हुए। महात्माजीने भी राजनीतिको संस्कृतिसे प्रभावित किया, संस्कृतिके बलसे उसे बढ़ाया। वे सम्पूर्ण भारतीय संस्कृतिको 'रामराज्य' शब्दसे प्रकट करते थे। 'रामराज्य' ऐसा शब्द है, जो संस्कृतिकी व्याख्याकी अपेक्षा नहीं करता। इस शब्दने सन् १९२१-२४ के उस आन्दोलनमें जादूका काम किया, जिसने इस देशकी राजनीतिमें कांग्रेसकी जड़ें एक बार पातालतक पहुँचा दीं।

कहनेका तात्पर्य यह कि अपनी संस्कृतिसे राजनीतिको बल मिलता है और संस्कृतिको विकृत करनेसे या नष्ट करनेसे राष्ट्र मृत हो जाता है। चीनमें बौद्ध, शिन्तो तथा मुसल्मान—ये तीन प्रधान मजहब हैं। परंतु वे तीनों मजहब एक चीनी जातिके हैं। जाति सबकी एक, संस्कृति या राष्ट्रियता सबकी एक। वहाँका बौद्ध भी 'चाङ् पूङ् नुन' और शिन्तो भी 'पाङ् काङ् चाङ्' तथा मुसल्मान भी 'चाङ् चू तैह !' वहाँ न तो बौद्ध 'शीलभद्र' है और न मुसल्मान ही 'अल्लाबख्श' है। इसीलिये अखण्ड एकता है। वहाँ 'मजहब नहीं सिखाता आपसमें बैर रखना !' परंतु हमारे यहाँ जहाँ हिंदू और बौद्ध ज्ञानचन्द और ज्ञानभिक्षु हैं, एक बहुत बड़ा समुदाय कुछ और है। वह अरब तथा ईरानकी संस्कृति मानता है, भारतकी नहीं। वस्तुतः वह सात सौ वर्षसे यहाँ रहता हुआ भी 'हिंद-प्रवासी' अरबी या ईरानी आदि है। वह अपना नाम अरबी ढंगका रक्खेगा—'अल्ला-बख्श।' यदि उससे कहो कि भारतीय भाषामें अपना नाम 'ईश्वरदत्त' क्यों नहीं रखते तो वह बिगड़ खड़ा होगा और

कहेगा कि हम अपना मजहब छोड़ दें ? उसे कौन समझाये कि 'ईश्वरदत्त' नाम रखनेसे मजहब न विगड़ेगा ? चीनी मुसल्मानका मजहब क्यों नहीं विगड़ जाता ?

सो, एक देशमें दो संस्कृतियाँ नहीं रह सकतीं। मजहबके नामपर भारतमें अरब तथा ईरानकी संस्कृति पाली-पोसी गयी और उसीने देशके टुकड़े कराये, लाखों जन कटवाये तथा स्त्री-बच्चोंकी वह दुर्दशा करायी। यदि संस्कृति-भेद न होता तो वह सब न होता। मजहब तो हिंदूजातिमें सैकड़ों-हजारों हैं; पर संस्कृति सबकी एक है। एक वैदिक ईश्वरवादीका मत मुसल्मानसे अधिक मिलता है, जैन मतकी अपेक्षा। परंतु वैदिक हिंदू जैनसे बन्धुत्व रखता है और मुसल्मानको 'पर' समझता है। क्यों ? इसीलिये कि उसकी संस्कृति (भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि) भारतीय नहीं, विदेशी है; अरब या ईरान आदिका सब कुछ है। मानो भारतीय कलेवरोंमें अरब-ईरानकी आत्माएँ घूम रही हैं ! तब हम उन्हें 'अपना' या 'भारतीय' कैसे समझें ? यदि वे सचमुच भारतीय बन जायँ, तो हमारे भाई हैं, भारतीय हैं। मत-मजहबके बारेमें हिंदूजाति बड़ी उदार है। चाहे जो मजहब मानो, चाहे न मानो। परंतु संस्कृति तो एक ही चाहिये न ?

हिंदू-संस्कृति या भारतीय संस्कृति—अब प्रश्न यहाँ यह उठाया जायगा कि एक देशकी एक ही संस्कृति चाहिये, सो ठीक; पर वह कौन-सी संस्कृति हो ? इस देशमें तो वैदिक या ब्राह्मण-संस्कृति, बौद्ध-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति, सिक्ख-संस्कृति, न जाने कितनी संस्कृतियाँ हैं। इनमेंसे कौन-सी रक्खी जाय ? किसे किस तरह मिटाया जाय ? इसलिये, सबको मिलाकर एक नयी संस्कृति बनाओ, जिसे लोग 'इंडियन कल्चर' कहने लगे हैं ! इसी 'इंडियन कल्चर'को देशी नाममें 'सर्वोदय समाज' भी कहा जाता है। इसपर हमें विचार करना है।

वस्तुतः ये सब वितण्डावाद हैं। किसी देशकी संस्कृति बनायी नहीं जाती, स्वतः बनती है। इस देशकी अपनी संस्कृति है, जिसे समस्त संसार जानता है। समय-समयपर विजेता लोग अपने साथ विदेशी संस्कृतियोंकी लहरें लाये, जो भारतीय संस्कृतिके महासागरमें लीन हो गयीं। एक ही जाति विजेताके रूपमें ऐसी आयी, जिसने अपनी संस्कृति छोड़ी नहीं और उसके फलस्वरूप एकके दो देश हुए। वहाँ उस वर्गको अपनी संस्कृतिके साथ रहनेकी स्वतन्त्रता है। शेष भारतमें तो अब एक ही संस्कृति रहेगी, जो इस देशकी अपनी संस्कृति है, जिसका नाम 'हिंदू-संस्कृति' है। हिंदू-राष्ट्रका आधार हिंदू-संस्कृति ही है। यदि यहाँ अब भी कोई दूसरी संस्कृति हैं, तो उसे इसीमें विलीन हो जाना होगा। यह (भारतीय संस्कृति) भारतमें ही किसी दूसरी संस्कृति-में न मिलेगी। नदीमें नाले मिलते हैं, नालोंमें नदी मिलने नहीं जाती। वे नाले नदीके रूप-रंगको प्रभावित कर सकते हैं, पर इसके नाम-रूपको बदल नहीं सकते।

अब हम हिंदू-संस्कृति तथा भारतीय संस्कृतिके नाम-भेद-पर विचार करेंगे। संस्कृति देश या जातिकी होती है, मत-मजहबकी नहीं—यह पीछे कहा गया। इस देशमें हिंदू-संस्कृति तथा मुस्लिम-संस्कृतिकी बात बहुत दिनोंसे चल रही है, जो वस्तुतः 'भारतीय संस्कृति' तथा विदेशी (अरब या ईरान आदिकी) संस्कृति समझिये। यदि ऐसा नहीं है, तो जहाँ-जहाँ इस्लाम है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र एक ही संस्कृति होनी चाहिये। पर ऐसा है नहीं। चीनके मुसल्मानकी चीनी संस्कृति है और अफगानिस्तानके मुसल्मानकी अफगान-संस्कृति। कबायली पठान भी अपनी अलग संस्कृतिका गर्व रखता है। हाँ, परतन्त्र भारतमें मुसल्मानोंने अरब तथा ईरानकी संस्कृति अपना ली थी। सो, भारतकी एक ही संस्कृति है, जो 'भारतीय संस्कृति' कहलाती है। भारतका नाम मुसल्मानोंने 'हिंदुस्तान' रक्खा, यहाँकी जनताको 'हिंदू' कहा। तब यहाँकी संस्कृति भी 'हिंदू-संस्कृति' कहलाने लगी। यानी 'भारतीय संस्कृति'का ही दूसरा नाम 'हिंदू-संस्कृति' है।

'बौद्ध-संस्कृति' का भी ढिंढोरा पीटा जाता है। पाश्चात्त्य इतिहासकारोंने 'बौद्ध-संस्कृति'का राग अलापना शुरू किया। वस्तुतः 'बौद्ध दर्शन' है, 'बौद्ध मत' है; पर बौद्ध-संस्कृति-जैसी कोई चीज नहीं है। चीन, जापान, स्याम तथा लंका आदि देशोंकी जनता प्रायः बौद्ध है। इस दृष्टिसे इन सभी देशोंकी संस्कृति एक होनी चाहिये; परंतु ऐसा नहीं है। उन सभी बौद्ध देशोंकी संस्कृति पृथक्-पृथक् है। पृथक् जाति, पृथक् संस्कृति, जो पृथक् देश बनाती है। इसी तरह 'सिक्ख-संस्कृति'की बात है। सिक्खोंका रहन-सहन, नाम-संस्कार, रीति-रिवाज आदि सब हिंदू-जातिके हैं। मजहब अलग होनेसे संस्कृति अलग कैसे हो सकती है ? कोई भी सिक्ख अपने लड़केका नाम 'रामसिंह, 'गंगासिंह' आदि न रखकर 'हुसेन-बख्श' या 'खुदा शेर' आदि न रक्खेगा। सिक्ख भारतीय जातिके अङ्ग हैं। उनकी संस्कृति पृथक् कैसे होगी ?

वस्तुतः एक देश (भारत) में इस तरह अनेक संस्कृतियोंकी कल्पना अंग्रेजोंने खड़ी की फूट डालनेके लिये। उन्हींसे 'मुस्लिम-संस्कृति'के नामपर देशद्रोहियोंको मदद मिली। दो संस्कृतियोंसे दो राष्ट्र! विभाजन हुआ! बिल्ली-बॉटमें बन्दर मजे करता है।

संस्कृति और राजनीतिका अच्छेद्य सम्बन्ध है, यह हम कह चुके हैं। संस्कृतिसे राजनीति प्रभावित होती है। संस्कृतिके बलपर राजनीति चलती है। किसी भी देशकी राजनीतिमें शक्ति उन्हींके पास रहेगी, जो संस्कृतिको बल देंगे। जो लोग अपनी संस्कृति छोड़कर राजनीतिका महल खड़ा करेंगे, उनका वह महल नींवरहित होनेसे ढह जायगा। इसीलिये सदा विजेतालोग विजित राष्ट्रकी संस्कृतिको विकृत या नष्ट करनेका उद्योग करते हैं, जिससे वे चिरकालतक राज-सुख भोग सकें।

अरब तथा ईरान आदिकी संस्कृति यहाँ फैलानेका यही उद्देश्य था। उस अन्धकारके युगमें गोस्वामी तुलसीदास-जैसे संतोंकी वाणीने जातिको बड़ा बल दिया। जाति रामको अपनी संस्कृतिका आदर्श मानकर दृढ़ हुई। आदर्श सदा सामने रहे, इसलिये अभिवादनमें 'जय राम' चलाया गया। इसके उत्तरमें विदेशी शासकोंने उस समयके 'शिक्षित' जनोंमें अपने हाकिमोंद्वारा 'बंदगी' चलायी। अब भी गाँवोंमें 'मुंशीजी! बंदगी' आप सुन सकते हैं। परंतु मुंशीजीको 'बंदगी' करके भी आपसमें 'जय रामजीकी' ही रही। राजा मानसिंह आदि 'बंदगी' पक्षके थे और महाराणा प्रताप-जैसे लोग 'जय रामजी' वाले। फिर तो महाराष्ट्रमें 'जय-जय श्रीरघुवीर समर्थ'का नाद करनेवाले समर्थ गुरु रामदासने जादू भर दिया। रामकी जय हुई और बंदगीकी गंदगी उड़ गयी। 'जय रामजीकी' कहनेमें अपनी संस्कृतिकी मूर्ति सामने आ जाती है। इसे 'बंदगी' उड़ाने आयी थी। 'बंदगी' लेनेवाले विदेशी संस्कृतिमें डूबे हुए थे।

अंग्रेजी राज्यने अंग्रेजी भाषा तथा ईसाइयोंने प्रचारद्वारा हमारी संस्कृतिको उड़ाना चाहा। बहुत जोर लगाया गया; परंतु लोक-जागरणने उस बलको परास्त कर दिया।

फिर भी विदेशी चक्र घूमता रहा, अबतक घूम रहा है, यद्यपि वेग मन्दा पड़ता जा रहा है। दण्ड-भङ्ग हो गया है। फिर भी, उधरके लोग हताश नहीं हुए हैं। नेताजीने सेनामें बिजली भरनेके लिये 'जय हिन्द' फौजी अभिवादन चालू किया था। उनकी फौजमें मुसल्मान, ईसाई आदि सभी थे। उस सैनिक अभिवादनको उन लोगोंने नागरिक (सिविल) अभिवादनका रूप दे दिया, जिन्होंने नेताजीकी नीति कभी नहीं अपनायी और जिनका उनसे सदा 'मौलिक मतभेद' रहा। 'जय हिन्द' जारी होनेपर भी 'जय रामजी'की सर्वोपरि है। 'जय राम'में 'जय हिन्द' भी समाया हुआ है; पर 'जय हिन्द'में वह पितृ-भक्ति, वह भ्रातृ-वात्सल्य आदि कहाँ है? इसका मतलब यही कि देश अपनी चीज समझता है।

संस्कृति और राज्य—किसी राज्यका सम्बन्ध मत-मजहबसे न हो, इसीको धर्म-निरपेक्ष राज्य कहते हैं। परंतु कोई भी राज्य संस्कृति-शून्य होकर नहीं रह सकता। सांस्कृतिक आधारपर स्थित राज्य ही सुदृढ़, अजेय तथा सुख-समृद्धिसे पूर्ण हो सकता है। जिस देशका राजशासन अपने सांस्कृतिक महत्त्वकी उपेक्षा करेगा, अपनी संस्कृतिको सर्वोपरि महत्त्व न देगा, उसकी नींव बालूपर ही समझनी चाहिये। कारण, संसारकी और सब चीजें बदलती रहती हैं, पर किसी जातिके संस्कार या भावनाएँ कोई कैसे बदल सकता है? चतुर राजनीतिज्ञ इस बातको अच्छी तरह समझते हैं। यही कारण है कि मि० मुहम्मद अली जिन्नाने मुसल्मानों-की पृथक् संस्कृतिपर उतना जोर दिया था और उसीपर वे बराबर पचीस-तीस वर्षतक जोर देते रहे। यही (सांस्कृतिक पृथक्त्व) उनकी सफलताका और हमारी दुर्दशाका रहस्य है। दुःख तो इस बातका है कि यह बात हम अभीतक अच्छी तरह समझे नहीं हैं!
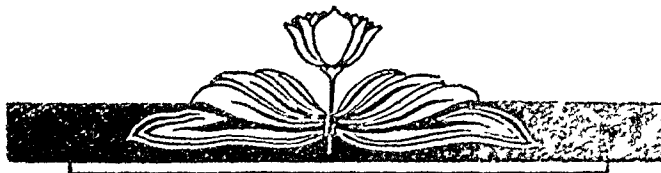
धर्म और संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ)

धर्म और संस्कृति वास्तवमें एक ही वस्तुके दो नाम हैं। आजकल बहुधा कई चोटीके नेता एकाधिक बार यह कहते सुने गये हैं कि भारतमें धर्म अनेक रह सकते हैं पर संस्कृति एक ही रहेगी। और वह भारतीय संस्कृति होगी। हम नहीं समझते वे संस्कृतिका क्या अर्थ करते हैं; न कभी उन्होंने अबतक संस्कृतिकी कभी कोई अपनी खास व्याख्या ही जनताके सामने की है। उनके मनमें उसका क्या स्वरूप है, इसे वे ही जानते हैं। जनता अबतक उनके 'संस्कृति' शब्दके तात्पर्यावगाहनमें असमर्थ ही रही है और है।

वास्तवमें 'संस्कृति' शब्द ही आधुनिक विद्वानोंके माथेकी उपज है, सो शायद अंग्रेजीके 'कल्चर' (culture) शब्दका प्रतिनिधि है। भारतीय प्राचीन विद्वानोंने 'संस्कार' शब्दका प्रयोग अवश्य किया है जो कि संस्कृत-व्याकरणके अनुसार 'संस्कृति' शब्दका समानार्थक है। यदि इसी अर्थमें वे 'संस्कृति' शब्दको ग्रहण करते हों तो फिर किसीको कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

तब हमें भारतीय प्राचीन महर्षियोंकी एतद्विषयक विचारधारा समझनी होगी। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान्‌ने सृष्टि रचनेके पहले सृष्टिके प्राणियोंकी ऐहिक और आमुष्मिक उन्नतिका मूल तथा मोक्षप्राप्तिका साधनभूत त्रिकालाबाधित ज्ञानराशि वेद, जो भगवान्‌का श्वास-प्रश्वास है और जो नित्य है, प्रकट किया और उसके आधारपर जगत्‌की रचना पूर्वकल्पानुसार की।

> सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
> वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

'भगवान्‌ने वेदशब्दोंके आधारपर जगत्‌की रचना की और उसके अन्तर्भूत विविध प्राणियोंका (देव, तिर्यक्, मनुष्य, पशु, पक्षी, अश्व, गौ, वृषभ आदि) नाम तथा पृथक्-पृथक् वर्णोंके कर्म एवं संस्था (लौकिकी व्यवस्था) निर्धारित की।' तात्पर्य यह कि भारतकी संस्कृति वेदमूलक है। वेदबाह्य जो संस्कृति (संस्कार) है, वह अभारतीय है। वेद धर्मका मूल है। वेदमूलक स्मृति, सदाचार ही धर्ममें प्रमाण हैं।

> वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
> आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

'सम्पूर्ण धर्मका मूल वेद है। वेद जाननेवालोंकी स्मृति तथा शील (ब्रह्मण्यता, देव-पितृभक्ति, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयुता, मृदुता, अपारुष्य, मित्रता, प्रियवादिता, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्य और प्रशान्ति—यह तेरह प्रकारका शील) तथा वेदज्ञोंका आचार तथा वेदके वैकल्पिक विषयोंमें साधुओंकी आत्मतुष्टि ही धर्म है।' अर्थात् वेदमूलक स्मृति, पुराण, इतिहास आदि द्वारा प्रतिपादित सदाचार ही धर्म है; तद्विपरीत आधुनिक जितनी भी वेदबाह्य स्मृतियाँ तथा कल्पनाएँ हैं, वे निष्फल, मिथ्या तथा तमोमय एवं अकल्याणकारक हैं—

> या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
> ताः सर्वा निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥
> (मनु०)

> उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
> तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥
> (मनु०)

अर्वाचीन होनेके कारण वेदसे विपरीत जो शास्त्र हैं, वे उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। वे सब निष्फल हैं और मिथ्या हैं। इसलिये वेदको छोड़कर सन्मार्गदर्शक संसारमें अन्य कोई शास्त्र हो ही नहीं सकता। ये भारतीयोंके प्राचीन संस्कार हैं। वेदके अनुसार चार वर्ण, तीनों लोक, चार आश्रम—विशेष क्या, जो भी भूत, भविष्य, वर्तमान है, सब वेदसे ही सिद्ध होते हैं—

> चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वार आश्रमाः पृथक्।
> भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥

यह सही है जब कोई कारीगर किसी मकानको बनाना चाहता है तो पहले उसके नामकी, पीछे स्थान तथा उसके उपयोगकी अपने मनमें कल्पना करता है। फिर उसको प्रत्यक्ष रूप देता है। यही नियम सृष्टिकर्ताके लिये भी लागू है। उसने अपनी सृष्टिके निर्माणकी इच्छा की (स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय)। फिर सबके नाम-रूप, जो त्रिकाल-नित्य वेदमें निहित थे, पूर्वकल्पके अनुसार प्रकट किये और सब प्रकारके प्राणियोंके हिंस्र, अहिंस्र, मृदु, क्रूर कर्म नियत

किये। प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव, जिसके जीवनका अन्तिम लक्ष्य परमात्मप्राप्ति है, उत्पन्न किया—

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्॥
लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥
सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

मानवको अपने पूर्वकर्मानुसार चार वर्णोंमें विभक्त किया। सबके लिये मोक्षप्राप्तिके साधन अपने पृथक्-पृथक् कर्मका निर्देश किया, जिसको करते हुए—लोक-दृष्टिमें नीच-से-नीच कर्म करते हुए भी मनुष्य एक त्यागी, तपस्वी, संन्यासी, परमहंस महात्माकी तरह समान रूपसे मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं। यह है हिंदू-संस्कृति या भारतीय संस्कृति! भारतीय संस्कृति वेदमूलक धर्मके अनुसार आचरणके आधार-पर बनी हुई है। इसमें स्त्री-पुरुष, भाई-बहिन, पिता-पुत्र, आचार्य-शिष्य, राजा-प्रजा और स्वामी-सेवक आदि विविध अधिकारियोंके विविध कर्म नियत हैं, जिनको परमात्माकी आज्ञा मानकर करता हुआ, परमात्माका स्मरण करता हुआ प्रत्येक अधिकारी निर्विशेषरूपसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है (मामनुस्मर युध्य च)।

इन्हीं कर्तव्योंके आधारपर बनी हुई भारतकी समस्त संस्कृति है। उसीके अनुसार मनुष्योंने जिस साहित्य, सङ्गीत, दर्शन, कला, मनोरञ्जन, रहन-सहन और वेष-भूषाकी सृष्टि की है—जिसको आजकल विद्वान् 'संस्कृति' कहते हैं—वही भारतीय संस्कृति है। लोग जो यह कहते हैं 'भारतमें एक ही संस्कृति रहेगी और रहनी चाहिये' सो उनकी यह बात तो समझमें आती है; परंतु साथ ही वे जो यह कहते हैं कि 'धर्म भले ही भिन्न-भिन्न हों'—यह समझमें नहीं आता; क्योंकि धर्म और संस्कृतिमें कोई मौलिक भेद देखनेमें नहीं आता। भारतमें जो विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित हैं—यहाँतक कि बौद्ध, जैन आदि वेद-विरोधी कहे जानेवाले धर्म या संस्कृतियाँ भी मूलतः वेदमूलक ही हैं। यह इनके आदि आचार्योंके चरित्रोंसे स्पष्ट हो जाता है। इसीलिये श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंमें उनको भगवान्‌का अवतार माना है। भला, कहीं वेदविरोधी कोई भगवान् कभी हो सकता है? भगवान् बुद्धके लिये शास्त्र कहता है—'सम्मोहाय सुरद्विषाम्।' भक्त जयदेव कहते हैं,—

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदयहृदयदर्शितपशुघातम्।
केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे।

राक्षसी प्रवृत्तिके पुरुषोंकी यज्ञमें अश्रद्धा करानेके लिये भगवान् बुद्धको प्रयोजनवश वेदकी भी निन्दा करनी पड़ी। जैनियोंके आदिगुरु भगवान् ऋषभदेवके बारेमें श्रीमद्भागवतमें व्यासजी कहते हैं—

'इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणम्। परममहामंगलायनमनुश्रद्धयोपचितयानुश्रृणोत्याश्रावयति वावहितो भगवति तस्मिन् वासुदेवे एकान्ततो भक्तिरनयोः समनुवर्तते।'

जिनके चरित्रको सुनने, एवं वर्णन करनेसे भगवान् वासुदेवमें वक्ता-श्रोताकी अविचल भक्ति होती है—जिन्हें ब्राह्मण, गौ और लोकका परम गुरु कहा गया है, जिनका चरित्रश्रवण समस्त पापोंका नाश करनेवाला माना गया है, वे क्या वेदविरोधी हो सकते हैं?

महाभारतमें कर्ण और शल्यका आपसमें कटाक्षपूर्ण संवाद पढ़नेसे यह ज्ञात होता है कि मद्र, गन्धार, वाह्लीक आदि देश जो सिन्धकी सीमासे सटे हुए हैं, वहाँके मनुष्योंमें आजसे पाँच हजार वर्ष पहले ही वर्ण-व्यवस्था ढीली पड़ चुकी थी।

महाराज मनु कहते हैं, 'धीरे-धीरे ब्राह्मणोंका संसर्ग छूट जानेसे ये क्षत्रिय जातियाँ वृषल, धर्महीन या दस्यु हो गयीं।'

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदा पल्हवाश्चीना किराता दरदाः खशाः॥
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥
(मनु०)

'धीरे-धीरे क्रियाका लोप होनेसे; ब्राह्मणोंका संसर्ग छूट जानेसे ये सब क्षत्रिय जातियाँ वृषल तथा दस्यु बन गयीं। जैसे पौण्ड्र, ओड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, दरद, खश आदि चार वर्णोंसे रहित जो जाति हैं, वे चाहे म्लेच्छ भाषा-भाषी हों, चाहे आर्य भाषा-भाषी, सब दस्यु हैं।'

समस्त भूमण्डलमें यह आर्य व्यवस्था फैली हुई थी,

रहे। औरंगजेबने तो इस नियमका उल्लङ्घन करके मुस्लिम-राज्यका उन्मूलन ही कर दिया। अंग्रेजोंके डेढ़ सौ वर्षके राज्यकालमें ऊपरसे इस नियमका पालन किया गया; परंतु उन्होंने अपनी शिक्षामें वह विष भर दिया, जिससे भारतीयोंका मस्तिष्क ही अपनी सभ्यता, संस्कृति, आचार, कुलमर्यादासे विमुख हो गया। यद्यपि उनकी संख्या अब भी अंगुलियोंपर गिनने लायक है, फिर भी वे अंग्रेजीदा हैं। अंग्रेजोंने उनके हाथोंमें शासनसत्ता सौंपी है। भारतका आज विदेशोंसे भी बहुत अधिक घनिष्ठ सम्पर्क हो गया है। अतः विदेशी-भाषाविद् नीतिशास्त्रोंके इन विद्वानोंकी एक विधानसभा निर्माण की गयी है, जो भारतका धर्मनिरपेक्ष अर्थनीतिमूलक विधान बनानेके लिये ही निर्माण की गयी थी। वह अब अपने अधिकार-क्षेत्रको छोड़कर धर्म-संस्कृतिमें भी मनमाना परिवर्तन करना चाहती है। यह नीति अत्यन्त भयावह है। इससे सुधारके बदले संहारका ही दृश्य उपस्थित होगा। हम इस बातको स्वीकार करते हैं कि हजारों वर्षोंकी पराधीनताके कारण सामाजिक व्यवस्थामें बहुत-सी कुरीतियोंने अपना घर कर लिया है। उनका सुधार अवश्य होना चाहिये; परंतु वह इसी विषयके विशेषज्ञ विद्वानोंद्वारा शास्त्रसम्मत तर्कोंके आधारपर ही हो, तभी समाजमें सुख-शान्ति-वैभवका प्रसार होगा। यही भारतीय संस्कृतिके पुनरुद्धारका सच्चा मार्ग है। इसके विपरीत जितने मार्ग हैं, वे कुपथ हैं, कुचिकित्सा हैं। संस्कृत भाषाका आबालवृद्ध सबमें प्रचार हो, भगवान्में अविचल भक्ति हो, लक्ष्मी और सरस्वती प्रत्येक भारतीयके घरमें विराजमान रहें; यही भारतकी उन्नति है, यही सच्ची भारतीयता है—यही सच्ची भारतीय संस्कृति है।

आबालाद्वदनाम्बुजे तनुभृतां सारस्वतं जृम्भतां
देवे कौस्तुभधाम्नि चन्द्रमुकुटेऽद्वैता मतिः खेलतु
वाग्देव्या सह मुक्तवैशसरसा देवी च दीव्यादियं
शेषस्येव फणाञ्चलेषु सततं लक्ष्मीः सतां सद्मसु ॥

हिंदू-संस्कृति और धर्म

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

हिंदू सदासे धर्मप्राण समाज है। हिंदू-समाजका संगठन उस प्रकार अर्थको आधार मानकर नहीं हुआ है, जैसे पाश्चात्त्य समाजका। जैसे पाश्चात्त्य समाज अर्थपर अवलम्बित है, अपने प्रत्येक कार्यमें अर्थको प्रमुखता देता है, वैसे ही हिंदू-समाज धर्मपर अवलम्बित है। जीवनके प्रत्येक छोटे-बड़े कार्य यहाँ धर्मके आधारपर व्यवस्थित होते हैं। 'धारयतीति धर्मः।' जो समाजका, व्यक्तिका धारण करे, वह धर्म है।* यह धर्मकी पहली परिभाषा है। जैसे अग्निका धर्म उष्णत्व है—उष्णता न हो तो अग्निकी सत्ता ही नहीं रह जायगी—ऐसे ही धर्म न हो तो हिंदूसमाजकी सत्ता ही नहीं रहेगी। धर्मपर ही यह संस्कृति अवलम्बित है। पाश्चात्त्य आलोचक जब अपनी ही भाँति हमारे समाजको भी अर्थपर अवलम्बित मान लेते हैं, तो उनके विश्लेषण भ्रमपूर्ण होने ही हैं। पाश्चात्त्य प्रणालीको आदर्श मानकर किया गया विश्लेषण अनर्गल कल्पनाओंमें मनुष्यको डालेगा ही।

धर्म ही मनुष्यको धारण करता है, यह बात आजके सुपठित भले न समझ सकें; परंतु यह तो प्रत्यक्ष है कि धर्मकी उपेक्षासे ही वर्तमान मनुष्य-समाजका पतन हुआ है। घूसखोरी, अनाचार, धूर्तता, चोरी, ठगी, हत्याएँ, विश्वासघात—ये सब कुकृत्य धर्मकी उपेक्षासे ही मनुष्यमें आये हैं और आते जा रहे हैं। विश्वमें विनाशकी ओर जानेकी प्रवृत्ति धर्मत्यागसे ही आयी है।

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।'

'धर्मका जो नाश करेगा, धर्म उसका विनाश कर देगा और जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।' यह प्राचीनतम सिद्धान्त जीवनमें प्रत्यक्ष है। आज बड़े गर्वसे कहा जाता है कि 'प्रगतिवाद मनुष्यको जिस प्रकार पूँजीपतियोंकी आर्थिक दासतासे मुक्त करना चाहता है, वैसे ही आसमानी शासक ईश्वरकी दासता और धर्मके बन्धनोंसे भी!' बड़ा अच्छा है—मनुष्यको दासताओंसे मुक्त होना ही चाहिये, पर फिर मनुष्य समाजकी ही दासता क्यों करे? समष्टिके स्वामी सर्वेश्वरकी दासतासे मुक्त होकर वह देश, जाति, राष्ट्रकी कल्पित दासतामें क्यों लगे? फिर वह परोपकार, संयम, त्याग, श्रम—यह सब करे ही क्यों?

आज 'दासतासे मुक्ति' यह शब्द बड़ा लुभावना लगता है; पर इसका अर्थ कितने लोग जानते हैं, यह कहना कठिन

* 'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।' (महाभारत)

है। ईश्वर या धर्मने कभी आपसे कहा कि आप उनकी दासता करें? कभी उन्होंने आपको रोका कि आप अमुक कार्य न करें? उन्हें स्वीकार करके उनका अनुगमन करनेके लिये क्या आप सदासे स्वतन्त्र नहीं हैं? प्रश्न तो यह है कि 'मुक्ति' चाहिये किसलिये? बच्चेको माताकी गोदसे मुक्ति चाहिये लाल-लाल दीखते अङ्गारोंसे खेलनेके लिये, पागलको मुक्ति चाहिये शस्त्रसे आघात करनेके लिये और मन-को संयममें मुक्ति चाहिये क्रूरता, लोलुपता, कामुकताको प्रश्रय देनेके लिये। ऐसी ही मुक्ति अभीष्ट है?

प्राचीन समाजने कहा—'धर्मके अनुसार चलो। परमेश्वर-के सम्मुख नम्र रहो, यह दासता कल्याणमय है। मनकी दासतामें मुक्ति पाओ। यही सच्ची मुक्ति है।' आधुनिक समाज कहता है—'धर्म और ईश्वरकी दासतासे मुक्ति पाओ। यह दुर्बलता है! नियमबन्धन व्यर्थ हैं। मनकी दासता स्वीकार करो। मन जैसा कहे, करो।' दासता, तो एककी स्वीकार करनी ही है। धर्मके बन्धन सुख, शान्ति, सन्तोष देंगे; क्योंकि चञ्चलता, लोलुपता, संघर्षको वहाँ स्थान नहीं। मन-इन्द्रियोंकी दासता-देगी शोक, चिन्ता, अशान्ति और संघर्ष; क्योंकि मन कभी तृप्त होता नहीं। विश्वमें सब मनमानी कर नहीं सकते। मनकी सब इच्छाएँ पूरी नहीं हो सकतीं और जब सबको मनचाही करनी है तो सबल दुर्बलोंका उत्पीड़न करेंगे ही। मनुष्यको यही विचार करना है कि वह कौन-सी दासता स्वीकार करेगा, धर्मकी मङ्गलमय अधीनता या मनकी पैशाचिक दासता?

'धर्मकी उपेक्षासे विनाश होता है' यह बात पारलौकिक दृष्टिसे आप मानें या न मानें, लौकिक दृष्टिसे ही यह प्रत्यक्ष है। रोगी, दुर्बल, दुखी और अशान्त मानव क्या मृतप्राय नहीं है? क्या रोग, दुर्बलता, दुःख, अशान्ति—ये असंयमके ही परिणाम नहीं हैं? जहाँ भी, जितने अंशमें कोई व्यक्ति या समाज धर्मके किसी नियमकी उपेक्षा करता है, उतने अंशमें उसकी हानि होती है। उदाहरणके लिये एक व्यक्तिने चोरी या बलात् धन प्राप्त किया। देखनेमें वह धनी और सुखी हो गया, परंतु उसकी मानसिक शान्ति भङ्ग हो गयी। वह मनकी दासतामें बद्ध हो गया। अब वह असंयमके मार्गपर जायगा और रोग, शोक आदि उसे सतायेंगे। जो जातियाँ या समूह अपने यहाँ हिंसादि तत्त्वोंको उत्तेजित करके, दूसरोंका स्वत्व अपहरण करके पुष्ट होती हैं, वे हिंसक तत्त्व स्वयं उनके विनाशक बन जाते हैं।

धर्मकी उपेक्षासे विनाशको समझ लेनेपर धर्मकी रक्षासे अपनी रक्षा होती है, यह समझना कठिन नहीं रह जाता। अपनी रक्षाका क्या अर्थ? मनुष्यका शरीर तो एक दिन नष्ट होगा ही। संसारके पदार्थ भी नष्ट होंगे। अपनी रक्षाका सच्चा अर्थ तो है मानसिक शान्ति, पवित्रता और दृढ़ताकी रक्षा। वैसे यह तो प्रत्यक्ष ही है कि धर्मकी रक्षासे, संयमसे स्वास्थ्य, बल आदिकी रक्षा होती है; किंतु ये गौण बातें हैं। इनमें अपवाद भी हो सकते हैं। दुष्ट व्यक्ति धार्मिककी सम्पत्तिको अपहरण कर सकते हैं और उसे आघात पहुँचा सकते हैं। इतनेपर भी जिसका मानसिक बल स्थिर है, वही रक्षित है। क्योंकि विनाशके जो कारण हैं—लोभ-कामादि, उनसे वह सुरक्षित है। जलमें सुरक्षाका यह अर्थ नहीं कि आप घरसे बाहर न निकलें; सुरक्षा ठीक तब जब भीगनेपर भी दग्ण न हों। इसी प्रकार जो मानसिक दृढ़ता प्राप्त कर चुका है, वही सुरक्षित है। उसकी सुख-शान्ति अभङ्ग है। यह सुरक्षा धर्मकी रक्षासे ही प्राप्त होती है।

आज विश्वमें राष्ट्र-धर्म, समाज-धर्म, मानव-धर्म आदि विभिन्न धर्मोंका उद्घोष किया जाता है; परंतु धर्म दस बीस या सौ दो सौ नहीं हो सकते। अग्निका धर्म एक है—उष्णता, जलका धर्म है—रस; ऐसे ही मनुष्यका भी एक ही धर्म है। यह दूसरी बात है कि अग्निकी उष्णता जैसे गति, शक्ति और प्रकाशके रूपमें प्रकट होती है तथा उसकी आकृति तथा प्रभावमें देश, काल, पात्रके अनुसार विभिन्नता होती है, वैसे ही देश, काल, पात्रके अनुसार धर्मके भी स्वरूपमें भेद होता है। धर्मका मुख्य रूप क्या है? यह प्रश्न तब सहज ही उठता है। शास्त्रोंका कहना है कि प्राणिमात्रका प्रयत्न दुःखहीन शाश्वत सुख पानेके लिये है; अतएव दुःख-हीन शाश्वत सुख पानेका भ्रान्तिहीन प्रयत्न ही वास्तविक धर्म है। वह है अन्तर्मुखता। जो प्रयत्न अन्तर्मुखताकी प्रेरणा दे, वह धर्म और जो बहिर्मुख करे, वह अधर्म—यह सार्वभौम सार्वकालिक धर्मकी परिभाषा है।

बहिर्मुखता मनुष्य और समाजको असंयमकी ओर, विनाशकी ओर ले जाती है और अन्तर्मुखता संयम तथा शान्तिकी ओर। मन भी एक भौतिक तत्त्व है, यह सभी जानते हैं। जलको आप जितना छानेंगे, शुद्ध करने और ढक रखनेका प्रयत्न करेंगे, उतना ही वह स्वच्छ रहेगा। उसे खुला छोड़ देंगे तो विकृत हो जायगा और फिर हानि-कारक होगा। समस्त पदार्थोंका यही नियम है। मन भी

पदार्थ ही तो है। उसे खुला छोड़ेंगे तो विकृत होगा, हानि करेगा। ढककर रखेंगे, संयमित रखेंगे तो सुख-शान्ति देगा।

यदि अन्तर्मुखताका प्रयत्न ही धर्म है तो उससे व्यक्ति और समाजका धारण कैसे होगा? हिंदू-समाजके इतने कर्म-विस्तारका भी क्या अर्थ? अन्तर्मुखताका प्रयत्न और धारणा-शक्ति—ये दो वस्तुएँ नहीं हैं। शरीर जड है। व्यक्तिमें जो चेतनता है, वह अन्तस्तलसे आती है। यह सभी जानते हैं कि जिस काममें जितनी एकाग्रता होती है, वह कार्य उतना ही भली प्रकार सम्पन्न होता है। शक्तिका स्रोत भीतर है। जो जितना ही अन्तर्मुख होगा, जितना ही एकाग्र हो सकेगा, वह उतनी ही शक्ति प्राप्त करेगा। इसी शक्तिपर उसका तथा समाजका जीवन निर्भर है। जिस समाजमें जितने अधिक अन्तर्मुख वृत्तिके पुरुष होंगे, वह समाज उनकी एकाग्रतामें प्राप्त सत्यसे उतना ही लाभान्वित होगा। उसे उतनी ही शक्ति प्राप्त होगी। वह उतना ही अधिक टिकाऊ बनेगा।

जीवनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संसारमें भिन्न-भिन्न देशोंकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ हैं। मनुष्योंके पृथक्-पृथक् स्वभाव हैं। एक ही मनुष्यको जन्मसे मृत्युतक अनेक अवस्थाओंको पार करना पड़ता है। देश, काल, अवस्था, पात्र आदिके भेदसे आचार-शास्त्रका निर्माण होता है। जीवनके क्षेत्रमें एक ही प्रकारसे अन्तर्मुखताका प्रयत्न और मानसिक शक्तिकी सुरक्षा शक्य नहीं। पूजाके आसनपर जिस प्रकारका प्रयत्न शक्य है, वैसा ही प्रयत्न भोजनके आसनपर शक्य नहीं। कार्यक्षेत्रमें प्रयत्नोंके अनेक रूप हो जाते हैं। हिंदू-शास्त्रका समस्त आचार-विस्तार इसी भेदसे युक्त है। प्रत्येक समय, प्रत्येक कार्यमें अन्तर्मुखताका प्रयत्न बना रहे, मानसिक पवित्रता सुरक्षित रहे—इसके लिये इतने कर्मविस्तार हैं।

मनुष्य एक प्राणी है, अतः उसके धर्म अनेक नहीं हो सकते। विश्वमें दो या दस-पाँच धर्म हैं, यह एक भ्रान्ति ही है। विश्वके किसी धर्ममें ऐसा कोई मौलिक अन्तर नहीं, जिसके कारण उसे पृथक् धर्म कहा जा सके। अनादि सनातन धर्म ही मानव-धर्म है, यह बात अनादि कालसे इतिहासके छः या सात सहस्र वर्ष पूर्वतक विश्वमान्य थी। विश्वके शेष धर्म इन छः सात सहस्र वर्षसे अधिक प्राचीन नहीं हैं। देश, काल, पात्रके अनुसार महापुरुषोंने धर्मके किसी विशेष अङ्गको कहीं प्रचलित किया और वही धर्म कहा जाने लगा। मानव-प्रकृति विश्वके पदार्थोंके समान ही विकारी है। मनुष्य बराबर आदर्शसे च्युत होता है और फिर आदर्शोंके नामपर अपने दम्भका प्रसार करता है। जब दम्भके द्वारा आदर्श आच्छन्न हो जाते हैं तो महापुरुष समाजको धर्मपर ले जानेके लिये दम्भका संशोधन करते हैं। ये संशोधन ही नूतन धर्म या सम्प्रदाय बन जाते हैं।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्याग आदि सार्वभौम धर्म हैं। किसी आचार्यने किसीपर बल दिया और किसी-ने किसी दूसरेपर। समाजकी तात्कालिक विकृतिको दूर करने-के लिये जिस साधनपर बल देना आवश्यक था, उन्होंने उसी-को प्रमुखता दी। किसीने यह नहीं कहा कि वह नूतन धर्म चला रहे हैं। शाश्वत धर्मका उद्घाटन—पुनः-स्थापनकी घोषणा ही सब करते हैं। नवीन धर्म हो भी कैसे सकता है, जब कि मनुष्य प्राचीन प्राणी है। अग्निमें क्या कोई नवीन धर्म उत्पन्न कर सकता है? जो मनुष्यका स्रष्टा है, उसने उसे आदि कालसे ही उसका धर्म दिया है। जलका धर्म स्वादुपन जब विकृत हो जाता है; तब जलको शुद्ध करना पड़ता है। महापुरुषोंने मानवकी विकृतिको दूर करनेके प्रयत्न बार-बार किये हैं। इन सब प्रयत्नोंके परिणाम जिस स्वरूपको प्रकट करते हैं, वही वास्तविक धर्म है। इसीसे उसे सनातन धर्म कहते हैं। समस्त धर्म उसके किसी-न-किसी अंशसे ही पुष्ट होते हैं। उससे भिन्न कोई धर्म नहीं और न होना सम्भव है।

शास्त्रविहित कर्म ही धर्म

धर्मका स्वरूप व्यक्तिकी पात्रता, समय, स्थान, कार्यके अनुसार निश्चित होता है। जो कार्य एकके लिये विहित धर्म है, वही दूसरेके लिये अधर्म हो सकता है। जैसे शूद्रके लिये वेद-पाठ अधर्म है और ब्राह्मणके लिये वेद-त्याग। लौकिक दृष्टिसे जैसे एक ओषधि रोगीके लिये उपयोगी है और स्वस्थके लिये हानिकर। जल्लादके लिये निश्चित अपराधीको फाँसी देना उचित कर्म है और दूसरा यही कर्म करे तो प्राणदण्डका भागी होगा। एक व्यक्तिने अपराध किया, नियमतः उसे बेतोंका दण्ड मिलना है; पर यदि आप बेत मारेंगे तो अपराधी होंगे। बेत मारना जिसका काम है, वही मारेगा और दण्डका निर्णय न्यायालय करेगा। इस प्रकार धर्ममें स्वधर्म और परधर्मका भेद होता है।

कौन-सा कर्म कब किसके लिये धर्म है, यह जाननेका साधन शास्त्र है। अतएव धर्मकी दूसरी परिभाषा है 'चोदना-लक्षणो धर्मः।' शास्त्रप्रेरित कर्म ही धर्म है। प्रत्येक समाज, प्रत्येक जाति, प्रत्येक पदार्थ अपने नियमोंपर चलकर ही

होता है। यदि शरीरको पृथक् करके देखें तो किसीको कोई आवश्यकता नहीं। सुषुप्तिमें भिक्षुक और सम्राट् एक-सी स्थितिमें रहते हैं। अतः शरीरसे छुटकारा मिल जाय तो आवश्यकता न होगी; परंतु स्वप्न-जैसा छुटकारा नहीं। स्वप्नमें भी सुख-दुःख होते हैं। यह इसलिये कि स्वप्नमें देहकी आवश्यकताकी प्रतीति रहती है। देहकी आवश्यकताकी प्रतीति भी न रहे, तब निःश्रेयस-सिद्धि हो। इसीको मोक्ष कहते हैं।

देहकी प्राप्ति क्यों होती है? इच्छाओंसे, कर्मसे। इन इच्छाओंका उपशम, कर्मका असंसर्ग ही देहकी प्राप्तिसे बचा सकता है। धर्मकी गति अन्तर्मुख है। बाह्य प्रवृत्तिके निरोध, इच्छाओंकी समाप्तिके लिये ही धर्म-विधान है। अतः निःश्रेयसकी सिद्धि धर्मके द्वारा होती है। धर्मके आचरणसे भोगवृत्तिका नाश होता है, हृदयकी शुद्धि होती है। इस क्रमसे कर्मामें असंगताकी प्राप्ति होती है। जहाँ कर्मोंमें असंगताकी सिद्धि हुई, मोक्ष स्वतःसिद्ध है।

कर्मोंमें असङ्गताका अर्थ कर्म-त्याग समझना एक भ्रम है। धर्म ऐसे कर्मोंका विधान करता है, जिनका त्याग पाप माना गया है। अतएव कर्तव्यकर्मका त्याग तो किसी प्रकार अभीष्ट नहीं होना चाहिये। कर्म दो प्रकारके होते हैं। एक किसी इच्छासे किये जाते हैं और दूसरे स्वतः होते हैं या कर्तव्यबुद्धिसे किये जाते हैं। श्वास, रक्तकी गति आदि कर्म स्वतः होते हैं। भोजन और मलोत्सर्ग ऐसे कर्म हैं, जो शरीर रहनेतक करने ही होंगे। इसी प्रकार अपने वर्ण, आश्रम, जाति, कुल, अवस्थादिके अनुसार जो कर्म हमारे लिये नियत हैं, वे कर्तव्य हैं। उन्हें त्यागना नहीं चाहिये।

किसी उद्देश्यसे कर्म करना बन्धनका कारण नहीं है। उद्देश्यके बिना तो जो कर्म होगा, वह अव्यवस्थित होगा; परंतु उद्देश्यमें आसक्ति, वह पूर्ण ही हो—यह आग्रह, उसकी पूर्णतामें अपने कर्तृत्वका अहंकार—ये बाधक हैं। उद्देश्य कोई वासना—अधर्मप्रवृत्ति सकामवृत्ति नहीं होना चाहिये। उसे कर्तव्य मानकर करना और परिणामके सम्बन्धमें तटस्थ रहना, यही निष्कामता है।

धर्म हमें कर्तव्यकी प्रेरणा देता है, साथ ही फलकी ओरसे तटस्थ रहनेका आदेश भी। फलोंके विस्तृत वर्णन तो निम्न कोटिके अधिकारियोंके लिये शास्त्रोंमें हैं। शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि फलविस्तारका तात्पर्य धर्ममें प्रवृत्ति कराना है। धर्मका लक्ष्य तो अन्तर्मुखता है, त्याग है और इस प्रकार नैष्कर्म्यके द्वारा मोक्ष उसका प्राप्य है। यह पहले कहा जा चुका है कि जिस कर्म या नियमका लक्ष्य अन्तर्मुखता न होकर बहिर्मुखता है, वह विषय-प्रवृत्तिको बढ़ाकर संघर्ष, अशान्ति और असन्तोषके द्वारा विनाशका पथ प्रशस्त करेगा। वह धर्म नहीं, उसमें धारण-शक्ति नहीं। वह अधर्म है। वह नष्ट करनेवाला है।

धर्मत्याग

आज बड़े गर्वसे धर्मसे मानव-जातिको मुक्त करनेकी बात कही जाती है। आजके महापण्डित यह कहकर उल्लसित होते हैं—'मैं इस रोगसे छूट चुका हूँ!' परन्तु इसका परिणाम क्या होगा, वे कभी सोचते ही नहीं। अग्नि अपने धर्मका त्याग करके भस्म बन जाती है। मनुष्य अपना धर्म त्याग देगा तो पशु हो जायगा। पशु होकर भी उसका निस्तार नहीं। पशु तो अपने धर्मका पालन करते ही हैं। मनुष्यने धर्मत्याग जहाँ भी किया है, वहाँ वह पिशाचसे भी घृणित हो गया है। धर्मसे दूर होकर मानव-जाति विनाशकी ओर जा रही है।

धर्मत्यागका अर्थ है—उच्छृङ्खलताकी स्वीकृति और वह विनाशक ही होती है। शास्त्रीय कृत्योंका मर्म हमारी तुच्छ बुद्धिमें नहीं आता, इसीलिये हम उन्हें व्यर्थ या दम्भ कहकर छोड़ दें—यह वैसी ही बात है, जैसे कोई बालक दियासलाईके मसालेकी दाहकता न समझे और दियासलाई दाहक है—इस बातको दम्भ कहे। अवश्य ही दियासलाईका मसाला बिना घिसे उसका हाथ जलानेमें असमर्थ है। इसी प्रकार शास्त्रीय आदेश अपने परिणामको तभी प्रकट कर सकते हैं, जब उनको निर्दिष्ट विधिसे सम्यक् पूर्ण किया जाय। केवल तर्क करना अज्ञानका ही परिचायक है। जो लोग कुछ प्रयत्न करते भी हैं, वे प्रयत्नकी साङ्गतापर ध्यान नहीं देते। दियासलाई यदि नम होगी, कम वेगसे घिसी जायगी, तो अग्नि नहीं प्रकट होगी—यह वे भूल जाते हैं। शास्त्रपर आक्षेप करके वे अपनी ही हानि करते हैं।

धर्म-परिवर्तन

धर्म-परिवर्तनका प्रश्न धर्मत्यागसे भिन्न है। प्रत्येक धर्म यदि वह सचमुच धर्म है और उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख है तो वह स्वतः पूर्ण है। क्योंकि पूर्णता व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया या नियममें नहीं। वह तो अन्तस्तलमें है और जो भी वहाँ पहुँचेगा, उससे एक हो जायगा। प्रत्येक व्यक्ति

दो दृश्य (१)
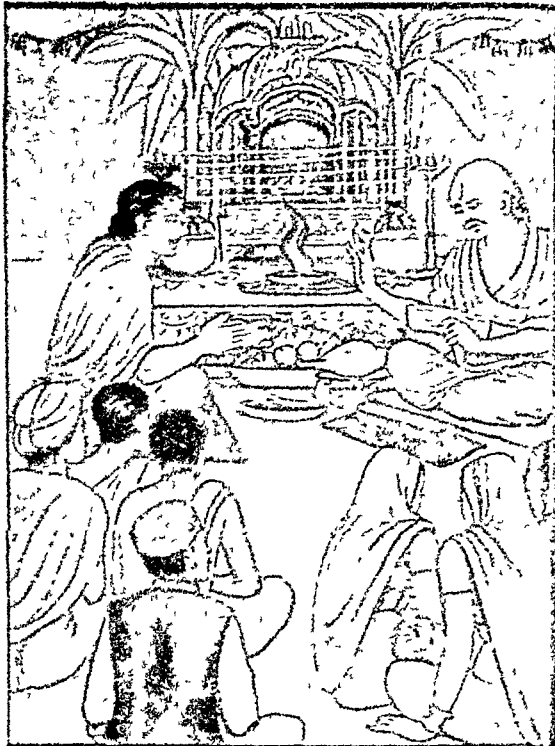
पहले था स्वाध्याय शास्त्रका, पढ़े जा रहे अब अखबार ।
तब थी कीर्तन-कथा, मुकदमे अब झूठे कर रहे तयार ॥

दो दृश्य (२)

चरणामृतपान　　　　　　　　　　　　　　सुरापान
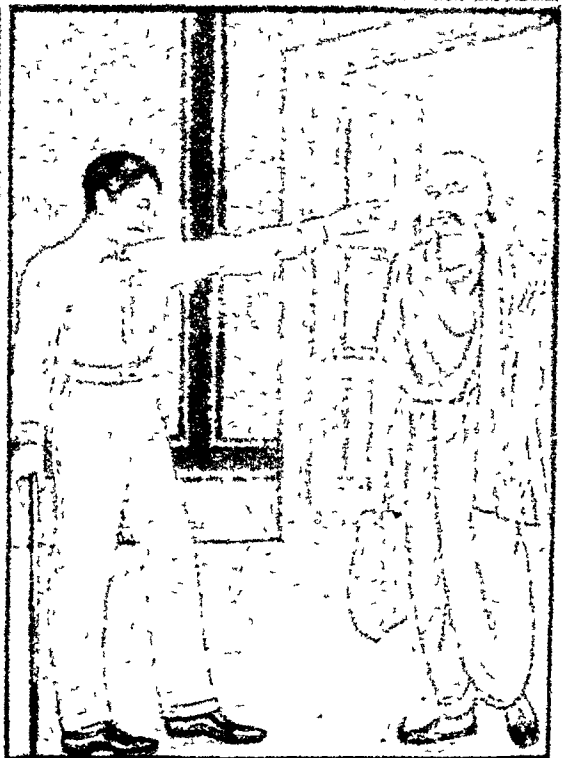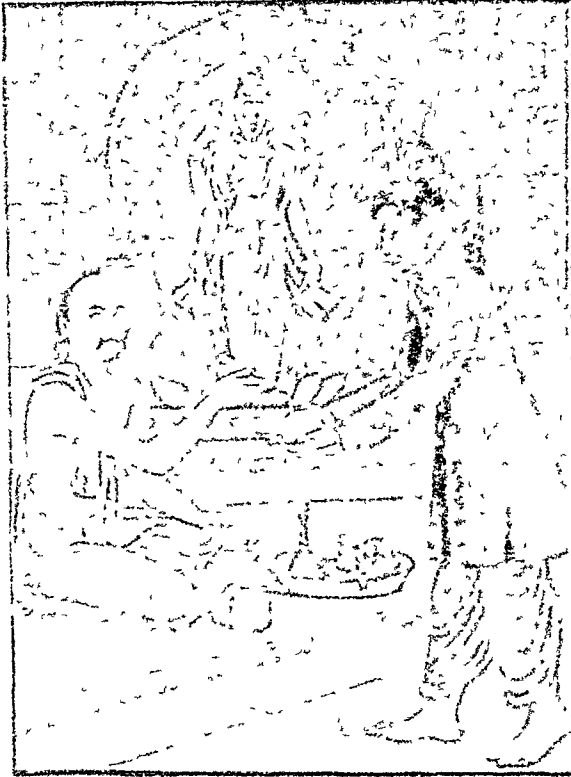
अतिथि-सत्कार　　　　　　　　　　　　　　अतिथि-तिरस्कार

पहले चरणामृत पीते थे अब हो चला सुरासे प्यार ।
तब होता सत्कार अतिथिका अब तो मिलती है फटकार ॥

अपने आचार, रुचिके अनुसार वहाँ जानेका अधिकार रखता है। धर्म-परिवर्तनका प्रश्न जहाँ धर्मके लिये—आध्यात्मिकताके लिये उठता है, वहाँ निष्ठा एवं विचारके अभावके अतिरिक्त अन्य कोई कारण सम्भव ही नहीं है। किसी भी धर्मके आदिप्रवर्तकने दूसरे धर्मको हीन या अपूर्ण नहीं बतलाया है। कोई भी धर्म जो प्रवर्तित हुआ है, वस्तुतः सम्प्रदाय ही है और जहाँ उसका प्रवर्तन हुआ है, उस देश, काल तथा आचारके अनुकूल वह श्रेयस्कर है। सार्वभौम अनादि धर्म, जो ज्ञान और वाणीके साथ ही मनुष्यको प्राप्त हुआ, प्रवर्तित धर्म नहीं हो सकता। वह तो मनुष्यको सृष्टिके साथ ही मिला। वह ईश्वरीय धर्म ही सनातन धर्म है। देश-कालादिके अनुसार उसके किसी अंशको प्रमुखता देकर महापुरुषोंने दूसरे धर्मोंका प्रवर्तन किया। ऐसे प्रवर्तित धर्मोंको दूसरे देशों एवं अन्यधर्मावलम्बियोंपर बलात् लादना अहंकारकी प्रेरणाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

आज धर्म भी राजनीतिका एक साधन हो गया है। धर्मके नामपर जितनी सभाएँ, संगठन या आन्दोलन होते हैं, वे अपना राजनैतिक अधिकार-क्षेत्र ही विस्तृत करना चाहते हैं। धर्म भी दूसरे साधनोंके समान अर्थका साधन हो गया है। धर्म-परिवर्तन अपनी जन-संख्याकी वृद्धि और उससे आर्थिक लाभके लिये किया या कराया जाता है। इस प्रकारके प्रयत्न अवश्य ही जब एक पक्षसे आघातरूप होते हैं तो दूसरा पक्ष आत्मरक्षाके लिये उनका आश्रय लेता है; कुछ भी हो, ये संघर्ष वस्तुतः धर्मके क्षेत्रसे बाहर हैं। धर्म—जिसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख है, उसीको बाह्य भोगोंका साधन बनाना; अहंकारका विनाश जहाँ अभीष्ट है, वहाँ ऐसा अहंकार कि अपने अतिरिक्त शेष धर्मानुयायियोंको पशु कहना—इससे बड़ा दम्भ और छल क्या होगा? यह वञ्चना अपना और समाजका भी विनाश कर रही है। धर्मका नाम लिया जाता है, उसकी दुहाई दी जाती है—उसका गला घोंटकर, उसके शवपर पैर रखकर; और तब भी मनुष्यकी मान्यता है कि वह धार्मिक है! उसका उत्थान होगा!!

सनातनधर्ममें धर्म-परिवर्तनके लिये कोई स्थान नहीं—कोई नियम नहीं, यह स्वीकार करना होगा! जो सार्वभौम धर्म है, जहाँ दूसरे धर्म उसके एक अंशसे ही उत्पन्न हुए हैं, जिस अनादि धर्मका प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं, उसमें धर्म-परिवर्तन कैसा? कोई दूसरा धर्म हो तो परिवर्तन किया जाय। शास्त्रोंमें शुद्धि ढूँढ़नेवाले यह भूल जाते हैं कि चार सहस्र वर्ष पूर्व दूसरा कोई धर्म ही नहीं था। अपने समाज और आचारसे प्रमादवश च्युत हुए लोगोंकी शुद्धिका ही वहाँ विधान है। यह धर्म-परिवर्तन—शुद्धिका प्रश्न उठा ही उनके सम्मुख, जिन्हें नवीन धर्म चलाना था। आजके संघर्ष सनातनधर्मके लिये आपत्तिरूप हैं और आपद्धर्मका शास्त्रोंमें विस्तारसे निर्देश है। आपद्धर्मके नियमानुसार शास्त्रोंसे उनका अनुगमन करते हुए आत्मरक्षणका प्रयत्न तो अवश्य करना चाहिये, और उसको किये बिना इस समय समाजकी रक्षा कठिन ही है। परंतु शास्त्रोंका ही विपरीत अर्थ करना—यह 'कल्याणप्रद' नहीं है। धर्मको दूसरोंकी देखा-देखी अर्थका साधन हिंदू भी बना दे, यह तो हानिप्रद ही होगा।

'धर्मो रक्षति रक्षितः।'

सभा-संगठन-प्रचार

'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे।' आज जिस प्रकार हिंदू-धर्मपर चारों ओरसे आघात हो रहे हैं, उनको देखते हुए यह स्पष्ट है कि संगठनके अतिरिक्त आत्मरक्षणका दूसरा प्रधान साधन नहीं है। समस्त मतभेदोंको भूलकर, संगठित होकर ही इस समय अपने आचार, समाजकी रक्षा की जा सकती है। इसके लिये भरपूर प्रयत्न करना हिंदू-समाजके प्रत्येक सदस्यका कर्तव्य होना चाहिये।

हमें इस समय समस्त मतभेदोंको भूलकर संगठित होना चाहिये; परंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि यह संगठन आपत्तिकालिक है, आपद्धर्म है। जबतक ऐसी बात ठीक नहीं समझ ली जाती, तबतक संगठन पूर्ण नहीं होंगे। लोग अपने-अपने संगठनोंको स्थायित्व और महत्त्व देने लगते हैं। इससे अहंकार पोषित होता है। शक्ति संगठित होनेके स्थानमें छिन्न-भिन्न हो जाती है। इस समय तो हमें शक्तिको एकत्र करना है।

हिंदू-धर्म सभा, संगठन, मञ्चोंपर दिये गये विशाल भाषण तथा दूसरे प्रचार-साधनोंका धर्म नहीं है। संस्थाएँ स्थापित करना और प्रचारके लिये संगठन बनाकर क्षेत्र प्राप्त करना—ये पाश्चात्त्य सभ्यताके शस्त्र हैं। 'कण्टकेनैव कण्टकम्' के न्यायसे हम इस आपत्तिके समय इनका आपद्धर्मके रूपमें उपयोग तो कर सकते हैं और करना ही चाहिये; परंतु यदि हमें अपने धर्मको अविकृत रखना है तो इनके स्थायित्वका मोह छोड़ना होगा। ये हिंदू-धर्मकी मूलप्रवृत्तिके विपरीत हैं।

हिंदू-धर्म वैयक्तिक धर्म है। अन्तर्मुखताका साधन समूहमें नहीं हो सकता। जहाँ बाहरसे अपनेको भीतर करना है, वहाँ बाहरकी प्रवृत्तियोंको बढ़ाना कोई तात्पर्य नहीं रखता। मन्दिरोंमें, पाठशालाओंमें सामूहिक प्रार्थना समझमें आनेकी बात है। जहाँ समूह है, वहाँ समूहके साथ एकाग्रताका प्रयत्न भी चल सकता है; परंतु प्रयत्नका आदर्श तो समूह और शरीरको भूल ही जाना वहाँ भी है। जहाँ समूह नहीं है, वहाँ समूह बनाकर प्रार्थना की जाय—इसका अर्थ केवल यही है कि या तो मन इतनी निम्न स्थितिमें है कि वह बाह्य प्रेरणाके बिना एकाग्र नहीं होगा, या फिर प्रार्थना ही प्रार्थनाके लिये नहीं है, वह भी एक राजनैतिक साधन है—प्रचार करने, संगठन करनेका। समस्त पाश्चात्त्य समाज अर्थको ही मुख्य मानता है, अतएव उसके प्रार्थनादि भी संगठनके ही साधन हैं। वहाँ प्रत्येक कार्यमें सैनिक वृत्ति, आर्थिक लाभकी मुख्यता रहती है; पर हिंदू संस्कृति ठीक इसके विपरीत बाह्य भोगोंसे निवृत्तिकी प्रेरणा देनेवाली है। वहाँ प्रार्थना भी सामूहिक हो, यह एक उपहासास्पद बात है।

प्राचीन समयमें सर्वत्र महर्षि ही समाजके सञ्चालक थे। शास्त्र ही नियम थे। प्रत्येक कार्य शास्त्रपर अवलम्बित थे। जनमतके बदले शास्त्रमत, आप्तमत मान्य था। अतएव किसी कार्यके लिये संस्था-निर्माणकी आवश्यकता नहीं थी। उपदेश अधिकारियोंको दिये जाते थे; अनधिकारी उनका दुरुपयोग करेंगे—यह बात सर्वमान्य थी। ऐसी दशामें मन्त्रोंके प्रचारका प्रश्न ही नहीं उठता था। सत्सङ्ग, कथा, सत्र—ये होते थे; किंतु उनकी न तो आजके समान संस्थाएँ चलती थीं और न उनका विज्ञापन होता था। किसी संतके पधारनेपर उनके उपदेश जो वे कृपापूर्वक श्रोताके अधिकारके अनुसार दे देते, वही सम्बल थे। संतों, महर्षियोंके समीप उपदेश ग्रहणार्थ दूर-दूरसे [illegible] जाते और वहाँ [illegible]। प्राचीन कथाओंका एक रूप भागवतसप्ताह अब भी देखने देखनेको मिल जाता है। [illegible] दीर्घकालतक चलते तो [illegible]।

संस्थापर उन्हींका अधिकार हो जाता है, वे प्रमुख हो जाते हैं। जो सचमुच निःस्वार्थ, परोपकारवृत्तिसे लगे उद्योगी उसमें होते हैं, वे या तो कुछ कर नहीं पाते या पृथक् होनेको बाध्य होते हैं।

लेख लिखना, भाषण देना और अभिनय करना—ये कलाएँ हैं। यह आवश्यक नहीं कि लेखक या वक्ता जिन गम्भीर तथ्योंको प्रकट कर रहा है, उनका अनुभव भी करता हो—जो उपदेश दे रहा है, उसका आचरण भी करता हो। सभाओंमें जब कोई बोलने लगता है तो थोड़े ही वक्ता होते हैं, जो यह नहीं चाहते कि जनता उनकी बातको ध्यानसे सुने। जनता ध्यानसे सुने, इसके लिये जनताकी रुचिकी बात कहनी चाहिये। इस प्रकार वास्तविकताकी अपेक्षा कला एवं विद्वत्ताको अधिक महत्त्व मिलता है। यह भी व्यवसाय बन जाता है और जो इस प्रकारका व्यवसाय ही करते हैं, उनका जीवन अन्तर्मुख कैसे हो सकता है। यही दशा लेखककी भी है, यदि वह अपने लेखोंको व्यापक बनानेके ध्यानसे लिखता है।

धर्म भी प्रचारकी वस्तु है, यह हिंदू-समाजने स्वीकार ही नहीं किया। धर्म तो अधिकारके अनुसार प्राप्त करके आचरण करनेकी वस्तु है। अनधिकारीको उसका उपदेश ही वर्जित है। समाजका प्रत्येक क्षेत्र जहाँ धर्मपर अवलम्बित है, धर्मसे ओतप्रोत है, वहाँ किसी क्षेत्रमें प्रचारके लिये स्थान नहीं बचता। वस्तुतः प्रचार है क्या वस्तु ? हम अपने विचारोंसे दूसरोंको प्रभावित करना चाहते हैं। क्यों ? इसलिये कि हम अपने विचारोंको श्रेष्ठ मानते हैं और दूसरोंका उसका आचरण करके कल्याण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। अथवा हमें दूसरोंको अनुगामी बनाना है। अपनी यश इच्छा या किसी दूसरी इच्छाको सार्थक करना है।

ज्ञानका मार्ग है जिज्ञासा। जबतक स्वयं जिज्ञासा न हो, किसीको उपदेश लाभ नहीं करता। उपदेशमें जहाँ जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वहाँ यह भी भय रहता है कि स्वाभाविक रुचि दबती है और मानसिक धारा अस्तव्यस्त हो सकती है। हिंदू संस्कृतिके अनुसार जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर ही उपदेश देना चाहिये। हम अपने ही विचारों, विश्वासोंका प्रचार करें—यह मनस्वी हम कर सकते हैं; परंतु इसका अर्थ यह तो है ही कि हमारा अहंकार बढ़ रहा है, हमने दूसरोंको अज्ञ मान लिया है। अपनेको हम निर्भ्रान्त मानें, यहाँतक तो ठीक। परंतु दूसरोंके विचार

उनके लिये ठीक नहीं, यह अहङ्कारकी ही प्रवृत्ति है।

हम जिन धारणाओंको भ्रान्तिहीन मानते हैं, उनका आचरण करके हमने क्या पूर्णता प्राप्त कर ली है ? पूर्णता प्राप्त करनेसे पूर्व हम प्रचारमें लगते हैं—इसका अर्थ है कि या तो हम अपनेमें उन धारणाओंपर चलनेकी योग्यता नहीं पाते, या हमारे प्रयासमें पूरी शक्ति नहीं, या वे धारणाएँ वस्तुतः आचरणयोग्य हैं—इसमें हमारा विश्वास नहीं। किसी भी दशामें हम क्या प्रचारके योग्य रहते हैं ? विश्वका अवतकका अनुभव यही है कि पूर्णताको प्राप्त 'पुरुष समाज या संगठन नहीं बनाते। जो अन्तर्मुख हो चुका, वह बाह्य प्रवृत्तिमें एक सीमातक ही लगा रह सकता है। अधिकारी, जिज्ञासुको वे प्रेरणा, उपदेश तो देते हैं; किंतु जगत्‌के व्यवस्थित करनेके सम्बन्धमें उनकी प्रवृत्ति सभा-सोसायटी आदिकी ओर कदाचित् ही होती है।

हिंदू धर्मके इस आपत्तिकालमें हम भगवान्‌को पुकारनेके साथ-ही-साथ आपद्धर्मके रूपमें संगठन और प्रचार स्वीकार करें, इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं; परंतु धर्मका लक्ष्य अहङ्कारका शैथिल्य है, उसे बढ़ाना नहीं—यह स्मरण रहनेपर ही ये संगठन सफल होंगे। हिंदू-समाज धर्मपर संगठित समाज है। उसमें बाह्य प्रवृत्तिका निरोध ही श्रेयस्कर माना जाता है। जिज्ञासु ही वहाँ उपदेशका पात्र है। पाश्चात्य प्रभावके प्रबल प्रवाहमें इस समय इन मूल तथ्योंका विस्मरण धर्मके प्रतिकूल ही होगा। हिंदू-धर्मकी अन्तर्मुख प्रवृत्तिकी रक्षा सबसे प्रथम दृष्टिमें रखकर ही शेष प्रसार उचित है।

हिंदू-संस्कृति और पाश्चात्यवाद

(लेखक—आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ)

१—पाश्चात्य राष्ट्रोंमें अनेक वादोंका प्राबल्य हो रहा है और उनकी प्रतिक्रियाएँ सर्वत्र दिखलायी पड़ रही हैं। अनेक आघात-प्रत्याघात चल रहे हैं; उन क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं, आवर्तों-प्रत्यावर्तोंका कुछ-कुछ प्रभाव भारतवर्षपर भी पड़ रहा है। ब्रिटिश सरकार अपने शासनकालमें उस प्रभावको रोकनेका भरसक प्रयत्न करती रही थी। उसको मुख्य भय रूसके वर्गवाद अथवा साम्यवादसे ही रहा। कार्ल मार्क्सका समाजवाद भी भयका हेतु रहा।

२—भारतवर्षको पाश्चात्य रंग-ढंगके किसी वाद अथवा किन्हीं वादोंसे शङ्कित अथवा भयभीत रहनेकी आवश्यकता नहीं है। भारतवर्ष तो अनादिकालसे—जबसे मनुष्यनामक प्राणी संसारमें उत्पन्न हुआ, तभीसे तत्त्वज्ञानकी जन्मभूमि तथा क्रीड़ाभूमि रह चुका है। उसके सामने कोई वाद आये, वह अपने ढंगकी निरीक्षण-परीक्षण-पद्धतिद्वारा उसका मर्म जानकर यह निश्चय कर सकेगा कि वह वाद उसके लिये उपादेय है कि हेय। भारतवर्षके तत्त्वज्ञानकी परम्परा इतनी क्रमबद्ध, इतनी सुसंगत है कि उसको किसी भी वादसे किसी प्रकारकी आशङ्का नहीं हो सकती।

३—जब ये वाद अपना हठ छोड़कर हमारी संस्कृतिके मुख्य आदि मूलस्रोत अध्यात्मवादके साथ बहेंगे, तभी संसारको लाभ पहुँचा सकेंगे। अन्यथा ये अध्यात्मशून्य वाद संसारके लिये उपसर्ग अथवा उपद्रवके हेतु ही बने रहेंगे।

४—रूसको वर्गवाद खा रहा है। उसको केवल किसान और मजदूरोंकी ही चिन्ता है। कार्ल मार्क्सका समाजवाद केवल मिलके अथवा शहरी मजदूरोंकी चिन्ता करता है, वह गाँवके किसानोंके विषयमें उदासीन ही रहा है।

५—स्वाभाविक, ईश्वरनिर्मित पद्धति यह है कि मनुष्य समाज गुण-कर्म-स्वभावानुसार (१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय (३) वैश्य, (४) शूद्र—इन चार वर्णोंमें विभक्त हो—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। (यजुः—३१)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

(गीता ४। १३)

—और वे अपने स्वाभाविक कर्मोंमें संलग्न रहें। इसके विपरीत रूसमें एक ही वर्ग है। किसान-मजदूर एक ही माने जा रहे हैं। वहाँके राज्यचक्र-संचालनमें केवल किसान तथा मजदूर—इन्हीं दो वर्गोंका हाथ है। ब्राह्मण-वृत्तिवाला अथवा क्षात्रवृत्तिवाला एवं वैश्य-समाज इन्हीं दो वर्गोंके अधीन रहता है। अर्थात् सिर, भुजाएँ और पेट पैरोंके ही अधीन रहते हैं। यह अस्वाभाविक पद्धति चल नहीं सकती। शरीरमें पैरोंका भी स्थान है और अपने स्थानमें उसका महत्त्व भी है। पर सिर, भुजाएँ तथा पेटका भी अपना-अपना विशेष स्थान तथा महत्त्व है। जब पैर इनकी प्रेरणासे चलते हैं, तभी यथारीति मार्गका अनुगमन कर सकते हैं, अन्यथा न जाने उच्छृङ्खलवृत्तिसे सिर, भुजाएँ तथा पेटको कहाँ जाकर

नष्ट करे और साथ स्वयं भी नष्ट हो। फिर भी यह एक विचित्रता है कि साम्यवादके नामपर सबको एक-जैसा करनेका अस्वाभाविक प्रयत्न किया जा रहा है। शरीरमें सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग एक ही प्रकारके, एक-ही-जैसे हों तो शरीरकी क्या दुर्गति होगी अथवा उस प्रकारका शरीर यथार्थरूपमें शरीर भी कहलाया जा सकेगा कि नहीं—विचार कीजिये।

६—भारतीय संस्कृतिके मुख्य अङ्ग ये हैं—

१—ईश्वरीय सत्ता,

२—ईश्वरीय न्याय,

३—कर्मफलानुसार दण्ड,

४—गुण-कर्म-स्वभावानुसार समाज-व्यवस्था।

इन चारोंमें अध्यात्मवाद ओतप्रोत रहता है। इसीलिये अध्यात्म-दृष्टिसे सब प्राणियोंमें एक आत्मतत्त्व विद्यमान है, ऐसा मानकर हिंदू-संस्कृति चलती है और इसीलिये हमारा भारतीय समाजवाद आत्मतत्त्वकी समताके आधारपर चलता है और समाज सुखी रहे, इसलिये वर्णाश्रम-धर्मके अनुरूप प्रत्येक वर्ग अपने-अपने स्वाभाविक धर्मपर आरूढ़ रहता है।

अन्यदेशवासी ईश्वरीय सत्ता, ईश्वरीय न्याय, कर्मफलकी अपरिहार्यता और आत्मतत्त्वकी समताको मानकर नहीं चलते। इसीलिये ये लोग अध्यात्मज्ञानविहीन, केवल भौतिक सत्ताके आधारपर अपने समाजको सुखी बनाना अथवा देखना चाहते हैं। यही उनकी मुख्य त्रुटि है।

७—हमारी संस्कृति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

(ईशोपनिषद् १)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशोपनिषद् २)

मनुष्यकी रचना त्रिगुणात्मक तत्त्व—सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंके आधारपर की गयी है। मनुष्यके कर्मफल उसकी अनन्त वासनाओंके कारण अनन्त हैं। कर्मानुरूप ही सुख-दुःख आते हैं। ऐसी दशामें अपने अज्ञानके कारण यह समझ बैठना कि हम सबको एक-जैसा धनी, एक-जैसा ऐश्वर्यवाला, एक-जैसा साधनसामग्रीवाला, एक-जैसा सुखी बनायेंगे, हास्यास्पद ही है, व्यर्थ जलताड़न-क्रियाके सदृश ही है, असम्भव ही है।

८—यूरोपीय प्रथम महाभारतके समयमें रूसमें क्रान्ति हुई थी। तबके लेनिनके रूसमें और अबके स्टालिनके रूसमें बड़ा अन्तर हो गया है। प्राचीन समयमें राजा-राजा आपसमें लड़ते रहते थे। अब प्रजातन्त्रके नामपर युद्ध जुट जाते हैं। रूसकी जारशाही गयी तो उसके स्थानमें रूसका वर्गवाद आया। जर्मनीकी कैसरशाही गयी तो उसके स्थानमें राष्ट्रिय समाजवाद आ गया, जो नाजीवाद कहलाया। अब तो वह भी नष्ट होकर जर्मनीके चार टुकड़े हो रहे हैं। जर्मनीमें प्रजा-तन्त्र रहा, पर हिटलरके समयमें वह पूर्ण एकतन्त्र हो गया। रूसमें वर्गवाद रहनेपर भी स्टैलिनके समयमें सर्वथा 'एकतन्त्र' चल रहा है। इस प्रकार प्रजातन्त्रका नाम लेकर एकतन्त्र ही चलाया जा रहा है। इंग्लैंडमें प्रजातन्त्र है, पर वहाँ वह वैश्यप्रधान पूँजीवादके अधीन रहा है और अब तो समाजवाद प्रबल हो रहा है। अमेरिकाकी यही दशा है, पर वह साम्यवाद तथा समाजवादसे सतर्क रहता है। और किसी-न-किसी रूपमें वहाँ भी एकतन्त्र चलता ही है। जिस प्रकारका वर्गवाद अथवा साम्यवाद रूसमें प्रचलित है, वह दोषयुक्त है, अधूरा है; वहाँ शूद्रवर्गने अन्य वर्गको दबा रक्खा है। जर्मनीके समाजवादमें क्षात्रशक्तिको इतनी अधिक प्रधानता दी गयी थी कि अन्य वर्ग दबे रहे, उभर न सके। इंग्लैंडमें वैश्यसमाज इतना प्रबल रहा कि अन्य वर्ग पनप न सके। इस प्रकार पाश्चात्त्य समाजमें न चारों वर्ण यथार्थरूपमें हैं, न यथार्थ रीतिपर काम कर रहे हैं। इसलिये अध्यात्मशून्य पाश्चात्त्य भौतिकवादी समाज सब प्रकारकी साधनसामग्री, ऐश्वर्य होनेपर भी सच्चे अर्थोंमें सुखी नहीं है। पाश्चात्त्य जगत् समस्त सुखोंके केन्द्र ईश्वरको भूल गया है, वह कर्मफलकी मीमांसामें विश्वास नहीं रखता, उसने ईश्वरीय न्यायदण्डको अपने हाथोंमें ले लिया है, उसको अध्यात्मतत्त्व नहीं सुहाता और वह विज्ञानपर अधिक भरोसा किये हुए है; तब उसको सच्चा सुख कैसे मिल सकता है। उसका समस्त भरोसा बिजली और भापपर है—इसीलिये यूरोप नष्ट हो रहा है। इसीलिये अमेरिका सुखी नहीं है। इसीलिये रूस हाथ-पैर पटक रहा है और इसीलिये फ्रांस नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है। इनको कोई उपाय सूझ नहीं रहा है। अब ये भारतकी ओर निहार रहे हैं।

९—यदि संसार सुख चाहता है तो उसको भारतीय संस्कृतिकी ओर आना पड़ेगा; भारतीय समाजकी रचना जिन तत्त्वोंपर हुई, उन्हीं तत्त्वोंपर समाजकी रचना करनी

पड़ेगी । ऐसे समाजकी रचना करनी पड़ेगी, जिसमें सब वर्ग अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंको करते हुए परस्पर आश्रित रहेंगे । ऐसे समाजकी रचना करेंगे, जिसमें सबको उठनेका अवसर रहे और जो एक दूसरेको बाधा न पहुँचाते हुए उन्नतिशील बने रहें; परस्पर सुख-दुःखके भागी बनें। भारतीयोंका वर्णाश्रम-धर्म वह सुन्दर मार्ग बतलाता है; क्योंकि उसकी आधारशिला सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंके आधारपर रक्खी तथा मानी गयी है । उसमें अध्यात्मतत्त्व ओतप्रोत है । वह उपनिषद्-वर्णित भूमा, सब सुखोंके केन्द्र, महती सत्ता—ईश्वरको मानता है ।

यो वै भूमा तत्सुखम् ।　　(छान्दोग्य०)

जो सबमें बड़ा है, बृहत् है, वही सब सुखोंका केन्द्र है ।

नाल्पे सुखमस्ति ।　　(छान्दोग्य०)

इन अल्पभूतोंमें सुख कहाँ । इसलिये—

भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः ।　　(छान्दोग्य०)

इसलिये भूमा-शक्तिको जानो और उसको जान-मानकर संसारमें विचरो, तभी सच्चा सुख पाओगे ।

अतएव रूसके वर्गवाद 'Workers of the world unite'(संसारके मजदूरो ! मिलकर उठो)—इसमें अन्य वर्ग मारे जाते हैं। इटलीके फासिस्टवाद 'Everything for the State' (सब कुछ अपने राज्यतन्त्रके लिये)—इसमें प्रजा दब जाती है और राज्यतन्त्रके नामपर अत्याचार चलता है । राज्यतन्त्र ही एकतन्त्र हो जाता है । जर्मनीके 'Everything for the Nation' (सब कुछ अपने राष्ट्रके लिये)—इस सिद्धान्तमें सकुचित राष्ट्रवाद चलकर सत्ता फिर एकतन्त्रके रूपमें परिणत होकर एक वर्गके हाथमें ही आती है । इसी प्रकार इंग्लैंडमें प्रजातन्त्रके नामपर धनीवर्ग अन्य वर्गोंको दबाये रखता है। यही अस्वाभाविक है । अमेरिकाकी दशा 'जलबिच मीन पियासी' की-सी हो रही है । इस प्रकारका पङ्गु; तिरछा समाजवाद कभी भी सुख नहीं दे सकता। भौतिकवाद इन्हें नष्ट कर चुका और अब भी न सँभले तो और भी नष्ट कर देगा ।

१०—भारतीय समाजवाद आध्यात्मिकतासे सम्बन्ध रखता है, रखता रहा है,—इसलिये दासता, पराधीनता, परचक्र, अनर्थ-परम्पराओंमें भी यह जैसे-तैसे बचा रहा । अब तो अंगरेजी शासनचक्रका दबाव जाता रहा, इसलिये स्वतन्त्र रहकर अपनी संस्कृतिको सँभालेगा तो फिर जगद्गुरु होकर संसारका मार्गदर्शक बन सकेगा । इसके धर्म, इसकी सभ्यता, इसकी संस्कृति, इसके अध्यात्मवादमें अब भी वह अद्भुत शक्ति है ।

श्रीडॉक्टर भगवानदासजीने अपनी पुस्तक 'सायन्स ऑफ सेल्फ' (आत्मविज्ञान) में ठीक ही लिखा है—

It is the ancient socialism which some are convinced, is truly scientific, because based on the science of Psychology the most important of all sciences as is being widely recognized in the west now; while modern socialism (or Communism) which calls itself scientific fails to be so, because it ignores and even goes positively against some fundamental facts and laws of human nature, and therefore will fail to realize its objective, and fail exactly in the degree in and to the extent which it violates those facts and laws

All this world of objects, which is named by the word *"this"* is made of and by ideation and hence none who knows not the science of the self can carry action to fruitful issues

He who knows the inner purpose of the laws of process and its orders ideated by the self-existent, he alone can rightly ascertain and enjoin the rights and duties of the different classes of human beings, of their social Occupations (Varnas) and Vocations and of their Āśramas, "stages in life"

न ह्यध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमपाश्नुते ।　　(मनु०

इसका भावार्थ यह है कि अनेकोंका यह विश्वास है कि प्राचीन समाजवाद ही वैज्ञानिक समाजवाद है; क्योंकि वह वैज्ञानिक अध्यात्मवादपर निर्भर है । वैज्ञानिक अध्यात्मवाद सब विज्ञानोंका विज्ञान है । पाश्चात्यदेशवासी भी अब इस बातको मानने लगे हैं ।

वर्तमान समाजवाद और साम्यवाद, जो वैज्ञानिक ही समझे जा रहे हैं, असफल हो रहे हैं; क्योंकि वे आधारभूत मौलिक प्राकृतिक नियमोंके विरुद्ध हैं, मनुष्य-समाजके स्वभावके विरुद्ध हैं और उतने अंशोंमें अपूर्ण तथा असफल

रहेंगे, जितना कि वे सभावशास्त्रसे विरुद्ध जायँगे अथवा प्राकृतिक नियमोंके विरुद्ध चलेंगे।

यह भौतिक संसार जिसको कि हम 'इदम्' (यह) इस नामसे पुकारते हैं, किसी विशिष्ट कल्पना अथवा व्यवस्थाके आधारपर स्थित है। इसलिये उसके भीतरके अध्यात्मतत्त्वको जो जानते हैं, वे ही भिन्न वर्गों अथवा वर्णोंके कर्तव्योंको भलीभाँति जान सकते हैं, उस वैज्ञानिक वर्णाश्रमधर्मको समझ सकते हैं। मनुमहाराजने ठीक ही कहा है कि जो पुरुष अध्यात्मतत्त्वको नहीं जानता, वह क्रिया-फलको नहीं प्राप्त कर सकता; वर्तमान जितने भी वाद हैं, उनकी आधार-शिला वैज्ञानिक अध्यात्मवाद नहीं है; यही सब दुःखोंका मूल है।

११—जो व्यक्ति अध्यात्मवादको जानेगा, वह ऐसे कार्य क्यों करेगा, जिससे दूसरोंको कष्ट हो। जिस समाजमें अध्यात्मवाद प्रचलित होगा, वह दूसरे समाजको, दूसरे राष्ट्र, देश, जातिको क्यों कष्ट पहुँचायेगा? हमारे प्राचीनतम पूर्वजोंने इस ऋत तथा सत्य Ethic of right good action को समझा था और वे इसी ऋत तथा सत्यका उपदेश देते रहे।

यद्यपि आर्यधर्मका पोषक, पालक आर्यराज्य स्थिरपर नहीं रहा, तथापि अध्यात्मवादके आधारपर भारत किसी प्रकार जीवित रहा ही। ये जो वर्णाश्रमधर्मके भव्य भग्नावशेष शेष रहे हैं, वे पुरातन समाजके भव्य भवनोंके स्मृतिचिह्न ही तो हैं। जरा सोचिये, सहस्रों वर्षोंके प्रहारोंके पश्चात् भी उनका यह वैभव है।

भारतका सब कुछ गया सो गया, पर अध्यात्म बना रहा; इसीलिये भारत बचा रहा। कर्मफल तथा ईश्वरीय न्यायसे युक्त अध्यात्मवादपर दृढ़ विश्वास रहनेके कारण भारतीय आर्यधर्म तथा आर्य-संस्कृतिके उपासकोंपर ऐसा विपरीत प्रभाव न पड़ सका, जिससे भारत सर्वथा नष्ट हो जाता। विदेशी संस्कृतियोंका आक्रमण होते रहनेपर भी बाहर-बाहर तो वह अध्यात्मवाद दबा-सा दिखलायी पड़ा, पर भीतर वे ही आध्यात्मिक संस्कार प्रसुप्त दशामें पड़े रहे और समय-समयपर होनेवाले महापुरुष उनको प्रबुद्ध करते रहे—इसीसे संस्कृति बच गयी। अब जाग्रत् होकर फिर उभरनेको है। संसारका सब वैभव एक ओर, तथा हमारी आध्यात्मिक दैवी संपत्ति एक ओर। पाश्चात्योंकी आसुरी संपद् भारतीय दैवी संपद्को थोड़ी देरके लिये दबा भले ही सकती थी, पर सर्वथा नष्ट नहीं कर सकती थी। अब पूर्वजोंके पुण्य-प्रतापसे भारत स्वतन्त्र हो गया है। इसकी संस्कृतिका साम्राज्य सर्वत्र होगा। 'साम्राज्य' शब्द पाश्चात्य अर्थोंमें नहीं, अपितु—'सर्वभूतहिते रतः' सर्वभूतहितकी दृष्टिसे साम्राज्य होगा। जब संसारमें ऐसा साम्राज्य होगा, तभी संसारके भाग्योदयका दिन समझिये।

देश-कालानुरूप प्रत्येक देशकी अपनी संस्कृति तथा सभ्यता रहती है, पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता एवं धर्म देश-कालसे बँधे हुए नहीं हैं। वे तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की नीतिपर बने हुए हैं। वे संसारभरके हितकी दृष्टिसे हैं। आर्यजातिमें निम्नलिखित विशिष्ट गुणोंका जो सामुदायिक विकास हुआ, वह अबतक चला आया। इससे स्पष्ट है कि वह संस्कृति कितनी अपूर्व, कितनी व्यापक है, जिसमें संकुचित राष्ट्रियताका नाम नहीं, जिसमें प्रत्येक बात मानवसमाजके हितकी दृष्टिसे है, विश्वबन्धुत्वकी दृष्टिसे है, विश्वप्रेमकी दृष्टिसे है। इसी कारण आर्यजातिमें निम्न आठ गुणोंका विकास हुआ है, और ऐसा विकास हुआ कि चरम सीमाको पहुँच गया—

(१) शान्तः (२) तितिक्षुः (३) दान्तश्च (४) सत्यवादी (५) जितेन्द्रियः।

(६) दाता (७) दयालुः (८) नम्रश्च आर्यः स्यादष्टभिर्गुणैः॥

(महाभारतमें विदुर)

संसारकी किसी जातिमें समष्टिरूपसे इतने गुण नहीं मिलेंगे।

हिंदुओंकी निष्कपटता

हिंदुओंके चरित्रकी निष्कपटता तथा ईमानदारी उनकी मुख्य पहचान है। वे कभी अनीतियुक्त वचन नहीं बोलते। —श्रीकेंडिल

मानव-संस्कृति

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

संस्कृतिके सम्बन्धमे विचार करते समय एक शब्द हमारे सामने और आ जाता है, वह है सभ्यता । हमे यह विचार करना चाहिये कि क्या सभ्यता और संस्कृति एक ही वस्तु हैं; यदि नही तो इनमेसे प्रत्येकका अर्थ क्या है, और इन दोनोमे क्या सम्बन्ध है । पर इसका ठीक-ठीक विचार करना कुछ आसान नही है; कारण, कुछ लेखकोने जो अर्थ सभ्यताका लिया है, दूसरोने वही अर्थ संस्कृतिका समझा है । कितने ही विद्वानोने दोनो शब्दोका एक ही अर्थमे भी प्रयोग किया है । कई कोष-निर्माताओने एकको दूसरेका पर्याय या समानार्थवाची लिखा है ।

सभ्यताका अर्थ

'सभ्यता' शब्द 'सभ्य' से बना है; और सभ्यका एक अर्थ सदस्य या सभासद् है । सदस्यता किसी सभा, समूह या समाजकी होती है । इस प्रकार सभ्यता एक सामाजिक गुण है । आदमीके समाजमे रहनेके कारण ही सभ्यताका प्रादुर्भाव होता है । साधारणतया हम किसी आदमीकी सभ्यताका अंदाज इसी बातसे लगाते है कि सभा या समाजमे उसका उठना-बैठना, वेष-भूषा, बात-व्यवहार आदि कैसा है । जो आदमी कपड़े पहने हुए हो, जिसके कपड़े साफ-सुथरे हो, जिसका शरीर, हाथ-मुँह आदि धुले हुए हो, जिसके बाल तरतीबसे हो, जिसके बैठने-उठने तथा बातचीतमे शिष्टाचारकी झलक हो, उसे हम सभ्य कहा करते है । इसमे हम उसकी बाहरी बातोकी ही ओर ध्यान देते है, आन्तरिक गुणोकी ओर नही ।

आधुनिक 'सभ्य' जेंटलमैन

जिस आदमीको हम सभ्य समझते है, उसमे आन्तरिक गुण हो सकते है, और बहुधा होते है । पर यह अनिवार्य नही है । सम्भव है, वह कुछ लिखा-पढ़ा न हो; अथवा उसकी शिक्षा ऐसी ही हो, जो केवल ज्ञानवृद्धिमे सहायक हुई हो, उससे उस आदमीकी सूक्ष्म या उच्च भावनाओका विकास न हुआ हो । कितने ही युवक 'बूटेड, सूटेड जेटलमैन' होते है । इनके हाथमे छड़ी, मुँहमे पान तथा बीड़ी या सिग्रेट और जेबमे या कलाईपर घड़ी होती है । इनके बाल फैशन-कट और मूँछे सफा-चट, सिरमे तेल-फुलेल होता है । ये नंगे सिर रहते है या 'हैट' लगाते हैं; अथवा अगर टोपी ही ओढ़ते है तो बड़े बाँके ढंगसे । इनके चाल-ढालमे अजीब अदा होती है । इन्हे अंग्रेजी भाषाका ज्ञान चाहे अधूरा ही हो, ये अपनी भाषा जान-बूझकर तोड़-मरोड़कर बोलते है तथा उसमे स्थान-स्थानपर अपने विदेशी शब्द-ज्ञानकी विज्ञप्ति देकर साधारण जनतापर अपना रोब जमाया करते है । मामूली आदमी इन्हे 'सभ्य' कहते या समझते है । ये भी अपने, खासकर ग्रामीण भाइयोको 'असभ्य' माना करते है ।

'सभ्य' आदमीका व्यवहार, भौतिक उन्नति

'सभ्य' व्यक्ति प्रायः अपनी (भौतिक) उन्नतिमे लगा रहता है । वह अपने स्वार्थ-साधनकी बात सोचता है । उसे इस बातसे विशेष प्रयोजन नही होता कि दूसरोकी दशा कैसी है, उनका कष्ट किस प्रकार निवारण किया जाय । इस प्रकार सभ्य व्यक्तियोमे रिश्वतखोरी, छीन-झपट, छल-कपट, चालबाजी, धूर्तता, दूसरोका पीड़न या शोषण बहुत अधिक हो सकता है । हॉ, ये लोग अपने इन कृत्योको इस प्रकार करते है कि इनके दोष साधारण आदमीकी समझमे नहीं आते । पर इससे वस्तुस्थितिमे अन्तर नही आता । अक्सर देखनेमे आता है कि रेलकी यात्रामे 'सभ्य' कहे जानेवाला व्यक्ति अपना बिस्तर लगाकर इतनी जगह घेर लेता है कि दूसरोको बैठनेको भी स्थान नही मिलता; परंतु जब यह गाड़ीमे सवार होता है तो इसे किसी रोगी आदमीका लेटा रहना सहन नही होता । 'सभ्य' आदमीकी बात-व्यवहार-का अनुभव खासकर पुलिस, रेल और अदालतोमे काम करनेवालोके प्रतिदिनके जीवनसे अच्छी तरह हो जाता है । अनेक बार ऐसे ऊँचे-ऊँचे सरकारी पदाधिकारी भी भ्रष्टाचारमें लिप्त पाये जाते है, जिनकी 'सभ्यता' सर्वमान्य होती है ।

यूरोपियनोंका दृष्टिकोण

इसी प्रकार जब यूरोपियन लोग अपने आपको एशिया-अफ्रीकावालोसे अधिक सभ्य समझते है और दूसरोको असभ्य या अर्धसभ्य कहते हैं तो उनके सामने त्याग, दया, परोपकार आदि कोमल भावनाओकी तुलनाका प्रश्न नही होता । मुख्य विचार यही होता है कि सासारिक सुख-साधन किसके पास अधिक है, भौतिक या शारीरिक शक्तिमे, सेना और युद्ध-सामग्री आदिकी दृष्टिसे कौन अधिक बलवान् है ? कौन

विजेता या स्वामी है और कौन पराजित या अधीन ? इससे यही प्रतीत होता है कि यूरोप-अमरीकावाले प्रायः सभ्यताका अर्थ बाहरी वैभव, आचार-व्यवहार, रहन-सहन, धन-प्रभुता आदि लेते हैं। समाजमें कोई व्यक्ति या समूह आदि इन बातोंमें जितना बढ़ा-चढ़ा होता है, उतना ही वह अधिक सभ्य माना जाता है।

संस्कृति और संस्कार

संस्कृतिका अर्थ जाननेके लिये 'संस्कार' शब्द विचारणीय है। संस्कारका अर्थ शुद्ध करना, साफ करना, चमकाना, भीतरी रूपको प्रकाशित करना है। यद्यपि संस्कारोंका परिचय कुछ बाहरी बातोंसे होता है, और हिंदू-धर्मके अनुसार मनुष्यके जो संस्कार होते हैं, उनमें कुछ क्रियाएँ अनिवार्य होती हैं, फिर भी संस्कारोंका उद्देश्य विशेषतया मानसिक और आध्यात्मिक होता है। उनमें रूढ़ियाँ या बाहरी बातें गौण होती हैं; मुख्य लक्ष्य यह होता है कि जिस व्यक्तिका संस्कार किया जाय, उसके मन और आत्मापर अच्छा प्रभाव पड़े। जब हम किसी व्यक्तिके सम्बन्धमें यह कहते हैं कि वह सुसंस्कृत है, या उसके संस्कार अच्छे हैं, तब हमारा आशय उस व्यक्तिकी बाहरी बातों या व्यवहारसे इतना नहीं होता, जितना उसकी सद्भावना, सच्चरित्रता तथा मन और आत्माके विकाससे होता है, जिसकी प्रेरणासे वह व्यक्ति अपने विविध सत्कार्य करता है या अपने सद्गुणोंका परिचय देता है।

संस्कृति हमारे आन्तरिक गुणोंका समूह है, वह एक प्रेरक शक्ति है। संस्कृति हमारे सामाजिक व्यवहारोंको निश्चित करती है, हमारे साहित्य और उसकी भाषाको बनाती है, हमारी संस्थाओंको जन्म देती है। संस्कृति बतलाती है कि हम अपनी सूक्ष्म चित्त-वृत्तियोंका कितना विकास कर पाये हैं। पशु-जीवनसे हम कितना ऊँचा उठ सके हैं। ममता प्राणिमात्रका स्वाभाविक गुण है; पर एक आदमीकी ममता उसके अपने परिवारतक ही सीमित रहती है, दूसरेकी अपने परिवारसे बाहरके भी दुखी बालक या व्यक्तितक पहुँचती है और तीसरेकी अपने शत्रुसे भी सद्व्यवहार करनेकी प्रेरणा करती है। इससे अवश्य ही एकसे दूसरा और दूसरेसे तीसरा व्यक्ति अधिक संस्कृत कहा जायगा।

संस्कृत व्यक्तिका भोजन-वस्त्र

संस्कृतिमें भौतिक आवश्यकताओंकी अवहेलना तो नहीं की जाती, पर उन्हें गौण स्थान दिया जाता है। सुसंस्कृत व्यक्ति भोजन करता है, पर केवल इसलिये कि यह कार्य शरीरयात्राके लिये, जीवित रहनेके लिये आवश्यक है। इसलिये नहीं कि खानेमें जीभका स्वाद है। इस प्रकार उसका भोजन साधारण होना स्वाभाविक है, वह अपने भोजनके प्रकार या विधिको अपने वैभव या ऐश्वर्यकी विज्ञप्तिका साधन नहीं बनायेगा। संस्कृत व्यक्ति कपड़ा तो पहनेगा; पर इसमें उसका उद्देश्य केवल लज्जा-निवारण या शरीरकी सर्दी-गर्मीसे रक्षा करना होगा, समाजमें अपनी अमीरीकी घोषणा करना या आदर-प्रतिष्ठा पाना नहीं। इसलिये वह अपने पास कई-कई जोड़ी कपड़े रखनेकी और एक बारमें अपने शरीरपर बहुत-से कपड़े लादनेकी ज़रूरत नहीं समझेगा। महात्मा गांधी-जैसा सुसंस्कृत व्यक्ति वायसराय या सम्राट्से मिलते समय 'अर्ध-नग्न' या 'अर्ध-सभ्य' रूपमें जा सकता है, और इंग्लैंड-जैसे ठंडे प्रदेशमें दो कम्बलोंमें गुजर कर लेता है।

परोपकाराय सतां विभूतयः

संस्कृत व्यक्ति शिक्षा, साहित्य, कला-कौशल आदिकी उपेक्षा नहीं करता; परंतु वह इन्हें अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं-की पूर्ति या ख्यातिके साधनके रूपमें नहीं देखता। उसके लिये तो ये चीजें, उसके धन आदिकी तरह, समाजके हित या सुखके साधनमात्र हैं। साधारण रहन-सहनवाला आदमी सभ्यताके इन चिह्नोंसे दूर रहते हुए भी संस्कृत हो सकता है, यदि उसमें सहानुभूति, उदारता, प्रेम, परोपकार आदिकी भावनाओंका विकास हो गया हो, यदि वह दूसरोंका कष्ट निवारण करनेके लिये स्वयं दुःख झेलनेको तैयार हो, उसका हृदय मानव-सेवाके लिये बेचैन हो, वह सब प्राणियों-में अपनी ही आत्माका अनुभव करता हो।

क्या संस्कृतिके भेद हो सकते हैं ?

हम बहुधा 'संस्कृति'के साथ विविध विशेषणोंका प्रयोग होते देखते हैं। कहीं हिंदू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृति-की बात होती है, कहीं पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतिकी। भारतीय संस्कृति, चीनी संस्कृति, ईरानी संस्कृति या सोवियट संस्कृति-सम्बन्धी लेख या पुस्तकें हमारी दृष्टिमें आती हैं। तो क्या संस्कृतिके अलग-अलग भेद हो सकते हैं ? क्या देश या धर्म (सम्प्रदाय) के आधारपर संस्कृतियोंका वर्गीकरण ठीक है ?

वास्तवमें जब हम किसी समूहकी संस्कृतिकी बात कहते हैं तो हमारा आशय उस समूहके रहन-सहन, खान-पान, वेष-भूषा, आचार-व्यवहार आदिसे होता है। पर ये बातें तो,

जैसा हमने पहले कहा है, सभ्यताके अन्तर्गत आती हैं। इन्हें संस्कृतिका अङ्ग माननेसे, संस्कृतियोंकी संख्या असंख्य कर देनेसे तो संस्कृतिका उपहास ही होता है।

विविध जातियोंको अपनी-अपनी संस्कृतिका अहङ्कार

बहुत-से आदमियोंकी यह इच्छा रहती है कि अपनी जाति या धर्मकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये वे उसकी संस्कृतिको ऊँची और दूसरी संस्कृतियोंसे भिन्न कहें। प्राचीन कालमें समय-समयपर विविध जातियोंके कुछ लोग यह दावा करते रहे हैं कि उनकी ही जाति वैसी ऊँची संस्कृति रख सकती है, अन्य जातिवालोंकी संस्कृति वैसी ऊँची हो ही नहीं सकती। आधुनिक कालमें यूरोपकी गौरवर्ण जातियोंको अपनी संस्कृतिका विशेष गर्व है। वे रंगदार (काली-पीली) जातियोंको सभ्य और सुसंस्कृत बनानेका भार अपने ऊपर उठाये हुए हैं। गत वर्षोंमें जर्मनोंने 'जर्मन कल्चर (संस्कृति)' को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया था।

संस्कृतिके स्तर हो सकते हैं, भेद नहीं

हम भूल जाते हैं कि मनुष्य सब जगह मनुष्य है। उसकी जाति, रंग-रूप आदि भिन्न-भिन्न होनेपर भी उसकी प्रकृति संसारभरमें एक-सी है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदिकी प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत सभीमें पायी जाती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह कुछ कम-ज्यादा सभीमें हैं। हर्ष और शोकसे सभी न्यूनाधिक प्रभावित होते हैं। अपने शरीरकी रक्षा करना, अपने वंशकी वृद्धि और विस्तार करना सभी चाहते हैं। सुखकी खोज सभीको होती है। इसी प्रकार संस्कृत होनेकी क्षमता सभीमें है। यह किसी जातिविशेषमें परिमित नहीं। किसी जातिके मनुष्य ऊँची संस्कृतिके एकाधिकारी नहीं हो सकते एक जाति, रंग या देशके मनुष्य जितने संस्कृत हुए हैं, दूसरी जाति, रंग या देशके मनुष्योंमें उतने ही संस्कृत होनेकी क्षमता है। हाँ, इसके लिये उन्हें अनुकूल अवसर या परिस्थिति मिलनी चाहिये; इसके अभावमें वे कुछ समयतक निचले स्तरपर रह सकते हैं। परंतु इस दशामें यह निष्कर्ष निकालना भ्रमपूर्ण और अज्ञानमूलक है कि एक जाति स्वभावतः ऊँची संस्कृतिवाली है और दूसरी नीची संस्कृतिवाली। सुविधाएँ मिलनेपर प्रत्येक जाति संस्कृतिमें दूसरी जातिसे प्रतियोगिता या तुलना कर सकती है। इस प्रकार संस्कृतिके ऊँचे-नीचे स्तर तो हो सकते हैं और होते ही हैं; परंतु जाति, धर्म या देशके आधारपर संस्कृतिके भेद नहीं हो सकते। निदान, हिंदू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृति आदि भेद करना या भारतीय संस्कृति और चीनी संस्कृति आदिकी बात उठाना ठीक नहीं है। हाँ, इसके बजाय यदि यह कहा जाय कि मानव-संस्कृतिके विकासमें अमुक जाति या धर्मके अनुयायियोंने इतना भाग लिया, उन्होंने मानवताको ऊँचा उठानेमें इन-इन सिद्धान्तों या आदर्शोंकी खोज की, और उनके अनुसार यहाँतक व्यवहार किया तो बात कुछ सार्थक भी हो सकती है।

विविध जातियोंके सांस्कृतिक स्तर समान होनेकी प्रवृत्ति

प्राचीन कालमें आमद-रफ्त या यातायातके साधन कम थे। एक जातिका दूसरी जातिसे सम्पर्क कम होता था। प्रत्येक जाति बहुत कुछ एकान्तका-सा जीवन व्यतीत करती थी। उसे इस बातका ज्ञान या अनुभव नहीं होता था कि दूसरी जातिमें कैसी विचारधारा चल रही है, कैसे सिद्धान्तोंका मनन और आदर्शोंकी प्राप्तिका प्रयत्न हो रहा है। इस प्रकार प्रायः हर एक जातिका सांस्कृतिक विकास अलग-अलग हुआ। एक जाति कुछ बातोंमें आगे बढ़ी, दूसरीने कुछ अन्य बातोंमें प्रगति की। कई जातियोंमें कुछ सिद्धान्त या आदर्शोंमें समानता भी रही। इस प्रकार हर एक जातिके सांस्कृतिक विकासका स्तर अलग-अलग रहा। पीछे ज्यों-ज्यों आमद-रफ्तके साधनोंकी वृद्धि हुई, भिन्न-भिन्न जातियों या देशोंके आदमियोंमें सम्पर्क बढ़ा, उनमें विचारोंके आदान प्रदानकी वृद्धि हुई। अब भिन्न-भिन्न जातियोंके सांस्कृतिक स्तरमें उतना अन्तर रहनेकी सम्भावना नहीं है।

'असभ्य' जातियोंका सांस्कृतिक स्तर ऊँचा हो सकता है

इस प्रसङ्गमें दो बातें ध्यानमें रखनी चाहिये। पहली बात यह है कि यह आवश्यक नहीं कि जो जातियाँ असभ्य समझी जाती हैं, उनकी संस्कृतिका स्तर नीचा हो। प्रायः सभ्यताका दम भरनेवालोंने ऐसा प्रचार कर रक्खा है कि असभ्य जातियोंकी संस्कृति निम्न श्रेणीकी है; उनमें सदाचार, नीति-नियमोंका पालन आदि बहुत कम होता है। यह बहुत कुछ अंशमें उन्होंने अपने अहंकारवश किया है। हाँ, यह भी ठीक है कि उन्हें असभ्य जातियोंके विषयमें यथेष्ट ज्ञान नहीं था। क्रमशः अन्वेषकों और यात्रियोंने इस विषयमें

अनुसन्धान किया तो पता लगा कि असभ्य मानी जानेवाली जातियाँ अपनी संस्कृतिमें सभ्यलोगोंके समान तथा उनसे भी बढ़कर हो सकती हैं। संस्कृति ऊँची होनेके लिये किसी जातिका सभ्यतामें अग्रसर होना अनिवार्य नहीं है। उदाहरण-के लिये निग्रो अर्थात् अमरीकाके हबशियोंको संसारने प्रायः बहुत निम्न संस्कृतिका कहा जाता है; सभ्यलोगोंने प्रचार ही ऐसा कर रक्खा है। परंतु सभ्यताका दम भरनेवाले अमरीकन बहुधा उनसे कैसा अमानुषिक व्यवहार करते हैं, यह अध्ययनशील पाठकोंसे छिपा नहीं। जबतक अमरीका-में 'लिंचिंग' आदिकी कुप्रथाएँ मौजूद हैं, कौन सत्यताप्रेमी निग्रो लोगोंके सांस्कृतिक स्तरको अमरीकाके गोरे लोगोंके सांस्कृतिक स्तरकी अपेक्षा नीचे दर्जेका कहनेका दुस्साहस करेगा।

महापुरुष सब जातियोंके लिये होते हैं

अब हम दूसरी बात लें। एक जाति या देशके कुछ व्यक्तिविशेष नये सिद्धान्तों और आदर्शोंको जनताके सामने रखते हैं। आरम्भमें उसी जातिमें उनका चलन विशेषरूपसे होता है। परंतु इससे वे सिद्धान्त या आदर्श उसी जातिके नहीं हो जाते। उनमें एक सचाई होती है; वह सचाई जैसी उस जातिके मनुष्योंके लिये होती है, वैसी ही अन्य जातियोंके मनुष्योंके वास्ते होती है। सभी जातियाँ उससे लाभ उठा सकती हैं। महापुरुष चाहे जिस जातिमें जन्म लें; पर वे उस जातिविशेषके लिये ही नहीं होते, वे तो सबके लिये समान रूपसे होते हैं। कोई जाति यह गर्व भले ही करे कि उसमें पैदा हुए महापुरुषने संसारके लिये सिद्धान्तों या आदर्शों आदिके रूपमें बहुमूल्य भेंट दी; पर उसका यह दावा करना भूल है कि उस महापुरुषद्वारा निर्धारित सिद्धान्त आदिपर उसी (जाति) का अधिकार है। क्या श्रीकृष्णका निष्काम कर्म केवल हिंदुओंके ही लिये है? क्या गौतम बुद्धकी अहिंसापर केवल भारतवर्षका या बौद्ध-धर्मानुयायियोंका ही स्वत्व है? क्या न्यूटनका गुरुत्व-आकर्षण सिद्धान्त केवल अंग्रेजोंकी मिलकियत मानी जा सकती है? लोकमान्य तिलकके इस वाक्यमें कि 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' प्रत्येक देशके मनुष्योंकी राजनैतिक माँग उपस्थित है। महात्मा गांधीके सत्याग्रह और असहयोग-का संदेश दूर-दूरके देशोंकी पीड़ित और दलित जनताने अपनाया है और अपनायेगी। और कौन जाने कोई देश ऐसी प्रगति कर जाय कि वहाँका औसत नागरिक महात्मा गांधीके प्रति भारतके औसत नागरिककी अपेक्षा अधिक श्रद्धालु हो जाय। अस्तु, विचारधाराएँ किसी सीमाके अंदर कैद नहीं रह सकतीं। अवश्य ही उपज तो ये किसी खास जाति या देशकी ही होंगी, परंतु मिलकियत उसीकी न रहकर समस्त मानवजाति या विश्वभरकी हो जायँगी।

संस्कृति एक अविभाज्य वस्तु है; हम उसका विकास करें

हमें यह भी न भूलना चाहिये कि किसी खास जाति या देशको ही महापुरुष पैदा करनेका ठेका नहीं मिला है। महापुरुष कहीं भी पैदा हो सकते हैं। उनके लिये काले, गोरे या पीले—सभी रंगोंके देश समान हैं। वे हरी-भरी भूमिको ही नहीं, रेगिस्तान और पहाड़ी या जंगली भूमिको भी समान-रूपसे कृतार्थ कर सकते हैं। उनके द्वारा आविष्कृत या निर्धारित सिद्धान्त मानव-संस्कृतिके अङ्ग हैं। अतः संस्कृतिपर हिंदू, मुस्लिम या ईसाईकी अथवा भारतीय, अंग्रेज, जर्मन-की या पूर्व, पश्चिम आदिकी छाप लगाना ठीक नहीं। सचाई सबके लिये सचाई है। उसके हिंदू सचाई, मुस्लिम सचाई आदि भेद करना गलत है। गणित या विज्ञान आदिका प्रत्येक नियम सबके लिये समान है, उसका जाति या धर्म आदिके आधारपर विभाजन नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार संस्कृतिके भी, जाति या धर्म अथवा देश आदिके आधारपर अलग-अलग भेद नहीं किये जा सकते; वह एक अविभाज्य वस्तु है। वह मानव-संस्कृति है। हमें चाहिये कि उसके विकास और प्रचारमें, मानवताको ऊँचा उठानेमें, अधिक-से-अधिक भाग लेकर अपना जीवन सफल करें।

भारतीयोंकी अकृत्रिमता

भारतीयोंकी मुखाकृतिमें जीवनके प्रकृत रूपका दर्शन होता है। हम तो कृत्रिमताका आवरण ओढ़े हुए हैं। भारतीय मुखमण्डलकी सुकुमार रूप-रेखाओंमें ही कर्ताके कराङ्गुष्ठकी छाप दिखायी पड़ती है।

—जर्ज बर्नडैश

हिंदू-संस्कृति (?)

(लेखक—पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय)

'हिंदू-संस्कृति' शब्द मुझे बेमानी लगता है। 'हिंदू' शब्दका इतिहास हमें गौरवान्वित नहीं कर सकता। भले ही आज यह शब्द हमें कितना ही प्रिय हो गया हो और हमें उसपर कितना ही अभिमान भी होता हो। हाँ, 'आर्य-संस्कृति' शब्द अपने मानी रखता है और वह आसानीसे समझमें भी आ जाता है। यद्यपि 'आर्य' शब्द आगे चलकर जातिवाचक बन गया, तथापि मूलमें वह गुणवाचक था। उसी अर्थमें 'आर्य' शब्दका असली महत्त्व एवं गौरव है। आर्यका साधारण अर्थ है श्रेष्ठ, भला। संसारमें हम मनुष्य जातिके दो ही स्वाभाविक विभाग कर सकते हैं—या तो स्त्री और पुरुष, या सज्जन और दुर्जन। स्त्री-पुरुषोंमें भी सज्जन-दुर्जन दोनों मिलते हैं, अतः असली भेद सज्जन-दुर्जनका ही रह जाता है। पूर्वी-पश्चिमी, काले-गोरे, हिंदू-मुसलमान-ईसाई आदि भेद सज्जन-दुर्जन-भेदकी अपेक्षा अधिक परिस्थिति-जन्य हैं। सज्जन-दुर्जन-भेद चारित्रिक गुणोंसे सम्बन्ध रखता है, अतः अधिक गहरा एवं मौलिक है। अतः संस्कृतिको भी हम दो ही भागोंमें बाँट सकते हैं—सज्जन-संस्कृति, दुर्जन-संस्कृति। पुरानी भाषाका आश्रय लें तो आर्य-संस्कृति और अनार्य-संस्कृति।

अब रहा यह प्रश्न कि सज्जन कौन और दुर्जन कौन। तो इसका उत्तर गीताने और दुनियाके कई आचार्योंने एवं संतोंने बहुत संतोषजनक दे दिया है। गीताने जिसे दैवी-सम्पत्ति एवं आसुरी-सम्पत्ति कहा है, वही सज्जन-संस्कृति या दुर्जन-संस्कृति है। तुलसीदास, एकनाथ, रामदास—सभी संत-महात्माओंने संत-असंतकी या सज्जन-दुर्जनकी विशद व्याख्याएँ की हैं। सज्जनका प्रधान लक्षण है दूसरोंके सुख-दुःखका पहले खयाल करना; दुर्जनका प्रधान लक्षण है अपनी स्वार्थ-सिद्धि सबसे पहले करना—दूसरोंको दुखी, अपमानित, शोषित करके भी, खदेड़के भी!

अतः मेरी समझमें तो हम जो 'कल्याण'के उपासक हैं, सज्जन-संस्कृतिको अपनानेकी और दुर्जन-संस्कृतिसे दूर रहनेकी सतत चेष्टा करते रहें। यदि दूसरोंको दुर्जन कहते रहनेकी अपेक्षा हम स्वयं अधिक सज्जन बननेका प्रयास करते रहें तो जिसे हम आज 'हिंदू-संस्कृति' कहते हैं, 'हिंदू-समाज' कहते हैं, उसका गौरव अदम्य गतिसे बढ़ता रहे।

आजकी दुनियामें हमारे अकेले या एकाकी सज्जन बननेसे काम नहीं चलेगा; हमें अपने आस-पास भी सज्जन-समाज बनाना और बढ़ाना है। किंतु जो स्वयं सज्जन-संस्कृतिके, या सुसंस्कृत होंगे, वही तो दूसरोंको सुसंस्कृत बना सकेंगे!

हिंदू-संस्कृति या आर्य-संस्कृतिकी यदि कोई विशेषता कही जा सकती है तो वह यही कि उसने स्वार्थ-सिद्धिकी अपेक्षा पर-सेवा, समाज-सेवा; स्वार्थकी अपेक्षा परमार्थपर अधिक जोर दिया है। उसने व्यक्तिको समाजमें, समष्टिमें, भगवान्‌में लीन होनेका उपदेश दिया है और मार्ग भी बताया है। जो मार्ग, जो विधि, जो क्रिया, हमें भगवान्‌की तरफ ले जाती है, वह हिंदू-संस्कृति, आर्य-संस्कृति, सज्जन-संस्कृति, सुसंस्कृति है; जो हमें उससे विमुख बनाती है, वह अहिंदू, अनार्य, दुर्जन-संस्कृति और कुसंस्कृति है।

सज्जन-दुर्जन

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्ये चान्यद्दुरात्मनाम्। मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥
नारिकेलसमाकारा दृश्यन्तेऽपि हि सज्जनाः। अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः॥

दुर्जनोंके मनमें कुछ और, वाणीमें कुछ और एवं क्रियामें कुछ और होता है; परंतु सज्जनोंके वही मनमें होता है, वही वाणीमें और वही कर्ममें।

सज्जन नारियलकी भाँति अंदरसे कोमल और सुन्दर होनेपर भी ऊपरसे कठोर तथा जटिल दीखते हैं और दुर्जन बेरकी तरह अंदरसे कठोर और असुन्दर होकर ऊपरसे कोमल और मनोहर लगते हैं।

हिंदू-संस्कृतिके मौलिक लक्षण

आजकल हिंदू-संस्कृतिकी बहुत दुहाई दी जाती है; परंतु वास्तवमें हिंदू-संस्कृति क्या है, इसका शास्त्रीय दृष्टिसे यहाँ कुछ दिग्दर्शन किया जाता है। शास्त्रोंमें लिखा है—

आचारमूला जातिः स्यादाचारः शास्त्रमूलकः।
वेदवाक्यं शास्त्रमूलं वेदः साधकमूलकः॥
क्रियामूलं साधकश्च क्रियापि फलमूलिका।
फलमूलं सुखं चैव सुखमानन्दमूलकम्॥
आनन्दो ज्ञानमूलं च ज्ञानं च ज्ञेयमूलकम्।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमात्रं तत्त्वं तु ब्रह्ममूलकम्॥
ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलमैक्यं स्यात्सर्वमूलकम्।
ऐक्यं हि परमेशानभावातीतं सुनिश्चितम्॥
भावातीतमिदं सर्वं प्रकाशो भावमात्रकम्॥

अर्थात् 'जातिका मूल आचार है, आचारका मूल शास्त्र है, शास्त्रोंका मूल वेद है, वेदोंका मूल साधक है, साधकोंका मूल क्रिया है, क्रियाओंका मूल फल है, फलका मूल सुख (विषयसुख) है, सुखोंका मूल आनन्द (ब्रह्मानन्द) है, आनन्दका कारण ज्ञान है, ज्ञानका मूल ज्ञेय है, ज्ञेय वस्तुका मूल तत्त्वानुभव है, समस्त तत्त्वोंका मूल ब्रह्म है, ब्रह्मज्ञानका मूल ऐक्यभाव है और इस तरहका ऐक्य (अद्वैत) ही सब तरहकी साधनाओंका मूल है। वह ऐक्यभाव भावातीत होकर निखिल चराचर विश्वका भावप्रकाशक होता है।'

वेद और शास्त्रोंमें आर्य-संस्कृतिका विज्ञान क्या है, यह उक्त शास्त्र-वचनोंकी गवेषणासे जाना जा सकता है। आर्य-संस्कृतिका मूल आचार है। आर्यजाति जो धर्मप्राण है, उसके प्राणस्वरूप हिंदू-धर्मके सोलह अङ्ग प्रधान हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने सनातनधर्मको सोलह प्रधान अङ्गोंमें विभक्त किया है। और इस धर्मको पूर्णचन्द्रकी तरह सोलह कलाओंसे पूर्ण बताया है। हिंदू-धर्मके ये ही सोलह अङ्ग हिंदू-संस्कृतिके मूलाधार हैं।

धर्मानुकूल शारीरिक व्यापाररूपी सदाचारसमूह इसका प्रथम अङ्ग है। आत्माकी ओर ले जानेवाले यावत् विचार सद्विचार कहाते हैं। यह इसका दूसरा अङ्ग है। इस दूसरे अङ्गकी पूर्तिके लिये आर्यजाति शिखा-सूत्र धारण करती है। शिखाके द्वारा यह शरीर देव-मन्दिर समझा जाता है। शिखा-बन्धनके समय ब्रह्मा, विष्णु, महेशका ध्यान किया जाता है। सूत्रमें जो तीन लड़ें होती हैं, वे अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धिकी द्योतक हैं। वर्णधर्म सनातनधर्मका तीसरा अङ्ग है; क्योंकि रजोवीर्यशुद्धिसे ही जातिकी शुद्धि बनी रहती है। और जातिकी आधिभौतिक शुद्धि पिताके वीर्य और माताके रजकी शुद्धिपर निर्भर रहती है। जातिकी इस शुद्धिका मूल माताओंके सतीत्व-धर्मके पालनपर ही सम्पूर्णरूपसे निर्भर है। इस कारण आर्य नारियोंमें सतीत्वका प्राधान्य रहता है। और यह इसका चौथा अङ्ग है। हिंदू-जातिके धर्मका पाँचवाँ अङ्ग आश्रम-धर्म है। इसके द्वारा मनुष्य-जातिका जीवन व्यवस्थित रहता है। ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवृत्ति कैसे की जाती है, इसके विषयमें सब तरहकी शिक्षा दी जाती है। गृहस्थाश्रममें धर्मानुकूल प्रवृत्ति करायी जाती है। यहाँ जीवनकी समाप्ति नहीं होती। तीसरे वानप्रस्थाश्रममें निवृत्ति सिखायी जाती और चौथे संन्यासाश्रममें निवृत्ति करायी जाती है। इन्हींके द्वारा मनुष्य-जीवनकी सार्थकता होती है। दैव-जगत्पर विश्वास हिंदू-धर्मका छठा अङ्ग है। यह स्थूल जगत् सूक्ष्म दैवी जगत्के अधीन होकर सुरक्षित होता है। अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्के प्रतिनिधि होकर हमारे इस चतुर्दशलोकमय ब्रह्माण्डके सृष्टि-कार्यमें भगवान् ब्रह्मा, रक्षा-कार्यमें भगवान् विष्णु और प्रलय-कार्यमें भगवान् शिव नियुक्त हैं। उनके अधीन रहकर वसु नामक अनेक देवता, रुद्र नामक अनेक देवता और आदित्य नामक प्रधान देवता अपने-अपने पदपर नियुक्त हैं। दूसरी ओर नित्य ऋषिगण ज्ञानराज्यका संचालन करते हैं। सब देवता कर्म-राज्यका संचालन करते हैं। और अर्यमा आदि नित्य पितृगण स्थूल राज्यकी सुव्यवस्था करते हैं। पूर्वजन्मार्जित कर्मके अनुसार सुन्दर शरीर, कुरूप शरीर, अन्धता, बधिरता आदि नित्य पितृगण ही माताके गर्भमें सृजन करते हैं। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज आदि चतुर्विध भूतसंघकी व्यवस्था भी देवतागण ही करते हैं। किसी मनुष्यको मारना या बचाना, यह सब देवताओं और असुर आदिकी प्रेरणासे ही मनुष्य किया करता है। राजा या विचारपति जब विचार करने बैठता है, तब यदि वह आस्तिक हो तो उसके हृदयमें देवता प्रेरणा किया करते हैं। यही सब दैवी राज्यकी अलौकिक क्रियाएँ हैं। भगवान्की दैवी शक्तिपर स्थिर विश्वास रखकर उनके तथा देवताओं एवं असुरोंके अवतारोंपर विश्वास करना हिंदू-धर्मका सातवाँ अङ्ग है।

योगमूलक और भक्तिमूलक हिंदू-धर्मकी जो उपासना-पद्धति है, वह इसका आठवाँ अङ्ग है । स्थूलध्यानमूलक मन्त्रयोग, ज्योतिर्ध्यानमूलक हठयोग, बिन्दुध्यानमूलक लययोग और निर्गुणध्याननूलक राजयोग—ये ही योगमार्गके चार भेद हैं। इसीसे हिंदुओंकी उपासना-प्रणाली बहुत विस्तृत है। मूर्ति आदि सोलह प्रकारके दिव्य देशोंमें पीठ स्थापन करके सर्वव्यापक भगवत्सत्ताकी उपासना करना हिंदू-धर्मका नवाँ अङ्ग है। शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेक इसका दसवाँ अङ्ग है। यह अङ्ग बहुत गम्भीर विज्ञानसे पूर्ण है। जीवात्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँच कोशोंसे आच्छादित रहता है। शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-विचारके द्वारा उन कोशोंकी पवित्रता सम्पादन करता हुआ अन्तमें उन्नत साधक मुक्त हो जाता है। इन पाँचों कोशोंके पाँच स्वतन्त्र अपवित्र करनेवाले पदार्थ हैं। अन्नमय कोशके दोषको मल कहते हैं। इस मलका लक्षण तो स्पष्ट ही है। प्राणमय कोशके दोषको विकार कहते हैं। शवादिके स्पर्श करनेसे यह विकार-शक्ति बढ़ती है, क्योंकि प्राणमय कोश अन्य कोशोंको लेकर लोकान्तरमें चला जाता है, तब भी मृत देहमें अन्यकी प्राणशक्तिको खींचनेकी शक्ति बनी रहती है। इसी कारण अवगाहन, स्नान, सुवर्णस्पर्श, अग्नि-स्पर्श आदिकी विधि श्मशान-यात्राके बाद करनेकी शास्त्राज्ञा है। मनोमय कोशकी बाधक शक्तिको विक्षेप कहते हैं। ये दोष अशौच, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदिके समय आ जाते हैं। इनके निवारणके लिये शास्त्रोंमें अनेक उपाय बताये गये हैं। विज्ञानमय कोशके दोषको आवरण कहते हैं। और आनन्दमय कोशके दोषको अस्मिता कहते हैं। कर्म-मीमांसा-शास्त्रमें इन दोषोंसे बचनेके लिये ही शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-विवेककी विधि बतायी गयी है।

यज्ञों, महायज्ञोंपर विश्वास रखना हिंदू-धर्मका ग्यारहवाँ अङ्ग है। यज्ञ-महायज्ञके हिंदूशास्त्रोंमें अनेक भेद कहे गये हैं। जो धर्मकार्य एक आधारमें श्रीभगवान्‌की प्रसन्नता सम्पादन करके साथ-ही-साथ दैवी राज्यके संवर्धनका कारण होता है, उसको यज्ञ कहते हैं। यज्ञ और महायज्ञमें भेद यह है कि साधक अपने ऐहिक और पारलौकिक कल्याणके लिये जो साधन करता है—जैसे कि पुत्रेष्टियाग, अग्निहोत्रादि—उसे यज्ञ कहते हैं। और जो जगत्‌के मङ्गलके लिये किया जाता है—जैसे पञ्च महायज्ञ; उसको महायज्ञ कहते हैं। ऋषियोंकी तृप्तिके लिये किये जानेवाले यज्ञको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं और देवताओंके संवर्द्धनके लिये जो यज्ञ किया जाता है, उसे देवयज्ञ कहते हैं। अर्यमा आदि नित्य पितृगण और अपने मृत पूर्वजोंकी तृप्तिके लिये किया जानेवाला पितृयज्ञ है और उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इस चतुर्विध भूतसंघके मङ्गलके लिये जो यज्ञ किया जाता है, उसे भूतयज्ञ कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य मनुष्य-जातिका अङ्ग है। इस कारण कर्तव्य-बुद्धिसे भोजनसे पहले जो कोई आ जाय, उसे अन्नादिसे तृप्त करना नृयज्ञ है। ये पञ्च महायज्ञ आर्यजातिके नित्य कर्म हैं, परंतु इस समय इसको लोग बिल्कुल भूल गये हैं। वेदों और वेदसम्मत स्मृति, पुराण, तन्त्रादि शास्त्रोंमें स्थिर विश्वास रखना हिंदू-धर्मका बारहवाँ अङ्ग है। कर्म तथा कर्मका बीज-संस्कार और उसकी क्रिया-प्रतिक्रियापर दृढ विश्वास रखना हिंदू-धर्मका तेरहवाँ अङ्ग है। जन्मान्तरवादपर विश्वास हिंदू-धर्मका चौदहवाँ अङ्ग है। मनुष्य मृत्युलोकमें आता है और जाति, आयु, भोग, प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्ति और संस्कार—इन सातोंके अनुसार भोगता है। और भोग लेनेपर प्रेतलोक, नरकलोक, पितृलोक, असुरलोक, स्वर्ग आदि लोकोंमें जाता है और घूम-फिरकर पुनः इस मृत्युलोकमें आ जाता है। इसी निरन्तर घूमनेको आवागमन-चक्र कहते हैं। घूर्णायमान चक्रमें आत्मा या जीवको सहायता पहुँचानेके लिये नाना श्राद्ध-विधि, तर्पण-विधि और दायभाग-विधियाँ स्मृतिकारोंने बाँधी हैं और श्राद्धादिके नाना अधिकार स्मृति-पुराणोंमें वर्णित हैं। आजकल दायभागको जैसा लोग समझते हैं, वैसी दायभागकी विधि साधारण विज्ञान-सिद्धि नहीं है। वह बड़ी सद्व्यवस्थासे बाँधी गयी है। निर्गुण-उपासना और सगुण-उपासनाकी नाना विधि जो हिंदू-शास्त्रोंमें बतायी गयी है, वह हिंदू-धर्मका पंद्रहवाँ अङ्ग है। और जीवकी कैवल्य-प्राप्ति इसका सोलहवाँ अङ्ग है।

हिंदू-संस्कृतिको समझनेके लिये सबसे पहले इन बातों-की ओर ध्यान देना आवश्यक है। 'सर्वोदय'

जो भौतिक जीवनको संपूर्ण जीवन मानकर उसीके तदाकार हो जाता है, शरीरको ही अपना आत्मा समझ लेता और अपने आन्तर, नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्वको, अपने उस सदात्माको भुला देता है जो इस भौतिक ढाँचेका नियन्ता है, जो एक तरहसे जब चाहे इस शरीरको धारण कर लेता और जब चाहे छोड़ देता है।

४. आन्तर ऐक्यका दर्शन और उसका महत्त्व

परंतु जो मनुष्य इस भौतिक ढाँचेका, इसकी आवश्यकताओं और भोगोंका मोह पार कर चुका है, जिसने अपने सच्चे, आध्यात्मिक और नैतिक स्वरूपको प्राप्त कर लिया है, उसके लिये यह मूल आध्यात्मिक विधान बहुत ही रमणीय है। उसके साथ उसका एकीभाव हो जाता है। उसका अन्तःस्वरूप अन्तर्जगत्का ही अंश है। अतः उसे इस अन्तर्जगत्के आध्यात्मिक और नैतिक क्षेत्रोंके नियम विजातीय नहीं मालूम होते। इन नियमोंके साथ उसका तादात्म्य होता है। वह इन असंख्य विविध रूपोंमें सर्वत्र एकत्व और सामञ्जस्य देख पाता है। इस परिदर्शनसे सब झगड़े मिट जाते हैं। कारण, जितने भी परस्पर विरोध, झगड़े या संघर्ष हैं, सब इस परम सत्यकी अप्रतीतिसे ही उत्पन्न होते हैं।

५. एकत्वके परिदर्शनका महत्त्व

हमारा सच्चा, स्वरूपगत समत्व या भ्रातृभाव इसीमें है। जो संघटन, संस्थाएँ, परम्पराएँ और रीति रिवाज इस परिदर्शनसे उत्पन्न होते हैं, उन्हींसे मानव-जगत्का सच्चा कल्याण हो सकता है। इन सबके अंदर आत्मसत्ताकी प्रतीति ही असली चीज है, अन्यथा वे शवोंके ढेर हैं—मानवजातिके सिरपर व्यर्थके महाभयानक बोझ हैं! जीवनके विविध रूपोंमें यही सत्य असली तत्त्व है। रूपका भी अपना एक मूल्य और महत्त्व है और वह यही है कि अन्तःस्थ आत्मा परिस्थितिकी आवश्यकताके अनुरूप वेष धारण कर लेता है। पर अन्तःस्थ आत्मासे वियुक्त होनेपर उस रूपका किसी शवके समान कोई मूल्य और आकर्षण नहीं रह जाता। कुटुम्ब, समाज, राज्य, कोई व्यापारिक संघ या विद्याप्रचारक सभा आदि अनेकविध संघटन मनुष्योंके परस्पर स्नेह और उन्नति-साधनके लिये आवश्यक होते ही हैं। पर जब इनमें एकत्वका भाव नहीं होता, तब परस्पर सहयोग हवा हो जाता है! जिस उद्देश्यसे ये संस्थाएँ बनती हैं, वह उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। इसी परम सत्यकी उपेक्षाके कारण ही आधुनिक प्रजातन्त्र, राजतन्त्र, समाजतन्त्र, साम्यतन्त्र, अधिनायकतन्त्र आदि संघटन परस्परविरोध, शोषण, परापहरण और युद्धकी ही अवस्था उत्पन्न करनेके कारण बनते हैं। जबतक राज्य अथवा अन्य किसी प्रकारके संघटनको सार्वत्रिक नीति और अध्यात्मसे दूर रखनेकी बुद्धिका ही हठ चलता रहेगा, तबतक हमारे दुःखोंकी वृद्धिका भी कोई अन्त न देख पड़ेगा। सब समयों और देशोंके साधु-संतों और ऋषि-मुनियोंने एकत्वके परिदर्शनकी साक्ष्य भरी है।

६. देशके साधनोंका समान उपयोग

देश या राज्यके सब साधन इस परम सत्यके आधारपर एक कार्यपद्धतिके अंदर लाये जा सकते हैं। विज्ञान, अध्यात्मविद्या और तत्त्वज्ञानमें, उसी प्रकार राज्य, नैतिकता या पार्थिव, आर्थिक उन्नतिमें कोई परस्पर विरोध नहीं है। सबका अपना-अपना क्षेत्र और अपना-अपना काम है। इनमेंसे किसीको अलग कर देने या किसीपर अत्यधिक बल देनेसे मानव-जातिकी प्रगति रुकेगी। आवश्यकता है केवल इन सबका सावधानीके साथ समान उपयोग करनेकी।

७. भारतकी राजनीतिक स्वाधीनता और पश्चिमका अन्ध-अनुकरण

भगवत्कृपासे हमें अपनी राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त हो गयी है। सहस्रों वर्षकी गुलामीके पश्चात् हम स्वाधीन हुए हैं। हमारा स्वाधीन होना मानवजातिके भावी कल्याणकी दृष्टिसे बहुत शुभ है। कारण, भारतवर्ष अध्यात्मविद्याका मूल उद्गमस्थान है। अध्यात्मविद्या इस धरतीकी सहज उपज है और अन्य देशों और सभ्यताओंकी तुलनामें यही हमारी विशेषता है। अब भी इस देशके लोगोंके मनोपरमें इसका प्रभाव सर्वथा नष्ट नहीं हुआ है। परंतु तत्त्वज्ञान, धर्म और अध्यात्मके इस क्षेत्रमें केवल सर्वसाधारण लोगोंका नहीं, बल्कि सबसे बड़े नेताओंका भी दृष्टिकोण अज्ञातरूपसे पाश्चात्य ढंगका अर्थात् जड पार्थिव हो गया है। राजनीतिक क्षेत्रमें हमलोग निस्सन्देह स्वतन्त्र हो गये; पर मानसिक दासत्व, जो सबसे अधम दासत्व है, अभीतक यहाँ दल्वलके साथ मौजूद है। राजनीतिक परिवर्तनसे राष्ट्रके सब साधनों और क्षमताओंको खुलकर खेलनेका पूरा अवसर मिला है। इससे हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। तथापि हम जिस अत्यन्त संकटमय स्थितिमें आज हैं, उसे हम अच्छी तरहसे समझ नहीं रहे हैं।
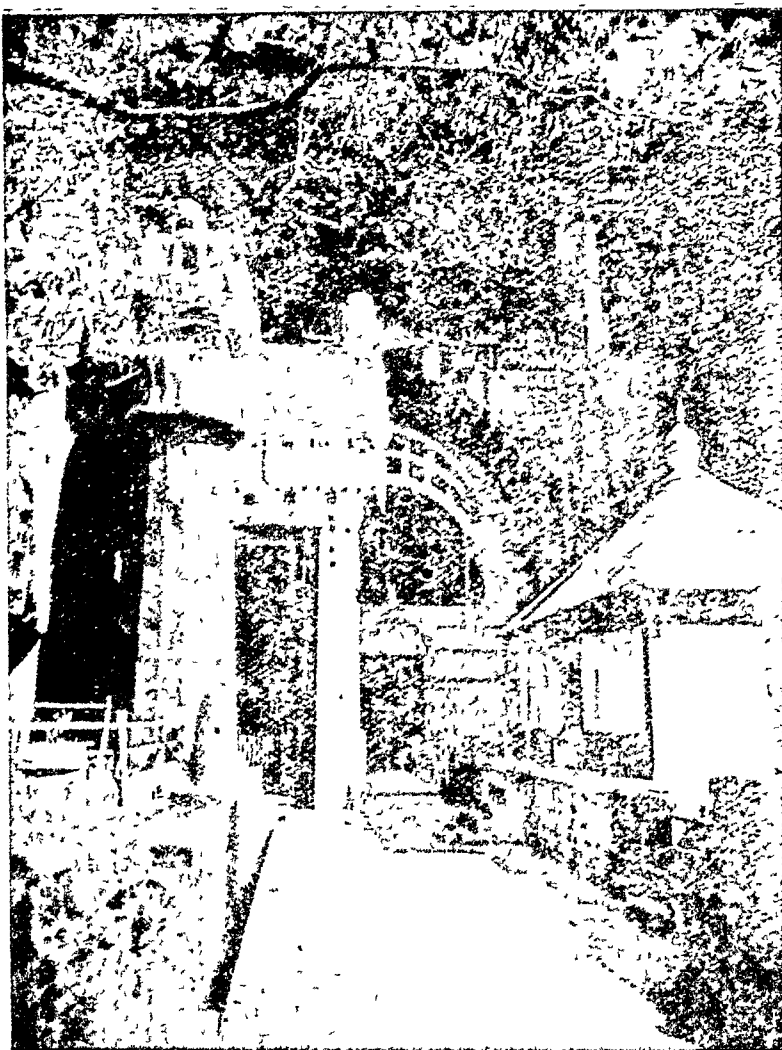
कार्ली गुफाका वहिर्द्वार

भाजा गुफामें इन्द्र-मूर्ति

कार्लीके गुहा-मन्दिरका भीतरी दृश्य

भाजाकी चैत्यगुफा

भाजाकी सूर्य-मूर्ति

[पृ० ४८७
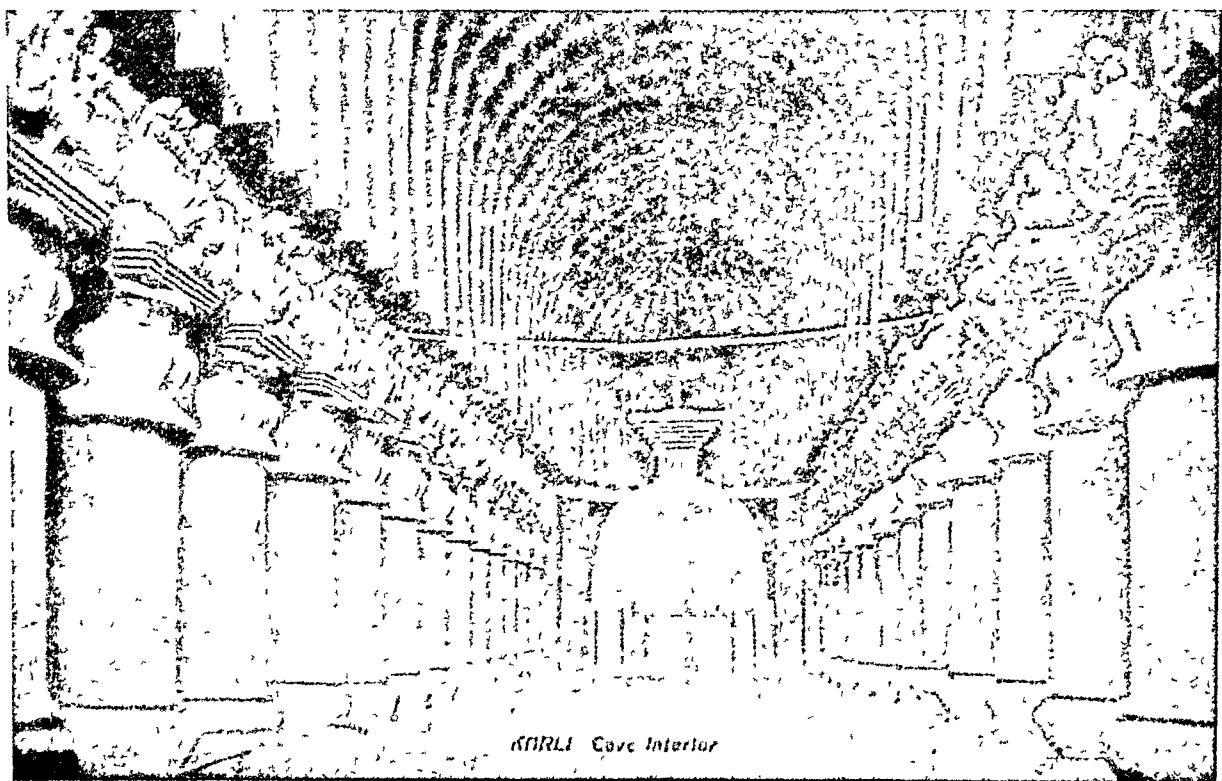
जीवित रहते हुए हमलोग जिन नामोंसे पुकारे जाते हैं, हमारे जो नाम रक्खे जाते हैं, वे क्या हैं—कृष्ण, राम, मोहन, गोविन्द, राधा, सीता, सावित्री आदि। ये सब नाम इसीलिये हैं कि वे हमारी धरतीके स्वभावका हमें सदा स्मरण करायें और सांसारिक विषयोंके मिथ्या मोहमें पड़कर पाशविक आचरणपर उतारू होनेसे बचायें। इसपर भी कोई यह कह सकता है कि यह सब व्यर्थ है; क्योंकि ईश्वर और धर्मके नामपर अभी हालमें ही कितने अमानुष और भयंकर अत्याचार हुए हैं। परंतु इसमें हमारा आदर्श, हमारी शुभेच्छा, भगवन्नाम लेनेकी पद्धति कारण नहीं है। बहुत-से अन्य अन्तर्बाह्य कारण हैं, जो इस पवित्रतम वस्तुको भ्रष्ट करनेमें दीर्घकालसे लगे थे। जो वस्तु इतनी पवित्र है, इतने महत्त्वकी है और जिसके अंदर शुभकी इतनी बड़ी क्षमता है, यह यदि विपरीत रूपमें ग्रहण की जायगी तो स्वभावतः ही उसका परिणाम भी उतना ही भयंकर होगा। पर क्या इससे इस वस्तुको ही हटा देना या घटा देना उचित होगा? संसारमें कौन संस्था ऐसी है, जिसमें भ्रष्टाचार प्रवेश नहीं करता, जिसका दुरुपयोग नहीं होता?

यह सचमुच ही बड़े आश्चर्यकी बात है कि जिस देशमें भगवान्‌के नामपर मनुष्योंके नाम रक्खे जाते हैं, उस देशका राज्य धर्मनिरपेक्ष, सांसारिक, ईश्वरविमुख हो। हमारे लोग व्यक्तिशः देखते हैं पूर्वकी ओर, जिधरसे प्रकाश, दिव्यता, शान्ति, शक्ति और समृद्धि प्राप्त होती है। पर हमारा राज्य देखता है पश्चिमकी ओर, जहाँसे अन्धकार, अशान्ति, संघर्ष और दरिद्रताका आगमन होता है। क्या हमारा अपने देशके राज्यको धर्मनिरपेक्ष राज्य कहना भारतवर्षकी आध्यात्मिक परम्पराकी प्रतिष्ठाके विरुद्ध नहीं है?

११. धर्मनिरपेक्ष तत्त्वनिष्ठा और नामकरणका कारण

(१) भारतवर्ष बहुत कालतक अंग्रेजोंके राजनीतिक दासत्वमें रहा और अंग्रेजोंकी शिक्षापद्धतिने इसे पाश्चात्त्य आदर्श और विचार-प्रणालीकी ही दीक्षा देकर अपनी सभ्यताके विमुख कर दिया। विदेशी राज्यको स्थिर करनेके लिये इसकी आवश्यकता थी। हमलोगोंने इस तरह जीवनका पाश्चात्त्य आदर्श अपनाकर उसीका ढंग सीख लिया। भारतीय राज्यकी धर्मनिरपेक्ष तत्त्वनिष्ठा और नामकरणका एक मुख्य कारण तो यही है। पाश्चात्त्य देशोंमें धर्म और अध्यात्मको राज्यसे विच्छिन्न रखनेमें दो कारण हुए। एक, धर्मके नामपर भ्रष्टाचार और दूसरा, ईसाई-धर्मकी कुछ बातोंके साथ विज्ञानका विरोध। धर्माचार्योंद्वारा वैज्ञानिक सत्योंका दमन भी किया गया। परंतु वस्तुतः (१) राज्य और (२) अध्यात्म, नैतिक आचरण और धर्ममें परस्पर कोई मौलिक विरोध नहीं है। धर्मका अपना क्षेत्र और कार्य क्या है, इस विषयका अज्ञान और पादरियोंके अहंगत स्वार्थ—इन दो कारणोंसे पाश्चात्त्य देशोंमें उनके बीच संघर्ष रहा। इस संघर्षको मिटानेके लिये जो उपाय किया गया कि ये दोनों एक दूसरेसे अलग किये गये, यह न तो एकमात्र समाधान था, न यह समुचित और उपकारक ही था। अतः इससे मानव-जीवनकी समस्या हल न हुई। पाश्चात्त्य जगत्‌में राजनीतिक अधःपतन और भ्रष्टाचारका यही कारण हुआ। पाश्चात्त्योंके राजनीतिक प्रभुत्वसे प्रभावित और पाश्चात्त्य शिक्षासे शिक्षित भारतीय भी इन दोषोंको समझनेमें असमर्थ ही रहे।

(२) पाश्चात्त्य देशोंके ही समान भारतवर्षमें भी आध्यात्मिक विषयोंकी ओरसे उदासीनता बढ़ती जा रही है। इसमें धार्मिक या आध्यात्मिक विषयोंसे राज्यकी निरपेक्षता हमें नहीं खटकती। जीवनका यह भौतिक दृष्टिकोण है। रोटीका प्रश्न और ऐसे ही अन्य प्रश्न इसमें सर्वप्रधान होकर रहते हैं।

(३) *धर्मकी भित्तिपर, विभिन्न सम्प्रदायों और समाजों*के बीच होनेवाले संघर्षोंका समाधान भी हमलोग पाश्चात्त्य ढंगसे ही करना चाहते हैं। यह बहुत शोचनीय बात है कि हमें दूसरोंकी सभ्यताका सच्चा ज्ञान प्रायः नहीं होता। इतिहास, जो साधारणतया पढ़ाया जाता है, या तो इस विषयमें चुप रहता है अथवा वैयक्तिक स्वार्थों और समयके चलते भावों और विचारोंके वश प्रायः कुछ-का-कुछ समझा देता है। कोई ग्रन्थ यदि भारत आदि देशोंकी संस्कृतिके उदात्त भावों और विचारोंको प्रकट भी करते हैं तो उन्हें काल्पनिक कहकर उड़ा दिया जाता है। अपनी संस्कृति और सभ्यताको भी हमलोग पाश्चात्त्योंकी आँखोंसे देखने लगे हैं!

यूरोपके धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक इतिहासमें शासितोंपर शासकोंके अत्याचार, दुर्बलों और गरीबोंपर बलवानों और अमीरोंके अत्याचार और विभिन्न स्वार्थों और संस्थाओंके परस्पर संघर्ष ही सर्वत्र वर्णित हैं। परस्पर स्नेह और सहानुभूतिके सम्बन्धोंकी कोई चर्चा उसमें नहीं मिलती। मनुष्योंकी पाशविक वृत्तियोंका ही उसमें प्राधान्य है। चोरी, खून, डाका, कर्तव्यकी अवहेलना, विश्वासघात आदि आसुरी वृत्तियोंकी कहानियाँ ही मानव-इतिहासकी विश्वसनीय घटनाएँ मानी जाती हैं। त्याग, भक्ति, अनुराग, परस्पर स्नेह

आदि गुणोंके दृष्टान्त अव्यावहारिक कहकर त्याग दिये जाते हैं। अतः धार्मिक भित्तिपर होनेवाले अपने यहाँके सवर्षोंको मिटानेका यह पाश्चात्त्य उपाय कि धर्म या अध्यात्मसे राज्यका कोई सम्बन्ध ही न रक्खा जाय, कोई वास्तविक उपाय नहीं है; बल्कि इसके जो बुरे परिणाम पाश्चात्त्य देशोंमें हुए, वे ही यहाँ भी होंगे—यह स्पष्ट है। पाश्चात्त्योंकी नकल करनेसे काम नहीं बनेगा।

१२. (१) राज्य और (२) नैतिक आचरण, अध्यात्मज्ञान और धर्मका मूल सम्बन्ध

(१) मानव-प्रकृतिके नैतिक और आध्यात्मिक अङ्ग सबसे प्रधान और मूलभूत अङ्ग हैं। मनुष्यकी ये ही विशेषताएँ हैं। कोई व्यक्ति, कोई समाज, किसी प्रकारका कोई संघटन या संस्थान, जो नैतिक और आध्यात्मिक सत्यपर प्रतिष्ठित नहीं है, कोई सफलता या उन्नति-लाभ नहीं कर सकता।

(२) किसी संघटनका मूल उद्देश्य ही इन उच्चतर नियमोंका निरूपण और धारण कर उनका पालन कराना ही होता है। जंगलीपन या पशुता पशुओंके लिये ही योग्य है। मनुष्योंमें भी यह चीज है, पर वह पशुकोटिकी है। अतः राज्य अथवा अन्य किसी संस्थाका निर्माण नैतिक और आध्यात्मिक अनुशासनका ही फल है।

(३) किसी राज्य अथवा संस्थाकी उन्नति, अमोघ सहज संघर्षरहित कार्यकारिता मूलतः इसीपर निर्भर है कि लोग स्वेच्छासे इन आध्यात्मिक और नैतिक नियमोंका पालन करना सीख लें।

(४) मनुष्यके जीवनकी आवश्यकताओंमें नैतिक आवश्यकताओंका अन्न-वस्त्रादिकी भौतिक आवश्यकताओंकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व है; क्योंकि मानव-जीवनकी ये ही मुख्य चीजें हैं। (आजके इस अन्न-वस्त्रके अभावमें भी यदि गहराईसे देखा जाय तो अन्न-वस्त्रका वास्तविक अभाव प्रधान कारण नहीं है, बल्कि नैतिकता और धार्मिकताका अभाव ही प्रधान कारण है।) भौतिक अभावोंकी पूर्ति भी नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रोंमें उन्नति करनेके लिये ही साधनरूपसे आवश्यक है। अतः राज्यका मुख्य कर्म ही यह हो जाता है कि वह जनताकी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नतिके उपायोंकी योजना करे। अतः उसका धर्मनिरपेक्ष अथवा अध्यात्मनिरपेक्ष होना कितना अस्वाभाविक, बुद्धिविसंगत और हानिकारक है।

१३. पाश्चात्त्योंकी तर्कप्रणालीमें हेत्वाभास

पाश्चात्त्य समाधान कोई समाधान नहीं है। उससे राज्यकी सत्ता ही डिग जाती है। वैसा राज्य केवल नाम और रूपका राज्य है, वास्तविक नहीं। नैतिक और आध्यात्मिक नियम ही राज्यका एकमात्र आधार हैं। इसे न समझना पशुताके नियमोंका प्रवर्तन है। इससे राज्य राज्यहीन हो जाता है। उच्चतर नियमानुवर्तनके विकासके साथ राज्यका विकास होता है और उच्चतर नियमोंके उल्लङ्घनसे राज्य नष्ट होता है। आधुनिक जगत्की दृष्टिमें पवित्रता नामकी कोई चीज ही नहीं है। अतः यह संसार अराजरूप हो गया है। क्या भारतवर्ष अपनी अत्युज्ज्वल आध्यात्मिक परम्पराके रहते हुए इससे शिक्षा ग्रहणकर पश्चिमका अन्धानुकरण करना छोड़ न देगा? इस अन्धानुकरणसे उसका सर्वनाश हो जायगा और उसके साथ जगत्का भी।

१४. राजनीतिक कठिनाइयोंका समाधान

हमारी धार्मिक, साम्प्रदायिक, राजनीतिक, सामाजिक—सभी कठिनाइयोंको हल करनेका एक ही बुद्धिसंगत मार्ग है। वह यही है कि इन सबका सङ्घटन सर्वमान्य व्यापक नैतिक और आध्यात्मिक सत्यके सुदृढ़ आधारपर होना चाहिये। राष्ट्रोंके पारस्परिक युद्ध और राजनीतिक दलबंदियोंके परस्पर सवर्ष भौतिक दृष्टिकोणसे ही उद्भूत होते हैं। इस भौतिकताके कारण ही आज नैतिक और आध्यात्मिक सत्यकी ओर सब लोग पीठ फेरे हुए हैं। हमारे साध्य और साधन दोनों ही दूषित हो गये हैं। भौतिक भोग-विलास जीवनके अनन्य ध्येय बन गये हैं। सिनेमा-नर्तकियाँ देवियाँ बन गयी हैं। आजकी जनता उन्हींकी पूजा-भक्ति करना सीख रही है। बड़े-बड़े राष्ट्रोंके प्रधान मन्त्री जितना धन अपने जीवन भरमें नहीं कमा सकते, उतना ये नर्तकियाँ साल, दो सालमें कमा लेती हैं। विवाहकी हाटमें इन्हींको सबसे अधिक मूल्य मिलता है। लोग सर्वस्व देकर इन्हें पानेकी इच्छा करते हैं। नैतिक और आध्यात्मिक पतनका यह एक उपलक्षण है। आधुनिक मानव-सभ्यतामें सर्वत्र सब क्षेत्रोंमें इसके विभिन्न प्रकार हैं। बार-बार होनेवाले ये जागतिक युद्ध इसी भौतिकताके परिणाम हैं, यह समझानेकी कोई आवश्यकता नहीं। इस सार्वत्रिक पतनसे मानव-जातिके उद्धारका एकमात्र उपाय है—उसका नैतिक और आध्यात्मिक पुनरुत्थान। प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद अथवा सर्वराष्ट्रिय जीवनवाद—कोई भी वाद अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ-जैसे कोई भी सर्वराष्ट्रिय संघटन इन दुःखों और संघर्षोंसे हमें बचा नहीं सकते। ये केवल बाह्यरूप हैं। इनके अंदर जबतक

न्याय, प्रेम, सहानुभूति आदि दिव्य भाव संचार नहीं करेंगे, तबतक इनसे क्या होनेवाला है ? कोई कानून, कोई संघ अवज्ञारत, हिंसोद्यत, स्वार्थपरायण, प्रतारक बहुजन-समुदायको ठीक रास्तेपर नहीं ला सकता। केवल नैतिक और आध्यात्मिक नियमोंका जनताद्वारा पालन होनेकी स्थिति ही कुछ काम कर सकती है। हमारी सभी राजनीतिक कठिनाइयाँ आध्यात्मिक और नैतिक पुनरुत्थानसे ही हल हो सकती हैं। हमारी साम्प्रदायिक कठिनाइयाँ भी इसीसे हल हो सकती हैं। कारण, सभी सम्प्रदायोंकी यही समान आधारभूमि है। जो राज्य सर्वसामान्य धर्मतत्त्वोंके प्रचारको प्रोत्साहन करता है, उससे कोई सम्प्रदाय असंतुष्ट नहीं हो सकता। इसीसे सभी सम्प्रदायोंको पुष्टि मिलती है और परस्पर विरोधकी कल्पनाएँ नष्ट होती हैं। अतः राज्यके द्वारा इन व्यापक धर्म-सिद्धान्तों, आध्यात्मिक और नैतिक नियमोंका प्रचार हो—यही हमारी सभी राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक और आर्थिक कठिनाइयोंको दूर करनेका एकमात्र उपाय है।

१५. महात्मा गांधीका रामराज्य

पूर्ण विश्वासके साथ यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रकी स्वाधीनताके जन्मदाता महात्मा गांधीका 'रामराज्य' आध्यात्मिक आधारपर प्रतिष्ठित था। भारतीय संस्कृतिके वे प्रतीक थे। भारतके ऋषि-महर्षियों और साधु-संतोंने भारतको जो शिक्षा दी, महात्मा गांधीने उसी परम्पराकी शिक्षा दी। सभी देशों और समयोंके संत-महात्माओंके उपदेश इसीका समर्थन करते हैं। महात्मा गांधीकी विशेष बात यह रही कि वे भारतवर्षकी राजनीतिक स्वाधीनताके लिये लड़े। उनकी लोकप्रियता और दिग्दिगन्तमें उनकी कीर्तिका यही कारण है। पर उन्होंने अपने आत्मचरितके उपसंहारमें यह बताया है कि सत्य और अहिंसा ही वह मान है, जिससे मैं अपनी सफलताको मापा करता हूँ। सत्यका जो निरूपण उन्होंने किया, वह निश्चय ही भारतकी प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृतिके अनुरूप था। पर उनका सत्य निरा ऐहिक हितवादमूलक नहीं था। उसका मूल था आध्यात्मिक परम सत्य। उनका सत्य था राम और राम था उनका सत्य। रामराज्यमें जो न्याय, समत्व आदि दैवी गुण जनतामें प्रतिष्ठित थे, उन्हींसे मुग्ध होकर महात्मा गांधी अपनी भावनाके आदर्श राज्यको रामराज्य कहा करते थे। आधुनिक राजनीतिके कायल लोग भी न्याय, समता आदि गुणोंकी प्रशंसा किया करते हैं। पर उनका दृष्टिकोण 'अध्यात्मरहित, धर्मनिरपेक्ष' हुआ करता है। महात्मा गांधीका दृष्टिकोण आध्यात्मिक था। जो कुछ वे करते थे, सब परम सत्य श्रीरामको अर्पण करते थे। रामके लिये वे जीते थे और उनके अन्तिम शब्द भी 'हे राम ! हे राम !' थे। उनका समाजवाद आध्यात्मिक था। समाजवाद और निष्क्रिय प्रतिरोध जगत्में उनसे पहले किसी-न-किसी रूपमें वर्तमान थे। पर उनपर महात्मा गांधीने आध्यात्मिकताकी छाप लगा दी, उन्हें भारतीय बना लिया।

१६. भारतीय संस्कृतिका आध्यात्मिक हृदय

आध्यात्मिकता भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका सारतत्त्व है। इसने भारतको अमर बना दिया है। भारतीय जनताके अन्तर्बाह्य सभी कर्मों और उद्योगोंका यही मार्गदर्शक सिद्धान्त रहा है। आहार, विहार, वस्त्र-परिधान, स्नान और निद्रा आदि सामान्य कर्मोंमें भी भारतीय संस्कृतिने आध्यात्मिकता भर दी है। गीताके १७ वें और १८ वें अध्यायमें तप, आहार, यज्ञ, दान, त्याग, कर्म आदिके त्रिविध भेद बतलाकर यह समझाया गया है कि किस प्रकार ये सब कर्म भी मानव-जीवनके परम लक्ष्यके साधक बनते हैं। झाड़ू देने या बर्तन माँजनेसे लेकर राजपद सँभालनेतक सब कर्मोंमें आध्यात्मिक भाव भर जानेसे उनके भौतिक भेद कोई भेद नहीं मालूम होते और सभी कर्म परम पदका मार्ग सबके लिये खोल देते हैं।

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
> श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
> स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

'जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, जो इस सारे जगत्में व्याप्त है, स्वकर्मके द्वारा जो मनुष्य उसकी पूजा करता है, वह अपने जीवनकी सिद्धि लाभ करता है। स्वकर्मका साधन, चाहे उसमें कोई विशेष बात न हो, दूसरेके उत्तम प्रकारसे किये गये कर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। स्वधर्मका पालन करते हुए मर जानेमें भी परम कल्याण है, दूसरेका धर्म ग्रहण करनेमें भय-ही-भय है।'

इस प्रकार आध्यात्मिक समता सुप्रतिष्ठित थी। ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल—सबमें यही आध्यात्मिक समत्वदर्शन करनेकी शिक्षा गीता देती है। ऐसी आध्यात्मिक दृष्टि जीवनके सब व्यवहारोंमें परिव्याप्त होनेसे एक लँगोटी लगाये हुए साधुके सामने बड़े-बड़े राजा भी मस्तक नवाते थे। केवल भारतीय राजा ही नहीं, विदेशी राजा सिकंदरशाहने

भी उन्हें अपना मस्तक नवाया है। साधु-संन्यासी या ऋषि-मुनिके आध्यात्मिक राजपदका वागी भला कौन हो सकता है, कौन उसकी अवज्ञा कर सकता है? आजके भारतवर्षमें भी यह प्राचीन आध्यात्मिक परम्परा और उसका गौरव किसी-न-किसी रूपमें वर्तमान है। प्राचीन भारतमें यह आध्यात्मिक संस्कृति सर्वथा जीती-जागती थी। तभी तो राजा अश्वपति अपने राज्यके सम्बन्धमें यह दावा कर सकते थे कि 'मेरे राज्यमें कोई चोर-डाकू नहीं है, कोई व्यभिचारी पुरुष नहीं है, फिर व्यभिचारिणी स्त्री कहाँसे होगी?' लोगोंका धर्ममें, नैतिक आचरणमें और अध्यात्मज्ञानमें पूर्ण विश्वास था। राजा-रङ्क सभीका कल्याण इनसे होता था। इस सम्बन्धमें रामायण और महाभारत शान्तिपर्वसे कुछ उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा—

(१) रामको चौदह वर्ष वनवास होनेके प्रसंगमें जाबालिने उनसे कहा कि आप यह वनवास स्वीकार मत कीजिये। तब राम उत्तर देते हैं—

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥

'हिंसारहित सत्य ही राजाका सनातनधर्म है। राज्य सत्यात्मक है, सत्यमें ही जगत् प्रतिष्ठित है।'

(२) तब राजगुरु महर्षि वशिष्ठने प्रतिज्ञा की कि राम जबतक घर नहीं लौट आयेंगे और राजसिंहासनपर न बैठेंगे, तबतक यहीं इसी कुशासनपर मैं बैठा रहूँगा। इसपर राम यह उत्तर देते हैं—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥

'लक्ष्मी चाहे चन्द्रमाको छोड़ दे, हिमालय हिमको त्याग दे, समुद्र अपनी मर्यादाका भले ही उल्लङ्घन करे, पर मैं अपने पिताकी प्रतिज्ञा भङ्ग न होने दूँगा।'

(३) राजा-प्रजाके बीच कैसा सम्बन्ध होता है, इस विषयमें शान्तिपर्व (महाभारत) में पितामह भीष्म युधिष्ठिरसे कहते हैं—

कर्तव्यं हि कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिनः।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत्॥

'धर्मानुवर्ती राजाका यह कर्तव्य है कि अपना प्रिय परित्यागकर वही करे, जिससे लोकहित हो।'

(४)—

अयुद्धेनैव विजयं वर्द्धयेद्वसुधाधिपः।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप॥

'राजा बिना युद्धके विजय प्राप्त करे। युद्धसे विजय प्राप्त करना कोई अच्छी चीज नहीं।'

(५)—

धर्मः सनातनस्सत्यं सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः॥
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम्॥

'सत्य सनातन धर्म है, सत्य सनातन ब्रह्म है। वेदोंका रहस्य सत्य है, सत्यका रहस्य इन्द्रियों और मनका दमन है, दमनका रहस्य मोक्ष है। यही सबके लिये अनुशासन है।'

(६) राम अपना राज्य भरतको सौंपकर जब वनको चले हैं, तब उन्होंने भरतको राजनीतिका सिद्धान्त इस प्रकार बतलाया है—

'धर्म, अर्थ, काम—त्रिविध पुरुषार्थ हैं; इन्हें प्राप्त करना ही चाहिये। पर तीनों एक साथ जब न मिलें, तब अर्थ और कामको त्यागकर धर्मको ही ग्रहण करना चाहिये।'

प्राचीन भारतकी राजनीतिक तत्त्वनिष्ठाकी यह झलक है। ऐसे ही अन्य सहस्रों दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। इससे मध्याह्नके सूर्यके समान यह स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिक तत्त्वज्ञान अध्यात्मज्ञान और सदाचरणपर प्रतिष्ठित है। महात्मा गांधीकी राजनीति भी अध्यात्म और सदाचारपर प्रतिष्ठित थी। यही कारण है कि वे जनताके हृदयोंको अपने वशमें कर सके। माताके दूधके साथ ही जनताने इसकी शिक्षा पायी है। भारतीय जनताके ये ही पूर्वपरम्परासे प्राप्त संस्कार हैं।

भारतकी यह राजनीतिक स्वाधीनता आध्यात्मिक स्वाधीनताके बिना अधूरी है। शरीर स्वाधीन हुआ, पर आत्मा कैद है। पश्चिममें राजनीतिक स्वाधीनताके पीछे-पीछे आर्थिक स्वाधीनताकी पुकार मचती है। कारण, यह भौतिक शरीर ही उनके लिये सब कुछ है। भौतिक शरीरकी उपेक्षा हम भी नहीं चाहते; कारण, यही 'आद्यं धर्मसाधनम्' है। पर यह साधन है, साध्य नहीं। साध्य है आध्यात्मिक स्वाधीनता। भारतकी उन्नति आध्यात्मिकताके नापसे ही नापी जायगी। आध्यात्मिकताकी ओर हम आगे बढ़ें तो आर्थिक उन्नति आदि स्वभावतः ही पीछे-पीछे चलेंगी। पाश्चात्त्य जगत् अपने अनन्य भौतिक भावोंकी आगमें जल रहा है। पाश्चात्त्य वैज्ञानिक तत्त्वज्ञानी और राजनीतिक सभी भौतिकताके अनन्य भक्त हैं। डारविनने परस्पर संघर्षको जीवनका विधान कहकर बड़े सम्मानका स्थान दिलाया है। फ्रायडने धार्मिक श्रद्धा-भक्ति, परमार्थवाद, राष्ट्राभिमान आदि चीजोंको स्त्री-पुरुष-

सम्बन्धी कामके ही विकारमात्र कहकर कामको प्रोत्साहित किया है। इस तरह युद्ध, परापहार, नानाविध अत्याचार और कामके विपरीत कुत्सित प्रयोग इत्यादि बुराइयोंका मण्डन किया गया है। इन सब बुराइयोंने जगत्को प्रत्यक्ष नरक बना दिया है। अब यह भारतके तत्त्वज्ञानी, वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञोंका काम है कि वे इन बुराइयोंको दूर करें। भारतवर्षकी राजनीतिक स्वाधीनताकी चरितार्थता इसी बातमें है। भारतका यह आध्यात्मिक सन्देश सारे जगत्के लिये है। यह कार्य करनेके योग्य भारतसे बढ़कर और कोई देश नहीं है।

राजनीतिक पराधीनताने भारतवर्षकी आध्यात्मिक महाप्राणशक्तिको अबतक दबा रक्खा था। स्वाधीन भारत अब अपनी आध्यात्मिक निधिके आधारपर सब प्रकारसे उन्नत होकर जगत्को वास्तविक उन्नतिका मार्ग दिखा सकता है।

१७. भारतीय राज्यका मुख्य कर्तव्य

भारतीय राजनीतिक नेताओंको यह घोषित कर देना चाहिये कि हमारे राज्यका मुख्य आधार सार्वत्रिक सदाचार और अध्यात्म है। भारतीय विधानके मूल उद्देश्यमें स्वाधीनता, समता, न्याय और भ्रातृभावका आश्वासन दिया गया है। उसमें सदाचार और अध्यात्मकी भावना भी जोड़ देनी चाहिये। भारतीय राज्यका नाम भी 'रामराज्य' अथवा इतना ही अर्थपूर्ण कोई दूसरा नाम होना चाहिये। शिक्षा, समाचारपत्र, रेडियो, वैज्ञानिक और दार्शनिक अनुसन्धान—इन सब साधनोंके सामने आध्यात्मिक उत्थानका लक्ष्य रक्खा जाना चाहिये। स्कूल-कालेजोंमें पढ़ाये जानेवाले ग्रन्थोंको आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे सुधार लेना होगा। इतिहास, साहित्य, विज्ञान, राजनीति, दर्शन और समाजशास्त्रके द्वारा आध्यात्मिक सत्यकी शिक्षा दी जानी चाहिये। जीव, ईश्वर, पुनर्जन्म अथवा पारलौकिक जीवन इत्यादि आध्यात्मिक सत्योंके संस्कार जो पहलेसे जनतामें हैं, उन्हें जीवित ढंगसे जमाना और पुष्ट करना होगा।

यह काम दार्शनिकों, साधु-संतों, वैज्ञानिकों और राजनीतिज्ञोंके परस्पर पूर्ण सहयोगसे साधित होगा और उससे हम अपने देशको भौतिकताका ग्रास बननेसे बचा सकेंगे और जगत्की भी रक्षा कर सकेंगे। हमें यह आशा है कि विभिन्न कार्यक्षेत्रोंके नेता इस संकटमय घड़ीका ध्यान करेंगे और अपनी जिम्मेदारी समझकर देशके आध्यात्मिक उत्थानके महत्कार्यमें अग्रसर होंगे।

आध्यात्मिक समाजवाद

(लेखक—योगी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

सातका अङ्क शुभ है। वेदोंने चिच्छक्तिके सात लोक गिनाये हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। इन्हीं सात लोकोंके प्रतीकस्वरूप सात नदियाँ और सप्त सिन्धु हैं। सिन्धु शब्द ही प्रचारमें आकर 'हिंदू' बना है। 'हिंदू' शब्दका अर्थ है वह देव-मनुष्य, जो चिच्छक्तिके सातों लोकोंको प्राप्त हुआ हो। हिंदुस्थान ऐसे सत्यदर्शी देवमनुष्योंकी पुण्यभूमि है। इसे पुण्यभूमि भारतवर्ष भी कहते हैं; कारण, यह धर्मशक्तिकी निधि है। धर्मकी शक्ति ही दुःख और दैन्यकी छाया-मायासे मनुष्योंको बचाती है। यहीं इस पृथ्वीपर स्वर्ग है, सुख-समृद्धि और सौन्दर्यका धाम है। जो इस देशमें उत्पन्न हुए और जो इस पुण्यभूमिके भक्त हैं, इसे ही अपना घर मानते हैं, वे भारतीय हैं। उत्तरापथके हों या दक्षिणापथके, आर्य हों या द्रविड़, ब्राह्मण हों या हरिजन, सभी भारतीय हैं—चाहे उनका वर्ण या धर्मसम्प्रदाय कुछ भी हो—यदि वे भारतमें भारतके लिये रहते और अपनी श्रद्धा-भक्ति और जीवन भारतकी सेवा और उन्नतिमें लगाते हैं। चिच्छक्तिकी इस एकतामें हमारे देशका भावी गौरव छिपा हुआ है। इस आधारभूत एकताके अभावमें हमारे देशको बार-बार गुलामीके बन्धनोंमें जकड़ जाना पड़ा है।

भारतवर्षको देव-मनुष्योंका आशीर्वाद प्राप्त है। आध्यात्मिक ज्ञानकी अथाह सम्पत्ति उसके पास है। वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, भागवत, महाभारत, भारत-शक्ति, योगसिद्धि और संतोंके भजन—सभी सत्यानुभूति और अन्तर्ज्ञानकी दुर्लभ निधि हैं—जो आज मानवजातिको प्राप्त है। वैज्ञानिक संस्कृतिमें भी भारतवर्ष अकिंचन नहीं है। पूर्वकालमें उसका विज्ञान उसके लिये पर्याप्त था। आज चाहे वह बात न हो। सङ्गीत, चित्रकला, मूर्ति-निर्माणकला, वास्तु-शास्त्र, वैद्यक-शास्त्र, अस्त्र-विद्या, फलित ज्योतिष आदिमें और कोई देश भारतके आगे नहीं बढ़ा है। योगशास्त्रमें भारतवर्ष आज भी जगद्गुरु है। जगत्के सभी देशोंसे लोग भगवान्के इस मन्दिरकी यात्रा करने आते हैं।

इन सब गौरवमयी बातोंके होते हुए भी, भारतवर्षको

पिछले पाँच सौ वर्ष विदेशियोंके दासत्वमें रहना पड़ा। उसकी शक्ति क्षीण हुई, उसकी सन्तानोंको विवश होकर विदेशी मत ग्रहण करने पड़े और अपने ही देशमें विदेशी बनकर रहना पड़ा। ऐसा क्यों हुआ? कुरुक्षेत्रके युद्धके साथ भारतवर्षको एक नयी दुनियाका सामना करना पड़ा और नये अनुभवोंमेंसे होकर जाना पड़ा। भारतवर्षका ऋषिधर्म संन्यासके एक गलत रूपके सामने दवता गया, उसकी समर-शक्ति क्षीण होती गयी। इससे समाज दुर्बल हुआ, समाजके चार वर्ण सहस्रों साम्प्रदायिक टुकड़ोंमें विच्छिन्न हो गये और परस्परका अन्तर दिन-दिन अधिकाधिक चौड़ा ही होता गया। विदेशी आक्रमणोंके सामने समाजका पुराना ढाँचा ढह गया। सिकंदर अपनी यूनानी फौजके साथ इस देशमें घुस आया। स्वदेशद्रोहियोंने उसे रास्ता दिखाया। नामधारी राजा भी इतने कोमलाङ्ग थे कि उसका प्रतिरोध न कर सके। एक पुरु (या पुरुषोत्तम) उससे लड़नेके लिये सिंहकी तरह आगे बढ़ा, पर उसे हार खानी पड़ी। वह आक्रमणकारीके हाथ कैद हुआ, पीछे छोड़ दिया गया। नन्दराजवंश उस समय राज्य करता था। उसमें इतना बल नहीं था कि विदेशियोंके इस आक्रमणका सामना कर सकता। एक चतुर राजनीतिज्ञने यह सब देखा और समझा। एक नवीन शक्तिशाली हिंदू-राज्य स्थापित करनेका वह स्वप्न देख रहा था। इसका नाम था चाणक्य, जिसका 'अर्थशास्त्र' ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसने चन्द्रगुप्त मौर्यको अपने हाथका यन्त्र बनाया, उसमें अपनी शक्ति भर दी। चन्द्रगुप्तने निकम्मे नन्दको हराकर यूनानी सेनाके सेनापति सेलुकसके भी दाँत खट्टे किये और अपनी माता मुराके नामपर मौर्यराजवंशकी स्थापना की। भारतवर्षने राष्ट्रोंकी पंक्तिमें अपना गौरवमय स्थान प्राप्त किया। यह गौरव प्रियदर्शी राजा अशोकके समयमें अपने शिखरतक पहुँचा। अशोक बौद्ध थे, उन्होंने बौद्धधर्ममें कर्मकी प्रचण्ड शक्ति भर दी। बौद्ध भिक्षु भारतवर्षसे दूर-दूर देशोंमें जाकर भगवान् बुद्धके नैतिक उपदेशोंका प्रचार करने लगे। स्तूप और विहार निर्मित हुए। लंकासे गयातक समस्त देशमें बुद्ध, उनके धर्म और संघके पावन नाम गूँजने लगे। महाराज हर्षतक यह क्रम चला। अशोकके पश्चात् फिर विदेशी सेनाएँ भारतवर्षपर चढ़ आयीं और उन्होंने यहाँके राजनीतिक और सामाजिक संघटनको विघटितकर छिन्न-भिन्न कर डाला। बहुत-से नये-नये राजवंश बरसाती मेढकोंकी तरह निकलकर और क्षणभर जीकर विलीन हो गये। देश छोटे-छोटे राज्योंसे टुकड़े-टुकड़े हो गया और सब एक दूसरेके उत्कर्षमें बाधक बनकर एक दूसरेके नाशका उपाय सोचने लगे।

दक्षिण भारतमें चेर, चोल, पाण्ड्य, पल्लव, राष्ट्रकूट आदिकोंमें राजनीतिक होड़ चली। पर दक्षिण-भारतको विदेशी उतना उजाड़ नहीं सके, जितना कि उत्तर-भारतको। उत्तरमें जो आध्यात्मिक अग्नि बुझ रही थी, वह दक्षिणमें स्थिर रूपसे प्रज्वलित थी। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि समय रहते आ गये और उन्होंने आत्मज्ञान तथा भक्तिप्रदीपसे देशमें उजाला कर दिया। उनमें व्यक्तिशः कुछ सिद्धान्तोंका भेद था, पर इस विषयमें सबका एकमत था कि मनुष्यका परम लक्ष्य उस परमेश्वरको प्राप्त करना है, जो एकमेवाद्वितीयम् है। उन्होंने यह भी शिक्षा दी कि सब प्राणियोंके अंदर जो विशुद्ध आत्मा है, वही प्राणिमात्रका सत्तत्त्व है, वह दिव्य है और सर्वव्यापक है। पीछेके आचार्योंने इसी सत्यको दुहराया। बहुत-से लोग अवश्य ही शाब्दिक वितण्डावादमें पड़ गये और केवल निष्प्राण रूढ़ियोंके दास बने रहे। सृष्टि-सामर्थ्य रखनेवाला अन्तर्ज्ञान सुषुप्त होकर रहा। वह कड़ी, जो आत्माके साथ जागतिक जीवनकर्मको जोड़ती है, खो गयी। हमारी प्राचीन संस्कृतिमें जो कुछ सामर्थ्यवती वस्तु थी, वह उन पुरुषार्थहीन, निष्प्राण, यान्त्रिक रीतियोंके नीचे दबी रह गयी, जो किसी राष्ट्रके उन्नतिसाधनमें बिल्कुल बेकार हैं। हमारे अंदर जो विश्वासघाती देशद्रोही लोग थे, वे अपने ही भाइयोंसे लड़नेके लिये विदेशियोंको बुला लाये!

इस प्रकार स्वाधीन भारतके अन्तिम नृप पृथ्वीराजके शत्रुने मुसल्मान-सेनाओंके आनेके लिये रास्ता साफ किया। शस्त्रवेशी कुरानने तीन शताब्दियोंतक अपने जोर-जुल्मका राज इस देशमें कायम रक्खा और लाखों हिंदुओंको धर्म-भ्रष्ट किया। उस राजने अपने रक्तचिह्न आज पाकिस्तानमें रख छोड़े है! भारतवर्षने अपना स्वराज्य खोया; कारण, अपना स्वधर्म खो दिया। राणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह अपने राष्ट्रको फिरसे स्वाधीन करनेके लिये अद्भुत वीरताके साथ उठे; पर स्वधर्म फिर भी दूर ही रहा।

अब एक अनात्म कर्मवादकी लहर देशपर दौड़ गयी। इस समय वैज्ञानिक संस्कृतिने श्वेत जातियोंको संसारकी विजेतृ-शक्ति बना दिया था। इसके राजनीतिक और व्यापारिक संघटनसे टकराकर भारत अपनी आध्यात्मिक परम्पराकी सम्पत्ति खो चुका था। राष्ट्रमें कोई ऐसी जीवित शक्ति नहीं

थी, जो अंग्रेजों और फ्रेंचोंकी कूटनीतिक चालोंका सामना कर सकती। कभी कोई नाना या टीपू अथवा बाजीराव इस विदेशी परापहरणके जालको छिन्न करनेके लिये निकल पड़ते; पर उनके त्याग और वीरत्वपर विश्वासघाती लोग आकर पानी फेरनेके लिये तैयार हो जाते। भारतवर्षमें इतनी फूट थी कि सारा राष्ट्र राजनीतिक शत्रुओंका सामना करनेके लिये एक होकर कोई प्रयत्न न कर पाता था। इस तरह दो सौ वर्षोंतक हमारा देश गुलामीकी यन्त्रणाएँ भोगता रहा।

पर भारतका आत्मा सो नहीं सकता। उसकी ज्वालाओं-ने उसमें युग-तेज उत्पन्न किया और अकस्मात् राष्ट्रके पुनरुज्जीवनका उदय हुआ। राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामलिंगम् आदि अनेक महान् संतोंने जन्म लेकर नये युगका मंगलगान गाया। उनकी वाणीने राष्ट्रको जगाया और जगत्को उस आध्यात्मिक सत्ताका संदेश सुनाया, जिसका ज्ञान उसे भारतवर्ष ही दे सकता है। तिलक, श्रीअरविन्द और महात्मा गान्धीने राष्ट्रकी राजनीतिक चेतनाको जगाया और उसे स्वभाग्यनिर्णय-तक पहुँचाया। महात्मा गांधी स्वयं एक युग थे। भारतवर्ष-की गौरव-गरिमाके शिखर, उसकी स्वाधीनताके जन्मदाता और ऐसे एकमात्र राष्ट्रविधाता थे, जिनके सामने सारा जगत् नतमस्तक हुआ। सेवा और त्यागसे परिपूर्ण अपने अद्भुत जीवनके द्वारा भारतवर्षकी प्रतिष्ठा उन्होंने फिरसे स्थापित की और स्वयं बुद्ध, ईसा और महावीर-जैसे जग-उद्धारक महापुरुषोंकी पंक्तिमें बैठनेके अधिकारी हुए।

भारत अब एक स्वाधीन देश है, पर दुःख है कि वह अब विभक्त है; उसके हृदयके दो टुकड़े हो गये हैं! स्वाधीनताकी बलिवेदीपर सहस्रों-लाखों हिंदू काटे गये। भारतवर्षकी शान्तिको राजनीतिक चरमपन्थियोंने महीनों यहाँ-वहाँ बुरी तरहसे आन्दोलित कर रक्खा था। गांधीजीके बलिदानके पश्चात् भी अभीतक संकट टला नहीं है। राष्ट्रने अभी एकत्वका पाठ नहीं पढ़ा।

राष्ट्रके सामने इस समय कितने ही विकट प्रश्न हैं। आर्थिक प्रश्न तो सर्वोपरि है। फिर मजदूरोंका प्रश्न है। गङ्गा और कावेरी जिस देशमें बहती हैं, उसे विदेशोंसे अन्न मँगाना पड़े, यह कितनी शोचनीय अवस्था है। लाखों-करोड़ों मनुष्यों-को अन्न-वस्त्र और घर बनानेके सामान देनेके लिये बड़े-बड़े कारखाने खोलकर यान्त्रिक शक्तिसे उत्पादन बढ़ानेका बहुत बड़ा काम है। स्थलसेना, जलसेना और वायुसेनाको इतना सुसज्जित और शक्तिशाली बनाना है कि वह उस जागतिक परिस्थितिका सामना कर सके, जो दिन-दिन अधिकाधिक भयानक होती जा रही है। किसानोंको सँभालना है। सामाजिक सुव्यवस्था बाँधनी है। इन सब बातोंमें भारतीय यूनियनके मन्त्रियोंका ध्यान बँटा हुआ है।

इन सब चीजोंके परे एक बहुत बड़ा काम यह है कि जिन विभिन्न घटकोंसे यह महान् विशाल राष्ट्र बना है, उनमें एकता और अखण्डता स्थापित हो। विभक्त भारतमें अब हमारा एक भारतीय यूनियन या संघ है; परंतु भारतका यह संघ पूरा नहीं बना है। हमारे राष्ट्रिय मेल और ऐक्यके विरुद्ध कई विच्छेदक और विभेदक शक्तियाँ गुप्तरूपसे अपना काम कर रही हैं। ये ही विच्छेद और विभेदकी आसुरी शक्तियाँ संसारमें सर्वत्र ही क्रियाशील हैं। विश्वव्यापी तृतीय महायुद्धके सामान इनके द्वारा जुटाये जा रहे हैं। गौरैयाएँ एक साथ रहती, एक साथ उड़ती और सुखी रहती हैं। मधुमक्खियाँ एक साथ शहदके छत्तेपर चिमटती और सामाजिक मिलनका रहस्य गुनगुनाकर मनुष्यको सुनाती हैं। तारका-पुञ्ज शान्तिके साथ व्यूह बाँधे नित्य-नवीन उषःकालकी ओर चलते हैं। पर मनुष्यने अभी अपने भाईके साथ सुख और मेलसे रहना नहीं सीखा। इसका कारण क्या है? कारण राजनीतिक उतना नहीं, जितना कि मानसिक है।

अन्तःस्थ चेतन एकतामें मनुष्यका मन ही नहीं है। वह 'मैं' और 'मेरे' के चक्करमें ही रहता है। उसे उस मूलभूत अन्तःस्थ एकताका अभी पता ही नहीं है, जो सब जीवोंको एक साथ धारण किये हुए है—जैसे मणिमालाका सूत्र मणियोंको। हृत्पुरुषकी चेतना प्राणियोंकी अनेकतामें सदा उस एकको देखती है। मनुष्य इसे भूला रहता है। वह इस बातको भूल जाता है कि वह भी मानव-समष्टिका वैसा ही एक अङ्गमात्र है, जैसे एक अँगुली शरीरका अङ्ग है। मनुष्य अहंभावयुक्त विभक्त मनमें रहता है और यह मन अपने एक पृथक् व्यक्ति होनेका संकुचित रूप धारण करता है। यह व्यक्तिगत अहं कभी-कभी अपनेको ईश्वरसे भी बड़ा मान लेता है। मनुष्योंके शून्यवाद, अज्ञेयवाद और नास्तिवादका यही कारण है।

जरा सोचो, यह पृथ्वी क्या है? ऊपर आकाशके इस विशाल वितानको देखो। असंख्य नक्षत्र और ग्रह यहाँ निरन्तर घूम रहे हैं। आकाशमें परिभ्रमण करनेवाले इन असंख्य ज्योतिर्मण्डलोंमें हमारी यह पृथ्वी एक बहुत ही

छोटे-से अणुके बराबर है। कोई विलक्षण गुप्त शक्ति है, जो इन्हें चलाती है। उस शक्तिको हम 'ईश्वर' कहते हैं। वह सर्वत्र व्यापक है और वही एक जड धूलिकणसे लेकर प्रज्ञावान् मनुष्यतक सब प्राणियोंका, प्रकृतिके द्वारा, विकास-साधन करता है। तरु-लता-वनस्पति, कीट, पतंग, पक्षी, पशु और मनुष्य—सब मिलकर प्राणियोंका एक ही परिवार हैं। सब एक ही वायुसे श्वास लेते, एक ही धरतीपर चलते और विश्वके वितान एक ही द्युलोकसे प्राप्त वस्तुएँ ग्रहण करते हैं। ईश्वरने मनुष्यको एक ही आकाश, एक ही पृथ्वी, एक ही आत्मा और सबके एक होनेकी ही भावना दी। ईश्वरने मनुष्यको एक हृदय दिया, जिससे वह दूसरोंके साथ मेलसे रहे, दूसरोंको अपने ही दूसरे रूप, दूसरे अहं समझे। पर अहंग्रस्त मनुष्य अपने हृदयमें छिपी हुई इन स्वाभाविक सद्वृत्तियोंका पोषण नहीं करता और 'मैं' और 'मेरे'के सिवा और कोई माप-जोख नहीं जानता। यही उस विभेदका मूल है, जिसका फल है द्वेष। द्वेषमें ही अशान्ति पैदा होती है। मनुष्य मनुष्यके लिये खतरनाक हो गया है; क्योंकि वह अपने आपको नहीं जानता, अपने ही परिवर्तित अन्य रूपको नहीं जानता। मनुष्यको अपना पृथक्कृत व्यक्तित्व विश्वचैतन्यमें मिला देना होगा। यह जगत्की एकताके लिये उतना ही आवश्यक है, जितना कि राष्ट्रकी एकताके लिये राज्योंका केन्द्रीय सरकारके शासनमें मिलाया जाना।

जगदुद्धारक महापुरुष आये और चले गये; समाज-सुधारक और क्रियाहीन तत्त्वज्ञानी बड़े-बड़े ग्रन्थ लिख गये। राजनीतिके राजतन्त्रसे लेकर अराजकतन्त्रतक और सैनिक अधिनायकवादसे लेकर जनतन्त्रात्मक समाजवादतक बड़े-बड़े प्रयोग किये जा चुके। पर संसारका रवैया जो कल था, सो आज है और यही बना रहेगा, जबतक मनुष्य यह नहीं जानेगा कि वह स्वयं क्या है और उसे क्या होना चाहिये। ऋषिका वचन है, 'आत्माको नीचे मत गिरने दो, अपने आत्माको अपने ही आत्माके द्वारा ऊपर उठाओ; आत्मा आनन्दामृतसे सिक्त है, उसे जानो और वही बनो।' पर स्वार्थ-सुखकी स्वार्थी भूख और प्याससे ही मनुष्यका मन जब आकुल है, तब आत्माकी इस गभीर वाणीको कौन सुनता है?

यह असंख्यशीर्ष स्वार्थपरता और स्वार्थानुसन्धान जीवनके वैयक्तिक, कौटुम्बिक, नागरिक, प्रान्तिक, राष्ट्रिक, सर्वराष्ट्रिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक—सभी क्षेत्रोंमें संचार कर रहे हैं। वर्णगत, सम्प्रदायगत और जातिगत कुसंस्कार, मनुष्यकी इसी प्रचण्ड स्वार्थपरताकी सन्तान हैं। एक धर्मसम्प्रदाय दूसरे धर्मसम्प्रदायसे द्वेष करता है। क्यों? इसीलिये कि प्रत्येक धर्म यह समझता है कि ईश्वर, स्वर्ग और सद्गुणोंपर उसीका ठेका है। एक प्रान्त दूसरे प्रान्तसे द्वेष करता है। क्यों? इसीलिये कि कोई प्रान्त अन्य प्रान्तके सांस्कृतिक सौन्दर्यको देखना नहीं चाहता, केवल उसके साधनोंका शोषण कर लेना चाहता है। एक भाषा दूसरी भाषाका तिरस्कार करती है; क्योंकि उसके गुणोंको स्वीकार करनेमें वह अपनी हेठी समझती है।

यदि हम इन बातोंको भारतवर्षपर घटाकर देखें तो अच्छी तरह हमारी समझमें आ जायगा कि हम क्या हैं, क्यों हैं और हमें क्या होना चाहिये। गांधीजीके नैतिक बलने भारतकी जनताको जगाया और स्वाधीनतासे देशको विभूषित किया। पर यह स्वाधीनता, जो इतनी कठिनाईसे प्राप्त हुई, विरोधी शक्तियोंके द्वारा भीतरसे और बाहरसे भी झटका दे-देकर कमजोर की जा रही है। विधानपरिषद्ने विविधतासे परिपूर्ण इस विशाल राष्ट्रके केवल सांसारिक सुखके साधक प्रस्ताव पास किये हैं। रूसके 'सोशल कंट्राक्ट', फ्रेंच राज्यक्रान्ति और अमेरिकाकी स्वाधीनताके मूल अधिकारपत्रोंका ही इसने बहुत कुछ अनुसरण किया है। भारतवर्षके आध्यात्मिक सत्त्वको इस नवीन विधानमें कोई स्थान नहीं मिला। इसीलिये वर्तमान सरकारसे यह आशा नहीं है कि देशके आध्यात्मिक उत्थानके लिये वह कोई विशेष यत्न कर सकेगी। पर सामाजिक जीवनके लिये इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। राष्ट्रकी सरल उन्नतिमें सभी दलोंके दलगत कुसंस्कार बाधक होते हैं। आध्यात्मिक चेतनासे ही इन कुसंस्कारोंको हटाया जा सकता है। सामाजिक जीवनमें एकता और सुसंगति तभी होती है, जब हृदय मिलकर एक हों। यह हृत्तत्त्वके उद्घाटन और आत्मचैतन्यकी अनुभूतिसे ही हो सकता है। राष्ट्रके जीवनका मानव-समष्टिमें निवास करनेवाले भगवान्के साथ योग होना चाहिये। मनुष्य मनुष्यके अंदर जो भगवत्-तत्त्व है, उसे पहचाने। हर किसीका जीवन सबके लिये हो और सबका हर किसीके लिये। इसीका नामान्तर है 'आध्यात्मिक समाजवाद अर्थात् आत्मचैतन्यके अंदर मानवजातिका समष्टि-जीवन'। यही परम कल्याणमय जीवन है।

जन्म, कुल, स्थान और भाषागत भेदोंके रहते हुए भी सब मनुष्य एक परिवारकी तरह रह सकते हैं—यदि प्रत्येक

दो दृश्य (३)

धनपर धूल — धनके लिये नकली रजिस्टर

साहूकारी–ईमानदारी — चोरबाजारी–रिश्वतखोरी

मिली स्वर्णमुद्राओंपर भी राँका धूल रहा है डाल
किन्तु आजके व्यवसायी लिख झूठ वहीमें रचते जाल ।
विश्वासी काशी नगरीका ठीक तौलता सु-तुलाधार
आज ब्लैक मार्केट चल रहा साहबको दे घूस हजार ॥

पुण्यदानसे नरकके प्राणियोंकी मुक्ति

पुण्यात्माने पापी जनको करके अपना पुण्य प्रदान ।
भेज दिया उत्तम लोकोंमें किया नरक भी स्वर्ग-समान ॥

व्यक्ति अन्तःस्थ आत्माको ध्यानमें रखकर सोचे और कर्म करे। एकीभाव उत्पन्न करनेवाली इस चेतनाके पोषणके लिये साधना आवश्यक है। यह साधना ऐसी हो कि उससे हमारे जीवनके भौतिक और हार्दिक अङ्ग परिपुष्ट हों। इसके कुछ साधन नीचे दिये जाते हैं—

१. सूर्योदय और सूर्यास्तके पूर्व समूचे राष्ट्रको व्यक्तिशः अथवा सङ्घशः सर्वथा मौन होकर ईश्वरका ध्यान करना चाहिये और मन-ही-मन ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये—

'सब प्राणियोंके हृदयमें निवास करनेवाले हे परमात्मा! हमें वह परस्पर-स्नेह, वह सदिच्छा और वे साधन दो, जिनसे हम सब वैसे ही एक हों, जैसे सूर्यकिरणें एक होती हैं और सबका समान हितसाधन करें—जैसे वायु और मेघ करते हैं।'

२. हमारे साधु-संतों और ऋषि-मुनियोंके जो ईश्वर-प्रेरित सद्ग्रन्थ हैं, उनसे संग्रह करके सबके लिये समान उपयोगी एक निबन्ध-ग्रन्थ निर्माण किया जाय। वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत, महाभारत, रामायण आदि सद्ग्रन्थ हमारी अमूल्य निधियाँ हैं।

३. भारतवर्षके प्रत्येक गली-कूचेमें भजन और प्रार्थनाका एक स्थान नियत होना चाहिये। भजन सबके लिये समान अनुशासनका अङ्ग होना चाहिये—प्रत्येक भारतवासी अवश्य कर्तव्य जानकर भजन करे। बहुत लोगोंके मिलकर भजन-प्रार्थना आदि करनेका प्रभाव समाजपर अच्छा पड़ता है। प्रार्थनामें ऐसी शक्ति है, जो सबके हृदयोंको मिला देती है। महात्माजी ऐसी प्रार्थनाएँ कराते थे। यह क्रम आगे प्रत्येक नगर और गाँवमें चलना चाहिये। सब धर्माचार्योंको एक सम्मेलनमें एकत्र होकर धर्मकी पुनः स्थापनाका सबके लिये कोई एक मार्ग ढूँढ़ निकालना चाहिये। सभी धर्मोंका एक ऐसा धर्मपीठ बनाना चाहिये, जो सबके लिये समान हो, जहाँ सब धर्माचार्य और दार्शनिक एकत्र हो सकें और अपनी-अपनी बात कह सकें। उन्हें एक ऐसा सर्वसामान्य धार्मिक और नैतिक अनुशासन स्थिर करना चाहिये, जिसे सब लोग मानें। ऐसे साधुओं और सन्यासियोंको तैयार करें, जो स्थान-स्थानमें घर-घर घूमकर सबके समान धर्मग्रन्थ और नैतिक-धार्मिक आचारका प्रचार करें। धनका उपयोग निम्नलिखित कार्योंमें किया जाना चाहिये—

सद्ग्रन्थोंका मुद्रण, प्रकाशन और प्रचार।

धर्मके प्रचारकोंको तैयार करना और प्रचारके लिये जगत्के सब देशोंमें भेजना।

गीताकी सहस्रों प्रतियाँ छपवाकर अत्यल्प मूल्यपर उनका वितरण करना।

प्रतिवर्ष किसी मुख्य स्थानमें सर्वधर्मसम्मेलन किया जाना चाहिये। इससे सब सम्प्रदायों, विचारों और संस्थाओंके लोग एक जगह आ जायँगे और उनमें मेल और ऐक्य बढ़ेगा।

मन्दिरों और मठोंमें धार्मिक शिक्षाके उच्च विद्यालय स्थापित करने चाहिये।

इस प्रकार भारत अपने आध्यात्मिक साम्राज्यको पुनः प्राप्त होगा। उसीसे वास्तविक एकता स्थापित होगी। एकता आरम्भ होती है अंदरसे, विशुद्ध अन्तरात्मासे।

हिंदुओंकी वर्तमान दशा

भूलि गये ज्ञान ध्यान वेद विज्ञना महान भूलि गये पूजा औ क्रियाएँ सब आपकी[1]।
वल्लम और भाला देखे धड़का बढ़ावै चित्त धीरता भगावे धुनि घोड़नके टापकी[2]॥
क्षमता औ दृढ़ता निज शब्दहूकी भूलिगे ऊपर ते सींचि रहे देखो बेलि पापकी[3]।
गौरव औ मान बल वीरता बड़ाई प्रेम भूलि गये आन-बान आपुने प्रतापकी॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

१. ब्राह्मण, २. क्षत्रिय, ३. वैश्य।

हिंदू-संस्कृति, उसकी अजेयता और आधारशिला

(लेखक—पं० श्रीमुरलीधरजी शर्मा, बी०ए०, बी०एल्०, काव्यतीर्थ)

"यदि मनुष्यके पास संसारकी प्रत्येक वस्तु है, पर आध्यात्मिकता नहीं है तो क्या लाभ ? ×××× वे (हिंदूलोग) जानते हैं कि इस भौतिक सृष्टिके मूलमें वह सत्य और दिव्य आत्मतत्त्व निहित है, जिसे कोई पाप कलुषित नहीं कर सकता, कोई दुराचार भ्रष्ट नहीं कर सकता और कोई दुर्वासना गंदा नहीं कर सकती; जिसे अग्नि जला नहीं सकती और जल गीला नहीं कर सकता; जिसे गर्मी सुखा नहीं सकती और मृत्यु मार नहीं सकती। उनकी दृष्टिमें मनुष्यकी वह परा प्रकृति—आत्मा उतना ही सत्य है जितना कि एक पाश्चात्त्य व्यक्तिकी इन्द्रियोंके लिये कोई भौतिक पदार्थ। इसी विचारधारामें वह शक्ति निहित है, जिसने उनको शताब्दियोंके उत्पीड़न और वैदेशिक आक्रमण या अत्याचारके बीच अजेय रक्खा है। आज भी राष्ट्र जीवित है और उस राष्ट्रमें भयङ्कर-से-भयङ्कर विपत्तिके दिनोंमें भी आध्यात्मिक महापुरुष कभी उत्पन्न होनेसे नहीं चूके हैं। सैकड़ों वर्षोंतक लहरों-पर-लहरें प्रत्येक वस्तुको तोड़ती-फोड़ती हुई देशको आप्लावित करती रही हैं; तलवार चली है और 'अल्लाहो अकबर' के गगनभेदी नारे लगे हैं; किंतु वे बाढ़ें चली गयीं और राष्ट्रिय आदर्शोंमें परिवर्तन न कर सकीं। हजार वर्षोंके असंख्य कष्ट और सङ्घर्षोंमें वह हिंदूजाति मर क्यों न गयी ? यदि हमारे आचार-विचार इतने अधिक खराब हैं तो क्योंकर हमलोग अबतक पृथ्वीपरसे मिट न गये ? क्या भिन्न-भिन्न वैदेशिक विजेताओंने हमें कुचल डालनेमें किसी बातकी कमी रक्खी ? तब क्यों न हिंदू बहुत-से अन्य देशोंकी भाँति समूल नष्ट हो गये ? भारतीय राष्ट्र मर नहीं सकता। अमर है वह और उस वक्ततक अमर रहेगा जबतक कि यह विचारधारा पृष्ठभूमिके रूपमें रहेगी, जबतक कि उसके लोग आध्यात्मिकताको नहीं छोड़ेंगे।"*—स्वामी विवेकानन्द

'संस्कृति' शब्द संस्कृतभाषामें 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय लगानेपर निष्पन्न होता है। इसका अक्षरार्थ है संस्कार—निखरना या निखारना। राष्ट्रोंकी संस्कृतियोंका अध्ययन करनेसे उनमें दो धाराएँ मिलती हैं—एक विचारधारा (Theory) और दूसरी आचारधारा (Practice)। पहली धाराको हम संस्कृतिका आधार, सिद्धान्तवाद या आन्तरिक रूप कहते हैं और दूसरीको उसका विस्तार, कार्यवाद या बाह्य रूप। एकके बिना दूसरी अधूरी और दोषपूर्ण रहती है। आचारधाराके बिना कोरी विचारधारा दुरूह कल्पनामात्र—अस्पष्ट स्वप्नरूप है, जिसके सत्यासत्यके विषयमें भी वाद-विवाद हो जाया करता है। बिना विचारधाराके निरी आचारसृष्टि निर्जीव रूढ़िवाद है, जो किसी राष्ट्रके जीवनमें घुल-मिलकर समा जानेकी शक्ति नहीं रखता। उन्नत और सुरुचिसम्पन्न राष्ट्रके जीवनमें संस्कृतिकी उक्त दोनों धाराएँ ओतप्रोत रहती हैं। उनका समन्वय ही सौन्दर्यजनक और जीवनदायक है। उनका वियोग राष्ट्रके ह्रासका द्योतक है और जातियोंके पारस्परिक सङ्घर्षमें ह्रासका कारण बनता है। इनमें भी आद्य धारा प्राणरूप और द्वितीया देहरूप है। जिस प्रकार शारीरिक चेष्टाएँ आन्तरिक मनोवृत्तियोंकी परिचायिका होती हैं, उसी भाँति काव्य, नाट्य, गान, चित्रकला, स्थापत्यकला आदि राष्ट्रिय संस्कृतिके नमूने तत्कालीन राष्ट्रकी विचारधाराके स्थूल प्रतीक होते हैं। राष्ट्रको निखारनेवाला—मानवसे महामानव या देव बनानेवाला—उसका सिद्धान्तवाद होता है। काव्य, गीति आदि ललित कलाएँ उस संस्कृत और सुरुचिसम्पन्न राष्ट्रके कार्यवादके अङ्ग हैं। यद्यपि हम दोनोंको ही संस्कृतिके नामसे कहते हैं, तथापि उनमें प्राणस्थानीय मूलभूत विचारधारा ही मुख्य है। दूसरी धारा उसकी छाया है। जिस प्रकार हमलोग ईश्वरकी सृष्टिके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर उस सृष्टिकर्ताको और उसकी सौन्दर्यमयी प्रतिमाको भूल बैठते हैं, ठीक उसी तरह हम ललित कलाओंके लालित्यपर दिङ्मूढ हो उनके उद्गम स्रोत और उसके असीम वैभवको भुला देते हैं। प्रत्येक संस्कृतिकी आन्तरिक विचारधारा ही उसकी आधारशिला है। उसीपर उसकी चिरस्थायिता और क्षणभङ्गुरता निर्भर करती है। नीचेकी पङ्क्तियोंमें हम भी जरा अपनी सनातन हिंदू-संस्कृतिकी आधारशिला—उसकी प्राणदायिनी विचारधारा—पर, जिसने अनादिकालसे इस राष्ट्रको जीवित और सुदृढ़ रक्खा है, थोड़ा-सा विचार कर लें।

* देखिये—*Complete Works, Vol IV, pp. 154-56; Vol V., p. 347.*

यदि संसारमें ऐसा कोई देश है, जिसने सभ्यताके सूर्यका सर्वप्रथम उदय हुआ, जिसमें ज्ञानमहोदधिकी उत्ताल तरङ्गें अनादिकालसे सुदूर कोनोंको भी आप्लावित करती रही हैं; जहाँ सदासे धर्म, त्याग और वैराग्यकी अविरल-वाहिनी धाराओंने लोगोंको मनसा, वचसा, कायेन पावन किया है; जहाँ कर्म, ज्ञान और भक्तिकी परम पवित्र त्रिवेणी पूर्वैतिहासिक कालसे दुःखदावानलदग्ध प्राणियोंके सन्तप्त हृदयोंको शान्ति-सुधा पिलाती रही है, जिसको युग-युगमें संख्यातीत संत, महापुरुष और अवतारोंको प्रकट करनेका गौरव प्राप्त है, जहाँ आध्यात्मिकता-लता खूब घनी फूली-फली है, तो वह पुण्यभूमि भारतवर्ष है। यदि समस्त विश्वमें कहीं ऐसी कोई जाति है, जिसने भूभागपर सर्वप्रथम मानव-सभ्यता और संस्कृतिको जन्म दिया, जिसने जीवनकी अत्यन्त उलझी हुई तमोमय ग्रन्थियोंको त्याग-स्नेहपूर्ण आलोकशाली ज्ञानप्रदीपके सहारे सुस्पष्ट रीतिसे सुलझाकर मनुष्य-जातिका परम कल्याण किया, जिसने गम्भीर विचारपूर्ण 'दर्शनों' की प्रौढ रचनाके द्वारा ज्ञानसागरको गागरमें भर दिया, जिसने विश्वको अठारह विद्या और चौसठ कलाओंके आलोकसे चकाचौंध कर दिया; जिसको जीव, ईश्वर और जगत्-सम्बन्धी अशेष वादोंके प्रवर्तक होनेका अनन्यसाधारण सौभाग्य प्राप्त है; जिसको दुःख सहना सिखाया गया है, दुःख देना नहीं; जिसने सदासे अन्यधर्मावलम्बियोंके प्रति सहिष्णुताकी भावना रक्खी है और उनकी पीड़ित, असहाय अवस्थामें उन्हें शरण दी है; जिसमें ईश्वर-दर्शनकारी संतोंका सदा ताँता बना रहा है, जिसकी सभ्यता प्रारम्भसे आजतक चली आयी है और विधर्मी वैदेशिक शासकोंके क्रूर और कपटमय मूलोच्छेदी प्रहारोंको एक हजार वर्षतक ढकेलती हुई जीवित रही है, जो आत्माकी अमरताके गीत गाती हुई तन्मय होकर अपने लक्ष्य—आत्मा—के समान अमर हो गयी है, तो वह पुण्यभूमि भारतवर्षकी आर्य हिंदू जाति है।

हिंदूराष्ट्र और संस्कृतिने एक हजार वर्षकी अग्नि-परीक्षाद्वारा अपनी योग्यता और अजेयताको सिद्ध कर दिया है। मुसलमानोंके अमानुषिक अत्याचारोंको सदियोतक सहकर, क्रूर शासकोंद्वारा दिये गये भय, वैभव और जीवनसत्ताकी अवहेलना कर हिंदू-जातिने अपनी संस्कृतिकी रक्षा की; क्योंकि वह उन्हें अपने प्राणोंसे भी प्रियतर थी। उसके नामपर मरकर उसने अपने आपको अमर माना। स्वधर्म और संस्कृतिका हिंदुओंको गौरव था और वह भी इतना अधिक कि उसके समक्ष सम्पूर्ण ऐहिक सुख-सम्पत्ति तिनकेके समान थी। मुसलमानलोग शक, हूण, यवन आदि अन्य आक्रमणकर्ताओंकी भाँति केवल लूट-खसोट और राज्य करने नहीं आये थे। उनके पास अपना निजी धर्म और संस्कृति थी, जिनका प्रचार करना उनके जीवनका चरम लक्ष्य था। हिंदू-संस्कृतिपर उनके अभूतपूर्व क्रूर और घातक प्रहार हुए, पर उसकी परम दृढ़ जड़को काटते-काटते मुसलमानोंकी तलवार मोटी होकर जीर्ण-शीर्ण और छिन्न-भिन्न हो गयी। संस्कृतिकी इस घायल दशामें ही देशपर एक दूसरा विदेशी शासन—अंग्रेजी राज्य—आ लदा। वह और भी विचित्र था। उसके पीछे शक्ति, वैभव, सभ्यता, शिष्टाचार, कूटनीति और आधिभौतिक विज्ञानका सामर्थ्य था। अंग्रेजोंने भलीभाँति देशकी परिस्थितिका अध्ययन कर लिया था। वे हिंदू-संस्कृतिसे सशङ्क थे; क्योंकि वह पहले कई दूसरी संस्कृतियोंको अपनेमें विलीन कर चुकी थी और उसे कोई न मिटा सका था। देशीय दृष्टिसे हिंदू हार चुका था। पर सांस्कृतिक विचारकोणसे वह अपने-आपको उन गौराङ्ग महाप्रभुओंसे उत्कृष्ट मानता था। यह बात शासकोंको बहुत अखरती थी, पर वे मुसलमानोंकी गलतीको नहीं दोहराना चाहते थे। उन्होंने अपने चालाक दिमागसे ऐसा मायामय षड्यन्त्र रचा कि जिससे हिंदू-संस्कृतिपर उसीके अंदरसे आक्रमण होने लगे, हिंदू ही उसके प्रति घृणा और विरोधकी भावना रखने लगे। उन्होंने देशभरमें अंग्रेजी-शिक्षा-पद्धतिका जाल फैलाया और उसमें फँसनेवालोंको बड़े-बड़े प्रलोभन मिले, जिन्हें देखकर लोगोंका प्रवाह उस ओर चल पड़ा। शिक्षा क्या थी, सनातन भारतीय संस्कृतिके शरीरमें शिथिल-मञ्जारी विषका इंजेक्शन था। उस मोहमयी मदिराको पीकर युवकोंके दिमाग़ बदल गये—उन्मत्त हो गये। उस वक्तकी स्थितिका दिग्दर्शन मैं स्वामी श्रीविवेकानन्दजीके प्रभावशाली शब्दोंमें ही नीचे करा देना उचित समझता हूँ—

"वर्तमान (उन्नीसवीं) शताब्दीके प्रारम्भमें जब कि पाश्चात्त्य प्रभाव भारतमें आने लग पड़ा था, जब कि पाश्चात्त्य विजेतालोग हाथमें तलवार ले ऋषियोंकी सन्तानोंको यह प्रत्यक्ष दिखलाने आये थे कि वे (ऋषिसन्तान) असभ्य हैं, थोथे स्वप्न देखनेवाले लोगोंकी एक जाति हैं, उनका धर्म कोरी दन्तकथा है; आत्मा, परमात्मा और प्रत्येक वस्तु जिसके लिये वे प्रयास करते रहे हैं, निरे निरर्थक शब्द हैं; साधना और

अनन्त त्यागके हजारों वर्ष व्यर्थ रहे हैं, तब विश्वविद्यालयोंमें पढ़नेवाले नवयुवकोंके बीच यह प्रश्न उठने लगा—'क्या इस समन्ततकका राष्ट्रिय जीवन असफल रहा है; क्या उनको पाश्चात्त्यप्रणालीके आधारपर पुनः श्रीगणेश करना होगा, अपनी प्राचीन पुस्तकोंको फाड़ डालना होगा, दर्शनशास्त्रोंको जला देना होगा, धर्मोपदेशकोंको भगा देना पड़ेगा और मन्दिरोंको तोड़ डालना होगा ?' क्या पाश्चात्त्य विजेता, जिसने अपने धर्मका तलवार और बन्दूकके द्वारा प्रदर्शन किया था, नहीं कहने लगा था—'तमाम पुरानी बातें निरा रूढ़िवाद और मूर्तिपूजा है।' पाश्चात्त्य पद्धतिके अनुसार परिचालित नये स्कूलोंमें शिक्षा-दीक्षा पाये हुए बालकोंमें ये विचार बचपनसे समाने लगे। फिर सन्देहोंके उत्पन्न होनेमें आश्चर्य ही क्या था; परंतु रूढ़िवादको दूर डाल सत्यकी खोज करनेके स्थानमें सत्यकी कसौटी यह हो गयी—'(इस विषयमें) पश्चिम क्या कहता है ?' ब्राह्मण विदा हो, वेद जला दिये जायँ; क्योंकि पश्चिमने ऐसा ही कहा है।''* ओह ! कितना घोर विषाक्त प्रचार और प्राणघाती प्रहार था ! अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्त्य संस्कृतिने ऐसे हिंदुओंको तैयार किया, जिनको संसारमें हिंदुत्व और भारतीय संस्कृतिके अतिरिक्त सब बातें पसंद आयीं। हिंदूधर्म, धर्मग्रन्थ और आचार-विचारको तिलाञ्जलि दे उनको विदेशी शासकोंके नक्काल बननेमें गौरवका अनुभव होने लगा। उनकी मौलिकता समाप्त हुई !

दासको अपनी दासतामें परमानन्दका अनुभव होने लगा। बस, विजेताकी विजय पूरी हुई। पतनकी पराकाष्ठा हो गयी। और तो क्या, अंग्रेजी प्रणालीके अनुसार पढ़नेवाले संस्कृतके विद्वानोंने भी आजतक भारतीय रीति-नीतिके अनुरूप संस्कृत-साहित्य और हिंदू-संस्कृतिके ग्रन्थ नहीं लिखे। जो भी लिखे, उनमें अंग्रेजी, अंग्रेज और अंग्रेजी-संस्कृतिका प्रभाव ओतप्रोत है। पश्चिमसे हमें बहुत-सी बातें सीखनी हैं; पर जिन बातोंको हम उन्हें सिखा सकते हैं, उनमें भी उनकी दासता और शिष्यता अङ्गीकारके गौरवका अनुभव करना अंग्रेजी-शासनकी देन है। वेद, उपनिषद्, स्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थोंके बारेमें पाश्चात्त्य विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीयोंने ऐसे-ऐसे काल्पनिक, परस्पर-विरोधी मतोंको उपस्थित किया कि जिन्हें पढ़कर नवयुवकोंके मस्तिष्क फिर गये और धर्मग्रन्थोंके प्रति श्रद्धाके स्थानमें सन्देह और अनास्थाकी सृष्टि हो गयी। स्कूलोंमें यह बात पढ़ायी जाने लगी कि आर्य भारतमें बाहरसे आये थे; ताकि छात्रोंको भविष्यमें यह अभिमान न हो सके कि पुण्यभूमि आर्यावर्त केवल उन्हींका 'आदि देश' है। नवशिक्षितोंका यह प्रवाद हो गया कि भारतवर्ष किसीका देश नहीं है, उसमें सब जातियाँ बाहरसे आयीं। इसी भाँति 'भारतीयोंके कोई इतिहास नहीं है', 'धर्म लड़ाईकी जड़ है', 'ईश्वर कोई वस्तु नहीं है', 'पाप-पुण्य कोरी कल्पनाप्रसूति है' इत्यादि असद्वाद भारतीयोंको रात-दिन सिखाये-पढ़ाये गये। फल यह हुआ कि ऐसे हिंदुओंको अपने देशीय तथा जातीय वेष, भाषा और भावके प्रति अनास्था और विदेशी वस्तुओंके प्रति श्रद्धा हो गयी।

* विवेकानन्द—My Master, pp. 9-10

अंग्रेजोंने हिंदुओंके देशको ही नहीं छीना, किंतु कूट उपायोंद्वारा हिंदू-जातिको सांस्कृतिक दृष्टिसे नष्ट-भ्रष्ट कर डालनेका भगीरथ प्रयत्न किया। आज वह अंग्रेजी राज्य ही, जिसमें कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, भारतभूमिसे मिट गया है; पर हिंदू-संस्कृति उसके भयङ्कर प्रहारोंको सहकर भी अपनी अमर आधारशिलापर स्थित है। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है ? इतिहासज्ञो ! आप समस्त विश्वकी सम्पूर्ण जातियोंके इतिहासोंको सृष्टिकी आदिसे पढ जाइये और फिर बतलाइये कि भारतकी हिंदू-जातिको छोड़ क्या अन्य कोई दूसरी जाति भी है, जिसने हजार वर्षोंतक विधर्मी-विदेशी शासकोंके नृशंस और मायामय हमलोंको सहन कर अपने और अपनी संस्कृतिके जीवनकी रक्षा की है ? फिर भी यदि कोई हिंदू-संस्कृतिको सदोष और निकम्मी बताकर बदनाम करे तो 'उन्मत्त प्रलाप' नहीं तो क्या है ?

हिंदू-संस्कृति अमर है, वह मिट नहीं सकती। क्यों ? उसका मूल अमर है, उसकी आधारशिला अमर है। हिंदू देहात्मवादी नहीं है, वह अध्यात्मवादी है। उसकी दृष्टिमें देहाध्यास अज्ञानमूलक होता है। जन्म, शिक्षा-दीक्षा, संग, संस्कार, वातावरण आदि नाना कारणोंसे हिंदू हार्दिक विश्वास रखता है—'इस दृश्यमान स्थूल जगत्‌के मूलमें—इसके अणु-अणुमें एक, अद्वितीय, पूर्ण, अपरिच्छिन्न—अनादि और अनन्त—नित्य, अविनाशी आत्मा है और वही मैं हूँ—

'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'

(यजुर्वेद ४० । १६)

वह (हिंदू) मानता ही नहीं कि मैं शरीर हूँ। उसका शाश्वत दृढ़ विश्वास है—'मैं आत्मा हूँ। शस्त्र मुझे काट नहीं सकता; आग मुझे जला नहीं सकती, जल मुझे गला नहीं

कर सकता, वायु मुझे सुखा नहीं सकता, मृत्यु मुझे मार नहीं सकती। मैं अनित्य साङ्घातिक शरीर नहीं हूँ, बल्कि उसका अधिपति नित्य-अद्वैत शरीरी हूँ; क्षणभङ्गुर देह नहीं हूँ, बल्कि उसका अविनाशी अधिष्ठाता देही हूँ। मेरा जन्म नहीं है, मेरा मरण नहीं है, मैं एक देहरूपी चोला छोड़ता हूँ और दूसरा धारण कर लेता हूँ। देहके विकार मुझमें नहीं हैं। मैं उसका द्रष्टामात्र हूँ, उससे सर्वथा भिन्न हूँ; वह क्षेत्र है, मैं क्षेत्रज्ञ हूँ। देहका ही आगम और अपाय होता है। मैं सदा निर्विकार, एकरस हूँ, सनातन हूँ, आत्मा हूँ और केवल वही हूँ। 'सृष्टिमें भेद नहीं है।' 'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है', 'यह आत्मा ब्रह्म है।' 'मैं वही ब्रह्म हूँ।' 'सब मुझमें है' और 'मैं सबमें हूँ'—

'नेह नानास्ति किञ्चन' (कठ० २। १। ११)
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३। १४। १)
'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य० २)
'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यक० १। ४। १०)
'मया ततमिदं सर्वं'……**'मत्स्थानि सर्वभूतानि'** (गीता ९। ४)

हिंदू सदा आशापूर्ण आस्तिक होता है, शून्यवादी नास्तिक नहीं। 'अस्ति, अस्ति'—'है, है' ही उसका श्वास है; न कि 'नास्ति, नास्ति'—'नहीं है, नहीं है'। ये केवल पुस्तकीय वाक्य नहीं है, न कुछ इने-गिने दार्शनिकोंके रहस्यमय बुद्धिवाद, न कोरी कल्पनाके ऊँचे उड़ान, न अव्यवहार्य विचार या विश्वासमात्र। ये है वे वास्तविक जीवन-तत्त्व, जिनका हिंदू महर्षियोंने संख्यातीत वर्षोंकी त्यागपूर्ण साधनाके द्वारा आविष्कार किया था और जिनका अनादिकाल-से हिंदू-जाति अपने व्यावहारिक जीवनमें निरन्तर बड़े चावसे प्रयोग करती रही है। हिंदुओंको 'कोरी कल्पनाएँ करनेवाली और निरे स्वप्न देखनेवाली जाति' कहकर जो उनके विरुद्ध अव्यावहारिकता और अकर्मण्यताका दोषारोप किया गया है, वह अज्ञानमूलक और द्वेषपूर्ण है। वास्तवमें हिंदुओंके समान व्यावहारिक जाति धरातलपर है ही नहीं। उन्होंने जितने भी सूक्ष्म विचार खोज निकाले हैं, उन सबको अपने निजी जीवनमें व्यावहारिक रूप दिया है। दूसरे देशोंके दार्शनिकोंको यह गौरव प्राप्त नहीं है। वे निरे स्वप्नद्रष्टा हैं। उन्होंने ही विचार और व्यवहारमें भेद किया है, हिंदू दार्शनिकोंने नहीं। 'एक आत्मा ही सत्य है, सब जगत् मिथ्या है'—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'—इस विश्वास-को सत्य सिद्ध करनेके लिये असंख्य हिंदुओंने भरे घरोंको छोड़ा है, समृद्ध राज्योंको ठुकराया है। उन्होंने अपने पास सामान्य व्यक्तिके लिये अनिवार्य भोजन, वस्त्र आदि सामग्रीको भी नहीं रक्खा! वृक्षोंके पत्ते खाकर और नदियोंका जल पीकर उसी तत्त्वकी उपलब्धिके लिये आँसुओंके झरने बहाये है और साधनपथमें ही अपनी हड्डियाँ दे डाली हैं। आज भी ऐसे व्यक्तियोंका ताँता टूटा नहीं है। 'आत्मज्ञान' से हिंदूका अभिप्राय आत्मसम्बन्धी कोरी कल्पना, निरे विचार, बौद्धिक ग्रहण या शास्त्रीय ज्ञानसे नहीं है, बल्कि स्वात्मानुभवसे है, आत्मसाक्षात्कारसे है। आत्मदर्शनसे कम किसी वस्तुसे वह सन्तुष्ट होनेवाला नहीं। कई एक महापुरुष इसी जीवनमें उस अनुपम स्थितिको प्राप्तकर 'जीवन्मुक्त' हो जाते हैं। उनके हृदयकी सब गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं, सब संशय क्षीण हो जाते हैं, सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, प्रारब्धभिन्न सब कर्म भस्म हो जाते हैं। धर्म, ईश्वर, जीव, जगत्-सम्बन्धी बातें उनके लिये समस्याएँ न रहकर हस्तामलककी भाँति प्रत्यक्ष हो जाती हैं। आत्मदर्शी महात्माका हिंदू-समाजमें साक्षात् ईश्वरके समान सम्मान होता है। वह जो कुछ कह देता है, वही कल्याणमार्ग है। जिस पथसे वह निकल पड़ता है, उसीकी धूलि पावन और शिरोधार्य हो जाती है। ऐसे महापुरुष अपने उदयद्वारा अधर्म और अज्ञानके अन्धकारको दूरकर ज्ञानालोक-से संसारका पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं। धर्माधर्मके निर्णयमें हिंदूलोग पाश्चात्त्य देशोंकी भाँति 'बहुमत' को कोई महत्त्व नहीं देते; क्योंकि सत्य या धर्मको 'संख्या' का पक्षपात नहीं है। एक आदमी सत्यकी राहपर हो सकता है और तमाम दुनिया अनीतिकी राहपर। उनका निश्चित मत है कि आत्मवेत्ता एक ही धर्म-निर्णयके लिये पर्याप्त है, अनात्मज्ञ हजारोंकी संख्यामें भी नहीं—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाध्यात्मवित्तमः॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १। ९)

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥
(मनुस्मृति १२। ११४)

'वैदिकधर्मके ज्ञाता चार आदमी और तीन विद्याओंके जाननेवाले बहुत-से मिलकर 'धर्मसभा' कहलाते हैं। वह (सभा) जो कहे सो धर्म है। अध्यात्मज्ञाता एक भी जो कहे, वह धर्म है।' 'व्रत और मन्त्रसे रहित केवल जाति-नाम-

धारी हजारों ब्राह्मण मिलकर भी 'धर्मसभा' नहीं हो सकते ।' आत्माकी अद्वितीयता, अमरता, व्यापकता आदि सिद्धान्त हिंदूराष्ट्रके गिने-चुने व्यक्तियोंकी ठेकेदारीके सामान नहीं रहे हैं, बल्कि राजासे रङ्कतक और ब्राह्मणसे चाण्डालतक फैले हुए हैं। 'आत्मा सो परमात्मा', 'वही सबमें रम रहा है', 'उसका देहान्त हो गया', 'उसका चोला छूट गया'—आदि सर्वसाधारणद्वारा प्रयोग किये जानेवाले वाक्य उसके परिचायक हैं। अपनी पञ्जाबयात्रामें एक ग्रामीण बालकके गीतका वह अंश, जिसका अर्थ था—"मेरे चर्खेका पहिया भी 'सोऽहं' 'सोऽहं' गाता है" सुनकर स्वामी श्रीविवेकानन्दजी आनन्दविभोर और आश्चर्यचकित हो गये थे। आत्मा ही परमात्मा है। उसके सगुण रूपको देखनेवाले भक्तों—ईश्वरदर्शनकारी संतोंका—प्रवाह भी बड़ा प्रबल है। उनका व्यवहारदर्शन बड़ा विचित्र और रोचक है। उनकी सम्पूर्ण साधनाएँ ईश्वरदर्शनके लिये, ठीक उसी तरह उसे देखनेके लिये जिस प्रकार हम एक दूसरेको देखते हैं, बल्कि उससे भी और अधिक घनिष्ठ रूपमें अनुभव करनेके लिये, उससे बातचीत करनेके लिये, आदेश पानेके लिये—नहीं, नहीं, सुख-दुःखमें साथी बनने, घरेलू धंधोंमें भी मदद करनेके लिये उस सर्वलोकमहेश्वरका आह्वान करनेके लिये होती हैं। वहाँ कोई 'अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी', 'जित देखौं तित स्याममयी है' आदि दर्शन-लालसाभरे गीत गाता है तो कोई पुत्र, मित्र, माता या पिताके भावमें उससे मिलकर परमाह्लादका अनुभव कर रहा है; एक अपनी बेटीके 'भात'के वक्त उसके देरीसे पहुँचनेपर उससे रूठ रहा है तो दूसरा उसे उसकी गल्तीके कारण पीट रहा है; एकसे वह तिलक करवा रहा है तो दूसरेकी रूखी रोटीको कुत्तेके रूपमें लेकर दौड़ रहा है; एक माता उसे दधि-माखनका प्रलोभन दे आँगनमें नचा रही है तो दूसरीके छोटे बालकको वह जंगलमें साथी बन पाठशाला ले जाता है आदि-आदि। उन भक्तोंकी जीवनगाथाओंको पढ़-सुनकर अँखियाँ नदियाँ बन जाती हैं। वे महापुरुष वेदोंके 'नेति-नेति' रूपसे गाये हुए परम पुरुषको अपने प्रेमपाशसे बाँध दैनिक जीवनके स्थूलरूपमें ले आये। अबतक जो जीवन वैराग्यका विषय था, आनन्दभूमि बन गया।

अब जरा बतलाइये, हिंदू सपने देखनेवाला कल्पना-परायण प्राणी है या प्रयोगकुशल वैज्ञानिक? क्या उसने आत्मा और परमात्मासम्बन्धी अतिसूक्ष्म तत्त्वोंको अत्यन्त व्यावहारिकतामें लानेके लिये कुछ उठा रक्खा? जहाँ अन्य लोगोंको 'अस्ति, नास्ति'—'है या नहीं है' का सन्देह हो रहा है, वहाँ हिंदूने स्वयं तद्रूप होकर या उसका होकर परम तत्त्वके दर्शन कर लिये। फिर भी पाश्चात्त्य जातियाँ और उनकी शिक्षा-दीक्षासे प्रभावित भारतीय लोग हिंदुओंको कल्पनापरायण क्यों कहते हैं? वे लोग अनित्य सांसारिक भोगोंके चिपटे हुए हैं और उन्हें ही परमार्थ मानते हैं। उनकी दृष्टिमें उनसे ऊँची कोई वस्तु है ही नहीं। आत्मा, परमात्मा और धर्म आदि शब्दोंके लिये उनके शब्दकोषमें कोई स्थान नहीं है। उनके अनुसार वे निरर्थक काल्पनिक पद हैं और उनकी खोजमें लगे रहनेवाले लोग कल्पनाके विमानपर उड़ रहे हैं। लोक-परलोक, पाप-पुण्य व्यर्थका जाल है; क्योंकि उनको वे समझते नहीं और उनके माननेसे उनका जीवन निःसार सिद्ध होता है। नित्य आत्म-तत्त्वके ज्ञानी और जिज्ञासु अनित्य वस्तुओंमें आस्था रखने-वाले लोगोंको 'बालक' कहते हैं, जिनको अपने खिलौनोंके सिवा दुनियामें कोई तात्त्विक वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी दशाका वर्णन कठोपनिषद्की श्रुति इस प्रकार करती है—

> अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
> स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
> दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
> अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
> (कठ० १।२।५)

'अविद्याके बीच फँसे हुए, अपने आपको विद्वान् और बुद्धिमान् माननेवाले मूढ़लोग अंधेके पीछे चलनेवाले अंधों-की भाँति बुरी तरह भटकते रहते हैं।' यह प्राच्य और पाश्चात्त्य दृष्टिकोणका मौलिक भेद है, जिसका समन्वय हो नहीं सकता। इसीको लेकर कवि किपलिङ्गके शब्द याद आ जाते हैं—

'The East is East and the West is West;
And never the twain shall meet.'

'पूर्व पूर्व ही है और पश्चिम पश्चिम। दोनोंका कभी मेल हो नहीं सकता।'

पाश्चात्त्य संस्कृतिके अनुसार सर्वोच्च व्यक्ति वह है, जिसके पास दुनियाकी सबसे अधिक चीजें हैं। हिंदू दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत है। उनकी दृष्टिमें सर्वश्रेष्ठ वह है, जिसने नित्यतत्त्वकी उपलब्धिके लिये सब अनित्य वस्तुओंको मनसा त्याग दिया—

> यश्चैतान् प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
> प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥
> (मनुस्मृति २।९५)

'सम्पूर्ण भोगोंकी प्राप्ति और परित्याग दोनोंमें त्याग ही श्रेष्ठ है ।' जहाँ पाश्चात्त्य विचारधाराकी 'इतिश्री' हो जाती है, वहाँ प्राच्य दर्शनका प्रारम्भ होता है । वहाँ भोगीको श्रेष्ठ माना है, यहाँ त्यागीको । पाश्चात्त्यो और उनके अनुयायियोंकी दृष्टिमें हिंदू कल्पनाप्रिय प्राणी है; क्योंकि वह उनके दिमागके परेकी बातोंको सोचता और करता रहता है। हिंदुओंके मतानुसार वे लोग 'बालक' हैं, जो अपनी नासमझीके कारण नित्य आत्माको छोड़ अनित्य भोगोंको परमार्थ मानकर अपनाते हैं और उन्हींमें अपने जीवनको होम देते हैं । दोनो दृष्टिकोणोके लिये कारण स्पष्ट है ।

आत्मोपलब्धि और ईश्वरसाक्षात्कारके लिये जो साधन या कर्तव्यकर्म हैं, वे व्यक्ति और समष्टिकी स्थितिको धारण करनेके कारण 'धर्म' कहलाते हैं । हिंदू महर्षियोंने खाने-पीने, सोने-उठनेसे लेकर वर्णाश्रमव्यवस्थातक सम्पूर्ण धर्माधर्म या कर्तव्याकर्तव्यका विवेचन 'आत्मानुभूति' या 'ईश्वरदर्शन' की दृष्टिसे किया है । पाश्चात्त्योंकी तरह 'अधिकार'का हो-हल्ला वहाँ नहीं है । वहाँ तो केवल 'धर्म' का बोलबाला है। हिंदूका विश्वास है कि जो धर्मपर स्थित है, उसके अधिकारकी रक्षा स्वयं 'धर्म' करता है, धर्माधिपति 'ईश्वर' करता है । उसका लेखा दुनियामें है और दुनियासे परे भी है । साध्य और साधनका अभेद मानकर वह धर्मके प्रति अटूट श्रद्धा और निष्ठा रखता है । पाश्चात्त्योंकी भाँति वह उसे 'नीतिके नियम' नहीं मानता, जिन्हें वे मोमके नाककी तरह सुविधाके अनुसार इधर-उधर कर बैठते हैं। उसका तो विश्वास है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

(मनुस्मृति ८ । १५)

'धर्मकी हत्या करनेपर वह उस हत्या करनेवालेका विनाश कर डालता है, धर्मकी रक्षा होनेपर वह रक्षककी भी रक्षा करता है; इसलिये हमें धर्मका नाश नहीं करना चाहिये । नष्ट हुआ धर्म हमारा नाश न करे ।' सनातन प्रभुका धर्म भी सनातन है । उसका नाश कभी हो नहीं सकता । जब-जब उसके ह्रास या ग्लानिका और अधर्मकी वृद्धि या अभ्युत्थानका अवसर आता है, तब-तब स्वयं मायाधिपति ईश्वर उसकी रक्षा और संस्थापनाके लिये अवतार लेता है । उसकी रक्षाका भार किसी लौकिक जीवपर नहीं है, स्वयं अविनाशी ईश्वरपर है, जो उसका प्रभु है—'धर्मस्य प्रभुरच्युतः ।'

धर्म और ईश्वरकी श्रद्धामय और निष्ठायुक्त भावनाको ही 'आध्यात्मिकता' कहते हैं । वही हिंदूका जीवन है, वही हिंदू-संस्कृतिकी आधारशिला है । उससे सब कुछ है, उसके बिना कुछ नहीं । 'हिंदू कहता है कि जीवनकी समस्याका एक ही हल है, वह है धर्म और ईश्वर । यदि ये (धर्म और ईश्वर) सत्य हैं तो जीवन सार्थक है, सह्य है, सुखद है; अन्यथा वह केवल निरर्थक भार है। यह है हमारा (हिंदुओंका) विचार' (स्वामी विवेकानन्द) । समाजके प्रत्येक वर्गका आदमी—चाहे वह विद्वान् हो या मूर्ख, योद्धा हो या व्यापारी, कृषक हो या कारीगर, कवि हो या दार्शनिक—इस अमर भावनाको किसी-न-किसी रूप या अंशमें अपने साथ लिये रहता है । इस विचारधाराको प्रारम्भमें वैदिक साहित्यने जन्म दिया; बादमें आर्ष धर्मग्रन्थोंने उसे पल्लवित किया । फिर युगपरिवर्तनके साथ पौराणिक साहित्य और महाभारत आदि ग्रन्थोंने तदनुरूप कथा-रचना और दार्शनिक वादके मिश्रित आधारपर उसे सुरक्षित रक्खा । मध्ययुगमें भगवद्भक्तोंकी अनन्त परम्पराने उसे रूपान्तर दे सर्वसाधारणतक पहुँचाया । हमारे जमानेके राजनीतिक आन्दोलनके पीछे भी पिछले दिनो उसी आध्यात्मिकताकी दबी आवाज़ थी । हिंदू-संस्कृति अमर आधारशिला—आध्यात्मिकता—पर स्थित रही है, इसीलिये सब सङ्कटोंके रहते भी सदा रही है और यदि भविष्यमें आधारशिला वही रहेगी तो सदाके लिये वह अमर रहेगी । पूर्वजोंकी अमूल्य निधि आध्यात्मिकताका उपार्जन और संरक्षण प्रत्येक हिंदूका पवित्र कर्तव्य है । उसीसे आत्मकल्याण और विश्वशान्ति होगी और उसीसे भारतभूमिका गौरव फिर पूर्ववत् होगा । ॐ शान्तिः ।

हिंदूके गुण

हिंदूलोग धार्मिक, प्रसन्न, न्यायप्रिय, सत्यभक्त, कृतज्ञ और प्रभु-भक्तिसे युक्त होते हैं ।

—कवि सैमुएल जॉन्सन

आर्य हिंदू-धर्म

(लेखक—बाबू श्रीजुगलकिशोरजी बिड़ला)

भारतीय आर्य हिंदू-संस्कृतिका रक्षक 'धर्म' ही हो सकता है। सनातनधर्म ही उसका प्राण है। धर्मके बिना संस्कृतिका कोई अर्थ नहीं, कोई गौरव तथा मूल्य भी नहीं। वर्तमान समयमें अज्ञानवश बहुत-से भाई धर्मका नाम लेनेमें भी कुछ संकोच या लज्जाका अनुभव करते हैं (वास्तवमें यह बड़ी लज्जाकी बात है)। इसीलिये वे धर्मको भी संस्कृति, सभ्यता या कल्चरके नामसे ही सम्बोधन करते हैं। वे भाई सनातन आर्यधर्म या उससे प्रकट हुई शाखाओंके माननेवाले बौद्ध, सिख, सनातनी आदि अपने धर्मबन्धुओंसे भी परस्परके वार्तालापमें संस्कृतिको ही आगे कर कहते हैं कि 'आपकी-हमारी संस्कृति मिली हुई है।' किंतु केवल संस्कृति-शब्द भाषा, वेष और सामाजिक आचार-व्यवहारका सूचक है, जो भारतके हिंदुओंमें ही भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ते हैं तथा समय-समयपर बदलते रहते हैं। प्रान्तीय भाषाओंका मूल संस्कृत है, परंतु तब भी बोल-चालकी भाषामें कई स्थानोंमें विशेष अन्तर पड़ गया है। पोशाक भी धोती या साड़ीके उपरान्त उत्तर, दक्षिण या पूर्वी भारतकी, देश-कालकी परिस्थितिके कारण समान नहीं रह गयी है; फिर भी धार्मिकताकी एक भावनाके कारण हम काश्मीरी, नैपाली तथा सिन्धी, बंगाली या मदरासी हिंदूको अपना भाई समझते हैं। यदि भाषा तथा पोशाक आदिसे ही एक संस्कृति या सभ्यता समझी जाती, तो हमारे पड़ोसी बलोचिस्तान, सीमाप्रान्त, काबुल आदिसे भी वही नाता होता। उनके साथ भी एक हजार वर्ष पहले वैसी ही बात थी, क्योंकि वे भी हिंदू थे; किंतु आज तो वे अपनी संस्कृति हमसे भिन्न समझते हैं। दूसरी ओर चीन, जापान, बर्मा, स्याम आदिके बौद्ध भाई दूर रहनेपर भी अपनी संस्कृति भारतसे मिली-जुली समझते हैं।

इसके मूलमें धर्म ही कारण है। यों तो वेष, भाषा तथा गृहनिर्माण, शिल्प आदिका भी बहुत महत्त्व है; क्योंकि पोशाकमें अमुक मनुष्य हिंदू या मुसलमान वा अमुक देशका जान लिया जाता है। उनमें भी पोशाकसे पण्डित, पादरी, मौलवी, साधु या सैनिक आदिको पहचाना जा सकता है। इसी भाँति विशेष प्रकारकी बनावट होनेसे मन्दिर, मस्जिद, चर्चको भी दूरसे ही जान लिया जाता है। स्वस्तिक आदिके चिह्नमें तथा मन्दिर आदि धार्मिक स्थानोंके शिल्पमें भारतसे बर्मा, स्याम, चीन, जापानतक बहुत कुछ समानता दीख पड़ती है। इन सभी देशोंमें आर्यधर्मी साधु-संन्यासियोंकी पीले रंगकी पोशाक भी प्रायः एक समान पायी जाती है; किंतु शिक्षित कहे जानेवाले लोगोंमें अब वर्तमान समयमें यूरोपियन पोशाकका प्रचार भी सभी देशोंमें बढ़ रहा है। यूरोपियन पोशाक महँगी पड़ती है और विशेष खर्चीली होनेसे सादे जीवनके अनुकूल भी नहीं है। तब भी उनमें कुछ दो-तीन वस्तुएँ धूप तथा सर्दीसे रक्षा देनेवाली दिखायी दें तो उनको धारण किया जा सकता है; परंतु व्यर्थकी वस्तुको नकल करके धारण करना तो हानिकर ही है। अस्तु, केवल समान भाषा या लिपि या पोशाक धर्मके आधारके बिना एक संस्कृति नहीं बना सकती।

ईरानी (आर्यन्) जिनकी पारसी भाषा संस्कृत शब्दोंसे भरपूर है, अपनेको आर्य भी मानते हैं। यूरोप, अमेरिकाके लोग भी अपनेको आर्यन् मानते हैं। उनकी मूल लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओंका निकास संस्कृत भाषासे ही माना गया है। यूरोपकी तो लिपि भी अन्य आर्य लिपियोंकी भाँति मूलमें स्वस्तिकसे ही निकली मानी जाती है; परंतु धार्मिक भिन्नताके कारण यूरोप तथा ईरान, काबुल आदि देशवाले सभी अपनेको अलग मानते हैं। अतएव संस्कृतिकी एकताके लिये मूलमें धर्म ही प्रधान है।

धर्मकी रक्षासे ही संस्कृति भी टिक सकती है, देशका श्रेय हो सकता है तथा व्यक्तियोंकी आत्मिक उन्नति हो सकती है। खेद है कि इस समय धार्मिक शिक्षणके अभावमें यहाँ शिक्षित कहे जानेवाले अधिकांश लोगोंने धर्मके अर्थको ही कुछ विचित्र मान लिया है। वे देशोद्धार या सुधारके नामपर उलटे मार्गमें जा रहे हैं। कुछ वर्ष पहलेतक सनातनधर्म वा आर्यसमाज तथा अन्य जातीय संस्थाएँ धार्मिक उन्नतिके लिये कुछ सामाजिक रूढ़ियोंमें सुधार आदिकी चर्चा करती रहती थीं; परंतु आज समान अधिकारके नामपर राग-द्वेष बढ़ानेवाली, धर्मविरोधी उद्दण्डताके कार्य करनेवाली अनेकों संस्थाएँ दिखायी पड़ती हैं। आश्चर्य और खेद तो यह है कि महात्मा गांधीके सत्य, अहिंसा, त्याग और ईश्वरभक्तिके उपदेशोंको भी राष्ट्रोन्नतिके नामपर बहुत-से लोगोंने ताकपर रख दिया है, जिससे उनके आचरण 'नास्तिकता' और 'अनैतिकता'की ओर जनताको घसीट रहे हैं!

सीता, सावित्री, पद्मिनी-जैसी सतियोंके स्थानपर आज

कई कुलटा और पतित स्त्रियाँ समाजसुधारके नामपर सार्वजनिक सभाओंका नेतृत्व करती दिखायी पड़ती हैं। इसी प्रकार प्राचीन महापुरुष, महात्मा तथा वीर पुरुषोंके स्थानपर चरित्रहीन और नास्तिक लोगोंका समाजमें प्रभाव बढ़ रहा है। विद्यापीठोंमें युवक और युवतियोंको एक साथ शिक्षा दी जाने लगी है, जिसका कुपरिणाम दृष्टिगोचर होने लगा है। उचित तथा धार्मिक और नैतिक शिक्षाके अभावमें विद्यार्थी शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकारसे अनेक रोगोंमें फँस जाते हैं। सामाजिक एकताके स्थानपर अनेकता बढ़ रही है। समानाधिकारके नामपर अशान्ति और विरोधकी आग यहाँतक फैल रही है कि अनेक वर्गवादोंके उपरान्त स्त्री और पुरुष-वर्गके नामपर भी विरोध चल पड़ा है। यदि स्थितिको नहीं सम्हाला गया तो भारतीय समाज तथा संस्कृतिके सर्वथा नष्ट होनेका डर है। इससे बचनेके लिये धार्मिक शिक्षा अर्थात् गीता आदि सद्ग्रन्थोंकी पढ़ाईकी अति आवश्यकता है। इसके लिये विद्यालयोंमें हिंदू बालकोंके लिये अनिवार्य नियम बनाया जाना आवश्यक है। श्रीगीताके उपदेश प्राणिमात्रके लिये कल्याणकारी हैं, वे देश-कालकी सीमासे बाधित नहीं हैं तथा वे साम्प्रदायिकतासे दूर हैं—इस प्रकारकी मान्यता हमारी वर्तमान गवर्नमेंटके प्रधान मन्त्री श्रीनेहरूजी और गवर्नर-जनरल श्रीराजाजीकी भी है। कई बार अपने भाषणोंमें वे यह बात कह चुके हैं। तब क्या कारण है कि विद्यालयोंमें ये ग्रन्थ न पढ़ाये जायँ। इसी गीताको पढ़कर लोकमान्य तिलक कर्मयोगी बने तथा इसी गीतासे श्रीअरविन्द राजयोगी बन गये। श्रीगांधीजी भी गीताके प्रतापसे ही महात्मा बन गये। श्रीनेहरूजीने भी अपने भाषणमें कहा था कि 'उनके जीवनपर गीताका बहुत प्रभाव पड़ा है।' वर्तमान समयमें हमारे बड़े-बड़े सभी नेता प्रायः गीतासे प्रभावित हैं; किंतु इतना होनेपर भी यह दुर्भाग्यकी बात है कि अभीतक इस सम्बन्धमें कार्यारम्भ नहीं किया गया है। मैं एक बार फिरसे प्रार्थना करूँगा कि मनुष्यता तथा भारतीय संस्कृति या भारतीयताकी रक्षाके लिये श्रीगीताके प्रचारकी बहुत ही आवश्यकता है।

हिंदू-संस्कृति क्या है ?

(लेखक—कुँवर श्रीचाँदकरणजी शारदा)

ढाई वर्षके इस संघर्ष और उलट-पुलटके समयमें अब प्रत्येक भाई यह कहता है कि हम अपने देशकी संस्कृतिकी रक्षा करेंगे; परंतु उनमेंसे बहुत-से भाई यह नहीं समझते कि संस्कृति कहते किसे है। जब उनसे पूछा जाता है कि संस्कृतिकी रक्षाके अर्थ क्या यह हैं कि हम उस संस्कृतिकी रक्षा करें, जो छोटे-छोटे बच्चोंको मारना और स्त्रियोंको भगाकर ले जाना अपना धर्म समझते हैं? या वह संस्कृति उत्तम है कि जिस संस्कृतिके अनुसार काले-गोरोंका भेद रखकर अफ्रीकाके निवासियों तथा हिंदुस्थानियोंको मारा जाता है? अथवा संस्कृतिकी रक्षासे क्या उस पश्चिमी संस्कृतिकी रक्षा करना मानते हैं, जिसने जापानके लाखोंकी आबादीके हिरोशिमा नगरपर एटम बम गिराकर लाखों बूढ़ों, बच्चों एवं स्त्रियोंका नाश कर दिया? अथवा संस्कृतिके नामपर क्या इन अमेरिकावालोंको अच्छा मानते हैं, जो नियोलोगोंको खाल खींचकर मार डालते हैं? उत्तर मिलेगा—हम ऐसी संस्कृतिको कदापि नहीं चाहते। तो फिर कैसी संस्कृति चाहते हैं? उत्तर मिलता है—हम ऐसी संस्कृति चाहते हैं, जिसमें सब ईश्वरविश्वासी हों, भाई-भाईके समान एक दूसरेको समझनेवाले हों, पीले-गोरे-कालेका भेद-भाव जहाँ न हो, अपितु प्रेम, समझ, सरलता और सुख-शान्तिका राम-राज्य हो। 'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्' के भाव सबके हृदयोंमें तरङ्गित हों। ऐसी संस्कृति हिंदू-संस्कृति ही है। राम और भरतकी सभ्यता और संस्कृति ही विश्वमें शान्ति फैला सकती है। पिताकी आज्ञासे राम राज्यको छोड़कर वन जाते हैं, किंतु भरत उसे लात मारते हैं। राज्यको 'फुटबाल' की भाँति एक भाई इधरसे किक मारता है, दूसरा भाई उधरसे। अन्तमें भरतने चौदह वर्षोंतक महलों और राजप्रासादोंमें शानसे न रहकर जमीनमें गुफा बनाकर रामके प्रतिनिधिरूपमें राज्य-संचालन किया। एक उस संस्कृतिको देखिये कि जिसमें औरंगजेबने राजपदके लिये दगा करके भाइयोंको मरवा डाला, बापको कैदमें डाला! हम ऐसी संस्कृतिको नहीं चाहते, जिसके मूलमें यह शिक्षा दी गयी है कि अन्य धर्मावलम्बीका वध करना ही धर्म है; उनके धर्मस्थानोंको तोड़ना, पुस्तकोंको जलाना और उनके स्त्री-पुरुषोंको दास-दासी बनाकर अनाचार करनेके आदेश हैं।

हमारी हिंदू-संस्कृति हमें वीर बनने एवं धर्मके मार्गपर

दृढ़ रहनेकी शिक्षा देती है। धर्म और संस्कृतिकी रक्षाके निमित्त चित्तौड़के किलेमें विधर्मियोंसे बचनेके लिये चौदह हजार वीराङ्गनाओंने जौहरकी ज्वालामें भस्मीभूत होकर आर्य-संस्कृतिको अमर बनाया। वीर आर्यबालक हकीकतने तलवार-को हँसते-हँसते चूमकर, गुरु गोविन्दसिंहने अपने पुत्रोंकी बलि देकर, महाराणा प्रतापसिंह, दुर्गादास राठौर, छत्रपति शिवाजीने वर्षों जंगलोंमें भटककर अपनी प्यारी हिंदू-संस्कृतिके गीत गाये, किंतु त्याज्य एवं परिहार्य संस्कृतियोंके आगे नतमस्तक नहीं हुए। हमारी संस्कृति अर्जुनके समान धर्मवीर उत्पन्न करनेका उपदेश देती है, जिसने उर्वशीके रूप-लावण्यपर अपनेको मोहित नहीं होने दिया अपितु उसे अपनी माता कहकर पुकारा और ब्रह्मचर्यकी रक्षा की। हमें वह गुंडागिरी नहीं चाहिये, जो अपने ही पड़ोसकी, मोहल्ले और ग्रामकी बहिन-बेटियोंको कुदृष्टिसे देखना सिखाती है। हमें तो वह शूरता और सौम्यता चाहिये, जिसमें पलकर हमारे नवयुवक न तो स्वयं गुंडे बनें न किसी दूसरेको ही गुंडावृत्ति करने दें।

हिंदुस्थान और पाकिस्तानका बँटवारा संस्कृति और धर्मके नामपर हो गया। पाकिस्तानमें उपर्युक्त मुस्लिम संस्कृतिके आधारपर देशका निर्माण होगा। उस संस्कृतिसे निर्मित देशमें हमारे धर्म, मान-प्रतिष्ठा और बहिन-बेटियोंकी क्या दशा हो सकती है—इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। भारत-विभाजन होनेपर नोआखालीमें पहले मुसलमानोंने ही स्त्री-अपहरणका नारकीय काण्ड आरम्भ किया, स्त्री और बच्चे कत्ल किये। एक उदाहरण हमारे सामने महाराणा प्रताप और राठौर दुर्गादासका है कि मुगल बादशाहों-की बेगमोंके पकड़े जानेपर उन्हें आदरपूर्वक उनके पतियों एवं अभिभावकोंके पास भेज दिया था। यह हमारी हिंदू-संस्कृति ही है कि पाकिस्तान बन जानेके बाद भी भारतवर्षमें मुसल्मान उतने ही सुरक्षित रह सकते हैं, जितने हिंदू तथा अन्यान्य-मतावलम्बी। आज भी वैदिक सभ्यताके माननेवाले भारतीय आर्य (हिंदू) सबके साथ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उक्तिको सत्य अर्थोंमें चरितार्थ करके उत्तम व्यवहार कर रहे हैं। यही अन्तर है हमारी और उनकी संस्कृतिमें। देखिये, हमारी हिंदू-संस्कृति मनुष्यको क्या उपदेश देती है—

(१) हिंदू-संस्कृति मनुष्यको आत्मसंयम तथा आवश्यकताओंकी कमीका पाठ पढ़ाती है।

(२) हिंदू-संस्कृति मनुष्यका अन्तिम ध्येय ईश्वरीय ज्ञानकी प्राप्ति बतलाती है।

(३) हिंदू-संस्कृतिका मुख्य तत्त्व परार्थ-भाव है। यह परोपकार, दान, अतिथि-सेवा तथा दूसरोंके हितके लिये अपने स्वार्थोंका त्याग सिखलाती है। वह सबके स्वार्थको ही अपना स्वार्थ माननेका पाठ पढ़ाती है।

(४) हिंदू-संस्कृति निष्कामभावसे शुभ-कार्य करना सिखाती है।

(५) हिंदू-सभ्यता स्वार्थरहित, जान-बूझकर गरीब जीवन व्यतीत करनेवाले सौम्य तपस्वी ब्राह्मणोंका आदर करना सिखलाती है।

(६) हिंदू-संस्कृति प्राकृतिक उन्नतिकी—लौकिक अभ्युदयकी, जिसको जीवनका एकमात्र ध्येय मानकर उसीके पीछे दौड़नेवाला यूरोपीय समाज विनाशकी ओर जा रहा है, सर्वथा उपेक्षा करना नहीं सिखाती; परंतु वह उसको धर्मसे संयमित और सञ्चालित करना सिखाती है और साथ ही आध्यात्मिक उन्नतिपर भी पूरा बल देती है। ऐसा करनेसे ही मनुष्य-समाज विनाश तथा पतनसे बच सकता है।

(७) हिंदू-संस्कृति सत्य, अहिंसा, अस्तेय, तप, ब्रह्मचर्य इत्यादि नैतिक गुणोंकी शक्तियोंमें बड़ा विश्वास रखती है।

भारतवर्षमें अनार्य, शक, हूण आदि अनेकों जातियाँ आयीं, किंतु हिंदू-संस्कृतिमें घुल-मिल गयीं और उनकी पृथक् कोई सत्ता इस देशमें नहीं रही। मुस्लिम-संस्कृतिके बाद यूरोपियन संस्कृति, जिसे पाश्चात्त्य सभ्यता एवं संस्कृतिके नामसे पुकारते हैं, भारतमें आयी। भगवत्कृपा और देश-भक्तोंके प्रबल प्रयत्नसे वे पाश्चात्त्य शासक तो इस देशसे चले गये, किंतु उनकी संस्कृतिके कुछ अवशेष अभी दृष्टिगोचर होते हैं। परंतु निश्चय है कि हिंदू-संस्कृतिके सामने वे टिक नहीं सकेंगे और अंग्रेजी शासकोंकी भाँति अंग्रेजी संस्कृति, जो कि पतनकी ओर ले जानेवाली है, स्वयं पतित हो जायगी।

वैसे भारतमें अधिक टक्कर मुस्लिम-संस्कृतिवालोंसे ही रही है। पर उसके मुकाबिलेमें भी हिंदू-संस्कृति ही विजयिनी हुई। मुस्लिम सभ्यताका बोलबाला ११ सौ वर्षोंतक रहा और इस कालमें उनकी सभ्यता-संस्कृति, शिक्षा भारतके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक व्याप्त रही, और उनकी संस्कृतिका प्रभाव अमीर-गरीब सभीपर पड़ा। मुसल्मान हिंदूकुशके पश्चिमसे लेकर एशिया और अफ्रीका तथा दक्षिणी यूरोप, स्पेन और फ्रांसको भी धूलि-धूसरित कर चुके थे। कुस्तुन्तुनियाँका प्रताप लूटकर वे मदोन्मत्त हाथीकी तरह इठला रहे थे। उस समय भारतीय संस्कृतिमें पले हुए राजाओंकी सैनिक शक्तिके आगे

वे इधर घुसनेका साहस नहीं करते थे। किंतु पारस्परिक कलहने हिंदू-संस्कृतिका ह्रास आरम्भ कर दिया। मुहम्मदगोरीका प्रभुत्व सफल न होता, यदि हिंदुओंकी यौद्धिक शक्तिका सर्वथा क्षय न हो गया होता। यवन-साम्राज्यकी नींव अकबरके कालमें इसलिये प्रौढ़ हुई कि उसने हिंदू-संस्कृति और हिंदू-नरेश दोनोंका ही पूरा-पूरा सहयोग लिया। उसने हिंदू सरदारों और हिंदू-नीतिपर राज्य-विस्तार किया। जबतक वह जीवित रही, हिंदुओंके सहयोगसे उसकी नैया चलती रही; किंतु उसकी मृत्युके दो सौ वर्ष बाद ही प्रतापी मुग़ल-साम्राज्य हवा हो गया! मुग़ल-साम्राज्य ताशके महलकी भाँति ढह गया और उसके उत्तराधिकारी मराठोंकी कैदमें पड़े। दक्षिणमें तालिकोटके मैदानमें हिंदू-शक्तिके पुनः कुछ क्षीण होनेपर सौ वर्षके बाद फिर हिंदू-संस्कृतिके रूपमें पेशवाजी पैदा हुए और उन्होंने बड़े बाँकेपनसे पानीपतके मैदानमें ढाई लाख मराठे एकत्रित कर दिये। अकबर-से प्रतापीके सामने वीर प्रतापने पचीस वर्ष तलवार चलायी और औरंगजेबने राठौर वीर दुर्गादास एवं शिवाजीके भयसे अपने पचास वर्ष चिंता और तलवारकी धारपर काटे। यह इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि भारतमें कभी भी हिंदू-संस्कृतिका मस्तक नीचा नहीं हुआ। पृथ्वीभरके इतिहासमें ग्यारह सौ वर्षोंतक अराजकतामें रहकर, अरक्षित जीकर, इतने आक्रमण, कत्ल और लूट सहकर तथा नौ सौ वर्ष विदेशी धर्म एवं संस्कृतिके मुस्लिम और अंग्रेज शासकोंके शासनमें रहकर भी किसी जातिका जीवन, उसकी सभ्यता एवं संस्कृति अक्षुण्ण बनी रही है तो वह हिंदू-संस्कृतिके मुकाबिलेमें और कौन-सी संस्कृति है?
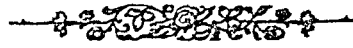
विश्व-कल्याणका मार्ग—भारतीय नैतिक संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

आज हम देखते हैं कि समाजकी दशा उत्तरोत्तर विकृत होती जा रही है। जनता अनन्त दुःखों, क्लेशों और विघ्नोंका शिकार हो रही है। परस्परविरोधी स्वार्थोंसे प्रत्येक जाति तंग आ रही है। मन, वचन और क्रियामें समन्वय दिखायी नहीं देता। सन्मनोवृत्ति, सद्वचन और सत्कर्म दुर्लभ हो गये हैं। व्यष्टि-समष्टिका स्वस्थ ऐक्य भ्रष्टाचारोंसे क्षत-विक्षत हो रहा है। सर्वत्र हिंसा और उच्छृङ्खलताका बोलबाला है। युद्धविभीषिका प्रतिक्षण सामने दिखायी देती है। प्रीति, करुणा, सहानुभूति और न्याय-तत्परता अन्तिम साँस ले रही हैं। पोषक और रक्षक तत्त्व कलहके प्राङ्गण बने हुए हैं। घातक तत्त्व मुँह बाये संसारको ग्रास करनेको खड़े हुए हैं। सत्यकी कोई परवा नहीं करता। धर्म मुर्दा-सा होकर पड़ा है। मनुष्योंके क्रिया-कलाप अत्यधिक भयावह होते जा रहे हैं। विशेषतः ज्ञान, अधिकार, धन और श्रम कलहके क्षेत्र बने हुए हैं। ऐसी दशामें आर्योचित नैतिक आचरणसे ही संसारको सुखी और शान्त बनाया जा सकता है। इसीसे समाजके क्रियाकलाप सर्वतोभद्र किये जा सकते हैं। आजके दुःखी और मरणोन्मुख संसारकी यही एक सदोषधि है। इसलिये कि भारतीय नैतिक आचरणोंके कुछ ऐसे नियन्त्रण और संरक्षण हैं कि जिनसे वे कभी भी दूषित नहीं हो सकते, अनैतिक नहीं बन सकते। उनमें मुख्यतम ये हैं—

(क) निवृत्ति-योग

(ख) अनासक्ति-योग

(ग) निष्काम-योग

तात्पर्य यह है कि हिंदू-संस्कृति निवृत्तिप्रधान है। इसकी प्रवृत्ति भी निवृत्तिमय है। यह प्रवृत्तिमें निवृत्तिकी साधना है। इसकी मुक्ति इसके निवृत्ति-पथकी ही अभिव्यञ्जक है। यही कारण है कि इसके नागरिकोंके स्वार्थ आपसमें नहीं टकराते। वे वित्तैषणा, सन्तानैषणा और लोकैषणामें प्रवृत्तिके घातक दोषोंसे सदैव असंस्पृष्ट रहते हैं। यही निवृत्ति-योगका अभिप्राय है।

अनासक्ति-योग निवृत्ति-योगका भी प्राण है। यह सम्पूर्ण आसक्तिमूलक पापोंके नाशकी निर्दोष साधना है। निवृत्ति-योगकी कोर-कसरसे बचे-बचाये दोषोंका इससे पूर्णतः उन्मूलन हो जाता है। जैसे तृणहीन स्थानमें पड़ी अग्नि स्वयमेव बेकार हो जाती है, वैसे ही इसमें प्रवृत्तिके पापोंको मुँह दिखाने और पनपनेका अवसर ही नहीं मिलता। इसमें कर्ता, कार्य, कारण और साधक, साध्य, साधनतक प्रवृत्तिके दोषोंसे स्वभावतः विमुक्त रहते हैं।

निष्काम-योग तो साधकके अन्तःकरणको ही सर्वथा निर्दोष बना देता है, फलासक्तिजन्य सभी पापोंको नाम-शेष कर देता है। प्रत्युत उनके आघातों और प्रत्याघातोंका

बाण-प्रहार भी प्रभावहीन हो जाता है । निष्कामयोगी संसारमें रहता हुआ और सब कुछ करता हुआ भी निर्लिप्त रहता है । उसे प्रवृत्तिका कोई भी दोष दूषित नहीं कर सकता ।

इस तरह इस योगत्रयके प्रतापसे नैतिक आचरणोंको स्वप्नमें भी अनैतिकताकी स्पर्शजन्य बुराइयोंके ग्रास होनेका भय नहीं रहता । वे बुराइयोंके काल, स्थान और कारणजनित प्रसंगोंसे भी मुक्त रहते हैं । ऐसी दशामें राजस-तामस तत्त्वोंकी लीला-भूमि ही समाप्त हो जाती है, साधकका अन्तःकरण सात्त्विक तत्त्वोंकी विहारस्थली बन जाता है और नैतिक आचरणोंको अच्छी तरह पनपने और फूलने-फलनेका अवसर मिलता है । फिर सार्वभौम और सार्वजनीन अशान्ति तो उन्मूलित होकर ही रहती है । ऐसी दशाके सुफल होते हैं—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्० १० । १९१ । २, ४)

किंतु इसपर भी निवृत्ति-प्राण तत्त्वोंका वातावरण व्यष्टिसमष्टि-गत नैतिक आचरणको और भी हृष्ट-पुष्ट और दृढ़ बना देता है । वे तत्त्व हैं—

अ. तप (Self-denial)

आ. न्यास (Self-renunciation)

इनसे नैतिक कार्योंमें विलक्षण स्वर्गीय भावना, चिन्ता और इच्छा उत्पन्न हो जाती है । नैतिक सम्बन्धोंमें अनुभूति, जिज्ञासा और कर्मठताका वातावरण बन जाता है । ऐसी दशामें नैतिक आचरणोंमें विश्वब्रह्माण्डोंके वायुमण्डलको नीतिमय बनानेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है । इस स्तरतक पहुँचकर नैतिक आचरण अति दिव्य हो जाते हैं और उनके संग-प्रसंगमें पनपनेवाले व्यक्तित्व भी ऋषिकल्प बन जाते है ।

किंतु इतने ऊँचे स्तरपर पहुँचकर भी भारतीय हिंदू-नैतिकताने विश्राम नहीं लिया; अपितु कुछ ऐसी साधनाओंसे भी इसे अधिकाधिक दृढ़ और विकसित होनेका अवसर मिला, जो इसके लिये ईश्वरीय आशीर्वाद ही सिद्ध हुई । वे हैं—

(क) वर्ण-व्यवस्था ।

(ख) आश्रम-व्यवस्था ।

वर्ण-व्यवस्थाने नैतिक आचरणोंको सर्वथा संयत कर दिया । उसके गुण-कर्मने इसे स्वाभाविक बना दिया । उसके वर्णगत स्वभावने इन्हे दैवी रूप दे दिया । वर्णसम्मत व्यष्टि-समष्टिके समन्वयने विरोधी तत्त्वोंको सदाके लिये अर्द्धचन्द्र दे दिया । विशेषतः श्रम-विभागने इन्हें सर्वाधिक सत्य, शिव और सुन्दर बना दिया, जिसका समर्थन प्रकारान्तरसे हर्बर्ट स्पेन्सरने भी इस प्रकार किया है—

'यह एक सचाई है कि वैयक्तिक और सामाजिक शरीरोंमें जब उनके व्यापारोंका विशेषीकरण हो जाता है अर्थात् उन्हें करनेवाले पृथक्-पृथक् होते हैं तो उनकी कार्य-शक्ति बढ़ जाती है । भिन्न-भिन्न कार्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और व्यक्ति-समुदायोंको सौंप दिये जानेसे प्रत्येक व्यक्ति और व्यक्ति-समुदाय अपने-अपने कार्य नियमित हो जानेसे पहलेकी अपेक्षा उन्हें उत्तमतासे करते हैं । इससे पारस्परिक सहायताकी क्षमता बढ़ जाती है । इस तरह सम्पूर्ण वैयक्तिक और राष्ट्रिय क्रियाकलाप श्रम-विभागोचित नैतिकताके वातावरणमें अत्यधिक फूलते-फलते हैं ।'

आश्रम-व्यवस्थाने तो सम्पूर्ण जीवनके विधि-विधानको ही निवृत्तिप्रधान बनाकर नैतिक आचरणोंको सर्वथा निर्दोष, स्वाभाविक, विकासोन्मुख और समधिक सुन्दर बना दिया था । परंतु फिर भी हिंदू-संस्कृतिके नैतिक क्रिया-कलापको जिस वस्तुसे लोकोत्तर लाभ पहुँचा वह है—

भारतीय राजयोग[1]

राजयोगके आत्म-सम्पृक्त और पर-सम्पृक्त यम-नियमने सम्पूर्ण व्यष्टि-समष्टिको ही नैतिकताका रूप दे दिया । प्राणायामने शारीरिक और मानसिक अनैतिक तत्त्वोंको नीति-तत्त्वोंमें परिणत कर दिया; धारणा, ध्यान और समाधिने वर्णाश्रमियोंके मनको तत्त्व-साधना, आत्म-साधना और परमात्म-आराधनाप्रधान बनाकर देशके समस्त वातावरणको ही अनीति-मुक्त और नीति-भुक्त बना दिया, चरित्र-चारित्र्यमय सिद्ध कर दिया । यह वह समय था, जिसके लिये भगवान् मनुने कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः[2] ॥

इसीका परिणाम छान्दोग्यके अश्वपतिके मुखसे सुनिये—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः[3] ॥

१. भारतीय राजयोग हिंदू-राजयोगका ही पर्याय है ।

२. पृथिवीके सब मनुष्य भारतीय ब्राह्मणोंसे ही अपना-अपना चरित्र सीखें ।

३. मेरे समस्त जनपद—राष्ट्रमें एक भी चोर, कंजूस, शराबी, अग्निहोत्र न करनेवाला, अशिक्षित और व्यभिचारी नहीं है; फिर व्यभिचारिणी तो हो ही कैसे सकती हैं ।

वाल्मीकि मुनिकी निम्नलिखित उक्ति भी इसी नैतिक महत्त्वकी परिचायक है—

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।
शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः॥[1]

किंतु यहाँ यह प्रश्न होता है कि आखिर भारतीय नीति और भारतीय नैतिक-परम्परा किस दीक्षा और दक्षिणासे इतने ऊँचे विश्व-दुर्लभ स्तरको पहुँच सकी? इसका सदुत्तर आर्य-धर्माभ्यासके प्रवचन इस प्रकार देते हैं—

(अ) **१. स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः।** (छा० ३।१७।१)

२. अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति। (छा० ३।१७।२)

अर्थात् ब्रह्मचारी जो कुछ करता है, यदि उसमें उसकी आसक्ति न हो तो वही उसकी दीक्षा है। अन्यथा वह दीक्षासे पतित होकर असत् हो जाता है।

(आ) **अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।** (छा० ३।१७।४)

अर्थात् जो ब्रह्मचारी तप, तितिक्षा, दान, सरलता, अहिंसा और सत्य-भाषण-तत्पर रहता है, उसकी यही दक्षिणा है।

परंतु हम देखते हैं कि आज तो नैतिकताका भवन धराशायी होनेको है। उसमें पहलेकी-सी भारतीय नैतिकता तो शायद ही कहीं कभी दिखायी दे जाती हो। सार्वभौम और सर्वजनीन नैतिकताका तो अत्यन्ताभाव-सा ही है। आज तो बात-बातमें कपट और छल-छिद्रका बोलबाला है। म० हैवल और श्रीमती कौरेलीके शब्दोंमें तो यह भी कहा जा सकता है कि—

'जो पुरुष अज्ञानी है, वही भारतीयोंको पाश्चात्त्य व्यवसाय-वादका अनुकरण करनेके लिये कह सकता है; क्योंकि भारतमें घोर दुर्भिक्षके समय भी उतनी नैतिकताका अधःपात नहीं पाया जाता, जितना यूरोपके प्रधान नगरोंमें व्यवसाय-वादके कारण नित्य दिखायी देता है।'

'यूरोपके तो सभी व्यक्तियोंपर नास्तिकता, अविश्वास-वृत्ति, कठोर-हृदयता, नीतिभीरुता, स्वार्थपरायणता, अभिमान, साहसहीनता और आदर्श-उदासीनताका कलंक लगाया जा सकता है।'

यह है भारतेतर देशोंके लोगोंकी अपने लोगोंपर सम्मति। चाहे इसमें अतिशयोक्ति भी हो, परंतु फिर भी सत्य अवश्य है। यद्यपि भारतकी भी दशा आज पूर्णतः इससे भिन्न नहीं है, फिर भी भाग्यवश उसके पास अपना प्राचीन सार्वभौम आदर्श मौजूद है। वह चाहे तो उससे संसारका भला कर सकता है, परंतु उसी दशामें जब कि वह पहले स्वयं अपने पूर्वजोंकी परम्पराके योग्य सिद्ध हो सके। अन्यथा वह उनके इस उपदेशको सगर्व कैसे दोहरा सकता है—

एतद्देश ·············पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अन्तमें यहाँ यह कहना भी अनिवार्य प्रतीत होता है कि भारतीय नीति-विज्ञान और नीति-कला निःसन्देह पूर्ण हैं, साथ ही आत्म-तत्त्वकी तरह अच्छेद्य, अभेद्य, अशोष्य, अक्लेद्य और अदाह्य भी। परंतु इसका लाभ तो इसके ज्ञान और मुख्यतः आचरणसे ही हो सकता है, अन्यथा उसके गीत गाना तुस कूटना-सा ही है; किंतु फिर भी यह बात सत्य है और बिना हिचकिचाहट कही भी जा सकती है कि भारतका वातावरण इस समय भी अपेक्षाकृत समधिक नैतिक है। इस क्षण भी यहाँ संख्यातीत ब्राह्मण अकारण ही षडङ्गसहित वेदाभ्यास-तत्पर हैं। ज्ञान-विज्ञानके धनी हैं। त्यागी, तपस्वी, वीतराग और कर्मठ हैं। साथ ही उनके अनुयायी भी न्यूनाधिक ऐसे ही हैं। हमारा तो विश्वास है कि यदि कभी विश्व-वातावरण वास्तविक नैतिक बन सका तो उसमें हिंदू-नीति-विज्ञान और हिंदू-सपूतोंका ही प्रमुख हाथ होगा। देखिये, बाहरके गण्यमान्य विद्वान् भी इस विषयमें कितने आशावादी और अनुकूल मालूम होते हैं—

(क्ष) भारतीय ब्राह्मण इतने ईमानदार और सच्चे हैं कि वे किसी भी बातके लिये झूठ बोल ही नहीं सकते।—मार्को पोलो

(त्र) न केवल सत्य अपितु इनकी उदारता, सहिष्णुता, मुक्तकण्ठता, बुद्धिमत्ता, सुशीलता, नम्रता, वफादारी, सज्जनता, सुरा-विरक्ति, सम्मान-श्रद्धा, श्रमशीलता और विज्ञान-प्रेम इस समय भी उल्लेखनीय हैं। —मैक्समूलर

(ज्ञ) भारतकी आदर्श किंतु अमर संस्कृति, जिसने साम्राज्योंका उत्थान-पतन देखा है, मनुष्यमात्रके लिये उपयोगी है। यही कारण है कि आजका यूरोप अपनी घातक सभ्यतासे दुखी होकर भारतकी ओर देख रहा है—डा० जेम्स कजिन्स[2]

---

१. चारों वर्ण एकतायुक्त होकर अपने-अपने व्रतों और अधिकारोंका पालन करते थे।

२. ऐसी दशामें यह कहना कि हिंदू-विचार-पद्धतिमें आचार-शुद्धिका महत्त्व नहीं है, कहाँतक ठीक है?

हमारा आजका मौलिक सांस्कृतिक प्रश्न

(लेखक—डा० श्रीइन्द्रसेनजी)

'संस्कृति' आधुनिक युगका सर्वोच्च शब्द कहा जा सकता है। हमारे क्रियात्मक व्यवहार व्यक्तिगत और राष्ट्रिय-अन्तर्राष्ट्रिय चाहे कैसे भी तात्कालिक फलोंसे चालित हों, विचारकी दृष्टिसे उन्हें हम उनके सांस्कृतिक अर्थ और मूल्यसे ही सिद्ध-असिद्ध करनेका यत्न करते हैं अथवा उनका वास्तविक मूल्य उनके सांस्कृतिक अर्थमें ही स्वीकार करते हैं। यह शब्द और इसका भाव प्रत्यक्ष ही आज अत्यन्त प्रभावशाली हो रहे हैं।

परंतु जितना यह शब्द प्रभावशाली और प्रचलित है, उतना ही शायद इसका अर्थ अनिश्चित है। इस विषयमें पाश्चात्त्य विचारकोंके मत अत्यन्त रोचक हैं। ओस्वाल्ड स्पेंगलर इस विषयके एक विशेषज्ञ हैं और उनका ग्रन्थ 'पश्चिमका अधोगमन' जगद्विख्यात है। उनके विचारमें यूरोप अपनी Kultur (संस्कृति)-स्थितिका जीवन-काल यूनानी संस्कृतिके साथ समाप्त कर चुका था और अब वह Zivilisation (सभ्यता)-की अवस्थामें आ पड़ा है। जहाँ पहले आन्तरिक प्राण और सजीवता थी, वहाँ अब बाह्य शिल्प और यन्त्र-आयोजन है। यही सांस्कृतिक अधोगमनका प्रारम्भ है। हरमान काईजरलिंग, एक और प्रसिद्ध विचारक, सभ्यताको संस्कृतिके पतनकी स्थिति नहीं मानते। वे इसे बर्बरताके बादकी अवस्था कहते हैं, जब कि बाह्य जीवन और व्यवहारमें कुछ संगठन और नियम आ जाते हैं। परंतु प्रत्यक्ष ही दोनोंके लिये संस्कृति आन्तरिकताकी भावना रखती है और सभ्यता बाह्य परिस्थिति और व्यवहारकी। एल्बर्ट स्वाईटजर इसी विषयके एक और विशेषज्ञ प्रसिद्ध हैं। वे संस्कृतिको आन्तरिक अनुशीलन मानते हुए विशेष बल नैतिक भावनाके विकासपर देते हैं। कोई मनुष्य कितना भी पढ़ा-लिखा क्यों न हो, वह कलाओंका कितना भी भावुक मर्मज्ञ क्यों न हो, उसकी चित्त-शक्ति भी कितनी ही विकसित क्यों न हो, फिर भी उसका व्यक्तित्व यदि मूलरूपमें नैतिक भाव और भावनासे प्रेरित नहीं है तो वह वास्तविक अर्थमें संस्कृत नहीं। नैतिक भाव और भावनापर आग्रह सामान्य प्राकृतिक सूचनार्थक ज्ञानके विरोधमें पैदा हुआ है। लगभग चार सौ वर्षोंसे यूरोपके प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रकृतिके नियमोंको जानने तथा उनसे व्यावहारिक लाभ उठानेका यत्न करते रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप अनेक आविष्कार हुए हैं और एक शक्ति-सम्पन्न और आडम्बरशील सभ्यताकी रचना हुई है; परंतु इस वैज्ञानिक सभ्यताकी अपरिमेय शक्तिको योग्य रीतिसे संचालित करनेके लिये आवश्यक हितभाव अथवा समाजके प्रति कर्तव्यभाव विकसित नहीं हुआ। फलतः उन शक्तियोंका विनाशकारी और अहितकर प्रयोग अधिक हो रहा है। इस संकटावस्थाको तीव्ररूपमें अनुभव करते हुए स्वाईटजर महोदय कहते हैं कि संस्कृतिमें नैतिक भाव केन्द्रीय तत्त्व है। इसके बिना किसी व्यक्ति या जातिको संस्कृत नहीं कहा जा सकता।

'संस्कृति' सम्बन्धी ये सभी पाश्चात्त्य भावनाएँ एक दूसरीसे भिन्न होते हुए भी एक ही आधारपर स्थित हैं। वह आधार है मानवी व्यक्तित्वके मन, प्राण और शरीरका संगठन। संस्कृतिका मानो ध्येय ही है मन, प्राण और शरीरकी शक्तियोंको विकसित करना, उनकी विभिन्नताओंमेंसे अपूर्व मौलिक समन्वय पैदा करना और उनके प्रयोगसे फिर परिस्थिति और समाजको संगठित और अधिकृत करना। शिल्पकला, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदिकी रचना इस विकासका साधन भी है और ध्येय भी। वास्तवमें ये सब सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ ध्येयरूप अधिक हैं, मानवको अपने आन्तरिक भावमें उन्नत करनेकी साधना कम। इसीलिये आजका सांस्कृतिक विकास मानवचेतनाके लिये आडम्बर और भार बना हुआ है। मानवचेतना मानो उनसे परिचालित होती है, वे मानवचेतनासे अधिकृत नहीं।

'संस्कृति' और 'सुसंस्कृत व्यक्ति'-सम्बन्धी भारतीय विचार मौलिकरूपमें पाश्चात्त्य विचारसे भिन्न हैं। वहाँ इस विचारमें 'अनुशीलन'का भाव प्रधान है और यहाँ 'शोधन'का। वहाँ यत्न है अनुशीलन अथवा अभ्यासद्वारा मन, प्राण और शरीरकी शक्तियोंको अपनी-अपनी विशिष्ट पराकाष्ठातक विकसित करना। यहाँ पुरुषार्थ है मन, प्राण और शरीरके साथ आत्म-भावके सम्मिश्रणको दूर करना और वास्तविक आत्म-भावको उपलब्ध करना और फिर उस भावसे सांस्कृतिक प्रवृत्तियोंको यथार्थ आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मचरितार्थता बनाना। भारतकी सब कलाओं और

विज्ञानों तथा दर्शन और धर्मशास्त्रकी प्रधान धारा निश्चित-रूपमें यही है। श्रीअरविन्द-जैसे भारतीय संस्कृतिके मर्मज्ञ तथा अन्य संस्कृतियोंके ज्ञाता बलपूर्वक कहते हैं—'आध्यात्मिकता ही भारतीय मनकी मुख्य कुंजी है; अनन्तता-की भावना उसकी सहजात भावना है। भारतने आदिकालमें ही यह देख लिया और अपने तर्क-बुद्धिके युगमें तथा अपने बढ़ते हुए अज्ञानके युगमें भी उसने वह अन्तर्दृष्टि कभी नहीं खोयी कि जीवनको केवल उसकी बाह्य परिस्थितिके प्रकाशमें ही ठीक-ठीक नहीं देखा जा सकता और न वह केवल उन्हींकी शक्तिसे पूरी तरह बिताया जा सकता है। वह प्राकृतिक नियमों तथा शक्तियोंकी महत्ताके प्रति जागरूक था, उसे भौतिक विज्ञानोंके महत्त्वका सूक्ष्म बोध था; वह साधारण जीवनकी कलाओंको संगठित करना जानता था। परंतु उसने यह देखा कि भौतिकताको अपनी पूरी सार्थकता तबतक नहीं प्राप्त होती, जबतक वह अति-भौतिकसे ठीक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेती; उसने देखा कि संसारकी जटिलताकी व्याख्या मनुष्यकी वर्तमान परिभाषाओंसे नहीं की जा सकती और न मनुष्यकी स्थूल दृष्टिसे समझी जा सकती है, और यह कि विश्वके मूलमें कुछ अन्य शक्तियाँ भी हैं तथा स्वयं मनुष्यके भीतर भी कुछ अन्य शक्तियाँ हैं, जिन्हें वह साधारणतया नहीं जानता।' (The Renascence in India, pp. 9-10)

परंतु आध्यात्मिकता कोई विभिन्नता और विविधता-शून्य एकरसता नहीं। यह अत्यन्त समृद्ध तथा मूर्त्त जीवनका एक स्तर है, मानसिक तथा बौद्धिकसे अधिक समृद्ध और विविधतापूर्ण। आध्यात्मिक जीवनकी समताका अर्थ विभिन्नता और मौलिकतारहित समानता नहीं। इसका अर्थ है, वास्तवमें रजोगुणी आवेगोंके उतार-चढ़ावसे मुक्त तथा बाह्य आग्रहशील उद्वेलनोंसे स्वतन्त्र शान्त अन्तरमें गम्भीर तथा मौलिक आत्म-प्रेरणाद्वारा जीवनकी स्थिति और गतिका निर्धारण। प्रत्यक्ष ही, साधक और सिद्ध निजी अभीप्सा तथा विकासकी विशेषतासे भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक भावोंको अभिव्यक्त और द्योतित करेंगे। इन भावोंमें जहाँ शान्ति और समता एक न्यूनतम सामान्य अंश होगा, वहाँ उनमें समृद्धतामें कम या अधिक अथवा स्तरमें ऊँच या नीचके भेद होंगे। अथवा इनमें एक क्रमविकास दिखायी देगा और अनन्त भावी विकासकी सम्भावना तो सदा ही उपस्थित रहेगी।

इस दृष्टिसे यदि हम भारतीय जीवनके ऐतिहासिक विकासको विचारें तो हमें कई अपूर्व तथ्य दिखायी देंगे, जो हमें आजकी अपनी जातीय स्थितिको अधिगत करनेमें विशेष सहायक हो सकते हैं। इतना हमें यहाँ स्मरण कर लेना होगा कि हमारा प्रयोजन ऐतिहासिक छोटी या बड़ी घटनाओंसे नहीं है। हम देखना चाहते हैं उस जातीय चेतनाको, जो सब प्रकारके सुखद-दुःखद अनुभवोंसे विकसित होती आयी है। इस चेतनाकी धारा, हमारे वर्तमान ज्ञानके अनुसार, वेदकालसे शुरू होकर अबतक अनवरतरूपमें ही बहती रही है। ऐसा लंबा जीवन संसारमें हिंदूजातिकी अद्वितीय विशेषता है और यह अपने-आपमें एक गम्भीर सांस्कृतिक तथ्य है।

स्वाधीनता उपलब्ध करनेके बाद हमारी जातीय चेतनाने अपने प्रश्नोंके लिये स्वयं हल ढूँढ़ने शुरू किये। आज संसारभरकी स्थिति विषम है, उसमें अनेक विकट प्रश्नोंका बुरा उद्भाव पड़ा हुआ है। भारतमें भी सामान्यतया वही स्थिति है; परंतु हम पुरानी अनुभवी जाति होते हुए भी आज इस स्थितिके लिये नये हैं। हम उत्साहपूर्वक अपने प्रश्नोंका हल कर रहे हैं, बहुतेरोंका कर भी चुके हैं; फिर भी बहुत-से अत्यन्त आवश्यक विषयोंका हल करना है और हम एक गम्भीर छटपटाहटमें हैं। स्वीकार करना होगा कि हम काफी व्यग्र और चिन्तित हैं। हम अपने-आपको अपनी स्थितिके लिये अपर्याप्त अनुभव कर रहे हैं अथवा स्थिति हमें भारी प्रतीत हो रही है और हम अपनी चेतनाकी त्रुटिको महसूस करते हैं और उसमें एक नयी सबलताकी गम्भीर माँग कर रहे हैं। अपनी वर्तमान स्थितिके प्रश्नों तथा उनके समाधानोंके बारेमें हम अनेक मत और विचार सुनते हैं। ये सब प्रायः बाह्य संगठन और नियम-कानूनद्वारा स्थितिको सुधारनेके उपाय बताते हैं। इन सबमें कुछ-न-कुछ सार्थकता है। परंतु ये उपाय मूल कारणको स्पर्श नहीं करते; ये उस चेतनासे सीधा सम्पर्क नहीं रखते, जो स्थितिके साथ संघर्ष कर रही और अपने-आपको अपूर्ण अनुभव कर रही है। इस चेतनाकी इस अपूर्णताका यथार्थ निरूपण और निदान उपायके लिये सबसे पहली आवश्यकता है। और हमारी जिज्ञासा यहाँ विशेषरूपसे यही है।

अपनी वर्तमान वास्तविक चेतना-स्थितिको जाननेके लिये एक ऐतिहासिक पुनरावलोकन अत्यन्त सहायक होगा। वैदिक कालकी जातीय चेतनाका चिन्तन करते हुए हम

अपने-आपको स्वाभाविकतया एक दूसरे जगत्में अनुभव करने लगते हैं। वैदिक युगका नेता 'ऋषि' था और वह अत्यन्त सरल, स्वाभाविक, शरीर और चेतनामें स्वस्थ तथा अन्तर्दृष्टियुक्त और आनन्दमय प्राणी अनुभव होता है। वह प्रकृतिके सौन्दर्यको अनुभव करनेवाला, उसका भक्त है। गौ, सन्तान, धन-धान्य आदिके लिये मुक्त कण्ठसे प्रार्थनाएँ करता है और उन्हें वह यथार्थ स्वीकारात्मक भावमें ग्रहण करता है। पर फिर भी वह स्थूल प्रत्यक्षवादी नहीं, वह तो गम्भीर अध्यात्मवादी है। वह अन्तर्दृष्टिसे वस्तुओंके निहित चेतन तत्त्वको जानता है और इन्हें उसकी ही अभिव्यक्ति अनुभव करता है। वेदमन्त्रोंके वातावरणमें निवास करना मानो आत्मा, परमात्मा और प्रकृतिके वास्तविक आनन्दका उपभोग करना है। वैदिक ऋषि गाता है—

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'

'देखो इस प्रभुके सुन्दर जगत्को, जो न नष्ट होता है, न रााना पड़ता है।' वह प्रार्थना करता है 'जीवेम शरदः शतम्'—हम सौ सालतक जीयें। आँख, नाक, कान आदिके सबल रहते सौ सालतक जीयें। वह कहता है—

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः.........................

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहावसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।'

'मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ, पृथ्वी मेरी माता है, वह मुझे अपनी विविध सम्पत्ति तथा गुप्त धन प्रदान करे।' साथ ही वह आध्यात्मिक चेतनाकी किन उड़ानोंका आनन्दपूर्ण वर्णन करता है। वह आध्यात्मिक जगत्का अथक अन्वेषक है। वह 'सत्यं ऋतं बृहत्' सत्य, यथार्थ और बृहत्का उपासक है। वह अभीप्सा करता है—

'ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने'

हे अग्नि! तू ऊपर उठ, सब आवरणोंको भेद डाल और हमारे अंदर दैवत्वको प्रकट कर।

कालान्तरमें स्थिति बदल जाती है और हमारी जातीय स्फूर्तिके चिह्न मन्द पड़ने लगते हैं। हम आन्तरिक चेतनाको [illegible] बाह्य कर्मकाण्डमें लिप्त हो जाते हैं, हमारे [illegible] दम्भ आ जाता है। कितने समय बाद फिर गौतम बुद्धके रूपमें एक उग्र [illegible] जिज्ञासु प्रकट होता है। वह संसारको दुःखमय अनुभव करता है; रोग, जरा और मृत्युसे छुटकारा ढूँढ़ना चाहता है। वह निर्वाण-स्थिति प्राप्त करता है और सार्वभौम करुणाका उपदेश देता है। [illegible] भिक्षु और भिक्षुणी बन [illegible] तथा आस-पासके देशोंमें अपने जीवनके दृष्टान्तसे उसी उपदेशको सुनाते हैं।

शताब्दियोंतक 'संसार तुच्छ है तथा त्याज्य है' यह भाव जनताके अन्तःकरणमें रमता चला जाता है। फिर एक और महापुरुष प्रकट होकर जातीय चेतनाको नये रूपमें उद्वेलित कर देता है। शङ्कराचार्य नास्तिक बौद्धधर्मके स्थानपर आस्तिक हिंदू-धर्मको प्रतिष्ठित करते हैं। जनतामें एक व्यापक चेतन-तत्त्वके लिये, ब्रह्मके लिये भावना पैदा हो जाती है। परंतु संसार पहलेके समान ही तुच्छ और त्याज्य रहता है, बल्कि माया बन जाता है। कर्ममात्र बन्धन हो जाता है तथा जीवनसे मुक्त होकर निर्गुण ब्रह्ममें लीन हो जाना पूर्णता है।

फिर अनेक बड़े-बड़े ईश्वर-भक्त स्मरण आते हैं। कैसी है उनकी भक्ति, कैसी तल्लीनता। परंतु संसार उनके लिये भी हेय है, कनक और कामिनी पापका मूल है।

अपने इतिहासके निकटभूतमें हम एक नयी भावनाका उदय देखते हैं। कई महान् मूर्तियाँ प्रकट होकर जातिके नकारात्मक भावके स्थानपर स्वीकारात्मक वृत्ति पैदा करनेका यत्न करती हैं। अपना ऐहिक जीवन सुधारनेको कहती हैं, पिछड़े हुए भाइयोंको अङ्गीकार करनेका आदेश करती हैं, स्त्रियोंके प्रति स्वस्थ भाव बनानेकी प्रेरणा देती हैं, वैदिक आदर्शोंका स्मरण कराती हैं, राजसत्ता अधिगत करनेके लिये संघर्षका भाव उत्तेजित करती हैं।

भारतीय चेतनाके लंबे विकासकी ये प्रधान स्थितियाँ और गतियाँ कही जा सकती हैं। ये सब आध्यात्मिक अवस्थाएँ हैं और इनमेंसे हर एककी भारतीय चेतनाके विकासमें कुछ देन है।

इनमेंसे हर एकमें अपने-अपने ढंगका आत्मा और प्रकृतिका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध सांस्कृतिक दृष्टिसे बड़े महत्त्वका है। वैदिक चेतना आध्यात्मिक चेतना होनेसे प्रकृतिसे अपने आपको अलिप्त और स्वतन्त्र अनुभव करती है, पर फिर भी या इसी कारण प्रकृतिपर पूरा अधिकार अनुभव करती है और स्वतन्त्रतापूर्वक उसका उपभोग करती है। बुद्धकालकी चेतना संसारके प्रति प्रत्यक्ष ही भयभीत भाव रखती है। संसार दुःखमय है और इसका त्याग ही एकमात्र उपाय है। उस समय मानो हमारी चेतना एक ऐकान्तिक, जगत्से अलग, आध्यात्मिक नीरवताके अनुभवके लिये लालायित हो उठी थी। यह गति वास्तवमें थी एक प्रतिक्रिया—बाह्य जीवन धार्मिक कर्मकाण्डके प्रति, जो उस समयकी सामान्य अवस्था बनी हुई थी।

श्रीश्रीमहालक्ष्मी

श्रीश्रीसरस्वतीदेवी

इस प्रतिक्रियात्मक गतिको शंकराचार्यने बहुत सुधारा। आत्माके अस्तित्वको प्रतिष्ठित किया। परंतु यह धारा अपने आपमें बौद्ध-विचारकी प्रतिक्रिया भी थी। बुद्धने आत्मा और परमात्माके विषयमें मौन धारण किया था, मानो उनका अस्तित्व है ही नहीं; शंकरने कहा 'केवल ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं। संसार दुःखमय है, माया है, सर्वथा त्याज्य है अथवा मजबूरीका बन्धन है।' यह भाव और भावनाएँ हमारी जातीय चेतनामें लगभग ढाई हजार वर्षसे रम रही हैं। परिणामस्वरूप जहाँ हमने आध्यात्मिक अनुभवमें कुछ नयी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, वहाँ संसार और जगत्के जीवनमें अनेक कष्ट भी झेले हैं, राज-पाट खोया और शक्ति तथा प्रभावसे वञ्चित रहे। हम कह सकते हैं—हमने एक विशेष आध्यात्मिक अनुभवकी सबलता तथा सीमा दोनोंको जान लिया। इससे हम वैदिक और औपनिषदिक आदर्शोंकी विशेषताको अनुभव करनेके लिये विशेष रूपसे तैयार हो गये हैं और निश्चय ही अब जो नयी चेतना विकसित होगी, वह संभवतः पूर्णतर होगी। यदि हम अपनी ऐतिहासिक उपलब्धियोंका लाभ उठाते हुए आगे चलना चाहें तो वह कम-से-कम पूर्णतर हो सकती है।

हमारे निकटभूतके महापुरुषोंका वास्तवमें संसार और जगत्के प्रति एक नया स्वीकारात्मक भाव पैदा करनेका आग्रह भी रहा। इस प्रकार एकके बाद एक चेतनाके अंदर नया विश्वास, नयी शक्ति तथा संघर्षके भाव भरते रहे हैं।

परंतु सत्ता अधिगत करनेके बाद, अधिकार और राज-शक्तिके प्रति जो हमारा मनोभाव एकदम ही विकसित हुआ, उसने हमें कुछ चौंका दिया। इस नयी स्थितिमें हमने यथोचितरूपमें स्वस्थ और तटस्थ अनुभव नहीं किया। हम सत्ता-लोलुप हो गये। स्वाभाविकतया चिन्ता होती है और हम अनुभव किये बिना रह नहीं सकते कि हमारी मध्ययुगीन चेतनाके पुराने संस्कार इतनी जल्दी दूर नहीं हो सकते। जो चेतना संसारसे भय मानती थी, वह अब भी या तो उस भय और अविश्वासको व्यक्त कर रही है या प्रतिक्रियारूपमें लोलुपता। इन संस्कारोंका शोधन और जगत्सम्बन्धी स्वस्थ स्वीकारात्मक भाव बनाना ही, हमारे विचारमें आजकी भारतीय चेतनाका मौलिक सांस्कृतिक प्रश्न है। आजके हमारे प्रश्न प्रथमतः इस विकासकी माँग करते हैं और यदि हम अपने प्रश्नोंके इस मौलिक रूपको देख सकें तथा इसका ऐतिहासिक कारण पहचान सकें तो आधा हल तो हमें स्वतः प्राप्त हो जायगा।

आज संसार 'संस्कृति' की पाश्चात्य भावनाके अनुसार मन, प्राण और शरीरके 'अनुशीलन'में लगा हुआ है और प्रकृतिमें लिप्त भावके कारण आत्मभाव और आत्मगौरवको खो बैठा है, प्रकृतिमें लिप्त भाव होनेके कारण ही आजकी पाश्चात्य चेतनाके लिये यह विपुल वैज्ञानिक विकास संकट बन गया है। संस्कृतिसम्बन्धी भारतीय विचार ही इसका यथार्थ समाधान है। 'संस्कृति' और 'सुसंस्कृत व्यक्ति' का अनिवार्य लक्षण है—आन्तरिक शुद्ध भाव अर्थात् आत्माका मन, प्राण और शरीरकी प्राकृतिक चेष्टाओंसे स्वतन्त्र तथा तटस्थ भाव। इसीसे मानव प्रकृतिमें स्वामी-भावसे विचर सकता है और उसका यथोचित उपयोग और उपभोग कर सकता है।

भारतकी सामान्य मानव-संस्कृतिके लिये यह भाव अमूल्य देन हो सकती है। वास्तवमें भारत अपनी यथार्थ सांस्कृतिक वृत्तिको अभिव्यक्त करके इस समय संसारको संकटसे निकाल लेनेकी भी सामर्थ्य रखता है; परंतु उसे अपने मध्ययुगीन अनुभवोंका उचित शोधन करना होगा। जगत्-त्यागात्मक भावनाको एक उच्चतर स्वीकारात्मक अध्यात्मवादमें संगठित करना होगा। जगत् अपने आपमें, आत्माका विरोधी ध्रुव होते हुए तुच्छ भी है और त्याज्य भी। परंतु वास्तवमें तो वह ब्रह्मकी अभिव्यक्ति है, एक प्रयोजनीय चरितार्थता है। तब वह त्याज्य कैसे हो सकता है? निश्चय ही हम ब्रह्मको उसके सर्वाङ्गीण रूपमें अङ्गीकार करना चाहेंगे तथा उसके साथ पूर्ण तादात्म्यके लिये अभीप्सा करते हुए उसके सगुण और निर्गुण रूपमें, उसकी स्थिति और गतिमें, उसे प्राप्त करना तथा अभिव्यक्त करना चाहेंगे।

श्रीअरविन्द-दर्शन भारतीय संस्कृतिकी वर्तमान अभीप्सा-का पूर्ण प्रतीक प्रतीत होता है। यह जगत्को भागवत अभिव्यक्तिके रूपमें केवल अंगीकार ही नहीं करता बल्कि इसे मानवके सर्वाङ्गीण आध्यात्मिक विकासका उपयुक्त आधार और क्षेत्र बतलाता है। श्रीअरविन्द-दर्शनके अनुसार जगत् अनिवार्यरूपमें वैश्व-विकासके क्रमसे जड प्राण और मनके क्रमिक स्तरोंद्वारा व्यापक अध्यात्माभिव्यक्तिके लिये तैयार हो रहा है और भावी विकासमें समय आयगा जब कि ये आजके अज्ञानाच्छादित स्तर सजग और सचेतन हो उठेंगे। अतः मानवको, जो कि प्रजापतिकी सर्वश्रेष्ठ सन्तान है, इहैव—यहीं जगत्के क्रियाकलापमें भागवत इच्छाको चरितार्थ और अभिव्यक्त करना है। इसीसे मानव अपने सर्वाङ्गीण विकासको प्राप्त करेगा।

आर्यसंस्कृतिकी तुलनात्मक गवेषणा

आर्यजातिकी संस्कृतिमें एक अद्वितीय सर्वशक्तिमान् परमात्माको माना गया है। वे ही परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण आदि नामसे अभिहित होते हैं। जैसे हमारा यह ब्रह्माण्ड है, वैसे ही अनन्ताकाशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं। परमात्माके ईक्षणमात्रसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें सृष्टि, स्थिति और लयका कार्य नाना देहधारियोंके द्वारा व्यवस्थितरूपसे हुआ करता है। वे परमात्मा निर्गुण-निराकार होनेपर भी भक्तोंके कल्याणार्थ सगुणरूप धारण कर लेते हैं। पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियोंमें एक ईश्वरवादका विचार तो प्रचलित देखनेमें आता है; परंतु उनमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी महान् धारणा-का विकास नहीं है और न वे ऐसी विचारशैलीकी ओर ध्यान देते हैं कि प्रत्येक ब्रह्माण्डका कार्य कैसे चलता है। जैसे एक राज्य चलानेके लिये अनेक श्रेणियोंके राजपद-धारियोंकी आवश्यकता होती है, वैसे ही हमारे ब्रह्माण्डके सब कार्योंके संचालनके लिये अनेक देवता, ऋषि, पितृ आदि देवपदधारी सदा अपने-अपने कामपर नियुक्त रहते हैं—ऐसी विचारशैली उनमें नहीं है और जब भगवान् सर्व-शक्तिमान् हैं, तो भक्तके कल्याणार्थ वे सगुणरूप भी धारण कर सकते हैं—ऐसी धारणा भी सबमें नहीं है। आर्यजातिकी संस्कृतिमें जैसे ब्रह्माण्डोंकी संख्या अनन्त मानी गयी है, उसी प्रकार नाना जीवोंके पिण्ड भी अनेक माने गये हैं। उद्भिज्ज पिण्ड, स्वेदज पिण्ड, अण्डज पिण्ड और जरायुज पिण्ड—ये सब सहज पिण्ड कहाते है। मनुष्यके स्थूल शरीरको मानव पिण्ड कहते हैं और देवता, ऋषि, पितर, यक्ष, गन्धर्व, असुर, प्रेत आदिके पिण्ड देवपिण्ड कहाते है। जीव उद्भिज्ज योनिसे स्वेदजयोनिमें, स्वेदजयोनिसे अण्डजयोनिमें, अण्डजयोनिसे जरायुजयोनिमें क्रमशः पहुँचता है। मनुष्ययोनि अन्य उच्च-योनियोंका माध्यम है। मनुष्ययोनिसे जीव उन्नति करता हुआ नाना योनियोंमें जा सकता है। नाना देवपदधारी देवयोनियाँ इस मृत्युलोककी सहायक हैं; देवयोनियोंका इतना विस्तार है कि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—चार श्रेणीके जीव असम्पूर्ण शरीरधारी होनेके कारण इनमेंसे हर एक श्रेणीके जीवोंका एक-एक रक्षक और चालक अलग-अलग एक-एक देवता हैं। प्रसिद्ध पर्वत, नदी आदिके भी अलग-अलग अधिदेव हैं और ये सब दैवी राज्य-शृङ्खलाके अधीन रहकर सुव्यवस्थित होकर अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। पृथ्वी-की अन्य सभ्य जातियोंमें इस प्रकारकी संस्कृतिका प्रचार नहीं है। वे सामान्यरूपसे दैवी राज्यको मानते हैं।

असुरको शैतान और देवताओंको फिरिश्ता, एंजिल आदिसे अभिहित करते हैं; परंतु उनकी संस्कृतिमें दैवीराज्यके महान् विस्तारपर और दैवीपदधारियों तथा दैवी शृङ्खलापर विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया गया है। आर्यजातिकी संस्कृतिमें पुरुष और स्त्रीका भेद बहुत कुछ माना गया है। जैसे दिन और रातमें भेद है, जैसे बीज और बोनेकी भूमिमें भेद है और जैसे विकर्षण-शक्ति और आकर्षण-शक्तिमें भेद है, उसी प्रकार बड़ा भारी भेद समझकर आर्य-संस्कृतिमें स्त्रीजातिके मौलिक धर्म और आचारोंके सम्बन्धमें बहुत कुछ विशेषता मानी गयी है। आर्यजातिकी संस्कृतिके अनुसार पुरुष जातिकी अपेक्षा स्त्रीजातिमें आचार-विचार, रहन-सहन और शिक्षा, धर्म आदिके विषयमें सब प्रकारसे पृथक्ता रक्खी गयी है। आर्यजाति यह समझती है कि श्रीभगवान्‌ने पुरुष जातिको और स्त्रीजातिको विशेष-विशेष शक्ति देकर सृष्टि-क्रियामें प्रवृत्त किया है। थोड़ी-सी बुद्धि जिसमें है, वह यह समझ सकता है कि जगत्‌की सृष्टिक्रियामें पुरुषकी पाँच-दस मिनटकी जिम्मेवारी है और स्त्रीकी कम-से-कम नौ महीनेकी जिम्मेवारी है। पुरुष यदि वेश्यागामी हो जाय, तो उसके कुल और जाति आदिको विशेष क्षति नहीं पहुँचती है; परंतु स्त्री यदि अपने जीवनमें पाँच-दस मिनटकी भूल कर बैठे तो उस भूलके द्वारा उसका सतीत्व ही नष्ट नहीं होगा, बल्कि उसका वंश, उसकी कुल-परम्परा, उसकी जाति और उसका समाज—सब अपवित्र हो जायगा। इन थोड़े-से उदाहरणोंद्वारा ही विचारशील सज्जन समझ सकते हैं कि आर्यजातिकी पवित्रता-की रक्षाके लिये और सृष्टिकी पवित्रताकी रक्षाके लिये स्त्री-जातिकी जिम्मेवारी कितनी अधिक है। इस कारण आर्यजाति अपनी माता और कन्याओंको नाना उपायद्वारा पवित्र रखने-का प्रयत्न करती है। परंतु आज पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियाँ स्त्री और पुरुषोंको एक प्रकारकी शिक्षा देकर और एक ही रास्तेपर चलाकर मनुष्य-जातिके अकल्याणका कारण हो रही हैं! पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियोंकी दृष्टियोंमें आर्यजातिका वर्णाश्रमधर्ममूलक समाज-विज्ञान (सोशियालाजी) बड़ा विचित्र और कठिन प्रतीत होती है। उसकी सामाजिक अवस्थाको चारों ओरसे चार सुदृढ़ दुर्गोंके द्वारा सुरक्षित किया

गया है। प्रथम दुर्ग यह है कि आर्य नारियोंमें सतीत्व-धर्मकी, पवित्रताकी रक्षा अति दृढ़तासे की गयी है। वैसी व्यवस्था पृथ्वीके अन्य किन्हीं जातियोंमें नहीं पायी गयी है। आर्यजातिकी सामाजिक पवित्रताकी रक्षाके लिये रजोवीर्य-शुद्धिमूलक वर्णधर्मकी व्यवस्था और जन्मसे जाति माननेका नियम आदि द्वितीय दुर्ग है।

पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियोंमें मनुष्यजीवनकी आयुके भेदोंके अनुसार कोई विशेष व्यवस्था नहीं बाँधी गयी है; परंतु आर्यसंस्कृतिमें अति सुन्दर उपायोंके द्वारा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमोंकी व्यवस्था अतिसुन्दर रूपसे बाँधी गयी है। यह आश्रमधर्म तृतीय दुर्ग है। इस समय सब अस्त-व्यस्त हो जानेपर भी सबको यह मानना ही पड़ेगा कि मनुष्यजीवनको प्रथमसे लेकर अन्तपर्यन्त एक ढंगसे न चलाकर ब्रह्मचर्य आश्रममें कैसी प्रवृत्ति होनी चाहिये, सो विद्याभ्यासद्वारा सिखानेकी रीति है। गृहस्थाश्रमधर्ममें प्रवृत्तिधर्मका धर्मानुकूल पालन कराया जाता है। तीसरे वानप्रस्थधर्ममें तपस्या आदिद्वारा निवृत्तिधर्मकी शिक्षा दी जाती है और चौथे संन्यास-आश्रममें निवृत्तिधर्मकी चरितार्थता करायी जाती है। एक जीवनमें मनुष्य धर्मानुकूल प्रवृत्ति करता हुआ अन्तमें निवृत्तिके राज्यमें पहुँचकर श्रीभगवान्‌के निकट पहुँच सके—इसकी व्यवस्था बाँधी गयी है। आर्यजातिकी संस्कृतिमें सामाजिक व्यवस्थाकी सुरक्षाके लिये सब समय आचार और विचारके प्रति तीव्र दृष्टि रखना चौथा दुर्ग है। इस प्रकार चार दुर्गोंके सुरक्षित धर्मोद्वारा मनुष्यसमाजको चिरजीवी बनाने और सुरक्षित रखनेका नियम पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें नहीं पाया जाता।

हिंदू-जातिमें आचार और विचारके विस्तार और दृढ़ताकी अधिकतासे कोई-कोई अन्यधर्मावलम्बी संदेह करते हैं और कहते हैं कि जिस जातिमें इतना कठिन जाति-भेदका सिद्धान्त प्रचलित है और जो जाति शुद्धाशुद्धविवेकको इतना मानती है, उस जातिमें मनुष्य-प्रेमका सिद्धान्त कैसे चल सकता है। हिंदुओंके प्रतिदिनके करनेयोग्य 'नृयज्ञ'पर मनन करनेसे ही ऐसी निर्मूल शंकाओंका समाधान हो जाता है। नृयज्ञ-साधन सनातनी हिंदुओंका नित्यकर्म है। विधिपूर्वक अतिथि-सेवाको नृयज्ञ कहते हैं। हिंदुओंके समाजविज्ञान (सोशियालाजी) में शुद्धाशुद्ध-विचार और जातिभेद-सम्बन्धी विस्तृत आज्ञाएँ रजोवीर्यकी शुद्धिके निमित्त शास्त्रोंमें पायी जाती हैं। साथ-ही-साथ धर्मशास्त्रोंमें प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करनेकी आज्ञा भी है। नृयज्ञ उनमेंसे एक यज्ञ है। नृयज्ञका सिद्धान्त यह है कि घरमें आये हुए अतिथिको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी पूजा करनी चाहिये। घरमें आया हुआ अतिथि चाहे हिंदू हो, चाहे मुसल्मान, चाहे ईसाई हो, चाहे और किसी धर्मका हो; चाहे ब्राह्मण हो, चाहे शूद्र हो और चाहे अछूत जातिका हो, चाहे असभ्य जातिका मनुष्य हो—उसको आसन, भोजन, जल और आदरके वचनोंद्वारा तृप्त करना चाहिये। वेद और शास्त्रोंमें दृढ़ आज्ञा है कि घरमें आये हुए अतिथिको भगवान् समझकर आदर जो नहीं करता, उसका सब पिछला पुण्य नष्ट हो जाता है। मनुष्यमात्रको भाई-भाई समझनेके लिये और उस पवित्र विचारको आचारमें परिणत करनेके लिये हिंदू-जातिमें प्रचलित नृयज्ञसे अधिक क्या प्रमाण हो सकता है? आध्यात्मिक उन्नतिकी इच्छा रखनेवाली जिस मनुष्यजातिमें वर्णधर्म, आश्रमधर्म, शुद्धाशुद्ध-विचार-धर्म और नारियोंमें सतीत्वधर्मका इतना विचार किया जाता है, उस हिंदू जातिमें एक अद्वितीय परमात्माको पितारूप मानते हुए और उसकी सब श्रेणीकी सन्तानोंमें प्रेम करते हुए उनमें भ्रातृभावका संस्कार बनाये रखनेके लिये ही नृयज्ञका ऐसा दृढ़ नियम भी प्रचलित है। अतः यह मानना पड़ेगा कि मनुष्यमात्रसे प्रेम करना उनका मौलिक उद्देश्य है, इसमें संदेह नहीं। यद्यपि पृथ्वीके सब धर्ममतोंमें तथा सभी मनुष्य-समाजोंमें किसी-न-किसी प्रकारसे मनुष्यमात्रमें भ्रातृप्रेम बनाये रखने और अतिथि-सेवा करनेके सिद्धान्त किसी-न-किसी रूपमें पाये जाते हैं, तथापि वर्णाश्रम-धर्मरूप धार्मिक समाज-विज्ञानको माननेवाली हिंदूजातिके धर्मशास्त्रमें नृयज्ञरूपी धार्मिक अतिथि-सेवा करनेकी जैसी दृढ़ आज्ञा पायी जाती है, वैसी शास्त्रीय आज्ञा अन्य किसी धर्ममें नहीं है। हिंदू गृहस्थोंके नित्य करनेयोग्य जितने धर्मसाधन बताये गये हैं, उनमेंसे नृयज्ञ एक प्रधान साधन है। इस प्रकार अलौकिक आर्यसंस्कृति तथा पृथ्वीकी अन्य मनुष्य-जातियोंकी संस्कृति—दोनोंकी तुलनात्मक गवेषणा करनेपर परस्पर दिन और रातका पार्थक्य दिखायी देगा। आर्यसंस्कृतिमें स्त्रीजातिको जगज्जननी महामायाकी प्रतिकृति मानकर कन्यावस्थासे लेकर वृद्धावस्थातक आर्य-महिलाओंकी सम्मान-रक्षा और पवित्रता-रक्षाका पूरा नियम बाँधा गया है। किंतु अन्य सभ्य जातियोंमें इस सिद्धान्तके विपरीत देखनेमें आता है। आर्य-संस्कृतिमें स्त्रियोंके लिये अन्तःपुरका बहुत कठिन नियम रक्खा गया है। भारत-

खण्डके आजकल अत्यन्त दरिद्र हो जानेपर भी आर्य-महिलाओंके शरीरको ढँके रखनेके लिये वस्त्र आदिका पहिनावा कितना उत्तम है सो सब जानते ही हैं। दूसरी ओर यूरोप और अमेरिकाके शिक्षित अधिवासियोंमें किस प्रकार निर्लज्जताकी रीति प्रचलित है, उसे देखनेसे भी हिंदू-जातिको लज्जित होना पड़ता है। उदाहरणकी रीतिपर दिखाया जाता है कि इन सभी जातियोंका सामाजिक उत्सव किसी भी प्रकारका हो, उसमें स्त्रियोंके पुरुषोंके साथ निर्लज्जभावसे नाचनेकी प्रथा और उस समय भोजनके साथ मद्यपान-प्रथा नियमपूर्वक प्रचलित है। ऐसे उत्सवोंके समय स्त्रियाँ लज्जारहित जैसा वस्त्र धारण करती हैं, वह कितना लज्जाजनक है—इसको जिन्होंने देखा है, वे स्वयं जानते हैं। विशेषता यह है कि कोई विवाहिता स्त्री अपने पतिके साथ नहीं नाच सकती; यह नियमविरुद्ध है। उसको परपुरुषके साथ ही नाचना होगा। ऐसे उत्सवोंमें एकान्त स्थान भी बने रहते हैं। नृत्यकारी युगल स्त्री-पुरुष रातभर नाचनेमें, स्वेच्छापूर्वक घूमने आदिमें स्वतन्त्र और निर्भय रहते हैं। यह उस देशकी साधारण प्रथा है। यदि कोई स्त्री किसी पुरुष-बन्धुसे एकान्तमें बातचीत करती है, तो उस समय उसका पति बिना उसकी आज्ञाके वहाँ जा नहीं सकता। यह उस देशका नियम है। दूसरी ओर आर्यजातिकी संस्कृतिमें इसके बिल्कुल विपरीत नियम प्रचलित है, जो धर्मशास्त्रकी आज्ञाके अनुसार पालित किया जाता है। स्त्रियोंके लिये रहनेके स्थानका नाम अन्तःपुर है; वहाँ परपुरुषकी तो बात ही क्या है, अपने घरके पुरुष भी सब समय नहीं जा सकते। आर्य-संस्कृतिमें परपुरुषके साथ नाचनेकी तो बात ही नहीं, प्रत्युत परपुरुषका स्पर्श भी हिंदूशास्त्रमें निषिद्ध है। नाचनेकी प्रथा हिंदूजातिमें अवश्य है; क्योंकि संगीतशास्त्रके तीन भेद हैं—नर्तन, गायन और वादन। परंतु जिन जातियोंमें नाचनेकी प्रथा है, उनकी स्त्रियाँ अन्तःपुरमें स्त्री-मण्डलीमें ही नाचती हैं। परपुरुषोंके साथकी तो बात ही क्या है, परपुरुषके सामने भी कुलीन स्त्रियोंका नाचना आर्यसंस्कृतिके विरुद्ध है। धार्मिक उत्सव और तीर्थ आदिमें आर्यस्त्रियाँ अपने पति आदि अभिभावकोंके साथ जाती हैं। एकाकिनी जाना या परपुरुषके साथ जाना, यह आर्यसंस्कृतिके विरुद्ध है। आजकलके राजनैतिक और सामाजिक नेतृवृन्दोंको इस तुलनात्मक गवेषणाको अपने बुद्धितत्त्वके सामने रखकर समाजसंस्कारकी बात सोचनी चाहिये। यूरोपीय सभ्यताकी बहुत-सी बातें आपातरमणीय होती हैं; किंतु वे परिणाममें विषवत् भयङ्कर सिद्ध होती हैं, इसका भी विचार रखना चाहिये। 'सूर्योदय'
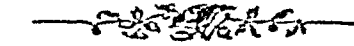
हिंदू और हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम')

आजकल हिंदू और हिंदू-संस्कृति शब्द सुननेमें तो बहुत आते हैं, परन्तु उसकी परिभाषा कोई नहीं करता। बहुत-से लोगोंको तो 'हिंदू' शब्दका अर्थ अपमानसूचक होनेका भी भ्रम है तथा इस शब्दकी प्राचीनतामें भी सन्देह है। अतः अतिसंक्षेपमें ही इसपर कुछ निवेदन करनेकी चेष्टा की जाती है।

'हिंदू' शब्दकी व्याख्यामें विद्वानोंने कहा है—

श्रुतिस्मृत्यादिशास्त्रेषु प्रामाण्यबुद्धिमवलम्ब्य श्रुत्यादिप्रोक्ते धर्मे विश्वासं निष्ठां च यः करोति स एव वास्तवहिंदूपदवाच्यः।

अर्थात् श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्रोंमें प्रामाण्यबुद्धिका अवलम्बन करके उनमें कहे हुए धर्ममें जो विश्वास और निष्ठा करता है, वही वास्तवमें 'हिंदू'-पद-वाच्य है। इसी प्रकार 'श्रुत्यादिप्रोक्तानि सर्वाणि दूषणानि हिनस्तीति हिंदुः' भी कहा जाता है। अर्थात् श्रुत्यादिप्रोक्त सर्व दूषणोंका जो हनन करे, वह हिंदू है।

प्राचीन ग्रन्थोंमें भी 'हिंदू' शब्द आया है। कुछ प्रमाण देखिये। मेरुतन्त्रमें—

हिंदूधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः।
हीनं च दूषयत्येव हिंदुरित्युच्यते प्रिये॥

(प्रकाश २३)

'कितने ही चक्रवर्ती राजा हिंदूधर्मका लोप करनेवाले होंगे। प्रिये! जो हीन वृत्ति और हीन आचारको दूषित करे—निन्द्य समझकर उसका त्याग करे, वह 'हिंदू' कहलाता है।' शार्ङ्गधरपद्धतिमें—

यवनैरवनिः क्रान्ता हिंदवो विन्ध्यमाविशन्।
बलिना वेदमार्गोऽयं कलिना कवलीकृतः॥

'यवनोंने इस पृथ्वीपर अधिकार कर लिया और पीड़ित हिंदू विन्ध्यगिरिकी गुफाओंमें प्रवेश कर गये। अहो! बलवान् कलिकालने इस वैदिक-मार्गको अपना ग्रास बना लिया।' इसीका रूपान्तर कालिकापुराणमें है—

बलिना कलिनाऽऽच्छन्ने धर्मे कवलिते कलौ।
यवनैरवनिः क्रान्ता हिंदवो विन्ध्यमाविशन्॥

'कलिमें बलवान् कलियुगद्वारा जब धर्मका स्वरूप आच्छादित एवं विलुप्त हो गया, तब यवनोंने इस भूमिपर अधिकार कर लिया और हिंदू विन्ध्य-प्रदेशमें चले गये।'

'शब्दकल्पद्रुम कोष' में 'हीनं दूषयति इति हिंदुः' 'पृषोदरादित्वात् साधुजातिविशेषः'—जो हीनको दूषित करे, वह हिंदू है। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार यह 'हिंदु' शब्द सिद्ध हुआ है। 'हिंदू' एक जाति-विशेषका नाम है। यह हिंदू शब्दकी व्याख्या की गयी है। अद्भुतकोषमें भी ऐसा आया है कि हिंदुर्हिंदूश्च प्रसिद्धौ दुष्टानां च विधर्षणे। रूपशालिनि दैत्यारौ' 'हिंदु' और 'हिंदू' शब्द दुष्टोंको हीन—तिरस्कृत करनेवालेके अर्थमें प्रसिद्ध है। सुन्दर रूपसे सुशोभित तथा दैत्योंके शत्रु—इन दोनों अर्थोंमें भी इनका प्रयोग होता है।' पारिजातहरण नाटकमें—

हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान्।
हेतिभिः शत्रुवर्गं च स हिंदुरभिधीयते॥

'जो अपनी तपस्यासे दैहिक पापों तथा चित्तको दूषित करनेवाले दोषोंका नाश करता है तथा जो शस्त्रोंसे अपने शत्रु-समुदायका भी संहार करता है, वह हिंदू कहलाता है।'

इस प्रकार अनेक स्थलोंपर 'हिंदू' शब्दका प्रयोग हुआ है। यहाँपर विस्तारके भयसे थोड़े-से उद्धरण दिये गये हैं। वस्तुतः 'हिंदू' शब्द न तो नवीन है और न इसका अर्थ ही अपमान-सूचक है।

अब 'संस्कृति' को लीजिये। संस्कार और संस्कृति एक ही धातुसे निकले हैं। दोनोंमें 'सम्' उपसर्ग है तथा संस्कारोंकी घनीभूतरूपसे केन्द्रीभूत समष्टि—समूह ही संस्कृति है। जिस प्रकार संस्कारोंके अनुसार ही चेष्टा, व्यवहार और कर्म आदि होते हैं, उसी प्रकार संस्कृतिके अनुसार ही राष्ट्रका भी उत्थान-पतन होता है। राष्ट्ररूपी शरीरमें संस्कृति प्राणस्वरूप है। जिस प्रकार पाञ्चभौतिक मानसपिण्डमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—त्रिविध शरीर होते हैं और उसमें स्थूल शरीरको तो देखा जाता है, किन्तु सूक्ष्म और कारण शरीरको साधारणतया चर्मचक्षुओंसे नहीं देखा जा सकता, परन्तु सभी बातोंमें प्रधान वही होता है, संस्कारोंका आधारभूत अन्तःकरण ही सारे कर्म करनेमें कारण होता है, उसी प्रकार संस्कृति भी इन आँखोंसे तो देखी नहीं जा सकती, परन्तु देश-जातिके कल्याण अथवा उन्नति-अवनति आदि सभी बातोंमें एकमेव प्रधान कारण वह संस्कृति ही है।

अब 'हिंदू-संस्कृति' की ओर ध्यान दीजिये कि वह है क्या वस्तु तथा उसका आधार क्या है। वास्तवमें किसी संस्कृतिका परिचय उसके इतिहास और साहित्यसे चलता है। अतः यहाँपर भी यह बात स्पष्ट है कि जब श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्रोंमें विश्वास एवं निष्ठा करनेवाला 'हिंदू' पद-वाच्य है, तब श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्र, रामायण-महाभारतादि इतिहास ही उसकी आधारशिला हैं, और उसमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि त्रिविध भावोंसे पूर्ण (त्रिविध शरीरके समान) कर्म, उपासना, ज्ञान, अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी सिद्धि प्रदान करनेवाली वर्णाश्रमधर्मादिकी जो शिक्षा-व्यवस्था है, उसके द्वारा जो इन्द्रियोंकी हलचल होती है, उसीका समष्टि सूक्ष्म घनीभूत व्यापक संस्कार ही 'हिंदू-संस्कृति' है। उसका ज्ञान जिस व्यक्तिको होगा, उसके संस्कार भी तदनुसार बनेंगे और संस्कारोंके कारण पुनः जो कर्म होगा अथवा जो व्यवहार और चेष्टा होगी, वह उस संस्कृतिका स्थूल रूप होगा। (यद्यपि कर्मसे संस्कार तथा संस्कारसे कर्म—ये दोनों बीज-वृक्ष-न्यायसे चलते हैं, तथापि जिस प्रकार सूक्ष्म कारण बीज ही होता है, उसी भाँति संस्कार एवं संस्कृति भी मूल कारण होते हैं।) अतः इसका भी स्पष्टीकरण हो गया कि हिंदू-संस्कृतिकी आधारशिला वेदादि शास्त्र तथा श्रुति-स्मृत्यादि ही हैं। हमारे पुराण-इतिहासमें उनका स्थूल रूप वर्णित है। उसमें अपने पूर्वजोंकी अनेक गौरवपूर्ण कथाएँ, आदर्श जीवन और ज्वलन्त उदाहरण भरे पड़े हैं।

हरिश्चन्द्र-जैसे सत्यवक्ता, धर्मराज युधिष्ठिर-जैसे धर्मनिष्ठ, कपिल, कणाद, गौतम, पतञ्जलि, जैमिनि तथा वेदव्यास-सदृश दर्शनशास्त्रनिर्माता, मनु-जैसे राजर्षि, कर्ण-दधीचि-से दानी, विक्रमादित्य-मान्धाताके समान महीपति, शिबिके समान शरणागत-रक्षक, भीष्म-जैसे आजन्म ब्रह्मचारी धर्मज्ञाता, भीम-जैसे बली, अर्जुन-जैसे वीर, अष्टावक्र-शुकदेव-सदृश ज्ञानी, सुतीक्ष्ण-अम्बरीष-जैसे भक्त, जनकके समान कर्मयोगी, याज्ञवल्क्य-अरविन्द-जैसे योगी, भगवान् शङ्कराचार्य-जैसे दार्शनिक महात्मा, तुलाधार-समाधिके समान वैश्य, नराकार रूपमें अवतरित श्रीभगवान् रामचन्द्रजी-से राजा, जिनके नामपर रामराज्यका आदर्श आज भी सहसा सभी लोगोंके मुखसे निकल ही पड़ता है, उनके समान नीति, प्रीति, परमार्थ, स्वार्थका यथार्थ ज्ञाता; अनसूया-सीता-सावित्री-सी पतिपरायणा नारी, गार्गी-सी ज्ञानमूर्ति और मदालसा-सी माताओंके आदर्श चरित्र हमारे इतिहासमें भरे पड़े हैं।

जिस प्रकार हमारे यहाँके वेद अपौरुषेय हैं तथा शास्त्र भ्रमादि-दोषोंसे रहित ज्ञानके भंडार हैं और पुराण-इतिहास उसके गौरवपूर्ण आदर्श हैं, उसी प्रकार उनकी नींवपर स्थापित हमारी हिंदू-संस्कृति भी संशय तथा भ्रमसे रहित है और उसकी नींव भी बड़ी गहरी है। यही कारण है कि उसका अस्तित्व किसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकता। (यद्यपि आजकल अज्ञानवशात् उसके छिन्न-भिन्न करनेका प्रयास अवश्य किया जा रहा है!)

वास्तवमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, लौकिक, पारलौकिक आदि सभी प्रकारकी उन्नति अपनी हिंदू-संस्कृतिके ही अपनानेसे हो सकती है और उसके लिये शास्त्रों तथा इतिहासका ही सहारा लेना होगा। इसके अतिरिक्त और कोई साधन ही नहीं है। वेदादि शास्त्र ही हिंदू-संस्कृतिके परिचायक हैं और उसके अनुयायी हमारे पूर्वज ही उसके आदर्श नायक हैं। इतिहास इसमें साक्षी और प्रमाण है।

जो लोग विद्या, बुद्धि अथवा समय आदिके अभावसे अथवा किन्हीं अन्य कारणोंसे सभी शास्त्रोंको नहीं देख सकते, उनके लिये सर्वशास्त्रमयी निखिलज्ञाननिधि एकमात्र श्रीमद्भगवद्गीता अपनी संस्कृतिके परिचायकरूपमें तथा श्रीरामचरितमानस आदर्श ज्वलन्त उदाहरणके रूपमें संस्कृतिनिष्ठ एवं कल्याणपात्र बनानेमें पर्याप्त है। यही 'हिंदू और हिंदू-संस्कृति' का सूक्ष्म और संक्षिप्त परिचय है और इसीके अपनानेसे तथा इसीके अनुसार चलनेमें हमारा और देशका कल्याण हो सकता है।

अन्त्यजोंके लिये मन्दिर-प्रवेशका निषेध क्यों ?

(श्रीवर्णाश्रमस्वराज्यसंघद्वारा प्रेषित)

सबसे पहले हम यह सोचें कि हिंदू ही मूर्तिपूजा क्यों करते हैं, जब कि अन्य धर्मवाले मूर्तिपूजक नहीं हैं। हिंदुओंके मूर्तिपूजा करनेका कारण यही है कि शास्त्रोंने यह बतलाया है कि मूर्तिपूजासे वे भगवत्कृपाके अधिकारी हो सकते हैं। मुसल्मान मूर्तिपूजा नहीं करते; क्योंकि कुरानने बतलाया है कि ऐसा करनेसे पाप लगेगा। हमें अपने शास्त्रोंपर विश्वास है, कुरानपर नहीं; इसलिये हमलोग मूर्तिपूजा करते हैं।

यदि शास्त्रोंपर विश्वास न हो तो मूर्तिपूजाका कुछ अर्थ ही नहीं है। शास्त्रोंके कोई वचन हमें यदि गलत मालूम होते हैं तो हमें यह मान लेना चाहिये कि हमने उन वचनोंका वास्तविक अभिप्राय समझा ही नहीं। पर यदि हम यह समझ बैठें कि शास्त्रोंके वे वचन ही गलत हैं और हम सही हैं तो यह कहना चाहिये कि शास्त्रोंपर हमें सच्चा विश्वास ही नहीं है।

जो शास्त्र मूर्तिकी पूजा करनेको कहते हैं, वे यह भी बतलाते हैं कि यह पूजा कैसे करनी चाहिये। पूजाके जो नियम हैं, उनमें एक नियम यह भी है कि किस प्रकारके लोगोंको मन्दिरोंमें प्रवेश न करने देना चाहिये। यदि हम यह सोचें कि कुछ जातियोंके साथ द्वेष होनेसे उनके लिये ऐसे नियम बने हैं, तब तो शास्त्रकारोंके सम्बन्धमें हमारी कल्पना बहुत ही थोथी है और फिर मूर्तिपूजा भी हमारे लिये निरर्थक है।

वेद बतलाते हैं कि हमारा जन्म पूर्वजन्मोंके कर्मोंसे निश्चित होता है। जो अच्छे कर्म करते हैं, वे ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णोंमें उत्पन्न होते हैं और जो बुरे कर्म करते हैं, वे चाण्डालादि योनियोंको प्राप्त होते हैं।* कोई मनुष्य जब पाप करता है, तब उससे उसका शरीर अशुचि हो जाता है और यह अशुचिता दूसरे जन्ममें भी उसके साथ चलती है। इसलिये ऐसे पुरुषका मन्दिरमें प्रवेश निषिद्ध है।

मन्दिर-प्रवेश ही ईश्वरकी उपासनाका एकमात्र साधन नहीं है। हमें ईश्वरकी उपासना अपने मनमाने ढंगसे नहीं, बल्कि शास्त्रोपदिष्ट मार्गसे ही करनी चाहिये। मन्दिरोंमें जिनका प्रवेश शास्त्रोंने निषिद्ध बतलाया, उनके लिये मन्दिरके शिखरदर्शनकी विधि शास्त्र बतलाते हैं और इससे उन्हें वही फल प्राप्त होता है, जो अंदर मूर्तिकी पूजा-अर्चा करनेवालोंको मिलता है।

ईश्वर तो सर्वत्र है। पर उसकी अभिव्यक्ति कहीं कम, कहीं अधिक है। उदाहरणार्थ—गङ्गाजलमें उसकी जितनी अभिव्यक्ति है, उतनी किसी नालेके पानीमें नहीं। शास्त्रविधिके अनुसार जिन मूर्तियोंकी पूजा होती है, उनमें उसका आविर्भाव सबसे अधिक होता है। यदि विग्रहकी पूजाके इन

* रमणीयचरणाः रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।

(छान्दोग्य० ५। १०। ७)

नियमोंका (जिनमें यह नियम भी है कि मन्दिरमें कौन प्रवेश करे और कौन नहीं) उल्लङ्घन किया जाता है तो विग्रहमेंसे देवत्व भी चला जाता है। एक नित्य परिचित वस्तु-का ही उदाहरण लीजिये । विद्युत् तो सर्वत्र ही है । पर उसे व्यवहारमें लाना तभी बन सकता है, जब कोई विद्युत्-उत्पादक यन्त्र हो, विद्युत्वाहक तार हो और प्रकाशक बल्ब हो । यदि विज्ञानकी रीतिसे यह सारी व्यवस्था की जाय तो हमें उससे प्रकाश, गतिशक्ति और संदेश मिल सकते हैं । पर यदि इस यान्त्रिक व्यवस्थाके नियम तोड़ डाले जायँ तो फिर ये चीजें उससे नहीं मिल सकतीं । इसी प्रकार मूर्तिपूजा-के सम्बन्धमें शास्त्रकी जो विधि है, उसका उल्लङ्घन करनेसे देवत्व उससे प्रकट न होगा ।

मन्दिरोंमें प्रवेश करनेसे अन्त्यजोंको कोई लाभ नहीं होता । उलटे शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेसे पाप लगता है । शास्त्रोंमें जो विधि है, उसे करना ही पुण्य है; जिसका निषेध है, उसे करना ही पाप है । यदि वे यह समझें कि उनके लिये मन्दिर-प्रवेशका निषेध उनके पूर्वजन्मकृत पापोंके कारण है और उन पापोंपर उन्हें पश्चात्ताप हो तो इससे उनके हृदय शुद्ध होंगे और वे पारमार्थिक उन्नतिके अधिकारी होंगे । मन्दिर-प्रवेशका निषेध इस तरह उनके लिये भी कल्याणप्रद ही होता है । किसी विषयपर भिन्न-भिन्न लोगोंमें परस्पर मतभेदका होना अनिवार्य है । पर जब एक मतके लोग अन्य मतके लोगोंपर जबर्दस्ती अपना मत लादनेका प्रयत्न करते हैं, तब शान्ति भंग होती है। सनातनियोंका सदासे एक निश्चित मार्ग है, एक विशिष्ट ढंगसे वे ईश्वरोपासना करते चले आये हैं। उनके विचारमें शास्त्र प्रमादरहित है । भगवान् श्रीकृष्णने भी **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ'** (गीता १६ । २४) 'कार्य-अकार्यके निर्णयमें शास्त्र ही तुम्हारे लिये प्रमाण है' यह कहकर उन्हींके पक्षका मण्डन किया है । 'शास्त्र' है—वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, मनुसंहिता, याज्ञवल्क्य-संहिता आदि । गीताके इस श्लोकका भाष्य करते हुए श्रीमत् शङ्कराचार्य और श्रीमत् रामानुजाचार्य दोनोंने ही 'शास्त्र' शब्दका यही अर्थ बताया है ।

कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें हम सदा अपनी बुद्धिका ही भरोसा नहीं कर सकते । मनुष्य प्रमादशील है, उससे भूलें हो ही जाती हैं । महात्मा गांधी-जैसे मनुष्योंसे भी भूलें होती हैं । पर शास्त्रोंमें भूल नहीं हो सकती । कारण, शास्त्र हैं स्वयं वेद और वे धर्मग्रन्थ, जो वेदार्थ बतलानेके लिये ऋषियो-ने बनाये । वेद किसी मनुष्यके लिखे नहीं हैं, अपौरुषेय हैं । इस कथनकी पुष्टिमें श्रीमत् शङ्कराचार्यने बृहदारण्यक उपनिषद्से यह वचन दिया है—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ।

'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस महत् भूत (परमपुरुष) के निःश्वास हैं ।'

महाभारत महर्षि वेदव्यासने रचा, जिसमें स्त्रियाँ, शूद्र और ऐसे ब्राह्मण जिन्होंने वेदोंका अध्ययन नहीं किया, वे वेदार्थको जानें । मनुसंहितामें वैदिक विधि-निषेधोंका संग्रह है, मनुके अपनी बुद्धिके निर्णय नहीं । मनुसंहितामें कहा है कि मनुष्यका परम ध्येय उस आत्मस्वरूपकी उपलब्धि है, जो सब प्राणियोंके अंदर है और जिसके अंदर सब प्राणी हैं* (मनु० १२ । ९१) । ऐसे पुरुषकी दृष्टि संकुचित हो, यह सम्भव नहीं है । यदि उनके कुछ वचन कठोर और पक्षपात-युक्त मालूम होते हैं तो इसका कारण यह है कि हम उनका वास्तविक अभिप्राय समझ नहीं सके हैं । महाभारतने मनु-संहिताके कई वचन उद्धृत किये हैं और मनुसंहिताको प्रमाद-रहित कहा है । मनुसंहिताकी रचना भगवद्गीतासे बहुत पहले हुई है, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता और गीता (१६ । २४) में जहाँ 'शास्त्र'की बात आयी है, वहाँ शास्त्रसे 'मनुस्मृति' भी अभिप्रेत है ।

अस्पृश्यताके नियम द्वेषमूलक नहीं हैं । मनुस्मृतिमें जहाँ यह कहा है कि चाण्डालका स्पर्श होनेपर स्नान करना चाहिये, वहीं उसीके साथ ही यह भी कहा है कि ऋतुवती या प्रसूता स्त्रीका (वह अपनी मा, बहिन, पत्नी—कोई भी हो सकती है) स्पर्श होनेपर स्नान करना चाहिये ।† (मनु० ५ । ८४) । शरीरको शुद्ध रखनेके लिये यह विधि है ।

मनुके सब वचनोंपर वेदोंकी मुहर लगी है और उनकी भगवान्‌की तरह ही स्तुति की गयी है । श्रीमत् शङ्कराचार्य और श्रीमत् रामानुजाचार्यने ब्रह्मसूत्रके अपने भाष्योंमें मनुस्मृति-की श्रेष्ठता बतलाते हुए यह वेदवचन उद्धृत किया है—**'यद्वै किं च मनुरवदत् तद् भेषजम्'** अर्थात् 'मनुने जो कुछ कहा है, वह औषध है ।'

* सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

† दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन

शास्त्रोंने उत्तमसे अधमतक सब वर्णोंकी वृत्तियाँ निश्चित कर दी हैं। किसी वर्णको यह अधिकार नहीं है कि वह किसी दूसरे वर्णकी वृत्ति छीन ले। यदि उच्च वर्णोंने अन्त्यजोंको सताया होता तो अमेरिकाके रेड इंडियनों और आस्ट्रेलियाके हाटेनटाटोंकी तरह अन्त्यजोंका कुलक्षय हुआ होता। भारतवर्षमें आज जो करोड़ों अन्त्यज हैं, ये न होते यदि सहस्रों वर्षोंसे वे 'दलित' या 'पीड़ित' किये गये होते।

महाभारतमें धर्मव्याधकी जो कथा है, उससे पता चलता है कि प्राचीन समयमें हरिजन स्वकर्मका पालन और शास्त्रोंकी आज्ञाओंका अनुसरणकर किस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्रमें परम उन्नत हो सकते थे। धर्मव्याध इतने ज्ञानसम्पन्न थे कि किसी ब्राह्मणको भी धर्मतत्त्व जाननेके लिये उनके पास जानेमें संकोच नहीं होता था। किसी हरिजनने शास्त्रमर्यादाका उल्लङ्घनकर मन्दिर-प्रवेश करके वैसी उन्नति लाभ की हो, इसका तो कोई दृष्टान्त अभीतक नहीं मिला है।

श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीवेदव्यास, श्रीवाल्मीकि, श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीचैतन्य, श्रीतुलसीदास, श्रीरामकृष्ण परमहंस आदि सभीने धार्मिक विषयोंमें सर्वोपरि शास्त्रको ही प्रमाण माना है। शास्त्र न माननेवालेको हिंदू नहीं कहा जा सकता। बाइबलको न माननेवाले ईसाई कहलानेके अधिकारी नहीं। कुरानको न माननेवाले मुसलमान नहीं। उसी प्रकार जो शास्त्रोंको नहीं मानते, वे हिंदू नहीं कहला सकते। इस प्रकार जो हिंदू नहीं हैं, उन्हें हिंदुओंकी पूजा-पद्धतिमें दखल देनेका क्या अधिकार है?

अस्पृश्यताके विषयमें मनुसंहिताके एक वचनका हम उल्लेख कर आये हैं। मन्दिर-प्रवेशके सम्बन्धमें भृगुसंहितामें यह निर्देश है कि 'चाण्डाल मूर्तिको स्पर्श नहीं कर सकता, न मन्दिरमें प्रवेश कर सकता है, न पूजा होती हो ऐसी अवस्थामें मूर्तिके दर्शन ही कर सकता है।'

इस सम्बन्धमें शास्त्रोंका निर्देश स्पष्ट है। सन्देहके लिये कोई अवकाश नहीं है। वर्णाश्रमस्वराज्यसंघकी ओरसे इस विषयकी मीमांसाके लिये सार्वजनिक सभाएँ की गयीं, जिनमें सब मतोंके पण्डितोंको बुलाया गया था। अब भी शास्त्रार्थके लिये हाईकोर्टके न्यायाधीशोंकी अध्यक्षतामें ऐसी सभाएँ की जा सकती हैं।

व्यवस्थापिका सभाओंके सदस्योंमें बहुत ही कम ऐसे लोग होंगे, जिन्होंने सद्गुरुके समीप बैठकर विधिपूर्वक वेदों और अन्य शास्त्रोंका अध्ययन किया हो। जिन्होंने इस प्रकार शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया, उन्हें क्या अधिकार है कि हिंदुओंकी उपासना-पद्धति कैसी हो और कैसी नहीं—इस विषयमें अपना वोट दें? यह काम तो उन विद्वानोंका है, जिन्होंने विधिपूर्वक शास्त्राध्ययन किया है। हिंदुओंमें आज भी सदाचारसम्पन्न विद्वान्, कांचीकामकोटिपीठ, शृंगेरी, पुरी, द्वारिका एवं ज्योतिर्मठके शङ्कराचार्य, काशीके स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज-जैसे सत्पुरुष विद्यमान हैं। उनका मत इस विषयमें क्यों नहीं लिया जाता?

ब्रिटिश पार्लमेंटमें धर्मविषयक कोई बिल नहीं पेश किया जा सकता, जबतक कि पादरियोंकी कमेटी उसे जाँच न ले और यह न कह दे कि ईसाई-धर्मके मौलिक सिद्धान्तोंका इससे कोई विरोध नहीं है। ऐसी ही एक कमेटी भारतवर्षके पण्डितोंकी हो, यह और भी अधिक आवश्यक है। कारण—

(१) ब्रिटिश पार्लमेंटमें गैर-ईसाई सदस्य बहुत ही कम हैं। पर भारतकी व्यवस्थापिका सभाओंमें अहिंदुओंकी सैकड़ावारी उससे बहुत अधिक है।

(२) हिंदुओंके उपनिषद्, धर्मशास्त्रादि शास्त्रसाहित्य ईसाइयोंके धार्मिक साहित्यकी अपेक्षा बहुत अधिक विशाल और गूढ़ हैं।

(३) आधुनिक हिंदुओंको विदेशी शिक्षा मिली है, जिससे वे अपनी धार्मिक परम्परासे विच्छिन्न हो गये हैं। शास्त्रोंके वास्तविक अभिप्रायको समझनेमें उनको भ्रम हो, यही अधिक सम्भव है।

यदि ऐसे आधुनिक सुधारक यह समझें कि सनातनियोंका पक्ष गलत है और ये सब सदाचारसम्पन्न विद्वान्, आचार्य और सत्पुरुष गलती करते हैं तो उचित यही है कि वे जिस ढंगकी मूर्ति-पूजा ठीक समझते हों, वही ढंग अपने लिये स्वीकार करें। वे चाहें तो अपने अलग मन्दिर बना सकते हैं और अन्त्यजोंके साथ बैठकर पूजा कर सकते हैं। यदि अन्त्यज अपने लिये अलग मन्दिर चाहते हों तो सनातनी अलग मन्दिर बनवानेमें उनकी सहायता कर सकते हैं। ऐसे बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें कि अन्त्यजोंने शास्त्रोंकी आज्ञाओंका अनुसरणकर परम आध्यात्मिक उन्नति की है। महाभारतके धर्मव्याधकी बात हम पहले कह आये हैं। चिदम्बरम्‌के नन्द, महाराष्ट्रके चोखामेला, बङ्गालके हरिदास, कर्णाटकके हरिदास, युक्तप्रदेशके रैदास आदि

अनेक संत भारतके विभिन्न प्रान्तोंमे अंत्यज जातियोंमेंसे निकले हैं। मन्दिर-प्रवेशके निषेधने उनकी आध्यात्मिक उन्नतिमें कोई बाधा नहीं डाली।

सनातनियोंकी जो पूजा-पद्धति है, उसमें हमारे सुधारकोंको कोई हस्तक्षेप न करना चाहिये। ऐसी कोई नयी बात न चलानी चाहिये, जो सनातनियोंकी दृष्टिमें मन्दिरोंको भ्रष्ट करनेवाली है। यह कहना बिल्कुल बेकार है कि 'सनातनी अंत्यजोंके प्रवेशसे मन्दिर भ्रष्ट होते हैं, यह विचार छोड़ दें।' बात यह है कि वे ऐसा समझते हैं। बहुसंख्यकोंके वोटसे कुछ नहीं होता। फिर बहुसंख्यकोंको यह अधिकार नहीं है कि शास्त्रीय पद्धतिसे पूजा करनेवाले अल्पसंख्यकोंका परम्परागत अधिकार वे छीन लें।

अंग्रेजी कानूनके इतिहासमें यह बात मिलती है कि एक नगर था, जिसमें रोमन कैथलिक संप्रदायके लोग बसते थे। वहाँ एक गिरजाघर बना। रोमन कैथलिक ढंगसे वहाँ उपासना चलती थी। पीछे उस नगरके अधिवासियोंमेंसे बहुतोंने प्रोटेस्टैंट संप्रदाय स्वीकार कर लिया। इन लोगोंने यह आन्दोलन उठाया कि गिरजाघरमें अब प्रोटेस्टैंट संप्रदायके अनुसार उपासना होनी चाहिये; क्योंकि प्रोटेस्टैंटोंका बहुमत है। मामला कोर्टके सामने आया। कोर्टने फैसला दिया कि जबतक एक भी रोमन कैथलिक ऐसा रहेगा, जो कहे कि रोमन कैथलिक ढंगसे ही उपासना होनी चाहिये, तबतक गिरजाघरकी उपासना-पद्धतिमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

अबतक जो परिपाटी चली आती है, उससे यही निश्चित होता है कि इन प्राचीन मन्दिरोंके संस्थापकों और धन देकर उनकी सहायता करनेवालोंका यही उद्देश्य था कि इन मन्दिरोंमें शास्त्रकी रीतिसे ही पूजा-अर्चा हो और जिन लोगोंका प्रवेश निषिद्ध हो, उन्हें इनमें प्रवेश न करने दिया जाय। मन्दिरोंके प्रतिष्ठापकों और उनके सहायकोंकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम करनेका ट्रस्टियोंको कोई अधिकार नहीं है। संस्थापकों और उनके सहायकोंकी इच्छाके विरुद्ध ट्रस्टियों या जनताके बहुसंख्यकोंकी इच्छा चलने नहीं दी जा सकती।

अंत्यजोंमेंसे अधिकांश लोग मन्दिर-प्रवेश नहीं चाहते। बहुतोंने वैसा स्पष्ट कहा भी है। वे चाहते हैं, राजनीतिक अधिकार और आर्थिक सम्पन्नता। सनातनियोंको इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

मन्दिर-प्रवेशसे मन्दिरोंकी क्या गति होगी, यह भी हमें समझना चाहिये। जब मन्दिरोंमें अंत्यज घुसते हैं, तब उन मन्दिरोंको सनातनी, सुधारक और अंत्यज—तीनों ही छोड़ देते हैं। सनातनी इसलिये छोड़ते हैं कि मन्दिर भ्रष्ट हो गये। सुधारकों और अंत्यजोंको मन्दिरोंसे कुछ मतलब ही नहीं है, वे क्यों जाने लगे?
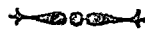
हिंदुओंका भाग्य

(रचयिता—श्रीलक्ष्मीनारायण गुप्त 'कमलेश')

गौतम, जाबालि, व्यास, वामदेव, वाल्मीकि,
कपिल, कणाद-से महान ब्रह्मज्ञानी थे।
अर्जुन-से वीर, अम्बरीषके समान भक्त,
हरिश्चन्द्र, कर्णके समान यहाँ दानी थे॥
नारद-से संत, सती सीता-अनुसूया-सम,
सत्य-सदाचार-पूर्ण एक-एक प्रानी थे।
ऐसा था हिंदुओंके भाग्यका अतीत काल,
सुयश यहाँके देवलोककी कहानी थे॥

स्पर्शास्पर्श-विवेक

शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेक जो आर्य-धर्मका प्रधान अङ्ग है, उसके विषयमें वर्तमान राजनैतिक जगत्‌में शास्त्रीय ज्ञान न होनेके कारण अनेक शङ्काओं और उपद्रवोंका सामना धार्मिक जगत्‌को करना पड़ रहा है। दर्शन-शास्त्रके न जाननेसे ही लोगोंको ऐसी बातोंपर सन्देह हो सकता है। वस्तुतः आर्य जातिका शुद्धाशुद्ध-विवेक तथा स्पर्शास्पर्श-विवेक दृढ़ दार्शनिक भित्तिपर स्थित है। शरीरमें पाँच कोश हैं, जिनसे आत्मा ढका रहता है। वे अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष कहलाते हैं। इन पाँचोंको साधारण रीतिसे समझनेके लिये यह इङ्गित किया जाता है कि अन्नके सहारे जो घटता-बढ़ता है, उसे अन्नमय कोष कहते हैं। अन्नमय कोषका जो संचालन करता है, उसे प्राणमय कोष कहते हैं; प्राणमय कोषको जो चलाता है और जो मनके द्वारा व्यवस्थित रहता है, उसे मनोमय कोष कहते हैं। मन उसका केन्द्र है। मनको जो सदसद्विचारके द्वारा पथप्रदर्शन करके चलाता है, वह विज्ञानमय कोष कहलाता है। बुद्धितत्त्वके परे आत्माकी स्थिति शास्त्रने मानी है—जैसे '**यो बुद्धेः परतस्तु सः**' (गीता ३।४२) और परमात्मासे जीवात्माको अलग करनेवाला द्वैतभावोत्पादक पञ्चम आनन्दमय कोष कहलाता है। इन पाँचो कोषोंको मलिन करनेके स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पाँच कारण हैं। जिन अपवित्र स्थूल पदार्थोंके द्वारा अन्नमय कोष अपवित्र होता है, उनको मल कहते हैं। प्राणमय कोषको मलिन करनेवाला विकार कहलाता है। मनोमय कोषमे जो विषमता उत्पन्न करता है, उसे विक्षेप कहते हैं। विज्ञानमय कोषमें जो अपवित्रता उत्पन्न करता है, उसे आवरण कहते हैं। आनन्दमय कोषमें जो अपवित्रता उत्पन्न करता है, उसे अस्मिता कहते हैं। अस्मिता आत्मस्वरूपको ढकती है तथा जितनी ही अस्मिताकी अभिवृद्धि होती है, उतना ही अज्ञान बढ़ता जाता है। इन पाँचो प्रकारके कोषोंमें (शरीरोंमे) पाँच प्रकारकी मलिनता न बढ़ने पाये, इसीका नाम शुद्धाशुद्ध-विवेक तथा स्पर्शास्पर्श-विवेक है। इस बातको मीमांसाशास्त्रने अच्छी तरह सिद्ध किया है। इस दार्शनिक रहस्यको विशेष स्पष्ट करनेके लिये कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

धोनेसे तथा सचैल (वस्त्रसहित) स्नानादि करनेसे अन्नमय कोषकी अपवित्रता दूर होती है। यह स्पष्ट ही है कि शव आदिके स्पर्शसे वह मलिन होता है। जब मृत देहसे प्राणमय कोष अन्य कोषोंके साथ लोकान्तरमें चला जाता है, तब स्वतः उसमें प्राणमय कोषका अभाव होनेसे शवस्पर्शकारीके प्राण खिंच जाते हैं। इसीलिये शवस्पर्शके लिये स्नान, अग्नि-सुवर्ण आदिका स्पर्श करके अपने प्राणमय कोषको पवित्र करनेकी विधि शास्त्रोंमें वर्णित है। देवमन्दिरस्थ मूर्ति आदिमे जो पीठ बनता है, वह प्राणमय कोषकी क्रियाका ही परिणाम है। आर्यजाति उसी पीठमें व्यापक दैवी शक्तिकी पूजा किया करती है। जहाँ चेतन शक्तिका विकास होता है, उसीको पीठ कहते हैं। जिस पीठमें जैसी संस्कारपरम्परा रहती है, विरुद्ध स्पर्श-द्वारा उसको नष्ट करनेसे पीठाभिमानी देवता अप्रसन्न होता है। मनोमय कोषके मलिन होनेका उदाहरण सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, अशौचादि समझना उचित है। सूर्य और चन्द्रकी शक्तिका प्रभाव जो मनोमय कोषपर रहता है, उसमें ग्रहणसे बाधा होती है; इसलिये उसमें सामयिक मलिनता आती है। स्नान, दान, जपादिद्वारा उस मलिनताको दूर किया जाता है। अशौचादिके द्वारा मनोमय कोषमें जो अपवित्रता होती है, वह श्राद्ध आदि-द्वारा दूर होती है। विज्ञानमय कोषकी अपवित्रता कुसंगादि-से होती है। इसको दूर करनेसे तथा सत्संगति करनेसे विज्ञानमय कोष पवित्र होता है। इसी कारण शास्त्रोंमें साधुसंगकी बड़ी महिमा है और अस्मिता जो जीवभावका मूल कारण है, उसकी वृद्धि होनेसे आनन्दमय कोषमें अपवित्रता बढ़ती है। निष्काम कर्म, ईश्वर तथा गुरुमें अहैतुकी भक्ति और ज्ञानके द्वारा आनन्दमय कोषकी अपवित्रता दूर होती है। ऐसे शुद्धाशुद्ध-विवेक तथा स्पर्शास्पर्श-विवेककी महिमा न समझकर अज्ञलोग स्वयं विपथगामी होते हैं तथा समाजको भी विपद्ग्रस्त करते हैं। आशा है, इन थोड़े उदाहरणोंसे विज्ञलोग सचेत होकर समाजके अमङ्गलका कारण न बनेंगे, और दैवी जगत्‌को अप्रसन्न करके अपना अमङ्गल नहीं करेंगे। मनमाने निरंकुश होकर काम करनेसे विपत्ति अवश्य भोगनी पड़ती है और सोच-समझकर काम करनेसे सब ओर मङ्गल होता है। 'सूर्योदय'

वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा)

इतिहासके अनुसार मेगास्थिनिस् पश्चिम एशियाके ग्रीक-सम्राट् सेल्यूकसके राजदूत थे। वे ईसाके पूर्व चतुर्थ शताब्दीके शेष भागमें (आनुमानिक ३०२) मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्तकी राजसभामें आये थे। उन्होंने तत्कालीन भारतका एक सुन्दर और विशद विवरण लिखा था; परंतु दुःखका विषय है कि कालक्रमसे उसका अधिकांश लुप्त हो गया है। स्ट्रैबो, डियोडोरस (Strabo, Diodorus) इत्यादि विभिन्न लेखकोंके ग्रन्थोंमें उद्धृत उसके अंशमात्र ही आधुनिक कालमें उपलब्ध हैं।

जहाँ-जहाँ मेगास्थिनिस् सुनी हुई बातोंपर निर्भर रहे, वहाँ-वहाँ कुछ त्रुटियाँ रहनेपर भी समष्टिरूपसे उनका वर्णन विश्वसनीय है। उदाहरणस्वरूप खेदामें हाथी पकड़नेके विषयपर उनका वर्णन अत्यन्त रोचक है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे उनके विवरणका मूल्य अपरिमेय है। उसका कारण यह है कि भारतवर्षके सम्बन्धमें उनके पूर्व किसी भी विदेशीका विश्वासयोग्य लेख कम मिलता है।

मेगास्थिनिस्के लेखमें है कि भारतमें सात जातियाँ थीं—दार्शनिक, योद्धा, शिल्पी, कृषक, पशुपालक, सदस्य और परिदर्शक। इस वर्णनमें अवश्य ही भूल है। कहना नहीं होगा कि चन्द्रगुप्तके समयमें भारतवासी (कुछ बौद्धोंको छोड़कर) सनातन वैदिक-धर्मावलम्बी थे।

इतिहासके वर्तमान पाठ्य-ग्रन्थोंमें उपर्युक्त सात जातियोंका तो उल्लेख किया जाता है; किंतु आश्चर्यका विषय है कि इसके बाद मेगास्थिनिस्ने जो कुछ लिखा, उसपर तनिक भी विचार नहीं किया जाता। इसका कारण यह है कि पाश्चात्त्य विद्वान् एवं उनके अनुयायी यह बताना चाहते हैं कि भारतमें प्राचीन कालमें जन्मगत वर्ण अथवा जातिभेद नहीं था; यदि जातिभेद था तो कर्मद्वारा। और विभिन्न जातियोंके बीच विवाहमें कोई बाधा नहीं थी! इस प्रकारके भ्रान्त विचार कई इतिहासों तथा अन्य ग्रन्थोंमें प्रकट किये गये हैं।

परंतु मेगास्थिनिस्का कहना है कि 'किसीको न तो अपनी जातिके बाहर विवाह करनेकी और न अपनी वृत्तिको छोड़कर अन्य वृत्ति ग्रहण करनेकी अनुमति है। उदाहरणार्थ—योद्धा कृषक नहीं बन सकता और शिल्पी दार्शनिक नहीं बन सकता।'

वे अन्यत्र लिखते हैं कि 'अपनी जातिके बाहर किसीके भी विवाहका अनुमोदन नहीं किया जाता अथवा किसीको भी अपनी वृत्ति किंवा व्यवसायका परिवर्तन नहीं करने दिया जाता। अथवा कोई एकाधिक वृत्तिको नहीं ले सकता। केवल दार्शनिकोंके लिये ही इसका व्यतिक्रम होता है। दार्शनिक धार्मिक हैं, इसलिये वे वैशिष्ट्य भोग करते हैं।'

'इस देशकी रीतिके अनुसार अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध है। उदाहरणार्थ—कृषक शिल्पी जातिकी किसी स्त्रीसे विवाह नहीं कर सकता। प्रथानुसार किसी मनुष्यको दो प्रकारकी वृत्तियाँ करना मना है। कोई एक जातिसे दूसरी जातिमें प्रवेश नहीं कर सकता। यथा—यदि कोई पशुपालक है तो कृषक नहीं बन सकता। सभी जातियोंके लोग त्यागी बन सकते हैं। कारण, त्यागीका जीवन सहज नहीं वरं सर्वापेक्षा कठोर ही है।'*

उपर्युक्त लेखसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि आजसे २२००-२३०० वर्ष पूर्व भारतमें वर्ण अथवा जाति जन्मगत थी और कर्म भी जन्मानुसार ही था। यह निर्विवाद है कि

---

* "No one is allowed to marry out of his own caste, or to exchange one profession or trade for another, or to follow more than one business. An exception is made in favour of the Philosopher, who for his virtue is allowed this privilege." (McCrindle: *Megasthenes*, pp. 85-86)

"No one is allowed to marry out of his own caste or to exercise any calling or art except his own: for instance, a soldier cannot become a husbandman, or an artisan a philosopher." (P. 41)

"The custom of the country prohibits inter-marriage between the castes: for instance, the husbandman cannot take a wife from the artisan caste, nor the artisan from the husbandman caste. Custom also prohibits anyone from exercising two trades, or from changing from one caste to another. One cannot, for instance, become a husbandman if he is a herdsman, or become a herdsman if he is an artisan. It is permitted that the Sophist only be from any caste: for the life of the Sophist is not an easy one, but the hardest of all." (P. 218)

उस कालमें समाज मनुके विधानसे शासित होता था। यह एक भव्य वैदेशिकका लिखा हुआ निरपेक्ष प्राचीनतम ऐतिहासिक प्रमाण है। इसको किसी भी प्रकारसे उड़ा देना संभव नहीं है।

हमलोगोंमेंसे अधिकांशका ज्ञान नाटक अथवा उपन्यासोंमें सीमाबद्ध है। जिन लोगोंने 'चन्द्रगुप्त' नाटक या छायाचित्र देखे होंगे, वे कहेंगे कि 'क्यों, चन्द्रगुप्त मौर्यके साथ तो यवनराज सेल्यूकसकी कन्या हेलेनका विवाह हुआ था?' किंतु 'हेलेन' सम्पूर्ण कविकल्पना है। इतिहासमें सेल्यूकसकी किसी भी कन्याका विवरण नहीं है, जिससे चन्द्रगुप्तका विवाह हो सकता था। वैदिक समाजकी कठोर नीति प्राचीन युगमें उल्लङ्घन नहीं की जा सकती थी।*

मेगास्थिनिस्ने तत्कालीन वर्णाश्रमधर्मके जो चित्र अङ्कित किये हैं, वे चित्ताकर्षक हैं। स्थानाभावसे संक्षिप्तरूपसे ही उनकी आलोचना की जाती है।

ब्राह्मण और श्रमण

मेगास्थिनिस्ने दार्शनिकोंके ब्राह्मण और श्रमण—ये दो भाग किये हैं।

(१) ब्राह्मण—गर्भसे ही ब्राह्मणोंके मन्त्र-संस्कार इत्यादि होते हैं। जन्मके बाद क्रमानुसार एक गुरुके बाद दूसरे और भी गुणवान् गुरुके समीप शिक्षा होती रहती है। आचार्यगण नगरोंके बाहर तपोवनमें बहुत सरल जीवन यापन करते हैं। वे कुश अथवा अजिनपर शयन करते हैं; मत्स्य, मांस या आमिष-आहार वर्जित है। ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, गम्भीर तत्त्वोंपर उपदेश सुनते और शिक्षा देते हैं। इस प्रकार ३७ वर्ष व्यतीत करनेके उपरान्त ब्राह्मण गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते हैं; तबसे वे सूक्ष्म वस्त्र परिधान करते तथा सामान्य स्वर्णालंकार धारण करते हैं। उष्णवीर्य अथवा मसाला दिया हुआ खाद्य निषिद्ध है। एकाधिक स्त्रीसे विवाह चलता है। भारतमें दास-प्रथा नहीं है, इसलिये अधिक परिजनका प्रयोजन है।

ब्राह्मणोंकी पद-मर्यादा सर्वोच्च है, किंतु जातिके हिसाबसे उनकी जनसंख्या सबमें अल्प है; जो यज्ञ अथवा अन्य धर्म-कर्म करना चाहता है, वह उनको नियुक्त करता है।

वर्षके प्रारम्भमें तोरणद्वारके सामने राजा एक महती सभामें ब्राह्मणोंको सम्मिलित करते हैं। इस वर्ष यदि किसी पण्डितके द्वारा कामके तत्त्वपर कुछ लिखा होता है अथवा खाद्य, खेती अथवा पालतू पशुओंकी उन्नतिके विषयपर किसी नये उपायका अनुसन्धान किया गया होता है या जनसाधारणके उपकारकी किसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त हुआ होता है तो जनसाधारणके सामने सभामें उसकी घोषणा की जाती है।

ब्राह्मणगण मृत्युके विषयपर आलोचना करते हैं। मृत्यु भी एक दूसरे जन्म-सरीखी वस्तु समझी जाती है। वे जगत्को माया समझते हैं। मेगास्थिनिस्ने जन्म, आत्माकी अमरता, पाप-पुण्यके फल प्रभृति तत्त्वोंका विशदरूपसे वर्णन किया है।

ब्राह्मणगण तपस्या करते और ब्रह्मज्योतिके दर्शन करते हैं।

वे समय-समयपर चितारोहणसे प्राणत्याग कर देते थे। स्फाइनेस (Sphines) नामक एक ब्राह्मण तक्षशिलासे माकिदनीय वाहिनीके साथ गया था। ग्रीक लोगोंने उसका नाम कलानस् (Kalanos) रक्खा। (मालूम होता है कि वह 'कल्याण' कहकर आशीर्वाद देता होगा।) वह जितेन्द्रिय नहीं था एवं ग्रीकोंके साथ भोजनादि करता था। इसलिये उसके देशवासियोंने उसको धिक्कार दिया। वह फारस देशमें बीमार पड़ा और उसने ग्रीकसेनाके सामने जलती हुई चितापर चढ़कर प्राणत्याग कर दिया, किंतु जलते समय उसके किसी भी यन्त्रणाका चिह्न नहीं दिखायी दिया। मालूम होता है कि वह चितापर आसन और समाधि लगाकर बैठा था।*

उपर्युक्त घटनासे यह स्पष्ट होता है कि आहार-विहारका नियम भारतमें उस समय भी बड़ा कठोर था। आजकल यह कहा जाता है कि 'इस समय हमारा धर्म केवल चौके-चूल्हेमें

---

* "There seems however to be no room in his (Seleucos') family circle, as we otherwise know it, for any relationship of this kind. × × What is implied is a *convention*, a *jus connubii* between the two royal families. In the land of caste, a *jus connubii* between the two peoples is unthinkable." (Cambridge History, p. 431).

* "Suddenly in Persia he (Kalanos) announced his resolution to live no longer. × × × In sight of all the army he ascended the pyre and adopted the due posture. × × × As the flames mounted and wrapped the figure of the sage, the onlookers saw it still motionless. This was the way in which Kalanos chose to take leave of the Yavanas."

(Cambridge History, p. 381) (Arrian VII. 3, Strabo XV. C. 717)

ही आ घुसा है। कभी ऐसा नहीं था, सबके साथ खानपान प्रचलित था। आजकल इस जातिभेद और छूआछूतके कारण ही हमारा पतन हुआ है।' किंतु मेगास्थिनिसके वर्णनसे यह प्रमाणित होता है कि उस समय भी हर किसीके साथ खान-पान वर्जित था और भोजनमें पवित्रताकी रक्षाकी समुचित व्यवस्था थी।

मेगास्थिनिसका कहना है 'और जो सब कार्य किये जाते हैं, उनका समर्थन नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ—वे (भारतीयगण) सदा ही अकेले आहार करते हैं। सहभोजके लिये कोई निर्दिष्ट समय नहीं है।'

'भारतीय जब भोजन करने बैठते हैं, तब प्रत्येकके सामने एक तिपायी चौकी रक्खी जाती है। उसपर एक स्वर्णपात्र रक्खा जाता है, जिसमें पहले सिद्ध चावल परोसे जाते हैं (चावलोंको जौकी भाँति पकाया जाता है)। तदनन्तर भारतीय प्रथासे बनायी हुई अन्यान्य खाद्य वस्तुएँ परोसी जाती हैं। *

स्वर्णपात्रके उल्लेखसे प्रतीत होता है कि यह वर्णन राजा अथवा सम्पन्न लोगोंके सम्बन्धमें है; किंतु तिपायी चौकी अलग-अलग रक्खी जाती थी, इस बातपर लक्ष्य करना चाहिये। सब अकेले भोजन करते थे। एक ही आसनपर एक साथ बैठकर किया गया भोजन उच्छिष्ट माना जाता था। यूनान देशमें सहभोजकी प्रथा थी।

आजकल भी महाराष्ट्रादि प्रान्तोंमें आसनके सामने पाटेपर पात्र रखकर भोजन करनेका नियम है।

भगवान्ने गीतामें कहा है—'उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥' महाभारतमें भी जगह-जगह आहारके सम्बन्धमें कठोर नियमोंका उल्लेख है—

शूद्रस्य तु कुलं हन्ति वैश्यस्य पशुबान्धवान्।
क्षत्रियस्य श्रियं हन्ति ब्राह्मणस्य सुवर्चसम्॥
तथोच्छिष्टमथान्योन्यं संप्राशेन्नात्र संशयः।

(महा० अनु० १३६। २३-२६)

शूद्रके शूद्रके साथ एक पात्रमें भोजन करनेसे उसका कुलक्षय, वैश्यके वैश्यके साथ एक पात्रमें भोजन करनेसे उसके पशु और बान्धवका, क्षत्रियके क्षत्रियके साथ एक पात्रमें भोजन करनेसे श्रीका नाश एवं ब्राह्मणके ब्राह्मणके साथ एक पात्रमें भोजन करनेसे उनके तेजका नाश होता है। अतएव एक दूसरेका जूठा खाना यानी कई लोगोंका एक पात्रमें भोजन करना अत्यन्त अवाञ्छनीय है।' आजकल तो एक-दूसरेका जूठा खानेमें लोग गौरव समझते हैं!

९०० वर्षके बाद आनेवाले प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांगने लिखा है कि 'आहारके पूर्व सब लोग स्नान करते हैं। पूर्वके भोजनावशिष्ट जूठे पदार्थोंका कभी भी व्यवहार नहीं होता। एकके पात्र दूसरेको भोजनके समय नहीं दिये जाते।'

(२) श्रमण—('श्रमण' का अर्थ यहाँ बौद्ध भिक्षु नहीं, संन्यासी है) श्रमणोंमें हैलोबिये (Hylobioi) श्रेष्ठ हैं। वे वनमें निवास करते हैं, कन्द मूल-फल खाते हैं। वल्कल पहनते और अञ्जलिसे जलपान करते हैं। वे ब्रह्मचारी हैं, मद्यपान नहीं करते। राजालोग दूतोंके द्वारा इनसे वार्तालाप एवं परामर्श करते हैं। वे इनकी सहायतासे भगवान्की आराधना करते और कृपाभिक्षा माँगते हैं।

सिकन्दरने पंजाबमें बहुत-से योगी पुरुषोंको देखा था। मन्दनीस (Mandanes) नामक एक योगी बड़े जितेन्द्रिय थे। एक बार सिकन्दरने उनको अपने पास बुलाया, पर उन्होंने उसके आवाहनको अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा कि जीवन, मृत्यु या दण्ड—किसीमें भी उनका अनुराग या विराग नहीं है और न उन्हें सिकन्दरसे कोई भय ही है। सिकन्दरने उनकी बड़ी प्रशंसा की। ओनसीक्रिटसने भी तक्षशिलाके निकट योगियोंके दर्शन किये थे।*

चिकित्सकोंका स्थान इनके बाद ही है। वे अति सरल रूपसे जीवन यापन करते हैं। उनका आहार चावल और जौ है। बिना माँगे वह अपरिचितरूपसे उनको मिल जाता है।

* "But other things they do, which one cannot approve: for instance, that they eat always alone, and that they have no fixed hours when meals are to be taken by all in common. × × ×" (pp 68-69)

"When the Indians are at supper, a table is placed before each person, this being like a tripod. There is placed upon it a golden bowl, into which they first put rice, boiled as they would boil barley, and then they add many dainties prepared according to Indian recipes." (McCrindle: *Ancient India, Megasthenes*, p. 72)

* "Onesicritus found fifteen ascetics some ten miles from the city (Texila) sitting naked and motionless in the sun so hurning that one could not walk over the stones with bare feet."

(Cambridge History of India, p. 358)

वे ओषधिके प्रभावसे वन्ध्यत्व-निवारण और इच्छानुरूप पुत्र या कन्याका निर्माण गर्भमें करा सकते हैं; किंतु वे ओषधिकी अपेक्षा आहारके संयम और पथ्यसे ही अधिक रोगोंका मोचन करते हैं। मलहम और प्रलेपकी बहुत ही उत्कृष्ट ओषधियाँ उनके पास हैं।

भारतवासी सर्पदंशन आरोग्य कर सकते हैं। सिकन्दरके शिविरमें साँपके कई ओझोंको एकत्र किया गया था।

स्त्रियाँ भी शास्त्रचर्चा करती हैं और ब्रह्मचारिणी होकर तपोवनोंमें निवास करती हैं।

क्षत्रिय और राजागण

क्षत्रिय एवं राजाओंके विषयमें मेगास्थिनिस्ने लिखा है कि 'राजाके लिये दिवानिद्राका नियम* नहीं है।' (पृ. ७०)

राजा दिनभर न्यायसभामें रहते हैं। वहाँका कार्यक्रम कभी भी बंद नहीं रहता। यहाँतक कि जब काठके दंड (सिलिन्डर) से राजाका गात्र-मर्दन किया जाता है, उस समय भी राजकार्य बंद नहीं रहता। इधर चार सेवक मर्दनका कार्य करते रहते हैं और राजा अभियोग सुनते रहते हैं।

यज्ञ (इससे अनुमान होता है कि संभवतः चन्द्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय थे; कई ऐतिहासिकोंका यही मत है) अथवा पूजा करनेके लिये वे महलके बाहर जाया करते हैं और इसके अतिरिक्त केवल मृगयाके लिये ही बाहर जाते हैं।

इस विवरणके साथ १८०० वर्षोंके बाद विजयनगरके प्रसिद्ध सम्राट् कृष्णदेव रायकी दिनचर्या तुलनीय है।

मेगास्थिनिस्का कहना है कि 'भारतीयगण इसके अतिरिक्त और कई नियमोंका अनुसरण करते हैं। इसलिये वहाँ दुर्भिक्षका निवारण होता है। अन्य देशोंके लोग युद्धके समय साधारणतया भूमि और खेतोंको उजाड़ देते हैं, जमीनको खेतीके योग्य नहीं रहने देते। परंतु यहाँ किसान भूमिका कर्षण करता है। इस कारण यहाँके निवासी उनपर कोई उपद्रव करना अनुचित समझते हैं। पड़ोसमें युद्ध चलता रहता है, परंतु किसान बिना किसी बाधा-विपत्तिके अपना काम करते रहते है। दोनो पक्षोंके सैनिक परस्पर रक्तपात करते हुए भी खेतीमें लगे हुए लोगोंको किसी प्रकार भी सताना नहीं चाहते; इसके अतिरिक्त वे 'शत्रुओंके देशमें कभी आग नहीं लगाते और न वृक्षोंको ही काटते हैं।'

* दिवानिद्रा सभीके लिये मना थी।

कृषकवर्ग

कृषक द्वितीय जाति है। समाजमें इन्हींकी जन-संख्या अधिक है। इनका स्वभाव अति शान्त और भद्र है। इनको युद्धवृत्तिसे छुटकारा दिया जाता है और ये निर्भय होकर अपनी जमीनमें खेती करते हैं। वे कभी नगरमें नहीं जाते। इस कारण कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही समय एक ही स्थानमें सेना तो युद्धसज्जासे सज्जित होकर प्राणपणसे युद्ध कर रही है और उसीके निकट अन्य लोग पूर्ण निर्भय होकर अपनी रक्षाका भार सेनाके ऊपर छोड़कर खेती, खुदाई आदि कार्य कर रहे हैं।' (पृ० ८३ से ८४)

उस समय खेतीका अधिकांश कार्य शूद्रोंके हाथमें ही था। यह लक्ष्यका विषय है कि उनको युद्ध नहीं करना पड़ता था। इधर तो यह हाल था और उधर ग्रीक जाति युद्धमें किसी देशपर विजय प्राप्त करनेपर उस देशकी कैसी दुर्दशा करती थी, इसका वर्णन प्रसिद्ध अमेरिकन अध्यापक विल डुरेन्टकी भाषामें पढ़िये—'(ग्रीस देशमें) विजय किये हुए नगरोंको लूटना, घायलोंकी हत्या करना, जो लोग शुल्क नहीं दे सकते, ऐसे बन्दियोंको (चाहे वे योद्धा हों या असामरिक हों) गुलामोंमें परिणत करना, सारे घरों, फलोंके वृक्षों और तमाम खेतीको जला डालना, समस्त पालतू पशुओंका वध और अगली खेतीके बीजतकका विध्वंस कर देना ग्रीस देशके अन्तर्वर्ती युद्धोंमें भी एक नियमित व्यापार था।'*

यह कहना युक्तियुक्त है कि कूटनीतिज्ञ और अधर्मयुद्धमें प्रवृत्त विदेशियोंके साथ धर्मयुद्ध करनेसे ही वैदिक जाति बार-बार पराजित हुई है। शत्रुओंकी घुड़सवार सेनाने पीछेसे या बगलसे पैदल सेनापर भीषण आक्रमण करके उसके व्यूहको तोड़ दिया; किंतु पिछले दिनों पहलेतक भी भारतीय हिंदुओंने सम्मुख युद्धका त्याग नहीं किया। आज भी कूटनीतिकी चालबाजीमें हमलोग भूल ही करते जा रहे हैं!

* 'It is a regular matter, even in civil wars, to sack the conquered city, to finish off the wounded, to slaughter or enslave all unransomed persons and all captured non-combatants, to burn down the houses, the fruit trees, and the crops, to exterminate the live stock, and to destroy the seed for future sowings.' (Will Durant, *Life of Greece*, p. 226)

मेगास्थिनिसके वर्णनसे ज्ञात होता है कि साढ़े बाईस सौ वर्ष पूर्व भारतमें वर्णाश्रम-व्यवस्था दृढ़रूपसे प्रतिष्ठित थी। वर्ण एवं जातिभेद जन्मगत था, कर्मगत नहीं; इतना ही नहीं, कोई भी मनुष्य अपने वर्णगत कर्मका त्याग नहीं कर सकता था। दूसरी जातिमे विवाह निषिद्ध था। परंतु अनुलोम-विवाहमें बाधा नहीं थी। ब्राह्मणगण ब्रह्मचर्य-समावर्तनके बाद गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रमका पालन करते थे। तपोवन और गुरुगृह कविके द्वारा अङ्कित काल्पनिक चित्र नहीं हैं। सत्य ही तपोवन और गुरुगृह भारतमें उस समय थे। वर्णसंकरता एवं कर्मसंकरताने उस समय प्रबल रूप धारण नहीं किया था। सप्तम शताब्दीमें चीनी परिव्राजक ह्वेनसांगने भारतके विषयमें जो कुछ लिखा है, उसमें भी यह बात मिलती है। स्मरण रखना चाहिये कि मेगास्थिनिस् विदेशी था और संभवतः भारतकी भाषासे अनभिज्ञ था। यहाँ एक आगन्तुकके नातेसे उसने कुछ दिनोंतक निवास किया था। और उसके लेख भी पूर्ण रूपमें नहीं मिलते। परंतु ह्वेनसांगने तो कई वर्षोंतक भारतमें निवास किया था और उसने यहाँकी भाषा एवं शास्त्रोका भी अध्ययन किया था। उसने भारतके बहुत-से स्थानोंमें भ्रमण भी किया था। इस कारण उसके लेखोंका मूल्य सामान्य नहीं है। वह बौद्ध था। इसलिये यह भी निश्चित है कि उसने वर्णाश्रम-व्यवस्थाको पक्षपातकी दृष्टिसे नहीं देखा होगा।

ह्वेनसांगका कहना है कि 'विभिन्न जातियोंमें विवाह नहीं होता। प्रथम जाति ब्राह्मण धार्मिक पुरुष हैं; वे धर्मरक्षा करते हैं। पवित्र जीवन यापन करते हैं एवं अत्यन्त कठोर नियमोंका पालन करते हैं। द्वितीय क्षत्रिय राजाओंकी जाति है। वे युग-युगसे शासन करते आ रहे हैं। कर्तव्यपरायण एवं दानशील हैं। तृतीय वैश्य वणिक् जाति है। वे वाणिज्यमे क्रय-विक्रय करते हैं एवं देश-विदेशोंमे लाभजनक व्यवसाय करते हैं। चतुर्थ शूद्र कृषिजीवी हैं। वे खेती और खेतके कामोंमें परिश्रम करते हैं। इन चारों वर्णोंमें जातिकी शुद्धता अथवा अशुद्धतासे अपना-अपना स्थान निश्चित होता है। निकट आत्मीयोंमे विवाह निषिद्ध है। कोई स्त्री एक विवाहके बाद पुनः दूसरा स्वामी ग्रहण नहीं कर सकती।*

'ब्राह्मणगण चारों वेद पढ़ते हैं। आचार्योंको निपुण रूपसे वेदोंके गम्भीर और गोपन तत्त्वोंको सीखना पड़ता है और उसके सूक्ष्मतम अर्थकी उपलब्धि करनी पड़ती है।

'जब शिक्षा शेष हो जाती है और तीस वर्षकी अवस्था हो जाती है, उस समय उनके चरित्रका गठन हो जाता है एवं वे ज्ञानपक्व हो जाते हैं। किसी वृत्तिके प्राप्त करनेपर पहले वे अपने गुरुको उनके परिश्रमके लिये धन्यवाद देते हैं। कोई-कोई प्राचीन शास्त्रोंमें गम्भीर ज्ञान लाभकर उच्चस्तरकी शास्त्रालोचनाके द्वारा संसारसे पृथक् होकर जीवन व्यतीत करते हैं और चरित्रके सरल भावको अक्षुण्ण रखते हैं। वे पार्थिव व्यापारसे ऊँचे स्तरपर उठ जाते हैं और जगत्की प्रशंसा अथवा निन्दासे परे पहुँच जाते हैं। उनके नाम विख्यात होते हैं। राजालोग उनका समादर करते हैं, परंतु वे उन्हें राजसभामें ले जानेमें असमर्थ होते हैं। इस देशके सम्राट् उनकी प्रतिभाके लिये उनका सम्मान किया करते हैं। जनसाधारण भी उनके यशका प्रचार करते हैं। सभी लोग उनकी भक्ति करते हैं। इसलिये वे उत्साह और निष्ठाके सहित किसी भी श्रमकी परवा न करके ज्ञानालोचनामें अभिनिवेश कर सकते हैं।'*

* "The first is called the Brahmans, men of pure conduct. They guard themselves in religion, live purely and observe the most correct principles. The second is called the Kshattrias, the royal caste. For ages, they have been the governing class. They apply themselves to virtue (humanity) and kindness. The third is called Vaisyas, the merchant class: they engage in commercial exchange, and they follow profit at home and abroad. The fourth is called Sudras, the agricultural class: they labour in ploughing and tillage. In the four classes, purity or impurity of caste assigns every one to his place. × × × They do not allow promiscuous marriages between relatives. A woman once married can never take another husband." (Beal: *Hiuentsang*, pp. 79-80)

* "The Brahmans study the four Vedashastras. The teachers must themselves have closely studied the deep and secret principles they contain, and penetrated to their remotest meaning."

"When they have finished their education, and have attained to 30 years of age, then their character is formed, and their knowledge ripe. When they have secured an occupation, they first of all thank their master for his attention. There are some, deeply versed in antiquity, who devote themselves to elegant studies, and live apart from the world, and retain the simplicity of their character. These rise above mundane pursuits, and are as insensible to renown as to the contempt of the world. Their name having spread afar, the Rulers appreciate them highly, but are unable to draw them to court. The Chief of the country honours them on account of their (mental) gifts, and the people exalt their fame and render them universal homage. This is the reason of their devoting themselves to the studies with ardour and resolution, without any sense of fatigue."

(Ibid., p. 83)

ह्वेनसांगने इस देशके कई प्रान्तोंमे भ्रमण किया था; परंतु उन्होने घुणाक्षर-न्यायसे भी कहीं यह संकेत नहीं किया कि भारतमे वर्णभेद पूर्वकालमे कभी भी जन्मगत नहीं था, परंतु कर्मगत था।

वेद एवं आर्ष शास्त्रोंमे जन्मगत जाति-भेदके ही उल्लेख मिलते हैं। वर्णाश्रम भी भारतीय वैदिक (आर्य) सभ्यता और संस्कृतिकी विशेषता है। जो लोग जाति-भेदको एक निरर्थक व्यापार एवं समाजके लिये अहितकर समझते हैं, जिनके मतमे इसका कभी भी रहना उचित नहीं था और आज भी नहीं है, उनकी बात अलग है।

किंतु ऐसे भी कई लोग है, जो अपनेको शास्त्र माननेवाले बताते हैं, परंतु कहते हैं कि 'आहार-विहार इच्छानुरूप चलना चाहिये, उसमे किसी भेदकी आवश्यकता नहीं; जातिभेद रह सकता है, पर वह जन्मगत न होकर कर्मगत होना चाहिये।'

आज भारतमे जातिभेद है, यह प्रत्यक्ष सत्य है और यह जन्मगत है, इसमे भी कोई संदेह नहीं। प्राचीनतम ऐतिहासिक (विदेशियोद्वारा सन्-तारीखसहित) साक्ष्यसे यह निःसंदिग्ध और सुस्पष्ट प्रमाणित है कि तेईस शताब्दी पूर्व भी जाति और वर्ण-भेद भारतमे था और यह जन्मगत था। ऐसा कोई सामान्य प्रमाण भी नहीं मिलता, जिसके आधार-पर यह कहा जाय कि किसी भी कालमे भारतमे जन्मगत जाति और वर्णभेद नहीं था। ऐतिहासिक कालके पहले अर्थात् प्रागैतिहासिक कालमे भी जातिभेद था ही।

वैदिक कालमें वर्णभेद था

जन्मगत वर्णभेद वैदिक युगमे भी था। वेद अनादि हैं। वेद-मन्त्र इतिहास नहीं हैं। पाश्चात्त्य विद्वद्वर्गने अपौरुषेय वेदोंसे गवेषणाके द्वारा इतिहासके प्रमाण निकालनेका प्रयास किया है। उन्होंने वेदोपलब्धिके कालको 'वैदिक युग' की आख्या दी है। और ऋग्वेदको भारत तथा जगत्की प्राचीनतम ज्ञानसमष्टिके रूपमे स्वीकार किया है। ऋग्वेदको हम प्रागैतिहासिक समझते हैं।

वैदिक युगमे वर्णभेदके विषयपर प्रसिद्ध धुरन्धर वेदा-लोचक डाक्टर कीथ (Dr. Keith) ने भारतके केम्ब्रिज-इतिहासमे जो कुछ लिखा है, उसका उद्धरण नीचे दिया जाता है—

"विज्ञजनो (म्यूर, जिम्मर और वेबर आदि) के मतानुसार ऋग्वेदीय युगमें किसी प्रकारका भी जातिभेद नहीं था; किंतु आधुनिक कालमे क्रमशः बड़े जोरोंसे (जेल्मर, न्यूबर्गके मतानुसार) यह कहा जा रहा है कि वह (जाति-भेद) था। एक दृष्टिसे देखनेपर सत्य ही ऋग्वेदमे जाति-भेदका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।*

"इस मतमें (वेदोंमें जातिभेद नहीं है) कुछ सत्यता रहनेपर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'ऋग्वेद जातिसे मुक्त है' यह तत्त्व इसमें बहुत कुछ बढ़ाकर कहा गया है। प्रत्युत ऋग्वेदमें कोई भी वास्तविक प्रमाण नहीं है कि उस कालमें पुरोहित (ब्राह्मण) एक निरुद्ध और निषिद्ध-प्रवेश वंशगत जाति नहीं था। ब्राह्मण (ब्रह्माके पुत्र) शब्दसे ही वरं दिखता है कि पौरोहित्य साधारणतः पुरुषानुक्रमिक था। ब्राह्मणके अतिरिक्त और किसीने पुरोहितका काम किया हो, इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता।'†

'ऋग्वेदमे एक शासक क्षत्रियजातिकी कथा है, यह निःसंदेह है। एवं वैदिककालमे राजपद वंशगत था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं विश्—इन तीन श्रेणियोंमें समाज विभक्त था, इसका उल्लेख मिलता है।'‡

'इसपर विश्वास करनेके यथेष्ट कारण हैं कि ऋग्वेदीय

---

* "The existence of the Caste system in any form in the age of the Rigveda has been denied by high authority (Muir, Zimner, Weber), though it has been asserted of late with increasing insistence (Gelmer, Niubarg). In one sense, indeed, its presence in the Rigveda cannot be disputed."

(Keith: *Cambridge History*, p. 92).

† "While there is much truth in the view, it must be admitted that it exaggerates the freedom of the Rigveda from caste × × × × Moreover, there is no actual proof in the Rigveda that the Priesthood was not then a closed hereditary class. The term 'Brahmana' (son of a Brahma) seems, on the contrary, to show that the priesthood was normally hereditary, and there is no instance which can be quoted of any person who is said to be other than a priest appearing to exercise priestly practices." (Ibid., p. 98)

‡ "× × The Rigveda certainly knows of a ruling class, the Kshattria, and the Vedic kingship was normally hereditary. × × There are traces, moreover, of the division of the tribe into the holy poor (Brahman), the kingly poor (Kshattria) and the commonalty (*Vis*)." (*Ibid., pp. 93-94*).
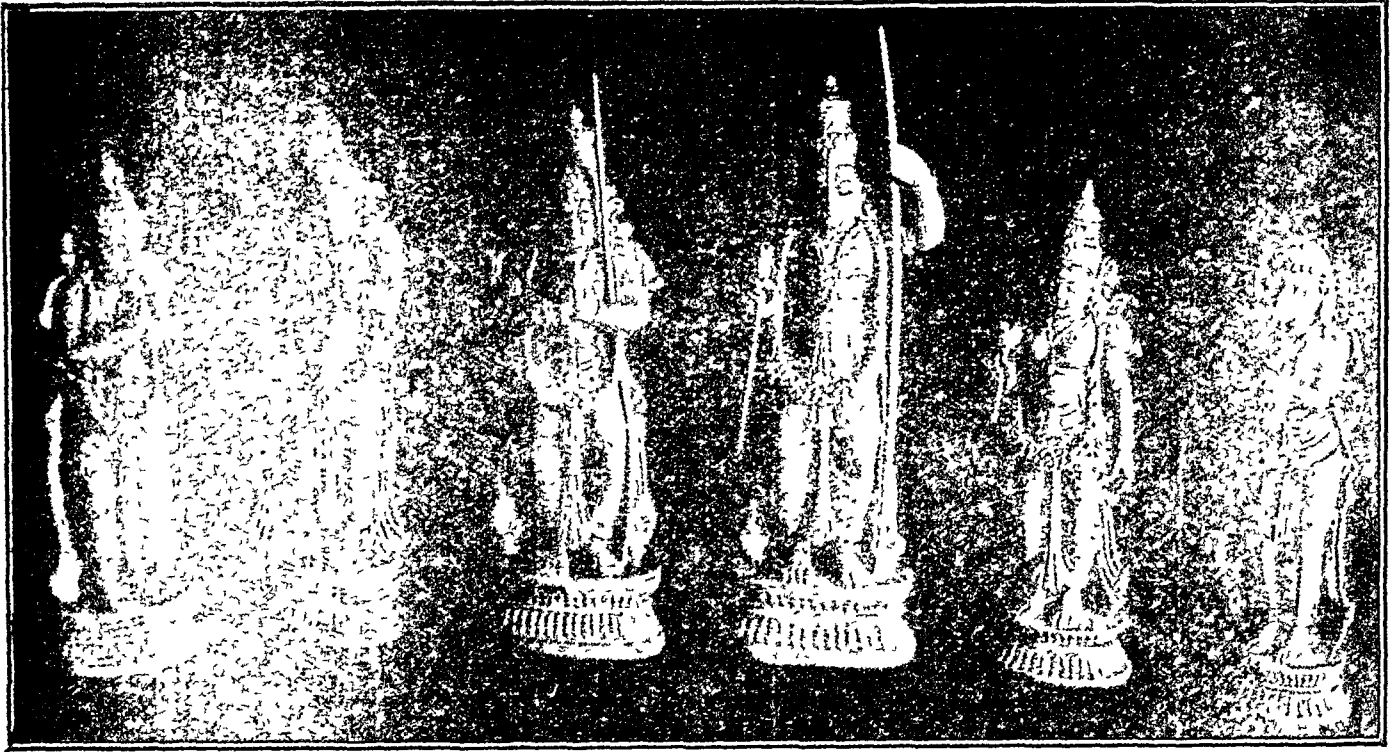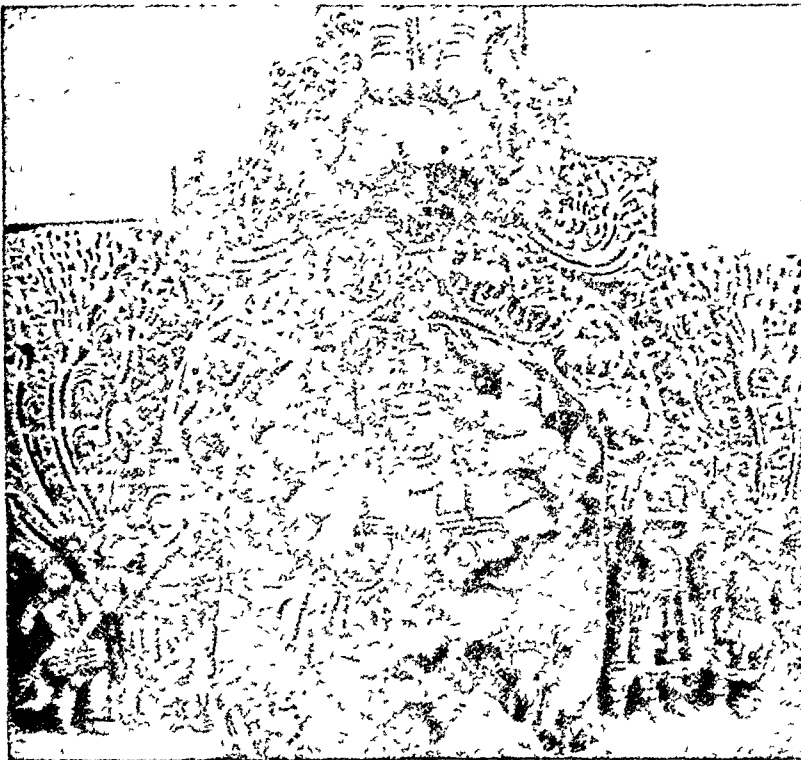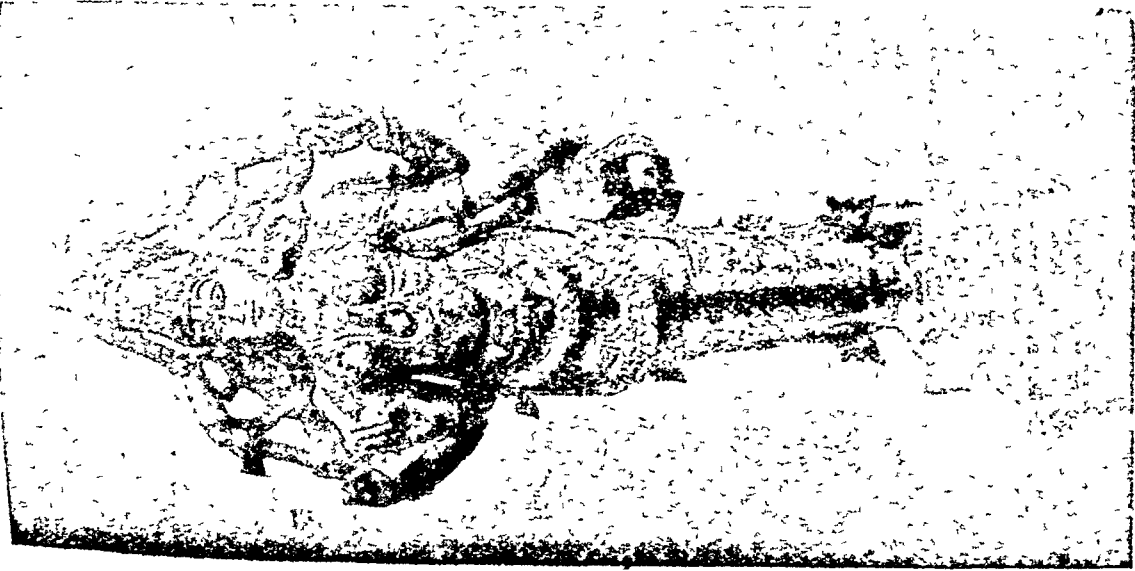
१७ अर्द्धनारीश्वर (प्रस्तरमूर्ति, मदुरा)]

उमा-महेश्वर (हाथीदाँतकी मूर्ति, त्रिवेन्द्रम, कलाविद्यालय)

अन्नपूर्णा देवी (हाथीदाँतकी मूर्ति, त्रिवेन्द्रम)

[त्रिवाङ्कुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे

युगमे पौरोहित्य (ब्राह्मण) एवं आभिजात्य (क्षत्रिय) वंशानुक्रमिक था'……'सगोत्र और निकट-सम्बन्धी (पितृ-मातृ-वंशके) लोगोंमे विवाह नही होता था। प्रथानुसार पुरुषको निज जातिमे ही विवाह करना पड़ता था। और जातिके बाहर विवाह तो निम्नतर जातिमे ही हो सकता था।'*

'जातिका परिवर्तन करना सम्भव था कि नहीं, यह कठिन प्रश्न है। परिवर्तनके बहुत ही कम प्रमाण मिलते हैं। वैदिक शास्त्रमे ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि किसी वैश्यने उन्नति करके ब्राह्मणत्व अथवा क्षत्रियत्व प्राप्त किया हो।'†

'यजुर्वेदके कालमे जातिभेद दृढ़रूपसे ही वर्तमान था।'‡

'सम्भवतः शूद्रोमे भी अपनी जातिमे ही विवाह-प्रथा प्रचलित थी।'

'वैदिक आर्य एवं अनार्य दोनो ही अपनी-अपनी जातियोमे विवाह करते थे।'§

वेदोंमें मूर्ति-पूजा

वैदिक कालमे मूर्ति-पूजा नही थी, यह आधुनिक मत है; परंतु यह मत भी भ्रान्त है। वैदिक कालमे भी भगवान्‌की विभिन्न मूर्तियोंकी पूजा प्रचलित थी—यह एक स्थानमे इन्द्रकी मूर्तिकी उपासनाके उल्लेखसे प्रमाणित होता है।×

*"There is good reason to believe that in the period of the Rigveda the Priesthood and the Nobility were hereditary.' × × 'There shall be no marriage with agnates or cognates and they require that a man must either marry in his own caste, or if he marries out of the caste, it must be into a lower caste.' (Keith, in *Cambridge History*, p. 126)

†"The question of how far change of caste was possible raises difficult problems The evidence of any change is scanty in the extreme. × × There is no instance recorded in the Vedic texts of a Vaisya rising to the rank of a priest or prince.' (*Ibid*., p. 127)

‡"Caste system existed substantially in the time of Yajurveda." (*Cambridge History*, p. 55)

§"It is probable enough that among the Sudras themselves there were rules of endogamy. × × The Vedic Aryans and the aborigines alike married within the tribe", (P. 129)

×'On the other hand, fetishism is seen in the allusion already quoted to the use of an image of Indra against one's enemies." (*Cambridge History*, p. 106)

"The Rigveda records that in the opinion of the poet not ten coins was adequate price for an image of Indra to be used doubtless as a fetish." (*Ibid*., p. 97)

आधुनिक पाश्चात्य लेखकोंने पुरीधामस्थ श्रीजगन्नाथदेवकी काष्ठ-मूर्तिको बौद्ध-मूर्ति प्रमाणित करनेका प्रयास किया है। यह भी युक्ति बतायी जाती है कि जगन्नाथदेवकी रथयात्रा (विजय) बौद्ध मूर्तिके रथपर परिभ्रमणसे ली गयी है। परंतु ये सब मत भ्रान्त हैं। ऋग्वेदमे दारु-ब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम-मूर्तिका स्पष्ट उल्लेख है—

> अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
> तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥
> (ऋग्वेद १०। १५५। ३)

अदः (दूरमे), यत् (जो), अपूरुषम् (जो पुरुष-द्वारा निर्मित नही है), दारु (काष्ठमय पुरुषोत्तमाख्य देव-शरीर), सिन्धोः (समुद्रके), पारे (तटपर), प्लवते (जलके ऊपर है), हे दुर्हण (स्तोता), तत् (वह), आरभस्व (अवलम्बन करो), तेन (उसके द्वारा), गच्छ परस्तरम् (उत्कृष्ट स्थान वैकुण्ठ) को प्राप्त हो।

'हे उपासक! दूर देशमे समुद्रके तटपर जलके ऊपर जो दारुब्रह्मकी मूर्ति है, जो किसी मनुष्यसे निर्मित नहीं है, उसकी आराधना करके उनकी कृपासे वैकुण्ठको प्राप्त हो।'

उड़ीसाप्रान्तमे भुवनेश्वरके निकट उदयगिरिकी हाथी-गुफामे कलिङ्गराज खरवेलकी जो लिपि है, उसमे भी नीमके काष्ठसे निर्मित मूर्तिका उल्लेख मिलता है। खरवेल चन्द्रगुप्तके १५० वर्ष बाद हुए है।

सनातनधर्मके समग्र शास्त्र वेदमूलक हैं। वेद, स्मृति, पुराण प्रभृतिमे कहीं भी पार्थक्यका अवकाश इस कारण नहीं रह सकता। वर्णाश्रम, जातिभेद (जन्मगत) प्रभृति भी वैदिक धर्ममे और वैदिक जातिमे प्रथमसे ही हैं—इस विषयमें जरा भी सन्देह नहीं है।

गीतामें वर्णाश्रमके प्रमाण

आजकल कई सुविधावादी लोग शास्त्र-पुराणोंसे—कहींसे एक-आध श्लोक उद्धृत कर उसकी मनमानी व्याख्या करके अथवा अर्थका अनर्थ करके अपने आधुनिक मत अथवा युक्तिकी स्थापना करनेका प्रयत्न करते हैं।

पढ़े-लिखे लोग गीताको किसी रूपमे मानते हैं। गीताके—

> 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'

—इस आधे श्लोकको उद्धृत करके यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा की जाती है कि पूर्वकालमे गुण और कर्मभेदसे ही

वर्णभेद था, जन्मगत भेद नहीं था। यहाँतक कि गीताके कुछ आधुनिक टीकाकारोंने भी इस प्रकारका अर्थ करके अंग्रेजी शिक्षाके प्रभावसे मोहग्रस्त हुए हमलोगोंके चित्तमें और भी अधिक सन्देहके बीज बो दिये हैं।

गीता महाभारतका एक अंश है। गीताके साथ महाभारतके सम्बन्धकी सम्पूर्ण अवहेलना नहीं की जा सकती। क्या महाभारतमें कहीं भी यह है कि उस समय वर्णभेद जन्मगत नहीं था, गुण और कर्मानुसार वर्ण स्थिर होता था? क्या भगवान् श्रीकृष्णने किसी भी धार्मिक शूद्रको (धर्मके अवतार विदुर) अथवा क्षत्रिय (युधिष्ठिर एवं भीष्म) को ब्राह्मणवर्णमें अथवा किसी युद्धकुशल ब्राह्मण (द्रोण, कृप अथवा अश्वत्थामा) को क्षत्रिय वर्णमें परिणत किया था?

भारतके समग्र शास्त्र एवं इतिहास आदिका अवलोकन करनेपर ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा, जहाँ किसी एक ही व्यक्तिका पुत्र अथवा कन्या इसी जन्मके देहके गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य अथवा क्षत्रिय हुआ हो। गुण और कर्मकी परीक्षाके ऊपर जाति स्थिर करेंगे कौन? सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हुए बिना ऐसा करना असम्भव है। शिशु जब भूमिष्ठ होता है, उस समयकी तो बात ही क्या, उसके अनन्तर कम-से-कम बीस वर्षतक उसके गुण और कर्मका साधारण विकास भी नहीं होता। स्त्रियोंके लिये गृहकर्म-सन्तानपालन आदि सभी जातियोंमें साधारण कर्म हैं। उनका जाति-विभाग कैसे किया जायेगा? किस उम्रमें जातिनिर्णय होगा और उसे कौन निर्धारित करेगा? फलतः जाति-वर्णभेद जन्मसे ही हो सकता है। गुण-कर्मानुसार करना असम्भव है।

गीतामें भी जाति और वर्णके जो उल्लेख हैं, उनमें जन्मानुसार एवं वंशानुक्रमिक वर्णभेद एवं जातिभेद ही देखा जाता है। गुण एवं कर्मानुसार जाति-वर्णभेदका और कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। संकर एवं अस्पृश्य जातिका भी उल्लेख है ही।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गीता ५। १८)

इस श्लोकमें समाजके उच्च स्तरमें स्थित ब्राह्मण एवं निम्नस्तरके चाण्डाल और विभिन्न जातिके पशु—सबके प्रति ही ब्रह्मविद् समदृष्टि होते हैं, यह कहा गया है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
(९। ३२-३३)

यहाँपर श्रीभगवान्‌ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पापयोनि (अन्त्यज)—सभीका उल्लेख किया है। पापयोनि-शब्दसे जन्मगत अस्पृश्यता ज्ञात होती है, इसपर लक्ष्य करना चाहिये।

'चातुर्वर्ण्यम्' के अर्थ चार वर्ण नहीं, चार वर्णोंसे विशिष्ट वर्णाश्रमी समाज है। इस श्लोकके बाद ही—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
(१८। ४१)

एवं उसके बादके सात श्लोकोंको पढ़ जानेपर तो इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं रहना चाहिये। चारों वर्णोंमें प्रत्येक वर्णके (लक्ष्य करना चाहिये कि किसी एक व्यक्ति-विशेषकी बात नहीं हो रही है) स्वभाव (पूर्वजन्म-संस्कार)—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
× × ×
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः॥
(६। ४३-४४)

—जात गुणके अनुसार एक-एक कर्म निर्दिष्ट है।

श्रीभगवान्‌के गीताप्रवचनका उद्देश्य ही था—उनके प्रतिरूप (नर-अवतार) नरोत्तम अर्जुनको ब्राह्मणके कर्म भैक्ष्य (श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके) ग्रहण करनेकी इच्छासे निवृत्तकर क्षत्रियके कर्म धर्मयुद्धमें प्रवृत्त कराना एवं इस उपदेशच्छलसे जगत्‌को निष्काम कर्मयोगकी महान् शिक्षा देना।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
(१८। ४७-४८)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(३। ३५)

क्षत्रिय-कुलतिलक अर्जुनका स्वधर्म क्या था? युद्ध।

'न योत्स्य इति मन्यसे', 'स्वभावजेन (स्वभावः क्षत्रियत्वे हेतुः पूर्वकर्मसंस्कारस्तस्मात् जातेन) निबद्धः स्वेन कर्मणा।'

मोह नष्ट होनेपर अर्जुन बोले—

'स्थितः अस्मि (युद्धाय उत्थितः अस्मि)। करिष्ये वचनं तव।

'सहज' (सह—जन्+ड) शब्दको भी लक्ष्य करना चाहिये।

भगवान्‌ने गीतामें सांकर्यकी निन्दा की है—

संकरस्य (वर्ण एवं कर्मसंकरका) च कर्ता स्याम् उपहन्यामिमाः प्रजाः। (३।२४)

अर्जुनने पूर्वमें कहा था—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥*
(१।४२-४३)

यदि वर्ण और जातिभेद जन्मगत एवं वंशानुक्रमिक नहीं था तो कुलके धर्म अथवा जातिधर्मकी बात कहाँसे आती है? एक ही पिताके विभिन्न वर्णके पुत्र-कन्या होनेपर कौन उसे पिण्ड आदि देगा? फिर तो समाज, जाति, वंश, संस्कार, विवाह, अशौच, श्राद्ध आदि सभी असम्भव हो जायँगे।

उपसंहार

संक्षिप्त आलोचनासे यह निःसंदेह प्रमाणित किया गया कि भारतमें सदासे ही वर्ण और जाति जन्मगत थी, कभी भी कर्मगत नहीं थी। असवर्ण विवाह (विशेषतः प्रतिलोम) निन्दित था—इसका ऐतिहासिक प्रमाण है। प्रागैतिहासिक एवं प्राचीनतम कालसे ही जन्मगत वर्णभेदप्रथा चली आ रही है। वेदोंमें भी जातिभेदके बहुत प्रमाण मिलते हैं। गुण-कर्म-भेदसे जाति एवं इच्छानुसार वर्ण-परिवर्तनके उदाहरण नहीं हैं, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा।

इतनेपर जो लोग यह कहना चाहते हैं कि वेद-रचनाके पहले अतिप्राचीन समयमें वर्ण-व्यवस्था नहीं थी एवं दूसरे देशोंके अनुसार स्वच्छन्द कर्म अथवा विवाह आदि भारतमें भी होते थे, वे अपने विचारानुसार सब कुछ कह सकते हैं; परंतु यह निश्चित है कि वैदिक समयके पूर्व वर्णाश्रमी वैदिक जाति अथवा सनातन धर्मका अस्तित्व भी नहीं रहा होगा—फिर तर्कका अवसर कहाँ है?

जन्मना जाति

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

कुछ आधुनिक हिंदुओंका यह कहना है कि "वर्णव्यवस्था तो हम मानते हैं; क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है कि चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि मैंने की है। पर चातुर्वर्ण्यसे भगवान्‌का अभिप्राय 'जन्मना जाति' माननेवाली वर्तमान व्यवस्था नहीं, किंतु वह व्यवस्था है जिसमें मनुष्यके गुण-कर्मानुसार उसका वर्ण निश्चित होता है। भगवान्‌ने स्पष्ट ही 'गुणकर्मविभागशः' कहा है।" अतः इन लोगोंका यह मत है कि "जन्मना जाति माननेवाली वर्तमान पद्धतिको उठा देना चाहिये और कोई नयी व्यवस्था तो क्या, वही प्राचीन व्यवस्था जिसका निर्देश भगवान्‌ने किया है अर्थात् मनुष्यके गुण और कर्म देखकर तदनुसार उसका वर्ण निश्चित करनेवाली व्यवस्था फिरसे स्थापित की जानी चाहिये। तभी हमारे समाजके अंदर सच्चे और अच्छे लोग ब्राह्मण कहलायेंगे और ऐसी वर्णव्यवस्थासे समाजका कल्याण होगा। वर्तमान व्यवस्थामें केवल ब्राह्मणकुलमें जन्म हो जानेसे ही ऐसे-ऐसे लोग ब्राह्मण कहलाते हैं, जिनमें जरा भी कोई योग्यता नहीं है। इससे बहुत बड़ी हानि हुई है। हमलोगोंका राजनीतिक दासत्व इसीका परिणाम है और इसीसे वे सब बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं, जिनसे आज हिंदू-समाज त्रस्त है।" किंचित् विचार करनेसे यह समझमें आ जायगा कि भगवान् श्रीकृष्ण या श्रीमद्भगवद्गीताका यह अभिप्राय नहीं है कि किसी मनुष्यके गुण और कर्म देखकर उसका वर्ण निश्चित किया जाय; बल्कि उन्हें यही बतलाना है कि किसीकी भी जाति उसके जन्मसे ही जाननी चाहिये। हम आगे यह भी दिखायेंगे कि जन्मना जातिकी व्यवस्थापर जो अन्य आक्षेप किये जाते हैं, वे भी किस प्रकार निराधार हैं।

यदि किसी मनुष्यकी जाति उसकी वृत्ति या कर्मपर निर्भर होती तो द्रोणाचार्य क्षत्रिय कहलाते, क्योंकि उनका

* लक्ष्य करना चाहिये, यहाँ 'शाश्वत' (चिरकालीन) शब्द जाति एवं कुलधर्मके लिये कहा गया है।

व्यवसाय युद्ध करना था। पर जन्मके कारण ही वे ब्राह्मण थे। इसी प्रकार उनके श्यालक कृपाचार्य योद्धा होनेपर भी ब्राह्मण थे, क्योंकि ब्राह्मणकुलमें उनका जन्म हुआ था। अश्वत्थामामें ब्राह्मणके न कोई गुण थे न कर्म ही। कर्म करते थे वे एक क्षत्रियका। गुणमें तो वे इतने क्रूर थे कि रातको पाण्डवोंके शिविरमें घुसकर सोये हुए द्रौपदीके बच्चोंको उन्होंने कत्ल कर डाला। उत्तराके गर्भस्थ अर्भकपर भी उन्होंने अति भयंकर बाण चलाया। फिर भी जब वे पकड़े गये, तब यही निश्चय किया गया कि अश्वत्थामाका वध नहीं किया जा सकता; क्योंकि अश्वत्थामा ब्राह्मण है। उनका सिर मूँड़ा गया और वे निष्कासित किये गये।

जिल्वा मुक्तो द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद् गौरवेन च।
(महाभारत, सौप्तिकपर्व १६। ३२)

युधिष्ठिरका स्वभाव ऐसा था कि चाहे कोई कितना ही अपराध करे, युधिष्ठिर उसे क्षमा करनेको तैयार; और भीमको देखिये तो जरा-सी बातपर लड़नेको तैयार! यदि गुणोंको जातिका निर्णायक माना जाता तो दोनोंकी जाति अलग-अलग हो जाती। पर दोनों ही थे क्षत्रिय, क्योंकि जन्मसे ही क्षत्रिय थे।

गुण-कर्मके अनुसार किसी मनुष्यका वर्ण निश्चित करनेमें और एक बहुत बड़ी बाधा है। प्रायः ऐसा देखनेमें आता है कि किसी मनुष्यके गुण तो उसे एक वर्णका बतलाते हैं, पर उसका कर्म किसी दूसरे ही वर्णका होता है। ऐसी अवस्थामें उसका वर्ण कैसे निश्चित किया जायगा? फिर किसी मनुष्यके असली गुणोंकी पहचान करनेका काम भी तो बहुत कठिन है। बाह्यरूपसे ठीक पता नहीं चलता—प्रायः धोखा हो जाता है। हो सकता है बाहरसे देखनेमें कोई मनुष्य बहुत उग्र या रूखा हो, पर हृदय उसका अत्यन्त कोमल हो। यह भी असम्भव नहीं है कि किसीकी वाणी बहुत मधुर हो, पर हृदय उतना ही कठोर। किस मनुष्यमें कौनसे गुण हैं, इस विषयमें लोगोंमें मतभेद भी हो सकता है। मित्रलोग कहेंगे, अमुक मनुष्य सज्जन है; शत्रु कहेंगे, महादुर्जन है। यह मान भी लिया जाय कि हर किसीके गुणोंका पता लगानेसे लग सकता है; पर इस बातका क्या भरोसा जो उसके गुण वैसे ही बने रहेंगे और बदलेंगे नहीं? वाल्मीकि अपने प्रारम्भिक जीवनमें दस्यु थे, पर पीछे महर्षि हो गये। असाधु पुरुष साधु हो सकते हैं, वैसे ही साधु भी असाधु हो सकते हैं। इन सब बातोंसे यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि गुण-कर्मानुसार जाति निश्चित करनेकी व्यवस्था अव्यवहार्य है।

कुरुक्षेत्रका महायुद्ध आरम्भ होनेसे पहले अर्जुनने कहा था 'मैं युद्ध नहीं करूँगा, भिक्षा माँगकर खाऊँगा।' गुण और कर्मसे ही जाति निश्चित करनी होती तो उसकी इस बातका खण्डन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। अर्जुनमें ब्राह्मणोचित वे सब गुण थे, जिनका गीतामें उल्लेख हुआ है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
(गीता १८। ४२)

'शम, दम, तप, शुचिता, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता—ये सब ब्राह्मणोंके स्वभावज गुण हैं।'

भिक्षावृत्ति ब्राह्मणकी है; यदि अर्जुन उसे ग्रहण करता है तो गुण-कर्मके अनुसार ही जब वर्ण निश्चित करना है, तब उसे अवश्य ब्राह्मण कहना चाहिये। क्षात्रधर्म छोड़कर यदि इस तरह वह ब्राह्मणधर्म ग्रहण करता है तो इसमें उसे कोई पाप न लगना चाहिये। पर श्रीकृष्ण तो उसे उलटा यह समझा रहे हैं कि 'यदि तुम युद्ध न करोगे तो तुम्हें पाप लगेगा।'

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २। ३३)

'यदि तुम यह धर्मयुक्त संग्राम न करोगे तो स्वधर्म और कीर्तिसे हाथ धोकर पापके भागी बनोगे।'

यह कहना तो तभी युक्तियुक्त हो सकता है, जब जन्मना जाति माननेकी ही व्यवस्था हो। अर्जुन जन्मसे क्षत्रिय है। क्षत्रियका स्वधर्म है युद्ध करना। यदि अर्जुन युद्ध नहीं करता है तो वह अपने धर्मकी अवहेलना करता है और पापका भागी होता है। यदि जन्मजात वर्णसे धर्म निश्चित होता है तो कोई मनुष्य चाहे जो कर्म नहीं कर सकता। पर यदि कर्मसे वर्ण निश्चित हो तो वह अपना कर्म अपनी इच्छासे चाहे जो निश्चित कर सकता है।

गीताके १८वें अध्यायमें भगवान्‌ने चारों वर्णोंके कर्म बतलाये हैं और फिर कहा है कि यदि कोई मनुष्य अपने वर्णका धर्म पालन करता है तो उसीसे वह परम उत्कर्षको प्राप्त होता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
(१८। ४५)

'अपने-अपने कर्ममें अभिरत होनेसे मनुष्य संसिद्धि लाभ करता है।'

यह वचन जन्मना जातिकी ही व्यवस्था देता है। यदि किसीका कर्म देखकर उसकी जाति निश्चित करनी हो तो कर्मके पीछे-पीछे जाति चलेगी और सबके कर्म स्वजातिके ही कर्म होनेसे सभी, गीताके उक्त वचनके अनुसार, मोक्षके अधिकारी होंगे। परंतु यह तो एक ऐसी बात है, जिसका कुछ अर्थ नहीं।

गीतामें श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि कर्तव्याकर्तव्यके विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
(गीता १६। २४)

शास्त्रोंमें सबसे पहले हैं वेद। ये ही सब शास्त्रोंके आधार हैं। ऋग्वेद-संहिताके १०। ९० (पुरुषसूक्त) में तथा तैत्तिरीय-संहिताके ७। १। १ में बतलाया है कि चार वर्ण प्रजापति ब्रह्माके चार अङ्गोंसे उत्पन्न हुए। छान्दोग्योपनिषद्के ५। १०। ७ मे यह वर्णन है कि जो लोग पुण्य-कर्म करते हैं, वे दूसरे जन्ममें ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय अथवा वैश्यके कुलमें जन्म लेते हैं और जो पापकर्म करते हैं, वे चाण्डालादि योनियोंको प्राप्त होते हैं—

रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।

उपनिषद् वेदोंके ही भाग हैं। अतः वेदोंके समान ही उनका प्रामाण्य है। मनुस्मृति सुविख्यात धर्मशास्त्र है। महाभारतकालसे बहुत पहले इसकी रचना हुई थी। अतः गीतामें जहाँ शास्त्रकी बात आयी है (१६। २४), वहाँ वेदोपनिषदोंके साथ मनुस्मृति भी अभिप्रेत होगी। मनु कहते हैं, एक ही जातिके माता-पितासे उत्पन्न सन्तान भी उसी जातिकी होगी—

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव हि॥
(मनु० १०। ५)

'सब वर्णोंकी अक्षत-योनि तुल्य पत्नियोंमें गर्भाधान करनेसे जो सन्तान हो, उन्हें अनुलोमक्रमसे उन्हीं वर्णोंकी जानना चाहिये। अर्थात् ब्राह्मण पति-पत्नीसे उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण, क्षत्रिय पति-पत्नीसे उत्पन्न सन्तान क्षत्रिय, वैश्य पति-पत्नीसे उत्पन्न सन्तान वैश्य—इस प्रकार जानना चाहिये।'

हारीतसंहितामें है—

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैवमुत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः।
(१। १५)

'ब्राह्मणीमें ब्राह्मणसे उत्पन्न-सन्तान ब्राह्मण ही कहा गया है।'

अत्रिसंहितामें कहा है—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते।
(१। ४०)

'जन्मसे ब्राह्मण जाना जाता है, संस्कार होनेपर उसकी द्विज-संज्ञा होती है।'

श्रीकृष्ण ही जब अध्याय १६ श्लोक २४ में शास्त्रको ही *प्रमाण माननेको कहते हैं, तब यह हो नहीं सकता कि अध्याय ४ श्लोक* १३ में वे जाति-निर्णयकी कोई ऐसी व्यवस्था देते हों जो वेद, उपनिषद्, मनुस्मृति, अत्रिसंहिता, हारीतसंहिता आदि शास्त्रग्रन्थोंके वचनोंके विरुद्ध हो।

अब यह प्रश्न होता है कि यदि श्रीकृष्णका अभिप्राय यही है कि जन्मसे ही वर्ण निश्चित है तो उन्होंने अध्याय ४ श्लोक १३ में 'गुणकर्मविभागशः' क्यों कहा है। यहाँ कर्मका अभिप्राय वृत्तिसे नहीं है। कर्मका यहाँ अर्थ है कर्तव्य। कर्म-विभागका अर्थ विभिन्न वर्णोंके वे कर्तव्य हैं, जिनका उल्लेख गीता अध्याय १८ श्लोक ४२—४४ में हुआ है। गुणका अभिप्राय है त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंसे। गुण-विभागका अर्थ है, जन्मके साथ ही लगे हुए इन गुणोंके अनुसार मनुष्योंका वर्गीकरण। गीता अध्याय १८ श्लोक ४१में भगवान् स्वयं यह गुण-कर्म-विभाग क्या है, स्पष्ट करके बतलाते हैं—

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।

'स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार कर्मोंका विभाग हुआ है।'

'स्वभाव-प्रभव' शब्दोंसे ही यह प्रकट है कि जन्मजात गुणोंके द्वारा ही वर्ण निश्चित होता है। छान्दोग्योपनिषद्का जो वचन (५। १०। ७) हम पहले उद्धृत कर आये हैं, उसके साथ भी इसकी ठीक संगति बैठती है। जो लोग पुण्यकर्म करते हैं, उनमें मृत्युके पश्चात् सत्त्वगुणका प्रभूत संचय होता है। अतः वे ब्राह्मण होकर जन्म लेते हैं। गीता अध्याय १८ श्लोक ४८ में जो 'सहजं कर्म' शब्द आये हैं, उनसे भी जन्मना जाति सूचित होती है। जन्मसे जाति और जातिसे धर्म निश्चित होता है। अर्थात् जन्मके साथ ही धर्म लगा हुआ है। यही 'सहजं कर्म' है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि जन्मसे वर्ण

निश्चित होता है तो विश्वामित्र ब्राह्मण कैसे हुए । इसका उत्तर यह है कि तपका अलौकिक प्रभाव होता है, उससे शरीरके परमाणुतक बदल सकते हैं और वर्णका सम्बन्ध है जन्मजात शरीरसे ही । यह प्रसिद्ध है कि विश्वामित्रने महान् तप किया था । उनके तपःप्रभावसे उनका वर्ण बदला या नहीं, यह निश्चय करना भी वसिष्ठ-जैसे महर्षिका ही काम था । तपःप्रभावसे वर्ण बदल जानेके और भी कुछ उदाहरण हैं ।

अब महाभारतके कुछ ऐसे वचनोंपर हम विचार करना चाहते हैं, जो गुण देखकर वर्ण निश्चय करनेकी बातका समर्थन करते-से मालूम होते हैं । वनपर्वके १७९ वें अध्यायमें सर्पने प्रश्न किया है—'ब्राह्मण कौन है ?' युधिष्ठिर उत्तर देते हैं—'ब्राह्मण वह है, जिसमें सत्य, दानशीलता, क्षमा, सदाचार, मृदुता और तप—ये गुण हो ।' युधिष्ठिर आगे यह भी कहते हैं कि 'ये गुण यदि किसी शूद्रमें हो तो उसे ब्राह्मण कहना चाहिये और यदि ये गुण किसी ब्राह्मणमें न हो तो वह ब्राह्मण नहीं है ।' 'ब्राह्मण' शब्दका प्रयोग स्पष्ट ही यहाँ दो विभिन्न अर्थोंमें हुआ है । यदि ऐसा न मानें तो यह कहना कि "जिस ब्राह्मणमें ये गुण नहीं हैं, वह 'ब्राह्मण' नहीं है" 'वदतो व्याघात' होगा । उक्त वचनमें 'ब्राह्मण' शब्दका प्रथम प्रयोग जन्मना ब्राह्मणके अर्थमें है । 'ब्राह्मण' शब्दका दूसरा प्रयोग इस अर्थमें है कि जो गुण ब्राह्मणमें होने चाहिये, वे उसमें नहीं हैं । यह वचन सत्य, क्षमा आदि गुणोंकी प्रशंसा कर ब्राह्मणको मिथ्या जात्यभिमानसे बचानेके लिये आया है । इस वचनका अभिप्राय गुणोंको देखकर वर्ण कल्पित करना नहीं है । इसके विरुद्ध कई कारण हैं—(१) 'वदतो व्याघात' होगा, जैसा कि हम पहले कह आये हैं । (२) वेद, उपनिषद्, मनुसंहिता, अत्रिसंहिता, हारीतसंहिता आदि शास्त्र-ग्रन्थोंके जो वचन हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं, जिनमें जन्मना जातिकी ही व्यवस्था है, उनके साथ इसका विरोध होगा । किसी वचनका ठीक अर्थ लगाते हुए हमें यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अन्य वचनोंके साथ उसका कोई विरोध न हो । उपर्युक्त श्रुत्यादिके वचनोंका इसके सिवा और कोई अर्थ नहीं है कि वर्ण या जाति जन्मपर ही निर्भर है । वनपर्वके उपर्युक्त वचनका सुसंगत अर्थ यही होता है कि सत्य, दान आदि गुण वरेण्य हैं । (३) किसी मनुष्यके असली गुणोंको जान लेना बहुत ही कठिन है । (४) बहुत-से लोगोंमें सत्य, दान आदि गुण अत्यधिक परिमाणमें होते ही हैं । यह तो इस वचनमें नहीं बतलाया गया है कि किस दर्जेतक कौन-सा गुण होनेसे कोई मनुष्य ब्राह्मण वर्णका हो सकता है । (५) इस वचनमें फिर दो ही वर्गोंके नाम आये हैं—ब्राह्मण और शूद्र । क्षत्रिय और वैश्यका कोई नाम नहीं है । फिर जिनमें ये गुण हैं, वे यदि ब्राह्मण हैं और जिनमें ये गुण नहीं, वे शूद्र, तो अखिल मानव-जातिके ब्राह्मण और शूद्र—ये ही दो वर्ण-विभाग हुए, चातुर्वर्ण्य नहीं रहा । अतः इन सब बातोंसे यही स्पष्ट होता है कि उक्त वचनका हेतु वर्ण-विभागका सिद्धान्त बतलाना नहीं, बल्कि सत्य, सदाचारादि गुणोंकी श्रेष्ठता बतलाना है । वर्ण-विभागका सिद्धान्त अन्य शास्त्र-वचनोंमें निर्दिष्ट हो ही चुका है । ये शास्त्रवचन जन्मना जातिका ही निर्देश करते हैं । अतः जो वचन ऐसे हैं, जिनसे गुणों और कर्मोंके अनुसार जाति होनेकी बात सूचित होती है, उनका वास्तविक अभिप्राय कुछ और ही है । गुण या कर्मके अनुसार सब मनुष्योंकी जाति निर्धारित करना व्यवहारतः संभव भी नहीं है ।

यह जो कहा जाता है कि जन्म नामकी आकस्मिक घटनापर किसीकी जाति या वर्ण निश्चित करना ठीक नहीं, यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है । कारण, जन्म कोई आकस्मिक घटना नहीं, बल्कि हमारे पूर्वजन्मोंके कर्मोंका फल है । कुछ लोग स्वस्थ और हट्टे-कट्टे पैदा होते हैं और कुछ अंधे और रुग्ण, इसका यही तो कारण है ।

यह कहना भी निराधार है कि हिंदुओंका चातुर्वर्ण्य ही हिंदू-समाजमें पैदा हुई सब बुराइयोंका कारण है । गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं 'चातुर्वर्ण्य मैंने उत्पन्न किया है' (४ । १३) । जो व्यवस्था भगवान्ने बना दी, वह किसी समाजके लिये कभी हानिकर नहीं हो सकती । हमारे राजनीतिक दासत्वमें हमारे ईर्ष्या-द्वेष, लड़ाई-झगड़े, भोग-विलास आदि अन्य कारण हो सकते हैं । यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि कोई भी राष्ट्र सदाके लिये अपनी स्वाधीनता बनाये नहीं रह सका है । ब्रिटेनपर रोमन और सैक्सन दखल जमाये बैठे थे । सैक्सनोंको नार्मन लोगोंने जीता था । ग्रीस, रोम, कार्थेज—पुरानी दुनियाके सभी देशोंको कभी-न-कभी पराजित और पराधीन होकर रहना पड़ा था । फ्रांस, बेल्जियम, जर्मनी और जापानका पराधीन होना अभी हालकी ही बात है । हिंदू सहस्रों वर्ष स्वाधीन रहनेके बाद कुछ काल मुसल्मानों और ईसाइयोंके अधीन भी होकर

रहे। अब फिर वे स्वाधीन हैं। प्राचीनोंमें एक हिंदू ही हैं, जो अपनी संस्कृति और सभ्यताकी रक्षा किये हुए हैं, जब कि अन्य प्राचीन सभ्यताएँ सब नष्ट हो गयीं। यह ईश्वरकृत वर्ण-व्यवस्थाका ही सुपरिणाम है। इसीसे हिंदुओंके धर्म, शौर्य, धन और श्रमशक्तिकी रक्षा हुई है। यदि हम इस वर्ण-व्यवस्थाको उठा देंगे तो महान् अनर्थ होगा—वर्णसंकर होगा। भगवान् कहते हैं—'संकरसे प्रजाओंका सब प्रकारसे नाश होता है।' (गीता ३। २४)

हमारी मृत्युञ्जय संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य)

हमारी संस्कृतिकी यह एक बड़ी भारी विशेषता है कि हमारे जितने श्रद्धाके केन्द्र हैं, मान-बिंदु हैं, उनके पीछे कोई-न-कोई श्रेष्ठ तत्त्व है, और अवश्य है। आज हमारे दुर्भाग्यसे वे तत्त्व सुप्तावस्थामें हैं, वे सिद्धान्त अमूर्त रूपमें हैं और इसी कारण हमारा यह ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है। आज आवश्यकता है उन तत्त्वोंको जाग्रदवस्थामें लानेकी। आज आवश्यकता है उन सिद्धान्तोंको मूर्तस्वरूपमें लानेकी, उनको अपने आचरणमें प्रत्यक्षरूपसे कार्यान्वित करनेकी। इसका केवल एक ही उपाय है और वह है इन तत्त्वोंको—उन सिद्धान्तोंको बोधगम्य बनाना—ऐसे रूपमें सामने रखना कि साधारण जनता उन्हें ठीक प्रकारसे समझ ले और हृदयङ्गम कर ले।

सांस्कृतिक रथके दो चक्र

गैरिक ध्वज पुरातन कालसे चली आयी हुई हमारी इस पुण्य-संस्कृतिकी सनातन धाराका मूर्तिमान् प्रतीक है। इस ध्वजका भगवा रंग 'ब्राह्मतेज' और 'क्षात्रबल' का परिचायक है। इन्हीं दो विशेषताओंपर हमारी संस्कृति अडिग खड़ी है। यही वह नींव है, जिसके कारण शत-शत आघात सहते हुए भी हमारी यह संस्कृतिकी इमारत अचल रूपसे स्थिर है। आपसे अपना इतिहास अविदित नहीं है। हमारे यहाँ प्रजाका पालक राजा सर्वदासे क्षत्रिय ही होता आया है। परंतु वह अकेला ही इस सारे भारको सँभालता नहीं आया है। वह सदा ब्राह्मतेजकी सहायतासे ही व्यवस्था करता आया है। राजा क्षत्रिय होता था अवश्य; परंतु उसके गुरु, उसके सलाहकार, उसको मन्त्रणा देनेवाले, उसके मन्त्री सर्वदा ब्राह्मण ही होते थे। श्रीरामचन्द्रजी, जिन्हें हम श्रद्धापूर्वक भगवान् मानते हैं, क्षत्रिय थे; परंतु उन्हें मार्ग दिखलानेवाले उनके गुरु वसिष्ठ कौन थे? ब्राह्मण ही न? यह तो हुई हमारे उस परमपवित्र गौरवशाली पुरातन स्वर्ण-युगकी बात। आजके युगको भी देख लीजिये, यही बात मिलेगी। छत्रपति शिवाजी महाराजके गुरु 'समर्थ रामदास स्वामी' कौन थे? परम शक्तिशाली पेशवाओंको तो आप जानते ही हैं, वे कौन थे? ब्राह्मतेजके बिना अकेला क्षात्रबल क्या कर सकता है? जिस प्रकार दो चक्रोंके बिना रथ नहीं खींचा जा सकता, उसी प्रकार इन दो शक्तियोंके बिना यह हमारे 'हिंदू-राष्ट्र' का रथ आगे नहीं बढ़ सकता। हमारी इस पवित्र संस्कृतिका रथ सर्वदा इन्हीं दो चक्रोंके आधारपर चलता आया है।

ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबलके आधारपर सुचारुरूपसे चलनेवाला यह हमारा सांस्कृतिक रथ दुनियामें, सारे विश्वमें सर्वश्रेष्ठ है। इसका निर्माण संसारके ही नहीं अपितु अखिल विश्वके सर्वश्रेष्ठ तत्त्वोंके संयोगसे हुआ है। वे तत्त्व तकारसे ही प्रारम्भ होते हैं—तपस्या, त्याग तथा तपोबल। तपस्या—युग-युगकी तपस्या, ऋषि-महर्षियोंकी तपस्या, विष्णुके अंश राजाओंकी तपस्या, प्रजाकी तपस्या, सारे हिंदू-समाजकी अपने ध्येयकी ओर अग्रसर होनेकी तीव्र लगन—हमारे इतिहासमें प्रखररूपसे प्रकाशित हो रही है। त्यागके लिये तो कुछ कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। यह तो हमारी समाज-व्यवस्थाका एक मुख्य अङ्ग है। इसके बिना हमारी संस्कृतिका अमर होना अत्यन्त असम्भव था। तपस्या और त्यागसे कमायी हुई प्रचण्ड शक्तिका ही नाम तपोबल है। इसी बलके आधारपर हमारी संस्कृतिने सम्पूर्ण विश्वके हृदयपर विजय प्राप्त की। यह ऐतिहासिक सत्य है। इसमें शङ्काके लिये स्थान नहीं। इसी बलके कारण समस्त विश्वने भारतको अपना गुरु, अपना पथप्रदर्शक माना।

हमारी मृत्युञ्जयता

तपस्या, त्याग तथा तपोबलके कारण स्वयं प्रकाशित ऐसी जो यह हमारी संस्कृति है, इसमें दो विशेषताएँ हैं—एक है प्राचीनता, सनातनता; दूसरी है मृत्युञ्जयता, अमरता। हमारी यह आर्य-संस्कृति, यह वैदिक संस्कृति, यह ब्राह्मतेज और क्षात्रबलके कारण अजेय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है।

पहले लोग इसे नहीं मानते थे; क्योंकि कोई भौतिक प्रमाण उनके सामने नहीं था। परंतु आज उन्हें यह बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ रहा है। भूगर्भसे निकला हुआ मोहन-जो-दड़ो नगरका अवशेष हमारी इस प्राचीन संस्कृतिकी जय मना रहा है। इस खँडहर हुए नगरकी विशेषता देखिये। बड़ी-बड़ी चौड़ी गलियाँ, बड़े-बड़े प्रासाद, प्रत्येक घरमें स्नान-गृह, कूप इत्यादि व्यवस्थाएँ क्या हमारी समृद्धिकी, हमारे ऐश्वर्यकी परिचायक नहीं हैं? यह नगर (हम नहीं कहते) इन्हीं पाश्चात्त्योंके मतके अनुसार विक्रमसे, उस महान् तथा प्रातःस्मरणीय शकारि विक्रमादित्यके समयसे, तीन हजार वर्ष अर्थात् आजसे लगभग पाँच हजार वर्षके भी पूर्वका है। आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व हम इतने वैभवशाली थे! मैं पूछता हूँ, क्या यह हमारी संस्कृतिकी प्राचीनताका पर्याप्त प्रमाण नहीं? मैं पूछता हूँ—क्या आज ऐसी कोई भी संस्कृति जीवित है, जो इतनी प्राचीन होनेका दम भर सकती है? मैं दावेके साथ कहता हूँ कि आज हमारी संस्कृतिकी प्राचीनतासे टक्कर लेनेवाली कोई भी संस्कृति जीवित नहीं है। केवल एक हमारी ही यह संस्कृति है, जो विद्यमान है। इसका क्या कारण है? क्या यही बात हमारी मृत्युञ्जयताको प्रमाणित नहीं करती? इतिहासके पृष्ठ उलटिये तो आपको एक प्राचीन संस्कृतिका परिचय मिलेगा—मिस्रकी संस्कृति। मिस्र देशकी वह सामर्थ्यशालिनी संस्कृति प्राचीन संस्कृतियोंमेंसे मानी जाती है। कहाँ है वह संस्कृति? क्या इस बड़े भारी भूपृष्ठपर एक भी व्यक्ति उस संस्कृतिकी परम्पराको लेकर जीवित है? क्या एक भी व्यक्ति ऐसा है, जो प्राचीन मिस्र देशमें व्यवहारमें लायी जानेवाली भाषाको अपनी भाषा कहनेका, बोलनेका, व्यवहारमें लानेका प्रमाण दे सकता है? वह मिट गयी, नष्ट हो गयी; आज उस संस्कृतिका एक भी वंशज इतने विशाल पृथ्वीतलपर जीवित नहीं है। इसके विपरीत है हमारी स्थिति। सबसे प्राचीन होते हुए भी हमारी संस्कृतिकी परम्परा अखण्डरूपसे चल रही है। अत्यन्त प्राचीन कालमें जो भाषा हमारे आदिपुरुषकी वाणीके रूपमें प्रवाहित हुई, उस देववाणी 'संस्कृत' का व्यवहार हमारे प्रतिदिनके व्यवहारमें होता है। हम उसी प्रकार सन्ध्या-वन्दन करते हैं। हमारे नित्यके व्यवहारमें, विवाहोपनयनादि संस्कारोंकी वही कर्मकाण्ड-पद्धति जीवित है, जिसे हमारे वेदकालीन पूर्वज उपयोगमें लाते थे। मैं पूछता हूँ, है कोई जो मिस्रकी प्राचीन भाषाको अपने जीवनमें प्रधान स्थान देकर उस संस्कृतिके परम्परा-दीपको प्रज्वलित रखनेका अभिमान करता हो?

तीन महान् आघात

हमारी संस्कृतिने सचमुच ही मृत्युपर विजय पायी है। न जाने इसपर कितने आघात हुए; परंतु यह अडिग रही, अचल रही, अटल रही। इन आघातोंमें सबसे बड़े ऐसे तीन आघात हुए। पहला हुआ सिकंदर (अलीकचन्द्र) के द्वारा। उसका षड्यन्त्र कितना विकट था, यह इतिहासके विद्यार्थियोंसे छिपा नहीं है। उसने हमारी संस्कृतिका आमूल नाश करनेका तथा यवन-संस्कृतिको विश्वकी संस्कृति बनानेका प्रण किया था। परंतु एक ब्राह्मणने उससे टक्कर ली। उस महापुरुषका नाम था कौटिल्य, चाणक्य। उस ऋषिस्वरूप ब्राह्मणने चन्द्रगुप्तके समान तेजस्वी शासकका निर्माण किया और गरीब विचारा अलीकचन्द्र (अलेक्जेण्डर) अपना बोरिया-बँधना लेकर सिंधुके उस तीरपर आँसू बहाकर अपने देश लौट गया। दूसरा आघात हुआ प्रातःस्मरणीय गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक महाराज विक्रमादित्यके समयमें। महाप्रतापी रणशूर खूब लंबे-चौड़े डील-डौलवाले बलशाली शकोंने आर्यावर्तको आत्मसात् करनेकी ठानकर हमारी इस पवित्र मातृभूमिकी स्वतन्त्रतापर आक्रमण कर दिया। परंतु उस समय भी एक ब्राह्मणने जनताकी नस-नसमें आग फूँककर वीर विक्रमके नाममें कलङ्क नहीं लगने दिया। उसका नाम था—कालिदास। कविकुलसूर्य कालिदासका रघुवंश उठाकर देखिये, वह क्या था? ब्राह्मतेज और क्षात्रबलने फिर एक बार बर्बरताको करारी हार दी। उसी प्रतापीके नामसे आज यह संवत् चला आ रहा है। आज भी हम प्रत्येक धार्मिक कृत्यके आरम्भमें उस वीर विक्रमका नाम सादर लेते हैं, ताकि हम भी उसी प्रकार अपनी मातृभूमिकी सेवा करनेमें समर्थ हों। तीसरा आघात हुआ मुसल्मानोंके द्वारा। उस समय भी एक संन्यासीने इस भारत-भूमिकी रक्षा की। उस प्रातर्वन्दनीय समर्थ रामदास-को कौन नहीं जानता? उस महान् आत्माने एक महापुरुषका निर्माण किया—जिनका नाम है छत्रपति शिवाजी महाराज। क्षत्रियकुलावतंस छत्रपतिने फिर एक बार उस हत्यारी शक्तिको नाकों चने चबवाये।

सर्वाधिक कुटिल आघात

कौन-सी ऐसी संस्कृति है, जो ऐसे भीषण आघातोंके सम्मुख अपनी प्राचीनताको अमर रखनेका दावा कर सकती है? इतना ही नहीं, एक और भी प्रयत्न हमारे देशमें हुआ,

जो यदि सफल हो जाता तो आज हमारी इस पवित्र भूमिका अभिमान रखनेवाला एक भी न दिखायी देता। वह प्रयत्न हुआ अंग्रेजोंके द्वारा। आपने विषकन्याका वर्णन अवश्य पढ़ा होगा। जिस प्रकार अफीमची लोग थोड़ी-थोड़ी मात्रासे प्रारम्भकर बहुत अधिक मात्रामें अफीम खानेका अभ्यास करते हैं, उसी प्रकार—उसी प्रणालीसे विषकन्या तैयार की जाती थी। बालपनसे उसे थोड़े-थोड़े परिमाणमें विष खिलाया जाता था और धीरे-धीरे उसका प्रमाण बढ़ाया जाता था। पर्याप्त समयके बाद उस कन्याके सारे शरीरमें इस प्रकार विष व्याप्त हो जाता था कि यदि मनुष्य या पशुके शरीरपर उसके नखसे खरोंच लगकर उस मनुष्यके रक्तका उसके नखसे सम्पर्क हो जाता था तो वह मनुष्य या पशु तत्काल विषबाधासे मर जाता था। अंग्रेजोंने भी अंग्रेजी शिक्षाका प्रचारकर सारे समाजकी नस-नसमें यह विष फैला दिया। धीरे-धीरे समाजकी रग-रगमें यह विष व्याप्त हो गया और आज हम ही अपने धर्मकी—अपनी संस्कृतिकी जड़ काटनेवाली कुल्हाड़ीका बेंट बन गये। हमने उन्हींके वचनोंको दोहराना प्रारम्भ कर दिया। देखिये न? उन्होंने कहा और हमने मान लिया कि हम 'यहाँके नहीं हैं, हम बाहरसे आये हुए हैं।' चलिये, झगड़ा ही मिट गया। जब हम भी बाहरसे आये हैं तो फिर क्यों हम इस भूमिके लिये दूसरेसे झगड़ा मोल लें? परंतु हमने कभी यह विचार नहीं किया कि यदि हम बाहरसे आये हुए होते तो हमारे ही नहीं, प्रत्युत संसारके प्राचीनतम ग्रन्थ हमारे वेदोंमें इसका कहीं तो उल्लेख मिलता। यही वह सप्तनद प्रदेश है, जिसमें सरस्वतीका पुण्य-प्रवाह नृत्य करता है और जहाँसे आर्योंने समस्त संसारमें फैलकर उपनिवेश स्थापित किये और बर्बरोंमें सभ्यताका बीज बो दिया, ताकि वे मनुष्यताका सम्मान करें। आज वे ही, जिन्होंने हमसे ऋणरूपमें बुद्धिका बीज लिया, हमसे कहते हैं—'तुम यहाँके आदिनिवासी नहीं हो।' और हम तत्काल इसे सत्य मानकर अपनी इस मातृभूमिका अभिमान छोड़कर विचार करने लगते हैं कि यथार्थमें हमें केवल अपनेको ही यहाँका राष्ट्रिय नहीं कहना चाहिये। इतना ही नहीं, इस विषका हमारे ऊपर इतना अधिक प्रभाव हुआ है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारे इस युगके तथाकथित नेता लोगोंको ही देखिये। उनमें बहुत-से अपनेको हिंदू कहलानेमें भी लज्जाका अनुभव करते हैं। न जाने वह सुदिन कब आयेगा, जब हम अपने अंदर हिंदुत्वका अभिमान भरकर भारतके राजकरणमें भाग लेंगे।

कहनेका तात्पर्य यह कि हमारी संस्कृति इतने प्रबल आक्रमणोंके विरुद्ध संघर्षमय जीवन बिताकर अबतक जीवित है, इसका एकमात्र कारण इसकी मृत्युञ्जयता है। इस मृत्युञ्जयताकी प्राप्ति हमें केवल हमारे ही ब्राह्म-तेज तथा क्षात्रबलके द्वारा हुई है। इसी ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबलके कारण हमारी इस संस्कृतिको, राष्ट्रको, भूमिको यह गौरव नसीब हुआ। हमारी समृद्धि देखकर देवता भी यहाँ जन्म लेनेके लिये तरसते थे। देवलोकसे देवताओंके मर्त्यलोकमें आनेकी कल्पना लोगोंको जरा विचित्र मालूम होती है; परंतु इसमें कुछ असत्य नहीं। क्योंकि देवलोक तो भोगभूमि है। वहाँ किये हुए पुण्यका कोई फल नहीं। इसीलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले देवताओंके इस मर्त्यलोकमें, इस कर्मभूमिपर अवतार लेनेकी बात विचारसंगत तथा तर्कसंगत है। यहाँ जो कुछ भी किया जाता है, उसका फल अवश्य मिलता है। परंतु इतना बड़ा यह विश्व है, फिर भी देवताओंकी इच्छा यहाँ भारतमें जन्म लेनेकी क्यों होती थी? वह केवल यहाँकी आध्यात्मिक सुख-समृद्धि देखकर ही।

तेजःपुञ्जका प्रतीक ध्वज

इतना समृद्धिशाली हमारा देश था; परंतु आज···? आज हमारी स्थिति अत्यन्त हीन है। इस हीन स्थितिसे निकलनेका केवल एक ही मार्ग है। वह है—अपनी संस्कृतिको पुनः गौरवशाली बनानेका दृढ़ निश्चय लेकर समस्त हिंदू-समाजको सुसंघटित करना। यह तभी हो सकता है, जब हमारी संस्कृति, हमारी परम्पराका हमें हर समय ध्यान रहे। इसीके लिये हमने अपना यह पुरातन 'भगवा ध्वज' अपनाया है। इसे देखते ही हमें अपने पूर्व गौरवका ध्यान हो आता है। अपनी परम्पराका आँखोंके सम्मुख चित्र उपस्थित हो जाता है। इसी झंडेके नीचे हुए असंख्य बलिदानोंका स्मरण हो आता है, जिनके कारण आज हम अपनेको हिंदूके रूपमें जीवित देखते हैं। यह ध्वज हमारे हिंदू-राष्ट्रकी आशाओं—आकांक्षाओं, इतना ही नहीं, वरं समस्त हिंदू-राष्ट्रका तेजःपुञ्ज प्रतीक है। यह हमारा है, हम इसके हैं। इसीके कारण हम हम हैं। अतः इसका सम्मान-रक्षण हमारे जीवनका आद्य कर्तव्य है—यह बात प्रत्येक हिंदूके मनमें जागरित हो तथा इस ध्वजके पीछे जो हमारी संस्कृतिका अमूर्त गौरव छिपा है, उसे मूर्त स्वरूप देनेमें वह कार्यशील हो। यही जगदीश-से प्रार्थना है।

सभ्यता और संस्कृति—एक गृध्र-दृष्टि

(लेखक—स्वामीजी श्रीसत्यदेवजी परिव्राजक)

सन् १९३९ ई० के मई मासकी बात है। मैं जर्मनीके प्रसिद्ध नगर म्यूनिचके एक होटलमें ठहरा हुआ था। हिटलर महान्‌का आज साढ़े आठ बजे सबेरे रेडियोपर भाषण होनेवाला था। होटलके सभी अतिथि बड़ी उत्सुकतासे उस भाषणको सुननेके लिये, होटलके बड़े हालमें, एकत्रित हो रहे थे। मैं भी अपने मित्र डाक्टर हासके साथ उस कमरेमें जाकर कुर्सीपर बैठ गया। ठीक आठ बजे रेडियो महाशयने व्याख्यान की सूचना दी और जर्मनीके शेरने दहाड़ना शुरू किया—

'हमारे शत्रु हमपर दूसरे युद्धकी विभीषिका ला रहे हैं। जर्मन जाति युद्ध नहीं चाहती, लेकिन दुश्मन हमें जबरदस्ती लड़ाईमें घसीट रहे हैं। आठ करोड़ जर्मन प्रजा सगठित अवस्थामें है। वह युद्धसे बिल्कुल नहीं डरती; किंतु यदि हमारे शत्रुओंने हमपर युद्ध थोप दिया तो यूरोपीय सभ्यता-संस्कृति विनाशके गढ़ेमें चली जायगी। हम जर्मनलोग सुसभ्य और सुसंस्कृत हैं। इस भयङ्कर युद्धसे हमारी सबसे अधिक हानि होगी। क्योंकि जर्मन जाति ही यूरोपकी सभ्यता और संस्कृतिको उत्कर्षकी ओर ले जा सकती है; इसलिये यह युद्ध यूरोपकी सभ्यता और संस्कृतिके विनाशका कारण होगा, और पूर्वके जंगली कम्युनिष्ट स्लाव लोग सुशिक्षित यूरोपको दबा लेंगे।'

'सभ्यता और संस्कृति' इन शब्दोंने मुझे पकड़ लिया और मेरा मस्तिष्क इन शब्दोंकी महत्तापर विचार करने लगा। प्रायः हमारे पढ़े-लिखे लोग इन दो शब्दोंको पर्यायवाची समझकर इनका व्यवहार बोलचाल तथा व्याख्यानोंमें कर लेते हैं, परंतु इन दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। इस लेखमें मैं इन्हीं दो शब्दोंपर गृध्र-दृष्टि डालनेका प्रयत्न करूँगा।

जब हम यह कहते हैं कि जर्मन जाति सभ्य है, तो इसका अर्थ यह है कि वह जाति अपने दैनिक जीवनमें सुधरे हुए साधनोंका व्यवहार करती है। अर्थात् शारीरिक आवश्यकताओं-की पूर्तिके लिये उसके पास आधुनिक वैज्ञानिक साधन हैं और वह सदा इस बातके लिये प्रयत्नशील रहती है कि शरीरको अधिक-से-अधिक सुख और मजा मिले। अमरीकन लोग बड़े सभ्य हैं; क्योंकि वे बिजलीसे खाना बनाते हैं और ट्रैक्टरोंद्वारा खेती करते हैं। उनके यहाँ इक्के-ताँगे-जैसी कोई सवारी नहीं, और उनकी आबादीके प्रत्येक चौथे आदमीके पास अपनी मोटरकार है। जो जातियाँ आज वैज्ञानिक साधनोंका प्रयोग करती हुई अपने जीवन-स्तरको ऊँचा उठाती चली जाती हैं, वे जातियें सभ्य कहलाती हैं। अंग्रेजी भाषामें सभ्यताके लिये 'Civilization' शब्दका व्यवहार किया जाता है। इन जातियोंकी जीवन-आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं और बढ़ती रहेंगी; क्योंकि इनका मुँह सभ्यताकी ओर है। ये प्राकृतिक पदार्थों तथा लोगोंके अंदर ही सुख-शान्तिकी तलाश करती हैं, जिसका कहीं अन्त ही नहीं है।

इन जातियोंके पास संस्कृति अर्थात् 'Culture' या 'कलचर' भी है, किंतु वह सभ्यताके पीछे-पीछे उसकी चेरी बनकर चलती है। ये सुन्दर चित्र बनवायेंगे, कलाकारोंको प्रोत्साहित करेंगे, कवियोंको पुरस्कार देंगे और उत्कृष्ट कलायुक्त भवन बनाकर उसमें निवास करेंगे; उनकी बोलचालमें, होटलों तथा दूकानोंमें उनकी भाषा मिष्ट और शिष्ट होगी। लेकिन उस सबका मुख्य लक्ष्य होगा सभ्यताके खुदा 'धन' को प्रसन्न करना और दूसरोंकी जेबोंमेंसे पैसा निकालना। दूसरे शब्दोंमें वे सुसंस्कृत अवश्य हैं, किंतु अपनी सभ्यताको आगे बढ़ानेके लिये—प्राकृतिक सुखोंका मजा लूटनेके लिये—उनका सारा प्रयत्न रहता है। उनकी वृत्ति बहिर्मुखी होनेके कारण वे सभी जातियोंको अपनी उस लपेटमें ले लेते हैं और कच्चे मालकी खोजमें पृथ्वीको रौंद डालते हैं। पक्का माल बेचनेके लिये सब प्रकारके दाँव-पेंच, छल-प्रपञ्च काममें लाते हैं। यहाँतक कि युद्धके रौरव नरकसे भी नहीं डरते!

अब आइये संस्कृतिकी ओर, जिसपर मानवकी मानवता पूर्णरूपसे निर्भर है। संस्कृति है आत्माकी वस्तु, आत्मिक उत्थानका चिह्न, आत्मिक उत्कर्षकी सीढ़ी और आत्मदर्शन-का मार्ग। सभ्यता है अपरा विद्या और संस्कृति है परा विद्या। यदि हमें इन दो शब्दोंका लक्षण अंग्रेजी भाषामें दो टूक करना पड़े तो हम उसे इस प्रकार करेंगे—

Civilization is an expression of flesh, while culture is the manifestation of soul.

अर्थात् सभ्यता शरीरके मनोविकारोंकी द्योतक है, जब कि संस्कृति आत्माके अभ्युत्थानकी प्रदर्शिका है। सभ्यताका

उत्थान मानवको प्रकृतिवादकी ओर ले जाता है, जब कि संस्कृति मानवको अन्तर्मुखी करके उसके सात्त्विक गुणोंको प्रकट करती है । पाश्चात्त्य जातियोंने संस्कृतिको सभ्यताकी दासी बना दिया है; इसी कारण उनके यहाँ रोटीकी छीना-झपटी, सामाजिक विषमता और राष्ट्रिय अशान्तिका बाजार गरम है । चारों ओर हड़तालोंका जोर है । अमरीका-जैसे समृद्धिशाली देशमें बेकारी मुँह बाये खड़ी है । इसका कारण यह है कि अमेरिकन राष्ट्रके लोगोंने अपनी संस्कृतिको सभ्यताकी चेरी बना डाला है । यदि वहाँके लोग सभ्यताको संस्कृतिकी सेविका बनाते तो उनकी सामाजिक विषमता दूर हो जाती । उन्हें आवश्यकताओंकी वृद्धि न सताती और न धनी लोग ही धनसंग्रहकी बीमारीसे ग्रसित होते । यह जो व्यापारयुगका बुखार संसारको सता रहा है, वह केवल इसलिये कि सभ्य जातियोंने अपनी आत्माको पहचाननेके बजाय इन्द्रियसुखोंको प्रधानता देकर अपनी आवश्यकताओंको इतना अधिक बढ़ा लिया है कि मानव-जीवनकी स्वाभाविकता ही नष्ट हो गयी है । इसी कारण पाश्चात्त्य जातियोंमें जीवनकी होडने भयंकर रूप धारण कर लिया है ।

हम आये हैं इस संसारमें सत्य ज्ञानकी प्राप्तिके लिये, इस ब्रह्माण्डके रहस्योंको समझनेके लिये, अपने आपको पहचाननेके लिये, मृत्युकी घुंडी समझनेके लिये, आकाशके करोड़ों नक्षत्रोंकी जीवनचर्याका ज्ञान करनेके लिये और समुद्रकी तहमें छिपे हुए खजानेके अन्वेषणके लिये । हमारा ज्ञान इतना कम है, हमारी आँखें इतना कम देखती हैं, प्रकृतिके साधन इतना कम हमारी सहायता कर सकते हैं— कि यह सब सोचकर हम अपनी अज्ञानतापर आँसू बहाने लगते हैं । लाखों वर्षोंसे मानवने अबतक यह बात नहीं जानी कि मरनेके बाद मनुष्य कहाँ जाता है, किस तरह जाता है, और किस रास्तेसे जाता है । अपनी आँखोंके सामने प्रतिदिन हम मृत्युका भीषण दृश्य देखते हैं, किंतु फिर भी धनसंग्रहकी बीमारीसे हमारा पिण्ड नहीं छूटता । लाखों मनुष्य ऐसे हैं, जो पेटकी ज्वाला बुझानेके लिये अस्वाभाविक ढंगसे जीवन व्यतीत करते हैं । यदि हम व्यापार-युगके स्थानपर ज्ञान-युगके प्रवर्तक बने होते तो संसारका प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने विकासके अनुसार विद्या प्राप्तकर सत्य ज्ञानकी खोज करता और आज सारा मानवसमाज रोटीकी छीना-झपटीमें छूटकर विश्वके ज्ञानभंडारमें अपना अंश देता । पर शोक ! आवश्यकताओंकी निरन्तर वृद्धिने मानवको दानव बना दिया है और उसे चौबीसों घंटे पेट भरनेकी ही चिन्ता लगी रहती है । आज हम सुशिक्षित पशु बन गये हैं, जो अपनी शिक्षाद्वारा अधिक-से-अधिक मक्कारी, अधिक-से-अधिक बनावटीपन और धोखा देनेकी कलामें निपुण होकर पैसा बटोरनेमें लगे हुए हैं । यह सब इसीलिये है कि हमने अपनी संस्कृतिको तुच्छ स्वार्थ-सिद्धिका साधन बना लिया है !

हमें यह बात भली प्रकार जान लेनी चाहिये कि सभ्यताका शारीरिक आवश्यकताओंके साथ सम्बन्ध है और संस्कृतिका आत्माके सात्त्विक गुणोंके साथ । जितना ही हमारी सभ्यता हमें सात्त्विक बनानेमें सहायक बनेगी, उतने ही हम संस्कृतिके क्षेत्रमें आगे पग बढ़ायेंगे । हमें जाना है आत्मिक उत्कर्षकी ओर, जिसमें भौतिक आवश्यकताओंकी कमीका होना प्रधान साधन है । आवश्यकताओंकी कमी ही समाजकी विषमताको दूर कर सकती है और यही मानव-समाजमें शान्तिकी स्थापना कर सकती है । सादा जीवन और उच्च विचार हमारा लक्ष्य होना चाहिये, तभी प्राकृतिक भोगोंका न्यायपूर्वक बटवारा मानव-समाजमें किया जा सकता है । जितना ही अधिक हम सभ्यताकी ओर जायँगे, उतना ही हममें अशान्ति घर कर लेगी और हम सदा बेचैन रहकर जीवन व्यतीत करेंगे । यूरोपके दो महासमर केवल इसीलिये लड़े गये कि यूरोपकी उन्नत जातियाँ अपना पक्का माल एशियामें खपाना चाहती थीं । उनका आपसका व्यापारिक ईर्ष्या-द्वेष भीषण युद्धका कारण बन गया । जब कारखानोंमें जरूरतसे ज्यादा माल तैयार हो जाता है और कारखाने बंद होने लगते हैं, तब उन कारखानोंके स्वामी अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये राष्ट्रोंको आपसमें लड़वानेका षड्यन्त्र रचते हैं, ताकि मजदूर लोग बेकार न हों और उनका धन तथा कारखाने बराबर उत्पादक बने रहें । यह सब अत्याचार और भीषणता सभ्यताकी वृद्धि करनेसे ही उत्पन्न होती है । विज्ञान-जैसा ईश्वरदत्त वरदान मानवसमाजके लिये भीषण अभिशापका रूप धारण कर लेता है और इसके आचार्य संसारपर स्वर्गकी रचना करनेके बजाय नरकके दृश्य उपस्थित कर देते हैं !

इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें रखकर प्राचीन कालके ऋषि-मुनियोंने मनुष्यको शरीरके मोहसे छूटनेकी शिक्षा दी और उसे यह सिखलाया—'तू शरीर नहीं है, आत्मा है ।' हमारे यहाँकी शिक्षाका यहींसे प्रारम्भ होता है । क्योंकि लाखों वर्षोंकी शरीरकी ममता और प्राकृतिक सुखोपभोगकी इच्छा

मानवकी अस्थियोंके अणु-अणुमें रमी हुई है। पशु-योनियोंमें उसमें बुद्धि या तर्कका अभाव था, इस कारण वह सीमामें रहकर शारीरिक सुख भोग लेता था। अब मानव-देह पाकर यदि उसका वही दृष्टिकोण रहे तो अपनी बुद्धि-विद्याके बलसे वह कैसा अनर्थकारी सिद्ध हो सकता है, इसका भयंकर चित्र—जीते-जागते उदाहरण—हम उन नरपिशाचोंमें देख सकते हैं, जिन्होंने पंजाब-हत्याकाण्डके समय निरपराध आबादीपर असंख्य जुल्म ढाये थे! हमारे पूर्वज यह जानते थे कि शिक्षाका महान् उद्देश्य पशुयोनियोंके बीभत्स संस्कारोंको मिटाकर इस नर-पशुको सच्चा मानव बनाना है और मानवताकी ओर बढ़ना ही संस्कृतिका मुख्य उद्देश्य है। वह मानवता अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये नहीं बल्कि विश्वमैत्रीका सन्देश देनेवाली होनी चाहिये। यह तभी हो सकेगा, जब हमारा दृष्टिकोण शारीरिक न होकर आत्मिक हो जायगा। इसीलिये हमारी प्राचीन कालकी शिक्षा संस्कृतिको मुख्य रखकर दी जाती थी। पैरोंमें जूता नहीं, सिरपर टोपी नहीं, केवल एकवस्त्रधारी आदर्श विद्वान् पुरुष चारों ओर घूमकर अध्यात्मवादका सन्देश सुनाते थे। ऐसे सात्त्विक पुरुष अमृतकी वर्षा करते हुए मनोविकारोंसे सन्तप्त जनताको शान्ति प्रदान करते थे और देशके बच्चे उन्हें अपना आदर्श मानकर उनके पद-चिह्नोंपर चलनेका प्रयत्न करते थे। संस्कृत साहित्य समाजकी इसी विषमताको दूर करनेके लिये स्थितप्रज्ञ बननेका उपदेश बार-बार देता है और यह कहता है—'दुईको निकाल दे, तू दुईको निकाल दे।' यही ध्वनि उन स्थितप्रज्ञोंके साहित्यमें ओतप्रोत हो रही है। यही उनके संगीतमें गायी जाती है और यही उनकी कलामें प्रदर्शित होती है। जबतक आर्य ज्ञानमार्गी बने रहे, तबतक उनकी चतुर्मुखी उन्नति होती रही और वे प्रत्येक विभागमें अमर साहित्यकी रचना कर गये; किंतु जबसे हमने वह मार्ग छोड़ दिया, हमारी दृष्टि व्यापारिक हो गयी; तबसे हमारे धार्मिक क्षेत्रमें भी पशुताने घर कर लिया और हम सात्त्विक गुणोंको बिक्रीके पदार्थ बनाकर उनके द्वारा धन-सञ्चय करने लगे। यहींसे हमारे पतनका प्रारम्भिक इतिहास चलता है।

संक्षेपमें सभ्यता और संस्कृति दोनोंका आपसमें प्रेम-सम्बन्ध है। शरीरके बिना आत्मा अपनी शक्तियोंका प्रदर्शन नहीं कर सकता। उत्कृष्ट संस्कृतिके लोग अपनी सभ्यताके द्वारा अपने सात्त्विक गुणोंका परिचय देते हैं। वे अपने घरोंमें ताले नहीं लगाते; चोरी नामकी किसी बुराईको वे जानते नहीं, व्यभिचार और बलात्कारका कोई चिह्न उनके यहाँ दिखायी नहीं देता। उनकी भाषा अत्यन्त मधुर और उनका पारस्परिक व्यवहार सत्यतासे परिपूर्ण रहता है। चीनी और यूनानी यात्रियोंने अपनी यात्रा-कथाओंमें ऐसे ही कलापूर्ण और सुसंस्कृत भारतीय समाजका वर्णन किया है, जहाँ महँगी और भुखमरीका नामोनिशानतक नहीं था। हमारी सभ्यता संस्कृतिकी सहायक होनी चाहिये, तभी हम प्राकृतिक सुखोंका न्यायपूर्वक उपभोग करते हुए इस संसारको स्वर्ग बना सकते हैं।
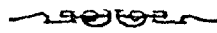
तमसो मा ज्योतिर्गमय

प्रदीप यह बुझे नहीं।
घोर अन्धकारमें,
वेगमय बयारमें;
यामिनी-विभीषिका,
प्रलय-काण्ड-भूमिका;
अग्नि-गीत गा रही,
वज्र हैं ढहा रहीं;
परन्तु मुक्ति-द्वारका, अमन्द ज्योति-धारका;

प्रदीप यह बुझे नहीं।
ज्योतिमय प्रदीपके,
शक्ति-मय प्रदीपके;
अखण्ड ज्ञान-दीप्तिसे,
अमर्त्य-वर्ति-नीतिसे;
हो विभा-मनोहरा
कान्ति-स्निग्ध हो धरा;
असत्-प्रमाद नाशका, विमुक्त-सत्-प्रकाशका;
प्रदीप यह बुझे नहीं।

—लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र'

हिंदू-संस्कृति और सभ्यता

(लेखक—प्रो० श्रीदशरथजी श्रोत्रिय, एम्० ए०, साहित्याचार्य, विद्याभूषण)

१—परम प्रभुद्वारा प्रकाशित स्थावर एवं जङ्गम सृष्टिमें प्राणधारियोंका उच्च स्थान है। प्राणधारियोंमें मानवता श्रेष्ठ निर्धारित की गयी है, वेदमें मानवमात्रको 'अमृतस्य पुत्राः'[1] कहकर मानव श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है। मानवकी यह श्रेष्ठता उसकी श्रेष्ठ आचार-विचार-परम्पराके हेतु प्रभु-प्रदत्त सामर्थ्यपर आधारित है। मानव ही इस विशाल विश्वमें श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ आचार और विचार धारण करनेकी सामर्थ्यसे युक्त है। यही मानवोपार्जित श्रेष्ठ आचार-विचार-परम्परा सभ्यता और संस्कृतिकी उपादान हो जाती है। श्रेष्ठ आचार-परम्परासे संस्कृतिका और श्रेष्ठ विचार-परम्परासे सभ्यताका सृजन होता है।

२—आचार और विचारका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः इनकी परम्पराके रूपमें उपलब्ध संस्कृति और सभ्यताका भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच तो यह है कि 'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्द परस्पर इतने सम्बद्ध और संसृष्ट हैं कि इन दोनोंका प्रायः एक ही अर्थमें व्यवहार होने लगा है। परंतु फिर भी इनमें अन्तर है, यद्यपि वह परम्पराभूत होनेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म है। संस्कृति (सम्+कृति) शब्दमें 'कृति' शब्द इस अन्तरको स्पष्ट बता रहा है। कृति शब्दका सहारा लेकर हम 'संस्कृति' को निर्भीक होकर 'सदाचार' कह सकते हैं।[2] जहाँ संस्कृति-शब्दकी व्याख्या 'आचार' को दृष्टिमें रखकर की जानी ठीक है, वहाँ सभ्यता-शब्दकी व्याख्या 'विचार' को दृष्टिमें रखकर की जानी चाहिये[3]। क्योंकि सभ्यता-शब्दमें 'तल्' प्रत्यय भाव (विचार) वाचक है। समान विचारसे अनुप्राणित मानवसमूहको 'सभा' कहते हैं। सभामें दक्ष (साधु) पुरुषको 'सभ्य' कहा जाता है। सभ्यका भाव ही 'सभ्यता' कहलाता है। यद्यपि सभ्यता-शब्दकी व्याख्या कर्म (आचार)-परक भी की जा सकती है[1], तथापि कर्मपरक व्याख्या भी विचार (भाव) का सर्वथा बहिष्कार नहीं कर देती। वास्तवमें सभ्यता-शब्दकी विचार-परक व्याख्या ही अत्यन्त समीचीन है।

३—हाँ तो, श्रेष्ठ आचार-परम्परासे संस्कृतिका और श्रेष्ठ विचार-परम्परासे सभ्यताका सृजन होता है। इस श्रेष्ठ आचार-विचार-परम्पराको पाश्चात्त्य विद्वान् प्राकृतिक नियमोंके अनुसार सतत विकासमान मानकर प्राचीन परम्पराओंको हेय कोटिमें फेंक देते हैं। परंतु आर्य हिंदू अखिल-धर्ममूलक अपौरुषेय वेदको इस श्रेष्ठ परम्पराका आदिस्रोत मानता एवं जानता है। इसीलिये वह प्राचीनतम परम्पराओंको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखता है। यही कारण है कि आज भी प्राचीनतम वैदिक परम्पराओंमें उसकी ममता अक्षुण्ण है; आज भी वह सम्पूर्ण मानवजातिके मध्य ऐतिहासिक दृष्टिसे अपनेको अत्यन्त गौरव और महत्त्वका पात्र समझता है, और उन्हीं परम्पराओंको मूलरूपमें अपनी सभ्यता और संस्कृति समझता है। उसका आज भी दृढ़ विश्वास है कि मानवजातिका चरम अभ्युदय उन्हीं वेदविहित आचार-विचार-परम्पराओंको अपनानेसे हो सकेगा। आज भी वह समझता है कि मानवकी सारी जटिल समस्याओंके हल वेदमें प्राप्त हो सकते हैं। तभी तो वह कहता है—

'सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति।'

अर्थात् 'सभी वेदसे सिद्ध होता है।'[2] आज भी वह मनुस्मृतिका यह श्लोक स्मरण करते हुए आत्मगौरव अनुभव करता है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् सर्वे एव जना भुवि॥

अर्थात् 'इस भारतदेशमें उत्पन्न हुए वेदवित् ब्राह्मणसे सभी देशोंके सभी मनुष्य अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें।'

४—इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद-विहित आचार-विचार-परम्परा ही 'हिंदू-संस्कृति और सभ्यता' कही और मानी जाती है। इसीसे 'आस्तिक्य' हिंदू-सभ्यता और

---

१. यजुर्वेद ११। ५ मन्त्रांश—
'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥

२. सस्क्रियते मानवः अनया इति संस्कृतिः अर्थात् सदाचारः।
'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'
'आचारः प्रथमो धर्मः॥'

३. सह भाति सा सभा। सभायां साधुः (निपुणः)
सभ्यः। सभ्यस्य भावः सभ्यता।

१. सभ्यस्य कर्म वा सभ्यता।

२. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (मनु० २। ६)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
(यजु० ४० । ६)

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः[१] ॥
(यजु० ४० । ७)

× × × ×

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६ । ३०)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः[२] ॥
(गीता ६ । ३२)

× × × ×

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वे सं जानाना उपासते ॥
(ऋ० १० । १९१ । २)

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
(ऋ० १० । १९१ । ३)

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति[३] ॥
(ऋ० १० । १९१ । ४)

८. ऊपरके उद्धरणोंसे यह समझना सरल होगा कि आस्तिक्य और आत्मवादके ऊपर टिकी हुई हिंदू-सभ्यता और संस्कृतिके अन्तर्गत जिस 'आस्तिक सर्वतः साम्य' का उपदेश हुआ है, उसके सामने आधुनिक 'साम्यवाद'* एवं 'समाजवाद'† तथा 'लोकवाद'‡के अन्तर्गत तथाकथित विविध प्रकारका केवल 'आर्थिक साम्य'§ कितना थोथा और अपूर्ण प्रतीत होता है। इस आधुनिक आर्थिक साम्यमें मनुष्य और यन्त्र-मनुष्य-में अन्तर ही क्या रह जायगा—यह विचारणीय है। फिर शान्ति और सुखका उद्देश्य ही क्या होगा ? आज आधुनिक साम्यवाद, समाजवाद और लोकवादके नामपर जिस 'साम्य' का राग अलापा जा रहा है, उसमें 'आस्तिक्य'का स्पर्श भी नहीं। इस नास्तिक साम्यसे चिर विश्व-शान्ति किंवा विश्वप्रेमका कभी आविर्भाव होगा—हमें तो इसमें सन्देह ही है। यों तो 'हरड़ेके दस हाथ होते हैं'—ऐसा कहनेवालेके मुखको भी कोई रोक नहीं सकता ।×

९. हिंदू आचार-परम्पराने 'लोक'को और हिंदू-विचार-परम्पराने 'लोकेश्वर'को सदा सर्वोच्च स्थान दिया है। इन्हीं दोनों परम्पराओंके अनुसार हिंदू-संस्कृति और सभ्यता अबसे बहुत पहले ही दृढ 'आस्तिक लोकतन्त्र'+ का निर्माण कर चुकी थी । यही कारण है कि हिंदू-संस्कृति और सभ्यतामें

है; इससे अन्य कोई नहीं, जिससे ऐ मानव ! तू कर्मके बन्धनमें नहीं बँधेगा ।

× × ×

१. जो सब भूतोंको आत्मा (अपने) में और अपनेको सब भूतोंमें देखता है—समझता है, फिर वह किसीसे घृणा नहीं करता अर्थात् सभीसे प्रेम करता है । जहाँ एकत्व (आत्मोपमासे समता) को देखने-समझनेवाले विद्वान्के लिये सब प्राणी आत्मा ही हो गये, वहाँ शोक और मोह कैसा ?

× × ×

२. जो सबमें मुझे और मुझ (ईश्वर) को सबमें देखता है, मेरे लिये वह और उसके लिये मैं कभी नष्ट नहीं होता । आत्मोपमासे सबके दुःख और सुखको जिसने समान समझ लिया, वही योगी मुझे विशेष प्यारा है अथवा मेरे मतमें श्रेष्ठ है ।

× × ×

३. ऐ मनुष्यो ! मिल-जुलकर प्रगति करो; मिल-जुलकर बातचीत करो, मिल-जुलकर विचार करो । तुम्हारे पूर्वज विद्वान् मिल-जुलकर विचार करते हुए ही अपने-अपने अधिकारके अनुसार सदा आचरण करते आये हैं। तुम सबके विचार, सघटन, मन और चित्त समान हों । मैं (ईश्वर) तुम सबको यही समान उपदेश देता हूँ और समान भोगाधिकारसे युक्त करता हूँ। तुम्हारा सबका अभिप्राय समान हो, हृदय समान हो, मन समान हो, जिससे तुम सब अच्छी प्रकार साथ-साथ रह सको ।

* कम्युनिज्म (Communism)

† सोशलिज्म (Socialism)

‡ डेमाक्रेसी (Democracy)

§ आर्थिक समवितरण (Equitable Distribution of wealth)

× मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी—यह एक संस्कृतकी कहावत है ।

\+ आस्तिक लोकतन्त्र—वह राज्य-व्यवस्था, जिसमें शास्त्र-विधिके अनुसार अभिषिक्त राजाको प्रजा देवता समझती थी। तथा राजा प्रजा-पालनको अपना प्रधान कर्तव्य समझता था, इसी कारण उसे 'नृप' भी कहा जाता था । तुलना कीजिये—

हम पद-पदपर संस्कारों और यज्ञोंका बोल-बाला, धर्ममें अभ्युदय और निःश्रेयसका समावेश, शास्त्रमें कर्म और ज्ञानका समन्वय और विधानमें क्षत्र और ब्रह्मका अटूट संयोग पाते हैं।

संस्कृति और वेद

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है और इसमें इस देशके निवासियोंका नाम 'भारत' है। यथा—

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्॥
(ऋ० ३। ५३। १२)

इसका साधारण अर्थ—"आकाश, पृथ्वी दोनोंके मध्य अन्तरिक्षमें स्थित इन्द्रकी मैंने स्तुति की है। विश्वामित्रका किया हुआ स्तोत्र 'भारत जन'की रक्षा करे या करता है।" गीतामें भी देश-सम्बन्धसे अर्जुनको सम्बोधित करते हुए अनेक बार 'भारत या भरतर्षभ' कहा है। यथा—

'व्यक्तमध्यानि भारत', 'पश्याश्चर्याणि भारत', 'जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ', 'ज्ञानी च भरतर्षभ', 'सत्त्वं भवति भारत', 'तन्निबध्नाति भारत', 'रजः कर्मणि भारत।'

यह महिमायुक्त नाम उसी देशको दिया गया था, जो सबका 'भरण' करता था। मानसकार महात्माजी भी कहते हैं—

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

अनन्तर 'आर्यावर्त' नाम हुआ। यहाँके निवासियोंने कृषिके काममें श्रेष्ठता प्राप्त की। 'ऋ' का अर्थ गति है और जो गतिशील, परमार्थकी ओर अग्रसर होता है, वह ऋषि है। ऋषिका अर्थ निर्मल-बुद्धिसम्पन्न जीवनोपयोगी मन्त्ररहस्य-द्रष्टा पुरुष है। यहाँ अनेक ऋषि हुए, इसलिये यह देश आर्यभूमि या आर्यावर्त कहलाया। बार-बार किसी काम या बातके होनेमें मनपर प्रभाव पड़ जाता है। यही प्रभाव संस्कार है, जो अमिट बन जाता है। इतना परिवर्तन होनेपर भी यहाँवालोंको 'भारत' या 'आर्य' कहलानेमें गौरव प्रतीत होता है। जब देशकी सीमा छोटी हुई, तब एक नदीको 'सिंधु' कहा। 'सीमाको धोये' वह सिन्धु है (सीमां धौति या सा) इस कारण लाक्षणिक ढंगसे सिन्धुको समुद्र भी कहना आरम्भ हुआ। जो कुछ हो—इस नदीके सम्बन्धसे अपर जनोंने यहाँके निवासियोंको सिंधु अर्थात् 'हिंदू' कहना आरम्भ किया। ऐसा परिवर्तन होता ही रहता है। इसे अपनी कसौटीसे देखनेपर अभिप्राय 'हीनताको दूर करनेवाले' होता है (हीनतां दुनोति दूरीकरोति यः सः)। हमको अन्य जनोंकी दृष्टिसे या अर्थ (अन्य-भाषा-भाषियोंके कोषमें दिये हुए) से क्या प्रयोजन ! अस्तु।

यदि प्राचीन ऋषिप्रणीत संस्कारोंको देखा जाय तो वे जीवनमें आनेवाली हीनताको दूर करनेके अमोघ उपाय हैं। इस देशमें चलाये हुए व्रत, उत्सव, नित्य-नैमित्तिक कार्य, मेले, लोकव्यवहार आदि सबका अन्तर ध्येय जीवनकी हीनताको हटाकर मनुष्योंको आनन्दमय बनाना है। संस्कारोंका ध्येय आत्मसूचना देकर जीवनको सुचारु ढाँचेमें ढालनेका है। व्रतोंका लक्ष्य ऋतु-अनुसार आहार-विहार करते हुए दुःखनाशक योगको प्राप्त करना है। ऋषियोंने

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो 'नृप' अवसि नरक अधिकारी॥

इसीको 'रामराज्य' भी कहा गया है। यथा—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

१. सोलह संस्कार प्रसिद्ध हैं। कहीं-कहीं चौवालीस संस्कार भी बताये गये हैं तथा उनमें यज्ञोंकी भी गणना की गयी है (देखिये—नारदपरिव्राजकोपनिषद्)। यज्ञोंके असंख्य प्रकार हैं। हिंदुओंमें यज्ञोंकी सदा प्रधानता रही है। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।' (यजु० ३१। १६)

२. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥ (वैशेषिकदर्शन १। १)

३. साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। (गीता ५। ४)

४. इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्॥ (यजु० ३२। १६)
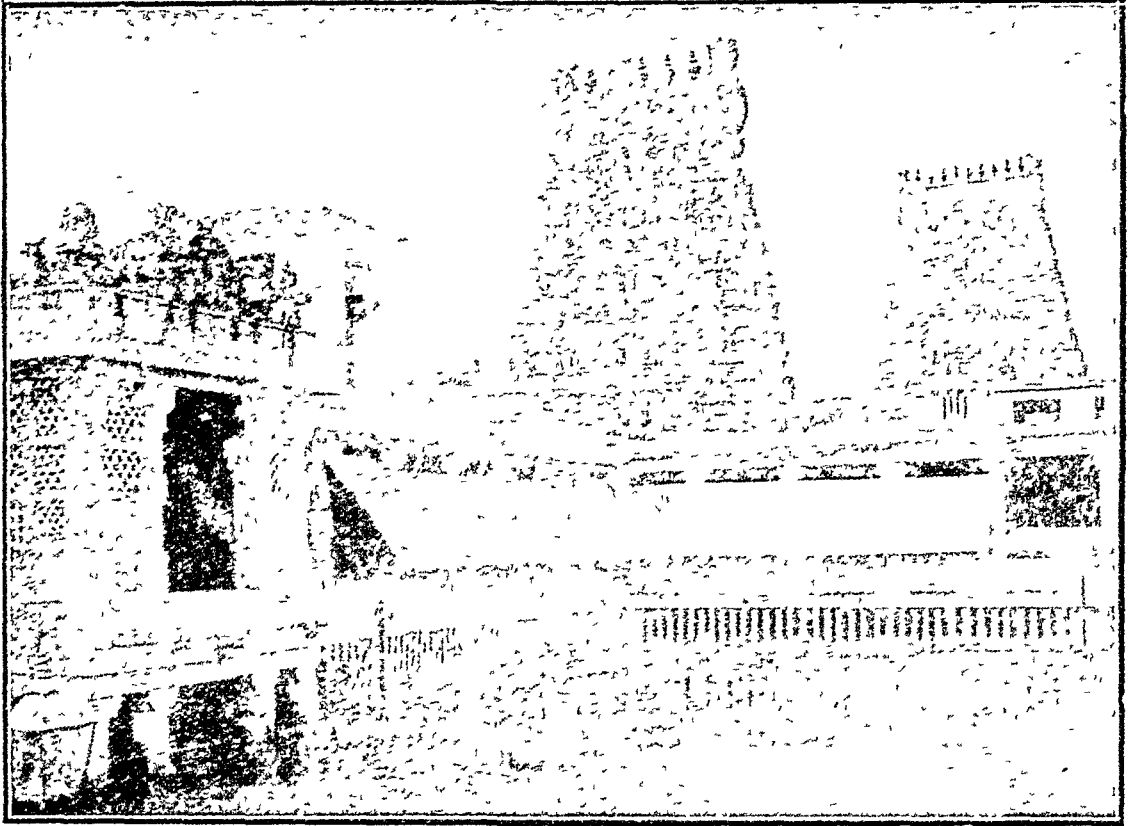
श्रीमीनाक्षी और श्रीसुन्दरेश्वरके मन्दिर—मदुरा

श्रीमीनाक्षी-स्वर्णकमल-सरोवर
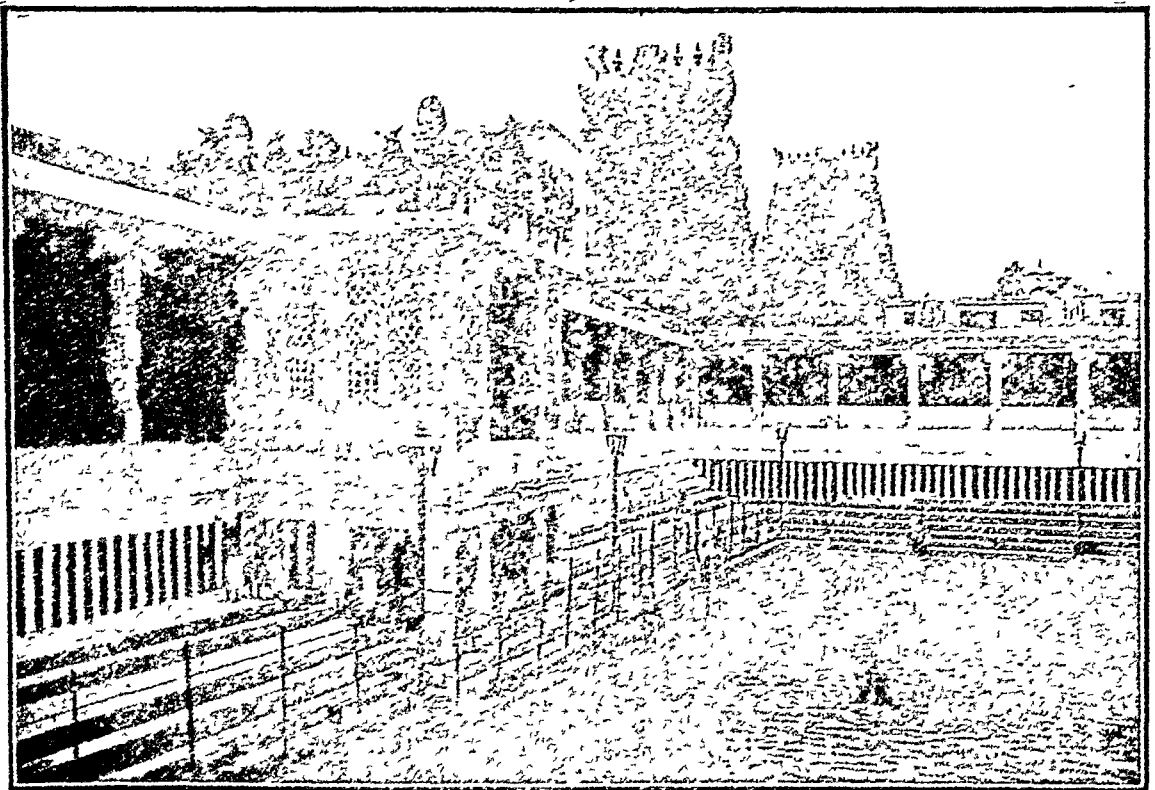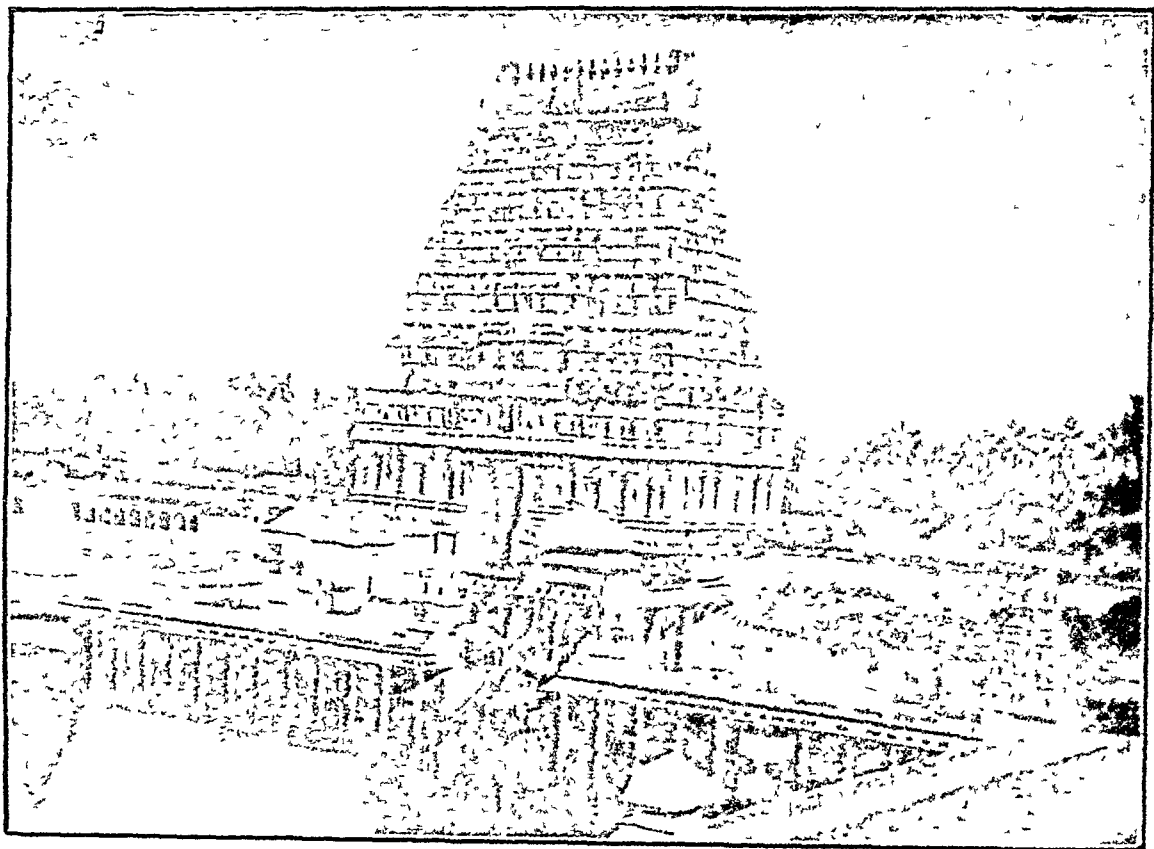
श्रीचिदम्बरम्के मन्दिरका गोपुर
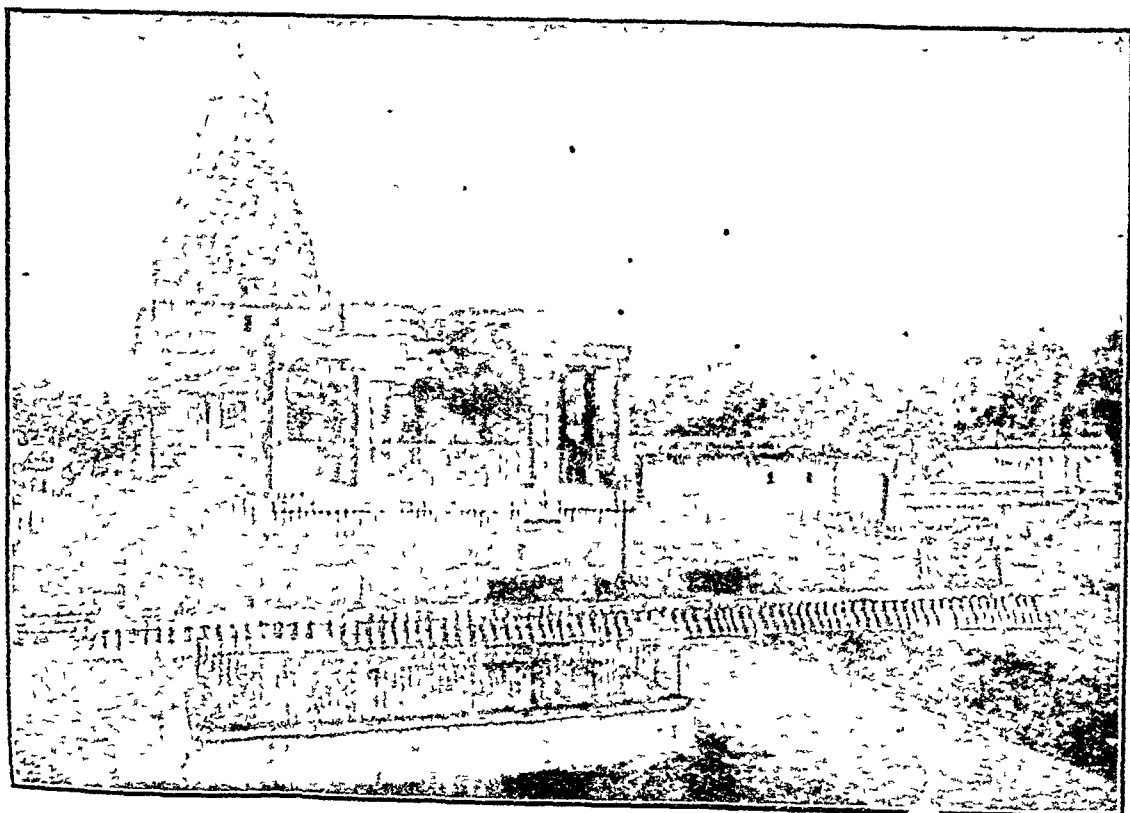
बृहदीश्वर-मन्दिर—तञ्जौर

वेदोंकी संस्कृतिकी रक्षाके हेतु अष्टाध्यायी 'रुद्र'का संकलन किया। वे समझने लग गये कि इतने विशाल वेदका अध्ययन-अध्यापन कठिन हो जायगा तथा लोक-व्यवहार विकृतिको पहुँच जायगा। 'रुद्र'का हेतु यह था कि लोकव्यवहारार्थ कम-से-कम इतने वेद-ज्ञानका सिंचन लोगोंके हृदयोंमें होता रहे। संस्कृतिके रक्षार्थ नित्य कर्मके नियम बनाये गये। सन्ध्या-तर्पण, वैश्वदेव, संस्कार, व्रत आदिकी योजनाएँ की गयीं। लोगोंको एकत्रितकर अपनी संस्कृतिको स्थिर रखनेके लिये मेले तथा बृहत् सम्मेलन (यथा कुम्भ आदिपर प्रयाग, नासिक, उज्जैनके मेले) किये गये। तीर्थोंका मुख्य ध्येय संस्कृतिका प्रचार करना था। लोग आकर पवित्राचारके कार्योंको देखकर अपने जीवन-सुधारकी शिक्षा ग्रहण करें। आजकल ये स्थान प्रायः भ्रष्टाचार एवं भिक्षाचारके केन्द्र बन गये हैं। प्राचीन ऋषियोंके आश्रम रहते थे, जहाँ सब उत्पादक परिश्रम करके जीवन व्यतीत करते थे। आ+श्रम= पूर्ण श्रम, जिससे उन्नति और कल्याण हो। इस तरह वे स्वावलम्बी जीवनकी शिक्षाके केन्द्र थे।

ऋषियोंकी दूर दृष्टिके प्रमाणमें चारों वेद-संहिताओंके 'अथ और इति'की ऋचाओंका कुछ विचार जनताके मननार्थ दिया जाता है—

ऋग्वेद—ॐ **अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।** (१।१।१)

'अग्नि' ध्वनिसे अनेक अर्थोंकी सम्भावना होती है। इनमें कुछको लेकर विचार व्यक्त किया जाता है।

(१) भौतिक रूपसे अनेक कार्मोंमें लायी जाती है। इसके तीन स्थान मुख्य होनेसे गार्हपत्य, आहवनीय और दाक्षिणात्य—तीन रूप माने जाते हैं। गार्हपत्य जो घरमें, आहवनीय जो यज्ञों या कला-कौशलके कार्योंमें, दाक्षिणात्य जो विश्लेषण या श्मशानमें काम आती है। ऋषि भावना करता है कि मैं अग्निकी स्तुति करता हूँ, जो आवश्यक कार्यके सत्यफलको उत्पन्न करनेवाला, उत्तम कार्योंको संपादन करनेवाला तथा मूल्यवान् वस्तुओंको धारण करनेमें समर्थ है।

(२) दैविकरूपमें सूर्य और विद्युत् या स्वयं घर्षणसे होनेवाली है, यथा समुद्रमें वडवानल और पृथ्वीके गर्भमें ज्वलनशील स्फोटक पदार्थ हैं। यह भी पूर्वसे ही रक्खी है और सामने प्रत्यक्ष भी है। ज्ञान बढ़ानेमें सहायता करती है और रमणीय पदार्थोंको उत्पन्न करती है।

(३) आध्यात्मिकरूपमें परमात्मा है, जो सब यज्ञोंका कर्ता-धर्ता है और रत्नरूप मोक्षको देनेवाला है।

(४) लौकिकरूपमें पुत्र या मित्र हैं, जो जीवनके कार्योंको सँभालनेवाला और सम्पत्तिको धारण करनेवाला है तथा यशको फैलानेवाला है।

(५) सामाजिकरूपसे अग्रणी—नेता है, जो संस्था या समाजके कार्योंके करनेमें प्रधान पुरुष है और उत्तम ज्ञानको धारण कर समयपर तदनुकूल काम करनेवाला है।

(६) शारीरिक रूपमें वीर्य तथा जठराग्नि है, जो भोजनका सार निकालकर उत्तम गुणों या बलोंको धारण करता और शरीर-यात्रामें सहायता करता है।

(७) मानसिक (मनोविज्ञान) रूपमें विवेक है, जो जीवनके सारासारको निकालकर सदाचरण धारण करने या व्यवहारमें लानेके लिये सहायक होता है।

(८) जीवशास्त्रमें प्राण है, जो शरीरमें जीवन रखता और सबसे उत्कृष्ट वस्तु श्वास आदिको धारणकर चैतन्यको प्रकट किया करता है।

(९) अर्थशास्त्रमें सम्पत्ति, भूमि और परिश्रम हैं, जो जीवनोपयोगी वस्तुओंको उत्पन्नकर उत्तम साम्यको धारणकर शान्ति स्थापित करते हैं।

(१०) कामशास्त्रमें स्त्री या वधू है, जो कौटुम्बिक जीवनमें मुख्य कार्यभाग सम्पादनकर पुत्र या पुत्री-रत्नोंको धारणकर समाजकी वृद्धिमें मुख्य घटक है।

(११) धर्मशास्त्रमें सदाचार है, जो जीवनका ध्येय रख उत्तम भावोंको धारणकर समाजमें शान्ति लाता है।

(१२) वैद्यशास्त्रमें ओषधि है जो शरीरमें सत्त्व, बल देकर उत्तम धातुकी रक्षा करता और जीवननिर्वाहमें सहायक होता है।

अब 'इति' को देखिये—

(१) सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
(ऋ० १।१९१।२)

जिसे देव—सुनागरिक पहले ही अच्छी तरह स्व-मर्यादा तथा तदनुकूल कर्तव्योंको जानकर उपासना करते हैं, समीप रहकर काम करते हैं, वैसे ही तुम सब समीप रहकर समान

गति करो, समान बोलो अर्थात् उन्नतिके लिये प्रयत्न करो और मन्तव्य प्रकट करो, भेदभाव मत रक्खो कि कोई कुछ कहे और कोई कुछ। इसलिये परस्पर समान ढंगसे सब मनोगत भावोंको जाननेका प्रयत्न करो। व्यक्तिगत विचारको सर्वोपरि बतलाकर लोगोंकी दुर्गति मत करो। सब काम अनुशासनमें रहकर करो।

(२) समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि। (ऋ० १ । १९१ । ३)

किसी भी काममें प्रवृत्त होनेका एक-सा मान (Standard) रहे। इसी तरह मन्त्रणा करनेका, निर्णय करनेका एक-सा ढंग रहे। सबका चित्त एक ही ओर झुका रहे। प्रत्येक व्यक्ति यही विचार रक्खे कि मैं निर्णीत मन्त्रका अनुसरण करूँ और समाजके कार्यमें समान रीतिसे भाग लूँ। यज्ञमें सबके साथ हवि डालूँ—समाजके काममें यथाशक्ति सुअवसरपर स्वार्थत्याग करूँ या आवश्यक कार्य-भाग लूँ। वेदका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि चाहे जिसके साथ उठो या बैठो और भक्ष्याभक्ष्यका विचार न करके खाओ-पीओ, और मर्यादाभ्रष्ट होकर कुछ भेद मत रक्खो। अपनी सीमामें रहकर एक-सा मान रखते हुए काम करो। विवेकसे काम लो। विवेकभ्रष्ट मत होओ।

(३) समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(ऋ० १० । १९१ । ४)

किसी बातको कूँतनेका (कीमत स्थिर करनेका) ढंग एक-सा रहे। इसी तरह सबके हृदयोंमें एक-सी विचारधारा प्रवाहित हो। (यथा—गो-वध-निवारणके सम्बन्धमें सबके हृदयोंमें एक-से विचार रहें।) सबके मन एक ही बातपर जमें, और सबका साहित्य भी एक ही मानका हो। अर्थात् आचार, विचार, पठन-पाठन, वेषभूषा आदि जीवनके कार्योंका मान (Standard) एक-सा रहे। इस तरह साम्यभावसे ईर्ष्याका प्रसार नहीं होता। देशमें सबका जीवन सुखी होता है।

ऋषियोंने इस वेदमें महावाक्य (Life-motto) यह रक्खा है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', निश्चयपूर्वक यह सब ब्रह्म है। सबको समान जानकर सबके साथ मर्यादापूर्वक समान व्यवहार करना ही सर्वोपरि ज्ञान है या संस्कृतिका उत्तम रूप है। इसकी रक्षाके लिये इतने संस्कारादि रक्खे गये हैं। यही साम्यवादका सत्य स्वरूप है।

यजुर्वेद—ॐ इषे त्वोर्जे त्वा, वायव स्थ, देवो वः सविता प्रार्पयतु, श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वम्, अघ्न्याऽ इन्द्राय भागं, प्रजावतीः अनमीवाऽअयक्ष्मा मा व स्तेनऽईशत माऽघशंसः ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात, बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि। (यजु० १ । १)

(१) हे परमेश्वर! मैं तुम्हारी ब्रह्म-तत्त्व और विवेकके लिये प्रार्थना करता हूँ।

(२) मैं यथेष्ट वर्षा और अन्नके लिये प्रार्थना करता हूँ।

(३) सुप्रजा और अभ्युदयके लिये प्रार्थना करता हूँ।

(४) स्वत्वाधिकार और उत्कृष्ट सदाचारके लिये प्रार्थना करता हूँ। क्योंकि तुम सर्वत्र गमनशील हो, सबकी चिन्ता करते हो। सबको उत्पन्न करनेवाले देव श्रेष्ठ कर्मोंके लिये प्राप्त हों और प्रेरित करें। इन्द्रके हेतु यह भाग—इन्द्रियाँ, कृषिहेतु—गौएँ और सुखहेतु—ज्ञानमयी बातें हनन करनेयोग्य नहीं हैं। ईश्वरकृपासे गायें, स्त्रियाँ, बुद्धियाँ प्रजावती, रोगरहित और क्षयरोगसे रहित होवें; इनपर चोर और दुष्टजन अधिकार न करें। हे परमेश्वर! तुम्हारे पतित्व—स्वामित्वमें प्रजा, गायें, बुद्धि—सब कुछ अचल रहें और यजमान—कर्तव्यशील मनुष्यकी इन्द्रियाँ, गायें और अन्य पशुओंकी रक्षा करो और संख्या बढ़ाओ। यजुर्वेदका अन्तिम अध्याय उपनिषद्की गणनामें आ गया है। अतएव इसके पहलेके (३९वें) अध्यायके अन्तमें इस प्रकार है—

तपसे स्वाहा, तप्यते स्वाहा, तप्यमानाय स्वाहा, तपताय स्वाहा, घर्माय स्वाहा। निष्कृत्यै स्वाहा, प्रायश्चित्यै स्वाहा, भेषजाय स्वाहा॥ यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा, मृत्यवे स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा, ब्रह्महत्यायै स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा॥
(यजु० ३९ । १२-१३)

तप तपनेवाले, तपे हुए, तप करते हुए, पसीना टपकाते हुए अर्थात् उचित और उत्पादक परिश्रम करनेवाले मनुष्य धन्य हैं। उनकी सारी आवश्यकताओंकी प्रभु-कृपासे पूर्ति होती रहे। उचित पुरस्कार देनेवाले, प्रायश्चित्त करनेवाली ओषधियाँ भी धन्य हैं। इनका उचित उपयोग—सत्कार किया जाय। नियन्त्रण कर अनुशासन रखनेवाले, झगड़ोंका अन्त करनेवाले मृत्यु! तू भी धन्य है। ब्रह्म—सारे समाजके लिये उचित त्याग किया जाय और समाजके घातकको उचित

दण्ड दिया जाय। सब देवोंकी तृप्ति की जाय और पृथ्वी और अन्तरिक्ष सुखदायक हो।

अथवा ४० वेंके अन्तमें इस प्रकार है—

अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ॐ खं ब्रह्म॥ (यजु० ४० । १६-१७)

हे अग्नि! जानते हुए सुपथमें हमको ले चलो। देवको प्रिय सब प्रकारके धन-ऐश्वर्य हों (प्राप्त हों)। हम तुमको नमस्कार करते हैं, तुम्हारी स्तुति करते हैं। तुम (कृपाकर) कुटिल पापको दूर हटाओ। सत्यका मुँह चमकीले पात्रसे ढका है। सत्यकी खोज करते समय आरम्भमें चमकीली बातें भ्रममें डाल देती हैं (संसारकी चमक-दमकके लोभमें पड़कर या नाम-रूपकी उपाधिमें अटककर वस्तु-तत्त्वको जानना कठिन हो जाता है)। आदित्यमें जो पुरुष है, वही मैं हूँ। मैं अखण्ड पुरुष हूँ। इसलिये इसका महावाक्य 'तत्त्वमसि' है। वही (अखण्ड-पुरुषका बिम्ब) तू है। समाज तू ही है (समाजका प्रतीक तू ही है) और तू ही समाज है। तू ही समाज (ब्रह्म) को झलकाता है। तुझपरसे ब्रह्मके भास (समाजकी संस्कृति) का अनुमान हो जाता है। इससे समाजवादका उत्तम स्वरूप ध्यानमें आता है। समाजमें प्रत्येक व्यक्ति समाजकी स्थिर संस्कृतिका आदर करनेवाला हो। वह अपनेको समाज-संस्कृतिका रक्षक माने।

सामवेद—**अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि। त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥** (साम० १ । १ । १-२)

हे अग्नि! स्तुति करनेवाले और उचित हवि (आवश्यक सामग्री) देनेवालेके घर आकर कुशासन (उचित स्थान) पर मुख्य आराध्याराधक होकर बैठिये। तुम मेरे यज्ञोंके सम्पादन करनेवाले हो। मनुष्य-समाजमें उत्तम गुणोंद्वारा सबका हित करते हो।

अन्तमें इस प्रकार है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ (साम० २१ । १ । ९)

विशाल कीर्तिवाले इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें, विश्व-ज्ञानी सबके पोषण करनेवाले सूर्यदेव हमारा कल्याण करें। अकुण्ठित आयुधवाले विष्णु (विश्वकर्मा) हमारा कल्याण करें, वाणीके पति या देवोंके गुरु हमारा कल्याण करें।

इसका महावाक्य है—'अयमात्मा ब्रह्म'—यह आत्मा, चैतन्य व्यक्ति ही ब्रह्म है। यही ब्रह्मका (सभी समाजका) भास दे रहा है। यह भी समाजमें साम्यवाद रखनेका उत्तम ढंग है।

अथर्ववेद—**ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥**
(अथर्व० १ । १ । १)

वाचस्पति (देवोंके गुरु) मेरे शरीरमें अब उनके बल रक्खें, जो सब तीन और सात या इक्कीस होकर (तीन गुण) और सात धातु—व्याहृतियाँ या पाँच भूत, पाँच तन्मात्रा और दस अधिष्ठान इन्द्रियाँ और जीव सब रूपोंको भरते हुए चारों ओर घेरकर स्थित हैं। सब रूप इन्हींमें हैं और ये सब रूपोंमें न्यूनाधिक प्रमाणसे हैं।

अन्तमें इस प्रकार है—

मधुमतीरोषधीर्द्यावि आपो मधुमन्नोऽभवत्वन्तरिक्षम्। क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥ पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः। सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत् ताँ उप याता पिबध्यै॥
(अथर्व० ९ । १४३ । ८-९)

ओषधियाँ, द्यौ (आकाश), पानी (मेघ), अन्तरिक्ष (वातावरण), क्षेत्रपति क्रुद्ध न होते हुए हमारे लिये मधु-समान हों, हम उनका अनुसरण करते रहें। अश्विनीकुमारोंके द्वारा यह पृथ्वी, वातावरण और आकाशका मण्डल ही भंडार बनाया गया है अर्थात् थलचर, व्योमचर जीवोंके हेतु यह सुखदायक स्थान बनाया गया है। इस गोठानमें सहस्रों यहाँ आकर पानी पीयें और अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करें। सब इकट्ठे होकर उपभोग ले।

इसका महावाक्य—'सोऽहम्' है। मैं ही वह (ब्रह्मका बिम्ब) हूँ, मुझमें ब्रह्म (समाज) की युग-युगान्तरसे आयी हुई कृतियोंका समावेश है। मैं उन सबको प्रसंगानुसार उद्धृत किया करता हूँ।

हिंदू-संस्कृतिका आधार

(लेखक—पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी)

'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषाका है। संस्कृत-व्याकरणानुसार 'सम्' (उत्तम) उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय होनेपर 'संस्कृति' शब्द निष्पन्न होता है। उसका सरल अर्थ है 'उत्तम कृति' अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदिकी उत्तम (सम्यक्) चेष्टाएँ या हलचलें। इनमें लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सभी प्रकारके अभ्युदय—उन्नतिके अनुकूल चेष्टाएँ आ जाती हैं। वैसे तो देहादिकी अच्छी-बुरी सभी चेष्टाएँ 'कृति' हैं; किंतु उनमें अच्छी, सम्यक्, उत्तम चेष्टाएँ ही 'संस्कृति' (सम्+कृति) कही जाती हैं। हिंदुओंकी कृतियोंकी सभ्यता श्रुति स्मृति-पुराण इतिहासादि ग्रन्थों तथा शिष्टानुमोदित परम्परागत सदाचारपर आधारित है। अर्थात् श्रुति-स्मृति-सदाचारादिसे अनुमोदित, उनपर आधारित कृति ही 'हिंदू-संस्कृति' है। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि वेदादि-शास्त्रप्रतिपादित उन वर्ण-आश्रमादिके यथाधिकार धर्म ही 'संस्कृति' है। साराश यह कि वेदादि शास्त्रों तथा शिष्टानुमोदित परम्परागत आचार-विचारवाले समाजमें उत्पन्न, तादृश वेदादि शास्त्रोंका प्रामाण्य माननेवाला, उनपर विश्वास रखकर तदनुकूल व्यवहार करनेवाला व्यक्ति ही 'हिंदू' है और उसके उक्त आचार-विचार ही 'हिंदू-संस्कृति' हैं।

संक्षेपतः मैं यहाँ इस 'हिंदू-संस्कृति'के आधारभूत शास्त्रोंका पाठकोंकी जानकारीके लिये वर्णन उपस्थित कर रहा हूँ। शास्त्रका ही एक दूसरा नाम 'विद्या' है। साधारणतया परा और अपरा भेदसे विद्या दो प्रकारकी कही गयी है। प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मका साक्षात्कार सम्पादन करानेवाली विद्याको 'परा' और लौकिक-पारलौकिक अभ्युदयके अनुकूल विधि-विधानका उपदेश करनेवाली विद्याको 'अपरा' कहा गया है। श्रीशुक्राचार्यने 'नीतिसार'के चतुर्थ अध्यायके तीसरे प्रकरणमें बतलाया है कि वैसे तो विद्याके अनन्त भेद हैं, उनके नामतक नहीं गिनाये जा सकते; परतु उनमें ३२ विद्याएँ मुख्य हैं। शुक्राचार्यका कहना है कि सम्पूर्ण रूपसे जिसमें वाणीका उपयोग किया जाता हो, वह 'विद्या' है—

'यद् यत् स्याद्वाचिकं सम्यक् कर्म विद्याभिसंज्ञकम्।'

पाठकगण यहाँ 'सम्यक् कर्म' इन पदोंपर ध्यान दें। 'सम्यक्'में 'सम्' छिपा हुआ है और 'कर्म'में 'कृति'। वही तो 'संस्कृति' है। इस प्रकार देखनेपर हमें ज्ञात होता है कि विद्या-पदवाच्य शास्त्र भी 'संस्कृति'के बोधक होनेके कारण 'सम्यक् वाचिक कर्म' अर्थात् 'संस्कृति' कहे गये हैं। वाचिक कर्मके मूलमें मानसिक होना ही चाहिये। और वाचिकका उपयोग कायिक कर्मोंमें है; अतः वेदादि शास्त्रबोधित मानसिक, वाचिक और कायिक—तीनों प्रकारके सत्कर्म ही 'संस्कृति' कहे जा सकते हैं।

'हिंदू-संस्कृति'के आधारभूत उक्त बत्तीस विद्याओंमें ४ वेद (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व), ४ उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और तन्त्र), ६ वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष), ६ दर्शन (मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, साङ्ख्य, वेदान्त और योग), इतिहास, पुराण, स्मृति, नास्तिकमत, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, काव्य, देशभाषा, अवसरोक्ति, यवनमत और देशादि-धर्म हैं।

वेद

संक्षेपमें इन सबके लक्षण तथा परिभाषाएँ इस प्रकार हैं— संहिता और ब्राह्मणभाग वेद कहा जाता है। संहिताभागमें मन्त्रोंका संग्रह है। जिनका उच्चारण करके किये हुए जप, होम, पूजन आदि देवताओंकी प्रीति-सम्पादनके कारण होते हैं; वे 'मन्त्र' हैं। मन्त्रोंका उपयोग कहाँ और कैसे किया जाता है, यह बतलानेवाला वेदभाग 'ब्राह्मण' कहा जाता है। जिस वेदमें गायत्री आदि छन्दोंके रूपमें मन्त्र अधिक संख्यामें होते हैं और जिन मन्त्रोंसे यज्ञोंमें होत्र नामक कर्म सम्पादित होता है, वह 'ऋग्वेद' है। जिसमें अनेक मन्त्र एक साथ मिलाकर पढ़े जाते हैं और जो प्रायः किसी छन्दविशेषके रूपमें नहीं होते एवं जिनसे अध्वर्यु (यज्ञका एक ऋत्विक्) को कर्म करनेकी आज्ञा है, वह 'यजुर्वेद' है। जिसमें भिन्न-भिन्न ऋचाओंपर विशिष्ट पद्धतिसे गीतियुक्त मन्त्र हैं, वह 'सामवेद' है। उसके मन्त्रोंका उपयोग यज्ञोंमें उद्गाता आदि याज्ञिकगणके द्वारा विशिष्ट रीतिसे उच्चारणमें होता है। जिस वेदभागमें उपास्य देवताओंकी उपासनाके अनेक मन्त्र हैं, वह 'अथर्ववेद' कहा जाता है। उसका नाम 'अथर्वाङ्गिरस' भी है। हिंदू-शास्त्र वेदोंको अनादि, अपौरुषेय एवं स्वतः-प्रमाण मानते हैं। चारों वेदोंकी ११३१ शाखाएँ हैं, जिनमें ऋग्वेदकी

२१, यजुर्वेदकी १०१, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ हैं। इनमेंसे अधिकतर लुप्त हो चुकी हैं। कुछ अभी उपलब्ध हैं, जिनकी अध्ययनाध्यापन-परम्परा प्रचलित है। यद्यपि कालकी महिमासे वेदोंके पढ़नेवाले कम होते जा रहे हैं; तथापि काशी, नासिक आदि कतिपय स्थानोंमें ब्राह्मणोंने इस परम्पराको अभीतक उज्जीवित रक्खा है। हजारोंकी संख्यामें वेदोंके मन्त्र इनको कण्ठस्थ हैं। पाठमें एक स्वर या मात्रा भी इधर-उधर होने नहीं पाती। उनके यहाँ यह परम्परा कबसे चली आ रही है, यह कहना कठिन है। इन वेद-पाठकोंकी स्मरणशक्ति देखकर आश्चर्य होता है।

उपवेद

इन चारों वेदोंमें प्रत्येकका एक-एक उपवेद है। 'आयुर्वेद' ऋग्वेदका उपवेद है। इसमें रोगोंकी पहचान, उनकी उत्पत्तिका कारण, चिकित्सा आदिका वर्णन है। इसको जानकर तदनुकूल आचरण करनेसे मनुष्यका स्वास्थ्य उत्तम रहता है और आयु बढ़ती है। इसीलिये यह आयुर्वेद कहा जाता है। [इसमें आकृति अर्थात् शरीर-रचना ('अनाटमी' तथा 'फिजियालजी') और औषध एवं चिकित्सा ('थेराप्यूटिक्स' तथा 'मेडिसिन') दोनों आ जाते हैं।] धनुर्वेद यजुर्वेदका उपवेद है। इसमें युद्धसम्बन्धी सभी बातोंका वर्णन है। अनेक शस्त्र-अस्त्रोंके निर्माणकी विधि, उनके चलानेके उपाय, अनेक प्रकारकी व्यूह-रचनाएँ आदि विषय इसमें विस्तारके साथ बतलाये गये हैं। प्राचीन कालमें शस्त्रास्त्रोंमें धनुष मुख्य था, इसीलिये उसके नामपर इस उपवेदका नाम 'धनुर्वेद' है। गान्धर्ववेद' सामवेदका उपवेद है। इसमें उदात्त, अनुदात्त आदि भेदसे और वीणा तथा कण्ठसे निकलनेवाले षड्ज, ऋषभ आदि सात स्वरोंसे तालके साथ गानेकी विधि बतलायी गयी है। (इस तरह इसमें 'वोकल'—कण्ठ-सम्बन्धी और इंस्ट्रूमेण्टल'—तन्त्री-सम्बन्धी दोनों गान आ जाते हैं)। 'तन्त्र' अथर्ववेदका उपवेद है। इसमें अनेक उपास्य मन्त्रोंकी उपासनाकी विधियाँ, प्रयोग और उपसंहार (लौटाने) के साथ मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन आदि षट्कर्मोंके प्रकारका, उनके नियम आदि विशिष्ट प्रयोगोंके साथ विशद वर्णन है। (आजकलके लोग इन्हें टोना-टामन भले ही कहें, पर इनकी उपयोगिताको स्वर्गीय श्रीवुडरफ-सरीखे पाश्चात्य विद्वानोंने भी स्वीकार किया है।)

वेदाङ्ग

उदात्त आदि स्वरभेदसे, ह्रस्व, दीर्घ आदि कालभेदसे, कण्ठ, तालु आदि स्थानभेदसे एवं बाह्य, आभ्यन्तर प्रयत्नोंके साथ वेदमन्त्रोंके पढ़नेकी विधि 'शिक्षा' कही जाती है। वैसी 'शिक्षा' की शिक्षा देनेवाले ग्रन्थको भी शिक्षा ही कहते हैं। शिक्षाएँ प्रत्येक वेदकी पृथक्-पृथक् एवं अनेक हैं। इसे वेदकी 'घ्राणेन्द्रिय' कहा गया है। शिक्षाके बाद 'कल्प' है। इसके दो भेद हैं—एक श्रौत, दूसरा स्मार्त। 'श्रौतकल्प'में ब्राह्मण नामक वेदभागमें कहे गये कर्मोंके प्रयोगकी विधियाँ बतलायी गयी हैं। 'स्मार्तकल्प'में उपनयनादि संस्कार एवं अन्यान्य स्मार्त कर्मोंकी विधियाँ कही गयी हैं। ये कल्प (सूत्र) प्रत्येक शाखाके जुदे-जुदे हैं। ये वेदोंके 'हाथ' माने गये हैं। 'व्याकरण'में धातु, प्रत्यय, सन्धि, समास, लिङ्ग आदि भेदोंसे शब्दोंका साधन किया गया है। इसको जाननेसे शब्दोंकी शुद्धि-अशुद्धिका ज्ञान होता है। बोलनेमें शब्दोंकी शुद्धता एवं अशुद्धताका ज्ञान होना परमावश्यक है। व्याकरण वेदका 'मुख' है। पता चलता है कि प्राचीन समयमें ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न आदि कई व्याकरण प्रचलित थे; किंतु आज वे प्रायः नामशेष रह गये हैं, केवल पाणिनिका संस्कृत-व्याकरण ही विशेष प्रचलित है। 'निरुक्त'में शब्दोंका निर्वचन (निष्कर्षसे कथन) किया गया है और वाक्योंके अर्थोंका एकार्थरूपमें सग्रह किया गया है। यह वेदोंके शब्दोंका ठीक-ठीक अर्थ बतलाता है, इसलिये इसे वेदोंके 'कान' कहते हैं। पहले कई निरुक्त थे, ऐसा समझा जाता है; परंतु आजकल यास्काचार्यरचित निरुक्त ही उपलब्ध है। 'छन्द'में मगण आदि गणोंके भेदोंसे पद्य-रचनाकी शैलीका वर्णन है। गायत्री आदि वैदिक एवं आर्या आदि लौकिक छन्द हैं। 'छन्द' वेदका पाँचवाँ अङ्ग है। यह वेदका 'चरण' कहा जाता है। छन्दके ग्रन्थोंमें पिङ्गलकृत सूत्र प्रधान है। 'ज्यौतिष'में नक्षत्र-ग्रहोंकी गतियोंसे संहिता-होरा एवं गणित आदिद्वारा पृथक्-पृथक् कालका निर्देश किया गया है। सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों तथा अश्विनी आदि ज्योति (नक्षत्रों) द्वारा कालका बोध करानेके कारण इसको 'ज्यौतिष' कहते हैं। कालका ज्ञान यज्ञादि कर्मोंके लिये उपयुक्त है। यह शास्त्र वेदका 'नेत्र' माना जाता है। लगधाचार्यकृत वेदाङ्गज्यौतिष ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ज्यौतिषका विषय बड़ा गम्भीर और साथ ही अति मनोरञ्जक है। इसकी सहायतासे प्राणीके भूत, वर्तमान, भविष्यके सुख-दुःखादि भोगोंका पता लग सकता है। भारतमें किसी समय यह शास्त्र बड़ी उन्नतिपर था। इसके फलिताशपर यूरोपके विद्वान् अभी कम विश्वास करते हैं। परन्तु कहा

जाता है कि हिटलरको इस शास्त्रपर अधिक विश्वास था और वे ज्यौतिषियोंसे समझकर अपना कार्यक्रम निश्चित किया करते थे ।

दर्शन

यहाँतक अङ्गोंका दिग्दर्शन कराया गया । आगे छः दर्शनोंका संक्षेपसे विवरण किया जाता है । 'मीमांसा'में अपूर्व, नियम, परिसंख्या आदि विधिभेद तथा अर्थवादादिभेदसे वेदवाक्योंके अर्थ लगानेकी पद्धति कही गयी है । इसको पूर्वमीमासा भी कहते हैं । बिना इसकी सहायताके वेदवाक्योंका समन्वय नहीं किया जा सकता । इसके प्रधान आचार्य जैमिनि हुए हैं । ये वेदव्यास बादरायणके शिष्य थे । इन्होंने मीमासाशास्त्रके 'अथातो धर्म जिज्ञासा' आदि सूत्रोंका निर्माण किया है । इन सूत्रोंका शबरस्वामीने भाष्य किया है । कुमारिल भट्ट आदि और भी कई इस शास्त्रके आचार्य हुए है ।

'न्याय' मे भाव (द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थ) तथा अभावोंका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे युक्तिपूर्वक विचार किया है । इसमे दो भेद हैं—एक न्याय और दूसरा वैशेषिक । इन दोनोंके मतोंमे कुछ अधिक अन्तर न होनेसे शुक्राचार्यने शुक्रनीतिसारमे इन दोनोंको 'न्याय' ही कहा है । न्यायके प्रधान आचार्य गौतम हुए हैं और वैशेषिकके कणाद । न्यायमतके अनुसार प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह तत्त्वोंके यथार्थ ज्ञानसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है । कणाद द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति मानते हैं । गौतमके मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार प्रमाण हैं; किंतु कणाद प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण मानकर अन्यका उन्हींमे अन्तर्भाव करते हैं । गौतमके मतमें प्रमेयादि पच्चीस तत्त्व इस प्रकार हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (विषय), बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग (ये बारह प्रमेय हैं), संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त (यह चार प्रकारका है—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम), अवयव (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन), तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास (इसके पाँच भेद हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत), छल (यह वाक्छल, सामान्यछल, उपचारछल—इस तरह तीन प्रकारका है), जाति और निग्रहस्थान ।

कणादके मतानुसार भावरूप पदार्थ छः हैं—१ द्रव्य, २ गुण, ३ कर्म, ४ सामान्य (जाति), ५ विशेष और ६ समवाय । इनके अतिरिक्त अभावरूप एक सातवाँ पदार्थ भी माना जाता है । उक्त पदार्थोंमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये नौ 'द्रव्य' हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार—ये चौबीस 'गुण' माने जाते हैं । उत्क्षेपण (उछालना), अवक्षेपण (फेंकना), आकुञ्चन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना), गमन (चलना)—ये पाँच 'कर्म' हैं । पर और अपर—यह दो प्रकारका 'सामान्य' है । 'विशेष' अनन्त हैं । 'समवाय' एक है । अभाव चार प्रकारका है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव ।

'सांख्य' का विषय पचीस तत्त्व हैं । तत्त्वोंकी निश्चित संख्याकी विशेषता इसमें होनेसे इसका नाम 'सांख्य' है । इसके मुख्य आचार्य कपिल हुए हैं । इन्होंने सांख्यसूत्रोंद्वारा अपने सिद्धान्तको व्यक्त किया है । आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तापोंकी अत्यन्त निवृत्तिको ये पुरुषार्थ मानते हैं । पचीस तत्त्वोंमे १ पुरुष है, जो कूटस्थ होनेसे न किसीका कारण है न विकार । २ मूल प्रकृति, ३ महत्तत्त्व, ४ अहङ्कार, ५—९ पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-तन्मात्रा), १०—१४ पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पञ्चीकृत पाँच महाभूत, १५—१९ हस्त, पाद, वाणी, मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, २०—२४ कान, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और २५वाँ मन,—इस तरह सांख्यमतानुसार ये पच्चीस तत्त्व हैं । प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण उन्हें सम्मत हैं ।

'वेदान्त'मे सजातीय-विजातीय-स्वगत-सर्वविध भेदरहित, अद्वितीय, नित्य, निरतिशय, बृहत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही एक सद्वस्तु प्रतिपाद्य है । ब्रह्मातिरिक्त सर्वप्रपञ्च रज्जुमे प्रतीत होनेवाले सर्पके समान मिथ्या (असत्य) है । वस्तुतः न होते हुए भी सर्वजगत्की प्रतीति अज्ञानरूप मायासे होती है ।

> ब्रह्मैकमद्वितीयं स्यान्नाना नेहास्ति किञ्चन ।
> मायिकं सर्वमज्ञानाद्भाति वेदान्तिनां मतम् ॥
>
> (शुक्रनीतिसार)

इसके मुख्य आचार्य भगवान् श्रीनारायण हैं । महर्षि बादरायण व्यासके वेदान्तसूत्र सुप्रसिद्ध हैं ।

'योग' में चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका उपाय वर्णित है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिके अभ्याससे अन्तःकरणकी वृत्तियोंका निरोध होता है। समाधि दो प्रकारकी है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। योगमतानुसार समाधिद्वारा प्रकृति और पुरुषका पृथक् विवेचन हो जानेसे प्रकृतिका व्यापार बंद हो जाता है और इसीसे मुक्ति होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं। शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच 'नियम' हैं। पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि अनेक 'आसन' हैं। पूरक, रेचक, कुम्भकके मात्राभेदसे 'प्राणायाम' भी अनेक हैं। योगकी साधनासे अणिमा आदि आठ प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे चमत्कार दिखाये जा सकते हैं। मेस्मेरिज्म, हिप्नाटिज्म आदि इसी योगकी निम्न-कोटिकी सिद्धियाँ हैं, जिनके द्वारा आजकल बहुत-से लोग तमाशा दिखलाकर पैसा पैदा करते हैं; किंतु विवेकी पुरुष सिद्धियोंके चक्करमें न फँसकर परम सिद्धि—मोक्षके लिये प्रयत्न करते हैं। सिद्धियाँ परम सिद्धिके मार्गमें बाधक हैं। बिना अच्छे जानकार गुरुकी सहायताके केवल पुस्तकोंके सहारे योगका अभ्यास करना हानिकर है।

यहाँतक वेद, उपवेद, वेदाङ्ग तथा दर्शनोंके लक्षण संक्षेपतः बतलाये गये।

इतिहासमें किसी एक राजाके चरित्र-वर्णनके व्याजसे प्राचीन घटनाओंका वर्णन रहता है। जैसे महाभारत, रामाश्वमेध आदि।

सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश (महान् पुरुषोंके कुल), मन्वन्तर (किस-किस मनुका कितने समयतक अधिकार होता है, यह) और वंशानुचरित (महान् पुरुषोंके कुल-चरित्र) का वर्णन जिसमें मुख्य रूपसे किया गया हो, वह 'पुराण' कहा जाता है। ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, श्रीमद्भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड—ये अठारह पुराण हैं। पुराणोंके रचयिता बादरायण महर्षि व्यास हैं। श्रीमद्भागवतके स्थानमें कोई-कोई देवी-भागवतको पुराण मानते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणके मतानुसार क्रमशः पुराणोंकी श्लोक-संख्या (१ श्लोक=३२ अक्षर) इस प्रकार है—१००००, ५९०००, २३०००, २४०००, १८०००, २५०००, ९०००, १५४००, १४५००, १८०००, ११०००, २४०००, ८१०००, १००००, १७०००, १८०००, १९०००, १२०००। इस तरह सबकी सम्मिलित संख्या ४,३२,९०० होती है। कई दृष्टियोंसे पुराणोंका बड़ा महत्त्व है। अठारह पुराणोंके समान अन्यान्य महर्षियोंसे रचित कई उपपुराण भी हैं। अनेकोंका विश्वास है कि उपपुराण वैसे प्राचीन नहीं हैं; किंतु आधुनिक उपलब्ध उपपुराणोंमें कुछ प्रक्षिप्त वचन हों, तो भी मूल उपपुराण अति प्राचीन कालसे हैं—इसमें सन्देह नहीं। ईसवी ११ वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें षड्गुरुशिष्यने अपनी 'वेदार्थदीपिका' में नृसिंह-उपपुराणसे श्लोक उद्धृत किये हैं। उसके पहले मुसल्मान विद्वान् अल्बेरुनीने अपनी 'भारत-यात्रा' के वर्णनमें नन्द, आदित्य, सोम, साम्ब और नरसिंह आदि उपपुराणोंका उल्लेख किया है। उपपुराणोंके नाम ये हैं—सनत्कुमार, नरसिंह, बृहन्नारदीय, शिव या शिवधर्म, दुर्वासस, कापिल, मानव, औशनस, वारुण, कालिका, साम्ब, नन्दिकेश्वर, सौर, पाराशर, आदित्य, ब्रह्माण्ड, माहेश्वर, भागवत, वासिष्ठ, कौर्म, भार्गव, आदि, मुद्गल, कल्कि, देवी, महाभागवत, बृहद्धर्म, परानन्द और पशुपति। पुराणोंकी ओर आधुनिक विद्वानोंका ध्यान नहीं गया है। ऊटपटाँग दन्तकथाएँ समझकर ही उनको छोड़ दिया गया है; परंतु उनमें समाजशास्त्र, इतिहास, संस्कृति-सम्बन्धी कितनी ही सामग्री भरी पड़ी है। अंग्रेज विद्वान् पार्जिटरने इस ओर कुछ ध्यान दिया था, परंतु संस्कार भिन्न होनेके कारण उनका प्रयत्न असफल ही रहा।

पुराणोंके बाद 'स्मृति' आती है। स्मृतिमें वेदके अविरुद्ध—वेदानुकूल—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णोंके एवं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास आश्रमोंके तथा वर्णेतरोंके धर्मोंका स्मरण तथा अर्थशास्त्रका वर्णन है। धर्मका निर्णय करनेमें वेदोंके बाद स्मृतियोंका ही स्थान है। स्मृतियाँ अनेक हैं। इनमें मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वशिष्ठकी—ये बीस मुख्य हैं। इनके अध्ययनसे पता लगता है कि अपने यहाँ कानूनका प्राचीन भाव कितना व्यापक था। पाश्चात्त्य विद्वानोंमें रोमके कानून-सम्बन्धी ज्ञानकी बड़ी प्रशंसा है। परंतु उनके उत्थानके सहस्रों वर्ष पूर्व अपने यहाँ कानूनकी जटिल समस्याओंपर कहीं विशद विवेचन मिलता है।

स्मृतिके आगे 'नास्तिक' मतका उल्लेख किया गया है।

नास्तिक-मतमें युक्तिकी ही प्रधानता है। वह अन्य आस्तिक सिद्धान्तोंकी तरह—जैसे वे मानते हैं—जगत्‌के कर्ता ईश्वर और वेदको नहीं मानता। उसके मतमें सब वस्तुएँ स्वाभाविक ही हैं—अकस्मात् अपने-आप उत्पन्न हुई हैं। मनु वेदकी निन्दा करनेवालेको ही नास्तिक बतलाते हैं—'नास्तिको वेदनिन्दकः'। उनका तात्पर्य यह है कि ईश्वर, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदिका बोध वेदसे ही होता है। सिवा वेद या वेदानुसारी स्मृति आदिके, दूसरे प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणोंसे ईश्वर आदिका अस्तित्व ही नहीं जाना जा सकता। इसलिये वेदकी निन्दा जिसने की, उसने मानो ईश्वर, परलोक आदिका खण्डन पहले ही किया। इसके 'चार्वाक-दर्शन', 'लोकायतिक' आदि नाम भी हैं। इसके मुख्य आचार्य बृहस्पति हैं। नास्तिक-मतमें केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना गया है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये ही चार पदार्थ हैं। महुआ आदि पदार्थोंमें अन्यान्य वस्तुके सम्बन्धसे कालान्तरमें जैसे मादक शक्ति उत्पन्न होती है, वैसे ही पृथ्वी आदिके संयोगसे देह बनकर उसमें चैतन्य-शक्ति आ जाती है। चैतन्ययुक्त देह ही आत्मा है, देहसे अतिरिक्त आत्मा नामकी कोई दूसरी वस्तु नहीं है। मृत्यु होना ही मुक्ति है। अच्छा खाना, पीना और खूब मौज करना—बस, यही पुरुषार्थ है। आधुनिक पाश्चात्त्य सभ्यता इसी आदर्शका मूर्तिमान् उदाहरण है। उस समयकी शिक्षामें इस नास्तिक-मतका अध्ययन भी आवश्यक समझा जाता था।

'अर्थशास्त्र' में वेद और स्मृतियोंका विरोध न होते हुए राजाको अपना और राज्यका शासन किस तरह चलाना चाहिये इसका और धनोपार्जन करनेके कुशल उपायोंका वर्णन होता है। इस तरह इसमें 'पालिटिक्स' (राजनीति) और 'एकनामिक्स' (अर्थशास्त्र) दोनों आ जाते हैं। जो लोग ऐसा समझते हैं कि धर्मका राजनीति, अर्थशास्त्र आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं है, धर्म तो कुछ विशिष्ट व्यक्तियोंके आचरणकी वस्तु है, सर्वसाधारणको धर्मके पचड़ेमें पड़नेका प्रयोजन नहीं है, उन्हें शुक्राचार्यके इस लक्षण और भारतीय राजनीति, अर्थनीतिके ग्रन्थोंका कुछ मनन करना चाहिये।

'कामशास्त्र' में शशक, मृग, अश्व एवं हस्तिभेदसे पुरुषों; अनुकूल, धृष्ट, शठ आदि भेदसे नायकों; पद्मिनी, चित्रिणी, शङ्खिनी, हस्तिनी आदि भेदसे स्त्रियों और स्वकीया, परकीया, साधारणी आदि भेदसे नायिकाओंका वर्णन किया गया है। उनके परस्पर अनुरागादिका लक्षण भी कामशास्त्रमें वर्णित है। इससे स्त्री-पुरुषोंके मानसिक भावोंको भी समझनेमें बड़ी सहायता मिलती है। इसकी शिक्षाकी उपयोगिताको अब पाश्चात्त्य विद्वान् भी स्वीकार करने लगे हैं। कामशास्त्रके श्रीहैवलाक एलिस, वेस्टर मार्क—ऐसे पाश्चात्त्य विद्वानोंका कहना है कि प्राचीन भारतीय कामशास्त्र कई दृष्टियोंसे बहुत उच्चकोटिका है।

'शिल्प-शास्त्र' में महल, किले, मकान, बागीचे, वापी, कूप, तालाब आदिके निर्माण और मरम्मतके प्रकारका वर्णन है। इसमें पूरी 'सिविल इञ्जीनियरिङ्ग' आ जाती है, 'मूर्तिकला' का भी इसीमें समावेश है; इस तरह इस शास्त्रमें 'आर्किटेक्चर' और 'स्कल्पचर' दोनों आ जाते हैं। एक बड़ी विशेषता यह है कि किस प्रकार, किस अनुपातके मकानोंको बनानेसे क्या प्रभाव पड़ता है—इसका भी इसमें वर्णन मिलता है। इसको आजकलके लोग भले ही न मानें, पर वह होता अवश्य है। शिल्प-शास्त्रके आधारपर बने हुए मन्दिरोंको देखकर उनकी सुन्दरतापर विदेशी भी मुग्ध होते हैं। इस शास्त्रके कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं; पर बड़े खेदका विषय है कि उसके जानकारोंका प्रायः अभाव-सा हो रहा है।

इसके बाद 'अलङ्कृति' है। इसमें सम, न्यून, अधिक-रूपमें सादृश्यादि-भेदमें परस्परके गुणोंके भूषा-वैचित्र्यका वर्णन होता है। अलङ्कृतिका एक नाम अलङ्कार है—

समन्यूनाधिकत्वेन सारूप्यादिप्रभेदतः।
अन्योन्यगुणभूषा च वर्ण्यतेऽलङ्कृतिश्च सा॥

(शुक्रनीतिसार)

जिसमें शृङ्गार आदि रससे युक्त, अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कारोंसे सुशोभित एवं दुःश्रव आदि दोषोंसे रहित शब्द और अर्थोंका समुदाय हो, उसे 'काव्य' कहते हैं। उसके गद्य और पद्य—ये दो भेद हैं। काव्यके सुननेवालेको एक विलक्षण अलौकिक आनन्दकी अनुभूति होती है। काव्यकी रचना करनेवाला 'कवि' कहा जाता है। काव्य-निर्माणका उद्देश्य केवल तात्कालिक मनोरञ्जनमात्र या उसके द्वारा यशोलाभ ही नहीं था, अपितु—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

—भी था। भारतमें संस्कृत और भाषाके प्राचीन कवियों-

की सुन्दर कृतियोंका इतना विशाल, अप्रतिम संग्रह है कि जो प्राचीन कालसे रसज्ञोंके लिये रस-वर्षण करता हुआ भी अवतक वैसा ही सरस बना हुआ है; न जाने इनमें कितना रस होगा !'

भिन्न-भिन्न देशोंमें वहाँके निवासी लोगोंके द्वारा सङ्केत की हुई, पदार्थोंका बिना प्रयाससे ज्ञान करानेवाली वाणीको 'दैशिकी' या देशभाषा कहते हैं।

कोश या अन्यान्य शास्त्रीय परिभाषारूप सङ्केतके बिना, अवसर देखकर उसके अनुसार, अपने अभिप्रायको जिस वाणीसे व्यक्त किया जा सकता है, वह 'अवसरोक्ति' कही जाती है। इसीको 'हाजिर-जवाबी' कहते हैं, शिक्षामें इसकी बड़ी आवश्यकता है। सारे ग्रन्थोंको चाटकर भी बहुतोंको समयपर ठीक उत्तर देनेका अभ्यास नहीं होता।

इसके बाद 'यावन' मतका उल्लेख इस तरहसे किया गया है —

ईश्वरः कारणं यत्राद्दश्योऽस्ति जगतः सदा।
श्रुतिस्मृती विना धर्माधर्मौ स्तस्तच्च यावनम्॥
श्रुत्यादिभिन्नधर्मोऽस्ति यत्र तद्यावनं मतम्।

अर्थात् जिसमें जगत्को चार्वाककी तरह आकस्मिक न बतलाकर उसका कारण अदृश्य—जिसका दर्शन कभी न हो सके, ऐसा ईश्वर माना जाता हो और जिसमें पाप-पुण्य भी माने जाते हों, किंतु उनके ज्ञान और उनके साधनोंके ज्ञानका वेद-स्मृतिके बिना ही होना माना जाता हो एवं जिसमें वेदविरुद्ध धर्मोंका उपदेश किया गया हो, उसे यावन—यवनोंका मत कहते हैं। यह बड़े मार्केकी बात है, जिससे उस समयके शिक्षाक्रमकी उदारताका परिचय मिलता है। दूसरोंके मतको जानना बड़ा आवश्यक है, क्योंकि उससे अपने मतमें दृढ़ निष्ठा होगी। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस जैमिनिसूत्रमें 'धर्मजिज्ञासा' और 'अधर्मजिज्ञासा' इस तरह दो प्रकारसे पदच्छेद करके धर्म तथा अधर्मकी जिज्ञासा उपक्रान्त की गयी है। वहाँ आचरणके लिये जैसे धर्मकी जिज्ञासा और परिवर्जनके लिये अधर्मकी जिज्ञासा अपेक्षित है, वैसे ही यहाँ भी आस्तिक विद्याओंका ज्ञान उनसे उपदिष्ट कर्तव्य-पथका अवलम्बन करनेके लिये और चार्वाक, यावन आदि नास्तिक विद्याओंका ज्ञान उनमें उपदिष्ट कर्मादिसे बचनेके लिये अपेक्षित है। 'यवन' शब्द प्रायः विदेशियोंके लिये ही प्रयुक्त होता था। कुछ लोगोंका मत है कि 'यवन' शब्द 'आयोनियन' का ही रूपान्तर है, जिससे अभिप्राय 'यूनानियों' अर्थात् प्राचीन ग्रीकलोगों (ग्रीसनिवासियों)-से है। यह चाहे न भी हो; परंतु इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि उस समय भी भारतीयोंका विदेशियोंसे सम्पर्क था और उनके मतको जाननेकी उनमें उत्सुकता थी।

इस तरह इकतीस विद्याओंके लक्षणोंको बतलाकर शुक्राचार्य-ने अन्तमें 'देशादिधर्म'को बत्तीसवीं विद्या कहा है। उसका लक्षण वे ऐसा लिखते हैं—

कल्पितः श्रुतिमूलो वामूलो लोकैर्धृतः सदा।
देशादिधर्मः स ज्ञेयो देशे देशे कुले कुले॥

अर्थात् भिन्न-भिन्न देश, कुल या जातियोंमें जो धर्म सदासे प्रचलित देखा जाता हो—चाहे उसके आधारभूत प्रमाण वेद, स्मृति आदि ग्रन्थोंमें मिलते हों या न भी मिलते हों, किंतु जो लोगोंके आचरणोंमें देखा जाता हो—उसे 'देशादि धर्म' जानना चाहिये। यहाँ 'आदि' पदसे कुल, जातिको समझना चाहिये। इन धर्मोंके आचरणपर बड़ा जोर दिया गया है और इनके त्यागकी बड़ी निन्दा की गयी है। युद्धके परिणामके विषयमें अर्जुनने भी भगवान् श्रीकृष्णसे चिन्तित होकर यह शङ्का की थी—

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥

मनु, याज्ञवल्क्य आदिने राजाको इस बातकी कड़ी हिदायत की है कि राजा यदि किसी अन्य देशपर अपना अधिकार करे, तो—

यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः॥

—के अनुसार उस विजित देशमें जो-जो देश, जाति, कुलके धर्म उस समय प्रचलित हों, उनके अनुसार ही वहाँके शासनकी व्यवस्था करे। शासनका यह कितना उदार भाव है! इस तरह संक्षेपमें यहाँ हिंदू-संस्कृतिकी आधारभूत बत्तीस विद्याओंका विवरण किया गया।

आर्य-वाङ्मय

(लेखक—पं० श्रीभगवद्दत्तजी)

चौदह विद्याएँ—अति विस्तृत भारतीय वाङ्मयका मूल चौदह विद्याएँ हैं। याज्ञवल्क्यने अपनी स्मृति १ । ३ में इन चौदह विद्याओंका परिगणन निम्नलिखित प्रकारसे किया है—चार वेद, छः अङ्ग, एक मीमांसा, एक न्याय, एक पुराण और एक धर्मशास्त्र।

सारा भारतीय वाङ्मय इन चौदह विद्याओंके अन्तर्गत है।

अठारह विद्याएँ—विष्णुपुराण और कई अन्य ग्रन्थोंमें सारी १८ विद्याएँ गिनायी गयी हैं। इनमेंसे चौदह विद्याएँ याज्ञवल्क्य-प्रदर्शित हैं; तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद अथवा अर्थशास्त्र—ये चार अधिक हैं। चौदह विद्याएँ माननेवाले इन चारको चारों वेदोंके अन्तर्गत मानते हैं।

सात सिद्धान्त—इन चौदह विद्याओंके अतिरिक्त सात सिद्धान्त हैं। उनका वर्णन योगि-याज्ञवल्क्य नामक पुरातन ग्रन्थमे मिलता है। योगि-याज्ञवल्क्यके प्रमाण वाचस्पति-मिश्र (संवत् ८९८) के ग्रन्थोंमे मिलते हैं। सात सिद्धान्त ये हैं—

पाञ्चरात्र सिद्धान्त, कापिल सिद्धान्त, अपान्तरतम-सिद्धान्त, ब्रह्मिष्ठ-सिद्धान्त, पाशुपत सिद्धान्त, हैरण्यगर्भ सिद्धान्त और शैव सिद्धान्त।

तीन सौ शास्त्र और सत्तर महातन्त्र—विद्याओंके अवान्तर ग्रन्थोंका उल्लेख महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १२२ के निम्नलिखित श्लोकोंमे पाया जाता है—

> एतासामेव विद्यानां व्यासमाह महेश्वरः ॥३३॥
> शतानि त्रीणि शास्त्राणां महातन्त्राणि सप्ततिः।
> व्यास एव तु विद्यानां महादेवेन कीर्तितः ॥३४॥
> तन्त्रं पाशुपतं नाम पाञ्चरात्रं च विश्रुतम्।
> योगशास्त्रं च सांख्यं च तन्त्रं लोकायतं तथा ॥३५॥
> तन्त्रं ब्रह्मतुला नाम तर्कविद्या दिवौकसाम्।
> सुखदुःखार्थजिज्ञासा कारणं चेति विश्रुतम् ॥३६॥

ये श्लोक महाभारतके सब संस्करणोंमे नहीं मिलते, पर आर्यवाङ्मयका विस्तार जाननेमे बहुत सहायक हैं।

तन्त्र और शास्त्रका भेद—महाभारतान्तर्गत पूर्वोक्त श्लोकोंमें तन्त्र और शास्त्रका भेद माना गया है। वह भेद अभी पूर्णतया हमारी समझमे नहीं आया; पर इतना प्रतीत होता है कि तन्त्र बृहदाकार और विस्तृत हैं तथा शास्त्र किञ्चित् संक्षिप्त हैं। मूल महातन्त्र सत्तर थे और शास्त्र तीन सौ। यह विद्या-विस्तार शिवने कहा है। यहूदी-ईसाई-प्रभावके नीचे दबे अनेक वर्तमान ऐतिहासिक शिवकी ऐतिहासिकताको अभी समझ नहीं पाये।

शिव अथवा विशालाक्षने श्रीब्रह्माजीके त्रिवर्ग-शास्त्रसे अर्थभागका पृथक्करण किया। उस महान् अर्थवेदमें अनेक विषय थे। कालान्तरमें इनपर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखे गये। उनमेंसे जिन ग्रन्थोंका वर्णन हमें संस्कृत अथवा प्राकृत आदि ग्रन्थोंमे मिला है, वे आगे लिखे जाते हैं—

१. **लोकायत-शास्त्र**—(क) लोकतन्त्रका उल्लेख महाभारत, आरण्यकपर्व १५९ । १ में तथा 'लोकतन्त्र-विचक्षण.' पद शान्तिपर्व १७८ । ४ में मिलता है।

(ख) कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें लोकायत एक शास्त्र माना गया है।

(ग) पातञ्जल व्याकरणमहाभाष्य ७ । ३ । ४५ में भागुरीकृत लोकायत-शास्त्रकी व्याख्याका उल्लेख है। पं० श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसकके मतानुसार संभावना है कि प्रसिद्ध वैयाकरण भागुरिकी बहिन भागुरी थी[1]।

(घ) तत्पश्चात् जैन अनुयोगद्वारसूत्रमें लोकायत वर्णित है।

(ङ) वात्स्यायनकृत कामसूत्र १ । २ । २८ में लोकायतोंका मत उद्धृत है।

(च) इनका उत्तरवर्ती बौद्ध आचार्य कमलशील अपने गुरु शान्तरक्षितके रचे तत्त्वसंग्रहके श्लोक २९४५ की टीकामें लिखता है—

मिथ्यार्थशास्त्रश्रवणाद् व्यामूढो लोकायतः

(छ) लगभग उन्हीं दिनोंका जैन विद्वान् हरिभद्रसूरि अपने षड्दर्शनसमुच्चयके अन्तमे लोकायत-शास्त्रका संक्षेप देता है।

(ज) चीनी यात्री ह्वेन सागको एक वृद्ध लोकायत ब्राह्मण मिला था[2]।

---

१. संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका इतिहास, पृ० ७० ।

२. Life of Hiuentsang, Introduction, p. XVIII

(झ) जैन विद्वान् सोमदेवसूरिकृत यशस्तिलक-चम्पूमें बृहस्पति लोकायतका उल्लेख है।

(ञ) तत्पश्चात् अमरके नामलिङ्गानुशासनका प्रसिद्ध टीका-कार काश्मीरक क्षीरस्वामी लिखता है—

चार्वाकलोकायतिकौ। (२।७।६)

अर्थात् चार्वाक और लोकायत दो भिन्न मत थे।

लोकायतशास्त्रके रचयिता—त्रिवन्द्रम्,रियासत ट्रावन्कोर-के स्वर्गगत पण्डित गणपति शास्त्रीने पुरानी टीकाओंके आधारपर अर्थशास्त्रकी जो सुन्दर टीका रची है, उसमें वे लिखते हैं—

ब्रह्मगार्ग्यप्रणीतं लोकायतशास्त्रम्।

अर्थात् लोकायतशास्त्र ब्रह्मा और गार्ग्य आदिके द्वारा रचित था। प्रतीत होता है लोकायत-शास्त्र शुद्ध राजनीति-विषयक शास्त्र था। उत्तर-कालमें यह नास्तिक शास्त्र कहा जाने लगा।

२. धनुर्वेदसूत्र—धनुर्वेद-सूत्रोंका उल्लेख महाभारत, सभापर्व ५। ११० में मिलता है।

१. औशनस धनुर्वेद—काव्य-उपनामधारी उशना (शुक्राचार्य) का एक अतिपुरातन धनुर्वेद था। इसके अनेक उद्धरण वीरमित्रोदयमें मिलते हैं।

२. भारद्वाजधनुर्वेद—भरद्वाजका धनुर्वेद-विशेषज्ञ होना महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २१२ में लिखा है—

गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।३३।

ऐतरेय आरण्यक १।२।२ के अनुसार भरद्वाज ऋषियोंमें अनूचानतम थे। उन्होंने अवश्यमेव कोई धनुर्वेद लिखा था। धनुर्वेदके प्रसिद्ध आचार्य द्रोण इन्हींके पुत्र थे।

३. जमदग्निकृत धनुर्वेद—आयुर्वेदकी सुश्रुत-संहिताका टीकाकार डल्हण चिकित्सा-स्थान अध्याय १२ की टीकामें लिखता है—

रथचर्यां पदातिचर्यां च जमदग्निराह—

सर्वदिग्भागभागेषु हस्त्यश्वरथपत्तिषु।

शस्त्रास्त्रैर्यस्तु संयोगः सा चर्येति प्रकीर्त्यते। इति॥११॥

३. व्यूहशास्त्र—महाभारत, भीष्मपर्व ८३। २० में व्यूहशास्त्रविशारदोंका उल्लेख है।

४. रथसूत्र—महाभारत, सभापर्व ५। ११० में इन सूत्रोंका नाम-स्मरण किया गया है।

५. अश्वसूत्र—महाभारत, सभापर्व ५। १०९ में ये सूत्र स्मृत हैं। नकुलका अश्वशास्त्र इस समय उपलब्ध है। मत्स्यपुराण २१७। २०–१२ में यह ग्रन्थ उल्लिखित है।

अश्वलक्षणोंके अध्येता और वेत्ताओंका उल्लेख महाभाष्य ४।२।६० में है।

६. हस्तिसूत्र—सभापर्वके पूर्वोक्त स्थानमें इस सूत्रका भी नाम मिलता है।

कर्ता—(क) लोमपाद—अङ्गदेशके राजा लोमपाद इस सूत्रके रचयिता थे। वायुपुराण अध्याय ६९ में लिखा है—

.... त्रिदशा ददुः।

अङ्गाय लोमपादाय सूत्रकाराय वै द्विपान्॥२३२॥

(ख) बुध—लोमपादसे बहुत पहले सोम देवताके पुत्र बुधने हस्तिशास्त्र रचा था। मत्स्यपुराण ३४। २ में इनके विषयमें लिखा है—

सर्वार्थशास्त्रविद्धीमान् हस्तिशास्त्रप्रवर्तकः।

७. हस्त्यायुर्वेद—इस विषयका पालकाप्य मुनिका ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध है। उसके प्रथम अध्यायमें लिखा है—

दिग्गजानां वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच पितामहः।
न विषादे मनः कार्यं व्याधीन्प्रति मतंगजाः॥९६॥
उत्पत्स्यत्यचिरेणाथ गजवन्धुर्महामुनिः।
आयुर्वेदस्य वेत्ता वै मत्कृतस्य भविष्यति॥९७॥

अर्थात् श्रीब्रह्माजीद्वारा रचित आयुर्वेदके महान् शास्त्रमेंसे पालकाप्य मुनि हस्त्यायुर्वेदका भाग पृथक् करेंगे।

मत्स्यपुराण २१७। २५ में गजवैद्य स्मृत हैं। आयुर्वेदीय चरकसंहिता, सूत्र-स्थान, अध्याय ६ की टीकामें चक्रपाणि टीकाकार 'उक्तं च हस्तिवैद्यके' लिखकर कई श्लोक उद्धृत करते हैं।

८. शालिहोत्र(घोड़ोंकी चिकित्साका)ग्रन्थ—अमरकोष पर सर्वानन्दके टीका-सर्वस्व, भाग १, पृ० ३३, ४१ पर यह ग्रन्थ स्मृत है। नेपालके राजगुरु पण्डित हेमराज शर्माजीने जो आयुर्वेदकी काश्यपसंहिता प्रकाशित की है, उसके उपोद्घात पृ० ६९, ७०, ७१ में शालिहोत्र ग्रन्थके प्रमाण उद्धृत हैं।

९. यन्त्रसूत्र—मनुष्यमात्रके परमबन्धु भगवान् स्वायंभुव मनुने यद्यपि 'महायन्त्रप्रवर्तनम्'को एक उपपातक माना है, तथापि साधारण यन्त्र भारतमें प्रचलित रहे, और उनपर अनेक शास्त्र रचे गये।

महाभारत, सभापर्व ५। ११० में राजवर्गके लिये यन्त्र-

सूत्रोंका अध्ययन आवश्यक समझा गया है। शान्तिपर्व ५८। ६५ में लिखा है—

यन्त्राणि विविधान्येव क्रियास्तेषाम् ······।

(क) विश्वकर्म-प्रोक्त यन्त्रमात्रिका—वात्स्यायनमुनि-कृत कामसूत्र १। ३ की जयमङ्गला टीकामे लिखा है—

सजीवानां निर्जीवानां यन्त्राणां यानोदकसंग्रामार्थं घटनाशास्त्रं विश्वकर्मप्रोक्तम्।

वर्तमान समयमे समराङ्गणसूत्रधार, युक्तिकल्पतरु आदिमे यन्त्रोंका कुछ वर्णन मिलता है।

१०. वाणिज्यशास्त्र—अमरकोश २। ९। ७९ पर टीकासर्वस्वमें लिखा है—

विदेहेन च वाणिज्यशास्त्रं प्रणीतम्।

विदेहराजकृत वाणिज्यशास्त्रका उल्लेख कौटिल्यरचित अर्थशास्त्रकी गणपतिशास्त्रिकृत टीका, भाग १, पृष्ठ ३२ पर पाया जाता है।

११. गन्धशास्त्र—वङ्गीय वैद्य निश्चल अपने ग्रन्थमें लिखते हैं—

वैद्यश्रीगयदासेन गन्धशास्त्रानुसारतः।
मित्रमध्यारिभेदोऽयं यथाङ्केन निदर्श्यते॥

(इण्डियन हिस्टारिकल कार्टर्ली, भाग २३, संख्या २, जून १९४७, पृष्ठ १५४)

विक्रम-संवत् ८८७ में लिखे गये हरमेखला-प्रयोगमाला नामक प्राकृत ग्रन्थमे माहुकने भी गन्धशास्त्रका उल्लेख किया है।

१२. कृषिशास्त्र— अर्थशास्त्रकी गणपतिशास्त्रिकृत टीका, प्रथम भागके पृष्ठ ३२ और २८३ में पराशर और वृद्धपद्वारा प्रोक्त इस शास्त्रका उल्लेख मिलता है।

सस्यवेद—कृषिशास्त्रका ही दूसरा नाम सस्यवेद प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्यस्मृतिकी अपरार्क-टीकाके पृ० ३९७ पर उद्धृत नन्दिपुराणके वचनमे यह नाम प्रयुक्त है।

१३. पाशुपाल्यशास्त्र—गौतममुनिकृत यह ग्रन्थ अर्थशास्त्रकी गणपतिशास्त्रिकृत टीका, पृ. ३२ पर स्मृत है।

१४. गोवैद्य—हस्त्यायुर्वेदके समान गो-आयुर्वेद भी था। गोवैद्यका वर्णन मत्स्यपुराण २१७। २५ में मिलता है।

गोलक्षण नामक ग्रन्थके अध्येता और वेत्ताओंका उल्लेख महाभाष्य ४। २। ६० मे है।

१५. वृक्ष-आयुर्वेद—अग्निवेश्यमुनिकृत यह ग्रन्थ अर्थशास्त्रकी गणपतिशास्त्रिकृत टीका, पृ० २८३ पर उद्धृत है। 'वृक्ष-आयुर्वेद' शब्द अर्थशास्त्रके मूलपाठमे उपलब्ध है।

१६. तक्षशास्त्र—गार्ग्य और अगस्त्य मुनिरचित इस ग्रन्थमे आपस्तम्बीय शुल्वसूत्रकी करविन्दस्वामिकृत टीका, पृष्ठ ९६ पर इसका उल्लेख है।

शुक्रनीतिसार २। ३९९-४०० मे तक्षण (खरादना) शब्द प्रयुक्त है। इसका पञ्जाबी अपभ्रंश तरखान है।

१७. मल्लशास्त्र—किसी पुरातन ऋषिका रचा हुआ यह ग्रन्थ महाभारत, विराट्पर्वकी नीलकण्ठ-टीकामें उद्धृत है।

१८. वास्तुशास्त्र—यह एक महान् शास्त्र था। इसके अठारह उपदेष्टा मत्स्यपुराण अध्याय २५२मे उल्लिखित हैं। यथा—

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥ २॥
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥ ३॥
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः॥ ४॥

अर्थात् भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र और बृहस्पति—ये अठारह वास्तुशास्त्रके उपदेष्टा प्रसिद्ध हैं। इनमेसे विश्वकर्माका टूटा-फूटा वास्तुशास्त्र नामक ग्रन्थ अब भी प्रसिद्ध है। मयका मयमत मुद्रित हो चुका है। उसपर अभीतक किसीने पूरी खोज नहीं की।

नग्नजित्—गन्धारराज नग्नजित् धृतराष्ट्रके श्वशुर महाराज सुबलके पिता थे।

नग्नजित्ने आयुर्वेदविषयक भी एक महान् ग्रन्थ रचा था। नग्नजित्के कारण गन्धारकी प्रस्तरमूर्तिकला बहुत प्रसिद्ध हुई। आचार्य वराहमिहिर बृहत्संहिता ५७। ४ मे प्रतिमा-लक्षण करते हुए कहते हैं—

नग्नजिता तु चतुर्दशदैर्घ्येण द्राविडं कथितम्।

तत्पश्चात् नग्नजित्का श्लोक उद्धृत है।

द्राविड लोग शुद्ध आर्य और तुर्वसुकी संतानमें हैं।

वे पहले गन्धार आदि देशोंमें रहते थे। उनका गन्धार देशमें प्रचुर मान था। उत्तर-कालमें वे भारतके दक्षिणमें आकर बसे।

नग्नजित्का एक नाम दारुवाह् था। इसका अपभ्रंश डेरिअस (Darius) है। गन्धारके अनेक राजाओंने उत्तरकालमें इस अपभ्रंशरूप (Darius) में अपना नाम प्रसिद्ध किया। वे सब नग्नजित्की सन्तानमें थे।

विशालाक्ष—विशालाक्ष अर्थात् शिवने अर्थ-शास्त्रके अतिरिक्त वास्तुशास्त्र भी रचा। हिंदू-विश्वविद्यालयके अध्यापक सदाशिव अल्तेकरजीने लिखा है कि ईसासे लगभग सात-आठ सौ वर्ष पूर्व किसीने अर्थशास्त्रका ग्रन्थ लिखकर विशालाक्षके नामसे जोड़ दिया। अध्यापकजीका ऐसा कथन यहूदी-ईसाई प्रभावके कारण है।

पुरन्दर=इन्द्र—विष्णुके ज्येष्ठ भ्राता, देवासुरयुद्धोंके विजेता दीर्घजीवी इन्द्र भारतीय इतिहासमें सुप्रसिद्ध हैं। इन्द्रने—

१. व्याकरणशास्त्र,

२. अर्थशास्त्र,

३. आयुर्वेदशास्त्र और

४. वास्तुशास्त्र

—रचे। छान्दोग्योपनिषद् ८। ७-११में लिखा है कि इन्द्रने अध्यात्मज्ञानके लिये १०१ वर्षोंतक ब्रह्मचर्य-पालन किया। परम सत्यवक्ता उपनिषत्कारने यह ऐतिहासिक तथ्य लिखा है।

ब्रह्मा—ये महान् जलप्लावनके पश्चात् योगजशरीर-धारी आदिदेव (Adam) हैं। इनसे सब विद्याएँ संसारमें फैली है। इनका सत्य इतिहास वर्तमान-युगीन निःसार विकासवादकी असत्यता पदे-पदे प्रकट कर रहा है।

कुमार—कुमार शंकरजीके पुत्र श्रीकार्तिकेयजी है। इन्होंने कष्टमें पड़े देवोंको उनका सैनिक नेतृत्व करके तारा था।

नन्दीश—विशालाक्ष शिव अथवा महादेवजीके अनुचर नन्दी हैं। इन्होंने—

१. कामसूत्र और

२. वास्तुशास्त्र रचे।

अपने स्वामी विशालाक्षके वास्तुशास्त्रका इन्होंने पूरा मन्थन किया।

वासुदेव—भगवान् श्रीकृष्णने अनेक शास्त्र कहे थे। वास्तुशास्त्र उनमेंसे एक था।

अनिरुद्ध—श्रीकृष्णके पौत्र भी इस शास्त्रके कर्ता थे। शुक्र और बृहस्पति अतिप्रसिद्ध हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृतिकी अपरार्क-टीका पृ०७२ पर देवल-धर्मसूत्रका एक पाठ उद्धृत है। यह धर्मसूत्र भारत-युद्धसे बहुत पहले विद्यमान था। अध्यापक पाण्डुरङ्ग वामन काणेने इसके काल-निर्धारणमें महती भूल की है।

देवलके धर्मसूत्रमें वास्तुविद्या उल्लिखित है। पाणिनीय गणपाठ ४। ३। ७३ में वास्तुविद्याके व्याख्यानग्रन्थोंका पता दिया है।

१९. वाकोवाक्य—शतपथ ब्राह्मण ११। ५। ६। ८ में इस विद्याका उल्लेख है। गोपथब्राह्मणमें लिखा है—

सवितर्कं ज्ञानमयमित्येतैः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्च यथार्थं पदमनुविचिन्त्य प्रकरणज्ञो हि प्रबलो विपश्ची स्यात् सर्वस्मिन् वाकोवाक्य इति ब्राह्मणम्। १। १। ३॥

भट्टकुमारिलने इस वाकोवाक्यविद्याके आधारपर आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और प्रयोजन आदिका वर्णन किया है।

२०. चित्रसूत्र—प्रजापतिका 'चित्रकर्मा' ग्रन्थ तथा आदित्य अथवा विवस्वान्का आदित्यमत यशस्तिलक-चम्पूमें वर्णित हैं। विष्णुधर्मोत्तरमें चित्रशास्त्रके विषयमें लेख मिलता है। चित्र-विद्याके विषयमें देवल-धर्मसूत्रमें एक सुन्दर बात कही है—

चित्रकर्म यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

(अपरार्कटीका, पृ० २५ पर उद्धृत)

यहाँ उन्मीलन-प्रयोग चित्रशास्त्रकी परिभाषामें बरता गया है। चित्रशास्त्रविषयक पुराने संस्कृत-ग्रन्थोंके वर्णनके लिये देखिये इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग ९, पृ० ९०५, ९०६।

२१. लिपिशास्त्र—मानव-धर्मशास्त्रकी भृगु-प्रोक्त संहिता-में लिपि जाननेवालोंका उल्लेख है। बृहस्पति और नारदके धर्मशास्त्रोंमें भी लिपि जाननेवाले वर्णित हैं। महाभारत, सभापर्व ५। ६२ में गणक और लेखक वर्णित हैं। मत्स्य पुराण २१५। २५ में—**सर्वदेशाक्षराभिज्ञः** पाठ है। अर्थात् राजाके पास सब देशके अक्षर जाननेवाले लेखक होने चाहिये।

अनेक देशोंके अक्षरोंको बतानेवाले लिपिशास्त्र हमारे देशमें थे।

लिपिशास्त्रमें अनेक गोपनीय लिपियोंके संकेत भी थे। देखो गूढ लेख्योंका वर्णन, कामसूत्रकी जयमङ्गला टीका १।३ में।

२२. मानशास्त्र—सुश्रुत-संहिताकी उल्हण-टीका, पृ० ४५० पर 'मानविदो विदुः' पाठ है। इस शास्त्रमें भिन्न-भिन्न देशोंके मान (तौल या बाट) उल्लिखित थे।

२३. धातुशास्त्र—अमरकोप २।९।१०० पर क्षीरस्वामीकी टीकामें लिखा है—इति धातुविदः।

२४. संख्याशास्त्र—महाभारत, शान्तिपर्व २३८।४७ में लिखा है—संख्याविदः।

२५. हीरकसूत्र—इस शास्त्रका एक ग्रन्थ लाहौरमें हमने देखा था।

२६. अदृष्टशास्त्र—महाभारत, सभापर्व ५।९३ में इस शास्त्रका नाम है।

२७. तान्त्रिक श्रुति—वैदिक श्रुतिके अतिरिक्त एक तान्त्रिक श्रुति थी। कुल्लूकभट्टने मनुस्मृतिके भाष्यमें हारीत-धर्मसूत्रका एक वचन दिया है। उसमें श्रुतियोंका यह पार्थक्य बताया है।

२८. शिल्पशास्त्र—महाभारत, सभापर्व १।८ में लिखा है—

नैपुणं दिवि शिल्पस्य संचिन्त्य मयमब्रवीत्।

इस वचनका साक्ष्य मत्स्यपुराण १३१।१ में मिलता है—

निर्मिते त्रिपुरे दुर्गे मयेनासुरशिल्पिना।

कर्ता—(क) भृगु। महाभारत, शान्तिपर्व २१२।३४ में लिखा है—

शिल्पशास्त्रं भृगुः पुनः।

(ख) मय। इसका उल्लेख हो चुका।

(ग) विश्वकर्मा। वायुपुराण ८४।१६ में लिखा है—

विश्वकर्मा सुतस्तस्य जातः शिल्पिप्रजापतिः।
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वास्तुकृत्॥

विश्वकर्माके शिल्पोंकी खोज बहुत फलदायक हो सकती है।

शिल्पिभाण्ड—मत्स्यपुराण २१७।३४ में यह शब्द प्रयुक्त है। शिल्पशास्त्रका यह पारिभाषिक शब्द है।

२९. माया-योग वेद—कौटिल्य-अर्थशास्त्र, भाग २, पृ० १३३ पर मायायोगविद् प्रयोग मिलता है।

३०. माणव-विद्या (हार बनानेकी विद्या)—कौटिल्य-अर्थशास्त्र, भाग २, पृ० १३९ पर इस विद्याका नाम है।

३१. सूद (पाक)शास्त्र—इस विद्यापर नलका कोई ग्रन्थ था। सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, ४६।४४८—५६ पर उल्हण-टीकामें लिखा है—

विशेषतः सूदेभ्यो ज्ञेयाः। सट्टकस्तु—
लवङ्गव्योपखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम्।
दाडिमीबीजसंयुक्तं चन्द्रचूर्णविचूर्णितम्॥
सट्टकं तु प्रमोदाख्यं नलादिभिरुदाहृतम्।

मत्स्यपुराणने २१५।२२ में इसे सूपशास्त्र कहा है।

३२. द्रव्यशास्त्र—सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान २।२१ पर उल्हण-टीकामें 'द्रव्यज्ञैः' पाठ मिलता है।

३३. मत्स्यशास्त्र—सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान ४६।११३ की उल्हण-टीकामें लिखा है—

कथितो मत्स्यवेदिभिः।

३४. वायसविद्या—पातञ्जल महाभाष्य ४।२।६० में इस विद्याका उल्लेख है।

३५. सर्प-विद्या—पातञ्जल महाभाष्यके पूर्वोक्त स्थानमें यह विद्या भी निर्दिष्ट है।

३६. भाष्यग्रन्थ—महाभारत, सभापर्व ११।२६ में 'भाष्याणि' पदसे भाष्यग्रन्थोंका अस्तित्व माना है। याज्ञवल्क्य-स्मृति ३।१२९ में भी भाष्य विद्यमान माने गये हैं।

इनके उत्तरवर्ती शौनक, कौषीतकि और आश्वलायनके गृह्यसूत्रोंके ऋषितर्पण-प्रकरणोंमें भाष्यग्रन्थोंका अस्तित्व माना गया है। इनके समीपवर्ती पाणिनिकी अष्टाध्यायीके सूत्र ४।३।७३ के गणमें निम्नलिखित १९ ग्रन्थोंके व्याख्यानों अथवा भाष्यों आदिका संकेत है—

ऋगयन, पदव्याख्यान, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविचिति, न्याय, पुनरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तु विद्या, अङ्गविद्या, क्षत्रविद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त, उपनिषद्, शिक्षा।

वायुपुराणमें लिखा है—

कल्पानां भाष्यविद्यानां नानाशास्त्रकृतः क्षये। (६१।१०३)

ये च भाष्यविदो मुख्याः। (८२।५२)

मत्स्यपुराण १४४ । १३ मे लिखा है—

ब्राह्मणं कल्पसूत्राणि भाष्यविद्यास्तथैव च ।

३७. चौरशास्त्र—आचार्य खर्पटका चौरशास्त्र प्रसिद्ध था।

३८. मातृतन्त्र-मातृवेद—अपरार्क-टीका, पृ० १६ पर देवीपुराणसे उद्धृत श्लोकोमे यह नाम पाया जाता है।

यहाँपर हमने उन कतिपय शास्त्रोका अतिसंक्षिप्त उल्लेख किया है, जो अधिक प्रसिद्ध न थे। प्रसिद्ध वैदिक शास्त्रोंके इतिहास तो प्रकाशित हो ही चुके हैं ।*

जिस जातिका वाङ्मय इतना विस्तृत, प्रशस्त और सारगर्भित था, उसकी सभ्यता कितनी ऊँची थी—पाठक इसका अनुमान स्वयं कर सकते हैं। भारतीय काव्य, नाटक, ज्यौतिष, इतिहास, पुराण, कोश आदिका जो इतिहास योरप और अमेरिकाके यहूदी और ईसाई लेखकोंने तथा यहूदी-ईसाई-गुरूपदिष्ट एतद्देशीय लेखकोने लिखा है, वह प्रायः अशुद्ध है।

भारतीय संस्कृतिका प्राणधन—प्रेम

(लेखक--पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे)

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

किसी जड या चेतन वस्तुके सुधार या उत्कर्ष-साधनको संस्कार कहते हैं। पथरकट्टेकी छेनीके आघातोंसे तथा वैदिक मन्त्रोद्वारा प्राणप्रतिष्ठासे जड पत्थरमें देवत्वका आधान किया जाता है। मानव-जीवनके जितने अङ्ग हैं—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, जीवभाव—इन सबके ही आत्यन्तिक उत्कर्षतक अनेक संस्कार होते हैं। गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितक षोडश संस्कार प्रसिद्ध हैं। स्वाध्याय, व्रत, होम आदि अडतालीस संस्कार भी प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त शिक्षा, संग, देश-कालकी विशेष माँग, अभ्यास आदिसे भी शरीर, मन, बुद्धि आदिपर विशेष संस्कार घटित होते हैं। कुछ पूर्वजन्मके भी संस्कार होते हैं, कुछ आनुवंशिक संस्कार भी। (कुछ संस्कार ऐसे भी होते है, जो उत्कर्षके बदले अपकर्ष करते हैं। उन्हे कुसंस्कार कहा जाता है।) ऐसे सब संस्कारोंके संघातको संस्कृति कहते हैं। भारतीय संस्कृतिमें सामान्य रूपसे जो मूलभूत मुख्य संस्कार हैं, उन्हींका हम यहाँ किंचित् निर्देश करेंगे। विविध भारतीय जीवनमें इनका अति मनोहर अनन्त विस्तार है।

भारतीय संस्कृतिमें मनुष्यका परम ध्येय आत्मसाक्षात्कार अथवा भगवत्प्राप्ति है। मानव-जीवनके उत्कर्षकी यही पराकाष्ठा है। भारतीय जीवनकी चरितार्थतामें चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मनुष्य अपने प्राकृतरूपमें पशुके समान ही होता है।

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।

खाना, पीना, सोना, भय और मैथुन—ये चीजें मनुष्यों और पशुओंमे समान ही होती हैं। 'धर्मो हि तेषामधिको विशेषः'—मनुष्यकी विशेषता यह है कि वह इन तथा अन्य सब व्यवहारोंमे धर्मसे परिचालित होता है। प्राकृत मनुष्य अथवा पशु अपनी सहज वासना-कामनासे परिचालित होते हैं। मनुष्यका धर्मसे परिचालित होनेकी स्थितिमें आना एक संस्कार है। यह संस्कार उसमे माता-पिताके आचरण, उपदेश, गुरुद्वारा प्राप्त शिक्षा, सत्सङ्ग आदिसे घटित होता है। इससे मनुष्यकी विवेक-बुद्धि विकसित होती है।

सांसारिक जीवन काममय है। उसके लिये अर्थका प्रयोजन होता है। अतः अर्थ और काम भी भारतीय संस्कृतिमें पुरुषार्थ माने जाते हैं। पर पहला पुरुषार्थ धर्म है और अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष अथवा आत्मसाक्षात्कार। अतः अर्थ और काम धर्म और मोक्षसे बँधे रहते हैं। धर्मसे ही अर्थ और काम प्राप्त होते हैं। भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।

धर्मसे अर्थ और काम दोनो सिद्ध होते हैं, तब ऐसे धर्मका सेवन क्यों नहीं करते? पर धर्मसे चोरी, चोरबाजारी नहीं की जा सकती, रिश्वत नहीं ली जा सकती, अन्यायसे किसीका धन नहीं छीना जा सकता, किसीका हक नहीं मारा जा सकता, किसीको भूखों मारकर अपने आमोद-प्रमोदका साधन नहीं किया जा सकता। धर्मसे विषयभोगकी एक मर्यादा

* हमारा वैदिक वाङ्मयका इतिहास—तीन भागोंमें, भारतवर्षके इतिहासका सत्ताईसवाँ अध्याय, पं० युधिष्ठिरजीकृत संस्कृत-व्याकरणका इतिहास तथा पं० उदयवीरजी-कृत सांख्यशास्त्रका इतिहास देखिये ।

बँध जाती है। आहार-विहारपर एक नियन्त्रण हो जाता है। अर्थ और कामके स्वैराचारोंका नियन्त्रण करनेवाला धर्म ही है। धर्मके द्वारा नियन्त्रित अर्थ और काम भी पवित्र है।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

धर्मसे अविरुद्ध जो काम है, वह ईश्वरकी विभूति है। महर्षि वाल्मीकिने धर्मसे अर्थ और कामकी सिद्धिमें पतिव्रता स्त्रीका दृष्टान्त दिया है, 'भार्येव वश्याभिमता सुपुत्रा'— पतिकी अनुगामिनी स्त्री स्वयं धर्मस्वरूपा है, उसके द्वारा प्रजननेच्छा पूर्ण होती है और सुपुत्ररूप अर्थ भी प्राप्त होते हैं, जो पिता या पितृपरम्पराका व्रत आगे चलाते है। व्यापक परिणामकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो सर्वत्र धर्मसे ही अर्थ और काम सिद्ध होते देख पड़ेंगे—अधर्मसे प्राप्त अर्थ और काम अत्यन्त अल्पायु होते हैं।

आधुनिक समाजव्यवस्थाओं और आर्थिक योजनाओंका यही लक्ष्य है कि सम्पूर्ण मानवजाति समानरूपसे सुखी और समृद्ध हो। फिर भी ये व्यवस्थाएँ और योजनाएँ अपने लक्ष्यके समीप पहुँचना छोड़ उससे दूर ही क्यों सरकती जा रही हैं? समानरूपसे मानवजातिको आज जो कुछ मिला है, वह अन्न-वस्त्रकी कमी, आरोग्यका नाश, अकाल और सर्व-संहारी महासमरका भय है। यदि इन राष्ट्रोंमें अर्थ और कामके साथ उन्हें नियन्त्रित करनेवाला धर्म होता तो मानव-जाति आज बहुत सुखी और समृद्ध हुई होती। हमारे आदर्श-राज्यके प्रवर्तक महाराजा रामचन्द्र वनगमनके प्रसङ्गमें कहते हैं कि 'धर्म, अर्थ और काम एक साथ ही रहते हैं—इस विषयमें मुझे कोई संशय नहीं है। पर यदि धर्म किसी रास्तेसे जा रहा हो और अर्थ एवं काम किसी दूसरे रास्तेसे तो अर्थ और कामका साथ छोड़कर धर्मका ही साथ देना चाहिये। कारण, धर्म ही अर्थ और कामका नियामक है; अर्थ और काम धर्मके नियामक नहीं।'

भारतीय संस्कृतिमे ये ही दो चीजे सर्वोपरि मुख्य है— धर्म और ईश्वर। ईश्वर ध्येय है और धर्म उसका साधन। यह साधन तभी बनता है, जब धर्मके लिये ही धर्मका पालन किया जाता है, अर्थ और कामके लिये नहीं। अर्थ और काम समीप या दूरसे उसके पीछे-पीछे आप ही चलते हैं। पर धर्मका उत्तम पालन वही है, जो धर्मके लिये ही हो। उदाहरणार्थ, पिताकी सेवा करनेका जो धर्म है, उसके पालनसे मिलनेवाला संतोष-सुख क्या किसी अर्थ या विषयभोगसे प्राप्त हो सकता है? इसी प्रकार जगत्‌में जिसके साथ जो सम्बन्ध है, उन सम्बन्धसे निर्धारित होनेवाले धर्मका पालन स्वतः एक अलौकिक सुख है, जो किसी अर्थ और कामसे नहीं प्राप्त हो सकता।

हमारे यहाँकी सम्पूर्ण समाजव्यवस्था इसी साध्य और साधनकी नींवपर खड़ी है। यह भगवान्‌का एक अतिदिव्य भव्य मनोहर मन्दिर है। इसमें ऋषि-मुनि, साधु-संत और ब्राह्मण भगवान्‌का आराधन करते हुए उनकी इच्छा-योजना, संकेत-संकल्प जाननेका यत्न करते और उनमे मिलनेवाला प्रसाद सबको बाँटते हैं; क्षत्रिय मन्दिरकी रक्षा करनेका कार्य करते हैं; वैश्य पूजाकी सब सामग्री जुटाते हैं, शूद्र इस कार्यमें तीनोंकी सेवा करते हैं, अतिशूद्र मन्दिरके सब मार्ग स्वच्छ और पवित्र रखते हैं। सब अपने-अपने कर्मोंका सम्पादन कर एक ही भगवदाराधन करते हैं—एक ही प्रसाद, एक ही फल पाते हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

विभिन्न कर्मोंके होते हुए भी चित्त एक होनेसे परस्पर संघर्षके लिये कोई अवकाश नहीं रहता। चातुर्वर्ण्यात्मक इस समाजसंस्थाके विभिन्न समुदायोंमें जैसा गभीर परस्पर-स्नेह होता है, वैसा अन्य किसी भी समाजव्यवस्थामें नहीं होता।

मनुष्यका यह बाह्य भौतिक शरीर ही मानव-उत्कर्षका एकमात्र क्षेत्र नहीं है, न विषयभोग या भोग-समृद्धि ही मानव-जीवनकी चरितार्थता है। इससे अधिक व्यापक उसके प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार हैं, जिनके संस्कारके बिना बाह्य संस्कार अधूरे ही रहते हैं। उन्नत मन-बुद्धिके भौतिक विकास भी सामान्य भौतिक विकाससे कहीं अधिक आकर्षक, उद्बोधक और उपकारक होते हैं। भारतीय संस्कृतिमें मानव-जातिके उत्कर्षकी भावना बहुत ऊँची है। मनुष्यका आध्यात्मिक विकास और तदनुरूप भौतिक उत्कर्षका प्रयास तथा इन दोनोंका योग भारतीय संस्कृतिमें ही देखनेको मिलता है। भारतवर्ष जबतक राजनीतिक दासत्वकी शृङ्खलामें नहीं बँधा था, तबतक उस उत्कर्षके दृश्य इस देशमें देखनेको मिलते थे। उनके वर्णन रामायण, महाभारत और पुराण-ग्रन्थोंमें ही नहीं, 'ऐतिहासिक' कालके इतिहासग्रन्थोंमें भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, चन्द्रगुप्तके समयकी स्थितिका वर्णन मेगास्थनीजने किया है। वीरत्वादि गुणोंके साथ ऐसी सदाचार-सम्पन्नता अन्य किसी भी देशके इतिहासमें इतनी उज्ज्वलताके

साथ नहीं दिखायी देती। राजनीतिक दासत्वके बन्धनने भारतवर्षका उत्कर्ष-मार्ग कुण्ठित कर दिया। इससे केवल भारतवर्षकी नहीं, सारे जगत्‌की बहुत बड़ी आध्यात्मिक और नैतिक हानि हुई।

विदेशी मुसल्मान इस देशमें संस्कृतिकी शिक्षा ग्रहण करने नहीं आये थे। उनका काम था लूट-मार करना, जबर्दस्ती लोगोंको मुसल्मान बनाना और अपना साम्राज्य स्थापित करना। वे भारतीय संस्कृतिका मर्म नहीं समझ सकते थे। उनमें ईश्वराभिमुख धर्मयुक्त कोई संस्कृति नहीं थी। उनके शासनकालमें हिंदुओंने अपनी संस्कृतिकी रक्षा कर ली, यही बहुत है। अंग्रेजी शासनकालमें हमारी बहुत बड़ी सांस्कृतिक हानि हुई। अंग्रेजी स्कूल-कालेजोंमें अर्थकरी विद्या पढ़नेके लिये जो लड़के भेजे गये, वे अपनी संस्कृतिके विरोधी संस्कार लेकर वहाँसे निकले। उनमें राष्ट्रवाद आया, राजनीतिक स्वाधीनताकी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई; त्याग, धैर्य, आत्मबलिदान आदि गुण उनमें विकसित हुए; पर भारतीय संस्कृतिका जो लक्ष्य है—ईश्वर और उसका साधन धर्म, उससे वे विमुख हो गये। उनके अंदर राष्ट्रवाद और पीछे 'अन्तर्राष्ट्रियवाद' आया, संघर्ष और क्रान्तिका जोश आया। पर अपनी परम्परागत संस्कृतिके बोधके विषयमें वे कोरे ही रह गये। यदि महात्मा गाधी न आते तो भारतीय राजनीतिमें ईश्वरका कोई नाम भी न लेता। महात्मा गांधीके बाद अब क्या होगा, अभी कहना कुछ कठिन है। तात्पर्य, राजनीतिक पराधीनताका ही यह फल है कि भारतीय संस्कृतिकी समाज-व्यवस्थाका मर्म आज हमारे ही उन लोगोंकी समझमें नहीं आ रहा है, जिनके हाथोंमें ईश्वरने इस देशका भाग्यविधान सौंपा है। यदि यह मर्म उनके ध्यानमें आता और जनताकी संस्कृतिके साथ समरस होकर वे आगे बढ़ते तो भ्रष्टाचार इस देशसे अबतक जड़-मूलसमेत उखड़ गया होता।

हमलोगोंकी दृष्टि दुनियामें फैल गयी, पर अपने देशकी गहराईमें नहीं पहुँची। हमारे अंदर वह धृति और गम्भीरता नहीं आयी, वह आत्मविश्वास नहीं उत्पन्न हुआ, जिससे राष्ट्रके बल, तेज, गाम्भीर्य, धैर्य, औदार्य, परस्पर-स्नेह आदि गुणोंकी एक साथ वृद्धि होती। ऐटली, ट्रूमन और स्टालिन जितने हमें याद आते हैं, उतने अपने राम, कृष्ण और युधिष्ठिर नहीं आते। हम चाहते हैं सामाजिक क्रान्ति, क्योंकि क्रान्तियाँ करके अन्य देशोंने अपने मस्तक ऊँचे किये। हमें अपने ही देशके उन लोगोंके भावोंका ध्यान नहीं है, जिनके सन्तोषसे ही राष्ट्र बलवान् और सब प्रकारसे समर्थ हो सकता है। हमारे संस्कार बहुत बदल गये। विदेशी सभ्यताके अंदर जो जंगलीपन है, वह हमें नहीं देख पड़ता। हम उनकी नकल उतारना चाहते हैं। समाजके विभिन्न अङ्ग आज जिन नाते-रिश्तोंसे एक दूसरेके साथ जुड़े हैं, उन सब नाते-रिश्तोंको हम तोड डालना चाहते है। इसका परिणाम क्या होगा? लोग वृत्तियों और काम-धन्धोंके लिये भटकते फिरेंगे, बेकारीकी समस्या बढ़ेगी; जनताको आज जो सुविधा है, उसका अन्त होगा। परस्पर प्रेमका स्थान परस्पर संघर्ष ग्रहण कर लेगा। समाजवाद और साम्यवाद दोनों ही संघर्षके रथपर सवार है। पर क्या इस संघर्षकी कोई आवश्यकता है? जहाँ अर्थ और कामपर धर्मका नियन्त्रण नहीं रहेगा, वहाँ संघर्ष तो चलता ही रहेगा। उसकी परम्पराका कोई अन्त नहीं है।

भारतीय संस्कृतिके साध्य-साधनकी बात हम ऊपर कह चुके हैं। पर इस साध्य-साधनका नाम लेना भी संयुक्त राष्ट्र-संघसे लेकर भारतीय विधान-परिषद्‌तक सर्वत्र ही जड-बुद्धिका लक्षण समझा जाने लगा है। पर सङ्कटकालमें बड़े-बड़े राष्ट्रोंके भी जब छक्के छूटने लगते हैं, तब उन्हें यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उनकी विजयके लिये सब लोग ईश्वरसे प्रार्थना करें। और तो और, रूसको भी जर्मन सेनाकी अकुण्ठ गति देखकर ईश्वर और धर्मसम्बन्धी अपने नियमोंमें परिवर्तन करना पड़ा। जर्मन सेनाएँ जब मास्को और स्टालिनग्राडतक पहुँच गयीं, तब रूसके अधिनायक शासक-दलको यह सोचना पड़ा कि रूसी जर्मनोंको पीछे हटानेमें समर्थ क्यों नहीं हो रहे हैं। महायुद्ध छिड़नेसे कुछ ही पहले रूसमें धर्मविरुद्ध कम्यूनिस्ट-प्रचारकी सफलता जाँचनेके लिये धर्मके सम्बन्धमें एक जनमत-गणना हुई थी। उससे यह मालूम हो चुका था कि रूसी जनतापर धर्मविरुद्ध प्रचारका कुछ भी असर नहीं पड़ा है; उसके अंदर धर्मविश्वास इतना बद्धमूल है कि उसे उखाड़नेका प्रयत्न एक तरहसे अबतक विफल ही रहा। जनतामें इस बातका असन्तोष भी था कि कम्यूनिस्ट-शासनमें उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता छिन गयी। इस कारण जर्मन सेनाओंसे जूझनेका कोई हौसला उनमें नहीं रह गया। 'कोउ नृप होउ हमहि का हानी' वाली मनोवृत्ति-सी उनकी हो गयी। पर सङ्कटकी इस घड़ीमें दो बातें ऐसी हुईं, जिनसे रूस पूरी ताकतके साथ खड़ा हो सका। एक यह कि आक्रमणकारी जर्मन सेनाओंने आक्रान्त देशकी रूसी जनतापर इतने भयङ्कर अत्याचार किये कि उससे रूसी जनताका अन्तः-

करे। जिस कुलमें हमारा जन्म हुआ, उसका परम्परागत विहित कर्म ही हमारा कर्म होता है। कारण, वर्तमान मानव-जाति ही नहीं, त्रिकालमे व्याप्त सम्पूर्ण मानव-जाति एक है। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमे जीवनका विचार केवल वर्तमान जीवन देखकर ही नही किया जाता, बल्कि पूर्वजन्म, वर्तमान जन्म और पुनर्जन्म अर्थात् त्रिकालव्यापी अखण्ड मानव-जीवनको देखकर किया जाता है। आज भी प्रत्येक भारत-सन्तानके अन्तःकरणमे यह संस्कार बद्धमूल है कि हमने पूर्वजन्ममे जैसा कर्म किया था, उसीके अनुसार हमारा वर्तमान जन्म हुआ और इस जन्ममें जैसा कर्म हम करेंगे, वैसा ही हमारा अगला जन्म होगा। मृत्यु भारतीय सन्तानके संस्कारमे जीवनका अन्त नही, नये जीवनका आरम्भमात्र है। भारत-सन्तान कभी मरता नहीं, मरकर भी पुनर्जीवित होता है। जो लोग जीवनरेखाके जन्म और मृत्यु—इन दो चरमबिन्दुओंका विचार नहीं करते, वे जाने-बे-जाने—

> यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
> भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

—इस चार्वाकपन्थके अनुयायी बन जाते हैं। उनकी दृष्टि अत्यन्त संकुचित और वृत्ति कर्तव्यविमुख, विषयभोगरत होती है। एक बार ट्रोजकीने जगत्के कुछ प्रसिद्ध राष्ट्रोंकी दूरदृष्टिका अंदाजा लगाकर कहा था कि 'अंग्रेज तीस-चालीस वर्ष आगेतकका जमाना देख लेते है, रूस ६०-७० वर्ष-तककी बातोंको सोच लेता है। समाजवादके प्रवर्तक कार्लमार्क्सने आगे आनेवाले सौ वर्षोंतकका जमाना देखा था। पर भारतीय त्रिकालदर्शित्वके सिद्धान्तके सामने यह देखना कुछ न देखनेके बराबर है। दूरदर्शिता हमें अपने त्रिकालदर्शी पूर्वजोंसे ही सीखनी चाहिये। पूर्वजन्म और अगले जन्मका विचार करके मनुष्यमात्रका कर्तव्य उसके जन्मसे ही निर्धारित किया जाता है। इसीलिये जिस मनुष्यका जिस कुलमें जन्म होता है, उस कुलका धर्म ही उस मनुष्यका स्वधर्म हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने कुलका घटक है, प्रत्येक कुल अपने समाजका घटक है और प्रत्येक समाज अखिल मानव-जातिका घटक है। मानव-जाति अखिल जड-चेतन जगत्का घटक है। अखिल जगत् सप्तलोक और चतुर्दश भुवनोंका घटक है। इसलिये सारा जीवन एक है और वह तीनों कालमे व्याप्त है। जीवनकी यह व्यापकता भारतीय आचार-विचारोंमे सर्वत्र अनुस्यूत है। कुलधर्मसे इस व्यापक जीवनकी शिक्षा आरम्भ होती है।

कुल-धर्मकी इतनी महिमा जिस भारतीय समाजव्यवस्था-मे है, उसमे छोटे-बड़ेका कोई भेद नहीं है। बड़ा वही है, जो अपने नियत धर्मका पालन करता है। जो नही करता, वह अपने आपको छोटा बनाता है। धर्मसे स्नेह उपजता है और जहाँ स्नेह होता है, वहाँ छोटे-बड़ेके भेदका जो व्यवहार होता है, वह भी स्नेहयुक्त ही होता है। उदाहरणार्थ पुत्र पिताके या छोटा भाई बड़े भाईके चरण छूता और उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ा होता है तो इसे छोटे-बड़ेका भेद नहीं कहा जाता। यों भड़कानेवाले लोग तो पतिके विरुद्ध पत्नीको भी भड़काते है और उसका क्या परिणाम होता है, यह 'हा राम!' कहकर प्राण त्यागनेवाले महाराज दशरथसे पूछिये। अंग्रेजी शासनने हममे फूट डालनेके लिये दो शब्द गढ़े— Depressed (दलित) और Untouchable (अस्पृश्य); और हम भड़क गये, इन्हीं शब्दोंका अनुवाद करने लग गये। यथार्थमे हमारे शास्त्रोंने किसी जातिको 'दलित' नहीं किया है; और 'अस्पृश्य' नामकी कोई जाति शास्त्रोंमे है ही नहीं।' शास्त्रोंने जन्मसे सबका कर्म माना है और कुल-परम्परा चलानेका आदेश दिया है—

> येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः।
> तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति॥
> (मनुस्मृति ४। १७८)

'पिता जिस मार्गपर चले, जिसपर पितामह चले, उसी सन्मार्गपर हर किसीको चलना चाहिये। उसीसे वह सब दुःखो और अभावोंको पार कर जायगा।' पतित वही है, जो अपने कुलको त्यागने और कुल-परम्पराको मिटानेकी इच्छा करता है। जो पुत्र केवल पैतृक सम्पत्ति पानेके लिये अपनी पूर्वपरम्परा मान लेता पर उस कुलके व्रतको त्याग देता है, उसे पतित नहीं तो और क्या कहें? भारतीय संस्कृतिमे जन्म-से धर्म निश्चित होता है और धर्मसे ही सम्पत्ति आदिका अधिकार।

अस्पृश्यता कहकर जिस चीजकी निन्दा की जाती है, वह असलमे शौचाचार है और शौचाचार कोई निन्दनीय वस्तु नहीं। शुचि रहना, अन्तर्बाह्य स्वच्छता और पवित्रता रखना एक महान् गुण है और अन्य सब गुणोंका आश्रय-स्थान है। शुचितामे ही दैवी गुणोंका आधान होता है। जहाँ शुचिता नहीं, वहाँ कोई दैवी गुण नहीं ठहर सकते। रजस्वला स्त्रीको कोई स्पर्श नहीं करता—चाहे वह मा, बहन, बेटी, कोई हो। स्नान किया हुआ मनुष्य अस्नातको स्पर्श नहीं करता।

घर-घरमे जो देवगृह होता है, उसमे घरके लोग अत्यन्त शुचि होकर, शुचि वस्त्र पहनकर ही प्रवेश करते हैं। भारतीय संस्कृतिमें द्विजत्व एक महान् संस्कार है, जिसके अन्तर्गत उपनयनादि अनेक संस्कार हैं। इससे न केवल अन्तः-करण प्रत्युत बाह्य शरीर भी ब्रह्मप्राप्तिके योग्य साधा जाता है—'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'। इस महत् कार्यकी पवित्रताके लिये चाहे जिसका स्पर्श इष्ट नहीं है। संक्रामक रोगोंके समान अपवित्र विचार या पाशविक भाव भी संक्रामक होते हैं। उनसे बचना चाहिये। जो चीज जैसी है, उसे उसी रूपमें पेश करना चाहिये। लोगोंको कुछका कुछ और ही बतला-कर भड़काना उनका और सबका अपकार करना है, नेह-नाता तोड़कर द्वेष फैलाना है।

जन्ममूलक चातुर्वर्ण्यात्मक समाज-संस्थासे परस्पर सामाजिक संघर्षका कोई कारण नहीं रहता, सब वर्ण एक दूसरेकी जीवन-समृद्धिके पूरक होते हैं, एक दूसरेपर आश्रित रहते हैं, व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता भी यथासम्भव कम होती है, बेकारीकी समस्या उठने ही नहीं पाती, कोई बेकार नहीं रहता। समाजकी सब सुविधाएँ स्वाभाविक हो जाती हैं। उनके लिये नये-नये महकमे कायम करके विफल होनेके अवसर नहीं देखने पड़ते। युद्धकी सम्भावना भी कम होती है और आनुवंशिक संस्कारोंसे नैपुण्यकी निरन्तर वृद्धि होती है। इस संस्थाको उठा देनेकी धुनके पीछे कोई परिणामदर्शी विवेक नहीं है।

हमने बार-बार 'हिंदू-संस्कृति' शब्दोंका प्रयोग न कर 'भारतीय संस्कृति' शब्दोंका प्रयोग किया है। 'भारतीय' शब्द-के व्यवहारमे अहिंदुओंका भी समावेश हो जाता है। पर यह समझना गलत है कि भारतीय संस्कृति और हिंदू-संस्कृति दो भिन्न संस्कृतियाँ हैं। यह समझना भी गलत है कि भारतीय संस्कृति हिंदू-मुस्लिम खिचडी संस्कृति है। मुसलमान यदि भारतीय हैं तो हिंदुओंकी संस्कृतिसे भिन्न उनकी अन्य कोई संस्कृति नहीं हो सकती। यदि उनकी संस्कृति भिन्न है (जैसा कि अधिकांश मुसलमान कहते हैं, और इसी आधारपर झगड़कर उन्होंने भारतवर्षमें ही अपना पृथक् इस्लामी राज्य कायम कर लिया) तो वह भिन्न ही है। भारतीय संस्कृतिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। पर सच्ची बात यह है कि ये उनके विदेशी संस्कार हैं, जो उन्हें यह सिखाते हैं कि तुम्हारी संस्कृति हिंदू-संस्कृतिसे भिन्न है। विदेशी मुसलमान तो इस देशमें वे ही थे, जिन्होंने इस देश-पर बाहरसे आकर आक्रमण किया था। पीछे यहाँके हिंदुओं-को उन्होंने लोभ, भय और द्वेषसे मुसलमान बना लिया। हिंदू-संस्कृति जन्मसे ही जाति निश्चित करती है। यदि मुसलमानोंके विदेशी संस्कार नष्ट हो जायँ तो वे हिंदू ही हैं। उनके हृदयके अन्तस्तलमें आज भी हिंदू-संस्कार दबे हुए छिपे पड़े हैं। इन विदेशी संस्कारोंको सच पूछिये तो ईश्वर ही हटा सकता है अथवा ईश्वरके अनन्य भक्त; जैसे कि श्रीचैतन्यमहाप्रभु तथा अन्य अनेक संत-महात्माओंके जीवनमें हम देखते हैं कि उन्होंने कितने ही मुसलमानोंके अंदर छिपे हुए कृष्णभक्तिके भाव जगा दिये। कितने ही मुसलमान परम वैष्णव कवि हो गये। जन्म-जन्मान्तरके कुसंस्कारोंको धो डालनेकी सामर्थ्य भगवत्कृपामें ही है।

भारतीय संस्कृतिमें गौ और ब्राह्मण अत्यन्त पूज्य हैं। नवजात शिशुको गोदुग्ध पान करानेसे लेकर मरणकालीन गोदानतक सर्वत्र गौकी आवश्यकता होती है। गौसे हमारा कृषिकर्म और गौसे ही हमारा यज्ञकर्म होता है। गोहत्या-से बढ़कर कोई पातक नहीं है। पिछले महायुद्धमें गोवंशका भयानक संहार हुआ। इसीसे धान्यकी उपज कम हो गयी और घी-दूधके लाले पड़ गये। हमारी नवीन कृषि-सुधार-योजनाओंमें ट्रैक्टरों और कृत्रिम रासायनिक खादोंकी विशेष-रूपसे चर्चा है। पर इन नवीन प्रयोगोंके भरोसे गोवंशकी उपेक्षा करना बुद्धिमानीका काम न होगा। गोवंशकी जितनी समृद्धि होगी, यहाँकी कृषिभूमि उतनी ही धान्यादिकोंसे समृद्ध होगी और राष्ट्रके नवयुवक स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट होंगे। गो-वंशकी रक्षा और समृद्धिके आधारपर कृषिसुधारकी जो योजना बनेगी, उसकी सफलतामें कोई सन्देह नहीं रहेगा। ब्राह्मणोंको हमलोग किसी जात्यभिमान या सम्प्रदायाभिमानसे नहीं पूजते, प्रत्युत इसलिये पूजते हैं कि ऋषि-परम्परासे अपरिग्रहपूर्वक वे ही इस व्रतके व्रती हैं कि आब्रह्म अखिल जड-चेतन जगत्का शास्त्रोक्तरीत्या मङ्गल-विधान करें। ब्राह्मण सब वर्णोंके आप्त (अपने) हैं।

भारतीय संस्कृतिमें यह विशेषता है कि वैयक्तिक जीवन-की चरितार्थताका विश्वके समष्टि-जीवनकी चरितार्थताके साथ कोई विरोध नहीं है। जो चतुर्विध पुरुषार्थ व्यक्तिके हैं, वे ही चतुर्विध पुरुषार्थ अखिल मानवजातिके हैं। इन चतुर्विध पुरुषार्थोंके साधनकी जो सांस्कृतिक प्रणाली है, उसका अनुसरण करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति और कुछ न करके भी अखिल-विश्वहितका साधक बनता है। धर्म और मोक्षसे बँधा हुआ

प्रत्येक जीवन सबके लिये अनुकरणीय होता है। संसारमें जितने ही अधिक व्यक्ति ऐसे जीवनसे समृद्ध होंगे, संसारमें सदाचार, सुख और शान्तिकी उतनी ही समृद्धि होगी। जनताको सदाचारसम्पन्न बनाना राज्यव्यवस्थाका मुख्य कर्तव्य है। अतः राजनीतिमें भारतीय संस्कृतिका आश्रय ही परम आश्रय है। भारतीय राजनीतिक संस्कार, जो हम रामायण और महाभारत तथा पुराणादि ग्रन्थोंमें देखते हैं, भारतकी काया-पलट कर जगत्को शान्तिका अमोघ सन्देश दे सकते हैं।

हमारी संस्कृतिमें कोई राष्ट्रवाद, धर्म-सम्प्रदायवाद अथवा राजनीतिक सम्प्रदायवाद नहीं है। हमारे यहाँ धर्म और तत्त्वज्ञानके अनेक सम्प्रदाय हैं। पर सबका लक्ष्य परम तत्त्वका अनुसन्धान, परमेश्वरकी प्राप्ति और धर्मका साधन है। इसीलिये इनमें परस्पर कोई संघर्ष नहीं है। संघर्ष वहीं होता है, जहाँ लक्ष्य अर्थ और काम होते हैं और साधन-में धर्माधर्मका विचार नहीं होता। जहाँ लक्ष्य ईश्वर है, साधन धर्म है और अर्थ और काम उस धर्मके द्वारा नियन्त्रित होते हैं, वहाँ संघर्षका कोई कारण नहीं रहता। जगत्का परम हित ऐसे ही परम लक्ष्य और परम साधनके द्वारा होता है। जगत्का हित किसी राष्ट्रवाद, धर्म-सम्प्रदायवाद अथवा राजनीतिक सम्प्रदायवादसे नहीं हो सकता। कारण, इनका लक्ष्य अन्य राष्ट्रों तथा धार्मिक अथवा राजनीतिक सम्प्रदायोंको दबाकर या नष्ट करके अपने ही राष्ट्रिय अथवा साम्प्रदायिक अहङ्कारका प्रभुत्व स्थापित करना होता है। ऐसी स्थितिमें परस्पर संघर्ष अनिवार्य है। पर जिनका लक्ष्य किसी एक राष्ट्र, समाज या सम्प्रदायका प्रभुत्व नहीं, बल्कि सारे विश्वका हित और विश्वात्माका आराधन होता है, वे अहङ्कारका प्रभुत्व नहीं चाहते; वे चाहते हैं इस जगत्के व्यवहारमें जगदात्माका प्रभुत्व स्थापित हो और जगत्के उसी हितका साधन हो, जो धर्मसे प्राप्त है, जो विश्वात्माकी सकल-लोक-कल्याण-कामनाके अविरुद्ध है। विश्वका हित और विश्वात्मा-की तुष्टि परस्पर अविरोधी तत्त्व हैं। जहाँ विश्वात्माकी प्राप्ति ध्येय है, वहीं विश्वहित भी अनुस्यूत है। और विश्वको धारण करनेवाला धर्म ही है। वही धर्ममें अर्थ और काम भी स्थित हैं। इसी परम सिद्धान्तमें सब वादोंका समन्वय होता है। अधर्मसे प्राप्त होनेवाले राज्य और विषय-वैभव-भोग न केवल क्षणिक होते हैं बल्कि अपने साथ अधर्म करनेवालेको भी जड़-मूलसे उखाड़ फेंकते हैं। अतः हमारी संस्कृतिके जो दो मुख्य अङ्ग हैं—ईश्वर और धर्म, इनके आश्रयमें रहकर ही हमारा देश और राष्ट्र परम उन्नत होगा, अन्य राष्ट्रोंको दबाकर नहीं बल्कि अपने साथ लेकर। कारण, ईश्वर और धर्मकी दृष्टिमें हमारा हित और अन्य राष्ट्रों-का हित अलग-अलग नहीं है। जिन राष्ट्रोंने जगत्-हितके विरुद्ध अपने उत्कर्षका प्रयास किया, उनमेंसे कोई भी राष्ट्र नहीं टिका और आगे भी नहीं टिक सकेगा। कारण, जगत् एक है, मानव-जाति एक है, तीनों लोक एक हैं, तीनों काल एक हैं, एक ही परमात्माके अंदर ये सब एक हैं। इस एकत्वसे अलग होकर कोई भी ठहर नहीं सकता। इस एकत्वमें सब अपने-अपने विशेष-विशेष गुणोंका उत्कर्ष कर सकते हैं। ऐसे सब उत्कर्ष सबके परस्पर सहायक होते हैं। इस एकत्वका दर्शन हमारी संस्कृतिके आचार्योंने किया था और सबको उनके विशेष-विशेष गुणोंके उत्कर्ष-साधनकी शिक्षा दी थी इसीलिये भगवान् मनु कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनुस्मृति २। २०)

पृथ्वीके सात्त्विक जनसमूह आज भी भारतवर्षकी ओर इस आशासे ताक रहे हैं कि उन्हें उनके परम हितका मार्ग भारतवर्ष दिखायेगा। भारतीय संस्कृतिके आश्रयमें ही यह मार्ग-प्रदर्शन हो सकता है।

श्रुति-स्मृति-पुराणजनित भारतीय संस्कृतिके दो परमाराध्य नाम हैं—श्रीराम और श्रीकृष्ण। राम धर्मके परम आदर्श हैं। श्रीकृष्ण धर्मसे प्राप्त प्रेमके स्वरूप हैं। प्रेम ही भारतीय संस्कृतिका प्राणधन है। पर यह प्रेम धर्मसे ही प्राप्त होता है। प्रेम ही वह मूल उद्गमस्थान है, जहाँसे धर्मकी सरिता प्रवाहित होती और प्रेमसिन्धुमें जाकर मिलती है। प्रेम ही जगत्-व्यवहार-में धर्मका रूप धारण करता है। इस तरह प्रेम और धर्म एक ही हैं। उन्हीं प्रेमधर्म भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें यह लेख समर्पित है। कारण, भगवान् ही सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान, सम्पूर्ण शाश्वत धर्म और अनन्त परमानन्दके धाम हैं।

हिंदू-संस्कृतिके आन्तरिक पक्ष

(लेखक—प्रो॰ श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम॰ए॰, डी॰लिट्॰)

हिंदू-संस्कृति एवं सभ्यताका बाह्य पक्ष इतने महत्त्वका नहीं है, जितना आन्तरिक पक्ष। क्योंकि भारतीय सभ्यताका मूलाधार आध्यात्मिकता है। संसारकी अन्य संस्कृतियाँ बाह्य प्रदर्शन, टीपटाप, भौतिकवाद, राजनैतिक बुद्धिमत्ता और कूटनीतिज्ञतामें विश्वास करती हैं; किंतु हिंदू-संस्कृति बाह्य रूपमें सरलता, निःस्पृहता और अहिंसामें विश्वास करती है। हिंदू-संस्कृतिकी नींव आध्यात्मिकता, त्याग, तपस्या, सत्य और विश्वप्रेमपर रक्खी गयी है।

हम देखते हैं—पाश्चात्य संस्कृतियाँ जीवनकी विलासमय आवश्यकताएँ बढ़ाकर बाह्यरूपसे मानव-जीवनको अवश्य परिष्कृत कर रही हैं, आराम और भौतिक सुखोंमें वृद्धि हुई है; किंतु उनसे मानवताका कल्याण नहीं हुआ है। उन्होंने निरन्तर एकके पश्चात् दूसरे युद्ध, विग्रह और संघर्षके बीज बोये हैं। एक युद्ध निपटने नहीं पाता, दूसरेके प्रारम्भ होनेके लक्षण प्रकट हो जाते हैं; भयंकर तनातनी, गुप्त मन्त्रणाएँ, गर्हित गुटबन्दियाँ, राष्ट्रोंके पारस्परिक संघर्ष चलते रहते हैं। आज यूरोपमें जो दूषित वातावरण फैला हुआ है, वह यूरोपीय सांस्कृतिक आदर्शोंके फलस्वरूप ही है। उनमें सभ्यताका बाह्य पक्ष निखरा हुआ दीखता है, मानव अपना जीवन सुखसे व्यतीत करते हुए प्रतीत होते हैं; किंतु वास्तवमें उनके हृदयमें तनिक भी शान्ति, सन्तोष, विश्राम नहीं है।

संस्कृतियोंका बाह्य पक्ष इतने महत्त्वका नहीं होता, जितना आन्तरिक पक्ष। जबतक आन्तरिक पक्ष सजीव है, तबतक जातिमें बल, वीर्य, तेज, उत्साह बना रहता है। यदि शरीरका आन्तरिक पक्ष—हृदय, मस्तिष्क इत्यादि बलवान् हैं, रक्त स्वच्छ होनेका कार्य ठीक चलता है, तो शरीर भी दृढ़ होगा। इसी प्रकार यदि संस्कृतिका आन्तरिक पक्ष सुरक्षित है, तो बाह्य पक्ष सबल बना रहता है। वस्तुतः आन्तरिक पक्षकी विशेष महत्ता है।

एक विद्वान्‌के अनुसार, 'जबतक किसी संस्कृतिका आन्तरिक पक्ष रहता है, तबतक उसका बोलबाला रहता है। इसलिये आन्तरिक पक्षकी रक्षाके लिये विशेष प्रयत्न चलने चाहिये। यदि शरीर हृष्ट-पुष्ट है तो उसमें अधिक कालतक आत्माकी स्थितिकी सम्भावना है।'

हिंदू-संस्कृतिका आन्तरिक पक्ष दृढ़ आधार-शिलाओंपर रक्खा गया है। हिंदूका लक्ष्य मानव-समाजकी सामाजिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हुए चरम आध्यात्मिक सुख—प्रभुसे तादात्म्य प्राप्त करना, उसीमें अपने आपको विलीन कर देना है। एक सच्चा हिंदू जीवनके प्रथम भागमें पूर्ण नैतिक जीवन व्यतीत करते हुए ब्रह्मचर्य धर्मका पालन करता है। इसमें सत्य, न्याय, प्रेम, अहिंसा, शौर्य, तप इत्यादि सब प्रकारकी विभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जिनसे वह जीवनयात्रा मजेमें पूर्ण कर सकता है। शिक्षा तथा दृढ़ जीवनके लिये ब्रह्मचर्याश्रमकी योजना प्रशस्त है। जीवनके द्वितीय भागमें वह गृहस्थ-धर्मका पालन करता है। आत्मोन्नतिके लिये गृहस्थ-धर्म एक प्राकृतिक, स्वाभाविक, आवश्यक एवं सर्व-सुलभ योग है। परिवारसे वृद्धि होनेसे हिंदू पुरुषके आत्मभावकी सीमा बढ़ती है—एकसे दो, दोसे तीन और चार आत्माओंमें आत्मीयता बढ़ती है। क्रमशः मर्यादा बढ़नेसे मनुष्यके स्वार्थपर अङ्कुश लगता है, वह आत्मसंयम सीखता है और स्त्री-पुत्र सम्बन्धी-परिजनोंमें आत्मीयता बढ़ाता रहता है। वह क्रमशः आत्मोन्नतिकी ओर बढ़ता चला जाता है। गृहस्थ-धर्म एक छोटी-सी पाठशाला है, जिसमें नागरिककी आत्मा विकसित होकर पूर्णताकी ओर पहुँचती है। तृतीय अवस्थामें यह आत्मभाव पूर्ण विकसित हो जाता है। चौथी अवस्थामें वह लौकिक सेवा त्यागकर भगवत्-तत्त्वकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर होता है; संयम, त्याग, ब्रह्मविद्याद्वारा वह पूर्ण नैतिक जीवन बनाकर विश्रान्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार हिंदू-संस्कृति पूर्ण नैतिक जीवनका निर्माण करती है।

हिंदू-संस्कृतिका आन्तरिक पक्ष मूलरूपसे निम्न तत्त्वोंपर आधारित है—

(१) शरीरकी अपेक्षा आत्माका अधिक महत्त्व है। हमें चाहिये कि हम अपने आपको शरीर नहीं, आत्मा माना करें और वैसा ही उच्च आचरण करें।

(२) 'अहं' भावका त्याग करें, अर्थात् अपने-आपको स्वार्थके क्षुद्र दायरेमें न बाँधे रहें वरं कर्तव्यनिष्ठाके साथ-साथ समाज-सेवा और हितके लिये प्रयत्न करें। हमारे सब कार्य निष्काम, निःस्वार्थ भावनासे हों और वे परमेश्वरको अर्पण किये जायँ।

(३) प्रत्येक हिंदू अपने दैनिक जीवन और सामाजिक व्यवहारमें सदाचारसे कार्य ले, सद्गुणोंका प्रकाश करे, अपने चरित्रके उच्च उदाहरणद्वारा दूसरोंको वैसा ही उच्च जीवन व्यतीत करनेके लिये उत्साहित करे।

(४) अर्थ, काम और मोक्ष—इन सभीका समन्वय उचित रीतिसे किया जाय, जिससे मानव-जीवनकी सर्वाङ्गीण उन्नति हो सके।

(५) आत्मा अमर है, केवल शरीरका परिवर्तन चला करता है। यह अमरत्वकी भावना हमें उत्साहित करे।

(६) मनुष्यसे परे एक परम सत्ता—ईश्वरत्वमें अखण्ड विश्वास।

(७) हिंदू-संस्कृतिका अन्तिम आधार है प्रकृतिके साथ सीधा सम्पर्क। प्रारम्भिक तथा अन्तिम जीवनमें हिंदू प्रकृतिके साथ सीधा सम्पर्क रखनेमें विश्वास करते हैं। प्रकृतिके साहचर्यसे उनका अन्तःकरण पवित्र रहता है; परोपकार, वैराग्य और सदाचारकी ओर प्रवृत्ति रहती है।

'*प्रकृतिके साथ सीधा सम्पर्क*'—इसका आशय विस्तृत है। खान-पान, विहार इत्यादिमें सदा-सर्वदा प्रकृतिके निकट रहना, भौतिकवादसे मुक्त रहना, उच्च आध्यात्मिक विचारों तथा शुद्ध चिन्तनमें तन्मय रहना—यह हमारी संस्कृतिका एक अंश है। हिंदू-संस्कृतिमें वृक्ष लगानेका भी बड़ा महत्त्व है। वृक्ष जगत्का कितना कल्याण करता है, यह देखकर भारतीय संस्कृतिमें वृक्षारोपण एक पुण्य-कर्म माना गया है। तुलसी, अशोक, शमी, पीपल, नीम, गूलर, आँवला आदिके वृक्ष बड़ी श्रद्धासे पूजे जाते हैं। गो-सेवा और पूजा भी इसीमें सम्मिलित है। कुछ महानदियाँ—जैसे गङ्गा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी इत्यादिका बड़ा महत्त्व है। हिंदू-संस्कृतिमें श्रीगङ्गाजीका विशेष महत्त्व है। विष्णुपदी, जाह्नवी, भागीरथी, त्रिपथगा, स्वर्गापगा आदि विभिन्न नाम दे-देकर गङ्गाकी महिमाका वर्णन किया गया है। गङ्गाका उद्गमस्थान मानसरोवर माना गया है। हमारी सब यात्राओंका महत्त्व यही है कि वे हमें प्रकृतिका साहचर्य बनाये रखनेमें सहायता करती हैं। धार्मिक यात्राओंमें पैदल पर्वतोंमें घूमते, सरिताओंमें स्नान करते, वन-जंगलोंकी प्राकृतिक शोभाका रसास्वादन करते हुए जब हिंदू यात्री आगे बढ़ते हैं, तब उन्हें दीर्घजीवनके साथ-साथ आन्तरिक पवित्रता भी मिलती है। वे ठंडे जलमें स्नान करते हैं; इससे शरीरमें स्फूर्ति रहती है, क्षुधा खुलकर लगती है, चर्मरोग दूर हो जाते हैं और शरीर नीरोग हो जाता है।

यूरोप तथा अमेरिकाकी सभ्यता एवं संस्कृति बड़े-बड़े शहरों, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं, आमोद-प्रमोद-विलासकी सामग्रियोंमें प्रकट होती है; किंतु हिंदू-संस्कृति भौतिक आवश्यकताओंकी तृप्तिके साधनमात्रको कोई महत्त्व नहीं देती। हिंदू-संस्कृति तो तपोवनमें, प्रकृतिके अञ्चलमें है। हम त्यागको महत्त्व देते हैं, आन्तरिक सम्पदाओंके संग्रहमें विश्वास करते हैं। हिंदू मानता है कि उसका मानसिक पक्ष जितना शुद्ध एवं विकसित, परिपक्व रहेगा, उसके उतने ही अच्छे कर्म होंगे, और उसका उतना ही उच्च जीवन भी होगा। त्याग, संयम, ईश्वरमें विश्वास उनकी रग-रगमें समाया हुआ है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृतिका जन्म तथा विकास नगरोंसे दूर ऋषियों तथा मुनियोंके आश्रमों, तपोवनों, पुण्यारण्योंमें हुआ है। यही कारण है कि उसमें आध्यात्मिकताकी प्रधानता है। आत्मदर्शन हमारा चरम लक्ष्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदू-संस्कृति मनुष्यका विकास अचेतन मनसे प्रारम्भ करती है। जब हमारी चेतनाका विकास नैतिक वातावरणमें होता है, तब हमारी विवेकबुद्धि सत्-तत्त्वकी ओर अधिक झुकी रहती है। विवेक-बुद्धिके सम्यक् विकाससे ही एक सच्चे हिंदूमें आत्मदर्शनकी शक्तिका अभ्युदय होता है। अपने आन्तरिक पक्षकी दृढ़ताके ही कारण हिंदू-संस्कृति अन्य समस्त संस्कृतियोंसे श्रेष्ठ है।

हिंदुओंकी बुद्धि और विचारशीलता

'बुद्धि और विचारशीलतामें हिंदू सभी देशोंसे ऊँचे हैं। गणित तथा फलित ज्योतिषमें उनका ज्ञान किसी भी अन्य जातिसे अधिक यथार्थ है। चिकित्सा-विषयक उनकी सम्मति प्रथम कोटिकी होती है।'

—याकूबी (नवम शताब्दी)

हिंदू-संस्कृति और वेद

ज्ञानका ह्रास, विकास नहीं

संसारके प्रायः सभी धर्मोंमें अपने मूल धर्मग्रन्थके प्रति अपौरुषेयताकी धारणा है। धर्मप्रवर्तक मूल-पुरुषको ईश्वरीय ज्ञानका साक्षात् हुआ, ऐसा सभी धार्मिक विश्वास करते हैं। यहूदी, ईसाई, मुसल्मान इस्लामको इस धारणापर पूर्ण विश्वास करते हैं। यह धारणा एक सीमातक सत्य है, पर हमें यहाँ इसकी आलोचना नहीं करनी है। हमें तो देखना है कि सृष्टिके आदिमें मनुष्यको ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ और वह ज्ञान कौन-सा था। वेद, जो उपलब्ध विश्वसाहित्यमें निर्विवाद प्राचीनतम है, आदिज्ञानके रूपमें है या नहीं और यदि आदिज्ञान है तो पुरुषकृत हैं या अपौरुषेय ?

एक बात हम स्पष्ट देखते हैं कि मनुष्य बिना सिखाये कुछ सीख नहीं पाता। यदि आपने पेड़पर चढ़ना नहीं सीखा है तो जंगलमें शेर आपको खा जायगा, परंतु उस प्राणसंकटमें भी आप पेड़पर नहीं चढ़ सकेंगे। तैरना न जाननेवालोंके जलमें डूबनेकी घटनाएँ बराबर होती रहती हैं। मनुष्यका बच्चा भूखों मर जायगा, यदि माताका स्तन उसके मुखमें नहीं दिया जायगा। वह स्वयं अपनी बंद मुट्ठियाँ खोलकर उन्हें ढूँढ़नेका यत्नतक नहीं करेगा।

हिंदू-शास्त्र कहते हैं कि सृष्टिके मनुष्येतर समस्त प्राणी भोगयोनिके जीव हैं। वे अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये उन योनियोंमें आये हैं। फलतः अपने भोगके उपयुक्त ज्ञान, स्वभाव एवं शक्ति उन्हें जन्मसे ही प्राप्त हुए हैं। मनुष्य कर्मयोनिका प्राणी है। उसे संसारमें नूतन कर्म करने हैं। वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र बनाकर संसारमें भेजा गया है। अतएव उसे शक्ति दी गयी है कि वह समस्त ज्ञानको ग्रहण कर सके। जन्मसे कोई ज्ञान, कोई स्वभाव उसे ऐसा नहीं मिला है कि वह उसके अनुसार चलनेको विवश रहे।

अबतक मनुष्यके पास जो ज्ञानराशि रक्षित है, वह धीरे-धीरे विकसित हुई है या मूलमें ही पूर्ण प्राप्त हुई थी ? यह प्रश्न बड़ी सुगमतासे सुलझाया जा सकता है। मनुष्य स्वतः कुछ सीख नहीं पाता, उसे सिखलाया जाता है। मानवीय ज्ञान तो मनुष्य ही सिखलायेगा। हम यह भी देखते हैं कि विद्यार्थीने अध्यापकसे जितना पढ़ा है, जितना समझा है, उतना सब-का-सब वह सिखला नहीं पाता। वह जितना बतलाता है, सीखनेवाला उतना ठीक-ठीक समझ नहीं सकता। इस प्रकार ज्ञानका उत्तरोत्तर ह्रास होता है। जो यह मानते हैं कि ज्ञानका धीरे-धीरे विकास हुआ है, वे यह भूल जाते हैं कि पतंगा बराबर दीपकके पास आता है और कुछ गर्मी पाकर लौट जाता है। दो-चार बार थोड़ा-बहुत जलकर भी वह कुछ नहीं सीख पाता और अन्तमें जल जाता है। मानवीय ज्ञान तो, सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि, भूलता ही है। यदि आप निरन्तर उसे स्मरण रखनेका प्रयत्न करते रहते हैं, तब तो सम्भव है कि आपका ज्ञान जाग्रत् रहे; अन्यथा वह विस्मृत हो जायगा। चीनमें, मिस्रमें, अफ्रिकाके जंगलोंमें, अमेरिकामें बड़े सुन्दर कलापूर्ण मन्दिर मिले हैं। यह सिद्ध करता है कि वहाँके लोग किसी समय वैसे भवन बनाना जानते थे; सुसभ्य थे। परंतु मिस्रके लोग पिरामिड बनाना भूल गये। अफ्रिकाके जंगली लोग तथा अमेरिकाके मूल-निवासी अपना ज्ञान भूलकर असभ्य हो गये। ये सब बातें बतलाती हैं कि ज्ञानका विकास नहीं होता, अन्यथा सुसभ्य जातियाँ कालान्तरमें असभ्य हुई नहीं पायी जातीं। ज्ञानका ह्रास ही होता है।

ज्ञान अपौरुषेय

जोन्स बोसनने अपने अन्वेषणके पश्चात् स्वीकार किया है कि—'ज्ञानका विकास नहीं होता, प्रत्युत ह्रास ही होता है।'—जब ज्ञानका ह्रास ही होता है, तब आदिज्ञान सम्पूर्ण होना चाहिये। उसे मनुष्यने किससे सीखा ? क्योंकि मनुष्य तो सिखाये बिना कुछ सीख नहीं सकता। यहाँ हमें देखना है कि ज्ञान मनुष्य सीखता कैसे है। महात्मा सुकरातका कहना है—'कोई किसीको नया ज्ञान नहीं सिखलाता, केवल भूले ज्ञानकी स्मृति कराता है।' बात ठीक है। जिसमें ज्ञान था नहीं, उसे ज्ञान दिया कैसे जा सकता है। ज्ञान आनन्दकी ही भाँति अन्तरात्मामें निहित है। वह चैतन्यका स्वरूप है। आज भी सोचनेके लिये, भूली बातको स्मरण करनेके लिये एकाग्रता आवश्यक होती है। महात्मा कबीर, संत तुकाराम आदि पढ़े-लिखे नहीं थे। इतनेपर भी उनकी वाणियोंमें गम्भीर तत्त्वज्ञान है। यह ज्ञान उन्हें किसने सिखलाया ? उसीने, जिसके द्वारा महान् आविष्कारकोंके ज्ञानका उद्भव होता है। सब जानते हैं कि वैज्ञानिककी तन्मयता एवं शरीरविस्मृतिसे ही उसका ज्ञान प्रकट होता है। इसका अर्थ हुआ कि मनुष्यके लिये ज्ञानके दो मार्ग हैं। सामान्य मार्ग है, दूसरोंद्वारा

गोदावरी-तट, नासिक

नर्मदा-तट, ओंकारेश्वर, शिवपुरी
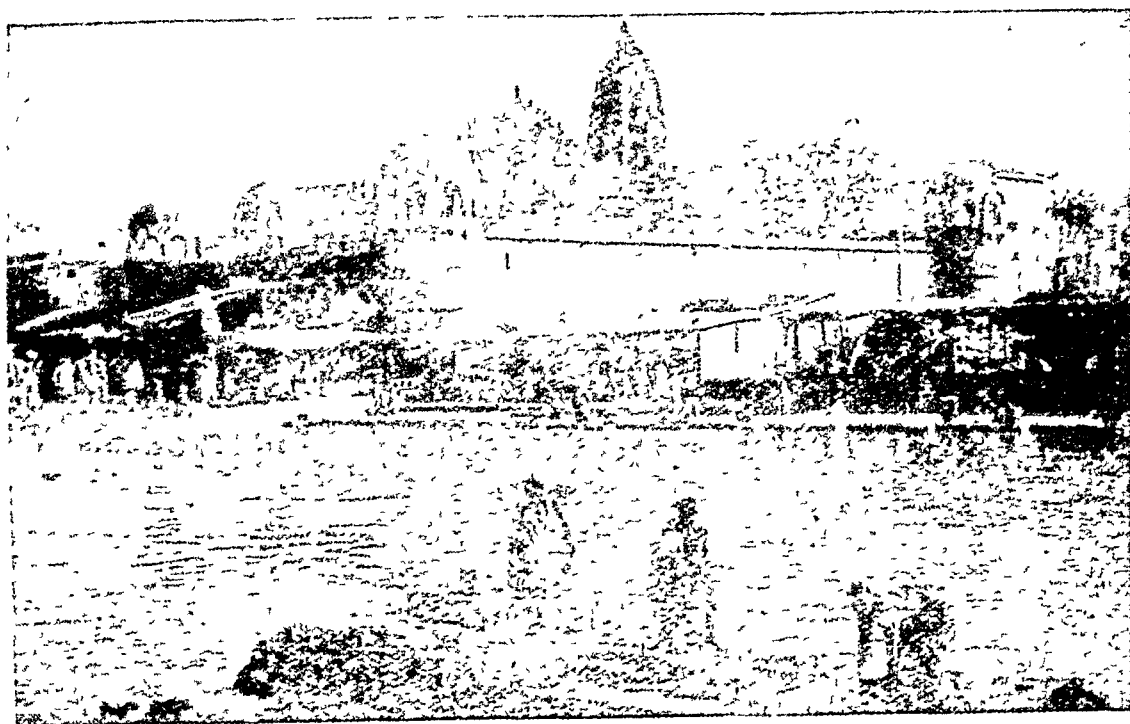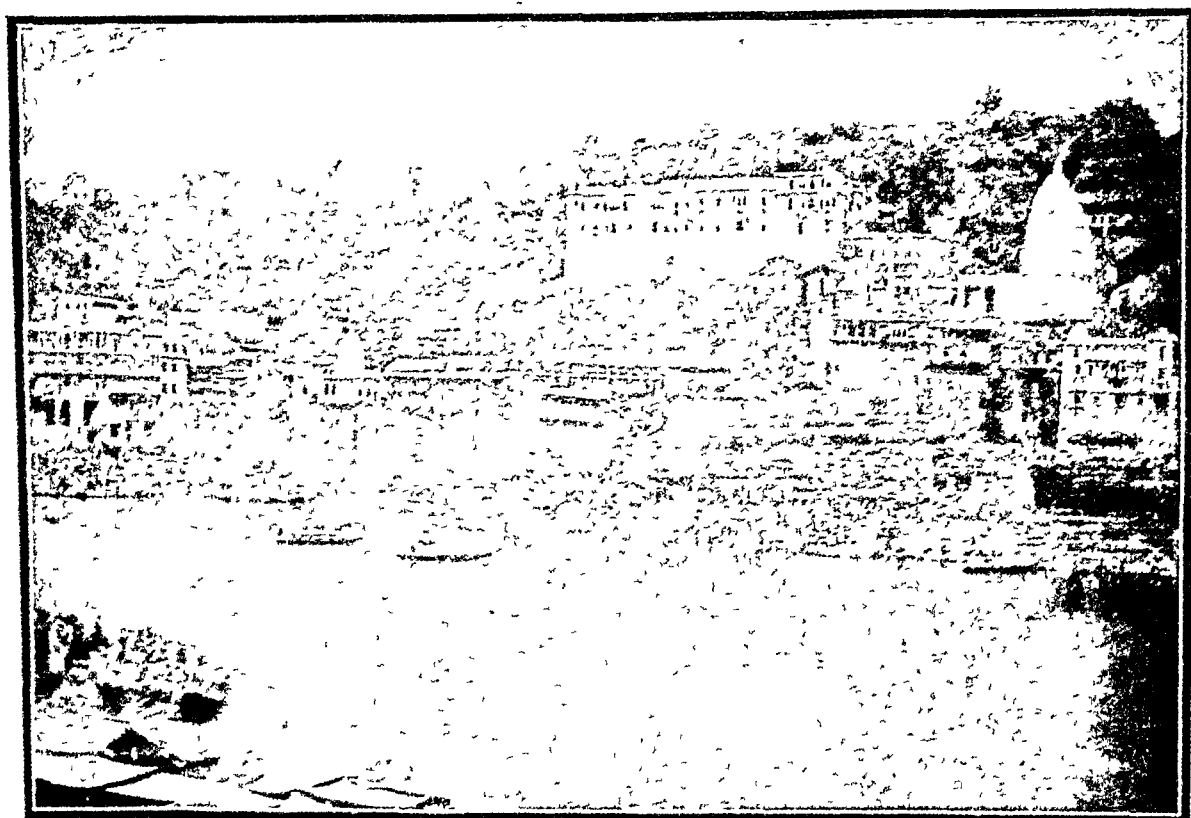
गोमती-द्वारिका

पुष्कर तीर्थ

सीखना और विशेष मार्ग है, मनको एकाग्र करके अन्तःकरण-से उसे प्राप्त करना। हम दूसरोंसे जो सीखते हैं, वह भी हमारे अन्तःकरणका ज्ञान ही है। दूसरे उसे जाग्रत् करनेमें निमित्तमात्र होते हैं। क्योंकि हम देखते हैं कि एक ही उपदेशको अनेक श्रोता अनेक अर्थोंमें लेते हैं। वक्ताका भाव उपदेशके शब्दोंमें क्या था, यह वक्ता ही जानता है। श्रोताओंके हृदयमें तो उपदेशके शब्द हृदयके अनुरूप ज्ञान जाग्रत् करते हैं। हृदयों-की स्थिति विभिन्न होनेसे उपदेशके अर्थ भी भिन्न हो जाते हैं। कवि, लेखक, चित्रकारादि भी अपनी मौलिकता एकाग्रता-द्वारा हृदयसे ही प्राप्त करते हैं।

आनन्दका अक्षय निवास हृदयमें है और वहीं अनन्त ज्ञान-भंडार भी है। हृदयकी एकाग्रतामें ही दोनोंको उपलब्ध किया जा सकता है। हिंदू-शास्त्र यही सदासे कहते आ रहे हैं कि 'सच्चिदानन्दघन तो एकमात्र परमात्म-सत्ता है और वह प्राणिमात्रके हृदयमें निवास कर रही है। अपनेको अन्तर्मुख बनाओ और उसे प्राप्त करो! विश्वके समस्त सुख तथा समस्त ज्ञान उसी आनन्दघन एवं चिद्घनकी एक रश्मि हैं। वे भी हृदयसे ही आते हैं। जैसे रंगीन शीशेमें सूर्यका प्रकाश रंगीन जान पड़ता है, वैसे ही हृदयके विकारोंसे वह आनन्द एवं ज्ञान विकृत होकर वैषयिक सुख तथा भ्रान्त धारणाका रूप ले लेता है।'

ज्ञानमात्र अपौरुषेय है, यह अब समझानेकी आवश्यकता नहीं रह गयी। केवल इतना स्मरण रखना चाहिये कि निर्मल हृदयमें ही ज्ञानका पूर्ण वास्तविक रूप प्रकट होता है। हृदयमें मल होंगे तो ज्ञानकी ज्योतिसे वे भी प्रकाशित हो जायँगे और भ्रम होगा कि वे ही ज्ञानके रूप हैं—जैसे रंगीन शीशेके रंगको प्रकाश प्रकाशित कर देता है और इससे प्रकाशमें ही रंगका भ्रम होता है। क्योंकि ज्ञानमात्र अपने शुद्ध रूपमें अपौरुषेय है, अतएव शुद्ध ज्ञान-भंडारको ही 'वेद' कहा जाता है। 'वेद' शब्दका अर्थ ज्ञान ही होता है।

जब विशुद्ध ज्ञानमात्र वेद है, तब शुद्धान्तःकरण महात्माओंके समस्त उपदेश वेद क्यों नहीं माने जाते? सभी आदि धर्मोपदेशकोंकी वाणियाँ क्यों वेद न स्वीकार की जायँ? इस सम्बन्धमें यह जान लेना चाहिये कि महापुरुषोंका ज्ञान विशुद्ध होनेपर भी इसलिये वेद नहीं कहा जाता कि वह वस्तुतः मूलज्ञान नहीं है। वह ज्ञानकी पुनरुक्तिमात्र है। आदिसृष्टिमें जो ईश्वरीय ज्ञान मनुष्यको प्राप्त हुआ, उस ज्ञानमें कुछ बढ़ा नहीं—बढ़ सकता भी नहीं; क्योंकि वह सर्वथा पूर्ण ज्ञान है। उसी ज्ञानको 'वेद' कहा जाता है। महापुरुषोंने चाहे उसे दूसरोंसे प्राप्त किया हो या अपने हृदयकी एकाग्रतामें स्वयं अनुभव किया हो, वह है उसी ज्ञानकी पुनरावृत्ति। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं—'आदिसृष्टिसे लेकर आजतक कोई भी बिल्कुल नया धर्म नहीं हुआ।' मैडम ब्लैवेट्स्कीने इसीको स्पष्ट किया है—'ये धर्मप्रवर्तक भी केवल धर्मके पुनरुद्धारक थे, मूलशिक्षक नहीं।' यह बात अन्वेषकोंसे छिपी नहीं है कि किस प्रकार वैदिक धर्मसे पारसी धर्म पृथक् हुआ और पारसी धर्मकी परम्परा ही यहूदी, ईसाई, इस्लामतक आयी।

महात्माओंद्वारा उपदिष्ट ज्ञान विशुद्ध होनेपर भी पुनरुक्त होता है और साथ ही वह ज्ञानका एकांश ही होता है। मनुष्यकी शक्ति सीमित है। कोई कितना भी प्रयत्न करे, कितना भी शुद्ध-चित्त हो, उसकी शक्तिकी एक सीमा है। अतएव मनुष्य चाहे जितना विशुद्ध-हृदय हो, उसके हृदयकी एकाग्रतामें उदित ज्ञान शुद्ध होनेपर भी ज्ञानका एकांश ही होगा। पात्रमें भरा गङ्गाजल यद्यपि विशुद्ध गङ्गाजल है, फिर भी वह गङ्गाजी नहीं है। सृष्टिके आदिमें मानव जो अनन्त ज्ञानराशि पाता है, वह मनुष्यके हृदयकी एकाग्रताका प्रयत्न नहीं है। वह ईश्वरकी ओरसे आया ज्ञान है। वह सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ ही पूर्ण ज्ञानस्वरूप है और उसीकी ओरसे पूर्ण ज्ञान आ सकता है। अतएव वेद केवल पूर्ण अपौरुषेय, ईश्वरीय ज्ञानको ही कहते हैं।

भाषा अपौरुषेय

वेद ईश्वरकी ओरसे मनुष्यको प्राप्त हुए, इसका प्रमाण भाषा है। यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रतिभासम्पन्न कलाकार मौलिक कल्पना करते हैं, वैज्ञानिक नवीन आविष्कार करते हैं, अपठित संतोंने गूढ़ तत्त्व अपनी वाणियोंमें व्यक्त किये हैं, किन्तु भाषा किसीने नवीन नहीं बनायी है। अन्तरकी एकाग्रतामें ज्ञानोपलब्धि तो मनुष्य कर लेता है और संतों तथा धर्मप्रवर्तकोंने विशुद्ध ज्ञान इसी मार्गसे पाया है; परंतु मनुष्य अपने ज्ञानको प्रचलित भाषामें, जो भाषा वह जानता है, उसीमें व्यक्त करता है। अपठित संतोंकी वाणियोंका अध्ययन करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके पास पर्याप्त शब्द न होनेसे उन्हें अपने भाव अनेक रूपकोंमें, अस्पष्ट रीतिसे व्यक्त करनेको बाध्य होना पड़ा है। अन्तरकी एकाग्रतामें वे शब्द नहीं पा सके हैं। यदि वे पठित होते तो उन्हें इतने गूढ़ दृष्टान्तोंका आश्रय न लेना पड़ता। मनुष्यकी एकाग्रता उसे ज्ञानानुभूति ही देती है। भाषा तो मनुष्यको सृष्टिके आदिमें ईश्वरकी ओरसे ही प्राप्त हुई थी।

भाषा-शास्त्री कहते हैं कि 'मनुष्य पहले बहुत दिनोंतक गूँगा था और संकेतोंसे अपने काम चलाता था। पीछे प्राकृतिक शब्दोंसे उसने अपनी भाषाका विकास किया।' मैक्समूलरने पूछा है कि 'मनुष्य क्या व्यर्थ ही संकेत करता था? उसने संकेतोंका अर्थ कैसे समझा?' आज गूँगे इसलिये संकेत कर पाते हैं, क्योंकि उन्हें संकेत करना सिखाया जाता है। यह सिद्ध हो चुका है कि अधिकांश गूँगे इसलिये गूँगे हैं कि वे बधिर हैं। वे कोई शब्द सुन नहीं सकते, अतः बोल भी नहीं सकते। अब ऐसा यन्त्र बन गया है और प्रचलित हो गया है, जिससे बहरे सुन लेते हैं। इस यन्त्रके फलस्वरूप गूँगे बोलने लगे हैं। उन्हें शिक्षा दी जाती है। यदि मनुष्य भाषा बनानेमें समर्थ होता तो सृष्टिके आरम्भसे अबतक गूँगोंने कोई भाषा बना ली होती। उनके मुखके बोलनेके यन्त्र तो ठीक हैं ही। इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वयं कोई भाषा नहीं बना सकता।

भाषा और अर्थका नित्य सम्बन्ध है। आप एक अर्थके एक शब्दका पर्यायवाची शब्द तो गढ़ सकते हैं, परन्तु नये अर्थमें नया शब्द नहीं बना सकते। क्योंकि जो शब्द आप बोलेंगे, उसका अर्थ यदि सुननेवाला पहलेसे न जानता हो तो आपका बोलना व्यर्थ होगा। उसे समझानेके लिये आपको अपने शब्दका पर्याय दूसरा शब्द बोलना पड़ेगा। इसका अर्थ है कि आपका शब्द नया नहीं रहा। वह केवल पुराने अर्थका ही सूचक है।

आप देखते हैं कि शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध है और बिना शब्दके आप अपना ज्ञान दूसरेतक पहुँचा नहीं सकते। अतएव मानना पड़ेगा कि ज्ञान मनुष्यको ईश्वरकी ओरसे मिला और मिला भाषाके साथ।

जडवादी वैज्ञानिकोंके इस तर्कमें भी कोई तथ्य नहीं है कि मनुष्यने भाषा हर्ष-शोकादिके स्वाभाविक उद्गारोंसे बनायी। गूँगेको किसीने 'हाय हाय!' या 'आह! ओह!' करते नहीं सुना। ये उद्गार तो वही प्रकट करते हैं, जिनके पास शब्द हैं। दूसरे, शब्दका अर्थ कल्पित करके बिल्कुल नवीन शब्द बनाना शक्य नहीं—यह सिद्ध हो चुका। वाणी—भाषा मनुष्यको सृष्टिके आदिमें प्राप्त हुई और वह पूर्ण थी। भाषा और ज्ञानका नित्य सम्बन्ध है। अतएव भाषाके साथ ही पूर्ण ज्ञान भी मनुष्यको सृष्टिके आदिमें प्राप्त हुआ। हृदयकी एकाग्रतामें मानव ज्ञान तो पाता है, पर भाषा नहीं पाता। अतः मानना होगा कि सृष्टिके आदिमें मनुष्यने जो पूर्णज्ञान पूर्णभाषाके साथ पाया, वह मानव-एकाग्रताका परिणाम नहीं था। वह ईश्वरकी ओरसे उसे प्राप्त हुआ था। अतएव वही पूर्णज्ञानमयी ईश्वरीय वाणी 'वेद' नामसे कही जा सकती है।

सृष्टिके प्रारम्भमें मनुष्यने सम्यक् पूर्ण भाषा और परिपूर्ण ज्ञान कैसे प्राप्त कर लिया? भाषाके इतने धातु उनके अर्थके साथ वह सहसा कैसे जान गया? इन्हीं प्रश्नोंका समाधान न पानेके कारण भाषा-शास्त्री भाषाके सम्बन्धमें भी डार्विनका विकासवाद स्वीकार कर लेते हैं और फिर काल्पनिक विवेचनमें लग जाते हैं। ईश्वरीय सत्तापर अविश्वासके कारण वे कहीं कोई व्यवस्थित कारण दे नहीं पाते। हम देखते हैं कि मेस्मेरिज्म करनेवाला एक लड़केको मूर्छित कर देता है। चाहे लड़का उसकी भाषा न जानता हो, किंतु मूर्छित दशामें वह मेस्मेरिज्म करनेवालेकी भाषा समझता और बोलता है। यह काम संकल्प-शक्तिके द्वारा ही सम्भव होता है। इसी प्रकार सृष्टिके प्रारम्भमें ईश्वरीय संकल्पसे मनुष्यको सम्पूर्ण भाषा और ज्ञान प्राप्त हुआ, इसमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है।

आदिभाषा

आदिज्ञान एवं आदिभाषा ईश्वरकी ओरसे मनुष्यको प्राप्त हुई और वही वेद है; क्योंकि वही पूर्ण है। वह आदिज्ञान और भाषा कौन-सी है? वह अभीतक अविकृत है या उसमें परिवर्तन और विकार हुए? अपौरुषेय वैदिक ज्ञानका निर्णय इन्हीं प्रश्नोंपर निर्भर है।

प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं—'निःसन्देह मनुष्यकी मूलभाषा एक ही थी।' जब भाषा मनुष्यको ईश्वरने दी, तब उसमें भेद कैसे हो सकता है। मनुष्यको अनेक भाषाएँ ईश्वर क्यों प्रदान करने लगा।

मूल-भाषा संस्कृतसे ही समस्त भाषाएँ निकली हैं और मनुष्य भारतसे ही विश्वमें चारों ओर जाकर बसे हैं, एक ही मानव-परिवारकी भाषाका मूल एक ही होना चाहिये—ये बातें दूसरे निबन्धोंमें स्पष्ट करनेकी हैं। यहाँ इतना ही जान लेना चाहिये कि ग्रीक, लैटिन, हिब्रू, जेंद, अरबी, चीनकी एक भाषा सामोपेडिक—इन सबमें संस्कृतकी भाँति स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्गके भेद हैं। इनमें वचन भी तीन हैं और स्त्रीलिङ्ग-शब्दोंसे कइयोंने पुँल्लिङ्ग या पुँल्लिङ्गसे स्त्रीलिङ्ग भी उसी नियमसे बनते हैं, जैसे

संस्कृतमें। कइयोंमें संस्कृतकी भाँति आठ विभक्तियाँ भी हैं।

मूल-भाषा एक होनेपर भी अनेक भाषाएँ विकृत होकर बनी हैं। ये विकार कई प्रकारसे होते हैं। एक तो अपठितोंके उच्चारण-दोषके कारण, दूसरे अक्षरोंकी कमीके कारण—जैसे अंग्रेज 'त' को 'ट' बोलते हैं। व्यापारके लिये, राजनैतिक कार्योंसे साङ्केतिक भाषा भी बना ली जाती है। साङ्केतिक भाषा किसी परम्परामें नहीं होती। आज 'कोडवर्ड' बहुत चलते हैं। महाभारतमें भी ऐसी साङ्केतिक भाषाकी चर्चा है। शब्दोंके अज्ञानके कारण पदार्थों या क्रियाओंके लाक्षणिक नाम भी रख लिये जाते हैं; जैसे लेडीफिंगर (स्त्रीकी अँगुलियाँ)—यह भिण्डीका नाम है। गन्नेको शुगरकेन (चीनीकी छड़ी) कहते हैं। ऐसे साङ्केतिक एवं लाक्षणिक शब्दोंको किसी परम्परामें नहीं पाया जा सकता। इन शब्दोंको छोड़ दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल-भाषाएँ किसी एक ही परिवारकी थीं।

मुख्य मूल-भाषाओंमेंसे आदिभाषा कौन-सी है? इसके निर्णयके लिये विद्वानोंमें बहुत विवाद नहीं है। भाषा-शास्त्री बिना मतभेदके प्रायः मानते हैं कि संस्कृत (वैदिक संस्कृत) से ही सभी मूल-भाषाएँ निकली हैं। इसे प्रमाणोंसे सिद्ध करना कुछ कठिन नहीं है। मूल-भाषामें दूसरी भाषाओंके विकृत शब्द नहीं होने चाहिये। दूसरी भाषाओंमें उसके शब्द ज्यों-के-त्यों और विकृतरूपमें भी होने चाहिये। दूसरी सभी भाषाओंके लाक्षणिक एवं साकेतिक शब्दोंको छोड़कर शेष सभी शब्दोंके मूलरूप उसमें मिलने चाहिये। वर्तमान सभी भाषाओंकी विकृतियोंका उसमें मूलाधार होना चाहिये। वह सबसे जटिल होनी चाहिये। सबसे अधिक उसमें अक्षर होने चाहिये।

लैटिन, ग्रीक, हिब्रू आदि मूल-भाषा कही जानेवाली भाषाओंमें संस्कृतके शब्द भरे हैं। संस्कृत शब्दोंसे विकृत होकर ही उनके शेष शब्द भी बने हैं। संस्कृतमें ४७, रूसी भाषामें ३५, फारसीमें ३१, तुर्की और अरबीमें २८, स्पैनिशमें २७, अंग्रेजीमें २६, फ्रेंचमें २५, लैटिन और हिब्रूमें २० और बाल्टिकमें १७ अक्षर हैं। चीनी भाषामें अक्षरोंके बदले शब्द हैं, अतः उनकी गणना यहाँ करना ठीक न होगा। ऊपरकी भाषाओंमें कई अक्षर ऐसे हैं, जिनका उच्चारण एक ही है। अंग्रेजीके समान कुछ भाषाएँ कई भाषाओंसे बनी हैं। उनमें अनेक भाषा होनेसे अक्षर तो बढ़ गये, परन्तु उच्चारण नहीं बढ़े। उच्चारणकी दृष्टिसे संस्कृतका एक अक्षर भी व्यर्थ नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल-भाषा संस्कृत ही है।

वैदिकभाषा अविकृत

वेद विश्वके प्राप्त साहित्यमें प्राचीनतम हैं और उन्हींकी भाषासे समस्त विश्वभाषाएँ निकली हैं, इतना तो सभी भाषाशास्त्री एवं अन्वेषक स्वीकार करते हैं। मुख्य प्रश्न तो यह है कि वेद उसी रूपमें हैं, जिसमें ईश्वरीय ज्ञान मानवको मिला था—यह कैसे प्रमाणित हुआ। वेदमें विकृति नहीं आयी, यह कैसे जाना जाय?

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अनादिकालसे ऋषियोंने यह नियम बनाया है कि वेद-मन्त्र स्वरसे, वर्णसे हीन या भ्रान्तरीतिसे प्रयुक्त होनेपर यथार्थ अर्थका बोध नहीं कराता। अशुद्ध उच्चारणसे यजमानका नाश होता है।

जटा माला शिखा लेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः॥

(विकृतवल्ली १।५)

जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन—ये मन्त्र-विकृतिके आठ भेद हैं। वेदपाठकी ये आठ रीतियाँ हैं। इनमेंसे एक-एक रीति अपनी विशेषता रखती है। कौन-सा अक्षर किसके साथ है, कौन-सा किससे पृथक् है, कौन-सी मात्रा कहाँ है, कौन-सा स्वर ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत है—इन पाठ-भेदोंसे यह स्पष्ट हो जाता है। किसी भी भाषामें विकार उच्चारण-भेदके कारण आता है। वेदोंके उच्चारणको ये पाठपद्धतियाँ नित्य परिष्कृत रखती हैं। उसमें विकारको अवकाश ही नहीं है।

'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति'—अशुद्ध मन्त्रोच्चारण वज्रकी भाँति यजमानका नाश कर देता है—यह कोरी व्यवस्था नहीं है, यह सत्य है। वृत्रका नाश स्वरदोषसे हो गया, यह मन्त्रमें उदाहरण है। ऋषियोंका इसपर पूर्ण विश्वास था। अतएव शुद्ध मन्त्रपाठकी पूरी व्यवस्था की गयी थी। यदि मनुष्यकी मानसिक परिस्थिति चञ्चल हो जाय तो शुद्ध पाठ नहीं हो सकेगा। वेदपाठके अनध्यायकी व्यवस्था देख जाइये। आकाशमें बादल हों, आँधी आ जाय, कोई पशु या मनुष्य सहसा समीप आ जाय, कोई अतिथि आ जाय, कोई हर्ष या शोकका संवाद मिले—इन सब अवस्थाओंमें वेदपाठ बंद।

पाश्चात्त्य विद्वानोंने वेदोंका समय पहले ईसासे दो हजार वर्ष पूर्व बताया। इनके ईसाईधर्ममें क्योंकि पृथ्वीकी आयु ही लगभग सात सहस्र वर्ष है, अतः वे सब बातें खींच-खाँच कर इसी अवधिमें चरितार्थ करना चाहते हैं। लोकमान्य तिलकने अपने 'ओरायन' ग्रन्थमें पाश्चात्त्य मतका प्रमाणपूर्ण खण्डन किया है। किंतु श्वान नक्षत्रको लेकर कालनिर्णय करनेके कारण लोकमान्यको भी भ्रम हुआ है। उन्होंने श्वानको एक नक्षत्र माना है, परंतु श्वान तो दो नक्षत्र हैं। ज्यौतिषशास्त्रमें भी उन्हें सदा दो बताया गया है।

एषा ह सांवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पौर्णमासी ॥

(शतपथ ६। २। २। १८)

इसमें फाल्गुन पौर्णमासीसे संवत्सरका प्रारम्भ माना गया है। लोकमान्यने सप्रमाण सिद्ध किया है कि वैदिक संवत्सर वसन्त-सम्पातसे प्रारम्भ होते हैं। गणित करनेसे फाल्गुन-पूर्णिमाको वसन्त-सम्पात लगभग २२००० वर्ष पूर्व आता है; क्योंकि क्रान्तिवृत्तकी एक प्रदक्षिणामें २६००० वर्ष लगते हैं। भूगर्भशास्त्रके अनुसार उत्तरी ध्रुव-देशमें प्रत्येक दस सहस्र वर्षोंपर पृथ्वीकी केन्द्रच्युति होनेसे हिमपात होता है। प्रथम हिमपात वहाँ लाखों वर्ष पूर्व हुआ होगा। वेदोंमें प्रथम हिमपातका वर्णन है। लोकमान्यने स्वीकार किया है कि ऋग्वेदके देवता, ऋषि, सूक्त—सब कम-से-कम प्रथम हिमपातसे पूर्वके हैं, हिमोत्तर कालके नहीं। बाबू श्रीअविनाशचन्द्रदास एम्० ए० ने 'ऋग्वेदिक इण्डिया', बाबू श्रीउमेशचन्द्र विद्यारत्नने 'मानवेर आदि जन्मभूमि' और नारायण भवानराव पावगीने 'आर्यावर्तातील आर्यांची जन्म-भूमि' पुस्तकें बड़ी खोज करके लिखी हैं। सोमलता, हिंदू-संस्कृतिकी केन्द्रभूमि सरस्वती नदी आदिसे उन्होंने बताया है कि वेदोंमें लाखों वर्ष पुरानी बातें हैं।

वेदोंके समयके सम्बन्धमें खोज करनेवाले विद्वानोंका ध्यान अबतक मन्त्रोंके उस अंशपर नहीं गया है, जिसमें सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन है। वेदोंमें इस सौर जगत्के समान अनेकों ब्रह्माण्डोंकी चर्चा है, उनका सङ्केत है। ब्रह्मकी एकपाद विभूतिमें यह निखिल ब्रह्माण्ड और त्रिपाद्विभूतिमें शाश्वत दिव्यलोकोंका वर्णन पुरुषसूक्तमें है। ज्योतिर्विज्ञानके विशेषज्ञ जानते हैं कि आकाशगङ्गाके किसी-किसी तारेके प्रकाशको पृथ्वीतक आनेमें अरबों प्रकाश-वर्ष लगते हैं। इस आकाशगङ्गासे पीछे भी नीहारिकामण्डल हैं—एकके पीछे एक; अभी पता नहीं कि कहाँतक उनका क्रम है। उनका प्रकाश यन्त्रोंमें कितने अरब-खरब प्रकाश-वर्षोंमें पहुँचा है, यह संख्या न तो लिखी जा सकती और न सोची। और वेदोंमें इस समस्त सृष्टिके आदिका वर्णन है, इस समस्त सृष्टिके प्रलयका वर्णन है। अतएव वेदोंके कालकी चर्चा करना बालबुद्धिका प्रयत्न है। वेद अनादि और नित्य हैं—कालकी परिधिसे परे।

वेदोंका स्वरूप

शाश्वत परमात्माका ज्ञान एवं उनकी वाणी नित्य है, इसमें तो कोई सन्देह करने-जैसी बात नहीं है; परंतु १—वह मनुष्यपर कैसे प्रकट हुई? उसका मूलरूप क्या वर्तमान चारों वेद ही हैं? २—वेद तो त्रयी कहे जाते हैं; फिर वे चार कैसे? ३—वेदोंकी तो बहुत-सी शाखाएँ कही जाती हैं, उनमेंसे अधिकांश लुप्त हो गयी हैं। अतएव वेद पूर्ण ईश्वरीय ज्ञानके रूपमें विद्यमान हैं, यह किस प्रकार? इन प्रश्नोंके उत्तर क्रमशः देना ठीक होगा।

वेदोंको वेद इसलिये कहा जाता है कि 'वेद' शब्दका अर्थ ज्ञान है और वेद ईश्वरीय पूर्णज्ञान हैं। वेद-मन्त्रोंका दूसरा नाम श्रुति है। श्रुतिका अर्थ है सुना हुआ। जो नित्य ज्ञान है, वह अनादि-परम्परासे श्रवणके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वेद भगवान्के निःश्वास हैं। सृष्टिके आदिमें स्रष्टाने उन जगत्कर्ताके निःश्वासोंको सुना। स्रष्टासे आदि प्रजापतियोंने सुना और इसी क्रमसे वह ज्ञान चलता रहा। इस श्रवण-परम्पराके कारण वह 'श्रुति' कहा जाता है। आज भी शब्दमार्गी योगी कानोंको बंद करके अनाहतनाद सुनते हैं। यह अनाहतनाद ही अव्यक्त प्रणवध्वनि है। शास्त्रोंने स्पष्ट कहा है कि प्रणवसे ही गायत्री तथा गायत्रीसे समस्त वेद अभिव्यक्त हुए हैं—इसका स्पष्ट अर्थ है कि प्रणवनाद (अनहद ध्वनि)-में प्रकाण्ड संयम, दीर्घकालीन संयमसे श्रुतिका अन्तरमें श्रवण शक्य है, यद्यपि इतना विशाल संयम एवं तप मनुष्यके लिये अशक्य ही है। ऋषियोंने भी इसे स्रष्टासे ही सुना; क्योंकि ब्रह्माको सहस्रों वर्षके तपके पश्चात् हृदयमें श्रुतिका श्रवण प्राप्त हुआ था।

वेद—ईश्वरीय ज्ञान एक ही है। उसमें कोई भेद नहीं है। वेदत्रयीका अर्थ है कि उस एक ही वेदमें तीन बातें हैं—ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्ड। इस उपयोगकी दृष्टिसे ही वेदको त्रयी कहते हैं। चारों वेद यज्ञमें

वेदके चतुर्धा उपयोगसे कहे गये हैं। त्रेतायुगमें जब मनुष्य-का साधन तप एवं ध्यान न होकर यज्ञ हुआ, तब यज्ञकार्यकी सुविधाके लिये एक ही वेदको चार भागोंमें बाँट दिया गया। इन्हीं भागोंको ऋक्, साम, यजुः तथा अथर्व कहते हैं। ये चारों भाग अनादि हैं और एकमें ही पहले थे।

ऋग्वेदेन होता करोति, यजुर्वेदेनाध्वर्युः
सामवेदेनोद्गाता अथर्वैर्वा ब्रह्मा।

यज्ञमें होता ऋग्वेदसे, अध्वर्यु यजुर्वेदसे, उद्गाता सामवेदसे और ब्रह्मा अथर्ववेदसे अपने अंशका कर्म पूर्ण करता है। जो लोग त्रयी नाम सुनकर अथर्ववेदको पीछेका मानते हैं, उन्हे 'त्रयी'का ठीक अर्थ ज्ञात नहीं है। अथर्ववेदके तीन नाम हैं—अथर्व, आङ्गिरस, छान्दस। और ये नाम चारों वेदोंमें आते हैं। महाभारतमें चारों वेदोंमें त्रयीविद्याका स्पष्ट वर्णन है—

त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथाङ्गतः।
ऋक्सामवर्णाक्षरता यजुषोऽथर्वणस्तथा॥
(शान्तिपर्व २३५)

यहाँ चारों वेदोंका नाम लेकर उसमें त्रयीविद्या है, यह कहा गया। वेदत्रयी कहे जानेका एक कारण और है; मन्त्र तीन ही प्रकारके हैं—(१) विनियोगके, (२) गानेके, (३) गद्य। इन तीन प्रकारके मन्त्रोंके कारण तथा उपासनात्रयके प्रतिपादनके कारण चारों वेदोंको त्रयीविद्या कहते हैं। जो लोग प्राचीन साहित्यमें चारों वेदोंका नाम ही देखना चाहते हैं, उनके लिये बृहदारण्यकोपनिषद्का यह मन्त्र पर्याप्त होना चाहिये—

अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।

वेदोंके मन्त्रभागको 'संहिता' कहते हैं। संहिताका अर्थ है—अत्यन्त समीपता। 'परः सन्निकर्षः संहिता' अष्टाध्यायीकी इस परिभाषाके अनुसार पहले संहिताओंमें मन्त्राक्षर पृथक्-पृथक् नहीं थे। वे सब एकमें ही थे। सब सन्धियुक्त थे। सन्धियुक्त मन्त्रोंमें शब्दको पृथक् करनेमें जब कठिनाई होने लगी, जब एक अक्षर या एक शब्दका दूसरे शब्दके साथ पढ़े या समझे जानेका भ्रम होने लगा, तब मन्त्रोंके पदच्छेद किये गये। इस प्रकार सन्धिसहित और पदच्छेदयुक्त—इस प्रकार एक संहिताकी दो शाखाएँ हो गयीं।

जैसे-जैसे मनुष्यकी ज्ञानशक्ति दुर्बल होती गयी, ऋषियोंने मन्त्रोंके क्रमको सुगम किया। एक ऋषिने अपने शिष्योंको मूलसंहिता पढ़ायी। उसमेंसे किसीने एक देवताके सब मन्त्र एकत्र कर लिये। इस प्रकार देवताक्रमसे मन्त्रोंका क्रम रक्खा। किसीने ऋषिक्रमसे मन्त्र सजाये, एक मन्त्रद्रष्टा ऋषिके सब मन्त्र एकत्र करके याद किये—किसीने विषय-क्रमसे और किसीने छन्दःक्रमसे। इस प्रकार चारों वेदोंको तो पृथक्-पृथक् रक्खा गया, पर एक-एकमें अनेक क्रम बन गये। इनके अनन्तर पाठ-क्रमसे शाखाएँ बनीं। घन, जटा आदि वेद-पाठकी आठ पद्धतियाँ पहले बता आये हैं। एक-एक शाखा इनके कारण आठ-आठ भागोंमें बँट गयी। ये शाखा-क्रम बढ़ते गये। पुराणोंने इसका विशद वर्णन है कि किस ऋषिके शिष्योंने किस वेदकी कितनी शाखाएँ बनायीं। इसीलिये विभिन्न ग्रन्थोंमें वैदिक शाखाओंकी संख्या एक-सी नहीं है। कूर्मपुराणके अनुसार ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १००, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ—इस प्रकार वेदोंकी कुल ११३० शाखाएँ हैं।

ऊपरके वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदोंकी शाखाएँ वेदोंका कोई भाग या खण्ड नहीं हैं। प्रत्येक शाखामें पूरा वेद है। शाखाओंका भेद केवल मन्त्रोंके सम्पादन-क्रमके भेदके कारण है। अतएव शाखाओंके न मिलनेसे कोई वेदांश अप्राप्य नहीं हुआ है। केवल कुछ सम्पादन-क्रम अप्राप्य हो गये हैं। यदि चारों वेदोंकी एक-एक शाखा भी निर्विवादरूपमें शुद्ध प्राप्त हो तो चारों वेद मूल ईश्वरीय वाणीके रूपमें ही प्राप्त हैं—यह न माननेका कोई कारण नहीं रह जायगा। आज भी ऋग्वेदकी शाकल एवं वाष्कल शाखा, यजुर्वेदकी माध्यन्दिनीय शाखा, सामवेदकी कौथुमी शाखा और अथर्ववेदकी शौनक शाखाके मूल एवं शुद्ध रूपमें प्राप्त होनेके विषयमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं है। अतः इन शाखाओंके रूपमें चारों वेद ईश्वरीय वाणीके वास्तविक रूपमें ही आज भी उपलब्ध हैं।

वेदोंके शब्द, मन्त्र नित्य हैं, उनके अक्षर नित्य हैं; किन्तु मन्त्रोंका क्रम मनुष्यकृत है। मण्डल, अष्टक, काण्ड, अध्याय—इन क्रमोंमें सुविधानुसार ऋषियोंने फेर-फार किया है। इस सम्पादनक्रमसे ही शाखाएँ बनीं। ऐसा करनेमें भी न तो एक मात्रा घटायी गयी और न बढ़ी। वेदभाष्यकार महीधर भी यही कहते हैं कि वेदोंके छन्द और अर्थ नित्य हैं; किन्तु उनमें जो मन्त्रोंकी आनुपूर्वी है, वह शाखाभेदके कारण है।

वेदमन्त्रोंके ऋषि

प्रत्येक वेदमन्त्रके साथ उसके ऋषिका नाम होता है। **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'**—ये ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहे जाते हैं। **'मननात् मन्त्रः'**—जिसका अर्थ मननसे स्पष्ट हो, वह मन्त्र कहलाता है। जिस ऋषिने हृदयकी गम्भीर एकाग्रतामें जिस मन्त्रके अर्थका साक्षात् किया, वह उस मन्त्रका द्रष्टा कहा गया। मन्त्र तो श्रुति हैं। वे परम्परासे सुने गये हैं। उन सुने हुए मन्त्रोंका अर्थ व्याकरण या निरुक्तसे नहीं होता। यदि व्याकरण या निरुक्तसे वेदार्थ हो सकता तो एक-एक मन्त्रके साथ उसके मन्त्रद्रष्टा ऋषिका नाम न लगा होता। मन्त्रद्रष्टा होना इतने गौरवकी बात न होती और न उसे ऋषि-मुनिगण मन्त्रके साथ स्मरण रखनेका विधान बनाते। **'परोक्षवादो वेदोऽयम्'**—वेद परोक्षवाणी है। वेदान्तके विद्वान् जानते हैं कि उच्चतम अधिकारीके लिये **'तत्त्वमसि'** महावाक्यका गुरुद्वारा श्रवण ही पर्याप्त होता है। मननके द्वारा वह स्वतः उसका तात्पर्य निकाल लेता है। भगवान्ने मनुष्यको बुद्धि दी है। अतएव उसे मनन करना चाहिये। ब्रह्माजी—आदिस्रष्टाने सहस्रों वर्ष तप करके वेदार्थका साक्षात् किया। उसीके ज्ञानसे उन्होंने सृष्टिरचना की। ऋषियोंने भी अन्तःकरणमें एकाग्र होकर मन्त्रार्थका दर्शन किया है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्।

प्रत्येक प्राणीको उसकी वाणी ईश्वरकी ओरसे ही प्राप्त हुई है। अतएव जिस प्रकारके अन्तःसंयमसे वेदवाणीका अर्थ साक्षात् होता है, उसी प्रकारके संयमसे प्रत्येक प्राणीकी भाषाका ज्ञान हो सकता है। उपर्युक्त योग-सूत्रमें महर्षि पतञ्जलिने यही बताया है कि शब्द, अर्थ और उनके ज्ञानके पृथक्-पृथक् स्वरूपमें मनःसंयम करनेसे समस्त प्राणियोंकी भाषाओंका ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकारका संयम समस्त प्राणियोंकी भाषाका ज्ञान करा देता है, उसी प्रकारका संयम वेदमन्त्रके अर्थोंका भी दर्शन कराता है। इस प्रकारका संयम जो भी करेगा, वही मन्त्रार्थका दर्शन कर सकेगा।

इतना सब ठीक होनेपर भी मन्त्रद्रष्टाका नाम रटते रहनेसे क्या लाभ? बात यह है कि वेदार्थ तो हो सकता नहीं। वेदभाष्यकी प्रथा तो रावणसे चली और फिर खण्डन-मण्डनको लेकर उसे चलाते रहना पड़ा। इसीलिये वेदोंको देखकर जो लोग उनका अर्थ करने बैठते हैं, वे निराश होते हैं और समझ नहीं पाते कि दर्शनशास्त्रोंके निर्माता प्रकाण्ड तत्त्वज्ञ ऋषियोंने भी क्यों बार-बार वेदोंकी दुहाई दी और उनको इतना महत्त्व दिया। वेदकी जिस ऋचाके जो ऋषि मन्त्रद्रष्टा हैं, उस ऋषिके निर्मित शास्त्रोंने उस मन्त्रका अर्थ स्पष्ट हुआ है। मन्त्रके साथ ऋषिके स्मरण रखनेका उद्देश्य यह है कि इस मन्त्रके लिये इस ऋषिके शास्त्र देखने चाहिये।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

'इतिहास तथा पुराणके द्वारा वेदमन्त्रोंका उपबृंहण—अर्थविस्तार करना चाहिये। अल्पश्रुतसे वेद डरते हैं कि यह हमें नष्ट करेगा।' वेदार्थके सम्बन्धमें यह आदेश है। ऋषियोंके निर्मित ग्रन्थोंको 'स्मृति' कहते हैं। 'स्मृति'का अर्थ है—जो स्मरण करके लिखी गयी हो। ऋषियोंने एकाग्र अन्तःकरणमें वेदमन्त्रके जिस अर्थका दर्शन किया, एकाग्रतासे उत्थित होनेपर उसका स्मरण करके उपदेश किया। वही उपदेश 'स्मृति' कहलाया। भगवान् व्यासने महाभारत एवं पुराणोंमें ऋषियोंके उन्हीं उपदेशोंको संकलित कर दिया। इनमें पुराने उपदेश एवं चरित संकलित होनेसे ही ये ग्रन्थ 'पुराण' कहलाये। अतएव वेदोंका अर्थ या तो मन्त्रमें मनःसंयम करके जाना जा सकता है, अथवा स्मृति, महाभारत तथा पुराणोंमें उसे देखा जा सकता है। ये वेदके वास्तविक भाष्य हैं। मन्त्रोंका किसी भी प्रकार अर्थ करनेके प्रयत्नमें भ्रान्त होनेका ही भय है।

मन्त्रोंके देवता

'या तेनोच्यते सा देवता।'

'सर्वानुक्रमणी'में देवताका यह अर्थ बताया गया है कि जिस मन्त्रके द्वारा जिसका वर्णन हुआ है, वह उस मन्त्रका देवता है। अर्थात् जिस मन्त्रका जो देवता है, उस मन्त्रमें उसका स्वरूप, आराधना, प्रभाव एवं स्थूल जगत्में उसका कार्य वर्णित है। निरुक्तने इस बातको और स्पष्ट किया है—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।

ऋषिलोग जिस देवताकी जिस मन्त्रसे उस मन्त्रार्थके दर्शनकी इच्छासे स्तुति करते हैं, वही उस मन्त्रका देवता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने मन्त्रार्थके दर्शनके लिये मन्त्र-देवताके ध्यानमें मनको एकाग्र किया। उस देवताके प्रसादसे मन्त्र-दर्शन हुआ। पहले कह आये हैं कि सभी पशु-पक्षियोंकी

बोलीका ज्ञान शब्द, अर्थ एवं ज्ञानके स्वरूपादिमें मन एकाग्र करनेसे होता है। जिस पशुकी वाणीमे आप मन एकाग्र करेंगे, उस पशुकी भावना साथ रहेगी। यदि यह भाव न हो कि यह अमुक पशुकी वाणी है, तो ज्ञानका व्यवस्थित उदय न होगा। इसी प्रकार मन्त्रमे मन एकाग्र करते समय उसके देवताकी भावना आवश्यक है। क्योंकि मन्त्रमे देवताका ही वर्णन है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

योगदर्शनने बतलाया कि प्रत्येक मन्त्रका एक अधिष्ठाता देवता होता है। मन्त्रके गम्भीर स्वाध्यायसे उसके इष्टदेवताका सान्निध्य प्राप्त होता है। अतः मन्त्रस्वाध्यायके समय किस मन्त्रसे किस दैवत-शक्तिका साक्षात् होगा, यह सूचित करनेके लिये मन्त्रोके देवता निश्चित किये गये हैं।

बहुत-से मन्त्र ऐसे हैं, जिनके ऋषि और देवता एक ही हैं। यह दो कारणोंसे हुआ है। कुछ मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने मन्त्रके आराध्य देवतासे एकात्मता प्राप्त कर ली—

यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अतएव उनका स्वतन्त्र नाम लोकमें प्रचलित नहीं हुआ। दूसरे, अनेक बार मन्त्रको आधार न बनाकर श्रद्धालुजनोंने ज्ञान-प्राप्तिके लिये देवाराधन किया। प्रसन्न होकर देवताने उन्हें किसी मन्त्रका रहस्य उपदेश किया। अतएव वे मन्त्रके देवता ही अपने मन्त्रके द्रष्टा भी हुए।

मन्त्रोंके छन्द

ऋषि एवं देवताके समान हम वेदोंके छन्दोको भी स्मरण रखते हैं। वेदोंके छन्द बड़े विचित्र हैं। यदि मन्त्रोंको छन्दके स्वरमें पद-पाठसहित पढ़ा जाय तो उनके सब चरण समान जान पड़ते हैं। यदि ऐसा न करके उनको सन्धिसहित पढ़ा जाय तो चरण घट-बढ़ जाते हैं। वेदपाठमे स्वरभङ्ग भी एक बड़ा दोष है। छन्दोके द्वारा स्वरका निश्चय हो जाता है। शाखा-भेदसे मन्त्रोका सम्पादन-क्रम होनेके कारण कई मन्त्र एकमे मिल गये हैं। ऐसे मन्त्रोंके दो, तीन छन्द कहे जाते हैं। इसका यही अर्थ है कि विषयकी दृष्टिसे मन्त्र एकत्र कर दिये गये, परंतु उनका मूल-स्वर बना रहना चाहिये। उसका जितना भाग जिस छन्दका है, उतना उसी छन्दमे पढ़ा जाना चाहिये।

मन्त्रके स्वरात्मक रूपकी रक्षा तो छन्दसे होती ही है, छन्द मन्त्र-दर्शनके लिये भी सहायक होते हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि यजुर्वेदका बहुत बड़ा भाग गद्यमें है, किंतु छन्द उन मन्त्रोंके भी निश्चित हैं। बात यह है कि छन्दका अर्थ है विशेष प्रकारका स्वर। स्वर एक कम्पन-स्तर उत्पन्न करता है। यह स्वरजन्य कम्पन मनको उस भाव-स्तरमें पहुँचाता है, जो मन्त्र-देवताका भाव-स्तर है। वहीं मन्त्रार्थका दर्शन होता है। जैसे प्रणवके ध्यानके लिये—

'दीर्घघण्टानिनादवत्'

—ध्वनिमें मन एकाग्र करनेका आदेश है। कम्पन, भाव-स्तर तथा देवताका परस्पर सम्बन्ध देवतावादके प्रसङ्गमें विस्तृत किया जा सकता है। यहाँ इतना ही समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक पदार्थ या ध्वनिका व्यक्तरूप कम्पनका परिणाम है और प्रत्येक कम्पन एक शक्तिस्रोत रखता है तथा अव्यक्तमे एक साकार आकृति बनाता है। यही साकार आकृतिका शक्तिस्रोत उसका अधिष्ठाता देवता है।

छन्दोंके सम्बन्धमें इतनी बात और जान लेनी चाहिये कि एक ही छन्दमें बहुत-से मन्त्र तनिक हेर-फेरसे या उसी रूपमें चारों वेदोंमें आये हैं। जहाँ कुछ परिवर्तन है, वहाँ तो वह मन्त्र कुछ विशेषता लेकर आया है—यह स्पष्ट है; किंतु जहाँ ज्यों-का-त्यों आया है, वहाँ या तो दूसरे अर्थमें आया है या उसी अर्थमें वहाँ उसे आना आवश्यक था। एक ही वाक्य या शब्द अनेक अर्थोंमें लौकिक साहित्यमें भी बार-बार आता है। गम्भीर ग्रन्थोंमें एक ही परिभाषा अनेक बार विषयको स्पष्ट करनेके लिये दुहरानी पड़ती है। ऐसे स्थलोंको पुनरुक्ति नहीं कहा जा सकता और न ऐसे मन्त्रोंको वहाँसे हटानेका प्रयत्न करना चाहिये।

वेदोंमें इतिहास-भूगोलादि

वेद अनादि एवं नित्य हैं, वे ईश्वरीय वाणी हैं; ऐसी दशामें उनमें ऐतिहासिक घटनाओं, ऐतिहासिक व्यक्तियों, भूगोलसम्बन्धी घटनाओं तथा ज्यौतिषादिका वर्णन नहीं होना चाहिये—ऐसी मान्यता लेकर कुछ लोग वेदोमें आये इतिहास-भूगोलादिपरक शब्दोंका दूसरा अर्थ करते हैं। कुछ लोग वेदोंके इतिहास, भूगोल तथा ज्यौतिषको ठीक मानकर वेदोंको मानवकृत मान लेते हैं और उनका निर्माण कब हुआ—यह निर्धारण करनेमें लग जाते हैं। ये दोनो ही बातें इसलिये होती हैं कि वेदोंको अर्थ करनेका विषय मान लिया जाता है। मन्त्रदर्शनकी शक्ति तो रही नहीं, व्याकरणकी टाँग वहाँ अड़ायी जाती है। लेकिन यदि हम वेदार्थ न करें

और मन्त्रोंको केवल यज्ञ, उपासनाके समय पाठका विषय—मन एकाग्र करके ज्ञानप्राप्तिके कारण-सूत्र मानें तो मानना पड़ेगा कि पुराणादि वेदभाष्य हैं। पुराणोंमें भी इतिहास-भूगोल हैं, यह भूला नहीं जा सकता।

पुराणोंका स्वरूप तथा उनके वर्ण्य विषयकी सत्यताका विवेचन तो स्वतन्त्र निबन्धका विषय है; किंतु हम पहले महात्मा सुकरातका यह वाक्य उद्धृत कर आये हैं कि 'कोई किसीको नवीन ज्ञान नहीं देता। ज्ञानदाता केवल विस्मृत ज्ञानकी स्मृति कराता है।' नवीन ज्ञान देना सम्भव नहीं है। तब आजके ये आविष्कार, ये भौतिक ज्ञानके अनेकों अनुसन्धान—यह सब क्या नवीन ज्ञान है? यह विस्मृत ज्ञानकी पुनः स्मृति ही है। अवश्य ही इन अनुसन्धानों और सिद्धान्तोंका भ्रमपूर्ण भाग नवीन एवं मानवके अन्तःकरणका दोष है। इनका सत्य तो पुरातन है, क्योंकि सत्य कभी नवीन नहीं होता। ज्ञानके विस्मरण एवं स्मरणका चक्र संसारमें चलता ही रहता है।

जैसे ज्ञान नवीन नहीं होता, वैसे ही विचार भी नवीन नहीं होते। विचारसे ही ज्ञान होता है। मनुष्य नित्य नवीन विचार नहीं कर सकता। विचारके कुछ निश्चित स्तर हैं। मानव-मन उनमेंसे जिस स्तरमें होता है, उसी स्तरकी विचार-धारा मनमें आ जाती है। पदार्थ एवं घटनाएँ विचारके परिणाम हैं, यह आप जानते हैं। मनमें आये विना न कोई श्रम होगा और न किसी पदार्थ या घटनाका निर्माण। अब इससे आगे बढ़ जाइये। इस निबन्धके प्रारम्भमें यह विस्तार-से बताया गया है कि सृष्टि स्वतः नहीं हो गयी। कोई चेतन सृष्टिकर्ता है। उसके समीप मन है। उसके मनकी गतिका तारतम्य ही सृष्टिमें लक्षित होता है। सृष्टिकर्ताका विचार ही सृष्टिके रूपमें परिणत होता है। सृष्टिकर्ता भी नये विचार नहीं करता। क्योंकि नया ज्ञान, नया विचार हो नहीं सकता। उसका मन भी मानस-स्तरोंसे ही विचार ग्रहण करता है। उन्हीं स्तरोंमें उसका मन घूमता रहता है। फलतः सृष्टि उन स्तरोंकी व्यक्त अभिव्यक्तिमात्र है।

'यथापूर्वमकल्पयत्'

स्रष्टाने सृष्टि पूर्वकी भाँति ही बनायी। श्रुतिने यह स्पष्ट कर दिया। पूर्वकी भाँतिका अर्थ क्या? समस्त पृथ्वी, उसके सब परिवर्तन, सृष्टिकी समस्त आकृतियाँ और सब घटनाएँ केवल पुनरावृत्ति करती हैं। एक तृण नवीन नहीं। एक पत्ता नवीन ढंगसे नहीं हिलता। क्योंकि नवीन विचार आ नहीं सकते—न व्यक्तिके मनमें और न समष्टि-कर्ताके मनमें।

जो अविश्वासी है, मैं उनकी बात नहीं करता। जो श्रद्धालु हैं, वे जानते हैं कि ज्योतिषी ग्रहोंकी स्थितिकी गणित करके सन्तानके विना देखे उसका रूप, रंग, उसका स्वभाव, जीवन-काल तथा जीवनकी उन्नति-अवनति सब बता देते हैं और वह सत्य होता है। फलित ज्योतिष सत्य सिद्धान्त है। यदि कुछ नवीन हो सकता तो उसे पहलेसे न बताया जा पाता। यदि सब पहलेसे निश्चित न होता तो कोई सर्वज्ञ न कहलाता। क्योंकि जो अनिश्चित है, उसका ज्ञान पहलेसे नहीं हो सकता। ईश्वर तो कम-से-कम सर्वज्ञ है ही। ज्यौतिषके ग्रह-नक्षत्र संख्या रखते हैं। अतः उनकी स्थितियोंकी संख्या है। वे एक निश्चित कालके पश्चात् पुनः उसी स्थितिकी आवृत्ति करते हैं, चाहे वह काल कितना भी लंबा हो। ज्यौतिषके अनुसार जब ग्रह-नक्षत्र एक पूरा चक्कर करके पुनः पहली स्थितिकी ठीक-ठीक आवृत्ति करने लगते हैं, विश्वकी आकृतियाँ एवं घटनाएँ भी आवृत्ति करने लगती हैं। ऐसा न हो तो फलित ज्यौतिष कभी सत्य न प्रकट कर सके।

जब इतिहास नित्य है, तब नित्य-ज्ञानस्वरूप वेदोंमें उसको होना ही चाहिये। वेदोंमें वे नित्य इतिहास एवं भूगोलादि हैं, जो परिवर्तित नहीं होते। अर्थात् इतिहासकी रूपरेखा वहाँ है। यह उसी प्रकार है, जैसे मनुष्योंकी आकृतिकी समानता या चित्रकारके चित्रकी बाह्य रेखा। वेदोंमें नित्य इतिहास-भूगोलादि न केवल आगेके हैं, भविष्यके भी हैं। अतः वहाँ इतिहास नहीं है, यह प्रयत्न या उसके अनुसार उनका कालनिर्णय—दोनों बालचेष्टा है। पुराण भी उन्हीं नित्य इतिहासादिको स्पष्ट करते हैं। सम्पूर्ण ज्ञानके सूत्र वेदोंमें निहित हैं। वेद ईश्वरीय मूल-ज्ञानके रूप हैं और उनके अक्षर एवं शब्द नित्य हैं। उनसे अतिरिक्त ज्ञान और है ही नहीं। इसीसे हिंदूधर्म वेदोंको परम प्रमाण मानता है।

भारतकी आध्यात्मिक सम्पत्ति

'संसारके देशोंमें भारतवर्षके प्रति लोगोंका प्रेम और आदर उसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तिके कारण है।' —प्रो० लूई रिनाउ (पेरिस विश्वविद्यालय)

हिंदू-संस्कृति और दर्शनशास्त्र

विश्वमे भारत अपने दर्शनशास्त्रोके लिये अभी भी श्रद्धा एवं आदरका भाजन है। भारत विश्वगुरु था और अब भी है, तपःपूत ऋषियोके सूक्ष्म ज्ञानकी सम्पत्तिको पाकर ही। पशुओसे मनुष्यकी विशेषता है विचारपूर्वक प्राप्त ज्ञान। अतः मनुष्यका आदर्श स्थिर करते समय ज्ञान ही एकमात्र हमारा आधार हो सकता है। आज विश्वमें 'वाणी तथा लेखनकी स्वतन्त्रता—विचार-स्वातन्त्र्य'का आन्दोलन किया जाता है, यह केवल इसलिये कि जातियो एवं राष्ट्रोंके कृत्रिम आदर्शोंसे मनुष्यको बंदी न बनाया जाय। मनुष्यत्व विचारकी पूर्णतामें है, अतः उसे व्यक्त करनेके लिये कोई सीमाबन्धन नही होना चाहिये। भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ अति-प्राचीन कालसे विचार-स्वातन्त्र्य मनुष्यको प्राप्त था। इस देशमे विचारोपर कभी बन्धन नहीं लगा था और अब लगा है तो वह पाश्चात्त्य प्रभावसे। यहाँ विचारोके सम्बन्धमे मानव कभी असहिष्णु नहीं बना। सामाजिक नियमो—जीवनके प्रत्येक कार्यमें धर्मका कठोर नियन्त्रण होनेपर भी विचारस्वातन्त्र्यके कारण भारतमें इतने दर्शनशास्त्र और मत-मतान्तर विस्तृत हो सके।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धिके अनुसार ही विचार कर सकता है। बच्चेकी बुद्धि तथा विद्वान्‌की बुद्धि समान नहीं हो सकती। इसी प्रकार एक न्यायाधीश और एक कसाईके विचार अपराधके सम्बन्धमे एक-जैसे नहीं हो सकते। इसके लिये आवश्यक होता है कि अपरिपक्व एवं भ्रान्त विचारोको कार्यरूपमें परिणत न होने दिया जाय। कोई शिशु अपनी समझसे अनुचित कार्य नहीं करता, किंतु आप उसे फाड़ने तथा फोड़नेके लिये पुस्तकें और शीशेके बर्तन नहीं दे सकते। विचारका क्षेत्र बौद्धिक क्षेत्र है। वहाँ तो हमे स्वतन्त्रता होनी चाहिये; किंतु हमारे विचारको तबतक आचरणमे नही आना चाहिये, जबतक वह सत्यका साक्षात् न कर ले। आज विचार-स्वातन्त्र्यकी माँग करनेवाले भी स्वीकार करते हैं कि विचार-स्वातन्त्र्य वहींतक हो, जहाँतक वह कार्यमें आकर कोई अव्यवस्था उत्पन्न न करे। हिंदू-समाजने आचारको सदा कठोर रक्खा। आचारमे तनिक भी त्रुटि या प्रमाद करनेवाला क्षमा नहीं किया गया। साथ ही किसीके विचारोंके सम्बन्धमे उसके प्रति असहिष्णुता नहीं प्रकट की गयी। हमारी समझमे नही आता, हमे व्यर्थ या हानिकर भी लगता है; तब भी हमें आचारके क्षेत्रमें किसी आचारको नष्ट करनेका अधिकार नहीं। वहाँ हमें सैनिककी भाँति अनुशासनका पालन करना है। प्रत्येक सैनिक यदि अपने विचारसे व्यवहार करने लगे तो सेनाका क्या हाल हो! यही दशा समाजकी है। हमारे लिये यह जानना पर्याप्त होना चाहिये कि नियमोंके निर्णेता हमसे विशुद्ध एवं पूर्णबुद्धि, निःस्वार्थ हैं और भारतीय ऋषियोके त्याग, ज्ञान, सर्वज्ञतामें सन्देहको स्थान ही नहीं है।

आचरणके सम्बन्धमें शास्त्र प्रमाण हैं। शास्त्रोंका त्याग करनेवाला व्यक्ति चाहे जितना उच्च एवं तपस्वी हो, उसकी आज्ञा पालनीय नहीं होनी चाहिये। इसके साथ ही व्यक्तिके त्याग, तप आदिका निरादर भी नहीं होना चाहिये। हिंदू-समाजकी यह मान्यता इतनी परिमार्जित है कि उसमें विकृतिके लिये अवकाश ही नहीं। जो व्यक्ति किसी प्रकार प्रसिद्ध हो जाता है, वह उन सभी विषयोंपर अपनी सम्मतियाँ देने लगता है, जिनके सम्बन्धमें वह सामान्य ज्ञान भी नहीं रखता। समाज प्रसिद्धि या त्यागसे प्रभावित होकर उसकी भ्रान्त धारणाओको अपनाने लगता है और वह भी इसीका प्रयत्न करता है। हिंदू-समाजका आदर्श इससे सर्वथा भिन्न है। अवतार होनेपर भी भगवान् बुद्धके आदेश इसलिये मान्य नहीं हुए कि वे शास्त्रविरुद्ध थे। आदेश न मानकर भी भगवान् बुद्धकी हम जयन्ती मनाते हैं, उनकी पूजा करते हैं। जो व्यक्ति त्याग-तितिक्षादिसे उच्च है, उसका आदर होना चाहिये; किंतु उसके आदेश शास्त्रके विपरीत हों तो वे पालन करने योग्य नहीं है। यह हमारी संस्कृतिका आदर्श है।

आचारके सम्बन्धमें जहाँ हिंदू-समाज शास्त्रके विपरीत भगवान्‌के आदेश भी सुननेको प्रस्तुत नहीं, वहीं विचारके सम्बन्धमे यहाँ पूर्ण स्वतन्त्रता है। विचार करनेकी हमे स्वतन्त्रता होनी चाहिये और दूसरेको भी। हममे इतनी सहिष्णुता होनी चाहिये कि हम दूसरेके विरोधी विचारोको सह सके। मनुष्यका अहङ्कार उसे उभाड़ता है कि वह सर्वश्रेष्ठ है, उसकी जाति, धर्म, राष्ट्र, विचार सर्वश्रेष्ठ हैं। उससे भिन्न लोग निम्नकोटिके है, अज्ञानी हैं। यह अहङ्कार मनुष्यके विचारको कुण्ठित कर देता है और विचार कुण्ठित होनेपर मनुष्य पशु हो जाता है। उन्मुक्त विचार ही मनुष्यता है।

हम इतिहासके पृष्ठोमे देखते हैं कि ईसामसीहको सूली

दे दी गयी। सुकरातको विष पिला दिया गया। मंसूरकी हत्या की गयी। ये सब महापुरुष तथा ऐसे ही दूसरे उच्च कवि, वैज्ञानिक यूरोपमें मार डाले गये। यह सब इसलिये कि वहाँका समाज उनके विचारोंको सह नहीं सका और पशु बन गया। अभी पिछले वर्षोंमें जापानियोंने मान लिया था कि केवल वे ही मनुष्य हैं और शेष सभी मनुष्य पशु हैं। भारतमें भी एक वर्गने पिछले उपद्रवोंमें जापानियोंकी इस धारणाको अपना लिया। अपनेको ही मनुष्य कहनेवाले ये अहङ्कारसे मोहित वर्ग पशुसे भी हीन हो जाते हैं जब वे शेष मनुष्योंकी हत्या, उन्हें लूटना, उनपर अत्याचार करना अपना कर्तव्य मान लेते हैं और इस कर्तव्यका विभिन्न तर्कोंसे समर्थन करने लगते हैं। वे जब किसीकी हत्या या उसे लूटनेको उसपर दया करना बताने लगते हैं, तब कदाचित् पिशाच भी उनसे घृणा करता होगा। इस प्रकार मनुष्यका अहङ्कार उसे मनुष्यत्वसे गिरा देता है!

हिंदू-धर्मको छोड़कर विश्वमें जितने भी धर्म, समाज, वर्ग हैं—सबकी एक ही मान्यता है कि उनका मत, उनकी पद्धति ही भ्रान्तिहीन है; केवल उसीसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। साम्यवादी अर्थ-पद्धतिसे लेकर अहिंसा-प्रधान धर्मोंकी भी यही दशा है। इसका परिणाम यह होता है कि वे शेष मानव-जातिके प्रति दयालु होकर उसे अपने मतमें लानेका प्रयत्न करते हैं। यह दया उपदेशतक ही रहे तो कोई बात नहीं; परंतु दयाकी प्रेरणा इतनी तीव्र होती है कि छल-कपट, प्रलोभन, बलप्रयोग तथा हिंसासे भी वे हिचकते नहीं—मनुष्य-जातिका कल्याण जो करना है! यदि अबोध मानव अज्ञानवश दुराग्रह करे तो उसके हितके लिये कठोरता भी उचित ही है। इस प्रकार सभी अपनी दृष्टिसे मनुष्य-जातिके हित-साधनमें लगे हैं। मनुष्य-जाति इन हित-साधकोंके संघर्षमें पड़ी है और प्रत्येक उसे क्रूर पशु प्रतीत होता है!

हिंदू-धर्मका हित-साधन-प्रकार ही विश्वके समस्त धर्मों एवं वर्गोंसे भिन्न है। यहाँ किसीको हिंदू तो बनाना है ही नहीं, विचारोंका प्रसार करना है। और सीधी बात है कि जो जहाँ है, वहींसे अन्तर्मुख होनेका प्रयत्न करे। साधन सब ठीक हैं, यदि वे स्वार्थसे कलुषित न हों। स्वार्थसे ऊपर उठकर साधनकी पूर्णता करनेमें सबका कल्याण है। हिंदू किसीको हिंदू तो नहीं बनाना चाहते, किंतु मनुष्य अवश्य बनाना चाहते हैं। अपने अहंकारकी परिधिमें संकुचित होकर दूसरोंको हीन मानना ही पशुत्व है। यदि मनुष्यको सचमुच मनुष्य बनना है तो उसे हिंदुत्व नहीं, हिंदुत्वकी धारणा स्वीकार करनी होगी। उसे दूसरोंके प्रति सहिष्णु बनना होगा और दूसरोंके विचारों, साधनोंकी महत्ताको स्वीकृति देनी होगी।

यह बात विश्वमें अत्यन्त स्पष्ट है कि दूसरोंपर आक्षेप, संघर्ष या दूसरोंके प्रति असहिष्णुता वही लोग प्रकट करते हैं, जो अपने सिद्धान्त तथा आचारपर भी चलते नहीं। स्वार्थ ही जिनका आचार है, उनकी बात तो छोड़ देना चाहिये; पर स्वार्थसे ऊपर उठकर जो अपने आचारका पालन जितनी दृढ़तासे करेगा, वह दूसरेके आचार एवं विचारके प्रति उतना ही सहिष्णु होगा। असहिष्णुता उन्हीं लोगोंद्वारा प्रकट होती है, जो अपने आचार एवं सिद्धान्तकी श्रेष्ठता बड़े उच्च स्वरमें घोषित करते रहते हैं, किंतु उसपर चलते नहीं। आचार उनका स्वार्थ-प्रेरित होता है। जिस समाजमें धर्मके नियम जितने दृढ़ हैं, आचारकी च्युतिका वहाँ उतना ही कम अवकाश है। हिंदू-धर्मने पूरे जीवनको नियमोंमें सीमित कर दिया, अतः वहाँ आचारकी च्युतिका अवकाश रहा ही नहीं। फलतः विचारोंकी असहिष्णुता वहाँ उत्पन्न नहीं हुई। विचारोंकी असहिष्णुता उन्हीं देशों और जातियोंमें हुई, जहाँ जीवनको अनियन्त्रित होनेका अवकाश था।

आज कहा जाता है कि 'जाति', 'सम्प्रदाय' आदि भेद ही झगड़ोंकी जड़ हैं। सभी जातियों, वर्णों तथा धर्मोंको भी एक हो जाना चाहिये। इससे विवाद एवं संघर्ष मिट जायगा। बात देखनेमें प्रलोभनकारी होनेपर भी भ्रमपूर्ण है। संघर्षका कारण जाति या धर्म न होकर स्वार्थ है। वस्तुतः, धर्म तथा उनके आचारोंकी उपेक्षासे ही संघर्ष बढ़ा है। ये संघर्ष प्राचीन कालसे उन्हीं जातियोंमें अधिक हुए, जहाँ जाति आदि भेद नहीं थे। जहाँ आचारपर बल नहीं दिया गया, वहीं विचारोंकी असहिष्णुता उत्पन्न हुई। आचारके बन्धन नष्ट करनेसे स्वार्थ बढ़ेगा। एक प्रकारके वर्ग मिटेंगे तो दूसरे प्रकारके बनेंगे। संघर्ष तो बढ़ेगा ही। संघर्ष मिटानेके लिये तो विचारोंकी सहिष्णुता आवश्यक है और हिंदू-धर्मकी युग-युगकी सहिष्णुता इसका प्रमाण है कि वह आचारनिष्ठासे प्राप्त होती है।

हिंदू-समाजके आधारभूत शास्त्रोंको देख डालिये। वहाँ आचारकी एक-सी व्यवस्था है। आचारका मुख्य आधार स्मृति-ग्रन्थ हैं। स्मृतियोंमें युगानुरूप आचारकी व्यवस्था है। वहाँ आचारके सम्बन्धमें कहीं कोई मतभेद नहीं। साधन, उपासना एवं निष्ठाके भेदको पृथक् कर देनेपर पूरे हिंदू-

समाजका आचार एक है। आचारकी मान्यताएँ एक हैं। साथ ही विचारोंका बहुत बड़ा भेद है। कोई साधन, कोई आचार, कोई कला ऐसी नहीं, जो अपना स्वतन्त्र दर्शनशास्त्र न रखती हो। व्याकरणका दर्शनशास्त्र पृथक् और ज्यौतिषका पृथक्। उपासनाका एक और योगका दूसरा। आयुर्वेद, संगीत, चित्रकला—सबके दर्शनशास्त्र हैं। कहीं ऐसा नहीं कि कल्पना विचारसे पृथक् हो गयी हो। मनुष्यकी विशेषता विचार है—वह विचारहीन होकर कार्य करे तो पशु हो जायगा। मनुष्यकी यह मनुष्यता हिंदूसमाजके प्रत्येक भागमे सतत जागरूक मिलेगी। उपासना, ज्ञान तथा योगकी बात छोड़ दीजिये; वे तो दर्शनके आधारसे ही प्रवृत्त होते हैं। परंतु भाषा, वाद्य, नृत्य, चित्र, संकेत—यहाँतक कि गृह बनाना, उठना-बैठना, विवाह आदि सब अपना दर्शन रखते हैं। बिना दर्शनशास्त्रके कहीं गति नहीं।

पाश्चात्त्य जगत्का दार्शनिक ज्ञान ही अभी अधूरा है और वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि उन्हें भारतसे बहुत कुछ इस विषयमे सीखना है।

पाश्चात्त्य देशोंमे धर्म, राजनीति, जीवन, दर्शनशास्त्र—ये सब परस्पर भिन्न हैं। वे केवल यही समझ सकते हैं कि भौतिक विज्ञान इन सबमें व्यापक है। वैसे ही भारतमें धर्मसे भिन्न जीवन या राजनीतिकी सत्ता नहीं। दर्शनशास्त्र सर्वत्र व्यापक है। वह स्वतन्त्र विद्या न होकर जीवनके प्रत्येक क्षेत्रका आधार है—आश्रय है।

आदिज्ञान पूर्ण था। उसीके अंशोंको लेकर आवश्यकता, काल तथा प्रमादके कारण अनेक विचारोंका प्रादुर्भाव हुआ। उपनिषदोंसे लेकर पुराणोंतकमे वह एक ही आदिज्ञान एक रूपसे विद्यमान है। पुराण तो वेदोंके भाष्य ही हैं। अतः उपनिषदोंका ज्ञान पुराणोंमें स्पष्ट हो गया है। उसीको विभिन्न दृष्टिकोणसे ग्रहण करनेके कारण अनेक दर्शनशास्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है—यह स्पष्ट है। बहुत संक्षिप्त शब्दोंमे शास्त्रोंके उस अनादि ज्ञानको इस रूपमें कहा जा सकता है—

'एक अनिर्वचनीय सच्चिदानन्दस्वरूप शाश्वत सत्ता है। उसके दो रूप हैं—एक निर्गुण, निर्विकार निराकार स्वरूप और दूसरा निखिल ऐश्वर्य, माधुर्य, आनन्द, अचिन्त्यानन्त सद्गुणगणोंका धाम स्वरूप। एकके ही ये सगुण स्वरूप अनेक हैं। उनके नित्य चिन्मय धाम हैं। उन धामोंमे वही व्यापक निर्गुण ब्रह्म सगुण होकर नाना रूपोंमे नित्य क्रीडा किया करता है। जैसे निर्गुण स्वरूप विभु है, वैसे ही सगुण स्वरूप भी सर्वगत है। सभी सगुण रूप, सभी लीलाएँ सदा, सर्वत्र व्याप्त हैं। देश-कालकी कल्पना वहाँ नहीं जाती।

वह शाश्वत सत्य शक्ति एवं शक्तिमान्—उभयरूप है। शक्ति एवं शक्तिमान् परस्पर अभिन्न होकर भी भिन्न और भिन्न होकर भी अभिन्न हैं। वस्तुतः वे अभिन्न ही हैं। क्रीडाके लिये ही उनका भेद है। इसी भेदसे व्यापक निर्गुण तत्त्वमें सत्, चित्, आनन्दका भाव है और सगुणके साथ यही शक्ति सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी शक्तिके त्रिविध रूपमें उपस्थित होती है। सगुण रूपकी ही भाँति ये शक्तियाँ भी नित्य, परस्पर अभिन्न तथा शक्तिमान्से अभिन्न हैं।

मायाशक्ति व्यापकतत्त्वके एक पादमे है और उसीमे समस्त ब्रह्माण्ड हैं। शेष तीन पादोंमें योगमायाका विस्तार है। वहाँ नित्य धाम हैं, जहाँ वही निर्गुण व्यापकतत्त्व अपनी ह्लादिनी शक्तिके साथ सगुण, साकार होकर क्रीडा करता है। ह्लादिनी शक्तिके ही सीता, राधा, लक्ष्मी, त्रिपुरा आदि रूप हैं।

व्यापकतत्त्वके सत्, चित्, आनन्द मायामें प्रतिच्छायाकी भाँति गृहीत होते हैं और वे क्रमशः तम, रज एवं सत्त्वका नाम पाते हैं। प्रकृति नित्य इन तीनों गुणोंसे युक्त रहती है। सत्त्वगुण निर्मल होनेसे उसीमें पहले दिव्य जगत्की अभिव्यक्ति होती है। दिव्य (सत्त्वात्मक) जगत् ही मूल सृष्टि है। जैसे सूर्यसे किरणें, किरणोंसे प्रतिबिम्ब, वैसे ही नित्य धामसे भावस्तर और उनसे दिव्य जगत्। यहाँ दिव्य जगत् मूर्त जगत्के रूपमे व्यक्त होता है।

मूर्त जगत्—यह हमारा जगत् भावरूप है, जैसे जलगत सूर्यके प्रतिबिम्बकी छाया दर्पणमे पड़ी हो। दर्पणमें सूर्यका प्रकाश, उष्णताका अंश भले हो; पर वहाँ दर्पण और जल दोनोंके दोष आये हैं। प्रभाव विकृत और अल्प हो गया है। वहाँ सूर्यकी सत्ता कल्पित है। इसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य जगत् कल्पित है, भावरूप है। दिव्य जगत्की यह भावात्मक अभिव्यक्ति है। स्वरूपतः यहाँके देश, काल, नाम, रूप—सब मिथ्या हैं। जब हम स्थूल जगत्की ओरसे विचार करेंगे तो यह मिथ्या ही सिद्ध होगा। नित्य जगत्—भगवान्की ओर दृष्टि करनेपर सब उस नित्य सत्ताका लीलाविलास है।

जगत् मिथ्या है—रस्सीमें सर्पकी भाँति, सीपमें चाँदीकी भाँति, मरुस्थलमें जलकी भ्रान्तिकी भाँति। यहाँके सब दृश्य एवं पदार्थ स्वप्नकी भाँति मानसिक हैं, कल्पित हैं। जैसे स्वप्नके सारे दृश्योंमें भाव व्यापक है—भाव ही वहाँ मूर्तिमान् हो गया है, वैसे ही दृश्य-जगत्में दिव्य जगत् (भाव-जगत्) व्यापक है। वही यहाँ मूर्तिमान् हो गया है। वह दिव्य या भाव-जगत् भी सत्य नहीं है। ब्रह्मलोकतकके सब पदार्थ कल्पित हैं, स्वप्नकी भाँति ही हैं। वे भी प्रतीति हैं।

अज्ञान अनेकताका कारण नहीं होता। अज्ञानका धर्म भेद नहीं है। घटाभाव और पटाभावमें कोई अन्तर नहीं। अन्धकार समस्त दृश्यको एकाकार कर देता है। अतः दृश्य-जगत्का यह सब भेद केवल अज्ञानमूलक नहीं हो सकता। रस्सीमें सर्पका भ्रम तभी होता है, जब रस्सी और सर्प दोनो पदार्थोंकी सत्ता हो, दोनोंका हमें ज्ञान हो, दोनोंमें कुछ सादृश्य हो। दृश्यके नाना रूपोंका जहाँ भान होता है, वह मायाशक्ति है। नित्यलोकोंकी विभिन्न लीलाओंकी ही यहाँ भूतरूपोंमें प्रतीति है और भावरूप कुछ सादृश्य भी है। भावस्तर—दिव्य जगत्की भावरूप किरणें, यही दिव्य जगत्में मूर्त होकर देवता होती हैं। देवताओंकी हमारे मनमें अभिव्यक्ति—विचार है और बाहर वे ही भाव स्थूलरूपमें प्रकट होकर पदार्थ बन जाते हैं। पदार्थकी मूर्त सत्ता मानसिक भावका ही परिणाम है।

सत्, चित्, आनन्द—तीनो उसी व्यापकतत्त्वके अभिन्न स्वरूप हैं। उसके सगुण एवं निर्गुण रूपमें कोई भेद नहीं। जागतिक क्रियाएँ उसीके लीलाविलासकी प्रतिच्छाया हैं; अतः उस नित्य रूपकी उपलब्धिके लिये यहाँकी कोई भी क्रिया या भाव साधन हो सकता है, यदि उसे नैष्ठिक रूपसे अपनाया जाय—मन उसीमें पूर्णतः स्थित हो सके। योगके द्वारा क्रियाके स्रोतको पकड़कर, क्रियाकी शान्तिसे निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है और ज्ञानके द्वारा पदार्थ-जगत्के विवेचनसे प्रतिबिम्बोंसे बिम्बकी प्राप्ति होती है। योग तथा ज्ञान दोनोंमें मायाका विश्लेषण है, उनके द्वारा व्यापक-तत्त्वसे एकात्मता उपलब्ध होती है; क्योंकि मायाके त्रिगुण तो व्यापक तत्त्वके सच्चिदानन्दकी छाया हैं। ज्ञानके द्वारा प्रतीतिका निराकरण होकर वस्तुकी प्राप्ति होती है। दृश्यकी सत्ता तो है नहीं, अतः दृश्यका विवेचन उसका निरास कर देता है। इन दोनों साधनोंमें दृश्यके कारणका विवेचन है। फलतः माया जिस नित्य ज्ञानघन सत्तासे अभिन्न है, उसकी प्राप्ति होती है। संक्षेपमें योग और ज्ञान इतना ही है।

तीसरा मार्ग उपासनाका है। भाव ही जब यहाँ मूर्त हुआ है, तब भावके सहारे अपने उस नित्य स्वरूपके दिव्य-धाममें प्राप्त करना, जिसका यह वर्तमान स्वरूप प्रतिबिम्ब है—दूसरे शब्दोंमें भावके आधारपर सगुण-साकार रूपमें शाश्वतधामकी उपलब्धि उपासनाका लक्ष्य है। भाव उतने हैं, जितने भावस्तर हैं। भावसे भिन्न न पदार्थ हो सकता है, न विचार और न देवता; क्योंकि भाव जो नित्य जगत्की किरणें हैं, वही तो मूर्त हुए हैं। अतः प्रत्येक भाव सत्य है, नित्य है, दिव्यधामसे सम्बद्ध है। प्रत्येक भावसे उसकी प्राप्ति हो सकती है।

शक्ति एवं शक्तिमान्के भेदसे उपासनाके दो भेद हुए—एक तो शक्तिको आराध्य मानकर चलनेवाला और दूसरा शक्तिमान्को प्रधान मानकर। स्वरूपभेदसे इनके भी अनेक भेद हैं। ये भेद साधनके लिये अधिकारके अनुसार हैं। सबका प्राप्तव्य एक ही है। शक्ति-शक्तिमान्के अभेदके साथ सभी स्वरूपोंका भी अभेद है। वैसे स्वरूपकी दृष्टिसे प्रत्येक स्वरूप नित्य है। उसे पानेवाला उसे शाश्वतरूपमें ही उपलब्ध करता है; किंतु जैसे रुचिके कारण कोई चीनीका हाथी पसंद करता है और कोई घोड़ा; दोनों प्रभाव, गुण—सबमें एक ही हैं, वैसे ही सम्पूर्ण सत्ता समग्ररूपसे एक ही है।

नित्य अभेद और नित्य भेद तथा अभेदमें भेद और भेदमें अभेदका यह शास्त्रीय ज्ञान ईश्वरीय वरदान है। अपौरुषेयरूपमें ही वह मनुष्यको प्राप्त हुआ है। सम्पूर्ण मानव-ज्ञान, चाहे वह कितना भी उच्च क्यों न हो, इसीके किसी-न-किसी अंशकी अस्पष्ट या स्पष्ट व्याख्यामात्र है। हिंदूसमाजका मूल दर्शनशास्त्र, जो वेदों, उपनिषदों, पुराणोंमें वर्णित हुआ है, संक्षेपमें यही है। इसके भेद उनके वर्णनोंमें आगे स्पष्ट होंगे।

नास्तिक-दर्शन

उपनिषदोंमें ही इन्द्र एवं विरोचनकी कथा है। देवराज तथा दैत्यराज दोनो लोकपितामह ब्रह्माजीके पास तत्त्वज्ञान प्राप्त करने गये। ब्रह्माजीने मननका अवसर देनेके लिये बतलाया कि 'जो जलोंमें, दर्पणोंमें, नेत्रोंमें दिखायी देता है, वही आत्मा है।' बड़ी सीधी बात थी कि शरीरका जैसे जल-दर्पणादिमें प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, वैसे ही शरीर भी प्रतिबिम्ब है। इस शरीरका जो मूल बिम्ब नित्यधाममें है, वही आत्मा है। असुरराज विरोचनकी बुद्धि इतनी सूक्ष्म नहीं थी। उन्होंने अनेक स्थानोंपर अपने शरीरके प्रतिबिम्बोंको देखकर निश्चय कर लिया कि शरीर ही आत्मा है। वे सन्तुष्ट होकर

लौट आये। इन्द्र बराबर विचार करते रहे। उन्होंने कई बार शङ्काएँ कीं और अन्तमें पितामहसे उन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया।

विरोचनने अपने तत्त्वज्ञानका असुरोंमें प्रचार किया। असुर देहात्मवादी हो गये। यद्यपि प्रह्लादादिने वस्तुतः तत्त्वज्ञान प्राप्त किया, तथापि असुरोंने उसे देवताओंका सद्गदोष ही माना। अधिकतर वे शरीरको मुख्यता देते रहे। कामोपभोग ही उनका लक्ष्य रहा। यही आसुरी सभ्यता पाश्चात्त्य देशोंमें विस्तृत हुई। शरीरको मरनेपर भी सुरक्षित रखनेकी प्रेरणा देहात्मवादसे ही मिली। भारतमें देहात्मवादकी एक शाखा चली और पाश्चात्त्य देशोंमें दूसरी।

सत्य सदा भ्रान्तिहीन है। विचार कभी किसीको भ्रममें नहीं डालते, यदि उन्हें कुण्ठित न कर दिया जाय। पाश्चात्त्य देशोंमें देहात्मवाद गया तो सही; किंतु उसपर बराबर विचार होता रहा। छान-बीन होती रही। यद्यपि रूसी साम्यवाद अब भी उसी 'कामोपभोगपरमाः' की भूल आसुर भूमिपर ही है और मनुष्यका जैसे-जैसे बौद्धिक ह्रास होता जा रहा है, वैसे-वैसे वह दर्शनके उच्च विचार ग्रहण करनेमें असमर्थ होनेके कारण तथा आचारहीन होनेसे, स्थूल एवं भोगको प्रधानता देनेवाले आसुर विचारोंको अपनाता जा रहा है और इसीसे यह जडवाद संसारमें व्यापक होता जा रहा है; परंतु यूरोपमें जो सचाईसे अन्वेषण करते रहे हैं, उन्हें आस्तिकता स्वीकार करनी पड़ी है।

सुकरात, कांट, शेली, शोपनहॉरकी चर्चा मैं नहीं करूँगा। ये तो दार्शनिक थे और उनपर भारतीय विचारोंकी स्पष्ट ही छाया है; परंतु जडवादी डार्विन, हॅकलेकी वैज्ञानिक परम्परा अब अपने अन्वेषणसे सर ऑलिवर लॉज और आइन्स्टीनतक पहुँच गयी है। आइन्स्टीनका सापेक्षवाद जडवाद-के अन्वेषणकी सीमा है। जड-तत्त्वके अन्वेषणद्वारा विज्ञान चेतन-के सम्बन्धमें इससे अधिक सङ्केत नहीं दे सकेगा। आइन्स्टीन स्वयं कहता है—'क्या है' यह जाननेका कोई मार्ग नहीं। जो कुछ दिखलायी पडता है या किसी प्रकार जाना जा सकता है, वह सब अपेक्षाकृत है। देश, काल, पदार्थ—सब एक-दूसरेकी अपेक्षासे इस रूपमें प्रतीत हो रहे हैं।

क्या है ? यह तो अनुभूतिका विषय है। जडके अन्वेषणमें तो 'न इति, न इति'—इस प्रकार सबका निषेध ही होगा। सब कल्पित—सब सापेक्ष, जडके सम्बन्धमें शास्त्र भी यही कहते हैं। इस प्रकार पाश्चात्त्य जडवाद अपने चरम अन्वेषणमे सापेक्षवादतक पहुँच गया है।

लोकायत-दर्शन (चार्वाक-सिद्धान्त)

पाश्चात्त्य देशोंमें मार्क्सके जिस तत्त्वज्ञानको आज बड़ा महत्त्व दिया जा रहा है, भारतमें उस देहात्मवादकी आसुर-परम्परा भी आदि कालसे है। चार्वाक-दर्शनके नामसे कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; परंतु देहात्मवादके ये सिद्धान्त लोकमें व्यापक होनेसे इस दर्शनका नाम 'लोकायत' पड़ गया। इसके एक आचार्य बृहस्पति कहे जाते हैं। ये देवगुरु बृहस्पतिसे भिन्न हैं। चार्वाकका ही दूसरा नाम बृहस्पति है, ऐसा भी कुछ लोगोंका मत है।

चार्वाक-दर्शन केवल प्रत्यक्षको प्रमाण मानता है। इस दर्शनका कहना है कि 'जैसे गन्धकादि कुछ पदार्थोंके मेलसे गर्मी या अग्नि उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही पृथ्वी-जल-अग्नि-वायुके मेल-से चेतना उत्पन्न होती है।' यह दर्शन आकाशको तत्त्व नहीं मानता। हमें स्मरण रहना चाहिये कि पाश्चात्त्य दार्शनिक भी पहले चार ही तत्त्व मानते थे। वे इसी परम्परामें आते हैं।

चेतना शरीरसे भिन्न कोई तत्त्व नहीं। वह शरीरके साथ ही नष्ट हो जाती है। पुरुषार्थ इतना ही है कि चाहे जैसे बने—उचित या अनुचितका विचार छोड़कर शारीरिक सुख प्राप्त किया जाय। परलोक—स्वर्ग या नरक, सब मूर्खोंकी कल्पना है। ईश्वर कोई सत्ता नहीं। धर्म, कर्म, सदाचार—ये सब अज्ञानियोंको भुलावेमें रखनेके उपाय हैं। पूजा, पाठ, श्राद्धादि मूर्खताके सूचक हैं। शास्त्रोंका निर्माण पाखण्डियों, धूर्तोंने अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये किया है। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'—चाहे जैसे हो, सुख भोगो! संसारमें अर्थ और काम ही मुख्य हैं। आजका प्रगतिवाद क्या इससे भिन्न कोई तर्क रखता है? आजके जडवादको मार्क्सके बदले चार्वाकका आभारी होना चाहिये। वही उनके तत्त्वदर्शकों-के आदि आचार्य हैं। आजका समाज इसी तत्त्वबोधकी ओर लुब्ध है !!

बौद्ध-दर्शन

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्।
सदय-हृदय-दर्शित-पशुघातम्॥
केशव धृतबुद्धशरीर······॥ (गीतगोविन्द)

भगवान् बुद्धके जीवनपर विचार करनेसे पता लगता है कि पिताके राजसदनमें उनके लिये सब प्रकारके सुखोपभोगकी व्यवस्था की गयी थी, किंतु निवृत्तिमूलक विचारोंसे उन्हें सर्वथा दूर रक्खा गया था। रोग, वृद्धावस्था तथा मृत्युके प्रभावोको

देखकर वे स्वयं जीवन-तत्त्वके चिन्तनमें प्रवृत्त हुए। उनका तपपर विश्वास था और वे तपमें ही पहले प्रवृत्त भी हुए। कठोर तपके अनन्तर उन्होंने 'युक्ताहारविहार' का मध्यम मार्ग अपनाया और उसीको सर्वश्रेष्ठ बतलाया।

भगवान् बुद्धको अपने गृहत्यागके अनन्तर जिन विद्वानोंका संसर्ग मिला, वे निरे तार्किक थे। अनुभव-जन्य आत्मबोध उनमें नहीं था। एक सच्चे आत्मबोधककी तृप्ति वहाँ नहीं हो सकती थी। इस प्रकार शास्त्रोंके प्रति आस्थाका अवकाश ही नहीं मिला। पूरे जीवनको पढ़नेसे पता लगता है कि भगवान्‌को बराबर हिंसाका विरोध करना पड़ा। उस समय राजस-तामस यज्ञोंका बोलबाला था। उनका विरोध आवश्यक था। स्वयं भगवान्‌को तप एवं चिन्तनके मार्गसे ही चलना पड़ा था; अतः उन्होंने इन्हींको प्रधान माना। शास्त्रके नामपर जो राजस-तामस कृत्य—पूजनादि प्रचलित थे, उनको शास्त्र प्रेरणा नहीं देता—यह जाननेका प्रयत्न करके उस शास्त्रीय तथ्यको प्रसारित करनेके बदले अपने अनुभूत सत्यको अपने ढंगसे प्रसारित करना सरल था। सभी इतिहासज्ञोंकी मान्यता है कि बुद्ध सदा यह मानते रहे कि वे शुद्ध सनातन धर्मका ही प्रचार कर रहे हैं।

भगवान् बुद्धने चार आर्य सत्योंको स्थिर किया था। पीछे उनके शिष्योंने उनके मतका भाष्य किया। फल यह हुआ कि बौद्ध-धर्म तीन प्रधान भागोंमें विभक्त हो गया—हीनयान, महायान और वज्रयान। हीनयान मत श्रीगौतम बुद्धको एक महापुरुष मानता था, जिन्होंने साधनद्वारा निर्वाण प्राप्त किया। यह निवृत्तिप्रधान मत था। इसका लक्ष्य एवं आराध्य 'अर्हत्' था। महायान भक्ति-प्रधान मार्ग हुआ। हीनयान मतके भावुक भक्तोंने इसका प्रचार किया। हीनयान मतके ग्रन्थ पाली भाषामें थे। महायानका संस्कृतमें विस्तृत साहित्य बना। इस मतके आराध्य 'बोधिसत्त्व' हैं। भगवान् बुद्ध सामान्य महापुरुष न होकर अवतार माने गये। बौद्ध-धर्ममें आगे तान्त्रिक साधनाएँ प्रचलित हुईं। उनको प्रधानता देनेवाली शाखा वज्रयानके नामसे प्रसिद्ध हुई।

बौद्ध-धर्मके प्रकाण्ड विद्वानोंने उसका दर्शनशास्त्र प्रस्तुत किया। भगवान् बुद्धने ही प्रत्यक्षसे आगे अनुमानको भी प्रमाण मान लिया था। बौद्धदर्शनमें यही दो प्रमाण माने गये। दर्शनोंकी दृष्टिसे बौद्ध-धर्मके चार विभाग हैं। मध्यम दर्शन, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक—ये चार बौद्धदर्शन हैं।

मध्यम दर्शन—विश्वके सभी पदार्थ क्षणिक हैं। किसीका कोई रूप स्थिर नहीं। परमाणुओंकी अविरल प्रवाहधारा ही आकृतियाँ बनाती हैं। परमाणु भी क्षणिक हैं। क्रियाका स्वभाव ही सत्ता है। क्रियाके साथ सत्ताकी समाप्ति हो जाती है। क्षणिक होनेके साथ सब दुःखरूप हैं। यह दृश्य-जगत् कैसा है—यह बताना शक्य नहीं; यह स्वलक्षण है—जैसा है, वैसा ही है। इससे भिन्न समान सत्ता न होनेसे इसका दूसरा लक्षण शक्य नहीं। सब शून्य है, क्योंकि किसी पदार्थको सत्-असत् आदि कुछ भी कहना शक्य नहीं। इस मतके अनुसार बौद्धिक ज्ञान सत्य है। बाह्य जगत् शून्य है। अप्राप्तकी प्राप्तिके लिये शङ्का करना—'पर्यनुयोग' ही योग माना गया है। गुरुका उपदेश स्वीकार करना आचार है। शून्यत्व, क्षणिक, दुःख-रूपतादिकी भावना करके शून्यमें विलीन हो जाना ही मुक्ति—निर्वाण माना गया है। यही परम प्राप्य है। शिष्यके लिये 'योग' और 'आचार' दोनों अनुष्ठेय हैं।

योगाचार—भगवान्‌के जिन शिष्योंका सन्तोष केवल आचारसे न हुआ, उन्होंने योगकी साधनाएँ कीं। उन्होंने दर्शनशास्त्रको अपना रूप दिया। यह दर्शन मानता है—'बुद्धिका ग्राह्य कोई पदार्थ नहीं। बाह्य रूपोंमें स्वयं बुद्धि ही मूर्त हुई है। वस्तुतः ग्रहण करनेवाला, ग्रहणकी क्रिया और ग्रहण होनेवाले पदार्थ(जगत्)—ये परस्पर अभिन्न हैं। सब ज्ञान-ही-ज्ञान है। बुद्धि (ज्ञान) स्वयं अनुभूत है। नानात्वकी प्रतीति भेदकी वासनाके कारण है और यह वासनाप्रवाह अविच्छिन्न है। देखा यह जाता है कि हमारा सन्तोष, हमारी तृप्ति सदा साकार पदार्थोंसे ही होती है। पदार्थके निराकार भाव (ध्यान) से तृप्ति नहीं होती। बाहरके पदार्थ शून्य हैं, ज्ञान-ही-ज्ञान है, इसका साक्षात्कार—बाह्य जगत्‌से निवृत्त होकर अन्तःकरणमें उसकी उपलब्धि मुक्ति है। ज्ञानकी सत्ता माननेसे इस दर्शनको 'विज्ञानवादी' कहा जाता है।

सौत्रान्तिक—मध्यम दर्शनने भावस्तरसे जगत्‌की अभिव्यक्तिको व्यक्त किया था। योगाचारने भावस्तरोंके साथ भाव-जगत्‌का भी साक्षात्कार किया। तर्कके तथा योगके द्वारा इससे ऊपर जानेकी सम्भावना नहीं है। सौत्रान्तिक दर्शनकी प्रवृत्ति ही भिन्न हो गयी। उसमें शाक्त-दर्शनका प्रभाव आया। वह भुक्ति-मुक्ति दोनोंका साधक बनने लगा। वज्रयानका तान्त्रिक मार्ग इसी दर्शनको मानता है। इस दर्शनकी मान्यता है कि भाव-जगत्—पदार्थोंका बुद्धिस्थित रूप और बाहर स्थित दृश्यरूप दोनों सत्य हैं।

ज्ञानका शुद्ध रूप 'अहं' है। बाह्य पदार्थोंमें 'अहं'-बोध न होनेसे उन्हें ज्ञानरूप अर्थात् अन्तरका ज्ञान ही बाहर मूर्त हुआ है, यह नहीं कह सकते। 'इदम्' का ज्ञान केवल जाग्रत् एवं स्वप्न-दशामें ही रहता है। सुषुप्तिमें उसका लोप हो जाता है। अतएव वह 'अहं' के समान निर्बाध ज्ञान नहीं है। अतएव 'अहं' और 'इदम्'—ये दोनो ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं। यदि बाह्यपदार्थकी सत्ता न हो तो 'इदम्' ज्ञान नहीं होगा। इस प्रकार ज्ञाता ही ज्ञेय नहीं बनता। 'इदम्' यह ज्ञान शून्य नहीं है। इसी प्रकार 'इदम्' से प्रतीयमान बाह्य जगत् भी शून्य नहीं है। 'इदम्' ज्ञानसे ही बाह्य पदार्थकी सत्ताका अनुमान होता है। आलय-विज्ञान (अहं) के रहते हुए प्रवृत्ति-ज्ञान (इदम्) रहता है। अतः वह उससे भिन्न है; क्योंकि एक सत्ता दो रूपोंमें एक ही समय नहीं रह सकती। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार—ये ज्ञानके पाँच स्कन्ध (अङ्ग) हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विषय रूप हैं। अहं-बोध तथा इदं-बोध विज्ञान हैं। इन ज्ञानोंसे उत्पन्न सुख-दुःखादि वेदना हैं। इस वेदनासे उत्पन्न राग-द्वेषादि संस्कार हैं। विश्वमें जो नाम-भेद है, यह संज्ञा है। इन पाँचों रूपोंमें विस्तृत ज्ञानवृक्ष ही आत्मा है। इस वृक्षके ये पाँच स्कन्ध दुःखरूप हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, उनके पाँच विषय, मन और बुद्धि—ये दुःखके द्वादश आयतन (दुःखके स्थान) हैं। राग-द्वेषादि संस्कार-समुदाय दुःखके साधन हैं। सब क्षणिक है, यह भावना ही इस दुःखसे परित्राणका मार्ग है।

वैभाषिक—बाह्य पदार्थ और आन्तर पदार्थ दोनोंकी सत्ता माननेके कारण इस दर्शनको 'सर्वास्तिवाद' कहा गया है। यह दर्शन जडवादकी ओर लौट आया। शास्त्रको छोड़कर केवल प्रत्यक्ष एवं अनुमानपर आधारित होनेसे मानवकी विकारी प्रकृति तर्कके सहारे उसे भोगोंको ही सत्य माननेके लिये प्रेरित करे, यह स्वाभाविक है। भुक्ति-मुक्ति दोनोंकी साधनामें लगनेपर सौत्रान्तिकोंका वज्रयान अन्तमें अनाचार बन गया, यह इतिहाससिद्ध बात है। चार्वाकके जडवादको ही उन्नत बौद्धिक रूपमें यह दर्शन स्वीकार करता है। इसकी मान्यता है—द्वादश आयतन (पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और मन; उनके पाँच विषय तथा बाह्येन्द्रियोंसे अग्राह्य विषय) से भिन्न सत्ता मान्य नहीं है। आत्मा इनमेंसे कोई नहीं, अतः उसकी सत्ता मान्य नहीं। जगत्की स्वतन्त्र सत्ता प्रत्यक्षगम्य है। जगत् दो प्रकारका है—मूर्त (बाह्य) तथा चित्त (आन्तर)। दोनोंकी सत्ता स्वतन्त्र अर्थात् परस्पर निरपेक्ष है।

आर्हत (जैन)-दर्शन

यदि सब क्षणिक हो तो कर्मोंका कर्ता भी क्षणिक होगा। एक कर्मका जो कर्ता था, दूसरे क्षण वह नहीं रहा; अतः पूर्वकर्मका फल किसे मिलेगा? अतः कर्ता क्षणिक नहीं है। फलका भोक्ता स्मरण करता है कि वह अपने पूर्वकृत कर्मका फल भोग रहा है; अतः वह स्थिर है, वह सिद्ध होता है। स्मृति, अनुभव एकाधारमें होते हैं। आत्मा स्थिर है। यह जगत् अनादि है। सत् क्षणिक नहीं है। वह उत्पत्ति-विनाशसे रहित है।

जगत्में चित् तथा अचित्—दो तत्त्व हैं। दोनोंका ठीक-ठीक विचार ही विवेक है। अन्य वस्तुओंको अपने काममें लाना—यह चेतनका लक्षण है और इससे भिन्न अचित्—जड है। विश्वमें पाँच अस्तिकाय (सत्ता रखनेवाले तत्त्व) हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। जीवोंकी दो कोटियाँ हैं—मुक्त और संसारी। संसारी जीवोंमें भी कुछ मनरहित (त्रस और स्थावर) तथा कुछ मनवाले प्राणी हैं। अवकाश देनेवाला तत्त्व आकाश है। मुक्तिका साधन धर्मतत्त्व है। धर्माचरणसे जीव आलोकाकाशमें जानेपर मुक्त हो जाता है। मुक्तिका प्रतिबन्धक तत्त्व अधर्म है।

स्पर्श, रस और वर्णवाला तत्त्व पुद्गल है। यह अणु और स्कन्धभेदसे द्विविध है। इसका अणुरूप भोगके लिये अशक्य है। पृथ्वी, जल, वायु और तेज—ये चार पुद्गल हैं। दूसरे जैनी सात तत्त्व मानते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर और मोक्ष। इनमें जीव और अजीव (आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल) का वर्णन तो ऊपर हो चुका। जो बन्धका हेतु है, वह आस्रव है। काय, वाणी और मनमें आस्रव स्फुरित होता है। मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद और कषायके कारण जीवमें आस्रवके द्वारा उसका पुद्गलसे योग होता है। यह सम्बन्ध ही बन्ध है। आस्रवरूप संसार-प्रवाहको ढकनेवाला संवर है। यही संवर मोक्षका कारण है। संवरका स्वरूप है गुप्ति (अशुभसे शरीर, मन, वाणीको रोकना), समिति (अहिंसा), निर्जरण (तपसे सञ्चित कर्मोंका नाश)। सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र, सम्यक् ज्ञान—ये तीन मोक्षके मार्ग हैं।

जैन-धर्मका साहित्य एवं दर्शन अत्यन्त विस्तृत है। इतिहासज्ञ इस धर्मको बौद्ध-धर्मसे प्राचीन मानते हैं और शास्त्रके अनुसार भी इसकी परम्परा भगवान् ऋषभसे है। बौद्धधर्मके आदि दर्शन मध्यमाचारका लक्ष्य जो अर्हत्-तत्त्व

है, वह जैनधर्मके नित्य आत्मा अर्हत्से भिन्न होकर भी साम्य रखता है। अहिंसाका जैनधर्मवाला तत्त्व ही बौद्धधर्ममें आया। जैन-धर्ममें तपस्यापर बड़ा जोर दिया जाता है। आदिमें भगवान् बुद्धने भी उग्र तप किया था।

जैनधर्म बौद्धसे प्राचीन है, इसीसे हम उसमें शास्त्रोंके अधिकांश अंश ज्यों-के-त्यों पाते हैं। आलोकाकाश, दिव्य जगत् आदिके सम्बन्धमें बौद्ध दर्शनोंकी अपेक्षा यहाँ कुछ विस्तार है। वैसे बौद्धधर्म एवं जैनधर्मके सिद्धान्तोंमें क्षणिकवादका मौलिक भेद है। जैनधर्म सनातनधर्मसे इतना कम अन्तर रखता है कि वैवाहिक सम्बन्धादि भी परस्पर होते हैं। बौद्ध-धर्म उससे कुछ और दूर हुआ। अनुमानादिका विषय न होनेसे निर्गुण तत्त्व तथा दिव्य धामादि तो श्रुति-शास्त्रद्वारा ही जाननेयोग्य हैं।

आस्तिक दर्शन

'जो वेदोंको प्रमाण न माने, वह नास्तिक है।' शास्त्रकारोंने नास्तिककी यही परिभाषा की है। इस परिभाषामें ईश्वरको या परलोकको मानने-न-माननेका प्रश्न ही नहीं आता। यह परिभाषा 'नास्तिक' शब्दके वर्तमान भावसे भिन्न है। आज नास्तिक केवल उसे कहते हैं, जो शरीरसे भिन्न जीवको स्वीकार न करे। मरणोत्तर जीवनमें जिसका विश्वास न हो, वह आज नास्तिक माना जाता है। यहाँ 'नास्तिक' और 'आस्तिक' शब्दोंका पुराना भाव ही लिया गया है।

आस्तिक दर्शनोंको हम शास्त्र कहते आये हैं। षट्-शास्त्रसे अभिप्राय छः दर्शनोंसे ही सदा रहा है। ये दर्शन-शास्त्र अधिकारिभेदसे तत्त्व-प्रतिपादनकी शैली निर्धारित करते हैं। सर्वज्ञ महर्षियोंके तत्त्वज्ञानमें न तो कोई अन्तर है और न भेद। श्रुति-पुराणोंके समग्र दर्शनको उन्होंने नहीं समझा हो, ऐसी भी बात नहीं; किंतु सब एक-से अधिकारी नहीं होते। सबकी बुद्धि समान सूक्ष्मग्राहिणी नहीं होती। निम्न-कोटिके अधिकारीको स्थूल तर्कोंसे समझाना पड़ता है—जैसे-जैसे वह उन्नत होता है, तर्क सूक्ष्म होते जाते हैं—जैसे प्रथम कक्षासे उन्नत कक्षाओंकी पाठ्य पुस्तकोंके विषय।

दर्शनशास्त्रका उद्देश्य है जगत् एवं जीवके तत्त्वको समझा देना। यह जगत् क्या है? किसने इसे बनाया और क्यों बनाया? इसके नियम क्या हैं? हम किसलिये जगत्में आये? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है और न स्वाभाविक हो तो होनी चाहिये। हम जहाँ काम करने चले हैं, उस क्षेत्रका स्वरूप और कामका उद्देश्य तो हमें जानना ही चाहिये। अब जो जैसा अधिकारी होगा, उसे उसकी बुद्धिके अनुरूप ही समझाना पड़ेगा। ऋषियोंने इस दृष्टिसे दर्शनशास्त्रोंका निर्माण किया। वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा—ये दर्शन-शिक्षाकी उत्तरोत्तर उच्च कक्षाएँ हैं। इनमें जो भेद प्रतीत होता है, वह तात्त्विक नहीं है। अतएव दूसरे दर्शनोंके भेदोंकी भाँति इनमें ह्रास-विकासकी भावना असंगत है।

दर्शनशास्त्र श्रेणी-क्रमसे अधिकारीको श्रुतियोंके समग्र दर्शनतक ले जाते हैं। अतएव उनका विवरण उनकी कक्षाके क्रमसे ही देना उचित होगा। इनमें स्थूल बुद्धिके सामान्य अधिकारीके लिये महर्षि कणादने वैशेषिक दर्शनकी योजना की है।

वैशेषिक-दर्शन

ईश्वर और जीव—ये नित्य तत्त्व हैं। जीवका जगत्में कर्तव्य है कि वह धर्मका पालन करे। धर्म वही है, जो अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी सिद्धि करे। धर्माचारका विधान वेदोंमें है। वेद ईश्वरीय वाणी है। वेद धर्मोंका वर्णन उद्देश्य (नाम-निर्देश), विभाग तथा लक्षण (वस्तु-धर्म-निरूपण) से करते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव—ये सात पदार्थ हैं। पञ्चमहाभूत, काल, दिक्, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य हैं। ये द्रव्य ही क्रिया, गुणके आश्रय तथा समवायी कारण हैं। स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, सुख, दुःख, बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द—ये चौबीस गुण हैं। इनमें रूप (रंग) सात प्रकारका, रस छः प्रकारका, गन्ध दो प्रकारका (सुगन्ध-दुर्गन्ध) तथा बुद्धि दो प्रकारकी—संशयात्मिका तथा निश्चयात्मिकारूप होती है। निश्चयात्मिका बुद्धि प्रमा (विद्या) है। अनिश्चयात्मिका बुद्धि अप्रमा (अविद्या) के तीन रूप हैं—संशय, विपर्यय (उलटा ज्ञान) और स्वप्न। प्रमा-बुद्धि प्रत्यक्ष एवं अनुमानके आधारपर रहती है। संस्कार तीन प्रकारके होते हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक। कर्म पाँच प्रकारका होता है—उत्सर्पण, अपसर्पण, आकुञ्चन, प्रसारण और गति। सब पदार्थोंमें जो एकता है, वह सामान्य-तत्त्व है। परमाणुओंमें स्थित अतीन्द्रिय तत्त्व, जो उनकी पृथक्ताका कारण है, विशेष है। पदार्थोंका नित्य सम्बन्ध समवाय है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव—ये चार प्रकारके अभाव हैं।

न्यायदर्शन

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—इन सोलहकी यथार्थ प्रमा (ज्ञान) ही मुक्तिका हेतु है। ज्ञानके चार साधन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। आत्मा, आयतन (देह), इन्द्रिय, अर्थ (विषय), मन, बुद्धि, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग—इनका ज्ञान ही मोक्षका कारण है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान—ये आत्मा (जीव) के चिह्न हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, इच्छा, बुद्धि और प्रयत्न—ये आत्मा तथा ईश्वरके गुण हैं। शरीर चेष्टा, इन्द्रियों तथा विषयोंका आश्रय है। अर्थ सब परमाणुरूप हैं। पूर्वकृत कर्मसे शरीर बना है। पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्च-भूतोंके सूक्ष्मांशसे बनी हैं। मन अणुरूप अन्तरिन्द्रिय है। बुद्धि केवल ज्ञानोपलब्धिमात्र है, वह अनित्य है।

महर्षि गौतमने जल्प-वितण्डा आदिको यथार्थतः समझ-कर उनसे सावधान रहने योग्य बननेकी प्रेरणा दी है। पदार्थोंके स्थूलरूप और गुणोंसे उठकर उनके परमाणुरूपका विस्तार किया है।

सांख्य

महर्षि कपिलने परमाणुवादसे ऊपर उठकर प्रकृति-का प्रतिपादन किया। साख्यमें जाकर जगत्की विवेचना अपनी सीमापर पहुँच गयी। आजकल सांख्यदर्शनके जो सूत्र मिलते हैं, उनको विद्वान् प्रामाणिक नहीं मानते। सांख्य-दर्शनपर ईश्वरकृष्णकी कारिका ही प्रामाणिक मानी जाती है।

मूलतः दो अनादि तत्त्व हैं—प्रकृति तथा पुरुष। जगत्मे प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति तथा उभय-भिन्न—चार प्रकारके पदार्थ हैं। प्रकृति किसीका कार्य नहीं है, अतः वह केवल प्रकृति है। प्रकृतिसे महत्तत्त्व, उससे अहंकार और अहंकारसे पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न होती है। तन्मात्राओंसे पञ्च-महाभूत उत्पन्न होते हैं। महत्तत्त्व, अहंकार और तन्मात्राएँ प्रकृति-विकृतिस्वरूप हैं। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पञ्चमहाभूत और मन—ये केवल विकृति हैं। जीव उभयभिन्न है। वह निर्लिप्त है। पुरुष चेतन है और प्रकृति अचेतन। पुरुषके सामीप्यसे प्रकृतिमे चेतनाकी प्रतीति होती है। प्रकृति-पुरुषके विवेकसे अपने निर्लिप्त स्वरूपका ज्ञान ही मोक्षका हेतु है।

सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोकी साम्यावस्था प्रकृति है। सत्त्वगुणका धर्म सुख, रजोगुणका दुःख और तमोगुणका मोह है। यह सम्पूर्ण जगत् प्रकृतिसे होनेके कारण त्रिगुणात्मक है। अहंकार त्रिविध होता है। उसके सात्त्विक अंशसे मनके साथ ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तथा तामस अंशसे तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। राजस अंश दोनों अंशोंका प्रेरक है। एक प्रकृति; महत्, अहं और पाँच तन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति-विकृति; और पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियाँ तथा मन—ये सोलह विकृति—इस प्रकार सब चौबीस तत्त्व हैं। पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है।

पुरुष अनन्त हैं। वे परस्पर भिन्न हैं। पुरुष चेतन है, भोक्ता है। वह प्रकृतिके कर्तृत्वको अपनेमें मानता है। जब पुण्योदयसे पुरुष त्रिविध दुःखोंके नाशकी इच्छा करता है, तब प्रकृति उसकी इच्छा सफल करती है। पुरुषकी भोगेच्छा न होनेपर प्रकृति स्वतः शान्त हो जाती है। क्योंकि प्रकृतिकी चेष्टा पुरुषके उपभोगके लिये ही है, अपने लिये नहीं; अतः वासना-नाश होनेपर प्रकृति बन्धन उपस्थित नहीं कर सकती।

बौद्ध-दर्शन असत्से सत्की उत्पत्ति मानता है। न्याय सत्से असत्की उत्पत्ति बतलाता है। सांख्यने सत्से सत्की ही उत्पत्तिका प्रतिपादन किया। सांख्य-का मूल तर्क है कि किसी पदार्थसे विरोधी पदार्थकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जो पदार्थ जिस पदार्थसे अन्वित (व्याप्त) है, उसका कारण भी वही (व्यापक) है। पदार्थका नाश नहीं होता। उसका केवल तिरोभाव होता है।

योगदर्शन

महर्षि पतञ्जलिका योगदर्शन सेश्वर सांख्यदर्शन ही है। योगदर्शन सांख्यसे विचारमें कोई भेद नहीं रखता। सांख्यके पचीस तत्त्व योगको भी मान्य हैं। इनके अतिरिक्त पुरुषविशेष ईश्वरको छब्बीसवाँ तत्त्व माना गया है। योग-दर्शन क्लेश-नाशका एक व्यावहारिक साधनमार्ग देनेके लिये प्रवृत्त हुआ है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये जीवके पाँच क्लेश हैं। इनसे नित्यमुक्त, कर्मविपाक तथा आशय-सम्पर्कसे शून्य, अद्वितीय, ज्ञानरूप ईश्वर है। यह संसार दुःखमय एवं हेय है। चित्तकी वृत्तियोंके कारण ही संसारमें कर्मबन्धन है। चित्तवृत्तियोंके निरोधसे क्लेशोंका नाश होकर जीवात्मा-परमात्माका योग होता है। यम,

नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये चित्तवृत्ति-निरोधरूप योगके आठ अङ्ग हैं।

पूर्वमीमांसा-दर्शन

सांख्यदर्शनका तत्त्वज्ञान तो उत्तरमीमांसा-दर्शनमें आगे बढ़ा; किंतु सांख्य, योग और उत्तरमीमांसा—तीनों ही दर्शन तत्त्वज्ञानके लिये पुण्यकर्मोंका उदय आवश्यक मानते हैं। अतः कर्मोंका विचार करनेके लिये पूर्वमीमांसा-दर्शनकी महर्षि जैमिनिने रचना की।* योगशास्त्रने कर्मके एक रूपका विकास किया। उत्तम कर्माधिकारीके लिये योग है। कामना-हीन मुमुक्षु पुरुष वैराग्य तथा साधनके अभ्याससे समाधिलाभ करके मुक्त होगा; किंतु जो विरक्त नहीं है, उसकी उधर रुचि न होगी। उसको तो उपभोग चाहिये। उसके लिये पूर्वमीमांसा-दर्शन कर्म-सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। इस पूर्वमीमांसा-दर्शनको ही लोकमें मीमांसादर्शन कहा जाता है और उत्तरमीमांसा-दर्शन वेदान्तदर्शनके नामसे प्रख्यात है।

वेद नित्य हैं। उनके मन्त्र ही देवता हैं। वेदोंके विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति और नामधेय—ये पाँच अङ्ग हैं। शब्द नित्य है। शब्दोंमें इन पाँच ही अङ्गोंकी अभिव्यक्ति होती है। वेदादि किसी ग्रन्थका तात्पर्य समझनेके लिये ग्रन्थका उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—इन सात बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है। प्रत्येक वाक्य किसी व्यापार या कर्मका बोधक होता है और उसका कुछ फल होता है। कर्म स्वयं फलोत्पादनमें समर्थ हैं।

कर्मफलका विधान, कर्मभेद आदिका वर्णन 'धर्म' के विवेचनके साथ किया गया है। पूर्वमीमांसा-दर्शनका उद्देश्य शास्त्रोंपर प्रबल निष्ठा उत्पन्न करके अधर्मकी निवृत्ति तथा धर्मकी प्रवृत्ति करना है।

उत्तरमीमांसा-दर्शन

भगवान् व्यासके इस दर्शनको वेदान्तदर्शन कहते हैं। ब्रह्मकी जिज्ञासाके लिये इसकी प्रवृत्ति है और ब्रह्मका लक्षण है **'जन्माद्यस्य यतः'**—जिससे सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं। पूरा दर्शन इसी लक्षणकी व्याख्या है। पुराणोंमें श्रुतिसे जो दर्शन-शास्त्र आया है, पुराणकारने उसीको इन सूत्रोंमें व्यवस्थित कर दिया है। भगवान् व्यासके इस उत्तरमीमांसा-दर्शन (ब्रह्मसूत्र) को लेकर आचार्योंने अपने-अपने दृष्टिकोणसे उसका भाष्य किया है। सम्प्रदायोंकी प्रतिष्ठा उन भाष्योंके आधारपर ही है। ब्रह्मसूत्र (न्याय-प्रस्थान), एकादश उपनिषद् (श्रुतिप्रस्थान) तथा गीता (स्मृति-प्रस्थान)—ये तीन ग्रन्थ प्रस्थानत्रयीके नामसे विख्यात हैं। इन सबपर भाष्य करके ही सम्प्रदाय पहले चले हैं। वर्तमान समय-की भाँति कल्पित सम्प्रदाय भारतमें पहले चल नहीं सकते थे।

अद्वैतवाद

दृश्य-जगत् केवल प्रतीतिमात्र है। यह प्रतीति अज्ञानके कारण है। एक ही निर्गुण, निराकार, निर्विकार चेतन सत्ता है। दृश्य-जगत् उससे भिन्न नहीं है। वह उसी ब्रह्मसत्तामें अध्यस्त है। समस्त दृश्य परिणामी और अनित्य हैं। सबका द्रष्टा एक है। ज्ञेय भी ज्ञाताका सोपाधिक रूप है। नाम तथा रूप—ये मनकी वृत्तियाँ हैं। जगत् नाम-रूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं। नाम एवं रूपकी प्रतीति मायासे है। माया अनिर्वचनीय है; परंतु अनादि होते हुए भी ज्ञानके द्वारा उसका अन्त होनेसे उसकी सत्ता नहीं है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। उसमें सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत—किसी प्रकारका कोई भेद नहीं है।

भगवान् शङ्कराचार्यने जगत्की प्रतीति रस्सीमें सर्पके भ्रमके समान विवर्तसे बतलायी। अद्वैतवादमें दृष्टि-सृष्टि-वाद और अजातवाद-जैसे कई प्रक्रियाभेद हैं। जगत्की प्रतीतिको लेकर ही ये सिद्धान्त बने हैं। इनमें बौद्धदर्शनके तर्कोंका अनेक बार प्रकारान्तरसे उपयोग हुआ है। ब्रह्मकी अद्वैत सत्ता और जगत्के मिथ्यात्वको सभी मानते हैं। अतः प्रक्रिया भिन्न होनेसे कोई मौलिक भेद उनमें नहीं होता।

जगत् प्रतीति है, मिथ्या है, अध्यास या विवर्त है—यहाँतक तो शास्त्रका पूर्वोक्त समग्र दर्शन ही है। भगवान् शङ्कराचार्यने व्यावहारिक एवं पारमार्थिक—दो प्रकारके सत्यका प्रतिपादन किया है। उन्होंने **'ईश्वरानुग्रहादेव पुमान द्वैतवासनः'** कहकर ईश्वरीय कृपा अपेक्षित मानी है एवं उपासना, भक्ति तथा आचार-को महत्त्व दिया है। संसार प्रतीति है; वह कल्पना है; पर है समष्टि-के संचालककी कल्पना। जीवकी कल्पना उसमें 'अहं' और 'मम' रूप ही है। अतः 'अहं' और 'मम' को छोड़ना तो हमारे

---

* महर्षि जैमिनिकृत इस पूर्वमीमांसा-दर्शनके अतिरिक्त भारतधर्म-महामण्डलके द्वारा एक श्रीभरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शन और प्रकाशित हो रहा है। यह ग्रन्थ भी बहुत उपयोगी है। इसके मान लेनेपर वैदिक दर्शनोंकी संख्या सात हो जाती है।

वशमे है और समष्टिका लय समष्टिकर्ताके वशमे। जब पारमार्थिक सत्य किसीकी प्रतीतिको आत्मसात् कर लेता है, तब व्यावहारिक सत्यके बन्धन उसके लिये नहीं रह जाते—जैसे जो रुपयेके मोहसे ऊपर उठ गया, उसके लिये नोट कागजके टुकड़े हैं।

बौद्धधर्म अपने वज्रयानके स्तरपर उतर आया था। वामतन्त्रकी साधनाएँ भी अनाचारमे बदल गयी थीं। तर्कने दर्शनको जडवादी बना दिया था। इसी वातावरणमें भगवान् शङ्कराचार्यका प्रादुर्भाव हुआ। वैभाषिक बौद्धदर्शनका आधार जडको सत्य मानना था, भगवान् शंकराचार्यने प्रतिक्रिया उत्थित की। जड दृश्य जगत् केवल प्रतीति है। बौद्धदर्शनके ही मध्यमाचारसे यह मत मिलता है। बौद्ध-दर्शनसे शाङ्करदर्शनका भेद यह है कि उसमें श्रुति, शास्त्र एवं आस्तिकताकी प्रतिष्ठाके साथ ज्ञानको आचारकी अपेक्षा महत्ता दी गयी। उस समय जो वामाचार, कापालिक आचार आदि उच्छृङ्खलताएँ आचारके नामपर प्रश्रय पा गयी थीं, उनका निषेध आवश्यक ही था। मानवको उस समय रुककर शुद्ध विचार करना परमावश्यक था।

विशिष्टाद्वैतवाद

अद्वैतवाद साधन-चतुष्टय, श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे अपरोक्षानुभूतिका प्रतिपादन लेकर प्रवृत्त हुआ; किंतु मानव-प्रकृति तो अधोगामिनी है। आचारसे ज्ञानकी श्रेष्ठताके प्रतिपादनने केवल बौद्धिक ज्ञानको महत्त्व दे दिया। आचार छूट गया। इन्द्रियोंके विषयोका सेवन तो व्यवहार माना जाने लगा और बुद्धिको महत्ता मिल गयी। अद्वैतबोध भी अनुभूतिसे उठकर दूसरी विद्याओंकी भाँति एक बौद्धिक ज्ञान हो गया। जीव नित्यमुक्त शुद्ध ब्रह्म है, उसे कोई आचार बाधित नहीं करता। विषयोपभोगादि तो व्यवहार है, कल्पना है, अज्ञानकी प्रतीति है। सदाचार, उपासनादि सब अज्ञान हो गये। देहात्मवादी नास्तिक तथा बौद्धिक वेदान्तीमे केवल यह अन्तर रहा कि एक मूलतत्त्वको जड कहता है, दूसरा चेतन। शेष मान्यताएँ दोनोंकी एक हो गयीं। **'कलौ वेदान्तिनः सर्वे'**—शास्त्र ऐसे ही वेदान्तको कलिका धर्म बतलाता है। आज वह प्रत्यक्ष है।

व्यवहार एवं व्यावहारिक सुख जबतक अपेक्षित है, जबतक उनकी प्रतीति है, तबतक जिसकी कल्पनाने उनका सर्जन किया है, हम उसके अधिकारक्षेत्रमें हैं। यदि ये भोग हमारी कल्पना होते तो हमे उनको पानेका प्रयत्न न करना पड़ता। हम कल्पनासे उनकी सृष्टि कर लेते। जिसके कल्पना-क्षेत्रमें हम व्यवहार चलाते हैं, वह हमारा शास्ता है। हम उसकी कृपासे उस क्षेत्रसे बाहर हो सकते हैं। उसके क्षेत्रमें रहकर उसके नियमोंको भंग करनेपर दण्ड मिलेगा ही। इस सत्य एवं आचारकी प्रतिष्ठाके लिये महाप्रभु रामानुजाचार्यने विशिष्टाद्वैत-मतका प्रवर्तन किया।

चित्-अचित्-विशिष्ट समग्र तत्त्व ही ब्रह्म है। ब्रह्मके चेतन अंशसे चित् (जीव) और अचित्से जड (प्रकृति) हुई है। ब्रह्म जगत्का निमित्त तथा उपादान कारण है। जीव ब्रह्मका ही अंश है। भगवान् नारायण ही इस समस्त जड-चेतन सत्ताके स्वामी हैं। ये निखिलगुणगणैकधाम नित्यवैकुण्ठविहारी हैं। उनकी शरणमें जानेसे ही जीवकी मुक्ति होती है। प्रपत्ति (शरणागति) ही मोक्षका सर्वोत्तम साधन है। जीव ज्ञाता है। ज्ञान जीवका धर्म है। वह ज्ञानस्वरूप नहीं है। जीव और ईश्वर नित्य भिन्न हैं। यथावस्थित व्यवहारानुगुण ज्ञान ही प्रमा है। निर्विकल्प और सविकल्प दोनों प्रकारके ज्ञान विशेषतायुक्त तत्त्वके ही होते हैं। जिसमें कोई विशेषता न हो, उसका ज्ञान नहीं होता। आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा विषय-संयोग—ये ज्ञानके हेतु हैं। जो कर्म-सम्बन्धी ज्ञानसे सम्पन्न है, वही ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी है।

'ब्रह्म सगुण एवं सविशेष है, क्योंकि उसका ज्ञान होता है।' यह श्रुतिका मत है। जगत् ब्रह्मका परिणाम है। उपासनासे अज्ञानकी निवृत्ति ही जीवका प्रयोजन है। ब्रह्म श्रीनारायण अपनी योगमाया-शक्तिसे समन्वित रहकर कर्मफलदाता, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी ईश्वररूपसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, संहारके कारण हैं। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा—इन विग्रहोंमे जीवको उनकी उपलब्धि होती है। उन श्रीनारायणके अवतार कर्मके कारण नहीं होते। वे स्वेच्छासे ही अवतार धारण करते हैं। उनमें विकार नहीं होता। जीव चेतन, अणुरूप तथा ब्रह्मका शरीर है। जीव और ब्रह्ममें स्वगत-भेद है। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन, स्वयंप्रकाश, ज्ञानाश्रय, नित्य, देहादिसे भिन्न हैं। जीव कर्ता, भोक्ता, ब्रह्मका शरीर तथा दास है। जीवकी ब्रह्मसे कभी अभिन्नता नहीं होती। अप्राकृत चिन्मय शरीरसे वैकुण्ठधाममें निवासकी प्राप्ति ही मुक्ति है। यह मुक्ति ब्रह्मकी कृपासे उनकी प्रपत्तिद्वारा ही प्राप्त होती है।

विशिष्टाद्वैतमत शरणागति—प्रपत्तिका मार्ग है।

आराध्यके अनुकूलका संकल्प और प्रतिकूलका त्याग प्रपत्तिका स्वरूप माननेका यह निर्विवाद अर्थ हो गया कि शास्त्र-विपरीत समस्त कर्म त्याज्य हैं और शास्त्राचार ही विहित है; क्योंकि शास्त्र ही भगवान्‌के आदेश हैं। शास्त्रके अतिरिक्त हम उनकी अनुकूलता जान सकें, इसका कोई उपाय ही नहीं। नियम बड़ा उच्च है; किंतु मनुष्यका स्वभाव नियमका दुरुपयोग करना—ह्रासोन्मुख होना है। आचार्यमतके बदले यह आचारियोंका मत कहा जाने लगा। प्रपत्ति—शरणागतिका मुख्य अंश—भाव गौण हो गया और क्रिया ही प्रधान हो गयी। शास्त्रका बाह्याचार अपनी सीमाको पार कर गया और भावकी उपेक्षा हो गयी। फलतः उपासना, जो मुख्य लक्ष्य थी, विशेष प्रकारकी क्रियाओंमें बद्ध हो गयी। इस स्थितिमें शेष वैष्णव मतोंका प्रसार हुआ।

द्वैतवाद

महाप्रभु श्रीमध्वाचार्यद्वारा प्रसारित द्वैतवाद, पूर्णप्रज्ञ-दर्शन कहा जाता है। इस मतका संक्षिप्त सार है—'जीव और ब्रह्म—ये दो नित्य पृथक् सत्ताएँ हैं। जीव अणु एवं दास है और ब्रह्म सगुण, सविशेष, स्वतन्त्र। जीवका परमार्थ है सालोक्यादि मुक्तियोंमें किसीकी प्राप्ति। जीव एवं ब्रह्ममें साम्यबोध भ्रम एवं अपराध है। दृश्य-जगत् सत्यसे अभिन्न है। विकारी और परिवर्तनशील होनेपर भी जगत् मिथ्या नहीं है। क्योंकि असत्यका ज्ञान नहीं हुआ करता। ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेयके आधीन है। ज्ञानकी चिन्तनसे भिन्न स्थिति नहीं है। अतः ज्ञान सदा सविकल्प ही होता है। ज्ञान आपेक्षिक है। ज्ञान ही ज्ञेयका प्रतिपादक एवं प्रधान प्रमाण है। ब्रह्म शास्त्रैकगम्य है। वह पूर्णतः वाणीका विषय नहीं होता। भाववस्तु, गुण, क्रिया, जाति, विशेषत्व, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव—ये दस पदार्थ हैं। भाववस्तु दो प्रकारकी है—चेतन और अचेतन। परमतत्त्व ब्रह्म भगवान् विष्णु हैं। भक्ति, त्याग, ध्यान—ये साधन हैं जीवके लिये, जिनसे वह मुक्त होता है।

द्वैताद्वैतवाद

महाप्रभु श्रीनिम्बार्काचार्यने द्वैत एवं अद्वैत दोनोंका सामञ्जस्य करनेवाला प्रकाश जगत्‌को दिया—जगत् ब्रह्मका परिणाम है। ब्रह्ममें परिणाम होनेपर भी वह विकृत नहीं होता। ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है। उसका सगुण भाव मुख्य है। जीव तथा जगत्—ये दोनों ब्रह्मके परिणाम हैं। ये ब्रह्मसे पृथक् भी हैं और अपृथक् भी। जगदतीतरूपमें ब्रह्म निर्गुण है। ब्रह्म जगत्‌का निमित्त-उपादान कारण है। जीव ब्रह्मका अंश है, उससे भिन्न भी और अभिन्न भी। जीवका स्वरूप अणु है। मुक्त जीव अपनी तथा जगत्‌की ब्रह्मसे अभिन्नताका अनुभव करता है। मुक्तिका साधन केवल उपासना है।

शुद्धाद्वैतवाद

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने जगत्‌के मिथ्यात्वका खण्डन करके उपासनाकी प्रतिष्ठा की है। श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। वे निर्गुण, निर्विशेष, कर्ता, भोक्ता, निर्विकार, गुणातीत, समस्त विरुद्ध धर्मोंके आश्रय, संसारके धर्मोंसे रहित तथा जगत्‌के उपादान हैं। जगत् सत्य है। वह कार्य है। ब्रह्मसे अभिन्न उसकी परिणति है, क्योंकि ब्रह्म अविकृत परिणामी है। जगत्‌में पदार्थोंका आविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है। जीव शुद्ध तथा अणुरूप है। जीवके लिये ब्रह्मसे प्रीति करना ही श्रेष्ठ मार्ग है। इस प्रीतिकी चरम परिणति है श्रीकृष्णमें पतिभावकी प्राप्ति। यह भगवदनुग्रह (पुष्टि) से होती है। ब्रह्मका विवेचन शास्त्रके द्वारा ही सम्भव है।

अचिन्त्यभेदाभेदवाद

श्रीकृष्ण सत्य हैं, इतना जानना ही जीवके लिये पर्याप्त है—महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके इस भावको श्रीगोस्वामि-पादोंने अचिन्त्यभेदा-भेदवादका दार्शनिक रूप दिया। महाप्रभुने श्रीमद्भागवतको ही गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्म-सूत्रोंका भाष्य माना था; अतः प्रस्थानत्रयीपर भाष्य न करके भागवतरूप भाष्यसे ही यह दर्शन पुष्ट हुआ है। बहुत पीछे जाकर ब्रह्मसूत्रपर भाष्य भी रचा गया।

ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म—ये पाँच तत्त्व हैं। शास्त्र वाचक हैं और ईश्वर वाच्य। ईश्वरका ज्ञान शास्त्रसे ही होता है। ब्रह्मतत्त्व सगुण सविशेष श्रीकृष्ण ही हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वज्ञतादि समस्त गुणोंसे युक्त, जीवको भोग एवं मोक्ष देनेवाले हैं। वे निर्गुण हैं, क्योंकि उनमें कोई प्राकृत गुण नहीं। उनमें सभी अप्राकृत गुण हैं। संवित्, सन्धिनी और ह्लादिनी—ये तीन शक्तियाँ हैं उन सच्चिदानन्द ब्रह्म श्रीकृष्ण-की। जगत् ब्रह्मका परिणाम है। यह सत् किंतु अनित्य है। ईश्वर, जीव, काल और प्रकृति—ये चार तत्त्व नित्य हैं। प्रकृति ब्रह्मकी शक्ति है, त्रिगुणात्मक है, नित्य है। कर्म जड

हैं। वे ईश्वरकी शक्तिरूप हैं। जीव अणु है। वह ब्रह्मका भोग्य है। प्रेमके द्वारा श्रीकृष्णका सान्निध्य प्राप्त कर लेना ही जीवकी मुक्ति है।

अद्वैतवादके अतिरिक्त शेष सब वैष्णव दर्शन उपासनाकी सिद्धिके लिये हैं। अतः इनमें जगत्‌की सत्यता तथा ब्रह्मके सविशेषरूपका प्रतिपादन है। प्रस्थानत्रयीके ही ये सब भाष्य हैं, अतः भाष्यरूप दर्शनोंमें मौलिक समानता तो होनी ही चाहिये। आचार्योंने साधनोंकी पुष्टिके लिये दर्शनका विस्तार किया है। अद्वैतवाद ज्ञानयोगकी पुष्टिके लिये और वैष्णवदर्शन उपासनाकी पुष्टिके लिये हैं। इनमेंसे प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी अनादि परम्परा मानता है। आद्याचार्यका अर्थ केवल उस मतका प्रस्थानत्रयीपर भाष्य करके प्रचार करनेवाले महापुरुषसे है। उन्होंने सिद्धान्तकी सृष्टि की, ऐसा न तो वे मानते और न उनके अनुयायी। सत्य दस बीस प्रकारका नहीं हो सकता; किन्तु जब हम वाणीमें उसे व्यक्त करते हैं, तब हमारे दृष्टिकोण एवं वाणीके भेदसे वह विविधरूप हो जाता है। अचिन्त्यरूपा माया-शक्ति, अवाङ्मनसगोचर परम-तत्त्व—ये सबको मान्य हैं। इनकी उपलब्धि, इनकी अनुभूतिके मार्ग भिन्न-भिन्न होंगे अधिकारीके अनुरूप। जिस अधिकारका प्रतिपादन होगा, उसके दृष्टिकोणसे तत्त्वका व्यक्तीकरण भी होगा। जैसे अधिकार-भेदसे बने पुराणोंमें परतत्त्व कहीं शिव, कहीं शक्ति, कहीं विष्णुके रूपमें सर्वोपरि प्रतिपादित हुआ है, वैसे ही आचार्योंके सिद्धान्तोंका भेद भी अधिकार-पुष्टिके लिये है। उनमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं।

शैव-दर्शन

निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले दर्शनको छोड़ देनेपर सविशेष-ब्रह्म-प्रतिपादक दर्शनोंके शैव एवं वैष्णव—दो मुख्य भेद रह जाते हैं; यों तो सौर, शाक्त, गाणपत्य—तीन और भेद हैं। इनमें वैष्णव-दर्शनोंकी चर्चा हो चुकी है। अद्वैतवाद निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादक दर्शन है। उसमें शैव एवं वैष्णव—दोनों प्रकारके उपासक हुए हैं। आजकल शिवोपासना अद्वैतवादियोंमें मुख्यता प्राप्त कर चुकी है; किन्तु आदिसे कभी भी वैष्णव उपासनाका न तो अद्वैतवादसे विरोध था और न श्रीकृष्णके उपासकोंका अद्वैतवादियोंमें अभाव ही। शैव और वैष्णव दोनों दर्शनोंमें ब्रह्मको सविशेष माननेपर शक्तिकी महत्ता मानी गयी है।

वैष्णव-दर्शन तथा अद्वैतवादकी प्रवृत्ति वेदोंको परम प्रमाण माननेकी है। उपासनाके लिये निगम (वेदादि-शास्त्रों) के साथ आगम (तन्त्रों) का दक्षिणाचार भी सर्वत्र स्वीकार किया गया है; किन्तु परम प्रमाण श्रुति ही रही है। शैव-दर्शन आगम (तन्त्र) को निगमके समान ही परम प्रमाण मानकर प्रवृत्त हुए हैं। उपासनाके क्षेत्रमें उनकी प्रवृत्ति आगमकी ओर है। वे निगमको गौण मानते हैं। आगमके दक्षिणाचारके साथ उन्होंने वामाचारको भी स्थान दिया है।

पाशुपत-दर्शन

तीन नित्य पदार्थ हैं—पति, पशु और पाश। पति परमेश्वर है। वह कर्मादि-सापेक्ष कर्ता है। जीव (पशु) को वही फल देता है। वह शरीरी तथा संसारका कारण है। ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव एवं सद्योजात—ये मन्त्र ही क्रमशः उसके सिर, मुख, हृदय, गुह्य तथा चरण हैं। वह मन्त्रमूर्ति है। पतिके इन पाँच रूपोंमें ईशानरूप क्षेत्रज्ञ एवं भोक्ता है। तत्पुरुष प्रकृतिरूप है। अघोर धर्मादि आठ अङ्गोंसे युक्त बुद्धि है। वामदेव अहङ्कार है और सद्योजात मनस्तत्त्व है।

जीव ही पशु है। वह अपरिच्छिन्न, दुर्ज्ञेय तथा कर्ता है। पाश चार हैं—मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति। अपवित्रता मल-पाश है। इसमें बद्ध जीव विज्ञानाकल कहलाता है। असमाप्तकलुष जीव साधनासे मन्त्रेश्वर-पद प्राप्त करता है। तथा कलुष समाप्त होनेपर वह विद्येश्वर-पद पाता है। धर्म एवं अधर्म—ये कर्म-पाश हैं। इन पाशोंसे तथा मलपाशसे बद्ध जीव प्रलयाकल कहा जाता है। इस कोटिके जीव पाश-द्वयके पक्व होनेपर मुक्त हो जाते हैं। सभी पाशोंसे बद्ध जीवोंकी संज्ञा जीवसकल है। जिसके अंदर प्रलयमें सब कार्य समा जाते हैं और सृष्टिमें जिससे प्रकट होते हैं, वह माया तथा पुरुषकी गतिमें बाधा देनेवाले कर्म रोध-शक्ति हैं। प्रलयाकल जीवोंमें अपक्वपाशद्वय जीव पुर्यष्टक-देह धारणकर नाना योनियोंमें जन्म लेते हैं। पुर्यष्टक-देहमें अन्तःकरणचतुष्टय, पञ्चभूत, पञ्चभूतात्मा (तन्मात्राएँ), दस इन्द्रियाँ, पाँचों शब्दादि विषय, काल, नियति, विद्या, राग, प्रकृति, गुण और भोग-साधनकला—ये छत्तीस तत्त्व होते हैं।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन

काश्मीरमें श्रीअभिनवगुप्ताचार्यने शैवदर्शनका जो स्वरूप उपस्थित किया, वही प्रत्यभिज्ञादर्शन कहा गया—प्रतिजीव महेश्वरका आभिमुख्येन ज्ञान ही 'प्रत्यभिज्ञा' है। परा सिद्धि

लोककल्याणकारी भगवान् शङ्करका हलाहल पान

ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम्। अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः॥
(श्रीमद्भागवत ८।७।४२)

(मुक्ति) और अपरा सिद्धि (अभ्युदय)—ये देवलोक-प्राप्त्यादि बाह्य क्लेश एवं आन्तरिक क्लेशोंके बिना ही परमेश्वरताकी प्राप्तिसे सिद्ध होते हैं। परमेश्वरका दासत्व सम्पत्तिकी पराकाष्ठा है। यद्यपि ईश्वर स्वभावतः नित्य सिद्ध है, तथापि मायावश अंशतः ईश्वररूपकी अप्रकाशमानता ही उसमें जीवत्व है। शास्त्रोंकी पूर्ण सहायतासे ईश्वरकी पूर्ण शक्तिका ज्ञान होता है। पूर्णशक्ति परमात्मा जब आत्माके सम्मुख प्रकट होते हैं, तब उनकी शक्तिके प्रति-सन्धानसे ज्ञान होता है। उस ज्ञानसे ईश्वर और अपनेमें अभेद-बोध होता है।

ईश्वर निर्विकल्प एवं निर्विकार हैं। परंतु उनमें शक्तिका स्पन्दन है। निस्तरङ्ग परमात्माकी निर्विकल्प सर्वतोमुखी वृत्ति ही स्पन्द है। ब्रह्ममें ज्ञान तथा क्रिया है। चिद्-रूपत्व, अनवच्छिन्नविमर्शत्व, अन्योन्यमुखत्व तथा आनन्द-घनैकत्व ही महेश्वरत्व है। वे भावात्मा तथा समस्त पदार्थोंके स्वरूप हैं। उनकी इच्छासे ही जगत्की सृष्टि हुई है।

महेश्वर निरावरण चैतन्यस्वरूप, अनवच्छिन्न, अद्वितीय, स्वानुभवैकप्रमाण, शक्तिचक्रेश्वर, आत्मचिन्तामणि, उपेय तथा अभिधेय हैं। उनकी स्वाभाविक शक्ति ही प्रकृति है। उनकी इस स्वात्मभूता प्रकृतिमें कभी व्यभिचार नहीं होता। महेश्वर कर्ता, ज्ञाता तथा अनादिसिद्ध स्वात्मा हैं। जीव चेतन, पर अनीश्वर है। वह प्रत्यगात्मा परमेश्वरसे भिन्न है। मोहाच्छन्न होनेसे कर्ममें बद्ध होकर वह संसारी होता है। जीव महेश्वरका दास है। महेश्वरके साथ एकत्व स्थापित होनेपर वह सब विषयोंको ग्रहण करनेकी पूर्ण शक्ति पाता है। सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वरूप महेश्वरत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। ज्ञान प्रकाशस्वरूप, चित्स्वरूप, सर्वप्रकाशक, अखण्ड और एक है। प्रत्यभिज्ञा (जीवेश्वरका अभेद-बोध) ही मुक्तिका साधन है।

शिवाद्वैत

ब्रह्म (महेश्वर) आराध्य हैं और धर्माचरण उनकी आराधना है। फलेच्छात्यागपूर्वक कर्म करनेसे पापोंका नाश होता है। पापनाशसे चित्त शुद्ध होनेपर ज्ञान होता है। कर्म एवं ज्ञानके समुच्चयसे ही मुक्तिकी सिद्धि होती है। जीवका परम पुरुषार्थ शिवकी समानगुणतारूप मुक्ति पाना है। यह शिवकृपासे ही सिद्ध होती है। इस प्रकार मुक्ति शिवका प्रसाद है। यह प्रसाद उपासनाद्वारा प्राप्त होता है।

ब्रह्म (शिव) सगुण, सविशेष, ज्ञानानन्द-शक्तिसम्पन्न, जगत्‌रूप होनेवाले, मनके द्वारा आनन्द भोगनेवाले हैं। जीव अनादि, अज्ञानवासनाबद्ध, परवश, विभु, चेतन, शक्ति-परिच्छिन्न, कर्ता, भोक्ता है। जीवमें कर्तृत्व स्वाभाविक है। वह किसीका प्रकाश्य नहीं। मुक्त जीव भी अन्तःकरण-समन्वित रहता है। पाश नष्ट होनेसे वह अखण्ड आनन्दका उपभोग करता है। ब्रह्मकी परमाशक्ति (चिच्छक्ति—चिदा-काश) में जगत्का बीज है। वही प्रपञ्चका कारण बनती है। ब्रह्म परिणामी है और जगत् परिणाम। जन्म, स्थिति, प्रलय, तिरोभाव, अनुग्रह—ये ब्रह्मके पाँच कृत्य-प्रपञ्चक हैं।

शिवत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। कर्म, उपासना या ब्रह्मविद्यासे शिवत्वकी प्राप्ति होती है। शूद्रका अधिकार ब्रह्मविद्यामें नहीं है। सत्कर्माचरण तथा पुराणादि-श्रवणसे उसका पाप नाश हो जाता है।

लकुलीश पाशुपत-दर्शन

पशुपतिने बिना किसी कारण एवं साधनके ही संसारका निर्माण किया। इस संसारसे मुक्ति दो प्रकारकी होती है—एक तो दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और दूसरी पारमैश्वर्यकी प्राप्ति। पारमैश्वर्य है दृक्शक्ति (सर्वज्ञता) और क्रियाशक्ति—इच्छित वस्तुकी प्राप्ति। भगवद्दासत्व एक प्रकारका बन्धन है। व्रत, भस्मादि-धारण तथा उपहार—एकान्तमें शिव-नाम लेकर हँसना, रोना एवं जपादि तथा द्वार (लोकमें विपरीत चेष्टा—पागलका-सा आचार)—ये साधन हैं धर्मार्थके।

शक्ति-दर्शन

पराशक्ति त्रिपुरसुन्दरीसे ही शब्द एव वस्तुओंकी उत्पत्ति हुई है। परमतत्त्व शिव हैं। शक्तिके स्फूर्तिरूप धारण करनेपर शिवने उसमें तेजस्-रूपसे प्रवेश किया, तब बिन्दुका प्रादुर्भाव हुआ। शिवमें शक्तिके प्रवेशसे नारी-तत्त्व—नाद व्यक्त हुआ। ये ही दोनों तत्त्व (नाद-बिन्दु) मिलकर अर्धनारीश्वर हुए। यही कामतत्त्व है। पुंतत्त्व श्वेत एवं नारीतत्त्व लाल है। दोनोंसे कलाकी उत्पत्ति हुई है। इस काम एवं कलाके तथा नाद एवं बिन्दुके योगमें ही सृष्टि हुई है। मूलतत्त्व अनन्त एवं अव्यक्त है। सृष्टिके प्रत्येक विकासमें उस शिवतत्त्वका आगम है। उस शिवकी अज्ञा आद्या-शक्ति ही प्रकृतिरूपा हैं।

जीवके उद्धारके लिये वेद, वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त तथा कुल—ये सात आचार हैं। दिव्य भावके आश्रयसे देव-साक्षात्कार, वीर-भावसे क्रियासिद्धि और पशुकी प्राप्तिसे

ज्ञानसिद्धि होती है । आराधनाके लिये महाशक्तिके दस महाविद्यारूप हैं—महाकाली, उग्रतारा,, षोडशी (त्रिपुरसुन्दरी), भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातङ्गी और कमला । इन शक्तियोंके साथ परतत्त्वके दस आराध्य रूपोंकी उपासना होती है । क्रमशः उनके नाम हैं महाकाल, अक्षोभ्य पुरुष, पञ्चवक्त्र रुद्र, त्र्यम्बक, कबन्ध, दक्षिणामूर्ति, एकवक्त्र रुद्र, मतङ्ग, सदाशिव और विष्णु । जीव आचारपालन एवं आराधनासे, शक्तिकी कृपासे शिवत्वको प्राप्त करके पाशमुक्त हो जाता है ।

कुछ अन्य दर्शन

, इन दर्शनोंके अतिरिक्त भक्तिके स्वरूप, साधन और तत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले नारद तथा शाण्डिल्यकृत भक्तिसूत्र भी भक्तिदर्शनके रूपमें विख्यात हैं । ये बड़े ही उपयोगी तथा भक्तितत्त्वका निरूपण करनेवाले दर्शन हैं । इनके सिवा वैद्यक-शास्त्रका अपना पृथक् दर्शनशास्त्र है । कर्म एवं प्रारब्धको मानकर उसमें चिकित्साका क्या स्थान है, यह इस दर्शनशास्त्रका विषय है । इसी प्रकार 'रसेश्वर' दर्शन है । इस दर्शनकी मान्यता है कि 'परमतत्त्व रसरूप है । शिव एवं पार्वतीका वह मूलभाव स्थूल जगत्में पारद एवं अभ्रक रूपसे व्यक्त है । पारद आनन्दकी मूर्त अभिव्यक्ति है । पारद ही रस है । सृष्टिसे पार करनेवाला होनेसे उसे पारद कहा जाता है । पारदकी सिद्धिसे शरीर जरा-मृत्युपर विजय पा लेता है । इसी प्रकार ज्यौतिषका दर्शनशास्त्र भी पृथक् है । उसका सारांश इस प्रकार है—

सम्पूर्ण जगत् और उसकी घटनाएँ नक्षत्र-जगत्पर अवलम्बित हैं । नक्षत्रोंकी गति, स्थिति एवं संयोग ही संसारके समस्त रूपों, क्रियाओं तथा गुणोंके कारण हैं । भावोंकी जो अभिव्यक्ति पृथ्वीपर क्रिया और पदार्थके रूपमें है, वही समष्टिमें नक्षत्रोंके रूपमें है । प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक आकृति पूर्वनिश्चित है । अवश्य ही उसमें स्थित जीव बदलता रहता है । सभी आकृतियाँ, क्रियाएँ, शब्दादि नित्य हैं । उनका बराबर आविर्भाव, तिरोभाव होता रहता है । इस प्रकार संसारका इतिहास अपनेको बार-बार ज्यों-का-त्यों दुहराता है । प्राणीके कर्म संकल्पपूर्वक ही होते हैं । संकल्प ही कर्मका कारण है । संकल्प भावस्तरोंकी अभिव्यक्ति है । यही भाव सारे ग्रहोंके भी संचालक हैं । अतः कर्म सदा ग्रहोंके अनुसार ही होंगे । प्रारब्धवाद और ज्यौतिषमें कोई भेद नहीं है । मनुष्यका कर्म उसे फल देनेमें स्वयं समर्थ है ।

ज्यौतिषकी भाँति ही व्याकरणका भी दर्शनशास्त्र है । इस दर्शनको स्फोटवाद या शब्दाद्वैतवाद कहते हैं । महर्षि पाणिनि इसके उद्भावक हैं । यह दर्शन कहता है—'शब्द अनादि और सनातन है; जितने द्रव्य हैं, वे कल्पना या विचारकी छाया, उन्हींके मूर्तरूप हैं । दृश्य जगत् अवास्तविक है । शब्दके बिना ज्ञान स्वयंप्रकाश नहीं है । शब्द और ज्ञान—ये परस्पर अविभेद्य हैं । शब्दकी स्मृति ही श्वासादि समस्त क्रियाओंका कारण है । शब्द अव्याख्येय शक्तिसे युक्त है । संसार अर्थोंसे बना है । शब्द उसका ज्ञान देता है । वाचकताका अधिष्ठान प्रणव है । वही जगत्का मूल कारण है । नाम-रूपात्मक ही विश्व है । विश्व शब्दब्रह्मका परिणाम नहीं, विवर्त है । शब्दका अर्थसे कल्पित सम्बन्ध नहीं, नित्य सम्बन्ध है । व्यक्त शब्दकी वाणी मूलाधारमें परा, नाभिमें पश्यन्ती, हृदयाकाशमें मध्यमा और कण्ठमें वैखरी रूपसे प्रकट होती है । प्रणवोपासना, योग, शुद्ध एवं सत्य भाषण शब्दब्रह्मकी अनुभूतिमें सहायक हैं ।

इसी प्रकार योगके अनेक मार्गोंने शरीरको ज्ञान या सत्यका मन्दिर मानकर नेती, धोती आदि षट्कर्मसे उसकी शुद्धिका प्रतिपादन किया है । षट्चक्र-वेधका कुण्डलिनी-योग भी एक दर्शनशास्त्र ही है । ब्रह्म, विष्णु तथा रुद्र ग्रन्थियोंको वेदान्तके मल, विक्षेप, आवरणकी भाँति मानकर उनके वेधनके लिये प्रवृत्त होनेवाली तन्त्रसाधनाका भी एक दर्शन है । ये सभी आस्तिक दर्शन साधन एवं अधिकारीके भेदसे ही भिन्न हैं । वस्तुतः इनका मूल समग्र दर्शन है और वही उनका लक्ष्य भी है ।

भारतीय दर्शन और व्यवहार

एकत्वमें अनेकताकी अभिव्यक्ति और अनेकतामें एकताका दर्शन, यही भारतीय दर्शनकी विशेषता है । एक हिंदीके सम्मान्य विद्वान्ने अभी कहा है—'विश्वकी नाना विभिन्नताओंमें एकताका जितना पूर्ण एवं सार्थक विवेचन भारतने किया, वैसा कोई देश और कोई जाति न कर सकी; किंतु हमारे देशमें जितना श्रेणीभेद है, उतना और कहीं नहीं है ।' यह आश्चर्य आपको साम्यवादकी भ्रान्त धारणाके कारण हुआ । नहीं तो अनेकतामें एकताका दर्शन ही भारतीय परम्परा है । अनेकतामें एकत्वका वर्तन न सम्भव है और न आदर्श । पशु, मानव, वृक्षादिमें एकत्वका दर्शन करके यदि एक-सा आहार भी सबको दिया जाने लगे तो उसमें सबकी हानि होगी । लाभ किसीका न होगा । अतएव एकत्व तो बुद्धिमें व्यवस्थित होनेका

व है । एकत्वसे बहुत्वका उत्थान भी भारतीय दर्शनने ही तलाया है। जिस कर्म, अधिकार, भावादि भेदसे बहुत्वका त्थान है, उसके अनुरूप व्यवहार ही व्यक्ति एवं समाजके लिये ल्याणकारी है । अतः व्यवहारमे दूसरे देशोंकी अपेक्षा हुत अधिक श्रेणी-भेद अधिकार-निरूपणका परिणाम है । ह लाभकारी है और एकत्वका अविरोधी है । भारतीय र्शनकी गम्भीरताके साथ उसकी यह मौलिक विशेषता समझे बिना हम उसकी व्याख्या करते समय भ्रममे पड़ते हैं । पदार्थ-विज्ञान तथा आलोचनाके क्षेत्रमे हम प्रत्यक्ष यह सिद्धान्त देखते है कि ज्ञान जितना सूक्ष्म होगा, पदार्थोंके उपयोग एवं श्रेणी-भेद बढ़ेगे और अज्ञान श्रेणी-भेदोंका लोप करता है । विचार जहॉ व्यावहारिक श्रेणी-भेद बढ़ाता है, वही मूल एकत्वका दर्शन कराता है; पर अज्ञानमे, श्रेणियोंका लोप होनेके साथ बौद्धिक भेद बढ़ता है।

हिंदू-संस्कृति और उपनिषद्

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

उपनिषद् हिंदू-संस्कृतिकी अमूल्य और कही भी, किसी भी धर्म या भाषामे न मिलनेवाली अतुलनीय अध्यात्म-सम्पत्ति है । आज हम इससे पराङ्मुख है, इसीलिये परमुखापेक्षी, दीन और नाना प्रकारके सङ्कटोसे ग्रस्त है । अपने घरकी इस निधिको सम्हाले और समझ ले तो हमारे सारे दुःख-संकट आज ही दूर हो सकते है ।

पातञ्जल महाभाष्य (पस्पशाह्निक) मे लिखा है—'ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १००, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी ९ शाखाऍ हैं। अर्थात् सब मिलाकर चारो वेदोकी ११३० शाखाऍ है ।' प्राचीन साहित्यसे यह भी पता चलता है कि जितनी शाखाऍ थी, उतनी ही संहिताऍ थी, उतने ही ब्राह्मण और आरण्यक थे, उतने ही कल्पसूत्र और उपनिषदे थी; परंतु हमारे दुर्भाग्यसे इन दिनो कोई भी विभाग पूरा-का-पूरा नही मिलता । प्रत्येक शाखाकी एक विशिष्ट उपनिषद् थी; इसलिये ११३० उपनिषदे उपलब्ध होनी चाहिये । परंतु मिलती है १०८, जो उपनिषत्साहित्यकी सारभूत हैं (मुक्तिकोपनिषद् १४४)। मुक्तिकोपनिषद् (प्रथम अध्याय)से यह भी विदित होता है कि '१०८ मे १० ऋग्वेदसे, १९ शुक्लयजुर्वेदसे, ३२ कृष्णयजुर्वेदसे, १६ सामवेदसे और ३१ अथर्ववेदसे सम्बन्ध रखती हैं।' हॉ, इनके अतिरिक्त पूनाके डा० वेलवलकरने पहले-पहल बाष्कल्य, छागल्य, आर्षेय और शौनक नामक उपनिषदोको सानुवाद प्रकाशित किया है । जर्मन भाषाके अनुवादके साथ डायसनने ६० उपनिषदोको प्रकाशित किया है। इस प्रकाशनके कई संस्करण हो चुके है। नारायणस्वामी और ह्यूमने अंग्रेजी-अनुवादके साथ ३०-३० उपनिषदोको छापा है । इसी तरह कही १०८, कही ३८, कही २८, कही ११ और कही ९ उपनिषदे इकट्ठी छापी गयी है । शाहजहॉके बड़े बेटे दाराशिकोहने भी फारसी-अनुवादके साथ कई दर्जन उपनिषदोको छपाया था । इधर अड्यार (मद्रास) की थियासाफिकल सोसाइटीने तो लगभग २०० उपनिषदे छापी है ।

'उप' और 'नि' उपसर्गोवाले 'सद्' धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय करनेपर 'उपनिषद्' शब्द बनता है । इसका तात्त्विक अर्थ ब्रह्मविद्या है । प्रायः इसी अर्थमे यह शब्द रूढ़ है । काठकोपनिषद्के उपोद्घातमे श्रीशङ्कराचार्यने लिखा है कि 'जिससे मुमुक्षुओकी ससार-बीज भूत अविद्या नष्ट होती है, जो विद्या उन्हे ब्रह्मप्राप्ति करा देती है और जिससे दुःखोका सर्वथा शिथिलीकरण हो जाता है, वही. अध्यात्मविद्या उपनिषद् है ।' इसका मुख्य अर्थ तो ब्रह्मविद्या ही है, गौण अर्थ ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक ग्रन्थविशेष है । परंतु कुछ उपनिषदे योग-स्वरूपके विचारसे परिपूर्ण है और कुछमे विष्णु, शिव और शक्तिकी उपासनाऍ भी भरी पड़ी है ।

उपनिषदो, श्रीमद्भगवद्गीता और व्यासकृत वेदान्त-सूत्रोका नाम आचार्योने 'प्रस्थानत्रयी' रक्खा है । प्रस्थानत्रयी ही हिंदू-धर्म और हिंदू-दर्शनकी विशेष आधारशिला है; परंतु गीता और ब्रह्मसूत्रका मूल-स्रोत उपनिषदे है, इसीलिये सस्कृत-साहित्यमे सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपनिषदे मानी जाती है । जिस सम्प्रदायकी भाष्य-टीकाऍ उपनिषदोपर नही है, वह नगण्य माना जाता है । इसीलिये प्रायः सभी सम्प्रदायोने उपनिषदोपर टीकाऍ लिखी है ।

वेदोके जो मन्त्र और ब्राह्मण नामके दो भाग हैं, उनमेसे ब्राह्मणभागमे मन्त्रोका अर्थ-निर्णय किया गया है, याज्ञिक

अनुष्ठानोंके विस्तृत विवरण दिये गये हैं और नाना उपाख्यान कहे गये हैं। तपोधन ब्राह्मणोंने ब्राह्मण-भागका संकलन और संस्मरण किया है; इसीलिये इस भागका नाम 'ब्राह्मण' या 'ब्राह्मण-ग्रन्थ' है। ब्रह्मका एक अर्थ यज्ञ भी है; इसलिये यज्ञप्रतिपादक होनेके कारण भी इनका नाम 'ब्राह्मण' पड़ा। जिन ऋषियोंने, जिनके वंशने या जिनके शिष्योंने जिस ब्राह्मण-ग्रन्थका उपदेश दिया है, उन्हींके नामपर प्रायः उस ग्रन्थका नामकरण भी हुआ है। ब्राह्मणोंके जो अंश अरण्य या विपिनमें पठित और उपदिष्ट हैं, उनका नाम 'आरण्यक' है और इन ब्राह्मणों या आरण्यकोंके जो भाग गहन-गम्भीर हैं और सूक्ष्म मनन-चिन्तनसे परिपूर्ण हैं, उनका नाम 'उपनिषद्' है।

स्थान-संकोचके कारण यहाँ उन्हीं बारह उपनिषदोंका अत्यन्त संक्षिप्त परिचय लिखा जायगा, जिनपर श्रीशङ्कराचार्य-जीने भाष्य लिखा है। इन बारहों उपनिषदोंको वेदान्तसूत्रके शारीरक-भाष्यमें शङ्कराचार्यने वेद कहकर बार-बार पुकारा है। अन्य छः उपनिषदोंका भी शङ्कराचार्यने उल्लेख किया है, परंतु उनपर भाष्य नहीं लिखा है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक सबसे बड़ी उपनिषदें हैं। कुछ गद्यमें हैं, कुछ पद्यमें और कुछ उपनिषदें गद्य-पद्यात्मक भी हैं। ऋषियोंके आध्यात्मिक अनुभव सूत्ररूपसे उपनिषदोंमें ग्रथित हैं; इसलिये उपदेशोंमें कहीं-कहीं सामञ्जस्यका अभाव होना स्वाभाविक है। तो भी उपदेशोंकी महानतामें कोई कमी नहीं आती।

ऋग्वेदका जो कौषीतकि या शाङ्खायन आरण्यक इस समय उपलब्ध है और जिसे ए० बी० कीथने अंग्रेजीमें भी अनूदित और सम्पादित कर प्रकाशित किया है; उसमें पंद्रह अध्याय पाये जाते हैं। इसी आरण्यकके तीसरेसे छठे अध्यायोंका नाम 'कौषीतकि-उपनिषद्' है। इस उपनिषद्के प्रथम अध्यायमें चित्र गार्ग्यायणि नामके क्षत्रिय राजाने उद्दालक आरुणि नामके विद्वान् ब्राह्मणको परलोकविषयक उपदेश दिया है। दूसरे अध्यायमें महाप्राण अर्थात् परब्रह्मका और पिता-पुत्रके सस्नेह सम्बन्धका विवरण है। तीसरेमें इन्द्रने काशिराज दिवोदासको प्राण और प्रज्ञाका उपदेश दिया है, चौथेमें काशिराज अजातशत्रुने बालाकि नामके ब्राह्मणको परब्रह्मकी शिक्षा दी है।

ऋग्वेदीय 'ऐतरेय आरण्यक'में पाँच भाग या आरण्यक हैं और सबको प्रसिद्ध वेदज्ञ सत्यव्रत सामश्रमीजीने सायण-भाष्यके साथ प्रकाशित किया है। इनमें द्वितीय आरण्यक अर्थात् स्वतन्त्र द्वितीय भागके चौथेसे छठे अध्यायोंको 'ऐतरेयो-पनिषद्' कहा जाता है। इसके प्रथम अध्यायमें संसारकी सृष्टि, दूसरेमें जीवोंके जन्म और तीसरेमें परब्रह्मकी समीक्षा है।

सामवेदकी कौथुमी शाखाका ब्राह्मण चालीस भागोंमें परिपूर्ण हुआ है। इसके पचीसवें भागको पञ्चविंश या 'ताण्ड्य ब्राह्मण', छब्बीसवेंसे तीसवें भागोंको 'षड्विंश ब्राह्मण', इकतीसवेंसे बतीसवें भागको 'मन्त्र ब्राह्मण' और तैंतीसवेंसे चालीसवें भागको 'छान्दोग्योपनिषद्' कहा जाता है। सत्यव्रत सामश्रमी, ए० सी० वेदान्तवागीश, के. क्लेम, एच. एफ्. एल्सिंग आदिने इन ब्राह्मणग्रन्थोंको अत्यधिक व्यय करके सम्पादित और प्रकाशित किया है।

छान्दोग्योपनिषद् एक विशाल ग्रन्थ है। इसके पहले और दूसरे भाग या प्रपाठकमें ओंकार, उद्गीथ और सामकी आलोचना है। तीसरेमें परब्रह्मकी विभूति है। इसी भागमें देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी भी कथा है। श्रीकृष्ण घोर आङ्गिरस-से धर्मकथा सुनकर भूख-प्यास भूल गये थे। चौथेमें सत्य-काम जाबालकी कथा है। सत्यकामने बाल्यकालकी स्वाभाविक कार्यपरम्पराको ही देखकर परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया था। पाँचवेंमें लिखा है—श्वेतकेतु आरुणेय नामके शास्त्रज्ञाता ब्राह्मणने प्रवाहण जैवलि और अश्वपति कैकेय राजाओंसे परमात्माका उपदेश पाया था। इन्हीं श्वेतकेतुने अपने पिता उद्दालक आरुणिसे परब्रह्मका ज्ञान पाया था—यह बात भी छठे भागमें है। सातवेंमें उल्लेख है कि सनत्कुमारसे नारदजीने नाम, वाक्य, मन, सङ्कल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, आशा, प्राण और परमात्माके सम्बन्धमें उपदेश प्राप्त किया था। आठवें भाग या प्रपाठकमें परब्रह्म और प्रजापतिके सम्बन्धमें अनेकानेक जटिल और निगूढ़ आलोचनाएँ हैं।

सामवेदकी ही तलवकार शाखाकी 'केनोपनिषद्' है। यह इस शाखाका नवम अध्याय है। परंतु यह प्रचलित तलवकारोपनिषद्से भिन्न है। इसके प्रथम और द्वितीय खण्डोंमें परब्रह्मका विवेचन है। तीसरे और चौथेमें लिखा है—देवोंके सामने परमात्मा प्रकट हुए। परंतु देवोंने उन्हें पहचाना नहीं। अनन्तर हैमवती उमाने देवोंसे कहा—'ये ब्रह्म हैं। इन्हींकी शक्तिसे तुम्हें महिमा मिली है।' इस कथाके व्याजसे यह बताया गया है कि वायु, अग्नि आदि प्राकृत शक्तियाँ परमात्मशक्तिका ही विकासमात्र हैं।

कृष्णयजुर्वेदका 'तैत्तिरीय आरण्यक' दस प्रपाठकोंमें विभक्त है। इनमें सातवें, आठवें और नवें प्रपाठकोंको

'तैत्तिरीयोपनिषद्' कहा जाता है। प्रथम प्रपाठक या वल्लीमें ओंकार तथा 'भूः, भुवः, स्वः' शब्दोंका प्रकृत अर्थ बताया गया है और धर्मानुष्ठानका पवित्र सदुपदेश किया गया है। दूसरी वल्लीमें परब्रह्मका समीक्षण किया गया है। तीसरीमें वरुण-ने अपने पुत्रको परमात्माका उपदेश किया है। कृष्णयजुर्वेद-की ही काठक-संहिताकी 'कठोपनिषद्' है। इसमें छः वल्लियाँ हैं। इसीमें नचिकेताकी प्रसिद्ध कथा है। नचिकेताने मृत्यु-के मन्दिरमें जाकर मृत्युसे ही परमात्माकी शिक्षा ली है। यहाँ परमात्मा और जीवात्माके विषयमें बहुत ही सुन्दर उपदेश है। इसी वेदकी 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' है, जिसमें सांख्य, योग और वेदान्तका रहस्य भरा पड़ा है।

शुक्लयजुर्वेदकी वाजसनेयसंहिताके चालीसवें अध्यायको 'ईशावास्योपनिषद्' कहा जाता है। इसमें परमात्मविषयक एक-से-एक अद्भुत और अनूठे उपदेश हैं। इस वेदकी जो वाजसनेय (माध्यन्दिन) और काण्व नामकी दो संहिताएँ प्रसिद्ध हैं, उन दोनोंके ब्राह्मणोंका नाम 'शतपथब्राह्मण' है। यह सबसे बड़ा ब्राह्मण-ग्रन्थ है और इसे जे० एगलिंग, ए० वेबर (माध्यन्दिन) तथा डब्ल्० कैलेण्डर (काण्व) ने लाखों रुपये व्यय करके सायणभाष्यके साथ प्रकाशित किया है। माध्यन्दिन शाखाके शतपथब्राह्मणमें चौदह काण्ड हैं और इन काण्डोंमें एक सौ अध्याय हैं। इसीलिये इसका नाम 'शतपथ' रक्खा गया है। इसके चौदहवें काण्डको आरण्यक कहा जाता है और इस आरण्यकके अन्तिम छः अध्यायोंका नाम 'बृहदारण्यकोपनिषद्' है। इसके पहले अध्यायमें सृष्टि और सृष्टिकर्ताका परिचय दिया गया है। दूसरेमें अजातशत्रुसे गार्ग्य-बालाकिने परमात्मज्ञान प्राप्त किया है। तीसरेमें उल्लेख है—विदेहराज जनकने एक विराट् सभा की, जिसमें कुरु, पाञ्चाल आदि प्रदेशोंके अनेकानेक वेदज्ञाता पधारे। सभामें सबको राजा जनकके पुरोहित याज्ञ-वल्क्यने पराजित करके राजपुरस्कार प्राप्त किया। सभामें गार्गी वाचक्नवी नामकी महाविदुषी महिला भी उपस्थित थीं; परंतु वे भी याज्ञवल्क्यसे परास्त हो गयीं। चौथेमें जनक और याज्ञवल्क्यके बीच परब्रह्मके बारेमें एक-से-एक विकट तर्क-वितर्क देखे जाते हैं। इसी अध्यायमें अपनी पत्नी मैत्रेयीको याज्ञवल्क्यने परमात्माका उपदेश दिया है। पाँचवें-मे ब्रह्म और प्रजापति, वेदत्रय और गायत्रीका वर्णन है। छठेमें कहा गया है—उद्दालक आरुणिने प्रवाहण जैवलि नामक क्षत्रिय राजासे ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया और उस ज्ञानसे याज्ञवल्क्यको परिचित कराते हुए उद्दालकने कहा—'सूखे काठको भी यदि ऐसा अमृतमय उपदेश दिया जाय तो उसमें भी टहनियाँ और पत्ते निकल आवें।'

अथर्ववेदकी उपनिषदें तो अगणित बतायी जाती हैं; परंतु तीन अत्यन्त प्राचीन हैं—प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् और माण्डूक्योपनिषद्। प्रश्नोपनिषद्में परमात्मविषयक छः प्रश्न और उनके उत्तर हैं। मुण्डकोपनिषद्में तीन भाग या मुण्डक हैं और सबमें परमात्मरहस्य विवृत हैं। माण्डूक्यमें ब्रह्मकी सर्वव्यापकता प्रतिपादित की गयी है।

यही उन बारह उपनिषदोंका अतीव संक्षिप्त दिग्दर्शन है, जिनपर भगवान् शङ्कराचार्यने अपना अपूर्व भाष्य लिखा है। इनमें भी सामवेदीय केनोपनिषद्पर आचार्यचरणने दो भाष्य लिखे हैं—एकका नाम पदभाष्य है और दूसरेका नाम वाक्यभाष्य है।

ब्राह्मणों और आरण्यकोंको कर्मकाण्ड कहा जाता है और उपनिषदोंको ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्डकी चर्चा तो इन दिनों नाममात्रकी ही है; क्योंकि इसके आधार जो यज्ञ हैं, वे या तो विलुप्त-से हो गये हैं अथवा रूपान्तर प्राप्त कर चुके हैं; परंतु ज्ञानकाण्डमें कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ है। उपनिषदोंमें जो परमात्मा, आत्मा, सृष्टि, पुनर्जन्म, स्वर्ग, धर्म आदिका विवरण दिया हुआ है, वह आजतक ज्यों-का-त्यों है; बल्कि हिंदूधर्मका आजतक वही आधार माना जाता है। इसीलिये प्रत्येक हिंदू उपनिषदोंके प्रत्येक वाक्यको मन्त्रवत् सुनकर विमुग्ध और आनन्दनिमग्न हो जाता है। उपनिषदोंपर अबतक जितने भाष्य, वृत्तियाँ और टीकाएँ लिखी गयी हैं, कदाचित् ही किसी दूसरे साहित्यपर इतनी हों। शङ्कराचार्य, आनन्द भट्टोपाध्याय, अनन्ताचार्य, ब्रह्मानन्द, शङ्करानन्द, विद्यारण्य, सुरेश्वराचार्य, नारायण, विज्ञानभागवत, आनन्दगिरि, मुनि नित्यानन्द, रङ्गरामानुज, दिगम्बरानुचर, मध्वाचार्य, जयतीर्थ, व्यासतीर्थ, रघूत्तमस्वामी, ब्रह्मयोगी, नारायणमुनि, भास्करानन्द, अरविन्द घोष, महादेव शास्त्री, श्रीशचन्द्र वसु, भगवद्दत्त, भीमसेन, श्रीधर शास्त्री आदि-आदिकी जो उपनिषदोंपर भाष्य-टीकाएँ हैं, वे इस बातका समर्थन करती हैं। यही नहीं, विदेशी विद्वान् भी उपनिषदोंकी चमत्कारिता, सरलता, सुकुमारता, सुन्दरता, मृदुता और मञ्जुलतापर मुग्ध तथा आसक्त हैं। ऑटो श्राडर, जी० ए० जेकब, ओर्टल, मैक्समूलर, ऑटो बोट्लिंग, हारमन ओल्डेनबर्ग, ई० ह्यूम, राबर्ट जिमरमन, सी० ओ० हास, गोल्डस्टकर, पाल डायसन, आर्थर एवलन, एफ० टी०

ब्रुक्स आदि-आदिने अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओंमे उपनिषदोंपर जो टीकाएँ लिखी हैं और उनके अनुवाद किये हैं, उनसे उपनिषदोंकी महिमा और गरिमा सारे संसारमें फैली है। विश्वविख्यात जर्मन विद्वान् शोपेनहारने लिखा है—'सारे संसारमे ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदोंके समान उपयोगी और उन्नतिकी ओर ले जानेवाला हो। वे उच्चतम बुद्धिकी उपज हैं। आगे या पीछे एक दिन ऐसा होना ही है कि यही जनताका धर्म होगा।' मैक्समूलरने लिखा है—'उपनिषदें वेदान्तके आदि-स्रोत हैं और ये ऐसे निबन्ध हैं, जिनमे मुझे मानवीय उच्चभावना अपने उच्चतम शिखरपर पहुँची हुई मालूम पड़ती है।' सचमुच उपनिषदोंका प्रत्येक वचन वह अमर और प्रतापमयी वाणी है, जिसे पढ़कर और जिसके अनुसार आचरणकर कितने ही विद्वान् सिद्ध बन गये, कितने ही पुरुष योगी हो गये, कितने ही जीवन्मुक्त और कितने ही ब्रह्ममे विलीन हो रहे।

उपनिषदें ज्ञानभंडार हैं और इन्हींसे सारे दर्शन, सब शास्त्र, सब तर्क, अखिल युक्तियाँ, समस्त तन्त्र, समूचे पुराण, सम्पूर्ण पदार्थ, विज्ञान और निखिल विद्याएँ निकलकर मानव-जातिको आनन्द और शान्तिकी विमल मन्दाकिनीमे बहा रही हैं। इस प्रपञ्चमय संसारके सारे दुःख-दारिद्र्य, पाप-ताप और दैन्य-हैन्यको मार भगानेके लिये उपनिषदें जादूकी झोली हैं।

उपनिषदें क्रियात्मक विद्या हैं, काल्पनिक नहीं। मनुष्य अपने जीवनमें उपनिषद्-शिक्षाको व्यावहारिक रूपमे लाकर स्वयं निरञ्जनको प्राप्त कर सकता है और समाजको भी उन्नतिके शिखरपर पहुँचा सकता है। उपनिषदोंके उपदेशके अनुसार मनुष्य कामादि षड्रिपुओंसे दूर रहकर, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालनकर तथा शम, दम आदि साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होकर स्वयं आत्मज्योति पा लेता है और दिव्य तेजसे समाज, देश, जातिको भी उद्भासित कर देता है। उपनिषदें बताती हैं कि मनुष्य अमृत-पुत्र है, वह संयमी रहकर बड़ी सरलतासे अमरता प्राप्त कर सकता है और हर एक प्रजाका ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक उन्नयन कर सकता है। कर्मफलका त्याग करके अथवा उसे ईश्वरार्पण करके निष्काम कर्मयोगी और लोकसंग्रही बननेकी शिक्षा उपनिषदोंका प्रत्येक वचन देता है। केवल मीठा-मीठा चिल्लानेसे मुँह मीठा नहीं हो सकता; इसीलिये उपनिषदें कहती हैं—'केवल पुस्तके रटनेसे या किसीका उपदेश सुन लेनेसे ही आत्मज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** अर्थात् पहले उपदेश सुनो या ग्रन्थ पढ़ो, उसके बाद उसका पूरा मनन करो, एकान्त शान्तिमे उसपर खूब विचार करो और उसके अनन्तर चित्तवृत्तियोंको समेटकर अर्थात् अन्तर्मुख करके, मनको एकाग्र करके बराबर ध्यान धरो; तभी तुम्हें महाज्योति, अखण्ड आनन्द और सनातन शान्तिकी प्राप्ति होगी। इसके सिवा उपनिषदोंका यह भी उपदेश है कि जिस किसीसे उपदेश नहीं लेना चाहिये; पूर्ण संयमी बनकर वेदज्ञाता, ब्रह्मनिष्ठ और तपोधन गुरुसे ही उपदेश लेना चाहिये।

बृहदारण्यक (५।२।१—३) में एक सुन्दर उपाख्यानके द्वारा दान, दम और दयाकी शिक्षा दी गयी है। छान्दोग्य (३।१७।४) ने दान, आर्जव, सत्य और तपको अध्यात्म-मार्गका साधन बताया है। तैत्तिरीय (१।२।१—३) ने गुरु और माता-पिताकी सेवा, स्वाध्याय और धर्माचरणका उपदेश दिया है। छान्दोग्यने एक दूसरे स्थल (४।४।१—५) पर सत्यकी शिक्षाको अनिवार्य बताया है। प्रश्नोपनिषद् (६।१) और मुण्डकोपनिषद् (३।१।६) में भी ये ही बातें हैं। बृहदारण्यकने एक स्थानपर (४।४।२३) ज्ञान-साधनके लिये विवेक और वैराग्यको आवश्यक बताया है। मुण्डक (१।२।१२) ने भी इसका समर्थन किया है। बृहदारण्यक (४।४।५) और छान्दोग्य (८।१६) ने मनुष्यको संकल्प करने और कर्म करनेमे स्वतन्त्र बताया है। मुक्तिकोपनिषद् (२।५।६) ने पुरुषार्थ करनेपर विशेष बल दिया है। कठोपनिषद् (४।११) ने बन्धनका कारण एकत्व-ज्ञानके अभावको बताया है। श्वेताश्वतर (३।८) ने जन्म-मरणके विकट चक्रको पार करनेका उपाय आत्मसाक्षात्कार बताया है। मृत्युके अनन्तर कर्मानुसार मार्ग पानेकी बात भी कही है (बृहदारण्यक ६।२; छान्दोग्य ४।१५; कौषीतकि १।२-३)। बृहदारण्यकका यह भी मत है (४।४-७) कि जिस समय मनुष्यकी सारी वासनाएँ छूट जाती हैं, उस समय इसी लोकमे वह ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। ओंकारके निरन्तर ध्यानसे 'निगूढ़-देव-दर्शन' की बात कही गयी है (श्वेताश्वतर १।१४) तथा आत्मोपलब्धिको 'भूमा' कहा गया है। 'जहाँ न तो दूसरेको देखता है, न दूसरेको सुनता है, न दूसरेको जानता है, वह है भूमा। भूमा ही अमृत है; इसके अतिरिक्त जो है, वह मर्त्य और अनित्य है।' (छान्दोग्य ८।२२)

इस तरह चाहे जिस दृष्टिसे देखिये, उपनिषदोंका प्रत्येक उपदेश अमूल्य और अनुपम है। वे हिंदू-संस्कृतिकी अमूल्य निधि हैं और हिंदूजातिके लिये तो गर्वकी वस्तु हैं ही, असलमें

वे मनुष्यजातिके लिये भी गौरवकी वस्तु हैं। उपनिषदोंके उपदेशोंके अनुसार अपनेको बना लीजिये; आपको वह दिव्य और भव्य महाशक्ति प्राप्त हो जायगी, जिसकी मुट्ठीमें समूची प्रकृति आ जाती है। आप सारे सौरमण्डलकी नकेल पकड़ लेंगे। फिर तो विज्ञान आपको खिलवाड़ जँचेगा, विद्या आपकी विरुदावली बखानेगी और मृत्यु आपकी दासी बन जायगी। आप जिसे देख देंगे, वह देवता बन जायगा; आप जहाँ पैर रख देंगे, वहाँ सोना हो जायगा; आप जिसपर कृपा कर देंगे, वह त्रिलोकध्वंसी भीम हो पड़ेगा। यदि आप उपनिषदोंके ब्रह्मद्रवमें अपनेको विलीन कर सकें, तो पृथ्वी आपका आँगन बन जायगी, आकाश आपका रङ्गमञ्च हो जायगा और आपका जीवन संगीतमय हो रहेगा। आपकी प्रत्येक गतिमें रणचण्डीका अट्टहास होगा। आपकी हरएक दृष्टिमें लक्ष्मीका सरस-सुखद आवास होगा; आपकी प्रत्येक कथामें कलाकी कमनीय काकली कूजेगी और आपकी प्रत्येक क्रियामें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का मेघमन्द्र निनाद होगा। चर और अचर, जड और चेतनकी राई-रत्ती कथा कहनेवाली उपनिषदोंके उपदेशमें और तदनुसार आचरणमें जिन्होंने अपनेको डुबा दिया है, उनके उपदेश अमोघ महामन्त्र हैं, वे ब्रह्माण्डभालके तिलक हैं, वे ईश्वरीय दूत हैं। विश्वमें ऐसे महापुरुषोंका अवतरण और संचरण आनन्द और शान्तिकी विमल मन्दाकिनी बहानेके लिये है। ऐसे पुरुष जिधर चलते हैं, उधर ही चन्दनवाही मलयानिल बहता है, उधर ही दीपावली है, उधर ही श्री—सम्पत्ति हाथ जोड़े खड़ी रहती है, उधर ही सौन्दर्य और सौकुमार्यकी नवल-धवल ज्योत्स्ना थिरकती है। इनकी प्रत्येक गति लोककल्याणके लिये है, ये ही जगदुद्धरण और साधुसंरक्षण करते हैं, इन्हींका उद्देश्य कलियुगको सत्य-युगकी ओर ले जाना है।

हिंदू-संस्कृतिका प्राकार !

गर्भवासमें मिलती शिक्षा, होते थे सोलह संस्कार।
बाहर आते ही माता भी सिखलाती थी शौचाचार॥
सदाचारकी सत्-शिक्षा सबको मिलती थी बारंबार।
नित्य-नियमसे होता रहता देवाराधन, धर्माचार॥ १॥

सन्ध्या-तर्पण, नित्य श्राद्धकी वेदध्वनिका मधु गुञ्जार।
नित्य होम, स्वाध्याय हो रहा, अतिथी-अभ्यागत-सत्कार॥
अर्चा-पूजा प्रेमभावसे, करते सब सात्त्विक आहार।
व्रत-उपवास, कथामृतरसको पीते, करते तत्त्व-विचार॥ २॥

काम्य कर्म ही वे नर करते, होता जिन्हें भोग-सुख-प्यार।
किंतु विचक्षण बुद्धिमान् नर करते कामशून्य आचार॥
सत्य, दया, तप, दान, यज्ञमें रहते थे वे धर्माकार।
ज्ञान, ध्यान, हरि-गुण-गायन ही होता था उनका आधार॥ ३॥

आज्ञा-पालन, पातिव्रत ही उनका था आदर्श विचार।
एकपत्निव्रत थे वे मानव, जिन्हें सुहाता नहिं कुविचार॥
करते सबसे निश्छल, निर्मम, किंतु प्रेमपूरित व्यवहार।
दृढ़ रहकर स्वधर्मपालनमें करते रहते धर्म-प्रचार॥ ४॥

इस प्रकार होते नर-नारी, करते सदा विमल आचार।
अन्तकालमें मरकर जाते देवयानसे शुभ अविकार॥
निर्मल ब्रह्मधामको पाते अनुपम सुख अनन्त आगार।
धार्मिक पुरुषोंका शाश्वत यह हिंदू-संस्कृतिका प्राकार॥ ५॥

—वासुदेव

हिंदू-संस्कृति और पुराण

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

'इतिहास और पुराणोंके द्वारा ही वेदार्थका विस्तार करना चाहिये । जिन्होंने शास्त्रोंका सम्यक् श्रवण नहीं किया है, उनसे वेदोंको भय होता है कि ये हमपर प्रहार (आक्षेप) करेंगे ।' आज यही हो रहा है । पाश्चात्त्य विद्वानोंने कहना आरम्भ किया कि वेद तो गड़रियोंके गीत हैं । हमसे एक अच्छे शास्त्रज्ञ विद्वान्ने कहा—'गीता तथा दूसरे शास्त्रोंमें वेदोंका इतना महत्त्व क्यों है, यह मैं नहीं समझ पाता । वेदमन्त्रोंमें जो दर्शनशास्त्र, भाव या विज्ञान है, उससे तो बहुत ऊँची बातें बहुत स्पष्ट ढंगसे महाभारतमें ही हैं ।' इस प्रकार श्रुतिपर आक्षेप इसलिये होता है कि हम निरुक्त और व्याकरणके आधारपर मन्त्रोंका अर्थ करने लगते है । हम भूल ही जाते है कि मन्त्र उन्हें इसीलिये कहा गया कि वे मनन करनेके लिये हैं । उनके देवताके आधारपर उनके पद-प्रत्ययमें मन एकाग्र करनेसे उनके मन्त्रार्थका दर्शन होता है । मन्त्र इसलिये नहीं कि उनका अर्थ किया जाय । इतिहास और पुराणोंमे उन्हीं मन्त्रोंका अर्थ विस्तृत किया गया है; अतएव जिस मन्त्रका अर्थ जानना हो, उसको लेकर या तो मनोनिग्रह करना चाहिये, अथवा उस मन्त्रके ऋषिके ग्रन्थोंमे तथा इतिहास और पुराणमे उस मन्त्रके देवताके सम्बन्धमे जो कुछ वर्णन आया है, उस सबको उस मन्त्रका अर्थ समझना चाहिये । जैसे वेदोंमे इन्द्रके बहुत-से मन्त्र हैं । इन मन्त्रोंके अर्थके सम्बन्धमे पुराणोंमे, स्मृतियोंमे, शास्त्रोंमें इन्द्रका जितना चरित है, सब देखना होगा । जिस मन्त्रके जो ऋषि हैं, उनकी वाणी पुराणादिमे जहाँ है, वही इस मन्त्रका अर्थ भी है ।

वेदके अध्ययनका अधिकार केवल यज्ञोपवीत-धारियोंको है । स्त्री और शूद्र सस्वर उच्चारणमे असमर्थ होनेके कारण वेदके अधिकारी नहीं हैं । वेद ईश्वरीय ज्ञान है । वह मनुष्यमात्रके लिये सर्वेश्वरकी ओरसे दिया गया है । उससे मनुष्य-जातिके एक बड़े वर्गको वञ्चित नहीं रहना चाहिये । यदि वेदमे उनका अधिकार नहीं है तो उन्हें ज्ञान कैसे प्राप्त हो ? उन्होंने सृष्टिके आदिमे ज्ञान कैसे प्राप्त किया ? क्योंकि गुण और कर्मके विभागसे चारों वर्णोंकी रचना अनादि है । भगवान्ने ही इस वर्णाश्रम-धर्मका प्रवर्तन किया है । सृष्टिके प्रारम्भसे वह चला आ रहा है । अतएव सृष्टिके प्रारम्भमें जब मनुष्योंको ईश्वरीय ज्ञान मिला, तब क्या स्त्री और शूद्रोंको भगवान्ने मूर्ख ही छोड़ दिया ? ज्ञान स्वयं उत्पन्न नहीं किया जा सकता, वह दूसरेसे सीखा जाता है—यह बात वेदोंके प्रसङ्गमे बता आये हैं । जो वेदोंके अधिकारी नहीं हैं, उन्हें तो वेद मिले न होंगे । तो क्या जबतक मन्त्रोंका अर्थ-दर्शन करके ऋषियोंने उसे अपनी वाणीमें प्रकट नहीं किया, स्त्री-शूद्र मूर्ख और गूँगे रहे ?

बात ऐसी नहीं है । नियम यह है कि जो जैसा अधिकारी होता है, उसे उसी प्रकार समझना पड़ता है । जो मनन कर सकते थे, जो मन्त्रद्रष्टा हो सकते थे, जो सस्वर उच्चारणमें समर्थ थे, उन्हें परमात्माकी ओरसे सम्पूर्ण ज्ञानके सूत्र प्राप्त हुए । ये ईश्वरीय सूत्र ही मन्त्र हैं । इन मन्त्रोंमें ज्ञान परोक्ष है—'परोक्षवादो वेदोऽयम् ।' इस प्रकार सूत्ररूपसे ज्ञान प्राप्त होनेका कारण यह था कि ज्ञान अनन्त है । उसके सूत्र तो थोड़े ही हो सकते हैं, किंतु उसका अर्थ-विस्तार अपार है । ज्ञानसूत्रोंकी तो सम्यक्-रक्षा सम्भव है, किंतु अर्थ विस्तारकी रक्षा नहीं हो सकती । सृष्टिमे आगे अनेक बार ज्ञानका विस्मरण-स्मरण-चक्र चलेगा, यह सर्वज्ञ प्रभुसे अविदित नहीं था । ऐसी परिस्थितिमें यदि मूल सूत्र रक्षित रहें तो उनके मन्त्रद्रष्टा पुनः हो सकते हैं । अर्थ-विस्तार उन्हीं सूत्रोंसे फिर प्राप्त हो जायगा । ज्ञानका बीज नष्ट न होगा । हुआ भी यही—हम देखते हैं कि गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि 'मैंने यह ज्ञान सूर्यको दिया था । सूर्यसे मनु, इक्ष्वाकुके क्रमसे आगे बढ़कर बहुत दिनोंमे इस ज्ञानका लोप हो गया । अब मैं उसी अनादि ज्ञानका तुम्हें पुनः उपदेश कर रहा हूँ ।' इसी प्रकार इतिहास और पुराणोंका पुनः सङ्कलन द्वापरके अन्तमे भगवान् कृष्णद्वैपायन बादरायण व्यासने किया । आज महाभारत और पुराण इसी रूपमे उपलब्ध हैं । अतः जो ज्ञानसूत्रको समझने तथा उसकी रक्षा करनेके अधिकारी थे, उन्हे ईश्वरीय ज्ञान उन सूत्रोंके रूपमे प्राप्त हुआ ।

जो ज्ञानसूत्ररूप मन्त्रोमे मन एकाग्र करके मन्त्र-दर्शनमे समर्थ नहीं थे, जो सस्वर उच्चारण नहीं कर सकते थे, जिनकी बुद्धि परोक्षवाद नहीं ग्रहण कर सकती थी, उनके लिये वेदार्थ सरल रीतिसे प्रकट हुआ । सृष्टिके

आदिमें ही उन्हें इतिहास और पुराणका ज्ञान ब्रह्माजीसे—सृष्टिसे उसी प्रकार ऋषि-परम्परासे प्राप्त हुआ, जिस प्रकार द्विजातियोंको वैदिक ज्ञान। दोनोंमें कोई अन्तर नहीं था। केवल एक सूत्ररूप था और दूसरा भाष्यरूप।

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निश्वसितानि।

(बृहदारण्यक० २।४।१०)

'जैसे गीले ईंधनमें अग्नि लगानेसे धुआँ निकलता है, उसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आङ्गिरस अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या (धनुर्वेदादि), उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण तथा अर्थवाद—ये इस महद्भूत (परमात्मा) के ही निःश्वास हैं।' इस प्रकार श्रुतिने पुराणादि समस्त शास्त्रोंको अपौरुषेय, अनादि बतलाया है। यह ईश्वरीय ज्ञान ब्रह्माजीको मिला। उनसे—

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥

(श्रीमद्भा० ३।१२।३९)

'इतिहास और पुराणरूप पाँचवें वेदको उन समर्थ, सर्वज्ञ ब्रह्माजीने अपने सभी मुखोंसे प्रकट किया।'

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदा अस्य विनिर्गताः॥

(मत्स्यपुराण)

'समस्त शास्त्रोंमें ब्रह्माजीने सर्वप्रथम पुराणोंका स्मरण—उपदेश किया। पीछे उनके मुखोंसे वेद प्रकट हुए।'

मत्स्यपुराणके इस वचनने स्पष्ट कर दिया कि ज्ञानकी प्राप्ति मनुष्यको ईश्वरकी ओरसे सर्वप्रथम स्पष्ट एवं विस्तृत रूपमें हुई। उस स्पष्ट रूपके सभी अधिकारी थे। पीछे उस ज्ञानके मूलसूत्र, जो सूत्र समझने और उनकी रक्षा करनेमें समर्थ थे, उनको प्राप्त हो गये।

इस प्रकार पुराण भी अनादि ईश्वरीय ज्ञान ही हैं। वेदोंकी भाँति ही पुराणोंकी भी परम्परा प्राप्त होती है और एक ही मूल पुराण अधिकारि-भेदसे शाखा-भेदके रूपमें विस्तृत हुआ, यह भी पुराणोंसे ही ज्ञात होता है। भगवान् व्यासने पुराणोंकी नवीन रचना नहीं की। अवश्य ही उन्होंने सृष्टिके प्रारम्भसे चली आती हुई पुराण-परम्पराको, जो बीचमें अस्त-व्यस्त हो गयी थी, व्यवस्थित किया—अपनी वाणीमें उसे सजाया, अष्टादश पुराणोंका उसे रूप दिया। आज जो पुराण प्राप्त हैं, वे यही द्वापरके अन्तमें भगवान् व्यासद्वारा व्यवस्थित किये पुराण हैं। वैसे हम आगे देखेंगे कि ये पुराण भी कुछ अस्त-व्यस्त हो गये हैं। उनमेंसे कितनोंके बहुत अंश अप्राप्य हैं।

वेदोंको ऋषियोंने घन-जटादि अनेक प्रकारके पाठोंकी व्यवस्था करके ज्यों-का-त्यों बनाये रक्खा। उनमें एक मात्रातक घटी-बढ़ी नहीं। अतः वेदवाणी अपौरुषेय है। केवल मन्त्रक्रम अर्थ तथा स्मरण-सुविधाके लिये बदला गया और क्रमको अपौरुषेय नहीं माना जाता। पुराणोंके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं रह सकी। वेदार्थ अत्यन्त विस्तृत था। उसे ज्यों-का-त्यों स्मरण रखना सम्भव नहीं था। करोड़ों वर्षोंमें वह अनेक बार विस्मृत हो गया। अनेक बार उसके अनेक अंश अज्ञात हो गये। बार-बार ऋषिगण मन्त्रोंमें मनोनिग्रह करके मन्त्रार्थविस्तारद्वारा उस मूल ज्ञानको प्रकट करते रहे। इसीसे किसी-किसी वेदमन्त्रके पुराने द्रष्टा दूसरे ऋषि थे और अब दूसरे ऋषि माने जाते हैं। द्वापरके अन्तमें भगवान् व्यासने देखा कि अनादि वेदार्थ ऋषियोंकी वाणीमें बहुत विस्तृत और अव्यवस्थित हो गया है। उन्होंने उस सम्पूर्ण ज्ञानका सङ्कलन किया और अठारह पुराणों तथा महाभारतके रूपमें लिखा। पुराणोंमें अनेक स्थल ज्यों-के-त्यों ऋषियोंके, शास्त्रोंके रख लिये गये हैं। इस प्रकार पुराणोंकी रचना भगवान् व्यासकी है; परंतु उनका समस्त वर्णन, पूरे उपदेश तथा घटनाएँ अनादि हैं। इस प्रकार पुराणकी वाणी तो व्यासकृत है; किंतु उनका वर्णन, ज्ञानादि अपौरुषेय हैं, नित्य हैं।

पुराणोंमें वेदार्थ-विस्तार

वेदोंमें समस्त ज्ञान सूत्ररूपसे है और परोक्ष पद्धतिसे वर्णित है। पुराणोंने उसी ज्ञानको स्पष्ट एवं विस्तृत किया है। पुराणोंमें जो इतिहास-भूगोल तथा प्राणियोंके वर्णन हैं, वे पुराणोंको आधुनिक या किसी कालविशेषकी रचना नहीं बतलाते। भगवान् व्यास अपने ज्ञात इतिहास-भूगोलको लिखने नहीं बैठे थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह॥

(श्रीमद्भा०)

'स्त्री, शूद्र तथा आचारच्युत द्विजातियोंको भी वेद-

श्रवणका अधिकार नहीं है । कर्म-जगत्में वे 'कल्याण किसमें है', यह जाननेमें मूढ़—अज्ञ हो रहे हैं । अतएव इससे (महाभारत तथा पुराणोंसे) उनका कल्याण होगा ।'

इस प्रकार महाभारत और पुराणोंमें वे वेदके अनधिकारियोंके लिये वही अनादि अपौरुषेय ज्ञान, जो लुप्त तथा बिखरा हुआ था, एकत्र करनेमें प्रवृत्त हुए थे । इसीसे पुराणोंके अर्थके सम्बन्धमें उन्होंने बताया है—

पुराणव्याख्या त्रिधा, आधिभौतिकी आधिदैविकी आध्यात्मिकी च ।

पुराणोंकी तीन प्रकारकी व्याख्या होती है, अर्थात् पुराणोंमें एक साथ तीन वर्णन चलते हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक । ये तीनों सत्य हैं । वस्तुतः तो आध्यात्मिक नित्य जगत्के अनुसार ही आधिदैविक भाव-जगत् है और उसीसे आधिभौतिक स्थूल जगत् व्यक्त हुआ है । तीनों जगत् परस्पर सर्वथा अनुरूप हैं । अतएव कोई एक व्याख्या सत्य होनेपर तीनों ही सत्य होंगी । जो लोग यह कहते हैं कि रामायण एवं महाभारत हृदयमें होनेवाले देव एवं आसुरभावोंके संघर्षके रूपक हैं, वे भौतिक जगत्की घटनाएँ नहीं हैं, वे यह नहीं समझते कि अन्तर्जगत् ही स्थूल जगत्में व्यक्त होता है । अतएव जो अन्तर्जगत्का सच्चा रूपक है, उसकी घटनाएँ ठीक ऐतिहासिक ही होंगी । जो स्थूल जगत्की सत्य घटनाओंको छोड़कर रूपक बनाने चलेगा, वह अन्तर्जगत्का ठीक वर्णन कर नहीं सकता । क्योंकि अन्तर्जगत् स्थूल जगत्से कहीं वैसादृश्य—असमानता नहीं रखता ।

वेदोंमें इतिहास है, भूगोल है, ज्यौतिष है, मनुष्य-समाजका वर्णन है, मनुष्य एवं पशु जातियाँ हैं । जो कुछ विश्वमें हो गया, हो रहा है या होनेवाला है, वह वेदोंमें है । सभी घटनादिके मूलरूप श्रुतिमें न हों तो उसमें पूर्ण ज्ञान है, यह कहा न जा सके । नित्य इतिहास वेदमें है और नित्य भूगोलादि भी—इतिहास और भूगोलादिका वह नित्य अंश जो प्रत्येक सृष्टिमें आवृत्ति करता है । पुराणोंने वेदोंके उसी रेखाचित्रमें रंग भरकर उसकी आकृतिको स्पष्ट किया है । जैसे वेदोंमें अपरिवर्तनीय इतिहास है । पुराणोंने कल्पभेदसे उनमें जो परिवर्तन होते हैं, उनको भी स्पष्ट कर दिया है । यही दशा भूगोलादिकी है ।

उदाहरणार्थ—वेदोंमें देवासुर-संग्राम, श्रीरामचरित, श्रीकृष्णचरित एवं यदु-दुष्यन्त आदिका बहुत-सा वर्णन है । यह सब वर्णन वहाँ विस्तृत नहीं है । चरितोंका केवल उतना अंश है, जितना प्रत्येक कल्पमें समान रहता है । पुराणोंमें, इतिहासमें तथा दूसरे शास्त्रोंमें ये चरित अनेक प्रकारसे वर्णित हैं । एक ग्रन्थ एक या एकाधिक कल्पकी बात कहता है । इस प्रकार चरितोंका अन्तर कल्प-भेदसे होता है । रामावतार तो प्रत्येक त्रेतामें होगा, लेकिन चरितमें कुछ अन्तर पड़ेगा । यह अन्तर पुराणादि शास्त्रोंमें वर्णित है । एक प्रलयके पश्चात् फिर दूसरा कल्प आता है । उसमें वही चरित अधिकांश ज्यों-के-त्यों होते हैं । अतएव उस कल्पका पुराण भी वही होता है, जो आज है । इस प्रकार पुराण भी नित्य ज्ञान हैं ।

पुराणोंका स्वरूप

पुराण अठारह माने जाते हैं । ये महापुराण हैं । इनके अतिरिक्त अठारह उपपुराण भी हैं । किसी कल्पमें कोई पुराण महापुराण समझा जाता था और किसीमें वह उपपुराण माना गया । इस कारण पुराणोंमें महापुराण और उपपुराणोंका निर्णय करनेमें भेद पड़ता है । श्रीमद्भागवतके अनुसार अठारह पुराण अपनी श्लोक-संख्याके अनुसार निम्न हैं—

१	ब्रह्मपुराण—दस	हजार	श्लोक ।
२	पद्मपुराण—पचपन	,,	,,
३	विष्णुपुराण—तेईस	,,	,,
४	शिवपुराण—चौबीस	,,	,,
५	श्रीमद्भागवत—अठारह	,,	,,
६	नारदीयपुराण—पच्चीस	,,	,,
७	मार्कण्डेयपुराण—नौ	,,	,,
८	अग्निपुराण—पंद्रह	हजार चार सौ	,,
९	भविष्यपुराण—चौदह	,, पाँच ,,	,,
१०	ब्रह्मवैवर्तपुराण—अठारह हजार		,,
११	लिङ्गपुराण—ग्यारह	,,	,,
१२	वाराहपुराण—चौबीस	,,	,,
१३	स्कन्दपुराण—इक्यासी	हजार एक सौ	,,
१४	वामनपुराण—दस	हजार	,,
१५	कूर्मपुराण—सत्रह	,,	,,
१६	मत्स्यपुराण—चौदह	,,	,,
१७	गरुडपुराण—उन्नीस	,,	,,
१८	ब्रह्माण्डपुराण—बारह	,,	,,

इस प्रकार सब पुराणोंको मिलानेसे चार लाख दस हजार श्लोक

होते हैं। कल्प-भेदसे इनमेंसे कुछ पुराण उपपुराण माने जाते हैं और निम्न पुराणोंमेंसे कोई उनके स्थानपर महापुराण कहे जाते हैं—

१—देवीभागवत

२—वायुपुराण

इन दो पुराणोंको भी पुराण मान लें तो शेष सत्ताईस उपपुराण प्रसिद्ध हैं। ये पुराणोंके समान ही प्रामाणिक हैं। यह धारणा ठीक नहीं कि ये पुराणोंके पश्चात् रचे गये। इनमेंसे कुछ तो पुराणोंके परिशिष्ट हैं, जैसे हरिवंश-पुराण महाभारतका परिशिष्ट है। कुछ उपपुराण पुराणोंके भगवान् व्यास-द्वारा संकलित होनेसे पूर्वके हैं। उनके उद्धरण पुराणोंमें हैं और वे उसी प्रकार वेदार्थका विस्तार करते हैं, जिस प्रकार पुराण। इन पुराणोंके नाम हैं—१. सनत्कुमार, २. नरसिंह, ३. बृहन्नारदीय, ४. शिवधर्मोत्तर, ५. दुर्वासस, ६. कापिल, ७. मानव, ८. उशनस्, ९. वारुण, १०. आदित्य, ११. कालिका, १२. साम्ब, १३. नन्दिकेश्वर, १४. सौर, १५. पाराशर, १६. माहेश्वर, १७. वाशिष्ठ, १८. भार्गव, १९. आदि, २०. मुद्गल, २१. कल्कि, २२. देवी, २३. महाभागवत, २४. बृहद्धर्मोत्तर, २५. परानन्द, २६. पशुपति, २७. हरिवंश। इनके अतिरिक्त पूर्वोक्त महापुराणोंमें जब किसीको उपपुराणोंमें गिनते हैं, तब कूर्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, भागवत, देवीभागवत, वायुपुराण—इनमेंसे कोई एक या एकाधिक उपपुराण माने जाते हैं।

पुराणोंके लक्षण करते हुए कहा गया है कि उनमें निम्न दस लक्षण होने चाहिये—

१—सर्ग (सृष्टि-विस्तार);

२—विसर्ग (विशेष सृष्टि—मानस सृष्टि, देवता, कारक-पुरुषादि);

३—स्थान (सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका संनिवेश);

४—पोषण (जीवोंका धर्म, उनके कृत्य—सदाचारादि, जिनसे उनके समाज चलते हैं);

५—ऊति (जीवोंकी कर्मवासना और उनकी स्वर्ग-नरकादि गतियाँ)।

६—मन्वन्तराधिपतियोंके चरित, उनका वंशविस्तार;

७—भगवान्‌के अवतार-चरित;

८—निरोध (आत्मसंयमके शम-दम-योगादि मार्ग);

९—मुक्ति (ज्ञानयोग, दर्शनशास्त्र);

१०—आश्रय (भगवान्‌का आश्रय—भक्तिमार्ग);

अथवा

१—सर्ग (सृष्टि-विस्तार);

२—विसर्ग (विशेष सृष्टि);

३—वंश (प्रमुख वंशावली—नित्य इतिहास)।

४—मन्वन्तर।

५—वंशानुचरित।

महापुराणों और उपपुराणोंमें इनमेंसे ऊपरके दस या निम्न पाँच लक्षण होते हैं। वस्तुतः नीचेके पाँचमें ही ऊपरके दसों लक्षणोंका अन्तर्भाव हो जाता है। ये दस लक्षण पुराणोंमें व्यापक होते हैं। ऐसा नहीं कि उनके एक अध्याय या स्कन्धमें एक लक्षणका विस्तार हो। इन दस लक्षणोंके अनुसार पूरा ग्रन्थ होता है। दस लक्षणोंके भीतर सृष्टिका समस्त ज्ञान आ गया, यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

पुराणोंका वर्तमान स्वरूप

नारदपुराणमें सभी पुराणोंकी विषय-सूची दी गयी है। उपलब्ध पुराणोंमेंसे भविष्यको छोड़कर शेष पुराण उस सूचीसे मिल जाते हैं। सूचीके अनुसार पुराणोंकी श्लोक-संख्या प्रायः कम पड़ती है। जो पुराण प्राप्त हैं, उनमें सूचीके बहुत-से विषय नहीं मिलते। इससे यही जान पड़ता है कि प्राप्त पुराणोंके बहुत अंश लुप्त हो गये हैं। बँगला 'विश्वकोष'के अनुसार महापुराणोंका परिचय इस प्रकार है—

१. ब्रह्मपुराण—इस पुराणकी जो प्रति बंबईसे छपी है, उसकी अपेक्षा विश्वकोषमें दी हुई सूची अधूरी है। इस पुराणमें २४५ अध्याय हैं। किन्हीं पुराणोंके मतसे इसमें १३,००० श्लोक होने चाहिये। यह वैष्णव पुराण है।

२. पद्मपुराण—प्राप्त पद्मपुराणमें चार खण्ड हैं—सृष्टि-खण्ड, भूमिखण्ड, पातालखण्ड और उत्तरखण्ड। इस पुराणके दो संस्करण प्राप्य हैं—गौड़ीय और दाक्षिणात्य। दोनोंकी कथाओंमें कुछ अन्तर है। दोनोंमें समान अध्याय भी नहीं हैं। प्राप्त पद्मपुराणमें ४८,४५२ श्लोक मिलते हैं। 'स्वर्ग-खण्ड' तथा 'क्रियायोगसार' इसीके भाग बताये जाते हैं। उनको जोड़नेसे छः खण्ड और श्लोक-संख्या ५५,००० हो जाती है। पद्मपुराणसे तीर्थमाहात्म्य, पर्वमाहात्म्यकी बहुत-सी छोटी-छोटी पुस्तकें पृथक् की गयी हैं।

३. विष्णुपुराण—विष्णुपुराणका बहुत-सा भाग लुप्त हो गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा ब्रह्मोत्तरखण्डको, जो इसके अंश कहे जाते हैं, मिलानेसे इसकी श्लोक-संख्या १६,००० होती है।

७,००० श्लोक फिर भी नहीं मिलते। ब्रह्मगुप्तने ब्रह्मोत्तरसिद्धान्तकी रचनामें विष्णुधर्मोत्तरसे ज्योतिषका अंश लिया था, पर वह अंश अब पुराणमें नहीं मिलता। बहुत-सी छोटी-छोटी पुस्तकें विष्णुपुराणकी अङ्गभूत बतायी जाती हैं, पर पुराणमें नहीं हैं। सम्भव है वे लुप्त अंशके भाग हों।

४. शिवपुराण—कुछ लोग शिवपुराण और वायुपुराणको एक ही बतलाते हैं; पर वायुपुराणसे भिन्न शिवपुराण उपलब्ध है और उसमें श्लोक-संख्या भी पूरी है। यह प्रति बंबईमें छपी है।

५. श्रीमद्भागवत—श्रीमद्भागवतकी प्राप्त प्रतियाँ श्रीधरी टीकाके अनुसार प्रमाण मानकर छपी हैं। श्रीधरजीकी टीका जिन श्लोकोंपर है, उनकी संख्या अठारह हजार नहीं है। 'विजयध्वज' की टीकामें जो अध्याय और श्लोक भागवतके बताये गये हैं, वे जोड़ देनेपर श्लोक-संख्या पूर्ण हो जाती है।

६. नारदीयपुराण—इस पुराणकी प्राप्त प्रतिमें १८,११० श्लोक मिलते हैं। शेष ६,८९० श्लोक लुप्त हो गये जान पड़ते हैं। बृहन्नारदीयपुराण उपपुराणोंमें है। नारदीय पुराणके लक्षण प्राप्त पुराणमें मिलते हैं।

७. मार्कण्डेयपुराण—इसमें नौ हजार श्लोक होने चाहिये, पर प्राप्त प्रतिमें केवल ६,९०० श्लोक हैं। बाकी सब बातें नारदपुराणकी सूचीसे मिलती हैं। कुछ चरित नारदसूचीके नहीं हैं। वही अंश लुप्त होंगे।

८. अग्निपुराण—यह पुराण विद्याओंका विश्वकोष है। इसमें कौमारव्याकरण बड़ा सुन्दर संस्कृत-व्याकरण है। वैद्यक, ज्यौतिष, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, स्थापत्यकला, साहित्य, दर्शन—सभी इसमें हैं और यह यथावत् प्राप्य है।

९. भविष्यपुराण—भविष्यपुराणकी चार स्थानोंसे प्रकाशित चार प्रतियाँ उपलब्ध हैं। नारदपुराणमें जो विषयसूची है, उससे कहींकी प्रति पूर्णतः नहीं मिलती। इनमेंसे एक प्रति तो नारदपुराणकी सूचीसे सर्वथा भिन्न है। शेष तीनके भिन्न-भिन्न अंश उस सूचीसे मिलते हैं। यदि नारदपुराणकी सूचीसे मिलनेवाले अंश एकत्र किये जायँ तो कदाचित् इस पुराणका कुछ व्यवस्थितरूप उपलब्ध हो। इस पुराणमें नवीन रचना खूब मिलायी गयी जान पड़ती है।

१०. ब्रह्मवैवर्त—यह पुराण नारदीय पुराणके अनुसार ठीक रूपमें उपलब्ध है; पर सावर्णि-नारद-संवाद, ब्रह्म-वाराह-संवाद एवं ब्रह्मके विवर्तादिकी कथाएँ इसमें नहीं हैं।

११. लिङ्गपुराण—नवलकिशोर प्रेसकी पुस्तक नारदपुराणकी सूचीसे ठीक मिलती है; किंतु इसमें इस पुराणको ईशान-कल्पका बताया गया है और नारदपुराणके अनुसार इसे अग्निकल्पका होना चाहिये। हलायुधने 'ब्राह्मणसर्वस्व' में बृहत्-लिङ्गपुराणका उद्धरण दिया है; पर वह ग्रन्थ प्राप्य नहीं है।

१२. वाराहपुराण—यह पुस्तक अधूरी छपी है। इसमें केवल २१८ अध्याय हैं। इनमें दस हजारसे कुछ अधिक श्लोक हैं। प्रकाशकने स्वीकार किया है कि उसे ग्रन्थ अधूरा मिला है। एशियाटिक सोसायटीकी प्रतिमें भी इतने ही श्लोक हैं।

१३. स्कन्दपुराण—इस पुराणमें भारतके प्रायः सभी तीर्थोंका माहात्म्य है। इसकी श्लोक-संख्या अधिक है; परंतु इसका कारण कदाचित् ग्रन्थके संकलनमें हुई आधुनिक भूलें हैं। क्योंकि अनेक स्थल दो बार छपे हैं। इन पुनरुक्तियोंको निकाल देनेपर श्लोक-संख्या ८१,१०० हो जाती है।

१४. वामनपुराण—यह पुराण नारदपुराणमें दी हुई विषय-सूचीसे मिलते हुए रूपमें उपलब्ध है। कुछ श्लोक कम हैं।

१५. कूर्मपुराण—नारदादि पुराणोंमें इसकी श्लोक-संख्या सत्रह हजार बतायी गयी है, पर प्राप्त प्रतियोंमें छः हजारके लगभग श्लोक हैं। डामर, यामल आदि तन्त्रोंमें कुछ भाग इस पुराणके मिले हो सकते हैं; क्योंकि नारदपुराणकी सूचीसे तन्त्रोंके वे भाग ठीक-ठीक मिलते हैं।

१६. मत्स्यपुराण—यह पुराण अपने प्राचीन रूपमें उपलब्ध है, ऐसा प्रायः सभी अन्वेषक मानते हैं।

१७. गरुडपुराण—गरुडपुराणकी पूर्ण पुस्तक उपलब्ध नहीं है। बँगला विश्वकोषकारको भी जो ग्रन्थ मिला था, उसमें सात हजार श्लोक कम थे। वर्तमान ग्रन्थ तो एक खण्डमात्र है। इस पुराणका प्रेतखण्ड बहुत प्रचलित है।

१८. ब्रह्माण्डपुराण—इस पुराणकी उपलब्ध प्रतिमें अध्यात्मरामायण तथा ललितोपाख्यान, जो इसीके अंश कहे जाते हैं, मिला देनेसे श्लोक-संख्या पूरी हो जाती है।

इस विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश पुराणोंके कुछ अंश ही लुप्त हुए हैं। एक भविष्यपुराण ही ऐसा है, जिसकी प्रामाणिकतामें सन्देह हो सकता है। इसमें बहुत कुछ बढ़ाया गया जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त शेष सब पुराण नारदपुराणकी विषय-सूचीसे प्रायः मिलते हैं।

अतः पुराणोंके वर्तमान प्राप्त रूप प्रामाणिक हैं, इसमें सन्देह नहीं रह जाता।

पुराणोंमें वर्णन-भेदके कारण

अथर्ववेदमें आया है—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

(११।४।२४)

छान्दोग्य उपनिषद्का मन्त्र है—

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।

(७।१।१-२)

इस प्रकार अनादि अपौरुषेय श्रुतिमें पञ्चम वेद कहकर जिस इतिहास-पुराणकी चर्चा की गयी है, वह अनादि एवं अपौरुषेय ही होगा। उस ईश्वरीय ज्ञानका एक ही रूप होना चाहिये। पुराणोंमें एक ही कथा बार-बार आती है। किसी पुराणमें ब्रह्माजीको, किसीमें शक्तिको, किसीमें शिवको, किसीमें विष्णुको सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि माना है। यह भेद अपौरुषेय ज्ञानमें क्यों होना चाहिये ?

गृह्यसूत्र, मनुस्मृति, महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थोंको देखनेसे पता लगता है कि पुराण कभी एक ग्रन्थ नहीं थे। इनमें सदा बहुवचनमें पुराणोंका वर्णन है। अतः पुराण अनेक सदासे थे। वर्तमान पुराणोंमें कल्पभेदसे इतिहासादिमें जो अन्तर पड़ता है, उसका स्पष्टीकरण हुआ है। किन्हीं दो पुराणोंमें प्रायः एक कल्पकी कथा नहीं है। पुराणोंमें भिन्न-भिन्न कल्पोंके चरित हैं। प्रत्येक कल्पकी सृष्टि किसी एक ही नित्यलोकके सान्निध्यसे नहीं होती। किसी कल्पमें किसी नित्यलोकसे सृष्टि-प्रवाह चलता है और किसीमें कहींसे। जिस कल्पमें जिस नित्यलोकसे सृष्टिप्रवाह प्राप्त होता है, उस कल्पमें उस लोकके अधिष्ठाताकी प्रधानता होती है। उस कल्पका वर्णन करनेवाला पुराण उसी अधिष्ठाताकी प्रधानताका स्वभावतः वर्णन करेगा। इस प्रकार आदिमें भी जो पुराण रहे होंगे, उनमें इसी प्रकार कल्पभेदोंके चरित तथा अधिष्ठाताओंका वर्णन होगा। भगवान् व्यासने पुराणोंकी संख्या और उनके वर्णन अपनी ओरसे नहीं बदले। बदलना सम्भव भी नहीं है। क्योंकि जिस वेदार्थको स्पष्ट करनेके लिये अपौरुषेय पुराण थे, उन्हें बदला कैसे जा सकता है। सच्चा इतिहास कोई अपने शब्दोंमें भले लिख दे, पर उसमें बदलनेको क्या होता है।

वेदोंमें सभी अधिकारियोंके लिये साधन हैं। मनुष्यमात्रको उसके अनुरूप आध्यात्मिक मार्ग प्राप्त होना चाहिये। सबके स्वभाव एक-से नहीं हो सकते। अतएव सबके अधिकार भी एक-से नहीं हो सकते। ईश्वरीय ज्ञानमें किसीके लिये साधन न हो, यह शक्य नहीं। पुराणोंमें वेदार्थ-विस्तार होनेसे उन साधननिष्ठाओंका परिपाक हुआ है। कोई पुराण शैव निष्ठाका, कोई वैष्णव निष्ठाका, कोई सौर, कोई शाक्त, कोई ब्राह्म तथा कोई गाणपत्य निष्ठाका परिपाक करता है। जिस पुराणमें जिस कल्पका वर्णन है, उसमें उस कल्पकी सृष्टि जिस दिव्य लोकसे उद्भूत हुई है, उसके अधिष्ठाताकी प्रधानता तथा उनकी उपासनाका समर्थन, पोषण, वर्णन है। ये सभी अधिष्ठाता एक ही भगवान्की विभिन्न लीला-अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार पुराणोंमें न तो पुनरुक्ति हुई है और न उनकी यह संख्या तथा आकार मूल ईश्वरीय अपौरुषेय रूपसे भिन्न ही है।

पुराणोंकी उपासना-पद्धति

पुराणोंका मुख्य विषय अवतारवाद तथा देवोपासना है। वेदोंके समस्त मन्त्रोंका यज्ञमें विनियोग होना चाहिये, यह श्रुतिका मत है। यज्ञका अर्थ उपासना ही होता है। यज्ञमें देवाराधन ही किया जाता है। पुराणोंमें वेदोंकी उपासना, जो वहाँ परोक्षरूपसे वर्णित थी, विस्तृत एवं स्पष्ट हुई है। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, छान्दोग्योपनिषद्—इन सबमें अवतारोंके पूरे चरित आ जाते हैं। ब्राह्मणादि भागोंको छोड़ दें, तो भी मूल-संहिताओंमें सभी अवतार-चरित हैं। उदाहरणके लिये श्रीकृष्ण-चरितको ले लीजिये—

'स्तोत्रं राधानां पते' (ऋग्वेद १।३०।५)

'त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वग्ने अरुषो वि भाहि।'

(ऋग्वेद ३।१५।३)

'गवामप व्रजं वृधि' (ऋग्वेद १।१०।७)

आधुनिक अन्वेषक कहते हैं कि श्रीकृष्ण-चरितमें श्रीराधाकी कल्पना जयदेवने की। श्रीमद्भागवतमें यह नाम न देखकर उन्हें यह भ्रम होता है; पर भागवतकारने व्रजकी किसी गोपीका नाम नहीं दिया। मूल-संहितामें श्रीराधाजीका नाम तो है ही, उनके पिता वृषभानुजीका नाम भी है; व्रजका वर्णन भी है। इस प्रकार दूसरे अवतार-चरित भी हैं।

पुराणोंमें शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु और सूर्यकी उपासनाओंका विस्तृत वर्णन है। वेदोंमें पुरुषसूक्त तथा रुद्राष्टाध्यायी प्रसिद्ध अंश हैं। इनके अतिरिक्त भी इन भगवद्विग्रहों-

के नाम, रूप तथा लीलाओंका वर्णन है। पुराणोंमें सूर्य, अग्नि, वायु—इन वैदिक देवताओंके पुराण ही हैं। ऐसे एक भी देवताका वर्णन पुराणोंमें नहीं है, जिसका नाम मूल-संहितामे न हो।

वैदिक अवतारचरित तथा देववर्णन उसी प्रकार पुराणोंमे स्पष्ट हुआ है, जैसे वैदिक इतिहास स्पष्ट हुआ है। अतएव वेदोंके चरितोंसे पुराणोंके चरितोंमें कुछ भिन्नता प्रतीत हो सकती है। वेदोंमें नित्यचरित है, सृष्टिके चरितकी रूपरेखा-मात्र है। पुराणोमें एक-एक कल्पके चरित हैं। कल्पभेदसे चरितोमें बहुत कुछ अन्तर भी पड़ा है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पुराने समयमें जिसकी जो निष्ठा होती थी, वह उसीके अनुरूप पुराणको पढ़ता था और वैसा ही आचरण करता था। दूसरे पुराणोसे उसे कोई मतलब नहीं था। इसका प्रमाण यह है कि बालिद्वीपमें सब शिवोपासक हैं। वे अबतक ब्रह्माण्ड-पुराणको ही एकमात्र पुराण जानते हैं। शेष सत्रह पुराणोंका उन्हें पता नहीं है। इस पुराणको वे अत्यन्त गुह्यशास्त्र मानते हैं, आज अधिकार एवं निष्ठामें विपर्यय होनेसे ये विविध भ्रान्त आक्षेप उठते हैं।

पुराणोंके विचित्र वर्णन

पुराणोका सबसे अद्भुत भाग है उनके विचित्र वर्णन—दो, तीन, दस मस्तकोंके मनुष्य, सहस्रतक भुजाएँ, सहस्रतक नेत्र। इस प्रकारकी आकृतियोंके साथ कुम्भकर्ण-जैसी दीर्घाकृतियोंको भी गिन लेना चाहिये। आकृतिके अतिरिक्त रीछ, वानर, नाग आदि जातियाँ और इनके मनुष्योंसे सम्बन्ध—ये ऐसी बातें हैं, जिन्हें आजकल्के लोग सत्य नहीं मानते। उनके मतमे ये कल्पनाएँ हैं या रूपक हैं।

पुराणोंके अनुसार द्वापरतक अतिरिक्त हाथ, पैर, नेत्र, सिरोंके लोग होते थे। समाजमें इनकी संख्या सत्ययुगमें बहुत अधिक थी, पीछे बराबर घटती गयी। इतना होनेपर भी महाभारतके पढ़नेसे ज्ञात होता है कि उस समयतक भी समाजमें ऐसी आकृतिका पुरुष होना आश्चर्यकी बात नहीं समझी जाती थी। शिशुपालके जन्मके समय चार हाथ तथा तीन नेत्र थे। बहुत दिनोंतक वह इसी अवस्थामें रहा। माता-पिताको इससे कोई आश्चर्य न हुआ। आज भी विचित्र बच्चोंके उत्पन्न होनेके समाचार आते हैं। बेल्जियमकी एक कब्रके पत्थरपर एक महिलाके एक साथ ३६० बच्चे होनेकी बात तारीखके साथ खुदी है। ऐसे बच्चोंके समाचार भी पत्रोंमें छपते हैं, जो उत्पन्न होते ही बोलने-चलने लगते हैं। प्रकृति अब इतनी विपरीत हो गयी है कि ऐसे बालक जीवित नहीं रहते। प्रकृतिमें कितनी विशेषताएँ हैं, यह मनुष्यकी बुद्धिसे परेकी बात है। शास्त्रोंमें सर्वज्ञ महर्षियोंने जो कुछ कहा है, वह अक्षरशः सत्य है। उसमें न तो रूपक है और न कल्पना ही।

राक्षस, रीछ, वानर, नाग जातियोंका जहाँ पुराणोंमें वर्णन आता है, उस अंशका अर्थ आजके विद्वान् करते हैं कि ये मनुष्योंकी जंगली तथा असभ्य जातियाँ थीं; लेकिन पुराणोंके वर्णन बतलाते हैं कि ये सुसभ्य, उन्नत, पठित लोग थे। वाल्मीकीय रामायणमे किष्किन्धाके लिये कहा गया है—

प्रासाः स ध्वजयन्त्राढ्यां किष्किन्धां वालिनः पुरीम्।

'बालीकी राजधानीमें ध्वजाएँ फहरा रही थीं तथा वह पुरी शतघ्नी आदि यन्त्रोंसे रक्षित थी।' यह और दूसरे वर्णन भी बतलाते हैं कि ये जातियाँ सुपठित, चतुर, बुद्धिमान् थीं।

जहाँ भी पुराणोंमें इन जातियोंका वर्णन है, वहाँ ये विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं—

१—ये सब जातियाँ कामरूप थीं अर्थात् इनके लोगोंमें इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्ति थी।

२—इनकी स्त्रियाँ साधारण मानवी स्त्रियों-जैसी और सुन्दरी थीं तथा इनका मनुष्योंसे वैवाहिक सम्बन्ध होता था। मनुष्योंकी स्त्रियाँ इनके यहाँ और इनकी मनुष्योंके यहाँ ब्याही जाती थीं।

३—इन जातियोंके केवल पुरुष ही रीछ, वानर, सर्प या राक्षसोंके आकारके थे। इन आकारोंमें भी वे वस्त्रादि पहनते थे; पर उनका आचार इन पशुओंका-सा था।

इन बातोंसे यही परिणाम निकलता है कि कुछ ऐसी मानव-जातियाँ थीं, जिनमें पुरुषोंकी आकृति पशुविशेषसे मिलती थी—जैसे वानरोंके पूँछें और नागोंके विषदन्त थे। इन जातियोंके पुरुषोंको उन पशुओंके आचार प्रिय थे और कामरूप होनेके कारण वे प्रायः उन पशुओंके ही आकारमें रहते थे। वैसे वे सुसभ्य मानव थे। कालक्रमसे उन जातियोंमें इच्छानुसार वेष बदलनेकी शक्ति नष्ट हो गयी। मनुष्योंके साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध बढ़ता गया, इससे उनकी आकृतिगत विशेषता भी नष्ट हो गयी। वे पूरे मनुष्य हो गये। द्वापरके अन्तमें इन जातियोंके जाम्बवन्त, द्विविद, उलूपी आदि गिने-चुने व्यक्ति बच गये थे। अब तो

स्थाणु नरसिंह (कांस्यमूर्ति, मद्रास-संग्रहालय)

गान-गोपाल (प्रस्तरमूर्ति, हलेबिद)
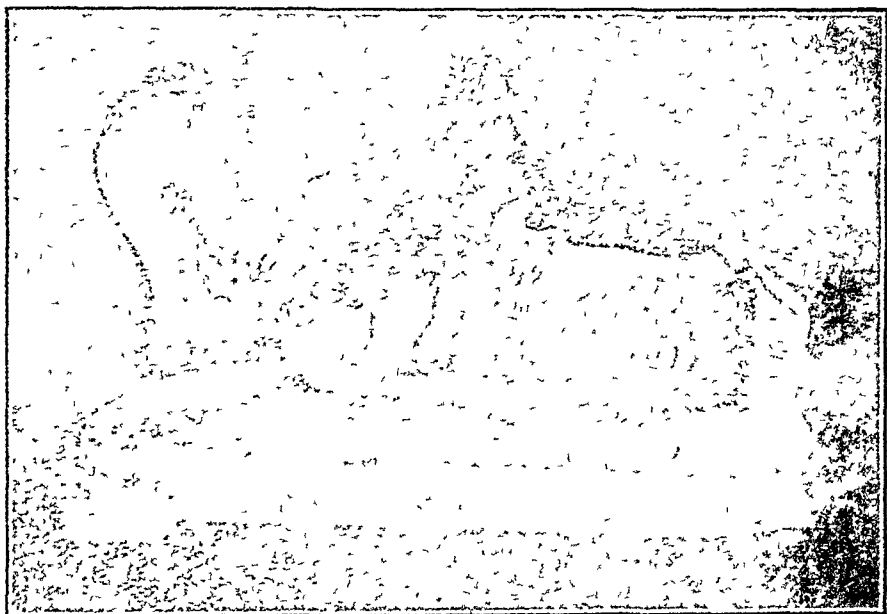
योगशयन मूर्ति (हाथीदाँत, त्रिवेन्द्रम्)

[त्रिवाङ्कुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे

२१ हयग्रीव (प्रस्तर-मूर्ति, नुग्गेहल्ली)

पृथ्वीयुक्त वाराह (कांस्य-मूर्ति, मद्रास)

त्रिविक्रम (प्रस्तरमूर्ति, नुग्गेहल्ली)
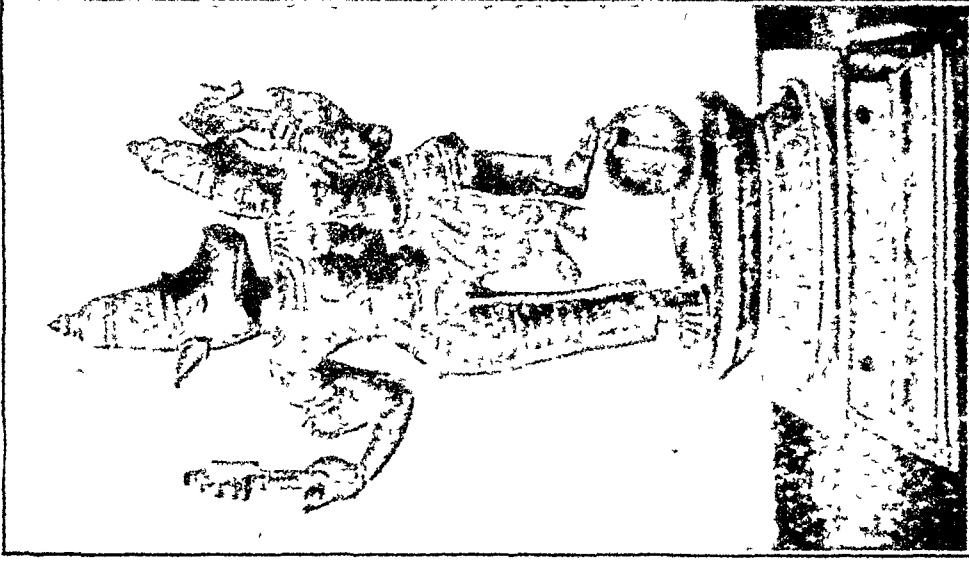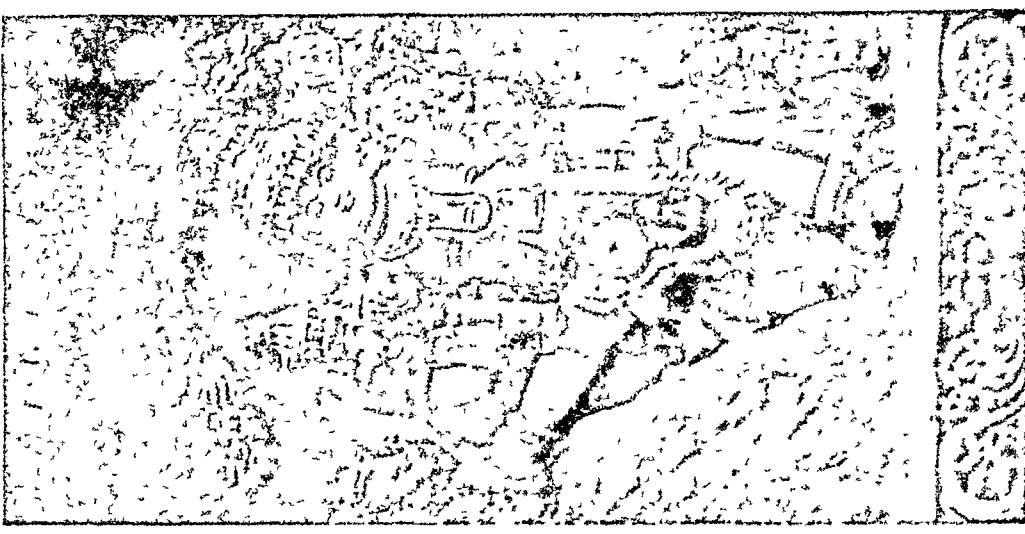
[त्रिवांकुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे

केवल उनके वंशज मनुष्य हैं। मध्यप्रान्त तथा दक्षिण भारतमें अनेक जातियोंके गोत्र वानर, रीछ आदि हैं और नागगोत्रीय आसामकी नागा जाति तो प्रसिद्ध ही है।

पुराणोंका इतिहास

आजके विद्वान् बड़ी सरलतासे कह देते हैं कि 'भारतीय लोग ठीक-ठीक इतिहास लिखना नहीं जानते थे। पुराणोंमे प्राप्त इतिहास बहुत अस्त-व्यस्त है।' लेकिन वे नहीं सोचते कि इतिहासमें प्रत्येक मानवके चरितका वर्णन सम्भव नहीं है। आज भी जिन जातियोंके इतिहास प्राप्य हैं, उनमें राजा, राजकुल, प्रसिद्ध विद्वान् तथा मुख्य-मुख्य राजनैतिक पुरुषोंके ही वर्णन हैं। इतिहासका उद्देश्य प्रत्येक घटनाका संग्रह नहीं है। उसका उद्देश्य केवल उन घटनाओंका वर्णन करना है, जो समाज और संस्कृतिको प्रभावित करती हैं। इसके अतिरिक्त जिन जातियोंके इतिहास कुछ ही सौ वर्षोंके हैं, उनके लिये राजाओं, मन्त्रियों, राजनैतिकों, विद्वानोंका पूरा वर्णन रखना सम्भव और स्वाभाविक भी है; परंतु भारतीय सभ्यता तो करोड़ों वर्ष पुरानी है। यहाँका पूरा इतिहास लिखा गया होता तो क्या दशा होती, यह स्वर्गीय प्रोफेसर रामदास गौड़के शब्दोंमें सुनना ठीक है—

'भारतका इतिहास इतना प्राचीन है कि यदि आदि-कालसे आजतकका इतिहास वर्तमान होता और अत्यन्त संक्षेपसे लिखा जाता और सौ-सौ बरसके लिये केवल एक पृष्ठ लिखा जाता तो एक करोड़ छानवे लाख छिआसी हजार चार सौ इक्तीस पृष्ठ होते। यदि एक हजार पृष्ठकी एक जिल्द होती तो उन्नीस हजार छः सौ आठ मोटी-मोटी जिल्दें होतीं। यदि एक पृष्ठमें पचीस पङ्क्ति मान लें और यह भी मान लें कि कोई एक मिनटमें एक पृष्ठ पढ़ लेगा और पाँच घंटे रोज लगातार पढ़ना मान लें तथा यह भी मान लें कि महीनेमें पचीस दिन पढ़ना ही होगा तो पूरे ग्रन्थको पढ़नेमें दो सौ सत्रह वर्ष लगेंगे। इतनी लंबी परम्पराका उस प्रकारका इतिहास होना असम्भव है, जिस तरहकी इन परम्पराहीन राष्ट्रोंकी कल्पना है; और हो भी तो इस युग और संसारके लिये नितान्त निरर्थक है। ...... घटनाएँ तो प्रकृतिमें एक ही प्रकारकी बार-बार घटती रहती हैं। इतिहास अपनेको बार-बार दोहराता है। ...... 'सब प्रकारकी घटनाओंको बारंबार दोहरानेके बदले एक भारी महत्त्वकी घटनाको देकर एक सूत्र (नियम) निर्धारित कर देना पर्याप्त है।'

पुराण, इतिहास आदिमें मुख्य घटनाएँ देकर सूत्र ही निर्धारित हुआ है। इस सूत्रको निश्चित रूपमें स्पष्ट करनेके लिये प्रत्येक कल्पकी विभिन्नताको स्पष्ट करना पड़ा है। यह करनेमें भी पुराणोंमें एक ही प्रकारकी घटनाओंकी पुनरावृत्ति है। यद्यपि यह पुनरावृत्ति उनके भेदको—अन्तरको बतानेके लिये है; फिर भी यदि सम्पूर्ण घटनाका वर्णन होता तो कितनी निरर्थक पुनरावृत्ति होती, यह इनसे समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पुराणों तथा दूसरे शास्त्रोंसे इतिहास प्राप्त करते समय आजके अन्वेषक यह भूल जाते हैं कि सब ग्रन्थोंकी घटनाएँ एक ही कालकी नहीं हैं। सबको एक साथ मिला देनेसे भ्रममें पड़ना ही पड़ेगा। जो घटना जिस कल्पकी है, जो जीवन-गाथा जिस कल्पमें वर्णित है, उसे वहीं रखकर विचार करना चाहिये। एक ही कल्पके दो ग्रन्थोंके वर्णन तो मिलाकर देखे जा सकते हैं; परंतु विभिन्न कल्पोंकी घटनाओं, चरितों, नियमोंमें सामञ्जस्य ढूँढ़ना व्यर्थ है। बैलका सींग घोड़ेके सिरपर रखकर संसारमें वैसा पशु ढूँढ़ना जैसे बुद्धिमानी नहीं, वैसा ही यह कार्य भी है।

पुराणोंके इतिहासको देखते समय हमें इतिहाससम्बन्धी भारतीय परिभाषाको भी ध्यानमें रखना ही चाहिये। आज तो इतिहासका अर्थ है व्यक्तिके जन्म-मरणकी तिथि लिखकर घटनाओंको निश्चित उद्देश्यके रंग-रूपमें उपस्थित करना; निश्चित उद्देश्यके जो चरित समर्थक न हों, वे कितने भी महत्त्वपूर्ण हों, उन्हें छोड़ देना। भारतमें अंग्रेजोंने जो इतिहासके पाठ्य-ग्रन्थ रक्खे, वे उनके लाभकी दृष्टिसे थे। अब इतिहास 'नये' दृष्टिकोणसे बनाया जा रहा है; किंतु भारतीय 'इतिहास' की निश्चित परिभाषा है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥
(महाभारत)

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उपदेशसहित तथा प्राचीन चरितोंसे युक्त ग्रन्थको इतिहास कहा जाता है।'

आर्यादिबहुव्याख्यानं देवर्षिचरिताश्रयम् ।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मयुक् ॥

विष्णुपुराणकी टीकामें श्रीधराचार्यजीने यह श्लोक उद्धृत किया है। इसके अनुसार ऋषियोंद्वारा कहे गये नाना उपदेश, देवता तथा ऋषियोंके चरित तथा अद्भुत धर्म-कथाओंवाला ग्रन्थ इतिहास कहलाता है।

इस परिभाषाको दृष्टिमें रखते हुए यह स्मरण रखना

चाहिये कि पुराणोंका इतिहास देवलोक एवं मर्त्यलोकका सम्मिलित इतिहास है। देवलोकादिके सम्बन्धमें विवेचनका यहाँ स्थान नहीं; किंतु इतना जान लेना चाहिये कि जैसे आवागमनके साधनोंने आज यह स्थिति उत्पन्न कर दी है कि किसी महत्त्वपूर्ण घटना या व्यक्तिका इतिहास आज एक देशमें सीमित रहना शक्य नहीं, उसका कोई-न-कोई अंश दूसरे देशोंसे सम्बन्धित हो जाता है और तब वहाँकी भी सम्बन्धित घटना दिये बिना इतिहास पूर्ण नहीं होता। इसी प्रकार सत्ययुगसे द्वापरके अन्ततक मनुष्यका देवलोकसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। देवता यहाँ पधारते थे और मनुष्य देवलोककी सशरीर यात्रा कर आते थे। फलतः इतिहासमें पृथ्वी और देवलोकका मिला-जुला वर्णन है। इस भेदको न समझकर पूरा इतिहास भूमिपरका मानकर जो देवताओंको भी राजा या व्यक्तिविशेष माननेका प्रयत्न करते हैं, वे घटनाओंका समाधान न पाकर उन्हें कल्पित कहने लगते हैं। आज मानव हीनवीर्य, हीनशक्ति, हीनसंकल्प हो गया है। अतः वह देवलोककी स्थितिको ही सोच नहीं पाता; किंतु भारतीय केवल पाँच सहस्र वर्ष पूर्वतक उस दिव्यलोकके प्रत्यक्ष सम्पर्कमें रहे हैं। पुराणोंके इतिहासको यह समझकर ही देखनेसे ठीक तात्पर्य ज्ञात होगा।

एक बात यहाँ और स्मरण रखनेकी है कि भारतीय पौराणिक इतिहास या भूगोलमें वर्णन तो समस्त विश्वका है, परंतु घटना-विस्तारादि केवल भारतवर्षका ही है। दूसरे देशोंमें यहाँके लोग गये, युद्धोंमें वहाँके नरेश सेना लेकर सम्मिलित हुए—यह सब वर्णन है; परंतु घटनाएँ, कुल-परम्परादिका सविस्तर वर्णन केवल भारतका ही है। इसी प्रकार भूगोलके सम्बन्धमें वर्णन पूरे ब्रह्माण्डका है; किंतु विस्तृत वर्णन भारतका ही है। इसके दो कारण हैं। भारतसे ही विश्वमें मानव-समाज और सभ्यताका विस्तार हुआ। अतएव भारतके पूर्ण वर्णनसे सबके वर्णन आ जाते हैं। दूसरा कारण यह कि भारत ही पुण्यभूमि है। लौकिक वर्णन ऋषियोंको अभीष्ट नहीं था। वे केवल पुण्यतीर्थों और पुण्यपुरुषोंका वर्णन ही करना चाहते थे। यह बात केवल भारतमें ही उपलब्ध थी।

इतिहासके सम्बन्धमें पुराणोंकी दीर्घकालीन तपस्याएँ, दीर्घजीवन, दीर्घ आकृतियाँ, विशाल संख्याएँ भी लोगोंको उलझनमें डालती हैं। दीर्घायुके सम्बन्धमें तो कुछ कहना है नहीं। मनुष्य उत्तरोत्तर अल्पजीवी होता जा रहा है। समाचारपत्रोंमें नौ, दस तथा पाँच वर्षकी लड़कियोंके सन्तान होनेकी बातें छप चुकी हैं। आज भी डेढ़ सौ वर्षके व्यक्ति उपलब्ध हैं और तब भी समाजमें साठ-सत्तर वर्ष लंबी आयु मानी जाती है। जब सौ-पचास वर्षोंमें यह स्थिति है, तब लाखों वर्ष पूर्व क्या स्थिति रही होगी—यह श्रद्धापूर्वक अनुमान तो किया जा सकता है; लेकिन ह्रास होता है, यह देखकर भी कुतर्क करनेवालेको सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। आकृतिके सम्बन्धमें भी यही बात है। हम प्रत्येक देशमें देख रहे हैं कि मनुष्य खर्वाकार होते जा रहे हैं। यूरोपमें पुराने मनुष्योंकी जो खोपड़ियाँ मिली हैं, वे आजके मनुष्यकी खोपड़ीसे लगभग ढाईगुनी बड़ी हैं। कुछ देशोंमें मनुष्यके सुरक्षित शरीर भी मिले हैं। दिल्लीके पास ही एक मानव-खोपड़ी मिली थी, जिसके नेत्रोंके छिद्रोंसे आजके मनुष्यका सिर सरलतासे निकल सकता था। अतः पुरानी दीर्घाकृतियाँ हमारी समझमें भले न आयें, किंतु बुद्धिके बाहरकी नहीं हैं। उनकी सत्यताका अनुमान किया जा सकता है।

संख्याके सम्बन्धमें आजकी यह मान्यता कि मनुष्यकी जन-संख्या पहलेसे बढ़ी है, नितान्त भ्रमपूर्ण है। आज जिसे पृथ्वी कहा जाता है, वह केवल क्षारसमुद्रसे घिरा पृथ्वीका लगभग सौवाँ भाग जम्बूद्वीप है। इसमें भी अफ्रिकाके वन, सहारा और मध्य एशियाके मरुस्थल तथा दक्षिणी ध्रुवप्रदेश किसी समय उन्नत नगरोंसे पूर्ण थे। वहाँ सभ्यताके अवशेष मिल रहे हैं। आज जिन्हें हम महासागर कहते हैं, जिन्होंने पृथ्वीका तीन-चतुर्थांश डुबा दिया है, वे पहले थे ही नहीं। यह सिद्ध हो गया है कि अफ्रिका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका और यूरेशिया (यूरोप-एशिया) कभी मिले हुए थे। यह एक ही भूखण्ड था। इनके मध्यमें समुद्र नहीं था। इन सभी समुद्रोंके नीचे जल-मग्न पर्वतश्रेणियाँ हैं। कहीं-कहीं नगरोंके ध्वंसावशेष हैं, जैसे जापानके दक्षिण-पूर्व। ये पर्वतश्रेणियाँ, जो जलमग्न हैं, भूमिकी पर्वतश्रेणियोंसे सम्बद्ध हैं। अतः पहले जब यह पूरा जम्बूद्वीप आजकी पृथ्वी तथा सागरके साथ जनपूर्ण था, मनुष्योंकी संख्या बहुत अधिक थी।

पुराणोंका भूगोल

सबसे बड़े आक्षेप हैं पुराणोंके भूगोलवर्णनको लेकर। सात द्वीप, सात सागर, सुमेरु, शेषके मस्तकपर अचलरूपसे स्थित पृथ्वी तथा सूर्यके द्वारा उसकी प्रदक्षिणा—ये सब वर्णन ऐसे हैं, जो नितान्त मिथ्या माने जाते हैं। यह समझा जाता है कि विज्ञानने इन बातोंकी खोज कर ली है और वैज्ञानिकोंके निर्णय

ही सत्य हैं। पर सत्य बात तो यह है कि वैज्ञानिक भी अँधेरेमें टटोल रहे हैं अबतक। एक पृथ्वीकी आकृतिको ही लीजिये। पृथ्वीका आकार कैसा है? झटसे कोई भी कह देगा कि नारंगीके समान गोल; लेकिन वैज्ञानिकोंके लिये अब इसका उत्तर बहुत टेढ़ा हो गया है। उनके सामने नीचेकी बातें विकट प्रश्न खड़ा करती हैं—

१–हवाई-जहाज जब बहुत ऊपर उड़ जाता है, तब वहाँसे पृथ्वी उन्नतोदर न दीखकर नतोदर दिखलायी पड़ती है। हवाई जहाजसे शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शकोंद्वारा लिये गये चित्रोंमें भी पृथ्वीका चित्र नतोदर आता है।

२–जैसे समुद्रमें जहाजका मस्तूल (ऊपरी भाग) पहले देखलायी पड़ता है और शेष भाग क्रमशः दीखता जाता है, ऐसी बात सपाट मरुस्थलमें नहीं होती। वहाँ दूरपर आता हुआ ऊँटपर बैठा व्यक्ति धुँधला पर झटकेके साथ पूरा ही एक साथ देखलायी पड़ता है। अतः समुद्रमें पानीके कारण प्रकाशकिरणें तिरछी हो जाती हैं, जहाजके क्रमशः दिखलायी पड़नेका यह कारण होना चाहिये।

३–कर्क-रेखापर देशान्तर-रेखाका एक अंश लगभग ७० मीलकी दूरी रखता है और मकर-रेखापर लगभग ७५ मील। आगे यह दूरी देशान्तर-रेखाओंकी घटती नहीं, कुछ बढ़ती ही जाती है।

४–भूमध्य-रेखासे ४० अक्षांश उत्तरपर उषःकाल ९० मिनटका होता है और ४० अक्षांश दक्षिणपर केवल ५ मिनटका।

५–एक चन्द्रग्रहण ३० अगस्त सन् १९०५ को लगा था। यह कनाडा (उत्तरी अमेरिका), साइबेरिया (उत्तरी एशिया) तथा मिस्र (उत्तरी अफ्रिका) से साथ-साथ देखा गया।

६–दक्षिणी अक्षांश ७० पर शेटलैंड द्वीपमें वर्षका बड़े-से-बड़ा दिन १९ घंटे ५३ मिनटका होता है; किंतु उत्तरी अक्षांश ७० पर नार्वेके हेमरफास्ट स्थानपर वर्षका बड़े-से-बड़ा दिन पूरे तीन महीनेका होता है।

७–उत्तरी ध्रुवके यात्री बतलाते हैं कि वायुके दबावके कारण वहाँ ५० सेर भार कठिनतासे उठाया जा सकता है और बंदूकका शब्द २० फुटतक किसी प्रकार सुना जा सकता है; परंतु दक्षिणी ध्रुवमें गये यात्री कहते हैं कि वहाँ २०० सेर भार सरलतासे उठाया जा सकता है और पिस्तौलका शब्द तोपकी गर्जनाकी भाँति गूँजता है।

८–कहा जाता है कि कैप्टेन जे० रोस दक्षिणी ध्रुवमें पर्याप्त भीतरतक गये। उन्होंने लिखा है कि उन्होंने वहाँ एक बर्फकी दीवाल देखी। उसकी चौड़ाई अज्ञात है। उसका ऊपरी भाग पूरा समतल था और उसमें एक भी गड्ढा या दरार नहीं थी। उसके सहारे पृथ्वीके चारों ओर घूमनेका उन्होंने प्रयत्न किया। वर्तमान नकशोंके अनुसार वहाँ पृथ्वीकी परिधि दस हजार आठ सौ मील होनी चाहिये, परन्तु चालीस हजार मीलकी यात्रा करके भी वे उस हिमभित्तिकी परिक्रमा न कर सके। उन्हें लौटना पड़ा।

९–पृथ्वी भी दूसरे ग्रहोंके समान एक ग्रह है। यह स्पष्ट है कि चन्द्रमाका सदा एक ही भाग पृथ्वीसे दिखायी पड़ता है। लिये हुए चन्द्रमाके चित्र यही बतलाते है। यदि चन्द्रमा अपनी धुरीपर चारो ओर घूमता तो उसका दूसरा भाग भी कभी-न-कभी पृथ्वीके सामने आता। इसी प्रकार पृथ्वी भी यदि ग्रह है तो उसका भी एक ही भाग चन्द्रमा या सूर्यके सम्मुख रहना चाहिये। वह धुरीपर घूमनेवाली नहीं हो सकती।

ये तो बड़े-बड़े प्रश्न हैं, जो सबकी समझमें आ सकते हैं। इनके अतिरिक्त नहरोंकी गोलाई, हवाई जहाजकी यात्रापर पृथ्वीकी गति और गोलाईका प्रभाव, ज्वार-भाटा आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले सूक्ष्म गणितके बहुत-से प्रश्न हैं, जो पृथ्वीको गोलाकार सिद्ध नहीं करते। वैज्ञानिकोंका कहना है 'भूमध्य-रेखा पृथ्वीकी वास्तविक मध्यरेखा नहीं है। देशान्तर-रेखाएँ उत्तरी ध्रुवकी ओर संकुचित तथा दक्षिणकी ओर फैलती जाती हैं। पृथ्वी केन्द्रकी ओर सिकुड़ी और ऊपर फैली है।' इसका स्पष्ट अर्थ है कि पृथ्वी नतोदर है। वह तश्तरीके समान गहरी है और नीचे केन्द्रमें सिकुड़ी है।

पद्मपुराणके अनुसार पृथ्वीकी आकृति खिले पद्मके समान है। उसकी कर्णिकापर सुमेरु पर्वत है और उसपर ब्रह्माजी हैं। नियम यह है कि जैसा ब्रह्माण्ड, वैसा ही पिण्ड; जैसा सौरमण्डल, वैसे ही परमाणु बनावटमें होते है। इस नियमके अनुसार पृथ्वीकी आकृतिके ही सातो द्वीप होने चाहिये। हमारे जम्बूद्वीपकी आकृति भी कमलके समान हुई। नीचे केन्द्रमें संकुचित, ऊपर फैलता नतोदर आकार कमलका होता है। यही बात वैज्ञानिक भी कहते हैं। सातो द्वीप एक दूसरेके ऊपर पँखुड़ियोंके मण्डलकी भाँति है। उनके मध्यमें समुद्र हैं। जम्बूद्वीप अपने द्विगुणित विस्तारवाले समुद्रसे घिरा है। यह जम्बूद्वीपको घेरनेवाला क्षार समुद्र अपने द्विगुणित विस्तारवाले द्वीपसे घिरा है।

इस प्रकार जम्बूद्वीप क्षार समुद्र, प्लक्षद्वीप इक्षुरससागर, शाल्मली द्वीप सुरासमुद्र, कुशद्वीप घृतसमुद्र, क्रौंचद्वीप क्षीरसमुद्र, शाकद्वीप दधिसमुद्र, पुष्करद्वीप निर्मल जल-सागर—ये क्रमशः एकसे दूसरे दुगुने बड़े हैं और एक दूसरे-को घेरे हुए हैं। अन्तिम पुष्करद्वीपको छोड़कर शेष छः द्वीपोंमें सात-सात मुख्य भाग, सात-सात मुख्य पर्वत और सात-सात बड़ी नदियाँ हैं।

भूगोलका यह वर्णन ठीक कमलके समान है। मध्यमें पुष्करद्वीप कर्णिकाकी भाँति है। इसीपर सुमेरु प्रतिष्ठित है। प्रत्येक दल-मण्डलके मध्यमें सागर है। प्रत्येक दल-मण्डलमें सात-सात दल हैं। केवल कर्णिकाका द्वीप एक है। प्रत्येक कमलदलमें सात पर्वत (उनके उन्नत अग्रभाग-के समान) और सात नदियाँ (उनके दलोंकी मुख्य नाड़ियोंके समान) हैं। यह तो मुख्य वर्णन है। इसमें अनेक छोटे पर्वत तथा नदियाँ होंगी। भूमिमें परिवर्तन भी होते रहते हैं। पुराणोंने ऐसे परिवर्तनोंका बहुत स्पष्ट वर्णन नहीं किया है। वहाँ भूगोलवर्णनमें भूमिकी नित्य आकृतिका वर्णन है। किसी द्वीपमें भूमिसम्बन्धी परिवर्तन नहीं होगा, ऐसी बात वहाँ कहीं नहीं कही गयी। इस जम्बूद्वीपमें ही तीन-चौथाई भाग डूब गया और बाहरी क्षारसमुद्र वहाँ फैल गया है, यह हम देखते ही हैं। ऐसी दशामें हम जम्बूद्वीप-में वे ही सात पर्वत और सात नदियाँ कैसे पा सकते हैं। यहाँ तो इतना बड़ा परिवर्तन हो चुका।

अबतक समुद्री या हवाई जहाजसे पृथ्वीके चारों ओर केवल पूर्वसे पश्चिम या पश्चिमसे पूर्वकी ओर ही घूमा जा सका है। यह घूमना ऐसा ही है, जैसे कुएँमें मेढक एक चक्कर लगा लेता है। कमलाकार पृथ्वीके भीतर ऐसा ही चक्कर सम्भव है। गोल पृथ्वी हो तो उसके उत्तरसे दक्षिण भी चक्कर लगाना सम्भव होना चाहिये। यह काम तभी सम्भव हो, जब उत्तरी या दक्षिणी-ध्रुव प्रदेश पार किया जा सके—विशेषतः दक्षिणी-ध्रुव देश। अभीतक कोई ध्रुव-देश पार नहीं किया जा सका और न उसकी सम्भावना ही है। उत्तरी ध्रुवदेशको पार करनेपर कदाचित् इस भूकमलकी कर्णिका मिल सके। दक्षिणी-ध्रुव प्रदेश पार करके हम उत्तरी गोलार्ध-में पहुँच जायँगे, यह नितान्त भ्रमपूर्ण कल्पना है। हमें एक अन्धकारपूर्ण क्षार-सागर मिलेगा और यदि किसी प्रकार पृथ्वीसे द्विगुण विस्तारका वह समुद्र पार किया जा सके तो हम प्लक्षद्वीपमें पहुँच सकेंगे।

हम आज जिसे पृथ्वी कहते हैं, यह पृथ्वीका सौवाँ भाग जम्बूद्वीप है। अबतक हमें इसका भी पूरा पता नहीं है। सहाराके रेगिस्तान, अफ्रिकाके जंगल, हिमालयका पर्वतीय भाग, दोनों ध्रुव-देश, समुद्र—अभी सब अज्ञात हैं। इतनेपर भी हम पौराणिक भूगोलका उपहास करने बैठते हैं। अभी तो ध्रुव-प्रदेशके बाहर वास्तविक क्षारसमुद्र है। ये समुद्र तो यहाँ द्वीपके भागमें भर आये हैं। ऐसी स्थितिमें वैज्ञानिक ज्ञान वैसा ही है, जैसे किसी जंगली ग्रामके पाँच, सात वर्षके बालककी विश्वके सम्बन्धमें धारणा। सुमेरु, क्षीरसागर और पृथ्वीके आधार भगवान् शेषको पानेके लिये अभी मण्डूकबुद्धि मानवको इस कूपसे निकलनेमें बहुत विलम्ब है। अभी तो वह इतना भी कठिनतासे समझ पा रहा है कि वह कमलाकार गहरी भूमिमें ही अबतक चक्कर काटता रहा है और उसीको गोल पृथ्वी कहता रहा है।

स्वर्गीय प्रोफेसर रामदास गौड़का, उन्हींके द्वारा सम्पादित 'विज्ञान' पत्रके फरवरी सन् १९३६ के अङ्कमें, 'प्राच्य और पाश्चात्य खगोल-विस्तार'के सम्बन्धमें एक लेख निकला था। उसमें उन्होंने शेषशय्याके विस्तार तथा पृथ्वीसे उसकी दूरीका अनुमान किया है। यहाँ उसका भाव हम दे रहे हैं—

पुराणोंके अनुसार ब्रह्माजी उत्पन्न होनेपर जिस कमलसे वे उत्पन्न हुए थे, उसके आधारका पता लगानेके लिये उसके नाल-छिद्रमें प्रविष्ट होकर ३६ हजार वर्षतक नीचे चलते गये। जब नाल समाप्त न हुआ, तब हताश होकर लौट आये। मान लीजिये कि ब्रह्माजी एक घंटेमें केवल एक मील ही नीचे उतरे होंगे। इस प्रकार ३१ करोड़ मील जाकर भी वे कमल-नालका मूल नहीं पा सके थे। ब्रह्माजी एक घंटेमें कितने मील उतरे, यह अज्ञात है; परंतु उनकी शक्ति, उत्सुकतादि-का ध्यान रखना होगा। इस दृष्टिसे सोचनेपर नालकी लंबाई-की संख्या बुद्धिसे बाहर हो जाती है। यदि नालकी लंबाईका शतांश भी कमलकी चौड़ाई हो तो नालकी ऊपर दी हुई कल्पित लंबाईके हिसाबसे ही उसकी चौड़ाई साढ़े आठ हजार मीलसे अधिक होती है। नालकी वास्तविक लंबाईकी कल्पना करनेपर कमलकी चौड़ाई करोड़ों योजन आयेगी। यह भी ध्यान रखनेकी बात है कि ब्रह्माजी उस कमलकी कर्णिकापर ही उत्पन्न हुए थे और उसके नालछिद्रमें प्रविष्ट हो गये थे। इस दृष्टिसे भी कमलका परिमाण बहुत विस्तृत होगा। जिसकी नाभिसे वह कमल निकला, वह तो अपनेमें अनन्त ब्रह्माण्डोंको लय कर लेता है। उसका आकार-विस्तार और उसकी जो शेष-शय्या है, उसका विस्तार यह मानव-बुद्धि सोच नहीं सकती।

नियम यह है कि आकर्षण-शक्तिके कारण छोटा ग्रह बड़े ग्रहकी परिक्रमा करता है। वैज्ञानिकोंने जब जम्बूद्वीपको ही पृथ्वी मान लिया, तब सूर्य उन्हें बहुत बड़ा ज्ञात हुआ। उन्होंने माना कि पृथ्वी सूर्यके चारो ओर घूमती है। यह मान्यता भी उनकी अपनी नहीं है। यह मान्यता उन्होंने भारतीय ज्यौतिषके सौर-सिद्धान्तसे ली है। भारतमें चान्द्र, सौर, बार्हस्पत्य, प्राजापत्य और ब्राह्म ज्यौतिषोंका वर्णन ग्रन्थोंमे आता है। इनमेंसे चान्द्र ज्यौतिष पृथ्वीको स्थिर और सूर्यको चलता हुआ मानता है। सौरसिद्धान्त सूर्यको स्थिर और पृथ्वीको चलती हुई मानता है। बार्हस्पत्यसिद्धान्तमें बृहस्पति स्थिर है और शेष सब गतिमान्। प्राजापत्यमें प्रजापति तारा स्थिर और ब्राह्ममें सभी गतिमान् माने जाते हैं। इन सिद्धान्तोंके गणित उत्तरोत्तर जटिल हैं। प्राजापत्य और ब्राह्मसिद्धान्तका तो नाम ही कहीं मिलता है। आइन्स्टीनने सिद्ध कर दिया है कि हम ग्रहोंकी गतिको ठीक नहीं जान सकते। हमारी ग्रह-गतिकी कल्पना अपेक्षाकृत ही रहेगी। जो पृथ्वीपर है, उसे सूर्य गतिशील दीखेगा और जो सूर्यपर है, उसे पृथ्वी। वास्तविक बात सब ग्रहोंसे पृथक् हुए बिना नहीं जानी जा सकती।

ज्यौतिषके सिद्धान्त तो परिणामकी अपेक्षासे बने हैं; किंतु पुराणकार सर्वज्ञ महर्षियोंको सत्यका वर्णन करना था। वे अपनी दिव्य शक्तिसे निरपेक्ष सत्यका साक्षात् करनेमें समर्थ थे। अतएव एक अधूरी भ्रान्तिपूर्ण खोजके आधारपर पुराणोंके किसी नियमको गलत नहीं ठहराया जा सकता, सो भी ऐसी दशामें जब कि उनके दूसरे वर्णन क्रमशः निर्भ्रान्त सत्य सिद्ध होते जा रहे हैं।

आज जब कि मनुष्य-समाजमें ऐसा पुरुष मिलना असम्भवप्राय हो गया है, जो मनको एकाग्र करके वेदके किसी भी एक मन्त्रका अर्थ-दर्शन कर सके, समाजके लिये वेदार्थ जाननेका एकमात्र साधन पुराण ही रह गये हैं। पुराण दिव्य, अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञानके आकर हैं। वे ही हिंदू-संस्कृतिके प्रेरक, पोषक, आधार तथा भंडार हैं। उनमें न तो विकृति आयी है और न उनकी कोई बात कोरी कल्पना ही है। पुराणोंके वर्णन जहाँ रूपक हैं, वहाँ उनको स्पष्टरूपसे रूपक बता दिया गया है—जैसे श्रीमद्भागवतका पुरञ्जनोपाख्यान। शेष वर्णन अक्षरशः सत्य हैं। वे रूपक नहीं हैं।

हिंदू-संस्कृतिमें महर्षियोंने कभी भौतिकताको महत्त्व नहीं दिया। भारतने मनुष्य-जीवनका एकमात्र लक्ष्य अन्तर्मुख होकर आत्मोपलब्धि करना माना। विश्वके दूसरे सब कार्य, सब चेष्टाएँ इसी लक्ष्यको प्रेरणा दें—यह ऋषियोंकी सदा इच्छा रही। प्रत्येक राष्ट्र अपना इतिहास इसी दृष्टिकोणसे लिखता है कि उसका उद्देश्य उससे पुष्ट है। महर्षियोंने भी भूगोल, इतिहास, व्यक्ति, घटना आदिका इसी दृष्टिसे वर्णन किया। जो स्थल, घटनाएँ या व्यक्ति समाजके लिये आध्यात्मिक प्रेरणा देनेमें किसी प्रकार सहायक हो सकते थे, वे चाहे साधारण दृष्टिसे कम महत्त्वपूर्ण हों, उनका वर्णन किया गया; और जो इस लक्ष्यमें प्रेरक नहीं थे, वे चाहे जितने महत्त्वपूर्ण रहे हों, उनकी चर्चा नहीं है। जैसे पुराणोंमें यह कहीं पता नहीं लगता कि जम्बूद्वीपका बड़ा भाग कब, क्यों और कैसे जलमग्न हुआ।

पुराणोंमें अनेक ऋषियों या प्रधान पुरुषोंकी चरित-सम्बन्धी त्रुटियोंके वर्णन हैं। ऐसी त्रुटियोंके करनेका कहीं आदेश तो है नहीं; लेकिन सत्यको छिपाया भी नहीं गया है। इस सम्बन्धमें साधारण दृष्टि और महापुरुषोंकी दृष्टिमें ही अन्तर होता है। महापुरुषोंका दृष्टिकोण होता है कि उनकी त्रुटियाँ प्रकट हो जानेसे समाज सावधान रहेगा। लोग समझ लेंगे कि इतनी उच्च स्थितिमें भी ऐसे विकार आ सकते हैं; वे प्रमाद नहीं करेंगे। पुराणोंमें महर्षियोंने भी इसी दृष्टिकोणसे त्रुटियोंको छिपाया नहीं है।

मनुष्यके मनमें अनन्त शक्ति है। आज मन वीर्यहीन हो गया है। इतनेपर भी मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि दृढ़ संकल्पमें स्थूल पदार्थको प्रभावित, रूपान्तरित तथा आमूल पुनर्निर्मित करनेकी शक्ति है। आरम्भिक युगोंमें मनमें शक्ति थी। संकल्प बलवान् थे। इसी प्रकार प्रकृतिकी स्थूल शक्तियोंका भी अत्यधिक ह्रास हुआ है। उस समय प्रकृतिमें भी अद्भुत अभिव्यञ्जक शक्ति थी। आज भी अनेक घटनाएँ ऐसी हो जाती हैं, जो तर्कसे सिद्ध नहीं हो पातीं। पूर्णशक्ति प्रकृति और पूर्णशक्ति संकल्पके समयमें विचित्र बातें होती ही रहती थीं। उस समय वे साधारण ही थीं। पुराणोंमें ऐसे वर्णन बहुत हैं। उनको देखकर उछल-कूद मचाना व्यर्थ है। वे सत्य हैं, इसमें सन्देह नहीं।

भारतीय ज्ञान, भारतीय दर्शन, भारतीय कला, भारतीय समाज-व्यवस्था—सबके आधार पुराण हैं। आधुनिक विद्वानोंको भी इनके लिये पुराणोंकी ही शरण लेनी पड़ती है। ऐसी दशामें उनका पुराणोंपर आक्षेप और उनकी उपेक्षा उपहासास्पद ही है। पुराणोंका आदर, उनकी रक्षा तथा उनके ज्ञानके प्रसारमें ही हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा एवं प्रतिष्ठा है।

रामायणमें हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीशान्तिकुमार नानूराम व्यास, एम्० ए०)

वाल्मीकीय रामायणमें तत्कालीन भारतीय समाजका अत्यन्त विशद एवं सर्वाङ्गपूर्ण चित्र उपलब्ध होता है। प्रस्तुत लेखमें उस प्राचीन संस्कृतिका संक्षिप्त परिचय देनेकी चेष्टा की जाती है।

सामाजिक व्यवस्था

रामायणकालीन आर्योंकी सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रमकी भित्तिपर अवलम्बित थी। वर्ण चार थे। वेदोंका अध्ययन, व्रत, नियमका पालन, यज्ञोंका अनुष्ठान तथा दान—ये प्रथम तीन वर्णों (द्विजों) के साधारण धर्म थे। स्वाध्याय, अध्यापन, तपस्या और प्रतिग्रह ब्राह्मणोंके विशिष्ट कर्म थे। पुरोहित और ऋत्विक् बननेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको था। अपने विशिष्ट कार्योंके अतिरिक्त ब्राह्मणोंको अन्य जातियोंके कर्मोंद्वारा भी निर्वाह करनेकी स्वतन्त्रता थी। तत्कालीन ब्राह्मणोंके उनके कर्मानुसार पाँच विभाग किये जा सकते हैं—(१) देव ब्राह्मण—जो प्रतिदिन स्नान, सन्ध्या, जप, होम, अतिथि-देव-पूजा और बलिवैश्वदेव करते तथा बड़े सत्यवादी और सदाचारी थे। (२) मुनि ब्राह्मण—जो वनमें रहकर तपस्या करते, फल-मूलोंसे निर्वाह करते तथा दैनिक श्राद्ध करते थे। (३) द्विज ब्राह्मण—जो वेदान्तका अध्ययन करते और अनासक्त होकर सांख्य तथा योगका चिन्तन करते थे। (४) क्षात्र ब्राह्मण—जो क्षत्रियोंकी भाँति शस्त्र धारण करते और युद्धोंमें भाग लेते थे, उदाहरणार्थ भार्गव परशुराम। (५) वैश्य ब्राह्मण—जो कृषि और गोपालनद्वारा जीवन-निर्वाह करते थे, उदाहरणार्थ ब्राह्मण त्रिजट। कहना न होगा कि जाति जन्मसे ही थी, न कि कर्मसे। क्षात्र अथवा वैश्यवृत्तिसे रहनेवाले ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही कहलाते थे।

ब्राह्मणोंका वध वर्जित था। दोषी ब्राह्मण भी अवध्य था। ब्राह्मणका धन हरनेवाला कठोर दण्डका भागी बनता था। ब्रह्महत्या महापातक थी। ब्राह्मणोंका व्यक्तित्व गौओं और राजाओंके समान पवित्र माना जाता था। दैनिक जीवनमें ब्राह्मणोंको सर्वदा अग्रिम स्थान मिलता था। राजालोग ब्राह्मणोंके प्रति प्रभूत सम्मान प्रदर्शित करते थे। श्रीरामको **'ब्राह्मणानामुपासकः'** कहा गया है। राजकीय समाजमें ब्राह्मण पुरोहितकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। राजाका वह अनिवार्य सहायक और परामर्शदाता था। दशरथ और श्रीरामके शासनकालोंमें वसिष्ठको जो सम्मान और महत्त्व प्राप्त था, उससे पुरोहितके महान् गौरवका पता चलता है। ब्राह्मणोंकी इस असाधारण महत्ता और अलौकिक मान-प्रतिष्ठाका रहस्य था—उनकी त्याग-भावना, ऐहिक वस्तुओंके प्रति अनासक्ति, स्वाध्याय और धर्म-सेवामें तत्परता, निःस्वार्थ राजकीय सेवा, विलक्षण बौद्धिक प्रतिभा एवं संगठन-शक्ति।

क्षत्रियका प्रमुख कर्तव्य प्रजाकी रक्षा करना था। श्रीरामके अनुसार क्षत्रिय धनुष इसलिये धारण करता है कि संसारमें 'आर्त' शब्दका अस्तित्व ही न रहे—

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति।
(३।१०।३)

ब्राह्मण, गौ और शरणागतकी रक्षा उसका विशेष लक्ष्य था। क्षत्रिय दान लेनेका नहीं, केवल दान देनेका अधिकारी था। परशुराम और कार्तवीर्य अर्जुन, वसिष्ठ और विश्वामित्र, शुक्र और ययाति तथा वसिष्ठपुत्र और त्रिशङ्कु-जैसे अपवादोंके अतिरिक्त ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण थे। क्षत्रिय ब्राह्मणोंको शीर्षस्थानीय मानकर उन्हींका अनुगमन करते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्ण कर-भारसे मुक्त थे।

वैश्यलोग कृषि, गोपालन और वाणिज्य-व्यवसाय करते थे। वे ही अधिकतर कर चुकाया करते थे। अयोध्या तथा अन्य नगरोंमें उनके लिये पृथक् और प्रशस्त निवासस्थान बने थे। अपनी संख्या और ऐश्वर्यके कारण वैश्य अयोध्याके सबसे प्रभावशाली नागरिक थे। वैश्योंके व्यापारिक संघ 'श्रेणी,' 'गण' और 'नैगम' कहलाते थे।

तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका विहित कर्म था। उसे यज्ञोंमें उपस्थित होनेका अधिकार था, यज्ञोंके अनुष्ठान करनेका नहीं। वेदाध्ययन और तपस्या करनेका भी वह पात्र नहीं था। चाण्डाल तत्कालीन समाजके अस्पृश्य थे। वे नीलवर्णके होते और नीले ही वस्त्र धारण करते थे। उनके शरीरमें चिताकी राख लिपटी रहती और लोहेके गहने पड़े रहते। वे योनियोंमें अधम और सारे नागरिक अधिकारोंसे वञ्चित थे। उन्हें मन्दिरों, राजप्रासादों और ब्राह्मणोंके घरोंमें जानेका अधिकार नहीं था।

क्षत्रिय विश्वामित्रका ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेना कुछ विद्वानोंके मतानुसार यह सूचित करता है कि उन दिनो जाति-परिवर्तन कोई असम्भव बात नही थी । किंतु सच पूछा जाय तो हमें इस घटनाको मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे आँकना चाहिये । ब्राह्मणवर्ण, जो स्वभावतः सत्त्वगुणप्रधान है, रजोगुणप्रधान क्षत्रिय वर्णका विरोधी है । विश्वामित्रको अपना काम-क्रोधसंयुक्त राजसी स्वभाव सात्त्विक वृत्तिमे परिणत करनेके लिये अत्यन्त कठोर मानसिक अनुशासनका दीर्घकालतक अभ्यास करना पड़ा था । जब उनका हृदय काम और क्रोधके प्रभावसे सर्वथा विशुद्ध हो गया, तभी उस युगके सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण वशिष्ठने उन्हे 'ब्रह्मर्षि' के नामसे सम्बोधित किया। इससे जाति-परिवर्तनका नियम सिद्ध नही होता । यह एक अपवादमात्र है ।

चारो वर्णोंके पारस्परिक सम्बन्ध सद्भावनापूर्ण थे । सभी वर्ण 'स्वकर्मनिरत' थे, अतः वर्ण-विद्वेष नामको भी नहीं था । अयोध्याके वर्णनमे कहा गया है कि क्षत्रिय ब्राह्मणोंको अपना नेता मानते, वैश्य क्षत्रियोकी आज्ञा पालन करते और शूद्र अपने कर्तव्यका पालन करते हुए तीनों वर्णोकी सेवामे संलग्न रहते थे । एक सर्वथा सुखी चातुर्वर्ण्य-समाजकी स्थापना और उसका धर्मपूर्वक पालन तत्कालीन राजाओका मुख्य लक्ष्य था।

वर्ण-व्यवस्थाके सहायक रूपमे ही ब्रह्मचर्यादि आश्रमोका विधान है। वर्णाश्रमकी यह व्यवस्था व्यक्ति और समष्टि दोनोकी पारस्परिक हितरक्षाके लिये पर्याप्त थी । वर्ण-सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्तिको एक सामाजिक प्राणी मानकर उसके कर्तव्यो और अधिकारोका इस प्रकार निरूपण करता है कि वे उसके पारिवारिक वातावरण और सामूहिक हित दोनो दृष्टियोसे समीचीन हो । दूसरी ओर आश्रम-सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्तिको एक अलग इकाईके रूपमे देखता है और उसे बतलाता है कि उसका आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, उसे अपना जीवन-यापन किस प्रकार करना चाहिये तथा अपनी लक्ष्य-प्राप्तिके लिये क्या उद्योग करना चाहिये ।

कौटुम्बिक स्थिति

प्राचीन भारतमे संयुक्त परिवारकी प्रणाली थी, जिसका मुखिया पिता होता था । पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की जाती थी । परिवारमे ज्येष्ठ पुत्रका अधिकारपूर्ण स्थान था । वही पिताका उत्तराधिकारी और उत्तरक्रिया करनेका पात्र था । 'पुत्' नामक नरकसे बचने और पारलौकिक सुखकी प्राप्तिके लिये पिता पुत्रकी कामना करते थे । दीर्घ तपस्या, सदाचारी जीवन तथा धार्मिक अनुष्ठानोंके परिणामस्वरूप ही सुयोग्य पुत्रकी उपलब्धि हो सकती है। स्त्रियोंद्वारा पुत्र-प्राप्तिके लिये तपस्या करनेके कई उदाहरण मिलते हैं । परम्परागत रूढ़ियो और संस्कारोका पालन परिवारके सदस्योका परम धर्म था ।

प्राचीन आर्य-संस्कृतिकी उत्कृष्टताका रहस्य उसके पारिवारिक जीवनकी श्रेष्ठता है । इसका समुज्ज्वल उदाहरण रामायणमे चित्रित है। पिता-पुत्रमे, भाई-भाईमे, पति-पत्नीमे, देवर-भौजाईमे, सास-पतोहूमे बड़े स्नेहसिक्त और अनुकरणीय सम्बन्ध होते थे । कुटुम्बके अनुशासनमे तरुणवर्ग स्वार्थत्याग, निश्छल प्रेम और सेवाभावना-जैसे आदर्श गुणोको हृदयङ्गम करता था ।

विवाह

पारिवारिक स्थिरता, लौकिक सुख और पारलौकिक कल्याण (मुक्ति) की दृष्टिसे विवाह प्रत्येक प्राणीके लिये आवश्यक और वाञ्छनीय माना जा चुका था। कन्याके लिये तो वह अनिवार्य था; पाणिग्रहण उसका द्वितीय जन्म था। कन्याका विवाह उसकी 'पतिसंयोगसुलभ' अवस्थामे और पुत्रका विवाह उसके 'समुपस्थितयौवन' हो जानेपर हुआ करता था । विवाहके पूर्व वर-वधूमे परिचय नही रहता था । सीता, शान्ता और मन्दोदरीने विवाहसे पूर्व अपने पतियोके दर्शन नही किये थे; फिर भी वे पतिपरायणा निकलीं ।

कन्याओंको पति-वरणमे स्वतन्त्रता नही थी। इस कार्यमे वे 'पितृवशा' थीं। राजाओमे स्वयंवरका उल्लेख होनेपर भी वह स्वेच्छासम्मत नही था। जब वायुने कुशनाभकी कन्याओसे विवाहका प्रस्ताव किया, तब उन्होंने कहा कि हमारे पति वही होंगे, जिन्हे हमारे पिता हमे अर्पित करेंगे । पुत्रोंको भी विवाह पिताके आज्ञानुसार करना पड़ता था। धनुर्भङ्ग करनेके बाद सीताका स्वयं पाणिग्रहण करनेका अधिकार होने पर भी श्रीरामने दशरथकी आज्ञा न पानेतक सीताको स्वीकार करनेसे इनकार कर दिया था। सन्तानके विवाहमे पैतृक सत्ताका इतना अधिकार होते हुए भी केवल इसी कारण विवाहोके दुःखमय होनेके उदाहरण नही मिलते । सीता और मन्दोदरीके पतियोका चुनाव उनके पिताओंने किया है। फिर भी उन्हे पतिप्रेम पर्याप्त मात्रामे मिला । सीता श्रीरामकी प्रिया इसीलिये थीं कि वे उन्हे पिता दशरथकी अनुमतिसे प्राप्त हुई थीं—

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति ।
(१ । ७७ । २६)

कन्याधनके रूपमे पुत्रीको बहुत-सा उपहार देनेकी प्रथा थी। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र विवाहके लिये माङ्गलिक माना जाता था। शास्त्रोक्त विधिसे सम्पन्न विवाह अविच्छेद्य था। इस लोकमे पिता आदिके द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके अनुसार जलसे संकल्प करके दी जाती है, वह मरनेके बाद परलोकमे भी उसीकी स्त्री होती है। स्वामीका त्याग, चाहे वह कैसा भी हो, स्त्रीके लिये महान् अधर्म है। पर दुष्टा स्त्रियोंके परित्यागके उदाहरण मिलते हैं। राजाओं और धनी वर्गोंमें बहुविवाहकी प्रथा प्रचलित थी, पर श्रीरामने एकपत्नीव्रतके अनुकरणीय आदर्शकी स्थापना की।

प्रेमका आदर्श उत्कृष्ट होते हुए भी व्यावहारिक था। रामायणमे पारस्परिक अनुरागको ही महत्त्व दिया गया है। अतिप्रणय और अप्रणय दोनो ही अनुचित हैं। अपनी पत्नीके प्रति अन्धानुरागका रामायण समर्थन नहीं करती। कामपरायण होना कोई प्रशंसाकी बात नहीं है। विशेषकर स्त्रियोंके लिये तो 'कामवृत्त' सर्वथा अनुचित है। वाल्मीकिने अविवाहित और असंयत प्रेमको बारंबार निन्दित और दण्डित किया है। रामायणने 'स्वदारनिरत' होनेका ही आग्रह किया है। अजितेन्द्रिय व्यक्तिका नाश अवश्यम्भावी है। विवाहकी परिणति—पत्नीत्वकी सफलता—प्रणय एवं सन्तान-प्राप्तिमे ही निहित है।

स्त्रियोंकी स्थिति

कन्याके विवाहकी चिन्ता, उसके भावी जीवनको सुखी बनानेकी उत्कट लालसाके कारण 'कन्यापितृत्व' सभी मानकाङ्क्षी लोगोंके लिये दुःखदायक था। किंतु कन्याओंसे घृणा या द्रोह करनेका कहीं प्रमाण नहीं मिलता। उनका लालन-पालन प्रेमपूर्वक किया जाता था। परिवारमे वे उपेक्षाका विषय कभी नहीं थीं। अविवाहित कन्याओंको माङ्गलिक और उनकी उपस्थितिको शुभ शकुन माना जाता था। रामायणके प्रमुख स्त्री-पात्रोंकी समीक्षासे यह स्पष्ट है कि विवाहके पूर्व उन्हे अपने घरोमे समुचित शिक्षा मिल चुकी थी। क्षत्रिय-कुमारियाँ राजधर्म, पौराणिक साहित्य, ललितकला तथा विभिन्न भाषाओंसे सुपरिचित थीं।

विवाहके पश्चात् कन्या वधूरूपमे पतिगृहमे प्रवेश करती थी, जहाँ उसे पतिका प्रगाढ प्रेम और सास-ससुरका हार्दिक स्नेह प्रचुर मात्रामें प्राप्त होता था। पातिव्रत्य-धर्मका आदर्श अत्युच्च था। स्त्रीके लिये पति ही देवता और पति ही प्रभु है। नारीको अपने पतिके प्रिय और हितमें संलग्न रहकर सदा उसीकी सेवा करनी चाहिये, यही स्त्रीका लोक और वेदमें प्रसिद्ध सनातनधर्म है। अप्रतिम सौन्दर्य और एकनिष्ठ पातिव्रत्य ही रामायणके अनुसार आदर्श पत्नीका मापदण्ड है। नारी पुरुषकी 'सहधर्मचारिणी' थी, 'समान-सुखदुःखिनी' थी। शास्त्रोक्त यज्ञ-यागादि कर्मोंमें पति और पत्नी दोनोंका संयुक्त अधिकार होता था। वैदिक श्रुतियाँ पत्नीको पतिकी अभिन्न आत्मा बतलाती है। पतिपर स्त्रीके मुख्यतः तीन अधिकार थे—भरण-पोषणका अधिकार, स्त्रीधनका अधिकार तथा वैवाहिक एकनिष्ठाका अधिकार। पुरुषके पारिवारिक एवं बाह्य कार्योंमे उसकी सुयोग्य पत्नी सब प्रकारसे सहयोग देती थी। सीता, तारा और कैकेयी-जैसी तेजस्वी नारियोंने अपने समयकी राजनीतिक घटनाओंको बहुत प्रभावित किया।

नारीके पत्नीत्वकी सफलता उसके मातृत्वमें थी। गर्भकालमें आचार-विचारकी पवित्रता मनोऽनुकूल सन्तानकी प्राप्तिके लिये आवश्यक थी। गर्भकी रक्षाके लिये मन्त्रानुष्ठान किये जाते थे। भ्रूणहत्या महापातक थी। माताका अपने पुत्रोंके प्रति निश्छल ममत्व था और पुत्र भी उसका असीम आदर करते थे। यद्यपि वैधव्य स्त्रीके लिये घोरतम विपत्ति थी, तथापि विधवाएँ अनादरका पात्र नहीं थीं। दशरथकी विधवा रानियाँ सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करती हैं।

स्त्रियोंको पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उत्सवोंमें, राज्याभिषेकमें, यज्ञोंमे, सामूहिक भोजोंमे, श्राद्धकर्ममें, अन्त्येष्टि-क्रियामें स्त्रियाँ सम्मिलित होती थीं। अपने पतिकी वे 'क्रीडासहाय' थीं। विविध वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो वे अपने-अपने पतियोंके साथ देश-विदेशमे भ्रमण करती। न्यायालयोंमे पुरुषोंकी भाँति स्त्रियाँ भी प्रवेशकर शिकायत कर सकती थीं। श्रीरामके अनुसार स्त्रियोंके लिये न घर, न वस्त्र, न दीवारें और न राजसत्कार ही वैसी आड़ करनेवाले है, जैसा कि उनका अपना सदाचरण। स्त्रियोंके प्रति उच्च शिष्टाचारका पालन किया जाता था। उन्हे सभी प्राणियोंके हाथो अवध्य माना गया था। वाहनोंपर चढते समय स्त्रियोंको पहले स्थान दिया जाता था। रथोंमे महिलाएँ आगेकी ओर बैठायी जाती थीं। परायी स्त्रियोंकी ओर देखना असभ्यता थी। स्त्रियोंके सामने अपने कोपका निवारण कर लेना चाहिये। महात्मालोग स्त्रियोंके प्रति कोई दारुण कार्य नहीं करते।

आहार-विहार

रामायणकालीन आर्य अपने आहारमें बड़े सुरुचिपूर्ण थे। वे सुस्वादु पक्वान्नोंका बहुतायतसे प्रयोग करते थे। अतिथियों-का उच्च कोटिके भोजनसे स्वागत करना उन्हें विशेष प्रिय था। भोजनके चार प्रकार थे—भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य। लोगोंका प्रमुख आहार गेहूँ और चावल था। चावलसे बने पक्वान्नोंमें हविष्यान्न (घीमें उबाला हुआ चावल), कृशर (दूधकी खिचड़ी), मोदक (चावल, दाल और चीनी-के लड्डू), मृष्टान्न (चावलके मालपूए) और पायस (खीर) बड़े प्रिय थे। दूध और दूधसे बने पदार्थोंका प्रचुर व्यवहार होता था। दधि, क्षीर (खोआ या छेना), कृशर, कपित्थ (मट्ठा) और पायस (खीर)के रूपमें दूधका सेवन किया जाता था। घृतका स्थल-स्थलपर उल्लेख मिलता है। स्नेह अथवा तैल, लवण और सौवर्चल-जैसे नमक, उपदंश और निष्ठान जैसे मिर्च-मसालों तथा अम्लरस-जैसी खटाईका प्रयोग भी देख पड़ता है। उस समयके रसोइये पाकविद्यामें बड़े प्रवीण थे और वे कुण्डल धारण करके भोजन परोसते थे। आम्र, बदरी, दाडिम, इक्षु, जम्बू, खर्जूर, कदली, नारिकेल और पनस-जैसे फलोंका आहार प्रचलित था। मधु और फलासव पेयके रूपमें स्वीकार किये जाते थे। ब्राह्मण प्रायः शाकाहारी थे। मांसाहारकी तुलनामें शाकाहारको ही श्रेष्ठ माना गया है। विशालरूपमें सामूहिक भोज प्रायः किये जाते थे, जहाँ असंख्य नर-नारी आकर तृप्ति पाते और जहाँ खाद्य एवं पेय पदार्थोंका अटूट भंडार प्रस्तुत रहता। ऐसे अवसरोंपर किसीका अनादर या उपेक्षा नहीं की जाती थी। भोजनका कृत्य एक यज्ञ था, एक समर्पण-क्रिया थी, जिसका उद्देश्य मुख्यरूपसे देवताओं, अतिथियों, मित्रों और सम्बन्धियोंको तृप्त करना था और गौणरूपसे अपना प्राणधारण।

जीवनका समुचित आनन्द उठानेके लिये मनोरञ्जनके अनेक साधन प्रस्तुत थे। आध्यात्मिक और भौतिक दोनों क्षेत्रोंमें आर्योंने समानरूपसे उन्नति की। कोसल प्रदेशको 'प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः' (२ । १०० । ४४) कहा गया है। गोष्ठियों और समाजोंमें मनोविनोदके विविध साधन मौजूद थे। हास्यकार और कथाकार राजाओंका विनोद करते थे। राजप्रासादोंमें पालतू पशु-पक्षी रानियोंके विनोदके साधन थे। द्यूत, शतरंज, संगीत, नृत्य और नाटक, उद्यान-विहार, मृगया, कन्दुक-क्रीडा, जलविहार तथा व्यायाम आदि आमोद-प्रमोदके अन्य साधन थे। किंतु इन सबमें सामूहिक जीवन, संयम, अहिंसा, विलासके साधनोंका सीमित उपयोग—इन आदर्शोंका ध्यान रक्खा जाता था।

वस्त्र और आभूषण

सूती, रेशमी, ऊनी, सुनहरे, चमकीले, रंग-बिरंगे वस्त्रों-का नागरिकोंमें बहुत व्यवहार होता था। वनवासी लोग कुश, चीर और वल्कल धारण करते। पवित्र कार्योंमें क्षौम (रेशमी) वस्त्रोंका प्रयोग होता था। स्त्री-पुरुष दो वस्त्र धारण करते थे—उत्तरीय और अधोवस्त्र। ब्रह्मचारीगण एक ही वस्त्र धारण करते थे। स्त्रियाँ अपने अधोवस्त्रको कटिभागपर रशनासे कस लेती थीं। उत्तरीय उनके कन्धों और वक्षःस्थल पर पड़ा रहता था और आवश्यकता होनेपर शीघ्रतासे उतारा जा सकता था। साड़ी पहननेकी 'कच्छ' शैलीका सम्भवतः उन दिनों व्यवहार नहीं था। सीनेकी कला परिचित थी। सिरपर साधारण लोग मुकुट धारण करते और राजागण किरीट। पगड़ी (उष्णीष) का व्यवहार भृत्यवर्गतक सीमित था। पैरोंमें लकड़ीकी पादुकाएँ या चमड़े-के उपानह धारण किये जाते थे। राजा हेमभूषित पादुकाएँ पहनते थे। नर-नारी दोनों आभूषणप्रिय थे। सैनिक युद्धमें भी आभूषणोंसे सज्जित होकर जाते। हाथियों, घोड़ों और गौओंको आभूषणोंसे सजानेकी प्रथा थी। शरीरके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें मनोहर आभूषण धारण किये जाते थे। हीरे, जवाहरातोंका भी प्रचुर व्यवहार था। पुष्पों और मालाओंका आभूषणोंकी भाँति व्यवहार होता था। सौन्दर्यकी वृद्धिके लिये दैनिक शृङ्गार (प्रतिकर्म) प्रचलित था। चन्दन और अङ्गरागका बहुतायतसे उपयोग होता था।

शिष्टाचार

रामायण-काल सभ्यता, शिष्टता, मधुर संवाद, विनम्र व्यवहार और आदर्श शिष्टाचारका युग था। रामायणकालीन शिष्टाचार भारतीय शिष्टाचारका सदासे आदर्शभूत रहा है। पञ्च महायज्ञोंमें अतिथि-सत्कारका विशिष्ट स्थान था। अभ्यागतों-का पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क, गौ और आसनद्वारा स्वागत किया जाता। क्या तपस्वी और क्या राजा, आतिथ्यमें अपनी शक्ति-के अनुसार सारे साधन जुटा देते थे। ऋषियोंकी अनुपस्थिति में आतिथ्य-भार उनकी पत्नियोंपर आ पड़ता था। अतिथि-क्रियाके पश्चात् कुशल-सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाते। जहाँ राजा मुनियोंसे उनकी तपस्या, अग्निहोत्र, शिष्यगण, आश्रमस्थ पशु-पक्षी तथा वृक्ष-पुष्पोंके विषयमें कुशल-क्षेम पूछते, वहाँ मुनि-

गण राजाओंसे उनके राष्ट्र, कोश, सुहृत्, बन्धु-बान्धव, मन्त्रिगण तथा शत्रुओंके दमनके बारेमें जिज्ञासा करते थे। आसन ग्रहण करते समय बड़े-छोटोंके यथान्याय बैठनेकी परिपाटी थी। प्रणाम, प्राञ्जलि, अञ्जलि-पुट, प्रणिपात, नामोच्चारण तथा प्रदक्षिणाद्वारा छोटे बड़ोंके प्रति सम्मान अभिव्यक्त करते थे। गुरुजन छोटोंका आलिङ्गन कर, उनका मस्तक सूँघकर और उन्हें आशीर्वाद देकर अपना स्नेह प्रकट करते थे। समवयस्क मित्रोंमें आलिङ्गन और हस्त-संपीडन सामान्यतः प्रचलित अभिवादन-प्रणाली थी। चलते समय बड़े आगे जाते और छोटे उनका विनीत भावसे अनुसरण करते। तत्कालीन सम्बोधन-प्रणाली बड़ी शिष्ट और गौरवपूर्ण थी। द्विजातियोंके लोग संस्कृतमें ही संभाषण करते थे। उपकारोंके लिये कृतज्ञता प्रकट करनेकी तथा अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करनेकी प्रथा प्रचलित थी।

लोकाचार या लौकिक समयका पालन वाञ्छनीय था। लोकापवादसे सभी डरते थे। संशयकी दशामें पूर्वजों या श्रेष्ठ पुरुषोंके मार्गका अनुसरण ही श्रेयस्कर माना जाता था। साहसपूर्ण या आश्चर्यकारी कृत्योंके सम्पादनपर साधुवाद या बधाई दी जाती थी। यज्ञ या राज्याभिषेकके अवसरपर सामूहिक निमन्त्रण दिये जाते और अभ्यागतोंके स्वागत-सत्कारका सुन्दर प्रबन्ध किया जाता। विशिष्ट व्यक्तियोंके पास उपहार लेकर जानेकी रीति थी। मित्रता अग्निको साक्षी देकर की जाती थी। तत्कालीन राजकीय जुलूस बड़े सुव्यवस्थित और वैभवद्योतक थे। अपने वचनोंकी प्रामाणिकता घोषित करनेके लिये अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुकी शपथ ली जाती थी। अपने सत्य पक्षका आग्रह करनेके लिये 'धरना' देनेका रिवाज था। सार्वजनिक विरोध या दुःख प्रकट करनेके लिये जनताकी ओरसे 'हड़ताल' की जाती थी। रथ या वाहनपर चढ़ते समय उसकी पूजा-प्रदक्षिणा की जाती थी। किसी उक्ति या मन्त्रका महत्त्व बढ़ानेके लिये उसकी तीन बार पुनरुक्ति की जाती थी। मुहूर्तोंमें, दैव अथवा भाग्यमें, शकुनोंमें, स्वप्नोंमें, और मानव-जीवनकी सौ वर्षकी अवधिमें लोगोंका दृढ़ विश्वास था। प्रजापर आ पड़नेवाली विपत्तिका कारण राजाका ही कोई दुष्कर्म माना जाता था।

शिक्षा-दीक्षा

शिक्षाका स्तर बहुत ऊँचा था। अयोध्यामें कोई कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख अथवा नास्तिक पुरुष देखनेको भी नहीं मिलता था। शिक्षाको राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त था। वाल्मीकिके अनुसार जन्म-जन्मान्तर्गत संस्कार ही मनुष्यको अच्छा या बुरा बनाते हैं, चाहे फिर उसे शिक्षा कितनी ही क्यों न दी जाय। रावणकी माताने विश्रवा मुनिसे बड़े कुसमयमें गर्भाधानके लिये प्रार्थना की, जिसके परिणामस्वरूप रावण और कुम्भकर्ण बड़े क्रूर औ दुराचारी निकले। उनके ब्राह्मणत्व, वेदाभ्यास और कठोर तप भी उनके वास्तविक जन्मगत कुसंस्कारोंको बदलनेमें असमर्थ रहे। मुनियोंके आश्रम ही तत्कालीन पाठशालाएँ थीं। गुरुकी सन्निधिमें रहकर शिष्य वैदिक ज्ञान, शिष्टाचार, सदाचार आदिको हृदयङ्गम करता था। गुरुकी शुश्रूषा उसका परम धर्म था। प्रतिपदा अनध्यायका दिन था। अयोध्या नगरी शिक्षाका महान् केन्द्र थी। वहाँ उपाध्याय सुधन्वाका सैनिक शिक्षालय था, जहाँ राजकुमार शस्त्राभ्यास करते थे। वासिष्ठों, तैत्तिरीयों, काठकों, मानवों तथा अगस्त्य और कौशिक ऋषियोंके शिक्षालयोंमें परम्परागत शिक्षाकी व्यवस्था थी। सूतों और मागधोंद्वारा संचालित पौराणिक पाठशालाएँ भी अनेक थीं। यज्ञ-समारम्भोंसे शिक्षा-प्रसारमें बड़ी सहायता मिलती थी। शिक्षण-व्यवस्थाके मुख्यतः चार भाग थे—शारीरिक, मानसिक, व्यावहारिक और नैतिक। शारीरिक शिक्षामें धनुर्विद्या, मृगया, अश्वचर्या, रथचर्या, बाहुयुद्ध, गदायुद्ध तथा मल्लयुद्धका समावेश था। मानसिक शिक्षाके अन्तर्गत वेद, वेदाङ्ग, काव्य, साहित्य, इतिहास, पुराण, ललित कलाएँ, अर्थशास्त्र, राजनीति-जैसे विषय थे। व्यावहारिक शिक्षणमें व्यापार, कला-कौशल, आयुर्वेद तथा अनेक प्रकारके उद्योग-धंधोंका समावेश था। नैतिक शिक्षाद्वारा बालकको सदाचारी नागरिक बनाया जाता। अनेक प्रकारकी रहस्यमयी विद्याएँ भी प्रचलित थीं। अध्ययन-अध्यापनकी प्रणालियोंमें मौखिक प्रवचन, कण्ठाग्र अभ्यास, कथा-वार्ता, पाठ, स्वाध्याय तथा सामूहिक तर्क-वितर्क आदि प्रचलित थे। लिखनेकी कला भलीभाँति ज्ञात थी। आश्रमोंमें महिलाओंकी उपस्थिति और शिक्षाकी भी सूचना मिलती है। श्रीरामकी शिक्षा सर्वाङ्गपूर्ण थी। शिक्षाके आदर्श ये थे—गौ, ब्राह्मण, चातुर्वर्ण्य, कुटुम्ब और देशकी रक्षाके लिये पर्याप्त शारीरिक बलका संपादन; सर्वाङ्गीण, न कि एकाङ्गी ज्ञानकी अपेक्षा; पुस्तकीय विद्याकी अपर्याप्तता, सांस्कृतिक उत्थान, विचार-स्वातन्त्र्य, शिक्षाके नैतिक और धार्मिक पहलुओंपर आग्रह, चरित्र-गठन, व्यक्तित्वका सर्वाङ्गीण विकास तथा सामूहिक (सामाजिक) कर्तव्योंका पालन।

आर्थिक स्थिति

कृषि देशका प्रमुख उद्योग था । राजाको 'कृषिगौरक्ष्य-जीवियो'की सुविधाओंका विशेष ध्यान रखना पड़ता था । कृषि समृद्धिपूर्ण थी । श्रीरामके पूर्व देशपर दो दुर्भिक्ष आ पड़े थे, यद्यपि लंबे राम-राज्यमे दुर्भिक्षका नामतक नहीं था । सिंचाईके साधनोमे प्राकृतिक साधनोके अतिरिक्त कृत्रिम उपायोंका भी सङ्केत मिलता है । खेत (क्षेत्र अथवा केदार) के 'शोधन'के पश्चात् उसकी जुताई और बुवाई की जाती । सामयिक वर्षा उपजके लिये बड़ी लाभकारी थी । यव (जौ), गोधूम (गेहूँ), शालि (चावल), चणक (चना), इक्षु (ईख), कुलित्थ (कुलथी), माष (उड़द), तिल, मरीचि, मुद्ग (मूँग) की खेती बहुतायतसे होती थी । खेतीके कई औजार प्रयुक्त होते थे—जैसे हल, कुद्दाल, लाङ्गल, फाल, शूल, टंक आदि । खेतीकी प्रणाली वैदिक कालकी अपेक्षा अधिक उन्नत थी । कृषिके अतिरिक्त उद्यानचर्या तथा फलोद्योग भी प्रचलित थे । गोपालन और गोसवर्धनके अतिरिक्त घोड़ो और हाथियोंकी अच्छी नस्लें उत्पन्न करनेका भी एक व्यवसाय था । पशुपालनद्वारा दुग्ध, दुग्ध-पदार्थ, हाथी-दाँत और चमड़ेका व्यवसाय होता था । जंगलोंकी उपज मानव-उपयोगमें लायी जाती । खानोसे खनिज पदार्थ निकाले जाते । लोहा, ताँबा, पीतल, काँसी, सोना, चाँदी, सीसा और टीन-जैसे खनिज पदार्थोंका उल्लेख मिलता । धातुओसे बनी वस्तुओंका दैनिक जीवनमे पर्याप्त प्रचार था । वस्त्रोद्योग भी प्रचलित था । लाक्षाराग या कुसुमरससे कपड़े रँगे जाते थे । व्यापारकी स्थिति बड़ी ही समृद्ध थी। विदेशोसे भी व्यापार होता था । समुद्री व्यापारके भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं । सोना, चाँदी, आभूषण, हीरे-जवाहर, हाथी, कुत्ते, चावल, मिर्च, रेशमी वस्त्र तथा लाक्षा-जैसी वस्तुएँ विदेशोको निर्यात की जाती तथा कम्बोज आदि देशोके घोड़े, ऊनी वस्त्र, रेशम, कस्तूरी, याक बैलके बाल आदि आयात किये जाते थे । विनिमयका माध्यम गौ थी । निष्क नामक सिक्के भी प्रचलित थे । नाप-तोलेका व्यवहार होता था । रामायणमें लगभग ८० प्रकारके विभिन्न उद्योगोका स्पष्टतः उल्लेख है । थल, जल और नभ—तीनो मार्गोंसे यातायात होता था । रथ, शिविका, यान, पशु, नाव और विमान यातायातके साधन थे । देशकी आर्थिक स्थिति बड़ी ही वैभवशाली और समृद्धिपूर्ण थी । नगरों और ग्रामोंके निवासी दीर्घजीवी, नीरोग, प्रसन्न और धन-धान्यसम्पन्न थे । इस आर्थिक सुव्यवस्थाका रहस्य समाजमें धनका संतुलित बँटवारा था, जिसमें आर्योंकी वर्णाश्रम-व्यवस्था विशेषरूपसे सहायक थी ।

नगर, ग्राम और आश्रम

रामायणकालीन नगर-संनिवेश स्थापत्य-कलाका सुन्दर उदाहरण है । प्रायः सभी नगरोंकी प्रतिष्ठा दुर्गोंके रूपमें होती । बाहरी आक्रमणोंसे रक्षाके लिये वे विशाल प्राकारो और दुर्गम खाइयोंसे घिरे रहते । प्राकारोंपर रक्षा और प्रत्याक्रमणके अनेक साधन प्रस्तुत रहते । सैनिकदृष्टिसे नगर अभेद्य बनाये जाते थे । फिर भी कला और सौन्दर्यकी उपेक्षा नहीं की जाती थी । नगर प्रायः नदियोंके किनारे नीरोग वातावरणमे बसाये जाते । उनका आकार कभी पद्मदलके समान, कभी अर्धचन्द्राकार और कभी अष्टकोणात्मक होता था । सुन्दर विमानाकार भवन, चौराहे, उद्यान, तालाब, सुव्यवस्थित बाजार तथा वृक्ष नगरोंकी शोभा बढ़ाते थे । रास्तोंपर छिड़काव होता और फूल बिखेरे जाते । राजप्रासाद नगरके मध्यमे होता और वहाँसे चारों दिशाओमें राजमार्ग जाते । नगरके बाहर आमोद-प्रमोदके लिये आराम और विहार बने रहते । तत्कालीन सुन्दर नगरोंमे अयोध्या, लङ्का, किष्किन्धा, तक्षशिला, पुष्कलावती और मधुपुरीके नाम उल्लेखनीय हैं । राजा और प्रजा दोनो नगरोकी शोभा बढ़ानेमे तत्पर रहते थे । नागरिकताकी भावनासे वे ओतप्रोत थे ।

ग्रामो और नगरोंमे साहचर्य था । दोनो आवागमनके साधनोसे जुड़े रहते, जिससे पारस्परिक विकासमे सहायता मिलती थी । किसानोकी बस्तियाँ 'ग्राम' और ग्वालोकी बस्तियाँ 'घोष' कहलाती थीं । उनके निवासस्थान 'ग्राम-संवास' कहलाते थे । गाँवोके बाहर जुते हुए खेतोंके दृश्य दिखलायी पड़ते थे । बड़े गाँव 'महाग्राम' कहलाते थे । अयोध्यामे ग्रामवासियो (जानपदों) की उपस्थितिका कई बार उल्लेख मिलता है ।

रामायणकालीन संस्कृति मुख्यतः तत्कालीन नगरो और आश्रमोकी देन है । ऋषियोके आश्रम ही उस समयके सांस्कृतिक केन्द्र थे, जहाँकी रीति-नीति नगरोको प्रभावित करती थी । ये आश्रम प्रायः 'एकान्त' या 'विविक्त' स्थलोंमे मानव-कोलाहलसे दूर रमणीय स्थानोमे बसाये जाते थे । बाँस, वृक्षोकी शाखाओं, पत्तों, मिट्टी, घास और रस्सियोंसे वे बनाये जाते थे । एक आश्रममण्डल या तपोवनका अधिष्ठाता

ऋषि—'कुलपति' होता था। असमयमे आने-जानेपर रास्तों-की पहचानके लिये ऋषिलोग ऊँचे वृक्षोमे अपने चीर बाँध देते थे। पुण्यात्मा महर्षियोद्वारा सेवित ये आश्रम आध्यात्मिक तेजके आगार होते थे, जहाँ मनुष्य पापाचरणकी ओर स्वभावतः ही प्रेरित नही होता था। वनवास कष्टपूर्ण होते हुए भी पुण्यसंचयके लिये आवश्यक माना जाता था। वनवासी मुनि अपना समय देवपूजा, सन्ध्या, तर्पण, होम, श्राद्ध, वेदघोष, स्वाध्याय और तपस्यामे व्यतीत करते। वे नियता-हार और जितेन्द्रिय रहते, फल-मूलोंपर निर्वाह करते, अत्यावश्यक जीवन-साधनोका ही उपयोग करते और नाना प्रकारके शारीरिक कष्ट स्वेच्छासे उठाकर सहिष्णु और तितिक्षु बननेका निरन्तर प्रयत्न करते थे। साथ ही भारतके प्राचीन ऋषि-मुनि केवल एकान्तवासी तपस्वी ही नहीं थे, अपितु परि-भ्रमणद्वारा अनार्य राज्योमें आर्य-संस्कृतिके प्रसारक और संस्थापक भी थे।

साहित्य और कला

रामायण एक कवि-कलाकारकी मनोहर रचना है। राम-चरित्र-जैसे अलौकिक विषयको एक अनूठी, संगीतमय, छन्दो-बद्ध, संवेदनशील शैलीमे प्रस्तुतकर वाल्मीकिने अपने परवर्ती साहित्यकारोके लिये एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है—

मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षिः।

रामायण महाकाव्यका तत्कालीन समाजने हार्दिक स्वागत किया। रामायण-गान उसके लिये एक नूतन, चमत्कारी और अभूतपूर्व अनुभव सिद्ध हुआ। श्रीआनन्दवर्धनाचार्यके अनुसार साहित्यमें रसकी प्रथम उद्भूति रामायणमे वर्णित क्रौञ्च-वध-घटनासे हुई है। काव्यके अतिरिक्त उस युगमें आख्यान, इतिहास और दर्शनका भी सेवन होता था। नक्षत्रविद्या, ज्यौतिष, आयुर्वेद, प्राणिशास्त्र, अङ्कगणित, रेखागणित-जैसे वैज्ञानिक विषयोसे सम्बन्धित सामग्री भी रामायणमें यथेष्ट मात्रामे मिलती है।

वाल्मीकिकी रचना कविकी कलात्मक अभिरुचिकी परिचायक है। उसमे स्थापत्यकला, चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, नाट्यशाला और नृत्य-जैसे कलात्मक विषयोपर परिष्कृत सामग्री उपलब्ध है। कलाका अनुशीलन करनेमे योग और भक्तिका आश्रय लिया जाता था। योगद्वारा कवि कलाकी वस्तुसे अपना तादात्म्य स्थापितकर उसके दुरूह पटलोंको हृदयङ्गम करता तथा भक्तिद्वारा सर्वतोभावेन उसे मूर्तरूप देनेको कटिबद्ध होता। रामायण-रचनामे कविने इसी मार्गद्वयका अनुसरण किया है।

धार्मिक जीवन

रामायणकालीन संस्कृति धर्मद्वारा पूर्णतया अनुप्राणित थी। वेदोंका प्रभुत्व सर्वव्यापी था। धार्मिक अनुष्ठानोमे वे प्रमाणभूत थे। नये घरमे प्रवेश करनेसे पूर्व 'वास्तुशान्ति' नामक कृत्य संपादित किया जाता था। नयी फसल काममे लानेसे पहले 'आग्रयण' कृत्यद्वारा नये धानसे देवताओंको प्रसन्न किया जाता था। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ करने-के अवसरपर स्वस्त्ययन किया की जाती थी। दैनिक अनिवार्य धार्मिक कार्य 'आह्निक कृत्य' कहलाते थे—जिनमे स्नान, अर्घ्य, तर्पण, मार्जन, प्राणायाम, गायत्री-जप, अग्निहोत्र और देवता-र्चन सम्मिलित थे। रामायणकालके आर्य उपयुक्त समयपर सन्ध्योपासन करनेमे बड़े जागरूक रहा करते थे। अन्त्येष्टि-क्रियामे प्रेतकार्य, उदक-क्रिया, पिण्डदान, निर्वाप-क्रिया तथा श्राद्धकर्म किये जाते थे तथा १० दिनका अशौच रक्खा जाता था। प्रार्थनाद्वारा इष्टसिद्धिमे लोगोंकी बड़ी श्रद्धा थी। मन्दिरोका स्थल-स्थलपर उल्लेख मिलता है। विभिन्न देवताओ-के विग्रहोकी स्थापना हो चुकी थी। सारे संस्कार यथासमय सम्पन्न हुआ करते थे। तीर्थ-स्थानोकी यात्रा भी की जाती थी। गौकी पवित्रता सर्वमान्य थी। अनेक प्रकारके यज्ञोका अनुष्ठान किया जाता था, जिनमे शास्त्रीय विधिके पालनका पूर्ण ध्यान रक्खा जाता। अनेक देवी-देवताओंकी पूजा प्रचलित थी, जिनमे त्रिमूर्तिको विशेष स्थान प्राप्त था। शिव और विष्णुके भक्तोमे कोई विरोध नहीं था। गङ्गा, यमुना आदि नदियाँ, नदियोके संगम, वटवृक्ष, गया-जैसे स्थल, चित्रकूट और हिमालय-जैसे पर्वत पुनीत मान्य हो चुके थे। नैतिकताका स्तर बहुत ऊँचा था। अयोध्यापुरीमे निवास करनेवाले सभी मनुष्य धर्मात्मा, बहुश्रुत, निर्लोभ, सत्यवादी, अपने धनसे ही सन्तुष्ट रहनेवाले, संयमी तथा शील और सदाचार-की दृष्टिसे महर्षियोकी भाँति विशुद्ध थे। प्रतिज्ञा-पालन, सत्यवादिता, कृतज्ञता, इन्द्रियनिग्रह तथा दानशीलताका वाल्मीकिने स्थल-स्थलपर आग्रह किया है। कर्म-सिद्धान्तमे अटूट विश्वास था। यह संसार एक कर्म-भूमि है, जहाँ मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कर्मोका फल पाता है। कर्मफल भोगनेके लिये जन्म-जन्मान्तर तथा स्वर्ग और नरककी प्राप्तिमे विश्वास भी अनिवार्य था। जीवनके प्रति दृष्टिकोण आशा और निराशाका

सम्मिश्रण था। धर्म जीवनके समग्र उत्कर्षका मूल स्रोत था—

धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।

(३।९।३०)

सात्त्विक और दैवी जीवनकी ओर प्रेरित करनेवाली सभी बाते धर्मके अन्तर्गत थीं। रामायणके चरित्र-चित्रणमे धर्मकी साकार मूर्तियाँ, धर्मके ज्वलन्त आदर्श विद्यमान है। विभीषणमे शरणागत-धर्मका, हनुमान्मे सेवकधर्मका, सुग्रीवमे सख्यधर्मका, दशरथमे पितृधर्मका; श्रीराममे पुत्रधर्म, पतिधर्म और राजधर्मका; कौसल्यामे स्त्रीधर्मका, सीतामे पातिव्रत्यधर्मका तथा भरत और लक्ष्मणमे भ्रातृधर्मका मूर्तिमान् आदर्श सन्निहित है।

रामायणका हिंदू-संस्कृतिपर प्रभाव

हिंदू-संस्कृतिके सभी क्षेत्रोमे रामायणका अपरिमित प्रभाव पड़ा है। वाल्मीकिके चरितनायक श्रीरामकी पूजा हिंदू-धर्मका अमिट अङ्ग है। रामानुज, रामानन्द, कबीर और तुलसीदासने श्रीरामका एक आदर्श राजा और ईश्वरीय अवतारके रूपमे प्रचार किया, जिससे हिंदू जनता अत्यधिक प्रभावित हुई। भारतीय नैतिकताका तो रामायण उद्गम-स्थल ही है। रामायणके आदर्शोंका अनुकरण भारतीय संस्कृतिके समर्थकों और उन्नायकोका सदासे लक्ष्य रहा है। भारतीय काव्यो तथा नाटकोंके कथानक रामायणके पर्याप्त ऋणी है। मुरारिके शब्दोमे 'समस्त कविरूपी व्यापारियोंके लिये वाल्मीकिने एक सामूहिक पूँजी प्रस्तुत कर दी है'—

अहो सकलकविसार्थसाधारणी खलु इदं वाल्मीकीया सुभाषितनीवी।

आधुनिक समयमे होनेवाली रामलीलाएँ भी रामायणके कथानकके प्रति लोकरुचिकी द्योतक है। भारतीय चित्रकारी रामायणद्वारा प्रभावित है। राजपूत-शैलीकी चित्रकलामे रामायण-सम्बन्धी चित्रोंका बाहुल्य है। जोधपुर-म्यूजियममे सैकड़ो वर्ष प्राचीन ९१ रामायण-सम्बन्धी चित्रोका एक संग्रह विद्यमान है। प्राचीन भारतीय स्थापत्यकलाके उपलब्ध नमूनोपर रामायणकी छाप देख पड़ती है। साँची, अमरावती, भारहुत, उदयगिरि, बुद्धगया, नासिक, मथुरा और भूतेश्वरके प्राचीन अवशेषोपर रामायणमे वर्णित प्रासादो और शिखरों तथा सजावट और निर्माणकलाका प्रभाव प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। कुमारगुप्त प्रथमकी एक उपलब्ध मुद्रापर अयोध्याकाण्ड (२।२।२२) के उस वर्णनका चित्र अङ्कित है, जिसमे हाथीपर सवार होकर श्रीराम राजमार्गसे जा रहे है, और उनके सिरपर छत्र तना हुआ है। गुप्तकालीन दशावतार-मन्दिरमे तथा विजयनगरकालीन हजारा श्रीराम-मन्दिरमे रामायणके कई दृश्य खुदे हुए है। पहाड़पुर (बंगाल) के आठवी शताब्दीके मन्दिरमें रामायणकी कई घटनाएँ खुदी हुई है। भारतके अनेक प्राचीन शिलालेखोमे रामायणके शब्दो, भावो तथा श्लोकार्धोको उद्धृत किया गया है। यही नही, बृहत्तर भारतके देशोकी कला, साहित्य और संस्कृतिपर भी वाल्मीकीय रामायण-का प्रभाव आज भी स्पष्ट झलकता है।

हिंदुओंकी धर्मनिष्ठा और सचाई

'हिंदू-धर्मका आचार-निर्माणकारी प्रभाव इतना विशाल था कि केवल उच्चवर्णके ही लोग नही, वरं नीचो-से-नीचो जातिके लोग भी शास्त्रोपदिष्ट युद्धकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परम्पराओका पालन करते थे।' रातको लड़ना अथवा छिपकर आक्रमण करना लोग जानते ही नही थे। हिंदू लोग सच्चे वीर थे, तभी तो शत्रुके प्रति उनके मनमे लेशमात्र भी वैर नही रहता था। इसीलिये विश्रामकालमे वे एक ही नदीमे स्नान करते तथा एक दूसरेको पान-सुपारी देते।

'दिये हुए वचनके प्रति साधारणसे भी साधारण हिंदू-सैनिकका इतना विलक्षण आदर था कि जब युद्धके बंदियोको प्रतिज्ञाबद्ध करके छः मासके लिये छोड़ा जाता था, तब यदि वे मुक्ति पानेके लिये माँगे हुए मूल्यकी व्यवस्था नही कर पाते तो अपने-आप वापस आ जाते थे। उनमे अपकीर्तिको सदा मरणसे भी अधिक बुरा माना जाता था। सत्यनिष्ठाके प्रति पूरी सावधानीका अभाव तथा शत्रुकी किसी प्रतिकूल परिस्थितिसे लाभ उठा लेना—इनको अपमानजनक समझा जाता था। —पुर्तगाली लेखक

हिंदू-संस्कृति और श्रीरामचरितमानस

(लेखक—मानसराजहंस प० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

सम्-उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर सुट्का आगम होनेसे 'संस्कृति' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है 'सम्यक् रूपसे अलङ्कृत बनावट', या यों कहिये कि 'दोषापनयनपूर्वक गुणाधान'। इसमे सन्देह नहीं कि अनेक शास्त्रोंमे इस शब्दका एकाधिक अर्थोंमे प्रयोग हुआ है; परंतु 'हिंदू-संस्कृति' शब्दका अर्थ 'हिंदुओंद्वारा गृहीत दोषापनयन-गुणाधान-परिपाटी' ही होना चाहिये।

यह जगत् गुण-दोषमय है। शुद्ध गुण या शुद्ध दोषका रूप कहीं ऑखतले नहीं आता। गुणमे दोष मिला हुआ है, और दोषमें गुण मिला हुआ है—यथा 'विधि प्रपंच गुन अवगुन साना।' मानुषी बुद्धि इसके वर्गीकरणमें सर्वथा असमर्थ है। लैबोरेटरी (रसायनशाला) में भी इनका विश्लेषण नहीं हो सकता। अतः गोस्वामीजी कहते हैं—

गनि गुन दोष बेद बिलगाए।

इस गुण-दोषसे सने हुए प्रपञ्चमेंसे गुणो और दोषोंका वर्गीकरण वेदादि शास्त्रोंने किया। अतः इनका निर्णेता वेदादि शास्त्र है। कहना नहीं होगा कि प्रचलित मत-मतान्तरोंने भी रूपान्तरसे उसी निर्णयको स्वीकार किया है। परंतु इस समय, जब कि ईश्वरपर विश्वास करना असभ्यता तथा बर्बरताका द्योतक माना जाता है, वेदादि शास्त्रोंकी कथा ही क्या है। आज छोटी-सी-छोटी बातें विवादास्पद हो उठी हैं, शब्द तथा उनके अनादि-सिद्ध अर्थोंमे स्वेच्छा-चारिताका बोलबाला हो रहा है, रुचिके अनुसार गुण-दोषकी कल्पना की जा रही है, तदनुसार ही वेदादि शास्त्र भी निर्दयता-के साथ तोड़े-मरोड़े जा रहे है! ऐसी स्थितिमे 'हिंदू-संस्कृति' जैसे जटिल तथा गम्भीर विषयपर विवाद उठना इस समय कोई आश्चर्यकी बात नही है। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि 'हिंदू-संस्कृति क्या है? और उसके शुद्धरूपका दर्शन किस उपायसे सम्भव है?'

प्रकृत जिज्ञासुके लिये इसका उत्तर कुछ बहुत कठिन नहीं है। इस समय जितनी संस्कृतियाँ प्रचलित हैं, उनका जन्म २५०० वर्षोंके भीतरका है। इससे पहलेकी संस्कृति ही शुद्ध हिंदू-संस्कृति है, और उसके वर्णनसे संस्कृतका भंडार भरा पड़ा है। पर जनता उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकती; क्योंकि व्याख्याताकी विप्रलिप्सासे उसमें भी अर्थका अनर्थ किया जा सकता है।

परंतु श्रीरामचरितमानस हिंदीमें है। वह 'नानापुराण-निगमागमसम्मत' है, उसे सभी सम्प्रदायके लोग आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। उसमें कथा भी उस समयकी है, जब कि इन विभिन्न संस्कृतियोंका गन्ध भी नहीं था, जिनके कारणसे हिंदू-संस्कृति विप्रतिपत्तिका विषय हो रही है। उसके नायक मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र हैं, जिन्हें संसार आदर्श नरपतिरूपसे स्वीकार करता है, और उसके रचयिता ऐसे वीतराग महात्मा हैं, जिनपर पक्षपात, विप्रलिप्सा तथा स्वार्थ-परायणतादि दोषोंका आरोप नहीं किया जा सकता। अतः श्रीरामचरितमानस ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें हिंदू-संस्कृतिके विशुद्ध रूपका दर्शन बड़ी आसानीसे हो सकता है।

उसमें उपादेयरूपसे जिस भाँति हिंदू-संस्कृतिका कथन है, उसी भाँति हेयरूपसे लङ्काकी संस्कृतिका वर्णन तथा कलि-खल-अघ-अवगुण-कथन भी है; अतः उसकी उक्तियोंमे हिंदू-संस्कृति निखरी हुई-सी दिखायी पड़ती है, सुतरां हिंदू-संस्कृतिके सम्यक् ज्ञानके लिये मैं पाठकोंसे श्रीरामचरितमानसके अध्ययनके लिये अनुरोध करूँगा। यहाँपर तो उसका अधूरा स्थूल मानचित्र भी देना कठिन है।

श्रीरामचरितमानसमे दो समृद्ध देशोंका विशेषरूपसे वर्णन है, एक श्रीअयोध्यापुरीका और दूसरा लङ्कापुरीका। अयोध्यापुरीका राज्य वंशपरम्परागत है, और उसके शासक रघुवंशी क्षत्रिय हैं, जिनका प्रजापालन स्वधर्म है। उनके शासनमे आधुनिक वादोंके सभी गुण थे और दोष एक भी नहीं। उनकी प्रजा स्वतन्त्र होनेपर भी सनाथ थी। राजा प्रजाका आराधन करता था, उसके हृद्गत भावोंको दूतोंद्वारा जानकर उनकी तुष्टिके लिये अपनी प्राणप्रिया सती साम्राज्ञीको त्याग सकता था। और प्रजा राजभक्त थी, राजाके लिये अपने प्राणोंको निछावर करनेके लिये प्रस्तुत रहती थी। शासकने धर्मभावना इतनी प्रबल बना रक्खी थी कि लोग पापसे भयभीत रहते थे, अपराध या विरोधकी प्रवृत्ति ही उनमे नहीं थी। वहाँ एक ही आन्दोलन चलता था कि 'मनको जीतो;' अतः जेलखाना रहनेपर भी वहाँ कैदी नहीं थे, न्यायालय रहनेपर भी मुकदमे नही थे। यथा—

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज ।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज ॥

सब नर करहिं परसपर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीती ॥

सब लोग अपना-अपना काम ईश्वरार्पणबुद्ध्या करते थे, फलकी कामना किसीको नहीं; अतः विना मूल्य दिये भी बाजारमे सौदा मिलता था ।—'वस्तु बिनु गथ पाइए ।'

कोई भी नया काम करनेके पहले राजा प्रजासे सम्मति ले लेता था, यहाँतक कि श्रीरामचन्द्र-ऐसे पुत्रको गद्दी देनेके लिये महाराज दशरथ प्रजाजनोसे कहते हैं—

जौं पाँचहि मत लागै नीका । करहु हरषि हियँ रामहि टीका ॥

प्रादेशमात्र कहकर अब मैं विरोधी संस्कृति (लङ्काकी संस्कृति) का रूप कुछ दिखलाता हूँ । लङ्काके शासक बड़े विद्वान् ब्राह्मण रावण थे, अतः राज्यशासन उनका स्वधर्म नहीं था । लङ्का उनकी पराक्रमार्ज़ित थी । उन्होंने भी अपने समाजको सुखी कर रक्खा था। सम्पूर्ण संसारको लूटकर उन्होंने सोनेकी लङ्का बना रक्खी थी, यथा—

चौंकि राख्यौ रासि सब जाँगर जहान मो ।

वे अपनी रायसे राज्य करते थे, मन्त्रीकी भी नहीं सुनते थे । राजाको मन्त्री चाहिये, इसलिये मन्त्री रख छोड़ा था । यथा—

भुज बल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतंत्र ।
मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र ॥

सम्राट् रावण वेद-पुराणको विद्रोहात्मक समझते थे, अतः उनसे बहुत चिढ़ते थे; जिस भाँति धर्म निर्मूल हो, वैसी ही नित्य नयी आज्ञा निकाला करते थे । धर्मके मूल गौ, ब्राह्मण और देवताओंके विरोधमे नित्य आन्दोलन चलता था। यथा—

जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला । सोइ सब करहिं बेद प्रतिकूला ॥
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं । नगर ग्राम पुर आगि लगावहिं ॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई । देव बिप्र गुरु मान न कोई ॥
नहिं जप जोग धर्म ब्रत दाना । सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना ॥

फल यह हुआ कि अतिशय धर्मकी ग्लानि देखकर सम्पूर्ण पृथ्वी भयभीत होकर व्याकुल हो उठी; क्योंकि शासकके धर्मविरोधी होनेसे आसुरी प्रकृतिके लोग बहुत अधिक हो गये । वे माता-पिता और देवताको नहीं मानते थे, साधुओंसे सेवा लेते थे । दूसरेके धन और परायी स्त्रीके लम्पट खल, चोर और जुआरियोंकी वृद्धि हुई; जगत्मे अव्यवस्था फैल गयी ।

ऐसा समय भी जिस उपायसे पलटा जा सकता है, उसका भी निर्देश श्रीगोस्वामीजीने वहीं कर दिया है । वह उपाय वेद-शास्त्रसम्मत है और सहस्रों बारका परीक्षित है, कभी व्यर्थ जानेवाला नहीं है । वह यही है कि जब-जब इस भाँति संसार सङ्कटाकीर्ण हुआ है, तब-तब भले लोग इकट्ठे होकर भगवान्की शरणमे गये हैं, और उन्हींसे प्रार्थना की है । प्रार्थनाका महाप्रभाव अचिन्त्य है, उससे द्रवीभूत होकर परमेश्वर भक्तोंके मनोरथको पूर्ण करते है । सम्पूर्ण पृथ्वीने उसी उपायका अवलम्बन किया । वह देवताओंकी शरणमें गयी, उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की ।

उसी प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर भगवान्ने उक्त रघुवंशमें महाराज दशरथके घरमे अवतार धारण किया और उन्हींके द्वारा लङ्कावाली विरोधिनी संस्कृतिका नाश होकर विशुद्ध हिंदू-संस्कृतिकी पुनः स्थापना हुई ।

भौतिक उन्नति यद्यपि उपेक्षाकी वस्तु नहीं है, फिर भी वह संस्कृति नहीं है । संस्कृति उससे कहीं ऊँची वस्तु है । भौतिक उन्नतिका सदुपयोग या दुरुपयोग संस्कृतिके हाथमे है । लङ्कामें जो उन्नति हुई थी, उसे पढ़कर आश्चर्य होता है । वायुयान वहाँ थे, गोले वहाँ शत्रु-सेनापर गिराये जाते थे । रणाङ्गणमें दिनको सिनेमाके ऐसे-ऐसे दृश्य दिखाये जाते थे, जिन्हे देखकर शत्रुकी सेना युद्ध-पराङ्मुख होती थी । विज्ञान इतना बढ़ा था कि बनावटी शत्रुका सिर दिखलाकर उसकी पत्नीको विपत्ति-सागरमें डाल देते थे; पर इन सबसे संसारका हित नहीं हुआ, क्योंकि उनकी संस्कृति कुत्सित थी ।

यह संसार है; एक रंगसे न कभी रहा, न रहेगा । अनेक प्रकारकी उन्नति और अवनतियाँ आया-जाया करती हैं । इसमे हिंदू-संस्कृति यही है कि किसी भी अवस्थामे स्वधर्मका परित्याग न करे; क्योंकि धर्म ही प्रभुका अग्रभाग है । यथा—

सहि कुबोल सासति सकल अँगइ अनट अपमान ।
तुलसी धरमु न छाड़िये कहि करि गए सुजान ॥

'माता, पिता और आचार्य देवता हैं।' 'माता प्रत्यक्ष देवता है। जननी और जन्मभूमि स्वर्गसे भी श्रेष्ठ है।' 'स्त्रीको संयतोपस्कर (थोड़े गहनोंवाली), दक्ष, हृष्ट और व्यर्थव्यय-पराङ्मुखी होना चाहिये। पतिमें रत रहकर सदा सास-ससुरकी सेवा करना उनका धर्म है।' 'उपाध्यायसे दशगुण आचार्यका, आचार्यसे शतगुण पिताका और पितासे सहस्रगुण गौरव माताका है।'

इस प्रधान धर्मकी शिक्षा देनेके बाद भगवान् श्रीरामचन्द्र-ने वनकी भयङ्करताओं और वहाँकी असुविधाओंका बड़ा ही विशद वर्णन किया है। पाठक रामायणमें उनको देख सकते हैं। अधिकांश वर्णन बड़ा ही भावमय और सुन्दर है, कवित्व तो उसमें कूट-कूटकर भरा है। कुछ पङ्क्तियाँ देखिये—

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥
हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥
मानस सलिल सुधाँ प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥
नव रसाल बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥

इन पंक्तियोंमें कितनी स्वाभाविकता और भावुकता है, सहृदयजन स्वयं उसका अनुभव करें। कुछ पाश्चात्त्य विद्वानोंका मत है कि श्रीमती जनकनन्दिनीका चरित्र जिस रूपमें भारतीय कवियोंने अङ्कित किया है, वह कल्पित है; उसमें वास्तविकताका लेश नहीं। 'उनपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ता है, परंतु उस अवस्थामें भी उनको कुछ कहते नहीं देखा जाता। ज्ञात होता है कि उनके मुखमें जीभ नहीं, या किसीने उनके मुखपर मुहर लगा दी है। वे बड़े-से-बड़ा दुःख सह लेती हैं परंतु उफ् भी नहीं करतीं। वज्र टूट पड़ता है, किंतु हिलतींतक नहीं। ऐसी प्रस्तर-प्रतिमा हो सकती है, कोई जीव-धारिणी नहीं।' ऐसी-ही-ऐसी तर्कनाएँ करके वे दिलके फफोले फोड़ते हैं, और इस प्रकारकी और कितनी ही ऊटपटाँग बातें कहते रहते हैं। वास्तव बात यह है कि जिस वातावरणमें उनके हृदयका विकास हुआ है, जो दृश्य उनके नेत्रोंके सामने उपस्थित होते रहते हैं, पति-पत्नीके जिन पारस्परिक व्यवहारोंका उनको अनुभव है, वैसी ही उनकी विचार-परम्परा और मननशैली है। यूरोपकी स्त्रियोंमें आत्मपरायणता अधिक होती है, वे उतनी पतिप्रेमिका और स्नेहमयी नहीं होतीं, जितनी एशिया—विशेषतः भारतकी कुल-ललनाएँ होती हैं। वे पतिपरायणा तभीतक रहती हैं, जबतक उनके स्वार्थोंकी पूर्ति होती रहती है। स्वार्थमें व्याघात उपस्थित होनेपर वे तत्काल उनको त्याग देती हैं। आजकल यह प्रवृत्ति बहुत ही प्रबल हो गयी है। पतिकी आज्ञामें रहना, उनकी सेवाके लिये आत्मोत्सर्ग करना, उनकी दृष्टिमें आत्मविक्रय है। विवाह-बन्धन उनकी दृष्टिमें उतना पवित्र नहीं, वे बातकी बातमें उसे तोड़ सकती हैं। उनका स्वभाव उग्र, असंयत और प्रायः उच्छृङ्खल होता है। इस प्रकारकी प्रवृत्तिको वे तेजस्विता कहती हैं। उनकी स्वतन्त्रताकी कामना इतनी तीव्र होती है कि पतिके सामने यदि थोड़ा भी झुकना पड़े, तो वे उसे परतन्त्रता मान बैठती हैं। जिस देश, जिस समाजके ऐसे आदर्श हों, उस देश और समाजमें पला हुआ मनुष्य यदि सीतादेवीको अधिक धीर, गम्भीर, संयत, आत्मत्यागकी मूर्ति और पतिप्राणा देखकर उनके विषयमें तथाकथित विचार प्रकट करे तो क्या आश्चर्य। मेरे कथनका यह मतलब नहीं कि यूरोपमें पतिपरायणा स्त्रियाँ होती ही नहीं; ऐसा कहना और सोचना अन्याय होगा। मिल्टनने एक स्थानपर 'ईव' के मुखसे इन शब्दोंको कहलवाया है। ये शब्द उन्होंने आदमसे कहे हैं—

"What thou bidd' st, unargued I beg
So God ordains, God is thy law, thou mine."

'जो आपकी आज्ञा होती है, उसे मैं बिना कुछ कहे-सुने स्वीकार करती हूँ। ईश्वरीय इच्छा यही है। आपके नियन्ता ईश्वर हैं और मेरे आप।'

संसारमें जितनी सती-साध्वी स्त्रियाँ होंगी, प्रायः सबके हृदयका भाव ऐसा ही होगा। यदि यूरोपकी स्त्रियोंमें ऐसा भाव न पाया जाता तो मिल्टनकी लेखनीसे ऐसे शब्द निकलते ही नहीं, अभावमें भाव नहीं होता। यूरोपकी स्त्रियोंमें रजोगुण और तमोगुण ही होता है, सत्त्वगुण नहीं—ऐसा कहना अस्वाभाविक होगा। वहाँ स्वाभाविकताका लोप हो गया है, कृत्रिमता ही शेष है—यह भी नहीं कहा जा सकता। किंतु यह परम सत्य है कि आजकल धार्मिकताका स्थान स्वेच्छाचारिता ग्रहण कर रही है, इसीलिये वहाँका वायुमण्डल विशेष कलुषित हो गया है। यूरोपमें सती-साध्वी स्त्रियोंका अभाव नहीं, किंतु वे उँगलियोंपर गिनी जा सकती हैं। क्षेत्र प्रायः वैसी ही स्त्रियोंके हाथमें है, जिनका चित्रण ऊपर हुआ है। आजकल हमारे यहाँ भी पढ़ी-लिखी स्त्रियोंने यूरोपकी स्त्रियोंका अनुकरण आरम्भ कर दिया है। अतएव उन्हींके प्रभावोंसे लोग प्रभावित हैं, और वैसे ही असंगत विचार भारतकी पुनीत सभ्यतामें पली स्त्रियोंके विषयमें प्रकट करनेके लिये बाध्य हैं; किंतु इस प्रकारकी निर्मूल बातोंका मूल्य ही क्या।

परम मनोहर मूर्ति बालरूप भगवान् श्रीरामचन्द्र
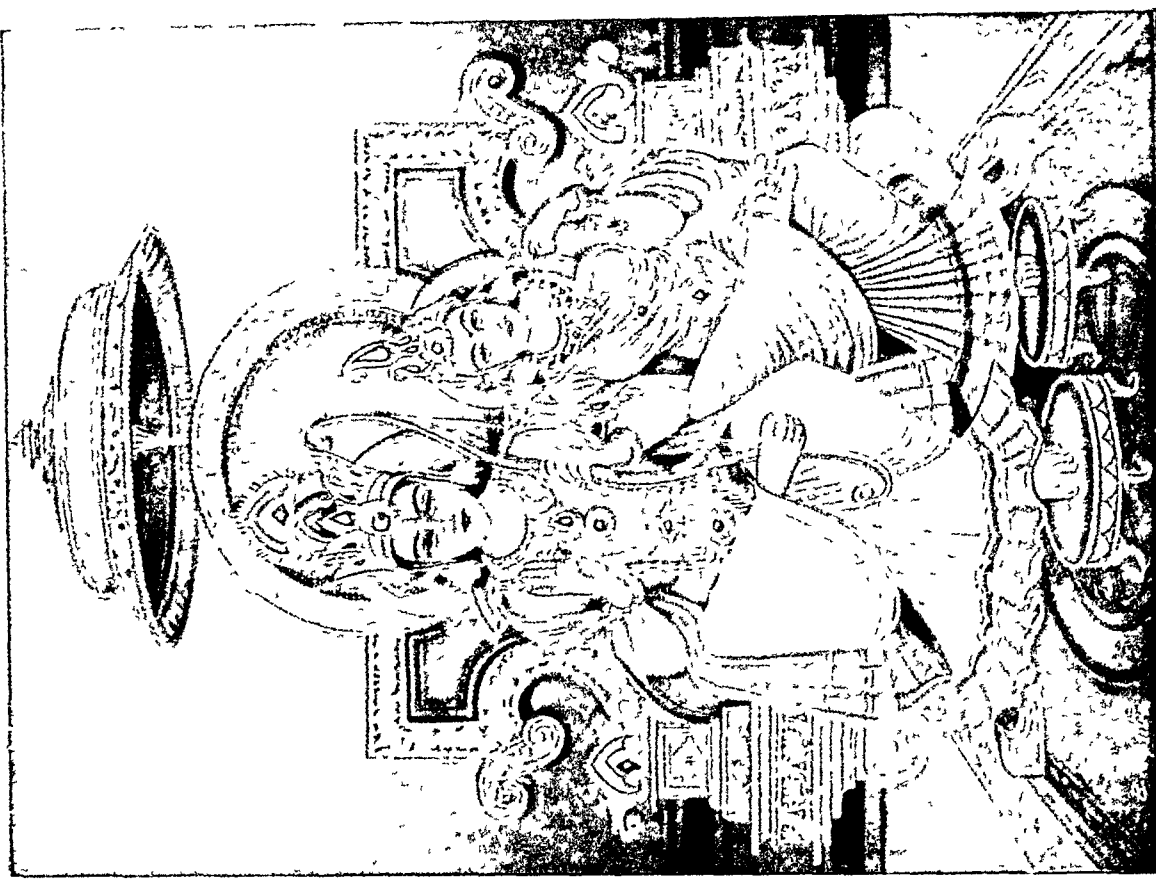
सिंहासनासीन श्रीसीतारामजी

श्रीमती सीतादेवी भारतकी सती-साध्वी स्त्रियोंकी शिरोमणि हैं। उनको आर्य-संस्कृतिकी दिव्य मूर्ति कह सकते हैं। उनके मुखमें जिह्वा है, किंतु बड़ी ही संयत। उनके मुँहपर मुहर कभी नहीं लगी। वे समयपर बोलती हैं, किंतु उनके शब्द तुले हुए और गम्भीर होते हैं; उन शब्दोंमे महानुभावता भरी होती है, पर साथ ही हृदयकी विशालता भी। कटु वचन कहना, उद्धत बन जाना उनके स्वभावके विरुद्ध है। जैसी मर्यादाशीलता और सदाशयता उनमें दृष्टिगत होती है, अन्यत्र नहीं। और बातोंकी तरह सभ्यताके भी स्तर होते हैं। पहले वह उतनी उदात्त, संयत और गम्भीर नहीं होती, जितनी उन्नतावस्थामें। सांसारिक अन्य पदार्थोंकी तरह उसका भी क्रमशः विकास होता है। जो जातियाँ पहले पशुओंके समान जीवन व्यतीत करती थीं, आज वे ऊँचे-ऊँचे महलोंमे रहती हैं, और वैज्ञानिक आविष्कारोंद्वारा जगत्‌को चकित करती हैं; यह उनकी सभ्यताके क्रमशः विकासका ही फल है। आर्यसभ्यता संसारकी सब सभ्यताओंसे प्राचीन है और लगभग पूर्णताको पहुँची हुई है; इसलिये वह अधिकांश उदात्त गुणोंका आधार है। भगवती जानकी सतीत्वके विषयमे इसका प्रमाण है। स्त्री-जातिके हृदयका चरमोत्कर्ष उनमें देखा जाता है। उनकी महानुभावता संसारकी सती-साध्वी स्त्रियोंका आदर्श है। विभिन्न हाथोंमें पड़कर विचार-वैचित्र्यके कारण कहीं-कहीं उनका चरित्र विकृत हो गया है, किंतु उनकी महत्ता कहीं खर्व नहीं हुई। दिङ्नाग बौद्ध विद्वान् था। उसने 'कुन्दमाला' नामक एक नाटक लिखा है। प्रकरण उसका 'वैदेही-वनवास' है। विपिनमे पहुँचाकर लौटते समय लक्ष्मणजी जनकनन्दिनीसे सन्देशकी प्रार्थना करते हैं, उस समय नाटककार उनके मुखसे ये वाक्य कहलाते हैं—

तथा निष्ठुरो नाम सन्दिश्यत इत्यप्रतिहतवचनतैषा लक्ष्मणस्य, न सीताया धन्यत्वम्।

अहो अविश्वसनीयता प्रकृतनिष्ठुरभावानां पुरुषहृदयानाम्।

'ऐसे निष्ठुरके लिये मैं जो सन्देश देना चाहती हूँ, इसमें लक्ष्मणके वचनका आदर है, सीताका सौभाग्य नहीं।' स्वभावसे ही निष्ठुरभावपूर्ण पुरुष-हृदयकी अविश्वसनीयता विचित्र है।' ऐसे ही एक अवसरपर भवभूति कौन-सा पथ ग्रहण करते हैं, उसे भी देखिये। उत्तररामचरितमे एक स्थलपर वे श्रीमती सीतादेवीकी सखी वासन्तीके मुखसे भगवान् श्रीरामचन्द्रके विषयमें यह वाक्य कहलाते हैं—

'अयि देव ! किं परं दारुणः खल्वसि।'

'देव ! आप सचमुच बड़े निष्ठुर हैं।'

यह सुन सीतादेवी अपनी पतिप्राणताका परिचय देते हुए क्या कहती है, उसे भी सुनिये—

'सखि वासन्ति ! किं त्वमेवंवादिनी भवसि, पूजार्हः सर्वस्यार्यपुत्रो विशेषतो मम प्रियसख्याः।'

'सखी वासन्ती ! तुम ऐसा क्यों कहती हो ? आर्यपुत्र सबके पूजनीय हैं, विशेषतः मेरी प्रिय सखीके।'

दिङ्नागकी जनकनन्दिनी देवी नहीं, मानवी हैं। उनमें धैर्यच्युति है। वे धैर्यच्युत होकर पतिदेवको निष्ठुर कहती हैं, साथ ही पुरुषजातिमात्रको स्वभावसे ही निष्ठुरहृदय कह डालती हैं। इस कथनमे स्वाभाविकता है, किंतु चित्तकी वह विशालता नहीं, जो मनुष्यको देवता बना देती है। विपत्ति ही मनुष्यकी कसौटी है, इसपर कसनेपर दिङ्नागकी सीतादेवी ठीक नहीं उतरीं। भवभूतिकी सीतादेवी वास्तवमे देवी हैं, वे आत्मचिन्ताशून्य हैं, सच्ची पतिप्राणा हैं; वे 'विपदि धैर्य' का आदर्श हैं। उन्होंने स्वाभाविकतापर विजय प्राप्त कर ली है, उनमे प्रतिहिंसा-वृत्ति है ही नहीं। वे स्वयं तो भगवान् श्रीरामचन्द्रको देखकर कुछ कहतीं ही नहीं, सखीके कटु वचनको भी नहीं सह सकतीं; उनका यह वाक्य बड़ा ही मार्मिक है—'आर्यपुत्र सबके पूजनीय हैं, विशेषतः मेरी प्रिय सखीके।' यह सीतादेवीका वास्तविक रूप है, यह रूप बुधजन ही नहीं—विबुधजनवन्दनीय है। उनका यही रूप आर्य-संस्कृतिका सर्वस्व है। गोस्वामीजी उनके इसी रूपके उपासक हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रकी बातोंको सुनकर सीतादेवीने क्या कहा, अब उसको उन्हींके शब्दोंमें सुनिये।

कौसल्यादेवीके सामने जनकनन्दिनीको सीधे पतिसे बातचीत करनेमें मर्यादा बाधक थी। अतएव उन्होंने उन्हींका सहारा ढूँढ़ा, किंतु इसमे उनको सफलता न हुई। भगवान् श्रीरामचन्द्रने ऐसी बातें कहीं कि उन्हें बोलनेकी नौबत आयी। इसलिये पहले उन्होंने—

लागि सासु पग कह कर जोरी। छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी॥

इस पद्यमे कितनी मर्यादाशीलता है। 'छमबि देबि बड़ि अविनय मोरी' में उनके सरल और विनम्र हृदयकी कितनी सुन्दर प्रतिच्छाया है। सासुसे अविनयकी क्षमा माँगकर

उन्होंने पतिदेवसे जो कुछ कहा, उसमें पतिप्रेमका प्रवाह उमड़ा पड़ता है। उसका एक-एक शब्द बड़ा ही भावमय है, उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिये—

मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥
मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

विवाहकालमें सप्तपदीके समय पत्नी प्रतिज्ञा करती है—

आर्ते आर्ता भविष्यामि सुखदुःखविभागिनी।
तवाज्ञां पालयिष्यामि पञ्चमे सा पदे वदेत्॥

'आर्त होनेपर आर्त हूँगी, सुख-दुःख-भागिनी हूँगी और तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगी।' कहा जा सकता है कि इस प्रतिज्ञाके अनुसार उनको वही करना चाहिये था, जो पतिने कहा; क्या यह अमर्यादा नहीं? पहली बात यह कि 'आपत्काले नियमो नास्ति।' दूसरी बात यह कि उन्होंने अवज्ञा क्या की? कोई आज्ञा होनेपर उसके पालन करनेमें जो बाधाएँ उपस्थित होंगी, क्या उनका निवेदन करना आज्ञा न मानना है? आज्ञा माननेकी अपेक्षा पतिकी दुःख-सुख-संगिनी होना, उनके लिये जीवन उत्सर्ग करना क्या अधिक संगत नहीं? सीतादेवीकी चेष्टा यही तो है। स्त्रीका सर्वस्व पति ही तो है, फिर यहाँ तो प्राणकी बाधा उपस्थित है।

राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।

ऐसी अवस्थामें उन्होंने जो कुछ नवेदन किया, उसमें विप्रतिपत्ति क्या? जो स्त्री-धर्म है, जो शास्त्रसंगत बात है, वही तो वे कह रही हैं।

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम्॥
(मनु०)

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता॥
(व्यास०)

मितं ददाति जनको मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं पूजयेत्सदा॥
(शिवपुराण)

पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्। (चाणक्य० शिवपुराण)

'स्त्रीको न तो कोई यज्ञ करनेकी आवश्यकता है न व्रत-उपवासकी। पतिकी सेवा करनेमें ही वह स्वर्गमें आदृत होती है। पतिलोककी कामना करनेवाली साध्वी स्त्री, चाहे जीवित पति हो चाहे मृत, उसका अप्रिय कभी न करे।' 'भार्या वही है, जो गृह-कार्यमें दक्ष हो, सन्तानवाली हो, पतिप्राणा और पतिव्रता हो।' 'पिता, भ्राता, पुत्र थोड़ा देनेवाले हैं; सब कुछ देनेवाला पति ही है। इसलिये वह सदा सत्कारयोग्य है।' 'स्त्रियोंका गुरु एक पति ही है।'

श्रीमती जानकी देवीके निवेदनमें आर्य-सिद्धान्तोंकी ध्वनिके सिवा और क्या है? हाँ, उनके हृदयके समान उनकी उदात्त उक्तियाँ अवश्य हैं। इस कथनमें कितनी सत्यता है—'पिय वियोग सम दुखु जग नाहीं।' इसीलिये 'तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू' है, और 'भोग रोग सम भूषन भारू' है। जब 'रघुकुल कुमुद बिधु' बिना 'सुरपुर नरक समान' है, तब 'जम जातना सरिस संसारू' का होना क्या आश्चर्य? फिर वे क्यों न कहतीं 'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं।' जब वे 'मातु पिता भगिनी' इत्यादि बड़े बड़े सम्बन्धियोंका नाम सुन्दर विशेषणोंके साथ गिनाकर यह कहती हैं, 'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते' तब वे किस ज्वालाकी ओर संकेत करती हैं, क्या यह बतलाना होगा? विरह-ज्वालाकी बातें कौन नहीं जानता। विरहिणीको कौन नहीं जलाता। चाहे यह उसकी मानसिक आधिका ही फल हो, उसको अनुभव ऐसा ही होता है। उसको सुधाकर-किरणें भी अग्निमयी ज्ञात होती हैं, और मलयसमीर शेष-श्वास। और अधिक क्या कहें, उन्होंने यह बात कितनी दूरकी कही, 'जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।' सत्य है, पुरुष स्त्री-देहका प्राण है, और कामिनी-कल्लोलिनीका सलिल। किन्तु इस बातको सीतादेवी-सदृश पतिप्राणा देवी ही समझ और कह सकती है।

इसके उपरान्त उन्होंने यह कहा—

खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुख मूल॥

बनदेवीं बनदेव उदारा । करिहहिं सासु ससुर सम सारा ॥
कुस किसलय साथरी सुहाई । प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई ॥
कंद मूल फल अमिअ अहारू । अवध सौध सत सरिस पहारू ॥

आजकल 'खाओ, पीओ; आराम करो' का वज्र-निर्घोष ही सुनायी पड़ रहा है । ऐसी अवस्थामें सीतादेवीकी बातोंको कौन सत्य स्वीकार करेगा ? खग-मृगको परिजन, वनको नगर, वल्कलको विमल दुकूल, पर्णशालाको सुरसदन-समान सुखमूल कौन मानेगा ? क्या ऐसा माना जा सकता है ? ये तो चिकनी-चुपड़ी बातें हैं । वनदेव, वनदेवी सास-ससुर नहीं बन सकते । 'कुस किसलय साथरी' 'मनोज तुराई' नहीं कही जा सकती, न तो कंद-मूल-फल अमृतमय आहार हो सकते हैं और न अवधके सैकड़ों सौधोंके समान पहाड़; एवं न कोई बुद्धिमती स्त्री ऐसा कह सकती है । हाँ, यह कवि-कल्पना हो सकती है ।

हृदय सबके पास है, जीभ सबके मुँहमें है; जो जिसके मनमें आये, कह सकता है; जो चाहे सोच सकता है । परन्तु यह अक्षरशः सत्य है कि जो कुछ श्रीजानकी देवीने कहा, वह आर्यललनाके हृदयका सच्चा उद्‌गार है । यदि हम विवेककी आँखें खोल लें, तो भारतीय कुलबालाके मानस-दर्पणमें यह भाव बहुत ही स्पष्टरूपमें प्रतिविम्बित दिखायी देगा । श्रीमती सीतादेवी स्वयं इसके लिये प्रमाण हैं,—जिन्होंने एक-दो दिन नहीं, लगभग चौदह वर्ष भगवान् श्रीरामचन्द्रके साथ इसी भावसे व्यतीत किये । उनके उद्‌गारोंका प्रतिपादन निम्नलिखित पद्य बड़ी ही दृढ़तासे करते हैं—

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें । सरद बिमल बिधु बदनु निहारें ॥
छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी । रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥
मोहि मग चलत न होइहि हारी । छिनु छिनु चरन सरोज निहारी ॥

वास्तविक सुखका सम्बन्ध हृदयके भावोंसे है, किसी पदार्थ अथवा वस्तुविशेषसे नहीं—इन पद्योंको पढ़कर इस बातको सत्य प्रेमका पथिक भलीभाँति समझ सकता है । प्रेम प्रेमके लिये होता है, सुख-उपभोगके लिये नहीं । जो प्रेम सुख-कामनापर उत्सर्गीकृत है, वह प्रेम नहीं, प्रेमका आडम्बर मात्र है । सच्चे प्रेममें कष्टकी अनुभूति होती ही नहीं । सीतादेवी कहती हैं—

बन दुख नाथ कहे बहुतेरे । भय बिषाद परिताप घनेरे ॥
प्रभु बियोग लवलेस समाना । सब मिलि होहिं न कृपानिधाना ॥

सत्य प्रेममें अहंभाव नहीं होता, उसमें सेवाभाव ही प्रबल होता है । सत्य प्रेम सूर्य है, उसके सामने अहंभाव-अन्धकार ठहर नहीं सकता; उसको अवलोकनकर सेवाभाव-सरसिज अवश्य विकसित होता रहता है । भगवती जानकीमें यह भाव कितना जाग्रत् है, देखिये—

सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं । मारग जनित सकल श्रम हरिहौं ॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं । करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं ॥
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें । कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें ॥
सम महि तृन तरुपल्लव डासी । पाय पलोटिहि सब निसि दासी ॥

इन पंक्तियोंमें कितना आत्मनिवेदन है, कितनी अमायिकता और सरलता है, कितनी हितकामना और सहानुभूति है; यह निर्बल हृदयकी अवतारणा नहीं, सबल चित्तकी उदात्त भावमयी सुन्दर प्रस्तावना है । प्रवञ्चनामय मानसकी प्ररोचना नहीं, 'मनस्येकं वचस्येकं क्रियास्वेकं'की सत्यतामयी विभावना है । स्वार्थसाधनकी कपटभरी आयोजना नहीं, कर्तव्यज्ञानकी भक्तिभरी साधना है ।

भगवान् श्रीरामचन्द्रने विपिनकी भयंकरताका बड़ा विशद वर्णन किया था, और यह भी कहा था—

नर अहार रजनीचर चरहीं । कपटबेष बिधि कोटिक करहीं ॥

सीतादेवी इसका कितना सुन्दर और गम्भीर उत्तर देती हैं, सुनिये—

बार बार मृदु मूरति जोही । लागिहि तात बयारि न मोही ॥
को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा । सिंघ बधुहि जिमि ससक सिआरा॥

इस उत्तरमें कितना आत्मविश्वास और कितनी पति-निर्भरता है, कितनी प्रीतिपरायणता और तेजस्विता है—इसका अनुभव प्रत्येक सहृदय प्राणी कर सकता है ।

श्रीरामचन्द्रजीने यह भी कहा था, 'हंसगवनि तुम्ह नहिं बनजोगू ।' इसका उत्तर बड़ा ही हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी है । कहीं भी जानकीदेवीने व्यंगसे काम नहीं लिया, बहुत धीर भावसे संयत उत्तर ही देती चली गयी हैं । किन्तु इस पंक्तिका उत्तर बड़ा ही व्यञ्जनामय है; साथ ही उसमें इतनी स्वाभाविकता है कि पढ़कर चित्त लोटपोट हो जाता है । उत्तर यह है—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू । तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू ॥

इस वचन-रचनाकी बलिहारी । इसीको कहते हैं, 'काग़ज़-पर रख दिया है कलेजा निकालकर ।' कितनी मीठी चुटकी है, साथ ही कितनी प्रेमभरी !

शास्त्रोंमें स्त्रीको सहधर्मिणी कहा गया है; सहधर्मिणीका अर्थ है, समान धर्मवाली । सच्ची गृहिणी वही है, जो पतिके

भावोंको समझती है और बिना कहे उसकी पूर्ति करती है। पतिने जब मुँह खोलकर कुछ कहा और तब स्त्रीने कोई कार्य किया, तो वह सहधर्मिणी कहाँ रही। जिस स्त्रीने पतिके हृदयको नहीं पहचाना, उसके कर्तव्यको नहीं समझा, जो उसकी जीवन-यात्राके अनुकूल अपनेको नहीं बना सकी, किसी स्थलविशेषपर पतिका क्या धर्म है—जो इसकी मर्मज्ञ नहीं, वह सहधर्मिणी होनेका दावा नहीं कर सकती। विवाहके समय वर कन्यासे कहता है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व, प्रजापतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

'मेरे व्रतकी ओर तुम्हारा हृदय खिंचे, मेरे चित्तके अनुकूल तुम्हारा चित्त हो, एकमना होकर मेरी बात मानो, प्रजापति तुमको मुझसे सम्बन्धित करे।'

विवाहके अन्तमें कन्याको ध्रुवका दर्शन कराया जाता है, वह ध्रुवको देखकर कहती है, **ध्रुवमसि ध्रुवं त्वां पश्यामि।** 'अयि ध्रुव! तुम अचल-अटल हो, मैं तुम्हें देखती हूँ।' इसका भाव यह है कि 'विवाहकार्यमें पतिके द्वारा मुझसे जो प्रतिज्ञाएँ करायी गयी हैं, अथवा मैंने स्वयं जो प्रतिज्ञाएँ की हैं, उनपर मैं ध्रुवके समान अचल-अटल रहूँगी।' सप्तपदीके समय वह यह भी कहती है—

यज्ञे होमे च दानादौ भविष्यामि त्वया सह।
धर्मार्थकामकार्येषु वधूः षष्ठे पदे वदेत्॥

'यज्ञ, होम और दानादिमें; धर्म, अर्थ और काममें मैं सदा तुम्हारे साथ रहूँगी।' इसीलिये 'अर्धं भार्या मनुष्यस्य' है। इसीलिये स्त्री अर्धाङ्गिनी है और इसीलिये सहधर्मिणी। रामायणमें इस संस्कृतिका एक बड़ा ही उत्तम निदर्शन है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥
पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥

गोस्वामीजीकी इस उक्तिमें कि 'प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा' बड़ा स्वारस्य है। 'प्रभु' शब्दका प्रयोग कितना सार्थक है! साधारण जन होते तो इस विषयमें वे कुछ लापरवाही भी कर सकते; किंतु 'प्रभु' का ऐसा करना बड़ा ही अनुचित था। बड़ी ही मर्यादाविरुद्ध बात थी। फिर उसके साथ, जो जीभ नहीं हिला सकता। बड़े लोगोंके लिये दीनों, अकिंचनोंकी सहायता करनेके लिये इस प्रकारके अवसर बड़े ही सुन्दर होते हैं। सेवा करनेवाला बड़ोंसे बड़ी आशा रखता भी है। कम-से-कम भगवान्‌को निषादकी मूँठी अवश्य भर देनी चाहिये थी; किंतु कहाँ, वे तो कुछ न दे सके। तापस-वेषमें उनके पास था ही क्या। फिर उनके जीको चोट क्यों न लगती; और वे क्यों न संकुचित होते। सीतादेवी सतीशिरोमणि हैं, सच्ची सहधर्मिणी और अर्धाङ्गिनी हैं; उन्होंने पतिदेवके हृदयकी बात जान ली और तत्काल मुदित मनसे मणिजटित मुँदरी उतार दी। गोस्वामीजीके शब्दोंकी मार्मिकता देखिये—

'पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥'

कैसी मुँदरी उतारी? मणिजटित। कैसे उतारी? मुदित मनसे। स्त्रियोंको गहना बड़ा प्यारा होता है; उनको उसे अलग करते बड़ी कठिनता होती है, पीड़ा भी होती है। वे आसानीसे उसे किसीको देना नहीं चाहतीं। जब करके कोई भले ही ले ले। यह साधारण गहनोंकी बात है, और मणिजटित गहना? वह तो कलेजेमें छिपाकर रखनेकी चीज है। उसका तो नाम ही न लीजिये। किंतु सीतादेवीने वैसी ही अँगूठी उतारी। और वह भी मुदित मनसे; जरा-सा तेवर भी नहीं बदला, पेशानीपर शिकन तक नहीं आयी। क्योंकि उनका सर्वस्व तो उनका जीवनधन है, उनका सौन्दर्य तो उनके हृदयका सौन्दर्य है। जो पतिप्रेमके आभूषणसे आभूषित है, उसको भूषणोंकी क्या आवश्यकता। जिसे पतिकी अनुकूलता वाञ्छनीय है, जो पतिमर्यादाकी भूखी है, गहनोंपर उसकी लार नहीं टपकती। यह चिरसंचित आर्यसंस्कृति है, भगवती जनकनन्दिनी इसका उच्चतम आदर्श हैं।

आधुनिक कालमें भी इस प्रकारके आदर्शोंका अभाव नहीं, एक प्रसंग आपलोगोंको सुनाता हूँ। देशपूज्य, दयासागर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागरका पवित्र नाम आपलोगोंने सुना होगा। उनकी स्त्री बड़ी साध्वी थीं। विद्यासागर महोदयकी उदारता लोकविश्रुत है। एक बार एक ब्राह्मण उनकी सेवामें उपस्थित हुआ और उसने विनय की कि 'मैं कन्यादायसे आकुल हूँ; यदि आपने कृपा नहीं की तो मेरा निर्वाह होना कठिन है।' उसने दो सौ रुपयेकी आवश्यकता बतलायी। उस समय उनके पास कुछ नहीं था, वे चिन्तित हुए। ब्राह्मणको बाहर बैठाया और आप अंदर गये। सामने उनकी सहधर्मिणी आ गयीं। उन्होंने पतिके मुखकी

ओर देखा और पूछा 'आप चिन्तित क्यों हैं?' उन्होंने कहा, 'एक ब्राह्मण कन्यादायग्रस्त है और दो सौ रुपयेकी उसको आवश्यकता है; परंतु इस समय तो मैं बिल्कुल रिक्तहस्त हूँ।' साध्वीके नेत्रोंमें जल आ गया; उन्होंने कहा, 'मेरे हाथके सोनेके कड़े किस काम आयेंगे?' यह कहकर उन्होंने अपने कड़े उतारे, और पतिदेवके हाथपर उनको रख दिया। अपनी पत्नीकी यह उदारता देखकर उनके अश्रुपात होने लगा, वे अश्रुविसर्जन करते ही बाहर आये और उत्फुल्ल हृदयसे उन्होंने कड़े ब्राह्मणदेवको सादर देकर कहा, 'इन्हें मेरी स्त्रीने आपको अर्पण किया है।'

रामायणकी संस्कृतिकी बातें सुनाते-सुनाते एक अन्य प्रसंग भी मैंने आपलोगोंके सामने उपस्थित कर दिया—केवल इस विचारसे कि जिसमें आपलोग आर्य-संस्कृतिकी व्यापकताका अनुभव कर सकें। आर्य-संस्कृति बहुत उदात्त है और आज इस प्रतिकूल कालमें भी वह बहुत व्यापक है। हिंदू-जातिपर तो उसका प्रभाव है ही, यहाँकी मुसल्मान जाति और ईसाइयोंपर भी उसका असर देखा जाता है। कारण इसका यह है कि उनमें अधिकांश हिंदू-सन्तान ही हैं। चिरकालिक संस्कार नाश होते-होते होता है। तत्काल अथवा थोड़े समयमें उसका सर्वथा नाश नहीं होता। यह सच है कि समयकी प्रतिकूलताका सामना उसे करना पड़ रहा है, पाश्चात्त्य विचार भी उसे दबा रहे हैं; किंतु सूर्य कबतक बादलोंमें छिपा रहेगा। काल पाकर बादल टलेंगे और वह फिर वैसा ही जगमगाता दिखलायी पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि आर्य-संस्कृतिके भाव उदात्त और सर्वदेशी हैं। एकदेशिता उनमें कम है। इसलिये पञ्चभूतके समान ही वे उपयोगी हैं। आवश्यकतानुसार उनका कुछ रूप बदल सकता है, वे सर्वथा परित्यक्त नहीं हो सकते। रामायण और महाभारतके अनेक अंश और अनेक उपदेश जैसे हिंदू जातिके उपकारक और शिक्षक हैं, वैसे ही संसारकी अन्य जातियोंके लिये भी हैं। यूरोपमें भी उनके अनुवाद आदरसे पढ़े गये हैं और विजातीय सहृदयोंने भी उसकी दिल खोलकर प्रशंसा की है। ऐसी अवस्थामें उनकी उपयोगिता अप्रकट नहीं। रामायणकी संस्कृतियोंका संकलन कर यदि उनपर प्रकाश डाला जाय, और उनपर मननपूर्वक लेख लिखे जायँ तो मेरा विचार है कि वर्तमानकालमें उससे बड़ा लाभ हो सकता है। अन्तमें अपनी निम्नलिखित सवैयाद्वारा गोस्वामीजीका गुणगान करते हुए मैं इस लेखको समाप्त करता हूँ—

बन राम-रसायनकी रसिका रसना रसिकोंकी हुई सफला।
अवगाहन मानसमें करके जन-मानसका मल सारा टला॥
बनी पावन भावकी भूमि भली, हुआ भावुक-भावुकताका भला।
कविता करके तुलसी न लसे, कविता पा लसी तुलसीकी कला॥

आत्म-ज्योति

भटको नहीं! अनिश्चयमें मत बहो!

भटकनेसे पतन ही होगा। अनिश्चयमें बहनेसे निर्बलता ही आयेगी।

विचारो और एक निश्चयपर पहुँचो!

निश्चयपर पहुँचनेके बाद उसे कार्यान्वित करो—अडिग, अटल, दुःख झेलते हुए, त्याग करते हुए।

तभी ध्येयतक पहुँचोगे। तभी अपनी मानवता सार्थक प्रमाणित करोगे।—भले ही तब तुम्हारे पैर लहूलुहान हों, मन टूक-टूक हो; आखोंमें तो आत्म-गौरव और आत्म-सन्तोषकी जगमग ज्योति होगी।

आज दुनियाको यही ज्योति चाहिये। धनकी चकाचौंधमें तो उसकी आँखें खुल ही नहीं पातीं।

उसे स्निग्ध, मनोरम ज्योति दो, जिससे उसकी आँखें खुल सकें।

—बालकृष्ण बलदुवा

आर्य-संस्कृति और श्रीमद्भगवद्गीता

(लेखक—पं० श्रीजीवनशङ्करजी याज्ञिक, एम्० ए०)

जब किसी देश या जातिकी संस्कृतिका विचार किया जाता है, तब प्रायः उसकी सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज, कला-कौशल, व्यापार-वाणिज्य, साहित्य-विज्ञान आदिकी प्रगति देखी जाती है। परंतु प्रकृतिका ऐसा नियम नहीं है कि इन क्षेत्रोमे उन्नति कर लेनेपर भी कोई जाति नष्ट होनेसे बच जाय। बहुत-सी प्राचीन जातियाँ उन्नति कर लेनेपर भी विलीन हो गयी और उनकी कृतियोंके भग्नांश पुरातत्त्ववेत्ताओंकी खोजकी सामग्री रह गयी हैं। सर हेनरी समनर मेनके मतानुसार थोड़ी-सी पाश्चात्त्य जातियाँ ही प्रगतिशील हैं और शेष सब रूढ़ियोंसे बँधी होनेसे गतिहीन हैं या नष्ट हो चुकी हैं। उनकी दृष्टिमे व्यक्तिका अधिकाधिक वर्ग या वर्णसे स्वतन्त्र होना उन्नतिका प्रमाण है। और दूसरा प्रबल एवं प्रत्यक्ष प्रमाण है विज्ञानकी शोध, और उसके द्वारा प्रकृतिके रहस्योंका उद्घाटन कर ज्ञान-वर्धनके साथ प्रकृतिकी शक्तिको अपने व्यवहार और उपयोगमे लाना। संस्कृतिका आर्य-आदर्श इससे भिन्न है; परंतु सांसारिक उन्नतिसे उसका विरोध नहीं है। हमारी संस्कृतिके जन्मदाता अरण्यवासी ऋषि-मुनि हैं। ज्ञान-दीपको प्रज्वलित करनेवाले भगवान् वेदव्यास हैं। और पाश्चात्त्य सभ्यताका जन्म नगरोंमे हुआ है। एकपर वन, प्रकृति और अनन्तकी खोजकी छाप पड़ी है, तो दूसरेपर राजस्व एवं भौतिक सुखकी खोजका प्रभाव है।

अनेक प्राचीन जातियाँ कालके गालमें समा गयीं। उनकी आश्चर्यजनक उन्नति भी रक्षा न कर सकी और आर्यजाति सबसे प्राचीन होते हुए भी जीवित है और उसने अपनी कृतियों और विचारधारासे संसारको विशेषरूपसे समृद्ध बनाया है। इस बातका इतिहास साक्षी है। अन्य जातियोंने संस्कृतिके अङ्गोंकी तो भली प्रकार पुष्टि की, परंतु उनको अनुप्राणित करनेवाली संजीवनी शक्तिकी अवहेलना की। परिणाम अनिवार्य था। आर्यजातिने अधिक महत्त्व प्राणको दिया और वह है सनातनधर्म। यही कारण है कि उसकी परम्परा बनी हुई है और वह आज भी जीवित है। गति-मान्द्यके कारण प्रत्यक्ष हैं; परंतु उत्थानके लक्षण भी दिखायी देते हैं। अपनेको बलवती बनानेकी सामर्थ्य और अवरोधको हटानेकी शक्ति उसीमें निहित है।

सनातनधर्म हमारा रक्षक है, पोषक है और भविष्यके लिये हमें इसीका एकमात्र आश्रय है; परंतु खेद तो यह है कि समाजके गण्यमान व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो धर्मानुसार सुधार न कर सनातनधर्मको ही अपनी सुविधा और स्वेच्छाचारसे परिवर्तन करना चाहते हैं। भारतवर्षका विधान बनाया जा रहा है। वह कैसा? धर्मनिरपेक्ष, जिसमें ईश्वरके नामतकका बहिष्कार किया गया है। हमारे बहुसंख्यक विधायकोंकी दृष्टिमे धर्म ही अवनतिका कारण है!

ऋषि-मुनि, आचार्य—यहाँतक कि किसी अवतारने भी यह दावा नहीं किया कि वह सनातनधर्मका जन्मदाता है। समस्त शास्त्रोंका एक ही लक्ष्य रहा है और वह है धर्मका व्याख्यान और उसके द्वारा मनुष्यकी कल्याणकामना। श्रीमद्भगवद्गीता सर्वशास्त्रमयी है। उसीके आधारपर हमारी धर्म-प्राण संस्कृति तथा आर्यजातिके कुछ आदर्शोंको समझनेकी चेष्टा की जाती है। भली प्रकार विचार करनेसे जान पड़ेगा कि हमारी संस्कृतिके सभी मौलिक सिद्धान्त स्पष्टतः अथवा सूत्ररूपसे गीतामें मिलते हैं। यहाँ तो इने-गिनेपर विचार करना है।

'धर्म' शब्दसे गीताका श्रीगणेश होता है और एक प्रकारसे कहा जा सकता है कि जिन बातोंको उपदेशरूपमे कहा गया है, वे सब धर्मके ही अन्तर्गत हैं; क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—**इमं धर्म्यं संवादमावयोः**। और अर्जुन भी **धर्मसंमूढचेताः** होकर उपदेशका प्रार्थी हुआ था। इस प्रकार अर्जुनको जो शिक्षा दी गयी, वह हमारे आदर्श और संस्कृतिकी मूलभूत शिक्षा कही जा सकती है। जब अर्जुन युद्धविमुख हुआ, तब श्रीभगवान्ने उसके समस्त तर्कोंका खण्डन तीन ही शब्दोंमें कर दिया—**अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरम्**। उपदेशमें विधि और निषेध दोनों आवश्यक होते हैं। यहाँ निषेध स्पष्ट है। **अनार्यजुष्टम्**—अर्थात् जो आर्यलोगोंके आचरणविरुद्ध हो या उनके आचरणसे अनुमोदित न हो और परम्पराको भङ्ग करनेवाला हो। आर्यका लक्षण योगवासिष्ठमे बतलाया है—

> कर्तव्यमाचरन् कामं अकर्तव्यमनाचरन्।
> तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः॥
> यथाशास्त्रं यथाचारं यथाकामं यथास्थितम्।
> व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः॥

अर्थात् आर्य वह है, जो स्वभावसे ही करनेयोग्य कार्य करता है और न करनेयोग्य नहीं करता। प्रायः लोग दण्डभयसे अपराध या पाप नहीं करते; परंतु आर्यके लिये शुद्धाचरण और निषिद्धका त्याग स्वभावगत होता है। और उसके कार्य सदा शास्त्रानुकूल होते हैं। मर्यादा और परम्पराकी रक्षा बनी रहती है। यह अवस्था अन्तःकरणकी शुद्धिसे प्राप्त होती है। और शुद्ध अन्तःकरण हो जानेपर उसकी प्रेरणा प्रमाणरूप हो जाती है। कालिदासकृत 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त शकुन्तलाके रूपपर मोहित होकर कहता है—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

अर्थात् राजाका शुद्ध मन भी शकुन्तलापर रीझ गया है; तब निश्चय है कि उसका क्षत्रियसे विवाह हो सकता है—वह ऋषिकन्या नहीं हो सकती। क्योंकि सज्जनोंके मनमें जिस बातपर शङ्का हो, वहाँ जो कुछ उनका मन कहे, वही ठीक मान लेना चाहिये। अपने अन्तःकरणकी गवाहीपर ऐसा दृढ़ विश्वास आर्यका लक्षण है। भगवान् श्रीरामने जब जनक-नन्दिनीका प्रथम दर्शन पुष्पवाटिकामें किया, तब उनके मनपर जो प्रतिक्रिया हुई, उसको, और तो और, अपने अनुजसे कहनेमें भी उन्हें सङ्कोच न हुआ—'सहज पुनीत मोर मनु छोभा।' पवित्र मन स्वयं ही मर्यादाकी रक्षा करता है, उसको नियन्त्रणमें रखनेकी चेष्टा अनावश्यक है। तभी तो एक कविने कहा है आर्योंकी प्रशंसामें—'जो तेरा नितकर्म था, औरोंका वो ही धर्म था।' हमारा सहज स्वभावसे किया कर्म दूसरोंके लिये आदर्शरूप था। कारण एक ही था—जीवनका प्रत्येक अङ्ग धर्मसे मर्यादित था। साथ ही परम्पराकी रक्षाका भी ध्यान रक्खा जाता था। आर्योंद्वारा आचरणयोग्य कर्ममें परम्परा लक्षित है; क्योंकि जो परम्पराके विरुद्ध हो, वह कार्य भी निषिद्ध हो सकता है।

अन्य धर्मोंमें मोक्षकी कल्पना नहीं है और न जन्मान्तर या कर्मवादका सिद्धान्त स्पष्टतः बताया गया है। गीतामें दोनों कहे गये हैं और आर्यका सबसे महान् आदर्श यही बताया गया है कि आवागमनके चक्रसे निकलकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त करे। यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है और शास्त्रोंकी इसीका उपाय बतानेमें महत्ता है। हिंदुओंपर प्रायः ये दोष लगाये जाते हैं कि वे मुक्तिके पीछे पड़े रहते हैं, सांसारिक उन्नतिकी अवहेलना करते हैं और मन्द वैराग्यकी भावना रखनेसे अकर्मण्य हो जाते हैं। फिर यह भी कहा जाता है कि मुक्तिका आदर्श स्वार्थमूलक है; क्योंकि वह तो व्यक्तिगत कल्याणकी बात है। ये सब आक्षेप निराधार हैं। अपनी निर्बलता शास्त्र या धर्मके माथे मढ़ना अनुचित है। व्यक्तिकी स्वतन्त्रता तो यहाँतक मान्य है कि वर्णाश्रम-मर्यादामें रखनेका वास्तविक उद्देश्य ही यह है कि मनुष्य अन्तमें पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हो जाय। संन्यास आश्रमका अधिकारी होना सब कार्योंके दायित्वसे मुक्त हो जाना है। परमोच्च अवस्थाप्राप्त मनुष्य उन्मत्तवत्, पिशाचवत्, जडवत् या बालवत् भी व्यवहार करे तो वह महात्मा ही है और हमारे देशमें उसका अब भी वैसा आदर होता है। इससे बढ़कर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता क्या हो सकती है। सब दिगम्बर इस देशमें पागल नहीं माने जाते, न उनसे पागलों-जैसा बर्ताव किया जाता है। फिर मोक्ष-प्राप्तिका साधन वैयक्तिक ही हो सकता है। एक साथ हजारों आदमियोंके नमाज पढ़ने-जैसा साधन नहीं है। जीवन्मुक्तको स्वार्थी बताना अज्ञान है; क्योंकि ज्ञानकी परम्परा उन्हींसे बराबर चलती रहती है। ज्ञानकी शिक्षासे बढ़कर लोकोपकार हो नहीं सकता, फिर लोक-संग्रहका आदर्श भी तो गीताने बताया है। ब्रह्मज्ञान या पराभक्ति उपलब्ध होनेपर मनुष्यके लिये कोई विधि-निषेधका बन्धन या किसी कार्यका दायित्व नहीं रहता; परंतु फिर भी एक भावना रहती है कि स्वयं संसार-सागरसे पार हो गये तो दूसरोंको भी पार उतारनेमें सहायता करें। यही करुणा-परवशता है—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥

(विवेकचूडामणि ३९)

मन्द वैराग्य या अकर्मण्यता और संसारसे उदासीनता हमारा धर्म नहीं सिखाता। शिक्षाका दोष नहीं—यदि अज्ञान-वश उसका दुरुपयोग किया जाय। गीता स्पष्ट कहती है कि एक क्षण भी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता—न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् (३।५)। प्रश्न यह है कि 'संसार कुरुक्षेत्र या कर्मक्षेत्र है। इसमें कर्म करनेकी क्या युक्ति है, जिससे अनिवार्य कर्म करते हुए भी हम उसके बन्धनसे बच सकें?' गीताका उपदेश है कि व्यक्तिगत कर्मक्षेत्रको धर्मक्षेत्र बनाना चाहिये। कुरुक्षेत्र या व्यक्तिके

कर्मक्षेत्रका अभिमानी अल्पज्ञ जीव है अर्थात् जीव उसका क्षेत्रज्ञ है। यदि जीव अपने प्रकृत स्वरूपको जान ले तो वह धर्मक्षेत्रका क्षेत्रज्ञ हो जाता है। अर्थात् स्वार्थकी मात्रा जितनी अधिक होगी, उतना ही संकुचित मनुष्यका कर्मक्षेत्र होगा। और कर्तृत्व-भोक्तृत्वका अभिमान भी बलवान् रहेगा। जैसे-जैसे 'वसुधैवकुटुम्बकम्'का भाव तीव्र होगा, क्षेत्र प्रशस्त होता जायगा। जब यह ज्ञान हो जायगा कि सर्वव्यापक और विभु एक ही आत्मा है, तब कुरुक्षेत्र और धर्मक्षेत्र भी एक हो जायँगे। नानात्वका अन्त होकर एकत्वमें प्रतिष्ठा हो जायगी। इस आदर्शके सामने आक्षेप निराधार ठहरता है। संसारको जैसा वास्तवमें वह है, वैसा देखनेमें क्या दोष हो सकता है। **अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्** (गीता ९। ३३)— इन शब्दोंमें निर्विवाद वस्तुस्थितिका वर्णनकर श्रीभगवान् हमको चिरशान्तिका मार्ग बताते हैं। जिनकी दृष्टिमें संसार ही सब कुछ है, उनको भी यह अनुभव तो सतत होता रहता है कि उनकी कामना कभी पूरी नहीं होती। अकर्मण्यता सिखाना एक बात है और संसारके वास्तविक स्वरूपका सदा ध्यानमें रखनेकी शिक्षा दूसरी बात है। भौतिक उन्नतिमें गीता कोई बाधा नहीं देती। धर्मकी हानि बिना किये उन्नति उपादेय है। संसार-प्रवाहका एक किनारा धर्म है और दूसरा मोक्ष है। इन दोनोंकी मर्यादा सुरक्षित रखकर अर्थ और कामकी प्राप्तिका निषेध नहीं है। आधुनिक जगत्में शक्तिवृद्धिकी चिन्ता तो सब करते हैं और पाश्चात्त्य देश तो इसीमें रत हैं। शक्ति-संचयके साथ धर्म-भावकी वृद्धि न होनेसे नियन्त्रण नहीं रहता। परिणाम भयङ्कर होता है। महादेवजीने असुरको वरदान दे डाला तो वह उन्हींके सिरपर हाथ रख उन्हींको भस्म करनेके लिये उद्यत हो गया। यही दशा आज विज्ञान-जगत्में प्रत्यक्ष देखनेको मिलती है। मनुष्यके आविष्कार उसीके नाशक बन रहे हैं। और यहाँकी शिक्षा है कि योगविभूति प्राप्त हो जाय तो उसका भी उपयोग सांसारिक प्रसंगोंमें करना अनुचित है। दुर्योधनकी आसुरी वृत्ति स्वार्थान्ध होकर यहाँतक बढ़ी कि उसका नाश ही करके शान्त हुई। धर्मभीरु अर्जुनको भगवत्कृपा प्राप्त हुई। मनुष्यमें दैवी और आसुरी प्रकृतिका सम्मिश्रण है—जिसको चाहे, उसे बढ़ाये। अर्जुनका पक्ष भी योद्धाओंने किया और दुर्योधनके भी सहायक थे। जैसे व्यक्ति होंगे, वैसा समाज होगा। अतएव व्यक्तिके विकासपर बल दिया जाय तो उचित ही है। आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं सांसारिक उन्नतिका परस्पर विरोध गीताने बड़ी सुन्दरतासे दूर किया है। अर्जुनको राज्य, सुख, भोग-प्राप्तिके लिये युद्ध करनेकी आज्ञा श्रीभगवान् स्वयं देते हैं; परंतु युद्ध कौशलसे करनेका उपदेश है। अर्थात् भगवान् अपने विधानको यन्त्रवत् पूरा करनेकी और निर्लिप्त होकर समस्त भोग भोगनेकी आज्ञा देते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९। २७)

यह उदासीनता या झूठे वैराग्यका उपदेश नहीं है। भोगमें कैसा भाव रखना, इसीकी शिक्षा है। अतएव धर्मकी मर्यादा सुरक्षित रखकर संसारके भोग प्राप्त करनेमें कोई हानि नहीं। वेदव्यासजी तो यहाँतक कहते हैं कि अर्थ और कामकी इच्छा हो तो भी धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि धर्मसे ही वे प्राप्त होते हैं—

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

श्रीभगवान्ने **अनार्यजुष्टम्** कहकर जो आक्षेप अर्जुनके तर्कपर किया, वह बड़ा सारगर्भित है और उसमें हमको अपने सनातन आदर्शकी सुन्दर झाँकी मिलती है। आर्य होना ही महान् गौरव है और उसके साथ उत्तरदायित्व भी वैसा ही महान् है। अन्य मनुष्यजातियोंसे जो उच्चादर्श रखनेकी आशा नहीं की जा सकती, उसको आर्य चरितार्थ करे—यही शिक्षा है।

दूसरा आक्षेप था **अस्वर्ग्यम्**। यदि सुख-भोगकी लालसा प्रबल है और सकाम कर्ममें प्रवृत्ति बलवती है तो फिर ऐसे कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे चिरकालतक भोग प्राप्त हो सकें। संसारके सुख अनित्य हैं, थोड़े ही भोगके पश्चात् कालका ग्रास बनना पड़ेगा, और संस्कार प्रबल होनेसे भोगेच्छा नीची योनिमें भी ले जा सकती है। अतएव ऐसी चेष्टा करना उचित है कि जिसके द्वारा संसारके भोगोंसे बढ़कर और अधिक स्थायी स्वर्गके भोग प्राप्त हो सकें। इसके लिये पुण्य करना आवश्यक है। यज्ञ, तप, दानसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है; इनसे जीवन पवित्र भी होता है और स्वर्ग-कामीकी भोगेच्छा भी कालान्तरमें पूर्ण होती है। परंतु यह प्रवृत्तिमार्ग निवृत्तिमार्गकी तरह अक्षय शान्ति और आवागमनसे मुक्ति नहीं दिला सकता। क्योंकि—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(गीता ८। १६)

यहाँ भगवान्‌ने पुनर्जन्मका सिद्धान्त और उसके चक्रसे निकलनेका उपाय भी बता दिया। परंतु मृत्युके पश्चात् जन्म लेना ही पड़े तो यह श्रेयस्कर है कि वह अच्छे कुलमें हो या स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदिकी प्राप्ति हो। अतएव जो निष्कामभावसे कर्म कर संसारसे छुटकारा पानेके अधिकारी नहीं हो सकते, उन्हें मोक्ष प्राप्त न हो तो कम-से-कम उनकी अधोगति तो न हो—ऐसा आचरण करना उचित है। अन्य धर्मोंमें स्वर्गसे बढ़कर या ऊँचा कोई लोक नहीं बताया जाता; परंतु हमको तो मोक्ष-पदसे निम्न श्रेणीके कई लोक बताये जाते हैं। और मोक्षकी चर्चा तो अन्य धर्मोंमें है ही नहीं। अतएव स्वर्गकामी होना कोई बड़े आदर्शकी बात नहीं है। दूसरोंके लिये इससे बढ़कर कोई कल्पना नहीं।

इस प्रकार 'अस्वर्ग्यम्' कहकर श्रीभगवान्‌ने हमारे आदर्शका एक और दृश्य भी दिखा दिया। परंतु वह 'अनार्यजुष्टम्' से निम्न श्रेणीका है। अधिकारभेदसे उसे भी कहना पड़ा और इसके साथ कई सिद्धान्तोंपर भी संकेत कर दिया।

तीसरा आक्षेप श्रीभगवान्‌का है—'अकीर्तिकरम्'। विश्वसे अतीतकी बात 'अनार्यजुष्टम्' से कही और 'अस्वर्ग्यम्' से परलोककी। 'अकीर्तिकरम्' से इस जगत्‌की ओर संकेत है। श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'यशो लभस्व'। युद्धमें शत्रुओंको मारकर विजय प्राप्त करो और यशस्वी बनो। यश जीवनकालमें ख्यातिसे प्राप्त होता है और मरनेके बाद वही कीर्ति कहा जाता है। ऐसा भेद गीताने किया है। स्थायी यश कीर्ति हो जाता है। यश प्राप्त होता है पुरुषार्थसे और लोक-सेवा या लोक-संग्रहसे। कठिन कार्य—जो किसीसे न हो सके, उसे सफलतापूर्वक करना यशः-प्राप्तिका कारण होता है। यदि निष्कामभाव न हो और निवृत्तिमार्गका अनुसरण न हो सके तो मनुष्यको स्वर्गकामी होना चाहिये। और यदि स्वर्गप्राप्तिके साधन भी उपलब्ध न हों तो कम-से-कम यश तो संसारमें जीते-जी मिले—ऐसा उद्योग होना चाहिये। कालसे बचनेका तो कोई उपाय नहीं। शरीर तो जायगा ही; परंतु प्राप्त यश तथा कीर्तिकी रक्षा की जा सकती है। जिसकी कीर्ति है, वह एक प्रकारसे जीता है—चाहे उसका शरीर न भी रहा हो। यदि यशका भी भागी मनुष्य न बने तो कम-से-कम अपयशसे अपनेको कलङ्कित न करे। यशस्वीको स्वर्गप्राप्ति भी हो सकती है। दुष्कृतिसे कलङ्कितके लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

अकीर्तिकरम् से व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध भी सूचित किया गया है। इन दोनोंमें बराबर आदान-प्रदान चलता रहता है। आदर्श यह होना चाहिये कि समाजसे व्यक्तिको जो लाभ होता है, उससे अधिक सेवा या लाभ व्यक्तिद्वारा समाजको मिलना चाहिये। वैसे वे एक दूसरेके पोषक हैं। दुर्योधनकी भावना है कि उसको किसी प्रकार भी निष्कण्टक राज्य प्राप्त हो, उसके लिये भले ही असंख्य लोगोंको अपने प्राणोंकी आहुति देनी पड़े। वह बड़े अभिमानसे कहता है—'मदर्थे त्यक्तजीविताः'। द्रोणाचार्य और भीष्म भी मर जायँ तो दुर्योधनको उसकी चिन्ता नहीं। राज्य बना रहे। दूसरी ओर अर्जुन है, जिसका पक्ष न्याय्य है; परंतु वह कहता है—

> अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
> यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥
> यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
> धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥
>
> (गीता १। ४५-४६)

दोनों व्यक्ति विपरीत भावनाओंके नमूने हैं। देशके नेताने स्वराज्य दिलाया, महान् कार्य किया। किंतु इससे भी महत्ता उन्होंने तब दिखायी, जब यह घोषणा की कि सत्यकी बलि देकर स्वराज्य लेना अस्वीकार है। यह हमारे देशका गौरव है।

आजकल व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको आदर्श माना जाता है। सब जगह समानता, समानाधिकारकी चर्चा सुनायी देती है। गीता इस समस्यापर भी प्रकाश डालती है। समानताका जो पाश्चात्त्य आदर्श है, वह स्वभाव और प्रकृति दोनोंके विरुद्ध है, अतएव अव्यवहार्य है। बलपूर्वक उसको बर्तनेसे अनर्थ होता है। कोई दो व्यक्ति संसारमें एक-से नहीं। भिन्नता और नानात्व प्रकृतिका नियम है। जहाँ असमानता है, उसे स्वीकार करना गीता सिखाती है। आँख बंद कर लेनेसे आकाशका सूर्य कहीं अस्त थोड़े हो जायगा। गुण और स्वभावके वैषम्यसे भेद प्रत्यक्ष है। हाँ, एकता आत्मामें है। उसीपर लक्ष्य रखनेका गीता आदेश देती है। सबमें अन्तर्यामीरूपसे एक ही आत्मा है और उसका लक्ष्य रखनेवाले पण्डित समदर्शी होते हैं। 'पण्डिताः समदर्शिनः' शब्द विचारणीय हैं। 'समवर्तिनः' नहीं कहा, 'समदर्शिनः' कहा है। कुत्ते, चाण्डाल, ब्राह्मणादिसे समान व्यवहार करना मूर्खता होगी। उनमें एक आत्माको देखना पाण्डित्य है। परंतु संसारमें आज समान बर्तावकी दुहाई दी जा रही है। गुण, कर्म, स्वभावको भूलकर समताका राग अलापना और समान बर्तावकी योजना बनाना अनर्थकारी हो रहा है। हमारी शिक्षा यह है कि एकसे अनेकका प्रादुर्भाव हुआ है। इस नानात्वमें एककी प्रतिष्ठा कर लेना सब साधनोंका ध्येय है।

इसी नानात्वके आधारपर अधिकारका सिद्धान्त अवलम्बित है। बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन करनेसे क्या होगा, यदि

विश्वास न हुआ तो। धर्मका मूल विश्वास एवं श्रद्धा है, न कि प्राणभय। हिंदू-धर्म विचारोंकी पूर्ण स्वतन्त्रता देता है और बुद्धिको श्रद्धा या विश्वाससे ऊँचा स्थान देनेमें संकोच नहीं करता। हमारे शास्त्रोंने तर्कद्वारा जैसी बालकी खाल निकाली है, वैसी किसी धर्ममें सहन भी नहीं की जा सकती। प्रश्न करना, सन्देह मनमें लाना ही कुफ्र समझा जाता है। सनातनधर्ममें अधिकारानुसार सबको स्थान प्राप्त है और मनुष्यको अपनी बुद्धि दौड़ानेके लिये अनन्त क्षेत्र। यही कारण है कि अन्य धर्मावलम्बियोंको शुद्ध कर या बलपूर्वक अपने धर्ममें लेनेकी आवश्यकता नहीं समझी गयी। हमारा आग्रह आचारपर है; न कि विचारपर। विचारमें स्वतन्त्रता और आचारमें समानता मान्य है। सनातनधर्मकी सहिष्णुता अपनी एक विशेषता है; जो बिल्कुल निराली है। इस प्रकार बुद्धि-स्वातन्त्र्यको जो स्थान यहाँ प्राप्त है, वह अन्य धर्मोंमें असहनीय है।

अबतक गीताके तीन शब्दोंको लेकर—'**अनार्यजुष्टम्, अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरम्**'—सनातनधर्मसे अनुप्राणित हमारी संस्कृतिके कुछ पहलुओंपर विचार किया गया; परंतु उपदेशकी पूर्तिके लिये विधि और निषेध दोनोंका निर्देश आवश्यक होता है। गीताने विधिको भी मन्त्रवत् तीन ही शब्दोंमें बताया है और वे हैं—'**ॐ तत्सत्।**' गीताने इस वाक्यकी बड़े संक्षेपसे व्याख्या की है; परंतु एक प्रकारसे कहा जा सकता है कि अनिवार्यरूपसे कर्मबन्धनमें पड़े हुए मनुष्यको कल्याणका जो मार्ग गीताने विस्तारसे बताया है, उसीको अतिसूक्ष्मभावसे '**ॐ तत्सत्**' द्वारा सूत्ररूपमें दे दिया है। १७वें अध्यायका २३वेंसे लेकर २७वें श्लोकतकका अंश द्रष्टव्य है। जैसे निषेधात्मक तीन वाक्योंकी व्याख्या की गयी, वैसे ही '**ॐ तत्सत्**' की भी करना उचित है; परंतु लेखकके विस्तारभयसे ऐसा नहीं किया जाता। ये त्रिविध परमात्माके नाम हैं, जिनकी भावना सदा बनाये रखनेमें प्रत्येक कर्मका रूप यज्ञ, दान और तप हो जाता है। ॐ वाचक है ब्रह्म और ईश्वर दोनोंका, अर्थात् पर और अपर ब्रह्मका। सब प्रेरणाएँ उसीसे होती हैं—'**मत्तः सर्वं प्रवर्तते।**' अतएव ॐके उच्चारणके साथ कर्तृत्वाभिमान नष्ट हो जाना चाहिये। हम यन्त्र हैं, हृदयस्थ प्रभु यन्त्री हैं। तत्‌के उच्चारणसे फलाभिसन्धिके त्यागकी भावना दृढ़ होती है और सत्‌से कर्मासक्तिका त्याग होता है। '**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।**' इस भूलसे मनुष्य बच जाता है। और कर्म करते हुए फलकी इच्छा न रखनेसे कर्मका बन्धन नहीं होता। संसारमें रहते हुए इस विधिके अनुसार कर्म करते हुए भी कल्याण-प्राप्तिका मार्ग खुल जाता है। इस प्रकार विधि-निषेध सूत्ररूपसे गीताने बताये हैं और इनके अनुसार जीवनका गठन करना आर्य-आदर्श है।

एक बात प्रायः बड़े दावेसे कही जाती है कि संसारमें कोई भी संस्कृति अपने असली और शुद्ध रूपमें कहीं नहीं मिलती है। परस्पर संघात और सम्मिश्रणसे उसकी प्रगति होती रहती है। और इस प्रकार अनेक विचारधाराओंके संगमसे देश या जातिका आदर्श-क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और उससे बड़ा लाभ होता है। अतएव संस्कृतिपर बाह्य प्रभावको दोष न मानना चाहिये। उसका स्वागत करना उचित है। हमारा सिद्धान्त इस बातको नहीं मानता। हमारी संस्कृतिके आदर्श इतने महान् हैं और उसका प्रत्येक अङ्ग ऐसी उदात्त भावनाओंपर स्थित है कि उनको अधिक उन्नत नहीं बनाया जा सकता। वे ऐसी मौलिक हैं कि मनुष्यकी कल्पनाशक्ति भी उनको उच्चतर बनानेमें असमर्थ है। सुधार अपना करना है, न कि धर्मप्राण परम आदर्शरूप संस्कृतिका। औरोंकी संस्कृतिमें न्यूनता है; क्योंकि वह अपूर्ण है और किसी अङ्गविशेषको ही महत्त्व देती है। रही परस्पर संघात और आदान-प्रदानकी बात; उसमें प्रथम तो यही निश्चय करना कठिन होता है कि औरोंसे क्या लेना है और क्या त्याज्य है। फिर लेना तो वही चाहिये, जो हमारे पास न हो। अग्निमें कोई वस्तु डालनेसे या तो वह प्रज्वलित होकर अग्निरूप हो जाती है या अग्निको बुझा देती है। हमें संकर-संस्कृति नहीं चाहिये। वह अञ्जन किस कामका, जिससे आँख ही फूट जाय। अपना स्वभाव और स्वरूप खो देनेसे न हमारा उपकार होगा न संसारकी सेवा।

आदर्शोंकी महत्तामें और संस्कृतिकी श्रेष्ठतामें संसारकी कोई भी जाति आर्यजातिसे तुलना करनेयोग्य नहीं है। रत्नगर्भा भारतभूमिने अगणित महापुरुषोंको जन्म दिया है और उन्होंने आदर्शोंको पूर्णरूपेण चरितार्थ कर दिखाया है। उनके समान महात्मा अन्य देशोंमें इने-गिने भी नहीं हुए। यहाँ ऋषि-मुनियोंने जन्म ही नहीं लिया, उनके उत्पन्न करनेकी विधि भी बतायी गयी है। मनुष्यको देव-दुर्लभ स्थिति प्राप्त करनेकी सफल युक्ति बतायी गयी है और वह उपाय भी कहा गया है, जिससे साक्षात् ईश्वरको मानवस्तरपर अवताररूपसे प्रकट किया जा सकता है। इसीलिये वेदोंने आर्यलोगोंको '**अमृतस्य पुत्राः**' कहा है।

हिंदू-संस्कृति और साहित्य

(लेखक—साहित्यवारिधि कविसार्वभौम कविशिरोमणि देवर्षिभट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री)

संस्कृति और सभ्यता यदि किसी समाजकी उन्नति और महत्त्वके कारण हो सकते हैं तो आपको मानना पड़ेगा कि हिंदू-समाज इसके लिये सबसे अधिक भाग्यवान् है। आज चाहे अनेक देश सभ्यताका दावा रखते हों और सभ्य होंगे भी, मुझको इसमें विवाद नहीं; किंतु सभ्यता और संस्कृतिके आदिम इतिहासकी यदि आप खोज करेंगे तो आपको स्पष्ट मालूम हो जायगा कि इस विषयमें हिंदू-समाजकी टक्करमें ठहरनेवाला कोई समाज नहीं निबटेगा। सभ्यताकी ज्योतिका आदिम प्रकाश पहले-पहल भारतीय आर्योंने ही दिखलाया। हम ही नहीं, समुद्र-पारके रहनेवाले पश्चिमी विद्वानोंतकने यह माना है कि सभ्यताके पदार्थोंको पहले-पहल दिखलानेवाले आर्यलोग ही हैं। जिस समय और-और जातियोंको सभ्यताका धुँधला प्रकाश दूरसे दिखलायी दे रहा था, उस प्राचीन समयमें भी आर्य-जाति सभ्यताकी रोशनीसे चमचमा रही थी।

साहित्य ही इस संस्कृतिके सोनेको परखनेकी कसौटी है। आर्योंके साहित्यको निष्पक्षपात दृष्टिसे यदि आप देखेंगे तो आपको मालूम हो जायगा कि सभ्यता और संस्कृति इस समाजमें कबसे चली आ रही हैं। इसकी खोजमें बहुतोंको कठिनता इसलिये मालूम होगी कि इसके लिये आपको उस संस्कृत-भाषाकी शरण लेनी पड़ेगी, जिसको हम पश्चिमी सभ्यताकी लहरमें बहुत कुछ दूर छोड़ चुके और अब भी छोड़े चले जा रहे हैं। संस्कृत-भाषा ही संस्कृति और सभ्यताकी आदि जन्मदात्री है। हमलोगोंको जाने दीजिये, पश्चिमी विद्वानोंने भी वर्षोंके परिश्रमसे यह खोज निकाला है कि संसारभरका आदिम ग्रन्थ ऋग्वेदसंहिता है। वेदसे पुराना ग्रन्थ (पुस्तक) आजतक भूमण्डलमें नहीं देखा गया। और इस तथ्यको सभी सभ्य आजतक मानते चले आ रहे हैं। अब दुनियाके आदिम ग्रन्थ वेदसे लेकर आजतकके साहित्य और व्यवहारमें आप देख लीजिये कि संस्कृतिका इस हिंदू-समाजमें क्या स्थान है।

जो वेद हमारे लिये ही नहीं, भूमण्डलभरके लिये सर्वादिम ग्रन्थ गिने जाते हैं, उनका प्रधान उद्देश्य है संस्कृतिका उपदेश। पहले-पहल संस्कृति वहींसे हमने सीखी, यह दुनियाभरकी धारणा है। अपने स्वार्थके लिये एक-दूसरेपर छुरी चलना जहाँ पैंड-पैंडपर सामने आता है, उस मानवजगत्में 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' (किसी प्राणीकी हिंसा मत करो) यह आदेश वहींसे आरम्भ होता है। क्या पूर्व और क्या पश्चिम, चारों दिशाओंके सभी राष्ट्र जिसे सर्वसम्मतिसे त्याज्य और पाप समझते हैं, उस 'झूठ'के लिये भगवान् वेदोंने ही उपदेश क्या, आज्ञा दी है—'नानृतं ब्रूयात्' (झूठ मत बोलो)। विस्तार करनेसे कोई लाभ नहीं, 'संस्कृति' पदका अनुवाद आजकलके सभ्य महोदय 'कल्चर' (आचार-व्यवहार) किया करते हैं। अब देखिये—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चार वर्ण और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी—ये चार आश्रम, इनका विभाग करके जैसा जिसका अधिकार है, उसको वैसे ही आचरणकी शिक्षा वेदसे ही तो मानी जाती है। फिर भी वेदोंमें संस्कृतिके लिये क्या ढूँढ़-ढाँढ़ करनी पड़ेगी? समाजके लिये वेद आचार-व्यवहारमें कितनी सुन्दर व्यवस्था चाहते हैं—यह एक बातसे ही मैं समझा देना चाहता हूँ। थोड़ेमें परख लीजिये। ईश्वरसे मनुष्य वही माँगता है, जो उसको सबसे अच्छा प्रतीत होता है। वेदोंमें हमारी प्रार्थना होती है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

पण्डित श्रीरामशर्मा रूँथलाद्वारा निर्मित 'वैदिक राष्ट्र-गीत' नामक नयी प्रकाशित पुस्तकमें इसका पद्यानुवाद है—

'ब्रह्मन्! हमारे राष्ट्रमें द्विज तेजयुत होते रहें,
राजन्य भी आयुध-कुशल, अति शूरमा होते रहें।
होवें महारथ शत्रुनाशक, शत्रुभेदक वे सदा;
गौएँ यहाँ पयधारिणी हों, राष्ट्रमें सुख-संपदा॥
कृषि-कर्मके साधन सबल हों, बैल वाहक भारके
हों अश्व गतिमें तेज सब, गन्ता पुनः पथ-पारके।
जयशील आरोही रथोंके, नारियाँ हों सुंदरी;
हो प्राप्त सुत यजमानको, वर वीरगण रणकेसरी॥
यजमानसुत निज शत्रुनाशक, सभ्य हो, सामर्थ्ययुत
निज कालपर फल-औषधी हमको करें अति सौख्ययुत।

कवि स्वयं रसमें आविष्ट होकर सुननेवालोंको भी तन्मय बना देता है। उसके 'नवरसों'में सारी दुनिया आ जाती है। यहाँतक कि 'बीभत्स' भी—जिसमें 'जुगुप्सा', घृणा, 'घिन' ही आदिसे अन्ततक (स्थायीभाव) रहता है—एक रस और काव्यकी आत्मा माना जाता है। किंतु 'संस्कृति' यानी सदाचारको वहाँ भी आदर्श माना जाता है। जिसके साथ जैसा व्यवहार-वर्णन उचित है, वहाँ उससे विरुद्ध वर्णन कवि-सम्प्रदायका उल्लङ्घन है। विस्तारकी जरूरत नहीं। कवियोंके सर्वमान्य, साहित्य-संसारके मार्गदर्शक, ध्वनिकार श्रीआनन्दवर्द्धनाचार्यने कवियोंको आज्ञा दी है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

'औचित्य अर्थात् जिसके साथ जैसा आचार होना चाहिये; उसके उल्लङ्घनसे बढ़कर रसभङ्गका और कोई कारण नहीं। और औचित्यका निर्वाह रस-सम्प्रदायका परम रहस्य है।'

यों क्यों, काव्य और साहित्यकी जिसके लिये सृष्टि हुई, वहाँ ही 'संस्कृति' को सबसे आगे लेकर बढ़ना पड़ता है। वेद जैसे प्रभुसंमित उपदेश (शासककी स्वतन्त्र आज्ञा), पुराण-स्मृति आदि-जैसे सुहृत्संमित उपदेश (मित्रके समान हितोपदेश); वैसे ही, काव्य कान्तासंमित उपदेश (स्त्री जिस तरह अपने पतिको प्रेमचर्यासे प्रसन्न करके फिर उसे हितमार्ग सुझाती है) कहे जाते हैं। काव्योंका मूल उद्देश्य है चरित्र-शिक्षा।

रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्।

अर्थात् प्रत्येक काव्यका यह ध्येय है कि वह अपने वर्णनसे सुननेवालोंको शिक्षा दे कि दुनियामें सदा अच्छे मार्गसे चलना चाहिये, जिससे प्रत्येक आदमी अपने आदर्शपर पहुँच सके। रामका चरित्र अच्छा होनेसे सबको प्रिय लगता है और रावणके आचरणोंसे अन्तमें घृणा होती है। इसलिये रामका आदर्श लेना चाहिये, रावणका नहीं। जब 'काव्य'-सृष्टिका यह मूल उद्देश्य है, तब आप ही देख लीजिये कि 'संस्कृति'के उपदेशमें काव्यने कितना काम किया। प्रभु और मित्रका उपदेश किसी आदमीपर चाहे असर न करता हो, किंतु प्रेममें मस्त बनाकर 'इंजेक्शन'के तौरपर दिया हुआ पत्नीका हितोपदेश रग-रगमें असर कर जाता है। प्रसिद्ध है कि रात-दिन जनानेमें विहार करनेवाला एक स्वतन्त्र राजा कविके एकमात्र दोहेको सुनकर जनानेसे बाहर निकल आता है और कविके उपदेशोंको बड़ी कदरदानीसे सुनता है। अब आप कैसे कह सकेंगे कि काव्य-साहित्यमें 'संस्कृति'का अनुरोध नहीं रक्खा जाता। बल्कि यह कहना पड़ेगा कि 'संस्कृति'की रक्षामें सबसे अधिक प्रभाव काव्योंका ही पड़ा है और पड़ा करता है।

साहित्यकारोंका तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि, क्या पद्य और क्या गद्य, सभी काव्य किसी शिक्षाके उद्देश्यको लेकर बनने चाहिये। आजकलकी 'कहानी', जो पश्चिमी नकलपर बनने लगी है, कदाचित् केवल मनोविनोदके लिये हो; किंतु भारतीय दृष्टिकोण वहाँ भी यही रहा है कि कथा और आख्यायिकाएँ भी किसी चरित्र-शिक्षाको लेकर ही बननी चाहिये। मनोविनोद जरूर उसमें पूर्ण मात्रामें रहे; किंतु व्यङ्ग्य अर्थात् कथाका चरम उद्देश्य किसी अच्छी शिक्षापर पहुँचाना ही होना चाहिये। अब आप ही देख लीजिये कि अनादि साहित्य वेदसे लेकर आजकलके काव्यतकमें 'संस्कृति' यानी चरित्र-रक्षाका कितना अनुरोध रक्खा गया है। व्यवहारमें भी आप देखेंगे कि हिंदू-समाजकी एक अनपढ़ स्त्री भी अपने बच्चेको यही समझावेगी कि—'क्यों दूसरोंको दुःख देता है? चार आदमी तुझको भला कहें, क्यों न उसी तरह तू चलता है?' अब आप ही कहिये कि हिंदू-समाज एड़ीसे लेकर चोटीतक 'संस्कृतिमय' है; यह क्यों नहीं कहा जा सकेगा? 'संस्कृति' से अलग हो जानेपर वह हिंदू ही नहीं रहेगा, यह आप देखेंगे।

अनादिकालसे आजतक बराबर चली आ रही इस हिंदू-संस्कृतिपर आज कुछ महोदयोंकी दूसरी दृष्टि पड़ी है, जो सुधारके नामसे एकदम इसका उद्धार ही कर देना चाहते हैं। किंतु याद रहे, ईश्वरकी प्रेरणासे अनादि उस वैदिक समयसे लेकर आजतक जो हिंदू-संस्कृति धीरे-धीरे परिपक्व बनती गयी, अनवरत व्यवहारके कारण जो स्वाभाविक सिद्ध हुई, अनेक कुठाराघात होनेपर भी अन्तमें जो सत्य साबित हुई, उसमें सहसा परिवर्तन कर देना इतना आसान नहीं। त्रिकालदर्शी ऋषियोंने आगे-पीछे सब कुछ सोच-समझकर जो 'संस्कृति' सिद्धान्तरूपसे स्वीकार की है, उसमें सुधार करनेके लिये कई शताब्दियोंका अनुभव चाहिये।

हाँ, अबतक दृढ़ बनी हुई इस हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा-भित्तिपर नये-नये 'बिल' बनाकर हम इसे जर्जर बनाना चाहते हैं और इसके लिये प्राणपणसे चेष्टा करते हैं; किंतु

जो हिंदू-समाज 'संस्कृतिप्राण' सिद्ध हुआ है, उसकी संस्कृति नष्ट कर देना मानो उसे प्राणहीन बना देना है। खैर, यह सब समयकी बलिहारी है। अवसर समझकर अन्तमें इस प्रसङ्गके संस्कृतके दो घनाक्षरी छन्द भेंट करता हूँ—

पारमुपनीता पूर्वपद्धतिः प्रवीणैरद्य
चलिता चतुर्दिङ् नवशैली निरुपेक्षितम्
आडम्बरमात्रं वंशमर्यादामवैति जनो
वादायैव संप्रदायवृत्तमधुनेरितम्।
मञ्जुनाथ मीलति मनस्वी निजमानसेऽद्य
कस्मै कथयेत निजवृत्तमिदमेधितं
खलत्खलजाले बत वर्तमानकाले कलौ
भद्रजनभाले भूतभर्त्तः! किमालेखितम् ॥१॥

'अच्छे-अच्छे आदमियोंने अपनी पुरानी रीति छोड दी। चारों ओर बेरोक-टोक नयी चाल चल पड़ी। लोग इस समय वंशकी मर्यादाको ढोंग समझते हैं। कहा गया है कि शैव-वैष्णव आदि सम्प्रदायोंका वृत्तान्त आजकल कलहका कारण हो जाता है। मनस्वी पुरुष मन-ही-मन घुला जाता है, भले-चौड़े इस वृत्तान्तको बेचारा किसको कहे। चालाकोंको चारो ओरसे चैन देनेवाले इस कलिकालमें हे स्वामी! भले आदमीके कपालमें आपने यह क्या लिखा है?'

स्पृश्यास्पृश्यताया बत संकीर्णो विचारो भाति
सदृशोऽधिकारो नरनारीभ्यः प्रदीयते
'धर्मस्योपदेशे वृद्धविप्रा एव नाधिकृता
योग्यतास्मदीयाप्यत्र निर्भरमुदीयते।'
उद्वाहं चतुर्दशाब्दि वर्षाद्वनितानां जगुः
प्रामाण्याय चेङ्ग्लिशानुवादः सह नीयते
त्वङ्गति तरीतुं शास्त्रसागरमलाबूबलात्
सेयं नवबाबूमञ्जुमण्डली महीयते ॥२॥

'स्पृश्यास्पृश्यका विचार संकीर्णता है। नर और नारियोंको समान अधिकार दिया जाता है। कहा जाता है कि—'धर्मके उपदेशमें पुराने ब्राह्मणोंका ही अधिकार नहीं, हमारी भी योग्यता इस विषयमें पर्याप्त है।' चौदह वर्षके आगे ही कन्याओंका विवाह कहा जाता है। इसके सबूतके लिये सभाओंमें स्मृतियोंका अंग्रेजी अनुवाद साथ रक्खा जाता है। नवीन यह बाबूमण्डली धन्य है, जो शास्त्र-सागरको तूँबेके बलपर तैरना चाहती है।'

हिंदुत्वका व्यापक स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री)

'हिंदू' शब्दपर कुछ हिंदुओं और अधिकांश सिक्खों तथा आर्यसमाजी सज्जनोंको यह आपत्ति है कि 'यह शब्द हमारी जातिका बोधक नहीं है; क्योंकि संस्कृतके विशाल साहित्यमें यह शब्द नहीं पाया जाता।'

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि "यह शब्द घृणासूचक है, इसीलिये मुसलमानोंने हमारा यह नाम रक्खा और इसका अर्थ 'काला; चोर, बदमाश' आदि है।"

एक दल यह भी कहता है कि 'हिंदू नाममें क्या रक्खा है? इसका मोह ही क्यों किया जाय? इसकी जगहपर आर्य और हिंदुस्थानकी जगहपर 'भारत' या 'आर्यावर्त' शब्द रख दिया जाय।'

इसी तरह हिंदुत्व और उसके व्यापक स्वरूपपर छोटी-मोटी कुछ शङ्काएँ और भी उठायी जाती हैं। इस लेखमें उन्हीं शङ्काओंपर संक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

संस्कृतके एक-दो नहीं, अनेक ग्रन्थोंमें 'हिंदु' शब्द पाया जाता है। अद्भुतरूपकोषमें लिखा है—

हिंदुर्हिंदूश्च पुंसि द्वौ दुष्टानां च विघर्षणे।

अर्थात् 'दुष्ट लोगोंको रगड़नेवालोंको हिंदु और हिंदू कहा जाता है।' ये दोनों शब्द पुँल्लिङ्ग हैं। 'हेमन्तकविकोष' की उक्ति है—'हिंदूर्हि नारायणादिदेवताभक्तः।' अर्थात् 'हिंदू उसे कहा जाता है, जो नारायण आदि देवोंका भक्त है।' 'रामकोष'की उक्ति है—

हिंदुर्दुष्टो न भवति नानार्यो न विदूषकः।
सद्धर्मपालको विद्वान् श्रौतधर्मपरायणः ॥

तात्पर्य यह कि 'हिंदू न तो दुर्जन होता है, न अनार्य होता है और न निन्दक ही होता है। जो सच्चे धर्मका पालक, विद्वान् और वेदधर्ममें निरत है, वही हिंदू है।'

संस्कृतभाषाके विराट् और प्रामाणिक कोष 'शब्द-कल्पद्रुम' में भी 'हिंदू' शब्द और इसकी व्युत्पत्ति लिखी है। आठवीं शताब्दीके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मेरुतन्त्र' (३३ प्र०) में लिखा है—

हिंदूधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः।
हीनं च दूषयत्येव हिंदुरित्युच्यते प्रिये ॥

अर्थात् 'शक, हूण आदि चक्रवर्ती राजा हिंदूधर्मका नाश करनेवाले होंगे। जो दुष्टको दोष देता है, उसे हिंदू कहा जाता है।'

अनेक विद्वानोंका मत है कि मेरुतन्त्रमें भी प्राचीन ग्रन्थ 'कालिकापुराण' है। उसमें लिखा है—

कालेन बलिना नूनमधर्मकलिते कलौ।
यवनैर्घोरमाक्रान्ता हिंदवो विन्ध्यमाविशन्॥

अर्थात् 'बली कलिके कारण धर्मशून्य कलियुगमें विदेशियोंके द्वारा आक्रमण होनेपर हिंदूलोग विन्ध्यपर्वत चले गये।'

ऊपरके इन श्लोकोंसे स्पष्ट विदित होता है कि संस्कृत-साहित्यमें एक नहीं, अनेक स्थलोंपर 'हिंदू' शब्दका उल्लेख है। इस शब्दका जो लक्षण किया गया है, 'हिंदू' शब्दकी जो परिभाषा दी गयी है, उससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि हिंदू आर्यका ही नाम है। हिंदू वह है, जो दुष्टनाशक, धर्मपरायण, वेदधर्मानुयायी, नारायण-भक्त और विद्वान् है। इन सब लक्षणोंसे ज्ञात होता है कि आर्य और हिंदू एक हैं और आर्यजातिका नाम ही हिंदू-जाति है। इसलिये पहली आपत्ति एकदम निरर्थक है। ऊपरके एक श्लोकसे यह भी विदित होता है कि 'हिंदु' और 'हिंदू'—दोनों ही शब्द शुद्ध हैं।

दूसरी आपत्ति तो और भी निरर्थक है। मुसलमानोंकी बात तो अलग रही, जिन दिनों महम्मद साहबका जन्म भी नहीं हुआ था और अरबजातिका इतिहास भी कालके अगाध पेटमें था, उन्हीं दिनों बादशाह सिकंदर भारतवर्ष आया था। उसने अपने मन्त्रीसे 'हिंदूकुश' (हिंदूकूट) पर्वत जानेकी इच्छा प्रकट की थी। यह बात उसके जीवनचरितमें है। जब कि ईसासे भी सैकड़ों वर्ष पूर्व 'हिंदू' शब्द था, तब कैसे कहा जा सकता है कि हिंदू नाम मुसलमानोंका रक्खा हुआ है?

सिकंदरसे भी सैकड़ों वर्ष पहले पारसियोंका धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' बना था। उसमें वेदके हजारों शब्द पाये जाते हैं। उसमें 'हिंदु' शब्दका उल्लेख है। उसी समयसे सिन्धुके इस पार बसनेवालेको हिंदू कहा जाता है। 'बलख' नगरका नाम भी पहले 'हिंदवार' था। वस्तुतः 'हिंदू' शब्द 'सिन्धु' शब्दका तद्भव रूप है। पारसी भाषामें 'स' को 'ह' कहा जाता है। 'सप्त', को 'हप्त', 'सरस्वती' को 'हरहवती' और 'असुर' को 'अहुर' कहा जाता है। भाषा विज्ञानके अनुसार भी 'स' और 'ह' परस्पर बदला करते हैं। पारसवालोंने पहले स्वात, गोमती, कुभा, वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती और सिन्धुको अर्थात् 'सप्तसिन्धु'को 'हप्तहिंदु' कहना शुरू किया। (भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व, अध्याय ५ में भी 'हप्तहिंद' शब्दोंका उल्लेख आया है।) अनन्तर संक्षेपमें 'हिंदू' कहने लगे और अन्तको हिंदू या सिन्धुके इस पारके रहनेवालोंको—सारे भारतवासियोंको हिंदू कहने लगे। पश्चिमी विदेशोंमें सारे भारतवासी इसी सिन्धुके रास्ते जाते थे; क्योंकि विदेश जानेका एकमात्र यही रास्ता था। इसलिये पारसी सबको हिंदू ही कहने लगे। बल्कि आजतक ईरान, तुर्की, ईराक, अफगानिस्तान और अन्य देशोंमें भारतवर्षको 'हिंद' और प्रत्येक भारतवासीको 'हिंदी' कहा जाता है—चाहे वह हिंदू हो, मुसलमान हो या कोई हो। अमेरिकावाले प्रत्येक भारतीयको—हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी, सबको हिंदू कहते हैं। इसलिये यह कहना सत्यका अपमान करना है कि 'हिंदू' शब्द मुसलमानोंका दिया हुआ है। वस्तुतः यह 'सिन्धु' शब्दसे निकला है, जिसका ऋग्वेदमें कितनी ही बार उल्लेख है। इस सिन्धु नदकी ऋग्वेदमें बड़ी ही प्रशंसा लिखी है। इसे आर्यलोग परम पवित्र मानते थे। सिन्धुके तटपर ही ऋषियोंने अनेक वैदिक मन्त्रोंका तपःपूत अन्तःकरणमें आविष्कार किया था। इस तरह 'सिन्धु' वैदिक प्रयोग है और उसके तद्भव 'हिंदु' शब्दमें वैदिक संस्कृति भरी हुई है।

यूनानी भाषामें 'ह' का लोप हो जानेके कारण यूनान या ग्रीसमें 'इन्द' और 'इन्दु' शब्द प्रचलित हुए। अंग्रेज आदि यूरोपियनोंने 'द' का 'ड' बना दिया और हिंदूकी जगह 'इंड', 'इंडो' और 'इंडिया' बना डाला। अंग्रेजोंको 'हिंदु' लिखना भी पड़े, तो वे 'हिंडू' ही लिखेंगे, हिंदू नहीं। उनकी भाषामें 'द' की जगह 'ड' ही है। 'इंड' शब्दसे ही उन्होंने 'इंडीज़', 'ईस्ट इंडीज़', 'वेस्ट इंडीज़', 'इंडियन', 'इंडियन ओशन' आदि शब्दोंको रच डाला। केवल एक 'सिन्धु' या 'हिंदू' शब्दकी विदेशियोंने इतनी दुर्गति कर डाली है। हम पसंद करें या न करें, परंतु अंग्रेज हमें 'इंडियन' ही कहेंगे। आर्यसंस्कृतिसे शून्य विदेशियोंतकको वे भ्रान्तिके कारण 'रेड इंडियन' कहते हैं। परंतु वे पसंद करें या न करें, हम भी तो उन्हें 'फिरंगी' और 'अंग्रेज' ही कहते हैं—'इंगलिशमैन' नहीं। जर्मनीवाले अपनेको 'डोइट्श' और अपने देशको 'डोइट्शलैंड' कहते हैं; परंतु इन्हें हम जर्मन और उनके देशको जर्मनी कहते हैं, चाहे वे पसंद करें या न करें। फ्रांसवाले तो और भी गजब करते हैं—वे इंडियनको

माखन-लीला

बसोली (पहाड़ी) चित्रशैली १८ वीं शती

भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

दानलीला

राजस्थानी चित्रशैली १८ वीं शती]
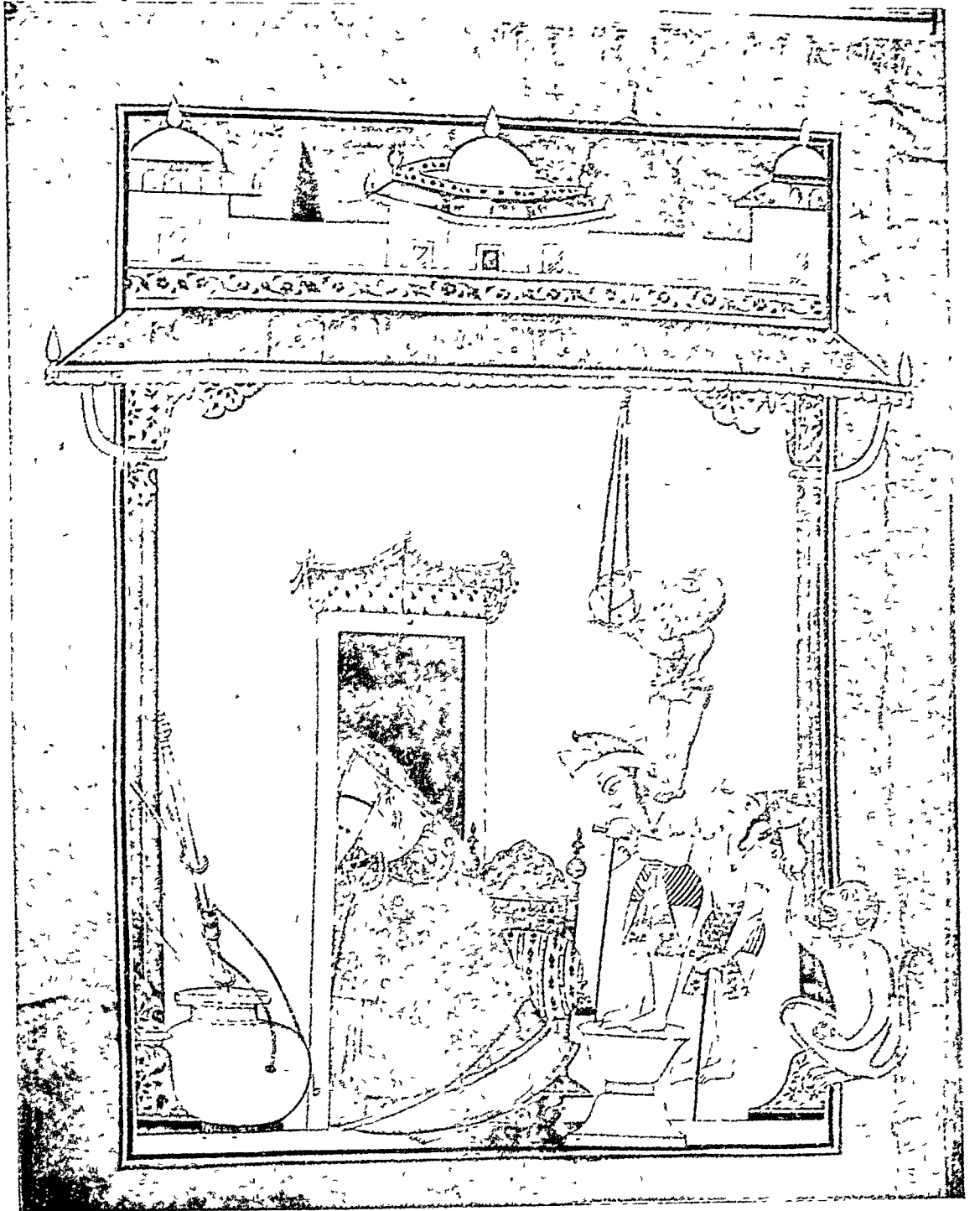
[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

'इंजये' कहते हैं। इतना लिखनेका तात्पर्य यह है कि उच्चारण-दोषसे और देश, काल, पात्रकी विभिन्नताके कारण एक शब्दके कई रूप हो जाते हैं। परंतु मूल शब्दमें ही सारे शब्दोंका इतिहास और संस्कृति रहती है। फलतः मूल 'सिन्धु' या 'हिंदू' शब्द वैदिक है, परम पवित्र है और हमारी समूची संस्कृतिसे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

'हिंदू' शब्दके 'काला' 'चोर' आदि अर्थ द्वेषवश किये जाते हैं। जो विधर्मी हिंदूसे डाह और जलन रखता है, वह तो ऐसे ऊटपटॉग अर्थ करेगा ही। हिंदू सुरके पूजक हैं और पारसी असुरके। दोनोंमें विरोध भाव ज्यादा बढ़ गया, तब पारसी 'हिंदू' शब्दके अर्थका अनर्थ करने लगे। हिंदू-मुसल्मानोंमे शत्रुता बढ़ गयी, तब मुसल्मान इसका अर्थ 'नास्तिक', 'काफिर' आदि करने लगे। परंतु 'हिंदू' शब्द न तो पारसीका है न अरबीका; इसलिये 'हिंदू' शब्दके झूठे अर्थ समाजमे कभी गृहीत नही हुए। खुद मक्का और मदीनावाले भारतके मुसल्मानोको 'हिंदू' और 'हिंदी' कहते हैं तो क्या अपने किये अर्थके अनुसार मुसल्मान 'नास्तिक' और 'काफिर' हैं ? इसलिये यह कहना सरासर असत्य है कि 'यह शब्द मुसल्मानोका दिया हुआ है और इसके अर्थ बुरे हैं।' संस्कृत-में 'असुर' शब्दका अर्थ तो अच्छा नहीं है, तो क्या पारसी 'अहुरमज्द' को छोड़ देंगे ?

जो लोग यह कहते हैं 'नाममे क्या रक्खा है ?' उनके सामने नीबूका नाम लीजिये, नीबूके नामका कीर्तन कीजिये, तो उनकी जीभपर पानी जरूर आ जायगा। क्या महाराणा प्रतापका नाम लेनेपर गर्वसे छाती नही फूल उठती ? तब फिर नामका मोह क्यो नही किया जाय ?

नाम वस्तुतः ध्वनिरूप आकार है। अपनी सारी अभिलाषाओंको मनुष्य नामरूपी एक शब्दमें प्रकट कर देता है। नाममे इतने संस्कार, भावनाएँ और स्मृतियाँ मिली रहती हैं कि नाम और वस्तु एक ही हो रहते है। इसीसे श्रीचैतन्य महाप्रभु नाम और नामीमे एकता समझते थे। उन्होने लिखा है—'अभिन्नत्वान्नामनामिनोः।' अर्थात् नाम और नामवाला एक हैं। इसलिये नामको नामवालेसे हटाया नही जा सकता। शरीरका अङ्ग न होते हुए भी बहुत बार शरीर ही नहीं, शरीरसे भी अधिक महत्त्व नामका हो जाता है। शरीर तो विनष्ट हो जाता है, परंतु नाम कभी विनष्ट नही होता। शङ्कराचार्यका शरीर नही है; परंतु उनका नाम करोड़ो मनुष्योंके लिये जादूका काम करता है। यह कहना बिल्कुल वाहियात है कि 'नाममे क्या रक्खा है ?' प्रत्युत यह कहना अधिक उपयुक्त है कि 'नाममे ही सब कुछ है।'

आज हजारो वर्षोसे 'हिंदू' नाममे इतना विशद इतिहास, इतनी सम्पन्न संस्कृति, इतने उदात्त आदर्श, इतनी रहस्यमयी भावनाएँ, इतने समर्थ जीवन और इतने स्वस्थ तेज घुले-मिले हैं कि यह शब्द प्राणोंसे भी प्यारा हो गया है। यह शब्द हमारे अगणित सत्कार्योका दर्पण हो गया है। इस नामके लिये असंख्य योगी, यति, कवि, दार्शनिक, जन-नायक और महापराक्रमी अपनी जानतक दे चुके हैं। यह नाम इतिहासका महाकोष बन चुका है। ये ही कारण हैं कि 'हिंदू' नाममे हमारा इतना मोह और इतनी ममता है।

यद्यपि यह निर्विवाद है कि आर्यलोग सदासे यहींके निवासी हैं, तथापि विदेशी विद्वान् और उनके शिष्य भारतीय विद्वान् इस देशमे आर्योका आदि निवास नही मानते। वे कहते हैं कि 'आर्यलोग एशिया माइनर, स्कांडेनेविया या तिब्बतसे आये हैं।' यदि यह बात मान ली जाय, तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि विदेशीलोग यहॉके आदि निवासियों—द्रविड़, आदि द्रविड़, कोल, भील, नागा, सन्थाल आदि—को हिंदू कहते थे। मूल नाम हिंदू ही था, जैसा कि ऊपरकी पंक्तियोसे प्रमाणीकृत है। संस्कृतमे 'ह' के स्थानपर 'स' और 'ध'के स्थानपर 'द' करके वे 'हिंदू' की जगह 'सिन्धु' कहने लगे। नामोके परिमार्जनका अभ्यास आर्योंको था ही। वे अलेक्जेड्रियाको 'अलसन्दा' और सेल्यूकसको 'सुलूव' कहते थे। यदि यह बात सच हो तो मानना पड़ेगा कि इस देशके लिये 'आर्य' नामसे भी प्राचीन नाम 'हिंदू' है। जिस समय भारतवर्षका कोई इतिहास नहीं था, उसी समयका—प्रागैतिहासिक कालका 'हिंदू' नाम है। इसका प्राञ्जल रूप अपनी प्रिय नदीके नामपर सिन्धु रक्खा गया अवश्य।' परंतु जनसाधारणमे 'हिंदू' शब्द ही प्रचलित रहा और आर्य भी हिंदू कहलाने लगे। पीछे चलकर 'हिंदू' शब्द इतना व्यापक हो गया कि संस्कृतकी पुस्तकोमे भी इसका प्रयोग धड़ल्लेसे होने लगा। इन दिनो तो यह शब्द समूची वसुन्धरामे व्याप्त हो गया है और हमारे ही साथ यहॉके सभी विभिन्न धर्मवालोको भी संसार हिंदू ही कहता है। सातवी शताब्दीमें अनेक गिरि-कन्दराओको लॉघकर चीनी यात्री ह्वेनत्सांग यहाँ आया था और कई साल भारतमे रहा; परंतु उसने भी हमे 'हिंतू' ही लिखा है। द्राविडवी प्रयोग केवल कुछ पारसी करते थे। वे अफगा-निस्तानको 'श्वेत भारत' कहते थे। बस, 'सिन्धु' वा 'हिंदू'

शब्द प्रोज्ज्वल वैदिक स्मृतियोंको जगानेवाला है, इसलिये यही नाम हमे सबसे अधिक उपयुक्त जॅचा। 'सिंधुस्थान' वा हिंदुस्थानको 'उत्तम राष्ट्र' माना गया—

सिन्धुस्थानमिति ज्ञेयं राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम्।
(भविष्यपुराण प्र० प० २)

'सिन्धु' शब्दके दो अर्थ हैं—नदी और समुद्र। इस देशके पश्चिममे सिन्धु (नदी) है ही। उत्तरमें भी हिमालय-के अन्तर्गत सिन्धु ही सीमाका निश्चय करती है। पूर्वमें हिमालयसे ब्रह्मपुत्र निकली है। कुछ लोग इसे सिन्धुकी सहोदरा और कुछ लोग इसको सिन्धुकी ही पूर्वी धारा मानते हैं। इस तरह पूर्वमें भी सिन्धु हुई। दक्षिणमें तो सिन्धु या हिंद-महासागर विस्तृत ही है। इस तरह भगवान्‌ने ही हमारे देशको पूर्णतः सिन्धुस्थान या हिंदुस्थान बना रक्खा है। हमारे देशके लिये इससे बढ़कर दूसरा उपयुक्त शब्द होगा भी नहीं।

ऋग्वेद (९।३३।६ और १०।४७।२) में चार समुद्रोका उल्लेख है। इन समुद्रोंमे हमारे पूर्वज जहाजों और नावोंके द्वारा यात्रा करते थे और विविध देशोंमे व्यापार करके धन और ऐश्वर्यसे अपने देशको सम्पन्न करते थे। (१।४८।३; १।५६।२; १।११६।३; ४।५५।६;५।८५।६; ७।८८।३) भूगर्भशास्त्री कहते हैं कि बल्ख और फारसके उत्तरी भागमें और तुर्किस्तानके पश्चिमी प्रान्तमे एक विस्तृत समुद्र था, जो प्राकृतिक कारणोंसे सूखकर कृष्णह्रद (Black Sea), काश्यपह्रद (Caspean Sea), आरल्ह्रद (Sea of Aral) और बल्काशह्रद (Lake Balkash) के रूपोंमे परिणत हो गया है। किसी समय पञ्चनद (पंजाब) के दक्षिण, पश्चिम और पूर्वमे समुद्र विद्यमान था। श्रीएच. जी. वेल्सने अपने 'Outline of History' ग्रन्थमें लिखा है कि 'ऐसे समुद्रोका अस्तित्व आजसे पचीस हजार वर्षसे लेकर पचास हजार वर्षके भीतर हो सकता है।' इस तरह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमारे देशके चारो तरफ चार समुद्र थे। सप्त सिन्धु, काश्मीर, गान्धार (अफगानिस्तान), विलोचिस्तानके उत्तर बल्ख और तुर्किस्तानके पश्चिम आदिमें हमारे पूर्वज रहते थे। कदाचित् इसी कारण उन्होने अपने देशका नाम 'सिन्धुस्थान' या हिंदुस्थान रक्खा था। इस प्रकार कम-से-कम पचीस हजार वर्षोंसे इस दिव्य देशका नाम हिंदुस्थान है। उस समय सुमेर, अक्कद, चाल्डियन, बेबीलोनियन, ग्रीक, रोमन, चीनी और इजिप्शियन आदि संसारकी प्राचीनतम जातियोंका अस्तित्व भी नहीं था।

खेदकी बात है कि देशके कुछ लोगोंने अभीतक हिंदू और हिंदुस्थानके पूर्ण महत्त्वको नहीं समझा है। परंतु वह दिन दूर नहीं, जब हम ही इन पावन शब्दोंके आगे सिर नहीं झुकायेंगे, सारा विश्व सिर झुकायेगा और हिंदुत्वके महाव्यापक स्वरूपके अमर गीत गायेगा।

इसी हिंदुस्थानके प्रत्येक ग्राममें देवपुरुषोंका वास था, प्रत्येक प्रान्तमें यज्ञ होता था, घर-घरमें खजाना भरा रहता था और हर एक मनुष्यमें धर्मका निवास था—

ग्रामे ग्रामे स्थितो देवो देशे देशे स्थितो मखः।
गेहे गेहे स्थितं द्रव्यं धर्मश्चैव जने जने॥
(भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व)

उस समय एक ही संस्कृति थी, एक-सी प्रथाएँ थीं, एक राष्ट्र-भाषा संस्कृत थी और सम्पूर्ण राष्ट्रके जीवनमें अद्भुत आनन्द था। पशु-पक्षीतक स्वतन्त्र विचरा करते थे।

ये ही सब कारण हैं कि 'हिंदू' और 'हिंदुस्थान' शब्दोंका महत्त्व अनेक विदेशी भी समझते थे। यहूदी शूरवीरको हिंदू कहते थे। अरबी ग्रन्थ 'सोहब मो अलक' में लिखा है—'भाई-बन्धुओंका अत्याचार हिंदू-तलवारसे भी अधिक घातक होता है।' अरबीमें एक कहावत है—'हिंदू-जवाब देना', जिसका मतलब है 'शत्रुपर कड़ी चोट करना।' हिंदू-तलवार और शूरताकी ऐसी ही धाक थी। बेबीलोनियामें बढ़िया बागको 'सिन्धु' कहते थे। यह इसलिये कि हिंदू ही बागोंके पौधे देते थे। वहाँकी भाषामें 'हिंदू' का अर्थ इस देशका निवासी है। कोई बुरा अर्थ नहीं है।

हिंदीकी प्राचीनतम कविता चंदबरदाईके पिता 'वेन' की जो पायी जाती है, वह बारहवीं सदीकी है। अजमेरके राजा पृथ्वीराजके पिताको लक्ष्य करके यह काव्य लिखा गया है। इसमे हिंदु, हिंदुवान और हिंदका कई बार नाम आया है, जिससे विदित होता है कि ये शब्द उन दिनों अत्यन्त आदरणीय और पूजनीय थे। उन दिनों मुसल्मान पहले-पहल आये हुए थे। वे राजपूतोंके पक्के शत्रु थे। यह कैसे सम्भव था कि अपने शत्रुओंके रक्खे घृणित नामको राजपूत तुरंत अपना लेते और उसे पूजनीय मान लेते? चन्दबरदाईने तो अपने 'पृथ्वीराजरासो' मे अगणित बार 'हिंदु' शब्दका प्रयोग बड़े गर्व और गौरवके साथ किया है। 'रासो' में 'भारत' शब्दका व्यवहार तो कई बार किया गया है, परंतु

भारतका कहीं भी हिंदुस्थान अर्थ नहीं है। 'महाभारत' ग्रन्थ है। समर्थ रामदासने भी अपने काव्योंमें राष्ट्रिय भावनासे भरे 'हिंदू' और 'हिंदुस्थान' शब्दोंका उल्लेख किया है। महाकवि भूषणने छत्रपति शिवाजी और बुंदेल-राज छत्रसालके सम्बन्धमें कविताएँ बनायी थीं, उनमें हिंदू और हिंदुस्थानकी बार-बार प्रशंसा की है। गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह तो 'हिंदुत्व' के लिये ही जिये और मरे। हिंदू-धर्म और हिंदू-राज्यके लिये पेशवा वीर महाकालका विकराल रूप धारण करके मुसल्मानोंसे लड़े थे। सुजानसिंह, जयसिंह, राणा बप्पा, राणा साँगा, राणा प्रताप आदि वीर-व्याघ्रोंने हिंदुत्वकी रक्षाके लिये मद-मत्त शत्रुओंको रौंद डाला था।

हिंदूपनको हिंदुत्व कहा जाता है। हिंदूपनके भीतर हिंदूधर्म, हिंदू-मर्यादा, हिंदू-संस्कृति, हिंदू-सभ्यता, हिंदू-परम्परा, हिंदूकला आदि-आदि सब आ जाते हैं। हिंदुत्वका स्वरूप इतना व्यापक है कि इसकी रक्षाके लिये वे भी प्राण देनेको तैयार हैं, जो हिंदुत्वकी दो-ही-एक बातें मानते हैं। दक्षिणके 'अनार्य' कहानेवाले अब्राह्मण (आदि द्रविड़) भी अपनेको हिंदू कहनेमें गर्वका अनुभव करते हैं। आर्यसमाजी, सिक्ख, जैन, बौद्ध आदि सब हिंदूमहासभामें सम्मिलित हैं। यहाँके नास्तिक भी अपनेको हिंदू कहते हैं। गोआके प्रायः सभी ईसाई हिंदू-देव-देवियोंकी अबतक पूजा करते हैं। कितने ही मुसल्मान भी हिंदू-त्योहार मनाते और देव-स्थानोंमें मुण्डन-संस्कारतक कराते हैं। जिनपर हिंदुत्वकी धाक जम गयी है, वे मुसल्मान गोमांसके पासतक नहीं जाते। महापतित भी अपनेको छाती फुलाकर हिंदू बताता है। औघड़से लेकर परम वैष्णवतक हिंदुत्वाभिमानी है। सूअरकी हड्डीसे गोंठकर मुसल्मानकी बनायी हुई रोटीको लेकर 'अमृत छकनेवाले' गुरु गोविंदसिंह भी हिंदू हैं और स्वयंपाकी गुरुजी भी हिंदू हैं। वर्णाश्रमी भी हिंदू हैं और वर्णाश्रमके द्रोही भी हिंदू हैं। ईश्वर-द्रोही बौद्ध भी हिंदू हैं, वेदद्रोही जैन भी हिंदू हैं और मूर्तिपूजाद्रोही आर्यसमाजी भी हिंदू हैं। चाण्डाल और चमार भी हिंदुत्वके लिये जान देते हैं और कोल, भील भी हिंदुत्वकी रक्षाके लिये कट मरते हैं। कन्धार और काबुलसे आकर गङ्गा-स्नान करनेवाले भी हिंदुत्वके हिमायती हैं और गङ्गातटपर रहकर गङ्गाकी समालोचना करनेवाले भी हिंदू हैं। हिंदुत्वने ही बौद्धधर्मको जन्म दिया है; इसलिये बौद्धधर्म माननेवाले जापानी, चीनी, तातारी, मंगोल, तिब्बती, सिंहली, वर्मी आदि भी हिंदू हैं। वर्माके भिक्षु उत्तमा हिंदूमहासभाके सभापति भी हुए थे।
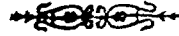
मनमें बसते

उसीके मन बसते भगवान।
काम, कोप, मद, लोभ, छोड़ जो करता सबसे प्यार।
कभी न अपने मनमें आने देता बुरे विचार॥
जिसे नित रहता सत्का ध्यान। उसीके०॥

दुखी देखकर किसी जीवको होता तुरत दयाल।
फाँस न सकता जिसे कभी भी मायाका जंजाल॥
सदा जो करता हरि-गुण-गान। उसीके०॥

रखता सदा प्रेम हरि-पदमें, जान जन्मका सार।
और समझता है प्रपंचमय यह सारा संसार॥
त्यागकर अहंकार, अभिमान। उसीके०॥

जिसको सुपथ बताते रहते सदा स्वयं भगवंत।
योग-क्षेम वहन करते नित, खिलते फूल वसंत॥
फैलती सौरभ मधुर महान। उसीके०॥

—विद्यार्थी फूलचंद

हिंदु-संस्कृति-सम्बन्धी दस विषयोंपर विचार

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

१. एक कल्प एवं सृष्टि-संवत्सर

'ॐ तत्सदद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते कुमारिकानाम-क्षेत्रे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलि-प्रथमचरणे बौद्धावतारे........;

—इत्यादि सङ्कल्पको सनातनधर्मी प्रत्येक शुभ कृत्यमें पढ़ते हैं। इसके द्वारा सृष्टिसंवत्सर सरलता तथा संक्षेपसे प्राप्त हो जाता है।

इसपर यह जानना चाहिये कि ब्रह्माजीकी अपने मानसे सौ वर्षकी आयु होती है। ब्रह्माण्डकी सृष्टिसे लेकर महा-प्रलयतक इतना समय व्यतीत होता है। ब्रह्माजीका पूर्वपरार्ध अर्थात् उनकी आयुके पचास वर्ष बीत गये हैं। द्वितीय परार्धका प्रथम कल्प (दिन) यह वर्तमान है, जिसका नाम 'श्वेतवाराहकल्प' है। अर्थात् आजकल ब्रह्माजीका ५१ वें वर्षका प्रथम दिन चल रहा है और उसकी १३ घड़ियाँ, ४२ पल, ३ विपल, ४३ प्रतिविपल बीत चुके हैं। इसपर 'श्रीमद्भागवत' पुराणका प्रमाण इस प्रकार है—

> एवं विधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः।
> अपक्षितमिवास्यापि (ब्रह्मणः) परमायुर्वयः शतम् ॥
> यदर्धमायुषस्तस्य परार्धमभिधीयते।
> पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते ॥
> (३ । ११ । ३२-३३)

> अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत।
> वाराह इति विख्यातः...... .. .. ॥
> (३ । ११ । ३६)

इसी प्रकार 'मार्कण्डेयपुराण' (४६ । ४२-४३-४४) में भी कहा है।

एक कल्पमें एक हजार चतुर्युग होते हैं; उन एक सहस्र चतुर्युगोंमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—ये चार युग हैं। चौदह मन्वन्तरोंके नाम ये हैं—१ स्वायम्भुव, २ स्वारोचिष, ३ उत्तम, ४ तामस, ५ रैवत, ६ चाक्षुष, ७ वैवस्वत, ८ सावर्णिक, ९ दक्षसावर्णिक, १० ब्रह्मसावर्णिक, ११ धर्मसावर्णिक, १२ रुद्रसावर्णिक, १३ देवसावर्णिक, १४ इन्द्रसावर्णिक। यह वर्णन श्रीमद्-भागवत पुराणके अष्टम स्कन्ध (१, ५, १३ अध्यायों) में, मनुस्मृति (१ । ६१-६२-६३) में, विष्णुपुराण (३ । २) में तथा श्रीहरिवंशपुराण (१ । ७) में देखा जा सकता है। स्वा० दयानन्दजीने भी मन्वन्तरोंके ये नाम सम्भवतः पुराणोंसे ही लेकर अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के २१ पृष्ठमें उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार 'सूर्यसिद्धान्त' भी इस विषयमें साक्षी है (देखिये उसके १ । १३, १४, १५, १६, १८, १९, २०, २१, २२, २३वें पद्य)। तदनुसार वैवस्वत मन्वन्तरके (जो आजकल चालू है) ७१ महायुगोंमें २८ सत्ययुग, २८ त्रेता, २८ द्वापर तथा २७ कलियुग बीत चुके हैं। अब अट्ठाईसवाँ कलियुग चालू है, जिसका आज-कल प्रथम चरण (चतुर्थांश) वर्तमान है; उसमें भी आज (सं० २००६) ५०५० वर्ष बीत चुके हैं।

एक मन्वन्तरमें ७१ चतुर्युग होते हैं। प्रत्येक युगमें सन्ध्या तथा सन्ध्यांश हुआ करता है। एक कल्पके वर्ष मिलानेसे ब्रह्माजीका एक दिन हुआ करता है। एक कल्पके वर्ष ४, ३२, ००, ००, ००० होते हैं। आज (सं० २००६) तक इस कल्पके १, ९७, २९, ४९, ०५० वर्ष बीत चुके हैं तथा २, ३४, ७०, ५०, ९५० वर्ष शेष हैं।

यह विषय भी श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें स्पष्ट है। इस विषयमें कुछ प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

> कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
> * दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम् ॥

---

* यहाँपर युगोंके वर्ष 'दिव्य' कहे गये हैं। देवता तथा मनुष्यों-का वर्ष-व्यवस्था भिन्न-भिन्न हुआ करती है। यथा—दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः। अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद् दक्षि-णायनम्' ॥ (मनु० १। ६७)। 'सूर्यसिद्धान्त' (१ । १३) में भी यही बात कही गयी है। यहाँपर स्पष्ट कहा है कि मनुष्योंका वर्ष देवताओं-का दिन-रात होता है। तब 'श्रीमद्भागवत' के 'दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः (३ । ११ । १८) तथा 'मनुस्मृति' के 'एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगम्' (१ । ७१)—इस पद्यमें १२,००० वर्ष देवताओंके कहे गये हैं। इनके मनुष्य-वर्ष बनानेके लिये ३६० अङ्कसे गुणा करना पड़ेगा अर्थात् १२,०००×३६०=४३,२०,०००—ये चारों युगोंके मनुष्य-वर्ष हैं। यदि उक्त बारह सहस्र वर्ष देवताओंके न मानकर मनुष्योंके माने जायँ, तब तो कलियुग समाप्त ही हो गया

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च॥
सन्ध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्ययोः।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते॥
त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम्।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक्॥
निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते।
यावद्दिनं भगवतो मनून् भुञ्जंश्चतुर्दश॥
स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम्।
(३।११।१८—२०, २२—२४)

यही बात 'मनुस्मृति' (१।६८ से ७४, ७९-८०) मे तथा 'महाभारत' के वनपर्व (१८८। २२ से २४, २६) तथा शान्तिपर्वके मोक्ष-धर्मपर्व (२३१। १६-१७, १९ से २१, २९ से ३१) में भी स्पष्ट की गयी है।

अब हम इनका विवरण लिखते हैं। 'कल्याण' के विज्ञ पाठक अवधानपूर्वक देखें—

(सं० २००६ वि०, कलियुग ५०५०, सन् १९४९-५०)

(भुक्तकल्पके वर्षोंका विवरण)

गत छः मन्वन्तरोंके वर्ष—	१, ८४, ०३, २०, ०००
इनकी सात सन्धियोंके वर्ष—	१, २०, ९६, ०००
सातवें मन्वन्तरके गत २७ चतुर्युगोंके वर्ष—	११, ६६, ४०, ०००
२८ त्रियुगीके भुक्त वर्ष—	३८, ८८, ०००
२८ वें वर्तमान कलियुगके भुक्त वर्ष	५, ०५०
भुक्त कल्पके वर्षोंका योग	१, ९७, २९, ४९, ०५०

और उसके बादका सत्ययुग भी समाप्तप्राय हो गया; क्योंकि तदनुसार कलियुगकी वर्षसंख्या १२०० बतायी गयी है और सतयुग ४८०० दिव्य वर्षोंका माना गया है। एवं महाभारत-युद्धकालसे प्रारम्भ हुए कलियुगको पाँच सहस्र वर्ष बीत चुके हैं, यह सर्वसम्मत बात है। अतएव इन दिव्य वर्षोंको मानुषवर्ष मानना कदापि युक्तिसंगत और यथार्थ नहीं है। इसलिये मन्वादि-लिखित वर्ष दिव्य (देववर्ष) ही हैं, यह जानना चाहिये। इन्हें ३६० अङ्कोंके साथ गुणा करनेसे मानुषवर्ष बनते हैं। मनुने दिव्य वर्षानुसार सत्ययुगके ४८०० वर्ष, त्रेताके ३६०० वर्ष, द्वापरके २४०० वर्ष तथा कलिके १२०० वर्ष माने हैं। इन्हें जोड़नेपर एक चतुर्युगमें देवताओंके १२,००० वर्ष होते हैं। इनको ३६० से गुणा करनेसे चतुर्युगके मनुष्यवर्ष ४३,२०,००० होते हैं। 'मासेन स्यादहोरात्रः पैत्रः, वर्षेण दैवतः' (अमर० १।४।२१), 'एकं वा एतद् देवानामहर्यत् संवत्सरः' (तै० ब्रा० ३।९।२२।१)— इन प्रमाणोंसे देवताओंका एक दिन-रात हमारा एक वर्ष होता है।

(भोग्य कल्पके वर्षोंका विवरण)

आगेके सात मन्वन्तरोंके वर्ष—	२, १४, ७०, ४०, ०००
उनकी आठ सन्धियोंके वर्ष—	१, ३८, २४, ०००
आगेके ४२ चतुर्युगोंके वर्ष—	१८, ५७, ६०, ०००
वर्तमान कलियुगके शेष वर्ष—	४, २६, ९५०
कल्पके अग्रिम वर्षोंका योग—	२, ३४, ७०, ५०, ९५०

इस हिसाबसे—

कल्पके भुक्तवर्ष—	१, ९७, २९, ४९, ०५०
,, भोग्यवर्ष—	२, ३४, ७०, ५०, ९५०
कल्प (ब्रह्माका दिन)	४, ३२, ००, ००, ०००

ये एक कल्पके वर्ष हैं।

एक कल्प ब्रह्माका एक दिन होता है। ब्रह्माके दिनके उदयके साथ ही त्रैलोक्यकी सृष्टि होती है। उसके दिनकी समाप्ति होनेपर उतनी ही रात्रि होती है। उसमें महाप्रलय होता है।

ब्रह्माका दिन—४,३२,००,००,००० } मानुषी वर्ष
,, की रात्रि—४,३२,००,००,००० }

दिन-रात्रिका योग—८,६४,००,००,०००

इतने वर्षोंसे ब्रह्माका दिन-रात होता है। इन्हीं वर्षोंको ३० अङ्कोंसे गुणा करनेपर २,५९,२०,००,००,००० वर्षोंका ब्रह्माका एक मास होता है। इन्हीं अङ्कोंको १२ से गुणा करनेपर ब्रह्माका एक वर्ष बनता है। अर्थात् ३१,१०,४०,००,००,००० वर्षोंका एक ब्राह्मवर्ष होता है। फिर इन अङ्कोंको १०० से गुणा करनेपर ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्षोंमें ब्रह्माकी सौ वर्षोंकी आयु समाप्त होती है। इस ब्रह्माकी आयुमेंसे आजतक १५,५५,२१,९७,२९,४९,०५० वर्ष बीत चुके हैं।

अब चारों युगोंके दिव्य तथा मानुष वर्ष एवं उसके सन्ध्या और सन्ध्यांश भी दिखलाये जाते हैं—

चारों युगोंके दिव्य वर्ष

युगोंके नाम	सन्ध्या		नियतकाल		सन्ध्यांश		सर्वयोग
१—सत्ययुग	४००	+	४०००	+	४००	=	४८००
२—त्रे[illegible]	३००	+	३०००	+	३००	=	३६००
३—[illegible]	२००	+	२०००	+	२००	=	[illegible]
[illegible]	१००	+	१०००	+	१००	[illegible]	[illegible]
योग							

चारों युगोंके मानुष-वर्ष

युगनाम	सन्ध्या	नियतकाल	सन्ध्यांश	सर्वयोग
१-सत्ययुग	१४४०००+	१४४००००+	१४४०००=	१७२८०००
२-त्रेतायुग	१०८०००+	१०८००००+	१०८०००=	१२९६०००
३-द्वापरयुग	७२०००+	७२००००+	७२०००=	८६४०००
४-कलियुग	३६०००+	३६००००+	३६०००=	४३२०००
चार युगोंके वर्षोंका योग				४३,२०,०००

संक्षेपसे यह जानना चाहिये कि कलियुगके ४,३२,००० मानुषवर्ष होते हैं। उससे दुगुना द्वापर है। कलिसे तिगुना त्रेतायुग है और चौगुना सत्ययुग होता है। इस प्रकार चतुर्युगके ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। इस प्रकारके ७१ चतुर्युगोंका एक मन्वन्तर होता है। इस मन्वन्तरके ३०,६७,२०,००० मनुष्य-वर्ष होते हैं। एक कल्पमें १४ मन्वन्तर होते हैं, उनके वर्ष ४,२९,४०,८०,००० होते हैं। एक कल्पमें 'सूर्यसिद्धान्त' (१। १९ पद्य) के अनुसार १५ सन्धियाँ होती हैं। उनमें एकका परिमाण सत्ययुगके बराबर (१७,२८,००० वर्ष) होता है। इस प्रकार सब सन्धियोंके वर्ष २,५९,२०,००० होते हैं। स्वामी दयानन्दजीने भी अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में 'आर्यसृष्टिसंवत्सर' दिखलाते हुए प्रायः ऐसा ही माना है। पर वे मन्वन्तरोंकी वर्षसंख्यामें सन्धियोंके वर्ष मिलाने भूल गये हैं, जिससे उनकी गणनामें थोड़ी भूल रह गयी है। उनकी पुस्तकोंके बाहर आर्यसृष्टि-संवत्सर हमारे ही हिसाबसे लिखा हुआ रहता है। १४ मन्वन्तरोंके ४,२९,४०,८०,००० वर्षोंमें उनके सन्धि-वर्ष २,५९,२०,००० मिला देनेपर कल्प (ब्रह्माके दिन) के वर्षोंकी संख्या मनुष्यवर्षानुसार ४,३२,००,००,००० हो जाती है। इस प्रसङ्गमें पूर्व जो सङ्कल्प लिख चुके हैं, स्वा० दयानन्दजीने भी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के २२ वें पृष्ठमें उसे भी प्रमाणित किया है।

पहले पाश्चात्य लोग सृष्टिको केवल पाँच हजार वर्ष पुरानी मानते थे। आर्कविशप उशरका मत है कि सृष्टि आजसे ४००४ वर्ष पूर्व हुई थी। अन्य ईसाईलोग सृष्टिका प्रारम्भ ६९८४ वर्ष पूर्व मानते थे। परंतु कई अत्यन्त प्राचीन अस्थि-खण्डोंको देखकर उन लोगोंकी धारणा परिवर्तित हो गयी, और वे धीरे-धीरे हमारे सिद्धान्तकी ओर आने लगे। कई पाश्चात्य ग्रह-नक्षत्रोंकी उष्णताका परिमाण जानकर जगत्की उत्पत्ति चालीस लाख वर्षोंसे मानने लगे। इधर भूगर्भ-विशारदोंने पृथ्वीकी आयु दस करोड़ आँकी। प्रो० जोलीने समुद्र-जलका खारीपन देखकर उससे निर्णय किया कि संसारमें समुद्र दस करोड़ वर्षोंसे बह रहा है।

प्रो० एस्. न्यू. कोम्ब सृष्टिको एक करोड़ वर्षोंसे मानते हैं (पापुलर ऐस्ट्रॉनमी, पृष्ठ ५०९), प्रो० हिल्मार २ करोड़ वर्षोंसे सृष्ट्यारम्भ मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, भाग २, पृ० ६९४)। प्रो० काल महाशय ७ करोड़ वर्ष पूर्व मानते हैं (क्लाइमेट इन टाइम, पृ० ३३५)। चीननिवासी वैज्ञानिक सृष्टिको ९,६०,०२,४२३ वर्षोंसे मानते हैं। सर विलियम टामसन १० करोड़ वर्ष पूर्व मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, भाग २, पृष्ठ ६९४)। प्रसिद्ध अस्थितत्त्ववेत्ता डाक्टर विलियम तथा डाक्टर स्मिथ एडवर्ड आदि पृथ्वीकी उष्णताकी परीक्षा करके उसकी आयु दस करोड़ वर्षकी मानते हैं। यूरेनियम, हीलियम, पोलोनियम आदि धातुओंके परीक्षक वैज्ञानिक २४ करोड़ वर्षोंसे ३० करोड़ वर्ष मानते हैं। प्रो० निगचाफ ३५ करोड़ वर्षोंसे सृष्टिनिर्माण मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, पृष्ठ ६९४)। प्रो० रेड सृष्टिकी आयु ५० करोड़ वर्ष मानते हैं। प्रो० इकसल १ अरब वर्षोंसे सृष्टि मानते हैं (वर्ल्ड लाइफ, पृ० १८७)। कोई और एक अरब ६० करोड़ वर्षोंसे मानते हैं।

ये वैज्ञानिक अभी अभ्यासशील विद्यार्थी हैं, समय-समयपर इनके मत बदलते रहते हैं। अन्ततः ये पौरस्त्य मतमें आकर विश्राम लेते हैं। अतः हमें विश्वास है कि ये लोग १ अरब, ९७ करोड़, २९ लाख, ४९ हजार ५० वर्ष सृष्टिको प्रारम्भ हुए मान लेंगे। हम कल्पका निरूपण कर चुके। यह श्वेतवाराह कल्प है। इस प्रकार न मालूम कितने कल्प तथा कितने ब्रह्मा हो चुके। ब्रह्माके एक सहस्र युगोंसे विष्णुकी एक घड़ी होती है। विष्णुकी १२ लाख घड़ियोंसे रुद्रकी आधी घड़ी होती है। इस गणनासे रुद्रकी आयु २, २३, ९४, ८८, ०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० ००० वर्षोंकी होती है। रुद्रकी आयुमें अनेक विष्णु होते तथा अन्तर्धान हो जाते हैं। 'बृहत्पराशरस्मृति' में भी ऐसा सङ्केत मिलता है—

> तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिति स्मृतम्।
> मन्वन्तरद्वयेनेह शक्रपातः प्रकीर्तितः॥
> एतन्मानेन वर्षाणां शतं ब्रह्मक्षयः स्मृतः।
> ब्रह्मक्षयशतेनापि विष्णोरेकमहर्भवेत्॥

चारों युगोंके मानुष-वर्ष

युगनाम	सन्ध्या	नियतकाल	सन्ध्यांश	सर्वयोग
१-सत्ययुग	१४४०००	+१४४००००	+१४४०००	=१७२८०००
२-त्रेतायुग	१०८०००	+१०८००००	+१०८०००	=१२९६०००
३-द्वापरयुग	७२०००	+ ७२००००	+ ७२०००	= ८६४०००
४-कलियुग	३६०००	+ ३६००००	+ ३६०००	= ४३२०००

चार युगोंके वर्षोंका योग ४३,२०,०००

संक्षेपसे यह जानना चाहिये कि कलियुगके ४,३२,००० मानुषवर्ष होते हैं। उससे दुगुना द्वापर है। कलिसे तिगुना त्रेतायुग है और चौगुना सत्ययुग होता है। इस प्रकार चतुर्युगके ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। इस प्रकारके ७१ चतुर्युगोका एक मन्वन्तर होता है। इस मन्वन्तरके ३०,६७,२०,००० मनुष्य-वर्ष होते हैं। एक कल्पमें १४ मन्वन्तर होते हैं, उनके वर्ष ४,२९,४०,८०,००० होते हैं। एक कल्पमें 'सूर्यसिद्धान्त' (१ । १९ पद्य) के अनुसार १५ सन्धियाँ होती हैं। उनमें एकका परिमाण सत्ययुगके बराबर (१७,२८,००० वर्ष) होता है। इस प्रकार सब सन्धियोंके वर्ष २,५९,२०,००० होते हैं। स्वामी दयानन्दजीने भी अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में 'आर्यसृष्टिसंवत्सर' दिखलाते हुए प्रायः ऐसा ही माना है। पर वे मन्वन्तरोंकी वर्षसंख्यामें सन्धियोंके वर्ष मिलाने भूल गये हैं, जिससे उनकी गणनामें थोड़ी भूल रह गयी है। उनकी पुस्तकोंके बाहर आर्यसृष्टि-संवत्सर हमारे ही हिसाबसे लिखा हुआ रहता है। १४ मन्वन्तरोंके ४,२९,४०,८०,००० वर्षोंमें उनके सन्धि-वर्ष २,५९,२०,००० मिला देनेपर कल्प (ब्रह्माके दिन) के वर्षोंकी संख्या मनुष्यवर्षानुसार ४,३२,००,००,००० हो जाती है। इस प्रसङ्गमें पूर्व जो सङ्कल्प लिख चुके हैं, स्वा० दयानन्दजीने भी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के २२ वें पृष्ठमें उसे भी प्रमाणित किया है।

पहले पाश्चात्य लोग सृष्टिको केवल पाँच हजार वर्ष पुरानी मानते थे। आर्कविशप उशरका मत है कि सृष्टि आजसे ४००४ वर्ष पूर्व हुई थी। अन्य ईसाईलोग सृष्टिका प्रारम्भ ६९८४ वर्ष पूर्व मानते थे। परंतु कई अत्यन्त प्राचीन अस्थि-खण्डोंको देखकर उन लोगोंकी धारणा परिवर्तित हो गयी; और वे धीरे-धीरे हमारे सिद्धान्तकी ओर आने लगे। कई पाश्चात्य ग्रह-नक्षत्रोंकी उष्णताका परिमाण जानकर जगत्की उत्पत्ति चालीस लाख वर्षोंसे मानने लगे। इधर भूगर्भ-विशारदोंने पृथ्वीकी आयु दस करोड़ आँकी। प्रो० जोलीने समुद्र-जलका खारीपन देखकर उससे निर्णय किया कि संसारमें समुद्र दस करोड़ वर्षोंसे बह रहा है।

प्रो० एम्. न्यू. कोम्ब सृष्टिको एक करोड़ वर्षोंसे मानते हैं (पापुलर ऐस्ट्रॉनमी, पृष्ठ ५०९), प्रो० हिल्मार २ करोड़ वर्षोंसे सृष्ट्यारम्भ मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, भाग २; पृ० ६९४)। प्रो० गाल्ड महाशय ९ करोड़ वर्ष पूर्व मानते हैं (क्लाइमेट इन टाइम्स, पृ० ३३५)। चीननिवासी वैज्ञानिक सृष्टिको ९,६०,०२,४२३ वर्षोंसे मानते हैं। सर विलियम टामसन १० करोड़ वर्ष पूर्व मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, भाग २; पृष्ठ ६९४)। प्रसिद्ध अस्थितत्त्ववेत्ता डाक्टर विलियम तथा डाक्टर स्मिथ एडवर्ड आदि पृथ्वीकी उष्णताकी परीक्षा करके उसकी आयु दस करोड़ वर्षकी मानते हैं। यूरेनियम, हीलियम, पोलोनियम आदि धातुओंके परीक्षक वैज्ञानिक २४ करोड़ वर्षोंसे ३० करोड़ वर्ष मानते हैं। प्रो० निगचाफ ३५ करोड़ वर्षोंसे सृष्टिनिर्माण मानते हैं (सीक्रेट डॉक्ट्रिन, पृष्ठ ६९४)। प्रो० रेड सृष्टिकी आयु ५० करोड़ वर्ष मानते हैं। प्रो० इकसल १ अरब वर्षोंसे सृष्टि मानते हैं (वर्ल्ड लाइफ, पृ० १८७)। कोई और एक अरब ६० करोड़ वर्षोंसे मानते हैं।

ये वैज्ञानिक अभी अभ्यासशील विद्यार्थी हैं, समय-समयपर इनके मत बदलते रहते हैं। अन्ततः ये पौरस्त्य मतमें आकर विश्राम लेते हैं। अतः हमें विश्वास है कि ये लोग १ अरब, ९७ करोड़, २९ लाख, ४९ हजार ५० वर्ष सृष्टिको प्रारम्भ हुए मान लेंगे। हम कल्पका निरूपण कर चुके। यह श्वेतवाराह कल्प है। इस प्रकार न मालूम कितने कल्प तथा कितने ब्रह्मा हो चुके। ब्रह्माके एक सहस्र युगोंसे विष्णुकी एक घड़ी होती है। विष्णुकी १२ लाख घड़ियोंसे रुद्रकी आधी घडी होती है। इस गणनासे रुद्रकी आयु २, २३, ९४, ८८, ०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० ००० वर्षोंकी होती है। रुद्रकी आयुमें अनेक विष्णु होते तथा अन्तर्धान हो जाते हैं। 'बृहत्पराशरस्मृति' में भी ऐसा सङ्केत मिलता है—

तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिति स्मृतम्।
मन्वन्तरद्वयेनेह शक्रपातः प्रकीर्तितः॥
एतन्मानेन वर्षाणां शतं ब्रह्मक्षयः स्मृतः।
ब्रह्मक्षयशतेनापि विष्णोरेकमहर्भवेत्॥

एतद्दिवसमानेन शतवर्षेण तत्क्षयः ।
एतत्क्षयस्त्रिगुणोऽष्टाभी रुद्रस्य त्रुटिरुच्यते ॥
एवमाब्दिकमानेन प्रयातेऽब्दशते द्विजाः ।
रुद्रश्चात्मनि लीयेत निरालम्बे निरामये ॥

(१२ । १८८—१९१)

इस प्रकार हिंदु-संस्कृति अनादि अथवा प्राचीनतम सिद्ध हुई । अन्य स्थानोमे इसीके एक देशको आधार बनाकर कई संस्कृतियाँ उत्पन्न हुईं, कई नष्ट हो गयीं । अतः हिंदु-संस्कृति ही अन्य संस्कृतियोंकी आदि जननी है । शेष किसी भी संस्कृतिमे इतना काल-परिमाण नही मिलता । अतः वे संस्कृतियाँ आदिमती हैं, हिंदु-संस्कृतिकी भाँति अनादि नही ।

२. शिखा तथा यज्ञोपवीतका वैज्ञानिक रहस्य

(क) शिखा

शिखा-यज्ञोपवीत आदि हिंदु-संस्कृतिके उपयोगी बाह्यचिह्न यों तो शास्त्रमूलक एवं अदृष्टमूलक हैं, अतः उनके लिये दृष्ट प्रयोजनोकी आवश्यकता नही; तथापि आजकलका समय दृष्ट, बाह्य प्रयोजनोको भी पूछा करता है; तत्पूर्त्यर्थ निम्न पंक्तियाँ हैं—

पहले इसमें वैदिक प्रमाण भी जान लेने चाहिये । मनुजीने कहा है—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥

(२ । ३५)

यहाँपर वेदके कहनेसे शिखाका रखना कहा गया है । वेदके दो भाग हैं—मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग । इसमे मन्त्रभागका प्रमाण यह है—

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ।

(शुक्लयजुः वा० स० १७ । ४८)

'विशिखाः'का भाव है—'गोखुरके परिमाणकी शिखावाले । दूसरा मन्त्र यह है—

आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम
मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम ।
केशा न शीर्षन् यशसे श्रियै शिखा
सिंहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि ।

(यजुः वा० सं० १९ । ९२)

यहाँपर 'श्री' के लिये शिखा धारण करना कहा है; यहाँपर शिखाके बालोको सिंहके लोमसे उपमा दी गयी है ।

अब ब्राह्मणभागका प्रमाण देखिये—

अथापि ब्राह्मणम्—रिक्तो वा एषोऽनपिहितो यन्मुण्डः; तस्य एतद् अपिधानं यत् शिखा ।

(आपस्तम्बधर्मसूत्र १ । १० । ८)

यहाँपर शिखारहितको शून्य अर्थात् श्रीहीन कहा है । अन्य प्रमाण भी इस विषयमे बहुत हैं; पर स्थान नही । अब इसका रहस्य समझना चाहिये । यजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के शिक्षाध्याय नामक प्रथम वल्लीके छठे अनुवाककी प्रथम कण्डिकामे कहा है—

अन्तरेण तालुके । य एष स्तन इवावलम्बते । सेन्द्रयोनिः । यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले ।

अर्थात् तालुके मध्यमे स्तनकी तरह जो केशराजि दीखती है, यहाँ केशोका मूल है । वहाँ सिरके कपालका भेदन करके 'इन्द्रयोनि'—इन्द्र अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग सुषुम्णा नाड़ी है ।

योगीलोग सुषुम्णा नाड़ीको प्रबुद्ध करके उससे आत्मसाक्षात्कार करते हैं । यह नाड़ी अपने मूलस्थानसे होती हुई ललाटके मध्यमे विचरती है । योगीलोग जिसे सुषुम्णाका मूलस्थान कहते हैं, वैद्यलोग उसे 'मस्तुलिङ्ग' कहते हैं । 'मस्तुलिङ्ग' के साथवाले अग्रभागको योगविद्यानिष्णात 'ब्रह्मरन्ध्र' कहते हैं; वैद्य उसे 'मस्तिष्क' कहते है ।

वैद्योंका यह अभिप्राय है कि सारे शरीरमे प्रधान अङ्ग है सिर ! सब शरीरमे व्याप्त नाड़ियोका सिरसे सम्बन्ध है । मनुष्य-जीवनका केन्द्र भी सिर ही है । सिरमे दो शक्तियाँ रहती हैं—एक ज्ञानशक्ति, दूसरी कर्मशक्ति । इन दोनों शक्तियोंकी परम्परा नाड़ियोंद्वारा सारे शरीरमे फैलती है । इसलिये शरीरमें भी ज्ञान और कर्म—ये दो विभाग है । इन दोनो विभागोका मूलस्थान वही सुषुम्णाका मूलस्थान मस्तुलिङ्ग तथा मस्तिष्क है । मस्तुलिङ्ग कर्मशक्तिका केन्द्र है और मस्तिष्क ज्ञानशक्तिका । मस्तिष्कके साथ ज्ञानेन्द्रियो—कान, नाक, आँख, जीभ, त्वचाका सम्बन्ध है और हाथ, पैर, गुदा, इन्द्रिय, वाणी—इन कर्मेन्द्रियोका मस्तुलिङ्गसे सम्बन्ध होता है । मस्तिष्क तथा मस्तुलिङ्ग जितने अधिक स्वस्थ या सामर्थ्यवान् होंगे, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियोंमें भी उतनी शक्ति बढेगी । उन दोनोंके अस्वास्थ्यसे इन इन्द्रियोंमें भी त्रुटि हो जाती है ।

प्रकृतिकी विलक्षण महिमासे दोनों ही स्थलोंकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है। मस्तिष्क ठंडक चाहता है, मस्तुलिङ्ग गर्मी। मस्तिष्ककी ठंडकके लिये क्षौर बनवाया जाता है, तैल, फुलैल, जल, वायु आदिका सेवन करना पड़ता है। शिरोवेदनामें तालुके बाल कटानेसे वेदना शान्त हो जाया करती है। अब रहा मस्तुलिङ्गका प्रश्न है कि उसमें कितनी गर्मी अपेक्षित है। गर्मीकी न्यूनाधिकतासे नाड़ियोंमें प्रकोप हो सकता है, उससे कई हानियाँ सम्भव हैं। अतः उसमें चाहिये मध्यम गर्मी। वह गर्मी कपड़े आदिसे नहीं आ सकती; क्योंकि उनके गुण भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः उनसे पूर्ण लाभ सम्भव नहीं।

यह बात भी निश्चित है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वही उसकी वास्तविक सहायक होती है। जैसे कि घड़ा मिट्टीसे बनता है; उस घड़ेके प्रत्येक अवयवकी पूर्ति भी मिट्टीसे ही हो सकती है, जल-अग्नि आदिसे नहीं। 'मस्तुलिङ्ग' भी सिरका एक भाग है; उसकी रक्षा भी सिरसे उत्पन्न पदार्थसे ही हो सकती है, टोपी-हैटसे नहीं। शिरोजात पदार्थ हैं बाल। अतः वहाँ गोखुरके परिमाणके बाल ही मध्यम गर्मी ला सकते हैं, अन्य बाल नहीं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि मस्तिष्क शैत्य चाहता है और मस्तुलिङ्ग उष्णता। तो मस्तिष्ककी शीतलताके लिये वहाँके केश थोड़े चाहिये; पर मस्तुलिङ्गकी उष्णताके लिये वहाँ घनीभूत केशोंकी आवश्यकता होती है। इस कारण मस्तुलिङ्गमें सदा ही गहरे बाल रहें, अन्य केशोंसे उनकी विशेषता या उच्चता रहे; इसलिये उसका विशेष नाम भी 'शिखा' रक्खा गया है। कर्मप्रवर्तक होनेसे उसका सम्बन्ध धर्मके साथ है। इधर सन्ध्या आदिके अवसरपर परमात्माकी कृपा शिखाद्वारा ही हमारे अंदर पहुँचती है; तभी नंगे-सिर होकर सन्ध्या करनेका नियम है। इसी कारण 'तैत्तिरीयोपनिषद्' ने इस स्थानका नाम 'इन्द्रयोनि' रक्खा है।

संन्यासमें शिखाका त्याग अपवाद है। सामान्यतया संन्यासका विधान ७५ वर्षोंके बाद होता है। तब आयुकी वृद्धि हो जानेसे शरीरकी पूर्णता हो जानेके कारण 'अधिप' मर्मस्थल (शिखास्थान) की त्वचा कठोर हो जाती है, शिखा-जन्य लाभ भी पचहत्तर वर्षतक प्राप्त होकर सारे शरीरमें व्याप्त हो जाते हैं। तब शिखा छोड़नेपर भी कोई हानि नहीं होती; तब कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्डके समाप्त हो जानेसे तत्सम्बद्ध शिखा-सूत्रका त्याग ठीक भी है।

शिखाके विषयमें कई एक विद्वान् अन्य उपपत्तियाँ भी देते हैं। सारी सृष्टिका मूल अग्नि ही है; अग्निका स्वरूप उसकी शिखासे व्यक्त होता है। अग्निको संस्कृतमें 'शिखी' कहा जाता है। अग्नि यदि शिखारहित हो तो उसमें हवन निषिद्ध माना गया है। जब वह शिखी होता है, तब किसीकी शक्ति नहीं कि उसका स्पर्श कर सके। उसके उग्र स्वरूप (शिखित्व) के नष्ट होनेपर तो भस्म भी उसे आच्छन्न कर दिया करती है। हम सब अग्निके उपासक हैं, अग्निसे ही उत्पन्न हैं। अग्निसे ही हम 'तन्वं मे पाहि' (पारस्कर० २।४) 'तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा' (शुक्लयजु० ३२।१४) आदि प्रार्थनाएँ करते हैं।

जो जिसकी उपासना करता है, अन्तमें वह उसके स्वरूप-को प्राप्त होता है। उपासक भी ऐसा चाहता है। तभी वह उपास्यके स्वरूपकी प्राप्तिके लिये उपास्यके ही चिह्न धारण करता है—जैसे शैव भस्म-रुद्राक्षमाला आदिको, वैष्णव तुलसी-माला आदिको। इसलिये शुक्लयजुर्वेदके 'शतपथब्राह्मण'में आया है—'देवो भूत्वा देवानेति' (१४।६।१०।४)। इसी प्रकार तीनों आश्रमोंमें अग्निके उपासक हमलोग भी अग्निका चिह्न 'शिखा' रखते हैं। संन्यासमें अग्निका त्याग होनेसे उसके चिह्न शिखाका भी त्याग कहा है। अग्निसेवन (यज्ञ) तथा उसके अधिकारपट्ट 'यज्ञोपवीत' का भी त्याग कहा है। इस प्रकारकी स्थितिमें उसका अग्निमय संसारसे भी सम्बन्ध न रहनेसे मृत्युसमयमें संन्यासीको अग्निसे नहीं जलाया जाता।

(ख) यज्ञोपवीत

यज्ञोपवीतसे पूर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य 'एकज' होते हैं; फिर उस समय गायत्रीके उपदेशसे 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इस न्यायसे उन्हींको आचार्य द्विज कर देता है। उन तीनों प्रकारके एकजोंको वह तीन दिन अपने गर्भमें रखता है। तीन दिनके अनन्तर उन तीनोंका द्वितीय बार जन्म होनेसे वे द्विज कहाते हैं। इसीलिये 'अथर्ववेद'में कहा है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति, तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥
(शौ० सं० ११।५।३)

यज्ञोपवीतका सम्बन्ध यज्ञसे है, यज्ञका सम्बन्ध वेदसे है। जैसे कि 'न्यायदर्शन'में कहा है—'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य (वेदस्य) विषयः' (४।१।६२)। वेदका सम्बन्ध वेदाधिकारी द्विजोंसे है। बिना यज्ञोपवीत हुए द्विजत्वंयोग्यत्व

भी वेदाध्ययनाधिकारी नहीं हो सकता; तब उसके अनधिकारी भला वेदाध्ययनमे कैसे अधिकृत हो सकते हैं।

यज्ञोपवीत किस प्रकार पुरुषपर वेदका भार रखता है, यज्ञोपवीतियोंको कितना वेद आवश्यक है, यज्ञोपवीत त्रैवर्णिक पुरुषोका क्यो होता है—इत्यादि बातोंका उत्तर यज्ञोपवीत-सूत्र स्वयं ही देता है; वह हाथकी चार अँगुलियो (चव्वा) पर छियानवे बार लपेटा जाता है। वेद ११३१ शाखाओमे विभक्त है; उसमे कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड—ये तीन भाग होते हैं। इनके सब मन्त्र एक लाख हैं। यथा—

आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसंमितः।

(वायुपुराण ६० । ७)

'चरणव्यूह'में भी कहा है—

लक्षं तु वेदाश्चत्वारो लक्षं भारतमेव च।

(५ । १)

इनमे कर्मकाण्डके मन्त्र ८० सहस्र कहे जाते हैं, उपासना-काण्डके १६ सहस्र। शेष ४ सहस्र ज्ञानकाण्डके मन्त्र माने जाते है। यही बात निरुक्तकार भी सूचित करते हैं—

तास्त्रिविधा ऋचः—परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः, अल्पश आध्यात्मिक्यः। (७ । ३ । १)

'परोक्ष' शब्दसे 'कर्मकाण्ड' इष्ट है; क्योंकि कर्मकाण्ड परोक्ष कर्मफलका प्रतिपादक होता है। 'प्रत्यक्ष' शब्दसे उपासना-काण्ड इष्ट है; वह प्रत्यक्षफलका निदर्शक है। 'आध्यात्मिक' शब्दसे ज्ञानकाण्ड इष्ट है; क्योकि आत्मसाक्षात्कार ही ज्ञान होता है। ज्ञानकाण्डकी अल्पतासे ज्ञानकाण्डको कर्म-काण्डसे हीन न समझ लेना चाहिये; क्योंकि हीनता या उत्कृष्टता संख्यापर निर्भर नही होती। एक ही सूर्य लाखो तारोंसे 'उत्कृष्ट' ही होता है। ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्डकी अपेक्षा होना भी अल्प ही चाहिये। युद्धमे सेनापति 'ज्ञान' होता है, सेना 'कर्म'। पर जितनी संख्या सैनिकोंकी होती है, उतनी सेनापतियोंकी नहीं। यदि सभी सैनिक 'सेनापति' बन जायँ, तो विजय कभी होगी ही नहीं। लोकमे भी ज्ञानी बहुत हो जायँ, तो सबकी भिन्न-भिन्न बुद्धि हो जानेसे वे जनताको कर्ममे प्रवृत्त कर ही न सकें। इसीलिये लोकमे जैसे ज्ञानी या नेता थोड़े होते हैं, परंतु उनकी आज्ञामे चलनेवाले कर्मिष्ठ—जो उनकी आज्ञा बिना विचारे ही मान लें बहुत अपेक्षित होते हैं, वैसे ही वेदमे भी ज्ञानकाण्ड थोड़ा होता है, कर्मकाण्डकी संख्या उसकी अपेक्षा बहुत अधिक होती है। इधर कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डकी अपेक्षा अवर होता हुआ भी सर्वथा अवर नही हो जाता। यदि कर्मकाण्ड न हो तो ज्ञान निराधार हो जाय। नेता व्यर्थ हो जाता है, यदि कर्मनिष्ठ जनता न हो, यद्यपि जनता नेताकी अपेक्षा अवर होती है। फलतः तीनों काण्डोके मन्त्र एक लाख हैं।

यह यज्ञोपवीत चव्वेपर छियानवे बार लपेटा जाता है; इसीलिये ये ११३१ शाखात्मक चार वेदोंमे स्थित कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्डके ८०+१६=९६ सहस्र मन्त्रोंका यह अधिकारपट्ट 'चपरास' की भाँति द्विजको अर्पण किया जाता है। शास्त्रने केवल कर्मकाण्ड-उपासनाकाण्डके अधिकार-तक ही यज्ञोपवीत नियत किया है। वे छियानवे सहस्र मन्त्र चारो वेदोंके है, इसीलिये चार अँगुलियोंपर उतनी संख्यासे सूत्र लपेटा जाता है; फिर जो इसे तिगुना करके ऊपर बायीं ओर लपेटा जाता है, उससे इसमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन तीन वर्णोका अधिकार बताया जाता है। फिर इस तीन लड़ीवाले सूत्रको तिगुना करके जो पुनः दाहिनेसे नीचे लपेटा जाता है, उससे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमोको इसमे अधिकृत बताया जाता है।

फिर इस नवसूत्र डोरेको इस प्रकार तिगुना किया जाता है कि जिससे तीनो सूत्रोंकी योजना सिरमें एक हो जाय। इस समयकी त्रिगुणता ऋषि-ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋणको सूचित करती है। इस यज्ञोपवीतसूत्रसे सनातनधर्मका पारमार्थिक अद्वैतवाद भी सिद्ध हो रहा है। इसमे एक ही सूत्रसे यज्ञोपवीतकी रचनाका प्रारम्भ होता है; एक ही सूत्रसे तीन सूत्र बन जाते हैं, अन्तमे एक ही ब्रह्मग्रन्थिमे उसकी समाप्ति हो जाती है। मध्यमे ही केवल त्रिगुण चक्र होता है।

संन्यासाश्रममे मोक्षप्राप्त्यर्थ केवल ज्ञानकाण्डका उपयोग करना पड़ता है, इस कारण उस समय छियानवे सहस्र कर्म-उपासनाके मन्त्रोंके इस अधिकारपट्टको छोड़कर शेष चार सहस्र मन्त्रोंके मननका क्रम प्राप्त होनेसे यज्ञोपवीतसूत्रको छोड़ना पड़ता है। अभीष्ट स्थानको प्राप्त हो जानेपर यात्री अपना टिकट देकर स्टेशन पार हो जाता है। गृहस्थाश्रमीको श्रौत-स्मार्त दोनों कर्म करने पड़ते हैं; अतः उसे 'वैखानस-धर्मसूत्र' (२ । १ । १), 'वृद्धहारीतस्मृति' (८ । ४४) तथा '**यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि**' इस हेमाद्रिके अनुसार दो सूत्र धारण करने पड़ते है।

(ग) कानपर यज्ञोपवीत रखनेका रहस्य

यज्ञोपवीतको शौचादिके समय कानपर रखनेके कुछ

प्रमाण ये हैं—'निवीती दक्षिणे कर्णे यज्ञोपवीतं कृत्वा ...... मूत्रपुरीषे विसृजेत' (वैखानसधर्मप्रश्न २ । ९ । १ शौचविधि); 'यज्ञोपवीतं शिरसि दक्षिणकर्णे वा कृत्वा' (बोधायनगृह्यशेषसूत्र ४ । ६ । १); '...कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः। कुर्यान्मूत्रपुरीषे तु...'(याज्ञवल्क्यस्मृति; आचाराध्याय; ब्रह्मचारिप्रकरण, १६ वाँ पद्य); 'कर्णस्थब्रह्मसूत्रो मूत्रपुरीषं विसृजति' (आग्निवेश्यगृह्यसूत्र २ । ६ । ८) इत्यादि।

शौचके समय यज्ञोपवीतसूत्रको दाहिने कानपर रखनेमें कारण यह है—

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।

(मनु० १ । ९२)

'पुरुष नाभिसे ऊपर पवित्र है, नाभिके नीचे अपवित्र है । इस प्रमाणसे नाभिका निचला भाग मल-मूत्रधारक होनेसे विशेषतः शौचके समय अपवित्र होता है । इसलिये उस समय पवित्र यज्ञोपवीतको वहाँ न रखकर—

तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा ।

(मनु० १ । ९२)

—इस प्रमाणसे अत्यन्त पवित्र तथा ज्ञानका भंडार होनेसे बोधायनके अनुसार सिरपर अथवा अन्योंके अनुसार सिरके भाग कानपर रक्खा जाता है । दाहिने कानकी पवित्रता उसमें दीक्षाके समय आचार्यद्वारा गुप्तमन्त्रोपदेश होनेसे तथा—

मरुतः सोम इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ तथैव च ।
एते सर्वे च विप्रस्य श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे ॥

(गोभिलगृह्यसंग्रह २ । ९०)

'वायु, चन्द्रमा, इन्द्र, अग्नि, मित्र तथा वरुण—ये सब देवता ब्राह्मणके दाहिने कानमें रहते हैं ।'

—इत्यादि प्रमाणोंसे देवनिवासके कारण सूचित होती है ।

क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तोच्छिष्टे तथानृते ।
पतितानां च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥

(गृह्यसंग्रह २ । ८९)

छींकने, थूकने, दाँतके जूँठे होने, मुहँसे झूठी बात निकलने तथा पतितोंसे बातचीत करनेपर अपने दाहिने कानका स्पर्श करना चाहिये । इसी कारण अपराधी लोग भी अपनी शुद्धिके लिये दाहिने कानको पकड़ते या छूते हैं ।

अन्य बात यह है कि हमारे शरीरमें पार्थिव इन्द्रिय नासिका, जलीय इन्द्रिय जिह्वा, तैजस इन्द्रिय आँख, वायव्य इन्द्रिय त्वचा तथा आकाशीय इन्द्रिय कान है । देश-कालादिके अनुसार श्मशानादिरूपमें पृथ्वी, मद्यादियोगसे गङ्गाजलादिरूपमें जल, श्मशानाग्निरूपमें तेज, पुरीषाल्यादिरूपमें वायु—ये चार भूत अशुद्ध हो जाते हैं; पर आकाश किसी भी दशामें अपवित्र नहीं होता । हमारे शरीरमें उसकी प्रतिनिधिभूत इन्द्रिय कान है । उससे शौचादिके समय यज्ञोपवीतका सम्बन्ध कर देनेसे वह अशुद्ध नहीं होता । यही यज्ञोपवीत-सम्बन्धी वैज्ञानिक रहस्य जान लेने चाहिये ।

३. यज्ञसे देवताओंकी और श्राद्धसे पितरोंकी तृप्तिका रहस्य

(क) वेदका विषय यज्ञ है, यह कहा जा चुका है । वेदमें उपास्य देवता हैं, यज्ञमें भी उपास्य देवता होते हैं; इसीलिये 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इस यज्ञकी मूलभूत 'यज' धातुका मुख्य अर्थ भी देवपूजा ही होता है । देवता परमात्माके ही अङ्ग हुआ करते हैं; अङ्गोंके विना अङ्गीकी पूजा नहीं हो सकती । अतएव देवपूजन भगवदाराधन ही है । यही बात ब्राह्मणभागात्मक वेदमें कही गयी है—

तद् यद् इदमाहुः—अमुं यज, अमुं यज—इति एकैकं देवम्, एतस्यैव सा विसृष्टिः, एष उ ह्येव सर्वे देवाः ।

(शतपथ १४ । ४ । २ । १२)

अर्थात् देवता परमात्माका ही विस्तार है; वह परमात्मा सर्वदेवमय है । इस प्रकार 'मनुस्मृति' में भी कहा है—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।

(१२ । ११९)

यहाँपर श्रीकुल्लूक भट्टने लिखा है—

इन्द्राद्याः सर्वदेवताः परमात्मैव, सर्वात्मत्वात् परमात्मनः ।

फलतः देवयजन भगवदाराधन है ।*

अब प्रश्न यह है कि यज्ञ, जो देवपूजनात्मक है, अग्निद्वारा क्यों किया जाता है ? इसपर 'कल्याण' के पाठक निम्न प्रमाण देखें । ऋग्वेदमें कहा है—'न ऋते त्वाममृता मादयन्ते' (शा० सं० ७ । ११ । १)—'हे अग्नि ! तेरे बिना देवता तृप्त नहीं होते ।' 'आ अग्ने ! वह हविरद्याय देवान्' (ऋ० ७ । ११ । ५)—यहाँ स्पष्टरूपसे अग्निको देवताओंके निमित्त हवि धारण करने-

* भगवद्गीतामें जो देवपूजनके द्वारा परमात्माका अवैध पूजन—'यजन्त्यविधिपूर्वकम्' (९ । २३)—कहा है, उसका रहस्य यह है कि देवताओंको परमात्माका अङ्ग न समझकर जो उनको स्वतन्त्रतासे पूजना है, वह भी है तो परमात्माका पूजन ही, पर अविधिपूर्वक है ।

वाला कहा है। '**अग्निर्हि देवानां मुखम्**' (शतपथ ३ । ७)— यहाँपर अग्निको देवताओंका मुखस्थानीय कहा है, तब देवताओंकी हविका अग्निमें डालना भी युक्त सिद्ध हुआ।

यज्ञका प्रयोजन केवल वायुशुद्धि नहीं होता; उसका मुख्य लक्ष्य है देवताओंको तृप्त करना। यदि यज्ञका मुख्य लक्ष्य वायुशुद्धिमात्र होता, तो उसमें बहुत महँगे घृतका उपयोग व्यर्थ था; उससे भी सस्ते पदार्थोंसे वायुकी शुद्धि हो सकती थी। और फिर वह कार्य दुर्गन्धित स्थानोंपर करना पड़ता। उस समय वेदमन्त्रोंके पढ़नेकी आवश्यकता भी नहीं थी। वस्तुतः यज्ञ देवताओंको तृप्त करनेवाला होता है। देवताओंका भक्ष्य घृत हुआ करता है। जब देवाप्सरा उर्वशी पुरूरवाके पास आकर रही थी, और उससे उसके खानेके लिये पूछा गया, तब उसने उत्तर दिया था—'**घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यात्**' (श्रीमद्भागवत ९ । १४ । २२)। इससे देवताओं-का भक्ष्य घृत सिद्ध होता है।

केवल पुराणमें ही नहीं, यही बात ब्राह्मणभागात्मक वेदमें भी कही गयी है—'**घृतस्य स्तोकꣳ सकृदह्न आश्नाम्, तामेव इदं तातृपाणा चरामीति**' (शतपथ ११ । ५ । १ । १०)। यहाँपर भी कहनेवाली उर्वशी ही है। केवल यहीं नहीं, किंतु मन्त्रभागात्मक वेदमें भी यही बात कही गयी है—'**घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नाम्**' (ऋ० १० । ९५ । १६)। इस मन्त्रमें उर्वशी ऋषि (वक्त्री) है और पुरूरवा देवता (प्रतिपाद्य)। इसी कारण देवपूजनात्मक यज्ञमें भी देवताओंकी तृप्तिके लिये घृत प्रयुक्त किया जाता है। तभी 'शतपथब्राह्मण' में कहा है—'**एतद् वै देवानां प्रियं धाम, यद् आज्यम् (घृतम्)**, (१३ । ३ । ६ । ३) '**आज्येन जुहोति**' (शतपथ १३ । ३ । ६ । २)। इससे स्पष्ट हुआ कि यज्ञाङ्ग हवनमें देवताओंकी तृप्तिके लिये ही घृत डाला जाता है। वेदमन्त्र इसलिये पढ़े जाते हैं कि यज्ञ वेदका विषय है। यज्ञ होता है देवपूजार्थ, तब वहाँ वेद-मन्त्रोंकी आवश्यकता भी होती है; क्योंकि वेदमन्त्रोंके विषय देवता भी होते हैं। इसलिये 'निरुक्त' में यज्ञके समय देवताका मनसे ध्यान करना भी लिखा है—'**यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्, तां मनसा ध्यायेत्**' (८ । २२ । ११)। इसी प्रकार '**ऐतरेयब्राह्मण**' (३ । ८ । १) में भी कहा है। जब यज्ञ किये जायँगे, तब उसकी हविको अग्नि, वायु, सूर्यचन्द्रादि देवता किरणोंके द्वारा खींचकर मेघ बनाकर वृष्टि तथा मनोरथकी वृष्टि कर देंगे; इससे अवान्तररूपसे वायुशुद्धि भी हो जायगी; पर मुख्य उद्देश्य देवताओंका पूजन या तृप्ति ही है। इसी कारण 'श्रीमद्भगवद्गीता' ने भी कहा है—

> **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।**
> **अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥**
> **देवान् भावयतानेन [यज्ञेन] ते देवा भावयन्तु वः ।**
> **परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥**
> **इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।**
> (३ । १०—१२)

इससे यज्ञ देवपूजाका पर्यायवाचक सिद्ध होता है।

(ख) श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति

पितृश्राद्ध प्रतिमास कृष्णपक्षमें हुआ करता है, जैसा कि अथर्ववेदमें कहा है—'**पितृभ्यो मासि उपमास्यं ददाति**' (शौ० सं० ८ । १२ । ५)। 'मनुस्मृति' के '**पित्र्ये रात्र्यहनी मासः**' (१ । ६६)—इस वचनके अनुसार मनुष्योंका महीना पितरोंका एक दिन-रात होता है। इस प्रकार प्रतिमास श्राद्ध करनेपर पितरोंको वह भोजन प्रतिदिनकी तरह मिलता है। कृष्णपक्षमें श्राद्ध इसलिये किया जाता है कि कृष्णपक्ष पितरोंका दिन होता है, शुक्लपक्ष रात्रि।

इसमें कारण यह है कि—

> **विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः**
> **स्वाधः सुधादीधितिमामनन्ति ।**
> **पश्यन्ति तेऽर्कं निजमस्तकोर्ध्वं**
> **दर्शे यतोऽस्माद् द्युदलं तदैषाम् ॥**
> (सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, त्रिप्रश्नवासना श्लो० १३)

इससे पितृलोक चन्द्रलोकके ऊपर सिद्ध होता है। शुक्लपक्षमें चन्द्रमा सूर्यसे दूर होता है; तब पितृलोकमें १५ दिन निरन्तर एक रात्रि होती है। कृष्णपक्षमें चन्द्र सूर्यके क्रमशः निकट हो जाता है, अतः पितरोंका उन १५ दिनोंमें निरन्तर एक दिन होता है। अमावस्याको जब सूर्य-चन्द्र एक राशिमें होते हैं, तब हमारे अपराह्णकालमें सूर्य चन्द्र-लोकके सिरपर होनेसे उस समय पितरोंका भोजनकाल—मध्याह्न होता है।

यहाँसे मरकर गये हुए हमारे पितरोंकी स्थिति पितृलोकमें हुआ करती है, जैसा कि वेदमें कहा है—

> **अधा मृताः पितृषु सं भवन्तु ।** (अथर्व० १८ । ४ । ४८)
> **पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः ।** (अथर्व० १२ । २ । ४५)

पितृलोक चन्द्रलोकके ऊपर है, यह कहा जा चुका है। स्वामी श्रीदयानन्दजीने भी चन्द्रादिलोकमें प्रजा मानी है;

जैसे कि—'ये सब (सूर्य, चन्द्र, तारे) भूगोललोक; इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है । कुछ-कुछ आकृतिमें भेद होनेका सम्भव है (स० प्र० समु० ८, पृष्ठ १४४)। इस प्रकार यदि यहाँसे मरकर पितर चन्द्रलोकमें जन्म लें तो वे हमारे दिये अन्नादिको अपनी आकर्षणशक्तिसे खींच लें—यह सम्भव है। इससे श्राद्धमें पितरोंकी तृप्ति प्रत्यक्षमूलक बन जाती है। अस्तु,

अमावास्या चन्द्रलोकस्थ पितरोंका मध्याह्न एव भोजनकाल होता है, यह कहा जा चुका है। अब हमें पितरोंके मध्याह्नकालमें उन्हें भोजन पहुँचाना है, और उन्हें तृप्त करना है । उसका साधन श्राद्ध है। उसके दो प्रकार हैं—एक तो यह कि हमें उनके नामसे अग्निमें हवन करना चाहिये । तभी मृत पितरोंको खिलानेके लिये आह्वानार्थ अग्निसे प्रार्थना की गयी है। जैसे कि—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे।'

(अथर्व० १८ । २ । ३४)

दूसरा प्रकार यह है कि अग्निके सहोदरभूत ब्राह्मणकी जाठराग्निमें ब्राह्मणके मुखके द्वारा उन पितरोंके नामसे कव्य दिया जाय।

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।

(मनु० ३ । ९८)

अग्नि और ब्राह्मणकी सहोदरतामें प्रमाण यह है कि ब्राह्मण तथा अग्निकी विराट् पुरुषके मुखसे उत्पत्ति कही गयी है—जैसे कि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (यजुः० वा० सं० ३१ । ११); 'मुखाद् अग्निरजायत' (३१ । १२)। इसीलिये शास्त्रोंमें ब्राह्मणको आग्नेय या अग्नि कहा गया है। तभी 'मीमासादर्शन' (१ । ४ । २४ सूत्र) के शाबरभाष्यमें 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' पर प्रकाश डालनेके लिये इस प्रकार प्रश्नोत्तरप्रक्रिया दी गयी है—

(प्र०) अथाग्नेयेषु (ब्राह्मणेषु) आग्नेयादिशब्दाः केन प्रकारेण ? (उ०) गुणवादेन । (प्र०) को गुणवादः ? (उ०) अग्निसम्बन्धः । (प्र०) कथम् ? (उ०) एकजातीयकत्वात् (अग्निब्राह्मणयोः)। (प्र०) किमेकजातीयकत्वम् [तयोः] ? (उ०) प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयमिति । स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत । तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत······ब्राह्मणो मनुष्याणाम् । तस्मात् ते मुख्याः, मुखतोऽन्वसृज्यन्त' यहाँपर अग्नि और ब्राह्मणकी एकजातीयता स्पष्ट शब्दोंमें कही है।

कुछ अन्य प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—'अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्' (मनु० ३ । २१२)। यदि अग्नि न हो तो ब्राह्मणको कव्य दे दे । इसमें हेतु यह दिया है—'यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते' (३ । २१२)। 'गोपथ-ब्राह्मण'में भी कहा है—'ब्राह्मणो ह वा इममग्निं वैश्वानरं बभार' (१ । २ । २०) । 'कठोपनिषद्'में ब्राह्मणका अग्नित्व इस प्रकार कहा है—'वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्' (१ । १ । ७)। 'भविष्यपुराण'में भी कहा है—'ब्राह्मणा ह्यग्निदेवास्तु' (ब्राह्मपर्व १३ । ३६)। इसका ऐतिहासिक प्रमाण 'महाभारत'में मिलता है। वहाँपर निषादके आचारवाले भी ब्राह्मणको निगलनेके समय गरुड़के कण्ठमें अग्निदाह होने लगा (आदिपर्व, २९ वाँ अध्याय)। 'सास्य देवता' (पा० ४ । २ । २४) इस सूत्रके व्याख्यानमें 'सिद्धान्तकौमुदी' में कहा गया है—'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया।' इसपर 'बालमनोरमा' कहती है—'अग्निर्नाम यो देवताजातिविशेषो लोकवेदप्रसिद्धः, तदभिमानिको ब्राह्मणः।' अस्तु,

ऐसा करनेपर पूर्व प्रकारसे साक्षात् अग्नि और दूसरे प्रकारसे ब्राह्मणस्थ वैश्वानर अग्नि उस कव्यको सूक्ष्म करके पितरोंको पहुँचाता है। वे पितर उस सूक्ष्म कव्यसे तृप्त हो जाते हैं; क्योंकि वे स्वयं सूक्ष्मशरीरात्मक होते हैं। इसी कारण उनके लिये स्थूलसे सूक्ष्मभूत भोजनकी आवश्यकता होती है, उसीसे उनकी तृप्ति होती है।

इस बातको इस प्रकार समझना चाहिये। हम अपने मुखद्वारा स्थूल भोजनको अपने पेटमें भेजते हैं; परन्तु हमारा आत्मा सूक्ष्म है। उसके लिये सूक्ष्म भोजन अपेक्षित है। उस समय उस स्थूल भोजनको हमारी जाठराग्नि सूक्ष्म करके हमारे सूक्ष्म अन्तरात्माको सौंप देती है। उस सूक्ष्म तत्त्वसे हमारा सूक्ष्म आत्मा तृप्त हो जाता है। वहाँपर वह अग्नि स्वयं ही इस कार्यको करने लगती है, हमें कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती। इसी प्रकार सूक्ष्म पितर भी हमारे दिये हुए स्थूल भोजनके अग्नि या ब्राह्मणाग्निद्वारा किये गये सूक्ष्म तत्त्वको प्राप्त करके तृप्त हो जाया करते हैं। वहाँपर ब्राह्मणाग्नि महाग्निके साथ मिलकर स्वयं ही उस कामको करने लगती है; उसके लिये ब्राह्मणको कोई व्यापार नहीं करना पड़ता।

यहाँपर पूर्व प्रकारसे समझना चाहिये—जैसे यज्ञसे तृप्त हुए देवता वृष्टि करते हैं, वैसे यहाँपर भी जानना चाहिये। वहाँ उपपत्ति यह है कि जब हम अग्निमें हव्य डालते हैं; तब स्थूल अग्नि उस हविको जलाकर सूक्ष्म कर देती है और शान्त होकर स्वयं भी सूक्ष्म हो जाती है। तब वह सूक्ष्म अग्नि महाग्निके साथ मिलकर उस सूक्ष्म हविको लेकर अपने मित्र वायु आदिकी सहायतासे आकाशाभिमुख जाती है तथा आकाशमें स्थित उन-उन देवताओंको वह हवि पहुँचा देती है। वे देवता उस हविसे तृप्त होकर प्रजाके हितके लिये एवं धान्य आदिके उत्पत्त्यर्थ वृष्टि कर देते हैं (मनुस्मृति ३। ७६)। इसी तरह श्राद्धमें भी जब कव्यको अग्निका सहोदर ब्राह्मण या स्वयं अग्नि प्राप्त करता है, तब वह ब्राह्मणकी अग्नि अथवा स्वयं अग्नि उस कव्यको सूक्ष्म करके स्वयं भी सूक्ष्म होकर महाग्निके साथ मिल जाती है तथा आकाशमें जाकर चन्द्रलोकस्थ पितरोंको सौंप देती है। पितर उससे तृप्त होकर श्राद्ध करनेवालेके धान्य-सन्तान आदिकी व्यवस्था अपने माहात्म्यसे कर देते हैं। जैसे देवताओंको 'सोमाय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रोंद्वारा दी हुई हविको सूर्य खींचता है, वैसे ही पितरोंके उद्देश्यसे दी हुई हविको चन्द्रमा खींचता है, अथवा सूर्य खींचकर अपनी सुषुम्णा-रश्मिसे प्रकाशित चन्द्रलोकमें भेज देता है। जैसे चन्द्रमा सूर्यकी उस रश्मिको खींच लेता है, वैसे ही सूर्यकी किरणोंमें स्थित पूर्वोक्त उस सूक्ष्म अन्नको भी खींचकर उस-उस पितरको सौंप देता है। वे सूक्ष्म पितर भी उस सूक्ष्म हविसे हमारे सूक्ष्म आत्माकी तरह तृप्त हो जाते हैं। इसमें कारण है संकल्पकी महिमा; क्योंकि हम उस हविको तत्तत् पितरके उद्देश्यसे सङ्कल्पित करके दिया करते हैं। देवतालोग हमारे मानसिक संकल्पको जान लिया करते हैं। वेद भी इसका अनुमोदन करता है, जैसे कि—

मनो देवा मनुष्यस्य जानन्ति, मनसा सङ्कल्पयति, तत् प्राणमपिपद्यते, प्राणो वातं वातो देवेभ्यऽआचष्टे यथा पुरुषस्य मनः। (शतपथब्रा० ३। ४। २। ६)।

इसी प्रकार 'अथर्ववेदमें' भी कहा है—'मनसा सङ्कल्पयति, तद् देवानभिगच्छति' (शौ० सं० १२। ४। ३१)। सूर्य आदि देवता सब लोगोंका वृत्त जानते हैं, इसमें 'मनुस्मृति'की साक्षी भी देखिये—

तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः।
(८। ८५)

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः।
रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम्॥
(८। ८६)

यहाँपर सूर्य-चन्द्रके सम्बन्धमें भी लोगोंका वृत्त जाननेकी बात कही है। इधर चन्द्रमा तो मनका ही देवता माना जाता है। श्राद्धमें संकल्प प्रसिद्ध ही है। उक्त मनुपद्यकी टीकामें श्रीकुल्लूक भट्टने कहा है—

दिवादीनाम् (द्युगतसूर्यादिदेवानाम्) अधिष्ठातृदेवतास्ति सा च शरीरिणी एकत्र अवस्थापिता तत्सर्वं जानाति—इति आगमप्रामाण्याद् वेदान्तदर्शनमङ्गीकृत्य इदमुक्तम्।

जिस प्रकार वह सर्वाधिष्ठाता देव जड कर्मोंका फल उनके कर्ताओंको प्राप्त कराता है, वैसे ही उन-उन देवताओंके अधिष्ठातृत्वमें उस-उस पितरको श्राद्धका फल प्राप्त कराता है। इस प्रकार श्राद्धद्वारा मृतक पितरोंकी तृप्ति सिद्ध हुई। यज्ञ और श्राद्ध दोनों हिंदु-संस्कृतिके मुख्य अङ्ग हैं—यह नहीं भूलना चाहिये। इन्हींसे हिंदु-संस्कृतिकी सुरक्षा होगी।

४. हिंदु-संस्कृति और परलोकवाद

हिंदु-संस्कृति सर्वादिम संस्कृति है, उसके सर्वादिम ग्रन्थ वेद हैं; उनके अनुसारी वेदाङ्ग तथा धर्मशास्त्र हैं। इन सभीने परलोकको बहुत स्पष्टरूपसे माना है। जो परलोकको नहीं मानते, वे नास्तिक माने गये हैं।

अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः (४। ४। ६०)

—इस पाणिनिसूत्रके 'महाभाष्य'में लिखा है—

अस्ति इत्यस्य मतिरास्तिकः नास्तीत्यस्य मतिर्नास्तिकः।

इसके 'प्रदीप'में कैयटने स्पष्टीकरण किया है—

अस्ति इत्यस्य इति परलोककर्तृका सत्ता विज्ञेया; तत्रैव विषये लोके प्रयोगदर्शनात्। तेन परो लोकोऽस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकः, तद्विपरीतो नास्तिकः।

आप्नोति इमं लोकम् आप्नोति असुम्।
(शौ० सं० ९। ११। १३)

'अथर्ववेद' के इस मन्त्रमें 'इमं लोकम्' से 'यह लोक' और 'असुं' से परलोक सिद्ध हो रहा है। इसी प्रकार—

इमं च लोकं परमं च लोकम्' (अथर्व० १९। ५४। ५)

—यहाँ 'परमलोक' का 'परलोक' अर्थ है, जैसे कि—

यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे। (अ० १३। ३। ५)

—यहाँपर 'परमस्य' का अर्थ 'परस्य' है। 'शतपथ-ब्राह्मण' में स्पष्टतया कहा है—

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने, इदं च परलोकस्थानं च। (१४।७।१।९)

कठोपनिषद्की—

अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे (यमस्य)।
(१।२।६)

—इस श्रुतिमें भी स्पष्टरूपसे परलोकको माना गया है।

'परलोकसहायार्थम्' (मनु० ४।२३८)

'नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।'
(मनु० ४।२३९)

—इत्यादि स्मृतिपद्य तो इस विषयमें बहुत हैं। इन्हींको देखकर पाश्चात्त्य विद्वानों तथा हमारे यहाँके विद्वानोंने परलोकविद्या निकाली है और इस विषयमें वे उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे हैं। अब तो वे असाध्य रोगियोंका भी उपचार उन परलोकस्थ जीवोंसे पूछकर करते हैं, और प्रायः सफल भी हो रहे हैं। इसका कारण यह है कि जीवात्मा जबतक इस लोकके स्थूल शरीरसे युक्त रहते हैं, तबतक उनमें शक्ति भी सीमित रहती है। पर जब वे स्थूलशरीरको छोड़कर सूक्ष्म होकर पितृलोकमें जाते हैं, उनकी शक्ति बढ़ जाया करती है। जैसे दीपक जब घड़ेमें रक्खा रहता है, तब उसका प्रकाश स्थगित हो जाता है; घड़ेसे दीपकको बाहर कर देनेपर उसकी प्रकाशशक्ति बढ़ जाया करती है, वैसे ही यहाँपर भी समझना चाहिये। 'वेदान्तदर्शन' के ३।२।६ सूत्रके भाष्यमें आचार्य शङ्करस्वामीने लिखा है—

सोऽपि तु जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद् देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद् भवति। अस्ति चात्र उपमा—यथा अग्नेर्दहनप्रकाशनसम्पन्नस्यापि अरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतः, यथा वा भस्माच्छन्नस्य अग्नेर्दहनप्रकाशने तिरोधीयेते, तथा स्थूलदेहाच्छन्नस्य आत्मनोऽपि ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो जायते।

श्रीयास्कने 'निरुक्त'में 'प्रमदक' (नास्तिक) की 'योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः' (६।३२।१) यह व्युत्पत्ति मानी है। 'शतपथब्राह्मणमें देवलोक (१४।७।१।३६); गन्धर्वलोक (३७), ब्रह्मलोक (१४।७।१।३९) तथा पितृलोक, मनुष्यलोक (३।७।१।२५) का उल्लेख आता है। 'मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्' (१९।७१।१)—अथर्ववेदके इस मन्त्रमें 'ब्रह्मलोक', 'विष्णोर्यत् परमं पदम्' (सामवेद, उत्तरार्चिक १८।२।१।५) में विष्णुलोक, 'ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति' (अथर्व० ११।१।७) में स्वर्गलोक, 'पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः' (अथर्व० १२।२।४५) में पितृलोक, 'अथाहुर्नारकं लोकम्' (अथर्व० १२।४।३६) में नरकलोक, 'सर्वान् कामान् यमराज्ये' (१२।४।३६) में यमलोककी बात आयी है। अतः परलोककल्पना वेदशास्त्रानुमोदित है।

५. यम, यमलोक एवं पितृलोक

वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत।
(अथर्व० १८।३।१३)

यहाँपर यमको विवस्वान्का पुत्र तथा उसके पास सब पुरुषोंका जाना कहा है।

विवस्वन्तं हुवे यः पिता ते। (ऋ० १०।१४।५)

—इस मन्त्रमें यम देवता है, उसके पिताको विवस्वान् कहा गया है।

यमो वैवस्वतो राजा इत्याह तस्य पितरो विशः।
(शतपथ० १३।४।३।६)

'यमाय पितृमते स्वधा नमः' (अ० १८।४।७४)

'यमराज्ञः पितॄन् गच्छ' (अ० १८।२।४६)

—इत्यादि वेदके स्थलोंमें यमको पितृपति कहा है।

'वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतान्' (अथर्व० ८।२।११)

—यहाँपर यमदूतोंका वर्णन है।

'मोष्वेषामसवो यमं गुः। (अ० १८।३।६२)

अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत्।
वैवस्वतो न तृप्यति पञ्चभिर्मानवैर्यमः॥
(२०)

—यह कृष्णयजुर्वेदका मन्त्र स्वामी श्रीदयानन्दजीने अपनी 'संस्कारविधि' के अन्त्येष्टिसंस्कारमें दिया है। इससे मृत्युका अधिष्ठाता देव यमराज सूचित होता है।

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ।
(अथर्व० ८।१।९)

—इस मन्त्रमें यमराजके दो कुत्तोंका वर्णन है।

यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्। (अथर्व० ६।११८।२)

इदं यमस्य सादनम्। (ऋ० १०।१३५।७)

यहाँपर यमलोकका वर्णन है।

दक्षिणा तिष्ठन् यमः। (अथर्व० ९।७।२०)

—यहाँपर यमलोकका दक्षिण दिशामे होना बताया है। पितृलोकका वर्णन पूर्व किया जा चुका है।

६. नामकी महत्ता

नामका महत्त्व निष्कारण नही है। नाम-नामीके निरन्तर साहचर्यसे उनका सम्बन्ध भी हमारे चित्तमे गहरे रूपसे सन्निविष्ट हो जाता है। उस नामके साथ इतने संस्कार, इतनी भावनाएँ तथा स्मृतियाँ इकट्ठी हो जाती हैं कि नामका महत्त्व नामीके महत्त्वसे किसी भी तरह न्यून नही ठहरता। नाम और नामी एकाकार हो जाते हैं। जो मधुरिमा उस नियत नाममे हुआ करती है, वह उससे भिन्नमे नहीं होती। नामकी महत्ता बहुत बड़ी है। नामकी महिमा नामीकी महिमासे भी बढ़कर हुआ करती है। यह नाम विशाल आदर्शका सजीव प्रतिनिधि होता है। इस कारण हमारी हिंदु-संस्कृतिमे परमात्माके नामकीर्तनका बहुत प्रचार है। यदि सच कहा जाय तो इसी नामकीर्तनने हमारी संस्कृतिको मुसल्मानी कठोर राज्यमे भी बचाया। नामकीर्तन वेदविरुद्ध भी नहीं है, किंतु वेदने ही इसका प्रचार किया है। कुछ मन्त्र इस विषयमे दिये जाते हैं—

यस्य नाम महद्यशः। (यजुः ३२। ३)

—यहाँपर परमात्माके नामको यशोजनक माना है।

सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि।

(सामवेद २०। ३। ४। २)

—यहाँपर परमात्माका नामकीर्तन कहा गया है।

अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान् नाम गृह्णाति आयुषे।

(अथर्व० ६। ७६। ४)

—यहाँपर नामका ग्रहण आयुके लिये माना गया है।

मनामहे चारु देवस्य नाम। (ऋ० १। २४। १)

मर्त्या अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।

(ऋ० ८। ११। ५)

भूरि नाम वन्दमानो दधाति। (ऋ० ५। ३। १०)

विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि।

(ऋ० १०। ६३। १)

चार्विन्द्रस्य नाम। (ऋ० ९। १०९। १४)

यत् ते अनाधृष्टं नाम यज्ञियम्। (यजु० ५। ९)

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।

(अथर्व० २०। १९। ३)

—इत्यादि मन्त्रोमे नामकीर्तनकी आज्ञा दी गयी है। इसीलिये 'भगवद्गीता'में भी कहा है—

सततं कीर्तयन्तो माम्। (९। १४)

'अथर्ववेद'मे कहा है—

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरा उषसः।

(१०। ७। ३१)

इसका आर्यसमाजके विद्वान् पं० श्रीराजारामजी शास्त्रीने इस प्रकार अर्थ किया है—'वह (भक्त) सूर्यसे पहले, उषासे पहले (परमेश्वरके एक) नामके साथ (दूसरे) नामको पुकारता है।

यत् ते नाम सुहवं। (अथर्व० ७। २०। २१)

नाम उपास्स्व। (छान्दोग्योपनिषद् ७। १। ४)

—यहाँपर नामोपासना बतायी गयी है। यदि नाम-कथनमे शक्ति नही तो 'दुरात्मा' शब्द कहनेमे दूसरा क्यो क्रुद्ध होकर हमसे लड़ता है? 'महात्मा' शब्द कहनेसे क्यो हमपर दूसरा प्रसन्न हो जाता है? जब इस प्रकार हम नामोच्चारणका प्रभाव दिन-रात देखते हैं, तब ईश्वरकी नाम-स्तुतिके उच्चारणका प्रभाव क्यों न होगा? जो लोग कहते हैं कि मिश्री-मिश्री कहनेसे मुँह मीठा नहीं हो जाता, उन्हे याद रखना चाहिये कि सब पदार्थोंमे समान शक्ति नहीं हुआ करती। कई पदार्थ नामस्मरणसे प्रभाव डालते हैं, कई खाने-पीनेसे और कई स्पर्शमात्रसे। इस प्रकार पदार्थोंकी विचित्र-विचित्र शक्तियाँ हुआ करती हैं। मिश्री खानेसे उसका स्वाद मालूम होता है, पर नामको खाया नहीं जाता। अतः मिश्रीका दृष्टान्त विषम है। नीबूका नाम लेनेसे भी मुखमे खट्टापन मालूम होता है। नामका कीर्तन या स्मरण ही हुआ करता है। पूर्वोक्त वेद-मन्त्रोको ही आधार बनाकर श्रीमद्भागवतपुराणमे कहा गया है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥

(६। २। १८)

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद् धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥

(६। २। ४९)

७. हिंदु-संस्कृतिमें देवतावाद

हिंदु-संस्कृतिमे आदिकालसे ही वेदोके प्रति विश्वास रहा है। देवतावादके प्रसारक वेद ही हैं; अतः इस संस्कृतिमे देवताओके प्रति अगाध श्रद्धा रही है। देवता परमात्माके ही उत्तम अङ्ग हैं। अङ्गीकी पूजा अङ्गोके द्वारा ही होती है;

इसीलिये देवपूजा हिंदु-संस्कृतिका एक अङ्ग है। इन देवताओं-से अलौकिक शक्ति रहती है। यदि परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो इस सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण देवताओंपर आश्रित है। देवताओंके अनुकूल होनेपर ही संसार सुखका श्वास ले सकता है। अदूरदर्शी लोग देवताओंको जड मानते हैं; पर वैदिक सिद्धान्तके अनुसार देवता चेतन हैं।

स्वामी श्रीशङ्कराचार्यने देवतावादपर अच्छा प्रकाश डाला है। आर्यसमाजके विद्वान् पं०श्रीराजारामजी शास्त्रीने अपने अथर्व-वेद-भाष्यकी भूमिकामें उसका निष्कर्ष सुन्दर ढंगसे लिखा है। पाठकोंके लाभके लिये हम उसे उद्धृत करते हैं—

'परमेश्वरकी सृष्टिमें देहधारी जीवोंकी सृष्टि नाना प्रकारकी है। इस भूलोकमें ही शैवाल, तृण, घास आदि नाना प्रकारके स्थावर और पशु-पक्षी आदि नाना प्रकारके जङ्गम हैं। ये सारे जीवविशेष हैं। मनुष्य इन सबसे ऊँची श्रेणीका जीव है; पर परमात्माकी सृष्टि यहींतक समाप्त नहीं है। मनुष्यसे कई दर्जोंमें ऊँचा पद रखनेवाले जीव भी उसकी सृष्टिमें विद्यमान हैं, जो मनुष्योंकी भाँति चेतन हैं। वे अपनी शक्ति और ज्ञानमें इतने ऊँचे पहुँचे हुए हैं कि मनुष्यकी शक्ति और ज्ञान उनके सामने तुच्छ हैं। इस अनेक प्रकारकी ऊँची सृष्टिमें सबसे ऊँचा स्थान देवताओंका है। देवता चेतन हैं। वे मनुष्योंसे ऊपर और परमेश्वरसे नीचे हैं। परमेश्वरकी ओरसे उनको भिन्न-भिन्न अधिकार मिले हुए हैं, जिनका वे पालन करते हैं। देवता अजर और अमर हैं; पर उनका अजर-अमर होना मनुष्योंकी अपेक्षासे है, वस्तुतः उनकी भी अपनी-अपनी आयु नियत है। ब्रह्माण्डकी दिव्य शक्तियोंमेंसे एक-एक शक्तिपर एक-एक देवताका अधिकार है; जिस शक्ति-पर जिसका अधिकार है, वही उसका देह है, जो उसके वशमें है।

'जैसे हमारे देहमें एक जीवात्मा है, जो इस देहका अधिपति है, उसी प्रकार उस शक्तिके अंदर भी एक जीवात्मा है, जो उसका अधिपति है। जैसे हमारे अधीन यह देह है, वैसे ही एक देवताके अधीन सूर्यरूपी देह है। हम एक थोड़ी-सी शक्तिवाले देहके स्वामी हैं, वह एक बड़ी शक्तिवाले देहका स्वामी है। वह अध्यात्म-शक्तियोंमें इतना बढ़ा हुआ है कि अपनी इच्छाके अनुसार जैसा चाहे, वैसा रूप धरकर जहाँ चाहे, वहाँ जा सकता है। वही देव सूर्यका अधिष्ठाता कहलाता है और सूर्यके नामसे ही बुलाया जाता है। इसी प्रकार अग्नि और वायु आदिके अधिष्ठाता देवता हैं। देवताओंका ऐश्वर्य बहुत बड़ा है, पर वह सारा परमेश्वरके अधीन है। एक-एक देवता एक-एक दिव्यशक्ति-का नियन्ता है। पर उन सबके ऊपर उन सबका नियन्ता परमेश्वर है। इसलिये सभी देवता मिलकर जगत्का प्रबन्ध उसी प्रकार कर रहे हैं, जिस प्रकार राजाके अधीन उसके भृत्य उसके राज्यका प्रबन्ध करते हैं।

'देवताओंकी उपासनाओंसे उन कामनाओंकी सिद्धि होती है, जिनके कि वे मालिक होते हैं।······वे तबतक दिव्य शरीरको धारण किये रहते हैं, जबतक उनका वह अधिकार समाप्त नहीं हो लेता, जिस अधिकारपर उनको परमेश्वरने लगाया है। अधिकारकी समाप्तिपर वे मुक्त हो जाते हैं और उनकी जगह दूसरे आ ग्रहण करते हैं, जो मनुष्योंमेंसे ही उपासनाद्वारा उस पदके योग्य बन गये हैं। देवताओंके ऐश्वर्यके दर्जे हैं। सबसे ऊँचा दर्जा ब्रह्माका है।' (पृ० ११)

वेदमें परमात्माके वर्णनका प्रकार

"वेद दो प्रकारसे परमात्माका वर्णन करता है—एक बाहरके सम्बन्धोंसे अलग हुए उसके केवल स्वरूपका, दूसरा बाहरके जगत्से सम्बन्ध रखते हुएका।······जगत्को अलग रखकर उसके निज रूपको देखें, तो वह उसके शुद्ध स्वरूपका दर्शन है; और जगत्का अन्तर्यामी होकर उसपर शासन करता हुआ देखें, तो वह उसके विशिष्ट रूपका दर्शन है।

शुद्ध ज्ञेय और विशिष्ट उपास्य है

"अब उसका शुद्ध स्वरूप तो सच्चिदानन्दस्वरूप या नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव अथवा 'नेति-नेति'के सिवा किसी प्रकारसे वर्णित नहीं हो सकता; और अगम्य एवं अचिन्त्य होनेसे न हमारे जीवनपर उसका कोई प्रभाव पड़ता है, न हम अपनी त्रुटियाँ पूरी करने और अपनेको उच्च अवस्थामें लानेके लिये उससे प्रार्थना कर सकते हैं। क्योंकि किसी मानुषी गुण, प्रेम, दयालुता आदि-का हम शुद्धके साथ सम्बन्ध नहीं कर सकते, न किसी प्रकारसे उसकी पूजा कर सकते हैं। यह बात याज्ञवल्क्यने गार्गीको शुद्ध-स्वरूपका उपदेश करते हुए बतलायी है—

स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभि-वदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमो-ऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽते-जस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन। (बृहदारण्यक उ० ३।८।८)
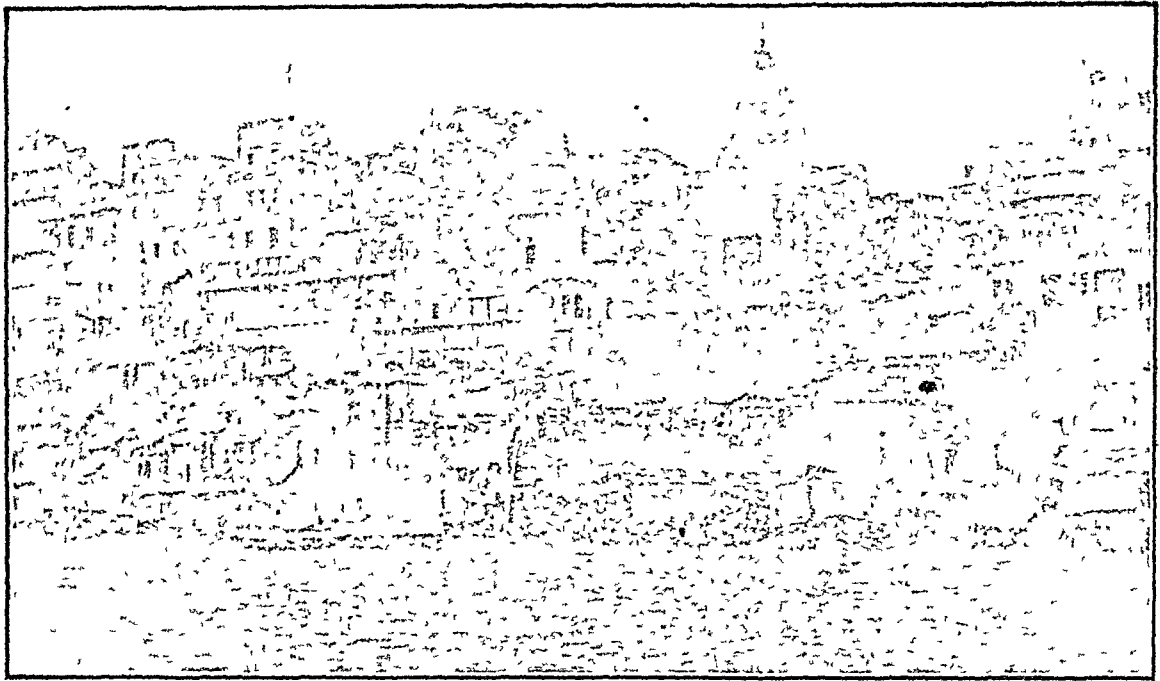
श्रीकाशी—दशाश्वमेध घाट
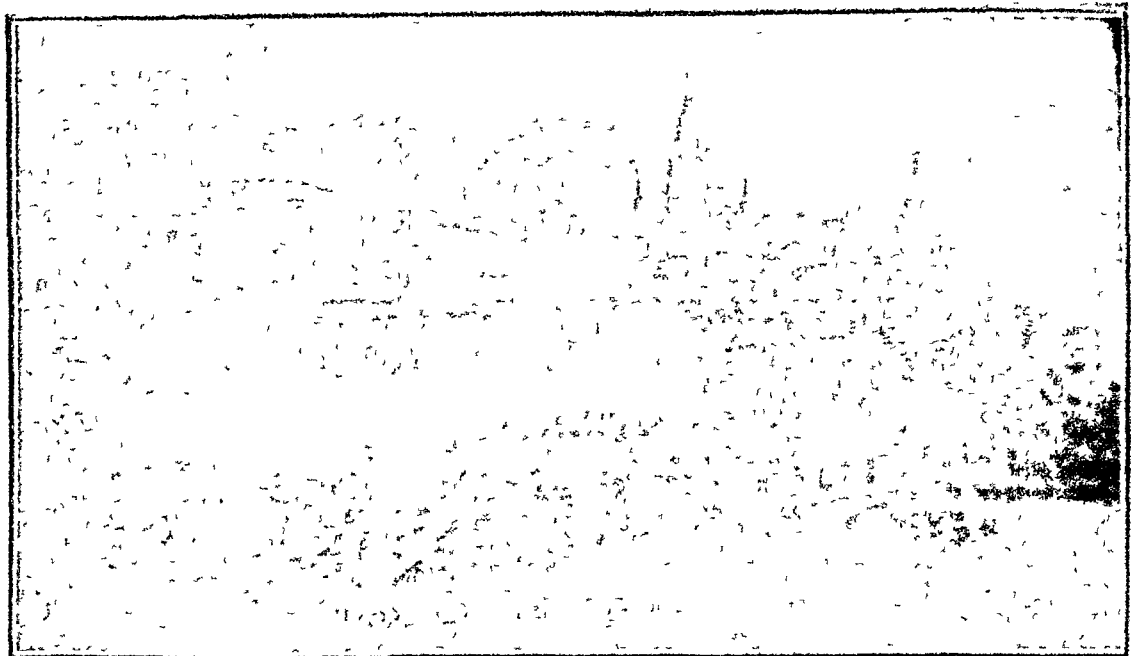
काशी—मणिकर्णिका घाट [पृष्ठ ६९१

त्रिवेणी-संगम, प्रयाग [पृष्ठ ६९२
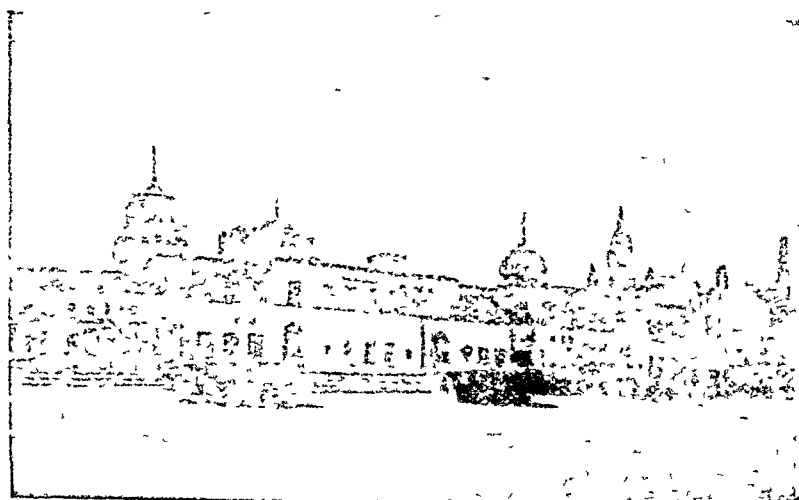
''इसका अभिप्राय यही है कि इस रूपमे न हम उसको कुछ अर्पण करते हैं, न वह हमारे जीवनपर कोई प्रभाव डालता है। या यो कहे कि इस रूपमे वह हमारे ज्ञानका परम लक्ष्य तो हो सकता है, पर उपास्य नहीं। उपास्य वह अपने विशिष्ट रूपमें ही है।

विशिष्ट रूपमें उसकी अनेक रूपोंमें उपासना

''मनुष्यके हृदयमें उसके जिस रूपके लिये भक्ति, पूजा और उपासना है, वह उसका विशिष्ट रूप ही है। और यह रूप उसका अनेक रूपोमे पूजा जाता है; इन्हीं रूपोको देवता कहते है, जो वेदमे अग्नि, इन्द्र, वायु, सूर्य, मित्र, वरुण, पूषा आदि नामोसे वर्णन किये गये हैं।

''मनुष्य पहले-पहल इन अलग-अलग विशिष्ट रूपोमे उसका चिन्तन कर सकता है और जब वह उसकी महिमाको अलग-अलग अनुभव कर चुकता है, तब फिर उसका हृदय एक साथ सारे विश्वमे उसकी महिमाको अनुभव करता हुआ उसका ध्यान और पूजन करता है। इस समष्टिरूपको अदिति, प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ आदि नामोसे वर्णन किया गया है।

विशिष्ट रूपों (देवतारूपों) में परमात्माको जाननेकी आवश्यकता

''पहले-पहल केवल शुद्धरूपमे परमात्मा दुर्ज्ञेय है। उसका जानना जगत्‌मे ही सम्भव है, वह भी अनेक विशिष्ट रूपो (देवतारूपों)मे। क्योंकि उसकी महिमा, जो इस जगत्‌मे देखी जाती है, इतनी बड़ी है कि समष्टिरूपमे उसका ज्ञान मनकी शक्तिसे बाहर है। इसलिये अग्नि, वायु, सूर्य, सविता, मित्र, वरुण, द्यावापृथिवी, अश्वि, इन्द्र, ब्रह्मणस्पति, वास्तोष्पति, क्षेत्रपति इत्यादि परिमित रूपोमे उसकी महिमा वेदमे कही गयी है और स्तुति, नमस्कार और पूजाद्वारा उन सब रूपोंके साथ गहरा सम्बन्ध करनेका उपदेश है।'' (अथर्ववेदभाष्य-भूमिका पृ० १२-१३)

यहाँपर पं०श्रीराजारामजी शास्त्रीने वैदिक देवतावादके विषयको बहुत स्पष्ट कर दिया है; यद्यपि यह उन्होंने अपना निजी मन्तव्य बताया है, तथापि वस्तुतः यही हिंदु-संस्कृतिका भी मन्तव्य है। देवता मनुष्यके सुखजनक हैं; अतः मनुष्यांको देवोंकी उपासना करनी चाहिये—इस विषयमें वेद भी सहमत है। 'कल्याण' के पाठकगण देखें—

न मर्डिता (सुखजनकः) विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधि कामा अयंसत (ऋ० १० । ६४ । २)। अर्थात् देवगणोंके सदृश सुखदायक दूसरा कोई नहीं है; इसलिये मेरी कामनाएँ देवताओंमें हैं। **'सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति'** (अथर्व० ११ । ५ । २)—यहाँपर देवताओंकी तपस्यासे प्रसन्नता बतायी गयी है। **'यजाम देवान् यदि शक्नवाम'** (ऋ० १ । २७ । १३)—यहाँपर यथाशक्ति देवताओंकी पूजा करना बतलाया है। **'सपर्यन् कीरिणा देवान्, नमसा उपशिक्षन्'** (ऋ० ५ । ४० । ८)—इस मन्त्रमें देवताओंकी स्तोत्र एवं नमस्कारसे पूजा बतायी गयी है। **'तेन मा देवास्तपसावतेह'** (अथर्व० १९ । ७२ । १)—यहाँ देवताओसे रक्षार्थ प्रार्थना की गयी है। **'प्रगायत अभ्यर्चाम देवान्'** (ऋ० ९ । ९७ । ४)—यहाँपर गानद्वारा देवपूजा कही गयी है।

एष ह वाऽअनद्धा पुरुषो यो न देवानवति न पितॄन्।' (शतपथ० ६ । ३ । १ । ३४)

—यहाँपर देवपूजा एवं पितृपूजा न करनेवाले मनुष्यकी निन्दा की गयी है। **'देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे'** (ऋ० १० । ६५ । १५)—यहाँपर वेदने देवपूजनमें वसिष्ठका इतिहास भी दिखलाया है। **'तस्माद् देवान् यज'** (शत० १ । ८ । २ । १४)—यहाँपर स्पष्टरूपसे देवपूजन दिखलाया गया है। इसी मूलको लेकर 'मनुस्मृति'ने भी देवपूजनपर बल दिया है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव ....॥

(२ । १७६)

८. अश्वत्थ तथा तुलसीका महत्त्व

हमारे शास्त्रोमे अश्वत्थ (पीपल) की महिमा बतायी गयी है। 'अथर्ववेद'मे **'अश्वत्थो देवसदनः'** (शौ० सं० ५ । ४ । १) पीपलको देवताओका घर ही कहा है। अतएव उसकी पूजासे भी देवताओंकी पूजा होती है। **'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्'** (भगवद्गीता १० । २६)—इस पद्यमे भगवान्‌ने पीपलको अपनी विभूति माना है। लौकिक दृष्टिके अनुसार भी यह पुत्रप्रदाता माना गया है, इसमें आयुर्वेदके अनुसार स्त्रीके वन्ध्यत्वदोषके हटानेकी अद्भुत क्षमता है।

तुलसीके महत्त्वको बतानेवाले ये पद्य प्रसिद्ध है—

तुलसीकाननं चैव गृहे यस्यावतिष्ठते।
तद्गृहं तीर्थभूतं हि नायान्ति यमकिङ्कराः॥
तुलसीविपिनस्यापि समन्तात् पावनं स्थलम्।
क्रोशमात्रं भवत्येव गाङ्गेयेनेव चाम्भसा॥

इससे तुलसीके आस-पासका स्थान पवित्र माना गया है; उसमें मलेरियाकी विषाक्त वायुको दूर करनेकी अद्भुत क्षमता है। मरनेके समय भी तुलसीमिश्रित गङ्गाजल पिलाया जाता है, जिससे आत्मा पवित्र हो और सुख-शान्तिसे लोकान्तरकी प्राप्ति हो। विषाक्त वायु तुलसीसे स्वच्छ हो जाता है। मलेरिया-के उत्पादनमें सहायक मच्छर इससे दूर भागते हैं। यह सब प्रकारके ज्वरोंको हटाकर स्वास्थ्य देती है। जिन रोगियोंको स्वास्थ्यार्थ गङ्गातटके पास जानेमें सुविधा न हो, उन्हें तुलसी-सेनीटोरियममें रक्खा जाता है; वही लाभ उन्हें वहाँ मिल जाता है। हमारे पूर्वज जडोपासक नहीं थे, जड वस्तुओंके अधिष्ठातृ-देवता मानकर उनकी पूजा किया करते थे। स्वास्थ्यके होनेसे ही धर्माचरणमें प्रवृत्ति हो सकती है; अतः स्वास्थ्यवर्धक वस्तुका धर्मसे सम्बन्ध अनुचित भी नहीं है।

९. सदाचार एवं शौचाचार

हिंदू-संस्कृतिमें जितने सदाचार या शौचाचार रक्खे गये हैं, धार्मिक होनेसे उनका परलोकसे सम्बन्ध तो है ही; अधिकं तु उनका लौकिक लाभोंसे भी सम्बन्ध होता है। हम उनमें कुछका निरूपण करते हैं। विज्ञ पाठकगण ध्यान दें। इनमें प्राचीन-अर्वाचीन विद्वानोंके विचारोंका मिश्रण होगा।

देवमन्दिरमें जाना—जहाँ इसमें देवपूजा लक्ष्य होती है, वहाँपर शारीरिक तथा मानसिक लाभ भी हुआ करते हैं। देवालय जानेके लिये हम सूर्योदयसे पहले उठते हैं, तथा सूर्योदयसे पूर्व ही स्नान करते हैं। इससे रूप, तेज, आरोग्य, मेधा, आयु आदिकी वृद्धि होती है। देवमन्दिर प्रायः शहरसे बाहर होते हैं। वहाँ कोई बगीची होती है। देवपूजाके लिये वहाँपर हम फूल चुनते हैं। हमें शुद्ध वायु मिलती है, जिससे शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य तथा शक्तिका लाभ होता है। चन्दन लगानेसे मस्तिष्क तथा दृष्टिकी शक्ति बढ़ती है। धूप, दीप आदि सुगन्धित द्रव्योंके कारण मन्दिरके चारों ओर दिव्य शक्तिका सञ्चार रहता है, जिससे भूत-बाधा-की निवृत्ति तथा विषयुक्त कीटाणु-शक्तिका ह्रास होता है, शुद्ध वायुमण्डलके प्रभावसे कुविचार अंदर नहीं रह पाते। पुरुष-शरीर पञ्चतत्त्वनिर्मित होता है। भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी प्रधानता रहा करती है। इसलिये हमारे यहाँ पाँच देवोंकी अपने-अपने रुच्यनुसार पूजा कही गयी है। ये देव भी एक-एक तत्त्व प्रधानतासे धारण करते हैं। इधर मन्दिरमें इन्हीं तत्त्वोंके गुण—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द मिलते हैं; इसलिये तत्त्वविशेषको धारण करनेवाले पुरुषपर उसके अनुकूल विषयका प्रभाव भी होता है। इसी मन्दिरमें शङ्खनाद भी किया जाता है। उससे फेफड़ोंकी शुद्धि तथा छातीकी विशालता सम्पन्न होती है। कीटाणुओंका नाश होता है। इधर मन्दिरस्थ वस्तुएँ—पञ्चगव्य, तुलसी आदि सभी पदार्थ लाभ-प्रद होते हैं। इस प्रकार देवमन्दिरमें जाना 'जीवेम शरदः शतम्' इस वैदिक उक्तिको बतलाता है।

चरणामृतका वैज्ञानिक महत्त्व—इसी देवमन्दिरमें फिर हम चरणामृत लेते हैं, जिसका माहात्म्य 'अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्' प्रसिद्ध ही है। वह हमारे लिये दिव्य ओषधिका काम देता है। पूजाके समय ताम्रपात्रमें रक्खी शालग्रामकी प्रतिमाका मन्त्रोच्चारसे गङ्गाजलद्वारा संस्कार होता है। तुलसीदल, केसर, चन्दन, कस्तूरी आदि पदार्थ उसमें मिले रहते हैं। शालग्राम गण्डकी नदीका पदार्थविशेष है, जिसमें छोटे-छोटे सुवर्ण-कण मिले रहते हैं। वेद सुवर्णसे सौ वर्षकी आयु बताता है। ताँबेका प्रभाव तो विज्ञानप्रसिद्ध है ही। उसमें रक्खा हुआ जल रोगनाशक होता है; फिर गङ्गाजलकी कीटाणुनाशिनी शक्ति तो विश्वविदित ही है। तुलसीदलमें भी विविध व्याधियोंको दूर करनेकी सामर्थ्य है। केसर, चन्दन, कस्तूरीका तो बहुत रोगोंमें उपयोग किया ही जाता है और फिर वेदमन्त्रोंकी शक्ति हिंदु-संस्कृतिमें प्रसिद्ध ही है। इधर वही जल शङ्खमें डाला हुआ और भी शक्तिसम्पन्न हो जाता है। तब वह जल एक अमृतका काम करता है। उसके सेवनसे अकालमृत्यु नहीं होने पाती। इधर मन्दिरमें प्रातःकाल जाना पड़ता है, इस व्याजसे प्रातः-भ्रमण भी हो जाता है। प्रात-र्भ्रमणके लाभ भी जगत्प्रसिद्ध हैं। और फिर उस समय हमारे पालक भगवान्से हमारी एकता हो जाती है। धूप तथा घृतका चतुर्मुख दीपक, उसका शुद्ध आलोक इत्यादि सभी पदार्थ हमारी अकालमृत्युको दूर करते हुए—'विष्णुपादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते' इस पद्यको चरितार्थ किया करते हैं। यह बात अर्थवाद न होकर सत्य है; क्योंकि इस अवसरकी निष्काम भगवद्भक्ति मुक्ति देकर हमारे पुनर्जन्मको हटा देती है। इस प्रकार चरणामृतपानसे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक लाभ होते हैं।

शङ्खनाद—श्रीजगदीशचन्द्र वसुने अपने वैज्ञानिक प्रयोगों-द्वारा सिद्ध कर दिया है कि जहाँतक शङ्खका नाद जाता है, वहाँतक रोगके अनेक विषाक्त कीटाणु उस नादके सुननेसे ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार वहाँकी वायु शुद्ध होती है। हमारे यहाँ भी प्रसिद्ध है कि 'शङ्ख बाजे, भूत भागे।'

कीटाणु भी सूक्ष्म भूतोंके अन्तर्गत होते हैं। इधर यह शङ्ख गूँगोंको भाषणशक्ति प्रदान करता है। इसलिये छोटे-छोटे बच्चोंके गलेमें छोटे-छोटे शङ्खोंकी माला पहनायी जाती है। इससे बच्चे जल्दी बोलने लग जाते हैं, उन्हे दृष्टिदोष भी नहीं होता। इसकी श्रेष्ठता होनेसे ही मन्दिरोंमें आरतीके समय भक्तोंपर शङ्खका जल डाला जाता है। यूरोपीय वैज्ञानिकोंने भी शङ्खमें मनुष्यहितकारिणी विद्युत् मानी है। शङ्खमे यदि गङ्गाजलको सिद्ध करके पिलाया जाय, तो कीटाणुमूलक सब रोग दूर हो सकते हैं। इसमें कोई विशिष्ट व्यय भी नहीं होता। इसके अनेक लाभोंको देखकर प्राचीन कालमें स्त्रियाँ शङ्खकी चूड़ियाँ पहनती थीं, अब भी बंगालमें पहनती हैं, जिसका—

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशङ्खवत्।

(४।९)

—इस 'सांख्यदर्शन' के सूत्रमें सकेत किया गया है।

जप-पाठ—प्रत्येक विशिष्ट शब्द एक विशिष्टता रखता है। इसी कारण वेदके शब्दोंकी आनुपूर्वीमें परिवर्तन नहीं किया जाता; क्योंकि उसके शब्दोंको उसी आनुपूर्वीसे पढ़नेमें लाभ विशेष होता है। उसी आनुपूर्वीका मेघोंपर भी प्रभाव पड़ता है, वृष्टि हो जाती है। सूर्यादि देवोंपर प्रभाव पड़ता है, जिससे वे प्रसन्न होकर लाभ पहुँचाते हैं।

फ्रांस देशकी प्रसिद्ध वैज्ञानिक महिला मैडम फिनेलाङ्ग नामकी है; उसने शब्दके विषयमें पर्याप्त अनुभव किये हैं। एक दिन विशिष्ट अनुभवके लिये उसने बिजलीके तारोंको एक स्थानमें जोड़ा। साथ ही एक चाकका टुकड़ा भी बाँध दिया, और काला बोर्ड भी रख दिया। निकटमें ही वह एक कुर्सीपर बैठकर गाने लगी। कुछ समयके बाद मुखको ऊँचा करके उसने देखा और हैरान हो गयी। उस बोर्डपर रेखाएँ खिंची थीं। उस बोर्डको उसने साफ कर दिया।

फिर वह अपने प्रेमीके विषयमें गाने लगी। साथ ही उसने देखा कि उस स्वरसे बिजलीके तार काँप रहे हैं, और उस बोर्डपर आकृति बन रही है। यह जानकर वह प्रसन्न हुई कि शब्दोंका आभ्यन्तरिक भावोंसे गहरा सम्बन्ध है। यह प्रसिद्ध है कि मृग आदि पशु तथा सर्प भी गाने या वंशी-ध्वनिमें मस्त होकर खेलते हैं। युद्धमें विशिष्ट गानसे अश्वोंमें आवेश आ जाता है। वे कूदते हुए युद्धमें अग्रसर होते हैं। अस्तु, जब उसने गानेसे आकृतियाँ बनती हुई देखीं, तब उसने भिन्न-भिन्न गानोंका प्रभाव जाननेके लिये यत्न किया। वह रोमन कैथलिक गिरजागृहमें प्रार्थनाके लिये गयी। वहाँ भी उसने बिजलीका वह यन्त्र लगाया। जब प्रार्थना समाप्त हो गयी, तब बोर्डपर एक स्त्री तथा एक लड़केकी आकृति बन गयी। इन आकृतियोंका सम्बन्ध ईसा तथा उसकी माँसे था।

फिर भी वह सन्तुष्ट न हुई। पैरिसके एक महाविद्यालयमें एक बङ्गाली विद्यार्थी पढता था। उसे उसने कोई धार्मिक गाना गानेके लिये कहा। वह विद्यार्थी नये वायुमण्डलमें पला होनेसे धार्मिक गानोंसे अनभिज्ञ था। हाँ, बाल्यावस्थामें पिताने उसे भैरवाष्टक सिखलाया था। जब उसने वह स्तोत्र ऊँचे स्वरसे सुनाया, तब उस काले बोर्डमें भैरवकी मूर्ति बन गयी। इन बातोंसे स्पष्ट है कि जप वा उच्च स्वरसे पाठ करनेमें कितनी शक्ति है। इसी सिद्धान्तसे ग्रामोफोन यन्त्रका आविष्कार हुआ।

जपना १०८ बार क्यों ?—हमारे श्वास प्रत्येक पलमें ६ निकलते हैं। २॥ पलोंके एक मिनटमें हमारे १५ श्वास निकलते हैं। इस हिसाबसे एक घंटेमें ९०० तथा दिनभरके १२ घंटोंमें १०,८०० श्वास हमारे निकलते हैं। एक दिनके इतने श्वासोंमें हमे अपने इष्टदेवको याद करना चाहिये। परंतु लोकयात्रामें इतना सम्भव नहीं, अतः १०,८०० के पिछले दो शून्योंको हटाकर १०८ बार इष्टदेवका जप किया जाता है।

अथवा इसमें एक अन्य रहस्य है। मायाका अङ्क ८ होता है और ब्रह्मका ९ अङ्क। मायामें परिवर्तन या परिवर्धन होता है, ब्रह्ममें नहीं। देखिये ८ का पहाड़ा। ८ × १ = ८; ८ × २ = १६ (१ + ६ = ७)। यह आठका पहाड़ा दुगना होनेपर ७ हो गया है। ८ × ३ = २४ (२ + ४ = ६); अब वही ६ हो गया है। इसी प्रकार आगे भी क्रम-क्रमसे वह कम होता जाता है। जैसे—८×७=५६ (५+६=११, १+१=२); यहाँपर २ ही रह जाते हैं। ८ × ९ = ७२ (७ + २ = ९) यहाँ वही बढ़कर ९ हो जाता है। पर ब्रह्मका अङ्क ९ उसी रूपमें रहता है। जैसे कि ९ का पहाड़ा देखिये—९ × १ = ९; ९ × २ = १८ (१ + ८ = ९); ९ × ३ = २७; (२ + ७ = ९); ९ × ७ = ६३ (६ + ३ = ९) इत्यादि। इसमें कोई विकार नहीं हुआ।

हिंदु-जाति प्रारम्भसे ही सूर्यभक्त रही है, इसलिये उसकी सन्ध्यामें सूर्यको अर्घ्य दिया जाता है। सविता (सूर्य) का ही गायत्रीरूपमें जप होता है, जपमें साधन माला होती

है। उसकी १०८ मणियाँ होती हैं। सूर्यके १२ भेद होते हैं; उनका बारहवाँ भेद विष्णु है। सूर्यकी १२ राशियाँ होती हैं। वह सूर्य ब्रह्मरूप है—'सदैवाऽऽऽसावादित्यः' (यजुः वा० सं० ३२ । १)। ब्रह्मका अङ्क ९ है, यह पहले कहा जा चुका है। १२ अङ्कवाले सूर्यके साथ ९ अङ्कवाले ब्रह्मको गुणा करनेसे १०८ संख्या होती है। इस कारण सूर्यात्मक विष्णुका जप भी १०८ बार होता है। १०८ का योग १ + ८ = ९ होता है। ९ अङ्क ब्रह्मका प्रतीक होता है, यह कहा ही जा चुका है। इसलिये ब्रह्मवित् संन्यासियोंके नामके साथ भी 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इस न्यायसे ब्रह्मका प्रतिनिधि 'श्री १०८' लिखा जाता है।

पश्चिम-उत्तरमें सिर करनेका निषेध—

यथा स्वकीयान्यजिनानि सर्वे
संस्तीर्य वीराः सुषुपुर्धरण्याम्।
अगस्त्यशास्ताम् (दक्षिणाम्) अभितो दिशं तु
शिरांसि तेषां कुरुसत्तमानाम्॥
(महाभा० १ । १९४ । ८-९)

यहाँपर युधिष्ठिर आदिका सोते समय दक्षिण दिशाकी ओर सिर करना दिखलाया है।

प्रत्यगुत्तरशिराश्च न स्वपिति। (३ । १ । ८)

'वैखानसगृह्यसूत्र'के इस वचनमें पश्चिम तथा उत्तरसे सिर करके सोनेका निषेध किया गया है। इसका कारण विज्ञान यह बताता है कि उत्तरीय ध्रुवसे दक्षिण ध्रुवकी ओर इस प्रकारकी लहरें चलती हैं, जो मस्तिष्कको हानि पहुँचाती हैं। इसलिये उत्तर दिशाकी ओर शवका ही सिर किया जाता है।

पश्चिम दिशामें सिर करनेके लिये 'शतपथ'में निषेध किया है—

तस्माद्ु ह न प्रतीचीनशिराः शयीत।
(३ । १ । १ । ७)

उसका कारण यह है—'प्राची हि देवानां दिक्' (शत० १ । ८ । ३ । १८)—पूर्व दिशा देवताओंकी दिशा है; उधर पैर करनेसे देवताओंका अपमान होता है। पूर्व दिशाकी ओर सिर रखनेसे देवताओंके सम्मानकी बात आयुर्वेद भी बताता है—

प्राच्यां दिशि स्थिता देवास्तत्पूजार्थं च तच्छिरः।
(सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान १९ । ६)

ग्रह-नक्षत्रादि सभी पश्चिमसे पूर्वकी ओर जाते हैं; अतः पूर्व दिशा देवदिशा स्पष्ट है।

ग्रहणमें भोजनादिका निषेध—सूर्य-चन्द्रके ग्रहण-समयमें बहुत-से कीटाणु फैल जाते हैं—यह बात अणुवीक्षण-यन्त्रसे देखी जा सकती है। इसीलिये ऋषियोंने पदार्थोंमें कुश डालनेकी बात कही है, जिससे सब कीटाणु उसमें आ जाते हैं। ग्रहणके बाद वह कुशा बाहर फेंक दी जाती है और शुद्धवर्ण पात्रोंमें अग्नि भी डाली जाती है। अपने भीतरी-बाहरी कीटाणुओंके हटानेके लिये ग्रहणके बाद ऋषियोंने स्नानकी व्यवस्था की। स्नान करनेसे शरीरके भीतरसे ऊष्मा उत्पन्न होता है, जिसके कारण भीतर-बाहरके कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। ग्रहण-समयमें ड्यूक-यूनिवर्सिटीके प्रोफेसर मि० टॉमहेल्डनने पर्याप्त अनुसन्धान करके सिद्ध किया है कि सूर्य-चन्द्रके ग्रहणके समय पेटकी पाचनशक्ति कम हो जाती है। तब भोजन करनेपर शारीरिक या मानसिक हानिकी आशङ्का रहती है।

मिट्टीसे हस्तशुद्धि—पुराकालसे आकर हाथोंको मलके तथा मिट्टीसे शुद्धि करनी पड़ती है—यह प्राचीन व्यवहार है। परंतु आजकलके सुधारक लोग प्राचीन सभी आचारोंको दूषित मानते हैं। वे साबुनका उपयोग करते हैं; परंतु वे नहीं जानते कि साबुनसे मलके परमाणु नष्ट नहीं होते। उन परमाणुओंके सर्वथा नाश करनेकी शक्ति मिट्टीमें ही होती है। इसलिये हमारे प्राचीन मुनि आज्ञा देते थे कि गाँवके बाहर शौचार्थ जाओ, वहाँ गड्ढा करके मलत्याग करो; उस मलको फिर मिट्टीसे ढक दो। उसमें यही रहस्य था कि मिट्टी मलके कीटाणुओंको नष्ट कर देती है। प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धतिके आधुनिक आविष्कारक श्री लूई कूनेने विविध रोगोंपर मिट्टीका प्रयोग करके बड़ी सफलता प्राप्त की थी। आज भी प्राकृतिक चिकित्सामें मिट्टीका सफल प्रयोग होता है। मिट्टीमें रोगनाशक शक्ति है। सर्पदंशतकमें मिट्टीसे लाभ होता देखा गया है। वहाँ जैसे मिट्टीकी जगह साबुनका प्रयोग अयुक्त होगा, वैसे ही हाथ आदि धोनेमें समझना चाहिये।

साबुनमें चिकनाहट होती है। अतः वह मलके परमाणुओंको दूर नहीं कर सकता; प्रत्युत उसमें मलके परमाणु ठहर जाते हैं। इधर उसी साबुनको अन्य भी प्रयुक्त करते हैं; इस प्रकार मलके परमाणु बढ़ जाया करते हैं। साबुन एक ऐसा पदार्थ है कि उसकी एक टिकियाका एक ही मनुष्यको प्रयोग करना चाहिये, अन्यथा एक दूसरेके परमाणु इकट्ठे होकर एक दूसरेमें संक्रान्त हो जाते हैं। इधर साबुनमें व्यर्थ खर्च भी होता है। अतः इस अवसरपर मिट्टीका उपयोग ही ठीक है।

'मनुस्मृति'में 'आचारस्य च वर्जनात्' (५ । ४)

—आचारके छोड़नेको भी असामयिक मृत्युके कारणोमे गिना है। इससे स्पष्ट है कि आचारके पालनेसे मनुष्य पूर्णायु होता है। इसलिये 'आचारः प्रथमो धर्मः' (मनु० १। १०८) कहा गया है।

गण्डूषविधान—मलत्यागके बाद हस्तशुद्धि करके गण्डूष (कुल्ला करने) का विधान भी आया है। वह भी रहस्य-पूर्ण है। हम किसी गलीमे जा रहे हो, और वहाँ मल पड़ा हुआ हो तो हम उस स्थलको पार करके मुँहसे थूक गिरा देते हैं; उसका कारण है कि हमारे मुखमे दुर्गन्धके परमाणु पहुँच जाते हैं, उन्हे निकालनेके लिये थूका जाता है। इस प्रकार पुरीपालयमें कुछ देर रहनेसे मुखमे गये गंदे परमाणुओंको हटानेके लिये साधारण थूकसे काम नही चलता; तब बारह बार कुल्ला किया जाता है, जिससे मुखकी पूर्ण शुद्धि हो जाय। इसी प्रकार मूत्र-त्यागके बाद भी कुल्ले करने चाहिये।*

भोजनशुद्धि—भोजन सात्त्विक, न्यायोपार्जित धनसे प्राप्त तथा सात्त्विक एवं शुद्ध पुरुषका बनाया होना चाहिये। इस बातकी अवहेलना करनेसे भी शारीरिक-मानसिक हानि होती है।

आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ।

(मनु० ५। ४)

यहाँपर अन्नदोषको भी असामयिक मृत्युका कारण बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद्में कहा है—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते; तस्य यः स्थविष्ठो धातुः, तत् पुरीषं भवति; यो मध्यमस्तन्मांसम्; योऽणिष्ठस्तन्मनः ।

(६।५।१)

यहाँपर भोजनके सूक्ष्म अंशको मन कहा गया है। इसलिये प्रसिद्ध है—

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

(छा० ७। २६। २)

अन्नमयꣳ हि सोम्य ! मनः। (छा० ६। ५। ४)।

* हमारे यहाँ भोजनके उपरान्त कुल्ले करनेकी प्रथा है। इससे दाँतोंमें अन्नकण नहीं रहनेसे दन्तरोग प्राय. नही होते। यूरोपादि देशोंमें भोजनोपरान्त कुल्ले न करनेसे अधिकांश लोगोंको पायरिया रोग हो जाता है।

इस प्रकार अन्नकी अशुद्धि होनेसे मनको हानि पहुँचती है। भीष्मपितामहने दुर्योधनका अन्यायोपार्जित पापिष्ठ अन्न ग्रहण किया था; इसीसे द्रौपदीके वस्त्र-हरणके समय ठीक सम्मति देनेमे उनका ज्ञान लुप्त हो गया।

१०. प्राचीन साहित्यमें स्त्रियोंका स्थान

'प्राचीन साहित्यमे स्त्रियोपर अत्याचार किया गया है; विधवा होनेपर उन्हें विवाहकी आज्ञा नही। उनके लिये व्रत-उपवास आदि अधिक नियत किये गये है। उनको अन्य पति करनेका आदेश नही दिया जाता, उनको पर्देमे—घरमें बंद रक्खा जाता है, उनकी विशिष्ट रक्षा की जाती है, उनपर विश्वास नही किया जाता, उन्हे स्वतन्त्रता नही दी जाती। उन्हे विद्या पढ़नेका आदेश नही, बच्चेके पालन आदिका कष्ट उन्हे दिया जाता है।' आजकलके ये प्राचीन साहित्यपर आक्षेप हैं। वस्तुतः वस्तुस्थितिपर विचार नही किया जाता। हमारा प्राचीन साहित्य किसीका भी द्वेषी नही रहा; सबका वह हितैषी रहा है।

इसपर यह जानना चाहिये कि स्त्रीजातिकी पवित्रतामें ही देशका उद्धार तथा स्त्री-जातिके पतनमे देशका पतन अनिवार्य है; इसीलिये हिंदु-जातिके साहित्यमें पुरुषकी अपेक्षा कन्या वा स्त्रियोकी रक्षापर अधिक ध्यान रक्खा गया है। सन्तानमे पिताकी अपेक्षा माताका प्रभाव अधिक पड़ता है। स्त्री-जातिकी अपवित्रतासे सम्पूर्ण जाति ही अपवित्र हो सकती है। चाकू खरबूजेपर गिरे, अथवा खरबूजा चाकूपर गिरे; दोनो ही प्रकारसे खरबूजेकी ही हानि है। इस प्रकार स्त्री विकारको प्राप्त होकर अन्य पुरुषपर आसक्त हो जाय, अथवा पुरुष विकारयुक्त होकर अन्य स्त्रीमे आसक्त हो जाय, दोनों ही प्रकारसे स्त्रीका पतन अवश्यम्भावी है। इसलिये भगवद्गीतामे अर्जुनने भी कहा है—

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥

(१। ४१—४४)

मनुने भी कहा है—

··· अवेद्यावेदनेन च । ··· जायन्ते वर्णसङ्कराः ।

(१० । २४)

इससे स्पष्ट है कि स्त्रीकी दुष्टतासे सारी जातिका पतन उपस्थित हो जाता है। वर्णसंकरताको हमारे शास्त्रकार बहुत निन्दित समझते थे।

इसीलिये हमारे सुदक्ष प्राचीन शास्त्रकारोंने स्त्रियोंके लिये कठोर नियम रक्खे हैं। इस प्रकार उन्होंने स्त्री-जातिको सुरक्षित कर दिया। स्त्री-जातिकी सुरक्षासे ही व्यभिचार असम्भव हो जाता है। हमारी स्त्री-जातिका तपोमय जीवन है। ऐसी दशामें शास्त्रकारोंपर आक्षेप व्यर्थ है। फिर शास्त्रकारोंने ही स्त्रीको कष्ट दिया है, यह बात नहीं। उनको कष्ट प्रकृति स्वयं देती है। प्रतिमास अस्पृश्यता वे ही धारण करती हैं, दस मास गर्भ-धारणका कष्ट वे ही प्राप्त करती हैं, प्रसव-कष्ट—जिसमें दाईके प्रमादसे प्राण भी संशयमें पड़ जाते हैं—वे ही सहती हैं। अपहरणादिक भी स्त्रियोंके ही होते हैं। स्वाभाविक दुर्बलतासे रोग भी इन्हें ही घेरे रहते हैं। इन सबका कारण क्या है?

कारण है पूर्वजन्मके कर्म। हिंदु-संस्कृति कर्मव्यवस्थाको मानती है। पूर्वजन्मके कुछ कर्मविशेषसे—जिसका वर्णन शास्त्रोंमें आता है किंतु यहाँ जिसका वर्णन अशक्य है—पुरुष-योनिसे पतित होकर जीव स्त्री-योनिमें जाता है। तत्प्रयुक्त ही कष्ट स्त्री-जातिको मिलते हैं। कर्मोंका क्षय भोगसे ही हुआ करता है। तपस्या कष्टप्राप्त्यर्थ हुआ करती है, उस कष्टसे प्राक्तन जन्मोंके दुष्कर्मोंका क्षय हो जाता है, उसके फलस्वरूप अन्य जन्मोंमें अधिक सुखकी प्राप्ति होती है। वैसे ही स्त्रीका जीवन भी तपस्यारूप है। उसमें भी अनिवार्य कष्टोंके मिलनेसे पूर्वजन्मोंके कर्मोंका क्षय हो जाता है। अग्रिम जन्म उनका सुखजनक होता है। हिंदु-संस्कृति दूरदृष्टिवाली है, उसकी दृष्टि भविष्यत्पर रहती है; अदूरदर्शी सम्प्रदायोंके व्यक्ति इस संस्कृतिको व्यर्थ ही कलङ्कित करते हैं। वे लोग वर्तमान कालको देखते हैं; न पूर्वजन्मका विचार करते हैं न भविष्यत् जन्मका। वे उन्हें एकान्त सुख देकर, उनका अवशिष्ट पूर्वजन्मका पुण्य भी क्षीण करके, इस जन्ममें भी पातिव्रत्यसे छुट्टी दिलाकर—जिससे कि उनकी सद्गति हो सकती है—उन्हें अग्रिम जन्ममें सीधा पशुयोनिमें भेजना चाहते हैं।

जो रोग कड़वी ओषधिसे दूर होने योग्य हो, वहाँपर कड़वी दवाईको छुड़ाकर यदि रोगीके हितैषी बननेवाले बन्धु उसे मिठाइयाँ खानेको देते हैं; तो स्पष्ट है कि वे लोग रोगीका अवशिष्ट बल भी समाप्तकर उसे राजयक्ष्माका शिकार बनाना चाहते हैं। वे बन्धु हैं या उसके शत्रु—यह सोचना पाठकोंका काम है। वे लोग 'यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव' (गीता १८। ३८) तथा 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' (१८। ३७)—इन सुखोंके तारतम्यको नहीं सोचते।

फलतः सन्तान शुद्ध हो, धर्मात्मा हो, वर्णसङ्कर न हो—एतदर्थ विधवाविवाहादि अथवा परपुरुषसङ्गका निषेध किया गया है। इसीलिये स्त्रियोंका कार्यक्षेत्र 'घर' बतलाया गया है, 'बाहर' नहीं। वेद उसे 'गृहपत्नी' (ऋ० १० । ८५ । २६); 'गार्हपत्याय जागृहि' (अ० १४ । १ । २१), 'गृहा वै गार्हपत्यः' (शत० १ । ७ । ४ । १८) कहकर घरके क्षेत्रमें ही रहनेको कहता है और घरेलू काम देता है—जैसे कपड़ोंका बुनना (अ० १४ । २ । ५१), पानी भरना, भात पकानेके लिये जल लाना (३ । १२ । ८, ११ । १ । १३), घड़ा उठाना (अ० ११ । १ । १४); भोजन तैयार करना (११ । १ । २३), घरमें रहना (१४ । २ । १३), बीज-वपन करना (१४ । २ । १४), पतिके अनुसार उसके कुलमें नियुक्त होना, सन्तानका उत्पादन करना (१४ । १ । ५५) इत्यादि।

स्त्रीको विद्याके कार्यमें प्रवृत्त न करने तथा बच्चोंके पालन आदि कार्यमें नियुक्त करनेका रहस्य यह है कि प्रकृतिने स्त्रीको अबला बनाया है। उसका कारण यह है कि पिताके थोड़े शुक्र तथा माताके अधिक रजसे कन्याका शरीर बनता है। शुक्र सप्तम धातु होता है, रज तृतीय धातु होता है। अतः रज शुक्रकी अपेक्षा निर्बल होता है। शुक्रसे अस्थि आदि कठोर तथा शरीरको सबल करनेवाली वस्तुएँ बनती हैं। कन्याके शरीरमें अस्थि आदि कठोर वस्तुओंकी गौणता होती है, रजोमूलक कोमल वस्तुओंकी अधिकता होती है; अतएव कन्या पुरुषकी अपेक्षा प्रकृतिसे निर्बल है। परंतु कन्याओंको शिक्षा यदि दी जाय तो परीक्षा देनेके समय अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है; हर समय अपनी या अपनी छात्राओंकी उत्तीर्णता या अनुत्तीर्णता-की चिन्ता रखनी पड़ती है। तो अब सोचनेकी बात है कि उन अबलाओंका प्रबल परिश्रम, रजस्वलात्वके समयमें भी—जिस समय एकान्तमें शान्तिसे रहना लिखा है—पढ़ने-पढ़ाने जाना, परीक्षाएँ देते रहना आदि कार्य क्या उनको निर्बल न कर देंगे? क्या वे उनकी भीतरी हानि न करेंगे? क्या उन

परिश्रमका प्रभाव गर्भाधान अथवा प्रसवपर एवं सन्तानके शरीर या मस्तिष्कपर न पड़ेगा? फिर स्तनन्धयोंकी पुष्टि कैसे होगी?

पढ़ने-पढ़ाने जानेके समय उन स्त्रियोंके बच्चोंका पालन नौकरोंके अधीन हो जाता है। वेतनग्राही नौकर उस बच्चेकी सेवा क्या करेगा? वह मातावाला हृदय कहाँसे लायगा? थकी हुई माताका स्तन्य भी उस बच्चेकी पुष्टि क्या करेगा? इधर खाद्य पदार्थ निस्सार मिल रहे हैं; तब बालकोंकी आयु बढ़ेगी या घटेगी? अध्यापिकाएँ बनकर धन इकट्ठा कर 'ममेयमस्तु पोष्या' (अथर्व० १४। १। ५२)—इस वैदिक विवाहके नियमके विरुद्ध वे 'पोष्या' न बनकर 'पोषक' बन रही हैं। जहाँ पहले वे 'गृहस्वामिनी' बनती थीं, वहाँ अब अध्यापिका बनकर पर-पुरुषों (संस्थाके मन्त्री, प्रधान आदि) की 'किङ्करी' बनती हैं और पतिलोग 'स्त्रीवित्तेनाधमाधमाः' "स्त्रियं ये चोपजीवन्ति प्राप्तास्ते मृतलक्षणम्"के विरुद्ध चल रहे हैं; दोनोंमें समानता आ जानेसे स्वस्वामिभाव हट रहा है और विवाद बढ़ रहे हैं।

इधर स्त्रीको वेदादि पढ़ाना जहाँ शास्त्रविरुद्ध है, वहाँ लौकिक दृष्टिसे भी उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि स्त्रियोंका स्त्रीत्व उन्हें प्रायः अपवित्र दशामें रहनेके लिये बाध्य करता है, जिससे वेदादिके मूल यज्ञोपवीतके नियमोंका पालन भी उनके लिये कठिन पड़ जाता है। प्रतिमास रजस्वला होनेपर, प्रसवकालमें तथा प्रतिसमय नवजात शिशुओंके मल-मूत्र आदि धोनेमें ही स्त्रियोंका समय व्यतीत होता है। स्त्रीके जिस वक्षःस्थलपर ब्रह्मसूत्रको लटकाया जायगा, वह तो धूलि-धूसरित, मलमूत्रदिग्धाङ्ग नवजात शिशुका दिन-रात स्तनपानके समय क्रीडा-स्थल बना रहेगा। क्यों न वह उस डोरीके साथ कुतूहलसे किलोल करेगा? तब पवित्रता कैसी?

अविश्वासका कारण यह है कि—'पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति' (उत्तररामचरित ४। १२)। स्वामी श्रीदयानन्दजीने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश'में लिखा है—'प्रायः स्त्रियोंका स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है' (समुल्लास ४, पृष्ठ ४७)। 'स्त्रियोंको प्रिय वही होता है, जो स्त्रैण अर्थात् स्त्रीभोगमें फँसा हो।' (समु० ११, पृ० २३४)। 'स्त्री-पुरुषकी कामचेष्टा तुल्य अथवा पुरुषसे स्त्रीकी [कामचेष्टा] अधिक होती है (समु० ११, पृ० २३६)। इन सब कारणोंसे स्त्रियोंके हर एकके द्वारा बहकाये जानेकी आशङ्का होती है। इसीलिये उनपर सब रहस्य प्रकट नहीं किया जाता, क्योंकि कोई कही गयी गुप्त बात उनसे प्रायः छिपायी नहीं जा सकती। इसमें स्वाभाविकता है, स्वाभाविकतामें निन्दा या हीनताकी बात नहीं होती। यही उनपर विश्वास न करनेका रहस्य है।

फलतः निष्पक्ष शास्त्रकारोंने स्त्री-जातिपर कोई अत्याचार नहीं किया; किंतु जो कुछ उनके लिये विधान किया है, वह उनके हितैषी बनकर। उसी शास्त्रमें माताका स्थान सबसे बड़ा माना गया है। 'स्त्रियः समस्तास्तव देवि भेदाः' यह सिद्धान्त रक्खा गया है, स्त्रियोंको पतिका अर्धाङ्ग माना गया है। उनको घरकी स्वामिनी माना गया है, सारे परिवारकी निरीक्षिका माना है। उनके पातिव्रत्यको भारतवर्षका मुख उज्ज्वल करनेवाला माना गया है।

(विद्वान् लेखकने अन्य कई विषयोंपर भी अपने महत्त्व-पूर्ण विचार प्रकट किये थे, परंतु स्थानाभावसे वे प्रकाशित नहीं किये जा सके। एतदर्थ हम उनसे क्षमाप्रार्थी हैं।—सम्पादक)

भारतीयोंका आचार

'भारतीयोंके प्रति सेवाका कार्य कर देनेवाला कोई भी व्यक्ति उनकी कृतज्ञताका सदा विश्वास कर सकता है। परंतु उनका अपराध करनेवाला उनके प्रतिशोधसे बच भी नहीं सकता। उनका अपमान करनेपर वे अपना कलङ्क मिटानेके लिये प्राणोंतककी बाजी लगा देते हैं। यदि कोई कष्टमें पड़ा हो और उसकी सहायता माँगे तो वे अपने आपको भी भूलकर उसकी सहायताके लिये दौड़ पड़ेंगे।

'जब उन्हें किसी अपकारका बदला चुका लेना होता है, तब वे अपने विरोधियोंको सचेत कर देनेसे चूकते नहीं। फिर प्रत्येक व्यक्ति कवच धारण करके हाथमें कुंत ले लेता है। युद्धमें भागनेवालोंका तो वे पीछा करते हैं, परंतु शरणमें आये हुओंका वध वे नहीं करते।' —चीनी यात्री ह्वेनसांग (६४५ ई०)

हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डांगीजी')

'हिंदू' शब्द प्राचीन शास्त्रोंमें नहीं मिलनेसे व्याख्या-सम्बन्धी गहरे मतभेद हैं; पर मेरी मान्यता है कि भारतवर्षमें उत्पन्न सनातनधर्मपर अधिष्ठित सभी सम्प्रदाय हिंदू-संस्कृति-में सम्मिलित हैं। जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि सम्प्रदाय अपने आपको हिंदू भले ही न मानें; पर वे सनातनधर्मपर अधिष्ठित आर्य-परम्पराके अङ्ग होनेसे हिंदू ही हैं। हाँ, उस सनातनधर्म-पर अधिष्ठित हिंदुत्वकी तीन धाराएँ हैं—एक पारमार्थिक, दूसरी वैदिक और तीसरी लौकिक। पारमार्थिक धाराको हम वैदान्तिक धारा भी कह सकते हैं। वैदान्तिक धारा उपनिषदों-से सम्बन्ध रखती है—जो परमार्थपर अधिक जोर देनेमें निवृत्ति-परायण धर्मका प्रचार करती हैं। वैदिक धारा प्रवृत्तिपर अधिक जोर देती है, पर उसका तात्पर्य निवृत्ति ही है। लौकिक धारा व्यवहारकी प्रधानतापर खड़ी है। इस प्रकार इन तीनों धाराओंमें प्रवाहित होनेवाली हिंदू-संस्कृति समस्त संसारको परम कल्याणका सन्देश सुनाती रही है। सनातनधर्म हिंदू-संस्कृतिकी आत्मा है। जैन धर्म हृदय है, बौद्ध धर्म बुद्धि है, सिक्ख धर्म बाहु है, वैष्णव धर्म मुख है, शैव धर्म मस्तक है, शाक्त धर्म वीर्य है, गाणपत्य धर्म पेट है, सौर धर्म नेत्र है और अन्य-अन्य धर्मोंको भी उसके भिन्न-भिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्ग मान लेना चाहिये। इस प्रकार जो संस्कृति अपने भिन्न-भिन्न साधनोंसे दुर्वृत्तियोंको हनन करनेकी चेष्टा करती है, वही हिंदू-संस्कृति है—

हिनस्ति दुर्वृत्तीः इति हिंदुः।

जो अपने बलके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे दुर्वृत्तियोंको हनन करनेकी चेष्टा करता है, वही हिंदू है और यह चेष्टा निष्काम भावसे, शुद्ध पारमार्थिक दृष्टिकी अपेक्षासे विचार करें, तो सदासे भारतवर्षमें ही होती आयी है। अन्तमें हम भारतीय संस्कृतिके संस्थापक भागवतके ऋषभ-पुत्र भरत, रामायणके राम-भ्राता भरत और महाभारतके शाकुन्तल भरतको प्रणाम करते हैं।

त्याग तथा भोगका समन्वय

(लेखक—श्रीसत्यदेवजी विद्यालङ्कार)

हिंदू-जीवन और हिंदू-समाज-व्यवस्थामें त्याग और भोगका जैसा समन्वय किया गया है, वैसा सम्भवतः किसी भी अन्य जीवन और अन्य सामाजिक व्यवस्थामें नहीं है। 'सम्भवतः' इसलिये कि कदाचित् किसी जीवन अथवा व्यवस्थामें ऐसा विधान किया गया हो, तो उसका हमें ज्ञान नहीं है। अपने सीमित ज्ञान एवं अनुभवके आधारपर यह कहनेका साहस अवश्य किया जा सकता है कि मानव-जीवनको केन्द्र मानकर जितनी भी सामाजिक व्यवस्थाओंकी रचना या कल्पना की गयी है, उनमें त्याग और भोगका ऐसा समन्वय नहीं किया जा सका, जैसा कि हिंदू-जीवन और हिंदू-सामाजिक व्यवस्थामें किया गया है। हिंदू-दर्शनशास्त्रके अनुसार यह सारी सृष्टि प्रभुकी रचना है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' की भावनासे एक ब्रह्मसे ही यह अनेकविध सृष्टि उत्पन्न हुई है। ब्रह्मकी सन्तान होनेसे ही इस सृष्टिमें मानव-जीवन और सामाजिक व्यवस्थाका रूप ब्रह्मके ही अनुरूप होना चाहिये। आत्मा यदि परमात्माका ही रूप है, तो उसके लिये जीवनका क्रम और सामाजिक व्यवस्थाका स्वरूप भी परब्रह्मके ही अनुरूप होना चाहिये। आस्तिक हिंदूकी श्रद्धा और विश्वास स्वाभाविक रूपसे परमात्मामें इतना अधिक है कि उसके व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही जीवनोंपर परब्रह्मकी छायाका पड़ना अनिवार्य था। वैसा ही हुआ भी। ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें एक ही परब्रह्मको इस सृष्टिका कर्ता-धर्ता-हर्ता माना गया है। कर्मफलका नियन्ता होनेसे सारे मानवोंके भाग्योंका खेल उसीके हाथका खिलौना है। उसके श्वास-निःश्वासके साथ सृष्टिके विधि-विधानका सारा नियन्त्रण, सञ्चालन एवं संरक्षण जुड़ा हुआ है। इस सृष्टिमें इस प्रकार रमा होनेपर भी ब्रह्म उससे सर्वथा अलिप्त है। वासनासे वह सर्वथा शून्य है। कामनासे वह सर्वथा ऊपर है। लोक-व्यवहारसे वह सर्वथा रहित है। बस, यही तो त्याग और भोगके समन्वयकी सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। सृष्टिके खेलमें इतना लीन होनेपर भी वह उससे सर्वथा अलिप्त है। मानो वह सारा खेल केवल उसकी छाया है, जो उसका प्रतिबिम्ब होने-

पर भी उसको छू नहीं सकती। इस लाग-लपेटसे सर्वथा रहित महापुरुषकी कल्पना हिंदू-शास्त्रकी सर्वोत्कृष्ट कल्पना है, जिसके सौन्दर्यतक दूसरोका पहुँचना भी कठिन है। हिंदू-धर्म, हिंदू-शास्त्र, हिंदू-जीवन और हिंदुओकी सामाजिक व्यवस्था इस कल्पनाके अनुसार प्राणिमात्रके सम्मुख त्याग और भोगके समन्वयका उच्चतम आदर्श उपस्थित करते हैं। अवतारी महापुरुषोके जीवनमे यह आदर्श इसलिये पूर्णताकी चरम सीमाको पहुँचा हुआ मिलता है कि उनमे ईश्वरीय अंशकी मात्रा सर्वाधिक किंवा पूर्णताको लिये हुए होती है। आजकलकी भाषामें कहे तो अवतारी महापुरुष ईश्वरकी छाया, प्रतिबिम्ब अथवा फोटो ही होते हैं। इसीलिये उनमे ईश्वरीय गुणोका समावेश भी असाधारण मात्रामे रहता है। श्रीकृष्णकी लीला इस दृष्टिसे कितना ऊँचा आदर्श उपस्थित करती है! भोग, वासना या कामनाकी वहाँ यत्किञ्चित् गन्ध भी नहीं है। त्यागमय जीवनका पराकाष्ठाको पहुँचा हुआ कितना ऊँचा, कितना पवित्र, कितना महान् यह एक ही उदाहरण है! मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रने किष्किन्धा और लंकाको जीतकर अपने अधीन नहीं किया। अपना वहाँ कोई गवर्नर या शासक भी नियुक्त नहीं किया। वहाँके निवासियोको ही वहाँका शासन सौंप देना उस रामराज्यका एक चिह्न था, जिसकी नींव भोगपर न डालकर त्यागपर डाली गयी थी। शोषण, उत्पीड़न तथा दमनसे वह सर्वथा रहित था। इसी प्रकार राजा जनककी जिस विदेहस्थितिका इतना बखान किया गया है, उसका मर्म भी यही था कि राजा जनक जनकपुरीके राज्यके मालिक होते हुए भी उसका उपभोग किसी वासनाप्रधान भावनासे नहीं करते थे। वे राजा होते हुए भी 'भोक्ता' नहीं थे। त्यागभावसे राज्यका सञ्चालन, नियन्त्रण एवं संरक्षण उसी आदर्शके तो अनुरूप था, जिससे भगवान् इस संसार अथवा सृष्टिका सञ्चालन, नियन्त्रण एवं संरक्षण करते है। यह साधना साधारण नहीं है। कमलका पत्ता निर्जीव, वासनारहित और कामनाशून्य होनेसे जलमे रहता हुआ भी उससे स्निग्ध नहीं होता; किंतु मानवके लिये संसारमे रहकर अलिप्त रहना तभी सम्भव है, जब कि वह भोगके साथ त्यागका समन्वय करके भोगको त्यागके अधीन रख सकता है। भर्तृहरिका यह कहना कितना सत्य है—

> विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
> स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
> शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
> स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्॥

'विश्वामित्र तथा पराशर-सरीखे महामुनि भी, जो केवल पानी, पत्तो तथा हवापर निर्भर थे, जब कमलके समान सुन्दर स्त्री-मुखको देखते ही मोहमे फँस गये, तब जो लोग दूध, घीसे मिले हुए चावलका सेवन करते हैं, उन लोगोका यदि इन्द्रिय-संयम हो जाय, तो यह मानना चाहिये कि विन्ध्य पर्वत भी सागरमे तैर सकता है।' इस स्थितिसे मानवका उद्धार करनेके लिये ही तो हिंदू-संस्कृतिमे त्याग और भोगका यह समन्वय किया गया है।

आत्मा परमात्माकी छाया होनेपर भी मानव परब्रह्मके इस आदर्शसे दूर क्यो चला जाता है? केवल आस्तिक हिंदू ही उसके आदर्शको क्यो अपना सका? इन और ऐसे प्रश्नोका समाधान बिल्कुल स्पष्ट है। एक ही पिताके सारे पुत्र अपने पिताके अनुरूप नहीं होते। एक पिताका एक पुत्र सदाचारी बनकर संयमका उच्चतम आदर्श उपस्थित करता है, तो दूसरा कदाचारका निकृष्टतम उदाहरण उपस्थितकर अपनेको और अपने माता-पिताको भी लज्जित कर देता है। एक गरीब घरमे जन्म लेकर सम्पन्न बन जाता है, तो दूसरा सम्पन्न घरमे जन्म लेकर भी कंगाल बन जाता है। महात्मा गान्धी और लोकमान्य तिलकके पुत्र यदि अपने पिता-जितना ऊँचा नहीं उठ सके, तो इसका दोष इन महापुरुषोंको तो दिया नहीं जा सकता। पिता अपने जीवनसे और अपने उपदेशसे अपनी सन्तानके सामने उच्चतम आदर्श उपस्थित करता है; किंतु उसपर आचरण करना तो सन्तानपर ही निर्भर होता है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्माने मानवके सामने अपने व्यवहारसे जो परम पुनीत आदर्श उपस्थित किया और अवतारी तथा सिद्ध महापुरुषोके जीवनसे जिसका उच्चतम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया, उसका उपदेश भी उसने अपनी वाणी 'वेद'के रूपमे दे दिया। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायमें कहा है—

> ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

'इस दृश्य जगत्मे जो कुछ भी है, वह सब ईश, भगवान्, परब्रह्म परमात्मासे ओतप्रोत है। उस संसारका भोग त्यागभावसे ही करो। कभी किसीका धन मत छीनो।' कितना सुन्दर यह आदेश अथवा उपदेश है! यदि आजका मानव इसको अपना सके तो संयुक्त राष्ट्रसङ्घके

लंबे-चौड़े भाषणों तथा प्रस्तावों, संयुक्तराष्ट्र अमेरिकाकी लंबी-चौड़ी शस्त्र-योजनाओं, रूसकी रक्तरञ्जित साम्यवादी विचारधारा और अन्तर्राष्ट्रिय जगत्में 'मुँहमें राम बगलमें छुरी'की तरह चली जानेवाली कुचालों तथा इसी आधारपर की जानेवाली कूटनीतिपूर्ण सन्धियों एवं सुलहनामोंके विना भी संसारमें चिर शान्ति, स्थायी सुख और स्थिर व्यवस्था कायम हो सकती है। इसके न अपनाये जानेका दुष्परिणाम ही तो आजका मानव भोग रहा है। दुःख यह है कि आजके हिंदूकी भी इसमें उतनी आस्था नहीं रही और उसका व्यवहार भी उसके सर्वथा विपरीत अथवा प्रतिकूल हो गया है। वह भी भोगवादी बनकर त्यागमय जीवनसे दूर और बहुत दूर चला गया है।

इसका यह अर्थ नहीं कि आजका हिंदू यदि अपनी मर्यादापर कायम नहीं है, तो उस प्राचीन मर्यादाका कुछ भी महत्त्व नहीं है। संसारमें यदि सत्यका व्यवहार अथवा सदाचरण कम हो चला है, तो उसका यह अर्थ तो कदापि नहीं हो सकता कि सत्य और सदाचरणका कुछ भी महत्त्व नहीं है। मानवका आचरण कैसा भी पतित क्यों न हो जाय; फिर भी सत्यकी निष्ठा, सत्यके आचरण और सत्यके व्यवहार-का महत्त्व तो मानवके जीवनके लिये बना ही रहेगा। इसी प्रकार हिंदू-जीवनके प्राचीन आदर्श और प्राचीन मर्यादाका महत्त्व भी कम होना सम्भव नहीं है। त्याग और भोगके समन्वयकी आधारशिलापर ही हिंदू-जीवनकी प्राचीनतम किंवा सर्वप्रथम मर्यादा अथवा व्यवस्थाकी रचना की गयी थी। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' ही उसका मूलमन्त्र था। इसका यह भी अर्थ किया जाता है कि 'उस भगवान्‌द्वारा त्यागे हुए अथवा दिये हुएका ही भोग करो।' अर्थात् यह समझो कि हमारा अपना कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी है, वह सब उस भगवान्‌का ही दिया हुआ है, जो इस सारे संसारमें व्याप रहा है। किसी भी पदार्थमें अपनेपनकी, अपनी मालिकीकी, अपने प्रभुत्वकी भावनाका पैदा न होना भी तो त्यागभावकी ही पराकाष्ठा है। भले ही वह सांसारिक दृष्टिसे स्वयं उपार्जित किया हुआ ही क्यों न हो! आत्मोपार्जित पदार्थ-भोग भी भगवान्‌का दिया हुआ ही मानकर किया जाय, तो मनुष्यमें स्वामित्व अथवा प्रभुत्वकी भावनासे पैदा होनेवाला अहङ्कार पैदा ही न हो। भगवान्‌ने गीतामें मानवको विनष्ट या भ्रष्ट करनेवाले बुद्धिनाशका कारण जो मोह या सम्मोह बताया है, वह भी स्वामित्व या प्रभुत्वकी इसी दुर्भावनासे उत्पन्न होता है। यह मोह और अहङ्कार ही तो आजके विश्वकी सारी व्याधियोंका मूलभूत कारण है। उसको जड़मूलसे नष्ट करना तो दूर रहा, उसके पैदा होनेकी कोई सम्भावना ही न रहे—इस दूरदृष्टिसे बनायी गयी मर्यादा और व्यवस्था कितनी पवित्र, कितनी सात्त्विक, कितनी ऊँची और कितनी महान् रही होगी—इसकी कल्पना कर सकना कठिन नहीं होना चाहिये।

यह मर्यादा और व्यवस्था क्या थी? वर्णाश्रम-व्यवस्था उसीका नाम है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' के मूलमन्त्रको सामने रखकर इसका निर्माण किया गया था। आश्रम-व्यवस्थाका सम्बन्ध मानवके व्यक्तिगत जीवनके साथ था और वर्ण-व्यवस्थाका सम्बन्ध था सामाजिक जीवनके साथ। आश्रमोंकी व्यवस्थामें मानवके जीवनको चार भागोंमें बाँट-कर अभ्युदयके उन्नतिपथपर चढ़नेके लिये चार सीढ़ियाँ बना दी गयी थीं। आयुकी न्यूनतम अवधि सौ वर्ष मानकर पहले भागको ब्रह्मचर्य, दूसरेको गृहस्थ, तीसरेको वानप्रस्थ और चौथेको संन्यास नाम देकर चारोंके लिये पचीस-पचीस वर्षकी अवधि नियत की गयी थी। इसी प्रकार समाजको भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार भागोंमें बाँटा गया था। आश्रमोंमें व्यक्तिगत जीवनकी दृष्टिसे और वर्णोंमें सामाजिक किंवा सामूहिक दृष्टिसे जो-जो कर्म, कर्तव्य अथवा जिम्मेवारियाँ सौंपी गयी थीं, उनका मूलभूत आधार यही त्यागमय भोगका मूलमन्त्र था। यह लेख वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी विस्तृत व्याख्या करनेकी दृष्टिसे नहीं लिखा गया है। फिर भी यहाँ यह बताना आवश्यक है कि यह व्यवस्था मानवके भोगमय स्वभावको त्यागमय बनाने अथवा भोगकी ओर पानीकी धाराकी तरह स्वाभाविक रूपसे बहनेवाली वृत्ति अथवा प्रवृत्तिपर त्यागका कठोर अङ्कुश रखनेके लिये ही की गयी थी; जिसमें मानव-जीवनमें भोग और त्यागका समन्वय होकर मनुष्य 'देव' बन सके। दानवताकी ओर होनेवाली मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तिपर त्यागका कठोर नियन्त्रण किंवा 'ब्रेक' लगाकर उसको देवता बनानेके लिये ही यह सारी व्यवस्था थी।

ब्रह्मचारीमें शिक्षा प्राप्त करनेपर कितना अहङ्कार पैदा हो सकता है, यह आजके विद्यार्थियोंके निरङ्कुश जीवनसे सहजमें मालूम हो जाता है। इसीलिये तो ब्रह्मचारीको गुरुके चरणोंमें आत्मसमर्पण करके, आश्रममें जीवन बिताने और भिक्षा-वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेके लिये कहा गया। राजाओं-तकके बालकोंके लिये यही व्यवस्था थी। महाभारतके समयमें

इस व्यवस्थामें विकार पैदा हो गया। शिष्य गुरुके पास न जाकर गुरुका शिष्योंके पास आना आवश्यक हो गया। परिणाम हम सबके सामने है। द्रोणने भी यदि कौरव-पाण्डवोंको शिक्षा-दीक्षा विश्वामित्र अथवा वाल्मीकिकी तरह अपने आश्रममें ही दी होती, तो इतना अनर्थ न हुआ होता। गुरुके चरणोंमें आत्मत्याग करनेवाला विद्यार्थी या ब्रह्मचारी कभी अभिमान या अहङ्कारके वशीभूत नहीं हो सकता। गृहस्थको सब आश्रमोंका वैसे ही आधार बताया गया है, जैसे वायु सब प्राणियोंका आधार है। मनु महाराजने कहा है—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
(३। ७७)

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
(६। ९०)

इसीलिये यह भी कहा है—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
(३। ७८)

दान तथा अन्नसे तीनों आश्रमोंके पालनका भार गृहस्थीपर डालकर उसको अनुभव कराया गया है कि जैसे नदी स्वयं अपना जल नहीं पीती और प्राणिमात्रके लिये उसका तट खुला रहता है, वैसे ही उसको भी अपने उपार्जित धनका उपभोग स्वयं नहीं करना है और अपने घरका द्वार सदा ही खुला रखकर भिक्षाके लिये आनेवाले ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीका पालन करना है। त्यागमय भावनासे गृहस्थको इस प्रकार ओतप्रोत कर दिया गया है। वानप्रस्थी और संन्यासीका जीवन तो है ही त्यागमय। उनके पास तो भोगके लिये कुछ भी छोड़ा नहीं गया। यहाँतक कि संन्यासीको संसारके समस्त सम्मानका अधिकारी बनाकर भी उसको मान-सम्मानसे सदा दूर रहनेको ही कहा गया है। उसके लिये कहा गया है—

असम्मानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तु तपःक्षयः।

'असम्मानसे उसके तपकी वृद्धि होती है और सम्मानसे तपका नाश।'

वर्ण-व्यवस्थाका सौन्दर्य भी ऐसा ही है। एक ओर तो ब्राह्मणको सारे समाजका गुरु बताकर पूजा तथा प्रतिष्ठाका अधिकारी ठहराया गया है, दूसरी ओर उसको यह आदेश दिया गया है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

'ब्राह्मण सम्मानको विष मानकर उससे सदैव उदासीन रहे और अपमानको अमृत मानकर सदा उसीकी इच्छा करे।' भोगकी दृष्टिसे संसारका सारा सम्मान ब्राह्मणके चरणोंमें अर्पण होना चाहिये। किंतु त्याग यह है कि वह उसको विष मानकर उससे उदासीन रहे। इसीलिये यह कहा गया है—

अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धगौरिव सीदति।

'जिस ब्राह्मणकी पूजा, प्रतिष्ठा तथा सम्मान किया जाता है, वह दुही हुई गौकी तरह सूख जाता है।' शासनकी सत्ता, उसका सञ्चालन एवं संरक्षण क्षत्रियवर्गको सौंपा गया है—उपभोगके लिये नहीं, किंतु सदैव सिर हथेलीपर रखकर त्यागका उत्कृष्टतम आदर्श उपस्थित करनेके लिये। राजा सिंहासनपर बैठता था और राष्ट्रपर संकट उपस्थित होनेपर आत्मोत्सर्ग करनेके लिये वह सबसे आगे युद्ध-क्षेत्रमें प्रस्थान करता था। वैश्यके हाथोंमें व्यापार-व्यवसाय और उद्योग-धंधे आदि सब इसलिये नहीं सौंपे जाते थे कि वह व्यक्तिगत सम्पत्तिके अर्जनमें लग जाय। उसका प्रधान कर्तव्य राष्ट्रको समृद्ध बनाना होता था। सामूहिक, सार्वजनिक अथवा समूचे राष्ट्रकी दृष्टिसे वह सारा उपार्जन करता था और भामाशाहकी तरह उसको राष्ट्रके लिये न्यौछावर करनेको तैयार रहता था। शूद्रका तो सारा जीवन ही त्यागमय है। यजुर्वेदके ३१वें अध्यायके ११वें मन्त्रमें वर्णव्यवस्थाका निर्देश किया गया है। वह मन्त्र यह है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्याᳪ शूद्रो अजायत॥

समाजरूपी महापुरुषकी कल्पना इस मन्त्रके अनुसार यह की जा सकती है कि ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय उसका बाहु, वैश्य उसका पेट और शूद्र उसके पैर हैं। मानव-शरीरका सारा व्यवहार अङ्ग-प्रत्यङ्गके उस व्यवहारपर ही तो निर्भर है, जिसका आधार त्याग और भोगका समन्वय ही है। कोई भी इन्द्रिय इस देहमें केवल अपने लिये काम नहीं करती। ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा सम्पादित होनेवाला ज्ञान सारी देहके काम आता है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियोंका कर्म भी सारी देहके लिये होता है। ज्ञान एवं कर्मके रूपमें वे जो कुछ भी भोग

इनकार करके जिन पगडंडियोंका पता लगाया, वे अन्तमें सर्वथा एकाङ्गी हो गयीं। आचार्य शंकरने उनके सर्वथा विपरीत जगत्को मिथ्या बताकर ईश्वरका प्रतिपादन करते हुए अद्वैतवादकी जिस पगडंडीको ढूँढ़ निकाला, वह भी अन्तमें एकाङ्गी ही बन गयी। अद्वैत और विशिष्टाद्वैतके बाद मध्ययुगके संतोंने फिरसे द्वैतका प्रतिपादन एक स्वरसे किया। लेकिन उन सबके नामसे अलग-अलग पन्थ अथवा पगडंडियाँ कायम हो गयीं। उनके बाद तो यह प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गयी कि हिंदू-धर्मके वास्तविक रूपको नानाविध सम्प्रदायोंने ऐसा ढक लिया कि वह हमारी दृष्टिसे ओझल हो गया और हम सब इन पगडंडियोंमें ही भटकने लग गये। दुर्भाग्यकी पराकाष्ठा यह है कि मैं जिस पगडंडीपर खड़ा हूँ, उसीको मैंने असली, ठीक और अन्तिम तथा गन्तव्य मार्ग मान लिया है। इस भारी भ्रमको वास्तविक किंवा अन्तिम तथ्य मान लेनेवाला 'सत्य' पर पहुँचे तो कैसे पहुँचे? यही सबसे बड़ी कठिनाई है। यदि कहीं भ्रमसे स्वीकार किये गये उपार्जित मतके प्रति हठ न रहकर त्यागकी भावनाका समावेश हो जाय और हिंदू-समाजमें त्याग एवं भोगकी, परस्पर आदान-प्रदानकी और विचार-विनिमयकी उदात्त एवं सहिष्णु भावनाकी प्रतिष्ठा हो जाय तो वह फिरसे अपना उद्धारकर संसारके उद्धारका भी कुछ निमित्त बननेमें समर्थ हो सकता है। प्रकृतिमें जैसे दिन-रातका समन्वय है, और मानव-जीवनमें जैसे सोने-जागनेका समन्वय है, ठीक उसी प्रकार हिंदू-धारणाके अनुसार हिंदू-जीवन और हिंदू-समाज-व्यवस्थामें त्याग और भोगका समन्वय भी प्रायः स्वाभाविक रूपसे ही किया गया था। उसकी फिरसे प्रतिष्ठा करके ही वर्तमान बीमारीका उपचार बहुत अंशोंमें किया जा सकता है। इसी समन्वयका दूसरा नाम है अपरिग्रह, जिसे जैन-जीवन-व्यवस्थामें सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। उस व्यवस्थाके एकाङ्गी हो जानेसे वह व्यापकरूपसे प्रभावशाली नहीं हो सकी। वैसा अपरिग्रही, कहते हैं, पूर्व-जन्मका भी पता पा सकता है।

हिंदू-धर्ममें त्यागका स्थान

(लेखक—श्रीएस० वी० दाडेकर एम०ए०)

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
(कैवल्योपनिषद्)

'कर्मसे नहीं, प्रजासे नहीं, धनसे नहीं, त्यागसे कोई-कोई अमृतत्वको प्राप्त होते हैं।'

'त्याग' का सांगोपांग विचार जितना हिंदू-धर्ममें हुआ है, उतना वैदिकेतर धर्मोंमेंसे बहुत थोड़े धर्मोंने किया होगा। मनुष्यमें दो सहज प्रवृत्तियाँ हैं—एक भोगकी और दूसरी त्यागकी। यदि यह कहा जाय कि जीवनकी चरितार्थता इन दो वृत्तियोंका योग्य समन्वय करनेमें है तो अनुचित न होगा। हिंदू-धर्मकी यह विशेषता है कि उसने त्यागका वास्तविक मूल्य जानकर मनुष्योंसे त्यागका आचरण करानेके लिये एक ऐसी अपूर्व सामाजिक पद्धति चला दी है कि उसका अनुकरणकर पृथ्वीके सभी मनुष्य लाभान्वित हो सकते हैं।

वैदिक धर्मने त्यागका महत्त्व पूर्णरूपसे जाना है। इस लेखके ऊपर जो औपनिषद वाक्य उद्धृत है, उसमें उत्कृष्ट और ओजःपूर्ण भाषामें त्यागका महत्त्व बतलाया गया है। मोक्ष अर्थात् दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति यदि कोई चाहता है तो उसे स्थूल-सूक्ष्म उपाधियोंका त्याग करना ही होगा। उसीसे वह आत्मरूपको प्राप्त होगा, यही वेदान्तशास्त्र अर्थात् उपनिषदोंका निश्चित मत है। भोगसे इस स्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती, उसके लिये त्यागका होना ही आवश्यक है। आत्यन्तिक फलकी प्राप्तिके लिये आत्यन्तिक त्यागका होना उचित ही है। तुकाराम बाबा कहते हैं—'कोई लाभ यों ही नहीं होता। बिना कुछ किये जीवका उद्धार नहीं होता।' उपनिषदोंमें एक वचन है—

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।
(बृहदारण्यक० ३।५।१)

'पूर्वोक्त इस आत्माको ही जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे ऊपर उठकर भिक्षासे जीवन-निर्वाह करते हुए विचरते हैं।'

भगवान्को पानेके लिये त्याग करना पड़ता है, यह सिद्धान्त प्रायः सभी धर्मोंमें स्वीकृत है। ईसाने अपने शिष्योंसे कहा, 'सब कुछ छोड़ो और मेरे पीछे-पीछे चलो।'

(Abandon all and follow me) बौद्ध-धर्म तो 'सर्वं क्षणिकम्, सर्वं दुःखम्' कहकर भिक्षु बन जानेका उपदेश करता है। हिंदू-धर्मकी यह विशेषता है कि इसने मनुष्य-स्वभावको ठीक-ठीक समझकर यह सिखलाया है कि त्याग किस प्रकार किया जा सकता है। वैदिक धर्मकी 'आश्रम-व्यवस्था' का उद्देश्य ही क्रमशः त्याग करनेकी शिक्षा देना है। 'आश्रम-व्यवस्था' शब्दोंसे भी 'क्रम क्रमसे अन्ततक स्थानतक पहुँचानेवाली व्यवस्था' यही अर्थ सूचित होता है।

वैदिक धर्ममें ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य है। इसमें जीव विद्याध्ययन करे, पीछे अपनी मानसिक, बौद्धिक आदि सामर्थ्यके अनुसार आगे बढ़े।

बौद्ध-धर्मके समान हमारा धर्म सबसे त्याग करनेको नहीं कहता। संन्यासमें सबका अधिकार नहीं है, सब ब्राह्मण भी संन्यासके अधिकारी नहीं होते। संन्यास ग्रहण करके सब उसे पचा भी नहीं सकते। जो पचा नहीं सकते, उनका त्याग उनके लिये एक भोग बन जाता है। अतः हमारा धर्म सबको समानरूपसे त्याग या भोग करनेको नहीं कहता। यह बात जितनी सच है, उतनी ही सच यह बात भी है कि शुकाचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज अथवा स्वामी विवेकानन्द-जैसे निष्कलंक महापुरुषोंसे, जो आरम्भसे ही त्याग करनेको प्रस्तुत रहते हैं, हमारा धर्म भोगका आग्रह नहीं करता। उनसे तो धर्म यही कहता है कि 'ब्रह्मचर्यादेव परिव्रजेत्' अर्थात् 'ब्रह्मचर्य-आश्रमके बाद ही संन्यास लेकर बाहर निकल पड़ो।' दूसरोंके लिये धर्मका यह उपदेश है कि 'ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृही बनो।' यह जो लचीलापन है, इसीमें हमारे धर्मकी एक महान् विशेषता है।

पूर्वजन्मार्जित संस्कारोंके कारण बचपनमें ही जिनका चित्त ईश्वरकी ओर लग जाता है, उनसे हमारा धर्म गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेको नहीं कहता। श्रीरामकृष्ण परमहंससे हमारा धर्म यह नहीं कहता कि आप पाठशालामें अध्यापकी करते हुए कर्म-मार्गका ही अनुसरण करें। सतीका बाना वही धारण करे, जो उसे निबाह सके। वह हर किसीका काम नहीं है, हर किसीको धर्म उसका उपदेश नहीं करता। सब लोगोंको एक ही साँचेमें ढालनेका अशास्त्रीय उद्योग वैदिक धर्म नहीं करता। सबका परम गन्तव्य स्थान एक ही है; तथापि यह बात नहीं भुलायी जा सकती कि भिन्न-भिन्न जीव भिन्न-भिन्न मार्गसे चलकर भिन्न-भिन्न स्थानोंमें पहुँचे हैं। जो जहाँ पहुँचा है, वहाँसे उसे आगे बढ़नेको कहना उचित है। जगत् त्रिगुणात्मक है। यह एक साथ एकदम सत्त्वगुणात्मक हो जाय, यह सम्भव नहीं है।

भोगोंका-त्याग [illegible] स्वयं कहना स्वयं बुद्धदेवको पसन्द नहीं था। ऐसी एक कथा कही गयी है कि एक बार बुद्धदेवकी [illegible] इच्छा हुई कि संघमें मैं भी प्रवेश करूँ। उन्होंने बुद्धदेवसे प्रार्थना की, परंतु संघमें स्त्रियोंका [illegible] बुद्धदेवको [illegible] सम्मत। [illegible] [illegible] प्रवेश दान किया। [illegible] [illegible] दिया कि [illegible] होता [illegible] यह धर्म हजार; पाँच सौ वर्षमें अपना अस्तित्व खो देगा।

[illegible] जानकर वैदिक धर्मने ब्रह्मचर्यके बाद [illegible] दूसरा [illegible] रखा। हिंदू-धर्मकी यह दूसरी विशेषता है। भोगत्यागका महत्त्व उसे मान्य था, पर वस्तुस्थितिकी उसने उपेक्षा नहीं की। मनुष्यमें काम या भोगकी वासनाका होना स्वाभाविक है। समुद्र जैसे अपने तरङ्गोंके साथ ही रहता है अथवा चन्दनवृक्षके मूलमें जैसे साँप रहता है, वैसे मनके अंदर काम रहता है। फ्रायडने अब जिस बातको कहा है, उसे हमारे शास्त्रकार पहलेसे जानते थे और उसे उचित स्थान देनेके लिये उन्होंने गृहस्थाश्रमको एक पवित्र आश्रम माना। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कामको अपनी विभूति बतलाते हैं; पर वह काम 'धर्माविरुद्धः'—धर्मके अविरुद्ध होना चाहिये। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध, पञ्चम अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक प्रसिद्ध है—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

'संसारमें देखा जाता है कि मैथुन, मांस और मद्यके सेवनमें प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसके लिये कोई वेदाज्ञा नहीं हुआ करती। (कहीं-कहीं) विवाह, यज्ञ और सौत्रामणि यज्ञ आदिमें इनके लिये जो अवकाश दिया जाता है, उसका हेतु उच्छृङ्खलताका निवारणकर मर्यादा स्थापित करना होता है। निवृत्ति ही वास्तवमें इष्ट है।'

पैठणके प्रसिद्ध महात्मा श्रीएकनाथ महाराजने इस श्लोकका बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण अपने ग्रन्थमें किया है। उसमें कहीं कुछ अश्लीलताकी गन्ध आ सकती है; पर शास्त्र-रहस्य देखना है, इसलिये उसका अवतरण यहाँ देना आवश्यक प्रतीत होता है—'विषयोंमें जो उच्छृङ्खल हैं, उन्हें वेदो-

ने नियमोंमें नियत कर दिया। वेदोकी इस विषयमे जैसी आज्ञा है, वह तुम्हे सुनाता हूँ। मैथुनके विषयमे योनिभ्रष्टोंको नियन्त्रित करनेके लिये विवाह-संस्था प्रतिष्ठितकर वरिष्ठ वर्णको अपनी निष्ठामे नियत किया। ब्राह्मणको धोबिनके पास जाना कड़वा नहीं लगता, न धोबीको ब्राह्मणीके पास जाना तीता लगता है। चाहे जिस जातिकी स्त्री और चाहे जिस जातिका पुरुष—ऐसे मैथुनसे योनिसंकर होता है। उससे बचनेके लिये वेदोंने विवाहका नियम लगा दिया। ऋतुकालमे जो स्त्रीगमन करते है, ऐसे पुरुष पूर्ण ब्रह्मचारी होते है। वेद स्वयं निवृत्तिपरक हैं। त्यागरूपसे ही वे भोगका नियमन करते है। 'आत्मा वै पुत्र नामासि।' उस पुत्रके होनेपर वेद धीरे-धीरे भोगविषयक अपनी आज्ञाका त्याग कराते है।

गृहस्थाश्रममे गृहस्थ-धर्मकी अनुज्ञासे प्राप्त भोग भोगे, पर भोगासक्त न रहे। 'धन्यो गृहस्थाश्रमः' कहकर उसका महत्त्व गाया गया है। पर गृहस्थको इस आश्रमसे प्राप्त करना है—'वैराग्यका अचल पद'; यह बात वह न भूले।

जीवको परमार्थ-पथपर चलना है, यह सही है। पर इसके साथ हमारे धर्मकी यह शिक्षा है कि इस पथपर चलते हुए वह दूसरोका भी कल्याण-साधन करे। ज्ञानदेवका दिया हुआ एक सुन्दर दृष्टान्त दोहराकर यो कहा जा सकता है कि गङ्गाजी समुद्रसे मिलने चलती है, पर रास्तेमें कितने काम करती-करती चलती हैं। पापियोके पाप-ताप नष्ट करती है, तटवर्ती वृक्षोंको सींचती हैं; इस तरह बहता गङ्गाका जल समुद्रमे जा मिलता है।' इसी प्रकार मनुष्य अन्य अनेक जीवोका कल्याण-साधन करता हुआ अपने ध्येयको प्राप्त हो, यही हमारे धर्मकी शिक्षा है।

पहला आश्रम पूँजी इकट्ठी करनेके लिये है और दूसरा आश्रम उसी पूँजीको समाजकी सेवामे लगानेके लिये है। गृहस्थाश्रममे भोग विधेय है, पर उसके साथ बहुत बड़ा त्याग करनेको भी कहा गया है। कुटुम्बका पालन करना, समाजको धारण करना इत्यादि गृहस्थाश्रमके ही मुख्य कर्तव्य है। इस प्रकार भोगसे वासनाओका क्षय होनेपर ही वह वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करनेका अधिकारी होता है। 'त्याग' भीतरसे होना चाहिये; ऊपरी त्याग मिथ्या होता है और दम्भका कारण बनता है। गीता जिसे 'मिथ्याचार' कहती है, उसीमे उसकी परिणति होती है। इससे न उस व्यक्तिका कल्याण होता है, न उसके द्वारा समाजका ही। वैदिक धर्म भीतरसे त्याग करनेको कहता है और आश्रम-व्यवस्थाके द्वारा इसकी शिक्षा देकर इसके लिये तैयार करता है। गीता, उपनिषद् और सब साधु-महात्मा यही उपदेश करते है कि 'सब विषयोका त्याग सर्वथा मनसे ही करना चाहिये।' अन्यथा विषयोका ध्यान बना रहा तो उलटा ही परिणाम होगा, यही गीता बतलाती है। वासनाक्षय होनेपर वह वानप्रस्थाश्रममे सहधर्मिणीको सङ्ग लेकर वनमे रहे; पर रहे 'संयोगी वियोग' पद्धतिसे। ऐसे कठिन अनुशासन और तपसे तपकर उज्ज्वल हुआ गृहस्थाश्रमी संन्यासका अधिकारी होता है।

संन्यासाश्रम हमारे आश्रममन्दिरका शिखर है। वह अतिशय पवित्र और उच्च है। 'संकल्प'का त्यागकर जो संन्यासी होता है, वही सच्चा संन्यासी है। वैदिक धर्ममे संन्यासका स्थान कितना ऊँचा है, यह बतलानेवाली एक बात सबके सामने है। मनुष्य जब मर जाता है, तब वैदिक धर्मानुसार उसकी लाश जलायी जाती है। पर संन्यासीका मृत शरीर गाड़ा जाता है, उसपर उसका समाधि-मन्दिर बनता और वहाँ उसकी पूजा की जाती है। सर्वस्वका त्यागकर जिसने अपना जीवन त्यागमय बना लिया, जिसने अपने शरीर, मन और इन्द्रियोके संकल्प-पङ्क धोकर उन्हे पवित्र कर लिया, वैदिक धर्म उसे इतना सम्मान देता है।

इन सब बातोसे पाठकोके ध्यानमें यह बात आ गयी होगी कि हमारे धर्मकी आश्रमव्यवस्थाने भोग करते-करते त्यागका ध्येय लाभ करनेका मार्ग दिखा दिया है। मुक्त होनेके लिये आश्रमसंन्यास लेना ही होगा, ऐसा भी कोई आग्रह हमारे धर्ममे नहीं है। सनक-सनन्दनादिके समान जनकादिकोंके भी उदाहरण इसने जगत्के सामने रक्खे है। वैदिक धर्मकी यह बहुत बड़ी महत्ता है। गीतामे इसीको 'सब कुछ करके भी कुछ न करना, अकर्ता बने रहना' कहा गया है। यही भोग और त्यागपूर्ण समन्वय साधित हुआ है।

वैदिक धर्मकी आश्रमव्यवस्था निर्माण करनेवाले ऋषियोको आधुनिक मनोविज्ञानके सिद्धान्त जाननेका कोई अवसर मिलना सम्भव ही नहीं था। तथापि जो समाज-व्यवस्था उन्होने निर्माण की, वह मानव-मनोविज्ञानका गभीर अध्ययनकर आजके मनोवैज्ञानिकोंने जो सिद्धान्त निकाले हैं, उनकी कसौटीपर ठीक ही जँचती है। हमारे मनु आदि ऋषियोंने लॉके आदि अंग्रेज तत्त्ववेत्ताओंके समान कभी यह न माना कि मनुष्यका मन अलिखित अथवा कोरी शिला

(Tabula Rasa) है। इंग्लैंड तथा अन्य पाश्चात्त्य देशोंमें कुछ कालतक इस मतका बड़ा बोलबाला था। पीछे मनोवैज्ञानिक मानव-मनका ज्यों-ज्यों अधिक गम्भीर अध्ययन करने लगे, त्यों-त्यों उनकी समझमें यह बात आने लगी कि मन ऐसा नहीं है जैसा कोई कोरा कागज हो, बल्कि पहलेसे उसपर कुछ संस्कार अङ्कित रहते हैं और इन संस्कारोंके साथ ही मनुष्यका जन्म होता है। पाश्चात्त्योंमें डेकार्टका मत विशेष तथ्ययुक्त था। उसके अनुयायियोंने पीछे उसके असली मतको बहुत कुछ बदल डाला, यह बात दूसरी है। विलियम मेकडूगलने अपनी 'दि ग्रुप माइंड' नामकी पुस्तकमें लिखा है—'विभिन्न वंशोंमें परस्पर संस्कारजन्य भेद होते हैं।' पर संस्कारोंको कुछ न माननेका मत जो लॉकने चलाया, वह ऐसा चला कि असली चीज दब गयी और उसके कुफल लोगोंको चखने पड़े। हमारे भारतीय समाजकी दृष्टिसे तो मैकडूगलके विचार बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। भारतवर्षका राज्यशासन करते हुए अंग्रेजोंने मनोविज्ञानके कुछ अपसिद्धान्तोंको मानकर जैसे कानून चलाये, उनसे राष्ट्रमें एकता और सुख-समृद्धिके बदले एक तरहका अंधेर मचा हुआ है। सन् १९२० में ही इस महान् व्यक्तिने यह भविष्य लिख रक्खा था। उसकी पुस्तकसे कुछ महत्त्वपूर्ण अवतरण नीचे देते हैं—

'सहज गुणोंकी कोई सार्थकता न माननेवाला यह मत, उस समयके मुख्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुरूप और उसीसे निर्धारित था। लॉकके समयसे यह मत चला। इस मतके अनुसार नवजात शिशुका मन बिना किसी संस्कारका, बिल्कुल कोरा और सब मनुष्योंमें एक-सा होता है; कोई ऐसी विशेष प्रवृत्तियाँ या विशेषताएँ उसमें नहीं होतीं, जो विचारणीय हों। इस कोरे मनपर वैयक्तिक अनुभूति अङ्कित होती और विचार-साहचर्यके सिद्धान्तानुसार उसका सम्पूर्ण विस्तार साधन करती है।

'अंग्रेजोंने अपने अधीनस्थ देशों और उनके अधिवासियोंके साथ, विशेषतः भारतवर्षके साथ जिस नीतिका अवलम्बन किया, उसमें स्पष्ट या अस्पष्ट रूपसे यह मत बहुत कुछ प्रतिफलित हुआ है। मतका व्यवहारपर कितना प्रभाव पड़ता है और मतकी इस कार्य-कारिताकी उपेक्षा करनेमें कितनी हानि होती है, इसका यह एक बड़े मार्केका उदाहरण है। मत हमें प्रभावित करते हैं निश्चय ही; पर हम ऐसा दरसाते हैं कि ऐसी कोई बात नहीं है। हमें अपने लिये ही यह स्पष्ट कर लेना चाहिये कि हमारे क्या-क्या मत हैं—चाहे हम अपने आपको व्यवहारमें सर्वथा उन्हींके द्वारा परिचालित न होने देते हों।' (पृ० १०९)

'मानव-शिशुका मन कोरा कागज नहीं है, उसकी आन्तरिक रचनामें बहुत-सी सहज वासनाएँ, बहुत-सी ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनसे विचार, भाव और कर्मके सम्बन्धमें एक विशेष दिशा निश्चित होती है। इस बातकी मान्यतासे यह मत स्वीकृत होता है और इन विभेदोंको ठीक तरहसे लक्षित करनेका एक अवसर मिल जाता है।' (पृ० १२०)

भारतके अंग्रेजी शासनमें 'जातिके नाते जातिका जो महत्त्व है, उसकी उपेक्षा की गयी और संस्कृति तथा संस्थाओंद्वारा गठनका जो कार्य होता है, उसको अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया—जैसा कि लार्ड मेकालेके पूर्वाग्रहयुक्त सुन्दर प्रतिपादनसे व्यक्त होता है। इसीका यह फल है कि आजसे ८० वर्ष पहले इंग्लैंडने भारतके करोड़ों मनुष्योंको अपनी संस्कृति और संस्थाओंसे विभूषित करनेका काम आरम्भ किया। यह काम पूरा जोर लगाकर नहीं किया गया; जैसे-तैसे जो कुछ हुआ, उतनेसे ही इस प्रयासका जो परिणाम हुआ, उसका अनौचित्य हम कुछ देख सकते हैं। उत्तम निरीक्षकोंका यह कहना है कि यदि यह काम पूरा हुआ होता और प्रातिनिधिक शासनके सूत्र देशके अधिवासियोंके हाथोंमें सौंप दिये गये होते तो कुछ ही वर्षोंमें सारे देशमें अंधेर और अराजकता मच जाती। हमलोगोंने इस देशको जिस हालतमें पाया था, वैसी ही हालत फिर हो जाती। कुछ दूसरे लोग इससे भी आगे बढ़कर यह कहते हैं और उनके इस कहनेमें सत्यका कुछ आभास भी है कि पाश्चात्त्य संस्कृति भारतीय मति और नैतिक प्रकृतिके लिये वस्तुतः हानिकारक है।' (पृ० ११७-११८)

जब कोई श्रेष्ठ पुरुष दुर्भाग्यसे किसी अर्ध सत्यका प्रतिपादन करने लगते हैं, तब उसका परिणाम समस्त समाज और राष्ट्रको भोगना पड़ता है। पशुकी अपेक्षा मनुष्यकी विशेषता यह है कि मनुष्यमें बुद्धि है। इस बुद्धिसे वह जितना भयङ्कर और व्यापक परिणामवाला अपराध कर सकता है, उतना जानवर नहीं कर सकता। इसी प्रकार बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुषोंकी प्रमादशील विचार-पद्धतिका भी भयानक दुष्परिणाम होता है और वह सारे राष्ट्रको भोगना पड़ता है। अंग्रेजोंने प्रमादयुक्त मनोविज्ञानके अपसिद्धान्तोंके आधारपर निर्मित लोकतन्त्रको भारतमें संस्थापित करनेकी

सांस्कृतिक प्रातःकाल

पहले प्रातः-स्नान और फिर संध्या-वंदन, पूजा-ध्यान।
नित्य होम करते गृहस्थ सब, श्रद्धासे देते गोदान॥

असांस्कृतिक प्रातःकाल
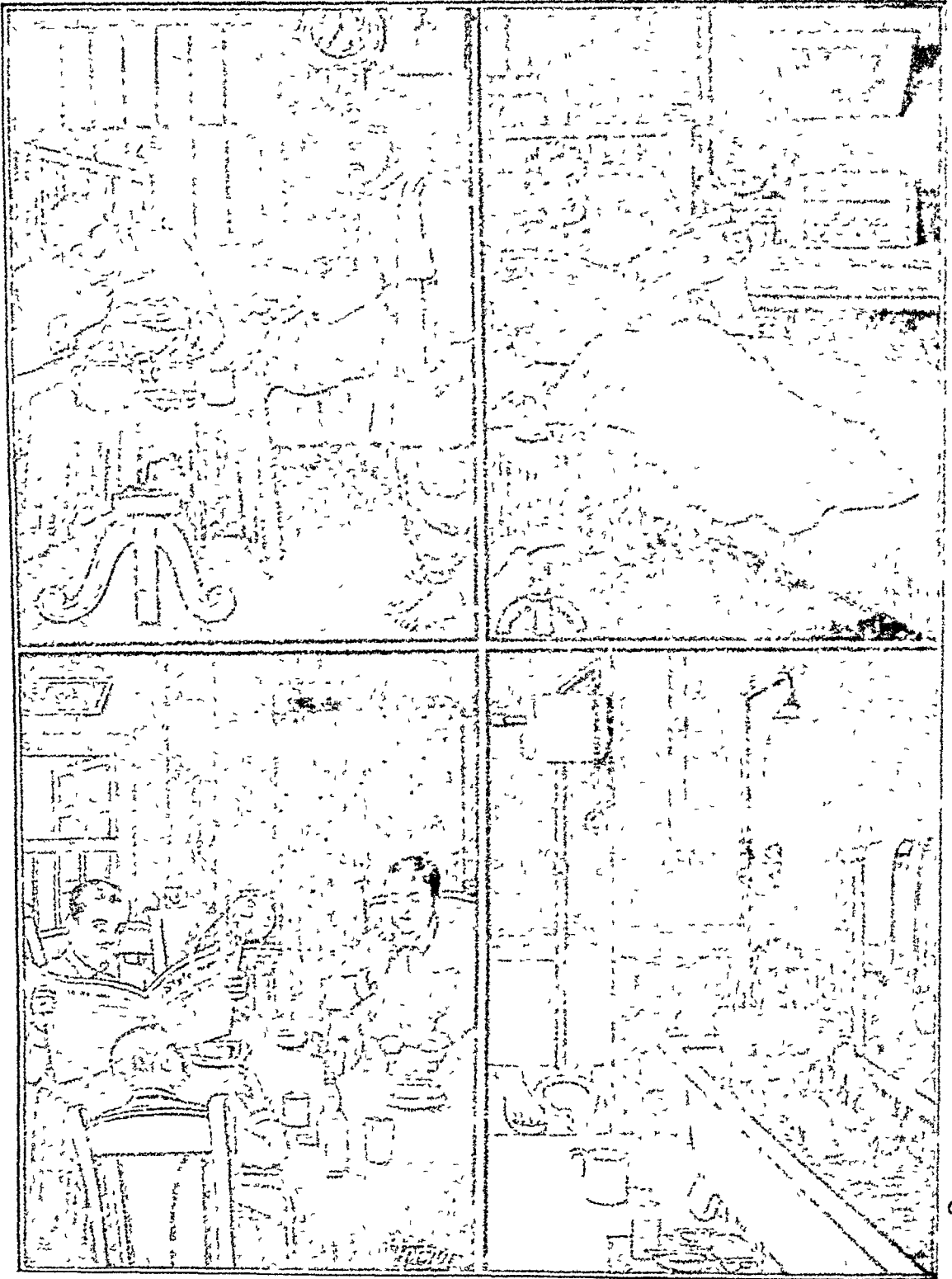
दिन चढ़ आया, खुली नींद अब, पीने लगे 'बेड टी' (Bed-tea) लेट ,
हाथोंमें अखबार आ गया, मुँहमें सुलग रही सिगरेट ।
काफी, चाय, सिगार दोस्तको दे फिर आप बनाते बाल ,
पाखानेके बाथरूममें नहा-नहा हो रहे निहाल !

नींव डाली। भारतके स्वाधीन होनेपर भी अंग्रेजोकी यह भूल दुर्भाग्यक्रमसे भारतके नेताओके ध्यानमे न आयी और वे एकजातीय राष्ट्र बनानेके काममे लगे हैं। परंतु यह उद्योग अशास्त्रीय है और इसके दुष्परिणाम राष्ट्रको भोगने पड़ेंगे। मैकडूगल प्रभृति महान् मनोवैज्ञानिकोका यही मत है। इस ओर भारतके नेताओका ध्यान दिलाना आवश्यक है।

वैदिक धर्मने संस्कारोपर ध्यान रखकर मनुष्योके सात्त्विक, राजसिक और तामसिक—त्रिगुणात्मक विभाग किये हैं और इसपर वर्णाश्रम-व्यवस्था खड़ी की है। 'जैसा जिसका अधिकार है, वैसा ही उसके लिये उपदेश है। जितना भार जो उठा सकता है, उतना ही उसपर रक्खा जाता है।' यही व्यवस्था इस सिद्धान्तका आधार है। हर किसीको 'शनैः-शनैः' त्याग करना सिखलाकर व्यक्ति और समाजको उन्नत अवस्था प्राप्त करानेका प्रयत्न हमारे धर्मने किया है। अन्यत्र कही ऐसा प्रयत्न नही देख पड़ता, यह कहे तो अन्यथा न होगा।

धर्म-शब्दका लक्षण और रहस्य

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, बी० ए०, एम्० आर० ए० एस्०)

वेदमें लिखा है—'धर्मं चर', धर्म करो; 'धर्मेण सुखमासीत', धर्मसे सुख होता है; 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्', धर्ममें प्रमाद या असावधानी नही करनी चाहिये। अब देखना यह है कि वह धर्म क्या है, जिससे सुख मिलता है। इसका विचार करनेके लिये सबसे पहले 'धर्म' शब्दके अर्थकी ओर ध्यान देना चाहिये।

'धर्म' शब्द व्याकरणकी रीतिसे 'धृञ् धारणे' धातुके आगे 'मन्' प्रत्यय लगानेसे बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकारसे हो सकती है—

१. ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः—जिससे लोक धारण किया जाय, वह धर्म है।

२. धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः—जो लोकको धारण करे, वह धर्म है।

३. ध्रियते यः स धर्मः—जो दूसरोसे धारण किया जाय, वह धर्म है। महाभारतमे धर्मका यह लक्षण बताया गया है—

> धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
> यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
> (कर्ण० ६९। ५८)

'धारण करनेसे लोग इसे धर्म कहते है। धर्म प्रजाको धारण करता है। जो धारणके साथ रहे, वह धर्म है—यह निश्चय है।'

इससे सिद्ध होता है कि 'धर्म' बहुत व्यापक शब्द है। अमरकोषकारके अनुसार 'धर्म' शब्दके अनेक अर्थ हैं; यथा—१ सुकृत या पुण्य, २ वैदिक विधि-यागादि, ३ यमराज, ४ न्याय, ५ स्वभाव, ६ आचार, ७ सोमरसको पीनेवाला। अन्य कोषोमे धर्मके ये अर्थ लिखे मिलते हैं—१ शास्त्रोक्त कर्मके अनुष्ठानसे उत्पन्न होनेवाले भावी फलका साधनस्वरूप शुभ अदृष्ट या पुण्यापुण्यरूप भाग्य, २ श्रौत और स्मार्त धर्म, ३ विहित क्रियासे सिद्ध होनेवाला गुण या कर्म-जन्य अदृष्ट, ४ आत्मा, ५ देहको धारण करनेसे जीवात्मा, आचार या सदाचार, ६ वस्त्रका गुण, ७ स्वभाव, ८ उपमा, ९ याग आदि, १० अहिंसा, ११ न्याय, १२ उपनिषद्, १३ धर्मराज या यमराज, १४ सोमाध्यायी, १५ सत्सङ्ग, १६ धनुष, १७ ज्यौतिष-मतमे लग्नसे नवम स्थान या भाग्य-भवन, १८ दान आदि।

किंतु 'धर्म' शब्दका धातुगत अर्थ तो 'धारण करना' ही होता है। निरुक्तमे 'धर्म' शब्दका अर्थ 'नियम' बताया गया है। इन दोनोके मेलसे 'धर्म' शब्दका यही वास्तविक अर्थ होता है कि जिस नियमने इस लोक या संसारको धारण कर रक्खा है, वही धर्म है।

आगे बताया जायगा कि वह नियम कौन-सा है, जिसने इस लोक या ससारको धारण कर रक्खा है और किन नियमोके अनुसार चलनेसे सुख होता है; क्योंकि वेदमे लिखा है कि धर्मसे सुख होता है। लोकमे भी कहते हैं—'धनाद्धर्मं ततः सुखम्', धनसे धर्म होता है और धर्मसे सुख होता है। यह सुख दो प्रकारका है—एक तो इस लोकका सुख और दूसरा परलोकका सुख। इसलिये जिससे इन दोनों प्रकारके सुखोकी प्राप्ति हो, वही धर्म है। सभी लोग सुखके लिये ही प्रयत्न करते हैं और उसका साधन धर्म है; अतएव वैशेषिक दर्शनके रचयिता पूज्यपाद महर्षि कणादने धर्मका यह लक्षण किया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिससे इस लोकमें उन्नति और परलोकमें कल्याण या मोक्षकी प्राप्ति हो, वह धर्म है।'

इस धर्मका मूल या जड़ वेद है, मनु महाराजने कहा है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (२ । ६)

'समस्त वेद अर्थात् ऋक्, यजुः, साम और अथर्व-वेद धर्मका मूल है।'

श्रीमद्भागवतमें भी स्पष्ट कहा है—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।

(६ । १ । ४४)

'वेदमें कहा हुआ धर्म है और इसके विपरीत अधर्म है।'

दूसरा धर्मका यह लक्षण है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

'वेदमें जिसकी प्रेरणा की गयी है, वह पदार्थ धर्म है।' अर्थात् वेदमें लिखे अनुसार कर्म करना धर्म है और उसमें निषेध किये हुए कर्मका न करना भी धर्म है। वेदमें लिखे हुए वर्णाश्रम-धर्मोंका न करना और मना किये हुए कर्मोंका करना अधर्म है।

धर्मका तीसरा लक्षण है—

वेदविहितत्वम्।

'जो वेदमें कहा गया है, वह धर्म है।'

धर्मका चौथा लक्षण यह है—

क्रियासाध्यत्वे सति श्रेयस्करत्वमिति लौकिकाः।

'क्रिया या कर्मद्वारा सिद्ध होकर कल्याणकारी होना धर्मका लक्षण है—यह लौकिक पुरुषोंका मत है।'

धर्मका पाँचवाँ लक्षण इस भाँति कहा गया है—

सत्याज्जायते, दयया दानेन च वर्धते, क्षमायां तिष्ठति, क्रोधान्नश्यति।

'धर्मकी उत्पत्ति सत्यसे होती है, दया और दानसे वह बढ़ता है, क्षमामें वह निवास करता है और क्रोधसे उसका नाश होता है।'

मनुस्मृतिमें धर्मका छठा लक्षण यह बताया है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(२ । १२)

'वेद, स्मृति या धर्मशास्त्र, सदाचार या सत्पुरुषोंका आचरण और अपनी आत्माकी प्रसन्नता—यह चार प्रकारका धर्मका लक्षण (परिचायक) है।'

श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं यत् स धर्मः प्रकीर्तितः।

'श्रुति (वेद) और स्मृति (धर्मशास्त्र) में जो कहा गया है, वह धर्म कहलाता है।'

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥

(२ । ९)

'श्रुति और स्मृतिमें कहे हुए धर्मको ही करता हुआ मनुष्य इस लोकमें यशको पाता है और मरकर परलोकमें उत्तम सुख या मोक्षको प्राप्त होता है।'

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥

(१ । १०८)

'श्रुति और स्मृतिमें वर्णित सदाचार परम धर्म है। इसलिये अपने आत्माको जाननेवाला (आत्मज्ञानी) द्विज सदा सदाचारसे युक्त रहे।'

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥

'एक धर्म ही ऐसा मित्र है, जो मरनेपर भी जीवके साथ जाता है; और सब तो शरीरके नाशके साथ ही छोड़कर चले जाते हैं।'

वेदमें धर्मके तीन स्कन्ध बताये गये हैं—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। (छा० २ । २३ । १)

'धर्मके तीन स्कन्ध या विभाग या आधारस्तम्भ हैं। यज्ञ, अध्ययन या स्वाध्याय और दान—यह पहला स्कन्ध है। तप ही दूसरा स्कन्ध है। आचार्यकुलमें रहनेवाला ब्रह्मचारी, जो आचार्यकुलमें अपने शरीरको अत्यन्त क्षीण कर लेता है, यह तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्यलोकके भागी होते हैं। ब्रह्ममें सम्यक् प्रकारसे स्थित (चतुर्थाश्रमी संन्यासी) अमृतत्वको प्राप्त होता है।'

इसी 'धर्म' शब्दके पहले 'स्व' जोड़नेसे 'स्वधर्म' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'अपना वर्णाश्रम-धर्म' होता है। उसीके पूर्व 'पर' जोड़नेसे 'परधर्म' शब्द बनता है। उससे तात्पर्य अपने वर्णाश्रम-धर्मको छोड़कर दूसरे पुरुषके वर्णाश्रम-

धर्मसे है। उसीके पहले 'वि' उपसर्ग लगानेसे 'विधर्म' शब्द बनता है। उसका अर्थ 'विगतः धर्मेण विधर्मः' होता है। जो अपने धर्मसे गिर जाय अर्थात् जो धर्मान्तरित हो जाय, वह विधर्म है। श्रुति-स्मृतिमे कहे हुए धर्मोंको छोड़कर सब धर्म विधर्म हैं। अतः अपने धर्मको छोड़कर अन्य धर्मको स्वीकार करनेवाला 'विधर्मी' कहा जाता है। उसीके पहले 'कु' उपसर्ग लगानेसे 'कुधर्म' शब्द बनता है। उसका अर्थ—'कुत्सितः धर्मः कु र्मः' अर्थात् जो धर्म निन्दाके योग्य हो, वह कुधर्म है। कुधर्म पापाचरण या बुरे आचरणको कहते है। 'कुधर्म' शब्दका एक अर्थ और भी होता है; वह यह कि जो धर्म अन्य धर्ममे बाधा दे, वह 'कुधर्म' कहाता है। यथा—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः॥

"जो धर्म दूसरे धर्मको बाधा दे, वह धर्म नहीं है, किंतु 'कुधर्म' है। जो धर्म समस्त धर्मोंका अविरोधी है, वही यथार्थ धर्म है।" धर्मके पहले 'नञ्' जोड़नेसे 'न धर्मः अधर्मः' अधर्म शब्द बनता है। उसका अर्थ—जो धर्मसे बिल्कुल विपरीत हो, वह अधर्म कहाता है। इस अधर्मके पॉच भेद हैं—विधर्म १, परधर्म २, धर्माभास ३, उपधर्म ४ और छलधर्म ५। इनमेसे 'विधर्म १ और परधर्म २' के अर्थ तो ऊपर लिखे जा चुके हैं। पाखण्डाचार या दम्भ अर्थात् ढोंगको उपधर्म कहते हैं। अपने ही मनसे किसी कामको धर्म कहकर करना 'धर्माभास' है। प्रचलित अर्थको छोड़कर दूसरे प्रकारका अर्थ करके जिस धर्मकी व्याख्या की जाय, वह छल-धर्म है। ऊपर कुधर्मका भी अर्थ लिखा जा चुका है। इन छहों प्रकारके अधर्मोंका परित्याग करना धर्म है। अपना स्वधर्म ही सबको शान्तिदायक होता है। भगवान्ने कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

'स्वधर्ममे मरना श्रेष्ठ है, परधर्म भयकारी है।' समस्त प्राणियोंका वही परम धर्म है, जिससे भगवान्मे निष्काम, अटल और अचल भक्ति हो और जिसके करनेसे आत्मा प्रसन्न होती हो। जिस ओर धर्म होता है, उसकी जय होती है। कहा भी है—

धर्मेण हन्यते व्याधिर्धर्मेण हन्यते ग्रहः।
धर्मेण हन्यते शत्रुर्यतो धर्मस्ततो जयः॥

'धर्मसे रोग नष्ट होते हैं, धर्मसे ग्रहोंकी पीड़ा मिटती है। धर्मसे शत्रु-नाश होता है; जहॉ धर्म होता है, वहॉ विजय होती है।'

अब यह विचारना है कि धर्मरूप नियम क्या है, जिसने इस सृष्टि-क्रियाको धारण कर रक्खा है और उसकी किस अवस्थाको धर्म और किस अवस्थाको अधर्म कहते हैं? यह बड़ा गहन तथा सूक्ष्म विषय है। अतः इसे सावधान होकर समझना चाहिये। इस सृष्टिके तीन गुण हैं, जिनके नाम सत्त्व, रज और तम हैं। ये तीनों गुण सृष्टिकी समस्त वस्तुओंमें देखनेमें आते हैं। इनमेसे रजोगुणसे सृष्टिकी उत्पत्ति होती है, सत्त्वगुणसे स्थिति और तमोगुणसे संहार या प्रलय होता है। यह समस्त जगत् इन तीन अवस्थाओंके वशीभूत है तथा कोई भी पदार्थ या जीव इस सारी सृष्टिमें नहीं है जो उत्पत्ति, स्थिति और लय—इन तीन अवस्थाओसे बचा हुआ हो। ईश्वरके रचे हुए अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं, उनमें ब्रह्माजीसे लेकर स्तम्ब या तृणपर्यन्त अथवा अगणित ग्रह-समूहसे लेकर मिट्टीके क्षुद्र दाने या कणतक सब इन तीन अवस्थाओंके अधीन हैं। उसी प्रकार यह जीव-प्रवाह भी इसी नियमके अधीन रहता हुआ प्रत्यक्ष दिखायी देता है। जीव जन्म लेता है, बढता है और मरता है। इसी अवस्था-भेदसे जीवकी सृष्टि, स्थिति और मुक्ति भी समझी जा सकती है। जैसे अहङ्कार या अहं-तत्त्वसे मोहित होकर जीव पहले-पहले कर्म-प्रवाहमे बहा अर्थात् उसकी उत्पत्ति हुई। पुनः वह कुछ कालतक इस सृष्टिके साथ बहता रहा, अर्थात् कुछ कालतक उसकी स्थिति रही। और अन्तमे अपने असली स्वरूप अर्थात् ब्रह्मको पहचानकर वह इस माया-प्रवाहसे उपरामको प्राप्त हो गया, अर्थात् उसका मोक्ष या ब्रह्ममे लय या ब्रह्ममे सद्भाव हो गया। ये ही तीन अवस्थाएँ प्रत्येक जीवकी होती है। अतः धर्म वही है, जो इस क्रियाके स्वाभाविक नियमको बाधा न दे। और अधर्म वह है जो इस नियममे बाधा करे। दूसरे शब्दोमे जीव सृष्टि-प्रवाहमे पड़नेके अनन्तर क्रमशः अपने गुण-भेदके कारण उन्नत होता हुआ मुक्त होगा। इस क्रमोन्नतिमे जो कर्म सहायक हो, वह धर्म है और इस क्रमोन्नतिमे जो बाधा दे, वह अधर्म है। जो कर्म इस उन्नतिको सरल बनानेमें सहायता दे, वह धर्म कहायेगा और जो कर्म उन्नतिसे अवनतिकी ओर ढकेलेगा, वह अधर्म कहायेगा। इसीलिये सनातन-धर्मावलम्बियोंके खाने, पीने, सोने, जगने, उठने, बैठने, कहने, सुनने, पहनने, जाने, आने आदि प्रत्येक कर्मके साथ धर्म और अधर्मका दृढ़ सम्बन्ध रक्खा गया है। जिस कर्मसे तमोगुण और रजोगुणकी निवृत्ति हो और सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वही धर्म-पद-वाच्य कर्म होगा और जिस कर्मसे सत्त्वगुणकी हानि और रजोगुण तथा तमोगुणकी वृद्धि हो, वह अधर्म-पदवाच्य कर्म होगा।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके लक्षण श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार कहे हैं—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥
(१४।९)

'हे भरतवंशिन्! सत्त्वगुण सुखमें आसक्त करता है; रजोगुण कर्ममें प्रवृत्त करता है और तमोगुण ज्ञानको ढककर प्रमाद, आलस्य और निद्रामें लगाता है।'

इस विषयको स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण दिया जाता है। एक पुरुष दिनको नींद लेता है। दिनमें नींद लेना धर्म होगा अथवा अधर्म, इसका निश्चय करनेमें हमें यही विचारना चाहिये कि दिनमें सोनेसे किस गुणकी वृद्धि और किस गुणकी हानि होगी। दिनमें सोनेसे तमोगुणकी वृद्धि होना अनिवार्य है; क्योंकि तमोगुणका फल अज्ञान है, जो सबको मोहित करता है और प्रमाद, आलस्य और निद्राद्वारा बन्धनका कारण होता है। इसलिये तमोगुणकी वृद्धि करनेके कारण दिनमें सोना जीवकी क्रमोन्नतिमें बाधा करता है। अतएव यह दिनको सोनारूप कर्म अधर्मका कारण हुआ। क्योंकि जीवमें जितना तमोगुण या अज्ञान स्पर्श करेगा, उतना ही जीव जडताको प्राप्त होता जायगा और जो कर्म जितना ही सत्त्वगुणकी वृद्धि करेगा, उतना ही जीव चैतन्यको प्राप्तकर मुक्ति अथवा लयकी ओर आगे बढ़ेगा।

इसी प्रकार सभी प्रकारके कर्मोंको इस कसौटीपर कसनेसे उनके विषयमें धर्म और अधर्मका निर्णय सहजमें किया जा सकता है। इसी सिद्धान्तपर स्थूल और सूक्ष्म भेदसे धर्म और अधर्मका विवेकद्वारा निश्चयकर मनुष्यको प्रत्येक कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये। यही धर्मका रहस्य है। इसी धार्मिक नियमसे सारी सृष्टिका प्रवाह चलता है। भगवान् स्वयं ही धर्मरूप हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

धर्मोऽहं वृषरूपधृक्। (भा० ११।१७।११)

'तप, शौच, दया और सत्य नामके चार पैरोंवाले वृषका रूप धारण करनेवाला धर्म मैं (भगवान्) स्वयं हूँ।'

विष्णुसहस्रनाममें भी लिखा है—

धर्मगुब्धर्मकृद्धर्मी।

'धर्मकी रक्षा करनेवाले, धर्मको बनानेवाले और समस्त धर्मोंके आधार स्वयं भगवान् हैं।'

इसीलिये शास्त्रोंमें लिखा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

'धर्मका परित्याग करनेपर वह उस पुरुषका नाश कर देता है और रक्षा या पालन किया हुआ धर्म इस पुरुषकी रक्षा करता है।'

भगवान् धर्मके स्वयं प्रभु—चलानेवाले या स्वामी हैं—

आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।

'धर्म आचार या सदाचारसे उत्पन्न होता है। उस धर्मके अच्युतभगवान् प्रभु या चलानेवाले या रक्षक हैं।'

इसलिये धर्म सदा पालन करनेयोग्य वस्तु है, वह हँसी या मजाक उड़ानेकी चीज नहीं है।

शास्त्रोंमें लिखा मिलता है—

धर्ममूलं हि भगवान् सर्वदेवमयो हरिः।

सर्वदेवतामय भगवान् धर्मकी जड़ या आधार हैं। भगवान् स्वयं धर्म और धर्मके जाननेवाले हैं। यथा—

धर्मो धर्मविदुत्तमः।

भागवतमें लिखा है कि भगवान् धर्मकी रक्षाके लिये अवतार लेते हैं—

धर्मावनायोरुकृतावतारः। (६।८।१९)

भगवान्ने ही धर्मरूपी नियमको बनाया है, वे स्वयं उसकी पाबंदी रखते हैं तथा औरोंसे रखवाते हैं—यहाँतक कि वे धर्मकी हानि देखकर स्वयं अवतार धारण करते हैं। जैसा कि गीतामें डंकेकी चोट कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
(४।७-८)

'जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार लेकर आता हूँ। साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंके नाश और धर्मकी पुनः स्थापना—इन तीन कामोंके लिये मैं प्रत्येक युगमें प्रकट होता हूँ।'

ईश्वरकृत नियमोंमें न तो कभी आजतक अन्तर पड़ा, न पड़ता है और न कभी पड़ेगा। यह सब ईश्वरकी विचित्र लीला है, जो केवल ईश्वरकी कृपासे ही समझमें आ सकती है।

हिंदू-जीवन

(रचयिता—दीक्षित श्रीश्यामसुन्दरजी शर्मा 'कलानिधि')

जिसके वक्षःस्थल गंगाजल,
जिसके हिम-गिरिका मुकुट भाल;
जिसके पद पूजत स्वर्ण पुरी-
चुम्बन-रत रत्नाकर विशाल;
है प्रकृति अनुचरी जिसकी,
जिसके मातृ-प्रेमके देव भक्त,
उस भारत माताकी संतति
पैंतीस कोटि हम एकरक्त।
कौशल प्रशस्त सम्पूर्ण सहज
हममें अनादिसे विद्यमान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

सब भाषाओंका प्रथम स्रोत,
यह वैदिक संस्कृत कल्परत्न;
जिसपर त्रिलोकतक न्योछावर,
है सहज हमारा ही प्रयत्न।
संस्कृति-विकासके सर्वप्रथम
कर आदि-मंत्र साक्षातकार,
हो ब्रह्म-लीन हमने विरचा
ऋग्वेद दिव्यतम निर्विकार।
प्रति गति-विधिके पूरक अखण्ड,
हम स्वयं-सिद्ध सुखमय सुजान;
हम हिंदू हैं हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान ॥

गृह, उपवन, वन कर व्याप्त शांति,
जप, योग, शक्ति, तपके प्रभाव,
गज-सिंहादिकमें प्रेम भरा,
हमने उनका हर वैर-भाव !
हमसे पालित सत्-न्याय-नीति,
माया-ममता कर खण्ड-खण्ड;
है प्रजा-शांति-बाधक सुत-वनिता-
को भी हमने दिया दण्ड।
हम सर्व-भूत-हित-रत अनुदिन,
बैठे वसुधैव कुटुम्ब मान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान ॥

कर प्राणायाम त्रिधा स्वेच्छित
युग-युगतककी लेकर समाधि,
हम रहते अविचल, अजर-अमर;
आती समीप है नहीं व्याधि।
हमसे शरीर-सुख-संवर्द्धक
चौरासी आसनकी प्रयुक्ति;
हम ब्रह्म-रंध्रसे प्राण त्याग,
जब चाहें वर लें त्वरित मुक्ति।
साकार रूपमें निराकारको
लाये हम कर साम-गान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान ॥

हम जीवमात्रमें मोद, शांति
रखनेको रहते हैं अधीर;
अवतरे हमारे यहाँ ब्रह्म
झष, कमठ, कोलतक धर शरीर।
हमने शरणागत-रक्षणहित
अपने प्राणोंको दिया वार;
जो पीठ दिखा देता, उसपर
हम कभी नहीं करते प्रहार।
रिपुओंको रणमें बाँध किया
हमने उनको जीवन प्रदान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान ॥

हम सफल चक्रवर्ती नृपाल,
हमसे घोषित आदेश-पत्र
भू-मंडलके मंडल-मंडल
भूगर्भित निःसृत यत्र-तत्र।
हम पूर्ण भगीरथ कर प्रयत्न
लाये शिव-सिर सुरधुनी-धार;
रच अश्वमेध हमने पहनी
त्रिभुवन-जयमाला बार-बार !
हमने शर-शय्या ले रणमें
जब इच्छा की, तब तजे प्राण;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

हमसे शिक्षित कपि लड़े समर,
रचकर समुद्रपर सेतु-क्रम;
पद-रोपण, पुरी-दहन दर्शित
अङ्गद-हनुमतका वीर-धर्म !

मिट्टीकी मूर्ति हमारी रच,
उससे लेकर शिक्षा अलक्ष,
पढ़ अद्भुत धनुर्वेद वनचर
तक लक्ष्य-वेधमें हुआ दक्ष !

शुक-मैनातकको तर्क-शास्त्र-
का हमसे समुचित हुआ ज्ञान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

हम गणित-शास्त्र-पारंगत हमसे—
पद्म-शंखतक प्रकट अङ्क;
हमने ज्यौतिषमें ग्रह-गतिकी
गणना दिखलाई निष्कलंक !

निर्धारित वेलामें तथापि
निश्चित प्रभावसे ही समस्त,
रवि,शशि,कुज,बुध,गुरु,भृगु,शनि,तम
होते रहते हैं उदय-अस्त !

हो चौर इंद्र, पाताल वस्तु
ग्रह-बल यथार्थ हम दें बखान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

संगीत-शास्त्रमें भी हमसे
अद्भुत कौशल दर्शित अतीव;
आकृष्ट हमारी स्वर-लहरी-वश
आ जाते सब वन्य जीव !

गाते वसंत, छाता वसंत;
असमयमें गाते घन-मलार,
घन-गर्जन, विद्युत-चमचम-युत
होती वर्षा मूसलाधार !

उच्चारण करते दीप-राग,
होते दीपक देदीप्यमान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

हमने लेकर फरसा प्रचण्ड,
कर-कर अचूक अविचल प्रहार,
अन्यायी-कुल-संहार किया
प्रण कर, रण कर इक्कीस बार !

जो हिल न किसीसे सका रंच,
जिसको त्रिलोक रह गया ताक,
उठ हस्त हमारे भंग हुआ
वह हिमगिरि-सा शिवका पिनाक !

हम अंजलिमें लेकर अपनी
कर गये निमिषमें सिंधु-पान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

पय अहिको देते, पर अहिपति
यदि फैलाये विषकी तरंग,
तो भेद सहस्र फनोंको भी,
हम करते उसका अङ्ग-भंग !

सुरपति भी लेकर प्रलय-मेघ
यदि करना चाहे कुछ अनिष्ट,
तो पड़े क्षुब्ध उसको रहना
इतना हममें पौरुष विशिष्ट !

हँसते कनिष्ठिकापर उछाल
रख पवत हम रचते वितान !
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

बढ़ते सुत सिंह समान हमारे
देख विपक्षी-गज-समूह;
अगणित रिपु सिद्धहस्त हों,
पर वह कर अकेले भंग व्यूह !

शिशु करते आत्म-विनोद हमारे
सिंह-मूँछ कर कराधीन,
खेला करते सिंहनी-दुग्ध
पीते छौनेको छीन-छीन !

वर वीर हमारे-ही-जैसे
हैं पुत्र हमारे गुण-निधान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

है प्राणोंका उत्सर्ग सत्य,
पर धर्म-धैर्य तजते न रंच;
हैं पुत्र हमारे ही, जिनपर
चल सका न जगका कुछ प्रपंच!

हमसे ही गर्भ-कालतकमें
होकर अपूर्व शिक्षित प्रवीण,
कर युद्ध विकट, पौगण्ड पुत्र
वध करते हैं योधा धुरीण!

पितु होते, उनके लोहेको
हम गये समरमें स्वयं मान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

हम भूसुर वह, सुर-गण रहते
जिनकी इच्छाओंके अधीन;
हम भूपति वह, सुरपति रहते
जिनके सम्मुख हैं निरे दीन!

हम धनपति वह जिनपर कुवेर-
की न्यौछावर निधि बार-बार;
हम सेवक वह स्वर्गोपरि 'भारत'
जिनकी सेवाका शृँगार!

वह अवलाएं हममें—जिनके
श्री-गुणपर रति, श्री, शची म्लान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

तज वंश हमारा कहाँ प्रकट
हो सका पतिव्रतका प्रताप?
जिसने कर-भोजन-लालायित
हरि, हर, विधिको शिशु किया आप!

पत्नियाँ हमारी युद्धस्थलमें
रहीं प्रबल दाहिना हाथ;
जब हमको जीवित कर न सकीं,
हो गईं सती तब साथ-साथ!

रुख देख हमारी ही महिलाओं-
का होना विरमा विहान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

दिग्-विजय-करण-अभिलाषासे
प्रेरित होकर, हो युद्ध-लग्न,
चल पड़ा सिकंदर कर फारस,
काबुल, बख्तर स्वातंत्र्य भग्न!

पर पहुँचा ज्यों ही भारत वह,
हमने झेलम-तट समर रोप,
यूनानी दल दल-विचलित कर
उसके प्राणोंपर किया कोप!

निज मरण देख, वह शरण हुआ
पलटा हमसे पा अभय-दान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

भारत वैभव अपहरण हेतु
छल, बल, रण-कौशल कर अपार,
जब स्वामीके ही भाँति सिल्यूकस
रणमें हमसे गया हार!—

तब सुता-सहित काबुल, कँधार,
दे संकुल अफगानी प्रदेश,
हेरात, बिलोचिस्तान भेंट,
वह चला गया अपने निवेश!

नत-मस्तक होकर चरण हमारे
लगा पूजने फिर युनान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

जब वैयक्तिक लोलुपतावश
हमसे समाजका हुआ लोप
शासन-प्रकाशपर हुआ
अचानक म्लेच्छ-पतंगोंका प्रकोप!

पर स्नेह-क्षीणतातक बढ़ते
अपनी ज्वलंत ज्वाला प्रकाश,
हमने निज लपटोंमें विरचा
उन तुच्छ पतंगोंका विनाश!

हम आप बुझे, पर प्रथम भेज रिपु
शब्द-वेध शरसे श्मशान;
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान!

बढ़ चला विधर्मी अनाचार,
जन, धन, लज्जाकी मची लूटः
सह सके असह अन्याय न,
मंदिर गिरे, मूर्तियाँ गईं फूट !

हम केसरिया सज लड़े समर,
कुछ हुईं देवियाँ चिता-क्षारः
दुष्टोंकी छातीपर जमकीं
कुछ खींच कंचुकीसे कटार !

जीवन सतीत्वके साथ रहे,
यह वनिताओंको रहा ध्यानः
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

सर्वत्र भारती सीमातक
हो चला प्रखर अपना प्रतापः
'अल्ला हो अकबर'का नारा
'हर-हर बम' ध्वनि बन गया आप !

फिर कुटिल काल-दुर्वासाके
पड़ कूट-नीति-व्यवहार साथ,
होकर स्वतंत्र हम हुए पुनः
परतन्त्र हाय अंग्रेज हाथ !

पर अंग्रेजोंको याद हमारी
सन् सत्तावनकी कृपाणः
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

चित चाह वसंती-चोलाकी
दे-दे पूर्णाहुति मुक्ति-हेतु,
हम खेले फाँसी, गोलीसे
फहरानेको राष्ट्रीय-केतु !

गा गंगा-यमुनाके गायन,
भज भारत माकी भव्य मूर्ति,
हम चले 'चलो दिल्ली' कहते,
करने अक्षय स्वातंत्र्य-पूर्ति !

हिल उठी ब्रिटिश इम्फालभूमि-
तक देख हमारा अधिष्ठानः
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

यद्यपि कुछ देश-द्रोहियोंवश
हम सके नहीं कृत समर जीतः
पर भारत-शासन तजनेको
अंग्रेज हुआ उद्यत सभीत !

फिर भी निज पुनरागमन-हेतु
उसने छिप-छिपकर चली चालः
जिसका फल पाकिस्तान अधम—
अपना अघ, दैवी गति कराल !

पर इस अरिष्ट-उन्मूलनका
चल रहा हमारा अनुष्ठानः
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

यह हमें न विचलित कर सकता
षडयंत्र दुष्ट-दलका प्रचण्डः
उठ रहे आत्मरक्षार्थ हमारे
आज संगठित बाहु-दण्ड !

हम हैं अनायके नहीं शत्रु,
यदि वह न करें हमसे विरोधः
पथ-कंटकका ही हैं करते हम
सब विधि उन्मूलन-विशोध !

हमसे आहत रसखान, ताज,
इब्राहिम खाँ-से मुसलमानः
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

अस्तित्व हमारा है अनादिसे
जैसे, वैसे ही अनंतः
इसके विनाशपर तुले शत्रु-
का नियत श्रुतायुध-तुल्य अंत !

भय, सङ्कट, पीड़ाएँ युग-युगकी
हममें भरती हैं प्रकाशः
साक्षी अक्षय-वट शेष, हमें
कर सका नष्ट कब महानाश !

हम ईश्वरीय लीला-अथ-इति-
के अविकल दर्शक वर्तमानः
हम हिंदू हैं, हिंदू-जीवनका
हमको संतत स्वाभिमान !

हिंदूधर्मका व्यापक स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न)

इस देशके प्रत्नतम युगमे यहाँके निवासी आर्य आशिष्ठ, द्रढिष्ठ, बलिष्ठ, सुन्दर, श्रद्धालु और आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत करनेवाले थे। वे सदाचारी, निर्भीक, उदार और प्रकृतिके विशाल लीलाक्षेत्रके रहस्योसे परिचय प्राप्त करनेके लिये सदा उत्सुक थे। उन्होने विमल-सलिला सरिताओ, कुसुमित वनराजियो, उत्तुङ्ग अचलो, अगाध सलिलाशयो, किम्बहुना—नानाविध प्राकृतिक सम्पत्तियोका सदुपयोग करके एक ऐसा विज्ञान प्राप्त किया, जो अद्यावधि अपनी यशोगाथाके कारण भूवलयमे विश्रुत है। सात्त्विक जीवन-निर्वाहने एवं शम, दम् आदि सद्गुण-गणने उनके हृदयमें सत्यका सञ्चार किया और अपनी उस अनुभूतिको उन मननशील मेधावी महर्षियोने मन्त्रोके रूपमें अपनी सन्ततिको प्रदान किया। मन्त्रराशिका नाम वेद है।

वेदमे[1] लिखा है कि इस विश्वकी सृष्टि होती है और सृष्टिकर्ताके ईश्वर आदि अनेक नाम हैं। जीवोका पुनर्जन्म होता है। जबतक आत्मसाक्षात्कार नही होता, तब-तक पुनर्जन्म और पुनर्मरण होता रहेगा। पुनः-पुनः जन्म और पुनः-पुनः मृत्युसे विकल होकर जीव जब साधना करता है, तब संसार-पाशसे उसका निस्तार हो सकता है। इसी निस्तारसे परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

पुनर्जन्म और मुक्तिवाद आर्यधर्मकी प्रधान सम्पत्ति थी और वह सम्पत्ति अभीतक इस देशमे सुरक्षित है। इस देशका प्राचीन नाम आर्यावर्त था, किंतु यहाँके सप्तसिन्धु-प्रदेशकी सभ्यता और संस्कृतिसे मुग्ध होकर विदेशवासियोने इसको 'सिन्धुस्थान' कहना प्रारम्भ कर दिया। भाषाशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार संस्कृतका सकार विदेशियोकी बोलीमे हकार बन गया और महाप्राण धकार और थकारके स्थानपर क्रमशः अल्पप्राण दकार और तकार होनेसे 'हिंदुस्तान' शब्द बन गया। और यहाँके निवासी 'हिंदु' अथवा 'हिंदू' कहलाये।

पूर्वोक्त भारतीय महर्षिगण आस्तिक थे, क्योकि इस देहके अनन्तर भी वे देहीकी अर्थात् आत्माकी सत्तामे विश्वास रखते थे। कुछ ऐसे भी हिंदू थे, जो देहानन्तर आत्माके अस्तित्वमे—पुनर्जन्म और मुक्तिमे—श्रद्धा नहीं रखते थे। ये हिंदू नास्तिक हिंदू कहलाये।

आस्तिकोमे भी एक दल ऐसा था, जो जीवात्माके पुनर्जन्म और मोक्षमे तो विश्वास करता था; किंतु वैदिक साहित्य उसे मान्य नही था। इस दलको 'अवैदिक आस्तिक हिंदू' नामसे कह सकते हैं।

नास्तिकलोग देहात्मवादी होते है। वे कहते हैं कि 'भस्मीभूत देह फिर नही मिलेगा। अतएव जबतक जीवन है, तबतक आनन्दकी प्राप्ति—जैसे भी हो—कर लेनी चाहिये। ऐसे नास्तिक लोगोके आचार्य बृहस्पति और चार्वाक हो गये हैं और उनके दर्शनको बार्हस्पत्य अथवा चार्वाक-दर्शन कहते हैं।[1]

अवैदिक आस्तिक हिंदुओमे भी दार्शनिक चर्चा पर्याप्त रही। तीर्थङ्कर महावीर वर्धमानद्वारा प्रदर्शित मार्गको मानने-वाले सज्जन जैन हिंदू कहलाते हैं। जैनधर्ममे अहिंसापर अधिक महत्त्व है। यद्यपि सृष्टिकर्ता ईश्वरके लिये इस धर्ममे कोई अवकाश नही है, तथापि सांसारिक वासना-त्यागरूपी साधनाके बलसे जीवको पुनर्जन्म-मरणसे छुटकारा—निर्वाण पानेका सिद्धान्त इसमे सम्यक् स्थापित किया गया है।

जैन-हिंदुओकी ही कोटिमे बौद्ध-हिंदू हैं। कपिलवस्तुके निवृत्तिपरायण राजकुमार सिद्धार्थने बुद्धत्व प्राप्त करके इस सम्प्रदायका सूत्रपात किया था। इस धर्ममे भी जगत्के रचयिता ईश्वरका अस्तित्व स्पष्ट स्वीकार नहीं किया गया है, किंतु जन्मानन्तर मृत्यु और मरणानन्तर जन्मकी प्रक्रियाको सिद्ध करके इस जन्म-मरणरूप संसार-चक्रसे मुक्तिकी स्थापना विशद रूपसे की गयी है।

जैन और बौद्ध-हिंदुओका धार्मिक साहित्य विशाल है और अधिकांशमे पाली-प्राकृतमे लिखा गया है। जैन-हिंदुओके श्वेताम्बर और दिगम्बर नामक दो भेद हैं और स्याद्वाद नामक दार्शनिक सिद्धान्त बड़ा प्रसिद्ध है। इसी

---

१. द्यावाभूमी जनयन् देव एकः (श्वेताश्वतर० ३। ३; श्रीमद्भागवत १। १। १; ब्रह्मसूत्र १। १। २)

१. जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णाना योगाद् राग इवोत्थितम्॥
(सर्वसिद्धान्तसंग्रह)

प्रकार बौद्ध-हिंदुओंके हीनयान और महायान नामक भेद हैं और चार दार्शनिक सिद्धान्त हैं, जिनके नाम हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक।

वेदोंको प्रमाण माननेवाले वैदिक हिंदुओंमें दो विभाग थे। एक दल 'जगत्का स्रष्टा ईश्वर है' यह मानता था और दूसरा दल ईश्वरको नहीं मानता था। ईश्वरको माननेवाले सेश्वर कहलाये और न माननेवाले निरीश्वर। निरीश्वरवादियोंमें कपिल और जैमिनि मुख्य हैं। कपिलके सांख्यमतके अनुसार प्रकृति और पुरुषके ज्ञानसे ही कैवल्यका लाभ हो सकता है। एवं जैमिनिके मीमांसा-दर्शनके अनुसार वैदिक यज्ञोंके अनुष्ठानसे उत्तम स्थान (स्वर्ग) की प्राप्ति होती है, जिसमें दुःखका लवलेश भी नहीं है।

ईश्वरको माननेवाले वैदिक हिंदुओंमें तीन विभाग थे। एक तो वह, जो ईश्वरको निर्गुण-निराकार मानता था। दूसरा वह, जो उसे सगुण-साकार मानता था और तीसरा वह, जो उसे सगुण-निराकार मानता था। उपनिषदोंमें ऐसे अनेक मन्त्र मिलते हैं, जिनसे इन तीनों विभागोंका समर्थन होता है। निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी सिद्धिमें—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।[1]

—आदि मन्त्र हैं। अद्वैत-मतने ऐसे ही मन्त्रोंको मुख्य मानकर अन्योंको गौण माना है। आचार्य शङ्कर इस मतके बड़े प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। अद्वैतवादी हिंदू कर्म और उपासनाद्वारा अपनेको ब्रह्मज्ञानका अधिकारी बनाते हैं और ब्रह्मज्ञान होनेके अनन्तर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं।

सगुण-निराकार ब्रह्मकी सिद्धिमें 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः', 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्'[2] आदि मन्त्र हैं। ब्राह्मसमाज और आर्यसमाजमें ऐसे ही मन्त्रोंको मुख्यता दी गयी है। ब्राह्मसमाजके संस्थापक थे राजा राममोहन राय और आर्यसमाजके स्वामी दयानन्द।

सगुण-साकार ब्रह्मकी सिद्धिमें 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'यत्ते रूपं[3] कल्याणतमं तत्ते पश्यामि' आदि मन्त्र हैं। ब्रह्मको सगुण-साकार माननेवाले हिंदुओंमें पाँच सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—सौर, गाणपत, शाक्त, शैव और वैष्णव।

नभोमण्डलमें विराजमान सूर्यके अधिष्ठाता देवताकी उपासना करनेवाले सौर कहलाते हैं। 'हिरण्मयेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्'[1] इत्यादि मन्त्र सूर्योपासनाके हैं।

सर्वकर्म-समारम्भमें पूजित गणेशजीकी उपासना करनेवालोंको गाणपत कहते हैं। 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे', 'कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्'[2] इत्यादि मन्त्र गणेशोपासनाके हैं।

जगद्धात्री, सिंहवाहिनी शक्तिकी उपासना करनेवाले शाक्त कहलाते हैं। 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि'[3] इत्यादि मन्त्र शक्त्युपासनाके हैं।

पिनाकधारी रुद्र शिवजीकी उपासना करनेवाले शैव कहलाते हैं। 'नमस्ते रुद्र मन्यव उतोत इषवे नमः'[4] इत्यादि मन्त्र शिवोपासनाके हैं।

शङ्ख-चक्र-गदा-कमलधारी श्रीविष्णुके उपासक वैष्णव कहलाते हैं। 'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे'[5] इत्यादि मन्त्र विष्णूपासनाके हैं।

सौर सम्प्रदायकी छः शाखाएँ हैं—१-सूर्यबिम्बको सूर्यमूर्ति माननेवाली, २-ब्रह्माजीको सूर्य माननेवाली, ३-विष्णुजीको सूर्य माननेवाली, ४-शिवजीको सूर्य माननेवाली, ५-त्रिमूर्तिको सूर्य माननेवाली, ६-सूर्यमूर्तिका मस्तक, बाहु आदि अङ्गोंपर अङ्कन करनेवाली।

गाणपतोंकी छः शाखाएँ हैं—१-महागणाधिपतिकी उपासिका, २-कुमारगणपतिकी उपासिका, ३-हेरम्ब-गणपतिकी उपासिका, ४-नवनीत-गणपतिकी उपासिका, ५-स्वर्ण-गणपतिकी उपासिका और ६-सन्तान-गणपतिकी उपासिका।

शाक्तोंकी दो शाखाएँ हैं—१-वाममार्ग और २-दक्षिणमार्ग।

शैवोंकी चार शाखाएँ हैं—१-शैव, २-पाशुपत, ३-कारुणिक-सिद्धान्ती और ४-कापालिक।

वैष्णवोंकी चार शाखाएँ हैं, जो सम्प्रदाय-नामसे प्रसिद्ध हैं—१. श्रीसम्प्रदाय, २. ब्रह्मसम्प्रदाय, ३. रुद्रसम्प्रदाय और ४. सनकसम्प्रदाय। श्रीसम्प्रदायकी उपशाखा है—रामानन्दी सम्प्रदाय और ब्रह्मसम्प्रदायकी उपशाखा है—गौडीय सम्प्रदाय। प्रधान चार सम्प्रदायोंके आचार्य क्रमशः ये हैं—

---

१. कठोपनिषद् ३। १५ २. ईशावास्योपनिषद् ८
३. बृहदारण्यक० ५। १५। १

१. ऋग्वेद १। ३५। २ २. ऋग्वेद २। २३। १
३. ऋग्वेद १०। १२५। १ ४. यजुर्वेद १६। १
५. ऋग्वेद १। १५६। ३

समानुज, मध्व, वल्लभ और निम्बार्क। रामानन्दने रामानन्दी सम्प्रदाय चलाया और चैतन्य महाप्रभुसे गौड़ीय सम्प्रदाय चला।

जो हिंदू निर्गुण-निराकार ब्रह्मको ही परम सत्ता समझते हैं, किंतु उपासनाके लिये सूर्य, गणपति, शक्ति, शिव, विष्णुको ब्रह्मका मायिक रूप मानकर स्वीकार करते हैं, वे 'स्मार्त हिंदू' कहलाते हैं।

'तां[1] योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' —इत्यादि मन्त्रोंसे प्रतिपादित योगविद्याके अभ्यासी साधक और सिद्ध योगी कहे जाते हैं। यह योगमार्ग कर्म-उपासना-ज्ञानके समान ही आदृत रहा है। इससे भी पुनर्जन्मका निरोध करनेवाली कैवल्यदशाकी उपलब्धि होती है। नाथ-सम्प्रदाय आदि योगमार्गके उपभेद हैं। नेति, धौति, वस्ति, नौलि, कपालभाति, त्राटक, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये योगशास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं और विशेष-विशेष क्रियाओंके बोधक हैं। प्रायः सभी हिंदू 'ध्यान' शब्दका अपनी धार्मिक भाषामें प्रयोग करते हैं।

दक्षिणापथमें वैष्णवोंके भागवत-सम्प्रदायकी तीन शाखाएँ हो गयीं—वारकरी सम्प्रदाय, रामदासी सम्प्रदाय और दत्त-सम्प्रदाय। भगवान् दत्तात्रेयसे दत्त-सम्प्रदाय उदित हुआ और समर्थ स्वामी रामदासजीसे रामदासी सम्प्रदाय।

कबीर निर्गुण-निराकारके उपासक थे। इनको माननेवाले कबीरपन्थी हिंदू कहलाते हैं। ऐसे ही अन्य अनेक पन्थ हैं—नानकपन्थ, दादूपन्थ, लालदासी, सत्यनामी, बाबालाली, साधपन्थ, शिवनारायणी, गरीबदासी, रामसनेही, अघोरपन्थी—जिनमें मूर्तिपूजा नहीं होती, किंतु गुरुपूजाका विशेष महत्त्व है।

वैष्णवोंके कुछ अन्य उपसम्प्रदाय हैं—जैसे कि राधावल्लभी, हरिदासी, स्वामिनारायणी आदि।

संतमत वा राधास्वामी पन्थ भी हिंदुओंमें प्रसिद्ध है। आगरेके राधास्वामी दयालुजी इसके प्रवर्तक थे। इन्होंने 'सुरत शब्दयोग' की बड़ी सरल युक्ति प्रकट कर दी, जिससे इस योगका अभ्यास सरल हो गया।

ब्रह्मविद्या-सभा अथवा थियॉसॉफिकल सोसायटीके अनुगामी बहुत-से हिंदू हैं। इस सभाके सिद्धान्तोंमें जन्मान्तरवाद, कर्मवाद, अवतारवाद, योगसाधना, गुरूपासना, तपस्या, जप, तपको स्थान मिला है। एनी बेसेंट आदि कई विदेशी संस्कृतिके दृष्टिकोणसे हिंदू थे।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि—

(अ) कर्मफलमें विश्वास।

(आ) पुनर्जन्ममें श्रद्धा और

(इ) मुक्तिमें आस्था।

—ये तीन बातें हिंदूधर्मके व्यापक रूपके लक्षणमें कही जा सकती हैं; किंतु शौचाचार, वेष-भूषाका भी कम महत्त्व नहीं है। शिखा-सूत्र, मठ-मन्दिर, सभा-समिति, व्रत-उपवास, पर्व-उत्सव, दान-दक्षिणा, भजन-पूजन, कथा-कीर्तन, होम-यज्ञ, जप-तप, ध्यान-धारणा, सन्ध्या-स्वाध्याय ऐसी बातें हैं, जिन्हें प्रायः प्रत्येक हिंदू अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार करता है। ये सब साधनकोटिकी बातें हैं और इनको लेकर परस्पर वैमनस्य कदापि नहीं करना चाहिये। पुनर्जन्मसे छुटकारा पाकर चिरन्तन, शाश्वत, अविनाशी, परम आनन्दका लाभ ही जब हिंदूमात्रका ध्येय है, तब साधनामें भेद प्रेमके मार्गमें बाधक क्यों हो? परस्पर स्नेहभावमें रहकर अपने-अपने पन्थ या सम्प्रदायके अनुसार सभी हिंदू उन्नतिके मार्गमें अग्रसर हो सकते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहको सभीने अच्छा बताया है। प्रत्येक हिंदू जहाँ विचारमें (पुनर्जन्म और मुक्तिके सम्बन्धमें) समान है, वहाँ गायके प्रति श्रद्धाकी दृष्टिसे आचारमें भी समान है। कदाचित् ही कोई हिंदू ऐसा हो, जो गोमाताको पूज्य दृष्टिसे न देखता हो।

इस सिन्धुस्थान आर्यावर्तकी प्राचीन संस्कृति और सभ्यताको पितृ-पुत्र-परम्परासे तथा गुरु-शिष्य-परम्परासे बनाये रखनेवाले सभी हिंदू परस्पर भ्रातृभावापन्न हैं।

हिंदुओंकी निर्वैरता

हिंदू अनुकूल आचरण करनेवाले तथा सबके प्रति दयालु होते है। उनका संसारमें किसीसे वैर नहीं है।

—इतिहासकार अबुल फजल

१. कठोपनिषद् ६। ११

भारतीय संस्कृतिके मूलतत्त्व

(लेखक—श्रीदादा धर्माधिकारी)

'भारतीय संस्कृति' शब्द-प्रयोग कुछ असंगत-सा जान पड़ता है। क्या कोई भारतीय प्रकाश, भारतीय अँधेरा, भारतीय सूर्य और भारतीय चन्द्रमा भी कहेगा? एक दृष्टिसे तो सूर्य, चन्द्र, प्रकाश और अँधेरेको किसी देशका कहना अज्ञानका लक्षण माना जायगा; परंतु एक विशिष्ट अर्थमें हम भारतीय आकाश, भारतीय चन्द्रमा, भारतीय गणित, भारतीय विज्ञान, भारतीय शक्कर और भारतीय नमक कहते हैं। सूर्य, चन्द्र, विज्ञान, गणित, शक्कर, नमक—इन सब वस्तुओंके सामान्य गुण-धर्म संसारभरमें एक ही हैं; लेकिन भारतकी विशिष्ट आबहवामें उनके रूपमें अन्तर दिखायी देता है। इसलिये हम भारतका आकाश, भारतका चन्द्रमा इत्यादि शब्द-प्रयोग करते हैं।

'संस्कृति' भी एक अखिल-जागतिक भाव और सार्वभौम तत्त्व है। उसके लक्षण अखिल-जागतिक हैं। उसके मूलतत्त्व भी समस्त संसारके सभी देशोंमें समान हैं। यदि ऐसा न होता तो संसारमें सांस्कृतिक भूमिकापरसे न विग्रह होते न सन्धियाँ होतीं, न विवाद होते न संवाद होते, न युद्ध होते न शान्तिकी चर्चा ही होती। जब दो राष्ट्रोंमें या दो राज्योंमें युद्ध होता है, तब उनमेंसे हर एक दूसरेपर अन्याय और दुष्टताका आरोप लगाता है। अन्याय और दुष्टताकी—दोनों पक्षोंकी परिभाषा एक न होती, तो यह पारस्परिक अभियोग असम्भव होता। दोनोंकी भूमिकामें यह मूलभूत एकता है। जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्यसे कहता है कि मेरी 'संस्कृति' या मेरा 'रहन-सहन' तुझसे श्रेष्ठ है, तब दोनोंकी 'संस्कृति'-की मूलभूत कल्पना एक ही होती है। संस्कृतिके लक्षण या कसौटियाँ अगर समान न हों, तो तुलना ही सम्भव न हो। अगर नॉर्मल 'तापमान' और बुखारकी हमारी परिभाषा एक न हो तो हमारा 'थर्मामीटर' भी एक नहीं होगा और अगर 'थर्मामीटर' एक न होगा, तो किसे बुखार कम है और किसे अधिक—इसका भी निर्णय कोई नहीं कर सकेगा। हमारी 'संस्कृति', 'सभ्यता' और 'उन्नति' की बुनियादी व्याख्या एक ही है। इसीलिये हम संसारके कुछ देशों, कुछ राष्ट्रों और कुछ मानवसमूहोंको अधिक सभ्य, सुसंस्कृत और अधिक प्रगतिशील कहते हैं। संस्कृतिकी मूलभूत परिभाषा और लक्षणोंमें एकता है; इसीलिये वह 'संस्कृति' है; इसीलिये वह मनुष्योंको 'सभ्य' बना सकती है। सभ्यता और असभ्यताका लक्षण क्या है? हम सभ्य उसे कहते हैं, जिसमें सहूर है, तमीज है, शिष्टता और विवेक है। शिष्टताका अर्थ है—दूसरोंकी सुविधाका ध्यान; विवेकका अर्थ है दूसरोंके साथ व्यवहारमें उन्हें असुविधा या अड़चनमें न डालनेकी वृत्ति। एक वाक्यमें सभ्यता, सज्जनता, शिष्टता हमें दूसरोंके साथ रहनेकी सिफत, दूसरोंके साथ जीनेमें आनन्द अनुभव करनेकी कला सिखाती है। यही 'संस्कृति'का आदर्श है। इसीलिये उसके मूलभूत लक्षण और परिभाषा एक हैं।

यही आर्यता है। आर्य वह है, जो सुसंस्कृत है, संभावित है, शिष्ट है। अनार्य वह है, जो अनाड़ी है, उद्दण्ड है, असभ्य और अशिष्ट है। प्राकृत मानव और संस्कृत मानवमें अन्तर है। जो केवल प्राकृत प्रेरणाओंका दास है, उसका शरीर मनुष्यका होते हुए भी वास्तवमें वह केवल एक मनुष्याकार प्राणी है। अगर पशु नहीं तो पशुतुल्य है। उसमें प्रकृतिको मोड़नेकी या अपने अनुकूल प्रवृत्तिका आविष्कार करनेकी सामर्थ्य नहीं होती। प्राकृत जीवन आर्य जीवन या सभ्य जीवन नहीं है। 'आर्य' की परिभाषामें 'तिष्ठति प्राकृताचारे' तो कहा है; परंतु साथ-साथ 'कर्तव्यमाचरन् कार्यम्' और 'अकर्तव्यमनाचरन्' भी कहा है। विकार और वासना भी तो प्राकृतिक हैं। जो विकार और वासनाका अनुसरण करता है, वह भी प्राकृत आचार तो करता ही है। फिर उससे अकर्तव्यके अनाचरणकी आशा कैसे की जा सकती है। स्पष्ट है कि यहाँ 'प्राकृताचार'का अर्थ कुछ और ही है। कर्तव्य करना और अकर्तव्य न करना ही जिसके लिये प्राकृताचार है, जिसकी प्रकृति बन गयी है, सहज प्रवृत्ति हो गयी है, वह आर्य है। उसमें कृत्रिमता, औपचारिकता, बाह्य प्रदर्शन नहीं है; उसके चित्तकी स्वाभाविक प्रेरणा ही सद्भावसम्पन्न या सद्व्यवहारप्रवण हो गयी है। 'बालिशता' और 'बालभाव'में, 'चाइल्डिशनेस' और 'चाइल्डलाइक सिंप्लिसिटी'में, छोकरेपन और बालसदृश निष्पापतामें, बहुत बड़ा और मूलगामी भेद है। उसी प्रकार प्राकृत जीवन और अकृत्रिम या निर्व्याज जीवनमें बहुत बड़ा भेद है। सत्प्रवृत्ति और असत् प्रवृत्ति—दोनों प्राकृतिक हैं।

जो दोनोका निर्विशेष रूपसे अनुसरण करता है, वह 'प्राकृत' है। जो असत् प्रवृत्तियोका निराकरण और सत् प्रवृत्तियो-का परिपोषण करनेमे यत्नशील है, वह आर्य है, वही सुसंस्कृत है, वह सभ्य जीवनका साधक है। 'कर्तव्यमाचरन् कार्यम्', 'अकर्तव्यमनाचरन्' उसीके लिये लागू है।

मतलब यह कि किसी भी विवाद या संवादकी यह अनिवार्य शर्त है कि दोनो पक्षोके पदार्थलक्षण एक हों। हमने देखा कि 'संस्कृति' शब्दका लक्षण संसारभरमे एक ही है। उसकी अभिव्यक्ति और आविष्करणकी पद्धतियों और प्रकारोमे भेद अवश्य होता है। आकारमे भेद हो सकता है, किंतु स्वरूप एक ही होता है।

इस सार्वभौम और मानव्य व्यापक संस्कृतिकी अभि-व्यक्ति और आविष्करण भारतवर्षके साहित्य और जीवनमे विशिष्टरूपसे हुआ है। हमारे दर्शन और साहित्यमे दो विशिष्ट शब्द उसके वाचक और बोधक हैं—'अद्वैत' और 'समन्वय'। इन दो शब्दोंमे संस्कृतिके साध्य और साधनका अन्तर्भाव है। सांस्कृतिक जीवनका ध्येय अद्वैतकी सिद्धि है और उसका साधन समन्वयकी नीतिका नैष्ठिक अनुष्ठान है।

'कैवल्य' या 'ऐक्य' की जगह 'अद्वैत' शब्दका प्रयोग बहुत 'सूचक' है। कैवल्य या ऐक्यमे भेदका मान या उसकी मान्यता भी नहीं है। अद्वैतमे द्वैतका निराकरण है, समस्त भेदोंका नही। द्वैत द्वन्द्वका सूचक है। हम हिंदीमे जिसे 'दंद' कहते हैं, उससे बचना चाहते हैं। 'द्विधा' या 'दुविधा' की मानसिक अवस्थामें भी हम अस्वस्थ और अशान्त होते हैं। द्वैतमे विषमता और दूसरेपनकी, परायेपनकी, अनात्मीयताकी भावना है। भेदमे हमेशा विषमता या विरोध नहीं होता। अनात्मभाव नही होता। भेदोंमे जो विषमता या विरोध हो, उसके परिहारका नाम समन्वय है। अविरोध-सिद्धि अर्थात् विविधतामेसे विषमताके अंशका निराकरण ही समन्वयकी पद्धतिका सार है। समन्वयका अर्थ 'समझौता' नही है। समझौता एक बाह्य और यान्त्रिक प्रक्रिया है। उसमे आदान-प्रदान है। हम कुछ इष्ट अंशका त्याग करके कुछ अनिष्ट अंशका स्वीकार करते हैं। इसमे दोनो पक्षोंका समाधान नहीं होता। एक अंशमे दोनोंको सन्तोष होता है और एक अंशमे दोनोको असन्तोष। समान सन्तोषके साथ-साथ समान असन्तोष होता है। अर्ध-सम्मतिके साथ अर्ध-असम्मति भी होती हैं। इसमे सङ्गति और संवाद नहीं है। इसमें समान 'अन्वय' नही है। समन्वयमे विसङ्गति और विप्रतिपत्तिका परिहार है। इसलिये उसमें समान सम्मति और समान सन्तोष है। इसीलिये अद्वैतकी सिद्धि समन्वयकी प्रक्रियासे होती है।

विषमताके निराकरणके बिना अद्वैतकी सिद्धि कभी नहीं होगी। अद्वैत एक मनोवृत्ति, चित्तकी एक अवस्था, एक निष्ठा है; परंतु मनुष्यकी सारी कर्म-प्रणाली उसकी चित्तकी निष्ठा बनाने और उसे स्थिर रखनेके लिये है। इसे अभ्यास कहते हैं। अभ्यास यानी आदत डालनेकी चेष्टा, मुहावरा करनेका अविरत प्रयत्न। यही आचारधर्मका उद्देश्य है। हमारे सारे नीतिधर्म और आचारधर्मका हेतु द्वैतका निराकरण, विषमताका निवारण, भेदमेसे अभेदकी ओर जानेका प्रयास होना चाहिये। हमारी बुद्धिगत निष्ठा और हृदयगत भावना हमारे व्यवहारमे व्यक्त होनी चाहिये। वृत्ति और कृति, दर्शन और वर्तन, विचार और आचारमें अभेद और सङ्गति होनी चाहिये। यही समत्वकी साधना है। समत्वका साधन, उसकी कला 'योग' है। साध्य और साधनके अभेदके सिद्धान्तके अनुसार 'समत्व' ही 'योग' है। जीवनके हर एक क्षेत्रमे, दैनिक व्यवहारकी हर एक क्रियामे अभेदका अभ्यास ही 'समत्वयोग' है। अद्वैत केवल एक तत्त्वज्ञान नही है, वह जीवनका एक विज्ञान भी है। दोनोको मिलानेसे निष्ठा बनती है। निष्ठामे बौद्धिक असंदिग्धता और अनुभवका प्रत्यय होता है। भारतीय संस्कृतिके इन दो शब्दोंमे—अद्वैत और समन्वयमे—समाज-जीवनके आदर्श और सामाजिक साधनाका सङ्केत है।

विप्रतिपत्ति, प्रतियोगिता, जय-पराजय प्राकृतिक हैं; लेकिन इनका निराकरण करना ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ चार हैं। उनको गिनाते हुए आरम्भमे धर्मको रक्खा गया है और अन्तमे मुक्तिको। बीचमें अर्थ और काम। अर्थ यदि धर्ममूलक और मुक्तिसाधक न हो, तो वह अनर्थ हो जाता है। काम यदि धर्ममूलक और मुक्तिका साधक न हो, तो वह सारे जीवनका 'प्रणाश' करता है। अर्थ और कामका अधिष्ठान धर्म हो और उसकी परिणति मोक्षमे हो। आध्यात्मिक बलपर इन शब्दोका अर्थ चाहें जो हो, हमारी व्यावहारिक सत्ताके बलपर धर्मका अर्थ है विषमताका परिहार, हितोंकी विप्रतिपत्तिका निवारण, समत्वकी सिद्धि। अर्थ-प्रवृत्तिकी प्रेरणाका मूल समत्वकी आकाङ्क्षा हो और उसका परिपाक मुक्ति यानी अद्वैतकी स्थापनामे हो। सामाजिक

मुक्तिमें हर एक व्यक्ति स्वाभाविकरूपसे स्वतन्त्र होता है। विप्रतिपत्ति और संघर्षके अभावमें एक-दूसरेपर आक्रमण या एक-दूसरेके जीवनमें बाधा पहुँचानेके लिये कोई प्रयोजन या अवसर नहीं रह जाता। सबके समान हित और सबके समान सुखमें सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। समान श्रम और समान प्रतिफलका सिद्धान्त आर्थिक क्षेत्रमें चरितार्थ हो जाता है।

कामके क्षेत्रमें भी काम जब धर्ममूलक होता है, तब उसमें प्रभुत्व-भावनाके लिये कोई अवकाश नहीं रहता। वह जब मुक्तिप्रवण होता है, तब उसमें स्त्री और पुरुष एक-दूसरेकी वासना और उपभोगके विषय नहीं रह जाते। स्त्रीके मोहसे पुरुष विमुक्त हो जाता है और पुरुषके आक्रमणके भयसे स्त्री विमुक्त हो जाती है। दोनों एक-दूसरेकी तरफसे सुरक्षित हो जाते हैं। कामके क्षेत्रमें यह मुक्ति है।

आर्थिक क्षेत्रमें धर्मका नाम अस्तेय और अपरिग्रह है, उसका साध्य आर्थिक 'संविभाग' है। कामके क्षेत्रमें धर्मका नाम ब्रह्मचर्य है। और उसका ध्येय स्त्री-पुरुषका वासना-निरपेक्ष सुरक्षित सहजीवन है।

अद्वैत और समन्वयके व्यापक विनियोगके दृष्टान्त भारतवर्षमें जितने ऊँचे मिलते हैं, उतने शायद ही और कहीं मिलते हों। भूतदया सभी धर्मोंका मूल है, लेकिन जितना बड़ा निवृत्त-मांस जनसमुदाय इस देशमें है, उतना संसारमें और कहीं नहीं है। पूछा यह जायगा कि मांस खाने-न-खानेसे संस्कृतिका क्या सम्बन्ध है? जवाब थोड़ेमें इस प्रकार है—

मनुष्य जबतक मृगयाजीवी था, तबतक वह प्राकृतिक अवस्थामें माना जाता था। वह आखेटके द्वारा अपने खाद्यका उपार्जन और उपादान करता था, लेकिन उत्पादन और निर्माण नहीं कर सकता था। जब वह शिकारीसे हरवाहा और चरवाहा बना, तब उसकी सांस्कृतिक उन्नतिका आरम्भ हुआ।

शिकारसे खेती अगर सांस्कृतिक जीवनमें अगला कदम है तो मांसाहारसे अन्नाहार भी अगला कदम समझा जाना चाहिये। शटलैंड और आइसलैंडमें शटलैंडर्स और एस्किमो लोग न खेती कर पाते हैं और न अन्य उत्पादन। मांस खाते हैं, चमड़ा पहनते हैं। हम कहते हैं, बेचारोंको सभ्य जीवनके साधन उपलब्ध नहीं हैं। उन बेचारोंके छुरे शल्यपर हम तरस खाते हैं। सारांश यह कि मनुष्य जैसे-जैसे अन्य प्राणियोंके साथ आत्मीयताका अनुभव करता है, वैसे-वैसे उसके जीवनका विकास होता जाता है। उसकी अहंता उतनी व्यापक हो जाती है। अहंता जब हमारे शरीरसे बाहर निकलकर अपना क्षेत्र बढ़ाने लगती है, तब वह अहंता न रहकर आत्मीयतामें परिणत हो जाती है। जीवनके क्षेत्रमें अद्वैत-भावनाके प्रयोगका नाम ही मानवेतर जीव-धारियोंके साथ आत्मीयता है।

मानवीय संस्कृतिके भारतीय संस्करणका थोड़ा-सा स्वरूपवर्णन यहाँ किया है। दावा यह किया जाता है कि भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है, भौतिक नहीं है। आध्यात्मिकताका क्या लक्षण है? यह बतलाना मेरा अधिकार नहीं है। इतना अवश्य कह देना चाहता हूँ कि अध्यात्म परोक्षज्ञानका विषय नहीं है; प्रत्यक्ष अनुभूतिका विषय है। वह केवल एक बौद्धिक विचार या मनोवृत्ति नहीं है—एक जीवन-निष्ठा है, जो हमारी वृत्तिमें और व्यवहारमें प्रकट होती है। आज हमारे जीवनमें आध्यात्मिकताका कहीं पता भी नहीं। आध्यात्मिक भारतमें भी शालग्राम-शिलाकी अपेक्षा हीरे, मूँगे और पन्नेका महत्त्व अधिक है। यहाँ किसीको उस स्पर्शमणिकी खोज नहीं है, जो आसुरी मनोवृत्तियोंको मङ्गलमय बना देती है। यहाँ भी उसी पारसपत्थरकी खोज है, जो लोहेको सोना बनाता है। आध्यात्मिक भारतका जीवन भी 'हिरण्मयेन पात्रेण' अपिहित है। कारण यह है कि हमने अद्वैतको केवल एक वस्तुगत अवस्था माना है। एक रासायनिक स्थिति समझा है। तरङ्ग समुद्रका अंश है—यह वस्तुगत सत्य है; लेकिन तरङ्गको उसकी कोई प्रतीति नहीं है। दूसरे तरङ्गोंके साथ आत्मीयता अनुभव करनेकी उसमें कोई आकाङ्क्षा नहीं है। भेदमेंसे अभेदकी तरफ अग्रसर होनेकी कोई प्रेरणा उसमें नहीं है। अद्वैतदर्शन इस प्रकारकी बाह्य वस्तुस्थिति नहीं है। आज हमारे सामाजिक जीवनमें और तत्त्वज्ञानके आदर्शमें जो विप्रतिपत्ति पैदा हो गयी है, उसका कारण यह है कि हमने पारमार्थिक सत्ताका व्यावहारिक सत्ताके साथ कोई अनुबन्ध नहीं माना। इन दोनों सत्ताओंको दो समानान्तर प्रवाहोंकी तरह बिल्कुल भिन्न माना। परिणाम यह हुआ कि भारतवर्षके अध्यात्मवादी व्यक्तियोंमें द्विधा व्यक्तित्वका विकास हुआ। एक ही विग्रहमें दो परस्पर विरोधी व्यक्ति रहने लगे। एकका मुँह संसारोन्मुख था और दूसरा संसारविमुख। एक कल्पनाकी गन्धर्वनगरीमें रहता है, दूसरा व्यवहारकी माया-नगरीमें। एककी

कल्पनासे दूसरेके व्यवहारका कोई मेल नहीं, कोई संगति नहीं। जो व्यक्तिके विषयमे हुआ, वही सामाजिक जीवनमे भी हुआ। हमारे दिव्य आदर्शोंका हमारे जीवनकी सरणीसे, हमारे सामाजिक व्यवहारकी परिपाटीसे कोई अनुबन्ध नहीं रह गया है। तत्त्वज्ञान द्युलोकमे रहता है और व्यवहार मृत्युलोकके भी अनुरूप नहीं है। मुक्त तो हम हो नहीं पाये, दूसरी कोटि 'पशु'की तरफ वेगके साथ बढ़ रहे हैं। इसलिये भारतीय संस्कृतिके हार्दकी तरफ संकेत करना आवश्यक समझा। इसी नम्र आकाङ्क्षासे यह विवेचन किया गया है। इसके गुण-दोष सभी श्रीकृष्णार्पण हैं।

वैदिक राज्यशासन

[हिंदुओंकी प्राचीन राज्यशासन-व्यवस्था]

(लेखक—पं० श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर, वेदाचार्य, साहित्यवाचस्पति, गीतालङ्कार)

१. श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त धर्म

हिंदू सदासे अपना धर्म श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त मानते आये हैं और अपनी समाजव्यवस्था तथा शासनसंस्था भी उसी प्रकार श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त समझते हैं। इसलिये हिंदुओंकी प्राचीन राज्यशासन-व्यवस्थाका अर्थ श्रुतिके द्वारा प्रतिपादित राज्यशासन-व्यवस्था ही है। इसी व्यवस्थाको इस लेखमे बताना है। श्रुतिका अर्थ वेद और वेदमे संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्का समावेश परम्पराको माननेवालोंकी दृष्टिसे होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेदका ब्राह्मण है और ऐतरेय महीदासकी रचनासे वह प्रसिद्धिमे आया है। इसमें वैदिक-धर्मियोंकी शासनविषयक एक घोषणा है, जो यहाँ देखने योग्य है—

२. ऋषियोंकी घोषणा

स्वस्ति। साम्राज्यं, भौज्यं, स्वाराज्यं, वैराज्यं, पारमेष्ठ्यं राज्यं, महाराज्यं, आधिपत्यमयं, समन्तपर्यायी स्यात्, सार्वभौमः सार्वायुषः आन्ताद् आ परार्धात्, पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराड् इति॥ (ऐ० ब्राह्मण)

इसमें ऋषियोंकी तपस्यासे उस समय जितने राज्य-शासन प्रचलित हुए थे, उनकी गणना है। साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय, समन्तपर्यायी—इन आठ प्रकारके राज्योंका उल्लेख इस वचनमे है। इनके अतिरिक्त जनराज्य, (जानराज्य); गणराज्य, राज्य—इनका भी वर्णन वेदमें है। संहितामे केवल थोड़ा-सा उल्लेख ही आता है; पर किस प्रकारका राज्य भारतवर्षके किस भागमे अथवा भारतवर्षके बाहर भी किस दिशामे था, इसका स्पष्ट उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थोंमे है अर्थात् यह एक इतिहासकी घटना है, केवल कविकल्पना नहीं है।

इस वचनमे जिन आठ राज्योंका उल्लेख है, उनका स्वरूप हम आगे देखेंगे; परंतु इस वचनमे जो ऋषियोंकी घोषणा है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतएव सबसे पहले उस घोषणापर विचार करना आवश्यक है। वह घोषणा यह है—

पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्।

'समुद्रपर्यन्त जितनी सब पृथ्वी है, उस सम्पूर्ण भूभागका एक ही आर्य राजा हो।' सम्पूर्ण पृथ्वी एक ही वैदिक शासनसे शासित हो। सम्पूर्ण पृथ्वीपर एक ही आर्य राज्य हो और सब पृथ्वीपर एक ही आर्य-परिवार—**'वसुधा एव कुटुम्बकम्'**—हो। **'कृण्वन्तो विश्वं आर्यम्'** इस ऋग्वेदके वचनका यही स्पष्ट अर्थ है। यह था ऋषियोंका ध्येय। ऋषि इस महान् ध्येयको सत्य-सत्य सृष्टिमे लानेके लिये यत्न करते थे। पर यह ध्येय इस समयतक सत्य सृष्टिमें उतरा नहीं है; इतना ही नहीं, प्रत्युत आर्योंका—हिंदुओंका—भारतवर्षियोंका संकोच ही होता चला आया है।

३. हिंदुओंका संकोच

संक्षेपसे ही देखिये—कैलास पर्वत पौराणिक युगमे हमारा था, वह आज नहीं रहा। गान्धार देश भारतवर्षके साम्राज्यमे था, वह आज नहीं है। इस समय तो सिंधु नदी भी भारतराज्यमे नहीं रही! इस वर्ष और भी अधिक संकोच हो गया है। गत पाँच सहस्र वर्षोंसे लगातार हमारा संकोच हो रहा है। हम अपनी समाज-व्यवस्थाकी कितनी भी प्रशंसा करे, पर आर्योंके राज्य-क्षेत्रका संकोच हो रहा है—इसमे संदेह नहीं है।

ऋषियोंकी घोषणा तो **सम्पूर्ण समुद्रवलयाङ्कित पृथ्वीका**

एक आर्य सम्राट् बनानेकी और सब भूमि वैदिक शासनसे शासित करनेकी थी। वे स्वर्गसे हमारे संकोचको देखते ही होंगे और अपने अन्तःकरणमें तड़पते ही होंगे। क्या होना चाहिये था और क्या बन रहा है!

इस समय यूरोपमें 'राष्ट्रसङ्घ' बना है। पर उनका कार्य सर्वथा स्वार्थसे भरपूर है। उनके विषयमें यहाँ अधिक न लिखना ही अच्छा है। पर यह ऋषियोंका ध्येय कदापि नहीं है। तपस्वी ऋषियोंका ध्येय तो सत्यमय ही हो सकता है। अब हम देखेंगे कि पूर्वोक्त वचनमें जो इतने राज्य-शासन कहे गये हैं, उनका ध्येय और स्वरूप क्या है—

१. साम्राज्य—सबसे प्रथम साम्राज्य है, पर यह आज-कलके साम्राज्य-जैसा राक्षसी साम्राज्य नहीं। उदाहरण-स्वरूपमें हम यहाँ दो ही साम्राज्योंका उल्लेख करते हैं। भगवान् रामचन्द्रजी महाराजने रावणके साम्राज्यका नाश किया; परंतु रावणके राज्यको अपने राज्यमें नहीं मिलाया। रावणके राज्यको उसके भाई विभीषणके अधीन करके उसे 'आर्य-विधान' (Aryan constitution) देकर तथा इस आर्य-विधानके अनुसार अपना राज्यशासन चलानेकी आशा करके वे स्वयं वापस आ गये और अयोध्यामें अपना राज्य करने लगे। शत्रुको परास्त करना और उसे आर्य-विधान देना—प्राचीन कालमें इतना ही साम्राज्यका अर्थ था। भगवान् श्रीरामचन्द्रने लंकाकी लूट नहीं की थी। वे तो लंका नगरमें गये भी नहीं। आर्य-विधान देकर विभीषणको पूर्ण स्वतन्त्र, परंतु अपना आज्ञाङ्कित, आर्य-विधानसे बाहर न जाने योग्य आज्ञाङ्कित करके रक्खा। किसीके स्वातन्त्र्यका अपहरण करनेकी नीति उस समय नहीं थी।

रावणका साम्राज्य उस समय बुरे-से-बुरा समझा जाता था। रावणने राजाओंको परास्त किया था, लूटा भी था, उनकी स्त्रियोंका हरण भी किया था; परंतु जो स्त्री रावणपर अनुरक्त होती थी, उसीको वह अपने अन्तःपुरमें रखता था। इसीलिये वाल्मीकि मुनिने लिखा है कि जो रावणपर अनुरक्त न हुई हो, ऐसी एक भी स्त्री उसके अन्तःपुरमें सती सीतादेवीको छोड़कर दूसरी नहीं थी। आर्योंकी और ऋषि-मुनियोंकी दृष्टिमें रावण बुरे-से-बुरा था; पर उसने भी दूसरोंके राज्योंका हरण नहीं किया और किसी स्त्रीपर बलात्कार भी नहीं किया। इस रावणमें दूसरे राज्योंको लूटना, स्त्रियोंका अपहरण करना और उनको वश करके अन्तःपुरमें रखना—ये दोष अवश्य थे, जो ऋषियोंको असह्य हुए थे। पर रावणने अन्य स्त्रियोंपर बलात्कार नहीं किया था।

इसके पश्चात् हम देखते हैं कि मुसलमानोंने साम्राज्य स्थापित किये, अंग्रेजोंने किये, पोर्तुगीज आये। इन सबोंने राज्यापहरण किया, निर्दोषपर अत्याचार किये, लूट की, पराजितोंको बुरी तरहसे दबाकर रक्खा। ये सब बातें इतिहासमें प्रसिद्ध हैं। इनको यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं।

आजका 'साम्राज्यवाद' और प्राचीन ऋषि-मुनियोंकी 'साम्राज्यकी कल्पना' इनमें आकाश-पातालका अन्तर है। हम यहाँ जिस 'साम्राज्य' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं, वह ऋषियोंका शब्द है, 'आधुनिक साम्राज्यवाद' का नहीं।

ऋषियोंके साम्राज्यमें एक समर्थ राजाका दूसरे अनेक राजाओंको परास्त करना, उनको अपना माण्डलिक बनाना और उनको 'आर्य-विधान' देकर इस विधानके अनुसार अपना राज्य चलानेका आदेश देना—इतना ही होता था। मुसलमानों और ईसाइयोंके आधुनिक साम्राज्यवादमें क्या होता था, यह भारतवर्षके गत इतिहाससे प्रसिद्ध है। अस्तु। ऋषियोंका सुसंयत साम्राज्य था। इसमें पराजितोंपर किसी तरह अत्याचार नहीं होते थे। परंतु पराजितोंकी उन्नति करनेके लिये उनको अधिक उत्तम शासनविधान दिया जाता था।

२. भौज्य—यह दूसरा राज्य-शासन है। इसके दो अर्थ मुख्यतः होते हैं। 'भु-ज'—पृथ्वीकी नैसर्गिक मर्यादाओंसे परिवेष्टित राज्य। जिस तरह भारतवर्ष—यह उत्तरमें हिमालय और दक्षिणमें समुद्रसे वेष्टित है। अतः यह भौज्य है। चूँकि निसर्गकी इस देशके लिये मर्यादा है, अतः यहाँका राजा इतने ही भू-विभागपर राज्य करे और बाहरके देशोंपर आक्रमण न करे। इंग्लिस्तान समुद्रसे मर्यादित है, इसलिये अंग्रेज उतने ही टापूमें रहें। इस तरह कई ऋषियोंने भौज्यके नियम निर्धारित किये थे। भौज्यका दूसरा अर्थ जो दूसरे ऋषिमण्डलसे निर्धारित हुआ था, वह था 'भुज' पालना-भ्यवहारयोः (To protect and govern)—प्रजाका भोजनप्रबन्ध करना और उनको सुरक्षित रखकर उनपर राज्य करना। इस अर्थमें प्रजाको खानेके लिये पर्याप्त अन्न, ओढ़नेके लिये पर्याप्त वस्त्र और रहनेके लिये सुखदायी घर देने तथा उनकी अन्तर्बाह्य सुरक्षितता सम्पन्न करनेका भार राज्य-शासनपर आता है। राजा जितनी प्रजाका यह भार उठा सके, उतनी ही प्रजापर वह राज्य कर सकता है। इस अर्थमें भी कुछ स्वारस्य है।

इसके पश्चात् 'स्वाराज्य' शासनका विधान है, पर अपने
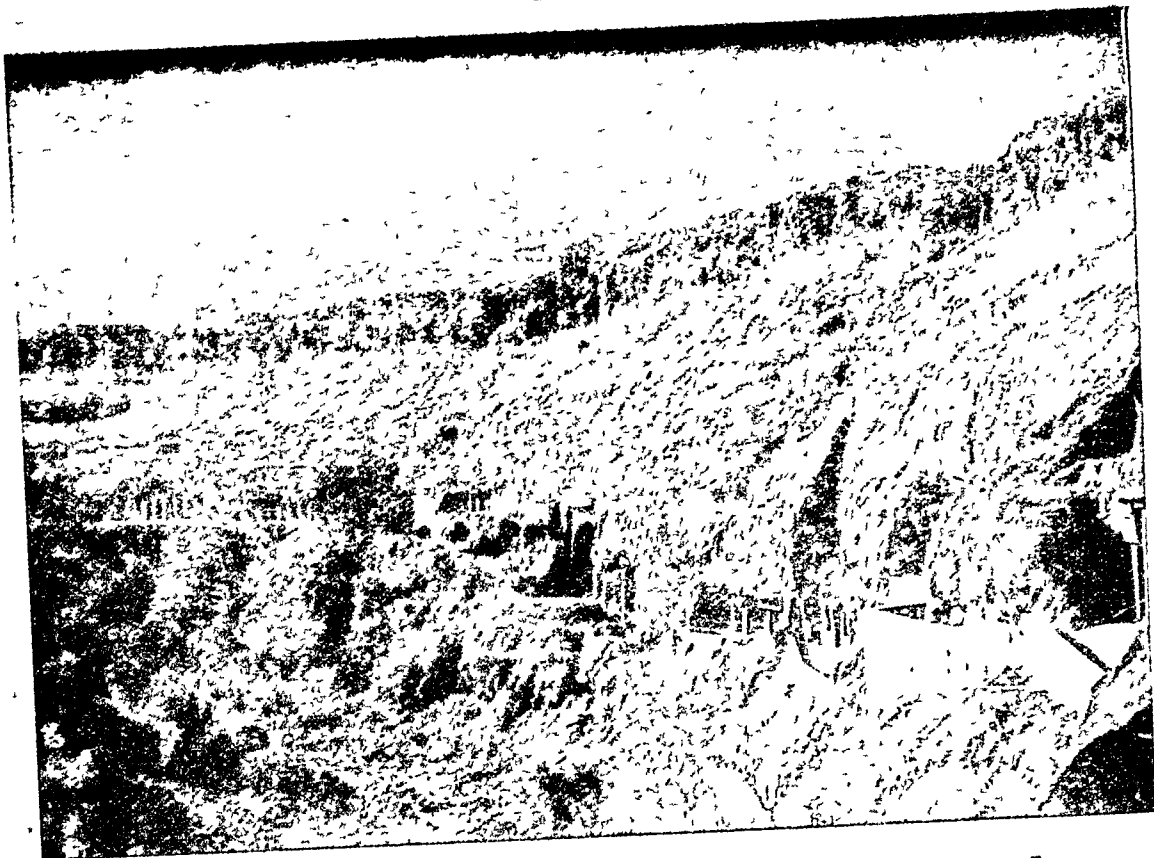
अजन्ता-गुफाओंका विहङ्गम दृश्य

[पृष्ठ ६८८
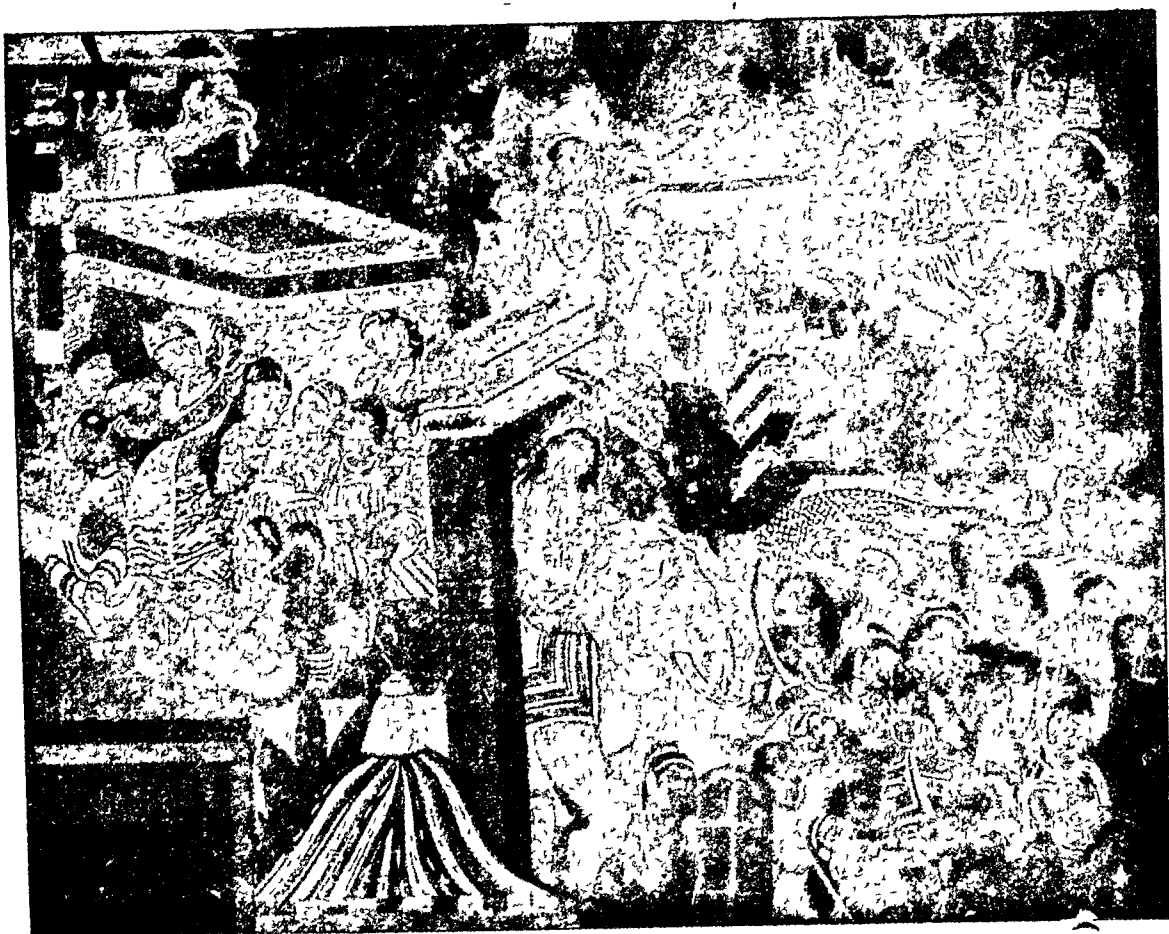
अजन्ताकी दीवारके दो प्रसङ्गदृश्य

[पृष्ठ ६८८

अजन्ताका अभ्यन्तर—भीतरी छतकी चित्रकारी और सुन्दर उत्कीर्ण स्तम्भ

अजन्ता—बरामदा और छतका भीतरी भाग
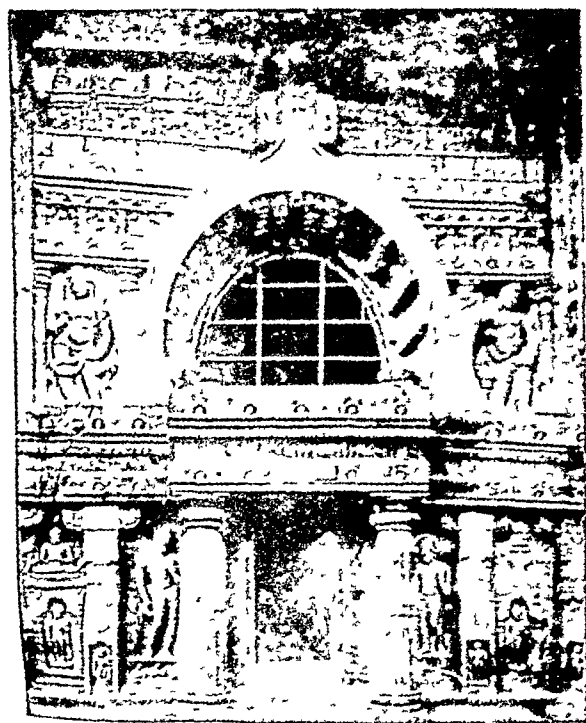
१६ अजन्ता—मुखभाग

अजन्ता—चैत्य-मण्डपका अभ्यन्तर

विषयकी सुबोधताके लिये हम इसका विचार अन्तमें करेंगे। अतः अब 'वैराज्य'का विचार करते हैं—

३. वैराज्य—(विगतराजकं वैराज्यं) जिसमे कोई राजा नहीं होता, सब जनता ही मिलकर अपना शासन चलाती है। इस वैदिक राज्यपद्धतिके अवशेष अब भी भारतवर्षमें हैं। महाराष्ट्रमे इसका नाम 'दैव' होता है। वह जाति सम्पूर्णतया अपनी ही जातिपर अपना अधिकार चलाती है। कोई एक राजा, शासक, नियामक, अध्यक्ष अथवा प्रधान नहीं होता। सम्पूर्ण जाति एक स्थानपर जमा होती है और निर्णय करती है, उस निर्णयका पालन वे लोग करते हैं। भारतवर्षमे ऐसी वन्य जातियाँ भी हैं, कि जो इस 'वैराज्य'के अवशेषको आज भी बताती हैं। इसमें दोष यह है कि इस प्रकारका शासन बहुत बड़े भू-भागपर नहीं हो सकता। छोटे-छोटे स्थानोंपर थोड़ी संख्यामे चलनेवाला यह शासन है। अथर्ववेदमे कहा है—

विराड् वा इदमग्र आसीत्।

(८।१०।१)

'(अग्रे) प्रारम्भमे (वि-राज्) राजा अथवा शासक नहीं था।' इसीका नाम 'वैराज्य' है। सब जनता, अपने प्रतिनिधियोंद्वारा नहीं, अपितु स्वयं जो अपना प्रबन्ध करती है, वह 'वैराज्य' कहलाता है। यह (अग्रे आसीत्) मानव-समाजकी प्रारम्भिक अवस्थामे ही होना स्वाभाविक था और वैसा ही था।

इसके पश्चात् 'पारमेष्ठय राज्य'का नाम है। इसका विचार भी हम लेखके अन्तमे करेंगे।

४. महाराज्य—अनेक छोटे-छोटे राज्य स्वकीय इच्छासे एक होते हैं और एक विधानके अंदर अपने-आपको रखते हैं, वह 'महाराज्य' कहलाता है। इसमें किसीपर जबर्दस्ती या आघात नहीं, परंतु इसमें सबका लाभ ही है। जगत्‌की स्पर्धामें छोटे-छोटे राज्य रह नहीं सकते, इसलिये उनका परिवर्तन महाराज्यमे होना युक्त ही है; इसी तरह परिवर्तन होते-होते समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका एक विशाल महाराज्य हो सकता है और यदि इसमे स्वार्थ न बढ़ा, तो सबको अत्यन्त सुख भी मिल सकता है।

५. आधिपत्यमय—पति और अधिपति—ये राज्यके अधिकारियोंके नाम हैं। इनकी सम्मतिसे जो राज्य चलता है, वह आधिपत्यमय राज्यशासन है। अंग्रेजीमे इसका नाम 'ब्यूरोक्रसी' है। और स्वार्थ बढ़ जानेके कारण इसका भी आज बहुत ही घृणित अर्थ हो गया है। पाठक उस घृणित भावको इसमे न देखें और इतना ही समझें कि इसमे राज्याधिकारियोंके अधीन ही शासन-तन्त्र रहता है।

६. समन्तपर्यायी—(सामन्त-पर्यायी राज्य) जो राज्य-शासन सामन्तोंके अधीन रहता है, उसका यह नाम है। सामन्त माण्डलिक राजाओंका नाम है। उनके अधीन यह राज्य-शासन रहता है। एक आर्य-विधानके अनुसार जो सामन्त राज्य करेंगे, उनका शासन इतना निन्दनीय नहीं हो सकता। भरत और भगवान् रामचन्द्रके अधीन भी अनेक सामन्त थे। पर उनके होते हुए भी वह **'रामराज्य'** ही कहलाया और इस समयतक उसकी प्रशंसा गायी जा रही है। पर आज तो यह सामन्त-मण्डलका राज्य भी घृणित अर्थसे दूषित हो गया है।

७. पारमेष्ठय राज्य—परमेष्ठी नाम प्रजापतिका है। परमेश्वरका यह नाम है। सबपर परमेश्वरका राज्य-शासन है, यह जानकर इसके अनुकूल अपना राज्य-शासन चलाना है। सामन्त-राज्य हो अथवा अधिपति-मण्डलका राज्य हो, यदि वे पारमेष्ठय राज्यको सर्वोपरि मानकर अपना राज्य चलायेंगे तो वह निर्दोष हो सकता है।

वैदिक समयमे ऐसा ही होता था। सब आर्य एक वेदानुशासनके नीचे रहकर पारमेष्ठय राज्यको सर्वोपरि मानकर अपना कर्तव्य निष्काम भावसे करते थे। इसलिये मानवी स्वार्थके कारण जिन दोषोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है, वे दोष उस शासनमे नहीं होते थे।

४. स्वाराज्य-शासन

८. स्वाराज्य—(स्वराज्य) स्वराज्य-शासन भी वदिक समयका एक उत्तम राज्य-शासन है। आज भी इसी स्वराज्यका प्रयोग हम करते हैं। परंतु यह **'स्वाराज्य'** है और आजकलका **'स्व-राज्य'** है। इस स्वरभेदको पाठक स्मरण रक्खें। इस स्वरभेदके कारण जो विधान-भेद और अनुशासन-भेद होता है, वह बड़ा भारी है। यहाँ उसका परिपूर्ण विवरण करनेके लिये स्थान नहीं है, परंतु संक्षेपसे **'स्वाराज्य'**मे **'स्व'** की शुद्धिपर अधिक ध्यान दिया जाता है और **'स्व-राज्य'** मे राज्य-शासनके अधिकार अपने अधीन रखनेके लिये विशेष यत्न होता है।

५. आत्मशुद्धि या अधिकारमद

पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा

कि इससे राज्य-शासनमें आकाश-पातालका अन्तर हो जाता है। 'स्वा-राज्य'में 'स्व' की शुद्धता, पवित्रता और निर्दोषता रखने अथवा करनेका यत्न होता है और ऐसे संयमी पुरुष ही राज्याधिकारपर रक्खे जाते हैं; इसलिये सम्पूर्ण राज्य-शासन परिशुद्ध रहता है। रिश्वतखोरी, दम्भ, असत्य, लोभ, अधिकारलिप्सा आदि उक्त 'स्वा-राज्य'-शासनतन्त्रमें नहीं रहते।

परंतु जो 'स्व-राज्य' है, उसमें 'स्व'की शुद्धिकी उपेक्षा और 'राज्य' तन्त्रकी शक्तिसे स्वकीयोंके सुखका संवर्धन करनेका प्रयत्न होता है। इसलिये गुटबंदी उत्पन्न होती है। एक गुट दूसरे गुटको दबानेका प्रयत्न करता है और सर्वत्र संघर्षका वायुमण्डल बढ़ता जाता है। आजकल हम सर्वत्र यही देख रहे हैं। जनतन्त्र राज्य-शासन करनेकी घोषणाएँ तो होती रहती हैं, पर अंदर-अंदरसे अपने गुटोंको संवर्धित करना और दूसरोंको दबाना ही सब देशोंमें चल रहा है। अपना भारत देश भी आज इसी मार्गपर चल रहा है; इसका आदर्श इस समय 'आर्य-आदर्श' नहीं है, यूरोप-अमेरिकाके विधानको ही इसने अपना आदर्श मान रक्खा है। आर्य-विधानका इसको पता ही नहीं और जो बल महात्मा गान्धीजी 'आत्मशुद्धि' पर देते थे और जिस प्रकार अधिकार-ग्रहणसे दूर रहते थे, वह भाव अब दूर होता जा रहा है। इससे 'स्वा-राज्य' और 'स्व-राज्य'का भाव ठीक तरहसे पाठकोंके ध्यानमें आ जायगा। 'स्वा-राज्य' शासन वह है, जिसमें परिशुद्ध पवित्र धर्मनिष्ठ निष्पक्ष निष्काम पुरुषोंके अधीन शासनाधिकार रहते हैं; और 'स्व-राज्य' शासन वह है, जिसमें अपने लोगोंके अधीन राज्य-शासन रहता है और वैयक्तिक परिशुद्धतापर कोई सच्चा बल नहीं दिया जाता।

स्वराज्यका यह भाव पाठक ध्यानमें धारण करें 'स्वराज्यमेव स्वाराज्यम्'—स्वराज्य ही स्वाराज्य है; परंतु इसमें आत्मशुद्धिपर विशेष लक्ष्य रहता है।

संक्षेपमें स्वराज्यकी वैदिक कल्पना इस विवरणसे पाठकोंके ध्यानमें आ सकती है। उन दिनों यम-नियमोंका पालन—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिकी शिक्षा प्रारम्भसे ही, विद्यार्थी-दशामें ही दी जाती थी। गुरुगृहमें रहकर लोग यम-नियमसम्पन्न हो जाते थे और वे ही राज्यशासनपर आते थे। आज पाठशालाओंमें, विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयोंमें न तो यम-नियमकी शिक्षा है, न आत्मसंयमकी ओर ध्यान है और न निष्काम सेवाकी ही कल्पना है। सर्वत्र असंयम, भोगलालसा, इन्द्रियचरितार्थता, अर्थ-पैशाचिकता और घोरतम स्वार्थपरताका प्रसार हो रहा है। इसीलिये वैदिक समयमें 'स्व' की पूर्णतापर बल था और आज 'राज्य' की शक्तिपर बल है। इसी कारण प्राचीन समयमें 'रामराज्य' बन सका; इस समय उसमेंसे 'राम' तो चला गया और केवल 'राज्य' ही हाथमें आ गया है!

अस्तु! अधिक विवरणकी आवश्यकता नहीं है। स्वाराज्य और स्वराज्य दोनों स्वराज्य ही हैं। दोनों जनराज्य ही हैं, पर एकमें व्यक्ति-सुधारपर बल दिया जाता है और दूसरेमें शासनशक्ति हाथमें रखनेपर बल दिया जाता है।

६. जानराज्य

वैदिक समयमें 'जान-राज्य' शब्द भी था। इसमें 'जान' अर्थात् जनताके सुधारपर बल है। और दूसरा 'जनराज्य' है। इसमें राज्यव्यवस्थापर बल है। ये भी वैसे ही शब्द हैं और वैसा ही गम्भीर भाव बता रहे हैं। बोलनेमें जिस पदके जिस स्वरपर जोर दिया जाता है, वही पद उस वाक्यमें मुख्य भाव बतानेवाला होता है। स्वरशास्त्रका यह नियम जैसा वैदिक समयमें था, वैसा ही इस समय भी विद्वत्संमानित है। इसीलिये विधान-में 'स्व' पर जोर है अथवा 'राज्य' पर जोर है, यही देखना चाहिये। वैदिक समयमें जो स्वराज्य था, उसमें 'स्व' पर जोर था, और आत्मशुद्धिका विचार प्रबल था। शिक्षाका प्रारम्भ ही आत्मशुद्धिसे होता था। यम-नियम पालन करनेवालोंको ही सब विद्याएँ प्राप्त होती थीं। आर्योंकी प्रणाली यही थी। असुरोंकी प्रणाली भोगप्रधान थी, जिसका विस्तार रावणराज्यके रूपमें हमें मिलता है। जिसको देखना हो, वह देखे।

७. स्वराज्यके अधिकारी

इस तरहसे वैदिक स्वराज्यकी यह परिशुद्ध कल्पना सदा वन्दनीय ही है। इसीलिये वैदिक समयके ऋषिगण भी स्वराज्यशासनमें यत्न करते रहनेकी अभिलाषा रखते थे। अत्रिगोत्रके रातहव्य ऋषिका मन्त्र ही इस विषयमें देखिये—

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥
(ऋग्वेद ५। ६६। ६)

इस मन्त्रके 'स्वराज्ये' पदके स्वर भी 'स्व-राज्ये' ऐसे ही हैं। वेदमे सर्वत्र स्वराज्यके 'स्व' पर ही बल दिया गया है। अर्थात् जहाँ आत्मशुद्धिपर ही विशेष बल दिया जाता है, ऐसा यह स्वराज्य है। इस मन्त्रका मुख्य वाक्य यह है—

व्यचिष्टे 'बहु'-पाय्ये 'स्व'-राज्ये आ यतेमहि।

'विस्तृत और बहुतोंद्वारा जिसका पालन होता है, ऐसे स्वराज्य-शासनमें हम जनताकी भलाईके लिये यत्न करते रहेंगे।'

यह तो इस मन्त्रभागका शब्दार्थ है। इसका विशेष अर्थ ध्यानमें लानेके लिये इस वाक्यके प्रत्येक शब्दका विचार करनेकी आवश्यकता है।

व्यचिष्ट—विस्तृत, व्यापक, सर्वतोगामी, संकुचित भाव जिसमें नहीं है, अर्थात् जो राज्य-शासन जनताके प्रत्येक मनुष्यको अर्थात् धर्मानुसार आचरण करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको सुख देनेका प्रयत्न करता है, अपना परिवार, अपनी जाति, अपने मतवाले आदिका पक्षपात जहाँ नहीं है, प्रत्येक वस्तुमे समानतया ईश्वरभाव देखकर जो व्यवहार होता है, उस असंकुचित व्यापक भावका नाम 'व्यचिष्ट' है। वैदिक स्वराज्यमे पक्षान्धता, गुटबाजी आदि नही थी, यह भाव इससे स्पष्ट हो जाता है।

बहु-पाय्य—बहुतोद्वारा बहुसम्मतिसे जिसका पालन होता है, वह शासन यहाँ अभीष्ट है। एककी सम्मतिसे कितना भी अच्छा शासन हुआ, तो भी वह अनेक आत्मसंयमी पुरुषोके शासनसे अधिक अच्छा नहीं हो सकता; इसलिये बहुतोकी सम्मतिसे पालन होनेवाला राज्य ही श्रेष्ठ होता है। स्वराज्यके शासनके लिये ही यह विशेषण वेदमे लगाया है।

इन दो विशेषणोसे वैदिक 'स्व-राज्यका अर्थ विशेष रूपसे स्पष्ट हो जाता है। जहाँ संकुचितताका भाव नहीं है और जहाँ बहुसम्मतिसे राज्यका संचालन होता है, वही स्वराज्य है। जिसमे ऋषिलोग (आ यतेमहि) 'हम अखिल मानवोंके हितार्थ प्रयत्न करेंगे', ऐसा भाव मनमे धारण करते थे। इस मन्त्रभागमे 'हम प्रयत्न करेंगे' यह कहा है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यहाँके 'हम' कौन हैं? कौन राष्ट्रकल्याणका प्रयत्न कर सकते है? कौन राष्ट्रकल्याण करनेके सच्चे अधिकारी हैं? किनके प्रयत्नसे सचमुच राष्ट्रका कल्याण हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर इसी मन्त्रके पूर्वार्धमे दिया है।

८. राष्ट्रकल्याण कौन कर सकेंगे?

हे ईर्यचक्षसा! मित्र! सूरयः (एते) वयं स्वराज्ये आ यतेमहि।

'हे व्यापक दृष्टिवालो! हे मित्रत्वका व्यवहार करनेवालो! आप दोनो और हम सब विद्वान् मिलकर उक्त स्वराज्यमें सबके कल्याणके लिये प्रयत्न करेंगे।'

इस मन्त्रभागमें स्वराज्य-शासन चलानेके लिये कौन योग्य हैं, यह दिखलाया है। (१) व्यापक दृष्टिवाले अर्थात् जिनमे संकुचित दृष्टि नही है, अपने पक्षवालोंका—अपनी जातिका ही हित करना और अपने पक्षसे भिन्न मतवालोंको कुचलना—यह दुष्टभाव जिनमे नहीं है, जो सबके हितकी व्यापक दृष्टि रखते हैं, उनका नाम 'ईर्यचक्षाः' है। इनको व्यापक दृष्टिवाले कहते हैं। ये लोग स्वराज्यशासन चलानेके अधिकारी हैं।

(२) दूसरे 'मित्र'वत् व्यवहार करनेवाले जनताके मित्र, जो सबका कल्याण करनेमे दत्तचित्त रहते हैं, जो कभी किसीसे द्वेष नही करते, वे मित्रवत् व्यवहार करनेवाले स्वराज्यशासन चलानेके अधिकारी हैं।

(३) तीसरे 'सूरयः' अर्थात् ज्ञानी, सत्यज्ञानसे प्रकाशित होनेवाले विद्वान्, यथार्थ ज्ञान धारण करनेवाले—ये भी स्वराज्य-शासन चलानेके अधिकारी है।

इसका फलितार्थ यह हुआ—

स्वराज्यके अधिकारी	स्वराज्यके लिये अयोग्य
१. व्यापक दृष्टिवाले	१. संकुचित दृष्टिवाले
२. मित्रवत् व्यवहार करनेवाले	२. शत्रुता बढ़ानेवाले
३. ज्ञानी	३. अज्ञानी

जो स्वराज्यके लिये योग्य हैं, वे ही स्वराज्यमे शासक हो सकते हैं। अर्थात् वैदिक स्वराज्यमे व्यापक दृष्टिवाले, मित्रवत् व्यवहार करनेवाले और ज्ञानियोको ही अधिकारके स्थान प्राप्त हो सकते हैं; परंतु जो संकुचित दृष्टिवाले, शत्रुता करनेवाले और अज्ञानी हैं, उनको वैदिक स्वराज्यमे मताधिकार भी नहीं होगा।

९. सबको मताधिकार

आज हमारे नेता कह रहे हैं कि 'सभी पूर्ण आयु (१९ वर्षकी आयु)-वालोको इस स्वराज्यमे मताधिकार होगा।' अब आप देखिये कि इसमें यम-नियमकी

कोई आवश्यकता नहीं है, व्यापक दृष्टिकी कोई योग्यता नहीं, मित्रवत् व्यवहार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ-तक कि विद्याकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। देखिये वैदिक स्वराज्य और आजका स्वराज्य कैसा है—

वैदिक स्वराज्यके मताधिकारी	आजके स्वराज्यके मताधिकारी
१. व्यापक दृष्टिवाले	१. केवल १९ वर्षकी आयुवाले
२. मित्रवत् व्यवहार करनेवाले	२. सज्जन और दुर्जन
३. ज्ञानी, विद्वान्	३. विद्वान् और मूर्ख
४. आत्मसंयमी	४. सबको मताधिकार

वैदिक धर्मके स्वराज्यमें 'स्व' की उन्नतिपर ध्यान दिया जाता था; इसीलिये यम-नियम-पालन, व्यापक दृष्टि, मित्र-दृष्टि और सत्यज्ञानवालोंको ही मताधिकार दिया जाता था। आजके स्वराज्यमें 'राज्याधिकार' प्राप्त करना ही सबका लक्ष्य है, इसलिये केवल आयुकी ही मर्यादा रक्खी गयी है। यह महत्त्वपूर्ण भेद है वैदिक स्वराज्यमें और आजके स्वराज्यमें। यही स्वर-भेदसे 'स्वा-राज्य' अथवा 'स्व-राज्य' लिखा जाता है। पाठक ही विचार करें कि 'स्व' की शुद्धिपर बल देना चाहिये अथवा राज्यका शासनाधिकार ही केवल प्राप्त करना चाहिये। किससे जनताका सच्चा कल्याण हो सकता है ?

१०. विश्व-कल्याणका ध्येय

वैदिक ऋषि जनताके सच्चे कल्याणका ही ध्येय अपने सामने रखते थे—

> भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विद-
> स्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे।
> ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं
> तदस्मै देवा उपसं नमन्तु॥
> (अथर्व० १९। ४१। १)

'सब जनताका कल्याण करनेकी इच्छा रखनेवाले आत्मज्ञानी ऋषियोंने प्रारम्भमें दीक्षा लेकर तप किया। इससे राष्ट्र, बल और ओजका निर्माण हुआ; अतएव सब विबुध इस राष्ट्रकी भक्ति करें।'

ऋषियोंकी तपस्यासे राष्ट्रभावकी उत्पत्ति हुई है, राष्ट्रभावनासे राष्ट्रिय बल बढ़ता है और बड़ी शक्ति प्राप्त होती है। 'ततो राष्ट्रं बलं ओजः च जातम्' यह क्रम वेदमें ही निश्चित हो चुका है। राष्ट्रियता, बल, ओज—इनमें एकके साथ दूसरेका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अटूट है। जिनका राष्ट्र है, उनमें बल और ओज होंगे; जो शताब्दियोंसे परतन्त्र होंगे, उनमें राष्ट्रिय भावना नहीं होगी, शारीरिक बल भी नहीं होगा और ओज भी नहीं रहेगा।

ऋषियोंकी तपस्यासे जिस राष्ट्रियताकी उत्पत्ति हुई, वह राष्ट्रियता यम-नियम-पालनके बिना कदापि विकसित नहीं हो सकती। इसीलिये ऋषियोंद्वारा जो पूर्वोक्त अनेक राज्य-शासन निर्माण हुए, उनकी शासन-प्रणालीमें यम-नियम-पालन करनेवालोंके लिये ही स्थान है। इसमें 'सब धान बाईस पसेरी' या 'टके सेर खाजा और टके सेर ही भाजी' के अनुसार सज्जन-दुर्जन सब एक ही मापसे मापे नहीं जा सकते। उसमें इन्द्रियलोलुप, उच्छृङ्खल, द्वेष-दम्भसे युक्त, दुष्कृत्यरत लोगोंको स्थान नहीं।

वैदिक स्वराज्यशासनका यही महत्त्व है और यही वैदिक स्वराज्यकी विशेषता है। देखिये—

> ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
> (अथर्व० ११। ३। ५)

'ब्रह्मचर्यरूप तप करके ही राजा और राष्ट्रपुरुष राज्य-पालन-व्यवहारके अधिकारी होते हैं।' ब्रह्मचर्य-पालनमें 'यम-नियम' आ गये हैं। यह वैदिक राज्यशासनका सूत्र है। ऋषियोंके तपका यह फल है। जिस शासन-प्रणालीसे जनताका सच्चा सुख बढ़ सकता है, वह यही शासन है।

सम्पूर्ण तरुणोंको अथवा प्रौढ़ोंको मताधिकार रहनेसे बहुसम्मति तो मूढ़ोंकी ही सम्मति होगी, इसमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। जनतामें मूढ़ ही बहुसंख्यक हैं और सच्चे ज्ञानी अल्पसंख्यक हैं। इसलिये वेदने ज्ञानराज्यमें ज्ञानियोंका ही अधिकार रक्खा है, सदाचारियोंका ही अधिकार रक्खा है। लोक ज्ञानी बनें, सदाचारी बनें और स्वराज्यशासनमें अपना कर्तव्य करनेके अधिकारी हों।

इतने प्राचीन समयमें जिन ऋषियोंने इतने आठ-दस राज्यशासनोंके नामाभिधान रक्खे और उनका पृथक्-पृथक् निर्देश किया, उनको राज्यशासन-विषयक कल्पना नहीं थी, और जो सब-की-सब जनताको शासनाधिकार देते हैं, उनको शासनतन्त्रका ज्ञानविशेष है—यों कई यहाँ कहेंगे। पर इसका निर्णय तो अनुभवसे ही हो सकेगा।

वैदिक राज्यशासन 'गुणी और धार्मिक सज्जनोंका शासन' है तथा इसकी जो विशेषता है, वह पूर्वोक्त वर्णनसे पाठक जान सकते हैं। यह एक परिपूर्ण शासनव्यवस्था है, जिससे समस्त जनताका सच्चा कल्याण हो सकता है।

आदर्श राज्यानुशासन-विज्ञान

(लेखक—पं० श्रीराजमङ्गलनाथजी त्रिपाठी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

वर्तमान युगमें समस्त विश्वके मानवमात्र सुख-शान्तिकी खोजमें अथक परिश्रम कर रहे हैं और विविध ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न होनेके लिये सचेष्ट हैं; तथापि कठिनाइयोंसे मुक्ति नहीं मिलती, दुःख और क्षोभ बढ़ता ही जा रहा है। 'ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों-त्यों उरझत जात।' भीषण समस्या है! यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, राजा, प्रजा, शासनव्यवस्था और समस्त विभूतियोंकी प्राप्तिके साधन हैं; परंतु कष्टोंकी भयानकता बढ़ती ही जा रही है। कल्याणका मार्ग दृष्टिपथमें आता ही नहीं। आये भी कैसे! बबूलका बीज वपन करके आम्रफल प्राप्त करना असम्भव है। आधुनिक जगत्के पास वह शान्तिका मूल बीज ही नहीं है। आइये, त्रिकालदर्शी जगत्-हितरत तपोनिष्ठ भारतीय ऋषियोंके द्वारा प्रदर्शित मार्गका अनुसरण करें। वही कल्याणका, सुख और शान्तिका मार्ग है। उन्होंने शासन-सत्ताको ही कालनियामक स्थिर किया है। वह शासन-सत्ता चाहे राज-सत्तात्मक, प्रजा-सत्तात्मक, राजप्रजा-सत्तात्मक अथवा किसी भी प्रकारकी हो, शासनान्तर्गत समस्त क्रियाओंका दायित्व उसीपर होता है। शासनके धर्ममूलक होनेसे प्रवृत्तिका निरोध और निवृत्ति या अनासक्तिका पोषण होता रहता है। अतः राजा-प्रजा दोनोंमें सुख-समृद्धि और शान्तिकी अभिवृद्धि होती रहती है। अधर्ममूलक शासनमें निवृत्तिका निरोध और प्रवृत्तिका पोषण होता है; अतः परिणाम होता है—काम, क्रोध, लोभ, दुःख, दैन्य, अशान्ति इत्यादि। धर्म ही आर्योंके राज्यानुशासन-विज्ञानकी आधारशिला है। राम-राज्य आदर्श धर्ममूलक राजशासनका प्रतीक है। भारतभूमिके कण-कणमें राम-राज्यकी विभूति अन्तर्हित है; परंतु पश्चिमकी अधर्ममूलक प्रवृत्तिके अन्धानुकरणके मोहसे विमुग्ध नर दुःख-दैन्यसे छूटनेके लिये दुःखद मार्गको ही प्रश्रय दे रहा है। यह सबसे बड़ी विडम्बना है। भारतीय राम-राज्य-शासन-पद्धतिमें ईश्वरत्वकी प्रतिष्ठा है। 'नराणां च नराधिपम्', 'रामः शस्त्रभृतामहम्' इत्यादि भगवान्के स्वमुखसे उच्चारित वाक्य इस दिशामें निरन्तर प्रकाश दे रहे हैं। धर्ममूलक शासनमें व्यवस्था स्थापित करनेके लिये शुद्ध धार्मिक भावसे, अनासक्त भावसे युद्धादिमें प्रवृत्त होनेपर भी दुर्भावनाएँ नहीं सताती। भगवान्ने अर्जुनको इसीलिये समझाया था—

> यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
> हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
> (गीता १८। १७)

राम-राज्यकी महिमा अवर्णनीय है। उसका पूर्ण परिचय प्राप्त करनेके लिये रामायण-महाभारतादि आर्ष ग्रन्थोंका अवलोकन करना आवश्यक है। परंतु केवल परिचयमात्रसे क्या होगा। समस्त दुःखोंसे मुक्ति पानेके लिये राम-राज्यकी स्थापना ही एकमात्र उपाय है। इस महान् यज्ञमें सफलता-प्राप्तिके लिये त्याग, तप आदि तो आवश्यक हैं ही; किंतु सबसे अधिक आवश्यक है—भगवान्की सत्ता, शक्ति और कृपामें अटूट श्रद्धा और अनन्य विश्वास। श्रद्धा और विश्वाससे ही हमें वह बल मिल सकेगा, जिससे हम वर्तमान दुःखद विधानोंमें परिवर्तन कर सकें। महाभागवत महात्मा गान्धीने प्राणोंकी बाजी लगाकर सन्मार्गका प्रदर्शन किया है, यह जगद्विदित है; तथापि अभी मोहनिद्रा भङ्ग नहीं हो रही है। जीवनका वह सर्वोदय-दिवस होगा, जिस दिन हम सर्वात्मना अपनेको भगवच्चरणमें अर्पणकर उपासनाकी आगसे स्वयं भगवान्को इतना द्रवीभूत कर देंगे कि उन्हें अपनी—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
> (गीता ९। २२)

—इस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके द्वारा राम-राज्यकी स्थापना करनी ही पड़े। समस्त प्रजाके योगक्षेमवहनका यह स्वरूप है। हिंदू-संस्कृतिके आदर्श शासनविज्ञानका यह रहस्य है।

भारतीयोंकी निष्कपटता

'भारतवर्षके करोड़ों व्यक्ति वहाँके साधु-संतोंकी ही भाँति रहते आये हैं—सहजरूपसे सरल, कपट-रहित और ऋणरहित।'

—प्रो० पी० जॉर्ज

शुक्रका कहना है कि पूर्वजन्मके तपके कारण ही व्यक्ति राजा होता है। पिछले जन्ममें वह जैसी तपस्या कर चुका होता है, उसीके अनुरूप वह सात्त्विक, राजसी या तामसी होता है। जो राजा सात्त्विक तप किये होता है वह धर्मनिष्ठ, प्रजापालक, यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला, शत्रुविजेता, दानी, क्षमावान्, शूरवीर, निर्लोभी तथा विषय और व्यसनोंसे विरक्त होता है और वह सात्त्विक राजा अन्तसमयमें मोक्षको प्राप्त होता है—

> नृपः स्वप्राक्तनाद्धत्ते तपसा च महीमिमाम्।
> सात्त्विकं राजसं चैव तामसं त्रिविधं तपः।
> यादृक् तपति योऽत्यर्थं तादृग्भवति स नृपः॥
> यो हि स्वधर्मनिरतः प्रजानां परिपालकः।
> यष्टा च सर्वयज्ञानां नेता शत्रुगणस्य च।
> दानशौण्डः क्षमी शूरो निःस्पृहो विषयेष्वपि॥
> विरक्तः सात्त्विकः स हि नृपोऽन्ते मोक्षमन्वियात्।
>
> (शुक्रनीतिसार १। २०, २९—३१)

इसी प्रकार नारद तथा कात्यायनने भी राजाके लक्षण बतलाये हैं। किंतु कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रके 'मण्डलयोनि' नामक छठे अधिकरणमे अत्यन्त विस्तारसे विचार किया है। उनका कहना है कि 'राजाके १६ आभिगामिक, ८ प्रज्ञाके, ४ उत्साहके तथा ३० आत्मसंपत्के गुण हैं, जिनमें महाकुलीन, भाग्यशाली, मेधावी, धैर्यशाली, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, कृतज्ञ, महादानी, महान् उत्साही, क्षिप्रकारी, दृढनिश्चय, समीपवर्ती राजाओंको जीतनेमें समर्थ, उदार परिवारवाला और शास्त्रमर्यादाको चाहनेवाला—ये राजाके १६ आभिगामिक गुण हैं—

> महाकुलीनो दैवबुद्धिः सत्त्वसम्पन्नो वृद्धदर्शी धार्मिकः सत्यवागविसंवादिकः कृतज्ञः स्थूललक्षो महोत्साहोऽदीर्घसूत्रः शक्यसामन्तो दृढबुद्धिरक्षुद्रपरिषत्को विनयकाम इत्याभिगामिका गुणाः। (कौटिल्य० ६। १। ३)

'शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहापोह, तत्त्व तथा अभिनिवेश—ये आठ प्रज्ञाके गुण हैं। शौर्य, अमर्ष, शीघ्रता तथा दक्षता—ये ४ उत्साहके गुण हैं। इसी प्रकार आत्मसंपत्के विषयमे कौटिल्य कहते हैं कि 'वाग्मी (अर्थ-पूर्ण भाषण करनेमे समर्थ), प्रगल्भ (सभामें बोलते समय कम्परहित), स्मृति, मति तथा बलसे युक्त, उन्नतचित्त, संयमी, हाथी-घोड़े आदिके चलानेमें निपुण, शत्रुकी विपत्तिमे चढ़ाई करनेवाला, अपनी विपत्तिमें सेनाकी रक्षा करनेवाला, किसीके द्वारा उपकार या अपकार किये जानेपर उसका प्रतिकार करनेवाला, लज्जाशील, दुर्भिक्ष और सुभिक्ष आदिमें अन्नादिका ठीक-ठीक विनियोग करनेवाला, लंबी और दूरकी सोचनेवाला, अपनी सेनाके युद्धोचित देश, काल, उत्साह, शक्ति तथा कार्यको प्रधानतया देखनेवाला, सन्धिके प्रयोगको समझनेवाला, प्रकाश-युद्ध आदि करनेमें चतुर, सुपात्रको दान देनेवाला, प्रजाको कष्ट न पहुँचाकर ही गुप्तरूपमें कोषको बढ़ानेवाला, शत्रुके अंदर मृगया-द्यूत आदि व्यसनोंको देखकर उसपर तीक्ष्णरस आदि प्रयोग करनेमें समर्थ, अपने मन्त्रको गुप्त रखनेवाला, दीन पुरुषोंकी हँसी न उड़ानेवाला, टेढ़ी भौंह न करके देखनेवाला, काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता, उपताप और पैशुन्यसे सदा आगे रहनेवाला; प्रिय बोलनेवाला, हँसमुख तथा उदार भाषण करनेवाला और वृद्धोंके उपदेश तथा आचारका माननेवाला राजा होना चाहिये। ये ही राजाकी आत्मसंपत् हैं—(कौ० ६। १। ४—६)। 'मत्स्यपुराण' तथा 'महाभारत'में भी ये लक्षण कुछ संक्षेपमे तथा कुछ विस्तारपूर्वक कहे गये हैं।

४-राजाके दोष

नारदजीने कहा है कि नास्तिकता, मिथ्याभाषण, क्रोध, प्रमाद (अकर्तव्यका आचरण और कर्तव्यका त्याग), दीर्घसूत्रता, ज्ञानवान् पुरुषोंसे न मिलना, आलस्य, इन्द्रियपरायणता, अकेले ही समस्याओंपर विचार करना, अनभिज्ञ लोगोंके साथ मन्त्रणा करना, मन्त्रणामें निश्चित कार्योंका आरम्भ न करना, मन्त्रणाको गुप्त न रखना, माङ्गलिक कार्योंका प्रयोग न करना, और एक ही साथ बहुतसे शत्रुओंके साथ विरोध करना। राजाको परीक्षापूर्वक इन चौदह दोषोंसे बचना चाहिये—

> नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
> अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्॥
> एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम्।
> निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्॥
> मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः।
> कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश॥
>
> (महा० सभा० ५। १०७—१०९)

५-ज्यौतिष-शास्त्रानुसार राजाके लक्षण

'वृद्धपराशर' का कहना है कि जन्मकुण्डलीमें त्रिकोण (५, ८)-स्थान लक्ष्मीके हैं तथा केन्द्र (१, ४, ७, १०

—यहाँ विशेषतः ४ । १० का भाव है) विष्णुके स्थान हैं। इन भावोंके स्वामियोंका परस्पर सम्बन्ध होनेसे राजयोग होता है; विशेषतः नवमेश-दशमेशके संयोगसे राजा—राजाधिराज होता है—

लक्ष्मीस्थानं त्रिकोणं च विष्णुस्थानं च केन्द्रकम् ।
तयोः सम्बन्धमात्रेण राजयोगादिकं भवेत् ॥
कर्मेशस्य तु योगेन राजा साचिव्यतामियात् ।
केन्द्रधर्मेशयोर्योगे राजा वै राजवन्दितः ॥
धर्मकर्माधिपौ चैव व्यत्यये तावुभौ स्थितौ ।
युक्तश्चेद्वै तदा वाच्यः सर्वसौख्यसमन्वितः ॥

(बृ० पा० पू० खं० राजयो० २८ । ३७–४०)

वराहमिहिरका कहना है कि मङ्गल, शनैश्चर, सूर्य और बृहस्पति—ये चारो ग्रह अपने उच्च स्थानोमे स्थित होकर लग्नमें स्थित हों तो राजा होता है । इन्हीं चारो ग्रहोमेसे दो ग्रह अपने उच्च स्थानोमे स्थित होकर आपसमे प्रत्येक लग्नमें स्थित हों और चन्द्रमा अपने स्थानमे स्थित हो तो राजयोग होता है—

वक्रार्कजार्कगुरुभिः सकलैस्त्रिभिश्च
स्वोच्चेषु षोडशनृपाः कथितैकलग्ने ।
द्व्येकाश्रितेषु च तथैकतमे विलग्ने
स्वक्षेत्रगे शशिनि षोडश भूमिपाः स्युः ॥

(बृहज्जा० राज० ११ । २)

माण्डव्यका कहना है कि मकर राशि लग्नमे स्थित हो और उसीमें शनैश्चर हो तथा मीन राशिमे चन्द्रमा, मिथुनमे मङ्गल, कन्यामे बुध और धनमें बृहस्पति हो तथा सूर्य और शुक्र—ये दोनो कहीं भी स्थित हों तो इस योगमे पैदा होनेवाला व्यक्ति इन्द्रके समान राजा होता है—

मृगे लग्ने सौरस्तिमियुगगतः शीतकिरणः
कुजो युग्मे नार्यां शशभृतसुतश्चापधरगः ।
गुरुर्दैत्येज्यार्कावभिमतगतौ चारवशतः
प्रसूतौ यस्यासौ भवति नृपः शक्रसदृशः ॥

जातक-पारिजातका मत है कि कन्या, मीन, मिथुन, वृष, सिंह, कुम्भ और धनमें सब ग्रह स्थित हों तो वह मनुष्य बड़ा यशस्वी एवं प्रतापी राजा होता है तथा उसके पास चतुरङ्गिणी सेना होती है—

कन्यामीननृयुग्मगोहरिधनुःकुम्भस्थितैः खेचरैः
सेनामत्तमतङ्गवाजिविपुलो राजा यशस्वी भवेत् ॥

(जा० पा० ७ । १)

सारावलीकी उक्ति है कि एक भी ग्रह परमोच्चका होकर वर्गोत्तमांशमे हो और बली मित्रसे दृष्ट हो तो जातक राजा होता है—

एक एव खगः स्वोच्चे वर्गोत्तमगतो यदि ।
बलवन्मित्रसंदृष्टः करोति पृथिवीपतिम् ॥

फलदीपिकाकारका मत है कि जिसके जन्मसमय जो ग्रह नीच राशिमे प्राप्त हो, उस नीच राशिका स्वामी या उस ग्रहके उच्चस्थानका स्वामी लग्नसे या चन्द्रमासे केन्द्रमे स्थित हो, वह धर्मात्मा और चक्रवर्ती राजा होता है—

नीचे तिष्ठति यस्तदाश्रितगृहाधीशो विलग्नाद्यदा
चन्द्राद्वा यदि नीचगस्य विहगस्योच्चर्क्षनाथोऽथवा ।
केन्द्रे तिष्ठति चेत् प्रपूर्णविभवः स्याच्चक्रवर्ती नृपो
धर्मिष्ठोऽन्यमहीशवन्दितपदस्तेजोयशोभाग्यवान् ॥

जातकाभरणका मत है कि जिसकी कुण्डलीमे पाँच ग्रह अपने-अपने उच्चमे बैठे हों तो वह सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा होता है—

नभश्चराः पञ्च निजोच्चसंस्था यस्य प्रसूतौ स तु सार्वभौमः ।

(जातकाभ० ६ । १३)

पराशरजीका मत है कि 'नवमेश और दशमेश—ये दोनो पारिजातांशमे प्राप्त होकर भोग करते हों तो वह राजा लोक-शिक्षक होता है । यदि ये ही दोनो गोपुरांशमे चले गये हों तो वह राजा राजाओंसे भी वन्दित होता है और सारी पृथ्वीका पालक—चक्रवर्ती होता है । श्रीरामचन्द्र तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी कुण्डलियोमे पाँच ग्रह उच्चस्थ थे तथा हरिश्चन्द्र, मनुपुत्र उत्तम, बलि, युधिष्ठिर आदिकी कुण्डलियोमे नवमेश तथा दशमेश परस्पर सम्बन्ध रखते हुए गोपुरांशको प्राप्त थे। नागार्जुन और विजयाभिनन्दनकी कुण्डलियोमे भी ये ही योग रहेंगे । भगवान्‌के सभी अवतारोमे ये ही ग्रह प्रथम देवलोकांशमे प्राप्त हुए होते हैं । द्वितीय देवलोकांशमें इन्द्रादिकोंका तथा प्रथम ऐरावतांशमे स्वायम्भुव मनुका जन्म हुआ था ।'

अस्मिन् योगे हरिश्चन्द्रो मानवश्चोत्तमस्तथा ।
बलिर्वैश्वानरो राजा अन्ये चैव तु चक्रपाः ॥
कलौ युगे तु भविता तथा राजा युधिष्ठिरः ।
भविता शालिवाहश्च तथा विजयनन्दनः ॥
नागार्जुनस्तथा भूपस्तदन्ये चैव गोपुरे ।
पारावतांशकेऽन्ये च जाता मन्वादयस्तथा ॥

देवलोके तु प्रथमे हरेश्चैवावतारणम् ।
मत्स्यादिकल्किपर्यन्ताः सर्वे वर्गोद्भवा मताः ॥
द्वितीये देवलोके तु ज्ञेयाश्चेन्द्रादयः परे ।
ऐरावते च प्रथमे जातः स्वायम्भुवो मनुः ॥

(बृहत्पाराशर होरा० पूर्वभाग० २८ । ४१ । ४८)

राज्यकी प्राप्ति कब होगी, इसका वर्णन करते हुए भगवान् गर्गाचार्य कहते हैं कि जो ग्रह कर्मस्थ हो या लग्नस्थ हो या जो अत्यन्त बली हो, उसीकी अन्तर्दशामें राज्यकी प्राप्ति होती है—

लग्नः कर्मगो वा स्यादथवा प्रबलोऽपि यः ।
स स्यात्स्वान्तर्दशाकाले राज्यदः प्रबलो यदा ॥

६-राजाके सामुद्रिक लक्षण

जब भगवती श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीसे पूछा कि 'भगवान् राम और लक्ष्मणकी आकृति कैसी है ?' तब हनुमान्‌जीने ठीक सामुद्रिक रीतिसे भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन किया । आपने कहा कि 'उनके तीन अङ्ग मजबूत हैं, तीन लंबे हैं, तीन बराबर हैं, तीन ऊँचे हैं, तीन लाल हैं; तीन चिकने हैं तथा तीन गम्भीर हैं ।'

त्रिस्थिरस्त्रिप्रलम्बश्च त्रिसमस्त्रिषु चोन्नतः ।
त्रिताम्रस्त्रिषु च स्निग्धो गम्भीरस्त्रिषु नित्यशः ॥

(वा० रा० सु० ३५ । १७)

सामुद्रिक-शास्त्रमें बतलाया गया है कि राजाकी जाँघ, कलाई और मुट्ठी मजबूत होती है। भौंहें, मुख और बाहु लंबे होते हैं। केशाग्र, बाहु तथा वृषण बराबर होते हैं। वक्षःस्थल, नाभिका अन्तिम भाग और उदर ऊँचे होते हैं। नेत्रोंके कोने, नख और हाथ-पैरके तलवे—ये तीन वस्तुएँ लाल होती हैं। हाथ-पैरकी रेखाएँ, सिरके बाल तथा मणि चिकने होते हैं एवं स्वर, चाल और नाभि गम्भीर होती है। भगवान् श्रीरामके इन सभी लक्षणोंको हनुमान्‌जीने संक्षेपमें वर्णन किया था—

ऊरुश्च मणिबन्धश्च मुष्टिश्च नृपतेः स्थिराः ।
प्रलम्बा यस्य स धनी त्रयो भ्रूमुखबाहवः ॥
केशाग्रं वृषणं जानु समं यस्य स भूपतिः ।
नाभ्यन्तःकुक्षिवक्षोभिरुन्नतैः क्षितिपो भवेत् ॥
नेत्रान्तनखपाणग्रङ्घ्रितलैस्ताम्रस्त्रिभिः सुखी ।
स्निग्धा भवन्ति वै येषां पादरेखाः शिरोरुहाः ॥
तथा लिङ्गमणिस्तेषां महाभाग्यं विनिर्दिशेत् ।
स्वरे गतौ च नाभौ च गम्भीरः स च शस्यते ॥

अन्यत्र कहा गया है कि जिसके हाथ-पैरोंमें हाथी, छत्र, मत्स्य, पुष्करिणी, अंकुश और वीणाके चिह्न हों, वह राजा होता है—

चेद्वारणो वाऽऽतपवारणो वा
वैसारिणः पुष्करिणी सृणिर्वा ।
वीणा च पाणौ चरणे नराणां
ते स्युर्नराणामधिपा वरेण्याः ॥

'जिसका गोल सिर, चौड़ा मस्तक, कर्णान्त-विस्तारी नीलकमल-सदृश नेत्र और घुटनेतक लंबी भुजा हो, वह सारे भूमण्डलका स्वामी होता है ।'

सुवृत्तमौलिस्तु विशालभाल-
श्चाकर्णनीलोत्पलपत्रनेत्रः ।
आजानुबाहुं पुरुषं तमाहु-
र्भूमण्डलाखण्डलमार्यवर्याः ॥

'अग्निपुराण'के २४३वें अध्यायमें तथा 'स्कन्दपुराण'-काशीखण्ड, पूर्वभागके स्त्रीलक्षण-वर्णनाध्यायमें राजा और रानियोंके लक्षण विस्तारसे लिखे गये हैं। जिज्ञासुओंको उन्हें वहीं देखना चाहिये । असलमें, जैसा राजाके प्रधान लक्षणोंमें बताया गया है, उसकी तपस्या ही उसके राजत्वका कारण होती है। 'शुक' का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'अपने पूर्वजन्मके तपके कारण ही व्यक्ति राजा होता है।' अपने यहाँके राजाओंमें स्वायम्भुव मनु, ध्रुव, प्राचीनबर्हिष्, इक्ष्वाकु, मुचुकुन्द, विदेह, गाधि, रघु, अम्बरीष, गय, सगर, मान्धाता, अलर्क, रन्तिदेव, बलि, अमूर्तरय, दिलीप, शिवि, प्रह्लाद एवं विभीषणादि ही प्रशंसनीय हैं । यह स्पष्ट है कि धर्म तथा तपके कारण राज्यभ्रष्ट व्यक्ति भी राज्यारूढ़ हो गये हैं; इसके विपरीत धर्मभ्रष्ट होनेपर राज्यारूढ भी राज्यच्युत होता देखा गया है—

बहवोऽविनयाद् भ्रष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्थाश्चैव राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥

(मत्स्य० २१५ । ५३)

यहाँ 'विनय' शब्द 'इन्द्रियजय' का द्योतक है ।

विनयो ह्रीन्द्रियजयस्तैर्युक्तः पालयेन्महीम् ।

(अग्नि० रामोक्तनी० २३८ । ३)

भगवान्‌की शरणागति तो सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है और विशेषकर आजकलके युगमें तो एकमात्र यही धर्म बच रहा है; अतएव राजाके लिये तन-मनसे भगवच्छरण होना ही प्रमुख कर्तव्य होना चाहिये । यदि राज्यपाटके नशेमें वह भगवान्-

को भूलकर वेन या रावण-सा आचरण करने लगता है, तब 'राम विमुख संपति प्रभुताई । गई रही पाई बिनु पाई ॥' हो जाती है ।

७—राजाका कर्तव्य

साधारणतया राजाके गौण लक्षणोंमें ही उसके कर्तव्यकी चर्चा भी आ गयी है । उसके कर्तव्योंके विस्तृत वर्णनमें पूरी राजनीति ही आ जाती है । 'मत्स्यपुराण' के २१५ वे अध्यायमें अत्यन्त संक्षेपमें राजाके कर्तव्यका विचार है । फिर उन्तालीस अध्यायोंमें उन्हींका विस्तार है । पर प्रधानतया राजाका कर्तव्य 'धर्मरक्षण' ही है । सभी शास्त्रों, इतिहास-पुराणों तथा राजनीतिके ग्रन्थोंमें इसीको विस्तारसे बतलाया गया है । असलमें तो धर्मरक्षणके अतिरिक्त राजाका कोई अन्य कर्तव्य ही नहीं होता । यही कारण है कि हरिश्चन्द्र आदि राजाओंने धर्मके कारण राज्यश्रीतकको त्याग दिया । जिन्हें भगवान्‌ने बुद्धि दी है, वे दूरतक विचार करते हैं; फिर वे समझ लेते हैं कि इस नश्वर विश्वमें आजतक कितने राजा हुए और चले गये—यह पृथ्वी कितनोंकी हुई और भाग निकली, अब उनमेंसे बहुत-से राजाओंके नामतकका पता नहीं है; इसलिये अधर्माचरणकर लोक—भगवान् तथा महात्माओंको क्यों असन्तुष्ट किया जाय ? इसके अतिरिक्त समय पलटते ही भगवान् तो धर्मकी रक्षा करा ही लेते हैं । उन अधार्मिकोंकी बादमें निन्दा भी कम नहीं होती । इसलिये भगवान् रामने ठीक ही कहा है कि कोई भी बुद्धिमान् राजा इन बातोंको सोचता हुआ पापाचरण न करेगा—

> आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने ।
> को हि राजा शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ॥
>
> (अग्नि० २३ । १२)

'आधि-व्याधिसे ग्रस्त तथा आज या कल ही नष्ट होनेवाले इस शरीरके लिये कौन राजा धर्मविरुद्ध आचरण करेगा ।'

> वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-
> मापातमात्रमधुरा विषयोपभोगाः ।
> प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां
> धर्मः सदा सुहृदहो न विरोधनीयः ।

'यह पृथ्वीका आधिपत्य हवामें उड़नेवाले बादलके समान है, विषय-भोग केवल आरम्भमें ही मधुर लगनेवाले हैं, प्राण तिनकेके अग्रभागमें स्थित जलबिन्दुके समान हैं, धर्म ही मनुष्योंका सनातन सुहृद् है, उसके विपरीत आचरण नहीं करना चाहिये ।'
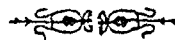
संस्कृतिकी मीमांसा

(लेखक—डा० श्रीजयेन्द्रराय भ० दूरकाल, एम्०ए०, डी०एस्-सी०, विद्यावारिधि)

'संस्कृत' और 'संस्कार' शब्द पुरातन और बहुशास्त्रप्रयुक्त हैं । 'संस्कृति' शब्द इनकी अपेक्षा नया है । अमरकोश अथवा आप्टेके कोशमें यह नहीं है । अंग्रेजी 'कल्चर' और 'सिविलिजेशन' शब्दोंका अर्थपरिचय करानेके लिये इस शब्दका प्रयोग होता है; परंतु इन अंग्रेजी शब्दोंका अर्थ भी सुनिश्चित नहीं है । इसी प्रकार 'संस्कृति' शब्दका अर्थ भी प्रवाही है । इसकी कोई शास्त्ररूढ़ परिभाषा नहीं है, पर परिभाषा बनानेका प्रयत्न है । ऐसी ही परिस्थिति 'हिंदू' शब्दकी भी है । संस्कारी मानव-समाजके लिये पुरातन शब्द 'आर्य' था । सिन्धु नदीके समीप या पारका देश सिन्धुस्थान, हिंदुस्थान (अथवा इंडस नदीके नामपर इंडिया) कहलाया और वहाँके लोग हिंदू कहलाये । इस प्रकार 'हिंदू' शब्द पर-प्रत्यय है । परंतु इस समय यह बहुत रूढ़ और बहुत व्यापक हो गया है । तथापि इसके आज भी देशवाचक; जातिवाचक और धर्मवाचक—विभिन्न अर्थ किये जाते हैं ।

देशकी भाषाओंमें सामान्य रूपसे इन शब्दोंका जैसा प्रयोग होता है, उसपरसे अर्थ-भावना करके यों कह सकते हैं कि शुभ, शुद्ध अथवा सुसम्बद्ध करनेकी जो क्रिया है, वह है संस्कार, और जिसका संस्कार होता है, वह है संस्कारी । संस्कार-समुच्चयका स्थायी भाव है संस्कारिता । देशगत या समाजगत संस्कारिताका व्यापक प्रस्तार है—संस्कृति । इसी अर्थमें हिंदू-संस्कृति, यूरोपीय संस्कृति, ब्राह्मण-संस्कृति इत्यादि प्रयोग किये जाते हैं । 'हिंदू' शब्दको हम यदि धर्मवाचक अर्थात् धर्मप्रधान लक्षणवाला मानें और धर्मको विशिष्ट शास्त्र-ग्रन्थोंद्वारा उदित और निश्चित समस्त जीवनका पुण्य मार्ग समझें तो 'हिंदू' शब्दमें जैन, सिख, देवसमाजी, ब्राह्मसमाजी, बौद्ध आदि नहीं समा सकते; क्योंकि इनकी धर्ममार्गकी मीमांसा और नियमादि पृथक् हैं, विचार-पद्धति भी भिन्न है । केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद्में एक सदस्यने एक बार कहा था कि 'हिंदमें जो बसते हैं, वे-

हिंदू हैं।' ऐसा मान लें तो हिंदूमें मुसल्मान और ईसाई भी आ जायँगे। इससे अतिव्याप्ति दोष होगा। 'हिंदू' शब्दको जातिवाचक कहें तो अव्याप्ति दोष आ जायगा; क्योंकि सथाल, कोल, भील भी हिंदू कहलाते हैं और आर्य जातियाँ भी हिंदू कहलाती हैं। 'हिंदू' शब्दका वृत्त (घेरा) विस्तृत करनेके लिये राष्ट्रवादी बौद्ध, जैन, सिख, ब्राह्मसमाजी इत्यादिको हिंदूमें परिगणित करना चाहते हैं। पर ऐसा करनेसे हिंदू या हिंदूधर्म अथवा हिंदू-संस्कृतिका कोई स्थायी सिद्ध स्वरूप नहीं रहता। कारण, इनमेंसे कोई देवी-देवताओंको नहीं मानता, कोई वर्णव्यवस्था नहीं मानता और कोई धर्मशास्त्रका ईश्वरोदित होना नहीं मानता। कितने अवतार, मन्त्रशास्त्र, श्राद्ध, तीर्थ आदि नहीं मानते, जो हिंदू-समाजके विशेष चिह्न हैं। अतः सब दृष्टियोंसे विचार करके 'हिंदू' शब्दका अर्थ हम इस प्रकार कर सकते हैं कि वेदादि-शास्त्रोदित धर्मव्यवस्थाका जो अवलम्बन करता है, वही हिंदू है, ऐसे हिंदुओंसे बना हुआ समाज हिंदू-समाज है और ऐसे समाजमें जो संस्कृति व्यापक है, वही हिंदू-संस्कृति है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिंदू-संस्कृति वेदादि सनातन धर्मशास्त्रोंपर फलित होनेवाली संस्कृति है; और वेदादि शास्त्र मानव-जातिके पुरातन मौलिक पुण्यग्रन्थ होनेसे यही संस्कृति पुरातन संस्कृति, मानव-संस्कृति और सनातन संस्कृति है।

संस्कृतिके लिये कभी-कभी 'सभ्यता' शब्दका भी प्रयोग होता है। दोनोंमें यह भेद है कि संस्कृति मनुष्यके अखिल जीवनको संस्कारित करती है और सभ्यतासे केवल बाह्याचार लक्षित होता है। संस्कृति जीवनव्यापिनी चेतना है, सभ्यता शरीरपर धारण किये हुए आभूषण। इसी दृष्टिसे यूरोपादि देशोंके सुधारोंको संस्कृति न कहकर सभ्यता कहा जाता है। संस्कृतिकी भावना बहुत ऊँची होनेसे पञ्चमकार-प्रधान देशवालोंको संस्कृतियुक्त कहनेमें हिचक होती है। परतु ऐसे कुछ देशोंकी द्रव्यशक्ति, क्रियाशक्ति और विज्ञान-शक्ति विशाल होनेसे ये अपनी ही बात दुनियासे मनवाते और उच्चतर संस्कृतिका आदर्श रखनेवाले देशोंको पिछड़े हुए देश मानते और मनवाते हैं। ये लोग ऐसी नीतिसे चलते हैं, जिससे इन्हींकी सभ्यताकी प्रशंसा हो और ये संसारमें अग्रणी गिने जायँ। इनकी ओरसे पैरवी करनेवाले इनके ग्रन्थकारोंमें कोई विषय-सुखके साधनोंकी अभिवृद्धिको, कोई सामान्य मानव-जीवनमें बढ़ती हुई संकीर्णताको और कोई संहारके साधनोंकी बहुलताको ही संस्कृतिकी प्रगतिके लक्षण बतलाते हैं।

हम पहले सूचित कर आये हैं कि हिंदू-संस्कृति अथवा आर्य-संस्कृति ही सनातन और पुरातन संस्कृति हो सकती है। इस सनातन मानव-संस्कृतिके सम्बन्धमें कुछ भ्रमोंका निवारण पहले ही कर लेना अच्छा होगा। कितने यूरोपीय लेखकोंने पहले यह कल्पना की थी कि मानव-जाति पाँच-छः हजार वर्षोंसे इस पृथ्वीतलपर है। पर हमारे पुराण और आधुनिक विज्ञान भी यह बतलाते हैं कि मानव-जाति पृथ्वीतलपर करोड़ों वर्षोंसे इसी प्रकार चली आयी है; अर्थात् यह सनातन मानव-संस्कृति भी करोड़ों वर्षोंसे चली आयी है। इस बीच कितने ही उलट-फेर हो गये हैं। उपर्युक्त ईसाई भ्रमके कारण उन लेखकोंने मानव-इतिहासको पाँच-छः हजार वर्षोंमें जकड़कर अति संकुचित कर दिया है और प्राचीन ऐतिहासिक विवरणों और सत्य घटनाओंको अविश्वसनीय कहकर उड़ा दिया है। मनुष्य-बुद्धिकी और कल्पनाकी दीनता और पामरता इतनेसे ही ध्यानमें आ सकती है कि आजसे सौ वर्ष पहले जिन चीजोंको असम्भव और केवल काल्पनिक समझा जाता था, वे चीजें—रेडियो, टेलीवीजन, अणुबम आदि आज प्रत्यक्ष हैं। अतः हमारी बुद्धिकी त्रिज्या-रेखामें कोई सच्ची वस्तु या घटना यदि नहीं आती तो यह बुद्धिकी क्षुद्रता है, इतिहासकी अतथ्यता नहीं। हमारे पुराण-इतिहासकारोंका सत्यका आदर्श इतना महान् और निर्मल था कि उन पुराणेतिहासोंका पठन करनेवालोंके चित्त भी सत्यके उपासक बन जाते हैं। हमारे इन पुराणेतिहास-ग्रन्थोंमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इतिहासका कभी स्पष्टतया भिन्न-भिन्न रूपसे और कहीं मिश्ररूपसे कथन किया गया है। इसी प्रकार लोक-लोकान्तर-की कथाएँ भी उनमें आती हैं, फिर अनेकों युगों और मन्वन्तरोंमें उनका विस्तार होता है। इन कथाओंको समझनेमें यह बात ध्यानमें रखनी पड़ती है कि इस सच्चे इतिहासमें विश्वके स्थायी तत्त्वोंका विवेचन हुआ है और इस कारण इसमें प्रयुक्त भाषाके शब्द व्यक्तिवाचककी अपेक्षा जातिवाचक अर्थमें अधिकतर प्रयुक्त देखनेमें आते हैं। इससे यह होता है कि शब्दोंकी अभिधाशक्तिसे लोकरञ्जन होता है, साथ ही उनकी व्यञ्जनाशक्तिसे विद्वान् विनम्र शरणागतिके मार्गपर आ जाते हैं। उदाहरणार्थ, जगदीश्वर परमात्मा शिव अपने लिङ्ग अर्थात् विश्वके पूजनका आग्रह करते हैं। इसमें कितनी उदार भावना प्रतिष्ठित देख पड़ती है। यह विश्व विश्वेश्वरका लिङ्ग यानी चिह्न है, यह स्पष्ट ही है। इसी प्रकार शवपर खड़ी चामुण्डाके दर्शनका क्या

अभिप्राय है ? चामुण्डा चेतनाशक्ति हैं, जिनके बिना यह शरीर शव है। इसपर चेतना देवी बैठकर इसे जीवित करती हैं; तभी वह चलने-फिरने, दौड़ने-उड़ने और काम करने लगता है। इस देहका यही मनोहर सत्य है।

मनुष्य-जातिकी भाषाओं, इतिहासों और गणना-पद्धतियोंको देखकर यह पता लगता है कि मानवजाति मूलतः एक ही थी। मानव, मैन आदि शब्द, पुराणोंमें सुरक्षित इतिहास तथा संख्या, वार इत्यादिका साम्य इस बातका मोटे तौरपर समर्थन करता है। इतिहाससे भी यह प्रकट है कि मानवजाति बाल्यकालमें बहुत ही सरल, निर्मल और बलवान् थी। पीछे युग-युगमें जो परिवर्तन होता गया, उसमें धर्मका अंश घटता गया और अधर्मका अंश बढ़ता गया। कितने ही यूरोपीय विद्वानोंने इसमें उलटी ही भावना करके विकासवाद अथवा उत्क्रान्तिवादकी कल्पना की और यह मान लिया कि संसार उत्तरोत्तर अधिकाधिक उन्नति कर रहा है और हमलोग किसी दिन उन्नतिके शिखरपर जा बैठेंगे। पर पिछले दो महायुद्धोंने तथा जगत्की वर्तमान परिस्थितिने भी इन विचारोंकी अयथार्थता दिखला दी है। अब तो यहाँतक अधःपात बढ़ चला है कि कोई भी मनुष्य अपने ही ५०, ६० वर्षोंके जीवनमें संसारकी अधोगति देख सकता है। यह स्पष्ट ही समझमें आता है कि युग-युग धर्मका ह्रास होता है—यह सिद्धान्त विश्वसनीय और वास्तविक है। यह तो सब जानते ही हैं कि सत्य, दया, तप और शौच—धर्मके ये चार पाद हैं और मोह, दुःसंग एवं मद—इन तीन अधर्मांशोंके द्वारा उनका ह्रास होता है। सत्ययुगमें अपने-अपने कर्म करके सब लोग कृतकृत्य रहते थे। त्रेतायुगमें दुष्टोंसे उनका परित्राण करनेके लिये धर्म खड़ा रहता है। द्वापर इन दोनोंसे विचित्र है—परस्परभिन्न कौरव-पाण्डवोंके समान भले-बुरेका इसमें मिश्रण रहता है। और कलियुग तो कलि, कलह और कुमतसे ही परिपूर्ण होता है। आर्य ऋषियोंने युगोंको यथार्थरूपमें देखकर उनके वैसे ही नाम भी रक्खे हैं।

हमारी हिंदू-संस्कृति यथार्थमें सनातन मानव-संस्कृति है। विशेष बात इतनी ही है कि हम आर्योंने इस संस्कृतिको अखण्डरूपमें सुरक्षित रक्खा है और अन्य लोगोंने अपनी स्थितिके अनुरूप इसका खण्डमात्र स्वीकारकर सन्तोष कर लिया है। इस प्रकार मिस्र, यूनान, बाबिलन, चीन, ईरान आदि देशों तथा अनेक धर्म-सम्प्रदायोंकी विविध संस्कृतियाँ निकलीं और दुनियामें फैलीं। इन विविध संस्कृतियोंमें सत्य, दया, तप और पवित्रताके आचार-विचारका रूपान्तर देख पड़ता है। पर मुख्य तात्त्विक बात यह है कि जहाँ ये चारों न्यूनाधिकरूपमें सर्वत्र देख पड़ते हैं, वहाँ आर्य-संस्कृतिमें इन चारोंकी गहराईमें उतरकर इनके सम्पूर्ण आचार-विचारका आयोजन किया गया है। इसीलिये अन्य लोगोंको यह वस्तु बहुत अद्भुत मालूम होती है। कोई उसे 'अतिशयता' मानते हैं, कोई चकित होकर चुप बैठते हैं, कोई भ्रम अथवा जंगली आदर्शका अवशेष या कल्पनाकी एक विचित्र सृष्टि कहकर सन्तोष कर लेते हैं। यथार्थमें आर्योंकी सत्यमूलक ऐतिहासिक दृष्टि कितनी तीव्र और असामान्य है, यह दिनमें तीन बार देश, काल और क्रियाका सङ्कल्प करनेकी रीतिसे ही स्पष्ट हो जाता है। कालगणनामें सुभीतेके टट्टूपर सवार न होकर प्रत्येक दिन और महीनेके ग्रहोंके योगानुसार यथार्थ सृष्टि-सत्त्वोंसे काल निर्णय करनेवाली प्रजाकी सत्यनिष्ठा कितनी बलवती होनी चाहिये। जिनकी संस्कृत भाषामें सत्य, संयम और शक्ति इतनी भरी हुई है कि कोई भाषा उसकी बराबरी नहीं कर सकती, जिनकी यह भाषा लाखों वर्षोंसे ऐसी ही प्रतिभाशाली और जीवन्त है और जिनका साहित्य सब साहित्योंमें अद्वितीय और अप्रतिम है, उन आर्योंकी विद्याशक्तिकी नाप-जोख कौन कर सकता है ? आर्योंकी यह संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। इसलिये नहीं कि यह हमारी संस्कृति है। वस्तुतः यह समस्त मानवजातिकी संस्कृति है और ईश्वरोदित शास्त्रोंसे प्रतिफलित हुई है। मानवजातिकी मूल भाषा संस्कृत है, मानवजातिका मूल ज्ञानग्रन्थ वेद है, मानवजातिका मूल साहित्य पुराण है, मानवजातिका मूल धर्म श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित आर्यधर्म है। मानवजातिकी मूल संस्कृति मनु आदि महर्षियोंद्वारा स्मृतियोंमें निर्दिष्ट व्यवस्थावाली संस्कृति है। इस संस्कृतिके इतिहासके निर्मल दर्पणवत् तीन प्रधान ग्रन्थ हैं—रामायण, महाभारत और भागवत। मानवजातिकी इस प्राचीन संस्कृतिमें पीछे किस प्रकार धीरे-धीरे कालिमा आ गयी—इसका भी तथ्य इन ग्रन्थोंमें मिलता है।

सामान्य दृष्टिसे देखते हुए कह सकते हैं कि संस्कृति तीन प्रकारकी होती है—(१) ईश्वर-प्रधान संस्कृति, (२) पुरुष-प्रधान संस्कृति और (३) नारी-प्रधान संस्कृति। ईश्वर-प्रधान संस्कृतिमें सत्त्वगुण विशेष और तप तथा त्यागका प्राधान्य होता है। पुरुषप्रधान संस्कृतिमें

रजोगुण विशेष और तितिक्षा तथा शौर्यका प्राधान्य होता है। नारी-प्रधान संस्कृतिमें तमोगुण विशेष और मोह तथा भोगका प्राधान्य होता है। आर्य-संस्कृति ईश्वर-प्रधान, जर्मनी या इंग्लैंडकी संस्कृति पुरुष-प्रधान और फ्रान्स आदि देशोंकी संस्कृति नारी-प्रधान कही जा सकती है। आर्य-संस्कृति अथवा हिंदू-संस्कृति अथवा वास्तविक रीत्या पुरातन मानव-संस्कृतिमें ईश्वर ही परम आप्त और आप्तव्य है। ईश्वरोदित शास्त्र आचार-विचारके आप्त ग्रन्थ हैं और उनमें उद्घोषित धर्म ही परम विधेय कर्तव्य है। इसके द्वारा मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक कल्याणका अधिकारी होकर सुख, शान्ति और समृद्धि अर्थात् चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्ध कर सकता है। इस संस्कृतिमें चतुर्विध पुरुषार्थोंकी ऐसी व्यवस्था है कि 'धर्म' प्रधान साधन है और 'मोक्ष' प्रधान साध्य। इनके बीचमें 'अर्थ' (जीवनका आवश्यक व्यवहार) ऐसा हो कि वह 'धर्म' के अविरुद्ध हो और काम (विषय-भोग) ऐसा हो कि वह 'मोक्ष' के अविरुद्ध हो। इस संस्कृतिमें रागी-सकामीके लिये प्रवृत्तिमार्ग और संसारसे थके हुए विरागीके लिये निवृत्तिमार्ग है। यह संस्कृति तीन काण्डोंमें विभक्त है—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। संसारके रागी जन कर्मकाण्डके अधिकारी हैं, विरागी ज्ञानकाण्डके अधिकारी और राग एवं त्यागके बीचमें झूलनेवाले अधिकांश मनुष्य उपासनाकाण्डके अधिकारी हैं। आर्य-संस्कृतिके धर्म-ग्रन्थ समस्त मानव-जातिके हितार्थ होनेसे उनमें अधिकार-भेदका विवेक मुख्य है। जन्मभूमि, गुण और कर्मके अनुसार मनुष्योंमें प्रकृतिकी विविधता होती है और उसके अनुसार धर्मोंकी और उनके साथ आदर्शोंकी, आचारोंकी, वृत्तियों और विचारश्रेणियोंकी विविधता आप्त ग्रन्थोंमें रक्खी गयी है।

इस अधिकार-भेदको अच्छी तरहसे समझनेके लिये जरा गहराईमें उतरना होगा। अच्छे-बुरे, साधु-असाधु, बुद्धिमान् और जडबुद्धि, सदाचारी और दुराचारी, बलवान् और दुर्बल, चतुर और सरल, विवेकी और पामर, विद्वान् और मूर्ख—सब प्रकारके मनुष्य होते हैं। इन सबको समान ही समझनेकी भूल मुख्यतः फ्रांसकी क्रान्तिके समय यूरोपमें चालू की गयी। ईश्वरको उड़ाकर उसके स्थानमें 'रीजन' (बुद्धिवाद) की प्रतिमा स्थापित की गयी। ईश्वरके साथ ईश्वरदत्त शास्त्र भी गये। शास्त्र-प्रामाण्यके स्थानमें मनुष्य-बुद्धिका प्रामाण्य माना गया। अब मनुष्यकी बुद्धि क्या कहती, क्या निर्णय करती है—यह कैसे जाना जाय? जाना जाय मनुष्योंको पूछकर। मनुष्योंके मत यदि अलग-अलग हों तो?—उनका बहुमत प्रमाण माना जाय। प्रत्येक मतका मूल्य कैसे आँका जाय?—सभी मतोंको समान मूल्यका समझकर। क्योंकि मूल्य तो आँका जा नहीं सकता। इस प्रकार सब मनुष्योंको समान माननेकी बात आयी। पीछे व्यवहारमें और विचारमें यह सिद्धान्त अव्यवहार्य और अशक्य जँचने लगा। साम्यवादियोंकी आर्थिक समानतावाली माँगमें संस्कृतिके निम्नस्तरके (जैसे अमेरिकाकी रेड इंडियन-जैसी जातिके) लोगोंके साथ एक-सा बर्ताव करना कठिन हो गया। अखिल पूँजीवादी यूरोपीय चक्र डगमगाने लगा। तब समानताके अर्थमें शब्दच्छल होने लगा। किसीने कहा कि राजनीतिक मत देनेभरकी यह समानता है, किसीने कहा कि आर्थिक संपत्तिकी समता है और किसीने कहा कि विकासके लिये अवकाशकी समता है। और भी अनेकानेक अर्थभेद इसपर लदने लगे। पर जिसके मूलमें ही नग्न असत्य है, उसका कहाँ ठिकाना लगेगा? अभीतक कोई समाधान नहीं हुआ, मामला उलझता ही जा रहा है। त्रिगुणात्मक जगत्में एक-एक वस्तु और एक-एक व्यक्तिकी विशेष-विशेष सत्ता है और भिन्नता ही उनका प्रधान लक्षण है। इन भेदोंमेंसे होकर परमात्मतत्त्वमें अभेद साधन करना, यही आर्य-संस्कृतिके संस्कारी मानवकी साधना और श्रद्धामयी उपासना है।

जीव भगवान्‌की ओर गतिमान् हों तो इसे प्रगति, धर्म तथा अधिकारयुक्त सदाचार कहा जायगा और यदि विरुद्ध दिशामें गतिमान् हों तो उसे पतन अथवा दुराचार कहा जायगा। प्रत्येक जीवकी स्थिति अन्य प्रत्येक जीवसे पृथक् है। इसीसे एकके लिये जो आचार प्रगति या उन्नतिका साधक होता है, वही दूसरेके लिये पतनरूप हो सकता है। कोई गरीब मनुष्य यदि लखपती हो जाय तो यह (आर्थिक) उन्नति है। पर कोई करोड़पती यदि लखपती हो जाय तो यह अवनति हुई। ब्राह्मण-समाज सत्त्वप्रधान, क्षत्रिय-समाज सत्त्वरजःप्रधान, वैश्य-समाज रजस्तमःप्रधान और शूद्र-समाज तमःप्रधान होता है। अतः ब्राह्मणके लिये जो अकार्य है, क्षत्रियके लिये वह कार्य हो सकता है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण ऋषि अपने ऊपर अत्याचार करनेवालेका युद्ध करके संहार चाहे न करे, पर रक्षक जाति क्षत्रियका तो युद्ध करना धर्म ही है। दोनोंके धर्म-कर्म

अलग-अलग हैं। इन समस्त धर्म-कर्म और वृत्तियोंके यथायोग्य विभाग और व्यवस्था आर्योंके आप्त ग्रन्थोंमे की हुई है। युगोंके बीत जानेपर भी वह व्यवस्था कितने ही अंशोंमे अभीतक बनी हुई है और इसीसे हमारे चारो वर्णोंके समाज और समस्त आर्य आचार-विचारके लोग जीवित, ज्वलन्त और चिरजीवी बने हुए हैं। इसीसे इस समाजमे अवतीर्ण महापुरुषोंकी इतनी अबाधित और समृद्ध परम्परा है और इसका इतिहास इतना उत्कृष्ट और आदरणीय रहा है। यह किसीका नाश नहीं चाहती। लाखो वर्षोंके बाद आज भी इसकी शक्ति प्रखर और अमर है। इस प्रकार अधिकार-भेद और अधिकार-भेदके अनुसार धर्म-भेद आर्य-संस्कृतिका एक प्रधान सिद्धान्त रहा है। इसे ध्यानमे रखनेसे आर्य-संस्कृतिको समझना बहुत सरल हो जाता है।

आर्य-संस्कृतिके जीवनव्यापारकी प्रधान भावना यज्ञ अर्थात् भगवान्‌का यजन है। प्रत्येक जीवन-कार्य इसी भावनासे करना होता है। नित्यके जीवनमे अग्निहोत्रादि तथा पञ्चमहायज्ञोंके द्वारा इसीका विधान किया गया है। अखिल विश्वके कल्याणार्थ ये यज्ञ किये जाते हैं। इसीलिये इन्हें 'महायज्ञ' कहते है। इन महायज्ञोंको करके शेष रहा हुआ भाग भक्षण करनेवाले सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। पुण्य-पापकी भावना सभी धर्मपन्थोंमे है। जो कर्म भगवान्‌के अधिक समीप ले जाय, वह पुण्य और उससे जो विमुख करा दे, वही पाप है। इस अधिकारभेद और यज्ञभावनाके समान ही हिंदू-संस्कृतिका एक परम आवश्यक सिद्धान्त है—अनासक्ति अथवा निष्कामता। जो-जो कर्म किया जाय, वह परमेश्वर-प्रीत्यर्थ ही हो; उसमे कोई आसक्ति या कामना न हो। इससे कर्मकी भूमिका बहुत ऊँची हो जाती है और उसकी सिद्धि भी अपूर्व होती है। इसमें बीजभूत सिद्धान्त मनुष्यको निवृत्तिकी ओर ले जाना है। प्रवृत्ति जीवमात्रमे स्वाभाविक होती है। पर निवृत्तिसे जीव उन्नति और कल्याणको प्राप्त होता है। संयम आदिसे शक्तियाँ बढ़ती है। व्यवहारमे तथा कवित्व और कलाके क्षेत्रमें भी यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। इस प्रकार निवृत्तिकी ओर जानेके लिये वाणी, मन, प्राण, इन्द्रियसमूह और आत्माका सयम आर्य-संस्कृतिमे विशेष रूपसे है। योगकी प्रक्रियामे भी यम-नियम प्रथम पंक्तिमे आते है। अधिकांश धर्ममूलक संस्कृतियोंमे यम-नियम या शम-दमका प्राधान्य होता है। भेद केवल उनके रूप और मात्राका रहता है।

इस प्रकारके सिद्धान्तोंका विविध संस्कृतियोंमे साम्य होनेपर भी उनकी क्रियासिद्धिमे दीखनेवाले भेदके प्रधान कारण दो हैं—कुछ तो इसमे प्रमाणभूत कारण 'ईश्वर और उसकी आज्ञा' को अर्थात् आप्त वाक्यको मानते है, दूसरे कुछ मनुष्य बुद्धिके तर्कको मानते हैं। ईश्वर-वाक्य, जहाँ व्यवधानरहित सर्वज्ञकी ओरसे आनेके कारण विशेष श्रद्धेय और अपरिवर्तनीय होता है, वहाँ मानव-बुद्धिजन्य मन्तव्य बुद्धिकी परिणामिता, निर्बलता और प्रचुर भिन्नताके कारण कम श्रद्धेय और परिवर्तनीय होता है।

पवित्रताके सम्बन्धमे बाह्य शौच, आन्तर शौच, बीज-शौच और अर्थ-शौच इत्यादि रूपसे बहुत ही गम्भीर व्यवस्था आर्य-संस्कृतिमे सम्पादित हुई है। वह इतनी उत्कृष्ट है कि उसीसे भारतवर्ष सतीत्वमें प्रामाणिकता और सदाचारमे संसारका एक आदर्श बना हुआ था और आज भी कितने ही अंशोंमे संसारमे सबसे अधिक सात्त्विक प्रकृतिका परिचय दे रहा है।

हमारी इस संस्कृतिमे गुणोंके तारतम्यसे समाज चार वर्णोंमे विभक्त है। लाखो वर्षोंसे यह समाज-व्यवस्था ऐसी ही चली आयी है—यह बात पुराणेतिहाससे ज्ञात होती है। इस व्यवस्थामे विकृति होनेपर तदनुरूप विविध जातियाँ बन गयीं। कुछ सकर जातियाँ भी उत्पन्न हुईं। शास्त्रकारोने इनके भी धर्म और वृत्तियाँ निर्णीत की हैं। वर्णोंका संकर बहुत बडा दोष माना गया है। कारण, इस एक गड़बडसे फिर अव्यवस्थाका ही विस्तार आगे होने लगता है। पर संकर जातियाँ यदि अपने-अपने धर्ममें रहकर अपना-अपना धंधा करती रहे तो वह किसी प्रकार निन्द्य नहीं है। भोजनके समय यदि चाण्डाल अतिथिरूपसे आये तो उसका भोजनादिसे सत्कार ही करनेको शास्त्रोंने कहा है।

इस संस्कृतिमे बीज-शुद्धिका विचार विशेष होनेसे अपने-अपने वर्णमे विवाह करना नितान्त आवश्यक है। समान संस्कार और समान आचार-विचारवालोंमे ही विवाह सर्वत्र इष्ट माना जाता है। बीज-शौचके महत्त्वसे ही आर्य-संस्कृतिमे स्त्रियोंके सतीत्वका इतना महत्त्व है, जिसके गुण गाते हमारे शास्त्रकार और साहित्यकार नहीं अघाते। सदाचारिणी स्त्रियाँ आज भी आर्य-कुटुम्बोंमे राज्य करती हैं। उनके पति भी उनके सतीत्वके सामने झुकते हैं।

इसी सतीत्वके आदर्शके कारण आज भी यूरोपके कौटुम्बिक जीवनसे हमारे यहाँका कौटुम्बिक जीवन उच्चतर और अधिक सुखद है। आजकल एक नया तत्त्वज्ञान यह चला है कि 'संयमकी आवश्यकता ही क्या है, स्वच्छन्दता ही स्वाभाविक और सुखकारक है।' इस नयी फिलॉसफीकी चर्चा अधिक न करके इतना ही कहना अलं होगा कि ईश्वरविमुख गतिवाली नरप्रधान या नारीप्रधान संस्कृतियोंकी ये ऊल-जलूल बातें आर्य-संस्कृतिको स्वीकार नहीं हैं।

आजकल सर्वराष्ट्रिय जगत्में जनसमूहके अंदर सांस्कृतिक जागरण उत्पन्न करनेकी एक हवा चली है। सगे भाई जिस प्रकार एक दूसरेकी निन्दा करके एक दूसरेको नीचा दिखानेका यत्न करते हैं, उसी प्रकार विविध धर्म-पन्थ एक दूसरेकी निन्दा करके मानो सभी धर्मोंपरसे श्रद्धा ही उठा देनेका यत्न करते हैं। जगत्के राजनीतिक नेता सर्वराष्ट्रिय मण्डल स्थापित करने चलते हैं; पर उससे राग-द्वेष ही बढ़ाने और अपना-अपना स्वार्थ साधनेका ही यत्न होता है। विज्ञानके द्वारा तो ऐक्यके बदले संग्रामके और विनाशके साधन ही बढ़ रहे हैं। कारण यह है कि विज्ञान अनधिकारियों और धनलोलुपोंके हाथमें पड़ गया है। श्रुतिके समान विज्ञान भी मानो यही पुकार रहा है कि मुझे अनधिकारियोंके हाथोंमे मत सौंपो, क्योंकि वे मुझे मार डालेंगे। अब संस्कृतिपर इन लोगोंकी दृष्टि पड़ी है। किसी पुरानी संस्कृतिसे इनका काम नहीं चलेगा। सब संस्कृतियोंको मिलाकर उस खिचड़ीसे ये एक नयी बनावटी संस्कृति तैयार करेंगे। विभिन्न संस्कृतियोंके समान अंश निकाल लेनेके इस प्रयत्नका यह फल होगा कि कुछ सामान्य नीतिसूत्र हाथमें आयेंगे। ये भी धर्मपर प्रतिष्ठित न होकर बुद्धिकी खोजपर निर्भर रहेंगे। मानव-जीवनके बाह्य उपचारके लिये ये उपयोगी होंगे। आन्तर जीवनको परिप्लावित करनेवाली कोई बात इनमें न होगी। इसी प्रकार भारतीय संस्कृतिकी भी एक नयी कल्पनाकी हवा बह रही है। धर्मके आधारपर बन्धुत्वका भाव संसारमें प्रतिष्ठित हो सकता है। पर इस व्यापक संभावनाको भुलाकर स्थूल दैशिक भावनाके ऊपर जो नवीन संस्कृति कल्पित हो रही है; उससे सत्यका तिरोधान और एक नये पाखण्डका उपस्थान बन सकता है। सब मत-पन्थोंकी संस्कृतियोंमेंसे व्यापक अंशोंको लेकर एक नवीन संस्कृति निर्माण करनेका प्रयत्न कितना अवास्तव और अनर्थकारी होगा, यह पहले देखा जा चुका है!

सच पूछिये तो जिस संस्कृतिको आर्योंने जगत्के अक्षय धन-भंडारके समान बचा रक्खा है, उस आद्य मानव-संस्कृतिके साथ अन्य शाखा-संस्कृतियोंकी कोई तुलना ही नहीं हो सकती। कारण, यह आद्य संस्कृति ईश्वरोदित है; सर्वाङ्गसम्पूर्ण है, सनातन और चिरजीवी है—इतिहास इसकी सर्वोत्तमताका साक्षी है। इसे हिंदू या हिंदी संस्कृति कहना भी इसके महान् स्वरूपको लघु करना है। वस्तुतः इसे 'आद्य मानव-संस्कृति' ही कहना चाहिये। इसके विधायक शास्त्र हैं; शास्त्रोंके अर्थनियामक व्याकरणादि ग्रन्थ हैं। इसकी कलाओं और अपर विद्याओंके आधार ग्रन्थ हैं। इसके जीते-जागते प्रतीक भारतीय समाज और भारतके पूज्य साधु-महात्मा हैं। इस संस्कृतिके सर्वोत्कृष्ट होनेमें सन्देह ही क्या है। पर विदेशी और धर्मपरिपन्थी शिक्षाने हमारे कितने ही अग्रगण्य भाइयोंकी इसपरसे श्रद्धा हटा दी है। इसी विच्छिन्न श्रद्धाका यह परिणाम है कि हमारी धारासभाओंमें भी भारतीय संस्कृतिके विघातक विधान और कानूनोंके मसविदे पेश होते हैं और उनको स्वीकार किया जाता है। यह परिस्थिति देशके लिये महान् हानिकारक है। देशके हित और उन्नतिका वास्तविक उपाय तो यही है कि इस संस्कृतिके विशुद्ध आर्यरूपमें सबकी श्रद्धा जाग्रत् की जाय। यद्यपि इस धर्ममूलक संस्कृतिके नियम बहुत विस्तृत और सूक्ष्म हैं, तथापि इसके प्रधान सिद्धान्त और प्रेरणातत्त्व निश्चितकर उन्हींके आधारपर इसे अखिल मानव-जातिकी संस्कृतिका वह पद (जो कि वास्तवमें इसका पद है) प्रदान करनेका प्रयत्न किया जा सकता है। और यह प्रयत्न जितने अंशोंमें सफल होगा, उतने ही अंशोंमें वह संसारको सुख, शान्ति और समृद्धि प्राप्त करानेमें तथा परम कल्याणकी सिद्धिमें सहायक होगा। भारतवर्षसे अखिल जगत्की मानव-जाति जो आशा रखती आयी है, वह इस प्रकार आद्य मानव-संस्कृतिके पुनरुत्थानसे ही पूर्ण होगी।

कुछ लोग धर्मको 'जनताके लिये अफीम' कहकर उसकी निन्दा करते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि धर्मकी केन्द्रशक्तिको छोड़नेके बाद ही—फ्रान्सकी महाक्रान्तिके दो-ढाई सौ वर्षके भीतर ही—ऐसा नास्तिकवाद फैला है कि कुछ कहनेकी बात नहीं और इसका परिणाम यह हुआ है कि संसार, जो एक क्षार-सिन्धुके समान तो था ही, एक महान् नरकागार बन गया है; जिसकी अव्यवस्थाका कोई जोड़

इलोरामें चट्टान काटकर बनाया हुआ कैलास-मन्दिर

अङ्कुर-वट, कम्बुज

[पृ० ६७३
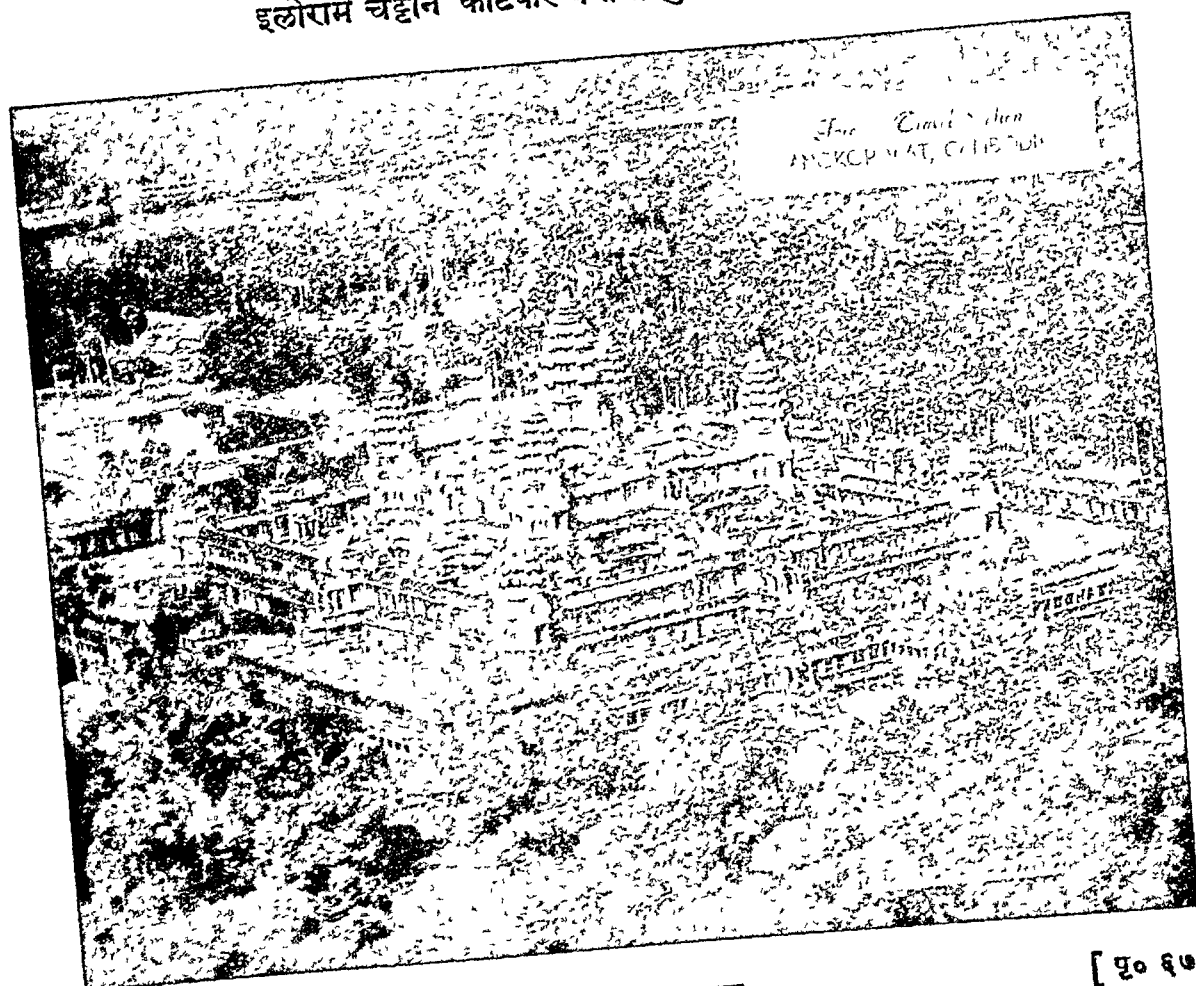
हौसलेश्वर-मन्दिर, हलेविद
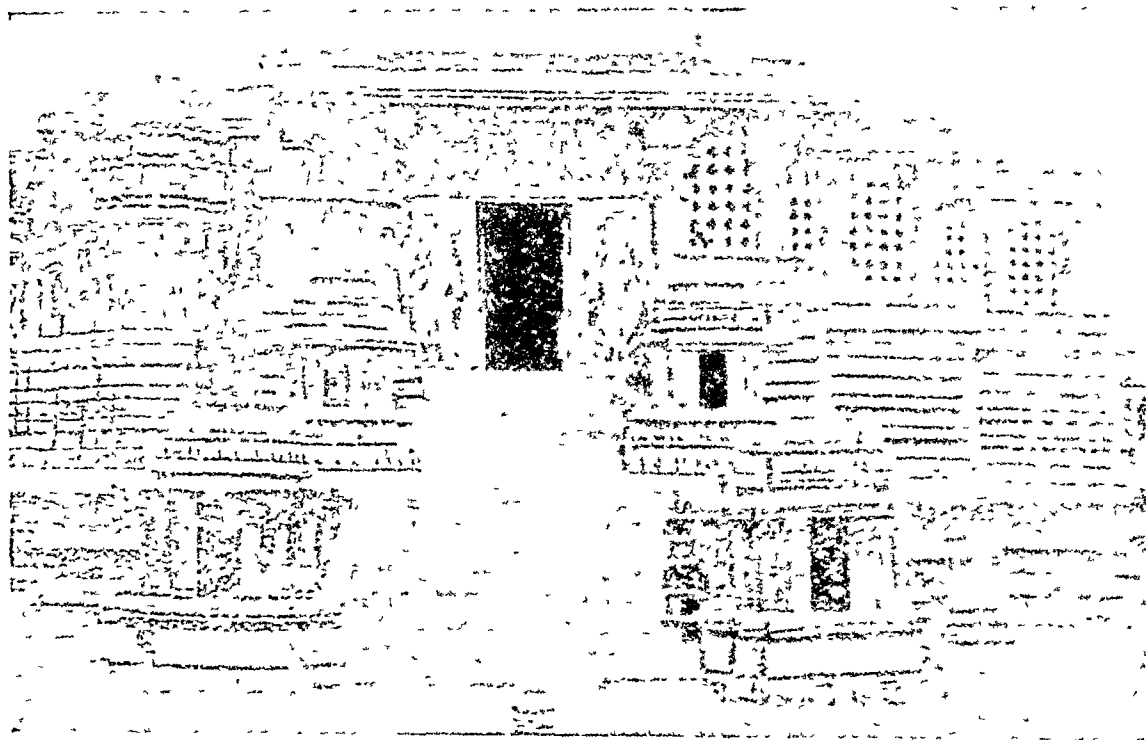
केदारेश्वर-मन्दिर, दक्षिण भाग, हलेविद
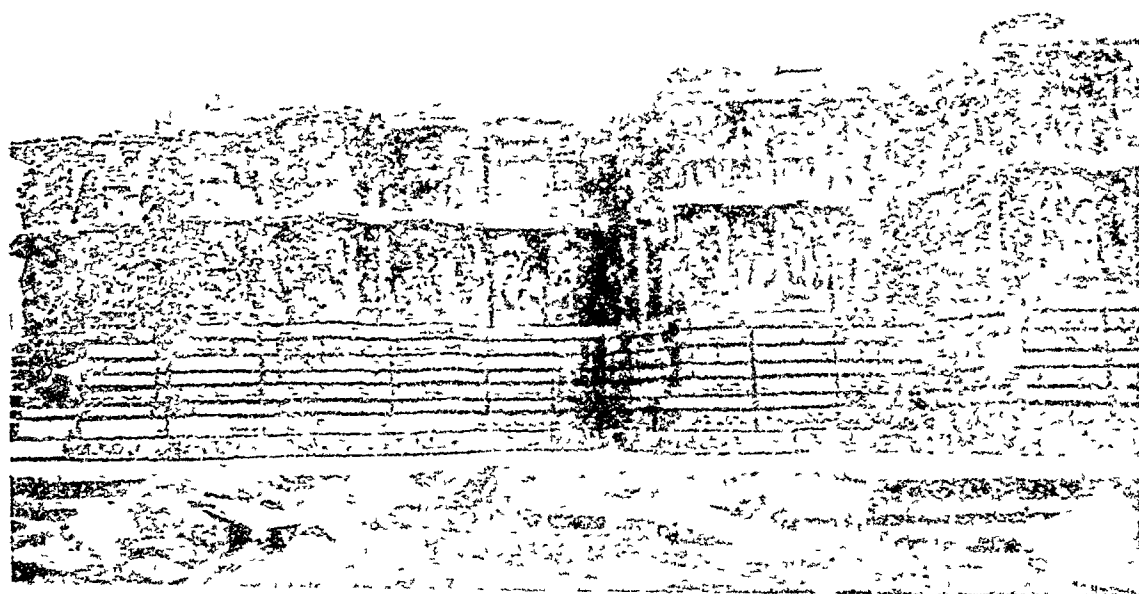
इतिहासमें नहीं मिलता। इस दुःस्थितिसे संसारका उद्धार अपनी संस्कृतिकी आमूल साधनाके द्वारा ही हो सकता है।

मूल-सिद्धान्त

अब विविध कार्य-क्षेत्रोंमें अपनी इस संस्कृतिकी कैसी व्यवस्था है, उसे तथा उसके मूल-तत्त्वोंको हमलोग देखें। इस प्रकार इस संस्कृतिकी मूल सिद्धान्त व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, सदाचार-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, अर्थनीति-व्यवस्था तथा साहित्यकला-व्यवस्थाके प्रेरक सूत्र हमें मिलेंगे। मौलिक तत्त्व-विवेकका प्रेरक सूत्र हमें भगवती श्रुतिके महावाक्यमें तथा अन्य भगवद्वचनोंमें इस प्रकार मिलता है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
(श्रुतिः)

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।
(शिवः)

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्॥
(श्रीकृष्णः भागवते ११।७।७)

भगवान् शंकर भगवती पार्वतीसे कहते हैं कि 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है—कोई अपर वस्तु नहीं।' भगवान् श्रीकृष्ण भी उद्धवको ज्ञानदान करते हुए कहते हैं कि 'जो कुछ मनसे, वाणीसे, चक्षुसे तथा श्रवणादिसे ग्रहण किया जा सकता है, वह सब नश्वर है, उसे मयामय, मनोमय जानो।' भगवती श्रुति भी कहती कि 'यह सब कुछ ब्रह्म है, नाना पदार्थरूपसे यहाँ और कुछ भी नहीं है।' यह अद्वैत-वेदान्तका सिद्धान्त है। इससे समग्र संसारप्रपञ्चके इष्ट-फल, अफल और विफल प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं और स्वप्नके पदार्थोंको सत्य माननेवाली सारी फिलॉसफी जागनेके साथ ही झूठी हो जाती है, सब भ्रम समाप्त हो जाते हैं। कारण, इस जगत्का यही सार है। इस तत्त्वको जाननेवाले विद्वान् संसारमें कोई राग, द्वेष, अभिनिवेश और आग्रह नहीं रखते—संसारमें अवधूत-वृत्तिसे रहते हुए परम शान्ति भोग करते हैं। यह ज्ञान ऐसा नहीं है, जो सबको प्राप्त हो सके। परंतु यदि विद्वान् समाज-नेताओंको इसकी यथार्थ उपलब्धि हो जाय तो उससे अखिल समाजको एक दिव्य प्रकाश प्राप्त होता है और उससे जनताके काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकार और सुख-दुःख तथा राग-द्वेषादि द्वन्द्व भी बहुत शिथिल हो जाते हैं। भारतमें पाश्चात्त्य विद्या और सभ्यताका विशेष प्रभाव पड़नेसे पहले भारतीय समाजकी ऐसी ही स्थिति थी और कहीं कुछ अंशोंमें आज भी है। यह बात समझने ही योग्य है कि अहंता, ममता और भेद-बुद्धिकी जितनी वृद्धि होगी, उतनी ही आधि-व्याधि और उपाधियाँ बढ़ेंगी। पर जब यह निश्चय हो जाता है कि 'यह सारा दृश्यमान जगत् मुझसे भिन्न नहीं है, मैं एक ही इन सब रूपोंमें स्थित हूँ,' तब इसके लिये शोक और मोह क्या? यह एक मोटी बात है, एक महान् तत्त्वचिन्तन इसके पीछे है। पर इसका लव-मात्र या आभासमात्र भी यदि समाजमें व्यापक हो जाय तो अभी जो वैर-वैमनस्य, राग-द्वेष, दुष्कृति-दुष्टता और निर्दयता आदि घोर दुर्भाव बढ़ते जा रहे हैं, उनका बहुत कुछ शमन हो जाय। जगत् त्रिगुणात्मक है, अतः थोड़ी-बहुत खटपट तो कुटुम्बसे लेकर राष्ट्रतक सदा चलती ही रहेगी। पर आधुनिक मिथ्यावादसे मानव-जाति इस समय जिस भयानक दुःस्थितिमें जा गिरी है, उससे तो इसका इस उपायसे उद्धार हो सकता है। इस तत्त्वचिन्तनका महान् सत्य कुतर्कोंसे हाथ लगनेवाला नहीं है। सामान्य रीतिसे इसका समझना भी दुर्घट है। गुरु और शास्त्रसे ही इसे पाना सुकर होता है और तब यह सब तर्कोंके ऊपर अजेय होकर बैठता है। इस एक वाक्यकी असाधारण कल्याणकारिणी शक्तिसे वेद-शास्त्र जगद्वन्द्य होते और आर्य-संस्कृति जगदुद्धारक हो जाती है। जगत्के नाना परितापोंका यह अमोघ शमनोपायरूप महावाक्य वैदिक संस्कृतिवालोंका ही नहीं, सब संस्कृतियोंके विद्वानोंका महा-वाक्य बन सकता है। इसका रहस्य समझानेवाले अनेकानेक ग्रन्थोंका भंडार भारतकी सभी भाषाओंमें भरा हुआ है।

समाज-व्यवस्था

अब आर्य-संस्कृतिकी समाज-व्यवस्थामें कौन-सा प्रधान तत्त्व, कौन-सी प्रेरक शक्ति है—यह देखना चाहिये। समाज-रथके मुख्यतः दो पहिये हैं—नर और नारी। नर भोक्ता और नारी भोग्य है। नर रक्षक और पराक्रमशील है, नारी रक्षित और पातिव्रत्यशील है। दोनों पहिये एक ही दिशामें चलें, इसके लिये एकका दूसरेके अधीन रहना आवश्यक है। पुरुष सदाचारका सेवन करे और स्त्री सतीत्वका आराधन। स्त्री और पुरुष परस्पर स्पर्धा करनेवाले नहीं; परस्परके पूरक और सहायक हैं। दोनों समान भी नहीं हैं; कारण, दोनोंके लक्षण समान नहीं हैं। स्त्री और पुरुष दोनोंमेंसे कोई स्वतन्त्र नहीं है। कारण, काल-कर्म-गुण आदिके अधीन रहनेवाला मनुष्य स्वतन्त्र कैसे कहला सकता है। पर इसके जीवन-

प्रवाहको शास्त्रानुकूल—धर्म अथवा परम आप्तोदित सदाचारके अनुकूल—चलानेका प्रयत्न कर्तव्य है। इस सारी विवेचनचर्या का मूल-सूत्र भी तत्त्वदर्शनके सिद्धान्तमेंसे ही फलित होता है। मिथ्या जगत्‌में अल्पातिअल्प प्रवृत्ति ही भली है—

यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः॥
(श्रीमद्भा० ११।२१।१८)

'जिस-जिससे मनुष्य निवृत्त होता है, उस-उससे वह मुक्त हो जाता है। शोक, मोह और भयको मिटानेवाला यही मनुष्योंका कल्याणरूप धर्म है।' इसीलिये कामना, इच्छा, एषणा जितनी कम हो; इनका नियमन जितना अधिक हो, उतना ही अच्छा। यह संकोच और नियमन योग्यतापुरस्सर होना चाहिये, किसी तरह कूद-फाँद करने-जैसा न हो। इसकी सम्पूर्ण व्यवस्थाके लिये अनेकविध विशेष धर्म हैं। हमलोग जिन्हें सामान्य धर्म कहते हैं, अर्थात् सत्य, अहिंसा, तप, पवित्रता—ये सब भी किसी-किसी अंशमें और संयोगवश विशेष धर्म माने गये हैं और अधिकार-भेदसे उनके पालनमें न्यूनाधिक्यका विधान किया गया है। इनके साथ वर्ण-व्यवस्था लगी हुई है। वर्ण जन्मसे है या गुण-कर्मसे, इस विषयका अधिक विस्तार न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वर्णकी यथार्थ सिद्धि इन तीनोंसे है, केवल जन्मसे नहीं, केवल गुणसे नहीं, केवल कर्मसे भी नहीं। ये वर्ण विराट्‌रूप समाजके मस्तक, हस्त, ऊरु और पादस्थानीय है और इसलिये इनके स्वभाव, स्थान और कर्म भी इसी विवेकके अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। सभी वर्ण अपने-अपने कर्माचरणके द्वारा परम सिद्धि लाभ करते हैं। वर्णव्यवस्थासे जिस प्रकार समाज व्यवस्थित किया गया है, उसी प्रकार आश्रम-व्यवस्थाके द्वारा यथाधिकार व्यक्ति-जीवनको उच्चतर बनाते चलनेकी योजना की गयी है। युगके प्रभावसे वर्ण और आश्रम दोनों ही व्यवस्थाओंमें बहुत-सी विशृङ्खलता आ गयी है। तथापि अन्य समाजोंकी तुलनामें हमारा यह आर्य जनसमाज आज भी बहुत व्यवस्थित, सुग्रथित और अधिकांशतः सदाचारी और संयमी बना रह सका है। यूरोपादि देशोंकी स्थिति देखनेसे यह स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है। समाजके भिन्न-भिन्न वर्ण और व्यक्ति अपने-अपने सहज कर्म और अधिकारमें निष्ठावान् हों, इसीको गुण कहते हैं और इसके विपर्ययको दोष। सब मनुष्य मनुष्य ही हैं, अतः समान हैं; उनमें कोई वर्णभेद या वर्गभेद न होना चाहिये—यह समझ उलटी है। तिलका तेल, रेंडीका तेल, बेलेका तेल, केरासीन तेल—सभी तेल हैं, अतः समान हैं—यह कहकर सब तेल मिला दिये जायँ तो क्या परिणाम होगा? ऐसा तेल किस काम आयेगा? वह एकमें मिला हुआ तेल न खानेमें काम आयेगा न जुलाबमें, न सिरपर लगानेमें और न लालटेन जलानेमें ही। तेलके नाते सब तेल समान होनेपर भी उनके काम अलग-अलग हैं। अभिप्राय यह कि योग्यताके अनुसार वर्ग-रचना—यह सृष्टि-विवेकका तथा संसारकी व्यवस्थाका एक प्रसिद्ध, प्रचलित और अनुभव-सिद्ध नियम है। गाय, घोड़े, कुत्ते आदि पशुओंमें, आम, अमरूद, केले आदि फलोंमें और गेहूँ, चावल आदि धान्योंमें—सभीमें अनेक जातियाँ होती हैं। एक रुईमें अनेकों जातियाँ हैं। इन भेदोंको समझने और योग्यताके अनुसार उनकी योजना करनेमें मानव-बुद्धिका विवेक देख पड़ता है और उन सबको एक साथ मिला देनेमें केवल अविवेकका ही प्रदर्शन होता है।

इस विषयमें एक खास बात ध्यानमें रखनेयोग्य यह है कि प्रत्येक देशकी जनतामें किसी-न-किसी प्रकारका वर्गीकरण तो होता ही है। कहीं धनके आधारपर होता है, कहीं राज-शक्तिके आधारपर, कहीं काम-धंधोंके आधारपर, कहीं जातिके आधारपर, कहीं किसी आधारपर और कहीं किसी अन्य आधारपर। यही वर्गीकरण यदि सदाचारके आदर्शके आधार-पर धर्ममूलक जन्मसे ही हुआ करे तो यह व्यवस्था सर्वोत्तम होती है। क्योंकि जन्मको ही कर्म या धर्मका मूल मान लेनेसे ईर्ष्या-असन्तोषके लिये कोई अवकाश नहीं रहता। अपने-अपने समाजमें सभी अग्रसर होकर अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाको पूर्ण कर सकते हैं और सम्पूर्ण जनताको गुणोंके विशेष आनुवंशिक विकासके लिये असाधारण लाभ होते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण आध्यात्मिक धार्मिकताका, क्षत्रिय दयायुक्त शूरताका, वैश्य परोपकारयुक्त द्रव्यार्जन-कुशलताका और शूद्र सचाईके साथ सेवाशक्तिका महान् विकास कर सकते हैं। दुनियाके अन्य किसी प्रकारके वर्गीकरणसे यह कार्य किसीने करके नहीं दिखाया है।

सदाचार-व्यवस्था

अब हमलोग आर्य-संस्कृतिकी सदाचार-व्यवस्था देखें। सदाचारके सम्बन्धमें सभी धार्मिक संस्कृतियोंका यह सरल नियम है कि उनके धर्मशास्त्रने जिसे सदाचार कहा हो, वह सदाचार; जिसे दुराचार कहा हो, वह दुराचार; और जिसके विषयमें कोई विशेष आदेश न हो, उसमें अपनी अनुकूलता

और अवसरके अनुरूप विकल्प माना जाय। यही नियम आर्य-संस्कृतिकी सदाचार-व्यवस्थामें भी है धर्मविहीन नींवपर स्थित संस्कृतियोंमें कहीं तो लाभकी दृष्टिसे, कहीं स्वच्छन्दताके विचारसे, कहीं समाजके मतके आधारपर और कहीं लोकहित तथा कहीं राष्ट्रहितको प्रधानता देकर सदाचारका निर्णय किया जाता है। फिर, ऐतिहासिक पद्धतिको माननेवाले कुछ विद्वान् भिन्न-भिन्न देशों और समयोंमें सदाचारके भिन्न-भिन्न मान देखकर सदाचारको एक अनिश्चित और काल्पनिक वस्तु मानते हैं। इन सारी पद्धतियोंमें सदाचार-सम्बन्धिनी नीति और मूल्याङ्कनकी कोई निश्चितता नहीं रहती और ऐसी अनिश्चित सदाचार-नीतिका प्रभाव भी कम ही पड़ता है। तथा इन सबके साथ स्वतन्त्रताकी लहर भी चलती है। अतएव इन सब पद्धतियोंमें स्वच्छन्दताका ही प्राधान्य रह जाता है। और बाहरी स्वच्छता, नियमितता, उत्साह, साहस, अध्यवसाय, आग्रह, दलबंदी आदि उभयपदी गुणोंपर ही सारा भार रक्खा जाता है। यूरोपमें १७८९ ई० में फ्रांसकी महाक्रान्ति हुई। तबसे इस धर्महीन अर्थात् तर्कजनित सदाचारकी कल्पनाका युगारम्भ माना जा सकता है। तबसे इन डेढ़ सौ वर्षोंमें इस कल्पनासे मानव-जातिकी क्या दशा हो गयी, इसका इतिहास रक्ताक्षरोंमें लिखा हुआ है। हालमें नैतिक पुनर्घटन (मॉरल रिआर्मामेंट) की बात चली है। इसके लिये सांस्कृतिक उत्थानकी बात सोची जा रही है और उसके लिये सर्वराष्ट्रिय समितियाँ स्थापित की गयी है। पर मूलके बिना जैसे वृक्ष नहीं उगता, वैसे ही धर्मके आधार बिना काल्पनिक सदाचार-नीतिका उगना—जीवनपर यथार्थ असर होना असम्भव है। सच्ची बात यह है कि धर्म सांसारिक जीवनसे अलग रखनेकी चीज नहीं है। धर्म ही संसार-जीवनके ईश्वरोदित सदाचारका मार्ग है। यही ईश्वरोदित और मनः-कल्पितका भेद है। ईश्वरोदित कोई चीज ही नहीं है, यह नास्तिक कहता रहे; पर उससे वास्तविक स्थिति तो बदल नहीं सकती। मानव मन्तव्योंका मूल्याङ्कन काल और प्रकृति दोनों करते ही रहते हैं। सन्मार्गका पुरस्कार सुख और शान्ति और असन्मार्गका दण्ड, दुःख और विनाश—यह विधान संसारमें चल ही रहा है। पुराणोंमें सदाचाररूपी वृक्षका मूल धर्मको बतलाया गया है। धनको उसकी शाखा, कामना-सिद्धिको पुण्य और मोक्षको उसका फल कहा गया है। समस्त बाह्य जीवनचर्याकी सुयोग्यता इस सदाचारमें आ जाती है। आर्य-संस्कृतिमें सदाचारका इतना महत्त्व है कि उसके बिना विद्वान् मनुष्यको भी वेदोदित ज्ञान छोड़कर चला जाता है। ईश्वरकी ओर ले जानेवाली प्रवृत्ति ही सदाचार है और जो प्रवृत्ति उसके विमुख है, वही दुराचार है। कोल्हूके बैलकी भाँति ईश्वरसे दूर रहते हुए संसारचक्रमें फिरते रहनेकी प्रवृत्ति-को व्यवहाराचार कहा जा सकता है। सदाचारकी सम्पत्तिको दैवी और दुराचारकी सम्पत्तिको आसुरी सम्पत्ति कहा गया है। दैवीसे मोक्ष और आसुरीसे बन्धन होता है। आसुरी सम्पत्तिसे आरम्भमें चाहे सुख या स्वतन्त्रता दिखायी दे, परंतु उसका परिणाम तो विषरूप ही होता है। आजकल स्वतन्त्रताका इतना गुणगान होता है, उसके लिये महान् प्रयत्न होते हैं; पर 'मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की' के अनुसार समाजकी परतन्त्रताकी बेड़ियाँ तो बढ़ती ही जा रही है— काम, क्रोध, लोभ, भय, शोक, दुःख, वैर और अशान्तिकी ही वृद्धि हो रही है। इससे यह समझना चाहिये कि धर्मरहित सदाचार और स्वच्छन्दतामूलक स्वतन्त्रतासे मानव-जातिका कोई भी हित नहीं हो सकता। स्वेच्छाचार दुःख और अशान्तिका कारण है, धर्ममूलक सदाचार और संयम ही सुख-शान्तिका महान् साधन है।

राज्य व्यवस्था

अब राज्यप्रकरणमें आर्य-संस्कृतिके सर्वमान्य, सर्व-सामान्य और प्रचलित आदर्शोंको देखें। इस विषयके मौलिक तत्त्व-सम्बन्धी दो-तीन शास्त्र-वचन नीचे दिये जाते हैं—

> **अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।**
> **रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥**
>
> (मनु० ७।३)
>
> **राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्।**
> **शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह॥**
>
> (श्रीमद्भा० १।१७।१६)
>
> **राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।**
> **राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥**
>
> (महाभारत)

इन श्लोकोंमें राज्यकी उत्पत्ति, राजाका कर्तव्य तथा राजाका नैतिक प्रभाव—इन तीनों ही बातोंपर प्रकाश डाला गया है। सृष्टिके आरम्भकालमें जब सभी मनुष्य अपने-अपने कर्तव्योंका पालन करते थे, तब राजाकी आवश्यकता नहीं थी। पर पीछे जब चारों ओरसे प्रजाका भय बढ़ने लगा, तब प्रजाकी रक्षाके लिये प्रभुने राजाको उत्पन्न किया। राजाका परम धर्म यह है कि स्वधर्मका

मुकाबले सभी बातोंमें अधिक टिकनेवाले होते हैं। हमारे यहाँ कितनी जातियाँ ऐसी हैं, जो विशिष्ट वृत्तियों और धंधोंका ही अनुसरण करती हैं; जिसमें कोई नयी औद्योगिक संस्थाएँ स्थापित करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। उन धंधोंका चुनाव और नियमन उसीमें हो जाता है और किसी धंधेमें संख्याकी कमी या असाधारण वृद्धि सामान्यतः नहीं हो पाती। धन उनका प्रधान ध्येय न होनेसे उसे संग्रह करनेकी वृत्ति संयत रहती है; उसके लिये पापकर्मोंमें उनकी प्रवृत्ति भी नहीं होती। इससे उनपर मजूरीका अधिक भार नहीं आता; न बहुत धन ही उनके पास एकत्र होता है। इससे राज्यको भी लोगोंके पाससे धन खींचनेके नये-नये उपाय नहीं करने पड़ते। राष्ट्रके खर्चमें भी इस तरह सादगी आ जाती है और कर लगानेकी मर्यादाके द्वारा राज्य नियमित और नियन्त्रित हो जाता है। खेतीसे एक षष्ठांश और व्यापारसे एक दशमांशमात्र लेना राज्यके लिये विधेय होता है। सब लोग अपनी-अपनी संस्कृतिके सदाचारमें रहते हैं और राज्यका हस्तक्षेप कम-से-कम हो जाता है। जो राज्य कम-से-कम राज करता है, वही उत्तम राज्य होता है। यूरोपादि देशोंमें और उनकी देखा-देखी अपने देशमें भी आजकल प्रगतिके नामपर बड़ी-बड़ी खर्चीली योजनाएँ उपस्थित की जा रही हैं। इस तरह राज्य मनुष्यको सर्वथा पराधीन बनाता चला जा रहा है। जनताकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें आज राज्य सिरपर चढ बैठा है। स्वतन्त्रताको खोजता हुआ मनुष्य आज धर्मके तन्त्रसे बिछुड़कर अधिक-से-अधिक दुःखप्रद परतन्त्रताकी बेड़ियोंमें ही जकड़ा जा रहा है। कोई भी राजा स्वप्नमें भी जैसे कर लगाने और प्रजापर 'जो हुक्मी' चलानेका विचार नहीं कर सकता, वैसे ही कर और 'जो हुक्मी' अब प्रजाके सिरपर लद रहे हैं। हमारे आजके इस लोकतन्त्र-राज्यका खर्च भी किस तरह उछल-उछलकर बेतरह बढ़ा जा रहा है, इसके आँकड़े अर्थशास्त्री श्रीमनु सूबेदारने सप्रमाण प्रकाशित किये हैं और यह कहा है कि वर्तमान भारतीय अर्थतन्त्र मूलमें ही भूल-भरा है। देखिये फ्री प्रेस जर्नल २५-८-४९—

भारत-सरकारका खर्च	सन् १९३८-३९	सन् १९४८-४९
शासन-व्यवस्थाका खर्च	१६५ (करोड़)	६१२ (करोड़)
सैनिक-खर्च	४६ ,,	१५५ ,,
मुल्की खर्च	३९ ,,	१८५ ,,
नौ प्रान्तोंका खर्च	८१ ,,	२७२ ,,

ये आँकड़े अच्छी तरहसे आँखें खोलनेवाले हैं। इसका परिणाम यह है कि अंग्रेजोंके जानेके समय सरकारके पास जो नगद पूँजी थी, उसमेंसे आज अधिकांश समाप्त हो गयी है और भीषण अर्थसंकट उपस्थित है। अपनी संस्कृतिके आदर्शोंको छोड़ देनेसे ही भारतपर अनेक महाविपत्तियाँ उपस्थित हुई हैं। मिल-मालिकों और मजूरोंमें विग्रह उपस्थित है। धर्महीन लोकतन्त्रमें ऐसा होना ही ठहरा। इससे यूरोपके समाजवाद और साम्यवादका महाभय भी उपस्थित हो गया है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि आर्य-संस्कृतिमें धनकी निन्दा नहीं है। लक्ष्मी जगदम्बाका एक स्वरूप है और उसकी पूजा होती है। गृह-लक्ष्मी और राज्य-लक्ष्मी उसीकी कलाएँ हैं। लक्ष्मीजी सामान्यतः दुराचारीके यहाँ नहीं जातीं और कभी जाती भी हैं तो अधिक समयतक नहीं ठहरतीं। उनका स्थान भगवान् श्रीविष्णुके चरणोंमें है और उनका विनियोग भी इसी महास्थानमें होता है। इसी रीतिके अनुसार भारतसे खींची हुई लक्ष्मी अंग्रेजोंके पाससे निकलकर महासागरमें निवास करने चली गयी है।

साहित्य-कला-विज्ञान

अब साहित्य, कला और विज्ञानके सम्बन्धमें आर्य-संस्कृतिका दृष्टिकोण देखें। इन तीनों विषयोंमें आर्य-संस्कृति ईश्वर और धर्म-भावनाको परम उपास्य मानकर उन्नति-क्रम निर्धारित करती है। श्रीमद्भागवतने साहित्य-कलाके आदर्शका इस प्रकार वर्णन किया है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्॥
(१।५।२२)

'मनुष्यके तप, पाण्डित्य, यज्ञ-यागादि, दान एवं बुद्धि-साहित्यका अविनाशी प्रयोजन कवियोंने उत्तमश्लोक भगवान्‌के गुणानुवर्णनको ही बताया है। भगवद्गुणानुकीर्तनरहित वाङ्मय जनतामें मलिनताका प्रसार करता है। आर्य-संस्कृतिके सभी महान् ग्रन्थ—वेद, रामायण, महाभारत, भागवत आदिमें भगवान्‌का गुणानुवाद ही व्यापक है और उसके द्वारा अवान्तर रूपसे आर्य-संस्कृतिका विस्तार होता है। यह बात विख्यात है कि ऐसे महाकाव्य अन्य किसी भाषामें नहीं हैं। कलाका विनियोग भी आर्य-संस्कृतिमें सर्वत्र ईश्वर और धर्मके कार्यमें हुआ दिखायी देगा। मन्दिरोंमें, अजन्ताकी गुफाओंमें, मूर्तियोंमें, रविवर्माके चित्रोंमें, स्त्रियोंके वस्त्राभूषणोंमें, साधुओंके उपवस्त्रोंमें, संगीतमें, रंगवल्लीके स्वस्तिकोंमें—जहाँ देखो, वहीं कलाका विनियोग

समानरूपसे प्रभुकी सेवामें ही हुआ है। प्रसिद्ध गायक तानसेनके गुरुके विषयमें यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि वे ईश्वरके भजनके सिवा और कुछ गाते ही न थे। आज भी हमारी बंगीया भगिनी यूथिका राय अपने मधुर कण्ठ और उत्तम संगीतका विनियोग भजनोंमें ही करती हैं। प्रसिद्ध गायनाचार्य श्रीविष्णुदिगम्बरजीके जीवनका अन्तिम काल केवल रामायण तथा संत-महात्माओंके पदगान और नाम-संकीर्तनमें ही बीता। उनकी सारी संगीत-शिक्षा संतोंके पद तथा 'रघुपति राघव राजाराम' के इस नामधुनद्वारा ही होती थी। श्रीगाँधीजीपर उन्हींका प्रभाव पड़ा था। गुजरातकी स्त्रियाँ भी नवरात्रमें जगदम्बाका आराधन गरबोंके द्वारा करके अपनी कलाका विस्तार करती हैं। मद्रास प्रान्तके संगीतमें भी भक्तिका ही स्रोत बहता है। कहावत है, 'कृष्ण बिना गाना कैसा।'

तुलसीदासजी कहते हैं—

भनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥

विज्ञान और विद्या-शिक्षाके क्षेत्रमें भी यही भावना और यही आदर्श प्रतिबिम्बित है। प्राचीन शिक्षापद्धतिमें भी धर्मग्रन्थ ही मुख्य थे और विज्ञान, भाषाशास्त्र, गणित, आयुर्वेद, धनुर्वेद, स्थापत्य आदि सब शास्त्र धर्मग्रन्थोंके आधारपर ही प्रतिष्ठित थे। इसीसे इन सब विद्या-कलाओंमें एकतानता थी। यथार्थमें परा और अपरा दोनों ही विद्याएँ जगदात्माका अवलम्बन करती थीं। और पदार्थविद्याओंका उद्गमस्थान भी अप्रतिहत-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंकी योगशक्तिमें था। इसीसे इन विद्याओंमें यथार्थता थी और इनका सर्वत्र प्रसार था। हालमें प्रख्यात वैज्ञानिक डाक्टर जगदीशचन्द्र वसुने यह आविष्कार किया है कि जड माने जानेवाले पदार्थोंमें भी चेतना है। यह अपनी संस्कृतिके अनुरूप ही है। आर्य-संस्कृतिकी मुख्य भाषा संस्कृत और उसका संस्कृत साहित्य, ये दोनों मानव-जातिकी ज्ञाननिधि और इतिहासके अमूल्य मूलधन हैं। संस्कृत भाषाकी संतति हिंदी, गुजराती, मराठी, बङ्गाली आदि भाषाएँ आर्य-संस्कृतिकी परम्परा और आदर्शको जगाते रहनेमें सदा ही यत्नवान् हैं। भक्तमहाकवि गोस्वामी तुलसीदासजीका रामचरितमानस आर्य-संस्कृतिका अद्वितीय कीर्तिस्तम्भ है। देश, काल, परिस्थिति चाहे जितने बदला करें; पर जबतक संस्कृत भाषा और उसका महासाहित्य विद्यमान हैं, तबतक मानव-जातिके लिये सच्चे ज्ञान, विज्ञान और कल्याणका द्वार खुला हुआ है और इतिहासका यह सूर्य सत्यको सदा प्रकाशित करता रहेगा।

इस प्रकार हमलोगोंने अपनी सनातन भारतीय संस्कृतिके विविध शाखा-विस्तारोंका किञ्चित्-किञ्चित् अवलोकन किया। सहस्रों ग्रन्थोंसे भी उसका सम्पूर्ण दर्शन, समीक्षा और मीमांसा नहीं हो सकती; कारण, परमात्मामें ही केन्द्रित होनेसे यह जितनी विशाल और अगाध है, उतनी ही अविनाशी है। जो कोई यथाधिकार इसका अनुसरण करता है, वह जगत्‌के अन्धकार और परितापसे तर जाता और अमृतत्व लाभ करता है। इस संस्कृतिकी सत्-शक्ति, चित्-शक्ति और आनन्द-शक्ति ऐसी है कि जो कोई इसका आश्रय लेता है, वह भी उसीमें समा जाता है। इस संस्कृतिकी भावना-सृष्टि इस विश्वको और मानव-समाजको विराट् पुरुष भगवान्‌के अङ्गरूपमें प्रकाशित करती है। प्रवृत्तिके झंझावातमेंसे निवृत्तिकी शान्तिमें ले जानेवाली इस संस्कृतिने मानवजीवनके लिये कर्तव्य, उपास्य और ज्ञातव्यकी मनोहर एवं कल्याणकर व्यवस्था की है। इतिहास-कथाओं और देव-कथाओंमें, सत्यपर बिना कोई परदा डाले, प्रभुके मायाविलासरूप विश्वका वर्णन है। पुरुषमें सदाचार और स्त्रीमें सतीत्वके आदर्शकी महिमा गायी गयी है। काल, कर्म और गुणके वशीभूत एवं स्वभाव, शक्ति तथा स्थूल देहसे सर्वथा असमान रहनेवाले मनुष्योंकी स्वच्छन्दता और समानता केवल मिथ्याभास है—यह चेतावनी इस संस्कृतिसे मिलती रहती है। कृतज्ञताकी भावना इस संस्कृतिमें असीम है। ऋषि-ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋण इत्यादिका मर्म हृदयङ्गत करके इसमें जगत्‌की संस्कृतिके संरक्षकोंके लिये पञ्चमहायज्ञोंका विधान किया गया है। शासनविधानमें भी इसके आदर्शोंने जनताको चिरजीवित्व, सुख, शान्ति और समृद्धि प्रदान की है। ब्राह्मण, वेद और यज्ञोंकी पूजाके द्वारा दैवी सम्पत्तिके आधार प्रतिष्ठित किये गये हैं। जिस गौके दूधसे हमलोग पले हैं, उसे हमारी संस्कृतिने मातृरूपमें प्रतिष्ठित और पूजित किया है। समस्त विश्वको उसके एकमात्र महाकारणमें समाविष्टकर तात्त्विक एकताका, अद्वैतका अमूल्य दर्शन कराया है। इस संस्कृतिके मूल, धड़, शाखा, पत्र, पुष्प, फल—सबमें परमात्मा ही अनुस्यूत रूपसे विलास कर रहे हैं और इसीसे इस संस्कृतिके अनुयायी कृतकृत्य होते हैं। भगवती श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
(ईशावास्य० १)

सांस्कृतिक वैशिष्ट्य

(रचयिता—श्रीप्रताप रस्तोगी)

जागृतिके स्वर्णिम प्रहरोंमें हो रहा नवल किरणोन्मेष ! जग रहा शुभ्र तन्द्रित स्वदेश !!

इस प्रथम रश्मिके साथ-साथ ले रही दीनता अँगड़ाई
आशा-हिमजलसे स्नात आज उल्लसित राष्ट्रकी अमराई
खगकुल-कलरवके सँग अजान, गुञ्जित अभिनव जागरण-गान
जागो जीवनका ज्वार लिये, आ रहा इंद्र-धनुषी विहान

जगको देती थी ज्योतिदान जो बन अनिद्र आकाशदीप
जग शलभरूप बन मँडराया जिस ज्योतिरूपिणीके समीप
उस अभ्रविचुम्बी भारतीय संस्कृति-मंदिरका कलश भग्न
हा ! अपना भाग्य-विधान हुआ कितना अस्फुट, कैसा प्रतीप

नश्वर भौतिकतापर विजयी जिसका सदैव अध्यात्मवाद
जड जगतीकी शुचि तपोभूमि ! जो चिर अविनश्वर, अप्रमाद
भ्रुकुटीमें प्रलय-अमर्ष लिये, स्मितिमें संसृति-उत्कर्ष लिये—
जो पूरित-पुष्कल-स्वर्ण-राशि, जो ज्ञान-पुञ्ज, चिर निर्विवाद

हिमगिरि-सा अति उत्तुंग भाल, जिसकी गरिमाका स्तम्भ-रूप
जिसके कौशलके परिचायक साँची, मथुराके भग्नस्तूप
मणि-रत्नोंकी मंजूषा-सी जो शील-दयामयि ऊषा-सी
उसका यह क्षणिक स्खलन निश्चय ही उन्नतिका आरंभ-रूप

विष पीकर सुधा लुटाना ही जिस संस्कृतिका आधारमूल
सिंचन अपलक, सर्जन अनथक, जिसके जगपर उपकार स्थूल
जिसकी अजस्र सभ्यता-धार छाई अब भी मेखलाकार—
उसके विनाशके स्वप्न अहो, जड मस्तिष्कोंकी महाभूल

विस्मृतिका गहरा अंधकार, अवसादोंका आवर्त पीन
जीवनका दारुण दैन्यरूप, संस्कृति विनष्ट गत पुराचीन
विध्वंसोंका यह महाकार परिव्याप्त राष्ट्रके आर-पार
निष्क्रियता तज मेरे अनूप ! जागो बनकर संस्कृत-नवीन

जिसने संसृतिको प्राण दिये, प्राणोंमें स्पंदन भर गति दी
जिसने चिर अगत रहस्योंका विश्लेषण कर प्रज्ञा-मति दी
शंकर दे, तपी तथागत दे, निश्चित दर्शन-सिद्धांत दिये
यश-लोकोज्ज्वल इतिहास दिया, मंगलप्रद हिंदू-संस्कृति दी

युग-चट्टानोंसे ध्वस्तशेष, खंडित, अपमानित मलिनवेष ! जग रहा शुभ्र तन्द्रित स्वदेश !!

हमारी संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीराजीवलोचनजी अग्निहोत्री, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
(गीता २।२२)

'कोई आश्चर्यके साथ इसे देखनेका प्रयत्न करता है, कोई आश्चर्यपूर्वक इसके सम्बन्धमे वार्तालाप करता है, कोई इसके विषयकी बातें आश्चर्यचकित होकर सुनता है; किंतु यह है क्या, यह इतने प्रयत्नके पश्चात् भी कोई जान नहीं पाता।'

श्रीमद्भगवद्गीतामे उक्त बात आत्माके सम्बन्धमें कही गयी है। ठीक यही बात भारतीय संस्कृति अथवा भारतीयताके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। आत्माके सम्बन्धमे दर्शनशास्त्रों, स्मृतियों एवं पुराणों तथा काव्योंतकमें सर्वत्र चर्चा, विवाद, प्रवचन आदि हैं। प्रत्येक प्राचीन ग्रन्थमे भिन्न-भिन्न प्रकारसे आत्माको समझानेकी चेष्टा की गयी है। इसका यही अर्थ था कि आत्माकी समस्या हल नहीं हो पायी, उसका 'इदमित्थं' रूप स्पष्ट नहीं हो पाया और इसीलिये हर बार इसके समझनेका नवीन प्रयत्न हुआ। प्रारम्भसे लेकर सभी ग्रन्थोंको आत्माके सम्बन्धमें वर्णन करते-करते 'अवाङ्-मनसगोचरम्' कहकर उसका वर्णन समाप्त करना पड़ा। प्रत्येक गुरुने शिष्यको अनेक साधन बताकर तथा आत्माके सम्बन्धकी समस्त सम्भव कल्पना देकर अतृप्त असन्तुष्ट शिष्यको 'श्रद्धत्स्व वत्स' कहकर ही सन्तोष करना पड़ा। समारोपके समय कहना पड़ा कि 'मनमे प्रश्न लेकर आत्माको समझने मत आओ; क्योंकि वह अतर्क्य है। अतएव अनुभवसे ही उसका साक्षात्कार करो।' गुरुने जब स्वयं मौन धारण कर आत्माकी ज्योतिका साक्षात्कार किया, उससे एकरसता—तादात्म्य प्राप्त किया, तब उसे देखनेमात्रसे शिष्योंके संशय छिन्न हो गये, उन्हें आत्माको प्राप्त करनेके मार्ग मिल गये और अनुभूतिके द्वारा ही उन्होंने आत्मदर्शनके लिये साधना प्रारम्भ की।

भारतीय संस्कृतिका भी अनुभूतिके द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है, तर्कके द्वारा उसका चित्र नहीं खींचा जा सकता—दर्शन नहीं कराया जा सकता। शरीरके किस कणमें आत्माका निवास है, वह किस अवयवको किस प्रकार अनुप्राणित करता है, शरीरको किन साधनोंके द्वारा चैतन्य प्रदान करता है—सक्रियताकी प्रेरणा देता है—यह स्पष्ट करना जितना दुष्कर है, उतना ही दुष्कर यह बताना भी है कि भारतीय संस्कृति भारतीय जीवनके किस अङ्गमे अभिव्यक्त होती है, भारतके कितने निवासियोंके जीवनमे है—कितनेमें नहीं है, हमारे जीवनके कार्योंको वह किन साधनोंसे किस समय प्रेरणा देती है, हमारे अंदर वह किस प्रकार निरवशेष रूपसे पूर्णतः व्याप्त है इत्यादि।

आत्माके सम्बन्धमे समझानेके लिये अधिकतः दो उपायोंका अवलम्बन किया गया है। पहले अभावात्मक प्रकारसे—

'आत्मा पुत्र-स्त्री-धन नहीं है; क्योंकि अपने अस्तित्वका भान इनके नष्ट होनेपर भी बना रहता है। वह वाक्-नेत्र-श्रवण आदि कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रिय नहीं है; क्योंकि गूँगे-अन्धे-बहरेको भी चैतन्यका बोध रहता है। वह मन नहीं है; क्योंकि संकल्प-विकल्पकी वृत्ति शान्त रहनेपर भी चेतना तो रहती ही है। वह बुद्धि नहीं है; क्योंकि निश्चयात्मिका वृत्ति जब कार्य नहीं करती, तब भी शरीरको प्रेरणा और सभी वृत्तियोंको प्रकाश अविच्छिन्न गतिसे मिलता रहता है। वह अहङ्कार भी नहीं है; क्योंकि जो 'त्वम्' को अपनेसे अलग कोई वस्तु देखता ही नहीं, उसे 'अहम्' का भाव कहाँ? वह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाएँ भी नहीं है; क्योंकि ये तो अन्तःकरणकी वृत्तियोंकी अवस्थाएँ हैं, चिन्मात्र आत्माको इनसे क्या प्रयोजन?'

'तो वह है क्या?……शून्य?' यह प्रश्न उपस्थित होनेपर भावात्मक प्रकारसे उत्तर दिया जाता है।

आत्मा सर्वस्व है। उसे अलग करके नहीं दिखाया जा सकता। वह जीवमें 'अहम्' का भाव जाग्रत् करनेवाला, बुद्धिको निश्चय करनेकी क्षमता देनेवाला, मनको विचार करनेकी प्रेरणा देनेवाला, इन्द्रियोंको शब्द-स्पर्श आदिका अनुभव करने तथा कर्म करनेकी सामर्थ्य देनेवाला, अपने अस्तित्वसे शरीरादि समस्त विश्वका अस्तित्व बनाये रखनेवाला है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

'जिसकी तर्कना मन नहीं कर सकता, किंतु जिसके अस्तित्वके कारण मन तर्कना करता है—अर्थात् आत्मा शरीरादि

नहीं है, किंतु शरीरादिके रूपमें वह अभिव्यक्त अवश्य है। वह सबका कारण है, प्रेरक है, सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान् है, अन्धकारका नाशक ज्योतिःस्वरूप है।'

'तो भी वह क्या है?' इसका उत्तर अनुभव और श्रद्धासे मिलता है, तर्कोंसे नहीं; जीवनको शुद्धतर बनाकर शुद्धतमकी ओर ले जाना ही साक्षात्कारका उपाय है। साधनोंकी स्वतन्त्रता है। किसी भी विचार-प्रणालीमें यहाँ दो मत नहीं हैं। हाँ, प्रारम्भिक कालमें उपर्युक्त अभावात्मक और भावात्मक तर्क देना आवश्यक है।

ठीक उसी प्रकारसे प्रश्नकर्ता जब पूछता है कि 'भारतीय संस्कृति क्या है?' तो उसे भी पहले उपर्युक्त दो प्रकारोंसे समझानेका प्रयत्न हो सकता है।

भारतीय संस्कृति किसी भी अन्य संस्कृतिकी विरोधिनी नहीं है; क्योंकि अन्य संस्कृतियोंसे प्रसङ्गवश आया हुआ विरोध जब प्रारम्भ नहीं हुआ, तब भी भारतीय संस्कृतिका अपना स्थायी अस्तित्व था और विरोध समाप्त होनेपर भी उसका चिरन्तन चिरञ्जीवी रूप बना रहा। और न भारतीय संस्कृति किन्हीं विशेष कर्म, भाषा, उपासना, वेश-भूषा, संस्कार, उपासना, जीवन-प्रणालीकी सीमामें ही आबद्ध है। ये सब तो विभिन्न रुचि, स्थिति और स्वभावके अनुसार व्यवहारमें लाये हुए साधन हैं।

जिनके द्वारा भारतीय संस्कृति भिन्न-भिन्न कालमें प्रकट हुई है, साधनके रूपमें अलग करके उन्हें नहीं देखा जा सकता; क्योंकि भारतीय समाजने जो-जो साधन समय-समयपर अपनाये हैं, उन सभीमें वह प्रस्फुटित हुई है। वह भारतीयोंके जीवनमें समायी हुई है। वेश, भाषा, कर्म आदिमें युगके प्रभावसे परिवर्तन आ सकता है; किंतु युगके अनुरूप साधन लेकर उसी साधनके द्वारा भारतीय संस्कृति अभिव्यक्त होती रही है, होती रहेगी। हाथकी अँगुली प्राण नहीं है; किंतु अँगुलीमें भी प्राण है। पाँचसे छठी अँगुली भी निकल सकती है या जहरीला फोड़ा हो जानेपर अस्पतालमें एक-दो अँगुलियाँ काटी भी जा सकती हैं; किंतु जितनी अँगुलियाँ बचेंगी, जिस रूपमें रहेंगी, उनमें उसी रूपमें प्राण अभिव्यक्त होगा। अँगुली कटनेसे प्राण नहीं कटा; उसमें परिवर्तन आनेसे प्राणमें परिवर्तन नहीं आया। वह पाँचसे बढ़कर छः अँगुलियोंमें अभिव्याप्त हो गया, अथवा तीनमें ही रह गया; किंतु प्राण फिर भी प्राण ही है और सम्पूर्ण है।

भारतीयता किसी प्रकारका बन्धन नहीं, विकास है। संसारमें जिसे मानववाद कहा जाता है—अर्थात् संसारके सभी प्राणियोंको आत्मवत् मानकर उनके प्रति प्रेम, करुणा, उपकार, क्षमा, अहिंसा और सहिष्णुताका भाव रखना; उनके लिये अपने व्यक्तिगत जीवनके स्वार्थ, सुखोपभोगकी लालसा, यश और प्रतिष्ठाकी चाहका परित्याग (संन्यास) करना; दूसरेके विनाशमें अपना निर्माण देखनेकी लिप्सा समाप्त करना; घृणा, विद्वेष, असहिष्णुता और मतान्धताको अपने जीवनमें न आने देना तथा सामाजिक जीवनमें भी उसे न फैलने देना; इन्द्रियोंको संयमसे कसकर अन्तःकरणकी पवित्रताकी ओर बढ़ना, सत्त्वशुद्धिके लिये ही उपयुक्त जीवन-प्रणालीका निर्माण करना और द्वन्द्वोंसे ऊपर उठते हुए निष्काम भावसे कर्म करनेकी क्षमता प्राप्त करना—यही भारतीय संस्कृति है। मनुष्यकी पशुता मिटाकर उसे मानव बनाना और फिर ईश्वरत्वकी ओर उसे पुरस्सर करना भारतीय संस्कृतिका कार्य है।

किंतु इस मानववादकी चर्चा तो संसारकी समस्त संस्कृतियोंने की है, संसारके समस्त समाजोंके अनेक संतोंने लोक-कल्याणकी भावना जाग्रत् करनेका प्रयत्न किया है। तब मानववादको हम भारतीय संस्कृति क्यों कहें? संसारके किसी समाजका व्यक्ति यदि चारित्र्यशील तथा लोकाराधनकी भावनासे प्रेरित हो तो क्या हम उसे भारतीय संस्कृतिका उपासक कह सकेंगे?' यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

प्रथमतः यह कह देना आवश्यक होगा कि मानववादके सिद्धान्तकी घोषणा सबसे पहले भारतीय समाजने—भारतके तपस्वी ऋषि-महर्षियोंने की और अन्य समाज जब भोजन-वस्त्रकी प्रारम्भिक समस्या सुलझा रहे थे—जब उनके जीवनमें जंगलीपन था, तभी भारतीय समाज मानववादके सिद्धान्तोंको केवल चर्चाका विषय ही नहीं बना चुका था, उन्हें जीवनके व्यवहारमें उतार चुका था। आज भी संसारके समाजोंकी अपेक्षा भारतीय समाज मानववादमें सबसे आगे है; किंतु मानववादके साथ-साथ भारतीय संस्कृति कुछ और भी है, जिसे हम भारतीयता कहते हैं। भारतवर्षकी भूमिपर भारतीय जनके हृदय और जीवनमें जो मानववाद भाषा, वेश-भूषा, जीवन-प्रणाली आदिके साधनोंको अपनाकर अनादि कालसे लेकर आजतक विकसित हुआ है, उसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं। भारतीय संस्कृतिका उपासक मानवताके सिद्धान्तों-

को माननेके साथ-साथ भारतवर्षको अपनी तपोभूमि, यज्ञभूमि, कर्मभूमि और जन्मभूमि समझता है—भारतमाताको अपनी माता, उपास्य देवीके रूपमें देखता है। भारतवर्षकी गोदमें पलकर इस देशके जनसमाजका आसुरी तथा विदेशी आक्रमणोंसे उद्धार करनेवाले महापुरुषों—भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, चन्द्रगुप्त मौर्य, विक्रमादित्य, महाराणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह, लोकमान्य तिलक आदि वीरोंको तथा जीवनके दुःखोंसे उद्धारका उपाय बतानेवाले महापुरुषों—व्यास, शङ्कराचार्य, बुद्ध, महावीर, समर्थ रामदास, तुलसीदास, रामकृष्ण, विवेकानन्द, महात्मा गान्धी आदि संतोंको अपने उद्धारकर्ता पूर्वज मानता है। भारतवर्षमें उद्भूत और विकसित मत-प्रणालियों एवं जीवन-प्रणालियोंको आत्मीयताके भावसे देखता और स्वीकार करता है तथा विदेशोंसे आयी हुई मत-प्रणालियों एवं जीवन-प्रणालियोंको—जो कि आजतक भारतीय जीवनमें समरस न हो सकीं, अपितु बडवानलकी तरह उसके अन्तःकरणमें खौलती रहीं—अपच बन गयीं, उन्हें आज भी विदेशी, अतएव अग्राह्य मानता है।

अनेक युगोंमें भारतीय संस्कृतिका बाहरकी अनेकों संस्कृतियोंसे संघर्ष होता आया है। उन संघर्षोंकी ओर इङ्गितकर कई बार ऐसा भी कहा गया है कि भारतीय संस्कृतिके उपासक बननेवाले दूसरी संस्कृतियोंके प्रति असहिष्णु रहे हैं तथा हैं। किंतु वस्तुस्थिति दूसरी ही है। भारतीयोंने आक्रमणका विरोध किया है, संस्कृतिका नहीं। आक्रमणका विरोध करना अपने जीवनकी श्रेष्ठता स्थिर रखनेके लिये आवश्यक था। वहाँपर क्षमा और अहिंसाके नामपर आत्म-समर्पण कर देना कायरता हो जाती। यूनानियोंने जब भारतपर आक्रमण किया, तब एक सुसघटित शक्ति निर्मितकर उन्हें खदेड़ दिया गया। परंतु उनके साथ सन्धि होते ही सब प्रकारके व्यवहार स्थापित कर लिये गये तथा कला-कौशलका भी आदान-प्रदान किया गया। शक और हूण जब आक्रमणका रूप लेकर आये, तब उनसे शताब्दियोंतक टक्कर ली गयी; पर जब वे इस भूमिपर बस गये, तब उन्हें क्षत्रिय बना लिया गया। पारसी हजारोंकी संख्यामें हमारे देशमें आकर आज हजारों सालोंसे आनन्दपूर्वक जीवन बिता रहे हैं। उन्हें आज हम भारतीय ही मानते हैं; क्योंकि भारतके बाहर अब उनका कुछ नहीं, उनकी स्फुरणभूमि भारतभूमि ही है। आज जब भारतीय संस्कृति गुलामीसे मुक्त होकर स्वच्छ वातावरणमें विकसित होने जा रही है, तब उस संस्कृतिसे वे अविलम्ब समरस हो जायँगे—ऐसा हमारा विश्वास है। जो अपनी संस्कृतिके ही अवयव जैन, बौद्ध, सिख आदि हैं, उनके बारेमें तो कुछ कहना ही नहीं; वे तो हमारे हाथकी छठी अँगुली मात्र हैं, जिनकी उत्पत्तिके साथ-साथ ही प्राणने आगे बढकर उन्हें अभिव्याप्त कर लिया है।

ईसाकी आठवीं शताब्दीसे प्रारम्भ होकर क्रमशः अनेक शताब्दियोंतक इस्लाम-संस्कृतिके उपासकोंने भारतीय संस्कृतिपर लगातार आक्रमण किया और भारतीय संस्कृतिके पुजारियोंके विघटन, प्रमाद और अशक्तताके कारण उन्होंने विजय प्राप्त की तथा देशपर अधिकार कर लिया। किंतु यह उनकी अन्तिम विजय नहीं थी; भारतीय पराजित हुए थे, पर उन्होंने आत्मसमर्पण नहीं किया था। उन्होंने सहस्र वर्ष-व्यापी लोमहर्षण संग्राम किया—अपने अस्तित्वके लिये, अपनी संस्कृतिकी रक्षाके लिये हजारों युद्ध किये, लाखोंकी बलि चढ़ायी, कितने ही जौहर कर डाले। एक काल मराठोंके उदयका समय आया, जब यह चित्र स्पष्ट दृष्टिगत हुआ; भारतीयोंके शौर्यके कारण ऐसा जान पड़ा कि अब इस्लाम-संस्कृतिसे हमारा पीछा छूट जायगा, भारतीय संस्कृति उसे पराजित कर देगी; परंतु ईसाई संस्कृतिके मदान्ध उपासकोंका दुर्भाग्यवश तत्काल सांघातिक आक्रमण हुआ और भारतीय संस्कृति पुनः दासतामें डूबी। इस दासताके कालमें ईसाई संस्कृतिने भारतीय संस्कृतिको समाप्त करनेके लिये एक नवीन तीक्ष्ण विषका प्रयोग किया—हमारी जीवन-प्रणालीको ही बदल डालनेके लिये हमारे मनमें विदेशी रुचि उत्पन्न की। गत दो सौ वर्षोंकी पराधीनताका काल भारतमें इस्लाम-संस्कृति और भारतीय संस्कृति दोनोंके लिये था। इसलिये समान विरोधका आधार लेकर दोनोंमें गठबन्धन होनेका एक-पक्षीय चित्र अवश्य दिखलायी पड़ा। किंतु ईसाई संस्कृतिके प्रतिनिधि अंग्रेजोंको जब यहाँ रहना कठिन जान पड़ने लगा, तब कूटनीति खेलकर उन्होंने इस्लामके भक्तोंको अपनी ओर मिलाकर पाकिस्तानका निर्माण कर डाला, जहाँ वह आक्रमक इस्लाम सदा फलता-फूलता रहे और ईसाई संस्कृतिका भी भारतके लिये प्रवेशद्वार बना रहे।

आज भारतका पूर्व और पश्चिमका एक भाग यद्यपि आक्रमकोंकी सम्पत्ति बन गया है, तो भी शेष भारतमें भारतीय संस्कृतिके पनपनेके लिये एक मुक्त वायुमण्डल निर्मित हुआ है। इस स्थितिमें ईसाई संस्कृति, जो अब परास्त हो चुकी है, अल्पकालमें ही अपनी आक्रमणकी वृत्ति छोड़कर

आत्म-समर्पण कर देगी और केवल उपासनाकी एक पद्धति-विशेष रह जायगी। उपासनाकी किसी भी पद्धतिसे भारतीय संस्कृतिने कभी विरोध प्रकट नहीं किया; इसलिये आगे चलकर ईसाई संस्कृति या तो स्वतः समाप्त हो जायगी या उसके उपासक भारतीय जीवनसे समरस होकर भारतीय संस्कृतिमें घुल-मिल जायँगे, जैसा कि वे पहले थे; किंतु इस्लाम-संस्कृतिके साथ भारतीय संस्कृतिका संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है। इस्लामके उपासकोंके दो स्वरूप हैं। एक स्वरूप मुसल्मानोंकी धर्मान्ध आक्रमक वृत्तिमें—उनके जिहादोंमें प्रकट हुआ है, जो भारतमें आज भी जीवित एवं वर्द्धमान है। इस स्वरूपके उपासकोंमें भारतमें आज भी अरबकी सभ्यता, भाषा, वेश-भूषा; वहाँके वीर और संत, वहाँकी जीवन-प्रणाली; यहाँतक कि खाद्य पदार्थोंके लिये भी रुचि विद्यमान है। वे उनसे स्फूर्ति लेते हैं; महमूद, चिंगेज, नादिर, अलाउद्दीन और औरंगजेबको वे अपने पूर्वज, प्रेरणाके केन्द्र मानते हैं। उन्हींका-सा दृष्टिकोण रखते हैं और आजके युगमें कायदे-आजम जिन्ना उनके आराध्य बन गये हैं। यदि वे अपने विजयके कालमें भारतीय संस्कृतिको समाप्त कर देते तो भारतमें एकमेव इस्लाम संस्कृति ही व्याप्त हो जाती, संस्कृति-संघर्षका प्रश्न मिट जाता; परंतु उनके घोर प्रयत्नके पश्चात् भी विशाल एवं चिरञ्जीवी भारतीय संस्कृति विजयिनी होकर निकल आयी। संघर्ष मिटनेका दूसरा मार्ग यह था कि इस्लाम-संस्कृतिके उपासक गत शताब्दियोंमें आत्मसमर्पणकर भारतीय जीवनसे समरसता प्राप्त कर लेते; पर ऐसा भी नहीं हुआ। इसीलिये आज भी वे भारतीय जीवनसे अलग दिखायी देते हैं। इस पृथक्त्वका कारण भारतीय संस्कृतिमें सहिष्णुताका अभाव नहीं, किंतु उनके अपने ही जीवनमें घोर असहिष्णुता, मतान्धता और दूसरोंके प्रति घृणाका भाव है। यह आज भी ज्यों-का-त्यों है और अभी-अभी भारतके विभाजन-कालमें एक अभूतपूर्व विभीषिका उपस्थित कर चुका है। इस्लामका दूसरा किंतु ऊपरी स्वरूप है उपासनाकी एक पद्धति-विशेष। उपासनाकी पद्धतिसे विरोध न होनेके कारण भारतीय जीवन इस्लामकी उपासनाको स्थान देनेको सदैव तैयार रहा है और आज भी है। यह भारतीय संस्कृतिकी उदारता और सहिष्णुता है। कांग्रेसने हिंदू-मुस्लिम एकताका जो प्रयत्न किया, वह यही समझकर कि मुसल्मान केवल एक विशिष्ट संस्कृतिका उपासक-मात्र है; किंतु उस संस्कृतिके आक्रमक स्वरूपको उसने नहीं पहचाना अथवा उसकी उपेक्षा की। पर मुसल्मान अपने आक्रमक स्वरूपको नहीं भूला था; इसलिये वह पास तो आया ही नहीं, उसने चुनौतियाँ दीं और अपना अलग राज्य निर्माण कर लिया! यदि आगामी कालमें भारतीय संस्कृति प्रभावशालिनी बन सकी तो आजके बचे-खुचे भारतके मुसल्मान अपने आक्रमक स्वरूपको भूलनेका प्रयत्न करेंगे और उनका उपासक स्वरूप विकसित होकर कालान्तरमें भारतीय जीवनसे एकरस हो सकेगा; और यदि भारतीय संस्कृति शक्ति-सम्पन्न एवं तेजस्विनी नहीं बन सकी तो उनका आक्रमक स्वरूप आगे चलकर अवसरकी खोज करता हुआ पुनः प्रकट हो जायगा।

इस स्थानपर हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि दासताके बन्धनसे मुक्त होते ही भारतीय संस्कृतिके ऊपर एक नवीन संस्कृतिके आक्रमणका प्रश्न उपस्थित हो गया है और वह है स्लाव संस्कृति। भौतिक सुखोपभोगके आधारपर जीवन-प्रणालीकी रचना इसकी विशेषता है; इसमें जन्म लेकर असहिष्णुता और घृणाके आधारपर वह अपना विस्तार कर रही है; देशका दारिद्र्य इसके पौधेको सींच रहा है; भावी निर्माणके लिये ध्वंस और अराजकता उपस्थित करना इसका मार्ग है; आध्यात्मिक जीवन-प्रणालीका विनाश इसके उदयका परिणाम है; आगामी संघर्ष निश्चित है—प्रतिफल हमारी क्षमतापर अवलम्बित है।

भारतीय संस्कृति एक विशेष प्रकारका दृष्टिकोण है। उदाहरणस्वरूप—जो अभारतीय संस्कृतियाँ हैं, उनमें विवाह एक समझौता है; किंतु भारतीय संस्कृतिमें वह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। भारतीय संस्कृतिके आधारपर जो जीवन-प्रणाली निर्मित हुई है, उसकी प्रगति आध्यात्मिकता-की ओर, पूर्णत्वकी ओर, ईश्वरत्वकी ओर है। हमारे जीवनका लक्ष्य होता है ईश्वरको अपने कर्म समर्पण करते हुए मोक्ष—परम शान्तिकी प्राप्ति। सुखोपभोगके लिये भौतिक साधन जुटाना नहीं, अभ्युदयके लिये—ऐहिक जीवनमें संसारमें श्रेष्ठता प्राप्त करना; आशावाद लेकर सब प्रकारसे उच्चतम सभ्यताका विकास करना; सुख, सौभाग्य, गौरव और सामर्थ्यको बढ़ाते जाना—यह हमारा कार्य है। निःश्रेयसके लिये—अभ्युदय-कालमें अर्जित सौभाग्य और सम्पत्तिका उपयोग व्यक्तिगत सुखके लिये न कर, उसे देशके लिये, समाजकी सेवामें, लोक-कल्याणके निमित्त समर्पित कर देना—यह हमारा उद्दिष्ट है। अपनी संस्कृतिके ऊपर आये हुए आक्रमणका

समस्त रक्षासम्बन्धी कार्योंको वही वर्ग करता था। प्रथम-वर्गकी अपेक्षा यद्यपि इसमे त्यागभावना कम है, तो भी कर्तव्य या धर्मकी भीरुतासे एवं ब्राह्मणनियन्तृत्वसे यह स्वेच्छाचार नहीं कर सकता था। तीसरा इच्छाशक्तिप्रधान वैश्य-वर्ग रक्खा गया। कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्य आदि कर्तव्य इसे दिया गया। यह वर्ग अपने कर्तव्यद्वारा सारी प्रजाका पालन करता हुआ अपने व्यवसायको देश और विदेशमें फैलाता था। गृहीत धनराशिको अपने पास रखता हुआ यह वर्ग राजकीय कोषाध्यक्षकी भाँति सामाजिक कोषाध्यक्ष कहलाता था और शूद्रोंका चौथा वर्ग शारीरिक श्रमसाध्य कार्योंको करता था। शिल्पादि कलाएँ इसीके हाथमे थीं।

ये हैं भारतीय सामाजिक रचनाके चार भाग, जो अन्योन्याश्रित थे। इनमे ईर्ष्या और द्वेषके लिये स्थान ही नहीं है। सबके तदीय मनोरचनाके आधारपर कर्तव्य निश्चित कर दिये हैं। समाज-सत्ता किसी व्यक्ति या दलके हाथमे नहीं रह सकती। एक वर्गके पास विधान (Law) बनानेकी शक्ति और शिक्षाविभाग है, तो दूसरेके पास राज्याधिकार है, तीसरेके पास कोष और उत्पादन या जीवन-निर्वाहके साधन (Means of Subsistence), और चौथेके पास श्रमशक्ति (Labour Power) और शिल्पादि कलाएँ हैं। क्षत्रियोंकी अधिकार-सत्तापर ब्राह्मणोका, तथा दोनोंकी आवश्यकता-पूर्तिपर वैश्योंका अधिकार है। और तीनोंके मूलभूत शूद्र हैं। इस प्रकार विभक्त होते हुए भी ये परस्पराश्रित कर दिये गये, जिससे किसी प्रकारका संघर्ष न हो सके। इसी अन्योन्याश्रयभावको लक्ष्यमे रखकर वायुपुराणमे कहा है—

यदि ते ब्राह्मणा न स्युर्ज्ञानयोगवहाः सदा।
उभयोर्लोकयोर्देवि स्थितिर्न स्यात्समासतः॥
यदि निःक्षत्रियो लोको जगत्स्यादधरोत्तरम्।
रक्षणात्क्षत्रियैरेव जगद्भवति शाश्वतम्॥
तथैव देवि वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः।
अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्षफलदा हि ते॥
... ...
शूद्राश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते।
त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वे कर्मकराः स्मृताः॥

इसी हमारी सामाजिक रचनासे सभी अपना-अपना कार्य करते हुए समाज और राष्ट्रके भव्य जीवनके लिये लाभकारी सिद्ध होते थे। इस विषयमे विवाद नहीं कि जिसके पूर्वज दीर्घकालसे जो कार्य करते आ रहे हों, उसके रक्तमे भी तत्कार्यसम्बन्धी गुण अवश्य आयँगे। और वह वर्ग अपने कार्यको करता हुआ निश्चय ही अन्य वर्गो तथा कार्योंकी अपेक्षा स्वकार्यमे कुशल होकर समाज और राष्ट्रकी तत्सम्बन्धिनी उन्नतिमे विशिष्ट एवं महान् सहायक हो सकता है। इसीलिये इस सामाजिक रचनाके आधारपर हमारा यह महान् एवं वृद्ध भारत-देश भूतकालमें ज्ञान-विद्या-बुद्धि-कला-वैभवादि सभी गुणोंमे कितना अग्रसर था—यह किसीसे छिपा नहीं है।

अब देखना यह है कि हमारी इस सामाजिक रचनामे कौन-सा सिद्धान्त मार्क्सवादके उपयोगी सिद्धान्तसे कम है। मार्क्सवादका स्थूलरूपसे मौलिक सिद्धान्त यह है—

'प्रत्येक व्यक्ति कार्य करे और सबको उसकी आवश्यकताके अनुसार प्राप्त हो।'

हम यदि ज़रा गम्भीरतासे विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय सामाजिक रचनाके मूलमे उत्तम प्रकारका श्रमविभाग है। उसमें कार्यहीन कोई भी व्यक्ति समाजके ऊपर भाररूप नहीं हो सकता। अपितु सभी स्वकार्यको करते हैं, और आवश्यकतानुसार प्राप्त करते हैं। और जो यह संघर्ष हो रहा है—यथा एक वर्ग कुछ देना नहीं चाहता और दूसरा वर्ग सब कुछ लेना चाहता है एवं धन, भोग और ऐश्वर्यमे आसक्त धनीवर्ग और दारिद्र्यपीडित एवं ईर्ष्योत्तेजित श्रमिकवर्ग मनुष्यताको छोड़कर राष्ट्रिय एवं सामाजिक जीवनको संकटपूर्ण बना रहे हैं—जिसका कि उपाय मार्क्सवादने सर्वविध सम्पत्तिका राजकीयकरण सोचा है—उसका अन्त इसी सामाजिक रचनासे हो सकता है। हमारी सामाजिक रचनामे धनीवर्गका कर्तव्य इस प्रकार निश्चित किया गया है कि जो कुछ भी धन वैश्यवर्ग प्राप्त करता है, उसके ऊपर उसका निजी स्वामित्व नहीं, अपितु वह समाजका है। समाजके लिये सर्वविध धनका न्यायोचित उत्पादन, उसका संग्रह और संवर्द्धन उसका कर्तव्य है। इस प्रकार धनीवर्गकी भाँति जब सभी वर्ग अपने-अपने कर्तव्यपर आरूढ रहेंगे, तब वर्गसंघर्ष हो ही नहीं सकता। और सभी वर्ग अपने-अपने कर्तव्यपर कैसे स्थित रहेंगे—यह पीछे 'अन्योन्याश्रय' से बताया जा चुका है। अतः यह स्पष्ट हो गया कि इस विषयमे भारतीय सामाजिक रचना अपनी विशालता और श्रेष्ठताके कारण मार्क्सवादसे कहीं अधिक महत्त्व रखती है। एवं वह सर्वथा निर्दोष है। मार्क्सवादकी सामाजिक रचनामे तो कई ऐसे भयानक मौलिक

भारतीय वैयक्तिक एवं सामाजिक रचना तथा मार्क्सवाद

(लेखक—श्रीप्रेमसागरजी शास्त्री)

भारतके प्राचीन तपोनिष्ठ महर्षियोंने राष्ट्र एवं विश्वकी स्थितिको सुस्थिर बनानेके लिये अपनी कुशाग्रमतिसे जो प्रयत्न किया है, वह रचनाक्षेत्रमें महान् एवं प्रशस्यतम है। उन्होंने नानारूपात्मक पदार्थोंके अन्तःस्थलमें विद्यमान एक-रूपताकी खोजकर उसके आधारपर मनुष्यकी वैयक्तिक तथा सामाजिक रचना की, जिससे जायमान सभी विवाद और संघर्ष शान्त हो सकें—मानव-जीवनकी सर्वाङ्गीण उन्नति, राष्ट्रिय जीवनका मौलिक सुधार तथा उसका विशुद्ध और स्थायी रूप हो सके।

वैयक्तिक रचना—उन्होंने मनुष्यकी आयुके चार भाग किये। प्रथम भागात्मक ब्रह्मचर्य-जीवनमें अध्ययनादि कर्तव्य था। मनुष्यकी आयुका यही समय प्रारम्भिक उच्चशिक्षाका होता है। इसीलिये उस समय 'सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव' इत्यादि उच्चशिक्षाएँ दी जाती थीं, जिनके अभावसे आज देशमें सर्वत्र भ्रष्टाचार फैला हुआ है। अपने आपको सुधारक माननेवाले बड़े-बड़े नेतालोग भी इसी दिशामें कार्य-सम्पादन कर रहे हैं; किंतु उन प्रारम्भिक उच्च-शिक्षाओंके कारण वे लोग समाज और राष्ट्रके लिये सुयोग्य विद्वान् और सच्चे सुधारक तथा पथप्रदर्शक सिद्ध होते थे। तदनन्तर विद्या समाप्तकर गृहस्थजीवनमें प्रवेश करते थे। पारिवारिक जीवनमें (जिसे लघु समाज-निर्माण कह सकते हैं) रहते हुए अच्छी तरहसे उसका पालन करते थे। और सबकी सेवा करते हुए समाजकी विविधोन्नतिमें सहायक होते थे। इसके बाद अपनी आयुका तीसरा भाग वानप्रस्थ-जीवनमें बिताया जाता था। सम्पूर्ण भार अपनी सन्तानको देकर आमुष्मिक उन्नत्यर्थ ईश्वरोपासनामें तत्पर हो जाते थे। आयुके चतुर्थ भागमें संन्यासजीवन लेकर संसारकी सर्व-विध आसक्तिको छोड़कर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस उपदेशका अनुसरण करते हुए मनुष्य-जीवनके चरम लक्ष्य परम सत्यकी खोज करते और उसकी अनन्ततामें प्रवाहित हो जाते थे।

यह वैयक्तिक रचना ही आश्रमव्यवस्था है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि इस वैयक्तिक रचनासे मनुष्य अपने चरम ध्येयकी प्राप्ति कर सकता है। और हिंसा-स्तेय-प्रतारण-स्वार्थ-परता-परापकारचिकीर्षा आदि समस्त दोषोंकी जननी कामना उत्पन्न ही नहीं हो सकती। दूसरेकी वस्तुओंको देख हमें भी उन्हें भोगनेकी इच्छा होती है, यही कामना नामकी पिशाची है। उन वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये तथा उनके भोग-को स्थायी रखनेके लिये हमें अनेक दोष करने पड़ते हैं; यह कामनाका ही परिणाम है। अस्तु, उक्त दोषोंके अभावसे समाज और राष्ट्रकी स्थितिमें थोड़ा भी अन्तर नहीं आ सकता। इसलिये वस्तुतः यह वैयक्तिक रचना मानुषजीवन-की सर्वाङ्गीण उन्नतिकी पराकाष्ठा एवं राष्ट्र और समाजका मौलिक सुधार था।

सामाजिक रचना—सभी मनुष्योंको इस विशाल समाज-पुरुषके अङ्ग-प्रत्यङ्ग समझकर वह समाज विशाल एवं सुदृढ़ भवनके रूपमें असंख्य झंझावातोंको झेलता हुआ अविचल खड़ा रहे, अतः भारतीय महर्षियोंने मनुष्यकी प्रकृतिपार्थक्य-के आधारपर भागचतुष्टयरूप चार स्तम्भोंसे उसे दृढ़शक्ति बना दिया, जिससे उसका कोई भी भाग विकृत न हो सके। यह एक प्राकृतिक नियम (Natural Law) है कि मानसिक या बौद्धिक उन्नतिमें सबका बराबर स्थान नहीं हो सकता और सबकी प्रकृतिमें भी एकता नहीं दीख पड़ती। अतः सभी मनुष्योंको एक ही कार्य न सौंपकर उन्हें अपने उत्कर्षमें प्रवृत्त करनेके लिये तथा सामाजिक सुव्यवस्थाके लिये उनकी जन्मगत वृत्ति एवं मानसिक स्थित्यनुसार भिन्न-भिन्न कार्य ही उन्हें सौंपे जाने चाहिये। भारतीय महर्षियोंने लाखों वर्ष पूर्व इस तथ्यको समझा और विशिष्ट एवं शक्तिशाली समाजका निर्माण कर दिखाया। उन्होंने वेद-भगवान्‌की—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

—इस आज्ञाके अनुसार सबसे पहले बुद्धिशक्तिप्रधान मनुष्यों (ब्राह्मणों) का वर्ग रक्खा। यह वर्ग आजीवन ज्ञानार्जन और ज्ञान-वितरणका कार्य करता था। समाज इसकी उदरवृत्तिका प्रबन्ध करता था और यह इतनेमें ही सन्तुष्ट था। बुद्धिमान्, विचार-शक्तिप्रधान तथा सामाजिक व्यवहारोंसे निरपेक्ष होनेके कारण सामाजिक नियम बनानेकी पात्रता एवं क्षमता उनमें थी। अतः सामाजिक नियन्तृत्वका भार उन्हें सौंपा गया। दूसरा वर्ग बलप्रधान मनुष्योंका रक्खा गया। सामाजिक रक्षाका भार उसे सौंपा गया। राजासे लेकर क्षुद्र कर्मचारीतकके

समस्त रक्षासम्बन्धी कार्योंको वही वर्ग करता था। प्रथम-वर्गकी अपेक्षा यद्यपि इसमे त्यागभावना कम है, तो भी कर्तव्य या धर्मकी भीरुतासे एवं ब्राह्मणनियन्तृत्वसे यह स्वेच्छाचार नहीं कर सकता था। तीसरा इच्छाशक्तिप्रधान वैश्य-वर्ग रक्खा गया। कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्य आदि कर्तव्य इसे दिया गया। यह वर्ग अपने कर्तव्यद्वारा सारी प्रजाका पालन करता हुआ अपने व्यवसायको देश और विदेशमे फैलाता था। गृहीत धनराशिको अपने पास रखता हुआ यह वर्ग राजकीय कोषाध्यक्षकी भाँति सामाजिक कोषाध्यक्ष कहलाता था और शूद्रोका चौथा वर्ग शारीरिक श्रमसाध्य कार्योंको करता था। शिल्पादि कलाएँ इसीके हाथमें थीं।

ये हैं भारतीय सामाजिक रचनाके चार भाग, जो अन्योन्याश्रित थे। इनमें ईर्ष्या और द्वेषके लिये स्थान ही नहीं है। सबके तदीय मनोरचनाके आधारपर कर्तव्य निश्चित कर दिये हैं। समाज-सत्ता किसी व्यक्ति या दलके हाथमे नहीं रह सकती। एक वर्गके पास विधान (Law) बनानेकी शक्ति और शिक्षाविभाग है, तो दूसरेके पास राज्याधिकार है, तीसरेके पास कोष और उत्पादन या जीवन-निर्वाहके साधन (Means of Subsistence), और चौथेके पास श्रमशक्ति (Labour Power) और शिल्पादि कलाएँ हैं। क्षत्रियोकी अधिकार-सत्तापर ब्राह्मणोका, तथा दोनोंकी आवश्यकता-पूर्तिपर वैश्योंका अधिकार है। और तीनोंके मूलभूत शूद्र हैं। इस प्रकार विभक्त होते हुए भी ये परस्पराश्रित कर दिये गये, जिससे किसी प्रकारका संघर्ष न हो सके। इसी अन्योन्याश्रयभावको लक्ष्यमे रखकर वायुपुराणमे कहा है—

> यदि ते ब्राह्मणा न स्युर्ज्ञानयोगवहाः सदा।
> उभयोर्लोकयोर्देवि स्थितिर्न स्यात्समासतः॥
> यदि निःक्षत्रियो लोको जगत्स्यादधरोत्तरम्।
> रक्षणात्क्षत्रियैरेव जगद्भवति शाश्वतम्॥
> तथैव देवि वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः।
> अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्षफलदा हि ते॥
> ... ...
> शूद्राश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते।
> त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वे कर्मकराः स्मृताः॥

इसी हमारी सामाजिक रचनासे सभी अपना-अपना कार्य करते हुए समाज और राष्ट्रके भव्य जीवनके लिये लाभकारी सिद्ध होते थे। इस विषयमे विवाद नहीं कि जिसके पूर्वज दीर्घकालसे जो कार्य करते आ रहे हों, उसके रक्तमे भी तत्कार्यसम्बन्धी गुण अवश्य आयँगे। और वह वर्ग अपने कार्यको करता हुआ निश्चय ही अन्य वर्गों तथा कार्योंकी अपेक्षा स्वकार्यमे कुशल होकर समाज और राष्ट्रकी तत्सम्बन्धिनी उन्नतिमे विशिष्ट एवं महान् सहायक हो सकता है। इसीलिये इस सामाजिक रचनाके आधारपर हमारा यह महान् एवं वृद्ध भारत-देश भूतकालमे ज्ञान-विद्या-बुद्धि-कला-वैभवादि सभी गुणोंमे कितना अग्रसर था—यह किसीसे छिपा नहीं है।

अब देखना यह है कि हमारी इस सामाजिक रचनामे कौन-सा सिद्धान्त मार्क्सवादके उपयोगी सिद्धान्तसे कम है। मार्क्सवादका स्थूलरूपसे मौलिक सिद्धान्त यह है—

'प्रत्येक व्यक्ति कार्य करे और सबको उसकी आवश्यकताके अनुसार प्राप्त हो।'

हम यदि ज़रा गम्भीरतासे विचार करे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय सामाजिक रचनाके मूलमे उत्तम प्रकारका श्रमविभाग है। उसमे कार्यहीन कोई भी व्यक्ति समाजके ऊपर भाररूप नहीं हो सकता। अपितु सभी स्वकार्यको करते हैं, और आवश्यकतानुसार प्राप्त करते हैं। और जो यह संघर्ष हो रहा है—यथा एक वर्ग कुछ देना नही चाहता और दूसरा वर्ग सब कुछ लेना चाहता है एवं धन, भोग और ऐश्वर्यमे आसक्त धनीवर्ग और दारिद्र्यपीडित एवं ईर्ष्योत्तेजित श्रमिकवर्ग मनुष्यताको छोडकर राष्ट्रिय एवं सामाजिक जीवनको संकटपूर्ण बना रहे हैं—जिसका कि उपाय मार्क्सवादने सर्वविध सम्पत्तिका राजकीयकरण सोचा है—उसका अन्त इसी सामाजिक रचनासे हो सकता है। हमारी सामाजिक रचनामे धनीवर्गका कर्तव्य इस प्रकार निश्चित किया गया है कि जो कुछ भी धन वैश्यवर्ग प्राप्त करता है, उसके ऊपर उसका निजी स्वामित्व नहीं, अपितु वह समाजका है। समाजके लिये सर्वविध धनका न्यायोचित उत्पादन, उसका संग्रह और संवर्द्धन उसका कर्तव्य है। इस प्रकार धनीवर्गकी भाँति जब सभी वर्ग अपने-अपने कर्तव्यपर आरूढ रहेगे, तब वर्गसंघर्ष हो ही नही सकता। और सभी वर्ग अपने-अपने कर्तव्यपर कैसे स्थित रहेंगे—यह पीछे 'अन्योन्याश्रय' से बताया जा चुका है। अतः यह स्पष्ट हो गया कि इस विषयमे भारतीय सामाजिक रचना अपनी विशालता और श्रेष्ठताके कारण मार्क्सवादसे कहीं अधिक महत्त्व रखती है। एवं वह सर्वथा निर्दोष है। मार्क्सवादकी सामाजिक रचनामे तो कई ऐसे भयानक मौलिक

दोष हैं, जो मनुष्यका पतन करके छोड़ते हैं। यथा—

(१) सर्वप्रथम मार्क्सवादीय समाजरचना मनुष्यकी नैसर्गिक मनोरचनाके अनुसार नहीं है।

(२) इसमें मनुष्य-जीवनके चरम उद्देश्य (भगवत्प्राप्ति) की ओर ध्यान ही नहीं रक्खा गया, जिससे यह मानव-जीवनकी सर्वाङ्गीण उन्नतिका साधन तो होता ही नहीं वरं द्वेष, हिंसा, वैर आदिके सेवनसे उसे अवनत कर देता है।

(३) इसमें वैयक्तिकी शासनसत्ताका सर्वथा अभाव है, जिससे मनुष्यके अन्तःकरणके स्वाभाविक दुष्ट भाव काम-क्रोधादिकों तथा तदुत्पन्न दोषोंके नियन्त्रण तथा दूर करनेका कोई उपाय ही उसके पास नहीं रह जाता।

(४) यद्यपि निजी स्वामित्वको नष्टकर स्वार्थमूलक भावोंको दबानेका प्रयत्न किया गया है, तथापि उसके साथ ऐसा कोई प्रवर्तक हेतु नहीं बनाया, जिससे मनुष्य आत्मविकासके लिये प्रयत्न करे, अथवा समाजसेवामें स्वपरिश्रमकी पराकाष्ठा दिखला सके।

परंतु हमारी वैयक्तिक रचना इन सब दोषोंसे सर्वथा रहित है और राष्ट्रके वर्तमान एवं भावीजीवनका सर्वविध सुधार करनेमें समर्थ है। इस सामाजिक रचनासे आधुनिक सम्पूर्ण कलह शान्त हो सकते हैं। सबको उचित काम और यथार्थ पारिश्रमिक (Real Wages) मिल सकता है। प्रत्येकके अधिकारके साथ तत्तुल्य कर्तव्य (Duty) निश्चित किया जा सकता है। और समाजके सभी वर्गोंका कार्य-विभाजन (Division of Work) होने हुए भी वे पूर्वोक्त प्रकारसे इस तरह परस्पराश्रित किये जा सकते हैं कि एक दूसरेको दबानेका कभी अवसर ही न प्राप्त हो सके, प्रत्युत सब प्रेम और आदरके साथ रहनेके लिये विवश हों। इस प्रकार क्रमशः समाज, राष्ट्र एवं विश्वभरकी स्थिति सुस्थिर हो सकती है।

संस्कृतिका अन्वेषण

प्राचीन इतिहास, कला, साहित्य एवं समाजके आचार-प्रभृतिके अन्वेषण पाश्चात्त्य सभ्यताकी एक महती विशेषता हैं। इसे स्वीकार करना ही होगा कि अन्वेषणकी यह प्रवृत्ति यूरोपकी देन है। प्राचीनताकी छान-बीनकी यह अभिनव रुचि एवं वर्तमान अनेक साधन यूरोपसे विस्तीर्ण हुए हैं और इनको इतना अधिक महत्त्व मिला है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी आयका एक बड़ा भाग इसपर व्यय करता है।

भारत चाहे प्राचीनताका इस प्रकार अन्वेषक न रहा हो; परंतु हम सदासे उसके विश्वासी और अनुगामी रहे हैं। हमारे लिये प्राचीनता केवल जिज्ञासाकी वस्तु नहीं, वह हमारी आराध्य है। सनातन-शाश्वत धर्म एवं आदि संस्कृति ही हमारी नित्य आदर्श रही है। अवश्य ही मध्यकी विकृतियोंकी रक्षा तथा उनका अन्वेषण भारतको प्रिय नहीं था। जिस जातिका लक्ष्य भौतिकताके ठीक प्रतिकूल अन्तर्मुखता हो, वह बाह्य विकृतियोंकी छान-बीनमें लग भी नहीं सकती।

जहाँतक गवेषणाका सम्बन्ध है, वह सदा ज्ञानदायिनी और श्रेष्ठ है। यूरोपकी इस प्रवृत्तिकी प्रशंसा करनी पड़ेगी। जहाँ भी यह प्रवृत्ति पक्षपातशून्य होकर विशुद्धरूपमें होगी, वहाँ वह सत्यका चाहे स्पष्ट साक्षात् न करा सके, परंतु उसका सङ्केत तो अवश्य ही करेगी। यूरोपमें, विकासवादकी जन्मभूमि इंग्लैंडमें ही इस प्रकारके विशुद्ध अन्वेषक हैं। उन वैज्ञानिकोंने विकासवादका थोथा सिद्धान्त अस्वीकार कर दिया है और स्वीकार कर लिया है कि 'डार्विनका विकासवाद बिल्कुल असत्य और विज्ञानके विरुद्ध है' (प्रोफेसर विलियम बैटसन)। सायन्स इस बातका स्पष्ट साक्षी है कि 'मनुष्य अवनत दशासे उन्नत दशाकी ओर चलनेके स्थानमें उलटा अवनतिकी ओर जा रहा है। मनुष्यकी आरम्भिक दशा उत्तम थी' (सिडनी कालेट)। 'आदि सृष्टि अमैथुनी होती है और इस अमैथुनी सृष्टिमें उत्तम और सुडौल शरीर बनते हैं' (जस्टिस टी० एल० स्ट्रैंज)।

'चेतनके प्रभावके बिना जड पदार्थोंमें चेतना आ ही नहीं सकती, विज्ञानका यह नियम मुझे पृथ्वीके आकर्षणके नियमकी भाँति ही अटल प्रतीत होता है।'*

---

* *The Development of Creation on the Earth*, p. 17.

Dead matter cannot become living without coming under the influence of matter previously living. This seems to me as sure a teaching of science as the law of gravitation. (*The Nature and Origin of Life*, p. 173.)

यह स्वीकार कर लेनेपर भी यूरोपीय वैज्ञानिकों तथा अन्वेषकोंकी स्वदेश एवं स्वसंस्कृतिकी परिस्थिति यह है कि वे असभ्यसे सभ्य हुए हैं । मनुष्यकी मूल-उत्पत्तिके स्थानसे पृथक् होनेपर वे वहाँकी शिक्षासे भी वञ्चित हुए । काल-क्रमसे उनका ज्ञान लुप्त हो गया । वे असभ्य हो गये । धीरे-धीरे पीछे जब वे अपनेसे अधिक सभ्य जातियोंके सम्पर्कमें आये, तब उनकी सभ्यता एवं ज्ञानका विकास हुआ । फलतः उनका इतिहास विकासवादका इतिहास है । थोड़े-से अत्यल्प महान् पुरुषोंको छोड़कर मनुष्यका अहङ्कार स्वभावतः उसे यह नहीं स्वीकार करने देता कि कभी वह किसीसे किसी विषयमें हीन रहा है और उसने दूसरोंसे कुछ सीखा है । यूरोपीय अन्वेषक भी इसी वृत्तिसे विवश होकर स्वतः विकासका समर्थन करते हैं । उनमें जो साहसी और तटस्थ हैं, जिन्होंने आदि पूर्ण संस्कृतिका सिद्धान्त स्वीकार किया है, वे वर्तमान अन्वेषण-प्रणालीको सर्वथा भ्रान्त घोषित कर चुके हैं ।

पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे भारतीय अन्वेषकोंमें दो भाग हो गये हैं । एक भाग तो विकासवादकी भावना लेकर चलता है । जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें विकास हुआ । साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला, समाज-व्यवस्था, धर्मभावना प्रभृति समस्त क्षेत्रोंमें मनुष्यने क्रमशः उन्नति की । अधिकांश आलोचक—चाहे वे दार्शनिक हों, साहित्यिक हों, पुरातत्त्वके हों या दूसरे किसी विषयके—जो भी पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे प्रभावित हैं, वे डार्विनकी उसी पुरानी भावनाके समर्थक हैं । वे नहीं देखते कि यूरोपके उच्च वैज्ञानिक उसे दो सदी (वैज्ञानिक सदी) पुरानी एक भ्रमपूर्ण कल्पना कहते हैं और भारतके सम्बन्धमें, जहाँ ज्ञानका निरन्तर ह्रास हुआ है, जहाँ संस्कृतिकी परम्परा सृष्टिके आदिकालसे अनवच्छिन्न है, यह सिद्धान्त सर्वथा भ्रामक है ।

विकासवादकी यह भावना भारतमें अत्यन्त व्यापक है । प्रायः सभी शिक्षा-संस्थाओंके पाठ्य ग्रन्थ इसी भावनासे लिखे गये हैं । फलतः नवीन शिक्षित समुदाय भी इसी सिद्धान्तके साँचेमें ढलता जा रहा है । उपनिषदोंका महान् तत्त्वज्ञान, सूत्रग्रन्थोंका अलौकिक दर्शनशास्त्र, आचार्योंकी लोकोत्तर प्रतिभा, साहित्यमें कालिदास, सूर, तुलसी, विहारीके क्रमसे अब दुर्लभप्राय प्रतिभा, प्राचीन मूर्ति एवं चित्रकलाकी अपूर्व सुषमा—इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्रमें प्रत्यक्ष ह्रास देखकर और स्वीकार करके भी यह वर्ग अस्पष्ट, भ्रमपूर्ण, जटिल तर्कोंद्वारा अपने दुराग्रहपर स्थिर है ।

समाजकी अध्ययनकी प्रवृत्ति घटती जा रही है । ज्ञान, स्वास्थ्य, शरीर, कला—सबमें दुर्बलता, अपूर्णता आ रही है । इसी अपूर्णताको, उच्छृङ्खलताको, ह्रासको आज 'प्रगति' का नाम दिया जाता है । बचोंके-से स्थूल एवं तथ्यहीन तर्कोंसे पुरातनका परिहास किया जाता है और माना जाता है कि हमारा विकास हो रहा है ।

विकासवादके प्रभावका मूल पाश्चात्त्य शिक्षा एवं धारणा है। जिन विद्वानोंमें भारतीयताका गर्व एवं उसके प्रति अनुराग है, वे भी इस पाश्चात्त्य शिक्षासे भ्रमग्रस्त हुए हैं । ऐसे विद्वानोंका एक बहुत श्रेष्ठ, ख्यात एवं सम्मानित वर्ग है, जो यह तो स्वीकार करता है कि हमारे शास्त्र, ऋषिप्रणीत ग्रन्थ श्रेष्ठ एवं भ्रमहीन हैं, किंतु वह श्रेष्ठताकी धारणा पाश्चात्त्य जगत्से लेता है । फलतः जो बातें, जो ज्ञान, जो धारणाएँ पाश्चात्त्य जगत्में श्रेष्ठ मानी जाती हैं, उनके विषयमें वह कहता है 'हमारे यहाँ ये बातें पहलेसे हैं ।' शास्त्रोंके अद्भुत अर्थ करके वह उन्हें सिद्ध करता है । जो बातें, नियम, आचार पाश्चात्त्य जगत् हीन मानता है, वे यदि हमारे ग्रन्थोंमें हैं तो इस वर्गके अनुसार 'वे अंश पीछेसे मिलाये हुए प्रक्षिप्त भाग हैं, मध्यकालकी विकृतियाँ हैं ।' इस प्रकार यह वर्ग भी आदर्श तो पाश्चात्त्य सभ्यताको ही मानता है ।

इस वर्गमें संस्कृतके बड़े-बड़े प्रसिद्ध विद्वान् हैं । बात यह है कि जिन्होंने पहले पाश्चात्त्य शिक्षा प्राप्त की, उनकी धारणा उसके अनुसार बन गयी । प्रारम्भिक शिक्षा बालककी अपक्व बुद्धिको अपने साँचेमें ढालती है । अतः उनकी बुद्धि पाश्चात्त्य-विचारप्रधान हो गयी । इसीलिये प्रारम्भिक शिक्षा अपनी भाषामें अपनी संस्कृतिके अनुरूप आवश्यक होती है । बुद्धि पक्व होनेपर विदेशीय शिक्षा ज्ञानवर्द्धनका कारण हो सकती है, परंतु प्रारम्भमें तो वह भ्रम ही उत्पन्न करती है ।

पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे जो भारतीय विद्वानोंका वर्ग पाश्चात्त्य धारणाओंको अपने यहाँके ग्रन्थोंमें सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है, वह चाहे जितना उच्च बौद्धिक वर्ग हो, करता यह अहङ्कारकी प्रेरणासे ही है । अहङ्कार ही व्यक्तिको प्रेरित करता है कि अपनेमें वह सभी गुणोंका आरोप करे और दोषोंके लिये दूसरोंको दोषी ठहराये । 'हमारे यहाँ अस्पृश्यता नहीं थी !' पाश्चात्त्य दृष्टिमें सभ्य बननेके लिये शास्त्रोंका मनमाना अर्थ करके यह सिद्ध करनेकी अपेक्षा 'अस्पृश्यता थी !' इस प्रकार सत्यकी स्वीकृति अच्छी है । यदि पाश्चात्त्य

धारणा श्रेष्ठ है तो उसे स्वीकार करना चाहिये; परंतु बात तो ठीक उलटी है। 'हमारे यहाँ अस्पृश्यता थी और वह होनी चाहिये। वह श्रेष्ठ है।' उसके मर्मको न समझकर पाश्चात्य सभ्यताने उसे बुरा माना। पाश्चात्य प्रभावसे हम एक अच्छाईको बुराई मान लें और तब कहें कि यह हमारे यहाँ नहीं थी, यह कोई बुद्धिमानी नहीं है। अस्पृश्यताकी भाँति जातिभेद, मूर्तिपूजा, देववाद, अवतारवाद, श्राद्धादि दूसरे धर्म एवं सिद्धान्त भी हैं, जो सत्य हैं, शाश्वत हैं।

चाहे शास्त्रोंको अस्वीकार करनेवाला 'प्रगतिवादी' वर्ग हो या शास्त्रोंसे पाश्चात्य मान्यता सिद्ध करनेवाला 'बुद्धिवादी' वर्ग, दोनों ही उस अन्वेषणकी प्रणालीसे प्रभावित हैं, जो पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने अपनायी है। भूमिमें खोदनेपर मिली हुई इमारतें, मूर्तियाँ, सिक्के तथा दूसरे पदार्थ, प्राचीन चित्र, खदानोंमें पत्थरोंमें प्राप्त सैकड़ों वर्ष पुराने जन्तुओंके प्रस्तरीभूत अवशेष, मरुस्थल या हिमप्रान्तमें मिले सुरक्षित शव तथा पिरामिडों एवं कब्रोंकी सामग्रियाँ, यही सब पाश्चात्य विज्ञानके अन्वेषणके साधन हैं। इन्हींके आधारपर संस्कृतियों एवं सभ्यताओंका इतिहास निर्धारित किया जाता है।

'विकासवाद' पर विचार करते समय इन साधनोंकी अपूर्णतापर विस्तारसे विचार किया जा सकता है। सभी यह स्वीकार करते हैं कि सम्पूर्ण पृथ्वी एक अनिश्चित गहराईतक कभी नहीं खोदी जा सकेगी। इस समय जितना भाग खोदा या ढूँढ़ा जा सका है, वह उस भागका एक सहस्रवाँ भाग भी नहीं, जिसका खोदा जाना अत्यावश्यक जान पड़ता है। अनेक ऐसे प्रमाण बार-बार मिलते हैं, जो पुराने स्थिर किये नियमों-को भ्रान्त सिद्ध कर देते हैं। इस प्रकार अभीतक ऐसा कोई नियम निर्धारित नहीं हुआ, जिसके सम्बन्धमें यह आशा की जा सके कि वह निरपवाद रहेगा। अन्वेषणसे प्राप्त सामग्री कितनी अल्प और अपूर्ण है, यह इससे समझा जा सकता है।

मान लीजिये कि पृथ्वीका वह भाग जिसे खोदा जा सकता है और पुरातत्त्व-विभाग जिसका खोदना आवश्यक मानता है, कुछ सौ शताब्दियोंमें खोद लिया गया। क्या तब इतिहासके समस्त प्रमाण उपलब्ध हो जायँगे ? पहली बात तो यह कि नगरों, वनों, खेतों, पर्वतों और समुद्रोंके नीचे तब भी भूमिका अधिक भाग अज्ञात रहेगा। वहाँ कुछ नहीं है, यह तो कैसे कहा जा सकता है। दूसरी बात यह कि भूमिका ऊपरी स्तर बराबर धूल, मिट्टीसे ढकता है। इसीसे प्राचीन सामग्रियाँ भूगर्भमें धीरे-धीरे चली गयीं। समस्त सामग्रियाँ प्राचीन होकर सड़ती हैं। लकड़ी, कपड़ा, कागज आदि तो शीघ्र सड़ता है; पर पत्थर, लोहा तथा दूसरी धातुओंमें भी परिवर्तन होते हैं। हम आशा नहीं कर सकते कि भूमिमें हम दस-बीस-लाख वर्ष पुरानी कोई वस्तु पा सकेंगे, जब कि पृथ्वीको रेडियमने अरबों वर्ष पुरानी बता दी है। पृथ्वीके ऊपरी स्तर जैसे-जैसे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे ही नीचे दबी वस्तुओंपर दबाव बढ़ता जाता है। बहुत नीचे पृथ्वीके स्तर टूटकर एकाकार हो गये हैं। वहाँ किसी पदार्थका बने रहना सम्भव नहीं। यदि वहाँ कुछ रहा हो तो वह भूमिसे एकाकार हो गया। इस प्रकार उपलब्ध सामग्री एक निश्चित कालसे पीछेकी हो नहीं सकती। इस सामग्रीमें भी काल जितना अधिक लंबा होगा, पदार्थ उतने सड़े, दुर्बल होंगे। वही पदार्थ मिलेंगे, जो सड़नेसे बच रहे। यदि हमें प्राचीन काल-के वस्त्र और कागज नहीं मिलते तो इसका अर्थ यह नहीं कि वे थे ही नहीं—उस समय केवल पाषाण या धातुका उपयोग होता था। ये 'पाषाणयुग' तथा 'धातुयुग' केवल काल्पनिक हैं। उस समयके काष्ठको पानेकी हम आशा कैसे कर सकते हैं।

जो पदार्थ हमें खोदनेसे मिले हैं या मिलते हैं, वे क्या किसी समयके सचमुच प्रतीक हो सकते हैं ? यह एक विचारणीय विषय है। ऐसा तो कोई स्थान अभी कहीं मिला नहीं है, जहाँ खोदनेपर केवल पत्थर या केवल धातुकी सामग्री मिली हो। सभी सामग्रियाँ कुछ-न-कुछ मिश्रित ही मिलती हैं। आज साधुओंकी रहन-सहन, गरीबोंकी रहन-सहन, विद्वानों और सम्पत्तिशालियोंकी रहन-सहन क्या समान है ? क्या एक भीलोंके ग्राम और नगरमें समान सामग्री मिलती है ? क्या भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें ही अन्तर नहीं है ?

कल्पना कीजिये कि कोई पुरानी समाधि खोदी गयी। वह साधुकी, बौद्ध भिक्षुओंकी हो तो वहाँ मिट्टीके पात्र, साधारण पाषाणके बर्तन तथा कुल मिट्टी, पत्थर या लकड़ी-की बहुत सामान्य वस्तुएँ निकलेंगी। क्या इसका अर्थ यह होगा कि उस समय लोग कारीगरी नहीं जानते थे ? यदि कहीं खोदनेपर टाटानगरकी भाँति कोई औद्योगिक नगर मिले तो यह परिणाम निकलेगा कि उस समय सारे संसारमें केवल लोहा ही प्राप्त था ?

आज जहाँ भी खोदनेका काम होता है, यह जाननेका कोई साधन नहीं रहता कि उस समयके समाजमें उस स्थान एवं वहाँके लोगोंकी क्या स्थिति थी। आजके विद्वान्

उन अवशिष्ट सामग्रियोंसे उस समयके पूरे मानव-समाजकी कल्पना करते हैं। यह कल्पना वैसी ही है, जैसे कोई किसी उजड़े छोटे ग्रामकी दीवालों तथा खपरैलके टुकड़ोंको लेकर पूरे देशकी संस्कृतिका वर्णन करने लगे।

इस प्रकार आधुनिक अन्वेषणके सब आधार अपूर्ण और भ्रान्तिपूर्ण हैं। अत्यल्प, सन्दिग्ध प्रमाणोंपर किये हुए अनुमान कोरे तथ्यहीन अनुमान ही हैं। ऐसे अनुमानोंने इतिहासको बहुत भ्रमपूर्ण कर दिया है। विकासवादकी निर्मूल धारणा उस भ्रमको और भी जटिल बनाती है। यद्यपि महान् संग्रहालयोंके अध्यक्ष अब स्वीकार करने लगे हैं कि उनके संग्रहालयोंमें ऐसा कुछ नहीं, जो विकासकी धारणाको पुष्ट करे, फिर भी पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे प्रभावित विद्वान् इन अधूरे प्रमाणोंके अतिरिक्त और कोई आधार अपने अन्वेषणका न पाकर उसी अन्धकारमें भटक रहे हैं।

अन्वेषणकी पाश्चात्त्य प्रणाली उसके भौतिकवादपर निर्भर है। यह मान लिया गया है कि पदार्थोंका स्थूल रूप सत्य है। फलतः पदार्थोंको पृथ्वीके भीतर गड़ा हुआ या आकाशमे वायवीय रूपमे किसी-न-किसी रूपमे मिलना ही चाहिये। इसीसे जो कुछ पृथ्वीमे मिलता है, उसी कंकालके आधारपर इतिहासका काल्पनिक चित्र बनाया जाता है।

हिंदू-संस्कृतिके अन्वेषणमे ये कंकड़-पत्थरोंके प्रमाण किसी भी प्रकार प्रमाणकोटिमे लेने योग्य सिद्ध ही नहीं होते। हिंदू-संस्कृतिकी परम्परा इतनी प्राचीन है कि उसकी प्राचीनतामें जगत्का कोई पदार्थ अपने रूपमे बना रहेगा, ऐसी आशा नही की जा सकती। कालकृत इस दीर्घताकी बाधाके अतिरिक्त दूसरी बाधा सिद्धान्तकी है। भारतीय दर्शनोंके सभी मतोंमे पदार्थोंकी व्यक्त सत्ताको अमान्य किया गया है। जगत् एवं उसके पदार्थोंका आविर्भाव तथा तिरोभाव भारतीय दर्शनको मान्य है। जब पदार्थकी स्थूल सत्ता ही नहीं, तब स्थूल पदार्थके प्राचीन चिह्न मिलने कैसे सम्भव हैं।

स्थूल पदार्थोंके आधारपर हिंदू-संस्कृतिके अन्वेषण करनेवालोंकी कठिनाइयाँ तो द्वापरके अन्त और आजकी स्थितिके सामञ्जस्यमे ही इतनी बढ़ जाती हैं कि वे कोई ठीक समाधान नहीं कर पाते। द्वापरके अन्तको पाँच सहस्रसे कुछ ही वर्ष अधिक हुए हैं। महाभारतका युद्ध द्वापरके अन्तमे हुआ था। महाभारत तथा पुराणोंके वर्णनोंका आजकी सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, सभी बातोंसे सामञ्जस्य नही होता। वर्तमान इतिहास लगभग तीन सहस्र वर्ष पीछेतक जाता है। इन तीन सहस्र वर्षोंका विवरण विश्वस्तरूपसे प्राप्त माना जाता है। पाँच सहस्रसे तीन सहस्रके मध्यके दो सहस्र वर्षोंमे ऐसी कौन-सी महान् घटना विश्वमें हुई, जिसने समस्त विश्वके भूगोल एवं इतिहास-क्रमको भंग कर दिया—इसका कुछ पता नहीं।

महाभारतके वर्णनके अनुसार भारतका उस समयके सम्पूर्ण भूमण्डलके देशोंसे सम्बन्ध था। पृथ्वीके वर्तमान सभी देशोंकी भाषा, आचार, कलाकृति आदिमे ऐसे अंश पर्याप्त हैं, जो उनका भारतसे सम्बन्ध सूचित करते हैं। यह सम्बन्ध कब क्यों टूट गया, इतिहास इसे बतानेमें असमर्थ है। इसी प्रकार भारतीय रथों, दिव्यास्त्रों आदिका लोप भी एक समस्या है।

सर्पके मस्तककी मणि, गजमुक्ता, स्वयं प्रकाशित रत्न—इन सबका वर्णन इतने विस्तारसे प्राचीन शास्त्रोंमें है कि इनको केवल कवि-कल्पना नही कहा जा सकता। इसके साथ यह भी सत्य है कि आज संसारमे ऐसा कोई रत्न या मणि नहीं, जो अन्धकारमे थोड़ा भी प्रकाश कर सके। वह केवल चमकसे अपनी स्थितिमात्र सूचित कर दे, यही पर्याप्त है आज। कहीं कोई सर्पके सिरका मणि नहीं और न कहीं हाथीके मस्तकसे निकला मोती ही उपलब्ध है।

भारतमे जिस अपार ऐश्वर्य एवं सम्पत्तिका वर्णन हुआ है, क्या सब काल्पनिक है? स्फटिकके भवन, स्वर्णके विशाल नगर-जैसे यज्ञ-मण्डप, रत्नोंकी राशियाँ, क्या हुई सब? आजका पाश्चात्त्य सभ्यतामे दीक्षित अन्वेषक तो कह देगा कि यह सब कवियोंके स्वप्नकी बातें हैं। क्योंकि पदार्थोंकी स्थूल सत्ता स्वीकार कर लेनेपर उसके लिये दूसरा कोई मार्ग रह नही जाता।

भारतीय शास्त्र इस सम्बन्धमें मौन नहीं हैं। वे कहते हैं कि विश्वमें कोई महान् घटना हुई हो या न हुई हो, पदार्थोंका तिरोभाव होना तो सहज ही है। पदार्थोंकी स्थूल सत्ता केवल भ्रान्ति है। सभी पदार्थोंके अधिदेवता हैं। जब पृथ्वीपर किसी पदार्थको पानेके योग्य अधिकारी नहीं रह जाते, तब वह पदार्थ तिरोहित हो जाता है। जब फिर अधिकारी उत्पन्न होंगे, तब व्यक्त हो जायगा। वह भूमि या समुद्रके गर्भमे छिप नही जाता। स्थूल जगत्से ही लुप्त हो जाता है। यही बात कला, विद्या और दूसरे दिव्यास्त्रादि साधनों तथा शास्त्रोंके सम्बन्धमें कही गयी है। पदार्थ जब तिरोहित हो गया, तब पृथ्वी खोदने या समुद्र छाननेसे उसका पता कैसे लगेगा।

पाश्चात्त्य सभ्यताकी प्रेरणा वस्तुके स्थूल रूपको स्वीकार

करती है। इसीसे वस्तुका अन्वेषण, उसका हिसाब वहाँ प्रधान है। वहाँ भूमिसे मिले पदार्थ इतिहासके आधार माने गये। खेतों, घरों, दूकानों, गोदामोंमें चूहे, कीड़ों तथा पक्षियोंके भोजनका हिसाब किया गया। इस हानिसे बचनेके लिये उनके वधके उपाय किये गये। बराबर उन उपायोंका प्रचार हो रहा है। भारतने पदार्थकी स्थूल सत्ता अस्वीकार की। पदार्थ भावरूप हैं। वे भाव-जगत्में हमारे अधिकारके अनुरूप व्यक्त होते हैं। अतः यहाँका अन्वेषण पदार्थोंके अवशिष्ट कंकालपर निर्भर नहीं। यहाँ दूसरे जीवोंसे ईर्ष्या नहीं और न उनको मिटानेका प्रयत्न ही है। हिसाब चाहे जो कहे; किंतु भारतीय शास्त्र कहते हैं, डरनेकी कोई बात नहीं। हमारे भागकी उपलब्धि हमें होगी ही। चूहे, कीड़े, सब केवल अपना भाग लेते हैं। वे हमारा भाग नहीं ले सकते।

जैसे आजके मनुष्यका हृदय इतना संदिग्ध हो गया है कि 'वह विश्वास नहीं कर पाता कि पक्षियोंके मनमाना खानेपर भी वृक्षमें उसके भागका फल रहेगा ही, चूहे उसके भंडारमें कुछ घटा नहीं सकते, रक्षाका पूरा प्रयत्न करके वह जितना पाता है, उतना सबको पूरी छूट देकर भी उसे मिलेगा।' ठीक उसी प्रकार स्वतः-प्रकाश रत्नों, मणियों, दिव्यास्त्रों तथा दूसरी विद्याओंके सम्बन्धमें भी उसे सन्देह हो गया है। प्रत्येक विषयमें मनुष्य स्थूल गणित, स्थूल प्रमाण चाहता है।

अनेक बार इन्द्रजाल करनेवाले भावरूप पदार्थका दर्शन करा देते हैं। ऐसे महात्माओंके वर्णन हमें पढ़नेको मिलते हैं, जिनकी मानसिक पूजाके पदार्थ बाहर किसी कारणसे प्रकट हो गये। इन प्रकट पदार्थोंकी स्थूल सत्ता कहाँसे आयी? भावरूप पदार्थ भावकी प्रगाढ़तासे मूर्त ही तो हुए। इसी प्रकार सभी पदार्थ सृष्टिकर्ताकी भावनाके ही मूर्तरूप हैं। जगत्के जीवोंके अधिकारके अनुरूप उनका आविर्भाव तथा तिरोभाव होता रहता है। महाराज पृथुके समयमें पृथ्वीने सम्पूर्ण खाद्योंको तिरोहित कर दिया था, यह बात पुराणोंमें स्पष्ट कही गयी है।

पदार्थ केवल तिरोहित ही हो जायँ, ऐसी बात नहीं। अनेक बार उनका स्वरूप इस प्रकार परिवर्तित हो जाता है कि उनके पहले रूपसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं जान पड़ता। इस परिवर्तनका कोई प्राकृतिक कारण देना या जानना प्रायः शक्य नहीं होता। तीर्थोंमें स्फटिकशिला, रत्न-मण्डप आदिके वर्तमान रूपोंसे उनके नामोंका सम्बन्ध न देखकर उपहास करनेवाले इस तथ्यको समझ नहीं पाते।

कोयला हीरा बन सकता है, सेकीन बन सकता है और पता नहीं क्या-क्या बन सकता है; किंतु ये परिवर्तन स्थूल हैं, अतः हम इन्हें पहचान लेते हैं। किंतु राग जब द्वेष, भय, हिंसा, घृणा आदि किसी रूपमें बदलता है, अच्छे मनोवैज्ञानिक भी उसे कठिनाईसे ही विश्लेषित कर पाते हैं। भावरूप पदार्थोंमें जब भाव-जगत्से कोई परिवर्तन होता है, हम स्थूल नियमोंसे उसे जान नहीं सकते। फलतः स्थूल पदार्थ एवं स्थूल सिद्धान्त प्राचीन इतिहास तथा संस्कृतिके अन्वेषणमें सदा असमर्थ एवं भ्रामक रहते हैं। उनको आधार मानकर चलनेसे भ्रमकी ही वृद्धि होती है।

बिहार प्रान्तके माननीय गवर्नर श्रीमाधव श्रीहरि अणे महोदयने कहा है—'ईंट और ठीकरोंमें भारतीय इतिहासकी खोज हास्यास्पद है। वास्तविक भारतीय इतिहास तो वेदों, पुराणों और उपनिषदोंमें ही मिल सकता है।' वास्तविक बात यही है। मनुष्यका ज्ञान एवं भाषा ही अपनी अनवच्छिन्न परम्परा रखती है। संस्कृतिका ठीक रूप हम उन्हींमें प्राप्त कर सकते हैं।

मनुष्यके ज्ञानका साधारण सर्वमान्य नियम यह है कि वह कालक्रमसे विस्मृत होता जाता है। उसका ह्रास होता है और निमित्तोंके द्वारा वह जाग्रत् होता है। ये निमित्त उस स्थानसे आते हैं, जहाँ ज्ञानका स्तर ऊँचा हो। इस प्रकार ज्ञान अपनी परम्परा बनाये रखता है। क्योंकि मानवसमाज, विद्या, कला, संस्कृति—सब उसके ज्ञानपर निर्भर हैं, उसीकी अनुगामिनी हैं; अतः उनमें भी समष्टिरूपसे ह्रास ही होता है।

भाषाओंके सम्बन्धमें हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सभी भाषाएँ अपनी शक्तिके लिये अपनी मूल भाषापर निर्भर करती हैं। दूसरे शब्दोंमें, वर्तमान भाषाओंसे उनकी मूल भाषाओंमें अधिक शक्ति और क्षमता है। आज जिन्हें मूल भाषाएँ माना जाता है, वे भी एक भाषाकी विकृतियाँ मात्र हैं। मूल-भाषा एक ही है और वह संस्कृत है। इस प्रकार भाषाका इतिहास भी हमें ह्रासकी ही सूचना देता है।

मूलभाषा संस्कृत तथा उसमें सुरक्षित मूलज्ञान शास्त्रोंमें हमें प्राप्त है। श्रुति, स्मृति, पुराणसे यह ज्ञान क्रमशः ह्रासकी ओर चला है। मूलतः इस बातको भली प्रकार हृदयङ्गम करके यदि मानवज्ञान एवं भाषाओंकी छान-बीन हो तो संस्कृतियोंका ठीक अन्वेषणमार्ग मिल सकता है। यही मार्ग अन्धकारसे 'प्रकाश' की ओर प्रगतिका होगा। न केवल

भारतीय संस्कृति, अपितु मिस्र, यूनान, बेबीलोनिया, चीन, अमेरिका, दक्षिण अफ्रिकादिकी सभी प्राचीन संस्कृतियोंका ठीक अन्वेषण इसी पथसे सम्भव है; क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि विश्व-मानवकी आदि जन्मभूमि और आदिसंस्कृति एक ही है। वह पुण्यभूमि भारत ही है, जहाँसे मनुष्य पृथ्वीमें फैल गया और अपने साथ यहाँके संस्कारोंको ले गया। काल एवं परिस्थितिके प्रभावसे वही संस्कार अनेक संस्कृतियोंके रूपसे व्यक्त हुए।

देहतत्त्व-विज्ञान

(लेखक—प्रो० श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०)

जीवके साथ देहका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह केवल अत्यन्त गम्भीर ही नहीं, रहस्यमय भी है। देहको ज्ञान नहीं होता, और जीव कोई ऐसा नहीं होता, जिसे कभी देहका संसर्ग ही प्राप्त न हो। ऐसे जीवकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, जो सदाके लिये देहसम्पर्कसे हीन हो, जिसे कभी शरीरका स्पर्श न करना पड़े। देह-बद्ध और देह-बन्धनसे मुक्त—दो प्रकारके जीव या पुरुष होते हैं। जीव ब्रह्मका अंश है—'अंशो नानाव्यपदेशात्' (वेदान्तसूत्र २। ३। ४२)। गीतामें भी कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(१५। ७)

आविर्भावके पहले जीव ब्रह्मके अन्तर्गत रहता है, अतएव ब्रह्म ही रहता है। जीवके आविर्भावके साथ-साथ देह होती है। देह नहीं तो जीव नहीं। जीवका अर्थ है देही अथवा त्यक्तदेह या देहमुक्त।

जीवकी उत्पत्तिके लिये देह आवश्यक है। ब्रह्मसे पृथक् होकर शत-सहस्र जन्म-जरा-मरणके प्रवाहमें, परम्परा-क्रमसे शत-सहस्र देह धारण करके तथा उनका त्याग करके, असंख्य सुख-दुःख, पाप-पुण्य तथा धर्म-ज्ञानसे अभिज्ञता प्राप्तकर जीवकी जीवनयात्रा सुर-नर-तिर्यक् आदि नाना पर्वोमें कोटि-कोटि वर्ष व्याप्त होकर एक दिन अवसानको प्राप्त होती है। जीव लौटकर पुनः परब्रह्ममें मिल जाता है। वस्तुतः जीव ब्रह्मसे अलग होकर कभी नहीं रहता और न अलग रहना उसके लिये सम्भव ही है। तथापि वह इस सुदीर्घ यात्रामें देश-देशान्तर, दिग्-दिगन्तर परिभ्रमण करते समय अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् प्रतीत होता है। निश्चय ही यह सब अज्ञानवश होता है।

यह जो अचिन्त्य दीर्घयात्रा है, दुरन्त क्लेशमय चक्रमें घूमना है, असीम भवसिन्धुका तरना है—यही जीव-जीवन कहलाता है, इसीको संसार कहते हैं। जबतक यह आवागमन है, अविरत यातायात हो रहा है, तबतक जीव देहसे युक्त रहेगा—देहसे पृथक् नहीं होगा। देह-बन्धन जिस दिन टूट जायगा, उसी दिन इस दीर्घ भयावह व्यापारका अन्त हो जायगा। जीव मुक्त हो जायगा। यह देह प्राकृत देह है, त्रिगुणनिर्मित देह है, नश्वर शरीर है—

मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना।

परंतु जीव जब मुक्त होकर अमृत बनता है, तब वह अशरीरी, अमूर्त्त नहीं हो जाता—गुणमय देहसे मुक्त होकर दिव्य देह, चिन्मय देहसे युक्त होता है। वही देह चिदानन्दमय आत्माके चिदानन्दघन उपादानसे उत्पन्न होता है। इसीलिये आत्मसत्ता और देहसत्ता भिन्न नहीं होती। एक ही सत्ताके दो विभाव होते हैं—आत्मा और देह। देह अविनश्वर है और आत्मा सच्चिदानन्द, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प है। श्रुतिमें कहा है—

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।

मुक्त आत्मा अपने स्वतन्त्ररूपमें अभिनिष्पन्न होता है, अर्थात् प्रतिष्ठित होता है। वह वहाँ भ्रमण करता है, क्रीड़ा करता है, हँसता है, अतएव देहविशिष्ट है (छान्दोग्य ८। १२। २)। मुक्त होकर जीव ब्रह्ममें विलीन हो जाता है, ऐसी कल्पना अद्वैतवादी करते हैं। हमारी बुद्धिके अनुसार वेदान्तदर्शन अर्थात् बादरायणसूत्रोंमें ऐसी कोई बात नहीं। निरञ्जन परम साम्यको प्राप्त होता है, ब्रह्मधाममें प्रवेश करता है, नाम-रूपसे विमुक्त होकर परात्पर पुरुषको प्राप्त होता है, ये उपनिषद्गत वाक्य जीवके ब्रह्ममें विलीन होनेकी बात नहीं कहते। सहस्रशः कामनाएँ और वासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, आत्मा ब्रह्मके केवल अनुभवानन्द तथा सर्वसिद्धि-सम्पद्के साम्यको प्राप्त होता है—इसी अर्थमें 'ब्रह्मनिर्वाण' और 'ब्रह्मसायुज्य' शब्दोंका प्रयोग होता है। वेदान्तसूत्रका **'भोगमात्रसाम्यलिङ्गम्'** कहता है कि चिद्देह अद्वैत ज्ञानके प्रभावसे

चिदात्मामें भावसाम्यके द्वारा विलीनप्राय हो जाता है। कभी उसकी दिव्यभावमें स्फुरणा होती है, कभी जाग्रद्वत् और कभी स्वप्नवत्—इत्यादि बातें बादरायण मुनिने स्पष्ट करके कह दी हैं' (वे० सू० ४ । ४ । ८–१५)।

जीव अमृत और अविनश्वर है। जीवके नित्यत्वमें कभी व्याघात नहीं होता। यह सारे शास्त्रोंका सिद्धान्त है। समस्त विद्वानोंने इसे स्वीकृत किया है। यदि वह अरूप और अमूर्त्त होकर ब्रह्ममें विलीन हो जाय तो उसका नित्यत्व नहीं रह जायगा। अद्वैत ब्रह्मका नित्यत्व जीवके नित्यत्वको संहरण कर लेगा। जलबिन्दु सिन्धुमें मिलकर फिर जलबिन्दु नहीं रहता। अतएव निर्वाणको माननेपर जीवको नित्यतासे हाथ धोना पड़ेगा। वह अनित्य हो जायगा। निर्वाणका सिद्धान्त केवल कल्पनामात्र है, यह बौद्ध सिद्धान्त है। इसकी सांख्यने निन्दा की है—'अपवादमात्रमबुद्धानाम्'। नित्य जीवके नित्यदेह, सिद्धदेह, दिव्यदेह रहती है। यही सारे शास्त्रोंका सिद्धान्त है।

मुक्त जीवोंके सिद्धदेह भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी भावविशेषकी सिद्धिसे जीवकी मुक्ति होती है। सिद्धदेह उसी भावके अनुसार होता है। उसी भावानुबन्धिरूपमें उसकी स्फुरणा होती है। प्रत्येक जीव एक-एक सुन्दर, सुरम्य, स्वतन्त्र भावमूर्ति होता है, अलग-अलग परम सुन्दर सेवाविग्रह होता है। श्रुतिने कहा है कि जीव परम पुरुषके संग रहता है। उनके प्राण-प्राणमें गुँथा है। जब बद्ध जीव ही प्रभुका सखा है, तब मुक्त जीव तो निश्चय ही होगा। सखा निराकार अर्थात् अशरीरी नहीं होता। दिव्यदेह-सम्पन्न पुरुष या रमणीरूपमे अभिनिष्पन्न होकर अनन्त प्रेमानन्द-राज्यमे निःशेष सुखसम्पद्का आस्वादन करते हुए नित्य निवास करनेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये ही जीव संसारी बनता है। परब्रह्मका यही उद्देश्य है, सृष्टिका यही गूढ़ लक्ष्य है, इसीके लिये लाखों-लाखों वर्ष जन्म और मरणके दुःखोंमे दुर्दशाग्रस्त होना पड़ता है। लाखों कल्पोंके दुःख-शोक सार्थक हो जाते हैं चिद्देहमे अमृत-जीवनका प्रारम्भ होनेपर।

बद्ध जीवके चार देह हैं, तीन नहीं—(१) कारण-देह या कारण-शरीर, (२) लिङ्ग-देह या लिङ्ग-शरीर, (३) सूक्ष्म-देह या सूक्ष्म-शरीर, (४) स्थूल-देह या स्थूल-शरीर। जीव इससे लिप्त होता है, इसीलिये इसे 'देह' कहते हैं। गोंद लगाकर जैसे कागज तख्तेमे चिपकाया जाता है, उसी प्रकार जीव देहमें चिपक जाता है, लिप्त हो जाता है। अध्यात्मसाधनाके प्रभावसे यह देह क्रमशः क्षीण होकर शीर्ण हो जाता है। इसी अर्थमें इसे 'शरीर' कहते हैं। आत्मा, पुरुष और जीव—एक ही तत्त्वके तीन नाम हैं। जीवके तत्त्वका वर्णन सुविशदरूपसे भागवतमें किया गया है—

> अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
> प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥
>
> (३ । २६ । ३)

यह निर्गुण, ज्योतिर्मय, अनादि आत्मा प्रकृतिके प्रभावमें प्रवेश करता है। इस प्रकृति-प्रवेशका, प्रकृतिके भीतर जानेके सम्बन्धका, इस व्यापारका अवलम्बन करके ही पुरुष पुरुष होता है, स्वतन्त्र आत्मा बनता है, जीव होता है। अन्यथा जीव या पुरुष नामकी वस्तु कहीं नहीं; है तो केवल ब्रह्म। इसी कारण जीव प्रकृति-प्रविष्ट होकर अर्थात् प्रकृतिके अधीन होकर स्वतन्त्र कब हुआ, स्वकर्मोंके करनेका उत्तरदायित्व कब उसने ग्रहण किया—यह कोई नहीं जानता। ब्रह्म भी नहीं जानता। परंतु फिर भी आदि विद्वान् भगवान् कपिलजीने स्वतः समाधिदृष्टिसे उस प्रवेश-की एक दिव्य भावमूर्ति अङ्कित की है। त्रिगुणमयी प्रकृति त्रिगुण स्वभावके द्वारा त्रिगुणमय उपादानोंसे निरन्तर नयी-नयी सृष्टि करती है—अत्यन्त विचित्र, अत्यन्त मनोहर। ब्रह्मसागरसे फुल्ल-रञ्जित तरङ्गकी भाँति जाग्रत् होकर जीव ब्रह्मकी ही भावान्तररूपा उस सृष्टिकारिणी प्रकृतिको हठात् देखकर प्रफुल्ल हो उठा, विमोहित हो गया, ज्ञान भूल गया; उसने प्रकृतिको आत्मसमर्पण कर दिया।

> विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया।
>
> (श्रीमद्भा० ३ । २६ । ५)

समष्टि-पुरुष समष्टि-प्रकृतिका अवलम्बन करके विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर होते हैं, और व्यष्टि-पुरुष व्यष्टि-प्रकृतिका अवलम्बन करके विश्व, तैजस और प्राज्ञ जीव होते हैं।

पुरुष अर्थात् जीवने प्रकृतिके भीतर प्रवेश किया, वह प्रकृतिके साथ सम्मिलित हुआ। इससे अव्यक्त प्रकृतिको जो आद्य भावान्तर या रूपान्तर प्राप्त हुआ, अर्थात् अव्यक्तने जिस रूपमे अभिव्यक्त होकर सृष्टिके आदिमें जीवको आश्रय दिया, वह रूप ही 'महत्तत्त्व' है। इसीके व्यष्टि-विभागको 'कारण-शरीर' कहते हैं; क्योंकि यही जीव-जीवनका सर्वस्व है। यही अहङ्कार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि तथा सुख-दुःख, धर्माधर्म, सारे तत्त्व, सारी वृत्ति और सारे विकार मूल

कारण है। (the primordial cause of the whole evolution) इसीका नाम शरीर है; क्योंकि यह निश्चय ही एक दिन शीर्ण होकर नष्ट हो जायगा। यही है—'भिद्यते हृदयग्रन्थिः'। इसीका नाम 'आनन्दमय कोष' है। क्योंकि सत्त्वगुणकी प्रधानताके कारण इसमें आनन्दकी प्रचुरता है। कोष इसलिये कहते हैं कि आधारपात्रके समान यह समस्त जीवनको धारण करता है। इसका एक नाम 'सुषुप्ति' है; क्योंकि जाग्रत्-स्वप्नादि अवस्थाएँ इसीमें जाकर विलीन होती हैं।

दूसरा है लिङ्ग-शरीर। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, पञ्च तन्मात्रांश तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार—इन सबका सूक्ष्म समन्वय (subtly incorporated) ही लिङ्ग-शरीर कहलाता है। वस्तुतः यह तेईस अवयवों या अंशोंवाला होता है। पञ्च प्राणोंको छोड़ दें अथवा पञ्च तन्मात्राओंका हिसाब न रक्खें तो इसके अठारह अङ्ग माने जाते हैं। संसारी जीवके जीवन-यापनके लिये, उस अत्यन्त जटिल और मिश्रित क्रिया-परम्पराके सम्पादनके लिये जो अत्यन्त आश्चर्यमय ज्ञान-चैतन्य यन्त्र (the wonderfully complex mechanism) है, वही 'लिङ्ग-शरीर' कहलाता है। गीतामें कहा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।

ज्ञान, विज्ञान, वितर्क, विचारादिसे युक्त, सङ्कल्प, विकल्प, अनुभव, संस्कार, स्मृति आदिसे सम्पन्न जिस दुर्गम दुर्ज्ञेय प्रकोष्ठमें बैठकर मायाश्रित जीव सांसारिक जीवन यापन करता है—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यादि तथा इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्यादिका साधन करता है—उस प्रकोष्ठका नाम ही 'लिङ्ग-शरीर' है। इसको हम 'मानस-शरीर' कह सकते हैं। लिङ्ग-शरीर जीव-जीवनका स्वतः सञ्चालित विवरण-यन्त्र है तथा सर्ववृत्तान्तोंका आधार (an ever-working automatic record machine) है। प्रतिक्षण मन-वाणी और शरीरसे, जाने अथवा अनजाने, इच्छासे या अनिच्छासे जीवनमें जो कुछ किया जाता है, सोचा जाता है या अनुभूत होता है, सब कुछ लिङ्ग-शरीरके भीतर लिख जाता है, लिपिबद्ध हो जाता है, अङ्कित और चित्रित हो जाता है। लोग जो चित्रगुप्तके हिसाबकी बात कहते हैं, वह लिङ्ग-शरीर ही है। सहस्रों-सहस्रों संस्कार इस लिङ्ग-शरीरमें प्रतिक्षण धारण होते रहते हैं। यही अदृष्ट देवताका सूक्ष्म वृत्तान्त-ग्रन्थ है। यह निखिल कर्मफलोंका भंडार है। कर्माशय, कर्मवासना, आशा-निराशा, अतीत, वर्तमान और भविष्यत्—सब-के-सब लिङ्ग-देहरूपी फलक (तख्ते) पर खुदे हुए रहते हैं। जन्म, जाति, स्वभाव, चरित्र, मति, गति, रुचि, प्रवृत्ति—सबका निरूपण और निर्णय होता है लिङ्ग-शरीरके द्वारा। अङ्ग-अवयव, आकार-वर्ण आदि सबकी रचना लिङ्ग-शरीर करता है। लिङ्गके शीर्षस्थानीय मन-बुद्धि-अहङ्कारके छायालोकके आसनपर बैठी है निर्गुण निर्विकार पुरुषकी चञ्चल छायामूर्ति। उसीका 'पुरुष' नामसे परिचय दिया जाता है। पातञ्जलदर्शनमें कहा गया है—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। (२। २०)

जो प्रत्ययानुपश्य है, वही पुरुषाकारा बुद्धि अथवा ग्रहीता पुरुष (Reflection spirit) है। यह यथार्थ पुरुष नहीं है, छाया-पुरुष है। यह छाया-पुरुष लिङ्ग-शरीरमें मुग्ध और मोहित हो रहा है। सारी क्रियाएँ प्रकृतिकी हैं। पुरुष इसे न समझकर अपनेको कर्त्ता मानता है।

कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते॥

(श्रीमद्भा० ३। २६। ६)

—यही प्रत्ययानुपश्य है।

लिङ्ग-शरीर पुरुषकी अनादि भ्रान्ति और मोहके ऊपर अवस्थित है। जीव-जीवन भी एक भ्रान्तिका प्रवाह ही है। संसार एक विशाल विमोह है, चिरकालतक रहनेवाली भूल (a long-lasting mistake) है। जबतक मोह-भङ्ग नहीं होता, तबतक लिङ्ग-देहका पतन नहीं होता। मोह-भंगको ही दूसरे शब्दोंमें 'विवेकख्याति' या 'परमप्रसंख्यान' (the supreme understanding involving realization of the spirit's freedom from nature) कहते हैं। इस मोहभङ्ग तथा देह-भङ्गके लिये लाखों-लाखों कल्प अतिवाहित हो सकते हैं। फिर तीव्र संवेगसे अनन्य साधनाके फलस्वरूप एक ही जन्ममें लिङ्ग-शरीरका पतन होकर मोक्ष प्राप्त हो सकता है। लिङ्ग-नाम अर्थपूर्ण है—**'लयं गच्छति, इति लिङ्गम्'**। लिङ्ग-शरीर कोटि-कल्पस्थायी होनेपर भी इसका ध्वंस अनिवार्य है। एक दिन यह छिन्न होगा ही। जितना ही दृढ़, जितना ही टिकाऊ (tenacious) हो—टूटेगा ही। यह नित्य देह नहीं है—इस बातको सदा याद रखनेके लिये ही ऋषियोंने इसका नाम रक्खा है 'लिङ्ग-शरीर'।

वेदान्तमें वर्णित पञ्चकोषोंमें तीन लिङ्ग-शरीरके अन्तर्गत हैं। ज्ञानशक्तिसम्पन्न विज्ञानमय कोष कर्तृत्व भोग करता है;

इच्छाशक्तिविशिष्ट मनोमय कोष कामनाका केन्द्र है, सङ्कल्प और विकल्पका साधक है। अनुभव (perception and feeling), स्मृति और संस्कार आदिका आधार मन है। प्राणमय कोष क्रियाशक्तिशाली है। साधारणतः लोग 'मन' और 'अन्तःकरण' शब्दोंसे जो समझते हैं, वह लिङ्ग-शरीर ही है। लिङ्ग-शरीरके भीतर तन्मात्राओंकी विशेष वृत्ति रहती है; विशेष क्रिया-साधकता रहती है। मन-इन्द्रिय आदि करण-शक्तियाँ निरवयव, अदेशव्यापी होकर भी जो तन्त्र-ग्रन्थि-बद्ध (in a state of cohesion) रहती हैं, प्रायः अङ्गाङ्गि-संयोगयुक्त रहती हैं—इसका कारण यही है कि ये तन्मात्राओंका आधार लेकर रहती हैं, तन्मात्राओंमें लगी रहती हैं। तन्मात्राएँ सूक्ष्म भूत (original subtle material substances) हैं। जिस प्रकार तन्मात्राएँ त्रिगुणात्मक हैं, इन्द्रिय-मन आदि भी उसी प्रकार त्रिगुणात्मक हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि स्वच्छ (translucent) हैं; ये चिदालोककी रश्मिके प्रतिबिम्बको ग्रहण कर सकते हैं। पञ्चभूत स्थूल और अस्वच्छ हैं, वे ग्रहण नहीं कर सकते। तन्मात्राओंकी स्थिति दोनोंके मध्यमें है। इन्द्रिय आदिके समान चित्-प्रतिबिम्बको ग्रहण नहीं कर सकतीं; परंतु सूक्ष्म स्वभावके कारण इन्द्रियादिको स्थूल-देहके साथ, लिङ्ग-देहको मांसशोणितमय शरीरके साथ युक्त करनेकी योग्यता रखती हैं। तन्मात्राओंकी यह अत्यावश्यक वृत्ति (function) है।

तीसरा है सूक्ष्म-शरीर। यह लिङ्ग-शरीरके समान तान्मात्रिक शरीर नहीं है, ज्ञान-करण अथवा अन्तःकरण-शक्ति भी नहीं है; यह है सूक्ष्म पाञ्चभौतिक शरीर। रक्त और मांसका शरीर जैसे भोग-शरीर होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर भी भोग-शरीर होता है। लिङ्ग-शरीरमें सुख-दुःखका भोग नहीं होता। लिङ्ग-शरीर सुख-दुःखको नियन्त्रित करता है, सुख-दुःखका विधान करता है। मानसिक दुःखका कारण मनमें रहता है। परंतु भोग (suffering) सूक्ष्म देहमें होता है। स्वर्ग-नरकादिके सुख-सम्भोग, दुःख-दुर्दशा, ज्वाला-यन्त्रणा—सबका अनुभव सूक्ष्म-देहमें होता है, मानस शरीरमें नहीं होता।

मृत्युकालमें जीवात्मा देह छोड़कर मुक्त नहीं हो जाता। पाश्चात्त्य साहित्यिक और दार्शनिक लोग जो यह समझते हैं कि मरनेके बाद आत्मा अनन्तमें मिलकर आनन्त्य प्राप्त करता है, यह घनघोर अज्ञान है। आत्मा मृत्युकालमें स्थूल देहका त्यागकर सूक्ष्म-देहसे अपने-अपने कर्मोंके अनुसार अपने-अपने उपयुक्त लोकोंमें सुख-दुःखका भोग करनेके लिये चला जाता है। सूक्ष्म-देह स्थूल-देहके भीतर चिरकालतक रहता है; उसकी नयी सृष्टि नहीं होती। सूक्ष्म-शरीरका नाम 'आतिवाहिक' शरीर है। इसी शरीरमें रहकर जीव लोकान्तरमें गमन करता है, उत्क्रमण करता है।

अभिनव दूसरा देह ग्रहण किया जाता है दीर्घकालके बाद; जब पुनः जन्म होता है तब—मृत्युकालमें नहीं। मृत्युकालमें जीव सूक्ष्म-देहमें बद्ध होकर महायात्रा करता है।

सांख्यकारिकामें इस सूक्ष्म-देहके विषयमें विशेष उल्लेख मिलता है। वहाँ इसका नाम 'विशेष' शरीर है। 'विशेष' शरीरके बिना लिङ्ग-शरीर टिक नहीं सकता, प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

> चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो यथा विना छायाम्।
> तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥

लिङ्ग-शरीर स्वयं निराश्रय है, सूक्ष्म-शरीर लिङ्ग-शरीरका आश्रय है। सूक्ष्म-शरीरको अंग्रेजीमें astral body कहते हैं। प्रेततत्त्व-विद्यामें इस विषयकी विशेष आलोचना की जाती है।

नारकी पापात्माओंके सूक्ष्म-देहमें और मरणोपरान्त स्वर्गलोकमें जानेवाले पुण्यात्माओंके सूक्ष्म-देहमें बहुत अन्तर होता है। पापात्माओंके दुर्भोग-देह भूत-प्रेत-पिशाचोंके कुत्सित आकारवाले वायुप्रधान देहके समान होते हैं। नाना प्रकारकी असहनीय यन्त्रणाओंके कारण उनकी बड़ी विकृत मूर्ति होती है। दूसरी ओर—

> ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
> मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥

—जिनके विषयमें गीतामें यह बात कही गयी है, उनके देह होते हैं देवदेहके समान तेजस्तत्त्वप्रधान, ज्योतिर्मय, सुन्दर और सुरम्य।

सूक्ष्म-देहका आकार स्थूल देहके अनुसार ही होता है। इसके अनेक प्रमाण हैं। संसारमें इसके सैकड़ों-सैकड़ों उदाहरण पाये गये हैं। सद्य ही लोकान्तर गये हुए आत्मीयजन नरलोकके आत्मीय जनोंको दिखलायी दे गये हैं—इसके अनेकों वृत्तान्त सभी देशोंके ग्रन्थोंमें लिखे पाये जाते हैं। जिस रूपमें, जिस मूर्तिमें मनुष्य जीते समय मर्त्यलोकमें विचरण करते हैं, उसी रूपमें प्रेतलोग मनुष्यकी आँखोंके सामने दिखलायी देते हैं। परंतु स्थूल-देहका आकार बदलता नहीं, छोटा-बड़ा नहीं होता, एक ही रहता

संगमर्मरकी सरस्वतीमूर्ति (बीकानेर)

शिशुसहित मातृमूर्ति (भुवनेश्वर)

भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे
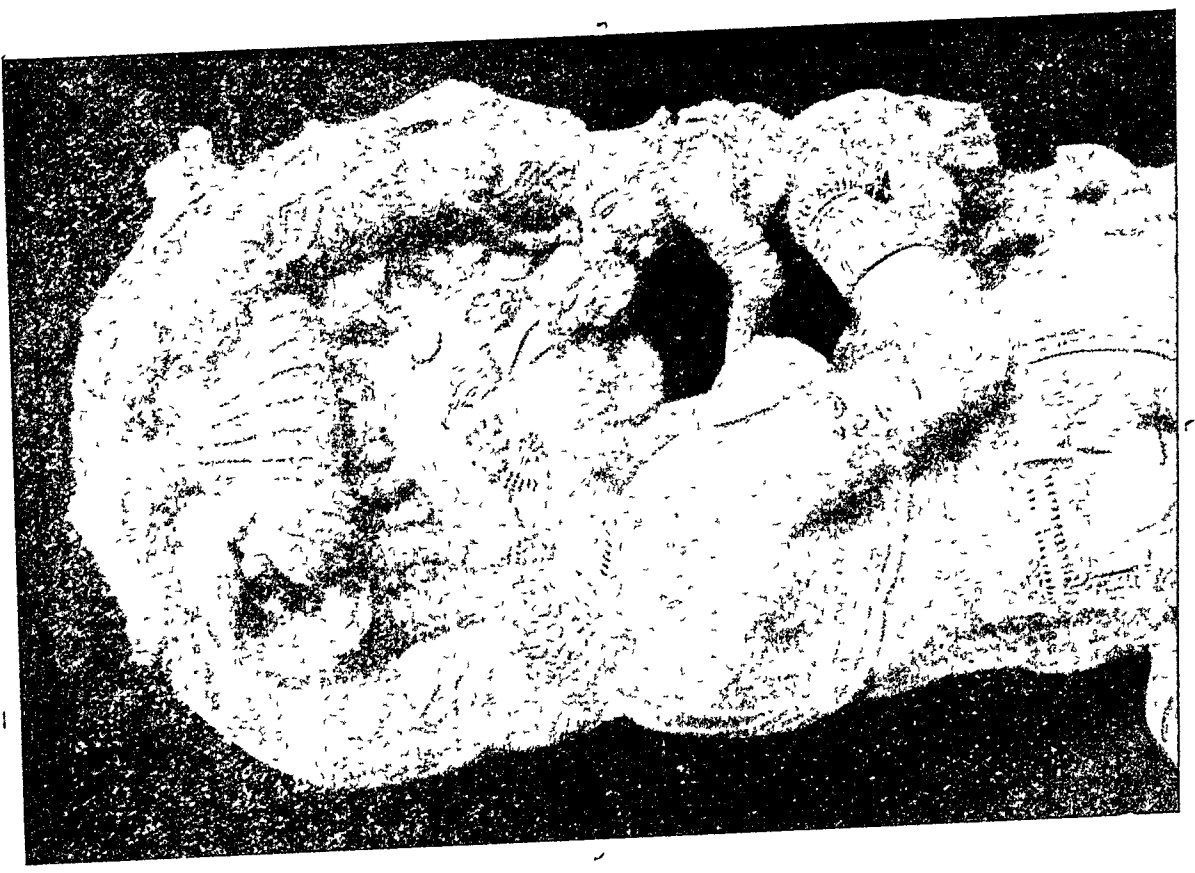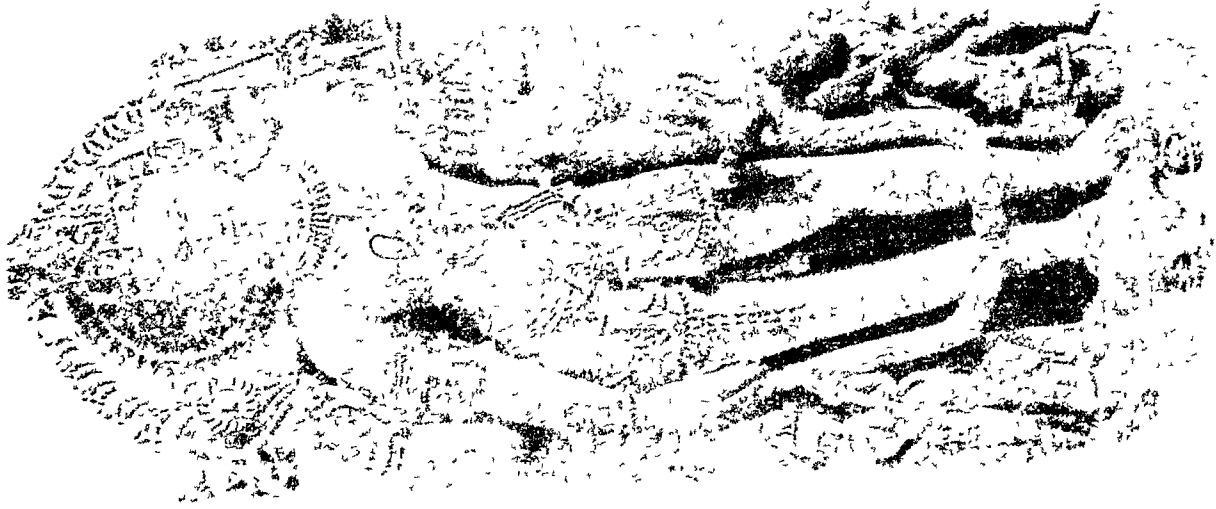
वानरराज हनुमान्
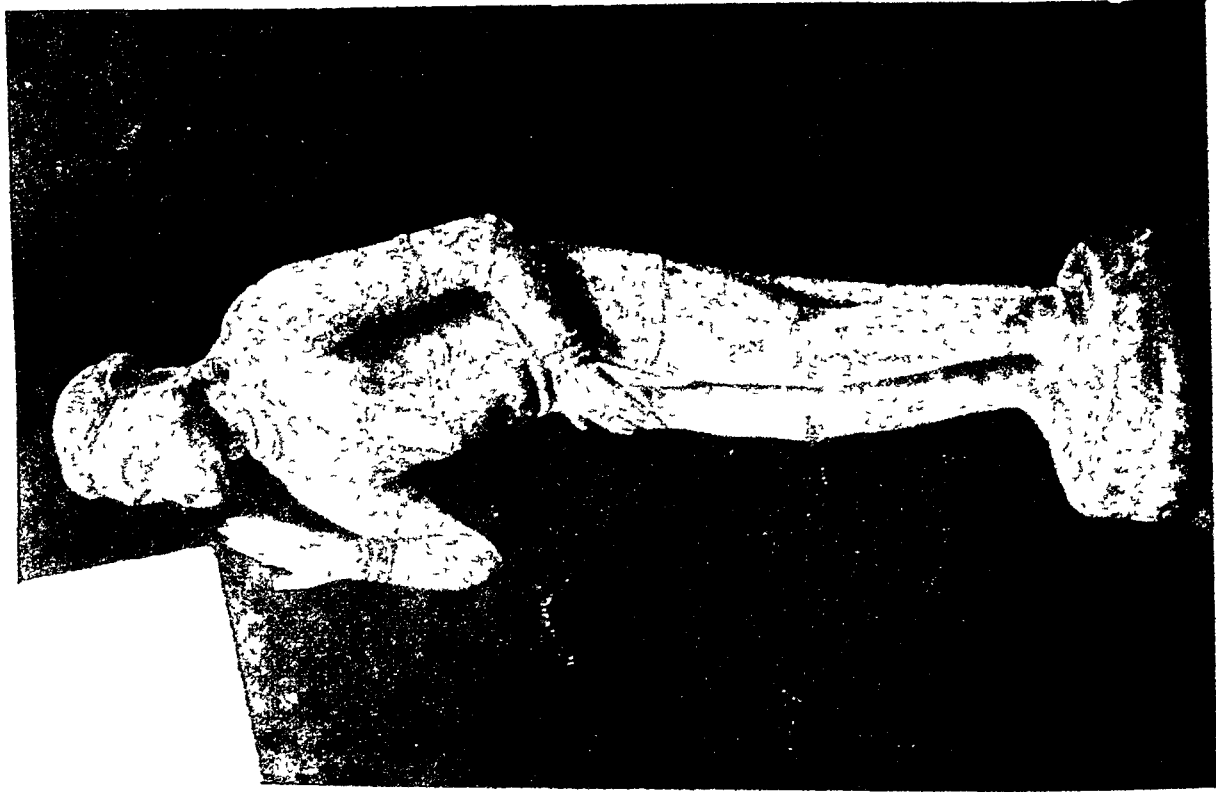
दक्षिण भारत ११ वीं शती]

संगमर्मरकी सूर्यमूर्ति (काबुल)
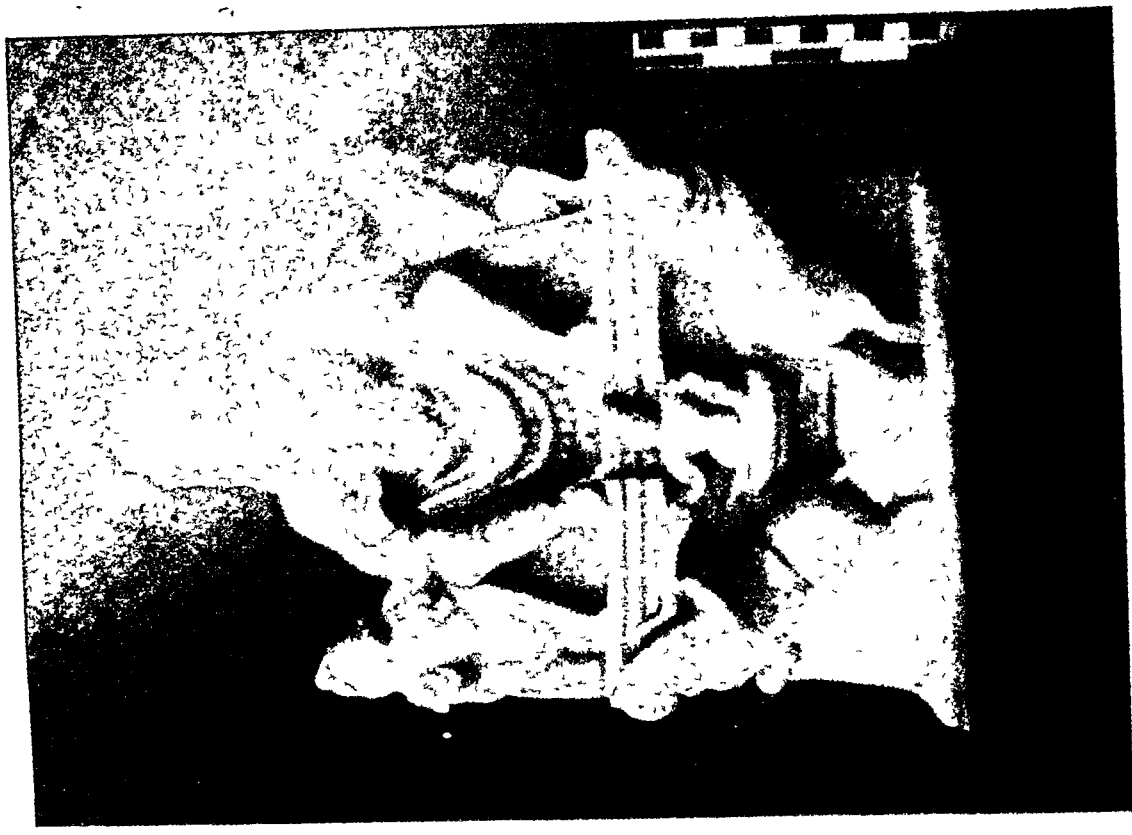
[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

है; सूक्ष्म-देह सङ्कोच-प्रसारशील होता है, उसका आकार परिवर्तित होता है, उसमें घनत्व और कठिनत्व नहीं होता। वह प्रत्यवस्थागामी होता है, स्थूल-देहके अन्तर्गत होकर धीरे-धीरे वृद्धिको प्राप्त होता है। परंतु जिस प्रकार स्थूल-देह सारे प्राकृतिक नियमोंके अधीन रहता है और नैसर्गिक विधानके अनुसार वृद्धिको प्राप्त होता है, सूक्ष्म-देह उन नियमोंके अधीन नहीं होता—अग्नि-जल, शीत-उष्ण आदिके द्वारा विकृत नहीं होता; क्षतिग्रस्त नहीं होता।

चौथा है स्थूल-देह। यही देह सांसारिक जीवनके समस्त विषय-व्यापार और व्यवहारका क्षेत्र है। साक्षात् सब प्रकारकी क्रियाओंके चलानेवाले यन्त्र इसी देहके अन्तर्गत हैं। दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन आदि वृत्तियोंके साधक चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा आदि इन्द्रियोंसे युक्त मस्तक, ग्रीवा, वक्षःस्थल, उदर, बाहु, हस्त, जङ्घा और चरणादिसे युक्त विचित्र अस्थि-संस्थानके अवलम्बनसे धारण किया गया नाना प्रकारके अवयवोंसे युक्त देह ही मानव-जीवनकी भित्तिभूमि है। नाना प्रकारकी वृत्ति-प्रणालीसे परिपूर्ण यह मानव-शरीर है। श्वास-प्रश्वास-प्रणाली, रक्त-प्रवहण-प्रणाली, शक्ति-सञ्चरण-प्रणाली, स्नायुजालके द्वारा बाह्य विश्वकी वेदनाकी अनुभव-प्रणाली, परिपाक-प्रणाली, मल-निःसरण-प्रणाली—इत्यादि प्रणालियोंको लेकर यह विचित्र देह-यन्त्र बना है। मस्तकमे भाग-भागमे मस्तिष्क-मज्जा, वक्षःस्थलमे हृत्पिण्ड, फुफ्फुस, पञ्जरास्थि-विधान, निम्नोदरमे यकृत् आदि है, इसके पश्चात् जननेंद्रिय है। देहयन्त्रके भण्डारमे छोटे-छोटे यन्त्रोंका अन्त नहीं है। त्वक, चर्म, मांस, रक्त, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र—ये आठ धातुएँ देहमे है।

इसी शरीरको लेकर मनुष्य व्यापृत है, व्यस्त और विमुग्ध हो रहा है। हृदय-मन, आत्मस्वरूप, विवेक-विचार और विज्ञान—मनुष्य सबको भूल जाता है इस देहके महा-मोहमे पड़कर। वह देहको ही सर्वस्व मान लेता है, इतर प्राणियोंके भावोंसे युक्त हो जाता है। ज्ञान-विज्ञानमें भी देहात्मवादी हो जाता है, देह-सुखका अन्वेषण करता रहता है। देहातिरिक्त किसी सूक्ष्म तत्त्व, आत्मा आदि किसीको स्वीकार नहीं करता। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—इस सत्यको भूल जाता है। शरीर धर्मसाधनका, परम पुरुषार्थके साधनका प्रधान उपाय है—यह ज्ञान उसको नहीं रहता। रूप-स्पर्श आदिसे रहित देह-सुखके अनुभव-प्रवाहमे बहता हुआ अन्धकारमे चला जाता है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।

—इत्यादि प्रदीप्त उपदेशोंको वह तुच्छ समझता है, सुख-लालसामे उन्मत्त हो जाता है। देह व्याधिग्रस्त होकर विकल हो जाता है, सड़ने, गिरने और गलने लगता है; तब भी उसे चेत नहीं होता कि सुख आत्माकी वस्तु है, देहकी नहीं। योगशास्त्रविद् ऋषि कहते है—

मांसास्थिस्नायुमज्जादिनिर्मितं भोगमन्दिरम्।
केवलं दुःखभोगाय स्नायुसन्ततिगुम्फितम्॥

सुख-कामनामे उन्मत्त मनुष्य इस दिव्यवाणीको नहीं सुन पाता। देहमे ही आत्मसमर्पण करके अधःपतनको प्राप्त होता है, अन्धकूपमे निमज्जित होता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

देहात्मवादी लोग आत्मघाती होते है, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं।

अस्थि, मांस, शोणित, स्नायु और पेशियोंसे बना हुआ यह शरीर प्रायः सम्पूर्णरूपेण तामसिक है। इसकी जो प्राण-स्पन्दनक्रिया है, उसमे रजोगुण काम करता है; सत्त्व आच्छन्न, लुप्त है। इस संघातमय तमःपुञ्जभूत स्थूल-देहके गम्भीर और घने तमोराशिके अन्तस्तलमे एक अपूर्व उज्ज्वल ज्योतिमूर्तिमय राज्य है। संसारके किसी देशकी धर्म, ज्ञान-विज्ञान या दर्शनसम्बन्धी कोई विद्या-बुद्धि इस निविड़ और घन तमोराशिको भेदकर उस दिव्य ज्योतिका पता नहीं पा सकी है। उसकी कल्पना भी किसी ज्ञानी-विज्ञानी या दार्शनिकने नहीं की, इसका स्वप्न भी नहीं देखा। उसी स्वर्गसे भी समुज्ज्वल सम्पद्-राशिका आविष्कार किया था भारतके योगी, ऋषि और मुनियोंने—अध्यात्म-विज्ञानवेत्ता, शक्तिसाधनसिद्ध तान्त्रिकोंने। भारतवर्षकी आध्यात्मिक संस्कृति एक अत्याश्चर्यमय व्यापार है। भारतवर्ष सहस्रों अति-मानवोंका आश्चर्यमय देश (a wonderland of Supermen) है। यहॉकी शिक्षा-साधना और संस्कृतिकी तुलना संसारमे अन्यत्र कहीं नहीं है।

कैसी सुदूरगामिनी, दूरदिगन्तप्रकाशिनी अन्तर्दृष्टि थी, और है—भारतवासियोंकी! मानवदेहके अभ्यन्तर व्यापारसमूहोंका जो आविष्कार तन्त्रविज्ञानशास्त्रने किया है, उसके सामने काव्योपन्यासकी कल्पना-छटा अति तुच्छ है। अज्ञ, ह्रस्वदृष्टि, लघुचित्तवाले व्यक्ति इस नित्य सत्य-समूहको उत्कट कल्पना कहकर अविश्वास कर सकते हैं। इसका कुछ आभास यहाँ दिया जाता है—

मेरुदण्डके एक ओर एक 'इडा' नामकी नाड़ी है । उसकी प्रभा चन्द्रमाके समान है । दूसरी ओर एक और नाड़ी है, उसका नाम है पिङ्गला; वह सूर्यके समान ज्योतिर्मयी है । मेरुदण्डके अन्तर्देशको भेदकर ऊपरको गयी है एक आश्चर्यमयी नाडी—उसका नाम है सुषुम्णा । वह ज्वलन्त रश्मिमयी है । यह चन्द्र-सूर्य और वह्निप्रभा है, यह एक दिव्य प्रभा-प्रणालिका है । तामसिकताके बीच जो निगूढ़ अध्यात्मशक्तियाँ हैं, प्रधानतः इस ज्योतिः-प्रणालीके द्वारा ही उनका जाना-आना होता है । गुह्य और लिङ्गके मध्यस्थानमें, मेरुदण्डके निम्नप्रान्तमें एक त्रिकोणास्थि-सन्धिक्षेत्र है, उसमें एक पद्माकारका स्नायुगुच्छ है । इसका तान्त्रिक नाम मूलाधार पद्म या आधारचक्र है । बाह्यदृष्टिसे इसका अंग्रेजी नाम 'Sacral plexus' है । सुषुम्णा नाड़ी इस आधारपद्मदलसे उठकर मेरुदण्डके मार्गसे मस्तिष्क—स्तरपरम्पराके शिरोदेश सहस्रदल कमलमें अवस्थित परम शिवशक्तिकी मूर्तिके अङ्कमें जा मिलती है । आधार-पद्म रक्तवर्ण है, इसमें चार दल हैं; वह अधोमुख होकर विकसित हो रहा है । चार दलोंमें चार वर्ण हैं—व, श, ष, स । उनकी तप्तकाञ्चन-सदृश आभा है । आधारपद्म क्षिति-तत्त्वकी अध्यात्मशक्तिका स्थान है । क्षितितत्त्वका बीज है—'लं' । उसमें एक देवमूर्ति है; वह चतुर्भुजी है, नाना अलङ्कारोंसे भूषित है, इन्द्रके समान है, ऐरावतारूढ़ है । इस देवताके अङ्कमें एक शोणितवर्ण बालक है, वह ब्रह्मा हैं । सुषुम्णा नाड़ीके अन्तर्गत एक और नाड़ी ऊपरको उठती है, उसका नाम है वज्रा । वज्रा नाड़ीके मुख-प्रदेशमें, मूलाधार पद्मकी कर्णिकामें एक त्रिकोण यन्त्र है । वह विद्युत्के समान दीप्तिमान् है । वह सुकोमल विलास-वैचित्र्यमय है । सुधा-सञ्चरणशील समीर-प्रवाहके समान एक मनोहर शक्तिका स्थान है यह कमलकेन्द्र । इस शक्तिका नाम है कन्दर्पशक्ति । कन्दर्प-समीर जीवात्माको घेरकर प्रवाहित हो रहा है, यह गुणातीत पुण्यशक्ति है । इसका प्रभाव राजसिक क्षेत्रमें कुत्सित काम है । कन्दर्पप्रभा भास्कर-रश्मिको भी विनिन्दित करती है । वह रक्तवर्ण है । इस यन्त्रके मध्यमें अधोमुख स्वयम्भूलिङ्ग विद्यमान है । वह गले हुए स्वर्णके समान कोमल है । उसकी किरणें पूर्णचन्द्रवत् हैं, वर्णमें नवपल्लवकी आभा है । स्वयम्भू लिङ्गके ऊर्ध्वदेशमें जगन्मोहिनी महामाया है । वज्रा नाड़ीके अन्तर्मार्गमें वहनेवाली ब्रह्मनाड़ी है । महामाया अपना मुँह फैलाकर ब्रह्मनाड़ीसे स्रवित सुधाधाराका पान कर रही हैं । वह प्रज्वलित दीप्तिराशि-स्वरूपा हैं । नवीन तडित्-मालाके सदृश उनकी कान्ति है । सर्पिणीके समान साढ़े तीन कुण्डली मारकर स्थित हैं । यही विद्वानोंकी सुप्रसिद्ध कुलकुण्डलिनी है । यह तेजःपुञ्जवती कुल-कुण्डलिनी मूलाधार पद्ममें निवास करती है । जीवनमें जितने रूप-राग-रस, काव्य-कला, शोभा-सौन्दर्य, प्रबन्ध-रचना आदि कार्य हैं, सभी कुल-कुण्डलिनीकी कृपा है । वह आधारपद्मदलमें निभृत रहकर मत्त मधुपकी गुञ्जारके समान अव्यक्त मधुर ध्वनि कर रही है । वह समस्त प्राणियोंको जीवन प्रदान कर रही है । त्रिगुणमयी प्रकृति कुलकुण्डलिनीके शासनके अधीन होकर ही विश्वकी अधीश्वरी हो रही है ।

आधारपद्मके ऊपर सुषुम्णाके सूत्रमें एक और पद्म है, जो लिङ्गमूलमें स्थित है । वह सिन्दूरके समान लोहितवर्ण है, षड्दलविशिष्ट है । उसका नाम स्वाधिष्ठान-पद्म है । उसके ऊपर समसूत्रमें अवस्थित मणिपूर पद्म नाभिदेशमें है, वह दशदलविशिष्ट है । नवीन नीरदके समान नीलवर्ण है । सुषुम्णा नाड़ी जहाँ हृद्देशमें मिलती है, वहाँ वह एक सुन्दर सुमनोहर कमल धारण करती है । वह कमल द्वादशदल है, बन्धूक-कुसुमके समान उसका वर्ण है । उसका नाम अनाहत पद्म है । उसके ऊपर कण्ठदेशमें विशुद्ध नामक षोडशदल कमल है । वह गहरा धूम्रवर्ण है । उसके आगे ललाटदेशमें आज्ञापद्म है; वह द्विदल है, चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण है, योगिजनोंके योगबलसे प्राण-स्थापनका स्थान है । इसीको लक्ष्य करके गीतामें कहा है—

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् ।

इसके आगे शिरोदेशमें स्थित, प्रत्येक दलमें पञ्चाशत्-वर्ण-विन्यस्त, नित्य सुखस्वरूप सहस्रदल पद्म है ।

प्रत्येक पद्म या चक्र एक-एक सुमहती अध्यात्मशक्तिके क्रीड़ा-विलासका राज्य है । विश्वजीवनकी यात्राके विशेष-विशेष विभावोंके ऐश्वरीय नियन्त्रणका क्षेत्र है, शासनतन्त्र और राजधानी है । क्षिति, अप्, तेज, वायु, आकाश—इन पञ्च प्राकृत भूततत्त्वोंके अप्राकृत अध्यात्म क्रियाकेन्द्र हैं—लिङ्गाधोदेश, लिङ्गोर्ध्वदेश, नाभि, हृदय और कण्ठ । प्रत्येक कमलक्षेत्रमें नाना रूप और वर्णमयी, अपूर्व शक्ति-भावच्छटामयी, आश्चर्यजनक शोभा-सौन्दर्य-सम्पत्से युक्त देव-देवियाँ हैं । वे अन्तहीन हैं, अचिन्तनीय हैं, परंतु पूर्ण मनोरम हैं, चित्तको धो देती हैं, हृदयको विशुद्ध करती हैं,

उद्दीपित करती हैं, धूलिधूसरित, कुटिल, कलुषित और कुत्सित संसारके लोभ और मोह-मायाको काट देती हैं। हृदय अमृत-आलोकके लिये लालायित हो उठता है। तामसिक देह-व्यूहको भेदकर आनन्द-ज्योतिर्मय लोकके लिये आकुलित होना ही शिक्षा-साधनाकी सफलता है।

परमार्थ-साधनाके समस्त पर्याय, समस्त मार्ग, जाने या अनजाने, तान्त्रिक साधकोंकी षट्चक्र-साधनाके साथ नाना प्रकारसे, नाना व्यवधानमें संयुक्त है। जैसे-जैसे रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियोंका प्रभाव निवृत्त होता जाता है, वैसे-ही-वैसे पार्थिव कामनाओंकी शृङ्खला क्रमशः टूटती जाती है, मन-बुद्धि और चित्त निर्मल होते जाते है। साधक नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मस्वरूप स्वर्गकी प्राप्तिके लिये अग्रसर होता है, ठीक उसी मात्रामे आधारपद्ममे सोयी हुई कुल-कुण्डलिनी जागती जाती है। कुल-कुण्डलिनी जागकर ऊपर आरोहण करती जाती हैं। साधककी अध्यात्मशक्तिकी वृद्धिके साथ-साथ, चित्त-शुद्धिके परिमाणके साथ-साथ, अन्तःकरणमे उज्ज्वलतर ज्ञान-भक्तिके आलोक-विकासके साथ-साथ, सारे संशय दूर होते जाते है, हृदयकी ग्रन्थि छिन्न-भिन्न होती जाती है। कुल-कुण्डलिनी जब ऊर्ध्वगमन करने लगती है, तब आधारसे आरोहण करके स्वाधिष्ठानमे प्रवेश करती है, स्वाधिष्ठानको भेदकर मणिपूरमे आरोहण करती है, मणिपूरको भेदकर अनाहतमे आक्रमण करती है, अनाहतको भेदकर विशुद्धमे, और विशुद्धसे आज्ञामे और आज्ञासे सहस्रारमें जाती है। सुखके बाद सुख, आनन्दके बाद आनन्द और उद्दीपनके बाद उद्दीपन प्राप्त होता है। उल्लास, उत्साह और विलास होता है। आकाशमे आरोहण करना, आलोकमे अवगाहन, दिव्य सुरापान, सुधा-स्नान प्राप्त होता है। सभी पुण्यमय, सभी पूर्ण, प्राणमय, गानमय और ज्ञानमय होता है। अमृत-स्रोतमे सन्तरण होता है, शत शत सुर-तान-लयका श्रवण, कोकिल-कूजन और भ्रमर-गुञ्जनका आस्वादन अनुभूत होता है। देह, मन और प्राण सभी अमृतमय हो जाते है। वहाँ पाप-पुण्य नही होता। सभी सुधातरङ्गमे प्रवाहित होते है। इस प्रकार स्थूल-देहके तमःप्रभावको जीतकर, अमृतभावनामे मर्त्यदेहको क्षयकर, भीतर और बाहर परमानन्द-पुरुषका अन्वेषणकर स्थूल-देह छोड़कर और उसके भीतर स्थित चित्-देहका पता पाकर, धीरे-धीरे निष्कामपथमे लिङ्ग-देहको क्षीणकर, अन्तःसुख, अन्तराराम, अन्तर्ज्योति, आत्मरति, आत्मतृप्त होकर, भगवन्मय मनःप्राण होकर, श्रीकृष्णके पादपद्मोमे आत्म-समर्पण करके मानव कृतकृत्य हो जाता है। चतुर्देहके चतुर्व्यूह छिन्न-भिन्न होकर मिल जाते है। पृथक्-पृथक् साधनाके अनुसार पृथक्-पृथक् सिद्धि लाभ होती है। इस तत्त्वको भारतवर्ष जानता है, और कोई भी देश नही जानता। इसीलिये भारतीय संस्कृति समस्त पृथ्वीके लिये आदर्श है, आकाश-प्रदीपके समान है।
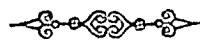
हिंदू-संस्कृति तुम्हें प्रणाम

कर्ता-धर्ता हैं भगवान।
मैं तो केवल हूँ अभिमान॥
करनेको हैं शास्त्र विधान।
धरने सत्य सनातन ज्ञान॥
'सत् चित् आनँद' अति कल्याण।
प्रभु निमित्त स्वामी जग-प्रान॥
आदि अनादि अमर अम्लान।
हिंदू-संस्कृति विश्व प्रधान॥
आर्योंके गौरव गुण-ग्राम।
हिंदू-संस्कृति तुम्हें प्रणाम॥

—डा० श्रीदुर्गेश्वर नन्दे

पुनर्जन्म

(लेखक—डा० सदाशिव कृष्ण फड़के, डी० ओ० सी०)

जीवका पुनर्जन्म मृत्युके पश्चात् तुरंत इसी लोकमें होता है या परलोक जाकर तब उसे लौटना पड़ता है, यह प्रश्न कभी-कभी उपस्थित होता है। शास्त्रोंमें ऐसे वचन हैं, जिनमें यह अर्थ निकलता-सा प्रतीत होता है कि मृत्युके पश्चात् जीव तुरंत इस लोकमें दूसरे शरीरमें जन्म लेता है। 'जैसे तृणपर रहनेवाला कीड़ा दूसरे तृणका आश्रय लेकर ही पहले तृणको छोड़ता है' (बृहदारण्यक० ४ । ४ । ३)। 'मृत्यु-क्षणमें जैसी बुद्धि होती है, वैसा ही अगला जन्म होता है' (गीता ८ । ५-६)। इसी प्रकार जातक-ग्रन्थोंमें कहा गया है कि मृत्यु-घड़ीमें ही अगले जन्मकी जन्म-कुण्डली तैयार होती है।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।

—इस जन्म-मृत्युपरम्पराके विधानका यही भाव मालूम होता है कि मृत्युके पश्चात् तुरंत पुनर्जन्म होता है। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि 'यदि जीवका परलोक जा सकने योग्य विकास ही न हुआ हो तो तुरंत भूलोकमें उसका जन्म होगा। मानव-जातिकी प्रारम्भिक असंस्कृत अवस्थामें मृत्युके पश्चात् तुरंत पुनर्जन्म हुआ करते होंगे। मरनेवालेका भूलोककी ओर अत्याकर्षण भी मरणोत्तर तुरंत पुनर्जन्मका कारण हो सकता है। कुछ बच्चे बचपनमें अपने पूर्वजन्मकी स्मृति प्रकट करते हैं और अपने पूर्वजन्मके माता-पिताको भी पहचान लेते हैं। इससे यह मालूम होता है कि बचपनमें मरे हुए अविकसित जीव और अकस्मात् जिनकी मृत्यु होती है, वे मरणोत्तर तुरंत जन्म लेते हैं। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि पूर्ण विकसित महात्मा भी परलोकगतिको अनावश्यक जान भगवत्कार्य अथवा लोकोद्धारके लिये मरणके पश्चात् तुरंत जन्म ग्रहण करते हों।' ('लाइफ डिवाइन' '२ । २२', थिआसोफी एक्सप्लेंड)।

इस प्रकार मरणोत्तर तुरंत जन्म तर्क-सम्भव होनेपर भी सामान्यतः ऐसा नहीं होता, यही शास्त्रोंका मथितार्थ और यही युक्तिसङ्गत भी मालूम होता है। अन्न खानेपर पुनः अन्न खानेका समय प्राप्त होनेतक खाये हुए अन्नका पाचन होना जैसे जरूरी होता है, वैसे ही मृत्यु होनेके बादसे पुनः जन्म लेनेतक बीचमें कर्मविपाकके लिये कुछ समय परलोकमें बिताना पड़ता है, इस आशयका वर्णन जीवकी मरणोत्तर परलोकगतिके सम्बन्धमें बृहदारण्यकोपनिषद् (४ । ४-६ । २) में है। तृणके कीड़ेके दृष्टान्तमें छोड़ने और पकड़नेके तृण तृणरूपमें दोनों समान होते हैं। ऐसा देहान्तर पुनर्जन्ममें सम्भव नहीं है। अविद्या अथवा संस्कारमें ही वह सम्भव है। अतः बृहदारण्यकके उपर्युक्त ४ । ४ । ३ में जिस देहान्तरका वर्णन है, वह स्थूल-देह छोड़कर तुरंत सूक्ष्म-देहसे परलोकमें जाना ही है। बृहदारण्यकके ४ । ४ । ४ में यही भाव स्पष्ट दीख पड़ता है। दूसरी बात यह है कि ब्रह्मलोकका आनन्दरूप ब्रह्मात्मा और भूलोकका अन्नमय भूतात्मा, जीवात्माकी केवल ये ही दो अवस्थाएँ नहीं हैं। इन दो अन्तिम अवस्थाओंके बीचमें प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय अवस्थाएँ हैं (तैत्तिरीय० २ । ३)। इन पिण्डगत अवस्थाओंके अनुरूप ब्रह्माण्डमें भी वैसे ही लोक हैं। उन सूक्ष्म लोकों और उन सूक्ष्म अवस्थाओंमेंसे होकर जीवका ऊपर जाना और पुनर्जन्मके लिये फिर नीचे आना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। फिर जब कल्पके आरम्भमें सृष्टिकी उत्पत्तिमें पूर्वकल्पके जीवोंके प्राप्त कर्मसंस्कारों और अपूर्णतासे पूर्णताको प्राप्त होनेकी अन्तःप्रेरणाको कारण मानना ही पड़ता है, तब पुनर्जन्मकी प्रक्रियामें भौतिक और आध्यात्मिक तथा व्यष्टिपरक और समष्टिपरक उभयविध क्रमोन्नतिके भाव होंगे ही। इस दृष्टिसे देखा जाय तो इस क्रमोन्नतिके अर्थ दृश्य इहलोककी अपेक्षा मरणोत्तर अदृश्य लोकमें ही जीवका बहुत अधिक वास होता है। (लाइफ डिवाइन, थिआसोफी एक्सप्लेंड)।

पुनर्जन्मका प्रयोजन

इच्छा, ज्ञान, क्रिया जीवकी सहज प्रवृत्ति है। अपूर्णसे पूर्णकी ओर जाना, दुर्निवार सहज अन्तःस्फूर्ति है। धर्माचरण करके जगत्में भले कहलाना सभी शीलवान् मनुष्य चाहते हैं। पुत्रैषणादि एषणाएँ, पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण आदि ऋणोंका विमोचन—ऐसी सभी प्रेरणाएँ सत्प्रवृत्त मनुष्योंमें होती हैं। कर्म, उपासना, योग, ज्ञान इत्यादि विविध साधनोंके द्वारा साधक परमार्थ-प्राप्तिकी इच्छा करते हैं। अध्ययन-अध्यापन, शास्त्र-संशोधन, लोकसेवा, लोकसंग्रह, राजकारण, कलावृद्धि, व्यापार, उद्योग आदि विविध ध्येय कर्तृत्ववान् लोगोंके सामने होते हैं। ये सब इसी बातके प्रमाण हैं कि जीव जड यन्त्र नहीं है, चेतन ईश्वरांश है। जीवमें कुछ लपेटा

हुई और कुछ खुलती हुई अनेक प्रेरक शक्तियाँ हैं। घडीमें सूईके पीछे जैसे उसका स्प्रिंग होता है, वैसे ही जीवके पञ्चकोश इन लपेटी हुई शक्तियोंके करंडक होते हैं। जड-वादी यह समझते हैं कि जडसे ही चेतनकी उत्पत्ति होती है। पर वे यह नहीं समझते कि जड़में यदि अन्तर्निहित चेतन न हो तो वह कहाँसे उद्भूत होगा। अभावसे भावकी उत्पत्ति कैसे होगी ? सारी सृष्टि व्यक्ताव्यक्तका खेल है। इच्छासे कर्म, कर्मसे वासना और उसका फल, कर्म और फल, रातके पीछे दिन, सङ्कोच और विकास, इहलोक-वास और परलोक-वास, अन्न-सेवन और उसका पाचन, सृष्टिक्रमके ये असंख्य द्वन्द्व-आन्दोलन हैं। इन्हींमें मृत्यु और पुनर्जन्म भी एक द्वन्द्व है। इसका रहस्य कर्मदेव और क्षेत्रज्ञ आत्मा जानता है और इसीलिये उत्क्रान्ति तथा विकासके योग्य, बाह्यतः भली-बुरी परिस्थितिमें, अन्तरात्मा देहात्माके द्वारा पुनर्जन्म लिया करता है। कोई भी देहात्मा विकलाङ्गोंसे युक्त देहमें, दरिद्रतामें, दुःशील माता-पिताके यहाँ, निकृष्ट जातिमें, पर-तन्त्रतामें स्वेच्छासे जन्म नहीं ले सकता। परंतु ऐसी ही परिस्थितिमें जन्म लेनेसे प्राक्कर्मोंका परिशोध होगा और जीवका उद्धार होगा, यह अन्तरात्मा जानता है। इसीलिये वह क्षेत्रज्ञ अन्तरात्मा जान-बूझकर ऐसा जन्म लेना स्वीकार करता है। बच्चा लुढ़कता-पुढकता चलना सीखता है, सुखका मूल जाननेके लिये दुःखका अनुभव आवश्यक होता है। प्रतिकूल परिस्थितिके साथ सङ्घर्ष करते हुए जीवकी सामर्थ्य, वैराग्य, विवेक-संयमादि गुणोंका संवर्धन होता है। पुनर्जन्मका यह गूढ़ रहस्य जन्मे हुए देहात्माको ज्ञात नहीं होता। इसीसे वह दैव अथवा ईश्वरको कोसता है। ईश्वरीय योजना तो कुछ ऐसी ही प्रतीत होती है कि जीव सब प्रकारके अनुभवोंसे ज्ञानी बने। यह अनुभव और ज्ञान पूर्णरूपसे प्राप्त करनेके लिये अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। यही पुनर्जन्मका प्रयोजन है। इस रहस्य-को अन्तर्यामी विज्ञानात्मा जानता है। इसीसे विज्ञानात्माका बोध जिन्हें प्राप्त होता है, वे साधु-संत चाहे जैसी बाह्य दुःस्थितिमें भी सुखस्वरूप ही रहते हैं।

सामान्य स्पन्दन, संवेदना, विषय-ग्रहण, सहज प्राकृत बुद्धि, तर्कबुद्धि, विचार, भाषा, ग्रन्थ; शाब्दिक ज्ञान, विषया-सक्ति; बाह्य जीवनार्थ कलह, भेदबुद्धि, स्वार्थका मोह, स्वस्वरूप-की विस्मृति; पशुवृत्ति, अधःपतन—यह सारा लौकिक सुधार-वादका वृत्त है। इस समस्याका सम्पूर्ण समाधान पुनर्जन्म-परम्पराके द्वारा जीवका अनुभवपूर्ण श्रेष्ठ पद लाभ करना है। आज बाह्य वैषयिक सुधार अपनी चोटीतक पहुँच गया है। इसके साथ ही ऐहिक स्वार्थ, बर्बरता और धर्म-विरोधकी भी चरमावधि हुई है। स्वैराचारने सत्-शील, शुभ वासना और पवित्र भावनाको पैरोंतले कुचल डाला है। यन्त्रोंने हस्त-कौशलका अन्त किया है। कानूनबाजीने न्याय-नीति और धर्मको अपदस्थ किया है। जगत्के वर्तमान नेताओं और उनकी अनुयायी जनताके अनेक पुनर्जन्म होनेके पश्चात् यह स्थिति चाहे तो सुधर सकती है। अन्यथा कोई उपाय आज नहीं दीख पड़ता।

एक दूसरी दृष्टिसे विचार करते हुए ऐसा दीख पड़ता है कि इस विचित्र संसारमें अलौकिक कलाकार और प्रतिभावान् विद्वान् प्रायः व्यवहारज्ञानशून्य होते हैं। जो विरक्त हैं, उन्हें लोकसंग्रह नहीं भाता। शरीरतः बलिष्ठ कसरती जवान अप्रबुद्ध होते हैं, धनवान् प्रसङ्गावधान और प्रायः संयमसे रहित होते हैं। शाब्दिक विद्वानोंमें उतनी भी यथार्थ बुद्धि नहीं होती, जितनी पशुओं और वनमानुषोंमें होती है। पक्षियोंमें जो स्वतन्त्रता होती है, वह मनुष्योंमें नहीं देखी जाती। किसीके पास एक वस्तु है, तो दूसरी नहीं। यह जो मायाका विचित्र खेल है, इससे जीव अनुभव प्राप्त करते-करते परमोच्च ध्येयको प्राप्त हो, यह एक जन्ममें सधनेवाली बात नहीं है। एक जन्ममें, एक शरीरमें, एक परिस्थितिमें सब कुछ सध जाय, यह सम्भव ही नहीं है। एक जन्ममें देहात्माका पूर्ण विकास होनेके लिये कई वर्ष लगते हैं, इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्माके पूर्ण विकासके लिये अनेक पुनर्जन्म आवश्यक होते हैं। क्षेत्रज्ञके दीर्घजीवनमें एक जीवन एक दिनके समान है। अनेक श्रेणियोंकी सृष्टिके इस विद्यालयमें एक जीवन एक श्रेणी है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारकी पूर्णता प्राप्त करनेकी अन्तःस्फूर्त एषणा जीवमें ही होती है। ब्रह्मके सिवा इस जगत्में और कुछ नहीं है। फिर भी अज्ञान-दशामें स्थूल, सूक्ष्म शरीर और उनके स्थूल, सूक्ष्म लोक-व्यवहार बन्धवत् प्रतीत होते हैं। यह अज्ञान दूर हो—इसके लिये बार-बार इनका अनुभव प्राप्तकर, इन्हें आत्मसात् करके सहजावस्थामें आ जानेके लिये इहलोकमें यथावश्यक पुनर्जन्म ग्रहणकर कर्म, उपासना, ज्ञान आदि योग-साधन करना आवश्यक होता है। पुनर्जन्मका यह एक व्यापक हेतु है।

पुनर्जन्मके प्रमाण

स्थूल दृष्टिसे विचार करते हुए पुनर्जन्मके चार-पाँच प्रमाण सामने आते हैं—१-आप्तोपदेश अथवा श्रुति (बृहदा-रण्यक० ६। २। १३; छान्दोग्य० ५। १०। ६; प्रश्न० १।

९। ५-६; कौषीतकि०, मनुस्मृति १२। १९-२२; गीता ४। ५; २। २७; गरुडादि पुराण, जातकादि ज्यौतिष-ग्रन्थ, चरकादि वैद्यक-ग्रन्थ)—यह सब शब्दप्रमाण है। २—माता-पितासे सर्वथा भिन्न स्वभावके सन्तानोंका उत्पन्न होना। चरकसंहितामें इसे पुनर्जन्मका प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है। ३—फल-बीजन्यायके अनुसार पिछले जन्ममें किये हुए कर्मके फलरूप पुनर्जन्मका होना अनुमानप्रमाण है। ४—बोये हुए बीजका फल बीजके ही अनुरूप होगा, उससे भिन्न नहीं हो सकता—यह इसमें युक्ति है (चरकसूत्र ११। ३० से ३३)। भृगुसंहितादि ज्यौतिष-ग्रन्थोंमें पुनर्जन्मके फलादेश मिलते हैं। इन फलादेशोंको कोई माने, या न माने; पर इनसे यह तो प्रमाणित होता ही है कि भृगुसंहितादिको पुनर्जन्म मान्य है। जातक-पारिजातमें यह विधान है कि मृत्युसमयके लग्नमें अमुक ग्रहयोग होनेसे पुनः मृत्युलोक प्राप्त होता है अर्थात् पुनर्जन्म होता है (अ० ५। १८। १९)। ५—पुनर्जन्म कार्यानुमेय है। कुछ घटनाएँ ऐसी हैं, जिनका कार्य-कारण-सम्बन्ध पूर्वजन्म और पुनर्जन्म माने बिना समझमें ही नहीं आ सकता। ऐसी कुछ बातोंका निर्देश करते हैं। पूर्वजन्म सिद्ध होनेसे पुनर्जन्म आप ही सिद्ध होता है। (क) नन्हे बच्चे नींदमें पूर्वजन्मकी स्मृतिसे कभी हँसते, कभी डरते दिखायी देते हैं। रेंडीके तेलमें भिगोकर कपड़ेकी चूसनी बनाकर नन्हे बच्चेके मुँहमें दी जाय तो बच्चा मुख फेर लेता है। शहदकी चूसनी बनाकर दी जाय तो उसे सुखपूर्वक चूसने लगता है। यह रुचि पूर्वजन्मकी स्मृतिका ही सूचक है। नवजात बच्चेके हाथमें बारीक-सी कोई छड़ी दी जाय और उसका सहारा-सा देकर बच्चेको लिया जाय तो बच्चा कुछ क्षणोंतक छड़ी हाथसे नहीं छूटने देता। इसमें भी पूर्वजन्मका संस्कार ही कारण है। माताका स्तनपान करनेकी ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, यह सहज बुद्धि पूर्वानुभवका होना सूचित करती है। (ख) किसी-किसी बालकको पूर्वजन्मकी स्मृति भी हो आती है।* योगियोंको भी पूर्वजन्मकी स्मृति होती है। यह प्रमाण निरुत्तर करनेवाला है। पूर्वजन्मकी इन स्मृतियोंको उपस्थित मनुष्यों और पदार्थोंसे मिलाकर देख सकते हैं (मनुस्मृति ४। १४८, १४९; पतञ्जलि; Rents in the veil of time; Study in Consciousness; Harmsworth Popular Science, Vol. VI; Occult Review, July 1912)। देहात्मा प्रत्येक जन्मका भिन्न होनेसे सबको पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं होती। जिनको होती है, उन्हें क्षेत्रज्ञकी प्रेरणासे होती होगी। (ग) भिन्न-भिन्न मनुष्योंके भौतिक ज्ञान और नैतिक भावना-मान एक दूसरेसे बहुत ही भिन्न होते हैं। (घ) शील-सदाचारसम्पन्न कुलोंमें दुराचारी और दुराचारियोंके कुलोंमें सदाचारी उत्पन्न होते समय-समयपर दीख पड़ते हैं। (ङ) मा-बाप और बेटोंके बीच स्वभाव, रुचि और बुद्धिका बड़ा अन्तर दीख पड़ता है। (च) लोकोत्तर प्रतिभासम्पन्न कवि, तत्त्ववेत्ता, शास्त्रज्ञ, कलाकार, ग्रन्थकार, साधक, सत्पुरुष हीनचरित्र कुलमें भी उत्पन्न हुए दीख पड़ते हैं। (छ) लोकोत्तर प्रतिभासम्पन्न माता-पिताके बुद्धिहीन, दुराचारी सन्तान भी देखे जाते हैं। (ज) एक ही माता-पितासे उत्पन्न यमज सन्तान भी एक दूसरेसे स्वभाव, शील आदिमें सर्वथा भिन्न होते दीखते हैं। ऐसे प्रसङ्गोंमें आनुवंशिकताका सिद्धान्त काम नहीं देता। (झ) भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी परिस्थितियाँ, उनकी आधि-व्याधियाँ, उनके शरीरमें जन्मसिद्ध अंगविकलता, उनकी सामर्थ्य, उनके भाग्य और ऐश्वर्य, उनके विकासके लिये प्राप्त अवसर कितने एक-दूसरेसे भिन्न होते हैं—यह सभी देखते हैं। इस भिन्नताका कारण इस जन्ममें नहीं मिलता। (ञ) किसी-किसीपर आनेवाली आकस्मिक आपत्तियाँ—उदाहरणार्थ बाल-वैधव्य, असाध्य रोग, लूट-मार या डाका, जलप्रलय, अग्निप्रलय, दरिद्रता, अपकीर्ति, अपघात आदिका भी कोई कारण इस जन्ममें कहीं नहीं मिलता। इन सबका कारण पूर्वजन्मकृत कर्म न माना जाय तो ईश्वरको घोर अन्यायी, स्वेच्छाचारी और अत्यन्त निष्ठुर मानना पड़ेगा। (ट) मृत्युकी पहेली पुनर्जन्मवादसे ही समझमें आती है। (ठ) ईश्वरके न्याय-निष्ठुर होने और साथ ही दयामय होनेका मेल पुनर्जन्मवादसे ही बैठता है। (ड) हमारी बुद्धि और वासना तथा हमारी आकाङ्क्षाएँ और परिस्थिति—इन सबके झगड़े पुनर्जन्मवाद माने बिना हल नहीं होते। (ढ) जीवात्माके अमरत्वपर जिनका विश्वास है, उन्हें जन्म-परम्परा अनादि माननी पड़ेगी। अर्थात् प्रत्येक जन्म पुनर्जन्म सिद्ध करेगा। (ण) इस जन्ममें बिना कुछ

---

* अभी कुछ ही दिनों पहले युक्तप्रान्त, बदायूँ जिला, बिसौली-के इण्टरमीडियट कालेजके प्रोफेसर श्रीबाँकेलालजी शर्मा एम० ए०, शास्त्रीके नन्हेसे पुत्रने अपने पूर्वजन्मका अपना, घरवालोंका, फर्मका नाम बताकर तथा सम्बन्धियोंको पहचानकर सबको आश्चर्यमें डाल दिया था। (देखिये—'भारत' प्रयाग २७। ८। ४९)

इसी प्रकार गोला गोकर्णनाथके डाक्टर श्रीशिवरतनलालजी त्रिपाठीकी ३॥ सालकी कन्या भी अपने पूर्वजन्मका सारा विवरण बतलाती है। (देखिये—'नव-भारत' ४। ९। ४९)

उद्योग किये धन, ऐश्वर्य, सुखभोग प्राप्त हो अथवा इसके विपरीत सारा जीवन सतत उद्योग और सत्कर्ममे लगकर भी यश प्राप्त न हो और अन्तमे कष्टमय अवस्थामे मृत्यु हो, इसमे पूर्वजन्म माने बिना कर्म और कर्मफलकी सङ्गति लगती नहीं। यही मानना पडता है कि एकके जन्मसे ही ऐश्वर्यका कारण उसका पूर्वजन्मकृत पुण्य है और दूसरेके सतत उद्योग और सत्कर्मका फल अगले जन्ममे मिलनेवाला है। (त) बहुत-से सत्प्रवृत्त कर्मियों और भावुक उपासकोंको अपने ध्येय-तक पहुँचनेके लिये एक जन्म पर्याप्त नहीं होता। उन्हे दूसरा जन्म लेना ही पड़ता है। (थ) बहुत-से बच्चे बचपनमे ही मर जाते हैं, बहुत-से जंगली लोग अविकसित यानी अज्ञानकी अवस्थामे ही मरते है। ईश्वरके न्यायमूलक राज्यमे हर किसीका पूर्ण विकास होना ही चाहिये। अतः इनके विकासके हेतु इनके लिये अनेक पुनर्जन्म मानने पड़ते है। (द) कुछ माता-पिता और उनके सन्तानोमे, कुछ सगे भाइयोमे, कुछ पति-पत्नियोमे परस्पर अत्यन्त विरोध पाया जाता है। इस जन्ममे इस विरोधका कारण नहीं दीख पड़ता। (ध) कुछ व्यक्तियोको देखते ही उनके लिये चित्तमे प्रेम और आदर उत्पन्न होता है और कुछको देखते ही चित्त खिन्च जाता है। इसमे पूर्वजन्मके सम्बन्ध ही कारण मालूम होते है। (न) ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, कर्तृत्वसम्पन्न पुरुष, कलाकार, संशोधक, राजनीतिविद् आदि महान् व्यक्ति अनुभव और ज्ञानकी वृद्धि होनेपर जब मरते है, तब उनके उस ज्ञान और अनुभव-का लाभ इहलोकके अन्य लोगोको भी हो—इसके लिये ईश्वरके इस न्यायमूलक राज्यमे उनका पुनर्जन्म मानना पड़ता है। (प) रावण और विभीषण, धृतराष्ट्र और विदुर, राणा प्रताप और अकबर, शिवाजी और सम्भाजी, पद्मिनी और कृष्णाकुमारी, अहल्याबाई और लक्ष्मीबाई, स्टालिन और हिटलर, गान्धी और जिन्ना इत्यादिकोके यश-अपयशका निर्णय एक जन्ममे होनेवाला नहीं है।

प्रत्येक वृक्षमे पत्ते लगते, बढ़ते और फिर झड़ जाते है। फिर उस वृक्षमें नवपल्लव आते हैं और वे भी कालक्रमसे झड़ जाते हैं। इन्ही पेड़-पत्तोंके विकासके समान क्षेत्रज्ञ आत्मामे देहात्माके पल्लव निकलते, बढ़ते और फिर झड़ जाते है और इस प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्माकी तथा देहात्माकी जन्म-परम्परासे प्रगति होती चले, यह युक्तियुक्त मालूम होता है। ध्येयवाद अथवा उत्क्रान्तिवाद एक जन्ममें सिद्ध नहीं होता। पुनर्जन्म-परम्परासे ही ध्येय-सिद्धिको पूरा अवसर मिलता है। जो कुछ हो, सृष्टि कोई जड यन्त्र नहीं है। उसमे ज्ञान और इच्छापूर्वक क्रिया है। जडमे ज्ञान और इच्छाका होना सम्भव नहीं। संवर्धन, पुनरुत्थान, हेतु, आगेकी कार्यनीति, जीवनेच्छा, अमृतत्वकी आकाङ्क्षा आदि चेतनके अनेक गुण-धर्म हैं। ये गुण धर्म जडके नहीं हैं। अतः जिस किसी भी प्रयोजनसे चेतन जीवका ही पुनर्जन्म होता है, केवल जड-देहका नहीं।

पुनर्जन्मकारक अन्य बातें

जीवका पुनर्जन्म कहाँ, किस प्रेरणासे अथवा किसके संगमे हो सकता है—इसकी कुछ निर्णायक बातें बतलायी जा सकती है—१-माता-पिताकी सन्तानसम्बन्धिनी तीव्र इच्छा और जन्म लेनेवाले जीवकी जननेच्छा—ये दोनो शक्तियाँ परस्पर आकर्षण करती हैं। २—ईश्वरीय योजनाके अनुसार क्षेत्रज्ञ जीवात्माकी स्वविषयक विकास-दृष्टि भी अमोघ है। ३—इस दृष्टिके अनुकूल अथवा प्रतिकूल जो प्राक्कर्म-संस्कार जीवके हो सकते है अथवा उनकी जो प्रतिक्रिया हो सकती हैं, ये दोनो बाते स्पष्ट ही निर्णायक अङ्ग है। इस विषयमे जीवके समग्र संचित कर्ममेसे जो कर्म फलोन्मुख हुआ हो अथवा कर्मदेवताने जीवके भोगके लिये आगे रक्खा हो, वही जीवका प्रारब्धकर्म ही तात्कालिक प्रेरक होगा। ४—पूर्व-जन्ममे प्रेम, ऋण, हत्या, वैर इत्यादि प्रकारके जिनसे जो सम्बन्ध बन गये हो, पुनर्जन्म उन सम्बन्धोंसे आबद्ध व्यक्तियोको एक जगह फिर ला छोड़ता है। पुनर्जन्मके कारणोंका अनुसन्धान करते हुए यह दीख पड़ता है कि कभी-कभी समानधर्मा जीव परस्पर आकर्षित होते है। कभी-कभी विषमधर्मा भी परस्पर प्रतिक्रियारूप सघर्ष करनेको एकत्र होते हैं। संसारमे हम यह भी देखते हैं कि वेश्याके मनोमोहक लावण्य एवं बनने-ठननेमें एक प्रकारकी दुःशीलता होती है। इसके विपरीत पतिव्रताकी सादगीमे पवित्र शील रहता है। कितने ही सुन्दर चित्रोकी पार्श्वभूमि काली होती है। उससे चित्रका सौन्दर्य खिल उठता है। इसी प्रकार हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद-जैसे पुनर्जन्मके विसंगत प्रकार भी देखनेको मिलते है। पुनर्जन्म लेनेवाला जीव योग्य माता-पिता चुन लेता है, यह बात ऊपर आयी है; पर योग्यायोग्यता परखनेकी यह दृष्टि देहात्माकी नहीं है। यह काम कर्मफल-विधायक दैवीशक्ति, समष्टि मन अथवा कर्मदेव और जन्म लेने-वाले जीवका अन्तरात्मा करता है। इसमे आकर्षण-विकर्षणके भाव विविध और गूढ होते हैं। ५—ज्यौतिष-शास्त्रके अनुसार

पुनर्जन्म-प्रक्रियामें भी ग्रहोंके योग माने जाते हैं। (जातक-पारिजात, आधान जन्म अ० ३; सन्तान-दीपिका, बृहज्जातक आदि) जीवकी गर्भकुण्डली अथवा जन्मकुण्डलीमें जन्म-कर्म-भविष्य जाना जाता है। मृत्युक्षणमें बनायी हुई कुण्डलीमें पुनर्जन्म जाना जा सकता है। भृगुसंहितामें जन्मलग्न-कुण्डलीसे भी पुनर्जन्म बतलाये गये हैं। यहाँके जीवोंका अन्य खगोलोंमें जन्म अथवा अन्य खगोलोंके जीवोंका यहाँ जन्म होना भी सम्भव है।

पुनर्जन्म और विकासवाद

विकासवाद आधुनिक विज्ञानकी देन है। सनातन-धर्मियोंकी हिंदू-संस्कृतिको कुछ लोग उसके विपरीत मानते हैं, यह उनकी भूल है (हिंदूइज्म ऐण्ड ब्राह्मणिज्म, पृ० १२; अभेदानन्दकृत 'री-इनकार्नेशन')। किञ्चित् विचार करनेसे यह दीख पड़ेगा कि हिंदू-संस्कृतिका पुनर्जन्मवाद आधुनिक विकासवादको अनायास हजम कर सकता है। यह उससे कहीं अधिक पूर्ण और निर्दोष सिद्धान्त है। आधुनिक विकासवाद देहका अथवा अधिक-से-अधिक देहात्माका विचार करता है। विकासवादमें परिवर्तन-प्रवृत्तिका एक सिद्धान्त माना गया है। पर इस परिवर्तन-प्रवृत्तिका कारण क्या है, इसका विचार विकासवादी नहीं करते। पुनर्जन्मका सिद्धान्त माने बिना परिवर्तन-प्रवृत्तिका वास्तविक स्वरूप भी सिद्ध नहीं होता। विकासवादी यह भी नहीं बतला सकते कि मनुष्योंमें एक तामसी पशुबुद्धि और दूसरी सात्त्विक सदसद्-विवेकी बुद्धि—यह दो प्रकारकी बुद्धि कैसे सम्भव होती है। एक ही समयमें अलौकिक प्रज्ञावान् पुरुष और अत्यन्त अप्रबुद्ध जंगली मनुष्य दोनो रह सकते हैं। वानरसे नरका विकास हुआ कहें तो हम देखते हैं कि लाखों वर्षोंसे असंख्य वानर और असंख्य मनुष्य एक साथ रहते चले आये हैं। इसका कोई समाधान विकासवादी नहीं कर सकते। सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होनेवाले सनत्कुमार-जैसे ईश्वरके मानसपुत्रोंको कोई अज्ञानी और जंगली कहे और ऐटम (परमाणु) बमसे लाखों निरपराध मनुष्योंको भस्म करनेवाले आजके मनुष्योंको सभ्य, सुसंस्कृत और ज्ञानी कहे तो ऐसा विकासवाद किसीके भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। आधुनिक विकासवादमें आत्मोन्नतिकी कोई भावना नहीं है। योग्यका वरण, जीवनके लिये कलह, बलिष्ठकी स्थिति आदि विकासवादके सिद्धान्तोंके अनुसार संवर्धित आजके सभ्य जगत्में पशुबुद्धि भरपूर है। नित्य-नवीन आधि-व्याधियोंकी कोई कमी नहीं है। आत्महत्या, उन्माद, आक्रमणी, हिंसात्मक राजनीति—इन्हीं सब चीजोंकी दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धि हो रही है। आजकी हिंस्र पशु-वृत्ति 'धर्मनिरपेक्ष' अथवा धर्मविरोधी अर्थ और कामके दम्भ और कपटमें छिपी बैठी है। इस आधुनिक विकासवाद-के 'योग्यका वरण' और 'जीवनार्थ कलह'—जैसे सिद्धान्तोंसे कपट, हिंसा, क्रूरता, अत्याचार आदि पशुवृत्तियोंकी वृद्धिका होना ही अनिवार्य है। एक तरहसे धर्मनिरपेक्ष शिक्षित जंगलीपनको ही मानव-विकास समझा जा रहा है। जो साम्य केवल आत्मामें है, उसे बरबस विषम स्वभाववाले देहमें ले आनेका हास्यास्पद प्रयत्न ही आजकी विकसित मानवताका प्रधान लक्षण माना जा रहा है। इस विकासवादके अनुसार मनुष्योंका यह कर्तव्य होता है कि मनुष्य स्वार्थप्रेरित विषयों-को वरण करें और जीवनसंग्राममें दुष्ट और बलिष्ठ सीधे-सादे और दुर्बल लोगोंको मारकर स्वयं जीयें और भोग करें। इसमें नैतिक और धार्मिक वृत्तियोंके संवर्धनके लिये कोई प्रेरक हेतु ही नहीं रह जाता। इसके विपरीत पुनर्जन्मवादमें यह सिद्धान्त गृहीत है कि क्रमसे जीवकी सत्त्वसंशुद्धि होती जाती है। हिंदू-संस्कृतिके पुनर्जन्मवादमें ऐहिक शारीर सौख्य अथवा विषयासक्ति ध्येय नहीं है। उसका रहस्य अन्तर्मुख और दिव्य है। हमारे पुनर्जन्मवादकी सात्त्विक वृत्ति स्वैराचारी रजस्तमोमय वरण-क्रिया और जीवनार्थ कलहवाले बहिर्मुख आधुनिक विकासवादका अन्तमें पराभव करनेवाली है। मनुष्य-का सच्चा पुरुषार्थ धर्मके द्वारा ही अर्थ और काम सम्पादनकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करना है। इस साध्य-साधनमें पुनर्जन्मकी उपयोगिता स्पष्ट है।

विकासवाद अज्ञानसे ज्ञानकी ओर, अभावसे भावरूपकी ओर अनन्त विकास ही मानता है। उसमें किसी मनुष्यका पुनर्जन्म मनुष्यसे हीन किसी योनिमें होना माना नहीं जा सकता। परंतु यह एकाङ्गी विकासवाद हमारे शास्त्रोक्त पुनर्जन्मवादको आमूलाग्र छोड़े हुए है। पुनर्जन्म अव्यक्तका समर्याद व्यक्त उपाधिमें प्रादुर्भाव है। मूलमें जो वस्तु नहीं है, वह पुनर्जन्ममें भी सम्भव नहीं है। अज्ञानसे ज्ञान या अभावसे भाव हिंदू-संस्कृतिके तत्त्वज्ञानमें नहीं है (गीता २। १६)। विकासका होना बाहरसे किसी नवीन वस्तुका पैदा होना नहीं है। वह अन्तस्सत्तासे अंदरसे ही बाहर प्रकट होता है। पुनर्जन्म कोई नया जन्म नहीं है। सनातन प्रत्यगात्मा केवल नया वेश धारणकर प्रकट होता है। जो ईश्वरीय ज्ञान आरम्भमें उच्च अथवा दीर्घकाल अव्यक्त रहता

है, वही प्रत्यवायके दूर होते ही व्यक्त होने लगता है। जो मूल कारणमें न हो, वह कार्यमें उत्पन्न हो ही नहीं सकता (राजयोग ४ । २-३)। अपूर्णसे पूर्णकी ओर जानेकी जो बात कही जाती है, वह प्रत्यवायभूत उपाधिकी अपेक्षासे कही जाती है।

उत्कर्षका गगनचुम्बी पर्वत आरोहण करनेमें बीचमें कहीं-कहीं उतार भी होते हैं। उसी प्रकार जीवके कर्मानुरूप तात्कालिक अधःपतन अथवा पशुकोटिमें पुनर्जन्म होना भी पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें गृहीत है। कारण, इस त्रिगुणात्मिका सृष्टिमें रजस्तमके उतार भी मार्गमें आते हैं। त्रिगुणात्मक सम्मिश्र कर्मका विपाक अत्यन्त गूढ़ है। भरतको मृगका जन्म लेना पड़ा। नलकूबर-मणिग्रीव वृक्ष बने। पुनर्जन्म-परम्पराके ये चढ़ाव-उतार चढ़ते-उतरते अन्तको यह सोपाधिक अपूर्ण, जन्मान्तरमें उपाधियोंका पूर्ण बाध होनेपर, अपने पूर्णत्वके साथ व्यक्त होता है। यह मूल स्थितिका विकास नहीं है। मूल स्थिति तो पूर्णत्वकी ही है। आत्मानात्मविवेक बुद्धिका काम है। नीति-धर्म निःस्वार्थ होनेकी शिक्षा देते हैं। परमात्माके साथ एकात्मता आध्यात्मिक पूर्णताका लक्षण है। आधुनिक देहात्मवादियोंके विकासवादमें आध्यात्मिक पूर्णताकी इस श्रेष्ठ प्रणालीको कोई अवसर नहीं है। वे देहात्माका बहिर्विकास चाहते हैं। परंतु अन्तर्यामी विज्ञानात्माका विकास इससे सर्वथा भिन्न और सूक्ष्म हुआ करता है। उसका एक जन्ममें पूरा होना अति दुर्घट है। यही पुनर्जन्मका प्रयोजन है।

विकास भी किसलिये? यह आधुनिक विकासवादी नहीं बतला सकते। कारण, आधुनिक विकासवाद एकाक्ष और हेतुशून्य है। स्वाभाविक गुणोंका ह्रास कहीं-कहीं क्यों होता जाता है? मनुष्यकी अपेक्षा निकृष्ट योनियोंमें कहीं-कहीं सहज बुद्धि और इन्द्रियज्ञान अधिक कैसे दीख पड़ते हैं? ऐसे-ऐसे प्रश्नोंके उत्तर यान्त्रिक विकासवादमें नहीं हैं। अथाह ज्ञानसागरकी ज्ञान-तरङ्गोंको ग्रहण करनेमें मस्तिष्कका अधिकाधिक समर्थ होना वस्तुतः मस्तिष्कका विकास नहीं है। अनेक पुनर्जन्मोंके द्वारा होनेवाला यह जीवविकास है। मस्तिष्क जीवका एक करण है। पुनर्जन्मका प्रयोजन मस्तिष्कका संवर्धन नहीं, इसकी अपेक्षा वह अधिक दिव्य है।

[हमारे शास्त्रानुसार विकासवाद युक्तियुक्त और सत्य नहीं है। जीवको कर्मफल-भोगके लिये अपने कर्म तथा वासनासे बाध्य होकर उच्च-नीच विविध योनियोंमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है (बृहदारण्यक ४ । ४ । ५ तथा छान्दोग्य० ५ । १० । ७ देखिये)। गीताके—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (२ । ४७)

—के अनुसार मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, परंतु भोगमें परतन्त्र है। गीताका—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(२ । २२)

—'जैसे पुराने वस्त्रोंको त्यागकर मनुष्य नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर नये शरीरोंको प्राप्त होता है' यह सिद्धान्त भी ठीक है। मरणके बाद जीवको उसी समय दूसरी देह मिल जाती है, परंतु वह स्थूलदेह नहीं होती। वह तेजः-प्रधान या वायु-प्रधान 'आतिवाहिक' देह होती है, जिसको ग्रहण करके जीव अपने पुण्य-पापानुसार विविध देवलोकोंमें अथवा पितृलोकके विभिन्न स्तरोंमें पहुँचता है और वहाँ सुख-दुःखका भोग करके पुनः नियन्ताके विधानसे यथायोग्य स्थूल देहको प्राप्त होता है।

इस प्रकार जीवका पुनर्जन्म अवश्यम्भावी है और उसका हेतु है 'कर्म'।]

उपसंहार

अज्ञानमें अन्तःक्रान्ति और जीव-जगत्के मूलस्वरूपकी ओर उत्क्रान्ति या विकास—इस प्रकारका यह खनिजकोटिसे देवकोटितक सृष्टि-क्रम अनादि कालसे अनन्त कालतक चलता ही रहेगा। अर्जुनको भगवान्ने गीतोपदेश सुनाना आरम्भ किया, तब दूसरे ही श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—'इस बातको समझो कि मैं पहले कभी नहीं था, यह बात नहीं है; इसी प्रकार तुम और ये राजालोग पहले नहीं थे, यह बात भी नहीं है। यह भी नहीं है कि हम सब आगे न होंगे।' यह पुनर्जन्मपरम्परा इसी प्रकार त्रिकालाबाधितरूपसे चलनेवाली है। महाराष्ट्रके कीर्तनकार कथा हो चुकनेपर अन्तमें संतश्रेष्ठ तुकारामका 'हेचि दान देगा देवा' यह अभंग गाया करते हैं। इसमें तुकारामजीने भगवान्से यह विनय की है—'भगवन्! मुझे मुक्ति या धन-सम्पत्ति नहीं चाहिये। पर ऐसा करो कि तुम्हारा कभी विस्मरण न हो।

तुम्हारा गुणगान करनेमें मेरा मन रँगा हुआ हो । सत्संगतिका सदा लाभ होता रहे । इतना दो । फिर भले ही पुनर्जन्म देते रहो ।' निवृत्ति-साधक विरक्त जीव पुनर्जन्मसे बचनेकी इच्छा करते होंगे, पर लोकसंग्रही संत पुरुष पुनर्जन्म-का भय या तिरस्कार नहीं करते । भारतीयोंको उनका सदा यही उपदेश रहा है कि ज्ञान, उपासना, कर्मके इस त्रिवेणी-संगमपर आनन्दके साथ पुनर्जन्म लेकर संसारमें वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हुए सुखपूर्वक रहो ।

कर्मकी प्रतिक्रिया

कर्मके महत्त्वको आज सारा संसार भूल गया है । कर्मकी सर्वव्यापकता, कर्मकी दुर्लङ्घनीय शक्ति और प्रत्येक मनुष्य तथा प्रत्येक जातिपर कर्मका प्रभाव कैसा नियमित पड़ता है, इसकी ओर किसीका भी ध्यान नहीं है ।

श्रीभगवान्‌ने निज मुखसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—'भगवान्‌का स्वभाव सच्चिदानन्दमय' एकरस है । उसी अलौकिक सत्ताका त्याग करके जो भूतोंकी उत्पत्ति कराते हैं, उसको कर्म कहते हैं ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥
(८ । ३)

प्रकृति त्रिगुणमयी है । रजोगुणके कारण प्रकृतिका परिणाम सदा होता रहता है । वह परिणाम कभी सत्त्वसे तमकी ओर और कभी तमसे सत्त्वकी ओर स्वभावसे होता है । जैसे प्रकृतिमें त्रिगुणका होना स्वभावसिद्ध है, उसी प्रकार यह परिणाम भी स्वभावसिद्ध है । इसी स्वभावसिद्ध स्पन्दनको कर्म कहते हैं ।

मीमांसाकारोंने कर्मके तीन भेद कहे हैं, यथा—सहजकर्म, जैवकर्म और ऐशकर्म । सहजकर्म प्राकृतिक स्पन्दनके साथ-ही-साथ प्रकट होता है । आदिसृष्टिमें ब्रह्माण्डगोलकका बनना, जीवसृष्टिका उद्भिज्जरूपसे उत्पन्न होना—यह सब सहजकर्मके उदाहरण हैं । सहजकर्मके बलसे जीव उद्भिज्जयोनि, स्वेदजयोनि, अण्डजयोनि, जरायुजयोनिमें होता हुआ अन्तमें पूर्णावयव मनुष्ययोनिमें पहुँच जाता है । मनुष्य-योनि पूर्णावयव होनेके कारण पाप और पुण्यकी अधिकारिणी हो जाती है । उस समय जीवमें जैवकर्मका उदय होता है । तब मनुष्य आवागमनचक्रमें घूमता हुआ प्रेतयोनि, नरकलोक, स्वर्गलोक, असुरलोक तथा मनुष्यलोकमें आता-जाता रहता है । इसी आवागमन-चक्रको स्थायी रखनेवाला ही जैवकर्म कहाता है । इस दशामें जीवकी क्रमोन्नतिके लिये वेद, पुराण, स्मृति, तन्त्र आदि शास्त्र स्वतः प्रवृत्त रहते हैं । सहजकर्म और जैवकर्म दोनोंसे पृथक् और विचित्र ऐशकर्म कहलाता है । ऐशकर्मका साक्षात् सम्बन्ध देवलोकसे है और परोक्ष सम्बन्ध मृत्युलोकसे है । मनुष्यको क्रमशः आवागमन-चक्रसे छुड़ाकर देवलोककी परिधिमें पहुँचाना ऐशकर्मका ही कार्य है । नचिकेताका एक जन्ममें ही देवयोनिको प्राप्त होना, नन्दिकेश्वरका देवत्व प्राप्त होना, बलिका असुर-राजपद प्राप्त होना—यह सब ऐशकर्मका ही प्रभाव है । ऐशकर्मके बलसे देवता और असुर दोनोंके सब कार्य सुरक्षित रहते हैं । शास्त्रोंसे पता लगता है कि इसी ऐशकर्मके बलसे मनुपदधारी और इन्द्रपदधारी तथा नाना छोटे-बड़े देवपदधारी गण अदल-बदल जाते हैं । इसी ऐशकर्मके बलसे लाखों वर्षोंका कलियुग, लाखों वर्षोंका द्वापरयुग, लाखों वर्षोंका त्रेता और लाखों वर्षोंका सत्ययुग; चारोंका मिलाकर एक महायुग तथा ऐसे ७१ महायुगोंका १ मन्वन्तर होता है, जिसमें सब देवपदधारी बदल जाते हैं । यह सब ऐशकर्मकी महिमा है ।

कर्मकी महिमाको देखकर कोई-कोई कर्ममीमांसक कर्मको ही ईश्वररूप मानते हैं । जैन और बौद्धधर्मके आचार्योंमें भी इसी कारण कोई-कोई ईश्वरको न मानकर कर्मको मानते हैं । कोई जाति या व्यक्ति अपने किये हुए कर्मको प्रति-क्रियासे बचा नहीं सकता । इस समय यूरोपकी जैसी अधःपतित दशा हो गयी है, बृटिशजातिकी शक्तिका जो क्षय हो गया है, यह उस जातिके पूर्वकृत समष्टिकर्मका ही परिणाम है । इस समय हिंदुस्थानरूपी भरतखण्डकी जो अस्त-व्यस्त दशा दीख पड़ती है, समस्त पृथ्वीमें जो घोर हलचल देखनेमें आती है, वह मनुष्यजातिके समष्टिकर्मका ही फल है । अतः इस समयके राजनीतिक नेतृवृन्द, समाज-संस्कारक नेतृवृन्द और सब श्रेणीके नेतृवृन्दकी कर्मके सत्-असत् भावोंकी ओर तीव्रदृष्टि होनी चाहिये । और सबको अपने-अपने शारीरिक, वाचनिक, मानसिक और बौद्धिक कर्मों-की ओर पूरा ध्यान रखकर कर्मक्षेत्रमें अग्रसर होना चाहिये । भक्ताग्रगण्य गोस्वामीजीने कहा है—

करम प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥

सूर्योदय

गोत्र-प्रवर-महिमा

आर्य-सँस्कृतिमें गोत्र और प्रवरका विचार रखना सर्वोपरि माना गया है। सनातनधर्मी आर्यजातिकी सुरक्षाके लिये चार बड़े-बड़े दुर्ग हैं। प्रथम गोत्र और प्रवर, जिनके द्वारा अपनी पवित्र कुल-परम्परापर स्थिर लक्ष्य रहता है। दूसरा रजोवीर्यशुद्धिमूल वर्णव्यवस्था, जिसमे जन्मसे जाति माननेकी दृढ़ आज्ञा है और तपःस्वाध्यायनिरत ब्राह्मण जातिके नेतृत्वमे संचालित होनेकी व्यवस्था है। तीसरा आश्रमधर्मकी व्यवस्था, जिसमे आर्यजाति सुव्यवस्थित रूपसे धर्ममूलक प्रवृत्ति-मार्गपर चलती हुई भी निवृत्तिकी पराकाष्ठापर पहुँच जाती है। और चतुर्थ दुर्ग सतीत्वमूलक नारीधर्मकी सहायतासे आर्यजातिकी पवित्रता है। इन चार अटल दुर्गोंमे गोत्र और प्रवरपर सदा लक्ष्य रखनेवाला प्रथम दुर्ग कितना महान् और परमावश्यक है, उसको इस समय प्रकाशित करनेकी बड़ी आवश्यकता है। गोत्र और प्रवरका माहात्म्य और उसकी परम आवश्यकताका ज्ञान कुछ भी न होनेसे आजकलके राजकर्मचारी और प्रजावर्ग बहुत ही विपथगामी हो रहे हैं। उनके अन्तःकरणमे इतना अज्ञान छा गया है कि प्रवरको तो वे भूल ही गये है और सगोत्र-विवाहको कानूनद्वारा चलाना चाहते है। आर्यजातिका प्रधान महत्त्व यह है कि वह सृष्टिके आरम्भसे अबतक अपने रूपमे विद्यमान है। चतुर्युगी सृष्टि और मन्वन्तर-सृष्टिकी तो बात ही क्या है, कल्पादि और महाकल्पादिकी आदि सृष्टिके साथ-साथ गोत्र-प्रवर-सम्बन्ध है; क्योकि ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके साथ ही उनके मानस पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए ऋषियोंसे ही गोत्र-प्रवरका सम्बन्ध चला है। यह गोत्र-प्रवरके विज्ञानकी ही महिमा है कि हिंदू-जाति तबसे अबतक जीवित है। उस समयसे लेकर अबतक पृथ्वीकी लाखो जातियाँ प्रकट हुईं और कालके गालमें चली गयीं; परंतु दैवी जगत्पर विश्वास करनेवाली, वर्णाश्रमधर्म माननेवाली, अपनी पवित्रताकी रक्षा करनेके लिये गोत्र-प्रवरकी शृङ्खलाके आधारपर चलनेवाली सनातनधर्मी प्रजा अभीतक अपने अस्तित्वकी रक्षा कर रही है। जिस मनुष्य-जातिमे वर्णाश्रम-व्यवस्था नहीं है, गोत्र-प्रवरकी सुव्यवस्थाका विचार नही है, उस मनुष्य-जातिपर अर्यमा आदि नित्य पितरोंकी कृपा न होनेसे वह जाति जीवित नही रह सकती। हमारे वेदोंमे, वैदिक कल्पसूत्रोमे तथा स्मृति और पुराणोमे गोत्र-प्रवर-प्रवर्तक महर्षियोंकी चर्चा है तथा उससे आर्यजातिको सुरक्षित रखनेके लिये दृढ़ आज्ञा है। अतः आधुनिक अहम्मन्य नेतृवृन्दोके द्वारा इस व्यवस्थाका नाश न होने देना चाहिये। इस समयकी क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियोंमे अपने पुरोहितके गोत्रसे गोत्र-प्रवर माननेकी व्यवस्था प्रचलित है। इस कारण उक्त जातियोमे इस व्यवस्थाकी कुछ शिथिलता पड़नी सम्भव है; परंतु ब्राह्मण-जातिमे वेद और शास्त्रोमे वर्णित गोत्र एवं प्रवरकी व्यवस्था यथावत् चलनी चाहिये। आजकल ब्राह्मण-जातिमे जो अनेक प्रकारके पतनके लक्षण दिखायी देते है, उसका प्रधान कारण यह है कि ब्राह्मण-जाति गोत्र और प्रवरकी महिमाको भूल गयी है। वास्तवमे गोत्र और प्रवरकी महिमाके प्रभावसे ही अभीतक ब्राह्मण-जातिमे कही-कही ब्रह्मतेज दिखायी देता है। और वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्थापर गोत्र-प्रवर-महिमाका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। अतः जिनमे स्वजातीय अभिमान है, जो अपने स्वधर्मका गौरव समझते हैं, जो जन्मान्तर-विज्ञान मानते है और जो रजोवीर्यकी शुद्धताका गौरव समझते है, उनको इस समय प्रमादग्रस्त न होकर चेतना चाहिये। सूर्योदय

हिंदुओंकी विद्या

'ध्यानकी प्रणालीको उन्हीं लोगोने जन्म दिया है। उनमें स्वच्छता एवं शुचिताके गुण वर्तमान हैं।' 'उन लोगोंमे विवेक है तथा वे वीर हैं।'

'ज्यौतिष, गणित, आयुर्वेद एवं अन्य विद्याओंमें हिंदूलोग आगे बढ़े हुए हैं। प्रतिमा-निर्माण, चित्रलेखन, वास्तु आदि कलाओंको उन्होने पूर्णतातक पहुँचा दिया है। उनके पास काव्य, दर्शन, साहित्य तथा नैतिक शास्त्रोंका संग्रह है।'

—अल्जहीज (आठवीं शताब्दी)

भक्ति-रहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम०ए०, डी०लिट्०)

वर्तमान युगमें भक्ति-साधन और उसकी उपयोगिताके विषयमें कुछ कहनेकी आवश्यकता है, ऐसा मैं नहीं समझता। प्रायः सभी विश्वास करते हैं तथा शास्त्र-वाक्य और महापुरुषोंके अनुभव इस विश्वासका समर्थन करते हैं कि दुर्बल मनुष्यके लिये भगवत्प्राप्तिका, एकमात्र न होते हुए भी, प्रधान उपाय भक्ति-साधना है। परंतु सच पूछा जाय तो भक्ति-साधनाका रहस्य सबके लिये सुपरिचित नहीं है। रहस्य जाने बिना किसीको किसी तत्त्वका माहात्म्य हृदयङ्गम नहीं हो सकता। अतएव इस प्रबन्धमें भक्ति-तत्त्वके रहस्यके सम्बन्धमें अपने ज्ञान और अनुभवके अनुसार संक्षेपमें कुछ कहनेकी चेष्टा करूँगा।

साधनाके समस्त मार्गोंको आलोचनाकी सुविधाकी दृष्टिसे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। इसके एक-एक भाग साधनाकी एक-एक स्थितिके द्योतक हैं। प्रथम भागका नाम प्रवर्तक-अवस्था, द्वितीय भागका नाम साधक-अवस्था और तृतीय भागका नाम सिद्धावस्था है। प्रवर्त्तक-अवस्थामें एकके बाद एक दो स्थितियोंका विकास स्वीकृत किया गया है। उसी प्रकार साधक-अवस्थामें भी दो क्रमिक स्थितियोंकी अभिव्यक्ति देखनेमें आती है। परंतु सिद्धावस्थामें इस प्रकारका कोई अवान्तर भेद नहीं पाया जाता। प्रवर्तक-अवस्थामें प्रथम साधना है नाम-साधन। नामकी महिमा भारतवर्षकी भक्त-मण्डलीमें किसीको अविदित नहीं है। वाचक शब्द और वाच्य अर्थमें जिस प्रकार नित्य सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार नाम और नामीमें एक प्रकारका नित्य सम्बन्ध विद्यमान है। वृक्षके बीजके साथ जिस प्रकार वृक्षफलका सम्बन्ध है, उसी प्रकार भगवान्‌के नामके साथ भगवत्स्वरूपका सम्बन्ध जानना चाहिये। भगवन्नाम प्राकृतिक वस्तु नहीं है, यह अप्राकृत वस्तु है और अचिन्त्य-शक्तिसम्पन्न है। भगवान् जिस प्रकार चिदानन्दमय हैं, उनका नाम भी उसी प्रकार चिदानन्दमय है। परंतु नाममें चिद् और आनन्दकी अभिव्यक्ति नहीं रहती, साधनाके प्रभावसे क्रमशः ये अभिव्यक्त होते हैं। परंतु वे उसमें पहलेसे ही अव्यक्तभावसे निहित रहते हैं। नाम अनन्त शक्तियोंका भंडार है। जाग्रत् महापुरुषके श्रीमुखसे निकले हुए नामकी तो बात ही क्या, साधारणतः उच्चारित नाममें भी निजशक्ति विद्यमान रहती है। नाम-दाताकी शक्तिके साथ योग होनेपर नामकी निजी शक्ति आवरणमुक्त होकर उज्ज्वल रूपमें फूट पड़ती है। ऐसा न हो तो वह नाम यथार्थ नाम नहीं होता, नामाभासरूपमें ही प्रकटित होता है। नामकी महिमा अनन्त है; नामाभास भी व्यर्थ नहीं जाता, उसका भी सुफल होना अनिवार्य है। वस्तुतः भगवान्‌का नाम अर्थात् जाग्रत् नाम कोई अपने बलसे कर्तृत्वाभिमानपूर्वक नहीं उच्चारण कर सकता। जिसके ऊपर नामकी कृपा होती है, नाम स्वयं ही उसके कण्ठको अवलम्बन करके ध्वनित हो उठता है। जो स्वतः चैतन्यमय है, उसके लिये बाह्य प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती; परंतु नामाभासमें उच्चारणकर्ताका कर्तृत्वाभिमान रहता है। तथापि दीर्घकालतक विधिपूर्वक गुरूपदेश अथवा आन्तरिक शुद्ध प्रेरणाके अनुसार उच्चारण करते-करते नामाभास भी किसी-किसी भाग्यवान्‌के कण्ठमें नामरूपमें परिणत होकर अपने-आप ध्वनित हो उठता है।

दीर्घकालतक नियमितरूपमें नाम-साधना करते रहनेसे यथासमय भगवान्‌की करुणाका उद्रेक होता है, और वे पथप्रदर्शक गुरुके रूपमें नाम-साधक भक्तके सामने आविर्भूत होते हैं। नाम-साधनाके द्वारा चित्त-शुद्धि तथा देह-शुद्धि यथासम्भव अवश्य ही होती है; परंतु जबतक भक्त गुरुदत्त बीजको प्राप्तकर अपने अशुद्धबीज देहको शुद्ध कायामें परिणत नहीं कर पाता, तबतक वास्तविक साधनाका सूत्रपात नहीं हो सकता। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्राकृत शरीरमें भगवत्साधना नहीं होती। प्राकृत शरीर जागतिक विकारके अधीन है, इसके द्वारा अप्राकृत और निर्विकार भगवत्तत्त्वकी साधना सम्भव नहीं है।

बीज-साधनाके फलस्वरूप क्रमशः बीजकी अभिव्यक्ति तथा उसके प्रभावसे मलिन सत्ताको दूर करना सम्भव हो जाता है। पाञ्चभौतिक उपादानोंका आश्रय लेकर उनसे अनुस्यूत जो हमारा अशुद्ध शरीर विद्यमान है, उसका जब-तक संस्कार नहीं होता, तबतक उसके लिये प्रकृत साधन-मार्गमें प्रविष्ट होना दुष्कर है। गुरुदत्त साधनाके फलस्वरूप भूत और चित्त शुद्ध अवस्था धारण करते हैं; अतएव पूर्व-स्थित अशुद्ध शरीर विगलित हो जाता है और अपने-अपने भावके अनुसार एक अभिनव शरीरका आविर्भाव होता है।

यह स्वभावका शरीर होता है, इसीका पारिभाषिक नाम है—'भावदेह'। यह देह निर्मल, अजर और अमर होता है तथा क्षुधा-पिपासा, काम-क्रोध प्रभृति प्राकृतिक धर्मोंसे वर्जित होता है। इस भावदेहको प्राप्तकर भक्त प्रवर्तक-अवस्थासे साधक-अवस्थामें उपनीत होता है। साधारणतः जगत्में जिसको साधना कहते हैं, वह प्रकृत साधना नहीं है। स्थूल देहमें अभिनिवेश या तादात्म्यबोधके रहते हुए कोई भी साधना क्यों न की जाय, वह अकृत्रिम स्वाभाविक साधनाके रूपमें परिगणित नहीं हो सकती। भावका साधन ही यथार्थ साधन है। अभावके शरीरमें भावकी साधना नहीं हो सकती। अतएव प्रवर्तक-अवस्थामें अभावके शरीरको भावके शरीरमें परिणत करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। नाम और मन्त्र—ये प्रारम्भिक चेष्टामें सहायक होते हैं।

जिन्होंने भक्तितत्त्वका अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि क्रियारूपा भक्ति क्रमशः फलरूपा भक्तिमें पर्यवसित होती है। प्रवर्तक-अवस्थामें जो कुछ किया जाता है, वह क्रिया-भक्तिके ही अन्तर्गत है। कोई-कोई इसे साधन-भक्ति भी कहते हैं। परंतु वास्तविक साधन-भक्ति यह नहीं है, यह कृत्रिम साधन-भक्ति है; क्योंकि प्राकृत-देहाभिमानके रहते हुए प्रकृत साधन-भक्तिका उदय नहीं हो सकता। जिस नवधा भक्तिकी बात भक्तलोग कहते हैं, तथा भक्त-सम्प्रदायमें जिसका साधन देखनेमें आता है, वह भी वस्तुतः प्रवर्तक-अवस्थाका ही व्यापार है। इन सभी अनुष्ठानोंके पीछे केवल देहात्मबोधमूलक कृत्रिम अहंभावकी क्रीडा विद्यमान रहती है। भाव कैसे उदित होता है, इसकी आलोचना करते समय आचार्योंने कहा है कि भावका प्रथम आविर्भाव कर्म अथवा कृपासे लक्षित होता है। कर्मसे अर्थात् कृत्रिम साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते साधन-भक्ति भावभक्तिके रूपमें परिणत हो सकती है। परंतु कहीं-कहीं पूर्ववर्ती साधनके लक्षित न होनेपर भी भावभक्तिका उदय होते देखा जाता है, ऐसे स्थलमें कृपाको ही मूल कारण मानना पड़ता है। यह कृपा साक्षात् भगवान्की भी हो सकती है अथवा सिद्ध भगवद्भक्तकी भी। कुछ लोगोंकी यह भी धारणा है कि भक्तिके कार्य-कारणभावका विचार करनेपर कृत्रिम भक्ति-साधनाको कहीं भी भक्तिका वास्तविक कारण नहीं माना जा सकता। वह क्षेत्र-विशेषमें भक्तिकी यथार्थ कारणरूपा भगवत्कृपा अथवा भगवद्भक्तकी कृपाकी अभिव्यञ्जिका है, इसलिये उसका कारणरूपमें ग्रहण होता है।

भक्ति ह्लादिनी शक्तिकी एक विशेष वृत्ति है। ह्लादिनी शक्ति महाभावस्वरूपा है। अतएव शुद्ध भक्ति स्वरूपतः महाभावका अंश है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतएव भावरूपा भक्ति चाहे साधनपूर्वक हो अथवा कृपापूर्वक, वह वस्तुतः महाभावसे ही स्फुरित होती है। अतएव कृत्रिम साधन-भक्तिकी प्रयोजनीयता स्वीकार करनेपर भी, भावके उदयको सभी साधनद्वारा दुष्प्राप्य मानते हैं। कृत्रिम साधनाके मूलमें जीव रहता है; परंतु भक्ति जीवका स्वभाव-सिद्ध धर्म नहीं है, क्योंकि महाभाव अथवा भाव ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति होनेके कारण स्वरूपशक्तिके विलास तथा भगवत्स्वरूपके साथ संश्लिष्ट है। जीव कर्म कर सकता है, परंतु भावको प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि वह स्वरूपतः भावमय नहीं है। कर्म करते-करते भाव-जगत्से उसमें भावका अनुप्रवेश हुआ करता है।

इस प्रकार भावका उदय भावजगत्की प्रेरणासे होता है। मायिक शरीर भावग्रहणके लिये उपयोगी नहीं होता; अतएव इस देहमें भावका आविर्भाव नहीं होता। भावका आविर्भाव होता है भाव धारण करनेयोग्य आधारमें। यह आधार शुद्ध देह या भावदेहके नामसे परिचित है। अशुद्ध देह साधनाके प्रभावसे शुद्ध होकर अन्तमें भावदेहके रूपमें प्रकट होता है। पाञ्चभौतिक प्राकृत देहका अवलम्बनकर यदि भावका विकास हो तो भावदेह मिश्ररूपमें अवस्थित हो सकता है। इस अवस्थामें वह अपने पृथक् स्वरूपमें कार्य करता रहता है। अथवा भावके विकासके साथ-साथ प्राकृत देहका त्याग होनेपर, विशुद्ध भावदेह भावजगत्में विराजित होता है और वहाँ कार्य करता रहता है। भावके उदयके पूर्व यदि मृत्यु हो, अर्थात् कृत्रिम साधनभक्तिके अनुशीलनके समय बीचमें ही देहत्याग हो जाय तो भाव-जगत्में गति प्राप्त नहीं होती। जब भावका उदय होता है, तब समझना चाहिये कि भावदेह कार्य कर रहा है। भावदेहके कार्य करते समय प्राकृत देह जडवत्, स्थिर तथा निःसार-रूपमें पड़ा रहता है। भावकी तीव्रतामें यह अवश्य ही समझमें आ जाता है। यदि भाव उतना तीव्र न हो तो प्राकृत देहमें उसका उतना प्रभाव देखनेमें नहीं आता। परंतु वस्तुतः वह स्वरूपमें ठीक-ठीक कार्य करता रहता है, इसमें सन्देह नहीं।

भावदेह प्राकृतदेहके साथ योगयुक्त होनेपर भी प्राकृत देहके अनुरूप नहीं होता। प्राकृत देहमें जिस समय कृत्रिम

की सम्भावना होती है। सञ्चारी भाव भाव-देह प्राप्त करनेके पहले भी जीव हृदयमें कार्य करता रहता है; परंतु वह बीजशक्तिसम्पन्न नहीं होता, अतएव उससे फलोद्गमकी सम्भावना नहीं होती। वास्तविक भक्त वही है, जो भावकी सञ्चारी अवस्थासे स्थायी अवस्थामें पहुँच सकता है। इसके लिये भक्तलोग नाम और मन्त्रसाधनाकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं। स्थायी भाव वस्तुतः भावदेहका ही नामान्तर है। भावके विकासके साथ-साथ हृदयमें प्रवेश प्राप्त होता है। यह अन्तरङ्ग हृदयकमल अष्टदलोंसे विभूषित है, इसलिये स्थायी भाव भी मूल अष्टभावमें विवर्तित होकर प्रकाशित होता है। इस अष्टदल कमलका एक-एक दल एक-एक भाव-का स्वरूप है। भावमें प्रविष्ट होकर उसे महाभावमें परिणत करना पड़ता है। यही भावसाधनाका रहस्य है। वस्तुतः महाभाव ही भावसाधनाका लक्ष्य है; परंतु महाभावमें पहुँचनेके लिये, भाव कुछ मध्यवर्ती अवस्थामें होते हुए प्रस्फुटित होता जाता है। इसकी आलोचना क्रमशः की जायगी। जिन आठ अङ्गरूपी भावोंकी बात कही गयी है, आलङ्कारिक लोग उनका अपनी-अपनी परिभाषाके अनुसार नामकरण करते हैं; परंतु भावका साधक अपनी दृष्टिभूमिसे उनको प्राप्त हो सकता है, उसके लिये दूसरोंकी दृष्टिभूमिका अवलम्बन करना आवश्यक नहीं होता। वास्तवमें तो प्रत्येक भक्तको इन आठों भावोंको एक-एक करके जगाना पड़ता है, नहीं तो जिस किसी भावको उसके चरम विकासकी अवस्थापर्यन्त अभिव्यक्त (स्फुटित) नहीं किया जा सकता। कमलके विकासके लिये जिस प्रकार एक ओर जल-पूर्ण सरोवर और उसके साथ पृथ्वीकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार दूसरी ओर ज्योतिर्युक्त तेजोमण्डल तथा उसके साथ आकाश भी आवश्यक होता है। नीचे रस और ऊपर रविकिरण—इन दोनोंका एक साथ संयोग होनेपर कमल स्फुटित होता है, अन्यथा स्फुटित नहीं हो सकता। भावके विकासके लिये भी उसी प्रकार एक ओर लक्ष्योन्मेषरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप चिदाकाशमें स्थित सूर्यमण्डल आवश्यक होता है, और दूसरी ओर रसोद्गमका मूल कारण स्थायी भाव आवश्यक होता है; क्योंकि सञ्चारी भावका विकास नहीं होता, स्थायी भावका ही विकास होता है।

भावके विकासके पहले तदुपयोगी क्षेत्र निर्माण होता है। नाम-साधनाके बाद तथा मन्त्रसाधनाकी समाप्तिके पहले धीरे-धीरे यह क्षेत्र तैयार होता रहता है। तैयार होनेके समय यह लक्षित नहीं होता; परंतु पीछे दृष्टिके उन्मेषके साथ-साथ यह दिखलायी देने लगता है। तब यह समझमें आ जाता है कि कब और किस ढंगसे उसकी रचना हुई है। यह क्षेत्र ही वस्तुतः एक कुण्ड या सरोवर है, परंतु इसमें सन्देह नहीं कि यह जलहीन सरोवर है। जबतक लक्ष्योन्मेष नहीं होता, तबतक खेचरीभाण्ड अथवा अमृतभाण्डसे अमृत-क्षरण नहीं होता। लक्ष्योन्मेषके साथ-साथ अमृत-क्षरण प्रारम्भ हो जाता है। तब पूर्वोक्त शुद्ध कुण्ड सलिलपूर्ण सरोवरके रूपमें शोभायमान होता है। किसी-किसी रहस्यविद् भक्तने इसको काम-सरोवरके रूपमें वर्णन किया है, 'काम' से यहाँ अभिप्राय शुद्ध प्रेमसे है। परंतु वस्तुतः वह तब भी प्रेमरूपमें परिणत नहीं होता। उपर्युक्त लक्ष्योन्मेष भी काम-सूर्यका ही उदय है। कामकला-तत्त्वके जाननेवाले इसे विशेषरूपसे जानते हैं। भाव-सरोवरमें पहले भाव कलिकाके रूपमें प्रकट होता है। पश्चात् सूर्यकी किरणें उसे प्रेमकमलके रूपमें विकसित कर देती हैं। जब भावका विकास होता है अर्थात् कमल प्रस्फुटित हो जाता है, तब वह सरोवरसे ऊपर उठ आता है; वह फिर सरोवरमें नहीं रहता। एक नाल अथवा मृणालके द्वारा सरोवरके साथ उसका केवल सम्बन्ध रह जाता है। यह नाल भी जब छिन्न हो जाता है, तभी वस्तुतः भावमें प्रवेश प्राप्त होता है। अबतक जो हुआ था, वह सब आभासमात्र था। अन्तर्जगत्में प्रवेशके पश्चात् आभासके

१. यह गुप्त कमल है। षट्चक्रके अन्तर्गत जो द्वादशदलरूपी हृदयकमल है, उससे यह पृथक् है; क्योंकि द्वादशदलका भेद करनेके बहुत पीछे आज्ञाचक्रका भेद करनेपर अन्तर्लक्ष्यकी प्राप्ति होती है। परंतु जबतक लक्ष्योन्मेष नहीं होता, अष्टदलमें प्रवेश प्राप्त नहीं होता। इसी कारण मध्ययुगके बहुतेरे संत अष्टदलको एक प्रकारसे सहस्रदलके साथ अभिन्न समझते थे, तथा कोई-कोई इसको सहस्रदलके अन्तर्गत मानते थे। वस्तुतः इस अष्टदलको यदि भावराज्य मान लें तो प्रचलित द्वादशदलको भावका आभास समझा जा सकता है। इससे ज्ञानके बाद भक्ति होती है या भक्तिके बाद ज्ञान होता है—इस प्रश्नका समाधान हो जायगा। द्वादशदलके बाद लक्ष्यका उन्मेष होता है, यह प्रचलित सिद्धान्त है। इस मतसे भक्तिके बाद ज्ञानका उदय होता है। परंतु वस्तुतः लक्ष्य-उन्मेषके बाद जिस भाग्यवान् भक्तको अष्टदलकी प्राप्ति होती है, उसकी दृष्टिमें ज्ञानके बाद ही भक्तिका स्थान है—यह स्वीकार करना ही होगा। भक्तिके दो भेद हैं—अपरा और परा भक्ति, अथवा साधन और साध्यभक्ति। इसे समझ लेनेपर उपर्युक्त विरोधका समन्वय सहज-साध्य हो जायगा।
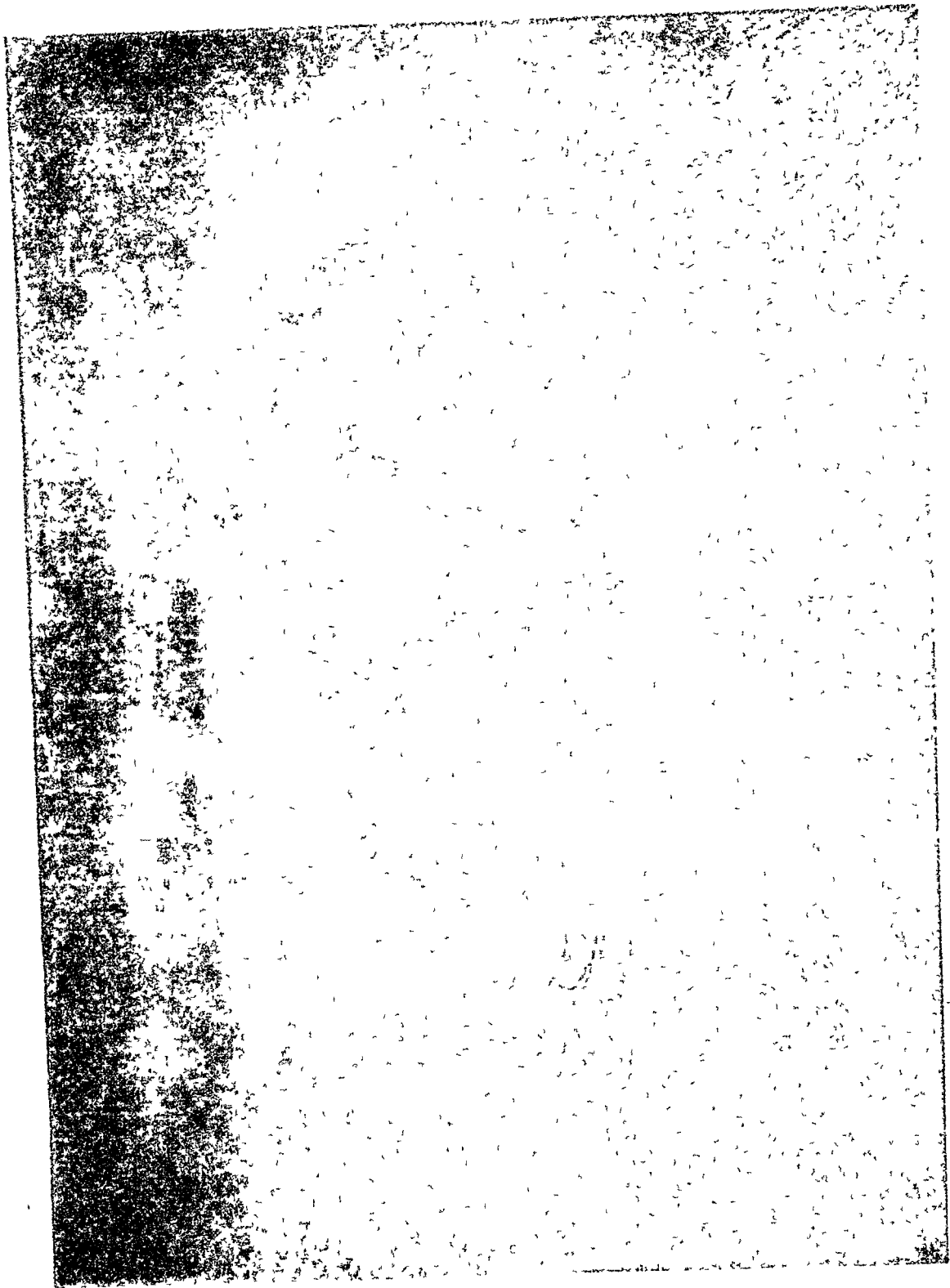
शान्ति-शान्तिमान्‌का प्रेमस्वरूप

शक्ति-शक्तिमान्‌का प्रेमस्वरूप

त्यागके साथ-साथ सत्यरूपमें अष्टदलकी प्राप्ति होती है। इस अष्टदलकी रचना अति अद्भुत होती है। अष्टदलकी कर्णिकाके रूपमें जो विन्दु है, वही अष्टदलका सार है। उसीका दूसरा नाम है 'महाभाव'। वस्तुतः अष्टदल महाभावका ही अष्टधा विभक्त स्वरूपमात्र है; इसे महाभावका कायव्यूह भी कहा जा सकता है। प्रश्न हो सकता है कि महाभाव यदि विन्दु है, तो इन आठ भावोंके साथ उसका क्या सम्बन्ध होगा ?' इसका उत्तर यह है कि ये आठ भाव महाभावके स्वगत आठ अङ्गमात्र हैं। इन आठ अवयवोंकी समष्टि महाभावका स्वरूप है। प्रत्येक भाव महाभावके साथ संश्लिष्ट है। वस्तुतः प्रत्येक भावका जो पूर्ण विकास है, वही महाभाव है। भावसे महाभावकी ओर जानेके दो प्रधान मार्ग हैं। एक आवर्त-क्रमसे और दूसरा साक्षात् तथा सरल रूपसे। आवर्तमार्गका अवलम्बन करते समय प्रदक्षिण अथवा परिक्रमा करके भावसे भावान्तरमें चलते-चलते क्रमशः महाभावमें पहुँचा जाता है। इस मार्गसे महाभावमें उपस्थित होनेपर महाभावका पूर्ण स्वरूप प्राप्त होता है; परंतु आवर्तमार्गसे न जाकर सरल गुप्त मार्गसे भी महाभावमें पहुँचा जाता है। लेकिन इस मार्गसे महाभावका पूर्ण स्वरूप अधिगत नहीं होता। क्योंकि इस मार्गसे विन्दुके साथ केवल उस विशिष्ट दलका ही सम्बन्ध होता है, अन्य दलका सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता।

इस बातको और भी स्पष्ट करके बतलाना है। माता और उसकी आठ सन्तान विद्यमान हैं। माता प्रत्येक सन्तानकी जननी है। अतएव उसका सम्बन्ध आठोंमेंसे प्रत्येकके साथ समानरूपसे है। अतः यह सत्य है कि वह एक है, तथापि उसकी आठ सन्तान हैं। इस प्रकार उसका स्नेह-प्यार आदि प्रत्येक सन्तानके लिये ही प्राप्य होनेके कारण आठ भागोंमें विभक्त हो जाता है। दूसरी ओरसे, सन्तानके लिये एक माताके सिवा दूसरा कोई नहीं है। माता जानती है कि उसकी आठ सन्तान हैं, और प्रत्येक सन्तान जानती है कि उसकी एक ही माता है। सन्तान यदि अपनेको आठ भाइयोंमेंसे एक मानकर माताको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है तो वह सम्पूर्ण माताको प्राप्त न करके उसके एकदेशको ही प्राप्त करेगा। क्योंकि सम्पूर्ण माताको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य उसमें नहीं है; कारण कि वह अपनेको आठ सन्तानोंमेंसे एक समझता है। यहाँ सम्पूर्ण माताको प्राप्त करनेके लिये उसे आठमेंसे एक न बनकर आठोंके समष्टिरूपमें एक बनना होगा। यह क्रमविकासका मार्ग है, अर्थात् उसकी अगली सन्तानके भावमें तथा उसके आगे उससे अगली सन्तानके भावमें और इस प्रकार क्रमशः भावान्तरमें प्रवेश करते-करते अष्टम सन्तानके भावमें अपनेको प्रस्फुटित कर डालना होगा। तब वह आठ सन्तानोंके समष्टिभूत तथा अष्ट भावोंके प्रतिनिधिरूपमें मध्य विन्दुसे महाभावरूपिणी माताके पास पहुँचनेका अधिकार प्राप्त करेगा। इस प्रकार आधार पूर्ण होनेपर वह पूर्णरूपसे माताको प्राप्त हो सकेगा। यह हुआ एक मार्ग। दूसरी दृष्टिसे यदि सन्तान अपनेको माताकी आठ सन्तानोंमेंसे एक न समझकर केवल अपनेको ही माताकी एकमात्र सन्तान माने तो वह पूर्वोक्त आवर्तमार्गमें पूर्णता प्राप्त नहीं करेगा; उसके लिये तो सरल मार्ग है और वह गुप्त है, इसे चाहे तो योगमायाका मार्ग कह सकते हैं। अर्थात् वह साक्षात्‌रूपसे अपने स्थानसे ही सरल मार्गद्वारा माताको प्राप्त हो सकता है। उसे विभिन्न सन्तानोंके भावको ग्रहण करके पूर्णताकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ेगी। वह जहाँ अवस्थित है, वहींसे माताका दर्शन कर सकता है और माताको प्राप्त हो सकता है। इस मार्गमें उसको बाधा देनेवाला कोई नहीं है, कोई भी प्रतिबन्धक नहीं है। वह जानता है कि एकमात्र मैं ही माताकी सन्तान हूँ। और माता भी जानती है कि वही एकमात्र मेरी सन्तान है। अतएव इस क्षेत्रमें वह माताके पूर्ण स्नेह और प्यारका दावा करता है, और उसे प्राप्त भी कर लेता है। माताके इस स्नेह और प्यारमें उसकी अन्य सन्तानका भाग नहीं होता। अन्य सन्तान इस बातको नहीं जानती और जान भी नहीं सकती। योगमायाके आच्छादनमें माता और सन्तानका यह विचित्र सम्बन्ध और आनुषङ्गिक लीला प्रकाशित होती है। प्रत्येक सन्तानके लिये यह व्यवस्था एक ही प्रकारकी होती है। परंतु इसका विकास होनेमें समय लगता है। यहाँ माताको पूर्णरूपसे व्यक्तिगत भावसे प्राप्त होनेपर भी उसे सर्वसन्तानकी जननीके रूपमें समष्टिभावसे पाना नहीं बनता। लीला-आस्वादनकी यह भी एक दिशा है।

इसमें और भी अनेक रहस्य हैं। प्रथम दृष्टान्तमें जो सन्तानके विषयमें उल्लेख किया गया है, उसकी आवर्त-गतिके मूलमें आत्मलोप-अवस्था रहती है, अर्थात् प्रथम अवस्थासे द्वितीय अवस्थामें जानेके साथ-साथ प्रथम अवस्था द्वितीय अवस्थामें परिणत हो जाती है, यह जाननेकी बात है। इस प्रकार आवर्तन पूर्ण होनेपर आगे-आगे परिणतिको प्राप्त होते-होते प्रथम अवस्था ही अष्टम अवस्थामें परिणत

हो जाती है, यह जान लेना चाहिये। तब उस अष्टम अवस्थामें पूर्ण विकास प्राप्त हो जानेके पश्चात् माताको पूर्णरूपमें प्राप्त किया जाता है। परंतु इसके सिवा समष्टि-प्राप्तिकी एक और भी प्रणाली है; वह आत्मविकास है, आत्मलोप नहीं। उसके फलस्वरूप प्रथम अवस्थामें ही द्वितीय अवस्था आकर लीन हो जाती है, और उसके बाद आत्मविकासके साथ-साथ सारी अवस्थाएँ उसीमें लीन हो जाती है। इस प्रकार अष्टम सन्तानके भावके लीन हो जानेके बाद जिस अवस्थाकी अभिव्यक्ति होती है, वही इस मार्गमें समष्टि सन्तानभावकी पूर्ण अभिव्यक्ति है। इसके पश्चात् माताकी प्राप्ति भी तदनुरूप ही होती है। वस्तुतः समष्टि-मार्गके समन्वयके द्वारा ही प्रकृत समष्टि-पथकी प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार व्यष्टिभावकी प्राप्ति भी समझनी चाहिये; क्योंकि व्यष्टिभावमें भी स्वयं माताके आकर्षणसे आकृष्ट होकर माताके समीप जाना तथा अपने आकर्षणसे माताका आकृष्ट होकर आना और सन्तानको गोदमें लेना—ये दो विभिन्न दिशाएँ रहती हैं। व्यष्टिभावमें भी प्रकृष्ट पथ इन दोनों भावोंके समन्वयके ऊपर प्रतिष्ठित है।

इससे यह समझा जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति परवर्ती सारी विकासभूमिका—चाहे वह अनुलोम-क्रमसे हो या प्रतिलोम-क्रमसे—अनुभव न करके भी अपने व्यक्तिगत स्थानसे ही महाभावके साथ युक्त हो सकता है। अथवा महाभावको अपने साथ युक्त कर सकता है। लीलाके आस्वादनकी दिशासे व्यक्तिगत दिशाका यह एक वैशिष्ट्य है, इसे मानना पड़ेगा। मूलतः व्यक्तिका व्यक्तित्व यदि स्वीकृत हो तो कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तिके स्थानपर अधिकार नहीं कर सकता; क्योंकि एक व्यक्तिमें जो वैशिष्ट्य होता है, वह दूसरेमें नहीं हो सकता। अतएव क्रमविकासके मार्गसे जानेपर वह व्यक्तिके व्यक्तित्वका मार्ग नहीं होगा—यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। इस स्थलमें व्यक्तित्वकी रक्षा करके ही क्रमविकास मानना होगा। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति, अपने स्वभावमें विद्यमान रहते हुए भी, समष्टिमें आत्मप्रसार कर सकता है। इस प्रकार समष्टिके साथ अथवा उसके एक-देशके साथ उसको तादात्म्यकी प्राप्ति भी हो सकती है; परंतु फिर भी उसका व्यक्तिगत स्वभाव अक्षुण्ण ही रहता है। इस प्रसंगमें यह भी याद रखना चाहिये कि विकासाभिमुख व्यक्तित्वका विसर्जन करनेपर, यद्यपि वह विसर्जन स्थायी नहीं होता, तथापि अनिर्दिष्ट कालके लिये व्यक्तित्वका लय अनिवार्य हो जाता है। भावसे महाभाव पर्यन्त लीला-राज्यका विस्तार है। महाभावके साथ भावातीतका योग हुए बिना लीलाका उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। खण्डभावसे भावातीतमें ठीक तौरपर स्थिति प्राप्त नहीं होती। अतएव खण्डभावका महाभावके द्वारा भेद करके ही भावातीतके साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है।

प्रचलित दृष्टान्तके द्वारा हम विषयको समझानेकी चेष्टा करते हैं। हमारे परिचित भक्तिशास्त्रोंमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य—इन पाँच मुख्य भक्तिभावोंका वर्णन प्राप्त होता है। प्रत्येक भावका एक वैशिष्ट्य है, यह सभी स्वीकार करते हैं। भावके वैशिष्ट्यके अनुसार एक ओर जिस प्रकार भक्तका वैशिष्ट्य निरूपित होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार भावकी परिपक्व अवस्थामें आविर्भूत भगवान्‌का भी वैशिष्ट्य निरूपित होता है। शान्त भक्त जिस प्रकारका होता है, उसके सामने प्रकटित भगवत्स्वरूप भी तदनुरूप ही होता है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि शान्तभक्ति एक है; तथापि उसमें असंख्य प्रकार-भेद है—इस बातको भक्तलोग स्वीकार करते हैं। इस प्रकारके भेदोंके अन्तर्गत फिर अवान्तर प्रकार-भेद हैं। जो जितना ही विश्लेषण कर सकेगा, वह उतने ही सूक्ष्म भेद करनेमें समर्थ होगा। परंतु इन समस्त सूक्ष्म भेदोंको मान लेनेपर भी उसके द्वारा व्यक्तित्वकी समस्याका समाधान नहीं होता। क्योंकि भेद चाहे जितने प्रकारके हों, सर्वत्र ही व्यक्तिगत भेदके लिये स्थान रहेगा। अतएव प्रश्न यह है कि एक दृष्टिसे जैसे शान्तभाव अन्यनिरपेक्ष और पूर्ण है, दूसरी ओर उसी प्रकार एक दृष्टिसे पूर्ण होते हुए भी दूसरी दृष्टिसे पूर्णताके लिये भावान्तरकी अपेक्षा करता है। शिशुरूपमें शिशु निरपेक्ष पूर्ण होता है; तथापि उसका एक क्रम-परिणाम है, जिसके फलस्वरूप वह बालकरूपमें, किशोररूपमें और युवकरूपमें परिणत होता है। इसी प्रकार शान्तभावरूपमें शान्तभावकी एक निरपेक्ष पूर्णता है, यह सत्य है; परंतु शान्तभावकी परिणतिमें दास्यभावका विकास, दास्यभावकी परिणतिमें सख्यभावका विकास इत्यादि भावोंका क्रमविकास अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक-एक भावके विकासके साथ-साथ एक-एक गुणकी भी अभिव्यक्ति होती है। अतएव इस प्रणालीसे महाभावमें उपस्थित होनेपर सभी सम्भाव्य गुणोंकी पूर्ण अभिव्यक्ति भी प्राप्त हो जाती है। एक-एक

भावके अन्तर्गत अवान्तर श्रेणी-विभागमे भी इसी प्रकार क्रमविकास निहित है। परंतु मूल प्रश्न यह है कि व्यक्तिका व्यक्तित्व इस समस्त विकासमे भी अक्षत रहता है। व्यक्तित्वकी महिमा अतुलनीय है। लीलास्वादनके अन्तर्गत रसवैचित्र्यमे इसका विशिष्ट स्थान है।

शान्तभावके दृष्टान्तस्वरूपमे 'क' और 'ख'को ग्रहण कीजिये। 'क' एक व्यक्ति है और 'ख' एक दूसरा व्यक्ति है। मान लीजिये कि दोनो शान्त भक्त हैं। व्यक्तिभेदके वश 'क' और 'ख'के भाव एक पर्यायके होते हुए भी परस्पर पृथक् हैं। यह जो पार्थक्य है, वह अक्षुण्ण रूपमे चिरकाल-तक रहता है। अर्थात् शान्तभक्तिके बाद यदि 'क' और 'ख' दोनो दास्य-भक्तिके स्तरमे पहुँचते हैं, तो वैसा होनेपर भी दोनोका यह व्यक्तिगत वैशिष्ट्य बना ही रहेगा। इस प्रकार माधुर्यपर्यन्त क्रमोत्कर्ष प्राप्त कर लेनेपर भी 'क' 'क' ही रहेगा। वह 'ख' या कोई दूसरा नहीं बन जायगा; और 'ख' भी 'ख' ही रहेगा, 'क' या कोई दूसरा नहीं बनेगा। केवल इतना ही नही, माधुर्य भावके अन्तर्गत अवान्तर विभागोका भेद करके महाभावमे प्रवेश कर लेनेपर भी यह व्यक्तिगत पार्थक्य लुप्त नहीं होगा। इस प्रकार समझना चाहिये कि वृत्तके अन्तर्गत प्रत्येक विन्दु केन्द्ररूपी मध्य-विन्दुमे प्रविष्ट होनेपर तथा उसके साथ अभिन्न होनेपर भी अपने-अपने वैशिष्ट्यकी रक्षा करता है। ऐसा न करनेपर लीलास्वादनका माधुर्य नही रहता। एक जिस प्रकार एक रूपमे सत्य है, उसी प्रकार वह अनन्त रूपमे भी सत्य है, क्योकि वहाँ भी तो वह एक ही तद्रूपमे खेल करता है। एकमे जैसे अनन्त है, वैसे ही अनन्तमे एक है—यही लीलाका रहस्य है।

पहले भी यह कहा जा चुका है कि भाव ह्लादिनी शक्तिके वृत्ति-विशेषका नाम है; यही भक्तिका स्वरूप है। परिपक्व अवस्थामे इसीका नाम प्रेम है। यह अनन्त प्रकारका है—यह बात भी जानी गयी। परंतु इस अनन्त प्रकारके प्रत्येक प्रकारमे व्यक्तिगत अनन्तत्व रहता है। उसके बिना लीला या खेल नही चल सकता। इस व्यक्तिमे ही स्वातन्त्र्य रहता है और इसी कारण कोई एक व्यक्ति अपने सजातीय अन्य व्यक्तिके समान नहीं होता। कुछ स्वातन्त्र्य अनिवार्य रूपसे उसमें रहता है। स्वरूप-शक्ति और तटस्थ-शक्तिके संयोगसे ऐसा घटित होता है। अर्थात् भक्ति या भाव ही स्वरूप-शक्ति है, इसमे सन्देह नही। परंतु उस भक्तिका आश्रय स्वरूपशक्तिकी वृत्ति नहीं, तटस्थ-शक्तिका कार्य है अर्थात् जीव है। अतएव रागात्मिका भक्ति जीवकी नही होती। जीवको तो रागानुगा भक्ति ही प्राप्त होती है। अर्थात् भाव-विशेषके जीव-विशेषमे अभिव्यक्त होनेपर उसे जो वैचित्र्य प्राप्त होता है, अन्य जीवमे उसी भावविशेषके अभिव्यक्त होनेपर उसे ठीक वही वैशिष्ट्य नहीं प्राप्त होता। यही व्यक्तित्वकी महिमा है। इसीके कारण लीला लीला है; अन्यथा वह अनुकरणात्मक कृत्रिम अभिनयमात्र होता।

जीवरूपी अणु भावका आश्रय है; परंतु देहके सम्बन्धकालमे जीव अन्तःकरणके साथ विजडित होकर प्रकाशित होता है। चाहे जिस कारणसे हो, सांसारिक अवस्थामे जीव और अन्तःकरण तादात्म्यसूत्रमे आबद्ध हैं। अतएव भावका अवतरण जीवमे होनेपर भी वह प्रथम अवस्थामे अन्तःकरणकी वृत्तिके रूपमे प्रतिफलित होता है; परंतु वस्तुतः वह अन्तःकरणकी वृत्ति नही है, अन्तःकरणमे प्रतिफलित होकर वह समस्त देहको अनुप्राणित करता है। लौकिक भावका यही नियम है। परंतु प्रवर्तक अवस्थामे देह और अन्तःकरण शुद्ध होनेपर जब उसके बाद स्वभावका विकास हो जाता है, तब इस प्रकार स्थूलदेहके साथ सांकर्य सम्भव नही होता; क्योकि उस समय यह भाव स्थूलदेहसे पृथक् भावदेहके रूपमे अभिव्यक्त होता है। यह भावदेह भावरूपी या शुद्ध सत्तात्मक कार्य एवं चिदणुस्वरूप जीव-रूपी प्राण—इन दोनोका सम्मिलित स्वरूप होता है।

भाव अथवा भक्तिसाधनाकी चरम परिणतिमे एक ओर रसकी अभिव्यक्ति होती है और दूसरी ओर महाभावका विकास होता है। रसका जो विशुद्धतम और पूर्णतम स्वरूप है, उसकी प्राप्ति अथवा उपलब्धि महाभावके विकासके बिना नहीं हो सकती। परंतु महाभावका विकास भावकी विशिष्ट अभिव्यक्तिके ऊपर निर्भर करता है। भावके नाना प्रकारके भेद हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। इन समस्त भेदोके अन्तर्गत एक पारस्परिक क्रमानुगत सम्बन्ध है—यह भी ठीक है और प्रत्येक भाव स्वतन्त्र और परस्पर निरपेक्ष है—यह भी सत्य है। सृष्टिकालीन जीवके स्वरूपगत वैशिष्ट्यके कारण इस प्रकारका भेद होता है।

भाव क्रम-विकासके फलसे हो या अक्रमविकासके फलसे—शान्तसे मधुरमे परिणाम प्राप्त हुए बिना, अथवा स्वभाव-सिद्ध मधुरभावके हुए बिना, भावसे महाभावके मार्गको प्राप्त होनेकी संभावना नही रहती। मधुरभावके प्राप्त होनेपर भी,

यदि प्रतिबन्धक दूर न किया जा सके तो भावकी गति विकासके मार्गसे महाभावतक नहीं पहुँचती; क्योंकि मधुर भावमें सामञ्जस्य और साधारणत्व प्राप्त न हो तो उसमें सामर्थ्यका उदय नहीं होता। इसका विशेष विवरण पीछे किया जायगा।

भाव-साधनाकी दो दिशाएँ हैं। एकमें गुणवृद्धिके साथ-साथ शान्तसे दास्य, दास्यसे वात्सल्य इत्यादि क्रमपूर्वक पूर्ण गुणोदयके साथ माधुर्यका विकास होता है। ठीक इसी प्रकार माधुर्य प्राप्त करके सामञ्जस्य और साधारणत्वका परिहार करना आवश्यक होता है। उसके पश्चात् इसीके अनुरूप साधनक्रमका ठीक-ठीक अवलम्बन करनेपर महाभावकी ओर अग्रसर होना सम्भव होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि व्यक्तिविशेषमें कृपादि निमित्तसे अथवा स्वभावतः उत्कर्ष विद्यमान रहनेपर उपयुक्त साधन-क्रमका गुरुत्व बहुत कुछ कम हो जाता है। दूसरी दिशामें, गुण-वृद्धिकी चेष्टा न करके अपने गुणमें आवद्ध रहना तथा अपनी भूमिमें रहते हुए ही भावको प्रेममें परिणत करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। शान्तभाव शान्त रहते हुए ही प्रेममें परिणत हो सकता है। इसके लिये दास्यभावमें अथवा तदनुरूप अन्य भावमें विकास आवश्यक नहीं होता। प्रेमावस्थापर्यन्त भावकी परिपक्वता होनेपर भावके विषयभूत श्रीभगवान्‌के दर्शनोंकी प्राप्ति प्रत्येक भावके द्वारा ही हो सकती है। उसके लिये भावान्तरका आश्रय आवश्यक नहीं होता। परंतु यह सत्य है कि भगवान्‌के दर्शन होनेपर भी तथा भविष्यमें रसकी अभिव्यक्ति और लीलामें अधिकार होनेपर भी उसे एक ही भावकी सीमामें बँधे रहना पड़ेगा।

पहले जिस अष्टदल कमलकी बात कही गयी है, वह बाह्य और आन्तर-भेदसे दो प्रकारका समझना चाहिये। आभ्यन्तरीण कमल 'विन्दु'-स्वरूप होता है, और बाह्य कमल इस विन्दुकी आठ दिशाओंके आठ दलोंकी समष्टि होता है। इस बाह्य कमलको भावराज्य ही समझना चाहिये; इसमें निरन्तर आठ भावोंका खेल चल रहा है। वस्तुतः ये मौलिक अष्टभाव ही अष्टकालीन लीलाके कालातीत आठ विभाग हैं। प्राकृतिक नियमोंसे इन आठ दलोंकी परिक्रमा पूर्ण कर लेनेपर मध्यविन्दुमें प्रवेश प्राप्त होता है। मध्यविन्दु माधुर्यमय है। मध्यविन्दुका विश्लेषण करनेपर देखा जाता है कि वह भी स्थूलतः आठ भागोंमें विभक्त है। इन आठ भागोंमेंसे प्रत्येक भाग मध्य विन्दुका अवयव ही है, जिसे 'कला' कहा जाता है। इन आठ कलाओंका नाम है 'अष्टसखी'। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इनमें भी बाह्य और आभ्यन्तर भेद है। इन अष्ट भावोंका जो निष्कर्ष या निर्यास है, वह यथार्थ महाविन्दु अर्थात् महाभाव है। महाभावमें भी उत्कर्षगत तारतम्यके भेदसे विकासको अवसर रहता है। इस विकासकी जो चरम परिणति है, उसीको वैष्णव शास्त्रोंमें, विशेषतः अन्तरङ्ग महापुरुषोंकी अनुभूतिमें 'श्रीराधा-तत्त्व' नामसे वर्णन किया गया है। भाव-साधनाके फलस्वरूप जीव बाह्य अष्टदलोंके प्रथम दलसे आवर्तित होते-होते क्रमशः महाभावके चरम विकासतक पहुँच सकता है। उस समय पूर्णतम रसकी उपलब्धिमें पूर्णतम मिलन और सामरस्य होता है। बाह्य अष्टदल तथा अष्टकलारूपी भीतरके अष्टदल—इन दोनोंके बीच असंख्य अवान्तर स्तर हैं। जिस रसके विषयमें कहा गया है, उसकी अभिव्यक्ति भावराज्यमें सर्वत्र ही हो सकती है; परंतु भावके अन्तर्मुखी विकासकी आवश्यकता अवश्य ही स्वीकार करनी होगी। अर्थात् यदि कोई भाव अपने स्वरूपमें विशुद्ध रूपसे स्थित हो तो उसके प्रेमरूपमें परिपक्व होनेपर साथ-ही-साथ, अपने स्वभावके अनुसार, भगवान्‌के दर्शन और रसकी उपलब्धिके क्रमसे, तदनुरूप लीलारसका आविर्भाव हो सकता है। परंतु इस रसका पूर्णत्व और मधुरत्व तभी सम्भव है, जब भावोंकी गुणवृद्धिसे होनेवाले एवं अन्यान्य प्रकारके विकास भी सम्पन्न होते रहें।

भारतीयोंका शील

'समस्त भारतीय—चाहे वे प्रासादोंमें रहनेवाले राजकुमार हों अथवा झोपड़ोंमें बसनेवाले प्रजाजन—संसारमें सर्वोत्तम शीलसम्पन्न लोग हैं, मानो यह उनका जातिगत धर्म हो। उचित और न्याय्य व्यवहारका प्रत्युत्तर वे अवश्य देते हैं तथा दयालुता एवं सहानुभूतिके किसी कर्मको भूलते नहीं।'

—लार्ड विलिंगडन

प्राणायाम

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

यमाद्यष्टाङ्गयोगेद्धब्रह्ममात्रप्रबोधतः ।
योगिनो यत्पदं यान्ति तत्कैवल्यपदं भजे ॥

प्राणायाम अष्टाङ्गयोगका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है । इस अष्टाङ्गयोगका प्रचार हिंदू-संस्कृतिके सञ्चालक महर्षियोंने युगारम्भसे ही किया है । सत्ययुगमें पारमार्थिक कल्याण चाहनेवालोंकी संख्या भारतवर्षमें अत्यधिक थी । उस समय सामान्य जनताका जीवन भी संयमशील था । मनका संयम और इन्द्रियोंका दमन करनेकी शिक्षा दी जाती थी । संयम न रखनेवाला समाजमें पतित माना जाता था । लोग व्यावहारिक छल-प्रपञ्चसे सर्वांशमें मुक्त थे । उनका जीवन सत्य-सदाचारमय था । धर्मशास्त्रकथित चार वर्ण और चार आश्रमोंका पालन आग्रहपूर्वक किया जाता था ।

सत्ययुगकी जनताके जीवनमें सत्य, सदाचार और संयम स्वाभाविक होनेसे अष्टाङ्गयोगका अभ्यास विधिवत् होता था । सद्गुरुका जीवन भी परोपकारपरायण होता था । इससे शिष्योंका अभ्यास निर्विघ्न चलता रहता था । दुष्ट प्रारब्धसे या भ्रम-प्रमादवश यदि कुछ हानि पहुँचती तो सद्गुरु अपने मानस बलसे तुरंत उसे सम्हाल लेते थे और शिष्योंका अभ्यास पूर्ण होनेपर उन्हें घर जानेकी अनुमति देते थे ।

सत्ययुगके पश्चात् त्रेतायुगमें जन-समाजमें सत्य, सदाचार और संयमकी मात्रा कुछ कम हुई । सत्य-सदाचारादिके पालन करनेवाले तो बहुत थे और आज कलिमें भी हैं, किंतु सत्य पालन करनेवाले संयमशील मनुष्योंकी संख्या कम हो गयी थी । त्रेतायुगकी अपेक्षा द्वापरमें सत्य-सदाचारयुक्त संयमशीलोंकी संख्या और कम हुई और कलिमें इससे भी बहुत कम हो गयी । इस समय कलियुगके लगभग ५००० वर्ष व्यतीत हुए हैं, इतनेमें ही वर्तमानके कंट्रोल-कानूनकी कृपासे तो सत्य भारतवर्षके कोने-कोनेसे प्रायः विदा होता जा रहा है !

सत्य, सदाचार और संयमका ज्यों-ज्यों ह्रास होता गया, त्यों-ही-त्यों अभ्यास करनेवालोंकी संख्या कम होती गयी । इस समय योगाचार्योंकी शिष्य-परम्परा छिन्न-भिन्न हो गयी है । योगाभ्यासकी इच्छावाले मुमुक्षु सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये चारों ओर पत्र-व्यवहार करते रहते हैं । कई मुमुक्षुजन स्वार्थी, अपूर्ण ज्ञानवाले योगाभ्यासीके कथनानुसार अभ्यास करके रोगपीड़ित हो गये हैं । उपनिषदोंमें वर्णित या भगवान् पतञ्जलिकथित समाधिप्राप्त योगी इस युगमें भी कहीं होंगे, किंतु वे साधारण जनसमाजके परिचयमें नहीं हैं । साधारण जनताको अपूर्ण ज्ञानवालोंके आश्रयसे ही योगाभ्यास करना पड़ता है । ऐसी स्थितिमें प्राणायामका अभ्यास करनेकी इच्छा रखनेवालोंको कुछ मार्गनिर्देश प्राप्त हो, इसके लिये अपने अनुभवके अनुसार संक्षेपमें लिखनेका प्रयास करता हूँ ।

प्राणायामसे शरीर-शुद्धिके अतिरिक्त मनोबलकी प्राप्ति होती है । इसीसे महर्षियोंने सन्ध्यावन्दनके साथ नित्य प्राणायामका विधान किया है । 'प्राणायामसे पाप जल जाते हैं । यह संसार-समुद्रको पार करनेके लिये महासेतुरूप है ।'* इस प्रकारका फल सुननेपर बहुतोंके मनमें प्राणायाम करनेकी इच्छा जाग उठती है । पर विधिवत् अभ्यास उन्हींको करना चाहिये, जो वस्तुतः अधिकारी हों; अनधिकारीको नहीं । अन्यथा उलटे इतनी हानि पहुँच सकती है कि फिर वे व्यवहार सम्हालनेमें भी असमर्थ हो जाते हैं ।

प्राणायामका तात्पर्य—प्राणायामका अर्थ है—प्राणका व्यायाम । श्वसन-क्रियामें अपानवायुको जो बाहरसे आकर्षित किया जाता है और प्राणवायुको जो बाहर निकाला जाता है, इसी क्रियाको विधिवत् करनेका नाम प्राणायाम है । विधिके अनुसार आकर्षणको 'पूरक', धारणको 'कुम्भक' और त्याग—बाहर निकालनेको 'रेचक' कहते हैं; इन त्रिविध क्रियाओंका सम्मिलन ही प्राणायाम है ।

भीतर जो वायु आकर्षित की जाती है, वह स्वरयन्त्र, बृहत् श्वासनलिका और विभाजित श्वासनलिकाओंके द्वारा फुफ्फुसोंके भीतरवाले वायुको वायुकोष्ठोंके अंदर प्रवेश कराती है । इसका कुछ परिचय चित्र देखनेपर मिल

---

* प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥
(योगचूडामणि)

सकेगा। फुफ्फुसकोषोंमें वायु कुछ अंशमें सदा भरी रहती है। जीवितावस्थामें कभी भी वे बिल्कुल खाली नहीं होते। उनमें नयी वायु प्रवेश करती रहती है और पहलेकी दूषित वायु बाहर निकलती जाती है। प्राणायाम होनेपर वे शुद्ध हो जाते हैं।

विभाजित श्वासनलिकाओंमेंसे शाखा-प्रशाखा होकर अति सूक्ष्म प्रणालिकाएँ बन जाती हैं। उनके भीतरका मार्ग अति सूक्ष्म रहता है। उनका अन्तिम सिरा वायुकोष्ठोंसे सम्बन्ध रखता है। ये वायुकोष्ठ अर्धगोलाकार हैं। उनपर स्थिति-स्थापक स्नायु-सूत्र लपेटा हुआ है। इस स्नायु-सूत्रके आधारसे वे बार-बार फैलते और सिकुड़ते हैं। जिस प्रकार रबरकी थैली वायु भरनेपर फूलती है और वायु निकाल देनेपर मूल स्थितिमें आ जाती है, उसी प्रकार वायुकोष्ठ वायुका पूरक होनेपर फूलते हैं और रेचन होनेपर उनका फुलाव दूर हो जाता है। इन कोषोंकी स्थिति-स्थापक शक्ति बाल्यावस्थामें अभ्यासद्वारा शनैः-शनैः बढ़ायी जा सकती है, युवावस्थामें किसीकी शक्ति मर्यादित परिमाणमें बढ़ सकती है और प्रौढ़ावस्थाके पश्चात् नहीं बढ़ सकती। क्योंकि उस अवस्थामें स्थिति-स्थापक गुण नहीं रहता; स्थिति-स्थापक गुणके न होनेकी स्थितिमें यदि प्राणायामका अभ्यास किया जाता है, तो उससे रोगोत्पत्ति होती है। बहुतोंको वायुकोष्ठ-प्रसारण (Emphysema) हो जाता है। फिर कफ, कास, श्वासकृच्छ्रता, थोड़ेसे परिश्रमसे श्वास भर जाना, रक्तमें विष रह जानेसे शिराओंका रंग नीला हो जाना, शारीरिक कृशता, अग्निमान्द्य और हृदयमें भारीपन आदि लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

प्राणायामके अधिकारी—'त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्' के अनुसार यम, नियम और आसनोंसे जिसने नाड़ियोंकी शुद्धि की हो, वे ही प्राणायामके अधिकारी माने जाते हैं।* 'हठयोगप्रदीपिका'कारने लिखा है कि जिसका आसन दृढ़ हो गया है, जिसने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर रक्खा है तथा जो हितकर, पथ्य भोजन परिमित मात्रामें करता है, वह प्राणायामका अधिकारी है।† जो मुमुक्षु नीरोग हो, सत्य, सदाचार और संयमका पूर्ण पालन करता हो; उसीको अधिकारी माना गया है। आहार-विहारमें स्वच्छन्दता और अनियमितता बिल्कुल नहीं होनी चाहिये। तंबाकू, भाँग, गाँजा, चाय आदिका व्यसन नहीं होना चाहिये। देहके रोग-पीड़ित होनेपर नाड़ियोंकी शुद्धि नहीं रहती, ऐसी अवस्थामें भी प्राणायामका अभ्यास नहीं करना चाहिये। पाचन-संस्था और श्वसन-संस्थाका कोई रोग नहीं होना चाहिये।

पाचन-संस्थाके रोगोंमें जीर्ण मलावरोध, अतिसार, वमनादि तथा श्वसन-संस्थाके रोग—श्वास, कास, राजयक्ष्मादि होनेपर भी प्राणायाम करनेसे वायुका प्रवेश या निर्गमन यथोचित नहीं हो सकता। यदि किसी श्वासप्रणालिका या वायुकोष्ठमें वायुका रोध होगा तो फिर उसमेंसे वह बलात्कारसे बाहर निकलेगा। अतः शरीरमें रोग हो तो पहले औषधोपचार या षट्कर्म और आसनोंके द्वारा उसे दूर कर देना चाहिये। सबल नीरोगी मुमुक्षुको अभ्याससे जितना लाभ मिल सकता है, उतना निर्बल या रोगीको नहीं मिल सकता।

जिसे मस्तिष्कविकृति, हृदयविकृति, वातप्रकोप, रक्तदबावबृद्धि, उपदंश, सुजाक, मधुमेह अथवा जन्मजात पाण्डु या कामलारोग हो, उसे प्राणायामका अभ्यास नहीं करना चाहिये। जिनकी छाती जन्मसिद्ध निर्बल हो, जिनको

---

* यमैश्च नियमैश्चैव ह्यासनैश्च सुसंयुतः।
नाडीशुद्धिं च कृत्वाऽऽदौ प्राणायामं समाचरेत्॥

† अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान् समभ्यसेत्॥

बाल्यावस्थामें मृदुस्थि (Rickets) रोग हो गया हो, आयु बड़ी हो जानेके कारण जिनकी नाड़ियों और वायुकोष्ठोंकी स्थिति-स्थापक शक्ति दूर हो गयी हो, उनको भी चाहिये कि वे प्राणायामका अभ्यास न करें।

अधिकारियोंमें भी आयुभेदसे उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—तीन प्रकार होते हैं। ८ से २० वर्षतककी आयुवाले उत्तम, २१ से ४० वर्षतकके मध्यम और इससे बड़ी आयुवालोंको कनिष्ठ अधिकारी समझना चाहिये। उत्तम अधिकारीके वायुकोष्ठ अधिक आघात सहन कर सकते हैं, मध्यमके उससे कम और कनिष्ठके बहुत ही कम। उत्तम अधिकारी कुम्भक अधिक परिमाणमें कर सकते हैं, मध्यम परिमित परिमाणमें तथा कनिष्ठ अधिकारी तो कुम्भक बढ़ा ही नहीं सकते। इस अधिकारको लक्ष्यमें रक्खे बिना कुम्भक बढ़ानेका प्रयत्न किया जायगा तो फुफ्फुसोंके वायुकोष्ठोंकी स्थिति-स्थापक शक्ति नष्ट हो जायगी, फिर दूषित वायुके शोधनका कार्य सुचारुरूपसे नहीं हो सकेगा।

अभ्यासस्थान—अभ्यास-स्थान शहरसे दूर शुद्ध वायुयुक्त और स्वच्छ होना चाहिये। वहाँ मच्छर आदिका उपद्रव नहीं होना चाहिये। एकान्त हो, बाहरसे मशीन आदिकी या मनुष्योंकी आवाज न आती हो। क्योंकि अकस्मात् आयी हुई आवाज बलपूर्वक वायु बाहर निकालकर हानि पहुँचा देती है।

वक्तव्य—अधिकारियोंको चाहिये कि निःस्वार्थी, क्रिया-परायण, सद्गुरुके आश्रममें रहकर उनके आज्ञानुसार अभ्यास करें। दूर रहकर अभ्यास करनेपर अभ्यास ठीक हो रहा है या उसमें कोई भूल हो रही है, यह विदित नहीं हो सकता। जो साधक केवल शास्त्र पढ़कर अभ्यास करने लगते हैं, वे बहुधा हानि उठाते हैं।

साधकोंको चाहिये कि अभ्यास उतना ही करें कि जिससे बलका अति क्षय न हो। प्रतिदिन प्रातःकाल उठनेके समय शरीरमें उत्साह रहना चाहिये, थकावट बिल्कुल न रहनी चाहिये। जल्दी अधिक लाभ मिल जाय, इस आशासे जो साधक अभ्यासका अतियोग करते हैं, उनके बलका क्षय होता है। फिर अकस्मात् फुफ्फुसरोग, वातविकार अथवा हृदयरोग हो जाता है, जो औषधोपचारसे भी दूर नहीं हो सकता।

प्राणायामके समय मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध और जालन्धर-बन्ध—इन तीन बन्धोंका आश्रय लेना पड़ता है। अतः इन तीनों बन्धोंका अभ्यास पहलेसे कर लेना चाहिये। पैरके पार्ष्णिभागके गुदद्वारके पास सीवनपर लगानेसे गुदनलिका (Rectum) का आकुञ्चन होकर अपानवायुकी ऊर्ध्वगति हो जाती है। इस क्रियाको 'मूल-बन्ध' कहते हैं। नाभिके ऊपर और नीचेके उदरप्रदेशको, पीठकी ओर आकर्षित करनेसे वायुपूरित फुफ्फुसोंके नीचे आधार मिल जाता है, जिससे फुफ्फुसोंको वायुके आघातसे हानि नहीं पहुँचती और रेचन-क्रिया उचितरूपसे होती है। इस क्रियाको 'उड्डियान-बन्ध' कहते हैं। गलबिलका आकुञ्चनकर चिबुक (ठोढी) को कण्ठभागसे नीचे और हृदयप्रदेशके ऊपर स्थापित करनेसे फुफ्फुसगत वायुमें चञ्चलता आनेपर भी हानि नहीं पहुँचती तथा मस्तिष्कमें संगृहीत प्राणशक्ति (प्राणवायुमेंसे रूपान्तरित विद्युच्छक्ति) का व्यय नहीं होता। इस क्रियाको 'जालन्धरबन्ध' कहते हैं।

प्राणायामके अभ्यासके पहले देहमें अति मेद, अति कफ, अति मल या आम रहा हो, अथवा मस्तिष्क, उदर, फुफ्फुसादि प्रदेशमें अधिक दोष रहा हो तो नेति, कपाल-भाति, धौति, नौलि, बस्ति और त्राटक—इन षट्क्रियाओंमेंसे आवश्यक क्रिया करके प्राणमार्गको शुद्ध और देहनाड़ियोंको प्राणधारणक्षम बना लेना चाहिये। लेखका कलेवर बढ़ जानेके भयसे षट्कर्मोंका वर्णन यहाँ नहीं किया जाता।

प्राणायाम-प्रकार—अनुलोम-विलोम, सूर्यभेदी, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रा, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी—प्राणायामके ये नौ प्रकार हैं। इनमेंसे रोगहीन मनुष्योंको देहके स्वाभाविक मलके शोधन और धारणशक्तिकी वृद्धिके लिये अनुलोम-विलोम प्राणायाम कराया जाता है। इसकी सिद्धि होनेपर शेष आठ प्रकारोंमेंसे अनुकूल प्रकारका आश्रय लिया जाता है।

अनुलोम-विलोम प्रकारके प्राणायाममें दोनों फुफ्फुसोंको सहन हो सके उतने परिमाणमें व्यायाम होता रहता है और बीच-बीचमें क्रमशः दोनोंको विश्राम मिलता जाता है, श्वास-प्रणालिकाओंका मार्ग शुद्ध होता है और वायुकोष्ठोंकी धारण-शक्ति शनैः-शनैः बढ़ती जाती है। इस प्रकारमें हानि पहुँचनेका भय बहुत कम रहता है। इस हेतुसे प्राणायामके अभ्यासके प्रारम्भमें अनुलोम-विलोमका विधान किया गया है।

अनुलोम-विलोम-विधि—अनुलोम-विलोम प्राणायाम विशेषतः पद्मासन लगाकर किया जाता है। इतर आसनोंकी अपेक्षा प्रारम्भिक अभ्यासियोंके फुफ्फुसोंके नीचे आधाररूपसे उदर-प्रदेश आ जानेसे फुफ्फुसोंपर वायुका आघात पहुँचनेका

भय कम रहता है; किंतु जिन साधकोंका पद्मासन ठीक न होता हो, दोनों पाणिभाग नाभिके दोनों ओरके उदर-प्रदेश-पर उचितरूपसे न लगते हों; उनको मूलबन्ध या स्वस्तिकासन या अन्य सुखासनसे बैठाकर अभ्यास कराया जाता है।

प्राणायाम प्रारम्भ करनेके समय गणपतिका पूजनकर, इष्टदेवताको नमस्कारकर, पूर्वदिशा या उत्तर दिशामें मुख रखकर मृदु आसनपर पहले चन्द्रनाड़ी (वाम नासापुट) से श्वास ग्रहण करना अर्थात् पूरक करना चाहिये। उसे यथा-शक्ति धारण करें अर्थात् कुम्भक करें। फिर सूर्यनाड़ी (दक्षिण नासापुट) से रेचन करें अर्थात् वायुको बाहर निकाल दें। (यह एक प्राणायाम हुआ।) फिर सूर्यनाड़ीसे पूरक करके कुम्भक करें और चन्द्रनाड़ीसे रेचन करें अर्थात् जिस नासापुटसे रेचन करें, उसी नासापुटसे पूरक करें। (यह दूसरा प्राणायाम हुआ।)

इस प्राणायामके अभ्यासमें पूरक, कुम्भक और रेचक—ये तीनों क्रियाएँ विधिवत् होती हैं, मनगढ़ंत रीतिसे नहीं। कुम्भक उतने समयतक करना चाहिये कि रेचन-क्रिया शान्ति-पूर्वक अन्तरशक्तिके बलसे हो सके। बलात्कारसे वायु बाहर न निकल जाय, इसकी सावधानी रक्खें। यदि रेचक जल्दी हो जायगा, तो वायु-प्रणालिकाओंमें आघात पहुँचनेकी सम्भावना होगी। कुम्भक यदि शक्तिसे अधिक कालतक रह जायगा, तो वायुकोष्ठोंका स्थिति-स्थापक गुण कम हो जायगा। फिर वे यथोचित सिकुड़ नहीं सकेंगे। परिणाममें रोगोत्पत्ति हो जायगी।

अनुलोम-विलोम प्राणायामके प्रारम्भकालमें बारह मात्रा (साढ़े सोलह सेकंड) का कुम्भक करनेका शास्त्रोक्त विधान है, इसे 'कनिष्ठ प्राणायाम' कहा है। मध्यम प्राणायाममें चौबीस मात्रा (सवा तैंतीस सेकंड) का और उत्तम प्राणायाममें छत्तीस मात्रा (पचास सेकंड) का कुम्भक किया जाता है। यह सामान्य नियम है। किंतु साधकको साढ़े सोलह सेकंडका कुम्भक करना ही चाहिये, ऐसा आग्रह न रक्खे। वायुकोष्ठोंकी धारणशक्ति जितनी कम होगी, उतना ही कम कुम्भक हो सकेगा। इस धारणशक्तिको शनैः-शनैः बढ़ाना चाहिये। वायुकोष्ठोंकी धारणशक्ति जल्दी बढ़ानेकी आशासे अधिक कालतक कुम्भक नहीं रखना चाहिये। अन्यथा रेचन-क्रियापर अधिकार नहीं रह सकेगा।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम धारावाहिक होते हैं। अर्थात् पूरक, कुम्भक, रेचक; फिर तुरंत पूरक, कुम्भक, रेचक—इस तरह क्रिया सतत करते रहना चाहिये। बीचमें तोड़ नहीं देना चाहिये। यदि अधिक श्रम होनेके कारण क्रिया न हो सकती हो, तो उस समय उतनेमें ही क्रिया समाप्त कर देनी चाहिये। दूसरे समयपर कुम्भक कम करें, जिससे क्रिया धारावाहिक हो सके।

प्रारम्भमें ५, ७, १०, १५, २०, २५ कुम्भक—इस तरह शनैः-शनैः बढ़ायें। शास्त्रकारोंने अस्सी प्राणायामतक बढ़ानेका और दिनमें चार बार अभ्यास करनेका विधान किया है; किंतु वर्तमान समयमें सामान्यतः पचीस प्राणायाम-तक बढ़ायें और प्रातः-सायं दिनमें दो ही बार अभ्यास करें। शास्त्रकारोंने तीन मासमें नाड़ीशुद्धि और उत्तम प्राणायामकी सिद्धि होनेका वर्णन किया है। उसके स्थानपर वर्तमानमें कम अभ्यास करें तो एक वर्ष लग सकता है। किंतु इस तरह शान्तिपूर्वक और शक्ति-अनुसार अभ्यास करनेमें हानि होनेका कोई भय नहीं रहता।

कनिष्ठ प्राणायामके अभ्यासकालमें स्वेद अधिक आता है। मध्यम प्राणायाममें कम्प होता है और उत्तम प्राणायाममें प्राण उत्तम स्थान (ब्रह्मरन्ध्र) को प्राप्त होते हैं। * अर्थात् वायु जो वायुकोष्ठोंमें प्रवेश करता है, उसमेंसे प्राणवायु (Oxygen) रक्तमें आकर्षित हो जाता है, वह धमनीमार्ग-से रक्ताभिसरण-क्रियाद्वारा मस्तिष्कमें पहुँच जाता है, उसमेंसे कुछ अंशका परिवर्तन प्राणतत्त्व (विद्युत्) रूपमें हो जाता है। यह विद्युत् धारण हो सके, उससे अधिक बढ़नेपर वस्त्रोंमें भी कुछ-कुछ आती रहती है, शीतकालमें और रेशमके वस्त्रोंमें अधिकतर प्रतीत हो जाती है। अन्धकारमें रेशमके या सूतके वस्त्रके दो पर्त अलग करनेपर चट-चट आवाज होकर नीला तेजस्वी प्रकाश उत्पन्न हो जाता है।

बाहरसे जो शुद्ध वायु आकर्षित की जाती है, वह रक्तमें प्रवेश करनेपर रक्ताभिसरण-क्रियाद्वारा तीव्र गतिसे सारे शरीरकी धमनियों (Arteries) और शिराओं (Veins) में पहुँच जाती है और वहाँके मल, विष, आम, रक्तवारि (Plasma) और अपक्षय-प्राप्त रक्ताणुओंको जला (तपा) कर स्वेदद्वारा बाहर निकाल देती है। जिस प्रकार विषमज्वरमें उष्णता बढ़नेपर कीटाणु-विष जलकर स्वेदद्वारा बाहर निकल जाता है, इसी प्रकार प्राणायाममें भी स्वेदमार्ग-

* कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं भवेत्॥
(शाण्डिल्योपनिषद्)

से विकारका निवारण हो जाता है। फिर भी साधकावस्थामें ज्वर आदि रोगोंको निकालनेके लिये प्राणायामका प्रयोग नहीं होता। कारण, रोगसे उत्पन्न मल, जो स्थूल होता है, प्राणायाम करनेपर रक्त-मांसादि धातुओंमें प्रवेश करके सूक्ष्मभावको प्राप्त हो जाता है और मस्तिष्क आदि सारे शरीरमें फैल जाता है। साधकावस्थामें कुम्भक कम होता है और रक्तकी पूरी शुद्धि नहीं हो सकती। इसी हेतुसे ज्वर आदि रोगोंमें लीन होनेवाले मलका बल बढ़ जाता है। इसलिये प्राणायामका निषेध है।

जो प्राणवायु चारों ओर रक्तमें फैलता है, वह रूपान्तरित होकर प्राणशक्ति (विद्युत्)-रूप बन जाता है। फिर वह मस्तिष्कके केन्द्र और वात-नाडियोंमें फैल जाता है। रक्तमेंसे जो रक्तवारि जल जाता है, उस स्थानपर रससंस्थामेंसे नया रस आकर्षित हो जाता है तथा जीर्ण रक्ताणुओंका स्थान नूतन सबल रक्ताणु ग्रहण कर लेते हैं। फिर उसी शुद्ध और सबल रक्तमेंसे मांस, मेद, शुक्रादि धातुएँ उत्पन्न होती हैं, जिससे वे भी शुद्ध और सबल बनती हैं।

रक्तमें अशुद्धि अधिक होती है तो स्वेद अधिक आता है और अधिक दिनोंतक आता है। अशुद्धि कम होती है, तो स्वेद कम होता है और कम दिनोंतक आता है। रक्तशुद्धि होनेके साथ-साथ प्राण-वायुके धारणकी शक्ति बढ़ती जाती है। इस तरह कनिष्ठावस्थामेंसे मध्यमावस्थाकी प्राप्ति होती है। इस अवस्थामें स्वेद बहुत कम हो जाता है; किंतु प्राणशक्ति अधिक उत्पन्न होती रहती है। उसका धारण वातनाडियोंसे यथोचित नहीं होता, जिससे स्थान-स्थानपर मन्द-मन्द कम्प (Spontaneous Convulsion) होता रहता है। यह कम्प भी ज्यों-ज्यों वातनाडियाँ सबल होती हैं, त्यों-ही-त्यों कम होता जाता है।

फिर उत्तमावस्था प्राप्त होनेपर शनैः-शनैः प्राणशक्ति अधिकाधिक धारण होती जाती है। मस्तिष्कमें प्राणशक्तिका अधिक संग्रह होनेपर प्रारम्भमें मस्तिष्कमें भारीपन आता है, जो एक-दो घंटेमें दूर हो जाता है। फिर मस्तिष्कस्थ प्राण-संग्रह-स्थान सबल बननेपर शनैः-शनैः भारीपनवाली अवस्था दूर हो जाती है, नादानुसन्धान होने लगता है और मानसिक संकल्पोंकी सिद्धि होने लगती है। पश्चात् अभ्यास-वृद्धि और यम-नियम आदिके पालनके अनुरूप उत्तरोत्तर लाभकी वृद्धि होती जाती है।

सूचना—(१) यह अभ्यास शुद्धवायुवाले स्थानमें होता है। किंतु वायुका वेग तेज न होना चाहिये; अन्यथा स्वेद उचित मात्रामें बाहर नहीं निकल सकेगा, फलतः शोधन-क्रिया ठीक नहीं होगी। अतः खिड़की नीची हो तो बंद रखनी चाहिये। स्वेद आये, उसे कपड़ेसे पोंछकर दूर न करे, शरीरपर मल दे। इससे देहमें लघुता आयगी, त्वचा तेजस्वी बनेगी और मांसपेशियाँ दृढ़ बनेंगी।*

(२) अभ्यास प्रारम्भ करनेपर प्रथमावस्थामें भोजनमें दूध-भात लेनेका विधान है। दूध-भातका सरलतासे पाचन हो जाता है। उसमेंसे विशेषांशका पाचन आमाशयमें ही हो जाता है। बहुत कम अंशका पाचन अन्त्रमें होता है। जिन साधकोंको आमाशय निर्बल होनेसे दूध अनुकूल न पड़ता हो, वे ताजे दहीका मट्ठा बनाकर ले सकते हैं। भात अनुकूल न हो, तो वे गेहूँका दलिया ले सकते हैं। केवल दूध या केवल मट्ठेपर रहा जाय तो विशेष उत्तम।

(३) साधकके लिये जितना दूध (गोदुग्ध) हितकारी है, उतना मट्ठा नहीं। दूधसे वात, पित्त, कफ धातुएँ आवश्यक परिमाणमें बनती हैं और सब ऋतुओंके लिये वह समान उपकारक है। मट्ठा लेनेपर उससे कफ धातुकी उत्पत्ति कुछ अधिक न हो जाय, शरदृऋतु या ग्रीष्मऋतुमें दही खट्टा न हो जाय, और वात या पित्तका प्रकोप न हो जाय— इस बातको सम्हालना पड़ता है। मट्ठा लेनेपर सेंधा नमक, जीरा और काली मिर्चे मिलानी पड़ती है। दूध-सेवनकी अपेक्षा अभ्यासमें प्रगति भी कुछ कम होती है। फिर भी जिनको पहले संग्रहणी या पेचिश हो गयी हो, अथवा जो वंशगत अर्शके रोगी हो, उनको दूध अनुकूल न होनेपर मट्ठा देना पड़ता है।

(४) चावल कुछ साधकोंको अनुकूल नहीं पड़ते। जिसके आमाशयका पित्त तेज हो, जिसके मूत्रकी प्रतिक्रिया अम्ल हो अथवा जिसने देशमें चावल खानेकी प्रथा न होनेसे पहलेसे गेहूँ या ज्वारका सेवन किया हो, उस साधकको गेहूँका दलिया या ज्वारकी रोटीपर रखना पड़ता है। संक्षेपमें जो शरीरको अनुकूल हो और पचनेमें भारी न हो, सरलतासे पच जाय, उसीका सेवन करना चाहिये। यह नियम उत्तम प्राणायामकी दृढ़ता होनेतक है। फिर जब कुम्भकमें अधिक प्रगति हो जाती है, तब भोजनमें अधिक आग्रह नहीं रक्खा

---

* जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्।
दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते ॥
(शाण्डिल्योपनिषद्)

जाता। फिर भी रजोगुणी और तमोगुणी भोजनकी तो प्रधानता नहीं होनी चाहिये। अपथ्य भोजन भी नहीं करना चाहिये।

(५) जिस प्रकार सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि पशु शनैः-शनैः वश होते हैं—बलात्कार करनेपर नहीं, उसी प्रकार (कुम्भक) प्राणायामका अभ्यास शनैः-शनैः युक्तिपूर्वक करनेपर वायु वशमें होता है। युक्तिका त्याग तो अधमरा मार देता है अर्थात् मनगढ़ंत रीतिसे प्राणायामका अभ्यास किया जायगा तो उससे हिक्का, श्वास, कास, सिरदर्द, कर्णरोग और नेत्रविकारादि नानाविध रोगोंकी उत्पत्ति हो जायगी और प्राणान्त कष्ट होगा।

(६) इस प्राणायामके अभ्यासमें 'मूलबन्ध'को सतत धारण किया जाता है तथा पूरकके अन्तमें 'जालन्धरबन्ध' और कुम्भकके अन्तमें (रेचकके आरम्भमें) 'उड्डियानबन्ध' लगाया जाता है। ये बन्ध न लगाये जायँगे अथवा ये उचित-रूपसे न लगाये जायँगे, तो प्राणायामकी सम्यक् सिद्धि नहीं हो सकेगी। उपर्युक्त विवेचनके अनुसार शुद्ध सावधानी-से, युक्त प्राणायाम-विधिसे, मनुष्य अभ्यास करते रहनेपर उसे नाड़ीशुद्धि हो जाती है अर्थात् रक्तवाहिनियोंमें [illegible] प्रधानता हो जाती है; शारीरिक वायु, पित्त, दूषित [illegible] [illegible] अधिकार नष्ट हो जाता है तथा रक्तसञ्चालनक्रिया स्वच्छ करती है, तब वायु न यथेष्ट धारण होता है, सिर-दर्द न होती है, नाड़ीकी अभिव्यक्ति होती है और आरोग्यकी प्राप्ति होती है। इस समय मेद, कफ आदि जल जानेसे शरीर कुछ दुर्बल हो जाता है, किन्तु स्फूर्ति आदि कम नहीं होते।

नाड़ीशुद्धि होनेके पश्चात् कुम्भक बढ़ाने और कुण्डलिनीके प्रबोधार्थ, केवल कुम्भकके प्राप्त्यर्थ अथवा राजयोगमें प्रवेशार्थ जितने ही मार्ग हैं, सूर्यभेदी आदि प्राणायाम तथा खेचरी आदि मुद्राका आश्रय लेते हैं। स्थानाभावसे यहाँ उन प्राणायामोंकी विधि तथा खेचरी आदि मुद्राओंका विवेचन नहीं किया जा सका।

संस्कृति

(रचयिता—श्रीरघुनाथप्रसादजी शास्त्री 'साधक')

जय हो ! जय हो !!
भारतकी प्राचीन सुसंस्कृति ! तेरी सदा विजय हो।

धर्म-भाव भूतलमें छाये,
कर्म-भाव जनतामें थाये,
'निष्कामी-जीवन' फल पाये,
ईश्वरमें विश्वास अटल, मन स्वस्थ, नितांत अभय हो।
तेरी सदा विजय हो ॥ १ ॥

'सत्य-सनातन' नित्य प्रचारें,
शुभ कृतियोंके तथ्य विचारें,
निज मानसके दोष सुधारें,
वेदोंके स्वाध्याय निरन्तर, पाप सभीके क्षय हों।
तेरी सदा विजय हो ॥ २ ॥

ऊँच-नीचके भाव विसारें,
कलुष, कामना सकल निवारें,
समता-भाव समाज प्रसारें,
'वर्णाश्रम' हो ध्येय हमारा, आर्य-जाति जग 'नय' हो।
तेरी सदा विजय हो ॥ ३ ॥

'सदाचार'की शिक्षा पायें,
'उञ्छ-वृत्ति'की भिक्षा भायें,
'यज्ञ-शेष' सब मिलकर खायें,
पूर्णकाम हों, पियें सुधासम प्रतिगृह गोरस पय हो।
तेरी सदा विजय हो ॥ ४ ॥

शम-दम-त्याग-तितीक्षा धारें,
दया-क्षमा-संयम विस्तारें,
निज सर्वस्व 'राष्ट्र'-पर वारें,
जीवन्मुक्त बनें अधिवासी, यह अध्यात्म-निलय हो।
तेरी सदा विजय हो ॥ ५ ॥

आत्म-शक्ति विस्तार करें हम,
दीनोंका उद्धार करें हम,
शरणागतको प्यार करें हम,
इष्ट-साधना 'साधक'का नवयुग पुनरपि अभिनय हो।
तेरी सदा विजय हो ॥ ६ ॥

भारतकी प्राचीन सुसंस्कृति ! तेरी सदा विजय हो,
माता सदा विजय हो ॥

मायातत्त्व-विज्ञान

(लेखक—आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०)

कल्पना, अनुमान तथा तर्क-वितर्कके द्वारा विचार-विवेचन—इन सबको हेतु बनाकर ही पाश्चात्त्य दर्शनकी व्यापार-लीला समाप्त हो जाती है। यूरोपके दार्शनिक ज्ञान-विज्ञान तथा तत्त्व-सिद्धान्त इन्हीं सबपर प्रतिष्ठित हैं। पाश्चात्त्य दर्शन विद्या-बुद्धिकी विविध विलासितामात्र है। 'फिलासफी' शब्दकी व्युत्पत्तिसे भी यही अर्थ निकलता है। भारतीय दर्शनका लक्ष्य है 'दिव्य दृष्टिसे तत्त्वदर्शन करना', निर्भ्रान्त सत्यकी उपलब्धि करना। सहस्रों तर्क-वितर्कोंके द्वारा भी जिसका कभी खण्डन नहीं हो सकता, जिसे असत् प्रमाणित नहीं किया जा सकता—वही इन्द्रियातीत अप्राकृत और अतिमानसिक उपलब्धि है, दिव्य-दर्शन है; यह तत्त्वविज्ञान योगज समाधिके द्वारा प्राप्त होता है। शुद्ध सात्त्विक ऐकान्तिक एकाग्र बुद्धिके द्वारा इन्द्रिय और चिरचञ्चल मनोवृत्तिको वशीभूत करके अन्तःपुरमें हृत्पद्मके कोशमें जिस अपूर्व विज्ञानालोकका आविर्भाव होता है, उस सर्व रहस्योंको समुद्भासित करनेवाले आलोकमें जो सत्य-तत्त्व-रत्नावली प्रकाशित होती है, वे तत्त्व-समूह ही भारतीय दर्शन-विज्ञानके भण्डारमें प्रत्येक स्तरमें भलीभाँति सुसज्जित हैं; और जिस प्रकार मधुचक्रमें मधु सञ्चित रहता है, उसी प्रकार ये तत्त्व वेद, उपनिषद्, पुराण तथा तन्त्रादिमें सुचारुरूपसे सञ्चित हैं। ये अशेष हैं, अपार हैं।

भारतीय दर्शन-विज्ञान तथा भारतीय शास्त्रग्रन्थ—वेद-पुराणादिको जो लोग इस दृष्टिसे नहीं देखते, उनको चाहिये कि वे भारतीय दर्शनके साथ पाश्चात्त्य दर्शनकी तुलना करनेकी कभी चेष्टा ही न करें। विश्व, विश्व-विधान, विश्व-अधिपति और विश्व-जीवन—इन समस्त तत्त्वोंको भारतीय ऋषियोंने जिस गम्भीरभावसे समझा और विशदरूपसे लिपिबद्ध कर रक्खा है, वैसा संसारमें अन्यत्र कहीं किसीने नहीं किया। इस महासत्यको हृदयङ्गम किये बिना स्वाधीन भारतकी स्वातन्त्र्य-प्राप्तिकी सार्थकता सिद्ध न होगी। दास-मनोवृत्तिकी बातें हम सदा कहते हैं और सुनते हैं। यह दास-मनोवृत्ति हमारे दिन-प्रतिदिनके सामाजिक और राष्ट्रिय जीवनमें जिस प्रकार विद्यमान है, हमारे मानसिक और आध्यात्मिक जीवनमें उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विद्यमान है। भारतकी वैज्ञानिक और दार्शनिक ऐश्वर्य-सम्पदा असीम और अनन्त है, भारतकी तुलनामें इस दृष्टिसे यूरोप और अमेरिका अत्यन्त दरिद्र हैं। और यह सम्पत् मानवजीवनकी समस्त व्याधियोंकी महौषध है, अमृतत्व और चिदानन्दसुख-सामग्रीकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। इसके स्वल्पमात्र भी जीवनमें कार्यान्वित होनेपर जीवन धन्य हो जाता है।

विश्वके विज्ञान-भण्डारके लिये भारतकी असंख्य देन है। उनमें सर्वश्रेष्ठ और सर्वापेक्षा गहन-गभीर मायातत्त्व-विज्ञान है। यह महामाया परब्रह्मकी शक्ति (योगमाया) है। अनन्त शक्तिमान् ब्रह्मकी यह शक्ति सर्वश्रेष्ठ है, जिसके प्रभावसे वे ब्रह्म, परमात्मा, पुरुष और भगवान् हैं। यह उनकी पराशक्ति है, स्वरूपशक्ति है, अन्तरङ्गा शक्ति है। इसके बाद उनकी जीवशक्ति है, जिसके द्वारा वे अनन्तकोटि जीवोंको प्रकट करते हैं। इसी शक्तिके प्रभावसे विश्वके चर-अचर असंख्य जीव विद्यमान हैं। उनकी तीसरी शक्ति माया (जगन्माया) है। इस शक्तिके द्वारा वे विश्वका सृजन करते हैं, विश्वके जीवोंको धारण करते हैं, सृजन करते हैं, पालन करते है और संहार करते हैं।

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका ।
छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा ॥

भगवान्‌के साथ छायाके समान रहती हुई सृष्टि, स्थिति और संहारका साधन करनेवाली एकमात्र शक्ति दुर्गा चौदहों भुवनोंका पालन करती हैं। यह अपरा शक्ति हैं। परंतु केवल अपरा ही नहीं, पराशक्ति भी हैं। क्योंकि दुर्गासप्तशती-में लिखा है—

परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी ।
(१।८२)

'पर और अपर—सबसे परे रहनेवाली परमेश्वरी तुम्हीं हो।' गीतामें जीव-शक्तिको भी परा शक्ति कहा गया है—

···प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां···।

भगवत्तत्त्वका निर्णय करते समय उनमें नीच-ऊँचका क्रम बतलाना सम्भव नहीं है; परंतु श्रीभगवान्‌की मायाशक्तिके विभिन्न वैभव, नाना भावों और रूपोंमें उसकी विद्यमानता और क्रियाशीलता, उन सबकी नाना मात्रा और नाना क्रमोंमें अवस्थितिकी विभिन्नता आदि विषयोंपर हम यथासम्भव विचार करेंगे।

पहले यहाँ 'शक्ति' शब्दके अर्थको समझनेकी चेष्टा करें।

शक्तिका अर्थ है सामर्थ्य, कोई कुछ करनेकी योग्यता। परंतु भगवत्-शक्ति केवल सामर्थ्यमात्र नहीं है, 'सामर्थ्यमयी व्यक्ति-सत्ता' (Person) है। भगवान्‌की सभी शक्तियाँ मूर्तिमती, प्राणमयी, ज्ञानमयी और शक्तिमयी देवियाँ हैं अथवा दिव्य पुरुष हैं। यह भारतीय दर्शनका सिद्धान्त है। न्याय, सांख्य और पातञ्जलयोग पढ़नेसे यह बात जाननेमें नहीं आती। यह वेदान्तमें प्रतिभासित और पुराणमें प्रकाशित है। भगवान् एक होकर भी बहु रूपोंमें आविर्भूत होते हैं मूर्तिमती शक्तिके प्रभावसे। शक्तिकी व्यक्तिविशिष्टताके द्वारा ही वे अनेक हैं। भगवान् एक हैं, यह कहनेसे भगवान्‌का कुछ भी प्रतिपादन नहीं होता। एक रूपमें भगवान् सत्तामात्र हैं, शक्तिशून्य हैं। अतएव भागवतमें कहा गया है—

मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्॥
(३। ५। २४)

'उन्होंने चित्स्वरूप होकर भी अपनेको शक्तिहीन और अस्तित्वहीन समझ लिया था।' शक्तिके प्रकाशके साथ ही ब्रह्मकी बहुरूपताका प्रकाश हो गया—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।'
'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'

—यह उनकी शक्ति है।

शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न हैं और भिन्न भी हैं, यह निगूढ़ रहस्य है। भगवत्-तत्त्व-दर्शन अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैत है। परंतु अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है। मायाशक्ति ब्रह्मसे भिन्न है, परंतु वह निश्चय ही अभिन्न भी है; क्योंकि वह छिन्न नहीं है, खण्डित नहीं है। परब्रह्म अखण्डमण्डल हैं। अतएव भेदवादका प्रमाद खड़ा ही नहीं हो सकता। परंतु हम विश्वको तो देखते हैं और विश्वात्माको नहीं देखते। विश्व और विश्वात्मा एक हैं—यह बात समझमें नहीं आती, कहनेमें नहीं आती; परंतु भागवत उन्हें विश्व, अविश्व, विश्वद्रष्टा तथा विश्वहेतु (१०। २६। ४८) बतलाती है। गीता कहती है—

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।

'सारे प्राणी मुझमें हैं और मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ।' यही अचिन्त्य-भेदाभेद है। वे विश्वसे पृथक् नहीं हैं और विश्वके अन्तर्गत भी नहीं हैं। यही मायाका रहस्य है। जिसकी शक्ति है, उसके बिना वह शक्ति अर्थहीन है। अतएव वह अशक्ति अर्थात् असत् है। शक्तिका अन्वय होता है, व्यतिरेक नहीं होता—यह साधारण नियम है।*

परंतु मायाशक्तिमें एक व्यतिरेक व्यापार भी है। 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत' (श्रीमद्भा० २। ९। ३३)। अर्थात् माया अर्थशून्य या सत्यशून्य होते हुए भी प्रतीयमान होती है—जैसे सरोवरमें चन्द्र-प्रतिबिम्ब। उसमें चन्द्रकी प्रतीति होती है, परंतु चन्द्र नहीं है। माया सत्य है और मिथ्या है। अथवा सत्य भी नहीं है और मिथ्या भी नहीं है, 'सदसद्भ्यामनिर्वचनीया' है। परंतु स्वरूपतः कार्यकारणात्मिका है, शक्तितः सदसदात्मिका है। भागवतके प्रारम्भमें ही वाक्-कौशल्यपूर्वक कहा गया है कि 'ब्रह्म वह वस्तु है, जिसमें मायाकी सृष्टि है, अर्थात् भूत, इन्द्रिय और देवता—यह तीन प्रकारकी सृष्टि सत्य और मिथ्या है। 'यत्र त्रिसर्गो मृषा', 'यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।' ब्रह्मका प्रतिभास विश्व है। विश्वोपलब्धिके साथ, उसकी भित्तिरूपमें यदि ब्रह्मोपलब्धि हो तो विश्व सत्य है और यदि विश्वकी उपलब्धि होती हो पर ब्रह्मकी नहीं होती हो—तो ऐसी अवस्थामें विश्व मिथ्या है, शून्यमय है। ब्रह्मभावनाके तिरोहित होनेपर बौद्ध राज्यमें 'शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य'—अर्थात् तत्त्व शून्य है; क्योंकि भावका नाश होता है, विनाशका वस्तुरूपमें प्रकट होना धर्म है—इस प्रकारके उत्कट दर्शनवादका प्रादुर्भाव हुआ था।

श्रुतिमें विश्वके मूलकारण ब्रह्मतत्त्वके निरूपणके प्रसङ्गमें कहा गया है—'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'। लीलामय परमात्मस्वरूप ब्रह्म अपनी गुणमयी मायाके द्वारा अपनेको छिपाये रखते हैं। माया आवरण-शक्ति है। परंतु माया ब्रह्मको पूर्णरूपेण निरुद्दिष्ट नहीं कर देती—शून्यमय नहीं कर देती, बल्कि इसके बदले यत्किञ्चित् प्रकट कर देती है। जो कुछ प्रकट करती है, वही सृष्टि है। ग्रह-नक्षत्र, गिरि-नदी, वन-कानन, जीवसमूह—अनुपपन्न अनुद्दिष्ट ब्रह्मके शून्यप्राय स्थानको पूर्ण करके जो अवस्थान करते हैं, वही विश्व है। मायाकी इस विश्व-प्रकटन-शक्तिका नाम विक्षेप-शक्ति है। यह एक इन्द्रजाल फैलानेवाली शक्ति है। स्वरूपसंगोपिनी तथा नाना-विचित्र-भाव-विभाविनी—स्वरूपको छिपानेवाली और विभिन्न विचित्र भावोंको अभिव्यक्त करनेवाली शक्ति है। जो सत्य है, तत्त्व है, वह इससे छिप जाता है। उस सत्यके स्थानमें असत्य अथवा अन्य कुछ सत्यका आभास

* जहाँ शक्ति है, वहाँ शक्तिमान् है—यह अन्वय कहलाता है। और जहाँ शक्ति नहीं है, वहाँ शक्तिमान् भी नहीं है—यह व्यतिरेक कहलाता है।

लेकर प्रकाशित होता है। यही मायाकी शक्ति है। माया अघटन-घटना-पटीयसी है। माया वस्तुतः मायाविनी है। नाना वर्णोंसे रञ्जित बाष्पजालमे ब्रह्मज्योतिको आच्छादितकर कोटि-कोटि प्रकारकी रूपमूर्तियाँ—देव-मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, प्रजापति, मन-प्राण, सुख-दुःख, भाव-रङ्ग-रस, अश्रु-हास्य, तरु-लता, पत्र-पुष्प, शोभा-सौरभ—विभासित हो रही हैं; अनन्त स्रोत प्रवाहित हैं। दिग्दिगन्त प्रकाशित हो उठे हैं, प्रस्फुटित होते हैं, और टूटते जा रहे हैं। श्रीमद्भागवतमे ब्रह्माजीने इसी व्यापारको लक्ष्यमे रखकर कहा है—

> तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
> ....।
> स्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
> मायात उद्यदपियत् सदिवावभाति ॥
> (१०।१४।२२)

यह जगत् अनन्त है, प्रायः स्वरूपतत्त्वसे शून्य है, पर आत्मस्वरूपके आश्रयसे शून्य नहीं है। जो आत्मा हैं, जो स्वरूपतत्त्व हैं, जो परमपुरुष हैं, वे नित्यसुखोपलब्धिमय हैं, चिदानन्दघन-शरीर हैं। यह जगत्रूपी प्रपञ्च-पहेली, यह इन्द्रजालकी मनोहारिणी छायामूर्ति उन्हींकी निर्मल ज्योति-छटासे निरन्तर माया-प्रभाववश उद्भासित हो-होकर उन्हींमे मिलती जा रही है। किसकी क्षमता है, जो इस जगत्को मिथ्या समझे। मानो नित्य-सत्य प्रकाशका प्रवाह है; वैशाखकी दोपहरीमें सुदूर दिङ्मण्डलमे प्रखर रश्मि-स्रोतका प्रवाह है; केवल मरीचिका नही है, मृगतृष्णिका है। पिपासाको संदीप्त करती है, प्रशमन नहीं करती। ब्रह्म, माया और विश्व—इन तीनोके सम्बन्धमे निगूढ़ सङ्केत इस श्लोकमे दिया गया है। यह वेदान्तका अन्तरतम सिद्धान्त है। ब्रह्माकी इस विश्व-उपलब्धिमें एक रहस्यमय द्वैतभावना है। माया और ब्रह्म—इन दोनोंका योगायोग यहाँ अनुभूत होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी उपलब्धिमे यह द्वैत नही है, अभिनव भक्तिमय द्वैताद्वैत है।

> यत शुनि श्रवणे सकलि कृष्ण नाम।
> सकल भुवन देखों गोविन्देर धाम ॥

यहाँ माया दूरीभूत होकर तिरोहित हो जाती है, रसब्रह्म तथा रूपब्रह्म प्रकाशित होते हैं—यहाँ तत्त्वब्रह्म अर्थहीन वस्तु है। कृष्णवर्णका एक शिशु मुरली बजा रहा है, यही ब्रह्म है। यहाँ गुणमयी माया नहीं है, मोहमयी माया है, चिन्मयी माया है, प्रेममयी माया है; इसका नाम है योगमाया।

परंतु इस विषयमे आगे विचार किया जायगा। मायाके दार्शनिक विभावके ऊपर एक बार दृष्टिपात किया गया। अब मायाके वैज्ञानिक या वास्तविक विभावके विषयमे कुछ समझनेकी चेष्टा करें। वास्तविक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक जीवनके जितने विभाग हैं, जितने विभाव हैं—सर्वत्र माया है। सब कुछ माया है। स्थूल, सूक्ष्म, कार्य, कारण—सब कुछ माया है, सभी मायाका कार्य है। परंतु ब्रह्म भी सर्वव्यापी है, अनन्त है। अतएव वह मायाके समस्त विभावोंको व्याप्त करके विद्यमान है। ब्रह्मके भी समस्त विभावोंको व्याप्तकर द्विरूपा माया विराजमान हो रही है। 'त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्', हे माता! एक तुमसे ही यह सब कुछ परिपूरित है। यह जगत्के विषयमें कहा गया है। परंतु जगत् ब्रह्मके एकांशमे स्थित है।

दुर्भेद्य पर्वतादि सभी कुछ माया है। सुकोमल पुष्प, सुरम्य पुष्प-सौरभ माया है, चन्द्र-सूर्य माया है। इन्द्रधनुष मायाका विलास है। मेघमाला आकाशमें सर्वत्र विचरण करती हुई मायाकी ही कहानी कहती रहती है। विद्युत्की क्षणिक प्रभा भी आकाश-पटपर मायाके मनकी बात लिख देती है, परंतु हम पढ़ नहीं पाते। स्रोतस्विनी निरन्तर कलकलध्वनिसे जो गान गाती रहती है, वह मायाके ही प्राणोंकी अनुभूति है। आकाशमण्डल, वायुमण्डल—समस्त मायाके विपुल विस्तार हैं, मायाके श्वास-प्रश्वासके प्रवाह हैं। इन्द्रिय माया है, मन माया है, मायाका लीला-क्षेत्र है, बुद्धि मायाकी निरूपण-शक्ति है, अहङ्कार मायाका स्वर्णसिंहासन है, चित्त मायाका आलोकराज्य है, काम-क्रोध-लोभ-मोह मायाके किङ्कर हैं। कामना, वासना, आशा-निराशा मायाके अन्तहीन जाल हैं। क्षुधा-तृषा, सुख-दुःख, स्नेह और प्रीति-प्यार, छल-प्रवञ्चना, हास्य-रुदन—समस्त मनोवृत्तियाँ मायाके प्रभावसे उत्पन्न मायाके विलास हैं।

एक मायाके ही इतने अचिन्तनीय और अनन्त भाव-वैभव हैं। यह विपुल कार्य-कलाप, क्रीड़ा और विलास-व्यापार, यह अभावनीय प्रकाश-परम्परा कैसे सम्भव हुए हैं? माया त्रिगुणमयी है, यह त्रिगुणात्मिका शक्ति ही मायाकी अशेष सृजन-शक्ति है, अनन्त उद्दीपिनी-शक्तिका हेतु है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन शक्तियाँ हैं।

> अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।

तीनो गुण एक दूसरेको अभिभूत करते हैं, एक दूसरेका आश्रय लेकर कार्य करते हैं, एक दूसरेका पोषण और पूर्ति करते हैं, परस्पर मिल जाते हैं तथा विरुद्धाचरण करके एक दूसरेको पराजित करते हैं। रजस् क्रियाशक्ति (Dynamic force) है; तमस् स्थितिशक्ति, निरोधशक्ति है; सत्त्व प्रकाश-

शक्ति है, साम्य-सुषमा-शान्तिशक्ति है। रजसे चेष्टा उत्पन्न होती है, उद्यम-उद्योग होता है, काम-क्रोधादि होते हैं। तमसे जाड्य, आलस्य, निद्रा, भूल-भ्रान्ति, मोह और सब प्रकारकी अशान्ति उत्पन्न होती है। सत्त्वसे ज्ञान-विज्ञान, विद्या, सत्य-वादिता और न्यायनिष्ठता, सारे सद्भाव—प्रेम, मैत्री, करुणा उत्पन्न होते हैं। ये तीन गुणोंकी पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ हैं। परंतु ये तीनों गुण कभी विच्छिन्न नहीं होते, नाना प्रकारसे मिल-जुलकर, और हिंसा-द्वेष, विवाद-विरोध करते हुए चलते हैं। कितने प्रकारसे, कितनी मात्रामें, कितने भावोंमें, कितने प्रकारसे गुणत्रयका योग-वियोग, विरोध-मिलन संघटित होता है—ये बातें देवबुद्धिके लिये भी अगम्य हैं। तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका संयोग-साहचर्य तथा द्वन्द्व-संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। इनके ही विपुल व्यापारोंसे विश्व-जगत्के प्रपञ्च-वैचित्र्य संसिद्ध होते हैं। जहाँ निश्चल पत्थर है, वहाँ गम्भीर तमकी प्रधानता है, सत्त्व और रजो-वृत्ति रुद्ध हैं। जहाँ उषाका आलोक प्रवाहित होता है, वहाँ रजोवृत्तिकी निर्मल क्रिया है। झञ्झावात रजोमय होता है। प्रत्येक गुणके साथ अन्य दो गुणोंका यत्किञ्चित् सम्बन्ध रहेगा ही। कवि जब काव्यरचना करता है, तब उसका चित्त सत्त्वप्रधान होता है। मानसिक क्रिया हो रही है, इसलिये यह समझना होगा कि रजोवृत्ति है। यहाँ तमोगुण प्रतिहत है। परोपकारी पुरुष जहाँ दूसरोंके हितार्थ उद्यम करते हैं, वहाँ रजस् सत्त्व-युक्त होकर वृत्तिमान् होता है। जगत्के स्वार्थ-समुत्साहमें रजोगुण और तमोगुण होते हैं, सत्त्व प्रतिहत होता है। मनुष्यके सारे भ्रम-प्रमादरूप भाव-विपर्यय तमोजन्य होते हैं। यह विविध गुणवृत्तिवैचित्र्य तथा नाना वृत्तियोंका नाना मात्राओंमे साङ्कर्य अर्थात् सम्मिश्रण जगत्-वैचित्र्यका सुगहन कारण है।

जागतिक जीवनमें जो कुछ दोषयुक्त, निन्दनीय और कुत्सित कार्य हैं, सब रजोगुण और तमोगुणके व्यापारसे उत्पन्न होते हैं। रज और तम उसी प्रकार मित्रभावापन्न हैं, जैसे लवण और जल। ये सहज ही घुल-मिलकर काम करते हैं। ये प्रायः सत्त्वके विपरीत पथपर चलते हैं। सत्त्व पराजित हो जाता है। इसी कारण संसारमें इतने पाप हैं। सब गुणोंमें शक्ति समान है—$\frac{1}{3}+\frac{1}{3}+\frac{1}{3}$। रजोगुण और तमोगुण मिलते हैं तो सत्त्वगुणसे दूने शक्तिशाली हो जाते हैं। संसारमें सद्भाव, न्याय, सत्य, पुण्यकी प्रवृत्ति लुप्त हो जा सकती है, ऐसा होना ही स्वाभाविक है। बहुधा संसार पापमें आच्छादित हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो संसारमें पुण्यका स्थान ही नहीं है; परंतु ऐसी बात नहीं, ऐसा होता भी नहीं। इसका एक बहुत बड़ा कारण है। सत्त्व एक विशाल शक्तिभण्डारसे, एक महान् प्रभाव-प्रस्रवणसे शक्तिसञ्चय करता है। सत्त्व परसत्त्व-स्वरूप परमपुरुषके साथ अनायास ही योगयुक्त होकर शक्ति-सामर्थ्य संग्रह कर सकता है। रजोगुण और तमोगुणके लिये यह सम्भावना बिल्कुल नहीं है। सत्त्व जब परमेश्वरका आश्रय लेता है, तब सहस्रों रजोगुण और तमोगुणकी शक्तियाँ भी उसे चलायमान नहीं कर सकतीं। भगवान्के पादपद्म जब सत्त्वकी मङ्गलमयी भूमिमें स्थापित हो जाते हैं, तब अधर्मकृत सारे अमङ्गल, सारे अन्धकार दूर हो जाते हैं। जगत् कभी पापसे परिप्लुत होकर अन्धतमसमें विलुप्त नहीं होता। इसका कारण है भगवान्का सत्त्व-सान्निध्य, सत्त्व-संयोग। अवतार-तत्त्वका रहस्य इसीमें निहित है। दुर्गासप्तशतीके प्रथम अध्यायमें यह रहस्य विस्मयजनक रूप धारण करता है। भगवद्भावनासे हीन शुद्ध चरित्रका कोई विशेष मूल्य नहीं है, उसका कोई विश्वास नहीं है—इस आलोकमें यह नीति भी समझने योग्य है, तमोगुणको दूर करनेके मार्गमें रजोवृत्तिको सत्त्वके अधीन करनेके लिये जो प्रयास होता है, जो साधना होती है, वही नैतिक साधना या चरित्र-साधना है। यह साधना बार-बार असफल हो जाती है, यदि साधक भगवान्का आश्रय नहीं लेता, यदि साथ-ही-साथ भगवान्को आत्मसमर्पणकी साधना नहीं करता। यही मानव-चरित्र-दर्शन है, पाप-पुण्यके उत्थान-पतनका तत्त्वदर्शन है। यह त्रिगुण तत्त्वके साथ बहुत घनिष्ठरूपमें संयुक्त है। त्रिगुणमयी मायाकी वृत्ति और उसका फलाफल कुछ कहा गया। परंतु अब भी मायाके विषयमें कुछ भी समझा नहीं गया।

माया है, इसीलिये हम भगवान्का चिन्तन नहीं करते और भगवान्को नहीं जानते। यह सत्य है। परंतु यदि माया न होती तो भी हम भगवान्को नहीं जान सकते। जानने या न जाननेका प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि मायाके न रहनेपर हम कोई भी नहीं होते। कुछ भी नहीं रहता। 'नान्यत् किञ्चन मिषत्'। कहीं किसीका स्फुरण नहीं होता। ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान एक हो जाते, अर्थात् कुछ भी न होता। ब्रह्मकी मायाशक्तिका प्रयोग—प्रवृत्ति ही वह व्यापार है, जिससे एक ओर लाखों-लाखों ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान, कोटि-कोटि आशा-आकाङ्क्षा, विद्या-बुद्धि, सुख-दुःख, शोक-हर्ष, विरह-मिलन, युद्ध-विग्रह, शिल्पकला और शोभा-सुषमाके साथ अनन्त वैचित्र्ययुक्त यह विस्तृत विश्व अनन्त आकाशमें प्रस्फुटित

हो उठता है, और दूसरी ओर ज्योतिराशि परब्रह्म अन्तर्हित हो जाता है—जिस ज्योतिकी तुलनामें अखिल ब्रह्माण्ड अन्धकारवत् है। भागवतकी भाषामें—

तस्वां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि।

'गम्भीर रजनीमें कुहरेके समान और दिनके आलोकमें जुगनूके समान वह ज्योति अदृश्य हो जाती है।'

इस जगत्को प्रकट करनेमें कारणरूपिणी मायाका नाम प्रकृति है। यह प्रकृति जो कुछ प्रकाशित करती है अर्थात् प्रकृतिके द्वारा प्रकाशित यह विश्व-ब्रह्माण्ड न तो ब्रह्म है न सच्चिदानन्द; बल्कि नाना प्रकारसे, सरल-कुटिल नाना पथमें ब्रह्मको प्रतिभासित करनेवाला है। अर्थात् यह विश्व ब्रह्मका प्रतिभास है। ब्रह्मके बिना जगत्की स्थिति नहीं हो सकती। ब्रह्मकी रश्मियाँ जगत्में ओतप्रोत हैं। परंतु वे रश्मियाँ स्वच्छ नहीं हैं, तमसाच्छन्न हैं, नाना रूपोंमें विकृत हैं। फिर भी वे ब्रह्मके अस्तित्वका पता बतलाती हैं। साथ ही वे ब्रह्मको छिपाये रखती हैं। जो लोग ज्योति चाहते हैं, जगत् उनके लिये ज्योतिकी रेखासे पूर्ण है और जो नहीं चाहते, वे चूहे अथवा कृमि-कीटादिके समान अन्धकारको ही प्रकाश मान लेते हैं। उनके लिये जगत् ब्रह्मके किरण-कणोंसे हीन है।

प्रकृतिके दो कार्य हैं—भोग और अपवर्ग। जीवमात्रको जगत्का परिचय प्रदान करना और विषय-भोगमें सहायता देना प्रकृतिका कार्य है। इस विषय-भोगके मोहसे उसे मुक्त करना, उसके वासना-बन्धनको काटना—यह भी प्रकृतिका कार्य है। परब्रह्मके अनन्त आनन्दलोकमें प्रत्येक जीव प्रवेश करे, प्रत्येक जीव मुक्त हो जाय—यह महामायाकी एकान्त इच्छा है। जो समझते हैं कि माया चिरकालतक जीवको संसारमें फँसाये रखना चाहती है, वे भ्रान्तिमें हैं; बहुतेरे विद्वान् कुसंस्कारवश ऐसा मानते हैं। जिनको मुक्तिकी कामना नहीं है, जो केवल भोग-चिन्तनमें ही जीवन-यापन करते हैं, उनको माया भटका-भटकाकर मारती है—विभ्रामयति; उनके लिये माया भ्रान्तिमयी अविद्या है। जो लोग मुक्ति या भक्तिके लिये भगवान्का आश्रय लेते हैं, उनके लिये माया विद्यादायिनी ज्ञानदायिनी महाविद्या है—

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।

ब्रह्म एक और अद्वितीय हैं। वे एक ही अनेक—असंख्य होकर आदान-प्रदानका खेल, प्रेम-प्रणय और द्वन्द्व-कलहका खेल जिस शक्तिके द्वारा खेलते हैं, वह शक्ति ही माया है।

प्रकृति चेतनामयी है, यह बात सहज ही कहते नहीं बनती। प्रकृति अचेतन है, यह बात सत्य भी नहीं है और मिथ्या भी नहीं है। 'तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्'—साङ्ख्यकारिकाकी यह उक्ति, तथा सांख्यसूत्रका 'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' एवं पुराणोंका 'योगनिद्रातत्त्व'—इन सबको एक साथ मिलाकर देखनेपर समझमें आ जाता है कि प्रकृतिकी अचेतनता कल्पनाके द्वारा गृहीत होनेपर भी कार्यतः नहीं सिद्ध होती। क्योंकि ब्रह्मकी शक्ति माया ब्रह्मसे विरहित नहीं हो सकती। अतएव वह ब्रह्ममयी है, अतएव ज्ञानमयी और चैतन्यमयी है। क्योंकि ब्रह्म चिद्वस्तु है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। माया सत्य शक्ति है, मिथ्या संघटन करती है, समानयन करती है, परंतु स्वयं मिथ्या नहीं है। वह अप्रतिहत ज्ञानसे स्फुरित होती है। अतएव ज्ञानवती है। अनन्तसे उत्पन्न होती है, अतः स्वयं अनन्त है।

पहले कहा जा चुका है कि माया शक्तिमात्र, सत्तामात्र नहीं है, व्यक्तिभूता है; वह देवी भगवती, दुर्गा और जगज्जननी है; वह प्रथम ब्रह्म-ज्योति है, ब्रह्म-तेज है, उसीसे जाग्रत् हुई है, आविर्भूत हुई है, दिव्य तेजस्विनी रमणीके रूपमें—

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥

ब्रह्मशक्ति जडशक्ति नहीं हो सकती, Mechanical force नहीं हो सकती। वह दिव्य ज्ञान-विज्ञानशक्ति है, सर्वार्थसाधिका शक्ति है, सर्वमङ्गलमयी शक्ति है, प्रेम-कारुण्यमयी शक्ति है, दैत्यसंहारिणी शक्ति है। आद्या शक्ति मूर्तिमती परमेश्वरी है, कोटि विद्युद्दामके समान प्रभामयी है, सिंहवाहिनी है। देवीका सिंह निखिल जडशक्तिमें मूर्तिमन्त हो रहा है।

यह रूप काल्पनिक नहीं है, ध्रुव सत्य है, प्रत्यक्ष सत्य है; जो लोग इस महा-शक्तिस्वरूपिणी देवीको कल्पना समझते हैं, वे बड़े ही भाग्यहीन हैं, ज्ञानहीन तो हैं ही। देवी अनन्तशक्तिधारिणी हैं; प्रत्येक शक्ति ही देवी, अनुचरी और किङ्करी है।

'कन्याभिः करवालखेटविलसद्धस्ताभिरासेविताम्।'
'......अनलात्मिकां शशिधरां दुर्गां त्रिनेत्रां भजे।'

भगवती दुर्गा महामाया भजनीया हैं, केवल विमोहिनी माया नहीं हैं; वे ब्रह्ममयी हैं। देवीके अन्तरको पूर्ण कर

रहे हैं षडैश्वर्यशाली, अशेष रूप-रस-लावण्य-समन्वित सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भगवान् । जगज्जननीने 'उनको ढक रक्खा है'—यह बात जिस प्रकार सत्य है, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि 'उसने उनको विश्व-पटपर अङ्कित कर रक्खा है।' जबतक वह सन्तानको परमेश्वरके सुख-शोभा-सुधा-सौन्दर्यके सुविमल राज्यके ऐश्वर्य-माधुर्यके भोगने योग्य नहीं बना देती, तबतक उसको शान्ति नहीं। वह इसको जन्मसे मरण और मरणसे जन्मके हिंडोलेपर निरन्तर झुलाती रहेगी और सोचती रहेगी कि इसको कब मुक्त करूँगी।

हम देवीको दानवदलिनी और असुरसंहारिणीके रूपमें महायुद्धमें संलग्न देखते हैं। देवीका वह रूप जैसे बहिरङ्ग है, वैसे ही अन्तरङ्ग भी है। एक ओर देवी रणाङ्गणमें रण-रङ्गिणी रण-चञ्चला हैं, और दूसरी ओर अन्तरके अन्तर्देशमें हृत्पद्मदलमें समासीना, शान्तिमयी, दिव्यरूप-लावण्यमयी, चिन्मयी हैं, सुधासिन्धुके बीच मणिमण्डपमें रत्नवेदिकापर सिंहासनासीन हैं, पीताम्बर धारणकर कनक-भूषणमालासे सुशोभित हो रही हैं।

भगवतीकी अनन्त विस्तार करनेवाली प्रतिभाका यह एक प्रान्त है, उनका अन्य प्रान्त समस्त जागतिक तत्त्वोंका उपादान-कारणस्वरूप है। उपादान-कारणरूपमें महामायाका नाम प्रधान है, जगत्-कर्त्रीरूपमें वे प्रकृति हैं, और जगत्से व्यतिरिक्त रूपमें वे अव्यक्त हैं, त्रिगुणरूप हैं। माया त्रिगुण तत्त्व है, यह सत्य है। परंतु यह सत्यका एक क्षुद्र अंशमात्र है। क्योंकि भगवती केवल त्रिगुण मात्रात्मिका नहीं हैं; वे त्रिगुणकी अधीश्वरी हैं, वे त्रिगुणकी अधिष्ठात्री देवी हैं—

> यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु .... ।
> तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वम् .... ॥
>
> (दुर्गासप्तशती १ । ८२-८३)

दार्शनिकोंने मायाका जो विवरण दिया है, वह शुष्क तत्त्वात्मक (abstraction) है। सचमुचकी माया, वास्तविक माया, प्राणवती-ज्ञानवती माया प्रकाशित हो रही है पुराणोंमें।

> त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
> व्यक्तं तथा प्रधानं .... ॥

यह अति शुष्क वर्णन है। सत्य नहीं है, सत्याभास है। दार्शनिककी शुष्क ज्ञानदृष्टिकी अपेक्षा असुरकी द्वेषदृष्टिमें भी सत्यका अधिक प्रकाश है। महिषासुरने देवीको पहले देखा था सृष्टिके आदिमें—

> स ददर्श ततो देवीं व्याप्तलोकत्रयीं त्विषा ॥
> पादाक्रान्त्या नतभुवं किरीटोल्लिखिताम्बराम् ।
> क्षोभिताशेषपातालां धनुर्ज्यानिःस्वनेन ताम् ॥
> दिशो भुजसहस्रेण समन्ताद् व्याप्य संस्थिताम् ।
>
> (दुर्गासप्तशती २ । ३७-३९)

यह महामायाका नित्य-सत्यरूप है, विश्वव्यापी रूप है।

> सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
> स भूमिं सर्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

—इस श्रुतिके द्वारा प्रकाशित रूपके अनुरूप ही उनका स्वरूप है, एक ही विश्वतत्त्वका अन्यतर विभाव है; दृष्टिपथ विभिन्न हैं, प्रकाश विभिन्न है, दोनों ही—पुरुष और प्रकृति सत्य हैं। सप्तशतीमें पुरुष अन्तर्गत है, श्रुतिमें प्रकृति अन्तर्गत है। दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। दर्शनकी दृष्टि ज्ञानदृष्टि है। ज्ञानदृष्टिमें छायाकी छाया दीख पड़ती है। श्रुतिकी दृष्टि और पुराणकी दृष्टि भक्तिदृष्टि है। भक्तिके आलोकमें सर्वतोभावेन जीवन्त तत्त्व आविर्भूत होता है। दर्शनके द्वारा प्रतिपादित समस्त माया-तत्त्व सप्तशतीमें स्पष्टतररूपसे प्रतिभात होता है। परंतु सप्तशतीमें देवी केवल तत्त्वात्मिका नहीं हैं; वहाँ देवी लीलामयी हैं, सर्वार्थसाधिका-रूपमें प्रकट हो रही हैं; वे रूपवती हैं, गुणवती हैं, रस-रङ्गमयी हैं। वे ही सचमुचकी महामाया हैं। सांख्यमें इनकी ही काल्पनिक कङ्कालमाला दृष्टिगोचर होती है। सप्तशती भक्तिग्रन्थ है। शोणित-स्रोतके साथ-साथ रक्तवर्ण भक्तिस्रोत बह रहा है सप्तशतीकी प्रत्येक पंक्तिमें, प्रत्येक श्लोकमें।

महामायाकी दो विपरीत शक्तियाँ या वृत्तियाँ हैं—आरोहिणी और अवरोहिणी। वृक्षसे टूटे हुए शुष्क पत्ररूपमें वालुका-कणरूपमें माया अवरोहिणी होती हैं। वे दिव्य आकाशसे उतरकर आती हैं और हीनता स्वीकार करती हैं, यह बात तो कहते नहीं बनती। क्योंकि जो सर्वमयी हैं उनमें हीनता-दीनता या गुरु-गौरव आदि भेद नहीं हैं।

> सर्वभूता यदा देवी स्वर्गमुक्तिप्रदायिनी ।
> त्वं स्तुता स्तुतये का वा भवन्तु परमोक्तयः ॥

आरोहण-प्रणालीमें वे इन्द्रादि देवोंकी भी आराध्या, पुण्य-ज्योतिर्मयी हैं। वे सर्वभूता और सर्ववस्तुभूता होते हुए भी सदा सर्वमुक्ता और स्वतन्त्रा हैं। ब्रह्म-विभाविनी हैं,

भगवती हैं। ब्रह्म सर्वव्यापी है, सर्वस्वरूप है, ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तब भी हमको ब्रह्मानुभव नहीं होता। ग्रह-नक्षत्र, गिरि-नदी, तरु-लता, पशु-पक्षीको हम देखते है। यह जो ब्रह्मातिरिक्त दर्शन है, यह जो ब्रह्मातिरिक्त भिन्न प्रकाश है, यह जो दीर्घकालीन भ्रान्ति है, यह जो वञ्चना है, सो मायाका प्रभाव है। परंतु ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मभावकी साधना करनेवाले ऋषियोने सर्वत्र नव-नव-भावापन्न ब्रह्मका दर्शन किया; उनको ब्रह्मातिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर नहीं हुआ। माया उनकी ब्रह्मानुभूतिको प्रतिहत नहीं करती और न उसमे बाधा उपस्थित करती है। वह ब्रह्मको नित्य नये-नये रूपमे, रसमे, भावमे, वर्णमे अनुरञ्जित करके प्रकाशित करती है। श्रुति कहती है—

> एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
> वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।

यह जो अवर्णका नाना वर्णोमे उपस्थित होना, अरूपका अनन्त रूपोमे वैचित्र्यके साथ प्रकट होना है—यह मायाका प्रभाव है।

शास्त्रोमे मायाके सम्बन्धमे नाना प्रकारकी विपरीत उक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

> महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः।
> महामोहा च भवती महादेवी महासुरी॥

तथा—

> या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
> पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः॥

'सुकृतिनाम्' तथा 'पापात्मनाम्' इन दो भेद-वाक्योमे समस्त भेद—वैपरीत्य निहित है। मायाके प्रभावसे विभिन्न अन्तःकरण हैं। विभिन्न चित्तवृत्ति, मति-गति और चरित्रोके ऊपर विभिन्न प्रकारसे मायाका प्रभाव है। वे देवी है, असुरी हैं; वे लक्ष्मी हैं, अलक्ष्मी है; वे मेधा हैं, मोह हैं; स्मृति है, विस्मृति है; ज्योति है, तम हैं; वे रक्षाकारिणी हैं, ध्वंसकारिणी है। विचित्र भाव, रूप और क्रिया ही मायाके चरित्र है। अनहोनीका होना, असम्भवका सम्भव होना, अचिन्तनीयका आविर्भाव मायाकी क्रियाशक्तिके अन्तर्गत हैं। मायाशक्तिहीन ब्रह्म केवल स्थावर ही नहीं, मानो अस्तित्वविहीन है। ब्रह्म है और सद्वस्तु है, इसका प्रमाण माया ही है। माया ही उसके अनन्त, अमृत, अचिन्त्य जीवनका एकमात्र आश्रय है। इसी कारण दुर्गाजी कहती है—

> एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।

मायाविहीन होनेपर जो ब्रह्म रहता है, उसका नाम महामृत्यु है। तथापि वह 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति'—आनन्दरूप अमृतके समान प्रकाशित है। मायाविरहित ब्रह्मको ही श्रुतिने 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' तथा 'अद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रवर्णम्' कहा है। वह एक प्रचण्ड नकार (A huge negation) हैं। मायायुक्त होनेपर वही मनोमय है, प्राण और शरीरका नेता है, सर्वकर्मा है, सर्वकाम है, सर्वरस और सर्वगन्ध है। नीलपतङ्ग, हरित और लोहिताक्ष है, और इसी प्रकारके नये-नये रूपोमे प्रकाशित होता रहता है।

माया ब्रह्मकी निजी शक्ति है। उस शक्तिसे ब्रह्म-भगवान्को विच्युत करनेके लिये, शुद्धाद्वैत भावना उत्पन्न करनेके लिये हृदयहीन पण्डितगण घोर दुराग्रह क्यो करते है—यह परब्रह्म ही जाने। यह भी मायाका ही प्रभाव है। जीवमात्र ही ब्रह्म-रश्मि है, ब्रह्मकण है या चित्कण हैं। परंतु ये चित्कण भिन्न-विभाविनी मायाशक्ति, अथवा पृथक्-प्रकाशिनी मायाविनी प्रकृतिके किसी एक भावाशकणके द्वारा सम्पुटित (incased, ensheathed) रहते हैं। चित्कण क्षेत्रज्ञ हैं। मायाकण अथवा प्रकृतिपुट क्षेत्र है। इन दोनो (spirit and matter) के योगसूत्रसे उत्पन्न होता है प्राण और जीवन। मायाशक्ति ब्रह्म-चैतन्य (spirit) से स्फुरित होकर सूक्ष्मसे स्थूलभाव धारण करते-करते जड (matter), प्रस्तर आदिमे परिणत हो जाती है। बीचमे इन्द्रिय आदिकी सृष्टि होती है। सब कुछ मायाशक्तिका विकार है। सारे विकारोको प्रकट करके महामाया स्वयं अविकृत रहती है जगदात्मशक्तिके रूपमे (सप्तशती ४।३)।

मायाकी यह जो अन्तहीन क्रियाशीलता है, चिरचञ्चलता है—इसका गम्भीर उद्देश्य है जीवोका आविर्भाव करना, उनका धारण, रक्षण, प्रतिपालन तथा जन्म-मृत्युके पथमे सञ्चालन करना। इसके अन्तर्गत और भी गम्भीरतर उद्देश्य है, जिसके लिये सुविस्तृत सृष्टि-प्रवाह चलता है। इस चिर परिवर्तनमय, निरन्तर परिणामशील, सुख-दुःखकी भीषण तरङ्गोवाले भवसिन्धुके मध्य मृत्युमय जीवन-यापन कराते हुए, जीवोको चिदानन्दस्वरूप भगवान्के रस-सौन्दर्य-राज्यमे अनन्तकालके लिये प्रतिष्ठित कर देना ही महामायाका दूसरा उद्देश्य है। यह उद्देश्य ही जीव-जीवनका निगूढ़ रहस्य (the deepest Romance) है। महामाया नायिका हैं और महानाटककी निर्मात्री हैं। इसी कारण पर-

ब्रह्मका एक नाम है नटेन्द्र—नटवर। 'रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ।' महामायाके इस महातत्त्वदर्शनके भीतर प्रवेश किये बिना विश्व-जीवनके रहस्यका कहीं भी समाधान नहीं मिल सकेगा। सहस्रों अकल्याणसे भरे हुए जीव-जीवनकी अन्तिम परिणति, परम पर्यवसान (the final consummation), चिरकल्याणमय, चिरसुख-सौन्दर्यमय अमृत जीवनमें होता है। विश्व-प्रकृतिके अन्तरमें विद्युदक्षरोंद्वारा उस उद्देश्यका महामन्त्र अङ्कित है, इसीलिये प्रकृति उसका जप करती है। देवीकी अनन्त करुणा 'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा' है, उनके चित्तमें कृपा और युद्धभूमिमें निष्ठुरता देखी जाती है। जीव दुःख पाते हैं अपने दोषोंसे। आलोकका मार्ग छोड़कर अन्धकारमें जाते हैं अहङ्कारके वश होकर, मोहके वश होकर। मायाका आलोकराज्य भी खुला हुआ है और अन्धकारका पथ भी खुला है। जीवकी जहाँ इच्छा होती है, जाता है। माया परीक्षा करती है, सत्-असत्को प्रमाणित करती है। जीवको संसारमें जो स्वाधीनता मिली है, वह उसका जन्मसिद्ध अधिकार है; माया उस अधिकारका अपहरण नहीं करती। जो स्वाधीनतापूर्वक मङ्गलमार्गमें जाता है, देवी आनन्दसे उसकी सहायता करती हैं। और यदि स्वाधीनतापूर्वक अमङ्गलके मार्गमें जाता है तो वे बाधा नहीं देतीं, अमङ्गलके अन्धकारमें ही उसे जाने देती हैं। मङ्गल और अमङ्गल सब उसीके हैं। यह समझते ही अमङ्गल क्षीण होने लगता है—'क्षिणोत्यभद्रम्।'

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

'तरन्ति'का अर्थ 'मायाके अतीत हो जाना' नहीं है, मायाके अकल्याण-प्रभावसे मुक्त हो जाना है। इन्द्रधनुषमें बाष्पजाल जिस प्रकार रविकी किरणोंके सुरम्य वर्णोंको खोल देता है, विश्वरूपी मायादर्पण भी उसी प्रकार ब्रह्मकी अनन्त शोभा-सम्पत्को विभासित कर देता है। विश्वमायाका दर्पण पाञ्चभौतिक है। इस दर्पणमें हम जो कुछ देखते हैं, अथवा देव-ऋषि-मुनियोंने जो कुछ देखा है, वह ब्रह्मकी एकपादविभूति है, एकांशमात्र है, निकृष्ट अंश है, वैकारिक अंश है। निरन्तर गिरता, पड़ता, बह जाता है। फिर प्रस्फुटित होता है, फिर टूटता है और फिर विकसित होता है। जो इस विश्व दृश्यकी अधीश्वरी माया है, वह जीवमाया है, जगन्माया है। ब्रह्मकी अपरा शक्ति है, बहिरङ्गा शक्ति है। वह जिस प्रकार योगमें सहायता प्रदान करनेवाली योगिनी है, उसी प्रकार वियोग-साधन करनेवाली वियोगिनी विवादिनी भी है। प्रधानतः यह 'वियोगमाया' है।

महामायाका एक सुदिव्य, सुनिर्मल, सर्वसुषमा-समन्वित विभाव है। उस विभावमें उनका नाम पड़ता है 'योगमाया'। वे परब्रह्मकी स्वरूपशक्ति हैं; पाञ्चभौतिक, परिणामशील मृत्यु-शासित विश्वको जो प्रकाशित करती हैं, वे जगन्माया हैं और जीवमाया हैं। परंतु जो चिन्मय, चिर-आनन्दमय, दिव्य प्रेम-सौन्दर्यमय, अमृतमय विश्वको प्रकाशित करती हैं, वे हैं 'योगमाया'। जिस प्रकार मनुष्यके जीवन-यापनका हेतु यह दृश्यमान जगत् है, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌के सर्वऐश्वर्यसम्पन्न, सर्वमाधुर्यमय जीवन-यापनका हेतु भी एक अत्याश्चर्यमय, सर्वमनोरम, सर्वचित्ताकर्षक जगत् है, जो कोटि-कोटि कल्पोंमें भी विनाशको नहीं प्राप्त होता, अनन्तकालतक तरुण, शोभनीय, सुकुमार और सुरम्यरूपमें विराजमान रहता है। श्रीमद्भागवतमें इसका कुछ आभास मिलता है—

> भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते
> लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
> विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः
> सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः ॥
> (२।९।१२)

—यह भगवान्‌की स्वरूपैश्वर्यमय त्रिपाद्विभूति है।

जिस प्रकार जीवकी आत्मोपलब्धि आवश्यक है, उसी प्रकार परब्रह्म परमेश्वर भी आत्मोपलब्धि (Self-Realization) की इच्छा करते हैं। आत्मोपलब्धिके लिये वे दो महाशक्तियों, दो इन्द्रजालशक्तियोंका प्रयोग करते हैं। वे 'नित्यावाप्तसमस्तकामः'—नित्य पूर्णकाम हैं। वे अपने अनन्त कामना-भण्डारको खोल देते हैं—दो महाकाशोंके मार्गसे, दो प्रणालियोंसे। कोटि-कोटि कामनाओंकी पूर्णता-प्राप्तिसे भगवान्‌का अन्तर भरा रहता है। फिर वे उसी सम्पूर्ण भण्डारको अपूर्ण (खाली) करके फैला देते हैं पुनः पूर्ण करनेके लिये, पुनः प्राप्त करनेके लिये। वे नित्य पूर्ण होते हुए भी नित्य अपूर्ण हैं। सदा स्वरूपको सम्प्राप्त होकर भी स्वरूपानुसन्धानमें व्यस्त रहते हैं। इसका निगूढ़ कारण यही है कि वे प्रेमस्वरूप हैं, रसस्वरूप हैं, अखिल-रसामृतमय हैं। वे आनन्दघन हैं, केवलानुभवानन्दस्वरूप हैं। अर्थात् वे निविड़ प्रेमानुराग-निभृतात्मतत्त्व हैं। परब्रह्मकी प्रेम-पिपासाका अन्त नहीं है। उस पिपासाकी पूर्तिके लिये ही वे शत-सहस्र चतुर्दश-भुवनात्मक ब्रह्माण्डकी

रचना करते हैं। इस व्यापारमें उनकी सहायता करनेवाली 'सर्वार्थसाधिका'—उनके सर्व अर्थोंको साधन करनेवाली, उनके लीला-नाटककी सूत्रधरी महामाया, दुर्गा भगवती हैं।

इस विश्वलीलासे उनके हृदयकी आशा पूरी नहीं होती। उन्होंने इस विश्वराज्यके परे एक अनन्त, असीम, चिन्मय, नित्य ज्योतिर्मय अपूर्व राज्य प्रकाशित कर रक्खा है। उसी राज्यमें उनकी परमतम आत्मोपलब्धि होती है। उसी राज्यमें लीला-पुरुषोत्तमका अमृत-मधुर प्रणय-लीला-प्रवाह अनन्त-कालतक चलता रहता है। उसी राज्यमें सर्वार्थसंसाधिनी, सर्वाश्चर्यसम्पादनकारिणी महाशक्ति योगमाया विराजित हैं; वे निरन्तर क्रियाशीला, क्रीडामयी हैं; चिन्मयी वहाँकी भूमि है। गिरि-नदी, वन-कानन, पशु-पक्षी प्रभृतिसे पूर्ण उस पृष्ठभूमिपर स्वरूप-राज्य अनन्त विस्तृत है। जो कुछ है, सब प्राकृतिक-गुणातीत चिन्मय है। पिता-माता, आत्मीय-स्वजन, सखा-सुहृन्मित्र हैं, लाखों-लाखों भावमयी और रस-रङ्गमयी सखी, सहचरी, प्राणप्रिया हैं। परम पुरुषकी स्वरूपाशक्तिरूपा योगमाया भगवती निखिल रस-सम्बन्धका विधान करती हैं। 'रसो वै सः।' अर्थात् वे केवल आनन्द हैं, केवल प्रेम हैं, केवल सौन्दर्य हैं, निरन्तर लीला-विलास-परायण हैं; वे अद्वितीय—एक हैं, परंतु दुरन्त रसकी प्रेरणासे अनन्त रूप, अनन्त भावमूर्ति, अनन्त सम्बन्धोंको धारण किये हुए हैं। उनकी अद्वैत, ब्रह्मभावमात्रकी उपलब्धि प्रबल प्रणय-वेगसे गलकर तरल तरङ्गोंमे सञ्चारित हो जाती है; प्रत्येक तरङ्ग मूर्तिमान् होती है, लीलामृत-स्रोतस्विनी दिग्दिगन्तमें प्रवाहित होती है, परब्रह्मकी आत्मोपलब्धि हो जाती है, आत्मविस्मृतिके मार्गमें आत्मोपलब्धि होती है।

रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया।
·····················योगेश्वरेश्वरः—

तथा—
तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह॥
अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्॥
(श्रीमद्भा० १०। २२। ९-१०)

महायोगेश्वर आत्माराम, स्वराज्यलक्ष्मीके द्वारा आप्तसमस्तकाम श्रीभगवान्‌की आत्मोपलब्धि अथवा चिदानन्द-लीलारस-पानका यह एक मनोहर चित्र है। जिस महाशक्तिके प्रयोगसे यह निगूढ़ चिदानन्द-समारोह सम्भव होता है, उस शक्तिका ही नाम योगमाया है। और इस परमानन्द-समारोहमय राज्यका नाम गोलोक अर्थात् ज्योतिर्लोक है। इस विश्वके समान उस राज्यमें भी सब कुछ है; परंतु सब कुछ चिज्ज्योतिर्मय है, अमृतानन्दमय है, सुन्दर, सुरभि और सुरम्य है। यह विश्व उसी राज्यका विकृत, विभ्रष्ट छाया-प्रतिभास है। यह विश्व विश्वके जीवोंकी शिक्षा और साधनाका क्षेत्र है, शत-सहस्र परीक्षाओंका क्षेत्र है। महामाया शिक्षयित्री हैं, परीक्षाविधायिनी हैं, उद्धारकारिणी हैं; साथ ही असद्बुद्धि अभक्त असुरगणके लिये भीषण दण्डदायिनी हैं, ध्वंसकारिणी हैं। योगमाया चिदानन्दके आस्वादनका विधान करनेवाली हैं। माया महारहस्यमयी हैं, अनन्त इन्द्र-जाल-विद्याकी विदुषी हैं। उसी इन्द्रजालके द्वारा सत्यका प्रकाश होता है। मायासे भिन्न ब्रह्म शून्यमय है, असत्यवत् है—'असद्वा इदमग्र आसीत्।' मायाके प्रभावसे ब्रह्म सत्य होता है। ब्रह्म-विस्मरणका हेतु है माया-मोह। माया करुणामयी कल्याणमयी जननी है, इस बातको भूलनेपर ही माया-मोहके वशीभूत होना पड़ता है। विद्या तथा दिव्य अवबोध भी माया ही है, अविद्या तथा अज्ञान और मोह भी माया ही है। जो जिसको चाहता है, उसीको पाता है।

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥

संसारमें यदि केवल ज्योति होती तो उस ज्योतिको कोई प्राप्त नहीं करता; वह न रहनेके समान ही होती। ज्योतिकी प्रतिष्ठाके लिये तमस्‌की आवश्यकता है। अस्तित्वकी प्रतिष्ठाके रूपमें जो द्वैत है, माया उसका विधान करती है विश्वमें त्रिगुणात्मक जडके द्वारा—और गोलोकमें रसवैचित्र्य-प्रणाली-के द्वारा, चित्सामग्रीसमूहके द्वारा।

मायाको समझे बिना जगत्‌का तत्त्व समझमें नहीं आ सकता। संसार एक अत्यन्त सुदुर्गम समस्या (Sphinx's Riddle) है; मायाके विज्ञानालोकमें विश्व-जगत् यत्किञ्चित् बोधगम्य होता है। माया-तत्त्वके साथ जन्मान्तर-तत्त्व, कर्म-तत्त्व अथवा अदृष्ट-तत्त्वका अनुशीलन करना आवश्यक है। इन दोनों तत्त्वोंको पृथ्वीपर केवल भारतवर्षमें तत्त्वज्ञोंने जाना है; और किसी दूसरी जातिको इनका पता नहीं। पृथ्वीकी विभिन्न मानव-जातिके लिये भारतकी यह महान् देन है। ये दोनों तत्त्व महाशिक्षाकी प्रणाली हैं; ये दो अमूल्य ज्ञान-विज्ञान-रत्न-प्रदीप हैं। इन रत्नोंका अनादर करनेसे संसारके सारे ज्ञान व्यर्थ हो जाते हैं। स्पाइनोजा, लिब्निज, कान्ट और हेगेलका क्या मूल्य है? वे तो मूलसे ही भूलपर चलते हैं। हमें इस भूलके स्रोतमें नहीं बह जाना चाहिये। हमें महामायाकी आराधना करके परब्रह्मकी प्रीति प्राप्त करनी चाहिये, अमृत लाभकर कृतार्थ होना चाहिये।

संस्कृतिका प्रतीक मानव

'अच्छा, तुम आ गईं, लेकर निज परिवार !'
मानवका जलद-गम्भीर स्वर गूँज गया,
वीणा-विनिन्दक स्वर दूसरा साथ ही—
'आर्यपुत्र उत्थित हुए—धन्यभाग !
प्रणत है सेविका—
चाहते आशीर्वाद—
सारे शिशु वनके ये !'
मानवी सुकुमार—चल स्वर्ण-लतिका—
वल्कल-कंचुकी, भूर्जपत्र-अधोवस्त्र
धारण किये,
सुमन-गुच्छ-गुम्फित अलकजाल,
पुष्पांजलि चरणोंपर सादर समर्पितकर
नेत्रोंमें मन्द हास्य,
ग्रीवा नत करके
खड़ी थी समीप ही—मंजुल सलज्ज भाव ।
वंक दृष्टि एक बार देखा निज परिवार—
आये थे मयूर संग घन गन नाचते,
आये थे शुक-पिक कूजते,
गूँजते अलि-वृन्द आये थे,
आये थे कृष्ण सर्प फणा फैलाये मत्त,
झूमते-झूमते मत्त गज आये थे ।
आये थे मूषक-शशक कूदते-फुदकते—
पक्षी चहकते हुए साथ-साथ आये थे ।
आया था केहरी संगिनी साथ लिये—
जृम्भणसे लाल जिह्वा लप-लप करता ।
व्याघ्र युग आये थे चड़मड़ करते—
कूदते चकित-से आये मृग-शावक भी ।
आये थे चपल कपि, रोमश ऋक्ष-दल भी,
आया हिमधवल वृषभ,
आईं सुरभियाँ—
कूदते चपल वत्स संग-संग आये सब ।
वनके समस्त क्षुद्र-महत् पशु-पक्षीवृन्द—
आज जैसे कोई महोत्सव या मेला हो,
साथ घिर आये थे मानवीके संग-संग ।
मानवी—दयामयी जगन्माता मानवी,
उत्थित हुए हैं आज आराध्य उसके
सारा शिशुवृन्द तब समुत्सुक न आये क्यों?

त्याग रोष-द्वेष, कलुष, जाति शत्रु साथ-साथ
आये थे भूलकर—त्याग सब वैरभाव;
मानवका वात्सल्य—
सत्त्वका समृद्ध भाव—
डूब गया उसमें रजस्-तमस् कहाँ कबका ।
मानव उठा—मत्त गजराज ज्यों चलता,
दीर्घ बाहु, विशाल भाल,
विशाल वक्ष दीर्घकाय,
क्षीण कटि,
अलक जाल—स्निग्ध मृदु मेचक मंजु;
अनावरित स्वर्णगौर,
हृष्ट-पुष्ट, सुगठित
अरुण कर चरण अधर
पद्मदल-विशाल नयन ।
सादर प्रणति मिली वृषभ-सुरभियोंको,
वत्सोंको पुचकार—
केसरीको थपकी;
किसीपर दृष्टिपात, किसीको मुस्कान—
देता स्नेह-दान जैसे पिता निज पुत्रोंको—
स्रष्टाकी कृतिका सर्वश्रेष्ठ निर्माण—
मानव, निमज्जित हुआ निर्झर-नीरमें,
आया—ज्यों अन्तरका स्नेह हुआ बाह्य स्नात ।
झूमी लतिकाएँ;
पुष्प-राग हुआ भूषित वह,
करती प्रतीक्षा थी मानवी गृहिणी,
स्वागत-सम्भार लिये ।
किसलय-डालियाँ लाये गजराज थे,
आसन बनानेको ।
नारिकेल-पात्रमें रीछोंका उपहार—
पद्म-मधु, मधुर सुगन्धित मृदुल कंद,
कपियोंने हरित नारिकेल दिये जलको,
चू पड़े पक्वफल पाणिपद्म देखके—
तरुओंने भाग्य माना इस आतिथ्यमें ।
भाग मिला सुरभीको,
वत्सोंको, वृषभको,
पक्षियोंको, पशुओंको, नन्ही पिपीलिकाको ।

गुठलियाँ चबा लीं व्याघ्र केहरीने कड़-कड़,
रीछ और कपियोंने छिलके उठा लिये;
मानवने सबको भाग देकर आहार किया,
धोया कर निर्झरमें—
मत्स्योंका अन्तिम भाग।
नगर नहीं, ग्राम नहीं,
रोध ठाम-ठाम नहीं;
धरा नहीं मल-कलुष,
धूम्र-कलुष वायु नहीं;
मंजु हरित कानन ही धरणीपर चारों ओर।
पुष्पित वल्लरियाँ, झुके फल-भार विटपी,
पवन मन्द-मन्द शान्त।
मानवकी दृष्टि गयी—
अरुण मृदुल किसलय-पूरित अश्वत्थमूल—
उज्ज्वल, सुचिक्कन विशाल शिला-तलपर।
रजसका मन्द क्षोभ लुप्त-लुप्त हो चला—
बैठ गया सुस्थिर-सुबद्ध पद्म-आसनसे,
क्रोड़ीमें करतल-द्वय विकसित पद्म ज्यों,
विधिके करोंकी पूर्णतम कलाकृति—
साँचेमें ढली-सी मूर्ति,
स्थिर स्वर्ण-प्रतिमा।
पद्मदृग पलकोंमें अर्ध-मुकुलित-से,
दण्ड-सा देह सौम्य,
कम्बुकण्ठ भवका,
वैखरी कृतार्थ हुई शुद्ध परा वाणीसे,
नाभिसे प्रणवनाद गूँजा शंख-ध्वनि-सा,
भ्रूमध्य भासित हुआ कोटि-कोटि मार्तण्ड,
मानवके दीर्घपलक स्थिर-निद्र हो गये।
मानवीने शुभ्र पुष्प-अंजलि दी चरणोंपर—
एक निःश्वास—देखा अपने आराध्यको,
वन-पशु-पक्षी शान्त, मन्द वायु मन्दतर,
शान्ति—शान्ति—स्निग्ध शान्ति मानवके मन-सी।
कौन कह सकता है—
दिन-सप्ताह-मास-ऋतु या वर्ष-युग
स्थिर-सत्व मानव उठेगा किस कालमें।

ग्रीष्म-शीत-पावस, हिम-झंझा-लू-उपलवृष्टि
व्यर्थ—वह सुदृढ़मूर्ति अविकृत सर्वथा,
अन्तरमें मधुरिम कोमलतर प्रतिमा—
बाह्य हिमवान-सी दुर्गम अस्पृश्य अचल,
ऋषि नहिं, मुनि नहीं, त्यागी-तपस्वी नहीं—
आदियुग मानव-गृही,
भारतका जन-जन।
आज भी संस्कृति 'वह' पावन प्रतीक लिये,
उच्च किये मस्तक है ज्योतिर्मय सर्वथा,
भारतके अन्तरमें अब भी प्रतिष्ठित है—
भव्य मूर्ति वही आदर्श आदिमानवकी।
आजका मानव
यह विडम्बना—विकासकी।
शीत एवं ऊष्मासे ठिठुरता-पिघलता,
क्षुद्रतम कीटाणु रुग्ण जिसे करते—
शंकित, भीत, बंदी कीट
निज भवन-कन्दरामें,
भीति-आशंका लिये जीवनमें पद-पद,
क्षीणकाय, क्षीण-सत्व,
दिन-दिन क्षीणतर—
तन-मन-स्वास्थ्य जहाँ,
दुबल, बर्बर, क्रूर,
भीरु, रक्तपायी छल-छद्मरत
मृत्यु-दूत
पैशाचिक संघर्ष, पाशविक आचार,
शृंग-पुच्छ-हीन—
यह आजका द्विपद पशु।
समझे-न-समझे
वह भारतीय संस्कृतिका पावन प्रतीक शुभ्र,
किंतु—
वह आप ही पूर्णतम सर्वथा
अन्तर एवं बाह्यसे—
भारतका अरण्यानी-
मानव—
महनीय-वन्द्य!

—'सुदर्शन'

मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र

दैवी राज्यसे सम्बन्धयुक्त शब्दको 'मन्त्र' कहते हैं। दैवी राज्यसे युक्त शुभाशुभ-फलप्रद पदार्थविशेषको 'यन्त्र' कहते हैं। 'तन्त्र' शब्दका अर्थ यों तो बहुत विस्तृत है; क्योंकि वेद, स्मृति, पुराणोंकी तरह तन्त्रशास्त्र भी बड़ा विषय है—श्रीजगदम्बासे सदाशिवने कहा है—'सप्त सप्त सहस्राणि तन्त्राण्याहुर्वरानने।' परंतु तन्त्रशास्त्रका रूढ़ार्थ टोटका भी है, जिसके अद्भुत कार्य देखनेमें आते हैं।

मन्त्रोंमे भगवन्नामवाचक मन्त्र सर्वश्रेष्ठ होते हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने कहा है कि सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌का सबसे बड़ा नाम आदि-वाचक प्रणव है। प्रणव त्रिगुणात्मक है। उसमें सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, सृष्टिपालक विष्णु और संहारकर्ता तथा मुक्तिदाता शिव विद्यमान हैं। इस कारण प्रणवका जप करनेसे और उसके अर्थकी भावना करनेसे साधक भगवान्‌के चरणकमलोंतक पहुँच जाता है। मन्त्र-शास्त्रका यह सिद्धान्त है कि प्रणव सेतु—पुल है; जैसे रास्तेको सरल करनेके लिये नदी-नालोंपर सेतु बनाये जाते हैं, वैसे ही प्रणवसे युक्त मन्त्र दैवी जगत्‌में पहुँचानेके लिये सब बाधाओंसे मुक्त हो जाते हैं, पूर्ण शक्ति प्राप्त करते हैं। प्रणव आदिमन्त्र होनेसे इसके स्वरूपको समझनेकी विशेष आवश्यकता है। मन्त्रतत्त्वज्ञ योगीजन प्रणवके दो स्वरूप बताते हैं—एक वर्णात्मक, दूसरा ध्वन्यात्मक। 'अ', 'उ' और 'म' के संयोगसे ओंकारका जो स्वरूप अक्षरात्मक बनाया जाता है और जिसका उच्चारण हर एक मनुष्य कर सकता है, वह शब्दात्मक है। ध्वन्यात्मक प्रणवके विषयमे मन्त्रशास्त्र कहता है कि वह तैलधाराके समान अविच्छिन्न और बड़े घंटेके नादकी तरह है और उसका कोई अङ्ग मुखके द्वारा उच्चारित नहीं हो सकता। केवल योगयुक्त अन्तःकरण अपने चित्ताकाशमें उसको सुन सकता है। प्रणवकी असाधारण महिमा वेदों, उपनिषदों, पुराणों और तन्त्रग्रन्थोंमें बहुत कुछ पायी जाती है। वैदिक दर्शनशास्त्र यह सिद्ध करते हैं कि जहाँ कुछ कार्य है, वहाँ कम्पन है और जहाँ कम्पन है, वहाँ शब्द अवश्य होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार साम्यावस्था प्रकृति, जो परम पुरुषके साथ एकरस रहती है, जब विषमावस्थामे परिणत होती है, तब जगत्‌का सृष्टि-स्थिति-लयकार्य हुआ करता है। जिस समय एकरस रहनेवाली साम्यावस्था प्रकृति वैषम्यावस्थामें परिणत होने लगती है, उस समय प्रकृतिमे जो कम्पन होता है, उस कम्पनकी प्रथम ध्वनिको प्रणव कहते हैं। अतः योगिराजका अन्तःकरण जब इस प्रकृतिकी वैषम्यावस्था-प्राप्तिके मूलस्थानमें पहुँचता है, तब प्रणव सुनायी देता है। इस परमात्मस्वरूप प्रणवके बाहरकी ओर शब्दरूपात्मक जगत् है और दूसरी ओर परम विष्णुपद है। 'तद्विष्णोः परमं पदम्' आदि मन्त्रप्रणवकी जितनी महिमा कही जाय, उतनी थोड़ी है।

जैसे प्रणव परमात्माका वाचक होनेके कारण भगवान्‌के चरणकमलोंमें पहुँचा देता है, वैसे ही मन्त्रशास्त्रोक्त नाना बीजमन्त्र भी दृश्य और अदृश्यरूप दोनोंसे सम्बन्ध कराके तत्तद् बीजसे सम्बन्धयुक्त देव-देवियोंके निकट साधकको पहुँचा देते हैं। दर्शनशास्त्रने सिद्ध कर दिया है कि अन्तःकरण विश्वका माध्यम है और वह योगयुक्त तथा समाहित होनेसे विश्व-ब्रह्माण्डके कोने-कोनेमें पहुँच सकता है। मन्त्र बीजसे युक्त, शाखा-पल्लवसे युक्त—कई तरहके होते हैं। पुनः, मन्त्र वैदिक और लौकिक भेदसे दो प्रकारके होते हैं। बीज-शाखा-पल्लवसे युक्त वेद-पुराण और तन्त्रादिमें पाये जानेवाले मन्त्र वैदिक मन्त्र कहाते हैं और लोगोंमें प्रसिद्ध शाबरमन्त्र आदि लौकिक हैं। शाबरमन्त्र नाना प्रकारके होते हैं—यहाँतक कि वे मारण-वशीकरणादि कर्मोंमें भी काम आते हैं। वे अर्थशून्य, विभक्तिशून्य होते हैं। ऐसा होनेपर भी उनको सिद्ध करनेकी प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न हैं। उनके बिना वे काम नहीं दे सकते। आजकल वैदिक या लौकिक किसी मन्त्रका प्रभाव नहीं दीख पड़ता। इसका कारण यह है कि उसके साधक परिश्रमसे जी चुराते हैं। वैदिक मन्त्रोंकी अनेक प्रकारकी साधनविधि पायी जाती है। इसी तरह लौकिक मन्त्रोंकी सिद्धि करनेमें भी कई प्रकारके साधन और तपकी आवश्यकता होती है। इन सब मन्त्रोंकी साधनावस्थामें ही साधक विश्वास और दृढ़ श्रद्धाके साथ जब प्रयत्न करता है; तभी सफलताकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें यदि कमी रह जाय तो सफलता नहीं होती। अतः वर्तमान समयकी विफलता देखकर मन्त्रोंमें लोग सन्देह करते हैं; परंतु ऐसे सन्देहके लिये कोई गुंजाइश नहीं है। साधकोंकी साधनामें कमी रह जानेसे ही विफलता दीख पड़ती है। तन्त्रशास्त्रमें यह भी रूपान्तरसे कहा है कि अपवित्र अन्न एवं कुदानग्रहणसे दूषित और आचाररहित शरीर दग्धके सदृश हो जाता है। मन परद्रव्यमे लोभयुक्त और परस्त्री आदिमें आसक्त हो

तो दग्धके सदृश हो जाता है और अन्तःकरण सदा विषयासक्त होनेसे समाहित नहीं हो सकता। इसी कारण कलियुगमे मन्त्रोंकी सिद्धि दुर्लभ हो गयी है।

ऐसे गहन विषयोंको समझनेके लिये अन्तःकरणके स्वरूप-की शक्ति और व्यापकतापर कुछ प्रकाश डालनेकी आवश्यकता है। अन्तःकरणके चार भेद हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। चारों मिलकर अन्तःकरण-चतुष्टय कहाते हैं। भगवान् ब्रह्मा अन्तःकरणके प्रधान अधिदैव हैं। अन्तःकरणके चार विभागोंमें बुद्धि और मन मुख्य हैं। और चित्त तथा अहंकार गौण हैं। इन्द्रियोको जो चलाता है, वह इन्द्रियराज मन है। और सदसद्विचारके अनुसार जो मनको समाहित करती है, वह मनका गुरु बुद्धि है। नाना वृत्तियोंद्वारा जो मनको नचाता है, वह चित्त कहाता है और प्रत्येक जीवपिण्डमे स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापन करके सर्वव्यापक आत्मतत्त्वको जो आवृत करता है, उसको अहंकार कहते हैं। अहंकार बुद्धिका अन्तर्विभाग है। क्योकि अहंकारके विना बुद्धि कार्य नही कर सकती। शुद्ध अहंकार आत्मतत्त्वतक पहुँचा देता है और अशुद्ध अहंकार तथा अशुद्ध बुद्धिके द्वारा जीव जगत्के सब कार्य किया करता है। इसलिये अहंकार गौण है और बुद्धि मुख्य है। चित्त एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें स्मृति भी रहती है। वह चित्त पूर्वस्मृतिके अनुसार नाना विषयोको लेकर मनको नचाया करता है। इससे मन एक क्षण भी निश्चल नहीं रहता, चञ्चल बना रहता है।

मन्त्रशास्त्रके साथ अन्तःकरणका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण तन्त्रशास्त्रमें कहा है कि जो मनका त्राण करे, वही मन्त्र है। मन्त्रमे जो शक्ति निहित रहती है, वह शक्ति मन्त्रके आश्रयसे अन्तःकरणमें प्रकट हो जाती है। लकड़ी-में अग्नि रहती है; परंतु वह अरणीके द्वारा मथी जानेपर ही प्रकट होती है। इसी तरह योगयुक्त अन्तःकरणमें व्यवस्थित रूपसे मन्त्रका कार्य होते रहनेसे वह शक्ति प्रकट होकर कार्य करने लगती है। निर्गुण प्रणव-मन्त्र हो अथवा सगुण शक्ति-वीज, माया-वीज आदि हो अथवा शाखा-पल्लवसे युक्त मन्त्र हो, सभीमें तत्तन्मन्त्रसम्बन्धी सारी शक्ति विद्यमान रहती है—जैसे पञ्चाक्षरी, द्वादशाक्षरी आदि वैदिक मन्त्र और लौकिक मन्त्र दोनोके विनियोगमे शक्तिके विकासका तारतम्य रहता है। वेदोक्त और तन्त्रोक्त जो अलौकिक मन्त्र हैं, उनके सिद्ध करनेमें अधिक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं होती; क्योकि वे स्वतः सिद्ध अनादि मन्त्र हैं। निष्काम साधकको इन मन्त्रोंसे लाभ उठानेके लिये विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता, परंतु सकाम रूपसे उनके उपयोगकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये विशेष परिश्रमकी आवश्यकता होती है। जो मिश्र मन्त्र होते हैं, जिनमें वैदिकत्व और लौकिकत्व दोनो मिले हुए है, ऐसे मन्त्रोंकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये विशेष अनुष्ठानकी आवश्यकता होती है, केवल मन्त्रसे कार्य-सिद्धि नहीं होती।

अन्तःकरण सर्वव्यापक है और योगयुक्त होनेसे सब जगह काम कर सकता है। इसका प्रधान कारण यह है कि पिण्ड तीन प्रकारके होते हैं—१. उद्भिज्जादि सहज पिण्ड, २. नाना अधिकारोंके पूर्णावयव जीवरूपी मानवपिण्ड, और ३. नाना श्रेणीके देवताओंके देवपिण्ड। देवपिण्डोंमे भूत-प्रेतादि और दानव-असुरादि पिण्ड भी आ जाते हैं। अन्तःकरण सर्वव्यापक होनेसे वह इन सब पिण्डोंमें विद्यमान है। इस कारण साधक यदि शक्तिशाली हो और उसका अन्तःकरण योगयुक्त हो तो वह चतुर्दश भुवनोके सब स्थानों और पिण्डोंमें मन्त्र-बलसे बलवान् होकर कार्य कर सकता है। यही मन्त्रशक्ति शास्त्रका तात्पर्य है और वह अधिदेववत् अष्टाङ्गयोग-सिद्धिके द्वारा, विधिपूर्वक जपयज्ञद्वारा, अन्यान्य प्रकारके शास्त्रीय अनुष्ठानोद्वारा प्राप्त हो सकती है। तन्त्रशास्त्रोंमें इसकी अनेक प्रकारकी विधियाँ पायी जाती है, जो विश्वास, श्रद्धा, गुरु-सेवा और अन्तःशुद्धि तथा बहिःशुद्धिके सम्पादनसे एवं अन्तःकरण-विज्ञानपर सदा स्थिर दृष्टि रखनेसे और दैवी जगत्पर पूर्ण निर्भर रहनेसे सफल होती हैं।

यन्त्र और तन्त्रके सम्बन्धमें भी कुछ समझने योग्य है। यन्त्र दो प्रकारके होते हैं—नित्ययन्त्र और भावयन्त्र। नित्ययन्त्र उसको कहते हैं, जिसमें दैवीशक्ति स्वाभाविक रूपसे निहित रहतीहै—जैसे शालग्रामशिला, नर्मदेश्वरशिला तथा अपराजिता, कमल आदि पाँच यन्त्रपुष्प। इनमे देवताके आवाहन, विसर्जनकी आवश्यकता नही। इनमें हर एक देवता-की पूजा हो सकती है। इन नित्ययन्त्रोमे दैवी शक्ति कैसे निहित रहती है, यह केवल योगीजन ही अनुभव कर सकते हैं। दूसरे प्रकारके यन्त्र भावयन्त्र कहाते हैं। भावयन्त्रको समझनेके लिये भाव क्या है, यह समझ लेना आवश्यक है। योगशास्त्रमे लिखा है कि मन और चित्तके संयोगसे आसक्ति उत्पन्न होती है और अहंकार तथा बुद्धिके संयोगसे भावतत्त्व-का उदय होता है। शुद्ध और अशुद्ध रूपसे भाव दो प्रकारके होते हैं। अशुद्धभाव बुद्धिको विषयाकार कर देता है और शुद्धभाव अन्तःकरणको मलरहित करता हुआ बुद्धिको ब्रह्म-

पदमें पहुँचाकर शान्ति प्रदान करता है। भावयन्त्रमें शुद्ध-भावकी ही प्रधानता रहती है। श्रीयन्त्र, आद्यायन्त्र, नृसिंहयन्त्र आदि वैदिक यन्त्र अथवा अन्य प्रकारके तान्त्रिक यन्त्र बनाते समय सिद्धिप्राप्त महापुरुष तत्तदनुयायी शुद्धभावके अवलम्बन-से रेखा-मन्त्रादिका यन्त्रमें प्रयोग करते हैं और अन्तःकरण-की शक्ति व्यापक होनेसे तत्तद्भावोंमें प्रयुक्त होकर तत्तदुपयोगी शक्तियाँ उन यन्त्रोंमें उदित होती हैं। इसका कारण चाहे नित्ययन्त्र हो, चाहे भावयन्त्र—समाहित अन्तःकरणकी सहायता-से और उन यन्त्रोंकी शक्तिके सहयोगसे सिद्धि प्राप्त होती है। इसीलिये यन्त्र तत्तद्देवतारूपी माने जाते हैं। और इनसे लौकिक और अलौकिक स्तरोंमें सब तरहकी सफलता प्राप्त हो सकती है। इसी प्रकार जैसे यन्त्रोंमें दैवी सहायता मिलती है, वैसे ही टोटका आदि तन्त्रोंमें भी समाहित अन्तःकरणकी सहायतासे यथायोग्य सफलता मिलती है। सूर्योदय

हिंदू-संस्कृति और यज्ञानुष्ठान

हिंदू-संस्कृतिके साथ यज्ञानुष्ठानका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज हमें अपनी संस्कृतिके विषयमें जो प्राचीनतम वस्तु प्राप्त होती है, वह है वेद-संहिता। वेद-संहिताओंमें सर्वप्रथम ऋग्वेदका नाम लिया जाता है, और इसे संसारके सबसे प्राचीनतम ग्रन्थके रूपमें स्वीकार करनेमें किसीको भी विवाद नहीं। ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र है—

> ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
> होतारं रत्नधातमम्।

इसमें अग्निदेवकी स्तुति की गयी है, आठ-आठ अक्षरोंके तीन पाद अर्थात् चौबीस अक्षरोंके सुप्रसिद्ध गायत्री छन्दमें मधुच्छन्दा ऋषि स्तुति करते हैं—'मैं अग्निदेवकी स्तुति करता हूँ, याचना करता हूँ। वे पुरोहित, ऋत्विक्, यज्ञके देवता, देवताओंके आह्वाता हैं और श्रेष्ठतम रत्नोंकी खानि हैं; वे हमें श्रेष्ठतम रत्नोंको प्रदान करें।' निरुक्तके अनुसार इस ऋक्की यही व्याख्या है।

वस्तुतः विचार करनेपर यह पहला मन्त्र ही हमारी संस्कृतिका प्रतीक जान पड़ता है। देव और यज्ञका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। देव नहीं तो यज्ञ नहीं, और यज्ञ नहीं तो देवाराधना नहीं; यज्ञका मुख्य उद्देश्य ही है देवाराधना। हिंदू-जीवनमें जो आदर्श संस्कार हैं, वे देव और देवाराधनासे ही निर्मित हैं। ऋषियोंने हिंदू-जीवनमें यज्ञ-विधानके द्वारा जो दिव्य भावनाकी सुर-सरिता प्रवाहित की, वह अविरत गतिसे ऋजु-वक्र पथसे सृष्टिके आदिकालसे आजतक बहती जा रही है और उसमें अवगाहनकर इस देशके तथा विदेशोंके असंख्यों पुण्यवान् दिव्य जीवनके भागी हुए हैं, हो रहे हैं और आगे होते रहेंगे। ऋग्वेदके इस प्रथम मन्त्रमें यज्ञका उल्लेख इस बातका द्योतक है कि इस ऋचाकी रचनाके पहले यज्ञका प्रसार आर्य-जीवनमें था और अग्निदेव यज्ञके देव थे, यज्ञमें ऋत्विक् और होता उपस्थित रहते थे। अतएव यह सिद्ध होता है कि यजुर्वेदका यज्ञ-विधान इस ऋचाकी रचनाके पहले था, अथवा यज्ञानुष्ठानमें ऋक् और यजुःका युगपत् प्रयोग होता था। अर्वाचीन तथाकथित पुरातत्त्वके अन्वेषकों-का यह कहना कि ऋग्वेद पहलेकी रचना है और यजुर्वेद पश्चात् रचा गया है, केवल मनगढ़न्त और कोरी कल्पना-मात्र है। यज्ञानुष्ठानमें ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—वेद-त्रयीका युगपत् प्रयोग होता है। अतएव यज्ञके साथ वेदोंका नीर-क्षीरवत् अटूट सम्बन्ध है।

और वेदोंकी अलग-अलग संहिताएँ करनेसे उनको एक दूसरेसे पूर्णतः भिन्न भी नहीं समझा जा सकता। ऋग्वेदके मन्त्रोंमें यज्ञका तथा यज्ञाङ्गोंका वर्णन होने तथा सामके उद्गीथ-गान आदिका उल्लेख होनेके कारण यजुः और सामको उत्तरकालीन मानना असंगत है। यजुः और साममें ऋग्वेदके मन्त्रोंकी प्रचुरता देखकर ही आधुनिक बुद्धिवादियोंको भ्रम हुआ है, ऐसा जान पड़ता है।

> इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।
> इन्द्रं वाणीरनूषत॥ (ऋ० सं० १।७।१)

'हे गाथिनः! सामगान करनेवालो, तुम इन्द्रकी ही बृहत्-सामके द्वारा स्तुति करो। तुमलोग भी, हे होतागण! ऋचाओंके द्वारा इन्द्रकी ही स्तुति करो; और हे अध्वर्युगण! तुमलोग भी यजुर्मयी वाणीके द्वारा इन्द्रकी ही स्तुति करो।' दैवतकाण्डके उपोद्घातमें यास्कने उपर्युक्त ऋचाकी इस प्रकार व्याख्या की है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेदके मन्त्रोंमें यजुः और सामका उल्लेख स्थान-स्थानपर प्रचुरतासे प्राप्त होता है। परंतु इससे इस ऋचाको यजुः और सामवेदसे उत्तरकालकी

स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी

स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी परमहंस

श्रीतैलङ्ग स्वामी
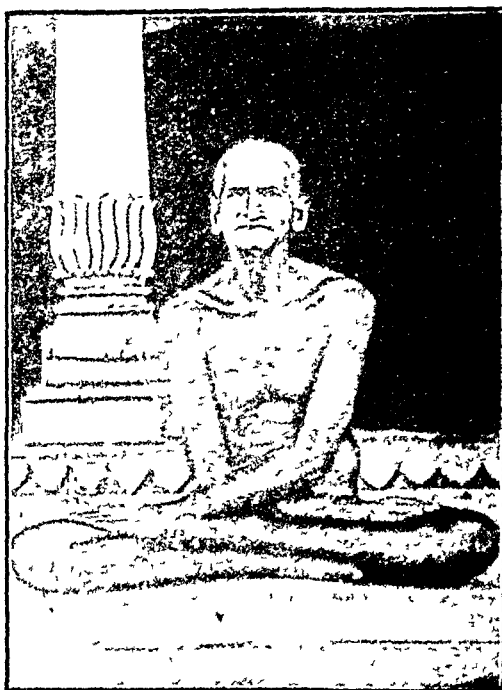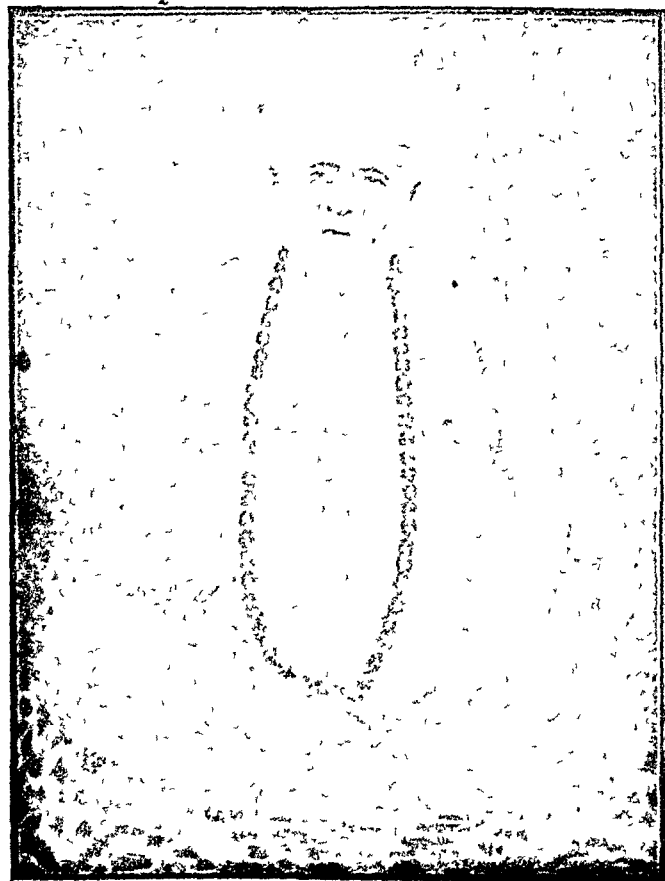
स्वामी श्रीभास्करानन्दजी सरस्वती

३८ श्रीमज्जगद्गुरु श्रीस्वामी अनन्ताचार्यजी महाराज
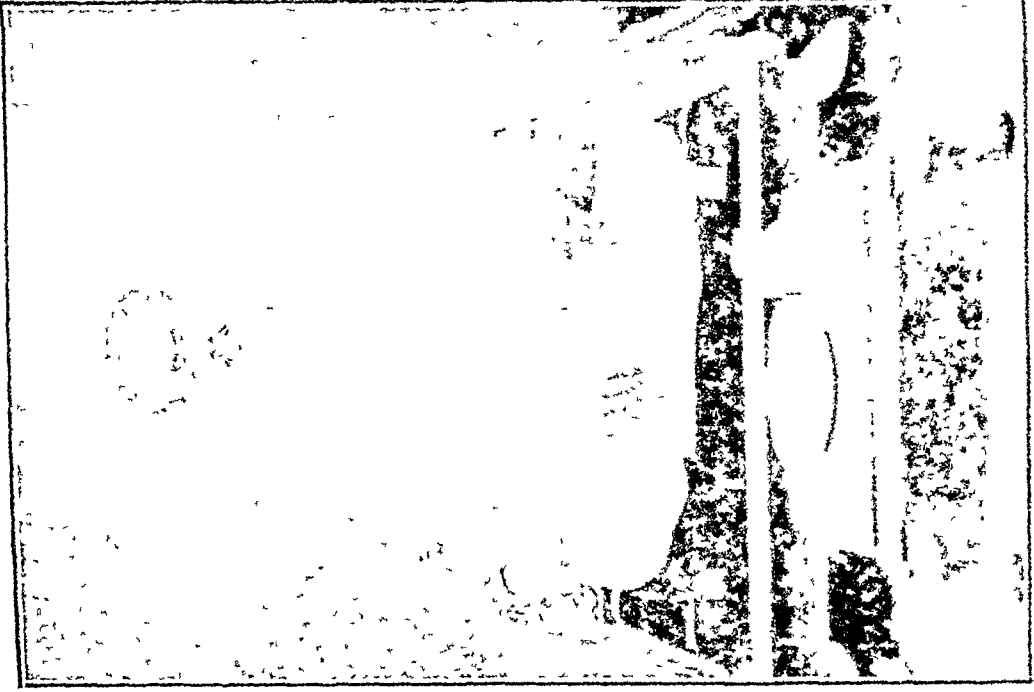
श्रीमद् आचार्यप्रवर श्रीगोकुलनाथजी महाराज

रचना मानना भी युक्तिसंगत नहीं है । आधुनिक ग्रन्थोंके समान संहिताओंको पृथक् ग्रन्थ मानकर वैज्ञानिक अन्वेषणके अन्धकारमें अनेकों पौरस्त्य और पाश्चात्त्य तथाकथित विद्वान् वेदोंकी रचनाका कालनिर्णय करके अपने अविवेकका ही परिचय दे गये हैं !

ऋचाकी रचनासे हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि किसी कालविशेषमें आधुनिक काव्यके समान मन्त्रोंकी रचना हुई । यह तो वेदोंका काल-निर्णय करनेवाली आधुनिक बुद्धिका खोखलापन दिखलानेके लिये एक छोटी-सी युक्ति दी गयी है । तत्त्वतः हिंदू-संस्कृतिमें देवता मन्त्रस्वरूप माना जाता है । इस प्रथम ऋक्के देवता हैं अग्निदेव । अतएव यह मन्त्र अग्निस्वरूप ही है । अग्निकी रचना कौन करेगा ? अग्निका आदि नहीं, अन्त नहीं । अतएव मन्त्र भी अनादि और अनन्त हैं ।* इसीलिये वेदको शब्दब्रह्म कहते हैं, और इसे नित्य और सनातन मानते हैं । यज्ञ-भावना भी नित्य और सनातन है । हिंदू-संस्कृति या सनातनधर्मका वास्तविक स्वरूप भी यही यज्ञ-भावना है । इसका किसी भी कालमें अभाव नहीं हो सकता । यज्ञ ही धर्म है, और धर्मसे ही प्रजाका धारण हो रहा है । अतएव सांस्कृतिक दृष्टिसे यज्ञकी महिमा सर्वोपरि है, और इसके विषयमें कुछ भी आलोचना करना सुसङ्गत ही है । धर्मका लक्षण करते हुए महर्षि कणाद कहते हैं—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

'जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है ।' अभ्युदयका हेतु है कर्मानुष्ठान और निःश्रेयसका हेतु है ज्ञान-साधना; अतएव कर्म और ज्ञानका समन्वय ही जीवनमें धर्मका स्वरूप है । जो लोग कर्मकी उपेक्षा करके केवल ज्ञानकी रट लगाते हैं और अपनेको श्रुतिमार्गावलम्बी कहते हैं, उनकी प्रतारणाके लिये ही मानो महर्षि जैमिनिने अपने पूर्वमीमांसादर्शनमें कर्मविषयक स्तुत्यात्मक अर्थवादकी अवतारणा करते हुए कहा है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ।

(जै० सू० १ । २ । १)

'आम्नाय अर्थात् वेद यज्ञानुष्ठानके लिये हैं; अतएव यज्ञभावनासे हीन जो विषय हैं, वे अनर्थक हैं । 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'—इस सूत्रके द्वारा धर्मकी वैदिक विधि-निषेध-मूलक परिभाषा देकर महर्षि जैमिनिजीने यज्ञानुष्ठानमें उपकारक होनेके कारण ही सदाचारको धर्मस्वरूप माना है । अतएव यज्ञविहीन सदाचार भी वस्तुतः सदाचार नहीं है; वह अधर्म ही है, जो धर्मके कञ्चुकमें छिपा हुआ भूल-भुलैयामें फँसानेके लिये मायाजाल बिछाये हुए है ।

जब यज्ञ ही धर्म है, तब यज्ञस्वरूपका ज्ञान तथा उसका अनुष्ठान करना परम आवश्यक हो जाता है इस क्षणभङ्गुर मानव-जीवनकी सफलताके लिये । भगवान् वेदव्यासने जो इस विषयमें चेतावनी दी थी कि 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः,' उसकी सत्यताको गत सहस्रों वर्षोंकी हमारी पराधीनता, दुःख-दारिद्र्य और राष्ट्रिय अपमान डंकेकी चोट सिद्ध कर रहे हैं । धर्मकी उपेक्षा करके ही वस्तुतः हम मारे गये, अत्यन्त अधःपतनको प्राप्त हो गये । दुर्दशाकी भी सीमा हो गयी, आज आर्य-सन्तान यज्ञका नाम-तक नहीं जानती । यज्ञीय जीवन ही हमारा स्वर्गीय जीवन है—भारतका स्वर्णयुग है । यज्ञीय जीवनको छोड़कर हमने अपने आदर्शको छोड़ दिया, आर्य-सन्तानने देवत्वसे वञ्चित होकर आसुरी भावनाओंकी दासता स्वीकार कर ली । आज यज्ञानुष्ठानके विषयमें—इस दुर्ज्ञेय और दुरूह विषयकी कुछ चर्चा चलानेकी जो मैं धृष्टता कर रहा हूँ, इसके लिये विद्वान् लोग क्षमा करेंगे । साधारण पाठकोंको यज्ञ-विषयमें थोड़ा-सा सांकेतिक ज्ञान हो सकेगा, इसी आशासे यह अनधिकार प्रारम्भ किया जा रहा है ।

सबसे पहले प्रश्न यह होता है कि यज्ञ किसे कहते हैं । महर्षि कात्यायन अपने सूत्रोंमें 'अथ यज्ञं व्याख्यास्यामः' इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए यज्ञकी परिभाषा करते हैं—

---

* यहाँ प्रश्न हो सकता है कि मन्त्रोंको कार्यरूपमें देखकर 'यद्यत्कार्यं तत्तत्कारणपूर्वकम्'—इस न्यायके अनुसार उन्हें नित्य नहीं माना जा सकता । इसका उत्तर यह है कि 'मन्त्र' कार्य नहीं हैं, वे नित्य हैं और वाणीके रूपमें उनकी अभिव्यक्ति होती है ऋषियोंके अन्तःकरणमें । ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहलाते हैं, मन्त्र-रचयिता नहीं । स्वयं ऋचा कहती है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।

(ऋ० सं० १० । ७१ । ३)

—अर्थात् यज्ञके द्वारा ऋषियोंके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर मन्त्र वाणीरूपको प्राप्त होते हैं । यास्काचार्य कहते हैं—

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति ।

यज्ञोंमें तत्तत् वस्तुको अभिप्रेत करके ऋषियोंको मन्त्रदृष्टि प्राप्त होती है, अर्थात् ऋषियोंके पुनीत अन्तःकरणमें देवस्वरूप मन्त्रोंका दर्शन होता है ।

द्रव्यदेवतात्यागः ।

'द्रव्य, देवता और त्याग—ये तीन यज्ञके लक्षण हैं ।' सार्तोल्लास नामक ग्रन्थमें द्रव्य कौनसे पदार्थ हैं, इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

तैलं दधि पयः सोमो यवागूरोदनं घृतम् ।
तण्डुलाः फलमापश्च दश द्रव्याण्यकामतः ॥

सामान्यतः तेल, दही, दूध, सोमलता, यवागू (चावल या जौकी लपसी), भात, घी, कच्चे चावल, फल और जल—ये दस द्रव्य ही वैदिक यज्ञोंमें देवताओंके प्रीत्यर्थ त्यागनेमे आते हैं । देवता आधिदैविक शक्तियाँ हैं, जो यज्ञको सर्वथा व्याप्त करके मन्त्ररूपमें अभिव्यक्त होती हैं । निरुक्तकार कहते हैं—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ।

'जिस कामनासे ऋषि जिस देवताके प्रति अपने प्रयोजनकी सफलताकी इच्छा करते हुए स्तुतिका प्रयोग करते हैं, उसी देवताका स्वरूप वह मन्त्र होता है ।'

इस प्रकार नाना प्रकारके अभिप्रायोंके साथ ऋषिकी मन्त्र-दृष्टि भी नाना प्रकारकी होती है । मन्त्रोंमें जो स्थान-स्थानपर रथ, आयुध, अश्व, इषु आदिका उल्लेख आता है, वे सब पदार्थ देवताओंके स्वरूपभूत ही हैं, उनसे पृथक् नहीं । अतएव आपाततः पदार्थान्तरको देखकर मन्त्रोंके विषयमें अन्यथा सोचना ठीक नहीं । यास्काचार्य इसी कारण कहते हैं—

आत्मैवैषां रथो भवत्यात्मा अश्व आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ।

देवताके स्वरूपके विषयमें शङ्काएँ की जाती हैं कि वह निराकार है या साकार, जड है या चेतन । परंतु ये द्वन्द्वात्मक विकल्प आधिभौतिक सृष्टिमें होते हैं । आधिदैविक लोककी विभूतियोंके विषयमें ये प्रश्न नहीं उठते । देवता यह सब कुछ हैं, या कुछ नहीं हैं—अथवा इस 'हैं-नहीं' से परे कुछ और हैं । जो हो, उपासकके लिये तो मन्त्ररूपमें ही वे सब कुछ प्रदान करते हैं । यज्ञ एक विधान है, जिसके द्वारा देवताओंको तृप्तकर यजमान अपने अभिलषित आनन्दको प्राप्त करता है । स्वर्गलोककी प्राप्ति यज्ञानुष्ठानका एक मुख्य उद्देश्य होता है । यह स्वर्ग है क्या ?

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

'जिसमें दुःखका सम्पर्क नहीं, उपभोगके पश्चात् जो दुःखग्रस्त नहीं होता तथा इच्छामात्रसे बिना प्रयत्न किये जो प्राप्त होता है, इस प्रकारका सुख स्वर्ग कहलाता है ।'

स्वर्गोंके उच्चावच अनेक भेद हैं । वेदोंमें असंख्य प्रकारके यज्ञोंका विधान है । परंतु यज्ञ मुख्यतः पाँच प्रकारके होते हैं—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग । इसके अतिरिक्त अवान्तर भेद बहुत होते हैं—जैसे सोमयागके भेदोंमें अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध, एकाह और अहीनयाग । दो दिनसे लेकर एकादश रात्रिपर्यन्त अहीनयाग होते हैं, और त्रयोदश रात्रियोंसे लेकर सहस्रों संवत्सरपर्यन्त असंख्य प्रकारके याग होते हैं, जो सत्र कहलाते हैं । गौतम-धर्मसूत्रमें कहा गया है—

औपासनहोमः, वैश्वदेवः, पार्वणः, अष्टका, मासिश्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः; अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो दर्विहोमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः; अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, आप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः ।

(गौ० ध० ८-१८)

—इस प्रकार प्रथम पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ-भेदसे तीन प्रकार दिखलाकर प्रत्येकके सात-सात भेद करके २१ प्रकारके यागोंका उल्लेख किया है । वस्तुतः यज्ञयुगका काल इतना विस्तृत है कि आज हमारे सामने कोई ऐसा साधन नहीं कि उसकी गणनाकी चेष्टा करें । हिंदू-शास्त्रोंकी दृष्टिसे यह युग लाखों-लाखों वर्षोंतक व्याप्त रहा है, यज्ञोंके असंख्य भेद भी इस बातको प्रमाणित करते हैं ।

प्रारम्भमें मुख्यतः वैदिक यज्ञोंके उपर्युक्त पाँच ही भेद थे । यजुर्वेदका पहला मन्त्र 'इषे त्वोर्जे त्वा०' का विनियोग दर्शपौर्णमास यज्ञके पलाश-शाखा-छेदन विधिमें होता है, और पहले तथा दूसरे अध्यायके सारे मन्त्र दर्शपौर्णमास यज्ञकी विधियोंमें ही विनियुक्त होते हैं; अतएव यहाँ इसी यज्ञकी विधिके ऊपर एक संक्षिप्त दृष्टि दी जाती है । प्रत्येक अमावास्या और पूर्णिमाको अनुष्ठित होनेके कारण इस यज्ञका नाम दर्शपौर्णमास यज्ञ पड़ा । प्रकृतिरूपमें होनेके कारण इसी यज्ञका पहले विधान हुआ है । प्रकृतिसे तात्पर्य यहाँ उस यागसे है, जो अनुष्ठानके समय अन्य यागोंकी अपेक्षा न रखता हो । दर्शपूर्णमासमें अन्य किसी यागकी विधि प्रयुक्त नहीं होती, और अन्य याग दर्श-

पौर्णमास-विधिसे उपकृत होते हैं; अतएव यजुर्वेदमें पहले इसी यागके मन्त्रोंका विधान है।

इस यागमें पहले व्रतोपायनविधि अर्थात् उपवास करके यजमान और उसकी पत्नीको संयमपूर्वक रात्रि व्यतीत करनी पड़ती है; शतपथ ब्राह्मणके प्रारम्भमें इस व्रतोपायनविधिका उल्लेख आता है। दूसरे दिन यज्ञका सर्वाङ्ग अनुष्ठान किया जाता है। अमावास्याके दिन अग्निदेवताके लिये पुरोडाश, इन्द्र-देवताके लिये दधिद्रव्य तथा इन्द्रदेवताके लिये पयोद्रव्यके त्याग-रूपमें तीन याग होते हैं। पूर्णिमाको पहला अग्निदेवतासम्बन्धी अष्टकपालवाला पुरोडाश याग, दूसरा अग्नि और सोम-देवतासम्बन्धी आज्यद्रव्यवाला उपांशु याग और तीसरा अग्नि और सोम-देवतासम्बन्धी एकादश कपालवाला पुरोडाश याग होता है। इस प्रकार दर्शपौर्णमास यज्ञमें कुल छः याग होते हैं। अनुष्ठान-विधि इस प्रकार होती है—

१. अग्नि-उद्धरण—जिसमें गार्हपत्य-अग्निसे आहवनीय और दक्षिणाग्निको पृथक् किया जाता है।

२. अग्नि-अन्वाधान—जिसमें तीनों अग्नियोंमें छः-छः समिधाओंका दान किया जाता है।

३. ब्रह्मवरण—जिसमें यजमान ऋत्विकको वरण करता है।

४. प्रणीता-प्रणयन—जिसमें चमसमें जल भरकर उसको निर्दिष्ट स्थानमें रखते हैं।

५. परिस्तरण—अग्निके चतुर्दिक् कुश आच्छादन करना।

६. पात्रासादन—यज्ञीय पात्रोंको यथास्थान रखना।

७. शूर्पाग्निहोत्रहवणीका प्रतपन।

८. शकटसे हवि ग्रहण करना।

९. पवित्रीकरण।

१०. पात्रहविः-प्रोक्षण—हविष्य एवं पात्रोंको प्रमार्जन करना।

११. फलीकरण—जिसमें तण्डुलमेंसे कणोंको दूरकर उसका शोधन किया जाता है।

१२. कपालोपधान—दो अङ्गुल ऊँचे किनारेवाले मिट्टीके पात्र कपाल कहलाते हैं, उनको यथास्थान रखना।

१३. उपसर्जनीका अधिश्रयण—पिष्ट-संयवनके लिये तप्त जलको उपसर्जनी कहते हैं, उसको नीचे रखना।

१४. वेदिकरण।

१५. स्तम्ब-यजुः-हरण—(मन्त्रसे दर्भको छिन्न करके रखना)।

१६. स्रुवा, जुहू, उपभृत् और ध्रुवा आदि काष्ठनिर्मित यज्ञपात्रोंका संमार्जन।

१७. पत्नीसन्नहन—मुञ्जकी रज्जुसे पत्नीकी करधनी बनाना।

१८. इध्म, वेदी और बर्हिकाका प्रोक्षण।

१९. प्रस्तर-ग्रहण—(यहाँ कुशमुष्टिको प्रस्तर कहते हैं)।

२०. वेदिका-स्तरण—वेदीपर कुशाच्छादन करना।

२१. परिधि-परिधान—वेदीके चारों ओर परिधि बनाना।

२२. इध्मका आधान।

२३. विधृति-स्थापन।

२४. जुहू आदिको वेदीपर रखना।

२५. पञ्चदश-सामिधेनी-अनुवचन।

२६. अग्निसम्मार्जन।

२७. आघार अर्थात् वह्निके एक छोरसे दूसरे छोरतक आज्यकी धार प्रक्षेप करना।

२८. होतृ-वरण।

२९. पञ्च प्रयाज—(पाँच प्रकृष्ट याग)।

३०. आज्यभाग—(अग्नि और सोमदेवताके निमित्त)।

३१. प्रधान याग—फलके उद्देश्यसे विहित देवता ही प्रधान देवता होते हैं, उनके निमित्त किया जानेवाला याग।

३२. स्विष्टकृत्—(प्रधान यागको शोभन बनानेवाली याग-विधि)।

३३. प्राशित्रावदान—(ब्रह्माका भाग प्राशित्र होता है, उसका ग्रहण)।

३४. इडावदान आदि।

३५. अन्वाहार्य-दक्षिणा—(ऋत्विक्का भोज्य ओदन अन्वाहार्य कहलाता है)।

३६. तीन अनुयाज—(अनुयाज अर्थात् पीछे किये जानेवाले याग)।

३७. व्यूहन अर्थात् जुहू आदि पात्रोंको हटाना।

३८. सूक्तवाक। } स्तुतिविशेष।
३९. शंयुवाक। }

४०. पत्नी-संयाज—(पत्नी-देवताके निमित्त चार याग)।

४१. दक्षिणाग्नि-होम।

४२. बर्हि-होम।

४३. प्रणीता-विमोक।

४४. विष्णु-क्रम।

४५. व्रत-विसर्ग।

४६. ब्राह्मण-तर्पण।

इस प्रकार मन्त्र-सहित प्रधान विधियोंके द्वारा दर्श-पौर्णमास याग समाप्त होता है। इनमें जो दूसरी अवान्तर विधियाँ हैं, उनका उल्लेख शतपथ ब्राह्मणके प्रथम काण्डमें है, यजुर्वेदके महीधर-भाष्यमें भी मन्त्रोंके प्रसङ्गमें उनका संकेत किया गया है। यह दर्शपौर्णमास याग मासमें दो दिन होनेके कारण सुगमतापूर्वक अनुष्ठित हो सकता है। दूसरे याग बहुव्ययसाध्य तथा क्लिष्ट हैं। अतएव यहाँ दर्शपौर्णमासके बारेमें ही किञ्चित् आलोचना की गयी है। यदि आज हम अध्यात्मसाधनके द्वारा अपवर्गको प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं तो कोई कारण नहीं कि यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा स्वर्गप्राप्तिकी चेष्टा भी नहीं की जाय। आज यदि कुछ सम्पन्न भारतीय जन दर्शपौर्णमास यज्ञके अनुष्ठानमें रत हों तो हमारे देश और समाजमें देवत्वकी प्रतिष्ठा होगी और संस्कृतिकी रक्षाके साथ-साथ हम इहलोक और परलोकको उज्ज्वल बना सकेंगे। यज्ञानुष्ठानके द्वारा स्वर्गको प्राप्त हुआ एक याज्ञिक कहता है—

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किन्नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥
(ऋग्० ८।४८।३)

'मैंने सोमपान किया, अमृत हो गया, स्वर्गलोकमें आया, देवताओंको जान लिया। अब शत्रु मेरा क्या करेंगे। और मुझ अमरलोकको प्राप्त व्यक्तिके लिये जरा क्या कर सकती है।'

स्वर्गलोकमें कोई भय नहीं, इच्छा करते ही सब सुखोपभोग प्राप्त हो जाते हैं, इच्छामात्रसे सारे पितर अथवा प्रियजन उपस्थित होते हैं और उनके साथ स्वर्गीय सुखोंका उपभोग मिलता है, सदा नवयौवनका आनन्द रहता है। रोग-शोकका कहीं नाम नहीं रहता।

यज्ञस्थली आधिभौतिक लोकके मध्य एक आधिदैविक द्वीपके समान होती है। यज्ञकी वेदी, समिधा, हवि, दर्भ, यज्ञके पात्र तथा अन्यान्य यज्ञाङ्गभूत उपकरण—सब-के-सब अभिमन्त्रित होनेके कारण देवत्वमय हो जाते हैं। इस दिव्य परिस्थितिके मध्यमें बैठे हुए यजमान, उसकी पत्नी तथा विभिन्न ऋत्विक् भी देवत्वमय हो जाते हैं। व्रतके प्रारम्भमें यजमान अग्निकी ओर देखकर व्रत ग्रहण करता है—

ॐ अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।

'हे व्रतपते अग्निदेव! मैं व्रतका आचरण करूँगा, मुझे इस प्रकार प्रेरित कीजिये कि मैं उसमें समर्थ हो सकूँ। अब मैं अनृत अर्थात् मनुष्यत्वसे सत्य अर्थात् देवत्वको प्राप्त हो रहा हूँ।' 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'—इस न्यायके अनुसार अनुष्ठानमें स्थानेपर मनुष्यको देवत्वमें परिणत होना पड़ता है। इस प्रकार दैवी कर्मानुष्ठानके परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त होता है। नास्तिकलोग शङ्का करते हैं कि यज्ञका फल यदि स्वर्ग है तो यज्ञोपरान्त तुरंत स्वर्गकी प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती। उत्तर यह है कि कर्म करनेके बाद उसका अदृष्ट बनता है, अर्थात् कर्मकी सूक्ष्म शक्ति अदृष्टरूपमें परिणत होती है। और जब कर्मफल परिपाकको प्राप्त होता है, तब वही अदृष्ट स्वर्ग-प्रदानका हेतु बनता है। यज्ञानुष्ठानरूप दिव्यकर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गकी प्राप्ति युक्तिसंगत ही है।'

परंतु यज्ञानुष्ठानका अभाव होनेसे हमारी संस्कृतिकी गहरी हानि हुई है और उसके पुनः-प्रसारसे उसकी उन्नति अवश्यम्भावी है। संसारके सर्वश्रेष्ठ तत्त्वोपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्णकी इस अमृतमयी वाणीकी हमने उपेक्षा कर दी है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
(गीता ३।१०)

प्राचीन कालमें प्रजापतिने यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि की, यज्ञ और मन्त्रका प्रजाके जीवनके साथ अटूट सम्बन्ध रहा। सृष्टिके आदिसे ही इनका अस्तित्व था; अरबों वर्ष पहलेसे यज्ञ अनुष्ठित होते आये हैं। प्रजापतिने सृष्टि करके कहा—'यज्ञोंके द्वारा तुम फलो-फूलो, ये तुम्हारी इष्ट वस्तुको प्रदान करेंगे।'

भगवान्‌की अमृतवाणी और प्रजापतिके प्रथम आदेशको भूलकर हमने बहुत कष्ट उठाये। क्या भारतके इस अभिनव स्वातन्त्र्यके साथ यज्ञानुष्ठानका अभ्युदय होगा? 'कल्याण' के 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'से, आशा है, पाठक सांस्कृतिक उन्नतिमें क्रियात्मक भाग लेनेकी प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

जबतक भारतवर्षमें यज्ञोंका अनुष्ठान होता रहा, भारतीय-प्रजा सब प्रकारसे उन्नत और समृद्ध थी। कोई अभाव नहीं था। देवताओंके साथ हमारा पारिवारिक सम्बन्ध-सा हो गया था। यज्ञोंके द्वारा परितृप्त देवगण हमारी सारी कामनाओंकी पूर्ति करते थे। यज्ञ हमारे सामाजिक जीवनका प्रधान स्वरूप था; इस जीवनकी पवित्र झाँकी श्रौतसूत्रों, ब्राह्मणों और आरण्यकोंमें मिलती है। उस दिव्यजीवनकी तुलना विश्वके इतिहासमें अन्यत्र मिलनी दुर्घट है।—अञ्जन निरञ्जन
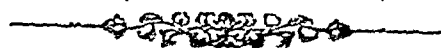
आर्य-संस्कृति और पीठविज्ञान

वर्तमान समयमे पीठविज्ञान और आर्यधर्मके प्रधान सोलह अङ्गोके रहस्यको अच्छी तरह न समझनेसे अमार्जनीय बड़ी-बड़ी भूलें भारतखण्डके नेतृवृन्दोके द्वारा हो रही है। उन भूलोंको दूर करनेके लिये एक उदाहरण दिया जाता है। आर्य-संस्कृतिके अनुसार आर्यजाति सर्वव्यापक दैवी सत्ताकी नाना पीठोंमें उपासना किया करती है। योगशास्त्रकी मन्त्रयोग-संहितामें सगुण-उपासनाके आश्रयरूप दिव्य देशस्वरूप पीठके सोलह भेद माने गये हैं। यथा—

> यथा गवां सर्वशरीरजं पयः
> पयोधरान्निःसरतीह केवलम्।
> तथा परात्माखिलगोऽपि शाश्वतो
> विकाशमाप्नोति स दिव्यदेशकैः॥
> तन्त्रेषु दिव्यदेशाः षोडश प्रोक्तास्तथात्र कथ्यन्ते।
> अग्न्यम्बुलिङ्गवेद्यो भित्तीरेखा तथा च चित्रं च॥
> मण्डलविशिखैर्नित्ययन्त्रं पीठं च भावयन्त्रं च।
> मूर्तिर्विभूतिनाभी हृदयं मूर्द्धा च षोडशैते स्युः॥

अर्थात् जिस प्रकार दुग्ध गौके सर्व शरीरमे व्यापक होनेपर भी केवल स्तनद्वारा क्षरित होता है, उसी प्रकार परमात्माके व्यापक होनेपर भी उनका विकाश दिव्य देशोंमें होता है। दिव्य देश तन्त्रोमे सोलह कहे हैं; यथा—वह्नि, अम्बु, लिङ्ग, स्थण्डिल, कुड्य, पट, मण्डल, विशिख, नित्ययन्त्र, भावयन्त्र, पीठ, विग्रह, विभूति, नाभि, हृदय और मूर्द्धा। यद्यपि ये सभी पीठ है, फिर भी यहाँ 'पीठ' शब्द अलग आया है; वह तीर्थके लिये आया है। क्योकि तीर्थके विशेष-विशेष स्थानमे विशेष-विशेष शक्तिका आविर्भाव माना जाता है—जैसे 'भारतवर्ष' शब्द पृथ्वीका बोधक है, किंतु भारत कहनेसे भारतखण्ड अर्थात् हिंदुस्थानका बोध होता है। क्योकि भारतवर्ष (पृथ्वी) मे (हिंदुस्थान) की प्रधानता है। इसी प्रकार 'पीठ' शब्दसे उपर्युक्त सोलह वस्तुओका ज्ञान होता है; किंतु यहाँ 'पीठ' शब्दका अलग प्रतिपादन इसलिये किया गया है कि जिससे तीर्थोंकी महिमा सूचित हो। 'तीर्थ' शब्दसे नगर या ग्रामविशेषसे तात्पर्य नही है, वहाँके देवस्थानविशेषसे तात्पर्य है। उपर्युक्त दिव्य देशोमे सर्वव्यापक दैवी सत्ताका पीठमे प्राणप्रतिष्ठा करके आविर्भाव कराया जाता है—जैसे मूर्तिमे अथवा भावयन्त्रादिमे जिस-जिस दैवी शक्तिका आविर्भाव प्रबल होता है, पहले अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके उस पीठस्थानको भी शुद्ध-कर अपनेमे उस देवताका आविर्भाव करके तदनन्तर उस पीठमे देवताका आविर्भाव कराना होता है। मन्त्रशास्त्रमे पीठाविर्भावके अनेक भेद पाये जाते हैं। वैदिक दर्शन-शास्त्रोमे आकर्षण और विकर्षणशक्तिका जहाँ समन्वय होता है, वहाँ पीठकी उत्पत्ति होती है—ऐसा माना गया है। आकर्षणशक्ति रजोगुणप्रसूत है और विकर्षणशक्ति तमोगुण-प्रसूत है। दोनोका जहाँ समन्वय होता है, वहाँ ही सत्त्वगुण है और उसी सत्त्वगुणमे धर्मकी धारिका शक्तिका विकास होता है, तथा वहाँ ही पीठ बना रहता है। इसी विज्ञान-के अनुसार ग्रह-नक्षत्रादि जिस कक्षामे भ्रमण करते हैं, उस कक्षासे अलग नही जाते; वही उनका पीठ है। समाहित अन्तःकरणकी शक्ति, मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्ति—इन तीनोकी सहायतासे ऊपर कथित सोलह दिव्य देशोमे देवशक्तिका आविर्भाव किया जाता है और उस शक्तिके लघुत्व और गुरुत्वके विचारसे तत्-तत् स्थानोमे वह शक्ति अल्पकालतक या बहुत कालतक विद्यमान रहती है। इसी विज्ञानके अनुसार तीर्थविशेषमे अथवा पीठ और मूर्तिविशेषमे दैवी सत्ता बनी रहती है और इसी दैवी रहस्यके अनुसार तीर्थमे और मूर्तिविशेषमे विशेष दैवी शक्ति प्रकट रहती है तथा श्रद्धालु भक्तोका कल्याण करती है। वैद्यनाथ, तारकेश्वर, नाथद्वारा आदि तीर्थों और विग्रहोमें जो नाना प्रकारके चमत्कारोका वर्णन सुननेमे आता है, उसका यही कारण है। नाना पीठोमे नाना चमत्कारोका वर्णन पाया जाता है, इसका कारण प्रत्येक पीठका अलग-अलग संस्कार ही है। जैसे व्यक्तिविशेषमे संस्कार-पार्थक्य रहता है, वैसे ही प्रत्येक पीठमे भी अलग-अलग संस्कार रहता है। जैसे मनुष्यके संस्कारविरुद्ध कार्य करनेसे उसको कष्ट होता है, उसी प्रकार पीठके संस्कारविपरीत कार्य होनेसे उसकी शक्तिमे धक्का लगता है और पीठाभिमानी देवता अप्रसन्न होते है। इतना ही नहीं, पीठस्थ संस्कारके विरुद्ध कार्य होनेपर व्यक्ति, जाति तथा देशको भी क्षतिग्रस्त होना पड़ता है। इसलिये जिस पीठमे जिस तरहका संस्कार पूर्वपरम्परासे चला आ रहा है, उसका नाश करना उचित नहीं। वहाँ नूतन स्थापित पीठोमे नया संस्कार चलाया जाय तो कोई हानि नहीं। पीठरहस्य और मूर्तिपूजा आदि समझनेके लिये अपनी मनमानी कल्पनासे काम नही करना चाहिये, जैसा कि अंग्रेजी-शिक्षासे शिक्षित नेतृवृन्द किया करते हैं। दैवी जगत्पर श्रद्धा, वैदिक दर्शनशास्त्रोका अध्ययन तथा मन्त्रशास्त्रका अनुशीलन करनेसे यह बात पूरी तरह समझमें आ सकती है। सूर्योदय

भारतीय संस्कृतिका प्रतीक गायत्रीमन्त्र

(लेखक—पं० श्रीगौरीलालजी शर्मा महामहोपाध्याय)

इस देशमें गायत्रीकी गरिमाका गान द्विजातियोंद्वारा अनादिकालसे होता आ रहा है। यह मन्त्र त्रयीमें प्रतिष्ठित है। ऋग्वेदके ३। ६२। १०वें मन्त्रमें ऋक्-रूपसे; यजुर्वेदके ३। ३५ वें, ३०। २ रे एवं ३६। ३ रे मन्त्रमें यजुःरूपसे तथा सामवेदके उत्तरार्चिकके १३ वें अध्यायके तृतीय खण्डके ३रे मन्त्रमें सामरूपसे उपलब्ध है। इस मन्त्रप्रवरके ऋषि विश्वामित्र हैं और देवता सविता हैं। अन्यान्य वैदिक मन्त्रोंके समान यह भी एक मन्त्र है; किंतु गायत्रीछन्दमें ग्रथित होनेके कारण यह 'गायत्री' नामसे ही लोकमें विश्रुत हुआ है, एवं सवितासे सम्बद्ध होनेके कारण यह सावित्री भी कहलाता है। इस मन्त्रमें तीन पद हैं। अक्षर चौबीस होने चाहिये; किंतु एक कम होनेसे इसकी संज्ञा[2] निचृद्गायत्री है। तथापि 'वरेण्यम्' शब्दको 'वरेणियम्' पढ़कर इसमें चौबीस अक्षर माननेकी विद्वानोंकी सम्मति रही है।

गायत्रीमन्त्रका सुगम अर्थ यह है कि 'हम सब जगत्-स्रष्टा उस देवताके वरण करने योग्य तेजका ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करे।'

प्रकृतिके साम्राज्यमें बुद्धिकी सत्ता सर्वशिरोमणि है। प्रवृत्तिमार्गियोंको इसीकी कुशाग्रतासे त्रिवर्गकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है एवं निवृत्तिमार्गियोंको इसीकी निर्मलतासे मुक्ति-पदवी भी अनायास मिल जाती है। दोनों मार्गवाले अपने-अपने भावनानुसार परमात्मासे प्रेरित-बुद्धि होकर यथेष्ट सुख लाभ करते हैं।

इस मन्त्रकी अधिष्ठात्री देवी पञ्चमुखी और दशभुजा हैं। वे आराधकोंकी सकल कामनाओंकी पूरिका हैं।

शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीयारण्यकमें भी गायत्रीकी चर्चा की गयी है। उपनिषद्में भी इसकी उपासना है। छान्दोग्य (३। १२। १) का वचन है कि यह जो कुछ है, सब गायत्री ही है। गायत्रीके चमत्कारसे प्रभावित होकर ऋषि-मुनियोंने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। आदिकवि वाल्मीकिने अपनी रामायणके चौबीस सहस्र श्लोकोंकी रचना गायत्रीके चौबीस वर्णोंको लेकर की; वेदव्यास कृष्णद्वैपायनने अपने पुराण-मुकुटमणि श्रीमद्भागवत महापुराणमें गायत्रीका वर्णन किया; तथा दर्शनशिरोमणि वेदान्तदर्शनने गायत्रीद्वारा परब्रह्मके ही प्रतिपादनको सिद्ध किया। मनु महाराजकी सम्मति है कि तीन वर्षोंतक सावधान होकर गायत्रीका जप करते रहनेसे जापकको परब्रह्मकी प्राप्ति होती है[2]। इस मन्त्रको जपते समय प्रणव और तीन व्याहृतियोंको भी मन्त्रसे पूर्व बोलनेका सनातन सम्प्रदाय है। प्रणव परमात्माका आदिम नाम है[3], जिसका अर्थ है 'रक्षा करनेवाला'। तीनों व्याहृतियोंका अर्थात्[4] भूः-भुवः-स्वः का क्रमशः अर्थ है सत्-चित्-आनन्द। प्रपन्नरक्षाविचक्षण सच्चिदानन्द जगदुदयलील परमात्माका ध्यान करते हुए गायत्रीका जप करनेवाले साधक विधूतकल्मष होकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

परमात्माका ध्यान अभेद-भावनासे भी किया जाता है और भेद-भावनासे भी। अभेदवादी विद्वान् जीव-ब्रह्मके भेदको अविद्याजनित मानते हुए अभेदको ही तात्त्विक मानते हैं और गायत्रीके जपके समय इसी वृत्तिको लेकर ब्रह्मध्यानमें परायण होते हैं[5]; एवं भेदवादी भावुक भक्त जीवेश्वरमें

---

१. गायन्त त्रायते। (निरुक्त)

२. ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ। (पिंगलसूत्र)

३. गायत्र्यस्येकपदी इत्यादि।

४. १। ११। २

५. गायत्री वा इदं सर्वम्।

---

१. छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम्। (वेदान्तसूत्र १। १। २५)
गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणं चित्त-समाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते। (शांकरभाष्य)

२. योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(मनुस्मृति २। ८२)

३. तस्य वाचकः प्रणवः। (योगसूत्र)

४. भवतीति भूः सत्। भावयतीति भुवः चित्। स्वर्यते स्तूयते इति स्वः।
यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं यत्तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥

५. (अ) सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (आ) जीवो ब्रह्मैव नापरः।
(इ) नेह नानास्ति किञ्चन।

तात्त्विक भेद[1] मानते हुए उपास्यदेवकी ध्यानमयी उपासनामें प्रवृत्त होते हैं। वे—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥

—इस श्लोकके अनुसार आदित्यके अन्तर्यामी[2], कमलासनासीन कटक-कुण्डल-किरीट-केयूर-विभूषित, हार पहने हुए, शङ्खचक्र-धारी[3], पीताभ[4], परमात्मा श्रीमन्नारायणका[5] ध्यान करते हुए गायत्रीका जप करते हैं।

संस्कृति वही उज्ज्वल है, जिसमे मानवमात्रको ऐहिक सुख वा अभ्युदयका लाभ हो तथा आमुष्मिक आनन्द या निःश्रेयसकी प्राप्ति हो। भारतकी संस्कृतिकी मूलभित्ति थी धर्म, जो संसारके अर्थमय एवं काममय सुखमे संयत प्रोज्ज्वलता लाता हुआ अन्तमें जीवको परमानन्दकी प्राप्ति करा देता था। गायत्री उसी संस्कृतिका प्रतीक है।

निरीश्वरवादमे बनी हुई अच्छी-से-अच्छी संस्कृति मनुष्यको भौतिकताके गर्तसे बाहर नहीं निकाल सकती। प्राचीन वैदिक संस्कृतिमे ईश्वरवाद ओतप्रोत था। वैदिककालीन ऋषि-मुनि उस जगत्प्रसवित्री शक्तिके सम्मुख नतमस्तक होकर अपने कल्याणकी कामना करते थे। उन्होने जैसे अपनी बुद्धिको ईश्वराधीन कर दिया हो।

आज राजनीतिके आकाशमे ईश्वरपराङ्मुखताकी आँधीसे प्रेरित अविश्वासकी घटाएँ घिर रही हैं, जिनसे अशान्तिकी वर्षाकी आशंका है। संस्कृतिकी रक्षा चाहनेवालोको अब सामूहिकरूपमे गायत्रीजपका आयोजन कराना चाहिये, जिसके परिणामस्वरूप मङ्गलमय श्रीभगवान् देशकी बुद्धिको सन्मार्गमें प्रेरित करें।

गायत्रीका स्वरूप और मूर्ति

(लेखक—डा० श्रीमहानामव्रतदास ब्रह्मचारी एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

'गायत्री छन्दसामहम्' (श्रीगीता १० । ३५)

सुविख्यात जर्मन दार्शनिक इमैन्युएल काण्ट (Immanuel Kant) साहबने गम्भीर तत्त्वो और विचारोसे पूर्ण बहुतेरे ग्रन्थ प्रणयन करनेके बाद उपसंहारमें कहा है कि "इस संसारमे दो वस्तुओंको देखकर मुझे भय लगता है; उनमे एक है 'नक्षत्रखचित आकाश' (Starry Heaven), और दूसरा है 'विवेककी अनुभूति'—सदसद्का अन्तर्ज्ञान (Moral Conscience)."

इन दोनो वस्तुओसे उनको भय क्यो होता था, इसका कारण काण्ट साहबने बतलाया है। उन्होने कहा है कि "अँधेरी रातमे जब मैं नक्षत्रखचित आकाशकी ओर देखता हूँ तो मेरा मन कहता है कि 'कौन हो तुम महाशक्तिमान् पुरुष, जो इस अगणित सृष्टिमय विश्व-ब्रह्माण्डका सञ्चालन कर रहे हो? जिस प्रकार बालक गेंद खेलते है, उसी प्रकार खेल-खेलमें तुम अनन्त ब्रह्माण्डोको अपने-अपने कक्षमे दौड़ा रहे हो। तुम कितने महान् हो, कितने विराट् हो! और तुम्हारे सामने मै कितना क्षुद्र हूँ! कितना क्षुद्रातिक्षुद्र हूँ, कीटादपि कीट हूँ।' यह सोचते ही मन विस्मयाविष्ट हो जाता है, और भय लगता है। उसकी महत्ता और अपनी क्षुद्रताके बीच जब इतना विशाल व्यवधान पाता हूँ, तब भयसे अभिभूत हुए बिना मैं नही रह सकता।'

दूसरी वस्तु, जो काण्ट साहबके लिये भयजनक जान

१. (अ) भेदव्यपदेशाच्चान्यः (वेदान्तसूत्र १ । १ । १७) । (आ) भेदव्यपदेशात् (वेदान्तसूत्र १ । ३ । ५) ।

२. (अ) य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते (छान्दोग्य०) । (आ) अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् (वेदान्तसूत्र १ । १ । २०) । (इ) अन्तः आदित्ये .....यः पुरुषः प्रतीयते स जीवादन्यः परमात्मैव (श्रीभाष्य) । (ई) सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः पर ईश्वरः (वेदान्तसूत्र ४ । ४ । १८ पर शांकरभाष्य) ।

३. यत्र शङ्खचक्रगदाधरस्मरणं मुक्तिश्च (ऋक्परिशिष्ट) ।

४. तुलना कीजिये—(अ) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम् (मुण्डक०) । (आ) आ प्रणखात् सर्व एव सुवर्णः (छान्दोग्य०) । (इ) स सुवर्णच्छविः श्रीमान् रामः श्यामो महायशाः (रामायण ५ । ३५ । २२) ।

५. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । ता यदस्यायनं प्रोक्तं तेन नारायणः स्मृतः ॥ (मनुस्मृति १ । १०)

पड़ी, वह है अन्तरमें विवेककी वाणी या अन्तर्यामीका अनुभव। इस सम्बन्धमें वे कहते हैं कि "मैं जब कोई अनुचित कार्य करता हूँ, तब मानो कोई मेरे भीतरसे बिजली-सा कड़ककर कहता है कि 'तुम यह अनुचित कर रहे हो!' तब सोचता हूँ—वह कौन है, जो मेरे ही भीतर रहता है पर मुझसे बड़ा है, मुझपर हुकुम चलाता है, मेरे विचारोंके ऊपर अपनी राय देता है। उसकी बातें स्पष्ट सुनायी पड़ती हैं, उनमें ननु-नच नहीं है। उसकी बातोंमें एक कठोर (Imperative) अनुशासन है, जो मुझको अपने आदेशके अनुसार कार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये बाध्य करता है। उसकी इस सुस्पष्ट आदेश-वाणीको जब मैं सुनता हूँ, तब भय लगता है। मुझे जैसा बनना उचित था, वह उसे बतला देता है। तब मुझे जैसा बनना उचित था और मैं जैसा कुछ बन गया हूँ, उस आदर्श (Ideal) और यथार्थ (Actual) के बीच जो व्यवधान है, वह मेरी आँखोंके सामने आ जाता है। वह व्यवधान इतना बड़ा है कि उसका विचार करते ही मेरे प्राण भयके मारे स्तब्ध हो जाते हैं। आदर्शकी अपेक्षा मैं कितना नीचे हूँ, कितना छोटा हूँ—इसका विचार करते ही मैं भयभीत हो उठता हूँ।"

इसके बाद काण्ट साहब कहते हैं कि 'मालूम होता है ये दोनों वस्तुएँ यथार्थमें दो नहीं हैं। नक्षत्रखचित आकाशके अन्तरालमें जो शक्ति है और मेरे भीतर छिपी हुई जो सञ्चालिका शक्ति है, वे दोनों मेरे मन एक ही जान पड़ती हैं।' काण्ट कहते हैं कि 'ये दोनों शक्तियाँ एक हैं, ऐसा मेरा अनुमान होता है। परंतु निश्चयपूर्वक ठीक-ठीक कह नहीं सकता। क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। ऐसी आशा भी नहीं कि किसी दिन इसका प्रमाण मिल जायगा।'

काण्ट साहबकी इस उक्तिके समान उच्च तत्त्वज्ञान पाश्चात्त्यदर्शनमें अधिक नहीं है—यों कहें तो अत्युक्ति न होगी। पाश्चात्त्य विचारकोंकी आध्यात्मिक गवेषणाकी सीमान्त-रेखा यहीं आकर विलीन हो जाती है। अत्यन्त आश्चर्यपूर्वक काण्ट साहबकी आध्यात्मिक गवेषणाके साथ भारतीय आर्य-ऋषियोंकी गम्भीर अनुभूतिका एक विशेष सादृश्य दिखलायी देता है।

आर्य-संस्कृतिके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ वेद हैं। वेदका सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है—ब्रह्म-गायत्री। इस गायत्री-मन्त्रमें ही आर्य-ऋषि-की सर्वातिशायी गम्भीरतम अनुभूति मूर्तिमान् हुई है। काण्ट साहबने उसके दर्शनसे जिस अन्तिम तत्त्वकी बात कही है, भारतीय ऋषियोंने गायत्री-मन्त्रमें भी उसी चरम सत्यकी बात कही है। उन्होंने कहा है कि 'भूः भुवः स्वः इत्यादि चतुर्दश भुवनात्मक इस समस्त ब्रह्माण्डके जो प्रसविता देवता हैं, उनकी वरणीय ज्योतिका हम ध्यान करते हैं। क्यों करते हैं? उनके साथ हमारा सम्बन्ध क्या है? वे हमारी बुद्धिके प्रचोदयिता अर्थात् प्रेरणकर्ता हैं। जो ब्रह्माण्डके चालक हैं, वे ही हमारी बुद्धिके चालक हैं।'

काण्टके साथ वैदिक ऋषिकी अनुभूतिका यह मेल है और दोनोंमें पृथक्ता भी है। वह यह है कि काण्टने जो कहा है कि दोनों वस्तुएँ एक ही हैं, यह उनका अनुमानमात्र है, वे निश्चय करके कुछ भी नहीं कह सकते। भारतीय ऋषि कहते हैं कि दोनों एक हैं, इस बातको हम सुनिश्चितरूपसे जानते हैं। 'वेदाहमेतम्'। हमने उनको देखा है। अन्धकारके उस पार उस परमज्योतिर्मय सत्ताका हमने प्रत्यक्ष किया है। हमारे ज्ञानमें सन्देह, भ्रम और प्रमाद नहीं है; क्योंकि सत्यके साथ एकात्मता प्राप्त करके हमने उसको अपरोक्ष अनुभूतिसे जाना है।

काण्टकी बात और भारतीय ऋषियोंकी बातमें कम पृथक्ता नहीं है। एकके लिये सत्य अनुमानमात्र (Inference) है, और दूसरेके लिये अनुभूति (Realization) है। काण्टके लिये सत्य-निर्णयका पथ है—Reason या तर्क-वितर्क। आर्य-ऋषियोंके लिये सत्यानुभूतिका पथ है—साधना या तपस्या। तर्क-वितर्क तो केवल बुद्धिका कार्य है। साधना समस्त जीवनका कार्य है। तर्क-वितर्कसे सत्यका आंशिक ज्ञान होता है, और साधनाके द्वारा सत्यके साथ तादात्म्य लाभ होता है। इसी कारण पाश्चात्त्योंका सत्यानुसन्धान खण्ड-खण्ड (Fragmentary) है, और भारतीय ऋषियोंकी तत्त्वानुभूति समग्ररूपमें, सामग्रिक (Integral) है।

भारतीय ऋषिकी परम तपस्याका चरम फल ब्रह्मगायत्री है, जो ऋक्, साम और यजुः—तीनों वेदोंमें उद्घोषित है, जिसे लेकर समस्त उपनिषद्की साधना चली है, आज भी नित्य कोटि-कोटि हिंदू नर-नारी जिसके जप-ध्यानमें निमग्न होकर प्रतिदिन नित्यकर्मका अनुष्ठान करते हैं। इसीसे हिंदुओंका परम धन है—ब्रह्मगायत्री, देवी वेदमाता।

गायत्री-मन्त्रमें तीन वस्तुओंका पता लगता है—१—'सवितुर्वरेण्यं भर्गः' अर्थात् परात्पर तत्त्व, परमात्मा; २—'धियो नः' अर्थात् जीवका बुद्धितत्त्व, ३—'प्रचोदयात्'

—इन दोनोंका प्रचोदनात्मक सम्बन्ध । एक अनन्त ब्रह्माण्ड-का केन्द्र है, दूसरा व्यष्टि जीवका जीवन-केन्द्र है और तीसरा इन दोनोंके बीच प्रणोदन अर्थात् प्रेरणामूलक आन्तर सम्बन्ध है । इन तीन तत्त्वोंके ऊपर ही विश्वके समस्त दर्शन और विज्ञान प्रतिष्ठित हैं । भारतीय शास्त्रोंके समग्र अनुशीलनका बीज है यह ब्रह्मगायत्री। इसी कारण भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं कि 'छन्दोंमें मैं गायत्री हूँ' (गायत्री छन्दसामहम्) ।

सत्यके दो रूप हैं—एक निर्गुण और दूसरा सगुण । एक निर्वस्तुक (Abstract) और दूसरा वस्तुनिष्ठ (Concrete) । दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह गणितशास्त्रका एक निर्गुण सत्य है । और दो वस्तुएँ तथा दो वस्तुएँ मिलकर चार वस्तुएँ हो जाती हैं—यह व्यावहारिक जीवनमें वस्तुनिष्ठ सगुण सत्य है । इन दोनों रूपोंके द्वारा सत्यका पूर्ण विकास होता है । सत्यकी इस सम्पूर्णताकी अनुभूति भारतीय ऋषियों-को जैसी हुई, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं हुई ।

वैदिक साधनामें गायत्री-मन्त्रका निर्गुण स्वरूप तो प्राप्त हो गया । अब उसकी सगुण—सविशेष मूर्ति चाहिये । वास्तविक जीवनमें जबतक उसकी वस्तुनिष्ठ मूर्ति प्रकट नहीं होती, तबतक सत्यका पूर्ण दर्शन सिद्ध नहीं होता । वह मूर्ति प्राप्त हुई है—कुरुक्षेत्रके युद्धक्षेत्रमें ।

जब घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर भगवान्ने अर्जुनकी बुद्धिकी बागडोरको हाथमें लिया, तब ऋषियोंने देखा कि सहस्र सूर्योंके समान 'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता' जिनकी अङ्गज्योति है, वही वरणीय-भर्ग पुरुष आज अर्जुनकी बुद्धिके प्रचोदयिता हैं । यही गायत्री-मन्त्रकी सविशेष सगुण मूर्ति प्रकटित है । महाभारतमें, भारतसमरके मध्यस्थलमें यह मूर्ति प्रकट होती है । भारतीय नर-नारीके जीवन-समरके मध्यस्थलमें भी यह मूर्ति विराजमान रहे, यही मानो ऋषियोंकी शिक्षा है । जिसके जीवन-समरके मध्यमें यह विग्रहमूर्ति है, वही यथार्थ भारतीय है । वही महाभारतका—बृहत्तर भारतका सार्थकनामा नागरिक है ।

मूर्तिमान् गायत्रीमन्त्रको हम प्रणाम करते हैं—

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

इस मन्त्रके ज्ञानमय प्रदीपको जिन्होंने प्रज्वलित कर रखा है, उन श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासको हम प्रणाम करते हैं—

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्र नेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥

गायत्रीमन्त्रकी मूर्ति देखी गयी, अर्जुनकी बुद्धि-प्रचोदनाका फल हुआ—सप्तशतश्लोकमयी गीता ।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

ऋषिगण पुकार उठे—'किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः' । वेद-व्यासने भी सोचा—ठीक तो है, गीता मिल गयी है, अब और शास्त्रोंके विचारकी आवश्यकता ही क्या ? यों विचारकर वे सरस्वती नदीके तीरपर जाकर ध्यान करने लगे; परंतु ध्यानमें मन नहीं लगता, मानो कोई कार्य शेष रह गया हो । वे स्वयं कुछ निश्चय नहीं कर सके । श्रीमद्भगवद्गीता प्रकट हो गयी, फिर कौन-सा काम बाकी रह सकता है ? वेदव्यासकी साधनाका अन्त हो गया, फिर भी चरम तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हुई। इसीलिये भगवान्‌की कृपाशक्ति देवर्षि नारदका वेष धारण करके आयी । चरम सत्य साधन-लब्ध वस्तु नहीं है, वह तो कृपालब्ध धन है ।

देवर्षि नारदने महर्षि वेदव्याससे कहा—'आपके चित्तमें शान्ति क्यों नहीं है ? जान पड़ता है आप इसका कारण नहीं समझ सके हैं । गायत्रीमन्त्रकी जो परमातिपरम मूर्ति है, वह अबतक जगत्‌को नहीं दिखलायी गयी ।' महर्षिने देवर्षिकी बात नहीं समझी । तब देवर्षिने समझाकर कहा—'

''ब्रह्मगायत्री-मन्त्रमें यह तथ्य है कि 'वे हमारी बुद्धिको प्रेरित करते हैं ।' परंतु किस ओर करते हैं और किस प्रकार करते हैं—इसका कोई उल्लेख नहीं है । समझना चाहिये कि वे सर्वोत्तम उपायोंसे तथा सर्वश्रेष्ठ दिशामें ही प्रेरित करते हैं । वे अर्जुनकी बुद्धिको सञ्चालन करते हैं—उपदेशके द्वारा । बलपूर्वक या कानून बनाकर सञ्चालन करनेकी अपेक्षा उपदेशके द्वारा सञ्चालन करना श्रेष्ठ है; परंतु यह सर्वोत्तम नहीं है । निर्मल विशुद्ध प्रेमके द्वारा जो कर्म-प्रवर्तना होती है, वह उपदेशकी अपेक्षा भी सौगुनी अधिक उत्तम और कार्यकारी है । उपदेशके द्वारा होनेवाली प्रेरणामें कुछ बाह्य-भाव है । प्रेमके द्वारा जो प्रेरणा होती है, वह सर्वथा आन्तरिक होती है । उपदेशका आवेदन (appeal) विचार-शक्ति (thinking) के ऊपर होता है । प्रेमका आवेदन (appeal) भावनाशक्ति, इच्छाशक्ति, अनुभव-शक्ति (thinking, willing, feeling)—सबके ऊपर,

अखण्ड जीवनके ऊपर होता है। इसी कारण यह अधिक व्यापक और निविड होता है।

यह हुई सर्वोत्तम उपायकी बात; अब यह निर्धारण करना है कि सर्वश्रेष्ठ दिशा क्या है। अर्जुनकी बुद्धिका सञ्चालन भगवान्ने किया था कर्तव्यकी ओर, स्वधर्मकी ओर। यह श्रेष्ठ दिशा तो है; परंतु सर्वश्रेष्ठ दिशा नहीं है। जिस दिशामें वे ऐश्वर्य-माधुर्यकी पराकाष्ठाके रूपमें स्वयं—स्वरूपसे विराजमान हैं, वही दिशा सर्वश्रेष्ठ दिशा है। परम पुरुष जब विशुद्ध प्रेमके द्वारा किसीके जीवनको प्रचोदित करते हुए अपने असमोर्ध्व स्वरूपकी ओर चलाते हैं, तभी गायत्री-मन्त्र पूर्णाङ्गरूपमें मूर्तिमान् होता है।

ऐसा क्या कहीं हुआ है ? महर्षि वेदव्यासकी यह जाननेकी इच्छा समझकर श्रीनारदजीने कहा—'हाँ, हुआ है। क्यों, क्या आप नहीं जानते कि वृन्दावनमें यमुनाके तटपर क्या लीला हुई है ? जिस दिन केवल विचारमय उपदेशके द्वारा नहीं, बल्कि प्रेममयी मुरलीके द्वारा व्रज-वधुओंके जीवन-यौवनको, किसी धर्म-कर्म या कर्तव्यकी ओर नहीं, वर समस्त धर्मकर्मोंकी ओरसे हटाकर (सर्वधर्मान् परित्यज्य) अपने सर्वातिशायी माधुर्यकी ओर दौड़ाया गया था, उसी दिन गायत्रीमन्त्रने पूर्णाङ्गता प्राप्त की थी।'

वेदव्यासने नया प्रकाश प्राप्त किया। यह परम और चरम प्रकाश उनकी अपनी साधनाका फल नहीं था, परम कृपाका दान था। कृपाके बिना इस प्रकाशके राज्यमें प्रवेश करनेकी क्षमता किसीमें भी नहीं है। कृपाशक्तिसे शक्तिमान् व्यासने इस अभिनव-प्राप्त सत्यको रूप प्रदान किया श्रीमद्भागवतमें। उन्होंने नौ स्कन्धोंमें भूमिका लिखकर दशम स्कन्धकी रासपञ्चाध्यायीमें ब्रह्मगायत्री-महामन्त्रकी सर्वाङ्गीण मूर्ति प्रदान की। इसीलिये तो श्रीमद्भागवतको कहा गया है—

गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः।

श्रीमद्भागवतको पाकर ऋषिगण आनन्दसे उछलकर पुकार उठे—

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे।
यावन्न दृश्यते साक्षाच्छ्रीमद्भागवतं परम्॥

सारे पुराणोंका आदर तभीतक है, जबतक भागवतका साक्षात्कार नहीं होता। केवल सारे पुराणोंका ही नहीं—सारे धर्म-कर्म, साधन-भजन, राष्ट्र, समाज, संसार, नेतृत्व, कर्तृत्व, पाण्डित्य—सबका तभीतक आदर है, जबतक यह मुरलीमनोहर मुरलीकी तानसे बुद्धिको प्रचोदित नहीं करता।

श्रुति, स्मृति और पुराण—यही हिंदू-संस्कृतिका सर्वस्व है। श्रुतिमें ब्रह्मगायत्री निर्गुण है। स्मृति (भगवद्गीता)में ब्रह्मगायत्री सगुण मूर्तिमें प्रकटित है। पुराण (श्रीमद्भागवत) में ब्रह्मगायत्री अप्राकृत गुणातीत भूमिकामें नित्य नवायमान मूर्तिमें विराजित है। यही भारतीय संस्कृतिका सर्वस्व है।

यदि कोई पूछे कि 'आप क्या समग्र भारतीय सांस्कृतिक साधनाकी बात एक वाक्यमें बतला सकते हैं ?' तो मैं उत्तर दूँगा कि 'हाँ, बतला सकता हूँ।' यह संस्कृति अखण्ड (Synthetic whole) जो है। इसीसे जो बात लाखों-लाखों वाक्योंमें नहीं व्यक्त की जा सकती, वह इस एक वाक्यमें व्यक्त की जा सकती है—

ॐ भूः भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ॐ॥

मुसकान लगी

(रचयिता—पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी 'निधिनेह')

केते प्रभात लखे नहिं आजु लौं, पै जा प्रभातकी काह कहौं छबि।
कूजत कोकिल कीर कपोत, लसैं नभमें जु नए उनए रबि॥
देखि उदीची प्रभा कमनीय कुबेरके दंत गई अँगुरी दबि।
ह्वै गयो सोर दिगन्तके अन्त लौं, भक्ति सौं देवन सीस गए नबि॥
अवलोकि निसा अवसान अली मन कंज कली खिलि जान लगी।
लहरान लगी अति सीतल पौन, सुगंध पटी फहरान लगी॥
चहुँ ओरन मोद प्रमोद छयो, नव ज्योति भली जगि जान लगी।
छिपि जान लगी अति कारी निसा, अरु प्राची दिसा मुसकान लगी॥

सन्ध्योपासना और ब्रह्मविद्या

(लेखक—पं० श्रीश्यामसुन्दरजी झा न्याय-वेदान्ताचार्य)

यह विषय अति गहन किंतु उपयोगी है। आर्योंके सर्वश्रेष्ठ मन्त्रात्मक कर्मका नाम सन्ध्योपासना है। इसकी भावना, अर्थ और शब्दशक्तिका भी विचार करना महत्त्वपूर्ण है। प्रकारान्तरसे राजविद्या, अध्यात्मविद्या आदि नामसे व्यवहृत ब्रह्मविद्या सर्वविद्याओंकी माता महाविद्या है। अतएव इसके क्षेत्रकी विशालताके विषयमे कहनेकी जरूरत नहीं है। जो सत्कर्म सर्वभावनाओंके बीजभूत सस्कारोंके प्रेरकरूपसे आज भी सकल शिष्टजनोंद्वारा उपासित है और उपनिषद्गम्य विद्याभ्याससे, ईश्वर, गुरु तथा शास्त्रके प्रसादसे मुमुक्षुजन जिसके परमज्ञेय तत्त्वको जानकर अपने जीवनको सर्वथा कृतकृत्य कर लेते है, उस पुण्यकर्म और महाविद्याकी महाकक्षामे क्या नहीं हो सकता। यहाँ इन दोनोंका दिग्दर्शनमात्र विहङ्गावलोकन-न्यायसे करके दोनोंका परस्पर सम्बन्ध दिखानेका यत्किञ्चित् प्रयत्न किया जाता है।

उपनयन-संस्कारके अनन्तर द्विजमात्रका अत्यावश्यक कर्म सन्ध्योपासना है और मुमुक्षुजनोंके लिये परमार्थसिद्धिका ऐकान्तिक साधन ब्रह्मविद्या है। इन दोनोंकी उपयोगिता प्रसिद्ध है।

अहरहः सन्ध्यामुपासीत।

—श्रुति भगवतीका यह पुण्य विधान है। इस अध्यात्मविद्यातत्त्वके न जाननेवालेको उपनिषद् 'कृपण' शब्दसे वर्णन करती है।

य एतदविदित्वा प्रयाति स कृपणः।

अध्यात्मविद्या परम शान्ति एवं परम पुरुषार्थरूप मोक्षका ऐकान्तिक साधन है; तथापि अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना वेदान्तग्रन्थाध्ययन केवल वाग्विलासार्थ ही सिद्ध होनेसे मोक्षसाधक नहीं हो सकता। सन्ध्योपासना वेदमूलक नित्यकर्म है। यह अन्तःकरणशुद्धिका मुख्य साधन है। अतः परमपुरुषार्थावलम्बी सभी सम्प्रदायोंमे सामान्यरूपसे मान्य है। वेदके शाखाभेदसे मन्त्रादि-प्रक्रियामे कुछ भेद अवश्य है, तथापि यह पुण्यकर्म सबको सुसम्मत है। स्नान, सन्ध्या, जप, होम, देवपूजन, आतिथ्य तथा वैश्वदेव—विप्रके इन नित्य षट्कर्मोंमे सन्ध्यावन्दन सबसे मुख्य है। प्रातःकालसे अहोरात्रपर्यन्त जीवनतन्त्रको नियमबद्ध करनेकी भावना इसमे भरी है। जिनका उपनयनसंस्कार नहीं हुआ है, उनको नियत समयपर ईश्वरस्मरणादि विहित क्रिया करनेसे सन्ध्योपासनाका फल मिलता है।

वर्तमान समयमे ब्रह्मविद्याकी ओर तो साधारण उत्सुकता देखी जाती है, किंतु सन्ध्योपासनामे अधिकांश लोग शिथिलता दिखलाते हैं। इसके अनेक कारणोमे एक यह भी है कि आजकल प्राचीन प्रणालीके विरुद्ध कालेजोंमे इतिहासाध्ययनके सदृश ही वेदान्ताध्ययन भी सकलसाधारण बन गया है। दूसरा कारण यह भी सम्भव है कि विद्या बुद्धिका विषय है और कर्मकाण्डमे कर्मकी आवश्यकता है। ज्ञानका विशेष सम्बन्ध अन्तर्जगत्के साथ है और क्रियाका बाह्य जगत्के साथ। ज्ञान पुरुषपर और क्रिया प्रकृतिपर मुख्यतः अवलम्बित है। ज्ञान स्वयं-वेद्य और क्रिया प्रत्यक्ष-दृश्य है। नूतन शिक्षणसे उत्पन्न वातावरणमे व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी ओर विशेष झुकाव है। अतएव आज्ञापूर्वक विहित क्रिया यदि नित्य हो तथा इसमे आत्मसंयमकी विशेष आवश्यकता हो तो इस ओर कुछ उपेक्षावृत्ति हो ही जाती है। तथापि अन्तर्जगत् तथा बाह्य जगत्मे साक्षीरूप आत्मा ओतप्रोत है। निःश्रेयस-प्राप्तिमे आत्मज्ञानका प्राधान्य है तो अभ्युदय और लोकसंग्रहार्थ सत्क्रियाकी आवश्यकता है। बाह्य जगत्का चित्तवृत्तिमे लय होनेपर क्रियाकी अपेक्षा नहीं रहती; पर इससे पूर्व क्रियाकी अपेक्षा है। इतना ही नहीं, सन्ध्योपासनादिरूप सात्त्विक क्रिया तो ज्ञानप्राप्तिके अधिकारी होनेमे अत्यन्त उपयोगी और चित्तशुद्धिद्वारा जीवनशुद्धि-साधनमे भी परम सहायक है।

सन्धिकाल अनेक रीतिसे गहन होता है। मानव-जीवनमे अवस्था-सन्धि विकट होती है। प्रजा-जीवनमे भी विभिन्न संस्कृतियोंका, भिन्न समाजोंका और भिन्न समुदायोंका सन्धि-प्रसङ्ग गहन होता है। सन्धिसमयकी विषमता और विशिष्टता इसलिये है कि इन समयोंमे नूतन-नूतन बलोंका प्राकट्य होनेके कारण मानवसमाजकी भावना किस दिशामे प्रवाहित होगी, यह तत्तत्समय-संयोगसे विदित होता है। अभी अपने देशमे पौरस्त्य और पाश्चात्त्य संस्कृतियोंका सन्धिकाल है। अतएव वह दुर्घट है। तत्त्वज्ञ पुरुष कहते हैं कि ऐसे समयमे विश्वतन्त्र-नियामक परमात्माके शरणापन्न होकर कल्याण-मार्गकी साधना करनी चाहिये।

सन्ध्योपासनामें सावित्रीद्वारा सवितादेवकी उपासना है। 'जगत्सूते इति सविता' अर्थात् जिससे जगत्की उत्पत्ति आदि होते हैं, वह सविता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म। (श्रुति)

ऐसे जगत्कारणादि ईश्वरकी प्रत्यक्ष विभूति सविता देव हैं। ये भौतिक शक्तिके महासागर, चरमोत्कर्ष हैं। तेजःपुञ्जके भण्डार हैं। चैतन्यशक्तिके मानो स्रोतोवाही समुच्चय और दिव्यताकी प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। सन्ध्योपासनामें मूर्तद्वारा अमूर्त सूर्यमण्डलका प्रत्यक्षानुभव करके व्यष्टिमें व्यापक सविता-नारायणकी उपासना सिद्ध की जाती है।

प्रतिदिन कालसन्धिके समयमें ही सन्ध्या करनेका ऋषि-मुनियोंका विधान है। रात्रि-पूर्वाह्णका, पूर्वाह्ण-पराह्णका, पराह्ण-पूर्वरात्रिका और पूर्वरात्रि-पररात्रिका—ये चार मुख्य सन्धिकाल माने जाते हैं। इन चार सन्ध्याओंमें मध्यरात्रिकी सन्ध्याकी उपासना तो योगी तथा मन्त्रसाधक करते हैं। साधारणतया द्विजोंके लिये प्रातः, मध्याह्न और सायंकालकी सन्ध्या विहित है। प्रातःसन्ध्यामें रक्तवर्णा, बाला, ब्रह्मदैवत्या, हंसारूढ़ा सावित्रीदेवीकी भावना है। मध्याह्नसन्ध्यामें श्वेतवर्णा, युवती, वृषभासना, रुद्रदैवत्या गायत्रीदेवीकी भावना है। एवं सायं-सन्ध्यामें कृष्णवर्णा, वृद्धा, गरुडवाहना, विष्णुदैवत्या, सरस्वती-देवीकी भावना है। इन तीनों सन्ध्याओंमें अनुक्रमसे भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदकी भी भावना है। सन्ध्यावन्दनमें देवपरायणताद्वारा कालसन्धि साधनेका संकेत है। इन कालसन्धियोंमें सम्यक् प्रकारसे सविता, सावित्री, सन्ध्या, सगुणब्रह्म अथवा अहंग्रहके उपासकोंकी सर्वशक्तियाँ स्वभावतः पुष्ट होती हैं और इससे अपूर्व मनोबल प्राप्त होता है। इस विषयमें महाभारतमें जरत्कारुमुनिद्वारा शील-सौन्दर्यवती पतिव्रता पत्नीके त्यागका प्रसङ्ग जैसे लोकोत्तर है, वैसे कमनीय भी है। ईश्वर अपने नैष्ठिक तथा दृढ भक्तोंके लिये क्या नहीं कर सकते? सन्ध्योपासनामें कालकी प्रधानता तो है ही। परंतु यह नित्यकर्म इतना आवश्यक और उपकारक है कि कदाचित् काल-लोप भी हो जाय, तो भी कर्मलोप नहीं होना चाहिये—ऐसा वेदविदोंका विधान है।

अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः।

सन्ध्योपासना नित्यकर्म है। कामनारहित केवल परमेश्वर-प्रीत्यर्थ इसका विनियोग किया जाता है; किंतु इससे पापका नाश और पुण्यकी प्राप्ति होती है—

दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रिकालसन्ध्याकरणात् सर्वं तद्विप्रणश्यति॥
(याज्ञवल्क्य०)

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥
(मनु०)

सन्ध्यावन्दन भोगप्राप्तिके लिये नहीं है। वासनासरिताके शुभाशुभरूप दो प्रवाह हैं। सन्ध्यावन्दनका मुख्य हेतु शुभमार्गमें इसे योजन करनेका है। इस पुण्यकर्ममें कर्म, भक्ति और ज्ञान—तीनों योगोंका अद्भुत एवं मनोहर एकीकरण है। आचमन संकल्प-प्राणायामादिमें क्रियाका, न्यास-उपस्थान और जपादिमें उपासनाका तथा प्रणवादि मन्त्रोंमें ज्ञानका तत्त्व विशेषरूपसे दृष्टिगोचर होता है।

सन्ध्योपासनाके लिये प्रशस्त स्थान जलाशय (नदी)-तट, तीर्थस्थान, मन्दिरादि माने गये हैं। ऐसे स्थानोंमें सृष्टि अपना विविध सौन्दर्य और वैभवोंका विशेष विकास करती हुई-जैसे सृष्टिसांनिध्यमें रहती है। ऐसे स्थानकी सुविधा न होनेपर घरपर ही सन्ध्योपासन करना चाहिये।

सन्ध्योपासनामें अनेक मन्त्र हैं। इनमें प्रणव बीजभूत है और गायत्री प्रधान मन्त्र है। प्रणव वेदत्रय, लोकत्रय तथा क्रियात्रयका सारभूत एवं वेदोंका सर्वव्यापी, सर्वसत्तान्वित सनातन बीज है। गायत्रीमन्त्रमें भगवान् सविताके वरेण्य भर्गका ध्यान और बुद्धिको सन्मार्गमें प्रेरणा करनेकी प्रार्थना है। भस्मधारण, संकल्प, प्राणायाम और अघमर्षणादिके मन्त्र भी शब्दार्थकी अप्रमेय, अद्भुत शक्तिके निवासस्थान हैं। ये मन्त्र बहुधा वेदविभूतियाँ ही हैं। वेद अव्यक्त ईश्वरका व्यक्त स्वरूप है। प्रातिभासिक परमाणुओंके नृत्यका सनातन रास श्रुतिभगवतीके बीजरूप प्रणवके एक देशमात्रका विलास है। सन्ध्योपासनामें योग्य देश, काल, क्रिया और मन्त्रोंका इस तरह विनियोग है कि इसके सम्यक् प्रयोगसे अन्तः-करणकी निर्मलता, जीवनकी विशुद्धि, भावनाओंकी उच्चता और ज्ञानसिद्धिकी योग्यताके साथ-साथ आयुकी वृद्धि भी होती है।

सन्ध्योपासनामें प्राणायाम भी मुख्य वस्तु है। प्राणायाम तीन प्रकारके हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। इसमें प्राणवायु-को नियमित करनेकी प्रक्रिया है। नाभिकमलमें शेषशायी नारायण-का ध्यान करते हुए सप्तव्याहृतियुक्त सशिरस्क गायत्रीमन्त्रके मानस, उपांशु या व्यक्तोच्चारपूर्वक अँगूठेसे नासिकाका दक्षिण-

पुट बंद करके वामपुटद्वारा श्वास खींचनेसे पूरक होता है। नारायणकी नाभिसे उत्पन्न कमलपर चतुर्मुख ब्रह्माका हृदयदेशमें ध्यान करते हुए उक्त जपपूर्वक मध्यम-अनामिका अंगुलियोंसे वामपुटको भी बंदकर श्वास रोकनेसे कुम्भक होता है। एवं ललाटमें साम्बशिवका ध्यान करते हुए उक्त जपपूर्वक दक्षिण पुटद्वारा श्वास उतारनेसे रेचक होता है। नाभि, हृदय और ललाट क्रमसे सत्त्व, रज और तमोगुणके स्थान हैं। अतः तत्तद्गुणप्रधान देवका तत्तत्स्थानमें ध्यान करनेकी विधि है। इस प्रकार तीन बार करनेसे नौ प्राणायाम हो जाते हैं। जगत्स्रष्टाने प्राणिमात्रके शरीरयन्त्रमें घटीयन्त्रके सदृश अमुक वर्षपर्यन्तके लिये एक ही बार प्राणवायुकी चाभी भर दी है। इस प्राणवायुका श्वास-क्रियाद्वारा नियमित व्यय होनेसे नियत आयुका भोग होता है, अधिक व्ययसे आयु घट जाती है और अल्प व्ययसे दीर्घ आयु होती है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। अतएव ऋषि-महर्षिगण प्राणायामके द्वारा प्राणस्पन्दन रोककर समाधिस्थ हो जाते थे और दीर्घकालपर्यन्त इच्छित आयु भोगते थे। आज भी इने-गिने ऐसे हैं; तथा जो चाहें आज भी इस प्रक्रियासे मर्त्यायुका अतिक्रमण कर सकते हैं। सन्ध्यो (ईशो) पासनाके त्याग और अनियमित जीवन-चर्या होनेके कारण ही आज भारतीय प्रजाकी आयु दिनोदिन क्षीण होती जा रही है।

अब ब्रह्मविद्याका कुछ दर्शन करें। जो इस चराचर जगत्का अधिष्ठान है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् दृश्यमान हो रहा है तथा जो देश-काल-वस्तुसे अबाधित और सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेदसे रहित है, उस आत्मतत्त्वका निरूपण करनेवाली विद्याको ही राजविद्या अथवा ब्रह्मविद्या कहते हैं। यह अप्रमेय तत्त्व कर्मेन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रियसे अप्राप्य होकर भी साधनसम्पन्न अधिकारीके लिये सुप्राप्य है—

'यद्वाचानभ्युदितम्;' 'यन्मनसा न मनुते;' 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या;' 'मनसैवेदमाप्तव्यम्।' (श्रुति)

ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये अधिकारविशेष अपेक्षित है। इस विषयमें कुछ महानुभाव विचित्र और अविचाररमणीय शङ्का किया करते हैं; किंतु भलीभाँति विचार करनेपर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हृदयस्पर्शी, आदर्शस्पर्शी अथवा चारित्र्यस्पर्शी ज्ञानके प्रति प्रधान साधन अन्तःकरणकी अमुक परिस्थिति है। सामान्य व्यवहारमें भी भाँति-भाँतिकी समझ और ज्ञानमें अभ्यास तथा चरित्रकी आवश्यकता होती है, तो फिर अध्यात्मज्ञानमें अन्तःकरण-शुद्धि सर्वथा अपेक्षित क्यों न हो? हृदय-परिवर्तनके साथ-साथ जहाँ दोष व्यक्त होने लगता है, वहाँ गुणोंकी प्रतीति भी होने लगती है और राजर्षि विश्वामित्र ब्रह्मर्षिपदके योग्य बन जाते हैं। वस्तुतः आत्मतत्त्व नित्य प्राप्त है; अतः इसकी प्राप्ति वैसे ही होती है, जैसे गलेमें पड़े हुए परंतु भूले हुए हारकी स्मरण आते ही प्राप्ति हो जाती है। इसलिये यह बड़ी सहज है। तथापि सत्कर्मके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि और भक्तिके द्वारा चित्तकी एकाग्रता हुए बिना ऐसा सम्भव नहीं। क्योंकि प्रभुकी अचिन्त्य मायाशक्तिकी विभूतिरूपा विद्याके आवरणसे चराचर जगत्का ज्ञान आच्छादित है। मानव-जीवनका परम पुरुषार्थ मोक्ष है। ज्ञानसे मोक्ष होता है। ज्ञानके साधन चित्तशुद्धि तथा एकाग्रता हैं और चित्तशुद्धि तथा एकाग्रताका प्रमुख तथा प्रबल साधन सन्ध्योपासना है। चित्तरूपी वृक्षके प्राणस्पन्दन और वासना—ये दो बीज हैं। दोनों अथवा एक बीजका निरोध हो जानेपर चित्त-वृक्षका उद्भव ही नहीं हो पाता। प्राणस्पन्दनका नियमन हठयोगमें और वासनाका नियमन राजयोगमें परिगणित है। सन्ध्योपासनामें प्राणायाम तथा निष्कामताका अवलम्बन होनेसे इसमें दोनों योगोंका सङ्कलन है।

सन्ध्योपासना ब्रह्मविद्याप्राप्तिका सहज साधन है। इतना ही नहीं, किंतु सन्ध्या, सावित्री तथा ब्रह्मविद्या—ये सब जगज्जननी जगदम्बा भगवतीके स्वरूपभूत ही हैं—

'सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी॥'
'त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा।'

विचार तथा शास्त्रदृष्टिबिन्दुसे सन्ध्या, सावित्री और ब्रह्मविद्यामें आधिदैविक एकता है। जैसे सन्ध्योपासनसे चित्तशुद्धि और शान्ति मिलती है, वैसे ही ब्रह्मविद्यासे देहाभिमान गलित होता है—'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।' ऐसी धन्य अवस्थाकी प्राप्ति होनेसे हृदयग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय विलीन हो जाते हैं और सारी कर्मप्रवृत्ति शिथिल हो जाती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

पाठक इससे समझ गये होंगे कि सन्ध्योपासना और ब्रह्मविद्याका पारमार्थिक तथा लाक्षणिक ऐक्य है। जैसे सर्व सिद्धियाँ ब्रह्मवेत्ताकी सेवा करती हैं, उसी प्रकार यथार्थ सन्ध्योपासकोंको भी अनायास ही अभ्युदय-प्राप्ति होती है।

सन्ध्योपासनमें चित्तशुद्धिके लिये अनेक शक्तियोंका विनियोग संयोजित है। मार्जन, अघमर्षणादिमें भावशक्ति; गायत्री-जप, अर्घ्यप्रदानादिमें मन्त्रशक्ति; आचमन, भस्मधारणादिमें द्रव्यशक्ति एवं प्राणायामादिमें क्रियाशक्तिका विनियोग करके साध्यको सिद्ध करनेकी योजना इस पुण्यकर्ममें स्पष्ट व्यक्त होती है। इससे अपूर्व शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इसके नित्य नियमसे एक प्रकारकी आत्मश्रद्धाके साथ मनमें प्रभु-श्रद्धा जाग्रत् होती है। वर्तमान समयमें धार्मिक क्रियाकी ओर उपेक्षा तथा आक्षेप साधारण बात हो गयी है; इसमें प्रतिकूलता प्रतीत होती है। तथापि उपनीत द्विजमात्रको शिखा-सूत्र-सन्ध्या और द्विजेतरको शिखा-ईश्वरस्मरणादिरूप उपासनाका रहस्य जानकर अपने-अपने [illegible] तत्पर होना सर्वथा उचित है। भारतके लिये यह सन्ध्याका समय है, अतएव इस समय सबके लिये यथाशक्ति ईश्वरोपासना करना परम आवश्यक है। आदर्श भारतीय देशका दैवत है। यह आदर्श महान् है। इसमें विलासिता, मान-सम्मानकी खोज तथा अर्थलोलुपतादिको अवकाश नहीं है। इस पुण्यकर्मका नित्य नियमित सेवन करनेसे कुल, धर्म, देशके लौकिक अभ्युदयके साथ ही दुर्लभ ब्रह्मविद्याकी भी प्राप्ति होती है। शिष्ट पुरुषोंका अनुभव इसमें साक्षी है।

हिंदू-संस्कृति और नवमतवाद

(लेखक—डा० श्रीसदाशिव कृष्ण फडके)

नवमतवादी और सनातनी विद्यार्थियोंका संवाद

मार्गे मार्गे निर्मलं ब्रह्मवृन्दं
वृन्दे वृन्दे तत्त्वचिन्तानुवादः।
वादे वादे जायते तत्त्वबोधः
बोधे बोधे भासते चन्द्रचूडः॥

हिंदू-संस्कृति और नवमतवादका परस्पर संघर्ष दिनो-दिन बढ़ता जा रहा है। देशके विद्वानोंमें इस समय तीन पक्ष दीख पड़ते हैं—(१) कट्टर नवमतवादी, जो हिंदू-संस्कृतिका सर्वथा निषेध ही किया करते हैं; (२) मध्यम सुधारक पक्ष, जिसका यह कहना है कि भारतीय संस्कृतिका मूल-स्वरूप अत्यन्त उदात्त है, पर दुराग्रही सनातनियोंने अपने अज्ञानमूलक सम्प्रदायोंके द्वारा उसका रूप बिगाड दिया है। शिखा-सूत्र, चूल्हा-चौका, जप-तप, सन्ध्या-पूजा, वर्ण-भेद, जाति-भेद, खान-पान और ब्याह-शादीके विधि-निषेध, असंख्य व्रताचरण—एवंविध अदृष्टफलक और अन्धश्रद्धेय हिंदू-धर्मको ही जो वे भारतीय संस्कृति मान लेते हैं, यह निरी भूल है। यथार्थमें सोवियट रूसका साम्यवाद, नवमतवाद और मानवतावाद ही प्राचीन भारतीय संस्कृतिका परिणत स्वरूप है। भारतीय संस्कृतिके सूचक समता, अद्वैत, मोक्ष इत्यादि पारिभाषिक शब्दोंके वास्तविक अर्थ प्रत्यक्ष और व्यावहारिक हैं। सनातनियोंने उनपर पारमार्थिक अर्थ लादकर उन्हें परोक्ष, काल्पनिक और अव्यावहारिक बना दिया है। यह उनका महान् भ्रम है। भारतीय संस्कृति यथार्थमें उदात्त ऐहिक व्यवहारका ही नाम है। अदृष्ट धर्म अथवा काल्पनिक तत्त्व-ज्ञानके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस विवेचनकी पुष्टिमें सुधारकलोग शास्त्रों और संतोंके वचन भी दिया करते हैं। (३) तीसरा पक्ष सनातनियोंका है। उनका यह कहना है कि हिंदू-संस्कृति हिंदू-धर्मसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। हिंदू-धर्मका रहस्य अत्यन्त गूढ है। अखण्ड गुरु-सम्प्रदायकी परम्परा और विहित-कर्मानुष्ठानसे ही वह जाना जाता है। हिंदू-धर्म-संस्कृतिके सब विधि-निषेध पूर्ण विवेकसे ही सुनिश्चित किये गये हैं। आप्तवचन ही इसमें प्रमाण हैं। 'आचारप्रभवो धर्मः' यही हिंदू-धर्मका दण्डक है। विशुद्ध भारतीय संस्कृतिको नवमतवादका रंग चढ़ाकर आधुनिकोंने विशुद्ध वैदिक संस्कृतिकी छीछालेदर करना आरम्भ किया है। जिन शास्त्रों अथवा संत-वाणियोंको ये लोग समग्ररूपसे नहीं मानते, उन्हींके कुछ संदर्भहीन वचनोंके प्रमाण देकर ये अपने मतोंकी पुष्टि किया करते हैं। इनका यह सर्वथा अप्रामाणिक व्यवहार है। सनातनियोंकी समन्वय-साधक दृष्टिसे ही शास्त्रका रहस्य निश्चितरूपसे जाना जा सकता है। आधुनिकोंकी व्यभिचारी भ्रमरवृत्तिसे विशुद्ध और पूर्ण सत्यका पता चलना असम्भव है। अर्धसत्य असत्यसे भी अधिक भ्रामक होता है। अतः भारतीय संस्कृतिका मनमाना भाष्य करनेवाले इन नवमतवादियोंके भ्रामक प्रचारका उचित प्रतीकार समय रहते यदि न किया जायगा तो ये मध्यस्थ सुधारक भैषज्य-क्षेत्रमें जिस प्रकार आयुर्वेदको ऐलोपैथीमें विलीन

करना चाहते हैं, उसी प्रकार भारतीय संस्कृतिको अव्यवहार्य और काल्पनिक मानवतावादके शब्दाडम्बरमे समाप्त कर देंगे।

ऐसी विवादग्रस्त परिस्थितिमे एक कालेजके मुख्याध्यापकने सांस्कृतिक शिक्षाके तुलनात्मक विचारको प्रोत्साहित करनेके लिये अपने कालेजके दर्शनशास्त्राध्यायी विद्यार्थियो और प्राचीन परम्पराके वेद-शास्त्रविद्यापीठके स्नातकोंके बीच एक दिन अपने कालेजमे पूर्वोत्तर-पक्ष-चर्चा (डिबेट) करायी। यह संवाद शुद्ध सात्त्विक और व्यक्तिनिरपेक्ष हो और इसलिये दोनो ओरके वक्ता सर्वथा निःसंकोच होकर खुले दिलसे भाषण करे—इसकी सूचना मुख्याध्यापकने पहलेसे सबको दे रक्खी थी। विषयान्तर्गत विवादकी प्रत्येक बातकी चर्चाके लिये अधिक-से-अधिक दस मिनटका समय दिया गया था। संवाद शान्तिके साथ हुआ और बहुत उद्बोधक रहा। उसी संवादके कुछ मुख्य पूर्वोत्तर पक्ष आधुनिक और सनातनीके नामोके साथ आगे दिये जाते है।

१) धर्मातीत राज्य

आधुनिक—हमारे देशमे धर्म-भेदोके कारण बहुत बडी हानि होती रही है। इसलिये धर्मातीत राज्यका होना ही हम-लोगोके लिये इष्ट है। वर्तमान बुद्धिवादी जगत्मे ऐहिक, भौतिक दृष्टि और मानवतावादको ही बढ़ानेवाली हमारी राजनीति होनी चाहिये।

सनातनी—धर्मसे किसीकी हानि नहीं हुआ करती। हानि होती है धर्मके विपर्याससे। धर्म वस्तुस्वभाव है। वस्तुमात्रका धर्म ही उस वस्तुका विशेषत्व है। इस विशेषत्वके नष्ट होनेपर उस वस्तुकी स्वसत्ता ही नहीं रह जाती। सनातन वैदिक-धर्म संस्कृतिनिष्ठ भारतका वस्तुविशेष है। इस देशका वह प्राण है। इस धर्म-प्राणताके कारण ही अनादिकालसे यह देश अनेकानेक क्रान्तियोंका अतिक्रमणकर आज भी अपनी सत्त्वप्रधान संस्कृतिके बलपर जगत्मे अपना मस्तक ऊँचा किये खड़ा है। गीता-जैसे धर्म-ग्रन्थ, शङ्कराचार्य-जैसे तत्त्वज्ञ, महात्मा गान्धी-जैसे सत्त्वप्रधान पुरुषको जो अनन्य महत्त्व प्राप्त हुआ, इसका संपूर्ण यश हिंदू-धर्म-संस्कृतिको ही है। इस हिंदू-धर्म-संस्कृतिका उज्ज्वल अभिमान सब प्रकारसे तारक ही होगा। सात्त्विक अभिमान और तामस परद्वेष एक चीज नहीं है। सात्त्विक अभिमान शरीरके मेरुदण्डके समान जीवनका आधारस्तम्भ है। परमतसहिष्णुता हिंदू-धर्मकी विशेषता है। अतः हिंदू-धर्मनिष्ठा ही हिंदुओंसे अन्य धर्मोके प्रति द्वेष या उनपर किसी प्रकारका अत्याचार कदापि नहीं होने दे सकती। इस देशके अधिकसंख्यक लोग हिंदू ही हैं। यहाँके अल्पसंख्यक मुसलमान बहुसंख्यक हिंदुओसे द्वेष न करें, इसके लिये हिंदुओसे हिंदुत्वका ही अभिमान त्याग कराना वैसा ही है, जैसे कोई नौकर अपने मालिकको काटने-वाले मच्छरोके प्रतीकारार्थ अपने मालिककी ही हत्या कर डाले! देशमे धर्म-द्वेष न बढे, यह देखना शासकोका कर्तव्य है और इस सम्बन्धमे उन्हे सदा सावधान रहना चाहिये। पर इसके लिये राज्यको ही धर्मातीत कर डालनेकी इच्छा करनेमे कोई तुक नहीं है। धर्मातीत बना चाहनेवाले राज्यमे ऐसी कोई स्पष्ट घोषणा भले ही न हो कि राज्यके सब लोग धर्महीन हो जायँ; तो भी जब राजसत्ता ही धर्मनिरपेक्ष और केवल ऐहिक, भौतिक स्वार्थोंको ही बढ़ानेवाली बन जायगी, तब 'राजा कालस्य कारणम्' के सिद्धान्तानुसार प्रजाका भी धीरे-धीरे धर्महीन बन जाना अनिवार्य ही है। धर्माभिमानके साथ राष्ट्राभिमानका होना भी आवश्यक है। इस विषमतापूर्ण स्वार्थरत जगत्मे राष्ट्रवादको मानवतावादमे विलीन करनेकी चेष्टा अव्यवहार्य है। कम-से-कम जगत्के राष्ट्रोंकी वर्तमान मनोभूमि इसके सर्वथा प्रतिकूल है। यदि हमारे वर्तमान धर्म-निरपेक्ष राज्यकी घोषणाका यह अभिप्राय नहीं है कि हमारे देशके लोग राष्ट्राभिमान और स्वधर्माभिमान अपने अन्तः-करणसे निकाल दे तो हर तरहसे ऐसा प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है कि हम सच्ची निष्ठाके साथ ऐसा राष्ट्राभिमान और स्वधर्माभिमान जगायें, जिसमे परद्वेषका लेश भी न हो और ऐसे सब उपाय करे, जिनसे राष्ट्राभिमान और स्वधर्माभिमान सदाचारसम्पन्न, समुज्ज्वल, तेजस्वी और आत्मोन्नतिके साधक बने। परंतु कम-से-कम आज तो हमारे स्वराज्य-शासनके रुखमे वैसी कोई बात नही देख पड़ती, यह बड़े दुःखका विषय है। हमारे वर्तमान नेताओके त्याग, विद्या, बुद्धि, लोकहित-साधनकी शुभेच्छा और कर्तृत्व आदि गुणोंके लिये उन सबके प्रति मेरे हृदयमे भी बहुत आदर है। पर गुरु-महोदयकी आज्ञाके अनुसार हमे व्यक्ति-निरपेक्ष और निस्संकोच भाषण करना है। इसलिये मेरी अल्पबुद्धिमे जो बात जैसी ऊँचती है, वैसी ही स्पष्ट रूपसे कहनेका मैंने साहस किया है। इसे कोई 'छोटे मुँह बड़ी बात' समझें तो मैं लाचार हूँ। किसी भी नेताके प्रति अनादर प्रकट करना मेरा अभिप्राय नहीं है। प्रतिपक्ष कृपाकर इस बातका ध्यान रक्खे।

(२) वेदान्त और साम्यवाद

आधुनिक—अजातवाद, मायावाद, परलोकवाद और

निवृत्तिपरक वेदान्त आधुनिक भारतीय संस्कृतिका अत्यन्त अव्यवहार्य और समाजको आलसी, निराश और दुर्बल बनानेवाला रूप है। अतः अब यह होना चाहिये कि (१) हमारे यहाँ व्यक्तिमात्रकी आचार-विचार-स्वतन्त्रतापर ऐसे किसी धर्मका कोई बन्धन न रहे, जिसका फल अदृष्ट है और जो केवल एक काल्पनिक उपाधिमात्र है। (२) योग्यताके अनुसार सबको काम और आवश्यकतानुसार सबको वेतन मिले। सर्वत्र समताका यही दण्डक माना जाय। डोम-चमार और मन्त्री, सैनिक और सेनापति, प्रान्तका गवर्नर और उसका चपरासी—सबको उनकी कम-से-कम आवश्यकताओंके अनुसार समान वेतन दिया जाय। यदि किसी प्रान्तका गवर्नर, मान लीजिये कि ऐसा है कि उसके कोई बाल-बच्चे नहीं हैं और उसका अर्दली चार पुत्रोंका पिता है तो गवर्नरकी अपेक्षा उस अर्दलीका वेतन अधिक हो। (३) प्रधानमन्त्री और सामान्य नागरिक, धनी और दरिद्र, बुद्धिजीवी और श्रमजीवी, जमींदार और किसान, हिंदू और मुसलमान, ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर, स्त्री और पुरुष इत्यादि जो ऊँच नीच और अपने-पराये भेद हैं—ये सर्वथा मिट जायँ। यही हमारी इष्ट भारतीय संस्कृतिका सच्चा साम्यवाद और मानवतावाद है। यही एकमात्र अद्वैत है। (४) खान-पान और शादी-व्याहके सम्बन्धमें सब प्रतिबन्ध उठा दिये जायँ, ताकि इस देशका सम्पूर्ण जन-समाज एक और अखण्ड हो जाय। अन्नकी भूखके समान ही जननेन्द्रिय-सम्बन्धी क्षुधाका होना भी अनिवार्य है। अतः हर किसीको यह आजादी होनी चाहिये कि वह अपनी रुचिके अनुसार इस क्षुधाका शमन कर ले। (५) हर किसीको अपना उत्कर्ष साधन करनेके लिये हर बातमें समान अवसर मिले। (६) संस्कृतिके विषयमें धर्मकी भावना सर्वथा त्याज्य है। पूर्ण समत्वसे युक्त भारतीय संस्कृति ही हमारे देशके लिये इष्ट और भूषणभूत है। ऐसी संस्कृति ही किसी भी बाह्य आक्रमणसे देशकी रक्षा करनेमें समर्थ हो सकती है। (७) वर्णभेद, जातिभेद, कर्मभेद, वृत्तिभेद, ज्ञानभेद, ज्ञान और कर्ममें भेद इत्यादि असंख्य श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भावदर्शक भेद उत्पन्न करनेवालोंने हिंदूसमाजको छिन्न-भिन्न और खोखला बना डाला है। इससे देशमें सर्वत्र असन्तोष फैला है। इसीसे बार-बार इस देशपर बाहरवालोंके आक्रमण हुए और यह देश दूसरोंका गुलाम बनता रहा। इस अति कटु अनुभवसे हमारी आँखें खुल जायँ और हम इस ऊँच-नीच भावको मिटा देनेका महत्त्व समझ लें। प्राचीन भारतीय संस्कृति 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' यह कहकर साम्यवाद ही स्थापित करती है। डोम-चमार, बढ़ई-लुहार, चोर-साहुकार—सबको वन्दन करना ही प्राचीन रुद्राध्यायकी शिक्षा है।

सनातनी—हिंदू-धर्म-संस्कृतिके व्यवहार और तत्त्वज्ञानको यथावत् न समझनेके कारण ही इस प्रकारका मतिभ्रम हुआ करता है। अजातवाद और मायावादका पारमार्थिक तत्त्वज्ञान व्यक्ति या समाजके ऐहिक या भौतिक व्यवहारमें बाधक नहीं है; परंतु मनुष्यके सुदीर्घ जीवनका विचार करते हुए परलोकको विचार-दृष्टिके ओझल कैसे किया जा सकता है। फिर मनुष्यका परम ध्येय भी निरे भौतिकवादमें कैसे समा सकेगा। मनुष्य केवल देहधारी भूतात्मा नहीं है। प्रत्यगात्माका रूप और उसकी भूख पारमार्थिक है। पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक और आधिभौतिकका सम्बन्ध जोडनेवाली जो आधिदैविक सत्ता है, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भौतिक तत्त्व जगत्का स्रष्टा नहीं है; न नियन्ता ही है। यह बात अनायास ही विचारवानोंके ध्यानमें आ सकती है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—इन तीनों ही दृष्टियोंसे हिंदू-संस्कृतिमें विचार किया जाता है। हिंदू-धर्म-संस्कृतिके परिपालनमें आलस्य, निराशा और दुर्बलताके लिये कोई अवसर नहीं है। हमलोगोंकी पराधीनताके कारण हमें अन्यत्र ढूँढने पड़ेंगे।

अनुशासन, संयम और बन्धन—यही शक्तिका कार्यक्षम स्वरूप है। विद्युत्-शक्तिका निरोध करनेसे प्रकाश उत्पन्न होता है, भापको रोक रखनेसे ही इञ्जन चलता है। इसी प्रकार प्राणायाम, चित्तवृत्ति-निरोध, वैराग्य, ब्रह्मचर्य आदि निरोधक साधनोंसे चाहे जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, भूत-ऋण आदि ऋण-बन्धनोंसे ही मनुष्योंकी विभिन्न स्वाभाविक एषणाएँ पूर्ण और पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। हिंदू-संस्कृतिके बन्धनोंसे ही समाजकी सुदृढ़ धारणा होती है। मनुष्यकी बुद्धि असंस्कृत अवस्थामें स्वभावतः विषयासक्त और भ्रान्त हुआ करती है। धर्मके नियन्त्रणके बिना उसका संस्कार नहीं होता। रथके घोड़ोंकी लगाम सारथिके ही हाथमें होनी चाहिये।

रूसका साम्यवाद अव्यावहारिक है। वह बहुत काल नहीं ठहर सकेगा। व्यक्तिकी योग्यताका आर्थिक मूल्य यदि कुछ भी न रहे तो उस योग्यताके सम्पादनके लिये दीर्घ प्रयत्न करानेवाली कोई प्रेरणा ही न रह जायगी। व्यावहारिक मनुष्यमात्रके लिये अर्थ लोभनीय है। व्यवहारमें बड़ोंके

सम्मानकी रक्षा अर्थसे ही होती है। गायके खानेकी खली-कराई अथवा ऊँटके खानेके काँटे समताके नामपर किसी सम्मान्य मानव अतिथिके खानेके लिये परोस दिये जायँ तो यह साम्यवाद होगा या समत्वका उपहास ? किसी गायनाचार्यके पीकदान धोनेवालेको जो वेतन दिया जाता है, वही वेतन उस गायनाचार्यको देनेमें उस कलाका क्या आदर रहा और उसे क्या प्रोत्साहन मिला ? न्यायाधीश और न्यायालयमें झाड़ू देनेवाला दोनोंका आर्थिक मूल्य यदि समान माना जाय तो क्यों न झाड़ू देनेवालेको न्यायाधीशके उच्चासनपर बैठाकर न्यायाधीशके हाथमें झाड़ू दी जाय ? यह न समत्व है, न शिष्टाचार ही। योग्यतानुरूप व्यवहार ही हिंदू-संस्कृतिका दण्डक है और यही शिष्टाचार या सदाचार है। कर्मेन्द्रिय और बुद्धि, दोनोंकी योग्यताओंमें बड़ा अन्तर है। बुद्धिजीवी और श्रमजीवी—दोनोंको एक ही पैमानेसे नहीं नापा जा सकता। हिंदू-संस्कृतिमें केवल एक ब्रह्म ही सम है। उस ब्रह्मके अंदर भासनेवाले इस नाम-रूपात्मक जगत्‌में स्वभावसे ही सर्वत्र वैषम्य है। त्रिगुणात्मक प्रकृतिका स्वरूप ही भेदात्मक है। गुणसाम्य तो प्रकृतिका प्रलय है। वेरुलकी गुफामें देवालय, देवालयकी सीढ़ियाँ, सिंहासन, शिव-पार्वती और नन्दी—सभी एक ही पत्थरकी चट्टानके अंदर खुदे हुए हैं। पर सीढ़ियोंपर मनुष्य पैर रखकर ऊपर चढ़ता है और भव-भवानीकी मूर्तियोंके सामने राजाओंके राजमुकुट भी नत होते हैं। पत्थरोंकी जाति एक होनेपर भी सभी पत्थर समान नहीं माने जाते। मानवतावादकी समता इसी प्रकार इस वैषम्यमय जगत्‌में केवल अव्यवहार्य और अयुक्तिक है। उच्च कक्षाओंमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों और निम्न कक्षाओंके विद्यार्थियोंमें योग्यताकी समता भला कैसे हो सकती है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि हिंदू-संस्कृतिको अयुक्तिक और अव्यवहार्य समझनेवाले नवमतवादी अपने मानवतावाद और साम्यवादकी अव्यवहार्यता नहीं समझ पाते। ईसाई जगत्‌में जात-पाँत नहीं, खान-पानका विधि-निषेध नहीं, शादी-ब्याहके सम्बन्धमें कोई निर्बन्ध नहीं; फिर भी क्रूरतामें हिंस्र पशुओंको भी लजानेवाले जागतिक युद्ध उन्हीं ईसाई राष्ट्रोंके द्वारा कैसे बन पड़े ? अतः मिश्रविवाहोंसे और सहभोजनोंसे एकता स्थापित होती है, यह समझना केवल भ्रम है। कौरव-पाण्डवोंमें या यादवोंमें परस्पर भेदकी कोई बात ही नहीं थी; फिर भी वे आपसमें लड़े, और उन्होंने रक्तकी नदियाँ बहा दीं। तात्पर्य, गौके सींग तोड़नेसे वह बछड़ा नहीं बन जाती, न सूअरकी पीठपर मोतियोंकी झूल डालनेसे उसे हाथीकी महत्ता प्राप्त होती है।

यथार्थमें धनिकवर्ग समाजपुरुषका उदर है। धनिकोंकी धनवत्ता एक बहुत ही उपादेय केन्द्रीभूत शक्ति है। यही शक्ति आजतक अनेकानेक लोकोपकारक कार्य करती चली आयी है। इसीकी बदौलत नानाविध कलाओं और विद्याओंकी वृद्धि हुई है। धनिकोंकी धनवत्ताके सामने यही आदर्श है; पर इस ओर ले जानेवाले साहस और उद्योगकी प्रवृत्तिमें द्रव्यैषणाका होना आवश्यक है। इसी प्रकार मध्यम-वर्ग समाजपुरुषका हृदय, बुद्धि अथवा मज्जातन्त्र है। इंग्लैंड-जैसे अभ्युदयशाली देशके इतिहासमें मध्यम वर्ग राष्ट्रका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना गया है। इस वर्गका स्वस्थ, सुखी और समृद्ध होना समाजके लिये बहुत ही आवश्यक है। श्रमजीवी वर्ग समाजपुरुषका कर्मेन्द्रिय-समूह है। समाज-स्वास्थ्यके लिये इस वर्गकी भी बहुत बड़ी आवश्यकता है। हिंदू-संस्कृतिमें तीन गुणों और चार वर्णोंके अनुसार इन तीन वर्गोंका यथायोग्य महत्त्व माना गया है। पिछड़े हुए श्रमजीवी वर्गकी सुख-सुविधा और अभ्युदयके साधनमें आस्था रखना सर्वथा उचित है; परंतु साम्यवादके मोहमें पड़कर इन तीन वर्गोंको नष्ट करने, विशेषतः श्रमजीवियोंके हितार्थ मध्यम वर्गको नष्ट करके धनिक वर्गको रसातल पहुँचाया चाहनेवाली दुष्ट वृत्तिको समतावाद या उदार-धर्म कहना शब्दोंकी विडम्बना और विचारोंकी बगावत है। हिंदू-संस्कृतिके उद्यानमें बढ़े हुए, फल-फूल देनेवाले महान् वृक्षोंको अगल-बगलके छोटे-छोटे पौधोंके बराबर कर देनेके लिये यह सोचना कि एक हाथसे ऊँचे जितने पेड़ हों, सब काट डाले जायँ—कितनी बड़ी मूर्खताकी सूझ है ! सर्वत्र समता स्थापित करनेके लिये ब्राह्मण अपने वर्णकी श्रेष्ठता गँवाकर भंगी और चमारके काम करनेके लिये होड़ बदकर दौड़ पड़ें, यह नवीन राजसत्ता अथवा समतावादका उपदेश विवेक-भ्रष्टताका ही एक प्रदर्शनमात्र है ! ब्राह्मणके संस्कार प्राप्त करनेमें बहुत समय लगता है, पर उन्हें गँवा देनेके लिये अविवेककी एक घड़ी पर्याप्त होती है। नवमतवादियोंका यह कहना कि स्त्रियों और शूद्रोंके लिये पराधीन सेवा-धर्म ही विहित करके उनके साथ बड़ा अन्याय किया गया, बिल्कुल गलत है। व्यक्तिनिष्ठ गुणोंके कारणसे स्त्रियाँ गृहस्वामिनी और विदुषी बनी हैं। वेदोंके कुछ सूक्त स्त्रियोंके कहे हुए हैं। शूद्र अपने पराक्रमसे धनिक ही नहीं, नराधिप तक बने हैं।

अन्त्यजादि वर्णोंके लोग अपने कर्तृत्वसे संत-पदवीतक पहुँचे हैं। इस उत्कर्ष-साधनमें हिंदू-संस्कृति किंचित् भी बाधक नहीं हुई। पर हिंदू-संस्कृतिका यह कहना है कि सब कर्मोंकी योग्यता समान समझना तारतम्य-बुद्धिका अभाव है। ज्ञान और कर्मको समान देखना अविवेक है; वर्णभेद, जातिभेदादि भेदोंको मिटाना संकर उत्पन्न करना है। संकरसे फिर विनाश ही होता है। संकरसे श्रेष्ठ गुणोंका उत्कर्ष, उत्कृष्ट संस्कारोंकी वृद्धि, पवित्रताका परिपोषण, ओज-मेधादिका संवर्द्धन—यह सब असम्भव हो जाता है। संस्कृतिका क्रमशः लोप होनेसे प्रजा पशुवत् असंस्कृत बन जाती है। प्रकृति स्वयं ही भेदरूप है, उसे कोई संस्कृति अभेद नहीं बना सकती। सैन्यकी सुव्यवस्थाके लिये विभिन्न श्रेणियाँ और कर्माधिकारोंकी अलग-अलग पलटनें तैयार करनी पड़ती हैं। केवल मिट्टी या चूनेका ढेर लगा देनेसे दीवार नहीं खड़ी होती। उसके लिये ईंट-पत्थरके अलग-अलग जोड़ कुशलताके साथ एकमें जोड़ने पड़ते हैं। वर्णभेद कहिये या वर्गभेद, भेदोंका होना अपरिहार्य है। इन विभिन्न वर्गोंको एकत्र जोड़ना हिंदू-संस्कृति-जितना और किसीसे भी नहीं बन पड़ा। हिंदू-संस्कृतिके कारण ही, अनेक भेदोंके होते हुए भी, भारतवर्ष कलतक अखण्ड था। इसे खण्डित किया नवमतवादी नेताओंने ही! गीतोक्त स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवेत्ताका समदर्शन, रुद्राध्यायमें वर्णित अन्तर्यामीकी समता, श्रीकृष्ण और संतोंके अलौकिक चरित्र स्थूल भौतिकवादियोंके अव्यवहार्य समतावादको कोई आश्रय नहीं दे सकते। भारतीय संस्कृतिका अद्वैत तत्त्वज्ञान दर्शन है, वर्तन नहीं।

> भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कुत्रचित्।
> अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥*
>
> (श्रीमच्छङ्कराचार्य)

सोपाधिक व्यवहारमें अद्वैत—साम्यवाद सम्भव नहीं।

(२) वर्णाश्रमधर्म

आधुनिक—सनातनियोंका यह दावा है कि हिंदू-संस्कृतिने हिंदूसमाजको सुसंघटित रक्खा। हमारा यह कहना है कि इस संस्कृतिकी वर्णाश्रमव्यवस्था चाहे पहले कभी उपकारक रही हो, पर आज तो उससे समाजका नाश ही हो रहा है; इसलिये अब इसे उठा देना ही आवश्यक हो गया है। ब्राह्मणोंको ही वेदोंका अधिकार हो, शूद्रोंको नहीं; ब्राह्मण ही अध्यापनके अधिकारी हों, शूद्रादि नहीं; पौरोहित्य ब्राह्मण ही करें, अन्य लोग नहीं—यह सब मालूम होता है ब्राह्मणोंने स्वार्थवश कुटिलतासे अपना ही इजारा कायम किया है। न्यायतः उचित तो यही है कि अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करनेमें सभीको समान अवसर मिले। जाति-भेदको इसीलिये मिटा देना है। वर्णभेद भी जन्मसिद्ध माननेका कोई कारण नहीं है। मानना ही हो तो जन्मके बाद यथासंपादित गुण-कर्म देखकर मानना चाहिये। इसी प्रकार आश्रमोंमें वानप्रस्थ और संन्यास—ये दोनों निवृत्तिप्रधान आश्रम समाजपर व्यर्थके भारमात्र हैं; इन्हें उतारकर समाप्त ही करना होगा। इनके स्थानमें मनुष्यके तीसरे और चौथेपनके लिये समाजसेवा ही एक आश्रमधर्म माना जाय; क्योंकि इसी वयसमें उसके ज्ञान और अनुभवसे समाज लाभ उठा सकता है।

सनातनी—हिंदू-संस्कृतिकी वर्णव्यवस्था यदि पहले समाजधारक थी तो अब वह समाजविदारक हो जाय—यह सम्भव नहीं है। वर्णद्वेष और जातिद्वेष विदेशियोंकी राजसत्ताने और उन्हीं विदेशियोंका अन्धानुकरण करनेवाले हमारे विवेकहीन समाजसुधारकोंने ही बढ़ाये हैं। 'जात-पाँत मिटाओ' यह जो आवाज उठी है, इसीसे जातिद्वेष बढ़ रहा है। वर्णाश्रमधर्मकी-सी सयुक्तिक और सुव्यवहार्य समाजव्यवस्था पृथ्वीमें अन्यत्र कहीं भी नहीं है। वृत्तिभेद और व्यवसायभेदसे जातिभेद आप ही उत्पन्न होते हैं। इनमें आनुवंशिक शक्ति और कुशलता संचित होनेसे बचपनसे ही उद्योग-धंधोंकी शिक्षाकी एक उत्तम व्यवस्था बन जाती है। इस यान्त्रिक युगमें इसका महत्त्व कम नहीं है। विभिन्न व्यक्तियोंके विशिष्ट गुण-कर्मभेद प्राक्संस्कारानुरूप जन्मसिद्ध ही हुआ करते हैं। जन्मके पश्चात् यथाप्राप्त गुण-कर्म देखकर समाजकी वर्णव्यवस्था निश्चित करनेकी बात सर्वथा अव्यवहार्य है। ऐसा प्रयत्न यदि किया जायगा तो उससे समाजमें बार-बार कुटुम्ब-विच्छेदके प्रसंग उपस्थित होंगे और अनवस्था उत्पन्न होगी। जन्मसिद्ध वर्णभेद मानना प्राक्कर्मानुसार समुचित ही है और इस प्रकारके वैषम्यके लिये कोई किसीको दोष भी नहीं लगा सकता। हर कोई जन्मके साथ प्रारब्ध-कर्मानुसार प्राप्त परिस्थितिको सन्तोषके साथ स्वीकार करता है। जातिद्वेषका हौआ खड़ा करके हमारे ही विवेकशून्य सुधारक नेताओंने समाज-व्यवस्था विच्छिन्न करनेके प्रयत्नोंके द्वारा समाजमें घोर असन्तोष उत्पन्न किया है। धनोत्पादक

* चित्तमें सदा सबके साथ अद्वैतकी भावना रक्खे, पर कहीं व्यवहारमें अद्वैत न बरतने लग जाय। तीनों लोकोंके साथ अद्वैत-भाव रक्खे, पर गुरुके साथ नहीं।

उद्योग-धन्धे करने या लखपती और करोड़पती बननेकी अभिलाषा रखनेवाले ब्राह्मण विरले ही होंगे। वेदाध्ययन, अध्यापन और पौरोहित्यसे कोई ब्राह्मण धनाढ्य हुआ हो, ऐसा उदाहरण बड़ी कठिनाईसे मिलेगा। ब्राह्मणधर्मके व्रताचरण, अल्पसन्तोष और तप आदि सबके लिये सुसाध्य नहीं हैं। फिर भी विदेशी राजसत्ताने व्यर्थ ही ब्रह्मद्वेष उत्पन्न किया। ब्राह्मणोंने न किसीसे द्वेष किया, न किसीके अभ्युदयमें कोई बाधा डाली। हिंदू-संस्कृतिका आश्रय लेनेवाले अन्त्यजादि स्वधर्म-पालन करके रैदास, चोखामेला आदिके समान पारमार्थिक उन्नतिकी पराकाष्ठा प्राप्त कर सकते हैं और अपने जातिधर्मसे प्राप्त कर्मके द्वारा ब्राह्मणोंसे अधिक वैभवसम्पन्न बन सकते हैं। ब्राह्मणके जन्म और कर्म किसीसे द्वेष करने अथवा किसी क्षुद्र ऐहिक स्वार्थके लिये हैं ही नहीं।

सेवाको मानव-जीवनका महत्कर्तव्य मानें तो हिंदू-संस्कृतिके चारों आश्रमोंमें गुरुसेवा, कुटुम्बसेवा, समाजसेवा, धर्मसेवा, ईश्वरसेवा आदि हुआ ही करती है। वानप्रस्थ और संन्यास, जो हिंदू-संस्कृतिके परमोच्च आदर्श हैं, अपने सदाचार और सद्विचारोंद्वारा समाजकी जो सेवा करते हैं, उसका मूल्य कौन आँक सकता है?

(४) विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टि

आधुनिक—विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टि ज्ञान मापनेके अव्यर्थ निकष हैं। यदि सनातनी इन्हें न मानेंगे तो हिंदू-संस्कृतिका मूल्याङ्कन आज और आगे भी असम्भव होगा। इन दोनों निकषोंको न मानना एक तरहका अज्ञान ही है। कोई भी विज्ञ पुरुष परम्परा अथवा सुसंगतिके गुलाम नहीं बने रहते। सत्यका स्वरूप देशकालानुरूप बदला करता है, यही सब विद्वानोंकी मान्यता है। किसी भी राष्ट्रकी संस्कृति अनेकानेक संस्कृतियोंके सङ्गमसे विकसित हुआ करती है। मूल भारतीय संस्कृतिका स्वरूप हमारी वर्तमान हिंदू-संस्कृतिमें नहीं रह गया है। इस अपूर्ण संस्कृतिको मानवतावादकी नवसंस्कृतिमें रूपान्तरित करना इसका विकास ही कराना है। इसी ऐतिहासिक दृष्टिसे भविष्य कालके लोग हमारी संस्कृतिकी ओर देखेंगे। परिवर्तनशील संसारमें प्राचीनसे ही चिपके रहना बुद्धिमानीका लक्षण नहीं है। बचपनमें जो वस्त्र शरीरमें ठीक बैठता था, वह वयस्क होनेपर कैसे बैठ सकता है। कालप्रवाहके साथ संस्कृतिमें भी परिवर्तन होना अनिवार्य है और इष्ट भी है।

सनातनी—आधुनिक विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टि दोनों ही कुछ खास विषयोंमें अपना महत्त्व रखती हैं। पर ज्ञानके ये सच्चे निकष नहीं हैं। आधुनिक विकासवाद काल्पनिक, एकदेशीय और अपूर्ण है। इसी प्रकार ऐतिहासिक दृष्टिके आधार बहुधा सन्दिग्ध और अधूरे होते हैं, उनके अनुमान प्रायः प्रमादयुक्त हुआ करते हैं। अतः विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टिमें इतनी योग्यता नहीं है कि ज्ञानकी सत्यता अथवा इष्टानिष्टता जाँच सके। मनुष्यकी आवश्यकताओंका बढ़ना, यान्त्रिक उत्पादनका बढ़ना, युद्धकलाका बढ़ना, भौतिक सुख-साधनोंका बढ़ना, नगरोंकी आबादीका बढ़ना, यातायातके साधनोंका बढ़ना, स्त्रियों-बच्चों, किसानों और मजदूरोंकी स्वाधीनताका बढ़ना इत्यादि विकास मानवहितकी दृष्टिसे इष्ट है या अनिष्ट—क्या विकासवाद इसका सुनिश्चित उत्तर दे सकता है? आजकलके विज्ञ यदि आचार-विचारकी सुसंगत परम्पराका कोई महत्त्व नहीं मानते और उनकी दृष्टिमें यदि सत्य देशकालानुसार बदलनेवाली चीज है तो उनका कोई भी आचार-विचार प्रमाण नहीं माना जा सकता; कारण, जिस सत्यको जब कभी वे देखेंगे, वह अपूर्ण ही रहेगा?

हिंदू-संस्कृति यह कुछ भी स्वीकार नहीं करती। आत्मप्रत्यय, गुरुप्रत्यय और शास्त्रप्रत्ययका समन्वय ही सत्यज्ञानका एकमेव सच्चा निकष हिंदू-संस्कृतिमें स्वीकृत है। सत्य वही है, जो त्रिकालाबाधित हो। सत्य विकसनशील या परिवर्तनशील नहीं है। सत्यका आदि-अन्त नहीं है। वह परिवर्तनोंका इतिहास नहीं है। इसीलिये वह प्रमाण है। तात्पर्य, सत्य विकासवाद अथवा ऐतिहासिक दृष्टिका विषय ही नहीं है। विकासवादकी मान्यता यह है कि मूल अज्ञानसे ज्ञानकी ओर विकास हो रहा है और उस ज्ञानकी कोई पूर्णता, समाप्ति या अन्त नहीं है। विकासवादका यह सिद्धान्त हिंदू-संस्कृतिमें स्वीकृत नहीं है। सृष्टिके मूलमें अज्ञान नहीं, प्रत्युत स्वयं ज्ञान है। उस मूल ज्ञानस्वरूपका कोई विकास नहीं होता; कारण, वह स्वरूपतः पूर्ण है। अज्ञानका आवरण हटते ही वह स्वयं प्रकाशपूर्ण ज्ञान वहाँ है ही। उस मूल ज्ञानका जिस प्रकार कोई विकास नहीं है, उसी प्रकार कोई इतिहास नहीं है। वही बात आनन्द अथवा सुखकी है। अपूर्णतामें दुःख भासता है। पर मूल ब्रह्म पूर्ण होनेके कारण सुखस्वरूप है। आधुनिक आत्माका विकास मानते हैं। परंतु आत्मा पूर्ण ब्रह्म है, इसलिये उसका विकास सम्भव नहीं। हिंदू-संस्कृतिमें अपरोक्षानुभूति ही ज्ञानका निकष होनेसे उसे इन दोनों वादोंकी कोई आवश्यकता नहीं।

हिंदू-संस्कृतिके रहस्यमय सिद्धान्त स्वतःप्रमाण अपौरुषेय वेदोंपर प्रतिष्ठित होनेसे त्रिकालाबाधित हैं, विकासवाद अथवा ऐतिहासिक दृष्टिके विषय नहीं। विशुद्ध हिंदू-धर्म-संस्कृति परकीय संस्कृतियोंके सङ्गमसे विकसित नहीं हुई है। आधुनिक तो यह कहते हैं कि प्राचीन भारतीय संस्कृति आधुनिक हिंदू-धर्म-संस्कृतिमें रूपान्तरित हुई है; पर इस रूपान्तर या परिवर्तनको विकास नहीं कहते। फिर ये लोग यह भी कहते हैं कि समाजसत्तावाद, साम्यवाद, मानवतावाद आदि तत्त्वज्ञानके विकसित रूप जब हमें प्राप्त हैं, तब इन्हें छोड़ अज्ञानकी ओर पीछे फिरकर उस पुरातन अविकसित वैदिक कालमें जा पैठनेकी चेष्टा करनेसे बढ़कर अविवेक और क्या होगा। इस प्रकार ये आधुनिक एक ओर प्राचीन भारतीय संस्कृतिके गीत गाते हैं तो दूसरी ओर उन्हीं वेदोंको किसी असभ्य और पुराने बाल्ययुगकी तोतली बातें कहकर उनका उपहास करते हैं। आधुनिक विकासवाद और ऐतिहासिक दृष्टिका यह एक निर्बन्ध वाग्विलासमात्र है।

(५) धर्म और कानून

आधुनिक—धर्मविरोधी कानूनोंके सम्बन्धमें आजकल सनातनियोंने बड़ा कोलाहल मचाया है। सबके समान अधिकारों और विभिन्नधर्मावलम्बी समाजोंको सुव्यवस्थित रखनेमें जब हमारी संकुचित वृत्तिवाला धर्म असमर्थ हुआ, तब ये ही बातें कानून बनाकर करनी पड़ीं। आज तो धर्मानुशासन माननेमें किसीकी भी रुचि नहीं है। ऐसी अवस्थामें समाजहितके उपाय कानूनोंके द्वारा करा लेनेके सिवा और चारा ही क्या है? राजकाजमें दण्डनीतिका अवलम्बन करना ही पड़ता है।

सनातनी—दण्डनीति राज्यशासनका एक अङ्ग हुआ करे। पर दमननीतिके कानूनोंकी जैसी आवश्यकता एक परायी सरकारको परकीय भावके कारण पड़ी, वैसी अपनी सरकारको तो न पड़नी चाहिये थी। पर आजकल तो कानूनोंकी टकसालसे रोज-रोज नये-नये दमन-कानून ही निकल रहे हैं! ऐसी दमननीतिके राज्यको लोकमतका राज्य कैसे कहा जाय। स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज-जैसे सर्व-शास्त्रविद् सर्वसङ्गपरित्यागी महात्मा और उनके धर्मसङ्घद्वारा परिचालित अत्युज्ज्वल धर्मसत्याग्रह तथा हिंदू-संस्कृतिकी अनन्य निष्ठा और कर्मशक्तिसे प्रेरित 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक सङ्घ'का भी इस सरकारको इस प्रकार दमन करना पड़े, यह कैसा स्वराज्य है!

आज अपनी सरकारके सामने बहुत-सी कठिनाइयाँ उपस्थित हैं—अन्नकी कमी, नवीन शासनविधानका निर्माण, पाकिस्तानकी खुराफातोंसे नित्य नये पैदा होनेवाले झगड़े। पाकिस्तानके ही कारण उत्पन्न निर्वासितोंका तथा काश्मीरका प्रश्न, कम्यूनिस्टोंकी उपद्रव-नीति, तृतीय विश्वयुद्धकी तैयारी—इन सब अति विकट प्रश्नोंके सामने रहते हुए सरकार चुपकेसे उनमें समय निकालकर जल्दी-जल्दीमें बिल्कुल बे-जिम्मेदार ढंगसे धर्मविरोधी कानूनोंके बाणोंसे सनातनियोंके हृदयोंपर आघात करती है! इसके बिना सरकारका कौन सा काम रुका था? गोवध रोकनेके लिये कानून क्यों नहीं बनाती? आयुर्वेदिक औषधालयों और कारखानोंके पीछे भी सरकार क्यों पड़ी है?

हिंदू-धर्म यदि परिवर्तनीय हो और आयुर्वेदिक पद्धतिमें सुधारका अवसर हो, तो भी जिन लोगोंने उन-उन विषयोंका साम्प्रदायिक पद्धतिसे आस्थापूर्वक दृढ़ अभ्यास करके उनमें नैपुण्य और अनुभव प्राप्त किया है, उन्हींके बहुमतके आधारपर कोई सुधार न सोचकर ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे—चाहे जो निर्णय करने बैठ जायँ, यह कहाँकी बुद्धिमानी और कहाँका न्याय है? सरकारी व्यवस्थापक सभाओंमें ऐसे विशेषज्ञ भला, कितने होंगे? सच्चा धर्मज्ञान अखण्ड गुरु-परम्परासे ही प्राप्त होता है। कालेजोंमें वह शिक्षा नहीं मिला करती, न प्राच्यविद्यासंशोधकोंके ग्रन्थ पढ़नेसे ही उसका कोई बोध होता है। केवल आधिभौतिक ज्ञानसे अथवा विषयलोलुप उपयोगितावादसे हिंदू-धर्म-संस्कृतिका वास्तविक ज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। हमारी धर्म-संस्कृति सर्वतोमुखी है। उसकी विचार-पद्धतिमें स्थूल आधिभौतिकके सिवा आधिदैविक, आधियाज्ञिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी समाविष्ट रहते हैं। उन दृष्टियोंसे रहित हमारी नवमतवादिनी बहिर्मुखी राज्यव्यवस्थाके दमनकारी कानूनोंके आगे हिंदू-धर्म और आयुर्वेदकी क्या गति होगी? उनका शुद्ध स्वरूप इस अवस्थामें टिकना असम्भव हो जायगा। हिंदू-संस्कृतिपर होनेवाले इस प्रहारसे सनातनी हिंदू जनताके हृदय व्यथित होनेके सिवा और क्या प्राप्त करेंगे?

इसी प्रकार अन्त्यजों और अन्य पिछड़े हुए समाजोंकी आर्थिक दुरवस्था दूर करनेका उपाय करना स्वराज्य-सरकार-का कर्तव्य है, इस विषयमें सबका एकमत है। इन्हें इनके व्यवसायोंके लिये जो शिक्षा आवश्यक है, वह भी दी जानी चाहिये—इसमें भी कोई सन्देह नहीं। स्त्रियोंके दुःख-दर्दका

विचार करना भी आवश्यक ही है। पर इन सब बातोमे अनावश्यक जबर्दस्तीके कानून बनाकर जो क्षोभ उत्पन्न किया जा रहा है, वह राजसत्ता और कानून बनानेके अधिकारका केवल दुरुपयोग है। देवमन्दिरोंमे प्रवेशका कोई अधिकार अन्त्यजोने न चाहा था न माँगा था; फिर भी जिन्होंने मन्दिर-प्रवेश-बिल व्यवस्थापक-सभाओमे उपस्थित किये और अट्टहासके साथ देशकी जनतापर उन्हे लादना चाहा, क्या उन्होने कभी इस बातका विचार किया था कि देवमूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा क्या होती है अथवा इन मन्दिरोमे वर्षानुवर्ष सतत विधिपूर्वक जो देव-पूजा और धर्मानुष्ठान होते हैं, उनसे किस प्रकारके शक्ति-संस्कार वहाँ केन्द्रित होते हैं और उनके पावित्र्यकी किस प्रकार रक्षा की जाती है? अन्त्यजोके मन्दिर-प्रवेशसे देवमन्दिर पहलेसे अधिक पवित्र हो गये—यह जो लोग निधड़क कह डालते है, क्या उन्होने मन्दिरोंके द्वार अन्त्यजोंके लिये खोल देनेके पश्चात् कभी उन मन्दिरोकी ओर झाँका भी था अथवा उन अन्त्यजोंके चित्तमे ही वहाँ जाकर भगवान्‌के दर्शन करनेकी कभी प्रेरणा हुई थी? ये दोनो ही बाते यदि नही हुई तो बिना सोचे-समझे मन्दिर-प्रवेशकी जो उतावली उन्होने की, उससे सनातनी हिंदू-जनताके हृदयपर कठोर प्रहार करनेके सिवा उन्होने और क्या पा लिया? उससे अन्त्यजोकी कौन-सी उन्नति हुई? अन्त्यजोंका मन्दिर-प्रवेश होनेके लिये छटपटानेवाले इन नेताओंने क्या कभी इन देवमन्दिरोंकी वास्तविक रक्षा, उद्धार और उत्कर्षके लिये कोई उपाय सोचा? इनमे ज्ञान-कर्म-भक्तिके सत्र चलाने और भक्तिप्रेमके उत्सव मनाकर जनतामे भगवद्भक्तिका प्रचार करनेका कोई प्रयत्न किया? यदि नहीं तो मन्दिरोकी पवित्र परम्परापर यह प्रहार करनेका क्या मतलब है? इसी प्रकार कारखानोके मजदूरो और खेती करनेवाले किसानोको कानून बनानेके अपने अधिकारके जोरपर यह कहकर जो उभाडा जा रहा है कि 'मजदूरो! कारखानोके मालिक तो तुम्ही हो, ये पूँजीपति केवल तुम्हारे विश्वस्त है' अथवा 'किसानो! तुम्हे हम इन खेतोंके मालिक बना देगे', इससे मजदूरों और किसानोका शील और चरित्र बिगड़ रहा है। इनके शील और चरित्र बिगड़ चुकनेपर हम उन्हे सुधारना चाहेगे तो पछतावा ही हाथ रह जायगा। इसी प्रकार स्त्रियोकी अमर्याद स्वतन्त्रता, स्त्रियोके प्रौढ़ातिप्रौढ विवाह और विवाह-विच्छेदके कानून बनाया चाहनेवालोने क्या कभी यह सोचा है कि इनके द्वारा हम हिंदुओके वैवाहिक और कौटुम्बिक सुखका जीवन नष्ट कर रहे है, हिंदू-धर्म-संस्कृतिकी परम्परासे सहजप्राप्त पावित्र्य, पातिव्रत्य, सतीत्व आदि गुणोंको उत्सन्न कर रहे हैं? बिगाड़ना सहज है, बनाना बहुत कठिन।

वैयक्तिक और सामाजिक सुनीतिकी रक्षा और सुधारका काम हिंदू-धर्म-संस्कृतिके परम्परागत सुदृढ़ संस्कार ही कर सकते हैं। कानूनके द्वारा ऐसे सामाजिक सुधार कराना केवल अन्याय और अत्याचार है। जहाँ कानूनोका ही सारा बल और भरोसा होता है, वहाँ उनसे बचनेके उपाय भी निकल आते है। धर्मका शास्ता ईश्वर सर्वसाक्षी, सर्वशक्तिमान् और सारे जगत्‌का नियन्ता होता है। उसकी आँख बचाकर निकल भागना किसीके लिये सम्भव नहीं होता। कानून बनानेवाले मनुष्योको धोखा दिया जा सकता है, ईश्वरको नही। कानून बहिर्मनका बाह्य प्रयोग है। धर्म हृदयसे संलग्न रहता है। उसका सहसा विस्मरण नही हो सकता। ईश्वरका जीवके साथ सहज अन्तर्गत सम्बन्ध है। वही धर्मपटका धागा है। कानून अथवा दण्डनीतिके द्वारा जो शासक-शासित-सम्बन्ध जोड़ा जाता है, वह कृत्रिम बलप्रयोग है। यह कहना कि आजकल धर्मका शासन कोई नही मानता, सच्ची बातको बिगाड़कर कहना है। धर्मानुशासनको स्थिर करनेके लिये अनुकूल राजसत्ताकी भी आवश्यकता होती है। पहले यदि विधर्मियोंकी राजसत्ता थी तो अब धर्मातीत राजसत्ता है; तब धर्मानुशासन स्थिर कैसे हो? उदाहरणार्थ, धर्मबाह्य आचरण करनेवालेको पहले जातिसे अलग किया जाता था। पर ऐसा करना यदि आजकी सरकारके कानूनमे अपराध हो तो इसे धर्मानुशासन मिटानेका ही प्रयत्न समझा जायगा।

(६) सर्वराष्ट्रिय प्रतिष्ठा

आधुनिक—यातायातके साधनोकी वृद्धि, व्यापार, रेडियो और समाचारपत्रोकी बहुलता तथा जागतिक युद्धोके कारण सब राष्ट्र परस्पर सम्बद्ध हो गये है। ऐसी अवस्थामे अपनी निवृत्तिप्रधान संस्कृति लेकर भारतवर्ष संसारसे अलग अकेला वेदपाठ अथवा जप-तप-अनुष्ठान करता बैठा रहे, इससे तो कोई काम नहीं चलेगा। सर्वराष्ट्रिय नेताओकी परिषदोंमें भारतको भी उच्च स्थान मिलना चाहिये। यह तभी हो सकता है, जब वह अपने ही राष्ट्र और अपने ही धर्मको लेकर न बैठा रहे, बल्कि इस संकुचित व्यावर्तक अभिमानको त्यागकर भौतिक विज्ञानको ही एकमात्र अभ्युदयकारक शास्त्र और मानवतावादको ही एकमात्र व्यावहारिक विश्वधर्म जानकर स्वीकार करे।

सनातनी—सच पूछिये तो राजनीतिक पराधीनताके कारण झुका हुआ अपने देशका मस्तक, सर्वराष्ट्रिय जगत्‌मे,

हिंदू-संस्कृतिके कारण ही आज भी ऊँचा है। (अभी पिछले दिनों हमारे माननीय प्रधान सचिव पं० श्रीनेहरूजी भी अमेरिका जाकर इस संस्कृतिकी ही गौरव-गाथा साभिमान सुना आये हैं।) इस देशकी यह अनन्य-साधारण विशिष्टता ही संसारमें इसकी महत्ता स्थिर रखनेमें समर्थ है। इसीमें हमारा और जगत्का भी कल्याण है। झुंडमें शामिल न होनेवाले वनराज सिंहने सबसे अलग रहकर अपनी धाक सबपर जमायी है। जहाँ दस झुरमुट हैं, वहाँ ग्यारहवें यदि हम भी हो गये तो इसमें क्या रक्खा है ? एक-ही-एक गगनचुम्बित वृक्षराज बननेमें ही महत्ता है। स्वाभिमान त्यागकर दूसरोंके साथ हिल-मिल जानेसे कभी कोई महान् नेतृत्व नहीं प्राप्त होता। बकोंकी पंक्तिके समान किसी समूहमें न रहनेवाला मोर मोर ही रहता और अपनी स्वतःसिद्ध महिमा और वैभवमें सुशोभन ही दीखता है।

व्यवहारकी पूर्तिके लिये भौतिक विज्ञानोंका अर्जन अवश्य करना चाहिये। पर भौतिककी अपेक्षा आधिदैविक और आध्यात्मिकका महत्त्व बहुत अधिक है। पाश्चात्त्य जगत् जडवादके पीछे पड़ा है, इसलिये हम भी वैसे ही बन जायँ—यह सोचना तो विचारशून्य अन्धानुकरण है। हमारा कार्य यह है कि हम हिंदू-संस्कृतिके आधिदैविक और आध्यात्मिक तेजसे जगत्को दीप्त करें। यही सच्चा पुरुषार्थ है।

हमने अपने राज्यको 'धर्मातीत' कर डाला और मुसलमानोंको खुश करनेवाली राजनीति स्वीकार कर ली; फिर भी पाकिस्तान दुलत्ती ही झाड़ रहा है और सर्वराष्ट्रिय परिषदोंमें कट्टर इस्लामधर्माभिमानी पाकिस्तानकी ही पीठ ठोकी जा रही है। प्रत्यक्ष अनुभव तो यही है। आजके सर्वराष्ट्रिय राजनीतिक सम्बन्ध अति नीच स्वार्थ और अत्यन्त कुटिल राजनीतिसे ग्रस्त हैं। ऐसी स्थितिमें अपने देशका गौरव और व्यक्तित्व किसी बातमें है तो वह अपने समुज्ज्वल हिंदू-धर्मका उत्कट अभिमान ही है। राष्ट्रोंके स्वार्थप्रेरित परस्पर कलह, ऐटमबम आदिकी तैयारियाँ, परस्पर घोर अविश्वास—इन सब चीजोंको साफ-साफ देखते हुए भी मानवता और विश्वधर्मकी बातें करना कल्पनाजालमें समुद्रकी लहरोंको पकड़नेके समान ही अव्यवहार्य और हास्यास्पद है। ऐसी फालतू बातोंमें पड़कर हम अपने राष्ट्र और अपनी हिंदू-धर्म-संस्कृतिका अभिमान छोड़ बैठें, इससे बढ़कर मूर्खताकी और कोई बात नहीं हो सकती। 'यह विश्व ही मेरा घर है' यह सर्वभूतात्मभूत स्थितप्रज्ञकी अनुभूति है। वैषम्यपूर्ण जगद्व्यवहारमें उसकी प्रतीति असम्भव है। इसलिये अपने सींग तुड़वाकर बछड़ोंमें मिल जानेवाली गौके समान अपनी दिव्य संस्कृति और उज्ज्वल धर्मनिष्ठा त्यागकर अन्य राष्ट्रोंकी कुटिल राजनीतिके साथ समरस हो जानेकी बात केवल अन्ध अविचार है। हमारी श्रेष्ठ धर्म-संस्कृति जो वनवासी एकाकी तपस्वीकी हिंस्र पशुओंसे रक्षा करती है, वह एकाकी भारतवर्षकी भी रक्षा करेगी। संत-मुनियोंके आश्रमोंमें यदि हिंस्र पशु अपना क्रूर स्वभाव त्याग देते हैं तो अन्य मानवी राष्ट्र हमारे साथ शान्ति और सौजन्यका ही व्यवहार करेंगे; यदि हम अपनी संस्कृति और धर्मनिष्ठामें सच्चे हैं। ऐसा ही आत्मविश्वास राष्ट्रमें जगाना चाहिये, यही श्रेयस्कर है।

(७) लोकतन्त्र और राजतन्त्र

आधुनिक—राज्यकी प्रातिनिधिक संस्थाओंके निर्वाचनमें देशके सब बालिग मनुष्योंको मत (वोट) देनेका अधिकार देकर सबके समान अधिकारोंकी नींवपर जो लोकतन्त्र हमारी स्वराज्य-सरकारने खड़ा किया; उसके प्रखर तेजके सामने सब देशी राजतन्त्रोंके राजमुकुट पिघलकर रसातलको चले गये। यह लोकतन्त्रकी कितनी बड़ी विजय हुई ! अब लोकतन्त्र ही हमलोगोंकी संस्कृति है, अन्य किसी संस्कृतिको माननेके लिये हमलोग तैयार नहीं हैं। भारतीय संस्कृति प्राचीन गण-राज्योंके समान लोकतन्त्रकी मान्यता स्वीकार करती हो, तभी वह लोकमतपर निर्भर रहकर आगे जी सकती है; अन्यथा यहीं उसका अन्त है।

सनातनी—कुछ इतिहाससंशोधक यह बतलाते हैं कि प्राचीन भारतीय संस्कृतिमें पहले गणराज्य थे; पर ये गणराज्य-रूप लोकतन्त्र किस प्रकारके थे और वे राजतन्त्रमें क्यों विलीन हो गये; यह निश्चितरूपसे जाननेके पर्याप्त साधन आज उपलब्ध नहीं हैं। पर राजतन्त्र हिंदू-संस्कृतिमें स्वीकार्य न हो, ऐसी कोई बात उसके प्राचीन साहित्यसे नहीं प्रतीत होती। राजतन्त्रमें जो ऐश्वर्य और सूत्रैकता विद्यमान रहती है; वह लोकतन्त्रमें नहीं रहती। फिर राजाको उसकी प्रजा भगवान् विष्णुके प्रतीक-रूपमें, ऐश्वर्यके आदर्शरूपमें देखना चाहती है। आबाल-वृद्ध-वनिता—सभी जिस लोभनीय और दर्शनीय राजैश्वर्यके इच्छुक रहते हैं, वह राजैश्वर्य आजके लोकतन्त्रमें कहीं भी दीख नहीं सकता। अपने देशका यह नवस्थित्यन्तर देखकर हिंदू-संस्कृति तो अश्रुपात ही करेगी ! फिर यह भी समझनेकी बात है कि लोक-कल्याणकी जो नैतिक और धार्मिक जिम्मेदारी एक राजापर होती है; उसकी किंचित् भी वेदना

लोकतन्त्रके सैकड़ों नामधारी प्रतिनिधियोंको नहीं हो सकती। हाँ, राजतन्त्रका उद्दण्ड और स्वैराचारी होना सम्भव हो सकता है। पर राजापर नियन्त्रण रखनेवाले उसके विचारशील मन्त्री भी तो होते ही हैं। इसके विपरीत नामधारी लोकतन्त्र कृत्रिम, बेजिम्मेदार और बाये हाथके खेलके बराबर बहुमतके बलपर स्वैर अधिनायकतन्त्र बन जाता है—यह तो आजका प्रत्यक्ष अनुभव ही है।

वर्तमान लोकतन्त्रके मुख्य-मुख्य दोष देखना हो तो बालिग-मताधिकारकी वर्तमान पद्धतिमे देख लीजिये कि (१) कैसे-कैसे झूठे आश्वासन और प्रलोभन दिये जाते है, कैसी कुटिल नीति बरती जाती है, कैसी झूठी परनिन्दा और आत्मश्लाघा की जाती है, कैसे-कैसे लालच दिलाये जाते, सिफारिशें की जाती और रिश्वतें दी जाती है और (२) समाजमें कैसे व्यर्थके अनर्थकारी संघर्ष उत्पन्न किये जाते, और असत्य एवं अविवेकको उभाड़ा जाता है। फिर अपने देशकी प्रजा अशिक्षित होनेसे उसे मत देते हुए यह पूरा पता नहीं रहता कि किसको किसलिये वोट दिया जाता है। समझ-बूझकर जिम्मेदारीके साथ वोट देनेवाले कितने होते हैं। ऐसी अवस्थामे बालिग-मताधिकारसे किया जानेवाला निर्वाचन एक खेल होता है और वह भी झूठ और धोखाधड़ीसे भरा हुआ। तीसरा दोष इस निर्वाचन-पद्धतिमे यह है कि प्रत्येक उम्मीदवार यही महामन्त्र उचारा करता है कि 'मै बुद्धिमान् हूँ, मुझे वोट दो।' उम्मेदवारीकी शर्तें और चुनावके लिये किया जानेवाला घटाटोप, यह सब अशिष्टताका ही एक प्रदर्शन होता है। कितने ही महान् योग्यतावाले पुरुष ऐसी अवस्थामे उम्मीदवार होना अपनी शिष्टता और सुजनताके विरुद्ध समझते है। इस कारण उनकी अमूल्य सेवा और सत्परामर्शसे जनता वञ्चित ही रह जाती है। इन सबसे अधिक निन्दनीय और अनर्थकारक मिथ्याचार और विश्वासघात इसमे यह होता है कि लोग जिसे अपना प्रतिनिधि चुन देते है, वह चुन जानेपर अपने निर्वाचकोंको भुला देता है। व्यवस्थापक-सभाओंमे वह उनका मत नहीं बतलाता बल्कि अपना मत या अपने दलविशेषका मत उनपर लादकर उनके साथ विश्वासघात करता है!

पहलेकी ग्रामपञ्चायतोंमे निर्वाचनके क्षेत्र बहुत छोटे-छोटे हुआ करते थे। पंचोंको यह कहनेकी जरूरत नहीं पडती थी कि लोग हमे पंच चुनें। पंचोंका काम कर सकनेवाले व्यक्तियोंको लोग स्वयं अच्छी तरहसे जानते थे और उन्हींको पंच चुनते थे। राजा अपने मन्त्री स्वयं ही निर्वाचित करता था। सदाचारसम्पन्न विज्ञलोग राज्यकी धुरा धारण करें, यही अन्तःस्थ नीति थी। राजाको मन्त्रणा देनेवालोंमे वशिष्ठ-जैसे अथवा समर्थ रामदास-जैसे धर्माध्यक्ष हुआ करते थे। बालिग-मताधिकार तत्त्वतः चाहे जो कुछ भी हो, प्रत्यक्षमे अव्यवहार्य और संघर्षकारक है।

समारोप

मुख्याध्यापक—मेरे युवक विद्यार्थियो! तुमलोगोंने अभी जो चर्चा की, उसका सुस्थिर, शान्त और संयत ढंग देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। नवमतवादी वक्ताने हिंदू-संस्कृतिसम्बन्धी अपने आक्षेप संक्षेपमे बतलाकर उनके समाधानके लिये अधिक अवसर दिया, यह उनका सौजन्य है और इसके लिये हृदयसे मै उन्हे बधाई देता हूँ। चर्चाके लिये आज जो प्रश्न सामने रक्खे गये थे, उनका स्वरूप इतना व्यापक और गहन है कि पूर्णरूपसे उनका आकलन करना तुमलोगोंकी अनुभवरहित बुद्धिके लिये सम्भव नहीं था। प्रत्येक प्रश्नपर पूर्वोत्तर पक्षके लिये दस मिनटका समय रक्खा गया था, वह भी पर्याप्त नहीं था। परंतु मुझे एक प्रयोग करके देखना था, इसीके लिये मैने यह प्रसंग उपस्थित किया। आजकल समाचारपत्रोंमे प्रायः नवमतवादका ही युक्तिवाद पाठकोंके सामने रक्खा जाता है। इससे हिंदू-संस्कृति-सम्बन्धी मतभेदकी बाते सबको मालूम रहती है। पर इन बातोंका सनातनी दृष्टिसे क्या समाधान है, वह जाननेका कोई अवसर पाठकोंको नहीं मिलता। कारण, सनातनियोंके समाचारपत्र बहुत थोड़े और संक्षिप्त है। इसका भी कारण यही है कि हमारे आचार-विचारोंपर परायी संस्कृतिकी जबर्दस्त छाप पड़ी है। यह जो कुछ पहले होना था, हुआ। पर अब हम सबके सौभाग्यसे अपने देशमे अपना राज्य स्थापित हो गया है। अतः अब अपने धर्म और संस्कृतिका गम्भीर अध्ययन आस्थाके साथ होना चाहिये। परकीय शासन-कालमे जो वकील-बैरिस्टर आदि कानूनके जानकार लोग थे, उन्हींमेसे आगे बढ़े हुए जिन लोगोंने परकीयोंके साथ वाद-विवाद करनेमे कुशलता प्राप्त की, वे ही हमारे नेता हुए और हमारे बालकों और नवयुवकोंकी शिक्षा-दीक्षा भी ऐसे प्राध्यापकों, वक्ताओं और लेखकोंके हाथोंमे रही, जो पाश्चात्य संस्कृतिसे अभिभूत थे। इन्हीं नेताओं, प्राध्यापकों, वक्ताओं और लेखकोंके विचार हमलोग

सदा पढ़ते और सुनते रहते हैं। इन विचारोंमें स्वधर्मके बारेमें प्रायः अज्ञान और अनास्था—ये दोष सन्निहित रहते हैं। पर ये दोष उन्हें ज्ञात नहीं रहते। यही सोचकर मैंने आज यह संवाद प्रयोगके तौरपर रचाया। यह गुरु-संवाद एक नमूनेके तौरपर प्रकाशित करनेके योग्य हुआ, इसका सारा यश तुम विद्यार्थियोंको ही है। जो कुशिक्षित नेता और अन्य विचारशील पाठक अपने मनका दुराग्रह छोड़कर निर्विकार मन और शान्त चित्तसे इस संवादका मनन करेंगे, उन्हें इसमें बहुत-से विचार चिन्तन करने योग्य मिलेंगे। विद्यार्थियोंके इस संवादमें निर्णयात्मक विवेचन विशेषरूपसे भले ही न मिले; पर इससे इतना तो मालूम हो ही जायगा कि आजके नवमतवादी नेता जो कुछ कहते हैं, उसका एक दूसरा पक्ष भी है। आजके संवादमें सनातनी प्रौढ़ विद्यार्थीने जो उत्तर पेश किया, उससे यह विश्वास होता है कि ऐसे प्रौढ़ विद्यार्थियोंके सनातनी आचार्य गुरुके समीप जाकर उनसे श्रद्धापूर्वक सहज विचार-विनिमय किया जाय तो हिंदू-संस्कृतिके अनेक गुप्त रत्न प्रकट होंगे। इसलिये अपनी शास्त्रप्रमाणपद्धति और हिन्दूसंस्कृतिका विचार करते हुए, सर्वांग संस्कृतिकी [illegible] और शिक्षाओंका तो विशेष आदरके साथ अध्ययन और अनुशीलन करते हैं पर अपनी संस्कृतिके साम्प्रदायिक सिद्धान्त समझनेका कुछ भी प्रयत्न नहीं करते—यह अत्यन्त खेदजनक और अनर्थकारक व्यवहार आजके हमारे नेता कर रहे हैं। ईश्वर उन्हें सद्बुद्धि दे और यह छोटा-सा संवाद उनकी वृत्तिको अन्तर्मुख करनेका निमित्तमात्र कारण बने, यही मेरी आशा-कामना है।

मैं कौन ?

मैं हिंदू-कुलकी कुल-देवी, कबतक अदृश्य औ मौन रहूँ ?
अपना अनर्थ अपमान सहूँ ? फिर आज क्यों न 'मैं कौन' कहूँ ?
मैं हूँ अदृश्य, लेकिन घर-घर मेरी प्रतीक है गो-माता !
जिसकी पूजा हिंदू-समाज कर ऋद्धि-सिद्धि सब कुछ पाता ॥
गोपाल-बाल बन, दुष्ट-दलन माधवने जब मुरली टेरी।
तत्काल विश्वमें स्वर-लहरी बन फैल गयी महिमा मेरी ॥
संस्कृत, प्रशस्त मेरा मुख है, स्मृतियाँ मेरी वाणी अक्षय।
जिसमें सज्जन-गण मज्जन कर, कलि-कल्मषका कर देते क्षय ॥
ऋक्-साम-अथर्व-यजुर्वेदोंको मेरी चार भुजा जानो !
वृष-शङ्ख-चक्र-स्वस्तिक-अम्बुज मेरे कर-धृत आयुध मानो ॥
अभ्युदय और निःश्रेयस ही सुर-नर-मुनि-वन्दित पद पावन।
विचरण करती हूँ निष्कण्टक, युग धर्म विमल मेरा वाहन ॥
शम-दम-यम-नियम-व्रतोंको रख, करते बुध-जन मेरा अर्चन।
अध्यात्म-वेदिकापर रखते नित प्रेम-दया-सद्भाव-सुमन ॥
मम तुष्टि-हेतु निशिदिन होतीं अगणित प्राणोंकी आहुतियाँ।
उन वीरोंकी गाथा-मिष ही गायी जातीं मेरी स्तुतियाँ ॥
धृति-सुकृति-सुरुति-सद्गति-सुखदा मैं हूँ हिंदू-संस्कृति देवी !
संसृति पूजे या मत पूजे, भारत मेरा सच्चा सेवी ॥
जबतक जगमें अक्षुण्ण बना, मेरा यह वर्णाश्रम-मन्दिर !
तबतक मैं अचल हिमाचल-सी, उन्नत सप्रभ शाश्वत सुस्थिर ॥

—भवदेव
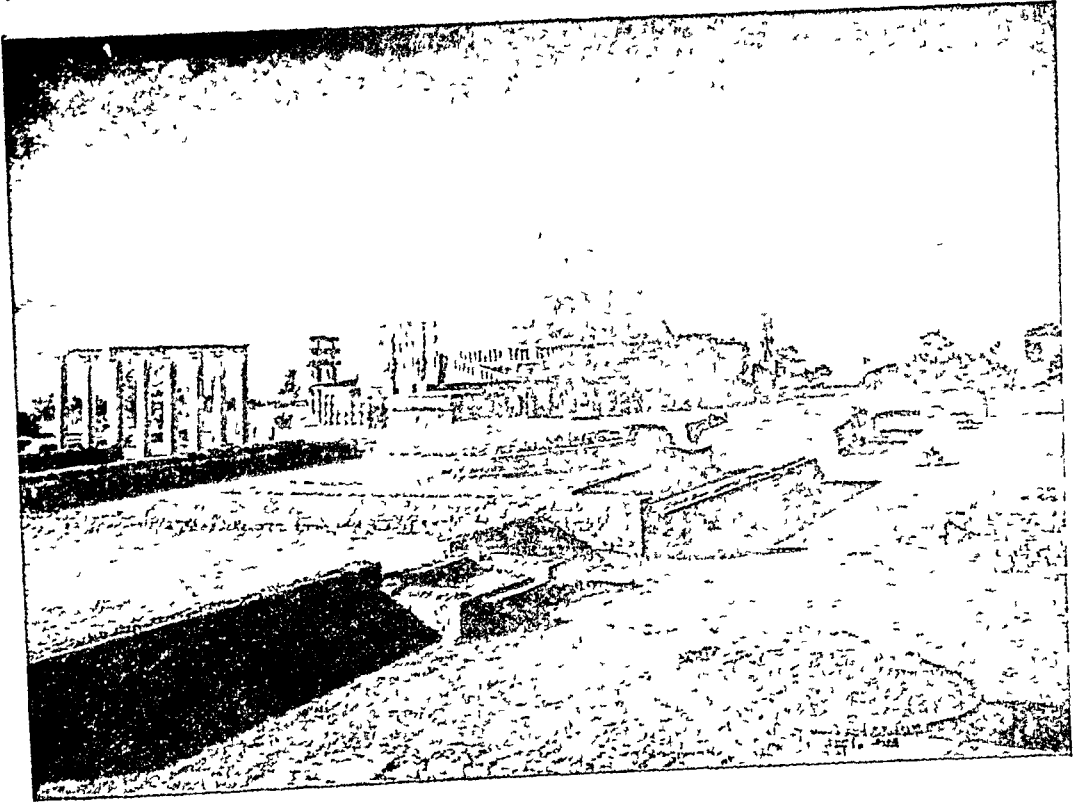
साँचीका स्तूप
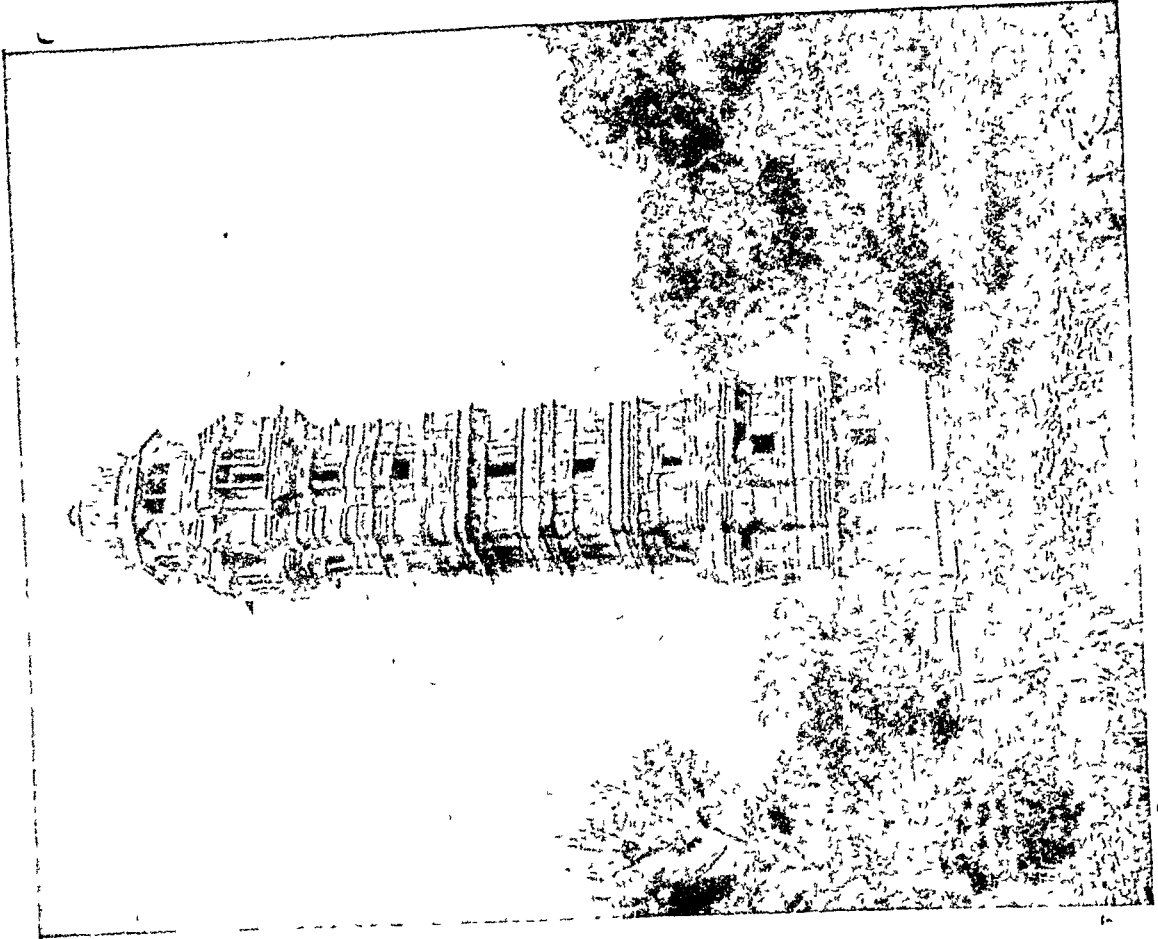
चित्तौड़का विजय-स्तम्भ
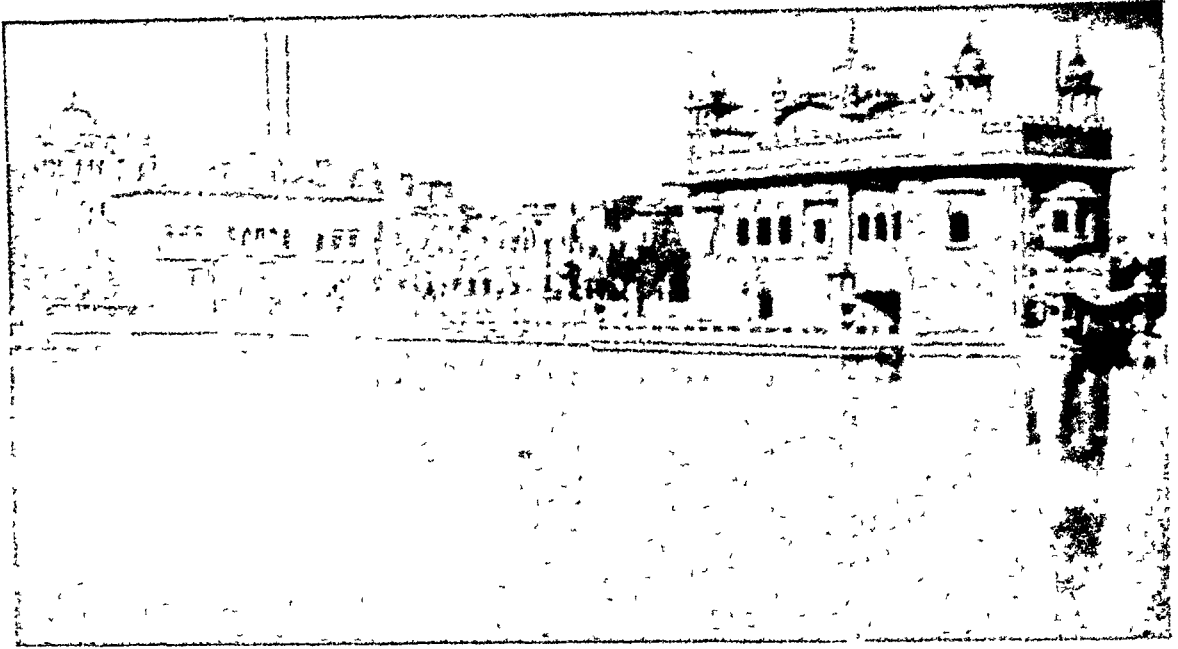
अमृतसरका स्वर्ण-मन्दिर
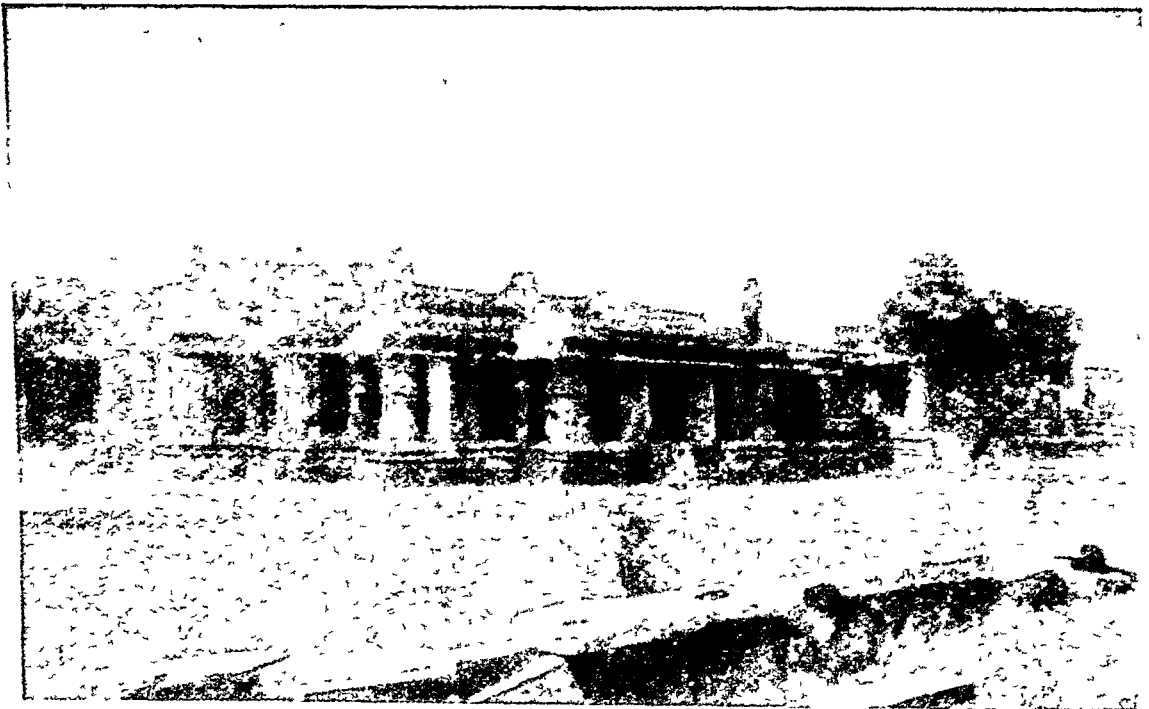
विट्ठल-मन्दिर, विजयनगर

रामराज्य

(लेखक—श्रीशान्तिकुमार नानूराम व्यास, एम्० ए०)

भारतीय संस्कृतिमें राम-राज्य सदासे सुराज्यका पर्यायवाची रहा है। राम-राज्यका वह युग सचमुच अतिशय समुन्नत एवं न्याय और नीतिपर आधारित भारतीय शासन-व्यवस्थाका एक स्वर्णयुग था। तत्कालीन राजनीतिके आदर्श आज भी हमारी पहुँचके बाहर हैं। तब वे शासनतन्त्रके निरन्तर व्यवहारमें आनेवाले दैनिक सूत्र थे। आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाके भी बहुत-से संकेत हमें उस समयकी राज्य-व्यवस्थामें अनायास ही प्राप्त हो जायँगे।

शासनतन्त्रका स्वरूप

रामायणकालीन भारतमें कई स्वतन्त्र राज्य थे—जैसे मिथिला, काशी, कोसल, केकय, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, विशाला, सांकाशी, वङ्ग, अङ्ग, मगध और मत्स्य। हिमालय और विन्ध्य पर्वतोंके मध्यका भूभाग आर्यावर्त था। विन्ध्य-पर्वतके दक्षिणमें वानरों और राक्षसोंके प्रदेश थे। उस समय भारतमें कोई एकच्छत्र साम्राज्य नहीं था। पर अयोध्याके राजाकी सत्ता निकटवर्ती सामन्त राजाओंपर पर्याप्त थी। दशरथको 'नतसामन्तः' कहा गया है। विश्वामित्र उनसे पूछते हैं कि 'क्या आपके सामन्त राजा तथा शत्रुगण आपके अधीन हैं?'

अपि ते संनताः सर्वे सामन्तरिपवो जिताः।

(१।१८।४६)

रामराज्यमें प्रचलित शासनतन्त्रके स्वरूपको मर्यादित राजतन्त्र (Limited Monarchy) कहा जा सकता है। स्थायी सरकारके अभावमें होनेवाली अराजकताके दोषोंसे जनता सुपरिचित थी। जनताका एक वैधानिक शासकद्वारा स्थापित सुदृढ़ शासन-व्यवस्थामें परम विश्वास था।

राजाका पद कुल-परम्परागत था। फिर भी नया शासक वर्तमान राजा तथा मन्त्रिमण्डलके द्वारा प्रस्तावित किया जाता और सभा (धारासभा) के द्वारा चुना जाता था। श्रीरामको युवराज बनानेके पूर्व दशरथने अपनी सभाकी स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। वालीकी अनुपस्थितिमें सारे मन्त्रियोंने सुग्रीवको राजा चुन लिया था। राजा नृगने अपनी सभाके समक्ष अपने पुत्रको उत्तराधिकारी बनानेका प्रस्ताव किया था। ज्येष्ठ पुत्र ही प्रायः युवराजपदका अधिकारी होता था। जब श्रीरामने भरतको राज्य ग्रहण करनेके लिये कहा, तो भरतने उत्तर दिया कि ज्येष्ठ पुत्रके जीते-जी उसके छोटे भाई राजा कभी नहीं बन सकते। किंतु इस नियममें अपवाद भी थे। ज्येष्ठ पुत्र पिता या जनमतद्वारा अधिकारच्युत किया जा सकता था। सगरका ज्येष्ठ पुत्र असमञ्ज रास्तोंसे बालकोंको उठाकर नदीमें फेंक दिया करता था। प्रजाजनोंकी प्रार्थनापर सगरने अपने दुष्ट पुत्रको वनमें निर्वासित कर दिया। राजा ययातिने ज्येष्ठ पुत्र यदुको राज्य न देकर अपने आज्ञाकारी कनिष्ठ पुत्र पूरुको ही राज्य दिया। पुत्रके अभावमें राजाका भाई युवराज बनाया जाता था। श्रीरामके राज्याभिषेकके पश्चात् भरतको युवराज बनाया गया, क्योंकि उस समयतक श्रीरामके कोई पुत्र नहीं था।

अन्तर्वर्ती कालमें नये राजाके चुनावका प्रबन्ध मन्त्रिमण्डलके सदस्य करते, जो 'राजकर्ता' कहलाते थे। दशरथकी मृत्युपर ब्राह्मण अमात्यों, मन्त्रिमण्डलके सदस्यों और राजपुरोहितने राजपद रिक्त होनेसे उत्पन्न होनेवाली समस्याओंपर विचार किया। मन्त्रिमण्डलकी सहमतिसे मुख्य सचिव वसिष्ठने सभाकी ओरसे रामके दूसरे भाई भरतको बुलाया और रामद्वारा छोड़े गये राज्यको स्वीकार करनेको आमन्त्रित किया। भरतने नियम-विरुद्ध राज्य ग्रहण करनेसे इनकार किया और वे रानियों, नागरिकों, सभाके सदस्यों और पुरोहितोंको साथ ले श्रीरामको लौटानेके लिये चित्रकूट गये। जब श्रीरामने दशरथ और कैकेयीके समक्ष की गयी राजत्यागकी अपनी प्रतिज्ञा तोड़ना अस्वीकार कर दिया, तब भरतने श्रीरामकी आज्ञासे चौदह वर्षांतक उन्हींके नामसे कोसल देशका एक प्रबन्धक (Regent) के रूपमें शासनभार सँभाला।

राजागण प्रजाद्वारा ईश्वरीय विभूतिके रूपमें देखे जाते और प्रगाढ भक्तिके पात्र माने जाते थे। श्रीरामने वालीसे कहा था कि 'राजालोग दुर्लभ धर्म, जीवन और लौकिक अभ्युदयके देनेवाले होते हैं। अतः उनकी निन्दा, हिंसा तथा उनके प्रति आक्षेप नहीं करना चाहिये। वे वास्तवमें देवता हैं, जो मनुष्यरूपसे इस पृथ्वीपर विचरते हैं।' मनुष्य पाप करके यदि राजाके दिये हुए दण्डको भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा पुरुषोंकी भाँति स्वर्गलोकमें जाते हैं। रावणके मतानुसार तेजस्वी राजा अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण—

इन पाँचों देवताओंके स्वरूपको धारण किये रहते हैं; इसलिये उनमें इन पाँचोंके गुण—प्रताप, पराक्रम, सौम्य स्वभाव, दण्ड और प्रसन्नता—विद्यमान रहते हैं। अतः सभी अवस्थाओंमें राजाओंका सम्मान और पूजन करना चाहिये।

आदर्श राजाके लक्षण

वाल्मीकिके अनुसार आदर्श राजा गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, उपकार माननेवाला, सत्यवक्ता, दृढप्रतिज्ञ, सदाचारी, समस्त प्राणियोंका हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली, प्रियदर्शन, मनपर अधिकार रखनेवाला, क्रोधको जीतनेवाला, कान्तिमान्, अनिन्दक और संग्राममें अजेय योद्धा होता है।

नारदद्वारा वर्णित आदर्श राजाके लक्षण शारीरिक, मानसिक और नैतिक विशेषताओंमें विभाजित किये जा सकते हैं। शारीरिक दृष्टिसे आदर्श राजाका व्यक्तित्व आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक होता है। उसके कंधे मोटे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी, ग्रीवा शङ्खके समान, ठोढ़ी भरी हुई, छाती चौड़ी, गलेके नीचेकी हड्डी मांससे छिपी हुई, भुजाएँ घुटनोंतक लंबी, मस्तक सुन्दर, ललाट भव्य, चाल मनोहर, शरीर मध्यम और सुडौल, देहका रंग चिकना, वक्षःस्थल भरा हुआ और आँखें बड़ी होती हैं। मानसिक दृष्टिसे वह बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, ज्ञानी, वेद-वेदाङ्गके तत्त्वको जाननेवाला, धनुर्वेदमें प्रवीण, धर्मका ज्ञाता, अखिल शास्त्रोंका मर्मज्ञ, स्मरणशक्तिसे युक्त तथा प्रतिभासम्पन्न होता है। नैतिक दृष्टिसे वह धैर्यवान्, जितेन्द्रिय, सत्यप्रतिज्ञ, पवित्र, यशस्वी, श्रीसम्पन्न, अच्छे विचार और उदार हृदयवाला होता है।

हनुमान्‌के अनुसार आदर्श राजा पूर्णचन्द्रके समान मनोहर मुखवाला; पद्मपत्रके समान विशाल नेत्रोंसे युक्त; रूप और औदार्यसे सम्पन्न; तेज, क्षमा, बुद्धि और यशसे युक्त; सदाचार, धर्म और चातुर्वर्ण्यका रक्षक; परम प्रकाशस्वरूप; राजनीतिमें पूर्ण शिक्षित; ब्राह्मणोंका उपासक; ज्ञानी; शीलवान्, विनम्र, वेद-वेदाङ्गका परिनिष्ठित विद्वान् और सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शुभ अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे युक्त होता है।

अयोध्याकी जनताके अनुसार आदर्श राजा वीर्यवान्, स्थिरप्रज्ञ, विद्वान्, सभी विद्याओं और वेद-वेदाङ्गोंको भलीभाँति जाननेवाला, मधुरभाषी, सज्जन, ईर्ष्या, असूया और मात्सर्यसे दूर, वृद्धों और ब्राह्मणोंका प्रतिपूजक, सदैव शान्त, कृतज्ञ, सदाचारी, शीलसम्पन्न, मार्दव और कोमलतासे युक्त, क्षमावान्, प्रजाप्रिय, दूसरोंके अन्तर्गत विचारोंको तुरंत ताड़नेवाला, दयालु, आलस्य और अभिमानसे शून्य, धर्म, अर्थ और कामका ज्ञाता, गम्भीर, मन्त्रको गुप्त रखनेवाला, भाषा-ज्ञानमें निपुण, सङ्गीत, वाद्य और चित्रकारीका विशेषज्ञ, शत्रुपर आक्रमण और प्रहार करनेमें कुशल, सेना-सञ्चालनमें निपुण, दोषदृष्टिसे रहित, अमित तेजस्वी, रूपवान्, पराक्रमी, बाहर और भीतरसे शुद्ध, युक्तियाँ देनेमें बृहस्पतिके समान, नीरोग, तरुण, असाधारण वक्ता, सुन्दर विग्रहसे सुशोभित, देश-कालके तत्त्वको समझनेवाला और दीनतासे रहित होता है। रामायणके अनुसार उपर्युक्त सभी लक्षण श्रीराममें घटित होते थे।

राजकुमारोंकी शिक्षा

रामायण-कालमें राजकुमारोंको दी जानेवाली शिक्षाका अनुमान श्रीरामके शिक्षणसे किया जा सकता है। श्रीरामको हाथी और घोड़ेकी सवारी, रथचर्या, धनुर्वेद, घोड़ेपर बैठकर शिकार, धनुष और तलवारका प्रयोग, सैन्य-सञ्चालन-प्रणाली, आक्रमण और प्रहारकी शैली, राजनीति, सङ्गीतशास्त्र, वाद्य और चित्रकारी, वेद-वेदाङ्ग तथा उस समयके सभी शास्त्रों और कलाओंकी शिक्षा दी गयी थी। उपाध्याय सुधन्वाने उन्हें सैनिक शिक्षा दी थी तथा वसिष्ठपुत्र सुयज्ञने वैदिक शिक्षा। ब्रह्मचर्य धारणकर श्रीरामने समग्र शिक्षाक्रमका नियमानुसार अभ्यास किया था। विद्वान् गुरुओंने उन्हें भलीभाँति शिक्षित और अनुशासित किया था। शब्दवेधी विद्यामें राजकुमारोंको पारङ्गत बनाया जाता था। मुनिकुमारके वधमें दशरथने तथा ताटकाके वधमें श्रीरामने अपनी शब्दवेधी विद्याकी प्रवीणता दिखलायी थी।

युवराजको सैन्य-सञ्चालनका अभ्यास करानेके लिये उसे उच्च सैनिक पदाधिकारियोंके साथ रक्खा जाता था। सुग्रीवने अपने सेनापति नीलको आदेश दिया था कि सेनाके एकत्रीकरणमें युवराज अङ्गदको जाम्बवान् तथा अन्य उच्च सैनिक अधिकारियोंके सम्पर्कमें रक्खा जाय। अपने विवाहके पश्चात् युवराज श्रीराम राज्य और प्रासादके प्रबन्धमें अपने पिताकी सहायता किया करते थे। उन्हें कई सैनिक कार्रवाइयोंका भी सञ्चालन करना पड़ता था। राजकुमारोंका विवाह उनकी वैदिक और सैनिक शिक्षाके अनन्तर होता था। राजालोग मृगया, सङ्गीत, नृत्य, कथा-वार्ता तथा हास्य-गोष्ठीद्वारा अपना मनोरञ्जन करते थे।

राज-प्रासाद

राजाका महल 'राजवेश्म' कहलाता था। उसमें कई मंजिलें होती थीं। उसे 'विमान' भी कहते थे। उसकी स्थिति

नगरके मध्यमें होती थी। महलसे नगरको जानेवाले मार्ग 'राजमार्ग' कहलाते थे। इन मार्गोंपर धनिकोंके मकान, दूकानें तथा बाजार होते थे। महलोंमें कई चौक होते थे, जिनमें अलग-अलग द्वार होते थे। अयोध्याके राज-प्रासादमे पाँच चौक थे। आरम्भके तीन चौकोंको रथसे पार किया जा सकता था। शेष दोमें पैदल चलना पड़ता था।

राजाका व्यक्तिगत निवासस्थान या रनिवास 'अन्तःपुर' कहलाता था। अन्तःपुरमें तीन कक्ष्याएँ होती थीं। बाह्य-कक्ष्यामें राजाकी सभा लगती थी, जहाँ बैठकर वे अपना सार्वजनिक कार्य करते थे। मध्य कक्ष्यामें राजा अपने भाइयों, गुप्तचरों और मन्त्रियों आदिके साथ गुप्त मन्त्रणा किया करते थे। अन्तिम कक्ष्यामें राजाकी रानियाँ रहती थीं, जहाँ राजा, स्त्री-अनुचरों, नपुंसकों तथा द्वाराध्यक्षोंके अतिरिक्त किसीको प्रवेश करनेकी अनुमति नहीं थी। इसी कक्ष्यामे रानियोंके मनोरञ्जनार्थ एक अशोकवाटिका लगी रहती थी। स्त्रियाँ बाह्य और मध्य कक्ष्यामें नहीं आती थीं। राजमहलके द्वारपाल-को महलमें प्रवेश करनेवालोंपर कड़ी निगाह रखनी पड़ती थी, जिससे धूर्त अथवा शत्रुके चर अंदर न आ सकें। राज-कुमारोंके लिये अलग निवासस्थान बनाये जाते थे। दशरथके सभी राजपुत्र अपने पृथक् और समृद्ध राजमहलोंमें रहते थे। (स्वं स्वं गृहं कुवेरभवनोपमम् १। ७७। १४)।

राजाके कर्तव्य

राजाको व्यक्तिगत हितकी अपेक्षा जनहितका विशेष ध्यान रखना पड़ता था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—राजा सगरको अपनी जनताके कल्याणके लिये अपने दुष्ट पुत्रको निर्वासित कर देना पड़ा था। श्रीरामने प्रजाकी प्रसन्नताके लिये अपनी प्रियभार्या सीताका परित्याग कर दिया। राजाको जन-मतके समक्ष झुकना पड़ता था।

राजा समस्त देशका संरक्षक था। धर्मानुसार न्यायवितरण करना उसका कर्तव्य था। उसका यह एक लक्ष्य था कि चारों वर्ण स्वकर्मनिरत हैं या नहीं। प्रजा राजाको अपनी आयका छठा भाग (बलिषड्भाग) कर-रूपमें देती थी। बदलेमें राजापर दुष्टोंके दमन और साधुओंके रक्षणका भार आ पड़ता था। यदि राजा दण्ड देनेमें प्रमाद कर जाय तो उसे दूसरोंके किये हुए पाप भी भोगने पड़ते हैं।

दशरथके अनुसार राजाको काम और क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दुर्व्यसनोंका सर्वथा त्याग करना चाहिये; स्वयं जाँच-पड़तालकर तथा गुप्तचरोंद्वारा पता लगाकर समुचित न्याय करना चाहिये; मन्त्री, सेनापति आदि अधिकारियों तथा समस्त प्रजाको प्रसन्न रखना चाहिये, तथा भण्डारघर और शस्त्रागारमें उपयोगी वस्तुओंका विशाल संग्रह रखना चाहिये। राजाका आचार-व्यवहार आदर्श होना चाहिये; क्योंकि प्रजा राजाके पदचिह्नोंका ही अनुसरण करती है। वालीके अनुसार इन्द्रियनिग्रह, मनका निग्रह, क्षमा, धर्म, धैर्य, पराक्रम और अपराधियोंको दण्ड देना—ये राजाके गुण हैं। राजाओंको स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिये। नीति और विनय, दण्ड और अनुग्रह—इनका अविवेकपूर्वक उपयोग करना उनके लिये उचित नहीं है। उन्हें अनावश्यक हिंसा नहीं करनी चाहिये; एकके अपराधके लिये अनेकका संहार अनुचित है। उन्हें न्यायप्रिय और लोकप्रिय बनना चाहिये। राजकाजमें राजाको सक्रिय योग देना चाहिये। जब सुग्रीवने राज्यका कार्य मन्त्रियोंको सौंप दिया और उनके कार्योंकी स्वयं देखभालतक नहीं करने लगे, तब हनुमान्‌ने उपालम्भ देकर उन्हें सचेष्ट किया था।

राजाका दैनिक कार्यक्रम क्या होना चाहिये, इसका उदाहरण श्रीरामकी दैनिकचर्यासे प्राप्त होता है। प्रतिदिन सूर्योदयसे पूर्व वन्दिगण आकर स्तुति और सङ्गीतद्वारा राजाको जगाते थे। उठनेके पश्चात् राजा स्नान करते, वस्त्राभूषण धारण करते तथा कुलदेवता, पितरों और विप्रोंकी पूजा करते थे। तत्पश्चात् श्रीराम बाह्य कक्ष्यामें जाकर सार्वजनिक कार्योंको निपटाते थे। यहाँ वे अमात्यों, पुरोहितों, सैनिक अधिकारियों, जानपदों, सामन्त राजाओं, ऋषियों तथा पौरवर्गोंके साथ सभाका कार्य-सञ्चालन करते थे। पौरकार्यमें व्यस्त न होनेपर वे मुनियोंके धर्म-प्रवचनोंका श्रवण करते थे। अपराह्नका समय श्रीराम अपने अन्तःपुरके अशोकवनमें सीताके साथ व्यतीत करते थे। दिनके शेष समयमें वे मध्यकक्ष्यामें गुप्तचरों आदिके साथ महत्त्वपूर्ण मन्त्रणा करते थे।

राजाको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि उसके दर्शनार्थी सभी वर्ग उससे सरलतापूर्वक मिल सकें। स्त्री-पुरुष सभीको अपनी शिकायतें कहनेके लिये राजाके पास प्रातःकाल आनेका अवसर मिलना चाहिये। प्रतिदिन राजाको राजोचित वेश-भूषामें सभागृहमें बैठकर जनताको दर्शन देना चाहिये।

अपनी प्रजाके दोषों और पापोंके लिये राजा ही उत्तरदायी था। राजाको दूसरोंसे दान लेनेका अधिकार नहीं था। लोकापवादका भय राजाओंको अनाचारमें प्रवृत्त होनेसे रोकता

था। राजकीय कार्योंमें वे वंशगत परम्पराओं और संस्कारों-द्वारा नियन्त्रित रहते थे। अपनी अनुपस्थितिमें राजाको देशकी शासन-व्यवस्थाका समुचित प्रबन्ध कर देना चाहिये। शम्बूककी खोजमें जानेसे पहले श्रीरामने लक्ष्मण और भरतको अयोध्याका शासन-भार सौंप दिया था। राजाकी आज्ञा बिना युवराजको नगर छोड़नेका अधिकार नहीं था। वृद्ध हो जाने-पर राजा अपने ज्येष्ठ पुत्रको राज्यभार सौंपकर स्वयं वानप्रस्थ स्वीकार कर लेते थे। अवसर-ग्रहणकी आज्ञा सभासे प्राप्त करनी पड़ती थी। अयोध्याकाण्डके १०० वें सर्गमें श्रीरामने भरतको राजधर्मका सारगर्भित उपदेश दिया है।

आदर्श शासन-प्रबन्ध

आदर्श शासन-प्रबन्धके अन्तर्गत देशकी समृद्धि होनी स्वाभाविक ही थी। राजा दशरथके शासनकालमें सारे अयोध्या-वासी प्रसन्न, धर्मात्मा, धन-धान्यसम्पन्न तथा निर्लोभ थे। वे नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित रहते, मालाएँ और अङ्गराग धारण करते तथा बहुमूल्य खाद्य और पेय पदार्थोंका सेवन करते थे। अपवित्र अन्न भोजन करनेवाला, दान न देनेवाला तथा मनका निग्रह न करनेवाला मनुष्य तो वहाँ कोई दिखायी ही नहीं देता था। अयोध्यापुरीमें एक भी मनुष्य ऐसा नहीं था, जो अग्निहोत्र और यज्ञ न करता हो। क्षुद्र, चोर, दुराचारी अथवा वर्णसंकरका तो वहाँ नाम भी नहीं था। सभी मनुष्य स्त्री, पुत्र और पौत्र आदि परिवारके साथ सुखसे रहते थे।

रामराज्यका वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस समय विधवाओंका विलाप नहीं सुनायी पड़ता था, सर्पादि दुष्ट-जन्तुओंका भय नहीं था, रोगोंकी आशङ्का नहीं थी, कोई चोर नहीं था, पापका कोई स्पर्श भी नहीं करता था तथा बूढ़ोंको बालकोंके अन्त्येष्टि-संस्कार नहीं करने पड़ते थे। सभी लोग प्रसन्न थे, सभी धर्मपरायण थे तथा श्रीरामको देखते हुए एक-दूसरेको कष्ट नहीं पहुँचाते थे। उस समय लोग दीर्घजीवी और पुत्र-पौत्रसम्पन्न होते थे तथा उन्हें किसी प्रकारका रोग या शोक नहीं होता था। वृक्षोंकी जड़े मजबूत होती थीं और वे सर्वदा फल-फूलोंसे लदे रहते थे। मेघ इच्छा होते ही वर्षा करते थे और वायु सुखकारी होकर प्रवाहित होता था। सब लोग अपने-अपने कर्मोंसे सन्तुष्ट रहकर उन्हींका आचरण करते थे। सारी प्रजा सुखी, सन्तुष्ट और पुष्ट थी। दुर्भिक्षका भय नहीं था। स्त्रियाँ सदा सुहागिनी और पतिव्रता थीं। आग लगनेका किञ्चित् भी भय नहीं था। कोई प्राणी जलमें नहीं डूबता था। वात, ज्वर या क्षुधाका डर नहीं था। सभी नगर और राष्ट्र धन-धान्यसे सम्पन्न थे।

सभा

रामराज्यकी लोकसभाको परिषद्, समिति, संसद् या केवल सभा कहते थे। उसका महत्त्व बहुत-कुछ आधुनिक ऐसेम्बलीके ही समान था। सभाका अध्यक्ष राजा स्वयं होता था या उसकी अनुपस्थितिमें राजपुरोहित। सभापतिका आसन राजासन, परमासन या धर्मासन कहलाता था। सभाके सदस्य, जो प्रजाके विभिन्न वर्गोंके प्रतिनिधि होते थे, प्रकृति, सभासद् या आर्य-मिश्र कहलाते थे। आर्य या आर्यमिश्र नामसे उन्हें सम्बोधित किया जाता था। नगर और ग्राम दोनोंका प्रतिनिधित्व करने-वाली सभा पौरजानपद (सभा) कहलाती थी।

सभामें सरकारी और गैर-सरकारी दो प्रकारके सदस्य होते थे। सरकारी सदस्योंमें अमात्यगण अथवा मन्त्रिमण्डलके सदस्य होते थे तथा गैर-सरकारी सदस्योंमें नगर और राष्ट्रके प्रतिनिधि होते थे। राजधानीके प्रतिनिधि 'पौर' थे तथा शेष राष्ट्रके प्रतिनिधि 'जानपद' थे। पौर-जानपदोंमें 'नैगम' और 'श्रेणीमुख्य' भी सम्मिलित थे। 'नैगम' व्यापारी संघोंके प्रतिनिधि थे तथा 'श्रेणीमुख्य' नगर-स्वायत्त-समितियोंके अध्यक्ष थे। पौरों और जानपदोंके लिये राजधानीमें पृथक् निवासस्थान बने थे। यद्यपि रामायणमें यह स्पष्ट नहीं कहा गया है कि पौर और जानपद सरकारद्वारा नियुक्त होते थे या जनताद्वारा चुने जाते थे, फिर भी 'नैगमाः', 'ग्रामघोषमहत्तराः', 'श्रेणीमुख्याः', 'गणवल्लभाः', 'जनमुख्याः'-जैसे नामोंसे किसी-न-किसी प्रकारका चुनाव ध्वनित होता है।

वर्णों, हितों तथा प्रदेशोंकी दृष्टिसे भी सभामें प्रतिनिधित्व-की सूचना मिलती है। ब्राह्मण वर्ण और आध्यात्मिक हितोंके प्रतिनिधि पुरोहित और ब्राह्मण मुनि हुआ करते थे। वैश्यवर्ण और आर्थिक हितोंका प्रतिनिधित्व राजधानीकी ओरसे नैगम और गणवल्लभ (व्यापारिक श्रमिक संघोंके प्रतिनिधि) तथा प्रान्तोंकी ओरसे 'ग्रामघोषमहत्तराः' (किसानों और ग्वालोंके प्रतिनिधि) करते थे। क्षत्रिय वर्ण और सैनिक हितोंका प्रतिनिधित्व सामन्तराजा, राजन्यवर्ग, सेनापति तथा बलाध्यक्ष करते थे। इस प्रकार सभाके सदस्य सम्भवतः सभी द्विज थे।

'जो मनुष्य अपने पितरोंके निमित्त श्राद्ध नहीं करता, उसको बुद्धिमान् मनुष्य मूर्ख कहते हैं।'

न सन्ति पितरश्चेति कृत्वा मनसि यो नरः।
श्राद्धं न कुरुते तत्र तस्य रक्तं पिबन्ति ते॥

(आदित्यपुराण)

'जो मनुष्य दुर्बुद्धिवश पितृलोक अथवा पितृगणको न मानकर श्राद्ध नहीं करता, उसके पितर उसका रक्तपान करते हैं।'

अतः मनुष्यको पितृगणकी सन्तुष्टि तथा अपने कल्याणके लिये श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। इस संसारमें श्राद्ध करनेवालेके लिये श्राद्धसे बढ़कर और कोई वस्तु कल्याणकारक नहीं है। इस विषयकी पुष्टि महर्षि सुमन्तु भी करते हैं—

श्राद्धात्परतरं नान्यच्छ्रेयस्करमुदाहृतम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः॥

'संसारमें श्राद्धसे बढ़कर और कोई दूसरा कल्याणप्रद मार्ग नहीं है। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको प्रयत्नपूर्वक श्राद्ध करना चाहिये।' श्राद्धकी आवश्यकतापर अनेकों ऋषियोंके वचन मिलते हैं।

अब हम अनेक ऋषि-महर्षियोंके उन वचनोंको उद्धृत करते हैं, जिनसे 'श्राद्धकी महत्ता' का सुन्दररूपसे परिचय हो सकेगा।

यो येन विधिना श्राद्धं कुर्यादेकाग्रमानसः।
व्यपेतकल्मषो नित्यं याति नावर्तते पुनः॥

(कूर्मपुराण)

'जो प्राणी जिस किसी भी विधिसे एकाग्रचित्त होकर श्राद्ध करता है, वह समस्त पापोंसे रहित होकर मुक्त हो जाता है और पुनः संसारचक्रमें नहीं आता।'

आयुः पुत्रान् यशः स्वर्गं कीर्तिं पुष्टिं बलं श्रियम्।
पशून् सौख्यं धनं धान्यं प्राप्नुयात् पितृपूजनात्॥

(गरुडपुराण)

'पितृपूजन (श्राद्धकर्म) से सन्तुष्ट होकर पितर मनुष्योंके लिये आयु, पुत्र, यश, स्वर्ग, कीर्ति, पुष्टि, बल, वैभव, पशु, सुख, धन और धान्य देते हैं।'

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः॥

(मार्कण्डेयपुराण)

'श्राद्धसे तृप्त होकर पितृगण श्राद्धकर्ताको दीर्घायु, सन्तति, धन, विद्या, सुख, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करते हैं।'

पुष्टिरायुस्तथा वीर्यं श्रीश्चैव पितृभक्तितः।

(महा० अनुशासन०)

'पितरोंकी भक्ति करनेसे पुष्टि, आयु, वीर्य तथा लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है।'

तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि।
कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति॥

(ब्रह्मपुराण)

'जो मनुष्य शाकके द्वारा भी श्रद्धा-भक्तिसे श्राद्ध करता है, उसके कुलमें कोई भी दुखी नहीं होता।'

उद्धृतेष्वपि पिण्डेषु याश्चाम्बुकणिका भुवि।
ताभिराप्यायनं तेषां ये तिर्यक्त्वं कुले गताः॥
ये चादन्ताः कुले बालाः क्रियायोग्या ह्यसंस्कृताः।
विपन्नास्ते तु विकिरसम्मार्जनजलाशिनः॥
भुक्त्वा चाचमनं यच्च जलाद्यच्चाङ्घ्रिशोधनम्।
एवमाप्यायनं वत्स बहूनामपि बान्धवैः॥
श्राद्धं कुर्वद्भिरन्नाप्सु शाकैरपि हि जायते॥

(ब्रह्मपुराण)

'श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक किये हुए श्राद्धमें पिण्डोंपर गिरी हुई पानीकी नन्ही-नन्ही बूँदोंसे पशु-पक्षियोंकी योनिमें पड़े हुए पितरोंका पोषण होता है। जिस कुलमें जो बाल्यावस्थामें ही मर गये हों, वे सम्मार्जनके जलसे ही तृप्त हो जाते हैं। श्राद्धका महत्त्व तो यहाँतक है कि श्राद्धमें भोजन करनेके बाद जो आचमन किया जाता है तथा पैर धोया जाता है, उसीसे बहुत-से पितृगण सन्तुष्ट हो जाते हैं। बन्धु-बान्धवोंके साथ अन्न-जलसे किये गये श्राद्धकी तो बात ही क्या है, केवल श्रद्धा-प्रेमसे शाकके द्वारा किये गये श्राद्धसे भी पितर तृप्त होते हैं।'

यो वा विधानतः श्राद्धं कुर्यात् स्वविभवोचितम्।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्प्रीणाति मानवः॥
ब्रह्मेन्द्ररुद्रनासत्यसूर्यानलसुमारुतान्।
विश्वेदेवान् पितृगणान् पर्यग्निमनुजान् पशून्॥
सरीसृपान् पितृगणान्यच्चान्यद्भूतसंज्ञितान्।
श्राद्धं श्रद्धान्वितः कुर्वन् प्रीणयत्यखिलं जगत्॥

(ब्रह्मपुराण)

'जो मनुष्य अपने वैभवके अनुसार विधिपूर्वक श्राद्ध करता है, वह साक्षात् ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त प्राणियोंको तृप्त करता है। श्रद्धापूर्वक विधि-विधानसे श्राद्ध करनेवाला मनुष्य ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, नासत्य (अश्विनीकुमार), सूर्य,

अनल (अग्नि), वायु, विश्वेदेव, पितृगण, मनुष्यगण, पशुगण, समस्त भूतगण तथा सर्पगणको भी सन्तुष्ट करता हुआ सम्पूर्ण जगत्को सन्तुष्ट करता है।'

एवं सम्यग् गृहस्थेन देवताः पितरस्तथा।
सम्पूज्या हव्यकव्येन अन्नेनापि स्वबान्धवाः॥
परत्र च परां पुष्टिं लोकांश्च विपुलान् शुभान्।
श्राद्धकृत्समवाप्नोति यशश्च विपुलं नरः॥

(ब्रह्मपुराण)

'इस प्रकार गृहस्थको चाहिये कि वह हव्यसे देवताओंका, कव्यसे पितृगणोंका तथा अन्नसे अपने बन्धुओंका सत्कार तथा पूजा करे। श्रद्धापूर्वक देव, पितृ, बान्धवोंके पूजनसे मनुष्य परलोकमें पुष्टि, विपुल यश तथा उत्तम लोकोंको प्राप्त करता है।'

अन्यायोपार्जितैरर्थैर्यच्छ्राद्धं क्रियते नरैः।
तृप्यन्ति तेन चाण्डालपुल्कसाद्यासु योनिषु॥
गतपापा विशुद्ध्यन्ति ब्राह्मण्यमुपयान्ति ते।
ब्राह्मणानां तथैवान्ये न तृप्तिं प्रापयन्ति वै (तैः)॥
पिशाचत्वमनुप्राप्य कृमिकीटत्वमेव च।
एवं ये यजमानस्य यच्च तेषां द्विजन्मनाम्॥
कश्चिज्जलादिविक्षेपः शुचिरुच्छिष्टमेव वा।
तेनान्येन प्रकारेण तत्तद्योन्यन्तरं गताः॥
प्रयान्त्याप्यायनं वत्स सम्यक् श्राद्धक्रियावताम्॥

(स्कन्दपुराण)

'अन्यायसे उपार्जित धनसे भी किये हुए श्राद्धसे चाण्डाल, पुल्कस आदि योनियोंमें भोगवश पहुँचे हुए पितृगण सन्तुष्ट होते हैं। इतना ही नहीं, वे पितृगण पापरहित होकर ब्राह्मणत्व प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणोंकी तृप्ति भी उपायान्तरसे नहीं हो सकती। यजमान अथवा आचार्य—किसी भी द्विजके पितृगण यदि पिशाच हो गये हों या कीड़े-मकोड़े हो गये हों तो उन सबके निमित्त तर्पणका जल भले ही उच्छिष्ट हो, परंतु वह तत्तद् योनियोंमें पड़े हुए पितरोंके सन्तोषके लिये पर्याप्त हो जाता है। अतः श्राद्धकर्म अवश्य करना चाहिये।'

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेषु तर्पिताः॥
आत्मानं गुर्विणी गर्भमपि प्रीणाति वै यथा।
दोहदेन तथा देवाः श्राद्धैः स्वांश्च पितॄन् नृणाम्॥

(गरुडपुराण)

'वसु, रुद्र, आदित्यगण, पितर और श्राद्ध-देवता—ये मनुष्योंसे सन्तुष्ट होकर पितरोंकी तृप्ति करते हैं। जिस प्रकार गर्भवती स्त्रियाँ दोहद (गर्भ) की रक्षाद्वारा अपनी रक्षा करती हैं, उसी प्रकार देवगण श्राद्धद्वारा अपनी तथा मनुष्योंकी रक्षा करते हैं।'

ब्रह्मेन्द्ररुद्रनासत्यसूर्याग्निवसुमारुतान्।
विश्वेदेवानृषिगणान् वयांसि मनुजान् पशून्॥
सरीसृपान् पितृगणान् यच्चान्यद्भूतसंज्ञकम्।
श्राद्धं श्रद्धान्वितं कुर्वन् तर्पयत्यखिलं हि तत्॥

(विष्णुपुराण)

'श्रद्धायुक्त होकर श्राद्धकर्म करनेसे केवल पितृगण ही तृप्त नहीं होते, बल्कि ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, दोनों अश्विनीकुमार, सूर्य, अग्नि, अष्ट वसु, वायु, विश्वेदेव, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी और सरीसृप आदि समस्त भूतप्राणी तृप्त होते हैं।'

यो वै श्राद्धं नरः कुर्यादेकस्मिन्नपि वासरे।
तस्य संवत्सरं यावत् संतृप्ताः पितरो ध्रुवम्॥

(हेमाद्रि, नागरखण्ड)

'जो मनुष्य एक दिन भी श्राद्ध करता है, उसके पितृगण वर्षभरके लिये सन्तुष्ट हो जाते हैं—यह निश्चित है।'

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति)

'श्राद्धकर्मसे सन्तुष्ट होकर पितर मनुष्योंके लिये आयु, संतति, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष और राज्य प्रदान करते हैं।'

ये यजन्ति पितॄन् देवान् ब्राह्मणांश्च हुताशनान्।
सर्वभूतान्तरात्मानं विष्णुमेव यजन्ति ते॥

(यमस्मृति)

'जो लोग देवता, ब्राह्मण, अग्नि और पितृगणकी पूजा करते हैं, वे सबकी अन्तरात्मामें रहनेवाले विष्णुकी ही पूजा करते हैं।'

अरोगः प्रकृतिस्थश्च चिरायुः पितृपुत्रवान्।
अर्थवानर्थयोगी च श्राद्धकामो भवेदिह॥
परत्र च परां तुष्टिं लोकांश्च विविधान् शुभान्।
श्राद्धकृत् समवाप्नोति श्रियं च विपुलां नरः॥

(देवलस्मृति)

'श्राद्धकी इच्छा करनेवाला प्राणी नीरोग, स्वस्थ, दीर्घायु, योग्य सन्ततिवाला, धनी तथा धनोपार्जक होता है। श्राद्ध करनेवाला मनुष्य विविध शुभ लोकोंको प्राप्त करता है,

परलोकमें सन्तोष प्राप्त करता है और पूर्ण लक्ष्मीकी प्राप्ति करता है।'

पितॄन् पितामहांश्चैव द्विजः श्राद्धेन तर्पयेत्।
आनृण्यं स्यात् पितॄणां च ब्रह्मलोकं च गच्छति॥
(व्यासः)

'जो द्विजाति श्राद्धद्वारा अपने मृत पितृ-पितामहादि पितरोंको सन्तुष्ट करता है, वह पितृ-ऋणसे मुक्त होकर ब्रह्मलोकको जाता है।'

पुत्रो वा भ्रातरो वापि दौहित्रः पौत्रकस्तथा।
पितृकार्यप्रसक्ता ये ते यान्ति परमां गतिम्॥
(अत्रिसंहिता)

'पुत्र, भाई, पौत्र अथवा दौहित्र यदि पितृकार्यमें अर्थात् श्राद्धानुष्ठानमें संलग्न रहें तो अवश्यमेव परम गतिको प्राप्त करेंगे।'

महाभारतके अनुशासनपर्व (८७। ९—१७) में प्रतिपदासे लेकर अमावास्यातक प्रत्येक तिथिमें श्राद्ध करनेका अलग-अलग फल युधिष्ठिरजीसे भीष्मजीने बतलाया है।

इसी प्रकार ब्रह्मपुराणमें भी प्रतिपदासे लेकर अमावास्यातक श्राद्ध करनेके विभिन्न फल बतलाये गये हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मपुराणमें विभिन्न नक्षत्रोंमें श्राद्ध करनेका भी भिन्न-भिन्न फल लिखा है।

उपर्युक्त श्राद्धकी महत्ताको सूचित करनेवाले अनेक प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध है कि श्राद्धका फल केवल पितरोंकी तृप्ति ही नहीं है, अपि तु उससे श्राद्धकर्ताको भी विशिष्ट फलकी प्राप्ति होती है। अतः द्विजातिमात्रको अपने परमाराध्य पितरोंके श्राद्धकर्मद्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक उन्नति प्राप्त करनी चाहिये।

विदेशियोंकी दृष्टिमें श्राद्धका महत्त्व

(लेखक—श्रीएस० कान्त बी० ए०, एफ० बी० आई०)

श्राद्धके विषयमें एक संस्कृतके विद्वान् अंग्रेजने अपनी 'आर्योंकी महानता' नामक पुस्तकमें लिखा है—"हिंदुओंमें श्राद्धकी प्रथा बड़ी प्राचीन है और आधुनिक समयतक अति पवित्र तथा शुभ मानी जाती है। यह ईसाई मतके 'अशाए रब्बानी' (Holy Communion) के सदृश ही है। निःसन्देह हिंदू अभीतक पितरोंके प्रति श्राद्ध तथा अन्य कर्मोंको विशेष श्रद्धा और आदरभावसे करते हैं। मेरा विचार है कि हमारे ईसाई मतमें पूर्वजोंकी स्मृति न मानना एक त्रुटि है। किसी-किसी देशमें श्राद्ध करनेकी प्रथा रूढ़िमें परिणत हो गयी है; परंतु वास्तवमें उस कार्यक्रममें उन लोगोंके हृदयोंमें अपने पूर्वजोंके प्रति अगाध श्रद्धा और स्मरणभाव निहित रहता है, ऐसे भाव प्रशंसनीय ही नहीं, वरं इनको प्रोत्साहित करना भी सर्वथा उचित है। ईसाई-धर्मके प्रारम्भिक कालमें उस मतके अनुयायी अपने पूर्वजोंकी विगत आत्माओंके कल्याण तथा सद्गतिके लिये प्रार्थना किया करते थे। दक्षिण देशमें तो वर्तमान कालमें भी 'सर्व संत तथा आत्माओंका दिवस' (All Saints and All Souls Day) अपने मनकी शान्ति और कामनापूर्तिके निमित्त मनाया जाता है। मेरा मत है कि इस प्रकारकी प्रथा प्रत्येक धर्मानुयायियोंमें होना आवश्यक है। पुराने समयमें मनुष्योंका यह दृढ़ विश्वास कि यदि वे अपने मृत पूर्वजों और सम्बन्धियोंकी आत्माओंको उनकी मङ्गल-कामनाकी प्रार्थना प्रतिदिन करके सन्तुष्ट न करेंगे, अथवा उनकी तृप्तिके निमित्त दान देनेमें संकोच करेंगे तो वे असन्तुष्ट आत्माएँ उनकी शान्ति-उपलब्धिमें बाधक बनेंगी, सर्वथा सारहीन नहीं था।"

हिंदुओंके श्राद्ध करनेकी प्रथाकी सराहना मुस्लिम नृप शाहजहाँने भी की है। उसका पुत्र सम्राट् औरंगजेब विख्यात शासक हुआ है; परंतु उसका सबसे निकृष्ट कलङ्क अपने पिताको पूरे सात वर्ष कारागारमें रखना है। प्रत्येक इतिहासकारने इस घटनाका उल्लेख किया है; परंतु आकिल खाँने अपनी 'वाकेआत आलमगीरी'में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और साथ ही शाहजहाँका अपने पुत्रके नाम निम्न पत्र भी उद्धृत किया है—

'बाबा बखश बाहदरे मन सलामत। दीरोजे साहिबे नौलख बुदम, इमरोज बारकाबदारी शख्से मोहताज, चे लश्करे हिंदुबच्चे मुसलमान हिमा अज करदाए खुद पशैमान ख्वा हंद शुद।

ऐ पिसर तू अजब मुसलमानी,
ब पिदरे जिंदा आब तरसानी।
आफरीन बाद हिंदवान सद बार,
मै देहंद पिदरे मुर्दाराबा दायम आब॥

इसका अर्थ है 'अभी कलतक नौ लाख (अर्थात् लाखों) अश्वारोही सैनिक मेरे अधीन थे, परंतु आज मुझे स्वयं अश्वारोहणके लिये भी दूसरोंका आसरा लेना पड़ता है; तथापि मुझे विश्वास है कि हिंदू तथा मुस्लिम सैनिकोंको, जिन्होंने मेरे साथ विश्वासघात किया है, अपने कुकृत्यपर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।'

'हे पुत्र! तू भी विचित्र मुसल्मान है जो अपने जीवित पिताको जलके लिये भी तरसा रहा है। शत-शत बार प्रशंसनीय हैं वे हिंदू, जो अपने मृत पिताको भी जल देते हैं।'

महात्मा गान्धी और हिंदू-संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे)

हिंदू-संस्कृतिकी दृष्टिसे महात्मा गान्धी हिंदू-संस्कृतिके सर्वराष्ट्रिय प्रतीक थे । हिंदू-संस्कृतिको जिस रूपमें जगत् अपनी वर्तमान मनोभूमिकामें समझ सकता था, वही रूप धारणकर मानो हिंदू-संस्कृति ही महात्मा गान्धीके रूपमें अवतीर्ण हुई थी ।

महात्मा गान्धी इस बातके प्रमाण हैं कि हिंदू-संस्कृति कोई 'साम्प्रदायिक' चीज नहीं है । यह इतनी सार्वभौम है, जितनी कोई भी चीज सार्वभौम हो सकती है । हम जिसे हिंदू-धर्म कहते हैं, वह भी कोई साम्प्रदायिक धर्म नहीं है । वह किसी देश, काल या व्यक्तिसे बँधा नहीं है—सार्वभौम है, सनातन है और प्राणिमात्रके लिये है । 'हिंदू' नाम अवश्य ही दैशिक है । परप्रत्ययसे हो या स्वप्रत्ययसे, इस देशका नाम हिंदू है । पर यह देश विश्वको अपनेसे अलग नहीं करता । महात्मा गान्धीका नाम भी एक व्यक्तिका नाम है । पर इस नामका जो नामी व्यक्ति है, वह किसी मानव-समाजको अपनेसे अलग नहीं करता । महात्मा गान्धीको इस बातका गर्व था कि हम हिंदू हैं । वे अपनेको सनातनी हिंदू कहा करते थे । पर इसमें कोई साम्प्रदायिकताकी गन्ध नहीं थी, कोई साम्प्रदायिक अहङ्कार नहीं था । वे इस बातके प्रमाण थे कि हिंदू साम्प्रदायिक नहीं होता । उसके हृदयमें सबके लिये वही निर्मल प्रेम होता है, जो अपने देश या जातिवालेके लिये होता है । महात्मा गान्धी अपनेको हिंदू कहते हुए अपने आपको ईसाई, मुसल्मान, पारसी—सब कुछ अनुभव करते थे । खिलाफतपर आये हुए सङ्कटके कालमें उनका हृदय मुसल्मानोंके हृदयके साथ एक हो गया । ज़ेकोस्लोवाकियापर जर्मनोंने जब आक्रमण किया, तब ज़ेकोस्लोवाकियाका नेतृत्व करनेके लिये वे तैयार हो गये । ब्रिटेनके प्राण जब जर्मन-आक्रमणके धक्कोंसे सङ्कटमें पड़ गये, तब अशस्त्रपाणि महात्मा गान्धीके प्राण ब्रिटेनके मर्मस्थानमें पहुँच गये । कराची-जेलमें जब अली-भाइयोंसे मिलनेके लिये बाबा गुरुदत्तसिंह गये थे, तब धर्मकी चर्चा करते हुए मौलाना महम्मद अलीने उनसे कहा था कि 'संसारमें कहीं भी मुसल्मानोंपर कोई सङ्कट आ जाय तो हर मुसल्मानका यह फर्ज होता है कि उन मुसल्मानोंकी रक्षाके लिये दौड़ जाय ।' बाबा गुरुदत्तसिंहने इसपर अपने सिख-धर्मका परिचय देते हुए यह बतलाया कि 'सिखोंका यह धर्म है कि कहीं भी किसी मनुष्यपर—चाहे वह सिख, मुसल्मान, ईसाई, पारसी, कोई क्यों न हो—कोई अन्याय या अत्याचार होता हो तो उसकी मददके लिये सिख दौड़ जाय ।' बाबा गुरुदत्तसिंहने सिख-धर्मके नामसे यह हिंदू-धर्मकी ही बात बतलायी थी । पर हिंदू-धर्म केवल मानव-समाजका ही नहीं, वह तो अखिल प्राणि-जगत्का सङ्कट दूर करनेके लिये है ।

हिंदू-धर्मका यह मर्म महात्मा गान्धीके हृदयका सहज आनुवंशिक संस्कार था । यदि वे स्वतन्त्र भारतमें जन्म लिये होते तो जगत्की पीडित मानव-जनताके उद्धारमें उनका जीवन लगता और उनके पीछे अखिल भारत अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ खड़ा होता । परंतु उन्होंने जन्म लिया था पराधीन भारतमें । अतः उनके विश्व-प्रेमी हृदयमें भारतको स्वाधीन करनेका ही धर्म सर्वप्रथम अभ्युदित हुआ । दक्षिण अफ्रिकामें वे असहाय पराधीन भारतवासियोंकी लड़ाई ही लड़नेके लिये गये थे । तबसे भारतकी पूर्ण राजनीतिक स्वाधीनता सिद्ध होनेतक उन्होंने कई लड़ाइयाँ लड़ीं । ये सब लड़ाइयाँ, ये सब अहिंसात्मक संग्राम भारतको राजनीतिक स्वाधीनता दिलानेके ही मानो विविध कार्यक्रम थे । इन सारे संग्रामोंकी यह खूबी थी कि उनके विश्व-प्रेमी हृदयमें थोड़ी देरके लिये भी किसीके प्रति कोई शत्रुभाव नहीं उत्पन्न हुआ । गीतामें भगवान्‌ने अपने भक्तका यह लक्षण बतलाया है कि वह 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' होता है । अर्थात् वह विश्व-प्रेमी होता है, किसी प्राणीसे वह द्वेष नहीं कर सकता, सबका हितू और सबपर दया करनेवाला होता है । साधु-महात्माओंमें यह चीज होती है । पर युद्धके प्रसङ्गमें ऐसे विश्व-प्रेम, मैत्री और करुणाकी बात अद्भुत है ।

महात्मा गान्धीका अपने जीवनमें अपना कोई स्वार्थ नहीं था । बार-बार उन्होंने अपने लेखों और व्याख्यानोंमें कहा है कि मेरे जीवनका उद्देश्य मोक्ष, आत्मज्ञान अथवा ईश्वर-प्राप्ति है । भारतको राजनीतिक स्वाधीनता दिलाना ईश्वर-प्राप्तिके साधनमार्गका ही एक पड़ाव था । वे अपने ईश्वरको प्रेममय जानते थे । उन प्रेममयको पानेका मार्ग भी प्रेममय ही हो सकता था । यही उनके विश्व-प्रेमका मर्म था । उस विश्व-प्रेमको कभी उन्होंने कलङ्कित या मलिन नहीं

होने दिया। उनकी राजनीति ईश्वरके साथ योगकी एक साधना थी। जिस हिंदू-संस्कृतिमे वे पले थे, उसीने उन्हें यह वर दिया था। हिंदू-संस्कृतिके सिवा यह चीज उन्हे और कौन दे सकता था; हिंदू-संस्कृतिमे ही प्रत्येक मनुष्यके जीवनका परम लक्ष्य ईश्वरको पाना है। हिंदू-समाज-व्यवस्था इसी लक्ष्यके आधारपर प्रतिष्ठित है। हिंदू-धर्मनीति, राजनीति, समाजनीति और विविध शास्त्र, काव्य और कलाएँ मानव-समाजको उसी ओर ले चलती हैं। इसीलिये हिंदुओं-की यह पुण्यमयी कर्मभूमि धन्य है और धन्य है उसकी वह परम्परा, जिसमे जगदुद्धारके इस महामन्त्रका उपदेश करने-वाले महापुरुष सदासे होते चले आये हैं। अकेली एक भारत-भूमिने किसी एक ही समय जगत्को इतने महामानव महात्मा दिये हैं, जितने अन्य सब देशोंने सब समय मिलाकर भी नहीं दिये है। परम्परा तो वही है, इसमे सन्देह नही। राजनीतिक क्षेत्रमें तो यह साधुता और महात्मापन निश्चय ही अद्भुत है; परंतु महात्मा गान्धीकी ईश्वरनिष्ठा देखिये कि वे भारतकी स्वाधीनताको भी छोड़ देनेको तैयार होते हैं यदि वह अहिंसाके रास्तेसे न मिलती हो। पर वह निष्ठा ही क्या, जिसमें शङ्का उपस्थित हो। सन् ३७ के आरम्भमे एक अंग्रेज ईसाई-पत्रकारने उनसे प्रश्न किया था—

'क्या आपको यह विश्वास है कि अंग्रेज आपके अहिंसात्मक आन्दोलनके सामने झुककर आपके देशका राज्य आपको सौंपकर इस देशसे शान्तिके साथ चले जायँगे ?'

महात्मा गान्धीने उत्तर दिया, 'हाँ, मैं ऐसा ही समझता हूँ।'

प्रश्न—'आपके इस विश्वासका आधार क्या है ?'

उत्तर—'ईश्वर और उसकी न्यायकारितापर मेरा विश्वास है।'

पत्रकार उनके इस उत्तरसे चकित और मुग्ध हुआ। उसने कहा, 'हमलोग ईसाई कहलाते है। पर अधिक सच्चे ईसाई तो आप हैं। मैं आपके ये शब्द बड़े-बड़े अक्षरोमे छापूँगा।'

महात्माजीने कहा, 'अवश्य छापिये। यदि ऐसा न हुआ तो भगवान् प्रेमके भगवान् नहीं रहेंगे, हिंसाके भगवान् हो जायँगे।'

पर क्या सच्ची ईश्वरनिष्ठा कभी विफल हुई है ? सन् १९४७के १५ अगस्तको सचमुच ही अंग्रेज इस देशको स्वाधीनकर यहाँसे शान्तिके साथ चले गये। पृथ्वीके इतिहासमे यह पहली घटना है कि किसी देशने अहिंसाके बलपर एक विदेशी साम्राज्यका अन्तकर अपना स्वराज्य स्थापित किया हो। महात्मा गान्धीके व्यक्तित्वसे आकर्षित होकर लोग उनके पीछे चलते थे। पर बहुत कम लोगोंको यह विश्वास हुआ होगा कि अंग्रेज यहाँसे शान्तिके साथ चले जायँगे। सत्य और अहिंसा क्या किसी राजनीतिके आधार बन सकते हैं ? इन तार्किक प्रश्नोत्तरोंका कोई अन्त नही आयेगा। पर महात्मा गान्धीके नेतृत्वमें पराधीन भारतकी अहिंसा-नौका सत्यके भरोसे स्वाधीनताके किनारे लग गयी, इसका साक्षी तो आजका सारा जगत् ही है।

सत्यपर प्रतिष्ठित राजनीति और अहिंसापर प्रतिष्ठित रणनीति ही महात्मा गान्धीकी जगत्को सबसे बड़ी देन है।

ईश्वरनिष्ठाके बिना भी भारतकी इस अद्भुत स्वाधीनताके सम्बन्धमे विचार करनेका एक राजनीतिक तरीका है। उसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि द्वितीय महायुद्धके फलस्वरूप जगत्की सर्वराष्ट्रिय परिस्थिति इतनी बदल गयी और अंग्रेजोंके लिये रूसकी बढ़ती हुई शक्ति, आजाद हिंद फौजकी घटनासे उत्पन्न होनेवाला भविष्यके लिये भय, १९४२ की क्रान्तिसे प्रकट होनेवाली भारतकी तैयारी आदिके मुकाबले अपना साम्राज्य सँभालना इतना कठिन मालूम हुआ कि हिंदुस्थानको छोड़ देनेमे ही उन्होने अपनी कुशल समझी। पर इन ऊपरी तर्कोंमे अपने सहारेकी कोई बात नहीं है, न यह महात्मा गान्धी और उनकी ईश्वरनिष्ठाको ही समझना है। हाँ, महात्मा गान्धीकी-सी ईश्वरनिष्ठा हमारे देशके नेतृत्वमे बनी रहेगी तो उससे जो विजय आज घरमे प्राप्त हुई है, वह बाहर बड़े-बड़े राष्ट्रोके अखाड़ेमे भी प्राप्त होगी। ईश्वरनिष्ठारहित सत्य और अहिंसाकी कोरी बाते कोई अर्थ नहीं रखतीं, न कोई महत्कार्य साधन करनेमे समर्थ हो सकती हैं। महात्मा गान्धीकी अमोघ शक्तिका रहस्य उनकी ईश्वरनिष्ठा है। ईश्वरके अनेक नाम और रूप हैं। महात्मा गान्धी उस ईश्वरको सत्यके नामसे जानते थे और सत्यचिन्तन, सत्यआचरण, सत्यभाषणके रूपमें उन्हे देखते थे। इसी सत्यसे उनका अहिंसाव्रत और ब्रह्मचर्यव्रत निकला। यह ईश्वरनिष्ठा हिंदू-संस्कृतिका मूल आधार है। इसी निष्ठासे उत्पन्न होनेवाला इसका दूसरा आधार धर्म है। ईश्वर-प्राप्ति लक्ष्य है, धर्म साधन है। इनके बीचमे रहकर अर्थ और काम भी मानव-जीवनके परम लक्ष्यके साधन बनते हैं। हिंदू-संस्कृतिके इस चतुर्विध पुरुपार्थसम्बन्धी आनुवंशिक

संस्कारोंके आधारपर महात्मा गान्धीने अपने जीवनका तत्त्वज्ञान निर्माण किया था।

हिंदू-धर्मपर उनकी निष्ठा कैसी थी, यह उन्हींके शब्दोंमे देखने योग्य है। महात्माजी कहते हैं—'मैं अपने-आपको सनातनी हिंदू कहता हूँ; क्योंकि—

(१) 'मै वेदों, उपनिषदो, पुराणो और सभी हिंदू-धर्मग्रन्थोको मानता हूँ ·····'

(२) 'मैं वर्णाश्रम-धर्मको भी मानता हूँ······'

(३) 'गोरक्षाधर्मपर भी मेरा विश्वास है······।'

(४) 'मूर्तिपूजापर मेरा अविश्वास नहीं है।'

(यंग इंडिया २९ सितंबर १९२०)

महात्मा गान्धी पूर्वजन्मके संस्कार और आनुवंशिक संस्कारोको भी मानते थे। वर्णविभागको वे जन्मसे मानते थे; क्योंकि 'यदि ऐसा न माना जाय तो वर्णव्यवस्थाका कुछ अर्थ ही नही रहता।' महात्माजी वर्णधर्मको मनुष्यका 'सहज धर्म' यानी जन्मके साथ ही उत्पन्न हुआ धर्म मानते थे। उन्होने कहा था कि 'इस सहज धर्मका यदि पालन किया जाय तो समाजमे जो उपद्रव आज हो रहे हैं, एक-दूसरेके प्रति जो द्वेषपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा बढ़ रही है, धन इकट्ठा करनेके लिये जो कष्ट उठाये जा रहे है, असत्यका जो प्रचार हो रहा है और जो युद्धके साधन तैयार किये जा रहे है, वे सब शान्त हो जायँ। इस नीतिका पालन सारा संसार करे अथवा न करे, सभी हिंदू करे या न करे; पर जितने लोग इस व्यवस्थापर चलेंगे, उतना लाभ तो संसारको होगा ही। मेरा विश्वास बढ़ता ही जाता है कि वर्णधर्मसे ही जगत्का उद्धार होगा।' महात्माजी आधुनिक समाजवाद या साम्यवादके कायल नही थे। उनका तो था धर्मवाद, ईश्वरवाद, हिंदू-संस्कृतिका परम्परावाद। इस सनातनवादके सामने समाजवाद या साम्यवाद-जैसे अल्पजीवी वादोका कोई महत्त्व नहीं रहता। महात्मा गान्धीके सामने समाजवादी, साम्यवादी—सभी थे। पर समाजवादी अपने समाजवादमे महात्मा गान्धीका तेज नहीं देख पाते थे। उन्हे महात्मा गान्धीके अनुयायी होकर रहना पड़ता था। और साम्यवादियोके लिये महात्मा गान्धीके विरुद्ध खड़े होनेके सिवा और कोई गति नहीं थी। हिंदुस्थानने अपनाया गान्धीवाद ही; क्योकि वह हिंदू-संस्कृतिके अनुकूल था। हिंदू-संस्कृति ही उसकी मूल प्रेरणाशक्ति थी। आजकल कुछ लोग गान्धीवादको हिंदू-संस्कृतिसे भिन्न एक दूसरे ही रूपमें पेश करते है। यह उचित नहीं है; क्योंकि कोई चीज अपने मूलसे कटकर अलग नहीं रह सकती। हिंदू-संस्कृतिसे विच्छिन्न होनेके कारण ही बौद्धमत इस देशमें ठहर नही सका, यद्यपि बौद्धमतकी वे आधारभूत वस्तुएँ, जो बौद्धमतकी प्राणशक्ति थीं, हिंदू-संस्कृतिमें पहले भी थीं और आज भी हैं। गान्धीवादकी जीवनी शक्ति यथार्थमें हिंदू-संस्कृति ही है, यह कभी नहीं भूलना चाहिये।

गान्धीजीकी कुछ बाते अवश्य ही सनातनी हिंदू जनताकी दृष्टिमे अशास्त्रीय थीं। ऐसा होना स्वाभाविक है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसी बातोमें भी महात्मा गान्धी अपने दृष्टिकोणके अनुसार हिंदू-संस्कृतिके आधारपर ही खड़े होते थे। ऐसी बातोमे मतभेदका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। उदाहरणार्थ, महात्मा गान्धी वर्णधर्म और वर्णव्यवस्थाको मानते हुए भी खान-पान और शादी-ब्याहके सम्बन्धमे वर्तमान प्रतिबन्धोंको नहीं मानते थे। पर इस सिद्धान्तको तो वे मानते ही थे कि विवाह-बन्धन समान संस्कृतिके लोगोमें ही ठीक रहता है। खान-पानके विषयमें शुचि और संयत रहना उन्हे भी अभीष्ट था। इसमे सन्देह नहीं कि खान-पान और वैवाहिक सम्बन्धोके विषयमे शास्त्रीय व्यवस्था कोई ऐसी चीज नहीं है, जो तोड़ी जाय। 'शुनां कपीनामिव वर्णसंकरः' किसी भी मानवसमाजके लिये मङ्गलकारक नहीं हो सकता। अन्त्यज भाइयोके विषयमे तथा मुसलमानोंके विषयमे भी उनकी विचार-पद्धति संस्कारमूलक अधिकारभेदके अंशमे शास्त्रीय पद्धतिको छोड़े हुई थी, ऐसा कोई शास्त्रज्ञ पुरुष कहे तो उसका यह कहना कदापि असंगत नहीं है, तथापि अन्त्यजोंको हरिजन बनानेकी तथा सच्ची हिंदू-मुस्लिम-एकता स्थापित करनेकी उनकी महत्त्वाकाङ्क्षा सदा ही वन्दनीय रहेगी। इन दोनो समस्याओको सुलझानेकी कोई शास्त्रानुकूल विधि निकाली जा सके तो वह महात्मा गान्धीकी महान् सेवाके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पण करनेका ही काम करेगी। महात्मा गान्धी कहते है कि 'दुनियामे किसी संस्कृतिका भण्डार इतना भरा-पूरा नहीं है, जितना हमारी संस्कृतिका है। हमलोगोने उसे अभी जाना नहीं है, हम उसके अध्ययनसे दूर रक्खे गये हैं, हमे उसके गुण जानने और माननेका मौका ही नहीं दिया गया। हमने उसके अनुसार चलना करीब-करीब त्याग दिया है।' यह अंग्रेजी राजके समयकी हमारी दशाका वर्णन है। पर महात्मा गान्धीके प्रतापसे हमलोग अब स्वाधीन है, अब हमे अपनी संस्कृतिके उस भण्डारसे अपनी आवश्यकताएँ पूरी करनी

चाहिये और अपनी सब जटिल समस्याओंके समाधान उसीमेसे निकालने चाहिये । समाजवादी समाधान काम नहीं देंगे ।

समाजवाद और गान्धीवादमें वही अन्तर है, जो पाश्चात्त्य संस्कृति और भारतीय संस्कृतिमे है । समाजवादमें भारतीय संस्कृतिके चतुर्विध पुरुषार्थमेंसे केवल दो ही पुरुषार्थ हैं—'अर्थ' और 'काम', जिनका 'धर्म' और 'ईश्वर'के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । समाजवादकी आर्थिक व्यवस्था उद्योग-धंधोंका केन्द्रीकरण है, गान्धीवादमे उद्योग-धंधोंके केन्द्री-करणका निषेध है । कारण, उससे जनता गरीब हो जाती है, सारी पूँजी कुछ थोड़े-से मनुष्योंके हाथोंमे इकट्ठी होती है, पूँजीपतिशाही बढ़ती है, बहुत लोग बेकार हो जाते हैं । इससे पूँजीपति और मजदूरोंमें वर्गयुद्ध चलता है, परस्पर द्वेष फैलता है । गान्धीवाद उद्योग-धंधोंको सारी जनतामें बाँट देता है । इससे पूँजी ही बँट जाती है, धनका अनायास ही एक प्रकारसे समवितरण होता है और वर्गयुद्धका कोई कारण नहीं रहता । भारतीय वर्ण-व्यवस्थामे यही खूबी है—न कोई वैसी व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता रहती है, न बेकारी ही बढ़ती है । वर्ग-युद्ध, पूँजीका विषम वितरण और बेकारी—इन सब बुराइयोंकी जड़ है । व्यापारमें महायन्त्रों (बड़े-बड़े कल-कारखानो) का उपयोग, जिसका हिंदूस्मृतिकारोंने निषेध किया है । मनुस्मृतिमे महायन्त्रोपसेवनकी उपपातकोंमे गणना की गयी है । महात्मा गान्धी आरम्भसे बड़े-बड़े कल-कारखानोंका विरोध ही करते रहे हैं । इसी सिलसिलेमे उन्होंने हाथके कते सूतसे हाथका बुना खद्दर पहननेकी प्रथा चलायी । अन्न और वस्त्र, कम-से-कम इन दो अत्यावश्यक पदार्थोंके सम्बन्धमे भारतका प्रत्येक ग्राम अपनी आवश्यकता स्वयं पूरी कर ले—यही उनका मुख्य हेतु था, जो निश्चय ही हिंदू-संस्कृतिके अनुरूप था । स्वाधीनता प्राप्त होनेके बादसे उद्योग-धंधोंके इस विकेन्द्रीकरणकी उपेक्षा बढ़ती जा रही है और गान्धीवाद बहुत पिछड़ता-सा दीख रहा है ! यह लक्षण अच्छा नहीं है । राष्ट्रकी आर्थिक व्यवस्थामे महायन्त्रोंका उपयोग वहींतक ठीक है, जहाँतक सर्वराष्ट्रिय समस्याओंका सामना करनेमे उनकी आवश्यकता हो—उदाहरणार्थ, युद्ध-सामग्री आदि तैयार करनेमे । घरकी आर्थिक व्यवस्थामें महायन्त्रोंका वर्जन ही ठीक है ।

आज चोरबाजारी, रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार जितने बढ़े हैं, उतने किसी समयमें भी नहीं थे । यह सही है कि यह नैतिक अधःपतन अंग्रेजी राज्यकी अनीति-परम्परासे प्राप्त हुआ है । पर महात्मा गान्धी-जैसे मनस्वी नेताके जीवित रहते हुए, स्वाधीन होनेके साथ ही हम इस नैतिक अधःपतनका अन्त नहीं कर सके; बल्कि स्वाधीनतामें इसकी और भी वृद्धि हुई । इसका कारण क्या है ? क्या यही तो इसका कारण नहीं है कि महात्मा गान्धीके सीधे-सरल रास्तेपर चलना छोड़कर हम सर्वराष्ट्रिय प्रतिष्ठा-लाभके लोभमे पड़ गये ! समाजवादी आदर्शोंको जल्दी-से-जल्दी सिद्ध कर दिखानेके मोहने हमे अभिभूत कर लिया ? हमारे ठाट-बाट और शाहीखर्च बढ़ गये; सादगी, सेवा और त्यागकी भावना हुकूमतकी शानमें हवा हो गयी ! महात्मा गान्धीके बार-बार कहनेपर एक बार हमने कंट्रोल उठा दिया, पर जनतामें वह जागरण पैदा करनेकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया, जो धर्मबुद्धिसे ही पैदा किया जा सकता था । कंट्रोल उठा देनेको 'जूआ' तक कहा गया और यह प्रतीक्षा की जाने लगी कि कंट्रोल उठा देनेकी नीति कब विफल होती है और कब हम फिरसे कंट्रोल बैठाते हैं । महात्मा गान्धीकी मृत्युके बाद कंट्रोल उठा देनेकी नीतिके विफल होनेमे देर नहीं लगी और फिरसे कंट्रोल बैठ गया । अब तो कंट्रोल और भी बढ़ा है ! चोरबाजारी और भ्रष्टाचार जारी ही हैं । कंट्रोलके तो ये नित्य सहचर हैं । यह बात भी सर्वथा निश्चित नहीं है कि देशमे अन्नकी कमी है । अधिकांशमें अन्न और वस्त्रकी कमी चोरबाजारीसे ही उत्पन्न हुई दीख पड़ती है । फिर सुशासनका यह लक्षण तो नहीं है कि जनताके जीवनके हर चीजपर सरकारी कंट्रोल हो । उत्तम शासन वही कहा जा सकता है, जिसमे जनताको स्वाधीनताका अनुभव हो और उसमे धर्मबुद्धि जागे, नैतिकताका विकास हो । महात्मा गान्धी यदि जीवित होते तो इस जडयन्त्रवत् शासनमे कोई विलक्षण चैतन्य उत्पन्न हुआ होता । उनकी स्मृतिसे यह चैतन्य अब भी उत्पन्न किया जा सकता है । बहुत कुछ उन लोगोंकी सादगी, निःस्वार्थ सेवा और त्यागकी भावनापर निर्भर है, जिनके हाथोंमे देशके शासन-सूत्र हैं ।

महात्मा गान्धीने देशके राजनीतिक नेताओं और कार्य-कर्ताओंका विदेशी वेश उतरवाकर उन्हें विशुद्ध खद्दर पहना दिया । यह सचमुच ही विदेशी पथपर चले हुए राष्ट्रका एक महान् संस्कार था । अब इस विशुद्ध वेशके अंदर वह सम्पूर्ण संस्कृति आ जानी चाहिये, जिसके मूलतत्त्व हैं ईश्वर और धर्म । महात्मा गान्धीको हिंदुस्थानपर अंग्रेजोंका बोझ उतना नहीं अखरता था, जितना अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृतिका । खद्दर-वेशमें यह विदेशी सभ्यता बहुत जगह छिपी हुई है । महात्माजी इस सभ्यताको 'असभ्यता', 'राक्षसी' कहते थे । उन्होंने

बहुत पहले यह लिख रक्खा था कि 'अभी इससे बचनेकी कोई तदबीर हो सकती है; पर जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, वक्त हाथसे निकलता जा रहा है ! मुझे तो धर्म प्यारा है—इसलिये पहला दुःख तो मुझे यही है कि हिंदुस्थान धर्मभ्रष्ट होता जा रहा है ! यहाँ धर्मसे मेरा मतलब उस धर्मसे है, जो सब धर्मोंका आधार है । सच तो यह है कि हमलोग ईश्वरसे विमुख होते जा रहे हैं ।' महात्मा गान्धी स्वयं सदा ईश्वरके सम्मुख रहते थे । ईश्वरकी प्रेरणाके बिना वे कोई काम नहीं करते थे । उनपर किसी चीजका दबाव नहीं पड़ता था । दुनियाके किसी वाद, विपत्ति या भौतिक बल-वैभवका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था । यही उनकी राष्ट्रनीतिकी मौलिकताका कारण है । 'निर्बलके बल राम' कितने प्रबल हैं, इसका वे अपने हृदयमें अनुभव करते थे और जगत्में उसका तेज प्रसृत होता था । वे चाहते थे, सारा देश ईश्वरसम्मुख हो । इसलिये उनके सब उद्योग और आन्दोलन उपवास और ईश्वर-प्रार्थनासे आरम्भ होते थे । अब तो विधान-परिषद्में ईश्वर-प्रार्थना करके कार्य आरम्भ करनेके प्रस्तावको ही ठुकरा दिया है ! पर उनके ईश्वर-प्रार्थना और उपवास ही सबसे महान् आश्रय थे । इसकी शिक्षा उन्हें बचपनमें माता-पितासे मिली थी । हिंदुओंके घर-घरमें आज भी जहाँ सनातन हिंदू-धर्मकी मान्यता है, यह शिक्षा किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान है । महात्मा गान्धीने इसे जगाया अपने राष्ट्रको ईश्वरके सम्मुख करनेके लिये । श्रीमद्भगवद्गीताको वे माता कहते थे । उन्होंने एक जगह लिखा है—'मुझे जन्म देनेवाली मेरी पार्थिव माता तो मर गयी, पर इस शाश्वती (गीता) माताने उनका स्थान हर तरहसे पूरा किया है । यह तबसे सदा मेरे साथ रहती है । इसमें कभी कोई बदल नहीं हुआ, कभी इसने मुझे असहाय नहीं छोड़ा । जब कोई कठिनाई या दुःख सामने आता है, तब मैं इसकी गोदमें जा बैठता हूँ ।' सभी सद्ग्रन्थोंके प्रति उनका आदर था, पर गीताग्रन्थ उनका इष्ट था । भगवान्के नामोंमें रामनाम उनका इष्ट था और भक्तिग्रन्थोंमें था श्रीरामचरितमानस । मुसलमानोंको समझानेके लिये कि राम, रहीम—सभी नाम उस अल्लाहके हैं; किसी भी नामसे कोई उसका स्मरण करे, स्मरण होता है उसी एक ईश्वरका—इसलिये वे अपनी सार्वजनिक प्रार्थनाओंमें रामके साथ रहीम, कृष्णके साथ करीम, ईश्वरके साथ अल्लाह नाम भी जोड़ते थे (यद्यपि इसमें सन्देह है कि सामान्य मुस्लिम जनतापर इसका क्या प्रभाव पड़ता होगा ।) पर उनका इष्ट नाम था राम ही । 'रघुपति राघव राजाराम पतितपावन सीताराम' की ही उनके यहाँ धुन लगती थी । सूर, तुलसी, मीरा, नरसी आदिके भजन उनकी प्रार्थनाओंमें गाये जाते थे । यह सारा प्रयत्न इसीलिये था कि देश भगवान्के सम्मुख हो, हिंदू और मुसलमान भगवान्के सम्मुख होकर सच्चे भ्रातृस्नेहसे इस देशमें रहें । पर हिंदू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृतिमें कोई विलक्षण भेद होनेसे हिंदू-मुस्लिम-एकतामें दीर्घकालका विलम्ब अनिवार्य है । हाँ, यह नामनिष्ठा हिंदू-संस्कृतिमें परम्परासे चली आयी है । अर्थमूलक आधुनिक संस्कृतिने उसे बहुत कुछ दबा दिया है । महात्माजीने उसे जगानेका जो प्रयत्न किया है, वह उनके बाद भी जारी रहेगा तो वह बहुत दूर नहीं है, शीघ्र ही देश ईश्वरके सम्मुख होगा । महात्मा गान्धीकी बदौलत आज रेडियोके सब स्टेशनोंसे रामधुन और संतोंके भजन सुननेको मिलते हैं । पर यह चीज फैशनके तौरपर केवल जडयन्त्रमें ही न रह जाय, इसकी ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है । (अब तो रेडियोमें गीता और रामचरितमानसपर भी रोक लग गयी है !) देशमें, स्थान-स्थानमें जो तीर्थ हैं, जहाँ-जहाँ जो सत्संग, ईश्वरके भजन और भगवन्नाम-कीर्तन होते हैं, वे सब अज्ञात रहकर भी निःस्वार्थभावसे यही महत्कार्य कर रहे हैं । इस बातको समझना और जनताको इसमें प्रोत्साहित करना सरकारका एक मुख्य काम होना चाहिये, यदि महात्मा गान्धी जो मार्ग दिखा गये, उसपर उसका विश्वास है । देशकी सच्ची सेवा शासनविधान या नये-नये कानून बनानेसे उतनी नहीं होती, जितनी जनतामें धर्म-बुद्धि जगानेसे होती है । महात्मा गान्धीके प्रयत्नोंकी मौलिकता और उनकी आकर्षणशक्ति इसी ईश्वर-सम्मुखतामें ही है ।

महात्मा गान्धी बहुत जल्दी चले गये ! उन्होंने एक जीवनमें जितना किया, उतना कोई कर नहीं सकता । पर उनके संकल्पमें अभी बहुत कुछ करना बाकी था । वे अपने देशमें रामराज्य स्थापित हुआ देखना चाहते थे । स्वाधीनता तो मिल गयी, अशोकका चक्र भी आ गया; पर धर्मराज युधिष्ठिरका किला हमारी राजधानीमें अभी उजड़ा हुआ ही पड़ा है । उन पाण्डवोंकी कीर्तिका गान अभी हमारी राष्ट्रनीतिमें नहीं सुनायी दे रहा है, जिनके विषयमें कहा गया है—

धर्मो विवर्द्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन
पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन ।
शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन
माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः ॥

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं जिन महाराज युधिष्ठिरको इन्द्रप्रस्थके राजसिंहासनपर बैठाकर आदर्श धर्मराज्य स्थापित किया, उनकी या उनके राज्यकी पावन स्मृति अभीतक हमारे किसी राष्ट्रचिह्नतकमें नहीं आयी है। युधिष्ठिरका वह धर्मराज्य रामराज्यका ही जीर्णोद्धार था। उसी परम्परामें महात्मा गान्धी यहाँ वह रामराज्य स्थापित करना चाहते थे, जिसमें सब मतों और वादोंका समन्वय एक धर्मवादमें होता और सब अपने-अपने कर्ममें निरत होकर स्नेहपूर्वक एक दूसरेका सुख-संवर्द्धन करते और कोई भी प्राणी दुखी न होता। भारतीय प्रकृति और संस्कृतिकी वह एक अनोखी वस्तु होती, जिसे देखकर सारा जगत् प्रफुल्लित होता और फिर एक बार जगत्के सब देशों और वादोंको अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा इस देशसे मिलती। महात्मा गान्धी तो चले गये ! अब तो हम सबके हाथमें इतना ही है कि उनकी स्मृतिको हम सदा जगाते रहें और जिस संकल्पको पूरा करनेके लिये वे जीते, उसे हम पूरा करें—अपने देशमें अपनी दिव्य, उदार, ईश्वराभिमुख संस्कृतिके अनुसार रामराज्य स्थापित करें—जिसमें कोई अधर्म, पाप, ताप या अनीति न रह जाय।

महात्मा गान्धीका जीवन हिंदू-संस्कृतिके अनुरूप जीवनका एक विशिष्ट दृष्टान्त है। हिंदू-संस्कृतिमें जिस प्रकार इस बातका अनुशासन है कि मनुष्यको कैसे जीना चाहिये, उसी प्रकार इस बातका भी अनुशासन है कि मनुष्यको कैसे मरना चाहिये। जीवनका प्रथम क्षण जन्म है, उससे मनुष्यका धर्म निश्चित होता है। अन्तिम क्षण मृत्यु है, उससे उसकी भावी गति निश्चित होती है। इस गतिके परापर अनेक भेद हैं। परम गति स्वयं भगवद्धाम है। वही मानव-जीवनका परम लक्ष्य है। महात्मा गान्धीके जीवनका वही परम ध्येय था। उसी परम ध्येयका वाचक प्रणव अर्थात् 'ॐ' या 'राम' है। मृत्युके द्वारा उस परम ध्येयको प्राप्त करनेमें गीताका यह अनुशासन है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

'एकाक्षर ब्रह्म ॐ का उच्चारण और भगवान्का स्मरण करता हुआ जो कोई देह छोड़कर जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

सामान्य मनुष्योंके लिये सहसा यह साध्य नहीं होता। कारण, जीवनमें जिस वस्तुका कोई अभ्यास नहीं, वह अन्तिम क्षणमें कहाँसे टपक पड़ेगी। कहते हैं, बड़े-बड़े तपस्वी भी मृत्युक्षणमें डिग जाते हैं। 'जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥' पर महात्मा गान्धी मृत्युक्षणमें भी महात्मा ही थे। 'हे राम' यही उनका अन्तिम श्वास था। 'हे राम' कहकर उनके प्राण निकल गये। अपने समग्र जीवनके साररूपसे यही 'राम' शब्द जगत्को देकर वे परधामको सिधार गये।

उनकी सारी कहानी, उनकी सारी शिक्षा, उनकी सारी प्राणशक्ति इसी एक शब्दमें आ गयी है। इससे बढ़कर कोई मनुष्य किसी मनुष्यको कोई चीज नहीं दे सकता। यह जिसने दिया, उसने सब कुछ दिया। इस रामनामका, कृष्णनामका, भगवान्के किसी नामका हम आश्रय लें तो महात्मा गान्धीके संकल्पका रामराज्य हम स्थापित कर सकते हैं। रामनामकी महिमाके विषयमें महात्मा गान्धीने 'नवजीवन'में लिखा था, 'रामनामके प्रतापसे पत्थर तैरने लगे, रामनामके बलसे वानर-सेनाने रावणके छक्के छुड़ा दिये, रामनामके सहारे हनुमान्ने पर्वत उठा लिया और राक्षसोंके घर अनेक वर्ष रहनेपर भी सीता अपने सतीत्वको बचा सकी। भरतने चौदह सालतक प्राण धारण कर रक्खा, क्योंकि उनके कण्ठसे रामनामके सिवा दूसरा कोई शब्द नहीं निकलता था। इसीलिये तुलसीदासने कहा कि कलिकालका मल धो डालनेके लिये रामनाम जपो। ····· मैं अपना अनुभव सुनाता हूँ। मैं संसारमें व्यभिचारी होनेसे बचा हूँ तो रामनामकी बदौलत। ··· जब-जब मुझपर विकट प्रसंग आये हैं, मैंने रामनाम लिया है और मैं बच गया हूँ। अनेक संकटोंसे रामनामने मेरी रक्षा की है। ·········करोड़ों हृदयोंका अनुसन्धान करने और उनमें ऐक्यभाव पैदा करनेके लिये एक साथ राम-नामकी धुन-जैसा दूसरा कोई सुन्दर और सबल साधन नहीं है।' हम कह सकते हैं कि महात्मा गान्धीकी अनन्य रामनाम-निष्ठासे प्रसन्न होकर रामने ही भारतको यह राजनीतिक स्वाधीनता दी है। अतः अब इसका उपयोग भी राम-कार्यमें ही होना चाहिये। तभी इसकी रक्षा और समृद्धि होगी और जगत्में सर्वत्र रामराज्य प्रस्तुत होगा।

हिंदू-संस्कृतिमें गौका स्थान

(लेखक—श्रीशिवभगवानजी गोयनका, बी० ए०)

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥
नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च ।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः ॥

स्वतन्त्र भारतके लिये गो-वध सबसे बड़ा कलङ्क है। यह खेदका विषय है कि इस प्रश्नको साम्प्रदायिक प्रश्न कहकर हमारी 'धर्म-निरपेक्ष' सरकारद्वारा अभीतक टाला जा रहा है। यह प्रश्न धार्मिक एवं आर्थिक तो है ही। साथ-ही-साथ प्रमुखतः सांस्कृतिक भी है। इसी तथ्यका प्रतिपादन इस लेखका प्रधान लक्ष्य है।

शास्त्रोंके अनुसार गाय धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—चारों पदार्थोंको देनेवाली है। पुराणोंमें लिखा है कि जगत्में सर्वप्रथम वेद, अग्नि, गाय तथा ब्राह्मणकी रचना हुई। मनुष्यके लिये वेदोंमें यज्ञानुष्ठान बताया गया है। 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' एवं ब्राह्मणोंके द्वारा ही वह विधि सम्पन्न होती है। अग्निरूपी मुखसे देवताओंको यज्ञकी आहुतियाँ प्राप्त होती हैं—'अग्निमुखा हि देवा भवन्ति' और गायसे देवताओंको समर्पण करने योग्य हवि प्राप्त होता है। यही कारण है कि गायको 'हविर्दुघा' (हविको देनेवाली) कहते हैं।

यज्ञमें जौ, तिल आदि जिस अन्नकी आवश्यकता होती है, उसको पैदा करनेके लिये गौकी सन्तान अर्थात् बैलकी आवश्यकता होती है।

यज्ञकी वेदीको स्वच्छ एवं पवित्र करनेके हेतु गो-मूत्र तथा गोबरकी आवश्यकता होती है। यज्ञाग्निको जलाने तथा प्रज्वलित करनेके लिये गोबरके कंडे (उपले) की आवश्यकता होती है।

पञ्चगव्यका महत्त्व तथा यज्ञमें यजमानद्वारा पञ्चगव्यका प्राशन सर्वविदित है।

आध्यात्मिक दृष्टिसे गायका महत्त्व अवर्णनीय है। महाभारतके अनुशासन-पर्वमें महर्षि च्यवनने राजा नहुषसे इस महत्त्वका वर्णन करते हुए कहा है—

गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिदिहाच्युत ॥
कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव ।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम् ॥

'मैं इस संसारमें गौओंके समान दूसरा कोई धन नहीं समझता। गौओंके नाम और गुणोंका कीर्तन-श्रवण, गौओंका दान तथा उनका दर्शन—इनकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। ये समस्त कार्य सम्पूर्ण पापोंको दूर करके परम कल्याणको प्रदान करनेवाले हैं।'

प्रजापति ब्रह्मा, जगत्पालक विष्णु तथा भगवान् शङ्करद्वारा भी कामधेनुकी स्तुति की गयी है। यथा—

त्वं माता सर्वदेवानां त्वं च यज्ञस्य कारणम् ।
त्वं तीर्थं सर्वतीर्थानां नमस्तेऽस्तु सदानघे ॥
(स्कन्द-ब्रह्म-धर्मारण्य १० । १८)

'हे पापरहिते! तुम समस्त देवोंकी जननी हो। तुम यज्ञकी कारणरूपा हो, तुम समस्त तीर्थोंकी महातीर्थ हो, तुमको सदैव नमस्कार है।'

गायके विश्वरूपका वर्णन अथर्ववेद, ब्रह्माण्डपुराण, महाभारत, स्कन्दपुराण, पद्मपुराण एवं भविष्यपुराणमें है। अथर्ववेदमें गायके रोम रोममें देवताओंका निवास माना गया है। वेदने तो यहाँतक कहा है, 'एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्।' यहाँपर गायके रूपको सारे ब्रह्माण्डका रूप बताया गया है।

सर्वगुणसम्पन्न पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णकी बाल-लीलाका सम्बन्ध तो गायके साथ अविच्छिन्न एवं अमिट है। गो-पालक गोपालके सरस वर्णनमें तो व्रजभाषा-साहित्य सूरके सूर्यसे अद्यावधि उद्दीप्त है। आनन्द-कन्द भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा इन्द्र-पूजनकी प्रथाको बंद कराके गोवर्धन-पूजाका प्रारम्भ इसका ज्वलन्त प्रमाण है कि गोचर-भूमिकी कितनी उपादेयता है, गायका हमारे जीवनमें क्या स्थान है।

गो-मन्त्र-जपसे पापका नाश हो जाता है। जो मनुष्य निम्नलिखित मन्त्रका प्रतिदिन प्रातः-सायं आचमन करके जप करता है, उसके दिनभरके पाप नष्ट हो जाते हैं—

घृतक्षीरप्रदा गावो घृतयोन्यो घृतोद्भवाः ।
घृतनद्यो घृतावर्तास्ता मे सन्तु सदा गृहे ॥
घृतं मे हृदये नित्यं घृतं नाभ्यां प्रतिष्ठितम् ।
घृतं सर्वेषु गात्रेषु घृतं मे मनसि स्थितम् ॥
गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च ।
गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥

इत्याचम्य जपेत् सायं प्रातश्च पुरुषः सदा।
यदह्ना कुरुते पापं तस्मात् स परिमुच्यते॥

(महाभारत अनुशासन० ८० । १-४)

'गाय घी और दूध देनेवाली है। घृतको उत्पन्न करनेवाली, घृतकी नदी और घृतका भँवररूप है। घृत सदा मेरे हृदयमें रहे, मेरी नाभिमें रहे, मेरे सारे अङ्गोंमें रहे और मेरे मनमें स्थित रहे। गौएँ सर्वदा मेरे गृहमें निवास करें। गायें सदा मेरे आगे-पीछे रहें, मेरे चारों ओर रहें तथा मैं गायोंके बीच निवास करूँ।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अपने दिव्यरूपोंका वर्णन करते हुए 'धेनूनामस्मि कामधुक्' कहा है। गायोंसे भगवत्-प्राप्ति होती है। गाय ही यज्ञके फलोंका कारण है और गायोंमें ही यज्ञकी प्रतिष्ठा है। यथा—

'गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः'

(महाभारत)

आस्तिक जनताका तो यहाँतक विश्वास है कि यदि स्वप्नमें भी गो-दर्शन हो जाय तो उससे कल्याण-लाभ एवं व्याधि-नाश होता है। वैसे तो यदि कोई काली वस्तु स्वप्नमें दिखायी पड़े तो अपशकुन माना जाता है; किंतु यदि स्वप्नमें काली गायके दर्शन हों तो वह शुभ माना जाता है।

गो-सेवासे लक्ष्मीकी प्राप्ति बतायी गयी है। यथा—

गवां सेवा तु कर्तव्या गृहस्थैः पुण्यलिप्सुभिः।
गवां सेवापरो यस्तु तस्य श्रीर्वर्धतेऽचिरात्॥

इसके अतिरिक्त गायके गोबर तथा गो-मूत्रमें लक्ष्मीजीका निवास भी एक कथामें वर्णित है। (गोबर-गोमूत्रकी खादसे प्रचुर अन्नरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति प्रत्यक्ष है।)

गो-सेवासे पुत्र-प्राप्ति होती है। कुल-गुरु ब्रह्मर्षि वसिष्ठद्वारा राजा दिलीपको सुरभिनन्दिनीकी सेवाकी आज्ञा हुई। गो-सेवाके फलस्वरूप ही दिलीपके रघु हुए। पुत्र-कामी राजा ऋतम्भरने जाबालि मुनिके आज्ञानुसार गो-सेवा की और फलस्वरूप उनके परम भक्त सत्यवान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह उचित ही कहा गया है—

विष्णोः प्रसादो गोश्चापि शिवस्याप्यथवा पुनः।

'भगवान् विष्णु, गौ और भगवान् शङ्करकी कृपासे पुत्रकी प्राप्ति होती है।'

'एकोऽहं बहु स्याम्'की घोषणाके अनुसार ईश्वरकी सृष्टिके किसी भी जीवके प्रति हिंसा उस जीवमें बसनेवाले स्वयं ईश्वरके प्रति हिंसा है। इस सिद्धान्तके आधारपर ही जीव-मात्रकी हिंसाका हिंदू-धर्म विरोध करता है। ऐसी अवस्थामें—

'मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः'

—के वधकी तो कल्पना करना ही पाप है। इतना ही नहीं—वध तो बहुत ही बड़ी बात है; हमारे यहाँ तो जिस घरमें गायको कष्ट मिलता हो, उसको नरककी प्राप्ति बतायी गयी है—

यद्गृहे दुःखिता गावः स याति नरकं नरः।

धार्मिक दृष्टिसे ही नहीं, अपितु व्यावहारिक दृष्टिसे भी गायका महत्त्व कम नहीं है। 'तीन एकड़ भूमि और एक गाय' सर्वदासे भारतका यही स्वर्ण-विधान रहा है। शरीर तथा मस्तिष्क—दोनोंका अत्युत्तमरूपसे पोषण करनेवाले आहारके कारणरूपमें गाय सार्वभौमिक राष्ट्रिय आर्थिक व्यवस्था तथा शिक्षाप्रणाली दोनोंका केन्द्र बन गयी।

गुरुकुलों तथ ऋषिकुलोंमें ब्रह्मचारियोंको गुरुकी सेवा तथा यज्ञसमिधा एकत्रित करनेके अतिरिक्त गुरुकी गायोंकी सेवा भी करनी पड़ती थी। प्रत्येक आश्रमकी अपनी गायें होती थीं, जिनकी सेवा वहाँके विद्यार्थी करते थे और इस प्रकार आभीरकर्म (Dairy-farming) में भी वे सुशिक्षित हो जाते थे। गो-सेवामें फुटबाल, हॉकी, बैडमिन्टन तथा अन्य कई आधुनिक व्यायामोंसे अधिक परिश्रम पड़ता है, फलतः अधिक स्वास्थ्य-लाभ होता है।

गो-मूत्र और गोबर वैज्ञानिक दृष्टिसे भी पवित्र एवं स्वच्छता प्रदान करनेवाला है। ग्रामीण जनता अभी भी अपने गृहोंको प्रतिदिन गोबरसे लीपकर पवित्र करती है।

यन्त्रोंकी अपेक्षा बैल ही अधिक लाभदायक है। खेतीकी दृष्टिसे खेत जोतना तथा खाद देना, ये दो महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। कोई भी यन्त्र ये दोनों कार्य नहीं कर सकता। यन्त्रसे खेत जोते जा सकते हैं, किंतु खाद प्राप्त नहीं हो सकती। बैलसे खाद भी मिलती है। वैज्ञानिक रीतिसे प्रस्तुत यान्त्रिक खाद (Fertilizer) की तुलनामें बैल और गायकी खाद अधिक उत्कृष्ट है। गोबरमें, शरीरकी आँतोंकी क्रियाके कारण, अत्यधिक परिमाणमें नाइट्रोजन उत्पन्न होता है। बैल उत्कृष्ट खाद तैयार करता हुआ हरी वनस्पतियोंमें खादकी दृष्टिसे निरर्थक कार्बोहाइड्रेट्सको शक्तिमें परिवर्तितकर खेतीका काम मुफ्तमें कर देता है। बैलोंमें यह बहुत ही विचित्र गुण है। स्पष्ट है कि 'अर्थशास्त्रकी किसी भी दृष्टिसे कृषिमें बैलका स्थान कोई भी यन्त्र ग्रहण नहीं कर सकता। ट्रैक्टर बाहरसे मँगानेमें भारतवर्षका करोड़ों रुपया विदेशमें चला जायगा। इसके अतिरिक्त कुछ भूमि-विशेषज्ञोंका कथन है

कि भारतवर्षकी सब भूमि ट्रैक्टरोंसे जोतनेके लायक भी नहीं है। यान्त्रिक खाद (Fertilizer) की अपेक्षा बैलकी खादसे जो अन्न उपजता है, वह अधिक पौष्टिक और सुस्वादु होता है।

इससे सर्वाधिक हानि यह होगी कि मशीनरीके अवगुण तथा मशीन-युगके अवगुणोंका प्रवेश हमारे कृषि-कार्यमें भी हो जायगा और सरल किसान भी उस प्रपञ्चका शिकार हो जायगा, जिसके चक्रमें मजदूर फँसा हुआ है। बहुत-से किसानोंको बेकारीका सामना करना पड़ेगा।

अमेरिकाके 'होर्ड्स-डेयरीमैन' नामक पत्रके सम्पादककी निम्नलिखित पंक्तियाँ हमारे उन बन्धुओंकी आँखें खोलनेके लिये पर्याप्त होनी चाहिये, जो 'गो-वध बंद करो' के नारेको सुनते ही उसमें संकीर्ण साम्प्रदायिकताकी गन्ध अनुभव करने लगते हैं। 'गाय हमारे दुग्ध-भुवनकी देवी है। वह भूखोंको खिलाती है, नंगोंको पहनाती है और बीमारोंको अच्छा करती है। उसकी ज्योति चिरन्तन है।'

भारतीय संस्कृति तथा गौका सम्बन्ध अविच्छिन्न है, अमिट है। भारतीय संस्कृतिका स्वरूप गौसे पृथक् स्थिर नहीं रह सकता। इस संस्कृतिको स्थिर रखनेके लिये हमें कानूनद्वारा गो-वध सर्वथा बंद करवाना ही पड़ेगा। बूढ़ी गायों या सूखी (दूध न देनेवाली) गायोंके वधकी आज्ञाका बना रहना दुधार गायोंके वधको नहीं रोक सकेगा। जिस देशमें, जिस भारतवर्षमें, मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके पूर्वज प्रातः-स्मरणीय महाराज दिलीपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठकी नन्दिनीकी रक्षाके लिये सिंहको अपना शरीर अर्पण कर दिया, किंतु जीते-जी उसकी हत्या न होने दी तथा जहाँ पाण्डव-शिरोमणि पार्थ अर्जुनने गायके लिये द्वादश वर्षोंतक वनवासकी कठोर यातना स्वीकार की, उसी देशमें आज लाखोंकी संख्यामें गो-वध हो रहा है और हम उफ़तक नहीं करते! यह कितनी नपुंसकता है। हम स्वतन्त्र हैं, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मन्त्रिगण हमारे प्रतिनिधि हैं; हमको उनसे स्पष्ट शब्दोंमें यह कह देना चाहिये कि यदि आप हमारी 'गो-वध बंदी' की माँगको स्वीकार करनेमें आनाकानी करते हो तो आप भारतीय संस्कृतिके बाधक हैं, हमारे देशकी आर्थिक उन्नतिके अनुकूल कार्य नहीं कर रहे हैं। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें 'अधिक अन्न उपजाओ'के आन्दोलनमें सचेष्ट हैं। गो-रक्षा इस आन्दोलनकी रीढ़ है। रीढ़की रक्षा नहीं हो सकेगी तो शरीर भी स्थिर नहीं रह सकेगा। अभी भी समय है; आशा है हमारी संयुक्त माँगको हमारे निर्वाचित प्रतिनिधि शीघ्र ही समझेंगे और बुद्धिमानीसे कार्य करेंगे। जिस भारतवर्षमें घी और दूधकी नदियाँ बहती थीं, वहाँके आँकड़ोंपर तथा साथ-ही-साथ आप विश्वके अन्य राष्ट्रोंके आँकड़ोंपर तुलनात्मक दृष्टि डालें तो स्थिति और भी स्पष्ट हो जायगी।

विश्वका एक तिहाई पशुधन भारतवर्षमें है। सन् १९४१ की गणना (Census) की रिपोर्टके अनुसार अविभक्त भारतमें बीस करोड़, बयासी लाख दूध देनेवाली जातिके पशु (cattle) थे। देशविभाजनके पश्चात् तीन करोड़के करीब दूध देनेवाली जातिके पशु पाकिस्तानमें ही रह गये। गाय और भैंस दोनों मिलाकर भारतवर्षमें २ करोड़, २० लाख टन प्रतिवर्ष दूध देती हैं। भारतवर्षमें ३ से ४ आउंस दुग्ध प्रतिमनुष्यको प्राप्त होता है, जब कि डेनमार्कमें ४० आउंस, आस्ट्रेलिया और अमेरिकामें ३५ आउंस और ग्रेट-ब्रिटेनमें ३९ आउंस प्रतिमनुष्यको दुग्ध प्राप्त होता है। औसतन प्रतिकिसानके पास भारतवर्षमें २-३ बैल हैं, जब कि इंगलैंड और अमेरिका दोनोंमेंसे प्रत्येकमें प्रायः प्रतिकिसानके पास २७ बैल हैं। भारतवर्षमें औसतन प्रतिगाय प्रतिदिन २ पौंड दूध देती है, जबकि न्यूजीलैंडमें १४ पाउण्ट, इंगलैण्ड-में १५ पाउण्ड तथा हॉलैण्टमें २० पाउण्ड दूधका प्रतिदिन प्रतिगायका औसत बैठ जाता है। ऊपर दिये हुए ऑकड़ोंसे स्पष्ट है कि विदेशोंमें भारतवर्षकी अपेक्षा गो-दुग्ध अत्यधिक मात्रामें प्राप्य है। हमें भी भारतमें इसी भाँति गो-दुग्ध-वृद्धि करनी चाहिये। इसी प्रसङ्गमें विदेशोंमें किस प्रकार आभीर-कर्म (Dairy-Farming) होता है, वह भी हमें सीखना चाहिये।

गो-वध बंद करनेसे ही कार्य नहीं चलेगा। सरकारद्वारा गोचरभूमि छोड़े जानेकी और बूढ़ी बेकाम गायोंके लिये जगह-जगह गोसेवा-सदन स्थापित करवानेकी अत्यावश्यकता है। गायोंकी नस्लमें भी सुधार शीघ्र ही होना चाहिये। अच्छे-अच्छे साँड़ ज़्यादा संख्यामें छोड़नेकी आवश्यकता है। बीमार गायोंके इलाजके लिये समुचितरूपसे अस्पतालों (Veterinary Hospitals) की व्यवस्था होनी चाहिये।

केवल भाषणों तथा सभाओंसे प्रचार-मात्र किया जाता है, ठोस कार्य नहीं। गो-रक्षा हमको अपने घरोंसे प्रारम्भ करनी चाहिये और उसका श्रेष्ठ उपाय है गो-पालन। जिस प्रकार सम्पन्न व्यक्ति मोटरप्रभृति प्रसाधन रखते हैं, उसी प्रकार यदि गौएँ भी रक्खें, गो-शालाओंमें योगदान दें, डेयरी-फार्म चलायें तो इस दिशामें बहुत कुछ कार्य हो सकता है। सरकारके कर्तव्यके साथ-साथ हमारे भी कर्तव्य हैं और उनका पालन हमको योग्यतापूर्वक करना चाहिये।

हिंदू-संस्कृति और गो-रक्षा

(लेखक—लाला श्रीहरदेवसहायजी)

संस्कृति स्वाभाविक गुण है, यह शिक्षाप्रचार या प्रयत्नसे उत्पन्न नहीं होता । जिस तरह अग्निका गुण उष्णता, जलका शीतलता तथा पृथ्वीका गुरुता है, उसी प्रकार गोरक्षा हिंदूका स्वाभाविक गुण है । हिंदू-संस्कृतिको जाननेका मुख्य आधार गोरक्षा है । जो लोग गोरक्षाको मुख्य कर्तव्य मानते हैं, वे ही हिंदू हैं । जैन, सिख आदि (जो हिंदू-धर्मकी ही शाखा-विशेष हैं) ही नहीं, आर्यसमाजी, सनातनधर्मी, विष्णोई तथा देशके भिन्न-भिन्न भागोंमें बसनेवाले सभी हिंदुओंके आचार-व्यवहार, रहन-सहन, जन्म-मरण, विवाह आदिके कृत्य अलग-अलग ही हैं । कितनी ही बातोंमें उनका परस्पर विरोध भी रहता है । पर गोरक्षाके बारेमें सब एकमत हैं । आर्यसमाजके प्रवर्तक श्रीस्वामी दयानन्दजी सरस्वती, जो रूढिवादको नहीं मानते, सुधारक कहे जाते हैं—उन्होंने गोवंशके महत्त्वको बतलानेके लिये अलग 'गोकरुणानिधि' पुस्तक लिखी तथा एक गायसे हजारों मनुष्योंके भोजनका हिसाब बताते हुए 'गोकृष्यादिरक्षिणी सभाएँ' स्थापित करनेका आदेश दिया । जैन-धर्मावलम्बी वेदों तथा हिंदुओंके अन्य ग्रन्थों और उनमें लिखे संस्कारोंको महत्त्व नहीं देते, पर प्राचीन समयमें जैनधर्मावलम्बी अपनी सम्पत्तिकी गणना गोवंशकी संख्यापर करते थे । व्रज और गोकुल उसके आधार थे । राजगृहके महाशतक तथा काशीके चूलनि पिताके पास अस्सी-अस्सी हजार गायें थीं । गोहत्या तथा गोभक्षणके सम्बन्धसे होनेवाले पापके बाबत श्रीमहावीर स्वामीजीने उज्झियके कष्टोंकी कथा लिखी है । श्रीहरिविजयसूरिजीने अकबर बादशाहसे कहकर गोवध बंद करवाया । हरियाना, बागड़ तथा युक्तप्रान्तके कुछ जिलोंमें रहनेवाले विष्णोई, जो चोटी नहीं रखते, भूमिमें गाड़े जाते हैं, पर गोरक्षा परमधर्म मानते हैं । इनके गुरु श्रीजम्भेश्वर महाराजने ग्वाला बनकर गायोंको चराया था । सिखोंके पूज्य धर्मशास्त्री भाई गुरुदासजीने पञ्चगव्यको पवित्र और गोहत्याको पातक माना है ।

गोबर गोमूत्र परमपवित्र भये । (कवित्त २०१)
बामण गाय वंस घातक करारे ॥ (वार २४, पौडी १६)

श्री १०८ श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी महाराजने गोरक्षार्थ श्रीमुखसे प्रभु-प्रार्थनामें कहा है—

यही देह आज्ञा तुर्क को खपाऊँ । गोघात का दुःख जगत से हटाऊँ ॥
आस पूर्ण करो तुम हमारी । मिटै कष्ट गोअन, छुटै खेद भारी ॥

गुरु नानकदेवजीने स्वयं गायोंकी सेवा करके गोरक्षाके आदर्शकी शिक्षा दी । श्री १०८ गुरु रामसिंहजीको गुरु माननेवाले नामधारी सिखोंने तो अंग्रेजी राज्यके बुरे समयमें भी गोरक्षाके लिये बड़ा त्याग किया । कितने ही फाँसी चढ़े, जेल गये ।

संस्कृति तथा साहित्यका आधार-आधेय-सम्बन्ध है । हमारे प्राचीन ग्रन्थ गोमहिमासे भरे पड़े हैं । ब्राह्मण तथा गौ दोनोंको बड़ा महत्त्व दिया गया है । राजा नहुषसे अपना मूल्य गायके बराबर स्वीकार करके महर्षि च्यवनने गायके महत्त्वको राज्य तथा संसारके सब पदार्थोंसे अधिक बताया । चक्रवर्ती राजा दिलीप गोरक्षाके लिये अपना शरीरतक देनेको तैयार हुए । पूर्णकला-अवतार भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं गो-चारण करके हमारे सम्मुख गोसेवाका आदर्श रक्खा । हमारे शास्त्रोंमें गोवंशके महत्त्वका ही नहीं, उपयोगिताके बाबत भी बहुत कुछ वर्णन मिलता है । पारस्कर-गृह्यसूत्रके तीसरे काण्डकी नवीं कण्डिकामें अच्छे तथा बुरे साँड़ोंके लक्षण लिखे हैं । ब्रह्मवैवर्त, अग्नि, भविष्य, पद्म, मत्स्य आदि पुराणोंमें गायोंके इलाज, गो-दुग्धादिके गुण स्थान-स्थानपर दिये हैं ।

धनं च गोधनं धान्यं स्वर्णादयो वृथैव हि ।

—कहकर गोवंशको हमारे अर्थशास्त्रका मुख्य आधार बतलाया गया है । गोवंशसे हमारा सांस्कृतिक सम्बन्ध ही नहीं; आर्थिक व्यवस्था, शारीरिक स्वास्थ्यका आधार होनेके कारण भी हमारे यहाँ गायकी आवश्यकता समझी गयी । बाबर बादशाहने तो गोवंशको राज्यके स्थायी रखनेका मुख्य साधन जानते हुए अपने पुत्र हुमायूँको गोरक्षाकी विशेष आज्ञा देकर राजनैतिक महत्त्व भी दिया । किसी जातिको शेषप्राय करनेके लिये उसकी संस्कृतिको नष्ट करना जरूरी है । हिंदू-संस्कृतिका नाश करनेके लिये रावणने अपने अनुचरोंद्वारा गायों तथा ब्राह्मणोंको नष्ट करनेका यत्न किया था । श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने रामायणके बालकाण्डमें लिखा है—

जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं । नगर ग्राम पुर आगि लगावहिं ॥

अंग्रेजोंने भी इस प्राचीन संस्कृतिको नष्ट करनेके लिये विदेशोंमें चर्बी और चमड़े आदिका निर्यात बढ़ाकर गोवधको प्रोत्साहन दिया । पश्चिमीय सभ्यता तथा उसकी प्रचारिका

अंग्रेजी शिक्षाद्वारा उन हिंदुओंमें भी, जो संस्कृतिके प्रभावसे गायके एक रोमका कटना भी पाप समझते थे, जो गो-रक्षा अपना परम कर्तव्य मानते हुए सर्वस्व देनेतकको तैयार होते थे, इतना परिवर्तन हुआ कि आज उनमेंसे कितनोंने गोवधका खुला प्रचार करके गोरक्षाको देशके लिये हानिकारक बतलानेका समर्थनतक किया ! लार्ड मेकालेके शब्दोंमें अंग्रेजी शिक्षासे उनके शरीर तो भारतीय रहे, पर संस्कृति नष्टप्राय होनेके कारण उनके हृदय और मस्तिष्क पूर्णतया पश्चिमी बन गये !! इसीलिये आज अपनी सरकार बन जानेपर भी गोवध बंद नहीं हो पाया है !!

परंतु हिंदू अपनी प्राचीन आर्य-संस्कृतिकी रक्षा करना चाहते हैं तो उन्हें गोरक्षा करनी होगी। आज देशपर अंग्रेजों तथा मुसल्मानोंका अधिकार नहीं, फिर भी प्रतिदिन हजारों गायोंका वध होता है । कलकत्ता, बम्बई, मद्रास-जैसे बड़े नगर देशके उत्तम गोधनकी वधभूमि बने हुए हैं । आज जनताका राज्य है । इन बड़े-बड़े शहरोंके लोगोंको चाहिये कि अपनी संस्कृतिकी रक्षाके लिये जनतन्त्रके वैध उपायोंद्वारा गोवध बंद करानेकी पूरी-पूरी कोशिश करें । जबतक गोवध कतई बंद न होगा, हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा न होगी । चमड़े, चर्बी, हड्डीकी बढ़ी हुई खपत, नकली घी इत्यादि गोवंशका ह्रास तथा विनाश करनेवाले कारणोंको रोकनेपर भी पूरा ध्यान देना आवश्यक है । देशका बड़ा दुर्भाग्य है कि चमड़ेका निर्यात बढ़ानेके लिये प्रान्तीय सरकारोंसे यह सिफारिश की जा रही है कि वे पशु-वधपर लगे हुए प्रतिबन्धको हटा दें !! हिंदू-संस्कृति तथा गोरक्षा भिन्न-भिन्न शब्द मालूम होते हैं । पर इनका लक्ष्य तथा उद्देश्य एक ही हैं। जितनी-जितनी गोवंशकी उन्नति तथा रक्षा होगी, उतना-उतना ही हिंदू-संस्कृतिका उत्थान होगा।

हिंदू-संस्कृतिमें गौका स्थान

(लेखक—पं० श्रीयज्ञनारायणजी उपाध्याय, एम्० एल्० ए०)

भारतीय संस्कृति और सभ्यताके उत्थान एवं विकासका गोरक्षणसे कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है और किस प्रकार जीवनके सभी स्तरोंमें गो-माताका स्थान सर्वश्रेष्ठ माना गया है, इसका यदि प्रमाण चाहिये तो श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और आधुनिक साहित्यके ग्रन्थोंके पन्नोंको उलटिये और देखिये कि गोमाताका कितना ऊँचा स्थान है। भगवान् श्रीकृष्ण अपना नाम 'गोपाल' रखते हैं । गायोंकी सेवा करना और वन-वन घूमकर उन्हें चराना उनके जीवनका श्रेष्ठ कार्य समझा जाता है । यदि भगवान्‌को किसी पर्वतको उठाना होता है तो वे गोवर्धनको ही उठाते हैं, न कि विन्ध्य एवं हिमालयको । भगवान् कहते हैं—

गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः ।
गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥

वेदका प्रसिद्ध मन्त्र है—'माता रुद्राणां दुहिता वसूनाम्' इत्यादि है । कहीं कहा गया है—

तीर्थस्नानेषु यत् पुण्यं यत् पुण्यं विप्रभोजने ।
यत् पुण्यं च महादाने यत् पुण्यं हरिसेवने ॥
सर्वव्रतोपवासेषु सर्वेष्वेव तपःसु च ।
भूमिपर्यटने यत्तु सत्यवाक्येषु यद् भवेत् ॥
तत् पुण्यं प्राप्यते सद्यः केवलं धेनुसेवया ।

'तीर्थस्नान, ब्राह्मणभोजन, महादान, भगवत्सेवा, समस्त व्रतोपवास, समस्त तप, पृथ्वीपर्यटन और सत्यभाषणसे जो-जो पुण्य होता है, वह सब पुण्य केवल गो-सेवासे तुरंत प्राप्त होता है ।'

अन्यत्र कहा गया है—

पृष्ठे ब्रह्मा गले विष्णुर्मुखे रुद्रः प्रतिष्ठितः ।
मध्ये देवगणाः सर्वे रोमकूपे महर्षयः ॥
नागाः पुच्छे खुराग्रेषु ये चाष्टौ कुलपर्वताः ।
मूत्रे गङ्गादयो नद्यो नेत्रयोः शशिभास्करौ ॥
येन यस्यास्तनौ वेदाः सा धेनुर्वरदास्तु मे ।

'जिस गौकी पीठमें ब्रह्मा, गलेमें विष्णु, मुखमें रुद्र, बीचमें समस्त देवता, रोमोंमें महर्षिगण, पूँछमें नाग, खुराग्रोंमें आठों पर्वत, मूत्रमें गंगा आदि नदियाँ, दोनों नेत्रोंमें चन्द्र-सूर्य और स्तनोंमें वेद बसते हैं, वह गौ मुझे वर देनेवाली हो ।'

किसी विद्वान्‌ने कहा है—

नो चेद्गवां यदि पयः पृथिवीतलेऽस्मिन्
संवर्द्धनं नहि भवेद् विधिसन्ततीनाम् ।
यो जायते विधिवशेन तु सोऽपि रूक्षो
निर्वीर्यशक्तिरहितोऽतिकृशः कुरूपः ॥

गो-भक्तिके आदर्श

दिलीप और श्रीकृष्ण

'यदि पृथ्वीतलपर गो-दुग्ध न होता तो विधाताकी सन्तति ही नहीं बढ़ती। विधिवश यदि किसीका जन्म भी हो जाता तो वह रूक्ष, निर्वीर्य, शक्तिहीन, अतिकृश और कुरूप होता।'

जब दुर्दान्त दानवोंने पृथ्वीपर उत्पात आरम्भ किया, तब पृथ्वीने गोमाताका रूप धारण करके भगवान्के सम्मुख अपनी करुण कहानी सुनायी और भगवान्ने दानवोंका नाश किया। जिस तरफ देखिये, उसी तरफ भारतीय संस्कृति गोमाताके उपकारोंसे सर्वतोभावेन ओतप्रोत है। इसीलिये कहा गया है—

अघ्न्या इति गवां नाम क एनां हन्तुमर्हति।

यदि उद्धरणोंकी आवश्यकता हो तो हजारों श्लोक हमारे आर्ष ग्रन्थोंसे 'गो-महिमा'के सम्बन्धमें यहाँपर लिखे जा सकते हैं। इसी प्रकार बौद्ध, जैन आदि ग्रन्थोंमे भी गो-माहात्म्यके असंख्य उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यही नहीं, पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी गो-महिमाका बड़ा विशद गान किया है। यहाँ उनमेंसे कुछ सम्भ्रान्त गो-भक्तोंके नाम लिख देना ही पर्याप्त होगा; क्योंकि इनके विस्तृत वक्तव्यका अनुवाद दिया जायगा तो यह लेख बहुत बढ़ जायगा। वाल्टर ए० डामर, मैल्कम आर० पेटर्सन, (भूतपूर्व गवर्नर आफ टेनेसी) राल्फ ए० हेने आदि गोमाताको दूध देनेवाली देवी ही नहीं मानते, बल्कि इनके पवित्र दर्शनको बड़ा महत्त्व देते हैं।

प्राचीन कालमें हमारा देश पूर्णतया गोभक्त था और सर्वत्र गो-सेवा हुआ करती थी और घी, दूधकी नदियाँ हमारे देशके ग्राम-ग्राममें बहा करती थीं। मुसल्मानी राज्य-कालमें गोवध अवश्य आरम्भ हुआ। परंतु स्थान-स्थानपर बादशाही फरमानोंद्वारा इसका निषेध भी किया गया है। अंग्रेजी शासनकालमें फौजोंको गोमांस भोजनके लिये देनेके उद्देश्यसे गोवध बढ़ा और मुसल्मानोंको उनके पर्वोंपर गोवध करनेकी उत्तेजना दी गयी। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि हिंदू-मुसल्मानोंमें सदाके लिये वैमनस्य बना रहे। गत दो महायुद्धों-में तो इतनी अधिक मात्रामें इस देशके गोधनका नाश किया गया कि सम्भवतः इसकी पूर्तिमें बहुत अधिक समय लगेगा। इस समय गो-दुग्ध और घृतकी इतनी कमी हो गयी है और इस प्रकारकी मिलावट इन दो मुख्य खाद्य पदार्थोंमें बढ़ गयी है कि देहातोंमें शुद्ध दुग्ध और घी मिलना अत्यन्त कठिन हो गया है। इसीके साथ-साथ चारेकी कमी और खली, बिनौला आदिकी मँहगी भी गो-दुग्धके मिलनेमें बहुत कुछ बाधक हो गयी है। आज नगरोंमे प्रतिदिन दुर्बल गायें कूड़ा-करकट खाती हुई दिखायी देती हैं। दुनियाके अन्य देशोंमें इस समय गो-दुग्धकी खपत औसत प्रतिव्यक्ति सेर-डेढ़ सेर मानी गयी है। परंतु हमारे देशमें प्रतिव्यक्ति डेढ़ छटाँकका औसत पड़ता है। सभी वैज्ञानिक विद्वानोंका मत है कि कम-से-कम आधसेर दूध प्रतिमनुष्यको प्रतिदिन मिलना चाहिये। दूध न मिलनेके कारण ही तरह-तरहकी बीमारियाँ हमारे देशमें बढ़ती जा रही हैं। पाश्चात्त्य देशोंमें यदि परमायुका औसत ६० वर्ष है तो हमारे देशमें २३ वर्ष माना गया है। छोटी उम्रके बच्चोंकी मृत्यु-संख्या अन्य देशों-में हजारमें ५० है तो हमारे यहाँ हजारमें २०० के ऊपर होती है।

प्रथम महायुद्धके बाद पेरिसमें खाद्य-सम्बन्धी अनुसन्धान-के लिये एक बृहत् सम्मेलन हुआ था, जिसमें सर्वसम्मतिसे निश्चय हुआ था कि 'यदि पर्याप्त मात्रामें गो-दुग्ध मिल जाय तो अन्य पौष्टिक द्रव्योंकी कोई आवश्यकता नहीं होती।' इसलिये हमारा प्रथम कर्तव्य है कि हमलोग सङ्गठितरूपसे गो-वधके निवारणके लिये देश-व्यापी आन्दोलन आरम्भ करें। इस समय हमारे देशके ग्राम-ग्राममें पञ्चायतोंका सङ्गठन हो गया है। प्रत्येक पंचायतका यह मन्तव्य होना चाहिये कि उनके गाँवका गो-धन किसी अपरिचित व्यक्तिके हाथों कभी न पड़ने पाये। जो व्यक्ति गो-वधका व्यवसाय करते हैं, वे हमारे ही घरसे तो भुलावा देकर या लोभमें डालकर गौओंको ले जाते हैं। शहरोंमें फूँकाद्वारा दूध निकालनेका घृणित व्यवसाय भी हमारे देशमें प्रचलित है! असंख्य गौएँ एक बार दूध देनेके बाद निर्जीव बनाकर वधिकोंके हाथ बेची जाती हैं! गोसल्ला-का घृणित व्यवसाय भी हमारे ही देशमें चल रहा है, जिसके द्वारा गो-हत्याके साथ-साथ भ्रूण-हत्या करके वत्स-चर्म विदेशों-में भेजा जाता है!

हमको प्रत्येक नगरमें और इसके अनन्तर ग्राम-ग्राममें प्रचार करना है, जिससे कि वधिकोंके हाथों हमारी गो-सम्पत्ति न जाय। हमको अपनी गौओंको हृष्ट-पुष्ट और पर्याप्त मात्रामें दूध देनेवाली बनानेके लिये उनकी वंश-परम्पराकी उन्नति भी करनी है। स्थान-स्थानपर विस्तृत गोचर-भूमि छोड़नेका प्रबन्ध करना है। कानूनके द्वारा गो-वधको कतई तुरंत बंद करवाना है तथा बिना दूधकी बूढ़ी तथा अपाहिज

गौओंके जीवन-निर्वाहकी भी समुचित व्यवस्था सरकारके द्वारा शीघ्र करवानी है। इस प्रकार यदि हम सुव्यवस्थित रीतिसे गो-वंशकी रक्षामें लग जायँ तो वधिकोंके हाथमें गो-वंशका जाना असम्भव हो सकता है। जनताके सङ्गठित मतपर सरकार चलती है। यदि हमारे देशकी जनता एकमत हो गो-वध-निषेधके प्रस्तावको सरकारके सम्मुख रक्खेगी तो देर-सवेर वह उसे अवश्य स्वीकार करेगी। स्वतन्त्रता प्राप्त हो जानेके बाद भारतीय संस्कृतिका पुनरुत्थान और जनताका हृष्ट-पुष्ट होकर भारतके उज्ज्वल भविष्यका पुनर्निर्माण करना गो-माताके आशीर्वादपर ही निर्भर है।

आदर्श पुत्र भीष्म

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

देवव्रतधारी 'देवव्रत' नामधारी धीर
शान्तनुके सुत शान्त संत थे, उदार थेः
ज्ञान-गरिमाके, सद्गुणोंके, त्यों सुशीलताके
बस, अवतार थे कि वसु-अवतार थे।
अविजित मार-से, पराक्रमी कुमारसे भी,
सेवक पिताके मानो श्रवणकुमार थे,
सिर धुन हारें सुर, तो भी ये न हारें
ऐसे शौर्यके धनी ये सुरधुनिके कुमार थे॥

(२)

जाना मन्त्रियोंसे राजकुअँर सुधीवरने
तट यमुनाके एक धीवर-कुमारी है।
चाहते पिता हैं उसे, व्याहते न लज्जावश;
किंतु उर-भीतर वियोग-व्यथा भारी है।
जाकर तुरंत दासराजसे की प्रार्थना, जो
सुन उसने भी युक्ति कठिन विचारी है—
व्याह दूँ सुताको, यदि राजा हो इसीका पुत्र;
बाधा किंतु तुम और संतति तुम्हारी है॥

(३)

बोले मुझसे या मेरे वंशजोंसे बाधा यदि,
तो लो सुनो मेरी सत्य अविचल वानीको—
तोष-हित माताके, पिताके परितोष-हित
छोड़ता हूँ राज्य, नहीं लूँगा राजधानीको।
बाल-ब्रह्मचारी मैं रहूँगा सदा जीवनमें,
मनमें न लाऊँ कभी रानी-महारानीको;
रक्षामें प्रतिज्ञाकी लगा मैं रोम-रोम दूँगा;
होम दूँगा संयमकी आगमें जवानीको॥

(४)

सुन यह बात हुई स्तब्ध-सी समूची सृष्टि,
पुष्प-वृष्टि होने लगी शान्तनु-सुअनपर;
ऋषि, मुनि, साधु सभी साधुवाद देने लगे,
नाविक चकित हुआ कठिन वचनपर।
भीष्म है प्रतिज्ञा, तुम भीष्म हो नरेश-पुत्र!
गूँज उठी वाणी देवताओंके वदनपरः
विगत-विषाद ले निषाद-नन्दिनीको साथ
भीष्मने झुकाया माथ तातके चरनपर॥

(५)

अधर-सुधामें सुन्दरीके अनुरागे नहीं,
विष-सम त्यागे भोग भार वसुधामाकेः
व्रत देवव्रतने अखंड ब्रह्मचर्यका ले
देखे नहीं दृगसे सरस रंग रामाके।
मानसमें काम-आदि सेंध न सके थे लगा,
वेध न सके थे नैन-बाण किसी वामाके;
बाँध न सके थे हाव-भाव किसी भावतीके,
बाँध न सके थे भुजपाश कभी श्यामाके॥

ब्राह्मण-महत्त्व

(लेखक—स्वामीजी श्रीविशुद्धानन्दजी परिव्राजक)

वेदशास्त्राध्यायी, तपस्वी, सदाचारी, स्वाध्यायशील ब्राह्मणोंके महत्त्वसे आजका समाज अनभिज्ञ होता जा रहा है। कुछ व्यक्तियोंको तो 'ब्राह्मण' नामसे ही चिढ़ हो गयी है। यह स्थिति समाजके लिये अधःपतनकी सूचना है; क्योंकि बुद्धिहीन, पराक्रमहीन, धर्महीन और अशिष्ट मनुष्य पूज्योंका तिरस्कार करके शीघ्र नष्ट हो जाते हैं—ऐसा शास्त्रकारोंका मत है। किंकर्तव्यविमूढ़ राजा धृतराष्ट्रसे परम धर्मात्मा एवं नीतिज्ञ विदुरजीने समाजनाशकी पूर्वसूचना देनेवाले आठ लक्षण बताकर उनसे बचनेका उपदेश किया है। वे आठ लक्षण ये हैं—

> अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः।
> ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते॥
> ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति।
> रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति॥
> नैनान् स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति।
> एतान् दोषान्नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत्॥

अर्थात् 'विनाशको प्राप्त होनेवाले पुरुषमें ये आठ निमित्त पहले आ जाते हैं—१-वह ब्राह्मणोंसे द्वेष करने लगता है। २-ब्राह्मणोंसे विरोध करता है। ३-ब्राह्मणोंका स्वत्व छीन लेता है। ४-ब्राह्मणोंको मारता (शरीर-दण्ड देता) है। ५-ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेमें सुख मानता है। ६-ब्राह्मणोंकी प्रशंसाका समर्थन नहीं करता। ७-(उत्तम) कार्योंके करनेके समय ब्राह्मणोंका स्मरण नहीं करता (उनसे सम्मति नहीं लेता और न उन्हें बुलाता है) और ८-ब्राह्मण यदि उससे कुछ माँगते हैं तो उनकी भर्त्सना करता है। बुद्धिमान् पुरुषको इन दोषोंको जानना चाहिये और जानकर इन्हें छोड़ देना चाहिये।'

ब्राह्मणका अतिक्रमण और उनकी वृत्तिका अपघात परलोकमें यातनादायी और इस लोकमें धन एवं यशका नाशक होता है। जो ब्राह्मण दोनों समय सन्ध्या करके वेदमाता गायत्रीका जप करते हैं और दृढ़ आचारनिष्ठ हैं, उन महाभाग ब्राह्मणोंके पूजित होकर प्रसन्न होनेपर सारे अमङ्गलोंका नाश हो जाता है और उनके रुष्ट होनेपर विनाश होता है।

> ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः।
> ब्राह्मणान् हि नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते॥

'ब्राह्मण स्वयं परम तेजोरूप हैं, ब्राह्मण स्वयं परम तपःस्वरूप हैं, ब्राह्मणोंको नमस्कार करनेके प्रभावसे ही सूर्यदेव आकाशमें स्थित हैं।'

ब्राह्मण अपने आचारकी विशेषतः रक्षा करते हैं। जो ब्राह्मण सदाचार-सम्पन्न हैं, वे क्षीण एवं दरिद्र होनेपर भी पुष्ट तथा ऐश्वर्यशाली हैं और जिनका सदाचार नष्ट हो गया, उन्हें तो नष्ट हुआ ही समझना चाहिये।

> अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः।

आचारनिष्ठ ब्राह्मणके लिये यदि सभी ग्रह वक्रदृष्टि हों, तो भी उसके आचारके प्रभावसे वे सब ग्रह उसके लिये सौम्य एवं सुखदायी हो जाते हैं। उस परम धार्मिक विप्रकी छायाको भी अमङ्गल, अपग्रह, भूत-प्रेत-ब्रह्मराक्षसादि स्पर्श नहीं कर सकते। कुशिष्यके अध्यापन, अपात्रका यज्ञ कराने तथा कदाचारीके प्रतिग्रह (दान) आदि दोषसे सदाचारी वेदाध्ययनशील ब्राह्मण अपने सत्कर्मके द्वारा ही छूट जाता है।

> यथा श्मशाने दीप्तौजाः पावको नैव दुष्यति।
> एवं विद्वानविद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतं महत्॥

'जैसे प्रदीप्त अग्नि श्मशानमें होनेपर भी दूषित नहीं होती, वैसे ही ब्राह्मण सदा ही परमदेवता है—चाहे वे विद्वान् हों या विद्या-विहीन।'

> दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा।
> ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः॥

भगवान् व्यास कहते हैं—'ब्राह्मण वेद पढ़े हों या न पढ़े हों, संस्कारसम्पन्न हों, या उनका कोई संस्कार न हुआ हो—किसी भी दशामें उनका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे भस्मसे आच्छन्न अग्निकी भाँति हैं।'

वेदज्ञ, सदाचारी, ज्ञानी, तपस्वी, ब्राह्मण, आचार्य, गौ, देवता, अग्नि और तीर्थ—ये सब सदा सम्मानके योग्य हैं। जो लोग स्वर्गके सोपान-समान अपने गुरुजनों, पूज्योंका अनादर करके भगवद्विमुख, नास्तिक, अधर्मी लोगोंकी सेवा करते हैं, वे जघन्यमार्गको अपनानेवाले दण्डपाणि यमराजद्वारा शासित होते और नरकोंमें यातना भोगते हैं। जिस प्रकार भोगेच्छा धैर्यको एवं कायरता सुयशको नष्ट कर देती है, उसी प्रकार अपमानित क्रुद्ध ब्राह्मण राष्ट्रको नष्ट कर देता है।

क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ।

शास्त्रोंमें स्पष्ट उल्लेख है—

अमानयन् हि मानार्हान् वातापिश्च महासुरः ।
निहतो ब्रह्मदण्डेन तालजङ्घस्तथैव च ॥

'सम्मानयोग्य विप्रोंका अपमान करनेके कारण महासुर वातापि ब्रह्मदण्डद्वारा मारा गया और यही दशा तालजङ्घकी हुई ।' इस प्रकार न जाने कितने महाशक्तिशाली, बलाभिमानी राजेन्द्र-दैत्येन्द्र ब्राह्मणोंके अपमानरूप प्रदीप्त अग्निमें भस्म हो गये हैं। देवराज इन्द्रके पदको पाकर भी नहुष ब्राह्मणोंके अपमानसे सर्प-योनिमें गिरे । जो लोग संसारके कपट-प्रपञ्चमें पटु होते हैं, वे अधर्माचरणमें भी निपुण होते हैं। वे मान्यजनोंका सम्मान नहीं करते । वे नहीं जानते कि ब्राह्मणोंका शस्त्र उनकी वाणी (शाप) ही है। वे उनका अपमान करके नरकाग्निमें पतित होते हैं। महाभारत स्पष्ट आदेश करता है—

मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रयोधिनः ।
निहन्युर्मन्युना विप्रा वज्रपाणिरिवासुरान् ॥

'ब्राह्मण अपने क्रोधसे ही-आघात करनेवाले होते हैं। वे शस्त्र लेकर युद्ध करनेवाले नहीं होते। ब्राह्मण अपने क्रोधसे उसी प्रकार (अपराधीको) मार देते हैं, जैसे इन्द्र वज्रके द्वारा असुरोंको । तात्पर्य यह कि जैसे इन्द्रका वज्र अमोघ है, वैसे ही ब्राह्मणका क्रोध भी व्यर्थ नहीं जाता ।'

यद्यपि इस समय ब्राह्मण अत्यन्त आपत्तिग्रस्त एवं अवनत दशामें हैं, फिर भी उन्हींसे आपद्धर्मके अनुसार वर्तन करते हुए पूरी शक्ति लगाकर हिंदू-संस्कृति तथा वर्णाश्रमधर्मकी रक्षाके लिये आशा की जा सकती है। सनातनधर्मका मूलोच्छेद कभी हो नहीं सकता। बुद्धिमान् मनुष्यको समझना चाहिये कि विश्वके सारे पदार्थ, समस्त ऐश्वर्य क्षणिक हैं, नाशवान् हैं; केवल धर्म ही नित्य है। अतः लोकगत ऐश्वर्यादिके मदमें मत्त होकर धर्मका अपमान कभी नहीं करना चाहिये। शास्त्रीय मर्यादाओंका उल्लङ्घन उचित नहीं है। जो बाह्य चाकचिक्यके पीछे मदमत्त होकर दूसरोंकी देखा-देखी अपने पूर्वजोंकी परम्परागत मर्यादासे पृथक् हो गये हैं, हमारे उन भ्रान्त बन्धुओंको भगवान् सद्बुद्धि प्रदान करें—जिससे वे अपनी मर्यादाके महत्त्वको समझें और उसका पालन करके अपना तथा देश एवं समाजका उत्कर्ष साधन कर सकें।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥

'(हे प्रभो !) समस्त विश्वका कल्याण हो ! दुष्ट पुरुष सुधर जायँ ! सभी प्राणी परस्पर—एक दूसरेके कल्याणकी भावना करें ! हम सबके मन कल्याणमें लगें ! हमारी बुद्धि निष्कामभावसे श्रीहरिका भजन करती हुई उन्हींमें लगे !'

संस्कृति-विनय

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी एम्० ए०, बार-एट-लॉ)

भगवान् कृष्ण आकर, मुरली मधुर बजा दे ॥ टेर ॥
गीताका दिव्य गाना, वे भव्य भावनाएँ ।
सुन्दर सुरीले स्वरसे, भारतको फिर सुना दे ॥ १ ॥
ज्ञानाग्निसे तपाकर, मन मैलको मिटाकर ।
पावन पियूष धारा, शुचि स्नेहकी बहा दे ॥ २ ॥
अब कालिमा कलहकी, सब ओर छा रही है ।
फिर प्रीति रीति केशव, इस देशको सिखा दे ॥ ३ ॥
ऊँचा न नीच कोई, मानव सभी बराबर ।
सब देशवासियोंमें, अब भाव यह जगा दे ॥ ४ ॥
परिवार विश्व सारा, है प्राणिमात्र प्यारा ।
एकात्मताके मोहन, मृदु मन्त्रको सुना दे ॥ ५ ॥
आदर्श सब गुणोंमें, यह देश था हमारा ।
वह दिव्य ज्योति फिरसे, भारतमें जगमगा दे ॥ ६ ॥
संसारका शिरोमणि, था शान्तिका निकेतन ।
भारतको फिर दयामय, आसन वही दिला दे ॥ ७ ॥
धनधाम सब समर्पित, तन मन करें निछावर ।
स्वदेश-धर्म-हितकी, दिलमें लगन लगा दे ॥ ८ ॥
निष्काम कर्म करना, दुखियोंके दुःख हरना ।
इस कर्मयोग पथको, फिरसे युगक दिखा दे ॥ ९ ॥

यज्ञोपवीत और वैज्ञानिक रहस्य

(लेखक—आचार्य पं० श्रीरामानन्दजी शास्त्री)

दैव-दुर्विपाकसे इस समय हिंदू-संस्कृतिपर कुठाराघात अपने स्वजनोंके द्वारा ही विशेष हो रहा है। कतिपय सज्जन पाश्चात्य भौतिकवादके बाह्यरूपसे प्रभावित होकर इसपर कुठाराघात कर रहे हैं—शिखा क्यों धारण करें ? यज्ञोपवीत क्यों पहनें ? आदि। उनकी दृष्टिमें भारतके पतनका मुख्य हेतु यज्ञोपवीत ही है। अतः इस लघुकाय लेखके द्वारा उनके चित्तसंतुष्ट्यर्थ यह निवेदन कर रहा हूँ कि यज्ञोपवीतका आधार भी विज्ञान ही है। जिस प्रकार भारतीय शासनके प्रतीक तिरंगे झंडेका कोई विज्ञान है,—इसमें तीन रंग क्यों हैं ? मध्यगत चक्रका क्या तात्पर्य है ? इत्यादि—उसी प्रकार यज्ञोपवीतका भी रहस्य है।

यज्ञोपवीत ९६ चौआका होता है। ब्रह्मवर्चस्वी होनेके लिये विप्रके बालकका उपनयन-संस्कार पाँचवें वर्ष करना चाहिये। जब बालक चार वर्ष व्यतीतकर पाँचवें वर्षमें पदार्पण करे, तभी उपनयन युक्त है। इसका रहस्य यह है कि एक आदमीकी आयु सौ वर्ष निर्धारित है, उसमें यह बालक चार वर्ष समाप्त कर चुका है। अब इसे ९६ वर्ष और जीवित रहना है। अतः ९६ चौआका यज्ञोपवीत धारण करता है, वही आदर्श है। अतः सब अवस्थामें उसीको धारण किया जाता है। यज्ञोपवीत 'नौ गुण' का होता है—यह शरीर अथर्ववेदके अनुसार 'अष्टचक्रा नवद्वारा' है; अतः नवगुण नवद्वारका प्रतीक है। यज्ञोपवीतमें तीन तागे हैं। यह बताता है कि जन्मतः मनुष्य तीन ऋणोंसे ग्रस्त हो जाता है, जिन्हें पितृ-ऋण, देव-ऋण और ऋषि-ऋणके नामोंसे पुकारते हैं। इसलिये तीन तागे तीन ऋणोंके स्मरणार्थ हैं। उन तीन ऋणोंके उद्धारार्थ पाँच महायज्ञोंका विधान किया गया है, जिन्हें मनुने अनिवार्य बताया है। अतः उसमें पाँच ग्रन्थि लगाते हैं। इन तीन ऋणों एवं पाँच यज्ञोंको हृदयसे स्वीकार करना चाहिये। मनुष्यके शरीरमें 'हृदय' वाम भागमें स्थित है, अतः यज्ञोपवीत बायें कंधेसे दाहिनी ओर धारण किया जाता है। यज्ञोपवीत त्यागकर भी मनुष्य व्रतोंका पालन कर सकता है; किंतु वह उसी प्रकार होगा, जिस प्रकार कोई राष्ट्र अपने राष्ट्रिय प्रतीक झंडेसे शून्य हो। एवं जब यज्ञोपवीत-संस्कार होता है, तब ब्रह्मचारी समझने लगता है कि अब मेरे ऊपर उत्तरदायित्व आ गया है। वह आत्मपवित्रताका अनुभव करने लगता है। इसीके साथ वह हिंदू-संस्कृतिका चिह्न है, युगोंसे आया हुआ संस्कार है, जिसके द्वारा हम ऋषिचरित्रका स्मरण करते हैं। अतः द्विजके लिये यज्ञोपवीत अनिवार्य है।

ज्योति जगा

(रचयिता—पु० श्रीप्रतापनारायणजी)

बाहरका आडम्बर क्या है ? यह वन क्या है, यह घर क्या है।
मनविजयी के रूमी एक हैं—सभी एक हैं जो अनेक हैं॥
तू पहले सब जंजालों को अपने मन से दूर भगा।
तू अंदर की ज्योति जगा॥ १॥

पूजन-पाठ, मंत्र-जप सारे—उसे ढूँढ़ने में हैं हारे।
माला, तिलक सभी उत्तम हैं—पर ये बाहर के मरहम हैं॥
तू पहले मन के घावों पर विश्व-प्रेम की दवा लगा।
तू अंदर की ज्योति जगा॥ २॥

मन्दिर भी पावनतायुत है, जो कुछ देखा वही बहुत है।
तुझ में ही वह तो अच्युत है, तू उसका सुन्दरतम बुत है॥
तू फिर मानव होकर के भी क्यों जाता है यहाँ ठगा।
तू अंदर की ज्योति जगा॥ ३॥

इन दिवसों में, इन रातों में—जीवन जाता है बातों में।
अपनी नाव तुझे खेना है, जग से क्या लेना-देना है॥
तू जिसका है सगा, एक बस तेरा भी है वही सगा।
तू अंदर की ज्योति जगा॥ ४॥

हिंदू-संस्कृतिमें विवाहका आदर्श

(लेखिका—श्रीमती विद्यादेवीजी महोदया)

पृथ्वीकी अन्य सब जातियोंसे हिंदू-जातिकी अपनी कुछ विशेषता है । इस विशेषताकी आधारशिला इसकी आध्यात्मिकतामें निहित है । हमारे त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंने मनुष्यके वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका सच्चा सुख, सच्ची शान्ति और सच्चे आनन्दका तत्त्व अपनी दिव्य दृष्टिसे देख लिया था । इस कारण उन्होंने हिंदू-जातिके प्रत्येक क्रिया-कलाप, आचार-व्यवहार एवं प्रत्येक चेष्टाको आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे कुछ नियमोंद्वारा नियन्त्रित कर दिया। इसी कारण हिंदू-जातिकी सामान्य-से-सामान्य क्रियामें भी धर्माधर्मका सम्बन्ध बाँधा गया है । हमारा सोना, उठना, स्नान-भोजन करना, हँसना-बोलना, मल-मूत्र त्याग करना आदि सभी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक चेष्टाओंको धर्मद्वारा इस प्रकार नियन्त्रित किया गया है कि इनको करते हुए हम जिस दशामें हैं, उससे नीचे न गिरें और ऐहलौकिक स्वास्थ्य, सुख-शान्ति और दीर्घायु प्राप्त करते हुए पारलौकिक अभ्युदय तथा सुख-शान्तिको भी प्राप्त कर सकें, एवं अन्तमें अपनी आध्यात्मिक उन्नतिद्वारा पूर्णता प्राप्त कर जीवोंके परम प्रिय सखा एवं सुहृद् भगवान्‌के मङ्गलमय चरणोंका भी दर्शनकर कृतकृत्य हो सकें । हमारे सब वेद-पुराण और धर्मशास्त्रोंका सारा प्रयास मनुष्यजीवनके इसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये है । हिंदू-जाति इन्हीं शास्त्रीय नियमोंसे नियन्त्रित एवं परम्परागत संस्कारजनित संस्कृतिके कारण करोड़ों-अरबों वर्षोंसे जीवित चली आ रही है । समय-समयपर आनेवाले अनेक उथल-पुथलके झंझावात एवं विदेशी आक्रमण उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके, आज भी वह अपने स्वरूपमें विद्यमान है । यों तो जैसे मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनमें उत्थान-पतन, विपत्ति-सम्पत्ति आया-जाया करते हैं, उसी प्रकार जातीय तथा राष्ट्रिय जीवनमें भी उत्थान-पतन प्राकृतिक नियमसे स्वतः हुआ करते हैं; क्योंकि संसारकी कोई वस्तु सदा एक-सी नहीं रहती, न रह ही सकती है । इसी नियमसे किसी समय हिंदू-जाति समस्त पृथ्वीका शासन करती थी, इधर सैकड़ों वर्षोंसे पराधीन रही; अब पुनः भगवान्‌की कृपासे उसकी बाहरी परतन्त्रताकी जंजीर तो टूट गयी है, परंतु अभी उसकी मानसिक तथा बौद्धिक परतन्त्रता दूर नहीं हुई । क्योंकि हिंदुओंका एक समूह विदेशीय भाषा, विदेशीय रहन-सहन एवं विदेशीय तथा विजातीय आदर्शोंका स्वप्न देखता है । उसका हृदय विदेशी है । अस्तु, जिसका आधार ही असत्य है, वह वस्तु कभी स्थायी नहीं हो सकती, जैसा भगवान्‌ने गीतामें कहा ही है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

'असत्‌का भाव नहीं होता और सत्‌का कभी अभाव नहीं होता ।' इसी सिद्धान्तके अनुसार पृथ्वीकी सबसे प्राचीन हिंदू-जाति आज भी विद्यमान है; क्योंकि हिंदू-संस्कृति सत्यपर अवलम्बित है—जहाँ अन्य कितनी ही जातियाँ काल-कवलित हो चुकीं, उनका पृथ्वीपर नाम-निशान भी नहीं रहा ।

हिंदू-संस्कृतिमें विवाह प्रवृत्तिका एक सबसे बड़ा संस्कार है और उसका कुछ विशेष लक्ष्य भी है । पृथ्वीकी अन्यान्य जातियोंमें विवाह केवल इन्द्रियोंकी तृप्ति और भोगका साधन-मात्र है; क्योंकि उनके जीवनका लक्ष्य 'Eat, drink and be merry,' 'खाओ, पीओ, मौज करो' है । उनकी संस्कृति उनको यही सिखाती है । हमारी हिंदू-संस्कृतिमें विवाहका क्या लक्ष्य या आदर्श है, यही यहाँ विचारणीय विषय है ।

मीमांसा-शास्त्रमें सिद्ध है कि सृष्टिके प्रारम्भसे ही स्त्रीधारा एवं पुरुषधारा—ये दो स्वतन्त्र धाराएँ चलीं । यथा कर्म-मीमांसादर्शनमें—

'द्वे धारे स्वतन्त्ररूपत्वात्' (धर्मपाद, सूत्र ५५)

भगवान् मनुने भी कहा है—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें परमात्माने अपनेको दो भागोंमें विभक्त किया, वे आधेमें पुरुष और आधेमें नारी हो गये ।

भगवान्‌ने भगवद्गीतामें भी कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

इन दोनोंमें कौन भाग पुरुष और कौन-सा भाग स्त्री बना, इस विषयमें भी देवीभागवतमें कहा है—

स्वेच्छामयः स्वेच्छयायं द्विधारूपो बभूव ह ।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः ॥

स्वेच्छामय भगवान् स्वेच्छासे दो रूप हो गये, वाम भागके अंशसे स्त्री और दक्षिण भागके अंशसे पुरुष बने।

इन सब प्रमाणोसे स्पष्ट है कि सृष्टिके प्रारम्भसे ही स्त्रीधारा तथा पुरुषधारा—ये दो धाराएँ पृथक्-पृथक् चली। ये ही दोनों उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज योनियोमे स्त्री एवं पुरुषके रूपमे आगे बढ़ती-बढ़ती मनुष्य-योनिमे पहुँचती हैं। इन दोनोके सहयोगसे ही सृष्टिका विस्तार होता आया है। इसी कारण सृष्टिके प्रत्येक स्तरमें स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्ति विद्यमान हैं। स्वेदज, अण्डज तथा जरायुज योनियोमें स्त्री-पुरुष-धारा प्रत्यक्ष ही है। उद्भिज्ज अर्थात् वृक्षादिमे भी ये दोनो धाराएँ हैं; किसी-किसी उद्भिज्जमे दोनो अलग-अलग हैं, किसी-किसीमे एक ही वृक्षमे ये दोनो शक्तियाँ है। इनके स्त्री-पराग एवं पुं-परागका सम्मिलन भ्रमरोद्वारा या वायुद्वारा होकर इनकी सृष्टि आगे बढ़ती है। ये ही दोनों शक्तियाँ जडराज्यमे भी देखी जाती हैं—जैसे विद्युत्-शक्तिमे आकर्षण-शक्ति (negative) और विकर्षण-शक्ति (positive) दोनो विद्यमान हैं। ये दोनो शक्तियाँ अलग-अलग रहनेसे कार्यकारिणी नहीं होतीं; किंतु दोनोको मिला देनेसे पखे चलते हैं, बत्ती जलती है तथा और अनेक अद्भुत कार्य सम्पन्न होते हैं। मीमांसा-शास्त्रका यह भी सिद्धान्त है कि ये दोनो धाराएँ जबसे प्रारम्भ हुई, मनुष्ययोनितक बराबर अलग-अलग चली आयी हैं। मनुष्ययोनिमे आनेपर भी साधारण क्रममे ऐसा नही होता कि स्त्री पुरुष हो जाय, अथवा पुरुष स्त्री बन जाय। साथ ही यह भी विज्ञान-सिद्ध और प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि बिना दोनोके सहयोगके सृष्टिका कोई भी कार्य सम्पन्न नही होता है, दोनो अलग-अलग रहकर कुछ भी नहीं कर पाते—जैसे मूलमे देखा जाता है कि परम पुरुष परमात्मा बिना अपनी शक्तिके निष्क्रिय बन जाते हैं। उनका सारा ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य उनकी शक्ति प्रकृतिके कारण ही है। बिना शक्तिके वे कुछ भी कर सकनेमे असमर्थ है। गीतामे भगवान्ने इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की है, यथा—

'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।'
'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥'

इसी प्रकार उनकी शक्ति भी बिना भगवान्के सान्निध्यके जड हो जाती है। वह जो कुछ संसारका सृजन करती है, वह परम-पुरुष परमात्माकी अध्यक्षतामे उन्हींके लिये करती है। जैसे भगवान्ने कहा ही है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

'मेरी अध्यक्षतामे प्रकृति चराचर जगत्को उत्पन्न करती है।' इस प्रकार यही देखा जाता है कि परम पुरुष परमात्मा शिव बिना अपनी प्रकृतिके निष्क्रिय 'शव' बन जाते हैं और उनकी शक्तिरूपिणी प्रकृति भी बिना उनके अधिष्ठानके कार्यकारिणी नही होती, क्योंकि वह जड है। अतः ईश्वरकी ईश्वरता उनकी शक्तिपर अवलम्बित है और शक्तिकी तो सत्ता ही शक्तिमान्पर अवलम्बित है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि दोनो एक दूसरेके पूरक हैं। दर्शनशास्त्रका यह भी सिद्धान्त है कि स्त्रीधारा पुरुषधारामयी होकर ही कैवल्यकी अधिकारिणी होती है। यथा—

स्त्रीधारा पुंधारामयी कैवल्याधिकारिणी।
(कर्ममीमांसादर्शन, धर्मपाद, सूत्र ५६)

मनुष्ययोनिमे आनेतक ये दोनो धाराएँ नियमित रूपसे प्राकृतिक नियमसे क्रमशः आगे बढ़ती रहती है। क्योंकि मनुष्ययोनिसे पहलेकी योनियोके जीव अपनी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक असम्पूर्णताके कारण असमर्थ रहते हैं, अतः वे प्रकृतिके नियमोका उल्लङ्घन नही कर पाते। इस कारण उनकी क्रमोन्नति अबाधितरूपसे होती रहती है, उसी क्रमोन्नतिके क्रमसे वे मनुष्ययोनिमे पहुँच जाते हैं। मनुष्ययोनिमे पहुँचकर दोनो पूर्णावयव स्त्री तथा पुरुष बन जाते है। यहाँ उनके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषोका पूर्ण विकास हो जाता है; साथ ही उनको प्राकृतिक नियमोपर बलात्कार करनेकी शक्ति भी आ जाती है। अतः यहाँ प्रकृतिके नियमोका उल्लङ्घनकर अनर्गल अनियन्त्रित-रूपसे विषयोका भोग और मनमाना आहार-विहार करनेसे इनकी अधोगति होने लगती है। विवाहका प्रथम उद्देश्य स्त्रीधाराको पुरुषधारामे मिलाकर उसे मुक्तिकी अधिकारिणी बनाना तथा दोनोकी अनर्गल अनियन्त्रित पशु-प्रवृत्तियोको नियन्त्रित कर दोनोंकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, ऐहलौकिक, पारलौकिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करना और दोनोके मधुर समन्वयसे दोनोंकी पूर्णता सिद्ध करना एवं सासारिक सुख-शान्ति प्राप्त करना है। इस विवाह-संस्कारके द्वारा स्त्री और पुरुष दोनो अपनी-अपनी अनर्गल भोग-प्रवृत्तियोको एक दूसरेमे केन्द्रीभूत एवं नियन्त्रित कर आत्मसंयम और आत्मत्यागके अभ्यासद्वारा एक दूसरेकी आध्यात्मिक उन्नतिमे सहायक बनते हैं। इसीलिये स्त्रीके लिये पातिव्रत्य और पुरुषके लिये भी एक पत्नीव्रत-धर्म ही प्रशस्त एवं आदर्श है।'
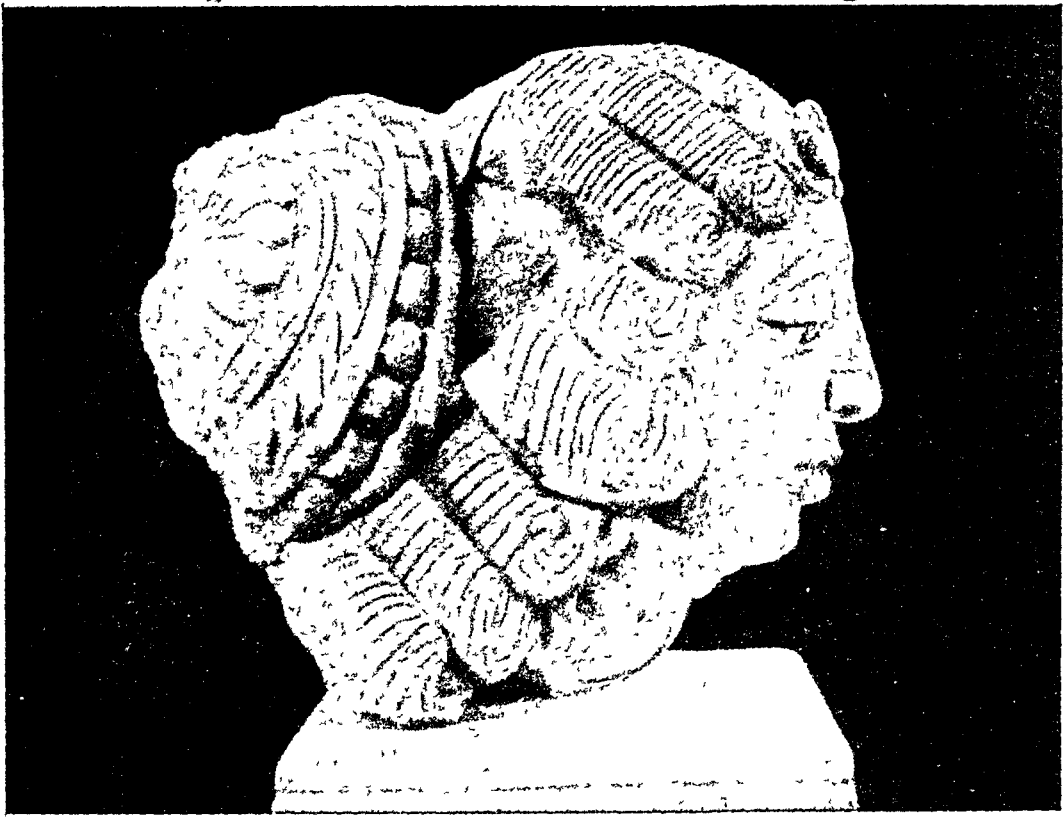
अहिच्छत्र-पार्वती (मृण्मय मूर्ति)

५९

अहिच्छत्र-शिव-पार्वती (मृण्मय मूर्ति)

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

देवगढ़के दशावतार मन्दिरका प्रवेशद्वार (गुप्तकाल)

(इसपर प्रतिहारी, मिथुन, प्रमथ, कल्पलता, गङ्गा, यमुना उत्कीर्ण हैं।)

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

अर्थात् तीर्थ, व्रतोद्यापन, यज्ञ, दान, हव्यदानद्वारा देवताओंका पूजन, कव्यदानद्वारा पितरोंका पूजन, कुटुम्बकी रक्षा एवं पालन, पशुपालन, आय-व्यय आदिकी व्यवस्था, देवालय, बाग, तड़ाग, कूप, वापी आदि बनवाना, स्वदेश या परदेशमें क्रय-विक्रय—जो कुछ तुम करोगे, सबमें मैं तुम्हारी सदा वामाङ्गिनी रहूँगी। तुम कभी परकीया स्त्रीका सेवन नहीं करोगे, इत्यादि। और भी—

धनं धान्यं च मिष्टान्नं व्यञ्जनाद्यं च यद् गृहे।
मदधीनं च कर्तव्यं वधूराद्ये पदे वदेत्॥
कुटुम्बं रक्षयिष्यामि सदा ते मञ्जुभाषिणी।
दुःखे धीरा सुखे हृष्टा द्वितीये साब्रवीद्वचः॥
पतिभक्तिरता नित्यं क्रीडिष्यामि त्वया सह।
त्वदन्यं न नरं मंस्ये तृतीये साब्रवीदियम्॥
लालयामि च केशान्तं गन्धमाल्यानुलेपनैः।
काञ्चनैर्भूषणैस्तुभ्यं तुरीये सा पदे वदेत्॥
आर्ते आर्ता भविष्यामि सुखदुःखविभागिनी।
तवाज्ञां पालयिष्यामि पञ्चमे सा पदे वदेत्॥
यज्ञे होमे च दानाद्यौ भविष्यामि त्वया सह।
धर्मार्थकामकार्येषु वधूः षष्ठे पदे वदेत्॥
अत्राग्नौ साक्षिणो देवा मनोभावप्रबोधिनः।
वञ्चनं न करिष्यामि सप्तमे सा पदे वदेत्॥

वधू कहती है कि 'धन-धान्य, मिष्टान्न आदि जो कुछ घरमें है, सब मेरे अधीन रहेगा; मैं सदा मधुरभाषिणी, कुटुम्बकी रक्षा करनेवाली, दुःखमें धीर और सुखमें प्रसन्न रहूँगी। पतिपरायणा होकर तुम्हारे ही साथ विहार करूँगी, तुम्हारे सिवा अन्य किसी पुरुषको पुरुष ही नहीं समझूँगी। गन्ध, माला, लेपन-भूषण आदिसे तुम्हें सदा प्रसन्न करूँगी। मैं सदा तुम्हारे दुःखमें दुःखिनी, सुखमें सुखिनी हो तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगी। यज्ञ, दान, होम तथा अन्य सभी धर्म, अर्थ, कामके साधक कार्योंमें सदा तुम्हारे साथ रहूँगी। मेरी इन प्रतिज्ञाओंमें अन्तर्यामी देवतागण साक्षी रहें, मैं कभी तुम्हारी वञ्चना नहीं करूँगी।' इत्यादि प्रतिज्ञाएँ सप्तपदी-गमनके समय वधू करती है; अनन्तर वर उनको इन शब्दोंमें स्वीकार करता है—

ॐ मम व्रते ते हृदयं दधामि
मम चित्तमनु चित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व
प्रजापतिष्ट्वा वि युनक्तु मह्यम्॥
मदीयचित्तानुगतं च चित्तं
सदा ममाज्ञापरिपालनं च।
पतिव्रता धर्मपरायणा त्वं
कुर्याः सदा सर्वमिमं प्रयत्नम्॥

'अपना हृदय मेरे काममें लगाओ, अपना चित्त मेरे चित्तके अनुरूप करो, तुम मेरे मनमें अपना मन मिलाकर मेरे वचनका पालन करो। प्रजापति तुम्हें मुझे प्रसन्न करनेमें प्रवृत्त करें। तुम पतिव्रता, धर्मपरायणा, सदा मद्गतचित्ता, मेरी आज्ञाकारिणी और अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कार्य करनेमें तत्पर रहो।'

इस प्रकार विवाहरूपी पवित्र संस्कार-सूत्रमें वर-वधूको आबद्धकर दोनोंकी उच्छृङ्खल, अनर्गल भोगप्रवृत्तियोंको संयत और नियन्त्रित किया जाता है तथा दोनोंको धर्मानुकूल काम-अर्थका सेवन तथा धर्मार्जनमें प्रवृत्त किया जाता है। वस्तुतः पति-पत्नीमें पवित्र प्रेम तथा एकात्मतासे ही गार्हस्थ्य-जीवनकी सुख-शान्ति, उत्तम सन्तानकी उत्पत्ति और दोनोंकी आध्यात्मिक उन्नति होती है। पति-पत्नीमें अटूट प्रेम दोनोंकी प्रकृति-प्रवृत्तियोंके मेलसे ही सम्भव है। इसी कारण हमारे धर्माचार्योंने विवाहके पहले वर-वधूके लक्षण, कुल, शील, वय, जाति तथा जन्मपत्र मिलाना आदि अनेक विषयोंपर विचार करनेका विधान किया है। इन्हीं कारणोंसे हमारे यहाँ असवर्ण-विवाह, स्वगोत्र-विवाह, वरसे अधिक वयवाली कन्यासे विवाह, विधवा-विवाह आदि धर्म-विरुद्ध होनेसे वर्जित हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

अविलुप्तब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥

'ब्रह्मचारी गृहस्थ होनेके लिये अपने अनुरूप, अपनेसे भिन्नगोत्रीया, अपनेसे अल्पवयस्का तथा जिसका पहले किसीके साथ विवाह न हुआ हो, ऐसी कन्याके साथ विवाह करे।' स्मृतिशास्त्रोंमें आठ प्रकारके विवाहोंका वर्णन पाया जाता है। यथा मनुस्मृतिमें—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच—ये आठ प्रकारके विवाह होते हैं। इनके लक्षणोंके विषयमें मनुजीने कहा है कि कन्याको वस्त्र-अलङ्कारादिसे सुसज्जितकर विद्वान्, शीलवान् वरको बुलाकर कन्यादान करनेका नाम ब्राह्म-विवाह है। यज्ञमें यज्ञकर्ता ऋत्विक्को वस्त्र-अलङ्कारादिसे सुसज्जित कन्याका दान करना

दैव विवाह है। यज्ञादि धर्मकार्यके लिये वरसे एक या एक जोड़ा बैल या गौ लेकर विधिपूर्वक कन्यादान करनेको आर्ष विवाह कहते हैं। 'तुम दोनों मिलकर गृहस्थ-धर्मका आचरण करना' यों कहकर विधिवत् वरकी पूजा करके कन्यादान करना प्राजापत्य विवाह कहाता है। अपनी इच्छासे कन्याके कुटुम्बियोंको या कन्याको धन देकर जो कन्यासे विवाह किया जाता है, उसका नाम आसुर विवाह है। कन्या और वरके परस्पर अनुरागसे जो संयोग होता है, उसको गान्धर्व विवाह कहते हैं। कन्याके सम्बन्धियोंको मार-काटकर, उनका घर तोड़कर रोती हुई और किसी रक्षकको पुकारती हुई कन्याको बलपूर्वक हरणकर विवाह करना राक्षस विवाह है और निद्रिता, मद्यपानसे विह्वला अथवा किसी अन्य तरहसे उन्मत्ता स्त्रीके साथ एकान्तमें सम्बन्ध करके जो विवाह किया जाता है, उसको पैशाच विवाह कहा जाता है। इन आठ प्रकारके विवाहोंमेंसे केवल प्रथम चार प्रकारके विवाहोंको प्रशस्त कहा गया है। शेष चारकी निन्दा की गयी है।

> ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः।
> ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः॥
> रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
> पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः॥
> इतरेषु च शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
> जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥
> अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
> निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत्॥

'ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य—इन चार प्रकारके विवाहोंसे जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह ब्रह्मतेजसे युक्त और शिष्टप्रिय होती है। ऐसी सन्तान सुन्दर, सात्त्विक, धनवान्, यशस्वी, पर्याप्त भोगसम्पन्न और धार्मिक होती है और सौ वर्षोंतक जीवित रहती है। शेष चार प्रकारके विवाहोंसे क्रूर, मिथ्यावादी, धर्म और वेदके द्वेषी पुत्र उत्पन्न होते हैं। अनिन्दित स्त्री-विवाहसे अनिन्दित सन्तान और निन्दित स्त्री-विवाहसे निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है। अतः निन्दित विवाहोंका त्याग करना चाहिये।'

इन ऊपर लिखित आठ प्रकारके विवाहोंमेंसे ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य—केवल इन चार प्रकारके विवाहोंद्वारा विवाहके जो तीन उद्देश्य या लक्ष्य हैं, उनकी सिद्धि होती है। शेष गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच विवाहोंके द्वारा उच्छृङ्खल पाशव प्रवृत्तियोंकी ही वृद्धि होती है। उनसे उत्तम सन्तानकी उत्पत्ति नहीं होती, न उनसे कौटुम्बिक, सामाजिक या राष्ट्रिय जीवनके सुख-स्वास्थ्य एवं शान्तिकी रक्षा होती है। अतः वे निन्दनीय तथा त्याज्य कहे गये हैं। यही हिंदू-संस्कृतिमें विवाहका आदर्श है।

आजकल विवाहका जैसा ढंग चलने लगा है, उससे विवाहकी पवित्रता पहले ही समाप्त हो जाती है। २५-३० वर्षकी अवस्थातक लड़कियोंको अविवाहित रखनेसे उनका हृदय पातिव्रत्य-संस्कारके उपयुक्त नहीं रह जाता। हमारे शास्त्रोंमें विवाहका काल ऋतुदर्शनके पहले है। इस विषयमें सभी स्मृतिकार एकमत हैं कि कन्याका विवाह रजोदर्शनसे पहले हो जाना चाहिये। इसका कारण थोड़ा ही विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है। ऋतु होना कन्याके स्त्रीत्वकी पूर्णताका सूचक है। स्त्रीत्वकी पूर्णता होते ही कन्याकी दृष्टि पुरुषकी ओर जाना स्वाभाविक और प्रकृतिके नियमके अनुकूल ही है। अतः कन्या अपनेको स्त्रीरूपमें अनुभव करते ही पुरुषरूपमें अपने पतिको ही देखे, अन्य पुरुषपर उसकी भोग-बुद्धि उत्पन्न ही न होने पाये—इस आदर्श सतीत्वकी रक्षाके लिये रजोदर्शनसे पूर्व कन्याका विवाह कर देनेकी आज्ञा सब महर्षियोंने दी है। कन्याकालमें कन्याका विवाह-संस्कार होनेसे ही आदर्श सतीत्वकी रक्षा होनी सम्भव है, अन्यथा नहीं। विदेशीय अनुकरणसे शिक्षित समाजमें युवती-विवाहकी प्रथा चलने लगी है; उससे न तो सतीत्व-धर्मकी पूरी रक्षा हो सकती है, न पति-पत्नीमें वैसा आदर्श प्रेम हो सकता है और न पारिवारिक तथा सामाजिक सुख-शान्तिकी रक्षा होना सम्भव है। इसका स्वरूप कुछ-कुछ सामने आने भी लगा है।

कुछ थोड़े विदेशी तथा विजातीय सभ्यता-संस्कृतिके पक्षपाती लोगोंको छोड़कर शेष करोड़ों मनुष्य जो भारतीय संस्कृतिके पक्षपाती हैं और अपने ऋषि-मुनियोंकी आज्ञाओंका अनुसरण करनेवाले हैं, उनको भी कानून बनाकर विवश किया जा रहा है कि कन्याओंको युवती बनाकर विवाह करें। अतः इस अवस्थामें संस्कारकी रक्षाके लिये कन्याओंके वाग्दानकी प्राचीन प्रथा दृढ़ करनी चाहिये। अब भी देशके किसी-किसी भागमें वाग्दानकी प्रथा प्रचलित है। इस समय आपत्कालके अनुसार कन्यावस्थामें अथवा रजोदर्शनसे पूर्व यदि कन्याका विवाह न किया जा सके तो कन्याका वाग्दान करके इस पवित्र संस्कार एवं प्राचीन मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिये।

भारतीय संस्कृतिमें नारीका स्थान

(लेखिका—आयुर्वेदाचार्या श्रीमती शान्तादेवी वैद्या)

श्रुतिस्मृतिपुराणैश्च स्तुता कल्याणदायिनी ।
व्यवहारात्मिका पुण्या आदिमा सैव संस्कृतिः ॥*

भारतीय संस्कृतिके अन्वेषणमें उसका आदि स्रोत हिमालयपर विराजमान शिवा-शिवके दर्शनोंसे उपलब्ध होता है । उनकी पवित्रता, आचारनिष्ठा और व्यवहारप्रियता ही आदिम संस्कृतिका उद्गम-स्थल है ।

जन्मान्तरीयसम्बन्धस्तथा पाणिपवित्रता ।
तपःप्रधाना नार्यश्च कन्यादानस्य श्रेष्ठता ॥
स्त्रियः प्रसादाय कृतिः जायात्वमेकरूपता ।

'जन्मान्तरका सम्बन्ध, पाणि (हाथ) की पवित्रता, नारीका तपोमय स्वरूप, कन्यादानकी श्रेष्ठता, स्त्रीको प्रसन्न रखनेका यत्न, जाया-पद तथा दम्पतिकी एकरूपता—ये सात भाव सर्वोच्च आदिम आर्य-संस्कृतिके अन्तर्गत हैं, जो मानव-जीवनकी पूर्णता और दाम्पत्य-प्रेमकी पवित्रताके द्योतक हैं ।

जन्मान्तरीय सम्बन्ध

ब्रह्मका शिवरूपी चिदाभास जब अन्तःकरणकी बुद्धिरूपा पार्वतीमें प्रतिबिम्बित होता है, तभी जीवकी उत्पत्ति होती है और यह जीव-संसृति मोक्ष या महाप्रलयतक निरन्तर संसार-चक्र चलाती रहती है । अमैथुनी सृष्टिके बाद प्राणि-जगत्के सञ्चालनार्थ पुरुष-स्त्री-सम्बन्ध आवश्यक हो गया । चौरासी लाख योनियोंमें विभिन्न भेदोंसे यह विद्यमान है । जीव-सृष्टिके उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—ये चार मुख्य भेद हैं । पूर्वत्रयसे जरायुज श्रेष्ठ है, और जरायुजोंमें मानव श्रेष्ठ है । उनमें भी असंस्कृत और संस्कृत भेदसे संस्कृत मानव श्रेष्ठ हैं । वे जीव और जीवनके रहस्यको जानते हैं । महाप्रलय-पर्यन्त पुनर्जन्म या आवागमनको मानते हैं । उन्हीं संस्कृत स्त्री-पुरुषोंका दाम्पत्य-जीवन संस्कृति है । वे दम्पति संसार-चक्रमें साथ-साथ रहते हैं, यही जन्मान्तरीय सम्बन्ध है । 'सखे सप्तपदा भव' कहते हुए भूलोकसे सत्यलोकपर्यन्त सातों लोकोंमें साथ-साथ विचरण करते हैं । दम्पतिके धर्मानुष्ठान और सहकार्योंका फल सम्मिलित अथवा अर्द्धार्द्ध विभक्त हो जाता है । इसीलिये जन्मान्तरमें भी वे बराबर साथ-साथ रहते हैं । कभी कोई असहधर्मी विक्षेपके कारण इस युगल-जोड़ीका बिछुड़ना भी हो जाता है; किंतु वह अस्थायी होता है । कालान्तरमें वे फिर आकर मिल जाते हैं । उनका वियोगकाल भी आदर्श और कल्याणकारी होता है । वियोग-कालमें ये एक दूसरेकी प्रतीक्षा करते हैं । इसीका नाम करुण-रस है । संयोगकालमें दोनों धर्मनिष्ठ, आचारनिष्ठ होकर अपनी जीवन-यात्राको सजाते हैं । इसीका नाम शृङ्गार-रस है । मा सतीका वियोग होनेपर—

यदैव पूर्वे जनने शरीरं
सा दक्षरोषात् सुदती ससर्ज ।
तदा प्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः
पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥

'पूर्वजन्ममें सुन्दर दाँतोंवाली सतीजीने दक्षपर क्रुद्ध होकर जब अपने शरीरका त्याग किया था, तबसे भगवान् शिव विषय-संगरहित होकर पत्नीशून्य हो गये ।' किसी पत्नीकी इच्छा नहीं की । तो किया क्या ?

स्वयं विधाता तपसः फलानां
केनापि कामेन तपश्चचार ।

'स्वयं तपका फल देनेवाले शङ्करभगवान् किसी जन्मान्तरीय सती-सम्मिलनकी कामनासे स्वयं तप करने लगे ।'

इधर मा सतीने पर्वतराज हिमालयके घर पार्वतीरूपसे अवतार ग्रहण किया और तारुण्यपूर्व ही पिताकी आज्ञा लेकर तप करने शैलशिखरपर चली गयीं । वहाँ उन्होंने घोर तपस्या की—

स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां
वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥

'अपने-आप सूखकर गिरे हुए पत्तोंको खाकर जीवन धारण करना तपस्याकी पराकाष्ठा होती है; किंतु पार्वतीजीने पर्णाहार भी त्याग दिया था । अतः पुराणवेत्ताओंने उन्हें 'अपर्णा' नामसे अभिहित किया ।' दम्पतिमें यह जन्मान्तरीय

* श्रुतियों, स्मृतियों और पुराणोंने जिसकी सराहना की है, जो सबको कल्याण प्रदान करनेवाली, परम पवित्र तथा व्यावहारिक है, वही आदिम आर्य-संस्कृति है ।

सम्मिलनका प्रतीक्षाकाल तपस्यापूर्ण रहा। यह है भारतीय संस्कृतिका 'जन्मान्तरीय दम्पति-सम्बन्ध !'

पाणि-पवित्रता, तपोमय स्वरूप

अनादि कालसे ही भारतीय ललनाओंकी पाणि-पवित्रता चली आयी है। उनका पाणिग्रहण पति ही करता है।

पार्वतीजीकी घोर तपस्या देखकर शङ्कर भगवान् वटु—'ब्रह्मचारी'का रूप धरकर पार्वतीजीके तपस्याश्रममें आये। सखियोंने बहुमान-पुरस्सर ब्रह्मचारीजीका आतिथ्य-सत्कार किया। वे पार्वतीजीसे मिलना और बातचीत करना चाहते थे। सखियोंने कहा—'भगवन्! गृहीतनियमा गिरिजाका पाँच मुहूर्त बाद नियम समाप्त होगा। तबतक आप प्रतीक्षा कीजिये। फिर हमारी सखीसे धर्मवार्ता कीजियेगा।'

आश्रम-शोभा देखनेके व्याजसे ब्रह्मचारीजी इतस्ततः भ्रमण करते हुए एक जलकुण्डमें गिर पड़े और तारस्वरसे चिल्लाने लगे—'कोई समर्थ मेरा उद्धार करे; दौड़ो, दौड़ो।' विजयादि सखियाँ दौडी आयीं। उन्होंने कुण्डसे निकालनेके लिये अपने हाथ बढ़ाये—

स चुक्रोश ततो गाढं दूरे दूरे पुनः पुनः।
नाहं स्पृशाम्यसंसिद्धां म्रिये वा साम्प्रतं त्वहम्॥

'ब्रह्मचारीने उनका हाथ नहीं पकड़ा और ऊँचे स्वरसे बार-बार कहा—'दूर रहो, दूर रहो; मैं सिद्धिरहित स्त्रीका स्पर्श नहीं करूँगा, चाहे इसी समय मर जाऊँ।' इतनेमें नियम समाप्त करके पार्वतीजी स्वयं आ पहुँचीं और अपना बायाँ हाथ ब्रह्मचारीको निकालनेके लिये बढ़ाया।

ब्रह्मचारीने कहा—

भद्रे! यच्छुचि नैव स्याद्यच्चैवावज्ञया कृतम्।
सदोषेण कृतं यच्च तदादद्यां न कर्हिचित्॥
सव्यं चाशुचि ते हस्तं नावलम्बामि कर्हिचित्।

'हे भद्रे! जो पवित्र नहीं है, जो अपमानसे किया गया है और जो दोषयुक्त किया गया है, उसको मैं कभी भी ग्रहण नहीं करूँगा। तुम्हारा बायाँ हाथ, जो स्वभावतः अपवित्र माना गया है, मैं कदापि नहीं पकड़ूँगा।'

इत्युक्ता पार्वती प्राह नाहं हस्तं च दक्षिणम्।
ददामि कस्यचिद्विप्र! देवदेवाय कल्पितम्॥
दक्षिणं मे करं देवो ग्रहीता भव एव च।
स्मर्यते चोग्रतपसा सत्यमेतन्मयोदितम्॥

ब्रह्मचारीकी बात सुनकर पार्वतीजी बोलीं—'हे विप्र! दायाँ हाथ तो मैंने देवदेव महादेवको समर्पित करनेके लिये सङ्कल्प कर रक्खा है; अतः अपना दाहिना हाथ किसीको न दूँगी। मेरे दाहिने हाथको ग्रहण करनेवाले पूर्वजन्मके मेरे स्वामी भगवान् शिव ही होंगे। इस उग्र तपस्याके द्वारा मैं उन्हींका चिन्तन कर रही हूँ। यह सत्य बात मैंने आपसे कही है।'

यह सुनकर ब्रह्मचारी बोले—

यद्येवमवलेपस्ते गमनं केन वार्यते।

'यदि तुमको महादेवजीपर इतना गर्व है तो रोकता कौन है? जाओ, अपनी प्रतिज्ञाका यत्नपूर्वक पालन करो और मुझे यों ही मरने दो। किंतु रुद्रके लिये यह तपस्या कैसी, जो मरते हुए ब्राह्मणको उसी दशामें छोड़नेको बाध्य करती हो? ब्राह्मणको नहीं मानती हो तो मेरी दृष्टिसे दूर हो जाओ; और यदि पूजनीय मानती हो तो मुझको ऊपर निकाल लो।'

पार्वतीजी बड़े धर्मसङ्कटमें पड़ गयीं। फिर उन्होंने सोच-विचारकर निश्चय किया और—

विप्रस्योद्धरणं सर्वधर्मेभ्योऽप्यनधिकम्।
ततः सा दक्षिणं दत्त्वा करं तं प्रोज्जहार च॥

'ब्राह्मणके उद्धारको सब धर्मोंसे अधिक माना तथा अपना दाहिना हाथ बढ़ाकर ब्राह्मणको ऊपर निकाल लिया।' जब दो धर्म परस्पर एक दूसरेके विरोधी होकर अड़ जाते हैं, तब अपनी हानि करके भी एक धर्मका त्यागकर दूसरे अपेक्षाकृत प्रबल धर्मका ग्रहण करना पड़ता है। किसी भी पर-पुरुषको दक्षिण हस्तसे स्पर्श करना अधर्म था, परंतु पार्वतीजीने ब्राह्मणके प्राणरक्षार्थ इसे स्वीकार किया।

नरं नारी प्रोद्धरति मज्जन्तं भववारिधौ।
एतत्संदर्शनार्थाय तथा चक्रे भवोद्भवः॥

(स्कन्दपुराण, कुमारिकाखण्ड)

'स्त्री भव-सागरमें डूबते हुए पुरुषका उद्धार कर देती है, इस बातको भलीभाँति दिखानेके लिये संसारको उत्पन्न करनेवाले भगवान् शिवने यह लीला की।'

पार्वतीजीने ब्रह्मचारीको निकालकर विषम धर्मका पालन किया, किंतु इस कर-ग्रहणसे अपने शरीरको उच्छिष्ट माना। अतः स्नान करके वे योगासनपर जा बैठीं और इस उच्छिष्ट शरीरको, जो ब्राह्मणके स्पर्शद्वारा अशुद्ध हो गया है, भगवान् शंकरके लिये अयोग्य मानकर योगाग्निसे भस्म कर देनेका निश्चय किया। यह देखकर ब्रह्मचारीने कहा—

'ब्राह्मणकी इच्छासे कोई बातचीत करके अपना मनोरथ पूरा करो।'

पार्वतीजीने शरीर-त्यागके पहले एक मुहूर्त (दो घड़ी) इस कामके लिये दिया। बातचीतमें ब्रह्मचारीने उनकी उच्च तपस्याका वर्णन करते हुए शिवजीके प्रति कुछ निन्दा-वाक्य कहे। सखियोंके द्वारा निवारण करनेपर भी ब्रह्मचारी नहीं माने। तब पार्वतीजीने सोचा कि 'निन्दक तो पापी होता ही है, निन्दा सुननेवाला भी पापका भागी होता है। अतएव यहाँसे हट जाना ही ठीक है।' ऐसा निश्चय करके वे क्रोध करके तुरंत वहाँसे चल दीं।

तब छद्मरूपसे ब्रह्मचारी बने हुए भगवान् शिवजीने अपना दिव्य शंकरस्वरूप प्रकट कर दिया और हँसते हुए भागती हुई पार्वतीजीको पकड़ लिया। तथा कहा—

अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥

'हे अवनताङ्गि! आजसे मैं तुम्हारा तपस्याद्वारा क्रीत दास हूँ।' पार्वतीजीका सारा क्लेश जाता रहा। कार्य सिद्ध होनेपर कष्ट भी आनन्दस्वरूपमें परिणत हो जाता है।'

पार्वतीजीने अपनी पाणि-पवित्रता सुरक्षित समझी। यह है तपोमय जीवन और पाणि-पवित्रतारूपी उच्च भारतीय संस्कृति!

कन्या-दान

अमूल्य निधि, सर्वोच्च पवित्र वस्तुका व्यावहारिक क्रय-विक्रय, देन-लेन या सामयिक नियमानुबन्ध नहीं होता। उसका तो परम पुण्यरूप दान ही होता है।

जब भगवान् शिवने पार्वतीजीसे कहा—

प्राह तां च महादेवो दासोऽस्मि तव शोभने।
तपोद्रव्येण क्रीतश्च समादिश यथेप्सितम्॥

'शोभने! मैं तुम्हारा तपोद्रव्य-क्रीत दास हूँ; जो इच्छा हो, आदेश करो। पालन करनेके लिये सत्वर प्रस्तुत हूँ।'

तब पार्वतीजी बोलीं—'मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ। मन तो प्रथमसे ही आपको समर्पण कर चुकी हूँ। अन्तःकरणके तीन भाग—चित्त, बुद्धि और अहंकार अब समर्पण करती हूँ। किंतु यह शरीर जन्मदाता और पालक माता-पिताका है। इसे आप उनसे ही दानस्वरूप लेकर उनका सम्मान और इष्ट-रूपा संस्कृतिकी रक्षा करें।'

मनसस्त्वं प्रभुः शम्भो! दत्तं तच्च मया तव।
वपुषः पितरावेतौ सम्मानयितुमर्हसि॥
(स्कन्दपुराण)

यह है कन्यादानरूपी भारतीय संस्कृति।

भगवान् शिवने 'तथास्तु' कहकर पार्वतीजीको घर भेजा और स्वयं कैलास चले गये।

पार्वतीजीका स्वयंवर हुआ। हिमाचलने देवताओंको निमन्त्रणपत्र भेजे। श्रीविष्णुभगवान्‌ने उत्तरमें लिखा—

मन्मातासाकं हि सा देवी मेरौ गत्वा नमामि ताम्।

'पार्वतीदेवी मेरी माता है; मैं मेरु पर्वतपर पहुँचकर उन्हें प्रणाम करूँगा।' श्रीब्रह्माजीने पुरोहिती करनेके लिये आना स्वीकार किया। ऐसे ही अन्य देवोंके भी स्वीकृतिपत्र आये। समयपर सब देव स्वयंवर-समारोहमें उपस्थित हुए। तब पार्वतीजीने भगवान् शिवके गलेमें जयमाला डाली और चरणोंमें सिर अर्पण किया। ब्रह्माजीने विधिवत् विवाह कराया।

लाजाहोम

हिमाचलका एकमात्र पुत्र मैनाक इन्द्र-वज्र-भयसे समुद्रमें छिपा था। लइभुजवा (लाजाहोम) भाई ही करता है। नगराजको चिन्ता हुई, तब भगवान् विष्णुने कहा—

अत्र चिन्ता न कर्तव्या नगराज कथंचन।
अहं भ्राता जगन्मातुरेतदेवन्न चान्यथा॥

और भगवान् विष्णुने लाई भूनी।

जायापदकी प्रतिष्ठा, दम्पतिकी एकरूपता और पत्नीको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥

इस अध्यात्म-संस्कृतिकी प्रतिष्ठार्थ शिव-लीला देखिये—

शिशुर्भूत्वा महादेवः क्रीडार्थं वृषभध्वजः।
उत्सङ्गतलसंसुप्तो बभूव भगवान् भवः॥
जायेति तत्पदं ख्यातुं तस्य सत्यार्थमीश्वरः।

जायात्वकी उच्च प्रतिष्ठाके स्थापनार्थ भगवान् शिव लीलासे ही बालरूप होकर पार्वतीजीकी गोदमें सो गये। यह उत्संग-संस्वप्न भारतीय संस्कृतिमें अब भी चला आ रहा है। पति भार्यामें प्रविष्टकर गर्भ होकर जो पुत्र-नामसे पुनः उत्पन्न होता है, वही जायात्व है। इसी आधिदैविक संस्कृतिकी रक्षार्थ भगवान् शिवने ऐसी लीला की।

सर्वोच्च भोगैश्वर्यकी अधिकारिणी मा पार्वतीजी थीं ही;

किंतु उनके सुख-सुविधार्थ शंकर भगवान् जरा-जरा-सी बातोंपर भी कितना ध्यान रखते थे, इसका उदाहरण अर्द्धनारीश्वररूपमें देखिये—

आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि
स्वीयेनैव करेण कर्षति तरोः पुष्पं श्रमाशङ्कया ।
तल्पे किं च मृगत्वचा विरचिते निद्राति भागैर्निजै-
रन्तःप्रेमभरालसां प्रियतमामङ्के दधानो हरः ॥

'प्रेम-पूरित अन्तःकरणवाली अपनी प्रियतमा पार्वतीको अङ्क (अर्धाङ्ग) में धारण किये हुए अर्धनारीश्वर भगवान् शङ्कर पार्वतीको परिश्रमसे बचानेके लिये सब काम अपने—पुरुषभागके अङ्गोंसे ही लेते हैं। चलते समय आगेकी नीची-ऊँची भूमिपर पहले अपना ही पैर रखते हैं। गिरिराज-किशोरी थक न जायँ—इस आशङ्कासे वे अपने ही हाथ बढ़ाकर वृक्षसे फूल तोड़ते हैं तथा मृगचर्म बिछायी हुई शय्यापर शयन करते समय अपने ही भागके अङ्गोंको नीचे रखकर नींद लेते हैं।'

शिवा-शिव-दाम्पत्य भारतीय संस्कृतिमें सर्वोच्च है। जितने उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थ हैं, वे सब शिवने पार्वतीजीको दिये और स्वयं क्या लिया, यह भी देख लीजिये—

मन्दारमालाकुलितालकायै
कपालमालाङ्कितशेखराय ।
दिव्याम्बरायै च दिगम्बराय
नमः शिवायै च नमः शिवाय ॥

'भगवती पार्वती और भगवान् शिवको नमस्कार है। पार्वतीजीकी अलकावलीमें पारिजात पुष्पोंकी माला गुथी हुई और भगवान् शिवके मस्तकपर खोपड़ियोंकी माला सजी है। पार्वतीजी तो दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हैं और शिवजी दिगम्बर हैं—उनके शरीरपर एक भी वस्त्र नहीं है।'

प्राचीन भारतके सामाजिक जीवनमें स्त्रियोंका स्थान

(लेखिका—श्रीप्रियंवदा माथुर बी० ए०, सरस्वती)

पाश्चात्य शिक्षा एवं प्रचारके प्रभावसे भारतमें भी आज नारीके अधिकारका आन्दोलन चल पड़ा है; पर वस्तुतः नारीका अधिकार माँगने और देनेके प्रश्नसे बहुत ऊपर है। भारतीय नारीका प्राचीन इतिहास इस विषयके लिये एक प्रोज्ज्वल प्रतीक बनकर आज भी हमारे समक्ष उपस्थित है। हम उसे किस प्रकाशमें देखते हैं, यह हमारे अपने दृष्टिकोणपर निर्भर है; परंतु उस जीवनकी सरलतायुक्त ज्ञानगम्यता, कोमलतायुक्त दृढ़ता और त्यागमयी उपभोगप्रियता आदि गुण नारीका एक ऐसा सर्वाङ्गसम्पूर्ण सुधासुन्दर सरस चित्र प्रस्तुत करते हैं, जो सर्वांशमें पूर्ण है, जिसे संसारसे कुछ लेना नहीं है। वह हमारी देवी अन्नपूर्णा है—देना ही जानती है, लेनेकी आकाङ्क्षा उसे नहीं।

वह सेवाको अपना अधिकार समझती है, इसलिये देवी है; वह त्याग करना जानती है, इसलिये सम्राज्ञी है; विश्व उसके वात्सल्यमय अञ्चलमें स्थान पा सकता है, इसलिये जगन्माता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, देश, संसार—सभीको अपना-अपना भाग मिलता है नारीसे; फिर वह सर्वस्वदान देनेवाली महिमामयी नारी क्षुद्र अपने सामने हाथ पसारे खड़े हुए इन भूलोकवासियोंसे क्या माँगे और क्यों माँगे? प्राचीन भारतकी नारी समाजमें अपना स्थान माँगने नहीं गयी थी, मञ्चपर खड़े होकर अपने अभावोंकी माँग पेश करनेकी आवश्यकता उसे कभी प्रतीत ही नहीं हुई और न विविध संस्थाएँ स्थापित करके उसमें नारीके अधिकारोंपर वाद-विवाद करनेका उसे अवकाश ही मिला। उसने अपने महत्त्वपूर्ण क्षेत्रको पहचाना था, जहाँ खड़ी होकर वह सम्पूर्ण संसारको अपनी निःस्वार्थ सेवा और त्यागके सुधा-प्रवाहसे आप्लावित कर सकी थी। नारीकी सरलता और मातृत्वका गौरव लेकर वह निर्द्वन्द्व-भावसे अपने कर्तव्यमें लीन रहती थी। समाजमें उसका एक अलौकिक स्थान था। आजकी नारी उपभोगकी वासना लेकर समाजके समक्ष आती है अपना अधिकार माँगने—विवाह-विच्छेदके नियम बनते हैं; सम्पत्तिमें नारीको अधिकार मिलता है। परंतु समाजके लिये नारीका यह रूप अभिनन्दनीय नहीं है। उसे आज समाजमें स्थान अवश्य मिला है; पर वह मिला है वासनाओंकी मोहावृत प्रतिमूर्तिके रूपमें, पूजनीया स्वर्गादपि गरीयसी माताके रूपमें नहीं। और इसीके फलस्वरूप आजकी सामाजिक संस्थाएँ हैं—क्लब, कालेज तथा अन्य विविध सोसायटियाँ। अवश्य ही युग-परिवर्तनके साथ हमारे आचार-विचारमें और हमारे अभाव-आवश्यकताओंमें परिवर्तन

होना अनिवार्य है; परंतु जीवनके मौलिक सिद्धान्तोंमे विभेद होना कदापि इष्ट नहीं। स्रष्टाकी रचनामे नारी और पुरुष दोनोंका ही महत्त्व है। वे एक दूसरेके पूरक हैं और इसी रूपमें उनके जीवनकी सार्थकता भी है। यदि नारी अपने क्षेत्रको तिलाञ्जलि देकर पुरुषके क्षेत्रमें अधिकार मॉगने जायगी तो असफलता निश्चित ही है। यदि उस सर्वद्रष्टा यन्त्रीको नारी और पुरुषके क्षेत्रमे विभिन्नता नहीं रखनी होती तो बूढ़े ब्रह्मदेवको नारी-पुरुषकी शरीर-रचनामे इतने प्राकृतिक विभेद रखनेकी कौन-सी आवश्यकता थी। नारीकी कोमलता और पुरुषका ओज गुण-विशिष्टतामे समान होते हुए भी समान धर्म नहीं कहे जा सकते।

हमारी प्राचीन हिंदू-संस्कृतिमें गृहस्थ-जीवनको एक यज्ञका स्वरूप दिया गया था और उस यज्ञमे स्त्री अर्धाङ्गिनीके रूपमे पुरुषको सहयोग प्रदान करती थी, जिसका अत्यन्त सौम्य रूप हमे कवि-कुलगुरु महाकवि कालिदासके शब्दोमे यों मिलता है—

विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्॥
(रघुवंश १। ५६)

निर्जन वनस्थलीमे ऋषिराज वसिष्ठ अपनी भार्या अरुन्धतीके साथ सायंकालकी होम-क्रिया सम्पन्न कर रहे हैं। नारी-शिक्षाका कैसा देदीप्यमान उदाहरण है! अशिक्षित नारी क्या इस प्रकार सहयोग प्रदान करनेमे समर्थ हो सकती थी? यह यज्ञका स्थूल स्वरूप था। परंतु इसी यज्ञकी भावना जब अन्तर्मुखी हो जाती है, तब नारीका समस्त जीवन ही यज्ञमय होकर एक पवित्र साधनाका रूप धारण कर लेता है। भगवान् श्रीरामने यदि व्रत धारण किया था पितृ-वचन-पालनका तो सती सीताने उस यज्ञको पूर्ण करनेके लिये उनका अनुगमन किया और अन्तमे सीता-वनवास भी क्या सीताके पक्षमे यज्ञ ही नहीं था? प्रजापालक राम क्या सीताकी त्याग-भावनाके अभावमे राम-राज्यका ऐसा सुन्दर चित्र समुपस्थित करनेमे समर्थ होते? वह उनके जीवन-यज्ञकी अर्धाङ्गिनी थी। त्यागमे ही उसका गौरव था और अपने प्राप्यको उसने कठिन तपस्या करके ही पाया था, राज्याधिकारियोंके समक्ष फरियाद करके नहीं।

वस्तुतः प्राचीन भारतीय नारीके जीवनकी सफलताका रहस्य त्यागमे—तपश्चर्यामे है, उपभोगमे नहीं। जगन्माता पार्वतीकी अलौकिक साधना तपस्याकी साकार प्रतिमा बनकर नारीके आदर्शका मानो यथार्थ चित्र उपस्थित कर रही है—

सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी। उचित कहेउ मुनिबर बिग्यानी॥
तुम्हरें जान कामु अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा॥
हमरें जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
(राम० बाल०)

उस पवित्र त्यागमय जीवनकी पवित्रताका अनुमान भी क्या आजके वातावरणमे लगाया जा सकता है—जहाँ माता पार्वती पतिकी अनुकूलतामे वासनाओंकी तृप्ति नहीं, वरं उनसे लोकहितकारी राम-कथा सुननेकी अभिलाषा रखती हैं—

पति हियँ हेतु अधिक अनुमानी। बिहँसि उमा बोलीं प्रिय बानी॥
कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूँछन चह सैलकुमारी॥
(रामचरितमानस)

काम उनके जीवनकी सौम्यताका विनाश करनेमे समर्थ नहीं था। उसने उनके जीवनमें यज्ञका स्वरूप धारण किया था और फलस्वरूप महात्मा कार्तिकेय और आदिवन्द्य गणपतिका जन्म हुआ, जिनकी गौरव-गरिमा आजतक अक्षुण्ण बनी हुई है। यही था मदन-मर्दनका रहस्य और यही थी उस अज अनवद्य महादेवकी विभूति, जिसके समक्ष अद्रिसुता अनेक जन्मोंकी तपस्याको भी यथेष्ट नहीं मानती—

जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरौं संभु न त रहौं कुआरी॥
(रामचरितमानस)

यह था प्राचीन हिंदू-संस्कृतिमे नारीका पत्नीरूप—जिसमें कोई प्रतिद्वन्द्विता, कोई संघर्ष नहीं है। एक अनुगामित्वधर्म है, जो मानो विश्व-चक्रकी पूर्तिके निमित्त नारीद्वारा सहज स्वाभाविकरूपसे अपना लिया गया था। पतिमे प्रभुकी मूर्ति प्रतिष्ठित करके वह अपने अपनत्वका समर्पण कर देती थी और वह आत्मनिवेदन इतना पूर्ण, इतना गम्भीर, इतना व्यवस्थित होता था कि कोई परिस्थिति, कोई सङ्कट, कोई विपद् उसे उसकी स्वात्मस्थितिसे च्युत करनेमें समर्थ नहीं थी। यही उसके जीवनकी साधना थी और इसी साधनाका आश्रय लेकर जब वह इस क्षुद्र अहंकी सीमाको लॉघ जाती थी, तब प्रकृति उसके आगे शीश झुकाती थी; ब्रह्माण्डकी समस्त शक्तियाँ उसके अलौकिक तेजके समक्ष व्यर्थ, निष्प्रभ हो जाती थीं। सृष्टि उनके इङ्गितपर नाचती थी। ऐसी स्थितिमे यदि कुष्ठरोग-पीड़ित पतिकी साध्वी स्त्री शाण्डिली सूर्यकी गति रोक दे तथा उसके प्रभावसे वह महासामर्थ्यवान् भगवान् भास्कर एक ही स्थानपर अचल हो जायँ अथवा साक्षात्

हिंदू-धर्ममें पति-पत्नी-सम्बन्ध

(लेखक—कविविनोद, वैद्यभूषण प० श्रीठाकुरदत्तजी शर्मा वैद्य)

पति-पत्नीका क्या सम्बन्ध है; पति-पत्नीमें कौन बड़ा, कौन छोटा है; पति-पत्नीका गृहस्थमें क्या स्थान है, एकका दूसरेपर क्या अधिकार है—इत्यादि विषयोंपर बहुत विचार होता रहता है। वस्तुतः इसपर हमारे आर्य-धर्ममें बहुत विचार किया गया है। और उसमें पत्नीका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अवश्य ही आधुनिक हिंदू-समाजमें नारीकी बहुत अधोगति हुई है—यहाँतक कि लोग कहने लगे—'स्त्री तो पगकी जूती है; जब चाहा, उतार फेंकी और दूसरी पहन ली।' परंतु इस मूर्खताकी बातको छोड़कर मूलको देखा जाय तो जो पति-पत्नी-सम्बन्ध सब हिंदुओंको मान्य है और जिसका वेदोंमें वर्णन किया गया है, वही जगत्में सुख-शान्ति स्थिर रख सकता है और सब मनुष्योंको उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये। रूढि कुछ हो; पर इस समयतक भी विवाह-सम्बन्धमें पढ़े जानेवाले मन्त्र तो वही आदर्श सामने रखते हैं। विवाह हो जानेके पश्चात् सप्तपदी होती है, जिसमें वर-वधू सात पग इकट्ठे चलते हैं। गृहस्थियोंको सुखी बनानेके लिये जो कुछ भी चाहिये, सब प्रथम ६ ही मन्त्रोंमें वर्णित है। सातवाँ पग उठाते समय पति कहता है—'ओं सखा सप्तपदि भव।' सात पग उठा लिये, अब हम आपसमें सखा हैं—मित्र हैं। सखा मित्रसे भी अधिक हितचिन्तक होता है।

वेदोंमें परमेश्वरको भी अपना सखा कहा गया है। विवाहपर जब वर-वधू बैठते हैं तब कहा जाता है—

'ओं समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ'

'हम दोनो जो आप सब विद्वन्मण्डलीके सामने विवाह करनेके लिये आये हैं, हमारे हृदय इस प्रकारसे मिले हैं जैसे कि दो पानी मिलकर एकस्वरूप हो जाते हैं।' क्या इन दोनों मन्त्रोंसे पति-पत्नीका स्थान निश्चय नहीं होता? इससे अधिक समानताकी बात और क्या कही जा सकती है?

इतने समानाधिकारके होते हुए भी कुछ कर्तव्य भी तो होने चाहिये और वैदिक धर्ममें विशेषता यही है कि यहाँ कर्तव्यका अधिकारकी अपेक्षा अधिक ध्यान रक्खा गया है।

हमें तो धर्मशास्त्रोंके पढ़ने-सुननेसे ऐसा प्रतीत हुआ है कि गृहस्थमें पति-पत्नीका वही स्थान है जो कि राष्ट्रमें राजा और मन्त्रीका होता है। सब शासन मन्त्रीकी सम्मतिसे होता है, परंतु आज्ञा राजाकी ही होती है। मन्त्रीको पूर्ण अधिकार होते हुए भी राजाका मान रखना उसका कर्तव्य होता है।

महर्षि दयानन्द, जिन्होंने स्त्रीजातिको पूजनीय बनाया, वे भी अपनी संस्कार-विधिमें लिखते हैं—'जब-जब प्रातः-सायं या परदेशसे आकर मिलें तब-तब 'नमस्ते' इस वाक्यसे नमस्कार कर स्त्री पतिके चरणस्पर्श और पादप्रक्षालन, आसन दान करे तथा दोनों परस्पर प्रेम बढ़ानेवाले वचन आदि व्यवहारोंसे वर्तनकर आनन्द भोगें।'

हिंदू-सभ्यतामें दोनोंके समान अधिकार होते हुए पतिका कर्तव्य है कि सदा पत्नीको प्रसन्न रक्खे, उसकी रक्षा करे, उसे वस्त्र-आभूषणसे सन्तुष्ट रक्खे और सब कार्य उसकी सम्मतिसे करे, उसको घरकी सम्राज्ञी समझे। और पत्नीका कर्तव्य है कि पतिको सदा प्रसन्न रक्खे और प्राणपणसे उसकी सेवा करे।

सार यह है कि वेद पति-पत्नीको सखा कहकर समान अधिकार देता हुआ उनका घरमें सम्बन्ध राजा और मन्त्रीका रखता है। हम इसको ठीक समझ लें तो भारतका बेड़ा पार है।

भार्याके बिना पुरुष कुछ नहीं कर सकता

एकचक्रो रथो यद्वदेकपक्षो यथा खगः। अभार्योऽपि नरस्तद्वदयोग्यः सर्वकर्मसु॥

जैसे एक पहियेका रथ नहीं चल सकता और एक पाँखकी चिड़िया नहीं उड़ सकती, वैसे ही भार्यासे रहित अकेला पुरुष कोई भी कार्य नहीं कर सकता।

हिंदू-संस्कृतिमें नारी-धर्मका उत्कर्ष

(लेखक—कविभूषण श्रीजगदीशजी विशारद)

भारतके संतों और आचार्योंने जहाँ वैराग्यकी प्राप्तिके प्रसंगमें नारी-निन्दा की है, वहाँ उन्हीं संतों और आचार्योंने स्त्री-धर्मकी प्रशंसा करनेमें भी कोई कोर-कसर नहीं रक्खी। नारीका सबसे बड़ा गुण पातिव्रत्य-पालन है। पतिको वह परमेश्वरके रूपमें देखती है। वह उसकी तन-मन और वचनसे पूर्ण निष्ठा तथा भक्तिभावसे पूजा-अर्चना करती है। उसके आदेशका कदापि उल्लङ्घन नहीं करती।

ऐसी ही पतिव्रता स्त्रियोंका संसारमें आदर होता है और वे ही संसारपर राज्य करनेकी क्षमता रखती हैं। घोर वनको भी वे राजप्रासादोंसे अधिक सुखकर बनानेमें समर्थ होती हैं। महाराज मनुने कहा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

'जिस घरमें स्त्रियोंकी पूजा होती है, वहाँपर अवश्यमेव देवता रमते हैं।'

स्त्रीके वास्तविक आभूषण उसके सुन्दर गुण हैं। गुणवती स्त्री दीन-हीन मनुष्यके घरको साकेततुल्य बना देती है, जिस प्रकार पाटलप्रसून अपनी कण्टकमय डालीको रम्य कर दिखाता है। ऐसी देवी बाहरी शोभा-सुन्दरताकी परवा नहीं करती। उसका हृदय इतना सुन्दर होता है कि उसकी दिव्य सुन्दरतासे सभी कुछ सुन्दर हो जाता है। महात्मा कबीरजीने ऐसी देवीकी स्तुति इस प्रकार की है—

पतिव्रता मैली भली, गले काँच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि ससिकी जोत॥

मनुष्यको पृथ्वीसे स्वर्गतक पहुँचानेके लिये एकमात्र साधन पतिव्रता नारी है। इस संसारमें अन्य पदार्थ तो उपक्रम करनेसे प्राप्त हो जाते हैं, परंतु पवित्र सुशील और सदाचारिणी स्त्री तो प्रभुकी असीम कृपासे ही उपलब्ध होती है। भारतीय स्त्रियोंने अपने धर्मकी रक्षा करनेमें कितने कष्ट सहे हैं, इतिहासवेत्ता इससे अपरिचित नहीं हैं। यदि भारतवर्षकी नारी अपना धर्म परित्याग कर देती तो आज आर्यावर्त अखिल विश्वकी दृष्टिमें कभीका गिर गया होता। यदि देखा जाय तो हमारे देशकी आन-बान-शान नारीसमाजने ही रक्खी है। सोवेलके शब्द नारी-धर्मकी उत्कृष्टता बतलानेके लिये किसी अंशतक न्यून नहीं हैं। वे कहते हैं, 'मैं नारीका महत्त्व इसलिये नहीं मानता कि विधाताने उसे सुन्दर बनाया है; न उससे इसलिये प्रेम करता हूँ कि वह प्रेमके लिये उत्पन्न की गयी है। मैं तो उसे इसलिये पूज्य मानता हूँ कि मनुष्यत्व केवल उसीमें जीवित है।' कविकुलचूडामणि महात्मा तुलसीदासने रामायणमें स्त्रियोंका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत अस कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम पर पति देखहिं कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहहीं। सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहहीं॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥

× × ×

नारी सृष्टिकी उत्पादिका—प्रतिपालिका है और कष्टमें सान्त्वना देनेवाली है। और कण्टकाकीर्ण मार्गको सुगम बनानेका एकमात्र साधन भी वही है। वह दाम्पत्य-स्नेह, सुखकी सरिताका उद्गम है। और अपने पतिके दिवंगत होनेके पश्चात् जौहर रचकर देहका उत्सर्ग करनेवाली है।

हिंदू-नारीकी महिमा कहाँतक वर्णन की जाय। हमारे यहाँ गार्गी-जैसी विदुषी नारियाँ उत्पन्न हुईं, जिन्होंने वेदतककी ऋचाएँ निर्मित कीं। पद्मिनी-जैसी वीराङ्गनाओंने जौहर रचकर पतिव्रत-धर्मका प्रतीक प्रस्तुत किया, जिसकी प्रशंसामें कविवर केसरीसिंह सोन्याणाने लिखा—

पदमिन तेरे रूप को रह्यो अनूपम हाल।
के निरख्यो रावळ रतन, के जौहर की ज्वाल॥

धन्य है हिंदू-नारीको और उसके त्याग-तपोमय जीवनको!

लक्ष्मीका निवास

यद् गृहे रमते नारी लक्ष्मीस्तद् गृहवासिनी। देवताः कोटिशो वत्स न त्यजन्ति गृहं हि तत्॥

जिस घरमें सद्गुणसम्पन्ना नारी सुखपूर्वक निवास करती है, उस घरमें लक्ष्मीजी निवास करती हैं। हे वत्स! करोड़ों देवता भी उस घरको नहीं छोड़ते

—महर्षि गर्ग

व्रत, पर्व और त्यौहार

(लेखक—पं० श्रीहनुमान्जी शर्मा)

व्रत, पर्व और त्यौहारोंका प्रवर्तन हमारे प्राचीन ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न, परम विद्वान्, दूरदर्शी, महामना पूर्वजोंके द्वारा हुआ था। वे इनके गूढ़ गुण-गुम्फित लाभप्रद तत्त्वोंको जानते थे और अनभिज्ञ व्यक्तियोंको परिचित कराते थे। उन्होंने कुछ ऐसी लोकोक्तियाँ भी प्रसिद्ध की थीं, जिनसे सर्वसाधारणपर्यन्तको इनका महत्त्व विदित होता था।

व्रत

वास्तवमें व्रतोंसे अनेक अंशोंमें प्राणिमात्रका और विशेषकर मनुष्योंका बड़ा भारी उपकार होता है। तत्त्वदर्शी महर्षियोंने इनमें विज्ञानके सैकड़ों अंश संयुक्त कर दिये हैं। ग्रामीण या देहाती मनुष्यतक इस बातको जानते हैं कि अरुचि, अजीर्ण, उदरशूल, मलावरोध, सिरदर्द और ज्वर-जैसे स्वतःसम्भूत साधारण रोगोंसे लेकर कोढ़, उपदंश, जलोदर, अग्निमान्द्य, क्षतक्षय और राजयक्ष्मा-जैसी असाध्य या प्राणान्तक व्याधियाँ भी व्रतोंके प्रयोगसे निर्मूल हो जाती हैं और अपूर्व तथा स्थायी आरोग्य प्राप्त होता है।

यद्यपि रोग भी पाप हैं और ऐसे पाप व्रतोंसे दूर होते ही हैं, तथापि कायिक, वाचिक, मानसिक और संसर्गजनित पाप, उपपाप, महापापादि भी व्रतोंसे दूर होते हैं।

भारतमें व्रतोंका सर्वव्यापी प्रचार है। सभी श्रेणियोंके नर-नारी सूर्य-सोम-भौमादिके एकभुक्त-साध्य व्रतोंसे लेकर एकाधिक कई दिनोंतकके अन्न-पानादिवर्जित कष्टसाध्य व्रतोंतकको बड़ी श्रद्धासे करते हैं। इनके फल और महत्त्व भी प्रायः सर्वज्ञात हैं। फिर भी यह सूचित करना अनुचित न होगा कि 'मनुष्योंके कल्याणके लिये व्रत स्वर्गके सोपान अथवा संसार-सागरसे तार देनेवाली प्रत्यक्ष नौकाएँ हैं।'

व्रतोंके प्रभावसे मनुष्योंकी आत्मा शुद्ध होती है। सङ्कल्पशक्ति बढ़ती है। बुद्धि, विचार, चतुराई या ज्ञान-तन्तु विकसित होते हैं। अन्तस्तलमें सच्चिदानन्द परमात्माके प्रति भक्ति, श्रद्धा और तल्लीनताका सञ्चार होता है। व्यापार-व्यवसाय, कला-कौशल, शास्त्रानुसन्धान और व्यवहारदक्षताका सफल सम्पादन उत्साहपूर्वक किया जाता है और सुखमय दीर्घजीवनके आरोग्य-साधनोंका स्वतः सञ्चय हो जाता है। ऐसा कौन-सा अन्य साधन है, जिसके करनेसे एक-से ही अनेक लाभ होते हों ?

(१) 'निरुक्त' में व्रतको कर्म सूचित किया है और 'श्रीदत्त' ने अभीष्ट कर्ममें प्रवृत्त होनेके सङ्कल्पको व्रत बतलाया है। इनके सिवा अन्य आचार्योंने पुण्य-प्राप्तिके लिये किसी पुण्यतिथिमें उपवास करने या किसी उपवासके कर्मानुष्ठानद्वारा पुण्य सञ्चय करनेके सङ्कल्पको व्रत सूचित किया है।

(२) मनुष्य-जीवनको सफल करनेके कामोंमें व्रतकी बड़ी महिमा मानी गयी है। 'देवल'का कथन है कि व्रत और उपवासके नियम-पालनसे शरीरको तपाना ही तप है। व्रत अनेक हैं और अनेक व्रतोंके प्रकार भी अनेक हैं। यहाँ उनका संक्षेपसे कुछ उल्लेख किया जाता है।

(३) लोकप्रसिद्धिमें व्रत और उपवास दो हैं और ये कायिक, वाचिक, मानसिक, नित्य, नैमित्तिक, काम्य, एकभुक्त, अयाचित, मितभुक्, चान्द्रायण और प्राजापत्यके रूपमें किये जाते हैं। इनके निम्नलिखित प्रकार हैं—

(४) वास्तवमें व्रत और उपवास दोनों एक हैं; अन्तर यह है कि व्रतमें भोजन किया जाता है और उपवासमें निराहार रहना पड़ता है। इनके कायिकादि तीन भेद हैं—(१) शस्त्राघात, मर्माघात, व्यभिचार और कार्यहानिजनित हिंसाके त्यागसे 'कायिक', (२) सत्य, परिमित, हित और मधुर भाषण करने और कटुवाणी, पिशुनता तथा निन्दाका त्याग करनेसे 'वाचिक' और (३) प्राणिमात्रके प्रति निर्वैर रहने और मनको शान्त रखनेकी दृढ़तासे 'मानसिक' व्रत होता है।

(५) पुण्यसञ्चयके एकादशी आदि 'नित्य' व्रत, पापक्षयके चान्द्रायणादि 'नैमित्तिक' व्रत और सुख-सौभाग्यादिके वटसावित्री आदि 'काम्य' व्रत माने गये हैं। इनमें द्रव्य-विशेषके भोजन और पूजनादिकी साधनाके द्वारा साध्य व्रत 'प्रवृत्तिरूप' होते हैं और केवल उपवासादिके द्वारा साध्य व्रत 'निवृत्तिरूप' हैं। इनका यथोचित अनुष्ठान फल देता है।

(६) 'एकभुक्त' व्रतके स्वतन्त्र, अन्याङ्ग और प्रतिनिधि—तीन भेद हैं। (१) दिनार्ध व्यतीत होनेपर 'स्वतन्त्र' एकभुक्त होता है। (२) मध्याह्नमें 'अन्याङ्ग'

किया जाता है और (३) 'प्रतिनिधि' आगे-पीछे भी हो सकता है ।

(७) 'नक्तव्रत'—रातमे किया जाता है; उसमे यह विशेषता है कि गृहस्थ रात्रि होनेपर उस व्रतको करें और संन्यासी तथा विधवा सूर्य रहते हुए ।

(८) 'अयाचितव्रत'में बिना मॉगे जो कुछ मिले, उसीका निषेधकाल बचाकर दिन या रातमे जब अवसर हो, तभी (केवल एक बार) भोजन करे और 'मितभुक्' मे प्रतिदिन दस ग्रास (या एक नियत प्रमाणका) भोजन करे । अयाचित और मितभुक्—दोनो व्रत परम सिद्धि देनेवाले हैं ।

(व्रतोंमे तिथि-वारादिका सहयोग न्यूनाधिक सबमे है और तिथि-वारादि संवत्सरके अङ्ग-उपाङ्ग हैं; अतः यहॉ संवत्सरका परिचय देना आवश्यक है । संवत्सर उस काल-परिमाणका वाचक है, जिसकी उदर-दरीमे मास-पक्षादि समाविष्ट रहते है ।)

(९) 'संवत्सर'*—१–सौर, २–सायन, ३–बार्हस्पत्य, ४–चान्द्र और ५–नाक्षत्र भेदसे पॉच प्रकारका होता है । 'सौर' मे जन्म-सम्बन्धी कार्य और व्रतादि, 'सायन'मे यज्ञादि, 'बार्हस्पत्य'मे गोदावरी और द्वारका आदिकी यात्रा, 'चान्द्र'मे सर्वकर्म और 'नाक्षत्र'मे आयु-निर्णयादि करने चाहिये ।

(१०) 'अयन'† तीन-तीन ऋतुओके सौम्य और याम्य—दो होते है । 'सौम्यायन'मे गृहप्रवेश, देवप्रतिष्ठा, विवाह, चौल और व्रतबन्ध तथा 'याम्यायन'में मातृ, भैरव, नरसिंह और त्रिविक्रमकी प्रतिष्ठा शुभ हैं ।

(११) 'ऋतु'[1]—सौर और चान्द्रभेदसे दो-दो मासकी छः होती हैं । उनमे श्रौत-स्मार्त सब क्रियाएँ 'चान्द्र'में[2] और अन्य कर्म 'सौर'मे किये जाते हैं ।

(१२) 'मास'[1] १–सौर, २–सायन, ३–चान्द्र और ४–नाक्षत्र—चार प्रकारके होते हैं । संक्रान्तिका 'सौर', ३० दिनका 'सायन', दो पक्षोका 'चान्द्र' और चन्द्रके २७ नक्षत्रोंके भोगका 'नाक्षत्र' होता है । इनमे भी अमान्त और पूर्णान्त दो भेद हैं । और अमान्तमे वैदिक कार्य और पूर्णान्तमें स्मार्त कार्य सम्पन्न किये जाते हैं ।

(१३) 'अधिक मास'—३२ महीने, १६ दिन और ४ घड़ीके अन्तरसे आता है । यदि किसी वर्षमे दो अधिक मास आ जायँ तो उनमे पहला श्रेष्ठ और दूसरा 'मलिम्लुच' होता है । यह सौर नही, चान्द्र है । इसमे प्रायः सभी शुभ कर्म वर्जित हैं; परंतु किसी प्रकारका काम्यव्रत या सदनुष्ठान पहलेसे आरम्भ किया हुआ हो और उसकी समाप्तिके समय अधिक मास आ जाय तो समाप्ति नहीं रोकनी चाहिये[2] । साथ ही अधिक मासके दानादि भी करने चाहिये ।

(१४) 'संक्रान्ति'—सूर्यके मेषादि राशिभोगसे होती है । सौर वर्षमे वे १२ होती है । उनमे मकरादि छः उत्तरायणकी और कर्कादि छः दक्षिणायनकी हैं । इनमे भी तुला और मेष 'विषुवत्संज्ञा'की; वृष, सिंह, वृश्चिक और कुम्भ 'विष्णुपदी'की; तथा मिथुन, कन्या, धनु और मीन 'षड़शीति' कहलाती हैं । संक्रान्तिके पूर्वापरकी १६-१६ घड़ियॉ पुण्यकालकी होती हैं । यदि रात्रिके पूर्वभागमे संक्रान्ति हो तो तत्सम्बन्धी दान-पुण्य पूर्व दिनमे, अन्यथा पर दिनमे करने चाहिये ।

(१५) 'पक्ष'—शुक्ल और कृष्णभेदसे दो होते हैं । इनमे शुभाशुभ कर्म यथायोग्य (शुक्लमे शुभ और कृष्णमें तदनुकूल सब) किये जाते हैं ।

(१६) 'दिन'—चान्द्र, सौर, सायन और नाक्षत्रभेदसे चार प्रकारका होता है ।

(१७) 'तिथि'—अमाके अन्तसे दूसरी अमाके आरम्भपर्यन्तका तीसवॉ भाग तिथि होता है । सूर्योदयकी

---

* 'सौरबृहस्पतिसायनशशधरनाक्षत्रिकाः क्रमेण स्युः ।' (ज्यौतिषतन्त्र)

† 'ऋतुत्रयं चायनं स्यात् ।' (विष्णुधर्मोत्तर)

१. मधुमाधवयोः 'वसन्तः', शुचिशुक्रयोः 'ग्रीष्मः', नभनभस्ययोः 'वर्षा', इषऊर्जे 'शरद्', सहसहस्ययोः 'हेमन्तः', तपतपस्ययोः 'शिशिरः', (मधु चैत्रो माधवो वैशाख इत्यादि ज्ञेयम्) ।

२. श्रौतस्मार्तक्रियाः सर्वाः कुर्याच्चान्द्रमसर्तुषु ।
तदभावे तु सौरर्तुष्विति ज्योतिर्विदां मतम् ॥
(त्रिकाण्डमण्डन)

१. दर्शान्तो वैदिको मासो राकान्तः स्मार्त उच्यते ।
(आर्ष्टिषेण)

२. प्रवृत्तमलमासात् प्राग् यत्काम्यमसमापितम् ।
आगते मलमासेऽपि तत्समाप्यमसंशयम् ॥
(गृह्य)

तिथि यदि दोपहरतक न रहे तो वह 'खण्डा' होती है, उसमें व्रतका आरम्भ और समाप्ति दोनों वर्जित है[1]। और सूर्योदय-से सूर्यास्तपर्यन्त रहनेवाली तिथि 'अखण्डा' (या पूर्णा) होती है[2]। यदि गुरु, शुक्रका अस्त एवं बालत्व और वृद्धत्व न हो तो उसमें व्रतका आरम्भ अच्छा है। जिस व्रतसम्बन्धी कर्मके लिये शास्त्रोंमें जो समय नियत है, उस समय यदि व्रतकी तिथि मौजूद हो तो उसी दिन उस तिथिके द्वारा व्रत-सम्बन्धी कार्य ठीक समयपर करना चाहिये। तिथिका क्षय और वृद्धि व्रतका निश्चय करनेमें कारण नहीं है[3]।

(१८) जो तिथि व्रतके लिये आवश्यक नक्षत्र और योगसे युक्त हो, वह यदि तीन मुहूर्त हो तो भी सम्पूर्ण श्रेष्ठ होती है[4]। जन्म और मरणमें तथा व्रतादिकी पारणामें तात्कालिक तिथि ग्राह्य मानी गयी है[5]; किंतु बहुत-से व्रतोंकी पारणामें विशेष निर्णय किया जाता है। जिस तिथिमें सूर्य उदय या अस्त हो, वह तिथि स्नान, दान, जपादिमें सम्पूर्ण उपयोगी होती है। विशेषकर दैवकार्योंमें सूर्योदयकी और पितृकार्योंमें सूर्यके अस्तकी तिथि उपयोगी होती है[6]। मन्वादि, युगादि, ग्रहणद्वय, व्यतीपात और वैधृत्यमें तत्कालव्यापिनी तिथि ली जाती है।

(१९) 'वार' आजके सूर्योदयसे आरम्भ होकर आगामी सूर्योदयपर्यन्तकी ६० घड़ियोंमें १ वार होता है और वारोंका गणनाक्रम १ सूर्य, २ सोम, ३ भौम, ४ बुध, ५ बृहस्पति, ६ शुक्र और ७ शनि—इस प्रकार है। मुहूर्तादि ग्रन्थोंमें वारप्रवृत्ति देश-भेदके अनुसार कभी सूर्योदयसे पहले और कभी पीछे बतलायी है; परंतु वास्तवमें सूर्योदयसे सूर्योदयपर्यन्त यथार्थ है।

(२०) 'नक्षत्रव्रत'में नक्षत्रका अथवा तदधिष्ठाता देवताका पूजन करके व्रत किया जाता है। अधिष्ठाता अश्विनी-के अश्विनीकुमार, भरणीका यम और कृत्तिकाका अग्नि आदि हैं। उपोषितव्य जिस नक्षत्रमें सूर्य अस्त हो, उसमें पूजन करके व्रत करना चाहिये। यदि वह नक्षत्र निशीथ (अर्धरात्रि) में हो तो चन्द्रमाके साथ पूजन करके व्रत करना चाहिये। स्मरण रहे कि नक्षत्रके उपवासमें जो तिथि हो, वही उस नक्षत्रके एकभुक्त या नक्तव्रतमें लेनी चाहिये। नक्षत्रादिके व्रत अनिष्टकारी देवताकी शान्ति अथवा अभीष्टदाता ग्रहकी प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं।

(२१) 'चान्द्रायण'—यह व्रत चन्द्रमाकी प्रसन्नता, चन्द्रलोककी प्राप्ति अथवा पापोंकी निवृत्तिके लिये किया जाता है। इसमें अन्नका परिमाण चन्द्रकलाके समान बढ़ता और घटता है। जैसे—अमावस्याके बादकी शुक्ल प्रतिपदाको १, द्वितीयाको २ और तृतीयाको ३—इस क्रमसे बढ़ाकर पूर्णिमाको १५ ग्रास भोजन करे। फिर पूर्णिमाके बादकी कृष्ण प्रतिपदाको १४, द्वितीयाको १३ और तृतीयाको १२ के उत्क्रमसे घटाकर चतुर्दशीको १ और अमावस्याको निराहार रहनेसे एक चान्द्रायण होता है। यह 'यवमध्य' है। इसका दूसरा प्रकार यह है—

(२२) अमावस्याके बादकी शुक्ल प्रतिपदाको १४, द्वितीया-को १३ और तृतीयाको १२के उत्क्रमसे घटाकर पूर्णिमाको १, और पूर्णिमाके बादकी कृष्ण प्रतिपदाको १, द्वितीयाको २ और तृतीयाको ३के क्रमसे बढ़ाकर अमाके पहलेकी चतुर्दशीको १४ ग्रास भोजन करे और अमावस्याको निराहार रहे। यह दूसरा चान्द्रायण है। इसको 'पिपीलिकातनु' कहते हैं।

(२३) 'प्राजापत्य' १२ दिनोंका होता है, उसमें व्रतारम्भ-के पहले ३ दिनोंमें प्रतिदिन २२ ग्रास भोजन करे। फिर ३ दिनतक प्रतिदिन २६ ग्रास भोजन करे। उसके बाद ३ दिन आयाचित (पूर्ण पकाया हुआ) अन्न २४ ग्रास भोजन करे और फिर ३ दिन सर्वथा निराहार रहे। इस प्रकार १२ दिनोंमें एक 'प्राजापत्य' होता है। ग्रासका प्रमाण जितना मुँहमें आ सके, उतना है।

---

१. उदयस्था तिथिर्या हि न भवेद्दिनमध्यगा। सा खण्डा न व्रतानां स्यात्तत्रारम्भः समापनम्॥ (सत्यव्रत)

२. अखण्डव्यापिमार्तण्डा सा ह्यखण्डा भवेत्तिथिः। व्रतप्रारम्भणं तस्यामनष्टगुरुशुक्रयुक्॥ (वृद्धवसिष्ठ)

३ कर्मणो यस्य यः कालस्तत्कालव्यापिनी तिथिः। तया कर्माणि कुर्वीत ह्रासवृद्धी न कारणम्॥ (वृद्धयाज्ञवल्क्य)

४. या तिथिर्ऋक्षसंयुक्ता या च योगेन नारद। मुहूर्तत्रयमात्रापि सापि सर्वा प्रशस्यते॥ (गोभिल)

५. पारणे मरणे नृणां तिथिस्तात्कालिकी स्मृता। (नारद)

६. उदिते दैवतं भानौ पित्र्यं चास्तमिते रवौ। द्विमुहूर्ता त्रिरह्नश्च सा तिथिर्हव्यकव्ययोः॥ (विष्णुधर्मोत्तर)

(२४) उपर्युक्त व्रत मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, समय और देवपूजासे सहयोग रखते हैं। यथा—वैशाख, भाद्रपद, कार्तिक और माघके 'मास-व्रत'। शुक्ल और कृष्णके 'पक्ष'-व्रत। सूर्य, सोम और भौमादिके 'वार'-व्रत। श्रवण, अनुराधा और रोहिणी आदिके 'नक्षत्र' व्रत। व्यतीपातादिके 'योग'-व्रत। भद्रा आदिके 'करण-व्रत'। और गणेश, विष्णु, सरस्वती और रमा आदिके 'देवव्रत' स्वतन्त्र व्रत हैं।

(२५) बुधाष्टमी—सोम-भौम-शनि-त्रयोदशी और भानुसप्तमी आदि 'तिथि-वार' के; चैत्र शुक्ल नवमी, भौम, पुष्य, मेषार्क और मध्याह्नकी 'रामनवमी' तथा भाद्रपद कृष्ण अष्टमी, बुधवार, रोहिणी, सिंहार्क और अर्धरात्रिकी 'कृष्णजन्माष्टमी' आदिके 'सामूहिक' व्रत हैं। कुछ व्रत ऐसे हैं, जिनमें उपर्युक्त तिथि-वारादिके विभिन्न सहयोग यदा-कदा प्राप्त होते हैं। इन सबके उपयोगी वाक्योंका दिग्दर्शन अथवा अनुसन्धान 'व्रत-परिचय' में किया जा चुका है, जो क्रमशः कई वर्ष पूर्व 'कल्याण'के अङ्कोंमे निकल चुका है।

(२६) 'व्रतोपयोगी ज्ञातव्य विषय' आजके सूर्योदयसे कलके सूर्योदयतक एक दिन होता है। उसके दिन और रात्रि दो भाग हैं। पहले भाग (दिन) में प्रातःसन्ध्या और मध्याह्नसन्ध्या तथा दूसरे भाग (रात्रि) में सायाह्न और निशीथ हैं। त्रेधा विभक्त दिनमें पूर्वाह्न देवोंका, मध्याह्न मनुष्योंका और अपराह्न पितरोंका समय है। जिसका जो समय हो, उसका पूजनादि कर्म उसी समयमें करना चाहिये। कुछ ग्रन्थोंमें पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्नरूपमें ४ भाग माने गये हैं और व्यासजीने ५ भाग बतलाये हैं।

(२७) सूर्योदयसे तीन-तीन मुहूर्तके प्रातःकाल, सङ्गव, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्न—ये पाँच भाग हैं। तीस घटी प्रमाणके दिनमानका पंद्रहवाँ हिस्सा एक मुहूर्त होता है। यदि दिनमान ३४ घड़ीके हों तो सवा दो और २६ के हों, तो पौने दोका मुहूर्त होता है। निर्णयमें मुहूर्त और दिन-विभाग आवश्यक होते हैं।

(२८) 'प्रदोपकाल'[1] सूर्यास्तसे दो घड़ीतक माना गया है। देवलने तीन घड़ीका बतलाया है। उषःकाल सूर्योदयसे पहले रहता है। दानादिमें पूर्वाह्न[1] देवोंका, मध्याह्न मनुष्योंका, अपराह्न पितरोंका और सायाह्न राक्षसोंका समय है। अतः यथायोग्य कालमें दानादि देनेसे यथोचित फल होता है।

(२९) व्रतके[2] अधिकारी कौन हैं ? इस विषयमें धर्मशास्त्रोंकी आज्ञा है कि जो अपने वर्णाश्रमके आचार-विचार (या धर्म-कर्म) में रत रहते हों, निष्कपट, निर्लोभ, सत्यवादी, सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहनेवाले, वेदके अनुयायी, बुद्धिमान् तथा पहलेसे निश्चय करके यथावत् कर्म करनेवाले हों, ऐसे मनुष्य व्रताधिकारी होते हैं।

(३०) उपर्युक्त गुणसम्पन्न[3] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री और पुरुष—सभी अधिकारी हैं। केवल सौभाग्यवती स्त्रियोंके[4] लिये यह विधान है कि पतिकी सेवाके सिवा उनके लिये न कोई यज्ञ है, न व्रत है और न उपासना है। वे पतिकी सेवासे ही स्वर्गादि अभीष्ट लोकोंमें जा सकती हैं। फिर भी वे चाहे तो पतिकी अनुमतिसे व्रत करें। क्योंकि[5] पत्नी पतिकी आज्ञा माननेवाली होती है। अतः उसके लिये पतिका व्रत ही कल्याणकारी है। अस्तु, शास्त्रकारोंकी व्रतादिके विषयमें यह आज्ञा है कि उनका आरम्भ श्रेष्ठ समयमें किया जाय।

(३१) शुक्र और[6] बृहस्पतिका अस्त तथा अस्त होनेके पहलेके तीन दिन वृद्धत्वके और उदय होनेके पीछेके तीन दिन बालत्वके व्रतारम्भमें वर्जित हैं। ऐसे अवसरमें

१. 'प्रदोषोऽस्तमयादूर्ध्वं घटिकाद्वयमिष्यते।' (गौड़) 'घटिकात्रयं' (देवल)।

१. पूर्वाह्णो दैविकः कालो मध्याह्नश्चापि मानुषः।
अपराह्णः पितॄणां तु सायाह्नो राक्षसः स्मृतः॥
(व्यास)

२. निजवर्णाश्रमाचारनिरतः शुद्धमानसः।
अलुब्धः सत्यवादी च सर्वभूतहिते रतः॥

३. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव द्विजोत्तम।
अवेदनिन्दको धीमानधिकारी व्रतादिषु॥
(स्कन्द)

४. नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
भर्तृशुश्रूषयैवैता लोकानिष्टान् व्रजन्ति हि॥
(स्कन्द)

५. पत्नी पत्युरनुज्ञाता व्रतादिष्वधिकारिणी। (व्यास)

६. अस्तगे च गुरौ शुक्रे बाले वृद्धे मलिम्लुचे।
उद्यापनमुपारम्भं व्रतानां नैव कारयेत्॥
(गर्ग)

व्रतादिका आरम्भ और उत्सर्ग (उद्यापनादि) नहीं करना चाहिये। इनके सिवा भद्रादि कुयोग और मलमासादि भी त्याज्य हैं।

(३२) किसी भी व्रतके आरम्भमें सोम[1], शुक्र, बृहस्पति और बुधवार हो तो सब कामोंमें सफलता प्राप्त कराते हैं। और इनके साथ अश्विनी, मृगशिरा, पुष्य, हस्त, तीनों उत्तरा, अनुराधा और रेवती नक्षत्र—प्रीति, सिद्धि, साध्य, शुभ, शोभन और आयुष्मान् योग हो तो सब प्रकारका सुख देते हैं।

(३३) 'व्रत करनेवाला' व्रतारम्भके पहले दिन मुण्डन कराये—मस्तकके तथा मुखमण्डलके सब केश उतराये—और शौच-स्नानादि नित्यकृत्यसे निवृत्त होकर आगामी दिनमें जो व्रत किया जाय, उसके उपयोगी व्यवस्था करे। मध्याह्नमें (हविष्यान्नके भोजनसे) एकभुक्त व्रत करके रात्रिमें सोत्साह शयन करे। दूसरे दिन उषःकालमें (सूर्योदयसे दो मुहूर्त पहले) उठकर शौच-स्नानादि करके प्रातःकालका भोजन[3] किये बिना ही सूर्य और व्रतके देवताको अपनी अभिलाषा निवेदन करके व्रतका आरम्भ करे।

(३४) 'आरम्भ'में गणपति, मातृका[4] और पञ्चदेवका पूजन करके अभ्युदय-श्राद्ध करे। और व्रत-देवताकी सुवर्णमयी मूर्ति[5] बनवाकर उसका पञ्चोपचार, दशोपचार या षोडशोपचार पूजन करे। मास, पक्ष, तिथि, वार और नक्षत्रादिमें जिसका व्रत हो, उसका अधिष्ठाता ही 'व्रतका देवता' होता है। अतः प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीयादिके यथाक्रम अग्नि, ब्रह्मा, गौरी आदि और अश्विनी, भरणी, कृत्तिकादिके नासत्य (अश्विनीकुमार), यम और अग्नि आदि तथा वारोंके सूर्य, सोम, भौमादि अधिष्ठाता हैं।

(३५) उपर्युक्त प्रकारसे (जिस अवधिका व्रत हो, उस अवधितक) यथाविधि व्रत करके उसके समाप्त होनेपर वित्तानुसार उद्यापन[1] करे। उद्यापन किये बिना व्रत निष्फल होता है। कौन व्रत किस प्रकार किया जाता है, किस व्रतकी कितनी अवधि होती है और किस व्रतका कैसा उद्यापन किया जाता है—ये सब बातें मेरे लिखे हुए 'व्रत-परिचय'में दी गयी हैं।

(३६) व्रतीको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि व्रत आरम्भ करनेके बाद यदि क्रोध, लोभ, मोह या[2] आलस्यवश उसे अधूरा छोड़ दे तो तीन दिनतक अन्नका त्याग करके फिर उस व्रतका यथापूर्व आरम्भ करे।

(३७) 'व्रतके समय' बार[3]-बार जल पीने, दिनमें सोने, ताम्बूल चबाने और स्त्रीसहयोग करनेसे व्रत बिगड़ जाता है। व्रतके दिनोंमें स्तेय (चोरी) आदिसे वर्जित रहकर क्षमा, दया[4], दान, शौच, इन्द्रियनिग्रह, देवपूजा, अग्निहोत्र और सन्तोषका आचरण करना उचित है।

(३८) जल, फल[5], मूल, दूध, हवि, ब्राह्मणकी इच्छा, ओषधि और गुरु (पूज्यजनों) के वचन—इन आठसे व्रत नहीं बिगड़ते। होमावशिष्ट खीर, भिक्षाका अन्न, सत्तू

१. सोमशुक्रगुरुसौम्यवासराः सर्वकर्मसु भवन्ति सिद्धिदाः। (रत्नमाला)

२. हस्तमैत्रमृगपुष्यत्र्युत्तरा अश्विपौष्णशुभयोगसौख्यदाः। (मुक्तकसंग्रह)

३. अभुक्त्वा प्रातराहारं स्नात्वाऽऽचम्य समाहितः।
सूर्याय देवताभ्यश्च निवेद्य व्रतमाचरेत्॥ (देवल)

४. व्रतारम्भे मातृपूजां नान्दीश्राद्धं च कारयेत्। (शातातप)

५. ज्ञात्वा व्रतवता सर्वव्रतेषु व्रतमूर्तयः।
पूज्याः सुवर्णमय्याद्या दानं दद्याद् द्विजानपि॥ (पृथ्वीचन्द्रोदय)

१. कुर्यादुद्यापनं चैव समाप्तौ यदुदीरितम्।
उद्यापनं विना यत्तु तद्व्रतं निष्फलं भवेत्॥ (नन्दिपुराण)

२. क्रोधात्प्रमादाल्लोभाद्वा व्रतभङ्गो भवेद्यदि।
दिनत्रयं न भुञ्जीत ……… (गरुड)।
पुनरेव व्रती भवेत्॥ (वायुपुराण)

३. असकृज्जलपानाच्च दिवास्वापाच्च मैथुनात्।
उपवासः प्रणश्येत सकृत्ताम्बूलभक्षणात्॥ (विष्णु)

४. क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
देवपूजाग्निहवनं सन्तोषः स्तेयवर्जनम्॥
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्थितः॥ (भविष्य)

५. अष्टैतान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम्॥ (पद्मपुराण)
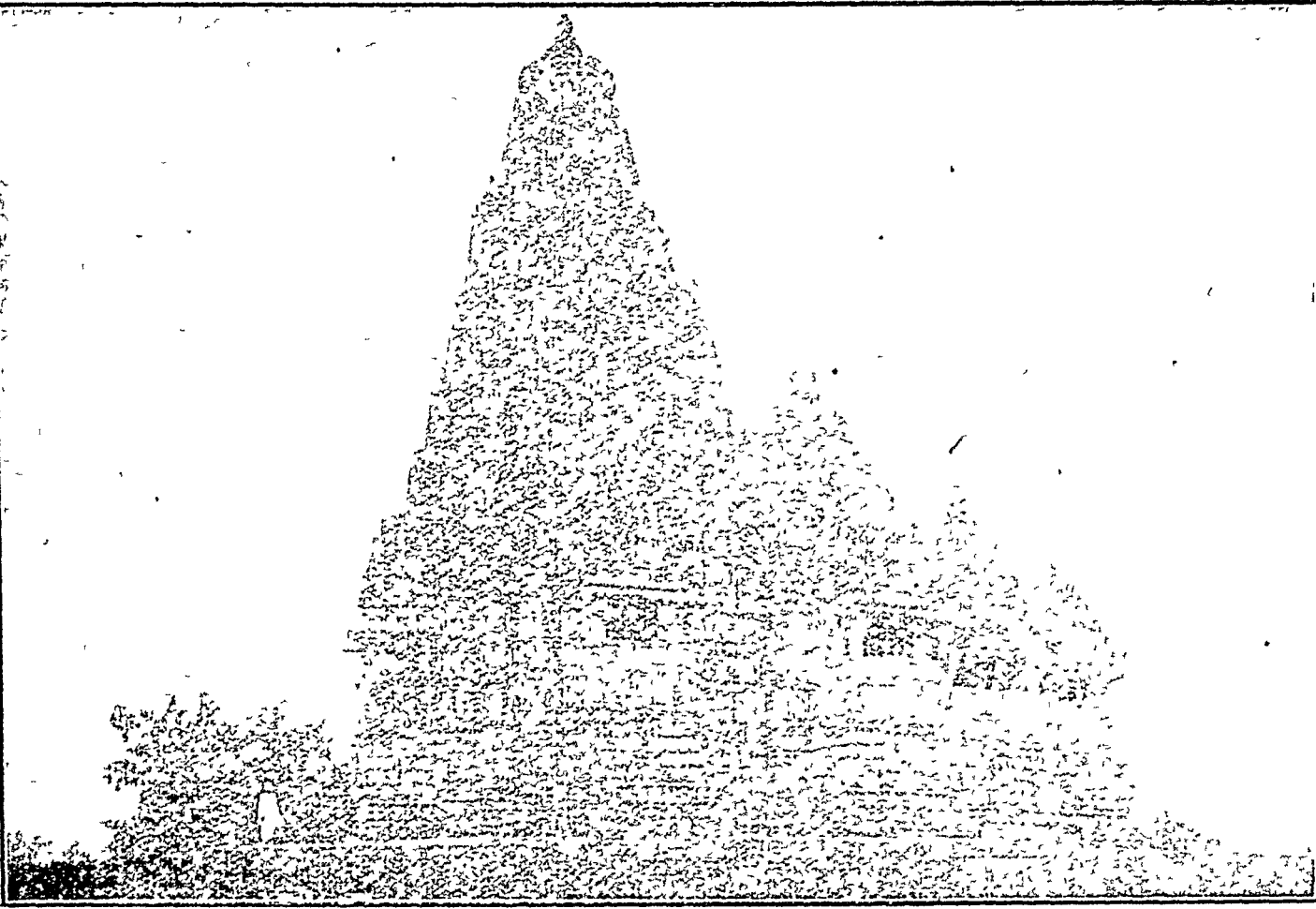
कंडरिया महादेव, खजुराहो

[पृष्ठ ६६९
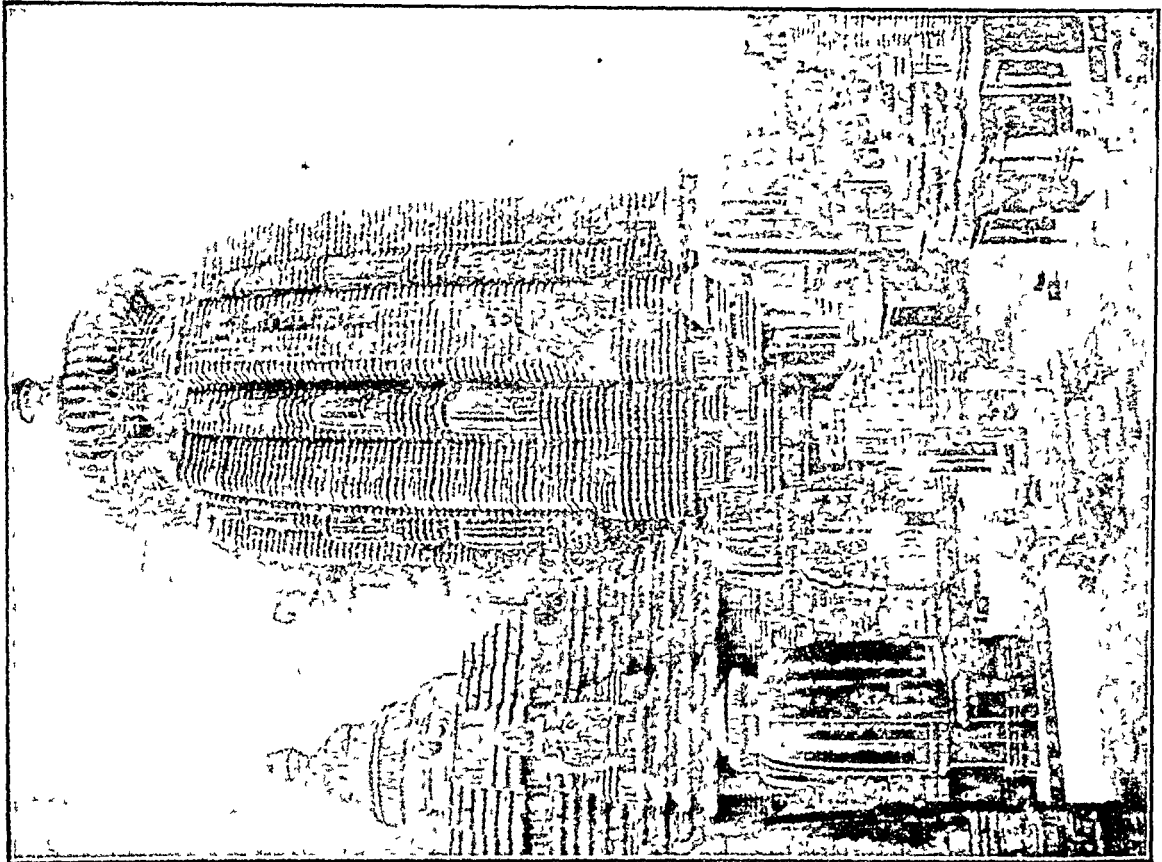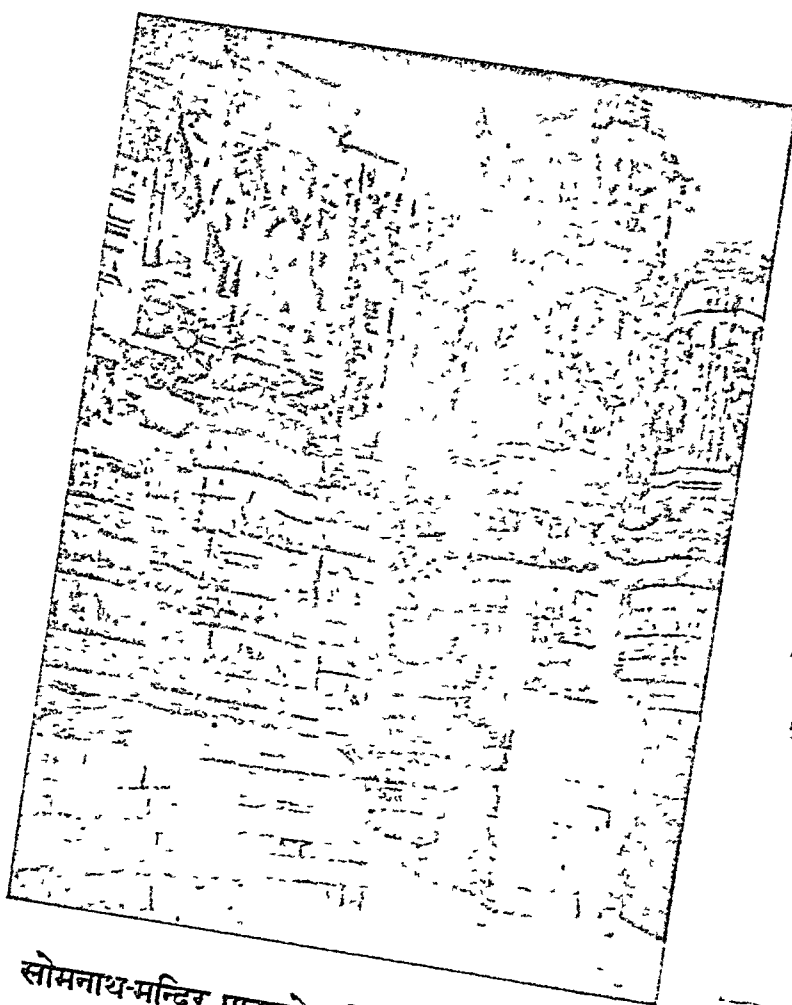
श्रीलिङ्गराजजीका मन्दिर—भुवनेश्वर

[पृष्ठ ६७०
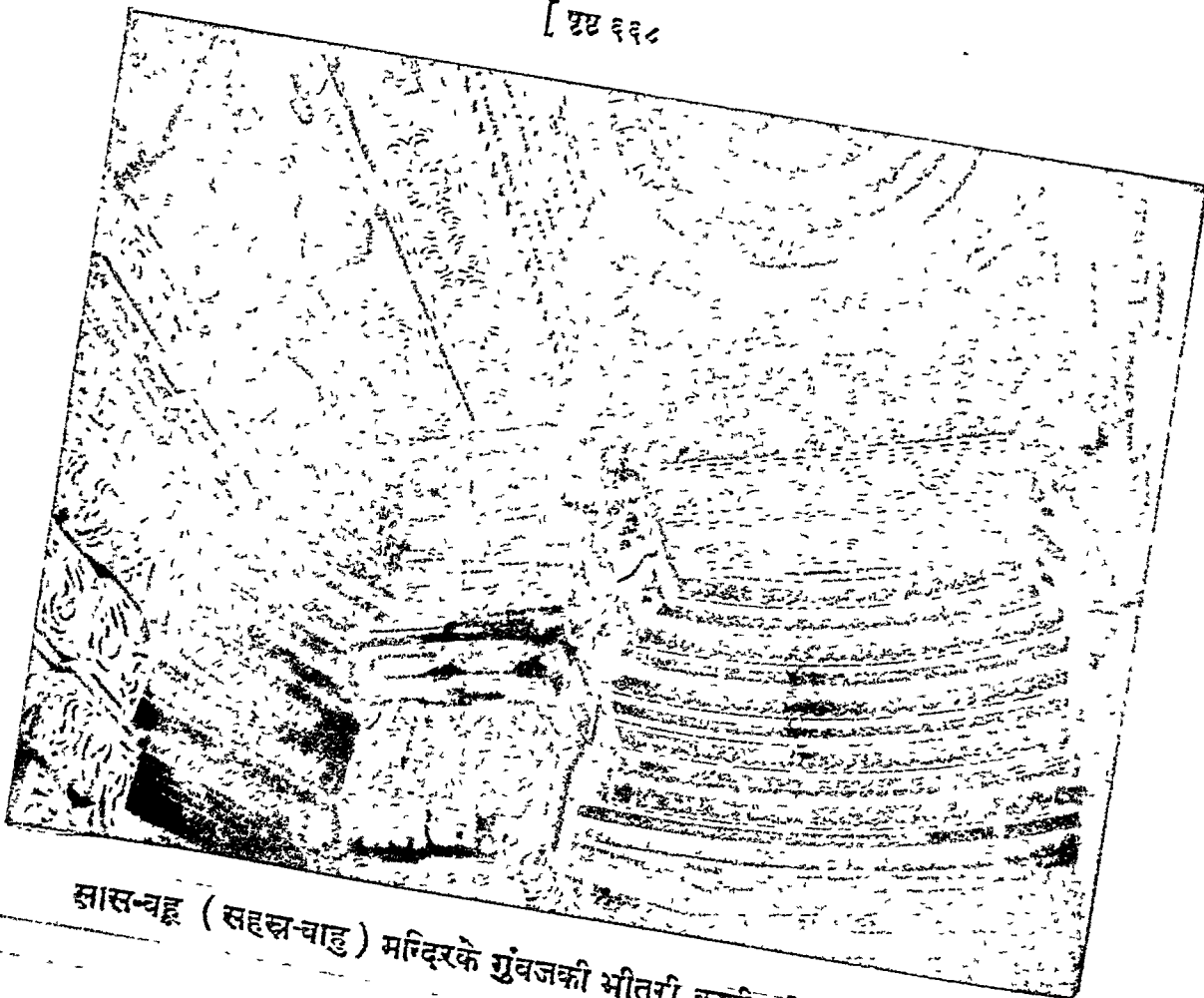
(भुने हुए जौका चूर्ण) कण (गोरैइ या तृण-पुष्प), यावक (जौकी लपसी), साग (तोरा, ककड़ी, मेथी आदि), गोदुग्ध, दधि, घृत, मूल, आम, नारंगी, अनार और कदलीफल (केला) आदि खाने योग्य है ।

(३९) व्रतमे गन्ध, पुष्प, माला, वस्त्र और व्रतयोग्य अलङ्कारादि ग्राह्य है। व्रत, पूजा या हवनादिमे केवल एक वस्त्र (धोती आदि) पहनकर या बहुत वस्त्र (धोती, टोपी, कुर्ता, अँगरखी आदि) धारणकर मन्त्रादिका जप करना या होमादि करना उचित नही । व्रत करनेवाला पुरुष हो या सुवासिनी (स्त्री) हो, सम्पूर्ण व्रतोमे लाल वस्त्र और सुगन्धित सफेद पुष्प धारण करे ।

(४०) वर्णभेदसे ब्राह्मणोके लिये सफेद, क्षत्रियोके लिये मजीठके समान रंगके, वैश्योके लिये पीले और शूद्रोके लिये नीले अथवा विना रंगके वस्त्र अनुकूल होते है । और धोती त्रिकच्छ (जिसमे नीचेका पल्ला पृष्ठपर और आगेके पल्लेका ऊपरका हिस्सा नाभिके नीचे और नीचेका हिस्सा बॉये पसवाड़ेमे लगाया जाता है) उत्तम मानी गयी है । इस प्रकार धोती बॉधनेवाले ब्राह्मण मुनि होते है । इसके अतिरिक्त ध्वजप्रयुक्त, ग्रन्थियुक्त और यवनोके समान दोनो पल्ले खुली हुई धोती वर्जित है ।

(४१) व्रत करनेवाले मोहवश विना आचमन किये क्रिया करे, तो उनका व्रत वृथा होता है । नहाते, धोते, खाते, पीते, सोते और छींक लेते समय और गलियोमे घूमकर आनेके बाद, आचमन किया हुआ हो तो भी दुबारा आचमन करे । यदि जल न मिले तो दक्षिण कर्णका स्पर्श कर ले । आचमन लेते समय दाहिने हाथकी अँगुलियोको मिलाकर सीधी करे और उनमेसे कनिष्ठा तथा अँगूठेको अलग रखकर आचमन करे अथवा दाहिने हाथके पेरुओको बराबर करके हाथको गौके कान-जैसा बनाकर आचमन करे । (लोकव्यवहारमे आचमनादिके भूल जानेपर दाहिना कान छुआ करते हैं ।)

(४२) अधोवायुके निकल जाने, आक्रन्द (रोने), क्रोध करने, विल्ली और चूहेसे छू जाने, जोरसे हँसने और झूठ बोलनेपर जल स्पर्श करना आवश्यक होता है । उपवासमे और श्राद्धमे दतौन नही करना चाहिये । यदि अधिक आवश्यकता हो तो जलके बारह कुल्ले करले[४] । अथवा आमके पल्लव, जल या अँगुलीसे दॉतोको साफ कर ले । व्रत करनेवालेको बैल, ऊँट और गदहेकी सवारी नही करनी चाहिये ।

(४३) बहुत दिनोमे समाप्त होनेवाले व्रतका पहले सङ्कल्प कर लिया हो तो उसमे जन्म और मरणका सूतक नही

---

१. चरुभैक्ष्यसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलादीनि हविष्याणि । (गौतम)

२. गन्धालङ्कारवस्त्राणि पुष्पमालानुलेपनम् । (वृद्धशातातप)

३. सर्वेषु तूपवासेषु पुमान् वाथ सुवासिनी ।
धारयेद्रक्तवस्त्राणि कुसुमानि सितानि च ॥ (विष्णुधर्म)

४. ब्राह्मणस्य सितं वस्त्रं माञ्जिष्ठं नृपतेः स्मृतम् ।
पीतं वैश्यस्य शूद्रस्य नीलं वलवदिष्यते ॥ (मनु)

५. वामकुक्षौ च नाभौ च पृष्ठे चैव यथाक्रमम् ।
त्रिकच्छेन समायुक्तो द्विजोऽसौ मुनिरुच्यते ॥ (याज्ञवल्क्य)

६. स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे ।
आचान्तः पुनराचामेद् वासो विपरिधाय च ॥ (याज्ञवल्क्य)

---

१. संहताङ्गुलिना तोयं गृहीत्वा पाणिना द्विजः ।
मुक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठेन शेषेणाचमनं चरेत् ॥ (नागदेव)

२. आयतं पर्वणां कृत्वा गोकर्णाकृतिवत्करम् ।
एतेनैव विधानेन द्विजो ह्याचमनं चरेत् ॥ (भारद्वाज)

३. अधोवायुसमुत्सर्गे आक्रन्दे क्रोधसम्भवे ।
मार्जारमूषकस्पर्शे प्रहासेऽनृतभाषणे ॥
निमित्तेष्वेषु सर्वेषु कर्म कुर्वन्नपः स्पृशेत् ॥ (बृहस्पति)

४. उपवासे तथा श्राद्धे न खादेद्दन्तधावनम् । (स्मृत्यन्तर)
अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धायां तिथौ तथा ।
अपां द्वादशगण्डूषैर्विदध्याद्दन्तधावनम् ॥ (व्यास)

५. पर्णोदकेनाङ्गुल्या वा दन्तान्धावयेत् । (स्मृत्यर्थसार)

६. गोयानमुष्ट्रयानं च कथंचिदपि नाचरेत् ।
खरयानं च सततं व्रते चाप्युपसङ्करम् ॥ (स्मृत्यन्तर)

७. बहुकालिकसङ्कल्पो गृहीतश्च पुरा यदि ।
मृतके सूतके चैव व्रतं तन्नैव दुष्यति ॥ (शुद्धितत्त्व—विष्णु)

निवासस्थानोंको ध्वजे-पताकादिसे सुशोभित करके 'ध्वजारोपण' कर द्वारदेश तथा देवीपूजनके स्थानमें घटस्थापन करे । साथ ही 'पारिभद्र' (नीम) की कच्ची कोंपलोंमें जीरा, हींग, सेंधव, अजमोद और काली मिर्च मिलाकर भक्षण करे और ब्राह्मणोंको उत्तम पदार्थोंका भोजन कराके स्वयं एकभक्त भोजन करे ।

(२) रामनवमी—यह व्रत चैत्र शुक्ल नवमीको किया जाता है । इसमें मध्याह्नव्यापिनी शुद्धा तिथि ली जाती है । यदि वह दो दिन मध्याह्नव्यापिनी हो या दोनों दिनोंमें ही न हो तो पहला व्रत करना चाहिये । इसमें अष्टमीका वेध ग्राह्य और दशमीका त्याज्य है । यह व्रत नित्य, नैमित्तिक और काम्य—तीन प्रकारका है । इसको निष्कामभावसे भक्ति और विश्वासके साथ आजन्म किया जाय तो अनन्त फल होता है । व्रतविधि यह है—

व्रतके पहले दिन (चैत्र शुक्ल अष्टमीको) प्रातःस्नानादि करनेके पश्चात् भगवान् श्रीरामचन्द्रका स्मरण करे। दूसरे दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) नित्यकृत्य करनेके बाद—

उपोष्य नवमीं त्वद्य यामेष्वष्टसु राघव ।
तेन प्रीतो भव त्वं भोः संसारात्त्राहि मां हरे ॥

—इस मन्त्रसे भगवान्के प्रति व्रतकी भावना प्रकट करे। तत्पश्चात् मन्दिर या अपने मकानमें पूर्वाभिमुख बैठकर 'मम भगवत्प्रीतिकामनया (वा अमुककामनया) रामजयन्तीव्रतमहं करिष्ये' से सङ्कल्प करके काम-क्रोधादिसे रहित होकर व्रत करे ।

साथ ही ध्वजा-पताका आदिसे सुशोभित हुए मण्डपके मध्यमें सर्वतोभद्रकी वेदीपर 'रामपञ्चायतन'—राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और हनुमान्जीकी मूर्ति स्थापन करके षोडशोपचार पूजन करे और दिन-रात्रिमें भगवान्का स्तोत्र-पाठ, जप, भजन या संकीर्तनादिसे स्मरण करता रहे । और दशमीको पारणा करे । यदि सामर्थ्य हो तो सुवर्णमयी मूर्तिका दान करे और ब्राह्मणभोजन करावे ।

(३) कृष्णजन्माष्टमी—यह भाद्रपद कृष्ण अष्टमीको होता है । जिस प्रकार रामनवमीमें चैत्र शुक्ल नवमी, मेषका सूर्य, पुष्य (पुनर्वसु) नक्षत्र और मध्याह्नका योग ग्राह्य माना गया है, उसी प्रकार इसमें भाद्रपद कृष्णाष्टमी, सिंहका सूर्य, बुधवार, रोहिणी नक्षत्र और अर्धरात्रि ग्रहण की जाती है । इसके शुद्धा, विद्धा दो रूप हैं । उदयसे उदयपर्यन्त शुद्धा और इसके अन्तर्गत सप्तमी या नवमी होनेसे विद्धा होती है । इसमें भी समा, न्यूना और अधिकाके तीन भेद होनेसे अठारह भेद हो जाते हैं; परंतु सिद्धान्तरूपसे तत्काल (अर्धरात्रि) व्यापिनी अधिक मान्य होती है । वह दो दिन हो या दोनों ही दिन न हो तो भी (सप्तमीविद्धा त्यागकर) नवमीविद्धा व्रत करना चाहिये । यह व्रत स्त्री-पुरुष, युवा-वृद्ध—सबके करनेका है; न करनेमें पाप होता है । विधान यह है—

व्रतके पहले दिन लघु भोजन करके जितेन्द्रिय रहे और अष्टमीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् सूर्य, सोम, यम, काल, सन्धि, भूत, पवन, दिक्पति, भूमि, आकाश, खेचर—अमर और ब्रह्म आदिको नमस्कार करके व्रतका सङ्कल्प करे और शुद्ध स्थानमें सूतिकागृह निर्माण करके अर्धरात्रिमें भगवान्के प्रकट होनेकी भावना कर, श्रीकृष्णमूर्तिका भक्तिपूर्वक षोडशोपचार पूजन करे । पूजनमें देवकी, वसुदेव, वासुदेव, बलदेव, नन्द, यशोदा और लक्ष्मीका यथाक्रम नामोच्चारण-पूर्वक पूजन करना चाहिये । अन्तमें—

प्रणमे देवजननीं त्वया जातस्तु वामनः ।
वसुदेवात्तथा कृष्णो नमस्तुभ्यं नमो नमः ॥
सपुत्रार्घ्यं प्रदत्तं मे गृहाणेमं नमोऽस्तु ते ।

—से देवकीको अर्घ्य दे और—

धर्माय धर्मेश्वराय धर्मपतये धर्मसम्भवाय गोविन्दाय नमो नमः ।

---

१. प्राप्ते नूतनवत्सरे प्रतिगृहं कुर्याद् ध्वजारोपणं
स्नानं मङ्गलमाचरेद् द्विजवरैः साकं सुपूजोत्सवैः ।
देवानां गुरुयोषितां च विभवालङ्कारवस्त्रादिभिः
सम्पूज्यो गणकः फलं च शृणुयात्तस्माच्च लाभप्रदम् ॥
(उत्सवचन्द्रिका)

२. पारिभद्रस्य पत्राणि कोमलानि विशेषतः ।
सपुष्पाणि समादाय चूर्णं कृत्वा विधानतः ॥
मरिचं लवणं हिङ्गु जीरकेण च संयुतम् ।
अजमोदायुतं कृत्वा भक्षयेद्रोगशान्तये ॥
(पं० पारिजात)

३. अष्टम्या नवमी विद्धा कर्तव्या फलकाङ्क्षिभिः ।
न कुर्यान्नवमीं तात दशम्या तु कदाचन ॥
(दीक्षित)

४. नित्यं नैमित्तिकं काम्यं व्रतं वेति विचार्यते ।
निष्कामाना विधानात्तु तत्काम्यं तावदिष्यते ॥
(रामार्चन)

—से श्रीकृष्णको 'पुष्पाञ्जलि' अर्पण करे। तदनन्तर चन्द्रमाको अर्घ्य देकर गायन, वादन, सङ्कीर्तनादिके द्वारा रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिन व्रतका विसर्जन करे।

(४) शिवरात्रि—यह व्रत फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीको किया जाता है। इसको प्रतिवर्ष करनेसे यह 'नित्य' और कामनासे करनेसे 'काम्य' होता है। फा० कृ० १४ को अर्धरात्रिके समय—

शिवलिङ्गतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः।

—शिवलिङ्गका प्रादुर्भाव हुआ था। इस कारण यह शिवरात्रि मानी जाती है। और इस व्रतको वर्ण और वर्णेतर सब कर सकते हैं। यदि न करें तो पाप होता है। जिस प्रकार राम, कृष्ण, वामन और नृसिंह—चारो जयन्ती और एकादशी उपोष्य हैं, उसी प्रकार शिवरात्रि उपोष्य है। और इसका तिथ्यादि-निर्णय भी उसी प्रकार किया जाता है। सिद्धान्तरूपमें सूर्योदयसे सूर्योदयपर्यन्त रहनेवाली चतुर्दशी शुद्धा और अन्य विद्धा होती है। उसमे भी प्रदोष और निशीथ (अर्धरात्रि)-व्यापिनी ग्राह्य होती है। स्कन्दपुराणमें फा० कृ० चतुर्दशीको अर्धरात्रिके समय शिवपूजन करनेका महाफल लिखा है। यदि यह (शिवरात्रि) त्रिस्पृशा (१३-१४-३० के स्पर्शकी) हो तो अधिक उत्तम होती है। इसमे भी सूर्य या भौमवारका योग विशेष अच्छा है। व्रतीको चाहिये कि व्रतके दिन प्रातःस्नानादिके पीछे दिनभर शिवस्मरण करे और सायङ्कालमे फिर स्नान करके भस्मका त्रिपुण्ड्रतिलक और रुद्राक्षकी माला धारण करके गन्ध-पुष्पादि सभी प्रकारकी पूजन-सामग्रीसहित शिवके समीपमें पूर्व या उत्तरमुख बैठकर शिवजीका यथाविधि पूजन करे और नीराजन करके अर्धप्रदक्षिणा तथा प्रार्थना करे। अन्तमे—

मया कृतान्यनेकानि पापानि हर शंकर।
शिवरात्रौ ददाम्यर्घ्यमुमाकान्त गृहाण मे॥

—से अर्घ्य देकर—

संसारक्लेशदग्धस्य व्रतेनानेन शंकर।
प्रसीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव॥

—से प्रार्थना करे। इस प्रकार चारो प्रहरका पूजन किया जाय तो अधिक फल होता है।

(५) दशावतार—यह व्रत भाद्रपद शुक्ल दशमीको किया जाता है। एतन्निमित्त समीपके स्वच्छ-जलपूर्ण जलाशयपर जाकर स्नानादि करनेके अनन्तर देव, ऋषि और पितरोंका तर्पण करे। और घृत-शर्करामिश्रित गोधूमचूर्णके तीस अपूप—पूए बनाये। और १ मत्स्य, २ कूर्म, ३ वराह, ४ नरसिंह, ५ त्रिविक्रम, ६ राम, ७ कृष्ण, ८ परशुराम, ९ बुद्ध और १० कल्कि—इन दस अवतारोंका यथाविधि पूजन करके नैवेद्यमे अपूप अर्पण करे। और उनमेसे दस देवताओंके, दस ब्राह्मणके और दस अपने रखकर एकभक्त भोजन करे। इस प्रकार दस वर्ष करनेके पश्चात् अपूप, घेवर, कसार, मोदक, सुहाली, सकरपारे, डोवठे, गुणा, कोकर और पुष्पकर्ण—इन दस पदार्थोंमेसे प्रतिवर्ष एक-एक पदार्थ—दस-दसकी संख्यामें देव-ब्राह्मणादिके अर्पण करे। इस प्रकार प्रीतिपूर्वक करनेसे विष्णुलोक प्राप्त होता है।

व्रत, पर्व और त्यौहारपर कुछ विचार

(१) सूक्ष्म दृष्टिसे विचारकर देखा जाय तो उपर्युक्त तीनो विषय त्रिगुणात्म और परस्पर ओतप्रोत—मिश्रित हैं। विशेषता यह है कि प्रत्येकमे एक-एक गुण प्रधान और दो-दो आंशिक रूपसे मिश्रित हैं। यथा—'व्रत' मे सात्त्विक प्रधान और रज-तम अंशतः मिश्रित हैं। 'पर्व' में राजस प्रधान और सत्त्व-तम अंशतः मिश्रित हैं। और त्यौहारमे तम प्रधान और रज-सत्त्व अंशतः मिश्रित हैं। किस प्रकार हैं, यह इनका स्वरूपज्ञान होनेसे ज्ञात हो सकता है। उदाहरणार्थ—

(२) किसी देव, देवी या पञ्चदेवका व्रत कीजिये। उसमें 'सात्त्विक' गुण प्रधान होनेसे आपका मन सासारिक कामोसे विरक्त होकर व्रतसम्बन्धी नियमोपनियमोका पालन करनेमें संलग्न हो जायगा। साथ ही शाकाहारादि सामग्रीके संग्रह करनेमे 'राजस' और आरम्भसे समाप्तिपर्यन्तकी व्यवस्था या विधानमे लोम-विलोम होनेसे 'तामस' मिल जायगा। इसी प्रकार—

(३) पर्वोत्सव मनानेमे उसके उपयोगी शोभा-सामग्री, गायन-वादन, सुप्रकाश, पूजासामग्री और प्रसाद-वितरणादिमे सर्वप्रथम 'राजस' प्रधान होगा। उसीके साथ ही उत्सवकार्यमे सम्मति, सहायता या सहयोग देनेवालोके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने आदिमे 'सात्त्विक' अंश आगे आयगा और कदाचित् वस्तु-विधान या दान-मानादिमे त्रुटि हुई तो 'तामस' का मिश्रण होगा। और—

(४) होली, दिवाली या दशहरा-जैसे 'तामस'-प्रधान त्यौहारोमे हँसी-दिल्लगी, धूल उछालना आदि; द्यूत-क्रीड़ा या

हिंसा-वृत्ति देखनेसे 'तामस' का प्राधान्य प्रतीत होगा। साथ ही उस अवसरके उपयोगी वेश-भूषा, वर्ताव-व्यवहार और भेट-पूजा-पुरस्कार आदिमें 'राजस' संयुक्त रहेगा और अन्तमें साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होनेमें 'सात्त्विक' का अंश स्वतः आ जायगा। इस प्रकार—

(५) उपर्युक्त तीनों विषयोंके सम्पन्न करनेमें तीनों गुणोंका प्रभाव प्रधान रूपमें या आंशिक रूपमें अवश्य प्रस्तुत होगा। अस्तु, व्रत, पर्व और त्यौहारोंसे केवल हिंदुओंका ही नहीं—वर्णेतरोंका और द्वीपान्तरनिवासियोंतकका महान् उपकार होता है। हमारे त्रिकालदर्शी महर्षियोंने व्रत करनेमें संसारहितके अनेक गुण गुम्फित देखकर इनका यथाविधि व्यापक प्रचार किया था।

(६) किस कामनाके निमित्तसे किस देव-देवी या पञ्चदेवका कौन-सा व्रत-उपवास या उपासना फलदायी होगी और उसका मानव-शरीरपर किस प्रकारका कैसा प्रभाव किस मात्रामें पड़ेगा—ये सब बातें अपनी दिव्य दृष्टिसे और अनेक बारके अनुभवसे निश्चय करके उनको विधिबद्ध नियत किया गया था। अतएव व्रत, पर्व और त्यौहार—ये तीनों ही त्रिगुणात्मक सृष्टिके लिये हितकारी हैं। और इन तीनोंके होते रहनेसे संसारका बड़ा भारी उपकार होता है।

(७) यद्यपि आयोजनकी दृष्टिसे व्रत स्वल्पतम या सरलसाध्य है और व्रतकी अपेक्षा पर्व तथा पर्वकी अपेक्षा त्यौहार अधिकाधिक भव्य आयोजनोंसे सम्पन्न होनेवाले हैं, तथापि महत्त्वकी दृष्टिसे व्रतमें उक्त दोनों (पर्व और त्यौहारों) की अपेक्षा अनेक प्रकारके हितकारी तत्त्व अधिक हैं। और उनकी साङ्गोपाङ्ग सम्पन्नता भी व्रतसे ही पूर्ण होती है।

(८) व्रत देखनेमें सामान्य साधन प्रतीत होता है। मध्याह्नमें एक बार भोजन करनेसे 'एकभक्त', किसी एक ही पदार्थका एक बार परिमित भोजन करनेसे 'एकभुक्त', 'सायंकालमें भोजन करनेसे 'प्रदोष', रात्रिमें भोजन करनेसे 'नक्तव्रत' और अहोरात्र निराहार या अल्पमात्रामें सूखा मेवा, फल अथवा शाकाहार करनेसे उपवास हो जाता है। इसमें किसी प्रकारकी कठिनाई या दुःसाध्यपना नहीं आता; परंतु इस लघुतम और सरलसाध्य व्रतसे मनुष्योंके मन, चित्त, मस्तिष्क अथवा अस्थि, मज्जा, मास और रक्तपर किस प्रकारका गुणकारी प्रभाव पड़ता है—इस बातका विचार किया जाय तो व्रतके बड़े भाई पर्व और त्यौहार अनेक अंशोंमें छोटे हो जाते हैं।

(९) व्रत एक प्रकारका सरल-साध्य 'तप' है। इससे सावयव शरीरकी बाह्य और आन्तरीय शुद्धि होती है। संतप्त आत्माको शान्ति मिलती है। मन-मधुप ईश्वरके स्मरणमें संलग्न होता है। आचार-विचार या सदाचारकी वृद्धि होती है। छोटे-बड़े या सब प्रकारके महापाप दूर होते हैं। अरुचि, अजीर्ण, उदरशूल, वातव्याधि, क्षतक्षय या मन्दाग्नि-जैसे घातक रोग निर्मूल होते हैं। व्रतारम्भके पहले ही मनुष्यके हृदयमें सात्त्विक भावका साम्राज्य हो जाता है। और व्रतके परायण हुए पीछे शक्ति घटती नहीं, बढ़ती है। बुद्धि विकसित होती है और मस्तिष्ककी स्फुरण-शक्ति बलवती होती है।

(१०) व्रतके दिन कई दिनोंके रुके हुए कार्य पूर्ण करनेमें मन लगता है। और बहुत-सी जटिल समस्याएँ उस दिन सुलझ जाती हैं। अधिक क्या, यदि शास्त्रीय विधानके साथ व्रत किया जाय तो व्रतमें मनुष्य ऋणमुक्त होता है। सुत-दारा और सम्पत्तिका सुख प्राप्त करता है। अज्ञात देशमें गया हुआ आत्मीय वापस आ मिलता है और देव-दानव या मनुष्य प्रसन्न होते हैं।

(११) व्रत अनेक हैं, और उनके करनेके साधन-विधान या व्यवस्था भी सबकी पृथक्-पृथक् है। अतः व्रत मनुष्यमात्रके अनायास उद्धारके लिये एक सुगम साधन है। और तो क्या, तल्लीन होकर व्रत करनेसे मनुष्यका मन ईश्वरके चरणोंमें संलग्न होता है और ऐसा होनेसे इस लोकमें सुख तथा परलोकमें स्वर्गकी प्राप्ति होती है एवं निष्काम भावमें केवल भगवत्प्रीत्यर्थ व्रताचरण करनेपर मोक्ष या भगवच्चरणोंमें अहैतुक प्रेमकी प्राप्ति होती है।

पर्व

(१२) 'पर्व' व्रतका बड़ा भाई है। व्रती व्रतको स्वाधीनरूपमें अकेला या जनसमुदायके साथ कर सकता है; परंतु पर्वमें यदा-कदा अगणित मनुष्य हो जाने और तीर्थ-स्थानादिमें जाने आदि कारणोंसे उसका स्वरूप भव्य और व्यापक बन जाता है। और साथ ही पराधीनताका पटाक्षेप हो जाता ('परदा पड जाता) है।

(१३) संवत्सर, ग्रहणपर्व, संक्रमण, सोमवती, कार्तिकी या तीर्थस्नान-जैसे अवसरोंमें अपने देश, ग्राम, नगर या देहातसे शत-सहस्रायुत-लक्ष ही नहीं, आबाल-वृद्धपर्यन्त अगणित नर-नारी संवतारम्भपर राजद्वारमें, रामजन्मपर सरयूमें श्रीअयोध्या या ग्रहणपर कुरुक्षेत्रमें, श्रीकृष्णजन्मपर मथुरा

वृन्दावनमें या यमुनाजीपर; गङ्गादशमीपर हरिद्वार, सोरों, गढ़मुक्तेश्वर, काशी, प्रयाग और गङ्गासागरमें; सिंहस्थपर क्षिप्रामें, आश्विन-चैत्र गयामें, मकरार्कपर प्रयागमें, भानुसप्तमीपर कोणार्कमें और सोमवती आदिपर गणेश्वरमें जाते हैं और यथाशक्ति स्नान, दान, पूजापाठ, दर्शन, हवन और ब्राह्मण-भोजनादि करते हैं।

(१४) चैत्रशुक्ल प्रतिपदाको ब्रह्माजीने सृष्टिका आरम्भ किया था और यही संवत्सरके आरम्भका दिन है। अतः इस दिन संवत्सरके साथमें सर्वप्रथम ब्रह्माजीका और तदनन्तर अन्य देव, दानव, ग्रह, नक्षत्र, ऋषि, महर्षि, पञ्चदेव, पञ्चमहाभूत, दशदिक्पाल, सुख-दुःख, रोग-दोष और उनके प्रशामक औषधोपचारादिका पूजन किया जाता है और प्रवर्तमान वर्ष सबके लिये सुख-शान्तिदायी होनेकी प्रार्थना की जाती है।

(१५) इसके अतिरिक्त 'जयन्ती-चतुष्टय' (राम, कृष्ण, वामन, नरसिंहकी) हैं। और सीतानवमी, राधाष्टमी तथा अक्षयतृतीया-जैसे आराध्य देव-देवियोंके जन्मोत्सवादिपर लोग मन्दिरों या अपने निवासस्थानोंमें पर्वोत्सव मनाते, मन्दिर जाते, भगवान्का पूजन करते, भेंट चढ़ाते और प्रसाद लेते हैं। और नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं।

(१६) इस प्रकारके पर्वोत्सवोंसे केवल स्थानीय जनताको ही नहीं, देश-देशान्तरके अगणित मनुष्योंको अनेक प्रकारका लाभ होता है। अनेक देशोंके व्यापार-व्यवहार, खान-पान, पहिराव, बोली, विद्या, बर्ताव, कला-कौशल, धनोपार्जनके विविध विधान, कौतूहलजनक क्रीड़ा-कौशल्य, नगर, ग्राम, महादुर्ग और अनेक प्रकारके शिक्षाप्रद, लाभदायक या अदृष्टपूर्व प्राणी, पदार्थ और वस्तुएँ देखनेमें आती हैं और उनसे तत्सम्बन्धी ज्ञान या अनुभव होता है। साथ ही—

(१७) स्वदेश छोड़कर विदेशमें जानेवाले हजारों-लाखों यात्रियोंका मार्गव्यय, भोजन-सामग्रीका आटा-दाल, रेल, तार, डाक, ताँगे, हलवाई, पड़चूनी ढाबे, होटल, खोंचे, दान-पुण्य, याचक, भिक्षुक, अपाहिज, पण्डित, पुरोहित, विद्यार्थी और गङ्गागुरु आदिके देय द्रव्य, दान, दक्षिणा, उपस्कर, उपहार और पुरस्कार आदिमें जो करोड़ों रुपये खर्च होते हैं, उनसे स्थानीय तथा देश-विदेशके व्यापारी, व्यवसायी या अन्य आशार्थी लोग पूर्णरूपमें लाभान्वित होते हैं।

त्यौहार

(१८) 'त्यौहार'—पहले सूचित हो चुका है कि किसी अंशमें व्रत, पर्व और त्यौहार एक ही हैं—केवल उपासकोंके न्यूनाधिक्य और साधनाके भेदसे उनके स्वरूप सूक्ष्म, दीर्घ और महत्तम हो जाते हैं। व्रत सबमें होता है। जप, पूजा और उत्सवसमारोह न्यूनाधिक सबमें होते हैं। और हँसना, खेलना, गाना-बजाना या ईश्वरस्मरणमें संलग्न होना भी सबमें होता है। केवल—

(१९) व्रतमें स्वल्पतम, त्यौहारमें यथायोग्य (न्यूनाधिक) और पर्वमें यदा-कदा सर्वाधिक मनुष्य एकत्र होते हैं। व्रत विशेषकर स्वस्थानमें, पर्व तीर्थादिपर या मन्दिरोंमें और त्यौहार घर-बाहर सर्वत्र सम्पन्न होते हैं।

(२०) राजपूतानेमें श्रावणकी तृतीया (तीज), गणगौर, महाराष्ट्रमें गणेशचतुर्थी और बंगालमें दुर्गापूजा (आश्विन) के सार्वजनिक त्यौहार बड़े समारोहसे मनाये जाते हैं।

(२१) त्यौहारमें व्रतोत्सवके सिवा स्वल्पतम या अधिकाधिक मिष्टान्नादिका आयोजन अवश्य होता है। और यही उसकी विशेषता है। कोई भी त्यौहार हो, और उसमें चाहे किसी देवताकी पूजा हो और कैसी भी शास्त्र-पद्धति हो, कुछ-न-कुछ मिष्टान्न अवश्य बनेगा। दशहरा, होली, दीपावली आदिकी तो बात ही क्या—छोटे-छोटे त्यौहारोंमें भी मुख मीठा तो किया ही जाता है।

(२२) त्यौहारोंमें शीतलाष्टमी ही एक ऐसा त्यौहार है, जिसमें सर्वमान्य देवताको 'पर्युषितान्न' (बासी भोजन) भोग लगाया जाता है और तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे ऐसा करना ही उचित, आवश्यक और लाभदायक है; परंतु जो लोग पूआ बनाते समय 'सेड़का पुजापा' (कुछ पूए-पूड़ी) अलग रखकर गर्मागर्म आप खा लेते हैं, वह अच्छा नहीं। इसमें पुजापा *उच्छिष्ट बन जाता है और उसका भोग लगाना सर्वथा* निषिद्ध या पापमूलक है।

(२३) इस प्रकार पृथक्-पृथक् त्यौहारोंमें विभिन्न प्रकारके भोजन-पदार्थ बनाते और त्यौहारके अधिष्ठाताके भोग लगाते हैं। अधिष्ठाता संवत्सरके ब्रह्मा, गणगौरकी उमा, अष्टमीकी महाशक्ति, नवमीके राम; अक्षयाके परशुराम, नर-नारायण, हयग्रीव; नृसिंहचतुर्दशीके नरसिंह, गङ्गादशमीके भगीरथ, निर्जलाके विष्णु, रथयात्राके जगदीश, आषाढीके व्यासगुरु, तीजकी गौरी, रक्षापूर्णिमाके श्रवण; जन्माष्टमीके वसुदेव, वासुदेव; चतुर्थीके चन्द्र, गणपति-

चतुर्थीके गणेश, दूजा और विजयादशमीकी दुर्गा और श्रीरामचन्द्र, दीपावलीकी लक्ष्मी, अन्नकूटके गोवर्धन, गोपाष्टमीकी गौ, मकरार्कके भानु, वसन्तके कामदेव, भानुसप्तमीके सूर्य, शिवरात्रिके महादेव और होलीके प्रह्लाद हैं।

(२४) इस प्रकार त्यौहार और उनके अधिष्ठाता कई हैं और उनके रूप, विधान या आयोजन भी बहुतोंके बहुत हैं (जो मेरे लिखे 'हिंदू-त्यौहार' नामक निबन्धमें विस्तारपूर्वक दिये हैं)। यहाँ स्थानाभावके कारण संक्षेपसे परिचय दिया जाता है। अन्य त्यौहारोंकी अपेक्षा श्रावणी, विजयादशमी, दीपावली और होली यथाक्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके त्यौहार माने जाते हैं। परंतु इनमें यह विशेषता है कि इन चारोंको चारों वर्ण मानते हैं और चारोंमें चारों ही सम्मिलित होकर सहयोग देते हैं। भारतीय विशुद्ध वर्ण-व्यवस्थाके ये आदर्श हैं।

(२५) त्यौहार कोई भी हो, उसको सम्पन्न करनेके आयोजन कई दिनों पहलेसे आरम्भ हो जाते हैं और मनानेवालोंके अतिरिक्त उनसे द्रव्योपार्जन करनेवाले (या कमाकर खानेवाले भी) वस्त्र, शस्त्र, आभूषण, मिठाई, खेल, खिलौने, पुस्तकें और विविध प्रकारकी व्यवहार्य वस्तुएँ बनाकर सजाते और त्यौहारोंके मार्ग प्रतीक्षणमें उद्ग्रीव रहते हैं। इतनेपर भी यह लिखना अनुचित नहीं कि वर्तमानमें 'हिंदू-त्यौहार' कुछ विकृत बन गये हैं और उनके सम्पादक भी उनके प्रति भक्तिभाव रखनेके बदले उदासीनभाव रखते हैं।

(२६) श्रावणीकी दुर्लभ और आदरणीय 'रक्षा-पोटलिका' के स्थानमें (जो सर्षप, दूर्वा, मदनफल और वेदमन्त्रोंके सहयोगसे सम्पन्न होती थी) अब बाजारकी राखी दो पैसेसे लेकर पाँच सौ रुपयेतकमें आती है और धर्मरक्षाके लिये भोली बहिन उससे भाईको आबद्ध करती है। 'विजयादशमी' जिसके लिये भूखे, निर्धन और अतिवृद्ध क्षत्रिय भी सशस्त्र होकर महाबली शत्रुको पश्चात्पद करते थे, अब वह विजया विजयलक्ष्मीके साथ विलायतोंकी सैर करती है और क्षत्रिय जूएसे मुक्त वृषभकी भाँति विश्राम लेते हैं।

(२७) दीपावलीमें तिलतैलके अगणित दीपोंकी नेत्रसुखद अखण्ड दीपावली नवीन विचारोंके वायुसे लुप्त हो गयी और उसके स्थानमें बिजलीकी बत्तियोंके भव्य प्रकाशमें महालक्ष्मीका पूजन होता है। और होलीमें किसी दिन 'नवान्नेष्टि' यज्ञ था, जिसके लिये वर्तमानका प्रह्लाद 'यज्ञस्तम्भ', खेर-खाँडे-खरकुल 'समिधा' और जौ-गेहूँ तथा चनोंकी ढेंगी 'हवनीय सामग्री' थे। अब ये सब गालीके रूपमें परिणत हो गये और वेदमन्त्रोंका उच्चारण 'कबीरा' आदि अश्लील गायनोंमें परिणत हो गया!

(२८) इसी प्रकार तोड़कर लायी हुई वटशाखाके पूजनमें सावित्री; दाल, ककड़ी और सत्तू खानेमें अक्षय-तृतीया; पञ्चामृत बाँटने और भेंट लेनेमें राम, कृष्ण, वामन और नरसिंहजयन्ती; आयी हुई अयनुगी गायको बाँधकर दूध निकालनेमें गोपाष्टमी; निम्बपत्रप्राशनमें संवत्सर; ठंडे पूए आदि खानेमें नागपञ्चमी और शीतलाष्टमी; शर्बत-ठंढाई, दूध, फल-फूल और सुशीतल जल पीनेमें निर्जला; स्नानमात्रमें गङ्गादशमी और एक सौ परिक्रमा देनेमें सोमवती-जैसे पुण्यप्रद पर्व, त्यौहार और व्रत सम्पन्न होते हैं और इनके गुण, रूप, व्यवस्था और प्रयोजन आदिको लोग भूलते जाते हैं। अब तो शिक्षित कहलानेवाले नर-नारी इतना भी नहीं करते!

(२९) उचित तो यह है कि प्रत्येक सद्गृहस्थ हिंदू अपने इन व्रत, पर्व और त्यौहारोंके असली स्वरूप शास्त्रोंसे और वृद्ध सज्जनोंसे मालूम करके प्रत्येक त्यौहारको यथाशक्ति सम्पन्न करें और यथापूर्व प्रचलित रक्खें। त्यौहार सामान्य खेल नहीं हैं, बड़े महत्त्वके हैं। इनमें अनेक ऐसे गुण गुम्फित हो रहे हैं, जिनसे हमारे आयु, आरोग्य, आदर-सम्मान, धर्म, कर्म, सम्पत्ति और सुख-सौभाग्यादि स्वतः ही बढ़ते हैं। आशा है, हिंदू-सन्तान इस ओर ध्यान देंगे।

जीवित ही मरेके समान

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते। न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥ (भागवत ३। २३। ५६)

इस संसारमें जिसका कर्म न तो धर्मके लिये होता है, न वैराग्यके लिये और न तीर्थपाद भगवान्‌की चरण-सेवाके ही लिये होता है, वह जीते जी भी मरे हुएके समान है।

हिंदू-धर्मका इस्लामपर प्रभाव

(लेखक—श्रीहजरत साज रहमानी 'फिरदोसी बाबा')

'हिंदू-धर्म ही संसारमें सबसे प्राचीन धर्म है'—यह एक प्रसिद्ध और प्रत्यक्ष सचाई है। कोई भी इतिहासवेत्ता आजतक इससे अधिक प्राचीन किसी धर्मकी खोज नहीं कर सके हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि हिंदू-धर्म ही सब धर्मोंका मूल उद्गम-स्थान है। सब धर्मोंने किसी-न-किसी अंशमें हिंदू माका ही दुग्धामृत पान किया है। जैसा कि गुसाईं तुलसीदासजीका वचन है—'बुध किसान सर बेद निज मते खेत सब सींच।' अर्थात् वेद एक सरोवर है, जिसमेंसे (भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरोंके समर्थक) पण्डितरूपी किसान लोग अपने-अपने मत (सम्प्रदाय)-रूपी खेतको सींचते रहते हैं।

उक्त सिद्धान्तानुसार इस्लामको भी हिंदू माताका ही पुत्र मानना पड़ता है। वैसे तो अनेकों इस प्रकारके ऐतिहासिक प्रमाण हैं, जिनके बलपर सिद्ध किया जा सकता है कि इस्लामका आधार ही हिंदू-धर्म है; परंतु विस्तारभयसे इस विषयको न उठाकर यहाँ केवल इतना ही बताना चाहता हूँ कि मूलतः हिंदू-धर्म और इस्लाममें वस्तुतः कोई भेद नहीं है दोनों एक ही हैं। इस्लामके द्वारा अरबी सभ्यताका अनुकरण होनेके कारण ही दोनों परस्पर भिन्न हो गये हैं।

वास्तविक सिद्धान्त तो यही है कि किसी देशकी सभ्यता और संस्कृति पूर्णरूपसे धर्मानुकूल ही हो; परंतु भारतके अतिरिक्त और किसी भी देशमें इस सिद्धान्तका अनुसरण नहीं किया जाता। वरं इसके विपरीत धर्मको ही अपने देशकी प्रचलित सभ्यताके ढाँचेमें ढालनेका प्रयत्न किया जाता है। यदि किसी धर्मप्रवर्तकने सभ्यताको धर्मानुकूल बनानेका प्रयत्न किया भी तो उसके जीवनका अन्त होते ही उसके अनुयायियोंने अपने देशकी प्रचलित सभ्यताकी अन्धी प्रीतिके प्रभावसे धर्मको ही प्रचलित सभ्यताका दासानुदास बना दिया। श्रीमुहम्मदजीके ज्योति-में-जोत समानेके पश्चात् इस्लामके साथ भी यही बर्ताव किया गया। केवल इसी कारण हिंदू-धर्म और इस्लाममें भारी अन्तर जान पड़ता है।

प्राचीन अरबी सभ्यतामें युद्धवृत्तिको विशेष सम्मान प्राप्त है। इसी कारण जब अरबके जनसाधारणके चित्त और मस्तिष्कने इस्लामके नवीन सिद्धान्तोंको सहन नहीं किया, तब वे उसे खड्ग और बाहुबलसे दबानेपर उद्यत हो गये—जिसका परिणाम यह हुआ कि कई बार टाल जाने, और लड़ने-भिड़नेसे बचे रहनेकी इच्छा होते हुए भी इस्लाममें युद्धका प्रवेश हो गया; परंतु उसका नाम 'जेहाद फी सबील-उल्ला' अर्थात् 'ईश्वरी मार्गके लिये प्रयत्न' रखकर उसे राग-द्वेषकी बुराइयोंसे शुद्ध कर दिया गया।

श्रीमुहम्मदजीके स्वर्गगमनके पश्चात् जब इस्लाम अरबी सभ्यताका अनुयायी हो गया, तब जेहाद ही मुसल्मानोंका विशेष कर्तव्य मान लिया गया। इसी अन्ध-श्रद्धा और विश्वासके प्रभावमें अरबोंने ईरान और अफगानिस्तानको अपनी धुनमें मुस्लिम बना लेनेके पश्चात् भारतपर भी धावा बोल दिया। यहाँ अरबोंको शारीरिक विजय तो अवश्य प्राप्त हुई; परंतु धार्मिकरूपमें नवीन इस्लामकी प्राचीन इस्लामसे टक्कर हुई, जो अधिक पक्का और सहस्रों शताब्दियोंसे संस्कृत होनेके कारण अधिक मजा हुआ था। अतः हिंदू-धर्मके युक्ति-युक्त सिद्धान्तोंके सामने इस्लामको पराजय प्राप्त हुई। इसी सत्यको श्रीयुत मौलाना अल्ताफ हुसैन हालीजीने इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—

> वह दीने हिजाजीका बेबाक बेड़ा।
> निशां जिसका अक्साए आलममें पहुँचा॥
> मजाहम हुआ कोई खतरा न जिसका।
> न अम्मामें ठटका न कुल्जममें झिझका॥
> किये पै सिपर जिसने सातों समुंदर।
> वह डूबा दहानेमें गंगाके आकर॥

अर्थात् 'अरब देशका वह निडर बेड़ा, जिसकी ध्वजा विश्वभरमें फहरा चुकी थी, किसी प्रकारका भय जिसका मार्ग न रोक सका था, जो अरब और बलोचिस्तानके मध्यवाली अम्मानामी खाड़ीमें भी नहीं रुका था और लालसागरमें भी नहीं झिझका था, जिसने सातों समुद्र अपनी ढालके नीचे कर लिये थे, वह श्रीगङ्गाजीके दहानेमें आकर डूब गया।'

'मुसद्दए हाली' नामका प्रसिद्ध काव्य, जिसमें उक्त पंक्तियाँ लिखी हैं, आजतक सर्वप्रशंसनीय माना जाता है। इन पंक्तियोंपर किसीने कभी भी आक्षेप नहीं किया। यह इस बातका प्रसिद्ध प्रमाण है कि इस सत्यको सभी मुस्लिम स्वीकार करते हैं; परंतु मेरे विचारमें वह बेड़ा डूबा नहीं, वर उसने स्नानार्थ डुबकी लगायी थी। तब अरबी सभ्यताका मल दूर करके भारतीय

सभ्यतामें रँग जानेके कारण वह पहचाना नहीं गया। क्योंकि आचार-व्यवहार-अनुसार तो हिंदू-धर्म और इस्लाममें कोई भेद ही नहीं था। अरबी सभ्यता यहाँ आकर उसपर भोंड़ी-सी दीखने लगी; क्योंकि हिंदू-धर्म और हिंदू-सभ्यता एक दूसरेके अनुकूल हैं और यहाँ सैद्धान्तिक विचारों, विश्वासों और आचरणमें अनुकूलता होनेके आधारपर ही किसी व्यक्तिका सम्मान किया जाता है। अतः इस्लामपर हिंदुओंके धर्माचरणका इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि सर्वसाधारणके आचार-व्यवहारमें कोई भेद-भाव न रहा। यदि विशिष्ट मुस्लिमोंके हृदय भी पक्षपातसे उपराम हो जाते तो अरबी और फारसी भाषाओंके स्थानमें हिंदी और संस्कृतको इस्लामी विचारका साधन बना लिया जाता और अरबी संस्कृतिको ही इस्लाम कल्पित न कर लिया जाता तथा भारतीय इतिहासके माथेपर हिंदू-मुस्लिम-दंगोंका भोंड़ा कलङ्क न लगा होता; क्योंकि वास्तवमें दोनों एक ही तो हैं।

पण्डितों और संतोंके मार्गमें प्रत्येक सम्प्रदायमें सदासे ही मतभेद चला आया है। यही दशा इस्लाममें भी है। पण्डित (आलिम) लोग तो शाब्दिक गोरखधंधोंमें उलझे रहते हैं, विद्याके अभिमानमें—पक्षपातमें अंधे होते हैं। लोक-रीतिके दास और रूढ़ियोंके अनुयायी होते हैं। कर्मकाण्डके तत्त्वको नहीं जानते। परंतु संतजन तत्त्वदर्शी होते हैं, भगवान् श्रीकृष्णके कथनानुसार—'उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥' अर्थात् इन दोनों (सत्य और असत्य) का ही अन्त तत्त्वदर्शियोंद्वारा देख लिया गया है। अतः संतलोगोंसे तो कुछ भी छिपा नहीं। जैसा कि कबीर-जीने कहा है—

> तू तो कहत है पुस्तककेलेखी।
> मैं कहता हूँ आँखों देखी॥

इसी कारण संतमतमें मतभेद नहीं होता। मौलाना रूमकी मसनवीको पढ़ देखो, गीता और उपनिषदोंके सिद्धान्तोंके कोष भरे हुए मिलेंगे, जब कि मौलाना रूम हिंदू धार्मिक साहित्यसे सर्वथा अपरिचित थे। संतमतके सम्बन्धमें उनका कथन है—

> मिल्लते इश्क अज हमां मिल्लत जुदास्त।
> आशिक़ां रा मज़हबो मिल्लत ख़ुदास्त॥

अर्थात् 'भक्तिमार्ग सब सम्प्रदायोंसे भिन्न है। भक्तोंका सम्प्रदाय और पन्थ तो भगवान् ही है।' संतजन सत्यको देश, काल और बोलीके बन्धनोंसे मुक्त मानते हैं। 'सनझेका मत एक है, का पंडित, का शेख॥' वे सत्यको प्रकट करना चाहते हैं। इसलिये जनसाधारणकी बोलीमें ही वाणी कहते हैं। जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

> का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच।
> काम जु आवै कामरी का लै करै कमाच॥

इसी सिद्धान्तके अनुसार मुसलमान संतोंने भी कुरआनी शिक्षाको जनताकी बोली अर्थात् हिंदी भाषाके दोहों और भजनोंके रूपमें वर्णन किया, तो उसे सबने अपनाया। क्योंकि उनके द्वारा ही दोनों धर्मोंकी एकता सिद्ध हो गयी थी। बाबा फरीदके दोहोंको 'श्रीगुरु ग्रन्थ साहब'-जैसी सर्व पूज्य धार्मिक पुस्तकमें स्थान प्राप्त हुआ। निज़ामुद्दीन औलियाने स्पष्ट कहा है—मीसाक़के रोज़ अल्लाहका मुझसे हिंदी ज़बानमें हमकलाम हुआ था। अर्थात् 'मुझे संसारमें भेजनेसे पूर्व जिस दिन भगवान्ने मुझसे वचन लिया था, तो मुझसे हिंदी बोलीमें ही वार्तालाप किया था।' मलिक मुहम्मद जायसी, बुल्लेशाह इत्यादि अनेकों मुसल्मान संतोंने हिंदीमें ही इस्लामी सत्यका प्रचार किया, जो आज भी वैसा ही लोकप्रिय है। अरबी भाषाके पक्षपातियोंने ईरान इत्यादि मुस्लिम देशोंमें भी संतोंकी वाणीके विरुद्ध आन्दोलन किया था। मौलाना रूमकी वाणी (मसनवी) की निन्दा स्वर्गीय मीर अब्बासने इन शब्दोंमें की है—

> ईं किताब सूफियाने शूम नेस्त।
> मसनवीये मौलवीये रूम नेस्त॥

वे अपनी रचना मसनवी मन्नो सलवाका वर्णन करते हुए मौलाना रूम और सब सूफियोंको लक्ष्य करके व्यङ्ग करते हैं—'यह (मेरी रचना) अभागे सूफियों (संतों) की वाणी नहीं है। मौलाना रूमकी मसनवी नहीं है।'

दूसरे मौलवियोंने मसनवीकी निन्दा करते हुए कहा—

> नेस्त ज़िक्रो बहसे इसरार बुलंद।
> कि दवानद औलिया आँ सू कमंद॥
> जुमला सर ता पा फ़िसानस्तो फ़िसूँ।
> कोदकाना क़िस्सह बेरूनो दरूँ॥

अर्थात् 'मसनवीमें बहुत ऊँचे विचारों और रहस्योंपर उक्तियाँ नहीं हैं कि जिसकी ओर पण्डितलोग ध्यान दें। सर्वथा किस्से-कहानियाँ ही भरी हुई हैं। अंदर और बाहर सब बच्चोंको बहलानेकी कथाएँ ही हैं।' इसी प्रकार इन भारतीय मुसल्मान संतोंपर भी मौलवियोंने कुफ्रके फतवे

(नास्तिक होनेकी व्यवस्थाएँ) लगाये। इसी खींचातानीका परिणाम यह हुआ कि वास्तविक इस्लाम न जाने कहाँ भाग गया। मौलाना हालीने इन शब्दोंमें कहा है—

वह दीं, जिससे तौहीद फैली जहाँमें।
हुआ जलवागर हक जमीं आसमांमें॥
रहा शिर्क बाकी न वहमो गुमांमें।
वह बदला गया आके हिंदोस्तांमें॥
हमेशहसे इस्लाम था जिस पै नाजा।
वह दौलत भी खो बैठे आखिर मुसल्मा॥

अर्थात् 'वह सम्प्रदाय, जिसके द्वारा संसारमें अद्वैत-वादका प्रचार हुआ, और पृथ्वी तथा आकाशमें सत्य ही विराजमान हो गया, कहीं भी भ्रम बाकी नहीं रहने पाया, वह दीन (सम्प्रदाय) भारतमें आकर परिवर्तित हो गया। जिस सम्पत्तिपर इस्लामको सदासे अभिमान था, अन्तमें मुसल्मान वह भी खो बैठे।'

इसका कारण यह था कि तअस्सुब (पक्षपात)-ने मौल्वी लोगोंको अंधा कर दिया था। इसकी व्याख्या मौलाना हालीसे ही सुनिये। वह कहते हैं—

हमें वाइजोंने यह तालीम दी है।
कि जो काम दीनी है या दुनयवी है॥
मुखालिफकी रीस उसमें करनी बुरी है।
निशां गैरते दीने हकका यही है॥
न ठीक उसकी हरगिज कोई बात समझो।
वह दिनको कहे दिन तो तुम रात समझो॥

अर्थात् 'हमें उपदेशकोंने यह शिक्षा दी है कि धार्मिक अथवा सांसारिक—कोई भी काम हो, उसमें विरोधियोंका अनुकरण करना बहुत बुरा है। सत्य धर्मकी लाजका यही चिह्न है कि विरोधीकी किसी बातको भी सत्य न समझो। यदि वह दिनको दिन कहे तो तुम उसे रात समझो।'

कदम गर रहे रास्त[1] पर उसका पाओ।
तो तुम सीधे रस्तेसे कतराके जाओ॥
पड़ें इसमें जो दिक्कतें, वह उठाओ।
लगें जिस कदर ठोकरें इसमें, खाओ॥
जो निकले जहाज उसका बचकर भँवरसे
तो तुम डाल दो नाव अंदर भँवरके॥
अगर मस्ख[2] हो जाए सूरत तुम्हारी।
बहायममें[3] मिल जाए सीरत[4] तुम्हारी॥
बदल जाए बिल्कुल तबीअत[5] तुम्हारी।
सरासर बिगड़ जाए हालत तुम्हारी॥
तो समझो कि है हक[6] की इक शान यह भी।
है इक जलवाये नूरे[7] ईमान यह भी॥
न औजारमें तुमसे निस्बत[8] किसीको।
न इखलाकमें[10] तुमपे सबकत[11] किसीको॥
न हासिल[12] यह खानोंमें लज्जत[13] किसीको।
न पैदा यह पोशिश[14], यह जीनत[15] किसीको॥
तुम्हें फख्र[16] हर इल्म[17] में बरमला[18] है।
तुम्हारी जहालत[19] में भी इक अदा है॥
कोई चीज समझो न अपनी बुरी तुम।
रहो बातको अपनी करते बड़ी तुम॥
हिमायतमें[20] हो जब कि इस्लामकी तुम।
तो हो हर बदी[21] और गुनहसे[22] बरी तुम॥
बदीसे नहीं मोमिनोंको[23] मुजर्रत[24]।
तुम्हारे गुनह और न औरोंकी ताअत[25]॥

अन्तिम दो पंक्तियोंमें कहा गया—'मुसल्मानोंकी बदीसे (यदि वे किसीसे बदी करें तो उनकी) कोई हानि नहीं। तुम्हारे पाप और दूसरोंकी भक्ति दोनों भगवान् स्वीकार नहीं करेंगे।'

मुखालिफ[26] का अपने अगर नाम लीजे।
तो जिक्र[27] उसका जिल्लत[28] से, खारीसे कीजे॥
कभी भूलकर तरह[29] इसमें न दीजे।
कयामत[30] को देखोगे इसके नतीजे॥
गुनाहों[31] से होते हो गोया मुबर्रा[32]।
मुखालिफ पै करते हो जब तुम तबर्रा[33]॥

अन्तिम पंक्तिमें कहा गया—'जब तुम विरोधीको गाली देते हो (सताते हो) तो मानो अपने अपराधोंसे शुद्ध होते हो।'

१. ठीक मार्ग, २. बदल जाय, ३. हिंसक पशुओं, ४. आचरण, ५. स्वभाव, ६. सत्य (धर्म), ७. धार्मिक तेजकी शोभा, ८. आकृति, ९. सम्बन्ध, १०. आचार, ११. अविश्वास १२. प्राप्त, १३. स्वाद, १४. वस्त्राभूषण, १५. सम्मान, १६ बड़ाई, १७. विद्या, १८. कुशलता, १९. मूर्खता, २०. पक्ष २१. बुराई, २२. पाप, २३. श्रद्धालुओं, २४. हानि, २५. भक्ति, २६. विरोधी, २७. वर्णन, २८. निन्दा, हीनता, २९. छूट ३०. अन्तिम परिणाम, ३१. पापों, ३२. पवित्र, ३३. गाली गलौज।

बस, मौलवियोंके इन्हीं सिद्धान्तों और बर्तावोंने हिंदू-मुसलमानोंको पराया बनानेका प्रयत्न किया, जिसका भयानक परिणाम आज विद्यमान है ! नहीं तो, हिंदू-धर्मने कट्टर मुसलमान बादशाहोंके राज्यमें भी जनसाधारणपर ऐसा प्रभाव डाला था कि मुसलमान लेखक अपनी हिंदी-रचनाओंमें 'श्रीगणेशाय नमः', 'श्रीरामजी सहाय', 'श्रीसरस्वतीजी', 'श्रीगणा-जी', 'श्रीकृष्णजी सहाय' आदि मङ्गलाचरण लिखनेको कुफ्र (नास्तिकता) नहीं समझते थे । प्रमाणके लिये अहमदका 'सामुद्रिक', याकूबखाँका 'रसभूषण' आदि किताबें देखी जा सकती हैं । अरबीके पक्षपातियोंकी दृष्टिमें भले ही यह पाप हो; परंतु 'कुरआन'की आज्ञासे इसमें विरोध नहीं है ।

१-अल्लहु ला इलाह इल्ला हुवलहुल् अस्मा उल्हुस्ना ।

अर्थात् 'केवल अल्लाह ही अर्चनीय है, और सब अच्छे नाम उसीके लिये हैं ।'

२-कुलिद्उ अल्लह अविद्उर्रहमान अय्यमा तद्उ फ़लहुल्अस्मा उल्हुस्ना ।

अर्थात् (ऐ मेरे दूत !) कह दे कि उसे अल्लाह कह-कर पुकारो अथवा रहमान (दयालु)—जो इच्छा हो, कहकर पुकारो ! सब अच्छे नाम उसीके हैं ।

३-वलिल्लाहिल् अस्मा उल्हुस्ना फ़ाद्उहु बिहा व जरू अल्लज़ीन युल्हिदून फ़ी अस्मा इही ।

अर्थात् सब अच्छे नाम अल्लाहके लिये ही हैं । इन नामोंसे पुकारो और उन लोगोंकी सङ्गति न करो, जो भगवान्-के नामोंको बिगाड़ते हैं ।

कुरआनकी इन्हीं आज्ञाओंको मानकर ईरानके एक कविने मङ्गलाचरणका यह पद पढ़ा है—

बनाम आंकिह कि ऊ नामे नदारद ।

वहर नामे के ख्वानी सर बरारद ॥

अर्थात् उसके नामसे आरम्भ करता हूँ कि जिसका कोई नाम नहीं है; अतः जिस नामसे पुकारो—काम चल जाता है ।

यदि पक्षपाती और कट्टर मौलवी ऊधम न मचाते, संसार स्वर्ग बन जाता । क्योंकि हिंदू-धर्मके पवित्र प्रभावसे मँज-कर इस्लाम चमक उठा था । सत्याग्रही और न्यायशील मुसल्मानोंने तो मुसलमान शब्दको भी 'हिंदू' शब्दका समर्थक ही जाना । इसी कारणसे सर सय्यद अहमदखाँने कई बार अपने भाषणोंमें हिंदुओंसे प्रार्थना की कि उन्हें हिंदू मान लिया जाय, जिसपर उन्हें अपने लिये काफ़िरकी उपाधि ग्रहण करनी पड़ी ।

यदि दोनों धर्मोंमें सैद्धान्तिक एकता सिद्ध न की जाय, तो निबन्ध अधूरा रह जायगा; परंतु वास्तवमें इसकी आवश्यकता ही नहीं; क्योंकि जैसे हिंदू-धर्म किसी एक सम्प्रदायका नाम नहीं है, वरं मानवधर्मके अनुयायी सभी सम्प्रदाय हिंदू कहलाते हैं—कारण कि मानव-धर्मका ही एक नाम हिंदू-धर्म भी है, और ईश्वरके अस्तित्वको न माननेवाले देव-समाज-जैसे सम्प्रदाय भी हिंदू ही कहलाते हैं—उसी प्रकार इस्लाममें भी अनेकों सम्प्रदाय विद्यमान हैं । खुदाकी हस्ती (ईश्वरका अस्तित्व) न माननेवाला नेचरी फ़िरका भी मुसल्मान ही कहलाता है । कारण कि इस्लाम भी मानव-धर्म ही है; कुरआन ही इसकी साक्षी देता है, जो अनेकों स्थलों पर पुकार-पुकारकर कहता है 'याअय्युहन्नास—अर्थात् 'ऐ मनुष्यो !' वरं कुरानका एक नाम—ब्यानन्नास अर्थात् मनुष्योंका वर्णन भी है ।

पक्षपाती और कट्टर मुसल्मानोंको जिस तौहीद (अद्वैत) पर सबसे अधिक अभिमान है और जिसे इस्लामकी ही विशेषता माना जाता है, उसके विषयमें जब हम कुरआनकी यह आज्ञा देखते हैं—

कुल आमन्ना बिल्लाहि व मा उन्ज़िल अलैना व मा उन्ज़िल अला इब्राहीम व इस्माईल व इस्हाक़ व याक़ूब व अस्बाति व मा ऊती मूसा व ईसा वन्नबीय्यून मिर्रब्बिहिम ला नुफ़र्रिक़ु बैन अहदिम्मिन्हुम व नह्नु लहु मुस्लिमून ।

अर्थात् (ऐ मेरे दूत ! लोगोंसे) कह दो कि हमने ईश्वर-पर विश्वास कर लिया और जो (पुस्तक अथवा वाणी) हमपर उतरी है, उसपर और जो ग्रन्थ इब्राहीम, इस्माईल, इस्हाक़, याक़ूब और उसकी सन्तानोंपर उतरी, उसपर भी तथा मूसा, ईसा और (इनके अतिरिक्त) अन्य नबियों (भगवान्‌से वार्तालाप करनेवालों)-पर उनके भगवान्‌की ओरसे उतरी हुई उन सबपर (भी विश्वास रखते हैं) और उन (पुस्तकों तथा नबियों)मेंसे किसीमें भेद-भाव नहीं रखते, और हम उसी एक (भगवान्) को मानते हैं ।

—और इस आज्ञाके अनुसार तौहीदको समझनेके लिये हिंदू-सद्ग्रन्थोंका अध्ययन करते हैं, तो जान पड़ता है कि मौलवी-लोग तौहीदको जानते ही नहीं । यदि जानते होते, तो स्वर्गीय स्वामी श्रीश्रद्धानन्द, महाशय राजपाल इत्यादि व्यक्तियोंकी हत्याका फतवा (व्यवस्था) न देते और न

पाकिस्तान ही बनता। पंजाब और बंगालका घृणित हत्याकाण्ड भी देखनेमें न आता। यदि मौलाना रूमके इस पदपर ही विश्वास होता कि—

दुई रा चूं बदर करदम यके दीदम दो आलिम रा।
यके बीनम यके जोयम यके खानम यके दानम॥

अर्थात् 'जब मैंने द्वैतको मनसे निकाल बाहर कर दिया, तब दोनों लोकोंको एक ही देखा। अब एक ही देखता हूँ, एक ही ढूँढ़ता हूँ। एकको ही भजता हूँ और एकको ही जानता हूँ।' यह है वास्तविक तौहीद (अद्वैत), जैसा कि रामायणमें भगवान् शंकर मा पार्वतीजी-से कहते हैं—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

परंतु जहाँतक मैंने खोज की है, मौलवियाना इस्लाममें यह तौहीद 'दिया' लेकर ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलती; हाँ, संतोंके इस्लाममें इसीका नाम तौहीद है।

मिआजार कसे व हर चिन्ह खाही कुन।
कि दर तरीकत मन गैर अजीं गुनाहे नेस्त॥

अर्थात् 'किसीको दुःख देनेके अतिरिक्त और तेरे जीमें जो कुछ भी आये, कर; क्योंकि मेरे धर्ममें इससे बढ़कर और कोई पाप ही नहीं।'

दिल बदस्तारद कि हज्जि अकबरस्त।
अज हजारा कआबा यक दिल बेहतरस्त॥

अर्थात्—दूसरोंके दिलको अपने वशमें कर लो, यही काबाकी परम यात्रा है; क्योंकि सहस्रों काबोंसे एक दिल ही उत्तम है। कुरआनमें भगवान्ने बार-बार कहा है—

इनल्लाह ला यहुब्बुल्जालिमीन (अथवा मुफ्सिदीन—इत्यादि

अर्थात् भगवान् अत्याचारियों (अथवा फिसादियों) से प्रसन्न नहीं होता।

शेख सादीजीने तो यहाँतक कहा है—

बनी आदम आजाए यक दी गरन्द।
कि दर आफरीनद जि यक जौहर अन्द॥

अर्थात् आदि उत्पत्तिमें एक ही तत्त्वसे उत्पन्न होनेके कारण सब मनुष्य एक दूसरेके अङ्ग हैं। एक हदीसमें भी आया है—

अलखल्कु इयालु अल्लाहि फा हुब्बुलखल्क इला अल्लाहि मनहसन इला इयालिही।

अर्थात् सब प्राणी भगवान्के कुटुम्बी हैं। अत प्राणियोंसे भगवान्के लिये ही अच्छा बर्ताव करो—जैसा अच्छा कि अपने कुटुम्बवालोंसे करते हो। इस इस्लाम और हिंदू-धर्ममें कोई भेद नहीं।

दो चित्र

(रचयिता—कुँवर श्रीहरिश्चन्द्रदेवजी वर्मा 'चातक' कविरत्न, साहित्यालङ्कार)

हिंदू-संस्कृतिके निर्माणकर्ता महाराणा प्रतापकी प्रतिज्ञा

चाहे सुधाकर उतर नभसे
अग्नि बरसाने लगे—
चाहे दिवाकर शीत हो
निशि सौख्य सरसाने लगे—
चाहे महीको दे डुबा
तज सिन्धु निज मर्यादको—
चाहे भले ही भूल जाये
सिंह भीषण नादको—
चाहे गगनमें सुमन सुन्दर
सुरभियुत खिलने लगें—
चाहे मयूरोंसे उरग-गण
प्रेमसे मिलने लगें—
तो भी नहीं पीछे पड़ेगा
पाँव वीर प्रतापका।
होने न दूँगा मैं कलङ्कित
नाम अपने बापका।

हिंदू-संस्कृतिके ध्वंसकर्ता राजा जयचन्दकी आत्म-ग्लानि

जय-चन्द्र मत मुझको कहो,
मैं तो कलङ्कित चन्द हूँ।
मैं हूँ पराभव देशका—
मैं भाग्य उसका मन्द हूँ।
धिक्कार दो मुझको कि
पृथ्वीराज मेरे पापसे
परवश हुआ, मैं जल रहा हूँ
हाय! दुस्सह तापसे॥

हिंदू-संस्कृति और सिक्ख-सम्प्रदाय

(लेखक—ज्ञानी संतसिंहजी प्रीतम, बी० ए०, बी० टी०, हिंदीप्रभाकर)

हिंदू-संस्कृति एक धारा है, जिसका प्रवाह सृष्टिके जन्मसे ही शाश्वतरूपसे चल रहा है। इस प्रवाहको रोकनेवाले स्वयं ही इस प्रवाहमें बह गये। हिंदू-धर्म या भारत-धर्म एक उद्यान है, जिसमें भक्ति, योग, कर्म, उपासना, ज्ञान इत्यादि कई वृक्ष विद्यमान हैं। मुगल-साम्राज्यके समय हिंदू-संस्कृतिकी रक्षाके लिये भारतके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंसे एक भक्तिकी लहर उठी। पंजाबमें इसके जन्मदाता बाबा नानक हुए। आपने अपनी तपस्या, भक्ति और ज्ञानके प्रभावसे हिंदू-संस्कृतिका सिक्का मक्का, बगदाद तथा दूसरे देशोंमें भी जमाया। उस समयकी दशाका वर्णन स्वयं गुरुजी इन शब्दोंमें करते हैं—

> कलि काती राजे कसाई धर्म पखकर उडि रया।
> कूड अमावस सच चद्रमा दीसे नाहीं कहि चढ़िया॥

बाबा गणेशसिंहजी वेदी अपनी रचित नानक-जन्म-मालीमें गुरुजीके जन्मका हेतु इसी प्राचीन विचारधाराकी रक्षा लिखते हैं—

> राज विनाश भयो नृप हिंदुन, फैल पर्यो जगमें तुरकाना।
> गात गवादिक पातक पुंज सु होन लगे उतपात महाना॥
> संयम नेम गयो छपि कै, कलि काम औ क्रोध भयो परधाना।
> भूप भयो मति अंध महा, निरखै न कछू न सुनै कछु काना॥

देशपर सङ्कट देख गुरु गोविन्दसिंहजीने इस भक्ति-सम्प्रदायको एक शूरवीरोंकी सेनामें परिणत किया। इनको देश और भारतीय संस्कृतिका रक्षक बनाया। यह सम्प्रदाय आजसे पचास वर्ष पहलेतक अपने-आपको देशकी स्थायी सेना समझता था। परंतु विदेशियोंकी कुटिल नीतिके चक्करमें फँस तथा राज्यसत्ताके लोभसे कुछ सिक्ख भाई अपने-आपको पृथक् मानने लगे। गुरु तेग़ बहादुरजीने हिंदू-संस्कृतिकी रक्षाके लिये ही देहलीमें शीश दिया था; उस बारेमें स्वयं गुरु गोविन्दसिंहजी दसम ग्रन्थमें लिखते हैं—

> तिलक जञ्जू राखा प्रभु ताका।
> कीन्हा बडा कलूमें साका॥
> साधन हेतु इती जिन करी।
> सीस दिया, पर सी न उचरी॥

गुरु ग्रन्थसाहिबमें लिखा है कि यदि सुन्नतसे ही पुरुष मुसल्मान होता है तो स्त्री मुसल्मान नहीं हुई। अर्द्ध शरीरको तो छोड़ दिया गया। भई, हम तो हिंदू ही भले।

> सुन्नत किये मुसलमान जे होयेगा, औरतका क्या करिये।
> अर्द्ध शरीरी नार जो त्यागी, ताते हिंदू ही रहिये॥

हिंदू-धर्मकी जाग्रतिके लिये काली मैया भगवतीसे गुरुजी प्रार्थना करते हैं—

> सकल जगतमें खालसा* पंथ गाजे।
> जगै धर्म हिंदुन, सकल धुंध भाजे॥

हिंदू-धर्मके मुख्य-मुख्य अङ्गोंका प्रतिपादन करनेके लिये यदि गुरु ग्रन्थसाहिबसे प्रमाण दिये जायँ तो यह लेख ही हिंदू-संस्कृति-अङ्क बन जाय; परंतु नीचे हिंदू-धर्मके कुछ विषयोंका प्रतिपादन गुरुसाहिबकी निज रचनाओंमें किया जाता है—

१. ओंकार-महिमा

ओंकारकी महिमा शास्त्रोंमें भूरि-भूरि गायी गयी है। इसे सब मन्त्रोंका सेतु माना गया है—'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः।' इसी प्रकार गुरु ग्रन्थसाहिबका आरम्भ भी एक ओंकारसे होता है—जैसे एक ओंकार सत्त नाम कर्ता पुरुष इत्यादि। तथा—

> हरि जू सदा ध्याए तू गुरु मुख एक ओंकार।
> ओंकार ब्रह्मा उत्पत, ओंकार वेद निर्माए॥
> जल थल महियल पूरिया स्वामी सिरजनहार।
> अनिक भाँति होइ पसरिया नानक एक ओंकार॥
> ओम् अक्खर सुनहु विचार, ओम् अक्खर त्रिभुवन सार।
> प्रणवो आदि एक ओंकारा, जल थल महियल कियो पसारा॥

२. गौ-महिमा

गुरु गोविन्दसिंहजीकी प्रतिज्ञा

(च्छके छन्द पातशाही १०)

> यही देह आज्ञा, तुर्क गहि खपाऊँ।
> गऊ घातका दोख जग सों मिटाऊँ॥
> यही आस पूरण करो तुम हमारी।
> मिटै कष्ट गौअन, छुटै खेद भारी॥
> ब्राह्मण-गोऊ-वंश-घात अपराध करारे।

(ग्रन्थसाहिब)

---

* खालसा पंथ अर्थात् शुद्ध मनुष्यताका पथ दिखानेवाला हिंदू।

१४. यममार्गका वर्णन

सुखमनी साहिब—

जह मात पिता सुत मीत न भाई,
    मन ! उहाँ नाम तेरै संग सहाई ॥
जह महा भयान दूत यम दलै,
    तह केवल नाम तेरै सँग चलै ।
जिह मारग एह जात इकेला
    तह हरका नाम सँग होत सुहेला ॥
जिह मारगके गने जाहि न कोसा,
    हरका नाम उहाँ संग तोसा ।
जिह पैंडेमें अन्ध गुबारा,
    हरका नाम संग उजयारा ॥
जह महा भयान तपत बहु घाम,
    तह हरके नामकी तुम ऊपर छाम ।
सभ ते उत्तम हरिकी कथा,
    नाम सुनत दरद दुख लथा ॥

गुरुजीके इन शब्दोंसे मैं इस लेखको समाप्त करता हूँ और अपने सिक्ख भाइयोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे अपने मूलको न भूलें और अपने देश तथा संस्कृतिके रक्षक बनें ।

काल तुही, काली तुही, तुही तेग अर तीर ।
तुही निशानी जीतकी, तुही आज जग बीर ॥

संस्कृति-सौष्ठव

(रचयिता—विद्याभूषण कविवर श्रीओंकारजी मिश्र 'प्रणव'शास्त्री, सं० उपाध्याय)

प्रभा-प्रतिभाके पुञ्ज प्रधान, ईशके वैदिक वन्द्य विधान ।
आर्य (हिंदु) संस्कृति हे अखिल-उदान, विश्वमें तेरा जय-जय-गान ॥ १ ॥
    'प्रणव'के नैगम नव्य-निनाद, महामुनि मङ्गलमय मर्याद ।
    साधना-सुषमाके संवाद, सृष्टिके श्रेयस्कर पन्थान ॥ २ ॥
अलौकिक आलोकोंके लोक, शोकके हर्ता मञ्जु अशोक ।
अवनि बन जाये तेरा ओक, सुधा-धाराका कर-कर पान ॥ ३ ॥
    सु-ऋग्-यजु-साम-अथर्वाधार, ज्ञानयुत कर्मोंका विस्तार ।
    उपासनका हो प्रचुर प्रचार, चढ़े वर वेद-विटप-विज्ञान ॥ ४ ॥
साङ्ख्य, मीमांसा, न्याय, नितान्त, योग शुभ वैशेषिक, वेदान्त ।
कर रहे शङ्काओंको शान्त, नित्वका देकर प्रबल प्रमाण ॥ ५ ॥
    समुज्ज्वल सूत्रोंका सञ्चार, सुखद शुचि स्मृतियोंका अवतार ।
    उपनिषद्वीणाकी झङ्कार, सुनाती 'श्रेय प्रेय'की तान ॥ ६ ॥
अमर युग-दीपक लोक-ललाम, प्रकाशित जहाँ राम, घनश्याम ।
धरामें सर्वोन्नत, अभिराम, सरलतासे सिञ्चित-उद्यान ॥ ७ ॥
    उदधि सम ज्ञान-राशि गम्भीर, हिमाचल-सी यह अविचल धीर ।
    गङ्ग सम पावन तारन तीर, भर रही लोकोंमें कल्याण ॥ ८ ॥
दे रही शान्ति-सौख्य-सन्देश, सर्गके सभी दूरकर क्लेश ।
विश्व-बन्धुत्व, वीरता देश, देशको देती है वरदान ॥ ९ ॥
    विचरते जीव जहाँ स्वच्छन्द, न होता जगज्जन्य दुख-द्वन्द्व ।
    मुक्ति-महलोंकी वीथि बुलंद, बताते स्वयं वेद भगवान ॥ १० ॥
पानकर चारु चन्द्रिका प्यार, धर्मसे धवलित हो संसार ।
उड़े नभमें गुरु-गौरव धार, हिंदु (आर्य) संस्कृतिका विशद विमान ॥ ११ ॥

भारतीय संस्कृतिका शत्रु—गंदगी

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी)

भारतीय संस्कृतिमें स्वच्छताका सर्वप्रथम स्थान है। मानसिक शुद्धताके लिये वाणीकी शुद्धताके साथ शरीर और परिस्थिति तथा आसपासके वातावरणकी स्वच्छताका सदा ध्यान रक्खा गया है। हमारे समाजमें न केवल प्रातःकाल उठना आवश्यक था; बल्कि आजकलकी भाँति उठकर बिछौना-चाय (Bed-tea) लेना नहीं—उठते ही शौच, मुखमार्जन, दन्तधावन, स्नानादि नित्यक्रियाएँ आवश्यक थीं और आज भी इनको अधिकांश भारतीय आवश्यक समझते हैं। त्रिकाल-स्नान, सूर्योपासना—ये हमारे जीवनके अङ्ग थे। गृहदेवियाँ उठते ही घर एवं बाहरका स्थान झाड़ूसे स्वच्छ करके वहाँ पानीसे छिड़काव करती थीं। शौचके लिये दूर जंगलमें जाना, मलको भूमिमें दबानेके लिये खुरपीका उपयोग, हवन, पुष्पोंका उपयोग आदि सब बातें स्वच्छताके लिये ही थीं। रोज बर्तन मलना, चौका देना, अलग थालीमें भोजन, पानीके लिये सबके अलग-अलग पात्र आदि स्वच्छताकी पूर्णताके लिये ही थे। साडी तथा धोतियोंका उपयोग हमारे समाजमें इसीलिये है कि उन्हें रोज धोया जा सके। इस स्वच्छताके कारण ही भारतीय संस्कृति चिरस्थायी हो सकी। स्वच्छता ही इसका प्राण है।

जबसे हम गुलाम हुए, स्वच्छताकी ओर हमारा दुर्लक्ष्य हो गया। हमने विदेशियोंसे स्वच्छतासम्बन्धी कम बातें सीखीं; पर उनका स्नान न करना, देरसे सोकर उठना, उठते ही बिछौनेपर चाय पीना, धूम्रपान, स्नान-ध्यानका परिहास करना हमने सीख लिया। इसीसे महात्मा गान्धीजी-ऐसे संतने अपनी शिक्षा-पद्धतिमें सर्वप्रथम स्थान सफाईको दिया। शुचिताके बिना मनकी प्रसन्नता कहाँ? और उसके बिना शिक्षा कैसी? इसीलिये तो महात्माजीको भंगीका काम करते हमने सर्वप्रथम पाया, जो काम स्वच्छताकी जड़ है।

आज स्वच्छताके अभावमें हमारे गाँव न केवल बाहरसे गंदे हैं, और उनमें चारों ओर पेशाब, कूड़ा, मल दिखायी देता है; बल्कि भीतर भी गंदी नालियों, नाबदानोंसे मकान की दुर्गन्धि उनमें भरी होती है। इसके कारण हमारा जीवन रोग-दुःखमय हो गया है। प्लेग तो गंदगीसे पैदा होता ही है; हैजा, काला ज्वर, चेचक, मलेरिया आदि बहुत-सी बीमारियाँ इसी गंदगीसे उत्पन्न होती हैं। इन महामारियोंसे प्रतिवर्ष लाखों स्त्री-पुरुष और बच्चे मृत्युके शिकार होते हैं। यदि थोड़े-से लोग अकालमें मरते हैं, यदि कुछ हजार लोग साम्प्रदायिक दंगोंमें मारे जाते हैं तो हम उबल पड़ते हैं; पर इन महामारियोंने जो कहर ढाया है, उसे हम देखते ही नहीं। गत वर्ष श्रीअयोध्याजी-ऐसे तीर्थस्थानसे पैदा होकर हैजेने केवल बस्ती जिलेमें हजारों स्त्री-पुरुषोंको अल्पकालमें कालके द्वारपर भेज दिया। सन् १९१८ में युद्ध ज्वरने साठ लाख स्त्री-पुरुष एवं बालकोंकी भेंट ली थी इसी गंदगीके कारण। इसी प्रकार यह गंदगी अनेक रूपोंमें प्रतिवर्ष लाखों प्राणोंकी बलि लेती है। तीर्थस्थानोंकी गंदगी कुष्ठ रोग फैलानेके लिये हमारे देशमें अस्पताल है।

जहाँ यह गंदगी एक ओर इतना अनर्थ करती है, वहाँ दूसरी ओर यदि उसे ठीक सँभालकर उपयोगमें लिया जाय तो वह खादके रूपमें धरती माताकी खुराक है—भोजन है। उसीसे श्रीमाता अन्नपूर्णा प्रसन्न होती हैं। आजका हमारा अन्नका दुर्भिक्ष इस समय अन्नपूर्णाकी अकृपासे ही तो है। अस्तु,

सबेरेका भूला यदि शामको घर आ जाय तो भूला नहीं कहा जाता। इसी प्रकार यदि हम अब भी इस परम शत्रु गंदगीको दूर हटानेमें लग सकें तो हमारे पूर्वज परलोकमें हमें आशीर्वाद देंगे। वह आशीर्वाद होगा सद्बुद्धि तथा सदुद्योग करनेकी क्षमता।

सभी निर्मल और पवित्र हों

जीवन, तन, मन, वचन, धन, भोजन, जन-व्यवहार।
अति निर्मल सुपवित्र हों, वस्तु सभी आचार॥

—'अकिञ्चन'

भारतीय शिक्षाका आदर्श

(लेखक—पं० श्रीरामदत्तजी शुक्ल, एम्० ए०)

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै। (कठ०)

विद्यासे अमृतत्वकी उपलब्धि और अविद्यासे सब प्रकारके बन्धनकी प्राप्ति होती है। इस शाश्वत शास्त्रीय तत्त्वको हृदयङ्गम करनेवाले वेदमहर्षियोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थचतुष्टयको अधिगत करनेके लिये अन्य अनेक अनुष्ठानोंसे पूर्व संस्कार और शिक्षापर विशेष बल दिया; क्योंकि 'संस्कारदोषादिन्द्रियदोषाच्च अविद्या'—संस्कार-दोष और इन्द्रिय-दोषके कारण अविद्या उत्पन्न होती है और अविद्यासे ही अभिभूत होकर मनुष्य अनेक प्रकारके दुरितों एवं पापोंकी ओर अग्रसर होता है। अविद्याजनित पतनोन्मुख समस्त विघातक प्रवृत्तियोंसे परिरक्षित रखते हुए विद्याजनित समस्त उन्मुखी प्रवृत्तियोंकी ओर प्रेरित करते रहनेके लिये जो चिरकालिक सत्र है, उसीको शिक्षा कहा जाता है। इस सत्रकी सफल और पूर्ण समाप्तिपर पुरुषार्थ-चतुष्टयकी उपलब्धिके अनुरूप विद्या-व्रत-स्नातकरूपमें उदीयमान सर्वशक्तिसम्पन्न व्यक्तियोंका विकास ही भारतीय शिक्षाका प्रयोजन है।

भारतीय शिक्षासत्रको मुख्यतया तीन श्रेणियोंमें विभाजित किया जा सकता है—प्रथम माताके प्रभावसे होनेवाली शिक्षा और संस्कार, दूसरी पिताके प्रभावसे होनेवाली और तीसरी आचार्यके प्रभावसे होनेवाली शिक्षा। यों तो गर्भाधानकी रात्रिसे पूर्व भावी माता और पिता दोनोंके लिये ही विद्या एवं व्रत-स्नातक बनकर अविप्लुत ब्रह्मचर्य-साधना करना आवश्यक है; क्योंकि आदर्श सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही एक ओर जहाँ भगवान् मनुका उत्कृष्ट अनुशासन यह है कि—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥

—वहाँ उस आदर्शके परिपालनार्थ भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी पत्नी रुक्मिणीकी श्रेष्ठ साधना देखिये—

ब्रह्मचर्यं महद्घोरं चीर्त्वा द्वादशवार्षिकम्।
हिमवत्पार्श्वमभ्येत्य यो मया तपसार्जितः॥
समानव्रतचारिण्यां रुक्मिण्यां योऽन्वजायत।
सनत्कुमारस्तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः॥
(महा० सौप्तिक १२। ३०-३१)

इस उग्र साधनाके फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण और रुक्मिणीने प्रद्युम्नको प्राप्त किया। इस उदाहरणसे स्पष्ट होता है कि माता-पिताको गर्भावस्थाके पूर्व संस्कारबलोपेत सन्तान उपलब्ध करनेके लिये किस प्रकारकी साधना करना आवश्यक है। यह साधना सम्पन्न होनेके उपरान्त नौ मास माताके गर्भमें कुक्षिस्थ बालक या बालिकाका न केवल शरीर ही निर्मित होता है अपितु प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि-आदि समस्त अविकसित शक्तियोंका विकास अथवा विनाश माताके विचारों, भावनाओं, चेष्टाओं, संकल्पों और व्यवहारोंके अनुरूप होता रहता है। संस्कार और शिक्षा—दोनों प्रकारकी शक्तियोंसे सुसम्पन्ना माताएँ अपने गर्भस्थ बालकके पूर्ण विकासके हेतु असाधारण सावधानीके साथ अपने इस नव मासिक जीवनकालको अनेक व्रतों और नियमोंके अनुसार व्यतीत करती हैं। अपनी प्रत्येक चेष्टासे बालकका स्वरूप प्रभावित होगा—इस दृष्टिसे संकल्प, भावना और विचारमें भी क्षुद्रता, निम्नता अथवा पतनोन्मुख प्रवृत्तियोंको किसी प्रकार आश्रय नहीं देतीं। गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयनपूर्वक उदीयमान शिशुका जन्म होता है। आजसे 'वेदोऽसि' इस पवित्र मन्त्रसे सर्वप्रथम सम्बोधित करते हुए पिता-माताके द्वारा उत्पादित शिशुकी सुशिक्षाका प्रारम्भ जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, कर्णवेध, चूडाकर्मादि संस्कारोंके समयमें होता रहता है। माताके सान्निध्यमें सतत रहते हुए भी समय-समयपर पिताके साक्षात् सम्पर्क, सदुपदेश और सुशिक्षासे वंशानुगत संस्कारजन्य अविकसित शक्तियोंका विकास बालकमें होने लगता है। बालककी नैसर्गिक प्रवृत्ति, अभिरुचि और चेष्टाओंसे प्रकट होने लगता है कि अब उसको अपने भावी जीवन-निर्माणके लिये किस प्रकारके आचार्यकी आवश्यकता है। अत्यन्त तेजस्वी बालकका पाँच वर्षकी आयुमें, किंतु अन्य प्रकारके बालकोंका आठ वर्षकी आयुमें अनुकरणीय-चरित्र आचार्यके द्वारा उपनयन-संस्कार करनेका विधान शास्त्रकार मनोवैज्ञानिक आधारपर करते हैं। यह उपनयन-संस्कार उपवासपूर्वक करनेका विधान है। साधारणतया उपवासका अर्थ अनाहार और उपनयनका अर्थ समारोहके साथ तीन तागेका सूत्र या यज्ञोपवीत धारण करना-मात्र समझा जाता है। वस्तुतः दोनों शब्दोंमें उप, जिसका

अर्थ सामीप्य है, समान है; और वस् एवं नी—इन दोनों धातुओंका भी 'रहना' तथा 'लाना' लगभग समानार्थ ही है। दूसरे शब्दोंमें आचार्यका सामीप्य इतना घनिष्ठ हो जाय कि बालक और माताकी भाँति अन्तेवासी एवं आचार्यमें अभेद प्रतीत होने लगे। इतना ही नहीं; अपितु माता और पिता दोनोंके अभिन्न एकत्वकी प्रतिष्ठा आचार्यमें हो जाती है। इसी अभिन्न सम्बन्धको आथर्वण श्रुतिने अपने अमर शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त किया है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

जिस बालकका आचार्य उपनयन करता है, उसको तीन रात्रिपर्यन्त अपने गर्भमें परिरक्षितरूपमें रखता है और इस प्रकार आचार्यके गर्भमें परिपालित होकर जायमान गुणोपेत ब्रह्मचारीको अवलोकन करनेके लिये अनेक प्रकारके देवगण आते हैं। वस्तुतः जो ब्रह्मचारी अपने आचार्यकी अनुकम्पाका यहाँतक अपनेको भाजन बनानेमें समर्थ होता है और आचार्यके चरणोंमें बैठकर उनके अनुकरणीय चरित्रसे एवं पवित्र जीवनसे अनुप्राणित होनेका सुयोग प्राप्त करनेकी क्षमता अपने संस्कारजन्य जीवनमें रखता है, वही वेदारम्भसंस्कारसे संस्कृत होकर समावर्तन-पर्यन्त न्यून-से-न्यून द्वादशवर्षव्यापी ब्रह्मचर्यके घोर व्रतका अनुष्ठान करके पुरुषार्थचतुष्टयकी उपलब्धिके निमित्त 'आयुरस्मासु धेहि, अमृतत्वमाचार्याय' इस श्रुतिवाक्यको कहनेका अधिकारी बन जाता है। आचार्यके आश्रममें, पर्वत और वनराजिविभूषित सरिताके सान्निध्यमें, ओषधि, वनस्पति, गुल्मलता, वीरुध, गवादि पशुसङ्घके मध्य सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि, वायु, जल और आकाशके प्रभावसे प्रभावित होते हुए कह सकता है—'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः, मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ; भूमि मेरी माता है।' इन्हीं पवित्र आर्य-आश्रमोंमें विकासोन्मुख ब्रह्मचारी पवित्र पावमानी ऋचाओंको आत्मसात् करनेका अभ्यास करता है; और ऐसे अभ्यासीके लिये, 'तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्' यह सामश्रुति कामधेनु बनकर चारों पदार्थोंको अनायास प्रस्तुत करती है। इस प्रकारसे जब शिक्षा-सत्र सम्पन्न होता है, तब आचार्य और अन्तेवासी दोनों सगर्व एवं यथार्थ कह सकते हैं—

सह नौ अवतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नौ अधीतमस्तु, मा विद्विषावहै॥

अर्थात् हम दोनों परस्पर एक दूसरेकी रक्षा करें, अधिगत विद्याप्रसादको परस्पर मिलकर उपभोग करें, परस्पर मिलकर अविद्यान्धकारको दूर करनेके लिये प्रयत्न करें, हम दोनोंके द्वारा अधिगत विद्या तेजस्विनी हो और हम दोनों परस्पर कभी किसी प्रकारसे द्वेष न करें। इस श्रुतिवाक्यमें दिये हुए पाँच प्रयोजनोंको जब कभी जहाँ कहीं आचार्य और अन्तेवासी पारस्परिक व्यवहारमें लानेमें समर्थ होते हैं, वहीं प्राप्त विद्या वस्तुतः वीर्यवती होकर विद्यावंशको अविच्छिन्नरूपसे अमर बनाती है, आचार्य और ब्रह्मचारी दोनोंकी साधना सफल होती है।

शिक्षासत्रके पूर्ण होनेपर आचार्यका अपने प्राणप्रिय अन्तेवासीके लिये उपदेश होता है—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यं धर्मान्न प्रमदितव्यं कुशलान्न प्रमदितव्यं भूत्यै न प्रमदितव्यं स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। (तैत्तिरीय० शिक्षावल्ली)

जबतक यह आदर्श शिक्षासत्र भारतके आचार्यों और ब्रह्मचारियोंमें अनुष्ठित होता रहा, तबतक भारतमें अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंकी समुचित उन्नति होती रही।
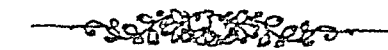
हिंदू-देवियोंका बलिदान

पति-अनुराग लिये आगमें समाई शीघ्र हाहाकार त्याग घोर घनकी गरजमें।
हिंदू-देवियोंके बलिदानकी कथाएँ पढ़ो दुर्गमें चितौरके लिखी जो रज-रजमें॥
ठाट ठठरीकी काशमीरघाटियोंमें छोड़ उड़के अकाशमें मिलीं जो ईश-अजमें।
चुनीं जो चनावमें, विपत्ति झेल झेलममें, रावीमें रुधिर रख लाज सतलजमें॥

—'राम'

संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका संक्षिप्त परिचय

(लेखक—श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसक)

भारतीय संस्कृतिका मूल आधार उसका प्राचीन वाङ्मय है। भारतीय प्राचीन वाङ्मय संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश तथा देशिक आदि अनेक भाषाओंमें पल्लवित है। भारतका सबसे प्राचीन वाङ्मय वैदिक संस्कृत भाषामें विद्यमान है और वह है वेद, उसकी शाखाएँ और ब्राह्मण आदि ग्रन्थ-समुदाय। वेदके सम्यक् अध्ययन, ज्ञान और प्रयोगके लिये प्राचीन ऋषियोंने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष—इन छः वेदाङ्गोंको समाम्नात किया।[1] यद्यपि वेदार्थ-ज्ञानके लिये निरुक्त शास्त्रकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति हुई तथापि निरुक्तका ज्ञान बिना व्याकरणके सम्भव नहीं। इसलिये वेदाङ्गोंमें व्याकरणका स्थान गणनाक्रमसे तृतीय होते हुए भी वह वेदार्थज्ञानमें प्रधानतम साधन है।[2] बिना व्याकरणज्ञानके वेदार्थका समझना न केवल दुष्कर ही है अपितु असम्भव है। व्याकरणज्ञानशून्य व्यक्तिकी निरुक्तमें भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[3] अतः भारतीय संस्कृति और उसके आधारभूत वैदिक वाङ्मयकी रक्षामें वैयाकरणोंका बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। उन्हींके ग्रन्थोंके अध्ययनसे हम वेदार्थज्ञानमें कुछ समर्थ होते हैं। इसलिये हम इस लेखमें भारतीय संस्कृतिकी रक्षाके प्रधान साधन संस्कृत-व्याकरणशास्त्रकी प्रवृत्ति, विकास और ह्रासपर संक्षेपसे प्रकाश डालेंगे।

भारतीय ऐतिहासिकोंका सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि वैदिक संस्कृतिसे सम्बद्ध प्रत्येक शास्त्रका आदिस्रोत वेद है।[4] भगवान् पतञ्जलिने व्याकरण-शास्त्रका आविर्भाव वेदसे माना है। पतञ्जलिने अपने सिद्धान्तकी पुष्टिमें 'चत्वारि शृङ्गा०, चत्वारि वाक्०, उत त्वः पश्यन्०, सक्तुमिव०, सुदेवोऽसि०'—ये पाँच वेद-मन्त्र उद्धृत किये हैं। पतञ्जलिसे प्राचीन यास्क (२८०० वि० पू०) ने भी निरुक्त १३। २ में 'चत्वारि वाक्०' मन्त्रकी व्याख्या व्याकरणशास्त्रपरक की है।[5] वैदिक मन्त्रोंमें अनेक प्रत्ययोंकी धातुमूलक व्युत्पत्तियोंका निर्देश मिलता है। यथा—

स्तोतृभ्यो मंहते मघम्। (ऋ० १। ११। ३)
ये सहांसि सहसा सहन्ते। (ऋ० ६। ६६। ९)
धान्यमसि धिनुहि देवान्। (यजुः १। २०)
केतपूः केतं नः पुनातु। (यजुः ११। ७)
येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।
(साम० उ० ५। २। ८। ५)
तीर्थैस्तरन्ति। (अथर्व० १८। ४। ७)

इन उद्धरणोंसे व्यक्त है कि व्याकरणके मूलभूत सिद्धान्तका आदिस्रोत वेद है।

व्याकरणशास्त्रकी उत्पत्ति

व्याकरणशास्त्रकी उत्पत्ति कब हुई, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। भारतीय इतिहासके अनुसार सर्वविद्याओंके आदि प्रवक्ता आदि विद्वान् ब्रह्मा हैं। व्याकरणके विषयमें ऋक्तन्त्र-व्याकरण १। ४ में लिखा है—

ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।

आदितन्त्रप्रणेता

ऋक्तन्त्रके उपर्युद्धृत वचनमें व्याकरणके क्रमशः ब्रह्मा, बृहस्पति, इन्द्र और भरद्वाज प्रवक्ता कहे गये हैं। महाभाष्यसे ज्ञात होता है कि बृहस्पतिने इन्द्रको प्रतिपदपाठद्वारा शब्दोपदेश किया था। उस समयतक लक्षणात्मक शास्त्रकी प्रवृत्ति नहीं हुई थी। इन्द्रने प्रतिपदपाठद्वारा व्याकरणोपदेश-प्रक्रियाकी दुरूहताका अनुभव किया और अपने समयके महान् शाब्दिक आचार्य वायुकी सहायतासे एक ऐसी प्रक्रियाका प्रकाश किया, जो न्यूनाधिकरूपसे आजतक व्यवहृत है। इस महती ऐतिहासिक घटनाका निर्देश तैत्तिरीय संहिताके निम्न पाठमें मिलता है—

वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य सायण ऋग्वेद-भाष्यके उपोद्घात (पृष्ठ २६, पूना संस्क०) में लिखते हैं—

---

१. शिल्वग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। (निरुक्त १। २०)

२. प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। (महाभाष्य अ० १, पाद १, आ० १)

३. नावैयाकरणाय (निर्ब्रूयात्)। (निरुक्त २। ३)

४. देखो हमारा 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका इतिहास', पृष्ठ ६।

५. नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः।

तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत् ।

यह ध्यान रहे कि तैत्तिरीय संहितामें उल्लिखित इन्द्र और वायु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, आलङ्कारिक नहीं ।

व्याकरणशास्त्रका रचनाकाल

यद्यपि व्याकरणशास्त्रकी उत्पत्तिके वास्तविक कालका निर्णय करना कठिन है; तथापि तैत्तिरीय संहिताके उक्त वचनसे इतना स्पष्ट है कि इसके आदि तन्त्रप्रणेता 'इन्द्र' थे। अब विचारणीय है कि ये इन्द्र कब हुए।

ऋक्तन्त्रके पूर्वोक्त वचनके अनुसार व्याकरणप्रवक्ता आचार्योंकी परम्परामें इन्द्रका तृतीय स्थान है। इसलिये ये इन्द्र अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति हैं; इसमें कोई सन्देह नहीं।

संसारके प्रायः समस्त धर्मग्रन्थोंमें मनु (नूह) के जल-प्लावनका उल्लेख मिलता है। उसी जलप्लावनके अनन्तर क्रमशः ब्रह्मा, बृहस्पति और इन्द्र हुए। यह जलप्लावन कब हुआ, यह भी एक विचारणीय समस्या है। महाभारत और पुराणोंके अवलोकन और विमर्शसे हम इस निर्णयपर पहुँचे हैं कि मानव जलप्लावन इस चतुर्युगीके प्रारम्भमें हुआ था। चारों युगोंका सन्ध्या और सन्ध्यांशसहित काल क्रमशः ४८००, ३६००, २४०० और १२०० दैववर्ष है (देखो मनुस्मृति १। ६८-७०)। दैववर्ष मानुषवर्षसे ३६० गुना माना जाता है। हमारा विचार है, यह कल्पना ठीक नहीं। वस्तुतः दैववर्ष सौरवर्ष है। सौरवर्षमें चान्द्रवर्षके समान न्यूना-धिकता नहीं होती। अतः कालगणना सौर—दैव वर्षसे ही की जाती है। द्वापरयुगकी समाप्तिको आज ५०५० वर्ष हुए, यह भारतीय इतिहासानुसार निश्चित है। किन्हीं पुराणपाठोंमें द्वापरके अनन्तर १२०० वर्ष परिमाणके कलियुगकी समाप्ति हो जानेपर कलिवृद्धिका उल्लेख मिलता है। वह हमारे विचार-का पोषक है।[1]

पुराणोंके पाठसे हम इस निर्णयपर पहुँचे हैं कि इन्द्रका काल सत्ययुगके अन्त और त्रेताके प्रारम्भमें था। तदनुसार इन्द्र आजसे लगभग (५०५० कलि+२४०० द्वापर+३६०० त्रेता=११०५०) लगभग ग्यारह सहस्र वर्ष प्राचीन हैं। भारतीय काल-गणनानुसार इन्द्रका यह न्यूनतम काल है। (दैववर्षकी दूसरी मान्यताके अनुसार इस इन्द्रका काल २१,६५,०५०—लगभग इक्कीस लाख पैंसठ हजार वर्ष होता है।)

व्याकरणशास्त्रके तीन विभाग

इन्द्रके अनन्तर इतने सुदीर्घ कालमें कितने व्याकरण-ग्रन्थोंका प्रणयन हुआ, यह अज्ञात है। इस समय व्याकरण-शास्त्रके जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन्हें हम तीन विभागोंमें बाँट सकते हैं। यथा—

१. वैदिक-शब्दविषयक—प्रातिशाख्य आदि।
२. लौकिक-शब्दविषयक—कातन्त्रादि।
३. उभयविध-शब्दविषयक—आपिशल, पाणिनीय आदि।

व्याकरणप्रवक्ताओंके दो भेद

इस समय व्याकरणके जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें सबसे प्राचीन पाणिनीय व्याकरण है। पाणिनि मुनि प्राचीन व्याकरण-प्रवक्ता आचार्योंमें सबसे अर्वाचीन हैं। इसलिये समस्त व्याकरणप्रवक्ता आचार्योंको हम दो विभागोंमें बाँट सकते हैं—पाणिनिसे प्राचीन और पाणिनिसे अर्वाचीन।

प्राचीन आचार्योंके दो भेद

पाणिनिसे प्राचीन व्याकरणप्रवक्ता आचार्योंके दो विभाग हैं—एक छन्दोमात्रविषयक प्रातिशाख्य आदिके प्रवक्ता, दूसरे सामान्य व्याकरणशास्त्रके प्रवक्ता।

प्रातिशाख्य-प्रवक्ता

प्राचीन कालमें वैदिक शाखाओंके जितने चरण थे[1], उन सबके प्रातिशाख्य रचे गये।[2] उनमेंसे इस समय निम्न प्रातिशाख्य उपलब्ध होते हैं—

१. ऋक्प्रातिशाख्य—शौनकप्रणीत।
२. वाजसनेय प्रातिशाख्य—कात्यायनप्रणीत।
३. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य।

---

१. यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढं महर्षयः।
तदा नन्दात् प्रभृत्येव कलिर्वृद्धिं गमिष्यति॥
(वि० पु०, भाग० पु०)

देखो 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा', द्वितीय संस्करण, भाग १, पृष्ठ ३१०।

१. शाखा चरणोंके अवान्तर भेदका नाम है। देखो भोजवर्मा (१२ वीं शताब्दी) का ताम्रपत्र—जमदग्निप्रवराय वाजसनेय चरणाय यजुर्वेदकण्वशाखाध्यायिने। 'वैदिक वाङ्मयका इतिहास', भाग १, पृष्ठ ७१ पर उद्धृत।

२. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। (निरुक्त १। १७)

४. सामप्रातिशाख्य ।

५. अथर्वप्रातिशाख्य ।

६. मैत्रायणीय प्रातिशाख्य ।

इनमें मैत्रायणीय प्रातिशाख्य अभीतक अमुद्रित है। इनके अतिरिक्त—

७. आश्वलायन-प्रातिशाख्य—आश्वलायनकृत ।

८. वाष्कल-प्रातिशाख्य ।

९. चारायण-प्रातिशाख्य ।

ये प्रातिशाख्य यद्यपि इस समय उपलब्ध नहीं हैं, तथापि ये प्राचीन ग्रन्थोंमें यत्र-तत्र उद्धृत हैं। अतः इनकी सत्तामें कोई सन्देह नहीं।

अन्य छन्दोव्याकरण

प्रातिशाख्योंके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनकी गणना प्रातिशाख्योंमे न होनेपर भी जिनका सम्बन्ध वेद और उनके शाखा-विशेषोंके साथ है। यथा—

१. ऋक्तन्त्र—शाकटायन या औदव्रजिकृत ।

२. लघुऋक्तन्त्र ।

३. सामतन्त्र—औदव्रजि या गार्ग्यकृत ।

४. अक्षरतन्त्र—आपिशलिकृत ।

५. अथर्व-चतुरध्यायी—शौनक या कौत्सप्रणीत ।

६. प्रतिज्ञासूत्र—कात्यायन ।

७. भाषिकसूत्र ।

प्राचीन व्याकरण-प्रवक्ता

उपर्युल्लिखित प्रातिशाख्य आदि वैदिक व्याकरणके ग्रन्थोंमे ५७ व्याकरणप्रवक्ता आचार्योंके नाम उपलब्ध होते हैं। दस प्राचीन आचार्योंके नाम पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें लिखे हैं। इनके अतिरिक्त तेरह आचार्य ऐसे हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है। यदि हम प्रातिशाख्योंमे उद्धृत आचार्योंको छोड़ भी दें, तब भी पाणिनिसे प्राचीन २३ आचार्योंके नाम हमे निश्चितरूपसे ज्ञात हैं। वे ये हैं—१. इन्द्र २. वायु ३. भरद्वाज ४. भागुरि ५. पौष्करसादि ६. चारायण ७. काशकृत्स्न ८. वैयाघ्रपद्य ९. माध्यन्दिनि १०. रौढि ११. शौनकि १२. गौतम १३. व्याडि १४. आपिशलि १५. काश्यप १६. गार्ग्य १७. गालव १८. चाक्रवर्मण १९. भारद्वाज २०. शाकटायन २१. शाकल्य २२. सेनक और २३. स्फोटायन ।

इनमे अन्तिम दस नाम पाणिनीयाष्टकमें उल्लिखित हैं। प्रारम्भके १३ आचार्य यद्यपि पाणिनिसे प्राचीन हैं तथापि पाणिनीयाष्टकमे इनका उल्लेख नहीं है।

इन २३ आचार्योंमेंसे इन्द्र, भागुरि, काशकृत्स्न, पौष्करसादि और आपिशलि—इन पाँच आचार्योंके अनेक सू[illegible] तथा मत प्राचीन ग्रन्थोंमे उद्धृत हैं[1]। सबसे अधिक [illegible] आपिशलि-व्याकरणके मिलते हैं।

काशकृत्स्न व्याकरणमे तीन अध्याय थे[2]। [illegible] व्याकरणमे पाणिनीय व्याकरणवत् आठ अध्याय थे[3]। उसकी सूत्र-रचना पाणिनीय सूत्र-पाठसे प्रायः मिलती है। पाणिनीय व्याकरणके सदृश आपिशल व्याकरणके धातुपाठ गणपाठ, उणादिकोष—ये खिलपाठ भी रचे गये थे।

पाणिनीय व्याकरण

पाणिनीय व्याकरणकी रचना विक्रमसे लगभग २८०[illegible] वर्ष पूर्व हुई थी। यह हमने अपने 'संस्कृत-व्याकरण[illegible] इतिहास' ग्रन्थमे अनेक प्रमाणोसे सिद्ध किया है। इ[illegible] समय प्राचीन आर्ष व्याकरणोमे एकमात्र यही व्याकर[illegible] उपलब्ध होता है।

भारतीय इतिहासके अनुसार मनुष्योंकी आयु [illegible] धारणा-शक्तिके ह्रासके कारण प्राचीन विस्तृत ग्र[illegible] उत्तरोत्तर संक्षेप हुआ है। तदनुसार पाणिनीय व्याकरण भ[illegible] प्राचीन आर्ष व्याकरणोंका संक्षिप्त संस्करण है। अतए[illegible] कहा है—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे[4] ॥

इसलिये आधुनिक वैयाकरणोका [illegible] प्रामाण्यम्' इस स्वकल्पित नियमके अनुसार [illegible] अपाणिनीय प्रयोगोंको अपशब्द कहना चिन्त्य है। [illegible] साधु, छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' आदि कहना प्रकारान्तरसे उन्हे अपशब्द समझना है। सोलहवीं [illegible]

१. देखो 'संस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास' ग्रन्थके [illegible] प्रकरण ।

२. त्रिक काशकृत्स्नम् (काशिका ५। १। ५८)। अमोघा वृत्ति ३। २। १६१—त्रिकं काशकृत्स्नीयम् ।

३. अष्टका आपिशल-पाणिनीयाः। जैन-शाकटायन अमोघा वृत्ति ३। २। १६१।

४. देवबोधविरचित महाभारतकी टीकाका प्रारम्भ ।

याकरणप्रक्रियासर्वस्वके रचयिता भट्ट नारायणने अपने अपाणिनीयप्रामाणिकता' ग्रन्थमें इसपर भली प्रकार विचार किया है। प्राचीन आचार्योंके प्रयोगोंकी कथा तो दूर रही; पाणिनिके अपने सूत्र-पाठमें भी 'जनिकर्तुः, तत्प्रयोजकः' आदि अनेक प्रयोग ऐसे हैं; जो पाणिनिके अपने लक्षणानुसार सिद्ध नहीं होते। क्या वे भी अपशब्द हैं? क्या पाणिनि-जैसा वैयाकरण भी अपशब्दोंका प्रयोग करेगा? 'शान्तं पापम्, शान्तं पापम्।'

पाणिनीय व्याकरणके पाँच ग्रन्थ हैं—शब्दानुशासन, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन। इनमें शब्दानुशासन अर्थात् अष्टाध्यायी मुख्य है, शेष चार उसीके खिल या परिशिष्ट हैं। अष्टाध्यायीमें आठ अध्याय और प्रति अध्यायमें चार-चार पाद हैं। अष्टाध्यायीमें लगभग ४००० सूत्र हैं।

अष्टाध्यायीकी रचना इतनी सुसम्बद्ध है कि इसमें एक मात्राके व्यतिक्रमसे अर्थका अनर्थ हो जाता है। इस ग्रन्थका अवलोकन करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति इसके रचना-सौष्ठवको देखकर इसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करता है। पाणिनीय सूत्रोंकी बालकी खाल निकालनेमें अत्यन्त पटु भगवान् पतञ्जलिने भी लिखा है—

> सामर्थ्ययोगान्न हि किञ्चिदस्मिन्
> पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्[1]।

अष्टाध्यायीके सम्बन्धमें पाश्चात्त्य विद्वानोंके कुछ उद्गार इस प्रकार हैं—

१—प्रो० मोनियर विलियम्स—पाणिनीय व्याकरण मानव-मस्तिष्ककी प्रतिभाका वह आश्चर्यतम नमूना है, जिसे किसी देशने अबतक सामने नहीं रक्खा[2]।

२—सर विलियम हण्टर—संसारके व्याकरणोंमें पाणिनिका व्याकरण चोटीका है। उसकी वर्णशुद्धता, भाषाका धात्वन्वय सिद्धान्त और प्रयोग-विधियाँ अद्वितीय एवं अपूर्व हैं।.... यह मानवमस्तिष्कका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आविष्कार है[2]।

३. प्रो० टी० शेरवात्सकी—पाणिनीय व्याकरण इन्सानी दिमागकी सबसे बड़ी रचनाओंमें एक है[3]।

१. महाभाष्य ६। १। ७७।

२. 'महान् भारत' में पृष्ठ १५९, १५० पर उद्धृत।

३. पं० जवाहरलाललिखित 'हिंदुस्तानकी कहानी' पृष्ठ १३१।

सम्प्रति समस्त भारतवर्षमें पाणिनीय व्याकरणका ही मुख्यरूपसे पठन-पाठन होता है। लगभग पाँच शताब्दियोंसे पाणिनीय व्याकरणका पठन-पाठन पाणिनिविरचित क्रमको छोड़कर प्रक्रियाक्रमसे होता है। यह सर्वथा अस्वाभाविक है। प्रक्रिया-ग्रन्थोंके आधारपर व्याकरण पढ़नेसे चिरकालमें भी उतना ज्ञान नहीं होता, जितना अष्टाध्यायीके क्रमसे स्वल्पकालमें होता है। इतना ही नहीं; अध्येताको सूत्रके साथ-साथ उसकी चार, पाँचगुनी वृत्ति भी रटनी पड़ती है। अष्टाध्यायीके क्रमसे पढ़नेमें वृत्ति घोखनेका महान् परिश्रम नहीं करना पड़ता। छात्रको केवल अनुवृत्ति-सम्बन्धका ज्ञान करानेसे वृत्ति गतार्थ हो जाती है। व्युत्क्रमसे अध्ययन करनेपर पूर्वापरक्रमका ज्ञान न होनेसे 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्, असिद्धवदत्राभात्, पूर्वत्रासिद्धम्, पूर्वात् परं बलीयः' इत्यादि विधियोंके विषयमें ग्रन्थमात्रके आश्रित रहना पड़ता है। प्रक्रियानुसार व्याकरणाध्ययनमें एक दोष यह भी है कि इन ग्रन्थोंमें गुण, वृद्धि, इडागम आदि प्रकरणोंके सूत्र विभिन्न स्थानोंमें बँटे हुए हैं; इसलिये इनके विषयमें सन्देह होनेपर योग्य छात्र भी निस्सन्देह नहीं हो पाता। अष्टाध्यायीमें सब प्रकरणोंके सूत्र एक स्थानपर संगृहीत होनेसे साधारण छात्र भी तत्तत् प्रकरणका पाठ करके स्वल्पकालमें सन्देहमुक्त हो सकता है। हमने पाणिनीय व्याकरणकी उभयविध अध्ययनप्रणालीका परिशीलन किया है और अनेक छात्रोंको व्याकरण पढ़ाया है। उनसे हम इसी परिणामपर पहुँचे हैं कि प्रक्रियाग्रन्थोंके आधारकी अपेक्षा पाणिनीय अष्टाध्यायी-क्रमका अनुसरण करना अध्येताके लिये उपकारक है।

अब हम पाणिनीय व्याकरणपर लिखे गये कतिपय व्याख्याग्रन्थोंका संक्षेपसे वर्णन करते हैं—

वार्तिक—पाणिनीय सूत्रपाठपर कात्यायन प्रभृति अनेक आचार्योंने वार्तिक-पाठकी रचना की। उनमेंसे केवल निम्न सात वार्तिककारोंका नाम महाभाष्य तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है—१. कात्यायन २. भारद्वाज ३. सुनाग ४. क्रोष्टा ५. वाडव ६. व्याघ्रभूति ७. वैयाघ्रपद्य।

पतञ्जलिके महाभाष्यका मुख्य आधार कात्यायन-विरचित वार्तिक ही हैं; तथापि वे कहीं-कहीं अन्य वार्तिक-कारोंके वार्तिक भी उद्धृत करते हैं। कात्यायनका काल विक्रमसे लगभग २७०० वर्ष पूर्व है। अन्य वार्तिककारोंके विषयमें हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते।

इनके अतिरिक्त गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, कुणारवाडव, सूर्यभगवान् आदि आचार्योंके मत भी महाभाष्यमे उद्धृत हैं। कई टीकाकार गोनर्दीय और गोणिकापुत्र पतञ्जलिके नामान्तर मानते है, परंतु हमे ये भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

महाभाष्य—पाणिनीय व्याकरणपर सबसे महत्त्वपूर्ण कृति पतञ्जलिविरचित महाभाष्य है। महाभाष्यकी भाषा अत्यन्त सरल, सरस और स्वाभाविक है। ग्रन्थरचनाकी दृष्टिसे यह आदर्शभूत है। पतञ्जलि शुङ्गवंश्य महाराज पुष्यमित्रके समकालिक और उनके पुरोहित माने जाते हैं। पुष्यमित्रका काल पाश्चात्त्य विद्वानोंके मतानुसार विक्रमसे लगभग १५० वर्ष पूर्व है, परंतु भारतीय पौराणिक काल-गणनानुसार पुष्यमित्रका काल विक्रमसे लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व है।

महाभाष्यकी टीकाएँ—महाभाष्यपर अनेक वैयाकरणोंने टीका-ग्रन्थ लिखे। इन टीकाग्रन्थोंके दो विभाग हैं। एक वे टीकाग्रन्थ हैं, जो सीधे महाभाष्यपर लिखे गये और दूसरे वे हैं, जो कैयट-विरचित महाभाष्यप्रदीपपर रचे गये। महाभाष्यपर जो टीका-ग्रन्थ लिखे गये, उनमेसे इस समय लगभग बीस समग्र या असमग्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार महाभाष्यप्रदीपपर रचे गये लगभग पंद्रह ग्रन्थ इस समय प्राप्त हैं।

इन टीकाग्रन्थोमे सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भर्तृहरिविरचित 'महाभाष्यदीपिका' है। पाश्चात्त्य विद्वान् भर्तृहरिका काल विक्रमकी आठवीं शताब्दी मानते हैं। उनके मन्तव्यका मुख्य आधार इत्सिंगका वह लेख है, जिसमें उसने भर्तृहरिकी मृत्यु चालीस वर्ष पूर्व लिखी है। इत्सिंगका लेख भ्रममूलक है। यह हमने 'भागवृत्तिसंकलनम्' की भूमिकामे सप्रमाण दर्शाया है। वस्तुतः महाभाष्यदीपिका और वाक्यपदीयके रचयिता भर्तृहरि लगभग विक्रमके समकालिक हैं। वे विक्रम-सं० ४०० से अर्वाचीन तो किसी अवस्थामें नही हैं, इतना निश्चित है।

भर्तृहरि-विरचित महाभाष्यकी टीकाका उल्लेख महाभाष्य-प्रदीप, गणरत्नमहोदधि आदि अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। गणरत्न-महोदधिमें महाभाष्यदीपिकाका परिमाण तीन पाद लिखा है।[1] इसका एकमात्र हस्तलेख बर्लिनके पुस्तकालयमें है। वह प्रथम पादके ङिच्च (१।१।५३) सूत्रपर समाप्त हो जाता है। उसके आदिके भी दो पत्रे खण्डित हैं। इस हस्तलेखका सबसे प्रथम परिचय देनेका श्रेय डा० कीलहार्नको है। इस हस्तलेखकी एक प्रतिकृति (फोटो) लाहौर यूनिवर्सिटीके पुस्तकालयमें थी। सन् १९३० मे हमारे आचार्य महावैयाकरण पं० श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने उस प्रतिकृतिको प्राप्त करके उसकी एक प्रतिलिपि कर ली थी। वह उनके संग्रहमें सुरक्षित है। सम्भवतः इसकी एक प्रतिकृति मद्रासके राजकीय हस्तलेख-पुस्तकालयमे भी है। यह टीका अत्यन्त प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण है। इसका सम्पादन हमारे आचार्यजीने सन् १९३४ मे प्रारम्भ किया था, परंतु विशेष कारणसे उसके केवल ४ फार्म (३२ पृष्ठ) ही मुद्रित हो सके। अब हम इसको शीघ्र प्रकाशित करेंगे।

भर्तृहरिकी महाभाष्यदीपिकाके अनन्तर भाष्यकी महत्त्वपूर्ण व्याख्या कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप है। यह व्याख्या अत्यन्त सरल और पाण्डित्यपूर्ण है। आजकल महाभाष्य-जैसे दुरूह ग्रन्थके समझनेमे यही मुख्य साधन है। इसकी इतनी उपयोगिताको देखकर अनेक वैयाकरणोंने महाभाष्यकी व्याख्याएँ न लिखकर इसीकी टीकाएँ रची हैं। उनमेसे लगभग १५ व्याख्याएँ पूर्ण या आंशिकरूपमे भारतके विभिन्न पुस्तकालयोंमे विद्यमान हैं।

वृत्तिग्रन्थ—पाणिनीय सूत्रपाठपर अनेक वैयाकरणोंने वृत्तिग्रन्थ लिखे। स्वयं पाणिनिने भी अपने सूत्रोंकी एक वृत्ति लिखी थी, यह हमने अपने 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका इतिहास' ग्रन्थमे अनेक प्रमाणोसे दर्शाया है। इस समय अष्टाध्यायीकी जितनी वृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमे काशिकावृत्ति ही सबसे प्राचीन है। कुणि तथा माथुर आदिकी अनेक वृत्तियाँ महाभाष्यसे पूर्व लिखी जा चुकी थीं; परंतु उनमेसे इस समय एक भी उपलब्ध नही है। कुणि-विरचित वृत्तिका उल्लेख भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका (पृष्ठ ३०९, हमारा हस्तलेख) और महाभाष्यप्रदीप १।१।७५ मे मिलता है। माथुरी वृत्तिका एकमात्र उद्धरण पुरुषोत्तमदेवविरचित भाषावृत्ति (१।२।५७) में उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त काशिकासे प्राचीन चुल्लि-भट्टि, निर्लूर आदि कुछ वृत्तियोके नाम प्राचीन टीकाग्रन्थोंमें मिलते हैं।

अष्टाध्यायीकी जितनी वृत्तियाँ इस समय उपलब्ध हैं, उनमें सबसे प्राचीन और प्रामाणिक काशिका है। इसकी महत्ताका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि

१. भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च (पृष्ठ १)।

इसका प्रचार न केवल भारतवर्षमें ही हुआ अपितु अतिशीघ्र ही भारतसे बाहर भी इसके पठन-पाठनका प्रचार हो गया। चम्पाके राजा इन्द्रवर्मा (सन् ९११ ई०) के विषयमें एक शिलालेखमें लिखा है—

············पटुतर्कजिनेन्द्रसूर्मिः
सकाशिकाव्याकरणोदकौघः ।[1]

यद्यपि काशिकामें कहीं-कहीं महाभाष्यके मतकी अवहेलना की गयी है, तथापि उसका वह लेख अप्रामाणिक नहीं है। काशिकाके ऐसे समस्त लेख अष्टाध्यायीकी प्राचीन वृत्तियोंपर आश्रित हैं। काशिकाका जो संस्करण वर्तमानमें उपलब्ध होता है, उसमें आदिके पाँच अध्याय जयादित्यविरचित हैं और अन्तके तीन अध्याय वामनकृत हैं। चीनी यात्री इत्सिंगके लेखानुसार काशिकाकी रचना विक्रमकी सातवीं शताब्दीमें हुई है। जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास (३ । १ । ३३) के तथा अन्यत्रके पाठोंसे व्यक्त होता है कि जयादित्य और वामन दोनोंने पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण अष्टाध्यायीकी वृत्तियाँ रची थीं। जयादित्य और वामन दोनोंकी वृत्तियोंका सम्मिश्रण कब और क्यों हुआ, यह अज्ञात है; परंतु इतना स्पष्ट है कि न्यासग्रन्थकी रचनासे पूर्व ही यह सम्मिश्रण हो चुका था। न्यासनाम्नी व्याख्या दोनोंके सम्मिश्रित संस्करणपर है। भागवृत्तिके जो उद्धरण विभिन्न ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं, उनके अनुसार भागवृत्तिकी रचनासे पूर्व जयादित्य और वामनकी वृत्तियोंका सम्मिश्रण हो चुका था। भागवृत्तिका रचनाकाल विक्रम संवत् ७००—७०५ के मध्य है। काशिका-जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थपर अनेक व्याख्याग्रन्थ लिखे गये। उनमें जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास अपरनाम काशिकाविवरणपञ्जिका सबसे प्राचीन और विशद ग्रन्थ है। उसके अनन्तर हरदत्तविरचित पदमञ्जरीका स्थान है। हरदत्तने काशिकापर एक महापदमञ्जरी भी रची थी (पदमञ्जरी, भाग १, पृष्ठ ७२)। यह इस समय अप्राप्य है। न्यासका रचनाकाल विक्रम-सं० ११०० से पूर्व है। हमारा विचार है वह विक्रमकी आठवीं शताब्दीमें रचा गया है। पदमञ्जरीकी रचना विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें हुई है। काशिकाके अनन्तर भागवृत्तिका स्थान है। भाषावृत्तिके व्याख्याता सृष्टिधराचार्यके मतानुसार भागवृत्तिके रचयिता भर्तृहरि थे। ये भर्तृहरि महाभाष्यदीपिका और वाक्यपदीयके रचयिता आद्य भर्तृहरिसे भिन्न हैं। कुछ लेखक भागवृत्तिके रचयिताका नाम विमलमति लिखते हैं। हमारा विचार है कि भागवृत्तिके रचयिताका वास्तविक नाम विमलमति है और उनके प्रौढ़ वैयाकरण होनेसे भर्तृहरि उनका उपनाम है। भागवृत्तिकी रचना वलभीके महाराज श्रीधरसेन चतुर्थके कालमें वि०-सं० ७००-७०५ के मध्य हुई है, यह हमने 'भागवृत्तिसंकलनम्' की भूमिकामें विस्तारसे दर्शाया है। इनके अतिरिक्त पुरुषोत्तमदेवकी भाषावृत्ति और शरणदेवकी दुर्घटवृत्ति भी उपयोगी ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त अष्टाध्यायीपर लगभग २५ वृत्तियाँ और उपलब्ध हैं। इनमेंसे अभीतक केवल अन्नम्भट्टकी मिताक्षरा, ओरम्भट्टकी व्याकरणदीपिका और स्वामी दयानन्दका अष्टाध्यायीभाष्य—ये तीन ग्रन्थ मुद्रित हुए हैं।

प्रक्रिया-ग्रन्थ—हम पूर्व लिख चुके हैं कि लगभग ५ शताब्दियोंसे पाणिनीय व्याकरणका पठन-पाठन पाणिनीय अष्टाध्यायी-क्रमको छोड़कर प्रक्रिया-क्रमसे होता है। प्रक्रिया-ग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन धर्मकीर्तिका रूपावतार ग्रन्थ है। ये धर्मकीर्ति न्यायबिन्दुके रचयिता धर्मकीर्तिसे भिन्न व्यक्ति हैं। इनका काल विक्रमकी बारहवीं शताब्दी या उससे कुछ पूर्व है। पाणिनीय व्याकरण-प्रक्रियानुसारी अनेक ग्रन्थ रचे गये। उनमेंसे रामचन्द्रविरचित प्रक्रियाकौमुदी, भट्टोजिदीक्षितरचित सिद्धान्तकौमुदी और नारायणभट्टकृत प्रक्रियासर्वस्व ग्रन्थ मुख्य हैं। रामचन्द्रका काल विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीका प्रथम चरण, भट्टोजिदीक्षितका सोलहवीं शताब्दीके द्वितीय, तृतीय चरण और नारायणभट्टका सोलहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध है। इन प्रक्रियाग्रन्थोंपर भी अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। प्रक्रियाकौमुदीपर शेषकृष्ण और ग्रन्थकारके पुत्र विट्ठलकी व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं। सिद्धान्तकौमुदीपर ग्रन्थकारकृत प्रौढमनोरमा, वासुदेवकृत बालमनोरमा, ज्ञानेन्द्रसरस्वतीरचित तत्त्वप्रबोधिनी और नागेशभट्टकी लघुशब्देन्दुशेखर व्याख्याएँ मुख्य हैं। बालकोंके व्याकरणप्रवेशके लिये लघुकौमुदी और मध्यकौमुदी ग्रन्थोंकी रचना हुई।

पाणिनिसे अर्वाचीन शब्दानुशासन

पाणिनिके अनन्तर अनेक वैयाकरणोंने शब्दानुशासन ग्रन्थोंकी रचनाएँ कीं। उनमें कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, विश्रान्तविद्याधर, अभिनवशाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हैम, सारस्वत, जौमार और मुग्धबोध मुख्य हैं।

कातन्त्र—कातन्त्रके दो भाग हैं—तद्धितप्रकरणपर्यन्त पूर्वार्ध और कृदन्तप्रकरणरूपी उत्तरार्ध। तद्धितान्त भागके रचयिता शर्ववर्मा माने जाते हैं। वस्तुतः शर्ववर्मा

१. वृहत्तर भारत, पृष्ठ ३४२ में उद्धृत।

इसकी बृहद्वृत्तिके रचयिता हैं। अनुश्रुतियोंके अनुसार कातन्त्रकी रचना महाराज सातवाहनके कालमें मानी जाती है, परंतु यह व्याकरण उससे बहुत प्राचीन है। हमारा विचार है कि कातन्त्र-का तद्धितान्त भाग पातञ्जल महाभाष्यसे भी प्राचीन है। कातन्त्रवृत्तिकार दुर्गसिंहके मतसे कृदन्तभागके रचयिता कात्यायन हैं। ये कात्यायन अपरनाम वररुचि महाराज विक्रमकी सभाके सभ्य तथा उनके पुरोहित थे। कातन्त्र-व्याकरणके अत्यन्त सरल होनेसे इसका प्रचार बहुत हुआ। विदेशीय बौद्धमतावलम्बियोंको संस्कृतका ज्ञान करानेमें यही व्याकरण मुख्य साधन था। उनके द्वारा इस व्याकरणका प्रचार भारतसे बाहर भी पर्याप्त हो गया था। कीथ अपने संस्कृत-साहित्यके इतिहासमें लिखते हैं—'कातन्त्रके कुछ भाग मध्य एशियाकी खुदाईसे प्राप्त हुए थे।' कातन्त्रका धातुपाठ तिब्बती भाषामें अभीतक उपलब्ध है। मारवाड़की देशी पाठशालाओंमें अभी पिछले दिनोंतक बालकोंको प्रारम्भमें पाटीपूजाके अनन्तर **'सीधो वरणा समामुनाया'** की सीधी पाटी पढ़ायी जाती थी। वह कातन्त्रके प्रथम पादका विकृत पाठ है। कहीं-कहीं पाँच पाटियाँ (पाँच पाद) पढ़ानेका क्रम है। बुन्देलखण्डमें भी 'ओनामासीधम्' के बाद बालकोंको ये पाटियाँ पढ़ायी जाती हैं। सम्प्रति कातन्त्रका पठन-पाठन केवल बंगालतक सीमित है। सुकुमार-मति कुमारोंको संस्कृतका ज्ञान करानेके लिये कातन्त्रकी रचना हुई है। इसलिये इसका एक नाम कौमार भी है। अग्निपुराण और गरुडपुराणमें कातन्त्रको कुमार अर्थात् स्कन्दप्रोक्त कहा है।

कातन्त्रपर इस समय सबसे प्राचीन वृत्ति दुर्गसिंहकी उपलब्ध होती है। हमारा विचार है ये दुर्ग और निरुक्तके वृत्तिकार दुर्ग दोनों एक हैं। हमने इनकी एकता अपने व्याकरणशास्त्रके इतिहासमें अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध की है। धातुवृत्तिकार सायण-के मतानुसार यह दुर्गवृत्ति काशिकासे प्राचीन है। काशिका ७।४।९३ में दुर्गवृत्तिका खण्डन है (देखो धातुवृत्ति, पृष्ठ २६५, काशी-संस्करण)। दुर्गवृत्तिपर दुर्गसिंह, उग्रभूति, त्रिलोचनदास और काशिराज आदि अनेक वैयाकरणोंने टीका-ग्रन्थ लिखे हैं। कातन्त्रपर जिनप्रभ सूरि और जगद्धरभट्टने भी वृत्तियाँ लिखी हैं।

चान्द्र—व्याकरणके वाङ्मयमें पाणिनीय व्याकरणके अनन्तर चान्द्र-व्याकरणका स्थान है। इसकी रचना चन्द्र-गोमी नामा प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान्ने की थी। कल्हणविरचित राजतरङ्गिणीसे ज्ञात होता है कि चन्द्रगोमीने कश्मीरके महाराज अभिमन्युके आदेशसे विनष्ट महाभाष्यका पुनरुद्धार किया था और अपना व्याकरण रचा था।[1] भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीयसे भी इसकी पुष्टि होती है।[2] महाराज अभिमन्युके काल-विषयमें ऐतिहासिकोंमें वैमत्य है। पाश्चात्त्य विद्वान् ४०० विक्रम पूर्वसे ४०० विक्रम पश्चात्तक विविध कालकी कल्पनाएँ करते हैं।[3] कल्हणके गणनानुसार अभिमन्यु विक्रमसे लगभग सहस्र वर्ष प्राचीन है।

चान्द्रव्याकरणमें सम्प्रति छः अध्याय मिलते हैं। इन छः अध्यायोंमें केवल लौकिक भाषाके शब्दोंका अन्वाख्यान है। आजसे लगभग ८०० वर्ष पूर्व वैयाकरणोंका भी यही मत रहा है कि चान्द्रव्याकरण केवल लौकिकभाषाका व्याकरण है।[4] परंतु चान्द्रव्याकरणका सम्पादन करते हुए हमें उसकी स्वोपज्ञ-वृत्तिमें अनेक ऐसे प्रमाण मिले हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि चान्द्रव्याकरणमें स्वरप्रकरण भी था। चान्द्रव्याकरण १।१।१३४ की वृत्तिमें स्वरप्रकरणका **'अनौ वसः'** सूत्र भी उद्धृत है। स्वरशास्त्रका मुख्य प्रयोजन वेदमें पड़ता है। अतः प्रतीत होता है कि चन्द्रगोमीने वैदिक भाषाविषयक सूत्र भी रचे थे। चान्द्रव्याकरण १।१।१४५ की वृत्तिके **'स्वरविशेष-मष्टमे वक्ष्यामः'** पाठसे विदित होता है कि चान्द्रव्याकरणमें भी आठ अध्याय थे। इस पाठसे यह भी प्रतीत होता है कि स्वरप्रकरण आठवें अध्यायमें था। अतः सातवें अध्यायमें वैदिक प्रकरण रहा होगा, यह सिद्ध है। इस विवेचनासे विदित होता है कि चान्द्रव्याकरणके स्वर-वैदिक प्रकरणविषयक अन्तिम दो अध्याय चिरकालसे नष्ट हो गये। चान्द्रव्याकरणके मुख्य आधार पाणिनीय शब्दानुशासन और पातञ्जल महाभाष्य हैं; परंतु चन्द्रगोमीने अनेक स्थानोंपर उनकी उपेक्षा करके प्राचीन व्याकरणोंका भी आश्रय लिया है। चान्द्रसूत्रोंकी एक वृत्ति रोमन अक्षरोंमें छपी है; वह धर्मदासकी कही जाती है, परंतु ग्रन्थके आन्तरिक और बाह्य साक्ष्योंसे वह चन्द्रगोमीकी स्वरचित वृत्ति प्रतीत होती है।

जैनेन्द्र—इस व्याकरणकी रचना आचार्य देवनन्दी

---

१. राजतरङ्गिणी १।१७४—१७६।

२. वाक्यपदीय २। ४८८-४८९।

३. द्र० निरुक्तालोचन, पृष्ठ ६५।

४. चन्द्रगोमी भाषासूत्रकारो......। भाषावृत्ति ७।३।९४।

अपरनाम पूज्यपादने की है। पूज्यपादने पाणिनीय शब्दानुशासनपर शब्दावतार नामक एक न्यास भी रचा था। पूज्यपादका काल विक्रम-संवत् ५००–५५० के मध्य है। जैनेन्द्र-व्याकरणके इस समय दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। एक संस्करण वह है, जिसपर अभयनन्दीकी महावृत्ति रची गयी है; और दूसरा संस्करण वह है, जिसपर गुणनन्दीने शब्दार्णवचन्द्रिकाकी रचना की है। इनमें महानन्दी-स्वीकृत सूत्रपाठ औदीच्य पाठ कहाता है और दूसरा दाक्षिणात्य। औदीच्य पाठ दाक्षिणात्य पाठकी अपेक्षा लघु है। शब्दार्णवचन्द्रिकाके सम्पादक पं० श्रीलाल शास्त्रीने दाक्षिणात्य पाठको जैनेन्द्रका मूल पाठ माना है, परंतु यह ठीक नहीं है। जैनेन्द्र-व्याकरणका मूल पाठ वह है, जिसपर अभयनन्दीकी व्याख्या है। इस विषयपर पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' ग्रन्थमें विस्तारसे लिखा है। इन दोनों पाठोंकी आन्तरिक तथा बाह्य परीक्षासे हम भी इसी परिणामपर पहुँचे हैं कि औदीच्य पाठ ही जैनेन्द्रका मूल पाठ है। जैनेन्द्रके औदीच्य पाठपर अभयनन्दी, प्रभाचन्द्राचार्य और महाचन्द्र प्रभृति अनेक वैयाकरणोंने वृत्तियाँ लिखी हैं। स्वयं देवनन्दीने भी अपने सूत्रपाठपर एक जैनेन्द्रसंज्ञक न्यास लिखा था।

विश्रान्तविद्याधर—इस व्याकरणकी रचना वामनने की है। संस्कृत वाङ्मयमें वामन नामके अनेक ग्रन्थकार प्रसिद्ध हैं। प्रसिद्ध जैन तार्किक मल्लवादी सूरिने विश्रान्तविद्याधर-पर एक न्यासग्रन्थ रचा था।[1] राजशेखरकृत प्रबन्धकोशके अनुसार मल्लवादीका काल वि०-सं० ३७५ है।[2] प्रबन्धकोशके सम्पादक जिनविजय मुनिने इसे वि०-सं० ५७३ माना है। अतः वामनका काल वि०-सं० ६०० से पूर्व है, यह निश्चित है। विश्रान्तविद्याधर-व्याकरणका उल्लेख गणरत्न-महोदधि और हैमबृहन्न्यास आदि अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है, परंतु यह ग्रन्थ इस समय अप्राप्य है।

अभिनवशाकटायन—इस व्याकरणकी रचना जैन आचार्य पाल्यकीर्तिने की है। पाल्यकीर्ति महाराज अमोघवर्षकी सभाके सभ्य थे। इसलिये उन्होंने अपने व्याकरणकी स्वोपज्ञ वृत्तिका नाम अमोघा रक्खा है। अमोघवर्षका राज्यकाल वि०-सं० ८७१—९२४ तक माना जाता है। पाल्यकीर्तिविरचित शब्दानुशासनका नाम शाकटायन क्यों प्रसिद्ध हुआ, यह अज्ञात है। सम्भव है जैन वैयाकरणोंमें पाल्यकीर्तिके असाधारण वैयाकरण होनेसे इसका उपनाम शाकटायन प्रसिद्ध हो गया हो; क्योंकि वैदिक-मतावलम्बी वैयाकरणोंमें शाकटायन सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण माने जाते हैं। शाकटायनकी स्वोपज्ञवृत्ति अभीतक प्रकाशित नहीं हुई। इसपर यक्षवर्माकी एक चिन्तामणि नामक लघु वृत्ति काशीसे प्रकाशित हुई है।

सरस्वतीकण्ठाभरण—धाराधिपति महाराज भोजदेवने सरस्वतीकण्ठाभरण नामका एक शब्दानुशासन रचा है। यह शब्दानुशासन अत्यन्त विस्तृत है। ग्रन्थकारने गणपाठ, परिभाषापाठ और लिङ्गानुशासन आदि सबका सूत्रपाठमें ही सन्निवेश कर दिया है। इस शब्दानुशासनके मुख्य आधार पाणिनीय और चान्द्रव्याकरण हैं। महाराज भोजका सरस्वतीकण्ठाभरण नामक एक साहित्यका भी ग्रन्थ है। महाराज भोजका काल वि० सं० १०७५—१११० तक है। सरस्वतीकण्ठाभरणपर दण्डनाथकी हृदयहारिणी टीका है। यह टीका सबसे प्राचीन है। देवराज यज्वाने निघण्टु-भाष्यमें इसे उद्धृत किया है। यह टीका चतुर्थ अध्यायतक छप चुकी है। दूसरी महत्त्वपूर्ण टीका कृष्णलीलाशुक मुनिकी है। यह अभीतक अमुद्रित है।

हैम शब्दानुशासन—इसकी रचना जैन-सम्प्रदायके आचार्य हेमचन्द्र सूरिने की थी। हेमचन्द्रका जन्म वि०-सं० ११४५ में 'धुन्धुक' (अहमदाबाद)में हुआ था। और स्वर्गवास सं० १२२० में हुआ। हैम शब्दानुशासनमें संस्कृत और प्राकृत दोनोंका अनुशासन है। प्रारम्भके सात अध्यायोंमें संस्कृतका और आठवेंमें प्राकृत भाषाका व्याकरण है। हैमव्याकरणकी रचना पाणिनीय, चान्द्र, जैनेन्द्र और जैन शाकटायन आदि प्राचीन शब्दानुशासनोंके ढंगकी नहीं है; इसकी रचना कातन्त्रके समान प्रकरणानुसारी है। हेमचन्द्रने अपने सूत्रपाठपर लघ्वी और बृहती दो वृत्तियाँ लिखी हैं। बृहद् वृत्ति अभीतक पूर्ण प्रकाशित नहीं हुई। कहा जाता है कि हेमचन्द्रने अपने व्याकरणपर ९० सहस्र श्लोक परिमाणका 'बृहन्न्यास' भी लिखा था। हेमचन्द्रने अपने व्याकरणके धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन नामक खिलपाठोंकी भी रचना की थी। इनपर ग्रन्थकारकी स्वरचित वृत्तियाँ भी मिलती हैं। मेरुतुङ्गाचार्यकृत प्रबन्धचिन्तामणिमें लिखा है कि हेमचन्द्रने सवा लाख श्लोक परिमाणका पञ्चाङ्ग व्याकरण एक वर्षमें रचा था।[3]

१. प्रभावकचरित, मल्लवादीप्रबन्ध।

२. प्रबन्धकोश, पृष्ठ २१-२३।

३. हेमचन्द्राचार्यैः श्रीसिद्धहेमाभिधानमभिनवं पञ्चाङ्गमपि व्याकरणं सपादलक्षग्रन्थपरिमाणं संवत्सरेण रचयाञ्चक्रे।

सारस्वत—इस व्याकरणके रचयिताका नाम अनुभूतिस्वरूपाचार्य है। अनुभूतिस्वरूपका काल वि०-सं० १३०० के लगभग है। क्षेमेन्द्रने अपनी सारस्वतप्रक्रियाके अन्तमे इसे नरेन्द्राचार्यकी रचना लिखा है।[1] तदनुसार कई विद्वान् इसका मूलकर्ता नरेन्द्राचार्यको मानते हैं। नरेन्द्राचार्यका प्रक्रिया-कौमुदी आदि अनेक ग्रन्थोमें उल्लेख हुआ है। एक नरेन्द्रसेन नामक वैयाकरण प्रमाणप्रमेयकलिकाके रचयिता है। नरेन्द्रसेनके विषयमे लिखा है कि उनका चान्द्र, कातन्त्र, जैनेन्द्र, ऐन्द्र और पाणिनीय शब्दानुशासनोपर अधिकार था। नरेन्द्रसेनके गुरु कनकसेन और उनके अजितसेन थे। इन नरेन्द्रसेनका काल शक ९७५ अर्थात् वि०-सं० ११११ है। क्या नरेन्द्रसेन और नरेन्द्राचार्य दोनो एक हैं? वस्तुतः सारस्वतसूत्रोका कर्ता कौन है, यह एक समस्या है। अनुभूतिस्वरूपने सारस्वत-प्रक्रिया ग्रन्थ भी रचा है। सारस्वत-प्रक्रियापर अनेक लेखकोने टीकाएँ लिखी हैं। उनमे चन्द्रकीर्तिकी सुबोधिनी सबसे श्रेष्ठ है। काशीनाथने सारस्वतपर भाष्य रचा है। काशीनाथका काल वि०-सं० १६६७ के लगभग है।

जौमार—इसकी रचना क्रमदीश्वरने की है। इसका अपना नाम 'संक्षिप्तसार' है। कइयोंका कहना है कि क्रमदीश्वरका ग्रन्थ अधूरा था, जुमरनन्दीने उसे पूरा किया। हमारा विचार है जुमरनन्दीने इसकी वृत्ति लिखी और इसका प्रवचन किया। इसी कारण यह जौमारके नामसे प्रसिद्ध हुआ। जुमरनन्दीकी वृत्तिका नाम 'रसवती' है। इस व्याकरणपर गोपीचन्द्रने भी वृत्ति लिखी है। जुमरनन्दीका काल संवत् १२०० के लगभग माना जाता है। आफ्रेक्ट इन्हें बोपदेवसे प्राचीन मानता है और क्रोलब्रुक बादका।

मुग्धबोध—यह बोपदेवकी रचना है। बोपदेवके पिताका नाम 'केशव' और गुरुका नाम 'धनेश' था। धनेशने महाभाष्यकी एक टीका लिखी है। बोपदेवका काल विक्रमकी चौदहवी शताब्दीका पूर्वार्ध है। मराठा-साम्राज्यके कालमे मुग्धबोधका विशेष प्रचार हुआ था। सम्प्रति इसका पठन-पाठन केवल बंगालतक सीमित है। यह व्याकरण बहुत संक्षिप्त है।

इनके अतिरिक्त सुपद्म, हरिनामामृत आदि अनेक व्याकरण लिखे गये। ये प्रायः अप्रसिद्ध और एकदेशीय तथा आधुनिक हैं। अतः इनका यहाँ उल्लेख नही किया गया। वस्तुतः शब्दानुशासन-रचयिताओकी समाप्ति हेमचन्द्रपर हो जाती है। उसके अनन्तर कोई भी ऐसा व्याकरण नहीं बना, जिसे वास्तविक रूपमें व्याकरण कहा जा सके। सारस्वत, मुग्धबोध और सुपद्म आदि बालकोके खिलवाड़ हैं। इनके अध्ययनसे कोई व्यक्ति वैयाकरण नही बन सकता। संस्कृत भाषा और उसके नियमोका कुछ बोध हो जाना और बात है।

[1] श्रीनरेन्द्राचार्यकृते सारस्वते……।

व्याकरणके परिशिष्ट

प्रत्येक शब्दानुशासनके रचयिताको धातुपाठ और गणपाठकी रचना करनी पड़ती है। कई वैयाकरणोने उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासनकी भी रचना की है। ये चारो शब्दानुशासनके खिल अर्थात् परिशिष्ट कहाते है। इन पाँचो अवयवोका समूह पञ्चाङ्ग, पञ्चपाठी आदि नामोसे व्यवहृत होता है।

धातुपाठ—संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका मुख्य प्रयोजन प्रत्येक पदके प्रकृति-प्रत्यय-विभागको दर्शाना है। शाकटायन प्रभृति वैयाकरणोने समस्त नाम-शब्दोको आख्यातज =धातुज माना है। अतः धातुपाठ व्याकरण-शास्त्रका प्रधान अङ्ग है। उपलब्ध धातुपाठोमे पाणिनिका धातुपाठ सबसे प्राचीन है। पाणिनिसे प्राचीन आपिशलिके धातुपाठका उल्लेख भी अनेक प्राचीन ग्रन्थोमे मिलता है। पाणिनीय धातुपाठपर क्षीरस्वामी, मैत्रेयरक्षित और सायणकी वृत्तियाँ उपलब्ध हैं। चान्द्र धातुपाठपर पूर्णचन्द्रकी वृत्ति है। कातन्त्रका धातुपाठ तिब्बती-भाषामे उपलब्ध होता है। जैनेन्द्र, जैन शाकटायन और हैमशब्दानुशासनके अपने-अपने पृथक् धातुपाठ विद्यमान हैं। हेमचन्द्रने अपने धातुपाठपर 'पारायण'नामकी वृत्ति लिखी है।

गणपाठ—शब्दानुशासनके सूत्रपाठको संक्षिप्त बनानेके लिये गणपाठकी रचना हुई है। उपलब्ध गणपाठोंमें सबसे प्राचीन पाणिनिका गणपाठ है। आपिशलिके गणपाठका उल्लेख भर्तृहरिने महाभाष्यदीपिका १। १। २७ मे किया है। पाणिनीय गणपाठ काशिका आदि वृत्तिग्रन्थोमे पढ़ा गया है और पृथक् स्वतन्त्ररूपसे भी मिलता है। चन्द्रका गणपाठ उसकी वृत्तिमे छपा है। इसी प्रकार जैनेन्द्र और शाकटायन आदिके भी अपने-अपने स्वतन्त्र गणपाठ विद्यमान हैं। भोजदेवने गणपाठको तत्तत् सूत्रोमे ही पढ़ दिया है। गणपाठपर जैन विद्वान् वर्धमान सूरिका 'गणरत्नमहोदधि' ग्रन्थ बहुत उत्कृष्ट है। इसमे प्रायः सभी गणपाठोकी विवेचना है। पाणिनीय गणपाठपर भट्टयज्ञेश्वरकी 'गणरत्नावली'-नाम्नी टीका मिलती है। इसका एक हस्त-लेख हमारे संग्रहमें है।

उणादिसूत्र—शाकटायन आदि कुछ वैयाकरण सम्पूर्ण नामशब्दोंको धातुज मानते थे। उनके सम्प्रदायकी रक्षाके

लिये उत्तरवर्ती आचार्योंने अपने शब्दानुशासनके परिशिष्ट-रूपमे उणादिसूत्रोंकी रचना की । अब ये प्रायः सभी व्याकरणोंके अङ्ग बने हुए हैं । प्राचीन उणादिसूत्र दो प्रकारके मिलते हैं । एक पञ्चपादी और दूसरे दशपादी । दोनोंकी तुलनासे स्पष्ट है कि दशपादीकी रचना पञ्चपादीके आधारपर हुई है । पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायनविरचित माने जाते हैं, परंतु यह भूल है । नारायणभट्टने प्रक्रिया-सर्वस्वके उणादिप्रकरणमे पञ्चपादीको पाणिनिविरचित कहा है; परंतु हमारा विचार है पञ्चपादी आपिशलिकी कृति है और दशपादी पाणिनिकी । पञ्चपादी उणादिसूत्रोंपर लगभग २० टीकाएँ ज्ञात हैं । उनमे श्वेतवनवासी, उज्ज्वल-दत्त और स्वामी दयानन्दकी वृत्तियाँ श्रेष्ठ हैं ।[1] दशपादीपर एक प्राचीन अज्ञातनामा वृत्तिका हमने सम्पादन किया है । यह व्याकरणके अनेक ग्रन्थोंमे उद्धृत है । इसके अतिरिक्त दशपादीपर दो वृत्तियाँ और हैं । एक विठ्ठलकी प्रक्रिया-कौमुदीप्रसादान्तर्गत और दूसरी अज्ञातनामा । दूसरीका एक हस्तलेख हमारे पास भी है । कातन्त्र, चान्द्र, सरस्वती-कण्ठाभरण, हैम और सारस्वत व्याकरणोंके भी अपने-अपने उणादिसूत्र हैं । इनपर अनेक टीकाएँ भी उपलब्ध हैं । उणादिसूत्र और उनकी वृत्तिका इतिहास हमने 'दशपादी उणादिवृत्ति' के उपोद्घातमें विस्तारसे लिखा है ।

लिङ्गानुशासन—इस समय सबसे प्राचीन पाणिनिका लिङ्गानुशासन प्राप्त है । व्याडिविरचित लिङ्गानुशासनके अनेक उद्धरण प्राचीन ग्रन्थोंमे उपलब्ध होते हैं । वामन, हर्षवर्धन, शाकटायन, वररुचि और हेमचन्द्रके लिङ्गानुशासन भी इस समय प्राप्त हैं । इनपर कई टीकाएँ हैं । चान्द्र लिङ्गानुशासन कई ग्रन्थोंमें उद्धृत है । संस्कृत भाषामें लिङ्ग-ज्ञान अत्यन्त दुष्कर है, अतएव प्रत्येक वैयाकरणने इसपर अपना ग्रन्थ रचा है ।

व्याकरणके दार्शनिक ग्रन्थ

यदि हम व्याकरणके दार्शनिक ग्रन्थोंका उल्लेख न करें तो यह निबन्ध अधूरा ही रहेगा । अतः हम उनका भी संक्षिप्त निदर्शन कराते हैं ।

संग्रह—व्याकरणका सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ 'संग्रह' है । यह आचार्य व्याडि अपरनाम दाक्षायणकी रचना है । भर्तृहरिके लेखानुसार इसमें दस सहस्र पदार्थोंकी परीक्षा की गयी है ।[2] दाक्षायण पाणिनिके मामा थे । यह हमने अपने 'व्याकरण-शास्त्रका इतिहास' ग्रन्थमें भली प्रकार दर्शाया है । अन्य विद्वान् इन्हें पाणिनिका ममेरा भाई मानते हैं । शब्दब्रह्मवादके आदि प्रवर्तक आचार्य व्याडि माने जाते हैं । महाभाष्यमें 'संग्रह'का दो स्थानोंमें उल्लेख मिलता है । वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्डकी स्वोपज्ञ वृत्तिमें संग्रहके दस वचन उद्धृत हैं । कुछ वचन हमें अन्य ग्रन्थोंमें भी मिले हैं । हमने 'संग्रह'के समस्त उपलब्ध वचन अपने व्याकरणके इतिहासके 'संग्रहकार व्याडि' नामक प्रकरणमें संगृहीत कर दिये हैं । वाक्यपदीयके द्वितीय काण्डसे ज्ञात होता है कि 'संग्रह' चिरकालसे उत्सन्न हो गया था ।

वाक्यपदीय—यह आचार्य भर्तृहरिकी कृति है । इसमें तीन काण्ड हैं । ब्रह्मकाण्ड, पदकाण्ड और प्रकीर्णकाण्ड । प्राचीन परम्पराके अनुसार प्रकीर्णकाण्ड वाक्यपदीयका अवयव नहीं है । वर्धमानने लिखा है—

भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्ता ।

(ग० र० महोदधि, पृष्ठ २)

वाक्यपदीयके प्रथम दो काण्डोंपर ग्रन्थकारका अपना विवरण है । रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौरद्वारा इसके सम्पूर्ण ब्रह्मकाण्डकी और आधे पदकाण्डकी स्वरचित व्याख्या छप चुकी है । द्वितीय काण्डपर पुण्यराज और तृतीय (प्रकीर्ण) काण्डपर हेलाराजकी व्याख्या काशीमें मुद्रित हो चुकी है ।

लघुमञ्जूषा—वाक्यपदीयके बाद लघुमञ्जूषाका स्थान है । यह नागोजिभट्टकी रचना है । इसपर कई टीकाएँ विद्यमान हैं । नागेशने इसका एक संक्षिप्त संस्करण भी लिखा है, वह परम लघुमञ्जूषाके नामसे प्रसिद्ध है ।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी दार्शनिक ग्रन्थ हैं, परंतु मुख्य ये तीन ग्रन्थ ही माने जाते हैं ।

व्याकरण-शास्त्रका प्राचीन वाङ्मय बहुत विशाल था । सङ्केत हम पूर्व कर चुके हैं । व्याकरणके सम्प्रति उपलब्ध वाङ्मयका पूरा परिचय देनेके लिये अनेक विशालकाय ग्रन्थोंकी अपेक्षा है । तथापि हमने इस लेखमें संस्कृत-व्याकरणशास्त्रके प्रधान-प्रधान लेखक और उनके ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय देनेका प्रयत्न किया है ।[3] आशा है इससे संस्कृत-भाषाके व्याकरणपर लिखे गये ग्रन्थोंका कुछ परिचय अवश्य प्राप्त होगा ।

---
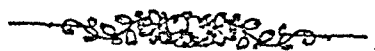
१. दशपादी उणादिवृत्तिका उपोद्घात, पृष्ठ २० । २. चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)—हस्तलेख, पृष्ठ २६ । ३. विशेष परिचयके लिये हमारे 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्रका इतिहास' ग्रन्थका अवलोकन करना चाहिये ।

हिंदू-संस्कृतिसे संस्कृत-भाषाका अविच्छेद्य सम्बन्ध

(लेखक—पं० श्रीरामाधीनजी पाण्डेय साहित्याचार्य, व्याकरण-शास्त्री, काव्यतीर्थ, विशारद)

हिंदू-संस्कृतिके मूलाधार हैं वेद, पुराण, शास्त्रादि सद्ग्रन्थ। इन पुनीत ग्रन्थोंकी रचना आर्योंकी आदिभाषा संस्कृतमे हुई थी और आज भी वह भारतीय ग्रन्थोके पृष्ठोंपर समुद्भासित हो रही है। अनेक उथल-पुथल हुए, भाषाओंके कितने रूपान्तर हुए; फिर भी यह उसी रूपमे वर्तमान है। इसका कारण यही रहा है कि हम अभीतक अपनी संस्कृतिसे पृथक् नहीं हो पाये हैं। साथ-साथ महान् परिवर्तनके युगोमे भी हिंदू-संस्कृति अक्षय रूपसे विद्यमान रही और इसपर किसी प्रकारकी आँच न लगी। इसका श्रेय यदि किसीको है तो इस अमर भाषाको ही। हम तो नयी रोशनीवाली कान्त-कामिनियों-की तरह नित्य-नूतन तरुणी सभ्यताओके फेरमे पड़कर अपनी बूढ़ी माको सर्वथा भूल बैठे थे; फिर भी यह वात्सल्य-की प्रतिमूर्ति कसक और वेदनाकी घड़ियोमे दिन काटती, सदियोंसे सोये हुए अपने प्यारे लाड़लोंके सिरहाने बैठी सिर सहलाती चली आ रही है। सारांश यह कि हिंदू, हिंदी तथा हिंदुस्थानकी जन्मदात्री, पोषिका और प्रकाशिका यदि कोई है तो वह संस्कृत-भाषा ही—इसमे तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं हो सकती। आज भले ही हमारे बीच इसका सम्मान हो या न हो; पर था वह एक समय, जब कि देशके कोने-कोनेमे इसीकी तूती बोलती थी, सर्वत्र इसीके शुभ गीत गाये जाते थे। सभी श्रेणियोंके नर-नारी, बाल-वृद्ध, मनुज-दनुज इसी भारतीके परम भक्त बने रहते थे। इतना ही नहीं, यहाँके पशु-पक्षी, तोते और सुग्गे भी इसी पवित्र भाषाके आश्रयणमें रह विशुद्ध वैदिक ज्ञान एवं परिमार्जित शब्द-साधनोंके शास्त्रार्थमें ही लीन रहा करते थे, जिसे देख भगवान् शङ्करा-चार्यतकको विस्मयविमुग्ध हो जाना पड़ा था—दूसरोंकी बात तो अलग रहे। जिस समय यह भाषा भारतवर्षकी राष्ट्रभाषाके आसनपर आसीन थी, सम्पूर्ण देशमे इसीका सर्वाङ्गीण विकास तथा प्रचार था, अटकसे कटक तथा विन्ध्यसे हिमालयतक इसी सर्वतन्त्रात्मिका भाषाकी सत्ता विराजमान थी। हमारा सांस्कृतिक विकास उन्नतिके उस समुन्नत शिखरपर पहुँच चुका था, जिसे देख विदेशी विश्वशिरोमणि भी तरस खाते और भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। अपि च बड़े-बड़े पाश्चात्य मनीषी इसी भारतीय संस्कृतिकी अभयद एवं सुखद छत्र-छायामें पलकर अतुल शान्ति तथा अनुपम विश्राम प्राप्त करनेके लिये लालायित रहा करते थे। भाषा तथा संस्कृतिके इतिवृत्तोके अध्ययनसे यह पता चलता है कि इसी देववाणीकी अटूट सेवाके फलरूप वृद्ध भारतवर्षने सम्पूर्ण विश्वका नेतृत्व तथा सभी देशोंमे जा-जाकर अपनी सभ्यताका उत्तरोत्तर विकास किया था। उस समय इसकी अबाधगति थी। अस्तु, सभी क्षेत्रोमें पहुँच-पहुँचकर इसने असभ्योको सभ्य, मूकोंको वाचाल, पङ्गुओंको जानुचलन-योग्य, दिगम्बरोको दिव्याम्बराभूषित और वनचरोंको अपना सहचर बना साहित्य, संगीत, शिल्प, कृषि तथा वास्तुकला आदि विविध कलाओका ज्ञान कराया था। आज भले ही इसे कोई माने या न माने; पर बड़े-बड़े पश्चिमीय विद्वानोंने भी ऊर्ध्व-बाहु हो यह प्रमाणित किया है कि भारतवर्ष केवल हिंदुओंके धर्म तथा संस्कृतिका ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण जगत्के धर्म तथा संस्कृतिका आदि स्रोत था। साथ-ही-साथ बड़े अभिमानके साथ यह भी उद्घोषित किया है कि सारे भूभागकी भाषा कभी एकमात्र संस्कृत ही थी। बड़े ही दुःखकी बात है कि आधुनिकता-की छाया पड़ जानेके कारण आज हम भी यह कहनेमे तनिक भी नहीं हिचकते कि संस्कृत-भाषा भारतकी एक जाति-विशेषकी भाषा है तथा इसमें न कोई इतिहासका क्रम है, न भौगोलिक विश्लेष; न ज्ञान है न विज्ञान; फिर कैसे यह देशके लिये हितकर एवं उपयुक्त कही जा सकती है। इस प्रकार हड़ताल फेरनेवाले सहृदय वृन्द यदि गम्भीरतापूर्वक अनुसन्धान करें और विचारें तो सहज ही यह पता चल सकता है कि वे तथ्यसे कितनी दूर खड़े हैं तथा दिनानुदिन और भी दूर होते चले जा रहे है।

जिस समय देशकी तिल-तिल भूमि संस्कृत-भाषाकी सुरसरि-धारासे परिप्लावित होती थी, भारतवर्षने ऐसे-ऐसे दार्शनिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक, इतिहासकार, कलाविद् एवं कवियोको समुत्पन्न किया था, जिनके पावन संस्मरणसे ही हम धन्य हो जाते हैं तथा जिनकी कीर्ति-गाथाओको सुन हम फूले नही समाते और आज भी सभ्य-जगत्मे गर्वोन्नत हो सिर उठाकर चल रहे हैं। दुर्दान्त कालके कुचक्रसे इस भाषाका समादर करना जबसे हम भूल गये और हमारे लिये यह हेय-सी होने लगी, इस परमपवित्रा भारत-भूमिपर अंग्रेजोंका प्रभुत्व क्रमशः स्थापित होकर ही रहा। जिस समय यहाँ इन विदेशियों-

का पदार्पण हुआ था, हम भारतीय इनकी दृष्टिमें निरे पशु ही समझे और लाठियोंके बल हाँके जाते थे; पर इन्हें जब इसी गीर्वाणीके एक छोटे-से सेवक कवि कालिदासकी कृति अभिज्ञानशाकुन्तल तथा रघुवंश महाकाव्यका दर्शन हुआ, तब इन्हें दंग रह जाना पड़ा। इन ग्रन्थोंकी और विशेषताओंके साथ-साथ गालवका कण्व ऋषिके यहाँ आकाशमार्गसे गमन तथा निशि-दिवाकी सुमेरु-प्रदक्षिणा आदि वैज्ञानिक रहस्योंने इन्हें आश्चर्यचकित कर दिया। भारतीय विज्ञानके एक छोटे-से रहस्यको भी समझनेमें उनका माथा ठनकने लगा और वे लगे दाँतोंतले अँगुली दबाने। हमारे सांस्कृतिक विकास-कालके अन्तर्गत संस्कृत-ग्रन्थोंमें ऐसे-ऐसे वैज्ञानिक एवं कलात्मक रहस्य मिलेंगे, जिनकी छायाको छूनेमें भी आजका समुन्नत विकासवाद मुख मोड़ लेता है, वहाँतक पहुँचनेकी बात तो सर्वथा दूर है ही। आज नये जगत्की नयी सभ्यता और नूतन विकासवादकी ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब हमें भी उसमें एक अनोखी विशिष्टता, नवीनता, पूर्णता एवं महत्ताका आभास मिलता है। हमारे नेत्रोंके समक्ष ऐसी चकाचौंध उपस्थित हो जाती है कि उसकी नयी चमक-दमकसे आकर्षित हो हम उसी ओर लपक तो पड़ते हैं; पर क्या इससे हमारा वह नैतिक एवं सामाजिक स्तर ऊँचा उठता है, जो हमारे प्राचीन सांस्कृतिक विकासवादसे सम्भव था? कदापि नहीं। इससे हमारे चर्मचक्षु भले ही अभिभूत हो जायँ, हमारा बाह्य जीवन देखनेमें भले ही आदर्श-सा प्रतीत होने लगे; पर अन्तर्जीवन तो सदा ही उस चमत्कारपूर्ण रहस्यकी खोजमें रहेगा, जिसके आश्रयमें पलकर हमारे पूर्वज वास्तविक रहस्य, आभ्युदयिक उन्नति, अनन्त सुख, शान्ति तथा विश्रामकी सहज उपलब्धिमें सतत निमग्न रहा करते थे। सच तो यह है कि नवीनतम विकासवादके ऐन्द्रजालिक रंगमें सराबोर हो हम अपने वास्तविक रूपको सर्वथा खो बैठे हैं, जिससे हमारा वह असली रूप दीख ही नहीं पड़ता। हमें तो उसी रहस्यका अन्वेषण करना चाहिये, उसी तत्त्वका पता लगाना चाहिये, जिससे हमारा सर्वदेशीय जीवन उसी प्राचीन आदर्शपर पहुँच सके; हमारा देश, समाज तथा हमारी जाति पुनः उसी पदपर आरूढ़ हो सके; न कि पाश्चात्य देशोंकी नकलकर देश, समाज और जातिकी नैयाको भ्रमपूर्ण विकासवादके गहरे एवं विस्तृत आवर्तमें ही चक्कर काटती रहने दें।

हिंदू-जाति संस्कृत-भाषाकी अवमानना तथा अपनी संस्कृतिकी अवहेलना करनेसे जिस अभावको प्राप्त कर चुकी है, उसे पूरा करनेमें इसे बहुत संयम, नियम, धैर्य एवं अदम्य उत्साहका अपनेमें समावेशकर पल-पलकी प्रतीक्षा करनी होगी। इस अभावकालमें हिंदू-जातिको तो अबतककी नित्य-नूतन प्रलोभिनी सभ्यताओंके बवंडरमें सर्वथा विलीन हो जाना चाहिये था; पर कैसे आज भी यह तथागतरूपमें ही सुव्यवस्थित है, यह कोई कम आश्चर्य तथा कुतूहलवर्द्धक नहीं है। आज जब कि हमारे देशकी भूमि, वायु और जलतक परतन्त्रतासे मुक्त हैं, तब क्या कारण और अधिकार है कि संस्कृतिके ऊपर उसकी छाप बनी रहे और हम उसे ही स्वीकार करनेमें अपना अहोभाग्य समझें। यदि वास्तवमें यही बात सत्य होती जा रही है तो इसका एकमात्र यही कारण हो सकता है कि अभी भी हम अपनी प्राचीनतम भाषासे उदासीन ही हैं और उसके सुविशाल अङ्कमें पलनेको तैयार नहीं। अपनी संस्कृतिको खोकर यदि स्वतन्त्रता उपलब्ध हो तो यह हमारे लिये अभिशाप है, समुन्नतिका वरदान नहीं। पूज्य महात्माजीका यह आदेश कि 'प्रत्येक हिंदूको अपनी संस्कृति तथा सभ्यतासे उसी प्रकार लिपटे रहना चाहिये, जिस प्रकार बच्चा अपनी मासे लिपटा रहता है' किसी भी अवस्थामें हमें विस्मृत नहीं होना चाहिये। हमारे लिये यह महामन्त्र होना चाहिये और इसकी सार्थकता तभी सम्भव है, जब कि इस देशके अणु-परमाणुको संस्कृत-भाषारूपिणी जाह्नवीके तीर्थ-सलिलसे पुनः एक बार परिक्षालितकर पावन तथा भावन बना दिया जाय। क्या भारतवर्षका ऐसा सुसमय फिर आवेगा जब कि राजप्रासादोंसे लेकर झोपड़ियोंतक तथा प्रशस्त राजपथोंसे लेकर संकीर्ण वीथियोंतकके घर-घरसे यह ध्वनि सुनायी पड़ेगी—

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम॥

भजो रे भैया! राम गोविंद हरी।
जप तप साधन कछु नहिं लागत, खरचत नहिं गठरी॥
संतत संपति सुखके कारन, जासों भूल परी।
कहत कबीरा राम न जा मुख, ता मुख धूल भरी॥

आबूपर्वतपर विमलशाहका जैन-मन्दिर

३० शत्रुञ्जय पहाड़ी [पृ० ६६९
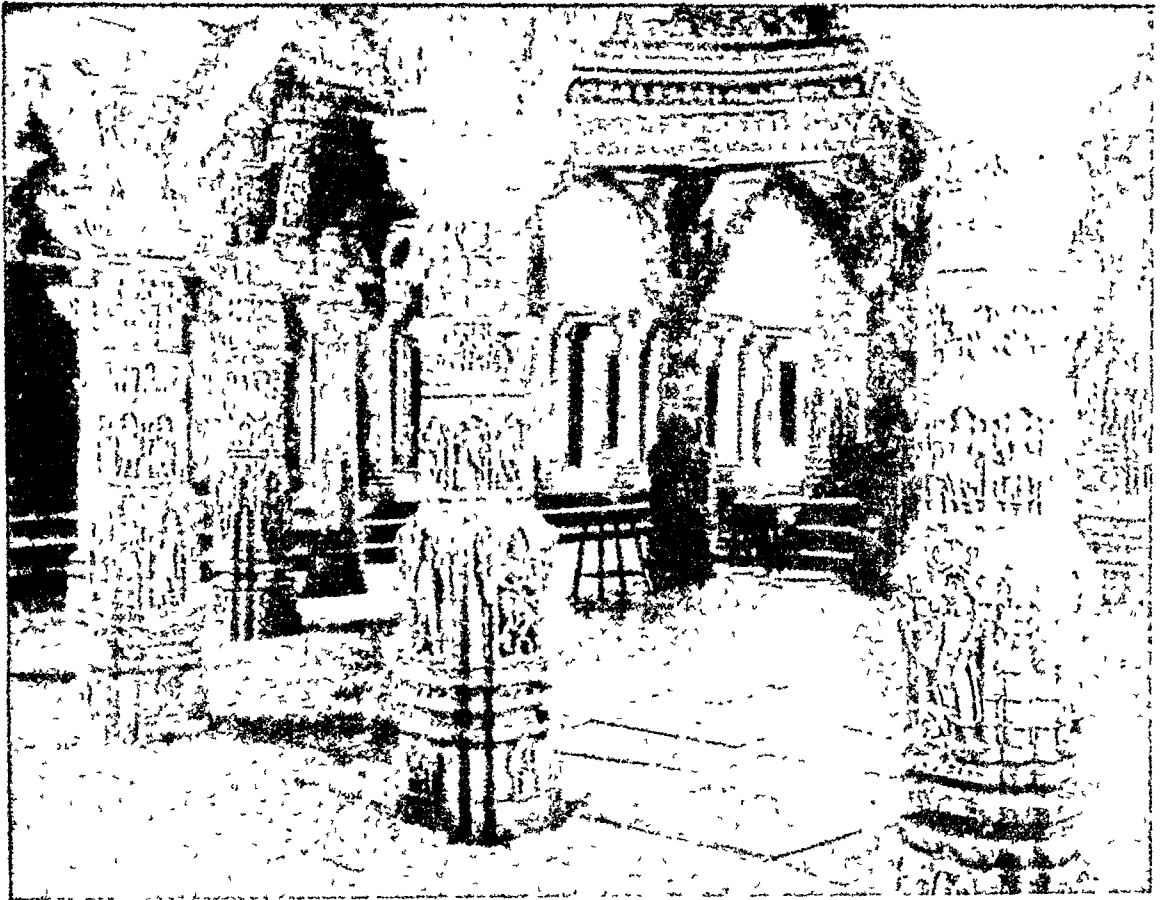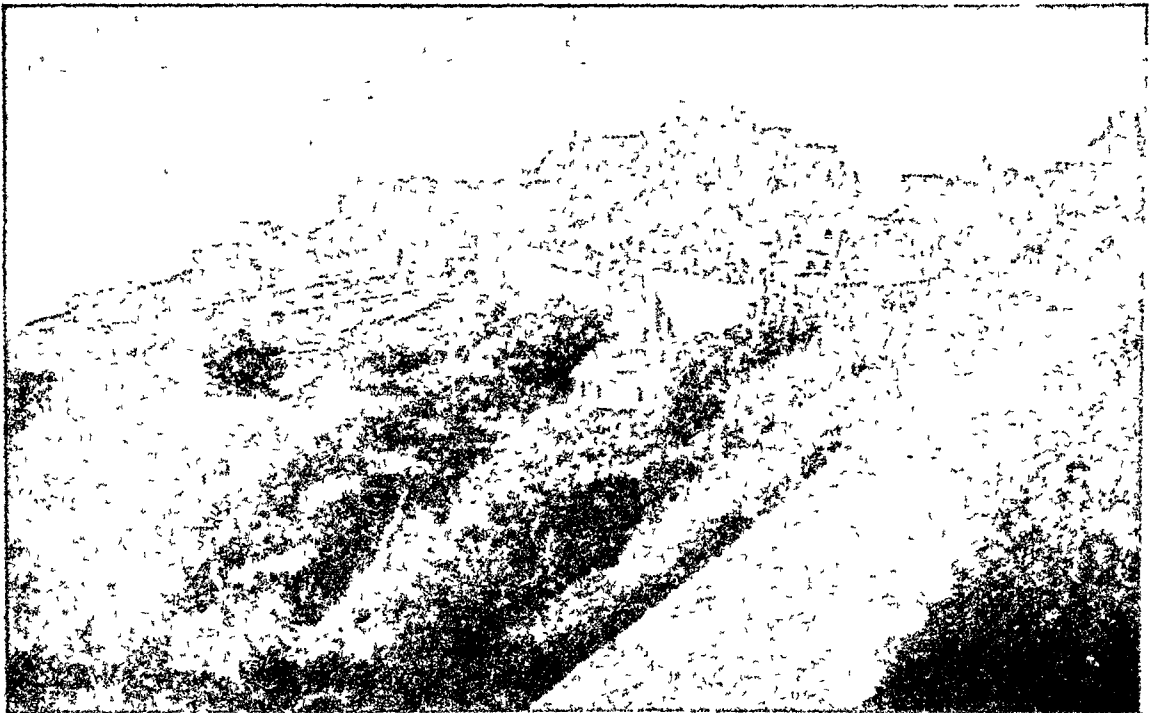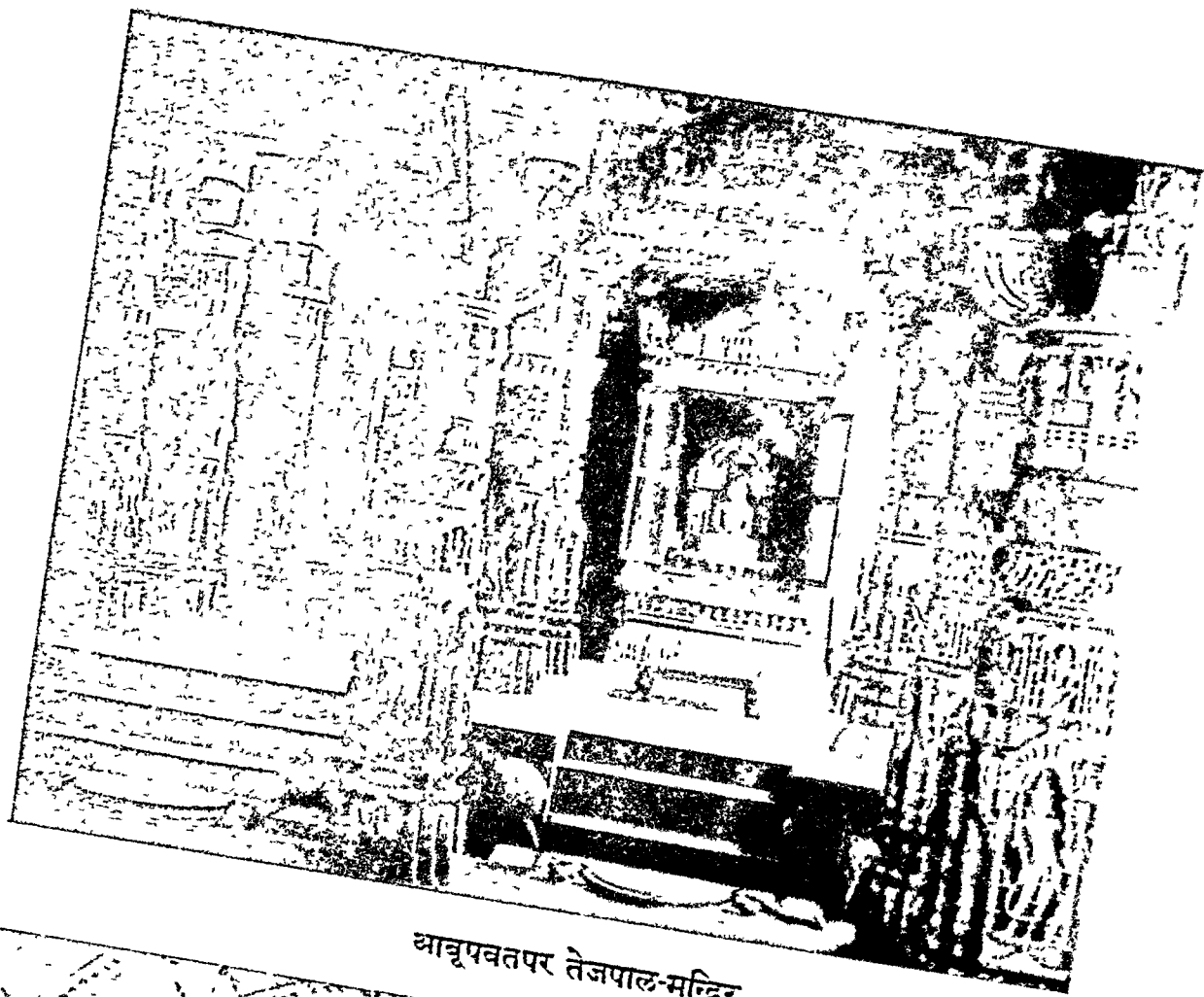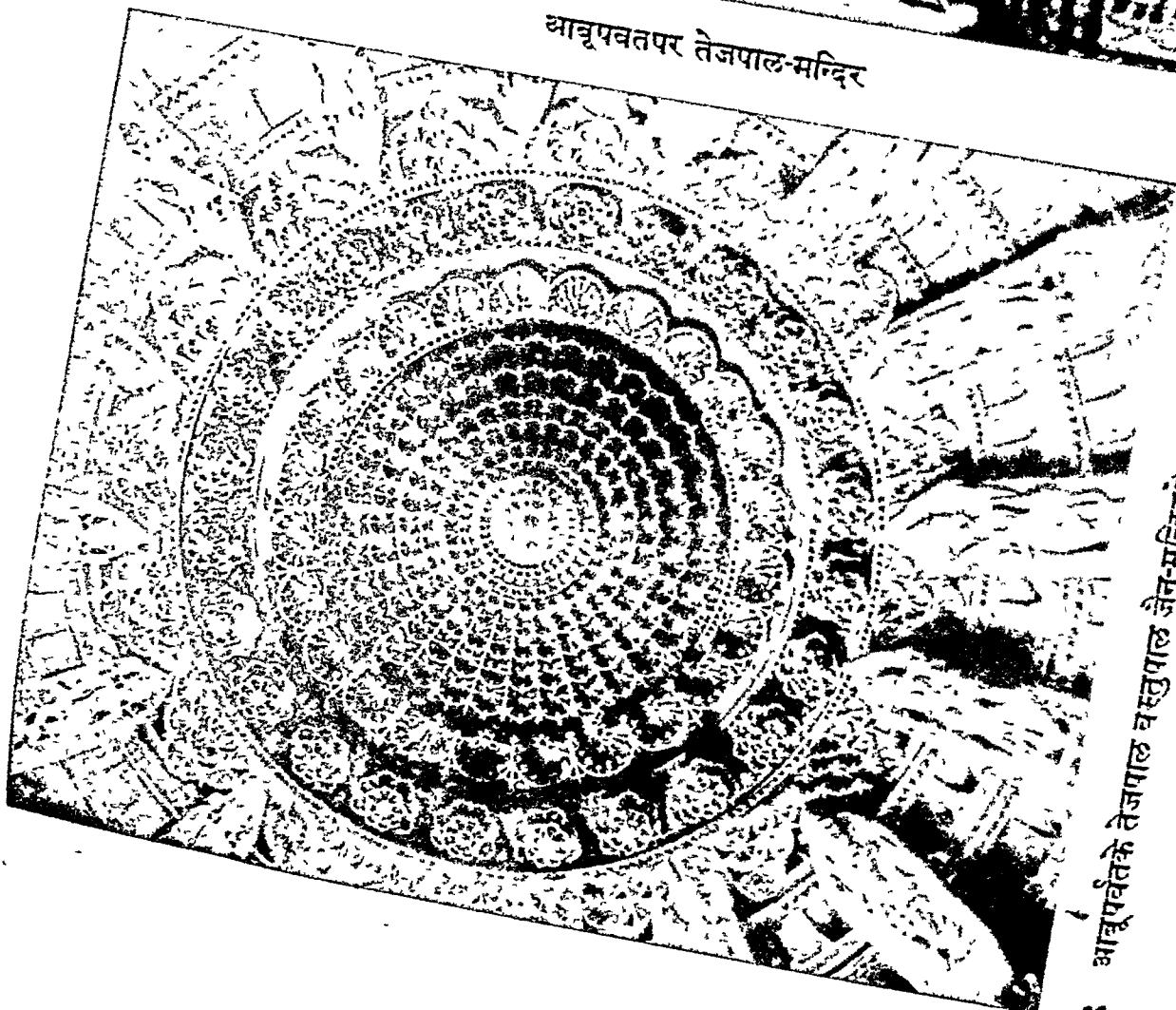
२१ आबूपर्वतके तेजपाल वस्तुपाल जैन-मन्दिरके छतकी कारीगरी

[पृ० ६११

आबूपर्वतपर तेजपाल-मन्दिर

प्राचीन भारतकी तीन महान् शिक्षण-संस्थाएँ

(लेखक—पं० श्रीईश्वरबोधजी शर्मा)

प्राचीन भारतमे शिक्षाके तीन महाकेन्द्र तक्षशिला, नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालय थे, जिनके ध्वंसावशेष अभी भी देखनेमें आते है। इनमे पहला विश्वविद्यालय पंजाबमे और शेष दो मगध (बिहार) में थे। इनका विशद वर्णन हमे भारतके इतिहासमे मिलता है। विदेशी यात्रियोंने भी मुक्तकण्ठसे इनकी प्रशंसा की है।

(१) तक्षशिला विश्वविद्यालय

भारतकी प्राचीनतम शिक्षण-संस्था पंजाबप्रान्तके रावलपिंडी शहरसे प्रायः १८ मीलकी दूरीपर (अब निर्जन और वीरान स्थान) तक्षशिला नामकी नगरीमे थी। यहाँकी सभ्यता संसारकी सर्वोत्तम और पुरातन सभ्यताओमेंसे एक थी। चाणक्य-जैसे राजनीतिज्ञ और भृत्य कौमारजीव-जैसे शल्य-चिकित्सक (सर्जन) यही अध्यापक थे। यहाँ देश-विदेशसे बड़े-बड़े विद्वान् वेद आदि अठारह विद्याएँ—विशेषरूपसे अर्थशास्त्र, राजनीति और आयुर्वेदके अध्ययनके लिये आते और उसमें अच्छी जानकारी प्राप्त करते थे।

चीनी भाषामे तक्षका अर्थ है पहाड़ और तक्षशिला वास्तवमें है भी पहाड़ोंके बीच। इतिहासकारोंका कथन है कि 'भरतके दो पुत्र थे—तक्ष और पुष्कर। पुष्करने पुष्करावर्त्त और तक्षने तक्षशिला बसायी थी।'

ईस्वी सन्के पाँच सौ वर्ष पूर्वसे लेकर छठी शताब्दी-पर्यन्त तक्षशिला बहुत ही उन्नतिशील रही। इसके बाद हूण-आक्रमणकारियोने तक्षशिलाका सर्वनाश कर दिया। फिर लगभग ढाई हजार वर्षोके अनन्तर वैज्ञानिकोके कठिन अनुसन्धानके पश्चात् वहाँकी खुदाई हुई। और वहाँ उस जमानेके बर्तन-भाँड़े, जिनमे छोटे-छोटे बर्तनोसे लेकर चार-चार फुटके मटके भी है, तथा कलम, दावात, थाली, लोटा, हीरक-हार, प्रकाश-स्तम्भ, कसौटी-पत्थर और सुरमेदानी ही नही, अपितु गान्धारी कलाके सर्वोत्कृष्ट नमूने एवं बौद्ध भिक्षुओके अवशेष सामान भी मिले हैं। इसके अतिरिक्त 'ब्राह्मी' और 'खरोष्ठी' लिपियोमे लिखे शिला-लेख भी पाये गये। ये सभी सामान वहाँके 'म्यूजियम'मे रक्खे गये है।

तक्षशिलाके खंडहर मीलोंमे पाये जाते है। भिड़माउण्ड, शिरकप, मोरा-मोरा-दू, जौलिया, पिपला, जांडियाल और रिचस्तूप आदि इलाके पास ही एक-दो मीलकी दूरीपर अवस्थित हैं, जिन्हें अच्छी तरह देखे बिना यहाँकी सभ्यता अच्छी तरह हृदयङ्गम नही की जा सकती। भिड़माउण्ड आंभीककी राजधानी थी। जौलियामे बौद्धोका निवासस्थान था। यहाँ उनके व्यवहारकी वस्तुएँ चक्की, घड़ा तथा थाली आदि मिलती है। यहाँ उन भिक्षुओके भाडागार, बिहार तथा स्नानागार बने थे, जिनके अवशेष और विशेषकर गान्धारी कलाकी उत्कृष्टतम मूर्तियाँ दर्शकोके चित्तको मोह लेती थीं; रिचस्तूपमे कनिष्कने ईस्वी सन्के पूर्व एक स्तूप बनवाया था। इनके अतिरिक्त तक्षशिलामे ब्राह्मण-बौद्ध दर्शन, साहित्य, अर्थशास्त्र एवं वैद्यकके ग्रन्थ भी लिखे गये थे। उसके पीछे एक महान् देशकी समृद्धिशालिनी सभ्यताका महान् इतिहास निहित है।

(२) नालन्दा विश्वविद्यालय

तक्षशिलाके बाद नालन्दा-विश्वविद्यालयका स्थान आता है। सचमुच यह संसारभरका ज्ञानपीठ था। इसीने तत्कालीन जगत्को भारतीय ज्ञान, विज्ञान, धर्मशास्त्र, साहित्य, दर्शन, कला, शिल्प, सभ्यता और संस्कृति आदिका दान दिया था। यहाँके स्नातक प्रकाण्ड पाण्डित्यमे अपना सानी नही रखते थे। जब बौद्ध-धर्मकी विजय-पताका सारे एशियाखण्डमे फहरा रही थी, भारतीय ज्ञान-विज्ञानका मूलस्रोत नालन्दा ही था। नालन्दामे अध्ययन किये बिना शिक्षा अधूरी ही समझी जाती थी।

नालन्दाकी स्थितिके बारेमे इतिहासकारोके विभिन्न मत हैं। 'पालि-साहित्य'मे नालन्दा राजगृहसे आठ मीलकी दूरीपर बताया गया है। चीनी यात्री 'फाहियान'की भी यही सम्मति है। और दूसरे चीनी यात्री ट्वान्-च्वाङ्के कथनानुसार नालन्दा वर्तमान विहारशरीफ शहरके दक्षिण-पश्चिम कोणमे एक आमका बगीचा था। उस बगीचेमे 'नालन्दा' नामका एक नागराज रहता था। यह भी कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध पूर्वजन्ममे वहाँ 'बोधिसत्त्व'के रूपमे पैदा हुए थे। खैर जो कुछ हो, खंडहरोकी खुदाई हो जानेपर अनुमान और कल्पनाकी कोई गुंजाइश ही न रही। नालन्दाका भग्नावशेष 'बख्तियारपुर बिहार लाइट रेलवे'के 'नालन्दा' स्टेशनसे लगभग एक मीलपर है। खुदाईमे आर्य नागार्जुनकी एक मूर्ति

दक्षिणके अनेक मन्दिरोमे कासव नामक एक चबूतरा बना रहता है, जिसपर सिर रखकर यात्री लोग देवताको प्रणाम करते है। दक्षिणके मन्दिरोमें मन्दिरकी परिधिके भीतर एक तालाब होता है, जिसमे देवताकी चलमूर्ति उत्सवोके अवसरपर समारोहके साथ नौकामे घुमायी जाती है। ऐसे तालावको तेप्पाकुलम् कहते है। इन मन्दिरोमे अधिकतर यात्रियोको मुख्य मूर्तिका स्पर्श नही करने दिया जाता। यात्रियोकी ओरसे मन्दिरके सेवकगण द्रव्य लेकर मूर्तिकी पूजा कर देते है। कई मन्दिर ऐसे भी है, जहाँ शिवलिङ्गपर जल नहीं चढ़ाया जाता, केवल तेलका लेप करते है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, भारतके प्रसिद्ध मन्दिर विख्यात राजकुलोद्वारा बनवाये गये है। मन्दिरके निर्माणमें भाव ही प्रधान है। यथार्थमे भगवान् प्रत्येक मनुष्यके घट-घटमे व्याप्त है; पर प्रत्येक भावुक भक्त भगवान्‌के साकार रूपकी पूजा, अर्चा इत्यादि करके अपने अन्तःकरणको सुख देता है। वास्तवमे मूर्तियाँ एक प्रकारके दिव्य आदेश कहे जा सकते हैं, जिनके द्वारा भक्त अपनी साधना पूरी करते हैं। कहा है—

> प्रतिमामन्त्रतीर्थेषु दैवज्ञे भैषजे गुरौ।
> यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

और वास्तवमें यह सब भावका ही खेल है। Secret of the Golden Flower नामक अंग्रेजी पुस्तकमे चीनियोकी ध्यान-विधि वर्णित है। इस पुस्तककी भूमिका सुप्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् Jung ने लिखी है। उसमे उन्होने लिखा है कि जबतक मनुष्य भक्तिमे इतना सराबोर नहीं हो जाता कि असम्भाव्य बातोका भी विश्वास करे, तबतक उसे भगवान्‌का साक्षात्कार नहीं होता। अतः जिसे हम अन्धविश्वास कहते हैं, कुछ नियमोके अनुसार होनेके कारण वही वस्तु उत्कट भक्तिका रूप धारण कर सकती है। हिंदुओं-में अनेक देवी-देवताओंकी पूजा प्रचलित होनेपर भी मेरे विचारमें हिंदूलोग मूर्तिपूजक नहीं कहे जा सकते। Iconography शब्द मूर्तियोके वर्णनके लिये आता है। यह शब्द Icon से निकला है। प्राचीन कालमे फिनीशियन लोग छोटी-छोटी मूर्तियाँ (Icon) अभिचार, मारण इत्यादिके लिये बनाते थे। अतः मन्दिरोंका निर्माण भक्तोकी भावना प्रकट करनेके निमित्त और 'स्वान्तःसुखाय' कहना चाहिये। प्राचीन कालमें नृत्य-गीतादि भी देवमूर्तियोके सम्मुख होते थे और यही नृत्य-गीतादिके प्रारम्भका कारण भी हुआ। इसी कारण इन बड़े-बड़े मन्दिरोमें जगमोहन, मण्डप इत्यादि मन्दिरके मुख्य अङ्ग माने गये हैं। शक्ति-मन्दिरोंमें जीव-बलिकी प्रथा तथा दक्षिण और वाम उपासना, शिवालयोंमें अनगढ़ लिङ्गोकी स्थिति अथवा नर्मदेश्वरकी स्थापना और विष्णुमन्दिरोमे शालग्राम इत्यादिकी स्थिति गूढ़ और ज्ञातव्य विषय है, जिनपर विचार करनेके लिये यहॉपर स्थान नहीं। मन्दिर पहले गुफाओमे बनते थे, जैसा काश्मीरके अमरनाथ तथा कालिंजरके मन्दिरोमे दिखलायी पड़ता है। कालान्तरमें पत्थरके मन्दिर बनने लगे। नाना प्रकारके पत्थरोका प्रयोग मन्दिरोके निर्माणमे हुआ है। कहीं-कहीं तो केवल संगमरमर-ही-संगमरमर लगाया गया है। मन्दिरकी रक्षाका प्रबन्ध भी एक मुख्य विषय है, जो ध्यानमे रक्खा गया है। दक्षिणमें मन्दिरोके चारों ओर सात-सात परकोटेतक बने हैं। इसके अतिरिक्त भक्तोंने अनेक प्रकारसे मन्दिरोंको सुसज्जित करनेका प्रयत्न किया है। जैसे, पंजाबके सुप्रसिद्ध महाराजा रणजीतसिंहने काशीविश्वनाथ, ज्वालाजी तथा अमृतसरके सुप्रसिद्ध सिक्खोंके सुवर्ण-मन्दिरपर सोनेका पत्र चढ़वाया, जो अबतक विद्यमान है। कहा जाता है कि इन्हीं महाराजाने प्रसिद्ध कोहनूर हीरा श्रीजगन्नाथजीको अर्पण करनेकी इच्छा प्रकट की थी, पर उनकी यह इच्छा कई कारणोंसे उनके देहावसानके उपरान्त पूर्ण नहीं की गयी। प्रातःस्मरणीया अहल्याबाईने भी अनेक मन्दिरोका निर्माण कराया है और सम्भवतः काशीविश्वनाथका वर्तमान मन्दिर भी उन्हींका बनवाया हुआ है।

कुमार दाराशिकोहने एक पुस्तक 'रिसाला हक्केनुमा' नामक लिखी थी, जिसका अंग्रेजी अनुवाद प्रयागके पाणिनि आफिससे प्रकाशित हुआ है। बड़ी सुन्दर पुस्तक है। इसमे मुसल्मानोके चिश्तिया सम्प्रदायके अनुसार प्राणायाम-विधिका वर्णन है। इसमे भी भावोके गूढ़ स्तरोंका विशेष विवेचन किया गया है। मन्दिरोंकी स्थापना विशिष्ट भक्तकी भक्तिपर निर्भर होती है। और इसीसे सिद्धि भी प्राप्त होती है। अनेक योगीजनोका सम्बन्ध भी ऐसे मन्दिरोंकी स्थापनामे होता है।

उत्तरी भारतमे मुसल्मानोके आक्रमणके कारण प्रायः सब पुराने मन्दिरोकी बहुत क्षति हुई है। सोमनाथमें तो मुसल्मानोने प्रायः सम्पूर्ण मन्दिर ही नष्ट कर दिया। काशी-विश्वनाथके दो मन्दिरोको यवनोने नष्ट कर दिया। कालिंजर दुर्गके मन्दिरोको यथासाध्य नष्ट-भ्रष्ट करके छोड़ा। कन्नौज, अयोध्या और मथुराके भी असंख्य मन्दिरोको इन्होंने नष्ट किया। नालन्दाके सुप्रसिद्ध बौद्धस्थानके नाशकी कथासे भी
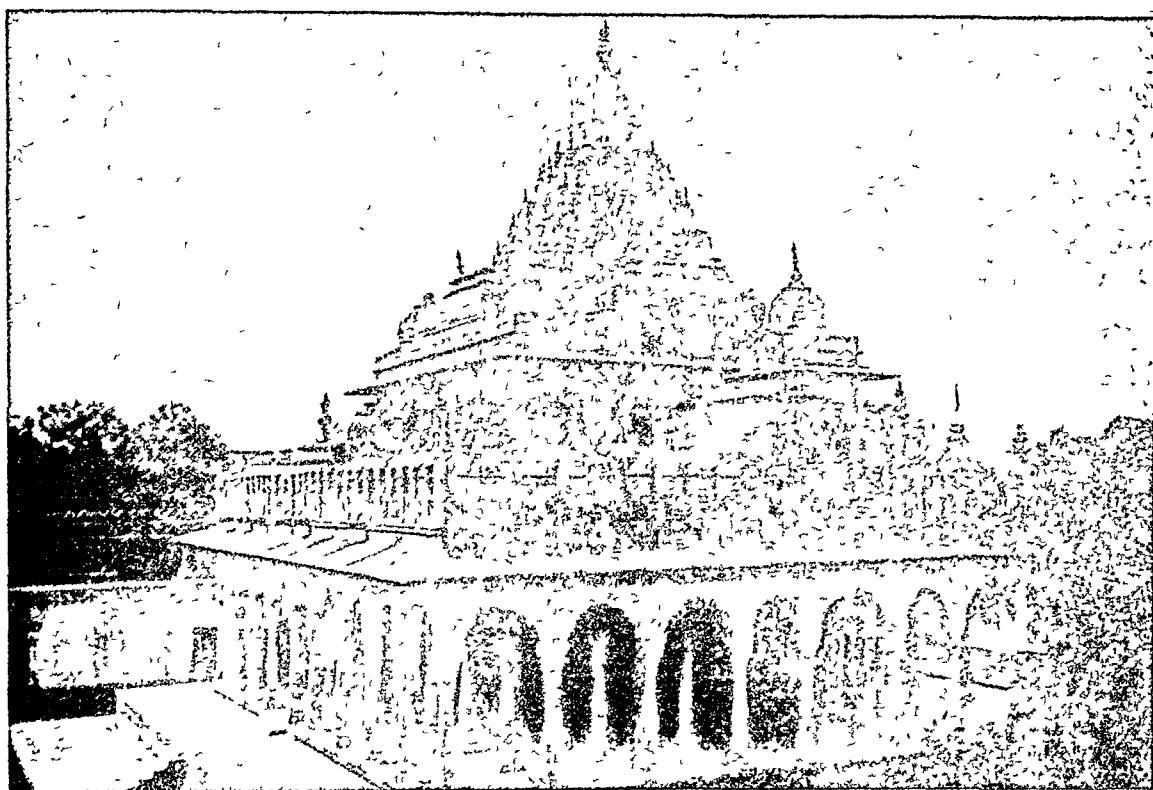
महामन्दिर, जोधपुर

एक शिखरवाला मन्दिर, जोधपुर

[पृष्ठ ६६९

मन्दिरमें बने हैं। मन्दिरकी छतमें बहुत अच्छा काम किया हुआ है। इस मन्दिरका कोई भाग ऐसा नहीं है, जिसमें पत्थरको काटकर मूर्तियाँ न बनायी गयी हों। इस मन्दिरमें कनिंघमने ८७२ मूर्तियाँ दो और तीन फुटके अंदर ऊँची गिनी थीं। छोटी मूर्तियाँ तो सहस्रोंकी संख्यामें हैं। अनेक मूर्तियाँ अश्लीलताव्यञ्जक भी हैं। देवी-देवताओंकी जितनी मूर्तियाँ हैं, वे सब बहुत सुन्दर हैं। मन्दिरके गवाक्ष भी अत्यन्त ही सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक हैं। मन्दिरके शिखरपर तथा मण्डप इत्यादिके शिखरपर एक-एक आमलक बना है। इनमें एकके बाद एक शिखर उत्तरोत्तर ऊँचे बड़े ही आकर्षक हैं। इस समय ऐसा मन्दिर बनवानेमें कम-से-कम बीस-पचीस लाख रुपये लगेंगे।

इसके बाद उड़ीसाके मन्दिर आते हैं। उड़ीसामें तीन मुख्य मन्दिर हैं—भुवनेश्वरमें श्रीलिङ्गराजका मन्दिर, पुरीमें श्रीजगन्नाथका मन्दिर और कोणार्कमें श्रीसूर्यनारायणका मन्दिर। इस प्रान्तके मन्दिरोंकी बनावट अपने ढंगकी निराली है। मन्दिर चार भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। पहला मुख्य मन्दिर या विमान, जिसमें प्रधान देवमूर्ति स्थापित होती है। इससे लगा हुआ सामनेकी ओर जगमोहन होता है, जिसे यहाँ मण्डप, मुखशाली तथा भद्रक भी कहते हैं। मण्डपसे एक द्वार भीतरकी ओर जाता है और इसीसे दर्शकगण भीतर जाकर प्रधान देवमूर्तिका दर्शन करते हैं। जगमोहनके आगे नाट्य-मन्दिर होता है, जिसमें नृत्य तथा कीर्तनादि किये जाते हैं। नाट्य-मन्दिरके आगे भोग-मन्दिर होता है, जहाँ रखकर भोग लगाया जाता है।

भुवनेश्वर केशरी राजाओंकी राजधानी रहा है। केशरी राजाओंने चौथी शताब्दीके उत्तर भागसे लेकर ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्व भागतक छः सौ सत्तर वर्ष और चौवालीस पीढ़ियोंतक उत्कल प्रदेशपर राज्य किया। जलवायुकी उत्तमताके कारण भुवनेश्वर फिर उड़ीसाप्रान्तकी राजधानी होने जा रहा है। कहा जाता है कि केशरी राजाओंने इस स्थानपर सात हजार मन्दिर बनवाये थे। इस समय भी यहाँ लगभग पाँच सौ मन्दिर तो होंगे ही। इनमें ईसाकी पाँचवीं सदीसे लेकर ग्यारहवीं सदीतकके मन्दिर विद्यमान हैं। काशीको छोड़कर भारतमें कदाचित् ही कोई ऐसा स्थान हो, जहाँ इतने अधिक देव-मन्दिर एक साथ विद्यमान हों। इन मन्दिरोंमें मुख्य मन्दिर श्रीलिङ्गराजका है, जिसे ललाटेन्दु केशरी (६१७ से ६५७ ई०) ने बनवाया था। इस मन्दिरके विमानका शिखर एक सौ अस्सी फुट ऊँचा है। मन्दिरकी बनावट ऐसी है कि उसका कोई भी बाहरी भाग पशु-पक्षी तथा नर-नारियोंकी बड़ी तथा बारीक मूर्तियोंसे खाली नहीं है। मन्दिरके बाहर तीन छोटे-छोटे मन्दिर गणेश, कार्तिकेय तथा गौरीके हैं, जो विमानसे लगे हुए हैं। गौरीकी प्रतिमा इतने आभूषणोंसे सजायी गयी है और ऐसे सुन्दर काले पत्थरकी बनी है कि देखते ही बनता है। मूर्तियोंमें हाथी, घोड़े, हिरन, सिंह इत्यादिकी जो मूर्तियाँ बनी हैं, उनमें सजीवताका भाव विशेषरूपसे उल्लेख्य है। इनके अतिरिक्त राजभवनकी व्यवस्था-सम्बन्धी तथा राजा-रानी और सिद्धोंके दरबारकी मूर्तियाँ विशेषरूपसे दर्शनीय हैं। मन्दिरके चारों ओर गजसिंह नामक सिंह उभरे हुए बने हैं। इस मन्दिरमें भी अनेक मूर्तियाँ अश्लील कही जा सकती हैं। यहाँसे समुद्रका तट लगभग पचीस मील दूर है और समुद्रकी रूखी वायुके कारण अनेकानेक मूर्तियाँ नष्ट-सी होती जा रही हैं। फिर भी बेल-बूटे बहुत ही सुन्दर बने हैं।

श्रीजगन्नाथपुरीका वर्तमान मन्दिर, जिसका जीर्णोद्धार राजा अनङ्गभीमदेवने तेरहवीं शताब्दीमें कराया था और जहाँकी मूर्तियाँ तीसरी शताब्दीकी कही जाती हैं, भुवनेश्वरके ही ढंगपर बना है। इस मन्दिरपर मुसलमानोंने कई बार आक्रमण किया और कई बार मन्दिरकी मरम्मत हुई। इस कारण शिल्पकी दृष्टिसे इस मन्दिरकी मूर्तियाँ बहुत ही न्यून हैं। हाँ, मराठोंने लगभग तीन सौ वर्ष हुए भोग-मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया था और इस भोग-मन्दिरकी बनावट दाक्षिणात्य शिल्पके अनुसार उत्तम कही जा सकती है। इस बातका कोई प्रमाण नहीं कि मराठोंने यह भोग-मन्दिर कोणार्कसे मूर्तियाँ लाकर बनाया है। इस भोग-मन्दिरकी मूर्तियोंको देखनेसे इतना अवश्य मालूम पड़ता है कि दाक्षिणात्य शिल्पमें वज्रपातादि-निवारणार्थ अश्लील मूर्तियाँ अत्यन्त सुसभ्य ढंगकी होती हैं। उड़ीसाके मन्दिरोंकी मूर्तियाँ इधर वाममार्गके प्रचारसे तथा अन्य विशिष्ट कारणोंसे विशेष अश्लीलरूपमें बनी हैं। यहाँ 'मिथुन' को 'मैथुन' समझ लिया गया है।

जगन्नाथजीके मन्दिरके विमानभागमें दक्षिणकी ओर जो नया द्वार बना है, वह हालमें ही एक मैनेजरने बनवाया था। अन्यथा विमानभागमें एकसे अतिरिक्त और कोई द्वार नहीं होता।

कोणार्कका मन्दिर जगन्नाथजीसे इक्कीस मीलपर समुद्रके

तटपर बना है। इस मन्दिरकी मूर्तियोंकी कला इतनी सुन्दर कही गयी है कि कहते हैं कि एशियामें इतना सुन्दर मन्दिर और कोई नहीं है। गवर्नमेंटने भी कई लाख रुपये लगाकर अभी इस मन्दिरका जीर्णोद्धार करवाया है। कहा जाता है कि इस मन्दिरके विमान-भागके शिखरपर एक बहुत बड़ा चुम्बकका छड़ लगा हुआ था, जिसके कारण पासमें जानेवाले जहाज इधर खिंच आते थे। इसी कारण कहा जाता है कि मुसल्मान नाविकोंने चुम्बक निकालनेके लिये मन्दिरको तोड़ डाला। मेरा मत यह है कि यदि ऐसा चुम्बक मन्दिरके शिखरपर लगा हुआ था तो उसका प्रयोजन यह था कि वह बड़ी-बड़ी लोहेकी शहतीरोंको ठीक स्थानपर स्थित रक्खे; क्योंकि इस विशाल मन्दिरमें लगभग पचीस ऐसी शहतीरें दस-दस गज लंबी अबतक मिलती हैं और इनमेंसे प्रत्येकका तौल लगभग डेढ़ सौ मन होगा। जगमोहनके पीछेका विमान अथवा मुख्य भाग ध्वस्त हो गया है। जगमोहन तथा विमान-भाग मिलाकर एक विशाल रथकी योजना की गयी थी, जिसके पहिये अबतक विद्यमान हैं। जगमोहनके ऊपरी भागमें जो मूर्तियाँ बनी हैं, वे पुरुषाकार हैं। इसीसे मन्दिरके विस्तारका कुछ अनुमान हो सकता है। जगमोहनका शिखर लगभग दो सौ फुट ऊँचा है और इस विशाल भवनके नीचे खड़े होनेपर आदमीको अपनी तुच्छताका अनुभव होता है। जगमोहनकी चौखटके द्वार क्लोराइट नामक नीले पत्थरके बने हैं, जिसे यहाँ मुगनी कहते हैं। इसपर बने हुए बेल-बूटेका काम इतना सुन्दर है कि वैसा और कहीं नहीं देखनेको मिलेगा। वैसे तो सारा मन्दिर ही मूर्तियोंसे भरा पड़ा है, पर मन्दिरके पहियोंकी बनावट विशेषरूपसे द्रष्टव्य है। प्रत्येक पहिया साढ़े दस फुट ऊँचा है और ऐसे चौबीस पहिये बने हुए हैं। इन पहियोंमें कोई भी स्थान बेल-बूटे तथा मूर्तिकारीसे नहीं बचा है। सूर्यकी सुन्दर मूर्तियाँ भी इसी मुगनी पत्थरकी बनी हुई हैं। यहाँका अरुणस्तम्भ, जो पैंतीस फुट ऊँचा तथा मुगनी पत्थरका बना है, इस समय जगन्नाथजीके मन्दिरके सामने लगा है। यहाँ मन्दिरोंके द्वारपर नवग्रह बनानेकी प्रथा है तथा नाग-कन्याओंकी मूर्तियाँ भी अनेक स्थलोंपर बनी हैं।

जगमोहनके आगे नाट्य-मन्दिर अभी बालूसे खोदकर निकाला गया है। इसकी शोभा अपूर्व है। यह मन्दिर नवीं शताब्दीका बना हुआ माना जाता है और सोलहवीं शताब्दी-तक अपनी ऊर्जित अवस्थामें था। लगभग तीन सौ वर्षतक यह बालूके ढेरमें ढका हुआ पड़ा था।

दक्षिण भारतके मन्दिर उत्तरके मन्दिरोंकी अपेक्षा बिलकुल भिन्न हैं। दक्षिणमें पहले सबसे नीचेके भागमें पाण्ड्य राजाओंका आधिपत्य था, जिसमें मदुरा तथा टिनेवेलीके जिले अन्तर्गत थे। पूर्वी घाटकी ओर चोलराजाओंका अधिकार था और पश्चिमी घाटकी ओर चेर राजाओंका। ईसाकी तीसरी शताब्दीमें एक चौथे राज्यका उदय हुआ, जो पल्लवोंका राज्य कहा जाता है। इनका राज्य आठवीं शताब्दी-तक था और इस कालमें पल्लवलोग ही दक्षिणके मुख्य अधिष्ठाता थे। कालान्तरमें चालुक्य राजाओंके उदयके कारण पल्लवोंने अपनी राजधानी काञ्चीपुर अथवा काञ्जीवरम्‌में बनायी। और इसी समयमें इन लोगोंने अपने मुख्य मन्दिर बनाये। नवीं शताब्दीमें चोल राजाओंने पल्लवोंको पराजित किया। पल्लव लोग पहले बौद्ध थे और कालान्तरमें शैव हो गये। इन्होंने मामल्लपुर नामक स्थानमें पत्थरोंको छेनीसे काटकर मन्दिर बनानेकी प्रथा प्रचलित की। मामल्लपुर समुद्रके किनारे ही है और यहाँपर पञ्चपाण्डवोंके रथ (मन्दिर) तथा त्रिमूर्ति, वराह और दुर्गाके मन्दिर भी बने हैं। इसी स्थानपर एक चट्टानके ऊपर विंसेंट स्मिथके मतानुसार अर्जुनकी तपस्या तथा कुमारस्वामीके मतानुसार गङ्गावतरणका दृश्य बना है। इन मन्दिरोंमें सातवीं सदीकी पल्लव-मूर्तिकारीका बहुत सुन्दर नमूना मिलेगा।

कालान्तरमें शैव तथा वैष्णव आचार्योंके उदयके साथ दक्षिणमें शैव तथा वैष्णव मन्दिर बनने लगे। इन मन्दिरोंकी शैली एक-सी ही थी। इनमें चार विभाग होते थे। पहला विभाग विमान कहा जाता था और चतुष्कोण होता था। इनके शिखर Pyramidal अर्थात् पर्वताकार होते थे और इनकी छत एक या अधिक खण्डोंकी होती थी। दूसरा विभाग मण्डपका होता था, जो विमानके सामने होता था और जिसमेंसे होकर दर्शनार्थी भीतर जाते थे। तीसरा विभाग गोपुरम् नामक द्वारका होता था। ये गोपुरम् भी पर्वताकार होते थे और ये उन घेरोंके बाहर लगाये जाते थे, जो विमान तथा मण्डपके चारों ओर बने होते थे। प्रत्येक मन्दिरमें ऐसे सात घेरे, एकके भीतर एक, शिल्पशास्त्रोंमें लिखे हैं। पर ऐसा केवल एक ही स्थानपर अर्थात् श्रीरंगम्‌के श्रीरंगजीके मन्दिरमें मिलेगा और चौथा भाग चोल्ट्री या अनेक स्तम्भोंके मण्डपका होता था, जो लोगोंके ठहरनेके काममें आता था।

काञ्चीके दो विभाग हैं—बड़ा काञ्जीवरम् अर्थात् शिव-

काञ्ची, और छोटा काञ्जीवरम् अर्थात् 'विष्णु-काञ्ची । शिव-काञ्चीमें शैवलोग और विष्णुकाञ्चीमें रामानुज-सम्प्रदायके वैष्णव रहते हैं । शिव-काञ्चीमें एकाम्रेश्वर शिवका बड़ा मन्दिर है । मन्दिरके दो बड़े घेरे हैं । द्राविड़ पाँच लिङ्गोंमें एकाम्रेश्वर शिवलिङ्ग पृथ्वीलिङ्ग है। उत्सवोंके समय शिवकी धातुमयी प्रतिमाकी यात्रा होती है । पश्चिमवाले घेरेके पूर्ववाले गोपुरके निकट चिदम्बर शिव और नन्दीकी विशाल सुनहली मूर्ति है । पश्चिमोत्तर भागमें तप्पाकुलम् नामक सरोवर है । द्रविड़ मन्दिरोंमें घेरोंके फाटकोंके ऊपर बड़े-बड़े मन्दिरोंके समान गोपुर बने रहते हैं । इनमें ग्यारह, नौ, सात या इनसे कम खण्ड होते हैं । विष्णु-काञ्चीमें वरदराज नामक विष्णुका विशाल मन्दिर बीस फुट ऊँची दीवारके घेरेके भीतर बना है । घेरेके पूर्वकी ओर ग्यारह खण्डका और पश्चिमकी ओर नौ-नौ खण्डके गोपुर बने हैं । इन गोपुरोंमें चारों बगलोंपर नीचेसे ऊपरतक पत्थर खोदकर असंख्य मूर्तियाँ तथा कारीगरीकी वस्तुएँ बनायी गयी हैं । विष्णु-काञ्चीका मन्दिर पाँच घेरोंके भीतर बना हुआ है । विमानमें चार हाथसे अधिक ऊँची वरदराज भगवान्की श्यामल चतुर्भुज मूर्ति खड़ी है । विष्णु-काञ्चीका मन्दिर अट्ठाईस बीघे भूमिपर बना है । कहा जाता है कि विजयनगर राज्यके राजा कृष्णरायने काञ्ची, चिदम्बरम् तथा श्रीरंगम्के मन्दिरोंके घेरे इसलिये बनवाये थे कि यवनोंके आक्रमण होने लग गये थे । इन घेरोंके गोपुर भी उन्हींके बनवाये कहे जाते हैं ।

चिदम्बरम्में श्रीनटराजका सुप्रसिद्ध मन्दिर निन्यानवे बीघे भूमिपर तीस फुट ऊँची दो दीवारोंके घेरेके भीतर बना है । बाहरकी दीवारमें चारों दिशाओंमें एक-एक छोटा गोपुर है । भीतरवाली दीवारके भी चारों ओर गोपुर हैं । ये गोपुर नौ-नौ खण्डोंके हैं और प्रतिमाओंसे पूर्ण तथा चित्रोंसे चित्रित हैं । दोनों घेरोंके भीतर मन्दिर बने हैं । एक मन्दिरके सामने एक बड़ा-सा स्तम्भ खड़ा है । स्तम्भपर नीचेसे ऊपरतक सोनेका मुलम्मा किया हुआ है । कुछ लोग कहते हैं कि ईसाकी पाँचवीं शताब्दीमें काश्मीरके राजा हिरण्यवर्ण चक्रवर्तीने, (जिन्होंने लंकाको जीता था) इस मन्दिरको बनवाया; पर और लोगोंका विचार है कि वीरचोल नामक राजाने दसवीं शताब्दीमें इस मन्दिरको बनवाया । चोल राजाओंकी राजधानी तंजोरमें बृहदीश्वर नामक शिव-मन्दिर द्रष्टव्य है । इसमें मन्दिरके चारों ओर एक ही घेरा बना है और उसमें दो विशाल गोपुर नब्बे फुट और साठ फुट ऊँचे बने हैं । इस मन्दिरका शिखर दो सौ फुट ऊँचा है । मुख्य मन्दिरके सामने जगमोहन है और एक विशाल मण्डप है, जिसमें तेरह फुट ऊँचा, सोलह फुट लंबा और सात फुट चौड़ा काले पत्थरका विशाल नन्दी है । कहा जाता है कि यह विशाल मन्दिर राजा राजदेव चोलद्वारा ईसाकी दसवीं शताब्दीमें बनवाया गया था । इस मन्दिरकी विशेषता यह है कि मन्दिरका विमान-भाग सबसे महत्त्वकी वस्तु लगती है, और इससे मुख्य मन्दिरकी प्रतिष्ठा बढ़ती है । पीछेके चोल-मन्दिरोंमें गोपुरभागको अधिक महत्त्व दिया गया है और विमानभाग गोपुरके सामने न्यून मालूम पड़ता है ।

श्रीरंगम् नामक टापू कावेरी नदीमें स्थित है और यहाँ श्रीरंगनाथका सुप्रसिद्ध मन्दिर विद्यमान है । रामानुज-सम्प्रदायके आचार्योंकी मुख्य गद्दी तोताद्रिमें है; किंतु श्रीरंगम् भी उनके मुख्य स्थानोंमें है । इस मन्दिरका घेरा २६६ बीघे भूमिपर फैला हुआ है । और देहलीके किलेसे लगभग डेवढ़ा स्थान इसमें लगा है । सात दीवारोंके भीतर यह मन्दिर बना है और इसमें छोटे-बड़े अठारह गोपुर हैं, जिनमें दो बहुत बड़े हैं । मुख्य मन्दिर छोटा-सा ही है ।

पाण्ड्य राजाओंकी राजधानी मदुरा संस्कृतके 'मथुरा' शब्दका अपभ्रंश है । वैगा नदी मदुरा कस्बेसे दक्षिण-पूर्व रामेश्वरके टापूके पास जाकर समुद्रमें मिल गयी है । मदुरामें मीनाक्षी-देवी और सुन्दरेश्वर शिवका मन्दिर बाईस बीघे भूमिपर बना है । मन्दिरके बाहरकी दीवार इक्कीस फुट ऊँची है और उसके चारों बगलोंपर प्रतिमाओंसे पूर्ण और रंगोंसे चित्रित ग्यारह खण्डोंवाला, ग्यारह कलशवाला एक-ही-समान एक-एक गोपुर है । प्रत्येक गोपुर एक सौ बावन फुट ऊँचा है । इन मन्दिरोंमें पाँच छोटे गोपुर भी हैं ।

सुप्रसिद्ध रामेश्वरका मन्दिर बीस बीघे भूमिपर रामेश्वर नामक टापूपर बना है । इस टापूको गन्धमादन पर्वत भी लिखा है । यह मन्दिर पाँच घेरोंके भीतर बना है और इसमें चार बहुत बड़े गोपुर हैं । मन्दिरके चारों ओर बाईस फुट ऊँची दीवार है । मन्दिरके भीतरकी पाटी हुई सड़कें, जो लगभग चार हजार फुट लंबी, तीस फुट चौड़ी और तीस फुट ऊँची हैं, इस मन्दिरकी विशेष वस्तु हैं । दक्षिणके मन्दिरोंमें सुनहला स्तम्भ प्रायः प्रत्येक मन्दिरमें मिलता है और वह यहाँ भी है । मन्दिर बहुत प्राचीन कहा जाता है, पर आजकल यहाँ लोगोंको दर्शनादिमें पंडे विशेष कष्ट देते हैं ।

पाण्ड्य राजाओंके समयमें बने हुए-श्रीरंगम्, चिदम्बरम्,
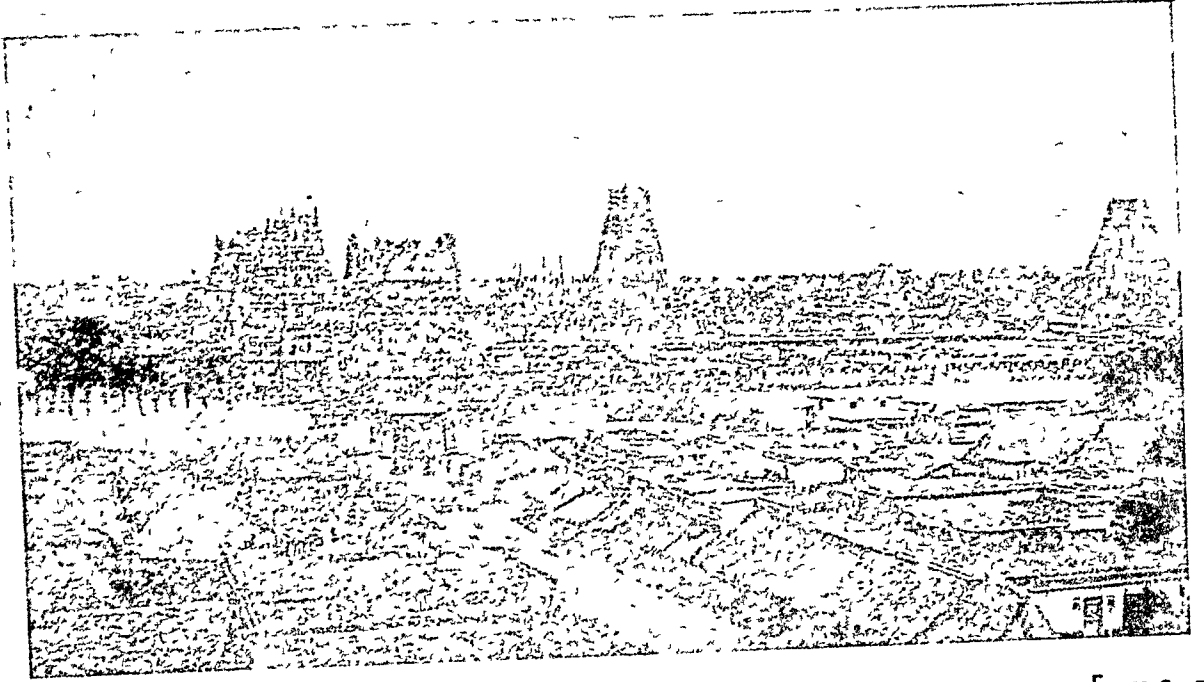
श्रीरंगम्‌का सुप्रसिद्ध विष्णु-मन्दिर

[पृष्ठ ६७२
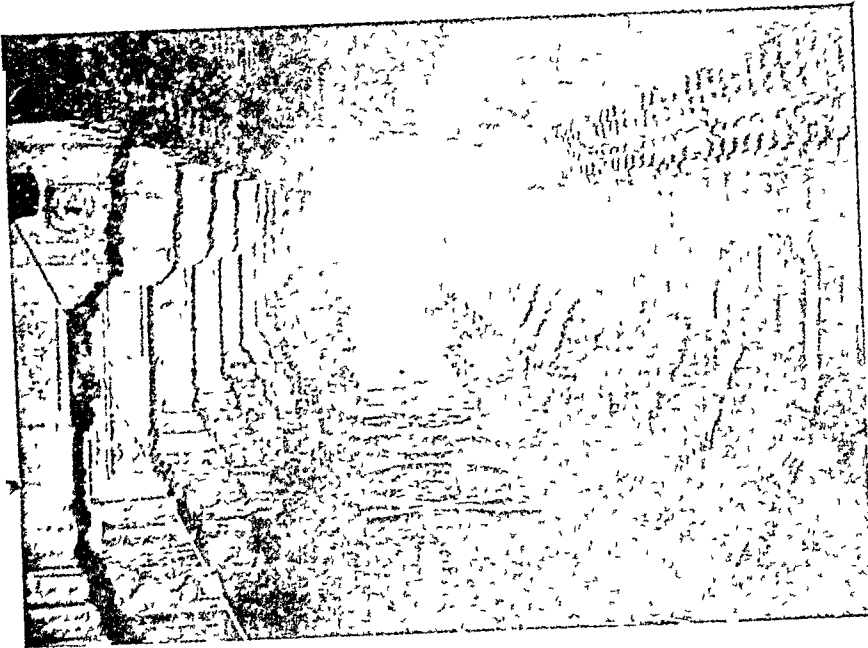
रामेश्वर-मन्दिरकी प्रदक्षिणा

[पृष्ठ ६७२

रामेश्वर-मन्दिरका एक स्तम्भ

[

महामखम् मेला, कुम्भकोणम् [पृष्ठ ६७२
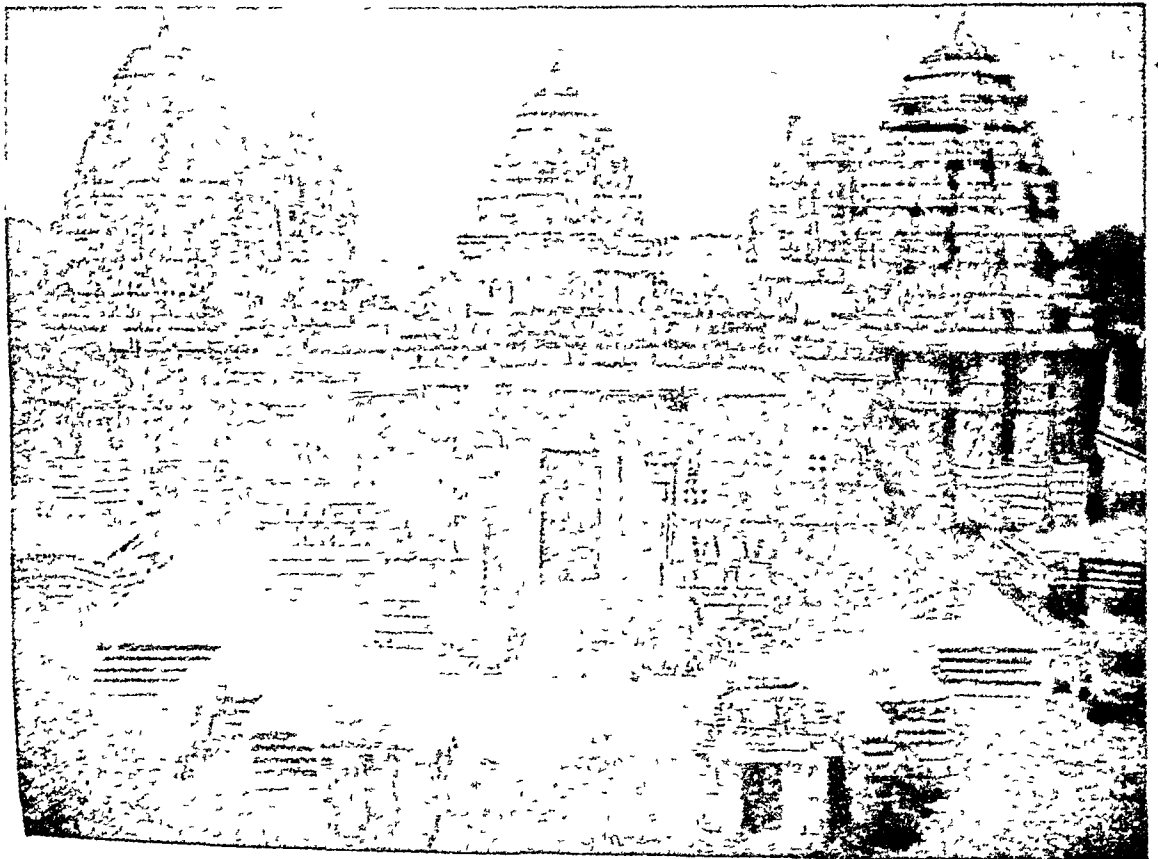
प्रसन्नकेशव-मन्दिर, सोमनाथपुर, मैसूर [पृष्ठ ६७३

कुम्भकोणम् इत्यादिके मन्दिर ऐसे हैं कि इनमें गोपुर ही मन्दिरका मुख्य भाग लगता है। ये गोपुर इतने ऊँचे हैं, जितने चोल-मन्दिरोंमें विमान बनते थे।

चौदहवीं शताब्दीमें मुसल्मानोंके आक्रमण होने लगे और दक्षिणके राज्य छिन्न-भिन्न होने लगे। इसी समय विजयनगर राज्यकी स्थापना तुङ्गभद्राके दक्षिण-तटपर १३३६ ईस्वीसे हुई। विजयनगरकी मन्दिर-शैली अपनी अलग ही थी। इन मन्दिरोंमें मण्डप ही प्रधानता पाने लगे और मन्दिरका मुख्य अङ्ग बन गये। किष्किन्धा नामक स्थानपर होसपेटसे सात मील पूर्व हाम्पी गाँवके पास विरूपाक्ष शिवका सुप्रसिद्ध मन्दिर है। यह मन्दिर भी कलाकी दृष्टिसे बड़ा ही सुन्दर है। इस स्थानपर अनेक मन्दिर हैं, जो ध्वस्त अवस्थामें पड़े हैं। मुसल्मानोंने इन मन्दिरोंको तोड़-फोड़कर बिल्कुल नष्टप्राय कर दिया है।

मैसूर प्रान्तमें होसाल राजाओंके समयके कई बहुत ही सुन्दर मन्दिर दो-तीन स्थानोंपर विद्यमान हैं। इन मन्दिरोंकी शैली भारतके अन्य मन्दिरोंसे अनोखी ही है। कहा जाता है कि इन राजाओंके प्रसिद्ध शिल्पकार गृह-निर्माण-विद्यामें प्रख्यात डंकनाचारीने बारहवीं शताब्दीमें इन मन्दिरोंको बनाया था। इन मन्दिरोंमें बड़ा ही बारीक, सुन्दर तथा रोचक काम किया हुआ है, जिसकी समता अन्यत्र नहीं मिलती। सोमनाथपुरमें प्रसन्न-केशवका मन्दिर, जिसमें प्रसन्न-केशव, गोपालजी तथा जनार्दन भगवान्‌के मन्दिर हैं, बना है। इस मन्दिरके तीन शिखर बड़े ही सुन्दर और ध्यानसे देखने योग्य हैं। मन्दिरमें नीचेसे ऊपरतक शिल्पकारीका सुन्दर काम किया हुआ है। चारों ओरकी बाहरकी नींवोंपर महाभारत, रामायण तथा भागवतकी बहुत-सी कथाओंकी घटना पत्थरोंमें खुदी हुई है। हलेबीद नामक स्थानपर हौसलेश्वर तथा केदारेश्वरके दो प्रसिद्ध मन्दिर बने हैं। हौसलेश्वरका मन्दिर प्राचीन है। मन्दिर एक बहुत ही ऊँची कुर्सीपर बना है और इसकी कारीगरी और बनावट विचित्र है। केदारेश्वरका मन्दिर हौसलेश्वरके मन्दिरसे बहुत छोटा है; किंतु इसकी कारीगरी उससे भी अधिक बारीक है। इसकी नींवसे लेकर शिखरतक उत्तम संगतराशीका काम है। बेलूर नामक स्थानपर, जिसे प्राचीन समयमें दक्षिण-काशी भी कहते थे, चिन्नकेशवका विशाल मन्दिर बना है। इस मन्दिरमें दो उत्तम गोपुर भी बने हैं। मन्दिर और जगमोहनमें संगतराशीका काम बहुत ही सुन्दर है। मैसूर गवर्नमेंटने हालमें ही इन मन्दिरोंकी रक्षाका प्रबन्ध किया है और इन स्थानोंकी पथ-प्रदर्शक पुस्तिकाएँ भी सचित्र प्रकाशित की हैं।

राष्ट्रकूट राजाओंके समयमें बने हुए सुप्रसिद्ध कैलास नामक गुफा-मन्दिरका उल्लेख भी इस स्थानपर आवश्यक है। ऊपरसे प्रायः डेढ़ सौ फुट नीचेतक एक समूचे पहाड़को छेनीसे काटकर प्रायः डेढ़ सौ वर्षोंमें यह मन्दिर बना है। निजाम स्टेटके औरंगाबाद शहरके पास ही वेरूल अथवा इलोरा नामक स्थानपर प्रायः तीस गुफा-मन्दिर बौद्धों, हिंदुओं तथा जैनियोंके बने हैं और उन सब मन्दिरोंमें यह मन्दिर सबसे अधिक उत्तम है। यह मन्दिर आठवीं शताब्दीमें बना था। मन्दिर चार खण्डका है और इसमेंका कुल काम केवल छेनीसे ही हुआ है अर्थात् सारी इमारत और मूर्तियाँ पत्थर एवं पर्वतको काटकर ही बनायी गयी हैं। बड़े-बड़े हाथी, सिंह, घड़ियाल, हरिण, हंस तथा बैल चट्टान काटकर बनाये गये हैं। शिव, विष्णु आदिकी बहुत-सी बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ बगलके मन्दिरोंमें बनी हैं। इस मन्दिरमें पुराणकी कथाओंकी मूर्तियाँ इतनी अधिक बनी हुई हैं कि यदि कोई व्यक्ति केवल इस एक मन्दिरकी मूर्तियोंकी कथाएँ समझ जाय तो वह महान् पण्डित हो जायगा।

भारतके विशाल मन्दिरोंकी चर्चा इस छोटे-से लेखमें पूर्णरूपसे नहीं की जा सकती। जिज्ञासु पाठकोंको इन स्थानोंको प्रत्यक्ष देखकर तथा प्रामाणिक पुस्तकोंको पढ़कर इनका मर्म समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस स्थानपर इतना कह देना आवश्यक मालूम पड़ता है कि मिस्र देशके सुविशाल मन्दिर कदाचित् दक्षिण भारतके मन्दिरोंकी शैलीपर ही बने हैं और उनके द्वार-भाग तो मानो निश्चय ही गोपुरोंकी नकल हैं। कम्बोडिया देशमें किसी समय दक्षिण भारतके लोगोंने शैव तथा वैष्णव धर्मोंकी बड़ी उन्नति की थी। उस प्रदेशमें बने हुए अंकुरवट नामक सुविशाल मन्दिरका एक चित्र इस लेखके साथ दिया जाता है। प्रारम्भमें यह मन्दिर विष्णुका मन्दिर था। इस मन्दिरमें दीवारोंपर महाभारत तथा रामायणकी कथाएँ अब भी खुदी हुई हैं। पाठकगण देखेंगे कि इस मन्दिरका भी घेरा दक्षिणके मन्दिरोंकी ही परिपाटीपर बना है। इस विशाल मन्दिरका निर्माण कम्बुजके राजा सूर्यवर्मा द्वितीयके राज्यकालमें प्रायः ११२५ ई० में हुआ था।

---

* इस लेखके साथ सम्पर्क रखनेवाले इस अंकमें प्रकाशित चित्र रेलवे बोर्डके सौजन्यसे प्राप्त हुए हैं, अतः लेखक उनके लिये रेलवे बोर्डका कृतज्ञ है।

हिंदू-मन्दिर

(लेखक—पं० श्रीभास्करनाथजी मिश्र, एम० ए०)

'अशोकके समयसे लेकर आजतकके भारतीय जीवन और विचारधाराका जो अमूल्य सङ्कलन यहाँकी कलापूर्ण रचनाओंपर टँका हुआ है, उसके लिये विश्व भारतका ऋणी है। किसी भी दूसरे राष्ट्रने, प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन, इतनी उच्च संस्कृतिका निर्माण नहीं किया। किसीने भी धर्मको जीवनका दर्शन बनानेमें इतनी सफलता नहीं प्राप्त की। यहाँतक कि किसीने भी मानवीय ज्ञानको इतना समृद्ध एवं शक्तिशाली नहीं बनाया।'[1] श्रीहैवेलके इन शब्दोंमें एक निष्पक्ष हृदयसे निकली हुई ऐसी गूँज है; जो भारतीय शिल्पकलाके प्रेमियों और मर्मज्ञोंको इसकी परख करनेके लिये आवाहन करती है। फर्गुसन और बर्जेसकी भाँति उन्होंने यूरोपीय पक्षको प्रधानता न देकर भारतीय शिल्पकलाकी मौलिकताका समुचित ज्ञान हमें कराया है और इस प्रकार भारतीय कलाके प्रति ही नहीं, बल्कि समूचे एशियाके प्रति यथोचित न्याय किया है।

भारतीय कलाके इतिहासमें शिल्प-कलाका सर्वमान्य वैभवपूर्ण स्थान है। इसीकी प्रचुर सामग्रीसे वर्तमान संग्रहालय भरे हैं और लगभग १५०० वर्षोंसे यह कला हमें नित्य-नूतन प्रेरणा देती रही है।

राष्ट्रके शिल्पकी अनमोल कृतियाँ यहाँके नागरिकके लिये केवल मनोरञ्जनका सामान नहीं रहीं, उनका जन्म 'कला-कलाके लिये' वाले सिद्धान्तपर नहीं हुआ; वे कोरी भावना और वाहवाहीके खातिर नहीं गढ़ी गयीं, बल्कि उनकी उपस्थितिने भारतीय जीवनके शुष्क कलेवरको अपनी मौलिकता और सजीव सौन्दर्यद्वारा अनुप्राणित किया है। शिल्पकारकी तीक्ष्ण छेनीने निर्मम पत्थरोंको मोमकी भाँति छीला और उनपर भारतीय विचार-पद्धति, भारतीय वेश-भूषा, भारतीय वातावरण एवं भारतीय जीवनके विविध अङ्गोंके विहंगम तथा सूक्ष्मतम चित्र आँके। उसकी संजीवित कला... उसे देशो-विदेशोंतकमें अजर-अमर कर दिया और वह भारतीय कलाका जन्मदाता कहा जाने लगा।

भारतीय जीवनके दर्शन और संस्कृतिको अपना सर्वोच्च लक्ष्य बनाकर उसने राष्ट्रके पवित्रतम स्थान चुने और वहाँ अपना जीवन होमकर ऐसे-ऐसे विशाल भवन निर्माण किये, जो विश्वकी शिल्पकलाके इतिहासमें अद्वितीय हैं और जिन्हें देखकर दर्शककी मानवबुद्धि चकरा जाती है। दीर्घकाय चट्टानोंको तोड़कर उसने दूधिया और मूँगिया पत्थर निकाला। भूख-प्यासकी परवा न करके उन्हें तराशा और अपनी महत्तम देन राष्ट्रके चरणोंपर चढ़ायी। जनता-जनार्दनने देव-भवनोंके गर्भगृह अथवा गूढ़ मण्डपोंमें अपनी संस्कृति और धर्मके प्रतीक प्रस्थापित किये और शङ्खनाद करके अपने कलाकारकी अक्षय कीर्तिको चतुर्दिक् फैला दिया।

मन्दिर-निर्माणकी इस भावनाका प्रत्यक्षारम्भ कब हुआ, इसपर अनेक मत-मतान्तर हैं; किंतु श्रीरायकृष्णदासजीके शब्दोंमें 'मन्दिर-स्थापत्यका विकास स्वतन्त्ररूपसे और अशोकके पहलेसे ही हुआ जान पड़ता है।'[1] है भी ऐसा ही। अर्थशास्त्रमें नगरके भीतर कई देवताओंके मन्दिर बनानेका विधान है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे मन्दिरोंकी परम्परा चाणक्यके पहलेसे चली आती थी, जिसके कारण उसे अर्थशास्त्रमें स्थान मिला। श्रीकृष्ण-पूजा पाणिनि (८ वीं सदी ई० पू०)के समयमें विद्यमान थी और चन्द्रगुप्त-कालमें भी प्रचलित थी। ई० पू० २री-३री सदीमें तो वह इतनी फैल गयी थी कि ऐसे पूजा-स्थानोंके तीन-तीन शिलालेख अकेले उदयपुर राज्यमें मिले हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण-सम्प्रदायके मन्दिर-वास्तुपर जैन, बौद्ध या विदेशी वास्तुकलाका प्रभाव नहीं पड़ा; बल्कि वे ही उनसे न्यूनाधिक मात्रामें प्रभावित हैं। हिंदू-शिल्पकलाकी प्रसिद्ध पद्धतियों और स्वस्तिक, कमल तथा आमलक आदि प्रधान हिंदू-प्रतीकोंका प्रयोग ही इस पहेलीको सुलझानेके लिये पर्याप्त है।

शुंगकालमें हिंदू-देव-मन्दिरोंकी प्रचुरता थी। बौद्धोंने इससे प्रभावित होकर बुद्ध-सूचक चिह्नोंपर शिखरवाले ब्राह्मण-मन्दिर बनाये। बिहारमें इस कालका एक ऐसा ठिकरा मिला है, जिसपर शिखरवाले मन्दिरकी आकृति पायी गयी है। यह ठिकरा पकायी हुई मिट्टीका बना है। इसी मन्दिरमें बुद्धका प्रतीक भद्रासन स्थापित किया गया देख पड़ता है। हिंदू-मन्दिरोंके पर्वतशिखरोंकी भाँति बौद्धोंने शिखरकी भावना सप्तभौम घरोंसे ली।' वे न तो अपने मन्दिरोंमें नयी शैली ही

---

1. E. B. Havell: 'A Study of Indo-Aryan Civilisation, 1915, p. 220.

१. रायकृष्णदास—भारतीय मूर्तिकला, पृ. ४४.

२. वही पृ. ८७.

दे सके और न खुलकर हिंदू-मन्दिरोंका अनुकरण ही कर सके; क्योंकि ब्राह्मणमन्दिर पर्वतके नमूनेपर अवलम्बित थे और बौद्धोपासनामें पर्वतके लिये कोई स्थान न था।

कुषाण-सातवाहनकालमें अग्नि-मन्दिरोंको एक कुषाण-ने नष्ट करा डाला था। और उनके स्थानपर बौद्ध-मन्दिर बनाये थे। महाभारत, वनपर्व, अध्याय १८८ और १९० में लिखा है—'वे (कुषाण) देवताओंकी पूजा वर्जित कर देंगे और हड्डियोंकी पूजा करेंगे। ब्राह्मणोंके निवासस्थानों, महर्षियोंके आश्रमों, देवस्थानों, चैत्यों और नागमन्दिरोंकी जगह एड्रूक बन जायँगे और सारी पृथ्वी उन्हीं (एड्रूकों) से अङ्कित हो जायगी। वह देवमन्दिरोंसे विभूषित न रहेगी।'

भारशिव-वाकाटक काल (तीसरी-चौथी सदी) में नाग-शैलीके मन्दिर बने। वे सादे होते थे और 'उनकी छँकन चौकोर होती थी, जिसपर शिखर भी चौकोर होते थे, जो क्रमशः ऊपरकी ओर सँकरे होते चले जाते थे।' शुंगकालीन मन्दिरोंका ही यह क्रमिक विकास आगे बढ़ा और शकोंके बाद फिर सामने आया। इन मन्दिरोंके अलङ्करणमें खजुर वृक्ष (नाग-चिह्न) अधिकतासे मिलता है। भारशिवोंके कालसे ही गङ्गा-यमुना आदि नदी-देवियोंकी प्रतिमाएँ मन्दिर-तोरणोंके चौखटोंपर बनने लगीं। भूभराके मन्दिर इसी प्रकारकी चौखटवाले हैं। देवगढ़का मन्दिर भी इसी पद्धतिका है।

आर्यावर्त और दक्षिणापथकी संस्कृतिको 'भारतवर्ष' नामके अन्तर्गत लानेका श्रेय वाकाटक वंशको ही है। इनके समयमें अनेक शिवमन्दिर बने, जिनमें एकमुखी लिङ्ग और चतुर्मुखी लिङ्गोंकी स्थापना हुई। इन मन्दिरोंसे ही वास्तु-विस्तार और अलङ्करणकी प्रथा आरम्भ हो जाती है। भार-शिवकालके चौकोर शिखरमें चारों ओर कैलासशिखरोंके-से पट्टे बढ़ा दिये जाते हैं और पार्वतीके मन्दिरमें हिमालयसूचक अभिप्राय मिलने लगते हैं; क्योंकि पार्वती हिमालयकी पुत्री हैं। ऐसे मन्दिरोंका प्रमुख केन्द्र नचना है, जो भूभरासे १३-१४ मीलपर स्थित है। नचनाके मन्दिर गुप्तकालीन मन्दिरोंकी वास्तुकलासे काफी साम्य रखते हैं—मानो वे भूभरा और गुप्तकालकी कलाओंको जोड़नेवाली कड़ी हैं। वाकाटक-मन्दिर भी प्रायः गुप्तकालके ही हैं। हाँ, परस्पर सम्प्रदाय-भेद तो है ही। नागवाकाटकोंके सब मन्दिर शैव-सम्प्रदायके तथा गुप्तवंशियोंके वैष्णव-सम्प्रदायके हैं। शैलीकी दृष्टिसे दोनों समान हैं।

गुप्तकालका कोई मन्दिर अब पूरी तरह सुरक्षित नहीं पाया जाता। बम्बईप्रान्तके ऐहोलीके गुप्त-मन्दिर आदर्श नमूने नहीं माने जाते। एरण (जिला सागर) में राजाधिराज समुद्रगुप्तकी राजमहिषीका बनवाया हुआ विष्णुमन्दिर इनसे कहीं सुन्दर है। देवगढ़ (ललितपुर, जि० झाँसी) की बाहरी दीवारोंपर एक ओर शेषशायी विष्णुके चरण लक्ष्मी चापती हैं, और विष्णुके नाभिकमलपर ब्रह्मा बैठे हैं तथा पास ही योगिराज शिव खड़े हैं। ऊपरसे देवगण इस त्रिमूर्तिके दर्शन कर रहे हैं। इसी दृश्यके नीचे विष्णुके छः पार्षद हैं। दूसरी ओर नर-नारायणकी अखण्ड तपस्याका दृश्याङ्कन हुआ है।

पूर्व मध्यकाल (६००-९०० ई०) के मन्दिरोंमें वेरूल (इलौरा) के मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे ब्राह्मण-मन्दिर कैलास सबसे विशाल और सुन्दर है। इसके सभी भाग निर्दोष और कलापूर्ण हैं। इसकी लंबाई लगभग १४२, चौड़ाई ६२ और ऊँचाई १०० फुट है। स्थान-स्थानपर द्वारों, झरोखों, सीढ़ियों तथा अलङ्कृत स्तम्भोंकी पंक्तियाँ निर्मित की गयी हैं। मन्दिरसे लगे हुए तीन प्रतिमामण्डप हैं, जिनमें ४२ पौराणिक दृश्य उत्कीर्ण हैं। एक दृश्यमें रावण कैलास पर्वतको उठा रहा है; भयत्रस्त पार्वती शिवके विशाल भुजदण्डकी शरण ले रही हैं और उनकी सखियाँ भाग रही हैं; किंतु शिव अडिग हैं और अपने चरणसे कैलासको दबाकर रावणके श्रमको निरर्थक किये दे रहे हैं। मन्दिरके एक बाह्य पार्श्वमें त्रिपुर-दाहका विहङ्गम-चित्राङ्कन है। मन्दिरका दीपस्तम्भ भी दर्शनीय एवं मनोरम है। यहाँके अन्य मन्दिरोंमे नृसिंहावतारका दृश्य, भैरवकी ओजः-पूर्ण मूर्ति, इन्द्र-इन्द्राणीकी लवलीन मूर्तियाँ, शिव-पार्वतीका विवाह, मार्कण्डेयका उद्धार आदि अनेक पौराणिक दृश्य खचित हैं। कैलास-मन्दिरका निर्माण राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (लगभग ७६०-७७५ ई०) ने कराया था।

इस कालका दूसरा कला-केन्द्र ऐलिफैंटाके गुफा-मन्दिर हैं। यह स्थान बम्बईसे प्रायः छः मील दूर एक टापूमे है। टापूका वास्तविक नाम घारापुरी है (भारतीय मूर्तिकला, पृ० १०८)। यहाँका शिव-पार्वतीके विवाहका दृश्य वेरूलवाले दृश्यसे बढ़कर है। पार्वतीके आत्मसमर्पणका भाव और शिवका उन्हें सादर ग्रहण करनेका दृश्य दिखानेमें शिल्पी पूर्णरूपेण सफल हुआ है। इन मन्दिरोंका रचना-काल ८ वीं सदी है।

तीसरा मुख्य कला-केन्द्र इस कालका दक्षिणमें काञ्चीके

समुद्र-तटपर मामल्लपुरम्में चट्टानोंसे काटे गये विशाल मन्दिर-रथ हैं । इन्हें संसारकी अद्भुत वस्तुओंमें गिना जाता है । इनकी शैली छाजनदार वास्तुकी है और इनके सात मन्दिरोंके एक समूहको 'सप्त-रथम्' कहा गया है । इन मन्दिरोंको पल्लवराज महेन्द्रवर्मा प्रथम (लग० ६००-६२५ ई०) और उसके पुत्र नरसिंहवर्मा (लग० ६२५-६५० ई०) ने बनवाया था । इनमें आदि वराहके रथ-मन्दिरमें महेन्द्र और उसकी पटरानियोंकी तथा धर्मराज-रथ-मन्दिरमें नरसिंहकी मूर्तियाँ बनी हुई हैं । धर्मराज-रथ (६७०-७०० ई०) शैव-सम्प्रदायका सर्वोत्तम मन्दिर-नमूना है । भीमरथ सातवीं सदीका एक उत्कृष्ट वास्तु-उदाहरण है । यह मन्दिर दोमञ्जिला भवन है और ग्रेनाइट* पत्थरसे बना है । इसकी लंबाई ४८, चौड़ाई २५ और ऊँचाई २६ फुट है; किंतु अन्य रथोंकी भाँति यह रथ भी अपूर्ण ही रह गया । महिष-मण्डपम् मन्दिरमें शेष-शायी विष्णुकी मूर्तिपर आक्रमण करते हुए मधु-कैटभ नामक राक्षस दिखाये गये हैं । एक अन्य स्थानपर महिषमर्दिनी दुर्गाकी एक भव्य मूर्ति भी चित्राङ्कित है ।

उत्तर मध्यकाल (९००-१३००) के मन्दिर-निर्माता ललितकलाकी विशेषता छोड़कर शिल्पीमात्र रह जाते हैं । उनकी कला रूढ़िग्रस्त हो गयी और उसमेंसे मौलिकताका लोप हो गया । इसी समयसे मन्दिर-वास्तुकी अत्यन्त अलङ्कृत शैलीका क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है । अतएव इनकी कृतियोंमें कला नहीं, कलाभास है । इसी समयसे देवताओंकी मूर्तियोंका यह उद्देश्य कि वे भारतीय कुल-पर्वतोंमें देवताओंके आवासका भान करायें लुप्त हो जाता है । अलङ्करण बढ़ा, किंतु उद्देश्यहीन ही रहा । इतना होते हुए भी यही एक ऐसा काल है, जिसकी वैभव-शाली स्मृतियाँ आजतक भारतीय शिल्पकलाके कोषस्वरूप विद्यमान हैं । मोटे तौरपर इस कालको निम्नलिखित मण्डलोंमें बाँटा जा सकता है—

(१) उड़ीसा, (२) बुन्देलखण्ड, (३) मध्यभारत, (४) गुजरात-राजस्थान, (५) तामिलनाड, (६) काश्मीर, (७) नेपाल, (८) बंगाल-विहार ।

* ग्रेनाइट उस पत्थरका अंग्रेजी नाम है, जो धरतीके भीतर पिघली अवस्थासे ठंडा होकर बनता है और जिसमें बड़े-बड़े रवे या दाने पड़ते हैं ।

(१) उड़ीसा-मण्डल

उड़ीसा ब्राह्मण-सम्प्रदायकी कलाका अनूठा और विशुद्ध केन्द्र है, जिसपर विजातीय कलाओंका प्रभाव नहीं पड़ा । यहाँके मन्दिर-वास्तुके दो प्रधान भाग हैं—(१) विमान (Towered Sanctuary) और जगमोहन (Audience Chamber)। विमान और जगमोहन दोनों ही वर्गाकार निर्माण किये गये हैं । (२) भुवनेश्वर और जगन्नाथपुरीके मन्दिरोंमें दो विशेषताएँ और हैं—(३) नाट्यमन्दिर अथवा रङ्गमण्डप, और (४) भोगमन्दिर—जहाँ दान आदि दिया जाता है । साधारण मन्दिरोंका टिकाव सीधा जमीनपर ही है; किंतु बड़े और महत्त्वपूर्ण मन्दिर चबूतरोंपर अवस्थित हैं । यह कहना भ्रमपूर्ण है कि उड़ीसाके सभी मन्दिर चबूतरोंसे रहित होनेके कारण बूचे लगते हैं । कोणार्कके मन्दिरका भव्य चबूतरा अभीतक अपनी मनोहरता लिये हुए विद्यमान है ।

उड़ीसाके मन्दिरोंको एक-दूसरेसे पृथक्‌रूपमें अध्ययन करनेके लिये पार्श्वस्तम्भ या थमलों (Pilasters) की जाँच करनी आवश्यक है । ये एक प्रकारके स्तम्भ हैं, जो चौकोर आकारवाले होते हैं और मन्दिरके बाह्य पार्श्वमें होते हैं ।

उड़ीसाके मन्दिरोंको निम्नलिखित श्रेणियोंमें बाँटा जा सकता है—

(१) एकरथ देवल—इसमें पाग-स्तम्भ नहीं होते ।

(२) त्रिरथ—जिसमें बीचमें एक रथपाग-स्तम्भ और दो कोनकपाग-स्तम्भ होते हैं ।

(३) पञ्चरथ—इसमें एक रथपाग-स्तम्भ, दो कोनक-पाग-स्तम्भ और दो अनर्थपाग-स्तम्भ अथवा मध्यक-स्तम्भ होते हैं ।

(४) सप्तरथ—इसमें केन्द्रीय रथपाग-स्तम्भ, दो कोनकपाग-स्तम्भ, चार अनर्थपाग-स्तम्भ (जिनमें दो परि-अनर्थपाग-स्तम्भ भी हैं)।

(५) नवरथ—इसमें केन्द्रीय रथपाग-स्तम्भ, चार कोनकपाग-स्तम्भ (जिनमें दो परिकोनकपाग-स्तम्भ भी हैं)।

इन मन्दिरोंमेंसे नवरथ ब्राह्मणोंके लिये, सप्तरथ क्षत्रियों-के लिये, पञ्चरथ वैश्योंके लिये और त्रिरथ शूद्रोंके लिये व्यवहृत होते हैं । नवरथ-मन्दिरका कोई उदाहरण अब नहीं मिलता ।

उड़ीसाके मन्दिरोंके तलसे लेकर चोटीतकके बहुत-से भाग होते हैं, जिनके अपने-अपने पारिभाषिक नाम हैं; तो भी

यहाँ लिङ्गराज-मन्दिरके विभिन्न अङ्गोके नाम दिये जा रहे हैं, जिनमेंसे अधिकांश अन्य मन्दिरोंमें भी पाये जाते हैं—

भारतीय शिल्पकलाकी प्रमुख प्रणालियाँ तीन हैं—द्रविड़-प्रणाली, चालुक्य-प्रणाली और आर्य-प्रणाली (Indo-Aryan) द्रविड़-प्रणालीमें मन्दिरकी बनावटका खाका चौकोर होता है और शिरोभाग पिरामिडके शिखरकी तरह। आर्य-प्रणालीमें बनावटका खाका वर्गाकार होता है और मन्दिरका शिखर ऊँचे पर्वतके नुकीले शिखरकी शक्लका। चालुक्य-प्रणालीमें खाका नक्षत्राकार होता है और शिरोभाग पिरामिडके शिखरका-सा। दक्षिणापथमें द्रविड़ और चालुक्य-प्रणालियोंका प्राधान्य है और उत्तरापथ (आर्यावर्त) में आर्य-प्रणालीका।

(१) विमान—जङ्घा, बरण्डी, बन्धन, उत्तर बरण्डी, उत्तर जङ्घा।

(२) जगमोहन—जङ्घा, बरण्डी, बन्धन, उत्तर बरण्डी, उत्तर जङ्घा।

(३) नटमन्दिर—जङ्घा, बरण्डी, बन्धन, उत्तर बरण्डी, उत्तर जङ्घा।

मोटे तौरपर ये ही अङ्गोपाङ्ग उड़ीसाके मन्दिरोंके हैं; परंतु कहीं-कहीं भोग-मन्दिर भी साथ-ही-साथ रहते हैं, जैसे अनन्त-वासुदेव-मन्दिरमें।

मुक्तेश्वर और परशुरामेश्वर-मन्दिरोंको छोड़कर प्रायः सभी मन्दिर पूर्वाभिमुख हैं। उपान (चबूतरा) वाले मन्दिरोंके उपानका उपरला भाग खुर-पृष्ठ और निचला भाग जल-पृष्ठ कहा गया है।

उड़ीसाके मन्दिरोंमें दक्षिणापथके-से अद्भुत विशाल स्तम्भोंके दर्शन नहीं होते। तो भी भोगमण्डप अथवा जगमोहनके आधारस्वरूप स्तम्भ हैं अवश्य। कोणार्कके भोग-मण्डपका आधार चार स्तम्भ हैं, जिनके उपपीठ (Pedestal) ९ फ़ुट १० इंच ऊँचे हैं।

मन्दिरोंकी दीवारें पत्थरोंके बड़े-बड़े शिला-खण्डोंसे गढ़ी गयी हैं। शिलाखण्डोंकी परस्पर जुड़ाई लोहेके मोटे-मोटे आँकुड़ोंसे की गयी है और चूना, गारा या बजरीका प्रयोग नहीं किया गया। श्रीमनमोहन गाङ्गुलीका कथन है कि यद्यपि लकड़ीका प्रयोग उड़ीसाके मन्दिरोंमें किया गया जान पड़ता है, तथापि इसका कोई पुष्ट प्रमाण अभीतक नहीं मिला है।[१] कोणार्कमें हालकी खुदाई कराते समय ईंटोंका भी एक ध्वस्त मन्दिर मिला है।[२]

(अ) भुवनेश्वर-मन्दिर

लिङ्गराज-मन्दिरके पूर्वमें स्थित सहस्रलिङ्ग तालाबके चारों ओर लगभग १०० मन्दिर हैं। इनमेंसे ७७ अब भी अच्छी हालतमें हैं। लिङ्गराजके ही उत्तरमें विन्दुसागर नामक विशाल तडाग है, जिसका क्षेत्रफल १३००×७०० वर्गफुट है। इसके बीचमें एक टापू है और टापूमें एक सुन्दर-सा मन्दिर है। इसी प्रकार अन्य प्रमुख मन्दिरोंके अपने-अपने तालाब हैं—यमेश्वरताल, रामेश्वरताल, गौरीकुण्ड, केदारेश्वरताल, चल-धुआकुण्ड, मुक्तेश्वर और ब्रह्मेश्वर, जिसके दक्षिणमें मरीचिकुण्ड है। मरीचिकुण्डका जल चैत्रके महीनेमें अच्छे दामोंमें बिकता है; क्योंकि अत्यन्त पवित्र और शुद्ध होनेके कारण लोग इसे खूब खरीदते हैं।

भुवनेश्वरके ये मन्दिर ब्राह्मण-सम्प्रदायकी शिल्पकलाके अनूठे उदाहरण हैं। इनका प्रभाव ऐहोली-स्थानके दुर्गा और इच्छीमल्लिगुडीके मन्दिरोंपर विशेषकर तथा अन्य मन्दिरोंपर भी पड़ा है। वैसे तो इन मन्दिरोंका काल एकदम ठीक नहीं आँका जा सकता; किंतु कहा जा सकता है कि यहाँके प्रमुख मन्दिर १० वीं शताब्दी ई० से लेकर १२ वीं शताब्दी ई० तकके बीच निर्मित हुए हैं।

भुवनेश्वरमें और उसके आसपास लगभग ५०० मन्दिर हैं, जिनमेंसे उल्लेखनीय ये हैं—मुक्तेश्वर, केदारेश्वर, सिद्धेश्वर, परशुरामेश्वर, गौरी, उत्तरेश्वर, भास्करेश्वर, राजा-रानी, नायकेश्वर, ब्रह्मेश्वर, मेघेश्वर, अनन्त वासुदेव, गोपालिनी, सावित्री, लिङ्गराज सरिदेवल, सोमेश्वर, यमेश्वर, कोटितीर्थेश्वर, हइकेश्वर, कपालमोचनी, रामेश्वर, गोसहस्रेश्वर, शिशिरेश्वर, कपिलेश्वर, वरुणेश्वर, चक्रेश्वर आदि।

मुक्तेश्वरको फर्गुसनने उड़ीसा वास्तुशिल्पका हीरा कहा है। इसकी स्थिति वन-उपवनके बीच ऐसी बन पड़ी है कि देखते ही बनता है। प्रकृतिका ऐसा निखरा सौन्दर्य काश्मीर-को छोड़कर भारतमें अन्यत्र शायद ही हो। यह मन्दिर ब्राह्मण-स्थापत्य-कलाका सर्वोत्तम नमूना है। "It may appropriately be called a dream in sand-stone adapting the immortal phraseology

१. श्रीमनमोहन गाङ्गुलीकृत Orissa and Her Remains p. 255.

२. वही।

of Colonel Sleeman regarding Taj Mahal. It seems that the artist must have bestowed all his care and skill to make it a perfect, well-proportioned model of Orissan architecture." अर्थात् 'ताजमहलकी भव्यतापर कहे गये कर्नल स्लीमनके अमर वाक्योंको यह मन्दिर भलीभाँति चरितार्थ करता है। लगता है कि कलाकारने इसे सुन्दर अनुपातयुक्त और सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण बनानेमें अपना पूरा कौशल व्यक्त किया है।'*

पाँच भूमियोवाला यह पञ्चरथ देवल राजारणिया नामक सोमिया पीतवर्ण पत्थरसे बना है। बाहरसे इसके विमान और जगमोहनका माप २६×१५ वर्गफुट है, और उपपीठ १ फुट १ इंच ऊँचा है। जगमोहनके झरोखे चटाईदार मोहरोंके हैं और अलङ्कृत हैं। गङ्गा-यमुना, नन्दी और महाकाल तथा उड़ते हुए गन्धर्वगण इसके विमान और जगमोहनकी शोभा बढ़ाते हैं। हाथीको रौंदते हुए शार्दूल देखते ही बनते हैं। विमानकी शोभा नाग-मूर्तियाँ हैं। बंदरोंके फुदकते-उछलते हुए दृश्य मनको मोह लेते हैं। पार्श्वोंमे, कोनकपागोंमें तपस्वीगण समाधिरत अथवा उपदेश देते दिखायी देते हैं। दक्षिणी रहपागमें अङ्कित मृगयाका अद्भुत दृश्य बड़ा ही आकर्षणपूर्ण है। कुछेक मृग पीछे घूम-घूमकर देखते जाते हैं कि व्याध नजदीक आ पहुँचा क्या।

दूसरा उल्लेखनीय मन्दिर परशुरामेश्वरका है। यह पाँचवीं-छठी शताब्दी ई० का है और भुवनेश्वरके सबसे प्राचीन मन्दिरोंमेसे है। सामान्य उड़ीसा-मन्दिर-पद्धतिसे यह मन्दिर कुछ भिन्न है और पश्चिमाभिमुख है। यह मन्दिर पीठ (plinth) पर स्थित नहीं है। इसका विमान त्रिरथ देवल कहा जाता है और चौड़ाई अधिक होने और ऊँचाई कम होनेके कारण स्थूलकाय लगता है। इसके जगमोहनका आकार-प्रकार अन्य मन्दिरोंसे अच्छा है। कलाकी दृष्टिसे यह मन्दिर भी दर्शनीय है। टप्पादार नकाशी, सूर्याकृतिके आले और कोनकपागोंसे आयलकी पद्धति अत्यन्त शोभनीय हैं। बनाव-चुनावमें यह मन्दिर बहुत कुछ मुक्तेश्वरका-सा है।

हरे-हरे, लहलहाते हुए खेतोंसे परिवेष्टित राजारानी मन्दिरकी अपनी एक निजी छटा है। विमानमें चारों दिशाओंके दिक्पालोंका सुन्दर दिग्दर्शन है। आलोमें पार्श्व-देवताओंकी प्रसन्नमुख मूर्तियाँ अवस्थित हैं। इसमें प्रतिमा-स्थापन नहीं हुआ। इसके बारेमें यही कहा जा सकता है कि इसके मनोहर जगमोहनके तोरणद्वारपर लक्ष्मी और नवग्रहोंकी स्थापना इस बातका प्रमाण है कि यह मन्दिर पूजा-अर्चामें भी प्रयुक्त होता रहा होगा। मन्दिर वैष्णव सम्प्रदायका है और इसका निर्माण राजारणिया पत्थरसे हुआ है। विमान और जगमोहन दोनो ही अत्यन्त अलङ्कृत हैं। विमान रेखा-देवलकी पद्धतिका है और दोमंजिला है। जगमोहनके स्तम्भोंपर नागिनियोंकी आकृतियाँ खुदी हैं और इसके तोरणद्वारोंकी रक्षा द्वारपालगण करते हैं। इसपर पद्म-पंखुड़ी, दली, जलवाई आदि अनेक प्रकारकी देलें उत्कीर्ण हैं। मन्दिरके कोनेके खम्भे या पाग अत्यन्त सुन्दर हैं और उनकी बनावट अद्भुत है। इन पागोंपर चित्रित मूर्तियाँ भारतीय कलाके इतिहासमें बेजोड़ हैं। पद्म-पंखुड़ियोंपर बैठे वाहनारूढ़ अग्नि और नन्दीश्वर शिव हाथमें गदा लिये बड़े शोभायमान हैं। यहाँकी युवतियोंकी मूर्तियाँ अपनी उपमा नहीं रखतीं। राष्ट्रिय म्यूजियम, नयी दिल्लीमें इसी मन्दिरकी तीन स्त्री-मूर्तियाँ प्रदर्शनार्थ रक्खी हैं। उनमेंसे एक स्त्री दर्पणमें मुख देखती हुई शृङ्गार कर रही है। उसके पृष्ठभागमें एक तरु है, जिसपर फल लदे हैं और बंदर तथा तोता उन्हें आनन्दसे चख रहे हैं। दूसरी मूर्तिमें माता अपने पुत्रको हलरा रही है और तीसरी मूर्तिकी युवती बड़ी भाव-भंगीसे अपने प्रियतमको पाती लिख रही है। तीनों स्त्रियाँ साड़ियाँ पहने हैं। साड़ियोंके किनारे चौड़े और बेलदार हैं। उत्तरीय-पटको भी तीनोंने बड़े कलात्मक ढंगसे ओढ़ रक्खा है। इन्हें देखनेमें दर्शक कभी नहीं थकता। उसे आज फिर अपने कुशल शिल्पी पूर्वजोंकी याद हो आती है।

भास्करेश्वर-मन्दिर शैव-सम्प्रदायका है। उसमे शिव-लिङ्गकी ऊँचाई यहाँ ९ फुट है, जिसका आयास १२ फुट १ इंच है। इसकी बनावट अनलङ्कृत है और यह पश्चिमाभिमुख है।

लिङ्गराज-मन्दिर अन्य मन्दिरोंसे बड़ा है और मुक्तेश्वर-मन्दिरकी भाँति ब्राह्मण-कला-पद्धतिका सर्वोत्तम प्रमाण है। इसके स्थानका परिमाण ५२०×४६५ वर्गफुट है और ७ फुट ६ इंच मोटी दीवारसे घिरा है। दीवारमें तीन तोरणद्वार हैं, जिनमेंसे एकका नाम सिंहद्वार है। यह मन्दिर पीड़ देवल-पद्धतिका है। इसके चार प्रमुख भाग हैं—विमान, जगमोहन, नटमन्दिर और भोगमण्डप। विमानकी शुरुआत बिना

* श्रीमनमोहन गांगुली, उड़ीसा ऐंडहर रिमेंस, पृ० २। ७५।
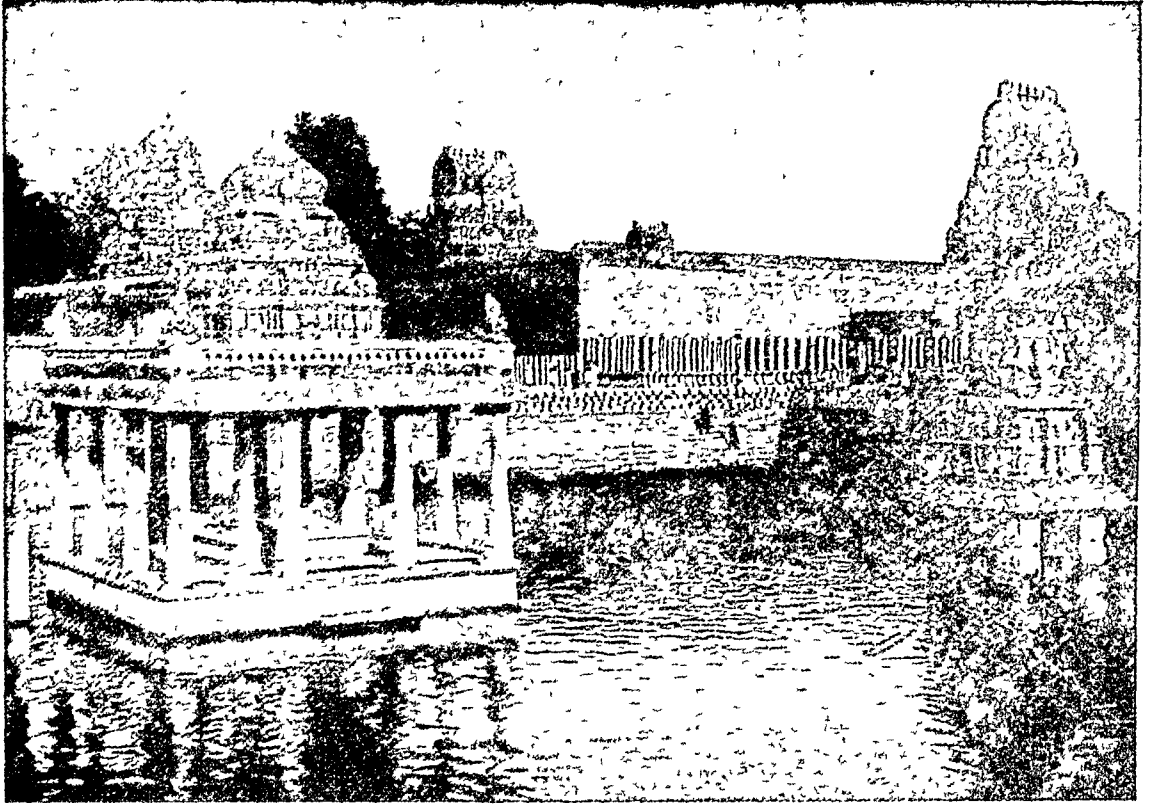
श्रीवरदराज-मन्दिर विष्णुकाञ्ची

श्रीशिवकाञ्ची-मन्दिरका बाहरी दृश्य
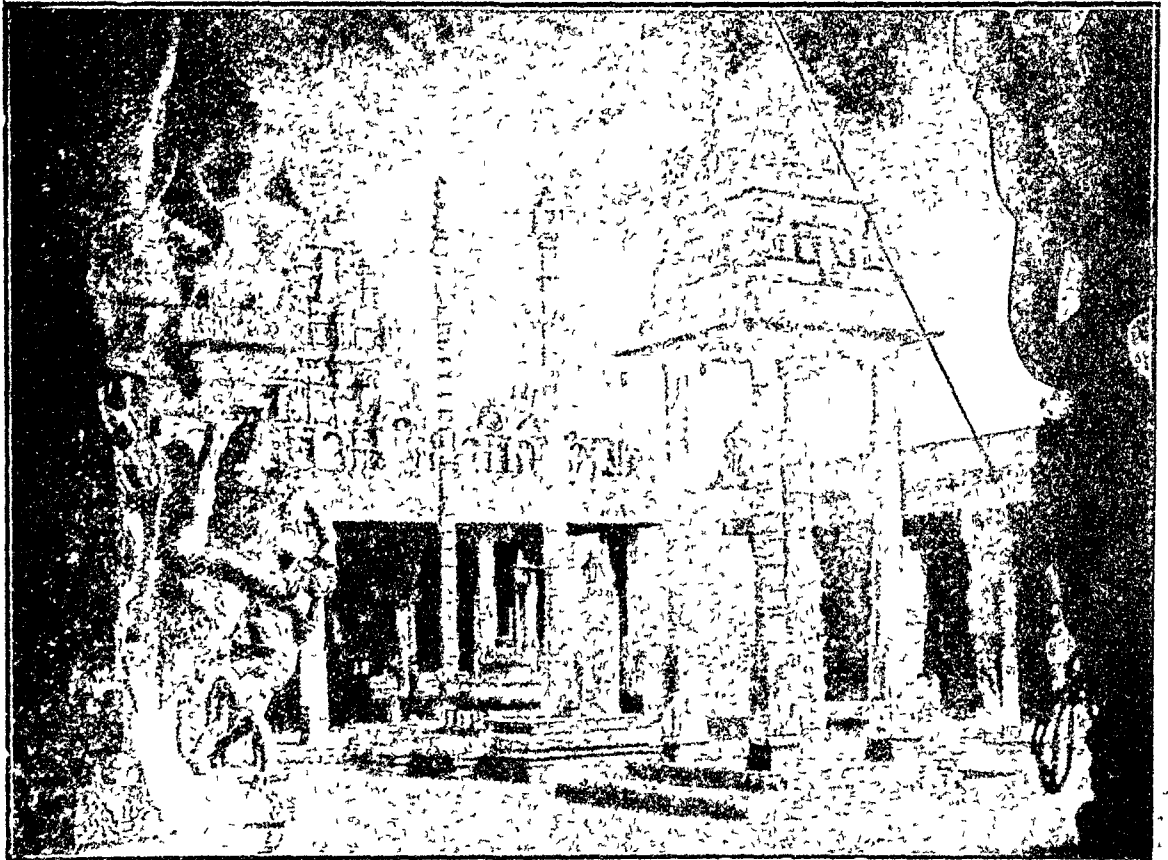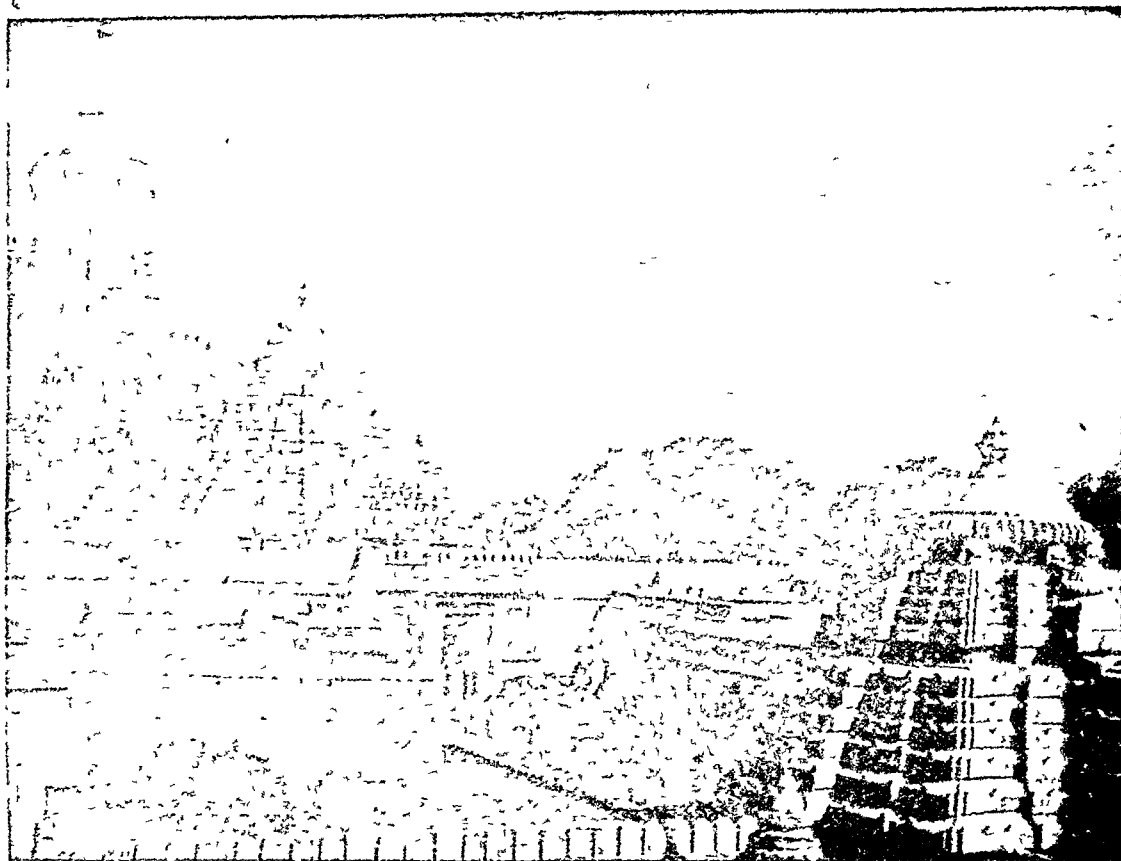
पुरीका श्रीजगन्नाथ-मन्दिर
[इसमें विमान, जगमोहन, नाट्य-मन्दिर तथा भोग-मन्दिर सब साफ दीखते हैं]

श्रीसूर्य-मन्दिर, कोणार्क
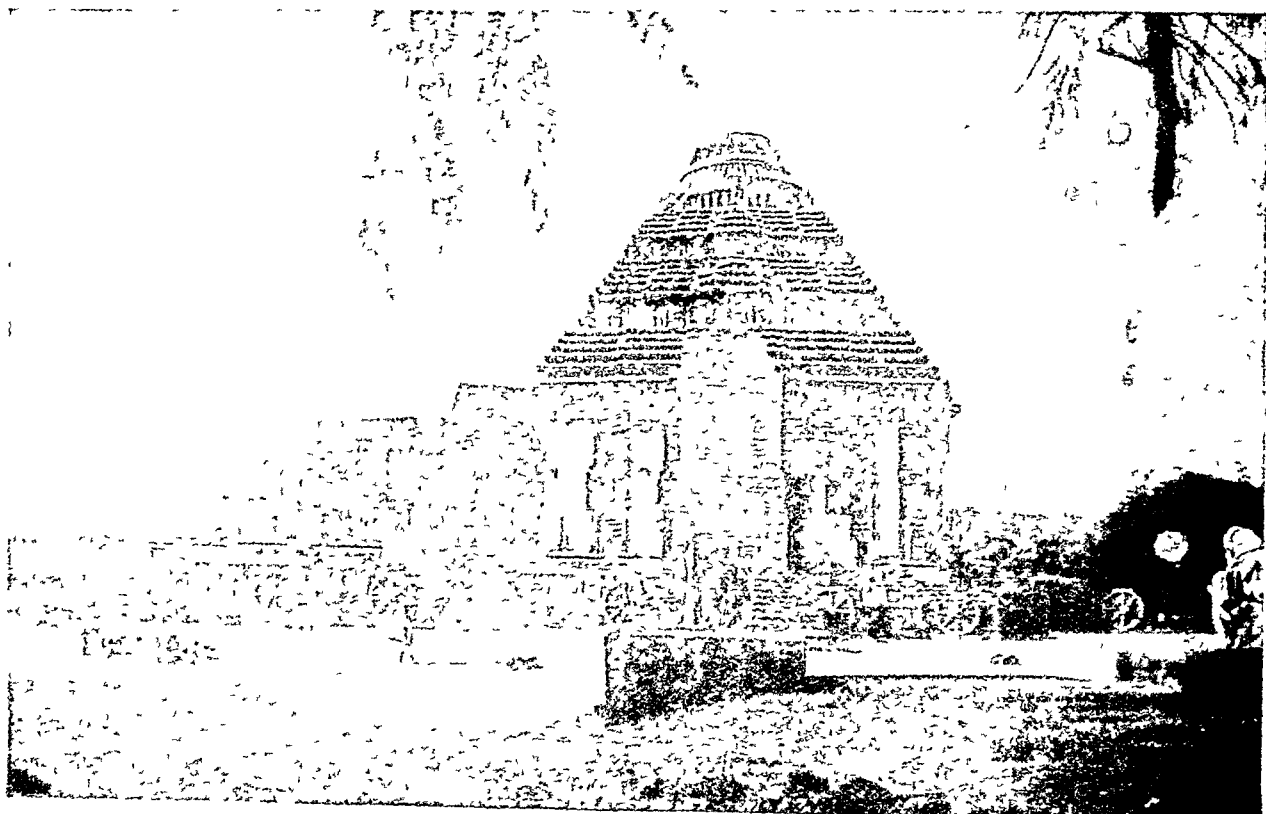
जगती पीठके ही होती है । यह दशभूमिका मन्दिर है । इसकी सुन्दरता पार्श्वदेवता, दिक्पति और लक्ष्मी बढ़ाते हैं । विमानमें रामायण और महाभारतकालीन दृश्य प्रदर्शित हैं । पाण्डवोंका स्वर्गारोहण अत्यन्त भव्य बन पड़ा है । कलशतक इस मन्दिरकी ऊँचाई १४३.०३ फुट है और इसके जगमोहन-की ऊँचाई लगभग ९० फुट है । यह मन्दिर नवीं शताब्दीमें निर्मित हुआ था ।

शेष मन्दिरोंमें वैताल-मन्दिर उल्लेखनीय है । यह खड़ियाकण्डा नामक पत्थरसे बना है और एकरथ देवल कहा जाता है । इसके भाग हैं—वैताल-पाद (रेखा, बरण्डी और जङ्घा) और वैताल-मस्तक । वैताल-पादपर गजारोहियों-का चित्राङ्कन है । वैताल-पाद और वैताल-मस्तकके बीचमें अद्भुत जाली-पञ्जरका काम है । वैताल-मस्तकपर तीन अमलक हैं, जिनके नुकीले त्रिशूल-शिखर दर्शनीय हैं । मस्तकपर पलस्तर किया हुआ है । मन्दिरके जगमोहन और विमानके बीचमें एक अलङ्कृत आला मुकुटाकार स्थित है । इसके उपरले भागमें नटराज शिवकी और निचले भागमें नारायण-की मूर्ति है । मन्दिरमें कपालिनीकी प्रतिमा स्थापित है । परशुरामेश्वर मन्दिरकी तरह यह मन्दिर भी ५वीं-६ठी शताब्दी-का है और बौद्धशिल्पकलासे प्रभावित है ।

उड़ीसाके मन्दिरोंके विभिन्न अङ्गोंका अध्ययन बड़ा ही आकर्षक है । यदि ऊपरसे नीचेतक उनके अङ्गोंका वर्णन किया जाय तो मोटे तौरपर निम्नाङ्कित भाग होंगे—

(ब) जगन्नाथपुरीका मन्दिर*

इस मन्दिरकी वास्तुकलापर बौद्ध-प्रभाव है । बौद्धोंके त्रिरत्न—बुद्ध, धर्म और सङ्घकी भाँति मन्दिरमें जगन्नाथ, सुभद्रा और बलरामकी मूर्तियाँ हैं । बौद्धोंने धर्मको स्त्रीसंज्ञक माना है, इस दृष्टिसे जगन्नाथ और सुभद्राका कैसा मेल यहाँ बैठाया गया है—यह उल्लेखनीय है । जब कि शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी और ब्रह्मा-सावित्री आदिका चित्राङ्कन पुरुष और प्रकृतिके रूपमें हुआ है, तब यह भाई-बहिनका दिग्दर्शन यहाँ बौद्धोंकी दृष्टिसे ही ठीक बैठ सकता है ।

जगन्नाथपुरीकी रथ-यात्रा तो प्रसिद्ध है ही । फाहियान-तकने इसका विशद वर्णन किया है । मन्दिरका विमान हिंदू देवी-देवताओंकी मूर्तियोंसे शोभित है । राहु, जगन्नाथ, बलराम, सुभद्रा, हनुमान् आदिकी भव्य मूर्तियाँ अङ्कित हैं । कहीं-कहींपर कालिय-दमनलीला, गरुड़-वाहन, नारायण, नृसिंह-लक्ष्मी, हरि-हर, गोपालकृष्ण, गोवर्धन-लीला, राम-रावण-युद्धका दृश्य आदि ऐतिहासिक तथा धार्मिक दृश्योंका सुन्दर समावेश है । रहपागोंके आलोंमें वामन, वराह और नृसिंह आदिकी मूर्तियाँ हैं । विमानकी पूरी ऊँचाई २१४ फुट ८ इंच है ।

जगन्नाथ-मन्दिरका जगमोहन पञ्चरथपीड़ देवल है । ६ फुट ३ इंच ऊँचे पीठपर यह स्थित है । जगमोहनके उत्तरी पार्श्वमें मन्दिरका कोश सुरक्षित रहता है । जगमोहनसे ही लगा हुआ नटमन्दिर है, जो भुवनेश्वरके लिङ्गराजके नट-मन्दिरसे साम्य रखता है । नटमन्दिरकी छतके आधार १६ स्तम्भ हैं और यह ६७ फुट चौड़ा है । जगन्नाथमन्दिरका भोग-मण्डप भी पञ्चरथ पीड़ देवली है और पीतवर्ण पत्थरका बना हुआ है । इसका उपपीठ ६ फुट ४ इंच ऊँचा और पाद-पीठ १ फुट ५ इंच ऊँचा है ।

जगन्नाथ-मन्दिरके आस-पास बहुत-से मन्दिर हैं, जिनमें मुक्ति-मण्डप, विमलादेवीका मन्दिर, लक्ष्मी-मन्दिर, धर्मराज (सूर्यनारायण) का मन्दिर, पातालेश्वर, लोकनाथ, मार्कण्डेयेश्वर, सत्यवादी मन्दिर आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ।

(स) कोणार्क-मन्दिर

कोणार्क-क्षेत्र जगन्नाथपुरीके उत्तर-पूर्वमें २१ मीलकी दूरीपर स्थित है । इस क्षेत्रको अर्क-क्षेत्र तथा पद्म-क्षेत्र भी कहते हैं । कोणार्क-मन्दिरके दक्षिण-पूर्वमें २ मीलपर बंगालकी खाड़ी लहरें मारती दिखायी देती है । मन्दिरके उत्तरमें लगभग आध मीलपर चन्द्रभागा नदी बहती है ।

कोणार्क-मन्दिरके तीन भाग हैं—विमान, जगमोहन और भोगमण्डप । जगमोहन और भोगमण्डप परस्पर अलग-अलग हैं । गर्भगृहकी देव-प्रतिमाका सिंहासन यहाँ सुन्दर बन पड़ा है । इसका निचला भाग छोटे-छोटे हाथियोंकी मूर्तियोंसे अलङ्कृत है । मन्दिरका विमान और जगमोहन—दोनों एक-एक फुट ऊँचे पीठोंपर स्थित हैं । पीठ छोटे-छोटे हाथियोंकी कतारदार मूर्तियोंसे सजा हुआ है । तलपृष्ठ और खुरपृष्ठ मिलाकर उपपीठकी ऊँचाई १६ फुट ६ इंच है । इसके मुहानोंपर बड़े सुन्दर तथा अलङ्कृत पहिये या रथ-चक्र गढ़े गये हैं । रथ-चक्रका व्यास ९ फुट ८ इंच है और मोटाई ८ इंचके लगभग है । मन्दिरमें सूर्यदेवताकी प्रतिमा स्थापित

* The first temple erected on this spot to the deity is said to have been built by Yayāti, the founder of the Kesari line. '(Fergusson, p. 429)

जान पड़ता है कि भीमदेव प्रथम (१०२२—१०७२) ने ही प्राचीन मन्दिरका जीर्णोद्धार किया था, क्योंकि उसके शासन-कालके पहले ही महमूद तथा उसके सिपहसालारने मन्दिरको ध्वस्त कर दिया था।

ज्ञात होता है कि मन्दिरमें एक दीर्घाकार मण्डप (गूढ़-मण्डप) था, जिसमें तीन द्वार थे। शिव-लिङ्ग इसी मण्डपके पश्चिमी भागमें स्थापित था। लिङ्गके चारों ओर काफी चौड़ा प्रदक्षिणापथ भी बना था। मन्दिरकी रक्षा करनेवाले तथा अन्य धर्म-प्रसंगपरायणोंकी सभाके लिये एक 'सभामण्डप' भी था। मन्दिरके बाहरी भागपर जो संगतराशी विद्यमान थी, वह अब बहुत कुछ नष्ट हो चुकी है। आक्रमणकारियोंने उसके प्रति घोर अन्याय किया है; यहाँतक कि दीवारोंपर बनी हुई कुछ मूर्तियोंको पहचाना ही नहीं जा सकता। दीवारों-पर रामायणके कुछ प्रसिद्ध कथा-दृश्य भी प्रदर्शित किये गये हैं। कहा जाता है कि सोमनाथ-मन्दिरके दरवाजे चन्दनकी लकड़ीके बने थे और महमूद गजनवी उन्हें अपने साथ गजनी ले गया।

काठियावाडके मध्यकालीन मन्दिरोंमें घुमली (बारदा-पहाड़ियाँ) का नवलाखा मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। यह सोमनाथके मन्दिरसे पहलेका है; किंतु वास्तु-पद्धति लगभग एक-सी है। इसे देखकर सोमनाथ-मन्दिरकी सजीव मूर्तिका अनुमान किया जा सकता है।

(५) तामिलनाड-मण्डल

इस मण्डलमें हिंदू-कलाका एक नया रूप देख पड़ता है, जिसका विकास ठीक उसी प्रकार हुआ है, जैसे यूनानी शिल्पकलाका विकास इटलीमें हुआ था। दक्षिणके मन्दिरोंमें द्रविड-पद्धति अर्थात् शैव-सम्प्रदायके मन्दिरोंका प्रचुरतासे निर्माण हुआ। बौद्धधर्मके पतनके बाद ही शैव-धर्मका प्रचार दक्षिणमें अधिक हुआ। उत्तरी भारतकी तरह ८ वीं सदीसे लेकर १० वीं सदीतकके दीर्घकालमें ही इन मन्दिरोंका निर्माण किया गया। मामल्लपुरम्के शैल-मन्दिर इस कलाके प्रथम केन्द्र हैं तथा बादमें बादामी और पट्टडकलके मन्दिर आते हैं। बहुधा मन्दिरोंका निर्माण उन्हीं स्थानोंपर हुआ है, जो ऐतिहासिक एवं धार्मिक दृष्टिसे अत्यन्त प्रख्यात रहे हैं। भारतीय मन्दिरकी यह एक बड़ी विशेषता है। पट्टडकलके विरूपाक्ष-मन्दिरकी स्थापना भी ऐसी ही रही होगी। अपने प्रथम रूपमें यह मन्दिर सामान्य कमरेके समान रहा जान पड़ता है और ईंटों या कुटे हुए पत्थरोंकी सहायतासे निर्मित हुआ-सा लगता है। जब यह गिरा, तब इसीके अवशेषोंपर शिला-खण्डोंकी सहायतासे विशाल मन्दिर बनाया गया। मामल्लपुरम्के अर्जुनरथ और बादामीके मन्दिरोंकी-सी बनावट इस मन्दिरकी भी है; किंतु इसके अन्तरालकी छत बड़ी ऊँची है। अन्तरालके सामने ही सभा-मण्डप है, जो १६ स्तम्भोंपर आधारित है। इस मण्डपके प्रवेश-द्वारोंको गो-द्वार या गोपुरम् कहा गया है। बादामीके मन्दिरवाले मण्डपसे यह मण्डप दुगुना बड़ा है।

इन धार्मिक भवनों अथवा मन्दिरोंका इतिहास बड़ा पुराना है। सुविधाके लिये यहाँ कलामर्मज्ञ जॉन रस्किनके अनुसार शिल्पकलाके पाँच निम्नाङ्कित विभाग किये जाते हैं—

(१) धार्मिक (Devotional)—खजुराहोके मन्दिर।

(२) स्मारक (Memorial)—साँचीके स्तूप।

(३) नागरिक (Civil)—दीवाने खास या दीवाने आम।

(४) Military (सामरिक)—गढ़ और किले।

(५) वैयक्तिक (Domestic)—राजभवन आदि।

अन्तिम चार विभागोंके अवशेष अब कम ही रह गये हैं और जो हैं भी, वे हिंदू-शिल्पकलासे सीधा सम्बन्ध नहीं रखते; किंतु धार्मिक भवनोंकी प्रचुरताके लिये भारत विश्व-विख्यात है।

यद्यपि विरूपाक्ष-मन्दिरकी स्थिति अब जीर्ण-शीर्ण हो चली है, तो भी वास्तु-कलाका यह मनोरम उदाहरण है। मण्डपके सामने ब्रह्माकी मूर्ति है और शिवका वाहन नन्दी भी इसी मूर्तिके पास है।[1] श्रीहेवलका कथन है—"The temple was not an archaeological essay, but a sermon in stone, suggesting by its symbolism the rhythm of the cosmos teaching the lessons of the universal life, and recording the sacred traditions of the Indian people."[2] समस्त भारतीय मन्दिरोंके साथ-साथ दक्षिणापथके मन्दिरोंपर भी यही नियम लागू होता है। यह मन्दिर ऊँचे उपान (Plinth) पर खड़ा है। जगतीपीठका चौड़ा वक्ष सुडौल हाथियोंकी मूर्तियोंसे अलङ्कृत है।

1. Havell—A Study of Indo-Aryan Civilization, p. 180.
2. Ibid, pp. 180-181.

मन्दिरके चारों ओर परकोटेकी बड़ी-सी चौकोर दीवार खिंची है। और दीवारमे पूर्वी तथा पश्चिमी पार्श्वमें गोपुरम् बने हैं। इन्हीं दीवारोकी छायामे आचार्य ब्राह्मण और उनके शिष्य पठन-पाठन करते थे। यात्रियोंके विश्राम लेनेका स्थान इन्हीं दीवारोंकी मोटी चद्दरोंके नीचे था। दक्षिणके अन्य मन्दिरोकी भाँति विरूपाक्ष-मन्दिरका विमान-शिखर भी गोपुरम्-मण्डपोसे बहुत ऊँचा है। मन्दिरका वर्तमान खाका भी अत्यन्त विशाल लगता है; किंतु अब गिरने-फूटनेसे नष्टप्राय-सा हो गया है। अब वह धूमिल और भद्दापन लिये हुए है। अतएव इसकी रक्षाकी ओर मद्रास-सरकारको शीघ्रातिशीघ्र ध्यान देना चाहिये।

तंजौरकी महिमा उसके विशाल और बहुविध अलङ्कृत मन्दिरोके कारण है। यदि किसीने गयाके विशाल बौद्ध-मन्दिरको देखा हो तो वह तंजौरके मन्दिरका अंदाजा लगा सकता है। चौकोर पीठपर खड़ा हुआ यह मन्दिर क्रमशः सँकरा होता हुआ एक चौकोर शिखरतक चला गया है। इस चौकोर शिखरके चारो कोणोपर नन्दीकी मूर्तियाँ स्थापित हैं। इन्हीं मूर्तियोंके मध्यमे एक गुम्बजाकार कलश-सा है, जिसपर त्रिशूल स्थित है। मन्दिरके अलङ्करणमे सूर्याकृतियोंके-से चक्रार्धोंसे काम लिया गया है। मन्दिरपर एकके ऊपर एक लगातार १३ मंजिली छते हैं। मन्दिरके अलङ्करणकी दूसरी विशेषता है विष्णु-सम्प्रदायकी मूर्तियोका गोपुरोंमें प्रयोग, जब कि अन्यत्र शिवकी ही महिमाका अलङ्करण है। वैष्णव और शैव-सम्प्रदायका यह पारस्परिक मेल प्रशंसनीय है। श्रीफर्ग्युसन कहते हैं—"It is only an instance of the extreme tolerance that prevailed at the age at which it was erected, before these religions became antagonistic."*

शिव-मन्दिरके परकोटेमें ही शिवके पुत्र सुब्रह्मण्यका भी एक मन्दिर है। इसकी बनावट एकदम भिन्न है। गोपुरम्के साथ-साथ छोटे आकार-प्रकारका किंतु अलङ्कृत विमान जुड़ा हुआ है। गोपुरम्मे गणेशमूर्तिकी स्थापना है और विमानके अन्तरालमे सुब्रह्मण्यकी। शिव-मन्दिरका काल लगभग चौदहवी शताब्दी और सुब्रह्मण्यका पंद्रहवीं शताब्दी है।

तिरुवल्लूर

मद्रासके ३० मील पश्चिममे यह नगर है। यहाँके मन्दिरोंका निर्माण बड़ी ही निराली पद्धतिका है। एक लंबा-चौड़ा परकोटा है, जिसमें चारों ओर मन्दिरनुमा गोपुरम् बने हैं, जिनमेसे होकर भीतर मन्दिरमें जाया जाता है। यह परकोटा ९४०फुट×७०१ फुट है। भीतरके चौकोर आँगनमे ही मन्दिरकी स्थापना है, जिसमें शिव-पार्वतीकी मूर्तियाँ हैं। किंतु यह सब होते हुए भी मन्दिरके विभिन्न भाग इतने दूर-दूर बनाये गये हैं कि उन्हे देखकर विस्मयकारी भाव नहीं उत्पन्न होता।

श्रीरङ्गपट्टन

यहाँका मन्दिर दक्षिणके समस्त मन्दिरोंमें बड़ा और वास्तु-कलाका सर्वोत्तम नमूना है। यहींपर मन्दिरसे एक सहस्र १६×७० खम्भोंवाला मण्डप है, जिसका कमरा ४५०फुट×१३० फुट है। यहाँके गोपुरम् और मन्दिरोका-सा अलङ्करण दक्षिणमे और कहीं नहीं मिलता। कुण्डलाकार झपकती हुई बेलें, पुष्पाकृतियाँ, छाजन और चक्रार्ध आले—सब मिलाकर अनोखी छटा उत्पन्न करते हैं; किंतु तिरुवल्लूरकी-सी बेढंगी निर्माण-पद्धति यहाँ भी अपनायी गयी है। और मन्दिरके विभिन्न भाग दूर-दूर रक्खे गये हैं। यदि परकोटेके चारो गोपुरम् केन्द्रस्थ मन्दिरके पास ही चतुष्कोणोंपर स्थापित किये जाते तो वास्तु-कलाके एक ठोस और सम्पूर्ण दृश्यके दर्शन होते।

चिदम्बरम्

दक्षिणके अत्यन्त प्राचीन मन्दिरोमे इस मन्दिरका स्थान है। इसमे चिदम्बर शिवकी मूर्ति प्रस्थापित है। मन्दिर एक बड़े परकोटेके भीतर है, जिसके मध्यमे एक तालाब है। तालाबके उत्तरी पार्श्वमें पार्वती-मन्दिर, दक्षिणी पार्श्वमें सहस्रस्तम्भ मण्डप और पश्चिमी पार्श्वमे शिव-गर्भगृह है। स्तम्भ-कलाकी दृष्टिसे चिदम्बरम्का मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध है। स्तम्भोकी अलङ्कृतशोभा मण्डपोमें है। नीचेसे ऊपरतक उनमे अनेकविध अलङ्करण है और शिरोभागका चौकीनुमा और छाजननुमा भाग, जो छत भी सँभालता है, शोभनीय है। ये स्तम्भ ४१×२४ के हिसाबसे स्थित हैं। वर्तमान रूपमें मन्दिरका विमान ध्वंस हो चुका है।

रामेश्वरम्

दक्षिणमे द्रविड़-कलाका सर्वोत्तम प्रतिनिधि रामेश्वरम्का बहुश्रुत शिव-मन्दिर है। दक्षिणके अधिकांश मन्दिरोकी भाँति इसमे भिन्न-भिन्न कालोमे विकास या वृद्धि न करके एक साथ ही पूर्व आयोजनके अनुसार इसका निर्माण किया

---

* Fergusson, History of Indian and Eastern Architecture, p. 344.

प्रकार ला सकते हैं। यूरोपीय पद्धतिमें यह बात अधिक आवश्यक समझी जाती है कि जिस भवनका वहाँ निर्माण किया जाता है, वह हूबहू किसी दूसरे मकानकी नकल हो—खासकर छोटी-छोटी बातोंमें तो उसके सदृश हो ही, भले ही वह स्वरूपतः उत्तम अथवा अपने उद्देश्यके अनुकूल न हो। यही हेतु है परिणाममें अन्तर होनेका।'

किंतु यही गौरवपूर्ण कला १०वीं शताब्दीके पश्चात् अवनति-के गर्तमें गिरने लगी। शुद्ध आर्यत्व और ब्राह्मणधर्मकी मूल दार्शनिक भावनाका गलत अर्थ लगाया जाने लगा। कलाकारको बाह्य प्रकरणोंकी प्रेरणा न मिली। वह इस प्रेरणासे वञ्चित अपनेमें ही, अपनी कलाके दायरेमें ही सिकुड़ा रह गया और बार-बार अपनी ही कलाकी पुनरावृत्ति करने लगा। उसकी नयी सूझका लोप हो गया और साथ ही भारतीय कलाके विकासपर भी पटाक्षेप हो गया। अकबर-कालतक लगातार यह पुनरावृत्ति देशमें शान्त वातावरण पाकर न्यून हुई। तदनन्तर जो कुछ भी कलाके नामपर बना-बनाया था, उसपर म्लेच्छोंके आक्रमण-पर-आक्रमण होने लगे। सोमनाथ, कन्नौज, बंगाल, मथुरा, वृन्दावन, सारनाथ, नालन्दा और लखनौतीको दुर्भाग्यके दिन देखने पड़े। चारों ओर इस्लामकी धर्मान्धताका कुल्हाड़ा चलने लगा।

इतनेपर भी भारत और भारतीय कला आजतक जीवित है। अपने बचे-खुचे अवशेषोंपर ही टिके गये हैं। अकेले ये अवशेष ही विदेशियोंकी आँखें खोल देते हैं। भारतीय-संस्कृतिकी नींव न हिलायी जा सकी है और न हिलायी जा सकती है। इसकी भित्ति एक ऐसा विशाल समाज है, जो भारतके सात लाख गाँवोंमें बसा है।

भारतके प्राचीन गुफा-मन्दिर

(लेखक—श्रीत्रिलोकीनाथजी मेहरोत्रा, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, एल्० एम्० सी० टी०)

प्राचीन कालमें अरण्यवासी लोग विचित्र तरहसे गुफाएँ बनाते थे। मिर्जापुरसे रीवाँ जानेवाली Great Deccan Road (ग्रेट डेकन रोड) पर मिर्जापुरसे प्रायः पैंतालीस मीलपर 'लहोरिया दह' नामक गाँवके पास ऐसी अनेक प्रागैतिहासिक कालकी गुफाएँ सड़कके पास ही विद्यमान हैं। 'सहवइया पथरी', 'मोरहना पथरी', 'बागा पथरी' तथा 'लकहर पथरी' नामकी पहाड़ियोंमें प्रायः एक सौ ऐसी गुफाएँ मिलेंगी। इन गुफाओंके अंदर लाल, पीले तथा सफेद रंगोंमें चार-पाँच हजार वर्ष पुरानी चित्रकारी अब भी मिलती है। इनके अध्ययनसे प्राचीन परिस्थितिका अच्छा ज्ञान हो सकता है। कुछ लोगोंका ख्याल है कि इन चित्रोंमें अनेक चित्र जादूके लिये बनाये गये थे। एक स्थानपर सुसज्जित द्वारके भीतर एक चोबदार आदमी बैठा दिखलाया गया है और उसके सामने दो व्यक्ति उसकी पूजा-सी कर रहे हैं। सम्भव है कि गुफा-मन्दिरोंके प्राचीनतम कालमें इसी प्रकारके मन्दिर बनते थे।

इसके बाद काश्मीरकी सुप्रसिद्ध 'अमरनाथ गुफा' में प्रसिद्ध शिवलिङ्गका युग आता है। अमरनाथकी यात्रा वर्षमें केवल एक दिन होती है। इस गुफामें ऊपरसे जल टपकनेके कारण Stalagmite नामक बर्फकी शिवमूर्ति, उजेले पक्षमें, स्वयं निर्मित होती है और अँधेरे पक्षमें विगलित हो जाती है।

भारतवर्षमें सबसे प्राचीन गुफाएँ, गयासे पटना जानेवाली लाइनपर बेला स्टेशनसे आठ मील पूर्व स्थित हैं। इन गुफाओंको 'बराबर पहाड़ीकी गुफाएँ' कहते हैं। यहाँपर सिद्धेश्वरनाथका प्राचीन मन्दिर तथा पातालगङ्गा नामक झरना है। इस स्थानकी गुफाएँ बड़े-बड़े कमरोंके रूपमें बनी हैं। कहीं-कहीं दो कमरोंके रूपमें अथवा एक बड़े हॉलके रूपमें बनी हैं। गुफाएँ सात-आठ हैं और इनके भीतर 'वज्रलेप' नामक सुन्दर पालिस की हुई है। यह वही पालिस है, जो अशोकके स्तम्भोंपर मिलती है। इसमें कहीं-कहीं तो आदमी अपना मुखतक देख सकता है। प्रायः सभी गुफाओंमें लेख हैं, जिनमें सम्राट् अशोक, सम्राट् दशरथ आदिद्वारा इन गुफाओंका निर्माण आजीवक ब्राह्मण साधुओंके निमित्त किया गया लिखा है। इन गुफाओंके नाम सुदामा, लोमश ऋषि, रामाश्रम, विश्वझोपड़ी, गोपी, वेदाथिक इत्यादि हैं। इन गुफाओंके कारण यहाँकी नागार्जुनी पहाड़ी सतघरवा नामसे पुकारी जाती है। निश्चय ही ये गुफाएँ ईसासे बहुत पहले-की बनी हुई हैं।

काठियावाड़में जूनागढ़ स्टेटमें 'खपराखोड़िया' नामक गुफाएँ भी बहुत ही प्राचीन हैं। ये गुफाएँ प्राचीन कालमें मठके रूपमें काममें लायी जाती थीं और इनमें पशुयुक्त शरभ बने हैं। 'ऊपर कोट' में एक दो खण्डकी गुफा है, जिसमें

नीचेका दर ग्यारह फुट ऊँचा है। ऊपरके खण्डमें एक तालाब है और उसके चारों तरफ गली इत्यादि हैं। यहाँके स्तम्भोंके विषयमें डा० बरजेसका कहना है कि कदाचित् ऐसे सुन्दर स्तम्भ कहीं नहीं हैं। गिरनार पर्वतपर जानेके लिये वागेश्वरीद्वारपर 'बाबा प्यारा' नामक गुफाएँ हैं। ये गुफाएँ भी अशोकके समयकी बनी हुई हैं और बहुत ही प्राचीन हैं।

कार्लीका सुप्रसिद्ध गुफा-मन्दिर बंबई-पूना लाइनपर मलवली स्टेशनसे तीन-चार मील पूर्व है। यह गुफा पहाड़के मध्यमें सड़कसे प्रायः दो फर्लांग ऊँचेपर बनी है। यह गुफा चैत्यके रूपमें बनी है और इसके बगलमे कई छोटे-छोटे विहार भी बने हैं। इसके भीतर एक धातु-गर्भ अर्थात् स्तूप बना है और इसके चारों ओर सुन्दर स्तम्भ तथा परिक्रमा बनी हैं। बाहर-की ओर उन राजाओं तथा रानियोंकी मूर्तियाँ बनी हैं, जिनके समयमें ये गुफाएँ पत्थरको छेनीसे काटकर बनायी गयी थीं। ऊपरके भागमे निश्चय ही काठकी बड़ी-बड़ी शहतीरें लगी थीं, जो अब नष्ट हो गयी हैं। गुफाके बाहर एक सुन्दर स्तम्भ पत्थरका बना है। इस गुफामे कई लेख हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि ईसासे दो सौ वर्ष पूर्व उशवदत्तने यह गुफा-मन्दिर बनवाया तथा अजमित्रने इस स्तम्भकी स्थापना की थी। यह गुफा आन्ध्रवंशी राजाओंके समयमें बनायी गयी थी।

इसी कालमें बनी हुई नासिककी सुप्रसिद्ध 'पांडुलेण' गुफाएँ हैं। आगरा-बंबई रोडपर नासिकसे पाँच मील आगे सड़कके बायीं ओर त्रिरश्मि पर्वतपर प्रायः सड़कसे एक फर्लांग ऊपर २३ गुफाएँ बनी हैं। इनमें कुछ तो चैत्य अर्थात् पूजागृह हैं और कुछ विहार अर्थात् बौद्ध भिक्षुओंके रहनेके स्थान। ये गुफाएँ भी आन्ध्रवंशी राजाओंकी बनवायी हुई हैं और इनमें कई विस्तृत लेख भी विद्यमान हैं। विद्वानोंका ख्याल है कि ये गुफाएँ ईसासे एक या दो सौ वर्ष पूर्वसे लेकर ईसाके बादकी दूसरी शताब्दीकी बनी हुई हैं। इनमे तीन बड़े-बड़े विहार और एक चैत्य विशेषरूपसे दर्शनीय हैं। इन गुफाओंमे जो मूर्तिकारी मिलती है, उसको देखनेसे आन्ध्र राजाओंके समयकी वेश-भूषा, उन राजाओंकी श्रद्धा तथा उनके विजय किये हुए देशोंके नाम मिलते हैं। शातकर्णी राजाओं तथा पुलमावी राजा इत्यादिके वर्णन तथा लेख विशेषरूपसे द्रष्टव्य हैं। ये गुफाएँ हीनयान नामक बौद्ध सम्प्रदायके साधुओंके लिये बनी थीं और इनमें बुद्धकी कोई मूर्ति नहीं मिलती। बुद्धके स्मारकरूपमे उनकी पगड़ी इत्यादि ही मिलती है। पीछेकी अर्थात् महायान मतकी गुफाओंमें अनेकानेक मूर्तियाँ बनी हुई मिलेंगी।

ऊपर लिखे हुए मलवली स्टेशनके प्रायः आधा मील पश्चिम सुप्रसिद्ध 'भाजाकी गुफाएँ' पर्वतपर नीचे सड़कसे कुछ ही ऊपर बनी हैं। भाजाकी गुफाएँ भी ईसासे दो-तीन सौ वर्ष पूर्व बनी हुई मानी जाती हैं। यहाँपर अठारह गुफाएँ हैं, जिनमे बीचका चैत्य बहुत ही प्राचीन तथा कई बातोंमें द्रष्टव्य है। इस चैत्यमे अब भी प्राचीन समयकी काठकी शहतीरें लगी हुई मिलती हैं। सम्भव है कि इनके प्रायः ढाई हजार वर्षतक विद्यमान रहनेका कारण यह हो कि सैकड़ों वर्षतक ये गुफाएँ मिट्टीके अंदर दबी थीं। इस स्थानपर एक बहुत ही प्रसिद्ध विहार भी है, जिसमें मूर्तिकारी बहुत ही विचित्र है। इसमें भीतरकी ओर एक मनुष्य बना है, जो हाथमे पहुँची पहने हुए तथा विचित्र तरहसे भाले लिये हुए है। विहारके बाहर बरामदेमे और भी विचित्र चित्रकारी है। एक मूर्तिमे एक पुरुष हाथीपर बैठा दिखलाया गया है, जिसके बारेमे कुछ लोगोंका मत है कि यह इन्द्रकी प्रतिमा है। दूसरी प्रतिमामे एक पुरुष बड़ी पगड़ी बाँधे एक रथपर जा रहा है, जिसके नीचे बड़े-बड़े दैत्य आ गये हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि यह मूर्ति सूर्यकी है। इनके अतिरिक्त यहाँपर कई और मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनके विषयमे विद्वानों-का अभीतक कोई निश्चित मत नहीं स्थापित हुआ है। ऐसी मूर्तिकारी इस देशमे केवल यहीं मिलती है।

उड़ीसामे भुवनेश्वरसे चार-पाँच मील पश्चिम उदयगिरि, खण्डगिरि तथा नीलगिरिकी गुफाएँ भी अत्यन्त ही प्राचीन कही जाती हैं। ये जैन-गुफाएँ हैं। कुल मिलाकर दो पर्वतोंपर ६६ हैं। यहाँकी गुफाएँ दो-एकको छोड़कर सब-की-सब कष्टसे रहने लायक बनी हैं। तपस्वियोंके लिये ऐसा ही उपयुक्त भी था। कहीं-कहींपर गुहाद्वार इतने छोटे बने हैं कि प्रवेश बहुत कठिनाईसे हो सकता है। इनमेसे अधिकांश ईसासे तीन सौ वर्ष पूर्व बनी थीं। इन पहाड़ियोंके आस-पास बहुत घना जंगल है। यहाँ कल्पवृक्षकी पूजा कई जगह दिखलायी गयी है और रानी-गुम्फा तथा गणेश-गुम्फामे कई दृश्य पार्श्वनाथके जीवनसे सम्बन्ध रखते हुए मिलते हैं। 'हाथी-गुम्फा' नामक गुफामे सम्राट् खारबेलका एक बड़ा-सा लेख ईसासे १५५ वर्ष पूर्वका मिलता है, जिससे भारतीय इतिहासपर बहुत प्रकाश पड़ता है।

गुप्त राजाओंके समयमे बनी हुई ईसाकी पाँचवीं शताब्दीका

२० गुफाएँ भिलसाके पास स्टेशनसे चार मीलकी दूरीपर स्थित हैं, जो उदयगिरिकी गुफाएँ कहलाती हैं। यहाँकी गुफाएँ प्रायः सब की-सब ब्राह्मणधर्मकी हैं। उदयगिरि पत्थर [illegible] है, इस कारण छोटी-छोटी कोठरियोंमें मूर्तियाँ [illegible] हैं। इन गुफाओंमें तीन लेख संस्कृतमें हैं, जिनमें प्रसिद्ध गुप्त राजाओंका उल्लेख है। हिंदू-धर्मके देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ प्रायः [illegible] बनी हैं। पाँच नंबरकी गुफामें [illegible] भगवान्‌की है। भगवान्‌के [illegible] पास [illegible] मूर्ति है और भगवान्‌के बायें पैरके नीचे शेषकी मूर्ति है। अनेक देवता लोग भगवान्‌की स्तुति कर रहे हैं। [illegible] वराह-मूर्ति और [illegible] है। गुफा नं० १३ में [illegible] बड़ी मूर्ति शेषशायी विष्णुकी है, जो [illegible] हो गयी है; परंतु गुप्तकालीन शिल्पकलाका यह एक अच्छा नमूना है।

अजंताकी गुफाओंके विषयमें [illegible] जानते ही होंगे। अजंताकी पहाड़ी निज़ाम स्टेटके उत्तरमें [illegible] स्टेशनके पास स्थित है। अथवा [illegible] पहूर नामक स्टेशनसे सात मील दक्षिण पड़ती है। अजंतासे निकटतम ग्राम फर्दापुर पड़ता है, जहाँसे चार मीलकी दूरीपर सह्याद्रि पर्वतकी सुन्दर घाटीमें २९ गुफाएँ बनी हैं। गुफाओंके पास विस्तृत पारिजातके वन हैं। इन गुफाओंका निर्माणकाल ईसासे पूर्वकी द्वितीय शताब्दीसे लेकर ईसाके बादकी छठी शताब्दीतक माना जाता है। यहाँपर पहाड़ी अर्धचन्द्राकार है और उसीके बीचमें अर्थात् भूमितल तथा शिखरके मध्यमें ये गुफाएँ बनी हैं। इन गुफाओंके चारों ओर पहाड़की ऊँची-ऊँची दीवारें हैं। गुफाओंके सामने वाघोरा नदी बहती है। ऐसे शान्त स्थानमें ये गुफाएँ बनी हैं कि जिस समय लोगोंने इनको १८१८ में देखा, उनमें व्याघ्र इत्यादि रहने लगे थे। इन २९ गुफाओंमें ९, १०, १९ और २६ नंबरकी गुफाएँ चैत्य हैं और शेष विहार हैं। इन विहारोंमें बौद्ध भिक्षु रहते थे और चैत्यमें पूजा करनेके लिये इकट्ठे होते थे। इन गुफाओंमें अनेक चित्रकारोंने वर्षोंतक रहकर काम किया है। इनमेंसे एक ग्रिफिथ्स (Griffiths) भी थे। उन्होंने एक कल्पना-चित्र इस बातको दिखलानेके लिये बनाया है कि अपनी अजित अवस्थामें ये गुफाएँ कैसी रही होंगी। इन गुफाओंमें मिट्टी, भूसा इत्यादि मिलाकर पत्थरकी दीवारों- पर लेप किया जाता था और उसके ऊपर जातक-कथाओंके चित्र देशी रंगोंमें बनाये जाते थे। ये चित्र इतने सुन्दर बने हैं कि संसारमें इनका सानी नहीं। स्त्रियोंके चित्र ऐसे सुन्दर बने हैं कि उनका वर्णन करना कठिन है। स्त्रियोंके चित्र [illegible] इत्यादि दर्शनीय हैं। आश्चर्य तो यह है कि इनकी [illegible] प्रकाशित हुई थी, [illegible] आजकल भी [illegible] हो गये हैं— [illegible]

१, २, ९, १०, ११, १६, १७, १९ तथा २६ नंबरकी गुफाएँ [illegible] हैं। [illegible] चित्रकारी, मूर्तियाँ तथा [illegible] देखने योग्य हैं।

[illegible] स्टेशनसे [illegible] १० मील पश्चिम बाघ गुफाएँ हैं। गुफाओंतक सुन्दर सड़क बनी है और मनोहर ऊबड़-खाबड़ [illegible] बने हैं। महू स्टेशनसे मोटर इत्यादिका प्रबन्ध हो सकता है। ये गुफाएँ [illegible] बाघ नदीके ऊपर बनी हैं। [illegible] नदीकी [illegible] एक प्राचीन मन्दिर है। यहाँपर ९ गुफाएँ थीं, जिनमें ३ गिर गयी हैं और उनसे गुफाओंका मार्ग बंद हो गया है। इन गुफाओंमें भी अजंताकी तरह सुन्दर चित्रकारी मिलती है। इन गुफाओंको लोग 'पञ्चपाण्डव गुफाएँ' कहते हैं। गुफाएँ बौद्ध धर्मके महायान-सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती हैं और इनका निर्माण-काल ईसाके ७ या ८ वीं शताब्दी माना गया है। सब गुफाएँ विहार या मठ हैं। प्रत्येक गुफाके पीछेकी ओर एक छोटा-सा चैत्य या मन्दिर बना हुआ है। भिक्षुओंके रहनेकी कोठरियाँ दरवाजेमें बनी हैं। लोगोंने इन गुफाओंके नाम 'गोसाईंकी गुफा', 'पाठशाला' इत्यादि रख दिये हैं। यहाँकी चित्रकारीमें बुद्धदेवकी पूजा, राजा लोग, सवार, भिक्षु तथा संन्यास दिखलाये गये हैं। शिव तथा शेषशायी विष्णुके मन्दिर भी पासमें ही हैं।

मद्रासके पास महाबलीपुर नामक स्थानमें पल्लव-मूर्तिकारी-के नमूने अनेक गुफा-मन्दिर हैं। इनमें पञ्चपाण्डवोंके रथ अर्थात् मन्दिर तथा त्रिमूर्ति, वराह और दुर्गाके मन्दिर भी बने हैं। एक चट्टानपर गङ्गावतरणका प्रसङ्ग भी खुदा हुआ दिखलाया गया है।

इलोरा—कलाश-मन्दिर

इलोरा—कैलाश, मध्य-मन्दिरका मण्डप

इलोरा—सभामण्डप और पार्श्वगृह

इलोरा—गर्भगृहके सम्मुख सस्तम्भ मण्डप

इलोरा—सीताकी नहानी, भैरव मूर्ति

इलोरा—इन्द्र-सभा

इलोरा—ढेडवाड़ा गुफाका प्रवेशद्वार

निजाम स्टेटमें औरंगाबादसे प्रायः १६ मील दूर एक सुन्दर सड़कपर 'इलोराके गुफा-मन्दिर' बने हैं। इस स्थानपर पहले १२ गुफाएँ बौद्ध-सम्प्रदायकी, इनके बाद १७ गुफाएँ ब्राह्मण-धर्मकी और अन्तमें ५ गुफाएँ जैन-धर्मकी हैं। अजंताकी गुफाएँ खड़ी पहाड़ीमें बनी हैं। इस कारण उनके सामने कोई आँगन-सा स्थान नहीं मिलता। पर इलोराकी गुफाएँ एक ढालुए पहाड़को काटकर बनायी गयी हैं और प्रायः समतलपर ही हैं। प्रत्येक गुफाके सामने कुछ स्थान मिलता है। ये गुफाएँ दन्तिदुर्ग इत्यादि राष्ट्रकूट राजाओंके समयमें ईसाकी छठी और सातवीं शताब्दियोंमें बनी हुई हैं। बौद्ध गुफाओंमें एक तीन खण्डका विशाल महल बना है, जिसमें महायान-सम्प्रदायकी अनेकानेक मूर्तियाँ पुरुषाकार बनी हैं। प्रायः प्रत्येक गुफामें एक विशाल बौद्ध मूर्ति पूजाके स्थानपर बनी है। हिंदू-गुफाओंमें प्रसिद्ध 'कैलास-मन्दिर' है, जो इन सब गुफाओंमें अथवा भारतके सम्पूर्ण गुफा-मन्दिरोंमें सर्वश्रेष्ठ है। एक समूचे पहाड़को छेनियोंसे काटकर चार खण्डका मन्दिर बनाया गया है। और इसके तीन ओर सैंकडों दृश्य पौराणिक कथाओंके मन्दिरसे बाहर चारों तरफकी दालानमें बने हैं। इस मन्दिरमें बैलों, सिंहों तथा हाथियोंका अच्छा दिखाव है। भगवान् शङ्करकी लीलाएँ अधिकतर मूर्तियोंमें बनी हैं। मुख्य मन्दिरके भीतर सुन्दर चित्रकारी भी थी, जिसके बहुत थोड़े अंश अब भी बचे हैं। 'रामेश्वर' तथा 'सीताकी नहानी' इत्यादि और प्रसिद्ध गुफाएँ हैं। 'सीताकी नहानी' को देखते ही बबईकी प्रसिद्ध एलीफेंटा गुफाओंका स्मरण होता है। जैन-गुफाओंमें छोटा कैलास, इन्द्रसभा तथा जगन्नाथसभा विशेषरूपसे द्रष्टव्य हैं। इनमें गोमटेश्वरकी सुन्दर मूर्तियाँ बनी हैं और यह दिखलाया गया है कि ये ध्यानमें इतने मग्न हो गये थे कि लताएँ इनके पैरोंमें लिपटकर बढ़ने लगीं।

औरंगाबादमें ही पंचक्की नामक स्थानके पास एक पर्वतपर छोटी-छोटी कई बौद्ध-गुफाएँ बनी हैं, जो देखने लायक हैं। कुल ९ गुफाएँ बनी हैं। इनमें दो ऐसी हैं, जिनके भीतर प्रवेश करते ही मालूम पड़ता है कि दोनों ओर पुरुष और स्त्रियाँ बैठे हैं। बात यह है कि पुरुषाकार मूर्तियाँ बुद्धभगवान्का पूजन करती हुई दिखायी गयी हैं। इनके केश-कलाप भिन्न प्रकारके हैं और द्रष्टव्य हैं। एक गुफामें एक अवलोकितेश्वरकी बड़ी-सी मूर्ति बनी है। और उसके दोनों ओर छोटी-छोटी मूर्तियाँ विविध प्रकारकी आपदाओंसे ग्रस्त मनुष्योंकी दिखलायी गयी हैं। इनको देखकर मार्कण्डेय-पुराणका स्मरण होता है, जहाँ लिखा है—

रक्षांसि यत्रोग्रविषाश्च नागा
यत्रारयो दस्युबलानि यत्र।
दावानलो यत्र तथाब्धिमध्ये
तत्र स्थिता त्वं परिपासि विश्वम्॥

बंबई शहरके पास कई गुफाओंकी श्रेणियाँ हैं। इनमें धारापुरी (एलीफेंटा), योगेश्वरी, कन्हेरी, मरोल तथा मण्डपेश्वरकी गुफाएँ हैं। धारापुरीकी गुफाएँ बंबईके समीप समुद्रमें स्थित एलीफेंटा टापूपर हैं। इस स्थानको रोज मोटर लॉन्च जाता है। इस टापूपर पहले एक पत्थरका हाथी था, जिसको देखकर पोर्चुगीज लोगोंने इस टापूको 'एलीफेंटा' नाम दिया। वह हाथी अब बंबईके विक्टोरिया गार्डन्सके अजायबघरमें रख दिया गया है। इस टापूका प्राचीन नाम गिरिपुर है और कुछ विद्वानोंका यह ख्याल है कि यह पिछले गुप्त राजाओंकी राजधानी था। इस टापूपर कुछ प्राचीन ऐतिहासिक चिह्न भी विद्यमान हैं; परंतु इलोराकी गुफाओंके साथ बनी हुई ७ वीं अथवा ८ वीं शताब्दीकी हिंदू-गुफाएँ देखने योग्य हैं। कुल पाँच गुफाएँ हैं, जिनमें एक सबसे बड़ी है। इसमें सुन्दर मूर्तिकारी तथा शिल्पकला दीखती हैं। कहीं-कहीं प्राचीन चित्रकारीके अवशेष भी मिलते हैं और प्राचीन ग्रन्थोंके अवलोकनसे मालूम होता है कि किसी समय इस सम्पूर्ण गुफामें सुन्दर चित्रकारी विद्यमान थी। प्रायः प्रत्येक गुफामें शिवलिङ्ग स्थापित है। पोर्चुगीजोंद्वारा गुफाओंको बहुत क्षति पहुँची है और उन्होंने गुफाओंके अंदर तोप चलाकर बहुत-सी मूर्तियाँ नष्ट कर दी हैं। इस गुफामें खम्भे विचित्र बनावटके हैं। जलका प्रबन्ध भी अच्छा है। इसमें शङ्कर भगवान्की लीलाएँ कई स्थानोंपर बनी हैं—यथा महायोगी, नटेश्वर, भैरव, पार्वतीपरिणय, गङ्गावतरण, अर्द्धनारीश्वर, पार्वती-मान, कैलासके नीचे रावण तथा महेश-मूर्ति शिव, जिसे भ्रमवश त्रिमूर्ति कहते हैं। यथार्थमें तीनों मूर्तियाँ भगवान् शङ्करकी ही हैं और उन्हींके तीन रूप इस मूर्तिमें दिखलाये गये हैं।

योगेश्वरीकी गुफाएँ जोगेश्वरी नामक स्टेशनके पास ही हैं। यह स्टेशन बी० बी० सी० आई रेलवेपर बंबईके पास ही है। यह गुफा प्रायः भूगर्भमें ही बनी है अर्थात् ऊपरसे नीचेको बनी है, इसका पत्थर भुरभुरा है। और इसी कारण बहुत सी मूर्तियाँ और खंभे कालकी गतिसे नष्ट हो गये हैं। यह गुफा भी ब्राह्मण-धर्मकी है और इसका समय वही है, जो धारापुरीकी गुफाओंका। इस गुफामें जलके निर्यातके लिये बड़ा अच्छा प्रबन्ध किया गया है।

मरोलकी गुफाएँ योगेश्वरी गुफाके पास ही पर्वतके दूसरी ओर हैं। प्रायः २० गुफाएँ होंगी। ये गुफाएँ पृथ्वीतल तथा पर्वतके शिखरके मध्यमें हैं। इनका पत्थर भी बहुत ही कमजोर है और यही कारण है कि इनमेंसे बहुत-सी गुफाएँ ध्वस्त हो गयी हैं। ये गुफाएँ बौद्ध गुफाएँ लगती हैं।

मण्डपेश्वरकी गुफाएँ भी बंबईके पास माउंट पोयसर (Mount Poisur) नामक स्टेशनके पास ही हैं। ये गुफाएँ भी ब्राह्मण-गुफाएँ हैं और ८ वीं सदीकी बनी हुई कही जाती हैं। रोमन कैथलिक लोगोंने इस स्थानपर अपना गिरजाघर स्थापित किया और योगियोंको वहाँसे हटा दिया। कहते हैं कि १६ वीं सदीमें जब यहाँ गिरजा स्थापित हुआ, यहाँपर ५० योगी रहते थे।

सुप्रसिद्ध कन्हेरीकी गुफाएँ टॉडो तथा बोरेवली स्टेशनोंसे पाँच मीलपर स्थित हैं। यह स्थान भी बंबईके पास ही है। ये गुफाएँ भी ९वीं शताब्दीमें बनी हुई मानी जाती हैं। यहाँ-पर १०९ बौद्ध-गुफाएँ हैं। पर इनमें एक ही गुफा मुख्य है, जो कार्लेके नमूनेपर बनी है। इनमें महायान-सम्प्रदायकी मूर्तियाँ विद्यमान हैं। इनमें भी सुन्दर चित्रकारी की गयी थी, पर पत्थरकी खराबीने इनकी बहुत-सी चित्रकारी नष्ट हो गयी है।

ऊपर भारतकी केवल प्रसिद्ध गुफाओंका ही वर्णन किया गया है और वह भी बहुत ही सरसरी तौरपर। 'बराबरकी गुफाओं' की पालिश, अजंताकी गुफाओंकी चित्रकारी तथा इलोराकी गुफाओंकी मूर्तिकारी एक बार देखनेपर कभी भी हृदय-पटलसे विस्मृत नहीं हो सकती। जिस समय हमलोग इलोराकी दशावतार नामक ब्राह्मण-गुफा देख रहे थे और उसमें बनी विशाल मूर्तियोंका अवलोकन कर रहे थे, तब हम-लोगोंने देखा कि एक अमेरिकन बुढ़िया खड़ी रो रही थी। पूछनेपर मालूम हुआ कि वह इस कारण रो रही है कि ऐसी मूर्तिकारी उसने जीवनभरमें कहीं नहीं देखी। उसके रोनेका एक और कारण था और वह यह था कि इतने बड़े-बड़े राजा, जिन्होंने ऐसे गुफा मन्दिर बनवाये थे, वे सब-के-सब नष्ट हो गये और उनकी बनायी हुई गुफाओंमें लोग जूता पहनकर घूमने लगे। आशा है कि पाठकगण उपर्युक्त विवरणसे इन वस्तुओं-को देखनेकी अभिलाषा करेंगे और कालकी गतिका अनुभव करेंगे *।

हिंदुओंके प्रिय जलतीर्थ

(लेखक—श्रीवैकुण्ठनाथजी मेहरोत्रा एम्०ए०, एल्-एल्० बी०, एल्०एस्०जी०टी०)

एक महात्मासे किसीने पूछा कि हिंदू-जातिका कोई एक गुण ऐसा बतलाइये, जो अन्य जातियोंसे भिन्न हो। महात्माने उत्तर दिया—'जलप्रियता'। यथार्थमें हिंदुओंके प्रत्येक उत्सव-पर निकटस्थ नदी, तड़ागादिमें स्नान करनेकी प्रथा प्रचलित है। यही कारण है कि हमारे अधिकांश तीर्थ विशिष्ट नदियों अथवा सरोवरोंके रूपमें तथा उन्हींसे सम्बद्ध हैं। इन नदियोंके विषयमें ऐसी धारणा की जाती है और यह धारणा वैज्ञानिक आधारपर स्थित है कि विशेष नदियोंका जल विशेष गुण और प्रभाव रखता है। सब जल एक-से नहीं होते। सब नदियोंका जल भी एक-सा नहीं होता अर्थात् किसी नदीके जलमें कृमि जल्दी पड़ते हैं, किसीमें देरसे पड़ते हैं और किसीमें पड़ते ही नहीं। हिमालयका पश्चिमी प्रदेश; जहाँ मानससरोवर स्थित है, किसी समय प्लक्षप्रस्रवण प्रदेशके नामसे विदित था। कहा जाता है कि इस प्रदेशमें कल्पवृक्ष था और देवतालोग रहते थे। उस समय राजपूताना, पंजाब इत्यादि जलमें डूबे हुए थे। काश्मीर भी अपनी झीलमें डूबा हुआ था। संयुक्तप्रान्त, बिहार, बंगाल इत्यादि भी जलमग्न थे। हिमालयके उत्तरमें भी जल-ही-जल था। कालान्तरमें पृथ्वीकी उथल-पुथलसे उत्तरी भारतके प्रदेश जलसे बाहर निकले। उस समय उत्तरी भारतकी नदियोंका प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें हमारी गङ्गाजी मुख्य हैं। ये सब नदियाँ एक प्रकारसे मानस-सरोवरसे ही निकली हैं। सिन्धु तथा पंजाबकी अन्य नदियाँ, जिनमें प्राचीन सरस्वती भी सम्मिलित थी, और ब्रह्मपुत्र तो प्रत्यक्ष ही मानस-सरोवरसे सम्बन्ध रखती हैं। शारदा, गङ्गा तथा यमुना भी अन्तःसलिला होकर उसी मानस-सरोवरसे निकली हैं। गङ्गाजीको इस प्रदेशमें लानेका श्रेय महाराज भगीरथको प्राप्त हुआ। अवश्य ही इतने ऊपर हिमालयसे नीचे जल-के आनेमें विकट प्रयत्न करना पड़ा होगा और अवश्य ही भगवान् शङ्करकी अनुकम्पाके बिना उनकी जटाओं अथवा हिमालयकी विकट घाटियोंसे भगवती भागीरथीका निर्यात न

* इस लेखसे सम्पर्क रखनेवाले जो चित्र दिये जाते हैं, वे रेलवे बोर्डके सौजन्यसे प्राप्त हुए हैं। उसके लिये लेखक बोर्डका आभारी है।

मानसरोवर

[पृष्ठ ६९०

तीर्थपुरी गुफा

हरिद्वारके घाटोंका विहंगम दृश्य

हुआ होगा। यही घटना गङ्गावतरणके नामसे विख्यात है। कदाचित् भगवती भागीरथी ऐसी शिलाओंपरसे बहती है कि उनके विकृत जलमें भी कभी कृमि नहीं पड़ते। गङ्गामें स्नान करनेवालोंका वर्ण भस्मावलेपित भगवान् शङ्करके शरीर-सा गौर हो जाता है। यमुनामें स्नान करनेवालोंका वर्ण किञ्चित् श्याम होता है। गोमतीमें, जो एक बहुत ही प्राचीन नदी है, स्नान करनेवालोंका वर्ण विशेष श्याम तथा पुष्ट होता है। नर्मदाके जलमें स्नान करनेवाले लोगोंका वर्ण गङ्गामें स्नान करनेवालोंसे किञ्चित् ही न्यून होता है। पाठकोंने विविध प्रकारकी रेणुकाएँ (बालू) देखी होंगी। किसी बालूमें सुवर्ण-कण होते हैं, किसीमें रजत-कण, किसीमें ताम्र-कण तथा किसीमें लौह-कण। विविध वस्तुओंकी बालूकी तौल भिन्न-भिन्न होती है। बुन्देलखण्डकी केन नदीमें ऐसे पत्थर मिलते हैं, जिनके ऊपर मूर्ति अङ्कित हो गयी होती है। गण्डकीमें शालग्राम मिलते हैं अर्थात् यह नदी ऐसे स्तरोंसे होकर बहती है, जहाँ अधिक सुवर्ण है; क्योंकि शालग्रामकी हिरण्य-गर्भ मूर्तिमें सुवर्ण ही होता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक नदीके जलचर भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं। इसका अर्थ यह है कि जलमें, विशिष्ट चट्टानोंपर बहनेसे, वात, पित्त तथा कफकी प्रकृति आ जाती है और उसीके अनुसार जीव-जन्तु उस जलमें उत्पन्न होते हैं। कई वर्ष हुए मेरे पिताजी हमीरपुरमें डिप्टी कलेक्टर थे। हमीरपुरमें डेढ़ ही मीलके अंदर दो नदियाँ यमुना तथा बेतवा दो तरफ पड़ती हैं। उनमें यमुना-का जल वायुकारक तथा गरिष्ठ होता है और बेतवाका वात-व्याधिरहित और पाचक। बेतवामें धुले हुए वस्त्र भी विशेष साफ होते थे। अस्तु, मेरा तात्पर्य यह है कि इस जलप्रियताके अंदर हमारे महर्षियोंके विशाल अनुभव तथा ज्ञानकी नींव है।

इसके अतिरिक्त पूजामें भी प्रायः हर अवसरपर आचमन, मार्जन, स्नान इत्यादिके लिये जलकी आवश्यकता होती है। पितृ-तर्पणमें भी जलका होना परमावश्यक है।

अब मैं भारतकी कुछ प्रसिद्ध नदियोंसे सम्बद्ध तीर्थो-का वर्णन करूँगा। भगवती भागीरथी लक्ष्मणझूलेके पास समतल पृथ्वीपर आती हैं। इसके बाद ही ऋषिकेश तथा हरिद्वार इसके तटपर पड़ते हैं। इन स्थानोंमें गङ्गाके जलमें पत्थरके छोटे-छोटे कण बहुत रहते हैं और उनके कारण जलको सद्यः न पीकर थोड़ी देर रखकर पीना चाहिये। आजकल खाने-पीनेकी व्यवस्था सर्वत्र बिगड़ गयी है। और हरिद्वार-ऐसे स्थानोंकी तो बात ही क्या है। इस तीर्थमें आजकल पाखण्ड तथा आडम्बर बढ़ जानेपर भी सन्ध्याके समय अनेकानेक स्त्रियों तथा पुरुषोंको गङ्गाजीकी सच्चे भावसे दीप-पूजा करते मैंने देखा है। हरिद्वार ही गङ्गा-द्वार है और यहींपर महर्षि वेदव्यासने अपने तपोबलसे महाभारतमें मरे हुए कौरवों तथा अन्य वीरोंका साक्षात्कार उनके कुटुम्बवालोंको कराया था। पास ही कनखलमें दक्ष-यज्ञका स्थान है।

काशी दूसरा परम प्रसिद्ध स्थान है, जो गङ्गापर बसा हुआ है। गङ्गाजीका जल फर्रुखाबाद जिलेतक अन्य नदियों तथा दूषित जलोंसे अछूता मिलता है और प्रायः इस स्थानतक पहुँचते-पहुँचते जलमें मिले हुए पाषाण-कण भी नीचे चले जाते हैं। इसी कारण कहा जाता है कि फतेहगढ़ नामक नगरमें लोगोंकी आयु अधिक होती है। इस बातकी पुष्टि सरकारी पुस्तकोंद्वारा भी होती है। सरकारी पुस्तकोंमें यही बात चुनारके विषयमें भी लिखी है। काशीका मुख्य भाग अथवा प्राचीन नगर कंकड़की एक लंबी पहाड़ीपर बसा है। यह पहाड़ी तीन अथवा चार मील लंबी है। यही कारण है कि गङ्गा काशीके नीचे सदा ही बहती हैं। महात्माओंका कहना है कि उस कंकड़की पहाड़ीमें पुराने घरोंकी नीवके नीचे टाँकोंमें अनेक महायोगियोंके जीवित समाधि लिये हुए शरीरोंके अवशेष विद्यमान हैं। काशीके प्रायः पाँच मील लंबे घाट अधिकांश मरहठोंके समयमें तीन सौ वर्ष पहले बनने शुरू हुए थे। ओङ्कारेश्वर, विश्वेश्वर तथा केदारेश्वर नामक तीन खण्डोंमें यह काशी नामक पहाड़ी विभक्त है। काशीमें अब भी अनेक देवस्थान ऐसे हैं कि जहाँ पहुँचते ही मनुष्यकी वृत्ति अनायास ही सात्त्विक हो जाती है। इस स्थानपर भी पाखण्ड, आडम्बर इत्यादिके आ जानेपर भी अबतक देवत्वकी कुछ-कुछ आभा विद्यमान है ही। भावनाके कारण इस तीर्थमें भगवान्ने भक्तोंको विविध रूपोंमें दर्शन दिये हैं। विद्वान् अब भी काशीमें विद्यमान हैं। काशीमें गङ्गा-स्नान सुलभ तथा निरापद-सा है। यही कारण है कि यहाँ लोग प्रायः दो-तीन बजे रातसे ही गङ्गा-स्नान प्रारम्भ कर देते हैं। सबसे पहले जो लोग स्नान करते हैं, उनको लोग अच्छी तरह देख और पहचान नहीं पाते। कहते हैं कि देवतालोग इस समय आते हैं। इतना तो निश्चय ही है कि इस समय आने वाले व्यक्ति देवभावसे विशेषरूपमें परिपूरित होते हैं। काशीमें अनेक तीर्थ—यथा नीलकण्ठेश्वर, मणिकर्णिकेश्वर इत्यादि पृथ्वीतलसे बहुत नीचे बने हैं और इसीसे प्राचीन समयकी काशीका कुछ अनुमान किया जा सकता है। परमहंस

रामकृष्णको काशी ज्योतिर्मय दिखलायी दी और यथार्थमें इस प्राचीन नगरकी विभूतियोंका वर्णन करना कोई सरल बात नहीं ।

काशीसे पहले प्रयाग नामक तीर्थ भागीरथी तथा यमुनाके संगमपर बसा है । गङ्गाको नगरकी ओर आनेसे रोकनेके लिये कहते हैं कि सम्राट् अशोकने एक सुदृढ़ बाँध बँधवाया था, जिसे सम्राट् अकबरने फिरसे ठीक करवाया । इस तीर्थमें शान्ति विशेष होनेपर भी काशीवाली बात नहीं मिलती । पर संगम-स्नान यहाँ विशेष महत्त्वकी चीज है । इस नगरपर अनादि कालसे राजाओं तथा अन्य लोगोंने महान् पुण्य-कार्य किये हैं । यहाँपर माघ मासमें अनेकानेक व्यक्ति कल्पवास करते हैं अर्थात् गङ्गातटपर ही रहते हैं और माघ-समाप्तिपर अपनी कुटियाको भी दान कर देते हैं । यद्यपि यहाँ भी पाखण्ड आ गया है, तथापि इस पुण्यक्षेत्रमें विशिष्ट महात्माओंके दर्शन हो ही जाते हैं । और सबसे बड़ी बात तो उन निश्छल नर-नारियोंके भक्ति-भावकी है, जो भारतके कोने-कोनेसे इस पुण्यस्थानपर आते हैं । १९३० के कुम्भकी बात है । इस स्थानपर ४० लाख यात्री निवास कर रहे थे । हमलोग भी पिताजीके साथ उस अवसरपर यहाँ आये थे । हमलोग स्नान करके लौट रहे थे कि हमलोगोंने देखा काठियावाड़ प्रान्तकी अनेक नारियाँ रास्तेके दोनों ओर लगे हुए रस्सेको तोड़कर सड़कपर आना चाहती थीं । हमलोगोंको इस बातसे कुछ आश्चर्य हुआ; अतः वहीं खड़े होकर हमलोग देखने लगे कि क्या होता है । उस समय नागा लोगोंका अखाड़ा निकल रहा था । उसके निकल जानेपर वे स्त्रियाँ, कड़ी रुकावट होनेपर भी, सड़कपर आ गयीं और उन्होंने उस मार्गकी धूलिको अपने मस्तकसे लगाया तथा थोड़ी-सी रज अपने आँचलमें भी बाँध ली । धन्य है ऐसा निःसीम भक्तिभाव ।

यमुना नदीके तटपर मुख्य नगर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाभूमि मथुरा है । इस स्थानपर भी प्रायः विशिष्ट व्यक्तियोंके दर्शन हो जाते हैं । यहाँके घाट काशीके समान सुन्दर तो नहीं, किंतु सदा यात्रियोंसे परिपूर्ण रहते हैं । व्रजभूमिमें अनेक रमणीय स्थान अब भी विद्यमान हैं और उनमेंसे अनेकोंके विषयमें किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं ।

मध्यभारतमें नर्मदा बड़ी ही पुनीत मानी जाती है । और जहाँतक बात है, इसमें किसी नगरकी गंदगी नहीं मिलती है । कलियुगमें नर्मदाकी तुलना गङ्गासे की जाती है । अनेक व्यक्ति भिक्षुकका वेश धारणकर इस महानदीकी परिक्रमा करते हैं और अपनी अनन्य भक्तिके अनुसार सिद्धि-लाभ करते हैं । बावनी-कुण्ड नामक स्थानमें नर्मदेश्वर नामक शिवलिङ्ग दूर-दूरतक जाते हैं । नर्मदाजीपर एक प्रसिद्ध तीर्थ ओंकार-मान्धाता है । यह स्थान बड़ा ही तेजःपूर्ण है । जब हमलोग इस पुण्यतीर्थमें पहुँचे, तब हमलोगोंने देखा कि श्रीओंकारजीके समीप ही नर्मदाजीका जल धीरे धीरे ऊपर आ रहा था जब कि नर्मदाका जल लगभग तीस हाथ नीचे था । अवश्य ही यह स्थान सिद्धोंसे परिपूर्ण है और विशेष शान्तियुक्त है ।

गोदावरीके तटपर नासिकक्षेत्रमें इस आधुनिक सभ्यताके प्रचारसे वह छटा नहीं आ पाती, जो अन्य बड़े-बड़े तीर्थोंमें मिलती है । इस तीर्थके आसपास बड़े-बड़े सुन्दर तथा रमणीक स्थान हैं । त्र्यम्बकेश्वर एक जाग्रत् स्थान है । और ऐसे ही महत्त्वपूर्ण स्थान पञ्चवटीसे आगे भी हैं ।

अजमेरके पास पुष्कर तीर्थमें भी कुछ तीर्थकी विशेष छाया दृष्टिगोचर होती है, यद्यपि वहाँपर और तरहके भाव भी चित्तमें आते हैं । ब्रह्माजीका मन्दिर, कहा जाता है, केवल इसी स्थानपर है ।

मैंने बहुत ही थोड़े तीर्थोंका वर्णन बड़े ही संक्षेपमें किया है । आशा है कि मुमुक्षु भक्त तत्त्वको ग्रहणकर अन्य बातों पर विशेष ध्यान न देंगे ।

हिंदू-धर्म सर्वश्रेष्ठ है

मैंने यूरोप और एशियाके सभी धर्मोंका अध्ययन किया है, परंतु मुझे उन सबमें हिंदू-धर्म ही सर्वश्रेष्ठ दिखायी देता है × × × × × मेरा विश्वास है कि इसके सामने एक दिन समस्त जगत्को सिर झुकाना पड़ेगा ।

—रोम्याँ रोलाँ

श्रीगङ्गा और यमुनाका जल

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

गङ्गाजलकी महिमा

गङ्गाजलकी महिमाका कहना ही क्या है, उसके स्पर्शमात्रसे बड़े-बड़े पाप दूर हो जाते हैं। उसके स्वास्थ्यसम्बन्धी गुणोंका भी प्राचीन कालसे उल्लेख मिलता है। चरकने, जिनका काल आधुनिक विद्वानोंद्वारा आजसे लगभग दो हजार वर्ष पहले माना जाता है, लिखा है हिमालयसे निकलनेवाले जल पथ्य हैं—हिमवत्प्रभवाः पथ्याः। इसमे विशेषरूपसे गङ्गाजलका ही सङ्केत है; क्योंकि इस वचनके आगे ही आता है—पुण्या देवर्षिसेविताः। वाग्भटकृत 'अष्टाङ्गहृदय' मे, जिसका निर्माणकाल ईसवी सन्‌की आठवीं या नवीं शताब्दी माना जाता है, इसको स्पष्ट किया गया है—

हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्यास्ता एव च स्थिराः।

चक्रपाणिदत्तने भी, जो सन् १०६० के लगभग हुए, लिखा है कि हिमालयसे निकलनेके कारण गङ्गाजल पथ्य है—

यथोक्तलक्षणहिमालयभवत्वादेव गाङ्गं पथ्यम्।

भण्डारकर ओरियंटल इंस्टीट्यूट, पूनामे अठारहवी शताब्दीका एक हस्तलिखित ग्रन्थ है—'भोजनकुतूहल'; उसमें कहा गया है कि गङ्गाजल श्वेत, स्वादु, स्वच्छ, अत्यन्त रुचिकर, पथ्य, भोजन पकानेयोग्य, पाचनशक्ति बढ़ानेवाला, सब पापोंको हरनेवाला, प्यासको शान्त तथा मोहको नष्ट करनेवाला, क्षुधा और बुद्धिको बढ़ानेवाला होता है—

शीतं स्वादु स्वच्छमत्यन्तरुच्यं पथ्यं पाक्यं पाचनं पापहारि।
तृष्णामोहध्वंसनं दीपनं च प्रज्ञां धत्ते वारि भागीरथीयम्॥

इस तरह गङ्गाजलके स्वास्थ्यसम्बन्धी गुणोंपर बराबर अपने यहाँ जोर दिया गया है। इन्हीं गुणोपर मुग्ध होकर विदेशियो और अहिंदुओंको भी इसे अपनाना पड़ा।

इब्नबतूताने सन् १३२५–५४ में अफरीका तथा एशियाके कई देशोंकी यात्रा की थी। वह भारत भी आया था। वह अपने यात्रा-वर्णनमे लिखता है कि सुलतान मुहम्मद-तुगलकके लिये गङ्गाजल बराबर दौलताबाद जाया करता था। इसके वहाँ पहुँचानेमे ४० दिन लग जाते थे (गिब्स-कृत अंग्रेजी अनुवाद पृ० १८३)। मुगलबादशाह अकबर-को तो गङ्गाजलसे बड़ा ही प्रेम था। अबुलफजल अपने 'आईने अकबरी'में लिखता है कि 'बादशाह गङ्गाजलको 'अमृत' समझते हैं और उसका बराबर प्रबन्ध रखनेके लिये उन्होने योग्य व्यक्तियोंको नियुक्त कर रक्खा है। वे बहुत पीते नहीं हैं, पर तब भी इस ओर उनका बड़ा ध्यान रहता है। घरमे या यात्रामे वे गङ्गाजल ही पीते हैं। कुछ विश्वास-पात्र लोग गङ्गातटपर इसीलिये नियुक्त रहते है कि वे घड़ोंमे गङ्गाजल भराकर और उसपर मुहर लगाकर बराबर भेजते रहें। जब बादशाह सलामत राजधानी आगरा या फतेहपुर सीकरीमे रहते हैं, तब गङ्गाजल सोरोंसे आता है और जब पंजाब जाते हैं, तब हरिद्वारसे। खाना पकानेके लिये वर्षाजल या यमुनाजल, जिसमे थोड़ा गङ्गाजल मिला दिया जाता है, काममे लाया जाता है।' अकबरके धार्मिक विचार दूसरे प्रकारके थे; इसलिये उन्हे यदि गङ्गाजलमे श्रद्धा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। पर सबमे मजेकी बात तो यह है कि कट्टर मुसल्मान औरंगजेबका भी काम बिना गङ्गाजलके न चलता था। फ्रासीसी यात्री बर्नियर, जो भारतमे सन् १४५९–६७ तक रहा था और जो शाहजादा दाराशिकोहका चिकित्सक था, अपने 'यात्राविवरण' में लिखता है कि 'दिल्ली और आगरामे औरंगजेबके लिये खाने-पीनेकी सामग्रीके साथ गङ्गाजल भी रहता था। यात्रामे भी इसका प्रबन्ध रहता था। स्वयं बादशाह ही नहीं, दरबारके अन्य लोग भी गङ्गाजलका व्यवहार करते थे। बर्नियर लिखता है कि ऊँटोपर लदकर यह बराबर साथ रहता था। प्रतिदिन सबेरे नाश्तेके साथ उसको भी एक सुराही गङ्गाजल भेजा जाता था। यात्रामे मेवा, फल, मिठाई, गङ्गाजल, उसको ठंडा करनेके लिये शोरा और पान बराबर रहते थे।'

फ्रासीसी यात्री टैवर्नियरने भी, जो उन्हीं दिनों भारत आया था, लिखा है कि इसके स्वास्थ्यसम्बन्धी गुणोको देखकर मुसल्मान नवाब इसका बराबर व्यवहार करते थे। कप्तान एडवर्ड मूर, जो ब्रिटिश सेनामे था और जिसने टीपू सुलतानके साथ युद्धमे भाग लिया था, लिखता है कि सवन्नर (शाहनवर) के नवाब केवल गङ्गाजल ही पीते थे। इसको लानेके लिये कई ऊँट तथा 'आबदार' रहते थे (नैरेटिव पृ० २४८)। श्रीगुलामहुसेनने अपने बंगालके इतिहास 'रियाजु-स-सलातीन' मे लिखा है कि मधुरता, स्वाद

और हल्केपनमें गङ्गाजलके बराबर कोई दूसरा जल नहीं है, कितने ही दिनोंतक रक्खे रहनेपर भी यह बिगड़ता नहीं। 'श्रीवेङ्कटेश्वर ओरियंटल इंस्टीट्यूट, 'तिरुपति' की पत्रिका (अनाल्स) के खण्ड १ भाग २ (सितम्बर १९४०) में पूनाके श्रीगोडका 'मुसल्मान शासकोंद्वारा गङ्गाजलके व्यवहार' पर एक अच्छा लेख है। किसी भावसे सही, गङ्गा-जलके व्यवहारसे अहिंदुओंका भी हित ही हुआ होगा।

टैवर्नियरके यात्रा-विवरणसे यह भी पता लगता है कि उन दिनों हिंदुओंमें विवाहके अवसरपर भोजनके पश्चात् अतिथियोंको गङ्गाजल पिलानेकी चाल थी। इसके लिये बड़ी-बड़ी दूरसे गङ्गाजल मँगाया जाता था। जो जितना अमीर होता था, उतना ही अधिक गङ्गाजल पिलाता था। दूरसे गङ्गाजल मँगानेमें खर्च भी बहुत पड़ता था। टैवर्नियरका कहना है कि शादियोंमें कभी-कभी इसपर दो-तीन हजार रुपयेतक खर्च हो जाते थे। पेशवाओंके लिये बँहगियों (कावड़ी) में रखकर गङ्गा-जल पूना जाया करता था। मराठी पुस्तक 'पेशवाईच्या सावलीत' (पूना १९३७) से पता लगता है कि काशीसे पूना ले जानेके लिये एक बँहगी गङ्गाजलका खर्च २० रुपया और पूनासे श्रीरामेश्वरम् ले जानेके लिये ४० रुपया पड़ता था, जो बहुत नहीं कहा जा सकता। गढ़मुक्तेश्वर तथा हरिद्वार-से भी पेशवाओंके लिये गङ्गोदक जाता था। श्रीबाजीराव पेशवाको बतलाया गया था, गङ्गाजलके सेवनसे ऋण-मुक्त हो जायँगे—'श्रीतीर्थसेवन करून महाराज चिकर्त-परिहार व्हावा।' मरते समय गङ्गोदक देनेकी चाल तो सुदूर दक्षिणमें भी थी। विजयनगरके राजा कृष्णरायको, जब वे सन् १५२५ में मृतप्राय थे, गङ्गोदक दिया गया और वे अच्छे हो गये (विजयनगर, थर्ड डायनेस्टी १९३५)। भूटानयुद्धका अन्त होनेपर तिब्बतके तूशीलामाने वारेन हेस्टिंग्जके पास एक दूत भेजकर गङ्गातटपर कुछ भूमि माँगी और वहाँपर एक मठ तथा मन्दिर बनवाया; क्योंकि 'गङ्गा हिंदुओंके लिये ही नहीं, बौद्धोंके लिये भी पुनीत है।' यह मठ और भूमि जो 'भोटबागान' के नामसे प्रसिद्ध है, तूशीलामाने श्रीपूर्णगिरिको दान की।

यदि कोई गङ्गाका इतिहास लिखे, जैसा कि श्रीलुडविग-ने नील नदीका लिखा है, तो कितना रोचक हो!

गङ्गा-यमुनाके गुण

ऊपर यह दिखलाया गया है कि स्वास्थ्यकी दृष्टिसे पहले अहिंदू भी गङ्गाजलको कितना अधिक व्यवहारमें लाया करते थे। इधर श्रीगङ्गा तथा यमुना दोनोंके जलोंके स्वास्थ्य-सम्बन्धी गुणोंका कुछ और पता लगा है। विज्ञानाचार्य श्रीहैनबरी हैंकिन किसी समय युक्तप्रान्त तथा मध्यप्रान्त की सरकारोंके 'रसायन-परीक्षक' (केमिकल एक्ज़ामिनर) थे। आपने 'पासचर इंस्टीट्यूट' की फ्रांसीसी पत्रिकामें सन् १८९६ में एक लेख लिखा था। उसका अंग्रेजी अनुवाद राँचीसे निकलनेवाले 'मैन इन इंडिया' नामक त्रैमासिक पत्र, जिल्द १८, अङ्क २-३ (अप्रैल-सितम्बर, १९३८) में प्रकाशित हुआ था। उस लेखका सार यहाँ दिया जा रहा है। श्रीहैंकिनसाहब लिखते हैं कि 'श्रीगङ्गा तथा यमुनाको हिंदू जैसा पवित्र समझते हैं, वह सभीको ज्ञात है। विदेशियोंको और बहुत-से अंग्रेजी-शिक्षाप्राप्त हिंदुओंको उनकी यह श्रद्धा अविवेकपूर्ण जँचती है। जब किसी बड़े नगरके समीप इनके गंदे और मटीले जलोंमें हजारों लोगोंको नहाते और पशुओं तथा कपड़ोंको धोते हुए कोई देखता है, जब वह यह याद करता है कि प्रायः अधजली लाशें इसमें फेंक दी जाती हैं, तब उसके लिये यह सोचना स्वाभाविक ही है कि इन नदियोंका जल पीना कितना खतरनाक है और हिंदुओंमें इनके प्रति जो श्रद्धा भक्ति है, वह उनके शुद्धतासम्बन्धी नियमोंके अज्ञानका प्रमाण है।' हैजाके अधिक प्रकोपका अभीतक यूरोपीय विद्वान् यह एक कारण मानते रहे हैं। उनकी रायमें यह रोग गङ्गाद्वारा फैलाया जाता है, क्योंकि उसका जल इसके कीटाणुओं का घर है। परंतु हालकी वैज्ञानिक खोजने यह प्रत्यक्ष कर दिया है कि गङ्गा तथा यमुनाका जल अन्य नदियोंके जलसे कहीं अधिक शुद्ध है।

अणुवीक्षणयन्त्र (माइक्रॉसकोप)-द्वारा साधारण परीक्षासे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इन नदियों तथा यूरोपीय नदियोंके जलोंमें कितना अन्तर है। यूरोपीय नदियोंके जलोंमें कितनी ही सड़ी तथा हरी घासें मिलती हैं, मृत तथा जीवित जन्तुओंकी सख्या भी कम नहीं दिखायी देती। परंतु गङ्गा तथा यमुनाके जलोंमें ऐसी वस्तुएँ बहुत कम पायी जाती हैं; जो दिखायी भी देती हैं, वे प्रायः घाटोंके पास या बड़े शहरोंसे आगे बढ़-कर। बालू या अभ्र (माइका) के कणोंसे प्रायः इनके जलोंमें मैलापन दिखायी देता है। सन् १८९४ में जो 'इंडियन मेडिकल कांग्रेस' हुई थी, उसमें पढ़े गये 'ऑन दि माइक्रोब्स ऑफ इंडियन रिवर्स' (भारतीय नदियोंके कीटाणु) शीर्षक लेखमें यह दिखलाया गया है कि गङ्गा-यमुनाके जलोंमें जलमें उगनेवाले घास-फूस और जन्तु बहुत कम पाये जाते

हैं और सूक्ष्म परीक्षा करनेसे कीटाणुओंसे इनका जल शुद्ध होनेके कई कारण जान पड़ते हैं। यूरोपकी तरह इन नदियोंमें गंदे पानीके बड़े-बड़े नल नहीं गिरते। बड़े-बड़े शहरोंमें अब अवश्य ऐसे कुछ नल बन गये हैं, परंतु तब भी उनकी संख्या अभी कम है। इसी तरह यूरोपकी अपेक्षा इनके तटोंपर अधिक कल-कारखाने नही हैं, जिनका रासायनिक पदार्थोंसे मिला हुआ जल इनके जलोंको गंदा करता हो। इनके जलोंकी रक्षाका एक और कारण है। इनके प्रायः दोनों तटोंके इधर-उधर मील या दो मील ऊसर जमीन पड़ी रहती है, जिनमें बड़े-बड़े कगारे होनेके कारण आबादी बहुत कम रहती है। आगरासे बारह मील नीचेतक केवल दो गॉव यमुनाके तटपर हैं। ऊपरकी तरफ २३ मीलकी दूरीमे केवल तीन गॉव हैं। इनमेसे प्रत्येककी आबादी ५००से अधिक नहीं है। इन नदियोंको शहरोंसे जो गंदगी प्राप्त होती है, वह इन सब ऊसरोमे जज्ब हो जाती है। ये दोनो नदियॉ बालूकी तलहटियोमे बहती हैं। सालमें कई महीने कड़ी धूप और खुली हवासे भी इनका जल शुद्ध होता रहता है। यूरोपकी नदियोका जल वर्षाके जलसे आता है, परंतु इन नदियोको हिमालयसे जल निरन्तर मिलता रहता है, जो स्वभावतः शुद्ध होता है।

गर्मीके दिनोंमे आगरासे ५ मील ऊपर यमुना-जलके एक घन सेंटीमीटरमे ७५-७६ कीटाणु देखे गये। आगरासे कुछ ही ऊपर इनकी संख्या ७००—७५० मिली और नगरके नीचे यह संख्या बढ़कर २५,०००तक पहुँच गयी। परंतु वहॉसे १२॥ मीलकी दूरीपर यह संख्या घटकर १२० से ८० तक रह गयी। इससे स्पष्ट है कि जलमे स्वतः शुद्ध करनेकी शक्ति है। हैजेके सम्बन्धमे प्रायः कहा जाता है कि यह बंगालसे ऊपरकी तरफ चलता है, नीचेकी ओर कभी नही गया। यदि हैजा पानीके बहावके साथ फैलता है, तो फिर यह कैसे सम्भव है ? इन नदियोके तटपर जब किसी मेलेमे हैजा फैलता है, तब वह नीचेकी ओरके गॉवोंमें क्यों नही पहुँचता ? उत्तरमें यह नहीं कहा जा सकता कि इसके कीटाणु जलतक नहीं पहुँचते। यह ठीक है कि प्रायः हिंदू इन नदियोंके बिल्कुल तटपर मल त्याग नहीं करते; परंतु कपड़ा धोने और नहानेसे जलमे कीटाणुओंका प्रवेश हो ही जाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हैजेके रोगियोंके शव इन नदियोंमे फेंके जाते हैं। कहीं तो लाशें अधजली होती हैं और कहीं वैसे ही फेंक दी जाती है। इस दृष्टिसे इन दोनो नदियोके जलोंकी रासायनिक परीक्षा की गयी, जिससे पता लगा कि इनके जलमे कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिनमे हैजेके कीटाणुओंको नष्ट कर देनेकी शक्ति है। पहली परीक्षामे जल आध घंटेतक गरम किया गया। फिर गङ्गा, यमुना तथा आगरेके नलके पानीको बराबर मात्रामें लेकर नलियोमे भरा गया और उनमे कीटाणु छोड़े गये। परिणाम इस प्रकार हुआ—यमुना-जलमे १२,५०० कीटाणु ४८ घंटेमे ५००० ही रह गये, नलके पानीमे १४,००० कीटाणु उतने ही कालमें १५,००० हो गये और गङ्गाजलमें १०,००० के ११,००० हो गये। इसके बाद गङ्गाजल तथा कुऑजलको बिना गरम किये हुए, केवल अच्छी तरह छान (फिल्टर) कर परीक्षा की गयी, तो फल इस प्रकार हुआ—गङ्गाजलमे ५,५०० कीटाणु तीन घंटेमे ही साफ हो गये और कुऑजलमे ८,५००के ४९ घंटेमे १५,००० हो गये। इससे यह सिद्ध हुआ कि गङ्गाजलको गरम करनेसे उसमे कीटाणुओंको नष्ट करनेकी शक्ति जाती रहती है। इसीलिये गङ्गाजलको गरम करना दोष माना जाता है। यमुनाजलमे भी यह बात पायी गयी; दो ही घंटोमे ४,२०० कीटाणु सब-के-सब नष्ट हो गये। परीक्षा करनेपर यह भी पता लगा कि यदि जलको नलियोमे भरकर बिल्कुल बंद करके गरम किया जाता है तो फिर जलकी कृमिनाशक शक्ति नष्ट नही होती। इन जलोकी, वर्षा छोडकर प्रायः सभी ऋतुओंमे, परीक्षा की गयी और उनमे यही बात पायी गयी। गर्मीके दिनोंमे यमुनाका जल प्रायः दिल्लीके पास नहरमे जमा हो जाता है। उसका फाटक भी बंद कर दिया गया; तब भी देखा गया कि उस जलकी कृमिनाशक शक्ति सर्वथा नष्ट नही हुई। इससे यह पता लगता है कि हिमालयसे बर्फ गलनेपर जलमे जो शक्ति होती है, वह बादमे भी बहुत कुछ बनी रहती है, नदीके बहावमें वह बराबर बढ़ती जाती है। गङ्गाजलमे भी यही बात देखी गयी है। आगरेसे ऊपर और नीचेके जल तथा ऐसे जलकी भी, जिसमे मुर्दे फेंके जाते हैं, परीक्षा की गयी। इससे देखा गया कि यमुना-जलमें आगराके ऊपर १,२०० कीटाणु घंटेभरमें २०० ही रह गये और दो घंटेमे बिल्कुल नष्ट हो गये। नीचेकी ओर १,५०० कीटाणु घंटेभरमे ही खतम हो गये। एक फेंके हुए मुर्देके पासके पानीमे १,५०० कीटाणु घंटेभरमें ५० रह गये और दूसरे घंटेमे एकदम नष्ट हो गये। परंतु कूपजल गरम करनेपर देखा गया कि १,२०० कीटाणु बढ़ते-बढ़ते २१ घंटेमे ३,००० और ४५ घंटेमे १६,०००तक बढ गये। इस परीक्षामे यह भी स्पष्ट होता है कि गंदगीसे भी इन जलोंकी कृमिनाशक-शक्ति सर्वथा नष्ट नही होती। इन जलोंके गुणोको देखकर यह उचित जान पड़ता है कि मेलोंके

अवसरपर हैजा रोकनेके लिये यह आज्ञा निकाल देनी चाहिये कि कुओंका जल बिल्कुल बंद करके केवल इन नदियोंका ही जल पिया जाय।

आस्तिक हिंदुओंका तो विश्वास है कि श्रीगङ्गा-यमुनाका जल मन तथा शरीर दोनोंके मलका हरण करता है। पर यह बात नवशिक्षितोंकी ही समझमें नहीं आती। उन्हें तो स्वास्थ्यके लिये विदेशी 'मिनरल् वाटर' चाहिये। क्या ही अच्छा होता यदि भारतीय वैज्ञानिक भी इस ओर ध्यान देते।
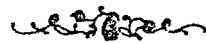
हमारे पथ-प्रदर्शक

जब अकबरकी गहन अँधेरी हमको ग्रसने आयी।
उसकी कूटनीतिमें फँसकर भाई रहा न भाई॥
किसको अपना कहें, न अपना देता कहीं दिखाई।
तब भी जिसने निडर अकेले अपनी असि चमकाई॥
वह वीरोंका वीर, व्रती, राणा सिरमौर हमारा हो।
धर्मानलमें शलभ-सदृश जलना ही हमको प्यारा हो॥ १॥

गुरू तेगकी टेक, गुरू गोविन्दसिंहका पानी।
बच्चोंको जीवित चुनवा देनेकी करुण कहानी॥
आज याद आया है हमको वह बन्दा वैरागी।
देश-जातिके लिये प्राणकी ममता जिसने त्यागी॥
गर्म चीमटोंसे जब उसका मांस गया नुचवाया था।
तब भी धर्म-विमुख हो करके जीना जिसे न भाया था॥ २॥

जिसने बाजी तानाजी-से अगणित वीर बनाये।
मुट्ठी भर युवकोंसे जिसने दुर्गम दुर्ग जिताये॥
जिसके गौरवगीत अमर-कवि भूषणने हैं गाये।
जिससे सदा पराजित होकर मुगल-तुर्क थर्राये॥
दिल्लीमें भी दिल्लीपतिको जिसने सिर न झुकाया था।
स्वतन्त्रताका मूल्य चुकाना उसने हमें बताया था॥ ३॥

जिसके हित सदियोंसे सीखा हमने रक्त बहाना।
पहना बार-बार जिसके हित प्रिय केसरिया बाना॥
स्वतन्त्रताकी देवि! वही आयी हमने पहचाना।
दुनियावालो! समझ-बूझ अब उसपर आँख उठाना॥
उसकी पूजाके हित हमने जीवन-थाल सँवारा है।
इन वीरोंकी अमर ज्योतिसे ज्योतित मार्ग हमारा है॥ ४॥

—शिवदुलारे मिश्र, बी० ए०

चौसठ कलाएँ

(लेखक—पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी)

प्राचीन कालमें भारतीय शिक्षा-क्रमका क्षेत्र बहुत व्यापक था। शिक्षामें कलाओंकी शिक्षा भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। कलाओंके सम्बन्धमें रामायण, महाभारत, पुराण, काव्य आदि ग्रन्थोंमें जाननेयोग्य सामग्री भरी पड़ी है; परंतु इनका थोड़ेमें, पर सुन्दर ढंगसे विवरण शुक्राचार्यके 'नीतिसार' नामक ग्रन्थके चौथे अध्यायके तीसरे प्रकरणमें मिलता है। उनके कथनानुसार कलाएँ अनन्त हैं, उन सबके नाम भी नहीं गिनाये जा सकते; परंतु उनमें ६४ कलाएँ मुख्य हैं। कलाका लक्षण बतलाते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिसको एक मूक (गूँगा) व्यक्ति भी, जो वर्णोच्चारण भी नहीं कर सकता, कर सके, वह 'कला' है—

शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तुं कलासंज्ञं तु तत् स्मृतम्।

केलदि श्रीबसवराजेन्द्रविरचित 'शिवतत्त्वरत्नाकर' में मुख्य-मुख्य ६४ कलाओंका नामनिर्देश इस प्रकार किया है—१ इतिहास, २ आगम, ३ काव्य, ४ अलङ्कार, ५ नाटक, ६ गायकत्व, ७ कवित्व, ८ कामशास्त्र, ९ दुरोदर (द्यूत), १० देशभाषालिपिज्ञान, ११ लिपिकर्म, १२ वाचन, १३ गणक, १४ व्यवहार, १५ स्वरशास्त्र, १६ शाकुन, १७ सामुद्रिक, १८ रत्नशास्त्र, १९ गज-अश्व-रथकौशल, २० मल्लशास्त्र, २१ सूपकर्म (रसोई पकाना), २२ भूरुहदोहद (बागवानी), २३ गन्धवाद, २४ धातुवाद, २५ रससम्बन्धी खनिवाद, २६ बिलवाद, २७ अग्निसंस्तम्भ, २८ जलसंस्तम्भ, २९ वाचःस्तम्भन, ३० वयःस्तम्भन, ३१ वशीकरण, ३२ आकर्षण, ३३ मोहन, ३४ विद्वेषण, ३५ उच्चाटन, ३६ मारण, ३७ कालवञ्चन, ३९ परकायप्रवेश, ४० पादुका-सिद्धि, ४१ वाक्सिद्धि, ४२ गुटिकासिद्धि, ४३ ऐन्द्रजालिक, ४४ अञ्जन, ४५ परदृष्टिवञ्चन, ४६ स्वरवञ्चन, ४७ मणि-मन्त्र-औषधादिकी सिद्धि, ४८ चोरकर्म, ४९ चित्रक्रिया, ५० लोहक्रिया, ५१ अश्मक्रिया, ५२ मृत्क्रिया, ५३ दारुक्रिया, ५४ वेणुक्रिया, ५५ चर्मक्रिया, ५६ अम्बरक्रिया, ५७ अदृश्य-करण, ५८ दन्तिकरण, ५९ मृगयाविधि, ६० वाणिज्य, ६१ पाशुपाल्य, ६२ कृषि, ६३ आसवकर्म और ६४ लाव-कुक्कुट-मेषादियुद्धकारक कौशल।

वात्स्यायनप्रणीत 'कामसूत्र' के टीकाकार जयमङ्गलने दो प्रकारकी कलाओंका उल्लेख किया है—पहली 'कामशास्त्राङ्गभूता' और दूसरी 'तन्त्रावापौपयिकी'। इन दोनोंमेंसे प्रत्येकमें ६४ कलाएँ हैं। इनमें कई कलाएँ समान ही हैं और बाकी पृथक्। पहले प्रकारमें २४ कर्माश्रया, २० द्यूताश्रया, १६ शयनोपचारिका और ४ उत्तर कलाएँ,—इस तरह ६४ मूल कलाएँ हैं; इनकी भी अवान्तर और कलाएँ हैं, जो सब मिलकर ५१८ होती हैं।

कर्माश्रया २४ कलाओंके नाम इस प्रकार हैं—१ गीत, २ नृत्य, ३ वाद्य, ४ कौशल-लिपिज्ञान, ५ उदारवचन, ६ चित्रविधि, ७ पुस्तकर्म, ८ पत्रच्छेद्य, ९ माल्यविधि, १० गन्धयुत्स्यास्वाद्यविधान, ११ रत्नपरीक्षा, १२ सीवन, १३ रङ्गपरिज्ञान, १४ उपकरणक्रिया, १५ मानविधि, १६ आजीव-ज्ञान, १७ तिर्यग्योनिचिकित्सित, १८ मायाकृतपाषण्डपरिज्ञान, १९ क्रीडाकौशल, २० लोकज्ञान, २१ वैचक्षण्य, २२ संवाहन, २३ शरीरसंस्कार और २४ विशेष कौशल।

द्यूताश्रया २० कलाओंमें १५ निर्जीव और ५ सजीव हैं। निर्जीव कलाएँ ये हैं—१ आयुःप्राप्ति, २ अक्षविधान, ३ रूप-संख्या, ४ क्रियामार्गण, ५ बीजग्रहण, ६ नयज्ञान, ७ करणा-दान, ८ चित्राचित्रविधि, ९ गूढराशि, १० तुल्याभिहार, ११ क्षिप्रग्रहण, १२ अनुप्राप्तिलेखस्मृति, १३ अग्निक्रम, १४ छलव्यामोहन और १५ ग्रहदान। सजीव ५ कलाएँ ये हैं—१ उपस्थानविधि, २ युद्ध, ३ रुत, ४ गत और ५ नृत्त।

शयनोपचारिका १६ कलाएँ ये हैं—१पुरुषका भावग्रहण, २ स्वरागप्रकाशन, ३ प्रत्यङ्गदान, ४ नख-दन्तविचार, ५ नीवीस्रंसन, ६ गुह्याङ्गका संस्पर्शनानुलोम्य, ७ परमार्थ-कौशल, ८ हर्षण, ९ समानार्थताकृतार्थता, १० अनुप्रोत्साहन, ११ मृदुक्रोधप्रवर्तन, १२ सम्यक्क्रोधनिवर्तन, १३ क्रुद्धप्रसादन, १४ सुप्तपरित्याग, १५ चरमस्वापविधि और १६ गुह्यगूहन।

४ उत्तरकलाएँ ये हैं—१ साश्रुपात रमणको शापदान, २ स्वशपथक्रिया, ३ प्रस्थितानुगमन और ४ पुनःपुनर्नि-रीक्षण। इस प्रकार दूसरे प्रकारकी भी सर्वसाधारणके लिये उपयोगिनी ६४ कलाएँ हैं।

श्रीमद्भागवतके टीकाकार श्रीधरस्वामीने भी 'भागवत' के दशम स्कन्धके ४५ वें अध्यायके ६४ वें श्लोककी टीकामें प्रायः दूसरे प्रकारकी कलाओंका नामनिर्देश किया है; किंतु शुक्राचार्यने अपने 'नीतिसार'में जिन कलाओंका

विवरण दिया है, उनमे कुछ तो उपर्युक्त कलाओंमें मिलती हैं, पर बाकी सभी भिन्न हैं। यहाँपर जयमङ्गल-टीकोक्त दूसरे प्रकारकी कलाओंका केवल नाम ही पाठकोंकी जानकारीके लिये देकर उसके बाद 'शुक्रनीतिसार'के क्रमानुसार कलाओंका दिग्दर्शन कराया जायगा। जयमङ्गलके मतानुसार ६४ कलाएँ ये हैं—१ गीत, २ वाद्य, ३ नृत्य, ४ आलेख्य, ५ विशेषकच्छेद्य (मस्तकपर तिलक लगानेके लिये कागज, पत्ती आदि काटकर आकार या साँचे बनाना), ६ तण्डुल-कुसुमबलिविकार (देव-पूजनादिके अवसरपर तरह-तरहके रँगे हुए चावल, जौ आदि वस्तुओं तथा रंग-बिरंगे फूलोंको विविध प्रकारसे सजाना), ७ पुष्पास्तरण, ८ दशनवसनाङ्गराग (दाँत, वस्त्र तथा शरीरके अवयवोंको रँगना), ९ मणिभूमिका-कर्म (घरके फर्शके कुछ भागोंको मोती, मणि आदि रत्नोंसे जड़ना), १० शयनरचन (पलंग लगाना), ११ उदकवाद्य (जलतरङ्ग), १२ उदकाघात (दूसरोंपर हाथों या पिचकारीसे जलकी चोट मारना), १३ चित्राश्च योगाः (जड़ी-बूटियोंके योगसे विविध वस्तुएँ ऐसी तैयार करना या ऐसी औषधें तैयार करना अथवा ऐसे मन्त्रोंका प्रयोग करना जिनसे शत्रु निर्बल हो या उसकी हानि हो), १४ माल्यग्रथनविकल्प (माला गूँथना), १५ शेखरकापीडयोजन (स्त्रियोंकी चोटीपर पहननेके विविध अलङ्कारोंके रूपमें पुष्पोंको गूँथना), १६ नेपथ्यप्रयोग (शरीरको वस्त्र, आभूषण, पुष्प आदिसे सुसज्जित करना), १७ कर्णपत्रभङ्ग (शङ्ख, हाथीदाँत आदिके अनेक तरहके कानके आभूषण बनाना), १८ गन्धयुक्ति (सुगन्धित धूप बनाना), १९ भूषणयोजन, २० ऐन्द्रजाल (जादूके खेल), २१ कौचुमारयोग (बल-वीर्य बढ़ानेवाली ओषधियाँ बनाना), २२ हस्तलाघव (हाथोंकी काम करनेमें फुर्ती और सफाई), २३ विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकार क्रिया (तरह-तरहके शाक, कढ़ी, रस, मिठाई आदि बनानेकी क्रिया), २४ पानकरस-रागासव-योजन (विविध प्रकारके शर्बत, आसव आदि बनाना), २५ सूचीवान कर्म (सुईका काम, जैसे सीना, रफू करना, कसीदा काढ़ना, मोजे-गंजी बुनना), २६ सूत्रक्रीडा (तागे या डोरियोंसे खेलना, जैसे कठपुतलीका खेल), २७ वीणाडमरुकवाद्य, २८ प्रहेलिका (पहेलियाँ बूझना), २९ प्रतिमाला (श्लोक आदि कविता पढ़नेकी मनोरञ्जक रीति), ३० दुर्वाचकयोग (ऐसे श्लोक आदि पढ़ना, जिनका अर्थ और उच्चारण दोनों कठिन हों), ३१ पुस्तक-वाचन, ३२ नाटकाख्यायिका-दर्शन, ३३ काव्य-समस्यापूरण, ३४ पट्टिकावेत्रबानविकल्प (पीढ़ा, आसन, कुर्सी, पलंग, मोढ़े आदि चीजें बेंत वगैरह वस्तुओंसे बनाना), ३५ तक्षकर्म (लकड़ी, धातु आदिको अभीष्ट विभिन्न आकारोंमें काटना), ३६ तक्षण (बढ़ईका काम), ३७ वास्तुविद्या, ३८ रूप्यरत्नपरीक्षा (सिक्के, रत्न आदिकी परीक्षा करना), ३९ धातुवाद (पीतल आदि धातुओंको मिलाना, शुद्ध करना आदि), ४० मणिरागाकर-ज्ञान (मणि आदिका रँगना, खान आदिके विषयका ज्ञान), ४१ वृक्षायुर्वेदयोग, ४२ मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि (मेढ़े, मुर्गे, तीतर आदिको लड़ाना), ४३ शुकसारिका-प्रलापन (तोता-मैना आदिको बोली सिखाना), ४४ उत्सादन संवाहन, केशमर्दनकौशल (हाथ पैरोंसे शरीर दबाना, केशोंका मलना, उनका मैल दूर करना आदि), ४५ अक्षरमुष्टिका-कथन (अक्षरोंको ऐसी युक्तिसे कहना कि उस संकेतका जाननेवाला ही उनका अर्थ समझे, दूसरा नहीं; मुष्टिसङ्केत द्वारा बातचीत करना, जैसे दलाल आदि कर लेते हैं), ४६ म्लेच्छितविकल्प (ऐसे सङ्केतसे लिखना, जिसे उस सङ्केतको जाननेवाला ही समझे), ४७ देशभाषा-विज्ञान, ४८ पुष्पशकटिका, ४९ निमित्तज्ञान (शकुन जानना), ५० यन्त्रमातृका (विविध प्रकारके मशीन, कल, पुर्जे आदि बनाना), ५१ धारणमातृका (सुनी हुई बातोंका स्मरण रखना), ५२ संपाठ्य, ५३ मानसी काव्य-क्रिया (किसी श्लोकमें छोड़े हुए पदको मनसे पूरा करना), ५४ अभिधानकोष, ५५ छन्दोज्ञान, ५६ क्रियाकल्प (काव्यालङ्कारोंका ज्ञान), ५७ छलितक-योग (रूप और बोली छिपाना), ५८ वस्त्रगोपन (शरीरके अङ्गोंको छोटे या बड़े वस्त्रोंसे यथायोग्य ढँकना), ५९ द्यूतविशेष, ६० आकर्ष-क्रीडा (पासोंसे खेलना), ६१ बालक्रीडनक, ६२ वैनयिकी-ज्ञान (अपने और परायेसे विनयपूर्वक शिष्टाचार करना), ६३ वैजयिकी-ज्ञान (विजय प्राप्त करनेकी विद्या अर्थात् शस्त्रविद्या) और ६४ व्यायाम-विद्या। इनका विशेष विवरण जयमङ्गलने कामसूत्रकी व्याख्यामें किया है।

शुक्राचार्यका कहना है कि कलाओंके भिन्न-भिन्न नाम नहीं हैं, अपितु केवल उनके लक्षण ही कहे जा सकते हैं; क्योंकि क्रियाके पार्थक्यसे ही कलाओंमें भेद होता है। जो व्यक्ति जिस कलाका अवलम्बन करता है, उसकी जाति उसी कलाके नामसे कही जाती है। पहली कला है नृत्य (नाचना)। हाव-भाव आदिके साथ गति नृत्य कहा जाता है। नृत्यमें करण, अङ्गहार, विभाव, भाव, अनुभाव और रसोंकी

अभिव्यक्ति की जाती है। नृत्यके दो प्रकार है—एक नाट्य, दूसरा अनाट्य। स्वर्ग-नरक या पृथ्वीके निवासियोंकी कृतिका अनुकरण 'नाट्य' कहा जाता है और अनुकरण-विरहित नृत्य 'अनाट्य'। यह कला अति प्राचीन कालसे यहाँ बड़ी उन्नत दशामे थी। श्रीशङ्करका ताण्डवनृत्य प्रसिद्ध है। आज तो इस कलाका पेशा करनेवाली एक जाति ही 'कत्थक' नामसे प्रसिद्ध है। वर्षाऋतुमें घनगर्जनासे आनन्दित मोरका नृत्य बहुतोने देखा होगा। नृत्य एक स्वाभाविक वस्तु है, जो हृदयमे प्रसन्नताका उद्रेक होते ही बाहर व्यक्त हो उठती है। कुछ कलाविद् पुरुषोंने इसी स्वाभाविक नृत्यको अन्यान्य अभिनय-विशेषोसे रँगकर कलाका रूप दे दिया है। जंगली-से-जंगली और सभ्य-से-सभ्य समाजमे नृत्यका अस्तित्व किसी-न-किसी रूपमे देखा ही जाता है। आधुनिक पाश्चात्योंमे नृत्य-कला एक प्रधान सामाजिक वस्तु हो गयी है। प्राचीन कालमे इस कलाकी शिक्षा राजकुमारोंतकके लिये आवश्यक समझी जाती थी। अर्जुनद्वारा अज्ञातवासकालमे राजा विराटकी कन्या उत्तराको बृहन्नलारूपमे इस कलाकी शिक्षा देनेकी बात 'महाभारत'मे प्रसिद्ध है। दक्षिण-भारतमे यह कला अब भी थोड़ी-बहुत विद्यमान है। 'कथाकलि'मे उसकी झलक मिलती है। श्रीउदयशङ्कर आदि कुछ कलाप्रेमी इस प्राचीन कलाको फिर जाग्रत् करनेके प्रयत्नमे लगे हुए है।

२—अनेक प्रकारके वाद्योका निर्माण करने और उनके बजानेका ज्ञान 'कला' है। वाद्योके मुख्यतया चार भेद है—१ तत, २ सुषिर, ३ अवनद्ध और ४ घन। तार अथवा ताँतका जिसमे उपयोग होता है, वे वाद्य 'तत' कहे जाते हैं—जैसे वीणा, तम्बूरा, सारङ्गी, बेला, सरोद आदि। जिसका भीतरी भाग सच्छिद्र (पोला) हो और जिसमे वायुका उपयोग होता हो, उसको 'सुषिर' कहते हैं—जैसे बाँसुरी, अलगोजा, शहनाई, बैण्ड, हार्मोनियम, शङ्ख आदि। चमड़ेसे मढ़ा हुआ वाद्य 'अवनद्ध' कहा जाता है—जैसे ढोल, नगारा, तबला, मृदङ्ग, डफ, खँजड़ी आदि। परस्पर आघातसे बजानेयोग्य वाद्य 'घन' कहलाता है—जैसे झाँझ, मजीरा, करताल आदि। यह कला गानेसे सम्बन्ध रखती है। विना वाद्यके गानमे मधुरता नही आती। प्राचीन कालमे भारतके वाद्योमे वीणा मुख्य थी। इसका उल्लेख प्राचीन संस्कृत ग्रन्थोमे भी उपलब्ध होता है। सरस्वती और नारद-का वीणावादन, श्रीकृष्णकी वंशी, महादेवका डमरू तो प्रसिद्ध ही हैं। वाद्य आदि विषयोंके संस्कृतमे अनेक ग्रन्थ हैं। उनमे अनेक वाद्योके परिमाण, उनके बनाने और मरम्मत करनेकी विधियाँ मिलती हैं। राज्याभिषेक, यात्रा, उत्सव, विवाह, उपनयन आदि माङ्गलिक कार्योके अवसरोपर भिन्न भिन्न वाद्योका उपयोग होता था। युद्धमे सैनिकोंके उत्साह, शौर्यको बढ़ानेके लिये अनेक तरहके वाद्य बजाये जाते थे।

३—स्त्री और पुरुषोंको वस्त्र एवं अलङ्कार सुचारुरूपसे पहनाना 'कला' है। ४—अनेक प्रकारके रूपोका आविर्भाव करनेका ज्ञान 'कला' है। इसी कलाका उपयोग हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीके साथ पहली बार मिलनेके समय ब्राह्मण-वेश धारण करनेमे किया था। ५—शय्या और आस्तरण (बिछौना) सुन्दर रीतिसे बिछाना और पुष्पोको अनेक प्रकारसे गूँथना 'कला' है। ६—द्यूत (जूआ) आदि अनेक क्रीड़ाओसे लोगों का मनोरञ्जन करना 'कला' है। प्राचीन कालमे द्यूतके अनेक प्रकारोंके प्रचलित होनेका पता लगता है। उन सबमे अक्ष क्रीड़ा (चौपड़) विशेष प्रसिद्ध थी। नल, युधिष्ठिर, शकुनि आदि इस कलामे निपुण थे। ७—अनेक प्रकारके आसनोंद्वारा सुरतक्रीडाका ज्ञान 'कला' है। इन सात कलाओंका उल्लेख 'गान्धर्ववेद'मे किया गया है।

८—विविध प्रकारके मकरन्दो (पुष्परस) से आसव, मद्य आदिकी कृति 'कला' है। ९—शल्य (पादादि अङ्गमे चुभे काँटे) की पीडाको अल्प कर देना या शल्यको अङ्गमेंसे निकाल डालना, शिरा (नाड़ी) और फोड़े आदिकी चीर-फाड़ करना 'कला' है। हकीमोकी जर्राही और डाक्टरोकी सर्जरी इसी कलाके उदाहरण हैं। १०—हीग आदि रस (मसाले) से युक्त अनेक प्रकारके अन्नोका पकाना 'कला' है। महाराज नल और भीमसेन-जैसे पुरुष भी इस कलामें निपुण थे। ११—वृक्ष, गुल्म, लता आदिको लगाने, उनसे विविध प्रकारके फल, पुष्पोको उत्पन्न करने एवं उन वृक्षादि-का अनेक उपद्रवोंसे संरक्षण करनेकी कृति 'कला' है। प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोमे सुरम्य उद्यान, उपवन आदिका बहुत उल्लेख प्राप्त होता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अग्निपुराण तथा शुक्र-नीतिसारमे इस विषयपर बहुत प्रकाश डाला गया है। इससे मालूम होता है कि बहुत प्राचीन कालमे भी यह कला उन्नत दशामे थी। १२—पत्थर, सोने-चाँदी आदि धातुओंको (खानमेंसे) खोदना, उन धातुओंकी भस्म बनाना 'कला' है। १३—सभी प्रकारके इक्षु (ईख) से बनाये जा सकनेवाले पदार्थ—जैसे राब, गुड़, खाँड़, चीनी, मिश्री, कन्द आदि बनानेका ज्ञान 'कला' है। १४—सुवर्ण आदि अनेक धातु और

अनेक ओषधियोंको परस्पर मिश्रित करनेका ज्ञान (सिनथेसिस) 'कला' है। १५–मिश्रित धातुओंको उस मिश्रणसे अलग-अलग कर देना (अनालिसिस) 'कला' है। १६–धातु आदिके मिश्रणका अपूर्व (प्रथम) विज्ञान 'कला' है। १७–लवण (नमक) आदिको समुद्रसे या मिट्टी आदि पदार्थोंसे निकालनेका विज्ञान 'कला' है। इन दस कलाओंका आयुर्वेदसे सम्बन्ध है, इसलिये ये कलाएँ आयुर्वेदके अन्तर्भूत हैं। इनमें आधुनिक बॉटनी, गार्डनिङ्ग, माइनिङ्ग, मेटलर्जी, केमिस्ट्री आदि आ जाते हैं।

१८–पैर आदि अङ्गोंके विशिष्ट सञ्चालनपूर्वक (पैंतरा बदलते हुए) शस्त्रोंका लक्ष्य स्थिर करना और उनका चलाना 'कला' है। १९–शरीरकी सन्धियों (जोड़ों) पर आघात करते हुए या भिन्न-भिन्न अङ्गोंको खींचते हुए दो मल्लों (पहलवानों) का युद्ध (कुश्ती) 'कला' है। इस कलामें भी भारत प्राचीन कालसे अबतक सर्वश्रेष्ठ रहा है। श्रीकृष्णने कंसकी सभाके चाणूर, मुष्टिक आदि प्रसिद्ध पहलवानोंको इस कलामें पछाड़ा था। भीमसेन और जरासन्धकी कुश्ती कई दिनोंतक चलनेका उल्लेख 'महाभारत' में आया है। आज भी गामा आदिके नाम जगद्विजयी मल्लोंमें हैं। पंजाब, मथुरा आदिके मल्ल अभी भी इस कलामें अच्छी निपुणता रखते हैं। इस युद्धका एक भेद 'बाहुयुद्ध' है। इसमें मल्ललोग किसी शस्त्रका उपयोग न कर केवल मुष्टिसे युद्ध करते हैं। इसे 'मुक्की', 'मुक्काबाजी' (बाक्सिंग) कहते हैं। काशीके दुर्गा-घाटपर कार्तिकमें होनेवाली मुक्की सुप्रसिद्ध है। बाहुयुद्धमें लड़कर मरनेवालेकी शुक्राचार्यने निन्दा की है। वे लिखते हैं—

मृतस्य तस्य न स्वर्गो यशो नेहापि विद्यते।
बलदर्पविनाशान्तं नियुद्धं यशसे रिपोः।
न कस्यासीद्धि कुर्याद्वै प्राणान्तं बाहुयुद्धकम्॥

'बाहुयुद्धमें मरनेवालेको न तो इस लोकमें यश मिलता है, न परलोकमें स्वर्ग-सुख। किंतु मारनेवालेका यश अवश्य होता है; क्योंकि शत्रुके बल और दर्प (घमण्ड) का अन्त करना ही युद्धका लक्ष्य होता है। इसलिये प्राणान्त (शत्रुके मर जानेतक) बाहुयुद्ध करना चाहिये।' ऐसे युद्धका उदाहरण मधु-कैटभके साथ विष्णुका युद्ध है, जो समुद्रमें पाँच हजार वर्षतक होता रहा था—

मधुकैटभौ दुरात्मानावतिवीर्यपराक्रमौ॥
क्रोधरक्तेक्षणावत्तुं ब्रह्माणं जनितोद्यमौ।
समुत्थाय ततस्ताभ्यां युयुधे भगवान् हरिः॥
पञ्चवर्षसहस्राणि बाहुप्रहरणो विभुः।
(सप्तशती १। ९२–९४)

२०–कृत और प्रतिकृत आदि अनेक तरहके अति भयङ्कर बाहु (मुष्टि)-प्रहारोंसे अकस्मात् शत्रुपर झपटकर किये गये आघातोंसे एवं शत्रुको असावधान पाकर ऐसी दशामें उसको पकड़कर रगड़ देने आदि प्रकारोंसे जो युद्ध किया जाता है, उसे 'निपीड़न' कहते हैं और शत्रुद्वारा किये गये ऐसे 'निपीड़न' से अपनेको बचा लेनेका नाम 'प्रतिक्रिया' है। अर्थात् अपना बचाव करते हुए शत्रुपर केवल बाहुओंसे भयङ्कर आघात करते हुए युद्ध करना 'कला' है। २१–अभिलक्षित देश (निशाने) पर विविध यन्त्रोंसे अस्त्रोंको फेंकना और किसी (बिगुल, तुरही आदि) वाद्यके संकेतसे व्यूह-रचना (किसी खास तरीकेसे सैन्यको खड़ा करनेकी क्रिया) करना 'कला' है। इससे पता चलता है कि मन्त्रोंसे फेंके जानेवाले अस्त्र—आजकलके बन्दूक, तोप, मशीनगन, तारपीडो आदिकी तरह—प्राचीन कालमें भी उपयोगमें लाये जाते रहे होंगे। किंतु उनसे होनेवाली भारी क्षतिको देखकर उनका उपयोग कम कर दिया गया होगा। मनुने भी महायन्त्र-निर्माणका निषेध किया है। २२–हाथी, घोड़े और रथोंकी विशिष्ट गतियोंसे युद्धका आयोजन करना 'कला' है। १८ से २२ तककी पाँच कलाएँ 'धनुर्वेद' से सम्बन्ध रखती हैं।

२३–विविध प्रकारके आसन (बैठनेका प्रकार) एवं मुद्राओं (दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे बननेवाली अङ्कुश, पद्म, धेनु आदिकी आकृतियों) से देवताओंको प्रसन्न करना 'कला' है। इस कलापर आधुनिकोंका विश्वास नहीं है, तो भी कहीं-कहीं इसके जाननेवाले व्यक्ति पाये जाते हैं। इसका प्राचीन समयमें खूब प्रचार था। संस्कृतमें तन्त्र एवं आगमके अनेक ग्रन्थोंमें मुद्रा आदिका वर्णन देखनेमें आता है। हिप्नॉटिज्म जाननेवालोंमें कुछ मुद्राओंका प्रयोग देखा जाता है। वे मुद्राद्वारा अपनी शक्तिका संक्रमण अपने प्रयोज्य—विधेयमें करते हैं। २४–सारथ्य—रथ हाँकनेका काम (कोचवानी) एवं हाथी, घोड़ोंको अनेक तरहकी गतियों (चालों) की शिक्षा देना 'कला' है। इसकी शिक्षा किसी समयमें सभी राजकुमारोंके लिये आवश्यक समझी जाती थी। यदि विराटपुत्र उत्तर इस कलामें निपुण न होते तो जब दुर्योधन आदि विराटकी गौओंका अपहरण करनेके लिये आये, उस समय अर्जुनका सारथ्य वे कैसे कर सकते थे। भारत-युद्धमें श्रीकृष्ण अर्जुनका रथ कैसे हाँक सकते या कर्णका सारथ्य शल्य कैसे कर सकते थे। आज भी शौकीन लोग सारथि (ड्राइवर) को पीछे बैठाकर स्वयं मोटर आदि हाँकते हुए देखे जाते हैं। २५–मिट्टी,

लकड़ी, पत्थर और पीतल आदि धातुओंसे वर्तनोंका बनाना 'कला' है। यह कला भी इस देशमें बहुत पुराने समयसे अच्छी दशामें देखनेमें आती है। इसका अनुमान जमीनकी खुदाईसे निकले हुए प्राचीन वर्तनोंको 'वस्तु-संग्रहालय' (म्यूजियम) में देखनेसे हो सकता है। २६—चित्रोंका आलेखन 'कला' है। प्राचीन चित्रोंको देखनेसे प्रमाणित होता है कि यह कला भारतमें किस उच्चकोटितक पहुँची हुई थी। प्राचीन मन्दिर और बौद्ध विहारोंकी मूर्तियों और अजन्ता आदि गुफाओंके चित्रोंको देखकर आश्चर्य होता है। आज कई शताब्दियोंके व्यतीत हो जानेपर भी वे ज्यों-के-त्यों दिखलायी पड़ते हैं। उनके रंग ऐसे दिखलायी पड़ते हैं कि जैसे अभी कारीगरने उनका निर्माणकार्य समाप्त किया हो। प्रत्येक वर्ष हजारों विदेशी यात्री उन्हें देखनेके लिये दूर-दूरसे आते रहते हैं। प्रयत्न करनेपर भी वैसे रंगोंका आविष्कार अवतक नहीं हो सका है। यह कला इतनी व्यापक थी कि देशके हर एक कोनेमें घर-घरमें इसका प्रचार था। अब भी घरोंके द्वारपर गणेशजी आदिके चित्र बनानेकी चाल प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। कई सामाजिक उत्सवोंके अवसरोंपर स्त्रियाँ दीवाल और जमीनपर चित्र लिखती हैं। प्राचीन कालमें भारतकी स्त्रियाँ इस कलामें बहुत निपुण होती थीं। बाणासुरकी कन्या ऊषाकी सखी चित्रलेखा इस कलामें बड़ी सिद्धहस्त थी। वह एक बार देखे हुए व्यक्तिका बादमें हूबहू चित्र बना सकती थी। चित्रकलाके ६ अङ्ग हैं—१ रूपभेद (रंगोंकी मिलावट); २ प्रमाण (चित्रमें दूरी, गहराई आदिका दिखलाना और चित्रगत वस्तुके अङ्गोंका अनुपात); ३ भाव और लावण्यकी योजना, ४ सादृश्य, ५ वर्णिका (रंगोंका सामञ्जस्य) और ६ भङ्ग (रचना-कौशल)। 'समराङ्गणसूत्रधार' आदि प्राचीन शिल्पग्रन्थोंमें इस कलाका विशदरूपसे विवरण उपलब्ध होता है।

२७—तालाब, बावली, कूप, प्रासाद (महल और देव-मन्दिर) आदिका बनाना और भूमि (ऊँची-नीची) का सम (बराबर) करना 'कला' है। 'सिविल इंजीनियरिंग' का इसमें भी समावेश किया जा सकता है। २८—घटी (घड़ी) आदि समयका निर्देश करनेवाले यन्त्रों एवं २९—अनेक बाद्योंका निर्माण करना 'कला' है। प्राचीन कालमें समयका माप करनेके लिये जलयन्त्र, वालुकायन्त्र, धूप-घड़ी आदि साधन थे। अब घड़ीके बन जानेसे यद्यपि इनका व्यवहार कम हो गया है, तथापि कई प्राचीन शैलीके ज्योतिषी लोग अब भी विवाह आदिके अवसरपर जलयन्त्रद्वारा ही सूर्योदयसे इष्ट कालका साधन करते हैं। एवं कई प्राचीन राजाओंकी ड्योढ़ीपर अब भी जलयन्त्र, वालुकायन्त्र या धूप-घड़ीके अनुसार समय-निर्देशक घण्टा बजानेकी प्रथा देखनेमें आती है। आश्चर्य है कि इन्हीं यन्त्रोंकी सहायतासे प्राचीन ज्योतिषी लोग सूक्ष्मातिसूक्ष्म समयके विभागका ज्ञान स्पष्टतया प्राप्त कर लिया करते थे। और इसीके आधारपर बनी जन्मपत्रिकासे जीवनकी घटनाओंका ठीक-ठीक पता लगा लिया जाता था।

३०—कतिपय रंगोंके अल्प, अधिक या सम संयोग (मिलावट) से बने विभिन्न रंगोंसे वस्त्र आदि वस्तुओंका रँगना—यह भी 'कला' है। पहले यह कला घर-घरमें थी; किंतु इसका भार, अब मालूम होता है, रँगरेजोंके ऊपर ही छोड़ दिया गया है। यहाँके रंग बड़े सुन्दर और टिकाऊ होते थे। यहाँके रंगोंसे रँगे वस्त्रोंका बाहरके देशोंमें बड़ा आदर था। अब भी राजपूतानेके कई नगरोंमें ऐसे ऐसे कुशल रँगरेज हैं कि जो महीन-से-महीन मलमलको दोनों ओरसे दो विभिन्न रंगोंमें रँग देते हैं। जोधपुरमें कपड़ेको स्थान-स्थानपर बाँधकर इस तरहसे रँग देते हैं कि उसमें अनेक रंग और बेल बूटे बँट जाते हैं।

३१—जल, वायु और अग्निके संयोगसे उत्पन्न बाष्प (भाप) के निरोध (रोकने) से अनेक क्रियाओंका सम्पादन करना 'कला' है—

जलवाय्वग्निसंयोगनिरोधैश्च क्रिया कला।

भोजदेव (वि० सं० १०६६-९८) कृत 'समराङ्गण-सूत्रधार' के ३१ वें अध्यायका नाम ही 'यन्त्रविधान' है। उस अध्यायमें २२३½ श्लोक हैं, जिनमें विलक्षण प्रकारके विविध यन्त्रोंके निर्माणकी संक्षिप्त प्रक्रियाका दिग्दर्शन कराया गया है। इससे तो यह बात स्पष्ट रीतिसे जानी जा रही है कि प्राचीन भारतके लोगोंको भापके यन्त्रोंका ज्ञान था और वे उन यन्त्रोंसे अपने व्यावहारिक कार्योंमें आजकी तरह सहायता लिया करते थे।

३२—नौका, रथ आदि जल स्थलके आवागमनके साधनोंका निर्माण करना 'कला' है। पहलेके लोग स्थल और यातायातके साधनोंका—अच्छे-से-अच्छे उपकरणोंसे सम्पन्न अश्व, रथ, गौ (बैलों) के रथ आदिका बनाना तो जानते ही थे; साथ ही अच्छे-से-अच्छे सुदृढ़, सुन्दर, उपयोगी, सर्वसाधनोंसे सम्पन्न बड़े-बड़े जहाजोंका बनाना भी जानते थे। जहाजोंके उपयोगका वर्णन वेदोंमें भी मिलता है।

जहाजोंपर दूर-दूरके देशोंके साथ अच्छा व्यापार होता था। जल-यानोंमें आने-जानेवाले मालपर कर आदिकी व्यवस्था थी। पाश्चात्योंकी तरह यहाँके मल्लाह भी बड़े साहसी और यात्रामें निडर होते थे; किंतु पाश्चात्य शासकोंकी कृपासे अन्यान्य कलाओंकी तरह भारतमें यह कला भी बहुत क्षीण हो गयी है।

३३—सूत्र, सन आदि तन्तुओंसे रस्सीका बनाना 'कला' है। ३४—अनेक तन्तुओंसे पटबन्ध (वस्त्रकी रचना) 'कला' है। यह कला भी बहुत प्राचीन समयसे भारतमें बड़ी उन्नत दशामें थी। भारतमें 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के शासनके पहले यहाँ ऐसे सुन्दर, मजबूत, बारीक वस्त्र बनाये जाते थे, जिनकी बराबरी आजतक कोई दूसरा देश नहीं कर सका है। 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी'के समयमें यहाँके वस्त्र निर्माण एवं वस्त्र-निर्यातके व्यवसायको पाश्चात्य स्वार्थी व्यापारियोंने कई उपायोंसे नष्ट कर दिया।

३५—रत्नोंकी पहचान और उनमें वेध (छिद्र) करनेकी क्रियाका ज्ञान 'कला' है। प्राचीन समयसे ही अच्छे-बुरे रत्नोंकी पहचान तथा उनके धारणसे होनेवाले शुभाशुभ फलका ज्ञान यहाँके लोगोंको था। ग्रहोंके अनिष्ट फलोंको रोकनेके लिये विभिन्न रत्नोंको धारण करनेका शास्त्रोंने उपदेश किया है। उसके अनुसार रत्नोंको धारण करनेका फल आज भी प्रत्यक्ष दिखलायी देता है। पर आज तो भारतवर्षकी यह स्थिति है कि अधिकांश लोगोंको उन रत्नोंका धारण करना तो दूर रहा, दर्शन भी दुर्लभ है।

३६—सुवर्ण, रजत आदिके याथात्म्य (असलीपन) का जानना 'कला' है। ३७—नकली सोने-चाँदी और हीरे-मोती आदि रत्नोंका निर्माण करनेका विज्ञान 'कला' है। पुराने किमियागरोंकी बातें सुननेमें आती हैं। वे कई वस्तुओंके योगसे ठीक असली-जैसा सोना चाँदी आदि बना सकते थे। अब तो केवल उनकी बातें ही सुननेमें आती हैं। रत्न भी प्राचीन कालमें नकली बनाये जाते थे। मिश्रीसे ऐसा हीरा बनाते थे कि अच्छे जौहरी भी उसको जल्दी नहीं पहचान सकते थे। इससे मालूम होता है कि 'इमिटेशन' हीरा आदि रत्न तथा 'कल्चर' मोतियोंका आविष्कार पाश्चात्योंने कुछ नया निकाला हो—यह बात नहीं है। किंतु यह भी मानना ही पड़ेगा कि उस समय इन नकली वस्तुओंका व्यवसाय आजकलकी तरह अधिक विस्तृत नहीं था। देशके सम्पन्न होनेके कारण उन्हें नकली वस्तुओंसे अपनी शोभा बढानेकी आवश्यकता ही क्या थी। पर आजकी स्थिति कुछ और है, इसीसे इन पदार्थोंका व्यवहार अधिक बढ़ गया है। ३८—सोने-चाँदीके आभूषण बनाना एवं लेप (मुलम्मा) आदि (मीनाकारी) करना 'कला' है—

स्वर्णाद्यलङ्कारकृतिः कलालेपादिसत्कृतिः।

३९—चमड़ेको मुलायम करना और उससे आवश्यक उपयोगी सामान तैयार करना और ४०—पशुओंके शरीरपरसे चमड़ा निकालकर अलग करना 'कला' है—

मार्दवादिक्रियाज्ञानं चर्मणां तु कला स्मृता।
पशुचर्माङ्गनिर्हारक्रियाज्ञानं कला स्मृता॥

आज तो यह कला भारतके लोगोंके हाथसे निकलकर विदेशियोंके हाथमें चली गयी है। यहाँ केवल चमारोंके घरोंमें कुछ अवशिष्ट रही है; किंतु वे भी चमड़ोंको कमाकर विदेशियोंके मुकाबलेमें उन्हें मुलायम करना नहीं जानते।

४१—गौ, भैंस आदिको दुहनेसे लेकर दही जमाना, मथना, मक्खन निकालना तथा उससे घी बनानेतककी सब क्रियाओंका जानना 'कला' है। इसे पढ़कर हृदयमें दुःखकी एक टीस उठ जाती है। वह भारतका सौभाग्य-काल कहाँ, जब घर-घरमें अनेक गौओंका निवास था, प्रत्येक मनुष्य इस कलासे अभिज्ञ होता था, दूध-दहीकी मानो नदियाँ बहती थीं, दूधके पौसरे बैठाये जाते थे—जहाँ लोग पानीकी तरह मुफ्तमें दूध पी सकते थे। और कहाँ आजका हतभाग्य समय! घी-मक्खनका तो दर्शन दूर रहा, बच्चोंको दूध भी मिलना कठिन है। कहाँ वह श्रीकृष्णके समयका व्रज-वृन्दावनका दृश्य, और कहाँ आज बड़े-बड़े शहरोंके पास बने बूचड़खानोंमें प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें वध किये जानेवाली गौ माता और उनके बच्चोंका करुण क्रन्दन!

४२—कुर्ता आदि कपड़ोंको सीना 'कला' है—

सीवने कञ्चुकादीनां विज्ञानं तु कलात्मकम्।

४३—जलमें हाथ, पैर आदि अङ्गोंसे विविध प्रकारसे तैरना 'कला' है। तैरनेके साथ-साथ डूबते हुएको कैसे बचाना चाहिये, थका या डूबता हुआ व्यक्ति यदि उसको बचानेके लिये आये व्यक्तिको पकड़ ले, तो वैसी स्थितिमें किस तरह उससे अपनेको छुड़ाकर और उसे लेकर किनारेपर पहुँचना चाहिये—इत्यादि बातोंका जानना भी बहुत आवश्यक है।

४४—घरके बर्तनोंको माँजनेका ज्ञान 'कला' है। पहले

यह काम घरकी स्त्रियाँ ही करती थीं, आज भी कई घरोंमें यही चाल है; परंतु अब बड़े घरानोंकी स्त्रियाँ इसमें अपना अपमान समझती हैं। ४५–वस्त्रोंका संमार्जन (अच्छी तरह धोकर साफ करना) 'कला' है ४६–क्षुरकर्म (हजामत बनाना) 'कला' है। आजकल यह बड़ी उन्नतिपर है। गङ्गा-यमुनाके घाटों, बाजारोंमें चले जाइये, आपको इस कलाका उदाहरण प्रत्यक्ष देखनेको मिल जायगा। कोई पढ़ा-लिखा आधुनिक सभ्य पुरुष प्रायः ऐसा न मिलेगा, जिसके आह्निकमें अपना 'क्षुरकर्म' सम्मिलित न हो !—

वस्त्रसम्मार्जनञ्चैव क्षुरकर्म ह्युभे कले।

४७–तिल, तीसी, रेंड़ी आदि तिलहन पदार्थ और मांसोंमेंसे तेल निकालनेकी कृति 'कला' है। ४८–हल चलाना जानना और ४९–पेड़ोंपर चढ़ना जानना भी 'कला' है। हल चलाना तो कृषिका प्रधान अङ्ग ही है। पेड़ोंपर चढ़ना भी एक कला ही है। सभी केवल चाहनेमात्रसे ही पेड़ोंपर चढ़ नहीं सकते। खजूर, ताड़, नारियल, सुपारी आदिके पेड़ोंपर चढ़ना कितना कठिन है—इसे देखनेवाला ही जान सकता है। इसमें जरा-सी भी असावधानी होनेपर मृत्यु यदि न हो तो भी अङ्ग-भङ्ग होना मामूली बात है।

५०–मनोऽनुकूल (दूसरेकी इच्छाके अनुसार उसकी) सेवा करनेका ज्ञान 'कला' है। राजसेवक, नौकर, शिष्य आदिके लिये इस कलाका जानना परमावश्यक है। इस कलाको न जाननेवाला किसीको प्रसन्न नहीं कर सकता। ५१–बाँस, ताड़, खजूर, सन आदिसे पात्र (टोकरी, झाँपी आदि) बनाना 'कला' है। ५२–काँचके बरतन आदि सामान बनाना 'कला' है। मालूम होता है कि यह कला भारतमें प्राचीन समयसे ही थी, किंतु मध्यकालमें यहाँसे विदेशियोंके हाथमें चली गयी। स्त्रियोंका सौभाग्य-चिह्न चूड़ियोंतक विदेशोंसे आने लगीं!

५३–जलोंसे संसेचन (अच्छी तरह खेतोंको सींचना) और ५४–संहरण (अधिक जलवाली या दलदलवाली भूमिमेंसे जलको बाहर निकाल डालना अथवा दूरसे जलको आवश्यक स्थानपर ले आना) 'कला' है। ५५–लोहेके अस्त्र-शस्त्र बनानेका ज्ञान 'कला' है। ५६–हाथी, घोड़े, बैल और ऊँटोंकी पीठ-सवारीके उपयुक्त पल्याण (जीन, काठी) बनाना 'कला' है। ५७–शिशुओंका संरक्षण (पालन) और ५८–धारण (पोषण) करना एवं ५९–बच्चोंके खेलनेके लिये तरह-तरहके खिलौने बनाना 'कला' है—

शिशोः संरक्षणे ज्ञानं धारणे क्रीडने कला।

६०–अपराधियोंको उनके अपराधके अनुसार ताड़न (दण्ड देने) का ज्ञान 'कला' है। ६१–भिन्न-भिन्न देशोंकी लिपिको सुन्दरतासे लिखना 'कला' है। भारत इस कलामें बहुत उन्नत था। ऐसे सुन्दर अक्षर लिखे जाते थे कि उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। लिखनेके लिये स्याही भी ऐसी सुन्दर बनती थी कि सैकड़ों वर्षोंकी लिखी हुई पुस्तकें आज भी नयी-सी मालूम होती हैं। छापनेके प्रेस, टाइपराइटर आदि साधनोंका उपयोग होता जा रहा है, जिससे लोगोंके अक्षर बिगड़ते जा रहे हैं। स्थिति यहाँतक पहुँची है कि कभी-कभी अपना ही लिखा हुआ अपनेसे नहीं पढ़ा जाता। पहले यह कला इतनी उन्नत थी कि 'महाभारत-जैसा सवा लाख श्लोकोंका बड़ा पोथा आदिसे अन्ततक एक ही साँचेके अक्षरोंमें लिखा हुआ देखनेमें आता है। कहीं एक अक्षर भी छोटा-बड़ा नहीं हो पाया है; स्याही भी एक-जैसी ही है—न कहीं गहरी न कहीं पतली। विशेष आश्चर्य तो यह है कि सारी पुस्तकमें न तो एक अक्षर गलत लिखकर कहीं काटा हुआ है न कहीं कोई धब्बा ही है। ६२–पानकी रक्षा करना—ऐसा उपाय करना कि जिससे पान बहुत दिनोंतक न सूखने पाये, न गले-सड़े, 'कला' है। आज भी बहुत-से ऐसे तमोली हैं, जो मगही पानको महीनोंतक ज्यों-का त्यों रखते हैं। इस तरह ये ६२ कलाएँ अलग-अलग हैं; किंतु दो कलाएँ ऐसी हैं, जिन्हें सब कलाओंका प्राण कहा जा सकता है। यही सब कलाओंके गुण भी कही जा सकती हैं इन दोमें पहली है ६३–आदान और दूसरी ६४–प्रतिदान। किसी कामको करनेमें आशुकारित्व (जल्दी—फुर्तीसे करना) 'आदान' कहा जाता है और उस कामको चिरकाल (बहुत समय) तक करते रहना 'प्रतिदान' है। बिना इन दो गुणोंके कोई भी कला अधिक उपयुक्त नहीं हो सकती। इस तरह ६४ कलाओंका यह संक्षिप्त विवरण है।

यह पाठ्यक्रम कितना व्यापक है! इसमें प्रायः सभी विषयोंका समावेश हो जाता है। इसी अङ्कमें अन्यत्र प्रकाशित 'हिंदू संस्कृतिका आधार' शीर्षक लेखमें जिन ३२ विद्याओंका संक्षिप्त वर्णन किया गया है, उनका भी इसी पाठ्यक्रममें समावेश है। शिक्षाका यह उद्देश्य माना जाता है कि उससे ज्ञानकी वृद्धि हो, सदाचारमें प्रवृत्ति हो और जीविकोपार्जनमें सहायता मिले। इस क्रममें इन तीनोंका ध्यान रक्खा गया है। इतना ही नहीं, पारलौकिक कल्याण भी नहीं छोड़ा गया है। संक्षेपमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको ध्यानमें रखकर ही शिक्षाका यह क्रम निश्चित किया गया है। इससे पता लगता है कि उस समयकी शिक्षाका आदर्श कितना उच्च तथा व्यावहारिक था। श्रीकृष्णचन्द्रको इन सभी विषयोंकी पूरी शिक्षा दी गयी थी और वे प्रायः सभीमें प्रवीण थे। अर्जुन नृत्यकला और

नल, भीम आदि पाकविद्यामें निपुण थे। परशुराम, द्रोणाचार्य-सरीखे ब्राह्मण धनुर्वेदमें दक्ष थे। इससे जान पड़ता है कि गुरुकुलोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंके बालकोंको प्रायः इन सभी विषयोंकी थोड़ी-बहुत शिक्षा दी जाती रही होगी। परंतु इस शिक्षामें ऐसा न हो कि जो काम जिसके जीमें आया करने लगा, जैसा कि आजकल होता है—इसका भी ध्यान रक्खा गया था। क्योंकि ऐसा होनेसे सारी समाज-व्यवस्था ही बिगड़ जाती, श्रेणी-सङ्घर्ष और बेकारीकी उत्पत्ति होती, जैसा कि आजकल देखनेमें आ रहा है। सब मनुष्योंका स्वभाव एक-सा नहीं होता, किसीकी प्रवृत्ति किसी ओर तो किसीकी किसी ओर होती है। जिसकी जिस ओर प्रवृत्ति है, उसीमें अभ्यास करनेसे कुशलता प्राप्त होती है। इसीलिये शुक्राचार्यने लिखा है—

यां यां कलां समाश्रित्य निपुणो यो हि मानवः।
नैपुण्यकरणे सम्यक् तां तां कुर्यात् स एव हि॥

वंशागत कलाके सीखनेमें कितनी सुगमता होती है, यह प्रत्यक्ष है। एक बढ़ईका लड़का बढ़ईगिरी जितनी शीघ्रता और सुगमताके साथ सीखकर उसमें निपुण हो सकता है, उतना दूसरा नहीं; क्योंकि वंश-परम्परा और बालकपनमें ही उसके उस कलाके योग्य संस्कार बन जाते हैं। इन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंके आधारपर प्राचीन शिक्षा-क्रमकी रचना हुई थी। उसमें आजकलकी-सी धाँधली न थी, जिसका दुष्परिणाम आज सर्वत्र देख पड़ रहा है। प्रायः सभी विषयोंमें चञ्चुप्रवेश और किसी एक विषयकी, जिसमें प्रवृत्ति हो, योग्यता प्राप्त करनेसे ही पूरी शिक्षा और यथोचित ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। आज पाश्चात्त्य विद्वान् भी प्रचलित शिक्षा-पद्धतिकी अनेक त्रुटियोंका अनुभव कर रहे हैं; परंतु हम उस दूषित पद्धतिकी नकल करनेकी ही धुनमें लगे हुए हैं। वर्तमान शिक्षामें लोगोंको अपने वंशागत कार्योंसे घृणा तथा अरुचि होती चली जा रही है और वे अपने बाप-दादाके व्यवसायोंको बड़ी तेजीसे छोड़ते चले जा रहे हैं। शिक्षित युवक आफिसमें छोटी-छोटी नौकरियोंके लिये दर-दर दौड़ते हैं, अपमान सहते हैं, दूसरोंकी ठोकर खाते हैं और जीवनसे निराश होकर कई तो आत्मघात कर बैठते हैं। यदि यही क्रम जारी रहा तो पूरा विनाश सामने है। क्या ही अच्छा होता, यदि हमारे शिक्षा-आयोजकोंका ध्यान एक बार हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धतिकी ओर भी जाता!

हिंदू-संस्कृतिमें अतिथि-सत्कार और सच्चा त्याग

(रचयिता—श्रीआत्मारामजी देवकर साहित्यमनीषी)

देखके योगेशको
राजर्षिने आसन दिया।
कहने लगे कृतकृत्य मुझको
आज प्रभुने है किया॥ १॥

किस जन्मका यह पुण्यबल है
आप ही कह दीजिये।
सेवा करूँ क्या आपकी
आदेश मुझको कीजिये॥ २॥

अतिथि बनकर नाथ आये
स्वयं मेरे द्वारपर।
मुग्ध होता हूँ हरे!
इस प्रेमके आचारपर॥ ३॥

कृष्ण बोले सत्य ही है
आपने जो कुछ कहा।
आपका औदार्य ही है
पुष्टि इसकी कर रहा॥ ४॥

कुन्ती-तनयकी प्राण-भिक्षा
माँगनी थी आपसे।
दग्ध होता है हृदय पर
शोकके संतापसे॥ ५॥

कैसे कहूँ मुखसे उसे
उपदेश सत्वर दीजिये।
धर्म रखकर प्राणप्रिय
आतिथ्य मेरा कीजिये॥ ६॥

भक्तिमय हो भीष्म बोले—
धन्य यह संयोग है।
आपकी यह शीलता, बस
आप ही के योग्य है॥ ७॥

मेरा निधन ही भक्तवत्सल
यह सुपथ दिखलायेगा।
आतंक कुन्तीका इसीसे
आप ही मिट जायेगा॥ ८॥

है शीश अर्पित हे विभो
तृण तुच्छ बन, निस्सार है!
पूज्यवर ले लीजिये यह
अतिथिका सत्कार है॥ ९॥

श्रीमारुति (संगमर्मर प्रतिमा)

ग्राम्य देवता
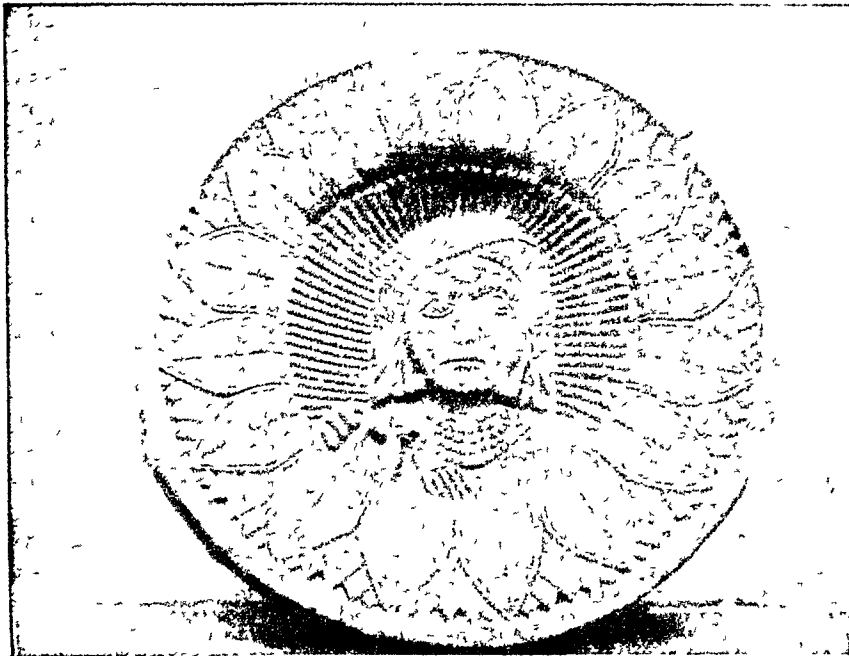
भारहुतकी रानी (३०० ई० पूर्व) (पृष्ठ ७०५)

ईसापूर्वकी पशु-प्रतिमाएँ (पृष्ठ ७०५)

[तुलसी-संग्रहालय, रामवनके सौजन्यसे

वामन-मन्दिर खजुराहो (पूर्वभित्तिकी कलाकृति) पृष्ठ ७०६)

१२

लक्ष्मण-मन्दिर, खजुराहो [पृष्ठ ७०६

[तुलसी-संग्रहालय, रामवनके सौजन्यसे
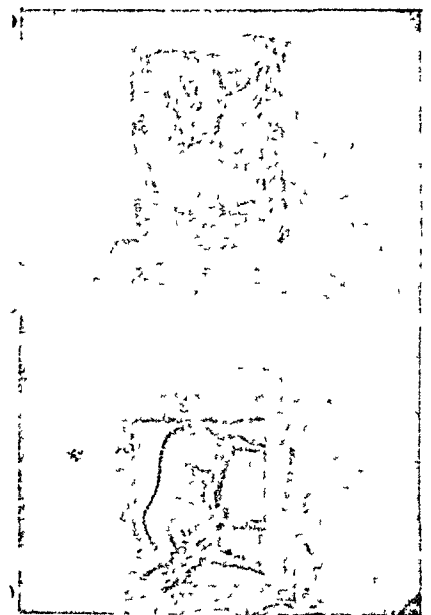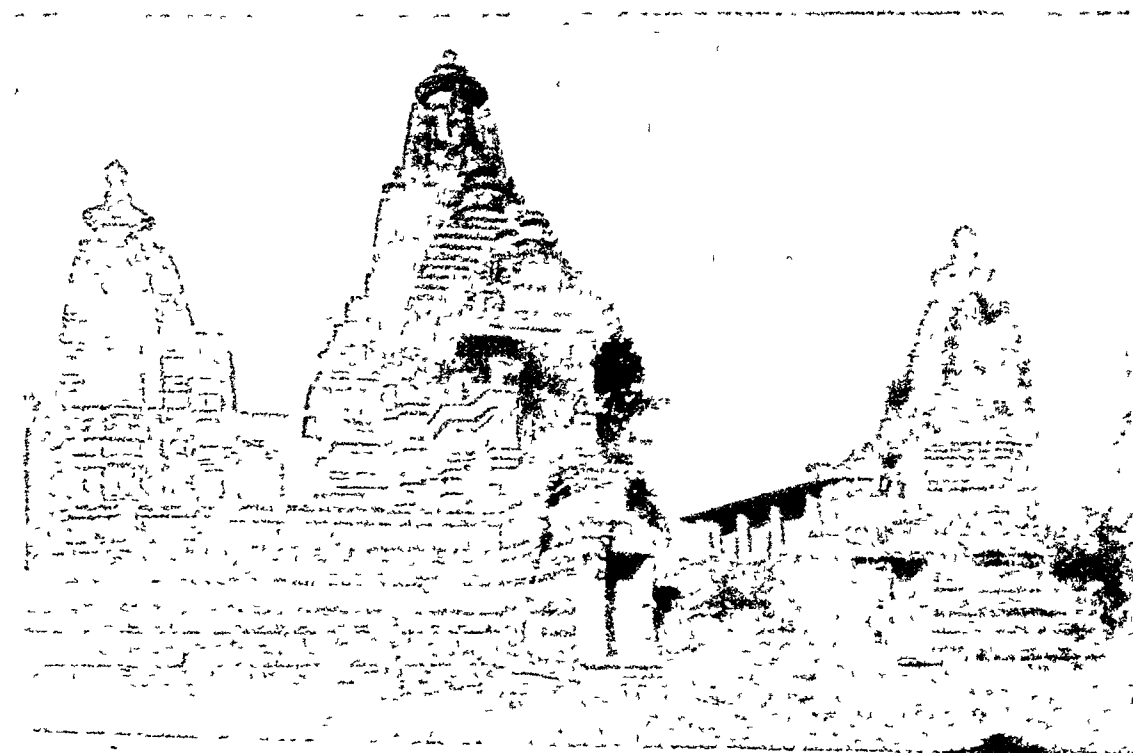
भारतीय मूर्ति-कला

(लेखक—श्रीशारदाप्रसादजी)

एक मन्दिरके बाहर पड़ी एक पुरानी मूर्तिका खण्ड देखकर एक मित्रने मेरा ध्यान उसकी ओर आकर्षित किया। 'देखिये यह बौद्धकालीन मूर्ति!' मुझे हँसी आ गयी—आज अधिकांश हिंदू पुरानी मूर्तिको बौद्धकालीन समझते हैं। मैंने कहा 'ये तो महादेव बाबा हैं। मस्तकका तीसरा नेत्र पहचान करा रहा है। और है मध्यकालीन कलाका एक निकृष्ट नमूना। शायद चौदहवीं सदीका होगा।' मेरे मित्रने कहा कि 'आपने तो मूर्तिका समय भी बता दिया। क्या उसपर संवत् खुदा है कहीं? तीसरा नेत्र दिखाकर तो आपने सिद्ध कर दिया कि मूर्ति बुद्ध भगवान्की न होकर शङ्करजीकी है। पर आपके तिथि-निर्णयका क्या आधार है?'

मैंने कहा कि 'विद्वानोंने पूर्ण परिश्रम करके भारतीय मूर्ति-कलाका इतिहास तैयार कर लिया है। विभिन्न समयकी मूर्तियोंकी रूप रेखाका उन्होंने अध्ययन किया है और यह सिद्ध हो गया है कि एक समयकी मूर्तिका आकार-प्रकार दूसरे समयकी मूर्तिके आकार-प्रकारसे सर्वथा भिन्न है। मूर्तिको देखते ही यह कहा जा सकता है कि मूर्ति गुप्तकालीन है या चेदि महाराजाओंके समयकी। भगवान् विष्णु या शङ्करकी दो मूर्तियाँ कहीं रख दीजिये; तुरंत पहचान हो जायगी, कौन-सी मूर्ति चौथी-पाँचवीं सदीकी गुप्तकालीन है और कौन मध्यकालीन ग्यारहवीं-बारहवीं सदीकी है। पहचानमें भूल न होगी। दोनोंके चेहरे-मोहरेमें वैसा ही प्रकट भेद है, जैसा रामदास तथा शिवशङ्करके चेहरोंमें है।' अस्तु,

इस सम्बन्धमें एक बात बड़ी दुःखद है। हमारी मूर्तिकलाका उत्तरोत्तर ह्रास हुआ है। ग्यारहवीं सदीकी मूर्तिकी कलासे चौदहवीं सदीकी मूर्तिकी कला निकृष्ट है। शुंगकालीन तथा गुप्तकालीन मूर्तियाँ बड़ी मनोमोहक हैं। मध्यकालीन ग्यारहवीं-बारहवीं सदीतककी मूर्तियाँ भी बहुत अच्छी हैं। बादमें तो ह्रास ही हो गया मानना होगा।

भारतीय मूर्तिकलाके सम्बन्धमें मेरा ज्ञान अति सीमित है। विद्यालयमें अथवा पुस्तकोंद्वारा कुछ विशेष प्राप्त हुआ नहीं है। जो कुछ भी ज्ञान पाया था विद्वानोंके साथ कुछ प्राचीन स्थलोंके देखनेमें। इस कारण इस लेखमें अखिल-भारतीय उदाहरण न प्राप्त होकर मध्यभारतीय ही प्राप्त होंगे। अवश्य ही वे अखिल-भारतीय कलाके प्रतीक हैं और अधिकांशमें अप्रकाशित हैं।

सबसे प्राचीन प्रस्तर-मूर्तियाँ भरहुत, बुद्धगया तथा साँचीकी मिलती हैं। ये ईसापूर्व तीसरी सदीकी मानी जाती हैं। भरहुत तथा साँचीके स्तूपोंके तथा बुद्धगयाके मन्दिरके परिक्रमा-पथकी बाड़ (परकोटा—रेलिंग) में ये थीं। साँचीका तो अधिकांश सुरक्षित है। भरहुत तथा बुद्धगयाका अल्पांश ही बचा है। इनमें भी भरहुतकी कला कुछ श्रेष्ठ है। इसके उदाहरण साथमें प्रकाशित है। यह बौद्धकला है शुंगकालीन। कमलके बीच रानीकी मूर्ति बहुत सुन्दर है।

गुप्तकाल (चौथी-पाँचवीं सदी) भारतका सुवर्णयुग था। उस समयकी मूर्तियाँ भी बहुत सुन्दर थीं।

पाश्चात्त्य विद्वान् कहते हैं कि प्राचीन भारतीय मनुष्याकृति बनानेमें निपुण थे, पर वे पशुओंकी मूर्ति नहीं बना सकते थे। हमारे दिये हुए एक चित्रमें हिरन तथा रीछकी दो मूर्तियोंको देखनेपर उन्हें अपना यह मत बदलना पड़ेगा। वे चाहे मूर्तिकला चाहे चित्रकलाकी दृष्टिसे विचार कर लें, उन्हें उत्कृष्टता स्वीकार करनी होगी।

मध्यकाल (दसवींसे चौदहवीं सदीतक) की प्रारम्भिक कला अच्छी थी। परंतु इसके बाद यह नीचे स्तरमें आ गयी। हमारे पास इसके कई उदाहरण हैं।

आधुनिक पौराणिक मूर्तियोंके दर्शन तो नित्य मन्दिरोंमें मिलते ही हैं। उनमें केवल चेहरा ठीक बनानेका उद्योग किया जाता है। शेष शरीरको तो कारीगर किसी प्रकार भी सीधा-सादा गढ़ देता है। दर्जीकी कला उनकी कमीकी पूर्ति कर ही देगी। मूर्तिको तो कपड़ोंसे ढक ही दिया जायगा। इधर कुछ दिनोंसे कलामें पुनः उन्नति प्रारम्भ हुई है। रामवनकी श्रीमारुति-मूर्ति, जो अभी दो वर्ष पूर्व ही निर्मित हुई थी, इसका उदाहरण है। मूर्तिको कपड़ोंसे ढकनेमें लज्जा मालूम होती है। अवश्य ही कलाने अभी गुप्तकालीन गरिमा नहीं प्राप्त की है, पर निकृष्टतासे काफी ऊपर उठ गयी है।

हमारी मूर्तिकलाके क्रमिक ह्रासका कारण विचारणीय है। यह मिलता है निर्माणक्रममें। कहते हैं प्राचीन समयमें

कारीगरोंके काफिले थे। उनकी अपनी चलती-फिरती समाज थी। वे धनके लोभसे मूर्ति-निर्माण नहीं करते थे। जब कहीं मन्दिर बनवानेका निश्चय हुआ, इन समाजोंसे बात की जाती थी। जो समाज खाली होती, आकर वहीं बस जाती थी। बनवानेवाले उनके रहने, भोजन, वस्त्र आदिका भार उठा लेते थे। प्रमुख कारीगर पूजा-पाठ-ध्यानमें लग जाते थे। अनुष्ठान आदि करने लगते थे। इस प्रकार उनको ध्यानमें देव-दर्शन होते थे। जो मूर्ति उनके सामने सम्मुख प्रकट होती थी, उसीके अनुसार बनानेका वे उद्योग करते थे। जबतक कारीगरको देव-दर्शन प्राप्त नहीं होता, वह तबतक ध्यान आदिमें ही लगा रहता था। बनवानेवाला यह नहीं कहता कि 'भाई, पाँच वर्ष बीत गये, तुमने एक दिन भी छेनी हाथमें नहीं ली। हम तुम्हारा वेतन क्यों दें' वेतन ? वेतनपर तो काम ही नहीं था। इस प्रकार धर्मात्मा कारीगरोंकी बनायी मूर्तियाँ क्यों न कलामें उत्कृष्ट हों। ऐसी ही एक मूर्तिके लिये बा० काशीप्रसाद जायसवालने कहा था कि 'इस मूर्तिके पत्थरकी तौलका सुवर्ण दिया जाय, तब भी इसका मूल्य न चुकेगा।'

अब तो दैनिक वेतन या ठेकेपर मूर्तियाँ बनती हैं। जितनी जल्दी बने, उतना अधिक पैसा मिले। पैसे-ऐसी निकृष्ट वस्तुसे जिसका मूल्य अङ्कित किया जाता है, वह उत्कृष्ट कैसे हो।

लेख समाप्त करनेके पूर्व मध्यकालीन मूर्तिकलाके स्वर्ग खजुराहोके कुछ उदाहरण देनेका लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। खजुराहो विन्ध्यप्रदेशमें है। अबतक छतरपुर राज्यमें था। कहते हैं वहाँ ८४ मन्दिर थे। शायद २२ तो अब भी हैं। मन्दिर इतने विशाल और सुन्दर हैं कि एक-एकको देखते रहिये, मन न भरेगा। यहाँके कारीगरोंने अनेक स्थलोंपर संवत् खोद दिये हैं। सं० १००० से १४०० तककी मूर्तियाँ यहाँ हैं। ४०० वर्षतक बराबर काम जारी रहा। राजनैतिक बाधाएँ न पड़तीं तो शायद वहाँका कारीगर-समाज आगे भी काम करता जाता। साक्षात् कुबेरकी धनराशि भी ऐसे मन्दिर बनवा नहीं सकती। ये तो प्रेमसे ही बने हैं। राजकुलने तो समस्त समाजके कुल खर्च तथा सम्मानकी ही व्यवस्था रही होगी।

देखिये खजुराहोका एक विशाल मन्दिर तथा उसके प्राङ्गणके कोनेके दो छोटे मन्दिर। यह लक्ष्मणजीके मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है। मन्दिरनिर्माणके शास्त्रीय क्रमका पालन खजुराहोंने किया गया है। उन्हें वर्णन करनेका यहाँ अवकाश नहीं है। कुल मन्दिरोंकी कुल दीवालें मूर्तिमय हैं। कोने-कोने, पत्थर-पत्थरमें मूर्ति या नक्काशी मिलेगी। वामनजीके मन्दिरकी दीवालका एक थोड़ा-सा अंश भी चित्रमें देखिये। मन्दिरोंके भीतर गर्भगृहके चारों ओरका परिक्रमा-पथ बहुधा इतना कम चौड़ा है कि दो आदमी एक साथ चल नहीं सकते। पर दोनों ओरकी दीवालें यहाँ भी मूर्तिमय हैं।

अपनी भग्न दशामें खजुराहो देशका माथा ऊँचे उठा रहा है। हिंदू-संस्कृतिके नामपर गला फाड़नेवालोंके लिये दो-चार जन्मतक अध्ययन करनेकी सामग्री प्रस्तुत कर रहा है। हमने ताजमहलको संसारके सात आश्चर्योंमें गिन लिया है। खजुराहोको समझेंगे, तब संसारका वह सर्वप्रथम महान् आश्चर्य माना जायगा। मुझे तो सन्देह है कि स्वर्गीय कलाके स्थलको अभी किसीने देखा ही नहीं है।

इस छोटे-से लेखमें रामवनमें संगृहीत दो-एक मूर्तियोंका तथा खजुराहोमें स्थित कुछ मन्दिरोंका अति संक्षिप्त वर्णन किया गया है। केवल विहङ्गम-दृष्टिपात हुआ है। भारत देश तो बहुत बड़ा है। भारतीय मूर्तियोंकी सुरक्षा तथा उनके प्रकाशनका प्रबन्ध हो जाय तो संसारको चकाचौंध हो जाना पड़ेगा। हिंदू-संस्कृतिकी रक्षामें हिंदू-मूर्तियोंका कितना ऊँचा स्थान है, यह तो सहज ही समझा जा सकता है।

भारत हमारा है

रामकी प्रसिद्ध जन्मभूमि है अयोध्या यहीं, यहीं हरिद्वार-चित्रकूट सुखराशी है।
व्रज मथुरा है द्वारिका है कृष्ण-लीला-भूमि, यहीं है प्रयाग और शंकरकी काशी है॥
'शारद' समस्त पाप-ताप-नाशिनी महान, बहती यहाँपे गंगधार अविनाशी है।
वेदके निनादसे निनादित प्रसिद्ध देश भारत हमारा हम भारतके वासी हैं॥

—श्री'शारद'

भारतीय शिल्प एवं चित्रकलामें काष्ठका उपयोग

(लेखक—मुनि श्रीकान्तिसागरजी)

भारतके प्रतिभासम्पन्न कलाकारोंने अपनी सात्त्विक सुकुमार और उत्प्रेरक भावनाओंको धातु, प्रस्तर और कागज-के द्वारा साकारकर न केवल कलाके उपकरणोंकी रक्षा ही की, अपितु यह भी प्रमाणित कर दिखाया कि अन्तर्भावनाओंके विकास एवं स्थैर्यके लिये अमुक प्रकारका अलङ्करण ही उपयुक्त हो, ऐसी बात नहीं है । कलाकी उत्कट भावना किसी भी प्रकारके उपकरणद्वारा व्यक्त की जा सकती है । पार्थिव द्रव्योंमे ही कला और सौन्दर्यका समुचित विकास पाया जाता है । प्रस्तुत निबन्धमे मैं कलाके एक उपकरण काष्ठकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ; क्योंकि बहुत प्राचीन कालसे यहाँके साधारण जनसमूहसे लेकर उच्चकोटिके कलाकारोंतकने काष्ठका व्यापक उपयोगकर अपने गार्हस्थ्यके दैनिक आवश्यक कार्योंकी पूर्ति तो की ही, साथ-ही-साथ उच्च श्रेणीके प्रतीकोंका भी सृजनकर उसे सजीव प्रतीकोंकी कोटिमे ला खड़ा किया ।

यह सभी जानते हैं कि वैदिक युगमें यज्ञ-यागोंकी प्रधानता थी । तन्निमित्त मण्डपोंकी बहुत बड़ी आवश्यकता रहती थी । उसमे भाषा, ज्ञान, चर्या, गीत, नृत्य आदि आध्यात्मिक एवं जनरञ्जक कार्यक्रम हुआ करते थे । ये मण्डप अत्यधिक द्रव्य व्यय करके सुन्दर-से-सुन्दर बनाये जाते थे । कहीं-कहीं पारस्परिक प्रतिस्पर्धाके कारण भी वर्ग अपनी धन-सम्पत्तिके बलपर मण्डपको अधिक-से-अधिक सजाता था; परंतु इन मण्डपोंका अस्तित्व क्षणिक—निर्धारित समयके लिये ही होता था । इतने परिश्रम और विपुल अर्थ-व्ययसे तैयार होनेके बाद भी ये स्थायित्वके सौभाग्यसे वञ्चित रह जाते थे । समयने पलटा खाया । स्वाभाविक भी है कि जैसे-जैसे आवश्यकताएँ बढ़ने लगती हैं, वैसे-वैसे ही समाजमे क्रान्ति और संघर्ष शुरू हो जाते हैं । वर्णित मण्डपोंके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर कुछ लोग अपने ढंगसे पक्के मण्डप बनवाने लगे । कमान आदि और शोभन अलङ्करणोंका क्रमिक विकास होने लगा । इन सब सजावटोंके बाद भी आखिर वह काष्ठ ही तो ठहरा । भला कबतक वह टिक सकता । शीत, धूप और वर्षा आदिसे बहुत समयतक अपनेको बचाये रखनेके लिये मण्डप और भी इतने पक्के बनाये जाने लगे कि क्रमशः मण्डपोंका रूप परिवर्तित हो गया और वे मण्डपसे गृह या मन्दिर बन गये । इससे हमें यह तो मानना ही होगा कि भारतीय शिल्पकलामें वैदिक कालसे ही काष्ठका उपयोग प्रचुर परिमाणमें होने लगा था । उस कालके शिल्पियोंमे कल्पना और सृजन-शक्ति अद्भुत थी । उनका जीवन कलाकारका एक आदर्श था । वे सांसारिक होते हुए भी जब कलाकी साधनामें जुटते, अलिप्त हो जाते थे । धनिकवर्गोंद्वारा कलाकारोंका समुचित सम्मान भी होता था । इस सम्मानके पीछे कलाकारमे अपनी-अपनी प्रतिभाके तत्त्व थे, जिनके बलपर धनवानोंमे वे समादृत होते थे । न कि अर्थसे उनको उन दिनों खरीदा जाता था । क्योंकि उस समय भारतका सामाजिक जीवन ही कुछ ऐसा बन गया था कि शायद ही कोई गृह ऐसा रहता, जिसपर सुरुचिपूर्ण कलात्मक अङ्कन न किया गया हो । बिना सूक्ष्म खनन (कोरनी) के गृह अशुद्ध और अपशकुनजनक माना जाता था । लकड़ीको 'प्लेन' रहने देनेसे काष्ठोपजीवी वर्ग स्वयं इन्कार कर देता था । गृह-कार्यमें आनेवाले झूले, पलंग, चौकी, बालकोंके खिलौने, बेलन, पेटियाँ और प्रधान वाहन, रथ भी कारीगरीसे युक्त तथा रंगीन रहा करते थे । इस साधारण वस्तु-निर्माणसे भी कलाकार अपना श्रम लगाकर उसे जीवित प्रतीक-सम बना दिया करते थे । तात्पर्य यह कि घरकी कोई भी वस्तु ऐसी न रह पाती थी, जिसमे कलात्मक अभिव्यक्ति न हो । किसी भी देशका आर्थिक विकास सामयिक महत्त्व रखता है; परंतु कलात्मक विकास तो शताब्दियोंतक देशकी गौरव गरिमा बनाये रखता है ।

यज्ञस्तम्भ काष्ठके गढ़वाये जाते थे, जिनका एक उदाहरण देनेका लोभ संवरण नहीं किया जा सकता । विलासपुर (सी० पी०)-जिलान्तर्गत चन्द्रपुर ताल्लुकेमे 'किरारी' नामक ग्राममे 'हीराबन्ध' जलाशयमेंसे १८०० वर्ष पूर्वका एक प्राचीन काष्ठका यज्ञस्तम्भ उपलब्ध हुआ है । यह स्तम्भ सलईका प्रतीत होता है । इसपर जो लिपि है, वह गुप्तकालके पूर्वकी है । मैंने इसे नागपुर आश्चर्यगृहमे देखा था । इस स्तम्भमे विशेषकर उन दिनोंके राजनैतिक कर्मचारियोंके पदोंके उल्लेख पाये जाते हैं । अतः इसका महत्त्व दोनों दृष्टियोंसे है । यज्ञस्तम्भ तो और भी प्राप्त हुए हैं, पर वे प्रायः पाषाणके हैं ।

ई० पू० छठी सदीमें महाश्रमण भगवान् महावीरकी चन्दनकाष्ठपर मूर्ति खोदी गयी थी । उसे उज्जैनीके राजा चण्डप्रद्योतनने बनवाया था । गत वर्ष जब मैं पटनामें था, तब प्राचीन पाटलिपुत्रकी खुदाईके अवशेष एवं भूमिको देखनेका सुअवसर आया था; वहाँपर बड़े-बड़े काष्ठके सुसंस्कृत पटरे पड़े हुए थे, जिनमें कुछ अधजले भी थे । पाटलिपुत्रमें विस्तृत आग लगनेके उल्लेख बौद्ध-साहित्यमें मिलते हैं । मौर्यकालमें काष्ठका उपयोग व्यापकरूपसे हो रहा था, तक्षण-कलामें तो होता ही था । पटनाके संग्रहालयमें आज भी बहुत-से काष्ठावशेषोंमें एक रथका पहिया भी है । इसे खास अशोकके रथका चक्र बताया जाता है । इसमें कितना सत्य है सो पता नहीं; पर पहियेकी बनावटसे इतना तो निःसकोचभावसे कहा जा सकता है कि यह ई० पू० का तो निश्चित ही है । रचनाकौशल प्रेक्षणीय है ।

गौतम बुद्धने अक्षरारम्भ करते समय चन्दनकाष्ठ-पट्टिकाका उपयोग किया था । इस उदाहरणसे ज्ञात होता है कि उन दिनों लेखनकलाके विशेष अभ्यासमें काष्ठका सुचलन रहा होगा । 'ललितविस्तर' और 'कटाहक-जातक' इसके उदाहरण हैं । यद्यपि प्राचीन और मध्यकालीन जितने भी कलात्मक प्रतीक मिले हैं, वे प्रायः सभी प्रस्तरके हैं, तथापि उनसे यह प्रमाणित नहीं होता कि उस कालमें गृह-निर्माणादि-कार्यमें काष्ठका प्रयोग नहीं होता था । 'वसुदेव हिंदी' जो कि छठी सदीका एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, उसमें एक काष्ठशिल्पीकी एक रोचक कथा आती है । उसमें उसकी काष्ठनिर्माणकलापर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । साहित्य समाजका प्रतिबिम्ब है; ऐसी दशामें मानना पड़ेगा कि मध्यकालीन तथा इतः पूर्व कुछ शताब्दियोंके पूर्व भारतने काष्ठको कलात्मक उपकरणनिर्माणमें अवश्य ही प्रधान स्थान दिया था । भागवतमें मूर्तिनिर्माणविषयक उपकरणोंकी जहाँपर चर्चा की गयी है, वहाँपर काष्ठकी मूर्तियाँ बनानेका स्पष्ट विधान है । ठीक, इसी प्रकारके एकाधिक उल्लेख जैन-शिल्पके ग्रन्थोंमें भी पाये जाते हैं । जैनमूर्तियाँ काष्ठकी मैंने कई जगह देखी हैं । (कलकत्ता- विद्यालयान्तर्गत) आशुतोष म्यूजियममें काष्ठकी विशाल जैनमूर्ति है, जो विष्णुपुर (बिहार) से प्राप्त की गयी थी । नेपालमें अत्यन्त सुन्दर काष्ठमूर्तियाँ बनानेकी विशिष्ट प्रथा थी । इन मूर्तियोंके निर्माणमें वहाँके सौन्दर्यप्रेमी कलाकारोंने जो कमाल किया है, वह अनिर्वचनीय है । रंगीन मूर्तियोंको देखकर कल्पना नहीं होती कि ये प्रतिमाएँ काष्ठकी होंगी । विशेषकर बौद्धतन्त्रोंसे सम्बन्धित मूर्तियाँ मिलती हैं । यों भी नैपाल पहाड़ी प्रदेश होनेके कारण काष्ठ-शिल्पमें काफी आगे रहा है । और भी पहाड़ी प्रदेशोंमें काष्ठका उपयोग अच्छे-से-अच्छे रूपमें होता है ।

पश्चिम भारतके विशाल भवन और देव-मन्दिरोंके निर्माणमें बहुत कुछ अंशोंमें पत्थरका स्थान काष्ठ—लकड़ीने ले रक्खा था । इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि विवक्षित कालमें काष्ठके ऊपर कलात्मक रेखाएँ शायद ही खचित की जाती हों, जैसे पत्थरोंपर खींची जाती थीं ।

सोमनाथका मन्दिर वैदिकोंकी दृष्टिमें ऊँचा स्थान रखता है । द्वादश ज्योतिर्लिङ्गोंमें उसकी परिगणना है । शिल्प और प्राचीन तक्षणकलामें अभिरुचि रखनेवालोंके लिये भी मन्दिरकी रचनाशैली महत्त्वपूर्ण है । मन्दिरका प्रथम निर्माण किस पद्धतिसे हुआ होगा, यह कहना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है । कारण; उतनी प्राचीन कोई सामग्री न तो वहाँ उपलब्ध ही हुई है और न अन्यत्र उल्लेख ही वर्तमान हैं । परंतु बारहवीं सदीके प्राप्त ऐतिहासिक उल्लेखोंसे यह निश्चित कहा जा सकता है कि परमार्हत महाराजा कुमारपालकृत जीर्णोद्धारके समय सम्पूर्ण मन्दिर काष्ठका था । इसकी विशाल छत काष्ठके ५७ मजबूत खम्भोंपर आधृत थी, वे स्तम्भ खास तौरसे अफ्रीकासे लाये गये थे । इस मन्दिरको महमूद गजनवीने बुरी तरह क्षत-विक्षत कर दिया था । अतः भीमदेव और महाराजा कुमारपालने (जैन होते हुए भी) इसका जीर्णोद्धार करवाया था, जो धार्मिक सहिष्णुता तथा प्रेमका अच्छा उदाहरण है । कुमारपालने तारंगा हिलपर भगवान् अजितनाथजीका एक मन्दिर बनवाया था; इसमें ऐसे काष्ठका उपयोग किया गया था कि जिससे अग्निस्पर्श कराये जानेपर जल निकलता था । ऐसा प्रवाद आज भी है । मैं नहीं कह सकता इसमें सत्य कितना है ।

प्राचीन नीतिविषयक ग्रन्थोंमें काष्ठका उपयोग चिरकालतक बिना तैलके जलनेवाली मशालके रूपमें आया है । शुक्रनीतिमें मैंने इसका वर्णन देखा है ।

प्राचीन कालमें तिब्बत और चीनमें जिस प्रकार हस्तलिखित ग्रन्थोंकी रक्षाके लिये काष्ठफलकोंका प्रयोग होने लगा था एवं कलाकारोंद्वारा उनपर कई प्रकारकी नक्काशीका काम प्रारम्भ हुआ था, ठीक उसीके अनुरूप भारतमें भी १२वीं सदीके उत्तरार्द्धमें इस प्रथाका सूत्रपात हुआ; सम्भव

है इससे पूर्व भी हुआ हो। दोनोंमें अन्तर केवल इतना ही था कि तिब्बत और बर्माके कलाकारोंने अपने सम्पुटके ऊपरी भागको कलात्मक रेखाओंद्वारा सुन्दर बनानेपर अधिक ध्यान दिया। उनपर अपने धर्ममान्य विविध भावोंका उत्खनन एवं कहींपर बेल-बूटोंके समूह अङ्कित किये। इनके पीछे धर्म-भावना तो थी ही; परंतु वह समाजमूलक थी, प्रकृतिगत थी। कला-समीक्षकोंके लिये इतनी ही सामग्री काफी है, इतनेपरसे उन देशोंकी जनताके मनोभावोंका हलका पता तो लग ही जाता है। इनके विशाल संग्रह बर्मा, चीन और बोडलियन-संग्रहालयोंमें विद्यमान हैं। मुझे पता चला है इस प्रकारके सम्पुटोंके निर्माणमें लामा लोग चन्दनका उपयोग—शायद बहुमूल्य होनेके कारण करते थे। चन्दनका व्यवहार बौद्धोंने इससे पूर्व भी किया था। गोपालके पुत्र धर्मपालने (विहार-शरीफ पटनामें) एक विशाल विहार बनवाया था, इसमें बोधिसत्व अवलोकितेश्वरकी प्रतिमा चन्दनकी स्थापित की थी। इस विहारकी यात्रा ह्वेनसांगने की थी। अस्तु,

पश्चिम भारतमें जैनोंने तालपत्रके ग्रन्थोंको चिरकालतक सुरक्षित रखनेमें सहायक काष्ठफलकोंके बाह्य भागोंपर तनिक भी ध्यान न दिया, जैसा बौद्ध लोग देते थे। परंतु भीतरी भागपर अधिक ध्यान दिया। अन्तर्भागको भलीभाँति स्वच्छ-कर उनपर जैन-साहित्यके कथाविभागसे सम्बन्धित भावोंका तथा तीर्थङ्कर एवं उनके अधिष्ठाता-अधिष्ठातृदेवियोंके चित्र अङ्कित किये जाते थे। कभी-कभी ग्रन्थलेखक या लिखवानेवालेके द्वारा अपने आत्मीय पूज्याचार्योंके जीवनकी विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाका तथा सर्वप्रिय महात्माओंके चित्र भी अङ्कित करवानेके पर्याप्त उदाहरण मिले हैं। यों तो इस प्रकारके काष्ठफलक बहुत-से ज्ञानागारोंमें मिलते हैं; परंतु अद्यावधि ज्ञातपट्टिकाएँ जैसलमेरके ज्ञानभण्डारकी अच्छी मानी जाती हैं। इनका दो दृष्टियोंसे महत्त्व है—एक तो चित्रकलाकी दृष्टिसे और द्वितीय ऐतिहासिक घटनावलीसे। इनमेंसे कुछका प्रकाशन भारतीय विद्या—सिंघी स्मृति अङ्कमें हुआ है, जिनमेंसे कुछका परिचय इस प्रकार है—

(१) दूसरी पट्टिकामें आचार्य श्रीजिनदत्त सूरि विराजमान हैं। सम्मुख पण्डित जिनरक्षित गुणचन्द्राचार्य एवं श्रावक-श्राविकाएँ बैठी हैं। काष्ठपट्टिकाके भागपर भगवान् महावीरका प्रतिष्ठोत्सव बतलाया गया है, जो त्रिभुवनगिरिमें आचार्य श्रीजिनदत्त सूरिद्वारा सम्पन्न हुआ था। पट्टिकाके दोनों ओर कमल-पुष्पकी पँखुड़ियाँ चित्रित हैं। इस प्रकारकी और भी काष्ठ-पट्टिकाएँ जैसलमेरमें होनेकी सम्भावना है। कुछ तो जैन-समाजके गुरु कहलानेवाले यतियोंने पानीके मोल विदेशियोंके हाथों बेच दीं। तिब्बतमें भी इस प्रकारके काष्ठ-फलक प्रज्ञापारमिताकी पोथियोंमें पाये जाते हैं। दक्षिण भारतमें भी तालपत्रोंपर खरोंचकर लिखा जाता था। यहाँपर भी पश्चिम भारतके समान ही कलापूर्ण काष्ठ-फलक बनते रहे होंगे; परंतु दक्षिण भारतमें अभीतक प्राचीन-ग्रन्थविषयक समुचित अन्वेषण नहीं हुआ।

(२) आचार्य वादिदेव सूरि और कुमुदचन्द्रका शास्त्रार्थ महाराज सिद्धराजकी सभामें हुआ था। प्रस्तुत काष्ठ-फलकपर इसी शास्त्रार्थके पाँच-छः प्रसङ्गोंपर प्रकाश डालनेवाले भाव अङ्कित हैं। संगीतके तीनों अङ्ग बड़ी खूबीसे दिखाये गये हैं।

उपर्युक्त काष्ठपट्टिकाओंपर जो कला अवतरित हुई है, यों तो वह धर्ममूलक है; परंतु मध्यकालीन भारतीय चित्रकला-की दृष्टिसे भी इनका कम महत्त्व नहीं। कारण कि राजपूत-पूर्व विकसित चित्रकलाके उदाहरण अद्यावधि अत्यल्प उपलब्ध हुए हैं। जितने मिले हैं, वे जैनोंद्वारा पोषित कलाके प्रतीक हैं। अतः इन पट्टिकाओंको यदि राजपूत-पूर्व विकसित चित्र कलाका आदि रूप कहें तो अत्युक्ति न होगी।

प्रश्न हो सकता है कि काष्ठ-फलकोंपर जिन रेखाओंको कलाकारोंने अङ्कित किया है, उनकी प्रेरणा उन्हें कहाँसे मिली थी। कलाकी दृष्टिसे यह विषय इतना गम्भीर है कि जबतक तद्विषयक तत्कालीन प्रचुर सामग्री उपलब्ध नहीं हो जाती तबतक निश्चितरूपसे कुछ भी कहना कठिन है। शिल्प और चित्रकलाका रेखाओंकी दृष्टिसे अभिन्न सम्बन्ध है। दोनों परस्पर एक-दूसरेसे प्रतिबिम्बित हैं। प्राचीन तिब्बतीय शिल्प कलाके विकासकी कल्पना जैसे हम तात्कालिक उपलब्ध चित्रोंसे करते हैं, उसी प्रकार वहाँपर भी ८ वींसे ११ वीं सदीके विकसित शिल्प-कलात्मक अवशेषोंसे अभिलषित कालीन चित्रकलाकी रेखाओंकी दृष्टिसे विकासकी कल्पना कर सकते हैं। 'शान्तिनिकेतन' के आचार्य श्रीनन्दलाल वसुसे इस सम्बन्धमें मेरी बातचीत हुई थी। उनका अभिमत है कि जैनाश्रित चित्रकलाके विकासके बहुत कुछ तत्त्व इलोराकी शिल्पकलामें निहित हैं। अर्थात् जैनाश्रित कलाकारोंने इलोराकी शिल्प-रेखाओंसे प्रेरणा प्राप्त की। इलोराकी शिल्प कला और विवक्षित जैनाश्रित फलकवाले चित्रोंका तुलनात्मक दृष्टिसे देखनेसे वसु महोदयका उपर्युक्त कथन समीचीन प्रतीत होता है।

जितनी भी प्राचीन काष्ठपट्टिकाएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें सं० १४२५ वाली दो हैं। दोनो "२३×३" साइजकी हैं। दोनोंपर श्रमण-संस्कृतिके परमोन्नायक भगवान् पार्श्वनाथ स्वामीके दशभव और पञ्च-कल्याणक चित्रित हैं। यद्यपि रक्षककी असावधानीसे चित्रोंका बहुत-सा भाग तो नष्ट हो गया है, तो भी अवशिष्ट भाग भी कलाकी अभिव्यञ्जनाको लिये हुए है। सं० १४५४ की तालपत्रीय सूत्रकृताङ्ग वृत्ति नामक पुस्तक उपलब्ध हुई है। इसकी काष्ठ-पट्टिकापर श्रमण भगवान् महावीरके २७ भवोंमेंसे कुछ भवों और पञ्च-कल्याणकोंके चित्र अङ्कित हैं[1]। काष्ठ-पट्टिकाओंका ह्रास तब हुआ, जब तालपत्रालेखन-पद्धति जैन-समाजसे उठ गयी। १४ वीं सदीके बादकी तालपत्रीय प्रतियाँ नहींके बराबर मिलती हैं। कागजकी पोथियोंके विकासके साथ काष्ठ-फलक-पर जो अङ्कन किया जाता था, वह चित्रोंके रूपमें परिवर्तित हो गया अर्थात् दीवालोंपर लगे काष्ठपर चित्राङ्कन-पर्व-पद्धतिका सूत्रपात हुआ। अहमदाबाद, सूरत, राधनपुर और खम्भात आदि नगरोंके जैन-मन्दिरोंमें अच्छे-से-अच्छे कलात्मक प्रतीक उपलब्ध हुए हैं। वे प्रतीक धर्ममूलक होते हुए भी मध्यकालीन भारतीय चित्र-कलाके क्रमिक विकासपर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

१५वीं सदीके बाद कुछ ऐसी भी लकड़ीकी पट्टियाँ मिलती हैं, जिनपर सम्पूर्ण वर्णमाला, संख्या और संयुक्ताक्षर लिखे रहते हैं। इनके दूसरे भागमें अपने-अपने धर्ममान्य भाव अङ्कित रहते हैं। इस प्रकारकी पद्धतिके विकासके पीछे दो भावनाएँ काम करती हैं। बालकोंकी लिपि प्रारम्भसे ही साधु रहे और दूसरे, प्राचीन लिपिकी मरोड़का भी समुचित ज्ञान हो जाय। क्योंकि प्राचीन कालमें समाजके पास ग्रन्थाध्ययन-विषयक साधन स्वल्प थे। आजकल प्राचीन संग्रहालयोंमें इस प्रकारकी कई पट्टिकाएँ प्राप्त होती हैं और आज भी मध्यकालीन लिपियोंसे परिचय रखनेके लिये जैन मुनियोंको सीखनी पड़ती हैं। मुझे भी इस कोटिमें छुटपनमें आना पड़ा था। शिक्षा-प्राप्तिके ये उपकरण शोषित समाजके रहे हो चाहे सांस्कृतिक; परंतु इतना सच है कि साधारण श्रेणीके मनुष्य भी अल्पसाधन रहनेके बावजूद भी उन दिनों अक्षर-ज्ञानसे वञ्चित नहीं रहते थे।

जिन दिनों मैं त्रिपुरीमें था, मुझे चन्दन काष्ठकी तीन पट्टिकाएँ मिली थीं; वे इतिहास और खुदाईकी दृष्टिसे अत्यन्त मूल्यवान् हैं। प्रथम काष्ठपट्टिका ९.६ इंचकी है। अक्षपर एक स्त्री भूषणोंसे विभूषित बैठी है। ये छत्तीसगढ़में प्रचलित आभूषणोंसे मिलते हैं। बायीं ओर तलवार एवं कटि-प्रदेशमें कटार है। कानोंके जेवर विलक्षण हैं। मस्तकके बाल खुले हैं। सम्भवतः यह कोई गोंड़ राजकुमारी रही होगी या यह किसी सतीका प्रतीक हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

दूसरी पट्टिका १०"×५" की है। अक्षपर स्पष्ट मुख-वाला पुरुष अधिष्ठित है। निम्नभागमें ये शब्द खुदे हैं—'कल्याणसिंह समवत् १६९६ वः सुना।' मेरी रायमें यह किसी योद्धाका चित्र है।

उपर्युक्त तीनों काष्ठ-शिल्पके अध्ययनसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचता हूँ कि ये १६वीं, १७वीं सदीकी महाकोसल-कलाके सुन्दर उदाहरण हैं।

चाँदवड़ (जिला नासिक) में अहल्याबाई होल्करका एक विशाल राजमहल है, इसके निर्माणमें ४०० से अधिक काष्ठ-स्तम्भ लगे हैं। ये स्तम्भ ऐसे हैं कि जिन्हें दोनों ओरसे दो व्यक्ति मिलकर अङ्कमें लेना चाहें तो नहीं ले सकते। उनकी काष्ठकी कड़ियोंपर जो नक्काशी की गयी है, वह उन्नीसवीं सदीकी अच्छी कारीगरीके नमूनोंमें है। यद्यपि अहल्याबाईका यह महल इतिहासकी दृष्टिसे बहुत प्राचीन नहीं कहा जा सकता, फिर भी प्राचीन भारतीय गृह-निर्माण-कलाकी यह अन्तिम कड़ी है। अहल्याबाईका धर्मप्रेम भारत-प्रसिद्ध है। जिस हालमें वे बैठा करती थीं, उसकी विस्तृत दीवालोंपर दोनों ओर रामायण और महाभारतके चित्र महाराष्ट्र-कलममें अङ्कित हैं। इन चित्रोंका अध्ययन सम्भवतः अभी नहीं हुआ है।········टीपू सुल्तानने श्रीरंगपट्टनका सम्पूर्ण महल ही काष्ठका बनवाया था। १७वीं-१८वीं सदीका मानवाकार विशाल काष्ठ-सिंहासन दीवानबहादुर श्रीराधाकृष्ण जालान (पटना) के संग्रहालयमें है। इसपर सुनहरी स्याही पोत दी गयी है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अग्रभागमें भगवान् बुद्धकी विशिष्ट जीवन-घटनाएँ एवं लामाओंके मठों-की आकृतियाँ खचित हैं। साथ-ही-साथ भिन्न-भिन्न प्रकारके उभरे हुए पुष्प प्रेक्षकोंका ध्यान खींच लेते हैं। यह सिंहासन तिब्बतीय कलाका अनुपम प्रतीक है। बर्मामें विस्तृत काष्ठ-निर्मित राज्यसिंहासनसे शायद ही कोई अपरिचित हो। उपर्युक्त जालान महोदयके संग्रहालयमें काष्ठकी कारीगरीके बहुत-से अवशेष हैं। इनमें उड़ीसाके एक मन्दिरका तोरण बहुत ही मनोहर है। इसे मैं उड़ीसाका इसलिये कहता हूँ

---

१. जैनचित्रकल्पद्रुम, पृष्ठ ४९।

कि तोरणमें उत्कीर्ण शिखर भुवनेश्वरकी शिखाकृति है। चौदह स्वप्नोंका जमाव होनेसे और मध्यमे कलशाकृति स्पष्ट होनेसे निःसन्देह यह किसी जैन-मन्दिरका ही भाग है। उड़ीसामें अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा आज भी कलाके उपकरण-रूपमें काष्ठका व्यवहार व्यापकरूपसे होता है। फिर भी वहाँ-की ग्रामीण जनताका जीवन सर्वथा कलाविहीन नहीं है। अल्प अर्थमें भी वे अपनी कला-क्षुधा शान्त कर सकते हैं। आप किसी भी देहातमें चले जाइये, वहाँ जगन्नाथके मन्दिर काष्ठके ही बने हुए मिलेंगे। इनमें विष्णुके दशावतारोंके चित्र या भागवत एवं रामायणसे सम्बन्धित चित्र लकड़ीपर खुदे हुए मिलते हैं। इन मन्दिरोंके बहाने आज भी जनताके कलाकारोंका पोषण उड़ीसामें होता है।

१८वीं सदीमे हस्तलिखित ग्रन्थोको सुरक्षित रखनेके लिये काष्ठके बक्से ८"×१५" परिमाणके बनाये जाते थे। इनपर भी वैदिक या जैन-संस्कृतिसे सम्बन्धित मूर्तियाँ एवं कई प्रकारकी देशपरक आकृतियाँ अङ्कित मिलती हैं। मेरे संग्रहमे भी ऐसे दो बक्स हैं, जिनपर क्रमशः सरस्वती और गणेशके चित्र हैं। उत्तर-गुजरातसे अभी-अभी कुछ काष्ठ-पुतलियाँ प्राप्त हुई हैं। सौराष्ट्रमें आज भी जो बड़े-बड़े भवन बनते हैं, उनपर काफी नक्काशी पायी जाती है। सौराष्ट्र और राजपूताने-के प्रदेशद्वार भारतमें प्रसिद्ध हैं।

उपसंहार

इतने लंबे विवेचनके बाद एक बातकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। जो काष्ठ-निर्मित वस्तुएँ प्रत्यक्ष मिलती हैं, उनकी चर्चा ऊपर की गयी; परंतु इस प्रकारके अध्ययनमे अजंता, बाघ आदि गुफाओंके भित्तिचित्रोंको नहीं भुलाना चाहिये। क्योंकि उनमे तात्कालिक जनताके आमोद-प्रमोद-उत्सवकी बहुत-सी घटनाओंके साथ-साथ समाजमूलक प्रवृत्तियोंमे सहायक एवं भिन्न-भिन्न वाहनोंके चित्र भी अङ्कित मिलते हैं। इनसे इतना अंदाज तो लगाया ही जा सकता है कि वे काष्ठके ही बने होंगे। इस प्रकार प्राचीन साहित्य, शिल्प एवं चित्र-कलाको भी इसके अध्ययनमें स्थान देना चाहिये। इन पंक्तियोसे यह भी प्रतीत होता है कि कलात्मक भावोंको व्यक्त करनेके लिये सौन्दर्यसम्पन्न उपकरण ही आवश्यक हों, ऐसी बात नहीं। कला वही है, जो असुन्दर वस्तुमे सत्य, शिव, सुन्दरकी स्थापना कर सके।' भारतीय कलाकारोपर यह पंक्ति सोलहों आने चरितार्थ होती है।

हिमाचल-चित्रकला

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, डी० लिट्०)

काँगड़ा-चित्रकलाको पहाड़ी चित्रकला भी कहा जाता है। कुछ विद्वान् इसे हिमालय-चित्रकलाका नाम देते हैं। अभी हालमे श्रीनान्हालाल मेहताने इसके लिये 'हिमाचल-चित्रशैली' यह सुन्दर नाम चुना है। सन् १९१६ मे श्रीआनन्द कुमारस्वामीने विशेषरूपसे इस चित्रशैलीके सौन्दर्य और रसका बखान किया था और अपनी पुस्तक 'राजस्थानी पेंटिंग'में राजस्थानी चित्रकलाके अन्तर्गत ही हिमाचल-चित्र-शैलीको भी स्थान दिया था। कुमारस्वामी भारतीय कलाके अद्भुत पारखी थे। छिपे हुए सौन्दर्यको उनकी पैनी आँख तुरंत पहचान लेती थी। उन्होंने देखा कि भारतीय कलामें रसका यह अपूर्व सोता अभीतक अनजाना हुआ पड़ा है। इस चित्रशैलीमें सुन्दरता और आनन्दकी जो रसलहरी है, उससे परिचित होना मनुष्यमात्रके लिये उचित है। अतएव कुमारस्वामीकी तेजस्वी लेखनीने दो बड़ी जिल्दोमे राजस्थानी और उसीके अन्तर्गत काँगड़ा चित्रोंका सचित्र रसात्मक वर्णन जनताके सामने रक्खा और यह सम्मति प्रकट की कि न केवल इन चित्रोंमे भारतीय हृदयकी पूरी छाप है, वरं इनकी भाषा मनुष्यमात्रके लिये है। इस कारण यह चित्रशैली संसारकी उन श्रेष्ठ कलाओंमें स्थान पाने योग्य है, जो मनुष्यके हार्दिक भावोंको रंग और रेखाके द्वारा अमर बनानेका प्रयत्न करती हैं। समयके बीतनेपर कुमारस्वामीकी यह सम्मति खरी उतरी और हिमालयकी गोदमे पली हुई यह सुकुमार चित्रशैली आज अपने सौन्दर्यसे सहृदय पारखी व्यक्तियोंके मनको पूर्व और पश्चिममे एक-समान रस-सिञ्चित करनेमें सफल हुई है। अंग्रेजी कलापारखी लारेंस बिनयन ब्रिटिश म्यूजियममे चित्र-विभागके अध्यक्ष और विश्वकी अनेक चित्रशैलियोंके मार्मिक जानकार थे। काँगड़ा-चित्रोसे जब उनका परिचय हुआ, तब उनका मन किसी छिपी हुई सौन्दर्यराशिके सम्पर्कमे आकर विचलित-सा हो उठा। उन्होंने लिखा—'वह अपूर्व सुख और थिरकन, जो काँगड़ा प्रदेशके चित्रोंको पहले-पहल देखकर मैंने अनुभव की, मैं कैसे भूल सकता हूँ। कैसे यह बात सम्भव हुई कि इस मोहिनी चित्रराशिका परिचय पश्चिममें अबतक हमारे पास न पहुँच सका? एक रेखाचित्रने, जिसमें तबतक रंग नहीं भरा गया था, विशेषरूपसे मेरे मनको खींच

लिया। चित्रमें दो प्रेमी चाँदनी रातमें सरोवरके तटपर मण्डप-के नीचे संगीतका सुख लूटते हुए दिखाये गये थे। चित्र मनको मायाके कान्तिमय जगत्‌में हरे लिये जाता था; वह देखनेमें सरल—पर मुक्तक गीतकी तरह चुभता हुआ था। इस शैलीके जो सर्वोत्तम चित्र हैं, उन्हें देखते हुए कहना पड़ता है कि काँगड़ाकी कला ठेठ आह्लादका रूप है। जो इन चित्रोंका ध्येय है, उससे अधिककी आशा हम उनसे न करें; पर मनके भावोंका उद्‌घाटन और किन चित्रोंकी रेखाओंमें इतनी सुनाईके साथ मिलता है? काँगड़ाके चित्रोंमें निष्कपट ढंगसे मनके भाव उघाड़े हुए मिलते हैं। उनकी सहज छूट कुछ ऐसी है, जैसी पुराने रासोगीत या पवाड़ोंकी होती है, जिनका मिठास हृदयमें घर कर लेता है। संसारकी कलामें यह बेजोड़ बात है।' सुन्दरताके एक सच्चे पारखीके ये सहज उद्गार काँगड़ाशैलीके प्रति हमारे मनके उत्साहको बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं।

जम्मूसे टिहरी और पठानकोटसे कुल्लूतक फैला हुआ लगभग १५० मील लंबा और १०० मील चौड़ा पहाड़ी प्रदेश काँगड़ा-चित्रशैलीका क्षेत्र है। काँगड़ेका इतिहास पुराना है। महाभारतमें इसे त्रिगर्त कहा गया है। रावी, व्यास, सतलज—तीन नदी-घाटियोंसे बना होनेके कारण इसका नाम त्रिगर्त पड़ा था। रावीके उत्तरी किनारेपर चम्बा और बसौली हैं, जहाँ बहुत-से सुन्दर चित्र बने। रावी और व्यासके बीचकी चौड़ी घाटीका नाम काँगड़ा है, जो बहुत ही उपजाऊ है। इसमें नूरपुर, हरिपुर (गुलेर), काँगड़ा, बैजनाथनगर आदि बड़े शहर हैं। व्यास और सतलजके बीचमें मण्डी, सुकेत, बिलासपुर, बशहर आदि रियासतें कटहलके कोयोंकी तरह भरी हुई हैं। बशहरके ठीक दक्षिण टिहरी-गढ़वाल है, जहाँ १९ वीं सदीके मध्यमें काँगड़ा-चित्रशैली अन्तिम बार चमककर लुप्त हो गयी। इन रियासतोंने प्राचीन सभ्यता बाहरी प्रभावसे बचती हुई अपना जीवन बनाये रख सकी। वहाँ नाचते-गाते स्त्री-पुरुष अपने उमङ्गभरे जीवनमें हिमालयकी बर्फीली चोटियोंको देखते हुए देवदार, कैल और चीड़के वनोंमें बहती हुई हवा और वनोंके पशु-पक्षियोंके साथ किलोल करते रहे। शान्ति और आनन्दका यह अध्याय बहुत ही मनोरम ढंगसे चित्रात्मक कलाके रूपमें प्रकट हुआ। १७ वीं और विशेषकर १८वीं सदीमें चित्रसृष्टिकी यहाँ बाढ़-सी आ गयी थी, जिसके फलरूप लगभग पचास हजार चित्र यहाँ बने होंगे, जो आज भी अधिकांश सुरक्षित रह गये हैं।

काँगड़ा-चित्रशैलीका ध्रुवबिन्दु सुन्दर नारी है। उसीके चारों ओर इन चित्रोंका जाल पूरा हुआ है। नारीका जो अष्टयाम और बारहमासी जीवन है, उसीके ताने-बानेसे पहाड़ी चित्रशैलीका सुरम्य पट बुना गया है। प्रेम और शृङ्गार, संयोग और वियोग, इस किमखाबी वस्त्रको सजावट प्रदान करते हैं। काँगड़ाचित्रोंमें नारीकी दीप्तमूर्तिके अनेक चित्र मनपर छप जाते हैं। पुरुषोंका अस्तित्व नारीके जीवनको विकसित करनेके लिये है। चित्रकार पुरुषके रूप-सम्पादनमें उतना उत्सुक नहीं जान पड़ता और न पुरुषकी किसी भव्य आकृतिका संस्कार काँगड़ा-चित्र अपने पीछे छोड़ते हैं। किन्तु स्त्रीकी अपार सुषमा, अङ्ग-प्रत्यङ्गकी बहुविध सुन्दरता, शरीरके लावण्य और मुखकान्तिको सैकड़ों प्रकारसे प्रकट करते हुए वे नहीं अघाते। शायद ही नारी-सौन्दर्यकी इतनी सजग अनुभूति अन्य किसी चित्रकलामें मिलती हो। रीतिकालके कवियोंने सूरसे लेकर मतिराम, देव और बिहारीके समयतक शब्दोंके सूक्ष्म अभिप्राय रचकर स्त्री-सौन्दर्यका जो आदर्श उपस्थित किया था, उसका प्रत्यक्ष दर्शन हम काँगड़ाके चित्रोंमें पाते हैं। नायक-नायिकाओंके प्रेममय जीवनकी एक-एक कली इन चित्रोंमें प्रस्फुटित दिखानेका प्रयत्न किया गया है। चित्रकारोंकी दृष्टिमें प्रेम ही जीवनका सार है। देवोपम वैभव, सुन्दर स्वस्थ शरीर, भावुक तरङ्गित मन यदि किसीको प्राप्त हो सके तो उसके लिये जीवनमें जो सबसे ऊँची साधनाकी वस्तु है—वह प्रेम है। प्रेमसे ही जीवनमें विचित्रता उत्पन्न होती है। शान्तिसे नखिचत होते हुए जीवनको जब प्रेमकी मलयवात प्रथम बार छू देती है, तब वहींसे जीवनकी विचित्रता-का अध्याय शुरू हो जाता है। उसके आगे संयोग और वियोगके, मुग्ध और प्रौढ़ स्नेहके कोमल पल्लव वसन्तकी वनलक्ष्मीके सहचरकी भाँति प्रेमिकाके जीवनको भरने लगते हैं। किन्तु प्रेमकी यह आराधना भक्तिधर्मका आशीर्वाद पाकर ऊँचे स्तरपर प्रतिष्ठित हो गयी। प्रेम करनेवाले युगल दम्पति स्वयं अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते। उनका जीवनचित्र विश्व-मानवके जीवनका प्रतीकमात्र है। इसी कारण काँगड़ाके चित्र-कार प्रेमकी सञ्चित तीव्र अनुभूतिको श्रीराधाकृष्णके जीवनमें ढालकर उसके अनेक सुन्दर संस्करण सजाते हैं। श्रीराधाकृष्ण-की लीला, दिव्य किशोर-किशोरीका जीवन इन चित्रोंकी मुख्य भाषा है। यह भाषा जातिगत संस्कारके रूपमें स्त्री-पुरुष, पढ़े-अनपढ़—सबके लिये सुलभ थी। भागवतके दशम स्कन्धमें श्रीकृष्णकी बाललीला और यौवनगत विलासलीलाका बहुत ही मनोहर और उन्मुक्त वर्णन है, जिसे संस्कृत और भाषाके

राधाकृष्णका वर्षाविहार (दोनों एक कामरीके नीचे)
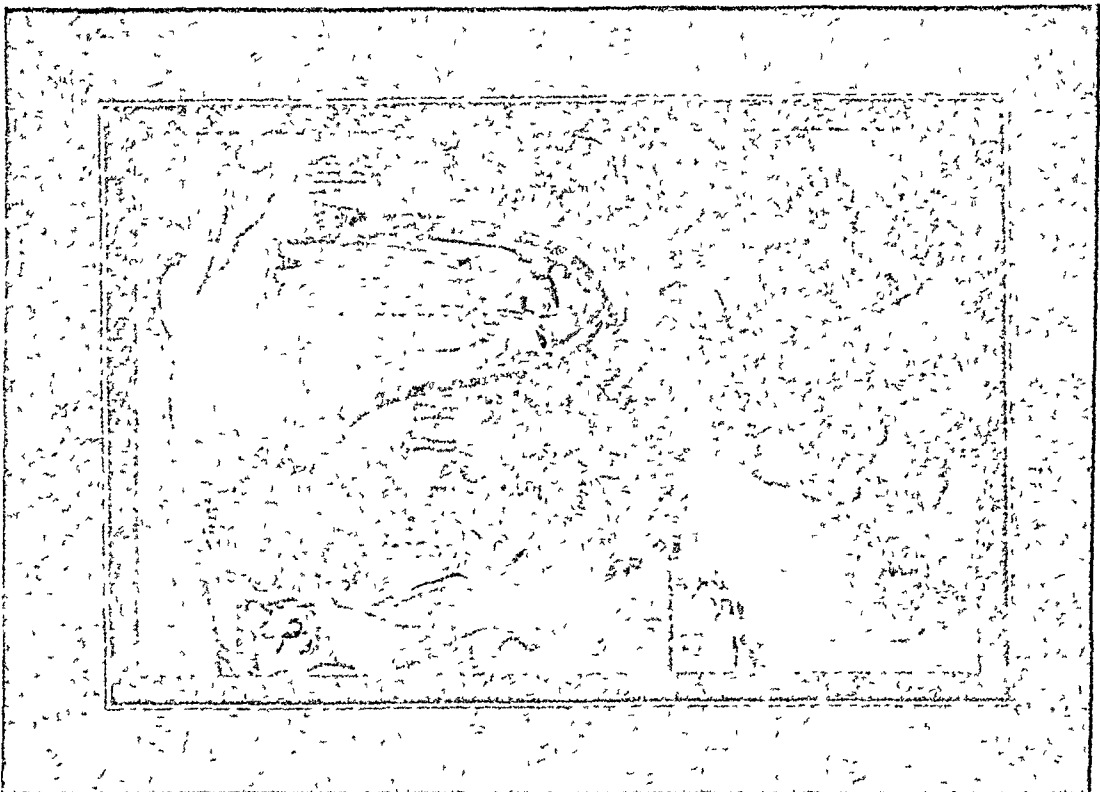
(पृष्ठ ७११)

१८ वीं शती]

श्रीकृष्णका गौ चराकर लौटना
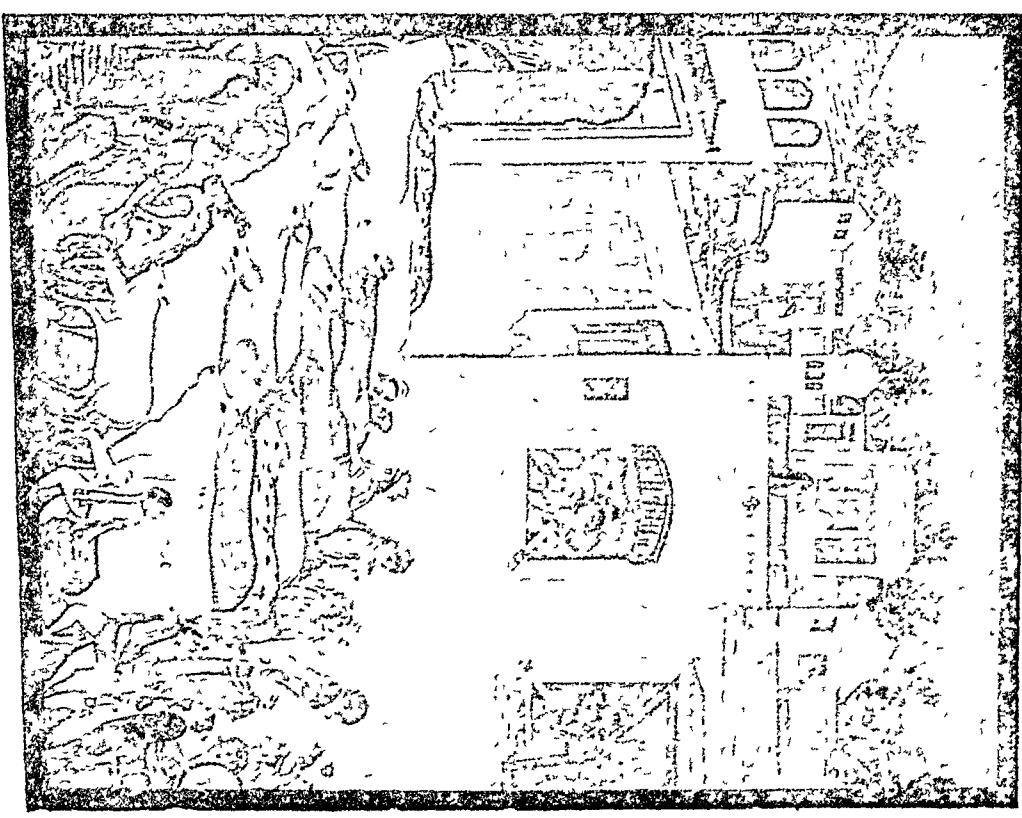
(पृष्ठ ७११)

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे

काव्य हैं। वनवाटिका-विहार, भोजन, वसन, शृङ्गार, ताम्बूल-वितरण, आखेट, नौका-विहार, अनेक प्रकारकी क्रीड़ाओं और प्रणयके प्रसंगोंका चित्रण इन चित्रोंमें हुआ है, जो काँगड़ी-शैलीको विषयकी दृष्टिसे बहुत ही रोचक और आकर्षक बना देता है।

काँगड़ा-चित्रशैलीका ही क्षेत्र गढ़वालमें था, जहाँ १९वीं सदीके मध्यतक आकर्षक चित्रोंका निर्माण होता रहा। इन चित्रोंमें मानकू, चैतू और मोलारामके चित्र प्रसिद्ध हैं।

काँगड़ा-चित्रशैली भारतमें कलात्मक सौन्दर्य-सृष्टिकी अनुपम निधि है। उसमें जितने अधिक संख्यक सुन्दर और रसात्मक चित्रोंका आलेखन हुआ, उतना अन्यत्र नहीं। इन चित्रोंके सामूहिक संग्रह और प्रकाशनकी आवश्यकता है, जिससे मध्यकालीन भक्ति और शृङ्गारप्रधान जीवनका सरस और अन्तरङ्ग परिचय साक्षात् मिल सके।

मुगल-चित्रकला तथा उसका विवेचन

(लेखक—काव्यालङ्कार पं० श्रीमथुराप्रसादजी शर्मा 'मथुरेश')

चित्रकलाका आधार कपड़ा, कागज, लकड़ी, मिट्टी आदि-का चित्रपट है, जिसपर चित्रकार अपनी तूलिका या लेखनीसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी वस्तुओं और जीवधारियोंकी आकृतियाँ अङ्कित करता है। वह अपनी तूलिकासे समतल धरातलपर स्थूलता, न्यूनता, दूरी, निकटता प्रदर्शित करता है। उसे देख-कर हम वास्तविक वस्तुके मूलरूपका अनुभव करने लगते हैं। चित्रकार अपनी चित्रकलाके द्वारा मानसिक सृष्टिका सृजन करता है। चित्रकारको कोई घटना या दृश्य अङ्कित करनेमें केवल उसके बाहरी अङ्गोंको ही जानना तथा अङ्कित करना नहीं होता, प्रत्युत उसे उसमें सजीवता लानेके लिये अपने मानसिक भावोंका चित्र-सा उपस्थित करना पड़ता है।

भारतवासी प्राचीनकालसे ही चित्रकलाको जानते हैं, जो अजंताके चित्रोंसे स्पष्ट है। पूर्व मध्यकालमें भी चित्रकारी होती तो थी; किंतु कुछ मुसल्मान राजाओंकी धार्मिक कट्टरता-के कारण उसकी समुचित उन्नति नहीं हो सकी थी। मुगलों-के आक्रमणके पश्चात् चित्रकलाने पुनर्जीवन प्राप्त किया। इस वंशके राजाओंने एक नवीन शैलीका, जो फारसी कलासे प्रभावित थी, उद्घाटन किया; किंतु अन्तको वह भी भारतीयताके रंगमें रँग गयी।

जब हुमायूँ फारससे लौटकर आया, तब वहाँसे वह सैयदअली और अब्दुस्समद नामके चित्रकारोंको लाया, जिनके द्वारा उसने प्रसिद्ध फारसी काव्य 'अमीर हमजा'को चित्राङ्कित कराया, जो अत्यन्त उत्तम है। अकबरको चित्रकलासे अधिक प्रेम था। उसने भारतीय और फारसी चित्रकलाओंको एकत्रित करके मुगल चित्रकलाको जन्म दिया। अकबर चित्रकलाद्वारा ईश्वरको समझ पाता था। उसके दरबारके चित्रकारोंमें बसावन, दसवंत, सावँलदास लाल, नेहल, फारुख बेग और मुराद मुख्य-मुख्य थे। इन चित्रकारोंने महाभारत, बाबरनामा, अकबरनामा तथा निजामीके काव्यको चित्राङ्कित किया। उस समय कपड़ोंपर भी चित्र बनाये जाते थे। अकबर अपने चित्रकारोंको उनकी कृतिकी सुन्दरतापर पारितोषिक भी देता था। चित्रकारोंकी चित्रकलाको देखकर सभी व्यक्ति उनसे प्रेम करने लगे थे।

मुगल राजाओंमें जहाँगीर चित्रकलाका अत्यन्त प्रेमी था। चित्रकलाको जाननेमें वह अत्यन्त निपुण था। उसके दरबारी चित्रकारोंमें अबुलहसन, मंसूर अधिक प्रसिद्ध हैं। वह पक्षियों, पौधों तथा फलोंके चित्र खींचनेमें अत्यन्त निपुण थे। बिशनदास, मनोहर, गोवर्धन, दौलत, उस्ताद और मुराद भी प्रसिद्ध चित्रकार थे। इन्होंने चित्रकलाका अधिक विकास किया तथा आँख, हाथ और होठोंके चित्र खींचकर मनुष्यके चरित्र और भावोंको प्रकट करनेकी वास्तविक योग्यता प्राप्त की।

शाहजहाँ तथा औरंगजेबको चित्रकलासे कोई विशेष प्रेम न था; पर उनके कालमें चित्रकलाकी उन्नति अवश्य हुई। औरंग-जेब अपने बेटेके बीमार होनेपर उसके चित्र देखनेके लिये मँगवाया करता था, परंतु इस समय चित्रकारोंका विशेष मान नहीं था। औरंगजेबकी मृत्युके पश्चात् मुगलकलाका ह्रास होने लगा था। तत्पश्चात् चित्रकार समाज और ग्राम्य जीवनके दृश्य चित्रित किया करते थे। मुगलदरबारसे वास्तविक प्रोत्साहन न पानेपर चित्रकार लखनऊ और हैदराबाद नगरों-को चले गये।

नाट्यकलाकी उत्पत्ति तथा विकास

(लेखक—प० श्रीराधाशरणजी 'मिश्र')

किसी गुण या कौशलके कारण जब किसी वस्तुमे विशेष उपयोगिता और सुन्दरता आ जाती है, तब वह वस्तु कलात्मक हो जाती है। कलाके दो भेद होते हैं—एक उपयोगी कला और दूसरी ललित कला। उपयोगी कलामे लुहार, सुनार, जुलाहे आदिके व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कलाके पॉच भेद होते हैं—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, सङ्गीतकला और काव्यकला। उपर्युक्त दोनो कलाओ (उपयोगी कला और ललित कला) में ललित कला, एवं ललित कलाओंमे काव्यकला श्रेष्ठ होती है। तथा काव्य-कलामे भी 'काव्येषु नाटकं रम्यम्', 'नाटकान्तं कवित्वम्' के आधारपर नाट्यकला ही सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है।

संसार परिवर्तनशील है, इसके परिवर्तनशील होनेके साथ-ही-साथ तदाधारभूत काव्य या साहित्यमे भी परिवर्तन होना स्वाभाविक ही नहीं अपितु अनिवार्य-सा भी है। जैसे हम आधुनिक समाजके विकसित रूपको देखकर प्राचीन गौरव-गाथाओको दन्तकथा बतलाने लग जाते हैं, वैसे ही हमे अपने पौराणिक नाट्य-साहित्यपर भी अविश्वास-सा ही है। फिर भी नीचेकी पङ्क्तियोंमे एतद्विषयक विद्वानोके बिखरे हुए विचार संगृहीत करके लिखे जा रहे है।

१—डाक्टर रिजवे नाटककी उत्पत्ति वीरपूजासे सम्बन्धित मानते हैं। उनका कहना है कि नाटक-प्रणयनकी प्रवृत्ति उन शहीद हुए वीर पुरुषोके प्रति आदरका भाव प्रदर्शित करने-के लिये ही हुई है। हमारे भारतीय नाटकोंमे भी श्रीराम या श्रीकृष्ण आदि वीर पुरुषोंके चरित्रसे सम्बन्ध रखनेवाले नाटक इस कोटिमे रक्खे जा सकते हैं।

२—जर्मन विद्वान् डाक्टर पिशेल नाटककी उत्पत्ति पुत्तलिकानृत्यसे मानते हैं। तथा यह पुत्तलिकानृत्य सबसे पहले भारतमे ही प्रारम्भ हुआ था। इसके बाद विदेशोंमें भी इसका प्रचार पूर्णरूपसे होने लगा। सूत्रधार, स्थापक आदि शब्दोका अर्थ इस मतका अच्छी तरहसे पोषण करता है। जैसे पुत्तलिकानृत्यमे उनका सूत्र किसी सञ्चालकके हाथमें रहता है तथा एक व्यक्ति पुत्तलिकाओंको स्थापित करता रहता है, वैसे ही नाटकके भी सूत्रधार और स्थापक नाटकीय पात्रोका यथावत् सञ्चालन करते रहते है।

३—कुछ विद्वानोने नाटककी उत्पत्ति छायानाटकोंसे मानी है। छायानाटक भी आधुनिक सिनेमाकी तरह पूर्व कालमे प्रदर्शित किये जाते थे। तथा इस मतको सुपुष्ट करनेके लिये उन्होने प्राचीन उल्लेखोंकी भी खोज की है। पर यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योकि हमारा नाट्य-साहित्य बहुत पुराना है तथा संस्कृतमे दूताङ्गद नामक नाटक अवश्य पाया जाता है जो कि छायानाटकके सिद्धान्तोंपर आधारित है; किंतु उसमे इतनी प्राचीनता नहीं, जिससे हम उसे हमारे भारतीय नाटकोंकी आधारशिला मान सकें।

४—अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान् नाटकको वेदमूलक मानते है। ऋग्वेदमे कई संवादसूक्त आते हैं जिनमें पुरूरवा और उर्वशीका संवाद विशेष प्रसिद्ध माना गया है। इन संवादसूक्तोका कथोपकथन बिल्कुल ही नाटकका आधार-स्तम्भ कहा जा सकता है।

५—महामुनि भरत जो कि भारतीय नाट्य-साहित्यके प्रथम प्रवर्तक माने गये हैं, उनका मत है कि सासारिक मनुष्योको आपत्तियोसे क्लान्त देखकर इन्द्रादि देवताओंने श्रीब्रह्माजीसे ऐसे वेदकी रचनाके लिये प्रार्थना की, जिसका अलौकिक आनन्द सर्वसाधारणके लिये समानरूपसे प्राप्त हो सके; क्योंकि चतुर्वेदोंके अधिकारी शूद्रादि निम्नवर्गीय प्राणी नहीं माने गये है। इसी प्रार्थनाको दृष्टिगत करके श्रीलोक-पितामह ब्रह्माजीने चतुर्वर्णके लिये—विशेषतः शूद्रोंके लिये पञ्चम वेदका निर्माण किया। इसमे ऋग्वेदसे पाठ्यवस्तु, सामवेदसे गान, यजुर्वेदसे अभिनय, अथर्ववेदसे रस लिया गया, जो कि—

> जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
> यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥
>
> (नाट्यशास्त्र अ० १ श्लो० १७)

—से सिद्ध होता है। हमारे नाट्य-साहित्यके वेदमूलक होनेके कारण ही भरत मुनिने नाट्य-साहित्यकी यहाँतक प्रशंसा कर दी है—

> न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
> न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
>
> (नाट्यशास्त्र १। १०९)

संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो नाट्य-साहित्यमें प्रदर्शित नहीं की जाती।

हमारे आदि काव्य 'वाल्मीकीय रामायण' में भी नाट्य-विषयक कई बातें मिलती हैं। जैसे—

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।
(२।६७।१५)

'जिस जनपदमें राजा नहीं है, वहाँ नट और नर्तक प्रसन्न नहीं दिखलायी देते।' इससे सिद्ध है कि राजा-लोग नटोंको अपने आश्रयमें रखकर उनको नाटकका अभिनय करनेके लिये प्रोत्साहित किया करते थे। इसी प्रकार 'महाभारत' में भी 'नट' शब्दका कई जगह उल्लेख मिलता है। महाभारतके अन्तर्गत हरिवंशपुराणमें भी रामायणसे कथा लेकर नाटक खेलनेका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वैसे ही 'अग्निपुराण' के ३३६-४६ तकके सर्गोंमें श्रव्य तथा दृश्य काव्योंकी ही विवेचना की गयी है; पर उपर्युक्त ग्रन्थों-का रचनाकाल भी सन्दिग्धपूर्ण होनेके कारण हम यह निर्णय नहीं कर सकते कि अमुक समयमें नाट्य-साहित्य अच्छी तरहसे प्रारम्भ हो गया था। किंतु यह जरूर मालूम हो जाता है कि भारतीय नाट्य-साहित्य प्राचीनतम है तथा भारतकी ही देन है—अन्य किसी देशकी नहीं।

ईसाके तीन शताब्दी पूर्वतकका नाट्य-साहित्य अज्ञात-कालीन है। इसके बाद पाणिनिके व्याकरणशास्त्रमें शिलालिन्, कृशाश्व आदि नाट्यसाहित्यके आचार्योंका उल्लेख मिलता है। तदनन्तर पतञ्जलिके महाभाष्यमें भी 'कंसवध', 'बलिबन्धन' का उल्लेख पाया जाता है। संस्कृत-साहित्यके प्रमुख नाटककार 'कालिदास' का समय भी ईसाके एक शताब्दी पूर्व मान लिया गया है; इनके भी 'शाकुन्तल', 'मालविकाग्निमित्र' आदि नाटक संस्कृत साहित्यकी अमूल्य निधि समझे गये हैं। इसके बाद 'भवभूति', 'विशाखदत्त', 'शूद्रक' और 'राजशेखर' आदि नाटककारोंने बड़े ही मनोरञ्जक एवं व्यवस्थापूर्ण नाटकोंकी रचना की। उपर्युक्त नाटककारोंके नाटक पूर्ण विकसित हैं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन नाटकोंके समयसे कई शताब्दियों पूर्व ही नाटक-रचना सफलतासे की जा चुकी थी।

इस प्रकार दसवीं शताब्दीतक संस्कृत-नाटकोंकी अच्छी भरमार रही। बादमें १९ वीं शताब्दीतकका लंबा काल नाट्य-साहित्यकी रचनासे वञ्चित ही रहा। यद्यपि 'हनुमन्नाटक', 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'रत्नावली' आदि नाटक इसी अन्धकालमें बने थे, फिर भी उनमें नाटकत्वके नियमोंका यथावत् पालन न होनेके कारण वे अच्छे नाट्य-साहित्यकी कोटिमें नहीं रक्खे जा सकते। पर इधर कुछ वर्षोंसे नाटकजगत्‌में फिरसे हलचल मचने लगी है। भारतेन्दु, प्रसाद, श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास आदि स्वनामधन्य नाटककारोंने कई मौलिक नाटक लिखे तथा संस्कृत और बंगलासे अनुवादित भी किये हैं। अभी हिंदी-साहित्यके मौलिक नाटकोंका प्रारम्भिक युग या मध्य युग कहा जा सकता है। आशा है, हमारे हिंदी नाटकोंके सुशिक्षित कर्णधार भविष्यत्कालीन हिंदी-साहित्यको अच्छे-अच्छे मौलिक नाटक प्रदानकर इसे सुसमृद्ध एवं महत्त्वपूर्ण बनायेंगे।

हिंदू-संस्कृतिमें भगवत्प्रेम

सार तत्त्व हिंदू-संस्कृतिका प्रेम, प्रेम-आस्पद भगवान।
प्रेम परम पुरुषार्थ, प्रेमपथ यही बताते वेद-पुरान॥
प्रेमविवश हरने हर्षित हो किया तुरंत हलाहल-पान।
नीलकण्ठ बन, रक्षा की, सबकी, धर उरमें हरिका ध्यान॥
काशीमें मरते प्राणीको देकर महामन्त्रका दान।
करते उसे मुक्त भव-भयसे प्रेमविवश शंकर भगवान॥

भरकर हृदय प्रेमसे नारद करते नित्य ईश-गुण-गान।
ध्रुव-प्रह्लाद प्रेमसे ही कर भगवद्दर्शन हो गये महान॥
प्रेमदिवानी मीराजीने किया प्रेम-परवश विष-पान।
विष अमृत बन गया उसी क्षण बचे भक्त मीराके प्रान॥
पाता प्रेम प्रेमियोंसे वह जो तजता ममतामद-मान।
कवलवास हरि भजो प्रेमसे जो चाहो अपना कल्यान॥

—महात्मा जैगौरीशंकर सीताराम

भारतीय संस्कृतिमें गान्धर्व-विद्या

(लेखक—श्रीशिवशरणजी)

भारतीय दर्शन एवं अध्यात्मविचारमें नादका स्थान अत्यन्त विलक्षण है। वाणी विचारशक्तिका वाहन है। शब्दके बिना विचारका कोई भी अस्तित्व नहीं रहता—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥
(वाक्यपदीय)

'लोकमें कोई भी प्रत्यय (ज्ञान) ऐसा नहीं, जो शब्दके बिना प्राप्य हो। प्रत्येक ज्ञान शब्दसे अनुविद्ध होता है।' शब्द इस लोक एवं परलोकका आधार है। यदि संसारको ईश्वरकी विचारशक्तिका एक दृश्यस्वरूप मान लिया जाय तो इस दिव्यकल्पनाके स्पन्दनरूप नादको संसारके प्रादुर्भावका कारण मानना युक्तिसङ्गत है—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्।
स सर्व्वममृतं यच्च मर्त्त्यमिति श्रुतिः॥

'वाक्से समस्त (विश्व) भुवन उत्पन्न हुए। वाक्से अमृत एवं मर्त्य संसारका प्रादुर्भाव हुआ।'

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
(वाक्यपदीय)

'अनादि परम्परा जाननेवाले ऋषियोंका कहना है कि संसार शब्दका परिणाम है।'

अपने विचार प्रकट करनेके लिये जीव शब्दका दो भिन्न प्रकारसे प्रयोग करता है। वे प्रकार हैं—वर्णरूप शब्द तथा गीतरूप शब्द। दोनों रूप भिन्न होते हुए भी एक ही आधारपर स्थित हैं। क्योंकि दोनोंमें विचार एवं भाव प्रकट करनेके लिये ध्वनिका प्रयोग होता है। आधार एक ही होनेपर भी ध्वनिरूप स्पन्दनकी भिन्न विशेषताएँ प्रयोग करनेसे दोनों शब्दके भिन्न मार्ग माने जाते हैं।

प्राचीन एवं वर्तमान दृष्टि

प्राचीन भारतीय दार्शनिकोंका कहना है कि भाषा एवं सङ्गीत एक ही विद्याके दो अंश हैं। दोनोंके शास्त्रकार प्रायः एक ही हैं। आधुनिक विद्वानोंने प्रायः शब्द, नाद, ध्वनि आदिके विषयमें बहुत विचार नहीं किया। शब्दका रहस्य बिना समझे वे प्राचीन आचार्योंके मतको कपोलकल्पना मानते हैं और स्वर, वर्ण आदिके देवता, जन्मभूमि, रंग आदिके रहस्यपर विचार करनेका प्रयत्न अपनी विद्वत्ताके योग्य नहीं मानते। इन विषयोंपर गम्भीर विचार करनेसे विदित होता है कि इनमें कल्पना लेशमात्र भी नहीं। संसारका रहस्य समझनेके लिये वे एक उत्तम विद्याके पथप्रदर्शक हैं। नादके आधारस्वरूप एवं कार्यको समझनेसे विचारशक्तिका तत्त्व एवं इस तत्त्वसे दृश्य अर्थोंके सम्बन्धका रहस्य खुल सकता है।

गान्धर्व-शास्त्र

व्याकरण एवं सङ्गीतका आधारभूत तत्त्व गान्धर्ववेदका विषय था; परंतु आज गान्धर्ववेद लुप्त माना जाता है। फिर भी व्याकरणाचार्यों एवं संगीताचार्योंके प्राप्य ग्रन्थोंमें नाद एवं ध्वनिके विषयमें बहुत विचार मिलते हैं, जिनसे इस विद्याके सिद्धान्त समझमें आ सकते हैं।

आधुनिक लोग भाषा एवं सङ्गीतका अर्थ सांकेतिक मानते हैं। वे नहीं मानते कि शब्द एवं अर्थका वास्तविक सम्बन्ध है। उनके मतमें किसी वस्तुका नाम किसीने बिना कारण एक समय दे दिया है। लोगोंने उसे याद कर लिया, इसलिये वह उस वस्तुका नाम हो गया। वैसे ही सङ्गीतमें अभ्याससे हमलोगोंमें भिन्न स्वर हास्य या करुण भाव उत्पन्न करते हैं।

प्राचीन शास्त्रकार इस मतके अत्यन्त विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि स्पन्दनरूप वस्तु एवं स्पन्दनरूप शब्दके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसलिये हर एक अर्थके लिये एक शब्द होता है। इस शब्दमें वह अर्थ उत्पन्न करनेकी शक्ति भी रहती है। यह मन्त्रोंका रहस्य है। यदि इस शब्दके उच्चारणमें अशुद्धि आ जाय तो वह केवल सांकेतिक रहता है। यही बात सङ्गीतके विषयमें भी है। स्वर-श्रुति आदिका एक स्वाभाविक अर्थ है, जिससे रस उत्पन्न होता है। फिर भी स्वरोंकी अशुद्धि होनेपर लोग इसमें स्मृतिके बलसे कुछ अर्थ लगाते हैं। परंतु ऐसे गान सर्वसाधारणको नीरस विदित होंगे।

शब्द एवं स्वरोंका स्वाभाविक अर्थ होना मन्त्र एवं रागका कारण है। जप एवं सङ्गीतका अभ्यास मोक्षके सरल साधन माने जाते हैं। परंतु फल देनेके लिये उनका उच्चारण शुद्ध होना चाहिये—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं स गच्छति ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

'जो वीणाके वादनका तत्त्व जाननेवाले हैं, श्रुतियोंकी जाति पहचाननेमें निपुण हैं और ताल जाननेवाले हैं, वे बिना परिश्रम ही मोक्षको पा लेते हैं।'

शब्द ब्रह्म सगुण ब्रह्म है। वह प्रपञ्चका कारण माना जाता है। सगुण निर्गुणका मार्ग होनेसे मोक्षका साधन बनता है।

अतो गीतप्रपञ्चस्य श्रुत्यादेस्तत्त्वदर्शनात् ।
अपि स्यात्सच्चिदानन्दरूपिणः परमात्मनः ॥
प्राप्तिः प्रभाप्रवृत्तस्य मणिलाभो यथा भवेत् ।
प्रत्यासन्नतयात्यन्तम्‌······ ··············· ॥

'गीतकी श्रुति आदिके तत्त्व-दर्शनसे सच्चिदानन्द परमात्माकी प्राप्ति वैसे ही हो जाती है, जैसे अग्निशिखाके उद्देश्यसे प्रवृत्त पुरुषको मणिलाभ होता है।'

शब्द-रहस्यसे सम्बन्धित शास्त्र-ग्रन्थ

अर्थोंसे वर्णादिरूप शब्दोंके वास्तविक सम्बन्धका विचार व्याकरणके प्रधान शास्त्रकारोंके ग्रन्थोंमें सुरक्षित है। उनमेंसे पाणिनि, पतञ्जलि, भर्तृहरि एवं नन्दिकेश्वर प्रधान हैं

गान्धर्व-विद्याके दार्शनिक ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो चुके हैं। फिर भी नारद, नन्दिकेश्वर, मतंग, कोहल आदिद्वारा प्रणीत ग्रन्थोंके प्राप्य भागसे इस विद्याका रहस्य थोड़ा-बहुत समझमे आ सकता है। दूसरे ग्रन्थ केवल प्रयोगसे सम्बन्ध रखते हैं। स्वरोंद्वारा रस एवं विचारके प्रकट हो जानेका रहस्य एवं रागद्वारा शब्दब्रह्मको प्राप्त करना साधारण गायकोंकी समझके बाहरकी बात है। अतः इस कठिन विद्यासे सम्बन्धित शास्त्र-ग्रन्थोंकी रक्षा गायकोंसे नहीं हो सकती। स्वररूप वाक् वर्णरूप शब्दका सूक्ष्म स्वरूप है। सङ्गीतके स्वरोंका आधार मध्यमा वाक् है, वैखरी वाक् नहीं। विशेष शब्दरूप स्पन्दन—मध्यमा वाक् पश्यन्ती नामक व्यक्त (स्पष्ट) विमर्शका परिणाम है। मध्यमा वाक् नादरूप होनेसे श्रोत्रेन्द्रियसे ग्राह्य है, फिर भी वर्णरूप नहीं होती; इसलिये सङ्गीतके स्वररूप नादमें अलग-अलग अक्षर नहीं होते। उसका अर्थ खण्डित न होनेसे एकत्रित रहता है। इसलिये एक-एक स्वरमें अनेक अर्थ होते हैं। गानक्रिया [illegible]द्वारा सम्पन्न होती है।

ऐतरेय ब्राह्मणका कहना है कि वेदके शब्दोंका उच्चारण मध्यमा वाक्‌से करना चाहिये अर्थात् उनको गाना चाहिये। वेदके शब्दोंके गानेसे बुद्धि संस्कृत हो जाती है।

तं मध्यमया वाचा शंसन्त्यात्मानमेव तत्संस्कुरुते॥

सङ्गीत एवं व्याकरणके तत्त्वसूत्र माहेश्वरसूत्र हैं। पाँच स्थानोंसे उच्चारित व्याकरणके पाँच शुद्ध स्वर अ इ उ ऋ ऌ हैं। इनके दो मिश्रित रूप हैं 'ए ओ' और दो अमिश्रित जोड़े हुए रूप हैं 'ऐ औ।' प्रथम तीन स्वरों (अ इ उ) के विकृत दीर्घरूप भी हैं। इस प्रकार स्वर १२ हो जाते हैं।

सङ्गीतके सात स्वरोंमें भी पाँच स्वर प्रधान और दो गौण हैं। सामगानके पाँच प्रधान स्वर प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और मन्द्र कहे जाते हैं। दो गौण स्वर क्रुष्ट एवं अतिस्वार्य हैं। गान्धर्व-गानमें इन पञ्चस्वरोंके नाम मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज एवं धैवत हैं। गौण स्वर पञ्चम एवं निषाद हैं। परंतु शैवगानमें षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम और पञ्चम प्रधान एवं धैवत, निषाद गौण माने जाते हैं।

इन सात स्वरोंके अतिरिक्त दो और मिश्रित स्वर हैं, उनके नाम 'काकली' और 'अन्तर स्वर' हैं। सङ्गीतमें इन मिश्रित स्वरोंका नाम साधारण अर्थात् बीचका स्वर रक्खा है। इनके अतिरिक्त तीन और स्वरोंके एक-एक विकृत रूप हैं। इससे शुद्ध-विकृत स्वरोंकी संख्या १२ होती है।

व्याकरण एवं सङ्गीतके स्वरोंका अर्थ भिन्न नहीं है। उनके वास्तविक एवं सांकेतिक अर्थका समन्वय नारद, मतंग आदिप्रणीत ग्रन्थोंसे मिलता है।

सङ्गीतमें नादके ६६ भिन्न रूप होते हैं, जिनको 'श्रुति' कहते हैं। उनमेंसे २२ प्रधान होते हैं। दूसरी दृष्टिसे श्रुतियाँ अनन्त कही जा सकती हैं।

द्वाविंशतिं केचिदुदाहरन्ति
श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः ।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासा-
मानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति ॥
(कोहलः)

व्याकरणमें भी भिन्न नादरूप ६६ व्यञ्जन हैं, जिनकी आधी संख्या ३३ साधारण प्रयोगमें आती हैं। सङ्गीतमें ६६ के तीसरे भागका एवं भाषामें आधे भागका प्रयोग होना इन संख्याओंके सांकेतिक अर्थके अनुकूल हैं।

माहेश्वर-सूत्रानुसार वैखरीरूप व्यञ्जनोंकी दस जातियाँ हैं, जिनके अर्थ भिन्न होते हैं।

सङ्गीतमें श्रुतियोंकी भिन्न रस उत्पन्न करनेवाली पाँच जातियाँ होती हैं, जिनके नाम दीप्ता, आयता, मृदु, मध्या एवं करुणा है। उन स्वर-ज्ञातियोंके दो स्वरूप हैं—एक गणितका आधारस्वरूप, दूसरा रसका आधारस्वरूप। हमलोग कह सकते हैं कि वीणाके तारका तीसरा अंश या पाँचवाँ अंश लेनेसे एक रस-विशेष हमारे मनमें उत्पन्न होगा अर्थात् सङ्गीतद्वारा भाव या विचारके तत्त्वको गणितरूप दिया जा सकता है। श्रुतियोंके दो रूप है—एक भावरूप और दूसरा गणितरूप। गणितरूपके द्वारा प्रपञ्चके अनेक अर्थोंसे शब्दका घनिष्ठ सम्बन्ध समझा जा सकता है। इसका फल यह है कि संसार-रचनाका रहस्य समझनेके लिये नादविद्या एक अद्भुत साधन बनती है। विदित होगा कि स्वरोंसे देवता, ऋषि, ग्रह, नक्षत्र, रंग, छन्द आदिका सम्बन्ध निरर्थक कल्पना नहीं, बल्कि युक्तिसंगत एवं गम्भीर तत्त्वपूर्ण अनिवार्य सत्य है एवं प्राचीन तत्त्वदर्शक ऋषियोंकी अद्भुत देन है।

माहेश्वरसूत्रमें ईश्वरका रूप

रुद्रके डमरूसे उत्पन्न माहेश्वरसूत्रोंसे सर्वप्रपञ्चका प्रादुर्भाव हुआ है। माहेश्वरसूत्रोंका रहस्य जाननेसे सर्वप्रपञ्चका रहस्य खुल जाता है। भाषाके स्वरोंका वास्तविक गूढ़ अर्थ नन्दिकेश्वरकी 'काशिका' मे प्राप्य है। सङ्गीतके स्वरोंका और भाषाके स्वरोंका सम्बन्ध 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण' मे मिलता है। माहेश्वरसूत्रका प्रथम सूत्र 'अ इ उ ण्' है। प्रथम स्वर 'अ' कण्ठमे स्थित है, उसका उच्चारण विना प्रयत्नके होता है। अकार सर्वस्वरोंका आधार एवं कारण है—

अकारो वै सर्ववाक्।

'अ' निर्गुण ब्रह्मका द्योतक है।

अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु।

(नन्दिकेश्वरः)

अक्षराणामकारोऽस्मि। (गीता)

सङ्गीतमे 'अ' का रूप आधारभूत स्वर षड्ज है। इसके बिना किसी भी स्वरका अस्तित्व नहीं है।

'अ इ उ ण् सरिगाः स्मृताः।' (रुद्रडमरू० २६)

दूसरे स्वर 'इ' का स्थान तालु है। प्राणके बाहर निकालनेकी प्रवृत्ति 'इ' शब्दका कारण है। 'इ' शक्ति या प्रवृत्ति आदिका द्योतक है। उसको 'कामबीज' भी कहते हैं—

इकारः सर्ववर्णानां शक्तित्वात्कारणं मतम्।

(नन्दिकेश्वरः ७)

शक्तिका द्योतक होनेसे 'इ' कार सर्व वर्णोंका कारण है।

अकारो ज्ञप्तिमात्रं स्यादिकारश्चित्कला मता।

(नन्दि० ९)

अकार ज्ञानस्वरूप मात्र है, इकार ज्ञानसाधन चित् है।

शक्तिं विना महेशानि प्रेतत्वं तस्य निश्चितम्।
शक्तिसंयोगमात्रेण कर्मकर्ता सदाशिवः॥

'शक्तिरूप इकारके बिना शिव 'शव' होता है। शक्तिसंयोगमात्रसे सदाशिव कर्म कर सकता है।'

सङ्गीतमे 'इ' शिवका वाहन, वीर्य एवं शक्तिरूप ऋषभ होता है। उसके श्रवणसे वीर-रस उत्पन्न होता है; उसका भाव बलवान्, शक्तिमान् विदित होता है।

जब कण्ठ, जिह्वा आदि 'इ' कारके उच्चारणके लिये तैयार किये जायँ और बिना किसी भी अंशके बदले 'अ'के उच्चारणका प्रयत्न होता है, तब फलरूप 'उ' कार निकलता है। 'उ' कार 'इ'से परिच्छिन्न 'अ' का स्वरूप है। उसका अर्थ होता है शक्तिपरिच्छिन्न ब्रह्म अर्थात् सगुण ब्रह्म।

उकारो विष्णुरित्याहुर्व्यापकत्वान्महेश्वरः।

(नन्दिकेश्वरः ९)

उकार विष्णुनामक सर्वव्यापक ईश्वरका स्वरूप है।

सङ्गीतमे 'उ'कार गान्धार स्वर है (आधुनिक सङ्गीतका कोमल गान्धार)। वह शृङ्गार-रस एवं करुण-रसको उत्पन्न करता है। विष्णुदर्शनकी सुन्दरताका अनुभव गान्धार स्वरसे कहा जा सकता है। गान्धार वाक्का वाहन है, दिव्य गन्धोंसे भरा है।

गां धारयति [गां वाचं धारयति] इति गान्धारः॥

(क्षीरस्वामी)

वाक्का वाहन होनेसे गान्धार कहा जाता है।

नानागन्धवहः पुण्यो गान्धारस्तेन हेतुना॥

(ना० शि०)

'शुद्ध होने एवं अनेक गन्धका वाहन होनेसे गान्धार कहा जाता है।'

का व्यास १२, १३ अंगुल तथा दक्षिण तरफके मुँहका व्यास एक वा आध अंगुल कम होता है। खैरकी लकड़ीका मर्दल श्रेष्ठ और दूसरी जातिकी लकड़ीका निकृष्ट होता है। रक्तचन्दनकी लकड़ीसे तैयार किये गये मर्दलमें बहुत ही गम्भीर ध्वनि निकलती है। भस्म, गेरू, मिट्टी, चावलका माँट, गोंद प्रभृतिके मेलसे स्याही नामक एक प्रलेपविशेष तैयार करके मर्दलके दक्षिण मुँहपर लेपन करते हैं और बायें मुँहपर पूरिका दी जाती है। सब प्रकारके वाद्ययन्त्र मर्दल या मृदङ्गके सहयोगसे बजाये जानेपर बहुत ही सुशोभन प्रतीत होते हैं।

रन्ध्रयुक्त वाद्य वंशी आदिको सुषिर कहा जाता है। संगीताचार्योंने अनेक प्रकारके सुषिर बताये हैं। उनमें कुछेकके नाम इस प्रकार हैं—

१ वंशी, २ पारी, ३ मुरली, ४ माधुरी, ५ तित्तिरी, ६ भृङ्गकाहल, ७ तोरही, ८ कक्का, ९ भृङ्गीका, १० स्वरनाभि, ११ भृङ्ग, १२ कृपालिका।

सुषिर वाद्ययन्त्रोंमें वेणु खोखली लकड़ी, रक्तचन्दन, श्वेतचन्दन, हस्तिदन्त, स्वर्ण, रौप्य, ताम्र, लोह और स्फटिक आदिसे बनायी जाती है।

वंशी वर्तुल, सरल और पर्वदोषरहित होती है तथा इसका गर्भरन्ध्र कनिष्ठ अङ्गुलिके तुल्य होता है। इसके अग्रभागसे दो अंगुलके अन्तरपर स्थित फूत्कार-रन्ध्रसे ५ अंगुलके अन्तरपर ७ छेद और इन ७ छेदोंमें परस्पर प्रायः दो अंगुलका व्यवधान होना आवश्यक है। इन सात छेदोंमेंसे हर एक छेद छोटे-छोटे बीजके बराबर होता है।

मातङ्ग मुनिने महानन्द, नन्द, विजय और जय—इन चार प्रकारकी वंशियोंको उत्तम कहकर निर्देश किया है और उनकी निर्माणप्रणाली ऊपर कही हुई वंशीकी निर्माणप्रणालीसे किञ्चित् भिन्न बतायी है।

वंशीके फूत्कार-छिद्रपर ओठ रखकर वंशी बजानेकी विधि है। निविड़ता, प्रौढ़ता, सुस्वरत्व, शीघ्रता एवं माधुर्य—ये फूत्कारके ५ गुण हैं। और शीत्कार, बहुलता, स्तब्धता, विस्वर, स्फुटितस्वर, लघुस्वर, अमधुरता—यह ६ फूत्कारके दोष हैं।

वृथावादन, प्रयोगबाहुल्य एवं अलसता वादक—बजानेवालेके दोष हैं और स्थान तथा लयकी अभिज्ञता, गमकनिपुणता, स्फुटस्वर, शीघ्रहस्तता बजानेवालेके गुण कहे हैं।

प्रमुक्ति, बद्धमुक्ति, युक्ति, सुस्थान, सुस्वरत्व और अंगुलिसारण—अंगुली सरकाना क्रियाके गुण हैं।

करताल आदि धातुमय बाजोंको घनवाद्य कहते हैं। घनवाद्य भी कई तरहके हैं। उनमेंसे कुछेकके नाम नीचे देखिये—

करताल, कांस्यवन, जयघंटा, शुक्तिका, कंठिका, पटवाद्य, पट्टाघोष, घर्घर, झंझताल, मञ्जीर, कर्तरी, उष्कूक आदि। करतालके विषयमें संगीतशास्त्रमें इस प्रकार उल्लेख है—

त्रयोदशाङ्गुलव्यासौ शुद्धकांस्यविनिर्मितौ।
मध्यमुखौ स्तनाकारौ तन्मध्ये रज्जुगुम्फितौ॥
पद्मिनीपत्रसदृशौ कराभ्यां रज्जुयन्त्रितौ।
करतालावुभौ वाद्यौ ते वाद्यपाटे झङ्कृति॥

वाद्यविद्याविशारदोंने वाद्यके २० प्रकारके प्रबन्धोंका उल्लेख किया है। उनके नाम—१ यति, २ उभ, ३ ऊण्टवली, ४ अवच्छेद, ५ जोडनी, ६ चण्डनी, ७ पद, ८ समहंस, ९ झंकार, १० पैसार, ११ तुटकु, १२ ऊस्वर, १३ देङ्कार, १४ मलप, १५ मलांक, १६ प्रहरण, १७ अन्तरा, १८ दुरकरी, १९ यवनिका, २० पुष्पाञ्जलि।

किंतु 'संगीतदामोदर' ग्रन्थमें केवल १२ प्रबन्धोंका उल्लेख देखा जाता है। उनमेंसे आठका नाम ऊपर लिखित तालिकामें दिये गये प्रबन्धोंसे भिन्न है। हम 'संगीतदामोदर' से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं—

यतिरोढव्यवच्छेद्रो गजरो स्थलं ध्रुवम्।
गनपः सारिगो नीचनादश्च कथितस्तथा॥
........'प्रहरणं वृन्दनञ्च प्रबन्धा द्वादश स्मृताः॥

प्रबन्धभेदसे ही बाजोंके विविध स्वरोंकी उत्पत्ति हुई है।

'तपोभूमि'

काम, क्रोध, लोभकी प्रबलता

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥ —दोहावली

भारतीय प्राचीन क्रीडाएँ

(लेखक—श्रीहरिदत्तजी शास्त्री एम्० ए०, वेदान्त-व्याकरणाचार्य)

संस्कृति तथा सभ्यता—ये दोनों शब्द बड़े ही संग्रथित हैं। इनका परस्पर अभेद्य तथा अच्छेद्य सम्बन्ध है—संस्कृति आत्मा है तो सभ्यता शरीर। अच्छे-अच्छे गुणोंको आत्मामें आहित करना संस्कृति कहाता है तथा शरीर या पाणि-पादादि अङ्गोंसे उसकी अभिव्यक्ति सभ्यता कहाती है। आज-कल कतिपय महानुभावोंका विचार है कि हमारे यहाँ Polo, Tennis, Football, Cricket आदि खेल नहीं थे, न हमारे पूर्वज इन खेलोंसे परिचित ही थे। इस वस्तु-स्थितिपर प्रकाश डालना अपना कर्तव्य समझ इस लेखका आरम्भ किया है—

श्रीमद्भागवतमें यह लिखा मिलता है—

एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने।
(१० । १८ । १६)

मुख्यतया क्रीडाओंके चार भेद किये जा सकते हैं। १—पहली श्रेणीमें वे क्रीडाएँ आ सकती हैं, जो आत्ममनोविनोदार्थ खेली जाती थीं। २—दूसरी श्रेणीमें वे क्रीडाएँ रक्खी जा सकती हैं, जो प्रेक्षकोंकी प्रसन्नताके लिये की जाती थीं। ३—तीसरी क्रीडाएँ धर्मोत्सवादिप्रधान थीं तथा ४—चतुर्थ प्रकारकी क्रीडाएँ मिश्रित होती थीं—जिनके प्रकारविषयमें भी सन्देह है। कुछ क्रीडाओंका परिचय प्राप्त कीजिये।

१. कृत्रिम वृषभक्रीडा

—जिस क्रीडामें बालक बैलका-सा कपड़ा ओढ़कर या सिंह-का-सा चर्म ओढ़कर लड़ते थे तथा शब्द करते थे, वह 'कृत्रिम वृषभक्रीडा' कहाती है—इसमें पशु-पक्षियोंकी बोलियाँ बोलना भी शामिल है।

२. निलयनक्रीडा

—(क) जहाँ एक बालक छिप जाय तथा दूसरा ढूँढ़े। इसमें कुछ चोर बनते तथा कुछ सिपाही बनकर उन्हें ढूँढते हैं।

(ख) बालक तीन श्रेणियोंमें विभक्त हो जाते हैं—एक पशुपालक, दूसरा पशुचौर, तीसरा मेषायित। मेष (मेढ़ा) बने हुए बालकको पशुचौर उठाकर ले जाता है। तथा पशुपाल उसे ढूँढ़ता है। यह क्रीडा भगवान् श्रीकृष्णने 'वत्सहरण'में खेली थी—ऐसा श्रीमद्भागवतमें लिखा है।

३. मर्कटोत्प्लवनक्रीडा

—जिसमें बंदरकी तरह पेड़ोंपर चढ़कर बालक लगातार अनेकों वृक्षोंपर चढ़ते हुए छिपते फिरते हैं। इसका भी भागवतमें वर्णन मिलता है।

४. शिक्यादि-मोषणक्रीडा

—जिसमें एक गेंद-जैसी वस्तु जिसकी है, उसे न देकर अन्योंके पास फेंक दी जाती है तथा स्वामी देखता रह जाता है। जब स्वामी थककर अपनी चीज़ माँगता है, तब यह उसे दे दी जाती है।

५. अहमहमिका-स्पर्शक्रीडा

—जिसमें दूर बैठे बालकको कौन पहले छू सकता है, यह प्रण हो।

६. भ्रामणक्रीडा

—जिसमें बालक एक दूसरेका हाथ पकड़कर झूमते या उठते-बैठते हैं।

७. गर्तादिलङ्घनक्रीडा

इस खेलमें किसकी कितनी दूरतक कूदनेकी सामर्थ्य है—यह परीक्षा की जाती है।

८. बिल्वादिप्रक्षेपणक्रीडा

—जिसमें बेल या गेंद आदि इस प्रकार फेंके जायँ कि रास्तेमें ही टकरा जायँ।

९. अस्पृश्यत्वक्रीडा

इस खेलमें एक छूना चाहता है, दूसरा बचना चाहता है।

१०. नेत्रबन्धक्रीडा

—(क) जिसमें पीछेसे आकर आँख मूँदनेपर बँधे नेत्रोंवाला बाँधनेवालेको पहचान ले।

(ख) या नेत्र बंद करनेपर छोड़ा हुआ बालक छिपे हुए बालकोंका पता लगाता है।

(ग) या जहाँपर बँधे नेत्रवाले बालकको अन्य बालक छू-छूकर जाते हैं तथा बद्धनेत्र उन्हें पकड़नेका यत्न करता है।

११. स्पन्दान्दोलिकाक्रीडा

झूलते हुए—दो-तीन झूलोंमें चढ़कर लगातार चढ़ते चले जाना।

१२. नृपक्रीडा

—जिसमें एकको राजा बनाकर अन्य लोग मन्त्री आदि बनकर कार्य करें।

१३. हरिणाक्रीडनक

हरिणकी तरह उछलते हुए एक दूसरेसे आगे निकलनेकी चेष्टा करना।

१४. वाह्य-वाहकक्रीडा

—जिसमें विजेता पराजितके कंधेपर चढ़कर चले।

१५. देव-दैत्यक्रीडा

—जिसमें कुछ व्यक्ति देव तथा कुछ दैत्य बनकर धूल आदि उड़ा-उड़ाकर खेलते हैं—जैसे शिवाजी खेला करते थे तथा यवनोंको पराजित किया करते थे।

१६. जलक्रीडा

—(क) जिसमें पेड़ोंपरसे कूदकर जलमें गिरते हैं तथा फिर एक दूसरेपर पानी उछालते हैं।

(ख) यह क्रीडा स्त्री-पुरुषोंमें भी होती थी; जिसका वर्णन भारवि, माघ और कालिदासने किया है।

१७. कन्दुकक्रीडा

—(क) जिसमें गेंद ऊपर फेंकी जाती है और दूसरा उसे ग्रहण कर लेता है। यदि ग्रहण नहीं करता तो वह पहले फेंकनेवालेके कंधेपर चढ़कर फिर फेंकता है तथा अन्य गेंदको जमीनपर गिरनेसे पूर्व ही ग्रहण कर लेते हैं।

(ख) यह खेल बालक या कन्या सभी खेलते हैं। इसमें भीतपर गेंद मारकर या जमीनपर गेंद मारकर दबोचना आदि भी आ जाता है। यही आजकल Volley Ball कहाती है।

१८. वनभोजनक्रीडा

जंगलमें जाकर खेलना तथा वहींपर बाटी आदि बनाकर खाना—जिसे आजकल Picnic 'पिक्निक्' कहते हैं।

१९. रासक्रीडा

जहाँ रेतीले मैदानमें श्रीकृष्णलीलाका अनुकरण किया जाता है, जैसे आजकल रामलीला होती है। गुजरातका गरबानृत्य कुछ ऐसा ही है।

२०. छालिक्यक्रीडा

इसमें खेलनेवाले मस्त होकर होलीके दिनोंकी तरह गाते-बजाते हैं। इसका वर्णन पुराणोंमें मिलता है।

२१. नियुद्धक्रीडा

—जिसमें घूँसे मारकर या कुश्ती लड़कर खेल खेला जाता है। जरासन्ध और भीमके बीच यह क्रीडा हुई थी।

२२. नृत्यक्रीडा

—जिसमें कुछ नाचें तथा कुछ ताली बजायें। यह लड़के या लड़कियाँ मिलकर या अलग-अलग खेलते थे।

२३. अक्षक्रीडा

यह क्रीडा 'महाभारत'का कारण हुई—इसका ऋग्वेदमें निषेध मिलता है।

२४. मृगयाक्रीडा

यह क्रीडा 'आखेट'के नामसे राजाओंमें विशेषरूपसे प्रसिद्ध थी।

२५. पक्षिघातक्रीडा

—जिसमें श्येनकी तरह पक्षियोंका पकड़ना सिखाया जाता था।

२६. मत्स्यक्रीडा

मछली पकड़नेके प्रकार राजपुत्र नावपर चढ़कर सीखते थे।

२७. चतुरङ्गक्रीडा

—जिसे शतरञ्ज, चौपड़ या 'चाँदमारी'के नामसे आज कल पुकारते हैं।

२८. शालभञ्जिकाक्रीडा

—जिसे 'कठपुतलियोंका खेल' या गुड़ियोंका खेल कहते हैं।

२९. लतोद्वाहक्रीडा

पेड़ एवं बेलको पालकर उनका विवाह रचानेका खेल, जैसा शकुन्तलाने किया था। तुलसी-विवाह तो धार्मिक कृत्यके रूपमें किया जाता है।

३०. वीटाक्रीडा

गिल्ली-डण्डेका खेल—इसका महाभारतमें वर्णन है, देखिये आदिपर्व (१३१।१७)

३१. कनकशृङ्गकोणक्रीडा

'पिचकारी चलाना'।

३२. विवाहक्रीडा

जब वर विवाह करने चला जाय, तब पीछे रहनेवाली स्त्रियाँ वर या वधू बनकर खेल करती हैं, जिसे 'खोरिया' कहते हैं।

३३. हल्लीशक्रीडा

एक लड़की, फिर लड़का, फिर लड़की, फिर लड़का—

इस प्रकार बैठकर जो मण्डलाकार घूमते हैं, इसे यह क्रीडा बतलाती है।

३४. गानकूर्दनक्रीडा

—जिसमे कुछ गायें तथा कुछ कूदें—

३५. नौक्रीडा

—जो बनारसमे दशहरेपर होती है—लोग नौकाएँ चलाते हैं।

३६. जलक्रीडा

जलमे बैठकर भोजनादि करना—जैसे दुर्योधन जल-स्तम्भ-विद्याको जानकर करता था।

३७. वनविहारक्रीडा

इस क्रीडामे फूलोका चुनना, माला बनाना तथा भोजन बिना सामग्रीके बनाना आदि आता है। इसका दूसरा नाम 'पुष्पावचाय' क्रीडा है।

३८. आमलकमुष्ट्यादिक्रीडा

मुट्ठी बंद करके पूछना, न बतलानेपर या गलत बतलानेपर विजेता उसे मुष्टि-प्रहारसे पराजित करता था।

३९. दर्दुरप्लावक्रीडा

मेढकोकी तरह कूद-कूदकर चलना।

४०. नाट्यक्रीडा

नाटक खेलना।

४१. अलातचक्रक्रीडा

'टीमी' जलाकर उसे घुमाना तथा आकाशमे उसमे अक्षर लिखना।

४२. गदाक्रीडा

दिखावटी 'गदायुद्ध' करना; इसी प्रकार 'धनुःक्रीडा' आदि क्रीडाएँ भी हैं।

४३. अशोकपादप्रहारक्रीडा

'किसी पेड़को' सजाना तथा उसे फिर सींच-सींचकर बढ़ाना—और यह कहना कि मेरी जूतियाँ खाकर यह बढ़ा है। इसका वर्णन भी कालिदासने किया है।

४४. चित्रक्रीडा

विरहादि अवस्थामे यक्षकी तरह चित्र बनाना, painting करना, ड्राइङ्ग (drawing) करना आदि।

४५. काव्यविनोदक्रीडा

जिसमे 'बिन्दुच्युतक', 'मात्राच्युतक', 'समस्यापूर्ति', 'प्रहेलिका', 'खड्गबन्ध', 'पद्मबन्ध' आदि काव्योंके प्रकार आते हैं। आज-कलकी Puzzles भी इसीमे आती हैं।

४६. वाजिवाह्यक्रीडा

घोड़ोंपर चढ़कर 'गेंद' खेलना। तुलसीदासजीने गीतावलीमे इसका वर्णन किया है।

४७. करिवाह्यक्रीडा

हाथीपर चढ़कर गेंद खेलना।

४८. मृगवाह्यक्रीडा

हरिणके रथपर चढ़कर या 'बारहसिंगे'के रथपर चढ़कर दौड़ते हुए व्यक्तिको छूना।

४९. गोपक्रीडा

यह 'रासक्रीडा'के अन्तर्गत है।

५०. घटक्रीडा

सिरपर अनेको घड़ोको रखकर चलना, अङ्गारोंपर चलना, बाँस लेकर चलना, एक रस्सीपर चलना—ये सब भेद इस घटक्रीडाके ही अन्तर्गत हैं। पाठकोके मनोविनोदार्थ प्राचीन-क्रीडा-संस्कृतिके प्रथम प्रकारका संक्षेपमे हमने वर्णन किया है।

एक रामतें मोर भल

रामु मातु, पितु, बंधु, सुजनु, गुरु, पूज्य, परमहित।
साहेबु, सखा, सहाय, नेह-नाते पुनीत चित॥
देसु, कोसु कुलु, कर्म, धर्म, धनु, धामु, धरनि, गति।
जाति-पाँति सब भाँति लागि रामहि हमारि पति॥
परमारथु, स्वारथ, सुजसु, सुलभ रामतें सकल फल।
कह तुलसिदासु, अब, जब-कबहुँ एक रामतें मोर भल॥

(कवितावली)

आर्योंके अस्त्र-शस्त्र

(लेखक—श्रीअशोकनाथजी शास्त्री)

आज हम यूरोपके अस्त्र-शस्त्र देखकर चकित और स्तम्भित हो जाते हैं और सोचने लगते हैं कि ये सब नये आविष्कार हैं । हमें अपनी पूर्वपरम्पराका ज्ञान नहीं है । प्राचीन आर्यावर्तके आर्यपुरुष अस्त्र-शस्त्रविद्यामें निपुण थे । उन्होंने अध्यात्मज्ञानके साथ-साथ आततायियों और दुष्टोंके दमनके लिये सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी भी सृष्टि की थी । आर्योंकी यह शक्ति धर्म-स्थापनामें सहायक होती थी, न कि घातक । उन विकराल भयंकर बाणोंके आगे बम-फम क्या चीज है । आजकलके विस्फोटक बम और गैसोंके समान उस कालमें भी विमानोंद्वारा अग्निवर्षा होती थी । पैराशूट भी थे, सभी कुछ था । बाण-विद्या तो भारतमें पिछले समयतक रही । रामायण और महाभारतमें हम जो पढ़ते आये हैं, आज वर्तमान विज्ञानकी प्रगति हमारी उस उन्नतिका एक अंश भी नहीं ।

प्राचीनकालमें जिन अस्त्र-शस्त्रोंका उपयोग होता था, उनका वर्णन इस प्रकार है—(अ) अस्त्र उसे कहते हैं, जिसे मन्त्रोंके द्वारा दूरीसे फेंकते हैं । वे अग्नि, गैस और विद्युत् तथा यान्त्रिक उपायोंसे चलते हैं । (ब) शस्त्र खतरनाक हथियार हैं, जिनके प्रहारसे चोट पहुँचती है और मृत्यु होती है । ये हथियार अधिक उपयोग किये जाते हैं ।

अस्त्रोंको दो विभागोंमें बाँटा गया है—

(१) वे आयुध जो मन्त्रोंसे चलाये जाते हैं—ये दैवी हैं । प्रत्येक शस्त्रपर भिन्न-भिन्न देव या देवीका अधिकार होता है और मन्त्र-तन्त्रके द्वारा उसका संचालन होता है । वस्तुतः इन्हें दिव्य तथा मान्त्रिक अस्त्र कहते हैं । इन बाणोंके कुछ रूप इस प्रकार हैं—

१. आग्नेय—यह विस्फोटक बाण है । यह जलके समान अग्नि बरसाकर सब कुछ भस्मीभूत कर देता है । इसका प्रतिकार पर्जन्य है ।

२. पर्जन्य—इस बाणके चलानेसे कृत्रिम बादल पैदा होते हैं, वर्षा होती है, बिजली तड़पती है और तूफान आता है ।

३. वायव्य—इस बाणसे भयङ्कर तूफान आता है और अन्धकार छा जाता है ।

४. पन्नग—इससे सर्प पैदा होते हैं । इसके प्रतिकारस्वरूप गरुड़बाण छोड़ा जाता है ।

५. गरुड़—इस बाणके चलते ही गरुड़ उत्पन्न होते हैं, जो सर्पोंको खा जाते हैं ।

६. ब्रह्मास्त्र—यह अचूक विकराल अस्त्र है । शत्रुका नाश करके छोड़ता है । इसका प्रतिकार दूसरे ब्रह्मास्त्रसे ही हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

७. पाशुपत—इससे विश्व नाश हो जाता है । यह बाण महाभारतकालमें केवल अर्जुनके पास था ।

८. वैष्णव—नारायणास्त्र—यह भी पाशुपतके समान विकराल अस्त्र है । इस नारायण-अस्त्रका कोई प्रतिकार ही नहीं है । यह बाण चलानेपर अखिल विश्वमें कोई शक्ति इसका मुकाबला नहीं कर सकती । इसका केवल एक ही प्रतिकार है और वह यह है कि शत्रु अस्त्र छोड़कर नम्रतापूर्वक अपनेको अर्पित कर दे । कहीं भी हो, यह बाण वहाँ जाकर ही भेद करता है । इस बाणके सामने झुक जानेपर यह अपना प्रभाव नहीं करता ।

इन दैवी बाणोंके अतिरिक्त ब्रह्मशिरा और एकाग्नि आदि बाण हैं । आज यह सब बाण-विद्या इस देशके लिये अतीतकी घटना बन गयी । महाराज पृथ्वीराजके बाद बाण-विद्याका सर्वथा लोप हो गया ।

(२) वे शस्त्र हैं, जो यान्त्रिक उपायसे फेंके जाते हैं; ये अस्त्रनलिका आदि हैं । नाना प्रकारके अस्त्र इसके अन्तर्गत आते हैं । अग्नि, गैस, विद्युत्से भी ये अस्त्र छोड़े जाते हैं । प्रमाणोंकी जरूरत नहीं है कि प्राचीन आर्य गोला-बारूद और भारी तोपें, टैंक बनानेमें भी कुशल थे । इन अस्त्रोंके लिये देवी और देवताओंकी आवश्यकता नहीं पड़ती । ये भयङ्कर अस्त्र हैं और स्वयं ही अग्नि, गैस या विद्युत् आदिसे चलते हैं ।

यहाँ हम कुछ अस्त्र-शस्त्रोंका वर्णन करते हैं, जिनका प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंमें उल्लेख है ।

१. शक्ति—यह लंबाईमें गजभर होती है, उसका हैंडल बड़ा होता है, उसका मुँह सिंहके समान होता है और उसमें बड़ी तेज जीभ और पंजे होते हैं । उसका रंग नीला होता है और उसमें छोटी-छोटी घंटियाँ लगी होती हैं । यह बड़ी भारी होती है और दोनों हाथोंसे फेंकी जाती है ।

२. तोमर—यह लोहेका बना होता है। यह बाणकी शकल-में होता है और इसमे लोहेका मुँह बना होता है। साँपकी तरह इसका रूप होता है। इसका धड़ लकड़ीका होता है। नीचेकी तरफ पंख लगाये जाते हैं, जिससे वह आसानीसे उड़ सके। यह प्रायः डेढ़ गज लंबा होता है। इसका रंग लाल होता है।

३. पाश—ये दो प्रकारके होते हैं, वरुणपाश और साधारण पाश; इस्पातके महीन तारोंको बटकर ये बनाये जाते हैं। एक सिर त्रिकोणवत् होता है। नीचे जस्तेकी गोलियाँ लगी होती हैं। कही-कही इसका दूसरा वर्णन भी है। वहाँ लिखा है कि वह पाँच गजका होता है और सन, रूई, घास या चमड़ेके तारसे बनता है। इन तारोंको बटकर इसे बनाते है।

४. ऋष्टि—यह सर्वसाधारणका शस्त्र है, पर यह बहुत प्राचीन है। कोई-कोई उसे तलवारका भी रूप बताते हैं।

५. गदा—इसका हाथ पतला और नीचेका हिस्सा वजनदार होता है। इसकी लंबाई जमीनसे छातीतक होती है। इसका वजन बीस मनतक होता है। एक-एक हाथसे दो-दो गदाएँ उठायी जाती थीं।

६. मुद्गर—इसे साधारणतया एक हाथसे उठाते है। कही यह बताया है कि वह हथौड़ेके समान भी होता है।

७. चक्र—दूरसे फेंका जाता है।

८. वज्र—कुलिश तथा अशनि—इसके ऊपरके तीन भाग तिरछे-टेढ़े बने होते हैं। बीचका हिस्सा पतला होता है। पर हाथ बड़ा वजनदार होता है।

९. त्रिशूल—इसके तीन सिर होते है। इसके दो रूप होते है।

१०. शूल—इसका एक सिर नुकीला, तेज होता है। शरीरमे भेद करते ही प्राण उड जाते है।

११. असि—तलवारको कहते है। यह शस्त्र किसी रूपमे पिछले कालतक उपयोग होता रहा। पर विमान, बम और तोपोके आगे उसका भी आज उपयोग नही रहा। पर हम इस चमकनेवाले हथियारको भी भूल गये। लकड़ी भी हमारे पास नहीं, तब तलवार कहाँसे हो।

१२. खड्ग—बलिदानका शस्त्र है। दुर्गाचण्डीके सामने विराजमान रहता है।

१३. चन्द्रहास—टेढ़ी तलवारके समान वक्र कृपाण है।

१४. फरसा—यह कुल्हाड़ा है। पर यह युद्धका आयुध है। इसकी दो शक्लें हैं।

१५. मुगल—यह गदाके सदृश होता है, जो दूरसे फेंका जाता है।

१६. धनुष—इसका उपयोग बाण चलानेके लिये होता है।

१७. बाण—सायक, शर और तीर आदि भिन्न-भिन्न नाम है। ये बाण भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। हमने ऊपर कई बाणोका वर्णन किया है। उनके गुण और कर्म भिन्न-भिन्न हैं।

१८. परिघ—एकमे लोहेकी मूठ है। दूसरे रूपमे यह लोहेकी छड़ी भी होती है और तीसरे रूपके सिरेपर वजनदार मुँह बना होता है।

१९. भिन्दिपाल—लोहेका बना होता है। इसे हाथसे फेंकते है। इसके भीतरसे भी बाण फेंकते है।

२०. नाराच—एक प्रकारका बाण है।

२१. परशु—यह छुरेके समान होता है। भगवान् परशु-रामके पास अक्सर रहता था। इसके नीचे लोहेका एक चौकोर मुँह लगा होता है। यह दो गज लंबा होता है।

२२. कुण्टा—इसका ऊपरी हिस्सा हलके समान होता है। इसके बीचकी लंबाई पाँच गजकी होती है।

२३. शङ्कु बर्छी—भाला है।

२४. पट्टिश—एक प्रकारका कुल्हाड़ा है।

इसके सिवा वशि तलवार या कुल्हाड़ाके रूपमे होती है।

इन अस्त्रोके अतिरिक्त अन्य अनेक अस्त्र है, जिनका हम यहाँ वर्णन नही कर सके। भुशुण्डी आदि अनेक शस्त्रोका वर्णन पुराणोमे है। हममे जितना स्वल्प ज्ञान है, उसके आधारपर उन सबका रूप प्रकट करना सम्भव नही।*

आज हम इन सभी अस्त्र-शस्त्रोको भूल गये। हम

* लगभग १५ वर्ष पहले बस्तीके प्रज्ञाचक्षु पं० श्रीधनराजजी-के दर्शन हुए थे। उन्होंने बतलाया था कि धनुर्वेद, धनुप-चन्द्रोदय और धनुप-प्रदीप—तीन प्राचीन ग्रन्थ उन्हें याद हैं, इनमेंसे दोकी प्रत्येककी श्लोक-सख्या ६०००० है। अन्य ग्रन्थोंके साथ इन ग्रन्थोंकी उन्होंने एक सूची भी लिखवायी थी, जो सम्भवतः बनारसके डिस्ट्रिक्ट और सेशन जज श्रीकृष्णचन्द्रजी श्रीवास्तव्यके पास है। इसमें 'परमाणु' से शक्तिनिर्माणका भी वर्णन है। यह विषय संवत् १९९५ में प्रकाशित स्वर्गीय प्रो० श्रीरामदासजी गौडके 'हिंदुत्व' नामक ग्रन्थमें भी छप चुका है। इससे पता लगता है कि प्राचीन कालमे 'परमाणु' (ऐटम) से शस्त्रादि-निर्माणकी क्रिया भी भारतीयोंको ज्ञात थी। —सम्पादक

भगवान् श्रीरामके हाथमे धनुष-बाण और भगवान् श्रीकृष्णके हाथमे सुदर्शन चक्र, महादेवके हाथमे त्रिशूल और दुर्गाके हाथमे खड्ग देखकर भी उनके भक्त बनते हैं। पर निर्बल, कायर और भीरु पुरुष क्या भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण और दुर्गाके भक्त बन सकते हैं? क्या रामायण, गीता और दुर्गा-सप्तशती केवल पाठ करनेके ही ग्रन्थ हैं? क्या इन अमर ग्रन्थोंके सन्देश हमे वीर, शक्तिशाली और अस्त्र-शस्त्रधारी बननेकी प्रेरणा नही करते? सच तो यह है कि हम भगवान्को भूल गये और अपने धर्म-ग्रन्थोको भी। हम भगवान्को पुकार-पुकारकर बुलाना चाहते हैं। पर हम कर्तव्यहीन निर्बलोंके पास भगवान् कैसे आयेंगे। वे आये थे महाभारतमें, जहाँ उन्होंने अर्जुनको गीतामृतके द्वारा रणमें जूझ पड़नेके लिये उद्यत किया था। आवश्यकता है कि रणमें कभी पीठ न दिखानेवाले भगवान् श्रीरामचन्द्र, सुदर्शनचक्रधारी योगेश्वर श्रीकृष्ण और महामाया दुर्गाको हम कभी न भूलें। एक बार फिर बलशाली बनकर आर्यधर्म और आर्यदेशकी रक्षा करनेमें समर्थ हों। यदि आज हम न सम्हले, तो हमारे विनाशका अन्त नहीं। भारतमाता आशामय नेत्रोंसे हमारी ओर निहार रही है कि आर्य-पुत्र, ऋषियोंकी सन्तानें क्या एक बार फिर उठ खड़ी न होंगी। 'मानव-धर्म'

यातायातके प्राचीन वैज्ञानिक साधन

(लेखक—अनुसन्धानकर्ता श्रीशिवपूजनसिंहजी कुशवाहा 'पथिक' सिद्धान्तशास्त्री, साहित्यालङ्कार)

वर्तमान समयमे रथ, यान, धूम्रशकट (रेलगाड़ी), वायु-यान और जलयान प्रभृति यातायातके जो कुछ भी साधन हैं, उन सभीका वर्णन प्रायः वेदोमे पाया जाता है। प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वान् भी इस मतसे सहमत हैं। यहाँ इसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

रथ—रथमे वायुका जोडना—

'प्र वो वायुं रथयुजं कृणुध्वम्' (ऋ० ५।४१।६)

'वायुको तुम अपने रथमे जुड़नेवाला बनाओ अर्थात् ऐसा प्रबन्ध करो कि जिससे वायु तुम्हारे रथका सञ्चालन करे[1]।'

त्रितला (Three storeyd) रथ—

तं त्रिपृष्ठे त्रिवन्धुरे रथे युञ्जन्ति यातवे।
······ऋषीणां सप्त धीतिभिः॥
(ऋ० ९।६२।१७)

'सात ऋषि अपनी बुद्धियोंद्वारा उस (पवमान) को चलने-चलानेके लिये तीन वन्धुरोंवाले एवं तीन पृष्ठो—तलोंवाले रथमे जोडते हैं[2]।'

विद्युद्रथ—बिजलीसे चलनेवाले रथ—

स होता मन्द्रो विदथान्यस्थात्सत्यो यज्वा कवितमः स वेधाः विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः शोचिष्केशः पृथिव्यां पाजो अश्रेत्॥
(ऋ० ३।१४।१)

'वह मस्त करनेवाला होता सभी ज्ञानोंका अधिष्ठान है, वह सच्चा याज्ञिक है, वह सर्वाधिक क्रान्तदर्शी वेधा शिल्पी है, जो अतिशय बलसम्पन्न होकर, प्रकाशमय अग्निकी भाँति पालक बनकर, विद्युद्रथवाला होकर पृथ्वीमें रहता है।'

यहाँ 'विद्युद्रथ' निर्माण करनेकी प्रशंसा की गयी है।

चतुर्वेद-भाष्यकार पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार मीमांसातीर्थ लिखते हैं—······(विद्युद्रथः) विद्युत्से चलनेवाले रथका स्वामी[1]।

अनश्वरथ—

अश्विनोरसनं रथमनश्वं वाजिनीवतोः। तेनाहं भूरि चाकन। (ऋ० १।१२०।१०)

'शक्तिशालियोंको इधर-उधर ले जानेवाला रथ अनश्व (घोड़े आदिसे रहित) है। उससे भी मैं बहुत चमकता हूँ।'

पं० जयदेवशर्मा विद्यालङ्कार मीमांसातीर्थ—(अनश्वरथम्) बिना अश्वके चलनेवाले रथ, विमान, मोटर-गाड़ी आदि रमण करनेयोग्य आनन्दप्रद यान[2]। इस मन्त्रमें विमान, मोटरगाड़ीका भी सङ्केत है।

त्रिचक्र-रथ (Tri-Cycle)—

त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातमर्वाक्।
पिन्वतं गा जिन्वतमर्वतो नो वर्धयतमश्विना वीरमस्मे॥
(ऋ० १।११८।२)

---

१. अभीतक ऐसा रथ बन नहीं पाया है। —लेखक

२. दो तलोंवाली बसें और नौकाएँ हैं, तीन तलोंवाली अभी नहीं बनी हैं। —लेखक

१. ऋग्वेदसंहिता-भाषाभाष्य, तृतीय खण्ड, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४१।

२. वही, प्रथम खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ७५२।

'हे विद्वान् शिल्पीजनो ! आप तीन प्रकारके बन्धनोंसे युक्त, तीन प्रकारके आचरणोंसे युक्त, तीन घेरोवाले, उत्तम रचनावाले, तीन चक्रोंवाले रथसे सीधे जाओ। गौओंको प्रसन्न करो, अश्वोंकी वृद्धि करो, हमारे वीरोंको बढ़ाओ।'

यहाँ रथके साथ 'त्रिचक्र' विशेषण स्पष्ट तीन चक्रोंवाले ट्राइसिकल अथवा अन्य किसी तीन पहियोंवाले अभीतक अनाविष्कृत यानका सङ्केत है।

वैदिक और महाकाव्य-कालके योद्धा पदानुसार रथी, महारथी और अतिरथी कहलाया करते थे।

महाभारतकालके रथ सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रों—बाण, भाला, लोहेके दण्ड, काष्ठके दण्ड, तोमर, रस्सी, यन्त्र, ढाल, लोहेके अस्त्र, खड्ग, छुरी, कटार, शूल, मुद्गर आदिसे परिपूर्ण होते थे। रथको बाहरसे व्याघ्रादिके चर्मसे मढ़ दिया जाता था। रथोंको धूप एवं वर्षा आदिसे सुरक्षित रखनेके लिये ऊपरसे छा दिया जाता था। प्रत्येक रथको खींचनेके लिये सामान्यतः चार घोड़े हुआ करते थे। कभी-कभी रथको खींचनेके लिये हाथियोंसे भी काम लिया जाता था[1]।

रथ सोनेकी झालर तथा मणियोंसे खूब सजे-धजे होते थे। दुर्ग अथवा किलेकी तरह चारों ओरसे उनकी सुरक्षाका दृढ़ प्रबन्ध रहता था, जिससे शत्रुगण उनपर आसानीसे आक्रमण न कर सकें[2]।

रावणके पास एक यान (यन्त्रयान) भी था, जो भूमिपर वेगसे चलता था—

सहस्रखरसंयुक्तो रथो मेघसमस्वनः।

(वा० रा० युद्ध० ६९। ९)

रावणके पास सहस्र खरोंसे युक्त मेघके समान गर्जन करनेवाला रथ था।

कार (Car) का चलाना—

परि प्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः। कारं बिभ्रत्पुरुस्पृहम्। (ऋ० ९। १४। १)

'नदी या समुद्रकी तरङ्गपर स्थित क्रान्तदर्शी ज्ञानी शिल्पी अत्यन्त स्पृहणीय कारको समुद्रकी लहरोंपर धारण करता हुआ सब ओर चलाता है।'

आजकलका 'कार' (Car) शब्द [वायुशकट, हवागाड़ी, मोटर] वैदिक है। 'कार' का अर्थ 'रथ' भी होता है[1]।

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथः॥

(ऋ० ४। ३६। १)

इसका अर्थ जयपुरके पं० मधुसूदन झा 'विद्यावाचस्पति' करते हैं—'बिना घोड़ोंका तीन पहियोंवाला रथ, जो अन्तरिक्षमे उड़ सके—हे ज्ञानियो ! वह प्रशंसाके योग्य है[2]।'

ऋभुओंने एक ऐसे रथका निर्माण किया था, जो सर्वत्र जा सकता था।

(ऋ० १। २०। ३; १०। ३९। १२; १। ९२ २८ और १२९। ४; ५। ७५। ३ और ७७। ३; ८५। २९; १। ३४। १२ और ४७। २; १। ३४। २ और ११८। १-२ तथा १५७। ३)[3]

(वायुयान) विमान—ऋग्वेदसंहिता १। ८। ८। ३; १। ८। ८, ९, ५, १; १। ३। ४। २; १। ३। ५। १; १। २। ३४। ३; १। ६। ९। ४; २। ३। २३। १, २में नौ-विमानादि-विद्याका स्पष्ट वर्णन है।[4]

ऋ० १। ११६। ३; १। ११६। ४; १। ११६। ५; ६। ६२। ६; १। ११७। १४; १। ११७। १५; १। २५। ७ मे वायुयानका वर्णन है।[5]

क्रीडं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथे शुभम्।
······कण्वा अभिप्रगायत॥

यह मत ऋग्वेदका है। इसपर आचार्य देवपालका भी भाष्य है, जो कि लौगाक्षिगृह्यसूत्रोंके भाष्यके प्रसङ्गमे प्राप्त हुआ है। आचार्य देवपालजी इस मन्त्रके सम्बन्धमे लिखते है—

१. महाभारत, उद्योगपर्व १५५। ४—१२

२. महाभारत, उद्योगपर्व १५५। १५—२३

१. देखिये पं० जयदेवशर्मा विद्यालङ्कारकृत 'ऋग्वेदसंहिता-भाषा-भाष्य', षष्ठ खण्ड, प्रथमावृत्ति पृष्ठ ४३।

२. 'इन्द्रविजय' पृष्ठ ११४।

३. विस्तारपूर्वक जाननेके लिये देखिये—'वेदोंमें विमान' शीर्षक लेख (लेखक—डा० बालकृष्णजी एम्०ए०, पी-एच्०डी०, एफ्० आर्० ई० एस्० का मासिक 'गङ्गा' का 'वेदाङ्क', पृष्ठ २०५-२०६।)

४. देखिये ऋषि दयानन्दजीकृत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', नौ-विमानादि-विद्याविषयप्रकरण।

५. देखिये ऋग्वेद-सायणभाष्य तथा मासिकपत्र 'वैदिक विज्ञान', अजमेर, वर्ष १, दिसम्बर १९३२ ई०, सं० ३, पृष्ठ ९८ से १०४ तक श्रीप्रो० विश्वनाथ विद्यालङ्कारका 'हवाई नौका' शीर्षक लेख। —लेखक

हे मरुतः वः युष्माकं सम्बन्धि शर्धः बलं क्रीडं क्रीडयतु अस्मान्। कणतिः शब्दकर्मा, कणन्तीति कण्वा वायवः, यूयमेव मारुतं मरुतां सम्बन्धि शर्धः प्रगायन कथयत, यादृशं तदिति। कीदृशं शर्धः, रथे शुभं रथ-विमानादीनामनुकूलं गमने, तथानर्वाणं लिङ्गव्यत्ययः, अनर्वं अप्रच्युतमित्यर्थः।

अर्थात् 'हे (मरुतः) वायुओ! तुम्हारा जो बल है, वह हमारी क्रीडाका साधन बने। तुम कण्व हो अर्थात् शब्द करनेवाले वायु हो; तुम ही हमें कहो, जैसा कि, अद्वितीय बल मरुतोंका हुआ करता है—वह बल जो कि रथोंके निमित्त शुभ होता है अर्थात् रथ और विमान आदिके चलानेके अनुकूल होता है, तथा जो अप्रच्युत है, जिसका कोई मुकाबला नहीं कर सकता, जिसका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता।'

आचार्य देवपालके इस लेखसे तीन परिणाम निकलते हैं—

(क) मरुतो या वायुओंके बलका प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है कि जिससे वे हमारी क्रीडाका साधन बन सकें। आजकलकी मोटरें आदि रथ क्रीडाके ही साधन हैं।

(ख) मरुतोंके बलको रथों तथा विमानोंके चलनेके अनुकूल प्रयुक्त किया जा सकता है।

(ग) 'कण्व' शब्द वेदमें कण्व ऋषिके वंशके सम्बन्धमें ही प्रयुक्त होता हो, सो नहीं। श्रीसायणाचार्यने इस मन्त्रमें कण्वसे अर्थ लिया है कण्वगोत्रके ऋषि। परंतु आचार्य देवपालने यहाँ कण्वका अर्थ किया है 'शब्द करनेवाले वायु।'

रामायणके अंदर वायुयान (विमान) के सम्बन्धमें स्थान-स्थानपर वर्णन आता है—

कैलासपर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम्।
विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः॥
(वा० रा० अरण्य० ३१। १४)

'कैलास पर्वतपर जाकर वहाँ सवारी लेकर जानेवाले पुष्पक विमानको लाया।'

यस्य तत्पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम्।
वीर्यादावर्जितं भद्रे येन यामि विहायसम्॥
(वा० रा० अरण्य० ४८। ६)

रावण सीतासे कहता है कि 'हे सीते! सुन्दर पुष्पकविमान विश्रवणका था, जिसे मैं बलसे जीतकर लाया हूँ। इससे मैं आकाशमें जाता हूँ।'

दिवं गते वायुपथे प्रतिष्ठितं
व्यराजतादित्यपथस्य लक्ष्मवत्।
स पुष्पकं तत्र विमानमुत्तमं
ददर्श तद्वानरवीरसत्तमः॥
(वा० रा० सुन्दर० ८। १-२, ८)

'आकाशमें उड़नेपर वायुमार्गमें विराजमान, सूर्य-पथमें चिह्नकी भाँति दीखनेवाले पुष्पकविमानको देखा।'

जालवातायनैर्युक्तं काञ्चनैः स्फाटिकैरपि।
(वा० रा० सुन्दर० ९। १६)

'वह पुष्पक विमान सोनेकी जालियों और स्फटिकमणिकी खिड़कियोंसे युक्त था।'

जलयान—

यास्ते पूषन्नावो अन्तःसमुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृतश्रव इच्छमानः॥
(ऋग्वेदसंहिता ६। ५८। ३)

'हे पूषन्! जो तेरी लोहादिकी बनी नौकाएँ समुद्रके भीतर अर्थात् समुद्रतलके नीचे और अन्तरिक्षमें चलती हैं, मानो तू उनके द्वारा इच्छापूर्वक अर्जित यशको चाहता हुआ सूर्यके दूतत्वको प्राप्त कर रहा है।'

इस मन्त्रमें 'नावः' का विशेषण 'हिरण्ययी'=हिरण्यका विकार वा हिरण्यसे बनी हुई ध्यान देने योग्य है। 'हिरण्य' का अर्थ जहाँ सोना है, वहाँ वेदमें लोह और धातुमात्रके लिये भी प्रयुक्त होता है।

'अन्तःसमुद्रे' का अर्थ केवल 'समुद्रमें' नहीं है, इस अर्थको तो केवल 'समुद्रे' कह सकता है। इसके साथ 'अन्तः' पद लगानेसे 'समुद्रके भीतर' अर्थ बनता है। अर्थात् इस मन्त्रमें वायुयानों=विमानोंके साथ पनडुब्बियों (Submarines) का भी वर्णन है।

सोमापूषणा रजसो विमानं सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम्।
(ऋ० २। ४०। ३)

'सात पहियोंके विमानका, जो सोम और पूषणकी शक्तिसे चलाया जाय।'

रिसर्च स्कालर पं० रघुनन्दन शर्मा, साहित्यभूषण लिखते हैं—

'विमान नामक यन्त्र तो वैदिक कालसे ही इस देशमें प्रचलित था। वेदमें विमानके बननेकी विधि बतलाते हुए

१. 'वैदिक विज्ञान', वर्ष १, सन् १९३२ ई०, संख्या ३, पृष्ठ १३३-१३४।

कहा गया है कि जो आकाशमे उड़नेकी स्थितिको जानता है, वह समुद्र-आकाशकी नाव-विमानको जानता है।'[1]

एक अमेरिकन आलोचक स्वीकार करते हैं कि प्राचीन भारतमें वाष्प-यन्त्र (Steam Engine) हुआ करते थे; जो अग्नि-रथके नामसे प्रसिद्ध थे।[2]

रथोंके सम्बन्धमें पर्यटक अलबेरूनी लिखता है—जंगी रथोंका आविष्कार एक हिंदूने किया था, जब कि प्रलयके ९०० वर्ष बाद वह मिस्रपर शासन करता था।'[3]

मि० जकोलियट नामक प्रसिद्ध विद्वान् अपने "The Bible in India" नामक ग्रन्थमें अनेक मतोंकी सृष्ट्युत्पत्तिविषयक कल्पनाओंका उल्लेख करके वैदिक विचारके बारेमें निम्न उद्गार प्रकट करता है—

"Astonishing fact! The Hindu revelation (Veda) is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern Science as it proclaims the slow and gradual formation of the world."

'यह एक बड़ी ही आश्चर्यजनक बात है। ईश्वरीय धर्म-ग्रन्थोंमेंसे एकमात्र वेद ही ऐसा है, जिसके विचार वर्तमान विज्ञानके साथ सम्पूर्णतया संगत हैं; क्योंकि उस (वेद) मे भी विज्ञानके अनुसार जगत्‌की क्रमिक रचनाका प्रतिपादन है।'

अमेरिकन महिला व्हीलर विल्कॉक्स (Mrs. Wheeler Willox) कहती हैं—

"We have all heard and read about the ancient religion of India. It is the land of the great Vedas, the most remarkable works, containing not only religious ideas on a perfect life, but also facts which all the science has since proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seem to be known to the sires who found the Vedas."[4]

अर्थात् 'हमलोगोने प्राचीन भारतीय धर्मके विषयमे सुना और पढा है। भारत उन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वेदोंकी भूमि है, जिनके अंदर न केवल पूर्ण आदर्श जीवनके लिये धार्मिक तत्त्वोंका निरूपण है, वरं उन सच्चाइयोंका भी निर्देश है, जिनको सारे विज्ञानशास्त्रने सत्य प्रमाणित किया है। वैदिक ऋषियोंको विद्युत्, रेडियो, एलेक्ट्रॉन, हवाईजहाज इत्यादि सब बातोंका ज्ञान था—ऐसा प्रतीत होता है।'

फ्रांसके सुविख्यात योगी भी स्वीकार करते हैं कि ××× 'वर्तमान विज्ञान केवल उन्हीं सिद्धान्तोंको पुनः प्रस्तुत करता है, जो वेदोंमें वर्णित हैं।'[1]

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता रालीविंसनने भी जिन वेद-मन्त्रोंका उद्धरण देकर प्राचीन भारतके जहाजी बेड़ेका परिचय दिया है, उनमेसे एक स्वयं अपने बलसे चलनेवाला, अन्तरिक्षमें गति करनेवाला जहाज है।[2]

प्रो० मैक्समूलर अपने "Biographical Essays" में लिखते हैं—

"If any historical or geographical names occur in the Vedas, all are explained away because, if taken in their natural sense, they would impart to the Vedas historical or tempered talent. To Swami Dayanand, everything contained in the Vedas was not only perfect truth, but he went one step further and, by their interpretation, succeeded in persuading others that everything worth knowing—even the most recent inventions of modern science were alluded to in the Vedas; steam-engine, electricity, talegraphy and wireless, morconogram were shown to have been known at least in the germs to the poets of the Vedas."[3]

अर्थात् 'ऋषि दयानन्दने वेदोंमें आये हुए ऐतिहासिक तथा भौगोलिक नामोंकी व्याख्या (यौगिक-पद्धतिसे) की है; क्योंकि वेदोंमें कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं है। ऋषि दयानन्दजीकी दृष्टिमें जो कुछ भी वेदोंमें है, वह न केवल पूर्ण

१. 'वैदिक सम्पत्ति' द्वितीय संस्करण' पृष्ठ ३९४।

२. "Hindu Superiority" तथा 'महान् भारत' पृष्ठ ३८२।

३. "Alberuni's India", Vol. I, page 407.

४. "Sublimity of the Vedas", page 83.

१. 'महान् भारत' पृष्ठ ३८३।

२. "Intercourse between India and the Western world", page 4.

३. नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १३६-१३७।

सत्य है; अपितु उससे एक पद आगे बढ़कर ऋषि कहते हैं कि वेदोंमे ज्ञानके योग्य हर वस्तुका वर्णन है। यहाँतक कि अति नवीन आधुनिक आविष्कारों—जैसे स्टीम इंजिन, विद्युत्, तार, बिना तारके तार, मॉरकोनोग्रामका भी प्रतिपादन वेदोंमे किया गया है—कम-से-कम बीजरूपमें तो अवश्य ही उपर्युक्त वस्तुओंका वर्णन वेदोंमे है।'[1]

योगी श्रीअरविन्द कहते हैं—'वेदोंमें सृष्टि-विद्या-तत्त्वका भी कुछ कम आविर्भाव नहीं है।'……'आधुनिक पदार्थ-विज्ञानकी सत्यताएँ भी वैदिक मन्त्रोंमें प्रकटित होती हैं।'[3]

आचार्य सत्यव्रतजी सामश्रमी कलकत्ता संस्कृत कॉलेजके वैदिक साहित्यके प्रोफेसर थे। पाश्चात्त्य तथा प्राच्य वैदिक विद्वानोंमें इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। बंगाल एसियाटिक सोसाइटीके कई ग्रन्थोंका इन्होंने सम्पादन किया है। इनके 'त्रयीचतुष्टय', 'त्रयीपरिचय', 'निरुक्तालोचन', 'ऐतरेयालोचन' आदि ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। आपने अपने 'त्रयीचतुष्टय' नामक संग्रह-ग्रन्थमें वेदोंके भाष्यकारोंके सम्बन्धमें अपनी सम्मति लिखी है। आप लिखते हैं—

"When the त्रयीसंग्रह was being compiled, the impression grew upon me that the real meaning of many Mantras did not come out in Sayaṇa's commentary, and the desire became strong in me to publish the interpretation of Yāska and other old expositors of the Veda. At a time when photography, phonography, gaslight, telegraph, the telephone, Railway and baloons had not been introduced into the country, how could our people understand any verses referring to these things? Our opinion is that, in Vedic times, our country had made extraordinary progress. In those days the sciences of Geology, Asronomy and Chemistry were called "Ādhidaivika Vidya" and those of physiology, psychology and Theology "Adhyātma Vidya."

"Though the works embodying the scientific knowledge of those times are entirely lost, there are sufficient indications in Vedic works of those sciences having been widely known in those days."[2]

अर्थात् "त्रयीसंग्रह' पुस्तकका जब सङ्कलन हो रहा था, उस समय मुझे अनुभव हुआ कि सायण-भाष्यमें बहुतसे मन्त्रोंके यथार्थ भाव प्रकट नहीं हो सके; इसलिये मुझमें यह इच्छा प्रबल हुई कि यास्क तथा अन्य प्राचीन भाष्यकारोंके भावार्थोंका मैं स्वयं उद्घाटन करूँ।

"उस समय जब कि फोटोग्राफी, फोनोग्राफी, गैसलाइट, टेलिग्राफ, टेलिफोन, रेल्वे और हवाई जहाजोंका भारतमें प्रचार न था, किस प्रकार भारतके वेदभाष्यकर्ता उन मन्त्रोंके यथार्थ रहस्योंको समझ सकते थे, जिनमें इन वस्तुओंके सङ्केत हों। हमारी सम्मति है कि वैदिक कालमें हमारे भारत देशने पर्याप्त उन्नति कर ली थी। उस समय भूगर्भविद्या, ज्यौतिष और रसायन-विद्याको आधिदैविक विद्या कहा जाता था और शरीरविद्या, मनोविज्ञान तथा ब्रह्मविद्याको अध्यात्म-विद्या। उस समयके वैज्ञानिक ग्रन्थ यद्यपि इस समय सर्वथा लुप्त हो गये हैं, तो भी वेदोंमें उन विज्ञानोंके सम्बन्धके पर्याप्त निर्देश मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वैदिक कालमें उन विज्ञानोंका पर्याप्त प्रचार था।"

अतएव इन उपर्युक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतमें यातायातके आश्चर्यजनक वैज्ञानिक साधन पर्याप्त मात्रामें थे। उनमेंसे कुछका तो शायद आज भी आविष्कार नहीं हो पाया है।

विपत्तिके मित्र

तुलसी असमयके सखा धीरज धरम विवेक।
साहित साहस सत्यव्रत रामभरोसो एक॥

—श्रीतुलसीदासजी

१. ईश्वरीय ज्ञान वेद, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ७८-७९।
२ "Trayi-Chatushtaya" Preface, VII-IX.
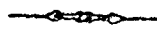
भारतीय नौ-निर्माणकला

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

इतिहास, पुराण तथा अपने यहाँके अन्य प्राचीन साहित्यमें बड़े-बड़े जहाजोंकी बहुत चर्चा आयी है। रामायण 'अयोध्या-काण्ड' मे ऐसी बड़ी-बड़ी नावोका उल्लेख है, जिनमे सैकड़ों कैवर्त योद्धा तैयार रहते थे—

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम्।
सन्नद्धानां तथा यूनान्तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत्॥

'महाभारत' में तो यन्त्रसञ्चालित नावोंका भी वर्णन आया है—

सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्।

समुद्रमार्गसे विभिन्न देशोंसे बराबर व्यापार होता था। 'वाराहपुराण' में गोकर्ण वैश्यकी कथा आती है, जो विदेशों-में रत्नोंका व्यापार किया करता था—

पुनस्तत्रैव गमने वणिग्भावे मतिर्गता।
समुद्रयाने रत्नानि महास्थौल्यानि साधुभिः॥

दण्डीके 'दशकुमारचरित' में रत्नोद्भव वणिक्की कथा है, जिसका जहाज पटना जाते हुए डूब गया था—

ततः सोदरविलोकनकुतूहलेन रत्नोद्भवः कथञ्चिच्छ्वशुरमनुनीय चपललोचनयानया सह प्रवहणमारुह्य पुरुषपुरमभिप्रतस्थे। कल्लोलमालिकाभिहतः पोतः समुद्राम्भस्यमज्जत।

दूसरा वणिक् मित्रगुप्त किसी द्वीपमें पहुँचा; वहाँ श्वान जैसे वाराहको घेर लेते हैं, वैसे ही यवनोंकी नावोंने जहाजको घेर लिया—

तावदतिजवा नौकाः श्वान इव
वराहमस्मत्पोतं पर्यरूत्सत।

भर्तृहरिने लिखा है कि दुस्तर समुद्रके पार करनेमें जहाज काम देता है—

पोतो दुस्तरवारिराशितरणे।

कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के 'नावध्यक्ष' प्रकरणमे नौसेना और राज्यकी ओरसे नावोंके प्रबन्धका पूरा विवरण मिलता है।

इन नावों और जहाजोंकी निर्माण-कलापर ज्यौतिषाचार्य वराहमिहिरकृत 'बृहत्संहिता' तथा भोजकृत 'युक्तिकल्पतरु' में कुछ प्रकाश डाला गया है। 'वृक्ष-आयुर्वेद' के अनुसार वृक्षोंमे भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार जातियाँ हैं। लघु तथा कोमल लकड़ी, जो सहजमे जोड़ी जा सके, ब्राह्मणजातिकी मानी जाती है। क्षत्रियजातिकी लकड़ी हल्की और दृढ़ होती है। वह अन्य प्रकारकी लकड़ियोंसे जोड़ी नहीं जा सकती। वैश्य जातिकी लकड़ी कोमल तथा भारी होती है और शूद्रजातिकी लकड़ी दृढ़ तथा भारी होती है। जिनमे दो जातियोंके गुण पाये जाते हैं, वे 'द्विजाति' हैं—

लघु यत्कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्।
दृढाङ्गं लघु यत्काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत्॥
कोमलं गुरु यत्काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते।
दृढाङ्गं गुरु यत्काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते॥
लक्षणद्वययोगेन द्विजातिः काष्ठसङ्ग्रहः॥

भोजका कहना है कि क्षत्रिय काठकी बनी हुई नौका सुख-सम्पत्प्रद होती है—

क्षत्रियकाष्ठैर्घटिता भोजमते सुखसम्पदं नौका।

इसके बने हुए जहाज विकट जलमार्गोंमें काम दे सकते हैं—

अन्ये लघुभिः सुदृढैर्विदधति जलदुष्पदे नौकाम्।

दूसरी प्रकारकी लकड़ियोंसे जो नौकाएँ बनायी जाती हैं, उनके गुण अच्छे नहीं होते। उनमे आराम नहीं मिलता। वे टिकाऊ भी नहीं होतीं, पानीमें उनकी लकड़ी सड़ने लगती है और साधारण भी धक्का लगनेपर वे फटकर डूब जाती हैं—

विभिन्नजातिद्वयकाष्ठजाता
न श्रेयसे नापि सुखाय नौका।
नैषा चिरं तिष्ठति पच्यते च
विभिद्यते सरिति मज्जते च॥

भोजने यह भी लिखा है कि जहाजोंके पेंदोंके तख्तोंको जोड़नेके लिये लोहेसे काम न लेना चाहिये; क्योंकि सम्भव है कि समुद्रकी चट्टानोंमें कहीं चुम्बक हो तो वह स्वभावतः लोहेको अपनी ओर खींचेगा, जिससे जहाजोंके लिये खतरा है—

न सिन्धुगाद्यार्हति लौहबन्धं
तल्लौहकान्तैर्ह्रियते च लौहम्।

अग्रतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया त्वग्रमन्दिरा ।
चिरप्रवासयात्रायां रणे काले घनात्यये ॥

मुसल्मानोके शासनकालमे भी भारतमे बड़े-बड़े जहाज बनते रहे । मार्को पोलो, जो तेरहवीं शताब्दीमें भारत आया था, लिखता है कि 'जहाजोंमे दोहरे तख्तोकी जुड़ाई होती थी, लोहेकी कीलोंसे उनको मजबूत बनाया जाता था और उनके सूराखोको एक प्रकारकी गोंदसे भरा जाता था । इतने बड़े जहाज होते थे कि उनमे तीन-तीन सौ मल्लाह लगते थे । एक-एक जहाजपर ५ से ६ हजारतक बोरे लादे जा सकते थे । इनमे रहनेके लिये ऊपर कई कोठरियाँ बनी रहती थीं, जिनमे सब तरहके आरामका प्रबन्ध रहता था । जब पेंदा खराब होने लगता था, तब उसपर लकड़ीका एक नया तह जड़ दिया जाता था । इस तरह कभी-कभी एकके ऊपर एक ६ तहतक लगायी जाती थी ।' पंद्रहवी शताब्दीमे निकोलो काटी नामक यात्री भारत आया था । वह लिखता है कि 'भारतीय जहाज हमारे जहाजोसे बहुत बड़े होते हैं । उनका पेंदा तेहरे तख्तोंका ऐसा बना होता है कि वह भयानक तूफानोका सामना कर सकता है । कुछ जहाज ऐसे बने होते है कि उनका एक भाग बेकार हो जानेपर बाकीसे काम चल जाता है ।' वर्थमा नामक एक दूसरे यात्रीने कालीकटमे जहाजोंके बननेका वर्णन किया है । वह लिखता है कि 'लकड़ीके तख्तोकी ऐसी जुड़ाई होती है कि उनमेसे जरा भी पानी नही आता । जहाजोमे कभी दो-दो बादबान (पाल) सूती कपड़ेके लगाये जाते है कि जिनमे हवा खूब भर सके । लंगर कभी-कभी पत्थरके भी होते थे । ईरानसे कन्याकुमारीतक आनेमे आठ दिनका समय लग जाता था ।' समुद्रतटवर्ती राजाओंके पास जहाजोके बड़े-बड़े बेड़े रहते थे । देश-नदियोमे चलनेवाले हजारों नावोंके बेड़े होते थे । अकबरके नौ-विभागका अध्यक्ष 'मीर बहर' कहलाता था । छत्रपति शिवाजीका भी अपना जहाजी बेड़ा था, जिसका अध्यक्ष 'दरियासारङ्ग' कहलाता था । डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जीने अपनी 'इण्डियन शिपिङ्ग' नामक पुस्तकमें भारतीय जहाजोका बड़ा रोचक, सप्रमाण इतिहास दिया है । अब देखना है कि इस भारतीय प्राचीन नौ-निर्माणकलाको नष्ट कैसे किया गया ।

पाश्चात्योका जब भारतसे सम्पर्क हुआ, तब वे यहाँके जहाजोको देखकर चकित रह गये । सत्रहवी शताब्दीतक यूरोपीय जहाज अधिक-से-अधिक ६ सौ टनके थे, परंतु भारतमे उन्होने 'गोघा' नामक ऐसे बड़े-बड़े जहाज देखे, जो १५ सौ टनसे भी अधिकके होते थे । यूरोपीय कम्पनियाँ इन जहाजोंको काममे लाने लगीं और हिंदुस्तानी कारीगरों-द्वारा जहाज बनवानेके लिये उन्होंने कई कारखाने खोल दिये । सन् १८११ में लेफ्टिनेंट वाकर लिखता है कि 'ब्रिटिश जहाजी बेड़ेके जहाजोंकी हर बारहवें वर्ष मरम्मत करानी पड़ती थी, परंतु सागौनके बने हुए भारतीय जहाज पचास वर्षोंसे अधिकतक बिना किसी मरम्मतके काम देते थे ।' 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के पास 'दरिया दौलत' नामक एक जहाज था, जो ८७ वर्षतक काम देता रहा । जहाजोको बनानेमे शीशम, साल और सागौन—तीनों लकड़ियाँ काममे लायी जाती थी । सन् १८११ में एक फ्रासीसी यात्री वाल्टजर सालविन्स अपनी 'ले हिंदू' नामक पुस्तकमें लिखता है कि 'प्राचीन समयमे नौ-निर्माणकलामे हिंदू सबसे आगे थे और आज भी वे इसमे यूरोपको पाठ पढ़ा सकते हैं । अंग्रेजोने, जो कलाओंके सीखनेमे बड़े चतुर होते है, हिंदुओं-से जहाज बनानेकी कई बातें सीखी । भारतीय जहाजोमे सुन्दरता तथा उपयोगिताका बड़ा अच्छा योग है और वे हिंदुस्थानियोकी कारीगरी और उनके धैर्यके नमूने है ।' बम्बईके कारखानेमे १७३६ से १८६३ तक ३०० जहाज तैयार हुए, जिनमे बहुतसे इंगलैंडके 'शाही बेड़े' मे शामिल कर लिये गये । इनमे 'एशिया' नामक जहाज २२८९ टनका था और उसमे ८४ तोपे लगी थी । बंगालमे हुगली, सिलहट, चटगॉव, ढाका आदि स्थानोमे जहाज बनानेके कारखाने थे । सन् १७८१ से १८२१ तक १,२२,६९३ टनके २७२ जहाज केवल हुगलीमे तैयार हुए थे ।

ब्रिटेनके जहाजी व्यापारी भारतीय नौ-निर्माणकलाका यह उत्कर्ष सहन न कर सके और वे 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' को भारतीय जहाजोका उपयोग न करनेके लिये दबाने लगे । इस सम्बन्धमे कई बार जॉच की गयी । सन् १८११ मे कर्नल वाकरने ऑकड़े देकर यह सिद्ध किया कि 'भारतीय जहाजोमें बहुत कम खर्च पडता है और वे बड़े मजबूत होते हैं; यदि ब्रिटिश बेड़ेमे केवल भारतीय जहाज ही रक्खे जाये, तो बहुत बड़ी बचत हो सकती है ।' जहाज बनानेवाले अंग्रेज कारीगर तथा व्यापारियोको यह बात बहुत खटकी । डाक्टर टेलर लिखता है कि 'जब हिंदुस्थानी मालसे लदा हुआ हिंदुस्थानी जहाज लंदनके बंदरगाहपर पहुँचा, तब जहाजोंके अंग्रेज व्यापारियोंमे ऐसी घबराहट मची, जैसी कि आक्रमण करनेके

मुखे नियोज्य पश्चात्तदाहृत्य शक्त्युद्गमननाले प्रवेशयेत् । ततः तत्कीलीचालनाद्विमानस्य सर्पवद्गमनक्रियारहस्यम् ।'

अर्थात् सार्पगमन नामक बाईसवें रहस्यके अनुसार दण्ड, वक्र आदि सात प्रकारके वायु और सूर्यकिरणोंकी शक्तियोंका आकर्षण करके यानके मुखमें जो तिरछे फेंकनेवाला केन्द्र है, उसके मुखमें उन्हें नियुक्त करके पश्चात् उसे खींचकर शक्ति पैदा करनेवाले नालमें प्रवेश कराना चाहिये; तब उसके बटन दबानेसे विमानकी गति साँपके समान टेढ़ी हो जाती है ।

(२५) 'परशब्दग्राहकरहस्यो नाम—सौदामनीकलोक्तप्रकारेण विमानस्थशब्दग्राहकयन्त्रद्वारा परविमानस्थजनभाषणादिसर्वशब्दाकर्षणरहस्यम् ।'

अर्थात् परशब्दग्राहक पचीसवें रहस्यके अनुसार 'सौदामनी-कला' में कही गयी रीतिसे विमानपर जो शब्दग्राहक यन्त्र है, उसके द्वारा दूसरे विमानपरके लोगोंकी बातचीत आदि शब्दोंका आकर्षण किया जाता है ।

(२६) 'रूपाकर्षणरहस्यो नाम—विमानस्थरूपाकर्षणयन्त्रद्वारा परविमानस्थितवस्तुरूपाकर्षणरहस्यम् ।'

अर्थात् रूपाकर्षण नामक छब्बीसवें रहस्यके अनुसार विमानमें स्थित रूपाकर्षण-यन्त्रद्वारा दूसरे विमानमें रहनेवाली वस्तुओंका रूप दिखलायी देता है ।

(२८) 'दिक्प्रदर्शनरहस्यो नाम—विमानमुखकेन्द्रकीलीचालनेन दिशाम्पतियन्त्रनालपत्रद्वारा परयानागमनदिक्प्रदर्शनरहस्यम् ।'

अर्थात् दिक्प्रदर्शन नामक अट्ठाईसवें रहस्यानुसार विमानके मुखकेन्द्रकी कीली (बटन) चलानेसे 'दिशाम्पति' नामक यन्त्रकी नलीमें रहनेवाली सुईद्वारा दूसरे विमानके आनेकी दिशा जानी जाती है ।

(३१) 'स्तब्धकरहस्यो नाम—विमानोत्तरपार्श्वस्थसन्धिमुखनालादपस्मारधूमं संग्राह्य स्तम्भनयन्त्रद्वारा तद्धूमप्रसारणात् परविमानस्थसर्वजनानां स्तब्धीकरणरहस्यम् ।'

स्तब्धक नामके इकतीसवें रहस्यके अनुसार विमानकी बायीं बगलमें रहनेवाली सन्धिमुख नामकी नलीके द्वारा अपस्मारनामक (किसी विशेष छेदसे निकलनेवाले) धूएँको इकट्ठा करके स्तम्भनयन्त्रद्वारा दूसरे विमानपर फेंकनेसे उस दूसरे विमानमें रहनेवाले सब व्यक्ति स्तब्ध (बेहोश) हो जाते हैं

(३२) 'कर्षणरहस्यो नाम—स्वविमानसंहारार्थं परविमानपरम्परागमने विमानाभिमुखस्यवैश्वानरनालान्तर्गतज्वालिनीप्रज्वालनं कृत्वा सप्ताशीतिलिङ्कप्रमाणोष्णं यथा भवेत् तथा चक्रद्वयकीलीचालनात् शत्रुविमानोपरि वर्तुलाकारेण तच्छक्तिप्रसारणद्वारा शत्रुविमाननाशनक्रियारहस्यम् ।'

अर्थात् कर्षण नामक बत्तीसवाँ रहस्य है । उससे अपने विमानका नाश करनेके लिये शत्रुविमानोंके आनेपर विमानके मुखमें रहनेवाली वैश्वानर नामकी नलीमें ज्वालिनी (किसी गैसका नाम) को जलाकर सत्तासी लिङ्क प्रमाण (लिङ्क डिग्रीकी तरह किसी मापका नाम है) गर्मी हो, उतना दोनों चक्रोंकी कीली (बटन) चलाकर शत्रु-विमानोंपर गोलाकारसे उस शक्तिको फैलानेसे शत्रुके विमान नष्ट हो जाते हैं ।

इस वैमानिक प्रकरणमें कहे गये ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंके नामसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वज विमानशास्त्रमें अत्यन्त निपुण थे । इसके रहस्योंको देखनेसे यह पता लगता है कि आजकलके वैज्ञानिक विमानद्वारा जिन-जिन कलाओंका उपयोग करते हैं, वे सभी कलाएँ तो उन लोगोंके पास थीं ही, बल्कि जिन कलाओंकी खोजमें आज आधुनिक वैज्ञानिक व्यस्त हैं या जिनकी कल्पना भी अभी वे नहीं कर पाये हैं, उनको भी हमारे पूर्वज जानते थे । नवें रहस्यसे यह पता लगता है कि दूरबीनकी तरह कोई दूरदर्शक यन्त्र उनके पास था । पचीसवें रहस्यसे यह सिद्ध होता है कि 'वायरलेस', रेडियो भी उनके पास था । अट्ठाईसवाँ रहस्य बतलाता है कि आजकलके वैज्ञानिकोंकी तरह दूरसे ही शत्रुविमानका पता लगा लेनेकी कला भी उनके पास थी । बत्तीसवें रहस्यसे यह स्पष्ट है कि जैसे ये लोग गैस, बम आदिद्वारा शत्रु-संहार करते हैं, वैसे ही वे लोग भी ऐसे शस्त्रास्त्रोंका उपयोग करते थे । छब्बीसवें रहस्यसे मालूम होता है कि आजके वैज्ञानिकोंने टेलीफोनपर बात करनेवालेकी आकृति दिखा देनेवाले 'टेलीवीजन' नामक जिस यन्त्रका आविष्कार किया है, वह इससे अधिक चमत्कारिक रूपमें हमारे पूर्वजोंके पास था । इसमें जो विमानोंको अदृश्य करनेवाला पाँचवाँ रहस्य है तथा उसके सदृश अन्य कई रहस्य हैं जो कि विस्तारभयसे यहाँ उद्धृत नहीं किये गये हैं, उन सबके विषयमें आजके वैज्ञानिक हमारी समझमें अभीतक सोच भी नहीं सके हैं । 'सिद्धान्त'
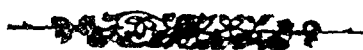
भारतके प्राचीन सिक्कोंकी धार्मिक भावना

(लेखक—श्रीवासुदेवजी उपाध्याय एम्० ए०)

यद्यपि भारतका प्राचीन साहित्य ज्ञान-राशिसे भरा है, तथापि वास्तविक ऐतिहासिक ग्रन्थोंका हमारे यहाँ अभाव-सा ही है। आधुनिक कालमें भारतका सभी प्राचीन साहित्य क्रमबद्धरूपमें उपलब्ध नहीं होता, तो भी भारतवासियोंके इतिहासकी अभिरुचि-का प्रमाण उनमें मिलता है। भारतीय साहित्य तथा पुरातत्त्वकी सामग्रियोंके सहारे सम्पूर्ण इतिहास तैयार किया जा रहा है। उन प्राचीन बिखरी सामग्रियोंको एकत्रकर इतिहासका रूप देनेमें विद्वान् लगे हुए हैं। पुरातत्त्व-विषयक सामग्रियोंकी अमूल्य उपयोगिताको सभी मानने लगे हैं। पुरातत्त्वने भारत-के जातीय इतिहासको तैयार करनेमें आशातीत सहायता की है। इसके कई विभाग हैं, जिनमें सिक्कोंको विशेष स्थान दिया गया है। जहाँपर लेख आदि पीछे रह जाते हैं, सिक्के उस विषयको स्पष्ट कर देते हैं। अतएव प्राचीन सिक्कोंके अध्ययनसे आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक विषयोंकी जानकारीके अतिरिक्त प्राचीन समयकी धार्मिक भावनापर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भारतीय इतिहासमें ऐसे काल-विभाग आते हैं, जिनका सम्पूर्ण ज्ञान सिक्कोंके बलपर ही उपलब्ध होता है। इसीके अध्ययनसे प्रजातन्त्र (गण)-शैलीके शासनका पता लगता है। उनपर लिखित तिथियोंसे राजाओंके राज्यकालका विवरण तैयार किया गया है। मुद्राओंके आधारपर उस वंशमें नये शासकोंके नामों-का पता लगता है। इन बातोंके अतिरिक्त प्राचीन धर्मका ज्ञान भी तत्कालीन सिक्कोंसे किया जाता है। उनका अध्ययन यह बतलाता है कि किस भूभागमें कौन-सा धर्म प्रधान समझा जाता था। इस स्थानपर यह कहना अत्यन्त आवश्यक है कि सिक्कोंपर उत्कीर्ण लेखोंमें किसी विशेष घटनाका उल्लेख नहीं मिलता, परंतु उनपर खुदे चिह्नोंके आधारपर धर्मकी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। अतएव सिक्कोंपर चिह्नोंके सहारे यहाँ प्राचीन भारतमें प्रचलित धार्मिक भावनाकी चर्चा की जायगी। चिह्नों-का कितना बड़ा इतिहासमें स्थान है, इस विषयपर विवेचन करना अप्रासङ्गिक होगा; परंतु इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्राग्-ऐतिहासिक कालसे भारतमें प्रचलित चिह्न तत्कालीन धार्मिक भावनाके द्योतक हैं। मोहन-जो-दड़ोसे लेकर बारहवीं सदीतकके विभिन्न चिह्न पाँच हजार वर्षोंके धार्मिक इतिहासको बतलाते हैं।

भारतवर्षमें (उपलब्ध) सबसे प्राचीन सिक्के कार्षापण (आहत सिक्के) के नामसे पुकारे जाते हैं, जिनके अध्ययनसे यह कहना कठिन है कि उनपर खुदे चिह्न वास्तवमें क्या बतलाते हैं; तो भी लोगोंकी धार्मिक विचारधाराका अनुमान किया जाता है। वृक्ष, वृषभ तथा चक्र आदि प्राचीन कालसे प्रयोग होते रहे हैं। वृषभका चिह्न तो मोहन-जो-दड़ोकी मुद्राओंपर भी मिलता है। इसका सम्बन्ध शैवमतसे अवश्य ही था। पञ्चमार्क (आहत) सिक्कोंपर पीपलका वृक्ष पाया जाता है। शिवके वाहन नन्दीको भी वहीं स्थान दिया गया है। ईसापूर्व सदियोंमें उत्तर-पश्चिमी भारतमें ऐसे सिक्के मिले हैं, जिनपर नन्दी तथा त्रिशूलकी आकृतियाँ पायी जाती हैं। यद्यपि पश्चिमी विद्वानोंने इन प्रतीकोंको महत्त्व नहीं दिया था, तथापि भाण्डारकर महोदयने सप्रमाण सिद्ध कर दिया कि शैवमतके प्रचारके समझनेमें उन सिक्कोंसे वास्तविक सहायता मिलती है।

नन्दीका प्रधान चिह्न

प्राचीन गणराज्यों—यौधेय, आर्जुनायन, औदुम्बर, कुणिन्द तथा मालवने जो सिक्के प्रचलित किये थे, उन सबपर नन्दीका चिह्न मिलता है। आजकल भी मन्दिरोंपर त्रिशूल तथा नन्दीसे शिवमन्दिरका बोध हो जाता है, उसी प्रकार पुराने समयमें नन्दीसे शैवमतके प्रचारका ज्ञान किया जाता था। गणके अतिरिक्त अयोध्या, अवन्ति, कौशाम्बी जनपदोंने भी शिवमें अपना विश्वास घोषित किया और सिक्कोंपर नन्दीको स्थान दिया था। पाञ्चाल (वर्तमान रामनगरका भूभाग)-सिक्कोंपर तो शिवलिङ्गकी आकृति पायी जाती है। उत्तर-पश्चिमी भारत-में इसका प्रचार इतना हो गया था कि विदेशी भी इस मतसे अछूते न रह पाये। भारतीय यूनानी राजाओंने नन्दीको अपनाकर उस प्रभावको दर्शाया है। उनमेंसे अचलदत्तस तथा मिलिन्दके सिक्कोंपर नन्दीकी आकृति मिलती है। उस भूभागपर ईसापूर्वसे ही कई शताब्दियोंतक शैवमतका प्रचार रहा। विदेशी आक्रमणकारी यहाँ आनेपर इस धर्मसे प्रभावित होते रहे। पहली सदी ईसा-पूर्वमें शकराजा मोअने गान्धारपर शासन किया था। तक्षशिला उसकी राजधानीके रूपमें रही। उसके सिक्कोंपर भी नन्दी प्रधान स्थान पा चुका था। मोअ (Maues) के उत्तराधिकारी अयस (Azes) ने उसी मतका अनुसरण किया। ईसवी सन्‌से प्रचलित कुषाण राजाओंके

सिक्के बतलाते हैं कि शैवमत राजधर्मका रूप धारण कर चुका था। महाराज वीम कदफिसके सिक्कोंपर भगवान् शिवकी मूर्ति तथा उनके वाहन नन्दीकी आकृति तैयार की गयी थी। उसके लेखमें 'महाराज राजाधिराज सर्वलोक ईश्वरस्य महीश्वरस्य वीम कदफीसस' लिखा मिला है। राजाकी पदवी 'महीश्वरस्य'से पता लगता है कि राजा शैव-मतावलम्बी हो गया था। इसमें सन्देहका स्थान नहीं रह जाता कि गान्धारमें शताब्दियोंसे शैव-मतका प्रचार था। वहाँ प्रचलित मुद्राचिह्न इसे स्पष्टतया घोषित करते हैं। कनिष्क बौद्ध होनेपर भी हिंदू-धर्मकी प्रतिष्ठा करता था। यही कारण है कि उसके सिक्कोंपर अन्य देवोंके साथ-साथ ओइशो (महेश) का भी नाम खोदा जाता रहा। हुविष्कने भी वही नीति रक्खी। बौद्ध-धर्मके प्रचारसे शैवमत-की हानि न हो सकी। शकराजा वासुदेवने शिवको सबसे मुख्य देवता मानकर शिवमूर्तिको ही सिक्कोंपर खुदवाया था। शिवके साथ नन्दी तथा त्रिशूलकी भी आकृतियाँ मिली हैं। पिछले कुषाण तथा ससेनियन राजाओंने उसी चिह्नको अपनाया; परंतु वह कलाकी दृष्टिसे घटकर है, यद्यपि उनपर खुदे लेख ओइशो (महेश) से सभी भ्रम दूर हो जाता है और शकराजा शैवमतसे प्रभावित सिद्ध होते हैं।

शैवमत तथा चिह्न

प्राचीन समयमें प्रचलित सिक्कोंके आधारपर यह पता लगता है कि राजपूताना, मालवा तथा सौराष्ट्रमें शैवमतका प्रचार था। द्वितीय शताब्दीसे ग्वालियरके समीप नागवंशी राजा शासन करते रहे, जिनके सिक्के तथा लेख बतलाते हैं कि शासक शिवका अनन्य भक्त था। नाग-सिक्कोंपर नन्दीकी आकृति तो मिलती ही है; परंतु उस वंशके राजा तो सिरपर शिव-लिङ्ग वहन करते रहे हैं। यही कारण है कि उनको भारशिवके नामसे पुकारा जाता था। तत्कालीन ऐसी मूर्तियाँ भी मिली हैं, जो लेखोंमें उल्लिखित बातोंकी पुष्टि करती हैं। उस भूभागमें शैवमतका प्रचार शताब्दियोंतक रहा, जिस कारण उस कालमें सभी शासकोंने उसे ग्रहण किया था। हूण, मैत्रक तथा मध्यकालीन हिंदू राजाओंने जो सिक्के तैयार किये, उनपर शैव-चिह्नको स्थान दिया था। गुप्तकालीन सिक्कोंके विवरणको छोड़कर जब हूण-मुद्राका अध्ययन किया जाता है, तब पता लगता है कि पाँचवी सदीसे पूर्वी पंजाब तथा मध्यभारतमें शैव-चिह्नयुक्त सिक्के प्रचलित थे। यद्यपि हूण राजा मिहिरकुल कई बातोंमें भारतीय संस्कृतिका विरोधी था, फिर भी उसने अपने सिक्कोंपर नन्दीकी मूर्ति खुदवायी थी और 'जयतु वृष' लेख उत्कीर्ण कराया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस प्रदेशमें विदेशी हूणको भी शैवमत अपनाना पड़ा और भारतीय समाजमें मिल जाना पड़ा। सौराष्ट्रके शासक वलभी-नरेशोंने उसी प्राचीन चिह्नसे काम लिया और त्रिशूलको सिक्कोंपर खुदवाकर शिवपूजामें अपनी आस्था प्रकट की। पूर्व मध्यकालके राजपूत राजा छोटी रियासतोंके शासक होकर भी सिक्के तैयार करते रहे। उनके सिक्कोंपर नन्दीकी आकृति मिलती है, जिससे राजपूतानेमें शैवमतके प्रचारका पता लगता है। इससे यह कहना कठिन है कि उन राजाओंने शैवमतको राजधर्मका पद दिया था या नहीं। परंतु इतना तो स्पष्ट है कि पश्चिमी भारतमें जनता शिवभक्त थी। टकसालघरोंमें शताब्दियोंसे नन्दीका चिह्न-प्रयोग किया जाता रहा, जो उपर्युक्त कथनको प्रमाणित करता है। यह भी सत्य हो सकता है कि राजपूतनरेशोंके सम्मुख शैवमतके अतिरिक्त कोई दूसरा धर्म न था। जनताकी विचारधाराको ग्रहणकर स्वभावतः उन्हें शैवचिह्नोंका आदर करना पड़ा। तोमर, चौहान तथा नरवर रियासतोंकी भी यही हालत रही। साहित्यिक ग्रन्थ भी इस बातको प्रमाणित करते हैं कि कापालिक तथा पाशुपत नामक शैव-पन्थ राजपूतानेमें फैले रहे। अतएव साहित्य तथा मुद्राशास्त्रके पारस्परिक पुष्टीकरणसे सब बातें प्रकाशित हो जाती हैं और सन्देहको स्थान नहीं रह जाता। इसी प्रसङ्गमें एक बात कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि पश्चिमी भारतके अतिरिक्त बंगालमें भी कुछ समयतक शैवमतका विस्तार हो गया था। गौडाधिपति शशाङ्कके सिक्कोंका अध्ययन यह बतलाता है कि उस राजाने शिवभक्त होनेके कारण भगवान् शिवकी मूर्ति तथा वाहन नन्दीकी आकृति स्वर्णमुद्रापर तैयार करायी थी। परंतु बंगालमें यह अवस्था थोड़े समयके लिये थी। काश्मीरसे लेकर सौराष्ट्रमें प्रचलित सिक्कोंके आधारपर यह सिद्ध हो जाता है कि उस भागमें शैवमत शताब्दियोंतक प्रधान धर्म बना रहा।

सिक्कोंमें वैष्णव-परम्परा

भारतवर्षके इतिहासमें गुप्तकाल स्वर्ग-युगके नामसे विख्यात है। उस समय देशका वैभव तथा समृद्धि चरम सीमाको पहुँच गयी थी। गुप्त शासकोंने वैष्णवधर्मको राज-धर्मका स्थान दिया था और स्वयं परम भागवतकी पदवीसे विभूषित किये गये थे। उनके लेखोंको छोड़कर गुप्त सिक्के वास्तविक स्थितिको स्पष्टतया समझा देते हैं। गुप्त राजाओंने सर्वप्रथम गरुड़ध्वजको सिक्कोंपर स्थान दिया और विष्णुकी

आर्या लक्ष्मीकी मूर्तिको प्रमुख स्थानपर खुदवाया था। सोनेके सिक्कोंपर तो विष्णुके वाहन गरुड़ तथा लक्ष्मीकी आकृतियोंसे राजाओंने सन्तोष किया; परंतु चाँदीके सिक्कोंपर 'परम-भागवत' की पदवी भी अङ्कित करायी थी। इन सब बातोंके विवेचनसे शासकोंके विचार तथा प्रचलित धर्मका अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि राजाओंमें धार्मिक सहिष्णुता थी, फिर भी वैष्णवमतकी प्रधानताके विषयमें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। सोनेके सिक्कोंपर आकृतियाँ तथा चिह्न उस समयके वैष्णवमतके प्रचारका ज्ञान कराते हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं कुछ राजाओंकी मूर्तियोंके हाथमें चक्रध्वज भी दिखलायी पड़ता है। भरतपुर राज्यके बयाना-ढेरसे जो सिक्के अभी मिले हैं, इनमें चक्र-विक्रमका सिक्का विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। उसके अग्रभागमें प्रभामण्डलयुक्त भगवान् विष्णुकी आकृति बनी है, जो गुप्त राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यको तीनों लोक भेंट कर रही है। पृष्ठभागमें चक्रविक्रमका लेख खुदा है। इस प्रकार सिक्कोंके अध्ययनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि गुप्तनरेश परम वैष्णव थे और साम्राज्यमें वैष्णव-मतका खूब प्रचार था। पिछले गुप्त-नरेशोंने पूर्वजोंका अनुकरण किया, जिसके कारण वैष्णवमत शताब्दियोंतक (चौथी सदीसे १२ वीं सदीतक) प्रचलित रहा। इसका प्रचार मध्यभारत, संयुक्तप्रान्त तथा बिहारमें तो भलीभाँति रहा। पूर्वमध्यकालके गहरवार, चन्देल तथा कलचूरी शासकोंने १२वीं सदीतक उस परम्पराको कायम रक्खा और उनके टकसालघरोंमें वैष्णवचिह्नके साथ सोनेके सिक्के बनते रहे। इन आठ सौ वर्षोंमें सिक्कोंके पृष्ठभागमें लक्ष्मीकी मूर्ति सदा स्थान पाती रही। उस समृद्धिकालमें विभिन्न प्रकारके सिक्के तैयार किये गये थे; परंतु सबपर वैष्णवचिह्न वर्तमान हैं। इस कारणसे जनतामें विष्णुपूजाके गहरे प्रभावका आभास मिलता है। सभी पहलुओंपर विचार करनेसे प्रकट होता है कि भारतवर्षके बिचले भागमें वैष्णवमतका प्रचार सीमित रहा। नन्दीका जो स्थान पश्चिम भारतके सिक्कोंपर था, वही स्थान गरुड़ तथा लक्ष्मीको मिल चुका था। उत्तर भारतके अतिरिक्त दक्षिण भारतके सिक्कोंपर भी स्थानीय प्रभाव दिखलायी पड़ता है; परंतु उनके अध्ययनसे किसी प्रकारका सिद्धान्त स्थिर नहीं कर सकते। सातवाहन-सिक्के जिस प्रान्तमें बनते रहे, उस स्थानके प्रचलित ढंगको उन्होंने अपनाया। चोल तथा पाण्ड्य सिक्कोंके विषयमें भी यही बात कही जा सकती है। अन्तमें यह कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि सिक्कोंके अध्ययनने भारतके धार्मिक इतिहासमें नया मार्ग उपस्थित कर दिया है। विद्वानोंका ध्यान इस ओर पूर्णरूपसे आकृष्ट नहीं हो सका है; परंतु भारतीय समाजके इतिहास-निर्माणमें मुद्राशास्त्रसे पर्याप्त सहायता मिलती है। जहाँतक धार्मिक इतिहासका सम्बन्ध है, प्राचीन सिक्कोंकी धार्मिक भावना उसे समझनेमें सहायता देती है। उसके बिना उन मतोंका अध्ययन अधूरा रह जायगा।

जगत्‌में धन्य कौन है ?

जो अपना समय भगवत्-तत्त्वके चिन्तन और कीर्तनमें बिताता है, जो दम्भवाद तथा विवादसे सदा दूर रहता है और जो सबके आदि ब्रह्मका आत्मसुख-संवाद करता है, ऐसा सर्वोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका दास इस जगत्‌में धन्य है।

जो अखिल विश्वमें सदा-सर्वदा सरल, प्रिय, सत्यवादी और विवेकसम्पन्न है, तथा जो कभी भी मिथ्या भाषण नहीं करता, वह सर्वोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका भक्त इस जगत्‌में धन्य है।

जिसके मनमें दुष्ट आशा तथा विषयकी आशा नहीं होती, जिसके अन्तःकरणमें भगवत्-प्रेमकी पिपासा लगी है और भगवान् भक्तिभावके कारण जिसके ऋणी हैं, ऐसा सर्वोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका दास इस जगत्‌में धन्य है।

—समर्थ रामदास स्वामी

हिंदू-संस्कृति और कालज्ञान

(लेखक—श्री[illegible] निरञ्जन)

> कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
> भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।
> (श्वेताश्वतर० १ । २)

संस्कृतिके मूलकारणोंका निर्देश करते हुए श्रुतिने कालको सबसे पहले लिया है । वस्तुतः बुद्धि कालकी ही एक कला है, अतएव वह कालकी सीमामें बहुत ही सीमित होकर चिन्तन करती है । कालातीतका चिन्तन या कल्पना करना बुद्धिकी सीमाके परेकी वस्तु है । कालके उत्पादक हैं महाकाल शिव । अतएव काल-ज्ञान अथवा काल-विद्याके आदि गुरु भी महाकाल शिव ही हैं । महाकालसे अनादि-अनन्त-स्वरूप काल अभिव्यक्त होकर अपनी कलासे अनन्त-अनन्त प्रकृति-वैचित्र्यका उत्पादक होता है ।

हम जिस जगत्‌में रहते हैं, उसका नियामक काल सूर्यरूपसे अपनी कलाका विस्तार करता है । ग्रह-उपग्रहोंकी सृष्टि करके उनमें नाना प्रकारके प्राणधारियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकी लीला-रचनामें रत हुआ वह अतिशय प्रकाशमान हो रहा है । प्रजाको उत्पन्नकर उसके कर्मोंका वही द्रष्टा है और वही उन कर्मोंके परिपाकका हेतु है ।

कालकी कृतिको देखकर सभी हैरान हैं । अच्छे-बुरे जीवनका निर्माण करता हुआ काल-ही-काल लीला कर रहा है । काल ही मृत्यु है, यम है; वही ब्रह्मा है, विष्णु है और महेश्वर है । वही लोक है, परलोक है, सत्य है, असत्य है, शून्य है, अशून्य है—सब कुछ है । सत् और असत् कालरूप पक्षीके दो डैने हैं, वह अनन्त शून्यरूप हो रहा है । जो साधक उस शून्यमें विलीन होनेकी चेष्टा करते हैं, उन्हें निर्वाण प्राप्त होता है, वे परम शान्तिके साम्राज्यमें प्रवेश करते हैं । कालकी महिमा अनन्त है, अगम-अगोचर है—उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ।

कालको दैव भी कहते हैं । लोकमें कालके लक्षणोंके ज्ञाता दैवज्ञ कहलाते हैं । क्योंकि कालका विधायक सूर्य ज्योतिर्मय है, अतएव कालविद्याको ज्योतिर्विज्ञान या ज्योतिःशास्त्र भी कहते हैं और इसके ज्ञाता ज्योतिषी या ज्यौतिषी कहलाते हैं । ज्योतिर्विज्ञानमें ज्योतिर्मय लोकोंके प्रकाशमें अन्धकारमय आकाशमें होनेवाले कर्मोंके स्वरूप और उनके फलाफलका विवेचन होता है । इस प्रकार कालविज्ञानका क्षेत्र अन्य विज्ञानोंकी अपेक्षा बहुत ही श्रेष्ठ है और यह मानवी दृष्टिको दैवीदृष्टिमें परिणतकर मनुष्यको भौतिक कार्य-कलापमें प्रेरणा प्रदान करनेवाली दिव्य ज्योतिर्मय शक्तियोंकी गतिविधिकी आलोचना करनेका मार्ग प्रशस्त करता है ।

अन्य विविध विज्ञान बुद्धिके विलासमात्र हैं । बुद्धि कालकी कला होनेके कारण कालगत पूर्वापर-सम्बन्धपर ही अवलम्बित होकर कार्य करती है । कालगत पूर्वापर सम्बन्ध ही कार्य-कारणकी भावनाका उत्पादक या स्वरूप है । और यही समस्त विज्ञान और दर्शनका हेतु है । यही क्यों, सारी विद्याएँ, सारी गवेषणाएँ और सब प्रकारकी खोजमें कार्य-कारण-सम्बन्ध ही प्रबल और प्रथम हेतु होता है । बुद्धि-वृत्ति भी कार्य-कारणमय ही होती है, अतएव कालकी एक कलामें ही सारी ज्ञान-लीलाएँ होती रहती हैं । इसलिये कालविज्ञान यदि मनुष्यकी राष्ट्र अथवा विश्वकी विद्या-बुद्धि, धर्म-अधर्म, उत्थान-पतन, सुख-दुःख आदिका निर्देश ज्योतिर्लोक—ग्रह-उपग्रहादिके प्रकाशके अनुसार करता है तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं । सच्चा दैवज्ञ इस जगत्‌के क्रिया-कलापको नियन्त्रित अथवा प्रेरित करनेवाले ग्रहोंकी स्थिति, गति, दृष्टि और सम्बन्धके आधारपर भूत, वर्तमान और भविष्यकी घटनाओंको हस्तामलकवत् देख सकता है । परंतु कालका द्रष्टा होनेके लिये कालातीत स्थितिमें रहना अर्थात् आत्मस्थ होना परम आवश्यक है । प्रपञ्चमें निरन्तर रत रहनेवाला पुरुष दैवज्ञ कहलाये, यह भी एक विडम्बना है । ज्योतिर्विद्‌के लिये अध्यात्मसाधन करना परम आवश्यक है; जो दैवज्ञ इस मार्गमें जितना ही अधिक अग्रसर होगा, कालकी कलाओंकी लीला, ज्योतिर्लोकके विभिन्न प्रकाश और उनका पारस्परिक मिश्रण तथा प्रभाव-प्रपञ्च उतना ही अधिक स्पष्टरूपसे उसके सामने दीखने लगेंगे । साधनाविहीन केवल कपट-कलेवर धारण किया हुआ पुरुष साधु नहीं कहला सकता, उसी प्रकार दैवज्ञका बाना धारणकर प्रपञ्चके अन्धकारमें भटकनेवाले पुरुषको ज्योतिर्लोकका दर्शन नहीं हो सकता । साथ ही ऐसे लोगोंको देखकर साधुत्व या कालज्ञानकी सत्यताके विषयमें सन्देह करना भी बुद्धिमानी नहीं है ।

ज्योतिर्विज्ञान महामायाकी लीलाके आधारभूत संकेतोंका अध्ययन करता है । काल अपने साथ अनादि और अनन्तकी

प्रत्यक्ष भावना लेकर महाकाल शङ्करकी ओर संकेत करता है। काल कराल रूप धारणकर मृत्युके रूपमें प्रकट होता है; कालको भी ग्रास करनेवाला महाकाल है, अतएव वह महामृत्यु भी कहलाता है। वह भगवत्-स्वरूप ही है। कालाधीन होना बन्धन है, दुःखका मूल है। महाकालाधीन होना मुक्ति है, अमरत्व है; अतएव ज्योतिर्विज्ञान मर्त्यजीवनके मूलभूत सिद्धान्तोंका ही अध्ययन करता है, अमरत्वके सिद्धान्तोंका नहीं। इसका समावेश अपरा विद्यामें होता है, परामें नहीं।

भारतीय चिन्तनका प्रवाह मुख्यतः दो ही धाराओंमें विभक्त होता है—परा विद्याकी धारा और अपरा विद्याकी धारा। परा विद्याका विषय है अक्षर ब्रह्म और अपरा विद्याका क्षर ब्रह्म अर्थात् नाशवान् जगत्। श्रुतिमें इन दोनों विद्याओं-की राशि सञ्चित है और वैदिक संस्कृतिमें इन दोनोंको समन्वितकर जगत्-जीवनको सौम्य बनानेकी चेष्टा की गयी है। ज्योतिविज्ञान अपरा विद्याका एक अंश है।

कालकी शक्ति है कालिका। कालिका-ज्ञान विषय है तन्त्र-विद्याका। अतएव कालविज्ञानका तन्त्रविद्याके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। शक्तिका एक उपासक अपनी इस स्तुतिमें इस रहस्यका उद्घाटन करता है—

> दधानो भास्वत्तामसृतनिलयो लोहितवपु-
> र्विनम्राणां सौम्यो गुरुरपि कवित्वं च कलयन्।
> गतौ मन्दो गङ्गाधरमहिषि कामाक्षि भजतां
> तमःकेतुर्मातस्तव चरणपद्मो विजयते॥

"हे शङ्करवल्लभे! कामाक्षि! तुम्हारे चरणकमल विजयको प्राप्त हो रहे हैं। भास्वत्ता (भास्वान् सूर्य) को धारणकर ये अमृतके निलय (चन्द्र), लोहितरूप (मङ्गल), उपासकोंके लिये सौम्य (बुध)-स्वरूप, गुरु (बृहस्पति) अर्थात् गौरव-युक्त होनेपर भी कवि-(शुक्र) की कलना करते हुए, मन्द (शनि) गतिमें युक्त तथा भजन करनेवालोंके तम (राहु) अर्थात् मोहान्धकारको नाश करनेवाले (केतु) हैं।'

वस्तुतः शक्तिके बिना रवि-चन्द्र आदि ग्रह-उपग्रहोंका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। अतएव शक्तिका उपासक इनको शक्तिका अङ्गभूत ही देखता और जानता है। ज्योतिर्विज्ञानका विद्यार्थी यदि शक्तिका उपासक और तान्त्रिक है तो वह इसके फलाफलके ज्ञानका अधिकारी हो सकता है। तान्त्रिक साधनामें परा और अपराके एकीकरणकी चेष्टा की जाती है, इसलिये साधकको कालाधीन रहते हुए भी कालातीत होना पड़ता है। अतएव तान्त्रिकको ज्योतिलोकोंका दर्शन दिव्य दृष्टिसे होता है, वह दिव्यता साधनाके बलसे अथवा शक्तिकी कृपासे इन चर्मचक्षुओंमें ही प्राप्त होती है। भारतीय ज्योतिर्विज्ञानका आधार दूरबीन नहीं, दिव्यचक्षु है।

योगदर्शनमें आता है—'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्', 'चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्', 'ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।'* अर्थात् सूर्यमें संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) का अभ्यासी दिव्य-दृष्टिसे चतुर्दश भुवनोंको देखता है, चन्द्रमें संयम करनेसे तारा-व्यूहका ज्ञान होता है, ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका ज्ञान होता है। महर्षि पतञ्जलिने इस प्रकार योगसाधनके द्वारा दिव्य-दृष्टि प्राप्तकर ज्योतिर्विज्ञानके अध्ययनका जो मार्ग प्रशस्त किया है, उसके द्वारा प्राप्त ज्ञान निर्भ्रान्त ज्ञान है। वह प्रत्यक्ष प्रमाणके आधारपर प्राप्त होता है और वह प्रत्यक्ष भी यौगिक प्रत्यक्ष है। लौकिक प्रत्यक्षमें भ्रान्ति हो सकती है, परंतु यौगिक प्रत्यक्ष तत्त्वदर्शी होनेके कारण सदा भ्रान्ति-शून्य होता है। आधुनिक दूरवीक्षण-यन्त्रोंके द्वारा प्राप्त ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष और अनुमानके आधारपर होनेके कारण अनाप्त (Hypothetical) होता है। अतएव इसमें भ्रान्ति होती है और अगले अन्वेषण अपने पूर्वके अन्वेषणोंके लिये बाधक होते जाते हैं। इस प्रकारके संशयग्रस्त और अनिश्चित ज्ञान योगज दृष्टिके द्वारा प्राप्त आर्षज्ञानके सम्मुख प्रमाणकोटिमें नहीं रक्खे जा सकते। अतएव भारतीय ज्योतिर्विज्ञानकी महिमा निर्विवाद सिद्ध होती है।

यौगिक संयमसे केवल आकाशीय ग्रहोंका (Astronomical) ज्ञान ही नहीं होता, बल्कि तद्द्वारा होनेवाले जीवन-जगत्के शुभाशुभ कर्मफलोंका (Astrological) ज्ञान भी होता है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।

(विभूतिपाद २५)

ज्योतिष्मती प्रवृत्तिके आलोकमें संयम करनेसे योगीको सूक्ष्म, व्यवहित और दूरकी वस्तुओंका ज्ञान होता है। अर्थात् योगीकी दृष्टिको देश और कालका व्यवधान बाधक नहीं हो सकता। उसे हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष त्रिकालज्ञान होता है। यही नहीं, कालका एक क्षुद्र अंश है क्षण। क्षण और उसके क्रममें संयम करनेसे विवेकजन्य ज्ञान होता है, अर्थात् सत्-असत् आदिका योगी प्रत्यक्ष द्रष्टा हो जाता है। कालकी यह भी एक महिमा है। अतएव काल-ज्ञान लोक और परलोक दोनोंको प्रत्यक्ष करानेवाला होता है।

* योगसूत्र, विभूतिपाद २६-२७-२८।

आयुर्दाय, दशाभेद, अन्तर्दशादि, अरिष्ट, कर्मजीव, राजयोग, नाभसयोग, चन्द्रयोग, द्विग्रहादियोग, प्रव्रज्यायोग, राशिशील, दृष्टि, ग्रहभावफल, आश्रम और सङ्कीर्णयोग, स्त्रीजातक, नष्टजातक, निर्याण तथा द्रेष्काणादि फलोंका विचार—इन सब होरास्कन्धके विषयोंका वर्णन होता है। होरास्कन्धका दूसरा नाम है जातक अथवा यों कहें कि होरास्कन्धका प्रधान अङ्ग जातक है। 'जातक' शब्दके विषयमें शब्दकल्पद्रुम (जि० २, पृ० ५३० जादिवर्ग)में लिखा है—

जातं जन्म 'तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' इत्यण्, ततः स्वार्थे कन्। यद्वा जातेन शिशोर्जन्मना कायतीति। कै + कः। जातबालकस्य शुभाशुभनिर्णायकग्रन्थः।'

अर्थात् जन्मकालके आधारपर जो शुभाशुभ फल-निर्णय करनेवाला ग्रन्थ हो, उसको जातक कहते हैं; किंतु होरास्कन्धका जो अर्थ सारावली (२। २-४) मे कल्याणवर्माने लिखा है कि 'अहोरात्र' शब्दका संक्षिप्त रूप आदि-अन्तके वर्णोको त्याग देनेसे 'होरा' शब्द बना है; क्योंकि अहोरात्र—सावन दिनके द्वारा ही ग्रहोंके भगणादिकोंका स्पष्टीकरण होता है और उन्हीं ग्रहोंके द्वारा समस्त फलविचार होते हैं। अथवा लग्नका नाम होरा है तथा लग्नार्द्धका नाम होरा है, जिसके द्वारा समस्त जातकसम्बन्धी फलविचार होते हैं। इसी होरास्कन्धके द्वारा जन्म, वर्ष, प्रश्नादिके इष्टकालपर ग्रहभावादिका स्पष्टीकरण तथा दृष्टि, बल, दशा-अन्तर्दशादिकी गणना और फलोंका विचार होता है। अतएव इसको होरा, जातक तथा हायन (ताजक) भी कहते हैं।

ज्योतिर्विज्ञानकी परीक्षा

ज्योतिर्विज्ञानके उद्देश्य और लक्षणका वर्णन हो जानेपर अब उसकी परीक्षा होनी चाहिये। उद्देश्यके अनुसार हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका लक्षण मिलता है अथवा नहीं, यही विचारणीय विषय है। ज्वलतिकर्मा 'द्युति' धातुसे 'द्युतेरिसिन्नादेश्च जः' इस पाणिनिके उणादिसूत्रद्वारा जकारादेश होकर 'ज्योतिः' शब्द बनता है, जिसका अर्थ स्वयंप्रकाश ग्रहनक्षत्रादि माना गया है। उन्हीं सूर्यादि ग्रहों और अश्विन्यादि नक्षत्रोंके गणित तथा फलितका वर्णन जिस शास्त्रमे हो, उसको 'अधिकृत्यकृतो ग्रन्थः' (पा० ४। ३। ८७) इस सूत्रद्वारा 'अण्' प्रत्यय हो जानेसे 'ज्यौतिष' शास्त्र कहते है, जो हिंदू ज्योतिर्विज्ञानके अर्थमें योगरूढ माना गया है।

यद्यपि शास्त्रजन्य ज्ञानको ज्ञान और अनुभवजन्य ज्ञानको विज्ञान कहा गया है, अतएव मध्यकालीन ज्योतिषियोंमेसे कुछ लोगोंने 'प्रत्यक्षं ज्यौतिषं शास्त्रम्' की आड़में अपने स्वल्पकालीन अनुभव और चर्मचक्षुके बलपर दृग्गणित (सायन)-गणनाद्वारा अनादि, अव्यय वेदाङ्ग-ज्योतिर्विज्ञानमें मनमाने बीजादिसंस्कार देकर भ्रम उत्पन्न कर दिया है और मनमाने अयनांशकी कल्पना कर ली है, तथापि हमारे वेदचक्षुःस्वरूप ज्योतिर्विज्ञानकी निरयण कालगणना और ग्रहगणनाद्वारा पञ्चाङ्गपत्रकी रचना तथा उसीके आधारपर समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मोंका व्यवहार होता आ रहा है। वस्तुतः हमारे ज्योतिर्विज्ञानके 'विज्ञान' शब्दका अर्थ इस प्रकार है—

विज्ञानं निर्मलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं यदव्ययम्।
अज्ञानमितरत्सर्वम् .... ॥

(कूर्मपुराण २। ३१)

अर्थात् 'निर्मल, सूक्ष्म, निर्विकल्प और अव्यय (सदैव विकाररहित एकस्वरूप) जो ज्ञान है, वही विज्ञान है और इतर ज्ञान सब-के-सब अज्ञान हैं।' सारांश यह कि जिस प्रकार ईश्वरनिःश्वसित हमारे वेद अपरिवर्तनशील हैं, उसी प्रकार वेदभगवान्के चक्षुःस्वरूप ज्योतिर्विज्ञानका स्वरूप भी अपरिवर्तनशील, निर्मल, सूक्ष्म और अव्यय है। वृद्धवसिष्ठसिद्धान्त (मध्यमाधिकार श्लो० ८)में लिखा है—

वेदस्य चक्षुः किल शास्त्रमेतत्प्रधानताङ्गेषु ततोऽर्थजाता।
अङ्गैर्युतोऽन्यैः परिपूर्णमूर्तिश्चक्षुर्विहीनः पुरुषो न किञ्चित्॥

अर्थात् 'यह ज्योतिःशास्त्र वेदभगवान्का नेत्र है। अतएव उसकी स्वतः वेदाङ्गोंमें प्रधानता है; क्योंकि अन्यान्य अङ्गोंसे युक्त, परिपूर्णमूर्ति पुरुष नेत्रहीन (अन्धा) होनेसे कुछ नहीं है। आर्चज्यौतिष (३५) और याजुष ज्यौतिष (४) में लिखा है—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्यौतिषं (गणितं) मूर्धनि स्थितम्॥

अर्थात् 'जैसे मयूरोंकी शिखा और नागोंकी मणि शिरोभूषण है, वैसे ही (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिषरूप) वेदाङ्गशास्त्रोंमें ज्यौतिष शिरोभूषण है।'

सिद्धान्त, संहिता और होराके रूपमें जिस ज्योतिर्विज्ञानका इतना महत्त्व है, उसके विषयमें ऋग्वेदीय चरणव्यूहके परिशिष्टमे महर्षि शौनकने लिखा है—'चतुर्लक्षं तु ज्यौतिषम्' अर्थात् मूल ज्योतिर्विज्ञान चार लाख श्लोकोंमे है। नारदसंहिता, कश्यपसंहिता और पराशरसंहितामें ज्योतिर्विज्ञानके प्रवर्तकोंके जो नाम दिये हैं, उनमें मुख्यतः १८ हैं। यद्यपि पराशरसंहिताके पाठसे २० नाम हो जाते हैं, तथापि

विद्वानोंका मत है कि पाठाशुद्धिसे ही दो नाम बढ जाते हैं। सर्वसम्मत पाठके अनुसार वे १८ नाम इस प्रकार हैं—'ब्रह्मा, सूर्य, वसिष्ठ, अत्रि, मनु, सोम (पौलस्त्य), लोमश, मरीचि, अङ्गिरा, व्यास, नारद, शौनक, भृगु, च्यवन, यवन, गर्ग, कश्यप और पराशर।'

कुछ विद्वानोंने गर्गसंहिताके—

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक्शास्त्रमिदं स्थितम्।

—इस श्लोकको देखकर यवनाचार्यको यूनानी और लोमश=रोमशको रोमक तथा पौलस्त्य=पौलिसको सिकन्दरपौलिसकी कल्पना करके हमारे ज्योतिर्विज्ञानके प्रवर्तकोंमें विदेशियोंको प्रविष्ट करनेकी चेष्टा की है, जो सर्वथा भ्रम है। इस विषयमें विशेष जाननेके लिये अ० भा० हि० सा० सम्मेलन, प्रयागसे प्रकाशित सूर्य-सिद्धान्तकी हमारी टीकाकी भूमिकाके पृष्ठ १-४६ देखने चाहिये। वस्तुतः ये १८ ज्योतिर्विज्ञानके प्रवर्तक सब-के-सब भारतकी ही अमर विभूतियाँ हैं।

यद्यपि चतुर्लक्षात्मक इस ज्योतिर्विज्ञानके गणितमें सिद्धान्त, तन्त्र और करण तथा फलितमें संहिता—जिसके अन्तर्गत शकुन, सामुद्रिक, शालिहोत्र, स्वर, निधिविज्ञान, दैव और मुहूर्तादि शतशः विषय है—और होरास्कन्ध, जिसके अन्तर्गत जातक, हायन (ताजक) एवं प्रश्नादिके विषय हैं, तथापि इस ज्योतिर्विज्ञानके मुख्य दो ही भाग हैं—प्रथम गणित, दूसरा फलित। और दोनों भागोंका अस्तित्व वैदिक कालसे अबतक अविच्छिन्नरूपसे मिलता है। जो लोग फलित भागको आधुनिक कहते अथवा मानते हैं, वे इस बातको भूल जाते हैं कि फलित और गणितका वागर्थाविव सम्बन्ध है। यदि गणित वचन है तो फलित उसका अर्थ है और जिस प्रकार अर्थरहित शब्द व्यर्थ होता है—जिसका प्रयोग कभी बुधजन नहीं करते—उसी प्रकार फलितरहित गणित व्यर्थ होता है, जिसके लिये हमारे ब्रह्मादि ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तक जन सिद्धान्तादि-रचना करते—यह सम्भव नहीं।

अवश्य ही गणित और फलितकी इस प्रकारकी घनिष्ठता होनेपर भी ज्योतिर्विज्ञानका फलित भाग—चाहे वह होराका विषय हो और चाहे संहिताका विषय—परतन्त्र है, गणिताधीन है, बिना गणितके उसका विचार ही नहीं हो सकता; किंतु गणितभाग स्वतन्त्र है। अतएव ज्योतिर्विज्ञानकी परीक्षामें यदि हम गणितभागकी परीक्षा कर लें तो फलित भागकी परीक्षा स्वतः हो जायगी। अतएव हमको देखना है कि ज्योतिर्विज्ञानका जो उद्देश्य नारदसंहिता (१।७) और विष्णुपुराण (२।१७४ अन्तिम श्लो०) में लिखा है, उसकी सिद्धि ज्योतिःसिद्धान्तके वर्णित लक्षणोंसे हो जाती है अथवा नहीं। और हमारे ज्योतिःसिद्धान्तके विषय वेदाङ्गज्यौतिषके ही हैं अथवा किसी विदेशसे लाये गये हैं?

उपर्युक्त १८ प्राचीन आचार्योंके सिद्धान्तोंमेंसे जो सिद्धान्त इस समय प्राप्य हैं, उनमें सबसे अधिक मान्य 'सूर्यसिद्धान्त' है। वराहमिहिरकी पञ्चसिद्धान्तिका (शक ४२७)-में पाँच सिद्धान्तोंका उल्लेख और कुछके वर्णन भी हैं। उसमें वराहमिहिरने लिखा है—'स्पष्टतरः सावित्रः' (पं० सि० अ० १ श्लो० ४)। नृसिंहदैवज्ञने हिल्लाजदीपिकामें ६ सिद्धान्तोंके जो नाम दिये हैं, उनमें भी सूर्यसिद्धान्तका महत्त्व विशेष है। दैवज्ञ पुञ्जराजने अपने शम्भुहोराप्रकाशमें सात सिद्धान्तोंके जो नाम दिये हैं, उनमें भी सूर्यसिद्धान्तकी प्रधानता है और शाकल्यसंहिताके ब्रह्मसिद्धान्त (१।९) में 'अष्टधा निर्गतं शास्त्रम्' लिखा है और उन आठ सिद्धान्तोंमें भी सूर्यसिद्धान्तकी प्रधानता है। साराश यह कि इस समयतक सूर्यसिद्धान्तसे अधिक महत्त्वपूर्ण कोई दूसरा सिद्धान्त नहीं है। अतएव हम इस परीक्षामें सूर्यसिद्धान्तके आधारपर विचार करेंगे। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ही मूल सूर्यसिद्धान्त है, इसमें सन्देह नहीं और उसकी गणनाके सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) सहस्रयुगीय कल्पके आधारपर सूर्यादि ग्रहोंके भगण, उच्च, पातादिके भगणद्वारा मध्यम ग्रहगणना और उनका स्पष्टीकरण।

(२) कालबोधक वर्षगणना सौरचान्द्र, मासगणना सौरचान्द्र, तिथिगणना सौरचान्द्र, वारगणना सावन और घड़ी-पलादिकी गणना आर्क्षमानसे करके 'चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचान्द्रार्क्षसावनैः' चरितार्थ करना।

(३) पञ्चाङ्गकी गणनामें निरयण गणनाको मान्यता देते हुए ग्रहण, युति, क्रान्तिसाम्यादिकी गणनामें सायन (दृश्य) गणनाका प्रयोग।

(४) कल्पारम्भके पश्चात् ४७,४०० दिव्य (सौरमानके १,७०,६४,०००) वर्षसे अहर्गणकी गणना, जिसके आधारपर निरयण ग्रहगणना की जाती है। और निशीथकालसे अहर्गणका आरम्भकाल।

(५) नाक्षत्रिक चैत्रादि मासोंके नामकी यौगिकता और सूर्यादि वारोंका अहर्गण-गणनामें महत्त्व।

(६) 'अचलाचलत्व' के सिद्धान्तानुसार भूमिमें किसी प्रकारकी गति न मानकर सूर्यादि ग्रहोंका अपनी-अपनी गतिसे

पूर्वाभिमुखगमन और प्रवहवायुद्वारा भपञ्जरके दैनिक पश्चिमाभिमुखगमनकी मान्यता।

(७) सूर्यादि ग्रहोंकी गतियोंमें आकर्षणशक्तिकी मान्यता।

हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानके उद्देश्योंमें कालविधान और श्रौत-स्मार्त कर्मोंका साधन ही मुख्य हैं और ज्योतिर्विज्ञान—विशेषकर सिद्धान्तज्यौतिषके लक्षणोंके उपर्युक्त विवरणोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि हिंदू-ज्योतिर्विज्ञान उद्देश्यपूर्ति करनेमें पूर्ण समर्थ है, जिसके लिये निम्नलिखित प्रमाण हैं—

'पाङ्क्तो वै यज्ञः' इस श्रुतिवचनके अनुसार 'अग्निहोत्र', 'दर्शपौर्णमास', 'चातुर्मास्य', 'पशुबन्ध' और 'सोम' भेदसे पाँच प्रकारके यज्ञ होते कुछ लोग 'इष्टि', 'पशु' और 'सोम' नामसे तीन ही प्रकारके यज्ञ मानते हैं और इन तीनों यज्ञोंके 'औपासन', 'वैश्वदेव', 'पार्वण', 'अष्टका', 'मासिक-श्राद्ध', 'सर्पबलि' और 'ईशानबलि' नामके सात यज्ञ; 'अग्निहोत्र', 'दर्शपौर्णमास', 'आग्रयणादि इष्टायन', 'चातुर्मास्य', 'निरुढपशुबन्ध', 'सौत्रामणी' और 'पिण्डपितृयज्ञ चतुर्होतृ-होमादि' नामके सात तथा 'अग्निष्टोम', 'अत्यग्निष्टोम', 'उक्थ्य,' 'षोडशी', 'अतिरात्र', 'वाजपेय' और 'आप्तोर्याम' नामके सात यज्ञ—इस प्रकार २१ प्रकारके यज्ञ-भेद होते हैं (गोपथब्राह्मण ५ । २५)।

इतना ही नहीं, 'शिरोयज्ञ', 'अतियज्ञ', 'महायज्ञ', 'हविर्यज्ञ' और 'पाकयज्ञ'के नामसे जिन पाँच यज्ञोंके वर्णन हैं, उनके भी एक-एकके अनेक भेद हैं तथा 'रात्रिसत्र', 'अयनसत्र' और 'संवत्सरसत्र', 'बहुसंवत्सर', 'महासत्रादि' नामसे जिनके बहुसंख्यक अवान्तर भेद हैं, वे वैदिक यज्ञ हैं, जिनके अनुष्ठानमें संवत्सर, अयन, विषुव, मास—चैत्रादि मास, पक्ष, तिथि और सावन दिन (वारों) के जाननेकी आवश्यकता होती है तथा चान्द्रनक्षत्रोंका जानना भी अत्यावश्यक होता है। सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, व्यतीपातादि योग, वसन्तादि ऋतु और विष्णुपदी, षडशीतिमुखादि सूर्य-संक्रान्तियोंका ज्ञान भी यज्ञानुष्ठानके लिये अत्यावश्यक होता है और इन सभी कालों, नक्षत्रों और योगोंका ज्ञान एकमात्र निरयणगणनाके अनुसार सूर्यसिद्धान्त-जैसे आर्षसिद्धान्तीय पञ्चाङ्गोंके द्वारा ही हो सकता है और हमारे षोडश संस्कार, एकादशी, जयन्ती, शिवरात्रि, प्रदोष आदि व्रतों तथा हिंदू-संस्कृतिके श्रावणी, विजयादशमी, दीपावली आदि उत्सवोंका अनुष्ठान चैत्रादि मास, प्रतिपदादि तिथि, अश्विन्यादि नक्षत्र, योग और करणके साथ ही सौर-संक्रान्तियोंके ज्ञानके बिना कर सकना असम्भव है और इन सबका ज्ञान हमारे निरयण सिद्धान्त-ज्यौतिषद्वारा ही हो सकता है। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि हमारे श्रौत-स्मार्त कर्म हिंदू-ज्योतिर्विज्ञान—सूर्यसिद्धान्त-जैसे सिद्धान्तके ज्ञान बिना किये ही नहीं जा सकते।

इसी प्रकार वास्तुरचना, विविध प्रकारके कुण्डों और वेदियोंके बनानेमें दिशाओंका ज्ञान भी आवश्यक होता है, जिसका ठीक-ठीक ज्ञान ज्योतिर्विज्ञानद्वारा ही होता है (देखिये 'दिङ्मीमांसा' स्व० महामहोपाध्याय पं० श्रीसुधाकरजी द्विवेदी कृ०)। श्रौत-स्मार्त कर्मोंके आरम्भ करनेके मुहूर्त, जन्म, प्रश्नादिके लग्नादि-विचारके लिये क्षणादि कालके ज्ञानकी भी अत्यन्त आवश्यकता होती है और ठीक-ठीक काल-ज्ञान हमारे सिद्धान्तोंमें वर्णित विविध यन्त्रोंद्वारा ही हो सकता है (देखिये यन्त्राध्याय सू०)। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका सिद्धान्तीय लक्षण उद्देश्यके अनुरूप ही है—इसमें सन्देह नहीं।

हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानकी अपरिवर्तनशीलता

हमारा वेदाङ्ग-ज्योतिष, जो वेदभगवान्‌का चक्षुःस्वरूप है, क्या अपने अङ्गी वेदोंके समान ही अपरिवर्तनशील है अथवा मध्यकालीन आर्यभट्ट, लल्ल, वराह आदि विद्वानोंके मतानुसार समय पाकर उसमें अन्तर हो जाता है, जिससे समय-समयपर उसमें बीजादि-संस्कार देकर उसकी स्थूलताकी शुद्धि करनी चाहिये ? जैसा आजकलके आस्तिक विचारके विद्वानोंका भी कथन है कि 'जिस समय सूर्यसिद्धान्तादि आर्षसिद्धान्तोंकी रचना हुई, उस समयमें सूर्य-चन्द्रादिका स्पष्टीकरण ठीक होता था और उसके अनुसार तिथ्यादि-मान शुद्ध थे। अब कालान्तरसे अन्तर पड़ता है। अतएव विदेशीय विद्वानोंने चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनिके आकर्षण, नूतन स्थान तथा मन्दफलादि संस्कारसे सूर्यका और इसी प्रकार विविध उपकरणोंसे चन्द्रमाका स्पष्टीकरण जो किया है, उसीके अनुसार तिथ्यादि-साधन करना चाहिये।' किंतु यह सब विडम्बना-मात्र है, इसमें कोई तत्त्व नहीं।

जिस आर्ष सिद्धान्तको हमारे वेदों और स्मृतियोंने स्वीकार किया है और जिस गणनाके अनुसार तिथियोंका निर्णय करके श्रौत-स्मार्त कर्मका विधान किया है—यदि हम आस्तिक हैं तो आज भी उसी गणनासे बनी तिथियों, मासों, नक्षत्रों आदिको मानेंगे। इसमें हमारी हठधर्मी नहीं, सत्याग्रह है; क्योंकि 'गोलयुक्ति और आकर्षण-विद्याके नियमोंके अनुसार

जितना अब अन्तर है, उतना ही (अन्तर) तब भी था। इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं करना चाहिये। क्या उस समयमें चन्द्रमा नहीं था, जो बड़े बलसे सूर्यको खींचता है—जिसके कारण कई विकलाओंका विकार सूर्यमें पड जाता है ? और क्या उस समयमें सूर्य नहीं था, जिसके खींचनेसे चन्द्रमामें अंशोंका विकार पड़ जाता है ?' (पञ्चाङ्ग-प्रपञ्च पृ० २) यदि सूर्यादि ग्रह आजके ही समान सूर्यसिद्धान्तके रचना-कालमें भी थे तो सूर्यसिद्धान्तके अदृश्य गणितमें और आकर्षण-क्रियाद्वारा किये गये दृश्य गणितमें जितना अन्तर आज पड़ रहा है, उतना ही अन्तर उस समय भी पड़ता था, जिसको उस समयमें दिव्य दृष्टिवाले हमारे महर्षियोंने नहीं माना, अपने अदृश्य तिथ्यादिको ही श्रौत-स्मार्त कर्मके लिये उपयुक्त माना है। अतएव उसीको हमें भी मानना चाहिये।

वेदाङ्गज्यौतिष और हमारे सिद्धान्त-ज्यौतिष

हमारे वेद-चक्षुःस्वरूप ज्योतिर्विज्ञानके इतिहासलेखक स्व० पण्डित शङ्कर बालकृष्ण दीक्षितने अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' (मराठी) में, स्व० बा० योगेशचन्द्र रायने अपने 'आमादेर ज्योतिष और ज्योतिषी' (बंगला) में, स्व० महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदीने अपनी 'गणक-तरङ्गिणी' (संस्कृत) में तथा भारतीय इतिहासके न जाने कितने लेखक विद्वानोंने अपनी-अपनी रचनाओंमें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि आर्च और याजुष नामसे प्रसिद्ध ग्रन्थों (वेदाङ्ग-ज्यौतिषों) से अधिक प्राचीन हमारे देशमें कोई ज्योतिर्ग्रन्थ नहीं हैं और हमारे सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिःसिद्धान्त शक ४२१ से लेकर ई० सन्‌के पूर्व ४५० वर्षके अन्तर्गत बने हुए हैं। दीक्षितजीने लिखा है कि वेदाङ्ग-ज्यौतिषका समय ई० सन्‌के पूर्व अधिक-से-अधिक १४०० वर्ष और कम-से-कम ५०० वर्ष है और उसके पश्चात् ई० सन्‌के पूर्व ४५० वर्ष सिद्धान्त-ज्यौतिषका समय है। स्व० चिन्तामणि विनायक वैद्यने महाभारतमीमांसामें लिखा है कि ई० सन्‌के आरम्भमें ही हमारे ज्यौतिषसिद्धान्तोंकी रचना हुई है। इन सभी ख्याति-प्राप्त विद्वानोंके कालनिर्णयकी मुख्य युक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) सिद्धान्तज्यौतिषकी गणना अश्विन्यादि है। अतएव जिस समय मेषके सायन सूर्य अश्विनीमें होते थे और अयनांशका अभाव था, उस समय सिद्धान्तज्यौतिषकी निरयण-गणनाका आरम्भ हुआ है।

(२) सिद्धान्तोंमें जिस निरयणगणनाकी व्यवस्था है और अहर्गणद्वारा ग्रहोंके मध्यम गणितद्वारा स्पष्टीकरणका विधान है, वह सब वारगणनाके ज्ञानके बिना हो नहीं सकता और हमारे देशमें वारगणनाका समय ई० सन्‌के पूर्व ५०० वर्ष (महाभारत-रचनाकाल) के पश्चात् माना जाता है; क्योंकि महाभारतमें वारोंके नाम नहीं हैं।

(३) नित्यानन्दने सिद्धान्तराजमें लिखा है कि ३६०० कलिगताब्दमें सूर्यसिद्धान्तकी रचना हुई है और अलबेरूनीने अपनी पुस्तक (अलबेरूनीका भारत) में लिखा है कि सूर्यसिद्धान्तकी रचना लाटदेवने की है। अतएव उसका समय शक ४०० के लगभग है।

(४) आर्यभट्टने अपने तन्त्र (शक ४२१) में सूर्य-सिद्धान्तकी चर्चा नहीं की। अतएव उस समयतक उसका अस्तित्व नहीं था।

(५) हमारे ज्योतिःसिद्धान्तोंकी सूक्ष्म गणना यूनानियोंसे ली गयी है; क्योंकि हमारी ज्योतिर्गणना तो आर्च और याजुष ज्यौतिषगणनाके समान पञ्चवर्षीय स्थूलतर है, जिसमें ३६६ सावन दिनोंका सौर वर्ष और मध्यम गणनाद्वारा तिथ्यादि-साधनका विधान है। अतएव सिकन्दरके भारताक्रमण (ई० सन्‌के पूर्व ३२६ व०) के पश्चात् यूनानियोंसे सम्पर्क होनेके बाद ज्योतिःसिद्धान्तकी रचना हुई है।

उपर्युक्त युक्तियाँ सर्वतोभावसे निःसार हैं। वेदाङ्ग-ज्यौतिषके नामसे प्रसिद्ध यजुर्वेद-ज्यौतिषके १९वें और ऋग्वेद-ज्यौतिषके १४वें श्लोकमें नक्षत्रोंके लघु नामोंके वर्णनमें अश्विन्यादि नक्षत्रक्रम रक्खा है और य० ज्यौ० के १०वें श्लोकमें और ऋ० ज्यौ० के ९वें श्लोकमें ४॥ सूर्यनक्षत्रोंके एक ऋतुका वर्णन वेदाङ्गकालमें भगणके १२ भागराशियोंका अस्तित्व सिद्ध करता है और यजुर्वेद ज्यौ० के ११वें श्लोकमें मासपतिके प्रसङ्गमें सात वारोंका स्पष्ट वर्णन है (देखो वेदाङ्ग-ज्यौतिषका सुधाकरभाष्य पृ० ९)। इतना ही नहीं, आर्च और याजुष ज्यौतिषको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे विदित होता है कि इनकी रचनाके समयमें हमारे सिद्धान्त-ज्यौतिषकी सूक्ष्म गणना प्रचलित थी और गणितानभिज्ञ वैदिकोंके लिये ही ज्योतिर्विदोंने स्थूलरीतिसे दर्शपौर्णमास और विषुवायन तथा तिथि-नक्षत्रादिके जाननेके लिये चुटकुले बना दिये थे, जिनको आजके इतिहासज्ञ वेदाङ्गके नामसे अत्यधिक महत्त्व दे रहे हैं। वस्तुतः वे हमारे मूल ज्योतिः-सिद्धान्तके पश्चात् बनाये गये हैं।

नित्यानन्द और अलबेरूनीका लिखना प्रमाणरहित है और पक्षपातपूर्ण। अलबेरूनीने सारी पुस्तकमें भारतीय

विद्वद्विभूतियोंको अपमानित करने और हमारी सभ्यताके सर्वथा विरुद्ध बातें लिखनेमें ही अपना गौरव समझा है और मुसलमान बादशाहोंके पण्डित नित्यानन्दने अपनी सारी विद्वत्ता रोमकसिद्धान्तकी दोहाई देनेमें और निरयण गणनाके आश्रित हमारे ज्योतिःसिद्धान्तोंके विरुद्ध सायनवादमें ही खर्च कर दी है। अतएव उनके लेखका कोई मूल्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि उनके लेख आर्ष सिद्धान्तके विरुद्ध होनेसे सर्वथा अप्रामाणिक हैं।

आर्यभट्टने सूर्यसिद्धान्तकी चर्चा नहीं की; किंतु उनके छः वर्ष बाद ही बड़ी प्रशंसाके साथ इसी सूर्यसिद्धान्तकी चर्चा—'स्पष्टतरः सावित्रः' के रूपमें वराहमिहिरने की है। साथ ही ब्रह्मगुप्त (शक ५२०) ने अन्यान्य सिद्धान्तोंकी प्राचीनताका उल्लेख करते हुए ब्रह्मसिद्धान्तके विषयमें लिखा है—

ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत् खिलीभूतम्।

इससे निश्चय हो जाता है कि आर्यभट्टके समय (शक ४२१) के बहुत पहलेसे हमारे ज्योतिःसिद्धान्त प्रचलित थे—इसमें सन्देह नहीं। दूसरी बात यह भी है कि 'भावाभावका प्रमाण' अत्यन्त शिथिल होता है। अतएव जिन लोगोंका यह मत है कि 'आर्यभट्टने सूर्यसिद्धान्तकी चर्चा नहीं की, अतएव उस समयतक सूर्यसिद्धान्त था ही नहीं', वे सर्वथा भ्रममें हैं। वराहमिहिरके समय यही सूर्यसिद्धान्त था और बीजके नामपर वराहने कल्पकुदिनमें २८ दिन घटा दिये हैं, जिससे गणित करनेमें लाघव होता है, और अन्तर एक सौर वर्षमें केवल १ विपल और २४ अतिपलका होता है। वराहमिहिरने जो पञ्चसिद्धान्तिकामें सूर्यसिद्धान्तके क्षेपकका वर्णन किया है, वह वर्तमान सूर्यसिद्धान्तके ही अनुरूप है। अतएव हमारा वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ही मूल सूर्यसिद्धान्त है, इसमें सन्देह नहीं।

यूनानियोंसे सिद्धान्त सीखनेकी कल्पना तो अब सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। पक्षपाती विदेशीय विद्वानोंको भी विवश होकर मानना ही पड़ा है कि भारतीय ज्योतिःसिद्धान्तोंकी गणना यूनानी अथवा किसी विदेशी गणनाके आधारपर की गयी है—यह बात सर्वथा असत्य है। ये सिद्धान्त सर्वथा-स्वतन्त्र भारतीय ही हैं [देखिये 'हमारी प्राचीन ज्यौतिष'के पृष्ठ ६०–७०]। वारगणनाका अस्तित्व याजुष ज्यौतिषके ११वें श्लोकसे तथा गर्गसंहिताके निम्नलिखित श्लोकमें भी आया है—

अयनान्यृतवो मासाः पक्षास्त्वृक्षं तिथिर्दिनम्।
(भा० ज्यौ० पृ० ७५)

अर्थात् अयन, ऋतु, मास, पक्ष, नक्षत्र, तिथि और वार—दिन। इस विषयमें विशेष देखना हो तो हमारा 'भारतकी कालगणनामें वारोंका महत्त्व' देखना चाहिये।

वेदाङ्गज्यौतिषमें चैत्रादि चान्द्र (सौर-चान्द्र) मानोंके नाम आये हैं। दीक्षितजीने बड़े परिश्रमसे इस बातकी खोज की है और अन्तमें उनको विश्वास हो गया है कि स्थूल गणनामें चैत्रादि नाम यौगिक सिद्ध नहीं होते। किसी संवत्के चैत्रादि बारहों मासोंकी पूर्णिमाएँ चैत्रादि मास-नक्षत्रोंसे संयुक्त नहीं मिलतीं। अतएव उन्होंने लिखा है कि वेदाङ्गज्यौतिषकी गणनासे भी अधिक स्थूल गणना भारतमें जब प्रचलित थी, तभी ये चैत्रादि नाम रक्खे गये हैं। हमारे इतिहासज्ञ विद्वान् विदेशीय कालगणनाओंकी दुर्दशा देखकर अपने निर्विकल्प वेदाङ्गज्योतिर्विज्ञानकी कालगणना और ग्रहगणनाकी परम्परामें भी आरम्भिक दुर्दशाका विश्वास करते हैं। अतएव वे कहते हैं कि 'भारतकी प्राचीन ज्योतिर्गणना वेदाङ्गज्यौतिषसे भी अधिक स्थूल थी, वेदाङ्गज्यौतिषके पश्चात् यूनानियोंके संसर्गसे सिद्धान्तज्यौतिषकी सूक्ष्म गणनाका प्रचार हुआ, जिसके अनुसार अधिमास और क्षयमासकी व्यवस्था की गयी है तथा महाभारतके जुवेके प्रणके १३ वर्षपर भीष्मजीने १३ वर्ष, ५ मास और १२ दिनकी व्यवस्था दी थी, जो एक सौर वर्षमें ३६६॥ सावन दिनके अनुपातसे ही सम्भव था।'

अवश्य ही उपर्युक्त बातें विदेशीय विद्वानोंद्वारा प्रचारित की गयी हैं और भारतीय विद्वानोंने उन्हींका पदानुसरण किया है; किंतु वे सारी कल्पनाएँ ज्योतिर्विज्ञानके मर्म न जाननेके कारण हुई हैं। इस बातको हमने प्रथम ही दिखला दिया है कि हमारे ज्योतिःसिद्धान्तके गणित ही वास्तविक वेदाङ्ग हैं और वे हैं सर्वथा वैदिक साहित्यके समकालीन। प्रमाणके रूपमें आप देखें कि चैत्रादि मासोंके यौगिक नाम स्थूल गणनाके अनुसार नहीं, सिद्धान्तगणनानुसार ही रक्खे गये हैं, १३ वर्षके जुवेके प्रणकी व्यवस्था ठीक-ठीक सिद्धान्तकी सूक्ष्म गणनाद्वारा की गयी है और हमारी सिद्धान्तज्यौतिषकी गणना इतनी प्राचीन है कि उतने प्राचीन कालमें संसारके किसी भागमें ज्यौतिष ही क्या, किसी भी विद्याका अस्तित्व नहीं था।

जिन प्रमाणोंसे चैत्रादि मासोंका अस्तित्व उनकी पूर्णिमाओंके नामोल्लेखसे तथा स्पष्ट मासोंके नाम आनेसे वैदिक-साहित्यकालीन सिद्ध होता है, वे हैं यजुर्वेदकी तैत्तिरीय-

संहिता (७।४।८) मे 'फाल्गुनीपूर्णमास' और 'चित्रापूर्णमास', ऐ० ब्राह्मण (१ । १ । २ । ८) में फाल्गुनीपूर्णिमा, शतपथब्राह्मण (२ । ६ । ३) में 'फाल्गुनीपूर्णमासी', गोपथब्राह्मण (६ । १९) मे भी 'फाल्गुनी पौर्णमासी' और शाङ्ख्यायन-ब्राह्मणमें तथा सामविधान-ब्राह्मणमे 'फाल्गुनी', 'रौहिणी' (ज्येष्ठी) और 'पौषी' पूर्णमासीके वर्णन । इतना ही नहीं, कौषीतकिब्राह्मण (१९ । २ । ३) मे नैषस्य (पौषस्य) और 'माघस्य' और पञ्चविंश-ब्रा० (५ । ९ । ९) में 'फाल्गुनः' और गृह्यसूत्र (२ । १ । १) मे 'श्रावण्याम् (पौर्णमास्याम्); (२ । ३ । १) मे 'मार्गशीर्ष्यां··· चतुर्दश्याम्' तथा पारस्कर गृ० सू० (३ । १२) मे 'मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्याम्'का उल्लेख है तथा इसी प्रकार वैदिक साहित्य, महाभारत और मन्वादि स्मृतियोंके साथ ही चाणक्यके अर्थशास्त्रसे स्पष्टरूपसे सिद्ध हो जाता है कि चैत्रादि मास ही हमारे राष्ट्रिय मास प्राचीन कालमे भी वैसे ही माने जाते थे जैसे कि आज भी हम हिंदुओंके वे राष्ट्रिय मास हैं ।

दीक्षितजी तै० सं० (४ । ४ । १०) और तै० ब्रा० (१ । ५ । १) की नक्षत्रदेवताओंके प्रसङ्गमे 'रोहिणी नक्षत्रमिन्द्रो देवता' तथा 'इन्द्रस्य रोहिणी'का स्वतः अपने 'भारतीय ज्योतिषशास्त्र'मे उल्लेख करते हुए भी इस बातको भूल गये हैं कि सामविधानब्रा०में 'रोहिणी'की पूर्णिमाका जो वर्णन है, वह 'रौहिणी' पौर्णमासी इन्द्रदेवत रोहिणी (ज्येष्ठा)-नक्षत्रयुक्त ज्येष्ठी पौर्णमासी है । अतएव फाल्गुनी, चैत्री आदि पौर्णमासियोंको उन्होंने फाल्गुन और चैत्रमासकी पूर्णिमाएँ नहीं, फाल्गुनी और चित्रा नक्षत्रोंसे युक्त पूर्णिमाएँ मान ली हैं और इसी आधारपर भ्रमवश लिख दिया है कि ब्राह्मणकालमें चैत्रादि मासोंका अस्तित्व नहीं था और जिन ग्रन्थोंके जिन भागोंमे चैत्रादि मासोंके नाम हैं, वे ब्राह्मणकालके पीछेके हैं ।

सारांश यह कि चैत्रादि नाक्षत्र मासोंके नाम वैदिक कालमे भी प्रचलित थे, जो याजुष और आर्च ज्योतिषके पूर्वका समय है । और ये नाम यौगिक—नाक्षत्रिक हैं, जो आर्ष सिद्धान्तकी सूक्ष्म गणनाद्वारा ही सिद्ध होते हैं—अन्य किसी गणनाद्वारा नहीं । दीक्षितजीने 'भारतीय ज्यौतिष' (पृ० ४२८) में ५ वर्षके उदाहरणद्वारा देखा है कि चैत्रादि मास यौगिक सिद्ध नहीं होते; वेदाङ्ग-ज्यौतिषकी गणना और सूर्यसिद्धान्तीय विश्वपञ्चाङ्ग (काशी)के पॉच वर्षों (वि० संवत् १९९९ से २००३) के देखनेसे हमको भी ज्ञात हुआ है कि चैत्रादि गणनाके अनुसार चैत्रादि १२ मासोंकी पूर्णिमाएँ किसी भी संवत्में अपने मास-नक्षत्रोंसे युक्त नहीं होतीं । इससे यह निश्चय हो जाता है कि जिन चैत्रादि मासोंके नाम नाक्षत्रिक पूर्णिमाओंके आधारपर पाणिनिने सिद्ध किये हैं और जिनकी सूर्यसिद्धान्त (१४ । १५) मे व्यवस्था है, चैत्रादि गणनासे वे नाम न तो दीक्षितके उदाहृत केरोपन्ती (दृश्य-गणनानुसार) शक १८०४ से १८०७ तक तथा शक १८१० में ठीक उतरते हैं और न वेदाङ्ग-ज्यौतिषके पञ्चाङ्गके अनुसार कभी भी ठीक उतरते हैं तथा काशीके सूर्यसिद्धान्तीय विश्वपञ्चाङ्ग (वि० सं० १९९९ से २००३ तक) से भी ठीक नहीं उतरते । वे चैत्रादि मासोंके नाम किसी दूसरी गणनाद्वारा सिद्ध किये जाते हैं ।

चैत्रादि मासोंके नाम तिथि और नक्षत्रोंके आधारपर रक्खे गये हैं और तिथि एवं नक्षत्र सूर्य तथा चन्द्रमाके द्वारा बनते हैं । अतएव हमको देखना चाहिये कि सौरगणना और चान्द्रगणनाका आरम्भ कब होता है । कालगणनामें उत्तरायण, दक्षिणायन और देवयान तथा पितृयानका वर्णन है । वेदाङ्गज्यौतिषकी गणना उत्तरायणसे आरम्भ होती है (याजुष ज्यौ० ५-६) और सिद्धान्तज्यौतिषकी गणना देवयान (उत्तर-विषुव) से—चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे आरम्भ होती है (ब्रा० स्फुटसिद्धान्त १ । ४) । सिद्धान्तगणनाके देवयानद्वारा सौर गणना आरम्भ होती है और पितृयानद्वारा चान्द्रगणनाका आरम्भ होता है । सौरगणनाके मेष-वृष आदि मासोंकी गणना मासारम्भके सौरनक्षत्रोंके आधारपर अश्विन्यादिक्रमसे होती है और अमान्तके आधारपर चैत्रशुक्ल प्रतिपदासे अश्विनीके सूर्यसे होती है और सूर्योदयकालसे होती है; किंतु चान्द्रगणना ठीक इसके विपरीत होती है । सौरगणना (देवयान) उत्तर-विषुवसे होती है, शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे होती है और सूर्योदयकालसे होती है और चान्द्रगणना दक्षिणविषुवसे, कृष्णपक्षसे और सूर्यास्तकाल (चन्द्रोदय) से आरम्भ होती है । और सौरमासोंके नाम आरम्भकालकी संक्रान्तिके मेषादिनामसे होते हैं और चान्द्रगणनाके मासोंके नाम मासकी अन्तिम तिथि पूर्णिमाके चन्द्रनक्षत्रके आधारपर आश्विनादि क्रमसे होते हैं ।

सारांश यह कि चैत्रकृष्ण प्रतिपदासे अमावास्यातक देवयानके कार्यका उपक्रम करते हुए चैत्रशुक्ल प्रतिपदाके सूर्योदयकालसे मेषसंक्रान्ति सौर अश्विनी नक्षत्रके आरम्भकालसे मेषराशि नामके सौर मासका आरम्भ और सौरचान्द्र वर्षका आरम्भ होता है और भाद्रशुक्ल १५ के सूर्यास्त (चन्द्रोदय)-

कालसे पितृयानके १६ दिनोंके महालयके उपक्रमके साथ चान्द्रमासका आरम्भ होता है और मासान्त—आश्विन शुक्ल १५ को अश्विनी नक्षत्रके नामसे ही उसका आश्विन नाम होता है । जिस प्रकार सौरगणना राशिप्रधान है और उसके मासोंके नाम राशियोंके नामपर होते हैं, उसी प्रकार चान्द्रगणना नक्षत्रप्रधान है और उसके मासोंके नाम नक्षत्रोंके नामपर आश्विनादि होते हैं । दोनों ही गणनाएँ अश्विन्यादिक्रमसे नक्षत्रोंकी गणना करती हैं—चान्द्रगणना चन्द्रनक्षत्रके आधारपर अपने मासोंके नाम रखती है और सौरगणना सौर संक्रान्तिके आधारपर करती है, जो सूर्यनक्षत्रसे बनती है ।

उपर्युक्त विवरणसे यह निश्चय हो जाता है कि चैत्रादि मासोंके नाम जिस गणनाके द्वारा आदिकालमें रक्खे गये हैं, वह पितृयान-गणना है और उसका क्रम आश्विनादि है, चैत्रादि नहीं । इसी बातको वेदव्यासजीने बृ० धर्मपुराणके पूर्वखण्ड (१५ । ९–१६) में दिखलाया है और कहा है—

आश्विनाद्या मता मासाः सौरचान्द्रप्रमाणतः ।

अब देखना है कि आश्विनादि-गणनाके अनुसार क्या चैत्रादि बारहों मासकी पूर्णिमाएँ अपने-अपने मास-नक्षत्रोंके साथ किसी एक चान्द्रवर्षमें पर्वान्तयोग करती हैं ?

श्रीसूर्यसिद्धान्तानुसारी स्व० महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदीके पञ्चाङ्ग (वि० सं० १९६४-६५) के अनुसार हमने विचार किया तो सं० १९६४ के आश्विन माससे लेकर सं० १९६५ के भाद्रपदमासकी बारहों पूर्णिमाएँ अपने-अपने मास-नक्षत्रोंसे पर्वान्तयोग करती हैं । अतएव यह प्रमाणित हो जाता है कि जिन चैत्रादि मासोंके नाम हमारे वैदिक साहित्यसे लेकर अबतक अविच्छिन्नरूपसे श्रौत-स्मार्त कर्मोंमें व्यवहृत हुए हैं, उनका नामकरण यौगिक है और वे हमारे सूर्यसिद्धान्त-जैसे आर्षसिद्धान्तकी गणनाद्वारा रक्खे गये हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि हमारी सिद्धान्तगणना तै० सं० आदि वैदिक साहित्यके पूर्वसे—अनादि कालसे प्रचलित है और उस समयसे प्रचलित है, जिस समय यूनानी ज्योतिर्गणितका संसारमें अस्तित्व ही नहीं था ।

महाभारतकी भीष्मव्यवस्था और सिद्धान्तज्यौतिष

विराटनगरकी चढ़ाईके समय कृष्णपक्षकी अष्टमीको जब अर्जुनने अपना नाम लेकर कौरवोंको ललकारा था, तब कर्ण और दुर्योधनने कहा था कि 'अभी तो तेरहवाँ वर्ष चल रहा है, अतएव पाण्डवोंका तेरह वर्षका प्रण पूर्ण नहीं हुआ और प्रतिज्ञानुसार उन्हें पुनः १२ वर्ष वनमें रहना चाहिये (विराटपर्व अ० ४७ श्लोक २–५) ।' और इस प्रकार अपने विचार प्रकट करते हुए जब भीष्मसे दुर्योधनने समय-निर्णयके लिये व्यवस्था देनेको कहा, तब भीष्मने कला-काष्ठादिसे लेकर संवत्सरपर्यन्तके कालचक्रकी बात कहकर व्यवस्था दी कि 'ज्योतिश्चक्रके व्यतिक्रमके कारण वेदाङ्गज्योतिषकी गणनासे तो १३ वर्ष, ५ महीने और १२ दिन होते हैं; किंतु पाण्डवोंने जो प्रणकी बातें सुनी थीं, उनको यथावत् पूर्ण करके और अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्तिको निश्चयपूर्वक जानकर ही अर्जुन आपके समक्ष आया है ।' (महाभारत वि० प० अ० ५२ श्लो० १–५)

भीष्मजीने ५ वर्षोंमें दो चान्द्रमासोंके अधिक मास होनेकी बात वेदाङ्गज्यौतिषके अनुसार कही है । यदि ५ सौर वर्षोंमें २ मास अधिमास हो जाते हैं तो १३ वर्ष यदि सौरमानके होते तो ५ महीने और ६ दिन १३ वर्षोंसे अधिक होते। अतएव लोग कहते हैं कि जिस गणनाके अनुसार भीष्मने व्यवस्था दी है, उस गणनामें एक सौर वर्षमें वेदाङ्गज्योतिषके समान ३६६ सावन दिन नहीं, ३६९ दिन और २० घड़ी होना सिद्ध होता है। इसी प्रश्नको लेकर महाभारतमीमांसा (पृ० ११९–१२०)-में वैद्यजीने विदेशोंकी कालगणनाकी दुर्दशा—जैसा कि स्व० महामहोपाध्याय ओझाजीने प्राचीन लिपि-मालामें पृ० १९४-१९५ की सात टिप्पणियोंमें सप्रमाण उद्धृत किया है—देखकर भारतीय ज्योतिर्विज्ञानकी निर्विकल्प कालगणनाकी दुरवस्थाका भी अनुमान किया है और ज्योतिर्विज्ञानके मर्मको न जानकर भीष्मकी व्यवस्थाकी दुर्व्यवस्था की है, जो लोगोंका भ्रम है ।

अर्जुन जिस ग्रीष्मऋतुके कृष्णपक्षकी अष्टमीको प्रकट हुए, उसके प्रथम दिन सप्तमीको १३ वर्ष प्रतिज्ञानुसार पूर्ण हो गये थे, जो आजके ही समान व्यावहारिक ज्योतिः-सिद्धान्तसे निष्पन्न थे । जिन विद्वानोंने प्रतिज्ञाके १३ वर्ष सौरमानके अथवा चान्द्रमानके माने हैं, उनको सिद्धान्त-ज्योतिषकी कालगणना और भारतकी सनातन कालगणनाका ज्ञान ही नहीं था और व्यर्थ ही प्रपञ्च किया है । यदि प्रतिज्ञाके १३ वर्ष सौर होते तो अष्टमीके ६ दिन पूर्व ही १३ वर्ष पूरे हो गये होते और कृष्ण सप्तमीको भीमको युद्धमें प्रकट हो जानेके भयसे अतिमर्त्य कर्म करनेसे धर्मराज न रोकते और यदि प्रतिज्ञाके १३ वर्ष वेदाङ्गज्योतिषके चान्द्रमानके होते तो अर्जुनके प्रकट होनेके ५ महीने और १२ दिन

पूर्व ही प्रतिज्ञा पूरी हो गयी होती और प्रकट होनेके डेढ़ मास पूर्वके उस घोर अत्याचारको, जो भरी सभामें द्रौपदीके प्रति कीचकने किया था; पाण्डव सहन न करते और प्रकट होनेसे केवल १३ दिन पूर्व सुदेष्णाद्वारा विराटराजके सन्देशको सुनकर द्रौपदी १३ दिनका समय न माँगती। अतएव यह निश्चय हो जाता है कि पाण्डवोंकी प्रतिज्ञाके १३ वर्ष राष्ट्रिय कालगणनाके थे, जिसका उल्लेख करनेकी आवश्यकता न थी और वह राष्ट्रिय कालगणना भारतकी सनातन कालगणना है, जिसका व्यवहार हमारे ज्योतिःसिद्धान्तकी गणनामें—अहर्गणादि बनानेमें होता है और वह है सौर-चान्द्रगणना। और इसीके अनुसार पाण्डवोंके १३ वर्ष पूरे होते हैं और भीष्मव्यवस्था भी चरितार्थ हो जाती है। देखिये निम्नलिखित उदाहरण—

(१) यदि द्यूतक्रीड़ाकी मिति वि० संवत् १९७१ ज्येष्ठ कृष्ण ८ रविवारको मान लें तो उस दिन सूर्य होंगे १। २। ४१। २५ और अंग्रेजी तारीख १७ मई सन् १९१४ होती है। और अर्जुनके प्रकट होनेकी मिति वि० सं० १९८४ ज्येष्ठ कृ० ८ मं० को मान ले तो उस दिन सूर्य होंगे १। ९। ३। ६ और तारीख १४ मई सन् १९२७ ई०। दोनों समयोंके अन्तर होंगे—

सौर-चान्द्रमानसे—१३ वर्ष १ दिन (चौदहवें वर्षका प्रथम दिन)।

सौरमानसे—१३ वर्ष और ६ दिन।

अंग्रेजी मानसे—१३ वर्ष और ७ दिन।

और वेदाङ्गज्यौतिपके चान्द्रमानमे होते हैं १३ वर्ष, ५ महीने और १२ दिन। यही है भीष्मजीकी व्यवस्था।

इसी प्रकार यदि द्यूतक्रीड़ाकी मिति वि० सं० १९७३, १९८१, १९८८ अथवा १९९० की ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमीको मान लें तो क्रमशः अर्जुनके प्रकट होनेकी मिति वि० संवत् १९८६, १९९४, २००१ तथा २००३ की ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमी माननेपर अन्तर होते हैं—

सौर-चान्द्रमानसे—१३ वर्ष १ दिन (चौदहवें वर्षका प्रथम दिन)।

सौरमानसे—१३ वर्ष और ६ दिन।

और वेदाङ्गज्यौतिपके चान्द्रमानसे होते हैं १३ वर्ष, ५ महीने और १२ दिन। यही है भीष्मजीकी व्यवस्था।

उपर्युक्त पाँचों उदाहरण विशुद्ध सिद्धान्तगणनाके सूर्यसिद्धान्तीय पञ्चाङ्गोसे दिये गये हैं। अतएव यह प्रमाणित हो जाता है कि महाभारत-युद्धकालमें भारतमें सिद्धान्त-ज्यौतिपकी गणनाका ही प्रचार था और उसी गणनाके अनुसार राष्ट्रमितिके रूपमें कालगणनाका व्यवहार अबाधरूपसे होता था।

पृथ्वी-परिभ्रमणका भ्रम

सिद्धान्तज्यौतिपका सूर्यपरिभ्रमण-सिद्धान्त भी बड़े ही महत्त्वका विषय है; क्योंकि आज सारे संसारके गणितज्ञ और वैज्ञानिक पृथ्वी-परिभ्रमण-सिद्धान्तको मानते हैं और उनकी वैज्ञानिकताका प्रभाव हमारे भारतीय विद्वानोंके हृदयोंपर इतना गहरा पड़ा है कि वे अपनेपनको भूलकर और अपने ज्यौतिपसिद्धान्तोंपरसे श्रद्धा हटाकर, भूपरिभ्रमणको अपने वेदमन्त्रो और अपने ज्यौतिपसिद्धान्तोंद्वारा समर्थन करके संसारके वैज्ञानिकोंके प्रति अपना और हिंदू-संस्कृतिके प्रतीक हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका आत्मसमर्पण कर देनेमे ही अपना और अपने देशके ज्ञान-भण्डारका गौरव समझते हैं।

हिंदू संस्कृतिमें 'जगत्' का अर्थ ही चलनेवाला है। अतएव यदि हम पृथ्वीको भी चलनेवाली मान लें तो सिद्धान्ततः आपत्ति नही; किंतु सूर्यके चारो ओर और अपने अक्षपर भी पृथ्वीका परिभ्रमण मानना और वेदों तथा वेदोंके नेत्रस्वरूप हमारे ज्यौतिपसिद्धान्तोंके प्रमाणोंद्वारा दूसरोंको भी मनवानेकी चेष्टा करना हमारी हिंदू-संस्कृतिके अनुकूल नहीं और न यथार्थ ही है। स्व० महामहोपाध्याय बापूदेवशास्त्री-ने इसके विषयमे 'प्राचीन ज्यौतिपाचार्याशय' नामकी एक पुस्तिका लिखी है, जिसमें इस भूभ्रमणमतको अपने प्राचीन ज्यौतिपसिद्धान्तोंके अनुकूल लिखा है और स्व० महा-महोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदीने यद्यपि 'भूगोलचला-चलनिरूपण' नामकी पुस्तिकामें इस मतकी समीचीन आलोचना की है, तथापि पीछेसे उन्होंने भूभ्रमणमतका समर्थन ही किया है। और आर्यसमाजके संस्थापक स्वा० दयानन्द सरस्वती अपनी ऋग्वेदादिभूमिकामे तथा उनके ही पदानुगामी न जाने कितने विद्वान् अपने-अपने लेखोमे 'वेदोंमे पृथ्वीकी गति' लिखते देखे गये हैं।

यदि हमारे भारतीय विद्वान् वैज्ञानिकोंके भूभ्रमणमतको सत्य मान लें और उनका विश्वास हो कि यह सत्य है तो अधिक आपत्तिकी बात नही। उनको स्पष्ट शब्दोमे कह देना चाहिये कि भले ही हमारे संस्कृत-साहित्य—वेदो और ज्यौतिप-सिद्धान्तोंमें सूर्यपरिभ्रमणका सिद्धान्त प्रतिपादित है; किंतु वह सत्य नहीं है; वह तो भ्रमसे जैसा लोगोंको प्रत्यक्षमें

दिखलायी पड़ता है, वैसा ही वर्णन किया गया है। जब हम इस संसारको तात्त्विक दृष्टिसे मिथ्या मानते हुए भी अपने व्यवहारमें उसको सत्य मानकर ही सब कुछ करते हैं, तब भूभ्रमणको सत्य और सूर्यभ्रमणको तात्त्विक दृष्टिसे मिथ्या मानते हुए भी हमारे पूर्वज संस्कृत-साहित्यमें यदि मानवदृष्टिके आधारपर सूर्यपरिभ्रमणको सत्य मानते हैं तो कोई आश्चर्यका विषय नहीं; क्योंकि ज्योतिर्गणनामें दोनों मतसे एक ही फल निष्पन्न होता है। ग्रहण, ऋतुपरिवर्तन, दिन-रात आदि सभी विषयोंके गणितमें दोनों मतोंसे एक ही उत्तर आता है। किंतु ऐसा न करके अपने वेदमन्त्रोंके अर्थमें खींचातानी करके और 'गौरादित्यः' इस निरुक्त और इसके भाष्यको आँखसे ओझल करके 'गौरिति पृथिव्या नामधेयम्' के अधूरे अर्थको अपनाकर 'वेदोंमें पृथ्वीकी गति' सिद्ध करनेकी चेष्टा करना और आर्यभट्टके 'अनुलोमगतिर्नौस्थः' (गी० ४) का विपरीत अर्थ करके और 'प्राणेनैतिकलां भम्' के पाठको बदलकर 'प्राणेनैतिकलाभूः' कर देनेमें 'भवांगेऽर्कः (गी० १) को और गोलपादके—

उदयास्तमयनिमित्तं नित्यं प्रवहेण वायुनाऽऽक्षिप्तः ।
लङ्कासमपश्चिमगोभपञ्जरः सग्रहो भ्रमति ॥ १ ॥

इस श्लोकको भुलाकर आर्यभट्टके नामपर ज्योतिर्गणितके मतसे भूभ्रमण सिद्ध करनेकी चेष्टा करना सर्वथा अनुचित है। हमारे समस्त ज्योतिषसिद्धान्तोंका निश्चित मत है सूर्यपरिभ्रमणका सिद्धान्त और वैदिक मन्त्रो और यास्कके निरुक्त और भाष्यका भी यही मत है। इस विषयमें विशेष देखना हो तो हमारी 'सुमतिप्रकाशिका' का प्रथम (ज्यौतिष) खण्ड देखें।

ज्योतिर्विज्ञानके मूलभूत कालगणनाकी ओर ध्यान देनेसे इसका महत्त्व प्रकाशमें आ जाता है। भगवद्गीता (८ । १७), महाभारत-शान्तिपर्व (२३१ । ३१), मनुस्मृति (१ । ७३), निरुक्त (१४ । ९) और शाकल्यसंहितान्तर्गत ब्रह्मसिद्धान्त (१ । ४४-४५) में यही श्लोक आया है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

अर्थात् एक सहस्र चतुर्युगपर्यन्त जो ब्रह्माजीका दिन और सहस्र युगोंतककी रात्रि होती है, इस गणनाको अहोरात्रविद् ज्योतिर्विद् ही जानते हैं। इसमें जो सहस्र युगोंकी बात कही गयी है, उसका विवरण भी मनुस्मृति (१ । ६६ । ७३) में दिया है और इस सहस्रयुगीय कल्पगणनाके आधारपर हमारे समस्त ज्योतिःसिद्धान्तोंकी ग्रहादि-गणना होती है और निरयणगणनाके मध्यग्रहादिका निर्णय होता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिःसिद्धान्तकी गणना मनुस्मृति, यास्कके निरुक्त और गीता-महाभारतके पूर्वसे प्रचलित है। सारांश यह कि ज्योतिर्विज्ञानके आधारभूत हमारे ज्योतिःसिद्धान्तकी सूक्ष्म गणना, निर्विकल्परूपसे अति प्राचीन कालसे अथवा यों कहें कि वेदोंके समान ही अनादि कालसे प्रचलित है और इसीके आधारपर वैदिकोंके तिथि-पर्वादि-ज्ञानके लिये ज्योतिर्विदोंने स्थूलरूपसे चुटकुले बना दिये थे, जो इस समयमें याजुष और आर्चज्यौतिषके नामसे प्रसिद्ध वेदाङ्ग-ज्यौतिष कहे जाते हैं और पाश्चात्त्य विद्वानोंने तथा उनके अनुयायी भारतीय इतिहासलेखकोंने उन्हींको भारतके सबसे प्राचीन ज्योतिर्ग्रन्थ कहकर हमारे हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानरूपी सूर्यके ऊपर धूल झोंकनेकी-सी व्यर्थ चेष्टा की है।

यदि भगवत्कृपा हुई तो कल्याणके किसी साधारण अङ्कमें फलित ज्यौतिषके विषयमें हम अपना मत प्रकट करेंगे।

शुभ शकुन कौन-से हैं ?

नकुल सुदरसन, दरसनी, छेमकरी, चक, चाप । दस दिसि देखत सगुन सुभ पूजहिं मन अभिलाष ॥
सुधा, साधु, सुरतरु, सुमन, सुफल, सुहावनि बात । तुलसी सीतापति भगति सगुन सुमंगल सात ॥

नेवला, मछली, दर्पण, क्षेमकरी चिड़िया, चकवा और नीलकण्ठ—इन्हें दसों दिशाओंमेंसे किसी ओर भी देखना शुभ शकुन है और ये मनकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं। तुलसीदासजी कहते है कि अमृत, साधु, कल्पवृक्ष, सुन्दर पुष्प, सुन्दर फल, सुहावनी बात, श्रीसीतानाथ भगवान्‌की भक्ति—ये सात सुन्दर सुमङ्गलकारी शकुन हैं।

हिंदू संवत्, वर्ष, मास और वार

(लेखक—ज्योतिर्विद् पं० श्रीदेवकीनन्दनजी खेड़वाल)

किसी भी धार्मिक कृत्यके लिये हिंदू-धर्ममे पहले संकल्प करनेका विधान है। संकल्पमे कल्पसे लेकर संवत्, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्रादि सबका उच्चारण आवश्यक माना गया है। यह प्रथा सूचित करती है कि अनादि कालसे हिंदुओंको समयका अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान था। वे काल एवं ग्रह-नक्षत्रादिकी स्थितिसे पूर्ण परिचित रहते थे। इस कालज्ञानके लिये भारतीय ज्योतिष-शास्त्रने बहुत विस्तृत विचार किया है। इन संवत्, मास, तिथि आदिके सम्बन्धमे शास्त्रोंकी छानबीन अत्यन्त लाभदायक है।

संवत्

काल-गणनामे कल्प, मन्वन्तर, युगादिके पश्चात् संवत्सरका नाम आता है। युगभेदसे सत्ययुगमें ब्रह्म-संवत्, त्रेतामे वामन-संवत्, परशुराम-संवत् (सहस्रार्जुन-वधसे) तथा श्रीराम-संवत् (रावण-विजयसे), द्वापरमे युधिष्ठिर-संवत् और कलिमे विक्रम, विजय, नागार्जुन और कल्किके संवत् प्रचलित हुए या होंगे। शास्त्रोंमें इस प्रकार भूत एवं वर्तमान कालके संवतोंका वर्णन तो है ही, भविष्यमे प्रचलित होनेवाले संवतोंका वर्णन भी है। इन संवतोंके अतिरिक्त अनेक राजाओं तथा सम्प्रदायाचार्योंके नामपर संवत् चलाये गये हैं। भारतीय संवतोंके अतिरिक्त विश्वमे और भी धर्मोंके संवत् हैं। तुलनाके लिये उनमेसे प्रधान-प्रधानकी तालिका दी जा रही है—

भारतीय

नाम	वर्तमान वर्ष
१—कल्पाब्द	१,९७,२९,४९,०५०
२—सृष्टि-संवत्	१,९५,५८,८५,०५०
३—वामन-संवत्	१,९६,०८,८९,०५०
४—श्रीराम-संवत्	१,२५,६९,०५०
५—श्रीकृष्ण-संवत्	५,१७५
६—युधिष्ठिर-संवत्	५,०५०
७—बौद्ध-संवत्	२,५२४
८—महावीर (जैन)-संवत्	२,४७६
९—श्रीशंकराचार्य-सवत्	२,२२९
१०—विक्रम-संवत्	२,००६
११—शालिवाहन-संवत्	१,८७१
१२—कलचुरी ,,	१,७०१
१३—वलभी ,,	१,६२९
१४—फसली ,,	१,३६०
१५—बँगला ,,	१,३५६
१६—हर्षाब्द ,,	१,३४२

विदेशीय

नाम	वर्तमान वर्ष
१—चीनी सन्	९,६०,०२,२४७
२—खताई ,,	८,८८,३८,३२०
३—पारसी ,,	१,८९,९१७
४—मिस्री ,,	२७,६०३
५—तुर्की ,,	७,५५६
६—आदम ,,	७,३०१
७—ईरानी ,,	५,९५४
८—यहूदी ,,	५,७१०
९—इब्राहीम ,,	४,३८९
१०—मूसा ,,	३,६५३
११—यूनानी ,,	३,५२२
१२—रोमन ,,	२,७००
१३—ब्रह्मा ,,	२,४९०
१४—मलयकेतु ,,	२,२६१
१५—पार्थियन ,,	२,१९६
१६—ईस्वी ,,	१,९४९
१७—जावा ,,	१,८७५
१८—हिजरी ,,	१,३१९

यह तुलना इस बातको तो स्पष्ट ही कर देती है कि भारतीय संवत् अत्यन्त प्राचीन है। साथ ही ये गणितकी दृष्टिसे अत्यन्त सुगम और सर्वथा ठीक हिसाब रखकर निश्चित किये गये हैं। नवीन संवत् चलानेकी शास्त्रीय विधि यह है कि जिस नरेशको अपना संवत् चलाना हो, उसे संवत् चलानेके दिनसे पूर्व कम-से-कम अपने पूरे राज्यमे जितने भी लोग किसीके ऋणी हों, उनका ऋण अपनी ओरसे

का व्यवहार लोकमें चलता है। इनमें भी सौरमास खगोल एवं भूगोलसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। ये क्षय वृद्धिसे रहित तथा गणना रखनेमें सुगम हैं। इनके नाम भी आकाशीय नक्षत्रोंके अनुसार हैं। आकाशमें २७ नक्षत्र हैं, इन नक्षत्रोंके १०८ पाद होते हैं। इनमेंसे नौ पादोंकी आकृतिके अनुसार मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन—ये बारह सौरमास होते हैं। पृथ्वीपर भी इन मासों (राशियों) की रेखा स्थिर की गयी है, जिसे 'क्रान्ति' कहते हैं। ये क्रान्तियाँ विषुवत् रेखासे २४ उत्तरमें और २४ दक्षिणमें मानी जाती हैं। उत्तरायणमें विषुवत्-रेखासे उत्तर १२ अंशतक मेष, २० अंशतक वृष, २४ अंश-तक मिथुन, २४ उत्तर क्रान्ति कर्करेखा और फिर उलटे क्रमसे २० अंशतक कर्क, १२ अंशतक सिंह तथा विषुवत् रेखातक कन्याराशि होती है। इसी प्रकार दक्षिणायनमें विषुवत्रेखासे दक्षिण १२ अंशतक तुला, २० अंशतक वृश्चिक, २४ अंशतक धन और २४ अंशको मकररेखा कहते हैं। फिर उलटे क्रमसे २० अंशतक मकर, १२ अंशतक कुम्भ और विषुवत्रेखातक मीनराशि होती है। मासोंका यह स्थान सूर्यकी गतिके अनुसार है।

जैसे सौरमासका सम्बन्ध सूर्यसे है, वैसे ही चान्द्रमासका सम्बन्ध चन्द्रमासे है। उदाहरणके लिये अमावस्याके पश्चात् चन्द्रमा जब मेषराशि और अश्विनी नक्षत्रमें प्रकट होकर प्रतिदिन एक-एक कला बढ़ता हुआ १५ वें दिन चित्रा नक्षत्रमें पूर्णताको प्राप्त करता है, तब वह मास 'चित्रा' नक्षत्र-के कारण 'चैत्र' कहा जाता है। जिस पक्षमें चन्द्रमा क्रमशः बढ़ता हुआ शुक्लता—प्रकाशको प्राप्त करता है, वह शुक्लपक्ष और जिसमें घटता हुआ कृष्णता—अन्धकार बढ़ाता है, वह कृष्णपक्ष कहा जाता है। मासका नाम उस नक्षत्रके अनुसार होता है, जो महीनेभर सायङ्कालसे प्रातःकालतक दिखलायी पड़े और जिसमें चन्द्रमा पूर्णता प्राप्त करे। चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा, आषाढ़ा, श्रवण, भाद्रपदा, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा और फाल्गुनी नक्षत्रोंके अनुसार ही चान्द्रमासोंके नाम क्रमशः चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुन होते हैं। चान्द्रवर्ष सौरवर्षसे ११ दिन, ३ घड़ी, ४८ पल कम होता है। सौरवर्षसे चान्द्रवर्षका सामञ्जस्य रखनेके लिये ३२ महीने, १६ दिन, ४ घड़ीपर एक चान्द्र-मासकी वृद्धि मानी जाती है। इसपर भी पूरा सामञ्जस्य न होनेसे लगभग १४० या १९० वर्षके बाद एक चान्द्रमासका क्षय माना जाता है; किंतु जिस वर्षमें क्षय-मास होता है, उस वर्षमें क्षय-माससे तीन मास पूर्वके और तीन मास पश्चात्के—दोनों चान्द्रमासोंकी वृद्धि होती है। इस प्रकार उस वर्ष दो अधिक मास भी होते हैं। क्षय-मास कार्तिक, मार्गशीर्ष और पौष—इन तीन मासोंमेंसे ही कोई होता है; क्योंकि इन्हीं महीनोंमें सौरमास चान्द्रमाससे न्यून हो सकता है। कार्तिक-मास मध्यका है; अतः इसकी वृद्धि या क्षय दोनों सम्भव हैं। माघमास स्थिर मास है। यह न क्षय होता है, न बढ़ता ही है। जब दो अमावस्याओंके बीचमें सूर्यकी संक्रान्ति न पड़ती हो तब वह चान्द्रमास बढ़ जायगा और जब दो अमावस्याओंके बीचमें सूर्यकी दो संक्रान्तियाँ पड़ जायँ तो वह चान्द्रमास क्षय माना जायगा; क्योंकि समस्त पुण्यकर्म तिथियोंके अनुसार होते हैं, अतएव धार्मिक कृत्योंमें तो चान्द्रमास ही उपयोगमें आ सकता है। राजनैतिक कार्योंमें सौरमासका उपयोग होना चाहिये; क्योंकि उसमें तिथियोंके घटने-बढ़नेकी बात न होने-से हिसाब ही ठीक रक्खा जा सकता है।

वार (दिन)

हिंदुओंके सात वार और उनके प्रायः वही नाम समस्त विश्वमें प्रचलित हैं। रविवारको अपनी-अपनी भाषामें सब कहेंगे सूर्यवार ही। यदि पूछा जाय कि इस दिनको ही रविवार क्यों कहा जाता है और उसके पश्चात् सोमवार (चन्द्रमाका दिन)—इस क्रमसे ही क्यों दिन आते हैं? कैसे अनादिकालसे सब देशोंमें उसी दिनको रविवार कहा जाता है? क्यों कोई उसे चन्द्रका दिन नहीं कहता? तो विश्वके किसी दूसरे देशका ज्योतिषी केवल यह कहेगा कि 'दिनोंके नाम और उनके क्रमका प्रचार भारतसे ही विश्वमें हुआ, चाहे जब हुआ हो। अतः सब कहीं ये नाम और क्रम एक-से हैं।' अनुकरणके अतिरिक्त कोई वैज्ञानिक कारण किसी दूसरेके पास नहीं है। कालमाधव, ब्रह्मपुराण, सिद्धान्त-शिरोमणि, ज्योति-र्विदाभरणादि भारतीय शास्त्रीय ग्रन्थ इसका स्पष्ट कारण बतलाते हैं कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको जब सब ग्रह मेषराशिके आदिमें थे, उस समय इस कल्पका प्रारम्भ हुआ। काल गणना सृष्टिके आदिसे ही चली। उसी दिन सर्वप्रथम सूर्योदय हुआ।

एक सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतकका काल अहोरात्र कहा जाता है। इसका प्रथम भाग दिन और द्वितीय भाग रात्रि कहलाती है। कालकी सूक्ष्म गणनाके लिये दिन और रात्रिमेंसे प्रत्येकके छः-छः भाग माने गये हैं, जिन्हें लग्न कहते हैं। इस-

प्रकार १२ लग्नोंका एक अहोरात्र हुआ। लग्नके आधे भागको 'होरा' कहा जाता है। 'अहोरात्र' शब्दके मध्यके दोनों अक्षरोंसे ही यह शब्द बना है। इसीको पाश्चात्त्य-प्रणालीमें घंटा कहते हैं। 'घंटा'-जैसे निरर्थक शब्दकी अपेक्षा 'होरा' सार्थक एवं प्राचीन शब्द है। अपने तेजोमय रूपके कारण सृष्टिके प्रथम 'होरा' का स्वामी सूर्य माना गया। इसके पश्चात् अपनी कक्षाके अनुसार ग्रह 'होरा'-अधिपति माने गये। ग्रह-कक्षाके सम्बन्धमें ज्यौतिषशास्त्रका कहना है—'ब्रह्माण्डके मध्यमें आकाश है। उसमें सबसे ऊपर नक्षत्र-कक्षा है। फिर क्रमसे शनि, बृहस्पति, मङ्गल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्रमा हैं। उनसे नीचे सिद्ध, विद्याधर और मेघ हैं। ऊपरके ग्रहोंकी कक्षा नीचेके ग्रहोंकी अपेक्षा क्रमशः बड़ी है। जब प्रथम 'होरा' के स्वामी सूर्य हुए, तब क्रमशः शुक्र, बुध, चन्द्रमा, शनि, बृहस्पति, मङ्गल—ये छः ग्रह अगली छः होराओंके स्वामी हुए। आठवीं 'होरा' के स्वामी फिर क्रमानुपूर्वक सूर्य हुए। इस प्रकार क्रमशः ये ग्रह एक-एक 'होरा' के स्वामी होते गये। इस क्रमसे चौबीसवीं होराका स्वामी बुध होता है और यहीं प्रथम अहोरात्र समाप्त हो जाता है। पचीसवीं होराका स्वामी क्रमके अनुसार चन्द्रमा है। यह पचीसवीं होरा दूसरे अहोरात्रके दिनकी प्रथम होरा है; अतः प्रथम होराके अधिष्ठाता चन्द्रमा होनेसे इस अहोरात्रका नाम चन्द्रमाका दिन—सोमवार पड़ा। इसी क्रमसे अहोरात्रकी प्रथम 'होरा' के अधिष्ठाता ग्रहके नामपर अहोरात्रके नाम पड़ते गये और फलतः सप्ताहके दिनोंके नाम वर्तमान क्रमसे हुए। यही क्रम सृष्टिके प्रारम्भसे अबतक चला आ रहा है। जिस दिनके प्रथम होराका जो अधिष्ठाता ग्रह है, उस दिनका वही नाम है। होराको 'क्षणवार' भी कहते हैं। जो कर्म जिस दिन करनेका विधान है, उस कर्मको किसी भी दिनके उस 'क्षणवार'में भी किया जा सकता है। जैसे यदि सोमवारको रविवारका कोई कर्म करना है, तो सोमवारमें जिस होराके अधिष्ठाता सूर्य हैं, उस होरामें उस कर्मको किया जा सकता है। दिन-रात्रिमें किसी भी समय कौन-सी होरा, कौन-सा क्षणवार है, यह जाननेका नियम ज्यौतिषशास्त्रने इस प्रकार बताया है—मेष, वृश्चिक, कुम्भ, मीनकी संक्रान्तिमें सायङ्कालसे; वृष, धन, कर्क, तुलाकी संक्रान्तिमें अर्धरात्रिसे और मिथुन, मकर, सिंह, कन्याकी संक्रान्तिमें प्रातःकालसे वार-प्रवेश मानकर उस दिनकी गणना करके 'क्षणवार' निकालना चाहिये।

उपर्युक्त नियमसे संक्रान्तिके हिसाबसे वार-प्रवेश (दिनके आरम्भ) का समय बदलता रहता है। मुसलमान लोग दिनका प्रारम्भ सायङ्कालसे मानते हैं; किंतु हिंदू-शास्त्रोंमें उपर्युक्त नियमको छोड़कर और कहीं सायङ्कालसे वार-प्रवेश (दिनारम्भ) का वर्णन नहीं है। इसी प्रकार व्याकरणशास्त्रमें अद्यतन कालका प्रयोग मध्यरात्रिसे दूसरी मध्यरात्रितकके लिये होता है। ज्यौतिषशास्त्रके ग्रन्थ 'सिद्धान्त-शिरोमणि' तथा 'केशवार्क' के अनुसार देवताओंका अहोरात्र भी मध्यरात्रिसे बदलता है; क्योंकि उत्तरायण देवताओंका दिन और दक्षिणायन देवताओंकी रात्रि है। मेषसंक्रान्तिके समय देवताओंका वार-प्रवेश (दिनारम्भ) माना जाता है। इसी प्रकार पितृ-अहोरात्र भी मध्यरात्रिसे बदलता है। 'पूर्णिमाको पितरोंकी अर्धरात्रि, अमावस्याको मध्याह्न, कृष्णपक्षकी अष्टमीको प्रातःकाल और शुक्लपक्षकी अष्टमीको सायङ्काल होता है।' यह 'सिद्धान्त-शिरोमणि' का मत है। सूर्योदयसे पूर्व सन्ध्यादि कर्मोंके लिये सूर्योदयके समय आनेवाली तिथि संकल्पमें बोलनेका विधान है। ऐसे कर्मोंमें वार-प्रवेश अर्धरात्रिसे माना जाता है। निम्बार्क-सम्प्रदायमें एकादशी यदि दशमीकी अर्धरात्रिके समय न आकर कुछ बादमें आये तो वह दशमीविद्धा मानी जाती है। यहाँ भी मध्यरात्रिसे ही वार-प्रवेश माना गया है। दूसरे वैष्णव-सम्प्रदाय एकादशी व्रतके सम्बन्धमें ब्राह्ममुहूर्तसे वार-प्रवेश मानते हैं।

सूर्योदयसे वार-प्रवेश (दिनारम्भ)

सायङ्काल, मध्यरात्रि एवं ब्राह्ममुहूर्तसे वार-प्रवेश केवल विशेष कार्योंके सम्बन्धमें विशेष अवसरोंपर ही माननेकी प्रथा और शास्त्रीय विधान प्राप्त होते हैं। जन्मपत्रादि सभी कार्योंमें सूर्योदयसे ही वार-प्रवेश माना जाता है। जन्मपत्रमें तो सूर्योदयमें १ पलका भी विलम्ब रहा हो तो पूर्व दिनकी तिथि, वार ही लिये जाते हैं। समस्त भारतीय पञ्चाङ्गोंमें सूर्योदयसे ही तिथि, वार, नक्षत्र, योग आदिका काल अङ्कित होता है। इष्टकाल भी सूर्योदयसे ही बनता है। इष्टकालसे ही लग्न, मुहूर्तादि सब निर्णीत होते हैं। स्मार्त मतसे सूर्योदयके पश्चात् १ पल भी दशमी हो तो एकादशी दशमी-विद्धा मानी जाती है। यह नियम भी सूर्योदयसे वार-प्रवेश मानकर ही स्थिर हुआ है। कालमाधव, ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त, ज्योतिर्विदाभरण-प्रभृति शास्त्रीय ग्रन्थोंमें स्पष्ट कहा गया है कि 'विश्वकी उत्पत्ति सूर्योदयके समय होती है। अतः वार-प्रवेश भी सूर्योदयसे ही होता है।' सिद्धान्त-शिरोमणि, पुलस्तिसिद्धान्त तथा वसिष्ठ-संहिताका असंदिग्ध मत है कि 'सूर्यके दर्शनका नाम दिन

और अदर्शनका नाम रात्रि है; अतः दिनका आरम्भ सूर्योदयसे ही होता है।' इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि सूर्योदयसे पूर्व तथा अर्धरात्रिके पश्चात् होनेवाले सन्ध्यादि धार्मिक कृत्योंमें तो अर्धरात्रिसे वार-प्रवेश माना जाता है; बाकी समस्त कर्मोंमें सूर्योदयसे वार-प्रवेशका विधान है।

सूर्योदय अक्षांश और क्रान्तिभेदसे भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न समयमें होता है और वर्षमें दिन तथा रात्रिके मानमें क्षय-वृद्धि भी होते रहते हैं; परंतु अहोरात्र ६० घटियोंका ही रहता है। अतएव दिन-रात्रिके क्षय-वृद्धिकी कठिनाईसे बचनेके लिये गणनामें 'वार-प्रवृत्ति'से काम लिया जाता है। जब पूर्ण अर्थात् शून्य क्रान्तिके दिन सायनमानमें सूर्य विषुवत् रेखा अर्थात् मेष और तुला राशियोंपर आता है, उस दिन विश्वमें सब कहीं दिन और रात्रि बराबर होते हैं। अतएव इस दिनके सूर्योदयके समयको स्थिर मानकर उसी समयको 'वार-प्रवृत्ति' नाम दिया गया है। ज्यौतिषशास्त्रमें इसका अच्छा स्पष्टीकरण है—उसका सारांश यह है कि अपने नगर या ग्रामके सूर्योदय-समयसे ६ होरापर (६ बजे) 'वार-प्रवृत्ति' होती है। दुघड़िया मुहूर्त, कालहोरा, नक्षत्रहोरा, क्षण-वार आदिमें यही ६ होरापर वार-प्रवृत्ति मानी जाती है। इसके अनुसार भारतमें वार-प्रवृत्तिका समय भारतीय विषुवत् रेखा, जो उज्जैनसे जाती है, उसके अनुसार निश्चित होना चाहिये—ब्रिटेनके ग्रीनविच नगरकी कल्पित विषुवत् रेखासे नहीं। भारतका स्थिर समय (स्टैंडर्ड टाइम) उज्जैनके समयसे निश्चित होना चाहिये, वर्तमान समयकी भाँति ग्रीनविचसे नहीं। अन्तर्राष्ट्रिय स्थिर समयसे सम्बन्ध रखनेके लिये भारतीय स्थिर समय और ग्रीनविचके समयमें जो ५ घंटे, ३० मिनटका अन्तर है, उसे पूरे ६ घंटोंका अन्तर कर देना चाहिये। अर्थात् यह अन्तर ३० मिनट और बढ़ा दिया जाय। फल यह होगा कि भारतकी घड़ियोंके अनुसार आज जिसे प्रातःकालके ६ बजे कहा जाता है, उसे रात्रिके १२ बजे कहा जाय और शामके वर्तमान ६ बजेको दिनके बारह बजे। आजके सात बजे प्रातःको दिनका एक बजा कहा जाय; क्योंकि उसी समयसे दिन आरम्भ होता है। १२ बजनेपर दिन समाप्त हो जायगा, उसके १२ घंटे पूरे हो जायँगे और रात्रिके वर्तमान ७ बजेको रात्रिका एक बजा कहा जायगा; क्योंकि वह रात्रिका प्रथम घंटा है। अपने बारह घंटे समाप्त करके १२ बजे रात्रि समाप्त हो जायगी। हमारे कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे ब्रिटेनके ग्रीनविच नगरमें वार-प्रवृत्ति एक बजेसे होती है, वैसे ही भारतमें भी होनी चाहिये। भारतको ब्रिटेनका अनुगत न होकर इस सम्बन्धमें भी स्वाधीन होना चाहिये। लड़ाईके समय स्थिर समय (स्टैंडर्ड टाइम) एक घंटा बढ़ा देनेसे जैसे कोई गड़बड़ी नहीं हुई थी, उसी प्रकार वर्तमान समयकी मान्यता बदलनेमें भी कोई गड़बड़ी न होगी। थोड़ेमें हमारे वारके सम्बन्धमें निम्न सुझाव हैं—

१—वार-प्रवेश प्राचीन विषुवत् रेखा (देशान्तर) से माना जाय, आजके देशान्तरसे नहीं।

२—काशीके सूर्योदयके समयके ६ बजेसे वार-प्रवेश माना जाय; क्योंकि काशी मध्य अक्षांशपर है।

३—वर्तमान स्थिर समय (स्टैंडर्ड टाइम) को आधा घंटा और बढ़ाकर उसी समयसे वार-प्रवेश माना जाय। वार-प्रवेशका सम्बन्ध ग्रीनविचसे हटाकर उसका भारतीयकरण किया जाय।

जितेन्द्रियके लिये घर-वन एक-सा है

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम्॥

(श्रीमद्भा० ५ । १ । १७)

जो प्रमादग्रस्त है उसे वनमें रहनेपर भी पतनका भय रहता है; क्योंकि काम, क्रोध आदि छः श[त्रु] सदा उसके साथ निवास करते हैं; परंतु जो जितेन्द्रिय है और अपने आत्मामें ही रमण करनेवाला है, उस विद्वान् पुरुषका गृहस्थाश्रम भी क्या अनिष्ट कर सकता है?
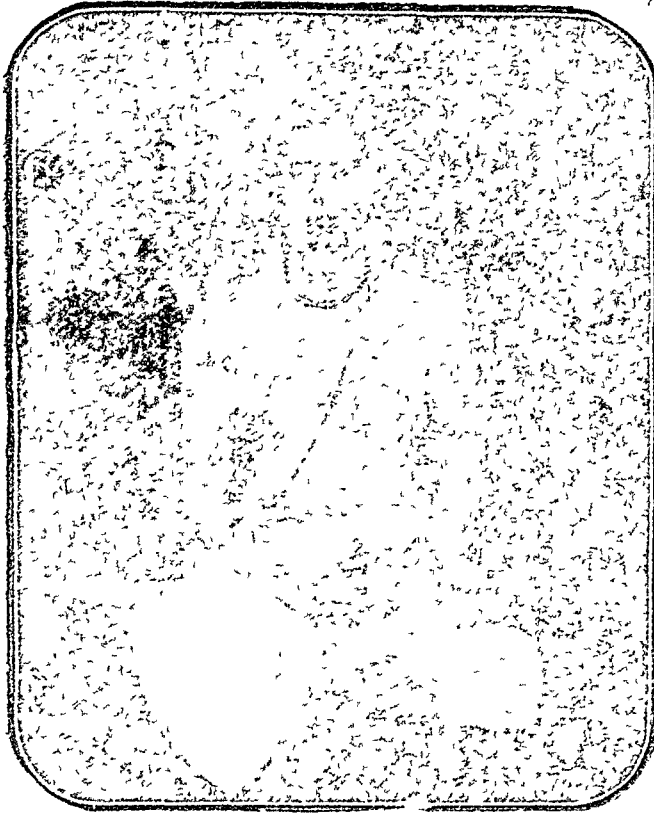
महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण
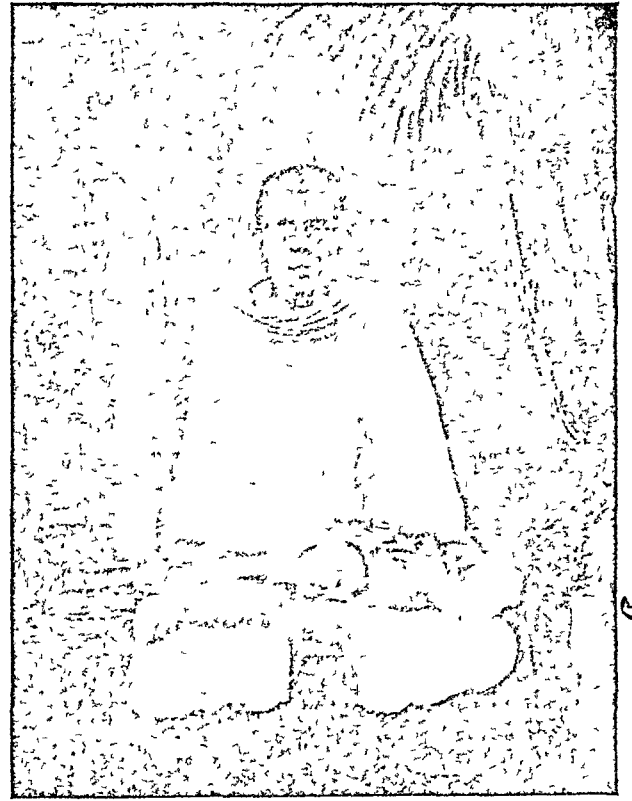
महामहोपाध्याय पं० श्रीपञ्चानन तर्करत्न

विद्यावाचस्पति पं० श्रीमधुसूदन झा

विद्यामार्तण्ड पं० श्रीसीताराम शास्त्री

महामहोपाध्याय पं० श्रीशिवकुमार शास्त्री
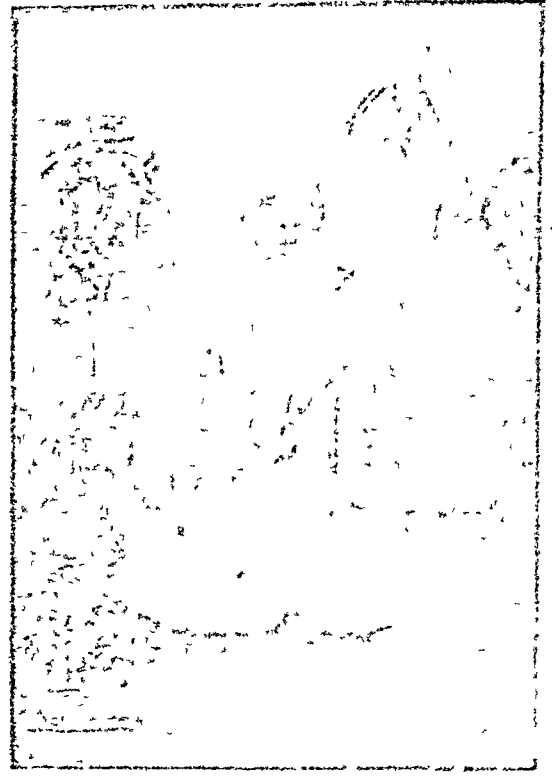
महामहोपाध्याय पं० श्रीगंगाधर शास्त्री तैलङ्ग
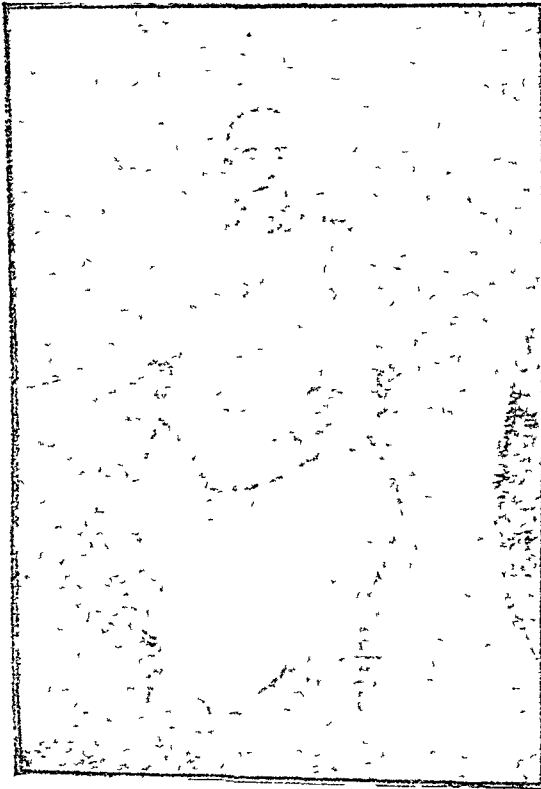
महामहोपाध्याय पं० श्रीलक्ष्मण शास्त्री द्राविड़
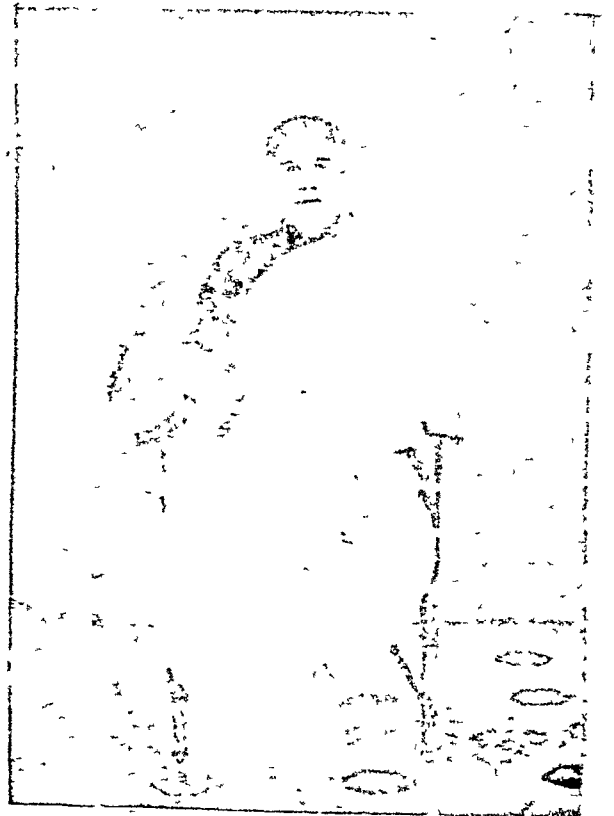
महामहोपाध्याय गो० श्रीदामोदरशास्त्री

हिंदू-संस्कृतिमें सामुद्रिक-शास्त्र

(लेखक—पं० श्रीवन्नालाल रेवतीरमणजी जोशी)

जिस प्रकार हिंदू-संस्कृतिमें अन्यान्य विद्याओंपर पूर्ण प्रकाश डाला गया है; उसी प्रकार सामुद्रिक-शास्त्रपर भी पूर्ण विचार हुआ है। सामुद्रिक-शास्त्रका विषय बहुत गहन और कठिन है। यह भारतकी प्राचीन विद्या है और पाश्चात्योंने इसे यहींसे लिया है। अनेक कारणोंसे इस समय यह इस देशमें लुप्तप्राय है और इस विषयका उपयोगी साहित्य भी प्रायः दुष्प्राप्य हो गया है। यदि इस शास्त्रका कोई पूर्ण ज्ञाता हो तो इससे सब बातें ठीक मिलती हैं। जन्मलग्नसे बताये जानेवाले फलादेशमें भूल हो सकती है; क्योंकि समयके जरासे अन्तरमें ग्रहदशा बदल जाती है। परंतु हाथकी रेखाके फलादेशमें किसी प्रकार भी अन्तर नहीं पडता। क्योंकि रेखा तो हाथके साथ ही आती है। इस शास्त्रमें तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, मेषादि राशियों और लग्न इत्यादि हाथकी रेखाओंसे ही बता दिये जाते हैं। प्रभातकालमें हाथका दर्शन करना पुण्यदायक, मङ्गलप्रद और समस्त-तीर्थसेवनके सदृश माना गया है। इसीसे हमारे यहाँ प्रातःकाल उठते ही हाथोंके देखनेकी प्रथा है। सामुद्रिक-शास्त्रके प्रणेताओंने बतलाया है कि मातृरेखा, पितृरेखा और आयुरेखा—ये तीनों क्रमसे गङ्गा, सरस्वती और यमुना हैं। तीनोंका दर्शन त्रिवेणीसङ्गमके दर्शनके समान पुण्यदायक है।

> पितृरेखा भवेद् गङ्गा मातृरेखा सरस्वती।
> आयूरेखात्र यमुना तत्संगस्तीर्थमक्षयम्॥
> तलं सिंहासनं साक्षात् तत्रस्थस्त्रिजगद्गुरुः।
> आदिदेवोऽङ्गुलैः सेव्यो जयादिदेवताजनैः॥

हिंदू-शास्त्रोंके प्रणेताओंने कैसे-कैसे श्रेष्ठ शास्त्र रचे हैं, जिनसे केवल हिंदुओंका ही कल्याण नहीं होता, अपितु मनुष्यमात्रका ही मङ्गल होता है। सामुद्रिक-शास्त्रमें केवल रेखाओं—अङ्गोंको देखकर भूत, भविष्यत्, वर्तमानके सभी शुभाशुभ फल जाने जा सकते हैं। मैं यहाँ इस शास्त्रके अन्य विषयोंको छोड़कर केवल रेखाविमर्शनाधिकारकी कुछ बातें संक्षेपमें निवेदन करता हूँ—

> रत्नाकराद् गोत्ररेखा करभाद् धनतेजसोः।
> एता रेखा यान्ति तिस्रस्तर्जन्यङ्गुष्ठकान्तरे॥
> रेखास्तिस्रोऽप्यमूर्येषां सम्पूर्णदोषवर्जिताः।
> गोत्रे धने जीविते च तेषां वृद्धिर्न संशयः॥
> हस्तरेखात्रयं चैतद् विश्वत्रयमुदाहृतम्।
> पितृरेखोर्ध्वलोकं स्यान्मातृरेखा च मानवी॥
> पातालमायूरेखा स्यादेता दक्षिणहस्तगाः।
> धातुमूलं तथा जीवं वामे चैता विपर्ययात्॥

अर्थात् मणिबन्धसे अङ्गुष्ठ और तर्जनीके बीचमें जो रेखा गयी हो, उसको गोत्र या पितृरेखा कहते हैं। करभसे उत्पन्न होकर इन्हीं अङ्गुष्ठ-तर्जनीके बीचमें जानेवाली रेखाको मातृरेखा या धनरेखा कहते हैं। और तीसरी आयुरेखाको जीवित वा तेजरेखा कहते हैं। ये तीनों रेखाएँ किसीके हाथमें सम्पूर्ण और निर्दोष हों तो वे गोत्र, धन एवं आयुकी वृद्धि बतलाती हैं। पितृरेखाको ऊर्ध्वलोक, मातृरेखाको मृत्युलोक और आयुरेखाको पाताललोक कहते हैं। इन्हीं तीनों रेखाओंको धातु, मूल, जीव भी कहते हैं। पितृरेखाके स्वामी ब्रह्मा, मातृरेखाके स्वामी विष्णु और आयुरेखाके स्वामी शिव होते हैं। इन्द्र, यम, वरुण और धनकुबेर (वैश्रवण)—ये हथेलीके चारों दिशाओंके क्रमसे स्वामी हैं।

पितृरेखा बाल्यावस्थाकी द्योतक है, मातृरेखा तरुणावस्थाकी और आयुरेखा वृद्धावस्थाकी द्योतक है। पितृरेखासे वायुप्रकृति, मातृरेखासे पित्तप्रकृति, आयुरेखासे कफप्रकृति जानी जाती है। पितृ, मातृ और आयुरेखा क्रमसे चर, स्थिर और द्विस्वभावसंज्ञक हैं। क्रमसे पुरुष, स्त्री, नपुंसक तथा नभचर, थलचर, जलचर और इसी प्रकार सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी भी हैं। इन तीनों रेखाओंमेंसे जिसके हाथमें जिस रेखाकी प्रधानता हो, उसीका फल कहना चाहिये। बायें और दाहिने हाथसे आवागमनका भी ज्ञान होता है। जैसे—किसीके बायें हाथमें पितृरेखा स्पष्ट हो, वह पितृलोकसे आया है एवं दाहिने हाथमें हो तो वह मरनेके पश्चात् पितृलोकमें जायगा।

इस प्रकार रेखाओंपरसे समस्त ज्ञेय, चराचर भूत और भूत, भविष्य, वर्तमानका प्रकाश होता है। जीवनके प्रायः सभी शुभाशुभ हाथकी रेखाओंसे स्पष्ट ज्ञात हो जाते हैं। विस्तारभयसे प्रत्येक रेखाके फलोंको पृथक्-पृथक् न लिखकर साधारणतया यहाँ केवल उन बत्तीस लक्षणोंके नाम ही लिख देता हूँ, जो सर्वथा शुभसूचक हैं। छाता, कमल, धनुष, रथ, वज्र, कछुआ, अङ्कुश, बावली, स्वस्तिक, तोरण, बाण,

सिंह, वृक्ष, चक्र, शङ्ख, हाथी, समुद्र, कलश, मन्दिर, मछली, यव, जुवा, स्तूप, कमण्डलु, पर्वत, चमर, दर्पण, वृष, पताका, लक्ष्मी, पुष्पमाला, मोर—ये लक्षण जिनके हाथमें हों, वे मनुष्य पुण्यवान्, भाग्यवान् और धनवान् होते हैं।

सामुद्रिक शास्त्र हिंदू-जातिका एक गौरवास्पद एवं परिशीलन और मनन करने योग्य शास्त्र है। वाल्मीकि-रामायण, सुन्दरकाण्डके ३५ वें सर्गमें जब महावीर हनुमान्जीने माता सीताजीके दर्शन किये, तब उन्होंने कहा, 'माता! मुझे आप भगवान् श्रीरामचन्द्रका दूत समझें। मैं उन्हींकी आज्ञासे आपका समाचार लेनेके लिये आया हूँ।' तब माता जनकनन्दिनीने आज्ञा की कि 'यदि तुम भगवान्के दूत हो तो उनके सारे लक्षणोंका वर्णन करो।' इसपर महावीर श्रीहनुमान्ने भगवान्के समस्त सामुद्रिक लक्षणोंका वर्णन किया है।

महाराज वीर विक्रमादित्यमें भी ये सब लक्षण थे; जिनसे वे 'परदुःखभञ्जन' कहलाते थे। प्राचीन समयमें सामुद्रिक-विज्ञान बड़ी उन्नत दशामें था और अधिकांश लोग इसके अच्छे जानकार थे। परंतु समयके प्रभावसे अब यह लुप्त-सा हो गया है।

फलित ज्योतिषके प्रत्यक्ष अनुभव

(लेखक—पं० श्रीदेवीदत्तजी शर्मा ज्योतिषाचार्य)

ज्यौतिषशास्त्रके अठारह सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। करणग्रन्थ तथा अनेक फलितग्रन्थ हैं; परंतु फलविचारमें मतभेद भी है। अतः फल ठीक न मिलनेसे लोगोंकी श्रद्धामें न्यूनता आना स्वाभाविक है।

शास्त्रादेशके साथ-साथ अनुभवके आधारपर फल बतलानेवाला ज्योतिर्विद् अपना मान तो बढ़ायेगा ही, साथ ही इससे ज्यौतिषशास्त्रका गौरव भी उन्नत होगा। कई वर्षोंके अनुभवसे मुझे जन्म और वर्ष-सम्बन्धी जो चमत्कारिक अनुभव प्राप्त हुए हैं, उनमेंसे कुछ यहाँ लिख रहा हूँ। आशा है, ज्योतिर्विज्ञानवेत्ता तथा ज्यौतिषशास्त्रमें रुचि रखनेवाली जनता इससे प्रसन्न होगी; क्योंकि प्रत्येक विद्याके गुप्त रखनेके कारण ही विद्याका ह्रास और लोप हुआ। इसके अनेक उदाहरण हैं।

१—फलितग्रन्थोंमें बृहत्पाराशरीके राजयोग शत-प्रतिशत ठीक मिलते हैं।

२—जन्मसे छठे घरका चन्द्रमा प्रायः (तीस प्रकारोंमें कोई भी) रहता है।

३—सप्तम मङ्गल अर्श (खूनी बवासीर) का सूचक है।

४—सूर्य-शुक्रका रिपुभावमें योग मूत्रकृच्छ्र करता है।

५—शुक्र, मङ्गलका अष्टम घरमें योग उपदंश करता है।

६—लग्नके सूर्य प्रायः अर्द्धशिरकी पीड़ा देते हैं।

७—सप्तम केतु पथरी, दर्द एवं गुदा आदिमें शूलकारक है।

८—जन्मलग्नेश शुभयुक्त, इष्टकेन्द्र या त्रिकोणमें मित्रक्षेत्री प्रायः आजीवन सुखी, मानयुक्त तथा प्रतापी बनाता है।

९—पञ्चमेश, दशमेशका सम्बन्ध प्रबल राजयोग करता है।

१०—पत्नीका सप्तम सूर्य हो तो वह पतिद्वारा अनादर पाती है।

११—वर्षमें सप्तमेशका लग्नमें पड़कर गुरुदृष्ट होना विशेष उन्नतिका सूचक है।

कौन-सी तिथियाँ कब हानिकारक होती हैं

रवि हर दिसि गुन रस नयन मुनि प्रथमादिक बार।
तिथि सब काज नसावनी होइ कुजोग बिचार ॥ (दोहावली)

द्वादशी, एकादशी, दशमी, तृतीया, षष्ठी, द्वितीया और सप्तमी—ये सातों तिथियाँ यदि क्रमसे रवि, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनिवारको पड़ें तो ये सब कामोंको बिगाड़नेवाली होती हैं तथा यह कुयोग समझा जाता है।

हमारी संस्कृति और नक्षत्र-विज्ञान

जगत् और जीवन जितना आश्चर्यजनक है, यह ऊपर छतकी तरह ढकनेवाला आकाश उससे कम आश्चर्यप्रद नहीं। आकाश अपना प्रभाव जगत् और जीवनपर डालता है। जब वह सूर्यरूपी नेत्रसे देखता है, तब यहाँ प्रकाश हो जाता है, सुप्त जगत् जाग्रत् हो जाता है, और जीवनमें गति और विकास होने लगता है। दुनिया कुछ-की-कुछ होने लगती है। और वह जब इस नेत्रको मूँदकर सोमरूपी अपने दूसरे नयनको खोलता है, तब चन्द्रिकाकी सुधा-धारासे जगत् और जीवन परिप्लावित हो उठते हैं, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ अमृत-स्नान करके परितृप्त हो जाती हैं और बल सञ्चय करती हैं। प्राणियोंको निद्रा अपनी योगमायाके वशीभूत करने लगती है। जब वह उस नेत्रको भी बंद कर लेता है, तब उस आकाशरूपी महाकालका तीसरा नेत्र असंख्य रूपोंमें बिखरा हुआ सुनसानमें जगत् और उसके प्राणियोंके कर्मोंका लेखा देखने लगता है। कैसा अद्भुत है यह आकाश! आकाशके बीच होनेवाली अनन्त-अनन्त कोटि-कोटि लीलाओंका वर्णन कौन कर सकता है।

इस आकाशको ऋषियोंने तीन भागोंमें विभाजित किया था—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। प्रत्यक्षदर्शी होनेके कारण ऋषियोंके लिये कुछ परोक्ष न था। शुनःशेप ऋषि द्युलोकको देखकर कहते हैं—

अमी य ऋक्षा* निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुहचिद् दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥
(ऋक्सं० १। २। १४। ५)

'ये ऊँचे आकाशमें स्थित नक्षत्रगण रात्रिको दिखलायी देते हैं। तथा दिनमें कहीं और चले जाते हैं। आदित्यके कर्म आश्चर्ययुक्त हैं; वह जिधर होकर जाता है, उधर ये नक्षत्र निष्प्रभ हो दिखलायी नहीं देते और दूसरी ओर चमकने लगते हैं। उसीकी किरणोंसे चन्द्रमा प्रकाशमान होकर रातको उगता है।'

वरुण अर्थात् आदित्यको देखकर वही शुनःशेप ऋषि अगले सूक्तमें कहते हैं—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः॥
वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।
वेदा य उपजायते॥

'जो आदित्य अन्तरिक्षमें उड़ती हुई चिड़ियोंकी गति देखता है तथा जो समुद्रके मध्यमें जानेवाली नौकाओंको देखता है, अर्थात् पृथिवी और अन्तरिक्षमें होनेवाली सारी घटनाओंको देखता है; जो धृतव्रतः अर्थात् नियमपूर्वक होनेवाले और अपनी नयी छटा दिखानेवाले बारह महीनोंको देखता है, और उनके साथ उत्पन्न होनेवाले मलमासको भी देखता है।'

प्रस्कण्व ऋषि ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ५०वें सूक्तमें कहते हैं—

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः।
सूराय विश्वचक्षसे॥

'सारे संसारको प्रकाश देनेवाले सूर्यका आगमन होनेपर चोरोंके समान सारे नक्षत्र रात्रिके साथ चले जाते हैं।'

आगे अङ्गिराके पुत्र कुत्स ऋषि ११५वें सूक्तमें कहते हैं—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

'यह पूजनीय रश्मियोंका आश्चर्यजनक समूह मित्र, वरुण और अग्निको प्रकाश प्रदान करनेवाला आदित्य पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकको अपनी रश्मियोंसे व्याप्त कर रहा है। यह समस्त स्थावर और जङ्गम जगत्का प्राण है।'

ऋग्वेदकी एक दूसरी ऋचा कहती है—

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्त चक्रे षळर आहुरर्पितम्॥
(ऋक्सं० २। ३। १६। २)

द्युलोकके परे अर्ध स्थानमें स्थित आदित्यने पाँच* ऋतुरूपी पैरवाले तथा द्वादश मासरूपी आकृतिवाले सबके पालक संवत्सरको प्रदान किया है। और दूसरी ओर

---

* यास्कने 'ऋक्षाः'का अर्थ 'नक्षत्राणि' किया है; परंतु 'ऋक्ष' शब्दका भालू अर्थ भी होता है। सायणने इसी दृष्टिसे 'ऋक्षा'का अर्थ 'सप्त तारका.' किया है। इसीके अनुकरणमें पाश्चात्त्योंने सप्तर्षियोंको the Great Bear नाम दिया है, ऐसा मैक्समूलरका भी मत है।

* यास्क कहते हैं—

'इति पञ्चर्तुतया पञ्चर्त्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणं हेमन्तशिशिरयोः समासेन।'

अर्थात् ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें हेमन्त और शिशिरको एक ऋतु मानकर वर्षमें पाँच ही ऋतु स्वीकार किये गये हैं।

इन आकाशमें अवस्थित अन्य सत ऋषियोंने (दस-दस वर्षके) छः अरोंवाले अर्थात् साठ संवत्सररूपी चक्रमें सूर्यको अर्पित किया है। अर्थात् साठ संवत्सररूप चक्रको लेकर सूर्य आकाशमें विराजित हो रहा है। जिस प्रकार बारह महीनोंको लेकर एक संवत्सर चलता है, उसी प्रकार संवत्सर-चक्रको लेकर सूर्य घूमता है। बारह महीनोंमें चन्द्रमाके बारह चक्कर लगते हैं और संवत्सर-चक्रमें साठ बार सूर्य चक्कर लगाता है।

शतपथ ब्राह्मणके अध्याय २।१।३।१; ३ में लिखा है—

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवा ऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्यतेऽर्द्धमासः स देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः ॥ १ ॥

स यत्रोदङ्ङावर्तते। देवेषु तर्हि भवति देवाँस्तर्ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणाऽऽवर्त्तते पितृषु तर्हि भवति पितॄंस्तर्ह्यभिगोपायति ॥ ३ ॥

'वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा—ये देवोंकी ऋतुएँ हैं, और शरद्, हेमन्त और शिशिर—ये पितरोंकी ऋतुएँ हैं। शुक्लपक्ष देवताओंका है और कृष्णपक्ष पितरोंका है। दिनके अधिपति देवता हैं और रात्रिके पितर हैं। फिर दिनका पूर्वार्द्ध देवताओंका है और उत्तरार्द्ध पितरोंका।

'जब सूर्य उत्तरकी ओर बढ़ता है अर्थात् उत्तरायणमें वह देवताओंका अधिपति होता है और दक्षिणायनमें पितरोंका अधिपति होता है।'

ऋक्संहिता और शतपथब्राह्मणके इन अवतरणोंसे स्पष्ट जाना जाता है कि नक्षत्र, चान्द्रमास, सौरमास, मलमास, ऋतु-परिवर्तन, दक्षिणायन-उत्तरायणके साथ-साथ आकाशचक्रमें सूर्यकी महिमाका तात्त्विक ज्ञान ऋषियोंने हमें प्रदान किया है। भारतीय नक्षत्र-विज्ञान और आधुनिक पाश्चात्योंके नक्षत्र-विज्ञान (Astronomy) की पद्धतिमें अन्तर यह है कि भारतीय नक्षत्र-विज्ञान वेदका एक मुख्य अङ्ग अर्थात् नेत्र माना जाता था। क्योंकि वैदिक अनुष्ठानोंके लिये काल-निर्णय करनेमें नक्षत्रोंकी गतिपर विशेष ध्यान दिया जाता था। दर्श-पौर्णमास यज्ञ तथा सांवत्सरिक अहीन याग तथा सहस्रों वर्षोंमें समाप्त होनेवाले सत्रोंके अनुष्ठानमें काल-गणना करनेके लिये जो नक्षत्रोंके बीच विविध स्थितियोंमें सूर्यका संक्रमण होता था, उसका अवलोकन करके नक्षत्र-विद्याका व्यावहारिक ज्ञान ऋषियोंने प्रदान किया। तदनन्तर उसी आधारपर आगे नक्षत्रोंके बीचमें संक्रमण करनेवाले सूर्यमण्डलके अन्यान्य ग्रहोंकी गति और स्थिति तथा उनके द्वारा होनेवाले प्रभावोंका अध्ययन किया गया। नक्षत्र-मण्डलको राशिचक्रमें विभाजितकर प्रत्येक राशिके साथ सूर्य-संक्रमणको देखकर राशियोंके नामपर मेषादि द्वादश सौरमासोंका अवलोकन किया। और पूर्णचन्द्रकी अर्थात् पूर्णिमाकी रात्रिमें नक्षत्रविशेषके पास चन्द्रमाको देखकर चान्द्रमासोंका ज्ञान प्राप्त किया। अर्थात् जिस मासकी पूर्णिमा चित्रा नक्षत्रसे युक्त थी, उसे चैत्रमास, विशाखासे युक्त पूर्णिमा-वाले मासको वैशाखमास, ज्येष्ठासे ज्येष्ठ, पूर्वाषाढ़ा या उत्तराषाढ़ासे आषाढ़, श्रवणसे श्रावण, पूर्वभाद्रपद या उत्तरभाद्रपदसे भाद्रपद, अश्विनीसे आश्विन, कृत्तिकासे कार्तिक, मृगशिरासे मार्गशीर्ष, पुष्यसे पौष, मघासे माघ, पूर्वाफाल्गुनी तथा उत्तराफाल्गुनीसे फाल्गुनमास नाम प्रदान किया गया।

परंतु पाश्चात्य देशोंमें प्रकारान्तरसे जो कुछ भारतीय नक्षत्र-विज्ञानका अरब-ग्रीक लोगोंके द्वारा प्रसार हुआ, वही उनके एतद्विषयक ज्ञानका मूलधन था। इसी आधारपर यन्त्रयुगके विकासके साथ उन्होंने दूरवीक्षण यन्त्रोंका क्रमशः आविष्कार किया। और उसके द्वारा प्रत्यक्ष उनकी स्थितिको अवलोकन करनेका प्रयत्न किया। इस विज्ञानके साथ साथ गणितकी जो सम्पत्ति हमसे उनको मिली थी, उसको उन्होंने बहुत कुछ समृद्ध किया—यह उनकी विशेषता है। परंतु दिन, मास, ऋतु, अयन अथवा राशि-चक्रका जो यहाँ नामकरण हुआ था, उसको अधूरा ही उन्होंने अपनाया। यहाँ दिनोंका नाम रवि, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनि प्रभृति ग्रहोंके नामसे आबद्ध था। उसे तो उन्होंने ग्रहण किया, परंतु महीनोंका नाम उनके यहाँ अवैज्ञानिक ढंगसे रक्खा गया; चन्द्र और सूर्यकी गतिके साथ जो नक्षत्र अथवा राशियाँ महीनोंका निर्माण करती हैं, उनकी पर्याप्त उपेक्षा की गयी। और जनवरी, फरवरी आदि नाम ही नहीं, बल्कि इनकी स्थिति भी चन्द्र-सूर्यकी गतिसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखती। अतएव पाश्चात्त्योंकी मास और वर्षोंकी गणना हमारे सौरवर्षके आधारपर होते हुए भी अनर्गल-सी है और भारतीय शैली सर्वथा पूर्ण और वैज्ञानिक है।

सूर्य जिस आकाशमार्गसे नक्षत्रमण्डलमें होकर जाता है, उसके द्वादश समान भाग करके मेष, वृष प्रभृति राशियोंकी अवतारणा की गयी। मेषराशिके प्रथम विन्दुपर जब सूर्य उदय होता है; तबसे लेकर जब वह पुनः उसी विन्दुपर आ जाता है, तबतक हिंदुओंका एक सौर वर्ष होता है।

अर्थात् नक्षत्रमण्डलमें सूर्यका एक संक्रमण-काल एक सौरवर्ष कहलाता है। सूर्यसिद्धान्तमें सौरवर्ष ३६५·२५८७५६४८४ दिनोंका माना जाता है। आधुनिक युगके सुप्रसिद्ध नक्षत्रविज्ञानवेत्ता (Astronomer) डब्ल्यू० एम्० स्मार्टके अनुसार यह संख्या ३६५·२५६४ दिनोंकी है। भारतीय वर्ष इससे ·००२३ दिन अधिकका हो जाता है। आजकलके पाश्चात्त्य नक्षत्रविज्ञानके मतसे यह वर्ष अनुमानतः ३६५·२५९६ दिनोंका होता है, जो भारतीय मतसे ·०००८ दिन बड़ा होता है। भारतवर्षमें जो मेष-संक्रान्तिसे वर्षगणना की जाती है, उससे साठ वर्षोंके संवत्सरचक्रका हिसाब ठीक-ठीक मिलता है। इन संवत्सरोंके अलग-अलग प्रभव, विभव और शुक्ल आदि नाम दिये गये हैं।

सूर्यसिद्धान्तके अनुसार हिंदुओंके द्वारा जो काल-गणना की जाती है, उसके सामने विश्वकी किसी जातिकी कोई भी काल-गणना नगण्य सिद्ध होती है। हमारे शास्त्रोंके मतमें ४,३२,००० सौर-वर्षोंका कलियुग होता है, द्वापरमें ८,६४,००० वर्ष होते हैं, त्रेतामें १२,९६,००० वर्ष और कृतयुगमें १७,२८,००० वर्ष होते हैं; इस प्रकार कुल मिलाकर ४३,२०,००० वर्षोंका एक महायुग होता है। १००० महायुगोंका एक कल्प होता है। अर्थात् एक कल्पमें ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। कल्पकी गणना करनेवाले ज्योतिर्विदोंने यह भी निश्चय किया था कि प्रत्येक ७१४ वर्षोंमें अयनान्त १०° पीछे चला जाता है। इसके अतिरिक्त वर्षमें १२ राशियाँ, एक राशिमें ३० अंश, १ अंशमें ६० कला; एक कलामें ३० काष्ठा और एक काष्ठामें १८ निमेष अर्थात् पलकी सूक्ष्मतम कालगणना देखकर ज्ञात होता है कि भारतीय मस्तिष्कने इस विषयमें कितना सफल प्रयास किया है। इतना बड़ा काल-ज्ञान दूसरे किसी देशके निवासियोंको अबतक नहीं हुआ।

भारतीय नक्षत्र-विज्ञानवेत्ताओंने क्रान्तिवृत्तको २८ भागोंमें विभाजित किया; इस प्रकार चन्द्रमाके मार्गमें पड़नेवाले २८ तारा-समूह हो गये, जिन्हें चान्द्र नक्षत्रोंके नामसे पुकारते हैं। पीछे चलकर इसमें सुधार हुआ और २८ के स्थानमें २७ ही चान्द्र नक्षत्र माने गये। और क्रान्तिवृत्तके २७ बराबर भाग करके १३°, २०′ (तेरह अंश, बीस कला) प्रत्येक नक्षत्रका क्षेत्र रक्खा गया। प्रत्येक क्षेत्रमें जो सबसे अधिक चमकता हुआ तारा दीख पड़ता है, उसका नाम योगतारा रक्खा गया। और नक्षत्रका जो उपर्युक्त क्षेत्र था, वह उसका भोग कहलाया। योगताराके साथ-साथ कुछ महत्त्वपूर्ण और सुप्रकाशित ताराओंका भी नाम और स्थान निश्चय किया गया। उनमें दक्षिणमें लुब्धक और अगस्त्य तथा उत्तरमें अभिजित्, ब्रह्महृद्य, अग्नि और प्रजापति मुख्य हैं। इनके सिवा क्रान्तिवृत्तके समीप रहनेवाले दूसरे प्रकाशमान तारे, जिनकी आवश्यकता ग्रहोंके ध्रुवकर्क गणनामें पड़ती है, निश्चित किये गये। उनमें मघा, रेवती पुष्य, शततारका और चित्रा मुख्य हैं। रत्नमाला नामके ग्रन्थमें इन तारोंका उल्लेख आता है। पाश्चात्त्य ज्योतिर्विदोंने सम्पूर्ण आकाशके ताराओंको ऐंड्रोमेडा (Andromeda) आदि विभिन्न प्रकारके ८८ तारा-मण्डलोंमें विभाजित किया है। यह तारा-मण्डलकी सूची बनानेकी शैली चीन निवासियोंकी प्राचीन शैलीका अनुकरण है। भारतमें अनावश्यक ताराओंकी सूची न बनाकर काल-गणना तथा सूर्यग्रहण-चन्द्रग्रहणादिकी स्थितिका निश्चय अपने धार्मिक कृत्योंके लाभार्थ किया गया था। सूर्य और चन्द्र-ग्रहणके साथ साथ चन्द्रकी गतिसे होनेवाले तारा-ग्रहणका भी सूक्ष्मज्ञान भारतीयोंको था, इस प्रकार चन्द्रके द्वारा मघाका ग्रहण प्रायः हुआ करता है। ग्रहोंके सिद्धान्तपर भास्कराचार्यने अपने सिद्धान्तशिरोमणि नामक ग्रन्थमें विस्तारसे विवेचन किया है। परवर्तीकालमें आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्यने इस विज्ञानके विषयमें विशेष अनुसन्धान किया है।

नक्षत्र-मण्डलके बीच होकर भ्रमण करनेवाले केवल चन्द्र और सूर्यकी ही स्थिति और गतिका निरीक्षण आर्योंने नहीं किया; बल्कि इनके साथ-साथ मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि नामक अन्य पाँच ग्रहोंकी गति और स्थितिका भी निरीक्षण किया। और क्रान्तिवृत्तमें इनकी ऋजु-वक्र गतियोंके साथ अतिचार और मन्दगतिको भी देखा। इन पाँचोंके अतिरिक्त रवि-चन्द्र तथा तमोग्रह राहु-केतुको लेकर कुल नौ ग्रह माने गये हैं। पाश्चात्त्य लोगोंने चन्द्रके स्थानमें पृथिवीको ग्रह माना है, और राहु-केतुको छोड़कर यूरेनस नेपच्यून और प्लटो—इन तीन ग्रहोंको लेकर कुल १० ग्रह माने हैं। ग्रह-गतिके विषयमें भारतीय और पाश्चात्त्य गणनामें बहुत ही थोड़ा अन्तर पड़ता है।

वराहमिहिरकी बृहत्संहितामें केतु अर्थात् पुच्छल ताराओंका वर्णन आता है। उन्होंने पहले शुभकेतु और धूमकेतु नामसे दो भेद किये हैं और छोटे आकारके देखनेमें शोभनीय, सीधे और श्वेतवर्णके केतुको, जो थोड़े समयमें ही अस्त हो जाता है, शुभकेतु नाम दिया है। इसके

विपरीत अशुभ दर्शनवाले धूमकेतु हैं। बृहत्संहितामें सूर्यादि ग्रहों तथा पृथिवी और विभिन्न नक्षत्रोंसे उत्पन्न होनेवाले सहस्रों केतुओंका वर्णन मिलता है, जिसमें उनकी गति, स्थिति तथा उनके उदयसे होनेवाले शुभाशुभ परिणामोंका भी वर्णन किया गया है। सुदीर्घ कालके अध्ययनका यह परिणाम है कि हमारे यहाँ धूमकेतुके इतने भेदोंका अवलोकन करके उसके पश्चात् होनेवाले फलोंका निरीक्षणकर उसे लिपिबद्ध कर दिया गया है। पाश्चात्त्य नक्षत्र-विज्ञानने अभी केवल १५ वीं शताब्दीसे ही इस विषयमें अनुसन्धान प्रारम्भ किया है। पहले-पहल १४५७ ई० में दिखलायी देनेवाला धूमकेतु, जो १६२५, १८१८ और १८७३ तथा १९२८ ई० में दिखलायी दिया था और जिसके बारेमें पाश्चात्त्योंका अनुमान है कि १९५६ ई० में पुनः उसका दर्शन होनेवाला है, पास-कॉगिया-विनेक-फॉर्बे (Pons-coggia-winnecke-Forbes) के नामसे प्रसिद्ध है। कुछ दूसरे प्रसिद्ध धूमकेतु (Comets) जो निरीक्षण करनेवालेके नामसे प्रसिद्ध हैं, वे हैं—हैली (Halley), डोनाटी (Donati), डेनियल (Daniel) और पेल्टियर (Peltier)। पाश्चात्त्योंकी जानकारीमें १७४४ का धूमकेतु, जिसकी छः पूँछें थीं, सबसे बड़ा आश्चर्यजनक धूमकेतु था। इसके सिवा पाँच-सात और धूमकेतुओंका उल्लेख पाश्चात्त्य ज्योतिर्विज्ञानने किया है। परंतु बृहत्संहितामें तो भयानक-भयानक रँगीली पूँछवाले अग्निकेतु, जो अग्निकोणमें उगते और विलीन हो जाते हैं, तीन पूँछोंवाले ब्रह्मदण्डकेतु, लाल रंगका कौङ्कुम नामक केतु, बाँसकी आकृतिवाले चन्द्रमाके समान प्रभापूर्ण कङ्क नामके केतु इत्यादि-इत्यादि सहस्रों धूमकेतुओंका वर्णन पाया जाता है।

यह तो हुई धूमकेतुकी बात। उल्काओं (shooting stars) के बारेमें भी बृहत्संहितामें जो वर्णन मिलता है, वह आधुनिक पाश्चात्त्य ज्योतिर्विज्ञानकी अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है। अन्तर केवल यह है कि वराहमिहिरने द्युलोकसे फलोपभोग करके गिरनेवाले लोकके नामसे उन्हें पुकारा है और पाश्चात्त्य ज्योतिर्विद् उन्हें नीहारिका-पुञ्जके रूपमें देखते हैं। भारतका दृष्टिकोण आध्यात्मिक होनेके कारण सर्वत्र, यहाँतक कि ज्योतिर्लोकोंमें भी उन्हें धर्म-तत्त्वकी ही चमक दीख पड़ी है; परंतु पश्चिमका विज्ञान जड़वादी होनेके कारण सर्वत्र जड़बुद्धिकी प्रधानताको ही द्योतित करता है। परंतु चिरकालसे दृष्ट और अनुभूत होनेके कारण हमारा दैवी विज्ञान सर्वथा पूर्ण है, आकाशमें होनेवाली प्रमुख घटनाओंके विषयमें हमारी गणना ठीक-ठीक उतरती है। इसके विपरीत पाश्चात्त्योंका आसुरी विज्ञान सर्वथा अपूर्ण है। क्योंकि भारतीय ज्योतिर्विज्ञान हमारे धार्मिक जीवनके लिये उपयोगी है और पाश्चात्त्योंका सामाजिक जीवन इससे वञ्चित रहता है; अतएव इस विज्ञानकी महिमा वहाँ इतनी नहीं है जितनी कि हमारे यहाँ है। इसी कारण शास्त्रकार कहते हैं—

> वेदस्य चक्षुः किल शास्त्रमेतत्
> प्रधानताङ्गेषु ततोऽस्य युक्ता।
> अङ्गैर्यतोऽन्यैरपि पूर्णमूर्त्ति-
> श्चक्षुर्विना कः पुरुषत्वमेति॥

—अलख निरञ्जन

किन नक्षत्रोंमें गया हुआ धन वापस नहीं मिलता

> ऊ गुन पू गुन वि अज कृ म आ भ अ मू गुनु साथ।
> हरो धरो गाड़ो दियो धन फिरि चढ़इ न हाथ॥
>
> (दोहावली)

'उ' से आरम्भ होनेवाले तीन नक्षत्र (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद), 'पू' से आरम्भ होनेवाले तीन नक्षत्र (पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद), वि (विशाखा), अज (रोहिणी), कृ (कृत्तिका), म (मघा), आ (आर्द्रा), भ (भरणी), अ (अश्लेषा) और मू (मूल)को भी इन्हींके साथ समझ लो—इन चौदह नक्षत्रोंमें हरा हुआ—चोरी गया हुआ, धरोहर रक्खा हुआ, गाड़ा हुआ तथा किसीको दिया हुआ धन फिर लौटकर हाथ नहीं आता।

हिंदुओंका रत्नविज्ञान

(लेखक—प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

महर्षि कश्यपका कहना है कि माणिक्यादि रत्नोंको धारण करनेसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता; अतएव कष्टनिवृत्ति तथा सूर्यादि ग्रहोंकी प्रीतिके लिये क्रमशः माणिक्य, मौक्तिक, विद्रुम, मरकत, पुष्पराग, वज्र, नीलम, गोमेद तथा वैदूर्य धारण करने चाहिये—

सूर्यादीनां च संतुष्ट्यै माणिक्यं मौक्तिकं तथा ।
सुविद्रुमं मरकतं पुष्परागं च वज्रकम् ॥
नीलगोमेदवैदूर्यं धार्यं स्वस्वदृढक्रमात् ।

बृहन्नारदीयका भी यही मत है—

मणिमुक्ताफलं विद्रुमाख्यं मरकतं तथा ।
पुष्परागं तथा वज्रं नीलं गोमेदसंज्ञकम् ।
वैदूर्यं भास्करादीनां तुष्ट्यै धार्यं यथाक्रमम् ॥

(पू० भा० ५६ । २८२)

अग्निपुराणके रत्नपरीक्षाप्रकरणमे बहुत-से रत्नोंके नाम आते हैं—यथा वज्र, मरकत, पद्मराग, मुक्ता, महानील, इन्द्रनील, वैदूर्य, गन्धशस्य, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, स्फटिक, पुलक, कर्केतन, पुष्पराग, ज्योतीरस, राजपट्ट, राजमय, सौगन्धिक, गञ्ज, शङ्ख, गोमेद, रुधिराक्ष, भल्लातक, धूली, तुथक, सीस, पीलु, प्रवाल, गिरिवज्र, भुजङ्गमणि, वज्रमणि, टिट्टिभ, पिण्ड, भ्रामर, उत्पल। (अग्नि० २४५ अ०)

शुक्रका कहना है कि वज्र (हीरा), मोती, मूँगा, गोमेद, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुखराज, पाचि और माणिक्य—ये नौ महारत्न हैं, ऐसा विद्वानोका मत है—

वज्रं मुक्ता प्रवालं च गोमेदश्चेन्द्रनीलकः ।
वैदूर्यः पुष्परागश्च पाचिर्माणिक्यमेव च ॥
महारत्नानि चैतानि नव प्रोक्तानि सूरिभिः ।

(शुक्रनीतिसार ४ । २ । १५६)

इनमे लाल वर्णका इन्द्रगोपके समान कान्तिवाला माणिक्य सूर्यको प्रिय है तथा लाल, पीला, सफेद एवं श्याम कान्तिवाला मोती चन्द्रमाको प्रिय है—

रवेः प्रियं रक्तवर्णमाणिक्यं त्विन्द्रगोपरुक् ।
रक्तपीतसितश्यामच्छविर्मुक्ता प्रिया विधोः ॥

इसी प्रकार पीलापन लिये लाल मूँगा मङ्गलको प्रिय है तथा मोर या चाषके पंखोके समान वर्णका पाचि बुधको प्रिय है। सोनेकी झलकवाला पुखराज बृहस्पतिको प्रिय है और तारोंके समान कान्तिवाला वज्र शुक्रको प्यारा है। शनैश्चरको सजल मेघके समान कान्तिवाला इन्द्रनील प्रिय है; किञ्चित् लाल, पीली कान्तिवाला गोमेद राहुको तथा बिलावके नेत्रोंके समान कान्तिवाला एवं लकीरवाला वैदूर्य केतुको प्रिय है—

सपीतरक्तरुग् भौमप्रियं विद्रुममुत्तमम् ।
मयूरचाषपत्राभा पाचिर्बुधहिता हरित् ॥
स्वर्णच्छविः पुष्परागः पीतवर्णो गुरुप्रियः ।
अत्यन्तविशदं वज्रं तारकाभं कवेः प्रियम् ॥
हितः शनेरिन्द्रनीलो ह्यसितो घनमेघरुक् ।
गोमेदः प्रियकृद्राहोरीषत्पीतारुणप्रभः ॥
ओत्वक्षभाश्चलत्तन्तु वैदूर्यं केतुप्रीतिकृत् ॥

(शुक्र० ४ । २ । १५८-१६१)

शुक्र कहते है कि सभी रत्नोमे वज्र (हीरा) श्रेष्ठ है, पर सन्तानकी इच्छावाली स्त्री इसे कभी धारण न करे। गोमेद और मूँगा सभी रत्नोमे नीच है—

रत्नं श्रेष्ठतरं वज्रं नीचं गोमेदविद्रुमम् ।
न धारयेत्पुत्रकामा नारी वज्रं कदाचन ॥

आश्चर्य नही कि भगवान् श्रीरामके राज्यमे प्रत्येक साधारण-से-साधारण प्रजाके सभी मकानोके द्वारोपर सोनेके ही किवाड़ थे और उनमे सर्वत्र हीरे जड़े हुए थे—

प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे ।

रत्नोकी परीक्षाके लिये 'युक्तिकल्पतरु'मे राजा भोजने तथा अपने 'अर्थशास्त्र'मे कौटिल्यने बड़े लंबे-चौड़े विवेचन लिखे है। अग्निपुराणका कहना है कि जो हीरा पानीमे तैर सके, भारी चोट सह सके, षट्कोण हो, इन्द्रधनुषके आकारका हो, हल्का हो या सुग्गोके पंखके रंगवाला हो, चिकना हो, कान्तिमान् तथा विमल हो, वह श्रेष्ठ है—

अम्भस्तरति यद्वज्रमभेद्यं विमलं च यत् ।
षट्कोणं शक्रचापाभं लघु चार्कनिभं शुभम् ॥
शुकपक्षनिभः स्निग्धः कान्तिमान्विमलस्तथा ॥

(अग्निपु० २४६ । ९-१०)

कौटिल्य कहते है कि मोटा, चिकना, भारी चोटको सहनेवाला, बराबर कोनोवाला, पानीसे भरे हुए पीतल आदिके बर्तनमे डालकर हिलाये जानेपर बर्तनमे लकीर डाल देने-

वाला, तकवेकी तरह घूमनेवाला और चमकदार हीरा प्रशस्त समझा जाता है—

> स्थूलं गुरु प्रहारसहं समकोटिकं
> भाजनलेखिनं कुभ्रामि भ्राजिष्णु च प्रशस्तम् ।
> (२ । ११ । ४१)

नष्टकोण, तीक्ष्ण कोनेसे रहित तथा एक ओरको अधिक निकले हुए कोनोंवाला हीरा दूषित समझा जाता है—

> 'नष्टकोणं निरश्रि पार्श्वापवृत्तं चाप्रशस्तम् ।'

हीरा छः स्थानोंमें उत्पन्न होता है तथा छः रंगोंवाला होता है। वह सभाराष्ट्र, कोसल, काश्तीर (काश्मीर), श्रीकटनक, मणिमन्तक तथा कलिङ्ग—इन छः स्थानोंमें उत्पन्न होता है तथा बिलावकी आँखके समान, सिरसके फूलके समान, गोमूत्रके समान, गोरोचनके समान, श्वेत वर्णके स्फटिकके समान और मूलाटीके फूलके रंगवाला होता है।

मोतियोंके वर्णनमें कौटिल्यने अपार बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की है। उनका कहना है कि मोती तीन कारणोंसे उत्पन्न होता है—शङ्खसे, शुक्तिसे तथा हाथी-सर्पादिके मस्तकसे। इनमें भी स्थानभेदसे इसके दस प्रकार होते हैं। मोटा, गोलाकार, तलरहित (चिकनी जगहपर बराबर लुढ़कते जानेवाला), दीप्तियुक्त सफेद, भारी, चिकना तथा ठीक मौकेपर विंधा मोती उत्तम समझा जाता है। अग्निपुराणका कहना है कि मोती शुक्तिसे उत्पन्न होते हैं, किंतु शङ्खसे बने मोती उनकी अपेक्षा विमल एवं उत्कृष्ट होते हैं। हाथीदाँतसे उत्पन्न, सूकर-मत्स्यसे उत्पन्न, वेणुनागसे उत्पन्न या मेघोंद्वारा उत्पन्न मोती अत्यन्त श्रेष्ठ होते हैं—

> मुक्ताफलास्तु शुक्तिजाः········ ।
> विमलास्तेभ्य उत्कृष्टा ये च शङ्खोद्भवा मुने: ॥
> नागदन्तभवाश्चान्याः कुम्भसूकरमत्स्यजाः ।
> वेणुनागभवाः श्रेष्ठा मौक्तिकं मेघजं वरम् ॥
> (अग्निपु० २४५ । १२-१३)

स्वच्छता, वृत्तता (गोलाई), शुक्लता (उजलापन) एवं महत्ता (भारीपन)—ये मौक्तिक मणि (मोती) के गुण हैं—

> वृत्तत्वं शुक्लता स्वाच्छ्यं महत्त्वं मौक्तिके गुणाः ।
> (अग्निपु० २४६ । १४)

शुक्रका कहना है कि सिंहलद्वीपवाले कृत्रिम मोती भी बना लेते हैं, इसलिये मोतीकी परीक्षा करनी चाहिये। रातभर उसे नमक मिले हुए गर्म जलमें रक्खे, फिर उसे धानोंमें मले। इतनेपर भी जो [illegible] न हो, वह असली मोती होता है। शुक्ति- से उत्पन्न ही मोती अलौकिक होते हैं।—

> कुर्वन्ति कृत्रिमं तद्वत्सिंहलद्वीपवासिनः ।
> तत्सन्देहविनाशार्थं मौक्तिकं सुपरीक्षयेत् ॥
> उष्णे सलवणस्नेहे जले निश्युषितं हि तत् ।
> व्रीहिभिर्मर्दितं नैवाङ्गैवर्ण्यं यदकृत्रिमम् ॥
> श्रेष्ठं शुक्तिजं विप्रान्याच्यानं चिनरं विदुः ।
> (शुक्रनीति ४ । २ । १७६-१७८)

कौटिल्यने मोतियोंकी मालाओंके वर्णनमें कमाल किया है। वे कहते हैं कि मालाओंके मध्यमें लगनेसे उनके शीर्षक, उपशीर्षक, प्रकाण्डक, अवघाटक और तरलप्रबन्ध—ये पाँच भेद हैं। फिर मोतियोंकी संख्याके अनुसार इनके दस भेद हैं। जैसे १००८ लड़ोंकी मालाका नाम 'इन्द्रच्छन्द', ५०४ का नाम 'विजयच्छन्द', १०० का नाम 'देवच्छन्द', ६४ का 'अर्धहार', ५४ का 'रश्मिकलाप', ३२ का 'गुच्छ', २७ का 'नक्षत्रमाला', २४ का 'अर्धगुच्छ', २० का 'माणवक' और दस लड़ोंकी मालाका नाम 'अर्धमाणवक' है। इन्हीं मालाओं- के बीच मणि पिरो देनेसे फिर इनके ५० और भेद होते हैं, जिनके बड़े-बड़े लंबे नाम हो जाते हैं—जैसे 'इन्द्रच्छन्दोपशीर्षकार्धमाणवक', 'इन्द्रच्छन्दप्रकाण्डकार्धमाणवक' इत्यादि। शुक्रका कहना है कि मोती और मूँगा—ये दो ही रत्न ऐसे हैं, जिनपर पत्थर और लोहेसे लकीर पड़ती है और जो घिसकर हल्के होते हैं, अन्यथा अन्य सभी रत्न सर्वदा एक-समान निष्कलङ्क रहते हैं—

> नायसोल्लिख्यते रत्नं विना मौक्तिकविद्रुमान् ।
> पाषाणेनापि च प्रायः इति रत्नविदो विदुः ॥
> न जरां यान्ति रत्नानि विद्रुमं मौक्तिकं विना ॥

इसी प्रकार इन ग्रन्थोंमें तथा 'युक्तिकल्पतरु' आदिमें प्रवालादि अन्यान्य मणियोंका भी विस्तारसे लक्षण, यष्टिभेद, अवान्तर भेद तथा मूल्यादिका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

महाभारतका कहना है कि रत्नदानका पुण्य अत्यन्त महान् है—

> रत्नदानं च सुमहत्पुण्यमुक्तं जनाधिप ।
> (अनुशासन० दान० ६८ । २९)

भारतवर्षमें पहले रत्नोंका कैसा बाहुल्य था, यह 'मत्स्य-पुराण'के रत्नाचलवर्णनमें देखते बनता है। वहाँ कहा गया है कि १००० मोतियोंका एक जगह ढेर करे। इसके पूर्व

ओर वज्र और गोमेदका ढेर रक्खे; इनमें प्रत्येककी संख्या २५० होनी चाहिये। इतनी ही संख्याकी इन्द्रनील और पद्मराग मणियोंको दक्षिण दिशाकी ओर रखकर गन्धमादन-की कल्पना करे। पश्चिममें वैदूर्य और प्रवाल (विद्रुम या मूँगों) का विमलाचल बनाये एवं उत्तरमें पद्मराग और सोनेके ढेर रक्खे। धान्यके पर्वत भी सर्वत्र बनाये एवं जगह-जगहपर सोनेके वृक्ष एवं देवताओंकी रचना करे, फिर इनकी पुष्प-गन्धादिसे पूजा करे एवं 'यदा* देवगणाः सर्वे' इत्यादि मन्त्रोंको पढ़कर इस रत्नाचलको विधिपूर्वक ऋत्विजों या आचार्य आदिको दान कर दे—

मुक्ताफलसहस्रेण पर्वतः स्यादनुत्तमः।
चतुर्थांशेन विष्कम्भपर्वताः स्युः समन्ततः॥
पूर्वेण वज्रगोमेदैर्दक्षिणेनेन्द्रनीलकैः।
पद्मरागयुतः कार्यो विद्वद्भिर्गन्धमादनः॥
वैदूर्यविद्रुमैः पश्चात्संमिश्रो विमलाचलः।
पद्मरागैः ससौवर्णैरुत्तरेण च विन्यसेत्॥
धान्यपर्वतवत्सर्वमत्रापि परिकल्पयेत्।
तद्वदावाहनं कुर्याद् वृक्षान्देवांश्च काञ्चनान्॥
पूजयेत्पुष्पगन्धाद्यैः प्रभाते च विमत्सरः।
पूर्ववद् गुरुऋत्विग्भ्य इमान् मन्त्रानुदीरयेत्॥
अनेन विधिना दद्याद्रत्नाचलमनुत्तमम्।

(मत्स्यपुराण ९० । १–९)

महाभारतका कहना है कि जो इन रत्नोंको बेचकर सौम्य प्रकारके यज्ञ करता है या प्रतिग्रह लेकर इन्हें किसी अन्यको दान कर देता है, उन दोनोंको ही अक्षय पुण्य होता है—

यस्तान् विक्रीय यजते ब्राह्मणो ह्यभयङ्करम्।
यद्वै ददाति विप्रेभ्यो ब्राह्मणः प्रतिगृह्य वै॥
उभयोः स्यात्तदक्षय्यं दातुरादातुरेव च।

(महा० अनु० ६८ । २९-३०)

महर्षि वाल्मीकिने अयोध्यापुरीका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह सब प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी और विमानाकार गृहोंसे सुशोभित थी—

प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम्।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम्॥

(वाल्मीकि० बाल० ५ । १५-१६)

अपनी गीतावलीमें गोस्वामीजीने भी इसका गूढ़ विवरण किया है—

कोसलपुरी सुहावनी सरि सरजू के तीर।
भूपावली मुकुटमनि नृपति जहाँ रघुबीर॥
....

गृह गृह रचे हिंडोलना, महि गच काँच सुढार।
चित्र बिचित्र चहूँ दिसि परदा फटिक पगार॥
सरल बिसाल बिराजहीं बिद्रुम खंभ सुजोर।
चारु पाटि पटी पुरट की झरकत मरकत भौंर॥
मरकत भँवर डाँडी कनक मनि जटित दुति जगमगि रही।
पटुली मनहुँ बिधि निपुनता निज प्रगट करि राखी सही॥
बहुरंग लसत बितान मुकुतादाम सहित मनोहरा।
नव सुमन माल सुगंध लोभे मंजु गुंजत मधुकरा॥

(गीता० उत्तर० १९ । १, ३)

जनकपुरीकी शोभा भी आपने ऐसे ही वर्णित की है। मण्डप-रचनाकी शोभामें तो आपने अपने अनूठे रत्नविज्ञान-का ज्ञान प्रदर्शित किया है—

हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमराग के फूल।
रचना देखि बिचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल॥
बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे॥
कनक कलित अहिबेलि बनाई। लखि नहि परइ सपरन सुहाई॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाए। बिच बिच मुकता दाम सुहाए॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥

—आदिमें भला कितना ठोस रत्नविज्ञान भरा है। वाल्मीकीयका लङ्का-वर्णन भी ऐसा ही है।—

कनक कोट मनि खचित दृढ़, बरनि न जाइ बनाव॥

इस एक ही दोहेमें गोस्वामीजीने इसकी विचित्रता कह डाली है।

सचमुच भारतकी अन्तिम अलौकिक विभूतिकी बात पढ़-सुनकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। पर इसमें आश्चर्य क्या; इन सभी ऐश्वर्योंका कारण इसकी एकमात्र धर्मपरायणता थी; पर आज तो हम इस तरह धर्मके पीछे पड़ गये हैं कि यह शब्द ही हमारे कानोंमें खटकने लगा है और धर्मविहीनता दिखलानेमें ही हम सभी प्रकार गौरवका अनुभव करने लगे हैं और इसका जो उचित परिणाम है, वह भी हमारे सामने है!

---

* यदा देवगणाः सर्वे सर्वरत्नेष्ववस्थिताः। त्वं च रत्नमयो नित्यं नमस्तेऽस्तु महाचल॥
यस्माद्रत्नप्रदानेन तुष्टिं प्रकुरुते हरिः। सदा रत्नप्रदानेन तस्मान्नः पाहि पर्वत॥

हमारा हिंदुत्व

(लेखक—ठाकुर श्रीगंगासिंहजी)

'आप हिंदू हैं ?'

'हाँ ।'

'क्या प्रमाण है इसका आपके पास ?'

'प्रमाण ? प्रमाण तो मैं नहीं जानता, पर मैं अपनेको हिंदू मानता हूँ ।'

'अपनी इस मान्यताके सिवा और भी कोई सबूत है क्या ?'

'हाँ, मैं गायको अपनी माता समझता हूँ और उसके लिये खून बहानेको तैयार हूँ ।'

'और ?'

'और गङ्गामें स्नान करके मैं अपनेको पवित्र समझता हूँ ।'

'और ?'

'और अपने धर्मग्रन्थोंको मानता हूँ ।'

'आप किसे धर्मग्रन्थ कहते हैं ?'

'सबका मूल तो वेद है; पर प्रधानतया गीता, रामायण तथा भागवतादि पुराण भी ।'

'अन्य धर्मोके प्रति आपका क्या भाव है ?'

'मैं सबका आदर करता हूँ । किसीकी निन्दा नहीं करता ।'

'और ?'

'और जगत् मुझे क्या कहता है, इसकी मुझे परवा नहीं । मुझे भगवान्‌का भय है । मैं उनका प्रिय बनना चाहता हूँ ।'

'क्या आप हिंदू-कोड-बिलके समर्थक हैं ?'

'नहीं, मुझे आप विरोधी समझें । मैं समझता हूँ कि धार्मिक विषयोंमें सरकारको कानून बनानेका कोई अधिकार नहीं है ।'

'क्या आप मुसल्मानोंसे नफरत करते हैं ?'

'नहीं ! मैं किसीसे नफ़रत नहीं करता । हिंदूधर्ममें तो जीवमात्र भगवान्‌के स्वरूप हैं या अपने आत्मा ही हैं । सभी प्रेमके पात्र हैं और आत्मोपम हैं; फिर हिंदू किसीसे घृणा क्यों और कैसे करे ।'

'क्या आप चाहते हैं कि मसजिदें तोड़कर उनके स्थान-पर मन्दिर बना दिये जायँ ?'

'नहीं । पर जहाँ पहले मन्दिर रहा हो और मुसल्मानोंने उसे तोड़कर मसजिद बना ली हो, उस स्थानपर मन्दिर होना आवश्यक और न्यायोचित समझता हूँ ।'

'क्या आप हिंदू-धर्मको कभी बदल भी सकते हैं ?'

'नहीं, कभी नहीं । बल्कि मैं तो चाहता हूँ कि यदि मुझे भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो भगवान् करें मैं जन्म-जन्मान्तरोंमें हिंदू ही बनता रहूँ ।'

'क्या हिंदू-धर्मके अतिरिक्त अन्य धर्मोंमें भगवत्प्राप्ति नहीं होती ?'

'होती क्यों नहीं । पर मुझे तो हिंदू-धर्म ही प्यारा है । मैं मानता हूँ कि भगवान्‌के स्वरूपकी व्याख्या तथा उनकी प्राप्तिके सुगम और सरल साधन जैसे इसमें हैं, वैसे और कहीं नहीं हैं ।'

'हिंदू-संस्कृतिके अनुसार आदर्श व्यक्ति, आदर्श पति, आदर्श भाई, आदर्श स्वामी और आदर्श राजा कौन है ?'

'मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम । उनमें सारे आदर्श गुण हैं । वे एकपत्नीव्रती हैं । पिताकी वचनरक्षा और भाई भरतके लिये उन्होंने राज्यका अधिकार छोड़ दिया और भक्तोंके लिये तो वे सब कुछ करनेको तैयार रहते हैं ।'

'आदर्श राजा कैसे ?'

'आदर्श राजा उनके समान और कौन होगा, जिनके राज्यमें कुत्ते और पशु-पक्षियोंतकको न्याय मिलता था, जिन्होंने स्वयं अपनी प्यारी प्रजाके एक व्यक्तिके अनुचित न्यायपर—जिसे उसने एकान्तमें अपनी पत्नीके सामने प्रकट किया था—अपने सारे सुखका, अग्निद्वारा प्रमाणित अपनी निर्दोष प्राणप्रियाका परित्याग कर दिया और प्रजाकी प्रसन्नताके लिये सदाके लिये कलङ्कको सहर्ष स्वीकार कर लिया । इसीलिये तो रामराज्यकी इतनी महिमा है ।'

'आदर्श पत्नी कौन है ?'

'महारानी सीताजी, जिन्होंने दुःखमें पतिका साथ नहीं छोड़ा । भगवान् श्रीराम उन्हें वनमें नहीं ले जाते तो उनके प्राण निकल जाते । उन्हीं प्राणोंको अपने निर्वासन-कालमें उन्होंने आर्यपुत्रकी प्रसन्नता एवं वंश-रक्षाके लिये धारण कर रक्खा ।'

'हिंदुओंका आदर्श नवयुवक ?'

'वीरवर अर्जुन, जिसने एकान्तमें उर्वशी-जैसी अप्सराके प्रणय-प्रस्तावको अस्वीकार करके उसे मातृरूपमें देखा । न तो उन्हें उसका विश्वविमोहन रूप लुभा सका और न उसका शाप ही उन्हें डिगा सका ।'

'आपकी कसौटी क्या है ?'

'शास्त्र, संत और आत्माकी आवाज । इन तीनों कसौटियोंपर जो बात खरी उतरती है, उसे करनेमें मुझे कोई संकोच नहीं, बल्कि बड़ी प्रसन्नता होती है ।'

धनोपार्जनके वर्तमान साधन हिंदू-आदर्शके विरुद्ध हैं

(लेखक—पं० श्रीदयाशङ्करजी दुबे, एम्०ए०, एल्-एल्०बी०)

वर्तमान युग अर्थप्रधान है। संसारमें सर्वत्र अर्थके लिये हाय-हाय मची हुई है। मजदूर और मालिक, किसान और जमींदार, सरकारी अफसर और कर्मचारी, धनवान् और गरीब—सब लोग अधिकाधिक धन प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। बहुत-से अपने प्रयत्नोंमें सफल न होनेके कारण आवश्यक परिमाणमें धन नहीं प्राप्त कर पाते, इसलिये दुखी होते हैं। कई व्यक्ति धन प्राप्त करनेपर भी सुखी नहीं हो पाते; परंतु वे यह विचार नहीं करते कि उनके दुःखका प्रधान कारण क्या है। हिंदू-धर्मशास्त्रने धनके उपार्जनके सम्बन्धमें जो नियम बतलाया है, यदि उसके अनुसार धन प्राप्त किया जाय, तो उससे कभी भी दुःख नहीं मिल सकता। हमारे धर्मशास्त्रोंका आदेश है कि धनका उपार्जन धर्मके द्वारा ही करना चाहिये। धन कभी भी ऐसे साधनद्वारा नहीं प्राप्त करना चाहिये, जिससे सत्यका हनन होता हो, दूसरोंका अहित हो, दूसरोंका शोषण हो, किसीका न्याय्य स्वत्व मारा जाता हो या अपने हिस्सेमें आता हो अथवा दूसरोंको दुःख पहुँचता हो। आज हमलोग धन कमानेकी धुनमें साधनोंका विचार ही नहीं करते और जायज या नाजायज तरीकोंसे धन प्राप्त करते रहते हैं। जब हम धन कमानेमें दूसरोंका हक छीनकर उन्हें दुखी करते हैं, तब फिर हमको उससे सुख कैसे प्राप्त हो सकता है। यदि अपने प्रयत्नोंद्वारा हमने दूसरोंके लिये दुःखका बीज बोया है तो उसका फल दुःखके रूपमें हमको अवश्य भोगना पड़ता है। इसमें सन्देह करनेकी कुछ भी गुंजाइश नहीं है। यह संसारका अटल नियम है कि जो जैसा बीज बोता है, उसको वैसा ही फल प्राप्त होता है। बेईमानी या अधर्मसे जो धन कमाया जाता है, दूसरोंको दुःख पहुँचाकर जो धन प्राप्त होता है, वह प्रायः विलासिताकी वस्तुओंमें या मादक वस्तुओंपर खर्च होता है। उससे केवल हमारी आदतें ही नहीं बिगड़तीं, स्वास्थ्यपर भी उसका बुरा असर पड़ता है और कुछ दिन विलासितामय जीवन व्यतीत करनेके बाद अन्तमें दुःख ही प्राप्त होता है। हमको स्थायी सुख तो दूसरोंको सुखी करके ही प्राप्त हो सकता है। यह तबतक सम्भव नहीं है, जबतक हम धनके उपार्जनमें धर्मका ध्यान नहीं रखते।

किसी एक कपड़ेके दूकानदारके पास ऐसा ग्राहक आता है, जो उसपर पूर्णरूपसे विश्वास करता है। वह दूकानदारसे एक जोड़ा धोती माँगता है। दूकानदार यह जानते हुए कि उस प्रकारकी धोती अन्य दूकानदारोंके पाससे १०) में मिल सकती है, वह उस ग्राहकसे १२) माँगता है। ग्राहक दूकानदारको १२) देकर धोती खरीद लेता है। दूकानदार इस ग्राहकसे २) अधिक लेनेपर प्रसन्न होता है। वह यह कभी विचार नहीं करता कि उसने अपने ग्राहकके साथ जो विश्वासघात किया है, उसका फल उसे दुःखके रूपमें अवश्य भोगना पड़ेगा। यदि प्रत्येक दूकानदार अपनी आमदनीके सम्बन्धमें गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो उसे मालूम हो जायगा कि उसके मुनाफेका एक बड़ा भाग विश्वासघात और बेईमानीसे ही प्राप्त किया गया है। आजकल तो जो दूकानदार सबसे अधिक बेईमानी करता है, चोरबाजारी करता है, या पदार्थोंमें घटिया वस्तुओंकी मिलावट करता है, वह सबसे अधिक योग्य और कार्यकुशल समझा जाता है और अन्य दूकानदार उसका अनुकरण करनेका प्रयत्न करते हैं। आजकल दूकानदारोंमें यह भ्रम फैल गया है कि बिना थोड़ी-बहुत बेईमानी किये दूकानदारीका कार्य सफलतापूर्वक चलाया ही नहीं जा सकता। यह धारणा सत्य नहीं है। इस युगमें भी ऐसे दूकानदार मिल जाते हैं, जो अपने ग्राहकोंको कभी धोखा नहीं देते और ईमानदारीसे अपना कार्य चलाते हैं। वे शीघ्र लखपती तो नहीं हो पाते, परंतु अपनी ईमानदारीकी कमाईसे जो सुख और सन्तोष उनको प्राप्त होता है, वह लखपतियोंको प्राप्त नहीं हो पाता। हमारे अधिकांश व्यापारी आज धनके उपार्जनमें हिंदू-आदर्शको भूल गये हैं। इसलिये उनको दुखी होना पड़ता है। यदि वे सुखी होना चाहते हैं तो उनको थोड़े मुनाफेमें ही सन्तोष करके अपने ग्राहकोंके साथ ईमानदारीका व्यवहार करना चाहिये।

इसी प्रकार आजकल घूसखोरी बहुत बढ़ गयी है। धन-उपार्जनका यह एक सरल साधन मान लिया गया है। एक मनुष्य रेलमें बिना टिकट यात्रा करता है। टिकट जाँच करनेवाला रेलवे-कर्मचारी उससे टिकट माँगता है। वह कर्मचारीको दो रुपये घूसके रूपमें दे देता है और कर्मचारी उसे यात्रा करनेकी

इजाजत दे देता है। नियमानुसार यात्रीको दस रुपये देने पड़ते। इस प्रकार घूसद्वारा कर्मचारी दो रुपये प्राप्त कर लेता है और यात्री आठ रुपये बचा लेता है; परंतु टिकट जाँच करनेवाला कर्मचारी क्या कभी यह भी सोचता है कि उसने अपने कर्तव्यका पालन नहीं किया, उसने अपने मालिकके साथ विश्वासघात किया और अपने दो रुपयोंके लाभके लिये अपने मालिकको दस रुपयोंकी हानि पहुँचा दी। यात्री भी आठ रुपये बचा लेता है; परंतु इस अधर्मद्वारा बचे हुए धनसे क्या उसको सुख और शान्ति मिल सकती है? क्या रेलवे कर्मचारी घूस लेकर अपने कर्मके फलसे बच सकता है? अपने मालिकसे चाहे वह अपनी बेईमानी छिपा ले; परंतु ईश्वरीय न्यायसे वह कदापि नहीं बच सकता। अधर्मद्वारा प्राप्त धनसे कर्मचारी और यात्री दोनोको सुख और शान्ति नहीं मिल सकती।

पुलिस-विभागके कर्मचारियोंका कर्तव्य घूसखोरी बंद करना है। परंतु जब वे ही घूस लेते हैं, तब वे अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते और उसका फल उनको अन्तमें अवश्य भोगना पड़ता है। आजकल घूसखोरी इतनी बढ़ गयी है कि प्रायः उसने हकका रूप धारण कर लिया है। कुछ कर्मचारी अब यह समझने लगे हैं कि घूसके रूपमें किसी कार्यके लिये एक निश्चित रकम ले लेना उनका हक है। जब कोई व्यक्ति अपना दस्तावेज रजिस्ट्री कराने रजिस्ट्रारके दफ्तरमें जाता है, तब उस विभागके कर्मचारी रजिस्ट्रीकी फीसके साथ-ही-साथ बिना अपना हक लिये उसकी रजिस्ट्री ही नहीं करते। कहीं-कहीं अपने हलकेके पटवारियोंसे एक मासका वेतन प्रतिवर्ष ले लेना कानूनगो अपना हक समझते हैं। घूसको इस प्रकारका हक समझना और उसे वसूल करना अपने-आपको धोखा देना है। धनका यह उपार्जन हिंदू-आदर्शके विरुद्ध है। घूसखोरीसे अर्थात् अधर्मसे प्राप्त धनसे कभी भी स्थायी सुख और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। प्रत्येक मनुष्यको यह अच्छी तरहसे समझ लेना चाहिये कि धन सुखका एक साधन मात्र है और जब अधर्मद्वारा प्राप्त धनसे सुख नहीं प्राप्त हो सकता; तब फिर उसे गलत साधनद्वारा प्राप्त करनेका प्रयत्न करना बुद्धिमानी नहीं है। सुख चाहनेवाले व्यक्तियोंको घूसखोरीसे हमेशा दूर रहना चाहिये।

दूसरोंका शोषण करके भी धन प्राप्त होता है। जब एक पूँजीपति अपने कारखानेमें मजदूरोंको उचित मजदूरी नहीं देता, जब एक महाजन अपने कर्जदारोंसे अत्यधिक व्याज वसूल करता है, जब एक जमींदार अपने किसानोंसे बहुत लगान और बेगार लेता है, तब मजदूरों, कर्जदारों और किसानोंका शोषण होता है। उनकी आर्थिक दशा खराब होती जाती है और वे बरबाद हो जाते हैं। पूँजीपति, महाजन और जमींदार इस शोषणद्वारा धनवान् अवश्य हो जाते हैं; परंतु कुछ समयके बाद उनको अपने कर्मोंका फल अवश्य भोगना पड़ता है। अन्तमें दुःख ही उनके हाथ रह जाता है। इनका कार्य भी हिंदू-आदर्शके विरुद्ध होता है। जब ईश्वरकी कृपासे पूँजीपतियों, महाजनों और जमींदारोंको अपने पूर्वजोंसे काफी धन प्राप्त हो गया है, तब उनको उसका उपयोग दूसरोंको सुखी बनानेमें करना चाहिये। इससे उनको अधिक धन भी प्राप्त होगा और स्थायी सुख और शान्ति भी प्राप्त होगी। यह कार्य कठिन अवश्य है; क्योंकि लक्ष्मीजी जिसपर कृपा करती हैं, उसको अपना वाहन (उल्लू) बना लेती हैं और दिन होनेपर उसको अन्धकार-ही-अन्धकार दिखायी देता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह अपने धनका दुरुपयोग करके, दूसरोंका शोषण करके शीघ्र अधिक धनी होनेका प्रयत्न करता है। उसे एक बार अधिक धन तो मिल सकता है, परंतु उसे अपने कर्मोंके फलोंको भी भोगना पड़ता है। स्थायी सुख और शान्तिके लिये वह तरसने लगता है। यदि वह सुखी होना चाहता है तो शोषणके सब कार्य उसे शीघ्र बंद कर देने चाहिये और दूसरोंको सुखी करके ही अपने धनकी वृद्धि करनी चाहिये।

कुछ व्यक्ति मादक वस्तुओंको उत्पन्नकर या बेचकर अपनी जीविका चलाते हैं। वे यह विचार नहीं करते कि उनके ग्राहकोंके स्वास्थ्यपर मादक वस्तुओंके उपभोगका क्या प्रभाव पड़ेगा। लाखों परिवारोंकी आर्थिक दशा मादक वस्तुओंके उपयोगसे चौपट हो गयी है। क्या मादक वस्तुओंके विक्रेता अपने ग्राहकोंकी दुर्दशामें सहायक होकर स्वयं सुखी होनेकी आशा करते हैं? यदि वे सुखी होना चाहते हैं तो उनको धन-उपार्जनका यह साधन त्याग देना चाहिये और ऐसे साधनद्वारा अपनी जीविका प्राप्त करनी चाहिये, जिससे दूसरोंका भी भला हो।

कुछ लोग हिंदू होकर भी गोमांसका ठेका लेते हैं और ऐसे चमड़ेका व्यापार करते हैं, जिसके लिये गायें कसाईखानोंमें मारी जाती हैं। भला बताइये, इसका अन्तिम परिणाम कैसे महान् दुःखदायी नहीं होगा।

धन-उपार्जनके लिये आजकल बड़े-बड़े कारखाने खोले जाते हैं। उनका गंदा पानी नदियोंमें छोड़ा जाता है। कानपुरमें चमड़ेके कारखानोंका गंदा दुर्गन्धयुक्त पानी श्रीगङ्गा-

जीमें छोड़ा जाता है। चीनीकी मिलोंका गंदा पानी भी नदियोंमें छोड़ा जाता है। इस प्रकारके कार्यसे नदियोंके जलकी पवित्रता कम हो जाती है। नदियोंके किनारे निवास करनेवाले व्यक्तियोंके स्वास्थ्यपर इसका बुरा असर पड़ता है। इस प्रकारका कार्य हिंदू-आदर्शके विरुद्ध है। सरकारको इन कारखानोंका ऐसा नियन्त्रण करना चाहिये, जिससे इनका गंदा पानी नदियोंमें न पहुँचने पाये। इंगलैंडकी नदियोंमें गंदा पानी गिराना कानूनद्वारा रोक दिया गया है। भारतमें भी कानूनद्वारा इसे रोकनेका प्रयत्न शीघ्र होना चाहिये। प्रान्तीय सरकारके मन्त्री और व्यवस्थापक-सभाके सदस्योंको इस प्रकारका कानून शीघ्र स्वीकृत करा लेना चाहिये।

भारत गरीब देश है। इसमें धनकी उत्पत्ति शीघ्रतासे बढ़ानेके लिये हमारी भारत-सरकार कुछ नदियोंपर बड़े-बड़े बाँध बँधवाकर बिजली उत्पन्न करनेकी योजनाएँ तैयार कर रही है। इस बिजलीकी सहायतासे बड़े-बड़े कारखाने और छोटे उद्योग-धंधे चलाये जायँगे। नदियोंसे नहरें भी निकाली जायँगी, जिससे सिंचाईमें सहायता मिलेगी और अन्नसंकट दूर होगा। कोसी, दामोदर, महानदी, नर्मदा और ताप्तीपर बाँध बनाये जानेकी योजनाएँ विचाराधीन हैं। धन-उपार्जनकी ये योजनाएँ बहुत अच्छी हैं; परंतु इनके सम्बन्धमें एक बात अवश्य ही विचारणीय है। श्रीनर्मदाजीके दोनों किनारे तपोभूमि माने गये हैं। हमारे शास्त्रोंमें आदेश दिया गया है कि श्रीनर्मदाजीके पवित्र तटपर तपस्या करनी चाहिये। इस आदेशके अनुसार सैकड़ों संत-महात्मा आजकलके जमानेमें भी श्रीनर्मदाजीके किनारे गुफाओं और झाड़ियोंमें शान्तिपूर्वक तप कर रहे हैं और हजारों व्यक्ति प्रतिवर्ष बड़ी श्रद्धासे श्रीनर्मदाजीकी परिक्रमा करते हैं। श्रीनर्मदाजीपर बाँधोंके बन जानेसे और किनारोंपर बड़े-बड़े कारखाने स्थापित हो जानेसे श्रीनर्मदाजीके किनारेकी भूमि तपस्याके योग्य तो नहीं ही रह जायगी। नहर निकालकर सिंचाई करनेसे नियमानुसार परिक्रमा भी नहीं की जा सकेगी; इसलिये आजकल आध्यात्मिक उन्नतिका जो एक प्रधान साधन भारतवासियोंको प्राप्त है, वह लुप्त हो जायगा। थोड़ी बहुत भौतिक उन्नतिके लिये हमको आध्यात्मिक उन्नतिके साधनसे वञ्चित हो जाना पड़ेगा। भारतवासियोंकी सर्वतोमुखी उन्नतिके लिये यह आवश्यक है कि भौतिक और आध्यात्मिक उन्नतिके साधनोंके सामञ्जस्यका सर्वदा ध्यान रक्खा जाय। श्रीगङ्गाजीकी पवित्रता तो शहरोंके गंदे पानीद्वारा नष्ट हो ही चुकी है। भारतमें केवल नर्मदा ही एक ऐसी नदी है, जिसकी पवित्रता अभीतक नष्ट नहीं हो पायी है। हम भारत-सरकारसे अनुरोध करते हैं कि आध्यात्मिक उन्नतिके साधनको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये भारतवासियोंके तपके लिये शान्तिपूर्ण स्थान सुरक्षित रखनेके उद्देश्यसे नर्मदाजीपर बाँध बनानेकी योजनाको त्याग दे। श्रीनर्मदाके किनारे निवास करनेवाले व्यक्तियोंसे—विशेषकर मण्डला, जबलपुर, होशंगाबाद, हंडिया, ओंकारेश्वर, महेश्वर, बड़वानी, कर्नाली, चाँदोद, शुक्लतीर्थ, भड़ौंच इत्यादि स्थानोंके निवासियोंसे अनुरोध करते हैं कि वे सभाएँ करके भारतसरकारसे इस योजनाको त्याग देनेकी प्रार्थना करें और अपने प्रतिनिधियोंद्वारा वैधानिकरूपसे आन्दोलन करें। यदि योजनाके अनुसार श्रीनर्मदाजीपर बाँध बनानेका कार्य आरम्भ हो गया तो संत-महात्माओं और परिक्रमावासियोंको बहुत कष्ट होगा और देशवासियोंकी आध्यात्मिक उन्नतिमें बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी। भौतिक उन्नति देशवासियोंके सुखका एक साधन है और जब किसी भौतिक उन्नतिके साधनसे आध्यात्मिक उन्नतिके साधनमें बाधा पड़ती है, तब भौतिक उन्नतिके उस साधनको—धनके उपार्जनके उस तरीकेको त्याग देना ही उचित है।

तृष्णाके त्यागमें ही सुख है

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता। अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥

(महा० वन० २। ३४-३५)

तृष्णा सबसे बढ़कर पापिष्ठा है, सदा ही उद्वेग उत्पन्न करनेवाली मानी गयी है। उसके द्वारा अधिकतर अधर्ममें ही प्रवृत्ति होती है। वह बड़ी भयङ्कर है और पापकर्मोंमें ही बाँध रखनेवाली है। दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसका त्याग अत्यन्त कठिन है, जो मनुष्यके बूढ़े होनेपर भी बूढ़ी नहीं होती—सदा जवान ही बनी रहती है, जो मानवके लिये प्राणोंका अन्त कर देनेवाले रोगके समान है; ऐसी तृष्णाको जो त्याग देता है उसीको सुख मिलता है।

तुलसीका बिरवा

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे साहित्यरत्न)

छोटा-सा परिवार था गाँवका। खपरैलका मकान और विस्तृत आँगन था। आँगनके बीचमें तुलसीका चबूतरा था; उसमें तुलसीका बिरवा लगा हुआ था। हवाके झकोरेसे वह धीरेसे झूम उठता। प्रातः होते ही गृहिणी स्नान करती और जलभरा लोटा लेकर तुलसीपर चढ़ा देती। धूप देती और पृथ्वीपर माथा टेककर प्रार्थना करती। बच्चे उसके पीछे खड़े रहते; वे भी अपनी माताके साथ तुलसी मैयाके चरणोंमें सिर झुकाते। अपनी कामनाकी पूर्तिके लिये निवेदन करते और इसी प्रकार जब अंशुमाली अस्ताचलकी ओर चले जाते, गृहिणी घृतका छोटा-सा दीप लाकर तुलसीके समीप रख देती और प्रार्थना करती। बच्चे तब भी साथ रहते।

उनके मनमें आशा थी; विश्वास था और थी दृढ़ श्रद्धा—यह माँ है; जननी है; इससे हमारी सुख-शान्ति अक्षुण्ण रह सकेगी। यह कल्याणकर्त्री है। इससे लोक और परलोक दोनों ही सुधर सकेंगे। उनका मन सात्त्विक भावोंसे भर जाता; उनके मनमें दया, प्रेम और दिव्य गुणोंकी अभिवृद्धि होती। यह तुलसीकी कृपा है—यह वे अनुभव करते।

परिवर्तनशील समयने परिवारमें परिवर्तन किया। परिवारमें वृद्धि हुई। लड़के बड़े हुए। उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। वे सभ्य बने।

अब वहाँ खपरैलका मकान नहीं है। वहाँ पक्का मकान बन गया। कुर्सी, मेज और आधुनिक सजावटकी साधारण सामग्रियोंसे घर भर गया। गङ्गाजल अब वहाँ ढूँढ़नेसे नहीं मिलता, अब तो वहाँ अंग्रेजी दवाओंकी शीशियाँ चारों ओर दीखने लग गयीं और तुलसीका बिरवा ······वह तो कभी उखाड़कर फेंक दिया गया था। उसकी आवश्यकता नहीं थी। व्यर्थ ही आँगनमें स्थान घेर रक्खा था उसने; शिक्षित मस्तिष्कने यही निश्चय किया था। तुलसी-चबूतरेसे आँगनकी शोभा कौन बिगाड़े। अब प्रातः न तो किसीको जल चढ़ाना पड़ता है और न वहाँ धूपकी सुगन्ध ही उड़ती है। सन्ध्या-समय दीप-दानके लिये न तो गृहिणी आती है और न उसके आँचलका छोर पकड़े हुए शिशु एकत्र होते हैं। पूजा गयी, श्रद्धा गयी; प्रार्थना गयी। अब तो चाय, समाचार-पत्र और शृङ्गार आ गये हैं!

···और साथ ही सारा परिवार छिन्न-भिन्न हो गया। सब अलग हो गये। सब अपने-अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करने लगे। अब वहाँ सुख-शान्तिके स्थानपर दुःख-दैन्य भर गया। जहाँ प्रेमकी सरिता प्रवाहित होती थी, वहाँ ईर्ष्याकी अजस्र धारा बहने लगी।

× × ×

धरित्रीपर पैर रखनेके लिये निशा काली चादर ओढ़ रही थी और उक्त परिवारकी वृद्धा गृहिणी अपने पड़ोसीके घर गयी थीं। उन्होंने देखा, वहाँ तुलसीका बिरवा लगा हुआ है आँगनके बीचमें चबूतरेपर और पूजा हो रही है। घरके समस्त बच्चे एकत्र होकर सिर झुका रहे हैं। परिवारमें सुख-शान्तिका निवास है। दुःख-दैन्यका नाम नहीं।

गृहिणीकी स्मृति उदित हुई। उनकी आँखोंसे दो बूँद आँसू लुढ़क पड़े। उनके हृदयने कहा यदि मेरा आग्रह मान लिया गया होता; वह आँगनका चबूतरा बचा होता और उसपर होता हरा-भरा माता तुलसीका बिरवा·········

तुलसी-महिमा

तुलसीकाननं चैव गृहे यस्यावतिष्ठते। तद्गृहं तीर्थभूतं हि नायान्ति यमकिङ्कराः॥
तुलसीमञ्जरीभिर्यः कुर्याद्धरिहरार्चनम्। न स गर्भगृहं याति मुक्तिभागी भवेन्नरः॥

जिसके घरमें तुलसी-वन होता है, वह घर तीर्थरूप हो जाता है, वहाँ यमदूत नहीं आते। जो मनुष्य तुलसीमञ्जरीसे भगवान् हरि-हरकी पूजा करता है, वह फिर गर्भमें नहीं आता, वह मुक्तिका भागी हो जाता है।
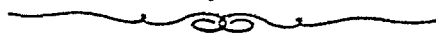
हिंदू-संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीमल्लिनाथजी शर्मा चोमाल)

बहुत-से विद्वानोंका मत है कि 'संस्कृति' और 'सभ्यता'—प्रायः एक ही अर्थके बोधक हैं; क्योंकि ये दोनों शब्द प्रायः मिलते-जुलते-से ही प्रतीत होते हैं। परंतु वे एक ही अर्थके बोधक न होकर कुछ भिन्नता रखते हैं। क्योंकि 'संस्कृति' शब्द तो किसी जाति या व्यक्तिके मानसिक, आत्मिक और बौद्धिक विकाससे सम्बन्ध रखता है और 'सभ्यता' शब्द उसके केवल भौतिक विकाससे।

संस्कृत-व्याकरणके आधारपर 'संस्कृति', 'संस्कृत' और 'संस्कार'—ये तीनों शब्द एक ही अर्थके वाचक और मिलते-जुलते-से ही प्रतीत होते हैं। 'संस्कृति' शब्दसे 'संस्कृत' शब्दका अर्थके विषयमे इतना ही भेद प्रतीत होता है कि 'संस्कृत' शब्दका प्रयोग बहुधा संस्कार की हुई वस्तुके अर्थमे ही होता है और 'संस्कृति' शब्दका प्रयोग संस्कार अर्थमे। अतः संस्कृति और संस्कार एक ही वस्तुके नाम हैं।

सभ्यता भी संस्कृतिमूलक ही है, सभ्यताका आधार संस्कृति ही है; क्योंकि जन्म-जन्मान्तरोंकी संस्कृतिके आधारपर जो क्रियात्मक आदर्श रक्खे जाते है, वे ही सभ्यता कहलाते हैं। उदाहरण यह है कि जैसे कोई जाति या व्यक्ति किसीका आदर-सत्कार आदि अच्छे काम करता है, तो वहाँ यही कहा जाता है कि इस जातिकी या इस व्यक्तिकी संस्कृति ऐसी ही है कि जो इनमे इस प्रकारकी सभ्यता चली आ रही है।

यहाँ 'संस्कृति' शब्द आत्मा, बुद्धि और मनके विकासको प्रत्यक्षरूपसे सूचित करता है और 'सभ्यता' शब्द उसके क्रियात्मक विकासको। अतः किसी जातिके ऐहलौकिक और पारलौकिक जीवन वितानेके ढंग और उस विषयके विचारोंको भी संस्कृति कहा जा सकता है। तथा इसी प्रकार उस जातिके आन्तरिक भावों और जीवन-सम्बन्धी विचारों एवं उसके उच्च आदर्शोंको भी संस्कृति कहा जा सकता है। सभ्यता तो संस्कृतिमूलक है ही; क्योंकि संस्कृतिरूपी बीजका विकास ही सभ्यता कहलाता है। संस्कृतिके द्वारा ही जातियोंकी श्रेष्ठताकी परीक्षा होती है।

हिंदू-जातिकी संस्कृति अन्य जातियोंकी संस्कृतिसे भिन्न है। यह भिन्नता ही इसकी विशेषता है। सृष्टिके प्रारम्भिक कालसे ही इस जातिकी संस्कृति इसकी अमूल्य निधि रही है। इस अमूल्य निधिको पाकर ही वेदव्यास, याज्ञवल्क्य और वशिष्ठ-जैसे ब्रह्मर्षि तथा राजा जनक और श्रीरामचन्द्र-जैसे राजर्षि—ये सब वैभवशाली होनेपर भी जन्मभर त्याग-वृत्तिसे एवं साधुवृत्तिसे ही रहे। क्या किसी अहिंदू जातिमे ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं ?

हिंदू-जातिने अपनी संस्कृतिरूपी निधिके बलपर ही संसारको—

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

—का निमन्त्रण दिया था। क्या मिस्र, यूनान और समस्त यूरोप इस बातको भूल गये हैं कि इनको संस्कृति और सभ्यताका पाठ किसने पढ़ाया था ? सार यह है कि संस्कृतिके बलपर ही हिंदू-जाति आजतक अपने अस्तित्वकी रक्षा कर सकी है।

हिंदू-संस्कृति मनुष्यके सामने विशाल और गहरे आदर्शोंको रखती है। हिंदू-संस्कृति बतलाती है कि शरीर आत्मोन्नतिका साधनमात्र है; परंतु अन्य जातियोंकी संस्कृतियाँ बतलाती है कि शरीर ही जीवनका आदि-अन्त एवं सर्वेसर्वा है। अर्थात् अन्य जातियोंकी संस्कृतियोंमे जीवनका जो अन्तिम ध्येय है, वह हिंदू-संस्कृतिमे अन्तिम ध्येयकी पूर्तिका केवल साधनमात्र है।

हिंदू-जातिको छोड़कर अन्य जातियोमे शरीरकी उपासना अधिक मात्रामे पायी जाती है। वे केवल शरीरकी उपासिका है। शरीरकी उपासना ही उनका अन्तिम ध्येय है; परंतु हिंदू-जाति केवल शारीरिक उन्नतिको अपना लक्ष्य नही बनाती, वह शारीरिक उन्नतिको आध्यात्मिक उन्नतिका केवल साधन या सहायक मानती है। शारीरिक उन्नति करते हुए आध्यात्मिक उन्नति करना हिंदू-संस्कृतिका अन्तिम लक्ष्य है।

हिंदू-जातिकी संस्कृतिको छोडकर अन्य जातियोंकी संस्कृतिमे आत्मविकासके लिये कोई स्थान नही। इसलिये वे अधूरी है। वे यह नही जानती कि आत्मविकासके विना जीवनमे सुख और शान्ति कहाँ है; परंतु हिंदू-संस्कृतिमे आत्मविकासको प्रथम स्थान दिया गया है। इसीलिये अन्य संस्कृतियोंसे हिंदू-संस्कृति श्रेष्ठ और दृढ़ है, तथा इससे आत्माको शान्ति और सुख मिलता है।

हिंदू-संस्कृतिका लक्ष्य है आवश्यकताओंको घटाना

पशु-पक्षियोंकी रक्षाकी शपथ लेकर अपना प्रण पूरा करें।

९–देहातोंके सदस्य आर्थिक झमेलोंकी समस्याका भी समाधान समय, स्थान आदिके अनुकूल करें।

१०–उपयोगी और अति उपयोगी पशु तथा गौओंकी रक्षाकी अटल प्रतिज्ञा की जाय और इनका बेचना भी रोका जाय तथा उन्हें बेचा जाय तो ऐसे लोगोंको जो कि स्वप्नमें भी वधिक-वर्गसे सम्पर्क न रक्खें और किसी भी लालचमें आकर उनको न दें।

११–जीवरक्षक सदस्य किसी जाति-धर्मके विरुद्ध निन्दित कार्य न करें।

१२–जीवरक्षाके प्रेमी ग्रामपंचायत, जनपद, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपलटी और कौंसिल आदिमें अपने अटल प्रतिज्ञाधारी व्यक्ति चुनें।

१३–जीवरक्षक व्यक्ति विधर्मी, विभिन्न भाषा-भाषी और परिगणित दलित तथा अछूत आदि जातियोंमें विशेष प्रचार करें।

१४–बाजार, मेला और सिनेमाओंके द्वारा जीवरक्षाके आर्थिक लाभ तथा स्वास्थ्यवर्द्धक द्रव्य विशेष रूपसे बतलाये जायँ।

१५–जीवहिंसकोंके विरुद्ध शान्तिमय प्रदर्शन भी समयानुसार किये जायँ।

१६–उपयोगी और आदर्श पशुशालाएँ खोली जायँ तो और भी उत्तम हो।

१७–जीवरक्षक-मण्डल लोकोपकारी कामोंमें विशेष भाग लें।

१८–पशुओंकी बीमारी आदिको दूर करनेके लिये भी अधिक प्रयत्न किये जायँ।

१९–जीवरक्षाका कार्य रचनात्मक ढंगसे प्रारम्भ किया जाय और आवश्यकतानुसार पूँजीपतियोंसे सहायता भी ली जाय।

२०–सरकारसे भी आर्थिक सहायता आदि ली जा सकती है।

इन बातोंसे जीवरक्षा-प्रेमियोंको अवश्य सफलता मिल सकती है; परंतु पहले इनके सञ्चालनके लिये संस्थाओंकी आवश्यकता है, इसपर और पाठक भी अपने विचार प्रकट करें।*

संस्कृतिका स्वार्पणयज्ञ

(लेखक—पं० श्रीमङ्गलजी उद्धवजी शास्त्री, 'सद्विद्यालङ्कार')

ब्रह्मविद्यामें जीवनपर्यन्त रत रहनेवाले आर्योंका यह निवासस्थान भारतवर्ष कहलाता है। इस देशमें एक, दो, पाँच या सौ-दो सौ नहीं; किंतु लाखों नर-नारियोंने धर्म और संस्कृतिके लिये अपनी सत्ता, सम्पत्ति एवं मस्तकतकका हँसते-हँसते बलिदान कर दिया है। आज हमारे नेतृवृन्द जिनका यशोगान करते नहीं अघाते, उनसे कई-गुने अधिक बलिदानके दृष्टान्त हमारे प्राचीन इतिहास-पुराणादिमें भरे पड़े हैं। उन स्वार्पणयज्ञके अमर यजमानोंके न कीर्तिमन्दिर हैं और न तो कोई स्मारक ही; एवं न उन्हें जीवनकालमें किसी पद या अधिकारका ही लोभ था। उनका वह त्याग सच्चा यज्ञ था।

आजका त्याग और कष्ट-सहन तो एक व्यापारमात्र है, जो किसी-न-किसी वस्तुके बड़े प्रलोभनसे किया जाता है, जिसके न मिलनेपर क्षुब्ध हृदयसे उसे स्वत्व बतलाकर माँगा जाता है। इसीसे आज शासकवर्गमें कारागारभोगी लोगोंकी ही बहुलता है, फिर चाहे उनमें और कोई योग्यता न हो। उनपर कुर्बानीकी मुहर जो लगी है! वस्तुतः विचार करनेपर निश्चय होता है कि इसमें त्यागके नामपर भोगका ही विस्तार है!

हमारी आर्य-संस्कृति जो कुछ भी त्याग करनेकी आज्ञा देती है, हमारा धर्म जिस वस्तुका स्वार्पण माँगता है, उसे ही स्वार्पणयज्ञ कहा जा सकता है, चाहे वह समर्पण की हुई चीज छोटी-से-छोटी ही क्यों न हो। जिस कालमें, जिस किसी भी अवस्थामें धर्म और संस्कार स्वार्पणके लिये पुकार करता है, उसी कालमें, उसी अवस्थामें माँगी हुई प्रिय-से-प्रिय वस्तुका त्याग ही सच्चा स्वार्पण है।

हो सकता है कि हमारा धर्म, हमारी संस्कृति कभी छोटे-से धागेका ही स्वार्पण चाहे और कभी मस्तकका बलिदान भी माँग ले; परंतु ऐसे अवसरपर भारतीय नर-नारियोंने अपनी प्यारी-से-प्यारी वस्तु, अपनी सर्वसम्पत्ति या अपना मस्तकतक भी दे डालनेमें कभी सङ्कोच नहीं किया है।

* बम्बईमें 'जीवदयामण्डल' बहुत दिनोंसे स्थापित है और वह बहुत ही सुन्दर कार्य कर रहा है।

स्वार्पणकी भावनासे परिपूर्ण भक्तजन जितनी प्रसन्नतासे एक टूटा धागा दे देते हैं, उतनी ही प्रसन्नतासे वे अपने प्राणोंतकको न्योछावर कर देते हैं। इसी भव्यतासे तो आजतक हमारा मस्तक ऊँचा रहता आया है।

इसी बातको विशेष पुष्ट करनेके लिये यहाँ दो-एक उदाहरण दिये जाते हैं।

जूनागढके क्षत्रिय राजा राव महिपालदेव [राव दीयास] रणाङ्गणमें धराशायी हुए। शत्रुसेना मार-मार करती हुई अन्तःपुरके अत्यन्त समीप आ पहुँची। इस समय अन्तःपुरमे रावका इकलौता पुत्र नौघण और राजरानी चिन्तातुर होकर रो रहे थे। अकस्मात् एक विश्वासपात्र मन्त्रीको कर्तव्यकी पुकार सुनायी पड़ी। उसने अपने प्राणोकी बाजी लगाकर रानी और कुमारको गुप्तमार्गसे बाहर निकाला और गिरनारकी भयानक घाटियोको पार करके वे गिरिके जंगलमें स्थित एक छोटे-से गॉवमे जा पहुँचे।

गाँवमें देवायत नामका एक अहीर रहता था। उसको धर्मकी पुकार सुनायी पड़ी और उसने पतिहीना राजरानीकी एवं सुकोमल राजकुमारकी रक्षा करनेका वचन दिया।

मन्त्री निश्चिन्त होकर वहॉसे लौटा। बीचमें ही शत्रु-सेनाने उसे घेर लिया और भागी हुई महारानीसहित राजकुमारका पता बतानेके लिये उसपर जोर डाला गया। स्वामिभक्त मन्त्रीने इस बातको बतानेसे साफ इन्कार कर दिया। शत्रु-सेनापतिने उसे अनेको प्रलोभन दिये और पता न बतानेपर अन्तमे कत्ल कर डालनेका भय दिखाया; परंतु मन्त्री जरा भी विचलित नहीं हुआ। अन्तमे उसे कत्ल कर दिया गया। उसने हॅसते-हॅसते पुष्पमालाकी भाँति खड्गको अपना सिर अर्पण कर दिया! इसे कहते हैं सच्चा स्वार्पण-यज्ञ।

कुछ ही दिनो बाद शत्रुदलको मालूम हो गया कि रानी और राजकुमार दोनों अमुक गॉवके देवायत नामकें एक अहीरके संरक्षणमें रहते हैं। शत्रु-सेना वहॉ भी जा पहुँची। सेनाध्यक्षने अहीरको रानी और कुमारको सुपुर्द करनेकी आज्ञा दी; परंतु उस अहीरने इन्कार कर दिया। अन्तमे सेनाध्यक्षने आज्ञा दी कि 'अहीरको बॉध लो और उसके घरके कोने-कोनेको छानकर कुमारका पता लगाओ।'

देवायतने मन-ही-मन तुरंत अपने धर्म और कर्तव्यका निश्चय कर लिया। पत्नीको बुलाकर उसने नेत्रके सङ्केतसे कुछ समझाया, तदनन्तर स्पष्ट शब्दोमे आज्ञा दी—'कुमार नौघणको यहाँ हाजिर करो।'

चतुर अहीरनी अपने कठिन कर्तव्यको उसी क्षण समझ गयी। उसने अपने इकलौते पुत्रको कुमारके कपड़े पहनाकर उन अत्याचारियोके सम्मुख उपस्थित किया। पुत्रको इस तरह यमदूतोके हाथो सौंपनेमे अहीर-दम्पतिके चेहरेपर जरा भी विषादकी रेखा नही आयी। आश्चर्यकी बात तो यह थी कि उस ग्यारह-वर्षीय अहीरपुत्रने भी अपना परिचय निःसङ्कोच कुमार नौघणके नामसे ही दिया। निर्दयी सेनापतिने उस किशोर बालकको माता, पिता और एक छोटी-सी बहिनके सामने ही कत्ल कर डाला; परंतु उनमेसे किसीके नेत्रसे एक ऑसू भी न गिरा। सभीके मुख अपने शरणागत राजकुमारकी रक्षा हो जानेके कारण प्रसन्न थे और था हृदयमे सच्चे त्यागका सन्तोष!

(२)

अब एक दूसरा उदाहरण लीजिये। कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा थी। एक गरीब किसानके खेतमे पहली फसलमे सर्वप्रथम एक ही नन्हा-सा तरबूज फला। उसे बेचनेके लिये वह बाजारको चला। घरमे अन्नका एक कण भी नही था। बाल-बच्चे भूखे थे। तरबूजका जो भी मूल्य आये, उसीसे थोड़े चावल लाकर उसे आजका नव-वर्षोत्सव मनाना था।

बाजारमें आते ही एक आदमीने उस छोटे-से तरबूजको खरीदना चाहा। बीचमें एक धनी सेठ आ धमके। सेठने भी उसी तरबूजको खरीदना चाहा और तुरंत मोल लगा दिया 'एक रुपया!'

एक रुपया कितना बड़ा था उस गरीब किसानके लिये! उसने तो इकन्नीकी ही आशा रक्खी थी; परंतु अब तो यह मामला स्पर्धामे आ पड़ा! होड़ लग गयी। सामनेवाले आदमीने कहा—'दो रुपये।'

बात बढ़ती ही गयी। एक ही तरबूजके सौ रुपयेतक दाम चढ़ गये। सेठजी चाहते थे, पहली ऋतुके पहले तरबूजके सागका स्वाद लेना और सामनेवाला आदमी चाहता था अन्नकूट-महोत्सवमे भगवान्‌को उस प्रथम तरबूजका भोग लगे। किसान तो ताकता ही रह गया। गॉवमे दूसरा तरबूज उस दिन मिलना असम्भव था, मौसिमकी शुरुआत जो थी।

आखिर किसानने उस साधारण आदमीसे पूछा—

'भाई! सेठजी तो धनी हैं, वे तो एक हजारके मूल्यपर भी इसे ले सकते हैं; आप तो इतने धनी भी नही दिखायी पड़ते। फिर इतनी बड़ी कीमत देकर इस तरबूजके खरीद करनेपर क्यों तुले हो?'

म्बर, दध्न, नील, परमेष्ठी, वृकोदर, चित्र और चित्रगुप्त—इन चतुर्दश नामोंसे इन महिषवाहन दण्डधरकी आराधना होती है। इन्हीं नामोंसे इनका तर्पण किया जाता है।

चार द्वारों, सात तोरणों तथा पुष्पोदका, वैवस्वती आदि सुरम्य नदियोंसे पूर्ण अपनी पुरीमें पूर्व, पश्चिम तथा उत्तरके द्वारसे प्रविष्ट होनेवाले पुण्यात्मा पुरुषोंको यमराज शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी, चतुर्भुज, नीलाभ भगवान् विष्णुके रूपमें अपने महाप्रासादमें रत्नासनपर दर्शन देते हैं। दक्षिण-द्वारसे प्रवेश करनेवाले पापियोंको वह तप्त-लौहद्वार तथा पूय, शोणित एवं क्रूर पशुओंसे पूर्ण वैतरणी नदी पार करनेपर प्राप्त होते हैं। द्वारसे भीतर आनेपर वे अत्यन्त विस्तीर्ण सरोवरोंके समान नेत्रवाले, धूम्रवर्ण, प्रलय-मेघके समान गर्जन करनेवाले, ज्वालामय रोमधारी, बड़े तीक्ष्ण प्रज्वलित दन्तयुक्त, सँडसी-जैसे नखोंवाले, चर्मवस्त्रधारी, कुटिल-भृकुटि भयङ्करतम वेशमें यमराजको देखते हैं। वहाँ मूर्तिमान् व्याधियाँ, घोरतर पशु तथा यमदूत उपस्थित मिलते हैं।

दीपावलीसे पूर्व दिन यमदीप देकर तथा दूसरे पर्वोंपर यमराजकी आराधना करके मनुष्य उनकी कृपाका सम्पादन करता है। ये निर्णेता हमसे सदा शुभकर्मकी आशा करते हैं। दण्डके द्वारा जीवको शुद्ध करना ही इनके लोकका मुख्य कार्य है।

चित्रगुप्त

'पितः! मेरा नाम क्या है? मैं कौन-सा कार्य करूँ? मेरे लिये स्थानका निर्देश करें?' पितामह ब्रह्माजी सृष्टि कार्य सम्पन्न करके परमतत्त्वका ध्यान कर रहे थे। जैसे ही उनका ध्यान भंग हुआ, उन्होंने देखा कि उनके शरीरसे प्रकट एक विचित्र वर्णका पुरुष मसिपात्र और लेखनी लिये उन्हें प्रणाम कर रहा है।

'मेरी कायासे उत्पन्न होनेके कारण तुम कायस्थ हुए। तुम्हारा नाम तुम्हारे वर्णके अनुसार चित्रगुप्त हुआ। जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंका अङ्कन करनेके लिये तुम यमपुरमें निवास करो!' भगवान् ब्रह्माने आदेश दे दिया।

भट्ट, नागर, सेनक, गौड़, श्रीवास्तव्य, माथुर, अहिष्ठाण, शकसेन और अम्बष्ठ—ये नौ पुत्र चित्रगुप्तजीके हुए। कार्तिक शुक्ल द्वितीयाको चित्रगुप्तजीकी पूजा होती है। कायस्थ जाति इनको अपना मूलपूर्वज मानती है।

अग्निदेव

दक्षिण एवं पूर्व दिशाके मध्यका कोण अग्निकोण कहा जाता है। अग्निदेव उसके दिक्पाल हैं। विराट् पुरुषके मुखसे प्रकट होकर ये देव जगत्में धर्मकी पत्नी वसुभार्यासे उत्पन्न हुए। इनकी पत्नी स्वाहा हैं। भेड़ा इनका वाहन है। अक्षसूत्र और शक्ति इनके आयुध हैं। अङ्गारवर्ण, पीतलोचन द्विमुख अग्निदेव यज्ञमें देवताओंकी आहुति वहन करते हैं।

अग्निके अनेक रूप हैं। प्राणियोंके भीतर ये जठराग्नि बनकर पाचन करते हैं। समुद्रमें वडवाग्निरूपसे निरन्तर प्रज्वलित रहते हैं। वनमें दावाग्निरूपसे और सूर्यमण्डलमें दिव्याग्निरूपसे विराजमान हैं। लोकमें यही व्यक्त एवं अव्यक्त सामान्य अग्नि हैं। मेघोंमें इन्हींकी शक्ति विद्युत् होती है।

व्यवहारमें आनेवाले अग्निके भी ब्राह्म, प्राजापत्य, गार्हस्थ्य, दक्षिणाग्नि और क्रव्यादाग्नि—ये पाँच रूप होते हैं। ब्राह्म अग्नि यज्ञमें अरणिमन्थनसे मन्त्रके द्वारा प्रकट होते हैं। ये आहवनीय अग्नि हैं। प्राजापत्याग्नि ब्रह्मचारीको अग्निहोत्रके लिये उपनयनके समय प्राप्त होते हैं। वानप्रस्थाश्रमतक इनकी रक्षा, आराधन और इनमें नित्य हवन उसका कर्तव्य है। गार्हस्थ्याग्नि विवाहके पश्चात् कुलमें प्रतिष्ठित होते हैं। गृहस्थके समस्त शुभ हवनादि इन्हींसे सम्पन्न होते हैं। चिताके अग्नि दक्षिणाग्नि हैं। इनमें शरीरकी अन्तिम आहुति दी जाती है। अभिचार यज्ञ भी इन्हींमें होते हैं। यज्ञ-मण्डपके बाहर उपद्रवोंके शमनके लिये दक्षिण भागमें यह अग्नि प्रतिष्ठित होते हैं। क्रव्यादाग्नि परित्याज्य हैं।

गति, तेज, प्रकाश, उष्णता, पाचन आदि एक ही शक्तिके विविध कार्य हैं। यह वर्तमान विज्ञानने सिद्ध कर दिया है। इस शक्तिके अधिदेवता अग्निदेव हैं। इनकी आराधनासे शक्ति, तेज, स्वास्थ्य और कान्तिकी प्राप्ति होती है। अग्निदेव ज्ञानस्वरूप हैं। इनका उपदिष्ट अग्निपुराण विश्वविद्याकोश कहे जाने योग्य है। अग्निदेव अनेक भारतीय जातियोंके कुलपुरुष हैं।

नैर्ऋत और निर्ऋति

नैर्ऋत्यकोणमें दिक्पाल निर्ऋत या दिक्स्वामिनी निर्ऋति दोनोंका वर्णन पुराणोंमें आता है। निर्ऋति-

लोकमें पुण्यशील एवं अपुण्यशील दो प्रकारके प्राणी रहते हैं। जो राक्षसयोनिमे जन्म लेकर भी हिंसादि नहीं करते, जो म्लेच्छ-चाण्डालादि होकर भी हिंसा, चोरी, जुआ और पर-पीड़नसे अपनेको दूर रखते हैं, वे इस लोकमे पुण्यात्माओंके भोग प्राप्त करते हैं।

दिक्पति निर्ऋति पूर्वजन्ममे विन्ध्याचलमें शबरोंके अधिपति पिंगाक्ष थे। वे यात्रियोंको सदा सुविधा प्रदान करते और उनकी हिंसक जीवो तथा दस्युओंसे रक्षा करते थे। एक बार ये अकेले वनमें घूम रहे थे। यात्रियोका एक दल उनका नाम लेकर 'त्राहि', 'त्राहि' कर रहा था। वहाँ पहुँचनेपर ज्ञात हुआ कि पिंगाक्षके चाचा दस्युदलको लेकर यात्रियोंको लूट रहे है। पिंगाक्षने दस्युओंको रोका। फलतः उनका युद्ध दस्युओंसे हुआ। इस युद्धमें वे मारे गये। दूसरोंके लिये प्राण दे करके वे लोकपाल हो गये।

अमृत-मन्थनके समय समुद्रसे पापकी अधिदेवी निर्ऋतिकी उत्पत्ति हुई। वे महालक्ष्मीसे पहले उत्पन्न होनेके कारण ज्येष्ठा कही जाती हैं। उनकी प्रार्थनासे भगवान् विष्णुने निर्ऋतिको पीपलके वृक्षमें निवास दिया है। महालक्ष्मी वहाँ शनिवारको अपनी अग्रजाके समीप पधारती हैं।

मरुत्

दैत्यमाता दिति अत्यन्त दुखी थीं। उनके दोनों पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुको भगवान् विष्णुने संहार कर डाला। दितिका रोष इन्द्रपर था। इन्द्रके लिये ही तो उनके पुत्र मारे गये। बड़े संयम, प्रेम और दक्षतासे उन्होंने महर्षि कश्यपको प्रसन्न किया। पतिके तुष्ट होनेपर स्त्रीके लिये अप्राप्य क्या रहता है। दितिने सन्तुष्ट पतिदेवसे ऐसा पुत्र चाहा, जो इन्द्रका वध कर सके। महर्षि अपने ही पुत्रका वध कैसे स्वीकार करें? उन्होंने दितिको पुंसवन-व्रतका आदेश दिया।

'माता दिति मेरे वधके निमित्त सन्तान-प्राप्तिके लिये सर्वात्माकी आराधना कर रही है।' इन्द्रकी चिन्ता बढ़ती गयी। वे व्रतस्था दितिकी सेवामे लगे थे। तनिक भी प्रमाद हो तो उद्देश्य नष्ट करनेका अवसर मिले, पर दिति व्रत-पालनमें अत्यन्त सावधान थी। वर्ष व्यतीत होनेमे कुछ दिन ही शेष रहे थे। एक दिन सन्ध्याकालमे श्रान्त दिति सो गयीं। इन्द्रने इस प्रमादसे अवसर प्राप्त किया। उन्होंने दितिके गर्भमें जाकर गर्भको वज्रसे उन्चास टुकड़ोमे काट डाला। पर वे टुकड़े मरे नहीं। व्रतके प्रभावसे वे सब बालक हो गये। इन्द्रने उन्हे सोमपायी देवता बना लिया।

वायुके उन्चास रूप हैं। उनके इतने ही अधिदेवता भी है। किसी कल्पमें ये रुद्र और वृश्निके पुत्र थे। इनके सब उपभेद मिलाकर १८० रूप होते है। इनकी आराधना शरीरमे स्वास्थ्य तथा जीवनमे सिद्धि और संसारमे उचित व्यवस्थाकी स्थापनाके लिये होती है।

पितृराज अर्यमा

अर्यमा पितरोंके अधिपति हैं। और ये नित्य पितर हैं। श्राद्धमे पितरोंकी तृप्ति इन्हींकी तुष्टिसे होती है। यज्ञमे मित्र और वरुणके साथ ये 'स्वाहा' का तथा श्राद्धमे 'स्वधा' का दिया हव्य-कव्य दोनो स्वीकार करते हैं। ये कश्यपजीकी पत्नी देवमाता अदितिके पुत्र है। दृश्य जगत्‌में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र इनका निवास-लोक शास्त्रोंमें कहा गया है।

अर्यमा 'मित्रता' के अधिष्ठाता हैं। मित्रकी प्राप्ति, मित्रत्वका निर्वाह आदि इनकी ही कृपासे कल्याणमय होता है। वंश-परम्पराकी रक्षाके लिये भी इनकी आराधनाका विधान है। किसी प्रकारकी पैतृक व्याधिकी शान्ति (पितृकोटिके प्रेतके उपद्रवकी शान्ति) अर्यमाकी पूजासे सहज हो जाती है।

पूषा

ये पशुओंके अधिष्ठाता, दण्डहस्त, बकरेपर आरूढ़ तथा इन्द्रजाल-क्रियाके मुख्य देवता हैं। द्वादश आदित्योमे ये भी एक आदित्य है। सूर्यमण्डलमे स्थित होकर निश्चित कालमें ये जगत्‌का परिदर्शन करते और पशु-सम्पत्तिकी अभिवृद्धि करते है। दक्षयज्ञमे वीरभद्रने इनके दाँत गिरा दिये थे; क्योंकि ब्रह्मसभामे इन्होंने भगवान् शङ्करका दाँत दिखाकर हँसते हुए अपमान किया था। इनको यज्ञमें चावलका चूर्ण (पिष्टान्न) दिया जाता है। भग ऐश्वर्यके अधिष्ठाता है। वीरभद्रने इन्हें नेत्रहीन कर दिया। मित्र (सूर्य) के नेत्रोंसे ही ये देखते है।

अश्विनीकुमार

त्वष्टाकी पुत्री सरण्यु या संज्ञा भगवान् विवस्वान् 'सूर्य'की

पत्नी हैं। पतिके असह्य तेजसे व्याकुल होकर वे अपनी छाया उनके समीप छोड़कर अश्विनी (घोड़ी) का रूप धारण करके तप करने चली गयीं। उनके अन्वेषणमें अश्वरूपसे सूर्यदेव वहाँ पहुँचे। उस समय संज्ञाको दो यमज सन्तान प्राप्त हुईं। माताके अश्विनीरूपमें होनेसे वे अश्विनीकुमार कहे जाते हैं। उनमें एकका नाम 'नासत्य' और दूसरेका नाम 'दस्र' है। ये आयुर्वेदके परम ज्ञाता और देवताओंके चिकित्सक हैं।

आयु एवं आरोग्यके देवता हैं अश्विनीकुमार। इनके द्वारा उपदिष्ट अश्विनीकुमारसंहिता आयुर्वेदका उत्कृष्ट वाङ्मय है।

चन्द्रदेव

अमृत-मन्थनके समय क्षीर-सिन्धुसे चन्द्रमा निकले थे। जगज्जननी लक्ष्मीजीके इसीसे वे भाई हैं और इसीसे हम-आप सबके वे 'चन्दा मामा' भी हैं। ब्रह्माजीके मानस-पुत्र महर्षि अत्रिके तपसे उनका ऊर्ध्वगामी रेतः सोमरूपमें परिणत हुआ। ब्रह्माजीने अपने अंशभूत अधिदेव चन्द्रमाको उसमें स्थापित किया; क्योंकि महर्षि अत्रिको त्रिदेवोंने अपने-अपने अंशसे पुत्र होनेका वचन दिया था। महर्षिपत्नी अनुसूया दिगन्त उज्ज्वल करनेवाले इस गर्भको रख न सकीं। पृथ्वीपर गिरे सोमको ब्रह्माजीने अपने रथपर बैठाया। वहाँ उस रथपर बैठकर चन्द्रमाने पृथ्वीकी २१ बार प्रदक्षिणा की। उस समय द्रवसोमका जो भाग भूमिपर गिरा, उसीसे ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। भगवान् शङ्करकी कृपासे इन्हें चन्द्रलोक (दृश्य चन्द्रमण्डल) का राज्य प्राप्त हुआ।

ज्यौतिषशास्त्र चन्द्रमण्डलको ही वृष्टिका जलाधार मानता है। समुद्रका ज्वार-भाटा चन्द्रमासे सम्बन्धित है, यह प्रत्यक्ष है। स्वर्गादि लोकोंसे प्राणी पृथ्वीपर चन्द्रमण्डलसे होकर जलवृष्टिके द्वारा ही आता है। चन्द्रदेवने अमृत-पानके समय देववेष-धारी दैत्य राहुका सङ्केत कर दिया था भगवान्‌को। राहु उनके सङ्केतसे मारा गया। परंतु सिर धड़से अलग हो जानेपर भी अमृत पी लेनेके कारण वह मरा नहीं। इसीलिये राहु पूर्णिमाको इन्हें ग्रास करना चाहता है। जब भी वह कुछ सफल होता है, ग्रहण लगता है।

यूरोपीय विद्वान् मनुष्यजातिको हेमेटिक एवं सेमेटिक—दो जातियोंमें विभक्त करते हैं। ये शब्द हिरण्यगर्भ तथा सोमके अपभ्रंश हैं। सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश, भारतमें क्षत्रियों-की यही दो परम्पराएँ हैं। चन्द्रदेव समस्त वनस्पतियोंके पोषक तथा अधिदेवता हैं। ग्रहोंमें ये सबसे तीव्रगामी हैं। इनके रथमें मृग जुड़े हुए हैं। ये अमृतरूप, सुधाकर हैं। ये मनके अधिष्ठातृ-देवता और विराट् पुरुषके मन हैं। इनकी उपासनासे कफरोगोंकी शान्ति, वीर्यदोषकी निवृत्ति तथा मनकी एकाग्रताका सम्पादन होता है। शारीरिक कान्तिकी प्राप्तिके लिये इनकी पूजा अब भी होती है।

आज वैज्ञानिक चन्द्रलोककी यात्राकी बात करते हैं। समय ही बतायेगा कि यह आकाशकुसुम प्राप्त भी होता है या नहीं। वैसे चन्द्रबिम्बमें मनःसंयम करनेसे भूमण्डलकी समस्त घटनाओंका ज्ञान हो जाता है; यह योगशास्त्रका मत है। अनेक परिवर्तित रूपोंमें चन्द्रमाकी उपासना यहूदियों और उनकी धर्मपरम्परामें चलती रही है।

देवगुरु बृहस्पति

महर्षि अङ्गिराकी पत्नी अपने कर्मदोषसे मृतवत्सा हुईं। प्रजापतियोंके स्वामी ब्रह्माजीने उनसे पुंसवन व्रत करनेको कहा। सनत्कुमारसे व्रत-विधि जानकर मुनि-पत्नीने व्रतके द्वारा भगवान्‌को सन्तुष्ट किया। भगवान् विष्णुकी कृपा-से प्रतिभाके अधिष्ठाता बृहस्पतिजी उनको पुत्ररूपसे प्राप्त हुए।

पीतवर्ण, तेजोमय, ज्योतिर्विज्ञानके आधार देवगुरुका आह्वान किये बिना यज्ञ पूर्ण नहीं होता। श्रुतियोंने इन्हें सूर्य एवं चन्द्रका नियन्ता बताया है। सम्पूर्ण ग्रहोंमें ये सर्वश्रेष्ठ, शुभप्रद माने जाते हैं। ये आठ घोड़ोंसे जुते अपने नीतिघोष रथपर आसीन होकर ग्रह-गतिका नियन्त्रण करते हैं। महर्षि भरद्वाज बृहस्पतिके औरस पुत्र हैं।

'बृहस्पति-संहिता' देवगुरुका इन्द्रको दिया हुआ दान-धर्मपर विस्तृत उपदेशोंका संग्रह था। उसका बहुत सूक्ष्म अंश प्राप्त है। कुछ आचार्योंका मत है कि असुरोंको यज्ञ, दान, तप आदिसे च्युत करके शक्तिहीन बनानेके लिये चार्वाकमतका उपदेश भी इन्हीं देवगुरु बृहस्पतिजीने किया था।

स्वामिकार्तिकेय

षण्मुख, द्विभुज, शक्तिधर, मयूरासीन देवसेनापति कुमार कार्तिककी आराधना दक्षिण भारतमें बहुत प्रचलित है। ये ब्रह्मपुत्री देवसेना-षष्ठीदेवीके पति होनेके कारण सन्तानप्राप्तिकी कामनासे तो पूजे ही जाते हैं, इनको नैष्ठिक-रूपसे आराध्य माननेवाला सम्प्रदाय भी है।
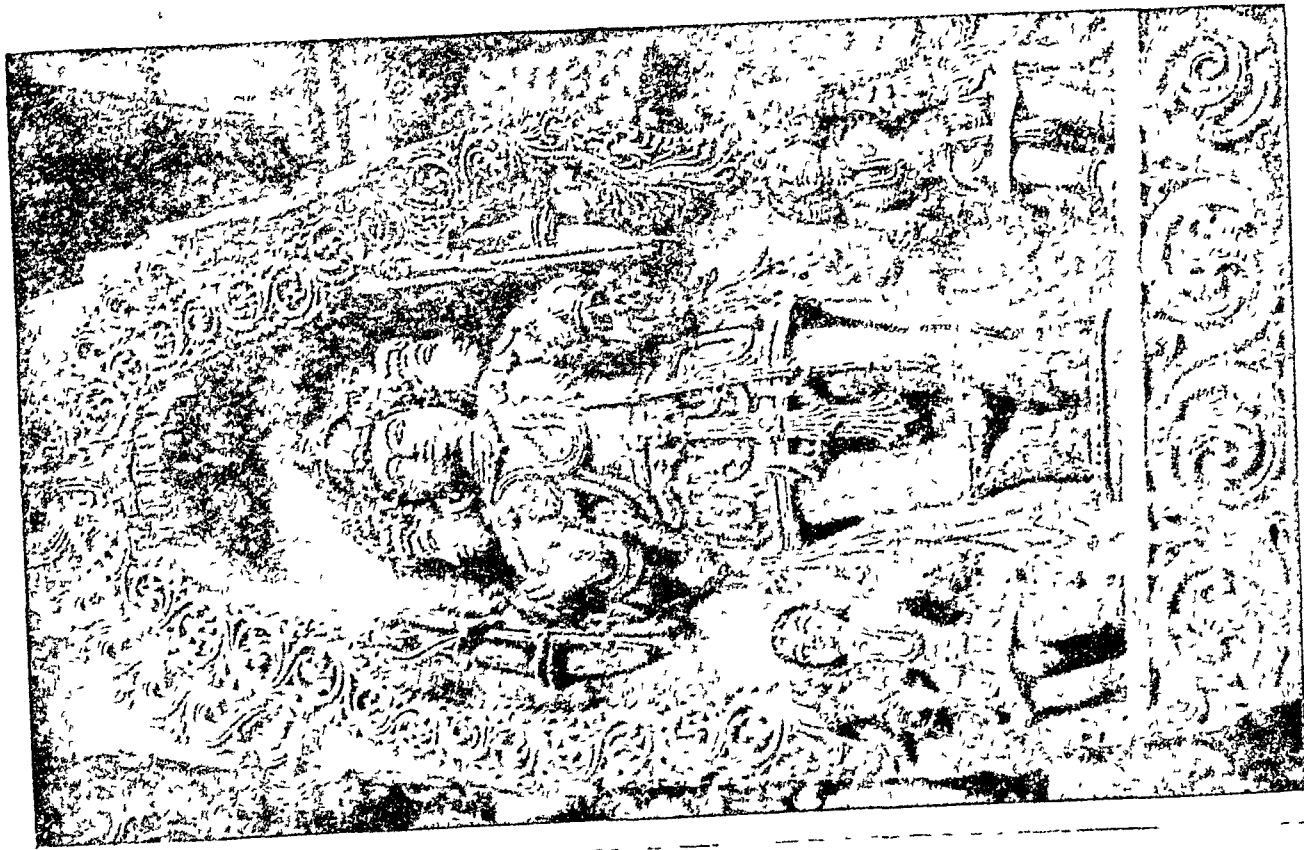
ब्रह्मा (प्रस्तरमूर्ति, हलेविद)

षण्मुख (कांस्यमूर्ति, नल्लूर)

[त्रिवाङ्कुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे

१९

मदन-गोपाल (प्रस्तरमूर्ति, तेनूकाशी)
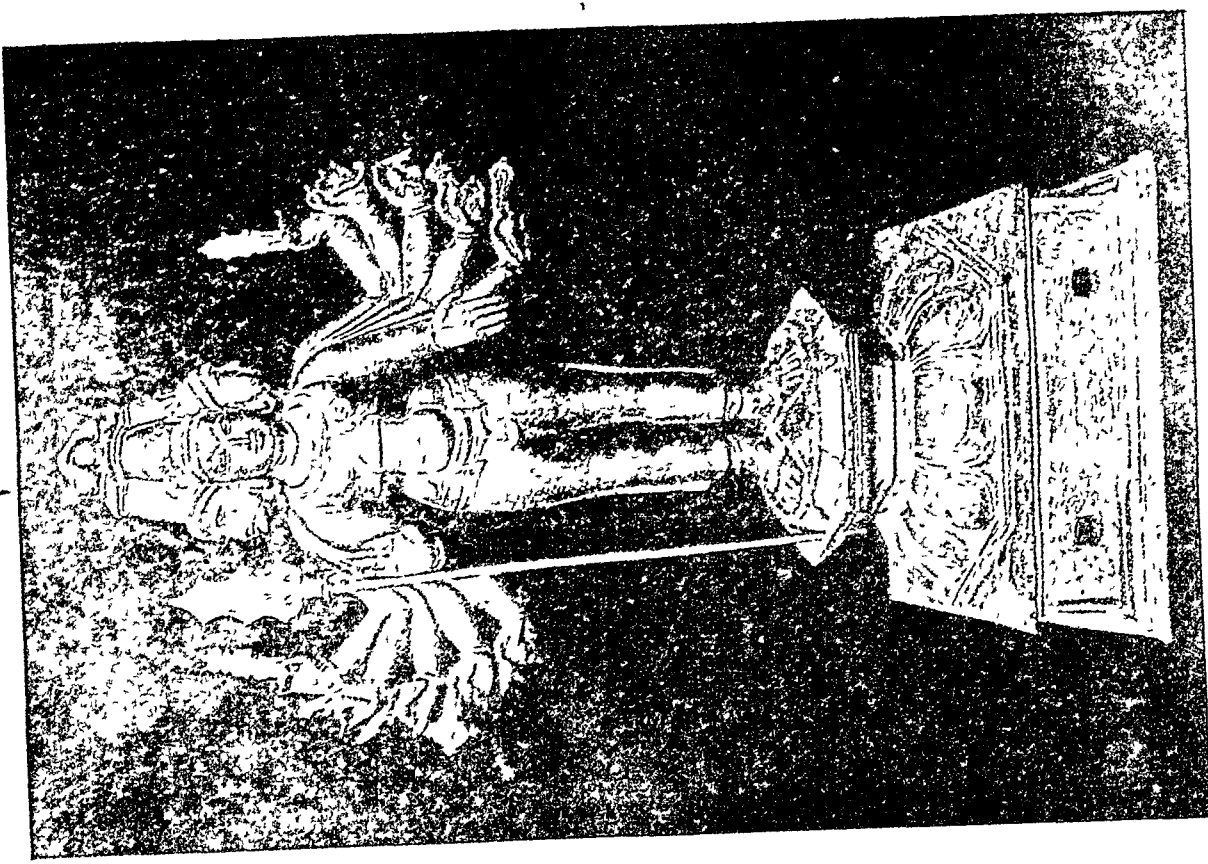
गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण (प्रस्तरमूर्ति, हलेविद)
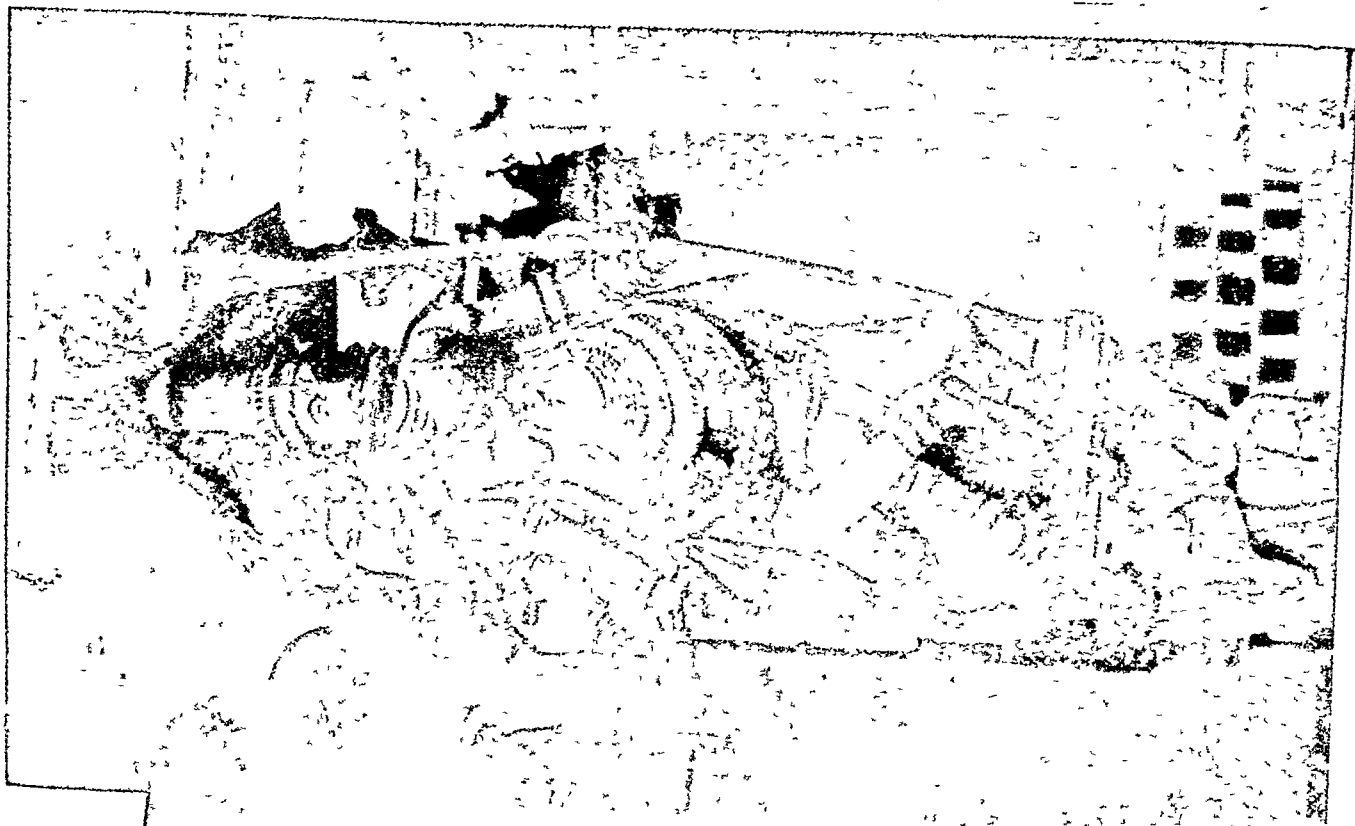
तारकासुरके अत्याचारसे पीडित देवताओंपर प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने पार्वतीजीका पाणिग्रहण किया। भगवान् शङ्कर भोले बाबा ठहरे। उमाके प्रेममें वे एकान्त-निष्ठ हो गये। अग्निदेव सुरकार्यका स्मरण कराने वहाँ उज्ज्वल कपोतवेशसे पहुँचे। उन अमोघवीर्यका रेतस् धारण कौन करे? भूमि, अग्नि, गङ्गादेवी सब क्रमशः उसे धारण करनेमें असमर्थ रहीं। अन्तमें शरवण (काश-वन) में वह निक्षिप्त होकर तेजोमय बालक बना। कृत्तिकाओंने उसे अपना पुत्र बनाना चाहा। बालकने छः मुख धारणकर छहों कृत्तिकाओंका स्तनपान किया। उसीसे षण्मुख कार्तिकेय हुआ वह शम्भुपुत्र। देवताओंने अपना सेनापतित्व उन्हें प्रदान किया। तारकासुर उनके हाथों मारा गया।

स्कन्द-पुराणके मूल उपदेष्टा कुमार कार्तिकेय (स्कन्द) ही हैं। समस्त भारतीय तीर्थोंका उसमें माहात्म्य आ गया है। पुराणोंमें यह सबसे विशाल है।

स्वामिकार्तिकेय सेनाधिप हैं। सैन्यशक्तिकी प्रतिष्ठा, विजय, व्यवस्था, अनुशासन इनकी कृपासे सम्पन्न होता है। ये इस शक्तिके अधिदेव हैं। धनुर्वेदपर इनकी एक संहिता-का नाम मिलता है; पर ग्रन्थ प्राप्य नहीं है।

कामदेव

स्वयं भगवान् विष्णु रमा-वैकुण्ठमें भगवती लक्ष्मीद्वारा कामदेवरूपमें आराधित होते हैं। ये इन्दीवराभ चतुर्भुज शङ्ख, पद्म, धनुष और बाण धारण करते हैं। सृष्टिमें धर्मकी पत्नी श्रद्धासे इनका आविर्भाव हुआ। वैसे दैवजगत्में ये ब्रह्माजीके संकल्पके पुत्र माने जाते हैं। मानसिक क्षेत्रमें काम संकल्पसे ही व्यक्त होता है। संकल्पके पुत्र हैं काम और कामके छोटे भाई क्रोध। काम यदि पिता संकल्पके कार्यमें असफल हों तो क्रोध उपस्थित होता है।

कामदेव योगियोंके आराध्य हैं। ये तुष्ट होकर मनको निष्काम बना देते हैं। कवि, भावुक, कलाकार और विप्रर्षि इनकी आराधना सौन्दर्यकी प्राप्तिके लिये करते हैं। इन पुष्पायुधके पञ्चबाण प्रख्यात हैं। नीलकमल, मल्लिका, आम्रमौर, चम्पक और शिरीष कुसुम इनके बाण हैं। ये सौन्दर्य, सौकुमार्य और सम्मोहनके अधिष्ठाता हैं। भगवान् ब्रह्मातकको उत्पन्न होते ही इन्होंने क्षुब्ध कर दिया। ये तोतेके रथपर मकर (मछली) के चिह्नसे अङ्कित लाल ध्वजा लगाकर विचरण करते हैं।

भगवान् शङ्कर समाधिस्थ थे। देवता तारकासुरसे पीड़ित थे। तारकका निधन भगवान् शिवके पुत्रसे शक्य था। देवताओंने कामको भेजा। एक बार मन्मथ पुरारिके मनमें क्षोभ करनेमें सफल हो गये, पर दूसरे ही क्षण प्रलयङ्करकी तृतीय नेत्रज्वालाने उन्हें भस्म कर दिया। कामपत्नी रतिके विलाप-स्तवनसे तुष्ट आशुतोषने वरदान दिया—'अब यह बिना शरीरके ही सबको प्रभावित करेगा।'

कामदेव अनङ्ग हुए। द्वापरमें भगवान् श्रीकृष्णके यहाँ रुक्मिणीजीके पुत्ररूपसे ये उत्पन्न हुए। भगवान् प्रद्युम्न चतुर्व्यूहमेंसे हैं। ये मनके अधिष्ठाता हैं।

प्रजापति दक्ष

भगवान् ब्रह्माके दक्षिणाङ्गुष्ठसे प्रजापति दक्षकी उत्पत्ति हुई। कल्पान्तरमें वही प्रचेताके पुत्र हुए। स्रष्टाकी आज्ञासे ये प्रजाकी सृष्टि करनेमें लगे। उन्होंने प्रजापति वीरणकी कन्या असिक्नीको पत्नी बनाया। सर्वप्रथम इन्होंने दस सहस्र हर्यश्व नामक पुत्र उत्पन्न किये। ये सब समान स्वभावके थे। पिताकी आज्ञासे ये सृष्टिके निमित्त तपमें प्रवृत्त हुए, परंतु देवर्षि नारदने उपदेश देकर उन्हें विरक्त बना दिया। दूसरी बार एक सहस्र शबलाश्व (सरलाश्व) नामक पुत्र उत्पन्न किये। ये भी देवर्षिके उपदेशसे यति हो गये। दक्षको रोष आया। उन्होंने देवर्षिको शाप दे दिया—'तुम दो घड़ीसे अधिक कहीं स्थिर न रह सकोगे।'

भगवान् ब्रह्माने प्रजापतिको शान्त किया। अब मानसिक सृष्टिसे वे उपरत हुए। उन्होंने अपनी पत्नीसे ५३ कन्याएँ उत्पन्न कीं। इनमें १० धर्मको, १३ महर्षि कश्यपको, २७ चन्द्रमाको, एक पितरोंको, एक अग्निको और एक भगवान् शङ्करको विवाही गयीं। महर्षि कश्यपको विवाहित १३ कन्याओंसे ही जगत्के समस्त प्राणी उत्पन्न हुए। वे लोकमाताएँ कही जाती हैं।

भगवान् शङ्करसे विवाद करके दक्षने उन्हें यज्ञमें भाग नहीं दिया। पिताके यज्ञमें रुद्रभाग न देखकर सतीने योगाग्निसे शरीर छोड़ दिया। भगवान् शङ्कर पत्नीके देह-त्यागसे रुष्ट हुए। उन्होंने वीरभद्रको भेजा। वीरभद्रने दक्ष-का मस्तक दक्षिणाग्निमें हवन कर दिया। देवताओंकी प्रार्थना-पर तुष्ट होकर भगवान् शङ्करने सद्योजात प्राणीके सिरसे दक्ष-को जीवनका वरदान दिया। बकरेका मस्तक तत्काल मिल सका। तबसे प्रजापति दक्ष 'अजमुख' हो गये।

दक्षता—निपुणताके उन अधीश्वरको भगवान् ब्रह्माने

प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ पद प्रदान किया है। देवता भी उनका सम्मान करते हैं। उनकी प्रसन्नता व्यक्तिमें दक्षताका विस्तार करती है।

आचार्य शुक्र

महर्षि भृगुके पुत्र शुक्राचार्यजीने बृहस्पतिजीसे प्रतिद्वन्द्विता रखनेके कारण दैत्योंका आचार्यत्व स्वीकार किया। बृहस्पतिके पुत्र कचने इनसे सजीविनी विद्या पढ़ी। दैत्यराज बलिके यज्ञमें भगवान् वामन जब भूमिदान लेने लगे, तब आचार्यने बाधा दी। दानमें बाधा देनेके अपराधसे, भगवान्ने इनके एक नेत्रको ज्योतिहीन कर दिया। तबसे इनका नाम एकाक्षताका द्योतक हो गया।

आचार्य शुक्र वीर्यके अधिष्ठाता हैं। दृश्य जगत्‌में उनके लोक शुक्र तारकका भूमि एवं जीवनपर प्रभाव ज्यौतिषशास्त्रमें वर्णित है।

आचार्य शुक्र नीतिशास्त्रके प्रवर्तक थे। इनकी शुक्रनीति अब भी लोकमें महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इनके पुत्र षण्ड और अमर्क हिरण्यकशिपुके यहाँ नीतिशास्त्रका अध्यापन करते थे।

विश्वकर्मा

प्रभास नामक वसुकी पत्नी महासती योगसिद्धा इन देवशिल्पीकी माता हैं। देवताओंके समस्त विमानादि तथा अस्त्र-शस्त्र इन्हींके द्वारा निर्मित हैं। लङ्काकी स्वर्णपुरी, द्वारिका-धाम, भगवान् जगन्नाथका श्रीविग्रह इन्होंने ही निर्मित किया। इनका एक नाम त्वष्टा है। सूर्यपत्नी संज्ञा इन्हींकी पुत्री हैं। इनके पुत्र विश्वरूप और वृत्र हुए। सर्वमेधके द्वारा इन्होंने जगत्‌की सृष्टि की और आत्मबलिदान करके निर्माण-कार्य पूर्ण किया।

समस्त शिल्पके ये अधिदेवता हैं। भगवान् श्रीरामके लिये सेतुनिर्माण करनेवाले वानरराज नल इन्हींके अंगसे उत्पन्न हुए थे। हिंदू-शिल्पी अपने कर्मकी उन्नतिके लिये भाद्रपद-की संक्रान्तिको इनकी आराधना करते हैं। उस दिन शिल्प-का कोई उपकरण व्यवहारमें नहीं आता। बंगालमें यह पूजा विशेष प्रचलित है।

दानवेन्द्र मय

परम शैव, परम धार्मिक, दानव-विश्वकर्मा मय भगवान् शङ्करकी कृपासे सुतलमें निर्द्वन्द्व निवास करते हैं। ये दैत्य-कुलके शिल्पी हैं। इनकी कला विश्वकर्मासे किसी प्रकार कम नहीं है। इनके निर्माणने अनेक बार विश्वकर्मा तथा समस्त देवताओंको पराजित कर दिया।

मयका अद्भुत निर्माण इनका त्रिपुर था। स्वर्ण, रौप्य और लौहके तीन विशालकाय नगर स्वेच्छापूर्वक आकाश, पृथ्वी तथा जलमें चल सकते थे। ये नगर इन्होंने अपने पुत्रोंको दे दिये। इन नगरोंका एक स्थानपर सहस्र वर्षोंमें एक बार स्वतः संयोग निश्चित था। उस संयोगके अर्धक्षणमें ही उनका विनाश हो सकता था। इन नगरोंमेंसे स्वर्णनगर-में एक अमृत-कूप था। भगवान् शङ्करने नगरोंको भस्म कर दिया, परंतु मयकी उन्होंने रक्षा की।

मयकी पुत्री मन्दोदरी रावणकी पत्नी हुई। मयके दो पुत्र मायावी और दुन्दुभि त्रेतामें वानरराज वालीसे युद्धमें मारे गये। एक पुत्र व्योम द्वापरमें व्रजमें जाकर श्रीकृष्णचन्द्र-द्वारा मुक्त हुआ।

अग्निकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन एक रथपर बैठकर खाण्डववन अग्निदेवको भेंट करने गये। उस समय दानवेन्द्र मय उसी वनमें तप कर रहे थे। अर्जुनकी बाण-वर्षासे एक बिन्दु जल वनमें गिर नहीं पाता था। भागनेका प्रयत्न करनेवाला प्रत्येक प्राणी मारा जाता था। मयने श्रीकृष्णचन्द्रकी शरण ली। उन्हें परित्राण मिला। प्रत्युपकार-स्वरूप मयने महाराज युधिष्ठिरके लिये दिव्यसभा-भवन निर्मित किया।

मय मायावियोंके परमाचार्य हैं। इन्द्रजाल तथा अनेक आसुरी सिद्धियोंका इन्होंने ही प्रवर्तन किया है। अब भी मयकी आराधना तामस एवं राजस सिद्धि देती है।

देवजातियाँ

देवता, गन्धर्व, अप्सराएँ—ये तीन सात्त्विक दिव्य जातियाँ मानी गयी हैं। यक्ष, किन्नर और दैत्य—ये राजस दिव्य जातियाँ हैं। राक्षस, नाग, प्रेत—ये तामस देवजातिके प्राणी हैं।

देवताओंमें पदार्थोंके अधिष्ठाता नित्य देवता और उनकी शक्तियाँ, इनमें लोकपाल, प्रजापति तथा ग्रामदेवतादि तथा शक्तियोंमें महाविद्या, योगिनी तथा उपनायिका और ग्राम-कालीतक आती हैं। यज्ञोंके रक्षक ऋभुगण भी देवताओंमें हैं। दूसरे वे देवता हैं जो पुण्यसे स्वर्गमें केवल सुखोपभोगके लिये गये हैं।

गन्धर्व गानविद्याके आचार्य हैं। चित्ररथ इनके

अधिपति हैं। ये लोग देवताओंके समान सुखोपभोग करते हैं। अप्सराएँ स्वर्गकी नृत्य करनेवाली नित्य कुमारियाँ हैं। देवाङ्गना तथा गन्धर्व-कन्याएँ इनसे भिन्न हैं। उर्वशी, रम्भा, तिलोत्तमादि इनमे प्रधान है। यक्ष कुबेरके अनुचर हैं। ये एक प्रकारके असुर ही हैं। किन्नर देवताओंके स्तुति-गायक हैं।

दैत्य और दानव—ये दोनो अधोलोकोमे स्वर्गाधिक सुखोपभोग करनेवाली दिव्य जातियाँ हैं। ये भी महर्षि कश्यपके पुत्र और देवताओके ज्येष्ठ भ्राता है। अहङ्कार, क्रूरता तथा विषयोपभोगकी प्रधानतासे ही ये निकृष्ट माने गये। राक्षस महाक्रूर तथा दैत्योंके सेवक हैं। नाग दिव्य जातिमें ही माने गये हैं। शेष, वासुकि, कर्कोटकादि दिव्य नाग अधोलोकोंमें रहते हैं। ग्रामदेवता, ग्रामकालीके समान ही ग्रामके अधिदेव नाग भी होते हैं।

प्रेत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी, वेताल, भूत, भैरव, विनायक, कूष्माण्ड आदि भगवान् रुद्रके गण माने जाते हैं। ये क्रूर, उत्पीड़क तथा अपवित्र स्थानो तथा व्यक्तियोसे रुचि रखनेवाले होते हैं। भयसे भीत होनेवालेपर इनका शीघ्र प्रभाव पड़ता है। प्रेतादि यातना-योनिके प्राणी हैं। स्वयं घोर कष्टमे रहते हैं। —सु०

भारतीय संस्कृतिकी रक्षा

(लेखक—श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

रामराज्यमे तीन बाते प्रधान थीं। दैहिक, दैविक, भौतिक ताप किसीको नहीं होता था। कारण सारी प्रजा सच्चरित्र, स्वधर्मनिष्ठ और साथ ही स्वास्थ्यके नियमोका पालन करते हुए अपने कर्तव्यपर दृढ़ थी। अतः दैहिक ताप क्यो होता? रामराज्यमे सभीने सत्यमार्गका अनुसरणकर पशु-पक्षीतकको भी प्रेम-धारासे प्लावित कर दिया था। तब भौतिक ताप भी होना असम्भव था। दैविक ताप तो कर्तव्यविमुख और अधर्मरत होनेपर ही दण्डस्वरूप प्राप्त होते हैं। अतः रामराज्यमे दण्ड शब्दका प्रयोग संन्यासियोंके हाथमे रहनेवाले धर्मदण्डके लिये ही होता था, या प्रणामके साथ साष्टाङ्ग दण्डवत् करनेमे दण्ड शब्दका प्रयोग किया जाता था।

परंतु ये सब क्यो और कैसे? इसका मूल कारण था—साक्षात् भारतीय भूदेवी गोमाताका अमित प्रभाव! 'हमारे वेद 'यतो गावस्ततो वयम्' और जिस स्थानमे गौके दुःख-संतप्त श्वास निकले या गोरक्त गिरे, उस स्थानके एक योजनके परिधिमे सात्त्विक बुद्धिकी प्राप्तिके लिये किये गये धर्मानुष्ठान निष्फल होते है।' इन वाक्योंको रामराज्यकी प्रजा, आबाल-वृद्ध-वनिता राक्षसगणतक भी जानते थे और जब कभी राक्षसोको देवताओपर अपना आधिपत्य जमाना होता तो वे सर्वप्रथम गौ और ब्राह्मणका नाश करनेकी ही सोचा करते थे। और इस 'यतो गावस्ततो वयम्' और गोरक्तके सात्त्विकताविनाशक प्रभावको हटानेके लिये ही भारतमे समय-समयपर साक्षात् भगवान्ने अवतार धारण किया है।

अतः 'यतो गावस्ततो वयम्' और गौके दुःखी श्वास निकलने और खून गिरनेसे हमारी सात्त्विक वृत्तिका नाश होगा, और उससे हमारा सर्वनाश निश्चित है। यह बात प्रत्येक भारतवासीको भलीभाँति जान लेनी चाहिये। धर्मपूर्ण रामराज्यकी स्थापना और सफलताके लिये इसकी परम आवश्यकता है। मुझे दुःख है कि आज ऐसा समय आ गया, कि जिसमे हमारे धर्मप्राण, हिंदूसमाजके एक दो व्यक्ति नही, अनेको प्रतिष्ठित धनी पुरुष ऐसे हो गये है, जो वृद्ध, रोगग्रस्त अतः अनुपयोगी पशुओं-को कत्ल कर देनेकी राय रखते है। क्योंकि उनके खयालमे खाद्यकी कमी इसी तरह पूरी हो सकती है। पता नहीं इस पाप-बुद्धिका क्या दुष्परिणाम होगा।

लेकिन पाश्चात्य शिक्षा और संग-प्राप्त इन विभ्रमित बुद्धिवाले विद्वानोको यदि ठीक रास्ता दिखाना है तो 'यतो गावस्ततो वयम्' और गौके दुखी श्वास निकलने और रक्त गिरनेसे सद्बुद्धिके नाशके साथ हमारा नाश निश्चित है। यह बात समझानी होगी। पोस्टरो, लेखो और आध्यात्मिक, भौतिक विज्ञानके अन्वेषणोद्वारा इनकी बुद्धिको सुधारनेके लिये प्रयत्न करना पड़ेगा। अतः भारतीय संस्कृति और धर्मानुयायी विद्वानोंसे प्रार्थना है कि वे इस विषयमें अपनी लेखनी उठावें और इसकी आवश्यकता स्वयं अनुभव करें और दूसरे लोगोको भी अनुभव करावें। यह पाप यों ही चलता रहा तो भारतीय संस्कृतिकी रक्षा बड़ी कठिन हो जायगी। गोरक्षामे ही भारतीय संस्कृतिकी रक्षा है।

भगवान्‌के सगुण स्वरूप और अवतार

हिंदू-संस्कृति जिन श्रुति-शास्त्रोंपर अवलम्बित है, उनमें मूलतत्त्व सच्चिदानन्दस्वरूप द्विविधरूप माना गया है। एक रूप उसका निर्गुण, निराकार, मन तथा वाणीके अगोचर है। योगी अपने योगकी साधनामें निर्विकल्प समाधिमें उसका साक्षात्कार करते हैं। ज्ञानी तत्त्व-चिन्तनद्वारा समस्त दृष्ट-श्रुत पदार्थोंसे मनको पृथक् करके द्रष्टारूपसे उसमें अवस्थित होते हैं; पर सर्वसाधारण उसके इस रूपकी भावना नहीं कर सकते। जगत्‌का वह उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका अहेतु हेतु दया करके या लीलाके लिये अनेक भावमय नित्य आनन्दघन रूपोंमें नित्य लीला करता है। उसके इन सगुण, साकार, चिन्मय रूपोंके ध्यान-स्मरण, नाम-जप, लीला-चिन्तनसे मानवहृदय शुद्ध हो जाता है। मनुष्य इन रूपोंमेंसे किसीको नैष्ठिकरूपसे हृदयमें विराजमान करके संसार-सागरसे पार हो जाता है।

सगुण-साकार प्रभुके ये रूप नित्य सर्वेश्वर तथा अवतार-रूप दोनों प्रकारके हैं। सृष्टि, स्थिति, प्रलयके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपसे वे उपासित होते हैं। उनके साथ उनकी अभिन्न शक्तियाँ होती ही हैं। वही सूर्य और गणेश रूपसे भक्तोंद्वारा सेवित होते हैं। पञ्चदेवोपासनामें गणेश, शिव, शक्ति, सूर्य और विष्णु उन्हींके रूप हैं।

जगत्‌में धर्मकी स्थापना, ज्ञानके संरक्षण, भक्तोंके परित्राण तथा आततायी असुरोंके दलनके लिये एवं प्रेमी भक्तोंकी प्रेमोत्कण्ठा पूर्ण करनेके लिये वे प्रभु बार-बार अवतीर्ण होते हैं। उनके ये अवताररूप दिव्य, सच्चिदानन्दघन हैं। ये अवतार-लीलाएँ परम मङ्गलमय हैं।

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।

सत्त्वमूर्ति भगवान्‌के अवतारोंकी कोई संख्या नहीं। १—मत्स्य, २—कच्छप, ३—वाराह, ४—नृसिंह, ५—वामन, ६—परशुराम, ७—श्रीराम, ८—बलराम, ९—बुद्ध और १०—कल्कि—ये दशावतार युगावतारोंके रूप शास्त्रोंने माने हैं। इनके अतिरिक्त ११—श्रीकृष्णका अवतार पूर्णावतार कहा जाता है। उसका कोई निश्चित समय नहीं। पिछले अट्ठाईसवें द्वापरमें यह अवतार हुआ था। अर्थात् इस श्वेतवाराह कल्पसे पूर्व कल्पमें श्रीकृष्णने अवतार-विग्रह धारण नहीं किया। १२—नर-नारायण, १३—सनकादि, १४—कपिल, १५—दत्तात्रेय, १६—यज्ञ, १७—ऋषभ, १८—हंस, १९—धन्वन्तरि, २०—हयग्रीव, २१—व्यास—ये भगवान्‌के अवतार विश्वमें ज्ञान-परम्पराकी रक्षा, प्रसार तथा उसके आदर्श-स्थापनके लिये हुए। २२—पृथुरूपमें भगवान् लोक-व्यवस्थाके सञ्चालनके लिये पधारे। २३—ध्रुवके लिये और २४—गजेन्द्रके लिये भगवान्‌का अवतार हुआ। इनके अतिरिक्त असुरोंको मोहित करनेके लिये भगवान्‌ने मोहिनीरूप धारण किया था।

हिंदू-शास्त्रोंने ही इस सगुण तत्त्वके रहस्यको समझा और स्वीकार किया। मूर्तिपूजा विश्वके प्रत्येक भागमें, प्रत्येक प्राचीन जातिमें प्रचलित थी और मानवस्वभाव मूर्तिपूजक होनेसे किसी-न-किसी रूपमें वह मनुष्यमात्रमें रहेगी ही; परंतु मनुष्यको यह स्वभाव उस दयामयने क्यों प्रदान किया? इसका उत्तर श्रुति एवं महर्षि ही दे सके। वह स्वयं सगुण-साकार है। उसके दिव्यरूपमें हमारी अनुरक्ति हो तो हम समस्त कष्टोंसे परित्राण पा जायँ। अवतार-रहस्यपर पृथक् विचार किया गया है। यहाँ भगवान्‌के नित्य दिव्य रूपों एवं चरित्रोंका अत्यन्त संक्षिप्त स्मरण मात्र करना है।

भगवान् गणपति

गणपति नित्य देवता हैं; परंतु विभिन्न समयोंमें विभिन्न प्रकारसे उनका लीलाप्राकट्य होता है। जगदम्बिका लीलामयी हैं। कैलासपर अपने अन्तःपुरमें वे विराजमान थीं। सेविकाएँ उबटन लगा रही थीं। शरीरसे गिरे उबटनको उन आदिशक्तिने एकत्र किया और एक मूर्ति बना डाली। उन चेतना-मयीका वह शिशु अचेतन तो होता नहीं। उसने माताको प्रणाम किया और आज्ञा माँगी। उसे कहा गया कि बिना आज्ञा कोई द्वारसे अंदर न आने पाये। बालक डंडा लेकर द्वारपर खड़ा हो गया। भगवान् शङ्कर अन्तःपुरमें जाने लगे तो उसने रोक दिया। भगवान् भूतनाथ कम विनोदी नहीं हैं। उन्होंने देवताओंको आज्ञा दी बालकको द्वारसे हटा देनेकी। इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम आदि सब उसके डंडेसे आहत होकर भाग खड़े हुए—वह महाशक्तिका पुत्र जो था। इतना औद्धत्य उचित नहीं। भगवान् शङ्करने त्रिशूल उठाया और बालकका मस्तक काट दिया।

'मेरा पुत्र!' जगदम्बाका स्नेह रोषमें परिणत हो गया। देवताओंने उनके बच्चेका वध करा दिया था। पुत्रका शव

पञ्चदेव

देखकर माता कैसे शान्त रहे। देवताओंने भगवान् शंकरकी स्तुति की।

'किसी नवजात शिशुका मस्तक उसके धड़से लगा दो।' एक गजराजका नवजात शिशु मिला उस समय। उसीका मस्तक पाकर वह बालक गजानन हो गया। अपने अग्रज कार्तिकेयके साथ संग्राममें उसका एक दाँत टूट गया और तबसे गणेशजी एकदन्त हैं।

अरुणवर्ण, एकदन्त, गजमुख, लम्बोदर, अरुण-वस्त्र, त्रिपुण्ड्र-तिलक, मूषकवाहन। ये देवता माता-पिता दोनोंको प्रिय हैं। ऋद्धि-सिद्धि इनकी पत्नियाँ हैं। ब्रह्माजी जब 'देवताओंमें कौन प्रथमपूज्य हो' इसका निर्णय करने लगे, तब पृथ्वी-प्रदक्षिणा ही शक्तिका निदर्शन मानी गयी। गणेशजीका मूषक कैसे सबसे आगे दौड़े। उन्होंने देवर्षिके उपदेशसे भूमिपर 'राम' नाम लिखा और उसकी प्रदक्षिणा कर ली; पुराणान्तरके अनुसार भगवान् शंकर और पार्वतीजीकी प्रदक्षिणा की। वे दोनों प्रकार सम्पूर्ण भुवनोंकी प्रदक्षिणा कर चुके थे। सबसे पहले पहुँचे थे। भगवान् ब्रह्माने उन्हें प्रथमपूज्य बनाया। प्रत्येक कर्ममें उनकी प्रथम पूजा होती है। वे भगवान् शंकरके गणोंके मुख्य अधिपति हैं। उन गणाधिपकी प्रथम पूजा न हो तो कर्मके निर्विघ्न पूर्ण होनेकी आशा कम ही रहती है।

पञ्चदेवोपासनामें भगवान् गणपति मुख्य हैं। प्रत्येक कार्यका प्रारम्भ 'श्रीगणेश' अर्थात् उनके स्मरण-वन्दनसे ही होता है। उनकी नैष्ठिक उपासना करनेवाला सम्प्रदाय भी था। दक्षिण भारतमें भगवान् गणपतिकी उपासना बहुत धूम-धामसे होती है। 'कलौ चण्डीविनायकौ।' जिन लोगोंको कोई भौतिक सिद्धि चाहिये, वे इस युगमें गणेशजीको शीघ्र प्रसन्न कर पाते हैं। वे मङ्गलमूर्ति सिद्धिसदन बहुत अल्प श्रमसे द्रवित होते हैं।

भगवान् गणेश बुद्धिके अधिष्ठाता हैं। वे साक्षात् प्रणव-रूप हैं। उनके श्रीविग्रहका ध्यान, उनके मङ्गलमय नामका जप और उनकी आराधना मेधा-शक्तिको तीव्र करती है। महाभारतके यदि वे लेखक न बनते तो भगवान् व्यासके इस पञ्चमवेदसे जगती वञ्चित ही रह जाती।

भगवान् शङ्कर

जो अनादि है, अनन्त है, बुद्धिसे परे है, उसके चारु चरितोंका क्या कहीं अन्त है। उसीके चरित स्मरणीय हैं। अल्पशक्ति, अल्पप्राण सामान्य मानवका सामान्य चरित क्या अर्थ रखता है। उससे किसीका क्या लाभ। उन महिमामय चन्द्रचूड प्रभुके कुछ चरितोंका स्मरणमात्र किया जा सकता है। उनका वर्णन तो समाप्त होनेवाला है ही नहीं। कल्पभेदसे उन सर्वाधारके दैव जगत् (आधिदैविक जगत्) में आविर्भावके अनेक प्रकारके वर्णन शास्त्रोंमें हैं। किसी कल्पमें स्वयंभू ज्योतिर्लिङ्गरूपमें और कभी दूसरे प्रकारसे। वस्तुतः तो वे एक ही महेश्वर जगत्‌की सृष्टि, पालन और संहारके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशका त्रिविध रूप धारण करते हैं।

वर्तमान सृष्टिके आदिमें ब्रह्माजीने सर्वप्रथम मानसिक सृष्टि की सनकादि चारों कुमारोंकी। पहले ही पुत्रोंने सृष्टि करनेकी आज्ञा अस्वीकार कर दी। ब्रह्माजीको बड़ा रोष आया। उन्होंने अपने क्रोधको संयत करना चाहा। फलतः उनके भ्रूमध्यसे वह रोष नीललोहित कुमार बनकर प्रकट हो गया। उत्पन्न होते ही वे भगवान् भव रोने लगे। उन्होंने अपना नाम और स्थान पूछा। रोनेके कारण उनका नाम 'रुद्र' पड़ा। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा—'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि' और उन्होंने ही श्रीमद्भागवतमें 'रुद्राणां नीललोहितः' कहा। इस प्रकार रुद्रोंमें भगवान्‌का नीललोहित रूप ही शङ्करस्वरूप है, यह कहा गया।

मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत—ये एकादश रुद्ररूप हैं उन प्रभुके। हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र और तप—ये उनके ग्यारह स्थान हैं। धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुति, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, सुधा और दीक्षा—ये क्रमशः उनकी पत्नियाँ हैं। ब्रह्माजीने उन्हें सृष्टि करनेकी आज्ञा दी। स्वभावानुरूप प्रेत, पिशाच, भैरव, विनायक, यातुधान, डाकिनी, शाकिनी, कूष्माण्ड, वेताल, विनायक, योगिनी आदिकी उन्होंने रचना की। ये सब उनके गण हुए। ब्रह्माजीने इस विकट सृष्टिसे रोककर उनको तप करनेका आदेश दिया।

प्रजापति दक्षने अपनी पुत्री सतीका विवाह भगवान् शङ्करसे किया। ब्रह्म-सभामें दक्षके आगमनके समय भगवान् शङ्करने उनका अभ्युत्थानसे आदर नहीं किया। रुष्ट दक्षने उन्हें शाप दिया कि 'आगेसे यज्ञमें इनको भाग नहीं मिलेगा।' जब दक्ष प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ माने गये, उन्होंने यज्ञ प्रारम्भ

किया । भगवान् शङ्करको निमन्त्रण नहीं दिया गया था । विमानसे जाती देवाङ्गनाओंद्वारा सतीने पिताके महोत्सवका पता पाया । वे अनिमन्त्रित थीं, भगवान् शिव मना कर रहे थे; फिर भी हठपूर्वक वे पिताके घर आयीं । वहाँ देखा कि यज्ञमें भगवान् शङ्करको भाग नहीं दिया जा रहा है । पतिके अपमानमें क्षुब्ध होकर योगाग्नि प्रकट करके वे वहीं भस्म हो गयीं । रुद्रानुचर उत्पात अवश्य करते, पर महर्षि भृगुने दक्षिणाग्निसे ऋभुगण उत्पन्न किये । उन ऋभुओंने जलती लकड़ियोंकी मारसे रुद्रगणोंको भगा दिया ।

भगवान् शङ्करको समाचार मिला । उन प्रलयङ्करने रोषसे अट्टहास करके एक जटा उखाड़ी । वीरभद्र प्रकट हुए । उन्होंने यज्ञ ध्वंस कर डाला । भृगुकी दाढ़ी उखाड़ ली । पूषाको दन्त और भगदेवताको नेत्रोंसे हीन कर दिया । दक्षका मस्तक आहुति बन गया । अन्तमें सब देवता भगवान् शङ्करकी शरण गये । भगवान्‌के आदेशमें नवजात बकरेका सिर दक्षकी देहपर रक्खा गया । वे जीवित हो गये । यज्ञ पूर्ण हो गया ।

भगवती सतीने दूसरा जन्म पर्वतराज हिमवान्‌के यहाँ धारण किया । देवर्षि नारदके उपदेशमें उन्होंने शङ्करजीको प्राप्त करनेके लिये कठोर तप प्रारम्भ किया । वे उमा सूखे बेलपत्रको भी छोड़कर अपर्णा हो गयीं । देवताओंको आवश्यकता थी कि भगवान् शङ्करका परिणय हो । असुर तारकने स्वर्गपर आधिपत्य कर लिया था । उसने ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त कर लिया था कि केवल शङ्करजीके औरस पुत्र ही उसका वध कर सकेंगे । भगवान् शङ्करका विवाह हो तो पुत्र हो । भगवान् तो समाधिमें स्थित हैं । देवताओंने कामको भेजा । वसन्तका प्रादुर्भाव हुआ । उसी समय वहाँ पार्वतीजी पहुँचीं । पुष्पधन्वाके बाणसे सम्मोहनास्त्र छूटा । तनिक विकार आया । समाधि भङ्ग हुई । विकारका कारण इधर-उधर देखनेपर मदन दृष्टिगोचर हुआ । तृतीय नेत्रकी ज्वालामें कामारिने उसे भस्म कर दिया । तभीसे काम अनङ्ग हो गया ।

श्रीपार्वतीजीकी तपस्या कामके भस्म होनेपर भी सफल हुई । भगवान् शङ्करने उनका पाणिग्रहण किया । भगवान्‌के औरस पुत्र कुमार कार्तिकने तारकको संग्राममें मारा । भगवती पार्वतीसे सन्तुष्ट होकर शङ्करजीने उन्हें अपने आधे शरीरमें ही स्थान दे दिया और अर्धनारीश्वर हो गये ।

× × × ×

क्षीरोदधिका मन्थन हो रहा था । सबसे पहले हालाहल प्रकट हुआ । समस्त प्राणी विषकी भीषण ज्वालासे जलने लगे । प्रजापतिगणने प्रार्थना की । आशुतोष द्रवित हुए । उन्होंने विषको एकत्र करके वाम करतलपर उठाया और पी लिया । विष कण्ठमें अवरुद्ध कर दिया गया, अतः कण्ठ नीला हो गया । भगवान् नीलकण्ठको समुद्रसे निकला शशि शिरोभूषण बनकर भूषित करने लगा ।

× × × ×

मयने स्वर्ण, रजत और लौहके तीन नगर बनाये थे । ये नगर गगनमें उड़ते रहते थे । मयके तीनों पुत्र इनके अधिपति थे । वे दानव पृथ्वीपर चाहे जहाँ नगरोंको उतारकर भूतलके प्राणियोंका नाश कर डालते । गगनमें देवताओंके विमानोंको तोड डालते । देवलोक तथा लोकपालोंकी दिव्य पुरियाँ उन विमानोंमें ध्वस्त होती रहतीं । सबने विवश होकर भगवान् विश्वनाथकी शरण ली । पिनाकपाणि प्रभु असुरोंसे युद्ध करने लगे ।

मयने अमृत-रसका कूप बना लिया था । युद्धमें मृत दानव कूपमें डाले जाते और जीवित हो जाते । भगवान् विष्णुने गोरूप धारण किया, ब्रह्माजी बछड़े बने । इतनी सुन्दर गौका मोह दानव छोड़ न सके । गौने देखते-देखते कूपका समस्त रस पी लिया । देवमय रथपर भगवान् शङ्कर विराजमान हुए । तीनों पुर आधे क्षणके लिये परस्पर एकमें मिले । इसी समय बाण छूटा और वे भस्म हो गये ।

× × × ×

अन्धक, बाणासुर, मय—सभी असुर तो भगवान् शिवकी आराधनासे ही सफल हुए । मयसे बढ़कर कौन उनका नैष्ठिक सेवक रहा ? सब गर्वोन्मत्त हुए, किंतु सबको उन दयामयकी दया ही प्राप्त हुई । बाणासुरके लिये वे स्वयं श्रीकृष्णसे संग्राम करने आये । रावणने कैलास ही उठाना चाहा था । अपने दस मस्तकोंकी आहुति देकर उसने त्रिलोकी-का वैभव प्राप्त किया ।

× × × ×

भगवान् शङ्करके अनेक रूप हैं, अनन्त नाम हैं, अनन्त चरित हैं । वे कुन्दगौर शिव हैं, वे नीललोहित रुद्र हैं, वे महाज्वालाकार प्रलयङ्कर हैं, महाकाल हैं । पुराणोंमें ही उनके इतने चरित हैं कि सबकी सूची ही एक ग्रन्थ हो जाय ।

उन्होंने समय-समयपर अवतार धारणकर शैवमतकी लोकमे स्थापना की है। अघोर, वामदेवादिरूपसे शैवाचार्य होकर वे धरापर पधारे हैं। नैष्ठिकरूपसे भगवान् शङ्करकी आराधना कई शैव सम्प्रदायोंमें होती है।

भारतमें ऐसा कोई ग्राम कदाचित् ही होगा, जहाँ हिंदू-जातिके लोग हो और भगवान् शङ्करकी लिङ्गमूर्ति न प्राप्त हो। वैसे तो पञ्चवक्त्र, एकवक्त्र आदि श्रीविग्रह भी प्राचीनकाल-से पाये जाते हैं; किंतु भगवान् शिवका मुख्य उपासना-विग्रह उनकी लिङ्गमूर्ति ही है। वह अनादि ऋषिपरम्परामे प्रतिष्ठित लिङ्गोपासना श्रुति, स्मृति, पुराणसे प्रतिपादित है। स्मृतिकी पञ्चदेवोपासनामें भगवान् शङ्कर इसी रूपमे अर्चित होते है।

लिङ्गपूजा क्या है? शक्ति और शक्तिमान्‌का प्रतीक। पुरुष-प्रकृतिका सहज चिह्न। इसे कोई ऐन्द्रियक चिह्न मानकर अपने मनको विकृत करे तो यह उसके भीतरका ही कलुष है। प्रतिमा काल्पनिक नहीं हुआ करती। वह वास्तविककी प्रति-मूर्ति होती है। जगत्‌में वैज्ञानिक इस मूर्तिको अणु-अणुमें देख सकता है। ऋणात्मक एलेक्ट्रॉन या विद्युत् और धनात्मक प्रोटॉन या विद्युत् किस आकृतिपर युक्त होते है? चुम्बक जब लौहको खींचता है, दोनोंकी शक्तिका क्या रूप होता है? प्रकृतिमें वही प्रतीक है सर्वत्र। लिङ्गविग्रह शिवका शक्तिसमन्वित प्रतीक है। वह साधकको उस परमपुरुषमें एकाग्र कर देता है।

× × × ×

सम्पूर्ण विद्याओं तथा कलाओंके भगवान् शङ्कर आदि आचार्य हैं। व्याकरण तो माहेश्वर सूत्रोंसे ही निकला है। संगीत उनके डमरूके नादकी देन है और ताण्डव तथा लास्य नृत्योंके वही विधायक है। आयुर्वेद, धनुर्वेद प्रभृति समस्त ज्ञान उनके द्वारा ही मानव और देवताओंको प्राप्त हुए है।

निगम (श्रुति) भगवान् विष्णुकी निःश्वासभूतके है। उनके प्रतिपाद्य भगवान् विष्णु है। वैसे भगवान्‌के दूसरे सभी रूप श्रुतिसम्मत है। निगमके समानान्तर ही आगम (तन्त्र) का ज्ञान है। आगमके उपदेष्टा और आराध्य भगवान् शङ्कर हैं। श्रुतिकी भाँति ही तन्त्र भी भगवान्‌के समस्त रूपोंके आराधनकी स्वीकृति देता है।

भगवान् शङ्करकी साकार करुणाके प्रतीक अब भी वे शाबर मन्त्र हैं, जिनको अपठित ग्रामीण बहुधा काममे लेते हैं। 'अनमिल आखर, अरथ न जापू।' न तो उन मन्त्राक्षरों-से कोई ठीक शब्द बनता और न उनका कुछ अर्थ होता है। उनके जपका कोई बड़ा विधान भी नहीं, किंतु उच्चारणमात्रसे वे प्रभाव उत्पन्न करते देखे गये है।

भगवान् विष्णु परम शैव, परम शिवाचार्य हैं और भगवान् शङ्कर परम वैष्णव, परम वैष्णवाचार्य। 'सेवक स्वामि सखा सिय पी के।' वस्तुतः तो दोनो परस्पर अभिन्न हैं। एक ही एक मूर्तिसे जलनिधिमे शेषशायी बने हैं और दूसरी मूर्तिसे हिमप्रान्तमें शेषभूषणधारी। एक रूपसे वे सृष्टिपालक हैं, एक रूपसे इस अपनी लीलाको संवरण करनेवाले।

हिंदू-संस्कृति निगम-आगम दोनोको प्रमाण मानकर मूर्त हुई है। भगवान् विष्णु और भगवान् शिव दोनों उसके आराध्य है। एक यज्ञके स्वरूप है, यज्ञसे आराधित होते है तो दूसरे तपोमूर्ति है, तपसे तुष्ट होते हैं। भगवान् विष्णु तपस्वियोंके सेवक, रक्षक है। भगवान् शङ्कर यज्ञके उच्छिष्ट भागके भोजी। 'यज्ञ और तप' इन दो शब्दोमे सम्पूर्ण हिंदू-संस्कृति है। दोनोंके प्रतीक हैं—'विष्णु और शिव'।'

× × × ×

सर्वेश्वरत्वे सति भस्मशायिने उमापतित्वे सति चोर्ध्वरेतसे।
वित्तेशभृत्ये सति चर्मवाससे निवृत्तरागाय नमस्तपस्विने॥

कर्पूरगौर, विभूतिलिप्ताङ्ग, चतुर्भुज, त्रिलोचन, शशाङ्क-शेखर, गङ्गाधर, अहिभूषण, नीलकण्ठ, मुण्डमाली, खर्पर-डमरु-त्रिशूल-वरदमुद्राकर, वृषभवाहन, वृषभध्वज, कृत्तिवास, श्मशानविहारी, भूतनाथ, उमापति, आशुतोष—उन विश्वनाथ-को प्रणाम।

जिनके लिये क्रूरकर्मा असुर और सत्त्वमूर्ति सुर समान हैं, प्रलय जिनकी सहज क्रीडा है, जीवन जिनका स्मित वरदान है, अपनी पुरी काशीमें मरनेवाले समस्त कीटादिकोंको भी जो मोक्ष वितरित करते रहते है, उन नित्य निरपेक्ष, तपोविग्रह भगवान् शूलपाणिको प्रणाम। वे आशुतोष प्रसन्न हो।

महाशक्ति

श्रुतियोंने शक्ति-शक्तिमान् स्वरूप अद्वयतत्त्वका प्रतिपादन किया है। वही एक तत्त्व परमपुरुष और परा शक्तिरूपसे द्विविध है। वे परमपुरुष जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, संहारके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशस्वरूप होते है तो उनकी शक्ति भी इन रूपोंके साथ सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती होती है। परतत्त्व जैसे विष्णु, शिव, राम, कृष्णरूपमे भिन्न होकर भी

अभिन्न है, वैसे ही उन त्रिपुरसुन्दरी पराशक्तिके रमा, दुर्गा, सीता, राधा रूप भी नित्य हैं। भिन्न होकर भी अभिन्न हैं वे।

महाशक्तिकी नैष्ठिक उपासना करनेवाले शाक्त सम्प्रदायोंमें भी भगवतीके विविध रूप हैं। महालक्ष्मी, महासरस्वती, महाकाली, गौरी, काली, तारा, चामुण्डा, कूष्माण्डा, ललिता, भैरवी, धूमावती, छिन्नमस्ता, दुर्गा, मातङ्गी आदि रूपोंमें उनकी उपासना भिन्न-भिन्न विधियोंसे होती है। शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री—इन नवदुर्गारूपोंमें उन्हीं आदि शक्तिकी आराधना होती है। वही शाकम्भरी हैं, वही भ्रामरी हैं, वही कुलकुण्डलिनी हैं और वही योगमाया हैं। आश्विन एवं चैत्रके नवरात्रोंमें उनकी उपासना समस्त भारतमें व्यापकरूपसे होती है। महिषासुर, शुम्भ-निशुम्भ आदि प्रबल प्रचण्ड दैत्योंका वधकर आपने जगत्की रक्षा की थी। उनकी यह पवित्र गाथा मार्कण्डेयपुराणमें ग्रथित है। उसीका नाम 'सप्तशती' है, जिसके अनुष्ठानसे लौकिक-पारलौकिक एवं पारमार्थिक—सभी प्रकारके मनोरथ सिद्ध होते हैं।

× × × ×

त्रिलोकव्यापी अकालको अपने शरीरसे उत्पन्न शाकोंसे पूर्ण करनेवाली वही महाशक्ति शाकम्भरी कही जाती हैं। उन्होंने ही असुर दुर्गको मारकर दुर्गा नाम धारण किया है। उनके चरित पुराणोंमें, तन्त्रग्रन्थोंमें सर्वत्र व्याप्त हैं। वही चेष्टा, बल, प्रतिभा, श्री, कान्ति आदिकी अधिष्ठात्री हैं। उनके द्विभुज, चतुर्भुज, अष्टभुज, दशभुज, शतभुज एवं सहस्रभुज अनन्त रूप हैं। वे महाकरुणामयी जगन्माता श्रीविद्या अपने शिशुओंपर नित्य प्रसन्न ही रहती हैं।

भगवान् सूर्य

भगवान् विराट्के नेत्रसे जिनकी अभिव्यक्ति है, जो लोकलोचनके अधिदेवता हैं, जो उपासना करनेपर समस्त रोगों, नेत्रदोषों, ग्रहपीड़ाओंको दूर करके उपासककी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करते हैं, अनादि कालसे भारतीय कर्मनिष्ठ द्विजादि जिन्हें प्रतिदिन अपनी अर्घ्याञ्जलि निवेदित करते हैं, जो समस्त सचराचर जगत्के जीवनदाता और सम्पूर्ण प्राणियोंके आराध्य हैं, उन ज्योतिघन, जीवन, उष्णता और ज्ञानके स्वरूप भगवान् सूर्यनारायणको हमारा शतशः प्रणिपात।

दृश्य सूर्यमण्डल उनका एक स्थूल निवास है। विश्वमें कोटि-कोटि सूर्यमण्डल हैं। विज्ञान आकाशगङ्गाके प्रत्येक तारकको सूर्य कहता है। हमारे गगनकी आकाशगङ्गाके पीछे कितने ही नीहारिकामण्डल हैं। सब आकाशगङ्गा हैं। सब सूर्योंसे जगमगाती हैं। कोई नहीं जानता, उनकी संख्या कितनी है। उन सब सूर्योंके अधिष्ठाता भगवान् नारायण ही हैं। श्रीसूर्यनारायणकी आराधना इसी रूपमें आराधक करते हैं।

महर्षि कश्यप लोकपिता हैं। उनकी पत्नी देवमाता अदितिके गर्भसे भगवान् विराट्के नेत्रोंसे व्यक्त सूर्यदेव जगत्में प्रकट हुए। सूर्यमण्डलका दृश्यरूप भौतिक जगत्में उनकी देह है। विश्वकर्माकी पुत्री संज्ञासे उनका परिणय हुआ। संज्ञाके दो पुत्र और एक कन्या हुई—श्राद्धदेव (वैवस्वत) मनु और यमराज तथा यमुनाजी। संज्ञा भगवान् सूर्यके तेजको सहन नहीं कर पाती थी। उसने अपनी छाया उनके पास छोड़ दी और स्वयं घोड़ीका रूप धारण करके तप करने लगी। उस छायासे शनैश्चर, सावर्णि मनु और तपती नामक कन्या हुई। भगवान् सूर्यने जब संज्ञाको तप करते देखा तो उसे तुष्ट करके अपने यहाँ ले आये। संज्ञाके वड़वा (घोड़ी) रूपसे अश्विनीकुमार हुए। त्रेतामें कपिराज सुग्रीव और द्वापरमें महारथी कर्ण भगवान् सूर्यके अंशसे ही उत्पन्न हुए।

पक्षिराज गरुड़के बड़े भाई विनतानन्दन अरुणजी भगवान् सूर्यके रथको हाँकते हैं। रथमें सात उज्ज्वल घोड़े जुते हैं। अहर्निश यह रथ पूर्ण वेगसे चलता रहता है। 'सूर्य स्थिर हैं और पृथ्वी चलती है' वैज्ञानिक यूरोपने इस गणितके लिये काम चलानेको स्थिर किये भारतीय सिद्धान्तको विचित्र रूप दे दिया। सौरसिद्धान्त भी वस्तुतः सूर्यको गतिशील मानता है। विज्ञानके महान् विद्वान् अभी परस्पर इस सम्बन्धमें सहमत नहीं हैं। उनका अन्वेषण चल रहा है। नित्य नये सिद्धान्त वहाँ बनते जा रहे हैं।

भगवान् सूर्य अपने रथपर आसीन अविश्रान्त भावसे मेरुकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं। उन्हींके द्वारा दिन, रात्रि, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदिका विभाग होता है। वही दिशाओंके भी विभाजक हैं।

भगवान् सूर्यकी उपासना बारह महीनोंमें बारह नामोंसे होती है। उस समय उनके पार्षद भी परिवर्तित हो जाते हैं। इन पार्षदोंमें ऋषि, अप्सराएँ, गन्धर्व, राक्षस, भक्त और नाग हैं। ऋषि रथसे आगे चलते हुए भगवान्की स्तुति करते हैं। गन्धर्व गान करते हैं। अप्सराएँ नाचती हैं। राक्षस रथको पीछेसे ठेलते हैं। भक्त रथयोजक बनते हैं और नाग रथको ले चलते हैं। यह सूर्यव्यूह निम्न है—

महीना	भगवान् सूर्यका मास-सम्बद्ध नाम	ऋषि	अप्सरा	गन्धर्व	राक्षस	भल्ल	नाग
मधु (चैत्र)	धाता	पुलस्त्य	क्रतस्थली	तुम्बुरु	हेति	रथकृत्	वासुकि
माधव (वैशाख)	अर्यमा	पुलह	पुञ्जिकस्थली	नारद	प्रहेति	ओजः	कच्छनीर
शुक्र (ज्येष्ठ)	मित्र	अत्रि	मेनका	हहा	पौरुषेय	रथस्वन	तक्षक
शुचि (आषाढ़)	वरुण	वसिष्ठ	रम्भा	हूहू	शुक्र	चित्रस्वन	महजन्य
नभ (श्रावण)	इन्द्र	अङ्गिरा	प्रम्लोचा	विश्वावसु	वर्य	श्रोता	एलापत्र
नभस्य (भाद्रपद)	विवस्वान्	भृगु	अनुम्लोचा	उग्रसेन	व्याघ्र	आसारण	शंखपाल
तप (आश्विन)	पूषा	गौतम	घृताची	धनञ्जय	वात	सुरुचि	सुषेण
तपस्य (कार्तिक)	क्रतु	भरद्वाज	वर्चा	पर्जन्य	सेनजित्	विश्व	ऐरावत
सह (मार्गशीर्ष)	अंशु	कश्यप	उर्वशी	ऋतसेन	विद्युच्छत्रु	तार्क्ष्य	महाशंख
पुष्य (पौष)	भग	आयु	पूर्वचित्ति	स्फूर्ज	अरिष्टनेमि	ऊर्ण	कर्कोटक
इष (माघ)	त्वष्टा	ऋचीकतनय (जमदग्नि)	तिलोत्तमा	शतजित्	ब्रह्मापेत	धृतराष्ट्र	कम्बल
ऊर्ज (फाल्गुन)	विष्णु	विश्वामित्र	रम्भा	सूर्यवर्चा	मखापेत	सत्यजित्	अश्वतर

भगवान् सूर्यकी आराधना नैष्ठिक रूपसे करनेवाले उड़ीसामें थोड़े लोग मिलते हैं। सौर-सम्प्रदाय अब व्यापक रहा नहीं; किंतु सन्ध्या भगवान् आदित्यकी ही उपासना है और वह द्विजातिमात्रका अनिवार्य कर्तव्य है।

भगवान् सूर्य साक्षात् नारायण हैं। उन श्रुतिधामने वाजि (अश्व)-रूप धारण करके महर्षि याज्ञवल्क्यको शुक्ल यजुर्वेदका उपदेश किया। श्रीहनुमान्‌जीके विद्यागुरु भी वही हैं। भारतमें रविवारका व्रत खूब प्रख्यात है। अनेक आर्त उससे सफलकाम होते हैं।

भगवान् विष्णु

श्रुतिसारसर्वस्व वे आदिनारायण अपनी योगमायासे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशके त्रिविध रूपोंमें व्यक्त होते हैं। परवैकुण्ठमें वही चिन्मय अष्टदल नित्य पद्मासनपर आसीन हैं। श्वेतद्वीपमें वही 'शशिवर्ण चतुर्भुज' रूपसे विराजमान हैं। क्षीरोदधिमें वे ही अनन्तशायी हैं और रमावैकुण्ठमें भगवती लक्ष्मीके साथ उन्हींका नित्यलीलाविलास चलता है।

वही प्रभु ब्रह्माण्डरूप विराट् पुरुष हैं और वही ब्रह्माण्डोदधिशायी नारायण हैं। सम्पूर्ण जल उन्हींसे प्रकट हुआ है। श्रुतियाँ उन्हींके निःश्वाससे निसृत हैं। वे ही श्रुतिके प्रतिपाद्य हैं। श्रुति उन्हींकी स्तुति करती है। वे ही यज्ञस्वरूप हैं। यज्ञ उन्हींसे व्यक्त हुए। वे स्वयं यज्ञके होता, ऋत्विक्, यजमान, अग्नि और उपकरण हैं। यज्ञोंद्वारा उन्हीं यज्ञपुरुषका यजन होता है। वही प्रभु जगत्पालनके लिये 'सशङ्ख-चक्र चतुर्भुज मेघश्याम' रूपसे शेषशय्यापर विराजमान हैं। उन्हींकी नाभिसे पद्म प्रकट हुआ। पद्मसम्भव ब्रह्माजीने उसी पद्ममें निखिल लोक-कल्पना की है।

मधु-कैटभको मारकर ब्रह्मा तथा श्रुतियोंका उद्धार उन्हीं प्रभुने किया है। वही नाना अवतार धारणकर धराको भार-मुक्त करते हैं। भगवान् शङ्करको भस्मासुरसे उन्होंने बचाया। त्रिपुरका रसकूप पानकर त्रिपुरारिको विजयी किया और जलन्धरके संग्राममें भी शङ्करजीकी विजय उन्हींके द्वारा हुई। समस्त धर्मोंसे उन्हींकी आराधना होती है। अतः जलन्धर-पत्नी वृन्दाका पातिव्रत्य उनकी ही तो अर्चा थी। उन्होंने वृन्दाको तुलसी बनाकर अपने वक्षपर नित्य विलसित वनमालामें स्थान दिया, अपने चरणोंकी अधिकारिणी बनाया।

वही सच्चिदानन्द प्रभु देवताओंके परमाश्रय हैं। उन्होंने ही समुद्रमन्थनके समय वासुकिके मस्तक और पुच्छको पकड़कर समुद्र-मन्थन किया। कौस्तुभरत्न उन्हींके कण्ठको भूषित करता है। भगवती लक्ष्मी उनके वक्षमें वास करती हैं। वे ही श्रीवत्सलाञ्छित प्रभु उन्मद असुरोंका दमन करते हैं और शरणागतोंका परित्राण करते हैं। त्रिदेवोंमें कौन श्रेष्ठ है—इसका निर्णय करनेके लिये महर्षि भृगुने उनके वक्षमें पाद-प्रहार किया। उन नित्य आनन्दघनसे रोष-कषाय कहाँ ? विप्रका चरण प्रभुने करोंसे मर्दित करते हुए कहा—'इस कोमल पदको कष्ट हुआ होगा!' उन शोभासिन्धुके विशाल वक्षपर विप्रका वह चरण-चिह्न—भृगुलता नित्य भूषण हो गयी।

[illegible] गुणातीत प्रभु जगत्-रक्षाके लिये

हैं। समस्त शास्त्र उन्हींका गुणगान करते हैं। उनके नाम, गुण, चरितका वर्णन, कीर्तन भगवान् शेष सहस्र मुखोंसे करते रहते हैं। अनन्त कालमें भी समाप्त होनेवाले वे गुण नहीं हैं। उन निखिल सद्गुणगणैकधाम, सर्वरूप, सर्वमय, सर्वातीत, सर्वपर, सर्वेश्वर, शोभाधाम, लक्ष्मीकान्त नारायणके पावन पादपद्मोंमें शतशः प्रणाम।

अनादिकालसे श्रुतियाँ उन प्रभुका गुणगान करती हैं। उनकी नैष्ठिक आराधनाकी सम्प्रदाय-परम्पराएँ अनादि हैं। वैष्णव-सम्प्रदायोंके आचार्योंने न तो नूतन प्रतिष्ठित किया और न कुछ उसमें घटाया-बढ़ाया। द्वापरके अन्तमें ये परम्पराएँ क्षीण होने लगी थीं। 'न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदायपुरःसरा।' आचार्योंने लुप्त होती उन परम्पराओंको पुनः प्रचारितमात्र किया है। स्मृतियाँ श्रुतियोंकी अनुगामिनी हैं। स्मार्त धर्म पञ्चदेवोंमें किसी एकको नैष्ठिकरूपसे आराध्य बनानेका प्राणीको आदेश देता है। वैष्णव या भागवतधर्म श्रुति-स्मृति-पुराणप्रतिपादित अनादि धर्म है। हिंदू-समाजमें कलाके क्षेत्रमें वैष्णव-भावनाके अपार वरदान हैं। साहित्यमें तो सर्वश्रेष्ठ महापुरुषोंकी वाणी भगवान्के ही पावन चरितसे परिपूत हुई है। 'रसो वै सः।' उस रसरूपको छोड़कर रसका वास्तविक परिपाक जो अन्यत्र नहीं होता।

भगवती लक्ष्मी

श्रीश्यामसुन्दर सदाके कौतुकी हैं। गोलोकमें अपने नित्य रासमण्डलमें उन्होंने अपनी शक्तिको दो रूपोंमें प्रकट कर दिया। समान वेश, समान रूप, समान सौन्दर्य। वामाङ्गसे व्यक्त शक्ति चतुर्भुज रमा और दक्षिणाङ्गसे द्विभुज श्रीराधा। दोनोंकी तुष्टिके लिये स्वयं भी दो रूपोंमें व्यक्त हो गये। चतुर्भुज श्रीनारायणरूपसे रमावैकुण्ठमें आ विराजे रमाके साथ और द्विभुज श्यामसुन्दर-रूप तो नित्य गोलोकविहारी है ही।

महर्षि दुर्वासाके शापसे इन्द्रके साथ त्रिलोकीकी श्री नष्ट हो गयी। अब साक्षात् श्री ब्रह्माण्डमें पधारें, तब लोकोंको शोभा, शक्ति आदि प्राप्त हो। श्रीनारायणके निर्देशसे समुद्र-मन्थन चल रहा था। देव-दैत्य दोनों श्रान्त हो गये। वे आदिपुरुष ही एक हाथसे वासुकिका पुच्छभाग और दूसरेसे सिर पकड़कर मन्थन कर रहे थे। क्षीराब्धिमें महोर्मियाँ उठ रही थीं। प्रथम निकला कालकूट। भगवान् शङ्कर उसे पान कर गये।

अनेक वस्तुओंके अनन्तर सिन्धुसुता लक्ष्मीजी प्रकट हो गयीं। सभी मुग्ध थे, सभी उनकी कामना करते थे। किसीने आसन दिया, किसीने वस्त्र; किसीने स्नान कराया; किसीने अङ्गराग दिये। सबने माला, आभरण आदि अपनी उत्कृष्टतम वस्तुओंसे सत्कार किया। उन जगदम्बाने सबकी सेवाएँ स्वीकार कर लीं। सब उनके सेवक ही तो हैं।

'ये बड़े क्षुद्र हैं, ये चञ्चल हैं, ये अलसमत्त हैं, ये पराधीन हैं।' हाथमें कमलोंकी माला लेकर वे अपने योग्य पुरुषका वरण करने चली थीं। 'ये क्रोधी हैं, ये कुरूप हैं, ये अल्पायु हैं, ये अमङ्गलरूप हैं, ये भयानक हैं।' देव, दैत्य, गन्धर्व, नाग, यक्ष, किन्नर, मानव, ऋषि—यहाँतक कि लोकपाल और स्वयं सदाशिव भी उनको उपयुक्त न जान पड़े। सबमें कोई-न-कोई खटकनेवाली बात थी।

'ये तो मेरी ओर देखते ही नहीं।' दोनों हाथोंमें वरमाला लिये महालक्ष्मी देखती रहीं उन वनमाली पद्मपलाश-लोचन परम पुरुषकी ओर। वे समुद्र-मन्थनके अपने कार्यमें तल्लीन थे। उन्होंने रमाको देखकर भी नहीं देखा। एक ही सर्वगुणागार अनुकूल पुरुष और वह इतना निरपेक्ष! लक्ष्मीजीको तो दूसरा पुरुष दीखता ही न था। उन्होंने जयमाल डाल दी उनके कण्ठमें और सिर झुकाकर खड़ी हो गयीं। उन दयामयको दया आयी। उन्होंने अपनी चिर-सहचरीको हृदयमें स्थान दिया। भगवान्के वक्षके वाम-भागपर जो स्वर्णिम रोमावली-आवर्त है, श्रुति उसे श्रीवत्स कहती है। वही महालक्ष्मीका अमर धाम है।

महालक्ष्मी भगवान्में नित्य स्थिर, कमलासना, गरुडासना या ऐरावतारूढा निखिलकल्याणदात्री हैं और भगवान्को भूलकर जब उनकी आराधना होती है, शास्त्र कहता है कि तब वे उलूकवाहना होती हैं। उनका आसन उलूक होता है। वे चञ्चला बन जाती हैं।

भगवान् शेष

सहस्रफणधारी, कमल-तन्तुके समान श्वेतवर्ण, मणि-मण्डितमौलि, एककुण्डलधर, नीलवस्त्रधारी भगवान्का यह संकर्षणविग्रह जगत्का आधार है। सम्पूर्ण पृथ्वी भगवान् शेषके एक फणपर राईके समान स्थित है। प्रलयके समय उनके फूत्कारकी अग्निमें विश्व सूखे गोबरके समान भस्म हो जाता है।

प्रलयकालमें भगवान् विष्णु शेषजीके भोगपर शयन करते हैं। भगवती लक्ष्मी चुपचाप उनके श्रीचरणोंको दबाती हैं।

शेषजी अपने पूर्व फणसे उनके नाभिनालके लोकपद्मको, उत्तर फणसे प्रभुके मस्तक एवं दक्षिण फणसे उनके चरणोको आच्छादित किये रहते हैं। वे अपना पश्चिम फण फैलाकर सर्वेशको व्यजन करते हैं तथा अन्य फणोंसे भगवान्‌के शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, नन्दकखड्ग, दोनों तूणीर, धनुष, गरुड़ आदिको धारण किये रहते हैं।

पातालमें नागकन्याएँ भगवान् अनन्तके महाभोगको नाना प्रकारके सुगन्धित अङ्गरागोंसे उपलिप्त करती हैं। मुनिजन इष्टसिद्धिके लिये उनकी आराधना करते हैं। सनकादि उनसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रभुका यह रूप प्राणतत्त्वका अधिष्ठान है। वे समस्त बलके आश्रय हैं। वे ही जीवोंके परमोपदेष्टा आदिगुरु हैं।

भगवान् ब्रह्मा

'मैं कहाँ हूँ ?' प्रलयाब्धिके मध्य एक सुमहत् प्रकाशमय अरुण कमल खिला था। उसकी कर्णिकापर एक पद्मके ही रंगका बालक बैठा था। बालकने चारों ओर देखनेकी इच्छा की और वह चतुर्मुख हो गया। वहाँ उस कमल और समुद्रको छोड़कर कुछ नहीं था। तेजःपुञ्ज पद्मके अतिरिक्त दिशाएँ अन्धकारमग्न थीं। बालकने कमलनालमें प्रवेश किया। कमलमूल जाननेकी उत्कण्ठा थी।

'तप ! तप ! तप !' सहस्रों वर्ष कमलनालमे नीचे जानेपर भी जब उसका अन्त न मिला, तब ब्रह्माजी लौट आये। सहसा अलक्ष्यवाणीने उन्हें तपस्याका आदेश दिया। युगोंके तपके पश्चात् हृदयमें ही उन्होने उस कमलनाभके दर्शन किये, जो सहस्रफणमौलि हिमश्वेत शेषकी शय्यापर सोये हुए कृपापूर्वक उनकी ओर देख रहे थे।

'सृष्टि तो बढ़ती ही नहीं।' ब्रह्माजीकी स्वाभाविक रुचि सृष्टिकर्ममें थी। वे बराबर अपने मनसे मानसिक सृष्टि कर रहे थे। मानसिक सृष्टिके प्राणी कल्पान्त अमर तो हो गये, पर उनकी प्रवृत्ति सृष्टिमे तबतक न हुई। अन्तमे स्वयं स्रष्टाने अपने दाहिने भागसे मनु और वाम भागसे शतरूपाको प्रकट किया। यह जोड़ी सृष्टि बढ़ानेमे प्रवृत्त हुई। मनुकी कन्या देवहूति महर्षि कर्दमको विवाही गयी। इस प्रकार मानसिक सृष्टिका भी सहयोग क्रमशः मिला।

भगवान् ब्रह्मा असुरोंके उपास्य रहे हैं। सृष्टिकर्ममे लगे रहनेसे वे बहुत कठोर तप करनेपर ही तुष्ट होते हैं। इन्द्र और विरोचनने उन्हींसे तत्त्वज्ञान प्राप्त किया। सृष्टिमे सामञ्जस्य बनाये रखनेके लिये, असुरोंसे पराजित देवताओंकी रक्षाके लिये बार-बार उन्हें क्षीरसागरशायी प्रभुसे प्रार्थना करनी पड़ी है। पृथु या विश्वामित्रकी भाँति कोई समर्थ जब सृष्टिमे व्यतिक्रम करने लगता है, तब भी उन्हे आना पड़ता है उसे समझाने। वे हंसवाहन प्रभु नित्य ही जगत्‌के प्रति सचिन्त रहते हैं। उनके चरित पुराणोंमे बहुत अधिक हैं। समस्त कार्योत्पादनके वे ही अधिष्ठाता हैं।

भगवती सरस्वती

श्वेतपद्मपर आसीना, शुभ्रहंसवाहिनी, तुषारधवलकान्ति, शुभ्रवसना, स्फटिकमालाधारिणी, वीणामण्डितकरा, श्रुतिहस्ता वे भगवती भारती प्रसन्न हों, जिनकी कृपा ही मनुष्यमे कला, विद्या, ज्ञान तथा प्रतिभाका प्रकाश करती है। वही समस्त विद्याओंकी अधिष्ठात्री हैं। यश उन्हींकी धवल अङ्गज्योत्स्ना है। वे सत्त्वरूपा, श्रुतिरूपा, आनन्दरूपा हैं। विश्वमें सुख, सौन्दर्यका वही सृजन करती हैं।

वे अनादि शक्ति भगवान् ब्रह्माके कार्यकी सहयोगिनी हैं। उन्हींकी कृपासे प्राणी कार्यके लिये ज्ञान प्राप्त करता है। उनका कलात्मक स्पर्श कुरूपको परम सुन्दर कर देता है। वे हंसवाहिनी हैं। सदसद्विवेक ही उनका वास्तविक प्रसाद है। भारतमें उनकी उपासना सदा होती आयी है। महाकवि कालिदासने उन्हें प्रसन्न किया था। प्रत्येक कवि उनके पावन पदोंका स्मरण करके ही अपना काव्यकर्म प्रारम्भ करता था, यह यहाँकी सनातन परम्परा थी।

प्रतिभाकी उन अधिष्ठात्रीके चरित तो सर्वत्र प्रत्यक्ष हैं। समस्त वाङ्मय, सम्पूर्ण कला और पूरा विज्ञान उन्हींका वरदान है। मनुष्य उन जगन्माताकी अहैतुकी दयासे प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग करके अपना नाश कर लेता है और उनको भी दुखी करता है। ज्ञान-प्रतिमा भगवती सरस्वतीके वरदानका सदुपयोग है अपने ज्ञान, प्रतिभा और विचारको भगवान्‌में लगा देना। वह वरदान सफल हो जाता है। मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। भगवती प्रसन्न होती है।

'भारतीय प्राचीन कला प्रायः मन्दिरोमे व्यक्त हुई है।' पाश्चात्त्य विद्वानोंके ये आक्षेप ठीक ही हैं। भारतने नश्वर मनुष्य और उसके नश्वर अर्थहीन कृत्योंको व्यर्थ स्थायी करनेका प्रयत्न नहीं किया। भारतपर भगवती भारतीकी सदा समुज्ज्वल कृपा रही। मानव—अमृतपुत्र मानवको उन्होंने नित्य अमरत्वका मार्ग दिखाया। मानवने अपनी क्रिय[illegible] आधार उस नित्यतत्त्वको बनाया, जहाँ [illegible] हो [illegible] जाती है।

कथा उस चिरन्तन ज्योतिर्मयमें एक होकर धन्य हो गयी। वह स्थूल जगत्‌में भले नित्य न हो; अपने उद्गमको नित्य जगत्‌में पहुँचानेमें सफल हुई। भगवती सरस्वतीके दिव्य रूपको न समझकर उनके सच्चे प्रकाशके अन्धकारमें भ्रान्त मनुष्य उस प्रकाशका दुरुपयोग करने लगा है। अन्धकारके गर्तमें गिरता तो कदाचित् कहीं अटकता भी; पर वह तो प्रकाशमें कूद रहा है नीचे घोर अतल अन्धकारमें।

भगवती शारदाके मन्दिर हैं, उपासना-पद्धति है; उनकी उपासनासे सिद्ध महाकवि एवं विद्वानोंके इतिहासमें चारु चरित हैं। यह सब होकर भी उनकी कृपा और उपासनाका फल केवल यश नहीं। यश तो उनकी कृपाका उच्छिष्ट है। फल तो है परमतत्त्वको प्राप्त कर लेना। इसी फलके लिये श्रुतियाँ उन वाग्देवीकी स्तुति करती हैं।

भगवान् मत्स्य

इससे पूर्व कल्पकी बात है—भगवान् ब्रह्मा अपने दिनके कार्यसे श्रान्त होकर योगनिद्राका आश्रय ले रहे थे। श्रुतियाँ सहज अलस भावसे उनके मुखसे निकलीं। उन श्रुतिस्वरूप-के मुखसे निद्रामें और प्रकट भी क्या होता। दितिपुत्र हयग्रीवने उन्हें स्मरण कर लिया। एक असुर श्रुतिका न शुद्धोच्चारण कर सकता और न उसका अर्थ-दर्शन। वह अपनी मलिन बुद्धिसे श्रुतियोंका अनर्थ करेगा। श्रुतियोंके उद्धारके लिये, उनकी परम्परा विशुद्ध रखनेके लिये भगवान् विष्णुने मत्स्यरूप धारण किया।

भुवन-भास्कर विवस्वान्‌के पुत्र राजर्षि सत्यव्रत जल पीकर घोर तपमें लीन थे। प्रातःस्नान करके कृतमाला नदीमें तर्पणके लिये उन्होंने अञ्जलि उठायी। हिल्सा जातिकी स्वर्णवर्ण एक शफरी (छोटी मछली) उसमें आ गयी थी। राजर्षिने अञ्जलि विसर्जित कर दी।

'यहाँ हम छोटी मछलियोंको आहार बना लेनेवाले बहुत जन्तु हैं। उनसे डरकर मैं आपकी शरण आयी हूँ।' शफरी भागी नहीं। वह बोल रही थी। राजर्षिने उसे उठाकर कमण्डलुके जलमें रख लिया।

'मैं आपकी शरण हूँ। मेरी सुविधाका आपको प्रबन्ध करना चाहिये। यहाँ तो मैं हिल भी नहीं सकती।' आश्रममें पहुँचते ही मछलीने पुनः प्रार्थना की। वह इतनी बढ़ गयी थी कि कमण्डलुमें उसका हिलना कठिन था। क्रमशः उसे बड़े पात्र, कुण्ड, सरोवर और सरितामें रखना पड़ा। सब कहीं कुछ मुहूर्तोंमें वह स्थान उसकी वृद्धिसे पूर्ण हो जाता था। अन्तमें समुद्रमें छोड़ना पड़ा उसे।

'निश्चय ही आप सर्वेश हैं। जब आपने मुझपर कृपा की है, तब अपने इस शरीर-धारणका प्रयोजन बतावें।' राजर्षिने तब प्रार्थना की, जब समुद्रमें मत्स्यने अपने लिये मगर आदिका भय बताया। भला, कोई जलजीव इतना शीघ्र यह आकार-वृद्धि कहाँ पा सकता था। भगवान् मत्स्य-ने बताया कि प्रलय सातवें दिन ही होनी है। भगवान्‌के आदेशानुसार राजर्षिने बहुत बड़ी नौका बनवायी। उसमें सम्पूर्ण वनस्पतियोंके बीज और प्राणियोंके जोड़े सुरक्षित किये। सातवें दिन चारों ओरसे बढ़कर समुद्रने पृथ्वीको प्लावित कर दिया। नौकामें इसी समय सप्तर्षि भी आकर बैठ गये। प्रबल पवनसे नौका चञ्चल हो उठी। उसी समय एक-शृङ्गधारी अयुत योजन विशाल स्वर्णोज्ज्वल भगवान् मत्स्य प्रलय-सागरसे प्रकट हुए। नागराज वासुकी पहलेसे नौकामें विराजमान थे। नौका उन महासर्पकी रज्जुसे मत्स्यके सींगमें बाँध दी गयी।

भूः-भुवः आदि सम्पूर्ण लोक जलमग्न हो गये थे। अन्धकारमें सागरकी उत्तुङ्ग तरङ्गोंके बीच महामत्स्य प्रभु विचरण कर रहे थे। नौकामें ऋषियोंका तेज प्रकाश किये था। राजर्षिने प्रश्न किया और भगवान्‌ने उत्तर दिया। भगवान् मत्स्यका वही दिव्य उपदेश भगवान् व्यासने मत्स्य-पुराणमें संकलित किया है। प्रलयकाल व्यतीत हुआ। समुद्र उतरा। भगवान्‌के आदेशसे हिमालयके एक शृङ्गमें राजर्षि सत्यव्रतने अपनी नौका बाँध दी। वह शृङ्ग अब भी नौका-बन्धन शृङ्ग कहा जाता है। राजर्षि सत्यव्रत इस मन्वन्तरके वैवस्वत मनु हैं। भगवान् मत्स्यने हयग्रीवका वध किया; क्योंकि सृष्टिकालमें असुरके समीप श्रुति रहना अभीष्ट नहीं था।

यहूदियोंके धर्मग्रन्थमें, बाइबिलमें और कुरानमें भी मनुकी इस जलप्रलय और नौकारोहणका प्रकारान्तरसे वर्णन है। चीनमें तथा प्राचीन आस्ट्रेलिया एवं अमेरिका-निवासियों-में भी यह चरित प्रसिद्ध है। बहुत थोड़ा अन्तर कथामें इन स्थानोंमें हुआ है। कथाका सब कहीं मिलना बतलाता है कि सब जातियाँ भारतसे गयी हैं और मनुकी संतति हैं। देश, कालके प्रभावमें कथामें परिवर्तन स्वाभाविक है। भगवान् मत्स्य विश्व-संस्कृतिके ही इस प्रकार रक्षक एवं प्रतिष्ठापक हैं

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा ।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां
तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि ॥
(श्रीमद्भा० ८ । २४ । ६१)

भगवान् कच्छप

अहंकार और महज्जनोंकी उपेक्षा अनर्थोंके कारण होते ही हैं । महर्षि दुर्वासा प्रसन्न थे । उन्होंने ऐरावतपर जाते हुए इन्द्रको अपने कण्ठकी पुष्पमाला दी । महेन्द्रने उसे गजराजके मस्तकपर डाल दिया । ऐरावतने सूँड़से उठाकर नीचे डाला और पैरसे कुचल दिया । 'तेरी श्री नष्ट हो जाय !' अपने प्रसादका अपमान देख महर्षिने शाप दिया और चले गये ।

कहाँ ऋषिके अपमानसे श्रीहीन देवता और कहाँ आचार्य शुक्रके श्रद्धालु सेवक दैत्यराज बलि । दोनोंके युद्धमें देवता हार गये । स्वर्ग असुरोंका क्रीडोद्यान हो गया । बलिने तीनों लोकोंपर अधिकार कर लिया । देवता और क्या करते, वे ब्रह्माजीकी शरण गये । सबने मिलकर शेषशायी प्रभुसे प्रार्थना की ।

'आप सब दैत्योंसे सन्धि कर लें । समस्त ओपधियाँ क्षीरसागरमें डालकर उसका मन्थन करें । मन्दराचलको मथानी बनावें और वासुकी नागको रस्सी । यह काम अकेले देवताओंसे न होगा । पहले महाविष निकलेगा, उससे भय मत करना । वस्तुओंमें लोभ करके लड़ना मत । अन्तमें जरा-मृत्यु-हारिणी सुधा प्रकट होगी ।' भगवान्‌ने प्रकट होकर युक्ति बतायी ।

इन्द्र गये दैत्यराजके समीप । कुशलतापूर्वक उन्होंने बन्धुत्वका स्मरण कराया । अमृतके लोभसे सन्धि हो गयी । देव-दैत्य दोनोंने मिलकर मन्दराचलको उखाड़ा । पर्वत अधिक दूर न जा सका । वह गिरा, बहुतसे लोग पिस उठे । अन्तमें वही भक्त-भयहारी स्मरण करनेपर पधारे । एक हाथसे उठाकर उन्होंने गरुड़पर मन्दराचलको रख लिया ।

पर्वत क्षीराब्धि-तटपर आया । समुद्रमें डालनेपर वह डूबने लगा । समस्त देवता और दैत्य मिलकर उसे सम्हालनेमें असमर्थ थे । अन्ततः भगवान्‌ने नियुत योजन विशाल कच्छपरूप धारण करके मन्दराचलको पीठपर धारण किया । उनकी पीठपर स्थित पर्वतसे मन्थन सम्पन्न हुआ ।

एक कथा और—प्रलयमें भगवान् शेषशय्यापर योगनिद्राका आश्रय किये हुए थे । उनके शरीरसे आद्याशक्ति प्रकट हुई । उसीसे इस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रकट हुए । शक्ति शवरूपमें ब्रह्माके पास गयी । उसे उन्होंने चारों ओरसे देखा, फलतः वे चतुर्मुख हो गये । विष्णुने उसे दूरसे लौटा दिया । सौ बार शरीर बदलनेपर शिवने उसे स्वीकार कर लिया ।

शक्ति स्थिर हो गयी; किंतु ब्रह्मा सृष्टि न कर सके—पृथ्वी जो नहीं थी । भगवान् विष्णुने कर्णमलसे दो दैत्य उत्पन्न किये । वे दोनों रुष्ट होकर ब्रह्माजीको मारने दौड़े । भगवान् विष्णुने उन्हें मार डाला । उन दैत्योंके मेदसे मेदिनी—पृथ्वी बनी । उनकी अस्थियाँ पर्वत बनीं । पृथ्वीको स्थिर करनेके लिये भगवान्‌ने कच्छपरूप धारण किया ।

भगवान्‌के अवतार नित्य हैं । वही प्रभु पृथ्वीका धारण करते हैं, वही मन्दर धारण करके अमृत-मन्थनके हेतु बनते हैं । वही मनुष्यकी धृति बनते हैं और तभी मानव अक्षयधामके पथमें स्थिर होता है । सबके वही आधार हैं ।

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः ।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति ॥

भगवान् वाराह

'भगवन् ! हमारे लिये स्थान निर्देश करें !' स्वायम्भुव मनुने स्रष्टासे प्रार्थना की । चारों ओर महाप्रलयका समुद्र तरङ्गें ले रहा था । लोकमूल कमलपर ब्रह्माजीने मानसिक सृष्टि व्यक्त कर ली । मनुको सृष्टिकी आज्ञा हुई । मानव-सृष्टिके लिये स्थूल स्थान चाहिये । पृथ्वी तो जलमें डूब गयी थी ।

'वे सर्वेश्वर ही इसका उद्धार करें ।' भगवान् ब्रह्माने देखा कि रसा तो रसातलमें है । वे ध्यानस्थ हो गये । सहसा छींक आयी । अङ्गुष्ठके बराबर एक उज्ज्वल वाराह शिशु नासिकासे निकलकर आकाशमें स्थित हो गया ।

'यह क्या है ?' ऋषियोंके साथ ब्रह्माजी साश्चर्य देख रहे थे । वाराह क्षणभरमें हाथीके बराबर हो गया । वह बढ़ता जा रहा था । एक घनगर्जन-सी घुरघुराहट हुई । वाराहने सटाएँ हिलायी और समुद्रमें प्रविष्ट हो गये ।

× × ×

'आपको विष्णुका कुछ पता है ?' जैसे काला पर्वत हो । सोनेकी भारी गदा लिये वह दितिका पीली आँखोंवाला

छोटा पुत्र हिरण्याक्ष देवर्षि नारदसे पूछ रहा था। उसने वरुणदेवको युद्धके लिये ललकारा था। देवता उसकी हुंकार सुनकर स्वर्गसे भाग गये थे। समुद्र उसकी क्रीड़ासे चीत्कार कर उठा था। उसे कोई चाहिये, जिससे वह लड़े। उसका बल किसी योद्धाको चाहता था। युद्ध किये बिना उसे शान्ति नहीं थी। वरुणने भी कह दिया था कि वे वृद्ध हो गये हैं। उन्होंने ही उसे विष्णुभगवान्के पास भेजा था।

'वे अभी श्वेत वाराहरूप धारण करके इसी समुद्रमें सीधे नीचे जा रहे हैं। तुम शीघ्रता करो तो पकड़ लोगे।' देवर्षिने दैत्यको देखा। भगवान्के पार्षद् जय और विजयने सनकादि-कुमारोंको वैकुण्ठ-प्रवेशके समय रोक दिया था। ऋषियोंने शाप दे दिया उन्हें असुर होनेका। अब वे दितिके गर्भसे प्रकट हुए हैं। उनमें एक तो यही है। देवर्षिको दया आयी। भगवान्के हाथसे मरकर यह दूसरा जन्म ले। तीन ही जन्ममें तो फिर अपने रूपको पा लेगा। इन जन्मोंसे जितनी जल्दी छूटे, उतना अच्छा।

'अरे, इसे कहाँ ले जाता है? यह तो स्रष्टाने हम रसातल-वासियोंके लिये भेजी है।' दैत्य पाताल पहुँचा। भगवान् वाराहने पृथ्वीको अपने दाँतोंपर उठा लिया था। दैत्यको तो विवाद करना था, पर भगवान्ने जैसे कुछ सुना ही नहीं। वे पृथ्वीको लेकर चले। दैत्य पीछे पीछे दौड़ा। 'तू इसे छोड़ दे, नहीं तो मारा जायगा।'

'अच्छा, अब तू अपने मनकी कर ले!' दैत्य पीछे दौड़ आया। भगवान्ने पृथ्वीको ऊपर स्थापित करके उसे ललकारा। दोनोंमें घोर संग्राम हुआ। अन्तमें दैत्य मारा गया। यह श्वेतवाराह-कल्पकी सृष्टि पृथ्वीकी उसी पुनः प्रतिष्ठा-के समयसे प्रारम्भ हुई है।

भगवान् नृसिंह

धराके उद्धारके समय भगवान्ने वाराहरूप धारण करके हिरण्याक्षका वध किया। उसका बड़ा भाई हिरण्यकशिपु बड़ा रुष्ट हुआ। उसने अजेय होनेका संकल्प किया। सहस्रों वर्ष बिना जलके वह सर्वथा स्थिर तप करता रहा। ब्रह्माजी सन्तुष्ट हुए। दैत्यको वरदान मिला। उसने स्वर्गपर अधिकार कर लिया। लोकपालोंको मार भगा दिया। स्वतः सम्पूर्ण लोकों-का अधिपति हो गया। देवता निरुपाय थे। असुरको किसी प्रकार वे पराजित नहीं कर सकते थे।

'बेटा, तुझे क्या अच्छा लगता है?' दैत्यराजने एक दिन सहज ही अपने चारों पुत्रोंमें सबसे छोटे प्रह्लादसे पूछा।

'इन मिथ्या भोगोंको छोड़कर वनमें श्रीहरिका भजन करना!' बालक प्रह्लादका उत्तर स्पष्ट था। दैत्यराज जब तप कर रहे थे, देवताओंने असुरोंपर आक्रमण किया। असुर उस समय भाग गये थे। यदि देवर्षि न छुड़ाते तो दैत्यराज-की पत्नी कयाधूको इन्द्र पकड़े ही लिये जाते थे। देवर्षिने कयाधूको अपने आश्रममें शरण दी। उस समय प्रह्लाद गर्भमें थे। वहींसे देवर्षिके उपदेशोंका उनपर प्रभाव पड़ चुका था।

'इसे आपलोग ठीक-ठीक शिक्षा दें!' दैत्यराजने पुत्रको आचार्य शुक्रके पुत्र षण्ड तथा अमर्कके पास भेज दिया। दोनों गुरुओंने प्रयत्न किया। प्रतिभाशाली बालकने अर्थ, धर्म, कामकी शिक्षा सम्यक् रूपसे प्राप्त की; परन्तु जब पुनः पिताने उससे पूछा तो उसने श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इन नौ भक्तियोंको ही श्रेष्ठ बताया।

'इसे मार डालो। यह मेरे शत्रुका पक्षपाती है।' रुष्ट दैत्यराजने आज्ञा दी। असुरोंने आघात किया। भल्ल-फलक मुड़ गये, खड्ग टूट गया, त्रिशूल टेढ़े हो गये; पर वह कोमल शिशु अक्षत रहा। दैत्य चौंका। प्रह्लादको विष दिया गया; पर वह जैसे अमृत हो। सर्प छोड़े गये उनके पास और वे फण उठाकर झूमने लगे। मत्त गजराजने उठाकर उन्हें मस्तकपर रख लिया। पर्वतसे नीचे फेंकनेपर वे ऐसे उठ खड़े हुए, जैसे शय्यासे उठे हों। समुद्रमें पाषाण बाँधकर डुबानेपर दो क्षण पश्चात् ऊपर आ गये। घोर चितामें उनको लपटें शीतल प्रतीत हुईं। गुरुपुत्रोंने मन्त्रबलसे कृत्या (राक्षसी) उन्हें मारनेके लिये उत्पन्न की तो वह गुरुपुत्रोंको ही प्राणहीन कर गयी। प्रह्लादने ही प्रभुकी प्रार्थना करके उन्हें जीवित किया। अन्तमें वरुणपाशसे बाँधकर गुरुपुत्र पुनः उन्हें पढ़ाने ले गये। वहाँ प्रह्लाद समस्त बालकोंको भगवद्भक्तिकी शिक्षा देने लगे। भयभीत गुरुपुत्रोंने दैत्येन्द्रसे प्रार्थना की 'यह बालक सब बच्चोंको अपना ही पाठ पढ़ा रहा है!'

'तू किसके बलसे मेरे अनादरपर तुला है?' हिरण्यकशिपु-ने प्रह्लादको बाँध दिया और स्वयं खड्ग उठाया।

'जिसका बल आपमें तथा समस्त चराचरमें है!' प्रह्लाद निर्भय थे।

'कहाँ है वह?'

'मुझमें, आपमें, खड्गमें, सर्वत्र!'

'सर्वत्र ? इस स्तम्भमें भी ?'

'निश्चय !' प्रह्लादके वाक्यके साथ दैत्यने खंभेपर घूसा मारा। वह और समस्त लोक चौंक गये। स्तम्भसे बड़ी भयङ्कर गर्जनाका शब्द हुआ। एक ही क्षण पश्चात् दैत्यने देखा—समस्त शरीर मनुष्यका और मुख सिंहका, बड़े-बड़े नख एवं दाँत, प्रज्वलित नेत्र, स्वर्णिम सटाएँ, बड़ी भीषण आकृति खंभेसे प्रकट हुई। दैत्यके अनुचर झपटे और मारे गये अथवा भाग गये। हिरण्यकशिपुको भगवान्‌ने पकड़ लिया।

'मुझे ब्रह्माजीने वरदान दिया है !' छटपटाते हुए दैत्य चिल्लाया। 'दिनमें या रातमे न मरूँगा; कोई देव, दैत्य, मानव, पशु मुझे न मार सकेगा। भवनमें या बाहर मेरी मृत्यु न होगी। समस्त शस्त्र मुझपर व्यर्थ सिद्ध होंगे। भूमि, जल, गगन—सर्वत्र मैं अवध्य हूँ।'

'यह सन्ध्याकाल है। मुझे देख कि मैं कौन हूँ। यह द्वारकी देहली, ये मेरे नख और यह मेरी जंघापर पड़ा तू।' अट्टहास करके भगवान्‌ने नखोंसे उसके वक्षको विदीर्ण कर डाला।

वह उग्ररूप—देवता डर गये, ब्रह्माजी अवसन्न हो गये, महालक्ष्मी दूरसे लौट आयीं; पर प्रह्लाद—वे तो प्रभुके वरप्राप्त पुत्र थे। उन्होंने स्तुति की। भगवान् नृसिंहने गोदमें उठाकर उन्हें बैठा लिया। स्नेहसे चाटने लगे। प्रह्लाद दैत्यपति हुए।

भगवान् वामन

श्रीहरि जिसपर कृपा करें, वही सबल है। उन्हींकी कृपासे देवताओंने अमृत-पान किया। उन्हीकी कृपासे असुरोंपर युद्धमें वे विजयी हुए। पराजित असुर मृत एवं आहतोंको लेकर अस्ताचल चले गये। असुरेश बलि इन्द्रके वज्रसे मृत हो चुके थे। आचार्य शुक्रने अपनी सजीवनी विद्यासे बलि तथा दूसरे असुरोंको भी जीवित एवं स्वस्थ कर दिया। बलिने आचार्यकी कृपासे जीवन प्राप्त किया था। वे सच्चे हृदयसे आचार्यकी सेवामें लग गये। शुक्राचार्य प्रसन्न हुए। उन्होंने यज्ञ कराया। अग्निसे दिव्य रथ, अक्षय त्रोण, अभेद्य कवच प्रकट हुए।

आसुरी सेना अमरावतीपर चढ़ दौड़ी। इन्द्रने देखते ही समझ लिया कि इस बार देवता इस सेनाका सामना नहीं कर सकेंगे। बलि ब्रह्मतेजसे पोषित थे। देवगुरुके आदेशसे देवता स्वर्ग छोड़कर भाग गये। अमर-धाम असुर-राजधानी बना। शुक्राचार्यने बलिका इन्द्रत्व स्थिर करनेके लिये अश्वमेध-यज्ञ कराना प्रारम्भ किया। सौ अश्वमेध करके बलि नियमसम्मत इन्द्र बन जायँगे। फिर उन्हे कौन हटा सकता है।

'स्वामी, मेरे पुत्र मारे-मारे फिरते है !' देवमाता अदिति अत्यन्त दुखी थी। अपने पति महर्षि कश्यपसे उन्होंने प्रार्थना की। महर्षि तो एक ही उपाय जानते हैं—भगवान्‌की शरण, उन सर्वात्माकी आराधना। अदितिने फाल्गुनके शुक्ल पक्षमें बारह दिन पयोव्रत करके भगवान्‌की आराधना की। प्रभु प्रकट हुए। अदितिको वरदान मिला। उन्हींके गर्भसे भगवान् प्रकट हुए। शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज पुरुष अदितिके गर्भसे जब प्रकट हुए, तत्काल वामन ब्रह्मचारी बन गये। महर्षि कश्यपने ऋषियोंके साथ उनका उपनयन-संस्कार सम्पन्न किया। भगवान् वामन पितासे आज्ञा लेकर बलिके यहाँ चले।

नर्मदाके उत्तर-तटपर असुरेन्द्र बलि अश्वमेध-यज्ञमे दीक्षित थे। यह उनका अन्तिम अश्वमेध था। छत्र, पलाश-दण्ड तथा कमण्डलु लिये, जटाधारी, अग्निके समान तेजस्वी वामन ब्रह्मचारी वहाँ पधारे। बलि, शुक्राचार्य, ऋषिगण—सभी उस तेजसे अभिभूत अपनी अग्नियोंके साथ उठ खड़े हुए। बलिने उनके चरण धोये, पूजन किया और प्रार्थना की कि जो भी इच्छा हो, वे माँग लें।

'मुझे अपने पैरोंसे तीन पद भूमि चाहिये !' बलिके कुलकी शूरता, उदारतादिकी प्रशंसा करके वामनने माँगा। बलिने बहुत आग्रह किया कि और कुछ माँगा जाय; पर वामनने जो माँगना था, वही माँगा था।

'ये साक्षात् विष्णु हैं !' आचार्य शुक्रने सावधान किया। समझाया कि इनके छलमें आनेसे सर्वस्व चला जायगा।

'ये कोई हो, प्रह्लादका पौत्र देनेको कहकर अस्वीकार नहीं करेगा !' बलि स्थिर रहे। आचार्यने ऐश्वर्य-नाशका शाप दे दिया। बलिने भूमिदानका संकल्प किया और वामन विराट् हो गये। एक पदमें पृथ्वी, एकमें स्वर्गादि लोक तथा शरीरसे समस्त नभ व्याप्त कर लिया उन्होंने। उनका वाम पद ब्रह्मलोकसे ऊपरतक गया। उसके अङ्गुष्ठ-नखसे ब्रह्माण्डका आवरण तनिक टूट गया। ब्रह्मद्रव वहाँसे ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट हुआ। ब्रह्माजीने भगवान्‌का चरण धोया और चरणोदकके साथ उस ब्रह्मद्रवको अपने कमण्डलुमे ले लिया। वही ब्रह्मद्रव गङ्गाजी बना।

'तीसरा पद रखनेको स्थान कहाँ है ?' भगवान्‌ने बलिको नरकका भय दिखाया। संकल्प करके दान न करनेपर तो नरक होगा ही।

'इसे मेरे मस्तकपर रख ले !' बलिने मस्तक झुकाया। प्रभुने वहाँ चरण रक्खा। बलि गरुड़द्वारा बाँध लिये गये।

'तुम अगले मन्वन्तरमें इन्द्र बनोगे ! तबतक सुतलमें निवास करो। मैं नित्य तुम्हारे द्वारपर गदापाणि उपस्थित रहूँगा।' दयामय द्रवित हुए। प्रह्लादके साथ बलि सब असुरोंको लेकर स्वर्गाधिक-ऐश्वर्यसम्पन्न सुतल लोकमें पधारे। शुक्राचार्यने भगवान्‌के आदेशसे यज्ञ पूरा किया।

महेन्द्रको स्वर्ग प्राप्त हुआ। ब्रह्माजीने भगवान् वामनको उपेन्द्र-पद प्रदान किया। वे इन्द्रके रक्षक होकर अमरावतीमें अधिष्ठित हुए। बलिके द्वारपर गदापाणि द्वारपाल तो बन ही चुके थे। त्रेतामें दिग्विजयके लिये रावणने सुतल-प्रवेशकी धृष्टता की। बेचारा असुरेश्वरके दर्शनतक न कर सका। बलिके द्वारपालने पैरके अँगूठेसे उसे फेंक दिया। पृथ्वीपर सौ योजन दूर लङ्कामें आकर गिरा था वह।

भगवान् परशुराम

'यह गौ आप मुझे दे दें।' हैहयराज सहस्रबाहु अर्जुन ससैन्य महर्षि जमदग्निके आश्रमके पाससे निकले थे। महर्षिने उनको आतिथ्यके लिये निमन्त्रित किया। आश्रमकी कामधेनुकी कृपासे सबका सत्कार हुआ। राजाके मनमें लोभ आया। जब महर्षिने गौ माँगनेपर भी न दी तो बलपूर्वक उसने छीन ली। वह अपने बलके गर्वसे उन्मत्त हो रहा था।

'राम, तुमने अधर्म किया। हम ब्राह्मण हैं। हमें क्षमा करना चाहिये।' परशुराम वनसे लौटकर राजाका अन्याय सह न सके थे। अकेले ही परशु लेकर ससैन्य सहस्रार्जुनका युद्धमें वध करके वे होमधेनु लौटा लाये थे। महर्षि जमदग्नि सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने पुत्रको वर्षभर समस्त तीर्थोंमें प्रायश्चित्तस्वरूप घूमनेका आदेश दिया।

'राम, हा राम !' भगवान् परशुराम यात्रासे लौटे। दूरसे माता रेणुकाका करुणस्वर उन्होंने सुना। अग्निशालामें ध्यानस्थ महर्षि जमदग्निको सहस्रार्जुनके पुत्रोंने मार दिया था। और उनका मस्तक लेकर भाग गये थे। भगवान् परशुरामके नेत्रोंने अग्निवर्ण धारण किया। उन्होंने पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे हीन कर दिया। समन्त-पञ्चक स्थानमें राजाओंके रक्तसे नौ सरोवर बन गये। परशुरामजीने यज्ञ किया। पिताके मस्तकको लाकर शरीरपर स्थापित करके मन्त्रपाठ किया। महर्षि जमदग्नि जीवित हुए। उन्हें सप्तर्षियोंमें पञ्चम स्थान प्राप्त हुआ।

'राम ! तुम अब मेरी भूमिसे चले जाओ !' ऋषिगण बार-बार क्षत्रियोंके गर्भस्थ बालकोंकी रक्षा करते। उनको राजा बनाते। परशुरामजी उनका वध कर डालते। अन्तिम बार जब कश्यपजीको उन्होंने समस्त पृथ्वी दान कर दी तब महर्षि कश्यपने उन्हें आदेश दिया कि 'अब मेरी भूमिपर कभी रात्रि-वास न करना।' तबसे परशुरामजी महेन्द्र-पर्वतपर निवास करते हैं। वे कल्पान्त अमर हैं। अनेक बार योग्य अधिकारी उनके दर्शन पाते हैं।

भगवान् श्रीराम

गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियायाः
पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो यो हरीन्द्रानुजाभ्याम्।
वैरूप्याच्छूर्पणख्याः प्रियविरहरुषाऽऽरोपितभ्रूविजृम्भ-
त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः खलदवदहनः कोसलेन्द्रोऽवतान्नः॥
(श्रीमद्भा० ९ । १० । ४)

अयोध्याका सिंहासन शून्य होने जा रहा था। रघुकी सन्तति-परम्पराका इस प्रकार कहीं उच्छेद हो सकता है। महाराज दशरथने तीन विवाह किये, अवस्था अधिक हो गयी; किंतु उस चक्रवर्ती साम्राज्यका उत्तराधिकारी किसी रानीकी गोदमें न आया। रघुवंशके परम रक्षक तो महर्षि वशिष्ठ हैं। महाराजने अपने उन कुलगुरुकी शरण ली। गुरुदेवके आदेशसे शृङ्गी ऋषि आमन्त्रित हुए। पुत्रेष्टि-यज्ञका अनुष्ठान हुआ। साक्षात् अग्निदेवने प्रकट होकर चरु प्रदान किया। उस दिव्य चरुको ग्रहण कर रानियाँ गर्भवती हुईं।

देवता लङ्काधिप पुलस्त्यके पौत्र राक्षसराज रावणसे सन्त्रस्त हो गये थे। अपने ऐश्वर्यमें मत्त वह कुबेरका छोटा भाई वेदज्ञ होनेपर भी राक्षस हो गया। दानवेन्द्र मयने अपनी पुत्री मन्दोदरी उससे विवाह दी। असुरकुलसे ही उसकी प्रकृति एक हो गयी। ऋषियों, ब्राह्मणों, देवताओं तथा धर्मका वह शत्रु हो गया। यज्ञ बलपूर्वक रोक दिये गये, पूजनस्थल ध्वस्त किये गये। तपोवन राक्षसोंने जला दिये। ऋषि-मुनि राक्षसोंके भक्ष्य हो गये। देवराज इन्द्र पराजित हो चुके थे। लोकपालगण रावणकी आज्ञा माननेपर विवश थे। अन्ततः धरा यह अधर्म-भार कहाँतक सहे। पृथ्वीकी आर्त पुकार, देवताओंकी प्रार्थना, स्रष्टाकी चिन्ता—सबने उन परात्पर प्रभुको आकृष्ट किया। अयोध्यानरेश

दशावतार (हाथीदाँतकी मूर्ति, त्रिवेन्द्रम्)
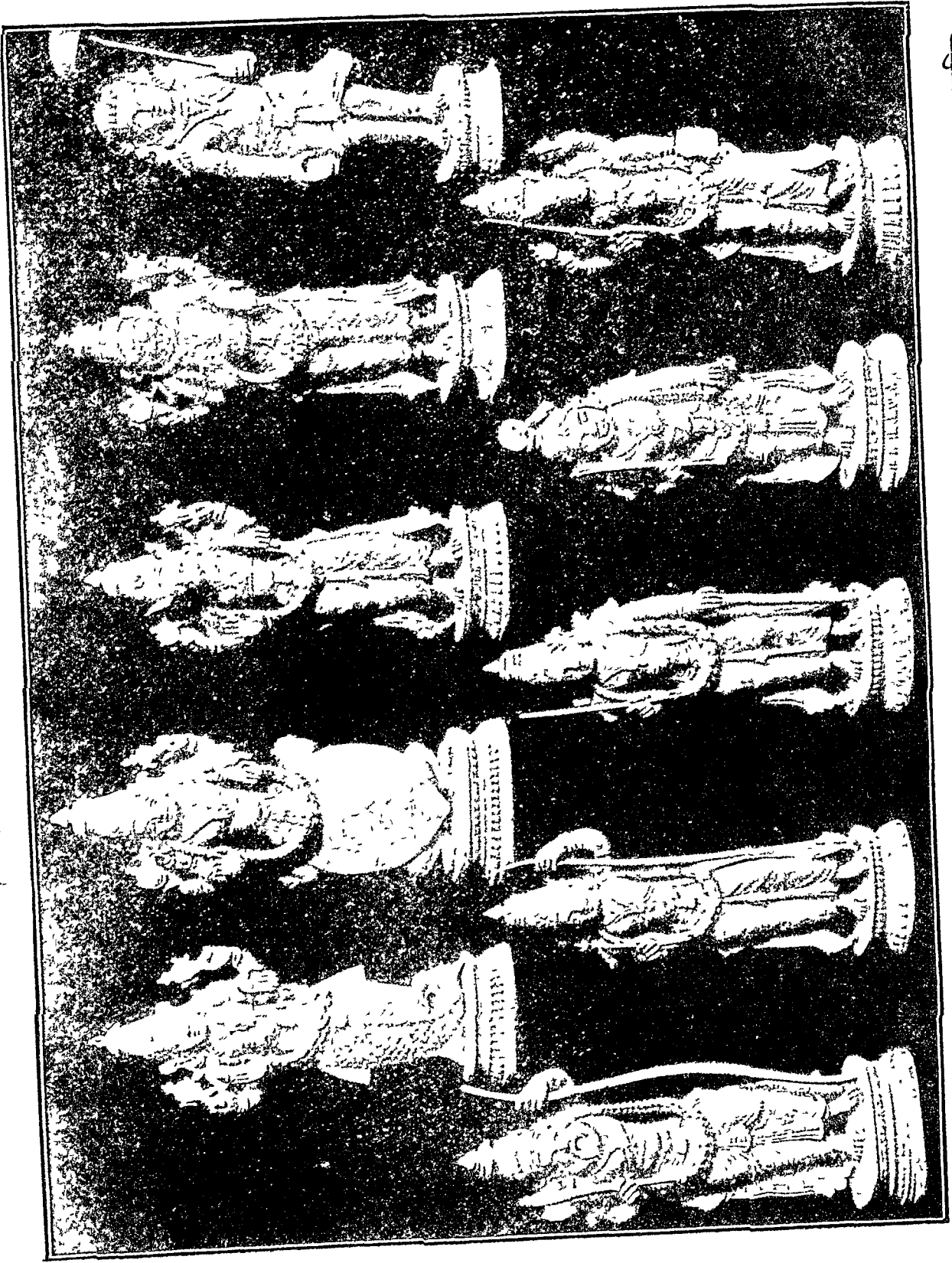
२३ मत्स्य कूर्म वाराह नृसिंह वामन परशुराम राघवराम बलराम कृष्ण कल्कि

[त्रिवाङ्कुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे

गरुड़ (काष्ठ-मूर्ति, पालूर)
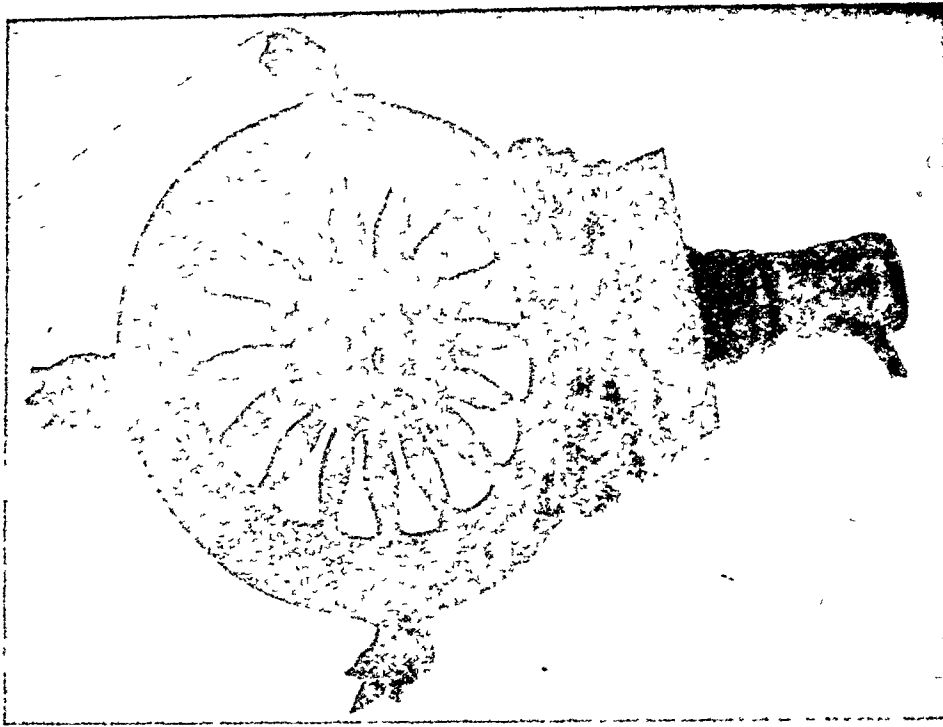
सुदर्शन चक्र (कांस्यमूर्ति)

[त्रिवाङ्कुर-कोचीन सरकारके सौजन्यसे

चक्रवर्ती महाराज दशरथकी बड़ी रानी कौसल्याकी गोदमें चैत्रकी रामनवमीके मध्याह्नमें वे साकेताधीश शिशु बनकर आ गये। उनके अंश भी आये—माता सुमित्राकी गोद दो स्वर्ण-गौर कुमारोंसे भूषित हुई और कैकेयीजीने भावमूर्ति नवजलधर वर्ण रूपराशि भरतको प्राप्त किया।

चारों कुमार बड़े हुए। कुलगुरुसे शास्त्र एवं शस्त्रकी शिक्षा मिली। सहसा एक दिन महर्षि विश्वामित्र आ पहुँचे। उनके आश्रममें प्रत्येक पर्वपर राक्षस उपद्रव करते थे। महर्षिको राम-लक्ष्मणकी आवश्यकता थी। केवल दो कुमार—अवधकी चतुरङ्गिणी सेनाको तपोवनमें ले जाना इष्ट नहीं था। चक्रवर्ती महाराजकी चाहे जितनी अनिच्छा हो, सृष्टि-समर्थ विश्वामित्रजीका आग्रह कैसे टले। श्रीरामने भाईके साथ प्रस्थान किया। राक्षसी ताड़का मार्गमें ही एक बाणकी भेट हो गयी। मुनिवरका यज्ञ रक्षित हुआ। सदल सुबाहु मारा जा चुका था और उसका भाई मारीच रामके 'फल'-हीन बाणके आघातसे सौ योजन दूर समुद्र-तटपर जा गिरा था।

महर्षिको तपोवनमें ही विदेहराज जनकका आमन्त्रण मिला। उनकी अयोनिजा कन्या सीताका स्वयंवर हो रहा था। महर्षिके साथ दोनों अवध-कुमार मिथिलाको धन्य करने पधारे। गौतमाश्रममें पाषाणभूता अहल्या श्रीरामकी चरण-रजका स्पर्श पाकर पतिके शापसे मुक्त हो गयी। वह अपने पतिधाम चली गयी। 'जनकपुत्री भूमिसुता उसे वरण करेगी, जो शङ्करके महाधनुष पिनाकको तोड़ेगा।' मिथिला-नरेशकी यह प्रतिज्ञा श्रीरामने पूर्ण की। श्रीपरशुरामजी अपने आराध्यदेवके धनुर्भङ्गसे क्रोधमें भरे आये और श्रीरामके शील, शक्ति, तेजसे गर्वरहित होकर लौट गये। अयोध्या-नरेशको आमन्त्रण मिला। उनके चारों कुमार जनकपुरमें विवाहित हुए।

महाराज चाहते हैं, प्रजा चाहती है, गुरुदेव चाहते हैं कि श्रीरामका राज्याभिषेक हो; परंतु राम राज्य करें तो धराका भार कौन दूर करे? देवताओंने प्रेरणा की। माता कैकेयीको मोह हुआ। 'भरत-शत्रुघ्न ननिहाल हैं और चुपचाप रामको राज्य दिया जा रहा है!' सन्देह स्वयं पापमूल है। 'भरतको राज्य और रामको चतुर्दश वर्ष वनवास!' छोटी रानीने महाराजको वचनबद्ध करके वरदान माँगा। पिताके सत्यके रक्षार्थ रघुवंशविभूषण प्रातः वल्कलधारी होकर वनको विदा हुए। लक्ष्मण और श्रीजानकी उनसे पृथक् कैसे रह सकते हैं।

श्रीराम भाई एवं पत्नीके साथ वन गये। महाराजने प्रिय पुत्रके वियोगमें शरीर छोड़ दिया। भरत—उनकी दशा, दुःख, वेदना कौन कैसे कहे। गुरुका आदेश ननिहालमें चरने सुनाया था। अयोध्या आकर पिताकी अन्त्येष्टि करनी पड़ी। समस्त समाज लेकर श्रीरामको चित्रकूट लौटाने गये, पर वहाँसे भी चरण-पादुका लेकर लौटना पड़ा। भरत बड़े भाईकी चरण-पादुका लेकर लौटे। अयोध्याका चक्रवर्ती सिंहासन उन पादुकाओंसे भूषित हुआ। रामहीन अयोध्यामें भरत रहेंगे? उन्होंने नन्दिग्राममें 'महि खनि कुस साथरी सँवारी।' और 'गोमूत्र-यावक' (गोबरसे निकले जौको गोमूत्रमें पकाकर) उसके आहारपर तप करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत करना स्थिर किया।

श्रीराम चित्रकूटसे आगे चले। अयोध्यासे ही महर्षियोंके दर्शनकी सुलालसा थी। प्रयागमें भरद्वाजजी, आगे महामुनि वाल्मीकिके दर्शन हुए ही थे। चित्रकूटके तो महर्षि अत्रि ही कुलपति थे। आगे शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्यादिके दर्शन करके दण्डकारण्यको पवित्र किया उन्होंने। असुर विराध चित्रकूटसे निकलते ही मिला और मारा गया। पञ्चवटीमें पर्णकुटी बनी। कुछ वर्ष वहाँ शान्तिसे व्यतीत हुए। गृध्रराज जटायुसे परिचय हुआ।

उस दिन रावणकी बहिन कुलटा शूर्पणखा कहींसे घूमती-घामती आ पहुँची। मर्यादा-पुरुषोत्तम वासना एवं दुष्टोंका निग्रह तो करते ही। नाक-कान कटनेपर उसने खर-दूषणसे पुकार की। वे असुर चौदह सहस्र सेनाके साथ आये और अकेले श्रीराघवेन्द्रके शरोंके भोग हो गये। शूर्पणखा रावणके पास पहुँची। रावणने मारीचको साथ लिया। स्वर्ण-मृगके पीछे श्रीजानकीकी इच्छासे श्रीराम दौड़े। मारीचका छल सफल हुआ। वह शराघातसे मरा, किंतु रावण एकाकिनी जानकीको हरण करनेमें सफल हो गया। लङ्काके अशोक-वनमें वह विश्वधातृ बंदिनी बनी।

श्रीराम लौटे मृगको वञ्चनाका दण्ड देकर। आश्रम शून्य था। अन्वेषण प्रारम्भ हुआ। आहत जटायु मिले। वे दशाननको रोकनेके प्रयत्नमें छिन्नपक्ष हुए थे। श्रीरामके चरणोंमें उनका शरीर छूटा। राघवने अपने हाथों उनकी अन्त्येष्टि की। कबन्ध असुरका वध और शबरीके बेरोंका आस्वादन करते वे पम्पासर पहुँचे। वालीसे निर्वासित सुग्रीवको शरण मिली और दूसरे ही दिन जब वाली श्रीरामके बाणसे परधाम पधारे, सुग्रीव किष्किन्धाधीश हो गये।

ऋष्यमूकपर राघवने वर्षा व्यतीत की । शरदागममें वानर-भालु सीतान्वेषणको निकले ।

श्रीपवनकुमार शतयोजन सागर पार लङ्कामें विदेह-नन्दिनीका दर्शन कर आये । स्वर्णपुरी उनकी पूँछकी लपटोंमें जल चुकी थी । श्रीरामने ससैन्य प्रस्थान किया । मदान्ध रावणसे पादताड़ित विभीषण उन विश्व-शरणदकी शरण आ गये । सागरपर सेतु बना और वह सुरासुर-अगम्य पुरी वानर-भालुओंसे धर्षित होने लगी । राक्षस-सेनानी मारे जाने लगे । रणभूमिने रावणपुत्र इन्द्रजित् तथा कुम्भकर्णकी आहुति ले ली । अन्तमें दशाननका वध करके श्रीरामने सुरकार्य पूर्ण कर दिया ।

भरत चौदह वर्षसे एक दिन अधिक प्रतीक्षा न करेंगे । उनके प्राण इस अवधिमें आबद्ध हैं । पुष्पक सज्जित हुआ । श्रीराम भाई तथा श्रीजानकी एवं सुग्रीव, विभीषण, हनुमान्, अङ्गदादि प्रधान नायकोंके साथ उस दिव्य विमानसे अयोध्या पधारे । पुरवासियोंकी, माताओंकी, भरतकी चिरप्रतीक्षा सफल हुई । श्रीराम कोसलके चक्रवर्ति-सिंहासनपर वैदेहीके साथ विराजमान हुए ।

'राम-राज्य'—सुशासन, सुव्यवस्था, धर्म, शान्ति, सदाचारादिकी पूर्णताके द्योतनके लिये आज भी मनुष्यके पास इससे सुन्दर शब्द नहीं । ग्यारह सहस्र वर्ष वह दिव्य शासन धराको कृतार्थ करता रहा । श्रीवाल्मीकीय रामायण और गोस्वामी तुलसीदासजीके श्रीरामचरितमानस श्रीरामके मङ्गलमय चरितसे लोकमें कल्याणका प्रसार करते हैं । भगवान् व्यासके अतिरिक्त अनेक संस्कृत, हिंदी तथा अन्य भाषाओंके कवियों, विद्वानोंने अपनी वाणी राम-गुण-गानसे पवित्र की है ।

श्रीराम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं । हिंदू-संस्कृतिकी पूर्ण प्रतिष्ठा उनके चरितमें हुई है । जीवनके प्रत्येक क्षेत्रके लिये उसमें आदर्श हैं । हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप 'श्रीरामचरित' के दर्पणमें ही पूर्णतः प्रतिबिम्बित हुआ है । भारतका वह आदर्श आज विश्व-मानवका गेय-ध्येय बने, तभी 'मानव सुसंस्कृत बन सकेगा ।

भगवान् बलराम

श्रीकृष्णावतार तो पिछले द्वापरमें सत्ताईस कलियुगोंके पश्चात् हुआ था । द्वापरमें पृथ्वीका भार हरण करने तो भगवान् बलराम ही प्रायः पधारते हैं । उन्हींको श्रुतियाँ द्वापरका युगावतार कहती हैं । माता देवकीके सप्तम गर्भमें वे पधारे । योगमायाने गोकुलमें नन्दबाबाके यहाँ स्थित रोहिणीजीमें उन्हें पहुँचा दिया । इस प्रकार ये सङ्कर्षण कहलाये । इनकी गोकुल, मथुरा और द्वारकाकी कई लीलाएँ बड़ी ही अद्भुत और आनन्ददायिनी हैं ।

श्रीकृष्ण-बलराम परस्पर नित्य अभिन्न हैं । उनकी चरित-चर्चा एक दूसरेसे पृथक् जैसे कुछ है ही नहीं । गोकुलमें दोनोंकी सङ्ग-सङ्ग बालक्रीड़ा और वहाँसे वृन्दावन-प्रस्थान । बहुत थोड़े चरित हैं, जब श्यामसुन्दरके साथ उनके अग्रज नहीं थे । ऐसे ही बलरामजी अपने अनुजसे पृथक् बहुत कम रहे हैं ।

वह कंसप्रेरित असुर प्रलम्ब आया था । श्रीकृष्णको तो कोई साथी चाहिये खेलनेके लिये । एक नवीन गोप-बालकको देखा और मिला लिया अपने दलमें । असुरने श्यामके दैत्य-दलन-चरित सुने थे । उसे उनसे भय लगा । अपने छद्मवेशमें वह दाऊको पीठपर बैठानेमें सफल हुआ और भागा । जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका धारक है, उसे कौन ले जा सकता है । दैत्यको अपना स्वरूप प्रकट करना पड़ा । एक घूँसा पड़ा तत्क्षण उसके मस्तकपर और फिर क्या सिर बच रहना था । उस दिन सखा कह रहे थे कि उन्हें पक्व ताल-फलोंकी सुरभि लुब्ध कर रही है । सखा कुछ चाहें तो वह अप्राप्य कैसे रहे । असुर-गर्दभ धेनुक और उसका सब गर्दभ-परिवार क्रीड़ामें ही नष्ट हो गये । प्रकृतिका उन्मुक्त दान कानन है । इन दुष्ट गर्दभोंने उसे पशुओंतकके लिये अगम्य बना दिया था । भगवान् बलरामने सखाओंको ताल-फल प्रदान करनेके बहाने सबके लिये निर्बाध कर दिया उसे ।

कन्हैया तो महाचञ्चल है; किंतु दाऊ भैया गम्भीर परमोदार, शान्त हैं । श्याम उन्हींका संकोच भी करता है । वे भी अपने अनुजकी इच्छाको ही जैसे देखते रहते हैं । व्रज-लीलामें जब श्यामने शङ्खचूड़को मारा, उसने समस्त गोप-नारियोंके सम्मुख उस यक्षका शिरोरत्न अपने अग्रजको उपहार-रूपमें दिया । कुवलयापीड़—कंसका उन्मत्त गजराज दोनों भाइयोंकी थप्पड़ों और घूँसोंकी भेंट हुआ और मल्लशालामें चाणूरको श्यामने पछाड़ा तो मुष्टिक बलरामजीकी मुष्टिकाकी भेंट हो गया ।

दोनों भाइयोंने गुरुगृहमें साथ-साथ निवास किया । जरासन्धको बलरामजी ही अपने योग्य प्रतिद्वन्द्वी जान पड़े और यदि श्रीकृष्णचन्द्रने अग्रजसे उसे छोड़ देनेकी प्रार्थना न की होती, वह पकड़ लिया गया था । बलरामजी उसे

मारने ही जा रहे थे। जिसे सत्रह युद्धोंमें पकड़कर छोड़ दिया, उसीके सम्मुखसे अठारहवीं बार भागना कोई अच्छी बात नहीं थी। किया क्या जाय। श्रीकृष्णने प्रातःसे वह दिन पलायनके लिये स्थिर कर लिया था। कालयवनके सम्मुख वे अकेले भागे। जरासन्धके सम्मुख भागनेमें इतना आग्रह किया कि अग्रजको साथ भागना ही पड़ा।

'यह भी कोई बात है कि केवल हँसा जाय! जो बना-बिगाड़ न सकता हो, वह हँसे या पश्चात्ताप करे?' बलरामजीका विवाह हुआ। रेवतीजी सत्ययुगकी कन्या ठहरीं। स्वभावतः बहुत लंबी थीं। श्यामसुन्दर तो सदाके परिहासप्रिय हैं। बलरामजीने पत्नीको अपने अनुरूप ऊँचाईमें पहुँचा दिया।

'श्याम अकेला गया है?' कुण्डिनपुरके राजा भीष्मककी कन्या रुक्मिणीके विवाहमें शिशुपालके साथ जरासन्धादि ससैन्य आ रहे हैं, यह समाचार तो मिल ही चुका था। वहाँ अकेले श्रीकृष्ण कन्या-हरण करने गये, यह तो अच्छा नहीं हुआ। बलरामजीने यादवी सेना सज्जित की। वे इतनी शीघ्रतासे चले कि श्रीकृष्ण मार्गमें ही मिल गये। श्यामसुन्दर-को केवल रुक्मिणीजीको लेकर चल देना था। शिशुपाल और उसके साथी तो रामके सैन्यसमूहसे ही पराजित हुए।

'कृष्ण! सम्बन्धियोंके साथ तुम्हें ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये।' बलरामजी राजाओंकी सेनाको परास्त करके आगे बढ़े तो रुक्मीकी सेना आ गयी। उसके साथ उलझनेमें कुछ विलम्ब हुआ। आगे आकर देखा तो छोटे भाईने अपने ही साले रुक्मीको पराजित करके रथमें बाँध रक्खा है। उसके केश, श्मश्रु आदि मुण्डित कर दिये हैं। बड़ी दया आयी। छुड़ा दिया उसको। परंतु आगे चलकर रुक्मीने अपने स्वभाववश बलरामजीका अपमान किया, तब वह उन्हींके हाथों मारा गया।

× × ×

दुर्योधन भी मदमत्त हो उठा था। क्या हुआ जो श्रीकृष्णके पुत्र साम्बने उसकी पुत्री लक्ष्मणाका हरण किया। क्षत्रियके लिये स्वयंवरसे कन्या-हरण अपराध तो है नहीं। अकेले लड़केको छः महारथियोंने मिलकर बंदी किया, यह तो अन्याय ही था। श्रीकृष्णचन्द्र कितने रुष्ट हुए थे समाचार पाकर। यदि वे नारायणी सेनाके साथ आ जाते—बलरामजीने छोटे भाईको शान्त किया। दुर्योधन उनका शिष्य था। सत्राजित्का वध करके शतधन्वा जब स्यमन्तकमणि लेकर भागा, श्यामसुन्दरके साथ बलभद्रजीने उसका पीछा किया। वह मिथिलाके समीप पहुँचकर मारा जा सका। मणि उसके वस्त्रोंमें मिली नहीं। बलरामजी इतने समीप आकर मिथिला-नरेशसे मिले बिना न लौट सके। दो मासतक वहीं दुर्योधनने उनसे गदा-युद्धकी शिक्षा ली। वही दुर्योधन यदुवंशियोंको अपना कृपाजीवी, क्षुद्र कहकर चला गया था। भगवान् बलरामके सम्मुख ही यादव महाराज उग्रसेनके प्रति अपशब्द कहे उसने। क्रुद्ध हलधरने हल उठाया। हस्तिनापुर नगर घूमने लगा। वे धराधार नगरको यमुनाजीमें फेंकने जा रहे थे। 'पशूनां लगुडो यथा।' पशु डंडेसे मानते हैं। दण्डसे भीत कौरव शरणापन्न हुए। वे क्षमामय दण्डका तो केवल नाट्य करते हैं। उन्हें भी क्या रोष आता है।

महाभारतमें वे किस ओर होते? दुर्योधन प्रिय शिष्य और दूसरी ओर श्रीकृष्ण। वे तीर्थयात्रा करने चले गये। नैमिष-क्षेत्रमें इल्वल राक्षसका पुत्र बल्वल अपने उत्पातसे ऋषियोंको आकुल किये था। उस विपत्तिसे उन तपस्वियोंको त्राण मिला। जब वे तीर्थयात्रासे लौटे, तब महाभारत-युद्ध समाप्त हो चुका था। भीम-दुर्योधनका अन्तिम संग्राम चल रहा था। दोनोंमेंसे कोई समझानेसे माननेको उद्यत नहीं था।

यदुवंशका उपसंहार होना ही था। भगवान्की इच्छासे अभिशप्त यादव परस्पर संग्राम कर रहे थे। भगवान् बलराम उन्हें समझाने—शान्त करने गये, पर मृत्युके वश हुए उन्होंने इनकी बात नहीं सुनी और नष्ट हो गये। अब लीला-संवरण करना था। समुद्र तटपर उन्होंने आसन लगाया और अपने 'सहस्रशीर्षा' स्वरूपसे जलमें प्रविष्ट हो गये।

भगवान् श्रीकृष्ण

'तू जिसे इतने उत्साहसे पहुँचाने जा रहा है, उसीका आठवाँ पुत्र तुझे मारेगा!' आकाशवाणीसे कंस चौंका। सचमुच वह अपने चाचाकी छोटी लड़की देवकीको विवाह होनेपर कितने उत्साहसे पहुँचाने जा रहा था। दिग्विजयी कंस—मृत्युका भय शरीरासक्तको कायर बना देता है। वह अपनी बहिनका वध करनेको ही उद्यत हो गया। वसुदेवजीने सद्योजात शिशु उसे देनेका वचन दिया। इतनेपर भी कंसने दम्पतिको रक्खा कारागारमें ही। विरोध करनेपर अपने ही पिता उग्रसेनको भी उसने बन्दी बनाया। वह स्वयं मथुराका नरेश बन गया।

बच्चे होते, सत्यभीरु वसुदेवजी कंसके सम्मुख लाकर रख देते। वह उठाकर शिलापर पटक देता। हत्यासे शिलातल कलुषित होता गया। छः शिशु मरे। सातवें

गर्भमें भगवान् शेष पधारे । योगमायाने उन्हें आकर्षित करके गोकुलमें रोहिणीजीके गर्भमें पहुँचा दिया । अष्टम गर्भमें वह अखिलेश आया । धरा असुर-नरेशोंके अशुभ कर्मोंसे आकुल है, उसके आराधक उसीकी प्रतीक्षामें पीड़ित हो रहे हैं, तो वह आयेगा ही ।

कंसका कारागार, भाद्रकृष्ण अष्टमीकी मेघाच्छन्न अर्धनिशा—जैसे प्रकृतिने सम्पूर्ण कलुषको मूर्ति दे दी हो । चन्द्रोदयके साथ श्रीकृष्णचन्द्र-प्राकट्य हुआ । बन्दियोंके नेत्र धन्य हो गये । वह चतुर्भुज देखते-देखते शिशु बना, शृङ्खलाएँ स्वतः शिथिल हुईं, द्वार उन्मुक्त हुआ, वसुदेवजी उस हृदय-धनको गोकुल जाकर नन्दभवन रख आये । कंसको मिली यशोदाकी कन्या और वे योगमाया, जब कंस शिलातलपर पटक रहा था उन्हें—गगनमें सायुधाभरण अष्टभुजा हो गयीं ।

गोकुलकी गलियोंमें आनन्द उमगा । आनन्दघन नन्दरानीकी गोदमें जो उतर आया था । कंसके क्रूर प्रयास उस प्रवाहमें प्रवाहित हो गये । पूतना, शकटासुर, वात्याचक्र—सब विफल होकर भी कन्हैयाके करोंसे सद्गति पा गये । मोहन चलने लगा, बड़ा हुआ और घर-घर धूम मच गयी—वह हृदयचोर नवनीत-चोर जो हो गया था । गोपियोंके उल्लसित भाव सार्थक करने थे उसे । वह लीला समाप्त हुई अपने घरका ही नवनीत लुटाकर । मैयाने ऊखलमें बाँधकर दामोदर बना दिया । यमलार्जुनका उद्धार तो हुआ, किंतु उन महावृक्षोंके गिरनेसे गोप शङ्कित हो गये । वे गोकुल छोड़कर वृन्दावन जा बसे ।

वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना-पुलिन, व्रज-युवराजकी मधुरिम क्रीड़ाके चलनेमें सबने और सहायता दी । श्रीकृष्ण वत्स-चारक बने । कंसका प्रयत्न भी चलता रहा । बकासुर, वत्सासुर, प्रलम्ब, धेनुक, अघासुर, मयपुत्र व्योमासुर आदि आते रहे । श्यामसुन्दर तो सबके लिये मोक्षका अनावृत द्वार है । कालियके फणोंपर उस व्रजविहारीने रासका पूर्वाभ्यास कर लिया । ब्रह्माजी भी बछड़े चुराकर उस नटखटकी स्तुति ही अन्तमें कर गये । इन्द्रके स्थानपर गोवर्धन-पूजन किया गोपोंने और गोपालने । देव-कोपकी महावर्षासे गिरिराजको सात दिन अँगुलीपर उठाकर व्रजको बचा लिया। देवेन्द्र उस गिरिधारीको गोविन्द स्वीकार कर गये । कंसके प्रेषित वृषासुर, केशी आदि जब गोपालके करोंसे कर्मबन्धन-मुक्त हो गये, तब उसने अक्रूरको भेजकर मथुरा बुलाया उन्हें ! नन्दबाबा राम-श्याम तथा गोपोंके साथ मधुपुरी पहुँचे ।

राजाको सन्देश मिला धोबीकी मृत्युसे श्यामके पधारनेका । उस दिनका उनका अङ्गराग मार्गमें ही उस चिर-चञ्चलने स्वीकार करके कुब्जाका कूबर दूर कर दिया । कंसका आराधित धनुष उसके गर्वकी भाँति तोड़ डाला गया । दूसरे दिन महोत्सव था कंसकी कूटनीतिका । रंग-मण्डपके द्वारपर श्रीकृष्णचन्द्रने महागज कुवलयापीड़को मारकर उसका श्रीगणेश किया । अखाड़ेमें उन सुकुमार श्याम-गौर अङ्गोंसे चाणूर, मुष्टिक, शल, तोशल-से मल्ल चूर्ण हो गये । कंसके जीवनकी पूर्णाहुतिसे उत्सव पूर्ण हुआ । महाराज उग्रसेन बन्दीगृहसे पुनः राज्यसिंहासनपर आये ।

श्रीकृष्ण व्रजमें कुल ग्यारह वर्ष, तीन मास रहे थे । इस अवस्थामें उन्होंने जो दिव्य लीलाएँ कीं, वे भावुकोंका जीवनपथ तो प्रशस्त करती हैं, पर आलोचककी कलुषित बुद्धि उनका स्पर्श नहीं कर सकती । वह इस वयके बालकमें या तो उन लीलाओंको समझ न पायेगा, या अपने अन्तरके कलुषमें डूबेगा । अस्तु, फिर तो श्याम व्रज पधारे ही नहीं । उद्धवको भेज दिया एक बार आश्वासन देने । अवश्य ही द्वारिकासे बलरामजी एक मास आकर रह गये एक बार ।

अवन्ती जाकर श्यामसुन्दरने अग्रजके साथ शिक्षा प्राप्त की । गुरुदक्षिणामें गुरुका मृतपुत्र पुनः प्रदान कर आये । मथुरा लौटते ही कंसके श्वशुर जरासन्धकी चढ़ाइयोंमें उलझना पड़ा । वह सत्रह बार ससैन्य आया और पराजित होकर लौटा । अठारहवीं बार उसके आनेकी सूचनाके साथ कालयवन भी आ धमका । कहाँतक इस प्रकार युद्धमय जीवन सहा जाय । समुद्रके मध्यमें दुर्गम दुर्ग द्वारिका नगर बना । यादवकुलको वहाँ पहुँचाकर श्रीकृष्ण पैदल यवनके सम्मुखसे भागे । पीछा करता हुआ यवन गुफामें जाकर चिरसुप्त मुचुकुन्दकी नेत्राग्निसे भस्म हो गया । उधरसे लौटते ही जरासन्ध सेना लेकर आ पहुँचा । श्रीकृष्ण आज रणछोड़ हो रहे थे । बलरामजीको भी साथ भागना पड़ा । दोनों भाई प्रवर्षणपर चढ़कर भाग छूटे ।

श्रीकृष्णके विवाह तो लोकप्रसिद्ध हैं । रुक्मिणीजीका उन्होंने हरण किया था । स्यमन्तकमणिकी खोजमें जाम्बवन्तसे युद्ध करके उपहारस्वरूप जाम्बवतीजीको ले आये । 'मणि'के कारण कलङ्क लगानेके दोषसे लज्जित सत्राजित्ने अपनी पुत्री सत्यभामा स्वयं प्रदान की ।

कालिन्दीजी उनके लिये तप ही कर रही थीं। लक्ष्मणाजीके स्वयंवरका मत्स्यभेद करनेमें दूसरा कोई समर्थ ही न हो सका और नग्नजित् नरेशके सातों साँड़ एक साथ नाथकर उनकी पुत्री सत्यासे दूसरा कौन विवाह कर पाता। मित्रविन्दाजीको उन्होंने स्वयं हरण किया और भद्राजीको उनके पिताने सादर प्रदान किया। यह तो आठ पटरानियोंकी बात है। पृथ्वीपुत्र भौमासुरने वरुणका छत्र, अदितिका कुण्डल हरण किया था। उसका वध आवश्यक था। सत्यभामाजीके साथ गरुडारूढ होकर जब उसे निजधाम दे चुके, तब जो सोलह सहस्र नरेन्द्र-कन्याएँ उसने बन्दी बना रक्खी थीं, उनका उद्धार भी आवश्यक था। उनको अपनाये बिना उद्धार-कार्य कैसे पूर्ण होता। इस यात्रामे अमरावतीसे बलात् कल्पतरु द्वारिका ले आये। इन्द्रने युद्धकी धृष्टता की और वे पराजित हुए।

बाणासुरसे युद्ध विवश होकर करना पड़ा। अपनी सहस्र भुजाओंके मदमें वह अपने आराध्य भगवान् शङ्करका अपमान करने लगा था। अनिरुद्धको बन्दी कर लिया था उसने। भक्तवत्सल भोलेबाबाने फिर भी युद्धमे उसका पक्ष ग्रहण किया। चक्रने असुरके हाथोंका वन काट डाला। वह चतुर्भुज हो गया। पौण्ड्रक, दन्तवक्त्र, शाल्व—ये सब मारे गये अपने ही अपराधसे। पौण्ड्रक वासुदेव ही बननेपर तुला था। युद्ध माँगा था उसने। दन्तवक्त्रने आक्रमण किया और शाल्व तो मय-निर्मित विमानसे द्वारिका ही नष्ट करने आया था। शिशुपाल भरी सभामे गालियाँ देने लगा तो कहाँतक क्षमा की जाय। सौ गालियोंके पश्चात् चक्रकी भेंट हो गया वह।

पाण्डवोंका परित्राण तो श्रीकृष्ण ही थे। राजसूय यज्ञ युधिष्ठिरका होता नहीं, यदि जरासन्ध मारा न जाता। राजसूयका वह सभास्थल—उसे वनमालीके आदेशसे मयने बनाया। द्यूतमे हारे पाण्डवोंकी पत्नी राजसूयकी साम्राज्ञी द्रौपदी जब भरी सभामे दुःशासनद्वारा नग्न की जाने लगी, वस्त्रावतार धारण किया उसने। दुर्योधनने दुर्वासाजीको वनमे भेजा ही था पाण्डवोंके विनाशके लिये, पर शाकका एक पत्र खाकर त्रिलोकीको तुष्ट करनेवाला वह पार्थ-प्रिय उपस्थित जो हो गया।

वह मयूरमुकुटी पाण्डवोंके लिये सन्धिदूत बनकर आया। विदुरपत्नीके केलेके छिलकोंका रसास्वाद कर गया। सुदामाके तन्दुलोंने प्रेमका स्वाद सिखा दिया था। युद्धारम्भ हुआ और वह राजसूयका अग्रपूज्य पार्थ-सारथि बना। संग्रामभूमिमें उस गीता-गायकने अर्जुनको अपनी दिव्य अमर वाणीसे प्रबुद्ध किया। भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामाके दिव्यास्त्रोंसे रक्षा की पाण्डवोंकी। युद्धका अन्त हुआ। युधिष्ठिरको सिंहासन प्राप्त हुआ। पाण्डवोंका एकमात्र वंशधर उत्तरापुत्र परीक्षित् मृत उत्पन्न हुआ। अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रने उसे प्राणहीन कर दिया था। श्रीकृष्णने उसे पुनर्जीवन दिया।

'यादवकुल पृथ्वीपर रहे तो वही बलोन्मत्त होकर अधर्म करेगा।' श्रीकृष्णको यह अभीष्ट नहीं था। ऋषियोंका शाप तो निमित्त बना। समस्त यादव परस्पर कलहसे कट मरे और आप देखते रहे। व्याधने पादतलमे बाण मारा तो उसे सशरीर स्वर्ग भेजनेका पुरस्कार दिया गया। इस प्रकार लीला संवरण की द्वारकेशने।

श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णपुरुष लीलावतार कहे गये हैं। भगवान् व्यासकी वाणीने श्रीमद्भागवतमें उनकी दिव्य लीलाओंका वर्णन किया है। शुकदेवजी-से विरक्त उस रसाम्बुधिमें मग्न रहा करते थे। श्रीमद्भागवत श्रीकृष्ण-लीलाका अमृतपयोनिधि है। श्रीकृष्णका चरित पूर्णताका ज्वलन्त प्रतीक है। भगवत्ताके छः गुण—ऐश्वर्य, धर्म, यश, शोभा, ज्ञान, वैराग्य—सब उसमे पूर्ण है। त्याग, प्रेम, भोग, नीति—सब उन पूर्ण पुरुषमें पूर्ण ही हैं। हिंदू-संस्कृति निष्ठाकी पूर्णताको आदर्श मानती है। श्रीकृष्णमें समस्त निष्ठाओंकी पूर्णता होती है।

भगवान् बुद्ध

यह विवादास्पद विषय है कि पुराणोमें जिस बुद्धावतारका वर्णन है, वह महाराज शुद्धोदनके पुत्र अमिताभ गौतम बुद्ध ही हैं। पुराणोंका बुद्धावतार कीकट देशमे (गयाके पास) ही हुआ था, यह तो ठीक; किंतु उनके पिताको वहाँ 'अजिन' कहा गया है। जो भी हो, यहाँ तात्पर्य भगवान्‌के उस बुद्धावतारसे है, जिसका वर्णन पुराणोंमे है।

दैत्य प्रबल हो गये थे। स्वर्गपर उनका अधिकार था। दैत्येन्द्रने इन्द्रका पता लगाया और पूछा, 'हमारा राज्य स्थिर कैसे रहे ?' इन्द्रने शुद्धभावसे उन्हे यज्ञ एवं वैदिक आचरणका उपदेश दिया। दैत्य यज्ञपरायण हो गये। वे यज्ञके प्रभावसे अजेय थे। संसारमे उनका उपद्रव बना था। विश्वमे आसुर-भाव बढ़ रहा था।

'राम-राम ! तुमलोग यह क्या पाप करते हो ! यज्ञमें कितनी हिंसा होती है । अग्निमें ही पता नहीं कितने कीट जलते हैं ।' भगवान् विष्णुने बुद्धरूप धारण किया । वे एक हाथमें झाड़ू लिये मार्ग स्वच्छ करके पादक्षेप करते पहुँचे असुरोंके पास । उनके वस्त्र मलिन थे । स्नान वे करते न थे । दन्तधावनके बिना दाँत स्वच्छ न थे; सबमें हिंसा जो थी । दैत्योंको उनका यह तत्त्वबोध ठीक जान पड़ा । यज्ञ छूट गया । देवताओंने उन यज्ञहीन, मलिन, अल्पप्राण, प्रतिरोधहीन असुरोंको पराजित करके स्वर्गसे मार भगाया ।

भगवान् कल्कि

कलिके अन्तमें सम्भल-ग्राममें विष्णुयश ब्राह्मणके यहाँ भगवान् कल्किका प्रादुर्भाव होगा । अभी कलिके पाँच सहस्रसे कुछ ही अधिक वर्ष बीते हैं । इस अवतारके होनेमें लाखों वर्ष अभी शेष हैं । उस समय श्रुतियोंका लोप हो चुकेगा । मानव सदाचारहीन, अल्पकाय, अल्पसत्त्व, अत्यन्त अल्पायु होंगे ।

भगवान् परशुराम स्वयं कल्कि भगवान्को वेदोंका उपदेश करेंगे । भगवान् शिव उन्हें शस्त्रास्त्रकी शिक्षा देंगे । शंकरजीसे अश्व एवं खड्ग प्राप्तकर भगवान् पृथ्वीके समस्त आसुरी वृत्तिके प्राणियोंका वध कर डालेंगे । भगवान्के पृथ्वीपर होनेके कारण नूतन संतति शुद्ध भावापन्न तथा सबल होगी । इस प्रकार सत्ययुग प्रतिष्ठित होगा ।

भगवान् नर-नारायण

तपसे ही लोककी सृष्टि है । तप ही लोकका धारण एवं रक्षण करता है । विनाशके अधिष्ठाता भगवान् शिव तो तपोमूर्ति हैं ही । आज युग शारीरिक तामस तपका है । वैसे बिना तप—कष्टके आज भी कोई कार्य नहीं होता । तप भगवान्का स्वरूप है । ऋषियोंने तपका महत्त्व जाना और कहा है। आज भी सृष्टि तपकी अज्ञात शक्तिपर ही प्रतिष्ठित है। बिना शुद्ध अन्तर्मुख चित्तके उस शक्तिका अनुभव नहीं होता। स्वयं श्रीहरिने सृष्टिके आदिमें धर्मकी पत्नी मूर्तिसे दो रूपोंमें अवतार धारण किया । शुक्ल-वर्ण, तापस-वेश दो शरीर होकर भी वे नर-नारायण रूप, रंग, स्वभावमें एक-से हैं । प्रकट होते ही वे उत्तराखण्डमें तपस्या करने चले आये । तपस्वियोंके वे वरदाता, परमाराध्य प्रभु तप करते हैं—अब भी तपोलीन हैं । उन्हींकी तपःशक्ति संसारको धारण करती है ।

भगवान् नर-नारायण बद्रीनाथमें अविच्छल तप कर रहे हैं । द्वापरमें भी अधिकारी ही उनके दर्शन पाते थे और जो अधिकारी हों, वे आज भी पा सकते हैं । भगवान्का यह अवतार कल्पतक तप करनेको हुआ । हमारी संस्कृति त्याग एवं तपकी संस्कृति है । भगवान् स्वयं उसका आदर्श उपस्थित कर रहे हैं । जहाँ पृथ्वीके देश-भेदसे आराध्यरूपके भेदका विधान शास्त्रोंने किया है, वहाँ तपोभूमि भारतके आराध्य भगवान् नर-नारायण ही कहे गये हैं ।

भगवान् कपिल

'पुत्र ! सृष्टिका अभिवर्द्धन करो । यही मेरी और श्रीहरिकी सेवा है ।' भगवान् ब्रह्माको एक ही धुन है । वे स्रष्टा हैं । अपने सभी पुत्रोंको उनका एक ही आदेश है । कुमारोंकी भाँति महर्षि कर्दमने पिताकी आज्ञा अस्वीकार नहीं की । वे उसे स्वीकार करके बिन्दुसर तीर्थके समीप तप करने लगे । उस समय तप ही समस्त उद्देश्योंका दाता था । आजकी भाँति कीटप्राय प्राणी उत्पन्न करना किसीको अभीष्ट नहीं था । भगवान् प्रसन्न हुए । उन्होंने वरदान दिया । आदिराज मनु स्वयं आश्रममें पधारे और अपनी पुत्री देवहूतिका महर्षिसे परिणय कर गये ।

'कल्याणी ! तुमने मेरी सेवामें अपनेको सुखा दिया ! अब तुम्हें जो अभीष्ट हो, माँग लो ।' महर्षि कर्दमने भोग-बुद्धिसे विवाह किया ही न था । विवाहके पश्चात् वे अपने तपमें लग गये । राजकुमारी देवहूति उनकी परिचर्यामें लगीं । समिधाएँ, कुश, फल तथा जल वनसे संग्रह करना, आश्रम स्वच्छ रखना—ये सब उनके कार्य हो गये । एक दिन महर्षिका ध्यान पत्नीकी सेवापर गया । श्रम और कष्टसे वे दुर्बल हो गयी थीं । मस्तकके सुगन्ध-सिञ्चित केश कहाँ थे, वे तो अब जटा बन चुके थे । केवल वल्कलधारिणी तापसी थीं वे । महर्षि प्रसन्न हुए ।

देवहूतिको सन्ततिकी कामना थी । महर्षि कर्दमका योगप्रभाव प्रकट हुआ । दिव्य विमान, सहस्रों दास-दासियाँ, रत्नोपकरण—सभी लोकोत्तर ऐश्वर्य थे विमानमें । महर्षिने देवहूतिके साथ विमानारोहण किया । गार्हस्थ्यमें वर्षों व्यतीत हो गये । नौ पुत्रियाँ हुईं । उनमें कला मरीचि ऋषिसे, अनसूयाका अत्रिसे, श्रद्धाका अङ्गिरासे, हविर्भूका पुलस्त्यसे, गतिका पुलहसे, क्रियाका क्रतुसे, ख्यातिका भृगुसे, अरुन्धतीका वशिष्ठसे और शान्तिका अथर्वासे महर्षि कर्दमने विवाह कर दिया ।

'देव ! मैं इन्द्रियोंके विषयमें मूढ़ बनी रही। मैंने आपके परम प्रभावको नहीं जाना। फिर भी आप-जैसे महापुरुषका सङ्ग कल्याणकारी होना चाहिये।' देवहूति अत्यन्त व्याकुल हो रही थीं। उनके पति पुनः विरक्त होकर वनमें जा रहे थे। इस बार वे अकेले जायँगे। यह विषयोंमें लगकर तो जीवन व्यर्थ चला गया। उनमें वैराग्यका पूर्णोदय हुआ। उस देवदुर्लभ विमान तथा उसके ऐश्वर्यमें उनका कोई आकर्षण नहीं था।

'भद्रे ! व्याकुल मत हो। तुम्हारे गर्भसे परम पुरुष प्रकट होनेवाले हैं। वे तुम्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे। मैं उनके दर्शन करके ही यहाँसे जाऊँगा !' महर्षिको उन सर्वेशके दर्शन हुए। वे आदेश लेकर तप करने गये। भगवान् कपिलने माताको तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। माताका समाधान करके वे उनकी आज्ञासे समुद्र-तटपर गये। समुद्रने उन्हें अपने भीतर स्थान दिया। माता देवहूति उन परात्पर प्रभुको पुत्ररूपसे प्राप्तकर धन्य हो गयीं। उन्होंने उस उपदिष्ट ज्ञानमें चित्तको एकाग्र कर दिया। कुछ दिन दूसरोंके द्वारा उनका शरीर सेवित, रक्षित होता रहा और कब वह वेणीकुसुमके समान गिर गया—इसका पता देवहूतिजीको लगा ही नहीं।

साठ सहस्र सगर-पुत्र अश्वान्वेषणके लिये पृथ्वी खोदते समय कपिलाश्रम पहुँचे और महर्षि कपिलकी नेत्राग्निमें भस्म हो गये। गङ्गा सागर-सङ्गमपर कपिलाश्रमके दर्शन तो हो जाते हैं पर्वपर; किंतु महर्षि कपिलका दर्शन तो वे जिस अधिकारी-पर कृपा करें, उसे ही हो सकता है। वे सांख्य-दर्शनके प्रवर्तक, ज्ञान-मार्गके परमाचार्य प्रभु जगत्‌के कल्याणके लिये वहाँ तपमें स्थित हैं।

भगवान् दत्तात्रेय

'जगत्‌के अधिष्ठाता प्रभु प्रसन्न हों ! मुझे वे अपने समान सन्तति प्रदान करें।' महर्षि अत्रि तप कर रहे थे। उनके मनमें केवल पितामहकी सृष्टि वर्द्धित करनेका आदेश था।

'मैंने एक ही जगदाधारकी आराधना की है।' महर्षिको आश्चर्य हुआ। उनके सम्मुख वृषभारूढ़ कर्पूर-गौर भगवान् शशाङ्कशेखर, हंसपर विराजमान सिन्दूरारुण भगवान् चतुरानन और गरुड़की पीठपर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी मेघसुन्दर श्रीरमानाथ एक साथ प्रकट हुए थे। जगत्‌के तो तीनों ही अधिष्ठाता हैं। प्रभु त्रिमूर्तिमें ही जगत्‌का विनाश, सृष्टि और पालन करते हैं। महर्षिने तीनोंकी पूजा की। तीनोंकी स्तुति की। तीनोंके अंशसे सन्तान-प्राप्तिका उन्हें वरदान मिला।

महासती अनसूयाकी गोद तीन कुमारोंसे भूषित हुई। भगवान् शङ्करके अंशसे तपोमूर्ति महर्षि दुर्वासा, भगवान् ब्रह्माके अंशसे सचराचरपोषक चन्द्रमा और भगवान् विष्णुके अंशसे त्रिमुख, गौरवर्ण, ज्ञानमूर्ति श्रीदत्तात्रेय प्रभु।

भगवान् दत्तात्रेय आदियुगमें प्रह्लादके उपदेष्टा हैं। अजगर मुनिके वेशमें प्रह्लादजीको उन्होंने अवधूतकी स्थिति-का उपदेश किया है। महाराज अलर्कको उन्होंने तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। कुत्तोंसे घिरे, उन्मत्त-सा वेश बनाये, उन सिद्धोंके परमाचार्यको पहचानना बहुत उच्च-कोटिके अधिकारी-का ही काम है।

गिरिनार प्रभुका सिद्धपीठ है। दक्षिणमें दत्तात्रेयकी उपासना-का व्यापक प्रचार है। सिद्धोंकी एक परम्परा ही भगवान् दत्तात्रेय-को उपास्य मानती आयी है। इनमें 'रस-सिद्धि' का बहुत प्रचार था। ये सिद्धियाँ भले लोगोंको प्रलुब्ध करें और कुतूहल या कामनावश सामान्य साधक इन्हींको लक्ष्य बनाते हों; परंतु भगवान् दत्तात्रेयके उपदेश मनुष्यको इन प्रलोभनोंसे सावधान करते हैं। साधनके द्वारा परमपुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति ही मनुष्य-का सच्चा लक्ष्य है। योग-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ भगवान् दत्तात्रेयके कहे जाते हैं। दक्षिणमें भगवान् दत्तकी उपासनाका बहुत प्रचार है।

भगवान् यज्ञ

स्वायम्भुव मन्वन्तर—इस कल्पके प्रथम मन्वन्तरमें देवता अनाहारसे क्षीण हो रहे थे। देवताओंके दुर्बल होनेसे व्यक्त जगत् नष्ट होता जा रहा था। वर्षा, अन्न, अग्नि, वायु और पृथ्वी—सब निःसत्त्वप्राय हो चले। यमराज क्या करें। उनके यहाँ प्राणियोंका एक ही अपराध था कि वे अशक्त थे। उनमें प्रमाद था। उनके सम्मुख कोई व्यवस्थित कृत्य भी तो नहीं था। तीनों लोक इस अवस्थासे त्रस्त हो रहे थे।

प्रभु तो सदासे आर्त-पुकार सुननेवाले हैं। उन्होंने प्राणियोंकी पुकार सुनी। महर्षि रुचिकी पत्नी आकूतिसे वे प्रकट हुए। उन्होंने अग्निहोत्रकी स्थापना की। उन्हींके नामसे अग्नि-होत्र यज्ञ कहा जाने लगा। हवनसे देवता पुष्ट हुए। देवताओं-की शक्तिसे जगत् शक्तिसम्पन्न हुआ। देव-पूजा छोड़कर अपनी और पदार्थोंकी शक्तिका नाश करनेवाले वर्तमान युगके प्राणी इसे कैसे समझेंगे। पदार्थ आज चाहिये और देव-जगत्‌को छोड़ दिया गया। इस आसुरवृत्तिमें संघर्ष, उत्पीडन और क्लेश ही तो मिलता है। वे यज्ञ-पुरुष प्रभु दया करें !

भगवान् ऋषभदेव

महाराज नाभिने सन्तान-प्राप्तिके लिये यज्ञ किया। तपःपूत ऋत्विजोंने श्रुतिके मन्त्रोंसे यज्ञ-पुरुषकी स्तुति की। श्रीनारायण प्रकट हुए। विप्रोंने उन सौन्दर्य, ऐश्वर्य, शक्ति-धनके समान ही नरेशको पुत्र हो, यह प्रार्थना की। उस अद्वय-के समान दूसरा कहाँसे आये। महाराज नाभिकी महारानीकी गोदमें स्वयं वही परमतत्त्व प्रकट हुआ।

महाराज नाभि कुमार ऋषभदेवको राज्य देकर वनके लिये विदा हो गये। देवराज इन्द्रको बराबर वह सौभाग्य ईर्ष्याकी वस्तु जान पड़ा। अखिलेशकी उपस्थितिसे पृथ्वीने स्वर्गको अपनी सम्पदासे लज्जित कर दिया था। महेन्द्र वृष्टिके अधिष्ठाता हैं। वर्षा ही न हो तो पृथ्वीका सौन्दर्य रहे कहाँ। शस्य ही तो यहाँकी सम्पत्ति है। देवराजको लज्जित होना पड़ा। वर्षा बंद न हो सकी। भगवान् ऋषभने अपनी शक्तिसे वृष्टि की। अन्ततः देवराजने अपनी पुत्री जयन्तीका विवाह कर दिया उन धरानाथसे। पृथ्वी और स्वर्गमें सम्बन्ध स्थापित हुआ।

पूरे सौ पुत्र हुए ऋषभदेवजीको। इनमें सबसे ज्येष्ठ चक्रवर्ती भरत हुए। इन्हीं आर्षभ भरतके नामपर यह देश भारतवर्ष कहा जाता है। शेष पुत्रोंमें नौ ब्रह्मर्षि हो गये और इक्यासी महातपस्वी हुए। भरतका राज्याभिषेक करके भगवान्ने वानप्रस्थ स्वीकार किया।

काक, गौ, मृग, कपि आदिके समान आचरण, आहार-ग्रहण, निवासादि जडयोग हैं। ये सिद्धिदायक हैं और संयम-के साधक भी। भगवान् ऋषभने इनको क्रमशः अपनाया, पूर्ण किया; किंतु इनकी सिद्धियोंको स्वीकार नहीं किया। उनकी तपश्चर्याका अनुकरण जो सिद्धियोंके लिये करते हैं, वे उन प्रभुके परमादर्शको छोड़कर पृथक् होते हैं।

आत्मानन्दकी वह उन्मद अवधूत अवस्था—बिखरे केश, मलावच्छन्न शरीर, न भोजनकी सुध और न प्यासकी चिन्ता। किसीने मुखमें अन्न दे दिया तो स्वीकार हो गया। जहाँ शरीरको आवश्यकता हुई, मलोत्सर्ग हो गया। उस दिव्यदेहका मल अपने सौरभसे योजनोंतक देशको सुरभित कर देता। जहाँ शरीरका ध्यान नहीं, वहाँ शौचा-चारका पालन कौन करे। यह आचरणीय नहीं—यह तो अवस्था है। शरीरकी स्मृति न रहनेपर कौन किसे सचेत करेगा। शास्त्रसे परे है यह दशा।

मुखमें कंकड़ी रक्खे, निराहार, मौन, उन्मत्तकी भाँति भारतके पश्चिमीय प्रदेश—कोंक, वेंक, कुटकादिके वनोंमें भगवान् ऋषभदेव भ्रमण कर रहे थे। उनका शरीर तेजोमय, किंतु अनाहारसे कृश हो गया था। वनमें दावाग्नि लगी। देह आहुति बन गया।

जैनधर्म भगवान् ऋषभको प्रथम तीर्थङ्कर मानता है। उन्हींके आचारकी व्याख्या पीछेके जैनाचार्योंने की है।

भगवान् हंस

'चित्त स्वयं त्रिगुणात्मक है और तीनों गुण चित्तमें ही रहते हैं। इनका सम्बन्ध स्थायी है। ऐसी दशामें निस्त्रैगुण्य-की प्रतिष्ठा कैसे होगी?' सनकादि कुमारोंने लोकस्रष्टासे प्रश्न किया। यदि चित्त गुणहीन नहीं हो सकता तो मोक्ष किस प्रकार सम्भव है? हिंदू-धर्मका परम लक्ष्य तो मोक्ष है। यदि वही सिद्ध न हो तो सम्पूर्ण धर्म ही व्यर्थ हो जायगा। ब्रह्माजीने बहुत सोचा; परंतु प्रश्नमें कहाँ सन्देहका बीज है, पता न लगा। वे आदिपुरुषका ध्यान करने लगे।

'आप कौन हैं?' वहाँ एक महाहंस प्रकट हो गया, जैसे सहस्र-सहस्र चन्द्रज्योत्स्ना घनीभूत हो गयी हो। कुमारोंके साथ लोकस्रष्टाने अर्घ्य निवेदित करके परिचय जानना चाहा।

'मैं क्या कहूँ—यह आपलोग स्वयं निर्णय करें!' हंसकी वाणीमें विचित्र भंगी थी। 'आत्मामें कोई भेद नहीं, कोई परिचय नहीं और शरीरकी दृष्टिसे भी सबमें वही पञ्चतत्त्व हैं। उनमें भी कोई विलक्षणता नहीं। आप सब ब्रह्मज्ञानी हैं। आप स्वयं सोचें कि गुणोंमें चित्त स्थित है और चित्तमें गुण हैं; पर मुझमें तो चित्त और गुण दोनों हैं तथा दोनों नहीं हैं। स्वप्नमें देखनेवाला, देखनेकी क्रिया और दृश्य—सब क्या भिन्न-भिन्न होते हैं?' भगवान्की वाणीने सन्देहका निराकरण कर दिया। ब्रह्माजीके साथ कुमारोंने उनकी विधिवत् पूजा की।

भगवान् धन्वन्तरि

बात समझमें आये या न आये; पर सत्य यही है कि सम्पूर्ण जड-चेतन जगत् दैवी जगत्से प्रकट हुआ है। वह परस्पर विकसित नहीं है। देवता एवं दैत्योंके सम्मिलित प्रयासके श्रान्त हो जानेपर क्षीरोदधिका मन्थन स्वयं क्षीर-सागरशायी कर रहे थे। हलाहल, गौ, ऐरावत, उच्चैःश्रवा अश्व, अप्सराएँ, कौस्तुभमणि, वारुणी, महाशङ्ख, कल्पवृक्ष, चन्द्रमा, लक्ष्मीजी और कदलीवृक्ष उससे प्रकट हो चुके थे।

अन्तमें हाथमें अमृतपूर्ण स्वर्णकलश लिये श्यामवर्ण, चतुर्भुज भगवान् धन्वन्तरि प्रकट हुए।

अमृत-वितरणके पश्चात् देवराज इन्द्रकी प्रार्थनापर भगवान् धन्वन्तरिने देव-वैद्यका पद स्वीकार कर लिया। अमरावती उनका निवास बनी। कालक्रमसे पृथ्वीपर मनुष्य रोगोंसे अत्यन्त पीड़ित हो गये। प्रजापति इन्द्रने धन्वन्तरिजी-से प्रार्थना की। भगवान्‌ने काशिराज दिवोदासके रूपमें पृथ्वीपर अवतार धारण किया। इनकी 'धन्वन्तरि-संहिता' आयुर्वेदका मूल ग्रन्थ है। आयुर्वेदके आदि आचार्य सुश्रुत मुनिने धन्वन्तरिजीसे ही इस शास्त्रका उपदेश प्राप्त किया।

भगवान् मोहिनीरूपमें

क्षीरोदधिका मन्थन हुआ। प्रत्येक वस्तुके लिये झगड़नेवाले दैत्य जैसे ही धन्वन्तरि प्रकट हुए, उनके हाथसे अमृतकलश छीनकर भागे। उनमेंसे प्रत्येक प्रथम अमृत-पान करना चाहता था। किसीको किसीपर विश्वास नहीं था। 'यदि एक ही सब पी जाय तो!' कलशपर छीना-झपटी चल रही थी। देवता निराश खड़े थे। असुर भी समझ रहे थे कि यदि यह द्वन्द्व न मिटा तो अमृत व्यर्थ गिरकर नष्ट हो जायगा। कोई समाधान ज्ञात नहीं होता था।

'सुन्दरि, हम सब महर्षि कश्यपके पुत्र हैं। हममे इस कलशस्थ द्रवके लिये विवाद हो रहा है। तुम्हारी बड़ी कृपा होगी—हममे इसका उचित विभाजन कर दो। हमने इसके लिये समान श्रम किया है।' एक अपरूप लावण्यवती नारी वहाँ प्रत्यक्ष हुई। सब उसके रूपसे मुग्ध थे। सब उसे आकृष्ट करना चाहते थे। असुरोंने उसीको मध्यस्थ बनाना चाहा। सब परस्पर इस निर्णयसे सहमत थे।

'तुम्हें मेरे कुल, शील आदिका पता नहीं, तुम मुझपर कैसे विश्वास कर रहे हो?' नारीने अपने कोकिल-कण्ठकी मधुरिमा भ्रूविलास, मन्दहास्यादिसे पूर्ण कर दी। असुर इस प्रत्याख्यानसे अधिक विश्वस्त हुए।

'मै उचित विभाजन करूँ या अनुचित—तुमलोग बीचमे बाधा न दो, तभी इस कार्यको करूँगी।' बात ठीक ही है। मध्यस्थके निर्णयमे अपनी सम्मति बाधा दे तो निर्णय कैसे होगा।

देव-दैत्य दोनो वर्गोंने स्नान किया, नूतन अनाहत वस्त्र धारण किये, अग्निको आहुतियाँ दीं, विप्रोसे स्वस्तिपाठ कराया और तब पूर्वाग्र कुशोके आसनोपर पंक्तिमें बैठ गये। उस नारीके आदेशसे देवता पृथक् और दैत्य पृथक् पंक्तिमें बैठे।

'यह असुर है!' सूर्य एवं चन्द्रने नेत्रोसे संकेत किया। नारी असुरोंके समीपसे चल रही थी और दूरस्थ सुरोंको अमृत-पान करा रही थी। असुरोको उससे प्रेम पानेकी सम्भावना थी। वे उसकी भाव-भंगीसे मुग्ध थे। एक स्त्रीसे विवाद न करनेकी प्रतिज्ञा करके फिर झगड़ना उचित नही था। वे मौन बैठे थे। छायापुत्र स्वर्भानु (राहु) धैर्य न रख सका। वह देवताओका रूप धारण करके चन्द्रमा और सूर्यके समीप जा बैठा। जैसे ही उसे अमृतघूँट मिला, दोनो देवताओने संकेत कर दिया।

'यह तो विष्णु हैं!' असुर चौंके। नारी सहसा चतुर्भुज घनश्याम, पीताम्बरधारी पुरुष हो गयी। उन परम प्रभुके चक्रसे राहुका मस्तक कटा पड़ा था। असुरोंने शस्त्र उठाये। देवासुर-संग्राम होने लगा।

भगवान्‌की यह नित्य लीला है। जगत्‌मे भी उसीका एक रूप है। 'कामिनां बहु मन्तव्यं संकल्पप्रभवोदयम्' कामनाके वश पुरुषके लिये अभीष्टसिद्धि ही सब कुछ है। यह दृश्य जगत्, इसके पदार्थ, यह आकर्षण—सब उसी मायापतिकी मोहिनी है। सब कामके वश उसे भूलकर इस मायारूपमे मुग्ध है। यह आसुर भाव अमृतसे वञ्चित कर रहा है। वे प्रभु दया करें, तभी उनका वास्तविक रूप बुद्धिमे प्रतिष्ठित हो।

> असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्ना-
> नमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमथ्यम्।
> कपटयुवतिवेषो मोहयन् यः सुरारी-
> स्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि॥
>
> (श्रीमद्भा० ८।१२।४७)

भगवान् हरि

बात अधिदेव-जगत्‌की है—

क्षीरोदधिके मध्यमे विशाल द्वीप है। उसपर भगवान् वरुणका ऋतुमत्‌नामक क्रीड़ाकानन है। काननमे यूथपति गजेन्द्र अपनी हथिनियो, कलभो तथा दूसरे गजोंके साथ स्वेच्छापूर्वक घूमते रहते थे। महर्षि अगस्त्यको अभ्युत्थान न देनेसे राजा सुद्युम्न शप्त होकर इस कुञ्जरयोनिमे आये थे। उनके अमित पराक्रमके सम्मुख सिंहादि तुच्छ थे। वे उनके गण्डमण्डलकी मदधाराकी गन्धसे ही दूर भागते।

ग्रीष्म ऋतु, मध्याह्नकाल, गजेन्द्रको प्यास लगी। सूँड़ उठाकर सूँघा। जलकी गन्ध मिली। मार्गके कदली-काननको कुचलते अपने यूथके साथ वे सरोवरतक पहुँचे। कमल-

पुष्पोंसे भरा स्वच्छ सरोवर गजोंकी क्रीड़ासे क्षुब्ध हो गया। कलभ सूँड़ोंसे जल उछाल रहे थे। गजेन्द्र उन्हें स्नान कराते, अपनी सूँडसे जल पिलाते और स्वयं उनके द्वारा स्नात होते। सारा परिवार स्नेहसे उनका सत्कार कर रहा था।

पता नहीं कहाँसे एक मगरने गजेन्द्रका चरण पकड़ लिया। उन्होंने सूँड़ उठाकर चीत्कार की। बल लगाया। दूसरे हाथियोंने उन्हे अपनी सूँड़से सहायता दी, हथिनियाँ कभी जलमें, कभी बाहर दौड़ने लगीं। कोई सफल न हुआ। गन्धर्वश्रेष्ठ हूहू महर्षि देवलके शापसे ग्राह हो गये थे। उनका भी पराक्रम कम नहीं था। गजेन्द्र बाहर खींचना चाहते और ग्राह भीतर। जल कीचड़ होने लगा। कमल दल-मल गये। जलजीव व्याकुल हो गये। सहस्र वर्षतक यह संघर्ष चलता रहा।

गजेन्द्रका बल थकित हो गया। जलमें जलजीवसे कबतक वे युद्ध करे। अब डूब जायँगे—अब और नहीं टिका जा सकता। शिथिल शरीर खिंचा जा रहा था। सूँड़में एक कमल तोड़कर उठाया ऊपर और पुकार की 'विश्वेश्वर! जनार्दन! नारायण!'

भगवान्‌ने हरिमेधस ऋषिकी पत्नी हरिणीमें अवतार धारण किया था। वे गरुड़ारूढ़ प्रभु दौड़े। गजेन्द्र उन्हे पुकार रहे थे, ब्रह्मादि देव गजेन्द्रके साथ उनका स्तवन कर रहे थे। चक्र चमका और ग्राह अपने शरीरसे छूटकर पुनः गन्धर्वपद पा गया। गजेन्द्रको प्रभुने अपने हाथों उठाया। वे प्रभुका स्पर्श प्राप्तकर उनके दिव्य नित्य पार्षद हो गये।

भगवान् हयशीर्ष

कल्प भेद हरि चरित सुहाए।

क्षीरोदधिमें अनन्तशायी प्रभुकी नाभिमें पद्म प्रकट हुआ। पद्मकी कर्णिकासे सिन्दूरारुण चतुर्मुख लोकस्रष्टा व्यक्त हुए। क्षीरोदधिसे दो बिन्दु कमलपर पहुँच गये। वह चेतनात्मक नाभिपद्म—दोनों बिन्दु सजीव हो गये। वे ही आदिदैत्य मधु-कैटभ थे। दैत्योंने कमलकर्णिकापर बैठे ब्रह्माजीको देखा। वे एकाग्र मनसे भगवान्‌के निःश्वाससे निकली श्रुतियोंको ग्रहण कर रहे थे। दैत्योंने श्रुतिका हरण किया और वहाँसे नीचे भाग गये। आदिमें ही अनधिकारियोंको श्रुतिकी प्राप्ति—ब्रह्माजी चञ्चल हुए। उन्होंने भगवान्‌की स्तुति प्रारम्भ की। प्रभु प्रसन्न हुए, उन्होंने हयशीर्षरूप धारण किया। दैत्योंको मारकर उन्होंने श्रुतिका उद्धार किया।

× × × ×

दूसरे कल्पकी बात—

दितिपुत्र हयग्रीव सरस्वतीके तटपर उग्रतपमें संलग्न था। महामाया प्रसन्न हुईं। उन्होंने वरदान माँगनेको कहा। दैत्यको अमरत्व अभीष्ट था; किंतु कोई भी आसुरभावापन्न होकर अमर कैसे हो सकता है। 'मुझे हयग्रीवके अतिरिक्त कोई न मारे!' दैत्यने समझा कि मैं स्वयं अपना वध क्यों करूँगा। देवीने 'तथास्तु' कह दिया। असुरको लगा, उसका छल सफल हो गया। वह अमर ही तो हो गया।

सात्त्विकता न हो तो अमरत्व जगत्‌के लिये अभिशाप बनेगा। दैत्य हयग्रीव निःसंकोच अपनी असुरता चरितार्थ कर रहा था। देवता उससे विजय नहीं पा सकते थे। धर्म एवं मर्यादाका विनाश हो रहा था। सर्वेश्वर कबतक यह अधर्म चलने देते। हयग्रीवने देखा कि अङ्गारतप्त सटाओं-जैसा, मुखसे ज्वाला निकालता हयशीर्ष पुरुष प्रकट हो गया है। दैत्य उस ज्वालामें पतिंगेकी भाँति नष्ट हो गया।

भक्तश्रेष्ठ ध्रुवके लिये भगवान्‌का अवतार

वह ध्रुव जो समस्त मार्गनिर्देशकोंका मार्गदर्शक है, वह ध्रुव जो चल नक्षत्रोंमें स्थिर है, वह ध्रुव जो शुभ कार्योंमें स्मरण किया जाता है, वह ध्रुव जिसकी समस्त नक्षत्रमण्डल परिक्रमा करता है, भगवान्‌के उसी अविचल धामके अधिष्ठाताकी बात है—

मनुके पुत्र महाराज उत्तानपाद अपनी छोटी रानी सुरुचिपर अधिक आकृष्ट थे। बड़ी रानी सुनीतिके पुत्र ध्रुव पिताकी गोदमें बैठ गये थे। पतिप्रेम-गर्विता सुरुचिने बालकको गोदसे बलात् उतार दिया। 'तुझे पिताकी गोद या पिताका सिंहासन चाहिये तो भगवान्‌की आराधना करके मेरे उदरसे उत्पन्न हो। इनपर मेरे पुत्र उत्तमका अधिकार है।'

'तुम्हारी विमाताने ठीक ही कहा है। भगवान् ही तुम्हे पिताका सिंहासन या उससे भी श्रेष्ठ पद देनेमें समर्थ हैं!' सुनीतिके नेत्र स्वयं क्षोभसे भर आये थे। उनका प्राणप्रिय पुत्र तिरस्कारके कारण हिचकियाँ ले रहा था। वे उसे और कैसे आश्वस्त करें।

'मैं वह पद चाहता हूँ, जिसे मेरे पिता, पितामह या और किसीने भी न पाया हो!' पाँच वर्षका बालक ध्रुव घरसे माताके वचनोंपर विश्वास करके वनको चल पड़ा था। मार्गमें देवर्षि नारदने उसे समझाया। लौटानेका प्रयत्न किया।

सन्तोषकी शिक्षा दी। जब कोई बात ध्रुवके हृदयपर न बैठ सकी, तब वे द्रवित हुए। द्वादशाक्षरकी दीक्षा देकर मधुवन (मथुरा) में यमुनातटपर जानेका आदेश दे दिया।

ध्रुव बालक सही, पर वह आदियुगकी निष्ठा और विश्वास था। पहले महीने कपित्थ (कैथ) और बेर, दूसरे महीने सूखे पत्ते, तीसरे महीने जल, चौथे महीने केवल वायु—ये सब भी नित्य नहीं, इनको ग्रहण करनेकी अवधि भी बढ़ी होती गयी। पाँचवें महीने तो वह बालक एक चरणसे खड़ा हो गया। श्वास लेना बंद कर दिया। मन्त्रके अधिष्ठाता भगवान् वासुदेवमें चित्त एकाग्र हो गया।

देवता विघ्न करते हैं उसे, जो बाहर देखता है। वर्षा, ग्रीष्म, वायु, शीत, सर्प, व्याघ्र या वसन्त और काम उसका क्या करें, जो श्वासतक नहीं लेता। जिसे शरीरका पता ही नहीं। देवताओंकी कठिनाई बढ़ती जा रही थी। ध्रुव जगदाधारमें एकाग्र होकर श्वासरोध किये हुए थे। देवताओंका श्वासरोध स्वतः हो रहा था। वे बहुत पीड़ा पा रहे थे। उन्होंने प्रभुसे प्रार्थना की उस बच्चेको तपसे निवृत्त करनेकी।

हृदयकी वह ज्योति अन्तर्हित हो गयी। व्याकुल ध्रुवने नेत्र खोले और चकित देखते रहे। वही सुनील, सुमधुर, चतुर्भुज, वनमाली, कमललोचन, रत्नकिरीटी बाहर प्रत्यक्ष खड़े थे। ध्रुव अजान बालक—उसने हाथ जोड़े। सुना था कि भगवान्‌की स्तुति करनी चाहिये। क्या कहे? क्या करे? वह तो कुछ जानता नहीं। उन सर्वज्ञने मन्दस्मितके साथ अपना हाथ बढ़ाया। करस्थ श्रुतिरूप शङ्खसे बालकके कपोल-का स्पर्श कर दिया। बालकके मानसमें हंसवाहिनी जाग्रत् हो गयीं।

ध्रुवको अविचल पदका वरदान मिला था; पर वे प्रसन्न नहीं थे। सर्वेश्वरको प्राप्तकर फिर याचना क्या। उनको ही सदाके लिये प्राप्त किया जा सकता था। महाराज उत्तानपाद तो जबसे ध्रुव वन गये, निरन्तर उन्हींका चिन्तन करते थे। अपनी भूल उनके हृदयका शूल बन गयी थी। ध्रुवका पिताने स्वागत किया। विमाता इस प्रकार मिलीं, जैसे ध्रुव उनके ही पुत्र हों। जिसपर विश्वेश प्रसन्न हों, उसपर सभी प्रसन्न रहते हैं। पिताने ध्रुवको सिंहासनपर अभिषिक्त किया और स्वयं वानप्रस्थ स्वीकार करके तप करने चले गये।

ध्रुव नरेश हुए। मृगयाको उनके छोटे भाई उत्तम वनमें गये थे। कुबेरके किसी अनुचरने उनको मार डाला। उत्तम-की माता पुत्रशोकसे वनमें गयी और दावाग्निमें जल गयीं। ध्रुवने कुबेरपर भ्रातृवधसे क्रुद्ध होकर चढ़ाई की। बहुत-से यक्ष मारे गये। पितामह मनुने ध्रुवको शान्त किया। क्रोध शान्त होनेपर कुबेरने दर्शन देकर आश्वस्त किया, वरदान दिया।

संसारमें प्रारब्ध शेष हो गया। दिव्य विमान आया ध्रुवको लेने। विप्रोंके मङ्गलपाठके मध्य ध्रुव विमानारोहण करने जा रहे थे। 'मर्त्यलोकके प्रत्येक प्राणीका मैं स्पर्श करता हूँ।' मृत्युने प्रार्थना की। प्रार्थनासे अधिककी शक्ति थी नहीं। ध्रुव हँसे, 'तुम्हें मेरा स्पर्श प्राप्त हो!' मृत्युके मस्तकपर पैर रखकर विमानमें बैठ गये वे। मार्गमें अपनी माताका उन्हें स्मरण हुआ। भला, कहीं ऐसे पुत्रकी माता मर्त्यलोकमें रहेगी। वे ध्रुवसे आगे जा रही थीं।

वह अविचल धाम ध्रुवको प्राप्त हुआ। ध्रुव वहाँ अब भी भगवान्‌की उपासना करते हैं। उत्तर दिशामें एक ही स्थानपर स्थित वही ज्योतिर्मय ध्रुव-धाम है, जो रात्रिमें निर्मल गगनमें दीख पड़ता है।

भगवान् आदिराज पृथुके रूपमें

'कुपुत्रकी अपेक्षा पुत्रहीन रहना ही भला था!' महाराज अङ्गने देवताओंका यजन करके पुत्र प्राप्त किया और वह पुत्र घोरकर्मा हो गया। प्रजा उसके उपद्रवोंसे त्राहि-त्राहि करने लगी है। ताड़नादिसे भी उसका शासन हो नहीं पाता। महाराजको वैराग्य हो गया। रात्रिमें ही वे चुपचाप अज्ञात वनमें चले गये।

'कोई यज्ञ न करे! कोई किसी देवताका पूजन न करे। एकमात्र राजा ही प्रजाके आराध्य हैं! आज्ञाभङ्ग करनेवाला कठोर दण्ड पायेगा।' भेरीनादके साथ ग्राम-ग्राममें घोषणा हो रही थी। महाराज अङ्गका कोई पता न लगा। ऋषियोंने उनके पुत्र वेनको सिंहासनपर बैठाया। राज्य पाते ही उसने यह घोषणा करायी।

'राजन्! यज्ञसे यज्ञपति भगवान् विष्णु तुष्ट होंगे! उनके प्रसन्न होनेपर आपका और प्रजाका भी कल्याण होगा!' ऋषिगण वेनको समझाने एकत्र होकर आये थे। उस दर्पमत्तने उनकी अवज्ञा की। ऋषियोंका रोष हुंकारके साथ कुशोंमें ही ब्रह्मास्त्रकी शक्ति बन गया। वेन मारा गया। वेनकी माता सुनीथाने पुत्रका शरीर स्नेहवश सुरक्षित रक्खा।

'ये साक्षात् जगदीश्वरके अवतार हैं!' उन दूर्वादलश्याम,

प्रलम्ववाहु, कमलाक्ष पुरुषको देखकर ऋषिगण प्रसन्न हुए। अराजकता होनेपर प्रजामें दस्यु बढ़ गये थे। चोरी, बलप्रयोग, मर्यादानाश, परस्वहरणादि बढ़ रहे थे। शासक आवश्यक था। ऋषियोंने एकत्र होकर वेनके शरीरका मन्थन प्रारम्भ किया। उसके ऊरुसे प्रथम ह्रस्वकाय, कृष्ण-वर्ण पुरुष उत्पन्न हुआ। उसकी सन्तानें निषाद कही गयीं। मन्थन चलता रहा। दक्षिण हस्तसे पृथु और वाम बाहुसे उनकी नित्य-सहचरी लक्ष्मीस्वरूपा आदि-सती अर्चि प्रकट हुईं।

'महाराज हम सब क्षुधासे मरणासन्न हैं। हमारी रक्षा करें!' विश्वमें प्रथम राजाके सम्मुख प्रजा पुकार कर रही थी। धरामें पहला अकाल पड़ा था। न फल थे, न अन्न। वन सूखते जा रहे थे। वेनके अत्याचारसे देवशक्ति क्षुभित हो गयी थी। देवताओंका रोष मानवके अभ्युदयका घातक होगा ही। समाज आचारहीन, कुकर्मरत हो गया। त्रेताके आदिमें पदार्थ उपभोगके लिये नहीं थे। सम्पूर्ण पदार्थ यज्ञार्थ थे। मनुष्य केवल यज्ञावशेषभोजी था। जब मनुष्यने पदार्थोंको अपने लिये समझना प्रारम्भ किया, धराने उनका उत्पादन बंद कर दिया।

'यह मेदिनी—यह मेरी अवज्ञा करती है!' पृथुने प्रजाकी पुकार सुनी। धरा अन्न देती क्यों नहीं? नेत्रोंमें रक्तिमा आयी। आजगव धनुषपर बाण चढ़ाया उन्होंने! 'मैं इसके मेदसे सबको तृप्त करूँगा! लोकका धारण मेरी योगशक्ति करेगी!' उन्हींकी योगमाया तो लोक धारण करती है।

'देव, मुझे क्षमा करें।' काँपती, भीता गोरूपधारिणी शरणापन्न हुई।' मुझे समान करें, जिसमें वर्षाका जल टिक सके। योग्य वत्स हो तो मैं कामदुहा (अभीष्ट फल देनेवाली) हूँ।'

पृथुने पृथ्वीका दोहन किया। भूमि समान की गयी। कृषिका प्रारम्भ हुआ। मनुष्यने तरु एवं गुफाओंका स्वेच्छा-निवास छोड़ दिया। समाज बना। नगर, ग्राम, खेट, खर्वट आदि बसाये गये। इस प्रकार पृथुने प्रजाकी व्यवस्था की।

पृथुने धराको पुत्री माना। तबसे यह भूमि पृथ्वी कही जाती है। वे ही प्रथम नरेश थे। मनुष्यको नगर, ग्रामादिमें बसाकर वर्तमान संस्कृति एवं सभ्यताको उन्होंने ही जन्म दिया था। जीवन भोगके लिये नहीं, आराधनाके लिये है। उन आदि शासकका मानवके लिये यही आदेश है। जबतक मानव उनके आदेशपर चला; सुख एवं शान्ति उसे नित्य प्राप्त रही; आदेश भङ्ग करके वह पीड़ा एवं संघर्ष, चिन्तामें उलझ गया।

भगवान् व्यास

महर्षि पराशरके पुत्र कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यास हैं। उत्पन्न होते ही वे मातासे आज्ञा लेकर तपस्या करने चले गये। द्वीपमें जन्म होनेसे व्यासजी द्वैपायन कहे गये। उनका वर्ण घननील है, अतः उन्हें कृष्णद्वैपायन कहा जाता है।

आदियुगमें वेद एक ही था। महर्षि अङ्गिराने उसमेंसे सरल तथा भौतिक उपयोगके छन्दोंको पीछे संगृहीत किया। यह संग्रह छान्दस, आङ्गिरस या अथर्ववेद कहलाया। शेष भाग एक ही रूपमें था। भगवान् व्यासने उसमेंसे ऋचाओं, गायनयोग्य मन्त्रों और गद्यभागको पृथक्-पृथक् संकलित किया। इस प्रकार ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदका वर्तमान स्वरूप निश्चित हुआ। इस कार्यसे वे वेदव्यास कहलाये।

स्त्री, शूद्र तथा पतित द्विज (द्विजबन्धु) वेदपाठके अधिकारी नहीं थे। उत्तरोत्तर द्विजबन्धुओंकी संख्या बढ़ती जा रही थी। उनका उद्धार भी होना ही चाहिये। वेदार्थ-दर्शनकी शक्तिके साथ अनादि पुराण भी लुप्त हो रहे थे। भगवान् व्यासने पुराणोंका संकलन किया। निष्ठाके अनुकूल उनमें आराध्यके रूपकी प्रतिष्ठा हुई। वेदार्थ सबके लिये सहज-सुलभ हो गया। अष्टादश पुराणोंके अतिरिक्त बहुत-से उपपुराण तथा अन्य ग्रन्थ भी उन्हींके हैं।

पुराण बहुत विस्तृत हैं। उनमें कल्पभेदसे चरितोंमें भेद आया है। समस्त चरित इस कल्पके अनुरूप और समस्त धर्म-अर्थ-काम-मोक्षसम्बन्धी सिद्धान्त एकत्र करनेके विचारसे उन्होंने महाभारतकी रचना की। महाभारत पञ्चम वेद कहा गया। श्रुतिमें जो कुछ है, महाभारतमें भगवान् व्यासने उसको एकत्र कर दिया है। भगवान् व्यास बोलते जाते थे और साक्षात् गणेशजी लिख रहे थे। इस प्रकार यह पञ्चम वेद लिपिबद्ध हुआ।

उपासना तथा साधनकी प्रतिष्ठा दर्शनशास्त्रके द्वारा होती है। श्रुतियोंमें भगवान्‌के जिस निर्विशेष रूपका

महर्षि वाल्मीकि

महर्षि वेदव्यास

प्रतिपादन हुआ है, कोई दर्शन उसे व्यक्त नहीं करता था। भगवान् व्यासने उन सिद्धान्तोंको सूत्ररूपमें ग्रथित किया। वही सूत्रग्रन्थ वेदान्त-दर्शन या उत्तरपूर्वमीमांसा कहा जाता है। भारतके सम्प्रदायोंमें उसीको मानकर चलनेकी प्राचीन प्रणाली है।

भगवान् व्यास कल्पान्ततक रहेंगे। श्रीआद्य शंकराचार्यने उनके दर्शन पाये थे। और भी अनेक महापुरुषोंको उनका साक्षात् लाभ हुआ, यह वर्णन मिलता है। उनका स्थानीय आश्रम बद्रीनाथ धाम है, पर वे लोकमें पर्यटन करते रहते हैं। उच्च कोटिके अधिकारी उन्हें देख पाते हैं।

हिंदू-संस्कृतिका वर्तमान स्वरूप भगवान् व्यासद्वारा सम्हाला एवं सजाया गया है। यह अनादि सनातन संस्कृति आज भगवान् व्यासके पुराणों, महाभारत तथा दूसरे ग्रन्थोंपर अवलम्बित है। भगवान्ने स्वयं इस रूपमें अवतार धारण करके कलिके मानवोंके लिये श्रुतिका तात्पर्य सरल कर दिया है।—सु०

कुछ आदर्श ऋषि-महर्षि

सनकादि कुमार

सृष्टिका आदिकाल ही था। भगवान् ब्रह्माने अपने तपसे श्रीनारायणका साक्षात्कार किया। वे सृष्टिमें संलग्न हुए। सर्वप्रथम उनके चार मानस पुत्र हुए—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार। चारों नित्यसिद्ध, ज्ञानमय, नित्य-विरक्त। उन्होंने पिताकी आज्ञा होनेपर भी सृष्टि-कार्य स्वीकार नहीं किया। वे सदा अपने योगबलसे अथवा निरन्तर 'हरिः शरणम्' मन्त्रके जप-प्रभावसे पाँच वर्षके ही बने रहते हैं। जनलोकमें निरन्तर भगवच्चर्चाको छोड़ उन्हें दूसरा कोई कार्य नहीं। लोकोद्धारके लिये लोक-पर्यटन भी करते हैं।

'सनत्कुमारसंहिता' धर्मशास्त्रका मुख्य ग्रन्थ है। वैष्णव-धर्मके प्रधानाचार्योंमें ये कुमारचतुष्टय हैं। देवर्षि नारदको इन्होंने श्रीमद्भागवतका उपदेश किया। ज्ञानमार्गके तो ये आदिप्रवर्तक हैं ही। भगवान्के ये स्वरूप ज्ञान, वैराग्य, भक्तिकी प्रतिष्ठाके लिये हैं। शैशव ही निरपेक्षावस्था है। शैशव-भावके साथ वह अवस्था भी चिरस्थायी हो गयी इस रूपमें। जय-विजय इन्हींके शापसे तीन जन्मोंतक क्रमशः हिरण्यकशिपु-हिरण्याक्ष, रावण-कुम्भकर्ण और शिशुपाल-दन्तवक्त्र हुए। ज्यौतिष और आयुर्वेदका भी इन्हें आचार्य कहा गया है।

सप्तर्षि

सप्तर्षि-मण्डल आकाशमें सुप्रसिद्ध ज्योतिर्मण्डलोंमें है। इसके अधिष्ठाता ऋषिगण लोकमें ज्ञान-परम्पराको सुरक्षित रखते हैं। अधिकारी जिज्ञासुको प्रत्यक्ष या परोक्ष, जैसा वह अधिकारी हो, तत्त्वज्ञानकी ओर उन्मुख करके मुक्ति-पथमें लगाते हैं। प्रत्येक मन्वन्तरमें इनमेंसे कुछ ऋषि परिवर्तित होते रहते हैं। इनकी नामावली (विष्णुपुराणके अनुसार) इस प्रकार है—

प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरमें—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ।

द्वितीय स्वारोचिष मन्वन्तरमें—ऊर्ज, स्तम्भ, वात, प्राण, पृषभ, निरय और परीवान्।

तृतीय उत्तम मन्वन्तरमें—महर्षि वशिष्ठके सातों पुत्र।

चतुर्थ तामस मन्वन्तरमें—ज्योतिर्धामा, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, वनक और पीवर।

पञ्चम रैवत मन्वन्तरमें—हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्ध्वबाहु, वेदबाहु, सुधामा, पर्जन्य और महामुनि।

षष्ठ चाक्षुष मन्वन्तरमें—सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उतम, मधु, अतिनामा और सहिष्णु।

वर्तमान सप्तम वैवस्वत मन्वन्तरमें—काश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज।

अष्टम सावर्णिक मन्वन्तरमें—गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृप, ऋष्यशृङ्ग और व्यास।

नवम दक्षसावर्णि मन्वन्तरमें—मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सवन और भव्य।

दशम ब्रह्मसावर्णि मन्वन्तरमें—तपोमूर्ति, हविष्मान्, सुकृत, सत्य, नाभाग, अप्रतिमौजा और सत्यकेतु।

एकादश धर्मसावर्णि मन्वन्तरमें—वपुष्मान्, घृणि, आरुणि, निःस्वर, हविष्मान्, अनघ, और अग्नितेजा।

द्वादश रुद्रसावर्णि मन्वन्तरमें—तपोद्युति, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्ति, तपोनिधि, तपोरति और तपोधृति।

त्रयोदश देवसावर्णि मन्वन्तरमें—धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा और निष्प्रकम्प।

चतुर्दश इन्द्रसावर्णि मन्वन्तरमें—अग्नीध्र, अग्निबाहु, शुचि, युक्त, मागध, शुक्र और अजित ।

इन ऋषियोंमेंसे सब कल्पान्त-चिरजीवी, मुक्तात्मा और दिव्यदेहधारी हैं ।

देवर्षि नारद

यह देवर्षिके तीसरे जन्मकी बात है—

भगवान् ब्रह्माकी सेवामें अप्सराएँ और गन्धर्वगण उपस्थित थे । वे नृत्य एवं गीतसे उन जगत्स्रष्टाकी आराधना कर रहे थे । गन्धर्वश्रेष्ठ उपबर्हण अपनी स्त्रियोंके साथ वहाँ पहुँचे । स्वरसौन्दर्य एवं कलाके गर्वने उन्हें प्रमत्त कर दिया था । आराधनाका भावमय सङ्गीत केवल कला ही तो नहीं है । पितामहने देखा और शाप दिया 'तुम शूद्र हो जाओ !' शरीरकी सेवा— ऐन्द्रियक तृप्ति ही तो शूद्रत्वका कारण है ।

देवर्षिका दूसरा जन्म—

एक तपस्वी विप्रका आश्रम था । आश्रम-सेविका एक शूद्रा दासीकी गोदमें छोटा-सा बालक था । दासी और बालक, इतना ही था यह परिवार । आश्रममें प्रायः परिव्राजक संत पधारते । बालकका चित्त उनकी सेवामें लगता था । जन्मसे ही उसका चित्त किसी अज्ञातकी ओर आकर्षित था । खेल-कूद तथा उपभोगके पदार्थोंमें रुचि थी नहीं । संतोंका उच्छिष्ट प्राप्त होता, उनकी वाणी कर्णको पवित्र करती, उनकी सेवाका सौभाग्य मिलता ।

कुछ संतोंने चातुर्मास्य किया उस आश्रममें । बालक निरन्तर उनके समीप रहनेका प्रयत्न करता । सुशील सरल बालकपर महात्माओंका स्नेह स्वाभाविक ही था । चार महीने व्यतीत हुए । उन भ्रमणशील साधुओंको प्रस्थान करना था । बालककी श्रद्धा, व्याकुलताने द्रवित किया । महात्माओंने भगवान्का ध्यान तथा मन्त्रका उपदेश किया ।

'मैं भी ऐसा ही बनूँगा !' जन्मसे बालककी महान् उच्च अभिलाषा विरक्तोंको देखकर उमड़ती थी । अब उसे एकान्त चाहिये । वन चाहिये । लेकिन माताका स्नेह—वह है भी तो चार-पाँच वर्षका ही ! भगवान्को कृपा करनी होती है तो वे वय नहीं देखा करते । वह शूद्रा दासी सायंकाल अन्धकारमें गो-दोहन कर रही थी । एक सर्पने उसके पैरमें काट लिया ।

'प्रभुने मुझपर बड़ी कृपा की !' बालकने देखा कि माता निष्प्राण हो गयी है । उसे उस मृत्तिकासे कोई मोह नहीं था । अब कोई उसको घड़ी-घड़ीपर ढूँढ़नेवाला नहीं । वहाँसे रात्रिमें ही वह चल पड़ा ।

सुन्दर सरोवरतट, अश्वत्थका अरुण पत्तोंसे भरा वृक्ष बालकको पसंद आया । वह प्रायः चलते-चलते थक चुका था । पीपलकी जड़में बैठकर ध्यान करने लगा । एक अलौकिक ज्योति हृदयमें विद्युत्की भाँति चमक गयी ।

'तुम इस जन्ममें मेरा साक्षात् नहीं पा सकते थे । यह तो मैंने अनुग्रह करके दर्शन दिया ।' बालक बराबर अनन्त व्याकुल होकर प्रयत्न कर रहा था । आकाशवाणी सुनकर उसने उस दिशाकी ओर मुख करके भूमिपर मस्तक रखा, जिधरसे शब्द आया था । अब उसे भगवद्गुण गान करते लोकमें अबाध विचरण करना था ।

देवर्षिका वर्तमान स्वरूप—

सृष्टिके समय भगवान् ब्रह्माके मनसे देवर्षि उत्पन्न हुए । उन्होंने निवृत्तिमार्ग स्वीकार किया । भगवान् ब्रह्मासे प्राप्त वीणा लेकर बराबर भगवन्नाम-गुण गाते रहना ही उनका स्वभाव है । पहले ये आश्रम बनाकर निवास करते थे । प्रह्लादकी माता, जब प्रह्लादजी गर्भमें थे, देवर्षिके आश्रममें बहुत दिन रही थीं । प्रजापति दक्षके ग्यारह सहस्र पुत्रोंको निवृत्तिपथमें देवर्षिने लगा दिया । इससे क्रुद्ध होकर दक्षने शाप दे दिया कि ये कहीं दो घड़ीसे अधिक न ठहर सकेंगे । तबसे ये नित्य परिव्राजक हो गये ।

देवर्षिका एक ही व्रत है—जीवमात्रका कल्याण । जो जैसा अधिकारी है, उसे वैसे मार्गमें लगा देते हैं ये । एक ओर ये बालक ध्रुवके उपदेष्टा हैं तो दूसरी ओर कंसके प्रेरक भी । सच्चे अर्थमें केवल वही अजातशत्रु हैं । देवता-दैत्य सभी उनका सम्मान करते हैं । सबका उनपर विश्वास है । सब उनसे सम्मति पानेको उत्सुक रहते हैं ।

भागवत-धर्मका आधार पाञ्चरात्र तो देवर्षिसे प्रवर्तित है ही, भक्तिमार्गके द्वादश आचार्योंमें मुख्य होनेके साथ आप सङ्गीत-विद्या, ज्यौतिष, आयुर्वेद, नीति आदिके भी मुख्याचार्य हैं । उनकी संहिताएँ इन विषयोंके महत्त्वपूर्ण आधार हैं । वे लोकपर्यटक सदा ही अधिकारीको दर्शन देते हैं । हिंदू-संस्कृतिके व्यवस्थापक भगवान् व्यासके वे प्रेरक हैं ।

महर्षि वशिष्ठ

मित्रावरुणके यज्ञमें अगस्त्यजीके साथ ही महर्षि वशिष्ठकी उत्पत्ति हुई । भगवान् ब्रह्माकी आज्ञासे उन्होंने सूर्यवंशका

पौरोहित्य स्वीकार किया। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रके कुलगुरु होनेका सौभाग्य आपको ही प्राप्त था। महर्षि वशिष्ठ वर्तमान मन्वन्तरके आदिमें ब्रह्माजीके मानस पुत्र हुए।

वशिष्ठजीने परशुरामजीके कोपसे रघुवंशकी रक्षा की। विश्वामित्रने द्वेषवश उनके समस्त पुत्रोंका नाश कर दिया, पर उन्होंने क्रोध प्रकट नहीं किया। महर्षि वशिष्ठके पुत्र शक्ति, शक्तिके पराशर और पराशरजीके भगवान् व्यास हैं। वशिष्ठजी सप्तर्षिमण्डलमें अपनी पत्नी अरुन्धतीजीके साथ स्थित हैं। वशिष्ठसंहिताके अतिरिक्त वशिष्ठजीके श्रौत-सूत्र, गृह्य-सूत्र, शुल्व-सूत्र तथा वशिष्ठस्मृति—ये ग्रन्थ भी मिलते हैं। वशिष्ठजी भगवान् श्रीरामके समयतक पृथ्वीपर प्रत्यक्षरूपसे रहे। उन्होंने अपने तपोबलसे रघुवंशके चक्रवर्ती नरेशोंकी श्रीवृद्धि की तथा हिंदू-धर्मका सुयश विस्तीर्ण किया। भगवान् श्रीरामके साकेत पधारनेपर वे सप्तर्षिमण्डलमें ही स्थित हो गये।

भगवान् मनुजी

भगवान् ब्रह्मा सृष्टिकार्यमें सफल नहीं हो रहे थे। उनकी मानसिक सृष्टि ज्यों-की-त्यों थी। उसमें अभिवृद्धि नहीं हो रही थी। अन्तमें स्रष्टाने अपने दक्षिण भागसे मनु और वाम भागसे शतरूपाको उत्पन्न किया। इन स्वायम्भुव मनुसे ही मनुष्य जातिकी सृष्टि हुई। मनुष्योंके लिये उनके आचार-ज्ञानके निमित्त मनुने श्रुतिके तात्पर्यको स्पष्ट किया। आदि मनुके वे 'मानव-धर्म-सूत्र' अब उपलब्ध नहीं हैं। आदि मनुके प्रियव्रत, उत्तानपाद प्रभृति पुत्र तथा देवहूति आदि कन्याएँ हुईं।

मात्स्यकल्पमें भगवान्ने मत्स्यरूप धारण करके जिन राजर्षि श्राद्धदेवकी रक्षा की, वे विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र वैवस्वतजी इस मन्वन्तरके मनु हैं। महाराज इक्ष्वाकुप्रभृति उनके दस पुत्र हुए। वर्तमान मनुस्मृति इन्हीं मनुकी कृति है। इसका मूलाधार प्राचीन मानवधर्मसूत्र हैं और उनका उपदेश मनुने महर्षि भृगुसे प्राप्त किया था, यह मनुस्मृतिसे स्पष्ट ज्ञात होता है। मनुस्मृति धर्मशास्त्र एवं समाजशास्त्रका प्रधान आधार है।

महर्षि याज्ञवल्क्य

महर्षि वैशम्पायन पितृश्राद्ध होनेके कारण ऋषियोंकी गोष्ठीमें उपस्थित नहीं हो सके थे। नियमानुसार उन्हें अनुपस्थितिके कारण वाचिक ब्रह्महत्याका अपराध लगा। उन्होंने अपने सब शिष्योंको आज्ञा दी—'तुम सब मिलकर इसका प्रायश्चित्त कर लो।'

'ये बच्चे क्या प्रायश्चित्त करेंगे। मैं अकेला ही प्रायश्चित्त कर दूँगा।' याज्ञवल्क्यजीने अपने आचार्यसे कहा। वैशम्पायनजीके भानजे होनेके कारण कुछ धृष्ट हो गये थे वे।

'तू ब्राह्मण-बालकोंका अहंकारवश अपमान करता है। मेरी पढ़ायी हुई सब श्रुतियाँ त्याग दे।' वैशम्पायनजीने कुछ रोषसे कहा। याज्ञवल्क्यने श्रुतियोंका त्याग कर दिया। ऋषियोंने तीतर होकर उन श्रुतियोंका ग्रहण किया। वही कृष्ण-यजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखा हुई।

'मैं अब मनुष्यको गुरु नहीं बनाऊँगा।' याज्ञवल्क्यजीने तपस्याके द्वारा भगवान् सूर्यको सन्तुष्ट किया। अश्वरूपधारी भगवान् सूर्यने उन्हें शुक्लयजुर्वेदका उपदेश किया। इस शाखाको वाजसनेय शाखा कहा जाता है।

महर्षि याज्ञवल्क्यका आश्रम मिथिलामें था। महाराज विदेहके वे योगोपदेष्टा गुरु तथा कर्मकाण्डके प्रकाण्ड मर्मज्ञ थे। महाराज विदेहकी सभामें वाचक्नवी गार्गीसे उनका शास्त्रार्थ हुआ, जब वे विदेहराजकी सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ताको दी गयी सहस्र गायें ले जाने लगे थे।

महर्षिकी दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयीने इनसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की। भरद्वाजजीको इन्होंने श्रीरामचरितमानसका उपदेश किया। इनकी याज्ञवल्क्यस्मृति स्मृतियोंमें प्रधान है। हिंदू-सम्पत्तिका उत्तराधिकार उसीसे निर्णीत होता है। इसके अतिरिक्त 'याज्ञवल्क्य-शिक्षा', 'शतपथ-ब्राह्मण', 'प्रतिज्ञासूत्र' और 'योगि-याज्ञवल्क्य' इनके अत्यन्त श्रेष्ठ शास्त्र हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यके व्याकरण, आयुर्वेद और धनुर्वेदसम्बन्धी ग्रन्थोंके नाम भी पाये जाते हैं।

ब्रह्मर्षि विश्वामित्र

'मैं आपको एक सहस्र कपिला गौएँ दूँगा, यह गौ आप मुझे प्रदान करें।' भगवान् परशुरामके मामा महाराज गाधिके पुत्र महाराज विश्वामित्रजीने महर्षि वशिष्ठसे उनकी नन्दिनी गौ माँगी। वशिष्ठजीने उस कामधेनुसुता नन्दिनीके प्रभावसे ही ससैन्य विश्वामित्रका तपोवनमें राजोचित सम्मान किया था। इतनी ऐश्वर्यमयी गौ तो राजसदनमें ही शोभा देगी।

'नन्दिनी मेरी पूज्या हैं। वे सम्पत्ति नहीं, जिसका विनिमय किया जा सके।' महर्षि वशिष्ठने किसी भी मूल्यपर अपनी होमधेनुको देना स्वीकार नहीं किया।

'मातः ! स्वयं आप अपनी रक्षा कर सकें तो कर लें। ब्राह्मण प्रतीकार करनेमें असमर्थ होते हैं।' विश्वामित्र गौको बलपूर्वक ले जा रहे थे। गौ क्रन्दन कर रही थी। महर्षि वशिष्ठजीने भरे नेत्रोंसे उसकी ओर देखा। नन्दिनी क्रुद्ध हुई। उनके नथुनोंसे सहस्रों सशस्त्र योद्धा प्रकट हुए। विश्वामित्र पराजित हो गये।

'सामान्य बलसे तपोबल श्रेष्ठ है। विश्वामित्रजी राज्य छोड़कर वनमें जाकर भगवान् शङ्करकी आराधना करने लगे। भगवान् शिवने उन्हें धनुर्वेद और दिव्यास्त्र प्रदान किये। इन अस्त्रोंको लेकर वे वशिष्ठको मारने आये; किंतु महर्षि वशिष्ठके तेजोमय ब्रह्मदण्डसे सब व्यर्थ हो गये।

'ब्रह्मबलके सम्मुख अस्त्रबल व्यर्थ है। मैं ब्राह्मणत्व प्राप्त करूँगा।' दक्षिण दिशामें जाकर पुनः वे तपस्या करने लगे।

'गुरुदेव ! मैं आपकी शरण आया हूँ, मेरी इच्छा सशरीर स्वर्ग जानेकी है।' त्रिशंकु अपने कुलगुरु वशिष्ठजीसे निराश हो चुके थे। गुरुपुत्रोंने शाप देकर उन्हें चाण्डाल बना दिया था। वे विश्वामित्रजीकी शरण आये। तपोबलसे विश्वामित्रजीने उन्हें सशरीर स्वर्ग भेज दिया। स्वर्गसे देवताओंने त्रिशंकुको नीचे ढकेल दिया। विश्वामित्रजीने उन्हें गगनमें ही स्थिर कर दिया। वे अब भी वहीं नीचे मुख किये हैं। उनके मुखकी लारसे कर्मनाशा नदी उत्पन्न हुई है।

× × × ×

'मैं ब्राह्मण नहीं हो सकता तो नवीन सृष्टिका ब्रह्मा बनूँगा।' विश्वामित्रने पूर्व दिशामें आकर कठोर तपके अनन्तर नवीन सृष्टि प्रारम्भ की। अन्न, तृण, तरु, पशु—सबमें कुछ जातियोंको उन्होंने उत्पन्न किया। भगवान् ब्रह्माने उन्हें तब आकर सृष्टिकर्मसे रोक दिया, जब वे मनुष्य-सृष्टि करने जा रहे थे।

'ब्रह्मर्षि तो वशिष्ठ ही बना सकते हैं।' भगवान् ब्रह्माने उनका ब्राह्मणत्व स्वीकार करके भी एक प्रतिबन्ध लगा दिया। विश्वामित्रजीने महाराज सुदासको शाप देकर बारह वर्षके लिये राक्षस बना दिया। इस राक्षसभावमें वह वशिष्ठके सभी पुत्रोंका भक्षण कर गया।

'धन्य हैं विश्वामित्र, जो इस नीरव ज्योत्स्नामें तप करते हैं।' महर्षि वशिष्ठ एकान्त तपोवनमें रात्रिको अपनी पत्नीसे वार्तालाप कर रहे थे। विश्वामित्रजी उन्हें मारने आये थे। 'एकान्तमें ऐसे शत्रुकी भी प्रशंसा करनेवाले ये महापुरुष—' विश्वामित्रजीने सारे शस्त्र फेंक दिये। वे जाकर महर्षि वशिष्ठके चरणोंपर गिर पड़े।

'आपने मुझे पहले ही ब्रह्मर्षि क्यों नहीं स्वीकार किया ?' आज वशिष्ठजीने विश्वामित्रको 'ब्रह्मर्षि' कहकर कण्ठसे लगाया था।

'आज आप अपने रजोगुण और उनके प्रतीक शस्त्रोंसे पृथक् हो सके हैं।' महर्षि वशिष्ठने ब्राह्मणत्वका मुख्य धर्म क्षमा बताया।

× × × ×

महाराज हरिश्चन्द्रके सत्यकी परीक्षा विश्वामित्रजीने ही ली। त्रेतामें अपने यज्ञकी रक्षाके लिये वे भगवान् श्रीराम तथा लक्ष्मणको अयोध्यासे ले आये थे। सीता-स्वयंवरमें श्रीरामको उन्होंने ही उपस्थित किया। भगवान् शंकरसे प्राप्त समस्त दिव्यास्त्र उन्होंने श्रीरामको दे दिये। भगवान् रामके साकेत पधारनेपर विश्वामित्रजी सप्तर्षिमण्डलमें प्रतिष्ठित हुए।

तपके द्वारा एक ही जन्ममें क्षत्रियसे ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेका अपूर्व आदर्श विश्वामित्रजीने ही स्थापित किया। उनके निर्मित धनुर्वेद तथा नीति एवं धर्मके ग्रन्थोंका नाम तो मिलता है, पर ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

महर्षि दधीचि

प्रजापति कर्दमकी कन्या शान्तिके गर्भसे अथर्वा ऋषिको परम तपस्वी, नैष्ठिक शिवभक्त दधीचि ऋषि-जैसी सन्तान प्राप्त हुई थी। महर्षि दधीचिने दक्षको बहुत समझाया, जब वे रुद्रभागसे हीन यज्ञमें प्रवृत्त हुए। प्रजापति दक्षने जब उनके आदेशको स्वीकार नहीं किया, तब वे यज्ञस्थल छोड़कर अपने आश्रमपर चले आये।

'दधीचि मेरा स्थान लेना चाहते हैं।' महेन्द्रको प्रत्येक कठोर तपस्वीसे यही आशङ्का होती है। उन्होंने अप्सराश्रेष्ठ अलम्बुषाको उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये भेजा। अप्सराका सम्पूर्ण नृत्य-गान, हाव-भाव व्यर्थ रहा। मदनके सम्मोहन शर और वसन्तकी शोभाका वहाँ कोई प्रभाव न पड़ सका। अन्तमें देवताओंके साथ इन्द्र उन तपस्वीको मार देनेपर उद्यत हुए। महर्षिको कोई प्रतिकार नहीं करना था, पर उनका तपस्तेज और उनके आराध्य त्रिशूलधारी महारुद्र अप्रमत्त नहीं हो सकते थे। वरुणपाश, यमदण्ड तथा इन्द्रकी अमोघशक्ति—सब व्यर्थ हुए। हीनतेज होकर वहाँसे देवता लौटे।

'हम आपत्तिमें पड़कर आपसे याचना करने आये हैं। हमें आपके शरीरकी अस्थि चाहिये।' वही इन्द्र, वही देवता वृत्रासुरसे पराजित होकर उन्हीं महर्षि दधीचिके यहाँ याचक

हुए थे। उन उदारचेताने पिछले कृत्योंका स्मरणतक नहीं किया। योगके द्वारा शरीर छोड़ दिया, जिसमे देवेन्द्र उनकी अस्थि ले सकें। जंगली गायें उनके चर्मको चाट गयीं; तब इन्द्रने अस्थि ले जाकर वज्र बनाया।

आदिकवि वाल्मीकि

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

आदिकविके मुखसे प्रथम लौकिक श्लोक व्याधद्वारा क्रौञ्चपक्षीके जोड़ेमेसे एकके मारे जानेपर दयाके आवेशमे निकला।

श्रीरामद्वारा निर्वासिता नित्य-निष्कलङ्का रजक-लाञ्छिता श्रीजनकनन्दिनी तमसा-तटपर महर्षि वाल्मीकिके आश्रमपर ही रही थीं। यहीं लव-कुशकी उत्पत्ति हुई। महर्षिने उन्हें स्वरचित आदिकाव्य रामायणका गान भी शस्त्रविद्याके साथ सिखाया। वाल्मीकीय रामायण इतिहासके साथ ही संस्कृत-साहित्यका अपूर्व काव्य है।

महर्षि वाल्मीकि ब्राह्मणसन्तान होनेपर भी डाकुओंके संगसे डाकू हो गये थे। यात्रियोंको लूटकर उन्हें मार देना उनका व्यवसाय था। हिंसा उनका स्वभाव बन गया था। एक दिन सप्तर्षि उस मार्गसे आये, जहाँ वाल्मीकि लूटपाट करते थे। स्वभावानुसार सप्तर्षियोंको इन्होंने पकड़ लिया। दयामय ऋषियोंने दया की। वाल्मीकिने समझा घरके सदस्योंसे पूछकर कि अपने पापके फल उन्हे स्वयं भोगने होंगे, उसमे कोई भाग नहीं लेगा।

'मरा मरा मरा·······।' वाल्मीकिके मुखसे 'राम' निकल नहीं पाता था, पर उनकी निष्ठा दृढ थी। वे एकासनपर लगे रहे जपमे। वर्षों व्यतीत हो गये। शरीर दीमककी मिट्टीमे छिप गया। अन्तमे भगवान् ब्रह्माने आदि-कवि होनेका वरदान दिया। वल्मीक (दीमककी मिट्टीके ढेर) से निकलनेके कारण वे वाल्मीकि कहलाये।

मार्कण्डेय मुनि

मृकण्डु मुनिके पुत्र मार्कण्डेयजीका जन्म होनेपर पिताको ज्ञात हुआ कि पुत्र अल्पायु है, वह केवल बारह वर्षकी अवस्थामे मृत हो जायगा। जब मार्कण्डेयजी बड़े हुए, उन्होने पिताको निश्चिन्त करते हुए कहा—'मैं मृत्युपर विजय प्राप्त करूँगा।'

कल्पभेदसे पुराणोमे मार्कण्डेयजीकी अमरत्व-प्राप्तिके भिन्न-भिन्न वर्णन हैं। एक कल्पमे सप्तर्षियोंने उन्हें ब्रह्माजीद्वारा दीर्घायु दिलायी। एक कल्पमे वे भगवान विष्णुकी आराधनामे मृत्युको जीत सके। एक कल्पमे भगवान् शङ्करने तपसे सन्तुष्ट होकर उनकी यमराजसे रक्षा की।

मार्कण्डेयजीकी तपस्यासे भीत होकर इन्द्रने तपमे विघ्न करनेके लिये काम तथा अप्सराओंको भेजा। मन्मथके सब प्रयत्न व्यर्थ हुए। वे लौटकर देवसभामे महर्षिकी प्रशंसा करनेको बाध्य हुए। भगवान् नर-नारायण इन परम तापसके तपको सफल करने पधारे। महर्षिने वरदान माँगा—'मैं आपकी माया देखना चाहता हूँ।'

सायंकालका समय था। मुनि नदी-तटपर सन्ध्या कर रहे थे। सहसा वेगपूर्वक घोर आँधी आयी, चारो ओरसे समुद्र उमड़ता दीख पड़ा। पृथ्वी, नक्षत्रादि सब जलमग्न हो गये। उस निरालोक सागरकी उत्तुङ्ग तरङ्गोंके थपेड़ोंसे ताड़ित एवं जलजन्तुओंसे व्यथित होते ऋषि सहस्रों वर्ष तैरते रहे। सहसा महोदधिमे एक वटवृक्ष दीख पड़ा। उसके ईशान कोणकी शाखामें पर्णपुटकमे स्थित एक ज्योतिर्मय नीलकमल-सुन्दर शिशु अपने चरणके अँगूठेको मुखमे लेकर चूस रहा था। मुनि जैसे ही उस बालकके पास गये, श्वासके साथ विवश होकर उसकी नासिकाके छिद्रमे खिच गये। उस शिशुके उदरमे ससागरा पृथ्वी, समस्त पर्वत, सरिता, प्राणी, पूरा ब्रह्माण्ड देखा उन्होने। वहाँ भी वे सहस्रों युग घूमते रहे। शिशुके श्वासके साथ पुनः सागरमे गिरे और फिर सहसा वट, शिशु, प्रलयसागर—सब कुछ तिरोहित हो गया। वे उसी नदी-तटपर थे। जैसे सब स्वप्न देखा हो।

भगवती पार्वतीके अनुरोधसे शङ्करजीने मार्कण्डेयजीको दर्शन दिया। उन शशाङ्कशेखरके वरदानसे मार्कण्डेयजी पुराणाचार्य हुए। वे कल्पान्त अमर हैं। उनका मार्कण्डेय-पुराण तो प्रचलित ही है। उनकी पत्नीका नाम धूमावती है और उनके पुत्र वेदशिरा श्रुतियोंके द्रष्टा ऋषि एवं धर्माचार्य हुए।

महर्षि मुद्गल

'देव! आप महान् पुण्यवान् हैं। अपने इसी शरीरसे स्वर्गको कृतार्थ करें।' देवदूत विमान लाये थे। शिलोञ्छ-वृत्तिसे ३४ सेरसे अधिक अन्न न एकत्र करनेका व्रत लेकर केवल अमावस्या और पूर्णिमाको ही सपरिवार आहार ग्रहण करनेवाले मुद्गलजीके यहाँ पिछले छः पक्षोसे दोनों पर्वपर महर्षि दुर्वासा अतिथि हो जाया करते हैं। पूरा संग्रह उनके आतिथ्यमे व्यय हो जाता है। ब्राह्मण-परिवार तीन महीनोसे उपवास करके

भी प्रसन्न, धर्मपर स्थिर है। ऐसे महापुरुषके पधारनेसे स्वर्ग सार्थक हो जायगा।

'मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। मुझे दुःखपूर्ण स्वर्ग या ब्रह्मलोक, कुछ नहीं चाहिये।' मुद्गलजीने देवदूतको लौटा दिया। पूछनेपर उन्हें पता लग गया था कि ऊर्ध्वलोकोंमें भी भय, ईर्ष्या, अभावबोध आदि हैं। जो शाश्वत सुखका अभिलाषी है, वह इन तुच्छ प्रलोभनोंपर कैसे लुब्ध होता। अपने त्याग-वैराग्यसे मुद्गलजीने परमपद प्राप्त किया।

महर्षि कणाद

वैशेषिक दर्शनसूत्रोंके निर्माता महर्षि कणादके सम्बन्धमें इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं कि उनका वास्तविक नाम उलूक मुनि है। वे बाजारमें क्रय-विक्रय समाप्त होनेके पश्चात् जो दाने मार्गमें सबके चले जानेपर बिखरे होते थे, उनको चुनकर लाते थे। इन 'कणों'पर अपना निर्वाह करनेके कारण उनको 'कणाद' कहा जाता है। ऐसे वीतराग तापससे कैसे आशा की जा सकती है कि वे अपना कोई परिचय छोड़ जायँगे। भारतीय संस्कृतिमें नश्वर शरीरके नाम या रूपके लिये आसक्तिको स्थान कहाँ।

महर्षि गौतम

न्यायदर्शनके कर्ता महर्षि गौतम परम तपस्वी एवं संयमी थे। महाराज वृद्धाश्वकी पुत्री अहल्या इनकी पत्नी थी, जो महर्षिके शापसे पाषाणी बन गयी थी।

त्रेतामें भगवान् श्रीरामकी चरण-रजसे अहल्याका शाप-मोचन हुआ। वह पाषाणीसे पुनः ऋषि-पत्नी हुई।

महर्षि गौतम बाण-विद्यामें अत्यन्त निपुण थे। विवाहके कुछ काल पश्चात् वे बाण-विद्याका अभ्यास कर रहे थे। अहल्या उन्हें दूर गये बाण लाकर देती थी। एक बार वे देरसे लौटीं। ज्येष्ठकी धूपमें उनके चरण तप्त हो गये थे। विश्रामके लिये वे वृक्षकी छायामें बैठ गयी थीं। महर्षिने सूर्यदेवपर रोष किया। सूर्यने ब्राह्मणके वेषमें महर्षिको छत्ता और पादत्राण (जूता) निवेदित किया। उष्णतानिवारक ये दोनो उपकरण उसी समयसे प्रचलित हुए।

महर्षि गौतम न्यायशास्त्रके अतिरिक्त स्मृतिकार भी हैं तथा उनका धनुर्वेदपर भी कोई ग्रन्थ था, ऐसा विद्वानोंका मत है। उनके पुत्र शतानन्दजी निमिकुलके आचार्य थे।

महर्षि पतञ्जलि

शरीरकी शुद्धिके लिये वैद्यकशास्त्रका, वाणीकी शुद्धिके लिये व्याकरणशास्त्रका और चित्तकी शुद्धिके लिये योगशास्त्रका प्रणयन करनेवाले महर्षि पतञ्जलिका जन्म माता गोणिकासे हुआ था। ये गोनर्द देशमें निवास करते थे। इन्होंने योगदर्शनके अतिरिक्त पाणिनिके व्याकरण (अष्टाध्यायी) पर महाभाष्य निर्मित किया।

भगवान् शेषने उसी समय अथर्ववेदमें आयुर्वेद प्राप्त कर लिया, जब श्रीहरिने मत्स्यावतार धारण करके वेदोंका उद्धार किया। भगवान् अनन्त गुप्तरूपसे पृथ्वीपर विचरण कर रहे थे। मनुष्यों तथा दूसरे प्राणियोंको शारीरिक एवं मानसिक रोगों एवं कष्टोंसे पीड़ा पाते देख प्रभुको दया आयी। वे पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए। उन्होंने शारीरिक व्याधिकी निवृत्तिके लिये आयुर्वेदको प्रकट किया। क्योंकि वे चरकी भाँति पृथ्वीपर पहले आये थे। आयुर्वेदकर्ताके रूपमें उनका नाम 'चरक' हुआ। उन्हीं भगवान् अनन्तने 'पतञ्जलि' नामसे योगदर्शन और महाभाष्यका निर्माण किया।

श्रीचरकजीने आयुर्वेदमें आत्रेय ऋषिकी परम्पराका प्रतिपादन किया है। आत्रेय मुनिके शिष्य अग्निवेशने आयुर्वेदपर अनेक ग्रन्थोंका निर्माण किया था। उन सबका सारतत्त्व चरक-संहितामें संकलित हुआ। इसने चरकसंहिताके अन्तमें उसके कर्ता अग्निवेश कहे गये हैं। भावप्रकाशके कर्ताने भी भगवान् चरकको चिकित्सा-ज्ञानका संकलनकर्ता बताया है।

आचार्य जैमिनि

आचार्य जैमिनिकी गिनती वज्रवारकोंमें है। ये महर्षि कृष्णद्वैपायन श्रीव्यासदेवके शिष्य थे। उनमें आपने सामवेद और महाभारतकी शिक्षा पायी थी। ये ही प्रसिद्ध पूर्वमीमांसा-दर्शनके रचयिता हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'भारतसंहिता'की भी रचना की थी, जो 'जैमिनिभारत' के नामसे प्रसिद्ध है। आपने द्रोणपुत्रोंसे मार्कण्डेयपुराण सुना था। इनके पुत्रका नाम सुमन्तु और पौत्रका नाम सत्वान् था। इन तीनोंने वेदकी एक-एक संहिता बनायी है। हिरण्यनाभ, पैप्पञ्जि और अवन्त्य नामके इनके तीन शिष्योंने उन संहिताओंका अध्ययन किया था।

महर्षि आयोद धौम्य और उनके आदर्श शिष्य

महर्षि धौम्यका आश्रम सेवा, तितिक्षा और संयमके लिये प्रख्यात था। ये अपने शिष्योंको सुयोग्य बनानेके लिये उनको तपमें लगाते थे। स्वयं महर्षि धौम्यकी तपःशक्ति केवल आशीर्वादमें शिष्यको शास्त्रज्ञ बनानेमें समर्थ थी। आरुणि, उपमन्यु और वेद—ये तीन शास्त्रकार ऋषि महर्षि धौम्यके ही शिष्य थे।

आदर्श शिष्य उपमन्यु

(पृष्ठ ८१९)

गुरुसेवक उपमन्यु द्विज गिरा कूप हो अन्ध ।
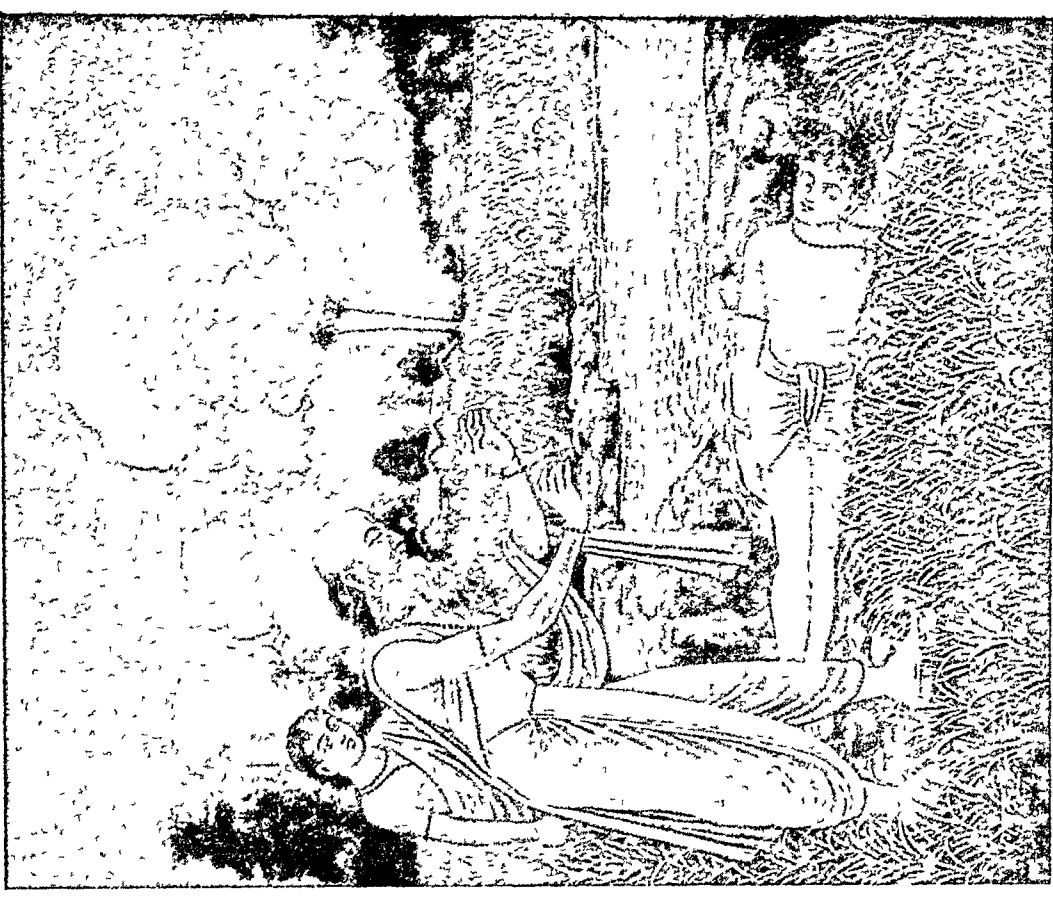
आदर्श शिष्य आरुणि

(पृष्ठ ८१९)

जल वहता लख खेतका स्वयं बन गया बाँध ।
आरुणि ! तेरी धन्य है श्रीगुरुभक्ति अगाध ॥

आदर्श शिष्य कृष्ण-सुदामा
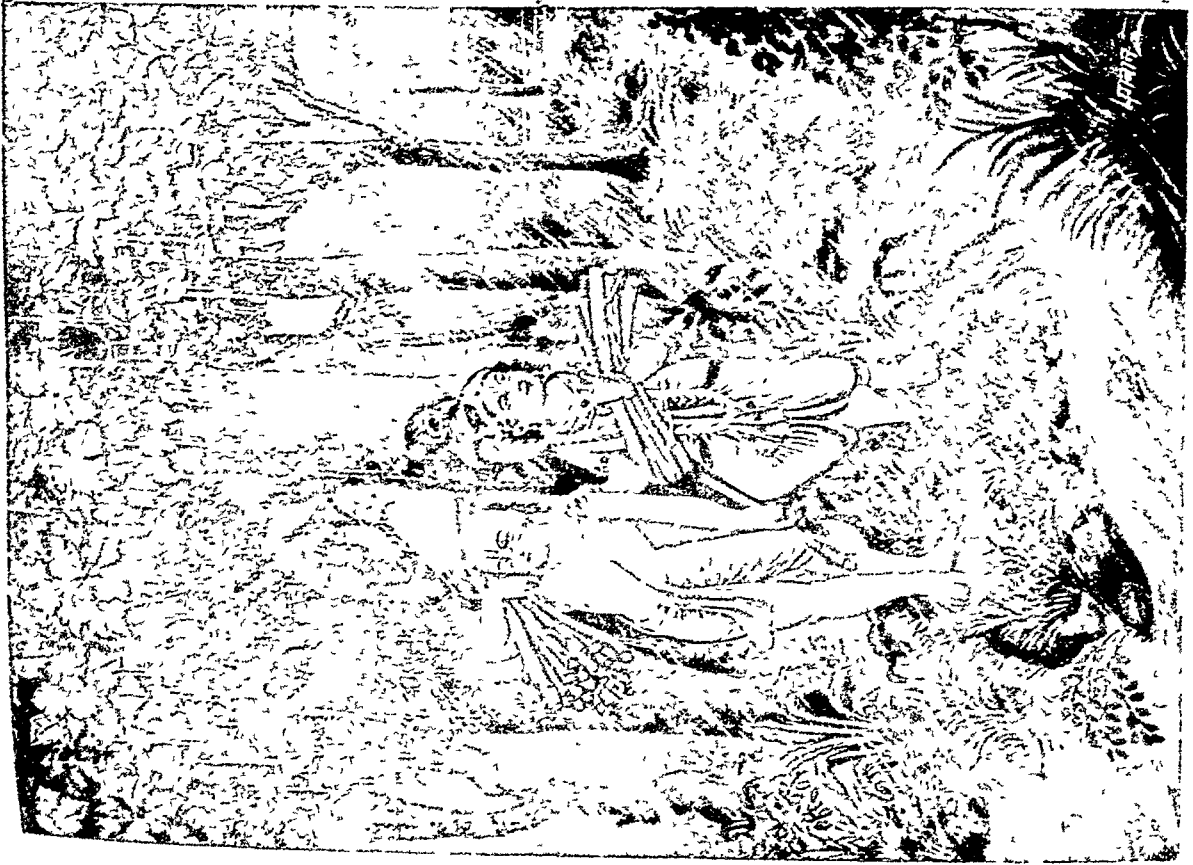
विपिन गहन सनसन पवन बरस रहा घन नीर ।
गुरुहित समिधा ला रहे द्विज सुदाम यदुवीर ॥

आदर्श शिष्य उत्तङ्क
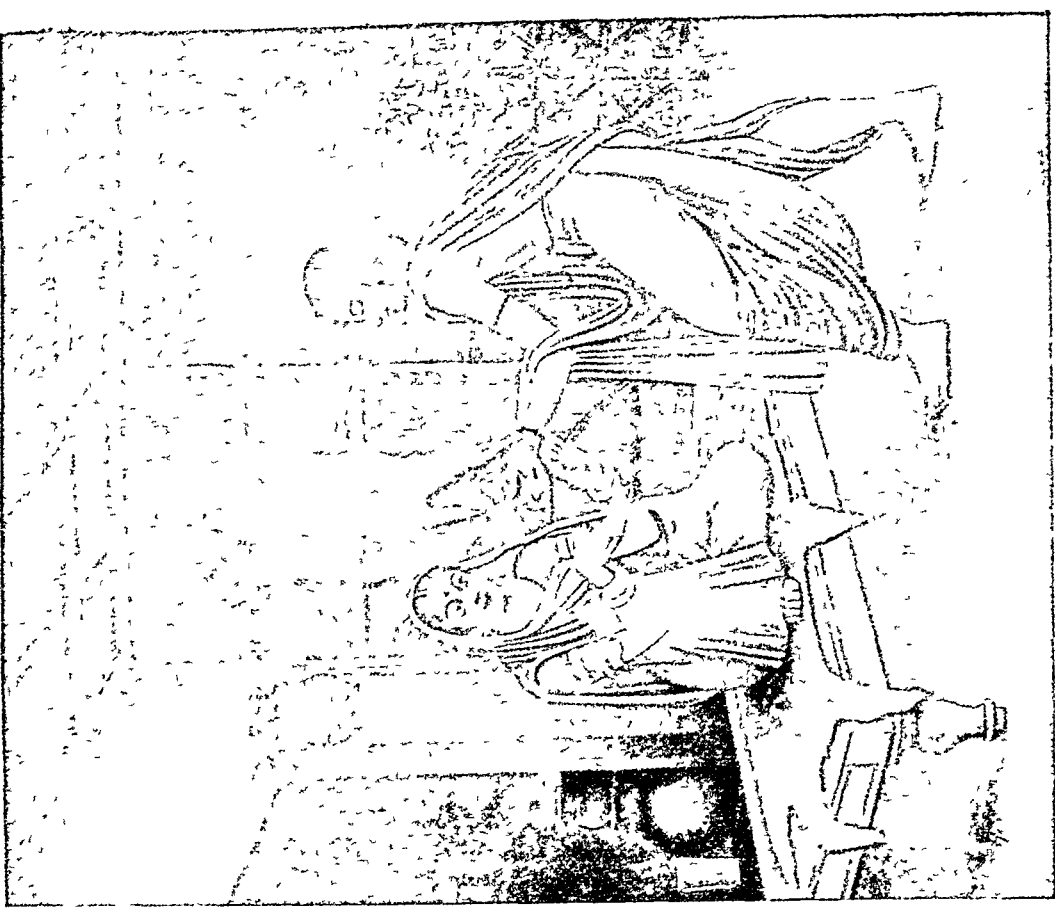
(पृष्ठ ८१९)

गुरु गौतमका भक्त अति था उत्तङ्क महान ।
गुरु-पत्नीको कर रहा कुंडल दिव्य प्रदान ॥

'आरुणि, तुम कहाँ हो ?' महर्षिने अपने पाञ्चाल देशके शिष्य आरुणिको कल सायंकाल वर्षा होनेपर अपने खेतोंसे जल न निकल जाय, इसलिये बाँध बनाने भेजा था। पूरी रात्रि व्यतीत हो गयी और वह छात्र लौटा नहीं। स्वयं महर्षि चिन्तित होकर उसका अन्वेषण करने प्रातः निकले थे।

'गुरुदेव ! मैं यहाँ हूँ।' आरुणिने मेड़की बाँधके सहारे लेटे-लेटे ही उत्तर दिया। उनका शरीर शीत और जलसे अकड़-सा गया था। मेड़ बाँधनेमे वे सायंकाल सफल न हो सके। जलका वेग अधिक था। नवीन मिट्टी रखते ही प्रवाहमे चली जाती। अन्तमें वे स्वयं लेट गये मेड़के सहारे। रात्रिभर स्थिर पड़े रहे।

'वत्स ! सम्पूर्ण श्रुतियाँ तुमपर प्रकाशित हों।' महर्षिने स्नेहगद्गद होकर शिष्यको कण्ठसे लगाया। आरुणि गुरुका प्रसाद प्राप्तकर धन्य हो गये। यही महर्षि उद्दालकके नामसे उपनिषदोमे प्रख्यात हैं। इनके पुत्र श्वेतकेतु थे। श्वेतकेतु ब्रह्मविद्यामें प्रवीण थे। उन्होने धर्मशास्त्रका प्रणयन किया।

× × × ×

'वत्स ! तुम क्या भोजन करते हो ?' महर्षि धौम्यने अपने शिष्य उपमन्युसे, जो उनकी गाये चरानेपर नियुक्त थे, पूछा। महर्षि तो कुछ देते नहीं और बिना आहारके ऐसा स्वस्थ शरीर रह नही सकता।

'गुरुदेव ! भिक्षान्नसे मेरा भली प्रकार निर्वाह हो जाता है।' उपमन्युने सरलतासे बतला दिया।

'मुझे निवेदित किये बिना तुम्हें भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिये।' आचार्यको तो तप कराना था शिष्यसे।

'तुम दूसरी बार भिक्षा माँगने जाते हो, इससे दूसरे भिक्षुकों-का स्वत्व मारा जाता है। गृहस्थोंपर अधिक भार पड़ता है।' उपमन्यु जो भिक्षा लाकर गुरुदेवके सम्मुख रखते, उसमेंसे उन्हें कुछ प्राप्त नही होता। दूसरी बार वे अपने लिये भिक्षा माँगते, पर उसे भी मना कर दिया गया।

'बछड़े बहुत दयालु होते हैं। तुम्हारे प्रेमके कारण वे अधिक दूध फेन बनाकर गिरा देते होंगे। इससे उनको क्षुधा-की पीड़ा होती होगी।' उपमन्युने भिक्षा बंद होनेपर वह झाग लेना प्रारम्भ किया था, जो दूध पीनेपर बछड़ोंके मुखसे गिरता था। महर्षिने यह भी मना कर दिया।

'मैंने उपमन्युका सब भोजन बंद कर दिया। रुष्ट होकर वह अबतक आया नहीं। हम सब उसे ढूँढ़ लायें।' रात्रि हो गयी थी। उपमन्यु वनसे लौटा नहीं। महर्षिको चिन्ता हुई। वे शिष्योंके साथ वनमे पहुँचे।

'बेटा ! तुम अश्विनीकुमारोंकी स्तुति करो !' बेचारा उपमन्यु जलहीन कूपमे गिर गया था। क्षुधाकी ज्वाला सह सकनेमें असमर्थ होकर उसने आकके पत्ते खा लिये थे। उन पत्तोंके विषने उसे अन्धा बना दिया था।

'तुम्हारे सब दाँत स्वर्णके हो जायँ ! तुम्हारी नेत्रज्योति अबाध प्रकाशित हो !' स्वर्गके वे युगल देववैद्य अश्विनी-कुमार कूपमें प्रकट हुए। उपमन्यु उनका स्तवन कर रहे थे। स्वयं महर्षि धौम्य ध्यान कर रहे थे। उन्हे आना ही था।

'समस्त श्रुतियाँ और समस्त धर्म-शास्त्र तुम्हारे हृदयमें प्रकाशित हों !' अश्विनीकुमारोंने बाह्य नेत्रज्योति दी थी, गुरुदेवने शिष्यको ज्ञान-नेत्र प्रदान किया। उपमन्यु गुरु-कृपासे धर्मशास्त्रके आचार्य हो गये।

उत्तङ्क

'मैं ऋतु-स्नानसे निवृत्त हुई हूँ' आयोद धौम्यके तीसरे शिष्य वेदमुनिकी पत्नीने उनकी अनुपस्थितिमे उत्तङ्कके परीक्षार्थ कहा 'तुम्हारे गुरु बाहर गये हैं। उन्होंने अपना सारा काम तुम्हें करनेके लिये कहा है। मेरा ऋतुकाल व्यर्थ न जाय—तुम ऐसा प्रयत्न करो।' बड़ी कठिन परीक्षा थी।

नतमस्तक उत्तङ्कने अत्यन्त विनयसे कहा, 'मुझसे यह नहीं हो सकेगा, मा !' उत्तङ्क परीक्षामे उत्तीर्ण हुए।

गुरुपत्नीके हर्षका पार न रहा।

× × ×

'भय मत करो, उत्तङ्क !' धर्मरूपी बैलपर चढ़े हुए इन्द्रने पथमें उत्तङ्कसे कहा। 'इस बैलका गोबर तुम्हारे गुरुने खाया है, तुम भी खा लो।'

इन्द्रकी आज्ञासे उन्होंने बैलका पवित्र गोबर और मूत्र पान कर लिया तथा साधारण आचमन करके चल पड़े।

'भीतर रानी नहीं।' उत्तङ्कने राजमहलको अच्छी तरह देख लिया था। उन्होंने पौष्यनरेशसे कहा 'आप मुझसे विनोद करते हैं।'

'स्नातक ब्रह्मचारीसे मैं विनोद नहीं करता।' नरेश बोल गये 'सती स्त्रियाँ उच्छिष्ट पुरुष और दुष्टको नही दीखती।'

उत्तङ्क लजित हुए। उन्हें गोबर खानेके बाद अच्छी तरह मुँह न धोनेका ध्यान आया। मुँह धोकर वे भीतर गये। रानी सामने थीं।

'आजसे चौथे दिन पुण्यक नामक व्रतके अवसरपर मेरी गुरुपत्नी आपका कुण्डल पहनकर ब्राह्मणभोजन कराना चाहती हैं। मुझे कुण्डल चाहिये।'

'सर्पका राजा तक्षक इन कुण्डलोंकी तलाशमें घूमा करता है।' कुण्डल सहर्ष देते हुए भक्तिमती रानीने कहा, 'सावधानीसे ले जाइयेगा।'

नदीपर नित्यकर्म करते समय तक्षकने मनुष्यके वेशमें कुण्डल ले लिये और पाताल-प्रवेश कर गया। इन्द्रकी सहायतासे उत्तङ्कने कुण्डल ठीक समयपर गुरु-पत्नीको समर्पित कर दिये। 'तुम्हे सब सिद्धियाँ प्राप्त हों।' गुरु-पत्नीका आशीर्वाद मिला।

'इन्द्र मेरे मित्र हैं!' उत्तङ्कका वृत्तान्त सुनकर वेदमुनिने कहा। 'वह गोबर अमृत था, उसीके प्रभावसे तुम पातालमें जा सके। मैं तुम्हारे साहस और भक्तिसे प्रसन्न हूँ। अब तुम घर जाओ।' उत्तङ्कने गुरु-पद-धूलि ली और अपने घर आ गये।

उत्तङ्क त्याग-वैराग्यकी मूर्ति थे। तपस्या और ज्ञानमें ये बहुत आगे निकल गये थे। महाभारत-युद्धके अनन्तर द्वारका लौटते समय भगवान् श्रीकृष्णने इन्हें अपने विराट्रूपका दर्शन करा दिया था। —शि० दु०

महर्षि शुकदेव

परमानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र श्रीरासेश्वरीके साथ गोलोकधामसे व्रजभूमिपर पधारे। गोलोकमें नित्य-पार्षदोंका चित्त इस लीलाका दर्शन किये बिना कैसे माने। श्रीराधिकाके क्रीडाशुकने एक परम पावन शुकीके द्वारा शरीर धारण किया हिमालयके पावन प्रदेशमें। भगवती पार्वतीको श्रीकृष्णचन्द्रकी अमृतकथा सुननी थी। भगवान् शङ्करने उस गुह्य रहस्यको एकान्तमें सुनाना चाहा। अमरनाथके निर्जन प्रान्तमें एक शुकीका अंडा भी है, इसपर ध्यान नहीं गया। भगवान् शङ्कर कथा सुनाने लगे। जब पार्वतीजी निद्रित हो गयीं, अंडेसे निकला शुक-शिशु 'हुंकार' देकर कथा सुनता रहा।

'तिर्यक्-योनिका प्राणी इस रहस्यका अनधिकारी है!' भगवान् शङ्करने त्रिशूल उठाया और दौड़े। शुकशावक भगा और उड़ता हुआ व्यासपत्नी वटिकाके मुखमे प्रविष्ट हो गया।

'भगवन्! आपने मुझे पुत्रका वरदान दिया है।' व्यासजीने शङ्करजीको शान्त किया। भगवान् शङ्करने व्यासजीके कठोर तपसे प्रसन्न होकर उन्हें पहले ही परम तेजस्वी पुत्र होनेका वरदान दिया था।

× × ×

'पुत्र! तुम बाहर आओ। मैं तुम्हारा सुन्दर मुख देखनेको उत्सुक हूँ।' बारह वर्ष व्यतीत हो गये, पर व्यासपत्नीका गर्भस्थ बालक बाहर नहीं आता। भगवान् व्यासने समझाया, 'तुम अपनी माताको कष्ट मत दो। बाहर आनेपर भी तुम्हें माया नहीं सतायेगी।'

'श्रीकृष्णचन्द्र यदि आश्वासन दें तो मैं बाहर आऊँ!' गर्भस्थ बालक पूरा वेदज्ञ हो चुका था। श्यामसुन्दरको आकर आश्वासन देना पड़ा। बालक बाहर आया गर्भसे और नाल हाथमे उठाकर वनकी ओर चल पड़ा। जब मायाका प्रभाव नहीं तो आसक्ति और मोह कैसा। उसे तो एकान्तमें तप करना था।

'पुत्र!' व्यासजी विरह-कातर होकर पीछे चले; परंतु सभी वृक्षोंसे उन्हें सुनायी पड़ा—'पितः!' सर्वात्मभावप्राप्त उनके शुक क्या लौटाये जा सकते हैं।'

× × ×

'तुम यह पूरा श्लोक मुझे पढ़ा दो।' कुछ ब्रह्मचारी एक आधा श्लोक बार-बार पढ रहे थे। बड़ी सुन्दर श्यामसुन्दरकी शोभाका वर्णन था उसमें। शुकदेवने सुना और वे विद्यार्थियोंके पास आये। विद्यार्थियोंको तो आधा श्लोक ही ज्ञात था। उनके आचार्यके पास आना पड़ा।

'मैंने ऐसे अठारह सहस्र श्लोक बनाये हैं!' भगवान् व्यासने पुत्रको सम्पूर्ण भागवत पढ़ाया। शुकदेवजीको दूसरे उपायसे न बुलाया जा सकता था और न रोका ही।

'बिना गुरुके ज्ञान अधूरा रहता है। तुम महाराज जनकसे अध्यात्मविद्या प्राप्त कर लो!' शुकदेवजीने पिताकी यह आज्ञा स्वीकार की। मिथिलामे परीक्षा करके महाराज जनकने देख लिया कि वे समस्त भोगोमे अनासक्त हैं। ब्रह्मविद्या ऐसे ही अधिकारीको प्राप्त कर सार्थक होती है।

परम विरक्त, साक्षात् नन्दनन्दनस्वरूप, गृहस्थके यहाँ गोदोहनमात्र रुकनेवाले शुकदेवजी परीक्षित्के समीप तब पहुँचे, जब वे उपवास करके गङ्गातीरपर आ बैठे थे, जब ऋषिके शापसे सातवें दिन तक्षक उन्हें काट लेनेवाला था। समस्त मुनिमण्डलीने उठकर उन तेजोमूर्तिका स्वागत किया। परीक्षित्के पूछनेपर सात दिनोमे शुकदेवजीने उन्हें सम्पूर्ण भागवतका उपदेश किया। —सु०

कुछ प्राचीन आदर्श परोपकारी भक्त राजा और सत्पुरुष

महाराज इक्ष्वाकु

वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरके श्राद्धदेव मनुके प्रथम पुत्र सुद्युम्न जब प्रजाके असन्तुष्ट होनेसे विरक्त होकर वनमें चले गये, तब मनुने सन्तानकी कामनासे तप किया। प्रजापतिकी कृपासे उनके इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूषक, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि—ये दस पुत्र हुए। इनमें कवि विषयोंसे निःस्पृह होकर परिव्राजक हो गये। पृषध्र गुरुकी गायोंकी रक्षा कर रहे थे। अन्धकारमयी रात्रिमें गोष्ठमें व्याघ्रके आनेपर उन्होंने उसे मारनेका प्रयत्न किया। प्रातः देखा गया कि धोखेमें गोवध हो गया है। गुरुने शाप दिया कि इस कर्मसे वे चाण्डाल हो जायँ। शाप होनेपर नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए वे भगवान्‌के भजनमें लीन हो गये। करूषसे उत्तराखण्डके राजाओंका वंश चला और धृष्टकी सन्तति अपने तपोबलसे ब्रह्मत्वको प्राप्त हुई। नृगके वंशमें सुमति, भूत, ज्योति, वसु आदि हुए। नरिष्यन्तकी सन्तति-परम्परामें स्वयं अग्निदेव अग्निवेश्यके रूपमें अवतीर्ण हुए। नभगके पुत्र नाभागसे परम भक्त राजर्षि अम्बरीपका जन्म हुआ। दिष्टके पुत्रका नाम भी नाभाग था। इनके वंशमें आगे चलकर चक्रवर्ती महाराज मरुत्त हुए, जिनके महायज्ञमें सहस्र विप्र अखण्ड घृतधारा सहस्र वर्षोंतक देते रहे। इनके यज्ञमें समस्त उपकरण मण्डप आदि स्वर्णके थे। इस महान् यज्ञमें इन्द्रको सोमसे और अग्निको आज्य (घी) से अजीर्ण हो गया। शर्यातिकी पुत्री सुकन्याका विवाह च्यवन ऋषिसे हुआ।

मनुके उपर्युक्त दस पुत्रोंमें इक्ष्वाकु सबसे बड़े थे। मनुने अपना राज्य और भगवान् सूर्यसे प्राप्त ब्रह्मविद्याका उपदेश भी इक्ष्वाकुको दिया। इक्ष्वाकुने स्वयं मध्यदेशका राज्य स्वीकार किया और शेष राज्य भाइयोंमें बाँट दिया। इनकी राजधानी अयोध्या थी। इनके सौ पुत्र हुए। सूर्यवंशीय क्षत्रियोंका इन्हींसे विस्तार हुआ। इनके मुख्य पुत्रोंमें विकुक्षि और निमिके नाम आते हैं। विकुक्षिका नाम ही आगे शशाद पड़ा। इनकी सन्तति ही अयोध्याकी राजगद्दीपर रही। महाराज रघुके पश्चात् इस वंशका नाम रघुवंश हो गया। निमि मिथिलानरेश हुए। महर्षि वसिष्ठके शापसे शरीर छोड़कर इन्होंने मनुष्योंके पलकोंपर वास पाया। इनके शरीर-मन्थनसे विदेहकी उत्पत्ति हुई।

महाराज इक्ष्वाकुके वंशमें अयोध्याकी परम्परामें ककुत्स्थ, चक्रवर्ती महाराज मान्धाता आदि अत्यन्त प्रसिद्ध नरेश हुए। निमिके सन्तानोंमें सभी आत्मविद्याके ज्ञाता नरेश हुए।

वीरवर ककुत्स्थ

महाराज ककुत्स्थ वैवस्वत मनुके प्रपौत्र, इक्ष्वाकुके पौत्र और विकुक्षिके स्वनामधन्य पुत्र थे। देवासुर-संग्राममें इन्होंने वृषरूपधारी इन्द्रके ककुत् (थूहे) पर चढ़कर असुरोंको पराजित किया था। इसीसे ये ककुत्स्थ नामसे प्रसिद्ध हुए। ये बड़े ही प्रतापी और वीर थे। इन्हींके नामपर इनके वंशज काकुत्स्थ कहलाते रहे।

सम्राट् मान्धाता

यावत्सूर्य उदेत्यस्तं यावच्च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥

(श्रीमद्भागवत)

बड़े गर्वसे अंग्रेज विद्वान् कहा करते थे 'अंग्रेजोंके शासनमें सूर्यास्त नहीं होता।' चाहे अंग्रेजोंके शासनमें सूर्यास्त न होता रहा हो; परंतु कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि पृथ्वीपर अंग्रेजोंके समान शक्तिके प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र न रहे हों। छोटे राज्योंकी चर्चा छोड़ भी दें, तो भी कई महाराष्ट्र सदा ब्रिटेनके प्रतिद्वन्द्वी रहे ही हैं। सो भी केवल एक जम्बूद्वीप ही आजकी पृथ्वी है। सप्तद्वीपवती पृथ्वीके शासक तो भारतके क्षत्रिय सम्राट् ही रहे हैं। जहाँतक सूर्योदय होकर सूर्यास्त होता है, जहाँतक सूर्यका प्रकाश पहुँचता है, उस समस्त स्थानके शासक सम्राट् मान्धाता थे। वह सब उनका राज्य कहा जाता था। सम्राट् मान्धातासे पूर्व इक्ष्वाकु, प्रियव्रत आदि अनेक चक्रवर्ती सम्राट् हो चुके थे भारतमें।

सूर्यवंशी सम्राट् युवनाश्वके कोई सन्तति नहीं थी। ऋषियोंने पुत्रेष्टि-यज्ञका अनुष्ठान कराया। यज्ञकी पूर्णाहुति हो चुकी थी। महाराज तथा सभी लोग यज्ञीय कार्यसे श्रान्त हो गये थे। रात्रिको महाराजको प्यास लगी। उन्होंने सेवकोंको जगाना उचित नहीं समझा। जल कहीं था नहीं। यज्ञीय कलशका जल उन्होंने पी लिया। पुंसवन-अभिमन्त्रित जल पीनेसे उन्हींकी दाहिनी कुक्षि फाड़कर समयपर एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ऋषियोंके प्रभावसे युवनाश्व मरे नहीं।

'यह किसका दूध पीयेगा?' ऋषियोंको चिन्ता हुई।

'अयं मा धास्यति।' देवराज इन्द्रने प्रकट होकर कहा—यह मेरे द्वारा पोषित होगा। देवराजने अपनी तर्जनी अँगुली

बालकके मुखमें दे दी। उससे स्रवित होते हुए अमृतको पीकर बालक पुष्ट हो गया। इन्द्रने 'मां धास्यति' कहा था, इसलिये कुमारका नाम 'मान्धाता' हुआ।

मान्धाता जन्मसे प्रबल पराक्रमी एवं परम तेजस्वी थे। सभी दिव्यास्त्र उनके सम्मुख स्वतः उपस्थित हो गये थे। अग्निके द्वारा उनको आजगव धनुष, अक्षय त्रोण और दिव्य कवच मिला। सम्राट् मान्धाताके प्रतापके सम्मुख रावण-जैसे दुर्दम राक्षस भी तुच्छ दस्यु हो गये थे। वे सम्राट्से नित्य भयभीत रहा करते थे। सम्राट्का नाम 'त्रसद्दस्यु' इसीलिये पड़ गया था कि उनसे सभी दस्यु त्रस्त रहते। भयके मारे कहीं कोई अन्याय करते ही नहीं।

साम्राज्य भोगके लिये नहीं, सेवाके लिये है। ऐश्वर्यकी सार्थकता भगवान्की आराधनामें है। भारतके विमल हृदयोंने भलीभाँति इस बातको सीखा था। सम्राट् मान्धाताने बड़े-बड़े यज्ञ किये। उनकी अतिथि-सेवा प्रख्यात है। कभी उनके द्वारसे कोई अतिथि निराश होकर नहीं लौटा।

महाराज शतबिन्दुकी पुत्री बिन्दुमतीका सम्राट्ने पाणिग्रहण किया था। उनके तीन पुत्र पुरुकुत्स, अम्बरीष और मुचुकुन्द हुए थे। इन्हीं मुचुकुन्दने सहस्रों वर्षोंतक स्वर्गमें जाकर देवताओंके पक्षमें दैत्योंसे युद्ध किया। देवताओंके वरदानसे गिरिगुहामें आकर वे सो गये। द्वापरमें भगवान् श्रीकृष्णने उनके द्वारा कालयवनको नष्ट कराया और उन्हें दर्शन दिया। सम्राट् मान्धाताकी पचास कन्याएँ महर्षि सौभरिके साथ विवाही गयीं।

राजर्षि भरत

यह देश जिसे हम भारत कहते हैं, इसका प्राचीन नाम अजनाभखण्ड या अजनाभवर्ष है। भगवान् ऋषभदेवके एक सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े भरत थे। उनके शासनकालसे यह भरतखण्ड या भारतवर्ष कहा जाने लगा। राजर्षि भरत पिताके समान प्रभावशाली, प्रजापालक तथा शास्त्रपरायण नरेश थे। यज्ञस्वरूप भगवान्की अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास्य, चातुर्मास्य, सोमयाग आदि नाना प्रकारके यज्ञोंसे निरन्तर उपासनामें वे लगे रहते।

राज्योपभोगका समय समाप्त हुआ। विश्वरूपकी पुत्री पञ्चजनीसे उनका परिणय हुआ था। पाँच पुत्र थे उनके। राज्यको पुत्रोंमें यथोचित विभक्त करके आप पुलहाश्रम (हरिहरक्षेत्र) में भगवदाराधन करने चले आये।

मनका कुछ ठिकाना नहीं। चक्रवर्ती सम्राट्ने साम्राज्य, अनुकूला पत्नी, सुन्दर सुकुमार सद्गुणी पुत्र तथा समस्त वैभवको तृणके समान त्यागकर काननवास किया था; पर एक हिरनमें आसक्ति जा अटकी। एक गर्भिणी मृगी जल पी रही थी। सिंहका घोर गर्जन सुनकर वह भयातुर भागी; गर्भ जलमें गिर पड़ा। मृगी मर गयी। नवजात शावक जलके वेगमें तड़पने लगा। समीप स्नान करते भरतने देखा यह सब। दयावश वे उस मृगशिशुको उठा लाये। दया स्नेहमें बदली। उस मृगके पोषणमें आनन्द आने लगा। मोह हो गया। सब यम-नियम धीरे-धीरे छूट गये, मृगकी चिन्ता रहने लगी। शरीर छूटते समय भी मृगकी ही चिन्ता थी; फलतः दूसरा जन्म मृगदेहमें हुआ।

श्रीहरिकी आराधना व्यर्थ नहीं जाती। मृगदेह मिला था कालिंजरमें, परंतु वहाँ भी पूर्वजन्मकी स्मृति थी। वहाँसे फिर पुलहाश्रम आये। सूखे पत्तोंका आहार करते। हरे तृण-तक न छूते। काल-क्रमसे शरीर छूटा गण्डकी नदीके पुण्य-जलमें। तीसरे जन्ममें ब्राह्मण-शरीर प्राप्त हुआ।

'दूधका जला छाँछ भी फूँक-फूँककर पीता है।' पिताको मोह न हो जाय, अतः परम ज्ञानी भरत अपनेको मूर्ख पागलकी भाँति दिखलाते। लौकिक शिक्षामें उनकी कोई रुचि नहीं थी। पिताके शरीरान्तके समय माता सती हो गयी। सौतेली माताके पुत्रोंको इनकी इतनी चिन्ता नहीं थी। ये उनके या किसीके द्वारा बताये कार्यमें लग जाते। जो कोई कुछ दे देता, आहार स्वीकार कर लेते। खेतकी रक्षामें बैठे हुए इनको एक शूद्रके सेवक देवीको बलि देने पकड़ ले गये। इनको तो शरीरका मोह था नहीं; पर भगवती ऐसे सर्वात्मभावापन्नकी बलि कैसे ले लें। चण्डिकाने प्रकट होकर दुष्टोंका शिरश्छेदन किया। सिन्धुराजके सेवक इन्हें राजाकी पालकी ढोने पकड़ ले गये। वहाँ वे सौवीरनरेश इनके उपदेशोंसे तत्त्वज्ञान प्राप्तकर कृतार्थ हुए।

सम्राट् भरत

ठीक-ठीक यह कहना कठिन है कि हमारे देशका नाम भारतवर्ष भगवान् ऋषभदेवके पुत्र भरतके नामपर पड़ा या दुष्यन्तपुत्र भरतके नामपर। दोनो चक्रवर्ती, परम प्रतापशाली, प्रजापालक, धर्मात्मा तथा भगवद्भक्त एवं शतशः बड़े-बड़े यज्ञोंके करनेवाले हुए हैं।

महर्षि विश्वामित्रको मेनका अप्सरासे एक कन्या हुई। अप्सरा उसे वनमें छोड़कर स्वर्ग चली गयी। पक्षी (शकुन्त)

उस बालिकाको घेरकर अपने पक्षोंकी छायासे उसकी रक्षा कर रहे थे। फलतः बालिकाका नाम शकुन्तला हुआ। महर्षि कण्व उसे अपने आश्रममें उठा लाये। वहीं उसका पालन-पोषण हुआ।

महाराज दुष्यन्त आखेट करते हुए कण्वाश्रममें पहुँचे। शकुन्तलाने उनका आतिथ्य किया। 'पुरुवंशियोंके चित्तमें अधर्म-वासना कभी उठती नहीं।' नरेशको अपने अन्तःकरण-की शुद्धिपर विश्वास था। मुनिकन्याके प्रति मनमें क्षोभ क्यों? उन्होंने परिचय पूछा और तब परस्पर सहमतिसे दोनों-का गान्धर्व-विवाह हो गया।

नरेश राजधानीको चले गये। महर्षिके आश्रममें ही शकुन्तलाको एक पुत्र हुआ। बचपनसे वह बालक अत्यन्त तेजस्वी था। सिंहिनीकी गोदसे उसके शावक बलात् छीनकर उनके साथ वह खेला करता। जब मनमें आता, एक छोटी लकड़ी लेकर सिंहके मस्तकपर पीटने लगता—'तू मुख खोल, मैं तेरे दाँत गिनूँगा।' महर्षि कण्वने उसका नाम सर्वदमन रक्खा।

शकुन्तला पुत्रको लेकर दुष्यन्तके समीप आयीं। नरेशने उनको अपने समीप रखना अस्वीकार कर दिया। वे गान्धर्व विवाहकी बात भूल गये थे। सहसा आकाशवाणीने स्मरण दिलाया—'शकुन्तलाका अपमान मत करो, यह तुम्हारा ही पुत्र है। इसका भरण करो।' राजाने भूल स्वीकार की। पुत्रका नाम इसलिये 'भरत' हुआ; क्योंकि आकाशवाणीने उसके भरणकी बात कही थी।

दुष्यन्तके पश्चात् भरत सम्राट् हुए। उन्होंने गङ्गातटपर ५५ और यमुनातटपर ७८ अश्वमेध यज्ञ किये। दिग्विजय-यात्राके समय भरतने किरात, हूण, यवन, पौण्ड्र, कंक, खश, शक आदि अनेक म्लेच्छजातियोंको पराजित करके निर्जन प्रदेशोंमें भगा दिया। दानवोंने देव-कन्याओंका हरण किया था। पाताल जाकर भरतने उन देवाङ्गनाओंका दानवोंसे उद्धार किया। सम्राट् भरत पृथ्वीके एकच्छत्र अधिपति थे। पाताल-के दानव उनसे भयभीत रहते थे और स्वर्गाधिपति देवेन्द्र उनके मित्र थे।

महाराज भगीरथ

महाराज सगरका सौवाँ अश्वमेध यज्ञ अधूरा पड़ा था। यज्ञीय अश्वका पता नहीं था। महाराजकी छोटी रानी सुमतिके साठ सहस्र पुत्रोंने अश्वका अन्वेषण किया। पृथ्वीपर अश्व हो तो मिले। देवराजने उसे हरण करके भूमिके नीचे कपिलाश्रममें बाँध दिया था। पिताके आदेशसे वे शूर भूमि खोदने लगे। भाग्यकी बात, वे पूर्व दिशासे दक्षिणकी ओर खोदने लगे थे। फलतः उन्हें प्रायः पूरा जम्बूद्वीप चारों ओरसे खोदना पड़ा। जब वे दक्षिण, पश्चिम, उत्तर खोदते ईशानकोणमें लगभग वहाँ पहुँचे, जहाँसे खोदना प्रारम्भ किया था, भूमिके नीचे अश्व चरता दिखायी पड़ा। उन्होंने वहाँ ध्यानस्थ महर्षि कपिलको देखा। बड़ा क्रोध आया उन्हें और वे चिल्लाते हुए महर्षिको मारने दौड़े—'यह चोर है। यहाँ नेत्र बंद करके आ बैठा है।'

भगवान् कपिलने नेत्र खोले। उनका रोष नेत्रसे ज्वालाके रूपमें प्रकट हुआ। सब-के-सब वहीं भस्म हो गये। सगरपुत्रोंकी खोदी वह भूमि ही सागर कहलायी। भूतत्त्ववेत्ता स्वीकार करते हैं कि पहले दक्षिण-भारत, लङ्का, जावा, आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा दक्षिण अफ्रिकाको मिलाता एक पर्वतीय भूखण्ड था। किसी प्राकृतिक घटनासे वह जलमग्न हो गया। अब भी उसके भाग समुद्रमें हैं। यह भूखण्ड वह रेखा थी, जो सगरपुत्रोंके ईशानकोण तथा पूर्वमें खोदनेसे रह गयी थी।

महाराज सगर चिन्तित हुए। बड़ी रानी केशिनीके पुत्र असमञ्जसको वे निर्वासित कर चुके थे। उस निर्वासित पुत्रके लड़के अपने पौत्र अंशुमान्को उन्होंने भेजा। अंशुमान्को देवर्षि नारदने मार्गमें ही सब बातें बता दीं। वे भगवान् कपिलके समीप जाकर उनकी प्रार्थना करके, उनकी आज्ञासे अश्व ले आये। महाराज सगरका यज्ञ पूरा हुआ।

'इन सबका उद्धार गङ्गाजलके स्पर्शसे ही होगा।' महर्षि कपिलने अंशुमान्को बताया था। महाराज सगरके तपोवन जानेपर अंशुमान् नरेश हुए। जैसे ही उनके पुत्र दिलीप योग्य हुए, उनको राज्य देकर गङ्गाजीको लानेके लिये तप करने चले गये। दिलीपने भी पिताका अनुसरण किया और जब दिलीपके पुत्र भगीरथ सिंहासनासीन हुए, तब उन्हें भी वही चिन्ता हुई। पितामह तथा पिता जिस उद्देश्यमें लगे थे, भगीरथको वह सफल करना था। उनकी प्रजा सुखी थी। देवराज इन्द्र अनेक बार उनसे सहायता ले चुके थे। स्वर्ग जाकर इन्द्रके साथ एक सिंहासनपर बैठकर वे सोमपान कर चुके थे; पर उनका उद्देश्य तो गङ्गाजीको लाना था। अन्तमें मन्त्रियोंको राज्यका प्रबन्ध सौंपकर गोकर्ण तीर्थमें वे तप करने लगे। कल्पभेदसे ऐसा वर्णन है कि उन्होंने ब्रह्माजी, भगवान् नारायण अथवा श्रीकृष्णकी आराधना की।

'गङ्गाका वेग कौन धारण करेगा?' तपस्या सफल हुई।

भगवान् ब्रह्मा हिमालयकी ज्येष्ठ पुत्री गङ्गाको धरापर भेजनेको प्रस्तुत हुए। भगीरथने पुनः तप करके गङ्गाजीको धारण करनेके लिये भगवान् शङ्करकी स्वीकृति प्राप्त की। गङ्गाजी चलीं। उन्होंने अपने वेगमें भगवान् शङ्करको बहाकर रसातल पहुँचनेकी इच्छा कर ली। भगवान् शङ्कर गङ्गाके गर्वको जानकर रुष्ट हो गये। उन्होंने अपनी जटाओंमें उन्हें धारण कर लिया। पूरे वर्षभर गङ्गाजी रुद्रकी जटाओंसे निकल न सकीं। भगीरथके प्रार्थना करनेपर शङ्करजीने विन्दुसरकी ओर गङ्गाको छोड़ दिया। गङ्गाकी वहाँ सात धाराएँ हो गयीं। उनमें एक धाराने भगीरथका अनुगमन किया।

राजा भगीरथ दिव्य रथपर चढ़कर आगे-आगे चल रहे थे। पीछे गङ्गाजी आ रही थीं। सहसा राजाने देखा, पीछे जलका नाम नहीं है। गङ्गाजी जब जह्नु ऋषिके आश्रमके समीपसे निकलीं, उन्होंने ऋषिके पूजाके उपकरण बहा दिये। ऋषिने रोषसे आकर उनको पी लिया था। भगीरथने प्रार्थना करके उन परम तापसको तुष्ट किया। ऋषिने अपनी दक्षिण जङ्घासे गङ्गाजीको निकाल दिया और उन्हें अपनी पुत्री कहा। जह्नु ऋषिकी पुत्री होनेसे गङ्गाजी जाह्नवी कही जाती हैं। महाराज भगीरथ रथसे गङ्गासागरके समीप पहुँचे। वहाँ गङ्गाजलके स्पर्शसे उनके पूर्वज सगरके वे साठ सहस्र पुत्र मुक्त हो गये। भगीरथद्वारा लायी गयी गङ्गाजी भागीरथी कही जाती हैं।

भगवती गङ्गा भगवान् वामनके विराट्रूपका चरणोदक बनीं। ब्रह्माण्डके बाहरका यह चिन्मय ब्रह्मद्रव राजा भगीरथकी उज्ज्वल कीर्ति-कौमुदीके रूपमें विद्यमान है। हिंदुओंकी ये परम उपास्य हैं। ऋषियोंने इनका भूरि-भूरि स्तवन किया है। 'गङ्गा' इस नामके स्मरणसे ही पाप नष्ट हो जाते हैं। शास्त्रोंमें जाह्नवीका अनन्त माहात्म्य है। इन्हें लानेवाले महाराज भगीरथ हिंदू-संस्कृतिके नित्य वन्द्य हैं।

महाराज रघु

'आज मैं कृतार्थ हुआ! आप-जैसे तपोनिष्ठ, वेदज्ञ ब्रह्मचारीके स्वागतमें मेरा गृह पवित्र हो गया। आपके गुरुदेव श्रीवरतन्तु मुनि अपने तेजसे साक्षात् अग्निदेवके समान हैं। उनके आश्रमका जल निर्मल एवं पूर्ण तो है? वर्षा वहाँ ठीक समयपर होती है न? आश्रमके नीवार समयपर पकते हैं तो? आश्रमके, मृग एवं तरु पूर्ण प्रसन्न हैं न? आपका अध्ययन पूर्ण हो गया होगा। अब आपके गृहस्थाश्रममें प्रवेशका समय है। मुझे कृपापूर्वक कोई सेवा सूचित करें। मैं इसमें अपना सौभाग्य मानूँगा।' ब्राह्मणकुमार कौत्सका महाराज रघुने स्वागत किया था। महाराजके कुशलप्रश्न शिष्टाचारमात्र नहीं थे। उनका तात्पर्य था। इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु, वनदेवता, पृथ्वी—सबको वे दण्डधर शासित कर सकते थे। तपोमूर्ति ऋषियोंके आश्रममें विघ्न करनेका साहस किसी देवताको भी नहीं करना चाहिये।

'आप-जैसे धर्मज्ञ एवं प्रजावत्सल नरेशके राज्यमें सर्वत्र मङ्गल सहज स्वाभाविक है। आश्रममें सर्वत्र कुशल है। मैंने गुरुदेवसे अध्ययनके अनन्तर गुरुदक्षिणा माँगनेका आग्रह किया। वे मेरी सेवासे ही सन्तुष्ट थे; पर मेरे बार-बार आग्रह करनेपर उन्होंने चौदह कोटि स्वर्ण-मुद्राएँ माँगीं; क्योंकि मैंने उनसे चतुर्दश विद्याओंका अध्ययन किया है। नरेन्द्र! आपका मङ्गल हो। मैं आपको कष्ट नहीं दूँगा। पक्षी होनेपर भी चातक सर्वस्व अर्पित कर सहज शुभ्र बने घनोंसे याचना नहीं करता। आप अपने त्यागसे परमोज्ज्वल हैं। मुझे अनुमति दें।' कौत्सने देखा था कि महाराजके शरीरपर एक भी आभूषण नहीं है। मिट्टीके पात्रोंमें उस चक्रवर्तीने अतिथिको अर्घ्य एवं पाद्य निवेदित किया था। यज्ञान्तमें महाराजने सर्वस्व दान कर दिया था। राजमुकुट और राजदण्डके अतिरिक्त उनके समीप कुछ नहीं था।

'आप पधारे हैं तो मुझपर दया करके तीन दिन मेरी अग्निशालामें चतुर्थ अग्निकी भाँति सुपूजित होकर निवास करें!' रघुके यहाँसे सुयोग्य वेदज्ञ ब्राह्मण निराश लौटे, यह कैसे सहा जाय। कौत्सको महाराजकी प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ी।

'मैं आज रथमें शयन करूँगा। उसे शस्त्रोंसे सज्जित कर दो! कुबेरने कर नहीं दिया है।' यज्ञके अवसरपर सम्पूर्ण नरेश कर दे चुके थे। सम्पूर्ण कोश दान हो चुका। अतिथिकी याचना पूरी किये बिना भवनमें प्रवेश भी अनुचित जान पड़ा। कुबेर तो दूसरे देवताओंके समान स्वर्गमें नहीं रहते। उनकी अलका हिमालयपर ही तो है। तब वे भी चक्रवर्तीके एक सामन्त ही हैं। कर देना चाहिये उन्हें। महाराजने प्रातः अलकापर आक्रमणका निश्चय किया।

'देव! कोषागारमें स्वर्ण-वर्षा हो रही है।' ब्राह्म मुहूर्तमें महाराज नित्यकर्मसे निवृत्त होकर रथपर बैठे। उन्होंने शङ्खध्वनि की। इतनेमें दौड़ते हुए कोषाध्यक्षने निवेदन किया। वह कोषागारके प्रातःपूजनको गये थे। कुबेरने इस प्रकार कर दिया।

अतिथिपरायण मुद्गल
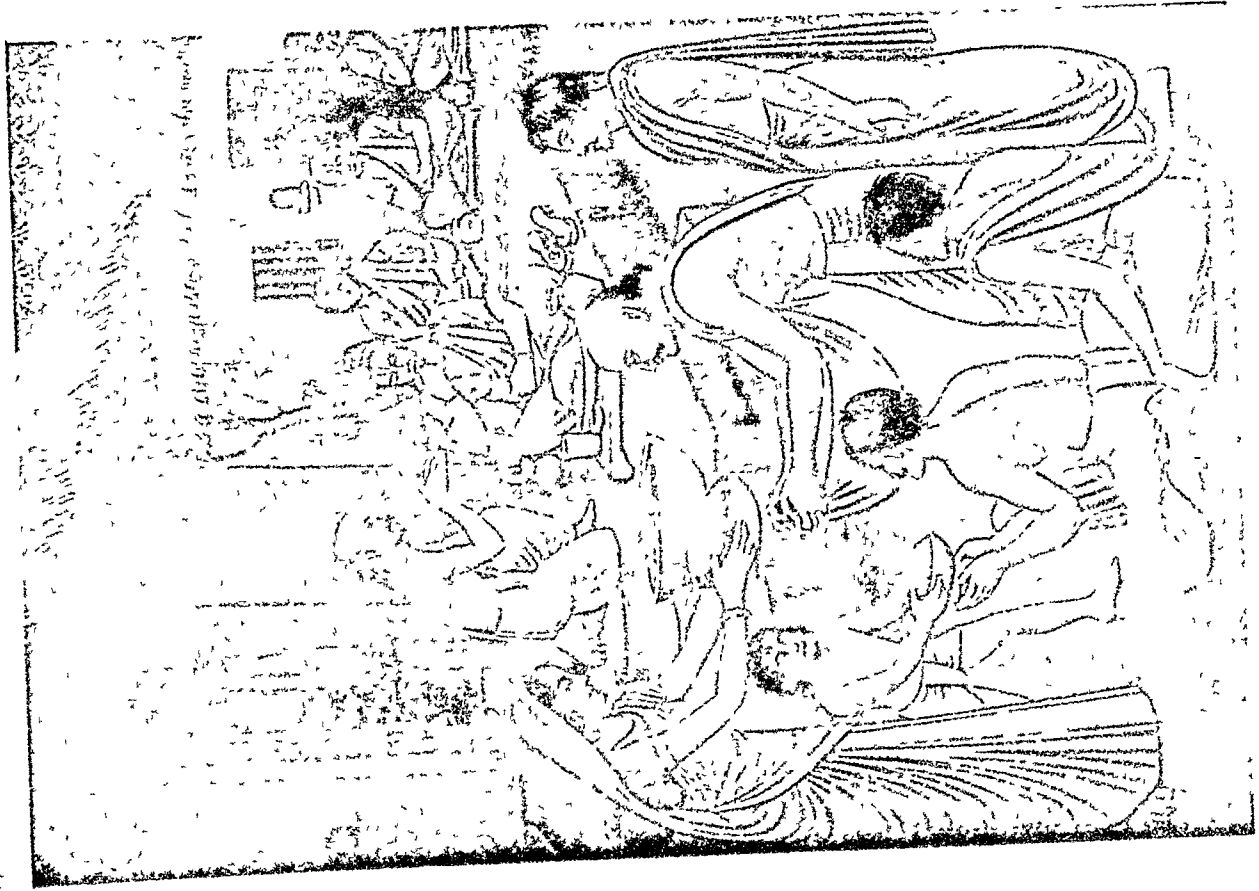
(पृष्ठ ८१७)

देवरक्षक दधीचि

(पृष्ठ ८१६)

देवोंके उपकारहित स्वीकृत कर ली मीच।

(पृष्ठ ८२६)

मिला अन्न-जल रंच स्वजनयुत निराहार रह दिन उनचास।
वह सब दिया अतिथियोंको राजाने मनमें भर उल्लास॥
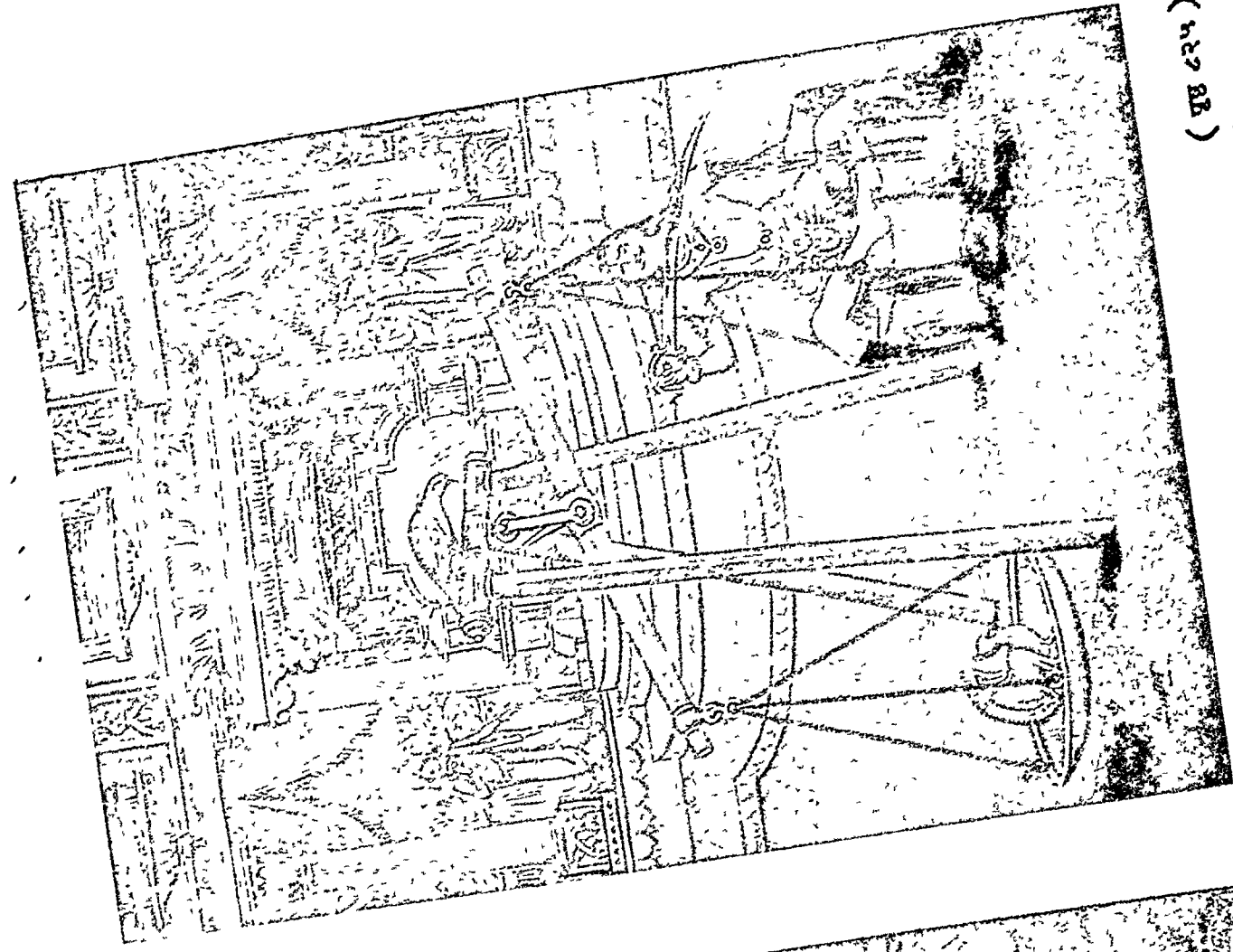
(पृष्ठ ८२५)

जीवित रहे कपोत भी भोजन पाये बाज।
देते शिवि निज काट तन देखो परहित काज॥

'यह द्रव्य आपके निमित्त आया है। ब्राह्मणके निमित्त प्राप्त द्रव्यमेंसे मैं या मेरी प्रजा कोई अंश कैसे ले सकती है।' महाराजका आग्रह ठीक ही था।

''मैं ब्राह्मण हूँ। 'शिल' या 'कण' मेरी विहित वृत्ति है। गुरुदक्षिणाकी चौदह कोटि मुद्राओंसे अधिक एकका भी स्पर्श मेरे लिये लोभ तथा पाप है।'' ब्रह्मचारी कौत्सका कहना भी उचित ही था। आजके युगमें, जब मनुष्य दूसरोंके स्वत्व-का हरण करनेको नित्य सोत्साह उद्यत है, यह त्यागमय विवाद कैसे समझ सकेगा वह। ब्रह्मचारी चौदह कोटि मुद्रा ले गये। शेष ब्राह्मणोंको दान हो गयीं।

× × ×

महाकवि कालिदासने रघुवंशमें पुराणोंकी वंशावलीको कुछ उलट-पुलट दिया है। पुराणोंके अनुसार खट्वाङ्गके पुत्र दीर्घबाहु थे और उनके महाराज रघु। रघुके पुत्र अज और अजके महाराज दशरथ हुए। महाराज रघु परम पराक्रमी, अमित यशस्वी तथा पुत्रके समान प्रजाकी रक्षा करनेवाले थे। उनके नामपर ही सूर्यवंशीय क्षत्रियोंका कुल रघुवंशी कहलाया। भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम इसी महिमामय कुलमें अवतीर्ण हुए।

शरणागतवत्सल महाराज शिबि

उशीनर देशके महाराज शिबि अपने राजसदनमें आनन्द-पूर्वक बैठे थे। सहसा एक कबूतर उड़ता हुआ आया और भयभीतकी भाँति उनके वस्त्रोंमें छिप गया। दो क्षण पश्चात् ही एक बाज उसके पीछे झपटता हुआ आया। बाजने स्पष्ट मनुष्य-वाणीमें कहा—'यह मेरा आहार है, आप इसे छोड़ दें।'

'यह मेरे शरण आया है!' महाराजने कबूतरको स्नेहसे थपथपाते हुए कहा। 'भला, कहीं शरणागतका त्याग किया जा सकता है।'

'मैं क्षुधातुर हूँ। आपका धर्म मेरे आहारका हरण करना नहीं होना चाहिये।' बाजने महाराजकी ओर नम्रतासे देखा।

'तुम दूसरे मांससे भी जीवित रह सकते हो। कितना मांस चाहिये तुम्हें?' क्या आवश्यकता कि बाजके लिये वह कबूतर ही मरे।

'महाराज! अन्ततः किसी प्राणीको तो मारा ही जायगा। आपकी तो सब प्रजा हैं। सब आपकी शरणमें ही हैं। जब एकका वध होना ही है तो इस कबूतरका ही क्यों न हो। मैं ताजा मांस खानेवाला प्राणी हूँ। इसके द्वारा मेरी तृप्ति होगी।' इस बार बाजने महाराजको धर्मसङ्कटमें डाल दिया। 'मैं कोई अपवित्र मांस ग्रहण नहीं करूँगा।'

'मैं जीवित हूँ और मेरा मांस पवित्र भी है।' महाराज शिबिने सम्पूर्ण परिषद्को चकित कर दिया। 'मैं अपना ही मांस दूँगा। तुमको कितना मांस चाहिये?'

'आप सोच लीजिये! एक कबूतरके लिये आप चक्रवर्ती होकर अपना अङ्ग-भङ्ग करें, यह उचित नहीं।' बाजने गम्भीरतासे कहा। 'वैसे मैं इस कबूतरकी तौलके बराबर ही मांस चाहता हूँ।'

काँटा मँगवाया गया। कबूतर एक पलड़ेमें रक्खा गया। महाराज शिबिने तलवार उठायी। भला, दूसरा कौन उनके सुरपूजित शरीरसे शस्त्रका स्पर्श करानेका साहस करता। अपने हाथसे उन्होंने बायीं भुजा काटकर दूसरे पलड़ेपर रख दी। आश्चर्य! कबूतरका पलड़ा तनिक भी नहीं उठा। महाराजके मुखपर खेद या कष्टकी रेखातक नहीं आयी।

'यह व्यर्थ है। तुम स्वेच्छापूर्वक मेरे पूरे शरीरको खाकर अपनी क्षुधा शान्त कर लो।' महाराज शिबिका शरीर रक्तसे लथपथ हो गया था। उन्होंने अपने एक हाथके अतिरिक्त कटितक दोनों पैर क्रमशः काटकर पलड़ेपर चढ़ा दिये थे। कबूतर अब भी भारी था। उसका पलड़ा भूमिपर ही स्थित था। महाराजका चरणहीन शरीर भूमिपर रक्तकीचमें पड़ा था। उन्होंने खड्ग पृथक् कर दिया। मुकुट, आभूषण और कवच तथा वस्त्र उतार दिये और स्वयं दूसरे पलड़ेपर जा बैठे। अब महाराज शिबिका पलड़ा भारी होकर भूमिपर पहुँच गया था। उन धर्ममूर्तिकी तुलनामें समता करनेकी शक्ति उस छद्मकपोतमें नहीं थी।

'महाराज! आपका कल्याण हो।' महाराज जब बाजसे कहने जा रहे थे कि वह सङ्कोच छोड़कर उनका भक्षण करे, उन्होंने देखा कि बाज साक्षात् देवराज इन्द्रके रूपमें बदल गया। कपोतके स्थानपर अग्निदेव खड़े थे। महाराजका शरीर पूर्ववत् स्वस्थ हो गया था। दोनों देवता कह रहे थे—'आपका धर्म महान् है। आप हमारी परीक्षासे लोकमें विश्रुत होंगे।'

हिंदू-धर्ममें शरणागतकी रक्षा परम धर्म माना गया है। शत्रु भी शरणागत हो तो उसकी रक्षा करना, और आवश्यक हो तो उसकी रक्षामें प्राणोंतकको उत्सर्ग कर देना सदा हिंदू-शूरोंका परम कर्तव्य रहा है। महाराज शिबि इस शरणागत-रक्षणके प्रतीक हैं।

अतिथिसेवी महाराज रन्तिदेव

'अतिथिदेवो भव !' श्रुतिके इस आदेशको सदा भारतने अपने हृदयमे स्थान दिया है। अतिथि-सत्कार हिंदू-संस्कृतिकी महान् विशेषता है। अतिथिकी सन्तुष्टिके लिये अपने सर्वस्व एवं शरीरतककी बलि देनेवाले महापुरुष भारतमे इतने हुए हैं कि उनकी संख्या करना कठिन है। विदेशियोंने मुक्तकण्ठसे भारतीय आतिथ्यकी प्रशंसा की है।

'जिस घरसे अतिथि निराश लौटता है, उस घरके सम्पूर्ण पुण्य वह अपने साथ ले जाता है। जिस घरमें तृण, जल तथा सुमधुर वाणीसे अतिथिका सत्कार नहीं होता, वह घर सर्पके बिलके समान व्यर्थ है।' शास्त्रोंके ये आदेश हिंदू-जातिके प्राणोंमे निवास करते थे। हिंदू-गृहस्थ केवल अतिथि-सत्कारके उद्देश्यसे गृहस्थाश्रम स्वीकार करता था।

महाराज संकृतिके पुत्र महाराज रन्तिदेव तो भारतीय आतिथ्यके मूर्तिमान् प्रतीक हो गये हैं। उनके राज्यकालमें उनके राजसदनमें नित्य सहस्रों अतिथि पधारते। महाराजका भवन अतिथिशाला बन गया था और अतिथि भी उनके यहाँ मेला लगाये रहते थे। महाराजने आगतकी इच्छा जानते ही इच्छित वस्तु दे देनेका व्रत ग्रहण कर लिया था। सहस्रों व्यक्तियोंमे वितरित होते-होते राज्यका कोष समाप्त हो गया। महाराजके पास देनेको कुछ नहीं बचा। जो एक दिन सम्राट् था, वह नितान्त अकिंचन हो गया।

क्षत्रिय नरेश भिक्षा नहीं माँग सकता। स्त्री और पुत्रके साथ महाराजने चुपचाप राजसदन छोड़ दिया। वे जनहीन वनके मार्गसे यात्रा करने लगे। कन्द, मूल, फल या कोई बिना माँगे कुछ दे दे तो वही उनकी आजीविका हो गयी। खानेके लिये एक मुट्ठी तो कौन कहे, एक दाना अन्न नहीं। महाराज ऐसे वनमे पहुँच गये थे जहाँ न कन्द थे, न फल और न जल ही। भूख और प्याससे व्याकुल होकर कोई कहाँतक चल सकता है। अन्ततः महाराज एक स्थानपर शिथिल होकर पड़ गये। [illegible]मार महारानी, नन्हा-सा पुष्प-कोमल राजकुमार—प्यासके मारे प्राण निकले जाते थे। सब तड़प रहे थे। एक दो नहीं, पूरे अड़तालीस दिन बीत गये इस प्रकार।

महाराज रन्तिदेव तथा परिवारमे अब उठनेकी भी शक्ति नहीं। भगवान्का स्मरण करते हुए वह परम भगवद्विश्वासी परिवार अन्तिम समयकी प्रतीक्षा कर रहा है। उन्चासवाँ दिन आया। भगवान् भास्करके निकलनेके थोड़े ही समय पश्चात् महाराजको एक व्यक्तिने आदरपूर्वक घृतमिश्रित खीर, संयाव (गुजरातकी ओर प्रचलित पक्वान्नविशेष) और शीतल जल निवेदित किया। कोई भी समझ सकता है कि इतने दीर्घ-उपवासी प्राणियोंको इतना स्वादिष्ट भोजन मिल जाय तो उनके चित्तकी क्या दशा होगी। लेकिन वे हम-आप-जैसे प्राणी नहीं थे। महाराजने बड़ी शान्तिसे उस सामग्रीको भगवान्के लिये मन-ही-मन अर्पण किया और सोचने लगे—'जीवनमें आज प्रथम बार क्या बिना अतिथिको भोजन कराये ही भोजन करना होगा ?'

'राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो ! मैं बहुत क्षुधातुर हूँ !' महाराजको तो जैसे उनके आराध्यने वरदान दिया हो। उन्होंने देखा कि प्रभुने उनकी प्रार्थना सुन ली है। एक ब्राह्मण-देवता भोजन करने आ गये हैं। बड़ी श्रद्धासे महाराजने उन्हें भोजन कराया। वे भली प्रकार भोजन करके, तृप्त होकर, महाराजको आशीर्वाद देते विदा हुए। ब्राह्मणके जानेपर महाराजने शेष पदार्थ स्त्री तथा पुत्रको उनके भागके अनुसार बाँट दिया। वे अपना भाग लेकर भोजन करने ही जा रहे थे कि एक शूद्र आ गया। वह भूखा था। महाराजने उसे भी भोजन कराया।

'महाराज ! मैं और मेरे ये कुत्ते बहुत भूखे हैं !' शूद्रके जाते ही एक दूसरा अतिथि आ पहुँचा। उसके साथ कई कुत्ते थे। सचमुच कुत्ते बहुत भूखे थे। महाराज रन्तिदेवने जितना भोजन बचा था, सब उस अतिथिको दे दिया। भोजन पर्याप्त था। वह व्यक्ति और उसके कुत्ते तृप्त हो गये। अब महाराजके पास केवल थोड़ा-सा जल बच रहा था। दीर्घ उपवाससे प्राण कण्ठगत हो चुके थे। उस जलसे ही महाराज-ने अपनी तृषा शान्त करनेका विचार किया।

'महाराज ! मैं चाण्डाल हूँ ! प्याससे मेरे प्राण जा रहे हैं। मुझे दो घूँट जल देनेकी कृपा कीजिये !' बड़ी करुणापूर्ण वाणी सुनायी दी। स्पष्ट था कि आगत चाण्डाल बहुत तृषार्त है। उसने बड़े कष्टसे यह बात कही थी।

> न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
> मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
> आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
> मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥

स्वयं महाराज रन्तिदेवके प्राण कण्ठगत हो रहे थे। निश्चित था कि अब जल दे देनेपर जीवन नहीं रहेगा। उन्होंने मन-ही-मन प्रार्थना की—'प्रभो ! सर्वेश ! सर्वाधार

जगदीश्वर ! मैंने अतिथिरूपमें सदा आपकी आराधना की है । मैं आपसे परमगति नहीं चाहता । अष्टसिद्धि या समस्त ऋद्धि भी मुझे नहीं चाहिये ! आप मुझे मुक्त करें, इसकी मुझे कोई कामना नहीं । आप मेरा निवास प्राणियोंके हृदयमें कर दें (जैसे निमिका निवास पलकोंपर है) । मैं प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर उनके सब दुःख भोग लिया करूँ, जिससे सब प्राणी दुःखहीन हो जायँ ।'

देव मुझे ही सब दुख दे दे, जगजन सारे सुख पायें ।
जो औरोंके कलुष-भोग हों, इस जनके ऊपर आयें ॥

'भाई, तुम भली प्रकार जल पीकर अपने प्राणोंको तृप्त करो !' महाराजने जलपात्र उठाया । चाण्डाल दूर खड़ा रह गया था । बड़े साहस, धैर्यसे महाराज वहाँतक गये । उनके हृदयमें एक ही रट थी—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

'हे सर्वसाक्षिन् ! मैं राज्य नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता, मोक्ष नहीं चाहता । मैं चाहता हूँ दुःखसे संतप्त प्राणियोंके क्लेशका नाश ! यही मेरी एकमात्र अभिलाषा है ।

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥

'सर्वव्यापी नारायण ! इस जीवनकी लालसासे व्याकुल प्राणीके रूपमें तुम्हीं मेरे सम्मुख उपस्थित हो ! मैं यह जल तुम्हींको अर्पण कर रहा हूँ । जीनेकी इच्छासे व्याकुल इस प्राणीको जल देनेसे मेरी क्षुधा, पिपासा, मानसिक तथा शारीरिक श्रम, दीनता, खिन्नता, विषाद, मूर्छा आदि सब दुःख दूर हो गये !' महाराजने चाण्डालको भरपेट जल पिला दिया । चाण्डालने पूरा जल पी लिया और चला गया । धन्य है इस परदुःखकातरता और त्यागको !

महाराज रन्तिदेव चाण्डालके जाते ही लड़खड़ाये, गिरे । यह क्या—उन्हें किन कोमल करोंने सम्हाल लिया है ? ये हंसपर स्थित अरुणवर्ण भगवान् ब्रह्मा हैं, ये गरुड़ासनासीन सशङ्खचक्र सजल-जलदश्याम भगवान् विष्णु हैं, ये महिषपर विराजे साक्षात् दण्डधर धर्मराज हैं और सबसे पृथक् ये वृषभवाहन कर्पूरगौर चन्द्रशेखर भगवान् नीलकण्ठ हैं । महाराजको अपने अतिथियोंको पहचाननेमें भूल नहीं हो रही है । ब्राह्मण, शूद्र, कुत्तोंसे घिरे शिकारी और चाण्डाल बनकर यही अतिथि आये थे उनका दिव्य नैवेद्य स्वीकार करने ।

आतिथ्य-धर्मकी उन गौरवमूर्तिको लेने आये थे वे त्रिभुवनके अधीश्वर । महाराज रन्तिदेवकी परदुःखकातरता और अतिथिसेवाने उन्हें आकर्षणकर खींच लिया था । ऐसे आतिथेयका आतिथ्य स्वीकार करनेका लोभ वे भी छोड़ नहीं सके थे । आतिथ्य-धर्म और उसके प्रतीक महाराज रन्तिदेव धन्य हैं ।

भक्तवर अम्बरीष

'धनोन्मत्त अम्बरीष ! तुमने मेरा अनादर किया है ।' श्रीदुर्वासाने तपोबलसे जान लिया था कि कालिन्दी-कूलसे मेरे आनेके पूर्व ही इन्होंने श्रीहरिका चरणामृत ले लिया है । द्वादशी केवल एक घण्टा शेष थी । वर्षभरका एकादशी-व्रत आज सविधि पूर्ण हुआ था । वस्त्राभूषणोंसे सुसज्ज अनेकों गायें दान दी गयी थीं और सादर ब्राह्मण-भोजन कराया गया था । पारण-विधिकी रक्षाके लिये अम्बरीषने यह व्यवस्था ली थी, पर ऋषि क्रोधित हो गये । 'तू श्रीविष्णुका भक्त नहीं । तू महा अभिमानी और धृष्ट है । आमन्त्रण देकर अनादृत करनेका दण्ड दिये बिना मैं नहीं रह सकूँगा ।' ऋषिने अपनी जटाका एक बाल उखाड़कर पृथ्वीपर पटक दिया ।

महाभयानक कृत्या हाथमें तीक्ष्ण खड्ग लिये उत्पन्न हो गयी । वह अम्बरीषपर झपटी ही थी कि तेजोमय चक्र चमक उठा, कृत्या वहीं राख हो गयी । ऋषि प्राण लेकर दौड़े, पर वह तीव्र प्रकाशपुञ्ज उनके पीछे पड़ गया था ।

दसों दिशाओं और चतुर्दश भुवनोंमें ऋषि घूमते-घूमते थक गये, पर कहीं आश्रय नहीं मिला और वह सुदर्शन-चक्र उनके प्राणकी क्षुधा लिये आतुरतासे पीछे लगा था । श्रीविष्णुके चरणोंमें प्रणिपात करते ही उत्तर मिला, 'मैं विवश हूँ, महामुने ! अपनी रक्षा चाहते हैं तो आप अम्बरीषसे ही क्षमा माँगें । वे ही आपको शान्ति दे सकते हैं ।'

'समस्त प्राणियोंके आत्मा प्रभु मुझपर सन्तुष्ट हों तो ऋषिका सङ्कट दूर हो ।' अम्बरीषने रोते हुए प्रार्थना की । ब्राह्मणको अपना पैर स्पर्श करते देखकर वे काँप उठे थे । अत्यन्त दुःखसे एक वर्षसे वे केवल जलपर जीवन चला रहे थे । ऋषिके पीछे सुदर्शन-चक्रको लगे इतना समय हो गया था ।

'भगवान्के भक्तोंका स्वरूप मैंने अब समझा !' सुदर्शनके अदृश्य होनेपर ऋषिके मुँहसे निकल पड़ा । 'वे काँटोंपर सोकर

भी दूसरेके लिये सुमन-शय्या प्रस्तुत कर देते हैं। दूसरेका सुख ही उनका अपना सुख है।'

ऋषिकी आँखें गीली हो गयी थीं और श्रीअम्बरीषका मस्तक उनके चरणोंपर था।

× × ×

भक्तवर अम्बरीष वैवस्वत मनुके पौत्र महाराज नाभागके पुत्र थे। शि० दु०

महाराज जनक

महर्षि वसिष्ठके शापसे निमिने शरीर छोड़ दिया। देवताओंके तुष्ट होनेपर भी वे शरीर-बन्धन स्वीकार करनेको प्रस्तुत नहीं हुए। राजर्षि निमिके कुलका उच्छेद नहीं होना चाहिये; यह सोचकर ऋषियोंने उनके शरीरका मन्थन किया। फलतः उस शरीरसे एक बालक उत्पन्न हुआ। देहहीन निमिका पुत्र होनेसे वह विदेह, स्वयं उत्पन्न होनेसे जनक और मन्थनसे उत्पन्न होनेसे मिथि कहा गया। उसने बड़े होकर मिथिला राज्यकी स्थापना की। इस कुलके सब नरेश जनक तथा विदेह कहे गये।

निमिकुल परम ज्ञानियोंका कुल रहा। योगीश्वर याज्ञवल्क्यके अनुग्रहसे सभी मैथिल नरेश परम ज्ञानी हुए। इनमें जिनके हलकी नोकसे भूमिमेंसे सीताजीका प्रादुर्भाव हुआ, उन भूमिनन्दिनीके पिता जनकका नाम महाराज सीरध्वज हुआ।

महाराज जनक भगवान् शङ्करके परम भक्त थे। शङ्करजीने प्रसन्न होकर उन्हें अपना धनुष 'पिनाक' दिया था। श्रीसीताजीके स्वयंवरमें इसी धनुषको मर्यादापुरुषोत्तमने तोड़ा। महाराज जनक निरन्तर ब्रह्मस्वरूपमें स्थित रहते थे। शरीर और संसारकी आसक्तिका उनमें नाम नहीं था। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि उनसे ज्ञानचर्चा करने और ब्रह्मज्ञानका उपदेश प्राप्त करने आते थे।

द्वापरमें शुकदेवजी-जैसे परमज्ञानी, सहज वीतरागने भगवान् व्यासके आदेशसे जनकजीसे जाकर ज्ञानोपदेश प्राप्त किया। ब्रह्मज्ञानके साथ भगवद्भक्तिका अपार रससागर महाराज जनकके हृदयमें हिलोरें लिया करता था। श्रीरामको देखकर उनका वह आन्तरिक गुप्तभाव प्रकट हो गया था।

संसारमें कुशलतापूर्वक राग-द्वेष-अहङ्कारशून्य होकर यथोचित बर्ताव करनेवालोंके महाराज जनक आदर्श हैं। भगवान्ने गीतामें प्रवृत्तिमार्गके आदर्शके रूपमें जनकका नाम लिया है।

भीष्म

त्रिलोकपावनी भगवती सुरसरिने नारीरूप धारण किया। महर्षि वसिष्ठके शापसे वसुओंको जन्म ग्रहण करना था। पौरव चक्रवर्ती महाराज शन्तनुके पुत्ररूपमें वसु मानवयोनिमें आये। गङ्गाजी उन्हें उत्पन्न होते ही जलमें प्रवाहित करके पुनः उनके धाम भेज दिया करती थीं। द्यौ नामक अष्टम वसु जब उत्पन्न हुए, नरेशने गङ्गाजीसे एक पुत्र माँगा। पुत्रको पिताके पास छोड़कर गङ्गाजी चली गयीं।

'मेरी कन्यासे उत्पन्न पुत्रको आप सिंहासन देनेका वचन दें तो मैं उसका विवाह आपके साथ कर सकता हूँ।' दाशराजने महाराज शन्तनुके लिये एक समस्या उपस्थित कर दी। महाराज दाशराजकी पोषित पुत्री योजनगन्धा सत्यवतीपर मोहित हो चुके थे। विनयी, सद्गुणी, शूर, पितृभक्त गङ्गा-पुत्र देवव्रतको अधिकारच्युत करना भी उन्हें प्रिय नहीं था।

'मैं सिंहासनका सदाके लिये त्याग करता हूँ।' देवव्रतको पिताकी म्लानताका कारण ज्ञात हो गया था। वे स्वयं दाशराजके समीप उन्हें सन्तुष्ट करने पहुँच गये!

'आपके पुत्र मेरी कन्याके पौत्रोंको सिंहासनपर नहीं रहने देंगे।' दाशराज तो अपनी पुत्रीकी सन्तति-परम्पराके लिये राज्य चाहते थे।

'मैं आजन्म अविवाहित रहनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ।' देवव्रतने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य स्वीकार किया। इस भीष्म-प्रतिज्ञाके कारण आकाशवाणीने उन्हें 'भीष्म' नाम दिया।

'पुत्र! तू इच्छामृत्यु हुआ। तेरी इच्छाके बिना मृत्यु तेरा स्पर्श नहीं कर सकेगी।' महाराज शन्तनुने भीष्मको वरदान दिया उनकी पितृभक्तिसे प्रसन्न होकर।

× × × ×

'भीष्म! तुम अम्बाको स्वीकार कर लो।' भगवान् परशुरामने काशिराजकी पुत्रीका पक्ष लिया। भीष्मने स्वयंवरसे काशीनरेशकी तीनों पुत्रियोंका अपने छोटे भाईके लिये हरण किया था। उनमें सबसे बड़ी पहलेसे मद्रनरेशको चाहती थी। उसकी इच्छा जानकर भीष्मने उसे मद्रनरेशके पास भेज दिया, पर कोई भी

आदर्श पुत्र

वीर प्रतिज्ञा देवव्रतने की तब वहाँ उठाकर हाथ ,
'सत्यवतीका तनय हमारे कुरु-कुलका होगा नर-नाथ ।
मैं न विवाह करूँगा, अपना छोड़ रहा हूँ नृप-अधिकार'
सुन सहसा सुर चकित हो गये बोल भीष्मकी जय-जयकार !

आदर्श क्षमा
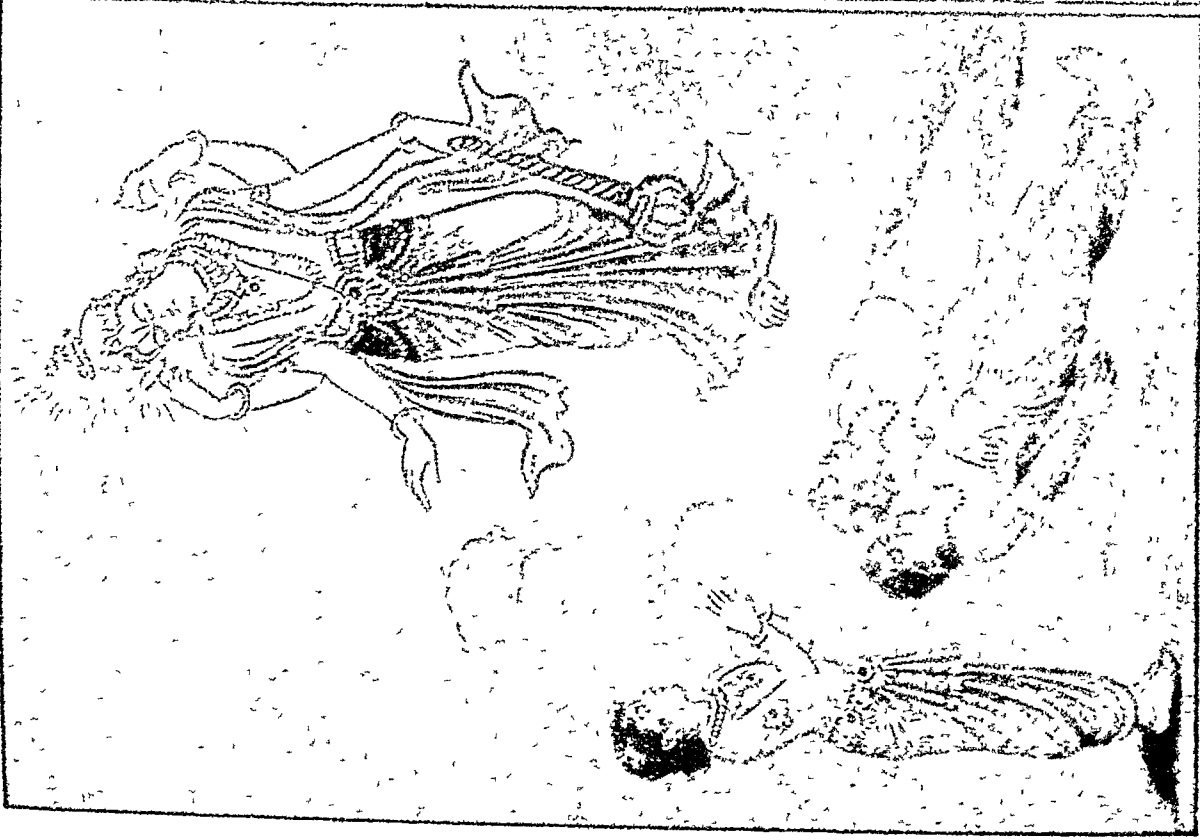
जीवित हों गुरुपुत्र मम पाकर कृपा-प्रसाद । प्रभुसे यह करते विनय क्षमा-मूर्ति प्रह्लाद ॥

दे न सका कोई शरण, भक्तद्रोही जान । अम्बरीषने ही किया मुनिको अभय-प्रदान ॥

भूपति दूसरेके द्वारा हरी गयी कन्याको पत्नी कैसे बना ले। अम्बा वहाँसे निराश लौटी। उसने भीष्मको वरण करना चाहा। ब्रह्मचारी भीष्मके अस्वीकार करनेपर वह परशुरामजीके शरण गयी। परशुरामजी अपने शस्त्र-विद्याके शिष्यके समीप आये।

'भय, दया, धनके लोभ या किसी भी कामनासे मैं अपना व्रत नहीं छोड सकता।' बड़ी नम्रतासे परशुरामजीको भीष्मने समझाया, परंतु परशुरामजी बराबर आग्रह करने लगे। वे धमकी देने लगे। अन्तमें भीष्मको आवेश आया—'आपने अकेले पृथ्वीके समस्त क्षत्रियोंको केवल इसलिये जीत लिया कि उस समय भीष्म नहीं था। आपकी ही कृपासे मैं आपका गर्व दूर करनेमें समर्थ हूँ।'

गुरु-शिष्यमें भयङ्कर संग्राम प्रारम्भ हो गया। दोनों दिव्यास्त्रोंके मर्मज्ञ, दोनों दृढ़चित्त, दोनों मृत्युकी शक्तिसे परे। पूरे तेईस दिन युद्ध अविराम चलता रहा। ऋषियोंने दोनोंको समझाया। भीष्मका उत्तर स्पष्ट था—'मैं युद्धमें पीठ दिखाकर कायरोंकी भाँति पीछेसे बाणोंका प्रहार सहता हुआ हट नहीं सकता।' देवताओंको बीचमें पड़कर युद्ध बंद कराना पडा। परशुरामजी भीष्मको पराजित नहीं कर सके।

× × × ×

'बेटा! मेरी आज्ञासे तुम विवाह करके वंशकी रक्षा करो और सिंहासनपर बैठो।' सत्यवतीके दोनों पुत्र मर चुके थे। भरतवंशका कोई आधार नहीं था। पुरुवंशका सिंहासन सूना पड़ा था। पिताने पुत्रीके लिये जो वरदानरूप व्यवस्था की, वह अभिशाप बन रही थी। भीष्म यदि माताकी आज्ञा मान ले तो वंश बच जाय।

'माता! तू मुझसे यह आग्रह मत कर! पृथ्वी गन्ध, अग्नि उष्णता, आकाश शब्द, वायु स्पर्श, जल आर्द्रता, चन्द्र शीतलता, सूर्य तेज, इन्द्र बल और धर्मराज धर्म चाहे छोड़ दे; किंतु तीनों लोकोंके राज्य या उससे भी महत्तर सुखके लिये भीष्म अपना व्रत नहीं छोड़ेगा।' भारतभूमि ही है, जो ऐसे लोकोत्तर पुरुषोंकी क्रीड़ास्थली बनती रही है।

× × × ×

'श्रीकृष्ण ही सब प्रकार प्रथमपूज्य हैं।' धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें अग्रपूजाका प्रश्न उठनेपर पितामह भीष्मने बड़े दृढ शब्दोंमें अपना भाव व्यक्त किया। और जब शिशुपाल उन्हें कटुवचन कहते हुए आक्रमणको उद्यत हुआ, धर्मराज भी चिन्तित हो गये; पर भीष्म स्थिर थे। 'श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंकी उत्पत्ति और विनाशके कारण हैं।' इस निश्चयकी घोषणा उन्होंने की और अपने विश्वासपर अन्ततक हिमालयकी भाँति दृढ़ रहे।

महाभारतके युद्धमें ये अकेले दस दिनोंतक कौरव-सेनाका सेनापतित्व करते रहे, जब कि शेष आठ दिनोंमें द्रोणाचार्य, कर्ण और शल्य—ये तीन सेनापति बदल गये। भीष्मने दुर्योधनको अनेक बार समझाया, कर्णकी तो वे बराबर भर्त्सना ही करते रहे। महाभारतके संग्राममें पितामहने प्रतिज्ञा कर ली। 'कल श्रीकृष्णचन्द्रको शस्त्रधारणके लिये विवश कर दूँगा।'

दूसरे दिन युद्ध छिड़ा। भीष्मकी बाण-वर्षामें अर्जुन मूर्च्छित हो गये। भक्तवत्सल प्रभुने भक्तके लिये अपनी प्रतिज्ञा तोड़ी। श्रीकृष्णचन्द्र बार-बार सिंहनाद करते रथका टूटा चक्का हाथमें उठाकर भीष्मकी ओर दौड़े। उन चक्रधरके करोंमें वह पहिया सहस्रार चक्र बन गया। सेनामें सबके हृदय बैठ गये। सब चिल्लाने लगे 'भीष्म मारे गये! भीष्म मारे गये।'

भीष्म? उनके तो आनन्दका पार ही नहीं था। करुणाधामने उनके लिये अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। वे धनुष पृथक् रखकर, दोनों हाथ जोड़कर, घुटनोंके बल बैठे प्रार्थना कर रहे थे—'पुण्डरीकाक्ष! पधारो! पधारो, पुरुषोत्तम! तुम आज मेरा वध करो! गोविन्द! कृष्ण! जगन्नाथ! तुम्हारे हाथसे मरनेपर मेरा सब प्रकार कल्याण होगा। मैं आज त्रैलोक्यमें सम्मानित हूँ। हे निष्पाप प्रभु! स्वेच्छापूर्वक मुझपर प्रहार करो।'

अर्जुनने दौडकर पीछेसे भगवान्‌के पैर पकड़ लिये और उन्हें लौटाया। वे दयामय केवल भीष्मकी प्रतिज्ञा ही तो पूर्ण करने चले थे। वह पूर्ण हो गयी।

× × × ×

'मैं शिखण्डीको सम्मुख पाकर धनुष रख देता हूँ।' अपने वधका उपाय स्वयं बताना पितामहकी ही उदारता थी। शिखण्डी स्त्रीरूपमें जन्मा था। कोई सच्चा शूर नारीपर आघात कैसे कर सकता है। अर्जुनने शिखण्डीको

आगे करके प्रतिकारहीन पितामहपर शरवर्षा की। जब भीष्म रथसे भूमिपर गिरे, उनके शरीरका रोम-रोम विंध चुका था। पूरा शरीर बाणोंपर उठा रह गया। यह थी उनकी शर-शय्या।

'वत्स! मेरे योग्य तकिया दो!' मस्तकमें बाण नहीं लगे थे। वह नीचे लटक रहा था। दुर्योधनादि कोमल सहारा देना चाहते थे मस्तकको! पितामहने अर्जुनकी ओर देखा। पार्थने तीन बाण मारकर मस्तकको ऊपर उठा दिया। भीष्म अत्यन्त प्रसन्न हुए। अनेक शस्त्र-वैद्य दुर्योधनने वहाँ भेजे। वे बाणोंको निकालकर चिकित्सा करनेको प्रस्तुत थे, पर उस शूरने उन्हे लौटा दिया। क्षत्रियकी शोभा रणाङ्गणमें शरशय्या ही तो है।

× × × ×

'प्रभु! आप किसका ध्यान कर रहे थे?' नीरव अर्ध-रात्रिमें श्रीकृष्णचन्द्रको आसनसे बैठकर ध्यान करते देख धर्मराज युधिष्ठिरको आश्चर्य हुआ। वे चुपचाप प्रतीक्षा करते रहे।

'शरशय्यापर पड़े नरशार्दूल भीष्म मेरा ध्यान कर रहे हैं।' उन भक्तवाञ्छाकल्पतरुने भरे लोचनोंसे उत्तर दिया—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

—की प्रतिज्ञा जो कर रक्खी है उन्होंने।

युधिष्ठिर भाइयोंके साथ रणाङ्गणमें पितामहके समीप धर्मोपदेश प्राप्त करने गये। भगवान्‌ने भीष्मसे अनुरोध किया। उनके कष्ट, ग्लानि, मूर्च्छादिको अपने प्रभावसे दूर किया और बताया—'मैं स्वयं उपदेश न करके इसलिये आपसे उपदेश कराना चाहता हूँ कि मेरे भक्तकी कीर्ति लोकमें विस्तृत हो।'

नीति, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदिका जो उपदेश पितामह भीष्मने दिया, वह महाभारतके शान्तिपर्वमें ही देखने योग्य है। अन्तमें उत्तरायण काल आया। चतुर्भुज, नीलकमल-सुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन एवं स्तवन करते हुए उन्होंने शरीर छोड दिया। अन्तिम समयकी भीष्मकी वह स्तुति श्रीमद्भागवतमें इतनी भावपूर्ण है कि उसे मूलमें ही देखकर कण्ठस्थ कर लेना चाहिये।

× × × ×

पितामह भीष्म सचमुच हिंदू-जगत्‌के पितामह ही हैं। श्राद्धके समय प्रत्येक हिंदू उन्हें पिण्डदान करता है। वे शौर्य, तेज, ज्ञानके साक्षात् विग्रह थे। जीवनमें उनसे केवल एक बार प्रमाद हुआ—कौरव-सभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचे जाते समय वे मौन रह गये थे। उन्होंने शरशय्यापर बताया था कि वह प्रमाद दुर्योधनके अन्नके दोषसे उनमें आया। नित्य श्रीकृष्णमें अखण्ड अनुराग रखकर कर्तव्यपर दृढ़ रहनेका उन्होंने उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है।

धर्मराज युधिष्ठिर

धर्मके अंशसे देवी कुन्तीमें उत्पन्न पाण्डुके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरके कीर्तन (-स्मरणादि) से धर्मकी वृद्धि होती है। महाराज पाण्डुके वनमें परलोकगामी होनेपर भीष्मपितामह पाण्डवोंको हस्तिनापुर ले आये। आचार्य द्रोणने उन्हे शस्त्र-शिक्षा दी। धृतराष्ट्रके अन्धे होनेके कारण पाण्डु राज्यके अधिकारी हुए थे। न्यायतः पाण्डुके पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्रको राज्य मिलना चाहिये। वैसे भी युधिष्ठिर कौरवोंसे बड़े थे। दुर्योधन राज्यलिप्साके कारण बचपनसे ही पाण्डवोंसे द्वेष करने लगा। धृतराष्ट्र अपने पुत्रके प्रेमवश उसका समर्थन करते थे।

युधिष्ठिर अजातशत्रु थे। संसारमें उन्होंने कभी किसीको अपना शत्रु नहीं माना। भीमको दुर्योधनने विष दिया, लाक्षाभवनमें पाण्डवोंको जलानेका प्रयत्न किया, राजसूय यज्ञके पश्चात् छलपूर्वक जुएमें युधिष्ठिरको जीतकर पाण्डवसम्राज्ञी द्रौपदीको भरी सभामें अपमानित किया उसने। प्रत्येक दशामें युधिष्ठिर शान्त बने रहे। उन्होंने अपने भाइयोंको नियन्त्रित रक्खा। सत्य और धर्मपर वे अविचल बने रहे। वे इतने धर्मप्राण थे कि जिस देशमें रहते, वहाँ अकाल नहीं पड़ता और प्रजा सर्वथा सुखी रहती।

दुर्योधनकी दुष्टतासे वनवास मिला। वहाँ भी वह अपमानित करनेके लिये ससैन्य आ रहा था। गन्धर्वराज चित्ररथने उसे बंदी कर लिया। युधिष्ठिरको समाचार मिला। 'जो भी हो, है तो अपना भाई ही। दूसरोंके विरुद्ध हम सब एक हैं।' उन्होंने अर्जुनको भेजकर चित्ररथसे दुर्योधनको मुक्त कराया और बड़े सम्मानसे उसे विदा किया।

सरोवरपर जल लानेको गये हुए चारों भाई प्राणहीन पड़े थे। वहीं एक यक्ष दिखायी दिया। युधिष्ठिरके उत्तरसे संतुष्ट होकर यक्षने जब एक भाईको जीवित करनेको कहा, तब उन्होंने नकुलको जीवित कराना चाहा। माता माद्रीका उन्हें तब

भी ध्यान था। यक्ष उनकी धर्मनिष्ठासे प्रसन्न हो गया। उसने सबको जीवित कर दिया। इसी प्रकार विराटने उनके ऊपर पासेसे प्रहार किया था; पर वे चिन्तित थे कि कहीं अर्जुनने देख लिया तो विराटनरेशका अनिष्ट होगा।

महाप्रस्थानके समय दिव्यरथ उन्हें लेने आया। उस समय उन्होंने अपने अनुगामी कुत्तेको छोड़कर स्वर्ग जाना-तक अस्वीकार कर दिया। उनकी धर्मनिष्ठा देखकर कुत्ता धर्मके रूपमें प्रकट हो गया। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिरका पूरा जीवन धर्म, शान्ति, क्रोधहीनता, निर्वैरता तथा समदर्शिता-का मूर्तिमान् आदर्श है। उनके धर्म और भक्तिसे ही भगवान् श्रीकृष्ण उनके अपने हो गये थे।

महारथी अर्जुन

अर्जुनकी योग्यताका प्रमाण उसी दिन मिल गया, जब आचार्य द्रोण कौरव और पाण्डव—सब बालकोंकी शस्त्र-परीक्षा कर रहे थे। वृक्षपर कृत्रिम पक्षी बैठाया गया था। बाणसे उसके दाहिने नेत्रका वेध करना था। आचार्यने पूछा—'अर्जुन! तुम क्या देख रहे हो?'

'मुझे पक्षीके दाहिने नेत्रको छोड़ कुछ दिखायी नहीं पड़ता।' लक्ष्यमें जिसकी इतनी एकाग्रता हो, वही जीवनका सफल योधा हो सकता है।

अर्जुनकी शूरताका ही वर्णन एक प्रकारसे महाभारतमें हुआ है। उनके दृढप्रतिज्ञ होनेका वह अद्वितीय उदाहरण था, जब वे बारह वर्षके लिये स्वेच्छापूर्वक वनवास करने चल पड़े थे। अनेक कारणोंसे द्रौपदीका विवाह पाँचों पाण्डवोंसे हुआ था। विश्वमें भूमि और भामा (स्त्री)—यही दो संघर्षके मुख्य हेतु हैं। परस्पर कोई विवाद न उठ खड़ा हो, इसलिये पाण्डवोंने द्रौपदीके साथ रहनेकी एक निश्चित अवधि बना ली। यह नियम निश्चित हुआ कि यदि एक भाई द्रौपदीके पास हो और दूसरा वहाँ पहुँच जाय तो पहुँचनेवाला बारह वर्षका निर्वासन स्वीकार करे।

उस दिन एक ब्राह्मण दौड़ता हुआ आया। उसकी गौएँ दस्यु बलपूर्वक लिये जा रहे थे। अर्जुनने विप्रको आश्वासन दिया। दस्युओंको दण्ड देनेके लिये धनुष आवश्यक था। धनुष द्रौपदीके अन्तःपुरमें था और वहाँ युधिष्ठिरजी थे। अर्जुनने ब्राह्मणकी गौओंकी रक्षाके लिये भीतर जाकर धनुष उठाया। गायोंकी रक्षा हुई। लौटकर उन्होंने निर्वासन स्वीकार करके भाइयोंसे विदा माँगी।

'मैं तुम्हारा ज्येष्ठ भ्राता हूँ। द्रौपदीसे मैं सामान्य बातें ही कर रहा था। तुमने ब्राह्मणकी गायें बचाकर मेरे ही धर्मकी रक्षा की है।' धर्मराजने बहुत समझाया कि निर्वासन स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

'धर्मपालनमें बहानेबाजी नहीं करनी चाहिये।' अर्जुनने नियम-भङ्ग करना स्वीकार नहीं किया। वे स्वतः बारह वर्षोंतक हस्तिनापुरसे बाहर रहे।

× × × ×

'अर्जुन मेरा अत्यन्त प्रियपात्र है। उर्वशीको उस पुरुषश्रेष्ठको सन्तुष्ट करना चाहिये।' देवराज इन्द्रने चित्रसेनको आदेश दिया। अपने तप एवं पराक्रमसे भगवान् शङ्करको सन्तुष्ट करके अर्जुनने उनके पाशुपतास्त्रको प्राप्त कर लिया था। लोकपालोंने उन्हें अपने दिव्यास्त्र दिये थे। स्वर्ग आकर उन्होंने असुरोंका दमन किया था। आज दिनमें देवसभामें जब अप्सराएँ उनके सम्मानमें नृत्य कर रही थीं, महेन्द्रने देखा था कि वे बार-बार उर्वशीकी ओर देख रहे हैं।

'मातः! देवराजको मेरा भाव समझनेमें भ्रम हुआ। राजसभामें मैंने आपको देखा तो मुझे स्मरण आया कि आप ही हमारे भरतकुलकी जननी हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।' उर्वशी स्वयं अर्जुनके शौर्य एवं सौन्दर्यपर मुग्ध थी। देवराजका आदेश पाकर वह एकान्त रात्रिमें शृङ्गार करके अर्जुनके पास पहुँची थी। स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी एकान्तमें आयी थी और निर्लज्ज होकर स्वयं कामयाचना कर रही थी। अर्जुनने उसके बार-बारके अनुरोधको अस्वीकार कर दिया। जिसे एक बार मातृभावसे देखा जा चुका, उसके प्रति अन्यथाभाव तो महापाप होगा। क्रुद्ध होकर उर्वशीने शाप दिया—'तू वर्षभर नपुंसक रहेगा और स्त्रियोंको नाचना-गाना सिखायेगा।'

धर्मपर स्थिर संयमीको कोई शक्ति कष्ट नहीं दे सकती। मङ्गलमय धर्म समस्त प्रतिकूलताओंको अनुकूल बना देता है। उर्वशीका शाप अर्जुनके लिये वरदान सिद्ध हुआ। अन्यथा उनके-जैसा ओजस्वी शूर विराट-नगरमें अपनेको वर्षभरतक छिपाये रखनेमें सफल कैसे हो सकता था।

× × × ×

महाभारतका युद्ध प्रारम्भ होनेवाला था। अर्जुन और दुर्योधन दोनों साथ ही द्वारकामें श्रीकृष्णचन्द्रसे युद्धमें

सहायता माँगने पहुँचे। दुर्योधन कुछ पहले पहुँचे थे। भगवान् शयन कर रहे थे, अतः वे सिरहाने एक आसनपर बैठ गये। अर्जुन पीछे पहुँचे। वे चरणोंके समीप धीरेसे जा बैठे। भगवान् उठे। दुर्योधनका कहना था कि वे पहले आये हैं, अतः उन्हें सहायता मिलनी चाहिये। अर्जुनको कुछ कहना नहीं था। श्रीकृष्ण स्वयं कह रहे थे कि मैंने पहले अर्जुनको देखा है।

'एक ओरसे समस्त नारायणी सेना महास्त्र युद्ध करेगी और दूसरी ओर अकेला मैं रहूँगा। मैं न युद्ध करूँगा और न शस्त्र ग्रहण करूँगा।' लीलामयने निर्णय सुनाते हुए बताया कि पहले अर्जुनको ही पसंद करनेका अधिकार है।

'पाण्डवोंके सर्वस्व आप ही हैं। मैं आपको छोड़कर त्रिभुवनकी शक्ति भी स्वीकार नहीं कर सकता।' अर्जुनके मनमें कोई विकल्प था ही नहीं। दुर्योधन भी प्रसन्न हो गया। उसे नारायणी सेना ही अभीष्ट थी। चक्रधर श्रीकृष्णसे वह डरता था; उसके मनमें यह भी था कि शस्त्रहीन श्रीकृष्ण मेरा क्या भला करेंगे।

'अर्जुन! अब भी बहुत-से महारथी हैं। तुम मुझे लेकर क्या करोगे?' भगवान्‌ने हँसकर पूछा।

'बहुत दिनोंसे इच्छा है कि आपके हाथोंमें अपने रथकी रश्मि दे दूँ। अब आप रथ हाँकेंगे मेरा।' अर्जुन हँस पड़े। 'आपके श्रीचरण जहाँ हैं, वहाँ और किसी वस्तुकी अपेक्षा भी क्या है।'

इसी निर्भरताने श्यामसुन्दरको अर्जुनका रथ हाँकनेवाला सारथि बनाया। दूसरे समस्त ऋषि-मुनियोंको छोड़कर अर्जुनको ही भगवान्‌ने गीताके दिव्य ज्ञानामृतका अधिकारी यों ही नहीं बनाया था।

× × × ×

'अर्जुन मेरा प्राण है। दारुक! तुम भली प्रकार समझ लो कि यदि कल युद्धमें अर्जुनकी प्रतिज्ञा सफल न हुई तो मैं अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर चक्र उठाऊँगा और सारे कौरवदलका संहार कर दूँगा। अर्जुनके लिये मुझे कोई कार्य करनेमें संकोच नहीं।' महाभारतके युद्धमें अभिमन्युकी मृत्युसे दुःखित अर्जुनने जब दूसरे दिन सूर्यास्तसे पूर्व जयद्रथका वध करनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब भक्तवत्सल प्रभुको रात्रिभर निद्रा नहीं आयी। उन्होंने अपने सारथि दारुकको अपना दिव्य रथ शस्त्र-सज्ज करके प्रस्तुत रहनेकी आज्ञा दी।

आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।

अर्जुनके जीवनाधार श्रीकृष्ण ही हैं और श्रीकृष्णके प्राण अर्जुनमें निवास करते हैं। यह बात दुर्योधनने स्वयं स्वीकार की। महाभारतके युद्धमें श्रीकृष्णने पल-पल अर्जुनका ध्यान रक्खा। अर्जुनकी रक्षाके लिये वे सतत सचेष्ट रहे और अर्जुन तो उनके करोंमें रथके साथ जीवनकी भी रश्मि सौंप चुके थे।

श्रीकृष्णसे नित्य अभिन्न उन नारायणके नित्य सखा नर ही अर्जुनके रूपमें प्रकट हुए थे। उनका शौर्य, तेज, दृढ़ निश्चय, अटल प्रतिज्ञा और सबसे बढ़कर श्रीकृष्णपर अनन्य विश्वास—ये सब गुण दूसरे किसीमें एक साथ मिलने कठिन हैं। अर्जुन नरके अवतार कहे जाते हैं। सचमुच ही नर (मानव) के वे पूर्णतम आदर्श हैं।

वीरवर अभिमन्यु

वीरवर अभिमन्यु श्रीकृष्णसखा अर्जुनके पुत्र थे। इनका जन्म भगवान् श्रीकृष्णकी बहिन महाभागा सुभद्राजीके गर्भसे हुआ था। अभिमन्युका विवाह मत्स्य-देशके राजा विराटकी कन्या उत्तराके साथ हुआ। अभिमन्युने गर्भमें ही माता-पिताके वार्तालापसे व्यूह भेदकर उसमें प्रवेश करनेकी कलाको सीख लिया था। महाभारत युद्धके समय अभिमन्युने असाधारण शूरत्वका परिचय दिया था। गुरु द्रोणने जब चक्रव्यूहकी रचना की, तब युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, विराट, द्रुपद तथा धृष्टद्युम्न आदि पाण्डवपक्षके वीरोंमेंसे कोई लाख प्रयत्न करनेपर भी व्यूहमें प्रवेशलाभ नहीं कर सका था; पर अभिमन्युने उसे भेदकर उसमें प्रवेश किया और कौरवपक्षके असंख्य वीरोंको रणभूमिमें सुला दिया। सारी कौरवसेना विचलित हो उठी। तब अन्तमें द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा आदि सात महारथियोंने इनको चारों ओरसे घेर लिया और बार-बार हार खाते हुए बड़ी कठिनतासे अन्याययुद्ध करके इनका वध कर सके। उत्तरा उस समय गर्भवती थी। इसी गर्भसे पाण्डवोंके उत्तराधिकारी महाराज परीक्षित्‌का जन्म हुआ था।

उद्धवजी

देवगुरु बृहस्पतिके शिष्य, भगवान् श्रीकृष्णके सखा और मन्त्री उद्धवजी मथुरासे भगवान्‌का संदेश लेकर व्रजमें आये थे। उस समयका वर्णन श्रीमद्भागवत तथा सूरदासजीके पदोंमें भक्तिकी धारासे आप्लावित है। भगवान् द्वारकासे निजधाम गोलोक जाने लगे। उद्धवजीको उन्होंने तत्त्वज्ञानका

उपदेश करके आदेश दिया, 'आप बद्रीनाथमें तपस्या करते हुए अपनी शक्तिसे कलियुगमें मेरे भक्तोंका पोषण करें।'

उद्धवजी श्रीकृष्णचन्द्रके समीपसे बद्रीनाथके लिये चले। मार्गमें प्रेममयी व्रजभूमिने उन्हें आकर्षित किया। एक स्वरूपसे वे गिरिराज गोवर्धनके समीप लता-वल्लियोंमें अन्तर्हित हो गये और दूसरे रूपसे बद्रीनाथ चले गये। भगवान्‌के निजलोक पधारनेपर महाराज युधिष्ठिरने मथुराका राज्य श्रीकृष्णचन्द्रके प्रपौत्र वज्रनाभको प्रदान किया। वज्रनाभ श्रीकृष्णचन्द्रकी अवशिष्ट पत्नियोंके साथ व्रज पधारे। कालिन्दीके उपदेशसे गिरिराजके समीप उन्होंने हरिनाम-संकीर्तनका आयोजन किया। इस संकीर्तनमें उद्धवजी प्रकट हुए। उद्धवजीने सबको एक मासमें श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी। कथाके अन्तमें सबने नित्य-लीलामें प्रवेश प्राप्त किया।

अपने दूसरे अलक्ष्य रूपसे उद्धवजी बद्रीनाथमें तप कर रहे हैं। उनकी तपःशिला उद्धवशिलाके नामसे वहाँ पूजित होती है। कलिके अन्तमें वे लोकमें भागवतधर्मको पुनः स्थापित करेंगे।

विदुरजी

जीवोंके नियन्ता धर्मराज महर्षि अणिमाण्डव्यके शापसे विचित्रवीर्यकी दासीके गर्भमें भगवान् व्यासके औरस-रूपमें उत्पन्न हुए। अन्ततक उन न्यायमूर्ति विदुरजीने बड़े भाई धृतराष्ट्रको नीति एवं धर्मपर चलनेका उपदेश किया। लाक्षाभवनमें पाण्डवोंको जलानेकी दुरभिसन्धि उन्हींकी चेतावनीसे असफल हुई। पाण्डवोंके वनवासके समय उनकी माता कुन्तीदेवी विदुरजीके समीप ही रहीं। सन्धिदूत बनकर श्रीकृष्ण जब पधारे, उन्होंने स्वतः विदुरपत्नीका आतिथ्य ग्रहण किया। दुर्योधनके द्वारा अपमान किये जानेपर विदुरजी अवधूत-वेशमें तीर्थाटन करने चले गये। उन्होंने तीर्थाटन करते समय उद्धवजीसे महाभारतके युद्ध और यदुकुलके उपसंहारका समाचार सुना। हरद्वारमें मैत्रेयजीसे ज्ञानोपदेश प्राप्तकर वे हस्तिनापुर लौटे। उन्हींके उपदेशसे धृतराष्ट्रको वैराग्य हुआ। धृतराष्ट्रके वन जानेपर विदुरजी भी चले गये। श्रीविदुरजीका नीति-उपदेश 'विदुरनीति' कहा जाता है। विदुरजी नीतिके साथ अध्यात्मज्ञानमें भी परम निष्णात थे। भगवान् श्रीकृष्णमें उनका अनन्य अनुराग था। उनके आदेशको धृतराष्ट्रने माना होता तो महासंहार बच गया होता।

संजय

सूतजातिमें गवल्गणके पुत्र संजय महाराज धृतराष्ट्रके मन्त्री थे। भगवान् व्यासने धृतराष्ट्रको महाभारतका युद्ध देखनेके लिये दिव्यदृष्टि देनी चाही। धृतराष्ट्रने अपने पुत्रोंका निधन देखनेसे अरुचि प्रकट की। व्यासजीकी कृपासे सञ्जयको दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई। युद्धमें जो कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष होता था, वह सब संजय देख सकते थे। वे लोगोंके संकल्पके भी द्रष्टा हो सके थे। धृतराष्ट्रको उन्होंने ही सम्पूर्ण महाभारत सुनाया।

भगवान् श्रीकृष्णके अन्तरङ्ग विश्वासपात्र थे। जहाँ भगवान्‌के अन्तःपुरमें कोई भी नहीं जा सकते थे, वहाँ इनको प्रवेशाधिकार प्राप्त था।

धृतराष्ट्र कुन्ती और गान्धारीके साथ जब विरक्त होकर वनमें चले गये, तब संजयने हस्तिनापुर छोड़ दिया और वे हिमालयमें तप करने चले गये। सु०

हिंदू-समाजपर अपहृत हिंदू अबलाके दो आँसू

(रचयिता—पं० श्रीराधेश्यामजी द्विवेदी साहित्य-मनीषी)

अपहृत अबलाके आँसूसे है धरा धसकती जहाँ-तहाँ।
ओ जगद्गुरु-पूजक हिंदू! तुम भूले उनकी सीख कहाँ॥
अत्याचारीके पंजेसे उन्मुक्त निराश्रित अबलाएँ।
रो-रो कहतीं! हम-निरपराध, भैया मेरे अब जायँ कहाँ॥
तुम ही कह दो, क्या नहीं तुम्हारी पुरुषहीनताका प्रसाद।
लुट गया धर्म जिसके कारण हम रहें बहिष्कृत पड़ी यहाँ॥
कर रहे कुठाराघात स्वयं हिंदू-संस्कृतिपर हिंदू ही।
ओ प्रलय-देवता! छिपे आज तुम कहाँ, तुम्हारी भक्ति कहाँ॥
'शङ्कराचार्य'की ज्योति तुम्हीं, ओ 'मालवीय'के शुभ प्रकाश!
हो प्रकट शून्य-अज्ञान-हृदय, हिंदू! अपनालो हमें यहाँ॥
औरस-संतति-प्रिय ओ हिंदू! मस्तिष्क तुम्हारा आज कहाँ।
कर शीघ्र ठिकाने उसे आज, अपनालो हमको जहाँ-तहाँ॥
क्यों विवशकर रहे हमें, भ्रात! कर्तव्य मार्गसे च्युत होने।
सन्तान वर्ण-संकर जनने, मा-बाप! भगाते हमें कहाँ॥
हो रही खोखली जड़ हिंदू-संस्कृतिकी, देखो नेत्र खोल।
कीटाणु नष्टकर फिर समाजको पनपानेकी चाह कहाँ॥

कुछ आदर्श हिंदू-देवियाँ

(लेखक—प० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

सती सावित्री

मद्रदेशके नरेश अश्वपति धर्मके प्राण थे। धर्मानुकूल पवित्र आचरण एवं इन्द्रिय-संयमपूर्वक भगवद्भजन ही उनके जीवनका आधार था। अठारह वर्षोंतक सावित्रीदेवीकी आराधना करके इन्होंने सन्तति-प्राप्तिका आशीर्वाद पाया था। सावित्रीने इन्हींकी सौभाग्यवती पत्नी (जो मालवनरेशकी कन्या थीं)के गर्भसे जन्म लिया था।

सावित्री अपूर्व गुण-शीलवती थी। वह क्रमशः बढ़ती हुई विवाहके योग्य हुई। उस समय वह बाह्याभ्यन्तर सौन्दर्यकी जीवित प्रतिमा-सी प्रतीत होती थी। अनुपम रूप-लावण्यके साथ उसमें अतुलनीय तेज भी उद्भासित हो रहा था, जिसके कारण लोग उसे देवकन्या समझ लेते थे और इसी कारण कोई भी राजकुमार उसका पति बननेका साहस नहीं कर सका।

सावित्रीको पूर्णवयस्का देखकर चिन्तित अश्वपतिने उसे स्वयं वर ढूँढ़नेका आदेश दिया। अत्यन्त लज्जा और सङ्कोचसे माता-पिताके चरणोंका स्पर्श कर वह वृद्ध मन्त्रियोंके साथ रथारूढ़ होकर रमणीय तपोवनकी ओर चली। कुछ दिनोंके बाद जब वह लौटी; तब देवर्षि नारद उसके पिताके समीप बैठे हुए मिले। चरण-स्पर्श करनेपर अश्वपतिके साथ श्रीनारदजीने भी उसे प्रेमपूर्वक आशिष दी।

अश्वपतिने सावित्रीको वरान्वेषणके लिये भेजा था, यह संवाद श्रीनारदजीको पहले ही बतला दिया गया था। उन्होंने सावित्रीसे धीरेसे कहा, 'बेटी! तुमने किसे पति चुना है; देवर्षिसे बता दो।'

सावित्रीने नतमुख हो अत्यन्त संक्षेपसे कहा—'शाल्व-देशके धर्मपरायण नरेश द्युमत्सेनके पुत्रका नाम सत्यवान् है। सत्यवान्‌ने जन्म तो नगरमें लिया था, पर उनका लालन-पालन तपोवनमें हुआ है। मैंने उन्हींके चरणोंमें अपनेको समर्पित करनेका निश्चय किया है। द्युमत्सेन नेत्रहीन हो गये हैं और उनके एक शत्रु राजाने उनका राज्य भी छीन लिया है। वे अपनी पतिव्रता पत्नी और शीलवान् तथा धर्मज्ञ सुपुत्रके साथ तपोवनमें निवास कर रहे हैं। इस प्रकार सत्यवान्‌का जीवन ऋषिकुमारों-सा हो गया है।'

उदास-मुँह होकर श्रीनारदजीने कहा—'राजन्! यह अत्यन्त खेदकी बात है। निश्चय ही सत्यवान् रूप, शील और गुणोंमें अद्वितीय हैं; किंतु एक वर्षके बाद ही उनकी आयु समाप्त हो जायगी। वे इस लोकमें नहीं रह सकेंगे।'

अश्वपति बोलना ही चाहते थे कि धर्मज्ञा सावित्रीने तुरंत कहा—'पिताजी! सत्यवान् दीर्घायु हों अथवा अल्पायु, गुणवान् हों अथवा निर्गुण, मैंने एक बार उन्हें अपना पति स्वीकार कर लिया। अब दूसरे पुरुषको मैं नहीं वर सकती।'*

सावित्रीका निश्चय सुन लेनेपर देवर्षि नारदजीने अश्वपतिसे कहा—'राजन्! सावित्री बुद्धिमती और धर्माश्रया है। आप इसे सत्यवान्‌के हाथों सौंप दें।' देवर्षि चले गये।

अश्वपति समस्त वैवाहिक सामग्रियोंके साथ द्युमत्सेनके आश्रमपर पहुँचे। द्युमत्सेनने इनका यथोचित सत्कार किया। वे सावित्रीके गुणोंपर मुग्ध होकर अश्वपतिका आग्रह नहीं टाल सके। उसी तपोवनमें सावित्रीका परिणय सत्यवान्‌के साथ विधिपूर्वक हो गया। अत्यधिक वस्त्राभूषण देकर अश्वपति विदा हुए।

पिताके जाते ही सावित्रीने आभूषणादि उतारकर वनोचित वस्त्र धारण कर लिये। वह तपस्विनी हो गयी। उसने अपने सद्गुण, विनय और सेवाके द्वारा सास-श्वशुरके मनपर अधिकार कर लिया। वह सास-श्वशुरकी आँखोंकी पुतली बन गयी। पति तो उसे प्राणकी तरह प्यार करते ही थे।

सावित्रीसे पूरा परिवार परम सन्तुष्ट था, वह स्वयं सन्तुष्ट और अत्यन्त सुखी दीखती थी; परंतु उसे श्रीनारदजीकी बात याद थी। उसका हृदय प्रतिक्षण अशान्त रहता था। पतिकी मृत्युकी स्मृतिसे उसका कलेजा काँप जाता था। उधर समय सरिताकी तीव्र धाराकी भाँति द्रुतगतिसे भागा जा रहा था।

धीरे-धीरे वह समय भी आ गया जब सत्यवान्‌की मृत्युके चार दिन शेष रह गये थे। पतिप्राणा सावित्री अधीर हो गयी

---

* दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥
(महा० वन० २९४। २७)

थी। उसने तीन रात्रिका निराहार व्रत धारण किया। चौथे दिन उसने प्रातःकाल ही सूर्यदेवको अर्घ्य दानकर सास-श्वशुर तथा ब्राह्मणोंका शुभ आशीर्वाद प्राप्त किया। इसके बाद देवर्षि श्रीनारदजीके वचनानुसार वही दिन आ गया, जिस दिन सत्यवान्‌को काल-ग्रास बनना था।

सत्यवान् समिधा लेने चले, तब सास-श्वशुरकी आज्ञा लेकर सावित्री उस दिन उनके साथ हो गयी। वनमें थोड़ी लकड़ी भी वे नहीं ले पाये थे कि उनका सिर चकराने लगा; सिरकी असह्य पीड़ाके कारण सत्यवान् सावित्रीकी गोदमें लेट गये। फूल-सी कोमल सावित्रीका हृदय हाहाकार कर उठा।

उसने देखा, सामने लाल वस्त्र पहने श्यामकाय एक देवपुरुष खड़े हैं। चकित होकर उसने प्रणाम किया तो उत्तर मिला, सावित्री! मैं यम हूँ। तुमने अपने कर्तव्यका पालन किया है। अब मैं सत्यवान्‌को ले जाऊँगा। इनकी आयु पूरी हो गयी है।'

यम सत्यवान्‌के सूक्ष्मशरीरको लेकर आकाशमार्गसे चल पड़े। अधीरा सावित्री भी उनके पीछे लग गयी। यमराजने उसे लौटनेके लिये कहा तो वह बोली, 'भगवन्! पतिदेवका साथ मुझे अत्यन्त प्रिय है। मेरी गति कहीं नहीं रुकेगी, मैं इनके साथ ही चलूँगी।'

सावित्रीकी धर्मयुक्त वाणी सुनकर यमने उससे सत्यवान्‌को छोड़कर अन्य वर माँगनेके लिये कहा तो सावित्रीने अपने श्वशुरकी नेत्रज्योति माँग ली, पर फिर भी उनके साथ चलती रही। यमने उसके कष्टको देखकर कहा, 'अब तुम लौट जाओ;' पर उसने उत्तरमें कहा, 'पतिके साथ आपका दुर्लभ सङ्ग छोड़कर मैं नहीं जा सकूँगी।' यमने पुनः उससे सत्यवान्‌के अतिरिक्त वरदान माँगनेके लिये कहा। सावित्रीने अपने श्वशुरका खोया राज्य माँग लिया।

यमने देखा वह अब भी पीछे चली आ रही है और रह-रहकर प्रार्थना करती हुई सत्सङ्ग-महिमा तथा धर्मयुक्त बातें कहती जाती है। प्रसन्न होकर यमराजने फिर वैसे ही वरदान माँगनेके लिये कहा तो उसने अपने निस्सन्तान पिताके लिये सौ औरस पुत्र माँग लिये। चौथी बार यमराज शर्त लगाना भूल गये, तब उसने अपने लिये भी सत्यवान्‌के वीर्यसे सौ पुत्रोंका वरदान प्राप्त कर लिया।

इतनेपर भी उसने यमका साथ नहीं छोड़ा। सतीत्वके कारण उसकी गति अबाध थी। उसने यमकी स्तुति करते हुए कहा, 'भगवन्! अब तो आप सत्यवान्‌के जीवनका ही वरदान दीजिये। इससे आपके ही सत्य और धर्मकी रक्षा होगी। पतिके बिना सौ पुत्रोंका आपका वरदान सत्य नहीं हो सकेगा। मैं पतिके बिना सुख, स्वर्ग, लक्ष्मी और जीवनकी भी इच्छा नहीं रखती।'

अत्यन्त सन्तुष्ट होकर यमने सत्यवान्‌को अपने पाशसे मुक्त कर दिया और अपनी ओरसे चार सौ वर्षकी नवीन आयु दे दी। सतीत्वके प्रभावसे नवीन प्रारब्ध बन गया।

इस प्रकार सावित्रीने अपने सुहागकी रक्षा की तथा अपने पातिव्रत्यसे पतिकुल और पितृकुल दोनोंको सुखी बनाया। पतिव्रताओंकी अमोघ शक्तिको तो उसने जगत्‌के सामने उपस्थित किया ही।

प्रातःस्मरणीया अनसूया

पुण्यश्लोका अनसूया स्वायम्भुव मनुकी पुत्री देवहूतिकी दुहिता थीं। महर्षि कर्दम इनके पिता थे। सिद्धेश्वर कपिल, जो भगवान् विष्णुके अवतार माने जाते हैं, इनके छोटे भाई थे। श्रीअनसूयाजी अत्यन्त सत्यपरायणा, धर्मशीला, शीलवती, सदाचारिणी, विनयवती, लज्जावती, क्षमाशीला तथा परमसहिष्णु थीं। ये समस्त दिव्य गुणोंसे सम्पन्न थीं। अत्यन्त संयमी तथा तपस्विनी थीं। यही कारण था कि ब्रह्माजीके मानस पुत्र परम तपस्वी महर्षि अत्रिको इन्होंने पतिरूपमें प्राप्त कर लिया।

महर्षिके चरणोंमें इनकी अनन्य प्रीति थी। ये सदैव ऋषिके मनोऽनुकूल उनकी सेवामें लगी रहती थीं। ऋषिके लिये ही इन्होंने अपने जीवनका उपयोग समझा था और इस प्रकार ये महर्षि अत्रिको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थीं।

इन्होंने अपने जीवनमें पतिसेवाको ही प्रधानता दी। ये सतियोंमें सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं। एक बार उमा, रमा और ब्रह्माणीने इनके सतीत्वकी ख्यातिसे अपने-अपने पतियोंको इन्हें विचलित करनेके लिये भेजा। भगवान् शङ्कर, क्षीराब्धिशायी विष्णु और चतुरानन अपने-अपने वाहनोंपर अलग-अलग महर्षि अत्रिके आश्रमपर पहुँचे वहाँ तीनों मिले। त्रिदेवोंका एक ही उद्देश्य था।

वे साधुवेषमें भगवती अनसूयाके समीप पहुँचे। भगवती पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय लेकर आयीं तो इन लोगोंने स्वीकार नहीं किया। 'आप विवस्त्र होकर हमारा सत्कार करें तो आपकी पूजा स्वीकार की जा सकती है!' उन लोगोंका विचित्र प्रस्ताव सुनकर ये चकित हो गयीं।

सतीकी अपार महिमा है। श्रीअनसूयाजीने तनिक-सा ध्यान लगाया तो सब जान गयीं। उन्होंने कहा 'यदि मैं सच्ची पतिव्रता हूँ; भूलसे स्वप्नमें भी कामभावसे पर पुरुषका चिन्तन न किया हो तो ये तीनों छः-छः मासके बच्चे हो जायँ।'

सतीका इतना कहना था कि त्रिदेव छः मासके बच्चे बन गये। अब विवस्त्रा होकर माताने दुग्ध पान कराया। महर्षिने आकर यह दृश्य देखा तो हँस पड़े। अब त्रिदेव माताके दुग्धपर जीवन धारण कर रहे थे।

इधर अधिक दिन बीत जानेपर उमा-रमा-ब्रह्माणी तीनों अपने-अपने पतियोंका पता लगाने चलीं, तो महर्षि अत्रिके आश्रमके समीप तीनोंका मिलन हो गया। तीनोंने माता अनसूयासे क्षमा माँगी। कृपापूर्वक अनसूयाने उनके पतियोंको वापस किया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीनोंने अपने-अपने अंशसे उनका पुत्र बननेका वचन दिया।

पिताकी आज्ञासे भगवान् श्रीरामचन्द्रने जब वन-गमन किया था, तब वे महर्षि अत्रिके आश्रमपर भी ठहरे थे। वहाँ महर्षिने स्वयं अपने मुँहसे अनसूयाजीके लिये श्रीरामसे कहा था कि 'ये तुम्हारी माताकी भाँति पूजनीया हैं। जनकनन्दिनी इनके पास जायँ, ये सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये वन्दनीय हैं।'

श्रीसीतादेवीने आश्रममें जाकर श्रद्धापूर्वक भगवती अनसूयाके चरणोंमें प्रणाम किया। पतिके साथ वनमें आनेका समाचार पाकर श्रीअनसूयाने अत्यन्त प्रसन्न होकर सीतादेवीसे कहा था—

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः॥
दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः॥

(वा० रा० अयोध्या० ११७। २१-२२)

'स्वामी नगरमें रहें या वनमें; भले हों या बुरे—जिन स्त्रियोंको वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है। पति बुरे स्वभावका, मनमाना बर्ताव करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो—वह उत्तम स्वभाववाली नारियोंके लिये श्रेष्ठ देवताके समान है।'

श्रीसीताजीके मुँहसे सती-धर्मकी महिमा सुनकर भगवती अनसूया अत्यन्त प्रसन्न हुई थीं। उन्होंने श्रीसीताजीसे जो कुछ कहा, उसे भक्तप्रवर श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें पढ़िये—

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता बयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥
बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई।
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

सतीत्वकी महिमा बतलानेके बाद श्रीअनसूयाजीने श्रीसीतादेवीको अत्यन्त प्रेमपूर्वक सुन्दर वस्त्राभूषण और अनुलेपन प्रदान किये थे और अपने हाथसे ही धारण करवाये थे। ऋषिपत्नीद्वारा मातृस्नेह पाकर श्रीसीतादेवी बड़ी सुखी हुई थीं। उनसे विदा होते समय श्रीसीतादेवीकी आँखें बरबस गीली हो गयीं।

श्रीअनसूयाजीने अपने तपके प्रभावसे ही श्रीगङ्गाजीकी एक धारा प्रकट कर दी, जो मन्दाकिनीके नामसे प्रसिद्ध है एवं उसमें मज्जन-पानसे पाप-ताप शान्त हो जाते हैं।

सती दमयन्ती

विदर्भनरेश भीष्मकको महर्षि दमनकी सेवासे चार सन्तानें हुईं—तीन पुत्र और एक पुत्री। दम, दान्त और दमन पुत्रोंके नाम थे। पुत्रीका नाम दमयन्ती रक्खा गया।

दमयन्ती अत्यन्त रूपवती थी। वह शील और सदाचारादि अनुपम गुणोंसे भी सम्पन्न थी। धीरे-धीरे उसने यौवनमें प्रवेश किया। उस समय एक दिव्य हंसने निषध नरेश नलसे इसकी प्रशंसा करके उनके हृदयमें दमयन्तीके लिये प्रेमका बीज बो दिया और उसी हंसने दमयन्तीके सामने नलके गुण गा-गाकर उसे नलकी ओर आकृष्ट कर दिया। नल और दमयन्ती अपने-अपने निवासपर रहते हुए ही एक-दूसरे पर हृदयसे अनुरक्त हो गये और पारस्परिक मिलनकी कामना करने लगे।

आदर्श पतिव्रता

सीता सावित्री सतीके तप तेज विशाल ।
वे निशिचर-कुल-काल हैं, इनसे हारा काल ॥

आदर्श पतिव्रता

अनसूया द्रुपदात्मजा दमयन्ती दुखलीन ।
निज सतीत्वके तेजसे चमक उठीं ये तीन ॥

भीष्मकने दमयन्तीको विवाहके योग्य देखकर उसके स्वयंवरकी तिथि निश्चित की। दमयन्तीके अपूर्व लावण्य एवं गुणोंकी प्रशंसा सुनकर देवलोकसे देवता और यक्ष तथा गन्धर्व भी विवाहकी कामनासे विदर्भ-राज्यमें पधारे। आमन्त्रण पाकर अन्य राजकुमारोंकी भाँति नल भी गये।

इन्द्रादि देवोंने लोकोत्तर रूप-सम्पत्तिसम्पन्न नलको देखकर उन्हें दमयन्तीके पास अपनेको पतिके रूपमें वरण करनेके लिये भेजा। उन्होंने नलको अन्तर्धान-विद्या प्रदान कर दी थी।

नल उक्त विद्याके सहारे महलमें दमयन्तीके सामने पहुँच गये। पूछनेपर दमयन्तीसे उन्होंने अपना स्पष्ट परिचय बता दिया और यह भी कहा कि 'इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम ऐसे देवोंसे अपनी रक्षा किसी प्रकार सम्भव नहीं। अतः तुम इनमेंसे किसी एकको पतिरूपमें स्वीकार कर लो।'

दमयन्ती रोने लगी। उसने अपना दृढ़ निश्चय व्यक्त किया, 'मैंने आपको पति मान लिया है। अब अन्यकी पत्नी नहीं बन सकूँगी।'

नल लौट आये। उन्होंने दमयन्तीकी सारी बातें स्पष्ट कह दीं। देवता नलके वेषमें स्वयंवरमें पधारे। दमयन्तीने एक स्थानपर नलके स्वरूप पाँच एक-सरीखे देखे, पर उसने सतीत्वके बलपर निषध-नरेशको पहचान लिया और उनके ही गलेमें वरमाला डाल दी। अन्य सभी निराश हो गये।

दमयन्तीका त्याग अपूर्व था। उसने मनसे निश्चित पतिके लिये देवताओंको भी ठुकरा दिया। धर्मज्ञ देवगण इससे प्रसन्न हुए और इन्द्रने यज्ञमें अपना दर्शन देनेके लिये नलको वरदान दिया। अग्निने कहा, 'तुम्हारे स्मरण करते ही मैं प्रकट हो जाऊँगा और मेरे ही समान प्रकाशमय लोक तुम्हें मिलेगा।' यमराजने कहा, 'तुम्हारे हाथकी रसोई मीठी होगी' और वरुणने वर देते हुए कहा कि 'तुम्हारी इच्छासे ही जल प्रकट हो जाया करेगा।' दमयन्ती नलकी राजरानी बनकर राज्यमें आ गयी और उन दोनोंका जीवन सुखपूर्वक बीतने लगा।

नल सर्वगुणसम्पन्न थे, परंतु द्यूत-क्रीड़ाका उनमें एक दोष भी था और यही कारण था कि कुछ ही दिन बीतनेपर वे एक दिन अपनेसे अलग रहनेवाले अपने भाई पुष्करके साथ जूआ खेलने बैठ गये। जूएमें सारा राज्य वे हार गये। एक वस्त्र पहनकर उन्हें राज्यका परित्याग करना पड़ा। साध्वी दमयन्ती भी एक साड़ी पहने उनके साथ चली। नगरनिवासी पुष्करके आदेशानुसार अपने राजाका स्वागत भी नहीं कर सके।

नल तीन दिनोंतक भूखे रहे। चौथे दिन उन्होंने स्वर्णपंखवाले कुछ पक्षी देखे। उन्हें पकड़नेके लिये उन्होंने अपनी धोती उनपर फेंकी तो वे धोती लेकर उड़ गये। अब एक साड़ीमें ही दोनों पति-पत्नी छिपकर रहने लगे।

अत्यन्त कोमलाङ्गी दमयन्तीके मनमें पति-साहचर्यके कारण यद्यपि सुखकी ही अनुभूति हो रही थी, तथापि नलसे यह देखा नहीं गया। उन्होंने सोचा, 'यह सती है, सुरक्षित घर पहुँच ही जायगी।' इस विचारसे उन्होंने उसकी साड़ीका अर्द्ध भाग तलवारसे फाड़ लिया और उसे सोती छोड़कर चले गये।

निद्रा टूटनेपर दमयन्ती विलाप करने लगी। इसी बीचमें एक अजगर आ गया और वह मुँह फैलाकर दमयन्तीको निगलने लगा। यह दृश्य एक व्याधने देखा और उसने तुरंत अजगरको मार डाला। पर वह दुष्टबुद्धि था। वह दमयन्तीके सौन्दर्यको देखकर अधीर हो गया और उसने बलात्कार करना चाहा; किंतु दमयन्तीके तेजको वह नहीं सह सका। वहीं भस्म हो गया।

दमयन्ती रोती हुई दैवयोगसे चेदिनरेश राजा सुबाहुकी राजधानीमें जा पहुँची। खिड़कीसे राजमाताने उसे अपने पास बुला लिया और दमयन्तीके पातिव्रत्यपर आँच न आने पाये, ऐसी शर्तोंपर उसे अपने पास रखना स्वीकार कर लिया। कुछ ही दिनोंके बाद पता चला कि राजमाता दमयन्तीकी सगी मौसी थीं। उसके बाद ही दमयन्ती अपने पिताके घर चली गयी।

उधर नल दमयन्तीको छोड़कर आगे बढ़े तो वनमें सहसा दावाग्नि उठी। उसके भीतर नारदजीके शापसे कर्कोटक नाग पड़ा हुआ था। नलने उसकी रक्षा की और नागसे उनकी मैत्री हो गयी। उसने नलका रूप बदल दिया। वे काले हो गये और उसने उन्हें एक चद्दर भी दे दी, जिसे ओढ़ लेनेपर वे पुनः अपने पूर्वरूपमें हो सकते थे।

नागकी सम्मतिके अनुसार नलने अपना नाम बाहुक रख लिया और ऋतुपर्णकी राजधानी अयोध्यामें आकर प्रतिमास दस सहस्र स्वर्णमुद्रा वेतनपर अश्वशालाके अध्यक्ष बन गये।

दमयन्तीने नलको ढूँढ़नेके लिये अपने पिताके द्वारा अनेक ब्राह्मणोंको चतुर्दिक् भिजवा दिया। एक ब्राह्मण अयोध्या भी पहुँचा। उसे बाहुककी बातोंपर सन्देह हुआ और उसने यह समाचार दमयन्तीतक पहुँचा दिया। 'मैं पुनः

स्वयंवर करूँगी। आप कलतक आ जायँ।' यह संवाद दमयन्तीने ऋतुपर्णके पास भिजवाया।

ऋतुपर्णने बाहुकको बताया। वे चिन्तित हो गये; पर तुरंत रथ तैयार किया और ऋतुपर्णको लेकर विदर्भके लिये प्रस्थित हो गये। रथ हवाकी तरह इतने वेगसे उड़ा जा रहा था कि ऋतुपर्णकी चादर गिरी। किंतु उसे उठानेके लिये झुके तबतक रथ कई कोस दूर चला गया था। रास्तेमें ही नलने ऋतुपर्णको रथ हाँकनेकी विद्या बता दी और नलने ऋतुपर्णसे द्यूतक्रीड़ामें विजय पानेकी विद्या सीख ली।

विदर्भ अयोध्यासे सौ योजन दूर था। पर बाहुक एक दिनमें ही वहाँ पहुँच गया। वहाँ स्वयंवरकी कोई बात नहीं थी। दमयन्तीने प्रत्येक रीतिसे परीक्षा करके देख लिया कि ये नल ही हैं। नलने इसे दमयन्तीके सामने स्वीकार किया ही था कि आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी। वायुदेवने पहले ही दमयन्तीके पातिव्रत्यका साक्ष्य दे दिया था।

कर्कोटकका वस्त्र पहनकर नल अपने पूर्वरूपमें हो गये। उनकी आकृतिपर दिव्यता झलकने लगी। सर्वत्र प्रसन्नता छा गयी।

नल दमयन्तीके साथ निषध पहुँचे और वहाँ जूएमें पुष्करको परास्त किया तथा पुनः निषध-नरेशका पद प्राप्त कर लिया। राजा होनेपर भी उन्होंने अपने उदार स्वभावके कारण पुष्करको निर्वासित नहीं किया।

भीषण विपत्तिमें भी अनुपम सौन्दर्यमयी दमयन्तीने अपने सतीत्वकी रक्षा की तथा अपने पतिको प्राप्त कर लिया—यह उसीका काम था। भारतकी इस पुण्य-नारीपर विश्वके पुरुषोंके मस्तक स्वतः नत हो जाते हैं।

जगज्जननी सीता

सती-शिरोमणि जगज्जननी श्रीसीतादेवी मिथिला-नरेश सीरध्वज जनक-जैसे परम धर्मात्मा एवं वैराग्यवान् पिताकी पुत्री थीं। अपने त्याग और ब्रह्मज्ञानके प्रभावसे जनकने राजर्षिकी उपाधि प्राप्त कर ली थी। यज्ञके लिये वे एक बार हल जोत रहे थे। उस समय चौड़े मुँहवाली सीता (हलके धँसनेसे बनी हुई गहरी रेखा) से परम रूप-लावण्यसम्पन्ना तेजस्विनी कन्याका प्रादुर्भाव हुआ। वे ही सीता कहलायीं।

श्रीसीतादेवी दिव्य गुणोंका अक्षय आगार थीं। इनके सरल स्वभाव, अविचल मातृ-पितृ-भक्ति और अद्भुत रूपके कारण माता-पिता तो इनपर मुग्ध थे ही; जो भी इन्हें एक बार देख लेता मुग्ध हो जाता। ये शुक्ल पक्षके चन्द्रकी भाँति धीरे-धीरे बढ़ने लगीं और समयपर विवाहके योग्य वयको प्राप्त हुईं।

मिथिलानरेश अपनी अनुपम पुत्रीके लिये उपयुक्त वर प्राप्त करना चाहते थे, इसलिये उन्होंने प्रतिज्ञा की कि श्रीशिवजीके धनुषको भंग करनेवाला ही सीताका पति होगा। धनुष-भंग श्रीविश्वामित्रके साथ पधारे हुए अवधनरेश दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामचन्द्रने किया और सीतादेवी उनसे ब्याह दी गयीं। अब वे पितृकुलसे विदा होकर अयोध्यामें आयीं।

पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये भगवान् श्रीरामने चतुर्दश वर्ष वनमें व्यतीत करनेके लिये प्रस्थान करना चाहा। उस समय कौसल्यादेवी अपनी पुत्रवधू सीताका मुँह देखकर जिस प्रकार आकुल और अधीर हो गयीं, उससे स्पष्ट हो जाता है कि सीताके दिव्य एवं आदर्श सद्गुणोंसे सास-ससुर अत्यन्त प्रभावित थे। रोती हुई माता कौसल्याने कहा—

मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई ॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई ॥

....

जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ ॥
सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा ॥

भगवान् श्रीरामने सीताके सामने वनकी भयङ्कर विपत्तियोंका वर्णन किया तो वे अधीर हो गयीं। उन्होंने जिस दृढ़तासे अपने आन्तरिक प्रगाढ़ प्रेम और पति-पद-पद्मोंमें अनुरक्ति व्यक्त की थी, वह विश्वके नारी-समाजके लिये आदर्श है। उन्होंने कहा—

प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान ॥

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई ॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई ॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते ॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू ॥
भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू ॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें ॥

खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुख मूल ॥

....

बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु वियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥
अस जियँ जानि सुजान सिरोमनि। लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि॥
बिनती बहुत करौं का स्वामी। करुनामय उर अंतरजामी॥

राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।
दीनबंधु सुंदर सुखद सील सनेह निधान॥

....

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू॥

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

भगवान् विवश हुए और श्रीसीतादेवीको साथ चलनेकी स्वीकृति दे दी। श्रीसीता तो यही चाहती थीं। उनका यही सुख था, इसीमें शान्ति थी कि नित्य प्रभुके चरण-कमलोंकी भ्रमरी बनी रहें। भगवान् गङ्गाके पार पहुँचते हैं, वे अवध-नरेशके पुत्र होनेपर भी केवटको कुछ नहीं दे पाते, इस कारण अत्यन्त लज्जित होते हैं; पर सीता-जैसी अनुभवी और चतुरा गृहिणी तुरंत अपनी मणि-मुदरी प्रसन्नमन दे देती हैं। यह सर्वोत्तम आदर्श व्यवहार नारी ही कर सकती है। श्रीगोस्वामीजीके मुँहसे सुन लें—

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥
पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥

प्राणप्रिय भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणके साथ श्रीसीता-देवी महर्षि अत्रिके आश्रमपर गयी थीं। वहाँ सती अनसूयाने इन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट की और पातिव्रत्यके दिव्य उपदेशके साथ प्रेमपूर्वक वस्त्राभूषण और अङ्गराग दिया तथा उसे अपने सामने धारण कराया।

इस प्रकार वे जहाँ भी गयीं, उनके शील, सरलता और स्नेहादि दिव्य गुणोंपर चराचर प्राणी मुग्ध होते गये।

श्रीसीतादेवी पतिके समीप रहकर भयङ्कर जन्तुपूरित भीषण वनमें भी पतिचरणोंके सामीप्यसे अत्यन्त सुखानुभव कर रही थीं, किंतु भगवान्‌को कुछ और ही लीला करनी थी। रावणकी बहिन शूर्पणखा सज-धजकर पञ्चवटीमें इस त्रिमूर्तिके सामने आयी। उसकी कुचेष्टासे विवश होकर श्रीलक्ष्मणने उसके नाक-कान काट लिये। वह राक्षसी खर, दूषण और त्रिशिराको चौदह सहस्र सैनिकोंके साथ ले आयी। वे सब भगवान् श्रीरामके तीक्ष्ण शरोंसे आहत होकर मर मिटे।

यह संवाद रावणको मिला। उसने छलका आश्रय लेकर श्रीसीतादेवीको चुरा लिया। श्रीसीतादेवीका कोई वश नहीं था। वे चिल्लाती रहीं, पर रावण उन्हें ले ही गया। वे अशोक-वाटिकामें रक्खी गयीं।

इधर श्रीरामने सुग्रीवसे मैत्री स्थापित की। श्रीहनुमान् असंख्य बंदरोंके साथ जगज्जननीका पता लेने चले। समुद्र लाँघकर श्रीहनुमान् लङ्का पहुँचे। वहाँ अशोकवाटिकाके नीचे देखा, तपस्विनी सीता पतिवियोगमें सूखकर काँटा हो गयी हैं। वे निरन्तर रोते हुए प्रभुके ध्यानमें तल्लीन हैं।

कृसतनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी॥

अशोक-पल्लवकी ओटमें छिपे श्रीहनुमान्‌ने श्रद्धाभिभूत हृदयसे उन्हें मन-ही-मन प्रणाम किया। थोड़ी ही देरमें रावण वहाँ आया और बड़ी-बड़ी युक्तियोंसे उसने सीताको आकृष्ट करना चाहा; पर ऐसे क्रूर राक्षसके समीप एकाकी होनेपर भी उन्होंने जो कुछ उससे कहा, वह सीता-जैसी अद्वितीय पति-परायणा सती देवीके ही अनुरूप है। उन्होंने अत्यन्त दुःख और क्रोधसे कहा—

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥
अस मन समुझु कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की॥
सठ सूनें हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही॥

रावण यह वाग्बाण न सह सका। उसने कहा 'मैं तेरा सिर अपने कठोर कृपाणसे काट डालूँगा, नहीं तो मेरी बात मान ले।' पर श्रीसीतादेवीने तुरंत कहा—

स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा॥

इस सच्चे प्रणकी बलिहारी! धन्य थीं सीता और धन्य था उनका पातिव्रत्य! अञ्जनीनन्दनके नेत्रोंसे आँसू निकल पड़े। रावणके जाते ही उन्होंने माताको प्रणाम करके अपना परिचय दिया। फल खानेकी आज्ञा ली और अनेक राक्षसोंका संहार करते हुए लङ्कामें आग लगा दी। उसे जला-कर राख कर दिया। यह परिणाम निशाचरोंद्वारा उनकी पूँछ जलानेके उपक्रमसे हुआ था।

माताको सान्त्वना देकर श्रीहनुमान् श्रीरामके पास पहुँचे। सीताका करुण-सवाद सुनकर भगवान् अधीर हो उठे। वानरी सैन्यके साथ वे लङ्कापर चढ़ आये तथा समस्त प्रधान निशाचरोंके साथ रावणको मृत्यु-मुखमें डाल दिया। श्रीसीता-देवी लायी गयीं।

श्रीरामने कहा 'मैंने यह श्रम तुम्हें पानेके लिये नहीं; अपितु

अपने कलङ्कको मिटानेके लिये किया है। तुमने राक्षसके अन्तःपुरमें इतने दिनोंतक निवास किया है, इस कारण मैं तुम्हें अपने पास नहीं रख सकूँगा। अपने इच्छानुसार तुम कहीं भी जा सकती हो।'

श्रीसीतापर जैसे वज्र गिर पड़ा। वे कुछ नहीं बोल सकीं। परमपवित्र और सर्वथा निर्दोष मातापर यह सन्देह लक्ष्मणको सह्य नहीं था, पर वे बड़े भाईके सामने विवश थे। उन्होंने माताके सङ्केतसे चिता तैयार कर दी। माताने अवरुद्ध कण्ठसे कहा—

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥

(वा० रा० युद्ध० ११६। २५)

'यदि मेरा हृदय कभी एक क्षणके लिये भी श्रीरघुनाथजीसे दूर न हुआ हो तो सम्पूर्ण जगत्के साक्षी अग्निदेव ही सब ओरसे मेरी रक्षा करें।'

प्रज्वलित अग्निमें श्रीसीतादेवी प्रवेश कर गयीं। इस दृश्यको देख समस्त वानर-भालू और राक्षस चीत्कार कर उठे। आकाशमें देव-समुदाय एकत्र हो गया था। स्वयं अग्निदेवने प्रकट होकर उनकी निर्दोषता सिद्ध की। स्वयं दशरथजीने आकर श्रीसीताकी पवित्रताका बखान करते हुए आशिष दी।

पुष्पक-विमानपर सवार होकर श्रीसीतादेवी तथा समस्त वानरोंके साथ भगवान् अयोध्या पधारे। राज्यका शासन-सूत्र अपने हाथमें लिया। श्रीसीतादेवीके सद्गुणोंसे सभी उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखते थे।

समयपर श्रीसीतादेवी गर्भवती हुईं। पर एक साधारण धोबीके कथनको गुप्तचरोंद्वारा सुनकर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने प्रजारञ्जनके लिये बड़ी कठोरतासे काम लिया। उन्होंने श्रीसीतादेवीको वनमें छोड़ आनेके लिये लक्ष्मणको भेजा। लक्ष्मणने अपनी छातीपर पत्थर रखकर माताको वनमें छोड़ दिया और आँसुओंका भार लेकर लौट आये।

वनमें मूर्च्छिता सीतापर महर्षि वाल्मीकिकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने सीताको अत्यन्त प्रेमपूर्वक अपने आश्रममें रक्खा। वहाँ सीतादेवी फलोंपर जीवन बिता रही थीं। वहीं लव-कुश नामक दो वीर पुत्र उत्पन्न हुए। महर्षिने उन्हें सारी विद्याएँ प्रदान कर दीं।

श्रीरामके अश्वमेधके अश्वको इन दो वीर बालकोंने उनकी विपुल वाहिनीका संहार करके छीन लिया। फिर श्रीसीतादेवीने अश्वको वापिस कर दिया और उनके सैनिकोंको भी अपने सतीत्वके बलसे जीवित कर दिया।

श्रीरामके अश्वमेध-यज्ञमें लव-कुश भी गये थे। उनके मुँहसे रामायण सुनकर भगवान् बहुत प्रसन्न हुए और जब उन्हें पता चला कि ये मेरे ही पुत्र हैं तब बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने आग्रहपूर्वक महर्षि वाल्मीकिके साथ श्रीसीतादेवीको बुलवाया और उनसे शुद्धताके लिये शपथ करनेको कहा। यह सुनते ही महर्षि वाल्मीकि बोल उठे—

बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता।
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली॥

(वा० रा० उ० ९६। २०)

'मैंने सहस्रों वर्षतक तपश्चर्या की है। यदि सीता दुष्ट आचरणवाली हो तो मुझे उस तपस्याका फल न मिले।'

सीतादेवी बहुत दुःखी थीं, वे भगवान्का दर्शन कर रही थीं, यही उनके लिये परम सुख था। उन्होंने पृथ्वीसे प्रार्थना करते हुए कहा कि 'यदि मैंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी स्वप्नमें भी भगवान्के सिवा और किसीका चिन्तन न किया हो तो पृथ्वीमाता मुझे अपने अङ्कमें स्थान दें।'

श्रीसीताके कहते-कहते वहाँ पृथ्वी फट गयी—और वहाँसे एक दिव्य और परम सुन्दर सिंहासन प्रकट हुआ। सिंहासनको महापराक्रमी नागोंने अपने सिरपर धारण कर रक्खा था। सिंहासनके साथ साक्षात् पृथ्वीदेवी भी प्रकट हुईं। उन्होंने सीताको अपने अङ्कमें लिया और सिंहासनसहित धीरे-धीरे रसातलमें प्रवेश कर गयीं। आकाशस्थित देवगण भगवतीके जयनादका उच्च घोष करते हुए पुष्प-वर्षण कर रहे थे। अयोध्यानिवासी अवसन्न दृष्टिसे देखते रह गये।

इस प्रकार भगवती श्रीसीतादेवीने अपने जीवनमें अनेक कष्ट सहते हुए भी अपने धर्मपर दृढ़ रहकर विश्वके सामने जो आदर्श रक्खा, उसका अनुकरण और अनुसरण समस्त नारी जातिके लिये अत्यन्त कल्याण प्रद है।

देवी द्रौपदी

द्रौपदीका प्रादुर्भाव महाराज द्रुपदके यहाँ यज्ञकुण्डसे हुआ था। ये अत्यन्त सुकुमार, सुन्दरी और परम साध्वी थीं। पाँचों पाण्डव इनके पति थे। कपट-द्यूतमें समस्त राज्यके बाद महात्मा युधिष्ठिर इन्हें भी दावमें हार गये। द्रौपदी उस समय एकवस्त्रा थीं, परंतु दुराचारी दुर्योधनके क्रूर आदेशसे भरी सभामें लायी गयीं। उनकी कातर प्रार्थना तथा कहते हुए

नयनाश्रु उन पाषाण-हृदयोंको द्रवित न कर सके । दस सहस्र गजोंकी शक्ति रखनेवाला दुष्ट दुःशासन उनकी साड़ी पकड़कर खींचने लगा ।

द्रौपदी काँप गयी । उसकी आँखें मुँद गयीं और प्राण श्रीकृष्णके समीप चले गये । भगवान‌का वस्त्रावतार हो गया और फिर—

दस हजार गज बढ़ घट्यो, घट्यो न गज भर चीर ।

दुःशासन लज्जित होकर पसीना पोंछते हुए बैठ गया ।

× × ×

वनवासके समयकी बात है । दुर्योधनकी प्रेरणासे अति शीघ्र कुपित होनेवाले महर्षि दुर्वासा अपने दस सहस्र शिष्योंके साथ युधिष्ठिरके पास तब आये, जब भोजन समाप्त हो चुका था । युधिष्ठिरने प्रार्थना की 'स्नान कर आइये ।'

विपत्तिमें पड़ी द्रौपदीके आँसू छलक पड़े । एकमात्र आधार श्रीकृष्णकी पुकार हुई । नन्दनन्दन दौड़े आये । 'भूख लगी है' श्रीकृष्णके कहनेपर द्रौपदीके मुँहसे निकल पड़ा 'तुम्हें भी इसी समय मजाक सूझी ।'

धोया हुआ रिक्तपात्र सामने रख दिया । एक पत्ता सटा था उसीमें । श्रीकृष्णने मुँहमें डाल लिया और डकार ले ली । इधर शिष्योंसहित दुर्वासाका पेट फूल आया । उलटी-सीधी खट्टी डकारें आने लगीं । दुर्वासाकी आँखोंमें अम्बरीष घूम गये । बाहर-ही-बाहर प्राण बचानेके लिये सशिष्य सिरपर पाँव रखकर भाग खड़े हुए ।

× × ×

सत्यभामाके साथ श्रीकृष्ण वनमें पाण्डवोंसे मिलने आये थे । सत्यभामाने द्रौपदीसे पूछा, 'बहिन, तुम्हारे पति सदा तुम्हारे वशमें रहते हैं । ऐसा कोई व्रत, तप, तीर्थ, मन्त्र, औषध, विद्या, जप, हवन या उपचार मुझे भी बता दो, जिससे पतिको अपने वशमें रख सकूँ ।'

द्रौपदीको सत्यभामाका यह प्रश्न अच्छा नहीं लगा । अत्यन्त शान्तिसे उन्होंने कहा—'पतिको मन्त्र-यन्त्रसे वश नहीं किया जाता । मेरे पति जिस प्रकार प्रसन्न रहें, मेरा वही काम है । उनका सुख ही मेरा सुख है । मैं ईर्ष्या, अभिमान और कटुभाषण नहीं करती । स्त्रियोचित उत्तम गुण ही पुरुषोंको आकर्षित कर लेते हैं । सरलता, सज्जनता, सदाशयता, सच्चरित्रता, सत्प्रेम, सद्बुद्धि, सद्भावना, सेवा और पतिके सुखके लिये सतत सत्प्रयत्न ही उनको अपना बना देता है ।'

द्रौपदी परम विदुषी, सदाचारिणी, उदार, क्षमाशीला और भक्तिमती थीं । इनकी गणना पञ्चकन्याओंमें है ।

चिरवन्दनीय मीराबाई

संवत् १५७३ के लगभग चोकड़ी नामक ग्राममें मेड़ताके राठौर श्रीरतनसिंहकी पत्नीके गर्भसे प्रातःस्मरणीया श्रीमीरा-देवीने जन्म लिया था । आपका विवाह उदयपुरके राणा साँगाके ज्येष्ठ पुत्र महाराज कुमार भोजराजके साथ हुआ था, परंतु मीराका आन्तरिक और सच्चा सम्बन्ध वृन्दाविपिन-विहारी श्रीगिरिधरलालसे था । पति कुछ ही दिनोंमें इस संसारको छोड़ चले गये । फिर तो मीरा खुलकर श्रीकृष्ण-स्मरण करने लगीं ।

लोक-लाज और मिथ्या आडम्बरसे दूर हो आप संतोंके बीचमें पैरोंमें घुँघुरू बाँध और करताल बजाकर नाच-नाचकर अपने प्रभुको रिझाने लगीं ।

पग घुँघरु बाँध मीरा नाची रे ।
लोग कहै मीराँ भई रे बावरी, सास कहै कुळनासी रे ।

परिवारवालोंने अपने सम्मानकी रक्षाके लिये मीराके पास चरणामृतके बहाने विष भेज दिया । मीरा उसे समोद पान कर गयी । उन्होंने अपने ही मुँहसे कहा—

विष को प्यालो राणाजी भेज्यो, पीवत मीराँ हाँसी रे ॥
मैं तो अपने नारायण की आपहि हो गइ दासी रे ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर सहज मिल्या अबिनासी रे ॥

अधिक असन्तोष देखकर मीरा चल पड़ीं वृन्दावनकी ओर, उनके एक हाथमें एकतारा और दूसरेमें करताल बज उठा ।

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।

—उन्होंने स्पष्ट कह दिया ।

वे जिधर गयीं, श्रीकृष्ण-प्रेमकी वर्षा होने लगी । पवित्रता-का अजस्र स्रोत बह चला । आनन्दकी मन्दाकिनी लहरें लेने लगीं । मीराने अनेक पद गाये । एक-एक पद उनकी श्रीकृष्ण-प्रीतिके सन्देश हैं । नरसीजीका मायरा, गीत-गोविन्द-टीका, रागगोविन्द, राग सोरठ—ये चार पुस्तकें मीराकी कही जाती हैं । प्रेमयोगिनी मीराबाईके स्नेहपूरित पावन गायन, उनके स्मरण, उनके चिन्तन आज भी भगवद्-भक्तोंको आनन्द-दान दे रहे हैं । भक्त-जगत्‌के सुनील

गगनकी परम प्रकाशमयी उज्ज्वल तारिका अब भी भक्तोंके हृदयमे श्रीकृष्ण-प्रेमके लिये प्रेरणा दे रही है और सदा देती रहेगी।

महारानी लक्ष्मीबाई

मातृभूमिकी प्रेमोन्मादिनी वीराङ्गना लक्ष्मीबाईने कार्तिक कृष्ण १४ संवत् १८११ मे जन्म लिया था। इनका बाल्य-काल बालक नानासाहबके साथ बीता। बाजीराव पेशवाने इनकी शिक्षाकी सर्वोत्तम व्यवस्था कर दी थी। प्राचीन शिक्षा-प्रणालीके अनुसार बचपनमे ही इन्होने लिखना-पढ़ना, अस्त्र-सञ्चालन एवं अश्वारोहण सीख लिया था। ये थीं सुकुमार और स्नेहशीला सुन्दरी, पर वीरत्व इनके नस-नसमें व्याप्त हो गया था। दस-पॉच शत्रुओंको एक साथ पराजित कर देना इनके लिये अत्यन्त सरल था।

उस समय झॉसीमें गङ्गाधरराव राज्य कर रहे थे। लक्ष्मीबाई इन्हींकी परिणीता पत्नी हुईं। कुछ ही समय बाद ये विधवा हो गयी। उस समय इनका जीवन संयम-नियम एवं भगवद्भजन तथा पूजा-पाठमे बीतने लगा।

कुछ दिनों बाद अपने दत्तक पुत्र दामोदरका इन्होंने धूम-धामसे उपनयन-संस्कार किया। दत्तकके लिये सात लाख जमा रुपयोमेसे अंग्रेज-सरकारने केवल एक लाख स्वीकार किया। राज्य हड़प लेनेका अंग्रेजोका यह कुचक्र था। लक्ष्मी-बाई इस नहीं सह सकीं।

रानी युद्धक्षेत्रमें उतर पड़ीं। अंग्रेजी फौजने इनसे घनघोर युद्ध किया। कुछ विश्वासघाती मुसल्मान तथा कृतघ्न राजपूतोंने भी शत्रुका साथ दिया, पर लक्ष्मीबाई भगवती काली बन गयी थीं। इनकी तोपोके गोलोसे शत्रुके प्राण समाप्त होने लगे। पतङ्गोकी भॉति जलती-मरती अंग्रेजी फौज झॉसीके किलेमे प्रवेश करनेपर राखके सिवा कुछ नही पा सकी।

रानी सुरक्षित निकल गयी थीं और इन्हींकी सहायतासे नाना साहबने ग्वालियरपर अधिकार कर लिया था; पर जयाजी-राव सिन्धियाने यहॉ छल किया। रत्नजटित कृपाण कटिमे कसे रानीने कर्नल स्मिथका सामना किया। अंग्रेजोके सैनिक ऑख फाड़कर रानीके रूप और रणकौशलको देखकर चकित थे। शत्रुओका संहार करती हुई रानी आगे चली गयीं। दो शत्रु पीछे लगे। युद्ध करते हुए रानी पहले ही थक गयी थीं। शत्रुकी बर्छी रानीके सीनेमे धॅस गयी। इतनेपर भी उन्होने दोनों शत्रुओंके सिर उतार लिये। रानीका शरीर शिथिल पड़ गया। उनके नेत्र बंद हो गये।

महारानी लक्ष्मीबाईकी पवित्र स्मृतिसे आर्यधरा अपनेको पूर्ण गौरवान्वित समझती है।

सती पद्मिनी

पवित्र जौहर

'मैं अलाउद्दीनका रक्त पी जाऊँगा' चित्तौड़के राणा श्रीलक्ष्मणसिंहके चचा रत्नसिंह क्रोधसे कॉप उठे। उनका मुखमण्डल लाल हो गया 'अब वह प्राण लेकर दिल्ली नहीं जा सकेगा'।

'आप नीति, धैर्य तथा बुद्धिसे काम लें' अनुपम सुन्दरी सती पद्मिनीने स्वामीके चरण पकड़ लिये 'शीशेमें मेरे रूपकी छायासे ही यदि सहस्रों पुरुषोंके प्राण और स्त्रियोंके सुहागकी रक्षा हो जाय तो आपत्ति नहीं करनी चाहिये।'

'तुम ठीक कहती हो' कुछ सोचकर रत्नसिंहने कहा। उन्होंने अपनी स्वीकृति अलाउद्दीनके पास भेज दी।

'परम बुद्धिमती पद्मिनीने अपने सतीत्व तथा पतिको बचा लिया और मुझे प्राण लेकर भागना पड़ा' यह अलाउद्दीन एक क्षणके लिये भी नहीं भूल सका। ऑखकी किरकिरी और टूटे कॉटेकी तरह यह बात उसे दुःख दे रही थी। फलतः यवनोंकी सजी विशाल सेना झूमती हुई चित्तौड़की ओर चल पड़ी।

वीर राजपूत युद्धमे टट गये। चार-चार मुसल्मानोंका एक-एक राजपूतके हाथो वध होना वहॉ सामान्य बात थी, राजपूत योद्धाओंने यवनोंके उष्ण रक्तसे चित्तौड़की धरा सींच दी, पर उनकी संख्या कम थी, सैकड़ों मुसल्मानोका बलिदानकर श्रीरत्नसिंहने वीरगति प्राप्त की।

पद्मिनीको जैसे विश्वकी सम्पत्ति मिल गयी थी, वह अत्यन्त प्रसन्न थी। सामने सूखे काष्ठके पहाड़मे अग्निदेव पहुँच गये थे। चतुर्दिक् अग्निकी विशाल लाल-लाल लपटें और ज्वाला-ही-ज्वाला दीखती थी। एक-दो-तीन·· चित्तौड़की समस्त स्त्रियॉ हॅसती हुई कूदती जा रही थीं और साथ ही पद्मिनी-सी सुकोमल और लावण्यवती पद्मिनी भी उसमे समा गयी।

अलाउद्दीनको वहॉ मिली थी एक पद्मिनी नहीं, अनेक सती पद्मिनियोकी केवल भस्म!!

कुछ आचार्य, महात्मा और भक्त

श्रीशङ्कराचार्य

'मा ! मैं संन्यास लेना चाहता हूँ !' सात वर्षके बालक शङ्करने मातासे आज्ञा माँगी। पाँचवें वर्षमें उनका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न हुआ था और केवल दो वर्ष गुरुगृहमें रहकर उन्होंने चारों वेद, वेदाङ्ग एवं दर्शन-शास्त्रकी शिक्षा समाप्त कर दी थी। ऐसे लोकोत्तर बालकके लिये क्या अवस्थाका बन्धन हो सकता है ?

माता सुभद्रा कैसे आज्ञा दे। वृद्धावस्थामें भगवान् शङ्करकी आराधनासे उन आशुतोषने वरदानस्वरूप तो यह एक सन्तान प्रदान की उन्हें। बालक तीन वर्षका था, तभी उसके पिता श्रीशिवगुरुजी संसार छोड़कर कैलास पधार गये। यह क्या सामान्य बालक है माताकी गोदमें ? साक्षात् शङ्कर ही तो पधारे हैं। एक वर्षकी अवस्थामें मातृ-भाषाका शुद्ध स्पष्ट ज्ञान, दो वर्षमें मातासे सुने पुराणोंको कण्ठ कर लेना और अभी तो सात ही वर्षके हुए न ? माता ऐसे पुत्रको छोड़ कैसे दे। कैसे नेत्रोंसे पृथक् करे।

'मा ! तू मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दे दे, तो मगर मुझे छोड़ देगा !' विश्वको द्योतित करनेवाले सूर्य झोपड़ीमें बंदी नहीं हो सकते। माता नदीमें स्नान कर रही थी। शङ्कर-का पैर मगरने पकड़ लिया। वे डूबते हुए भी शान्त, स्थिर बने रहे। मातासे उन्होंने संन्यासकी आज्ञा माँगी।

'तू मेरी मृत्युके समय आ जाना !' माताने आज्ञा दे दी। पुत्रका जीवन बचता हो तो ऐसा ही, सही। उन्होंने केवल मृत्युके समय दर्शन चाहा। मगर तो उन योगिराजकी योगमायाकी क्रीड़ापुत्तलिका था। वहाँसे नर्मदातटपर आकर स्वामी गोविन्द भगवत्पादसे आठ वर्षकी अवस्थामें संन्यास ग्रहण किया। गुरुने इनका नाम भगवत्पूज्यपादाचार्य रक्खा। वहाँ गुरुके उपदिष्ट मार्गसे ये शीघ्र योगसिद्ध हो गये। गुरुदेवने काशी जाकर इनसे ब्रह्मसूत्रपर भाष्य करनेकी आज्ञा दी।

श्रीशङ्कराचार्यके प्रथम शिष्य काशीमें सनन्दनजी हुए। इनका नाम पद्मपादाचार्य हुआ। भगवान् विश्वनाथने आचार्य शंकरको चाण्डालरूपमें दर्शन दिया और जब आचार्यने उन्हें पहचानकर प्रणाम किया, प्रकट हो गये वे शशाङ्कशेखर। ब्रह्मसूत्र-पर भाष्य लिखा गया। एक दिन सहसा एक वृद्ध ब्राह्मण एक सूत्रके अर्थपर शङ्का कर बैठे। शास्त्रार्थ होने लगा और वह आठ दिनतक चलता रहा। पद्मपादाचार्य आश्चर्यमें थे कि उनके गुरुदेवसे इस प्रकार शास्त्रार्थ करनेवाला कौन आ गया। ध्यान करनेपर उन्हें ज्ञात हुआ, स्वयं भगवान् व्यास ब्राह्मणरूपमें उपस्थित हैं। अतः उन्होंने प्रार्थना की—

> शङ्करः शङ्करः साक्षाद् व्यासो नारायणः स्वयम्।
> तयोर्विवादे सम्प्राप्ते न जाने किं करोम्यहम्॥

आचार्यने भगवान् व्यासको पहचाना, उनका वन्दन किया। व्यासजी प्रसन्न हुए—'तुम्हारी आयु केवल सोलह वर्षकी है। वह समाप्त हो रही है। मैं तुम्हें सोलह वर्ष और देता हूँ। धर्मकी प्रतिष्ठा करो !'

भगवान् व्यासके आदेशसे आचार्य वेदान्तके प्रचार, सनातनधर्मकी प्रतिष्ठा और विरोधी तार्किकोंको शास्त्रार्थमें पराजित करनेमें लग गये। काशी, कुरुक्षेत्र, बदरिकाश्रमसे दक्षिण-भारत—रामेश्वरतककी उन्होंने यात्रा की। प्रयागमें त्रिवेणीतटपर जब वे कुमारिल भट्टसे शास्त्रार्थ करने पहुँचे, आचार्य कुमारिल तुषाग्नि (भूसीकी अग्नि) में जलनेको बैठ चुके थे। उन्होंने कहा—'मण्डन मेरा शिष्य है। उसकी पराजयसे मैं ही पराजित हुआ, इस प्रकार मानना चाहिये !'

मण्डन मिश्रकी पत्नी भारती मध्यस्था हुईं। शास्त्रार्थमें पराजित होकर मण्डन मिश्रने आचार्यका शिष्यत्व स्वीकार किया। उनका नाम सुरेश्वराचार्य हुआ। आचार्य शङ्करने फिर भी श्रीकुमारिल भट्टको श्रेष्ठ ही माना और अपने ग्रन्थोंमें उन्हें भगवत्पाद कहकर गुरुकी भाँति सम्मानित किया है।

'मेरी साधनाकी सफलताके लिये एक तत्त्वज्ञकी बलि आवश्यक है। आपको शरीरका कोई मोह है नहीं !' एक दिन एकान्तमें एक कापालिकने आचार्यसे प्रार्थना की।

'किसीको पता न लगे, अन्यथा लोग तुम्हें कष्ट देंगे। मैं स्वतः आ जाऊँगा !' उनको शरीरका क्या मोह। घोर अर्धरात्रिमें श्मशान पहुँच गये आचार्य। कापालिक बलिका विधान करने लगा। आचार्यने समाधि लगायी। कापालिक सिर काटनेवाला था, इतनेमें पद्मपादाचार्यमें उनके इष्टदेव भगवान् नृसिंहका आवेश हुआ। आवेशमें उन्होंने कापालिक-को मार डाला।

सोलह वर्षकी अवस्थामें आचार्यने प्रस्थानत्रयीका भाष्य पूर्ण कर लिया था। शेष सोलह वर्षोंमें सम्पूर्ण भारतमें उन्होंने घूम-घूमकर धर्मकी स्थापना की। उस समय पूरे देशमें बौद्ध

एवं कापालिकोंके मतका प्राबल्य था। अधिकांश नरेश बौद्ध हो गये थे। आचार्यने शास्त्रार्थके द्वारा बौद्ध पण्डितोंको पराजित किया। राजाओंने प्रजाके साथ उनके पावन उपदेश-को स्वीकार किया। अशास्त्रीय उग्रतर सम्प्रदायोंका दमन हुआ। आचार्यके प्रभावसे देशव्यापी बौद्धमत लुप्तप्राय हो गया। भारतमे श्रुतिसम्मत सनातनधर्म प्रतिष्ठित हुआ।

आचार्यने पुरी, द्वारका, शृङ्गेरी और ज्योतिर्मठ (बद्रीनाथ) मे पीठ स्थापित करके अपने एक-एक शिष्यको वहाँ धर्मकी रक्षाके लिये नियुक्त किया। बत्तीस वर्षकी अवस्थामे केदारनाथजीके समीप उन्होने इहलोककी लीलाका संवरण कर लिया। आचार्यके बनाये एवं भाष्य किये ग्रन्थों-की सूची बहुत लंबी है। उनके अद्वैतवादका देशपर व्यापक प्रभाव पड़ा। वैदिकधर्मके उद्धारके लिये उनका प्रयत्न अद्वितीय है और इसी प्रकार उनकी सिद्धान्त-स्थापन-प्रणाली विश्वके दार्शनिकोंमे अद्वितीय मानी जाती है।

अद्वैत-ज्ञानकी परम्परामे प्रथम नाम श्रीगौड़पादाचार्यजी-का आता है। इनका कोई जीवनचरित प्राप्त नहीं है। माण्डूक्योपनिषत्कारिका आचार्य गौड़पादका प्रधान ग्रन्थ है। इनके शिष्य आचार्य गोविन्दभगवत्पाद ही श्रीशङ्कराचार्यके गुरुदेव हैं। कुछ विद्वानोंकी सम्मति है कि महर्षि पतञ्जलि-का ही दूसरा नाम गोविन्दपादाचार्य है। आचार्य शङ्करके प्रधान शिष्योमे पद्मपादाचार्य, सुरेश्वराचार्य हैं। इनमें सुरेश्वराचार्यके बहुत अधिक ग्रन्थ है।

आचार्य शङ्करके अद्वैत-ज्ञानकी परम्परा लोकोत्तर प्रतिभासम्पन्न विद्वानोसे पूर्ण है। इनमे 'संक्षेप-शारीरक'-कार सर्वज्ञात्म-मुनि, वेदान्तके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भामती' के कर्ता वाचस्पति मिश्र, 'खण्डनखण्डखाद्य' के रचयिता श्रीहर्ष, श्रीचित्सुखाचार्य, आचार्य भारतीतीर्थ, आचार्य शङ्करानन्द, 'पञ्चदशीकार' स्वामी विद्यारण्य, श्रीआनन्दगिरि, अप्पय्य दीक्षित, स्वामी मधुसूदन सरस्वती आदि अनेक आचार्य हैं। प्रायः इन सभी आचार्योंने अनेक ग्रन्थोके भाष्य तथा टीकाएँ की हैं। वेदान्तके अतिरिक्त दूसरे दर्शनो तथा धर्मशास्त्र-पर भी इनमेसे अनेक आचार्योंके उत्तम ग्रन्थ हैं—जैसे श्री-विद्यारण्यजीने अपने पूर्वाश्रममे माधवाचार्यके नामसे 'काल-माधव', 'पराशरमाधव' आदि धर्मशास्त्रके ग्रन्थ लिखे हैं। वेदोंके सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्यजी विद्यारण्यजीके सहोदर भ्राता थे।

यदि अद्वैत-मतके मुख्य आचार्यों तथा उनके ग्रन्थोंकी सूची भी देना चाहें तो बहुत विस्तार होगा। श्रीशङ्कराचार्यजी-के अद्वैतवादका देशमें एवं विदेशोंपर व्यापक प्रभाव पड़ा है। उनके मतके सम्बन्धमें सहस्रों ग्रन्थ लिखे गये हैं। विद्वानों एवं संतोंकी परम्परा अभी उसमें अविच्छिन्न चली आ रही है।—सु०

आचार्य कुमारिल भट्ट

किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति।

जब भारत बौद्धप्राय हो गया था, बौद्ध-सम्राट्की महाराज्ञी अपने अन्तःकरणकी व्यथा सचमुच किससे कहे! वेदो तथा सनातन धर्मका नाम लेना अपराध हो गया था। उस समय निर्णयात्मक वाणीमें 'मैं वेदोंका उद्धार करूँगा' यह आश्वासन देना आचार्य कुमारिलका ही साहस था।

बौद्धमतका खण्डन करनेके लिये आचार्यको बौद्ध विद्वानोंसे अध्ययन करना पड़ा और अपनी लोकोत्तर प्रतिभाके बलपर आचार्यने बौद्ध पण्डितोंको शास्त्रार्थमें पराजित करके अपने वेदोद्धारकी प्रतिज्ञाको सफल कर दिया। आचार्य कुमारिलकी विद्वत्ताके लिये उनके शिष्य मण्डन मिश्रका ही परिचय पर्याप्त है, जिनके आश्रमकी सारिकाएँ भी शुद्ध मन्त्र-पाठ करती थीं।

'मैंने गुरुद्रोह किया है।' आचार्य कुमारिलकी शास्त्रोंपर जो श्रद्धा थी, आजके युगमें उसकी कल्पना भी कठिन है। वेदोंकी रक्षा, सनातन धर्मकी स्थापनाके लिये जो कुछ किया गया, वह ठीक था। उद्देश्य पवित्र था; किंतु जिनसे अध्ययन किया, उन्हींका खण्डन तो गुरुद्रोह ही हुआ। आचार्यको न कष्टका भय था और न शरीरका मोह। उन्होंने प्रायश्चित्तका निश्चय किया। प्रायश्चित्त भी क्या? जब श्रीशङ्कराचार्य उनसे शास्त्रार्थ करने पहुँचे, वे प्रयागमें त्रिवेणीतटपर तुषाग्नि (चावलोकी भूसीकी आग) मे बैठे थे, जो बहुत धीरे-धीरे जलाकर प्राण लेती है।

आचार्य कुमारिलका जन्म दक्षिण-भारतमें हुआ था। वे पूर्वमीमांसाके मुख्य आचार्य हैं। उनका मत मीमांसामें गुरुमत कहा जाता है। पूर्वमीमांसा-दर्शनके शाबर-भाष्यपर उनकी टीका है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'श्लोक-वार्तिक' है। श्रीशङ्कराचार्यने अपने ग्रन्थोमे इन्हें गुरुकी भाँति भगवत्पाद कहकर स्मरण किया है।—सु०

श्रीरामानुजाचार्य

आपत्तियाँ महापुरुषोंके पथको प्रशस्त ही करती हैं।

आचार्य श्रीशङ्कर
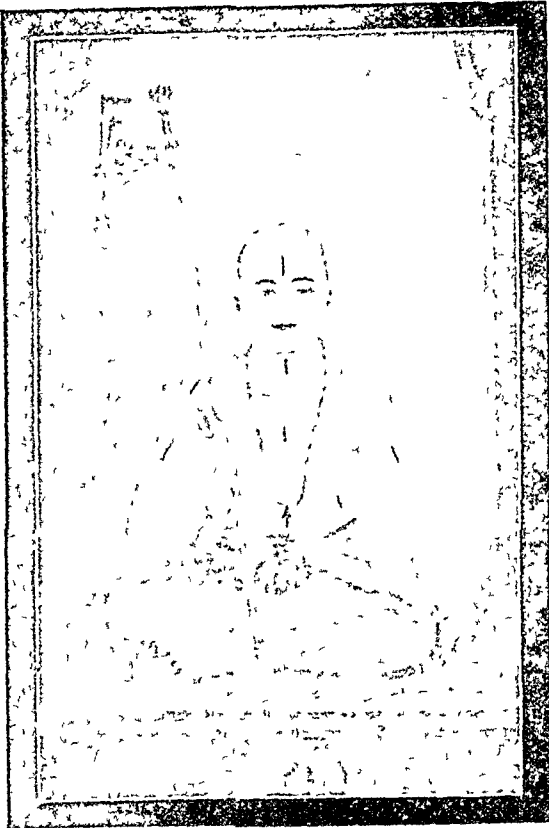
स्वामी रामानन्द

महाप्रभु श्रीचैतन्य
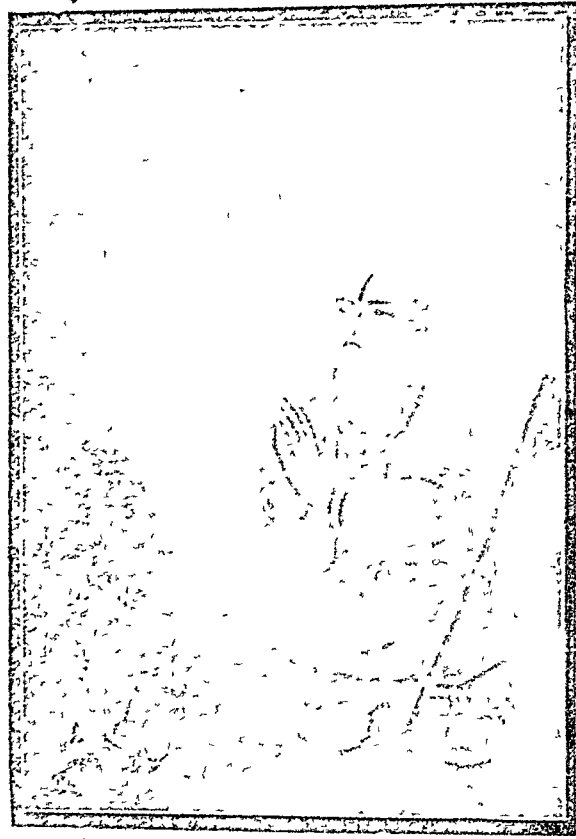
श्रीरामानुजाचार्य

श्रीमध्वाचार्य

श्रीनिम्बार्काचार्य
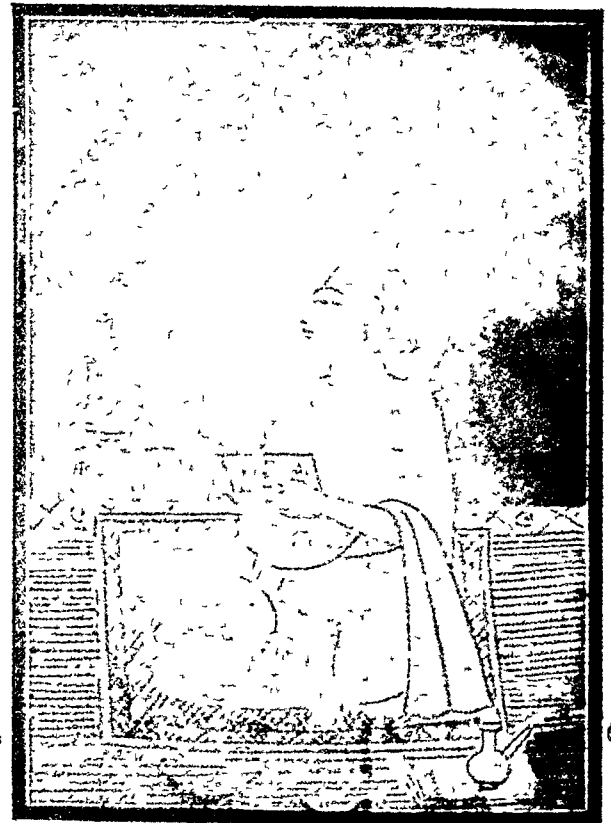
श्रीवल्लभाचार्य

आचार्य श्रीरामानुजका जीवन प्रारम्भसे आपत्तियोंमें उलझा हुआ है और इन आपत्तियोंने उसे उज्ज्वलतर किया है। दक्षिण-भारतका तिरुकुन्नूर ग्राम उनके आविर्भावसे पवित्र हुआ। बहुत छोटी अवस्थामें पिता केशवभट्ट परलोकवासी हो गये। काञ्ची जाकर यादवप्रकाशजीसे ये विद्याध्ययन करने लगे। योग्य गुरु शिष्यकी प्रतिभासे प्रसन्न होता है; किंतु इनके शिक्षक अपना अपमान समझने लगे कि एक लड़का अपने तर्कोंसे उनके तर्कोंमें दोष निकाल दे। द्वेषवश इनके चचेरे भाई एवं सहाध्यायी गोविन्दभट्टको नियुक्त किया उन्होंने इनका वध करनेके लिये। काशीयात्राके बहाने वनमें यह घोर कृत्य होना था; पर वनमें क्या वे सर्वरक्षक नहीं रहते? एक व्याध और उसकी पत्नीने वनमें आचार्यकी रक्षा की।

महापुरुष आलवन्दार (श्रीयामुनाचार्य) ने आचार्यको स्मरण किया तब, जब वे श्रीनारायणके नित्यधाम पधारने लगे। आचार्य श्रीरंगम् पहुँचे। इससे पूर्व ही उनका महाप्रस्थान हो गया। आचार्यने देखा, आलवन्दारके हाथोंकी तीन अँगुलियाँ मुड़ी हुई हैं। उन्होंने संकेत समझ लिया और नम्रतासे सूचित किया 'मैं ब्रह्मसूत्र, विष्णुसहस्रनाम और दिव्यप्रबन्धम्' की टीका अवश्य लिखूँगा या लिखवा दूँगा। महापुरुषके हाथकी अँगुलियाँ सीधी हो गयीं।

आचार्यने श्रीयतिराजसे संन्यासकी दीक्षा ग्रहण की। तिरुकोट्टियूरके महात्मा नाम्बिने इन्हें अष्टाक्षर (ॐ नमो नारायणाय) मन्त्रकी दीक्षा दी। गुरुने आदेश दिया—'यह परम गोप्य श्रीनारायण-मन्त्र है। अनधिकारीको इसका श्रवण नहीं करना चाहिये। इसके श्रवणमात्रसे अधम प्राणी भी वैकुण्ठके अधिकारी हो जाते हैं।'

'सुनो! सुनो! सब लोग सुनो और स्मरण कर लो! भगवान् नारायणके इस मन्त्रके सुननेसे ही प्राणी वैकुण्ठका अधिकारी हो जाता है।' आचार्य मन्दिरके शिखरपर खड़े होकर भीड़का आह्वान करके उस परम गोप्य मन्त्रकी घोषणा कर रहे थे।

'रामानुज! तुमने यह क्या किया? मेरी आज्ञा भंग करनेका फल तुम जानते हो?' गुरुदेवने सुना तो बहुत अप्रसन्न हुए। इस प्रकार कहीं मन्त्र-घोषणा की जाती है?

'गुरुदेव! आपकी आज्ञा भंग करके मैं नरक जाऊँगा, यही तो? बेचारे इतने प्राणी श्रीहरिके धाम पधारेंगे! मैं अकेला ही तो नरककी यातना भोगूँगा?'

'आचार्य तो सचमुच तुम्हीं हो।' गुरुदेवने शिष्यको हृदयसे लगा लिया।

× × ×

आचार्यकी कीर्तिके साथ उनके शत्रु भी बढ़ते जा रहे थे। शत्रुओंने अनेक बार उनके वधका प्रयत्न किया, उनके भोजनमें विष मिलाया गया; पर प्रभुने सदा रक्षा की। आचार्यने सम्पूर्ण भारतकी यात्रा की। श्रीमहालक्ष्मीजीद्वारा प्रवर्तित प्रपत्तिमार्गके अनुसार उन्होंने प्रस्थानत्रयीका 'श्रीभाष्य' किया। आचार्यके प्रधान शिष्य कूरत्ताळवार (कूरेश) थे। कूरेशके दो पुत्र थे—पराशर और पिल्लन। आचार्यकी आज्ञासे पराशरने विष्णुसहस्रनाम तथा पिल्लनने 'दिव्य-प्रबन्धम्' की टीका की। इस प्रकार श्रीयामुनाचार्यकी तीनों इच्छाएँ आचार्यने पूर्ण कीं।

श्रीरंगम्पर उन दिनों चोळराज कुलोत्तुंगका अधिकार था। ये कट्टर शैव थे। वैष्णवोंके शत्रु होनेके कारण राजा आचार्यसे रुष्ट हो गये। उन्होंने आचार्यको अपने दरबारमें बुलाया। राजाकी दुरभिसन्धि स्पष्ट थी। कूरत्ताळवार (कूरेश) ने गुरुके लिये बलिदान करनेका निश्चय किया। वे आचार्यके स्थानपर स्वयं पेरियनाम्बिके साथ राजाके यहाँ पधारे। राजा इनके वैष्णव-धर्मके समर्थनसे रुष्ट हो गया, उसने कूरेशकी आँखें निकलवा लीं। इन महापुरुषने धैर्यसे वह कष्ट सहन कर लिया।

चोळराजको अपनी क्रूरतासे सन्तोष नहीं हुआ। वे आचार्यकी खोज करने लगे; किंतु आचार्य उस समय मैसूर-राज्यमें शालग्राम नामक स्थानमें रहते थे। वहाँके नरेश भिट्टिदेव परम वैष्णव थे। आचार्य वहाँ बारह वर्ष रहे। आचार्यकी आज्ञासे राजाने तिरुनारायणपुरके प्राचीन मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया। वहाँ श्रीरामका जो विग्रह है, वह दिल्लीके बादशाहकी कन्याके पास था। आचार्यने उसे दिल्लीसे लाकर प्रतिष्ठित किया। राजा कुलोत्तुंगके देहान्तके पश्चात् आचार्य श्रीरंगम् पधारे। वहाँ उन्होंने श्रीरंगमन्दिरका विस्तार कराया, उत्सव नियत किये। इस प्रकार एक सौ बीस वर्षकी अवस्थातक श्रीरंगकी सेवा और भक्तिका प्रचार करके आचार्य उनके श्रीधाम पधारे।

आचार्य श्रीरामानुजने जिस विशिष्टाद्वैत मतका प्रचार किया, उसकी परम्परा पूर्वसे चली आ रही थी। द्वापरके अन्तसे उसमें 'आळवार' भक्तोंका क्रम मिलता है। सरोयोगी या पोयगै, भूतत्त और पेय—ये तीन अत्यन्त प्राचीन आळवारोंका वर्णन

मिलता है। ये क्रमशः काञ्ची, महाबलीपुर और मैला-पुरमें हुए थे। इनके पश्चात् आचार्य 'तिरुमडिशै' (भक्तिसार) का प्रादुर्भाव हुआ और फिर पाण्ड्यदेशके तिरुक्कुरुकूर नगरमें शठकोप स्वामी (नम्माळवार) का । शठकोप स्वामीके प्रधान शिष्य 'मधुरकवि' अत्यन्त प्रख्यात हैं। केरळप्रान्तमें कुलशेखर प्रसिद्ध आळवार हुए। विष्णुचित्त पेरि-आळवार और उनकी पुत्री गोदा (आण्डाळ) की रचनाओं-का तमिळमें अत्यन्त आदर है । श्रीयामुनाचार्यसे पूर्व द्रविडाचार्य, गुहदेव, टंक, श्रीवत्साक प्रभृति वैष्णवाचार्यके नाम मिलते हैं, जिन्होंने ब्रह्मसूत्रपर भाष्य किये थे । विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदायकी परम्परा श्रीमहालक्ष्मीसे विष्वक्सेन, श्रीशठकोपस्वामी, श्रीनाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष, श्रीराममिश्र स्वामी और श्रीयामुनाचार्य—इस क्रमसे एकसे दूसरेको प्राप्त हुई है।

आचार्य श्रीरामानुजकी परम्परामें महान् दार्शनिक एवं प्रकाण्ड विद्वानोंका क्रम चलता ही आया है। श्रीदेवराजाचार्य, श्रीवरदाचार्य, श्रीसुदर्शनव्यास भट्टाचार्य, श्रीवीरराघवदासाचार्य, श्रीवादिहंसाम्बुजाचार्य, श्रीवेंकटनाथ वेदान्ताचार्य, श्रीमल्लोका-चार्य, आचार्य वरदगुरु, वरदनायक सूरि, अनन्ताचार्य, दोद्दय महाचार्य रामानुजदास, सुदर्शनगुरु, तीनों श्रीनिवासा-चार्य, कुन्चि वेंकटाचार्य, श्रीनिवास दीक्षित आदि आचार्योंने अपने ग्रन्थोंसे विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तको स्पष्ट एवं विस्तृत किया है । आचार्य बोधायन, आचार्य ब्रह्मनन्दी और द्रमिडाचार्यने विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्त-ग्रन्थोंका बहुत बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण विस्तार किया है।

श्रीरामानुजाचार्यने शास्त्रीय आचार एवं भक्तिकी भारतमें पुनः प्रतिष्ठा की। बौद्ध एवं कापालिक धर्मसे वैदिक-धर्म क्षीणप्राय हो गया था। श्रीशङ्कराचार्यने सनातन धर्मको प्रतिष्ठित किया था, शास्त्रोंके प्रति श्रद्धा जाग्रत् कर दी थी; किंतु शास्त्रीय आचारकी ठीक प्रतिष्ठा होकर हिंदू-धर्मका पुनरुद्धार श्रीरामानुजाचार्यद्वारा ही पूर्ण हुआ।—सु०

श्रीमध्वाचार्य

विक्रम-संवत् १२९५ माघशुक्ल सप्तमीको मद्रासके मंगलूर जिलेके उडुपीक्षेत्रसे कुछ दूर वेललिग्राममें भार्गव-गोत्रीय नारायणभट्टकी पत्नी माता वेदवतीकी गोद एक लोकोत्तर पुरुषके प्राकट्यसे धन्य हो गयी। पिताने बालकका नाम वासुदेव रक्खा। बचपनमें बालक वासुदेव खेलने-कूदनेमें अधिक रुचि रखते थे। वे वायुदेवके अवतार सुपुष्ट-शरीर अत्यन्त बलवान् थे। लोग उन्हें 'भीम' कहकर पुकारते थे। पढ़नेकी रुचि हुई और अल्पकालमें ही समस्त शास्त्र अनायास उपस्थित हो गये।

बालक वासुदेव संन्यास लेनेको प्रस्तुत हुए। माता-पिताका मोह स्वाभाविक है; किंतु जन्मसिद्ध पुत्रके चमत्कारों, योग-सिद्धिके प्रभावोंको देखकर माता-पिताको स्वीकृति देनी पड़ी। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें श्रीअच्युतपक्षाचार्यजीसे संन्यास लेकर वासुदेवने पूर्णप्रज्ञ नाम धारण किया । वास्तविक अध्ययन तो संन्यासके पश्चात् प्रारम्भ हुआ। गुरुदेव इन्हें पढ़ानेमें असमर्थ हो जाते। शिष्य ही गुरुके मतका खण्डनकर प्रायः उन्हें ठीक अर्थ समझानेवाले हो गये।

'मैं गङ्गा-स्नान करने जाऊँगा।' आचार्य पूर्णप्रज्ञने गुरुदेवसे अनुमति माँगी। परम प्रिय शिष्यके वियोगसे गुरुदेव व्यथित हो गये।

'आप व्याकुल न हों; सम्मुखके सरोवरमें परसों श्रीगङ्गाजी पधारेंगी। अतः वे यात्रा न कर सकेंगे।' अनन्तेश्वरजीने गुरुदेवको आश्वासन दिया । तीसरे दिन सरोवरका हरिताभ जल उज्ज्वल हो गया। उसमें लहरें स्पष्ट हो गयीं। यात्रा रुक गयी। अबतक बारह वर्षोंमें एक बार सरोवरमें गङ्गाजीका प्रादुर्भाव होता है।

आचार्यने कुछ दिनों पश्चात् यात्रा की। उन्होंने स्थान-स्थानपर शास्त्रार्थ करके भक्ति-मार्गकी स्थापना की । एक स्थानपर वेद, महाभारत और विष्णुसहस्रनामके उन्होंने क्रमशः तीन, दस और सौ अर्थ किये। गीताका भाष्य पूर्ण करके वे श्रीबदरीनाथ-धाम पहुँचे। वहाँ भगवान् व्यासने इन्हें शालग्रामजीके तीन विग्रह देकर भक्तिकी स्थापना-का आदेश दिया।

आचार्यने अनेक श्रीविग्रहोंकी स्थापना की। भगवान् व्यासप्रदत्त शालग्राम-विग्रह सुब्रह्मण्य, उडुपी और मध्यतलमें पधराये गये । तुलुवके समीप जलमग्न जहाजमेंसे गोपीचन्दनसे ढकी श्रीकृष्णचन्द्रकी सुन्दर मूर्ति स्वप्नादेशके अनुसार निकलवाकर आचार्यने उडुपीमें स्थापित की। उडुपीमें और भी आठ मन्दिर आचार्यके बनवाये हैं। सरदन्तर स्थानमें जब आचार्य परमधाम पधारने लगे, तब उन्होंने पद्मनाभतीर्थ (सोहनभट्ट) को श्रीरामजीकी मूर्ति एवं भगवान् व्यास-प्रदत्त शालग्राम-विग्रह देकर द्वैतमतके प्रचारकी आज्ञा दी।

श्रीपद्मनाभाचार्य, श्रीजयतीर्थाचार्य, आचार्य व्यासराज स्वामी, व्यास रामाचार्य, श्रीराघवेन्द्र स्वामी, आचार्य वेदेश-तीर्थ और आचार्य श्रीनिवासतीर्थने अपने ग्रन्थों, टीकाओंके

द्वारा श्रीमध्वाचार्यके द्वैत-सिद्धान्तको सुपुष्ट एवं प्रसारित किया है।

आचार्य पूर्णप्रज्ञ (श्रीमध्वाचार्य) का सिद्धान्त शङ्कर-मतसे ठीक विपरीत-सा हो गया है। अद्वैत-मतमें भगवान् शङ्कराचार्य परम उपासक थे; किंतु कालक्रमसे ब्रह्मात्मैक्यका अर्थ शुष्क बौद्धिक विलास हो गया। आचार तथा परलोक बालकोंकी कल्पना मान लिये गये। शास्त्रका विचित्र अर्थ होने लगा। आचार्य मध्वने जीवकी नित्य पृथक् सत्ताका प्रतिपादन किया। जीव अपने सञ्चालक स्वामी परमात्माकी आराधना करके ही नित्य शान्ति एवं आनन्द प्राप्त कर सकता है। इस सिद्धान्तसे उपासना, शास्त्र, परलोक, कर्म आदि सबका पोषण हुआ।—सु०

श्रीनिम्बार्काचार्य

भारतका दक्षिण-प्रान्त आचार्योंकी जन्म-भूमि रहा है। गोदावरी-तटपर वैदूर्यपत्तनके पास अरुणाश्रममें श्रीअरुण-मुनिकी पत्नी जयन्तीदेवीके गर्भसे श्रीनियमानन्दका आविर्भाव हुआ। आगे यही आचार्य निम्बार्क नामसे प्रख्यात हुए। कुछ विद्वान् इनके पिताका नाम जगन्नाथ बतलाते हैं। इनके भक्त इनका प्रादुर्भाव द्वापरमे मानते हैं। कहते हैं कि स्वयं देवर्षि नारदने इन्हें श्रीगोपालमन्त्रकी दीक्षा दी।

'भगवन्! मुझे स्मरण नहीं रहा, बहुत विलम्ब हो चुका। अब आप प्रसाद ग्रहण करें।' आचार्यचरण मथुराके पास ध्रुवक्षेत्रमे निवास करते थे। एक दिन एक दण्डी महात्मा पधारे। दो शास्त्रज्ञ, अनुभवसम्पन्न महापुरुषोंमे परस्पर अध्यात्मचर्चा चलने लगी तो समयका ध्यान किसे रहे। सायंकालके पश्चात् आचार्यने अतिथिसे प्रार्थना की।

'अब तो सूर्यास्त हो गया।' दण्डी संन्यासी नियमतः सूर्यास्तके पश्चात् कैसे भिक्षा ग्रहण कर सकते थे।

'सूर्यनारायण अभी प्रकाशित हैं।' सहसा प्रकाश फैल गया। जैसे बादलोंमेसे भगवान् भास्कर निकले हों। आश्रमके समीप नीमके वृक्षके ऊपर सूर्यमण्डल प्रत्यक्ष प्रकट हो गया था। आचार्यके साथ अतिथि तथा दूसरोंने भी वह दृश्य देखा। आचार्य गद्गद हो रहे थे। उनके मनमे अतिथिके अनाहारके कारण जो क्षोभ हुआ, उसे उनके आराध्यने दूर कर दिया। पता नहीं स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र सूर्य-रूपमें नीमके वृक्षपर उपस्थित थे या उनका कोटिमार्तण्डमूर्ति सुदर्शनचक्र, जिसके आचार्य मूर्त अवतार थे। अतिथिने प्रसाद ग्रहण किया और सूर्यमण्डल अदृश्य हो गया। तबसे आचार्यका नाम निम्बादित्य या निम्बार्क हो गया।

आचार्यका एकमात्र ग्रन्थ वेदान्तसूत्रोंपर भाष्य—वेदान्त-पारिजात-सौरभ ही इस समय मिलता है। उनके शिष्य केशवभट्टके अनुयायी विरक्त होते हैं और हरिव्यासके अनुयायी गृहस्थ होते हैं। आचार्यने प्रस्थानत्रयीके स्थानपर प्रस्थानचतुष्टय-को प्रधान माना और उसमेंसे चौथे प्रस्थान श्रीमद्भागवतको ही परम प्रमाण स्वीकार किया। श्रीनिवासाचार्य, आचार्य श्रीयादवप्रकाश, श्रीपुरुषोत्तमाचार्य, श्रीदेवाचार्य, श्रीकेशवा-चार्य, आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती आदि आचार्य श्रीनिम्बार्क-के द्वैताद्वैतसिद्धान्तके प्रमुख व्याख्याता हुए हैं। इन आचार्योंने अपनी टीकाओं, व्याख्याओं तथा स्वतन्त्र ग्रन्थोंमें आचार्यके सिद्धान्तोंका विस्तार किया है।—सु०

श्रीवल्लभाचार्य

दक्षिण-भारतके कॉकरवाड ग्राममे आकर भरद्वाजगोत्रीय तैलंग ब्राह्मणोंका एक सोमयाजी परिवार बस गया। श्री-लक्ष्मणभट्टकी सातवीं पीढ़ीसे सोमयाग बराबर चलता आया था। सौ सोमयज्ञोंकी पूर्तिके उपलक्ष्मे काशी जाकर एक लाख ब्राह्मणोंको भोजन करानेके लिये पत्नी श्रीइलम्माके साथ लक्ष्मणभट्टजीने यात्रा की। मार्गमे चम्पारण्यमें, जो छत्तीस-गढ़के रायपुर जिलेमे है, श्रीवल्लभका जन्म हुआ। जो कुल सौ सोमयाग पूर्ण करता है, उसमे भगवदीय महापुरुषका आविर्भाव होता ही है।

ग्यारह वर्षकी अवस्थामे ही काशीमे श्रीमाधवेन्द्रपुरीसे श्रीवल्लभने समस्त शास्त्राध्ययन पूर्ण कर लिया। वहाँसे आप वृन्दावन चले आये और कुछ दिन व्रजवास करके तीर्थाटन-को निकले। विजयनगरके राजा कृष्णदेवकी सभामे उपस्थित होकर आपने शास्त्रार्थमे बड़े-बड़े पण्डितोंको पराजित किया। यहीं वैष्णवाचार्यकी उपाधि स्वीकार की। विजयनगरसे आचार्य उज्जैन आये। वहाँ आपने जिस पीपलके नीचे निवास किया, वहाँ आचार्यकी बैठक है। विभिन्न स्थानोंमे आचार्यपादकी ऐसी बैठकें अबतक हैं।

श्रीश्यामसुन्दरने स्वयं प्रकट होकर आचार्यके पुत्र बनने-की इच्छा प्रकट की। अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामे आचार्यने विवाह किया। श्रीविट्ठलके रूपमे स्वयं विट्ठलभगवान् ही पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए। आचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभुसे मिले थे, ऐसा कुछ विद्वानोंका मत है।

जीवनके अन्तिम दिनोंमे आचार्य काशीमें निवास करते

थे। एक दिन हनुमानघाटपर वे गङ्गास्नान कर रहे थे। सहसा एक उज्ज्वलज्योति शिखा उठी और बहुत-से मनुष्योंने देखा कि आचार्य सशरीर ऊपर उठते जा रहे हैं। इस प्रकार ५२ वर्षकी अवस्थामें आचार्यने मर्त्यलोक छोड़ दिया।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजीके सात पुत्र हुए। १–गिरिधरराय, २–गोविन्दराय, ३–बालकृष्ण, ४–गोकुलनाथ, ५–रघुनाथ, ६–यदुनाथ, ७–घनश्याम। श्रीव्रजनाथ भट्टजीने आचार्यपादके अणुभाष्यपर 'मरीचिका' नामक वृत्तिकी रचना की है। गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजने अणुभाष्यकी बृहट्टीका 'भाष्य-प्रकाश' लिखी है। श्रीविट्ठलनाथजीके 'विद्वन्मण्डन'की भी इन्होंने टीका की तथा 'प्रस्थानरत्न' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज शुद्धाद्वैतसिद्धान्तके प्रतिष्ठापक हैं। आचार्यके अनुसार कार्य-कारणरूप जगत् ब्रह्म ही है। ब्रह्म अपनी इच्छासे ही जगत्‌रूप बना है। जगत् न मायिक है और न भगवान्‌से भिन्न। यह ब्रह्मका अविकृत परिणाम है। भगवान्‌की कृपासे ही मुक्ति प्राप्त होती है। भगवान्‌का अनुग्रह ही पुष्टि है। इसी अनुग्रहसे भक्तिका उदय होता है। भगवान्‌के अनुग्रहरूप पुष्टिको प्रधान माननेसे श्रीवल्लभाचार्यका मत 'पुष्टि-मार्ग' कहा जाता है।

श्रीवल्लभाचार्यजीके समयमें ही सूरदासजी उनके शरणापन्न हो गये थे। अष्टछापके कवि वल्लभीय सम्प्रदायके ही थे। उनके द्वारा हिंदी तथा हिंदू-धर्मकी जो सेवा हुई, वह सर्वविदित है।—सु०

आचार्य श्रीरामानन्दजी

महापुरुषोंका जीवन सामान्य व्यक्तिके लिये आदर्श होता है। महापुरुष स्थूलशरीरके प्रति इतने उदासीन होते हैं कि उन्हें उसका परिचय देनेकी आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती। भारतीय संस्कृतिमें शरीरके परिचयका कोई मूल्य नहीं है।

श्रीरामानन्दाचार्यजीका परिचय व्यापक जनोंको केवल इतना ही प्राप्त है कि उन तेजोमय, वीतराग, निष्पक्ष महापुरुषने काशीके पञ्चगङ्गाघाटको अपने निवाससे पवित्र किया। आचार्यका काशी-जैसी विद्वानो एवं महात्माओंकी निवास-भूमिमें कितना महत्त्व था, यह इसीसे सिद्ध है कि महात्मा कबीरदासजीने उनके चरण धोखेसे हृदयपर लेकर उनके मुखसे निकले 'राम'-नामको गुरु-मन्त्र मान लिया।

आचार्यने शिव एवं विष्णुके उपासकोंमें चले आते अज्ञानमूलक द्वेषभावको दूर किया। अपने तपःप्रभावसे यवन-शासकोंके अत्याचारको शान्त किया और श्रीअवध-चक्रवर्ती दशरथनन्दन राघवेन्द्रकी भक्तिके प्रवाहसे प्राणियोंके अन्तःकल्मषका निराकरण किया।

द्वादश महाभागवत आचार्यके मुख्य शिष्य माने गये हैं। इनके अतिरिक्त कबीर, पीपा, रैदास आदि परम 'विरागी' महापुरुष आचार्यके शिष्य हो गये हैं। आचार्यने जिस रामानन्दीय सम्प्रदायका प्रवर्तन किया, उसने हिंदू-समुदायकी आपत्तिके समय रक्षा की। भगवान्‌का द्वार बिना किसी भेदभावके, बिना जाति-योग्यता आदिका विचार किये सबके लिये खुला है, सब उन मर्यादापुरुषोत्तमको पुकारनेके समान अधिकारी हैं—इस परम सत्यको आचार्यने व्यावहारिक रूपमें स्थापित किया है।—सु०

श्रीचैतन्य महाप्रभु

बङ्गालका नदिया (नवद्वीप) ग्राम वंगीय वैष्णवोंका उसी दिन वृन्दावन हो गया, जब फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको सिंहलग्नमें श्रीजगन्नाथ मिश्रके यहाँ माता शचीदेवीकी गोद-में गौर-सुन्दर निमाई प्रकट हुए। श्रीजगन्नाथ मिश्रके बड़े पुत्र विश्वरूप युवा होते ही संन्यासी हो गये। मिश्रजीका शरीर पुत्र-वियोगमें टिक न सका। माता शचीके लिये निमाई ही आधार रह गये। चञ्चल, चपल, नटखट, परम सुन्दर, प्रतिभाकी मूर्ति निमाई छोटी अवस्थामें ही प्रकाण्ड पण्डित हो गये। उन्होंने अपनी पाठशाला स्थापित कर ली और उस दिन तो नवद्वीपका पण्डितवर्ग आश्चर्यमूढ़ रह गया, जब सबसे अल्पवयस्क, बालकों-से चपल निमाई पण्डितने दिग्विजयी पण्डितको पराजित कर दिया।

श्रीनिमाई पिताका श्राद्ध करने गया पधारे। पतिके वियोगमें उनकी पत्नी लक्ष्मीदेवी इहलोक छोड़ गयीं। जब निमाई लौटे, उनपर श्रीकृष्णभक्तिका पूरा रस व्यक्त हो गया था। नवद्वीप प्रेमोन्मत्त भक्तोंका निवास होने लगा। नित्यानन्द प्रभु भी नवद्वीप आ गये। माता शचीने जैसे अपना खोया ज्येष्ठ पुत्र प्राप्त कर लिया हो। श्रीअद्वैताचार्य, वासुदेव सार्वभौम-जैसे प्रकाण्ड विद्वान् महाप्रभुकी रसधारा-में निमग्न हो गये। महाप्रभुने पुनः विवाह किया। श्रीविष्णुप्रियाजीकी प्रेम-साधना सफल हुई। जगाई-मधाई-जैसे दुष्टोंका उद्धार हुआ। वे संत बन गये महाप्रभुके प्रतापसे।

श्रीगौराङ्ग कीर्तन करते-करते प्रेमोन्मत्त हो उठते। उस समय वे जिसे स्पर्श कर लेते, वह उसी समय अपनेको भूलकर

नृत्य करता, रोता, लुण्ठित होता और मङ्गलमय श्रीकृष्ण-चन्द्र-का नाम लेकर पुकारने लगता। अनेक बार महाप्रभुमे भगवदावेश हुआ। भक्तोंने अपने आराध्य रूपोंका उनमे अनेक बार साक्षात्कार किया। एक बार ऐसा आवेश पूरे अष्ट प्रहर-तक बना रहा।

महाप्रभुने चौबीस वर्षकी अवस्थामे श्रीकेशव भारतीजीसे संन्यासकी दीक्षा ली। संन्यासका नाम श्रीकृष्णचैतन्य हुआ। नदिया छूटा और महाप्रभुने श्रीजगन्नाथधाममे निवास किया। यहाँसे काशी होते हुए एक बार वृन्दावन और एक बार दक्षिण एवं मध्यभारतकी महाप्रभुने यात्रा की। काशीमें वेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित प्रकाशानन्द सरस्वती महाप्रभुके अनुगामी हो गये। जगन्नाथपुरीसे महाप्रभु एक बार नदिया भी पधारे थे।

श्रीमहाप्रभु अन्ततक जगन्नाथधाममें विराजे और जब यह लोक छोड़ना हुआ, वे जगन्नाथजीके श्रीविग्रहमे लीन हो गये। महाप्रभुका प्रेममय जीवन हिंदीमें 'चैतन्यचरितावली'मे और बॅगलामे 'अमिय निमाई-चरित'में देखने योग्य है। उसका कोई अंश ऐसा नहीं, जो छोड़ा जा सके। यहाँ चरित देना सम्भव नहीं है। श्रीमहाप्रभुके अनुयायियोंमे श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैताचार्य, राय रामानन्द, श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी, श्रीरघुनाथ भट्ट, श्रीगोपाल भट्ट, श्रीरघुनाथदास, श्रीहरिदासजी तथा श्रीनरहरि सरकार मुख्य है।

श्रीमहाप्रभुने ब्रह्मसूत्रपर कोई भाष्य नहीं किया। वे श्रीमद्भागवतको ही गीता एवं ब्रह्मसूत्रका भाष्य मानते थे। श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीजीव गोस्वामी-ने महाप्रभुके मतके अनुसार ग्रन्थोका निर्माण किया। इनमे 'भक्तिरसामृतसिन्धु', 'भागवतामृत' 'षट्सन्दर्भ', आदि ग्रन्थ हैं। पीछे आचार्य बलदेव विद्याभूषणने ब्रह्मसूत्रपर गोविन्द-भाष्य लिखा। इस प्रकार अचिन्त्यभेदाभेदवादकी पूर्ण प्रतिष्ठा आचार्य बलदेवने की। श्रीमहाप्रभुने भक्ति तथा श्री-कृष्ण-कीर्तनकी धारा प्रवाहित की और वह धारा मनुष्योको पावन करती अविच्छिन्न प्रवाहित हो रही है। —सु०

श्रीकण्ठाचार्य

आचार्य श्रीरामानुजके विशिष्टाद्वैतसे कुछ पृथक्, पर उससे प्रायः मिलता हुआ, वैसा ही भक्तिप्रधान श्रीकण्ठाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद है। इसकी विशेषता यह है कि इसमे भगवान् शङ्कर ही परम तत्त्व माने गये हैं। श्रीकण्ठाचार्यने अपने भाष्यमें अपने पूर्वाचार्योके रूपमें शैवाचार्य तथा श्रीश्वेताचार्यका नाम लिया है।

आचार्य श्रीकण्ठ श्रीरामानुजाचार्यसे पहले हुए है। वे श्रीशङ्कराचार्यके पूर्ववर्ती है, ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं। दक्षिण-भारतमें ही उनका निवास था। वे महायोगी थे और भगवान् शङ्करके अंशावतार माने जाते थे। वे दहर-विद्याके आराधक थे। ब्रह्मसूत्रका शैवभाष्य और मृगेन्द्रसंहितावृत्ति—उनके दो ग्रन्थ हैं। उनके भाष्यकी भाषा अत्यन्त मधुर है और अपने भावोंको थोड़े—पर महत्त्वपूर्ण शब्दोमे उन्होने व्यक्त किया है। श्रीअघोरशिवाचार्यने श्रीकण्ठाचार्यकी मृगेन्द्रसंहिताकी व्याख्या लिखी है। —सु०

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य

प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके आचार्योमे सोमानन्दनाथ, उदयकर सूनु, वसुगुप्ताचार्य, भट्ट कल्लटेन्दु, उत्पलाचार्य आदिके नाम मिलते है; पर इन आचार्योके ग्रन्थ नही मिलते। केवल अभिनवगुप्ताचार्यका गीताभाष्य एवं शिवसूत्रोंको व्याख्या मिलती है।

महर्षि कात्यायन तथा वररुचिके वंशमे परम विद्वान् सौचुकके पुत्र महात्मा भूतिराज श्रीअभिनवगुप्ताचार्यके पिता एवं गुरु भी थे। भगवान् शङ्करका अपनी साधनाद्वारा साक्षात्कार करके ही आचार्य गीताभाष्यमें प्रवृत्त हुए थे। उनके प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्तका संक्षिप्त सारांश 'हिंदू-संस्कृति और दर्शनशास्त्र' शीर्षकमे दर्शनोके परिचय-क्रममे दिया गया है। —सु०

श्रीभास्कराचार्य

महाराष्ट्रमे नासिकके पास एक ताम्रपत्र पाया गया है। उससे पता लगता है कि भट्टभास्कर ज्यौतिषाचार्य भास्करके पूर्व-पुरुष थे। ये शाण्डिल्य-गोत्रमे उत्पन्न हुए थे। इनके पिताका नाम त्रिविक्रम था। ये कविचक्रवर्ती कहे जाते थे। 'सिद्धान्तशिरोमणि'-कर्ता ज्योतिषी भास्कराचार्य इनकी छठी सन्तति-परम्परामे हुए। वेदान्तसूत्रपर इन्होने भाष्य लिखा था। इन्होने भेदाभेदवादकी स्थापना की। ये ब्रह्मको सगुण-निराकार मानते थे। —सु०

समर्थ रामदास स्वामी

श्रीसूर्याजी पन्तकी धर्मपत्नी रेणुका देवी धन्य हैं। उनके प्रथम पुत्र गङ्गाधरने नौ वर्षकी अवस्थामें ही श्रीहनुमान्जी-का दर्शन प्राप्त किया। आगे जाकर वे 'श्रेष्ठ' या 'रामी-रामदास'के नामसे प्रसिद्ध हुए। दूसरे पुत्र नारायणने आठ वर्षकी अवस्थामे साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके दर्शन

पाये । श्रीरामने इन्हें स्वतः दीक्षा दी और इनका नाम 'रामदास' रक्खा ।

'शुभ मंगल सावधान !' महाराष्ट्र-प्रथाके अनुसार रामदासजीके विवाहके समय ब्राह्मणोंने जैसे ही 'सावधान' कहा, सचमुच रामदास सावधान हो गये । वे विवाहमण्डपसे उस बारह वर्षकी अवस्थामें ही भाग पड़े । फिर तो बारह वर्षतक किसीको उनका कुछ पता नहीं लगा । पता लगे भी कैसे, पैदल पञ्चवटी पहुँचकर श्रीरामका स्तवन करके गोदा और नन्दिनीके संगमपर टाफलीमें एक गुफामें आसन लगा चुके थे । बारह वर्षकी तपस्याके पश्चात् श्रीसमर्थने तीर्थयात्रा प्रारम्भ की । उन्होंने बद्रीनाथसे रामेश्वरतक भारतके सभी तीर्थोंकी यात्रा की । जहाँ भी वे गये, उन्होंने तीर्थोंमें अपने मठोंकी स्थापना की । उनके मठ जांब, चाफल, सज्जनगढ़, टाफली, तंजौर, डोमगाँव, मनपाडले, मिरज, शिराडे, पण्ढरपुर, प्रयाग, काशी, अयोध्या, मथुरा, द्वारिका, बद्रीनाथ, केदारनाथ, रामेश्वर और गङ्गासागर आदिमें हैं । ग्यारह स्थानोंमे उन्होंने मारुति-प्रतिष्ठा की है ।

बारह वर्ष तीर्थयात्रा करके समर्थ गोदावरी-परिक्रमाको निकले थे । लोगोंसे माताके कष्टका वर्णन सुनकर वे घर गये । पूरे चौबीस वर्षपर माता-पुत्रका मिलन हुआ । माताको कपिलगीताका उपदेश करके उनकी आज्ञासे वे गोदावरीकी परिक्रमा करने गये । यह तीर्थयात्रा समाप्त करके वे माहुलीमें रहने लगे । यहाँ उनसे मिलने अनेक संत आते थे । जयराम स्वामी, रंगनाथ स्वामी, आनन्द स्वामी, केशव स्वामी और समर्थ—ये पाँच महापुरुष दासपञ्चायतन कहे जाते थे । यहीं श्रीतुकारामजी समर्थसे मिलने आये थे ।

श्रीसमर्थने श्रीरामनवमी-महोत्सवका प्रारम्भ मसूरसे किया । उन्हीं दिनों चाफलके पास श्रीशिवाजी महाराजने उनके दर्शन किये । शिवाजी महाराजने श्रीसमर्थको गुरुरूपसे वरण किया और जब श्रीसमर्थ परली (सज्जनगढ़) मे रहने लगे, तब शिवाजी बार-बार उनके दर्शनोंको आया करते । करंजगाँवसे पैदल श्रीसमर्थ एक दिन सतारेके राजद्वारपर पहुँचे । उन्होंने पुकारा 'जय जय श्रीरघुवीर समर्थ ।'

'आजतक मैंने जो कुछ अर्जित किया, सब स्वामीके श्रीचरणोंमें अर्पित है ।' महाराज शिवाजीने एक पत्रपर लिखकर गुरुदेवकी झोलीमे डाल दिया । सचमुच वे दूसरे दिन झोली लटकाकर समर्थके पीछे भिक्षा माँगने चल पड़े ।

'शिवा ! साधु इस कागजका क्या करेगा ? तू शासन करने, पीड़ितोंकी रक्षा करने आया है या भीख माँगने ? राज्य मेरा हो गया, पर तू मेरी ओरसे इसका संचालन कर ।' श्रीशिवाजीने गुरुदेवकी आज्ञा स्वीकार की, महाराष्ट्रका राष्ट्रध्वज गैरिक माना गया । राज्यमुद्रापर गुरुदेवका प्रतीक अङ्कित हुआ ।

संवत् १७३९ माघ कृष्ण नवमीको समस्त परिचित अनुगत मण्डलीको समझाकर समर्थने श्रीराममूर्तिके सम्मुख आसन लगाया । इक्कीस बार 'हर'का उच्चारण करके जैसे ही उन्होंने 'राम' कहा, एक ज्योति उनके मुखसे निकलकर भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गयी ।

श्रीसमर्थके जीवनमें अनेक चमत्कारोंका उल्लेख है । उनके अनेकों ग्रन्थ हैं । इन ग्रन्थोंमें 'दासबोध' बहुत प्रख्यात है । लेकिन सबसे बड़ी बात तो यह है कि औरंगजेब तथा दक्षिणके मुसलमान सूबेदारोंके उस अत्याचारपूर्ण समयमें श्रीसमर्थने हिंदू-धर्मकी रक्षा की । इतिहासके विद्वान् जानते हैं कि समर्थद्वारा स्थापित मठ केवल निवृत्तिनिरत साधुओंके स्थान नहीं थे । उनमें भगवत्परायण, धर्मप्रेमी, स्वस्थ, सबल श्रीमारुतिके उपासक रहते थे । अत्याचारपीड़ितोंकी रक्षा तथा दस्युदलसे जनताके त्राणके ये मठ आश्रयस्थल थे । दिल्लीसे शिवाजी इन मठोंकी सहायतासे ही सुरक्षित महाराष्ट्र पहुँचे थे । महाराज शिवाजीकी सफलतामें इन मठोंका बहुत बड़ा भाग था । श्रीसमर्थकी संगठनशक्ति अद्भुत थी और उससे अद्भुत ज्ञात होती है उनकी निर्लिप्तता, जब स्थितिपर विचार किया जाता है । —रा० श्री०

संत तुकारामजी

महाराष्ट्रके देहूग्राममें संवत् १६६५ में तुकारामजीका जन्म हुआ । इनके पिताका नाम बोलोजी और माताका नाम कनकाबाई था । तेरह वर्षकी अवस्थामें रखुमाईके साथ इनका विवाह हो गया । विवाहके पश्चात् ज्ञात हुआ कि रखुमाईको दमेकी बीमारी है, अतः माता-पिताने इनका दूसरा विवाह जिजाईके साथ कर दिया । तुकारामजीके बड़े भाई सावजी विरक्त प्रकृतिके थे; फलतः जब पिता वृद्ध हो गये, घरका भार तुकारामजीपर पड़ा । इनके छोटे भाईका नाम कान्हजी था ।

इनकी सत्रह वर्षकी अवस्थामें माता-पिताका परलोकगमन हुआ । बड़े भाईकी स्त्रीका देहान्त होनेपर वे तीर्थयात्रा करने चले गये । तुकारामजीका मन गृहकार्यमें लगता नहीं था । बहुतोंका घरपर ऋण था । वे तकाजा करते थे । पैतृक सम्पत्ति अस्त-व्यस्त हो गयी थी । दूकानसे भी हानि

ही हो रही थी। एक बार आत्मीयोंने सहायता की, दो-एक बार श्वशुरने सहायता की; परंतु अन्तमें दूकानका दिवाला निकल गया। एक बार मिर्च खरीदकर कोंकणमे बेची भी तो ठगोंने इन्हें पीतलके कड़े, सोनेके बताकर दे दिये और दाम ऐंठ ले गये। छोटी पत्नीने पितासे इनको दो सौ रुपये दिलाये। उसका नमक लेकर बेचनेपर पचास रुपये लाभ भी हुआ, पर भाग्यसे एक दुखी पुरुष मार्गमे मिल गया। तुकारामजीने उसे सब रुपये दे दिये।

पूना जिलेमें भयङ्कर अकाल पड़ा। अन्न-जलका अभाव हो गया। उसी समय बड़ी स्त्री और इनका पुत्र भी चल बसे। घरमें कुछ रुक्के थे। कुछ लोगोंसे रुपया लेना था। तुकारामजीने छोटे भाईके भागके आधे रुक्के उसे दे दिये। शेष आधे रुक्के इन्द्रायणीमें फेंककर पूरे अकिञ्चन हो गये। अब दिनभर भजन, कीर्तन और स्वाध्याय चलने लगा। दिनभर भामनाथ पर्वतपर, गोण्डा पर्वत या भाण्डारा पर्वतपर भजन करते। सन्ध्याको गाँवमें आते और आधी राततक कीर्तन सुनते रहते। अपने हाथो पितामह श्रीविश्वम्भरके बनवाये विट्ठल-मन्दिरका इन्होंने जीर्णोद्धार किया।

'तुकारामको देहू छोड़ देना चाहिये! वह शूद्र होकर मराठीमें श्रुतिके अर्थ बोलता है तथा सब लोग उसकी पूजा करते हैं।' ब्राह्मणोंने स्थानीय शासकको उभाड़ा। कीर्तनके समय तुकारामजीके मुखसे अभङ्ग निकलते थे। उनका सम्मान बढ़ गया था। कर्मकाण्डी पण्डितोंको यह सहन नहीं हुआ।

'जब अपनी इस कीर्ति-कथाको नष्ट ही कराना था तो मेरे मुखसे तुमने उसे प्रकट क्यों किया? तुका क्या कभी अपनी वाणी बोला है?' विट्ठलका वह लाड़ला भक्त उनके मन्दिरके सम्मुख एक शिलापर धरना दिये रूठा बैठा था। अन्न-जल छोड़ दिया गया था। ब्राह्मणोके कहनेपर सब अभङ्ग इन्द्रायणीमें तुकारामने फेंक दिये थे, पर अब वे अपने आराध्यसे उलझ पड़े थे। क्यों वह नटखट उन्हे इस प्रकार क्षुभित करता है?

'तुम्हारे अभङ्ग इन्द्रायणी न डुबा सकती थी और न नष्ट कर सकती थी। मैं भक्तोंको उन्हें आज ही दे आया हूँ।' तेरह दिनोंके पश्चात् वे पण्ढरीनाथ प्रकट हुए। तुकारामके लिये तो वे दिन पलोंसे भी छोटे हो गये। उन नीलतमाल-अङ्ग विट्ठलने उठाकर हृदयसे लगा लिया था उन्हें। ब्राह्मण रामेश्वर अभङ्गोंकी बहियाँ प्रवाहित कराके नागनाथजीका दर्शन करने जा रहे थे। मार्गमें अनगढ़शाह औलियाकी बावलीमें डुबकी लगाते ही उनके सारे शरीरमें भयङ्कर जलन होने लगी। वह जलन चिकित्सासे शान्त होनेवाली नहीं थी। तुकारामजीकी शरणमें आनेपर ही वह दूर हुई।

छत्रपति महाराज शिवाजी श्रीतुकारामजीको गुरु मानते थे। तुकारामजीने ही शिवाजीको श्रीसमर्थकी शरण लेनेका आदेश दिया था। जबतक तुकारामजी रहे, उनके मुखसे निरन्तर भगवद्गुणगानकी अमृतधारा प्रवाहित होती रही। संवत् १७०६ चैत्र कृष्ण २ के प्रातः तुकारामजी इस लोकसे चले गये। उनका मृतदेह किसीने देखा नही। जो सशरीर भगवद्धाम गये हों, उनका देह किसीको मिले कैसे। देहू और लोहगाँवमें तुकारामजीके स्मारक हैं। वारकरी सम्प्रदायके भक्त इन स्थानोंकी यात्रा करते हैं। तुकारामजीके अभङ्ग महाराष्ट्रमे सबसे अधिक प्रिय हैं। उनमे ज्ञान एवं भक्तिका अनुपम सामञ्जस्य है। तुकारामजी महाराष्ट्रके भावकी मूर्ति हैं। उनकी वाणीमे महाराष्ट्रका निर्मल भगवन्मुख हृदय झंकृत होता है। —सु०

संत ज्ञानेश्वरजी

श्रीविट्ठलपन्तके तीन पुत्र तथा एक कन्या थी— निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव तथा मुक्ताबाई। निवृत्तिनाथजीने गैनीनाथजीसे आत्मबोध प्राप्त किया। शेष भाइयों तथा बहिनको उन्होंने ही दीक्षा दी। ज्ञानेश्वरकी अवस्था केवल पाँच वर्षकी थी, जब कि उनके माता-पिता परलोकवासी हुए। चारो बालक भिक्षामे कच्चा अन्न माँग लाते। भगवच्चर्चामें ही उनका पूरा समय व्यतीत होता था।

'यदि पैठणके ब्राह्मण तुम्हें शुद्धिपत्र दे दें तो हम सब भी तुमलोगोंको शुद्ध मान लेंगे।' ब्राह्मण इन बालकोका उपनयन करानेको प्रस्तुत नहीं थे। इनके पिता विट्ठलपन्त पहले संन्यासी हो गये थे। गुरुके आदेशसे उन्होने पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार किया था। ब्राह्मणोके आदेशसे प्रायश्चित्तस्वरूप उन्होंने सपत्नीक प्रयाग आकर त्रिवेणी-तटपर प्राणत्याग किया। इतनेपर भी ब्राह्मणलोग उनके बालकोको अस्पृश्य ही मानते रहे।

चारों बालक पैदल-पैदल दीर्घ यात्राका कष्ट उठाकर पैठण पहुँचे। पैठणके ब्राह्मणोंकी सभा हुई। ब्राह्मणोने इन बालकोको वेदका अनधिकारी बताया और भगवन्नाम-कीर्तन तथा भक्ति करनेका आदेश दिया। चारों भाई-बहिन इससे सन्तुष्ट हो गये, परंतु लोगोंने फिर भी छेड़ना बंद नहीं

किया। ज्ञानेश्वरजीने एक भैंसेको आत्मरूप बताया और उसके मुखसे सस्वर शुद्ध वेदमन्त्रोंका उच्चारण करवा दिया। इस चमत्कारसे ब्राह्मण लज्जित हुए। उन्होंने शुद्धिपत्र दे दिया। पैठणमें रहते हुए ज्ञानेश्वरजीने श्रीशङ्कराचार्यजीके भाष्य, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थ देख डाले।

शुद्धिपत्र तथा वेदोच्चारण करनेवाले भैंसेको लेकर ये लोग पैठणसे विदा हुए। भैंसेको आलें नामक स्थानमें समाधि दी गयी। नेवासेमें ज्ञानेश्वरजीने ज्ञानेश्वरी गीताका कथन किया। सच्चिदानन्दजीने उसे लिखा। वहाँसे ज्ञानेश्वरजी आलन्दी गये। वहाँ उनका बहुत सत्कार हुआ। ज्ञानेश्वरजीने पंद्रह वर्षकी अवस्थामें 'ज्ञानेश्वरी' गीताभाष्यका कथन किया। अपने जीवनमें उन्होंने अनेक चमत्कार दिखलाये।

भाइयों तथा बहिनके साथ ज्ञानेश्वरजीने तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। विसोबा खेचर, गोरा कुम्हार, चोखा मेला, नरहरि सुनार आदि अन्य संत भी उनके साथ हो गये। पण्ढरपुरमें साक्षात् विट्ठल भगवान्ने उन्हें दर्शन दिये। श्रीनामदेवजीको साथ लेकर उज्जैन, प्रयाग, काशी, गया, अयोध्या, मथुरा, द्वारिका, गिरिनार प्रभृति तीर्थोंकी यात्रा हुई। अनेक स्थानोंमें ज्ञानेश्वरजीने योगके चमत्कार दिखलाये। उस समयके प्रख्यात योगी चाङ्गदेव भी इनके शरणापन्न हुए।

कुल इक्कीस वर्ष, तीन मास, पाँच दिनकी अवस्थामें संवत् १३५३ मार्गशीर्ष कृष्ण १३ को श्रीज्ञानेश्वरजीने जीवित समाधि ले ली। उनकी समाधिके एक वर्षके भीतर ही सोपानदेव, चाङ्गदेव, मुक्ताबाई और निवृत्तिनाथ भी एक-एक करके परमधाम चले गये। श्रीज्ञानदेवजीके चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, हरिपाठके अभङ्ग और चाङ्गदेव-पैंसठी।

महाराष्ट्रमें ज्ञानकी धारा बहानेवाले श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी समाधिपर अब भी वहाँ मेला लगता है। उनकी 'ज्ञानेश्वरी' ज्ञानका समुद्र है। महाराष्ट्र-भक्तोंमें ज्ञानेश्वर महाराज आराध्यका सम्मान पाते हैं। —सु०

संत एकनाथजी

पैठण महाराष्ट्रके वारकरी सम्प्रदायकी तीर्थभूमि है। यहीं श्रीसूर्यनारायणजीकी पत्नी रुक्मिणीबाईने एकनाथ महाराजको जन्म दिया। माता-पिताका अति शीघ्र देहान्त हो जानेसे पितामह चक्रपाणिजीने एकनाथजीका लालन-पालन किया। ६ वर्षकी अवस्थामें यज्ञोपवीत हुआ। बाल्यकालमें ही रामायण तथा महाभारतकी शिक्षा प्राप्त हुई। बारह वर्षकी अवस्थामें तीव्र वैराग्यका उदय हो गया। आधी रातको घर-द्वार छोड़कर देवगढ़में जनार्दन स्वामीकी शरणमें पहुँचे। वहाँ दत्तचित्त होकर गुरुसेवा करने लगे।

'एकनाथ, एक पाईकी भूल मिलनेसे तुम इतने प्रसन्न हुए हो और संसार-जैसी महाभूलको अपनाये हो? यह भूल दूर हो तो कितना आनन्द हो।' जनार्दन स्वामीकी निद्रा ताली सुनकर खुल गयी थी। उन्होंने हिसाब-किताबका भार एकनाथको दे रक्खा था। उस दिन हिसाबमें एक पाई मिल नहीं रही थी। गुरुसेवासे निवृत्त होकर रात्रिमें एकनाथजी हिसाब मिलाने बैठे। भूलका पता लगनेपर इतनी प्रसन्नता हुई कि ताली बजाने लगे थे। गुरुदेवने जो उपदेश दिया, वह उनके हृदयमें प्रविष्ट हो गया।

'गुरुदेव ही दत्तात्रेय हैं और दत्तात्रेय ही गुरुदेव हैं।' एकनाथजीको जब भगवान् दत्तात्रेयके दर्शन हुए तो उन्होंने गुरुदेवसे अभिन्नरूपमें उन्हें देखा। गुरु जनार्दन स्वामीने उन्हें श्रीकृष्णोपासनाकी दीक्षा देकर शूलभञ्जन पर्वतपर जाकर तप करनेकी आज्ञा दी। घोर तपके पश्चात् भगवत्साक्षात्कार करके वे लौट आये गुरुदेवके समीप। गुरु-आज्ञासे ही वे तीर्थ-यात्राको निकले। यात्रामें चतुःश्लोकी भागवतपर ओवी छन्दोंमें उन्होंने एक ग्रन्थ लिखा और पञ्चवटीमें उसे गुरुदेवको सुनाया।

तीर्थ-यात्रा करते हुए जन्मभूमिके समीप एकनाथजी पिप्पलेश्वर महादेवमें ठहरे थे। पितामह तथा दादीने इन्हें वर्षों ढूँढ़ा था। वे वृद्ध दम्पति जनार्दन स्वामीसे एकनाथजीके लिये लिखित आज्ञा-पत्र ले आये थे कि एकनाथजी गृहस्थाश्रम स्वीकार करें। गुरु-आज्ञा शिरोधार्य करके एकनाथजी घर आये। वहाँ धूमधामसे गिरिजाबाईके साथ उनका विवाह हुआ।

'सब प्राणी भगवान्के ही साक्षात्स्वरूप हैं। गृहस्थाश्रमकी सफलता है साधु-ब्राह्मण तथा अतिथिकी निरन्तर सेवामें।' एकनाथजी इस सिद्धान्तके मूर्तिमान् आदर्श थे। इनके घर बराबर अन्न बँटता रहता। रात्रिमें कीर्तनमें आनेवाले श्रोता प्रायः इनके घर ही भोजन करते। एक दिन रात्रिमें बहुत-से ब्राह्मण घर आये। उन्होंने दिनमें भोजन नहीं किया था। अधिक वर्षाके कारण घरमें सूखा काष्ठ था नहीं। एकनाथजीने घरकी पलंगोंकी निवार पृथक् की और पाये तथा पट्टियाँ लकड़ीके काम आ गयीं।

'सब भगवत्स्वरूप हैं तो किसीपर किसी भी दशामें रोष कैसे किया जा सकता है।' गोदावरी-घाटके मार्गमें एक मुसल्मान रहता था एक सरायमें। वह हिंदुओंको कष्ट देता था। एकनाथजी जब स्नान करके लौटते तो उनके ऊपर कुल्ला कर देता। वे हँसकर पुनः स्नान करने चले जाते। चार-पाँच बार नित्य उन्हें स्नान करना पड़ता। एक दिन तो एक सौ आठ बार कुल्ले किये उसने। ये बार-बार स्नान-को लौटते रहे। अन्तमे लज्जित होकर वह इनके चरणोपर गिर पड़ा।

'तुमने ब्राह्मणोंका अनादर किया है। हम ऐसे पतितके यहाँ भोजन नहीं करेंगे!' पितृ-श्राद्धके समय ब्राह्मण रुष्ट होकर चले गये। श्राद्धके लिये जो अन्न पहले बना था, उसकी सुगन्धसे मार्गमे चलते चार-पाँच महारो (चमारों) का मन लुब्ध हुआ था। 'ऐसा भोजन हमारे भाग्यमें कहाँ!' कहते हुए वे जा रहे थे। एकनाथजीने उन्हें बुलाकर भोजन करा दिया। दूसरा भोजन बना ब्राह्मणोंके लिये। ब्राह्मणोंने इसे अपना अपमान माना। योगिराज एकनाथजीने पितरोंका ध्यान किया। साक्षात् प्रकट होकर पितरोंने श्राद्ध-भोजन किया।

'मैंने भगवान् रामेश्वरको ही जल चढ़ाया है!' पैदल गङ्गोत्रीसे कन्धेपर गङ्गाजलकी काँवर लेकर रामेश्वरजीपर चढ़ानेको जाना कितने कष्ट, तप एवं श्रद्धाका कार्य है—यह कोई भी सोच सकता है। वह जल मरुभूमिमें प्याससे तड़पते एक गधेको एकनाथजीने पिला दिया। इतने श्रमके जलका यह उपयोग देखकर उनके साथी चौंके, पर एकनाथजी तो प्रसन्न हो रहे थे। जल पीकर गधा चला जा रहा था और वे देख रहे थे कि उन्होने साक्षात् गङ्गाधर रामेश्वरको तृप्त कर दिया है।

× × ×

'महाराज, क्या इस पापिनीका घर भी श्रीचरणोसे पवित्र हो सकता है?' कितने सङ्कोच, कितने भावसे उस वेश्याने प्रार्थना की थी! महाराजकी कथामे उसने श्रीमद्भागवतके पिङ्गलोपाख्यानकी व्याख्या सुनी थी। उसे घृणा हो गयी अपने व्यवसायसे। घरका द्वार बंद किये परितापकी ज्वालामें जलते हुए कई दिन हो गये उसे। महाराज स्नान करके गोदावरीसे लौट रहे थे, यह उसने खिड़कीसे देखा था। नित्य इसी प्रकार दर्शन कर लेती है। आज हृदय नहीं माना। द्वार खोलकर महाराजके सम्मुख भूमिपर मस्तक रक्खा उसने।

'इसमें दुर्लभ बात क्या है!' वे पतित-पावन सीधे उसके गृहमें चले गये। 'राम-कृष्ण-हरि' की मञ्जुल ध्वनिसे उसका वह घर पवित्र हो गया।

× × ×

कीर्तनके समय भीड़में कुछ चोर आ बैठे थे। उनको अपने अवसरकी प्रतीक्षा थी। कीर्तन समाप्त होनेपर भोजनादिके उपरान्त वे भी दूसरे भक्तोके साथ वहीं लेट रहे। सबके सो जानेपर उन्होंने अपना कार्य प्रारम्भ किया। दूसरे कमरोंमे जो मिला, लेकर वे देवगृहमे घुसे। एक मन्द दीपक जल रहा था। एकनाथजी भगवान्‌के सम्मुख बैठे थे। चोरोंने एक बार देखा और फिर तो उन्हें कुछ भी दिखायी देना बंद हो गया। नेत्रोके आगे अन्धकार छा गया।

'तुम्हें आवश्यकता न होती तो भला इतनी रात्रिमें इतना श्रम कैसे करते। यह सब ले जाओ!' एकनाथजीने चोरोंको देखा। उनके नेत्रोंको अपने करस्पर्शसे दृष्टि प्रदान की और उनसे आग्रह करने लगे कि जो सामान उन्होंने एकत्र किया है, अवश्य ले जायँ। महाराजने अपनी अँगुलीकी अँगूठी भी निकालकर उन्हें दे दी। ऐसे महापुरुषका साक्षात्कार होनेपर क्या वे फिर चोर बने रह सकते थे।

संवत् १६५६ चैत्र कृष्ण ६ को एकनाथजीने गोदावरीके तटपर अपना शरीर छोड़ा। उस समय वे पूर्ण स्वस्थ थे। पहलेसे भक्तोंको परधामगमनकी बात उन्होंने कह दी थी। कथा, कीर्तन और हरिभक्तोंके जयनादके मध्य एकनाथजी दिव्य धाम पधारे। उनके ग्रन्थोंमें भागवत, एकादश स्कन्धका भाष्य, रुक्मिणी-स्वयंवर तथा भावार्थ-रामायण प्रसिद्ध हैं। कई छोटे ग्रन्थ और भी हैं। महाराष्ट्रमें 'एकनाथी भागवत' की प्रायः कथा हुआ करती है। —सु०

श्रीनामदेवजी

बड़े सौभाग्यसे मनुष्यकी भगवान्‌की ओर रुचि होती है। रुचि होनेपर भी साधन होना सहज नहीं और प्रेम तो वे दयामय प्रदान करें, तब कहीं हृदयमें आता है। कुछ ऐसे महापुरुष भी होते हैं, जो जन्मसे उस घनश्यामके अनन्य अनुरागी होते हैं। छीपी दामाशेटकी पत्नी गोणाईदेवीकी गोदमें नरसी ब्राह्मणी ग्राममें संवत् १३२७ की कार्तिक शुक्ला ११ को एक ऐसे ही बालकका आगमन हुआ। यह परिवार परम्परासे 'विट्ठल'का भक्त था। बालक नामदेवके मुखपर 'विट्ठल' की धुन रहती। जब वे लिखने योग्य हुए, 'विट्ठल' नाम ही लिखा करते। बचपनमें ही भगवान्‌को इनके प्रेमसे विवश

होकर इनके हाथों नैवेद्य ग्रहण करना पड़ता । घरके श्रीविग्रह इनके लिये साक्षात् प्रभु थे ।

नामदेवजीका विवाह नौ वर्षकी अवस्थामें हो गया था । चार पुत्र हुए, पुत्रोंकी सन्तति हुई; परंतु नामदेवजी कभी गृहासक्त न हुए । वे गाँव छोड़कर पण्ढरपुर आ बसे थे । 'पण्ढरपुर ही सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र है । चन्द्रभागा ही पवित्रतम तीर्थ है । कटिपर कर रखकर ईंटपर विराजमान श्रीविट्ठल ही परम देवता हैं ।' नामदेवजीका यह दृढ़ विश्वास था ।

शिवरात्रिका पुण्य-अवसर था । नामदेवजी औढ़ियाँमें नागनाथ महादेवको कीर्तन सुना रहे थे । अभिषेक करनेवाले ब्राह्मणोंको अपने मन्त्रपाठमें बाधा जान पड़ी । उन्होंने डाँटकर हटा दिया नामदेवको । वे नम्र संत चुपचाप मन्दिरके पीछे जाकर कीर्तन करने लगे । भगवान् विश्वनाथको मन्त्र-पाठकी अपेक्षा वह हृदयसे निकलती अनुरागवाणी अधिक प्रिय थी । ब्राह्मण मन्त्र-पाठ करते रहे, पर मन्दिरका गर्भ-गृह घूम गया । द्वार हो गया नामदेवजीकी ओर । अब भी वहाँ नन्दीश्वर मन्दिरके पीछेकी ओर हैं ।

श्रीपण्ढरीनाथके महाद्वारपर एक ब्राह्मण भागवत सुनाया करते थे । ये बार-बार सबको कहते 'परिसा भागवत' (सुनो भागवत), फलतः इसी नामसे पुकारे जाने लगे । नामदेवजीकी कीर्तिसे द्वेष होनेके कारण एक दिन व्यासासनसे इन्होंने नामदेवजीपर बहुत आक्षेप किये । नामदेवजीने इनके चरणोंपर मस्तक रखकर क्षमा माँगी । ब्राह्मणको बड़ा दुःख हुआ, जब घर जानेपर उसकी पत्नीने उसे नामदेवजीकी महत्ता समझायी । यही ब्राह्मण नामदेवजीके प्रथम शिष्य हुए । उन्होंने नामदेवजीकी कृपासे भगवान्‌के दर्शन पाये । उनका कहना है—'नामा और केशव एक ही हैं । नामदेव और विट्ठल दोनों एकरूप हैं ।'

भगवान् पण्ढरीनाथकी आज्ञासे नामदेवजी श्रीज्ञानेश्वरजी-के साथ तीर्थयात्राको गये । यात्रासे लौटते समय बीकानेरसे कुछ दूर कौलायतमें दोनोंको प्यास लगी । उस मरुभूमिमें एक कुआँ भी मिला तो सूखा । ज्ञानेश्वरजी योगबलसे कुएँमें उतरे । उन्होंने तलीका भेदन करके जल पिया । नामदेवजीके लिये भी वे जल लाना चाहते थे । नामदेवजीने कहा—'मेरे लिये तो विट्ठल ही जल भेजेंगे ।' नामदेवने अपने विट्ठलको पुकारा । तली फोड़कर जलकी धारा कुएँको मुखतक भरती ऊपरसे प्रवाहित हो चली ।

'तुम धन्य हो ! तुमने अपने प्रेमसे भगवान्‌को अपना बना लिया है । तुम्हारे सत्सङ्गके लाभके लिये ही मैं तीर्थयात्रा करने निकला हूँ ।' ज्ञानेश्वरजीने नामदेवजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की । ज्ञानेश्वरजीके समाधि ले लेनेपर नामदेवजी चालीस-पचास साधुओंको लेकर पंजाब चले गये । वहाँ उन्होंने भगवन्नामका प्रचार किया । पंजाबमें उनके कई मठ हैं । उनकी कविताओंका संग्रह 'नामदेवकी मुख-बानी' तथा उनका चरित 'नामदेवकी जन्म-साखी' गुरुमुखीमें हैं । गुरुग्रन्थसाहब-में उनके साठसे भी अधिक पद हैं । अठारह वर्ष पंजाबमें रहकर नामदेवजी पण्ढरपुर लौट आये । संवत् १४०७ में उन 'विट्ठल'के परम सेवकने श्रीविट्ठल-मन्दिरके महाद्वारकी सीढ़ियोंपर अपने पार्थिव शरीरको विसर्जित कर दिया ।

श्रीनामदेवजीके पद भक्तिसे पूरित हैं । वारकरी सम्प्रदायमें तुकारामजीके पदोंके साथ ही उनके पदोंका कीर्तन होता है । महाराष्ट्र-भक्त अपने प्रदेशके महाभागवतोंका कीर्तन करते हुए कहते हैं—

ज्ञानेश्वर एकनाथ रामदास जय ।
तुकाराम नामदेव पाण्डुरंग हरि ॥

अर्थात् ज्ञानेश्वर, एकनाथ, समर्थ रामदास, तुकाराम और नामदेव—ये साक्षात् श्रीहरि पाण्डुरङ्गके स्वरूप हैं । —सु०

श्रीगोरखनाथजी

संत महापुरुष नाम, वर्ण, जातिसे परे होते हैं । नाथ-पन्थका प्रारम्भ आदिनाथ भगवान् शङ्करसे माना जाता है । आदिनाथजीसे मत्स्येन्द्रनाथजीको 'योग' प्राप्त हुआ । नैपाल राज्यके अधिष्ठाता गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं । वहाँ आपको 'आर्यावलोकितेश्वर' कहा जाता है । गुरु मत्स्येन्द्रनाथ-जीके प्रधान शिष्य गोरखनाथजी हैं ।

गोरखनाथजीने तान्त्रिक पद्धतिके बदले तप एवं हठयोग-को आदर दिया । उनके सम्प्रदायमें अनेक सिद्ध पुरुष हुए । कुण्डलिनी-जागरण, खेचरीमुद्रा आदिका नाथ-पन्थमें बड़ा प्रचार हुआ । 'रस'-सिद्धिका भी आदर किया गया । भर्तृहरिजी बाबा गोरखनाथजीके ही शिष्य हैं । गोरखनाथजी परम सिद्ध और अमर माने जाते हैं । वे अधिकारी साधकको चाहे जब दर्शन दे सकते हैं । गोरखनाथजीके योग-शास्त्र-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ हैं ।

कहा जाता है कि साधनकालमें एक बार सिद्धियोंके कारण गोरखनाथजीके मनमें अहङ्कार हो गया । उस अहङ्कारका नाश
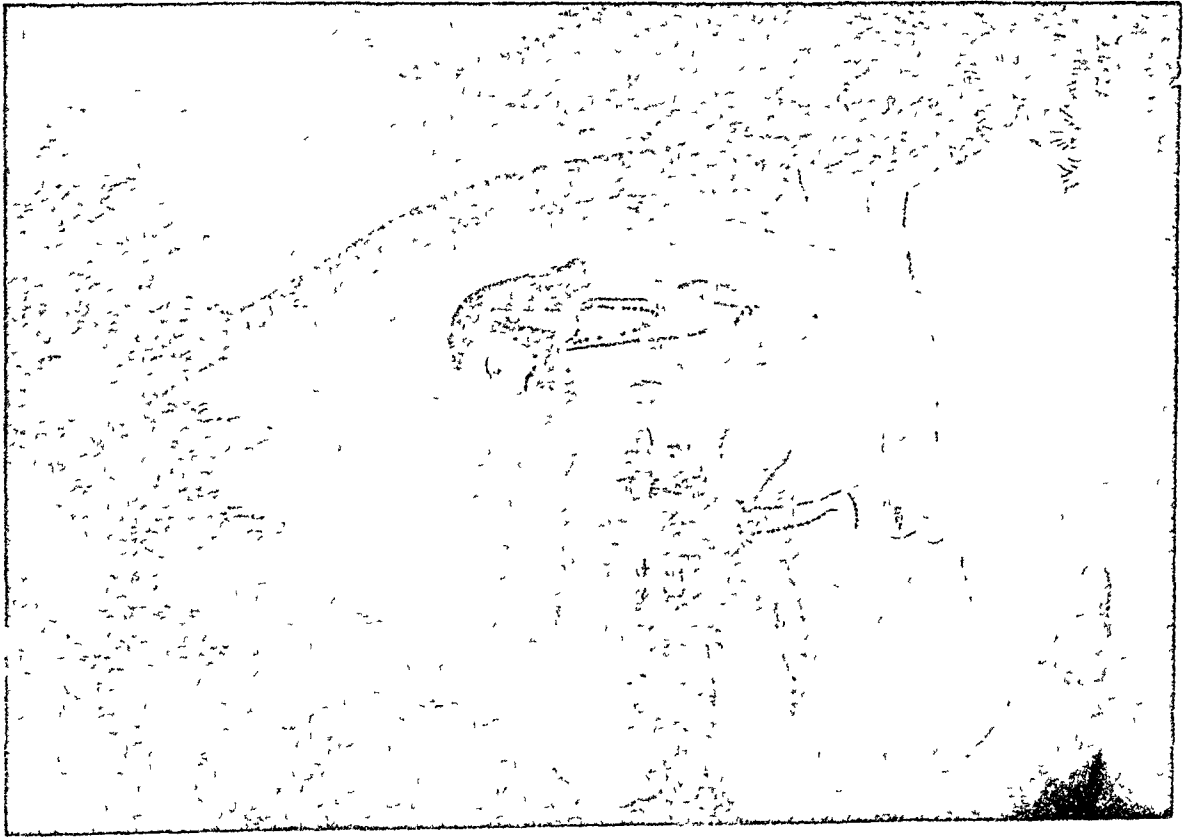
योगिराज श्रीश्रीमत्स्येन्द्रनाथजी

योगिराज श्रीश्रीगोरखनाथजी

डा० केशवराव बलीराम हेडगेवार
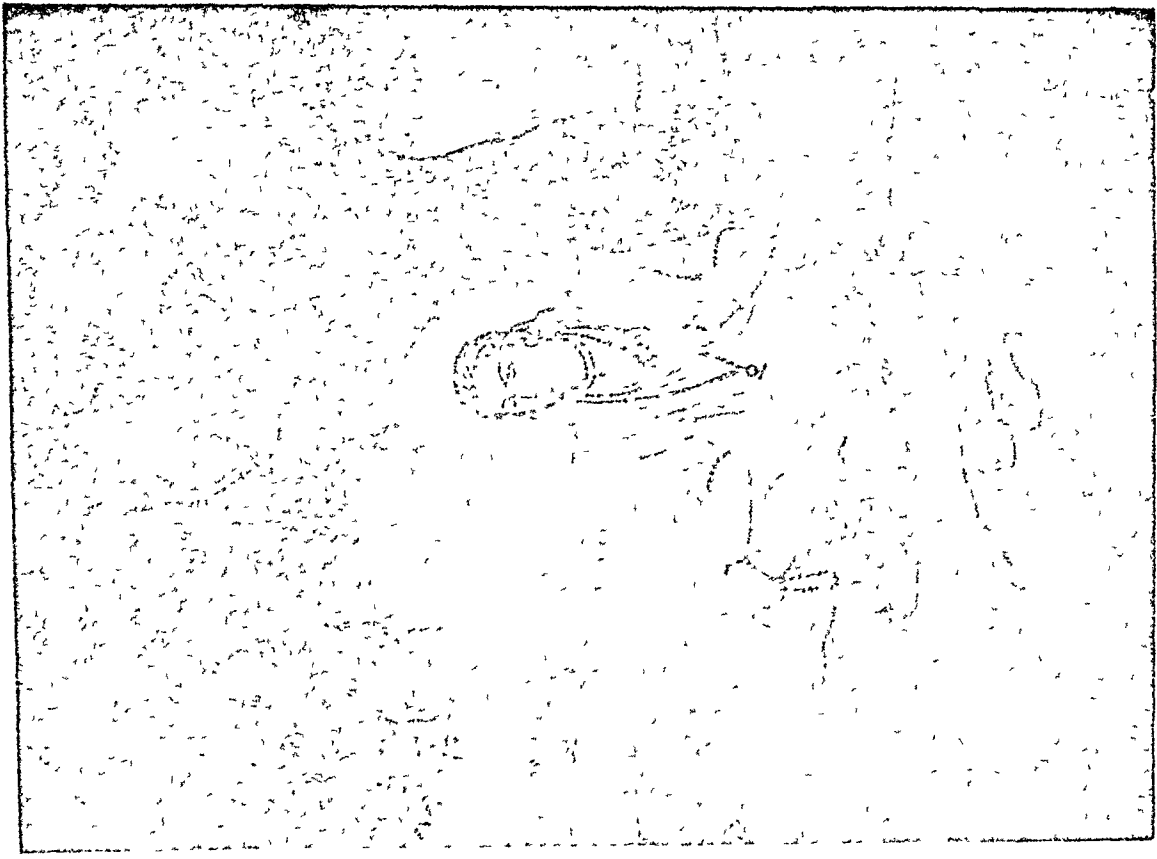
डा० बालकृष्ण शिवराम मुंजे

करनेके लिये गुरु मत्स्येन्द्रनाथजीने माया की। चारों ओर प्रसिद्ध हो गया कि मत्स्येन्द्रनाथजी साधुवेष त्यागकर सङ्गल-द्वीपकी सुन्दरियोंके साथ विषय-रत हो गये हैं। गोरखनाथजी-को बड़ा दुःख हुआ। वे गुरुको सावधान करने अनेक कठिनाइयाँ उठाकर सङ्गलद्वीप गये। वहाँ उन्होंने राज-ऐश्वर्य-का उपभोग करते गुरुको देखा। किसी प्रकार समझाकर उन्हें ले आये। गोरखनाथजी जब योगाश्रम पहुँचे, गुरु-भाइयोंने उनका उपहास किया। गुरुदेव तो दीर्घकालसे समाधि-में स्थित हैं। अहङ्कार दूर हो गया।

बाबा गोरखनाथजीके अनेक स्थानोंमें आश्रम हैं। नैपाल, मद्राससे लेकर राजपूतानेतक उनका नाथ-सम्प्रदाय किसी समय अत्यन्त व्यापक था। महाराष्ट्रीय संतोंके मुकुटमणि ज्ञानेश्वरजी इसी नाथ-सम्प्रदायकी परम्परामें हैं। बौद्धकालमें योगकी आन्तरिक साधना तन्त्रके नामपर बहुत अधिक विकृत हो गयी थी। गोरखनाथजीने पुनः शास्त्रीय योग-मार्गको प्रतिष्ठित किया। उनका मत तप, कठोर त्याग एवं योगकी कठिन साधनाका मार्ग है। वे प्रमाद, आलस्य, भोग तथा बाह्य भेदोंके प्रबल विरोधी रहे हैं। सिद्धियाँ तो उनके पंथके अनेक पुरुषोंमे रही हैं। —सु०

महात्मा कबीरदास

काशीमें लहरताराके समीप नीरू जुलाहेको एक नवजात शिशु मिला। इसी बालकका नाम आगे जाकर 'कबीर' हुआ। कबीरदासजी एक दिन पञ्चगङ्गा घाटकी सीढ़ियोंपर प्रहरभर रात्रि रहते जाकर लेट गये। स्वामी रामानन्दजी वहींसे स्नान करने उतरा करते थे। रामानन्दजीका पैर कबीरके ऊपर पड़ा। वे 'राम-राम' कहकर चौंक पड़े। कबीरने इसीको गुरुमन्त्र मान लिया। कबीरदासजीने मुसलमान सूफी संत शेख तकी और पीर पीताम्बरदासका भी आदरपूर्वक स्मरण किया है। उन्होंने हिंदू-मुसलमानके भेदको छोड़कर सत्सङ्ग प्राप्त किया था।

कबीरदासजीकी पत्नीका नाम लोई था। इनके कमाल नामक एक पुत्र था। कमाल बड़े साधु-सेवी महापुरुष हुए। कबीरदासजी 'पढ़े-लिखे' नहीं थे। उन्होंने अपने कपड़ा बुननेके व्यवसायको बनाये रक्खा। महात्मा गोरखनाथजीसे सिद्धोंकी एक परम्परा चली आ रही थी। इन सिद्धोंका प्रभाव छोटी जातियोंपर अधिक था। कबीरदासजीपर इस परम्पराका पूरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने सिद्ध-परम्पराके समान ही बाह्याचार एवं बाह्य भेदकी उपेक्षा करके आन्तरिक उन्नतिपर बल दिया।

कबीरदासजीने सूफियोंकी प्रेम-साधना तथा नाथ-पन्थी योगियोंके शब्दमार्ग, कुण्डलिनी-जागरणका समन्वय किया। उनके पश्चात् संत-मार्गकी एक परम्परा ही चल पड़ी। दादू, पलटू आदि अनेक संत हुए। कबीरदासजीके ग्रन्थ रमैनी, सबद और साखी कहे जाते हैं। दूसरे संतमार्गी महापुरुषोंने भी 'साखी' तथा 'सबद' लिखे हैं।

वृद्धावस्थामें कबीरदासजीका काशीमें रहना लोगोंने कठिन कर दिया। वे मगहर चले गये और वहीं ११९ वर्षकी अवस्थामें शरीर छोड़ा।

जौं कबिरा कासी मरै तो रामहि कौन निहोरा।

भगवान्‌के चरणोंमें अविचल विश्वासका यह प्रतीक है।

कबीरदासजीकी वाणी अनुभूतिसे पूर्ण है। उन्होंने सब प्रकारके आडम्बर तथा दिखावेका खण्डन करके एक व्यापक तत्त्वके प्रति सच्चे अनुराग एवं सात्त्विक गुणोंका समर्थन किया है। बहुधा वे अपनी बात गूढ़ ढंगसे कहते थे। उनकी 'उलट बासियाँ' अत्यन्त दुर्बोध हैं। अपने आराध्यके अनुरागमें मस्त वे एक ऐसे अक्खड़ संत थे, जो कहीं किसीकी परवा नहीं करता। वे भारतीय सैद्धान्तिक सहिष्णुता एवं समन्वयवादके उच्च आदर्श हैं। —सु०

गुरु नानकदेव

संवत् १५२६ वैशाख शुक्ल ३ (१५ अप्रैल सन् १४६९) को राइभोइ तलवण्डी (ननकाना साहिब) मे वेदी कालूचन्द पटवारीके गृहमें माता तृप्ताजीने एक महापुरुषको जन्म दिया। सिख-धर्मके प्रवर्तक यही गुरु नानकदेव हुए।

'तुमलोग कोई नवीन खेल खेलना चाहते हो तो मैं जैसे कहता हूँ, बैठकर मन-ही-मन 'सत्यकर्तार' कहते चलो।' गुरु नानकदेवका यह खेल था। पद्मासन लगवाकर साथी बच्चोंको बैठा दिया और सब समाधिमे स्थित हो गये। बचपनमे एकान्त-सेवनमें ही उनका चित्त लगता था। पिताने संवत् १५३२ में गोपाल पण्डितके समीप इन्हे हिंदी पढ़ने, संवत् १५३५ में ब्रजलाल पण्डितके पास संस्कृत पढ़ने और संवत् १५३९ में मौलवी कुतुबुद्दीन साहबके पास फारसी पढ़ने बैठाया। तीनों शिक्षक स्वतः इनके ही शिष्य हो गये उस पराविद्याका तत्त्व जाननेके लिये।

"मैंने ऐसा 'सच्चा सौदा' खरीदा है, जो कोई नहीं खरीद सकता।" इन्हें पिताने कुछ रुपये देकर बाहर सौदा खरीदने भेजा था। मार्गमें एक विद्वान् संत मिल गये, जो कई दिनोंसे भूखे

थे। सब रुपये उनकी सेवामें लग गये। घर लौटकर नानकजीने पिताको विवरण दे दिया। पिता बहुत रुष्ट हुए। उन्होंने इनको मारा। बहिन नानकीजी अपने भाईको साक्षात् ईश्वर-तुल्य मानती थीं। उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। अपने पति जयरामजीसे आग्रह करके गुरु नानकदेवजीको वे अपने पतिगृह सुल्तानपुर ले आयीं। लोगोंके कहनेसे गुरुजीने संवत् १५४२ में दौलतखाँ लोदीके मोदीखानेका कार्य सम्हाल लिया।

संवत् १५४४ में २४ जेठको मूलचन्दजीकी सुपुत्री श्रीसुलक्षणादेवीका आपने पाणि-ग्रहण किया। आपके दो पुत्र हुए—बाबा श्रीचन्द और बाबा लक्ष्मीदास। मोदीखानेका कार्य आप तबतक किसी प्रकार चला रहे थे। सामान बिना मूल्य कितना आप बाँटते थे, कुछ ठिकाना नहीं था। किसीको आवश्यकता हो तो क्या उसे मूल्यके बिना सामान देना अस्वीकार किया जा सकता है? इतनेपर भी हिसाब मिलानेपर सब ठीक मिल जाता था। संवत् १५५४ की बात है, गुरुदेव आटा तौल रहे थे। एक, दो, तीन, चार—इस प्रकार बारहतक तो गिनती ठीक आयी; पर तेरह आते ही आपने 'तेरा' 'तेरा' कहना प्रारम्भ किया। भला, विश्वमें अपना क्या है? उन्होंने सब आटा तौल दिया। उसी दिन मोदीखाना छूट गया।

'कोई हिंदू, न मुसलमान' बड़ी शीघ्रतासे गुरुजी ये शब्द प्रायः कह जाते। संवत् १५५४ में ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध, लोभ-मोहके जालमें तड़पते विश्वको शान्तिका सन्देश देनेके लिये आपने देशाटन प्रारम्भ किया। आपकी चार यात्राएँ प्रसिद्ध हैं। प्रथम यात्रामें पहले ऐनमाबाद जाकर भाई लालो बढ़ईके घर ठहरे और वहाँसे हरद्वार, दिल्ली, काशी, गया तथा श्रीजगन्नाथपुरी आदि गये।

दूसरी यात्रामें दक्षिण भारतमें अर्बुदगिरि, सेतुबन्ध रामेश्वर, सिंहलद्वीप (सीलोन) आदि स्थानोंमें आपने धर्म-प्रचार किया। तीसरी यात्रा सरमौर, टेहरी, गढ़वाल, हेमकूट, गोरखपुर, सिकम, भूटान, तिब्बत आदि पर्वतीय प्रान्तोंमें हुई। चौथी यात्रामें आप बलोचिस्तान होते मक्केतक पश्चिममें गये। इस यात्रामें आपने रूम, बगदाद, ईरान, कन्धार, काबुल आदिमें 'सत्यनाम' का उपदेश किया।

गुरु नानकदेवकी उपदेश-शैली अद्भुत थी। कहते हैं, मक्केमें आप काबेकी ओर पैर करके लेटे हुए थे। वहाँके मौलाना, काजीलोग बिगड़े तो आपने कह दिया—'जिधर अल्लाहका घर न हो, उधर मेरे पैर कर दो।' लोगोंने जिधर उनके पैर घुमाये, काबा उधर ही घूमता गया।

पचीस वर्ष भ्रमण करके संवत् १५७९ में कर्तारपुरमें, जिसे उन्होंने ही सं० १५६१ में बसाया था, निवास करने लगे। उपदेशामृतके साथ यहाँ लोगोंको अन्न भी वितरित करनेके लिये 'लंगर' प्रारम्भ हुआ। यहीं इसी वर्ष गुरुजीके माता-पिताका शरीर छूटा। स्वयं गुरुदेवने आश्विन शुक्ल १०, संवत् १५९६ (२२ सितम्बर, सन् १५३९) को ७० वर्ष, ४ मास, ३ दिनकी अवस्थामें परधामगमन किया। अपनी गद्दीका अधिकारी किसी पुत्रको बनानेके बदले उन्होंने अपने योग्यतम शिष्य अङ्गदजीको बनाया था।

सिख, हिंदू तथा मुसलमान शिष्य गुरुदेवके अन्तिम संस्कारके लिये विवाद कर रहे थे। सभी उनको अपना गुरु मानते थे। सब उनकी अन्त्येष्टिका अधिकार प्रकट कर रहे थे। जिस महापुरुषने जीवनभर मेल एवं एकत्वका प्रचार किया था, उसीके शरीरके लिये यह विवाद अत्यन्त अशोभन था। उस दिव्यात्माने विवादका समाधान कर दिया। शरीरपर पड़ा वस्त्र उठाया गया तो वस्त्रके नीचे शरीर था ही नहीं। उस वस्त्रका आधा भाग लेकर हिंदू-सिखोंने संस्कार किया और मुसल्मानोंने उसकी कब्र बनायी।

श्रीगुरु नानकदेवजीकी सम्पूर्ण वाणी पञ्चमगुरु श्रीअर्जुनदेवजीने गुरुग्रन्थसाहबमें सङ्कलित की है। इनमें जपुजी, पट्टी, आरती, दक्षिणीय ओंकार, सिद्धगोष्ठी आदि प्रख्यात वाणियाँ हैं। गुरुजी हिंदू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, ईसाई आदि सभी धर्मोंके केन्द्रीय तीर्थोंमें गये थे। सभी धर्मोंके संतोंसे वे मिले थे। सब कहीं उन्होंने उस एक 'सत्य कर्तार' को स्मरण रखनेका उपदेश किया था।

हम नहिं चंगे, बुरा नहिं कोइ।

(गुरुग्रन्थसाहब)

'हम अच्छे नहीं हैं और जगत्में कोई बुरा नहीं है।' दूसरोंके दोष देखना छोड़कर मनुष्यको केवल अपने दोष देखने चाहिये और दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये। गुरुजीका यही आदर्श था। वे संकीर्णताके प्रबल विरोधी थे। "एक 'कर्तार' और वही परम 'सत्य' है। समस्त जगत् उसी 'अकाल' पुरुषकी क्रीड़ा है। विवाद और द्वेष छोड़कर, आडम्बरों-दिखाओंको त्यागकर सचाईसे उसको हृदयमें स्मरण करना चाहिये।" इस आधारपर व्यावहारिक एकत्वका महान् आदर्श गुरु नानकदेवजीने उपस्थित किया। उन्होंने जिस धर्मका

संत श्रीतुकाराम

संत श्रीज्ञानेश्वर
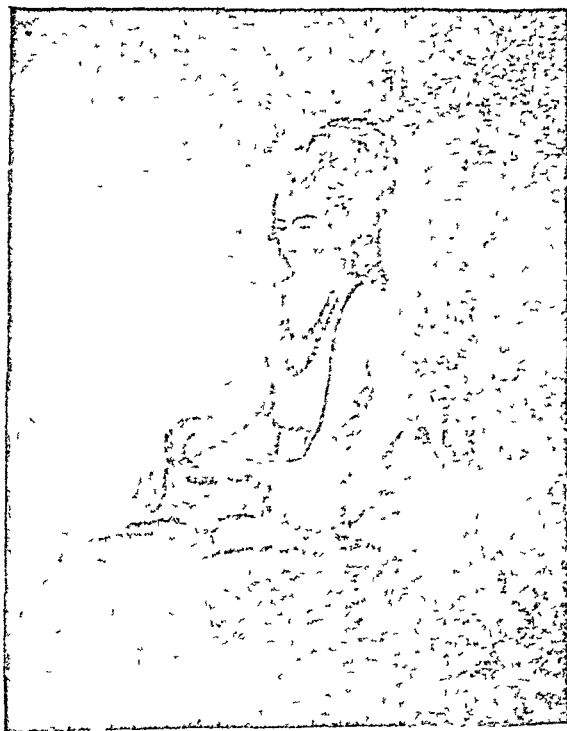
संत श्रीएकनाथ

समर्थ रामदास

भक्त सूरदास

गोस्वामी तुलसीदासजी

संत कबीर

गुरु नानक

उपदेश किया, वह एकत्व, भ्रातृत्व, सेवा और सादगीका निश्छल धर्म है। उसमें आत्मसंयम, आत्मालोचन एवं अन्तर्मुखताकी प्रबल प्रेरणा है। कबीरदासजीने जिस 'एकत्व'का दर्शन किया था, गुरु नानकदेवजीने उसीका साक्षात् करके उसे स्थापित करनेका महान् उद्योग किया। —सु०

सूरदासजी

हिन्दी-साहित्य-गगनमे सूर और तुलसीको विद्वानोंने सूर्य एवं चन्द्रकी उपमा दी है। बात है भी ऐसी ही। गोस्वामी तुलसीदासजीने मर्यादापुरुषोत्तमका वरण करके अपने 'मानस'के द्वारा लोकादर्शकी स्थापना की। उनकी वाणी सार्वभौम है। वे जीवनके प्रत्येक कोनेको प्रकाशित करते हैं। सूरदासजीके आराध्य हैं लीलापुरुषोत्तम। वे अपने नटनागरकी लीलामें तन्मय महापुरुष हैं। उनकी निष्ठा एकरूप है। उनके सम्मुख लोक ही नहीं तो लोकादर्श कहाँसे आये। विद्वानोंने स्वीकार किया है कि सूरने जिन रसोंको अपनाया है, विश्व-साहित्यमें दूसरा कोई उन रसोंमें उनकी समता नहीं कर सकता। बाल्य-वर्णन और वियोग-शृंगारके वे एकछत्र सम्राट् हैं। श्रीकृष्णकी विविध बाललीलाओंके वर्णनमे उनकी सूक्ष्म दृष्टि इतनी अन्तर्मुख सत्यदर्शिनी है कि कोई उसकी कल्पनातक नहीं कर सकता। गोपियोंके विरह-वर्णनमें वे पाषाणको भी रुला देनेकी शक्ति पदोंमें सञ्चित कर लाये हैं।

कहा जाता है कि आगरा-मथुरा सड़कपर स्थित सीही ग्राममें सूरदासजीका जन्म हुआ था। उनके पिताका नाम रामदास था। वे सारस्वत ब्राह्मण थे। वे जन्मान्ध नहीं थे। किसी कारणवश पीछे अन्धे हो गये थे। मुसल्मानोंके साथ इनके पिताका युद्ध हुआ। उसमे पिता तथा छः भाई मारे गये। ये इधर-उधर भटकते हुए एक कुएँमें गिर पड़े और वहीं छः दिन पड़े रहे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने प्रकट होकर इन्हें निकाला, दृष्टि प्रदान की।

'जिन नेत्रोंसे आपके दर्शन किये, उनसे जगत्‌को न देखना पड़े।' वरदानमे फिर अपना अन्धत्व ही माँगा इन्होंने। मथुरामें गऊघाटपर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीकी इन्होंने शरण ग्रहण की। आचार्यचरणके गोलोक-गमनके अनन्तर उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजीकी छत्रच्छाया इनके ऊपर रही। इन्होंने श्रीमद्भागवतके आधारपर श्रीकृष्ण-चरितका जिन पदोंमे गान किया, उन पदोंका संग्रह ही 'सूरसागर' कहा जाता है। सूरदासजीके साथ सदा एक लेखक रहता था, जो उनके मुखसे निकले पदोंको लिखता जाता था। कहा जाता है कि 'सूरसागर' में एक लक्ष पद हैं। अब तो दस-पंद्रह सहस्र पद ही उपलब्ध होते हैं।

उस समय व्रज श्रीकृष्ण-रस-रसिक महापुरुषोंकी क्रीड़ा-स्थली हो रहा था। श्रीवल्लभसम्प्रदायमें 'अष्टछाप' के महाकवि अत्यन्त प्रख्यात हैं। इनमें सभी उच्चकोटिके महापुरुष और भगवल्लीला-दर्शी थे। उनकी वाणी हृदयकी वाणी है। सूरदासजीके अतिरिक्त इनमें नन्ददास, कृष्णदास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, परमानन्ददास, छीतस्वामी और गोविन्दस्वामीके नाम हैं। अष्टछापके अतिरिक्त उस समय तथा उसके पीछेतक श्रीकृष्ण-लीलाके गायक अनेक महापुरुष हुए हैं। रसखान, घनानन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सत्यनारायण तथा रीतिकाव्यके कवियोंमे देव, बिहारी, पद्माकर प्रभृतिने भी अपनी वाणी श्यामसुन्दरके गुण-गानसे पवित्र की है। उन लीलामय, त्रिभुवनसुन्दरकी लीला स्वयं काव्य है। वही रसरूप हैं, अतः काव्यमे रसके आविर्भावके लिये वही आश्रय होते हैं; परंतु उन नवनीतचोरने जिनके हृदयको चुरा लिया है, वे काव्यके लिये उनकी कीर्तिकौमुदीका गान नहीं करते। वे तो मुग्ध हृदयकी प्रेम-वाणीमें बोलते हैं।

प्रेमकी परा वाणीमें नन्दनन्दनका भावमुग्ध गुण-गान करनेवाले अनेक महाभाग हुए हैं। सूर उनके आचार्य हैं। वे उस नन्दनकाननके भृङ्गराज हैं। उनके पद काव्य नहीं, हृदयकी वाणी है। उनमे मानवके विशुद्ध हृदयके निर्मल स्निग्ध भाव हैं। अतएव वह वाणी किसी देश या काल-विशेषके लिये नहीं, वह सभी कालोंमे सम्पूर्ण मानव-जातिके आनन्दका स्रोत है। मानव-संस्कृतिके अन्तर-उल्लासके दिव्य गायक विश्वमें ऐसे बहुत कम हुए हैं। —सु०

गोस्वामी तुलसीदासजी

भारतमें हिंदू-धर्म उत्पीड़नका आखेट हो रहा था। जनताको अनेक अशास्त्रीय मतोंने भ्रान्त करना प्रारम्भ कर दिया था। हिंदू नरेश नाममात्रके नरेश रह गये थे। विद्वानोंने चाटुकारीको व्यवसाय बना लिया था। कविगण विलासी राजाओंकी स्तुतिके गान गाते या उनकी वासनाको उद्दीप्त करनेवाली शृङ्गारपरक रचनाएँ करते। उस युगमे एक महापुरुषका उदय हुआ। जगत्‌के राग-रोषसे ऊपर उठकर उन लोकोत्तर संतने 'स्वान्तःसुखाय' अपने आराध्यकी अमल कीर्तिसे अपनी वाणीको पवित्र किया। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके आदर्श चरितने हिंदू-जातिको एक नवीन ज्योति दी। शास्त्रीय आदर्श उसके सम्मुख जाग्रत्‌रूपमें उपस्थित हुआ।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके जीवनके सम्बन्धमें निर्विवाद-रूपसे उतना ही ज्ञात हो सकता है, जितना उनके ग्रन्थोंमें यत्र-तत्र कुछ है। ऐसी सामग्री बहुत थोड़ी है। शेष बातें विवादास्पद हैं। उनके ग्रन्थोंसे यह जान पड़ता है कि वे ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए थे। किसी भी कारण अत्यल्प वयमें माता-पितासे पृथक् हो गये। प्रारम्भिक जीवनमें अनेक स्थानोंपर शारीरिक आवश्यकतावश भटकते रहना पड़ा। उन्होंने अच्छी प्रकार अध्ययन किया और तीर्थाटन किया। उनके ग्रन्थ उनकी विद्वत्ता तथा देशभ्रमणके साक्षी हैं।

गोस्वामीजीका प्रारम्भिक जीवनमें विवाह हुआ था और गृहस्थाश्रममें कुछ समय रहकर वे विरक्त हुए थे। संवत् १६३१ में चैत्र शुक्ल नवमीको श्रीअयोध्याजीमें उन्होंने श्रीरामचरितमानसका लिखना प्रारम्भ किया। बहुत समयतक वे चित्रकूटमें रहे और जीवनके अन्तिम वर्ष उनके काशीमें व्यतीत हुए। काशीमें वे इससे पूर्व भी कई बार आये होंगे, ऐसा लगता है।

उन दिनों काशीमें एक राय टोडरमल (अकबरके मन्त्री राजा टोडरमलसे भिन्न) रहते थे। ये सम्पन्न और श्रद्धालु पुरुष थे। गोस्वामीजीमें इनकी श्रद्धा हो गयी थी। इन्होंने गोस्वामीजीके लिये काशीमें असीघाटके पास स्थान बनवा दिया था। अन्तिम समयतक गोस्वामीजी यहीं रहे। तुलसीदासजीके नामके साथ 'गोस्वामी' उपाधि क्यों लगी, यह कहना कठिन है। उत्तर-भारतमें ब्राह्मण गोस्वामी नहीं कहे जाते। 'तुलसी गोसाईं भयो' कहकर इस पदके लिये गोस्वामीजीने खेद प्रकट किया है 'गीतावली' में।

गोस्वामीजीने काशीमें एक महामारीका वर्णन किया है। एक बार उनके बाहुमें भयङ्कर पीड़ा हो गयी। हनुमान-बाहुक उसी समय लिखा गया। संवत् १६८० में काशीके असीघाटपर गोस्वामीजीने शरीर छोड़ा। उनके जीवनमें ही उनकी अत्यन्त ख्याति हो गयी थी। काशीके विद्वानोंने निरन्तर विरोधके पश्चात् उनका श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लिया था।

गोस्वामीजीके अनेक ग्रन्थ हैं—रामलला नहछू, जानकी-मङ्गल, पार्वतीमङ्गल, कवितावली, विनय-पत्रिका, दोहावली, गीतावली और श्रीरामचरितमानस आदि। उस समय कविता-के लिये दोहे, कवित्त, सवैया, छप्पय, गीति तथा चौपाई-दोहेकी विभिन्न प्रथाएँ थीं। गोस्वामीजीने सभी शैलियोंमें ग्रन्थ-रचना की। उन्होंने समानरूपसे व्रजभाषा तथा अवधीमें अपने काव्य लिखे। उनके गेय तो सदा श्रीराम ही थे। श्रीरामचरितमानस उनका मानस-धन है और हिंदू-जाति तथा विश्व-मानवके लिये वह महामूल्यवान् माणिक्य सिद्ध हो चुका है।

गोस्वामीजी किस सम्प्रदाय या किस सिद्धान्तके अनुयायी थे, यह प्रश्न ही व्यर्थ है। वे शास्त्रोंके प्रबल समर्थक थे। शास्त्रविरोधी कोई भी क्रिया, भाव तथा सिद्धान्त हो—उसका उन्होंने कड़े शब्दोंमें प्रतिवाद किया। श्रुति, स्मृति, पुराण-सम्मत सनातनधर्म ही उन्हें इष्ट था। 'नानापुराणनिगमागम-सम्मत' मत ही उनका मत था। सिद्धान्त, आचार, प्रथा, उपासना—सब स्मृति-पुराणसम्मत ही उन्हें अभीष्ट थी। श्रीरामचरितमानस इसीलिये श्रेष्ठ शास्त्र बन गया और इसीलिये उसके सम्बन्धमें अनेक मतवाद प्रश्रय पाते हैं; क्योंकि प्रस्थानत्रयीसे इन मतवादोंकी व्याख्या हुई है। यद्यपि साधारण जनोंकी भाषामें 'मानस'-जैसे शास्त्रको देनेके लिये गोस्वामीजीको बहुत विरोधका सामना करना पड़ा, फिर भी उनका 'मानस' उसी समय श्रीमधुसूदन सरस्वती-जैसे विद्वान्‌का आदरपात्र हो गया था। झोपड़ीसे राजसदनतक अबाध 'मानस' का प्रवेश है। सामान्य जनता धर्मका तत्व 'मानस' से ही प्राप्त करती है। —सु०

भक्त नरसी मेहता

'भगवद्विश्वास' इस एक शब्दमें नरसीदासजीका पूरा चरित है। बचपनसे उनमें भगवान्‌पर विश्वास था। भजन-कीर्तन छोड़कर उन्हें कोई कार्य अच्छा नहीं लगता था। घरवालोंने उन्हें उपार्जनका उद्योग करते न देख पृथक् कर दिया। अपने बाल-बच्चोंके साथ इस प्रकार पिताकी मृत्युके पश्चात् भाइयोंसे अलग होना पड़ा उन्हें।

काठियावाड़ प्रान्तके जूनागढ़ राज्यमें नरसीजीका जन्म हुआ था। भगवान् शङ्करकी उपासना करके नित्य-रासविहारीके गोलोककी रास-क्रीड़ाका उन्होंने दर्शन पाया था। घरके व्ययकी चिन्ता, भला वे क्यों करते। भक्तोंके 'योग-क्षेम' के वहनकी प्रतिज्ञा करनेवाले श्यामसुन्दर क्या कभी प्रमत्त होते हैं, जो उनके जन उनके गुण-गानको छोड़ दूसरे कार्यों-को सोचें।

नरसीजीके जीवनमें भगवद्विश्वास एवं भगवत्कृपाके चमत्कार बहुत अधिक हैं। द्वारिका जानेवाले यात्रियोंका रुपया लेकर आपने साँवलिया साहके नाम हुंडी लिख दी। रुपया तो साधुओंकी सेवामें लग गया। जब यात्री द्वारिका पहुँचे, उस

द्वारिकाधीश साँवलिया (श्यामसुन्दर) को सचमुच सेठ बनकर हुंडी स्वीकार करनी पड़ी ।

जूनागढ़के ब्राह्मण नरसीजीका सदा तिरस्कार करते थे । एक बार पिताके श्राद्धके समय उन लोगोंने पूरी जातिको भोजन करानेका इनसे आग्रह किया । नागर ब्राह्मणोंकी वहाँ बहुत बस्ती थी । श्राद्धके दिन कुछ घृत कम हो गया । नरसीजी घी लाने बाजार गये । मार्गमें कुछ संत भगवान्‌का कीर्तन करते मिले । नरसीजी उसमें सम्मिलित हो गये । नामामृतमें मग्न होनेपर किसे घरका स्मरण रहता है । घरमें भोजन बन रहा था । बेचारी ब्राह्मणी पतिकी प्रतीक्षा कर रही थीं । भक्तवत्सल प्रभु नरसीके रूपमें घृत लेकर पहुँच गये । श्राद्ध, विप्रभोज आनन्दसे पूर्ण हुआ । पत्नीको आश्चर्य हुआ, जब रात्रिमें नरसीजी घी लेकर घर पहुँचे और विलम्बके लिये खेद प्रकट करने लगे ।

इनके पुत्रका विवाह भी श्रीकृष्णचन्द्रको ही कराना पड़ा और पुत्रीके विवाहको भी उसी 'साँवरिया' ने पूरा किया। पुत्रीके यहाँ नरसीजी तो 'मायरे' (भात) में गोपीचन्दन, तुलसीमाला और रामनामी ही ले जा सके थे; लेकिन जिसके लिये वह विश्वेश स्वयं उपस्थित हो, उसके 'मायरे' के 'रत्नाभरण' से लदे हुए छकड़ोंको गिना कैसे जाय ।

एक-एक करके स्त्री और पुत्रका शरीरान्त हो गया । नरसीजी जैसे पूर्ण निश्चिन्त हो गये अपने आराध्यमें लगनेके लिये । जूनागढ़के 'रा' माण्डलिकने एक बार इन्हें बुलाकर आग्रह किया—'तुम्हारे उपदेशोंके सम्बन्धमें बहुत-से विद्वान् सन्देह करते हैं । यदि भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये तुम्हारी ही बातें ठीक हैं और तुम सचमुच भक्त हो तो भगवान्‌के श्रीविग्रहके गलेमें माला डालो और प्रार्थना करो कि भगवान् वह माला तुम्हारे गलेमें पहना दें ।'

नरसीजीमें अविश्वासके लिये स्थान ही नहीं था । उन्होंने सायंकाल भगवान्‌के शृङ्गारके समय उनके गलेमें माला पहना दी । रात्रिभर मन्दिरके द्वारपर कीर्तन करते रहे । प्रातः जब पहले दिनके शृङ्गारको उतारनेका समय हुआ, बड़े भारी जन-समूहके मध्य भगवान्‌ने वह माला अपने गलेसे निकालकर नरसीजीके गलेमें डाल दी ।

'वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड़ पराई जाणे रे ।'

'दूसरोंकी पीड़ामें जो दुःखानुभव करे, वही वैष्णव है ।' सर्वत्र, सब समय, सबमें अपने आराध्यको देखनेवाले उन गुजराती संतकी यह महावाणी है । उनके पद पूरे भारतमें अत्यन्त प्रिय हैं । —सु०

श्रीनाभादासजी

'भगवान्‌के चरित तो सुलभ हैं, क्योंकि वे भक्त-भावन हैं; परंतु भाव-भेदसे प्रभुको अपना बनानेवाले संतोंके चरित अत्यन्त दुर्बोध हैं । गुरुकी कृपा और आज्ञासे ही मैं इस दुष्कर कार्यमें प्रयास करता हूँ ।' नाभादासजीके ये अपने उद्गार हैं । भक्तोंके पावन चरितोंकी जो माला उन्होंने 'भक्त-माल' के रूपमें प्रस्तुत की, वह भगवान्‌के वक्षको तो विभूषित करेगी ही, उनके जनोंका सर्वदा कण्ठाभरण रहेगी ।

श्रीनाभादासजी दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे । उनका जन्म संवत् १५४० में हुआ था । वैराग्योदय होनेपर उन्होंने रामानन्द-सम्प्रदायके जयपुरकी 'गलता गादी' के महन्थ श्री-अग्रदासजी महाराजसे दीक्षा ग्रहण की थी । 'भक्तमाल' पर अग्रदासजीकी पद्यात्मक टीका है । गुरुने शिष्यके ग्रन्थकी व्याख्या की—यह गुरुके संत-स्वभाव और ग्रन्थके महत्त्व दोनोंका सूचक है ।

'भक्तमाल' में १०८ छप्पय हैं । इसमें संतसेवी भक्तोंकी अद्भुत कथाएँ हैं । श्रीनाभादासजी महाराज साधुवेषके प्रति निष्ठा रखनेवाले संत थे । वे साधुओंका 'सीथ' (उच्छिष्ट) ग्रहण करते । 'साधु साक्षात् आराध्यके रूप हैं ।' यह उनकी दृढ़ धारणा थी । 'भक्तमाल'में इसी भावको उन्होंने पुष्ट किया है ।

भगवच्चरित्र तथा भक्त-चरित्र—यही दो गेय, स्मरणीय तथा चिन्त्य हैं । लौकिक चरित्र उपेक्षणीय हैं । भारतीय संस्कृतिकी यही परम्परा है । लौकिक महत्त्व चाहे किसीको कितना भी मिला हो, भारतने उसे स्मरण रखना आवश्यक नहीं माना । भगवच्चरित्रोंका अनेक संतोंने विविध प्रकारसे गान किया है । 'राम ते अधिक राम कर दासा ।' मानकर भक्त-चरितोंकी माला बनानेवाले नाभादासजी स्वयं अपनी मालाके सुमेरु हैं, यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं । —सु०

स्वामी दयानन्द सरस्वती

काठियावाड़के मोरवी राज्यमें टंकारा छोटा-सा गाँव है, जहाँ वेदपाठी, धर्मिष्ठ ब्राह्मण अम्बाशङ्करके यहाँ उस बालकने जन्म लिया, जो आगे देशमें स्वामी दयानन्द सरस्वतीके नामसे विख्यात हुआ । बालकका घरका नाम मूलशङ्कर था । बालक मूलशङ्कर बचपनसे वीतराग एवं सत्यान्वेषी थे ।

विवाह-संस्कार सम्पन्न होनेका निश्चय किया पिताने और उन्होंने उस तिथिसे एक सप्ताह पूर्व ही घर छोड़ दिया। श्रीनर्मदा-तटपर स्वामी पूर्णानन्द सरस्वतीसे मूलशङ्करने संन्यास ग्रहण किया। वे स्वामी दयानन्द सरस्वती हो गये। गुरुके आश्रममें पर्यटन करते हुए काशी होकर वृन्दावन पहुँचे। वहीं उन्हें प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्दजीके दर्शन हुए। वस्तुतः स्वामी दयानन्दजीके यही वास्तविक शिक्षा-गुरु हुए। इन्हींसे स्वामीजीने व्याकरण, वेदप्रभृतिकी शिक्षा प्राप्त की। इन्हीं गुरुदेवके आदेशसे वे वैदिक धर्मकी स्थापनामें प्रवृत्त हुए। सन् १८७६ के हरिद्वार-महाकुम्भके अवसरपर उन्होंने पहले-पहले अपने मतका प्रचार प्रारम्भ किया।

स्वामी श्रीदयानन्दजीने अपनी शैलीसे वेदोंका भाष्य प्रारम्भ किया। उनके द्वारा सर्वप्रथम बम्बई और लाहौरमें आर्यसमाजकी स्थापना हुई। पहले वे एनी बेसेंटके साथ कुछ दिनों कार्य करते रहे; किंतु वेदोंमें स्वामीजीकी अखण्ड निष्ठा थी। थियासफी-सम्प्रदायसे उनका मत मिल नहीं सका, वे पृथक् प्रचारमें लग गये। उनमें प्रकाण्ड प्रतिभा थी, उज्ज्वल त्याग था और उनकी वाणीमें अद्भुत शक्ति थी। जनतापर उनका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती महान् पुरुष थे; उनके-जैसे स्पष्टवादी निर्भीक वक्ता बहुत कम होते हैं। वेदोंमें, प्राचीनतम भारतीय संस्कृतिमें उनकी अगाध निष्ठा थी। उन्होंने भरपूर प्रयत्न किया हिंदू-धर्मकी रक्षाका। हिंदुत्वपर होनेवाले आक्रमणोंका उन्होंने प्राणपणसे विरोध किया। एक विद्वान् नेताके शब्दोंमें—'आर्यसमाज हिंदूधर्मका चौकीदार है।' स्वामीजीने सचाईसे प्रयत्न किया हिंदूधर्मकी रक्षाका। इसमें सन्देहको स्थान ही नहीं है।

वे वीतराग महापुरुष—वे दो-टूक वक्ता, असदाचरणसे उन्हें तीव्र घृणा थी। महाराज जोधपुरके निमन्त्रणपर वे जोधपुर गये। महाराजके आचरणका उन्होंने स्पष्ट प्रतिवाद किया। फलतः महाराजकी रखैल वेश्याने उन्हें विष दिला दिया। उन महापुरुषने विषके प्रभावसे १६ अक्टूबर सन् १८८३को शरीर छोड़ा और मरते-मरते अपने घातकके लिये दयाका आदेश दे गये। दीपावलीकी वह रात्रि, दीपालोकोंमें ही वह दिव्यालोक निर्वापित हो गया।

मतभेद—यह तो हिंदू-धर्मकी परमोदारताका महान् स्वरूप है कि वहाँ सैद्धान्तिक मतभेदोंका सदा स्वागत किया जाता है। लेकिन यह सभीको सादर स्वीकार करना पड़ेगा कि सत्यको स्वीकार करनेके लिये प्रतिक्षण ऐसी उज्ज्वल तत्परता और वेदोंके प्रति अगाध श्रद्धाके स्वामी दयानन्दजी उच्चतम आदर्श हैं। वेदोंके प्रति उनका त्याग, उद्योग एवं सेवा महान् हैं। —रा० श्री०

स्वामी रामकृष्ण परमहंस

बंगालके हुगली जिलेमें एक ग्राम है कामारपुकुर। वहीं १८ फरवरी सन् १८३६ को बालक गदाधरका जन्म हुआ। गदाधरके पिता खुदीराम चट्टोपाध्याय निष्ठावान् गरीब ब्राह्मण थे। गदाधरकी शिक्षा तो साधारण ही हुई, किंतु पिताकी सादगी और धर्मनिष्ठाका उनपर पूरा प्रभाव पड़ा। सात वर्षकी अवस्थामें ही पिता परलोकवासी हुए। सत्रह वर्षकी अवस्थामें बड़े भाई रामकुमारके बुलानेपर गदाधर कलकत्ता आये और कुछ दिनों बाद भाईके स्थानपर रानी रासमणिके दक्षिणेश्वर-मन्दिरमें पूजाके लिये नियुक्त हुए। वहीं उन्होंने मा महाकालीके चरणोंमें अपनेको उत्सर्ग कर दिया। वे भावमें इतने तन्मय रहने लगे कि लोग उन्हें पागल समझते। वे घंटों ध्यान करते और माके दर्शनोंके लिये तड़पते। एक दिन अर्धरात्रिको जब व्याकुलता सीमापर पहुँची, उन जगदम्बाने प्रत्यक्ष होकर कृतार्थ कर दिया। गदाधर अब परमहंस रामकृष्ण ठाकुर हो गये।

बंगालमें बाल-विवाहकी प्रथा है। गदाधरका भी विवाह बाल्यकालमें हो गया था; उनकी बालिका पत्नी जब दक्षिणेश्वर आयी, गदाधर वीतराग परमहंस हो चुके थे। मा शारदामणिका कहना है—'ठाकुरके दर्शन एक बार पा जाती हूँ, यही क्या मेरा कम सौभाग्य है!' परमहंसजी कहा करते थे—'जो मा जगत्का पालन करती हैं, जो मन्दिरमें पीठपर प्रतिष्ठित हैं, वही तो यह हैं।' ये उद्गार थे उनके अपनी पत्नी, मा शारदामणिके प्रति।

अधिकारीके पास मार्गनिर्देशक स्वयं चले आते हैं। उसे शिक्षा-दाताकी खोजमें भटकना नहीं पड़ता। एक दिन सन्ध्याको सहसा एक वृद्धा संन्यासिनी स्वयं दक्षिणेश्वर पधारीं। परमहंस रामकृष्णको पुत्रकी भाँति उनका स्नेह प्राप्त हुआ और उन्होंने परमहंसजीसे अनेक तान्त्रिक साधनाएँ करायीं। उनके अतिरिक्त तोतापुरी नामक एक वेदान्ती महात्माका भी परमहंसजीपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उनसे परमहंसजीने अद्वैत-ज्ञानका सूत्र प्राप्त करके उसे अपनी साधनासे अपरोक्ष किया। परमहंसजीका जीवन विभिन्न साधनाओं तथा सिद्धियों-चमत्कारोंसे पूर्ण है; किंतु चमत्कार महापुरुषकी महत्ता नहीं

परमहंस रामकृष्ण
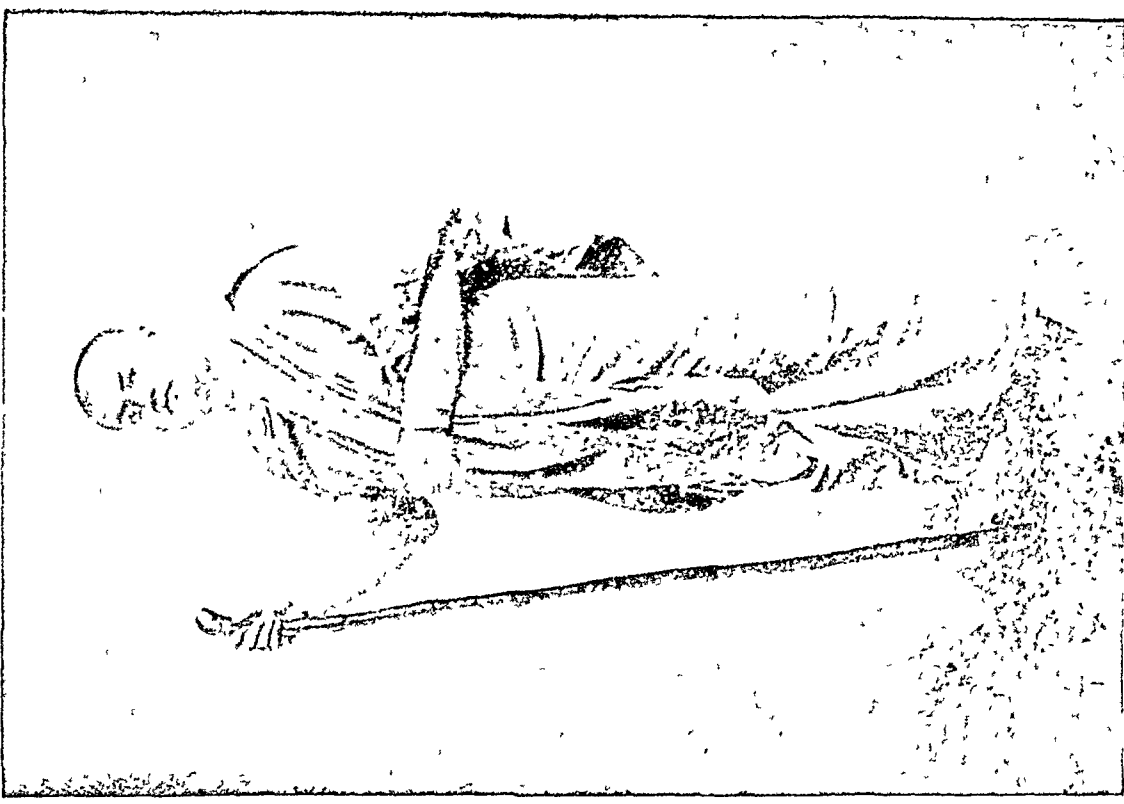
स्वामी विवेकानन्द
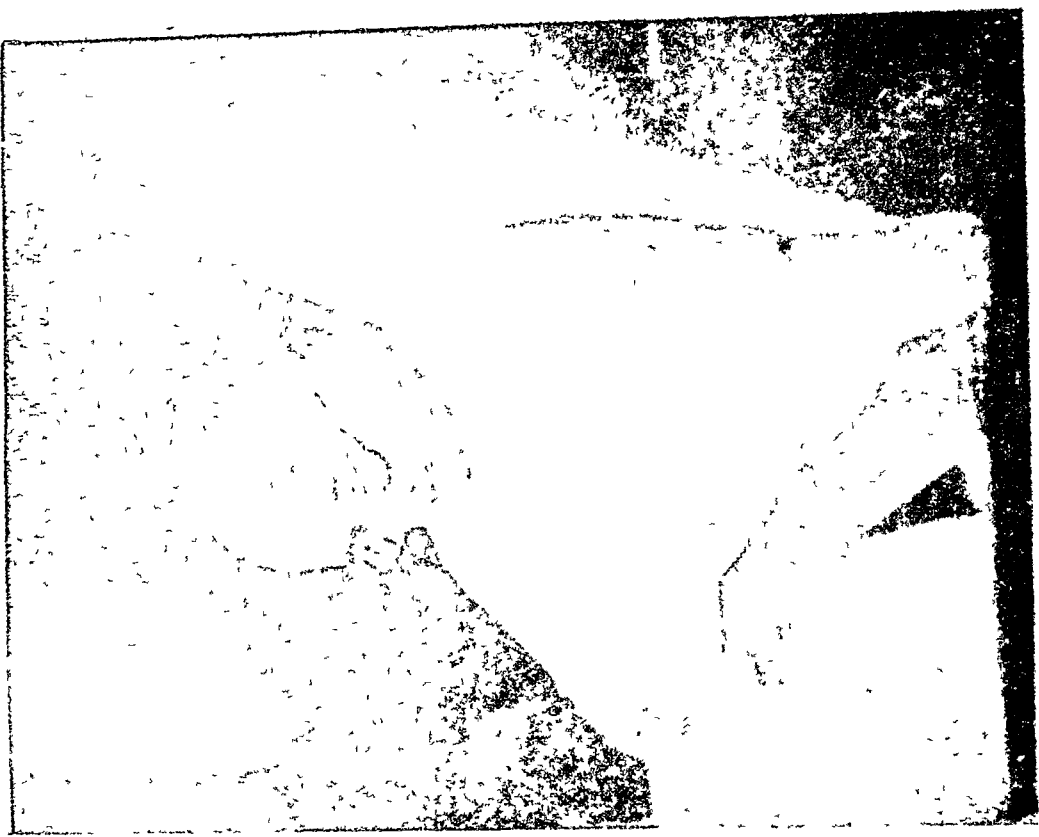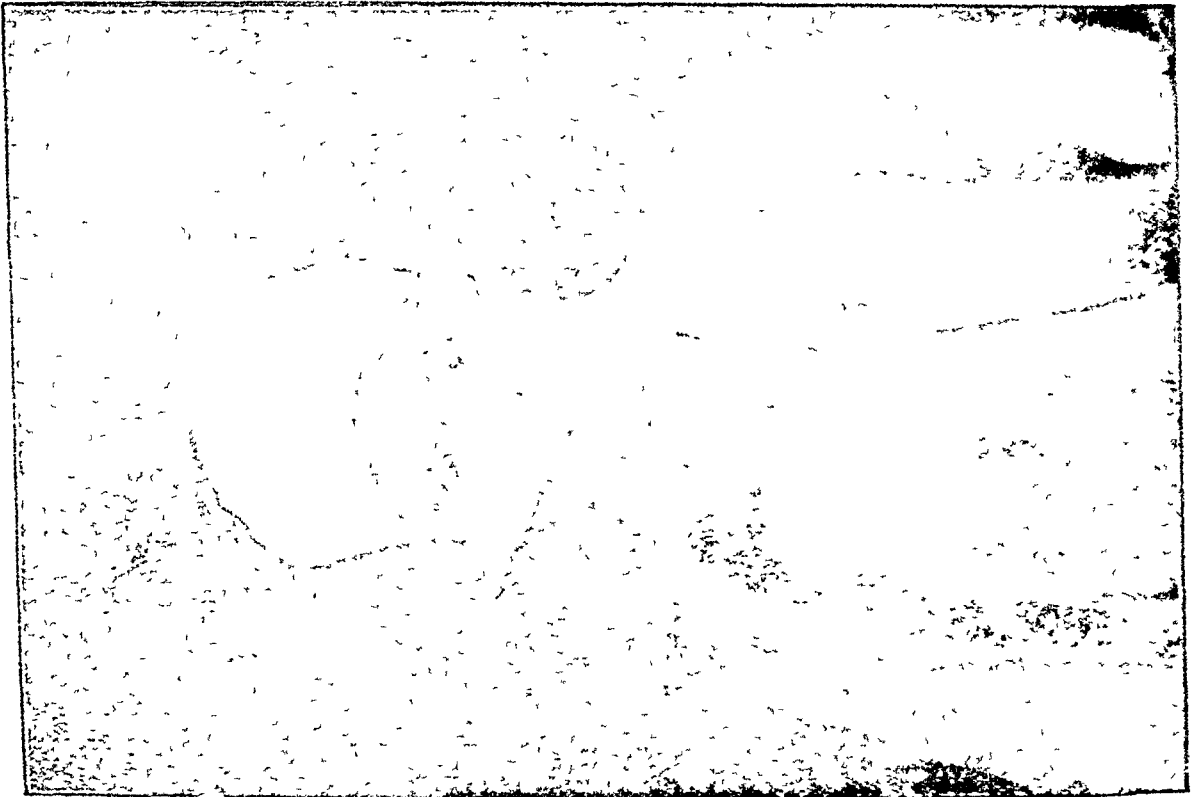
महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय

महात्मा गान्धीजी

बढ़ाते। परमहंसजीकी महत्ता उनके त्याग, वैराग्य, पराभक्ति और उस अमृतोपदेशमें है, जिससे सहस्रों प्राणी कृतार्थ हुए, जिसके प्रभावसे ब्राह्मसमाजके अध्यक्ष केशवचन्द्र सेन-जैसे विद्वान् भी प्रभावित थे, जिस प्रभाव एवं आध्यात्मिक शक्तिने नरेन्द्र-जैसे नास्तिक, तर्कशील युवकको परम आस्तिक, भारतके गौरवका प्रसारक स्वामी विवेकानन्द बना दिया।

स्वामी रामकृष्ण परमहंसजीका अधिकांश जीवन प्रायः समाधिकी स्थितिमें ही व्यतीत हुआ। जीवनके अन्तिम तीस वर्षोंमें उन्होने काशी, वृन्दावन, प्रयाग आदि तीर्थोंकी यात्रा की। उनकी उपदेश-शैली बड़ी सरल और भावग्राही थी। वे एक छोटे दृष्टान्तमें पूरी बात कह जाते थे। स्नेह, दया और सेवाके द्वारा ही उन्होने लोकसुधारकी सदा शिक्षा दी। १५ अगस्त सन् १८८६ को उन्होने महाप्रस्थान किया। सेवाग्रामके संतके शब्दोंमें 'उनका जीवन धर्मको व्यवहारक्षेत्रमें उतारकर मूर्तस्वरूप देनेके प्रयासकी एक अमरगाथा है।'

—रा० श्री०

स्वामी विवेकानन्द

श्रीविश्वनाथदत्त पाश्चात्त्य सभ्यतामे आस्था रखनेवाले व्यक्ति थे। कौन जानता था कि उनके घरमें १२ जनवरी सन् १८६३ को उत्पन्न होनेवाला उनका पुत्र नरेन्द्रदत्त पाश्चात्त्य जगत्को भारतीय तत्त्वज्ञानका सन्देश सुनानेवाला महान् विश्व-गुरु होगा। रोमा रोलॉने नरेन्द्रदत्त (भावी विवेकानन्द) के सम्बन्धमे ठीक कहा है—'उनका बचपन और युवावस्थाके बीचका काल योरोपके पुनरुज्जीवन-युगके किसी कलाकार राजपुत्रके जीवन-प्रभातका स्मरण दिलाता है।' बचपनसे ही नरेन्द्रमें आध्यात्मिक पिपासा थी। सन् १८८४ में पिताकी मृत्युके पश्चात् परिवारके भरण-पोषणका भार भी उन्हींपर पड़ा। गरीब परिवार, कुशल थी कि नरेन्द्रका विवाह नहीं हुआ था। दुर्बल आर्थिक स्थितिमे स्वयं भूखे रहकर अतिथियोंके सत्कारकी गौरव-गाथा उनके जीवनका उज्ज्वल अध्याय है। नरेन्द्रकी प्रतिभा अपूर्व थी। उन्होने बचपनमें ही दर्शनोका अध्ययन कर लिया। ब्रह्म-समाजमे भी वे गये, पर वहाँ उनकी जिज्ञासा शान्त न हुई। प्रखर बुद्धि साधनामे समाधान न पाकर नास्तिक हो चली। उसी समय नरेन्द्रका स्वामी रामकृष्ण परमहंससे साक्षात् हुआ। परमहंसजी-जैसे जौहरीने रत्नको परखा। उन दिव्य महापुरुषके स्पर्शने नरेन्द्रको बदल दिया। कहा जाता है कि उस शक्तिपातके कारण कुछ दिनोंतक नरेन्द्र उन्मत्त-से रहे। उन्हें गुरुने आत्मदर्शन करा दिया था। जीवनके आलोकको जगत्के अन्धकारमें भटकते प्राणियोंके समक्ष उन्हें उपस्थित करना था।

पचीस वर्षकी अवस्थामे नरेन्द्रदत्तने काषायवस्त्र धारण किये। वे स्वामी विवेकानन्द हो गये। पैदल ही उन्होंने पूरे भारतकी यात्रा की। सन् १८९३ मे शिकागोकी विश्व-धर्म-परिषद्में भारतके प्रतिनिधिके रूपमे उपस्थित होने वे पहुँचे। परिषद्मे उनके प्रवेशकी अनुमति मिलनी ही कठिन हो गयी। उनको समय न मिले, इसका भरपूर प्रयत्न किया गया। भला, पराधीन भारत क्या सन्देश देगा—योरोपीय वर्गको तो भारतके नामसे ही घृणा थी। एक अमेरिकन प्रोफेसरके उद्योगसे किसी प्रकार समय मिला और ११ सितम्बर सन् १८९३ के उस दिन उनके अलौकिक तत्त्वज्ञान-ने पाश्चात्त्य जगत्को चौंका दिया। अमेरिकाने स्वीकार-सा कर लिया कि वस्तुतः भारत ही जगद्गुरु था और रहेगा। सन् १८९६ तक वे अमेरिका रहे। उन्हींका व्यक्तित्व था, जिसने भारत एवं हिंदू-धर्मके गौरवको प्रथम बार विदेशोंमें जाग्रत् किया।

'अध्यात्मविद्या, भारतीय धर्म एवं दर्शनके बिना विश्व अनाथ हो जायगा।' स्वामी विवेकानन्दका यह दृढ़ विश्वास था और विश्वने उनके सम्मुख मस्तक झुकाया। भारतमे तथा अमेरिकामे भी रामकृष्णमिशनकी अनेकों शाखाएँ स्थापित हुईं। अनेकों अमेरिकन विद्वानोने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। धर्म एवं तत्त्वज्ञानके समान भारतीय स्वतन्त्रताकी प्रेरणाका भी उन्होने नेतृत्व किया। वे कहा करते थे—'मैं कोई तत्त्ववेत्ता नही हूँ। न तो संत या दार्शनिक ही हूँ। मै तो गरीब हूँ और गरीबोंका अनन्य भक्त हूँ। मैं तो सच्चा महात्मा उसे ही कहूँगा, जिसका हृदय गरीबोंके लिये तड़पता हो।'

४ जुलाई सन् १९०२ को उस महान् विभूतिने पार्थिव देह त्याग दिया; किंतु स्वामी विवेकानन्द तो भारतीय हृदयमे अमर हैं। अमर है उनका हिंदू-धर्म एवं भारतीय गौरवके लिये किया हुआ महान् उद्योग। —रा० श्री०

आदर्श वधू और आदर्श पत्नी सीता

(रचयिता—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम')

(१)

सास जिसे पाके पास हियमें हुलास भरे,
ननद निहार नित्य आनँद पगी रहे;
श्वसुर जिसे हैं सुरवृन्दसे अधिक मान्य,
सेवामें समस्त स्वजनोंकी जो लगी रहे ।
नयसे, विनयसे, उदार व्यवहारसे भी
प्रिय सबकी हो, बनी सबकी सगी रहे;
धन्य जानकी-सी आर्य-कुलकी वधू है वही,
स्वामीके सदा जो अनुरागमें रँगी रहे ॥

(२)

देवी इन्दिरा-सी उतरी थी राजमन्दिरमें,
कान्ति-किरणोंका स्वर्णजाल-सा बिछाती थीं;
लोल लालसाओंसे लुभाती रामका ही मन,
पाती प्रीति, उरमें उमंग उमगाती थीं ।
कैकयीकी सेविका, सुमित्राकी सुमित्रा बनी,
माता कौसलाका सदा हौसला बढ़ाती थीं;
देवर थे देव, देव रानियाँ भी रानियाँ थीं,
सीता सबसे ही स्नेह सहज निभाती थीं ॥

(३)

आगे-आगे रह कुश-कंटक हटाऊँ दूर,
पंथमें पियाके चुन कुसुम बिछाऊँ मैं;
चरण दबाऊँ, करूँ अंचल-बयार मृदु
सहधर्मिणी हूँ सहधर्मको निभाऊँ मैं ।
साथ रही सुखमें सदैव प्राणनाथके जो,
ए हो दैव ! दुखमें न हाथ क्यों बटाऊँ मैं;
वनको बनाऊँ शत अवध समान आज,
मंदर-दरीको राज-मंदिर बनाऊँ मैं ॥

(४)

निश्चय यही ले चली संग रघुनंदनके,
नन्दनके देवकी वधू-सी छवि पाती थीं;
नित्य वसुधामें जिसे सुलभ सुधाका स्वाद,
पतिका प्रसाद कंद-मूल-फल खाती थीं ।
रंच अभिमान नहीं, कंचन-सी काया लिये,
प्रिय चरणोंकी वह धूल बन जाती थीं;
मुदित अमंद मुखचंद देख प्रीतमका
मैथिली-चकोरी बार-बार बलि जाती थीं ॥

(५)

देखा हनूमान्ने अशोक-शिंशपाके तले
सीता ध्यान-मग्न हैं, दृगोंका बंद पुट था;
वयस तरुण, विभा अरुण, लुनाई दिव्य !
दस्यु दशमुखका विवेक गया लुट था ।
मन मैथिलीका मोह लेने या मनाने हेतु
विपुल विलासिनीका वृन्द गया जुट था;
फिर भी पतिव्रताका आसन हिला था नहीं,
पैरों तले लोट रहा लंकाका मुकुट था ॥

(६)

तन-मन-प्राण रघुनाथमें लगाये जो थीं,
तज रनवास वनवासिनी हुई सती;
हरण हुआ तो आमरण उपवास किये,
जीवनसे, जगसे उदासिनी हुई सती ।
वंक हुई भृकुटि, सुरासुर सशङ्क हुए,
लोभी लंकपतिकी विनाशिनी हुई सती;
संशय विलोक लोक-पावन चरित्रपर
अनल-परीक्षा दे प्रकाशिनी हुई सती ॥

(७)

त्याग दिया प्रियने प्रजाकी प्रीति पाने हेतु,
दग्ध हो वियोगमें दुसह दुख पाती वह;
किंतु नहीं रोष था, न दोष देती प्रीतमको;
अपने कियेका फल मान पछताती वह ।
'हाय ! अब सेवा प्राणधनकी करेगी कौन,
सोच यही शोचसे अचेत हुई जाती वह;
पतिके अमङ्गल-निवारणकी कामना थी,
नित उठ पतिका ही मङ्गल मनाती वह ॥
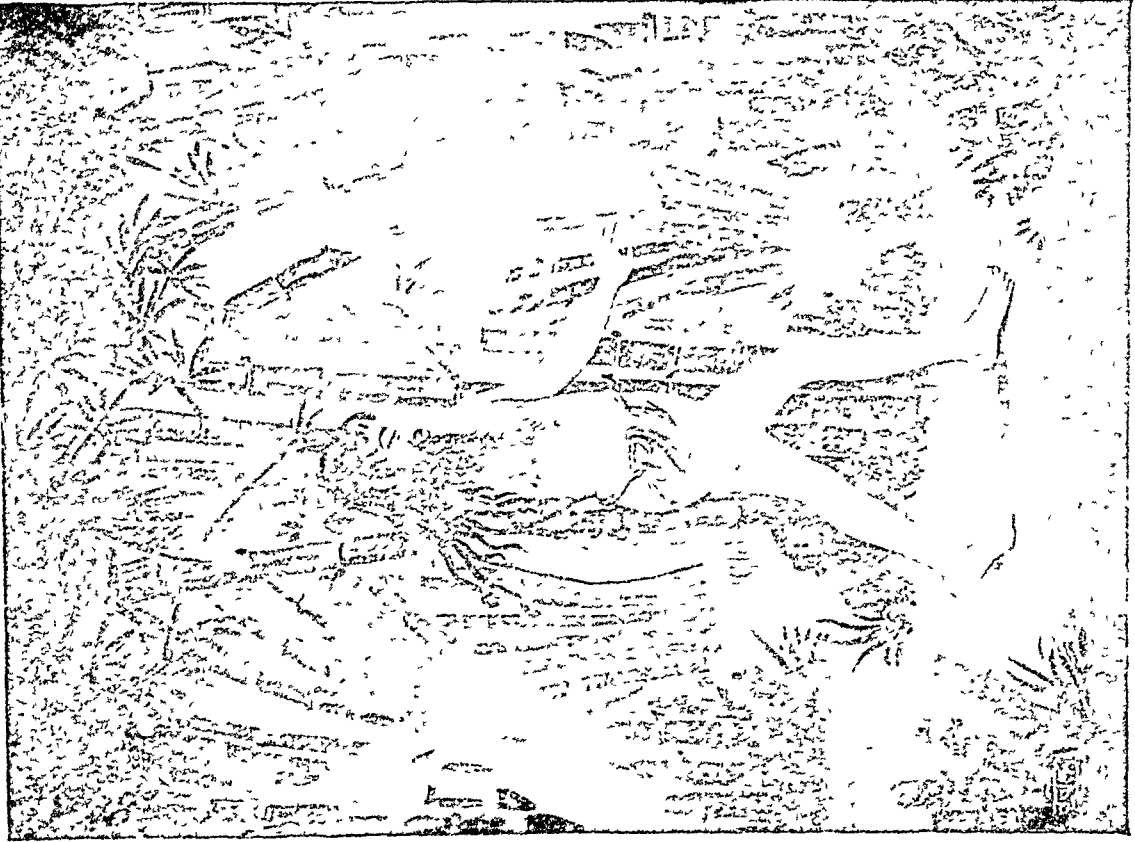
भगवान् श्रीऋषभदेव

भगवान् महावीर

भगवान् बुद्ध

गुप्तकाल—मथुरा-संग्रहालय]

भगवान् बुद्धका प्रथमोपदेश (सारनाथ)

[भारतीय पुरातत्त्व-विभागके सौजन्यसे
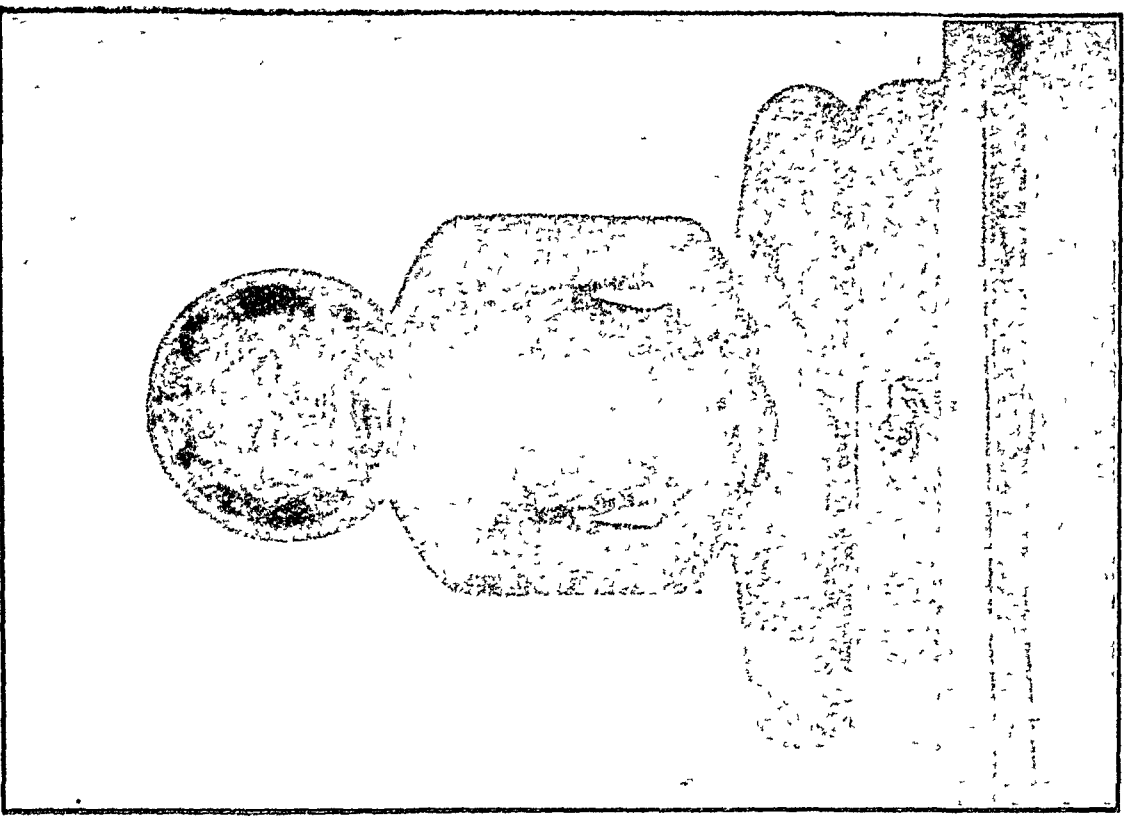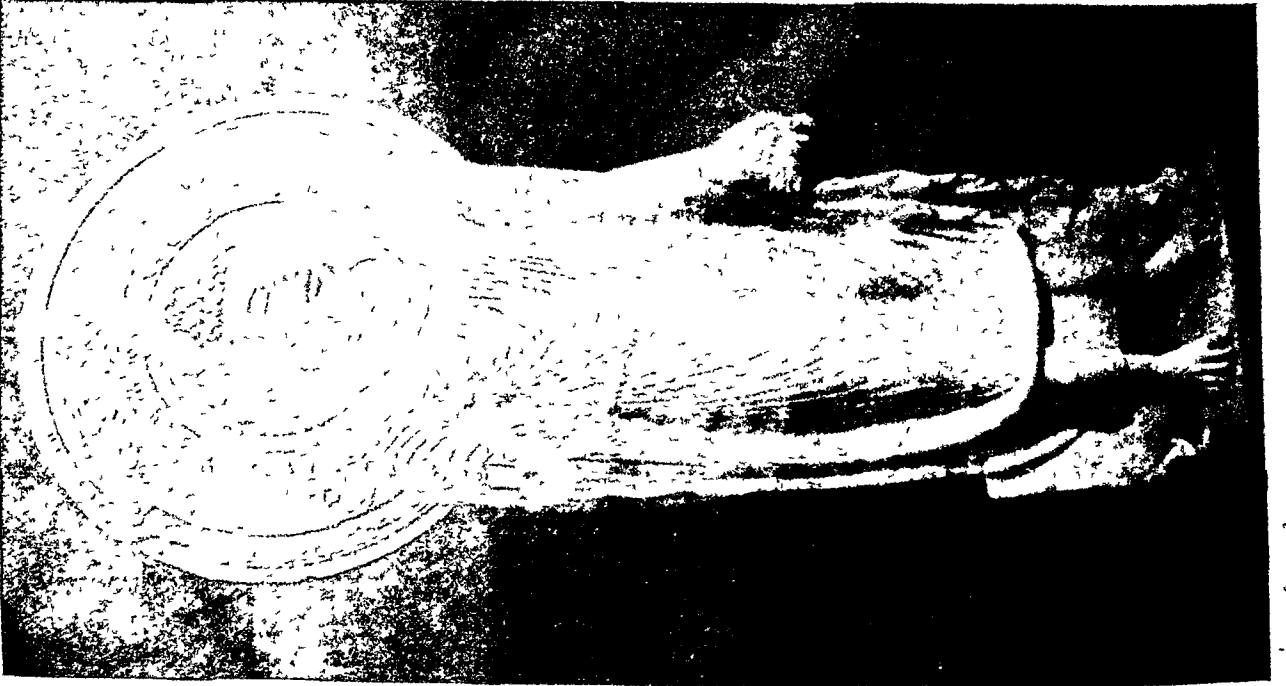
भगवान् गौतम बुद्ध

कपिलवस्तुके राजा महाराज शुद्धोदनकी पत्नी मायादेवी-के उदरमें जो दिव्य तेज प्रविष्ट हुआ था, उसे वर्तमान नेपाल राज्यके 'लुम्बिनी' नामक स्थानमें सन्तानरूपसे प्राप्त करके इस लोकमें वे एक सप्ताहसे अधिक न ठहर सकीं। नवजात कुमार सिद्धार्थका पालन उनकी विमाता गौतमी देवीने किया। ज्योतिषियोंने बतलाया था कि राजकुमार या तो गृह त्यागकर परम वीतराग कोई अतिप्रख्यात महा-पुरुष होंगे अथवा चक्रवर्ती सम्राट् होंगे। उन्नत भाल, विशाल वक्ष, आजानुलम्बित बाहु, दीर्घ कर्ण—सभी उनमें महापुरुषोंके लक्षण थे। उन्होंने अपनी प्रतिभासे बहुत शीघ्र विद्याध्ययन समाप्त कर दिया। महाराज शुद्धोदन इसी चिन्तामें रहते थे कि कुमार कहीं विरक्त होकर गृहत्याग न करें। महाराजने इसकी पूरी व्यवस्था कर दी कि राजकुमारके सम्मुख दुःख, शोक, वृद्धावस्था, मृत्यु, पीड़ा आदिकी कोई बात कभी न आये। आनन्द, उल्लास, राग-रंग ही उनके चारों ओर बना रहे। परम सुन्दरी राजकुमारी यशोधरा (गोपा) से सिद्धार्थ-का विवाह कर दिया महाराजने।

राजकुमार सिद्धार्थ छोटेपनसे एकान्तप्रिय, परम दयालु और परदुःखकातर थे। वे अपने आमोदभवन और क्रीडो-द्यानमें भी प्रायः एकान्तमें बैठ जाते। कोई अज्ञात शक्ति हृदयमें एक अस्पष्ट इङ्गित करती जान पड़ती। उन्होंने महाराजसे नगर देखनेकी इच्छा प्रकट की। महाराजने व्यवस्था की कि राजकुमारको नगरमें कोई अप्रिय दृश्य न दिखायी पड़े। सम्पूर्ण व्यवस्था होनेपर भी कुमारने पहली नगर-यात्रामें एक वृद्धको देखा, दूसरीमें एक रोगीको और तीसरीमें एक शवको। सब वृद्ध होते हैं, सब रोगी हो सकते हैं, सब एक दिन मरेंगे—हम-आप सभी यह बात जानते हैं; किन्तु महापुरुषकी बात ही भिन्न है। गौतमने इसपर विचार किया और उनके मनमें विश्वको इन बाधाओंसे मुक्ति दिलानेकी प्रबल प्रेरणा हुई।

राजकुमारी यशोधराने एक पुत्ररत्न पाया। इस शिशुका नाम राहुल था। सिद्धार्थने पुत्र हो जानेपर गृहत्याग करनेका निश्चय किया। अर्धरात्रिमें सोती हुई पत्नी तथा पुत्रको छोड़कर वे अपने प्यारे घोड़े छन्दकपर बैठकर प्रिय सहचर छन्दके साथ राजसदनसे निकल गये। अनोमा नदीके तटपर जाकर उन्होंने आभूषण उतार दिये। सेवकको वस्त्र, अश्व तथा आभरणके साथ लौटा दिया। शिखा-सूत्र प्रवाहित कर दिये।

गौतमने अनेक प्रसिद्ध आचार्योंके आश्रमोंमें निवास किया। उनकी सच्ची जिज्ञासा कहीं तृप्त न हुई। अन्तमें उन्होंने कठोर तप करनेका निश्चय किया। शरीर क्षीण हो गया। शक्तिका ह्रास हो गया। अन्तमें केवल शरीरको कष्ट देना व्यर्थ समझकर उन्होंने सुजाताका पायस ग्रहण करके बोधिवृक्षके नीचे आसन लगाया। 'मार' ससैन्य पराक्रम करके पराजित हुआ। गौतमने यहीं 'बोध' प्राप्त किया। वे 'बुद्ध' हुए।

भगवान् बुद्धने काशीके निकट सारनाथमें अपना प्रथम उपदेश चतुर्वर्गीय भिक्षुओंको किया। उन्होंने आगे जाकर अनेक विद्वानों, तपस्वियों और नरेशोंको अपने मतकी दीक्षा दी। दीक्षित भिक्षुओंके लिये 'विहारों' की स्थापना हुई। पुरुष भिक्षुओंके अतिरिक्त भगवान् तथागतने स्त्रियोंको भी भिक्षुणी होनेका अधिकार दिया। स्त्रियोंके लिये पृथक 'विहार' बने। इन विहारोंके नियमादिका स्वयं बुद्धने उपदेश किया है।

भगवान् बुद्ध जब 'बोध' प्राप्तिके पश्चात् कपिलवस्तु लौटे, उनकी पूर्वाश्रमकी पत्नी यशोधराने उनसे दीक्षा ग्रहण की। छोटा बच्चा राहुल भी सद्धर्ममें दीक्षित हुआ। राजकुलके प्रायः सभी स्त्री-पुरुषों और महाराज शुद्धोदनने भी कहा—

> धर्म्मं शरणं गच्छामि।
> संघं शरणं गच्छामि।
> बुद्धं शरणं गच्छामि॥

भगवान् बुद्धने जिस तत्त्वज्ञानका उपदेश किया, वह चार आर्य सत्य कहा जाता है। १—सब कुछ क्षणिक और दुःख रूप है। २—संसारके क्षणिक पदार्थोंकी तृष्णा ही दुःखोंका कारण है। ३—उपादानसहित तृष्णाका नाश होनेसे दुःखोंका नाश होता है। ४—हृदयसे अहंभाव और राग-द्वेषकी सर्वथा निवृत्ति होनेपर निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

भगवान् बुद्धने साधनके आठ अङ्ग बतलाये हैं। वे आर्य अष्टाङ्गमार्ग कहे जाते हैं। १—सत्यविश्वास, २—नम्रवचन, ३—उच्च लक्ष्य, ४—सदाचरण, ५—सद्वृत्ति, ६—सद्गुणोंमें स्थिति, ७—बुद्धिका सदुपयोग, ८—सद्ध्यान। भगवान् बुद्धने धर्म-प्रचारके लिये खूब प्रयत्न किया। उन्होंने अनेक कष्ट सहे। जब चालीस वर्षकी अवस्थामें शरीर क्षीण हो गया, तब सङ्घकी सर्वसम्मतिसे चिरंजीव आनन्द उनकी सेवाके लिये सदा

साथ रहने लगे। उन्होंने अन्ततक दृढ़ निष्ठासे भगवान्की सेवा की। ४५ वर्ष धर्म-प्रचार करके अस्सी वर्षकी अवस्थामें ईस्वी सन्से ५३५ वर्ष पूर्व,गोरखपुरसे कुछ दूर कुशीनगरमें भगवान्ने निर्वाण प्राप्त किया। उनके शरीरकी भस्मके लिये सभी ओरसे माँग आने लगी। सब उनका स्मारक बनवाना चाहते थे। भस्मके आठ भाग किये गये। देशके भिन्न-भिन्न आठ स्थानोंमें भस्मकी स्थापना होकर उसपर स्मारक बने।

भगवान् बुद्धने जिस जीवदया और अहिंसा-धर्मका उपदेश किया था, उनके अनुयायी भिक्षुसङ्घ तथा नरेशोंने उसका विस्तृत प्रचार किया। राजकुमार तथा सुकुमार राजकुमारियाँ राजसुख छोड़कर भिक्षु एवं भिक्षुणी बने। उन्होंने दूर-दूर देशोंमें जाकर तथागतका ज्ञान-सन्देश दिया। सिंहल, यवद्वीप (जावा), सुवर्णद्वीप (सुमात्रा), चीन तथा जापानतक भारतीय भिक्षु गये। ब्रह्मदेश, स्याम आदि तो मध्यमें थे ही। इन समस्त देशोंने तथागतका सन्देश आदरपूर्वक सुना। उनके धर्मकी छत्रछायामें आकर उन्होंने शान्ति प्राप्त की।

ईसामसीहने अहिंसाकी शिक्षा भारत आकर बौद्धमहाविद्यालयमें प्राप्त की थी, यह अब इतिहासज्ञोंसे अज्ञात नहीं है। बुद्धधर्मके कारण भारतमें तथा भारतसे बाहर भी भारतीय धर्मभाव, साहित्य, कला एवं संस्कृतिका व्यापक प्रचार हुआ। मूर्तियों और ग्रन्थोंके रूपमें भारतीय संस्कृतिसम्बन्धी बहुत बड़ी सामग्री अब भी 'बृहत्तर भारत' के इन देशोंमें है।

भगवान् बुद्धकी धारणा थी कि वे शाश्वत सनातन धर्मका ही उपदेश कर रहे हैं। उन्होंने मनुष्यको पशुताकी ओर जानेसे वर्जित करके मानवताका सन्देश दिया है। —सु०

भगवान् महावीर

इक्ष्वाकुवंशके क्षत्रियोंमें अनेक शाखाएँ हो गयी हैं। उनमें ज्ञातवंशीय राजा सिद्धार्थकी राजधानी विहारप्रान्तका क्षत्रियकुण्ड नगर था। आजसे २,५३७ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशीको रानी त्रिशला देवीकी गोदमें एक महापुरुषका प्रादुर्भाव हुआ। ये महापुरुष थे तीर्थंकर भगवान् महावीर। माता-पिताने इनका नाम 'वर्द्धमान' रक्खा था। राजकुमार वर्द्धमानने युवावस्थातक समस्त क्षत्रियोचित कलाओंका अभ्यास कर लिया। माताके आग्रहसे समरवीर नामक नरेशकी कन्या यशोदा देवीसे इनका विवाह हुआ। इनके एक कन्या 'प्रियदर्शना' नामक हुई। उसका विवाह जमाली नामक राजपुत्रसे हुआ। भगवान् महावीरके इस जामाताने पीछे उनसे दीक्षा ग्रहण करके भी उनके विरुद्ध एक नवीन मतका प्रचार किया।

राजकुमार वर्द्धमान अट्ठाईस वर्षके थे, जब उनके माता-पिताने शरीर-त्याग किया। महावीर गृह त्यागकर 'निर्ग्रन्थ मुनि' होनेको दीर्घकालसे उत्सुक थे। भाई नन्दिवर्द्धनके आग्रहसे दो वर्ष और उन्हें घर रहना पड़ा। घर रहते हुए उन्होंने दीन-दुखियोंमें राजकुलके संचित द्रव्यका दान प्रारम्भ किया। एक वर्षमें तीन अरब, अट्ठासी करोड़, अस्सी लाख स्वर्ण-मुद्राओंका दान कुमार वर्द्धमानने याचकोंको किया।

तीस वर्षकी अवस्थामें गृह त्यागकर राजकुमार वर्द्धमानने दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्हें 'मनःपर्यायज्ञान' (दूसरेके मनकी बात जाननेकी शक्ति) हो गयी। मनपर सम्यक् विजय तथा सर्वज्ञताकी सिद्धिके लिये उन्होंने उग्र तप प्रारम्भ किया। यह तप साढ़े बारह वर्ष चला। इसमें कभी-कभी छः-छः महीने वे निर्जल उपवास करते रहे। कभी महीनों खड़े-खड़े ध्यान करते रहते। साढ़े बारह वर्षोंमें कुल चौंतीस बार उन्होंने आहार ग्रहण किया था।

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'—राजपुत्र वर्द्धमानके तपमें अनेक विघ्न आये। उन्हें मनुष्य, पशु, प्रकृति तथा देवताओंने नाना प्रकारसे उत्पीड़ित किया। जंगली आभीरोंने उनके पैरोंमें अग्नि लगा दी। उनके कानोंमें काष्ठकी कीलें ठोक दीं। सर्प, विच्छू तथा दूसरे पशुओंने उन्हें भयंकर कष्ट दिये। आँधी, वर्षा, लू, ओले—सबने उन महासत्त्वीको डिगानेका घोर प्रयास किया। 'संगम' नाम एक दुष्ट देवता (पिशाच) ने उनको नाना प्रकारसे यन्त्रणाएँ दीं। वे सामान्य मनुष्य नहीं थे। उनका निश्चय हिमालयकी भाँति अविचल था। इन्द्रने उनके धैर्य तथा मनोबलको देखकर ही उन्हें 'महावीर' कहा। अन्ततः तपस्या पूर्ण हो गयी। अन्तःकरणके दोष एकान्ततः नष्ट हो गये। महावीर वीतराग, सर्वज्ञ एवं महासिद्ध हो चुके थे।

'भूतदया और अहिंसा'—भगवान् महावीरने लोकमें इस कल्याणमय धर्मका उपदेश प्रारम्भ किया। इन्द्रभूत-जैसे प्रख्यात विद्वानोंने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। बड़े-बड़े नरेश उनके उपदेशसे साधु हुए। सभी वर्ण, सभी जातिके लिये उनके धर्मका द्वार उन्मुक्त था। उनके शिष्योंमें चारों

वर्णके मुख्य महापुरुष हुए हैं। राजगृह, श्रावस्ती, वैशाली-जैसे प्रमुख नगरोंमें भगवान्ने चातुर्मास्य किया। मगध, बंगाल, विहारकी प्रजाका उनके प्रति अगाध प्रेम था। राजा विम्बसार, नन्दिवर्धन, चण्ड, प्रद्योतन, चेटक, उदयन, प्रसन्नचन्द्र, अदीन-शत्रु प्रभृति नरेश महावीर स्वामीके शिष्य थे। तीस वर्षतक धर्म-प्रचार करके बहत्तर वर्षकी आयुमें कार्तिक कृष्ण अमावस्याको पावापुरीमें उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

'एक ही वस्तुमें देश, काल तथा अवस्था-भेदसे अनेक विरुद्ध या अविरुद्ध धर्मोंका होना सम्भव है। अतः एकान्त रीतिसे अमुक वस्तुका अमुक धर्म है, दूसरा नहीं—यह कहना ठीक नहीं।' इस 'स्याद्वाद' सिद्धान्तकी महावीर स्वामीने स्थापना की। समाजमें दया, परोपकार और अहिंसा तथा जीवनमें त्याग, तितिक्षा, तप, संयम, इन्द्रियनिग्रह—यही मनुष्य-जातिके लिये उनके अमृत-सन्देश हैं। अहिंसाको जितने व्यापक एवं सार्वभौम रूपमें जैन धर्ममें ग्रहण किया गया है, उतने व्यापक रूपमें वह दूसरे किसी धर्ममें नहीं ली गयी। घोर तपस्या और उससे प्राप्त सिद्धियोंके लिये जैन महात्मा सदा प्रख्यात रहे हैं। भगवान् महावीरने मानव-संस्कृतिको अहिंसा और त्याग तथा तपका जो वरदान दिया, वह अनेक जातियोंके लिये आदर्श हुआ। मनुष्य अपनी दुर्बलतासे उसे भले अपना न सके; परन्तु यह स्वतःसिद्ध है कि उसकी उन्नति तथा कल्याण त्याग, संयम और हिंसासे निवृत्त होनेमें ही है।

अश्वमेधपराक्रम सम्राट् समुद्रगुप्त

मध्ययुगमें पुष्यमित्रने वैदिक ध्वजाको उन्नत किया और गुप्त नरेशोंने उस सनातन हिंदू-धर्मको उज्ज्वलरूपमें लोकविस्तृत किया। आज जो मूर्तियाँ, चित्र आदि प्राचीन कालके उपलब्ध हैं, उनमें हिंदू-मूर्तियों और चित्रोंमें अधिकांश गुप्त नरेशोंके समयके हैं। कला—श्रद्धामयी कला उस समय अपने साङ्गोपाङ्ग रूपमें प्रकट हुई है।

पक्षपातके कारण पाश्चात्य इतिहासकारोंने गुप्तकालके सर्वश्रेष्ठ, महान् प्रतापी सम्राट् समुद्रगुप्तकी बहुत कम चर्चा की है। सच तो यह है कि यूरोपके इतिहासमें इतना पराक्रमी, शूरमा और साथ ही परम उदार धार्मिक कभी हुआ ही नहीं; और द्वापरके पश्चात् जबसे इतिहास प्राप्त है, सम्पूर्ण भारतका इतना महान् सम्राट् भी कोई नहीं हुआ। महाकवि हरिषेणके अनुसार सम्राट् समुद्रगुप्त 'लिच्छविदौहित्र' हैं। वे चन्द्रवंशी सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथमके पुत्र हैं। पिताने अपनी अन्तिम अवस्थाके लगभग प्रेम एवं उल्लाससे उन्हें राज्यासन सौंपा, यह प्रयागमें प्राप्त प्रशस्तिसे ज्ञात होता है।

हिंदू-नरेशोंके लिये दिग्विजय सदा स्पृहाकी वस्तु रही है; किंतु हिंदू-धर्म नरेशोंको केवल विजयके लिये प्रोत्साहित करता है, नरेशोंके राज्यापहरणके लिये नहीं। सिंहासनपर बैठनेके पश्चात् समुद्रगुप्तने अपना अमित पराक्रम प्रकट किया। उत्तराखण्ड, दक्षिणापथ और सीमान्तके देशोंके नरेश उनकी शक्तिके सम्मुख झुकनेको विवश हुए। उज्ज्वल भारतीय परम्पराके अनुसार सम्राट्ने किसीके राज्यका अपहरण नहीं किया। उन्होंने केवल कर लेकर राजाओंको बने रहने दिया। उनकी दिग्विजययात्रा धर्मस्थापनार्थ थी और हिमालयसे दक्षिण-सागरतक उन चक्रवर्ती सम्राट्की छत्रछायामें हिंदू-धर्मकी उन्मुक्त ध्वजा फहराती थी। यज्ञोंके धूममें दिशाएँ पवित्र होती थीं। पूरा गान्धार (आजका अफगानिस्तान) और उससे आगेतकका प्रदेश सम्राट्का करद प्रान्त था। नैपाल और ब्रह्मदेश उन्हें सार्वभौम मानते थे।

महाराज जनमेजयके पश्चात् पहली बार दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त अश्वमेध करनेमें सफल हुए। उस समय उन्होंने जो मुद्रा प्रचलित की, उसपर एक ओर अश्व एवं रानीका चित्र है और पीछे 'अश्वमेधपराक्रम' अङ्कित है। सम्राट्की उपाधि थी 'परम भागवत' और सचमुच वे परम वैष्णव थे। उनकी मुद्रामें उनकी शिखामें झूमती तुलसीकी माला तथा उनके द्वारा निर्मित मन्दिरोंकी अब प्राप्त मूर्तियाँ इसका प्रमाण हैं। सम्राट् अच्छे कवि एवं कुशल वीणावादक थे, यह भी मुद्राओं तथा प्रशस्तियोंसे सिद्ध है। हिंदू-धर्म कभी इतर धर्मके प्रति असहिष्णु रहा ही नहीं। परम वैष्णव सम्राट् समुद्रगुप्त महाश्रमण वसुबन्धुका पूरा-पूरा आदर करते थे और सिंहलनरेश मेघवर्माको बौद्धगयामें विहार बनानेकी उन्होंने अनुमति दी।

इतिहासकालके भारतके एकछत्र सम्राट् अश्वमेधपराक्रम, अतुल-शौर्य समुद्रगुप्तकी उपेक्षा जान-बूझकर स्वार्थवश न होती तो आज यह पाश्चात्त्योंको कहनेका अवसर न रहता कि 'भारतको एक देशका रूप अंग्रेजोंने दिया।' सम्राट्

समुद्रगुप्तके समयका वह गान्धार एवं मलयतक विस्तृत भारत, वह अपूर्व धर्मनिष्ठा, वह साहित्य एवं कलाका सात्त्विक चरमोत्कर्ष और हिंदू-धर्मका वह अकल्पित वैभव इतिहासज्ञोंके लिये अब भी खोजकी वस्तु है। सम्राट् समुद्रगुप्त-जैसा पराक्रमी, कलाप्रिय, कलाका आश्रयदाता और परम धार्मिक सार्वभौम फिर नहीं हुआ। —रा० श्री०

देवप्रिय सम्राट् अशोक

प्रियदर्शी सम्राट् अशोकके सम्बन्धमें यद्यपि इतिहासकारोंने बहुत कुछ लिखा है, पर बहुत शेष है अब भी। उन 'जान-प्रियजन' (सामान्य नागरिकके लिये अशोककालीन शब्द) के उपदेशक और स्वयं सम्राट् होते हुए 'जान-प्रियजन' से शिक्षा-ग्रहणके उद्देश्यसे उनमें जानेवाले प्रियदर्शी सम्राट्की पूरी बातें अब भी प्रकाशमें आयी नहीं हैं।

सम्राट् बिन्दुसार बहुत बड़ा साम्राज्य छोड़ गये थे। चन्द्रगुप्त मौर्यके उन सुयोग्य पुत्रने अपनी विजय-ध्वजा हिमालयसे कन्याकुमारीतक विस्तीर्ण करनेका पूरा प्रयत्न किया था। अपने युवराज अशोकसे उन्हें बहुत बड़ी आशा थी और भय भी था। कठोर, उग्र, क्रूर प्रकृतिके अशोक जनतामें 'चण्डाशोक' विख्यात थे। सम्राट् बिन्दुसारकी मृत्युके चार वर्ष पश्चात् परिषद्की अनुमतिसे अशोक सिंहासनासीन हुए। अभिषेकके बादके बारह वर्ष अशोकके जीवनके क्रूरता, युद्ध, विजयके वर्ष हैं। अन्तिम युद्ध था कलिङ्गका। रणभूमि शवोंसे पटती जा रही थी। कलिङ्गके देशभक्त शूर सहर्ष बलि हो रहे थे। सहसा अशोकका हृदय पलटा—विजेता अशोकने विजयके समीप पहुँचकर युद्ध रोक दिया। पश्चात्तापने विशुद्ध कर दिया उन्हें। सच ही तो है—भूमि, पर्वत, नदियोंकी सीमाओंसे सीमित राज्यकी अपेक्षा मानव-हृदयोंका साम्राज्य महान् है। अशोकने उस महान् साम्राज्यके लिये वहीं रणभूमिमें शस्त्र फेंक दिये और सचमुच मानव-हृदयोंके प्रियदर्शी महान् सम्राट् हुए। राज्याभिषेकके तेरहवें वर्षमें विजय-दुन्दुभिके स्थानपर अशोककी धर्म-दुन्दुभि बजी। स्वयं सम्राट् जनतामें धर्म-प्रचार, धर्म-शिक्षाके लिये घूमने लगे। सम्राट्के सगे भाई महेन्द्र और बहिन संघमित्रा बौद्ध-भिक्षु एवं भिक्षुणीके वेशमें सिंहल पहुँचे। नैपालमें स्वयं सम्राट् और उनके पश्चात् उनकी प्रियपुत्री चारुमतीने धर्म-प्रचार किया।

हिंसा, क्रूरता और उसके परिणामस्वरूप जो प्रतिक्रिया हुई, उससे स्वभावतः सम्राट् अशोक अहिंसा एवं जीव-दया-प्रधान बौद्ध-धर्मकी ओर झुके। उन्होंने बौद्ध-धर्मको राज्य-धर्म घोषित किया और वे अपना सर्वस्व लगाकर उसके प्रचारमें लग गये। अशोक—देवप्रिय प्रियदर्शी सम्राट् अशोक बौद्ध थे। वे राज्यके साथ 'सङ्घ' का भी सञ्चालन करते थे; परंतु वे थे भारतीय सम्राट्। उनमें शुद्ध हिंदू-रक्त और हिंदू-उदारता थी। उन्होंने ब्राह्मणों, मन्दिरों और वैदिक धर्मका कोई तिरस्कार नहीं किया। उनकी शिक्षा, उनका हृदय अब भी उनके उन शिलालेखोंसे स्पष्ट है, जो भारतके विभिन्न स्थलोंमें पाये जाते हैं। ये शिलालेख अपनी कलाकृतिके लिये भी प्रख्यात हैं।

सम्राट् अशोक चालीस वर्षतक सिंहासनपर रहे। इस अवधिमें उन्होंने स्वयं विभिन्न तीर्थोंमें घूमकर, उपदेशक भेजकर, शिला-लेख गाड़कर, अनेक प्रकारसे लोकमें सद्भावना एवं धर्म-प्रचारका प्रयत्न किया। तीन वर्षके अल्पकालमें चौरासी हजार स्तूपोंका निर्माण कराना प्रियदर्शी सम्राट्का ही कार्य था। गयाके समीप उन्होंने गुफाओंका स्थविर-आवास निर्मित कराया। सैकड़ों विहार, संघाराम उनके स्थापित किये हुए थे। अपने शिला-लेखोंमें उन्होंने माता-पिताकी एवं प्राणियोंकी सेवा, सभी सम्प्रदायोंकी परस्पर सद्भावना, परलोकके सुधार तथा सत्य, त्याग, तप आदि सार्वभौम धर्मोंपर ही पूरा बल दिया है। सम्राट् सचमुच 'देवप्रिय' थे, उन्होंने लोगोंको देवपथमें ले जानेका पूरा प्रयत्न किया। वे प्रियदर्शी थे। जनतामें जनतासे शिक्षा-ग्रहण एवं विचार-विनिमयकी भावनासे जाना उन्हीं-जैसे महत्तमका कार्य था।

चार सिंहोंके ऊपर स्थापित धर्मचक्र—अशोकके साम्राज्यका यह प्रतीक अब भारतका राष्ट्रिय प्रतीक है। चतुर्दिक्-व्यापी पराक्रमपर धर्मचक्रकी स्थापना अशोकने की, यह सब जानते हैं। उनका राज्य सम्पूर्ण भारतमें था और मिस्र, सिंहल, मलय आदिमें उनका नाम आदरसे लिया जाता था। उन्हींका पावन उद्योग चीन, जापानतक बुद्ध-धर्मका प्रसार कर सका।

तक्षशिला, कौशाम्बी, नालन्दा आदि महाविद्यालय उस धर्म-शासनमें ही समृद्ध हुए। सम्राट्ने स्वयं जीवनके अन्तिम दिन बौद्ध-भिक्षुके रूपमें राजगृहमें किसी बौद्ध-मठमें व्यतीत किये। उन्होंने एक आदर्श भारतीय सम्राट्का जीवन व्यतीत किया और भारतीय परम्पराके अनुसार ही अन्तमें वीतराग भिक्षु हो गये। एक चीनी यात्रीने बौद्ध-मठमें सम्राट्की भिक्षुरूपमें एक प्रतिमा देखी थी, ऐसा उसका वर्णन है। —रा० श्री०

सम्राट् हर्षवर्धन

स्थाण्वीश्वरके अधिपति उस समय भारतमें बहुत प्रख्यात नहीं थे, जब भाई राज्यवर्धनके युद्धमें मारे जानेपर मन्त्रि-परिषद्की सम्मतिसे हर्ष सिंहासनासीन हुए। अमितपराक्रम हर्षवर्धन—उनका अपूर्व शौर्य, संगठित सैन्यशक्ति और अदम्य उत्साह; बहिन राज्यश्री-जैसी कुशल मन्त्रदात्री प्राप्त थी उन्हें; अल्पकालमें ही सिन्ध, सौराष्ट्र, कान्यकुब्ज, मिथिला, उड़ीसा, गौड़ तथा हिमालयके पर्वतीय प्रान्तपर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। दक्षिणापथके शासक पुलकेशीने उन्हें अपना सम्राट् स्वीकार किया। वे सार्वभौम नरेश हो गये। कुल छः वर्षोंमें यह सफलता प्राप्त की।

महाकवि बाणभट्टकी लेखनीने 'हर्षचरित' में सम्राट्की यशोगाथाका बड़ा भावपूर्ण वर्णन किया है। सम्राट् हर्ष स्वयं बौद्धधर्म स्वीकार कर चुके थे। चीनी बौद्ध आचार्य ह्वेनसांग उनके उपदेष्टा थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि सम्राट् हर्ष परम उदार थे और उनकी उदारता सभी धर्मोंके लिये समानरूपसे थी। प्रत्येक वर्ष सम्राट् प्रख्यात बौद्ध श्रमणोंका परिषद् आयोजित करते, उसमें सद्धर्मके प्रचारपर पूर्ण विचार होता। प्रति पाँचवें वर्ष श्रीगङ्गा-यमुनाके संगमपर प्रयागमें सम्राट्की मोक्षसभा आयोजित होती। युद्ध-सामग्री और शस्त्रास्त्रको छोड़कर सम्राट् सर्वस्व दान कर देते थे। ह्वेनसांगने लिखा है—'जब सम्राट्के पास दान देते-देते कुछ नहीं बचा, तब उन्होंने बहिन राज्यश्रीसे एक पुराना वस्त्र लेकर उसे उत्तरीय बनाया।' यह सर्वस्व-दान उस सम्राट्का है, जिसके पीछे इक्कीस नरेश और सैकड़ों मण्डलेश्वर चलते थे और जो सिंहासनपर बैठनेपर रजस्तूप जान पड़ता था। इस महादानमें बौद्ध या ब्राह्मणका भेद सम्राट् कभी नहीं करते थे।

सम्राट् स्वयं श्रेष्ठ कवि थे। उनकी रत्नावली, नागानन्द आदि रचनाएँ प्रख्यात हैं। धर्मप्रचारके लिये उन्होंने अनेकों स्तूप बनवाये। आश्रम, संघाराम, विहार तथा मन्दिरोंको समानरूपसे उन्होंने दान किये। सुमात्रा, जावा, कम्बोडिया आदिसे उनका बराबर सम्बन्ध रहा और उनके प्रभावसे वहाँ हिंदू-संस्कृति समृद्ध होती रही। देशमें 'विहारों'में अध्ययन, धर्मचर्चा और आश्रमोंमें यज्ञ उनकी महत्सेवासे चलते रहे। उन्होंने धर्म, विद्या, कला—सबको पुरस्कृत, प्रोत्साहित और समृद्ध किया। कहा जाता था कि राज्यमें सम्राट् सबसे व्यस्त व्यक्ति थे; प्रजाकी चिन्ता, धर्म-प्रचारसे उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता था। —रा० श्री०

सम्राट् चन्द्रगुप्त

ग्रीक शासकोंसे भारतको स्वतन्त्र करनेवाले सम्राट् चन्द्रगुप्तके सम्बन्धमें इतिहासके विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। पाटलिपुत्र (मगध)-नरेश नन्दके चन्द्रगुप्त पुत्र थे—यह तो प्रायः मान लिया गया है। कुछ विद्वान् उन्हें मुरा नामक दासीका पुत्र कहते हैं और कुछका कहना है कि नन्दकी एक पत्नी पर्वतीय नरेश 'मोरिय' की कन्या थी। उनके गर्भसे ही चन्द्रगुप्तकी उत्पत्ति हुई। नन्दकी बड़ी रानीके नौ पुत्र थे। उन सौतेले भाइयोंने बचपनमें चन्द्रगुप्तको अनेक प्रकारके कष्ट दिये। कुछ विद्वानोंका मत है कि सौतेले भाइयोंके उत्पीड़नसे तंग आकर चन्द्रगुप्तको राजधानीसे भागना पड़ा। जब ग्रीकनरेश सिकन्दर (अलेक्जेंडर) ने भारत-सीमान्तपर आक्रमण किया, उस समय चन्द्रगुप्तने उनसे भेंट की थी और उनकी यूनानी सेनाके रण-कौशलका ज्ञान प्राप्त किया था। जो भी हो, चन्द्रगुप्तको परम नीतिज्ञ आचार्य चाणक्यका सहयोग प्राप्त हुआ। चाणक्यकी नीति-कुशलतासे नन्दके नौ पुत्र मारे गये और चन्द्रगुप्त मगधके सिंहासनाधीश्वर हुए।

चन्द्रगुप्त-जैसा शूर, आचार्यसेवी नरेश और चाणक्य-जैसा नीतिनिपुण, वीतराग सहायक—सोनेमें सुगन्ध स्थित हो गयी। आचार्य चाणक्य राज्यके सर्वस्व थे। चन्द्रगुप्त

उनके विनम्र चरणानुगामी थे। किंतु चाणक्य ब्राह्मण थे, उनमें ब्राह्मणत्वका आदर्श त्याग था। वे एक उटज (झोपड़ी) में रहते तथा विद्यार्थियोंको शिक्षा देकर अपना निर्वाह करते थे। ऐसे समय देशकी समृद्धि अतुलित वृद्धि पाती ही थी। सुप्रसिद्ध विदेशी (ग्रीक) राजदूत मेगस्थनीजने चन्द्रगुप्तके दरबारके ऐश्वर्यका वर्णन करते हुए लिखा है कि 'सम्राट् चन्द्रगुप्तके स्कन्धावारमें सदाचारी लक्ष पुरुष उपस्थित रहते थे।'

पाश्चात्य ऐतिहासिक विद्वानोंने अलेक्जेण्डर महान् (सिकन्दर) की शूरताको बहुत बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। यह भूलने योग्य नहीं है कि सिकन्दरने केवल भारती सीमान्तके कुछ साधारण नरेशोंको पराजित किया था। पुरुके साथ युद्धमें वह कठिनाईसे छल करके ही जीत सका था। पुरुका राज्य भी साधारण पर्वतीय राज्य ही था। किंतु उसी युद्धने यूनानी सैन्यका साहस तोड़ दिया। सिकन्दरको पीछे लौटना पड़ा। उसने विजित प्रदेशोंमें अपना शासक नियुक्त कर दिया।

सिकन्दरके लौटनेके कुछ ही दिन पश्चात् चन्द्रगुप्तने अपनी सैन्य सज्जित की। आचार्य चाणक्यकी कृपासे मगधके समस्त आन्तरिक कलह शान्त हो गये थे। सिकन्दरके सेनापति सिल्यूकस सिकन्दरद्वारा जीते हुए प्रदेशोंके शासक थे। चन्द्रगुप्तसे उनका संग्राम हुआ। सिल्यूकस इतनी बुरी तरह पराजित हुए कि उन्होंने चन्द्रगुप्तके साथ अपनी कन्याका विवाह करके गान्धार (अफगानिस्तान या कन्दहार) तकका समूचा देश चन्द्रगुप्तको भेंट कर दिया और वे यूनान लौट गये। ग्रीसके राजदूत होकर मेगस्थनीज पाटलिपुत्रकी सभामें उपस्थित हुए थे। उन्होंने लिखा है कि चन्द्रगुप्तने सिल्यूकस-का (श्वशुर होनेके कारण) सत्कार करनेके लिये, उन्हें तीन सौ हाथी भेंट किये थे।

पाश्चात्य इतिहासकारोंने सिल्यूकसकी पराजयको छिपाने तथा कम करनेका भरपूर प्रयत्न किया है। उन्होंने चन्द्रगुप्त-को नीच कुलोत्पन्न सिद्ध करनेका प्रयास किया है। इतनेपर भी उन्हें स्वीकार करना पड़ा है कि उस महान् सम्राट्की सेनामें तीस हजार अश्वारोही, दो हजार रथ, चार हजार हाथी तथा दो लाख पदाति सैनिक थे। भारत-सीमान्तसे विदेशी सेनाको सर्वथा पराजित करके भारतीयताकी रक्षा करनेवाले सम्राट् चन्द्रगुप्तने जैनाचार्य भद्रबाहु स्वामीसे दीक्षा ग्रहण की थी। उनके पुत्र बिम्बसार थे। सम्राट् अशोक उनके पौत्र थे। कुछ दिन जैन रहकर अशोक पीछे बौद्ध हो गये थे।—सु०

सम्राट् विक्रमादित्य

परदुःखभञ्जक, वेतालसिद्ध, न्यायादर्श शकारि सम्राट् विक्रमादित्य आजके ऐतिहासिकोंके लिये एक समस्या हैं। हमारा विक्रम-संवत् जिन लोकोत्तर मालवगणाधीश भगवान् महाकालेश्वरके परम सेवकने प्रचलित किया, आजके ऐतिहासिक उनका पता ही नहीं लगा पाते। चन्द्रगुप्त प्रथमने 'विक्रम' की उपाधि धारण की, इस कल्पनापर ही उनका सन्तोष हो जाता है। यह भूलने योग्य नहीं है कि गुर्जरके विख्यात सम्राट् सिद्धराज जयसिंह सदा विक्रमका स्वप्न देखते रहे। विद्या एवं विद्वानोंके लोकविख्यात शरणद महाराज भोजके आदर्श सदा सम्राट् विक्रमादित्य रहे। भर्तृहरि-शतकके निर्माता, योगिराज गोरखनाथजीके अमर शिष्य भर्तृहरिजी सम्राट् विक्रमके बड़े भ्राता कहे जाते हैं। बड़े भाईके विरक्त होकर सिंहासन त्याग देनेपर विक्रमादित्यने अवन्तिका (उज्जैन) का सिंहासन स्वीकार किया।

भारत शकोंके आक्रमणसे आक्रान्त होने जा रहा था। काश्मीरकी पवित्र भूमि दस्युओंसे दलित हो रही थी। विक्रमादित्यने उन दुर्दम शत्रुओंको अपने प्रबल पराक्रमसे केवल पराजित ही नहीं किया, उन्हें भारतके उत्तर सीमान्तसे भगा दिया। इसी शौर्यने उन्हें 'शकारि' नामसे भूषित किया और कहा जाता है कि इसी विजयके उपलक्षमें विक्रम-संवत् प्रचलित हुआ।

महाराज विक्रमादित्य अपने न्यायके लिये इतने प्रख्यात हैं कि उनके भूमिमें गड़े दिव्य सिंहासनके स्थानपर एक चरवाहा बैठ जाता तो वह भी उत्तम न्यायाधीश हो जाता था। राजा भोजने भूमिसे वह सिंहासन खोदकर निकलवाया। सिंहासनमें बत्तीस मणिपुत्तलिकाएँ पायोंके स्थानपर बनी थीं। भोजको उन पुत्तलिकाओंने मनुष्यकी भाँति सिंहासनपर बैठनेसे रोक दिया और सिंहासन ऊर्ध्वलोक चला गया।

सम्राट् विक्रमने अनायास वेताल सिद्ध कर लिया था।
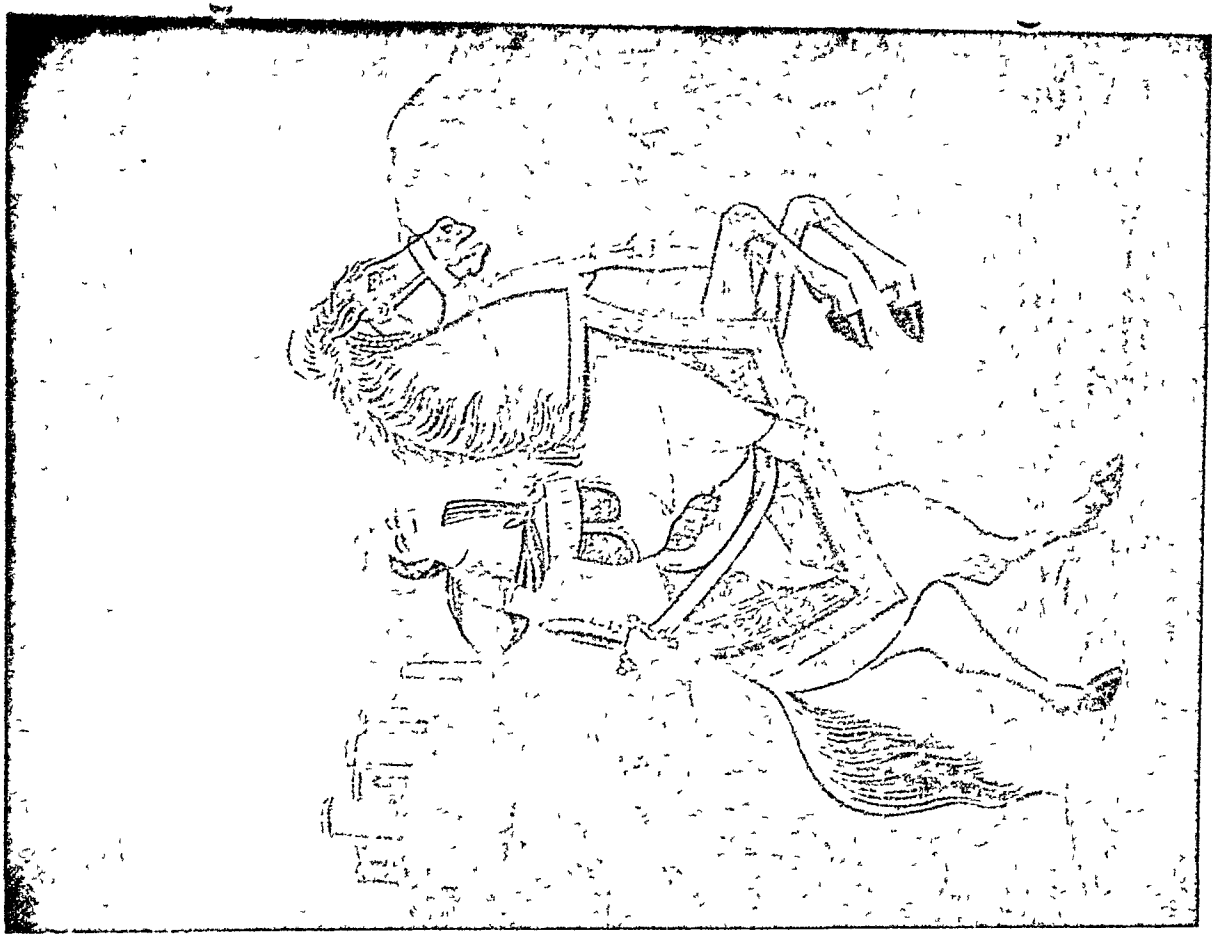
भक्तिमती मीराबाई

महारानी लक्ष्मीबाई

महाराजा पृथ्वीराज

महाराज छत्रसाल

गुरु गोविन्दसिंहजी

धर्मवीर वन्दा वैरागी

वे प्रत्येक दुखीके कष्टको निवारण करनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते । सामान्य व्यक्तिके दुःख दूर करनेमें भी यदि प्राण जानेतककी बात हो तो सम्राट्को संकोच नहीं था । अपना सुख, अपनी सुविधा, अपना जीवन-जैसी कोई वस्तु वहाँ थी नहीं । अनेक आख्यायिकाएँ सम्राट् विक्रमादित्यके सम्बन्धमें प्रचलित हैं । सबका एक ही विषय है । सम्राट्ने किसीके कष्टके लिये अपनेको आपत्तियोंमें झोंक दिया और ऐसा लोकोत्तर पुरुष असफल तो हो ही नहीं सकता । इसी पर-दुःखभञ्जकताने विक्रमको भारतके हृदयमें प्रतिष्ठित किया, जहाँसे ऐतिहासिकोंके अल्प प्रयत्न उन्हें हटा नहीं सकते । डा० पीटर्सन, डा० व्यालूट तथा प्रो० फ्लीटने ईस्वी सन्‌से पूर्व सम्राट् विक्रमादित्यकी स्थिति मन्दसोरके शिलालेखके आधारपर स्वीकार की है । विक्रमादित्य शालिवाहनके पूर्ववर्ती हैं, यह इतिहाससिद्ध है । ऐतिहासिक अन्वेषक यह मानते हैं कि इनका बनवाया रामकूट नामक महल खीष्टीय संवत्‌से लगभग आधी शती पूर्वका है ।—सु०

महाराज शालिवाहन

शक-संवत्सरके प्रवर्तक शकराज शालिवाहनको 'टाड-राजस्थान'के कर्ता 'टॉड' साहब गजनीके शकराजा 'गज'का पुत्र बतलाते हैं । इन्हीं 'गज'ने 'गजनी' नगर बसाया था । शत्रुओंद्वारा 'गज' जब युद्धमें मारे गये, तब उनके पुत्र शालिवाहन वहाँसे भागकर भारत चले आये । इन्होंने पहले अपने शौर्यसे पंजाबपर अधिकार कर लिया और धीरे-धीरे इनका राज्य दक्षिण-भारततक विस्तृत हो गया । शालिवाहनने गोदावरीके तटपर प्रतिष्ठानपुर (पैठण)को अपनी राजधानी बनाया ।

यह स्मरण रखनेकी बात है कि उस समयतक विश्वमें केवल एक ही धर्म था—हिंदू-धर्म । ईसाई या मुसल्मान धर्म तबतक उत्पन्न नहीं हुए थे । हिंदू-धर्ममें जो नियमच्युत हुए, वे बहिष्कृत हो गये । शक, हूण आदि विदेशोंमें जाकर बसी हुई ऐसी ही बहिष्कृत जातियाँ थीं । भारत आनेपर इन जातियोंके लोग विशेष प्रायश्चित्त करनेपर हिंदू-धर्ममें ले लिये जाते थे; क्योंकि वे हिंदू ही थे ।

शालिवाहनने हिंदू-धर्ममें अपनेको पुनः सम्मिलित कर लिया । उसने अपने यहाँसे बहुत-से लोगोंको बुलाया । उनमें चारों वर्णोंके ही लोग थे । ये लोग उन-उन वर्णोंमें धीरे-धीरे सम्मिलित हो गये । इन लोगोंको 'मग' कहा जाता है ।—सु०

महाराज पृथ्वीराज

दिल्लीके अन्तिम हिंदू-सम्राट् महाराज पृथ्वीराजके सम्बन्धमें महाकवि चन्दवरदाईने जो 'पृथ्वीराजरासो' लिखा है, उसकी ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है । ऐतिहासिक प्रमाणोंसे चन्दके वर्णन मिलते नहीं । 'रासो' उच्चकोटिका जातीय शौर्यका महाकाव्य है; पर जान पड़ता है कि उसमें बहुत-सी भ्रान्त जनश्रुतियाँ मिल गयी हैं । पृथ्वीराजकी राजसभाके एक विद्वान्ने संस्कृतमें 'पृथ्वीराजविजय' नामक काव्य लिखा था । इतिहासके विद्वान् इस काव्यको प्रामाणिक मानते हैं । महाराज पृथ्वीराजके सम्बन्धमें इसी काव्यके आधारपर ठीक विवरण प्राप्त होता है ।

पृथ्वीराजके पितामह अर्णोराज और पिता सोमेश्वर महाराज थे । पिताके परलोक पधारनेपर पृथ्वीराज अजमेरके सिंहासनपर सन् ११६९ ई० में अभिषिक्त हुए । सिंहासनासीन होते ही पृथ्वीराजने दिग्विजयका उपक्रम किया और अनेक राज्योंको जीता भी । गजनीके अधीश्वर सुल्तान मुहम्मद गोरीने सन् ११७५ ई० में मुलतानपर विजय प्राप्त की । इसी समय उनके मनमें भारत-विजयकी लालसा जगी । सन् ११७८ ई०में वे मुलतान होते अनहलवाड़पत्तन (नाहरवारा)की ओर आगे बढ़े । गुर्जर नरेश मूलराज तथा भीमदेवसे उनका घोर संग्राम हो ही रहा था कि पृथ्वीराजकी सेना गुर्जर-नरेशकी सहायताको पहुँच गयी । भारतकी पवित्र भूमि म्लेच्छोंसे अपवित्र हो, यह पृथ्वीराजको सह्य नहीं था । जिस समय गुर्जरनरेशके दूतने अजमेर पहुँचकर यवन-वाहिनीके पराजित होकर लौट जानेका संवाद दिया, पृथ्वीराज प्रसन्नतासे सिंहासनसे उठ खड़े हुए । उन्होंने दूतको बहुमूल्य पुरस्कारोंसे सन्तुष्ट किया ।

मुहम्मद शहाबुद्दीन गोरीकी शक्ति बढ़ती जा रही थी । उन्होंने खुरासान जीतकर 'सुल्तान मुइज्जुद्दीन'की उपाधि

धारण कर ली थी। भारतमें हिंदू नरेशोंपर आक्रमण करनेमें भय था कि पृथ्वीराज उनकी सहायता करने आ पहुँचेंगे। सुल्तानने कूटनीतिसे काम लिया। उस समय लाहौरका राज्य महमूद गजनवीके वंशधर खुसरू मलिकके अधीन था। सुल्तानने इस मुसलमानी राज्यको हस्तगत करके दिल्लीके सीमान्तपर अधिकार करना ठीक समझा। जम्मूनरेश चक्रदेवने उनकी सहायता की और कहना यही चाहिये कि जम्मूनरेशकी सहायतासे ही सुल्तान लाहौरपर अधिकार कर सके। अन्यथा वे दो बार विफल होकर लौट चुके थे।

महाराज पृथ्वीराजका दिग्विजय-क्रम चलता रहा। उन्होंने चन्देलनरेश परमर्दिदेवको पराजित कर दिया था। कन्नौजनरेश जयचन्दके साथ उनका बहुत बड़ा संग्राम हुआ। इस युद्धमें विजयी होकर उन्होंने 'परमभट्टारक महाराजाधिराज'की उपाधि धारण की।

पृथ्वीराज केवल अपने ऐश्वर्यके लिये महाराजाधिराज नहीं बने थे। उन महान् दूरदर्शीने सुल्तानकी बढ़ती शक्ति देख ली थी। 'भारतभूमि' की पावनताकी रक्षा करनेकी चिन्ता थी उन्हें। सन् ११९१ ई०में सुल्तानने तबरहिंद (त्राटिण्डा) पर अधिकार किया। महाराज पृथ्वीराज यह समाचार पाते ही दो लाख अश्वारोही तथा तीन सहस्र निषादी (गजसैन्य) के साथ जा धमके। सुल्तानके मित्र जम्मूनरेशको भी दण्ड देनेका उन्होंने निश्चय कर लिया था। सुल्तान पहले ही तबरहिंदसे चले गये थे। उनके दुर्गपति जियाउद्दीनने सामना किया। युद्ध चल ही रहा था कि सुल्तान भी अपनी विशाल वाहिनी लेकर 'तराइन' गढ़में आ गये। बड़ा विकट युद्ध हुआ। कन्नौजनरेश जयचन्द तथा जम्मूनरेश विजयदेवको छोड़कर सभी भारतीय नरेश पृथ्वीराजके पक्षमें थे। सब म्लेच्छ-वाहिनीके विरुद्ध महाराजाधिराजकी विजय चाहते थे। महासमरमें पृथ्वीराजके भाई दिल्लीपति गोविन्दरायका पराक्रम अतुलनीय था। उनके अव्यर्थ बाणने सुल्तानको आहत कर दिया। म्लेच्छ-वाहिनी पराजित हुई। महाराज पृथ्वीराज विजयी होकर लौटे।

सुल्तान मुहम्मद गोरी बड़ी निराशासे गजनी लौटे। उनको महाराजाधिराज पृथ्वीराजका बंदी होना पड़ा था। बहुत बड़ा अर्थदण्ड देकर उन्होंने प्राण-भिक्षा प्राप्त की थी। उनका और महमूद गजनवीके समयतकका भारतीय राज्य पृथ्वीराजने अधिकृत कर लिया था। अब सुल्तानमें उत्साह नहीं था; किन्तु भारतकी भाग्यलक्ष्मी रूठ चुकी थी। इसी समय कन्नौज-नरेश जयचन्दका दूत उनके पास पहुँचा। द्वेषने कन्नौज-पतिको अंधा कर दिया था। उन्होंने अपने सम्पूर्ण अर्थ तथा सैन्यबलसे सहायताका आश्वासन दिया था। विद्वान्, विद्वानोंका सत्कार करनेवाले, आल्हा-ऊदल-जैसे शूरोंके शरणद कन्नौज-नरेश व्यक्तिगत द्वेषसे स्वदेशमें विधर्मियोंको आमन्त्रण दें—यह विधिकी विडम्बना ही थी।

सुल्तानको यह सुअवसर चूकना नहीं था। उन्होंने फिरसे अपनी सेनाका संगठन किया। महाराज पृथ्वीराज प्रमत्त नहीं थे। वे अपनी सेनाके साथ तबरहिंदके दुर्गसे आगे कुरुक्षेत्रमें आकर उपस्थित थे। उनकी सेनामें दो लक्ष राजपूत और अपगणस्थ (अफगानी) शूरमा थे। पुण्यतोया सरस्वतीके तटपर पुनः संग्राम हुआ। इस बार जम्मूनरेशके बदले उनके राजकुमार नरसिंहदेव सैन्य लेकर सुल्तानकी सहायता करने आये थे। कन्नौजनरेश जयसिंह भी ससैन्य आ गये थे म्लेच्छवाहिनीको सहायता देने। महावीर गोविन्दराय (दिल्लीनरेश) रणभूमिमें खेत रहे। महाराज पृथ्वीराज शत्रुके बंदी हुए। सुल्तानने उनके नेत्र फोड दिये, किन्तु अन्धे होनेपर भी उन महाशूरने अपने शब्दवेधी बाणद्वारा भरे दरबारमें सुल्तानको मार दिया। इस प्रकार भारतीय स्वाधीनताका वह अन्तिम उज्ज्वल प्रदीप सन् ११९३ ई०में निर्वापित हो गया।—सु०

इतने दुर्लभ हैं!

सिंहनके लँहड़े नहीं, हंसनकी नहिं पाँत।
लालनकी नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात॥

सिद्धराज जयसिंह

मालवामें जो सुयश महाराज विक्रमादित्यका है, राजस्थानमें जो महत्ता महाराणा प्रतापकी है, गुर्जरमें वही सुकीर्ति सिद्धराज जयसिंहकी है। ये जयकेशीकी कन्या मैणालदेवीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इनके पिता चौलुक्यवंशीय महाराज कर्णने इन्हें अल्पवयमें ही इनकी योग्यताके कारण राज्य दे दिया। इनके पिताके सहोदर भ्राता देवप्रसादने भी अपने पुत्र त्रिभुवनपालका भार इनपर छोड़ा और परलोकगामी हुए। जैनराज कुमारपाल इन्हीं त्रिभुवनपालके पुत्र थे।

बर्बरक नामक एक मुसलमान दस्यु अपने शिल्पनैपुण्यसे सिद्धपुरमें आकर प्रजापर अत्याचार करने लगा था। अन्तर्धानके राजाके छोटे भाई भी उसके समर्थक थे। सिद्धराजने ससैन्य आक्रमण करके उस दस्युको श्रीस्थल तीर्थमें परास्त किया। कहा जाता है कि यवन दस्युने कोई सिद्धि प्राप्त कर ली थी। उसे पराजित करनेसे पूर्व योगिनीको जयसिंहने सिद्ध किया। सुप्रसिद्ध वीर जगदेव परमार उनके सेनापति थे। इस महान् सेनापतिने उनको समराङ्गणमें बहुत अधिक सहायता दी।

'उज्जयिनीमें महामाली-मन्दिरमें भगवतीकी आराधना करके तुम महायश प्राप्त कर सकते हो।' जयसिंहको योगिनीने आदेश दिया। जयसिंहने सैन्य सज्जित की। अवन्तिनाथ यशोवर्मा उनके हाथ बंदी हुए। उज्जयिनीके साथ धार तथा सिन्ध भी उन्होंने विजय किये। अनेक नरेशोंने अपनी कन्याएँ देकर उनसे सम्बन्ध स्थापित किया।

सिद्धराज जयसिंहने सरस्वती नदीके तटपर रुद्रमाल और महावीर स्वामीके मन्दिर बनवाये। इन जैन-मन्दिरोंके अतिरिक्त उन्होंने सहस्रलिङ्ग सरोवर खुदवाया। नाना स्थानोंमें देव-मन्दिर निर्मित किये, सदाव्रत चलाये और विद्यालय स्थापित किये। उनकी राजसभामें जयमङ्गलके समान प्रसिद्ध कवि थे। जैनाचार्य हेमचन्द्र पहले उनके सभा-पण्डित रह चुके थे।

सन् ११४३ ई० में महावीर परमयशस्वी महादानी सिद्धराजने स्थिरचित्त होकर आराध्यके चरणोंमें मनको लगाया। वे अन्न-जल छोड़कर बैठ गये। अनशन-व्रत करके अपने नश्वर शरीरका उन्होंने त्याग किया। जीवनमें वे जिस प्रकार अदम्य, सबके सम्मान्य, अद्भुतविक्रम, उज्ज्वल-कीर्ति रहे थे, उनकी मृत्यु भी वैसी ही असाधारण, लोकोत्तर मानवके समान हुई।

सिद्धराज जयसिंहने अपने सम्मुख सदा परदुःखकातर, त्यागमूर्ति, दिगन्तविजयी शकारि महाराज विक्रमादित्यका आदर्श रक्खा। वे विक्रमके शौर्य, सुयश, विजय और साम्राज्यके समान ही उनकी शक्ति, दया, उदारताको भी अपनानेके लिये नित्य उत्सुक रहे। उन्होंने योगिनीसिद्धि दुखियोंका दुःख निवारण करनेके लिये ही प्राप्त की थी।

जयसिंह धर्मके सम्बन्धमें परम निष्पक्ष शासक रहे। उन्होंने जैन एवं हिंदू, दोनों धर्मोंका समान आदर किया। दोनोंके मन्दिर बनवाये। दोनोंकी समृद्धिमें योग-दान किया। गुजरातमें वे उच्च सांस्कृतिक नरेश हुए हैं। अब भी उनकी यशोगाथा गुजरातके गौरवकी वस्तु है।—सु०

महाराज छत्रसाल

शिवा को सराहौं, कै सराहौं छत्रसाल को।

हिंदू-शौर्यके गायक राष्ट्रकवि भूषणने अपने समयमें सुयशगानके योग्य दो ही शूर पाये। वे किसी नरेशके गुण-गायक नहीं थे। वे तो हिंदू-जातिके शौर्यके गायक थे और उस समय छत्रपति महाराज शिवाजी तथा बुन्देला-केसरी छत्रसालको छोडकर और कोई इस शौर्यका प्रतीक नहीं हो सकता था।

'मेरे साथ रहनेसे तुम्हारी कीर्ति मेरी कीर्तिमें लुप्त हो जायगी! इस समय देशके प्रत्येक कोनेमें हमारे देवता, गौएँ और धर्म हमारी सेवा चाहते हैं। तुम अपनी जन्मभूमिमें अपना शौर्य प्रकट करो!' छत्रपति महाराज शिवाजीने युवक छत्रसालकी महत्ता शीघ्र अनुभव कर ली। छत्रसालमें हिंदू-धर्मकी सेवाकी तीव्र लगन थी और उनमें अविचल साहस था। वे महाराज शिवाजीकी कीर्ति सुनकर उनके धर्मोद्धारके कार्यमें यथाशक्ति सहायता करने गये थे। महाराज शिवाजीने उन्हें अपने संगठन और युद्धकौशलकी शिक्षा दी। समर्थ स्वामी रामदासका उन्हें आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

पन्नामहाराज चम्पतरायके शरीरान्तके पश्चात् युवराज छत्रसाल सिंहासनपर बैठे। उस समय दिल्लीमें मुगलसत्ता दुर्बल हो चली थी। छत्रसालको यवनोंकी चिन्ता नहीं थी। उन्होंने बलपूर्वक झाँसीपर अधिकार कर लिया। सन् १६७१ में जलायूनसे उनका संग्राम हुआ। सन् १६८० में हमीरपुर

छत्रसालने जीत लिया । दामनी नगर उन्होंने नवाब मैरतखाँको पराजित करके सन् १७०० में अपने राज्यमें मिलाया । दिल्लीके बादशाह बहादुरशाहने सन् १७०७ में उन्हें झाँसीका शासक स्वीकार किया । मुसलमानोंने यह एक चाल चली थी उन बुन्देलकेसरीको शान्त करनेकी । सन् १७३३ में फरुखाबादके शासक अहमदखाँ बंगसने बड़ी भारी सेनाके साथ उनपर आक्रमण किया । नीतिज्ञ छत्रसालने पेशवा बाजीराव प्रभुसे सहायता माँगी । महाराष्ट्र एवं बुन्देलोंकी संयुक्त शक्तिने पूरे बुन्देलखण्डको स्वाधीन कर लिया । राज्यका तृतीयांश पेशवाको प्राप्त हुआ । दोनों शूरोंने सन्धि की कि पेशवा और उनके उत्तराधिकारी तथा छत्रसाल तथा उनके उत्तराधिकारी सदा एक दूसरेके सहायक रहेंगे ।

छत्रसालके राजकवि लालने 'छत्रप्रकाश'में महाराजके शौर्यका सुन्दर वर्णन किया है । पण्डितराज विश्वनाथने 'शत्रु-शल्य' काव्यमें उन हिंदू-मर्यादारक्षककी तेजस्वितासे कलाको पवित्र किया है । छत्रसाल विद्वानोंका अत्यधिक आदर करते थे । कहा जाता है कि महाकवि भूषणकी पालकी उन्होंने स्वयं एक बार उठायी । उनकी छत्रच्छायामें बुन्देलखण्ड-में साहित्ययुगका निर्माण हुआ । सैकड़ों कवि या विद्वान् हुए उस समय । छत्रपुरमें महाराजके बनवाये एक मन्दिरका भग्नावशेष अब भी है ।

महाराज छत्रसाल विद्वानोंके सेवक थे । महात्माओं और ब्राह्मणोंमें उनकी अपार श्रद्धा थी । दीन प्रजाके दुःखके लिये वे प्राणोत्सर्ग करनेको सदा उद्यत रहते । प्रजा उन्हें साक्षात् देवता मानती । दूर-दूरके लोग केवल उनके दर्शन करने आते थे । महाराजके मनमें हिंदू-धर्मके उद्धारकी तीव्र ज्वाला प्रज्वलित होती थी । उन्होंने भय क्या होता है, इसे जाना ही नहीं । विपक्षी उनके नामसे भयभीत होते थे । केवल उन्होंने महाराष्ट्रके हिंदू-धर्मके पुनरुद्धारका महत्त्व उस समय समझा था और उस महाकार्यमें सहयोग दिया था ।—सु०

मेवाड़चूड़ामणि महाराणा सांगा

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव बी० ए०)

महाराणा प्रताप कहा करते थे 'यदि मेरे पितामह और मेरे मध्य मेरे पिता न आये होते, दिल्ली चित्तौड़के चरणोंमें होती ।' जिसके शरीरपर शस्त्रोंके चालीस आघातोंके भयंकर चिह्न थे, जिसने संग्राममें ही एक नेत्र, एक हाथ, एक पैर खो दिया था, उस परम पराक्रमी महाराणा संग्रामसिंहके समान कुशल एवं तेजस्वी सेनापति विश्वके किसी दूसरे देशने दिया ही नहीं । महाराणाकी सेवामें अस्सी हजार घुड़सवार सैनिक रहते थे और जोधपुर, मारवाड, ग्वालियर, अम्बेर, चन्देरी, आबू आदिके नरेश उन्हें अपना सिरमौर मानते थे । उस महासेनानीकी एक ही धुन थी—'इस परम पावन भारतभूमिको यवनोंके अपवित्र शासनसे मुक्त करना ।' लेकिन उनका व्यवहार मुसलमान प्रजाके साथ भी ऐसा ही था, जैसा पिताका पुत्रके प्रति होता है—इसे पाश्चात्त्य इतिहासज्ञोंने भी स्वीकार किया है ।

मालवा और दिल्लीके शासकोंके विरुद्ध महाराणा सांगा अठारह बार युद्धमें विजयी हुए थे । उनके प्रधान शत्रु इब्राहीम लोदीने बकरौले और घटोलीके युद्धोंमें घुटने टेक दिये थे । मालवाके शाह मुजफ्फरको उसकी राजधानीमें ही उन्होंने बन्दी किया और रणथम्भोरके दुर्गका उद्धार किया ।

वह कनवाहका अन्तिम युद्ध—बाबरके छक्के छूट चुके थे; उसके सैनिक विद्रोह करके भाग जानेको उद्यत थे; बाबरने अपने शराबके प्याले फोड़ डाले, कुरान लेकर सैनिकोंको उत्तेजित किया । इतनेपर भी कुछ होना नहीं था; किंतु दुर्भाग्य—राणाका हाथी सहसा युद्धभूमिसे भाग खड़ा हुआ । सेनापतिके हटते ही सेना अस्त-व्यस्त हुई और बाबर विजयी हुआ । महाराणा सांगा कनवाहकी पहाड़ियोंमें चले गये । विजय प्राप्त किये बिना चित्तौड़में चरण रखना उन 'मानके धनी' को प्रिय नहीं था ।

महाराणा प्रतापने अपने उन्हीं पितामहका शौर्य प्राप्त किया था । राजस्थानका इतिहास आजपर मिटनेवाले शूरों और अग्निमें अपने सुकोमल शरीरकी हँसते-हँसते आहुति देनेवाली सतियोंका पावन इतिहास है और उस इतिहासमें महाराणा सांगाका शौर्य आदर्श एवं वन्दनीय माना जाता है ।
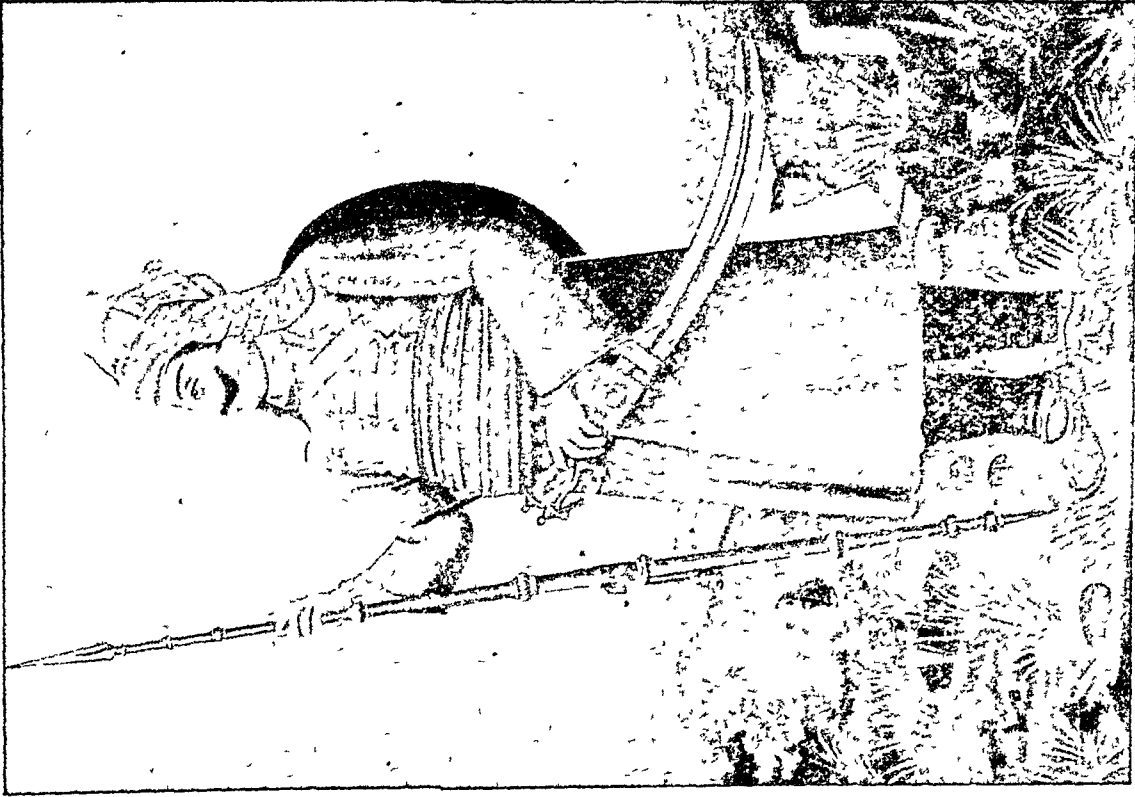
महाराणा प्रताप

माई एहड़ा पूत जण जेहड़ा राण प्रताप ।
अकबर सूतो औधकै जाण सिराणे साँप ॥

छत्रपति शिवाजी
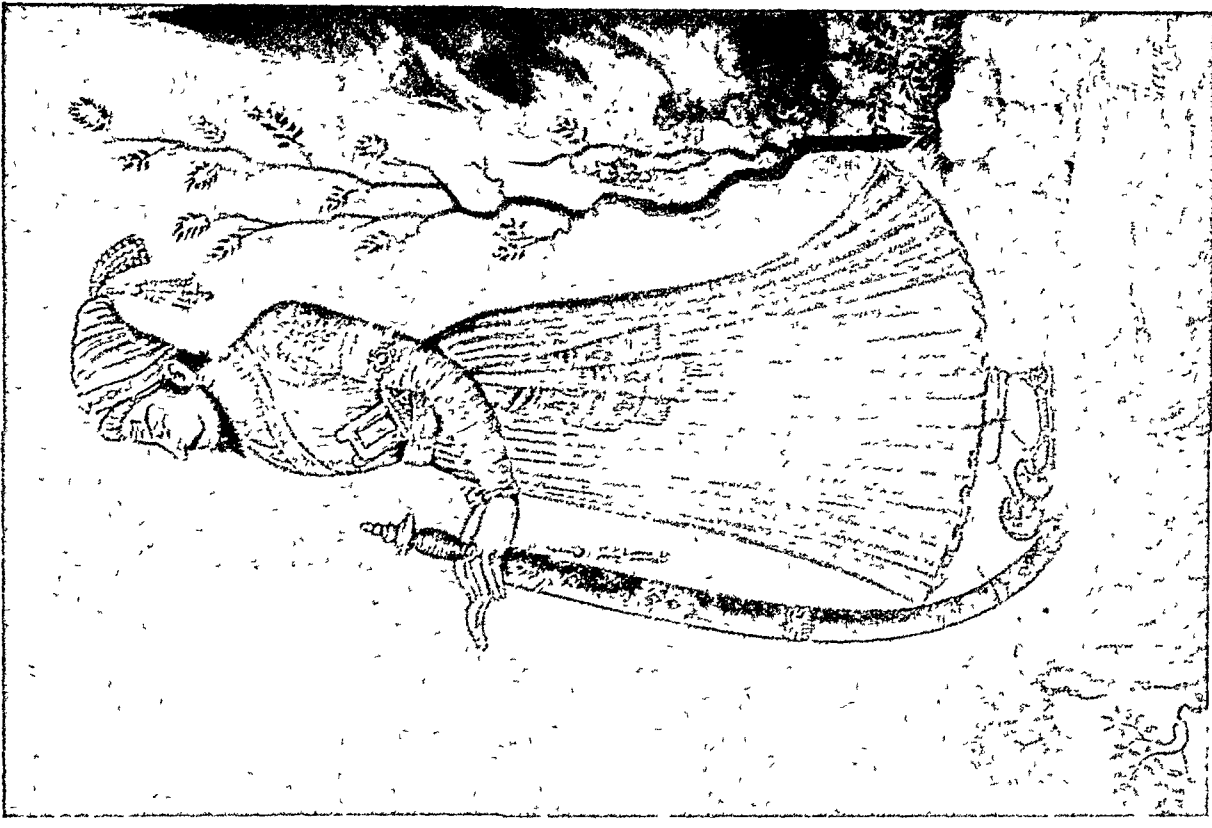
पंजन पेलि मलिच्छ मले सब सोई बच्यो जेहि दीन ह्वै भाख्यो ।
सो रंग है सिवराजबली जिन नौरँगमें रँग एक न राख्यो ॥

छत्रपति शिवाजीका नारी-सम्मान

अपहृत मुस्लिम-महिला और हिंदू

(रचयिता—'श्रीविप्र' तिवारी)

दूसरोंकी औरतोंको उड़ाकर अपनी बनानेकी कुप्रवृत्ति हिंदूकी नहीं है, उसके सामने तो 'परदारेषु मातृवत्'का आदर्श है। आज तो अपहृत महिलाओंकी शोचनीय अवस्था देखकर हृदय रो उठता है; क्या उन लोगोंकी यही सभ्यता है ? शिवाजीके सामने एक सर्वांगसुन्दरी मुस्लिम-महिला पकड़कर लायी गयी, उसे देखकर शिवाजीने कहा 'माता ! यदि मेरा जन्म तेरे गर्भसे हुआ होता तो मैं भी आज कितना सुन्दर होता !' और उन्होंने उस महिलाको ससम्मान उसके पतिके पास पहुँचा दिया ! यह है हिंदू-संस्कृति और हिंदू-धर्मकी मर्यादा।

(१)

कमनीय लेखनी यह कविके स्वकरकी
छूकर मसिपात्रको चलती है सर-सर !
हिंदू-सभ्यताके उन अङ्कोंको बनाती !
भव्य भारतीके जो भालपर चमकते हैं !
हिंदू-संस्कृतिके अङ्क*, मुक्तासे प्रभावान,
नयनावलियोंको जो चकाचौंध करते !
हिंदू-संस्कृतिके उन जलते प्रदीपोंकी
ज्योतित शिखाओंसे विश्वने किये हैं
अपने मणि-मंदिरोंको शाश्वत ज्योतिर्मय;
पुरखोंने बाँधी जो हिंदूकी मर्यादा,
आज भी अखंड है !
चित्रकारकी यह, तूलिका विचित्रमय
चित्रित करती है हिंदू-संस्कृतिका चित्र !

(२)

वीरवर शिवाके उस रोष-भूकम्पसे
कम्पित हो डोल उठे तख्त शहनशाहोंके !
अस्त-व्यस्त हो गयी शासनकी शृंखला;
कॉटोंकी राहोंमें †हरमोंकी निवासिनी
दर-दर डोलती थीं वे न्योढ़ा 'हूर परियाँ' !
विश्वस्त परिचारक सम्मुख शिवाके, एक
सुन्दर सुललनाको लाया प्रमोदसे !
अपहृत मुस्लिम वह नारी थी सुन्दरी
चाँदको लजाती थी, लाज लजवंती थी;
यौवन वसंतका उसपर प्रभाव था;
खिलती गुलाब पीत केशरकी क्यारी-सी !
बोले शिवराज-वीर भृत्यसे क्रुद्ध हो—
'सैनिक ! किया है तुमने निंदनीय कृत्य !'

(३)

अपहृत महिलासे फिर बोले शिवराज वीर
माता ! यदि जन्म लेता तेरे ही गर्भसे,
तेरे ही समान होता मैं भी तो रूपवान;
मा अधिकारिणी हो समुचित सम्मानकी;
कंठसे उतार अनमोल मणि-मालाको
मेल डाली मोदसे सुराही···सुग्रीवमें;
बोले फिर गद्गद हो—'हिंदूने सीखा है
नारीके गौरवकी, नारीके धर्मकी
रक्षा करना ही, बस; अपनी हो, पराई हो;
माता हो, भगिनी हो, पुत्री हो, पत्नी हो;
सबका समादर वह करता है निर्विरोध !
अवनी और अम्बरमें, कण-कणमें, अणु-अणुमें—
हिंदू-सभ्यताकी जय, गूँज उठा जय-निनाद !!

---

* अक्षर। † अन्तःपुर।

महाराणा प्रताप

ध्रम रहसी, रहसी धरा, खिस जासे खुरसाण।
अमर विसंभर ऊपरां, राखिज्यो नहचौ राण॥

—अब्दुर्रहीम खानखाना

'धर्म रहेगा और पृथ्वी भी रहेगी, (पर) मुगल-साम्राज्य एक दिन नष्ट हो जायगा। अतः हे राणा! विश्वम्भर भगवान्के भरोसे अपने निश्चयको अटल रखना।'

महाराणाका वह निश्चय लोकविश्रुत है—

तुरक कहासी मुख पतौ, इण तनसूं इकलिंग।
ऊगै जांही ऊगसी, प्राची बीच पतंग॥

तात्पर्य यह कि भगवान् एकलिङ्गकी शपथ है, प्रतापके इस मुखसे अकबर तुर्क ही कहलायेगा। मैं शरीर रहते उसकी अधीनता स्वीकार करके उसे बादशाह नहीं कहूँगा। सूर्य जहाँ उगता है, वहाँ पूर्वमें ही उगेगा। सूर्यके पश्चिममें उगनेके समान प्रतापके मुखसे अकबरको बादशाह निकलना असम्भव है।

३१ मई सन् १५३९, वि० सं० १५९६ ज्येष्ठ शुक्ला १३ की वह तिथि धन्य है, जब मेवाडकी शौर्य-भूमिपर मेवाड-मुकुटमणि प्रतापका जन्म हुआ। बाप्पा रावलके कुलकी अक्षुण्ण कीर्तिकी उज्ज्वल पताका, राजपूती आन एवं शौर्यका वह पुण्य प्रतीक, महाराणा साँगाका वह पावन पौत्र जब वि० सं० १६२८ फाल्गुन शुक्ला १५ ता० १ मार्च सन् १५७३ को सिंहासनासीन हुआ, अधिकांश राजपूत नरेश परम कूटनीतिज्ञ सम्राट् अकबरके दरबारमें उपस्थित हो चुके थे। अनेकोंने अपनी कन्याएँ देकर बादशाहसे सम्बन्ध कर लिया था। प्रताप—शौर्यकी मूर्ति प्रताप एकाकी थे। अपनी प्रजाके साथ और एकाकी ही उन्होंने जो धर्म एवं स्वाधीनताके लिये ज्योतिर्मय बलिदान किया, वह विश्वमें सदा परतन्त्रता और अधर्मके विरुद्ध संग्राम करनेवाले, मानधनी, गौरवशील मानवोंके लिये मशाल सिद्ध होगा।

सम्राट् अकबरकी कूटनीति व्यापक थी; राज्यको जिस प्रकार उन्होंने राजपूत-नरेशोंसे सन्धि एवं वैवाहिक सम्बन्ध-द्वारा निर्भय एवं विस्तृत कर लिया था, धर्मके सम्बन्धमें भी वे अपने 'दीन इलाही' के द्वारा हिंदू-धर्मकी श्रद्धा शिथिल करनेके प्रयासमें नहीं थे—कहना कठिन है। आज कोई कुछ कहे, किंतु उस युगमें सच्ची राष्ट्रियता थी हिंदुत्व; और उसकी उज्ज्वल ध्वजा गर्वपूर्वक उठानेवाला एक ही अमर सेनानी था—प्रताप। अकबरका शक्तिसागर इस अरावलीके शिखरसे व्यर्थ ही टकराता रहा—वह नहीं झुका, नहीं झुका।

अकबरके महासेनापति मानसिंह शोलापुर विजय करके लौट रहे थे। उदयसागरपर महाराणाने उनके स्वागतका प्रबन्ध किया। हिंदू-नरेशके यहाँ, भला अतिथिका सत्कार न होता; किंतु महाराणा प्रताप ऐसे राजपूतके साथ बैठकर भोजन कैसे कर सकते थे, जिसकी बुआ मुगल-अन्तःपुरमें हो। मानसिंहको बात समझनेमें कठिनाई नहीं हुई। अपमानसे जलते वे दिल्ली पहुँचे। उन्होंने सैन्य सज्जित करके चित्तौड़पर आक्रमण कर दिया।

'हल्दीघाटी'—राजस्थानकी वह पावन बलिदान-भूमि, विश्वमें इतना पवित्र बलिदान-स्थल कोई नहीं। इतिहासके पृष्ठ भरे हैं उस शौर्य एवं तेजकी भव्य गाथासे। भीलोंका अपने देश और नरेशके लिये वह अमर बलिदान, राजपूत वीरोंकी वह तेजस्विता और महाराणाका वह लोकोत्तर पराक्रम—इतिहासका, वीरकाव्यका वह परम उत्कर्ष है। मेवाड़के उष्ण रक्तने श्रावण संवत् १६३३ वि० में हल्दीघाटीका कण-कण लाल कर दिया। अपार शत्रुसेनाके सम्मुख थोड़ेसे राजपूत और भील सैनिक कबतक टिकते? महाराणाको पीछे हटना पड़ा और उनका प्रिय अश्व चेतक—उसने उन्हें निरापद पहुँचानेमें इतना श्रम किया कि अन्तमें वह सदाके लिये अपने स्वामीके चरणोंमें गिर पड़ा।

महाराणा प्रताप—वे प्रजाके आदर्श शासक नहीं, हृदयपर शासन करनेवाले थे। एक आज्ञा हुई और विजयी सेनाने देखा—व्यर्थ है उसकी विजय। चित्तौड़ भस्म हो गया, खेत उजड़ गये, कुएँ भर दिये गये और ग्रामके लोग जंगल एवं पर्वतोंमें अपने समस्त पशु एवं सामग्रीके साथ अदृश्य हो गये। शत्रुके लिये इतना विकट उत्तर, यह उस समय महाराणाकी अपनी सूझ है। अकबरके उद्योगमें राष्ट्रियताका स्वप्न देखनेवालोंको इतिहासकार बदायूनी आसफखाँके ये शब्द स्मरण कर लेने चाहिये—'किसीकी ओरसे सैनिक क्यों न मरे, थे वे हिंदू ही और प्रत्येक स्थितिमें विजय इस्लामकी ही थी।' यह कूटनीति थी अकबरकी और महाराणा इसके समक्ष अपना राष्ट्रगौरव लेकर अडिग भावसे डटे थे।

महाराणा चित्तौड़ छोड़कर वनवासी हुए। महाराणी, सुकुमार राजकुमारी और कुमार घासकी रोटियों और निर्झरके

जलपर किसी प्रकार जीवन व्यतीत करनेको बाध्य हुए। अरावलीकी गुफाएँ ही आवास थीं और शिला ही शय्या थी। दिल्लीका सम्राट् सादर सेनापतित्व देनेको प्रस्तुत था, उससे भी अधिक—वह केवल चाहता था प्रताप अधीनता स्वीकार कर ले, उसका दम्भ सफल हो जाय। हिंदुत्वपर दीन-इलाही स्वयं विजयी हो जाता। प्रताप—राजपूतकी आनका वह सम्राट्, हिंदुत्वका वह गौरव-सूर्य इस संकट, त्याग, तपमें अम्लान रहा—अडिग रहा। धर्मके लिये, आनके लिये अकल्पित है वह तपस्या। कहते हैं महाराणाने अकबरको एक बार सन्धिपत्र भेजा था, पर इतिहासकार इसे सत्य नहीं मानते। यह अबुल-फजलकी गढ़ी हुई कहानीभर है।

अकल्पित सहायता मिली, मेवाडके गौरव भामासाहने महाराणाके चरणोंमें अपनी समस्त सम्पत्ति रख दी। महाराणा इस प्रचुर सम्पत्तिसे पुनः सैन्य-संगटनमें लग गये। चित्तौडको छोड़कर महाराणाने अपने समस्त दुर्गोंका शत्रुसे उद्धार कर लिया। उदयपुर उनकी राजधानी बना। अपने २५ वर्षोंके शासन-कालमें उन्होंने मेवाडकी केशरिया पताका सदा ऊँची रक्खी।

'चित्तौड़के उद्धारसे पूर्व पात्रमें भोजन, शय्यापर शयन दोनों मेरे लिये वर्जित रहेंगे।' महाराणाकी प्रतिज्ञा अक्षुण्ण रही और जब वे वि० सं० १६५३ माघ शुक्ला ११, ता० २९ जनवरी सन् १५९७ में परमधामकी यात्रा करने लगे, उनके परिजनों और सामन्तोंने वही प्रतिज्ञा करके उन्हें आश्वस्त किया। अरावलीके कण-कणमें महाराणाका जीवन-चरित्र अङ्कित है। शताब्दियोंतक पतितों, पराधीनों और उत्पीडितोंके लिये वह प्रकाशका काम देगा। चित्तौड़की उस पवित्र भूमिमें युगोंतक मानव स्वराज्य एवं स्वधर्मका अमर सन्देश झंकृत होता सुन सकता है।

माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओधकै, जाण सिराणै साप॥

—रा० श्री०

छत्रपति शिवाजी

'मेरा शत्रु महान् सेनानी है। मैंने उन्नीस सालतक उसके विरुद्ध युद्धका सञ्चालन किया, परंतु उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।' —बादशाह औरंगजेब।

राजपूतोंका रक्त और वह भी विश्वके सर्वश्रेष्ठ मानधनी सीसोदिया कुलका—जहाँ भी उसने अपनेको प्रकट किया, उसका शौर्य अदम्य रहा है। महाराज सज्जनसिंह इसी कुलके थे, जिन्होंने वि०सं० १३७६में चित्तौड़ छोड़कर दक्षिण-भारतको अपना निवास बनाया। भोसला* जाति आरम्भमें राणा कही जाती थी और वह महाराज सज्जनसिंहकी ही सन्तति है। महारानी जीजाबाईकी कुक्षिसे इसी कुलमें शिवाजीका जन्म हुआ। जन्मसे शूरवृत्ति शिवाजी 'मावली' बालकोंके साथ उनकी टुकड़ियाँ बनाकर युद्धके खेल ही खेलते। माता जीजाबाई-जैसी वीर-माताने उन्हे पुराणोंकी महान् गाथाओंसे प्रोत्साहित किया। दादाजी कोड़देव-जैसे परमनीतिज्ञ एवं शूरमाके संरक्षणमें उन्होंने शस्त्र-शिक्षा प्राप्त की और समर्थ स्वामी रामदास-जैसे लोकोत्तर महापुरुषके करोंकी अभय छाया उन्हें प्राप्त हो गयी। देशपर, धर्मपर, गायोंपर, ब्राह्मणोंपर, मन्दिरोंपर, सती नारियोंपर और असहाय जनतापर जो अत्याचार निरङ्कुश यवन-शासकोंद्वारा हो रहे थे, शिवाजीका वीर हृदय उस आर्त क्रन्दनको सह नहीं सका। युवा होते-न-होते उन्होंने अपने बचपनके मावली-शूरोंका नेतृत्व सम्हाला और धर्म, राष्ट्र एवं संस्कृतिके परित्राणके लिये 'भवानी' (शिवाजीकी तलवार) की शरण ली।

शिवाजीके पिता शाहजी बीजापुर नवाबके दरबारी सामन्त थे; किंतु शूर शिवाजी अन्यायी यवनको मस्तक झुका दें, यह सम्भव नहीं था। शिवाजीने बीजापुरके दुर्गोंपर आक्रमण करके अधिकार करना प्रारम्भ किया। शाहजीको नवाबने कैद कर लिया। धुरन्धर राजनीतिज्ञ शिवाजीने सीधे दिल्लीसे पत्रव्यवहार किया और फल यह हुआ कि शाहजहाँने शाहजीको अपना सामन्त घोषित कर दिया। बीजापुर-नवाबमें इतना दम नहीं था कि दिल्लीदरबारके सामन्तको कैद रख सकता।

बीजापुर-नवाबका सेनापति अफजलखाँ सेना सजाकर बढ़ आया। धूर्ततापूर्वक उसने सन्धिके लिये शिवाजीको बुलाया। दोनों अकेले मिलनेवाले थे। यवन-सेनापतिने मिलते ही तलवार उठायी, परंतु शिवाजी अबोध नहीं थे। यवनोंके विश्वासघातसे परिचित थे। उनके हाथके बघनखेने अफजलखाँकी कोख फाड़ दी। वनमें छिपे मराठे सैनिक टूट पड़े। यवन-सेना परास्त हुई। बीजापुरने विवश होकर सन्धि की। शिवाजीने मुगलोंके किले जीतने प्रारम्भ किये।

* 'भोंसला' शब्द सूर्यवंशके द्योतक 'भास्वत' कुलका अपभ्रंश है।

दिल्लीसे बड़ी भारी सेनाके साथ शायस्ताखाँ भेजा गया, परंतु वह अपने ही गर्व और प्रमादसे परास्त हुआ। उसकी छावनीमे घुसकर मराठोंने आक्रमण किया और शिवाजीकी तलवारसे उसकी चार अँगुलियाँ कट गयीं। औरंगजेबने राजकुमार मुअज्जम और जयसिंहको भेजा शिवाजीके विरुद्ध। हिंदू परस्पर ही लड़ें, यह महाराज शिवाजीको अभीष्ट नहीं था। सेनापति जयसिंहके परामर्शसे वे दिल्ली जानेको प्रस्तुत हो गये। औरंगजेबने उनका उचित सत्कार नहीं किया। दरबारमे पहुँचनेपर शिवाजी यह अपमान कैसे सह लेते। धूर्त औरंगजेबने उन्हे कैद कर लिया, पर कौशलसे वे निकल आये। महाराष्ट्र लौटनेपर रायगढ दुर्गमे सन् १६७४ ईस्वीमें महाराज शिवाजीका राज्याभिषेक हुआ। बीजापुरनरेशने कुछ जिले देकर उनसे मित्रता की। दक्षिणके शासकोंने उन्हें अपना अग्रणी स्वीकार किया। महाराज शिवाजीका ध्येय था 'हिन्दवी' स्वराज्यका संस्थापन और उसके लिये वे सतत सलग्न रहे।

खफीखाँ लिखते है कि 'शिवाजीने कभी किसी मस्जिद, कुरान अथवा किसी धर्मको माननेवाली स्त्रीको हानि नहीं पहुँचायी। यदि उनके हाथ कोई कुरानकी प्रति लग जाती तो वे उसे तुरंत आदरपूर्वक किसी मुसल्मानको दे देते।' छत्रपति शिवाजी महाराजके उद्योगको साम्प्रदायिक या सकीर्ण माननेवालोंको मुसल्मान लेखकका यह मत पढ़ लेना चाहिये। कहा जाता है कि किसी युद्धमे सैनिकोंने एक परम सुन्दरी यवनराजकुमारीको बंदी करके महाराजके सम्मुख उपस्थित किया। महाराज कुछ क्षण उसकी ओर देखकर बोले—'यदि मेरी माता ऐसी सुन्दर होती तो मैं इतना कुरूप न होता।' फिर सैनिकको डाँटकर कहा कि 'इसको सुरक्षित इसके घर पहुँचा दो।' उन्होंने उसे आदरपूर्वक उसके पिताके समीप भिजवाया। पर-स्त्रीमात्रमें मातृ-भावका यह उज्ज्वल आदर्श! महाराजका किसी धर्मसे द्वेष नहीं था। उन्होंने तो अत्याचार एवं अधर्मके विरुद्ध तलवार उठायी थी। उनका उद्योग राष्ट्रिय संस्कृतिकी सुरक्षाके लिये था।

५३ वर्षकी अवस्थामे रायगढ़ दुर्गमे ही उन हिंदूपतिने शरीर छोड़ा। उनका साम्राज्य—वह तो कभी उनका नहीं था। उसे तो उन्होंने अपने गुरु समर्थ स्वामी रामदासके चरणोंपर चढ़ा दिया था और समर्थके साम्राज्यका ही प्रतीक है यह गैरिकध्वजा। महाराज एक प्रतिनिधिमात्र थे गुरुदेवके और इस रूपमे महाराज एक निःस्पृह महान् कर्मयोगी हैं इतिहासके पृष्ठोंमे।

राखी हिन्दुआनी, हिन्दुआन को तिलक राख्यौ,
स्मृति पुरान राख्यौ वेद विधि सुनी मैं।
राखी रजपूती, राजधानी राखी राजन की,
धरामें धरम राख्यौ, गुन राख्यौ गुनी मैं॥
'भूषन' सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस-देस कीरति बखानी तव सुनी मैं।
साहके सपूत सिवराज! समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबिके दिवाल राखी दुनी मैं॥

—रा० श्री०

पेशवा बाजीराव

'कोई भी हिंदू बाजीरावसे अधिक सचाई और सफलताके साथ हिंदुओंकी एकताके लिये प्रयत्न न कर सका।'

—वीर सावरकर

सन् १६९९ मे महाराष्ट्रके श्रीवर्द्धन ग्राममे एक ब्राह्मण-बालकने जन्म लिया। बचपनमें ही उसके पिता पेशवा बालाजी विश्वनाथने उसे सैनिक शिक्षा दिलायी और श्रीब्रह्मेन्द्रस्वामीने उसपर कृपा की। योगिराज ब्रह्मेन्द्रस्वामी उस हिंदूनरेशसे मिलते तक नहीं थे, जिसके राज्यमे हिंदू-धर्मके तनिक भी तिरस्कारकी सम्भावना होती। पिताकी मृत्युके पंद्रह दिन पश्चात् यही बालक बाजीराव शाहूजी भोसलेद्वारा पेशवा बनाये गये। उन्होने सनद प्राप्त करके पूनामे अपना केन्द्र बनाया और उनके उद्योगसे पूना शीघ्र व्यापारिक केन्द्र हो गया।

एकच्छत्र हिंदू-प्रभुत्व—पेशवा बाजीरावका यही आदर्श था। मुगल बादशाह, निजाम, मालवाके यवन सूबेदार और फिरंगी इसमे बाधक थे और अपनी नीतिकुशलता तथा शूरतासे पेशवा बाजीरावने इन सब बाधाओंको सुलझा लिया। उन्होंने मालवापर दो बार विजय प्राप्त की। कर्णाटक विजय की। निजामके षड्यन्त्रको विफल कर दिया, जो वह शाहूजीसे मिलकर करना चाहता था, और उसे युद्धमे पराजित किया। सन् १७२७ के युद्धमे निजामने घुटने टेक दिये। वहाँसे लौटते ही बुन्देलखण्डके शासक महाराज छत्रसालका पत्र मिला। मालवाके सूबेदार बंगशने बुन्देलखण्डपर आक्रमण किया था और बुन्देलकेसरीने हिंदुत्वकी एकताके उद्घोषक पेशवासे सहायता माँगी थी। पेशवा ठीक समयपर पहुँचे। बंगश मारा गया। महाराज छत्रसालने पेशवाको अपना तृतीय पुत्र कहकर राज्यका तीसरा अंश उपहार दिया।

होलकर, भोंसले, गायकवाड़, सिंधिया—सभी महाराष्ट्र-शासक पेशवाको अपना नेता और सेनापति स्वीकार कर चुके थे। पेशवाका हिंदू-संगठन बड़े सफलरूपमें चल रहा था। दिल्लीके बादशाहने उन्हें मौखिकरूपमें मालवाका शासक स्वीकार कर लिया, पर आज्ञापत्र देनेमें इधर-उधर करने लगा। पेशवाने सेना सजायी और धावा किया, पर दिल्ली-बादशाहके बुलानेसे निजाम और अवधके नवाब सआदतखाँने भी मराठोंको पराजित करनेका प्रयत्न किया; फिर भी तीनोंकी एक भी चली नहीं। बादशाह सन्धि करनेपर विवश हुए। हिमालय-से कन्याकुमारीतक पेशवाका प्रभाव व्यापक हो गया।

दिल्लीपर नादिरशाहने आक्रमण किया, यह समाचार पाते ही पेशवा बाजीरावने सेना सजायी और घोषित किया कि 'नादिरशाह हिंदू-मुसल्मान दोनोंका शत्रु है।' यह घोषणा यह सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है कि पेशवा समस्त भारतकी विदेशी आक्रमणसे सुरक्षाके लिये कितने सचिन्त थे। इसी युद्धयात्रामें नर्मदा किनारे सन् १७४० की २२ अप्रैलको हिंदुत्वके इस महासेनापतिने शरीर छोडा। बीस वर्षतक वे पेशवापदपर रहे और जीवनके अन्तिम दिनतक उन्होंने हिंदू-जातिकी एकता और धर्मकी सुरक्षाके लिये अथक उद्योग किया।

—रा० श्री०

गुरु गोविन्दसिंह

गुरु नानककी संतवाणीने सात्त्विक श्रद्धालुओंमें जो आत्मचेतना दी, दिल्लीके बादशाहोंके अत्याचारने उसे उद्दीप्त करके तलवार उठानेपर बाध्य किया। कोई भी सच्चा तत्त्वज्ञ निराश्रय उत्पीड़ितोंका आर्तनाद कैसे सह सकता है। गुरु अर्जुनदेवके द्वारा ग्रन्थसाहबका संकलन हुआ, उस समय-तक दिल्लीका शासन अकबरके हाथमें था; किंतु जहाँगीरके सिंहासनपर आते ही गुरु हरगोविन्द धर्म एवं निराश्रयोंकी रक्षाके लिये भाला और तलवार उठानेको विवश हुए। सिखोंमें सैनिकवृत्ति उन्हींसे प्रारम्भ हुई। जहाँगीरने गुरु हरगोविन्दको बंदी किया और वे बारह वर्षोंतक ग्वालियरके किलेमें कैद रहे।

गुरु तेगबहादुर परम सौम्य एवं परहितचिन्तक महा-पुरुष थे। उन्होंने समझ लिया था कि धर्मकी रक्षा उनके पुत्रके द्वारा ही होगी। गुरु तेगबहादुर एक दिन उदास बैठे थे, बालक गोविन्दसिंहने उदासीका कारण पूछा। गुरुने बताया कि देश और धर्मको किसी महान् आत्माके बलिदानकी आवश्यकता है। बालककी तेजस्विता व्यक्त हो गयी—'आपसे बढ़कर संसारमें महान् आत्मा कौन है?' सचमुच गुरु तेगबहादुरने बालककी बात हृदयमें रख ली। मुसल्मानोंके अत्याचारसे पीड़ित, शरणमें आये ब्राह्मणोंके द्वारा उन्होंने घोषित कराया—'हिंदुओंके नेता गुरु तेगबहादुर इस्लाम स्वीकार कर लें तो सब हिंदू मुसलमान हो जायँ।' क्रूर औरंगजेबने धूर्ततापूर्वक उन्हें दिल्ली बुला लिया और नृशंसतापूर्वक वध हुआ उनका। हँसते-हँसते उन्होंने शरीर छोड़ दिया।

गुरु गोविन्दसिंहपर पिताके बलिदानका प्रभाव तो पड़ा ही, साथ ही उन्होंने देख लिया कि औरंगजेबके अत्याचारसे हिंदू-धर्मकी रक्षा केवल संगठित सैनिक शक्तिसे ही सम्भव है। नैनादेवीके पर्वतपर वर्षभरतक भवानीकी सन्तुष्टिके लिये यज्ञ किया गुरुदेवने और उसके पश्चात् उन वीरोंको चुन लिया, जो देवीके लिये स्वयं बलिदान होनेको उद्यत हुए। ये वीर 'खालसा' कहलाये। स्वयं गुरुदेवने इन्हें 'अमृत' पिलाया और उनके हाथसे पिया। 'खालसा' वही हो सकता है, जो पाँच खालसा बन्धुओंके हाथसे अमृत (कृपाणसे आलोड़ित जल) पी ले। सिख-जाति सम्पूर्ण सैनिक हो गयी। गुरु गोविन्दसिंहने कंघी, कच्छ, कर्द (कड़ा), केश और कृपाण अनिवार्य कर दिया प्रत्येक सिखके लिये।

गुरु गोविन्दसिंह अमोघ निशान मारते थे। उनका बाण अचूक था। वे महाशूर थे और दो लंबी तलवारें बाँधते थे। उन्होंने नाहन, आनन्दपुर और चकोरमें अपने सैनिक आवास स्थापित किये। दुर्भाग्यसे कुछ पहाड़ी हिंदूनरेश गुरुदेवके विरुद्ध हुए। औरंगजेबने सरहिंद और लाहौरके सूबेदारोंको उनके विरुद्ध भेजा। गुरुदेवके दो बालक बंदी हुए। क्रूर पिशाचोंने उन होनहार बालकोंको जीते-जी मस्जिदकी दीवारोंमें चुन दिया। इस युद्धसे हटनेपर दमदमामें गुरु गोविन्दसिंहने सिखोंका 'दसवाँ ग्रन्थ' निर्मित किया। जीवनके अन्तिम दिन गुरु गोविन्दसिंहने दक्षिण-भारतमें गोदावरी-तटपर 'हुजूर साहब' में बिताये। यहाँ सोते समय दो पठानोंने, जिन्हें निराश्रित जानकर गुरुने आश्रय दिया था, विश्वासघात करके उनके पेटमें कटार मार दी। वही आघात उनके निर्वाणका कारण हुआ। इस विश्वासघातसे हिंदू-धर्मका

महान् रक्षक, अद्वितीय शूरमा और माधवदास बैरागी (बन्दा बैरागी)-जैसे विरक्तका प्रेरक योगिराज महापुरुष उठ गया।

सकल जगतमें खालसा पंथ गाजै।
जगै धर्म हिंदू, सकल भंड भाजै॥

—का महान् आदर्श सम्मुख रखकर गुरु गोविन्दसिंहने 'खालसा' को हिंदू-धर्मके रक्षक सैनिकोंके ही रूपमें सगठित किया था। वे किसी नवीन धर्मकी स्थापनामें नहीं लगे थे, यह 'दसवें ग्रन्थ' से सिद्ध है। सनातन धर्म एवं संस्कृतिकी रक्षाके लिये ही उन्होंने सिख जातिका सैनिक संगठन किया। 'वाह गुरुकी फतह' और 'सत् श्री अकाल' के युद्धघोष गौ, ब्राह्मण, मन्दिर और धर्मकी रक्षाके लिये ही गुरुदेवके आज्ञाकारियोंने गुंजित किये।

गुरु गोविन्दसिंह अच्छे सुकवि थे और हिंदू-धर्ममें उनकी गाढ़ निष्ठा थी। सुनीतिप्रकाश, सर्वलोहप्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर, चण्डी-चरित्र आदि उनके ग्रन्थ केवल श्रद्धाके ही कारण नहीं, अपनी उत्तम रचनाके कारण भी आदरणीय हैं। उनकी वाणीमें धर्मनिष्ठा, श्रद्धा और ओज है। उनकी कृपाण तो सदा धर्मरक्षाके लिये ही उठी रही। धर्मके लिये, हिंदू-धर्मके परित्राणके लिये ही उन्होंने पिताकी, पुत्रोंकी और स्वयं अपनी आहुति दी। —रा० श्री०

महाराज रणजीतसिंह

'सुकरचकिया' उस समय पंजाबकी एक छोटी-सी जागीर थी, जब वीरवर महासिंहकी पत्नी मल्वाईने दो नवम्बर सन् १७८०को रणजीतसिंहको जन्म दिया। बचपनमें ही चेचक निकलनेसे रणजीतसिंहका एक नेत्र नष्ट हो गया और उनका मुख दागोंसे भर गया। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही उनका विवाह 'कन्हिया' की राजकुमारी 'महतावकुमारी' के साथ हो गया। और बारह वर्षकी अवस्थामें पिताके स्वर्गवासी होनेपर रणजीतसिंह सिंहासनपर बैठे। उन्होंने सत्रह वर्षकी अवस्थामें वस्तुतः राज्य सँभाला। इससे पूर्व पाँच वर्षतक उनकी सास 'सदाकुमारी' राज्यका सञ्चालन करती रहीं। शूर, नीतिनिपुणा सासने उन्हें नीतिकुशल बनाया। रणजीतसिंहकी आगामी विजयोंमें उनकी सास स्वयं सेनाके साथ अनेक बार उनकी सहायता करती रहीं।

शासन सँभालते ही रणजीतसिंहको सबसे पहले उन स्वार्थी सरदारोंका दमन करना पड़ा, जो उनकी अल्पवयमें प्रभुत्व बढ़ा चुके थे। अफगानोंके आक्रमणसे उस समय पंजाबके सिक्ख सरदार पहाडोंमें भाग जाते थे। जब अफगान लौट जाते, तब वे पहाडोंसे लौटकर शासन-व्यवस्था चलाते। दुर्रानी सरदार जमानशाहके सिन्धुनद पारकर लाहौरकी ओर बढ़ते ही दूसरे सब सिक्खनरेश पहाड़ोंमें भाग गये। रणजीतसिंहको भी पलायन करना पड़ा। रणजीतसिंहने उसी समय इस भयसे पंजाबको मुक्त करनेका दृढ संकल्प कर लिया। उन्होंने पहाडोंमें छिपे सरदारोंको एकत्र करके मन्त्रणा की। शाह लाहौरमें ही था कि रणजीतसिंह पर्वतोंसे निकल आये और उन्होंने शाहके अधिकृत देशोंमें कर वसूल करना प्रारम्भ किया।

रणजीतसिंहके बढ़ते प्रभावने स्वार्थी सरदारोंके मनमें ईर्ष्या उत्पन्न कर दी। उन्होंने षड्यन्त्र करके हस्मतखाँ नामक एक छत्र जातिके सरदारको रणजीतसिंहके वधके लिये नियुक्त किया। षड्यन्त्र विफल रहा। हस्मतखाँ मारा गया; परंतु रणजीतसिंह समझ गये कि सरदारोंका संगठन करके मुसल्मानोंके भयसे छुटकारा सम्भव नहीं है। उन्होंने स्वयं पंजाबपर विजय करके उसे दृढ़ कर देनेका निश्चय किया। दूसरा उपाय नहीं था विदेशियोंके आतङ्कसे मुक्ति पानेका।

महाराज रणजीतसिंह केवल प्रारम्भिक कक्षातक ही पढ़े थे और विदेशियोंसे हिंदी तथा पंजाबियोंसे पंजाबी बोलते थे और उनके आज्ञापत्र गुरुमुखीमें लिखे जाते थे; परंतु वे अत्यन्त कुशल राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने लक्ष्यसिद्धिके सुअवसरोंका बड़ी निपुणतासे चुनाव किया। शत्रुके दुर्बल समय एवं स्थानको वे भली प्रकार पहचान सकते थे। वैसे वे परम उदार थे और उन्होंने ऐसे किसी नरेशके राज्यपर अधिकार नहीं किया, जिसने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। कर लेकर राजाओंको छोड़ देनेकी प्राचीन भारतीय परिपाटी उन्होंने बनायी रक्खी। सन् १७९९में उन्होंने लाहौरपर अधिकार किया। इससे पूर्व अनेक छोटे राज्य उनके वशवर्ती हो चुके थे। सन् १८०१में रणजीतसिंहका विधिवत् अभिषेक हुआ। उन्होंने 'महाराज' की उपाधि धारण की। उसी समय लाहौरमें उनके नामका सिक्का ढालनेवाली टकसाल स्थापित हुई। उन्होंने इस समय शासनका बड़ा व्यवस्थित प्रबन्ध किया।

अनेक युद्ध हुए पंजाबमें, अनेक छोटी-बड़ी रियासतें

गुजरातसे पजाबतक फैलो थी । नीतिकुशलता और शौर्यसे रणजीतसिंहने सबको अपने वशमे कर लिया । उन्होने पूरे पंजाबपर आधिपत्य स्थापित किया । इस प्रकार 'सुकरचकिया' के सरदारके पुत्र होकर वे 'पंजाबकेसरी' हो गये । उनका सकल्प पूर्ण हुआ । अफगान अब पंजाबकी ओर देखनेका साहस नही कर सकते थे । अंग्रेजोने उनके यहाँ दूत भेजा और लार्ड लेकने उनसे मित्रताकी सन्धि की । पटियाला, जींद आदिके सरदार जब महाराज रणजीतसिंहके विरुद्ध अंग्रेजोके प्रतिनिधिसे सहायता लेने गये, तब उसने स्पष्ट कह दिया कि वह केवल गुप्त सहायता दे सकता है, प्रकटरूपसे 'पंजाबकेसरी' का विरोध अंग्रेज नही करेंगे । यह समाचार जब महाराज रणजीतसिंहको मिला, तब उन्होने स्वयं पटियाला आदिके सरदारोको आमन्त्रित किया और उनसे मैत्री स्थापित की ।

पजाबके विस्तृत शासनमे महाराज रणजीतसिंहका जीवन प्रायः विद्रोही सरदारोके साथ युद्ध करते ही व्यतीत हुआ । अंग्रेजोकी शक्ति बढ़ रही थी । शतद्रू (सतलज) के दक्षिणी तटतक उन्होने अपना पंजा फैला लिया था । महाराज रणजीतसिंहने भारतके मानचित्रको देखकर ठीक ही कहा था—'एक दिन यह सब लाल (अंग्रेजशासित) हो जायगा ।' महाराज रणजीतसिंहको शतद्रूके उत्तर-तटतक ही अपनी राज्यसीमा रखनी पड़ी । वे परम नीतिज्ञ थे । उन्होने एक बार इस विदेशी सत्ताको नीचे ढकेलनेकी इच्छा की; परतु उन्होने देखा कि दूसरे नरेश अंग्रेजोके सहयोगी है । सब लोग साथ देगे, इसकी आशा नही । विवश होकर उन्होने अंग्रेजोको मित्र बनाये रखना हितकर समझा । अंग्रेज शासक भी चेष्टा करके समझ चुके थे कि वे महाराज रणजीतसिंहको छेड़कर लाभ नहीं उठा सकते । अतः उनके जीवनकालमे शतद्रूको पार करनेका लोभ उन्हे भी दबाये ही रहना पड़ा । सन् १८०९ मे अंग्रेजोकी महाराज रणजीतसिंहसे जो सन्धि हुई, उसमे दोनोने शतद्रूको राज्य-सीमा मान लिया ।

नेपोलियन बोनापार्टके वाटरलूके सग्राममे पराजित होनेपर अनेक फ्रांसीसी युवक वहाँसे भागे और उन्होने भारत आकर रणजीतसिंहकी शरण ली । विदेशियोको रणजीतसिंहका आदेश था कि उनके यहाँ रहते हुए वे गोमास भक्षण न कर सकेंगे और न दाढ़ी बनवा सकेंगे । काश्मीरके शासक शाहशुजाको पराजित करके उन्होंने कोहेनूर हीरा प्राप्त किया था । उनकी इच्छा थी कि वह हीरा पुरीमे भगवान् जगन्नाथके श्रीविग्रहको भूषित करे । दुर्भाग्यवश महाराज जीवनकालमे उसे पुरी भेजनेकी व्यवस्था नही कर सके । महाराजके शरीरान्तके पश्चात् अधिकारियोने हीरेको 'राज्यकी सम्पत्ति' कहकर भेजना अस्वीकार कर दिया ।

सन् १८३१मे १६ अक्टूबरको रोपड़मे दशहरा-दरबार हुआ । गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बैंटिङ्कसे इस समय महाराजकी भेट हुई । इस समय महाराजकी अंग्रेजोसे एक सन्धि हुई । अंग्रेजोको सिन्धु नदीसे व्यापार करनेका अधिकार मिला । सन् १८३८मे महाराज रणजीतसिंहकी सहायतासे ही अंग्रेज-सेना अफगानिस्तानमे विजयी हुई और वहाँके सिंहासनपर शाहशुजाको बैठा पायी । इस युद्धके विजयोत्सवके उपलक्षमे अतिथियोके सत्कारके समय ही महाराजको लकवेका रोग हुआ । इससे पहले भी उन्हे इस रोगका एक बार आखेट होना पड़ा था । इसी बीमारीके क्रममे २८ जून सन् १८३९ को पंजाबका वह सूर्य अस्त हो गया । महाराजकी अन्त्येष्टिमे दस लाख रुपये व्यय हुए । महाराजके साथ उनकी सन्तानहीन चार रानियाँ, सात बाँदियाँ तथा तीन और सेविकाएँ सती हुई । ध्यानसिंह शोकावेगमे सपरिवार चितापर चढने जा रहे थे । उन्हे बड़ी कठिनाईसे रोका जा सका ।

महाराज रणजीतसिंह छोटे कदके अत्यन्त तेजस्वी पुरुष थे । विदेशियोने उनके आतिथ्य-सत्कार और सुमधुर सम्भाषणकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है । अपने जीवनमे उन्होने अनेक तीर्थोकी यात्रा की । उनके लिये सिक्ख-गुरुद्वारे और हिंदू-मन्दिर समान थे । काशीमे भगवान् विश्वनाथके मन्दिर-शिखरको उन्होने स्वर्णपत्रसे आच्छादित कराया । तीर्थयात्राके समय दुखियों, दीनो तथा साधु-ब्राह्मणोंको उन्होने लाखो रुपये वितरित किये । दुष्टोको दमन करनेमे वे सदा दत्तचित्त रहे । जब भी उन्हे किसी नरेशके अत्याचारका समाचार मिला, उन्होने अविलम्ब उसके दमनका उद्योग किया । पजाबमे मुसलमानोके आतङ्कसे सिक्ख एवं हिंदू-धर्मको निर्भीक करके पुनः शक्ति देनेवाले वे अन्तिम महापुरुष थे । वे नित्य ग्रन्थसाहबका पाठ करते तथा पर्वादिकृत्योंमे निष्ठा रखते थे । —सु०

वन्दा वैरागी

लीलामय प्रभुके इस अद्भुत रगमञ्चपर एक-से-एक महत्तम पात्र आया ही करते है। त्याग, तटस्थता, शौर्य तथा उद्योगका जितना सुन्दर सामञ्जस्य वन्दाके जीवनमें हुआ है, भगवद्गीताके निष्काम कर्मयोगका वैसा उज्ज्वल आदर्श इस युगके इतिहासमे मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। गुरु गोविन्द-सिंह जव तीर्थयात्रा करते हुए दक्षिणभारत पहुँचे, तव राजा लक्ष्मणराव उन्हे त्यागी, तपस्वीके वेशमे एक पर्वत-पर मिले।

'अनाथ अवलाएँ तुमसे रक्षाकी आशा करती हैं। गोमाता आज म्लेच्छोकी छुरियोके नीचे तड़पती हुई तुम्हारी ओर देख रही है! हमारे देव-मन्दिर ध्वस्त किये जा रहे हैं। इस समय धर्म कार्यक्षेत्रमे तुम्हारी सेवाकी पुकार कर रहा है। यहाँ किस धर्मकी आराधना करोगे तुम ?' एक प्रख्यात शूर, अचूक लक्ष्यवेधी धनुर्धर, अमित उत्साही सुयोग्य शासक इस धर्मपर आयी आपत्तिके कालमे राज्य छोड़कर कौपीन धारण करके वनवासी हो जाय—यह गुरु गोविन्दसिंह-को अभीष्ट नही था।

'मैं आपका वन्दा हूँ!' लक्ष्मणरावने घुटने टेककर मस्तक झुकाया और उसी दिनसे वे सचमुच 'वन्दा' हो गये। कहा जाता है कि गुरु गोविन्दसिंहने स्वयं उन्हे अपनी तलवार प्रदान की।

दक्षिण भारतसे 'वन्दा' पंजाव आये। गुरु गोविन्दसिंह अस्वस्थ हो चुके थे। उनका शरीर अधिक दिनोतक चल नही सका। इतिहासमे वह घटना भी क्या भूलनेकी वस्तु है, जव गुरु गोविन्दसिंहके छोटे-छोटे वच्चोको जीवित ही दीवालमे चुन दिया गया था? वन्दा इस घटनासे अत्यन्त क्षुब्ध हो गये। उन्होने सिक्ख शूरोको उत्साहित किया, एकत्र किया और लाहौरपर आक्रमण कर दिया।

मुसल्मान इतिहासकारोने द्वेपवश वन्दाको अनेक प्रकारसे लाञ्छित करनेका प्रयत्न किया है। वे उन महापुरुप-को क्रूर जादूगर, पता नही क्या-क्या कहते है; पर उन्हे भी स्वीकार करना पड़ा है कि वन्दा लोकोत्तर शूर थे। उनके धनुपसे छूटे वाण कभी लक्ष्यच्युत नही होते थे। वे रणक्षेत्रमे सहसा प्रकट होते और विपक्षके प्रधान-प्रधान नायकोको चुन-चुनकर लक्ष्य वनाते। जैसे वे महारुद्रकी भाँति समरक्षेत्रमे आते थे, वैसे ही आँधीकी भाँति सहसा अदृश्य हो जाते थे। वन्दा सदा वैरागी ही रहे। वे प्रायः युद्धभूमिके समीप पहाड़ीपर ध्यानस्थ बैठे रहते। उनका स्वभाव निरन्तर एकान्तमे ध्यान करनेका था। एक क्षण भी अनावश्यक दूसरे कार्यमे लगनेकी उनसे आशा नही की जा सकती थी। युद्ध-क्षेत्रमे जव शत्रु वलवान् पड़ते, तव सिखसेनाके नायक उनको ढूँढ़ते। वे अपने अश्वपर बैठकर तूफानकी भाँति आते थे और जैसे ही उन्हे लगता कि अव उनकी आवश्यकता नहीं है, वे लौट पड़ते और इस प्रकार पर्वतपर जाकर ध्यानस्थ हो जाते, जैसे कोई घटना ही नहीं हुई हो।

दिल्ली-सम्राट् वहादुरशाह प्रथमने स्वयं सेना लेकर वन्दाका सामना किया और वह उन्हें वन्दी करनेमें सफल भी हो गया। लोहेकी जंजीरोंमें वँधे वैरागीको हाथीपर ले जाया जा रहा था। वड़ी कठिनतासे छलपूर्वक वादशाह उस सिंहको वाँध सके थे। वन्दा—महायोगी वन्दाने अपनेको सम्हाला। प्राणोंको स्थिर किया और सुदृढ़ शृङ्खलाएँ, जिनमे वे जकड़े थे, तड़-तड़ करके टूट गयीं। किसीके सावधान होनेसे पूर्व समीपका यवन सैनिक घोड़ेसे भूमिपर फेंक दिया गया। उसकी तलवार लेकर अश्व-पीठपर बैठे वन्दाका—सावधान वन्दाका कौन सामना करता? वन्दाने अपने सभी वन्दी साथियोको अकेले मुक्त कर लिया।

सिखसेना वन्दाके नेतृत्वमें दुर्दमनीय हो गयी थी। अनेक वार उसने यवन-दुर्गपतियोको परास्त किया। अनेक वार अपार सम्पत्ति उनके हाथ लगी। कई वार सेना-नायकोने अनुभव किया कि उन्हे वन्दाका स्थायी नेतृत्व प्राप्त हो जाय तो अजेय सिख-साम्राज्य स्थापित हो सकता है। अनेक वार उन्होने अनुरोध किया कि विजयमें मिले धनको वितरित न करके वन्दा स्वयं उसको स्वीकार कर लें और विजित दुर्गोंपर अधिकार करके उनके अधिपति वनें। वन्दामे ही शक्ति थी कि वे सिखसरदारोको चाहे जव संगठित कर लेते थे।

'मैं वैरागी हूँ और गुरुका वन्दा। मुझे धन और राज्यका क्या करना है।' सचमुच वे महान् वैरागी थे। कभी विजयमे मिले धनका कोई अंश उन्होने छुआ नहीं। उनकी निजी आवश्यकताओका ध्यान भी दूसरोंको रखना पड़ता था। उनकी पत्नी तथा पुत्रका भरण-पोपण भी सरदारोकी उस भेटसे होता, जो वे स्वेच्छासे उनकी पत्नीको

दे जाते थे। बन्दा तो दो स्थानोंपर मिलते थे—समर-क्षेत्रमे घोड़ेकी पीठपर या पर्वतकी शिलापर ध्यानस्थ।

दिल्लीके सिंहासनपर बहादुरशाहके बाद फरुखसियर बैठे। उन्होंने काश्मीरके सूबेदार अब्दुलसमदखाँको बन्दा वैरागीके विरुद्ध ससैन्य भेजा। अब्दुलसमदखाँने कूटनीतिसे काम लिया। उसने सिख-सरदारोंके पास सन्देश भेजा—'हमारी सिखोंसे कोई शत्रुता नहीं। सम्राट् सिखोंको उनके राज्य देनेको प्रस्तुत हैं। बन्दा सिख नहीं है। उसने सिखोंको भड़काकर सम्राट्का द्रोही बना दिया है। इससे सिखोंका विनाश हो जायगा। हम केवल बन्दाको पकड़ने आये हैं।'

बन्दाने देख लिया कि सिखोंमे बुद्धि-भेद उत्पन्न हो गया है। युद्धमे वे पूरा उत्साह नहीं दिखलाते। विवश होकर उन्होने दुर्गका आश्रय लिया। समदखाँ अपनी भेदनीतिके सन्देश भेजनेमे लगा रहा। सिखोंने बन्दासे पूछा कि वह सिख है या नहीं। बन्दाका एक उत्तर था कि वह गुरुका बन्दा है। इससे न कम न अधिक। सिखोंने शत्रुके बहकानेमे आकर दुराग्रह किया कि बन्दा विधिपूर्वक सिखधर्म स्वीकार कर ले।

'धर्म स्वीकार किया नहीं जाता। वह हृदयसे स्वीकार होता है। मेरा धर्म किसी प्रकार त्रुटिपूर्ण नहीं और न किसी भी लौकिक कारणसे मैं उसे बदलनेको प्रस्तुत हूँ।' निर्भीक उत्तर था वैरागीका। सिखोंमें अनेक इससे रुष्ट हो गये। बहुत-से प्रधान नायक अपने दलके साथ दुर्ग छोड़कर निकल गये। अब्दुलसमदने उन्हे आश्वासन दिया था कि उनको चुपचाप जाने दिया जायगा; परन्तु उन्हें बन्दी बना लिया गया और बड़ी निर्दयतापूर्वक मारा गया।

बहुत थोड़े सिख थे, जो उस महापुरुषको ठीक समझ सके थे। उन्होने बन्दाका अन्ततक साथ दिया। थोड़े-से सैनिक थे, दुर्गकी सामग्री समाप्त हो गयी थी। अन्ततः किसी अपने ही सैनिकने शत्रुके बहकानेसे दुर्ग-द्वार खोल दिया। बन्दा और उनके ७८४ साथी पकड़ लिये गये। इस बार सिंहके पिंजड़ेमे बन्दाको बंद करके हाथीपर दिल्ली भेजा गया।

'तुम हमारा धर्म स्वीकार कर लो, तुम्हे जीवनदान दिया जायगा!' सम्राट्के प्रलोभनको एक भी सिखने स्वीकार नहीं किया। बन्दाको उन्होने धर्म-परिवर्तनका भी आग्रह छोडकर अपनी सेनाके सेनापति पदको स्वीकार करनेको कहा। वैरागी क्या यवन-सम्राट्के अत्याचारोमे योग देना स्वीकार कर लेते? प्रतिदिन १०० वैरागी सिख-शूरोके सिर काटे जाते। सात दिनोतक यही क्रम चला। धर्मके लिये मस्तक देना उन मनस्वियोको गौरवमय प्रतीत हो रहा था। विधर्मीके प्रलोभन उनके सम्मुख तुच्छ सिद्ध हुए।

सन् १७१५ का वह मनहूस दिन आया। आठवे दिन बन्दा नगरसे बाहर लाये गये। निश्चित योजनाएँ इतनी पैशाचिक थीं कि बादशाह उन्हे देखनेका साहस न कर सके। बन्दाके सम्मुख उनके इकलौते पुत्रकी छाती फाड़कर जल्लादने उस बालकका कलेजा निकाल लिया और बलपूर्वक बन्दाके मुखमे ठूँस दिया। वे वैरागी अर्धोन्मीलित नेत्र किये जैसे कुछ देखते ही न हों। तपायी हुई लोहेकी शलाखोंसे वैरागीको पीटा गया और जब उनका पूरा शरीर झुलस गया, तब गरम चीमटोसे उनका मास नोचा जाने लगा। बन्दा इतनेपर भी मुसकरा रहे थे। निजाबुद्दौलाने पूछा—'इतनी पीड़ा मिलनेपर भी तुम प्रसन्न कैसे हो?' बन्दाने कहा—'जो आत्माके स्वरूपको पहचानता है वह इस बातको जानता है कि आत्मा अमर है तथा दुःखातीत है।' इस उत्तरसे सभी चकित रह गये। वैरागीके मुखपर वेदनाका चिह्नतक नहीं था। वे शरीरके संसर्गसे कबके परे हो चुके थे। अन्तमें उनके शरीरको अत्याचारियोने हाथीके पैरोंतले रुँदवाया। बन्दा सच्चे शहीद हो गये। धर्मकी रक्षाके लिये उनका यह बलिदान अमर है। —सु०

ज्ञान-योग-रत बन्दा वीर विकट त्यागी वैरागी था।
संस्कृति-धर्म-देशका सच्चा रक्षक औ अनुरागी था॥

उदार हिंदू-धर्म

(रचयिता—श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी उपनाम डाँगीजी) *

(१)

हमारा हिंदू-धर्म उदार।
संस्कृतियोंका संग्रह-मन्दिर, सत्य-प्रेमका द्वार॥
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥ ध्रु०॥
नाग-द्रविड़-शक-हूण-देव या आर्य-अनार्य अनेक—
इन वर्गोंका सुन्दर संगम हिंदु-जाति सब एक॥
निराले सब आचार-विचार,
किंतु हैं सहयोगी-व्यवहार।
योग्यता या रुचिके अनुसार,
किया करते हम सदा सुधार॥
वैष्णव, शैव, शाक्त, गणपति, रविके पूजक सब सार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(२)

विधि, हरि, हर, गणराज, प्रभाकर, सिद्ध बुद्ध, सुरनाथ।
उमा, शारदा, श्री, सावित्री आदि शक्तियाँ साथ॥
अग्नि, जल, पवन, शून्य या स्थान,
मनुज, पशु, पक्षी—सभी महान।
विविध हैं वर्ण, विविध पहिचान,
विविध वाहन, सबका सम्मान॥
सबमें वह भगवान् बसा है, निराकार-साकार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(३)

काग-भुसुंडि, वराह, मत्स्य, हिमवान, गरुड़, जगदीश—
हमने सबका आदर सीखा, जङ्गम हो कि गिरीश॥
सभीमें पाया निर्गुण एक,
सफल हो गयी सगुणकी टेक।
जहाँ था भावोंका उद्रेक,
वहाँ भी छोड़ा नहीं विवेक॥
कहीं-कहीं अतिरेक हुआ पर, बना न भूका भार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(४)

व्यास, पतञ्जलि, जैमिनि, शङ्कर, गौतम, कपिल, कणाद—
नाना दर्शन-शास्त्र हमारे न्यारे-न्यारे स्वाद॥
कहींपर नित्य वेदका गान,
कहीं सर्वस्व ब्रह्म—भगवान।
कहींपर सांख्य-योगकी तान,
कहींपर आत्म-तत्त्वका मान॥
सबका ज्ञान समान हितङ्कर, सबमें सत्य विचार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(५)

नास्तिक-से-नास्तिक दर्शन भी रहे हमारे अंग।
सबको परखा, किंतु न छोड़ा कभी किसीका संग॥
इसीसे होता रहा विकास,
बढ़ाते गये आत्मविश्वास।
नहीं हम हुए व्यक्तिके दास,
बनाया हृदय विवेक-निवास॥
विविध हमारी परम्पराएँ, विविध पन्थ-विस्तार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(६)

कोई धर्मी, कोई प्रेमी, परमहंस या सिद्ध।
कोई अर्थी, कोई कामी, धन-जन-बल-से विद्ध॥
कहींपर है बहु-जनका स्वार्थ,
कहीं एकान्त पूर्ण परमार्थ।
हमारे पन्थ समष्टि-हितार्थ,
सभीमें जीवनके पुरुषार्थ॥
कर्म त्याग शुकदेव बनें या जनक कर्म-कर्तार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(७)

ब्रह्मचर्य, दाम्पत्य प्रेममय, वानप्रस्थ, संन्यास।
चारों आश्रम धर्म हमारे, समयोचित उल्लास॥
कभी अध्ययन, कभी गृह-कर्म;
कभी विश्रांति, कभी मुनिधर्म।
समझते हम जीवनका मर्म,
सदा सर्वत्र शान्ति या शर्म॥
हमें आत्मसन्तोष निरन्तर, ईश्वरका आधार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(८)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये वर्ण-व्यवस्था-भेद।
चिन्ता रहती नहीं वृत्तिकी, नहीं किसीको खेद॥
सभीके भिन्न-भिन्न व्यापार,
परस्पर करते पर-उपकार।
किसीका है न किसीपर भार,
चलाते सब मिलकर संसार॥
सबका सम सत्कार हृदयमें है, स्वाभाविक प्यार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(९)

विविध-शक्तियाँ, विविध लब्धियाँ, ऋद्धि-सिद्धिदातार।
विविध योग-विज्ञान आदि सब, मानस-बल-सञ्चार॥
सभीका ध्येय विश्व-कल्याण,
यही तप-ज्ञान-ध्यानका प्राण।
इसीमें है जीवनका त्राण,
जगत-हित विना व्यक्ति म्रियमाण॥
शास्त्रोंका निर्माण हुआ अध्यात्म-दृष्टि-अनुसार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(१०)

ईसाई, इस्लाम, पारसी, जैन, बौद्ध-आचार।
जो पथ हितके हेतु बनाये, वे हमको स्वीकार॥
'चर्च', 'मस्जिद' या 'चैत्य' विहार,
शान्तिके हैं सब ही आगार।
'मसीहा', नबी, संत, अवतार—
हमारे प्रभुका सबपर प्यार।
सत्य प्रेमका अवलम्बन ले किया विश्व-उद्धार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(११)

कायर बनकर किया अहिंसाका न कभी अपमान।
जहाँ हुआ अन्याय, मचाया वहाँ घोर संग्राम॥
सत्यमें रक्खा हितका ध्यान,
प्रेममें रही न्याय-पहिचान।
नम्रताका न भूलकर मान,
बढ़ाया सदा आत्म-अभिमान॥
गुरु-जनका सम्मान किया, पर रहे स्वतन्त्र विचार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(१२)

सभी धर्म ऐसे उदार हैं, प्रेम सभीका मूल।
निर्मल नीर बादलोंमें, पर मिली धरापर धूल॥
हमारा पन्थ महान् विशाल,
किंतु हममें है दम्भ-कुचाल।
स्वार्थका फैला करके जाल,
अरे, हम व्यर्थ बजाते गाल॥
'सूर्य-चन्द्र'के सत्य-प्रेमसे ज्योतिर्मय संसार!
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

लोकमान्य तिलक

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव बी० ए०)

'स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' भारतीय स्वाधीनताके इस मूल-मन्त्रके गायक लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलकका जन्म महाराष्ट्रके कोंकण प्रदेशमे समुद्रतटके रत्नगिरि स्थानमे २३ जुलाई सन् १८५६ को हुआ। उनके पिता गंगाधरराव स्थानीय पाठशालाके शिक्षक थे। बचपनमे नियमपूर्वक पिता उन्हे श्लोक कण्ठ कराया करते थे। वे बाल्यकालसे तर्कशील एवं प्रचण्ड मनोवृत्तिके व्यक्ति थे। वकालत पास करके भी १८८५ ईस्वीमे फर्ग्युसन कालेजमें उन्होने गणितका अध्यक्षपद स्वीकार किया। देशकी पराधीनता उनके प्राणोको सदासे आकुल करती थी। सन् १८९१में 'केशरी' और 'मराठा' का सम्पादन हाथमे लेकर उन्होंने महाराष्ट्रमे नवजीवन देना प्रारम्भ किया। उनकी लेखनी अग्निके वाक्य लिखने लगी। केवल इस सम्पादनकार्यको सम्हालनेके चार वर्ष बाद सन् १८९५ ईस्वीमें वे बम्बई-धारा-सभाके सदस्य निर्वाचित हुए। लेकिन अंग्रेज-सरकारकी दृष्टिमें वे भयङ्कर सिद्ध हो चुके थे। प्लेगकमेटीके अध्यक्ष रेंडकी एक युवकने हत्या की और सरकारने लोकमान्यपर उसे उत्तेजित करनेका अभियोग लगाकर १४ सितम्बर सन् १८९७ को डेढ़ सालकी सजा दे दी।

लोकमान्य जेलसे छूटे। उन्हे महाराष्ट्रको जाग्रत् करना था। देशको विदेशी शासनके साथ विदेशी संस्कृतिसे मुक्त करनेकी धुन थी। महाराष्ट्रमे 'गणेशोत्सव' तथा 'शिवाजी-जन्मोत्सव' उन्हींके प्रयत्नसे प्रारम्भ हुए। गोखले एवं रानडेकी नीति लोकमान्यको प्रिय नहीं थी। 'भीख मॉगनेसे स्वाधीनता नहीं मिलती !' वे कांग्रेसमे गरमदलके अग्रणी थे और वह सूरत-कांग्रेसका अधिवेशन इतिहासमे अमर रहेगा, जिसमे आक्रमण करके लोकमान्यने दक्षिण पक्षसे कांग्रेस छीन ली। कांग्रेस प्रार्थना करनेवाली वैधानिक संस्थासे उसी समय स्वतन्त्र राष्ट्रिय संस्था बनी, उसके राष्ट्रिय स्वरूपके संस्थापक लोकमान्य ही हैं।

महात्मा गान्धीके शब्दोंमें 'लोकमान्य सदा मेरे लिये अथाह समुद्र रहे।' सचमुच उनका ज्ञान अथाह था। उनकी सूक्ष्म दृष्टिने विदेशी राज्यके दोषके साथ विदेश. संस्कृतिके दोष बड़ी स्पष्टतासे देख लिये थे। सनातनधर्म-प्रचार, गोवध निषेध, शिवाजीकी राष्ट्रियता, विद्यार्थियोंमें व्यायाम एवं देश-प्रेमका प्रचार और गीताकी महत्ताका लोकमें व्याख्यान—ये प्रमुख आन्दोलन थे लोकमान्यके। लोकमान्यका ही प्रभाव था कि उस समयके क्रान्तिकारी युवक गीताकी पुस्तक लेकर फॉसीके तख्तेपर-चढ़नेमें गौरव मानते थे। सरकार उनसे भयभीत हो गयी। वे १९०२ में फिर गिरफ्तार करके देश-से बाहर मांडले जेलमें भेज दिये गये। यहीं जेलमें उन्होंने अपना महान् ग्रन्थ 'गीता-रहस्य' लिखा। जेलसे लौटकर वे होमरूल-आन्दोलनमें सम्मिलित हो गये।

सन् १९१६ की लखनऊ-कांग्रेसमें लोकमान्य जर्मनयुद्धमे अंग्रेजोको सहायता देनेके सर्वथा विरुद्ध थे। महात्मा गान्धी बिना शर्त सहायता देनेके पक्षमें थे। युद्धसमाप्तिपर भारतकी सहायताके बदले अंग्रेजोंकी ओरसे उसे रौलट एक्ट प्राप्त हुआ। देशने देखा कि लोकमान्यकी चेतावनी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। वे सदा स्वाधीनता एवं भारतीय संस्कृतिके लिये प्रयत्नशील रहे। देश आज स्वाधीन है, लोकमान्यका एक प्रयत्न पूर्ण हुआ; किंतु उनका गोवध-निषेध, भारतीय संस्कृतिके लिये प्रयत्न—क्या देशके अग्रणी उस महान् दिवंगत नेताको तुष्ट करेंगे ?

लोकमान्यने खोजके सम्बन्धमें 'ओरायन' एवं 'आर्योका आर्कटिक निवास'—ये दो ग्रन्थ लिखे सही, परंतु जीवनके पिछले दिनोमे उन्होंने मान लिया था कि वे बहुत बड़ी भूले कर गये हैं और इसका कारण अंग्रेजीकी पाश्चात्त्य अन्वेषकोकी पुस्तकें हैं। हमें विश्वस्त सूत्रसे ज्ञात हुआ है कि वे उन भूलोको सुधारना भी चाहते थे, परंतु ३१ जुलाई सन् १९२० को उन्हे परलोकका निमन्त्रण आ पहुँचा। बम्बईमे पॉच लाख जनताने समुद्रतटतक उनके शरीरको पहुँचाया। महात्मा गान्धी भी उसमें थे। कहते हैं, लोकमान्यकी जलती चितामें उनके वियोगसे व्याकुल एक मुसल्मान युवक कूद पड़ा था। उनकी लोकप्रियताने ही उन्हें लोकमान्य बनाया था। स्वाधीनता-संग्राममे वे भारतीय सांस्कृतिक योधा थे और अब भी उनका कार्य अधूरा ही है।

श्रीबंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

श्रीबाल गङ्गाधर तिलक

लाला लाजपतराय

पं० श्रीमोतीलाल नेहरू

स्वामी दयानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द

२७ महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर

श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

लाला लाजपतराय

'लाला लाजपतराय व्यक्ति नहीं, संस्था थे। उन्हें अपने देश और सारे संसारसे प्रेम था।'—महात्मा गान्धी

लाला राधाकृष्णराय विद्यालयोंके निरीक्षक थे। उनका घर था लुधियाना जिलेके जगरावाँ प्रान्तमें। २८ जनवरी सन् १८६५ को अपने ननिहाल ढोंडी ग्राममें उत्पन्न होनेवाले बालक लाजपतने अपने इन पिताका नाम इतिहासमे अमर कर दिया। पिताने उनकी शिक्षाकी समुचित व्यवस्था की। प्रतिभाशाली बालक लाजपतराय शीघ्र ही शिक्षाके क्षेत्रमें आगे बढ़ गये। जब वे लाहौरमे मुख्तारी करने पहुँचे, स्वामी दयानन्द सरस्वतीके शिष्य गुरुदत्तकी वहाँ बड़ी धूम थी। लालाजीके विचारोंपर आर्यसमाजका गम्भीर प्रभाव पड़ा और आगे चलकर वे स्वयं आर्यसमाजके प्रमुख नेता हो गये।

२३ वर्षकी अवस्थामे लाला लाजपतराय प्रयाग-कांग्रेसमें सम्मिलित हुए। उन्होंने कांग्रेस-मञ्चसे पहला प्रभावशाली भाषण हिंदीमे दिया। शीघ्र ही वे लोकमान्य तिलकके साथ हो गये; क्योंकि नरम दलकी नीति उन्हे चापलूसी जान पड़ती थी। सन् १९०५ में जो कांग्रेस-शिष्टमण्डल लंदन गया, लालाजी उसमे एक प्रमुख सदस्य थे। लंदनसे लौटकर उन्होंने लोकमान्यकी नीतिका जोरोंसे समर्थन और प्रचार प्रारम्भ किया। सरकार उनसे चिढ़ उठी। सन् १९०७ मे देशनिकाला देकर उन्हे माण्डले-जेल भेज दिया गया। माण्डले-से छूटनेपर लालाजी इंगलैंड चले गये।

सन् १९०९ में इंगलैंडसे लौटकर लालाजीने पण्डित मदनमोहन मालवीयजीके सहयोगसे हिंदूमहासभाकी स्थापना की। लालाजी राष्ट्रिय युद्धके सेनानी होनेके साथ सदा हिंदू-नेता रहे और उनकी स्वाधीनताका अर्थ सदा हिंदू-धर्म, हिंदू-संस्कृति एवं हिंदुस्थानकी सम्यक् स्वाधीनता था। वे हिंदू-संगठनके लिये सदा उद्योगशील रहे। सन् १९१२ मे जब महात्मा गान्धीजीका दक्षिण-अफ्रिका-सत्याग्रह छिड़ा, तब लालाजीने महात्माजीको प्रचुर धन भेजकर सहायता की। उसी सत्याग्रहके सम्बन्धमे शिष्टमण्डलके साथ वे पुनः इंगलैंड गये और जब प्रथम जर्मन महासमरके समय उन्हें स्वदेश लौटनेका आज्ञापत्र देना ब्रिटिश सरकारने अस्वीकार कर दिया, तब वे वहाँसे अमेरिका चले गये। अमेरिकासे उन्होने 'यंग इंडिया' पत्र निकालकर भारतीय स्वाधीनताकी माँगके लिये विदेशोंमे प्रचार प्रारम्भ किया। सन् १९१९ में पंजाब-हत्याकाण्डका समाचार पाकर लालाजी भारत आनेके लिये व्यग्र हो उठे। उन्होंने ब्रिटिश सरकारकी बड़ी कटु आलोचना की। अन्ततः २० फरवरी सन् १९२० को वे बम्बई पहुँचे। देशने उनका हृदय खोलकर स्वागत किया। महात्माजीके असहयोग-आन्दोलनमें उन्होंने पूरा भाग लिया और उस समयके कलकत्ता कांग्रेस-अधिवेशनके वे अध्यक्ष हुए। असहयोगका वह आन्दोलन—लाहौरके उसी डी० ए० वी० कालेजकी सीढ़ियोंपर बैठकर लालाजी सत्याग्रह करते थे, जिस कालेजके पहले वही सर्वे-सर्वा थे। सन् १९२१ में सरकारने उन्हें डेढ़ वर्षका कारावास-दण्ड दिया, पर वे अवधिसे पूर्व ही छोड़ दिये गये। उन्हे पुनः गिरफ्तार किया गया और वे १९२३ में छोड़े गये। कांग्रेसमे सक्रिय भाग लेते हुए भी वे हिंदू-महासभाके लिये तत्परतापूर्वक कार्य करते रहे।

सन् १९२८ में वह कुख्यात साइमन कमीशन आया। कांग्रेसने उसके बहिष्कारका निर्णय किया। लालाजी काले झंडे लेकर लाहौरमे विरोध-प्रदर्शनका नेतृत्व कर रहे थे। पुलिस नृशंसतापूर्वक जुलूसपर लाठियाँ चला रही थी। लालाजी पीछे हटनेवाले शूर नहीं थे। एक अंग्रेज सार्जेंटकी लाठीने १७ नवम्बर सन् १९२८ को सदाके लिये उन्हें मातृभूमिकी गोदमें सुला दिया। लालाजी गये—राष्ट्रिय आन्दोलनका एक उच्चतम नेता और हिंदू-संगठनका प्रबल स्तम्भ चला गया। लालाजीके पश्चात् तो कांग्रेस स्वदेशी संस्कृतिसे तटस्थ ही होती गयी। लाला लाजपतराय, वे निर्भीक सत्यनिष्ठ महा-पुरुष—उनका अपने सम्बन्धका कथन सबके मनन योग्य है। वे कहा करते थे—"मेरा मत 'सत्य' है। मेरा धर्म स्वराष्ट्रकी पूजा है। मेरा न्यायालय स्वयं मेरा अन्तःकरण है।"—रा० श्री०

विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

'हे विश्वजनो, हे अमृतपुत्रो, हे दिव्य-धामवासी देवगण ! सुनो ! मैं उस महान् पुरुषको जानता हूँ, जो अन्धकारसे सर्वथा परे, परम ज्योतिर्मय है । उसे जानो ! उसे जानकर ही मृत्युके पार हम हो सकते हैं । इसके अतिरिक्त दूसरी राह नहीं है । हे मृत भारत ! तेरे लिये भी यही एकमात्र पथ है, अन्य नहीं ।'

—रवीन्द्रनाथ

बंगालका 'ठाकुर-परिवार' अपनी उदात्त विचारधारा, परोपकारवृत्ति, जनसेवाके साथ विपुल ऐश्वर्यके लिये भी प्रख्यात रहा है । 'गुरुदेव' इसी परिवारमें महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर-जैसे प्रमुख जननायक एवं गम्भीर विचारकके कनिष्ठ पुत्रके रूपमें ७ मई सन् १८६१ ई० को जोड़ासाँकूके विशाल राजप्रासादमें उत्पन्न हुए । भगवती लक्ष्मी एवं सरस्वती दोनोंका समान रूपसे यह कुल चिरकालसे कृपापात्र था । 'ब्रह्मसमाज' की विचारधाराका यही कुल प्रश्रय था । राजा-नवाबोंका अतुल ऐश्वर्य और वैसी ही शान-शौकतके साथ दार्शनिक चिन्तन, साहित्य-साधना, कला-सेवा और राष्ट्रोद्धार, समाज-सेवा, सुधारके आन्दोलनोंका नेतृत्व—ये ही सब ठाकुर-परिवारकी विशेषताएँ थीं । 'गुरुदेव' इसी वातावरणकी पृष्ठभूमिमें पले । यह ऐश्वर्य—स्वयं गुरुदेवका कहना था कि सेवकोंकी सेवा और निरीक्षण इतना अधिक था कि वह उनके लिये बन्धन बन गया था । वे तनिक भी अकेले या स्वतन्त्र न रह पाते थे । इस बन्धनने उन्हें गम्भीर और चिन्तनशील बना दिया । बचपनमें ही वे अद्भुत कल्पनाएँ करते और अपने कल्पनालोकमें निमग्न रहते ।

भाई-बहिनोंसे भरा परिवार और उसमें भी सब-के-सब साहित्य एवं कलाके विनोदी, इस गोष्ठीने शैशवमें ही 'गुरुदेव' को कवि बना दिया । वे जब ग्यारह वर्षके केवल स्कूली विद्यार्थी थे, 'विद्यापति-पदावली' एवं ऐसी ही पुरानी रचनाओंके अनुकरणपर तुकबंदियाँ करने लगे थे । उस समय बंगालमें कवि विहारीलालके 'गीतकाव्य' बहुत सम्मान पा रहे थे । गुरुदेवने उसी शैलीपर अपनी रचनाएँ प्रारम्भ कीं । केवल चार-पाँच वर्षोंमें ही गीत, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचनादि साहित्यके सभी क्षेत्रोंमें एक साथ उन्होंने प्रयोगात्मक कृतियोंकी भरमार कर दी । बँगला-साहित्यका ध्यान उसी अवस्थामें उनकी ओर खिंच गया । 'भुवनमोहिनी' उपन्यास, 'बनफूल' पद्य—ये गुरुदेवकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं, जो 'ज्ञानाङ्कुर' मासिक पत्रमें प्रकाशित हुईं । 'कालमृगया', 'वाल्मीकि-प्रतिभा' 'सन्ध्या-संगीत', 'छवि ओ गान', 'प्रकृतिर प्रतिशोध' 'बौ' ठाकुरानीर हाट' एवं 'कवि-काहिनी' प्रभृति प्रारम्भिक रचनाएँ बहुत प्रख्यात हैं और उन्हींमें वह अङ्कुर है, जो आगे विश्वतरुके रूपमें सबके सम्मुख आया ।

बीसवीं सदीका वह युगारम्भ ही था, जब अपनी अन्तः-सर्जनाको कर्म-जगत्में मूर्त करनेके लिये गुरुदेव अपनी सह-धर्मिणीके साथ अपने पूर्व-पुरुषोंकी उस तपोभूमि 'शान्ति-निकेतन' में आ गये थे । महाकवि उसे प्राचीन सांस्कृतिक शिक्षाकेन्द्रका मूर्तरूप देनेका स्वप्न लेकर आये थे । पाश्चात्य शिक्षाके दोषोंसे मुक्त उन्हें एक आदर्श सांस्कृत आश्रम स्थापित करना था । सन् १९०१में इस प्रकार 'बोलपुर ब्रह्मचर्याश्रम' की स्थापना हुई । यही आश्रम थोड़े ही दिनोंमें 'विश्वभारती'-जैसी अन्ताराष्ट्रिय संस्था बन जायगा, यह तब किसने सोचा था । गुरुदेवने इसकी स्थापनाके लिये सर्वलोक अद्भुत त्याग किया था । अपना पुरीवाला मकान, बहुमूल्य स्वर्णा-भरण, पुस्तकें आदि सब बेचकर उन्होंने आश्रमकी आर्थिक कठिनाई दूर की और छात्रों तथा अध्यापकोंके साथ घुल-मिल गये । 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि ।' एक वर्ष भी आश्रमकी स्थापनाको नहीं हुआ था कि सहधर्मिणी, दो बच्चे, एक मित्र तथा पूज्य पिता—सभी एक-एक कर परधाम पधारे । कवि-हृदयपर यह बार-बार होनेवाला आघात ! लेकिन सुवर्ण तप्त होकर ज्योतिर्मय ही होता है, वेदनाकी महाज्वालामें तप्त भावना गम्भीरसे गम्भीरतम होती गयी । 'खेया', 'प्रायश्चित्त', 'राजा', 'गीताञ्जलि', 'गोरा', 'जीवनस्मृति', 'अचलायतन' और 'डाकघर'-जैसी उत्कृष्टतम कृतियाँ सन् १९०५ से १९१२ तकके अल्पकालमें निर्मित हुईं । सन् १९१२ में महाकविने विलायतयात्रा की । आयरिश कवि यीट्सने उनकी 'गीताञ्जलि' की ओर पाश्चात्य विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया । फलतः 'गीताञ्जलि' विश्वविश्रुत 'नोबेल पुरस्कार'से सम्मानित हुई । विश्वने भारतकी इस दिव्यविभूतिको 'विश्व-कवि' स्वीकार किया । गुरुदेव जब स्वदेश लौटे, उनकी ख्यातिने उनके वास्तविक रूपमें उन्हें उपस्थित किया । बंगालने हृदय खोलकर अपने इस 'मानस-सम्राट्' का स्वागत किया ।

प्रसिद्ध 'गीताञ्जलि'के अंग्रेजी अनुवादपर गुरुदेवको 'नोबेल पुरस्कार' मिला था; परंतु बँगला-काव्य-मर्मज्ञ महाकविकी उत्कृष्टतम रचना 'गीताञ्जलि' न मानकर 'खेया'को मानते हैं। इसमे कविकी रहस्य-भावनाका उच्चतम रूप प्रस्फुटित हुआ है। यह अपूर्व गीति-संग्रह तब लिखा गया था, जब बंग-भंग-आन्दोलनमें राष्ट्रिय नेताके रूपमे थोड़े दिनोंके लिये वे मैदानमें आ गये थे। 'स्वदेशी समाज', 'राष्ट्रिय कोष', 'राखी-बन्धन' उसी जीवनकी ओजमयी कलाकृतियाँ हैं; किंतु उस कोलाहलपूर्ण संघर्षमय जीवनमे अपने स्थिर एकान्त कविरूपको तटस्थ रखकर 'खेया' का निर्माण तो सचमुच अद्भुत घटना है।

'गुरुदेव' विश्वमें सैनिक बनने नहीं आये थे। वे जनता एवं सैनिकोंके पथ-दर्शक अपनी भव्य भावमयी कलासे जीवन-प्रेरक गुरुदेव ही थे। आन्दोलनसे शीघ्र ही उनका तटस्थ हो जाना सहज स्वाभाविक था; किंतु देशका अनुराग तो उनका जीवन था। महात्माजीके सत्याग्रहसे पूर्व ही अपने 'धनंजय वैरागी' पात्रके रूपमें गुरुदेवने आदर्श सत्याग्रहीकी कल्पना प्रदान की। सरकारने—अंग्रेज सरकारने उन्हे 'सर' की उपाधि प्रदान की, जिसे जलियानवाला बागके काण्डके विरोधमे उन्होंने लौटा दिया।

देशकी दयनीय दशाके प्रति गुरुदेवके हृदयमे जितनी टीस थी, उतनी ही घृणा थी उन्हे संकुचित राष्ट्रियतासे। भारतीय स्वाधीनता उनके लिये अपनी स्वार्थ-सिद्धि नहीं थी। वे सदा उसके निखिल मानव-मुक्तिके रूपके आराधक थे। गुरुदेवने अटूट-अविरल रूपसे प्रतिवर्ष विभिन्न देशोंकी यात्राएँ कीं। इन सास्कारिक यात्राओंका महत्त्व उनके साहित्य-सृजनसे कम-महत्त्वका नहीं है। 'विश्व-बन्धुत्व'—'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाका प्रसार, पूर्व-पश्चिमके अन्तरका निवारण और विश्व-मानवकी प्रतिष्ठा इन यात्राओंका उद्देश्य था। प्रत्येक देशके विद्वानोमे उन्हें असाधारण सम्मान प्राप्त था और 'एकत्व' की भावनाके प्रसारमे अपने व्यक्तित्वका उन्होने पूरा उपयोग किया। प्रवचन, कवितापाठ, परस्पर बातचीत तथा पत्रव्यवहार-द्वारा गुरुदेवने संकुचित राष्ट्रवृत्तिकी कठोर भर्त्सना करते हुए मानवकी एकता तथा विश्व-परिवारकी भावना जाग्रत् करनेका अजस्र उद्योग किया। उनके ऐसे पत्र, प्रवचन अनेक संग्रहोके रूपमें प्रकाशित हैं।

अपनी जीवन-सन्ध्याके निकट 'गुरुदेव' का व्यक्तित्व और प्रोज्ज्वल हो उठा था। ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटीने उन्हे डी० लिट्‌की उपाधिसे सन् १९४१ में सम्मानित किया। इसके पूर्व ही शान्ति-निकेतनमे उनका 'उत्तरायण' नामक कुटीर देश-विदेशके यात्रियोंके लिये तीर्थभूमि बन चुका था और वे वहाँ चाँदी-जैसे श्वेत दीर्घ श्मश्रुधारी, झुर्री पड़े गौरवर्ण ऋषिकल्प 'गुरुदेव' के दर्शन करने पधारते थे। गुरुदेवकी आकृति जितनी भव्य थी, उनकी वेश-भूषा वैसी ही किसी कविके उपयुक्त थी। ८१ वर्षकी अवस्थामे रोगशय्यापर पड़े-पड़े भी उन महामानवकी चिन्ता स्वार्थकलुष विश्वके लिये ही थी। उस समय भी उन्होने 'सभ्यतार संकट' नामक ओजस्वी निबन्ध मानवताको सन्देश देनेके लिये लिखा। अन्तमें वह विदा-क्षण भी आया। ७ अगस्त सन् १९४१ को विश्वकवि 'गुरुदेव' ने कलकत्ता महानगरीमें इस धराका त्याग कर दिया। बंगाल या भारतका तो प्रश्न ही नहीं—मानवता रोयी, विश्व रोया और रोयी वह कलाकी अधिष्ठात्री, जिसकी गोदमें न केवल साहित्य, अपितु संगीत एवं चित्रकलाके क्षेत्रमे भी 'गुरुदेव' ने अनुपम निधियाँ अर्पित की थीं।

'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' विश्वसंस्कृतिके उस महापुरोहितने अपने 'शान्तिनिकेतन' तथा अपनी संस्था 'विश्वभारती' के द्वारा इस आर्ष भावनाको सार्थक करनेका श्लाघ्य प्रयत्न किया। उनके कारण विश्वमानसमे बंगाल-का, भारतका, भारतीय ऋषि-संस्कृतिका, भारतीय चिन्तनशीलताका गौरव जाग्रत् हुआ। मानवताको उन्होने अपनी मञ्जुकलाकी मधुर तानोसे जगाया, प्रबुद्ध किया और उसे शान्तिका समुज्ज्वल पथ दिखाया। आज स्थूलके प्रति आसक्त, अस्थिपर लड़नेवाले कुत्तोंसे भी गया बीता मानव क्या गुरुदेवकी उस वाणीको सुनेगा? क्या उसके हृदयमे वह दिव्य झंकार उठेगी? मानवताके त्राणका दूसरा मार्ग तो है नहीं। —सु०

महात्मा गान्धीजी

विश्वमे अनेक सुख्यात राजनैतिक पुरुष हुए हैं और होते रहेगे, किन्तु महात्माजीके समान विश्वकी संस्कृतियोंमें एक झंकार उत्पन्न कर देनेवाले महापुरुष सदा विश्वमें नहीं आया करते। ऐसे महापुरुष तो कभी-कभी मानव-समुदायको जाग्रत् करने, उसे दैवी प्रकाश प्राप्त करनेका दिव्य सन्देश देने ही आते है।

'साधनकी चरम परिणति ही साध्य है; अतः अपवित्र, अनुचित, अनीतिपूर्ण साधनसे शुद्ध, पवित्र लक्ष्यकी प्राप्ति सम्भव नहीं। बुराईसे भलाईकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। लक्ष्य उच्च, पवित्र, आदर्श होना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है उसकी प्राप्तिके साधनका शुद्ध एवं पवित्र होना।' भारतके लिये यह नवीन बात नहीं है। धर्मसे ही धर्मकी प्राप्तिका हिंदू-संस्कृतिने अत्यन्त बलपूर्वक समर्थन किया है। युद्धमे भी असत्य, अन्याय यहाँ गर्हित माने गये हैं; किन्तु आजके मोहग्रस्त अपवित्र साधनोंको ही आदर्श माननेवाले विश्वके सम्मुख साधनकी शुद्धिका परम गम्भीर रूपमे उद्घोष करनेवाला महापुरुष संस्कृतिकी अन्तर्निहित वाणीका मूर्त प्रकाश बनकर आया था जगत्में।

आश्विन कृष्ण १२, संवत् १९२६ (२ अक्टूबर, सन् १८६९ ई०)की वह पावन तिथि धन्य है, जब विश्वने उस महापुरुषको प्राप्त किया और धन्य है वह गुजरातकी महामान्य भारतीय भूमि, जहाँ वह आया। कोई विशेषता नही है मोहनदास कर्मचन्द गान्धीके उस बाल्यकालमें और कोई विशेषता नही है उनके लन्दन जाकर अध्ययन करनेमें तथा बैरिस्टर होकर भारत लौटनेमे; किन्तु यह कहना सत्य नहीं होगा। सत्य, संयम, सादगीका उनका जीवन जन्मसे महापुरुषका जीवन है। सत्यपर स्थिरता, विलायतमे दृढ़ आचारनिष्ठा और सादगी—ये सामान्य जीवनकी बातें नहीं हैं और मातासे प्राप्त 'रघुपति राघव राजा राम' तथा 'रामायण', 'गीता' एवं 'नरसी'के पदोंका बीज तो इसी समय पड़ा और पल्लवित हुआ। महात्माजी आजीवन 'राम'नामके जापक रहे। गीता और रामायण उनके परमादर्श ग्रन्थ थे। उनका सम्पूर्ण जीवन नरसीका वह 'वैष्णव' जीवन था, जिसके सम्बन्धमे उन्होने कहा है—'वैष्णव जन तो तेनें कहिये, जे पीड़ पराई जाणे रे।' जैसे यह पद बापूके हृदयमें नित्य बोलता रहा हो।

'राम'-नाम—महात्माजीके शब्दोंमें, वह उनका आपत्तिका सहायक और शक्तिका मूल स्रोत था। सत्य उनका लक्ष्य था। अहिंसा उनका साधन थी। सेवा उनकी वृत्ति थी। त्याग और संयम उनके धर्म थे; किंतु 'राम'-नाम उनका जीवन था। महात्माजीके आदर्शपर विचार करते समय उनके 'राम'-नामको छोड़ देनेपर हमारे सम्मुख उनका प्राण-हीन जीवन, क्रिया एवं शक्तिहीन आदर्श ही रह जाता है। वे इस दिव्य नामका जप, कीर्तन, स्मरण—सब करते। भगवान्पर अपार विश्वास ही उनके महान् धैर्य एवं कार्य-क्षमताका रहस्य है।

महात्माजी विलायतसे बैरिस्टर होकर लौटे, बैरिस्टरीके लिये ही दक्षिण-अफ्रिका गये थे। दक्षिण-अफ्रिकामें भारतीयोका जो अपमान वहाँके गोरे करते थे, जो तिरस्कार वहाँ केवल सफेद चमड़ा न होनेसे सहना पड़ता था, उसका पद-पदपर अनुभव हुआ। 'मनुष्य मनुष्यका यह अपमान क्यों करे?' मानवताकी पुकार वहीं कानोंमें पड़ी। 'अन्याय करना जितना बड़ा पाप है, उसे चुपचाप सह लेना भी उतना ही बडा पाप है!' महात्माजीने वहीं बड़ी दृढ़तासे अपने इस महावाक्यकी घोषणा की। जीवनमें वे इसी महावाक्यका सन्देश विश्वके उत्पीड़ित दुर्बलोंको सुनाते रहे।

'अन्यायका विरोध करते हुए भी अन्यायीके प्रति सद्भाव रखना ही सच्ची मानवता है। अन्यायी एक भ्रान्त व्यक्ति होता है, वह दया और प्रेमका पात्र है। प्रेमके द्वारा उसके हृदयपर विजय पाना ही अन्यायका ठीक निराकरण है। अन्यायका निषेध बलपूर्वक करना और अन्यायीके प्रति रोष या दण्डका प्रयोग करना एक भ्रान्त उपाय है। उससे अन्याय रुक भले जाय, उसका बीज और गहराईमें चला जाता है।' बापूके इन विचारोंने ही उन्हें विश्ववन्द्य बनाया। दक्षिण-अफ्रिकामें ही उनके अन्यायके प्रतिकार करनेके नूतन अस्त्र 'सविनय अवज्ञा'का जन्म हुआ। उनका यह अस्त्र जीवनमें 'असहयोग', 'सत्याग्रह' आदिके रूपमे उपस्थित होता रहा। अपमान, मार सहना, जेल तथा अनेक दूसरी यन्त्रणाएँ सत्याग्रहीको मिलनी अनिवार्य हैं। दक्षिण-अफ्रिकामें बेहद अपमान महात्माजी और उनके साथियोंको सहना पड़ा। गोरोंने उन्हें अनेक बार पीटा,

एक बार अधमरा-सा कर दिया। उनके दो अगले दाँत एक गोरेकी मारसे ही टूटे पर वे सदा दृढ़ और शान्त रहे; उनका कहना जो था—'सत्याग्रह दुर्बल एवं कायरका शस्त्र नहीं, वह सबल एवं मनस्वीका अभेद्य कवच है।' अंग्रेजोंने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, जब बोअर-युद्धमें वे स्वतः स्वयं सेवक बन गये। विश्वने कभी सोचा ही न था कि अपने-पर अत्याचार करनेवाले विपक्षीकी आपत्तिमें कोई उसका सेवक भी बन सकता है और वह भी बिना शर्त—शुद्ध सेवा-भावसे।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—जैसे गीताका यह वाक्य उनके जीवनमें ध्वनित होता हो। परिणाम क्या होगा, सहायक कितने हैं, प्रभाव क्या पड़ेगा—यह सब कुछ नहीं। कार्यकी माप उसके बाह्य परिणाममें नहीं; कर्ताके हृदयकी स्थितिसे होनी चाहिये। विशुद्ध साथी न मिले तो अकेले प्रलयमारुतके सम्मुख स्थिरतासे खड़े होनेवाले उस महापुरुषको कितना समझा है किसीने! प्रवासी-भारतीय-समस्या, खिलाफत आन्दोलन, असहयोग-आन्दोलन, सत्याग्रह, पीड़ित-सेवा, ग्राम-सेवा और अन्तिम भीषण दिनोंकी वह नोआखाली-समस्या—सबमें वही जागरूकता; दृढ़ता और श्रेयकी ओर निश्चित पदोंसे बढ़नेकी प्रवृत्ति। साधनकी विशुद्धता तथा औद्धत्य-अन्यायका तीव्र प्रतिकार!

'विरोधीका हृदय परिवर्तन करना है और वह प्रेम तथा सेवासे ही होगा।' महात्माजीके इस सुनिश्चित सिद्धान्तको अनेकोंने भ्रान्त रूपमें देखा। अनेकोंने उसे चाटुकारी तथा पक्षपात कहा। भारतका दुर्भाग्य कि इसी विचारके वशीभूत एक हिंदू युवककी गोलियोंसे ही उन महापुरुषने शरीर छोड़ा! उस समय भी वे प्रार्थनाके लिये प्रार्थना-सभामें जा रहे थे। 'राम'—जिसका जीवन इस महामन्त्रसे ओत-प्रोत रहा हो, उसके जीवनका विलयन भी उसमें होना ही था।

अपने हाथसे कते सूतकी लँगोटी पहननेवाले; चर्खेको अहिंसाके प्रतीकके रूपमें स्वीकार करके भारतके प्राचीन ग्राम्योद्यम एवं ग्राम्य जीवनकी महत्ताको मशीनोंके वर्तमान युगमें भी उज्ज्वल करनेवाले; सहिष्णुता, त्याग, संयम और सादगीकी मूर्ति बापूके जीवनके सम्बन्धमें जितना लिखा गया है, उसके संग्रहसे एक पूरा बड़ा पुस्तकालय बन सकता है। भारतके उन राष्ट्रपुरुषकी स्वतः लिखी 'आत्मकथा' एक महापुरुषका आत्मजीवन है।

बापूने भारतको केवल स्वाधीनता ही नहीं दी। यद्यपि कांग्रेसके वे सदा प्राण रहे; हमारे आन्दोलन और हमारी स्वाधीनता उन्हींके तप, त्याग, मार्गदर्शन और लोकोत्तर व्यक्तित्वके पुरस्कार हैं; फिर भी राजनैतिक पुरुष (आजके शब्दोंमें कूटनीतिज्ञ) बापू कभी नहीं रहे। उन सत्यके शोधकका महत्त्व राजनीतिके क्षेत्रसे जीवनके क्षेत्रमें अधिक है। उन्होंने सुप्त भारतीय प्राणोंको इसलिये झकझोर दिया कि उन्हें विश्वास था कि स्वाधीन उद्बुद्ध भारत विश्वको शान्ति; अहिंसा, सत्यका सत्पथ दिखलायेगा। इसी महालक्ष्यको लेकर वे भारतीय स्वाधीनता-संग्रामके अमर सेनानी बने।

'हिमालय-जैसी भूल।' बापूकी यह महत्ता ही है कि वे अपनी भूलको कभी छोटी नहीं कहते थे। उन्होंने कभी अपनी भूलके लिये दुराग्रह करनेकी बात ही नहीं सोची। उनका जीवन ऋषियोंका सादा, श्रमपूर्ण, नैतिक जीवन रहा है। उनके आदेश भारतके ग्रामोंको अपनी प्राचीन संस्कृतिकी ओर लौटनेकी प्रबल प्रेरणा देते हैं। उन्होंने अथक उद्योग किये हैं इसके लिये। 'दूसरोंके बदले अपने दोषको देखो! दूसरोंको क्षमा करो। उनकी सेवा करो। उनकी सहायता करो और आवश्यकता पड़नेपर अन्यायको दृढ़तापूर्वक—पर शान्तिसे अस्वीकार कर दो।' बापूका जीवनके लिये यह सजीव सन्देश है।

विश्वको ईश्वर-विश्वास, भगवन्नाम, सत्य, अहिंसाका प्रशस्त मार्ग दिखानेवाले; जगत्के पीड़ित-दलित वर्गको 'सत्याग्रह'का दिव्यास्त्र देकर चैतन्य करनेवाले उन दिव्य पुरुषके प्रत्येक जीवन-कार्य एवं प्रयत्न ही आजके अशान्त जगत्को शान्ति दे सकता है, यदि मनुष्य उन्हें सच्चाईसे स्वीकार करे और अपनाये। —सु०

महामना मालवीयजी

'मैं तो मालवीयजी महाराजका पुजारी हूँ। यौवनकालसे आजतक उनकी देशभक्तिका प्रवाह अविच्छिन्न है। मैं उनको सर्वश्रेष्ठ हिंदू मानता हूँ। वे आचारमें नियमित और विचारमें बड़े उदार हैं। वे किसीसे द्वेष कर ही नहीं सकते। उनके विशाल हृदयमें शत्रु भी समा सकते हैं।'

—महात्मा गान्धी

'मैं दावेके साथ कह सकती हूँ कि विभिन्न मतोंके मध्य केवल मालवीयजी महाराज ही भारतीय एकताकी मूर्ति बने खड़े हैं।'

—ऐनी बेसेंट

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयका जन्म तीर्थराज प्रयागमें २५ दिसम्बर, सन् १८६१ को हुआ। उनके पूर्वज मालवासे प्रयाग आ बसे थे। उनके पिता श्रीब्रजनाथजी पक्के सनातनधर्मी एवं आस्तिक थे। उनका भगवद्विश्वास अखण्ड था। श्रीमद्भागवतकी कथा या पूजा-पाठ ही आजीविका थी। कोई स्वतः बुला ले जाय तो पण्डितजी चले जाते। धर्मपत्नीके यह कहनेपर कि घरमें भोजनके लिये कुछ नहीं है, उनका बँधा उत्तर था—'कोई कथा या पूजाके लिये बुलाये, तब कुछ प्रबन्ध हो।' लेकिन दान लेनेके वे इतने विरोधी थे कि उदार पड़ोसियोंकी सहायता भी मालवीयजीकी माता छिपाकर ही स्वीकार करती थीं। ऐसे विशुद्ध आस्तिक माता-पिताका प्रभाव मदनमोहनपर पड़ना ही था। मिर्जापुरके प्रख्यात सनातनी पण्डित श्रीनन्दरामजीकी कन्या कुन्दनदेवीसे मालवीयजीका विवाह हुआ। उनका दाम्पत्य-जीवन बड़ा सुखी व्यतीत हुआ। सती-साध्वी पत्नीने सदा उनका अनुगमन किया।

पूज्य मालवीयजी कट्टर हिंदू थे। हिंदू-सिद्धान्तोंकी उन्हें सजीव मूर्ति कहना चाहिये। आचारमें अत्यन्त संयमी और विचारमें परम उदार—हिंदू-धर्मकी यह विशेषता उनमें बहुत स्पष्ट थी। उनका स्पर्शास्पर्शका विचार इतना पूर्ण था कि बड़े जंक्शनोंके प्लेटफार्मपर एक ओर चौका लगाकर स्वयं खिचड़ी बना लेना उनके लिये सामान्य बात थी। मालवीय-परिवारसे बाहर किसीके हाथका कच्चा भोजन वे नहीं करते थे। जब वे गोलमेजपरिषद्में महात्माजीके साथ लंदन गये, उनके साथ गङ्गाजल, मिट्टी और गौ भारतसे गयी और सब जानते हैं कि लंदनसे लौटनेपर उन्होंने समुद्रयात्राका सविधि प्रायश्चित्त किया था। इतने आचारप्रधान होनेपर भी उनका विचार इतना उदार था कि वे कभी किसी दूसरेपर कोई दबाव देते ही नहीं थे।

पूज्य मालवीयजीका गृह अपने अतिथि-सत्कारके लिये विख्यात था। उनके घरका चूल्हा प्रातः सूर्योदयके साथ जल जाता। कोई किसी समय प्रस्थान करनेवाला हो—जो आया है, उसे तो भोजन करके ही जाना चाहिये। रात्रिके एक बजेतक चौका चलता रहता। अतिथि, ब्राह्मण और गौ—यही तो हिंदूके आराध्य हैं। पूज्य मालवीयजीको लोग ब्राह्मणोंका पक्षपाती कहने लगे थे। वे कहा करते थे—'कोई ब्राह्मण मेरे पास किसी उद्देश्यसे आये और निराश लौटने लगे तो मेरे प्राण उससे पहले चले जाने चाहिये।' प्राणपणसे उन्होंने ब्राह्मणोंकी सेवा की और जीवनके अन्तिम दिनोंमें उनको एक ही धुन थी—प्रत्येक समर्थ मिलनेवालेसे उस असमर्थ महाप्राणकी एक ही याचना होती थी—'मैं गायोंकी सेवा न कर सका। एक स्थानपर एक गोशालामें एक लाख गायें सुखसे पलें—मेरी यह लालसा रह गयी।' गो-सेवाके लिये, गोचरभूमिके लिये, गोशालाओंके लिये उनका उद्योग कम नहीं था। उनसे किसी सामान्य व्यक्तिने भी गौके नामपर कोई सहायता चाही तो उन्होंने कभी अस्वीकार नहीं किया। उनका कहना था—'प्रत्येक हिंदूके घरमें कम-से-कम एक गाय रहनी ही चाहिये।'

'मैं पुराणोंकी सत्यताके सम्बन्धमें प्रत्येक समय शास्त्रार्थ करनेके लिये तैयार हूँ।' महामनाकी यह घोषणा केवल मौखिक नहीं थी। पुराणोंपर उनकी अगाध श्रद्धा थी। श्रीमद्भागवतका पाठ उनका नियमित रूपसे चलता था। लंदनके अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रममें भी उन्होंने अपने पाठमें विराम नहीं पड़ने दिया। उन्हें प्रायः सम्पूर्ण भागवत कण्ठ थी और जब वे गद्गद कण्ठसे मग्न मनसे श्रीमद्भागवतके श्लोक पढ़ने लगते थे, उनके दोनों नेत्रोंसे अजस्र अश्रुधारा चलती थी।

'एक साथ एक लाख ब्रह्मचारी एक स्थानपर सस्वर सामगान करें।' यह महत्त्वाकाङ्क्षा थी, जिसने महामनाको काशी हिंदू विश्वविद्यालयकी स्थापनामें लगाया। विश्वविद्यालय

उनकी भारतको अमर भेंट है। विश्वविद्यालयके लिये कुछ सहायता प्राप्त किये बिना वे भोजन नहीं करते थे। जीवनके अन्तिम वर्षोंतक उनका यह नियम चलता रहा और तभी बंद हुआ, जब वे सर्वथा असमर्थ हो गये।

वृद्धावस्था, रोगशय्या, इतना दुर्बल शरीर कि उठकर बैठना कठिन, श्रवण एवं नेत्रोंमें शक्ति नहीं, कोई बात स्मरण नहीं रहती थी और इस स्थितिमें भी महामना विश्वविद्यालयके गरीब छात्रोंके सहायक पिता थे, दुखियोंके आश्रय थे, उत्पीड़ितोंके शरणद थे, राष्ट्रिय आन्दोलनके कर्णधारोंके मन्त्रदाता थे। सब उस पितामहके पास उस स्थितिमें भी पहुँच जाते और सन्तुष्ट होकर लौटते।

महामनाको राजनैतिक जीवनके लिये कालाकाँकर-नरेश राजा रामपालसिंहजीसे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। कालाकाँकरमें ही महामनाके पत्रकार-जीवनका प्रारम्भ हुआ। वहाँसे प्रयाग आनेपर उन्होंने 'अभ्युदय' और 'इंडियन ओपिनियन'का सम्पादन हाथमें लिया। सन् १९३१ में गोलमेजपरिषद्में लंदन जानेसे पूर्व सत्याग्रह-आन्दोलनके वे प्रमुख कर्णधार रहे थे और उनके व्यापक प्रभावके कारण अंग्रेज-सरकारको बहुत सोचना पड़ा था उन्हें केवल कुछ दिनोंके लिये भी बन्दी बनानेके सम्बन्धमें। एकमात्र महामना ही ऐसे राष्ट्रिय कांग्रेसके प्रमुख नेता थे, जिनका प्रभाव देशके प्रत्येक वर्गपर समान रूपसे था। महात्मा गाँधी उन्हें बड़ा भाई कहते थे। राजे-महाराजोंके वे पूज्य थे। धार्मिक जनताके देवता और सम्पन्न वर्गके परम आदरणीय थे। सरकारके उच्च कर्मचारी उनके प्रभावसे परिचित थे और उनका पूरा सम्मान करते थे।

हिंदू-महासभाके तो महामना जन्मदाता थे। हिंदू-संगठन, हिंदू-धर्म उनका प्राण था। उनका सदा एक ही सन्देश था—'प्रत्येक हिंदू-घरमें एक गाय हो। प्रत्येक गाँवमें अखाड़ा हो। प्रत्येक हिंदू युवक बलवान् बने।' लेकिन उनके मनमें द्वेषको स्थान ही नहीं था। वे तो स्पष्ट कहते थे—'विदेशी मत पहनो, यह कहना ही द्वेषमूलक है। हमें तो कहना है—स्वदेशी ही पहनो।' जातिगत विद्वेषको उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया।

नोआखालीका वह पैशाचिक हत्याकाण्ड, जराजर्जर, रोगकृश महामनाने वह समाचार सुना और उनका हृदय विद्ध हो गया। वह धक्का सम्हाल नहीं सके वे। यह सभी जानते हैं कि नोआखालीकाण्डने ही १२ नवम्बर सन् १९४६ को महामनाका बलिदान लिया। उनके अन्तिम सन्देशमें हिंदू-संगठन, हिंदू जागरणकी कातर पुकार है। उन्होंने कहा था—'जो हिंदुओंको शान्तिके साथ नहीं रहने देना चाहते, उनके साथ किसी प्रकारकी सहिष्णुता नहीं हो सकती।......हिंदू-संस्कृति और हिंदू-धर्म खतरेमें हैं। परिस्थिति संकटापन्न है। ऐसा समय आ गया है कि हिंदू एक होकर सेवा तथा सहायताके साधनोंको परिपुष्ट करें।' आज भी उन महापुरुषकी चेतावनी वैसी ही नहीं है—कैसे कहा जा सकता है।

एक सच्चा मानव, एक सच्चा आदर्श हिंदू, एक सच्चा महापुरुष आया और चला गया। भारतके राष्ट्रिय आन्दोलनने उससे बहुत कुछ पाया और बहुत कुछ पाया हिंदू-जातिने; किंतु यदि राष्ट्रके कर्णधार और हिंदू एक होकर उसके आदर्शको स्वीकार कर लेते, भारत सचमुच ऋषियोंका भारत हो जाता। हिंदू-संस्कृति पुनर्जीवन प्राप्त कर लेती; क्योंकि महामना स्वयं हिंदू-संस्कृति, सादगी, सदाचार एवं आदर्शकी जीवित प्रतिमा थे।

वन्द्य मालवीय! तुम्हें भूल न सकेंगे हम, दीनदुखियोंके सुखदायक तुम्हीं रहे।
पुरुष अनेक पुरुषोत्तम तुम्हीं थे एक, शर[1] हैं असंख्य किंतु सायक[2] तुम्हीं रहे॥
विश्वबन्धुताके गीत-गायक बहुत, पर सबके सुहृद, सब लायक तुम्हीं रहे।
होते जगतीमें जन-नायक अनेक, किंतु हिंदुओंके एक ही सहायक तुम्हीं रहे॥ ('राम')

—रा० श्री०

१. सरकंडे। २. लक्ष्य बींधनेवाला बाण।

भारत-जननि

(रचयिता—श्रीशत्रुदमनप्रसादनारायण शर्मा; बी० ए०, एल्-एल्० बी०, विशारद)

शार्दूल-विक्रीडित छन्द

(१)

तू रत्नाकर-चीर-मण्डितशुभा शुभ्र-त्रपा-रक्षिणी ।
मातः कूट-पयोधरा प्रसवती गङ्गा-सुधा-धार तू ॥
तू है हैम-किरीट-शोभित-शिखा आपूर्ण-धान्याञ्चला ।
नाना-रत्न-मणि-प्रवाल-बहुला माताऽन्नपूर्णेश्वरि !

(२)

हे सूर्याग्नि-सुधाधर-त्रिनयने, पद्मासने, स्मितानने !
शुभ्राकाश किरन्वितान तुझ पै है कीर्तनोंसे भरा ॥
हैं सारे वन-देश-केश विलसे पुष्प-द्रुमोंसे गुँथे ।
गङ्गा और सरस्वती रविसुता दीर्घा त्रिवेणी बनीं ॥

(३)

क्या ही श्रीनगरी शुभा विलसती भूषा ललाट-स्थिता ।
सौम्या तक्षशिला सु-पुष्करवती हैं भद्र कर्णेन्द्रियाँ ॥
इन्द्रप्रस्थ बना त्वदीय मुख है, ऐश्वर्यका केन्द्र जो ।
है कण्ठस्थल तीर्थराज, जिसमें थे वेद गाये गए ॥

(४)

काशी नाभि बनी महर्घ-वसना आनन्द-चित्कानना ।
औ यों दक्षिण-उत्तरा पथ बने तेरे भुजा-नाल हैं ॥
बङ्ग-प्रान्त, विहार वक्रगतितः पद्मासनोपाङ्ग हैं ।
हे सर्वावयवे, प्रहृष्ट-वदने, कल्याण-संवर्द्धिके ॥

(५)

सारी दिग्वधुएँ, अभीष्ट-वरदे ! सत्कीर्तिमें हैं लगी ।
सारे दिक्पति भी दशोपचरणोंसे अर्चनामें लगे ॥
पञ्चोपासन पञ्चभूत करते कर्मेन्द्रियोत्सर्गतः ।
भव्ये भारत-भूति भागवति ! तू है भास्वती भारती ॥

(६)

तेरे दिव्य अमूल्य दुग्ध-कणमें श्रीविष्णु-ब्रह्मेश हैं ।
हैं देवर्षि, सुरत्न, शेष विलसे क्षीरोदमें मग्न हो ॥
हैं वीणा-वर-दण्ड-मण्डित-करा वाणी बनी वाङ्मयी ।
रुद्राणी शिव-शक्ति साधन-परा, रानी रमा हैं रमी ॥

(७)

तेरे सौम्य शुभाङ्कमें पल चुके श्रीराम, श्रीकृष्ण हैं ।
श्रीसीता, वृषभानुजा कर चुकी हैं भूमिकाएँ यहाँ ॥
शुभ्रोध्या-व्रज-मध्य संस्करण हैं तेरे शुभादर्शके ,
जो अद्यापि सचेत-से कर रहे सप्राण निष्प्राणके ॥

(८)

तेरे ही जल-वायुमें प्रथमतः सद्ज्ञानकी ज्योतिमें—
दूर्वा-संस्कृति-वाटिका कलन-ती वासन्तिकोल्लाससे ॥
तू ही प्राक्तन सभ्यता-प्रजननी अध्यात्म-भावान्विता ।
है सीमा-प्रतिमुक्त तू विहरती भू-स्वर्ग-संस्कारिका ॥

(९)

द्रुत-विलम्बित छन्द

जननि ! जीवन दे, जय-दायिनि !
सुकृत-भाग्य-समुन्नति-दायिनि ।
स्तुति करूँ किस भाँति, न जानता;
कर रहा नति अर्पित पादमें ॥

संस्कृतिके रक्षण और प्रसारमें बाधक तीन महाभ्रम

पाश्चात्त्य विद्वानोंने अजानसे, मतिभ्रमसे, किसी कुटिल अभिसन्धिसे या अन्य किसी भी कारणसे हो—इन तीन महाभ्रमोंका प्रतिपादन, प्रचार और प्रसार किया—

(१) यहाँ आर्यजाति बाहरसे आयी है। भारतवर्ष उसका मूल निवास-स्थान नहीं है।

(२) चार हजार वर्षसे पहलेका कोई इतिहास नहीं है।

(३) जगत्में उत्तरोत्तर विकास—उन्नति हो रही है और भारतीय विद्वानोंके मस्तिष्कमें भी अधिकांशमें ये तीनों बातें प्रवेश कर गयीं। काल-प्रभावसे या दैवसंयोगसे उन्हीं विद्वानोंका सभी क्षेत्रोंमें प्रभाव बढ़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि जनतामें उत्तरोत्तर इन तीनो महाभ्रमोंका विस्तार होने लगा। इसीका यह फल है कि आज भारतीय लोगोंकी अपनी संस्कृति, अपने धर्म, अपने पूर्वज, अपने महाभारत-रामायणादि प्राचीन इतिहास, अपने धर्मग्रन्थों,—श्रुति-स्मृति और पुराण-ग्रन्थोंपर अवहेलना, अश्रद्धा और अनास्था बढ़ रही है!

हमलोग जब बाहरसे आये हुए हैं, तब यहाँकी भूमिपर हमारा कोई ममत्व क्यों होना चाहिये। यद्यपि आजके जगत्की देशभक्तिके प्रचारसे भारतवर्षको इस समय लोग अपनी जन्म-भूमि मानते हैं और इसके साथ अपनत्व भी है; परंतु जबतक इसे पूर्वजोंकी पवित्र पितृभूमि नहीं मानते, तबतक भावमें उतनी उच्चता नहीं आ सकती।

चार हजार वर्ष पहलेका कोई इतिहास नहीं, इसका परिणाम हुआ कि हमारे वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण—सभी चार हजार वर्षके अंदर-अंदर बने हुए माने जाने लगे और इनमें केवल कवि-कल्पनाकी भावना होने लगी। पूर्वजोंके सच्चे गुण-गौरव कल्पनाकी आँधीमें उड़ गये। काल छोटी-सी संकुचित सीमामें आबद्ध होकर हमारा विशाल ज्ञानभण्डार और गौरवपूर्ण अतीत सर्वथा निष्प्रभ और व्यर्थ हो गया।

तीसरे भ्रमने तो बहुत बड़ा अनर्थ किया। सृष्टिके आदिकालसे जगत्में उत्तरोत्तर विकास हो रहा है—इस मान्यताने अतीतके ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, सदाचार, आचार-विचार, बुद्धि-विवेक, शौर्य-वीर्य, त्याग-तपस्या, वैभव-ऐश्वर्य और भाव-प्रभाव—सभीपर पानी फेर दिया। आज जितनी उन्नति है, उतनी दस हजार वर्ष पहले नहीं थी; दस हजार वर्ष पहले जितनी थी, उतनी लाख वर्ष पहले नहीं थी। लाख वर्ष पहले जितनी थी, उतनी करोड़ वर्ष पहले नहीं थी। भ्रम तो यहाँतक फैलाया जा रहा था कि सृष्टिकी उम्र ही केवल चार-पाँच हजार वर्षकी है; परन्तु वह भ्रम तो अब टिक नहीं सका। इसलिये उसको तो लोग छोड़ रहे हैं, पर इस विकासवादका महाभ्रम अभी बड़े-बड़े मस्तिष्कोंमें भरा है।

इन तीन भ्रमोंने हम भारतवासियोंको सहज परमुखापेक्षी और परानुकरणपरायण बना दिया है। इसीका एक ताजा उदाहरण हमारा 'नवविधान' है। इसमें आदिसे अन्ततक केवल विदेशीय विधानोंका आश्रय लिया गया है, अपने प्राचीन ग्रन्थोंमें शासन और राजनीतिपर जो विशद विचार किया गया है उसकी ओर देखा भी नहीं गया। इन्हीं भ्रमोंके कारण बाहरसे स्वराज्य मिल जानेपर भी हमारा मस्तिष्क अब भी परतन्त्र है। नीयत बुरी न होनेपर भी और अपने प्राचीन गौरवकी बातें प्रिय लगनेपर भी हमें यह विश्वास नहीं होता कि आजके जगत्की अपेक्षा हमारा प्राचीन जीवन बहुत उन्नत था और हमारा ज्ञानभण्डार बहुमूल्य रत्नोंमें भरा था। आज भी खोज करनेपर उसमें ऐसे-ऐसे रत्न मिल सकते हैं, जिनकी अन्यान्य उन्नत कहानेवाले देशोंको कल्पना भी नहीं है। यह अविश्वास इसीलिये है कि हमारे मनमें यह बात दृढ़ताके साथ जँच गयी है कि जगत्में उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है। आज जितनी उन्नति है, उतनी उन्नति पहले कभी थी ही नहीं। इसीलिये हम प्रत्येक विषयमें आजकी उन्नतिकी नकल करना चाहते हैं। यह घोर आत्मविस्मृति बड़ी ही बुरी है और इसीके कारण हमारे मस्तिष्कमें परतन्त्रताके विचारोंने अपना एक सुरक्षित स्थान बना लिया है।

भारतवासियोंको गम्भीर विचार करके अपने ज्ञानके प्रकाशसे इन तीनो भ्रमोंके अन्धकारका नाश कर देना चाहिये—नहीं तो उन्नतिके नामपर अवनतिकी प्रबल धारामें बहते जाना रुकेगा ही नहीं।

हिंदू-संस्कृति अध्यात्मप्रधान है

प्रधान लक्ष्य भगवत्प्राप्ति

जीवनके सभी क्षेत्रोंमें व्याप्त सनातन परम्परासे चली आती हुई अध्यात्मप्रधान धर्ममय सुसंस्कृत 'विचार और आचारप्रणाली' का नाम ही हिंदू-संस्कृति है। हिंदू-संस्कृतिकी यह निर्मल धारा अत्यन्त प्राचीनकालसे अविच्छिन्नरूपमें प्रवाहित है। अतएव हिंदू संस्कृति सबसे प्राचीन और अपरिवर्तनीय सनातन भारतीय आर्य-संस्कृति है, वही वास्तवमें मानव-संस्कृति है। इस संस्कृतिमें मनुष्य-जीवनका प्रधान और एकमात्र लक्ष्य है—मोक्ष, ज्ञान या भगवत्प्राप्ति। इसीसे इसमें जीवनकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टा इसी लक्ष्यपर ध्यान रखकर की जाती है। इसीलिये हमारे पुरुषार्थ-चतुष्टयमें अन्तिम स्थान मोक्षको दिया गया है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सारांश यह कि हमारा अर्थ और काम (उपभोग) धर्मके द्वारा संयमित-नियमित होता है। धर्मरहित अर्थ और धर्मरहित उपभोग (काम) महान् अनर्थ उत्पन्न करके मनुष्यका विनाश कर देते हैं। रावण, वेन, कंस, दुर्योधन आदि इसके उदाहरण हैं। केवल 'अर्थ' और 'काम'से युक्त जीवन तो पशु-जीवन है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि 'जब धर्म लुप्त हो जाता है, तब अर्थ और काममें फँसे हुए लोग कुत्तों और बंदरोंके समान वर्णसंकर हो जाते हैं।* हिंदू-संस्कृतिमें अर्थ तथा कामका त्याग नहीं है। उनकी भी उपादेयता है, पर वे होने चाहिये धर्मके आश्रित। वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा
धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥
(अयोध्या० २१। ५६-५७)

'धर्मके फलस्वरूप सुख-सौभाग्यादिकी प्राप्तिमें जो धर्म, अर्थ, काम उपाय माने गये हैं, ये तीनों एक धर्ममें वर्तमान हैं। धर्मके अनुष्ठानसे इन तीनोंकी सिद्धि होती है; इसमें मुझे सन्देह नहीं है—जैसे पतिके अधीन रहनेवाली भार्या अतिथि-पूजनादि धर्ममें, मनोऽनुकूल होनेसे काममें और सुपुत्रवती होकर अर्थमें सहायिका होती है। जिस कर्ममें धर्म, अर्थ, काम—तीनों सन्निविष्ट न हों, पर जिससे धर्म बनता हो, वही कर्म करना चाहिये। धर्मको छोड़कर अर्थपरायण रहनेवालेसे लोग द्वेष करने लगते हैं और ऐसे ही कामात्मता भी प्रशंसाकी बात नहीं है।'

मनु महाराज कहते हैं कि जो अर्थ और काम धर्मके विरोधी हों, उन अर्थ और कामका त्याग कर देना चाहिये—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
(४। १७६)

और धर्म—परम धर्म वस्तुतः वही है, जो मनुष्यकी जीवनधाराका मुख श्रीभगवान्‌की ओर मोड़ दे तथा जिससे अविराम गतिसे बिना किञ्चित् भी इधर-उधर भटके जीवनप्रवाह निरन्तर समुद्रकी ओर बहनेवाली गङ्गाजीकी धाराके सदृश उसी दिशामें बहता रहे*—

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।

इसी प्रकार भगवान्‌के निमित्त किये जानेवाले आसक्तिशून्य धर्मयुक्त कर्मोंका फल बन्धनमुक्ति, दिव्यलोकोंकी प्राप्ति, परमात्मरूप परम स्वातन्त्र्य (मोक्ष) की प्राप्ति एवं शाश्वत शान्तिकी उपलब्धि होती है†। वेदमें कहा गया है—

---

* तदाऽर्थधर्मश्च विलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः॥
(श्रीमद्भा० १। १८। ४५)

* स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
(श्रीमद्भा० १। २। ६)

'मनुष्योंके लिये सबसे श्रेष्ठ परम धर्म वही है, जिससे श्रीभगवान्‌में अहैतुकी और कभी न टूटनेवाली भक्ति हो। ऐसी भक्तिसे सच्चिदानन्द परमात्माकी उपलब्धि करके वह कृतकृत्य हो जाता है।'

† धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः।
लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्यमसङ्गिनाम्॥
(श्रीमद्भा० ४। १४। १५)

'मनुष्य यदि मन, वाणी, शरीर और बुद्धिसे धर्मका आचरण करे तो वह धर्म उन्हें शोकरहित दिव्यलोक प्रदान करता है तथा यदि धर्म करनेवाले पुरुष स्वर्गादि लोकोंके भोगोंमें आसक्त न हों तो वही धर्म उन्हें मोक्षकी प्राप्ति करवा देता है।'

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(शुक्ल यजुर्वेद ४० । १-२)

'अखिल विश्वमें जो कुछ भी जड-चेतन जगत् है, यह सब ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको साथ रखते हुए, त्यागपूर्वक भोगते रहो। इसमें आसक्त मत होओ। किसीके भी धनकी इच्छा मत करो। इस जगत्में इस प्रकार ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म करते हुए सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करो। यों त्यागभावसे किये गये कर्म तुझ मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।'

श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
(३ । ९)

'यज्ञ (भगवान्) के निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य कर्मोंसे बन्धनको प्राप्त होता है। अतएव अर्जुन! तुम आसक्तिरहित होकर उस यज्ञ (भगवान्) के लिये ही भलीभाँति कर्म करो।'

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकल परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥
(११ । २ । ३६)

'शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे अनेक जन्मों अथवा एक जन्मके स्वभाववश जो कुछ भी करे, सब परमपुरुष भगवान् श्रीनारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे।'

भगवान्ने गीतामें स्वयं समर्पणकी आज्ञा की है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९ । २७)

'अर्जुन! तुम जो कर्म करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान देते हो और जो तप करते हो, वह सब मेरे अर्पण करो।'

इस अर्पणका फल भी भगवान् वहीं बतलाते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(९ । २८)

'इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्में अर्पण हो जाते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाले तुम शुभाशुभरूप कर्मबन्धनसे छूट जाओगे और उनसे छूटकर मुझको प्राप्त होओगे।'

हिंदू-संस्कृतिका प्रधान और मूल स्वरूप यही है। यह संस्कृति जीवको विषयासक्तिके नीचे स्तरसे उठाकर अध्यात्मके उच्च स्तरपर ले जाती है। इसका प्रत्येक साधन, विचार और कर्म आत्माको परमात्मातक पहुँचानेमें सहायक होता है।

धर्म और समवितरण

मोक्ष जीवनका ध्येय है। इसीलिये हिंदू-संस्कृतिमें धर्मके साथ जीवनका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। छोटे-से-छोटे कर्मसे लेकर बड़े-से-बड़े कर्ममें धर्म सदा संलग्न है। परम धर्म तो भगवान्की भक्ति ही है। पर उसके साथ कुछ ऐसे लक्षण धर्मके बतलाये गये हैं, जो सभीके लिये परम उपादेय हैं। श्रीमनुमहाराज कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(२ । १२)

जो वेद और स्मृतिके द्वारा प्रतिपादित, सत्पुरुषोंके द्वारा आचरित और अपनेको प्रिय लगनेवाला हो*—ऐसा चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण बतलाया गया है।

* अपनेको प्रिय लगे, वैसा ही आचरण दूसरोंके प्रति करे। अपनेको सम्मान, प्रेम, हित, द्वेष-दम्भरहित सद्व्यवहार प्रिय लगता है, तो दूसरोंके साथ भी वैसा ही करना चाहिये। महाभारतमें आया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्मका सर्वस्व—सार सुनना और उसे धारण करना चाहिये। जो कुछ भी अपनेसे प्रतिकूल हो, दूसरोंके साथ भी वैसा व्यवहार न करे।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६। ९२)

'धृति, क्षमा, दम (मनका संयम), अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी (विज्ञान), विद्या (अध्यात्मविद्या), सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।'

'श्रीमद्भागवतमें इस मानवधर्मको तीस लक्षणोंसे बतलाया गया है—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
(७। ११। ८–१२)

सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, निष्कपटता, सन्तोष, समदृष्टि, महापुरुषोंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल विपरीत होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, अन्न आदि पदार्थोंका प्राणियोंमें यथायोग्य विभाजन, उन सभी प्राणियोंको—विशेष करके मनुष्योंको अपना आत्मा और इष्टदेव ही समझना, संतोंकी परमगति, भगवान्‌के गुण-माहात्म्यादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—यह सभी मनुष्योंके लिये परम धर्म है। इस तीस लक्षणवाले धर्मके पालनसे सबके आत्मारूप भगवान् प्रसन्न होते हैं।

इन लक्षणोंपर विचार करके देखिये। जिस संस्कृतिमें धर्मके ये लक्षण हों, उससे जगत्‌का कोई भी प्राणी कैसे दुःखी हो सकता है। मनुष्यमें ही नहीं, प्राणीमात्रमें आत्मबुद्धि या इष्टदेवबुद्धि रखना और अन्नादि पदार्थोंका सबमें समान भावसे यथायोग्य विभाग कर देना—इससे बढ़कर समवितरण और क्या हो सकता है?

श्रीभगवान्‌ने गीतामें तो यहाँतक कह दिया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३। १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष समस्त पापोंसे छूट जाते हैं; पर जो पापी मनुष्य अपने शरीर पोषणके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो (अन्नकी जगह) पाप ही खाते हैं।'

इसीसे हिंदू-घरमें नित्य पञ्चमहायज्ञ होता है। संसारमें पाँच प्रकारके प्राणी हैं और उनके परस्पर सहयोगसे सबकी पुष्टि-तुष्टि और संरक्षण-संवर्धन होता है। ये पाँच हैं—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और इतर समस्त प्राणी। देवताओंसे (भूमि, जल, सूर्य, चन्द्रमा आदिके द्वारा) संसारको इष्टभोग प्राप्त होते हैं। ऋषि-महर्षियोंसे ज्ञान मिलता है, पितरोंसे भरण-पोषण और परम हितकी सद्भावना प्राप्त होती है। मनुष्य अपने-अपने कर्मके द्वारा एक दूसरेकी सेवा करते हैं एवं पशु, पक्षी, वृक्ष-लतादि सबके सुखके लिये सदा अपनेको अर्पण किये रहते हैं। इन पाँचोंमें मनुष्य विशेषरूपसे योग्य और साधनसम्पन्न है। इसीलिये मनुष्यपर सबकी पुष्टिका दायित्व है। कर्मका उसीको अधिकार है। अतः मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ उपार्जन करे, उसमें सबका भाग समझे; क्योंकि वह सभीके सहयोगसे कमाता-खाता है—जीवन-यापन करता है। इसीसे यज्ञसे बचे हुए अन्नको अर्थात् इन पाँचोंके अपने-अपने भागोंको देनेके बाद जो बच रहता है, उस अन्नको जो खाता है, वह 'अमृत' खाता है। पर जो कमाईमेंसे दूसरोंका उचित भाग उन्हें न देकर सब अकेला हड़प जाता है, वह पाप खाता है।

आजकल कुछ लोग कहा करते हैं कि "हम तो इसीलिये 'साम्यवाद' चाहते हैं कि लोगोंको रोटी-कपड़ा मिले। हिंदू-संस्कृतिमें इस रोटी-कपड़ेकी कोई व्यवस्था नहीं है।" पर ऐसा कहनेवाले हिंदू-संस्कृतिके स्वरूपसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। असल बात तो यह है कि रोटी-कपड़ेकी जैसी व्यवस्था हिंदू-संस्कृतिमें है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं है। अन्य स्थानोंमें कहीं कुछ अधूरी व्यवस्था है तो वह किसी देश-

विशेषकी सीमामें ही अवरुद्ध है। वह भी केवल मनुष्योंके लिये और उन मनुष्योंके लिये है, जो अपने मतके हैं। परन्तु हिंदू-संस्कृतिमें यह व्यवस्था प्राणिमात्रके लिये है। यहाँ तो प्रत्येक जीवको भगवान् मानकर उसकी सेवा करनेका आदेश है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

व्यवहारमें सबसे अधिक ममत्वका व्यवहार सन्तानके प्रति होता है। देवर्षि नारदजी धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्॥
(श्रीमद्भा० ७। १४। ९)

'हरिन, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, साँप, पक्षी और मक्खी आदिको अपने निज पुत्रके समान समझे। उनमें और पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है।'

कितनी उदार संस्कृति है यह, जिसमें प्राणिमात्रको अभयदान ही नहीं, सच्चा स्नेहदान है और सबके लिये यथायोग्य वितरणकी सुव्यवस्था है। आजकल तो 'अधिक अन्न उपजाओ' की तरंगमें बंदर, हरिण और नीलगाय-जैसे पशुओंके सामूहिक संहारकी राक्षसी व्यवस्था हो रही है। आजका स्वार्थी मनुष्य किस स्तरपर आ गया है! आश्चर्य यह कि इन वन्दरमार लोगोंको प्राणिमात्रको आश्रय देनेवाली समतासम्पन्न उदार हिंदू-संस्कृतिमें साम्प्रदायिकताकी बू आती है! और इसकी निन्दा करनेमें उन्हें सुख मिलता है!!

समता

यह अवश्य है कि हिंदू-संस्कृतिमें समता विवेकपूर्ण है। हिंदू इस बातको जानते हैं कि समता आत्मामें होती है, शरीरके व्यवहारमें नहीं होती। हिंदू दार्शनिकोंका यह अनुभव है कि सृष्टिकी स्थिति प्रकृतिकी विषमतामें ही है। जहाँ प्रकृतिका वैषम्य मिट जाता है, वहाँ जगत्का अस्तित्व ही लोप हो जाता है। वह तो महाप्रलयकी अवस्था है, जिसमें प्रकृति देवी परमात्माके अंदर प्रविष्ट होकर सो जाती है।

इसीलिये हिंदू विद्वान् जिन जीवोंके आकार-प्रकार, खान-पान, व्यवहार-वर्तावमें कभी समता हो ही नहीं सकती, उनमें भी ब्रह्म—परमात्माको समभावसे विराजित देखते हैं। भगवान् कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गीता ५। १८)

'वे पण्डितजन विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मणमें, चाण्डालमें तथा गौ, हाथी और कुत्तेमें भी समदर्शी होते हैं।'

यहाँ कोई कह सकते हैं—'ब्राह्मण और चाण्डाल—दोनो ही मनुष्य हैं। इनमे समदर्शन ही क्यों, समान व्यवहार भी हो सकता है।' (यद्यपि यह संभव नहीं) उनसे यह कहना है कि मनुष्यकी बात तो ठीक है—पर गाय, हाथी, कुत्तेके साथ भी क्या सम व्यवहारकी बात कभी सोची जा सकती है? गौका दूध लोग चावसे पीते हैं, कुतियाका कोई नहीं पीता; हाथीकी सवारीमे गौरव माना जाता है, कुत्तेकी सवारी कोई नहीं करना चाहता। हाथी जितना खाता है, कुत्ता उतनेसे दबकर मर जा सकता है। हाथी, कुत्ते और गायके आकार-प्रकारमें भी बड़ा भेद है। इस अवस्थामें इनमें सम-व्यवहारकी बात कहना पागलपन मात्र है। पर व्यवहारमें विषमता होते हुए भी प्राणिमात्रमें एक ही आत्मा—एक ही भगवान् सदा विराज रहे हैं, इस बातको हिंदू देखता है। वह ब्राह्मणके साथ ब्राह्मणोचित, चाण्डालके साथ चाण्डालोचित तथा गौ, हाथी और कुत्तेके साथ उनके योग्य व्यवहार करता है; परन्तु उनमे नित्य एक ही परमात्माको देखनेके कारण किसीके साथ असद्व्यवहार नहीं करता और न व्यवहारकी विषमतासे उसके प्रेम और परमात्मभावमें ही न्यूनता आती है।

जिस प्रकार अपने मस्तक, हाथ, पैर आदि अङ्गोंमें आत्मभाव समान होनेके कारण मनुष्य उनके व्यवहारमे भेद रखता है—मस्तिष्कसे विचार करता है, मुँहसे खाता और बोलता है, हाथोंसे आदान-प्रदान करता, लिखता-पढ़ता है और पैरोंसे चलता है। एक अङ्गसे दूसरे अङ्गका काम नहीं लेता; क्योंकि वह जानता है कि यह संभव ही नहीं है। परन्तु सबके सुख-दुःखका समान रूपसे अनुभव करता है और समस्त शरीरमे समान प्रेम करता है। उसी प्रकार व्यवहारमे भेद रखता हुआ भी हिंदू प्रत्येक प्राणीके साथ आत्माके नाते सदा समभावापन्न रहता है, और वह जैसे अपने योगक्षेम तथा कल्याणके लिये प्रयत्न करता है, वैसे ही अन्यान्य जीवोंके लिये भी करता है।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६।३२)

'अर्जुन! जो योगी अपनी ही तरह समस्त भूतोंमें सम (आत्माको) देखता है और सुख या दुःखको भी सबमें सम देखता है; वह परम श्रेष्ठ योगी माना गया है।'

यदि कहीं किसीके साथ कभी व्यवहारमें युद्धादि-जैसी क्रूर क्रिया करनी पड़ती है तो वैसे ही जैसे मनुष्य अपने किसी सड़े अङ्गका विकार निकालनेके लिये शस्त्रक्रिया (ऑपरेशन) कराता है। गीतामें भगवान्ने अर्जुनको स्थान-स्थानपर युद्धके लिये आज्ञा दी है। पर साथ ही यह कहा है कि राज्यकी आशासे, कामनासे, आसक्तिसे और अहंकारके वशमें होकर युद्ध न करो। युद्ध करो मेरी आज्ञा मानकर, मेरे लिये, मेरी प्रसन्नताके लिये, मेरा कर्म मानकर। ऐसे विकट कर्ममें भी न आसक्ति रहे, न किसीके साथ वैर रहे—रहे केवल भगवत्परायणता, भगवद्भक्ति और भगवत्कर्म। इसीका नाम अनन्य भक्ति है। इसीसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।*

यह हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है कि इसमें विषमतामें समता देखनेका तथा क्रूर कर्ममें भी अनासक्त और निर्वैर रहकर उन्हें भगवत्कर्म बनाने एवं उनमें भक्ति और परायणता-का संयोग करनेका कौशल प्राप्त है।

व्यावहारिक अनेकतामें तात्त्विक एकता और प्रकृति-जनित जगत्की विषमतामें परमात्माकी नित्य समता देखना हिंदू-संस्कृतिकी विशेषता है। इसी संस्कृतिमें यह अनुभव करके बतलाया गया है कि यह सारा जगत् एक ही भगवान्-से निकला है, उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें समाता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् ब्रह्म— (तैत्तिरीय० ३।१)

एवं इस सर्वगत परमात्माकी अपने-अपने कर्मोंके द्वारा पूजा करके मनुष्य जीवनकी परम और चरम सफलताको प्राप्त कर सकता है।*

वर्णधर्म

अपने-अपने कर्मोंके अनुसार भगवान्के विधानसे जीवको जिस वर्णमें (या जिस योनिमें) जन्म ग्रहण करना पड़ता है, उसके जो स्वाभाविक कर्म हैं; वही उसके 'अपने कर्म' (स्वकर्म) हैं। यही वर्णधर्म है। वर्णधर्ममें सबके लिये पृथक्-पृथक् रूपसे कर्म नियत हैं। वर्णधर्मके अनुसार जिस वर्ण या जातिकी जो पैतृक आजीविका है, उसीको अपनाकर उसी-में सन्तुष्ट रहना और उससे जो कुछ उपार्जन हो, उसको यथायोग्य रीतिसे समाजमें वितरण कर देना उसका कर्तव्य है। जन्मसे ही वृत्ति नियत होनेसे न तो किसीमें कभी प्रतिस्पर्धा-का भाव आता है, न कोई किसीकी वृत्ति छीननेका प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त, वंशपरम्परासे आजीविकाके जो साधन चले आते हैं, स्वाभाविक ही उनमें उस वंशके लोग निपुण हो जाते हैं। उनके रक्त-मांसमें उसके भाव भरे रहते हैं। इससे उनका कार्य बहुत सुन्दर और सुचारुरूपसे सम्पन्न होता है।

वर्णोंमें न तो आत्माकी दृष्टिसे कोई भेद है और न कर्म-भेदसे उनमें कोई छोटा-बड़ा है। अपने-अपने स्थानपर सभीका समान महत्त्व है। सभी अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरेके पूरक और सहायक हैं तथा सभीकी अपने-अपने स्थानपर विशिष्ट उपयोगिता है। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल तथा श्रमबलसे गौरवशाली है। यही इनका स्वधर्म है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्-के दिव्य शरीरसे हुई है। ब्राह्मणकी भगवान्के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(ऋग्वेद १०।९०।१२)

---

* मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११।५५)

अर्जुन! जो पुरुष मेरे ही लिये कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है, समस्त प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है; वह (अनन्य भक्तियुक्त पुरुष) मुझ (भगवान्) को ही प्राप्त होता है।

* यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८।४६)

जिस (परमेश्वर) से सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जो इस समस्त जगत्में व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।

ये सब अपने-अपने कर्मका सुचारुरूपसे सम्पादन करते रहे तो जन्मान्तरमें वे उच्च वर्णके होते हैं। जैसे नाटक-मण्डलीमे किसी अभिनेताके द्वारा अपने जिम्मेका अभिनय सफलताके साथ सम्पन्न किये जानेपर उसे दूसरे श्रेष्ठ पात्रका अभिनय मिल जाता है; वैसे ही इस जगन्नाटकमे सफल अभिनेताको जन्मान्तरमे उच्च वर्णकी प्राप्ति होती है।

कर्म और पुनर्जन्म

हिंदू-संस्कृतिमे 'कर्म' और 'पुनर्जन्म'का सिद्धान्त अनुभव-सिद्धरूपसे मान्य है। कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है और कर्मानुसार जन्मान्तरकी प्राप्ति होती रहती है एवं जबतक भगवत्प्राप्ति या मुक्ति नहीं हो जाती, तबतक यह जन्म-मरणका प्रवाह चलता ही रहता है। मरनेपर कर्मानुसार जीव आतिवाहिक देह प्राप्त करके तेजःप्रधान देव-देहसे स्वर्गादि लोकोंमें अथवा वायुप्रधान पितृ-प्रेतादि-देहसे पितृ-प्रेत-लोकोंमे जाता है; परंतु इसके सिद्धान्तमे अनन्तकालीन स्वर्ग या नरक नहीं है। स्वर्ग या नरकादिके सुख-दुःख भोगकर जीव पुनः अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमे जन्म लेता है।

मनुष्य कर्म करनेमे स्वतन्त्र है और फलमे परतन्त्र है। निषिद्ध कर्माचरणसे अन्धकारमय दुःखप्रद नरकादि लोक और नीच पशु-पक्षी आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं और पवित्र वैध कर्मोंके फलस्वरूप सुखमय स्वर्गादि लोक और उत्तम श्रेष्ठ वर्णकी मानव-योनि प्राप्त होती है। छान्दोग्योपनिषद्में कहा है—

रमणीयचरणाः······रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा······कपूयचरणाः *कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।*

(५।१०।७)

'उन जीवोंमे जो अच्छे आचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरणवाले होते हैं, वे तत्काल अशुभयोनिको प्राप्त होते हैं। वे कुत्तेकी योनि, शूकरयोनि या चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं।'

आश्रम-धर्म

वर्णव्यवस्थाकी भाँति ही हिंदू-संस्कृतिमे आश्रम-व्यवस्था है। हिंदू-संस्कृतिका साध्य त्याग है, भोग नहीं। संसारके तुच्छ, अल्प, सीमित और दुःखमिश्रित भोगोमे आसक्ति न रखकर जीवनको त्यागमय बनाना इसमें महत्त्वकी बात मानी जाती है। हिंदू-संस्कृतिमें स्वाभाविक ही भोगीकी अपेक्षा त्यागीका स्थान ऊँचा है। महान् सम्राट् भी त्यागी महात्माओंकी चरणधूलि सिरपर चढ़ानेमे अपना सौभाग्य समझता है। किसके पास कितना अधिक धन-ऐश्वर्य है, इसका कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है इस बातका कि कौन कितना बड़ा त्यागी है। पाश्चात्त्योंके संगसे जबसे भारतने इस त्यागके महत्त्वको भुलाया और अपनी संस्कृतिके सिद्धान्तोंके विरुद्ध भोगैश्वर्यके पीछे पागल हुआ, तभीसे जीवनका लक्ष्य मानकर उसकी दृष्टि केवल अर्थ और अधिकारपर टिकने लगी और तभीसे अनाचार, दुराचार, चोरी, छल, कपट, चोर-बाजारी, रिश्वतखोरी आदि दोष आ गये और ये तबतक नहीं मिट सकेंगे, जबतक कि त्यागकी महत्ताका यथार्थ अनुभव न हो जायगा।

हमारे आश्रमधर्ममे आरम्भसे ही त्यागकी शिक्षा दी जाती है। 'ब्रह्मचर्याश्रम'मे राजकुमार भी गुरुकुलमे उसी रूपसे रहता है, जिस रूपमे एक निर्धनका बालक। और नियमतः ही वहाँ समस्त विलास-सामग्रियोंका—ऐन्द्रिय सुखोपभोगोंका त्याग और मन-इन्द्रियका संयम रखना पड़ता है। त्यागकी इस प्रथम घाटीको पार करके वह 'गृहस्थाश्रम'मे आता है,वहाँ उसे भोगोमे रहकर त्यागी बनना पड़ता है। धन कमाता है पर अपने लिये नहीं, सारे समाजके लिये, विश्वके लिये—भगवान्के लिये। पुत्रोत्पादन करता है, पर अपने लिये नहीं, समाजके लिये, धर्मके लिये, भगवान्के लिये। वह संयमी और जितेन्द्रिय होता है। वह सारे समाजका सेवक होता है। तीनो आश्रमोंका और प्राणिमात्रका आश्रय होता है।* सबकी

* यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥
(मनु० ३।७७–७९)

'जैसे सब प्राणी प्राणवायुका आश्रय लेकर जीते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थाश्रमीका आश्रय लेकर जीते हैं; क्योंकि गृहस्थ ही नित्य विद्या और अन्नका दान देकर तीनों आश्रमवालोंको टिकाये रखता है, अतः गृहस्थाश्रमी पुरुष तीनों आश्रमोंसे श्रेष्ठ है। जिसको स्वर्गके अक्षय सुखकी तथा इस लोकमें सुखकी इच्छा हो, उसको प्रयत्नपूर्वक गृहस्थाश्रम धारण करना चाहिये, जो अजितेन्द्रिय पुरुषोंके द्वारा धारण नहीं किया जा सकता।'

सेवा करके प्रसादरूपसे जो प्राप्त होता है, उसीको अमृतरूप जानकर वह अपना काम चलाता है। इस आश्रममें जीवनका एक महान् उत्तरदायित्वयुक्त कर्मपूर्ण अंश बिताकर और अपने सुयोग्य त्यागभावापन्न उत्तराधिकारीपर घरका भार सौंपकर त्यागके पथमें और भी आगे बढ़नेके लिये वह 'वानप्रस्थ' आश्रममें पहुँचता है और अन्तमें चतुर्थाश्रम—संन्यासमें सम्यक् प्रकारसे सम्पूर्ण त्याग करके परमात्माके साथ एकात्मता प्राप्त करता है। चारों आश्रम उत्तरोत्तर अधिकाधिक त्यागकी स्थितिमें ले जानेवाले हैं और अपने-अपने पूर्वाश्रमकी सुदृढ़ भित्तिके आधारपर स्थित हैं।

विवाह

हिंदू-संस्कृतिमें विवाह कभी न टूटनेवाला एक परम पवित्र धार्मिक संस्कार है, यज्ञ है। वह इन्द्रियसुखभोगके लिये नहीं, बल्कि पुत्रोत्पादनके द्वारा परलोकगत पितरोंको सुख पहुँचाने और देवताओंको तुष्ट करनेके लिये है। इसमें विवाह-विच्छेदकी बात तो दूर रही, जन्म-जन्मान्तरतक पति-पत्नीका पवित्र सम्बन्ध बना रहता है। इसीसे हिंदू-स्त्रियाँ पतिके शवके साथ हँसते-हँसते सती हो जाती हैं। इस गये-गुजरे जमानेमें भी सतियोंके चमत्कार होते ही रहते हैं*।

बड़ोंकी सेवा

हिंदू-संस्कृतिमें माता-पिता, गुरु और श्रेष्ठ पुरुषोंकी वन्दना तथा सेवाका बड़ा महत्त्व है। मनु महाराज कहते हैं—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते॥
(मनु० २। २२५, २२६, २२७, २३२)

'आचार्य, पिता, माता और बड़े भाई—इनका, इनसे सताये जानेपर भी, अपमान न करे। ब्राह्मणको तो विशेषरूपसे इनका अपमान नहीं करना चाहिये। क्योंकि आचार्य ब्रह्माकी मूर्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्ति, माता पृथ्वीकी मूर्ति

---

* अभी हालमें सीतापुरके चमखरि ग्राममें एक सती हो गयी है। इस सम्बन्धमें हमारे पास बहुत-से पत्र आये हैं। सभीमें लिखा है कि अग्नि अपने-आप प्रकट हो गयी थी। उन पत्रोंमेंसे एक पत्र यह है जो श्रीमनोहरलालजी वैश्यका लिखा हुआ है। हमने जाँचके लिये वहाँ अपने एक आदमीको भेजा था। उन्होंने भी इस घटनाको सर्वथा सत्य बतलाया है—

सतीका चमत्कार

ग्राम पातावोझ-महोली (सीतापुर) निवासी श्रीरामचरणलालके पुत्र श्रीसरयूप्रसादजी वैश्यकी सुपुत्री श्रीजयदेवीका जन्म महोलीमें हुआ था। श्रीजयदेवीके पिता जूनियर हाई स्कूल महोलीमें आज भी अध्यापक हैं। श्रीजयदेवी बचपनसे ही भगवान्का भजन, साधन और रामायणपाठमें विशेष रुचि रखती थीं। आजसे सात वर्ष आठ मास पूर्व उसका विवाह चमखरि ग्राम-निवासी श्रीद्वारकाप्रसादजी वैश्यके पुत्र श्रीराजेलालजीके साथ सम्पन्न हुआ। विवाह महोलीमें ही हुआ था।

श्रीजयदेवीजी चमखरि ग्राममें रहते हुए पातिव्रत-धर्मका पालन करती हुई पति एवं परिवारकी सेवामें संलग्न रहीं।

इस समय उनके पतिकी अवस्था २२ साल एवं श्रीजयदेवीजीका १९ वाँ वर्ष पूरा हो रहा है। इनके पतिदेव श्रीराजेलालजीका पौषकृष्ण १२ शुक्रवार ता० १६ दिसम्बर सन् १९४९ को सन्ध्या-समय ४ बजे स्वर्गवास हो गया। तब श्रीजयदेवीजीने सबसे कहा कि 'बिना स्नान किये हुए कोई भी व्यक्ति मेरे पतिके शवको स्पर्श न करे एवं न स्नान किये बिना कोई घरमें ही प्रवेश करे और कोई भी रोये नहीं। फिर अपने श्वशुर श्रीद्वारकाप्रसादजीसे कहा कि 'आप पुलिस सीतापुर तथा महोलीको सूचना कर दीजिये, जिससे पीछे आपको कोई परेशान न करे।' इतनेमें तो यह समाचार चारों ओर फैल गया।

तदनन्तर श्रीजयदेवीजी स्नानादिसे निवृत्त होकर रात्रिभर श्रीरामायण-पाठ करती रहीं। दूसरे दिन बारह बजे मध्याह्नकालतक पाठ, स्वाध्याय, भगवन्नाम-कीर्तन इत्यादि होता रहा। बादमें रथी श्मशान-घाटको रवाना हुई। हजारों आदमियोंकी भीड़ साथ थी। पुलिसके अधिकारियोंने कई प्रकारके प्रश्न श्रीसतीजीसे किये।

श्रीसतीजीने केवल इतना ही कहा, 'ईश्वर! तुम्हीं सबके एकमात्र सहायक हो। तुम्हीं मेरा बेड़ा पार लँघाओ।' भगवत्प्रार्थना करती हुई वे शवके आगे-आगे ग्रामसे दक्षिण तीन फर्लांगतक गयीं।

पौषकृष्ण १३ शनिवारको २ बजकर २० मिनटपर पतिका सिर अपनी गोदमें रखकर राम-राम कहती हुई वे चितापर बैठ गयीं। सतीजीने पहले श्रीसूर्यभगवान्की ओर हाथ जोड़कर देखा। फिर नतमस्तक हो पुनः सूर्यभगवान्की ओर देखा। एकाएक उनके दोनों नेत्र अरुणिमामय हो गये, ललाट चमकने लगा। फिर अन्तिम बार सूर्यभगवान्की ओर देख दोनों हथेलियोंको घिसा। तुरंत ही अग्निदेव प्रज्वलित हो गये। सब लोग 'जय-जय' पुकार उठे।

उनके श्वशुर श्रीद्वारकाप्रसादजीने पूछा, 'बेटी! हमारे लिये क्या आज्ञा होती है?' तो कहा—'सर्वसम्पत्तिमान् होओगे।' फिर पिता सरयूप्रसादजी तथा दारोगाको आशीर्वाद देकर भगवान्का स्मरण करने लगीं और थोड़ी ही देरमें अग्निमय होकर अपने पतिसहित परम-धामको सिधार गयीं।

और बड़ा भाई अपनी ही दूसरी मूर्ति है (इनका अपमान करनेसे उन-उन देवताओंका अपमान करना माना जाता है)। बालकोंको जन्म देकर उनका पालन-पोषण करनेमें माता-पिताको जो दुःख सहना पड़ता है, उसका बदला सैकड़ों वर्ष सेवा करनेपर भी नहीं चुकाया जा सकता।'

'जो गृहस्थी (माता, पिता और गुरु) इन तीनोंकी सेवामें तत्पर रहता है, वह तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करता है और स्वर्गमें सूर्यके सदृश अपने तेजस्वी शरीरके द्वारा प्रकाश करता हुआ आनन्दमें रहता है।'

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
(मनु० २। १२१)

'जो मनुष्य नित्य बड़ोंको प्रणाम करता है और उनकी सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल चारों बढ़ते हैं।'

हिंदू-संस्कृतिके कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षणोंका यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है। वस्तुतः हिंदू-संस्कृति अध्यात्मप्रधान है। व्यावहारिक लोकहितका पूरा ध्यान रखते हुए सत्य और न्यायपूर्ण साधनसे अनासक्त होकर लौकिक उन्नति करना और उसमें भी जीवनके चरम लक्ष्य भगवान्‌को कभी न भूलते हुए क्रमशः भगवान्‌की ओर बढ़ते रहना इसका प्रधान स्वरूप है। पवित्र भारतवर्षमें इस महान् संस्कृतिका उदय हुआ, इसीसे भारत धन्य है और धन्य रहेगा।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
(विष्णुपुराण २। ३। २४)

'देवतालोग भी निरन्तर यही गाया करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और मोक्षके मार्गभूत भारतवर्षमें जन्म लिया है, वे पुरुष हम देवताओंकी अपेक्षा भी अधिक सौभाग्यशाली हैं।'

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥
किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतै-
र्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना।
न यत्र नारायणपादपङ्कज-
स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात्॥
कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥
(श्रीमद्भा० ५। १९। २१–२३)

देवता भारतवर्षमें उत्पन्न हुए मनुष्योंकी इस प्रकार महिमा गाते हैं—'अहा! जिन जीवोंने भारतवर्षमें भगवान्‌की सेवाके योग्य मनुष्यजन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है? अथवा इनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं? इस परम सौभाग्यके लिये तो निरन्तर हम भी तरसते रहते हैं। हमें बड़े कठोर यज्ञ, तप, व्रत और दानादि करके जो यह तुच्छ स्वर्गका अधिकार प्राप्त हुआ है—इससे क्या लाभ है? यहाँ तो इन्द्रियोंके भोगोंकी इतनी बहुलता है कि उससे दबे रहनेके कारण कभी श्रीनारायणके चरणकमलोंकी स्मृति होती ही नहीं। यह स्वर्ग तो क्या—जहाँके निवासियोंकी एक-एक कल्पकी आयु होती है, किंतु जहाँसे फिर संसार-चक्रमें लौटना पड़ता है, उन ब्रह्मलोकादिकी अपेक्षा भी भारतभूमिमें थोड़ी आयुवाले होकर जन्म लेना अच्छा है; क्योंकि यहाँ धीर पुरुष एक क्षणमें ही अपने इस मर्त्यशरीरसे किये हुए सम्पूर्ण कर्म श्रीभगवान्‌को अर्पण करके उनका अभयपद प्राप्त कर सकता है।'

जगत्‌के लोग निष्पक्ष भावसे इस संस्कृतिके भव्य और दिव्य स्वरूपको समझें तो उन्हें बड़ा भारी आश्वासन मिलेगा और यहाँके निवासियोंका तो यह परम कर्तव्य ही है कि वे—जो आज अपने घरकी महान् संस्कृति और उसके पावन सिद्धान्तोंसे अनभिज्ञ रहकर परमुखापेक्षी बन रहे हैं, अपनी पवित्र आर्य-संस्कृतिकी अवहेलना करके केवल 'अर्थ' और 'अधिकार' के पीछे प्रमत्त होकर 'सनातनधर्म'के विनाशमें ही कल्याणकी भावना कर रहे हैं एवं फलस्वरूप उत्तरोत्तर पाप-तापके मलिन और दुःखप्रद पंकमें फँसे जा रहे हैं—शीघ्र चेतें, अपनी संस्कृतिको जानें, समझें और अपनायें। भारतवर्षका सिर ऊँचा करनेके लिये उसके पास कोई वस्तु थी तो वह उसकी अध्यात्मप्रधान संस्कृति ही थी। इस अध्यात्मको अपनाकर अपना और इसे आजके अशान्त जगत्‌को देकर उसका क्लेश दूर करके ही भारत अपने पुण्य कर्तव्यका पालन कर सकता है। भगवान् हमारी बुद्धिमें प्रकाश दें और अखिल विश्वका मङ्गल करें।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

परमादरणीय डा० हेडगेवार

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ।

उँगलियोंपर गिननेके लिये भी अपर्याप्त सिद्ध होनेवाले अंग्रेजोंको भारतपर शासन करते देखकर बच्चा केशवरावका मन आकुल हो जाता था । देशभक्ति माताके दूधके साथ ही उनके रग-रगमें भरी थी । नागपुर-किलेपर फहरानेवाले यूनियनजैकको उतारकर उसपर राष्ट्रध्वज फहरा देनेके लिये कुछ ही बच्चोंके साथ घरसे सुरंग खोदनेका साहस इसने बचपनमें ही किया । रहस्योद्घाटन होनेपर मा-बापने दाँतोंतले उँगली दबा ली । नागपुरके सनातनी ब्राह्मण पं० श्रीबलीरामजी पन्तको इस बच्चेका पिता बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ । बच्चेका पूरा नाम श्रीकेशवरावजी हेडगेवार था । सम्पत्तिहीन, पर प्रतिष्ठित वंशमें इन्होंने शक संवत् १८१२ (विक्रमीय संवत् १९४६) की प्रतिपदाके दिन जन्म लिया । इन्होंने बारहवाँ वसन्त भी नहीं देखा था कि नागपुरके सन् १९०२ के प्लेगमें इनके माता-पिता साथ ही परलोकवासी हुए ।

प्रारम्भिक जीवनपर इनके यशस्वी बड़े भाईके उग्र स्वभावका प्रभाव पड़ा । पर देशभक्त जीवनके लिये जिस शान्ति, मैत्री और प्रेमकी अपेक्षा थी; वह स्वतः इनमें आ गया । इनके अन्तःकरणमें राष्ट्रोद्धार और लोकसंग्रहकी ज्वलन्त भावनाएँ थीं, फलतः घोर अपराध माना जानेपर भी इन्होंने 'वन्दे मातरम्' आन्दोलन किया और विवश होकर अनुशासन-प्रिय हेडमास्टरने इन्हें स्कूलसे पृथक् कर दिया ।

सन् १९१० में आप कलकत्ता मेडिकल कालेजमें भरती हो गये । वहाँ आपने बंगवासियोंसे गहन आत्मीयता स्थापित की । दीन-दुखियोंकी सेवाके लिये आप सदा आगे रहने लगे । यह उत्तम गुण सज्जनोंके बलपर शासन करनेवालोंको कैसे सह्य होता, फलतः इनके पीछे पुलिस पड़ गयी । सन् १९१५–२४ तक अनेक संस्थाओंमें काम करते हुए आपने आसेतु हिमाचल समस्त हिंदुओंके संघटनको ही भारतोद्धारके लिये सर्वश्रेष्ठ और सुगम पथ समझा और इसीलिये आपने सन् १९२५ ई० की विजयादशमीको 'राष्ट्रिय स्वयंसेवक-सङ्घ'की शुभ स्थापना की । इनकी निष्ठा, लगन, श्रम और स्नेहशील स्वभावके कारण इनके जीवनकालमें ही सङ्घ भारतके प्रत्येक प्रान्तमें व्याप्त हो गया ।

आपने सङ्घको अपना प्राण समझा और आजीवन ब्रह्मचारी रहे । सादा जीवन और उच्च विचारके साथ आपने हिंदू-समाज, हिंदू-धर्म और हिंदू-संस्कृतिके त्राणके लिये अपने बहुमूल्य जीवनका एक-एक कण लगा दिया । भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, राणा प्रताप, वीर शिवाजी और गुरुगोविन्दसिंह आदि वीर, तपस्वी और भारतके लिये सर्वस्वार्पण करनेवाले प्रातःस्मरणीय हिंदुओंके जीवन आपके पथके प्रकाश-स्तम्भ थे । यद्यपि सन् १९४० के जूनमें अस्वास्थ्यके कारण आपकी पाञ्चभौतिक काया पञ्चभूतोंमें समा गयी, फिर भी आप अबतक सङ्घके आदर्श, क्रियाशील और नैष्ठिक सदस्योंके ही नहीं, समस्त हिंदू-हृदयोंके प्राणप्रिय हैं और इस धरापर जबतक हिंदू जीवित हैं, तबतक आप अमर हैं । —शिवनाथ दुबे

कुछ चित्रोंका परिचय

हिंदू-संस्कृति—(सादा) बाहरी मुखपृष्ठपर—इसमें दिखाया गया है कि हिंदू-संस्कृतिका मूल उद्गम परमात्मा है। परमात्माका प्रतीक 'प्रणव' है । अतः प्रणवको—भगवानको आधार मानकर इस संस्कृतिकी धारा चलती है । भगवान्‌का आश्रय होनेपर उसमें शुभका प्रादुर्भाव होता है । 'स्वस्तिक' ही शुभका प्रतीक है । इस शुभ भावके फलस्वरूप षोडश-दल कमलके विकासकी भाँति शुद्ध हृदयमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, दान, तप, संयम, कर्मफलमें विश्वास, पुनर्जन्ममें विश्वास, परलोकमें विश्वास, वर्णाश्रमधर्मका आचार, त्याग, दया, कर्तव्यपालन और शौर्य—इन १६ सद्गुणोंकी उत्पत्ति होती है । इनका परिणाम होता है—भक्ति, प्रेम, समता और सर्वात्मदर्शनकी प्राप्ति । इसके फलस्वरूप यहाँ मनुष्यका जीवन सदाचारयुक्त, शान्त, परमात्मनिष्ठ और आनन्दमय हो जाता है । और अन्तमें उसे परमात्मरूप भगवद्धामकी उपलब्धि हो जाती है । यों हिंदू भगवान्‌से ही निकलता है, भगवान्‌में ही रहता है और अन्तमें भगवान्‌में ही प्रवेश प्राप्त करता है ।

हिंदू-संस्कृति—(रंगीन) पृष्ठ मुखपृष्ठ—इसमें (१) राम-राज्यके रामदरबारमें कुत्तेकी भी फरियाद सुनी जा रही है, (२) हिंदू-संस्कृतिका परिचय राग-द्वेषरहित, तपस्वी, सत्य-अहिंसाकी प्रकटमूर्ति ऋषियोंके सादे-सीधे इस अरण्य-आश्रममें मिलता है, जहाँ त्रिकालज्ञ समदर्शी गुरु द्विज बालकोंको योग्य शिक्षा दे रहे हैं । यज्ञकुण्डमें अग्नि प्रज्वलित है, और सिंह, गौ, हरिण एक साथ निवास करते हैं, (३) मोक्ष ही परम ध्येय है, यह मानकर नवयुवक राजकुमार सिद्धार्थ अपनी तरुणी पत्नी और नवजात शिशुको त्यागकर रात्रिके समय वैराग्यकी प्रबलतासे निकल जाते हैं, (४) धर्मपर अडिग रहनेवाले गुरु गोविन्दसिंहके पुत्र अपनेको हँसते-हँसते दीवालमें चुनवाकर बलिदानका अनुपम दृश्य उपस्थित कर रहे हैं और (५) आर्य-संस्कृतिके परम गौरवस्वरूप सतीत्वकी रक्षाके लिये भारतीय देवियाँ प्रज्वलित अग्नि-सरोवरमें कूद-कूदकर सानन्द

अवगाहन कर रही हैं। इस चित्रमें हिंदू-संस्कृतिके प्रधान चिह्न गो, वृषभ, शङ्ख, कमल और प्रणव अङ्कित हैं। नीचे गन्धर्वोंका हरियश-कीर्तन चित्रित है।

हिंदू-संस्कृतिमें ऋषि-आश्रम—(रंगीन) पृष्ठ १—ऋषि और ऋषि-बालक यज्ञ-अध्ययनमें लगे हैं। पशु-पक्षी निर्भय विचर रहे हैं।

श्रीराधाकृष्ण-दर्पण-दर्शन—पृष्ठ २४—यह अत्यन्त सुन्दर कलापूर्ण पहाड़ी चित्र है। सामने खुली छत-पर पच्चीकारीके कामकी चौकीपर कीमख्वावका मसनद-तकिया लगा है। दो सखियाँ माला गूँथ रही हैं। फव्वारा चल रहा है। नीचे दूरपर पहाड़ोंके बीचमें सुन्दर कमलोंका सरोवर है। किनारेपर फूलोंसे लदे वृक्ष हैं और सामने सारस-पंक्ति विहार कर रही है। श्रीराधा-कृष्ण बड़ी तन्मयताके साथ दर्पणमें छवि देख रहे हैं। श्रीराधाकृष्णकी प्रसन्नता और तन्मयताका भाव बहुत ही आकर्षक है।

श्रीराधाकृष्णकी मुरली-लीला—पृष्ठ २५—यह भी पहाड़ी चित्रशैलीका अति सुन्दर चित्र है। चारों ओर नक्काशीका कार्य है। श्रीराधाकृष्णका भावसौन्दर्य बड़ा ही मनोहर और दर्शनीय है।

श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण और शरत्-पूर्णिमा (रासलीला)—(रंगीन) पृष्ठ ५६—ये दोनों नाथद्वाराकी कलमके बहुत सुन्दर सुनहरे चित्र हैं।

श्रीराम-लक्ष्मण-सीतासे भरत एवं माताओंका मिलन—पृष्ठ ८१—चित्रकूटके मिलनका सुन्दर दृश्य है।

वाल्मीकि-आश्रममें नारद—पृष्ठ ८१—देवर्षि श्रीनारद-जी महर्षि वाल्मीकिजीसे बातचीत कर रहे हैं। पर्वत, वृक्षावली, कुटिया आदिका दृश्य बड़ा ही मनोहर है।

उमा-महेश्वर—पृष्ठ २२५—यह हाथीदाँतकी बहुत ही सुन्दर मूर्ति है। त्रिवाङ्कुर स्टेटके पुरातत्त्व-विभागके अध्यक्ष श्री टी० ए० गोपीनाथ रावने एक Elements of Hindu Iconography नामक विशद ग्रन्थ तीन भागोंमें लिखा है। इसमें शास्त्रीय बहुत-से हिंदू-देवमूर्तियोंके प्रकारभेदका बड़ा ही विशद वर्णन है। इससे पता लगता है मूर्तियाँ मनमानी नहीं बनतीं। उनके सहस्रों शास्त्रीय भेद बहुत ही महत्त्वके हैं! इन्हीं शास्त्रीय वर्णनोंके अनुसार विभिन्न देव-मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। इस अङ्कमें इस 'उमा-महेश्वर'की मूर्तिके अतिरिक्त त्रिवाङ्कुर कोचीन-सरकारके सौजन्यसे प्रकाशित जितनी मूर्तियोंके चित्र हैं, वे सभी इसी प्रकारकी शास्त्रीय मूर्तियाँ हैं।

माखनलीला—पृष्ठ ३२६—पहाड़ी(बसौली) चित्रशैली-का सुन्दर चित्र है। श्रीकृष्णका सखा ग्वालबालक ऊखलपर चढ़ा है, उसके कन्धोंपर चढ़े श्रीकृष्ण छींकेपर रक्खी मटकीसे माखन निकाल रहे हैं। दूसरे सखा और बंदरके हाथमें श्रीकृष्णके दिये हुए माखनके लौंदे हैं। गोपाङ्गनाने इस आनन्दका आस्वादन करनेके लिये मथानी छोड़कर अपने मुँहको छिपा रक्खा है।

दानलीला—पृष्ठ ३३९—श्रीकृष्ण और उनके सखा नाना प्रकारकी भावभङ्गिमासे दूध-दहीका दान ले रहे हैं।

शक्ति-शक्तिमान्‌का प्रेमस्वरूप—(सुनहरा) पृष्ठ ४४०—कलाकी दृष्टिसे यह चित्र बहुत ही सुन्दर है।

सृजन-पालन-संहार—(रंगीन) पृष्ठ ५१३—एक ही भगवान्‌के तीन स्वरूप सनातन धर्ममें माने गये हैं। ब्रह्माके रूपसे वे जगत्‌का तथा विविध योनियोंका सृजन करते हैं, विष्णुके रूपसे जल, वायु, अन्न, ओषधि आदिके द्वारा भाँति-भाँतिसे उनका पालन करते हैं और रुद्र (महादेव) के रूपसे उनका विविध रोगों, लड़ाइयों, अग्नि-जलादिके द्वारा संहार करते हैं।

श्रीराधाकृष्णका वर्षाविहार—पृष्ठ ७१२—वनमें वर्षासे बचनेके लिये श्रीराधाकृष्ण दोनों कामरीकी एक घूघी तानकर उसमें छिप जाते हैं। ग्वाल-बाल भी पेड़के खोडलमें छिप गये हैं। सामने एक सखी उन्हें देख रही है। ऊपर मेघोंसे भरा हुआ आकाश है, जिसमें बकपंक्ति उड़ रही है। प्रकृति और मानवके भावोंका उत्तम सामञ्जस्य इस चित्रमें है।

श्रीकृष्णका गौ चराकर लौटना—पृष्ठ ७१२—सन्ध्या—गोधूलिके समय वनसे लौट रहे हैं। इसमें श्रीकृष्ण, उनके सखा और गायोंके भाव देखने योग्य हैं। दिनभर प्रतीक्षामें बिताकर व्रजनारियाँ बड़ी उमंगसे फूल बरसाकर इन दिव्य गोपाल-का स्वागत कर रही हैं। यह चित्र बोस्टन-संग्रहालयमें सुरक्षित है। डाक्टर कुमारस्वामीने रंगोंमें इसे प्रकाशित किया था।

श्रीकृष्णका दावानल-पान—पृष्ठ ७१३—यह बसौली शैलीका चित्र है। यह शैली अपने चटकीले रंगोंके कारण बहुत विख्यात है।

पुण्यदानसे नरकके प्राणियोंकी मुक्ति—पृष्ठ १९३—महान् पुण्यात्मा महाराजा विपश्चित्‌को मरनेपर किसी साधारण पापके कारण नरकके मार्गसे ले जाया गया। वे जब नरकोंके समीप होकर आगे बढ़े तो नरक-यन्त्रणासे पीड़ित प्राणियोंको बड़ी शान्ति मिली। इसका कारण पूछनेपर उन्हें बतलाया गया कि 'आपके पुण्यमय शरीरसे छूकर बहनेवाली वायुमें इतना प्रभाव है कि उसके लगनेसे इन प्राणियोंकी यातना मिट गयी है। आपके दर्शनसे यमलोकके यन्त्र, शस्त्र, अग्नि आदि सब कोमल हो गये हैं।' इसपर राजाने कहा कि 'जब मेरे कारण इन पीड़ित प्राणियोंको सुख मिलता है, तब मैं यहाँ नरकमें ही रहूँगा।' अन्तमें स्वयं धर्मराज और इन्द्र वहाँ आये। उदारहृदय राजाने अपना सारा पुण्य नरकके प्राणियोंको अर्पण कर दिया। सब नरकके प्राणी नरकसे मुक्त हो गये। राजाको भी इस त्यागरूप पुण्यसे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी। इसका विस्तृत इतिहास मार्कण्डेयपुराणमें है।

क्षमा-प्रार्थना

कई वर्षोंसे हिंदू-संस्कृति-अङ्कके प्रकाशनकी बात चल रही थी; परंतु विषय बहुत व्यापक होनेके कारण यह सोचा जा रहा था कि सब विषयोंपर पूर्णरूपसे विचार किया जाना तो सम्भव नहीं होगा। क्योंकि हिंदू-संस्कृतिका प्रत्येक विषय इतना विशद है कि उसपर पृथक् विशेषाङ्क निकाला जा सकता है और कुछ अधूरे-से विषयोंका विशेषाङ्क उपयुक्त नहीं होगा; परंतु हमारे आदरणीय ग्राहकों तथा मित्रोंने बहुत जोर दिया, तब हिंदू-संस्कृति-अङ्क प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया। विषय-सूची बहुत लंबी बन गयी। काट-छाँट करनेपर जितने विषय रहे, उनपर लेख लिखवानेका प्रयत्न किया गया। परंतु उनमें भी बहुत-से विषय छूट गये। तथापि 'कल्याण'के प्रेमी विद्वान् महानुभावोंने परिश्रम करके जो लेख लिखे, वे बहुत ही उत्तम और मनन करने योग्य हैं। इस दृष्टिसे यह अङ्क हमारी तुच्छ बुद्धिके अनुसार अधूरा होनेपर भी बहुत उपादेय हो गया है। पाठकोंको कहाँतक सन्तोषप्रद होगा, यह तो उनके पढ़नेपर ही पता लगेगा।

इस अङ्कमें ऐसे बहुत-से विषयोंपर लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनका सम्पादकोंको पूरा ज्ञान नहीं है। साथ ही लेखकोंने भी अपने-अपने ज्ञान, दृष्टिकोण तथा मतके अनुसार ही उनपर विवेचन किया है। ऐसी अवस्थामें लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये लेखक महानुभाव ही उत्तरदायी हैं। किन्हींको कोई सन्देह हो तो लेखक महोदयोंसे ही पूछना चाहिये।

हमारे परम आदरणीय संत-महात्माओं, आचार्यों, विद्वानों, कवियों तथा सम्माननीय अधिकारियोंने कृपापूर्वक लेख, कविता, सन्देश आदि भेजकर जो हमारा उपकार किया है, इसके लिये हम हृदयसे उनके कृतज्ञ हैं। लेख इतने अधिक आ गये कि सबका प्रकाशित करना असम्भव हो गया; इससे बहुत-से लेख प्रकाशित नहीं हो सके हैं। बहुत-से अधूरे तथा बहुत-सा अंश छोड़कर प्रकाशित किये गये हैं। इसके लिये हम हाथ जोड़कर सब महानुभावोंसे क्षमा चाहते हैं। लेखक महोदय हमारी विवशता समझकर क्षमा करेंगे। लेखोंके सम्पादन और मुद्रणमें कहीं कोई भूल हो गयी हो तो लेखक महोदय कृपया क्षमा करें।

इस अङ्कके लिये सामग्री एकत्र करने, लेख लिखने-लिखवाने, चित्रादि संग्रह करने, छायाचित्र उतरवाकर भेजनेमें और चित्रोंके ब्लाक बनाकर प्रकाशित करनेकी अनुमति देने आदिमें हमें अपने बहुत-से कृपालु महानुभावोंसे तथा संस्थाओंसे बड़ी सहायता मिली है। इनमें महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०; श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, डी० लिट्०; श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, डिप्टी कलक्टर; श्रीशारदाप्रसादजी, मंत्री, मानस-संघ; स्वामीजी कृष्णानन्दजी महाराज; पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०; पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी, डा० इन्द्रसेनजी, पं० श्रीवासुदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०; डा० श्रीरघुवीर, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्० एट् फिल्; श्रीशिवशरणजी, पं० श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा; श्रीविष्णुहरि वडेर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०; पं० श्रीरघुनाथजी शर्मा; बैंकोक (स्याम); पुजारी श्रीशोभानाथजी, श्रीचमनलालजी और पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा; भारतीय पुरातत्त्व-विभाग कोचीन-त्रिवाङ्कुर-सरकार, रेलवे बोर्ड और मानस-संघ, मतनाके नाम उल्लेखनीय हैं। इस सहायताके लिये हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं।

कुछ लेख विभिन्न मासिक तथा साप्ताहिक पत्रोंसे लिये गये हैं, इसके लिये हम उनके सम्पादकों और सञ्चालकोंके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

सम्पादन-विभागके मित्रोंमें सम्मान्य पण्डित श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे, पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री, श्रीसुदर्शनसिंहजी, श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी, श्रीशिवनाथजी दुबे, श्रीमाधवशरणजी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, श्रीरामलालजी बी० ए०, श्रीदुलीचन्द दुजारी आदि सभी सहयोगियों और मित्रोंने बड़ी तत्परतासे काम किया; इसीके फलस्वरूप इतना सुन्दर अङ्क निकल सका है। अपने इन साथियोंको धन्यवाद देकर हम उनके निर्मल प्रेममें बाधा नहीं डालना चाहते।

बार-बार नुकसानकी बात सुनाकर हम अपने पाठकोंको दुखी नहीं करना चाहते। परंतु इस बार कई कारणोंसे हमारा पहलेके अनुमानसे बहुत ही अधिक नुकसान रह गया है यह केवल सूचनामात्र है।

अन्तमें इस अङ्कमे रही हुई त्रुटियोंके लिये हम पुनः क्षमा चाहते हैं और आशा करते हैं कि हमारे पाठक इस अङ्कसे हिंदू-संस्कृतिके महान् निर्मल, पवित्र, सर्वसुखदायी और कल्याणप्रद रूपका किंचित् आभास पाकर अपना कार्यक्रम निश्चय करेंगे और अपने जीवनको हिंदू-संस्कृतिके परम-लक्ष्य श्रीभगवान्‌के विशेष समीप ले जायँगे।

सम्पादक { हनुमानप्रसाद पोद्दार, [illegible]

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका यत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७॥) और भारतवर्षसे बाहरके लिये १०) (१५ शिलिंग) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनोंके लिये पता बदलवाना हो, तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता बदलनेकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क जनवरीका ही तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फरवरीसे दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) सात आना एक साधारण संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है; ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो सात आना बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुरानी फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१३) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१५) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१६) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुरके नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक "कल्याण" गोरखपुरके नामसे भेजने चाहिये।

(१८) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

नोट—सादी चिट्ठी या रजिस्ट्रीमें रुपये कभी नहीं भेजने चाहिये। ऐसा करना कानून-विरुद्ध है।

श्रीहरिः

हिंदूकी कामना और प्रार्थना

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।

श्रीरघुनाथ कृपालु कृपातें संत सुभाव गहौंगो ॥

जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।

पर हित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥

परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहिं पावक न दहौंगो ।

बिगत मान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो ॥

परिहरि देह जनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ।

तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि भगति लहौंगो॥

—तुलसीदासजी

हिंदू-संस्कृति-परिशिष्टाङ्क

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन, फरवरी सन् १९५०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

यज्ञ-रक्षा

श्रीराम-लक्ष्मणद्वारा विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २००६, फरवरी १९५० | संख्या २ पूर्ण संख्या २७९

विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा

ठाढ़े यज्ञमंडप द्वार ।
राम-लक्ष्मण दोउ कौसिक यज्ञके रखवार ॥
हाथ सर-धनु पीठ तरकस बीर-बेस उदार ।
यज्ञपूरुष, यज्ञपूजित, यज्ञ-राखनहार ॥
होम निर्भय करत मुनिगन वेद-मन्त्र उचार ।
लहत जीवन-लाह रघुपति रम्य रूप निहार ॥
विघ्न असुरनको कहा प्रभु-शक्ति अमित अपार ।
लोक-लीला करत हरि धरि भक्तहित अवतार ॥

—'राम'

श्रीभारत-सावित्री

(लेखक—स्वामी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

'श्रीमहाभारत'के स्वर्गारोहणपर्वका अन्तिम श्लोकचतुष्टय 'भारत-सावित्री' नामसे प्रसिद्ध है। जिस प्रकार वेदोंका सार श्रीसावित्री है, उसी प्रकार पञ्चम वेदस्वरूप 'महाभारत'का सार श्रीभारत-सावित्री है। जिस प्रकार श्रीसावित्री नित्य ही उपास्या है, उसी प्रकार श्रीभारत-सावित्री नित्य अनुसरणीया है। जिस प्रकार अगम तथा अनन्त शब्दसागरकी सारभूता श्रीसावित्री वेदचतुष्टयरूपमें परिणत हुई है, उसी प्रकार आख्यानों तथा उपाख्यानोंसे पल्लवित एवं सुशोभित होकर श्रीभारत-सावित्री भी महाभारतरूप कल्पवृक्षमें परिणत हुई है। लक्षश्लोकात्मक महाभारतका पारायण करनेका सौभाग्य बहुतोंको नहीं होता, परंतु इस श्लोकचतुष्टयका पाठ करके तथा इसके अर्थानुसन्धानसे अनायास ही श्रीभारतपारायणका फल कोई भी आस्तिक बुद्धिशाली प्राप्त कर सकता है। इस कारण व्याख्या-सहित श्रीभारत-सावित्रीरूप उपहार 'कल्याण'के पाठकोंको भेंट किया जाता है।

प्रथम श्लोक

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥

अनादि कर्मफलसे जीव संसारमें गमनागमन करते हैं। संसार-परम्परासे कर्मचक्रके आवर्तनके कारण जीव हजारों पिता-माता तथा सौ-सौ स्त्री-पुत्रोंका साक्षात्कार लाभ करके दुश्छेद्य ममतासम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसी रीतिसे बहुतेरे माता तथा पिता, स्त्री तथा पुत्र प्राणीने पाये थे; परंतु अतीत संसार-प्रवाहमें वे सब बह गये, आज भी बहे जाते हैं तथा जबतक ज्ञानदृष्टिके उन्मीलनसे संसारमोह नष्ट न होगा, तबतक इसी तरहसे बहते ही जायँगे।

द्वितीय श्लोक

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

इस संसारमें अगणित आनन्दजनक घटनाएँ तथा अनन्त भीतिप्रद अवस्थाएँ नित्य ही उपस्थित होती हैं। जो लोग संसार-मोहसे विमूढ़ हैं, वे ही ऐसे आनन्दसे उत्फुल्ल तथा आतङ्कसे अभिभूत होते हैं। विचारोज्ज्वल-बुद्धिसम्पन्न पण्डित-लोग उस हर्ष एवं भीतिसे आविष्ट नहीं होते।

तृतीय श्लोक

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

मैं हाथ उठाकर जोरसे पुकारकर कह रहा हूँ; परंतु कैसा आश्चर्य है कि कोई भी मेरी बात नहीं सुनता! मैं कहता हूँ कि एक धर्माचरणसे ही अर्थ तथा काम प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकारके फल देनेवाले धर्मका मनुष्य क्यों नहीं सेवन करता!

चतुर्थ श्लोक

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

काम, भय, लोभ तथा प्राणरक्षाके हेतु भी कदापि धर्म-त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म जीवकी शाश्वत सम्पदा है और सुख तथा दुःख आने-जानेवाले—अनित्य हैं। जीव नित्य पदार्थ है; परंतु इस जीवत्वलाभके उपकरण अथवा काम, भय तथा लोभके कारणसमूह अनित्य हैं। जिन देहोंको धारण करके प्राणी बड़े हुए हैं, जिन उद्दीपनाओं—काम, भय तथा लोभसे कभी भीत तथा कभी लुब्ध होते हैं, कभी हिताहित-विचाररहित हो जाते हैं, वे सब नहीं रहेंगे। सामयिक उद्दीपना-से जीवको धर्मपथसे भ्रष्ट करके वे सब अपना-अपना रास्ता लेंगे। परंतु जीवका अविनश्वर आत्मा रह जायगा तथा सुख-दुःखके नित्य सहचर धर्म तथा अधर्म जीवके साथ रहेंगे। परलोकके मार्गसे जिस समय जीव निःसङ्ग—एकाकी चलेगा, उस समय जो उसकी क्षुधाको अन्नरूपसे तथा पिपासाको जलरूपसे शान्त करेगा और पिता, माता, स्त्री, पुत्र, कन्या, बन्धु-बान्धव, आत्मीयोंके मिलनसे प्राप्त आनन्दभोगमें अभ्यस्त जीव जिस समय इन सबकी वियोगयन्त्रणासे अत्यन्त व्याकुल होगा, उस समय जो उसको शान्ति देगा, अनाथोंके नाथ उस 'धर्म'का सामयिक मोहवश कदापि परित्याग न करना चाहिये—

'न हि धर्मात्परः कश्चित्।'

फलश्रुति

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति॥

जो मनुष्य प्रातः उठकर इस भारत-सावित्रीका पाठ करता

है, वह महाभारत-पारायणका समग्र फल प्राप्त करके परब्रह्मको लाभ कर लेता है।

जन्म-जन्मान्तरकी धारावाहिक संसारमत्तता दूरीभूत करनेके लिये श्रीभारत-सावित्रीने प्रथम तथा द्वितीय श्लोकोंसे वैराग्यका उपदेश किया है। तृतीय श्लोकसे धर्माचरणके अभ्यासका उपदेश दिया है और चतुर्थ श्लोकसे अनित्य संसार, अनित्य सम्बन्ध, अनित्य सुख-दुःख तथा अनित्य भीतिका परित्याग करनेका उपदेश किया है। धर्म नित्य वस्तु है, नित्यप्रति इस नित्यधर्मके किसी भी प्रकार साधनाभ्याससे समय व्यतीत करना चाहिये। निरन्तर साधनसे प्रसन्न होकर यह धर्म अपना छद्मवेश त्यागकर 'तुम और मैं' इस व्यवधानका नाश करके परम,धर्मरूपसे प्रकट होगा और जीवका चिरविफल जन्म तथा जीवन सफल हो जायगा—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतᳫ समाः।'
'अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन् किं करिष्यसि।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये॥'

(सिद्धान्त)

हिंदू

(रचयिता—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

शीश जगदीशके जो संमुख झुकाता, जिसे
माताके समान गऊ भाता, वह हिंदू है;
माता-बहनोंका अपमान है असह्य जिसे,
प्रान देके आन जो बचाता, वह हिंदू है।
देह चुनवाता है दिवारमें स्वधर्म-हेतु—
पर परधर्ममें न आता, वह हिंदू है,
खंड-खंड भारत विलोक अति आरत जो,
भारत अखंड जिसे भाता, वह हिंदू है॥

(२)

'हम परमात्माके अंश हैं सनातन' यों
बोध जिसमें है, नहीं भ्रान्तिकी भँवर है,
प्रलय-विरुद्ध भिड़नेको क्रुद्ध कालसे भी
युद्धमें समोद कसे रहता कमर है।
हाथ जोड़ता है नहीं, मुख मोड़ता है नहीं,
प्राण छोड़ता है, नहीं छोड़ता समर है,
चपल शरीर देता चीरके सदृश वीर—
हिंदू मरता है नहीं, हिंदू तो अमर है॥

(३)

कर्म-अनुसार होता जन्म है अनेक बार—
बात यह सत्य जानता जो, वह हिंदू है;
विधिमें, निषेधमें भी, भेद या अभेदमें भी,
वेदको प्रमान मानता जो, वह हिंदू है।
सत्ता परलोककी, महत्ता मान ईश्वरकी
धर्मकी ही हठ ठानता जो, वह हिंदू है;
मायामय जगके असार सपनेको छोड़
अपनेको पहचानता जो, वह हिंदू है॥

(४)

हिंदू वह, जो कि लघु भाईके भलाई हेतु
राज तज वनमें समोद चला जाता है,
हिंदू वह, जो कि प्राप्त राज्यको भी त्याज्य मान
भाईकी ही पादुकाको मस्तक चढ़ाता है।
हिंदू वह, भाँवरी दे काँवरी बिठाके तात-
मातको भी साधभर काँधसे उठाता है;
हिंदू, जो पिताके लिये सकल सुखोंको त्याग
संयमकी आगमें जवानीको जलाता है॥

(५)

भूखे हुए बाघको शरीर सौंप हिंदू वीर
प्राण देके प्राण गऊ माताके बचाता है;
हिंदू मुसकाता मुग्ध उर्वशीको 'माता' कह
शाप सह लेता किंतु पाप न कमाता है।
हिंदू है दयालु इतना कि विश्व-प्राणियोंको
'वैश्वदेव' द्वारा अन्न-जल पहुँचाता है;
हिंदू है उदार इतना कि भयभीत देख
घाती शत्रुओंका भी सँघाती बन जाता है॥

उपनिषदोंकी सूक्तियाँ

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
(ईश० १)

अखिल ब्रह्माण्डमें यह जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है; इसलिये हे शिष्य! तू त्यागपूर्वक इसे उपभोग कर, किसीके भी धनको लेनेकी इच्छा न कर।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(ईश० २)

इस लोकमे (ईश्वर-पूजार्थ) कर्म करता हुआ ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करे; इस प्रकार त्यागभावसे ईश्वरार्थ किये जानेवाले कर्म तुझ मनुष्यके लिये हैं, अन्यथा (अन्य मार्ग) नहीं। ऐसा करनेसे मनुष्य कर्मसे लिप्त नहीं होता।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
(ईश० ७)

एकत्व देखनेवालेको मोह और शोक कहाँ?

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
(ईश० ५)

वह चलता है, वह नहीं चलता; वह दूर है और पास भी है; वह इस सबके भीतर है और वही इस सबके बाहर है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
(ईश० ६)

जो सब प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और सब प्राणियोंमें आत्माको देखता है, वह इस सम्यग् दृष्टिके कारण किसीसे भी घृणा नहीं करता।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥
(केन० २।४)

बुद्धिकी समस्त वृत्तियोंके साक्षीरूपमें जिसने ब्रह्मको जान लिया है, वह अमृतरूप मोक्षको प्राप्त होता है, समाहित मनसे ज्ञानप्राप्तिका सामर्थ्यलाभ करता है और उस विद्या (ज्ञान) से अमृतत्वको प्राप्त करता है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केन० २।५)

इस जीवनको पाकर भी जिसने आत्माका साक्षात्कार नहीं किया, वह आत्मघाती है।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। (कठ० १।१।२७)

धनसे मनुष्य कभी तृप्त होनेवाला नहीं है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(कठ० १।२।५)

अविद्यामें स्थित होकर भी अपनेको धीर एवं पण्डित माननेवाले मूढ़लोग नाना योनियोंमें भ्रमण करते हुए उसी प्रकार भटकते और ठोकरें खाते हैं, जैसे अन्धे मनुष्यके द्वारा ले जाये जानेवाले अन्धे।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठ० १।२।६)

धनके मोहसे मूढ़ हुए प्रमादी अज्ञानीको परलोक नहीं सूझता। यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लोक ही सत्य है, इसके सिवा दूसरा कोई भी लोक सत्य नहीं है—यों माननेवाला अभिमानी मनुष्य बारंबार मेरे (यमराजके) वशमें आता है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(कठ० १।२।१६)

यह अक्षर ही तो ब्रह्म है, और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इस अक्षरको जानकर जो जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसे वही वस्तु प्राप्त हो जाती है।

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(कठ० १।२।१८)

नित्य चैतन्यरूप आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है। न यह किसीसे हुआ है और न इससे कोई हुआ है—अर्थात् इसका कारण या कार्य नहीं है। यह अजन्मा है, नित्य है,

शाश्वत है और पुराण है; शरीरके मारे जानेपर भी यह मरता नहीं ।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥
(कठ० १ । २ । २१)

बैठा हुआ ही दूर चला जाता है, सोता हुआ सर्वत्र चला जाता है; ऐश्वर्य-मदसे उन्मत्त न होनेवाले उस देवको मेरे सिवा (मुझ-जैसे आत्मज्ञ पुरुषोंके सिवा) दूसरा कौन जान सकता है ? कोई नहीं ।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
(कठ० १ । ३ । १२)

यह सबका आत्मरूप परम पुरुष परमात्मा समस्त प्राणियोंमें स्थित होकर भी मायाके पर्देमें छिपा रहनेके कारण प्रकाशमें नहीं आता । केवल सूक्ष्म तत्त्वोंको समझनेवाले पुरुषों-द्वारा ही वह अत्यन्त सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण बुद्धिसे देखा जाता है ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठ० २ । २ । ९)

जैसे समस्त ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि नाना रूपोंमें उनके समान रूपवाला ही हो रहा है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा ब्रह्म एक होकर भी नाना रूपोंमें उन्हीं-के-जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी है ।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥
(कठ० २ । २ । ११)

जैसे सब लोकोंका प्रकाशक सूर्य लोगोंके नेत्रोंके बाह्य दोषोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सब भूतोंका एक अन्तरात्मा परमेश्वर लोकोंके दुःखसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह सबमें रहकर भी सबसे अलग है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
(कठ० २ । २ । १५)

उस स्वप्रकाश परब्रह्मके समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं प्रकाशित होते, बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं; फिर यह लौकिक अग्नि तो कैसे प्रकाशित हो सकता है। उसके प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे) सब प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाशसे ही यह सब प्रकाशित हो रहा है ।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥
(कठ० २ । ३ । ७-८)

इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे व्यष्टि-बुद्धि श्रेष्ठ है, व्यष्टि-बुद्धिसे महान् आत्मा अर्थात् समष्टि-बुद्धि श्रेष्ठ है, समष्टि-बुद्धिसे अव्यक्त (मूल प्रकृति) उत्तम है; अव्यक्तसे श्रेष्ठ व्यापक और अलिङ्ग पुरुष है, जिसको जानकर जीव दुःखोंसे मुक्त होता तथा अमृतत्वरूप मोक्षको प्राप्त हो जाता है ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(कठ० २ । ३ । १४)

जब इस विद्वान्के हृदयमें स्थित सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मानव अमर हो जाता है और इसी शरीरमें ब्रह्मका अनुभव करता है ।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥
(कठ० २ । ३ । १५)

जब यहाँ इस जीवनमें ही इस विद्वान्के हृदयकी ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमृतस्वरूप हो जाता है। इतना ही वेदका उपदेश है, अधिक नहीं ।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥
(प्रश्न० ४ । ९)

यह जो देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला तथा कर्म करनेवाला विज्ञानस्वरूप पुरुष है, वह भी अविनाशी परमात्मामें भलीभाँति स्थित है ।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।
(मुण्डक० १ । १ । ६)

वह जो नित्य, सर्वत्र व्यापक, सबमें फैला हुआ, बहुत

ही सूक्ष्म और अविनाशी परब्रह्म है, उस समस्त प्राणियोंके परम कारणको ज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं ।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥
(मुण्डक० १ । २ । १०)

इष्ट (यज्ञ-याग आदि) और पूर्त (कूप-उद्यानादिके निर्माण) को श्रेष्ठ माननेवाले अत्यन्त मूढ मनुष्य उस सकाम कर्मके सिवा अन्य किसी वास्तविक श्रेयको नहीं जानते, वे पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गके उच्चतम स्थानमें जाकर वहाँके भोगोका अनुभव करके इस मनुष्यलोकमें अथवा इससे भी हीनतर लोक (पशु आदि योनि) मे प्रवेश करते हैं ।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥
(मुण्टक० २ । १ । २)

अजन्मा, दिव्य; अमूर्त पुरुप बाहर और भीतर प्राण-रहित, मनरहित, शुद्ध, परम अक्षरसे भी परे है ।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥
(मुण्डक० २ । २ । ३)

उपनिषद्मे वर्णित प्रणवरूप महान् अस्त्र धनुपको लेकर, इसपर उपासनासे तीव्र किया हुआ बाण चढ़ाये और ब्रह्म-भावकी निष्ठावाले चित्तके द्वारा उसे खींचकर हे सौम्य ! उसी अक्षररूप लक्ष्यको वेधे ।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
(मुण्डक० २ । २ । ४)

प्रणव—ॐकार धनुप है, बाण आत्मा है और बाणका लक्ष्य ब्रह्म कहा जाता है । जितेन्द्रिय पुरुपको उसे सावधानता-पूर्वक वेधना चाहिये और बाणके समान तन्मय हो जाना चाहिये ।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
(मुण्डक० ३ । १ । ५)

सत्य, तपस्या, यथार्थ ज्ञान तथा निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे इस शरीरके भीतर ही हृदय-गुहामें परम निर्मल ज्योतिर्मय स्वयंप्रकाश परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, जिसे सम्पूर्ण दोषोंका नाश हो जानेपर यत्नशील यति ही देख पाते हैं ।

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥
(मुण्डक० ३ । १ । ६)

सत्यकी ही विजय होती है, असत्यकी नहीं । सत्य-धर्मसे ही ब्रह्मलोककी प्राप्तिका विस्तृत मार्ग—देवयान प्रकट होता है, जिसके द्वारा आप्तकाम महर्षिगण उस परमधाममें गमन करते हैं जहाँ वह सत्यका परम आश्रय परमात्मा अनावृतरूपसे स्थित है ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥
(मुण्डक० ३ । २ । ३)

वे परमात्मा केवल प्रवचनसे—शास्त्रोंकी व्याख्या करनेसे, धारणावती बुद्धिसे या अधिक शास्त्रोंके अध्ययनसे भी नहीं प्राप्त होते । वे स्वयं ही दया करके जिसे अपना लेते हैं, उसीको इनकी प्राप्ति हो सकती है; उसके समक्ष वे अपने स्वरूपको अनावृत कर देते हैं ।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
(मुण्डक० ३ । २ । ८)

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमे मिलकर विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अविद्याकृत नाम-रूपसे विमुक्त होकर विद्वान् परसे पर दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(मुण्डक० ३ । १ । १)

दो पक्षी साथ-साथ रहते हैं, दोनों परस्पर सखा है; वे एक ही वृक्षका आश्रय लेकर बैठे हैं। इनमेंसे एक तो पीपलके फलको स्वाद ले-लेकर खाता है और दूसरा खाता नहीं, केवल देखता है।

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

(तैत्तिरीय० १।११।१)

वेदका अध्ययन कराकर आचार्य शिष्यको शिक्षा देते हैं। सच बोल। धर्मका आचरण कर। स्वाध्यायसे प्रमाद मत कर। आचार्यके लिये प्रिय धन लाकर दे। सन्तान-परम्पराका उच्छेद मत कर। सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। आरोग्यादि शरीरकी कुशलतासे प्रमाद नहीं करना चाहिये। विभूतिसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। पढ़ने-पढ़ानेसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। देवकर्म और पितृकर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।

माताको देवताके समान पूजनेवाला हो। देवके समान पिताका पूजनेवाला हो। देवके समान आचार्यका पूजनेवाला हो। देवके समान अतिथिका पूजनेवाला हो। जो निर्दोष कर्म हैं, वे तुझे करने चाहिये। अन्य दोषयुक्त कर्म नहीं करने चाहिये। जो हमारे आचार्यके सुन्दर आचरण हैं, वे तुझे नियमसे करने चाहिये, दूसरे (कर्म शाप देना आदि), यदि आचार्य करे, तो भी तुझे नहीं करने चाहिये।

रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। (तैत्तिरीय० २।७।१)

वह निश्चय ही रस है, इस रसको पाकर ही मनुष्य आनन्दवाला होता है। जो हृदयाकाशमें यह आनन्द न हो तो कौन श्वास ले, कौन प्रश्वास ले। यही आनन्द देता है।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।

(तैत्तिरीय० २।९।१)

ब्रह्मके आनन्दको जो जानता है, उसको किसीसे भय नहीं होता।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत। (छान्दोग्य० ३।१४।१)

यह सब निश्चय ब्रह्म ही है; इसीसे जगत् उत्पन्न होता है, इसीमें लय होता है और इसीमें चेष्टा करता है। इसलिये शान्त होकर उपासना करे; क्योंकि पुरुष निश्चयमय है। इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँसे मरकर होता है; इसलिये वह क्रतु यानी पक्का निश्चय करे।

ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म। (छान्दोग्य० ४।१०।५)

ॐ सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।

(छान्दोग्य० ५।१०।७)

उनमें जो सुन्दर—विशुद्ध आचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं; वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिय-योनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं। तथा जो मलिन आचरणवाले होते हैं, वे भी यथासम्भव शीघ्र ही मलिन (अधम) योनियोंमें जन्म लेते हैं। वे कूकरयोनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि ग्रहण करते हैं।

पाँच प्रकारके महापातक मनुष्यको घोर पतनके गर्तमें गिरानेवाले होते हैं—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति।

स्वर्णकी चोरी करनेवाला, शराबी, गुरुपत्नीगामी, ब्रह्महत्यारा—ये चारों पतित होते हैं और जो इनके साथ संसर्ग रखनेवाला है, वह पाँचवाँ भी महापापी है।

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छान्दोग्य० ७।२३।१)

'जो भूमा है; वह सुख है; अल्पमें सुख नहीं है। भूमा ही सुख है, भूमाको ही जानना चाहिये।'

एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते।

(छान्दोग्य० ८।५।३)

जिस आत्माको मनुष्य ब्रह्मचर्यसे प्राप्त करता है, वह आत्मा नष्ट नहीं होता।

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । (छान्दोग्य० ८ । ७ । १)

जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, भूखरहित, प्यासरहित, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प है, उसे खोजना चाहिये, उसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये ।

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति । (बृहदा० १ । ३ । २८)

असत्से मुझे सत्की ओर ले चलो; अँधेरेसे प्रकाशकी ओर ले चलो; मृत्युसे मुझे अमृतकी ओर ले चलो ।

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा । (बृहदा० १ । ४ । ८)

वह जो यह अन्तरतम आत्मा है, वह पुत्रसे भी अधिक प्रिय है, धनसे भी बढ़कर प्रिय है तथा अन्य सबसे भी अधिक प्रिय है ।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳसर्वं विदितम् ।

(बृहदा० २ । ४ । ५)

अरी मैत्रेयी ! सबकी कामनाके लिये सब प्रिय नहीं होते, आत्माकी कामनाके लिये ही सब प्रिय होते हैं । अरे ! आत्माको देखना चाहिये, सुनना चाहिये, मनन करना चाहिये, ध्यान करना चाहिये । अरी मैत्रेयी ! आत्माके देखने, सुनने, मनन करने और जाननेसे यह सब जान लिया जाता है ।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।

(बृहदा० ३ । ७ । १५)

जो सब भूतोंमें स्थित होकर सब भूतोंके भीतर रहता है, जिसको सर्वभूत नहीं जानते, जिसका सम्पूर्ण भूत शरीर है, जो सब भूतोंके भीतर रहकर उन्हें नियममें रखता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः । यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । (बृहदा० ४ । ४ । ५)

वह यह आत्मा ब्रह्म है, विज्ञानमय है, मनोमय है, प्राणमय है, चक्षुर्मय है और श्रोत्रमय है । मनुष्य जैसा करनेवाला और जैसे आचरणवाला होता है, उसीके अनुरूप बन जाता है । शुभकर्म करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष होता है और पापाचारी पापात्मा हो जाता है । पुण्यकर्मसे पुण्यात्मा होता है (पवित्र योनिमें जन्म ग्रहण करता है) और पापकर्मसे पापात्मा हो जाता है ।

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् ।
तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे ॥
(बृहदा० ४ । ४ । ६)

यह मनुष्य इस लोकमें जो कुछ कर्म करता है, परलोकमें उनका फल समाप्त करके उस लोकसे इस लोकमें फिर कर्म करनेके लिये आता है ।

अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा । (बृहदा० ४ । ५ । १४)

अरी मैत्रेयी ! यह आत्मा नाशरहित स्वरूपवाला है ।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥
(श्वेताश्वतर० १ । १५)

जैसे तिलोंमें तेल, दधिमें घी, स्रोतमें जल और अरणिमें अग्नि छिपा होता है, इसी प्रकार वह आत्मा अपने हृदयमें छिपा हुआ है । जो कोई साधक इसको सत्यसे और तपसे देखता है—चिन्तन करता रहता है, उसीके द्वारा यह आत्मा गृहीत होता है ।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥
(श्वेताश्वतर० २ । ८)

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि सिर, गला और छाती—इन तीनों स्थानोंपर उभरे हुए शरीरको सीधा और स्थिर करके तथा समस्त इन्द्रियोंको मनके द्वारा हृदयमें निरुद्ध करके ॐकाररूपी नौकाद्वारा सम्पूर्ण भयङ्कर स्रोतों (प्रवाहों) को पार कर जाय ।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥
(श्वेताश्वतर० २ । १०)

समतल, सब प्रकारसे शुद्ध, कंकड़, अग्नि और बालूसे रहित तथा शब्द, जल और आश्रय आदिकी दृष्टिसे सर्वथा अनुकूल और नेत्रोंको पीड़ा न देनेवाले गुहा आदि वायुशून्य स्थानमें मनको ध्यानमें लगानेका अभ्यास करे ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(श्वेताश्वतर० ३ । ८)

मैं इस आदित्य-वर्णवाले, अन्धकारसे पर महान् पुरुषको जानता हूँ; इसको जानकर ही मनुष्य मृत्युको लाँघ जाता है । मोक्षके लिये अन्य मार्ग नहीं है ।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
(श्वेताश्वतर० ३ । १९)

बिना हाथ पकड़नेवाला है, बिना पैर तेज दौड़नेवाला है, बिना आँखके देखता है, बिना कानके सुनता है; वह जाननेयोग्यको जानता है, उसका जाननेवाला नहीं है । उसको आदि, महान् पुरुष कहते हैं ।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । ७)

उस ईश्वरोंके भी परम ईश्वर, उस देवताओंके भी परम दैवत, पतियोंके परम पति, भुवनोंके ईश्वर, स्तवनके योग्य देवको हम परात्पररूपसे जानते हैं ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । १३)

जो एक नित्य चेतन परमात्मा बहुत-से नित्य चेतन आत्माओंके कर्मफल-भोगोंका विधान करता है, उस ज्ञानयोग और कर्मयोगसे प्राप्त करने योग्य सबके कारणरूप परमदेव परमात्माको जानकर मनुष्य सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम् ॥
(ब्रह्मबिन्दु० २ । ३)

मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है; विषयासक्त मन बन्धनके लिये है, और निर्विषय मन मुक्त माना जाता है ।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
(कैवल्य० १ । ३)

कर्मसे, संतानसे अथवा धनसे विद्वानोंने अमृतरूप मोक्ष नहीं प्राप्त किया है, किंतु एक त्यागसे ही उसे प्राप्त किया है ।

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः
शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः ।
अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि
निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ॥
(कैवल्य० १ । ५)

एकान्त देशमें पवित्र-मन होकर सुखासनसे बैठकर गर्दन, सिर और शरीरको समान रखकर परमहंस आश्रम-वाला संन्यासी सब इन्द्रियोंको रोककर और भक्तिसे अपने गुरुको नमस्कार करके—

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं
विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम् ।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ॥
(कैवल्य० १ । ६)

अपने भीतर रजोगुणरहित विशुद्ध एवं विकासयुक्त हृदय-कमलका चिन्तन करे; फिर उस कमलके मध्यभागमें निर्मल, शोकरहित, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, शान्त, अमृत, जगत्के कारण शिवका ध्यान करे ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥
(महोपनिषद्)

जिसको न प्राप्त होकर मनसहित वाणी लौट आती है, वह जीवका आनन्द है, जिसको जानकर विद्वान् मुक्त हो जाता है ।

धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च ।
ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किङ्कराः शिष्यकिङ्कराः ॥
(मैत्रेयी० २ । २४)

जो धनमें बड़े, आयुमें बड़े और विद्यामें बड़े हैं—ये

सभी बड़े लोग ज्ञानमें बढ़े हुए पुरुषके किङ्कर हैं, उसके दासके भी दास हैं।

सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेत्।
(वज्रसूचिकोपनिषद्)

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है, यह भावना करे।

रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता॥
(महा० ३। ३१)

मुने! यह शरीर बाहर और भीतर केवल खून और मांससे भरा है तथा एकमात्र नाशरूप धर्मवाला है। बताइये, इसमें क्या रमणीयता है?

द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥
(महा० ४। ७२)

बन्ध और मोक्षके दो ही आश्रय हैं—ममता और ममताशून्यता। ममतासे प्राणी बन्धनमें पड़ता है, और ममतारहित होनेपर मुक्त हो जाता है।

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते।
यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते॥
(महा० ४। ८८)

मनरूप व्याधिकी चिकित्साका उपाय मैं तुम्हें बतलाता हूँ—जो-जो वस्तु अपनेको प्यारी है, उस-उसका त्याग करनेवाला मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है।

तस्माद्वासनया युक्तं मनो बद्धं विदुर्बुधाः।
सम्यग्वासनया त्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते॥
(मुक्तिक० २। १६)

वासनायुक्त मनको विद्वानोंने बद्ध बतलाया है और जो मन वासनासे सर्वथा शून्य हो चुका है, वह मुक्त कहलाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलमें अध्यात्ममूलक हिंदू-संस्कृति

(तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः)

(लेखक—पं० श्रीचन्द्रबलीजी पाण्डेय, एम्० ए०)

राजा दुष्यन्तने सूतसे कहा था—

सूत यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः।

सारथि! मैं जबतक तपोवनवासियोंसे मिलकर लौटूँ, तबतक घोड़ोंकी पीठ ठण्डी (गीली) करो।

किंतु आश्रमके द्वारपर पहुँचे नहीं कि उनमें यह भावना जगी—

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥

यह तपोवन शान्त है और बाँह फड़क रही है। यहाँ इसका फल कहाँसे मिलेगा। अथवा भावीके लिये सब जगह द्वार है (सब जगह होनहार फल सकती है)।

भवितव्य होकर रहा और राजा दुष्यन्तको आमन्त्रण मिला 'परिभोग'का—

लतावलय! संतापहारक! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय।

हे सन्तापको हरनेवाले लताकुञ्ज! फिर परिभोगके लिये मैं तुम्हें आमन्त्रित करती हूँ।

इस परिभोगका परिणाम हुआ विषाद—शकुन्तलाकी भर्त्सना और दुष्यन्तका पश्चात्ताप! किंतु इससे भी बढ़कर हुआ दुष्यन्तके चरित्रपर प्रहार। कण्वके आश्रममें उसका आचरण जैसा रहा, वैसा उससे क्यों हो गया—इसकी मीमांसा अधिक नहीं हुई। हाँ, शंका और समाधानका कार्य अवश्य होता रहा। पर सच पूछिये तो इसका रहस्य सामाजिककी आँखसे आजतक ओझल ही रहा। तुलनाके लिये एक दूसरा प्रसङ्ग भी लीजिये। यह मरीचिका आश्रम है। यहाँ भी राजा और सूतका ही प्रसङ्ग है। हाँ, यह राजाका अपना सूत नहीं, सखा इन्द्रका सूत है। और इसीसे परिस्थिति भी यहाँकी कुछ और है। यहाँ मातलि राजासे कहता है—

अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् यावत्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि।

इस अशोक-वृक्षके नीचे आप बैठें, जबतक मैं मरीचिसे आपके आगमनका निवेदन करनेके लिये अवसर देखूँ।

मातलि इतना कहकर तृप्त न हुआ। जाते-जाते इतना और कह गया—

आयुष्मन् ! साधयाम्यहम् ।

आयुष्मन् ! मै जाता हूँ।

मातलि गया और राजाकी चिन्ता जगी—

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते॥

मुझे मनोरथ पूर्ण होनेकी आशा नहीं। हे भुजा! व्यर्थ क्यो फड़कती है ? मङ्गलका तिरस्कार पहले ही कर दिया, अब दुःख-ही-दुःख है (अथवा पहले तिरस्कृत कल्याण दुःखमें बदल जाता है)।

दूधका जला छाँछको फूँककर पीता है, पर भाग्यवश मक्खन मिल गया तो ? पहले आश्रममें प्रविष्ट होते ही सुन पड़ा था—

इत इतः सख्यौ।

इस ओर, सखियो, इस ओर।

और राजाको सूझ पड़ा था—

अहो ! मधुरमासां दर्शनम्।

अहो ! इनकी कैसी मधुर आकृति है।

इस आश्रममे खड़े-खड़े सुनायी दिया—

मा खलु चापलं कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम्॥

चपलता न करो। अरे! अपने स्वभावपर आ ही गया।

'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' की यह झाँकी यहीतक नही रही। परिणाम भी दोनोंका सच्चा रहा। पहले राजाने निश्चय किया—

भव हृदय साभिलाषं संप्रति संदेहनिर्णयो जातः।
आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्॥

हे हृदय! साभिलाप हो जाओ। अब सन्देहका निर्णय हो गया। जिसे अग्नि समझते थे, वही यह स्पर्शके योग्य रत्न क्योंकर हो रहा है ?

किंतु इस बार सोचा—

किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः॥

मेरे हृदयमें इस बालकके प्रति औरस पुत्रके समान स्नेह क्यो हो रहा है ?

और निर्णय किया—

नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

निश्चय ही सन्तानहीनताके कारण यह वात्सल्य मेरे हृदयमे है।

पहलेका परिणाम हुआ 'रत्न' का तिरस्कार और 'सत्त्व' की अवहेलना, किंतु दूसरेका प्रतिफल मिला—

दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते।

धर्म-पत्नीके समागम और पुत्रके मुखदर्शनपर आयुष्मान्को बधाई है।

कारण संक्षेपमे यही कहा जा सकता है कि पहलेमें निरा दुष्यन्त और दूसरेमें 'सारथि' साथ है, और 'सारथि' का सङ्केत है बुद्धि। कारण—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

आत्माको रथारोही समझो और शरीरको रथ। बुद्धिको सारथि जानो और मनको लगाम।

बुद्धि तो सारथि सिद्ध हुई और यह स्पष्ट हो गया कि कण्वके आश्रममे जो कुछ हुआ बुद्धिरहित दुष्यन्तके द्वारा हुआ; पर अभीतक 'आर्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः' का रहस्य कहाँ खुला ? सो भी तो सामने ही है। देखिये—

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

इन्द्रियोको घोड़ा कहा है। विद्वान् आत्मा, इन्द्रिय और मनसे युक्तको भोक्ता कहते है।

अस्तु, बुद्धिरहित भोक्ता दुष्यन्तका रूप आपके सामने आ गया और आपने यह भी देख लिया कि वास्तवमे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का प्रतिपाद्य है—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

मनकी लगाम लिये हुए विज्ञान-सारथिसे युक्त मनुष्य मार्गके अन्तको (पा लेता है और वह) विष्णुके परम पदको पा लेता है ।

निदान हमारा कहना है कि यदि वास्तवमे कालिदासका मर्म समझना है तो उनके 'अभिज्ञान' का अध्ययन इस ज्ञानसे करें और उनके अध्यात्मको आँखसे ओझल न होने दे । वाजिको शीतलकर 'सूत' की सुनें, अन्यथा परिभोग और परितापमे पड़े रहें । पार तो लग नहीं सकते, पातमे लगे रहें। वस्तुके अध्यात्मको आँखसे ओझल न होने देना हिंदू-संस्कृतिकी महत्ता है ।

जगद्गुरु हिंदू

(लेखक—श्रीआनन्ददेवगिरिजी)

आज ईसाकी इस बीसवीं शताब्दीमे भारतीय नवयुवकोंके अंदर अपनी संस्कृति और धर्मके प्रति एक प्रकारकी घृणा हो चली है । उनकी दृष्टिमे अपना कुछ मूल्य ही नही रह गया है । उनकी बुद्धिपर एक ऐसी भयानक छाया आ पड़ी है, जिससे रोम और ग्रीसकी संस्कृति, अरब और ईरानकी संस्कृति ही सब कुछ दीखती और उनकी अपनी संस्कृति—विश्वविजयिनी हिंदू-संस्कृति उन्हे सबसे हेय और सब संस्कृतियोकी जूँठन ज्ञात होती है । हिंदू-विद्यार्थी और नवयुवकोके अंदर इस प्रकारका भ्रम उत्पन्न करनेका मुख्य कारण (१) स्वयं उनकी अपनी संस्कृतिके प्रति अज्ञता और (२) भ्रामक पाश्चात्त्य साहित्यका अध्ययन ही है । आजके प्रमुख साहित्यकारोमे माने जानेवाले श्रीयुत एच्० जी० वेल्सने अपनी पुस्तक 'दि हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड' मे हिंदू-संस्कृतिको विश्वकी अन्य संस्कृतियोंमे अग्रगण्य न मानकर रोमन और ग्रीस संस्कृतियोको अग्रणी बताया है । पर इससे विद्वान् लेखककी अज्ञता ही प्रकट होती है और ज्ञात होता है कि उन्होने हिंदू-संस्कृति और धर्मके अध्ययन करनेका कभी प्रयत्न ही नहीं किया । अतएव उनका उपर्युक्त कथन निश्चय ही निष्पक्ष नही माना जा सकता । भारतीय विद्वानोके विचार तो अपनी संस्कृतिके पक्षमे होंगे ही । पर इस लेखका मुख्य उद्देश्य यूरोपियन और अमेरिकन विद्वानोंके कतिपय विचारोद्वारा यह सिद्ध करना है कि वास्तवमे ज्ञानके प्रत्येक क्षेत्रमे हिंदू विश्वका जगद्गुरु रह चुका है ।

आजसे युगो पूर्व स्मृतिकार मनुने विश्वको निमन्त्रण दिया था कि वह भारतके तपःपूत ऋषियोसे आचार-विचारके सम्बन्धमे कुछ शिक्षा ले । यदि हम ध्यानसे देखे तो यह केवल वाग्जालमात्र नहीं है । वास्तवमे हिंदुओमे ऐसी ही शक्ति थी और है भी (यदि वे अपनी यथार्थ शक्तिको जाग्रत, प्रबुद्ध और प्रकट कर सकें) । जब विश्व असभ्य था यूरोप, अमेरिका, अफ्रिका आदि महाद्वीपोंके प्राणी गुफाओंमें निवास-कर अपने नग्न शरीरोंको पत्तोंसे ढकते थे, उस समय सभ्य हिंदुओने विश्वको जो प्रकाशकी किरणें दी थीं, उन्हे कुछ पूर्वी और पश्चिमी विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है । हिंदू-सभ्यता और हिंदू-धर्मकी अतिप्राचीनतामें श्रीप्लाइनी (Pliney), श्रीअबुलफजल, श्रीहीरेन (Prof. Heeren), मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) आदि विद्वान् सभी एकमत हैं । डा० गोकुलचन्द नारङ्गने अपनी पुस्तक 'रियल हिंदूइज्म' (Real Hinduism) मे लिखा है कि प्रो० मैक्समूलर आदि सभी विद्वानोंने इसे स्वीकार किया है कि प्राचीन विश्वके सभी राष्ट्रोंकी सभ्यताका मूल स्रोत भारत ही है । भारतने विश्वके हरेक भागमें उपनिवेश बसाये थे और यही उपनिवेश बादमे मिस्र, यूनान, पारस्य, अमेरिका आदि नामोसे विख्यात हुए । यही नहीं, मुद्राविनिमय, गणित, अर्थशास्त्र, ज्यौतिषशास्त्र, साहित्य, अङ्कगणित, बीजगणित, अक्षर और अङ्कज्ञानदर्शन और चित्रकलाज्ञानके सभी अङ्गोंमे आजका विश्व हिंदुओंका ऋणी है ।

हिंदुओने ही पहले-पहल मुद्राका निर्माण किया, जैसा श्रीप्रिंसेप (Princep) ने कहा है । ईसाके ८०० वर्ष पूर्व भी हिंदुओमे विनिमयकी सुव्यवस्थित प्रथा प्रचलित थी । उस समयकी आवश्यकताओंके अनुसार हिंदुओंद्वारा सङ्गठित सरकार सर्वश्रेष्ठ थी और उनके द्वारा निर्धारित न्यायके नियम ही इजिप्शियन, परसियन, रोमन और ग्रीक नियमोके आधार थे । जब अभी विश्वको अक्षरज्ञान भी न था, तब नालन्दा,

तक्षशिला, श्रीधन्य और कटकके विश्वविद्यालय छात्रोंसे परिपूर्ण रहा करते थे ।

जहाँतक भाषाका प्रश्न है इसे डा० वेलेंटाइन (Dr. Ballantyne) और वाप्प (Bopp)-जैसे विद्वानोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है कि 'संस्कृत ही एक ऐसी भाषा थी, जो विश्वभरमें प्रचलित थी और यही समस्त भारतीय और यूरोपियन (Indo-European) भाषाओंकी जननी भी है । हिंदुओंको अक्षर और भाषाज्ञान अनादिकालसे है और ईसाके २४०० वर्ष तथा इब्राहीमके ८०० वर्ष पूर्वकी लिखी पुस्तकेंतक पायी गयी हैं ।'

अब लीजिये हिंदुओंके साहित्यको । जहाँतक वेदका प्रश्न है, सभी विद्वानोंने उसे सर्वश्रेष्ठ माना है । प्रो० मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) ने कहा है कि 'इसकी समानतामें विश्वसाहित्यने अबतक कुछ भी नहीं दिया ।' प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक श्रीवाल्टेयर (Voltaire) ने जब ऋग्वेदको देखा तो वह आश्चर्यसे चिल्ला उठा कि 'केवल इसी देनके लिये पश्चिम पूर्वका सदा ऋणी रहेगा ।' यदि वेदकी प्रशंसामें पश्चिमी विद्वानोंके विचारोंकी एक-एक पङ्क्ति भी लिखी जाय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक प्रस्तुत हो सकती है । प्रसिद्ध व्याकरणशास्त्री सर मोनियर विलियम्स (Sir Monier Williams) ने पाणिनिका व्याकरण देखकर कहा—'इससे बढ़कर विश्वने व्याकरणके नियम कभी बनाये ही नहीं । इसका एक-एक सूत्र आश्चर्यचकित कर देता है ।' काव्यमें विश्वके किसी राष्ट्रने ऐसा साहित्य नहीं उत्पन्न किया, जो रामायण और महाभारतकी समानता कर सके । वेदोंके अनुवादक प्रिन्सपल ग्रिफिथ (Griffith) ने रामायणके बारेमें लिखा है—'विश्वके किसी भी काव्यमें कवित्व और नैतिकताका ऐसा सम्मिश्रण नहीं पाया जाता । रामायणकी समानता होमर-रचित तीन इलियड और महाभारतकी समानता बारह इलियड भी नहीं कर सकते ।' भारतीय-नाट्यशास्त्रपर सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) ने लिखा है कि 'भारतीय नाटकोंकी समानतामें आज विश्वके उन्नततम राष्ट्रोंके नाटक भी नहीं आ सकते ।' अभिज्ञानशाकुन्तलको पढ़कर तो जर्मनीका प्रसिद्ध कवि गेटे (Goethe) गद्गद हो उठा और उसने स्वयं भी एक कविता लिख दी । उसके प्रसिद्ध नाटक (Faust) की प्रस्तावना शकुन्तलाकी ही प्रेरणा है । हिंदुओंके गीत-काव्योंपर प्रो० हीरेनका मत है कि 'ग्रीक साहित्यकी तुकान्त और अतुकान्त दोनों प्रकारकी कविताएँ हिंदू गीत-काव्योंके सम्मुख परास्त हैं ।' गीतगोविन्दको पढ़कर मन्त्रमुग्ध न होना किसीके लिये असम्भव है । मेघदूतके बारेमें श्रीफाउच (Fauche) ने लिखा है—'यूरोपियन साहित्यमें इसका जोड़ नहीं ।' कथा-साहित्यमें श्रीएलफिंसटनके मतानुसार हिंदू विश्व-शिक्षक है ।

अब दर्शनको लीजिये । मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) जैसे विद्वान्ने कहा है—'हिंदू-जाति दार्शनिकोंकी जाति है ।' डा० डफ (Dr. Duff) कहते हैं कि 'यूरोपियन दर्शन हिंदू-दर्शनका अत्यन्त ऋणी है ।' प्रो० गोल्डस्टकर (Prof. Goldstucker) को तो सब दर्शनोंका तत्त्व हिंदू-दर्शनोंमें मिलता है । सर मोनियर विलियम्सके अनुसार पिथागोरस और प्लैटो—दोनों अपने पुनर्जन्मसम्बन्धी प्रसिद्ध सिद्धान्तोंके लिये भारतीय दर्शनसे अत्यधिक प्रभावित हैं । प्राचीन पश्चिमीय दार्शनिक ही नहीं, बल्कि आधुनिक विश्व भी—और विशेषतः आजका यूरोपियन और अमेरिकन दार्शनिक जगत् भारतीय दर्शनसे बहुत प्रभावित है । स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्दके पर्यटनने तो अमेरिकाको विशुद्ध भारतीय दर्शनके बीच लाकर खड़ा किया है ।

यह तो हुई दर्शनकी बात, पर विज्ञानकी कोटिमें भी प्राचीन भारत और हिंदू-संस्कृतिने बहुत कुछ दिया है । पहले चिकित्साशास्त्रपर दृष्टिपात कीजिये । लार्ड ऐम्पथिल (Lord Ampthile) ने जो सन् १९०५में मद्रासके गवर्नर थे, कहा था, 'चिकित्सा-विज्ञानकी जन्मभूमि भारत है । यहींसे पहले अरबवालोंने इसे सीखा और १७वीं शताब्दीके अन्तमें यूरोपियन चिकित्सकोंने इसे अरबवालोंसे सीखा ।' शल्य-चिकित्साके बारेमें मि० मैनिङ्ग (Mr. Manning) ने लिखा है, 'हिंदुओंके शल्यसम्बन्धी यन्त्र अत्यन्त तीव्र हुआ करते थे । उनके द्वारा एक बालको भी दो बराबर भागोंमें बाँटना अत्यन्त सरल था ।'

गणितमें भी हिंदुओंकी देन बेजोड़ है । वास्तवमें इस विज्ञानको इतना उन्नत करनेका श्रेय इन्हींको है । मि० मैनिङ्ग (Mr. Manning) लिखते हैं कि 'अरबोंने अङ्कगणित हिंदुओंसे सीखा और यूरोपवालोंने इसे अरबोंसे लिया ।' सर मोनियर विलियम्सके कथनानुसार बीजगणित भी अरबोंने हिंदुओंसे सीखा । जहाँतक रेखागणितका प्रश्न है, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पीथागोरसका ४७ वाँ थ्योरम हिंदुओंने कई शताब्दियों पूर्व ही हल कर दिया था ।

ज्यौतिषके बारेमें श्रीवेबर (Prof, Weber) कहते हैं, 'अरब हिंदुओंके शिष्य थे।' मि० डेविसके गणनानुसार हिंदू ज्यौतिषविशारद पराशर ईसाके १३९१ वर्ष पूर्व हो चुके हैं। मि० कोलब्रूकने लिखा है कि 'आर्यभट्टको पृथ्वीका अपनी धुरीपर घूमना ज्ञात था। उन्होंने सूर्य और चन्द्रग्रहणके वास्तविक कारणका भी पता लगाया था। १७०२ ई०मे जयसिंह द्वितीयने पाँच वेधशालाएँ जयपुर, मथुरा, बनारस, दिल्ली और उज्जैनमे बनवायी थीं। इसने डी० ला० हायरद्वारा १७०२ ई० मे प्रकाशित ज्यौतिष-सूचियोंका भी परिशोधन किया था।'

गानविद्याके बारेमें मि० कोलमैनका केवल यह वाक्य उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा कि 'हिंदू-गानविद्याके सिद्धान्त हमारे सिद्धान्तो (यूरोपीय) से कहीं अच्छे हैं। कहाँतक लिखा जाय; मछली पकड़नेसे लेकर खनिज पदार्थोंतक सभी विषयोंपर पुस्तकें लिखी गयी थीं।'

अब लीजिये चित्रकलाको। श्रीहावेल (Mr. Havell) लिखते हैं कि 'भारतीय चित्रकलाका स्थान यूरोप और एशिया—दोनोंमें सर्वश्रेष्ठ है।' वे आगे लिखते हैं कि 'यदि यूरोपियन चित्रकलामें कोई नयी प्रेरणा आती है तो वह निश्चय पुनः पूर्वसे आयेगी।' मूर्तिकलाके लिये तो भारत सदैवसे विश्वका अग्रणी रहा है। श्रीविन्सेन्ट स्मिथ, कर्नल टॉड, प्रो० वेबर आदि भारतकी मूर्तिकलाको देखकर स्तब्ध रह गये हैं। अशोकका स्तम्भ, रामेश्वरम्का मन्दिर, इलोराकी गुफाएँ आज भी विश्वको चुनौती दे रही हैं। अजन्ताकी गुफाएँ आज भी भारतकी कीर्तिध्वजाको ऊँचा किये हैं।

हिंदुओंकी शासन-व्यवस्था, उनके राज्यनियम और न्यायविभागके सुगठनकी महत्ता तो निर्विवाद है। श्रीलुइ जेकोलियट (Louis Jacolliot) अपनी पुस्तक (Bible in India) मे लिखते हैं, 'मनुस्मृति वह नींव है जिसपर इजिप्शियन, परशियन, ग्रीक और रोमन न्याय और नियमोंका भव्य प्रासाद खड़ा है। और आधुनिक यूरोपपर भी मनुका एक विशेष प्रभाव है।'

यह तो पश्चिमी विद्वानोंकी राय है, जो उन्होंने हिंदुओंके प्राचीन गौरवपर दी है और आज अमेरिका-जैसे उन्नत राष्ट्र भी हिंदुओंकी विद्वत्ताको स्वीकार करते हैं। स्वामी विवेकानन्दके अमेरिका-प्रवास-कालमें उन्होंने जो सफलता प्राप्त की; वह तो महान् थी ही; लेकिन उसी समय अमेरिकाके एक प्रसिद्ध पत्र 'न्यूयार्क हेरल्ड' ने लिखा था कि 'यह कितनी मूर्खताकी बात है कि हम (अमेरिकन) भारत-जैसे विद्वान् देशमें अपने प्रचारके निमित्त मिशनरी भेजें।'

स्पष्ट है कि हिंदू जगद्गुरु रह चुके हैं और यह भी निश्चित ही है कि आजकी त्रस्त मानवता यदि 'कहीं त्राण पायेगी तो वह भारतमें ही और हिंदू-संस्कृति ही उसे त्राण देगी। लेकिन आज आवश्यकता है हिंदुओंके जाग्रत् होनेकी; अपनी सभ्यता और संस्कृतिके प्रति अधिकाधिक श्रद्धासम्पन्न और संस्कृतिके अनुसार ही सच्चे क्रियाशील होनेकी—साथ ही संगठित भी हो जानेकी। 'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे।' हिंदूका अतीत उज्ज्वल रह चुका है और उसके वर्तमानपर छाया हुआ यह अन्धकार भी दूर हो सकता है यदि वह अपनी संस्कृतिसे सच्चा प्रेम करना सीखे और उसके अनुसार जीवन बनाने लगे।

अन्तमें स्वामी विवेकानन्दद्वारा दिये गये भाषणसे मैं निम्नलिखित पङ्क्तियाँ उद्धृतकर लेखनीको विराम देता हूँ—'यह वही भूमि है, जहाँसे दर्शन और आत्म-ज्ञानकी ऊँची लहरोंने बार-बार उठकर समस्त विश्वको प्लावित कर दिया था और यह वही भूमि है, जहाँसे एक बार पुनः उस ज्वार-भाटेके उठनेकी आवश्यकता है, जो पतनोन्मुख मानवताको नव-जीवन और शक्ति दे सके।'

विपत्ति-सम्पत्ति क्या है ?

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

कोई विपत्ति विपत्ति नहीं है और सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं है। भगवान् विष्णुका विस्मरण ही विपत्ति है और भगवान् नारायणकी स्मृति ही सम्पत्ति है।

युगभेदसे मानव-देहका अपकर्ष

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा)

शास्त्रोंके अनुसार अनन्त कालके भीतर क्रमशः सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग बारंबार आते-जाते रहते हैं। और क्रमशः युगभेदसे मनुष्यकी परमायु और आकार आदिमें भी लघुता आती जाती है। सत्ययुगमें मानवशरीर आजकलके हस्तप्रमाणसे इक्कीस हाथका होता था; त्रेतामें चौदह, द्वापरमें सात तथा कलिमें आजकल साढ़े तीन हाथका होता है। पञ्चाङ्गोंसे भी युगोंके वर्णनमें यही देखनेमें आता है।

विष्णुपुराणमें लिखा है कि राजा शर्यातिके वंशधर कुशस्थलीके राजा रैवत ककुद्मी बहुत अन्वेषण करनेपर भी अपनी कन्या रेवतीके योग्य पात्र न पा सके। अन्तमें इस विषयमें ब्रह्मासे जिज्ञासा करनेके लिये वे कन्याको साथ लेकर ब्रह्मलोक गये। वहाँ वेदगान हो रहा था, अतएव उनको प्रतीक्षा करनी पड़ी। तत्पश्चात् ब्रह्मा उनसे बोले कि 'जबतक तुम यहाँ प्रतीक्षा करते रहे, तबतक अनेकों मानवीय युग व्यतीत हो गये। तुम्हारा समकालीन वहाँ कोई भी जीवित नहीं रहा है।' फिर ब्रह्माने उनको पृथ्वीपर लौटने और श्रीकृष्णके अंशभूत माया-मानुष श्रीबलदेवके साथ रेवतीका विवाह करनेकी आज्ञा दी।

उच्चप्रमाणामिति तामवेक्ष्य
स्वलाङ्गलाग्रेण च तालकेतुः।
विनम्रयामास ततश्च सापि
बभूव सद्यो वनिता यथान्या॥

(विष्णुपुराण ४। १। ३८)

'तालकी ध्वजावाले भगवान् बलदेवजीने उस रेवतीको बहुत लंबे शरीरवाली देखकर अपने हलाग्रके द्वारा उसे नम्राकार कर दिया। तब रेवती तत्कालीन अन्य कन्याओंके समान छोटे आकारकी हो गयी।'

सूर्यवंशी भक्ताग्रगण्य अम्बरीषके भाई तथा सम्राट् मान्धाताके पुत्र राजा मुचुकुन्द सत्ययुगमें देवताओंके लिये असुरोंसे युद्ध करके थक गये। देवताओंने उनको वरदान दिया और उसके प्रभावसे वे एक गुफामें दीर्घ निद्रामें सो रहे थे। श्रीकृष्ण छल करके पीछा करनेवाले कालयवनको उस गुफामें ले गये। कालयवनने राजा मुचुकुन्दको भ्रमसे श्रीकृष्ण मानकर पैरोंसे मारा और उनकी दृष्टिमात्रसे जलकर भस्मकी ढेरी हो गया। मुचुकुन्दने भगवान्‌का स्तवनकर दूसरे जन्ममें जातिस्मरता और मोक्षप्राप्तिका वरदान प्राप्त किया।

इत्युक्तः प्रणिपत्येशं जगतामच्युतं नृपः।
गुहामुखाद्विनिष्क्रान्तः स ददर्शाल्पकान् नरान्॥
ततः कलियुगं मत्वा प्राप्तं तप्तुं नृपस्तपः।
नरनारायणस्थानं प्रययौ गन्धमादनम्॥

(विष्णुपुराण ५। २४। ४-५)

राजा मुचुकुन्दने गुहासे बाहर आकर देखा कि दूसरे मनुष्य उनकी अपेक्षा बहुत छोटे आकारके हैं, और समझा कि कलियुगका आरम्भ हो गया है।

महाभारतके वनपर्वमें भी हनुमान्-भीम-संवादमें युग-भेदसे तेज, शक्ति और आकारके ह्रासकी बात आयी है।

पाश्चात्त्य विद्वानोंने आर्षशास्त्रोंके दीर्घ युग-परिमाण तथा पूर्वयुगके मानव-देहकी अत्यधिक उच्चताको लेकर कई जगह बड़ी हँसी उड़ायी है। इसका कारण यह है कि वे लोग Old Testament बाइबलके विश्वासी हैं। और बाइबलके मतसे पाँच हजार वर्षसे कुछ पूर्व पृथ्वीकी सृष्टि हुई थी।

आधुनिक क्रम-विकासवाद तथा जड-विज्ञानके प्रमाणके सामने हमें मौन हो जाना पड़ता है, और स्वभावतः हम शास्त्रवाक्योंकी सत्यताके विषयमें सन्देह करने लगते हैं।

परंतु अब अनुसन्धानके फलस्वरूप बाइबलकी सृष्टि-कथा पूर्णतया काल्पनिक प्रमाणित हो गयी है। बल्कि ऐसे और भी बहुतेरे नये तथ्योंका उद्घाटन हो रहा है, जिनसे निश्चयपूर्वक प्रमाणित होता है कि प्राचीन कालमें मानव और अन्य जीवोंके शरीर बहुत बड़े आकारके थे, और वे क्रमशः छोटे होते जा रहे हैं।

भारतमें शवदाहकी प्रथा सदासे चली आती है। इस कारणसे यहाँ प्राचीन कङ्कालोंका प्राप्त होना बहुत कठिन है। तथापि बीच-बीचमें कहीं-कहीं कङ्काल मिल जाते हैं।

ह्वेनसांगका वर्णन

सप्तम शताब्दीमें प्रसिद्ध चीनी परिव्राजक ह्वेनसांगकी भारत-भ्रमणकी कथासे शास्त्र-पुराणोंकी बातकी ही पुष्टि होती है। उसने 'कुरुक्षेत्र' को धर्मक्षेत्र (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः) के नामसे वर्णन किया है। कुरुक्षेत्रके युद्धके सम्बन्धमें उसने जो विवरण दिया है, उसके प्रामाणिक न होनेपर भी बादमें लिखा है कि—

'मृतदेह लकड़ीके ढेरके समान स्तूपाकार हो गये थे; और तबसे आजतक इस प्रान्तमें सर्वत्र उनकी हड्डियाँ बिखरी हुई पायी जाती हैं। यह बहुत प्राचीन समयकी बात है, क्योंकि हड्डियाँ बहुत बड़ी-बड़ी हैं।'* ह्वेनसांगने निश्चयपूर्वक कुरुक्षेत्र-युद्धमें मरे हुए व्यक्तियोंकी हड्डियाँ देखी थीं और वे तत्कालीन लोगोंके आकारकी अपेक्षा बहुत बड़ी थीं।

भारतमें प्राचीन अतिकाय कङ्काल

१९४१ ई० में कुरुक्षेत्रके समीप एक विलक्षण नर-करोटी पायी गयी थी। संवादपत्रोंमें उसका समाचार छपा था। खुदाई करनेसे सम्भव है कि भविष्यमें और भी चिह्न बाहर निकल सकें। भारतमें अन्यत्र भी बृहद् आकारके नरकङ्काल पाये गये हैं। प्रायः २५-३० वर्षों पहले मैंने समाचारपत्रोंमें पढ़ा था कि युक्त-प्रदेशमें किसी नदीकी धारके बीच एक अतिकाय नरकङ्काल पाया गया था, और वह जिला मजिस्ट्रेटके पास भेज दिया गया था। इस विषयमें मुझे और कुछ अधिक स्मरण नहीं होता।

प्रायः दस वर्ष पूर्व मध्यप्रदेशके होशंगाबाद जिलेमें सोहागपुर नगरके समीप एक बृहद् आकारका कङ्काल पाया गया था। खेदकी बात है कि इस कङ्कालका फोटो या उसका कोई अंश रक्खा नहीं गया।

कोलोराडोका अतिकाय कङ्काल

ता० ९-८-४७ ई० के नागपुरके 'हितवाद' नामक पत्रमें न्यूयार्कके 'ग्लोब' पत्रमें प्रकाशित एक समाचार छपा था। उससे यह ज्ञात हुआ था कि अमेरिकाके कोलोराडो मरुभूमिकी गुफामें अनेकों ९ फुट लंबे कङ्काल पाये गये हैं। अनुमान किया जाता है कि वह स्थान लगभग ८००० वर्ष पहले किसी प्राचीन जातिके राजवंशका समाधिस्थल था।†

* Dead bodies were heaped together as sticks, and from that time till now the plains were everywhere covered by their bones. As this relates to a very remote period of time, the bones are very large ones.

(Beal: *Hieuentsang*, p. 186)

† *Remains of 9 ft. men found*

Newyork, Aug. 7—The remains of men 9 feet tall have been found in the caves of America's Colorado desert, which is thought to be the burial place of people who lived perhaps 8000 years ago.

अफ्रिकामें अन्वेषण

इंग्लैंडके प्रसिद्ध पत्र Illustrated London News के १९४७ ई० के ५ अक्टूबर और २ नवम्बर (५०४ पृ०) के अङ्कोंमें इस विषयपर एक लेख और चित्र प्रकाशित हुए हैं। उससे पता चलता है कि दक्षिण अफ्रिकाके प्रसिद्ध नृतत्त्वविद् डाक्टर एल. एस. बी. लीकी (Dr. L. S. B. Leakey) को १९४३ ई० में केनियाकी मैगजी झीलमें, अलरजेसलीमें, तथा उससे पहले टैनगनिकाके Oldway Gorge में प्रस्तरीभूत कङ्काल मिले थे। वहीं बेबून, हस्ती (सीधे दाँतवाले), मेष (भैंसके आकारका जीव) प्रभृति जीवोंके बहुत बड़े हाड़ और दाँत आदि भी पाये गये हैं।

डा० लीकीके मतसे प्रायः एक लाख पचीस हजार वर्ष पहले मनुष्यके साथ-साथ ये जीव भी रहते थे। करेन अन्ततः मेषके द्वारा पाला हुआ प्राणी है। तुलनात्मक चित्रोंद्वारा यह दिखलाया गया है कि आधुनिक प्राणीके शरीरकी अपेक्षा ये कितने बड़े थे। इस विषयमें कलकत्तेके स्टेट्समैनने सन् १९४७ फरवरी मासमें जो आलोचना प्रकाशित की थी, उसे नीचे उद्धृत किया जाता है*—

Mummies and implements have been unearthed, along with skeletons of elephants and tigers. Hieroglyphic inscriptious in granite in the cave, believed to have been of a temple, may be a key to an ancient story.—'Globe'.

(Hitavada 9-8-47)

* The Darwinian theory that man is descended from the monkey required an intermediate creature showing the characteristics of both; and since this missing link could not be found, a number of later Biologists came to believe that the two species evolved out of a common ancestor at about the same time. Their hypothesis has also lacked verification. In the early thirties Mr. Leaky, the South African anthropologist, announced that he had discovered in Kenya human bones which were a million years old; but the date he wanted to assign to this specimen of homesapiens was disputed by other authorities. Now, however, the Professor of Anatomy at Oxford claims equal antiquity for what he calls Austraipithecus whose fossial remains have been dug out of a cave in South Africa and his conclusion is that more than a million years ago there were men and women in the world walking erect with their shoulders back, tilling the soil, wearing clothes

'डार्विन-सिद्धान्तके अनुगामी बंदरको मनुष्यका पूर्व-पुरुष मानते हैं। इसको प्रमाणित करनेके लिये दोनोके मध्यवर्ती ऐसे एक जीवकी आवश्यकता है, जिसमे इन दोनोकी विशिष्टता पायी जाय। परंतु यह अदृश्य योगसूत्र पाया नहीं जाता। अतएव परवर्ती कालमे बहुतेरे प्राणि-विज्ञान-वेत्ता विश्वास करने लगे कि मनुष्य और वानर एक साधारण पूर्वपुरुषसे प्रायः एक ही कालमे पैदा हुए थे। परंतु इस युक्तिका समर्थन करनेवाले प्रमाण भी नही पाये जाते।

१९३०-३५ ई० के बीच, दक्षिण अफ्रिकाके नृतत्त्व-विद् मि० लीकी घोषणा करते हैं कि उन्होने केनियामे दस लाख वर्ष पुराने नर-कङ्कालका पता लगाया है। परंतु दूसरे अन्वेषक लोग इस प्राचीनताको स्वीकार नही करते।

परंतु सम्प्रति आक्सफोर्डके शरीर-तत्त्वके एक अध्यापकने दक्षिण अफ्रिकाकी एक गुफामे कुछ प्राग्-ऐतिहासिक शिलीभूत हड्डियोको खोदकर निकाला है। उन्होने इनका नाम दिया है—'ऑस्ट्राइपिथेकस्'। और वे भी इनके प्रायः उतने ही प्राचीनत्वका दावा करते हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि लाखों वर्ष पूर्व भी पृथ्वीपर पुरुष-स्त्री थे, वे गलेको पीछे करके सीधे होकर चलते थे, बंदरकी तरह नहीं। वे खेती करते थे, कपड़े पहनते थे और आजकलकी प्राचीन जातियोंके समान व्यवहार करते थे। तथापि उनको ऑस्ट्राइ-पिथेकस् और वानरके बीचमे, खोज करनेपर भी, किसी सम्पर्कका पता न लगा।'

यवद्वीप (जावा) और चीनदेशमें नवीन खोज

यूनाइटेड स्टेट्स अमेरिकासे प्रकाशित होनेवाले 'लाइफ' (Life) पत्रके १९४६ ई० के २८ अक्टूबरके अङ्कमे जो निबन्ध प्रकाशित हुआ है, उसका भावानुवाद यहाँ दिया जाता है। इससे पूर्णतः प्रमाणित होता है कि पूर्वकालमे मनुष्य-शरीर बड़े आकारका था और क्रमशः छोटा होता जा रहा है।

'फॉन कोनिग्स्वाल्ड एक प्राणितत्त्ववेत्ता हैं। वे विगत द्वितीय महायुद्धके पूर्व स्विस् गवर्नमेंट और कार्नेगी इन्स्टीच्यूशनकी ओरसे यवद्वीप (जावा टापू) में गवेषणा करते थे।

and behaving more or less as primitive tribes behave today. Moreover he cannot discover any kinship between Austraipithecus and the ape."
—The Statesman, February, 1947.

वहाँ खुदाईके फलस्वरूप उनको प्राचीन कालके नर-कपालका एक टुकड़ा मिला। उसके बृहद् आकार और परिमाणसे जान पड़ता है कि चार लाख वर्षसे प्राचीन 'जावा मैन' (Pithecanthropus Erectus) के कङ्कालकी अपेक्षा भी ये प्राचीन हैं। इसका नामकरण हुआ है—पिथेकन्थ्रोपस् रोबस्टस् (Pithecanthropus Robustas)।

इसके अतिरिक्त उनको एक बड़े जबड़ेका टुकड़ा मिला था। वह अनुमानतः ४॥ लाखसे ५ लाख वर्ष पुराना होगा। इस जातिके मनुष्यका नाम रक्खा गया है—मेगन्थ्रोपस (Meganthropus)। इसके चित्रसे जान पड़ता है कि वह आधुनिक मनुष्यकी करोटीसे ड्योढ़ा या दुगना बड़ा होगा।

कोनिग्स्वाल्डने चीनमे हांगकांग और कैंटन नगरोकी औषधकी दूकानोंसे इसकी अपेक्षा भी अधिक प्राचीन तीन दाँत प्राप्त किये हैं। चीनमें इस प्रकारके प्राचीन दाँतोंसे वीर्यवर्द्धक औषध तैयार की जाती है। और दाँत क्यांग्सि प्रदेशकी गुहासे पाये गये हैं। फोटोसे जान पड़ता है कि आधुनिक मनुष्यके दाँतसे इनकी लंबाई-चौड़ाई अन्ततः दुगुनी है। अबतक इनकी अपेक्षा प्राचीन नर-अस्थिका कहीं पता नहीं लगा है। इस मनुष्यका नाम रक्खा गया है—जिगेंटोपिथेकस् (Gigantopithecus)। यह सम्भवतः ४½ से ५ लाख वर्ष पुराना होगा।

पिथेकान्थ्रोपस् इरेक्टस्से लेकर जिगेंटोपिथेकस्पर्यन्त जो नर-कङ्कालके अवशेष पाये गये हैं, उनमे परवर्तीकी अपेक्षा पूर्ववर्ती क्रमशः अधिक बड़ा और भारी है।*

डारविनका क्रम-विकासवाद भ्रान्तिमूलक है

अबतक आधुनिक खोजोंके बारेमे जो कुछ कहा गया है, उससे डारविनके क्रमविकासवादकी सत्यताके सम्बन्धमे घोर सन्देह होता है। फलतः यह क्रम-विकासवाद भारतीय शास्त्रोंके सिद्धान्तोंके बिल्कुल विपरीत है। यद्यपि डारविनने भगवान्‌को अस्वीकार नही किया, फिर भी उनके नवीन सिद्धान्तके

* Each type, from Pithecanthropus Erectus back to Gigantopithecus is larger, more massive and more primitive than the one before it. If Weidenreich is right, man's earliest known ancestor is Gigantopithecus, a huge creature perhaps twice the size of a modern Gorilla. (Life, October 28, 1946, p. 10)

सम्पर्कमें आकर बहुत-से लोग ईश्वरकी सत्तामें सन्देह करने लगे हैं।

परमेश्वर सर्वशक्तिमान् हैं, वे ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त विशाल सृष्टिकी रचना, पालन और संहार करते हैं। फिर वे क्या वानरके स्थानमें मनुष्यकी रचना नहीं कर सकते? दो वृक्षके पत्ते—यही क्यों, घासके दो तिनके कभी एक-से नहीं रचे गये। एक बूँद जलके बीच भी असंख्य जीव रहते हैं, जो केवल अणुवीक्षण-यन्त्रकी सहायतासे देखे जाते हैं।

आर्ष-शास्त्रोंमें मनुष्यका एक विशिष्ट स्थान, बल्कि प्राधान्य है; क्योंकि चतुर्दश भुवनोंमें एकमात्र पृथ्वी ही कर्मक्षेत्र है और मानव-शरीर ही एकमात्र कर्म करनेका साधन है। दूसरे सभी लोक भोगभूमियाँ हैं, और दूसरे सारे शरीर (यहाँतक कि देवशरीर भी) भोगशरीर हैं। उनमें तथा उनके द्वारा मुक्तिके उद्देश्यसे कोई कर्म नहीं होते। अतएव मनुष्य भगवान्‌की सृष्टिका श्रेष्ठ जीव है, नर-देह अत्यन्त दुर्लभ है। देवताको भी मुक्तिके लिये धराधाममें आकर मनुष्यदेह ग्रहणकर जन्म लेना पड़ता है।

हमलोगोंके लिये सामान्य ज्ञान लेकर तथा दो अक्षर अंग्रेजीके पढ़कर भारतके प्राचीन इतिहास और शास्त्र-सिद्धान्तको अवहेलनाकी दृष्टिसे देखना या उसकी हँसी उड़ाना उचित नहीं है। जगत्-पूज्य महर्षिगण केवल थोथी गल्प-रचना, भला किस उद्देश्यसे करते?

आज जो अनुसन्धान हो रहे हैं, उनसे पाश्चात्त्य अन्वेषकोंके मतसे भी निःसन्देह सिद्ध हो रहा है कि प्राचीन कालसे मानवदेह क्रमशः छोटा होता आ रहा है, तथा आजसे दस लाख वर्ष पूर्व भी सभ्य मानवका पृथ्वीपर अस्तित्व था। इससे शास्त्रोंमें जो युगभेदसे क्रमशः सब विषयोंमें अवनतिकी बात लिखी है, वह सर्वथा सत्य सिद्ध होती है।

प्रशान्त महासागरके देशोंमें हिंदू-संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

इस महासागरके एक ओर चीनका विशाल प्राचीन देश है और दूसरी ओर अमेरिकाका महाद्वीप, जो आधुनिक संस्कृतिका द्योतक है। इन दोनोंके बीच, इसकी गोदमें, हजारों छोटे-बड़े द्वीप हैं। इन सबमें तरह-तरहकी संस्कृतियोंके नमूने देखनेमें आते हैं। परंतु इधर जो खोज हुई है, उससे पता लगता है कि इनमें सबसे प्रधान हिंदू-संस्कृति थी, जिसका प्रभाव उन देशोंके इतिहास तथा जीवनपर पूरी तरह पडा है। यहाँ कई हिंदू-राज्योंका उत्थान और पतन हुआ, जिनका स्मरण दिलानेके लिये आज भी जहाँ-तहाँ कितने ही चिह्न मिलते हैं। प्रायः लोगोंकी धारणा है कि बौद्धमतके प्रचार तथा विस्तारके साथ भारतसे बाहरके देशोंमें हिंदू-संस्कृतिका सूत्रपात हुआ; परंतु इन देशोंकी संस्कृतिके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि यह मत भ्रान्त है। बौद्धोंके प्रभावसे बहुत पहले यहाँ विशुद्ध हिंदू अर्थात् 'वैदिक संस्कृति' के चिह्न पाये जाते हैं। जैसे-जैसे इतिहासके इस पृष्ठपर खोजका प्रकाश पड़ता जा रहा है, वैसे ही हमारी आँखोंके सामने 'बृहत्तर' अर्थात् 'विशाल' भारतका चित्र स्पष्ट होता जाता है। इन देशोंमें वैदिक संस्कृतिके जो चिह्न प्राप्त हुए हैं, संक्षेपमें हम यहाँ क्रमसे उन्हींको दिखलानेका प्रयत्न करेंगे।

चीन

अपने यहाँके इतिहास-पुराणोंमें चीनकी चर्चा अति प्राचीन कालसे मिलती है। वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्डमें सुग्रीवने जब वानरोंको विभिन्न देशोंमें सीताजीको खोजनेका आदेश दिया, तब उन्होंने उसमें चीनका भी नाम लिया है—

चीनान्परमचीनांश्च निहारांश्च पुनः पुनः।
अन्विष्य दरदांश्चैव हिमवन्तं तथैव च॥

महाभारतमें भी कई स्थानोंपर चीन तथा चीनियोंका उल्लेख मिलता है—

यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः।
(शान्ति० ६५। १३)

विष्णुपुराणमें भी कहा गया है—

प्रियङ्गवो ह्युदाराश्च कोरदूषाः सचीनकाः।
(१। ६। २१)

मनुने यवन, शक, किरात, चीनी आदिकोंको 'आचार-भ्रष्ट क्षत्रिय' बतलाया है—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥

कौटिल्यने भी अपने 'अर्थशास्त्र' में चीनके रेशमका उल्लेख किया है—

तया कौशेयं चीनपट्टाश्च चीनभूमिजा व्याख्याताः।

ईसाके ५०० वर्ष पूर्व यहाँ 'ता-ओ' मतका बहुत प्रचार हुआ, जिसके प्रवर्तक लओ-त्से माने जाते हैं। 'ता-ओ' शब्द निर्विकार निरुपाधिक परमतत्त्वका द्योतक है। यह परम्परागत शिक्षा अद्वैत-वेदान्तसे बहुत मिलती है। इसका मार्ग निवृत्ति या वैराग्य है। 'ता-ओ' के मूल-ग्रन्थ 'यो-किङ्ग' की रचना ईसासे ३४६८ वर्ष पूर्व मानी जाती है। इसमें सृष्टिके उत्पादनके लिये दो तत्त्व बतलाये गये हैं—'याङ्ग' (लिङ्ग) और 'यीन' (योनि); जिनसे अभिप्राय पुरुष और प्रकृतिसे है। इसमें चार युगोंकी भी चर्चा आयी है। इसके समकालीन ही कनफ्यूशस (कोङ्ग-त्से या कुङ्ग मुनि)-का सम्प्रदाय है, जिसमें प्रवृत्तिमार्गपर जोर दिया गया है और पितरोंका पूजन तथा उनमें श्रद्धा मुख्य उपासना बतलायी गयी है। इस सम्प्रदायके उपदेशोंपर वैदिक सनातनधर्मका प्रभाव प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। मानवसमाजके कल्याणसाधनके लिये भगवान् मनुके सारगर्भित उपदेशोंपर ही इनकी शिक्षा अवलम्बित है। व्यवहारके लिये इसमें मुख्य सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि 'किसीके साथ ऐसा बर्ताव न करो, जो तुम अपने लिये नहीं चाहते।' यह तो—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

—का अनुवादमात्र है। हिंदू-स्त्रीकी तरह प्राचीन शैलीके अनुसार चीनी स्त्रीका भी यही कर्तव्य है कि वह बाल्यकालमें माता-पिता, विवाह हो जानेपर पति और विधवा होनेपर अपने पुत्रोंके अधीन रहे। मनुने भी यही बतलाया है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

'दि बर्थ आफ चाइना' (चीनका जन्म) नामक अपनी पुस्तकमें डा० क्रील लिखते हैं कि प्राचीन चीनियोंके रीति-रिवाज और उपासनाओंमें वैदिक प्रतीकों और यज्ञोंकी झलक दिखलायी पड़ती है। सरदारोंके लिये चीनमें 'मण्डारिन' शब्दका प्रयोग होता है, जो 'मंत्रिन्' शब्दका विकृत रूप जान पड़ता है। बौद्धमतका प्रवेश तो वहाँ ईसासे दो सौ वर्ष पहले हुआ, जैसा कि अब प्रायः सभी विद्वान् मानने लगे हैं। इस तरह चीनमें प्राचीन वैदिक संस्कृतिका ही पता लगता है।

हिंदचीन

यह प्रदेश चीनके दक्षिणमें है। इसका आधुनिक 'अनाम' प्रान्तका प्राचीन नाम 'चम्पा' था। बहुत कालतक यह प्रदेश हिंदुओंके अधीन रहा। यहाँके हिंदू-नरेश अपनेको 'श्रीमार' के वंशज कहते थे, जिसका काल ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दी माना जाता है। इन्द्रवर्मन द्वितीयके एक शिलालेखमें, जो ७५७ शक-संवत्‌का है, बतलाया गया है कि प्रथम राजा ओजको स्वयं शिवने यहाँ भेजा। शिलालेखमें एक 'विचित्रसगर' का नाम आता है, जो द्वापरयुगके ५९११ वें वर्षमें बतलाया गया है। चौथी शताब्दीमें यहाँ मुख्य चार राज्य थे—कौठार, पाण्डुरङ्ग, विजय और अमरावती या इन्द्रपुरी। 'अनाम' की प्राचीन गाथाओंमें बतलाया गया है कि 'चम्पा' के प्राचीन निवासी वानरोंकी सन्तान हैं और इस सम्बन्धमें रामायणकी कथा संक्षेपमें दी हुई है। उन लोगोंका विश्वास था कि रामायणकी घटना चम्पामें ही हुई थी। यहाँके राजालोग शिवके उपासक थे। शिवकी मूर्ति तथा लिङ्ग दोनों रूपमें पूजन प्रचलित था। शिवके साथ शक्ति-उपासना भी चलती थी। इन देवताओंके अब भी यहाँ कितने ही विशाल मन्दिर टूटी-फूटी हालतमें मिलते हैं। यहाँके साहित्यमें रामायण, महाभारत, शिवपुराण, लिङ्गपुराणकी बहुत-सी कथाएँ आयी हैं। सिद्धान्तरूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य—ये चारों वर्ण माने जाते थे; परंतु व्यवहारमें ब्राह्मण, क्षत्रिय—इन दोका ही उल्लेख आता है। यहाँके हिंदू-नरेशोंका इतिहास डा० मजूमदारने सन् १९२७ में प्रकाशित अपने 'चम्पा' नामक ग्रन्थमें दिया है।

कम्बोडिया

इसके दक्षिण-पूर्वमें आधुनिक 'कम्बोडिया' देश है। यह भी पहले हिंदू-राज्य था और इसका नाम 'काम्बोज' था। यहाँके हिंदू राजवंशके सम्बन्धमें कई कथाएँ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि कौण्डिन्य नामक एक ब्राह्मणने, जिसको द्रोणपुत्र अश्वत्थामासे एक भाला प्राप्त हुआ था, यहाँ आकर नागकन्या सोमासे विवाह किया। उसीसे राजवंश चला। दूसरी अनुश्रुतिके अनुसार इन्द्रप्रस्थके राजा आदित्यवंशने अपने एक पुत्रको क्रुद्ध होकर देशसे निकाल दिया। उस राजकुमारने यहाँ आकर नागपुत्रीसे विवाह किया, जिससे राजवंशकी उत्पत्ति हुई। यह राजा अपनेको चन्द्रवंशी मानता था। इस राजघरानेका सम्बन्ध सूर्यवंशसे भी माना गया है। इस विषयकी ऐसी कहावत है—महर्षि कम्बु, स्वायम्भुव

और अप्सरा मेराने, जिसे उन्होंने शिवके प्रसादसे प्राप्त किया था, यहाँ सूर्यवंशका प्रसार किया। 'बाकसेई चामक्रोम' शिलालेखमें इसका वर्णन इस तरह किया गया है—

स्वायम्भुवं नमत कम्बुमुदीर्णकीर्ति
यस्यार्कसोमकुलसंगतिमाप्नुवन्ति ।
सत्सन्ततिः सकलशास्त्रतमोऽपहन्त्री
तेजस्विनी मृदुकरा कलयाभिपूर्णा ॥

अर्थात् कम्बु स्वायम्भुवकी प्रतिष्ठा करो, जो उत्कृष्ट महिमासे युक्त हैं और जिनका विश्रुत वंश सूर्यवंश और चन्द्रवंशमें सम्बन्ध पैदा करके सम्पूर्ण शास्त्रोंके अन्धकारको दूर करता है। इन्हीं कम्बुकी प्रजा 'कम्बुज' और उसीसे देश 'काम्बोज' कहलाया। ऊपर उद्धृत श्लोकमें मनुने भी 'कम्बोजों' का उल्लेख किया है। महाभारत 'शान्तिपर्व' में भी बतलाया गया है—

'पौण्ड्राः पुलिन्दारभटाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः।'

आधुनिक इतिहासकारोंने इन घटनाओंका काल ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दी माना है। तबसे लेकर चौदहवीं शताब्दीतक यहाँ हिंदुओंका शासन बना रहा। यहाँके राजा 'वर्मा' की उपाधि धारण करते थे, ये लोग भी शैव थे। साथ ही वैष्णव मतका भी प्रचार था। दोनोंका सम्मिश्रण 'हरिहर' की उपासनामें किया गया। सातवीं शताब्दीमें यहाँ बौद्धधर्मका प्रवेश हुआ और हिंदू-राजाओंने अपनी विख्यात उदारताके अनुसार इस मतको भी राज्यका संरक्षण प्रदान किया। कई नगरोंमें इन राजाओंने विशाल मन्दिर बनवाये थे। प्रसिद्ध नगर अङ्कोरमें, जिसका प्राचीन नाम 'यशोधारपुर' था, एक बड़ा भारी मन्दिर था, जो टूटी-फूटी हालतमें अब भी मौजूद है। इसके चारों ओर एक परिखा है, जो लगभग ७०० फुट चौड़ी है। इसको पार करनेके लिये सात सिरवाले नागके आकारके खंभोंपर ३६ फुट चौड़ा सेतु है। चार कोनोंपर १८० फुट ऊँची चार बुर्जें हैं। मन्दिरकी दीवारोंपर अप्सराओं और देवी-देवताओंके बड़े सुन्दर चित्र बने हुए हैं। सम्भवतः यह पहले विष्णु-मन्दिर था। अब हीनयान बौद्ध-मन्दिर बन गया है। देशभरमें यत्र-तत्र कितने ही शिलालेख मिले हैं, जो संस्कृतमें हैं और उनकी लेखनशैली साहित्यिक है। छठी शताब्दीके एक लेखमें बतलाया गया है कि ब्राह्मण सोमशर्माने एक स्थानपर रामायण, महाभारत और पुराणोंके प्रतिदिन पाठ चलते रहनेका प्रबन्ध किया। आज भी यहाँके राजमहलमें 'इन्द्रकी तलवार' रक्खी है, जिसकी रक्षा बड़ी सावधानीसे की जाती है। उत्सवोंपर उसका जुलूस बड़ी धूम-धामसे निकाला जाता है।

थाइलैंड

यह देश जो कम्बोडियाके पश्चिममें है, कुछ दिन पहले 'स्याम' के नामसे प्रसिद्ध था। इसका प्राचीन नाम 'द्वारावती' है। यहाँका प्राचीन इतिहास अभीतक पूर्णरूपसे नहीं प्राप्त हुआ है। ईसवी सन्‌की पाँचवीं तथा छठी शताब्दियोंके जो लेख मिले हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वैदिक धर्म और 'हीनयान बौद्धमत' दोनों ही उन दिनों प्रचलित थे। आजकल यद्यपि राजधर्म बौद्धमत ही है, तथापि रीति-रिवाजोंमें हिंदू-धर्मकी बहुत कुछ छाया दीख पड़ती है। यहाँके राजा रामचन्द्रके अवतार माने जाते हैं और उनका नाम भी प्रायः 'राम' पर होता है। राजा छठे रामने 'अयुधिया' (अयोध्या) नामक नगरको राजधानी बनाया। उत्तरी स्याममें 'लवबुरी' (लवपुरी) प्रसिद्ध नगर है, जिसके एक मन्दिरमें विष्णु, लक्ष्मी और कई ऋषियोंकी मूर्तियाँ हैं। सुखोदय और स्वर्गलोक नामक नगरोंमें भी कुछ मन्दिर हैं। यहाँकी आधुनिक राजधानी 'बैंकाक' में जो प्रधान बौद्धविहार है, उसके चारोंके पाटकपर रामायणके दृश्य अङ्कित हैं। देशमें विकृतरूपसे रामायणकी कथाका भी प्रचार है। सन् १९२४ में प्रकाशित 'स्याम' नामक पुस्तकमें ग्रैहमने लिखा है कि यहाँ बारह-तेरह वर्षके बालकोंका एक संस्कार होता है, जिसमें शिखा-मुण्डन प्रधान है। उनकी रायमें यह संस्कार हिंदुओंके उपनयनसे बहुत मिलता है। वहाँ मुसल्मानोंतकमें इसकी चाल है। सन् १९४१ में प्रकाशित अपनी 'थाइलैंड' नामक पुस्तकमें स्वामी श्रीसदानन्दजीने भी इसपर प्रकाश डाला है।

मलाया प्रायद्वीप

यह पतला-सा प्रायद्वीप एशियाका सबसे दक्षिणी भाग है, जो महासागरमें घुसा हुआ है। 'मलय' शब्दसे मलाया बना हुआ है। 'वायुपुराण' में छः द्वीपोंके नाम दिये हैं, जिनमें मलयद्वीपका नाम भी आता है। यहाँ ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दीसे हिंदुओंका पता लगता है। एक चीनी इतिहाससे ज्ञात होता है कि छठी शताब्दीमें यहाँ एक राज्य था, जिसमें संस्कृत भाषा प्रचलित थी। यहाँ 'कटाह' नामका भी किसी समय एक राज्य था। पुराणोंमें 'कटाहद्वीप'-का वर्णन भी आया है। केडाह (कटाह) नामकी छोटी-सी

पहाड़ी है। उसपर एक टूटा हुआ मन्दिर पाया गया है, जिसमें दुर्गा, गणेश और नन्दीकी मूर्तियाँ मिली हैं। सन् १९२७मे केम्ब्रिजसे प्रकाशित अपनी एक रिपोर्टमें श्रीइवान्सने लिखा है कि इससे यह सिद्ध होता है कि वहाँके प्राचीन निवासी हिंदू थे। डा० वेल्सकी राय है कि किसी समय इस प्रदेशमें हिंदुओंका पूरा प्रभाव अवश्य रहा होगा। आज भी 'श्रीथमरात' मे ब्राह्मणोंकी कुछ बस्तियाँ हैं। रामायणका 'हिकायत सेरी राम'के नामसे यहाँ भी प्रचार है। जावा, सुमात्रा, स्याम आदि हिंदू-राज्योंसे इसका बहुत सम्बन्ध रहा। अभीतक क्रमबद्धरूपमे इसका प्राचीन इतिहास उपलब्ध नहीं हुआ है।

मलक्का

यह मलय प्रायद्वीपका दक्षिणी भाग है। इसके भी प्राचीन इतिहासका पता नही है; परंतु पुर्तगाली अल्बुकर्कके दिये हुए विवरणोंसे पता लगता है कि उन दिनों यहाँका राजा 'परमीसुरा' (परमेश्वर) था, जिसने जावाकी राजकुमारीके साथ विवाह किया था। यह कुछ कालतक सिंगापुरमें, जिसका प्राचीन नाम 'तुमासिक' था, भी रहा था। कहा जाता है कि परमेश्वरने ही इस द्वीपका नाम 'मलक्का' रखा था, जो जावाकी भाषाका शब्द है और जिसका अर्थ है 'मिलनेका स्थान'। पंद्रहवीं शताब्दीमें मुसल्मानोंका इसपर आधिपत्य हुआ, जिनसे पुर्तगालियोंने इसको छीन लिया। सन् १९३४ मे प्रकाशित 'मलायाके इतिहास' मे श्रीविन्सेंट लिखते हैं कि 'हिंदुओंके समयमें विद्वानोंका सम्मान होता था, धर्मका प्रचार था; परंतु मुसलमान शासकोंको लड़ाई-झगड़ों और स्त्रियोंसे ही अवकाश न मिलता था।' चीनी लेखक हे-यूका कहना है कि सन् १५३७ तक यहाँके लोग देवनागरी अक्षरोंका प्रयोग करते थे। विन्सेंटके अनुसार जोहोर, तेराक्की रियासतोंके सुल्तान अपने नामके आगे 'श्री' लिखते हैं। 'ब्रिटिश रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल' की संख्या ६१ मे श्रीविलकिंसन लिखते हैं कि 'आज भी सरकारी भवनकी सीढ़ियोंपरसे एक पहाड़ीपर मकरकी मूर्ति दिखायी देती है, जो उस समयका स्मरण दिलाती है जब यहाँका राजा हिंदू था।'

सुमात्रा

'सुवर्णभूमि' या 'सुवर्णद्वीप' का उल्लेख अपने यहाँके प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुत आता है। वाल्मीकिरामायणके 'किष्किन्धाकाण्ड' मे यह नाम भी आया है—

सुवर्णरूप्यकं चैव सुवर्णकरमण्डितम्।

'महाभारत, वनपर्व' मे भी कहा गया है—

ततो गच्छेत्सुवर्णाख्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।

कौटिल्यने भी अपने 'अर्थशास्त्र' मे लिखा है कि स्वर्णभूमिमे उत्पन्न होनेवाला चन्दन चिकना और पीला होता है—

कालेयकः स्वर्णभूमिजः स्निग्धपीतकः।

'कथासरित्सागर' की कई कथाओंमें 'सुवर्णद्वीप' का नाम आया है। बौद्धजातकोंमे भी इसकी चर्चा है। यह कहना बड़ा कठिन है कि यह 'सुवर्णद्वीप' कहाँ है। ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दीमें लिखे हुए अपने भूगोलमे सिकन्दरियाके 'तोलेमी' ने 'क्राइसकोरा' द्वीपका उल्लेख किया है, जिसका अर्थ होता है—'सुवर्णद्वीप'। अरब लेखक अलबेरूनीने लिखा है कि 'जावज' द्वीपको हिंदूलोग 'सुवर्णद्वीप' कहते हैं। इससे तथा चीनियोंके वर्णनसे आधुनिक विद्वानोंका यह अनुमान है कि जावा, सुमात्रा, मलय आदिमेंसे ही किसीका नाम सुवर्णद्वीप है। डा० मजूमदारने ढाकासे १९३६ में प्रकाशित 'सुवर्णद्वीप' नामक पुस्तकमें इन सब मतोंपर विचार किया है और उनका कहना है कि सुमात्राको ही 'सुवर्णद्वीप' मानना ठीक है। यहाँ सोना भी निकलता है। सम्भव है इस ओरका द्वीपसमूह ही 'सुवर्णद्वीप' के नामसे प्रसिद्ध हो। वर्तमान सुमात्राद्वीप मलय प्रायद्वीपके दक्षिणमे है। कुछ मुसलमान लेखकोंने इसका 'समुद्र' नामसे भी उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दीके चीनी लेखोंमे पहले-पहल सुमात्राके 'श्रीविजय' राज्यका वर्णन मिलता है। अरबोंने इसका नाम 'सरीबुज' दिया है। किसी समय 'श्रीविजय' एक विशाल साम्राज्य था, जिसमे सुमात्रा, जावा, मलय और श्याम भी शामिल थे। परंतु इस साम्राज्यका मूल स्थान कहाँ था, इसपर विद्वानोंमे बहुत मतभेद है। उन्हीं दिनों 'शैलेन्द्र' साम्राज्यका भी पता चलता है। कुछ विद्वान् 'श्रीविजय' और 'शैलेन्द्र' दोनोंको एक ही मानते हैं, कुछ अलग-अलग। ये दोनों विषय अभी विवादग्रस्त हैं; परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि किसी समय इस द्वीपसमूहमे एक विशाल हिंदू-साम्राज्य था, जिसका चौदहवीं शताब्दीमें अन्त हुआ। बतलाया जाता है कि 'श्रीविजय' के शासक 'हीनयान' बौद्धमतके अनुयायी थे। परंतु जान पड़ता है कि बौद्धमत प्रवेश होनेके पहले यहाँ भी हिंदू-धर्मका प्रचार था। श्रीलेयब लिखते हैं कि

''यहाँके प्राचीन निवासी 'बटप' जातिके लोगोंने उच्च धार्मिक विचार भारतसे सीखे थे।'' बौद्ध मूर्तियोंके साथ ही यहाँ भी हिंदू-मूर्तियाँ मिलती हैं। आसपासके देशोंमें पहलेसे ही हिंदू-धर्मका प्रचार था। ऐसी दशामें अनुमान यही होता है कि बौद्धमतका प्रवेश यहाँ बादमें ही हुआ और 'श्रीविजय' तथा 'शैलेन्द्र' सम्राटोंका संरक्षण पाकर वह सुमात्राका प्रधान मत बन गया।

फिलिपाइन

बोर्नियोसे फिर उत्तरकी ओर बढ़नेपर फिलिपाइन द्वीपसमूह मिलता है, जिसमें छोटे-बड़े मिलाकर लगभग छः सौ द्वीप हैं। यहाँ अतिप्राचीन कालसे हिंदू-संस्कृतिके चिह्न मिलते हैं। सन् १९२८ के 'फिलिपाइन मैगजिन' में प्रो० बेयर लिखते हैं कि 'यहाँके आभूषणों, रीति-रिवाजोंको देखते हुए मेरा यह निश्चित मत है कि यहाँकी संस्कृतिका आदिस्रोत भारत है।' सन् १९१९ में प्रकाशित 'पीपल्स आफ दि फिलिपाइन' नामक पुस्तकमें प्रो० क्रोबरका कहना है कि 'यहाँके धार्मिक विचार, रीति-रिवाज, नाम, शब्द, लेखन-शैली, कला-कौशल आदिपर हिंदू-प्रभाव प्रत्यक्ष है। यहाँके लोग ग्रहणका कारण राहुको मानते हैं और दिनके पाँच विभाग महेश्वर, काल, श्री, ब्रह्मा और विष्णुके नामसे करते हैं।' यहाँकी भाषा 'तगलॉग' में संस्कृत-शब्दोंकी भरमार है। तवेग नामके एक विद्वान्ने ऐसे शब्दोंकी सन् १८८४ में एक तालिका तैयार की थी, जिसमेंके कुछ शब्द इस प्रकार हैं—अन्तल=अन्तर, असा=आशा, वंग्सी=वंशी, मनुसिया=मनुष्य, मुकस=मोक्ष, पलिभाषा=परिभाषा, पाप=पाप, कोस=कोप, वानी=वाणी, सन्दन=चन्दन, सील=शील, सिन्ता=चिन्ता, यम्बू=जम्बू। यहाँ भी कितने ही हिंदू देव-देवियोंकी मूर्तियाँ मिली हैं। कुछ प्राचीन लेख भी प्राप्त हुए हैं। विद्वानोंका मत है कि ईसवी सन्की पहली शताब्दीसे ही यहाँ हिंदू-प्रभावका पता लगता है। कुछ दिनोंतक फिलिपाइन जावा तथा बोर्नियोके हिंदू-राज्योंके अधीन रहा था। जब इसपर स्पेनका अधिकार हुआ, तब यहाँके लोगोंने प्राचीन-संस्कृतिके बहुत-से चिह्नोंको नष्ट कर डाला। जो कुछ अभी बचा हुआ है, श्रीहेरीके शब्दोंमें उससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'यहाँके निवासी अपनी प्राचीन संस्कृतिके लिये राष्ट्रोंकी माता—भारत—के ऋणी हैं।' सन् १९३० में प्रकाशित 'फिलिपाइन और भारत' नामक पुस्तकमें डा० रायने इस विषयपर अच्छा प्रकाश डाला है। (कहते हैं कि यहाँकी राजसभामें कानूनोंके आदि निर्माताके रूपमें 'मनु'का चित्र लगा है।)

जापान

यह 'सूर्योदयका देश' है। यहाँ बौद्धधर्मका प्रवेश ईसवी सन्की पाँचवीं शताब्दीमें हुआ। परंतु इसके बहुत पहलेसे यहाँ वैदिक धर्मके चिह्न मिल रहे हैं। जापानियोंके सामाजिक जीवन और रीति-रिवाजोंमें भी हिंदू-धर्मका प्रभाव झलकता है। यहाँ सूर्यकी उपासना मुख्य है, परंतु सूर्यको एक देवी माना जाता है। जापानी सम्राट् अपनेको 'सूर्यपुत्र' बतलाते हैं। यहाँका प्राचीन धर्म 'शिन्तो' है। इसमें पितृपूजन और राजभक्ति प्रधान है, जो वैदिक सनातन धर्मकी देन है। वंश-परम्परा पुरुषसे ही चलती है। गोद लेकर या जिस तरहसे भी हो, पुरुष-वंश चलाते रहना प्रत्येकका कर्तव्य है। जापानियोंकी मुख्य तीन प्राचीन श्रेणियाँ हैं—'शिनबेत्सु' (देवपुत्र अर्थात् ब्राह्मण), 'कब्बोबेत्सु' (राजवंश अर्थात् क्षत्रिय) और 'बनबत्सु' (विदेशी)। सरदारश्रेणीके लिये 'समुराई' शब्दसे भी समरसे सम्बन्ध होनेके कारण क्षत्रियोंका ही अनुमान होता है। 'शिन्तो' धर्ममें 'अश्वमेध' के ढंगका एक यज्ञ भी होता था। यहाँके प्रधान 'ईसी-मन्दिर' में 'अरणी' द्वारा अग्नि उत्पन्न की जाती है और अग्निका बराबर पूजन होता है। इस तरह यहाँकी भी संस्कृतिमें वैदिक संस्कृतिके चिह्नोंकी बहुलता है।

अमेरिका

प्रशान्तसागरकी पूर्वी सीमापर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका है। यहाँके प्राचीन निवासी 'लाल भारतीय' (रेड इण्डियन) के जीवन और उनकी प्राचीन संस्कृतिके अध्ययनसे अब कई पाश्चात्य विद्वान् भी मानने लग गये हैं कि यहाँ किसी समय हिंदू-संस्कृतिका पूरा जोर था। इन लोगोंका सामाजिक जीवन बहुत कुछ भारतीयोंसे मिलता है। पहले उनके यहाँ भी स्त्रियोंके सती होनेकी चाल थी। मरनेपर प्रायः अग्निसंस्कार किया जाता था। सूर्यकी सर्वत्र उपासना होती थी। दक्षिणी अमेरिकामें कई जगह शिवलिङ्ग भी मिले हैं। गणेश-पूजन और नाग-पूजनकी भी चाल थी। ग्रहण लगनेपर वे भी स्नान, दान करते थे। एक प्रकारकी वर्ण-व्यवस्था अब भी उनमें प्रचलित है। वे भी मुख्य चार युग मानते हैं और समयका विभाग वर्ष, दिन आदिमें करते हैं। गिनती भी हिंदू-ढंगसे लिखी जाती है। इनके प्रमाणोंका श्रीचमनलालने 'हिंदू-अमेरिका' नामक पुस्तकमें अच्छा संग्रह किया है।

अमेरिकामें हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीव्रजभूषणजी सु० भट्ट)

यदि रहन-सहन, दर्शन-ज्ञान, शिक्षा-प्रणाली, जन्म और मृत्युसंस्कार, सतीप्रथा, आत्माके परलोक-गमनमे विश्वास, अग्नि प्रकट करना आदि मेक्सिकोकी अनेको प्रथाओको देखें तो वे भारतीय प्रथासे बहुत कुछ एकता रखती हैं और सिद्ध करती हैं कि निःसन्देह अमेरिका अपनी संस्कृतिके लिये भारतका ऋणी है । अमेरिकामें यूरोपीय जातिद्वारा वहाँकी मूल जातिके संस्कार तथा दूसरे चिह्न निर्दयतापूर्वक मिटा दिये गये हैं; परंतु जो स्पेननिवासी वहाँ प्रथम पहुँचे थे, उनमेंसे अनेकने वहाँकी स्थितिका वर्णन किया है । उन विद्वानोके वर्णनका संक्षिप्त सार देनेसे यह सिद्ध हो जायगा कि अमेरिकाके मूल निवासी किस प्रकार भारतीय आचार-विचारका अनुसरण करते थे ।

मध्य-अमेरिकाकी माया जाति, दक्षिण-अमेरिकाकी इन्का जाति और मेक्सिकोकी आस्तिक जाति—इन तीनोकी शिक्षा-प्रणाली पूर्णतः हिंदुओंकी ऋषिकुल-शिक्षा-पद्धतिके समान थी । यह शिक्षा पुरोहितद्वारा दी जाती थी । बालक अपने घरोसे पुरोहितके यहाँ भेज दिये जाते थे और वे वहीं रहते थे । उनका सबसे बड़ा कर्तव्य पुरोहितकी सेवा माना जाता था । उनका अधिकांश समय धार्मिक कृत्योमे व्यतीत होता था और उन्हें कठोर नियन्त्रणमें रहना पड़ता था । बालकोंको ब्राह्ममुहूर्तमे उठना पड़ता और स्नानकी स्वच्छताके पश्चात् 'मग्वी विन्दुओं' (मेक्सिकन सोम) को एकत्र करने जाना पड़ता । स्नानके पश्चात् अघमर्षण-क्रियाएँ करते । इस प्रकार पुरोहितके यहाँ बालकोको उनके वर्ग (जाति) के अनुसार भिन्न-भिन्न शिक्षा प्राप्त होती । बालक वहाँ बौद्धिक विकास, पुराण-पाठ, धार्मिक यज्ञ, अग्नि-रक्षण, युद्धकला आदिकी शिक्षा प्राप्त करते थे । सामरिक शिक्षणके विद्यापीठ पृथक् थे और उनमें सामन्त-पुत्र ही लिये जाते थे । यहाँ अनुशासन अत्यन्त कठोर रहता था । दूसरी शिक्षाओके साथ यहाँ शारीरिक शिक्षणपर विशेष ध्यान रक्खा जाता था ।

प्राचीन अमेरिकन सदाचार एवं सत्यके दृढ़ भक्त थे । स्पेनवासी वहाँ जाकर वहाँके लोगोके उच्च आचार-विचार एवं असत्यसे घृणा देखकर स्तम्भित हो गये । फ्रेडरिक टॉमसनका कहना है—'यहाँके लोगोंकी धार्मिक भावना और असत्यसे घृणा देखकर स्पेनके लोग आश्चर्यमे पड़ गये । अभाग्यसे दोनों सभ्यताओ (अमेरिका और स्पेन) के सम्पर्कने स्थानीय विधानको शीघ्र बौद्धिक ह्रासकी सीमापर पहुँचा दिया ।'

सत्य और आचारकी रक्षाके लिये वहाँ बहुत ही कठोर नियम बने थे । मर्यादा-भङ्गपर जो दण्ड दिये जाते थे, उनको देखकर भारतीय स्मृतियोके कठोर दण्ड-विधान स्मरण आ जाते हैं ।

अमेरिकामे स्थान-स्थानपर देवमन्दिर थे । अनेक बार माता-पिता रोगी बालकको मन्दिरमे चढ़ा देते या पुरोहितको भेंट कर देते । इस प्रकार भेंट किया हुआ बालक देवताका सेवक माना जाता । उसे पूरा जीवन कठोर नियमोंका पालन करते हुए देव-सेवामे बिताना पड़ता था । वहाँ भारतकी भाँति देवदासी प्रथा थी । मन्दिरमें उपहृत कुमारियाँ अनेक कठोर नियमोंका पालन करती । उनका मुख्य कर्तव्य अग्नि-रक्षण था । वे दिनमें एक समय भोजन करतीं । छोटे केश रखतीं । विवाहसे पूर्वतक इस प्रकार सभी लड़कियोको मन्दिरकी सेवा करनी पड़ती । वहाँ उनके आचारका अत्यन्त कठोरतासे रक्षण होता । यदि कोई युवक उनसे बातचीत करनेका प्रयत्न भी करता तो उसे तत्काल प्राणदण्ड दे दिया जाता ।

स्पेनके इतिहासज्ञ कहते है कि नित्य भोजनसे पूर्व प्रत्येक मेक्सिकोवासी अन्नका एक भाग लेकर उसे अग्निमे आहुति देता था । अपने सुखमय जीवनके लिये यह अग्निदेवताको कृतज्ञतापूर्वक दिया गया उपहार माना जाता था । इसी प्रकार युद्धसे पूर्व युद्धोद्यत सैनिकोके एकत्र हो जानेपर पुरोहित-द्वारा अग्नि प्रज्वलित की जाती और हवन करनेपर आक्रमण प्रारम्भ हो जाता ।

मेक्सिकोके लोग भारतीयोकी भाँति ही मृत्युके पश्चात्के जीवनमे विश्वास करते थे । वे भारतीय धारणाके अनुरूप ही युद्धमे मृत व्यक्तिकी श्रेष्ठ गतिमे विश्वास करते थे । ऐसे मृत पुरुषकी शव-यात्रामें हर्ष मनाया जाता था । वे आत्माके अमरत्व और पुनर्जन्मको मानते थे । भारतीय देवयान एवं पितृयान-गतियोके समान ही जीवकी गति और उसके ले जाने-वाले देवतादिकी भी उनकी एक अपनी मान्यता थी । वे इन्द्रदेवता और उनके स्वर्गमे विश्वास करते थे और पापी जीवकी यमलोककी कष्टमय यात्राको भी वे मानते थे । मेक्सिकोके

लोगोमे शवको जलानेकी साधारण प्रथा थी; किंतु विशेष स्थितिके लोगोको जलाया नहीं जाता था। वे विशेष प्रकारकी समिधाओंमें रख दिये जाते थे। यह स्मरण कर लेनेकी बात है कि हिंदू-समाजमे भी साधु-संन्यासी तथा महामारी आदिसे मरे व्यक्ति जलाये नही जाते। राजाओका दाह-संस्कार बड़ी धूम-धामसे होता था। उसमे बहुत-सी विधियाँ की जातीं। इन विधियोसे हिंदुओकी उस सोमपायी श्रोत्रिय विप्रोंकी दाह-विधिका स्मरण आता है, जो अब भारतमे भी प्रायः लुप्त हो चुकी है। शवदाहके दूसरे दिन हिंदुओकी भाँति ही मेक्सिको-के लोग भी अस्थि-चयन करते थे। यहीं यह स्मरण रखने-की बात है कि मेक्सिकन जातिमे सती होनेकी प्रथा थी। मृत व्यक्तिकी विधवा स्त्रियोमे जिनकी इच्छा होती, वे मृत पुरुष-के साथ चितामे जल जाती। राजाके शवके साथ अवश्य कुछ स्त्रियाँ जलती थीं। लेकिन स्त्रियोंके लिये जलना आवश्यक नहीं था। जो मृत व्यक्तिके साथ नहीं जलती थीं, उन्हे अपना शेष जीवन हिंदू-विधवाओकी भाँति स्वेच्छापूर्वक अत्यन्त सादगी, संयम तथा कठोर तपस्याके नियमोको पालन करते हुए व्यतीत करना पड़ता था।

यों तो अमेरिकाके प्रायः सभी भारतीय संस्कार ईसाई धर्मके प्रभावसे अब नष्ट हो चुके हैं, किंतु अब भी वे अपनी पुरानी मृतक-श्राद्ध-प्रथाको किसी-न-किसी रूपमें बनाये हुए हैं। वहाँ वर्षमें एक दिन 'सर्व-आत्मा-दिवस' मनाया जाता है। इस दिन सभी मृतात्माओके लिये प्रार्थना की जाती है। उनके निमित्त अनेक प्रकारके व्यञ्जन बनाकर सहभोज होता है।

अन्त्येष्टि-संस्कारकी भाँति जन्म एवं विवाह-संस्कार भी अमेरिकामे हिंदुओके संस्कारोसे मिलते हुए ही थे। वहाँ सम्मिलित परिवारकी प्रथा थी। वहाँके लोग विशाल परिवार-की कामना करते थे। पुत्रोत्पत्तिके समय देवपूजन, प्रसूतिका-गृहमे अग्नि-स्थापन और एक प्रकारकी बालककी शुद्धिक्रिया प्राचीन अमेरिकन करते थे, जो नान्दीमुख श्राद्धसे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। यह हो जानेपर ज्योतिषी आकर बालकके भावी जीवनके सम्बन्धमे भविष्यवाणी कहते थे। यह जन्म-कुण्डली बनाने-जैसी प्रथा थी। जन्मदिनके पीछे नाम-करण होता था।

प्राचीन मेक्सिकोमे वर्तमान यूरोपीय प्रणयालापका सर्वथा अभाव था। विवाहका पूरा उत्तरदायित्व वर एवं कन्याके माता-पितापर था और वे ही उनका सम्बन्ध निश्चित करते थे। इस प्रकारके विवाहमे सबसे प्रथम एवं आवश्यक कार्य था ज्योतिषीको बुलाकर यह ज्ञात करना कि यह सम्बन्ध मङ्गल-दायक होगा या नहीं। ज्योतिषीकी अनुकूल सम्मति होनेपर ही सम्बन्ध निश्चित होता था। यह प्रथा हिंदुओंको छोड़ विश्वकी और किसी जातिमें नहीं है; वर-कन्याकी कुण्डली देखकर सम्बन्ध निश्चित करना हिंदुओंकी ही विशेषता है। विवाहके कार्यमें मेक्सिकोके लोगोंकी कुछ प्रथाएँ हिंदुओंकी प्रथाओंसे अभिन्न हैं। विवाहके पूर्व चार दिनोंतक वर एवं कन्याको वहाँ ओषधियोंके जलसे स्नान कराया जाता था। विवाहके समय वर-वधूका ग्रन्थि-बन्धन (दोनोंके दुपट्टे-के छोर एकमें बाँध देना) होता था। विवाहके उपरान्त वर जब वधूको लेकर घर आता, तब चार दिनोंतक दोनों संयमसे रहते और इस समय विभिन्न देवताओंकी उनसे पूजा करायी जाती। आज भी मेक्सिकोमें माता-पिताकी अनुमति विवाहसे पूर्व आवश्यक मानी जाती है।

मेक्सिकोके प्राचीन निवासियोंमें पुरुषका एकसे अधिक स्त्रियोंसे विवाह करना बुरा नहीं माना जाता था। राजाओंकी अनेक रानियाँ होना वहाँ साधारण बात थी। हिंदू-समाजकी भाँति वहाँ भी स्त्रियाँ सम्मान्य मानी जाती थीं, किंतु उनका स्वतन्त्र रहना या घरसे कहीं भी अकेले जाना उचित नहीं माना जाता था। स्त्री घरसे पति, पिता, भाईके साथ ही कहीं जा सकती थी। आज भी मेक्सिकोकी स्त्रियाँ अपरिचित पुरुषसे मिलना या बोलना पसंद नहीं करतीं। आज भी बाजारमें जाते समय उन्हें किसी वृद्धा स्त्री या सेवकके साथ-की आवश्यकता होती है। यद्यपि अब ये बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं, फिर भी रात्रिमें मेक्सिकोकी कोई साधारण नारी घरसे बाहर तबतक नहीं निकलेगी, जबतक परिवारका कोई व्यक्ति साथ न हो।

एक स्पैनिश लेखकका कहना है कि 'मेक्सिकोमें पहले युवक शीघ्र विवाहित हो जाते थे।' इस प्रकार वहाँ भारतके समान बाल-विवाहकी प्रथा भी थी। स्त्री गृहस्वामिनी होती थी और घरके सब कार्य वही करती थी। वहाँ स्त्री यदि कोई उग्रतर अपराध न करे तो अवध्य मानी जाती थी और स्त्री तथा बालकका वध एवं उन्हें अकारण दण्ड देना बहुत निन्दनीय माना जाता था।

मेक्सिकोमें राज्याभिषेक हिंदू-समाजकी भाँति ही बड़ी धूम-धामसे और विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न होता था। वहाँ राज्यका अधिकारी मृत नरेशका ज्येष्ठ पुत्र ही माना जाता था। उस समय राज्याभिषेकका पूरा कृत्य पुरोहितपर निर्भर करता

शिव-पार्वती (वर्मा थातोन्मे प्राप्त)
ईस्वी नवम शताब्दीकी मूर्ति

चीनी तुर्कीस्तानके खण्डहरमें प्राप्त
महेश्वरका चित्र

ईरानका शिव-मन्दिर

यवद्वीपके पूर्व बलिद्वीपके शिव
(षोडश शताब्दीका प्रस्तरमय चित्र)

जावाद्वीपकी सरस्वतीमूर्ति

शिव—श्यामदेशकी धातुमूर्ति
(बंकोक राजकीय चित्रशालामें रक्षित द्वादश शताब्दी)

था । पुरोहित ही नवीन नरेशसे प्रतिज्ञाएँ कराता और फिर उनके सिरपर मुकुट रखता । इसके पश्चात् दूसरे सामन्तादि नरेशको स्वीकार करते थे । वे लोग उस समय नवीन नरेशको भेंट देते थे । इसी प्रकार साधारण परिवारोंमें भी भूमि मृत-पुरुषके ज्येष्ठ पुत्रकी मानी जाती और वह अपने भाइयोंके साथ उस भूमिका उपयोग करता था ।

मेक्सिकोके समान ही पेरूमें भी हिंदू-संस्कृतिके अमिट चिह्न पाये जाते हैं । वहाँ ईसाई-धर्मके व्यापक होनेसे पहले-तक लोग पुनर्जन्ममें विश्वास करते थे । उनके समाजमें वर्ण एवं जातियोंके भेद थे और आश्रम-धर्मके पालनकी भी प्रथा थी । पेरूके लोग अपनी उद्योगशीलता, सदाचार, शिष्टता आदिके लिये विख्यात थे । यह 'वेश्याओंसे रहित देश' कहा जाता था । चोरी-डकैतीका वहाँ नामतक नहीं था । देवताओंमें उन लोगोंकी श्रद्धा थी ।

सबसे अधिक ध्यान देनेकी बात है अमेरिकामें विजया-दशमीका 'रामसीतव' महोत्सव । इस लेखके मूल लेखक श्री-चमनलालजी कहते हैं कि उन्होंने यह उत्सव स्वयं पेरूके 'चिलपनसिनको' नामक स्थानमें देखा है । इस दिन मेक्सिको-के लोग रंगमञ्चपर राम-रावण-युद्धका अभिनय करते हैं । कर्नल टॉडने इस सम्बन्धमें आलोचना करते हुए लिखा है—'यदि यह सम्भव हो कि गङ्गासे नील नदीकी भूमितकके किसी भी भागपरसे वह आवरण उठा दिया जाय जो इन प्राचीन आश्चर्योंको ढके हुए है तो रामकी विजय-यात्रा प्रारम्भसे इधर-के आरगोनॉट्सके समान विदित होगी । यदि अलेक्जैंडर (सिकन्दर) सिन्धुके मुहानेसे इन समुद्रोंको पंजाबमें वृक्षोंकी छालसे बने निम्नकोटिके बेड़ेसे पार करनेका साहस कर सका तो क्या हम कोसल-सम्राट् सगर-वंशज समुद्रराजके नामसे प्रख्यात साठ सहस्र पुत्रोंके पितासे, जिनमें सब-के-सब पुत्र कुशल नाविक थे, कुछ आशा नहीं कर सकते ?' टॉडके इस कथनका तात्पर्य इतना ही है कि टॉडके मतानुसार भारतके समुद्रराज नामक किसी अयोध्या-सम्राट्ने मिस्रमें अपना प्रभुत्व स्थापित किया और मिस्रसे वह प्रभाव अमेरिका पहुँचा ।

अमेरिकन इतिहासके प्राचीन मान्य विद्वान् जोन्स कहते हैं कि 'यहाँ (पेरूमें) राम सूर्यवंशी, सीतापति और महारानी कौसल्याके पुत्र माने गये हैं । यह विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है कि यहाँकी पेरूवि 'इन्का' जातिके लोग अपनेको गर्वपूर्वक इसी वंशका मानते हैं, और राम-सीता-उत्सव मनाते हैं । इस प्रकार हम अनुमान कर सकते हैं कि अमेरिका उस एक ही जातिद्वारा बसा है जो कि एशियाके दूरस्थ स्थानोंके संस्कार और रामकी भव्य गाथाको साथ ले गये थे । ये सब सन्देहहीन प्रमाण यह साधार सम्मत उपस्थित करते हैं कि एथियोपिया (मिस्र) और भारत एक ही असाधारण जातिद्वारा बसाये गये थे । इसकी पुष्टिमें यह और जोड़ा जा सकता है कि बंगाल और बिहार (पेलसा) के पहाड़ी अपनी कुछ आकृतियोंमें, विशेषतः नासिका और ओष्ठकी बनावटमें, एबीसीनियन जिन्हें अरबके लोग 'कुश-सन्तति' कहते हैं, उनके समान हैं ।'

पोकोकने अपनी पुस्तकके उपसंहारमें लिखा है—'मैंने अत्यन्त विश्वसनीय सावधानीके साथ अत्यन्त कठोर परीक्षण किये हैं । केवल सिद्धान्त ही नहीं, शब्दोंकी समानताने भी मुझे चकित किया है । यह कोरी कल्पना नहीं है; ऐसे परिणाम जो एकरूप होनेके साथ असंख्य हैं, इसे प्रमाणित करते हैं । प्राचीन जगत् (अमेरिका) की मनोवैज्ञानिक जाँच ऐसा व्याकरण है, जिसके अध्ययनसे हमारी (यूरोपियन) जातिसे पूर्व (भारतीय) ऋषियोंके भ्रमणके महान् वृत्तान्त अबतक सत्यताके साथ पढ़े जा सकते हैं ।'

'हिंदू अपने साथ मेक्सिकोमें पाण्डवोंका अठारह पर्वोंका वर्ष, वर्गव्यवसाय तथा भारतीय हाट-प्रणाली लाये थे ।'—ह्युएट ।

अमेरिकाके अन्वेषक कोलम्बसने लिखा है—'हिंदू और मंगोलियन आकृतिके सैकड़ों-हजारों मनुष्य हिंदू-रीति-प्रथाएँ, हिंदू-देवता गणेश-इन्द्र आदिका पूजन, हिंदू-शिक्षा-प्रणाली, पुरोहित-प्रथा, विवाह-संस्कार, शव-दाह, सती-प्रथाका यहाँ पालन करते हैं । इन सबकी उपस्थिति पूर्णतः सिद्ध करती है कि हिंदू और मंगोल स्थल या जलमार्गद्वारा बहुत बड़ी संख्यामें अमेरिका पहुँचे थे ।'

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अमेरिका किसी समय हिंदुओंका उपनिवेश था और वहाँके निवासी यूरोपियन लोगोंके पहुँचने तथा ईसाई-धर्मके व्यापक होनेसे पूर्व 'हिंदू-संस्कृति'का ही अनुसरण करते थे ।

(श्रीचमनलालजीकी 'हिंदू-अमेरिका'के आधारपर)

बालिद्वीपकी दैनिक पूजा-विधि

(लेखक—डा० श्रीरघुवीरजी एम्०ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०, एट०फिल्०)

बालीमें पूजाविधिको 'पूजा-परिक्रम' कहा जाता है। कपड़े पहनते हुए 'ॐ तं महादेवाय नमः' मन्त्रके उच्चारणसे वह आरम्भ की जाती है। उसके पश्चात् 'ॐ अं शिव-स्थितिकाय नमः' का उच्चारण करते हुए मेखला धारण करते हैं। तदनन्तर 'ॐ उं विष्णुसदाशिवाय नमः' का उच्चारण करते हुए उत्तरीय वस्त्र पहना जाता है और 'ॐ मं ईश्वरपरमशिवाय नमः' का पाठ करते हुए वक्षःस्थलपर वस्त्र डालते हैं। वस्त्र-धारणके पश्चात् 'ॐ अं कं क ईश्वराय नमः' कहते हुए पादक्षालन, 'ॐ ह्रः उं फट् अस्त्राय नमः' कहते हुए आचमन और 'ॐ ह्रः फट् अस्त्राय नमः' कहते हुए हाथ धोये जाते हैं। वस्त्रधारण और क्षालन समाप्त होनेके उपरान्त 'ॐ ॐ पद्मासनाय नमः' मन्त्रका जाप करते हुए उपासक पद्मासन लगाता है। इसके पश्चात् शरीर-शुद्धिका मन्त्र आता है, जिसे बाली भाषामें 'मन्त्राणि शरीर' कहा जाता है—

ॐ प्रसादस्थितिशरीरशिवशुचिनिर्मलाय नमः।

उपासकके सामने ढकी हुई पूजाकी थाली रक्खी रहती है। उसे अनावृत करनेके लिये ईश्वरको 'ॐ इं ईश्वरप्रतिष्ठा जनलीलाय नमः स्वाहा' से नमस्कार किया जाता है। कुछ बीजोंका भी उच्चारण किया जाता है—

'स ब त ह्र न म शि व य अं उं मं'

पूजाकी थालीमेंसे उपासक 'ॐ उं ब्रह्मा अमृतदीपाय नमः' का उच्चारणकर 'अमृतदीप' उठाता है। इसके पश्चात् 'ॐ उं रः फट् अस्त्राय नमः। आत्मतत्त्वाय नमः·········' मन्त्रके उच्चारणसे हाथमें पुष्पोंको लिया जाता है। जहाँ-कहीं भारतीय सभ्यता पहुँची, वहाँ पूजाविधिमें पुष्पोंके प्रयोगको बहुत महत्त्व दिया गया। पुष्प शुद्धता और प्रसन्नता-के प्रतीक हैं।

बालिद्वीपमें असंख्य हस्तमुद्राएँ प्रचलित हैं। प्रत्येक मुद्राका विशिष्ट अर्थ होता है। इनकी भाषा दार्शनिक और आध्यात्मिक है; परंतु बालिनिवासी उनका तात्पर्य भूल गये हैं।

पूजाका दूसरा क्रम तर्जनीको शुद्ध करनेसे आरम्भ होता है। इसे बाली भाषामें 'करशुद्धिचतुरंगुल' कहते हैं। इसका मन्त्र 'ॐ शोधाय मां·····ॐ अमिरुद्राय नमः' है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग-न्यास विशिष्ट मन्त्रोंके साथ किया जाता है। अर्घ्य-पात्रके ऊपर कमल रखना, त्रिपादको उठाना, हाथ जोड़ना, त्रिपाद नीचे रखना, गन्ध-अक्षत डालना, प्रदीपको और मुख करना, धूपपात्रके साथ अर्घ्यसे सात बार आरती करना, धूपके धूम्रको ग्रहण करना, पूजाके पात्रोंको ढकना, ढक्कन खोलना, पात्रमें जल भरना, अँगुलीसे जलपर लिखना, तीन बार परिविक्षन करना, गन्ध तथा अक्षत प्रदान करना और फिर 'ॐ अं नमः कुम्भक। ॐ उं नमः पूरक। ॐ मं नमः रेचक' मन्त्रोंका उच्चारणकर कुम्भक, पूरक और रेचक किये जाते हैं। प्राणायाम ठीक विधिके अनुसार किया जाता है। इसके पश्चात् श्रीआत्माको शिवद्वारतक लाया जाता है। तदनन्तर—

ॐ शरी कुण्डमित्युक्तमन्तःकरणमिन्धनम्।······

मन्त्रोच्चारणकर दग्धीकरण किया जाता है। इसके पीछे कुछ श्लोक आते हैं, जिन्हें 'अमृतकरणी' कहते हैं। स्पष्टतया ये तान्त्रिक और शैव क्रियाएँ हैं। नवशक्तियोंकी भी पूजा होती है। उनकी पूजाके अनेक क्रमों और मन्त्रोंका यहाँपर पूर्ण विवरण देना असम्भव है। उपरिलिखित तो उदाहरण मात्र हैं।

बालीका उपासक सप्ततीर्थ भी जानता है—

ॐ अं गङ्गायै नमः। ॐ अं सरस्वत्यै नमः। ॐ अं सिन्धवे नमः। ॐ अं विपाशायै नमः। ॐ अं कौशिक्यै नमः। ॐ अं यमुनायै नमः। ॐ अं शरयवे नमः।

गङ्गा, सिंधु, अन्य नदियों और समुद्रके लिये भी इनके दस-बारह स्तोत्र हैं।

शरीरके प्रत्येक अङ्गपर भस्म लगाया जाता है।

जब भारतीय अपनी और बालीनिवासियोंकी सांस्कृतिक एकात्मताको हृदयङ्गम करेंगे, तब प्रत्येक सुसंस्कृत भारतीयके लिये बालिद्वीप तीर्थस्थान बन जायगा (आजकल तो यह अमेरिकन और यूरोपीय यात्रियोंके लिये केवल रम्य स्थान है)। बालीनिवासी हृदयसे हमारा स्वागत करेंगे; पर हमें उनकी आशाके योग्य बननेके लिये प्रयत्न करना होगा और उनके आध्यात्मिक ज्ञानकी लालसाकी तृप्ति करनी होगी।

उनकी पूजाकी गरिमा अद्वितीय है। रोमन कैथलिक पादरियोंने भी माना है कि पूजामें व्यस्त पेदण्डाको देखनेसे बढ़कर कोई गम्भीर दृश्य नहीं है। बालीमें हम अपनी आत्माका ही प्रतिबिम्ब पाते हैं। बालीनिवासी संस्कृत मन्त्रोंका अर्थ जाने बिना ही उनका प्रतिदिन श्रद्धासे पाठ करते हैं।

गत छः शताब्दियोंसे अपनी उपेक्षा और अधःपतनके कारण बालीसे हमारा सम्बन्ध टूट गया था। हमें पुनः उससे मिलना चाहिये। बाली हमारी आत्माओंको नवबल प्रदान करेगा।

स्याममें भारतीय संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीरघुनाथजी शर्मा, बैङ्कोक, स्याम)

यह स्याम अथवा थाई देश भारतीय संस्कृतिसे सर्वाङ्गेण ओत-प्रोत है और इस देशके लोग इस बातको निर्विवाद स्वीकार भी करते हैं कि हमें भारतसे बहुत कुछ मिला है। उदाहरणके लिये यहाँका राजवंश श्रीरामचन्द्रजीके सूर्यवंशसे अपनी उत्पत्ति मानता है और राजा अपनेको रामाधिपति कहते थे। इस देशकी भाषामें, जिसे थाई-भाषा के नामसे व्यवहारमें लाया जा रहा है, प्रतिशत पचाससे ऊपर ही संस्कृत-शब्दोंका समावेश है और करीब पचीस प्रतिशत पालीशब्दोंका—जो संस्कृतके ही विकृत शब्द हैं—संमिश्रण है।

स्वर-मात्रा-व्यञ्जन 'अ, आ, इ, ई' तथा 'क, ख' आदि नामोंसे ही बोले जाते हैं। इस भाषामें सम्मिलित कुछ शब्द तो ऐसे हैं, जिनका न तो दूसरा कोई पर्यायवाची नाम ही है और न कोई दूसरा विकृत उच्चारण ही। जैसे—

आयु, प्रमाण, वेला, सामान्य, सामाजिक, साधारण, शिल्प, एकजन, शुल्क, रथयन्त्र आदि। कुछ शब्द केवल उच्चारणके कुछ ही उलट-फेरसे व्यवहारमें आ रहे हैं—विशेष, गुण, दोष, राष्ट्र, राष्ट्रपाल, राष्ट्रमन्त्री, सहराष्ट्र, सुराष्ट्र, प्रजाराष्ट्र, समागम, गुरु, आचार्य, शास्त्राचार्य, प्रकृति, शून्य, चक्रयान, चराचर, शान्तिपाल, देशपाल, नगरपाल, धनागार, हिरण्यक, स्थानी, प्रेषणीय पत्र, दूर-लेख, दूर-शब्द, नायक, अधिपति, अधिकारपति, स्थापनिक, स्थापत्यकर्म, विश्वक, विश्वकर्म आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनके पर्यायवाची दूसरे कोई शब्द शायद ही हों। पारिभाषिक शब्द तो इस भाषामें प्रायः संस्कृतके ही हैं, जो व्यवहारमें आ रहे हैं।

यहाँके पुरुषों, स्त्रियों, नगरों तथा सड़कों आदिके नाम भी प्रायः संस्कृतसे ही लिये गये हैं—जैसे क्रमशः भरत, कुमुद, सुमनजाति, श्रेष्ठिकर, धर्मनिदेश, अशोक-मन्त्री, रेणु, प्रभा, आभा, वीणा, लक्ष्मी, मालिनी तथा सुराष्ट्रधानी, उत्तरदिश, लवपुरी, सुरेन्द्रपुरी, प्राचीनपुरी, नगरस्वर्ग, राजवंश०, अनुवंश०, सूर्यवंश०, अशोक०, अयोध्या०, जययश० होड़ आदि। दूसरे शब्दोंमें संस्कृत-भाषाका अधिकार तथा प्रभाव इस देशकी भाषापर पूर्णरूपसे है। इस देशके रीति-रिवाज तो प्रायः सब-के-सब भारतीय संस्कृतिके ही द्योतक हैं। प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे भेंट-मुलाकातके अवसरपर बड़े नम्रभावसे दोनों ओरसे हाथ जोड़कर 'स्वस्ति' शब्दका उच्चारण करते हैं, और इस प्रथाके लिये इस देशमें 'स्वस्ति' शब्दको छोड़ दूसरा कोई भी शब्द व्यवहारमें आता ही नहीं। छोटे बड़ोंके सामने या तो नत-जानु हो या थोड़ा झुककर इसका अनुसरण करते हैं। उत्तरमें 'स्वस्ति' ही कहा जाता है। भिक्षु होनेकी प्रथा इस देश-वासियोंमें स्थायी अथवा अस्थायी दोनों रूपोंमें है। प्रत्येक भिक्षु प्रतिदिन प्रातःकाल भिक्षाके लिये जाता है और खानेके समय सब बाँटकर खाते हैं। भिक्षा दोनों हाथोंसे ही दी जाती है, और क्रमशः उपस्थितिपर ही भिक्षा ली जाती है। भिक्षा शेष हो जानेपर चाहे प्रतीक्षामें कितना भी समय क्यों न लग जाय, बाकी बचे सब-के-सब भिक्षु चुप-चाप आगे चले जाते हैं। भिक्षु-जीवनमें उन सब सद्गुणोंका अध्ययन तथा पारायण किया जाता है, जो मनुष्यजीवनको सार्थक बनानेमें उपयोगी होते हैं।

विवाहके लिये व्यवहृत शब्द यहाँपर 'स्वयंवर' है और इसकी प्रणाली भी बहुत कुछ भारतीय हिंदू-विवाहकी जैसी ही है। इस अवसरपर भिक्षुओं तथा वयोवृद्धोंद्वारा मन्त्रोच्चारण तथा आशीर्वादात्मक वचनोंका उच्चारण होता है, और जलाभिषेक आदि क्रियाएँ भी की जाती हैं। यह अवसर नाममात्रके खर्चसे ही सम्पन्न हो जाता है। परदेकी प्रथा इस देशमें नहीं है। व्याख्यानके लिये प्रयुक्त शब्द यहाँपर 'सुन्दर वचन' है तथा कथाके लिये 'कथा' ही है। ऐसे अवसरोंपर एकदम निस्तब्धता रहती है, सिवा वक्ताके किसी दूसरेकी आवाजतक नहीं आती। प्रत्येक मन्दिर-मठकी वार्षिक पूजा भी होती है, जो बड़े-बड़े उत्सवोंके रूपमें की जाती है।

शिष्टाचार इस देशका प्रधान गुण है, अर्थात् किसी भी वस्तुके आदान-प्रदानके अवसरपर बड़ी नम्रतासे 'कृतज्ञता' आदि शब्दोंका (जो इस भाषाके हैं) प्रयोग आवश्यकीय है। छोटा-मोटा अपराध हो जानेपर एक दूसरेसे 'कृपया क्षमा' के अतिरिक्त दूसरा कोई रिवाज है ही नहीं।

'शव' (मुर्दे) को यहाँपर 'शव' ही कहा जाता है और शवको जलाया जाता है। 'मृत्यु'के लिये व्यवहृत शब्द 'दिवंगत' है। दिवंगत प्राणीका दाह-संस्कार मृत्युके कुछ

दिन बाद होता है और इस बीच हर रोज शव-पूजन तथा मन्त्रोच्चारण, दान आदि किये जाते हैं; तथा दाहके दिन सम्मिलित भोजनकी भी प्रथा है।

यहाँपर शिल्पको शिल्प ही कहते हैं और यह इस देशका एक विशेष गुण तथा सौन्दर्य है। यहाँके मन्दिर, मठ, विहार, प्रासाद आदि यहाँकी शिल्पकलाके प्रतीक हैं। यहाँका प्रत्येक स्त्री-पुरुष शिल्पकलाविशारद है और यहाँका प्रत्येक घर तथा इनकी दूकानें इसके द्योतक हैं। नाट्यशालाओंके पट (पर्दे) यहाँके शिल्पके नमूने हैं। नाटक जो यहाँपर खेले जाते हैं, उनमें प्रायः सभी पुरातन भारतके हिंदू ऐतिहासिक नाटक ही होते हैं। कुछ ही महीने हुए यहाँकी शिल्पाकरण नाट्यशालामें 'सावित्री-सत्यवान्'का नाटक खेला गया था।

यहाँका अजायबघर जिसे स्यामीमें 'विविधभण्डारस्थान' कहते हैं और जो दो हजारके ऊपर वर्षोंकी बहुत-सी वस्तुओंके संग्रहसे भरपूर है, उसमें प्रायः भारतीय पुरातन शिल्प-वस्तुएँ ही प्रचुर मात्रामें दृष्टिगोचर होती हैं। उन्हें देखते ही दर्शकके चित्तपर भारतका पुरातन ऐतिहासिक चित्र अङ्कित हो उठता है।

यह देश इस समय बुद्ध-धर्मप्रधान है। राष्ट्र तथा राष्ट्रपाल यानी गवर्नमेन्टका एक ही धर्म है। बुद्ध-धर्मपर पूर्ण विश्वास है; पर साथ ही हिंदू-धर्मका भी शुरूसे ही इसमें इतना मेल-जोल है जो कि पूर्ण विश्वाससे खाली नहीं। जहाँ भगवान् बुद्धकी मूर्तियाँ दिखायी देंगी, वहाँ दूसरे हिंदू-देवताओंकी प्रतिमाएँ भी दिखायी देती हैं। यहाँके शिल्प-विभागका चिह्न गणेशजीकी मूर्ति ही है।

ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, नारायण, ईश्वर, लक्ष्मी, उमा, सरस्वती, गणेश, शेषनाग, नन्दीगण, कुबेर, कार्तिकेय आदि देवता इन्हीं नामोंसे यहाँपर सम्बोधित होते हैं।

रामायण-महाभारत—खासकर रामायणसे यहाँकी जनता उतनी ही परिचित है, जितनी भारतीय जनता। रामायणको यहाँपर 'रामकीर्ति' कहा जाता है। उसके पात्र श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, सीता, अङ्गद, हनुमान्, वाली, सुग्रीव, जामवन्त, नल, नील, दशकन्धर, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि नामोंसे ही बोले जाते हैं। रामलीलाका यहाँपर बहुत ही प्रचार है। प्रायः हर अवसरपर रामायणका ही खेल खेला जाता है। यदि 'रामलीला ही इस देशके अभिनय तथा नाट्यकलाका आधार है' कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। साथ ही इसके रामलीला यहाँपर जितनी जनप्रिय है, शायद उतनी भारतमें भी नहीं। एक छोटी-सी उपाख्यानिकासे मालूम हो जायगा कि यहाँका आबाल-वृद्ध इसकी जानकारी कहाँतक रखता है।

मेरे यहाँके प्रारम्भिक वर्ष ही थे; जब एक बार मैं अपने भारतीय कुछ मित्रोंके साथ एक स्थानपर खड़ा था (उन मित्रोंमेंसे अब भी दो-एक यहाँपर विद्यमान हैं) एक स्यामी लड़केसे, जिसकी उस समय आयु तेरह-चौदह सालसे ऊपर न थी, पास खड़े मेरे एक मित्रने पूछा, 'क्या तुम रामायणकी कथा जानते हो ?' उसने कहा—'हाँ।' तो बताओ कि 'जब सीता रावणके घर उनकी राजधानीमें थीं, तब रावणने निस्सहाय तथा अकेली होनेपर भी उनपर बलप्रयोग क्यों नहीं किया ?' उत्तरमें उस लड़केने कहा—"सीता क्योंकि नारी-श्रेष्ठ थीं तथा उनमें पातिव्रत-धर्म पूर्ण मात्रामें था, इसलिये रावण जब भी उनकी ओर आगे बढ़ता था, त्यों ही वही उनका 'व्रत' आगका गोला हो उनके शरीरसे निकलने लगता था और रावणतक पहुँच उसको वहीं रोक देता था।" फिर पूछा गया 'तब रामके स्पर्शपर भी ऐसा होता था क्या ?' उसने कहा—'नहीं; यह इसलिये कि वह उनकी धर्मपत्नी थीं।' मुझे पूरा स्मरण है इस उत्तरसे हम सब-के-सब अवाक् रह गये थे। अस्तु—

यहाँका सामाजिक जीवन जातीयतासे ओत-प्रोत है और विशेषतया एक धर्म, एक जाति, रहन-सहनकी एकता, खान-पानकी एकता आदि यहाँ प्रोत्साहक है। स्त्रीजातिके लिये यहाँपर पूरा सम्मान है। देशके कोने-कोनेपर इस देशकी तथा विदेशियोंकी स्त्रियाँ यहाँपर बिना किसी इज्जत-अपहरणके भयसे बेखटके, बेरोकटोक, जहाँ भी चाहें, स्वच्छन्दतासे दिन अथवा रात घूम-फिर सकती हैं।

इस देशके विधानका आधार भी मनुशास्त्र ही है, जिसे यहाँपर 'रथ्यमनु' कहते हैं। यह एक दिग्दर्शनमात्र है इस देश तथा भारतकी संस्कृति-समन्वयका। हम भारतीय इस प्रकार उस संस्कृतिको, जिसका हमें अभिमान है, अपने इन पड़ोसी देशोंमें सुरक्षित पा रहे हैं।

चम्पामें भारतीय संस्कृति

(लेखक—श्रीशिवकण्ठलालजी शुक्ल 'सरस' एम्० ए०)

प्राचीन कालमें भारतीय लोगोंने एशियाके भिन्न-भिन्न भागोंमें फैलकर उपनिवेश बनाये और वहाँके आदिम निवासियोंको एक नवीन स्थायी सभ्यता और संस्कृति प्रदान की। सुदूरपूर्वके द्वीपोंमें रहनेवालोंके आचार-विचार, भाषा तथा साहित्य और धर्म आदिमें जो भारतीयता मिलती है, वह स्पष्ट प्रमाणित करती है कि इन देशोंमें पूर्वकालमें भारतीय सभ्यता तथा संस्कृतिका प्रसार हुआ था। विष्णु, ब्रह्मा, गणेश तथा शिव आदिकी प्रतिमाओंसे भी इस कथनकी पुष्टि होती है। इन सुदूर पूर्वके द्वीपोंमें चम्पा अथवा अनामका वर्णन भी विशेष उल्लेखनीय है।

ऐतिहासिक खोजके अनुसार यह पता चलता है कि श्रीराम चम्पामें प्रथम हिंदू शासक हुआ है। उसके उपरान्त ३३६ ई० से लेकर ५२९ ई० तक पाँच और शासक हुए। उनके नाम फनवेन, भद्रवर्मन, गंगराज, देववर्मन तथा विजयवर्मन हैं। विजयवर्मनके उपरान्त रुद्रवर्मन तथा शम्भुवर्मन चम्पाके शासक हुए। उसके उपरान्त कन्दर्प धर्म-शान्तिप्रिय शासक हुआ। अन्तमें रुद्रवर्मन द्वितीयके मरनेपर (७५७ ई०में) चम्पाका राज्य दूसरे वंशके अधिकारमें चला गया।

नवीन वंशके शासक सत्यवर्मनने नष्ट मन्दिरोंको फिरसे बनवाया। इसके उपरान्त और भी राजा हुए। वे सब अधिकतर आसपासवालोंसे युद्ध करते रहे। सन् ८६०में अन्तिम राजा विक्रान्तवर्मनकी मृत्युके उपरान्त इस वंशका शासन भी समाप्त हो गया। इसके उपरान्त 'भृगुवंश'के लोग चम्पाके शासक हुए। इनमें इन्द्रवर्मन प्रतापी राजा हुआ। सन् ९७२ ई०में इन्द्रवर्मनकी मृत्युके उपरान्त जय परमेश्वरवर्मन देव ईश्वरमूर्ति नामक राजाने सन् ९८० ई० में एक नवीन वंशकी स्थापना की। इस वंशके रुद्रवर्मन चतुर्थने सन् १०६९ ई० तक राज्य किया।

सन् १०८१ ई० में चम्पाकी दशा डावाँडोल हुई। सारे राज्यमें विपत्तिके बादल छा गये। उसी समय श्रीराजेन्द्र राजाकी मृत्यु हुई और सन् ११३९ ई०में इन्द्रवर्मन राजा हुआ। वह बड़ा धार्मिक तथा उत्साही राजा था। उसने कई स्थानोंमें शिवलिङ्गोंकी स्थापना करायी। इसके उपरान्त चम्पा राज्यका भविष्य अन्धकारमें चला गया। आक्रमणकारियोंने चम्पाके शासकोंको पराजित करके अपने राज्योंमें मिला लिया। ११७० ई० में फिर जाग्रति हुई और इन्द्रवर्मनने कम्बुज राज्यके शासकको पराजितकर पुनः चम्पाका स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। इस प्रकार सदैव चम्पापर आक्रमण होते रहे और उसका भाग्य शासकोंकी शक्तिके अनुसार बनता-बिगड़ता रहा। जयपरमेश्वरदेव (१२२२), इन्द्रवर्मन दशम (१२५७) तथा महेन्द्रवर्मन (१३११) शक्तिशाली तथा प्रतापी राजा हुए। इन राजाओंने अपने समयमें आक्रमणकारियोंका सामना करके राज्यकी रक्षा की। इसके साथ ही राष्ट्रकी जर्जर कायाको भी नवजीवन प्रदानकर सशक्त बनाया। पर कभी भी चम्पाका राज्य युद्धकी विभीषिकाओंसे मुक्त न हो सका। सारा प्राचीन इतिहास रक्तरंजित कहानियोंसे भरा है। सन् १५०५–४३में अन्तिम राजाकी मृत्युके उपरान्त चम्पाकी स्वतन्त्रता सदाके लिये अतीतके गर्भमें विलीन हो गयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि चम्पामें भारतवासियोंने लगभग १५०० वर्षोंतक शासन किया। उसके उपरान्त उनका चिह्न भी नहीं मिलता। उनका सारा राज्य-वैभव गुलाबके फूलकी भाँति खिलकर विस्मृतिके उस पार छिप गया। पर हिंदू-संस्कृति और सभ्यता वहाँ अबतक जीती-जागती दिखायी पड़ती हैं।

चम्पामें भारतकी सबसे विशेष वस्तु है भारतवर्षका धर्म। अन्य द्वीपोंकी भाँति यहाँ भी भारतीय धर्मका प्रचार हुआ। शैव-धर्मकी प्रधानता अबतक मिलती है। जो शिलालेख मिलते हैं, उनमें शिव, विष्णु, ब्रह्मा तथा बुद्धका वर्णन मिलता है। पर उनमें शिवका अधिक वर्णन है। मन्दिर तथा शिलालेखोंमें महेश्वर, महादेव, पशुपति आदि अनेक नाम मिले हैं। शिवलिङ्गोंके नाम भी देवलिङ्गेश्वर, धर्मलिङ्गेश्वर आदि मिले हैं।

शिवके अतिरिक्त 'शक्ति' की भी उपासना होती थी। शक्तिके उमा, गौरी आदि नाम थे। शिव तथा शक्तिके अतिरिक्त गणेशकी भी पूजा होती थी। यहाँ वैष्णवधर्म और बौद्धधर्मका भी प्रचार हुआ था। शिवकी भाँति विष्णुकी

भी पूजा होती थी। शिलालेखोंमें भगवान् विष्णुके कई नाम मिलते हैं। भारतवर्षकी भाँति वहाँ भी राम, कृष्णकी लीलाओंका प्रचार था। शिलालेखोंमें लीलाओंका वर्णन मिलता है। गरुड़ तथा वासुकिका भी वर्णन मिलता है। कई प्रतापी राजा तो अपनेको विष्णुका अवतार मानते थे। विष्णुके साथ ही लक्ष्मीकी भी पूजा होती थी। स्त्रियाँ लक्ष्मीपूजाको अधिक महत्त्व देती थीं। लक्ष्मीकी उत्पत्तिके विषयमें चम्पानिवासियोंकी धारणा भारतीय धारणासे कुछ भिन्न थी।

इसी प्रकार ब्रह्माका भी वर्णन मिलता है। शिलालेखोंपर उनकी मूर्तियाँ तथा कई एक नाम मिले हैं। चार मुखवाली मूर्तियाँ भी मिली हैं। इन सब मूर्तियोंको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि चम्पाकी मूर्तिकला भारतीय मूर्तिकलाकी भाँति ही थी। इन त्रिदेवोंके अतिरिक्त और भी बहुत-से देवी-देवताओंकी पूजा होती थी। इनमें सूर्य, चन्द्र, वरुण, अग्नि, कुबेर तथा यमराज आदि देवता प्रमुख थे। नागों और राक्षसोंकी भी पूजा होती थी। इन सबकी मूर्तियाँ बनती थीं और उन मूर्तियोंकी विधिपूर्वक पूजा होती थी।

कई स्थानोंपर बुद्धकी मूर्तियाँ मिलती हैं और उनसे विदित होता है कि उन मूर्तियोंकी उपासना की जाती थी। राजालोग बौद्धमठ और मूर्तियाँ बनवाते थे। बुद्धकी प्रतिमाएँ भी बहुत-सी मिलती हैं।

भारतीय धर्मके अतिरिक्त शासनप्रबन्ध तथा कला-कौशलका भी प्रभाव चम्पापर पड़ा। समाज भी अछूता नहीं बचा। धर्म, समाज, राजनीति तथा कला-कौशल—सभीपर भारतीयताकी गहरी छाप लगी थी। चम्पानिवासियोंके जीवनका कोई कोना भारतवर्षके व्यापक प्रभावसे बच न सका। भारतीय भवन-निर्माणकला तथा शिल्प-कलापर भारतीयताका प्रभाव प्रत्यक्ष मिलता है। वहाँके मन्दिर तथा मूर्तियाँ भारतीय ढंगसे बनी थीं। उनकी बनावट दक्षिण और उत्तरके मन्दिरोंसे मिलती-जुलती है। बुद्धभगवान्की प्रतिमाओंपर गान्धारकलाका प्रभाव है। शङ्कर, विष्णु आदिकी मूर्तियोंपर बंगाल तथा दक्षिण-भारतका प्रभाव था। मन्दिरोंकी छतें उत्तरी भारतके मन्दिरोंकी भाँति थीं। दक्षिण भारतीय भवन-निर्माण-कलाकी प्रधानता चम्पामें मिलती है।

चम्पाकी शासन-व्यवस्था भी भारतीय ढंगकी-सी थी। राजा साम्राज्यका सर्वेसर्वा होता था। प्रजा राजाको ईश्वरका अवतार मानती थी। सेनामें हाथी अधिक थे। राजालोग राजनीतिके ज्ञाता तथा धर्मधुरीण होते थे। अधिकतर राजालोग मनुकी आज्ञाके अनुसार कार्य करते थे।

चम्पाकी समाज-व्यवस्था भी भारतीय ढंगकी थी। भारतवर्षकी भाँति वहाँ भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। वहाँ भी ब्राह्मणोंका स्थान सर्वोच्च था। उनका सर्वत्र विशेष आदर था। ब्रह्महत्या महापाप समझा जाता था। धर्म-कर्मके नेता ब्राह्मण ही थे। विवाहका ढंग भी बहुत कुछ भारतीय था। वंश और गोत्रका ध्यान रक्खा जाता था। विवाह एक धार्मिक बन्धन माना जाता था। सती-प्रथाका भी चलन था। महीने भी भारतीय थे। वहाँकी भाषा भी भारतीय संस्कृत थी। कहीं-कहीं प्राचीन चम्पाकी भाषाका प्रयोग होता था, पर प्रधानता संस्कृतको ही प्राप्त थी। राजालोग शास्त्र-पुराण तथा वेदोंके ज्ञाता होते थे। व्याकरण-ज्यौतिषके भी अच्छे विद्वान् वहाँ थे। रामायण, महाभारत तथा धर्मशास्त्रोंसे चम्पानिवासी भलीभाँति परिचित थे। इसके अतिरिक्त और भी भारतीय बातें वहाँ पायी जाती थीं।

उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट हो गया कि चम्पा (अनाम) में भारतवासियोंने जिस सभ्यता तथा संस्कृतिका प्रसार किया था, वह आज भी वर्तमान है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृतिका प्रभाव अधिक व्यापक था। इसीलिये आज भी सारा विश्व उसके सामने नतमस्तक है।

समर्थका उपदेश

हे मन! सत्यका त्याग कभी न कर, झूठका अनुमोदन कभी मत कर। वाणीसे जो कुछ सत्य है वही बोल और जो कुछ झूठ है उसको झूठ समझकर त्याग दे।

—समर्थ रामदास

चीनी यात्रियोंकी भारतसम्बन्धी जिज्ञासा

(लेखक—श्रीसीतारामजी सहगल)

इतिहासविशेषज्ञोंने बतलाया है कि प्राचीन भारतकी ऐतिहासिक परम्पराके अध्ययनके लिये जिस प्रकार संस्कृतके भिन्नकालीन मूलग्रन्थोंका पढ़ना आवश्यक है, उसी तरह विदेशी यात्रियोंके उल्लेख भी सम्माननीय हैं। इस दिशामें चीनी यात्रियोंके इतिहाससम्बन्धी ग्रन्थ और भी उपादेय हैं। इन यात्रियोंके नाम और उनकी कृतियाँ भारतीय इतिहासकी पूरक सामग्री हैं।

यह आश्चर्यकी बात है कि इन महान् यात्रियोंकी कृतियाँ यूरोपियन विद्वानोंके अनुवादसे पूर्व विस्मृतिके गर्भमें लीन थीं। श्रीजेम्स लेग, टामस वाटर्स, सेमूल बील और सेंट जूलियाँ आदि विद्वानोंने चीनी यात्रियोंकी कृतियोंके अनुवाद किये, जिससे भारतको अपने देशका प्राचीन इतिहास समझनेमें विशेष सहायता मिली। पुरातत्त्वके विशेषज्ञ प्रो० औरल स्टाइनने अपनी महत्त्वपूर्ण सेंट्रल एशियाकी खोजोंसे इन चीनी विद्वानोंके ग्रन्थोंकी प्रामाणिकताकी हृदयसे पुष्टि की। इन चीनी विद्वानोंके ग्रन्थोंका भारतकी कौन-सी भाषामें अनुवाद हुआ है, यह एक प्रश्न है।

सबसे पहले चीनके समर्थ यात्री श्रीह्वेनत्स्वाङ्गने अपनी यात्राका वर्णन किया है, जिसमें तत्कालीन भारतकी संस्कृति-शिक्षा, राजनीति, सामाजिक नीति, कृषि तथा औद्योगिक विकासका विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह चीनी यात्री शीलभद्रका अतिभाशाली योग्य और कर्मठ शिष्य था। उसके साथी इसकी सर्वतोमुखी प्रतिभासे इतने मुग्ध हो गये थे कि उसे नालन्दा-विश्वविद्यालयमें अध्यापक-पदसे सम्मानित किया। आजकी दुनियामें जो आदर यूनिवर्सिटी प्रोफेसर—डीनका होता है, वही प्रतिष्ठा और मान उस कालमें इस चीनी यात्रीका था। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि आजकलसे शिक्षाका उस समय आदर अधिक होनेसे इसका मान भी विशिष्ट था, और एक विदेशीको ऐसे प्रतिष्ठित पदपर रखना इसकी असाधारण प्रतिभाका द्योतक है। इस प्रकार यह चीनी यात्री भारत और चीनका अप्रतिम प्रेमपात्र बना। राष्ट्रकी संस्कृति और दर्शनशास्त्रकी सम्पत्तिका प्रचार इसने आशातीत रूपसे किया।

फा ही, स्वाङ्ग तथा इत्सिंगसे पूर्व और पीछे भी कई चीनी यात्री आठवीं शताब्दीतक आते रहे। यद्यपि इनके ग्रन्थ उपर्युक्त यात्रियोंके समान विस्तृत और सामग्रीपूर्ण नहीं हैं, तो भी इतिहासके छात्रके लिये उनकी उपयोगिता अमिट है। प्रो० लिंग चि च ओ नामक सुप्रसिद्ध समाजसुधारकने इन यात्रियोंके बारेमें पर्याप्त लिखा है, जिससे मालूम होता है कि इन विद्वानोंने चीन और भारतके पारस्परिक सम्बन्धोंको कितना बौद्धिक सूत्रोंसे गूँथा। उसने लिखा है—'मेरा सदा प्रयास रहा है कि मैं उन चीनी यात्रियोंको प्रकाशमें लाऊँ, जो अभीतक भारतमें अज्ञात रहे हैं और जिन्होंने भारतके साथ हमारे सम्बन्ध स्थापित करनेमें समय-समयपर विराट् यत्न किये। मेरी गवेषणाओंके अनुसार ८२ ऐसे यात्री विद्वान् हैं, जिनका ऐतिहासिकोंने अभीतक ऋण नहीं चुकाया।'

भारतीयताका अध्ययन करनेके लिये आजतक १८७ चीनी यात्री यहाँ आये, जिनमेंसे १०५ का ज्ञान हो सका है। शेष ८२ विद्वानोंके बारेमें जानना गवेषणाधीन है। इनमेंसे ३७ यात्रियोंका शरीर भारतमें आते अथवा जाते समय ही शान्त हो गया होगा, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। छः चीनी यात्रियोंके बारेमें निश्चयसे कहा जाता है कि वे भारतमें मरे। मृत्युकी बड़ी संख्याका कारण तत्कालीन जलवायु रही होगी, जिसके कारण वे यात्री अपने कार्यमें असमर्थ रहे। जो यात्री अपने प्रचारसे सफल हुए, उन्होंने प्रसङ्गसे लिखा है "मैं 'मो हो येन' के जंगलमें हूँ, जहाँ प्यासके कारण एक पग भी आगे बढ़ना असम्भव हो रहा है। मेरी मृत्यु किसी क्षण हो सकती है। इन निर्जन और घोर जंगलोंमें चारों ओर यात्रियोंको मनुष्यों और पशुओंके अस्थिपञ्जर देखनेको मिलते हैं। सामुद्रिक यात्रा अँधेरी और भयानक झंझावातोंसे पूर्ण है।" फा ही जब भारतसे लौटा, तब उसे सामुद्रिक यात्रा करनी पड़ी। रास्तेमें उसे प्रचण्ड अँधेरीका सामना करना पड़ा। नाविकने उन्हें सामान छोड़नेको कहा। इसने सब कुछ सामान छोड़कर बौद्ध साहित्यकी पुस्तकें तथा मूर्तियोंको अपने साथ बाँध लिया। इस प्रकार इस चीनी बौद्धने समुद्र, पर्वत तथा मरुस्थलके अनेक कष्टोंको झेला। उसकी ज्ञानपिपासा, धार्मिक निष्ठा, भारतीय प्रेम, विश्वास, धैर्य और साहसने उसे प्रेरणा प्रदान की और वह अपने पथपर निश्चल रहा।

कई चीनी यात्रियोंने तो अपनी यात्राओंका वर्णन स्वयं नहीं लिखा। कई यात्रियोंने लिखकर भी खो दिया। कुछ विद्वानोंकी कृतियाँ हमतक पहुँच सकी हैं। तो ये भी

चरितावली, त्वां चिनका भिन्न देशोंका वर्णन और फाँ युअङ्की यात्राओंके उल्लेख ही मिलते हैं। मूलग्रन्थ प्राप्य नहीं हैं। ह्वाई चोङ्की भारतके पाँच प्रदेशोंमें यात्राका वर्णन कई शताब्दियोंतक लुप्त रहा। हालमें इस ग्रन्थका उद्धार तु हु प्रदेशमें हुआ। कुछ हिस्सा जो मिला है, उसमें छः हजार शब्द हैं। श्री लो त्सेन युने इसे सम्पादित किया और यह महार्घ्य ग्रन्थ प्रकाशमें लाया गया है। जिन ग्रन्थोंकी आंशिक रक्षा हो सकी है, उनमेंसे वांग हसिंचेहका दस जिल्दोंमें हर्षवर्धनके साम्राज्यका वर्णन है। यह पूरा ग्रन्थ कहीं भी प्राप्त नहीं हो सका। इसके कुछ खण्ड तो ग्रीद्वारा सम्पादित कथा-ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं।

प्राचीन कालमें बुद्धमतके विचारतत्त्वोंने इन दो देशोंको एक सूत्रमें जोड़ा था। इसलिये विद्वान् चीनी यात्री विद्या-सम्बन्धी बातोंमें ही लगे रहते थे। भारतीय इतिहासकी दूसरी बातोंमें उन्हें कम रुचि रहती थी। अतएव उनके द्वारा लिखी पुस्तकोंमें भारतकी सर्वाङ्गीण ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। उदाहरणार्थ हुई चिओंकी 'प्रमुख बौद्धोंकी जीवनियाँ' नामक कृतिमें ऐतिहासिक सामग्रीके प्रासङ्गिक उल्लेख मिलते हैं, जो अपना महत्त्व अवश्य रखते हैं।

चीनी यात्रियोंके अतिरिक्त वहाँके इतिहासकार सु मा चीनने भी एक बृहद् इतिहास लिखा है, जिसमें उत्तर, पश्चिम और पड़ोसी राष्ट्रोंका इतिहास लिखा गया है। इसी मार्गपर चलते हुए उत्तरकालीन ऐतिहासिकोंने भी भारतके सम्बन्धमें लिखा है। इनमें पां कु तथा फां येन अपने-अपने इतिहास-ग्रन्थोंमें भारतके बारेमें लिखा है। वां सिउद्वारा लिखित वाई-वंशके इतिहासमें भारतका प्रासंगिक वर्णन है। ल्यु ह्युद्वारा लिखित तांग-वंशके एवं लो केन तोद्वारा लिखित सुङ्-वंशके इतिहासमें सामग्री पायी जाती है। सिन तान सु तथा सुङ् शी नामक लेखोंमें क्रमशः काश्मीर और भारतके बारेमें ऐतिहासिक सामग्री मिलती है।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त प्राचीन चीन राष्ट्रपर लिखी गयी पुस्तकोंमें भी भारतीय रीति-रिवाजपर प्रसङ्गतः प्रकाश डाला गया है। तु युद्वारा लिखित तांग-वंशके इतिहास तथा येन चिन योके एक हजार जिल्दोंमें लिखे हुए इतिहासमें भारतीय इतिहासकी कुछ आंशिक सामग्री मिलती है। यदि इन ग्रन्थोंपर अनुसन्धान किया जाय तो अपने प्राचीन इतिहासपर अधिक प्रकाश पड़ सकता है। भारतीय दर्शन और विशेषतः बौद्ध-साहित्यके ज्ञानके लिये यह खोज महत्त्वपूर्ण होगी।

हिंदू-संस्कृति और प्रतीक

(लेखक—श्रीप्राणकिशोरजी गोस्वामी)

भारतीय हिंदू-धर्मने प्राचीनतासे ऐतिहासिकोंको विभ्रान्त कर रक्खा है। लिखित काष्ठ-लिपि, ताम्र-लिपि और प्रस्तर-लिपिसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरातत्त्वके द्वारा संगृहीत तथ्य दिन-प्रतिदिन हिंदू-धर्मके अस्तित्वके विषयमें सुदूर अतीत कालकी ओर निर्देश करते हैं। शास्त्रोंने धर्मको सनातन और शाश्वत कहकर सन्तोष प्राप्त किया है। अनादि सनातन वेदमूलक हिंदू-धर्मके द्वारा, विभिन्न समाजोंके द्वारा, विभिन्न कालोंमें विभिन्न रूपसे परिगृहीत आचार और निष्ठाने इस धर्मके ऊपर विचित्र चिह्न अङ्कित किये हैं। धर्म जीवन-सत्ताका अत्यन्त निगूढ़ रहस्य है। उसको बाहर अभिव्यक्त करनेकी प्रचेष्टा बहुत प्राचीन कालसे चल रही है। अन्य व्यक्ति या समाजके द्वारा परिचिन्तित धर्मसे अपनी विशेषताको बनाये रखनेके लिये अनेकों उपाय ग्रहण किये गये हैं। परम तत्त्व, पवित्र ज्ञान, अखण्ड आनन्द, विराट् सत्ताको विचित्र धारासे प्रकाशित करनेकी चेष्टा सभी समाजोंमें निर्बाधरूपसे चलती आ रही है। उनके ज्ञान, कर्म अथवा उपासनाकी क्रम परम्परासे उसी चिर-अनुसन्धेय, आकाङ्क्षणीय और परम सुन्दरका अनन्त रूपविलास आविष्कृत हुआ है।

प्रतीक या चिह्नोंके द्वारा अनन्तको सीमामें प्रकाशित करनेका प्रयास किया जाता है। असीम, अनिर्वचनीय, अव्यक्तको ससीम, वर्णनीय तथा अभिव्यक्त करनेके लिये कितने ही सङ्केतोंकी सृष्टि हुई है। ये विशिष्ट चिह्न या सङ्केत मानव-मनके अनभिव्यक्त भावकी व्यञ्जना करते हैं। विराट समाजके सभी स्तरोंके मानव-मनमें सुपवित्र सुनिर्दिष्ट भाव-प्रेरणा लानेके लिये सर्वकालमें चिह्नका व्यवहार होता आया है। भावोंके समाहार तथा गोष्ठीकी प्रीतिके द्वारा विशेष-विशेष चिह्नों या प्रतीकोंने सुपुष्ट भावकी अभिव्यञ्जनामें अजेय गौरव प्राप्त किया है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(कठ० १ । २ । १५-१६)

'सारे वेद जिस पदका निर्देश करते हैं, जिसको लक्ष्य करके सारी तपस्या और ब्रह्मचर्य अनुष्ठित होते हैं, उस परम तत्त्वको संक्षेपमें कहता हूँ—वह 'ॐकार' है । यही अक्षर ब्रह्म है, यही परम अक्षर है; इस अक्षरको जान लेनेपर जिसकी जो इच्छा होगी, वह उसीको पा जायगा ।' अनिर्वचनीय ब्रह्मका वाचक अक्षर ॐकार प्रत्येक वेदमन्त्रके आदि और अन्तमें उच्चारित और अङ्कित होकर वैदिक ऋषियोंके ब्रह्मानुभव और ब्रह्मदर्शनमें सहायक हुआ है । सृष्टिके किसी अज्ञात शुभारम्भके दिन स्रष्टा ब्रह्माके कण्ठसे, अनन्तकी प्रेरणासे यह प्रणवध्वनि उद्गीथ हुई थी । उसी अज्ञात अतीत कालसे वेदमें और धर्ममें नाद-ब्रह्मकी रूपाभिव्यक्ति प्रणव समादृत होता आ रहा है ।

ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

'ॐकार' और 'अथ' शब्द मङ्गलवाचक हैं । ये दोनों शब्द सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माके कण्ठसे विनिर्गत हुए थे ।'

वैदिक साधनाके प्रधान अवलम्बन, विश्वातीतके अत्यन्त प्रचुर प्रकाशक भगवान् सूर्यनारायण हैं । प्रतिदिन सन्ध्योपासनामें—क्या वैदिक, क्या तान्त्रिक—सर्वत्र उस सूर्यमण्डलको ही अवलम्बन करके उपस्थान, ध्यान, तर्पण, अर्घ्यदान आदि अनुष्ठित होते हैं । सूर्यको ही चर-अचर समस्त जगत्की आत्माके रूपमें स्वीकार किया जाता है । और भी देखा जाता है कि—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तॉस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

'आत्मघाती लोग मृत्युके बाद अज्ञान और अन्धकारसे परिपूर्ण, सूर्यके प्रकाशसे हीन, असूर्य नामक लोकको गमन करते हैं ।' इससे यह पता लगता है कि वेदानुगामी साधुजन सूर्यमण्डलको किस श्रद्धाके साथ परमात्माके अभिव्यञ्जकरूपमें देखते थे । इस सूर्यको भी प्रणवरूपमें स्वीकार किया गया है ।

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः ।
इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥
(छान्दोग्य० १ । ५ । १)

ऋक्, यजु और साम—तीन वेद; भूः, भुवः और स्वः—तीन लोक; गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण—तीन अग्नि; यही क्यों ? ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—जो कुछ हिंदू-धर्ममें है, यह ॐकार उन सबका ज्ञान करा देता है ।

ओमित्येतत् त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः ।
विष्णुर्ब्रह्मा हरश्चैव ऋक्सामानि यजूंषि च ॥
(मार्कण्डेयपुराण)

कोई-कोई पण्डित यज्ञवेदी बनाकर उसके यज्ञकुण्डकी सप्तजिह्व यज्ञाग्निको वैदिकधर्मका प्रतीक मानते हैं । इस प्रकारका कोई चिह्न प्राचीन साधुजन व्यवहार करते हों, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता । अतएव इसका यहाँ विचार नहीं किया जाता ।

अन्यान्य समस्त चिह्नों या प्रतीकोंपर विचार करनेके पहले हिंदूमात्रके लिये स्वीकृत नाना प्रकारके शिलाचक्र, शालग्राम तथा शिवलिङ्गके सम्बन्धमें अवहित होना आवश्यक है । छोटी-से-छोटी गण्डशिला (शालग्राम) में भी महत्तम सर्वव्यापक जगदीश्वरकी आराधना करनेकी रीति अतीतकालमें किस प्रकार किसकी प्रेरणासे प्रवर्तित हुई, यह पण्डितोंके लिये गवेषणाका विषय है । शिवलिङ्ग किस प्रकार योनिपीठसे संयुक्त होकर विश्वजनक-जननीके प्रतीकके रूपमें केवल भारतमें ही नहीं, बल्कि इससे बाहर भी चिरकाल पूर्वसे समादृत होता आया है—यह बात विद्वत्-समाजमें आज किसीको भी अविदित नहीं है ।

पद्मपुराणमें लिखा है—

सौराश्च शैवगाणेशाः वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ।
मामेव ते प्रपद्यन्ते वर्षाम्भः सागरं यथा ॥
एकोऽहं पञ्चधा भिन्नः क्रीडार्थं भुवने किल ॥

भक्तवत्सल भगवान् कहते हैं कि 'संसारमें लीलाके लिये एक मैं ही पञ्चधा विभक्त हो रहा हूँ । वर्षाका पानी जिस प्रकार चारों ओरसे बहते-बहते एक समुद्रमें ही जाकर गिरता है, उसी प्रकार सौर, शैव, गाणपत्य, वैष्णव और शाक्त—सभीको आकर मुझमें ही आश्रय लेना पड़ता है ।'

वेदानुगामी इन पञ्च उपासकोंमें प्रत्येकका एक विशिष्ट चिह्न या प्रतीक है । एक समवाय-परामर्शपूर्वक किसी चिह्नको विशिष्ट योग्यता दी गयी है, अथवा उसे अर्थयुक्त करके ग्रहण किया गया है—ऐसी भावना करना सत्यका अपलाप करना है ।

ईसामसीहके जन्मके पूर्व, मूसाके जन्मके पूर्व फिनलैंडके निवासियोंको क्रॉस-चिह्न परिचित था । ईसाई-धर्मके प्रचारसे ही उसका उद्भव हुआ है, ऐसा समझना इतिहासकी मर्यादाके बाहरकी बात है । एक गोलाकार वृत्तरूप चिह्नको क्या कोई अपनी जातिका निजस्व मानकर दावा कर सकता

है ? वह समस्त जगत्का सुपरिचित चिह्न है। एक विन्दुरूप चिह्न—वह भी किसी विशिष्ट सम्प्रदायका नहीं है, वह सभी मनुष्योंका है। बहुतेरे लोग समझते हैं कि स्वस्तिक चिह्नको बौद्धोंने ही भारतसे ले जाकर समस्त संसारमें फैलाया है। वस्तुतः प्रमाण मिलता है कि बौद्धधर्मके आविर्भावके पूर्व ही वैविलन, मिस्र आदि देशोंमें लोग इस प्रकारके चिह्नसे परिचित थे।

सौर-सम्प्रदायका धर्मचिह्न सूर्यमण्डल है। यह प्राचीनतम वैदिक ऋषियोंके सविता देवतासे भिन्न नहीं है। सूर्यमण्डल द्वादश-कलायुक्त है। ऋतु-परिवर्तनके साथ सूर्यका वर्णपरिवर्तन होता है। जैसे—

वसन्ते कपिलः सूर्यो ग्रीष्मे काञ्चनसप्रभः।
श्वेतो वर्षासु वर्णेन पाण्डुरः शरदि प्रभुः॥

'सूर्य वसन्तकालमें कपिलवर्ण, ग्रीष्ममें स्वर्णोज्ज्वल, वर्षामें शुभ्र, शरत्कालमें पाण्डुर, हेमन्तमें ताम्रवर्ण तथा शीतकालमें रक्तवर्ण होते हैं।'

जेन्दावस्ताका अनुगमन करनेवाले जरदुस्तके द्वारा प्रवर्तित पारसी लोगोंके धर्मचिह्नमें अग्निकुण्ड, अग्निस्थली, अहुर मज्दा (पक्ष विस्तृतरूप) और सूर्यमण्डलको स्थान मिला है। इससे समझमें आ सकता है कि इन्दो-एरियन (भारतीय आर्य) लोगोंके प्राचीनतम इतिहासके साथ अग्नि और सूर्य-चिह्न पृथ्वीके एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तको अतिक्रम कर चुके थे। ऐतिहासिक समालोचनासे पता चलता है कि अनेकों चिह्न या प्रतीक देश या समाजकी सीमाका उल्लङ्घन कर दूर-दूरतक फैल गये हैं।

किसी समय शैवलोग परिख्यात, पाशुपत, कालदमन और कपाली नामसे चार श्रेणियोंमें विभक्त थे। पीछे उनमें अनेकों प्रकारके सम्प्रदाय-भेद हो गये।

आद्यं शैवं परिख्यातमन्यत् पाशुपतं मुने।
तृतीयं कालवदनं चतुर्थं च कपालिनम्॥
(विद्वन्मोदतरङ्गिणी)

शिवका आयुध त्रिशूल सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके प्रभावसे निर्मुक्तिका सूचक है। वह धूम्रवर्ण है और शैवोंद्वारा विशेष समादृत चिह्न है। शिवालयके ऊपर इस प्रकारके चिह्न देखनेमें आते हैं। कोई-कोई शैव त्रिशूल-चिह्नाङ्कित शरीरमें शङ्करकी उपासना श्रेष्ठ समझते हैं और यथासमय उस चिह्नको धारण करते हैं। शैव साधु लोहेके बने त्रिशूलको दण्डके समान साथ लेकर चलते हैं। मोहन-जो-दड़ोसे प्राचीनतम युगका जो कुछ पता मिलता है, उसमें पशुपतिका चिह्न और वृषचिह्न भी प्राप्त होते हैं। इस अत्यन्त प्राचीन कालमें भी वृषभको धर्मके प्रतीकरूपमें ग्रहण करते थे, यह सिद्ध होता है। वृषरूपी धर्मके चार पैर हैं—तपस्या, शौच, दया और सत्य।

पृथ्वीकी प्रतीक गाय है। पृथुने गो-दोहनके द्वारा समस्त पार्थिव सम्पत्को प्राप्तकर प्रजाकी दुर्भिक्षसे रक्षा की थी। गणाधिपति गणनाथ या गणेशने वेदानुगामी सभी सम्प्रदायोंके ऊपर अपना प्रभाव डाला था। प्राचीन कालमें एक विशिष्ट समाज प्रधानतः इस प्रसिद्ध वैदिक देवता गणपतिकी ही उपासना करता था। उनका पृथक् अस्तित्व इस समय विशेषरूपमें परिलक्षित न होनेपर भी हिंदूमात्रके द्वारा किसी देव-देवीकी पूजा होनेके पूर्व गण-देवताकी पूजा धर्मतः अनिवार्य है। इसीके द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि गणपतिका प्रभाव कितना है। भारतके महाराष्ट्र प्रदेशमें गणेशोत्सव एक प्रधान पर्व है। तन्त्रसारमें गणपतिके यन्त्रको सिन्दूर-वर्णसे अङ्कित करके उसमें गणेशजीकी पूजा करनेका विधान है। यह यन्त्र गणेशका प्रतीक है। गणेशने अपने गणोंके साथ एक परिवार बनाया है। सबके रूप एक प्रकारके हैं। उनकी शक्तियाँ भी संख्यामें अनुरूप ही हैं। वे रक्तमाला, रक्तवर्ण और रक्त आभूषण धारण करते हैं।

जो चिह्न हिंदू-धर्ममें अधिक परिमाणमें प्रचलित और परिगृहीत हैं, उनमें वैष्णवोंद्वारा समादृत पाञ्चजन्य भी एक है। पाञ्चजन्य शङ्ख भगवान् विष्णुका एक आयुध है। भागवतमें लिखा है कि प्रह्लादके भ्राता संह्लादकी पत्नी कृतुके गर्भसे पाञ्चजन्य नामक दैत्यने जन्म ग्रहण किया था। वह समुद्रकी तिमि मछलीके आकारमें निवास करता था। उसका वध हो जानेके उपरान्त उसीकी अस्थिसे पाञ्चजन्य शङ्खकी उत्पत्ति हुई। इसे वेदमय तथा जलतत्त्वका प्रतीक कहा गया है। यह शङ्ख समस्त भारतमें मङ्गलचिह्नके रूपमें तथा इसकी ध्वनि पवित्र प्रणवध्वनिके समान आदृत होती है।

अस्थिभिः शङ्खचूडस्य शङ्खजातिर्बभूव ह।
नानाप्रकाररूपा च शश्वत्पूता सुरार्चने॥

शङ्खचूड़ दानवकी अस्थिद्वारा नाना जातिके शङ्ख उत्पन्न हुए—ऐसी कथा ब्रह्मवैवर्तपुराणमें मिलती है। शङ्ख वामावर्त और दक्षिणावर्तभेदसे दो प्रकारके होते हैं। पाञ्चजन्य दक्षिणावर्त्त है। इसके गुणोंका विचारकर ब्राह्मणादि श्रेणीभेद

किया गया है। शङ्खके अस्थि होनेपर भी, उसमें जल लेकर भगवान्‌की आरती करने तथा उस जलसे पवित्र होनेका भी विधान किया गया है। दक्षिणावर्त शङ्ख महामूल्यवान् रत्न और सौभाग्यका प्रतीक माना जाता है। इस शङ्खचिह्नका भगवान् विष्णुके चरणतलमें ध्यान किया जाता है।

विष्णुके चक्रसुदर्शनने अन्यान्य चिह्नोंमें विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। प्रखर दीप्तिमन्त मार्तण्डको विश्वकर्मा अपने तेज यन्त्रमें डालकर उसकी प्रखरताको शान्त कर रहे थे। उससे एक तेज निकला। कहा जाता है कि उसीसे विष्णुका चक्र, शिवका त्रिशूल, कुबेरकी शिबिका, यमका दण्ड, कार्तिकेयकी शक्ति तथा अन्यान्य देवताओंके आयुध निर्मित हुए। मार्कण्डेय-पुराणके वाक्य इस विषयमें विचारणीय हैं—

शातितं चास्य यत्तेजस्तेन चक्रं विनिर्मितम्।
विष्णोः शूलं च शर्वस्य शिबिका धनदस्य च॥
दण्डं प्रेतपतेः शक्तिर्देवसेनापतेस्तथा।
अन्येषाञ्चैव देवानामायुधानि स विश्वकृत्॥
चकार तेजसा भानोर्भासुराण्यरिशान्तये॥

सुदर्शन सहस्र अरोंसे युक्त होता है। साधारणतः उसे केशव आदि द्वादशमूर्ति विष्णुके प्रतीकके रूपमें द्वादश अरोंसे युक्त माना जाता है। उसमें मनस्तत्त्वका चिन्तन किया जाता है। भागवतमें इसे तेजस्तत्त्व कहा गया है। इसके मध्यस्थलमें नरसिंहमूर्ति अथवा विश्वरूप भगवान्‌का न्यास करनेका विधान है। भगवान् इस चक्रको दक्षिण हस्तमें धारण करते हैं। और उनके दक्षिण पदतलमें चिह्नरूपमें इसका उल्लेख मिलता है। विष्णुमन्दिरके ऊपर यह चिह्न व्यवहृत होता है। वैष्णवलोग दक्षिण बाहुमूलमें इस चिह्नको बड़े आदरके साथ अङ्कित करते हैं। कोई-कोई तप्तमुद्रा धारण करके देहको चक्राङ्कित करते हैं।

सौवर्णं राजतं ताम्रं कांस्यमायसमेव वा।
चक्रं कृत्वा तु मेधावी धारयेत विचक्षणः॥

(नवप्रश्न पाञ्चरात्र)

विष्णुकी प्रिय गदाका नाम कौमोदकी है। ओज और बलके सूचक मुख्य तत्त्व गदाको 'आयुधेश्वरी' नाम दिया गया है। दानव-वधमें इसका प्रयोग होता है। इस गदा-चिह्नको वैष्णवगण ललाटमें धारण करते हैं।

धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते।

—इस वाक्यसे भगवान्‌के कर-किसलयद्वारा संलालित लीला-कमलका रहस्य जाना जाता है। साधकके जीवनका निगूढ़ रहस्य भी इसी पद्ममें अन्तर्निहित है। योगशास्त्रके अनुसार मानव-देहमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रार प्रभृति चतुर्दल, षट्दल, दशदल, द्वादशदल, षोडशदल, द्विदल तथा सहस्रदल पद्म है। जीवन-की इच्छा, ज्ञान, क्रिया, काम और प्रेम—सभी इस पद्मके कोषमें अवस्थित है। साधनाके जीवनमें इस पद्मका सम्बन्ध अविच्छेद है, यह कहें तो अत्युक्ति न होगी। हिंदूके धर्म-कर्मके अनुष्ठानमें, मण्डलादिकी रचनामें, चित्रमें, शिल्पमें तथा अर्चनादिमें सर्वत्र किसी-न-किसी रूपमें पद्मको ग्रहण किया गया है। सूर्यके साथ पद्मका जैसा प्रेम-सम्बन्ध है, सविताके उपासक हिंदूका भी कमलके साथ भी वैसा ही सम्बन्ध होता है। विष्णुके लिये श्वेत पद्म तथा शक्तिके लिये रक्तपद्मका व्यवहार होता है। श्रीरामचन्द्रजीकी देवीपूजामें अष्टोत्तरशत नीलकमलकी ही प्रशंसा की गयी है।

श्रीरामोपासक वैष्णव धनुष और बाणके चिह्नको विशेष प्राधान्य प्रदान करते हैं—

यो वै नित्यं धनुर्बाणाङ्कितो भवति स पाप्मानं तरति स संसारं तरति स भगवदाश्रितो भवति स भगवद्रूपो भवति।

(श्रीरामचन्द्र परमवैदिक)

श्रीरामचरितमानसमें भी आया है—

रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ॥

गोपीचन्दनके द्वारा धनुष और दो बाणोंका चिह्न शरीरमें अङ्कित करना रामभक्तोंकी नित्यक्रियाका अङ्ग है।

गौड़ीय वैष्णवलोग महाप्रभु श्रीगौराङ्गके कीर्तनमें एक चिह्न धारण करते हैं, उसका नाम 'खुन्ती' है। कुछ लोग इस खुन्तीको हुसेनशाह बादशाहके समयका दिया हुआ-हाथ-पञ्जा या फरमानका प्रतीक समझते हैं; परंतु इस चिह्नको वैष्णवलोग विशेष आदर देते आ रहे हैं। खुन्तीके अनुरूप चिह्न कभी-कभी मुसल्मान फकीर या दरवेश लोगोंके हाथोंमें भी देखा जाता है। यह चिह्न कहींसे भी आया हो, पर अब तो बंगालियोंका अपना चिह्न बन गया है।

स्वस्तिक चिह्न विश्वके एक छोरसे दूसरे छोरतक अनेकों जातियोंके द्वारा अभिनन्दित हुआ है। यह वस्तुतः भारतीय है और इसे भारतीय मानकर ही इसका भगवान्‌के चरणतलमें ध्यान करते हैं। स्वस्तिक मङ्गलचिह्न है, विभिन्न सम्प्रदायोंमें विभिन्न प्रकारोंसे अङ्कित होता है। मूलनीति एक ही है। सम्भवतः यह सूर्य-की गतिका निर्धारण करनेवाला हो। इस दृश्यमान जगत्में विराट्,

ज्योति, सत्य, मङ्गल तथा सुन्दरकी धारणा करनेका अवलम्बन सूर्य और चन्द्रके समान दूसरा कौन होगा ? हिंदुओंने सूर्य-मण्डलको प्रधान माना है और मुसलमानोंने चन्द्रमाको प्रधानता दी है। स्वस्तिवाचन हुए बिना हिंदू-धर्मका कोई भी कर्म अनुष्ठित नहीं होता। सबके पहले स्वस्तिवाचन आवश्यक है। गृह-द्वार, मङ्गलघट—यहाँतक कि व्यवसायीकी लोहेकी तिजूरीतक भी स्वस्तिक-चिह्नसे चिह्नित होती है। किस प्रकार-से किस कालमें यह चिह्न हिंदू-धर्ममें अङ्गाङ्गिभावसे गृहीत हुआ है, यह बात रहस्यमें छिपी है। बारहवीं शताब्दीमें हेम-चन्द्रने कहा है कि जैनियोंके द्वारा स्वीकृत चौबीस चिह्नोंमें स्वस्तिक एक प्रधान चिह्न है। जैसे—

वृषो गजोऽश्वः प्लवगः क्रौञ्चाब्जं स्वस्तिकं शशी।
मकरः श्रीवत्सः खड्गी महिषः शूकरस्तथा॥
श्येनो वज्रं मृगच्छागौ नन्दावर्तो घटोऽपि च।
कूर्मो नीलोत्पलं शङ्खं फणी सिंहोऽर्हतां ध्वजाः॥

हिंदू-धर्मके प्रभावसे परिवर्द्धमान जैनोंके सर्वविदित आठ मङ्गल-चिह्नोंका उल्लेख यहाँ अवश्य ही अप्रासङ्गिक नहीं होगा—जैसे (१) मत्स्ययुगलम्, (२) नन्दावर्त्त, (३) भद्रासन, (४) कुम्भ, (५) श्रीवत्स, (६) दर्पण, (७) सम्पुट, (८) स्वस्तिक। पुराणोंमें प्राचीन कालसे ही बुद्धदेव भगवान्‌के एक अवतार माने गये हैं। वेदविरोधी कहकर बारंबार प्रतिहत होनेपर भी इस मतने सारे भारतके धर्मके ऊपर अपना प्रभाव डाला था, यह बात सभीको माननी ही पड़ती है। बौद्ध विहारोंमें स्तूप, बुद्धमन्दिरोंमें धर्मचिह्न, त्रिरत्न तथा स्वस्तिक इनके विशेष चिह्न हैं। बुद्धदेवके पदचिह्न-के नामपर भी बहुतसे चिह्न प्रचलित हैं।

भारतमें उत्पन्न, हिंदू-धर्मके ही एक विशेष रूप कबीरपन्थ-के साधुलोग शुभ्र ध्वजाको अपनी पवित्रताका सूचक मानते हैं। उनकी यह पताका समाधि-स्थान और मठोंके ऊपर फह-राया करती है। उनकी तिलकरेखा शुभ्र होती है। ग्रन्थादिमें श्रीसत्यनाम—यह चिह्न व्यवहृत होता है।

भारतीय जीवनके उच्छ्वलित आवेगने सिख-गुरुओंकी शिक्षाके द्वारा हिंदू-धर्मको पुष्ट बनाया है, इसे कौन नहीं स्वीकार करेगा ? उनकी स्वाधीनताकी आकाङ्क्षा, कर्मप्रवणता, आलस्यहीनता, त्याग तथा अनुगमन (अनुशासन)के आ-दर्श चिह्न चक्र, खाँडा तथा कृपाण—इन तीन अस्त्रोंके समन्वयरूप हैं।

दशनामी संन्यासी, जो आचार्य शङ्करके निर्देशानुसार जीवन-यापन करते हैं, गेरुआ वस्त्र धारण करते, सिर मुड़ाये रखते या जटा बढ़ाये रहते हैं तथा दण्डादि धारण करके त्यागमय जीवन बिताते हैं। इन लोगोंमें कहीं-कहीं गेरुआ रंगकी पताकामें रक्तवर्णका ॐकार लिखा हुआ देखा जाता है। प्रणवको छोड़कर अन्य कोई चिह्न ये व्यवहारमें लाते हों, यह ज्ञात नहीं। उदासी सम्प्रदाय अपने लाल झंडेके ऊपर मोर-पङ्खका व्यवहार करता है, ऐसा देखा जाता है।

भारतीय तत्त्वविद्यानसमिति Theosophical Society ने गोलाकार वृत्तसे वेष्टित सर्पके बीच षट्कोणके भीतर स्वस्तिकका चिह्न अपनी विशेषताको प्रकट करनेके लिये स्वीकार किया है।

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके चरणतल और करतलमें जिन चिह्नोंका श्रीकृष्ण-भक्तगण स्मरण करते हैं, उनका उल्लेख किये बिना हिंदुओंके अर्थयुक्त चिह्नविशेषका वर्णन अधूरा रह जायगा। पद्मपुराणमें सोलह चिह्न कहे गये हैं, वाराह-पुराणमें उल्लिखित चिह्नोंको मिलाकर यह संख्या उन्नीस होती है। (कहीं-कहीं ३२, ६४ और १०८ चरणचिह्नोंका उल्लेख मिलता है।) स्कन्दपुराणमें विष्णुके छः पद-चिह्नोंका उल्लेख आता है। (१) चक्र-चिह्न—भक्तोंके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सररूप षड्रिपुओंके विनाशके लिये चिन्तनीय है, (२) पद्म—ध्यान करनेवालेके मन-भ्रमरको लुब्ध करता है, (३) अङ्कुश—भक्तके मदमत्त हस्तीके समान दुर्दान्त मनको वशमें करता है, (४) यव-चिह्न भोग और सम्पद्का प्रतीक है, (५) वज्र, (६) ध्वजा, (७) छत्र, (८) स्वस्तिक, (९) जम्बूफल, (१०) अष्टकोण, (११) ऊर्ध्वरेखा—ये भगवान्‌के दक्षिण चरणके चिह्न हैं। वाम चरणमें क्रमशः—(१) सर्वविद्याप्रकाशक शङ्ख, (२) आकाशमण्डल, (३) धनुष, (४) गोष्पद, (५) त्रिकोण, (६) कलश, (७) अर्द्धचन्द्र तथा (८) मत्स्यके चिह्नका ध्यान करना चाहिये।

श्रीकृष्णके समान श्रीराधारानीके चरणतलमें भी भक्तगण उन्नीस चिह्नोंका चिन्तन करते हैं—जैसे यव, चक्र, छत्र, वलय, ऊर्ध्वरेखा, कमल, ध्वजा, पताका, लता, पुष्प, अङ्कुश, अर्द्धचन्द्र, शङ्ख, गदा, वेदी, शक्ति, पर्वत, रथ और मत्स्य। हिंदू-धर्मके विभिन्न सम्प्रदाय विचित्र पुण्ड्र धारण करते हैं। पुण्ड्ररहित देवपूजा, होम, तर्पण-दान, ध्यानको शास्त्रमें विफल बतलाया है। पुण्ड्र जातीय और धार्मिक चिह्न है। वैदेशिक सभ्यताके प्रभावसे हिंदू इस जातीय चिह्नको

भुलाने लगे हैं। सदाचारसम्पन्न साधुसमाजमें पुण्ड्र चन्द्राकार, वेणुपत्राकार, अश्वत्थ-पत्राकार, हरिपद या मन्दिर-की आकृतिमें, ऊर्ध्वपुण्ड्र या तिलकके रूपमें किया जाता है। पुण्ड्रके द्वारा उपासनाविशेषका परिचय प्राप्त होता है। विचित्र पुण्ड्रयुक्त साधुमण्डलको देखकर हिंदू-धर्मकी अनेक शाखा-प्रशाखाओंमें जो समप्राणता है, उसका प्रकृष्ट प्रमाण मिलता है।

देवार्चनके समय आवश्यक तान्त्रिक प्रक्रियाके आधारपर विभिन्न प्रकारके अङ्गन्यास और करन्यासका उपदेश शास्त्रोंमें किया गया है। देवताकी आराधनामें आङ्गिक चेष्टाका अभिनव-समावेश मुद्राप्रदर्शनके द्वारा किया गया है। सभी जानते हैं कि अञ्जलि परम मुद्रा है। अञ्जलि बाँधकर देवताके उद्देश्यसे हृदयकी दीनता और श्रद्धा निवेदित की जाती है। इसके अतिरिक्त पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, धूप, दीप आदि निवेदन करनेके लिये विभिन्न अङ्गसन्निवेशका विधान है। देवताके आयुध चक्र, गदा, पद्म, त्रिशूल, खड्ग आदि भी करतल और अङ्गुलिके संयोग-वियोगके द्वारा (मुद्राके रूपमें) देवताको प्रदर्शित किये जाते हैं। इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि संकेतसे मनोभावोंको व्यक्त करनेका पारिभाषिक उपाय अतिप्राचीन कालमें इन मुद्राओंके प्रदर्शनकी रीतिके रूपमें निर्धारित किया गया था।

महाभारतके युद्धक्षेत्रके वर्णनमें देखा जाता है कि वीर-लोग अपनी पताकाओंमें वीर्य, शौर्य, ज्ञान, कर्मकुशलता, क्षिप्र-गति प्रभृतिके सूचक नाना प्रकारके चिह्न धारण करते थे। सिंह, वृष, मकर, वानर आदि जीवोंकी प्रतिकृति भी हिंदू-संस्कृतिके अङ्गमें अङ्गाङ्गिभावसे विजड़ित है। वर्ण और वस्तु हृद्गत भावोंके प्रकाशनके लिये प्रधान अवलम्बन हैं। विचित्र प्रकारके वर्णों और सामग्रियोंके समवायसे युग-युगमें मानव-मनके रहस्यमय भावोंका द्योतन होता है। सत्त्व, रज और तमोगुण शुभ्र, रक्त और कृष्णवर्णोंके द्वारा व्यञ्जित होते हैं। दूसरे देशोंमें ये ही पवित्रता, उत्सव और विषादके सूचक हैं। पीत भारतके उत्सवका वर्ण है, और गेरुआ त्यागका सूचक है। त्रिकोण, चतुष्कोण, वृत्त, विन्दु आदि चिह्नोंका उद्भव पहले-पहल प्राचीन कालकी यज्ञवेदियोंसे हुआ था या नहीं—यह ठीक-ठीक बतलाना सहज नहीं है। ये आजकल समस्त मानव-समाजकी सङ्केत-सम्पदा हैं।

स्वस्तिक

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव, बी०ए०)

स्वस्तिक चिरन्तन सत्य, शाश्वत शान्ति और अनन्त दिव्य ऐश्वर्य-सम्पन्न सौन्दर्यका माङ्गलिक चिह्न तथा प्रतीक है। इस प्रतीकका उपासक वही राष्ट्र होता आया है, जो दिव्य गुणों और शुभ-संस्कारोंसे युक्त रहा है। इसे धारण करनेमें आसुरी शक्ति सर्वथा असमर्थ है। सत्य और शान्तिका सन्देश तो कोई भाग्यशाली ही दिया करता है और यह सच बात है कि समय-समयपर सत्य और शान्तिका सन्देश देनेमें भारत सब देशोंसे आगे रहा है और यह भारतीय गौरवकी अक्षुण्ण ऐतिहासिकता है कि विश्वके आदिसाहित्य वेदमें 'स्वस्ति' मिलता है। सत्य, शिव और सुन्दरके रंगमञ्चपर अवस्थित होकर सोमका उन्माद नयनोंमें भरकर-विवेकी आर्य ही सभ्यताके आदिकालमें कहनेका साहस कर सका था—

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु
स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं
नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥
(अथर्व० १। ३१। ४)

हमारी माताके लिये कल्याण हो। पिताके लिये कल्याण हो। हमारे गोधनका मङ्गल हो। विश्वके समस्त प्राणियोंका मङ्गल हो। हमारा यह सम्पूर्ण विश्व उत्तम धन और उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न हो। हमलोग चिरकालतक प्रतिदिन सूर्यका दर्शन करते रहें। हम दीर्घजीवी हों।

आर्योंने ऐसे ही स्वस्ति वचनोंके बलपर समस्त विश्वके लिये सुख और शान्तिके साम्राज्य-स्थापनकी घोषणाकर जन-कल्याणकी सिद्धि की थी। स्वस्तिक आर्योंका आदि माङ्गलिक प्रतीक है। स्वस्तिक आयु, प्रकाश, सूर्य और आकाशका मूर्त वाङ्मय है। जैन, बौद्ध तथा अन्य भारतीय धर्मग्रन्थोंमें भी स्वस्तिकके महत्त्वपर बड़ा प्रकाश डाला गया है। उनमें स्वस्तिकके विभिन्न आकार-प्रकार तथा रूप-रेखाकी जानकारी मिलती है।

'स्वस्तिक' शब्दकी ऐतिहासिकताके अध्ययनसे पता चलता है कि स्वस्तिक हठयोगका एक आसन है। यह एक प्रकारके यन्त्रका नाम है, जो शरीरमें गड़े हुए शल्य आदिको बाहर निकाल लेता है। चतुष्पथ अथवा 'चौराहा'के लिये भी

इसका प्रयोग होता है। सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार यह एक माङ्गलिक चिह्नका नाम है, जो बहुत शुभ माना जाता है और गणेशपूजनसे पहले माङ्गलिक द्रव्योंसे विशेष उत्सवों और शुभ अवसरोंपर अङ्कित किया जाता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र तथा भगवान् श्रीकृष्णके चरणमें इस प्रकारका चिह्न था। जैनी लोग जिन देवताके चौबीस लक्षणोंमेंसे इसे भी एक मानते हैं। स्वस्तिक प्राचीन कालकी एक प्रकारकी नावका भी नाम था, जो राजाओंकी सवारीके काममें आती थी। स्वस्तिकका अभिप्राय कुछ भी रहा हो, इस निबन्धमें तो उसकी माङ्गलिक चिह्नके रूपमें व्याख्या करनी है। स्वस्तिक स्वस्ति अथवा कल्याणका वाचक है। हिंदू-संस्कृतिसे सृष्टिके आदिकालमें उसका अविच्छिन्न और अमिट सम्बन्ध रहता चला आया है। विश्वकी समस्त सभ्य जातियोंमें हिंदू-जाति प्रतीक-उपासनाको अधिकाधिक विशेष महत्त्व देती है। जिस विषयको समझनेमें मस्तिष्क और जिह्वाके पंख झड़ जाते हैं, उसके बोधके लिये प्रतीकका हाथ पकड़ा जाता है। सीमित बुद्धि-क्षेत्रोंके काम न देनेपर तत्त्वबोध प्रतीकगत होनेसे सुगम और सरल हो जाता है।

स्वस्तिककी ऐतिहासिकताके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहकर मौन हो जाना पड़ता है कि यह उतना ही प्राचीन है, जितने प्राचीन वेद हैं। वेदोंमें प्रकाश, कल्याण, दीर्घायुके अर्थमें विशेष स्थलोंपर 'स्वस्ति'का प्रयोग मिलता है। कुछ विचारकोंका मत है कि कहीं-कहीं यह भ्रमणशील चक्रके आकारमें इसलिये दिखलाया गया है कि उससे सूर्यके प्रतीक होनेका बोध होता है। कुछ विद्वानोंका मत है कि स्वस्तिक उन दो अरणियों (काष्ठदण्डों) का प्रतीक है, जिनसे यज्ञके लिये अग्नि पैदा की जाती है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि स्वस्तिक प्रकाशका प्रतीक है। दक्षिण भारतमें प्राचीन कालके बने हुए कुछ मिट्टीके पात्र मिले हैं, जिनपर स्वस्तिक अङ्कित है। 'स्वस्तिक' पुस्तकके लेखक श्रीविलहेजने लिखा है कि यह साधिकार नहीं कहा जा सकता कि पहले-पहल किस देशने स्वस्तिकका प्रयोग किया; पर इतना तो है ही कि यह विश्वजनीन प्रतीक है और गौतम बुद्धसे भी पहले भारतमें इसका प्रचार था। हेजका मत स्तुत्य है; पर इस सम्बन्धमें इतना और जोड़ा जा सकता है कि स्वस्तिकका जन्मस्थान भारत देश है और पुरातत्त्वविदोंके प्रयत्नसे तथा प्राचीन साहित्य-शास्त्रोंसे यह बात स्पष्ट हो गयी है कि हिंदू-जातिने ही विश्वके अनेक भागोंके अपने उपनिवेशोंमें इसका प्रचार किया। श्रीसतीशचन्द्र कालाने अपनी पुस्तक 'मोहन-जो-दड़ो तथा सिन्धु-सभ्यता'में लिखा है कि 'मोहन-जो-दड़ो' की खुदाईमें स्वस्तिकका चित्रण मुद्राओं तथा पट्टियोंमें दीख पड़ता है। स्वस्तिक तथा चक्र सूर्यभगवान्के प्रतीक भी माने जाते हैं। स्वस्तिक और अग्निका सम्बन्ध भी सूर्यके कारण था। पारसियोंके एक प्राचीन मन्दिरके द्वारपर सूर्य, चन्द्र और स्वस्तिकके चिह्न बने हुए मिले हैं। इस कथनसे भी स्वस्तिककी प्राचीनताकी पुष्टि हो जाती है। श्री सी० जे० ब्राउनने अपनी पुस्तक 'क्वाइंस आफ इंडिया' में कुछ ऐसे सिक्कोंका विवरण दिया है, जो ईस्वी सन्से चार सौ साल पहलेके हैं। उनपर स्वस्तिक, बोधिवृक्ष आदिके चिह्न अङ्कित हैं। सिक्कोंपर स्वस्तिक चिह्नका अङ्कन संकेत करता है कि चौबीस सौ साल पहले अशोककालीन भारतमें स्वस्तिकका सांस्कृतिक महत्त्व मान्य था। वैदिक कालसे ही प्रचलित स्वस्तिक-परम्परा अक्षुण्ण और जीवित थी। जिस सीमातक स्वस्तिकका हिंदू-संस्कृतिसे सम्बन्ध है, उसके आधारपर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि महाकाव्यकालमें स्वस्तिक माङ्गलिक प्रतीकके साथ-साथ वस्तुके नाम तथा अन्य समाजोपयोगी चिह्नोंके रूपमें भी स्वीकार कर लिया गया था। संस्कृति और समाज दोनों क्षेत्रोंमें इसकी ख्याति बढ़ती गयी। श्रीविलहेजके कथनानुसार रामायणमें ऐसे जहाजका वर्णन मिलता है, जिसपर स्वस्तिकका चित्रण रहता था। महाभारतके सभापर्वमें जरासन्ध-वध-प्रकरणमें एक ऐसे नागका उल्लेख मिलता है, जिसका नाम स्वस्तिक था। शूद्रकरचित मृच्छकटिक नाटकका एक पात्र चोर चारुदत्तके घरमें सेंध लगाते समय विचार करता-सा चित्रित किया गया है कि स्वस्तिक सन्धि (सेंध) बनाये या घड़ेके आकारका सेंध लगाये। कुछ समय पहले हस्तलिखित पुस्तकोंकी समाप्ति स्वस्तिक चिह्न अङ्कित कर सूचित की जाती थी। बौद्धों और जैनियोंने भी स्वस्तिक चिह्नको बड़ा महत्त्व दिया है। बौद्ध और जैन-लेखोंसे सम्बन्धित प्राचीन गुफाओंमें भी स्वस्तिकका चित्रण मिलता है। अशोकके शिला-लेखोंमें स्वस्तिकके प्रयोगका बाहुल्य है। जैनियोंके समस्त कर्म-विज्ञानका आधार स्वस्तिक है। जैन-दर्शनके अनुसार एक दूसरेको परस्पर काटनेवाली स्वस्तिक-रेखाएँ (पुरुष और प्रकृति) आत्मा और पुद्गलकी प्रतीक हैं। दोनों रेखाओंके एक दूसरेको परस्पर काटनेपर चार भाग हो जाते हैं, जो प्राकृत जगत्के चार क्रम—पूर्ववर्तीसर्ग, वनस्पति-सर्ग, मनुष्य-सर्ग और देवसर्गके द्योतक हैं। मन्दिरोंमें पूजा करते समय जैन स्वस्तिक चिह्नका उपयोग करते हैं। आशीर्वाद अथवा स्वस्ति-दानमें भी वे स्वस्तिक चिह्नसे ही काम लेते हैं।

बौद्धधर्ममें भी यह चिह्न अत्यन्त पूज्य माना जाता है। बुद्ध-भगवान्‌के चरणके लक्षणोंमें स्वस्तिककी परिगणना होती है। अमरावतीके स्तूपमें जो बुद्धपद चित्रित है, उसमें स्वस्तिक अङ्कित है। जापान, चीन आदि देशोंमें बुद्ध भगवान्‌के चरणोंकी पूजा होनेसे विदेशोंमें स्वस्तिकका प्रचार सुगमतापूर्वक हो सका। विदेशोंमें स्वस्तिक-प्रचारके अन्य साधनोंमें भगवान् बुद्धका स्वस्तिक-अङ्कित चरण-पूजन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विशेष साधन रहा होगा। बौद्ध स्वस्तिकको बुद्धभगवान्‌के वक्षका भी एक शुभ लक्षण मानते हैं। निस्सन्देह भारतने ही अपने उपनिवेशों तथा विदेशोंमें स्वस्तिकका प्रचार किया। भिन्न-भिन्न देशोंमें स्वस्तिकके सम्बन्धमें विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित हैं। विदेशमें स्वस्तिक व्यापारका भी शुभ चिह्न कहीं-कहीं स्वीकार किया गया है। अनेक देशोंके सिक्कोंमें भी इसका अङ्कन दीख पड़ता है।

आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंडमें माबरी जातिके लोग स्वस्तिकको अपने जीवनके शुभ प्रतीकोंमेंसे एक मानते हैं। जापानमें स्वस्तिक 'मनजी' कहलाता है। बुद्धकी प्रतिमाओंमें जापानी इसका अङ्कन विशेषरूपसे करते हैं। जापानके परम-पवित्र पहाड़ फ्यूजीयामाके शृङ्गपर जब तीर्थयात्री पहुँचते हैं, तब उन्हें ऐसे घड़ोंका जल पीनेके लिये दिया जाता है, जिनपर स्वस्तिकके चिह्न बने रहते हैं। यह जल दीर्घायु दान करता है। कोरियामें तो स्वस्तिक तामझाम और पालकी आदिमें चित्रित दीख पड़ते हैं। चीनमें स्वस्तिक असंख्यताका बोधक है, अधिकताका प्रतीक है। चीनी भी हिंदुओंकी ही तरह इसे कल्याण, दीर्घायु और प्रकाशका प्रतीक मानते हैं। हजार वर्षोंसे पहले भी चीनी स्वस्तिकका अङ्कन वृत्तिमें करते थे और उसे सूर्यका प्रतीक स्वीकारकर उपासना करते थे। टैंग शासक वूका आदेश था कि सारे चीनमें स्वस्तिककी प्रतीकोपासना हो। टैंग-कालकी जनता यत्न करती थी कि काठके सामानों तथा दैनिक उपयोगकी अन्य वस्तुओंपर मकड़ी अपने वृत्ताकार जालेमें स्वस्तिक बनाये। ऐसा होना परम सौभाग्य समझा जाता था। चीनियोंकी मान्यता है कि आकाशमें विशेष तारोंके परस्पर मिलनेपर स्वस्तिकके आकार-प्रकारका एक चित्र नित्य बनता रहता है। तिब्बतमें तो लोग अपने शरीरमें स्वस्तिकके आकारका गोदना गोदवाते हैं। स्वस्तिकका प्रचलन फारसमें भी है। पुरोहितोंके चोगोंपर स्वस्तिकके चिह्न बनाये जाते हैं। कैकय-देशमें स्वस्तिकको परम पवित्रताका प्रतीक मानते हैं। अल्जीरिया और मिस्रमें भी इसका बाहुल्य है। मिस्रनिवासियोंका विश्वास है कि स्वस्तिक उनके देशमें यूनानसे आया। यूनानमें मिट्टी, पीतल और सोनेके बर्तनोंपर स्वस्तिकका बाहुल्य था। यह उसके प्राचीन कालके इतिहाससे ऐसा पता चलता है। साइप्रेस द्वीपमें देवताओंकी मूर्तियोंपर स्वस्तिकके चिह्न मिले हैं। क्रीटके एक रजत-सिक्केमें स्वस्तिक अङ्कित है। इससे यूरोपमें स्वस्तिककी प्राचीनताका संकेत मिलता है। इटलीमें स्वस्तिकका प्रचलन संकेत करता है कि यहींसे यूरोपके अन्य देशोंमें इसका प्रचार हुआ। हेजका कथन है कि आदिम ईसाइयोंमें स्वस्तिक विशेष और अत्यन्त पवित्र प्रतीककी तरह अवश्यमेव प्रचलित था। स्काटलैंडमें एबरडीन शायरमें चालीस अक्षरोंका एक शिला-लेख मिला है। अक्षरोंके मध्यभागमें स्वस्तिक है, अभीतक लिपिका पता नहीं चल सका है; सम्भव है कि इस शिलालेखमें स्वस्तिक किसी वर्ण या संख्याका सूचक हो। इस शिलालेखके आधारपर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन समयमें यूरोपने प्रतीकके साथ-साथ स्वस्तिकको वर्ण या संख्याके रूपमें भी स्वीकार कर लिया था। अमेरिकामें यूरोपियोंके प्रवेशके पहलेसे ही स्वस्तिकका प्रयोग था। कुछ टीलोंकी खुदाईमें ऐसे सामान प्राप्त हुए हैं, जिनपर स्वस्तिक अङ्कित है। इससे कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि कोलम्बससे कई सौ साल पहले बौद्धधर्म-प्रचारकोंके साथ अमेरिकामें स्वस्तिकका भी प्रवेश हुआ है। अमेरिकामें भगवान् बुद्धकी एक प्रतिमा मिली है, जो स्वस्तिक आसनमें प्रतिष्ठित है। अभीतक यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह प्रतिमा भगवान् बुद्धकी है या किसी अन्य देवताकी है। यह भी सम्भव है कि प्रतिमा किसी हिंदू देवताकी हो। हठयोगमें स्वस्तिक एक विशेष प्रकारका आसन है, अतएव स्वस्तिक आसनमें देव-प्रतिमाकी प्रतिष्ठा आश्चर्यकी बात नहीं है। श्रीचमनलालने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदू अमेरिका'में यह तो सिद्ध ही कर दिया है कि अमेरिका हिंदुओंका एक उपनिवेश था। सामाजिक जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें अमेरिकाके मूल निवासी स्वस्तिकका उपयोग आजतक करते हैं। आर्योंका अन्य महादेशोंसे प्राचीन और मध्यकालमें व्यापार-सम्बन्ध स्थापित ही था, इसलिये साधिकार कहा जा सकता है कि जिन देशोंमें स्वस्तिकका प्रचलन है, उनमें भारतने ही सत्य, शान्ति और कल्याणका सन्देश किसी समय अवश्य पहुँचाया था।

स्वस्तिक सर्वथा स्वस्ति अथवा कल्याणकारी है। हिंदुओं तथा भारतेतर जातियोंके सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक जीवनमें स्वस्तिकका उपयोग

दीख पड़ता है । विश्वने एक स्वरसे इसे माङ्गलिक प्रतीक स्वीकार कर लिया है । ईसाइयोंका क्रॉस स्वस्तिकका ही एक रूपान्तर है । ॐ शब्दकी बनावट और वैज्ञानिक आकारकी समीक्षा करनेपर ऐसा कहनेका साहस होता है कि यह भी एक प्रकारका स्वस्तिक ही है । ॐ अखण्ड चिदानन्दकी सत्ताका प्रतीक है, भगवान्‌का अक्षर-रूप है । निस्सन्देह स्वस्तिक ही ॐ रूपमें परमात्माका प्रतीकगत बोध है । परम सत्य शान्ति और स्वस्तिका आश्रय है । इतिहासकी पुनरावृत्ति तो होती रहती है । इसलिये निस्संकोच कहा जा सकता है कि विश्व एक दिन स्वस्तिकगत आदर्शोंको अपना सकता है । उसकी सबसे बड़ी चाह है सत्यकी प्राप्ति । उसकी सबसे बड़ी भूख है शान्तिकी अनुभूति । उसका लक्ष्य है आत्मराज्य अथवा स्वराज्य । स्वस्तिक विश्व-कल्याणका दूत है । हिंदुओंका आदि माङ्गलिक प्रतीक है । इसलिये यह निश्चित है कि विश्व शाश्वत शान्ति, चिरन्तन सत्य और जन-कल्याणके लिये स्वस्तिकके उपासक भारतके चरणोंपर नत-मस्तक होकर हिंदू-संस्कृतिकी विजयके गीत गायेगा । भगवान् करें—दैवी शक्तिसे सम्पन्न विश्वका शान्तिदूत स्वस्तिक बने !

स्वस्तिक सनातन शास्त्रीय दृष्टिसे प्रणवका स्वरूप है । डा० जीवनजी जमशेदजी मोदीका कहना है कि सूर्यकी गतिसे स्वस्तिकका सम्बन्ध है । सूर्यकी विभिन्न गतियोंको सूचित करनेवाला यह चिह्न है । आदित्य, अग्नि, आरोग्य और आबादीका मूल स्वस्तिक है, यह पारसी धारणा है । श्री-मेकेंजीने स्वस्तिकको अनेक भावनाओंका सूचक माना है । उनमें चतुर्वर्ण, अग्निके भाव भी माने गये हैं । चारों वर्ण, चारों आश्रम, चारों वेद, यज्ञ एवं यज्ञके चारों होता, उद्गाता आदि कर्ता तथा चारो अग्नि इससे सूचित होते हैं । पारसी पवित्र अग्निसम्बन्धी 'बुई' कृत्यका इसे प्रतीक मानते हैं; क्योंकि उसमें अध्वर्यु इसी आकारमें अग्निके चारों ओर घूमते हैं । इसे पारसी चारो दिशा एवं चारों समयकी प्रार्थनाका भी प्रतीक मानते हैं ।

जैन अक्षत-पूजाके समय स्वस्तिक बनाकर उसके ऊपर तीन बिन्दु बनाते हैं । ये स्वस्तिककी रेखाओंको चारों गति (देव, नरक, तिर्यक् एवं मनुष्य) का प्रतीक मानते हैं और बिन्दुओंको रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) का । मध्य स्थानको वे मुक्तिका स्थान 'सिद्धिशिला' कहते हैं ।

आकारमें सामान्य अन्तरसे स्वस्तिक, श्रीवत्स और नन्दावर्त—ये हिंदू-शास्त्रोंके भेद होते हैं इस चिह्नमें । पारसी इसे जिस रूपमें अङ्कित करते हैं, वह अपस्तिक कहा जाता है । प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोंमें इसका एक और रूप मिलता है । स्वस्तिकके सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंने अनेक ग्रन्थ एवं निबन्ध लिखे हैं । कुछके नाम यहाँ दिये जाते हैं—

१. श्रीमती सिन्क्लेयर स्टिवेन्सन् (Mrs. Sinclair Stevenson) कृत The Heart of Jainism, पृष्ठ ५३, ५६, ९७, २५१ और २७९ ।

२. प्रो० हेल्मुथ ग्लाजेनप (Prof. Helmuth Glassenap) कृत जर्मन ग्रन्थ 'Der Jainismus' पृष्ठ ३६२ ।

३. श्री डब्ल्यू. एम. टीप (Mr. W. M. Teape) कृत The Secret Lore of India and the one perfect life for all.' पृष्ठ ११८ ।

४. श्रीमती ब्लैवेटस्की (Madame Blavatski) कृत 'Secret Doctrines' नामक पुस्तकमें स्वस्तिकका उल्लेख है ।

५. श्रीबर्डउड् (Birdwood) कृत 'Swa' नामक पुस्तकमें ।

६. श्रीगेरिनो (Guerinot) कृत फ्रेंच ग्रन्थमें ।

७. श्री एल० डी० मिल्लो (L. D. Milloue) कृत 'Annales du Musc'e Ginmet' नामक फ्रेंच ग्रन्थमें ।

८. श्रीकाउंट गोब्ले अल्वीला (Count Gobletd' Alviella) कृत 'The Migration of Symbols.

इनके अतिरिक्त और भी ग्रन्थ हैं, जिनमें स्वस्तिकपर अनुसन्धानपूर्ण लेख हैं । अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओंमें भी बहुतसे महत्त्वपूर्ण लेख निकले हैं ।

स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्हके सब तुम्ह तात ।
मन-मंदिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥

शिखा-रहस्य

(लेखक—पं० श्रीसत्यनारायणजी मिश्र)

हिंदूजातिके प्रमुख सोलह संस्कारोंमें 'चूडाकरण' भी एक विशेष संस्कार है। इसी संस्कारमें आर्यजातिके प्रतीक अथवा मुख्य जातीय चिह्न 'शिखाधारण' का विधान है। इसके धारणसे आयु, तेज, बल, ओज और पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है। 'चूडा क्रियते अनेन' अथवा 'चूडायाः करणम्' इस व्युत्पत्तिसे 'शिखा चूडा शिखण्डस्तु पिच्छबर्हे नपुंसके' इस अमरकोषके प्रमाणसे 'चूडा' शब्दसे शिखा ही अर्थरूपेण गृहीत है। पारस्कर, आश्वलायन, वैखानस, बौधायन, अग्निवेश्य, आपस्तम्ब और जैमिनीय आदि स्मार्त सूत्रग्रन्थोंमें चूडाकर्मके अन्तर्गत शिखा रखनेका स्पष्ट विधान मिलता है।

अथैनमेकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा यथैवैषां कुलधर्मः स्यात्। यथर्षिः शिखा निदधातीत्येके।

—इत्यादि सूत्रोंमें चूडाकर्ममें शिखा रखनेका ही स्पष्ट उल्लेख है। आपस्तम्बने 'प्रतिदिशं वपति' कहकर शिखाके चारों ओर केशमुण्डनका निर्देश किया है। बौधायनने—

चौलवत्तूष्णीं केशानोप्य स्नातं शुचिवाससं बद्धशिखं यज्ञोपवीतं प्रतिमुञ्चन् वाचयति।

—इस सूत्रमें शिखा रखनेकी आज्ञा देते हुए क्षौरका विधान बतलाकर कुमारके लिये 'बद्धशिखम्' यह विशेषण देकर शिखास्थापनकी दृढ़ता सिद्ध की है। यद्यपि पारस्करगृह्यमतानुयायियोंके लिये 'मुण्डाश्च भृगवो मताः' इत्यादि प्रमाण प्राप्त होते हैं, तथापि 'यथा मङ्गलं केशशेषकरणम्' इस सूत्रके अनुसार वे भी मङ्गलसूचक शिखा धारण करते ही हैं। बहुत-से लोग अपने ऋषि, कुल और गोत्रके अनुकूल अनेक शिखाएँ रखते हैं; परंतु उनमें मध्य शिखाकी ही प्रधानता मानी गयी है, जैसा कि धर्मसिन्धुकारने कहा है—

मध्ये मुख्या एका शिखा अन्याश्च पार्श्वादिभागेष्विति यथाकुलाचारंप्रवरसंख्यया शिखाश्चूडासमये कार्याः।

सिरके मध्यमें स्थित केश-समूह ही 'चूडा' कहलाता है। यही चूडा प्रधान शिखा मानी जाती है। वशिष्ठ गोत्रवाले मध्य शिखासे दक्षिण भागमें स्थित केश-समुदायको चूडा कहते हैं। अत्रि और कश्यप गोत्रवाले मध्यभागमें स्थित शिखाके उभय पार्श्व (अगल-बगल) में स्थित केशोंको शिखा कहते हैं—

मध्ये शिरसि चूडा स्याद् वासिष्ठानां तु दक्षिणे।
उभयोः पार्श्वयोरत्रिकश्यपानां शिखा मता॥

उपनयनकालमें मध्यशिखाके अतिरिक्त अन्य गौण शिखाओंके वपनका विधान 'निर्णयसिन्धु' में स्पष्टरूपसे पाया जाता है—

तासां मध्यशिखवर्जमुपनयने वपनं कार्यम्।

धर्मसिन्धुकारने भी—

उपनयनकाले मध्यशिखेतरशिखानां वपनं कृत्वा मध्यभाग एवोपनयनोत्तरं शिखा धार्या।

—इस उक्तिसे निर्णयसिन्धुकारके सिद्धान्तका ही समर्थन किया है। सन्ध्या करते समय अङ्गन्यासके अन्तर्गत आगमग्रन्थोंमें 'भुवः शिखायै वषट्' इस मन्त्रद्वारा चोटीमें दक्षिण हाथके अङ्गुष्ठस्पर्शका विधान देखा जाता है। इन प्रमाणोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि चूडाकरण-संस्कारमें शिखा रखकर ही अन्य केशोंका मुण्डन कराना चाहिये। महर्षि हारीत कहते हैं कि जो लोग मोह, द्वेष या अज्ञानसे शिखा काट देते हैं, वे तप्तकृच्छ्र व्रत करनेसे शुद्ध होते हैं—

शिखां छिन्दन्ति ये मोहाद् द्वेषादज्ञानतोऽपि वा।
तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥

'काठक गृह्यसूत्र' और 'कौथुमि शाखा' में तो यहाँतक उल्लेख है कि यदि कोई पुरुष प्रमादवश शिखासहित क्षौर करा ले, तो वह ब्रह्मग्रन्थियुक्त कुशकी शिखा बनाकर दाहिने कानपर तबतक रक्खे, जबतक बाँधनेके लायक शिखा न बढ़ जाय—

अथ चेत् प्रमादाच्छिखं वपनं स्यात् तत्र कौशीं शिखां ब्रह्मग्रन्थिसमन्वितां दक्षिणकर्णोपरि आशिखाबन्धादवतिष्ठेत्।

इस उपर्युक्त दण्डविधानसे यह स्पष्ट प्रकट है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको शिखा, सूत्र और हिंदूमात्रको शिखा अवश्य धारण करनी चाहिये। बिना यज्ञोपवीत और शिखाके हिंदुओंका किया हुआ सभी सत्कार्य व्यर्थ हो जाता है और वह राक्षस-कर्म कहलाता है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

(देवलस्मृति)

विना यच्छिखया कर्म विना यज्ञोपवीतकम् ।
राक्षसं तद्धि विज्ञेयं समस्ता निष्फलाः क्रियाः ॥
(व्यासस्मृति)

शिखाके साथ बल, वीर्य, आयुवृद्धि, तेज और पराक्रमका गहरा सम्बन्ध है। इसीलिये हिंदुओंका यह सर्वोत्कृष्ट जातीय चिह्न माना गया है। जिस प्रकार फौजी सिपाहियोंका फौजी वेष वीरतासूचक, स्काउटोंका वेष स्फूर्तिसूचक, मुसल्मानोंकी दाढ़ी मुस्लिमपनकी सूचक और ईसाइयोंकी नेकटाई ईसाईमतकी सूचक है, ठीक उसी प्रकार हिंदुओंकी शिखा हिंदुत्वसूचक है। हिंदुत्वका प्रतीक यह शिखा जिसके सिरपर नहीं है, जिस हिंदूने प्रभावोत्पादक इस हिंदू-चिह्नको धारण नहीं किया, वह हिंदू 'शव'के समान है। सिरके मध्यभागमें सुरक्षित, सुस्थिर शिखा चिरन्तन आर्यगौरव तथा हिंदुत्वकी द्योतक है। इसीलिये आर्यजातिके लिये शिखा रखना नितान्त आवश्यक है। हिंदूजाति ज्ञान-विज्ञानरूपी रससे परिपूर्ण एक घटके समान है। उस घटका वह रस, जिसके एक-एक कणसे विश्वके अनेक नदी और नदरूपी मत प्रादुर्भूत हुए हैं, ब्रह्मरन्ध्रद्वारा कहीं अन्तःस्थित निरन्तर विद्युत्प्रवाहसे प्रवाहित होकर बाहर निकल न जाय, अतः उसकी रक्षाके लिये इस चोटीरूपी ढक्कनका रखना परमावश्यक है।

सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार पदार्थमात्रमें देव या प्राणशक्ति मानी गयी है। इस स्थावर-जङ्गमरूप संसारमें देव या प्राणशक्तिसे व्याप्त कोई भी व्यक्ति किसी भी प्राणीके किसी भी योनिमें किये गये कर्मका प्रतिफल है, जो अपने कर्मानुसार उद्भिज-संसारमें लता-वृक्षादिके रूपमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उद्भिज-संसारके ये लता-वृक्षादि हमारी अतीत भुक्त योनिमें किसी समयके हमारे पूर्वज अवश्य हैं, जो स्वकर्मानुसार लता-गुल्मादिके रूपमें व्यवस्थित हैं। हमारी शिखा उद्भिज-संसारका चिह्न है। नियमपूर्वक वेदादिके स्वाध्यायसे समुत्पन्न अमृत वायुवेगसे भी प्रबल तेजीसे शिखाके अधस्तलमें स्थित ब्रह्मरन्ध्रमें कर्णिकाद्वारा प्रविष्ट होता है। वह अमृत अपने केन्द्रस्थान सूर्यमें मिलनेके लिये बाहर निकलना चाहता है, किंतु शिखासङ्घर्षसे टकराकर वापस लौट आता है। अमृतसे सङ्घर्षित होनेके कारण शिखामें अमृतका लेश रह जाना स्वाभाविक है। निम्नकोटिकी स्थावर-चेतन योनियाँ इस अमृततत्त्वको प्राप्तकर उत्तरोत्तर उच्च योनियोंको प्राप्त करती जायँ, इसीलिये हमारे पारदृश्वा महर्षियोंने देवर्षि-पितृतर्पणके साथ चित्ररूप शिखाके अमृतजलसे उद्भिज-संसारमें प्रादुर्भूत लता-गुल्मादिरूपी पितरोंको तर्पण करनेका आदेश दिया है—

लतागुल्मेषु वृक्षेषु पितरो ये व्यवस्थिताः ।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु मयोत्सृष्टैः शिखोदकैः ॥
(संस्कारगणपति)

वेदान्त और योगदर्शनके सिद्धान्तानुसार शिखाका अधःस्थित भाग ब्रह्मरन्ध्र माना गया है। इस ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदल कमलमें अमृतरूपी ब्रह्मका स्थान है। विधिपूर्वक किये गये वेदादिके स्वाध्याय और सविधि श्रौत-स्मार्त-कर्मानुष्ठानसे समुत्पन्न अमृततत्त्व अतिक्रान्त वायुवेगसे सहस्रदल कर्णिकामें प्रविष्ट होता है। वह अमृततत्त्व सिरसे बाहर निकलकर ऊपरकी ओर अपने केन्द्रस्थान ऋग्यजुःसामस्वरूप सहस्ररश्मि सूर्यदेवमें मिलना चाहता है, परंतु शिखा रखनेसे वह अमृत शिखा-ग्रन्थिकी उलझनमें टकराकर सहस्रदलकी कर्णिकामें रह जाता है। यदि वेदाध्ययन या सत्कर्मानुष्ठान करते समय शिखा खुली रहती है तो वह अमृत शिखासे बाहर होकर पृथ्वीमें प्रविष्ट हो जाता है। शिखाके न रहनेपर वह अमृत सिरसे बाहर निकलकर ऊपरको उठता है, किंतु प्रबलशक्तिसम्पन्न न होनेके कारण वायुसे टकराकर वह अन्तरिक्षमें विलीन हो जाता है। फलस्वरूप अनियमित कालमें की गयी सन्ध्याकी तरह वह सत्कार्य विफल हो जाता है। इसीलिये मन्वादि धर्मशास्त्रकारोंने कहा है कि स्नान, दान, जप, होम, सन्ध्या, स्वाध्याय और देवार्चन करते समय शिखामें ग्रन्थि अवश्य लगानी चाहिये—

स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने ।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत् ॥

अस्तु, ऊपर बतलाया जा चुका है कि शिखाके निम्नतलमें ब्रह्मरन्ध्र और उसके ऊपर सहस्रदल कमलमें परमात्माका केन्द्रस्थान है। वर्तमान विज्ञानके अनुसार शिखास्थानके पीछे भीतर नीचेकी ओर ब्रह्मरन्ध्रके पीछे मस्तिष्कभागमें कामका केन्द्रस्थान है। इन उपर्युक्त दोनों स्थानोंमें गोखुर-प्रमाण शिखा रखनेसे आत्मिक शक्ति सुरक्षित रहती है और चिन्ताशक्ति (कामोद्रेकशक्ति) दबी रहती है। फलस्वरूप मनुष्य अपनी कामशक्तिको यथासाध्य दबाकर आध्यात्मिक जगत्में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ शिखाद्वारा व्यापक ब्रह्मकी यथेष्ट शक्तिका आकर्षण करता है। वैदिक विज्ञानसे यह बात सिद्ध है कि सर्वव्यापी परेश परमात्माकी अप्रमेय शक्तिको आकृष्ट करनेका सर्वोत्तम साधन शिखा-धारण है। (सिद्धान्त)

शङ्खध्वनि और घण्टानाद

(लेखक—पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी)

शङ्ख

शङ्ख हिंदूधर्मके पावनतम प्रतीकोंमें है । हिंदू-देवमन्दिरमें श्रीविग्रहके सम्मुख शङ्खकी उपस्थिति सर्वत्र समानरूपसे पायी जाती है । सभी मङ्गल-कार्यमें शङ्खध्वनि परम मङ्गलमय समझी जाती है और युद्धमें तो शङ्खनाद उसके प्रारम्भका सूचक है ही । भारतवर्ष अनादि कालसे शङ्खसे परिचित है । 'यजुर्वेद-संहिता' के अध्याय ३० में 'शङ्खध्म' शब्द आता है । अथर्ववेद-संहिता, बृहदारण्यक उपनिषद् आदि श्रौतग्रन्थोंमें शङ्खके पर्याप्त प्रसङ्ग हैं । शङ्ख बजानेके साथ 'कौशिकसूत्र' में आयुर्वृद्धिके लिये बालकके शरीरमें अभिमन्त्रित शङ्ख बाँधनेका भी विधान है । 'नक्षत्र-कल्प' (१० । २) में शङ्खकी समुद्रसे उत्पत्ति बताकर वहीं 'शङ्खकृशानः पात्वंहसः' आदि सूत्रोंसे शङ्खको पापहारी, रक्षोघ्न, मुख्यरत्न, महौषध तथा दीर्घायुःप्रद बताया गया है । अथर्ववेदमें शङ्खोंके उत्पत्ति-स्थान, गुण एवं महत्त्वका वर्णन है ।

शं खनति—जनयति, अर्थात् जो कल्याणको उत्पन्न करता और अलक्ष्मीका गमन करता है, उसे शङ्ख कहा जाता है; 'शङ्ख' शब्दका यह अर्थ कोषकारोंने किया है । अमृत-मन्थनके समय समुद्रसे जो चौदह रत्न निकले, उनमें शङ्ख भी एक है और उसकी महत्ता इसीसे ज्ञात है कि भगवान् विष्णु उसे नित्य धारण करते हैं ।

देव-पूजनमें शङ्खका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । 'वाराहपुराण' का आदेश है कि बिना शङ्खध्वनि किये देव-मन्दिरका द्वार नहीं खोलना चाहिये । जो मनुष्य शङ्खादिकी ध्वनि किये बिना भगवान्‌को जगा देता है, वह जन्मान्तरमें बहरा होता है । बिना शङ्ख बजाये भगवान्‌को जगाना, यह विष्णुपूजाके बत्तीस अपराधोंमेंसे एक अपराध है । 'बृहन्नारदीय-पुराण' के अनुसार देवमन्दिरमें शङ्खध्वनि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है ।

शङ्खमध्यस्थितं तोयं भ्रामितं केशवोपरि ।
अङ्गलग्नं मनुष्याणां ब्रह्महत्यायुतं दहेत् ॥

'शङ्खमें स्थित जल भगवान् श्रीकेशवके ऊपर घुमाकर छिड़कनेसे उस जलके छींटे जिनके ऊपर पड़ते हैं, उनके सहस्रों ब्रह्महत्याके दोष नष्ट हो जाते हैं ।' आरतीके पश्चात् शङ्खसहित भगवान्‌के ऊपर घुमाकर छिड़के हुए जलके छींटोंका यह महत्त्व तो पुराणोंमें है ही; साथ ही शङ्खमें जल लेकर भगवान्‌को अर्घ्य देने तथा शङ्खमें जल या दूध लेकर भगवान्‌को स्नान कराने, शङ्खमें चन्दन रखकर भगवान्‌को चढ़ानेका तथा शङ्खमें लेकर भगवान्‌को चढ़ाये हुए जल (चरणोदक) को पीनेका पुराणोंमें बहुत अधिक माहात्म्य बताया गया है । इसी प्रकार सभी देवताओंके पूजनमें शङ्खके जलसे अर्घ्य देने तथा स्नानादि करानेकी महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है । भगवान् शङ्कर और सूर्यके पूजनमें शङ्खका उपयोग वर्जित है; किंतु उनके मन्दिरमें और पूजनके समय शङ्ख बजानेका बहुत अधिक माहात्म्य बतलाया गया है ।

देवपूजाके पूर्व शङ्खकी पूजाका विधान है । भगवान् विष्णु या शालग्रामजीके पूजनमें शङ्खका होना आवश्यक माना गया है । महर्षि शौनकका मत है कि शङ्खको भूमिपर नहीं रखना चाहिये । उसे सदा आठ बार गायत्रीसे अभिमन्त्रित करके त्रिपदी (शङ्ख रखनेकी तिपाई) पर रखना चाहिये; क्योंकि शङ्ख वेदरूप है, वेदमय है । शङ्खके दर्शनसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं । गरुडपुराणने शङ्खको सर्वतीर्थमय बतलाया है । शङ्खको जलसे अस्त्र-मन्त्र (फट्) द्वारा बाहरसे धोना चाहिये । कवच-मन्त्र (हुम्) द्वारा भीतरसे धोना चाहिये और हृदय-मन्त्र (नमः) द्वारा उसमें जल भरकर गन्धादिसे उसका पूजन करके स्तुति करनी चाहिये ।

पाञ्चजन्याय विद्महे पावमानाय धीमहि । तन्नः शङ्खः प्रचोदयात् ॥

यह शङ्ख-गायत्री है । शङ्ख-पूजनमें इसका उपयोग होता है । इस मन्त्रके अतिरिक्त शङ्खमुद्रा*से शङ्खको अभिमन्त्रित करनेका विधान है । यह शङ्खमुद्रा भगवान् विष्णुकी उन्नीस मुद्राओंमें प्रमुख मुद्रा है । 'तत्त्वसार' ने शङ्खको ज्ञानप्रद बतलाया है ।

शङ्ख भगवान् विष्णुका तो नित्यायुध है ही; उनके सभी अवतार-विग्रहोंका तथा सूर्य, महागणपति, कार्तवीर्य आदि

* दाहिने हाथकी मुट्ठीसे बायें हाथके अँगूठेको पकड़कर बायें हाथकी अँगुलियोंको सटाकर सामने फैलाकर उनके द्वारा दाहिने हाथके सामने फैले अँगूठेको स्पर्श करनेसे शङ्खमुद्रा बनती है ।

देवविग्रहों एवं गायत्री, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती प्रभृति सभी शक्ति-विग्रहोंका भी निजायुध है । सभी देवता शङ्खकी कामना करते हैं, इसीसे इसे 'कम्बु' कहा जाता है । भगवान् विष्णुका शङ्ख तो वेदमय ही है । भगवान्‌ने पाँच वर्षके बालक ध्रुवके कपोलका अपने शङ्खसे स्पर्श कर दिया; फलतः ध्रुवको परमात्मज्ञान तत्काल प्राप्त हो गया । गोपाल-तापनीय उपनिषद्‌के अनुसार श्रीकृष्णचन्द्रका पाञ्चजन्य शङ्ख पञ्चभूतात्मक रजोगुणरूप है । कृष्णोपनिषद्‌ने तो शङ्खको साक्षात् महालक्ष्मीका स्वरूप बताया है । महालक्ष्मी और शङ्ख एक साथ एक ही क्षीरसागरसे प्रकट हुए हैं; अतः दोनोंका एकत्व स्वतः सिद्ध है । तारसारोपनिषद्‌के अनुसार श्रीरामावतारमें श्रीभरतलालजीके रूपमें ही भगवान्‌के शङ्खका प्रादुर्भाव हुआ है ।

शङ्ख-चिह्नाङ्कित शालग्राम-शिलामें श्रीलक्ष्मीजीका निवास शास्त्रोंने बताया है । भगवान् विष्णुके पूजनकी समस्त सामग्रीको शङ्खमें रक्खे जलसे प्रोक्षित करनेका विधान है और विष्णु-पार्षदोंमें विष्णुयन्त्रके आग्नेयकोणमें सर्वप्रथम शङ्ख-पूजनका आदेश है । देवपूजा और देवयात्रामें शङ्खनादका अपार महत्त्व है । सूर्य-मन्दिरमें दीर्घ नादवाले शङ्खको चढ़ानेका फल ब्रह्मलोककी प्राप्ति बताया गया है । सूर्य-मन्दिरमें शङ्खदानका महत्त्व सभी दानोंसे श्रेष्ठ बताया गया है । देवीपुराणमें शङ्खकी सूर्यमूर्ति बनाकर उसकी पूजाका विधान है । इसी प्रकार देवी-पूजन तथा भगवान् ब्रह्माके पूजनमें भी शङ्खका महत्त्व शास्त्रोंमें वर्णित है । इन सभी वर्णनोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अति प्राचीन कालसे हिंदुओंके धार्मिक आराधनादि कार्योंके साथ शङ्खका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । देवाराधनके अतिरिक्त यज्ञमें भी शङ्खध्वनिका बड़ा महत्त्व है और योगमें 'अनाहतनाद' शङ्खके शब्दकी भाँति ही सुनायी पड़ता है, यह योगशास्त्रके ग्रन्थोंमें अनेक स्थानोंपर बताया गया है ।

भारतीय जीवनमें शङ्खका स्थान केवल आराधनातक ही सीमित नहीं है । वह तो सदासे हिंदू-जीवनका अङ्ग है । राजनैतिक जीवनमें शङ्ख युद्धकी घोषणा तथा विजयकी सूचना दोनोंका प्रतीक है । प्राचीनकालमें प्रत्येक योद्धा अपने साथ सदा शङ्ख रखता था । सबके शङ्खोंके पृथक्-पृथक् नाम होते थे तथा सबके शङ्ख-वादनके विभिन्न प्रकार होते थे । भगवान् श्रीकृष्णके शङ्खका नाम पाञ्चजन्य था । गुरुपुत्रको ढूँढ़ते हुए समुद्रमें प्रवेश करके वहाँ पञ्चजन नामक दैत्यको मारकर उसके शरीरसे यह शङ्ख भगवान्‌ने ग्रहण किया था । अर्जुनके शङ्खका नाम देवदत्त था । इसी प्रकार अनेक शङ्खोंके नाम महाभारतमें हैं । शङ्ख-धारणके कारण भगवतीका एक नाम ही 'शङ्खिनी' पड़ गया है । देवासुर-संग्राम, दुर्गा-असुर-युद्ध, महाभारत तथा दूसरे सभी युद्धोंमें शङ्ख-नाद या तो युद्धारम्भ, युद्धाह्वानका सूचक है या युद्धमें विजयका । शङ्खचूडनामक दैत्यको मारकर भगवान् शङ्करने उसकी हड्डियाँ समुद्रमें फेंक दीं, उन्हीं अस्थियोंसे नाना प्रकारके शङ्ख उत्पन्न हुए । इसीसे शिवपूजामें शङ्खसे जल चढ़ाना वर्जित है । शेष सभी देवताओंको शङ्खोदक अत्यन्त प्रिय है । शङ्ख भारतका पुरातन राष्ट्रिय वाद्य है और वह सदा मङ्गलका प्रतीक माना गया है ।

शङ्खका उपयोग यहींतक सीमित नहीं है । माला बनानेकी अनेक वस्तुओंमें शङ्खका नाम भी है । छोटे शङ्खोंकी माला बनती है । इस मालाके द्वारा जप करनेसे धन और कीर्ति प्राप्त होती है; यह रुद्रयामलका मत है । तन्त्रोंमें और भी कई सकाम अनुष्ठानोंमें शङ्खकी मालापर जप करनेका आदेश है । शङ्खकी माला और शङ्खकी चूड़ियाँ आभूषणोंके काम आती हैं । बंगालमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनी जाती हैं । ज्यौतिषके ग्रन्थोंमें शङ्ख-धारणके मुहूर्त बताये गये हैं । औषधके रूपमें भी शङ्खका उपयोग अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रचलित है । औषधमें श्वेत शङ्ख उत्तम माना गया है । गण्डमाला रोगमें शङ्ख घिसकर लगानेसे लाभ होता है, यह बताया गया है । ग्रह तथा अलक्ष्मीकी पीड़ा, क्षय, कृशता, विष तथा नेत्ररोगोंपर शङ्खको लाभदायी कहा गया है । यह शूल, गुल्म, संग्रहणी, दन्तरोग, आँखकी फूली और फोड़ोंको नाश करता है । शोधनादि करके शङ्ख-भस्म बनायी जाती है । सामुद्रिकशास्त्रमें भी शङ्खाकृति, शङ्खरेखादिका बड़ा विशद वर्णन है ।

रत्न-शास्त्रोंमें हाथी, सर्प, मछली, वराह, बाँस, सीप, सूअर तथा मेघकी भाँति शङ्खसे भी मोती निकलनेका वर्णन आता है । इस मोतीका रंग कुछ काला और आकार कबूतरके अंडेके समान बताया गया है । यह अनन्त ऐश्वर्यप्रद है और बहुत बड़ी तपस्याके फलरूपमें प्राप्त होता है । स्वयं शङ्खकी गणना रत्नोंमें है । यह हलके गुलाबी रंगका या सफेद होता है । गोलाई, चिकनापन और निर्मलता—ये शङ्खके तीन गुण हैं । भीतरके आवर्तमें यदि कोई खण्डित हो तो सोना लगा देनेसे वह दोष दूर हो जाता है । खुरदरे, बहुत भारी

तथा बेडौल शङ्ख निकृष्ट माने जाते हैं। नदी और समुद्रमें जो छोटे शङ्ख होते हैं, उन्हे शङ्खनख कहा जाता है। शङ्खके दो भेद मुख्य हैं—वामावर्त और दक्षिणावर्त। सामान्यतः वामावर्त शङ्ख ही पाये जाते हैं। दक्षिणावर्त शङ्ख थोड़े मिलते हैं और बहुत दामोंमे बिकते है, अतः लोग अब नकली दक्षिणावर्त शङ्ख भी बनाने लगे हैं। ठीक दक्षिणावर्त शङ्खके उस छिद्रको जिसे मुखपर लगाकर बजाया जाता है, यदि कानपर लगाया जाय तो बड़ी मधुरध्वनि सुनायी पड़ती है। दक्षिणावर्त शङ्ख अत्यन्त पुण्यप्रद माना जाता है। उसमें जल लेकर अर्घ्य देनेका बड़ा माहात्म्य शास्त्रोंने बताया है।

शङ्खका दर्शन और यात्राके समय शङ्खध्वनि मङ्गलसूचक मानी जाती है। शङ्खध्वनिसे संक्रामक रोगोंके जीवाणु नष्ट हो जाते हैं, यह कुछ वर्तमान चिकित्सकोंका मत है। शङ्ख भगवान् विष्णुका आश्रय है; अतः जहाँ शङ्ख रहता है, वहाँ भगवान् विष्णु तथा लक्ष्मीजीका निवास रहता है। स्त्री और शूद्रोंके लिये शङ्ख बजानेका निषेध है। वे यदि शङ्ख बजाते हैं तो लक्ष्मी रुष्ट होकर वहाँसे भाग जाती हैं, यह ब्रह्मवैवर्त-पुराणका आदेश है।

शङ्खका उपयोग केवल भारतमें ही भले होता रहा हो; परंतु इसी प्रकारके वाद्योंका उपयोग अन्य देशोंके भी इतिहास-मे पाया जाता है। आस्ट्रेलिया और पोलीनेशिया द्वीपके निवासी शङ्खके बदले 'टिटनटोनिस' नामक एक प्रकारके शम्बूक (घोंघे) को काटकर शङ्खकी भाँति बजाते थे। इसी प्रकार पाश्चात्त्य सभ्य जातियोंमे भी 'बुकसिनम् व्हेल्क' नामक शम्बूक बजानेकी प्रथा है।

घण्टा-नाद

प्रातःकाल मन्दिरोंसे उठनेवाली दीर्घ प्रणव-नाद-सी सुमधुर घण्टा-ध्वनि भारतीय हिंदू-कर्णोके लिये अनादिकालसे परिचित एवं प्रिय है। देवपूजनमे घण्टा या छोटी घण्टीका नाद आवश्यक माना गया है।

स्नाने धूपे तथा दीपे नैवेद्ये भूषणे तथा।
घण्टानादं प्रकुर्वीत तथा नीराजनेऽपि च॥
(कालिकापुराण)

'देवताके श्रीविग्रहके स्नान, धूपदान, दीपदान, नैवेद्य-निवेदन, आभूषणदान तथा आरतीके समय भी घण्टानाद करना चाहिये।' भगवान्‌के आगे पूजनके समय घण्टा बजाने-से उत्तम फलकी प्राप्ति होती है, यह शास्त्रका आदेश है। घण्टा घनवाद्यमे माना गया है। कांस्यताल (झाल), ताल (मजीरा), घटिका (घड़ियाल), जयघण्टिका (विजयघण्ट), क्षुद्रघण्ट (पूजाकी घण्टी) और क्रम (लटकनेवाला घण्ट) —ये घण्टाके भेद हैं और इनमेसे प्रायः सभीका मन्दिरोंमे उपयोग होता है। छोटे घण्टे (पूजाकी घण्टी) को पकड़कर बजानेके लिये ऊपरकी ओर धातुमय दण्ड होता है। उसमे ऊपरकी ओर गरुड़, हनुमान्, चक्र या पाँच फणोंके सर्पकी आकृति होती है। इन मूर्तियोंमेसे किसी एकके घण्टादण्डपर रखनेका विधान है और उसका महत्त्व भी है। लटकनेवाले घण्टेपर देवताओंके नाम-मन्त्रादि अङ्कित करनेकी विधि है। भगवान्‌की मूर्तिके आगे शङ्खके साथ छोटी घण्टीका रखना आवश्यक बताया गया है। इस घण्टीकी पूजाका भी विधान है। गरुड़की मूर्तिसे युक्त घण्टीका बड़ा महत्त्व बताया गया है। जहाँ यह घण्टी रहती है, वहाँ सर्प, अग्नि तथा बिजलीका भय नही होता।

देव-मन्दिरमे घण्टानाद करना अत्यन्त पुण्यप्रद बताया गया है। 'मरते समय जो चक्रयुक्त घण्टानाद सुनता है, उसके समीप यमदूत नहीं आते।' यह स्कन्दपुराणका वचन है। इस प्रकार पुराणोंमे घण्टानादका व्यापक माहात्म्य वर्णित है। देव-मन्दिरको दुन्दुभिनाद अथवा शङ्खनाद करके ही खोलना चाहिये। बिना दुन्दुभिनाद, शङ्खनाद आदिके मन्दिर-द्वार खोलनेसे अपराध बताया गया है; किंतु यदि ये वाद्य न हों तो केवल घण्टानाद करके या घण्टी बजाकर द्वार खोलना चाहिये। घण्टा सर्ववाद्यमय एवं समस्त देवताओंको प्रिय है। हृदयमन्त्र (नमः) या अस्त्रमन्त्र (फट्) से घण्टा-पूजन करके उसे बजाना चाहिये। केवल देवी-पूजनके समय प्रणवयुक्त 'जयध्वनिमन्त्रमातः स्वाहा' इस मन्त्रसे घण्टा-पूजन-की विधि है। सिद्धि चाहनेवालेको बिना घण्टीके पूजा नहीं करनी चाहिये। 'हलायुध'ने श्रीशालग्रामजीके पादोदकके लिये आठ अङ्ग आवश्यक बतलाये हैं—१–शालग्रामशिला, २–ताम्रपात्र, जिसमे शालग्रामजी विराजें, ३–जल, ४–शङ्ख, जिससें स्नान कराया जाय, ५–पुरुषसूक्त, ६–चन्दन, ७–घण्टी, ८–तुलसी। पूजाके समय घण्टीको वाम-भागमे रखना चाहिये और बाये हाथसे नेत्रोंतक ऊँचा उठाकर बजाना चाहिये।

भगवान् विष्णुको तो घण्टा प्रिय है ही, भगवान् शङ्कर तथा भगवती एवं दूसरे सभी देवताओंको वह अत्यन्त प्रिय है। शिवमन्दिर तथा दूसरे मन्दिरोंमे भी बड़े-बड़े घण्टे चढ़ाने, लटकाने तथा उन्हे बजानेका माहात्म्य पुराणोंमे बहुत अधिक है। घण्टेकी ध्वनि देवताओंको प्रसन्न करने-

वाली, असुर-राक्षसादि अपकार-कर्ताओंको भयभीत करके भगा देनेवाली, पापनिवर्तक एवं अरिष्टनाशक बतायी गयी है। भगवतीके दशभुजादि रूपोंमें घण्टा उनके करोंके आयुधोंमें है। अनेक कामनाओंकी पूर्ति तथा अरिष्टोंकी निवृत्तिके लिये विविध मुहूर्तोंमें मन्दिरमें घण्टा चढ़ानेका विधान पाया जाता है। देवपूजा, देवयात्रामें तो घण्टा-नादका वर्णन है ही; पितृ-पूजनमें भी घण्टानादकी विधि है। कुछ तन्त्रग्रन्थोंमें अपने रहनेके घरमें भी घण्टा बाँधने और उसका नाद सुननेका आदेश है। घण्टानाद मङ्गलमय है।

पूजनके अतिरिक्त हाथियोंके गलेमें घण्टा बाँधनेकी प्रथा-का उल्लेख सभी प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। सेनामें या जहाँ भी हाथी चलें, उनके घण्टेकी ध्वनिका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। रथ, छकड़ों आदिमें क्षुद्रघण्टिकाका वर्णन भी मिलता है। गायों, बछड़ों, साँड़ों आदिके गलेमें घण्टा बाँधनेका कौटिल्यने विधान किया है। इससे उनके चरनेका स्थान ज्ञात होगा और वन्यपशु उस ध्वनिसे डरकर भाग जायँगे। श्रीशुक्राचार्यजीने नीतिसारमें पहरेदारका एक काम यह भी बताया है कि वह समयपर घण्टा बजाया करे। यह प्रथा अब भी सर्वत्र प्रचलित है।

हिंदुओंके अतिरिक्त बौद्ध, जैन तो घण्टेका उपयोग करते ही हैं, ईसाई-धर्ममें भी इसका बड़ा महत्त्व है। भारतके अतिरिक्त बर्मा, चीन, जापान, मिस्र, यूनान, रोम, फ्रांस, रूस, इंग्लैंड आदिमें भी घण्टेका व्यवहार प्राचीन कालसे है। जैन-बौद्ध मन्दिरोंमें भी घण्टा लटकाया जाता है, जिसे लोग आते-जाते बजाया करते हैं। बर्मामें घण्टेमें लटकन नहीं होती। वह हरिणके सींग या हथौड़ीसे बजाया जाता है। बर्मा आदिमें बहुत बड़े घण्टोंका प्रचार है। रंगूनके 'श्वेदागुन' मन्दिरमें ११५४ मन १५ सेरका घण्टा है। मेगूनका घण्टा १८ फुट ऊँचा और लगभग २५०० मनका है। चीनकी प्राचीन राजधानी पेकिंगके एक छोटे मठमें १४४७ मन २२ सेरका घण्टा है। और उसपर चीनी भाषामें बौद्धधर्मके उपदेश खुदे हैं। इसी नगरमें सात घण्टे हैं, जिनमेंसे प्रत्येकका बोझ १३६५ मनके लगभग है।

मिस्र और यूनानमें भी प्राचीन कालमें घण्टेका प्रचार था। मिस्रमें 'ओरिसिसका भोज' नामक उत्सवकी सूचना घण्टा बजाकर दी जाती थी। यहूदियोंके प्रधान याजक 'आरत' अपने कुर्तेमें छोटी-छोटी घण्टियाँ सिलवाते थे। यूनानके सैनिक शिविरोंमें घण्टा बजता था। रोममें घण्टा बजाकर स्नानादिकी सूचना देनेकी प्रथा थी। कैम्पानियामें पहले-पहले बड़ा घण्टा बना और उसे 'कैम्पना' नाम दिया गया। इसीसे गिर्जाघरोंके उन बुर्जोंको, जिनमें बड़े घण्टे टँगे रहते हैं, 'कम्पेनाइल' कहते हैं। गिर्जाघरोंमें प्रार्थनाके समयकी सूचना घण्टा बजाकर दी जाती है। गिर्जाघरोंके कुछ घण्टे विशालताके लिये विश्वमें प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे रूसके मास्को नगरमें १७०६ घण्टे थे। इनमें एक ३६०० मनका था। इसकी लटकन हिलानेके लिये २४ आदमी लगते थे। एक बार गिरकर यह टूट गया और तब सन् १७९१ में ८ लाख ७१ हजार रुपये लगाकर फिर ढाला गया। इस बार यह ६० फुट ९ इंच घेरेका, २ फुट मोटा और ४२८६ मन वजनका बना। तबसे इसका नाम 'घण्टाराज' पड़ गया। इसका एक भाग कुछ टूट गया है, जिससे उसमें दरवाजा-सा बन गया है। यह घण्टा आजकल 'छोटा गिर्जा' कहा जाता है। इसका टूटा अंश ही ११ मनका है। ईसाई भी प्राचीन कालसे घण्टेको पवित्र मानते आये हैं। घण्टा बनाते समय वे अनेक धार्मिक क्रियाएँ करते थे। बन जानेपर घण्टेका बपतिस्मा और नामकरण होता था। घण्टेपर वे पवित्र मन्त्र खुदवाते हैं। उनका विश्वास था कि घण्टेकी ध्वनिसे आँधी, बीमारी, अग्निभय आदि दूर होते हैं। संवत् १९०९ विक्रममें जब माल्टामें भयङ्कर आँधी आयी, तब वहाँके बिशपने समस्त गिर्जाघरोंमें घण्टा बजानेका आदेश भेजा। आँधी बंद करनेके लिये सब घण्टे कई घंटे लगातार बजते रहे। पहले किसीकी मृत्युके समय घण्टा बजानेकी प्रथा ईसाइयोंमें थी, पर वह धीरे-धीरे मृत्युसे एक घण्टे पूर्व बजानेकी हो गयी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि घण्टा-नादसे मृतककी देह पवित्र हो जाती है और पिशाचादि भाग जाते हैं। कहीं-कहीं अब भी मृतकके श्मशान पहुँचने तथा अन्त्येष्टि पूरी होनेतक घण्टी बजायी जाती है। गिर्जाघरोंमें प्रार्थना समाप्त होनेपर भी घण्टा बजता है। अन्तमें गिर्जाघरोंके घण्टेसे मृदु सङ्गीत-ध्वनि निकालनेका प्रयत्न हुआ। एक या अनेक घण्टोंकी ध्वनिसे सुस्वर सङ्गीत उत्पन्न किया जाता है। इंग्लैंड-फ्रांसादिमें ऐसे घण्टे हैं। भारतकी भाँति यूरोपमें भी प्राचीन समयसे घोड़ों तथा दूसरे पशुओंके गलेमें घण्टा बाँधनेकी प्रथा मिलती है, इससे भटके पशु सरलतासे खोज लिये जाते हैं। इस प्रकार मुसलमानोंको छोड़कर प्रायः सभी धर्मों और देशोंमें घण्टा बजानेकी प्रथा है और उसके नये-नये उपयोग बढ़ते जा रहे हैं। इतिहासके विद्वानोंकी धारणा है कि यह प्रथा भारतसे ही संसारमें फैली है।

संस्कृतिके प्रेरक

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'जय एकलिङ्ग !'

'जय एकलिङ्ग !' स्वभाववश प्रतिध्वनिकी भाँति कण्ठसे गम्भीर उत्तर निकलते-न-निकलते महाराणा अस्त-व्यस्त गुफा-द्वारकी ओर दौड़े। यह चिरपरिचित स्वर, नाभिसे उठनेवाली परा वाणीका यह जयघोष राजस्थानके आराध्य चरणोंको छोड़कर दूसरे कण्ठसे निकल नहीं सकता। द्वारपर दण्डकी भाँति महाराणा पृथ्वीपर सवेग प्रणत हुए। उनका स्वर्ण-मुकुट पाषाणपर घर्षित होकर झङ्कृत एवं कान्तिमान् हो गया। जैसे विनतने अपनी शुभ्रता व्यक्त कर दी हो।

'कल्याणमस्तु !' महाराणाके मस्तकपर जो वली-पलित कर आशीर्वाद देने फैल गया था, उसकी दिव्य छाया सुरपतिके लिये भी स्पर्धाकी ही वस्तु रहेगी।

'गुरुदेव !' पतिके चरणोंसे तनिक हटकर जीर्ण मलिन वस्त्रोंमें चित्तौड़की अधिष्ठात्रीने अपने यशोधवल भालसे भूमिका स्पर्श किया।

'सौभाग्यवती हो वीरमातः !' वृद्ध कुलगुरुकी दृष्टि नन्हे अमरकी ओर थी, जो उनके चरणोंपर मस्तक रखकर शीघ्रतासे गुफामें भाग गया था और अब एक नारिकेल-पात्रमें जल लिये आ रहा था।

'तू क्या कर रहा है ?' स्नेहसे गुरुदेवने पूछा।

'अर्घ्य दे रहा हूँ !' बालकने अपनी तोतली वाणीसे बताया। वह जलकी धारा गिराकर पात्र रिक्त कर चला था। वृद्धने स्नेहसे उसे खींच लिया। वे उसके मस्तकको वात्सल्यसे सूँघ रहे थे।

'प्रभु पधारे !' एक शिलापर महारानीने कुछ तृण बिछा दिये थे और बड़ी कठिनाईसे उनके भरे कण्ठसे ये शब्द निकलते थे। आज राजस्थान-सम्राट्के समीप दूसरा पात्र भी नहीं कि उससे कुलगुरुके चरणोदकका सौभाग्य प्राप्त हो। महारानीकी चिन्ता व्यर्थ नहीं थी; परंतु गुरुदेवके पादपद्म तो हिंदूकुलसूर्यने अपने नेत्रोंके जलसे धो दिये थे।

एक युग था। मानवको किसी उपकरणकी आवश्यकता नहीं थी। वह भगवती महाशक्तिकी खुली गोदमें निरन्तर महेश्वरका ध्यान करता था। उसके अन्तरकी श्रद्धा ही आराध्यका पूजोपकरण बनती और अतिथिका सत्कार ! कुलगुरुने आसन स्वीकार कर लिया था। बालक अमर अभी उनकी गोदमें ही था। महाराणा उनके चरणोंके समीप मस्तक झुकाये हाथ जोड़े बैठे थे और बिना पीछे देखे भी वे जानते थे कि उनकी सहधर्मिणी उनकी ओटमें अपने अश्रु-प्रवाहको छिपानेका असफल प्रयास कर रही हैं।

'प्रताप !' तुम्हारे त्यागने सत्ययुगकी उस सात्त्विकताको यहाँ साकार कर दिया है !' ब्राह्मणके दीप्त भालकी ज्योति दुगुनी जगमगा उठी। उनके नेत्र अर्धोन्मीलित हुए और निर्वात दीपशिखाकी भाँति उनका निष्कम्प चित्त महेश्वरके ध्यानमें एकाग्र हो गया।

'सृष्टिके आदिमें कुलपुरुष भगवान् भास्करने जिनकी आत्मरूपसे आराधना की, पितामह वैवस्वतसे लेकर रघुवंशके आराध्य भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने राजसूय-अश्वमेधादि महामहायज्ञोंसे जिनकी अर्चा की, वे साक्षात् भगवान् वैश्वानर पधारे हैं, देवि !' महाराणाने पीछे देखा। उन्होंने सङ्केतसे ही पुत्रको गुरुदेवकी गोदसे नीचे बुला लिया था।

'अपने कंगाल कुटीरमें आज समिधाएँ भी कहाँ हैं ?' राजमहिषीकी वेदना दूसरा कोई कैसे समझेगा। महीनोंसे महाराणा प्रातःकालीन हवन समिधाओंसे ही सम्पन्न कर रहे हैं। इस वनमें शाकल्य और घृत कहाँ। आज साक्षात् अग्नि-स्वरूप गुरुदेव पधारे हैं; परंतु गुफामें तो सूखी समिधाएँ भी नहीं हैं। केवल जलसे अपने कुलगुरुकी अर्चना पूरी करनी है। और वह भी उसे, जो चित्तौड़का राजमुकुट सिरपर धारण करता है। दैव !·······।

'प्रताप ! धन्य हो तुम !' गुरुदेवके नेत्र कुछ क्षणोंमें ही खुल गये। 'तुम्हें स्मरण है न—प्रत्येक कुम्भपर्वपर तीर्थकी पावनभूमिमें भारतके सम्राट् अपना सर्वस्व दान कर दिया करते थे ! एक ऐसे ही समय, जब महाराज रघुके समीप एक ऋषिकुमार पहुँचे, महाराजके समीप पाद्य एवं अर्घ्यके लिये केवल मृत्तिकाके पात्र थे !'

'गुरुदेव ! महाकवि कालिदासकी वाणी जिस यशोगानसे परिपूत हुई है, उसे कैसे विस्मृत किया जा सकता है; किंतु प्रतापका सर्वस्व क्या ? कंगाल है वह।'

'राणा ! धर्मके सङ्कटकी पुण्यतिथिमें जिसने अपने सर्वस्वकी आहुति दे दी है, उस कंगालकी यशोगाथासे कवियोंकी वाणी पावन होगी ! मैं आज चक्रवर्ती रघुके उस यज्ञान्तका स्मरण कर रहा हूँ।'

'देव ! सन्तोष भी जिनके श्रीचरणोंसे प्रेरणा प्राप्त करता है, उनकी शाश्वत तुष्टिमें बाधा दे सके, ऐसी शक्ति कहाँ है !' महाराणाकी वाणी आगे कुछ कह न सकी; किंतु उनकी दृष्टि उस रिक्त नारिकेल जलपात्रपर थी, जो औंधा पड़ा था और वह दृष्टि अपनी व्यथा सुनानेके लिये वाणीकी अपेक्षा नहीं करती थी।

[२]

'जय एकलिङ्ग !' एक वन्य भीलने भूमिपर लेटकर प्रणाम किया और एक भूर्जपत्र आगे बढ़ा दिया। इस गुफामें इन निष्काम सेवकोंका प्रवेश अबाध है। अन्ततः इन्हींकी सेवा तो महाराणाको यहाँ निरापद रखती है।

'जय एकलिङ्ग !' महाराणाके कण्ठसे बड़ी कठिनतासे यह ध्वनि इधर निकलती है। वे इसके साथ ही चौंक पड़े। पत्रको ध्यानसे देखा, जैसे वह कोई विषैला जन्तु हो। 'पत्रमें पाँच तहें हैं, पाँच ही बार उनपर सूत्र लपेटा गया है। सूत्र भी पीत है, श्वेत नहीं। तब पत्र किसी अपने अनुचरका है।' दाहिने हाथमें पत्र ले लिया उन्होंने।

'एक राजपूतने दिया है ! वह उत्तरकी प्रतीक्षा करेगा घाटीके उस पार ! कहता था, दिल्लीसे आया है !' भीलके स्वरमें घृणा, तिरस्कार, उपेक्षा, उत्कण्ठा—पता नहीं क्या-क्या थी। वह स्थिर दृष्टिसे राणाकी ओर देख रहा था।

'दिल्लीसे आया है ?' राणा चौंके। पत्र हाथसे छूट गया।

'दिल्लीसे पत्र !' महारानीने सुना और पास आ गयीं। उनके नेत्रोंमें विस्मय था।

'उस दिन वन-बिलावने तुम्हारी घासकी रोटी कुमारके हाथसे छीन ली और वह क्रन्दन कर उठा !' महाराणा नीचे गिरे पत्रकी ओर मस्तक झुकाये स्थिर देख रहे थे।

'रहने भी दीजिये ! बालकोंकी रोने-गानेकी बातोंपर ध्यान देकर कहाँतक कोई कर्तव्यपर स्थिर रह सकता है !' वाणीसे चाहे जो कह लिया जाय, पर माताका हृदय क्या ऐसे स्मरण शान्तिसे सह पाता है ?

'मैं भी अन्ततः मनुष्य ही हूँ—दुर्बल मनुष्य ! मेरे धैर्यकी सीमा समाप्त हो गयी उस दिन। मैंने अकबरको पत्र भेज दिया।' महाराणा-जैसे किसी महापातककी गाथा सुना रहे हों।

'पत्र ! अकबरको ? क्या·······'

'यही कि मैं उसकी राज्य-सत्ताको स्वीकृति दे दूँगा यदि·······।'

'यदि वह आपपर, आपके बच्चोंपर, आपकी स्त्रीपर दया करे ! आपको कोई दरबारमें बड़ा पद·····।' जैसे वज्राघातसे सिंहिनी चीत्कार कर उठी हो। वह जंगली भील उन महाशक्तिके चरणोंकी ओर पृथ्वीपर मस्तक रखकर बड़े जोरसे चिल्ला पड़ा—'जय एकलिङ्ग !'

'मैं आज प्रातः गुरुदेवके दर्शनार्थ गया था।' महाराणा अपराधीकी भाँति मस्तक झुकाये कहते जा रहे थे। गुरुदेवके नामने महारानीको तनिक शान्त कर दिया।

'मेरे प्रणिपातका उत्तर नहीं मिला। गुरुदेव हवन-कुण्डके समीप विराजमान थे। समिधाएँ प्रज्वलित नहीं हो रही थीं। धूम्रसे उनके नेत्र अश्रुपूर्ण एवं अरुण हो गये थे, जैसे उन दयामयने मेरे अपराधपर उठे रोषको भीतर ही रोक लिया हो। महारुद्रके समान वे लाल-लाल नेत्र अश्रुसे करुणापूर्ण हो गये थे।' महाराणाने दोनों हाथ मस्तकपर रख लिये। उनके नेत्रोंसे टप-टप बूँदें गिर रही थीं।

'पहली बार प्रतापको गुरुचरणोंसे आशीर्वाद नहीं मिला। उन तपोमयके आशीर्वादका अधिकारी अब मैं रहा ही नहीं। बड़ी ही वेधक करुणदृष्टिसे उन्होंने मेरी ओर देखा।' दो क्षणके लिये वाणी रुक गयी।

'आदियुगमें अग्निदेव ब्राह्मणके हृदयमें निवास करते थे। कल्मष था ही नहीं, तब शासन और पवित्रता किसकी की जाय। त्रेताके अन्ततक ब्राह्मणकी वाणी ही भगवान् वैश्वानरका वाहन थी। नरेशोंकी विशुद्ध श्रद्धासे सम्पन्न हुए यज्ञोंमें विप्रोंके सङ्कल्पसे मूर्तिमान् अग्निदेव प्रकट हो जाते थे। देवता स्वयं अपना भाग आकर स्वीकार करते थे। द्वापरका अन्तिम चरणतक साक्षी था कि जनमेजयके सर्पसत्रमें भी अग्निज्वालाएँ मन्त्रपाठका अनुगमन करती थीं। ब्राह्मणके लिये अरणि-मन्थन केवल उपचारमात्र था। अग्निदेव तो आह्वानकी प्रतीक्षा करते रहते थे। यह कलियुग है। अग्निका धाम ब्राह्मणका मुख हो गया है प्रताप ! केवल पवित्र शास्त्र ही अग्निके उत्थानसे शुद्ध होता है। मैंने देखा है, तुम्हारी धर्मनिष्ठाने भगवान् हव्यवाहका पथ नित्य प्रशस्त रक्खा है। मैंने देखा है कि मानसिंह अत्यन्त धार्मिक, श्रद्धालु एवं

शुद्धाचारी हैं; पर उनके तपःपूत विप्रोंके आहवनीय-कुण्डोंसे उठी धूम्र-शिखाएँ नेत्रोंको कलुषित, पीड़ित करती हैं, प्रताप!' गुरुदेवका वह सम्बोधन महाराणाके हृदयमें बाणकी भाँति अबतक चुभ रहा है। चुभता ही जा रहा है।

'भगवान् एकलिङ्गका पवित्र नाम लेनेमें उसी दिनसे जिह्वा काँपती है। आज गुरुदेवने मस्तक झुका लिया और अब यह पत्र आया है दिल्लीसे……।' जैसे कोई अपने प्राणदण्डके आज्ञापत्रको देख रहा हो।

'उसमें धागेके पाँच फेरे हैं। वे धागे पीले हैं!' भीलको स्वयं भी आश्चर्य था कि दिल्लीका पत्र इस प्रकार क्यों है।

'जय एकलिङ्ग!' जैसे महाराणामें पुनः जीवन लौट आया हो। उन्होंने पत्र खोला बड़ी शिथिलतासे था; किंतु शीघ्र ही वह शिथिलता दूर हो गयी। मुखमण्डल हर्ष, उत्साहसे दमक उठा। हाथ मूछोंपर गये और फिर कटिमें बँधे खड्गकी मूठपर।

'सिंहके शिशु बंदी होकर भी शृगाल नहीं हो जाते! दिल्लीमें भी सिंह तो हैं। भगवान् एकलिङ्ग! गुरुदेव!' महाराणाने पृथ्वीराजका ऐतिहासिक पत्र चकित राजमहिषीकी ओर बढ़ा दिया। उनकी दृष्टि कृतज्ञतापूर्वक ऊपर उठी और श्रद्धासे मस्तक झुक गया।

× × × ×

'एकलिङ्गेश्वरकी जय!' वल्गा खिंचनेसे अश्वोंके अगले पैर एक क्षण उठे ही रह गये और वीरोंके कण्ठोंने आश्रम-द्वारको जयघोषसे ध्वनित किया।

'जय एकलिङ्ग!' वृद्ध ब्राह्मणकी दृष्टि उठनेसे पूर्व राजस्थानका जाग्रत् शौर्य उनके पदोंमें प्रणिपात कर रहा था।

'महामन्त्री भामासाहका त्याग प्रतापका प्रोत्साहन बन गया है और भीलराजकी वन्यवाहिनी अदम्य है। विजयश्री तो श्रीचरणोंके आशीर्वादकी अनुगामिनी है।' महाराणा कुलगुरुके चरणोंके समीप सरल भावसे बैठ गये थे घुटनोंके बल। जैसे कोई आराधक अपने आराध्यके पदोंमें बैठा हो। महामन्त्री सङ्कुचित पीछे करबद्ध खड़े थे और आश्रमद्वारपर जानु टेके भीलराज अपनी 'पीछे खड़ी' सेनाके आगे ऐसे लगते थे जैसे शूरताकी उत्तुङ्ग जलराशि इस सत्त्वके पुलिनसे पवित्र होने आयी हो और उसे मर्यादाने साकार होकर सीमित कर दिया हो।

'धर्म नित्य विजयी है! वह आशीर्वादकी अपेक्षा नहीं करता! भगवान् हव्यवाह् तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करें!' आचार्य अब भी हवनके आसनपर ही खड़े थे। सम्मुख कुण्डमें आहुतितृप्त अग्निदेवकी निर्धूम लाल-लाल सीधी लपटें उठ रही थीं—लाल-लाल लपटें, ब्राह्मणके त्याग, तप, संयम एवं क्षत्रियके शौर्य, ओज, प्रचण्ड प्रतापकी प्रतीक। महाराणाने अतृप्त उल्लसित नेत्रोंसे दो क्षण अग्निदेवके दर्शन किये और फिर भूमिपर मस्तक रक्खा।

'ब्राह्मण—नित्य तुष्ट, प्रभुकी इच्छामें अपनी इच्छा विलीन करनेवाला, सबका शुभैषी होता है, प्रताप!' गुरुदेवकी वाणी स्नेह-स्निग्ध थी। 'उसके लिये न कोई शत्रु है, न मित्र। न दण्डनीय है और न स्नेह-पात्र; किंतु जब शासक शिथिल होता है, तब ब्राह्मणकी वृत्ति विकृत हो जाती है। उसकी शक्ति प्रकृतिके राजस क्षेत्रमे उन्मुक्त नहीं हो पाती!'

'गुरुदेव!' महाराणा इस वाणीका मर्म जानना चाहते हैं।

'ब्राह्मणकी तपस्या और पवित्रताके साथ शासकका अदम्य शौर्य अपेक्षित है, संस्कृतिके इस प्रोज्ज्वल प्रतीकको धूम्रहीन रखनेके लिये!'

'ओह!' महाराणाको विलम्ब नहीं लगा समझनेमें। उस दिन उन्होंने सोचा था कि गुरुदेवके हवनीय-कुण्डसे भी धूम्र क्यों उठना चाहिये और दयामय गुरुदेवने केवल सङ्केत किया था। आज इस यात्राके समय एक आदेश है इसमें उनके लिये। उन्होंने खड्ग खींच लिया और यज्ञाग्निके सम्मुख मस्तक झुका दिया। गुरुदेवका हाथ उनके मस्तकपर छाया करता फैल गया था।

इतिहास साक्षी है हिंदू-कुल-मुकुटमणिकी उस मूक प्रतिज्ञाका। वह शौर्य अन्ततक अग्नि-सा प्रज्वलित, प्रकाशमय, दुर्धर्ष रहा। सम्राट् अकबरका अपार अध्यवसाय उसमें आहुति बनकर रह गया!

वसुधा किय विख्यात समरथ कुळ सीसोदियाँ।
राणा जस री रात प्रगट्यो भलाँ प्रतापसी॥

सीसोदियोंके वंशकी सामर्थ्यको पृथ्वी भरमें प्रकाशित करनेके लिये हे राणा प्रतापसिंह! तुमने यशोमयी रात्रिमें भले ही जन्म लिया!

हिंदू-धर्मका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—चौधरी श्रीशिवनारायणजी वर्मा)

सन् १७२५ की घटना है। भारतसम्राट् मुहम्मदशाह दिल्लीके सिंहासनपर आसीन थे। बादशाहका मीरमुंशी एक वैश्य था। सनम, शराब, शतरंज और सङ्गीतकी मुहब्बतसे वह मुसल्मान हो गया। हिंदू नाम था—रामजीदास सेठ। मुसल्मानी नाम मिला—मियाँ अहमदअली।

रामजीदासकी स्त्री मर चुकी थी। घरमें केवल एक कन्या थी। नाम था—किरन। उसने अपनी कन्याको बहुत समझाया; परंतु वह मुसल्मान होनेपर राजी न हुई, न हुई। अन्तमें काजीकी कचहरीमें अहमदने अर्जी दी कि 'जिस वक्त मैंने अपना मजहब तब्दील किया था, उस वक्त मेरी लड़की नाबालिग़ थी। इस्लामी कानूनके मुताबिक़, मेरे मुसल्मान होते ही वह भी मुसल्मान हो गयी। अब वह बालिग़ है—इसलिये उसे बाक़ायदा इस्लाम मजहब हासिल कर लेना चाहिये। उसे इनकार करनेका हक नहीं है। मगर वह इनकार करती है। लिहाजा सरकार सरकारी दबावसे उसे मुसल्मान बनाये। यही मेरी दिली तमन्ना है।'

काजीने किरनको कचहरीमें बुलाया। उस षोडशवर्षीया बालाने आकर अदालतको जगमगा दिया। लड़की अत्यन्त सुन्दरी थी। वह निर्भय खड़ी थी और उसकी त्यौरी चढ़ी हुई थी।

काजी—तुम अहमदअलीकी लड़की हो?

किरन—जी नहीं।

काजी—फिर किसकी हो?

किरन—सेठ रामजीदासकी।

काजी—दोनों एक ही तो हैं!

किरन—जी नहीं। मेरा बाप तो उसी क्षण मर गया था कि जिस क्षण उसने हिंदू-धर्मका त्याग किया था।

काजी—अहमदअली तुम्हारा बाप नहीं है?

किरन—जी नहीं।

काजी—तुम उसके साथ रहना नहीं चाहती हो?

किरन—जी नहीं।

काजी—कहाँ रहोगी?

किरन—किसी हिंदूके घर रहना चाहती हूँ।

काजी—लड़की! गुस्सेको थूक दो और समझसे काम लो। तुम्हारे हिंदू-धर्मसे हमारा इस्लाम-धर्म बढ़िया है। इस्लाम कहता है कि खुदा एक है—हिंदू-धर्म कहता है कि ईश्वर सैकड़ों हैं!

किरन—सैकड़ों नहीं—करोड़ों! जितने जीव हैं, वे सब वास्तवमें ईश्वर हैं, यही हमारे धर्मकी शिक्षा है। हिंदू-धर्म कहता है कि ईश्वरके सिवा और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार सूर्य और किरन! किरन भी तो सूर्य ही है। इसी प्रकार कहनेके लिये जीव और ईश दो हैं—वास्तवमें एक ही चीज है। हमारी गीतामें यही लिखा है।

काजी—अगर तुम मुसल्मान हो जाओ तो तुम्हारा नाम बजाय किरनके शमाँ रख दिया जायगा। वजीर साहबके लड़केके साथ तुम्हारी शादी करा दी जायगी। इस वक्त तुम एक 'अनाथ लड़की' हो। फिर—'वजीरजादी' कहलाओगी। भिखारिनसे रानी बन जाओगी।

किरन—अपने धर्ममें भिखारिन रहना अच्छा है—पराये धर्ममें जाकर रानी बनना अच्छा नहीं। वह 'धर्मप्रियता' नहीं—वह 'धर्मनिश्चय' नहीं, जो लोभ या भयसे बदला जा सके।

काजी—जिस वक्त तुम्हारा बाप मुसल्मान हुआ था, उस वक्त तुम्हारी क्या उम्र थी?

किरन—तेरह साल।

काजी—रजस्वला हुई थी या नहीं?

किरन—जी नहीं।

काजी—तब तुम उस वक्त नाबालिग़ थी?

किरन—जी हाँ।

काजी—तब तो तुम इस्लामी कानूनकी दफासे उसी वक्त मुसल्मान हो चुकी कि जब तुम्हारा बाप मुसल्मान हुआ था।

किरन—इस्लामी कानून इस्लामके सिरपर सवार हो सकता है, हिंदू-धर्मपर नहीं। मैं इस कानूनको नहीं मानती।

काजी—'इस्लाम-धर्मकी तौहीनमें इस लड़कीको जेलमें भेजो।' बेचारी किरन शाही जेलखानेमें भेज दी गयी।

× × ×

यह सनसनीखेज समाचार सारे शहर दिल्लीमें व्यापक हो गया। वैश्यसमाजने कुपित होकर सारा कारोबार बंद कर

दिया। बाजारोंमें हड़ताल कर दी गयी। वैश्य-समाजके नेताओंने किलेके नीचे जाकर धरना दे दिया। गोलमाल सुनकर बादशाहने खिड़की खोली। पूछा 'क्या मामला है ?' सेठोंने सारी कहानी सुनायी। बादशाहने कहा—'इसी वक्त यह लड़की आपलोगोंकी सिपुर्दगीमें दे दी जायगी। कल हमारे दरबारमें यह मुकदमा पेश होगा, इतमीनान रखिये, मैं यह बात जानता हूँ कि जोर-जुल्म करनेवाली बादशाहत बादलकी छाँहकी तरह टिकाऊ नहीं होती।'

लड़कीको लेकर सेठलोग वापस चले गये।

× × ×

दूसरे दिन बादशाहके दरबारमें वह लड़की पेश की गयी। काजीजी भी बुलाये गये। काजीसे बादशाहने पूछा—

बादशाह—इस हिंदू लड़कीको, जो खुशीसे इस्लाम कबूल नहीं करती, क्यों जबरन मुसल्मान बनाया जा रहा है ?

काजी—जहाँपनाह ! शरहके कानूनसे यह लड़की उसी वक्त मुसल्मान हो गयी कि जिस वक्त उसका बाप मुसल्मान हुआ। यह उस वक्त नाबालिग थी। रजस्वला नहीं हुई थी।

बादशाह—रजस्वला होना ही बालिग होनेका प्रमाण नहीं है। ऐसी भी लड़कियाँ हैं कि जो बालिग हैं, मगर रजस्वला नहीं हुईं।

काजी—गरीबपरवर ! जो मुनासिब समझें, हुक्म दें।

बादशाह—शरहमें यह भी लिखा है कि जबरन किसीको मुसल्मान नहीं बनाना चाहिये। इसी दफाके मुताबिक हम इस लड़कीको बरी करते हैं। सेठ घनश्यामदासजीको यह लड़की सौंपी जाती है। वे ईमानदार तथा अच्छी चाल-चलनके आदमी हैं। वे जहाँ चाहें, इस कन्याका विवाह कर सकते हैं। लिहाजा मुकदमा खारिज और मिसिल दाखिल दफ्तर !

कन्या सेठजीके साथ चली गयी।

× × ×

दूसरे दिन थी जुम्मेकी नमाज। जुम्मा मस्जिदमें एक लाख मुसल्मान जमा हुए। बादशाह भी गये थे। मुल्ला लोगोंने बादशाहको आड़े हाथों लिया और उनके फैसले-को तार-तार कर दिया। इस्लामी बादशाही, वास्तवमें मौल्वी लोगोंकी बादशाहत थी।

बादशाहने देखा कि मामला बिगड़ा जाता है। कहीं ऐसा न हो कि मुझे तख्त और ताजसे भी हाथ धोना पड़े। नरम पड़ गये और बोले—

बादशाह—आखिर आपलोग इस मामलेमें क्या चाहते हैं ?

मौलवीलोग—यह मामला मजहबका है—राजनीतिका नहीं। इस मामलेका आखिरी फैसला 'जुम्मा मस्जिद'की अदालत यानी अंजुमने-मौलाना' ही कर सकती है।

बादशाह—तो अब क्या होना चाहिये ?

मौलवीलोग—उस लड़कीको फिर हिरासतमें ले लीजिये। कल उसकी पेशी जुम्मा मस्जिदकी अदालतमें होगी। आयन्दा धर्मके मामलेमें आप दखल न किया करें।

किरनको फिर जेलमें बंद कर दिया गया।

× × ×

एक टाटपर बैठी किरन भविष्यको सोच रही थी। कटार लिये एक जल्लाद आया। किरन खड़ी हो गयी और बोली—

किरन—तुम कौन हो ?

जल्लाद—मैं जल्लाद हूँ।

किरन—यहाँ क्यों आये ?

ज०—तुमको मारने।

किरन—किसके हुक्मसे ?

ज०—मौलानालोगोंके हुक्मसे

किरन—क्या हुक्म हुआ मेरे लिये ?

ज०—न रहे बाँस न बजे बाँसुरी।

किरन—बादशाहके हुक्मके खिलाफ ?

ज०—जुम्मा मस्जिदकी अदालत, बादशाहोंके बनाने और बिगाड़नेवाली अदालत है।

किरन—अच्छी बात है।

ज०—मुसल्मान हो जाओ या मरनेको तैयार हो जाओ।

किरन—मरनेको तैयार हूँ। अपना हिंदू-धर्म नहीं त्यागूँगी। जल्लादने कटार तानी।

किरन—तुम मत मारना। मेरा बदन एक यवन नहीं छू सकता।

ज०—फिर कौन मारेगा ?

किरन—मैं खुद मर जाऊँगी। यह कटार मुझे दो।

ज०—खूब ! यह कटार मैं तुमको दे दूँ, ताकि यह तुम्हारे सीनेमें न जाकर मेरे सीनेमें घुस जाये ? चालाक तो तुम कम नहीं हो।

किरन—मुझे कटार भी नहीं चाहिये।

जल्लाद—तो फिर कैसे मरोगी ?

किरन—ऐसे।

—कहकर उस कन्याने अपना सिर इतने जोरसे पत्थरकी दीवालमें दे मारा कि वह खरबूजेकी तरह फट गया। खूनका फव्वारा कोठरी भरमें बरसने लगा।

इस भयानक मौतको देखकर जल्लाद भी काँप गया। बोला—'शाबाश! हिंदू लड़की! शाबाश! हिंदू-धर्मके सिवा, इस तरहसे मरना और कौन सिखा सकता है।'

शहरके सेठोंने लाश माँग ली। रथीको खूब सजाया गया। कहते हैं कि उस कन्याके शवपर जनताने इतने फूल, फल, मेवा, बताशे और रुपये-पैसे न्यौछावर किये कि जितने किसी शवपर नहीं हुए थे!

सन् १७२५ ईस्वीकी गरमीकी मौसम थी। किरनने हकीकत रायकी भी धर्मप्रियता जीत ली थी। हिंदू-संस्कृतिका यही आदर्श है कि 'प्राण भले ही चले जायँ, अपना धर्म न जाने पाये! क्योंकि जो धर्मका हनन करता है, धर्म उसका हनन कर डालता है।' धर्मपर न्यौछावर होकर किरनदेवी अपना नाम सुनहरे अक्षरोंमें अमर कर गयी है।

माताका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—मुखिया विद्यासागर)

इतिहासप्रसिद्ध महारानी मदालसाका विवाह काशी-नरेशसे हुआ था। द्विरागमनमें जब वह पतिगृह आयी, तब एक दिन काशीनरेशने सहवासकी इच्छा प्रकट की। उस समय आधी रातका समय था। पतिकी इच्छापर मदालसाने कहा—

महारानी—मैं ब्रह्मचर्यसे रहूँगी।

महाराज—तो विवाह क्यों किया था?

महारानी—विवाह मेरी माताने कर दिया। पिताजी मेरे पक्षमें थे।

महाराज—विवाहके बाद ब्रह्मचर्य सम्भव नहीं।

महारानी—क्यों सम्भव नहीं? इस संसारमें कितने ही दम्पति आजन्म ब्रह्मचारी रहे हैं।

महाराज—परंतु मुझे तो राजकुमारकी प्रतीक्षा है। सिंहासन खाली न हो जायगा?

महारानी—आप अपना द्वितीय विवाह कर सकते हैं।

महाराज—राजा लोग अनेक विवाह करते अवश्य हैं—किंतु काशी-राजवंशमें एकपत्नीव्रतको ही संस्कृतिका आदर्श माना गया है।

महारानी—जबतक मुझे सन्तोष न हो, मैं ब्रह्मचर्यसे रहनेकी प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ।

महाराज—आखिर तुमने ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की? जबतक हम लोग सन्तान पैदा नहीं करेंगे, तबतक मातृ-पितृ-ऋणसे मुक्त न हो सकेंगे। यह भी एक आदर्श है। हिंदू-संस्कृतिका यह सन्तान-सम्बन्धी आदर्श है।

महारानी—पुत्र पैदा करनेमें मुझे एक डर है।

महाराज—वह क्या?

महारानी—न मालूम पुत्र कैसा पैदा हो!

महाराज—(हँसकर) यह कोई डर नहीं है।

महारानी—क्यों?

महाराज—तुम-सरीखी पवित्रहृदया माताका पुत्र, और मुझ-सरीखे पवित्र पिताका पुत्र अपवित्र कैसे होगा?

महारानी—स्वामिन्! वास्तवमें मैं अभक्त सन्तानसे घृणा करती हूँ। ईश्वर-विरोधी सन्तानसे मुझे जलन है। मेरा स्वभाव ही ऐसा है। पुलस्त्यके कुलमें रावणकी भाँति यदि किसी कारणवश ईश्वरद्रोही पुत्र हुआ तो मातृ-पितृ-ऋण अदा होगा या और बढ़ जायगा?

महाराज—अभक्त पुत्र न होगा।

महारानी—यदि हुआ तो?

महाराज—तुम विचित्र महिला हो।

महारानी—जी, मैं विचित्र स्त्री हूँ।

महाराज—तो तुम्हीं बताओ कि क्या करना चाहिये।

महारानी—हम दोनोंको ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिये।

महाराज—सिंहासनपर कौन बैठेगा?

महारानी—आप।

महाराज—मेरे बाद?

महारानी—आप मरेंगे ही नहीं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहीं मरता है? जो मर जाय—वह ब्रह्मचारी ही नहीं।

महाराज—हूँ! यह कैसे?

महारानी—बजरंगबली ब्रह्मचारी थे। आज भी वे मौजूद है। नारद, शुकदेव और दत्तात्रेय कब मरे थे ?

महाराज—मुझे तुम्हारी बातोसे सन्तोष नहीं होता।

महारानी—(मुसकराकर) आखिर आप क्या चाहते हैं ?

महाराज—सन्तान।

महारानी—परंतु एक मेरी भी शर्त है।

महाराज—वह क्या ?

महारानी—सन्तानपर आपका कुछ भी अधिकार न होगा। उसकी शिक्षा-दीक्षा सर्वथा मेरे हाथमे रहेगी।

महाराज—स्वीकार है।

महारानी—मैं चाहे जो करूँ—चाहे उसे मार ही डालूँ—आप बीचमे कोई दखल नहीं देंगे ?

महाराज—स्वीकार है।

महारानी—त्रिवाचक कहिये।

महाराज—मेरी सन्तानपर, उसकी माताका पूर्ण अधिकार मुझे स्वीकार है ! स्वीकार है !! स्वीकार है !!!

महारानी—'परमात्माको व्यापक और द्रष्टा मानकर मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ'—यह भी कहिये !

महाराज—परमात्माको व्यापक और द्रष्टा मानकर मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ।

महारानी—तो मुझे भी आपकी बात स्वीकार है।

× × × ×

सालभर बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ। महारानीने अपने कमरेमें देवताओं तथा महात्माओके चित्र लगा रक्खे थे। राजकुमारके शिक्षक एक विरक्त ब्राह्मण बनाये गये। रानी भी उसे वैराग्यकी शिक्षा देती थी। राजा भी—'जिसमें तेरी रजा, उसीमें मेरी रजा'के अनुसार ज्ञानोपदेश किया करते थे। फल यह हुआ कि बारह सालका होते-न-होते राजकुमार साधु बनकर महलसे निकल गया। आत्मानन्द नाम हुआ उसका।

तीन साल बाद दूसरा लड़का पैदा हुआ। उसका भी वही हाल हुआ।

तीन साल बाद तीसरा लड़का पैदा हुआ। एक दिन राजा-रानीमे फिर विचित्र बातचीत हुई—

महाराज—इस लड़केको साधु मत बना देना।

महारानी—अवश्य बनाऊँगी।

महाराज—तब तो सिंहासन सूना-का-सूना ही रहेगा। सन्तान पैदा करनेका लक्ष्य क्या था ?

महारानी—मैं आपसे प्रतिज्ञा ले चुकी हूँ।

महाराज—मैं वह प्रतिज्ञा अस्वीकार नहीं करता। परंतु तुमसे पुनः प्रार्थना करता हूँ कि इस पुत्रको राजकीय शिक्षा दी जाय। इसकी शिक्षाका प्रबन्ध मेरे हाथोंमे दे दो।

महारानी—अच्छी बात है।

इस तीसरे कुमारका नाम था—अशोककुमार।

जब अशोककुमार एक सुयोग्य युवक हो गया, तब राजा और रानी उसे राजकाज सौंपकर वनमे तप करने चले गये। वे अपने बड़े कुमार आत्मानन्दके आश्रममे जा पहुँचे और वहीं रहने लगे। दूसरा कुमार न मालूम साधुओंके साथ कहाँ चला गया।

एक दिन आत्मानन्दने माता मदालसासे कहा—

आत्मा०—माताजी ! आप कभी-कभी बहुत चिन्तातुर हो जाती हैं।

मदालसा—हाँ, मुझे तुम्हारे छोटे भाईकी चिन्ता सताती है। वह राजकाजमे पड़ा हुआ ईश्वरको भूल रहा है। यों ही रहा तो वह मरकर अवश्य नरकमे जायगा। क्योंकि—'तपसे राज्य और राज्यसे नरक !'

आत्मा०—आपकी चिन्ता कैसे दूर हो सकती है ?

माता—तुम अपने मामाके पास जाओ। उनकी सेना लेकर अपने छोटे भाईपर चढ़ाई कर दो। उसे पराजित करके खुद राजा बन जाना और उसे वनमे तपके लिये भेज देना। जब तुम राजा हो जाओ, तब अपना विवाह कर लेना। एक पुत्र पैदा करना और उसे गद्दी देकर रानीके साथ यहाँ चले आना। इस प्रकार मेरी कोई सन्तान मूर्ख और पापी न रह सकेगी। मेरे तीनो पुत्र इस प्रकार भगवद्भजन कर सकेंगे और मुक्त हो सकेंगे। माताका आदर्श यही है कि जो जीव उसके गर्भमे आये—उसे मुक्त करा दे ! उसे पुनः-पुनः जननी-जठरमे न आना पड़े। गर्भ भी एक नरक है।

आत्मा०—जो आज्ञा।

आत्मानन्द अपने मामाके पास गया। उसने सेना लेकर काशीपर चढ़ाई कर दी। अशोककुमार हार गया और बंदी हुआ। छः मास बाद आत्मानन्द अपने भाईके पास जेलमे गया और बोला—

आत्मा०—राजन् ! मैं आज आपका राज्य आपको लौटाने आया हूँ।

अशोक०—(आश्चर्यसे) क्यों ! आपने तो मुझे जीत लिया है । हस्तगत राज्य क्यो छोड़ना चाहते हैं ? ऐसा तो कोई नहीं कर सकता ।

आत्मा०—मै संन्यासी था । मैंने सोचा कि शायद राज्यमे अधिक सुख होगा, इसीलिये आपपर चढ़ाई की थी । परंतु इस छमाहीमे अनुभव हुआ कि मैं पहले ईश्वरकी गोदमे बैठा था और अब मायाकी गोदमें बैठ गया हूँ । मुझे तो राजकाजमे कोई सुख प्रतीत नहीं होता । वह पक्का मूर्ख है कि जो तप छोड़ राज्यकी अभिलाषा करे । स्वर्ग छोड़ नरकमे रहनेकी अभिलाषा करना मूढ़ता नहीं तो और क्या है ?

अशोक०—तब तो मुझे भी तप करना चाहिये ।

आत्मा०—जी नहीं । मै तप करूँगा । आप अपना जंजाल सँभालें ।

इतना कहकर आत्मानन्दने राजमुकुट उतारकर अशोकके सिरपर रख दिया । अशोकने पुनः उसे उतारकर आत्मानन्दके सिरपर रक्खा और कहा—

अशोक०—आप तप कर चुके हैं आप राज्य कीजिये । अपने पुत्रको गद्दी देकर फिर तप कर लेना । मुझे तप करने दीजिये ।

आत्मानन्द भी यही चाहते थे । भाईके मुखसे यह सब कहलानेके लिये ही उन्होने नाटक रचा था ।

अशोककुमारको माता-पिताके पास भेज दिया गया । वहाँ जाकर उसने जाना कि उसे उसके बड़े भाईने ही पराजित किया था । सो भी माताकी आज्ञासे ।

आत्मानन्दने अपना विवाह किया । एक पुत्र भी पैदा हुआ । परंतु वह राज्यकाजमे ऐसा लवलीन हुआ कि माताकी आज्ञा ही भूल गया । वह राजकाजसे ही प्रेम करने लगा ।

× × × ×

संन्यासिनीका रूप धारणकर एक दिन मदालसा काशीनरेशके महलमें जा पहुँची ।

आत्मानन्दने सत्कारकर पूछा—

आत्मा०—मेरे राज्यमे अकाल क्यो पड़ गया है ?

संन्या०—राजाके पापसे अकाल पड़ता है ।

आत्मा०—मैंने कौन-सा पाप किया ?

संन्या०—तुमने सबसे बड़ा पाप किया ।

आत्मा०—वह कौन-सा ?

संन्या०—तुमने अपनी माताको धोखा दिया है ।

आत्मा०—हाँ, हाँ । मै तो अपनी प्रतिज्ञा ही भूल गया था ।

संन्या०—अपने पुत्रको गद्दी देकर पत्नीके साथ अपनी माताके पास चले जाओ । तब अकाल दूर होगा ।

उसी दिन राजाने अपने राजकुमारको राजतिलक दे दिया । वह संन्यासिनीके साथ वनमें चला गया ।

आश्रममें पहुँचकर आत्मानन्दने जाना कि वह संन्यासिनी स्वयं उसकी माता ही थी । तबतक दूसरा राजकुमार विनयकुमार भी समस्त तीर्थोंका दर्शन करके वहाँ आ गया ।

एक दिन तीनों पुत्रों और पतिके समक्ष महारानी मदालसाने यह वक्तव्य प्रकट किया—

'यदि माता ज्ञानवती हो तो एक विराट् कुलको ज्ञानवान् बना सकती है । माता अज्ञानी हो तो वह एक विराट् कुलको नरकमें भेज सकती है । स्त्रियोंकी बड़ी भूल है कि वे धनवान् पति पसंद करती हैं । उनको चाहिये कि वे ज्ञानवान् पति पसंद किया करें ।

हिंदू-संस्कृतिका आदर्श माताके लिये यही है कि वह अपनी किसी सन्तानको ईश्वर तथा धर्मके विरुद्ध न चलने दे । नहीं तो सन्तान स्वयं नरकमें जायगी और माता-पिताको भी नरकमें घसीट ले जायगी ।

आज मुझे पूर्ण सन्तोष है कि मेरे तीनों पुत्र तथा मेरे पतिदेव मेरे साथ तप कर रहे हैं ! इससे बढ़कर एक साध्वी नारीका क्या सौभाग्य हो सकता है ।

मै जो अपने मातृ-आदर्शमें उत्तीर्ण हो सकी हूँ, उसमें मेरे पतिदेवने यथेष्ट सहायता पहुँचायी है । मैं ईश्वरसे प्रार्थना करती हूँ कि—

हे दयालु ! हम पाँचोंको मुक्ति प्रदान करो !'

माताका उपदेश

तू शुद्ध है, तू बुद्ध है, तू है निरंजन सर्वदा । संसार-मायासे रहित तू है स्वरूपस्थित सदा ॥
संसार सारा स्वप्न है अब मोह निद्रा त्याग तू । कह रही निज तनय से मा पुत्र सत्वर जाग तू ॥

भ्राताका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

केवलपुरमें केवल एक घर ठाकुरोंका है। बड़े भाईका नाम श्यामसिंह और छोटे भाईका नाम रामसिंह। दोनोंमें अपार स्नेह। माता-पिता स्वर्ग चले गये थे। विवाह दोनों भाइयोंके हो चुके थे। छोटे भाईकी स्त्री मालती घरमें आयी तो अलग चूल्हा बनानेकी बात सोचने लगी। एक बार रातमें मालतीने अपने पतिसे कहा—

मालती—तुम्हारे बड़े भाई साहब केवल पूजा-पाठ किया करते हैं और खेतीका सारा काम तुम करते हो।

रामसिंह—पूजा-पाठका काम हिंदू-संस्कृतिमें प्रधान काम है। खेतीका काम दूसरे दरजेका काम है।

मालती—पूजा-पाठसे क्या होता है?

राम०—देवतालोग प्रसन्न रहते हैं।

मालती—देवता क्या करते हैं?

राम०—खेतीके काममें सहायता देते हैं।

मालती—हल तुम चलाते हो, खाद तुम डालते हो, बीज तुम बोते हो और सिंचाई तुम करते हो—देवता क्या करते हैं?

राम०—खेतीके काममें देवतालोग सहायता न करें तो एक दाना भी पैदा न हो।

मालती—सो कैसे?

राम०—धरती माता, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, पवनदेव तथा इन्द्रदेवकी सहायतासे खेती होती है। ये लोग विरोधी हो जायँ तो अच्छी खाद, अच्छी जुताई एक तरफ रक्खी रहेगी।

मालती—इसलिये दिनभर देवताओंकी पूजा करना ही बड़े भाई साहबका काम हो गया है?

राम०—पूजा-पाठके अलावा वे और भी काम करते हैं।

मालती—सो क्या?

राम०—मुकदमोंका काम वही करते हैं।

मालती—मुकद्दमे सालमें दो एक आते हैं, सो तुम भी कर सकते हो। मिडिल पास किया है। कायदा-कानून जानते हो।

राम०—घरका सारा इन्तजाम बतलाते हैं।

मालती—घरका इन्तजाम मैं बतला दिया करूँगी।

राम०—उन्नतिके विचार बतलाते हैं।

मालती—विचार करना भी कोई काम है?

राम०—विचार ही तो काम है। इस संसारका राजा विचार ही तो है। प्रत्येक बातमें विचार है। विचारमें त्रुटि आयी कि सत्यानाश हुआ।

मालती—मेरा विचार है कि मैं अलग चूल्हा बनाऊँ। तुम अपनी जमीन बँटा लो। रुपया-पैसा और जेवर बड़ी बहूके पास है, उसे भी आधा-आधा कर लो।

राम०—क्यों?

मालती—यों कि कल बाल-बच्चे होंगे और परसों उनका ब्याह होगा; हमारी गुजर साथमें नहीं हो सकती।

राम०—हिंदू-संस्कृतिका यह आदर्श नहीं है।

मालती—क्या आदर्श है?

राम०—बड़ा भाई पिता-समान, वही घरका मालिक। बड़ी भावज माता-समान, वही घरकी मालकिन।

मालती—और तुम?

राम०—सेवक, अनुचर, नौकर, दास!

मालती—और मैं?

राम०—सेविका, अनुचरी, नौकरानी और दासी।

मालती—कहाँ लिखा है?

राम०—रामायणमें।

मालती—आग लगे रमाइनमें और धुँआ उठे पराइनमें।

राम०—हैं, हैं—।

मालती—(क्रोधमें भरकर) कैसी हैं-हैं? मैं दासी हूँ! जोरावरसिंहकी लड़कीको दासी लिखा है—रमाइनमें? मैं घरमें 'रमाइन' रक्खूँगी ही नहीं। कल सुबह उसे उठाकर तालमें फेंक दूँगी।

राम०—(हँसकर) अगर तुम रामायण नहीं मानोगी तो तुम हिंदू नहीं मानी जाओगी।

मालती—तो कौन मानी जाऊँगी?

राम०—कुछ भी नहीं। कोई जाति नहीं।

मालती—कोई जाति नहीं? मेरी जाति है ठाकुर। मैं

ठाकुरकी लड़की हूँ। असल क्षत्री—चौहानवंश ! और तुम कहते हो कि मेरी जाति ही नहीं !

राम०—मालूम होता है कि तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है।

मालती—और तुम्हारा !

राम०—मेरा दिमाग खराब होनेका कोई कारण नहीं है।

मालती—मेरे खराब दिमागका कोई कारण है !

राम०—कारण प्रत्यक्ष है, नहीं तो तुम ऐसे विचार ही क्यों करती !

मालती—मेरे विचार ठीक नहीं—अच्छी बात है। कल मैं अपना विचार दिखलाऊँगी।

राम०—क्या करोगी !

मालती—अब क्या ! अब तो मेरा दिमाग खराब ही है ! जो जीमे आयेगा, वही करूँगी। क्योंकि मेरा दिमाग खराब है। अगर मेरा दिमाग खराब था तो मैंने दर्जा ४ कैसे पास किया था !

राम०—दर्जा ४ तो कोई चीज नहीं; यदि कोई संस्कृतमे एम्० ए० भी पास कर ले तो क्या होगा। जिसके ऐसे विचार हैं, उसका दिमाग तो खराब ही माना जायगा।

× × ×

प्रातः हल लेकर रामसिंह खेत जोतने चले गये। मालतीने अपनी जिठानीसे कहा—

मालती—मेरा विचार अलग रहनेका है। इस घरमें चार कमरे हैं। दो तुम ले लो और दो हम।

जिठानीका नाम था—माधवी। वह सकपकाकर बोली—'देवरजीकी राय ले ली है !'

मालती—उनकी रायसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं। वे मेरा दिमाग खराब बतलाते हैं। जोरावरसिंहकी लड़कीका दिमाग खराब है, यह उनकी किताबमें लिखा है।

माधवी—मेरी समझमे तुम्हारी बात आयी नहीं, देवरानी !

मालती—आ जायगी। घबराओ मत। बर्तन कितने हैं !

माधवी—कभी गिने नहीं।

मालती—लाओ, मैं गिनती हूँ। चार थाली, चार लोटे और चार कटोरे। दो-दो हो गये। यह लो अपने हिस्सेके बर्तन।

माधवी—हिस्सा-बाँट हम-तुम नहीं कर सकतीं।

मालती—और कौन करेगा !

माधवी—मर्द लोग।

मालती—मर्द जायँ भाड़में। मर्दकी नजरमे औरत पागल तो औरतकी नजरमें मर्द पागल। जब पागलपनका प्रस्ताव पास किया गया, तब पागलपन ही सही। मैं भागकर इस घरमें नहीं आयी हूँ। मेरा विवाह होकर आया है। मेरा हिस्सा है।

माधवी—मैं मानती हूँ कि तुम्हारा हिस्सा है।

मालती—तो फिर बहस किस बातकी। उन दो कमरोंमें तुम रहो। इन दो कमरोंमें मैं रहूँगी।

माधवी—अच्छी बात है।

मालती—आधे बर्तन ले जाओ।

माधवी—ले जाऊँगी।

मालती—ले कब जाओगी। अभी उठाओ। अनाज कितने बोरे हैं !

माधवी—सात बोरा।

मालती—आधा-आधा कर लो। रुपया-पैसा और जेवर भी निकालो।

माधवी—जरा थम खाओ। मैं पूजावाली कोठरीमें जाकर तुम्हारे जेठजीसे राय ले आऊँ।

मालती—यह भी कह देना कि मैं वह देवरानी नहीं हूँ, जो जेठजीके सामने डेढ़ हाथका घूँघट निकालकर कोठरीमें भाग जाती है। अगर जेठजीने इन्साफ न किया तो झाड़ू लेकर बात करूँगी।

× × ×

मकानके बाहर पूजाकी कोठरी थी, जो बैठकके बगलमें बनी थी। माधवीने जाकर देखा कि उसके स्वामी महादेवजीपर बेलपत्री चढ़ाते जाते हैं और 'नमः शिवाय' कहते जाते हैं।

माधवी—आप यहाँ पूजा कर रहे हैं और घरमें देवरानी हिस्सा-बाँट कर रही है।

श्यामसिंह—क्या बात है ?

माधवीने सारा किस्सा कह सुनाया।

श्याम०—बहूसे कह दो कि आजसे वही मालकिन है। सारा रुपया-पैसा और जेवर उसे सौंप दो। वह पढ़ी-लिखी, होशियार है। तुमसे अच्छा प्रबन्ध करेगी।

माधवी भीतर गयी। रुपये-पैसे तथा जेवरवाला बक्स उठाकर मालतीके पास रख दिया।

मालती—जेठने क्या कहा ?

माधवी—यह कहा कि बहू पढ़ी-लिखी है। आजसे वही घरकी मालकिन है। सारा माल-खजाना, घर-बार—सब उसीको सौंप दो। यह लो घरकी चाबियोंका गुच्छा। ये बक्स तुम्हारे सामने हैं। मुझसे जो कहो, सो करूँ।

मालती—धन-दौलतमें आधा हिस्सा तुम ले लो।

माधवी—मैं एक पैसा नहीं लूँगी।

मालती—क्यों ?

माधवी—स्वामीकी आज्ञा नहीं है।

मालती—स्वामीकी आज्ञासे अपना हिस्सा छोड़ दोगी ?

माधवी—अवश्य छोड़ दूँगी।

मालती—इस घरके सब लोग पागल दिखलायी पड़ते हैं। जेठजी भी 'स्वाहा-स्वाहा' करने लगे। जिठानी भी लीकपर लीक चलाने लगीं ! यानी जो बात मैं कहूँगी, उसे कोई नहीं मानेगा—अपनी-अपनी बात मेरे सिरपर थोपनेके लिये सभी तैयार हैं। मैं न तो दूसरेका हिस्सा लूँगी और न अपना हिस्सा दूँगी।

माधवी—ऐसा ही कर लेना। जल्दी क्या है। आज अलग रोटी बना लो। कल हिस्सा-बाँट कर लेना। कल देवरको भी खेतपर न जाने दूँगी। चारों आदमी मिलकर हिस्सा कर लेना।

यह बात मालतीकी समझमें आ गयी। उसने अलग एक चूल्हा बनाया। उड़दकी दाल बनायी। रोटी बनायी। दोपहरको रामसिंह घरपर आये। श्यामसिंह भोजन करके कमरेमें लेटे हुए 'कल्याण' पढ़ रहे थे। रामसिंह स्नान करके भोजन करने जो घरमें गये तो दो चूल्हे दिखलायी पड़े। मालतीने उनको अपने चौकेमें बुलाया; परंतु वे भावजके चौकेमें चले गये और बोले—'आज क्या बनाया है, भौजी ?'

माधवी—खिचड़ी बनायी है।

राम०—लाओ, परोसो।

माधवी—बहूने सुन्दर उड़दकी धोई हुई दाल बनायी है। हींगसे छौंकी है। रोटी बनायी है—तिरबेनीकी। गेहूँ, जौ और चनेका आटा मिलाकर तिरबेनी रोटी बनायी है। वहीं जाकर खाओ।

राम०—अलग रोटी क्यों बनायी ?

माधवी—कहती है कि अलग रहूँगी।

राम०—रहेगी तो रहे अलग। परोसो मुझे खिचड़ी।

माधवी—उसे बुरा लगेगा।

राम०—मैं उससे बाततक न करूँगा।

माधवीने खिचड़ी परोस दी। रामसिंह खा-पीकर बाहर चले गये। मालतीने गुस्सेमें आकर रोटियाँ कुत्तेको डाल दीं। बेचारीको 'एकादशी' हो गयी।

× × ×

रातको जब दोनो इकट्ठे हुए, तब यो बात-चीत हुई—

मालती—तुमने मेरे चौकेमे रोटी नही खायी, और भावजके चौकेमे खिचड़ी खायी।

राम०—कहो एक बार कहूँ, कहो लाख बार और कहो तो पत्थरपर लिख दूँ।

मालती—क्या ?

राम०—मैं अपनी स्त्रीको छोड़ सकता हूँ परंतु अपने भाईको नहीं छोड़ सकता।

मालती—क्यों ?

राम०—हिंदू-संस्कृतिका आदर्श ही ऐसा है। श्रीलक्ष्मणजीने भाईके लिये पत्नीको चौदह वर्ष त्याग दिया था।

मालती—अच्छी बात है। तब मैं ही अपना हठ छोड़े देती हूँ। सुबह होते ही अपना चूल्हा फोड़ डालूँगी। सारे घरसे अलग रहकर मैं कौन-सा सुख पा लूँगी ?

राम०—अब तुम्हारा पागलपन दूर हो गया।

तबसे आजीवन मालतीने हिस्सा-बाँटका नाम न लिया। माधवी कोई काम मालतीकी सलाह बिना न करती थी। चाबियाँ भी बहूके पास ही रहती थीं।

एक हरि ही तेरे हैं

जगमें तेरा कुछ नहीं, मिथ्या ममता मोह।
एक हरी तेरे सदा चिदानंद संदोह॥

भक्तकन्याका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीअवधूतानन्दजी गिरनारी)

बुन्देलखण्डमे बलभद्रपुर नामकी एक रियासत थी। वहाँ एक राजकुमारी पैदा हुई थी, जिसका नाम था विमला-कुमारी। विमलाको एक गुरुजी संस्कृत तथा हिंदी पढ़ाते थे। दोपहरीको जब गुरुजी स्नान करके ठाकुरजीकी पूजा किया करते थे, तब विमला एकटक ठाकुरजीको देखा करती थी। एक दिन विमलाने कहा—

विमला—गुरुजी! ये ठाकुरजी मुझे दे दीजिये।

गुरु—तुम क्या करोगी?

विमला—पूजन किया करूँगी। बातें किया करूँगी।

गुरु—तुम अभी कन्या हो। गुड्डे-गुड्डीका ब्याह खेला करोगी। फिर बड़ी हो जाओगी, तब तुम अपनी ससुराल चली जाओगी; ठाकुरजीकी पूजाका अवसर तुमको कभी न मिलेगा।

विमला—क्या कन्याका यही आदर्श है, गुरुजी?

गुरु—नहीं, कन्याका आदर्श तो दूसरा ही है।

विमला—वह कौन-सा?

गुरु—माता, पिता और भ्रातासे सद्व्यवहार रखना कन्याका प्रथम आदर्श है। गुरु तथा ईश्वरकी भक्ति रखना कन्याका दूसरा आदर्श है। पति तथा पुत्रकी सेवा करना उसका अन्तिम आदर्श है।

विमला—सबसे बडा आदर्श कन्याके लिये कौन-सा है?

गुरु—सबसे बड़ा आदर्श तो माता-पिता, भ्राता, गुरु-शिष्य, पति-पुत्र, पत्नी—सबके लिये एक ही है और वह है श्रीठाकुरजीकी भक्ति सीखना।

विमला—क्यों?

गुरु—ठाकुरजी ही संसारके स्वामी हैं। हर-एक जीव उनका नौकर है। जो नौकर अपने स्वामीकी सेवा नहीं करेगा, वह मेवा नहीं पायेगा। उसे कान पकड़कर निकाल दिया जायेगा।

विमला—तो ठाकुरजीकी सेवा करना सबका प्रधान आदर्श है?

गुरु—हाँ, बेटी! यही सबका प्रधान आदर्श है। यदि तुम ईश्वरकी भक्त बनोगी तो तुम्हारे आचरण स्वयं धार्मिक रहेंगे। ईश्वरकी छविकी छटाका नाम धर्म है। धर्म यानी कर्तव्य।

विमला—तब तो, गुरुजी! मैं इसी सबसे बड़े आदर्शको मानूँगी; बस, ये ठाकुरजी मुझे दे दो।

गुरु—नहीं। ये तो मेरे ठाकुरजी हैं।

विमला—और मेरे ठाकुरजी?

गुरु—तुम्हारे ठाकुरजी कल आ जायेंगे।

विमला—कैसे?

गुरु—कल सुबह मेरे साथ नर्मदाजी स्नान करने चलना। पाताल फोड़कर, नदीके द्वारा तुम्हारे ठाकुरजी आयेंगे।

गुरुजीने सोचा था कि नर्मदामें गोल-मोल पत्थरके टुकड़े पड़े रहते हैं, उन्हींमेंसे एक उठाकर दे दूँगा।

अपने ठाकुरजीकी प्रतीक्षामें विमलाको अपार आनन्द हुआ। प्रातः दोनों हाथीपर चढ़कर नर्मदास्नानके लिये गये। गुरुजीने जो डुबकी मारी तो एक श्वेत पत्थरकी गोल मूर्ति उनके हाथमें थी।

राजकुमारी चिल्लायी! 'हमारे ठाकुरजी आ गये!'

गुरुजीने बाहर निकलकर ठाकुरजी दे दिये।

विमलाने अपने ठाकुरजीके लिये सोनेकी संदूकची बनवायी, रेशमी कपड़े बनवाये और जवाहराती जेवर बनवाये। रोज फूल और धूप-दीपके साथ पूजा करने लगी।

राजा और रानीने विमलाके उत्साहमें और भी योग दे दिया। जो-जो उसने माँगा, राजा-रानी सब प्रसन्नतापूर्वक देने लगे। आज-कलके मूढ़ माता-पिताकी तरह उन्होंने कन्याका भक्तिविलास रोका नहीं। पुत्र हो या पुत्री, हरिभक्तिसे किसीको रोकना नहीं चाहिये। इससे बढ़कर कोई पाप ही नहीं है। रामप्रेम रोकना ही महापाप है। कन्या तो जीव है, पशु-पक्षीतक रामसे प्रेम करते हैं।

× × ×

विमला—गुरुजी! ठाकुरजी तो आपकी कृपासे मिल गये; परंतु इनका नाम क्या है?

गुरुजीने देखा कि कन्या बहुत सीधी है। सीधेको 'सिलबिल्ला' कहते हैं ग्रामीण भाषामें।

गुरु—तुम्हारे ठाकुरजीका नाम है 'सिलबिल्ले ठाकुर।'

विमला—बिसमिल्ले ठाकुर ?

गुरु—वह तो फारसी भाषा हो गयी। सिलबिल्ले कहो।

विमला—सिलबिल्ले ठाकुरजी!

× × ×

एक दिन विमलाका विवाह हो गया। वह बारातके साथ ससुरालको चली। मार्गमें बारातने दोपहरी देखकर पड़ाव डाल दिया। राजकुमारीका पति पालकीके पास आया। राजकुमारीको अत्यन्त रूपवती देखकर बहुत प्रसन्न हुआ।

राजकुमार—इस सोनेकी संदूकचीमें क्या है ?

राजकुमारी—ठाकुरजी!

राजकुमार—देखूँ।

राजकुमारीने चाबी लेकर ताला खोला। रेशमी कपड़ोंमें फूलोंकी गद्दीपर पत्थरकी एक गोल बटरिया रक्खी थी। राजकुमार हँसा। उसे नयी दुनियाकी हैवानी हवा लगी थी। ईश्वर कहाँ है और यदि है भी तो वह अजर-अमर सच्चिदानन्द व्यापक होगा। और यह है नर्मदाकी बटिया। राजकुमारने कहा—'तुम बहुत सरल हो, राजकुमारी!'

इतना कहकर उसने ठाकुरजी उठा लिये। वहीं एक कुआँ था। हँसकर राजकुमारने उस ठाकुरजीको कुएँमें डाल दिया और चला गया।

× × ×

ससुराल पहुँचकर राजकुमारीने भोजन करना छोड़ दिया। केवल जल पीकर रहने लगी। हरदम ठाकुरजीका ध्यान। 'हाय! हमारे सिलबिल्ले ठाकुरजी कब मिलेंगे ?' यही चिन्ता। ससुरालवालोंने सोचा कि घरकी यादसे वहू भोजन त्याग बैठी है। एक रातको वह खिड़कीके द्वारा महलसे बाहर हो गयी। भागती हुई उसी कुएँके पास जा पहुँची, जिसमें ठाकुरजी पड़े थे।

राजकुमारी रोने लगी। उसने पुकारा—'सिलबिल्ले!' आवश्यकतासे अधिक सीधे व्यक्तिको 'सिलबिल्ला' कहा जाता है देहाती भाषामें। बहुत सम्भव है कि ईश्वर भी आवश्यकतासे अधिक सीधा व्यक्तित्व रखते हों। लिहाजा कुएँमेंसे जवाब आया—'वाह! मुझे यहाँ छोड़ तुम कहाँ चली गयी थीं?'

राजकुमारी—बाहर आ जाओ!

आवाज—तुम्हीं यहाँ आ जाओ।

राजकुमारी कुएँमें कूद पड़ी।

× × ×

विमलाने देखा कि कुएँमें पानीकी जगह फूल-ही-फूल भरे पड़े हैं और बजाय पत्थरके साक्षात् ठाकुरजी विराजमान हैं। पीताम्बर, वनमाला, मोहनमुरली, मधुर मुसकान!

विमला—सिलबिल्ले!

ठाकुरजी—कहो, सिलबिल्ली!

विमला—मैं उस ठाकुरजीके विरोधी घरमें अब न जाऊँगी।

ठाकुरजी—तो ठाकुरजीके माननेवाले घरमें चलोगी ?

विमला—नहीं, मैं तो अब तुम्हारे ही साथ रहूँगी। तुम्हीं मेरे सब कुछ हो।

श्रीकृष्ण—विमले! तुम राधारानीकी 'सरलता' से उत्पन्न हो। संसारकी समस्त स्त्रियाँ शक्तिके विविध अङ्गोंसे उत्पन्न हैं। आजकलके भयानक कलियुगमें तुम-सी सरलकी गुजर नहीं हो सकती। सरलको लोग बेवकूफ समझते हैं। मजा यह कि हैं खुद बेवकूफ!

विमला—तुम्हारा घर कहाँ है ?

श्रीकृष्ण—गोलोकमें!

विमला—वह कहाँ है ?

श्रीकृष्ण—पृथ्वीके ऊपर चन्द्र, चन्द्रसे दूर सूर्य, सूर्यसे ज्योति, ज्योतिके बाद गोलोक है!

विमला—बहुत दूर है।

श्रीकृष्ण—क्षणभरमें पहुँच चलेंगे।

इतना कहकर भगवान्‌ने विमलाके सिरपर हाथ फेरा। हाथके साथ ही उसकी आत्मा निकल आयी।

दोनों आकाशमार्गसे चले। यहाँ अपनी एक कहानी छोड़ गये।

जिन्ह कें रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

एक सप्ताहमें ही जयनारायण बाबू स्वस्थ हो गये। वे रामनारायणके कमरेमें आये। प्रेमा भी वहीं बैठी थी

जयनारायणने आकर रामनारायणके चरणोंपर अपना सिर रख दिया और रोने लगे। रामनारायणने उनको उठाया और छातीसे लगा लिया। रामनारायणकी आँखें भी बरस रही थीं।

जय०—भाई साहब! मेरी भूल क्षमा कीजिये। मैंने सुधारके भूतको विदा कर दिया है।

राम०—क्षमा किया।

जय०—मुझे फिर अपने घरमें रहनेकी आज्ञा दीजिये।

राम०—आज्ञा क्या देना, मकान तुम्हारा है। तुम्हीं चले गये थे। मैंने कब कहा था कि मकानसे निकल जाओ।

जय०—नहीं, आपने नहीं कहा था। आप पिताजीके समान हैं। आपने मुझे लिखाया-पढ़ाया और योग्य बनाया है।

राम०—आज ही आ जाओ।

जय०—प्रेमा बहिन!

प्रेमा—भया!

जय०—मेरी हिम्मत नहीं पड़ती जो तुम्हारी नजरसे अपनी नजर मिलाऊँ!

'सन्मुख होइ न सकत मन मोरा।'

प्रेमा—क्यों?

जय०—मैं भाईका आदर्श भूल गया, परंतु तुम बहिनका आदर्श नहीं भूली।

प्रेमा—हिंदू-संस्कृतिके अनुसार बहिनका जो आदर्श है, उसीका पालन मैंने किया है। अपना कर्तव्य पालन किया है। इसमें यदि कोई तारीफ है तो मेरी नहीं—हिंदू-संस्कृतकी तारीफ है।

× × ×

दूसरे दिन जयनारायण बाबू इसी घरमें आ गये। तीन महीने बाद प्रेमाका द्विरागमन हुआ। वकील साहबने हजारों रुपये खर्च किये। बहिनको जेवर और कपड़े अलग दिये। बहनोईके चरण स्पर्श किये। घंटेभर उनसे बात-चीत करके उनके दिलका मैल भी धो डाला।

सच है—बहिनके प्रेमकी थाह नहीं है।

आदर्श भाई

[कहानी]

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

मा दुर्गाके चरणोंमें पुष्पोंके ढेर लगे थे। सामने छोटा-सा घृतदीप जल रहा था और धूपकी गन्धसे कमरा भर गया था।

अनिलने अच्छी तरह देखा, प्रमोद बाबू पद्मासन लगाये बैठे हैं। उनकी हथेली पालथीके बीचमें एक-दूसरेके ऊपर रखी है। आँखें बंद हैं और उनसे आँसूकी दो पतली धाराएँ बह रही हैं।

अनिल बोल नहीं सका, पूजाघरसे वह दबे पाँव आया था। प्रमोद इतना आस्तिक है, माके चरणोंमें उसका इतना अगाध स्नेह है—इसकी उसे कल्पना भी नहीं थी। पाश्चात्य शिक्षाके प्रवाहसे विरले ही छात्र इस दिशाकी ओर आ पाते हैं। अनिलने माके चरणोंमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। उसने देखा, माके पूजागृहमें ही संगमर्मरकी एक और मानव-मूर्ति रखी हुई है। उसपर भी पुष्प अर्पित थे।

प्रमोद-जैसा अद्वितीय विद्वान् साधारण मनुष्यकी मूर्ति रक्खे, यह सम्भव नहीं। अवश्य ही यह किसी महान् पुरुषकी मूर्ति होगी। अनिल प्रमोदके गुरुसे परिचित था, यह मूर्ति उनकी नहीं थी। उसने ध्यानसे देखा, मूर्ति अपरिचित थी। सरल मुखाकृति और सजे बाल थे। खद्दरका कुर्ता दीख रहा था।

जिज्ञासा-निवृत्तिका समय न देखकर वह चुपचाप बाहर निकल आया।

× × ×

नारियलके झुरमुटके आगे सुपारीके पत्तासी पेड़ दीख रहे थे। वे पीछे छूट गये। केलेका विस्तृत बगीचा था, उससे भी आगे निकल गये। अब दोनों धानके मेड़ोंपर चल रहे थे। फलोंसे लदे सोनेकी भाँति पीले-पीले धान अत्यन्त सुहावने लग रहे थे।

प्रमोद चुपचाप चल रहा था। प्रकृतिके ये मोहक दृश्य उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाये। अनिलका मन रखनेके लिये उसने कहा, चलो उस खजूरके नीचे।

वहाँ खजूरके एक-दो नहीं, अस्सी वृक्ष थे। सामने एक पुष्करिणी थी और परिष्कृत तटपर जगज्जननी दुर्गाका एक मन्दिर था छोटा-सा। मन्दिरसे तीन मीलके भीतर कोई गाँव नहीं था, इस कारण यहाँ अत्यन्त श्रद्धालु जन ही आ पाते थे और उनकी संख्या अत्यल्प थी।

प्रमोदने अनिलके साथ माको प्रणाम किया। अनिलने देखा, प्रमोदकी आँखें फिर बरस पड़ीं। वह कुछ निश्चय नहीं कर सका।

आओ, यहाँ बैठें। प्रमोद अनिलको मा-मन्दिरके सामनेवाले छोटे चबूतरेपर ले गया। चबूतरा पक्का था और था पुष्करिणीके समीप।

पूर्णिमा थी उस दिन। नीले आकाशमे पूर्णचन्द्र खिले हुए थे। उनकी शीतल एवं स्निग्ध किरणें पुष्करिणीकी लघु-लहरियोंके साथ खेल रही थीं। तारिकाएँ शान्त एवं मौन थीं। मन्द पवन थिरक रहा था।

अनिल पूजा-गृहकी मूर्तिके सम्बन्धमे एक बार प्रश्न कर चुका था, बैठते हुए उसने फिर पूछा—'वे कौन थे, और तुम उनसे कैसे प्रभावित हुए? यदि कोई विशेष आपत्ति न हो तो मुझे भी बता दो।'

'आपत्तिकी कोई बात नहीं, अनिल!' प्रमोदने तुरंत कहा। 'तुम पहली बार मेरे गाँव आये हो। तुम्हारे-जैसे सहृदय, सदाचारी और स्नेही मित्रसे क्या छिपाया जा सकता है और यह छिपानेकी तो कोई बात भी नहीं है। यह मेरे बड़े भाईकी मूर्ति है, अनिल भैया। ये देवता थे। दैव-दुर्विपाकसे इनकी प्रत्यक्ष छत्रच्छायासे मुझे वञ्चित होना पड़ा, इसीसे मैंने इनकी मूर्ति बनवायी है और उसे पूजता हूँ। इनकी पूजासे मुझे पवित्रतम भाव और माकी भक्ति मिलती है। आज जो मैं विद्या, धन, गौरव और प्रतिष्ठाका पात्र बना हूँ, सो सब इन्हींकी कृपाका प्रसाद है। सबसे बढ़कर महत्त्वकी बात तो यह है कि मैं माको मा इन्हींके सदुपदेशोंसे समझ पाया था।'

प्रमोदने कहा—'वह देखो!' प्रमोदने पुष्करिणीमें उछलती हुई सफरियोंकी ओर संकेत किया। पुष्करिणीके पानीसे हाथ-डेढ़-हाथ ऊपर कूद-कूदकर वे क्रीड़ा कर रही थीं। चन्द्रदेवकी सुधासिक्त किरणोंमें वे सुकोमल चाँदीकी तरह चमक जाती थीं। 'आजसे सात वर्ष पूर्वतक इन्हीं छोटी मछलियोंकी भाँति मेरा जीवन निश्चिन्त एवं आनन्दपूर्ण था। मेरे जीवनमें सुख था, शान्ति थी और थी मस्ती! चिन्ता, शोक और विषादकी छाया भी मुझे स्पर्श नहीं कर पाती थी। पर अब यह निश्चिन्तता और आनन्द मुझसे छिन गया है।

'पिताजीका दर्शन मैं नहीं कर पाया और माता, जब मैं पाँच वर्षका था तभी चल बसी थीं। अब मेरा कहलानेवाले मेरे एक बड़े भाईके अतिरिक्त और कोई नहीं था। भैयाके बादकी दो-तीन सन्तानें जीवित नहीं रह सकी थीं। इस कारण माका अपूर्व प्रेम मुझपर था।

'माकी मृत्युके समय मैं रो पड़ा। भैयाने मुझे अपनी गोदमे उठा लिया और जाने क्या-क्या कहकर चुप करा दिया। माके परलोकगमनसे भैयाका हृदय टूट रहा है, मुझे इसका भान भी नहीं हो सका।

'मैं धीरे-धीरे बड़ा हो रहा था। भाभी तो मुझे चाहती ही थीं; किंतु भैया मुझे प्राणोंसे अधिक प्यार करते थे। उनकी वकालत खूब चल रही थी। पैसेका अभाव नहीं था, फिर भी वे अपने ही हाथों मेरी सेवा करते। मैं बारहका हो गया था, पर वे थपकी देकर मुझे सुलाया करते और जबतक मुझे गहरी नींद नहीं आ जाती, वे स्वयं नहीं सोते थे।

'उनकी इच्छा थी मुझे अद्वितीय विद्वान् बनानेकी। इसके लिये वे पूर्ण प्रयत्न करते। दो घंटे रात रहते ही वे स्नान-सन्ध्यासे निवृत्त होकर मा दुर्गाके चरणोंमे बैठ जाते। अरुणोदय हो जाता और माके समीप ही रहते। माके समीप रहनेमे उन्हें अपूर्व सुख मिलता। माके बिना वे नहीं रह पाते। माके बिना मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं, वे कहा करते। शयनके पूर्व भी माके समीप वे कुछ समय अवश्य बैठते।

''कम-से-कम आध घंटे मैं भी माके समीप बैठा करूँ, वे बार-बार प्रेमके साथ मुझसे कहते। वे कहते 'पुत्र माका हृदय-खण्ड होता है, प्रमोद। अत्यन्त क्रूरकर्मी पुत्रपर भी मा कभी कुपित नहीं होती। वह परम करुणामयी एवं स्नेहशीला है।' धीरे-धीरे मैं भी भगवती दुर्गाके समीप बैठने लगा। दिन जाते देर नहीं लगती। मैं सोलह पार कर गया।''

'संसार बड़ा विचित्र है, अनिल!' कुछ रुककर, प्रमोदने कहना शुरू किया। 'जहाँ फूल है, वहीं काँटा भी है। मैं मैट्रिक हो चुका था। भैयाका स्नेह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। पर जाने क्यों भाभी मुझपर रुष्ट रहने लगी।

'बाहर मैं अधिक समय नहीं लगाता, पर कुछ भी देर होती तो वे बिगड़ जातीं। कदाचित् लाखोंकी सम्पत्तिसे उनका

मस्तिष्क फिर गया था। वे मुझे ऐसी जली-कटी सुनातीं, जो सहने लायक नहीं होती; पर मैं चुपचाप सह लेता और भैयासे कुछ न कहता। भाभी एक-न-एक बहाना निकालकर भैयासे मेरी शिकायत किया करती। पर वे सुनकर भी टाल जाते।

'भाभीका मन असाधारण रीतिसे बदल गया। उन्होंने मुझे अलग कर देनेके लिये भैयाके सामने प्रस्ताव रख दिया। भैया सन्न रह गये। उनका चेहरा उतर गया। उन्होंने भाभीको बहुत समझाया, पर भाभीपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भैया यह नहीं चाहते थे, इससे कुछ दिन और निकल गये।

'मुझे खूब स्मरण है—तीन दिन निकल गये, भैयाके मुहमें जलकी एक बूँद भी नहीं गयी।' आँसू पोंछते हुए प्रमोदने कहा 'वे कचहरी तो कैसे जाते। उन्होंने मुझे बुलाया। भाभी वहा पहलेसे ही उपस्थित थीं। भैयाकी सूखी आकृति देखकर मेरी आँखें भर आयीं, पर मैं चुप था। सिर झुकाये खड़ा रहा। भैयाके हाथमें दो दस्तावेज कागज थे।

'तुम्हारी भाभीने तुमसे अलग हो जानेका निर्णय कर लिया है।' उन्होंने धीरे-धीरे कहा 'विवश होकर इनका प्रस्ताव मुझे स्वीकार करना पड़ा है। इसके लिये मेरी दो शर्तें हैं।' कुछ रुककर उन्होने कहा। 'जिसे जो स्वीकार हो, ले ले; पर तुम्हारी भाभी तुमसे बड़ी हैं, इसलिये पहले माँगनेका अधिकार इन्हींका है।

''मैं अपराधीकी भाँति चुप था। उन्होने स्पष्ट किया, 'एक ओर मेरी समस्त सम्पत्ति और एक ओर केवल मैं हूँ। कागज लिखे-लिखाये तैयार हैं, सिर्फ हस्ताक्षर करने शेष हैं।'

'मैं सम्पत्ति चाहती हूँ।' भाभीने कुछ देर रुककर कह दिया। मैं भैयाके चरणोंमे गिर गया। उन्होंने मुझे अपने वक्षसे चिपका लिया।

'कागजोंपर हस्ताक्षर हुआ। भैया मुझे लेकर उसी अवस्थामें एक-एक धोती-कुर्ता पहने घरसे निकल गये। हमलोग कलकत्तेके दूसरे मुहल्लेमे पहुँचे। मकान मिलनेमें कठिनाई नहीं हुई। भैयाकी प्रैक्टिस चल ही रही थी। दो-तीन महीनेमें ही सारी व्यवस्था ठीक हो गयी। कोई अभाव खल नहीं पाया।

'उन्हें यदि कोई चिन्ता थी तो मेरी। वे चाहते थे मैं महान् विद्वान्, अनुपम सदाचारी एवं माका नैष्ठिक भक्त बन जाऊँ। अपनी इसी लक्ष्यसिद्धिके लिये वे निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। और आज उनका ही प्रसाद है कि मैं माके समीप कुछ देर बैठ पाता हूँ, मासे बात कर पाता हूँ। माका अपूर्व प्यार मैं भैयाके सहारे ही जान पाया।'

प्रमोदकी आँखें भर आयी थीं। अनिल प्रमोदकी बात ध्यानसे सुन रहा था। वे कह रहे थे, 'एक वर्ष दस मास निकल गये। एक दिन मैंने देखा, भाभी भैयाके पैरोंपर गिरी हुई फूट-फूटकर रो रही हैं।

'सारी सम्पत्ति नष्ट हो रही है' हिचकियाँ लेती हुई वे कह रही थीं। 'मैंने बहुत बड़ा अपराध किया था। मुझे ज्ञान नहीं था, अब क्षमा कीजिये।' मेरी ओर दृष्टि पड़ते ही लपककर उन्होंने मुझे अपनी गोदमें दबा लिया, 'मुझे आपकी और इस भाईकी आवश्यकता है।' भाभी प्रायश्चित्त कर चुकी थीं।

'भैया तो सरलताकी जीवित प्रतिमा थे। उदारता उनमें कूट-कूटकर भरी थी। किसीका जी दुखाना उन्होंने सीखा ही नहीं था। मुझे लिये वे भाभीके साथ पुनः अपने घरमें आ गये।

'यह तो उनके सम्बन्धकी एक बात थी। उनका समस्त जीवन त्याग, तप और परोपकारमें ही बीता। वे मनुष्यके रूपमें देवता थे। उनकी मूर्तिसे मुझे आज भी प्रेरणा मिलती है। वे जैसे आज भी मेरा पथ-प्रदर्शन करते हैं। मुझे उनका वाक्य भूल नहीं पाता—'पुत्र माका हृदय-खण्ड होता है, प्रमोद!' वह मासे अलग नहीं हो सकता। वह माके समीप ही रहेगा। इसलिये माके पूजागृहमें ही मैं उनकी मूर्ति रखता हूँ।'

प्रमोद चुप हो गया। सुधांशुकी सुधामयी धवल किरणें पृथ्वीके कण-कणमें प्रविष्ट हो गयी थीं। घर चलनेके लिये खड़े होते हुए अनिलने कहा, 'तुम बड़े भाग्यवान् हो, प्रमोद, जो ऐसे देवोपम भाई तुम्हें मिल गये थे।'

सबसे मिलकर चलिये

तुलसी यहि संसारमें भाँति भाँतिके लोग।
सबसों हिलमिल चालिये नदीनाव संजोग॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ

सदस्य बननेके नियम और प्रार्थना

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घके सम्बन्धमें गतवर्ष कल्याणके दूसरे अङ्कमें कुछ चर्चा की गयी थी। अबतक गीता-रामायणके पाठ करनेवालोंकी संख्या लगभग ११५०० हो चुकी है। और भी उत्साहसे गीता-रामायण-प्रेमी स्वयं सदस्य बनते हैं और अपने साथी परिचितोंको सदस्य बनानेकी चेष्टा करते हैं।

गीता-विभागमे पाँच और रामायण-विभागमें तीन श्रेणियाँ पाठ करनेवालोंकी रक्खी गयी है।

श्रीगीता-विभाग—

(१) जो नित्य १८ अध्याय सम्पूर्ण गीताका पाठ करते हैं।

(२) जो नित्य ९ अध्यायका पाठ करें।

(३) जो नित्य ६ अध्यायका पाठ करें।

(४) जो वर्षभरमें सम्पूर्ण गीताके ४२ पाठ अर्थपर लक्ष्य रखते हुए करें।

(५) जो प्रतिदिन १ घंटा कम-से-कम चार श्लोकोंका मननपूर्वक पाठ करें।

श्रीरामायण-विभाग—

(१) जो नित्य नवाह्न-पारायणविधिसे पाठ करते है।

(२) जो नित्य मासपारायणविधिसे पाठ करते है।

(३) जो नित्य ७ दोहे अर्थसहित पाठ करते है।

जो पहलेसे सदस्य है उनकी सेवामें, 'पाठ चालू है या नही' यह जाननेके लिये जवाबी कार्ड भेजा गया था, परंतु कुछ सदस्योने वे कार्ड लौटाये नहीं हैं; अतः जैसी उनकी परिस्थिति हो—कार्ड-पूर्ति करके लौटानेकी कृपा करनी चाहिये। जिससे पुनः पत्रव्यवहार नहीं करना पड़े। साथ ही पुराने सदस्य पत्र-व्यवहार करते समय सदस्य-संख्या और पूरा नाम-पता लिखनेकी कृपा करें।

'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओसे सविनय निवेदन है कि स्वयं सदस्य बनकर अपने साथी परिचितोंको गीता-रामायण-पाठकी ओर प्रवृत्त करना चाहिये।

निवेदक—रामजीदास बाजोरिया

संयोजक—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थना

आजकल कल्याण-सम्पादकके तथा मेरे व्यक्तिगत नामसे आनेवाले पत्रोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। मेरे कई साथी पत्रोंका उत्तर लिखते रहते हैं एवं कुछका मैं स्वयं लिखता हूँ, इतनेपर भी सब पत्रोंका उत्तर नहीं लिखा जाता। शङ्काओंके लंबे-लंबे पत्र आते हैं, जिनके उत्तरमें बहुत समय लगता है, अतएव समस्त महानुभावोंसे प्रार्थना है कि वे आवश्यक कार्य होनेपर ही मुझे पत्र लिखें एवं किसी पत्रका उत्तर न पहुँचे तो कृपया अप्रसन्न न हों तथा मेरी विवशता देखकर क्षमा करें।

इसी प्रकार हमारे पू० श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके नाम भी बहुत पत्र आते हैं, यद्यपि वे बड़ी सावधानीसे प्रत्येक पत्रका उत्तर लिखना चाहते हैं; परंतु एक आँखमें आपरेशन होनेके कुछ समय बाद उसकी रोशनी चले जानेसे उन्हें पत्रादि पढ़ने-लिखनेमें बड़ी कठिनता होती है अतएव उनको भी अत्यावश्यक होनेपर ही कम-से-कम पत्र लिखें। यह विनीत प्रार्थना है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

राम ही सब कुछ हैं

राम हैं मातु, पिता, गुरु, बंधु, औ संगी, सखा, सुतु, स्वामि, सनेही।
रामकी सौंह, भरोसो है रामको, राम रँग्यो, रुचि राच्यो न केही॥
जीअत रामु, मुएँ पुनि रामु, सदा रघुनाथहि की गति जेही।
सोई जिऐ जगमें 'तुलसी' नतु डोलत और मुए धरि देही॥

(कवितावली)

भगवान् श्रीराम ही मेरी माता हैं, वे ही पिता हैं तथा वे ही गुरु, बन्धु, साथी, सखा, पुत्र, प्रभु और प्रेमी हैं। श्रीरामचन्द्रजीकी शपथ है, मुझे तो रामका ही भरोसा है, मैं रामहीके रंगमें रँगा हुआ हूँ, दूसरेमें रुचिपूर्वक मेरा मन ही नहीं लगता। गोसाईंजी कहते हैं—जिसे जीते हुए भी रामसे ही स्नेह है और जो मरनेपर भी रामहीमें मिल जाता है, इस प्रकार सदैव जिसे रामका ही भरोसा है वही संसारमें जीता है, नहीं और सब तो मरे हुए ही देह धारण किये डोलते हैं।

उदार हिंदू-धर्म

(रचयिता—श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी उपनाम डाँगीजी)

(१)

हमारा हिंदू-धर्म उदार।
संस्कृतियोंका संग्रह-मन्दिर, सत्य-प्रेमका द्वार॥
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥ ध्रु०॥
नाग-द्रविड़-शक-हूण-देव या आर्य-अनार्य अनेक—
इन वर्गोंका सुन्दर संगम हिंदु-जाति सब एक॥
निराले सब आचार-विचार,
किंतु हैं सहयोगी-व्यवहार।
योग्यता या रुचिके अनुसार,
किया करते हम सदा सुधार॥
वैष्णव, शैव, शाक्त, गणपति, रविके पूजक सब सार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(२)

विधि, हरि, हर, गणराज, प्रभाकर, सिद्ध बुद्ध, सुरनाथ।
उमा, शारदा, श्री, सावित्री आदि शक्तियाँ साथ॥
अग्नि, जल, पवन, शून्य या स्थान,
मनुज, पशु, पक्षी—सभी महान।
विविध हैं वर्ण, विविध पहिचान,
विविध वाहन, सबका सम्मान॥
सबमें वह भगवान् बसा है, निराकार-साकार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(३)

काग-भुसुंडि, वराह, मत्स्य, हिमवान, गरुड़, जगदीश—
हमने सबका आदर सीखा, जङ्गम हो कि गिरीश॥
सभीमें पाया निर्गुण एक,
सफल हो गयी सगुणकी टेक।
जहाँ था भावोंका उद्रेक,
वहाँ भी छोड़ा नहीं विवेक॥
कहीं-कहीं अतिरेक हुआ पर, बना न भूका भार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(४)

व्यास, पतञ्जलि, जैमिनि, शङ्कर, गौतम, कपिल, कणाद—
नाना दर्शन-शास्त्र हमारे न्यारे-न्यारे स्वाद।
कहींपर नित्य वेदका गान,
कहीं सर्वस्व ब्रह्म—भगवान।
कहींपर सांख्य-योगकी तान,
कहींपर आतम-तत्त्वका मान॥
सबका ज्ञान समान हितङ्कर, सबमें सत्य विचार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(५)

नास्तिक-से-नास्तिक दर्शन भी रहे हमारे अंग।
सबको परखा, किंतु न छोड़ा कभी किसीका संग॥
इसीसे होता रहा विकास,
बढ़ाते गये आत्मविश्वास।
नहीं हम हुए व्यक्तिके दास,
बनाया हृदय विवेक-निवास॥
विविध हमारी परम्पराएँ, विविध पन्थ-विस्तार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(६)

कोई धर्मी, कोई प्रेमी, परमहंस या सिद्ध।
कोई अर्थी, कोई कामी, धन-जन-बल-से विद्ध॥
कहींपर है बहु-जनका स्वार्थ,
कहीं एकान्त पूर्ण परमार्थ।
हमारे पन्थ समष्टि-हितार्थ,
सभीमें जीवनके पुरुषार्थ॥
कर्म त्याग शुकदेव बनें या जनक कर्म-कर्तार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

दे जाते थे। बन्दा तो दो स्थानोंपर मिलते थे—समर-क्षेत्रमें घोड़ेकी पीठपर या पर्वतकी शिलापर ध्यानस्थ।

दिल्लीके सिंहासनपर बहादुरशाहके बाद फरुखसियर बैठे। उन्होंने काश्मीरके सूबेदार अब्दुलसमदखाँको बन्दा बैरागीके विरुद्ध ससैन्य भेजा। अब्दुलसमदखाँने कूटनीतिसे काम लिया। उसने सिख-सरदारोंके पास सन्देश भेजा—'हमारी सिखोंसे कोई शत्रुता नहीं। सम्राट् सिखोंको उनके राज्य देनेको प्रस्तुत हैं। बन्दा सिख नहीं है। उसने सिखोंको भड़काकर सम्राट्का द्रोही बना दिया है। इससे सिखोंका विनाश हो जायगा। हम केवल बन्दाको पकड़ने आये हैं।'

बन्दाने देख लिया कि सिखोंमें बुद्धि-भेद उत्पन्न हो गया है। युद्धमें वे पूरा उत्साह नहीं दिखलाते। विवश होकर उन्होंने दुर्गका आश्रय लिया। समदखाँ अपनी भेदनीतिके सन्देश भेजनेमें लगा रहा। सिखोंने बन्दासे पूछा कि वह सिख है या नहीं। बन्दाका एक उत्तर था कि वह गुरुका बन्दा है। इससे न कम न अधिक। सिखोंने शत्रुके बहकानेमें आकर दुराग्रह किया कि बन्दा विधिपूर्वक सिखधर्म स्वीकार कर ले।

'धर्म स्वीकार किया नहीं जाता। वह हृदयसे स्वीकार होता है। मेरा धर्म किसी प्रकार त्रुटिपूर्ण नहीं और न किसी भी लौकिक कारणसे मैं उसे बदलनेको प्रस्तुत हूँ।' निर्भीक उत्तर था बैरागीका। सिखोंमें अनेक इससे रुष्ट हो गये। बहुत-से प्रधान नायक अपने दलके साथ दुर्ग छोड़कर निकल गये। अब्दुलसमदने उन्हें आश्वासन दिया था कि उनको चुपचाप जाने दिया जायगा; परन्तु उन्हें बन्दी बना लिया गया और बड़ी निर्दयतापूर्वक मारा गया।

बहुत थोड़े सिख थे, जो उस महापुरुषको ठीक समझ सके थे। उन्होंने बन्दाका अन्ततक साथ दिया। थोड़े-से सैनिक थे, दुर्गकी सामग्री समाप्त हो गयी थी। अन्ततः किसी अपने ही सैनिकने शत्रुके बहकानेसे दुर्ग-द्वार खोल दिया। बन्दा और उनके ७८४ साथी पकड़ लिये गये। इस बार सिंहके पिंजड़ेमें बन्दाको बंद करके हाथीपर दिल्ली भेजा गया।

'तुम हमारा धर्म स्वीकार कर लो, तुम्हें जीवनदान दिया जायगा!' सम्राट्के प्रलोभनको एक भी सिखने स्वीकार नहीं किया। बन्दाको उन्होंने धर्म-परिवर्तनका भी आग्रह छोड़कर अपनी सेनाके सेनापति पदको स्वीकार करनेको कहा। बैरागी क्या यवन-सम्राट्के अत्याचारोंमें योग देना स्वीकार कर लेते? प्रतिदिन १०० बैरागी सिख-शूरोंके सिर काटे जाते। सात दिनोंतक यही क्रम चला। धर्मके लिये मस्तक देना उन मनस्वियोंको गौरवमय प्रतीत हो रहा था। विधर्मीके प्रलोभन उनके सम्मुख तुच्छ सिद्ध हुए।

सन् १७१५ का वह मनहूस दिन आया। आठवें दिन बन्दा नगरसे बाहर लाये गये। निश्चित योजनाएँ इतनी पैशाचिक थीं कि बादशाह उन्हें देखनेका साहस न कर सके। बन्दाके सम्मुख उनके इकलौते पुत्रकी छाती फाड़कर जल्लादने उस बालकका कलेजा निकाल लिया और बलपूर्वक बन्दाके मुखमें ठूँस दिया। वे बैरागी अर्धोन्मीलित नेत्र किये जैसे कुछ देखते ही न हों। तपायी हुई लोहेकी शलाखोंसे बैरागीको पीटा गया और जब उनका पूरा शरीर झुलस गया, तब गरम चीमटोंसे उनका मांस नोचा जाने लगा। बन्दा इतनेपर भी मुसकरा रहे थे। निजाबुद्दौलाने पूछा—'इतनी पीड़ा मिलनेपर भी तुम प्रसन्न कैसे हो?' बन्दाने कहा—'जो आत्माके स्वरूपको पहचानता है वह इस बातको जानता है कि आत्मा अमर है तथा दुःखातीत है।' इस उत्तरसे सभी चकित रह गये। बैरागीके मुखपर वेदनाका चिह्नतक नहीं था। वे शरीरके संसर्गसे कबके परे हो चुके थे। अन्तमें उनके शरीरको अत्याचारियोंने हाथीके पैरोंतले रुँदवाया। बन्दा सच्चे शहीद हो गये। धर्मकी रक्षाके लिये उनका यह बलिदान अमर है। —सु०

ज्ञान-योग-रत बन्दा वीर विकट त्यागी वैरागी था।
संस्कृति-धर्म-देशका सच्चा रक्षक औ अनुरागी था॥

लोकमान्य तिलक

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव बी० ए०)

'स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' भारतीय स्वाधीनताके इस मूल-मन्त्रके गायक लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलकका जन्म महाराष्ट्रके कोंकण प्रदेशमें समुद्रतटके रत्नगिरि स्थानमें २३ जुलाई सन् १८५६ को हुआ। उनके पिता गंगाधरराव स्थानीय पाठशालाके शिक्षक थे। बचपनमें नियमपूर्वक पिता उन्हें श्लोक कण्ठ कराया करते थे। वे बाल्यकालसे तर्कशील एवं प्रचण्ड मनोवृत्तिके व्यक्ति थे। वकालत पास करके भी १८८५ ईस्वीमें फर्ग्युसन कालेजमें उन्होंने गणितका अध्यक्षपद स्वीकार किया। देशकी पराधीनता उनके प्राणोंको सदासे आकुल करती थी। सन् १८९१में 'केशरी' और 'मराठा' का सम्पादन हाथमें लेकर उन्होंने महाराष्ट्रमें नवजीवन देना प्रारम्भ किया। उनकी लेखनी अग्निके वाक्य लिखने लगी। केवल इस सम्पादनकार्यको सम्हालनेके चार वर्ष बाद सन् १८९५ ईस्वीमें वे बम्बई-धारा-सभाके सदस्य निर्वाचित हुए। लेकिन अंग्रेज-सरकारकी दृष्टिमें वे भयङ्कर सिद्ध हो चुके थे। प्लेगकमेटीके अध्यक्ष रैंड-की एक युवकने हत्या की और सरकारने लोकमान्यपर उसे उत्तेजित करनेका अभियोग लगाकर १४ सितम्बर सन् १८९७ को डेढ़ सालकी सजा दे दी।

लोकमान्य जेलसे छूटे। उन्हें महाराष्ट्रको जाग्रत् करना था। देशको विदेशी शासनके साथ विदेशी संस्कृतिसे मुक्त करनेकी धुन थी। महाराष्ट्रमें 'गणेशोत्सव' तथा 'शिवाजी-जन्मोत्सव' उन्हींके प्रयत्नसे प्रारम्भ हुए। गोखले एवं रानडेकी नीति लोकमान्यको प्रिय नहीं थी। 'भीख माँगनेसे स्वाधीनता नहीं मिलती!' वे कांग्रेसमें गरमदलके अग्रणी थे और वह सूरत-कांग्रेसका अधिवेशन इतिहासमें अमर रहेगा, जिसमें आक्रमण करके लोकमान्यने दक्षिण पक्षसे कांग्रेस छीन ली। कांग्रेस प्रार्थना करनेवाली वैधानिक संस्थासे उसी समय स्वतन्त्र राष्ट्रिय संस्था बनी, उसके राष्ट्रिय स्वरूपके संस्थापक लोकमान्य ही हैं।

महात्मा गान्धीके शब्दोंमें 'लोकमान्य सदा मेरे लिये अथाह समुद्र रहे।' सचमुच उनका ज्ञान अथाह था। उनकी सूक्ष्म दृष्टिने विदेशी राज्यके दोषके साथ विदेश. संस्कृतिके दोष बड़ी स्पष्टतासे देख लिये थे। सनातनधर्म-प्रचार, गोवध निषेध, शिवाजीकी राष्ट्रियता, विद्यार्थियोंमें व्यायाम एवं देश-प्रेमका प्रचार और गीताकी महत्ताका लोकमें व्याख्यान—ये प्रमुख आन्दोलन थे लोकमान्यके। लोकमान्यका ही प्रभाव था कि उस समयके क्रान्तिकारी युवक गीताकी पुस्तक लेकर फाँसीके तख्तेपर चढ़नेमें गौरव मानते थे। सरकार उनसे भयभीत हो गयी। वे १९०२ में फिर गिरफ्तार करके देश-से बाहर मांडले जेलमें भेज दिये गये। यहीं जेलमें उन्होंने अपना महान् ग्रन्थ 'गीता-रहस्य' लिखा। जेलसे लौटकर वे होमरूल-आन्दोलनमें सम्मिलित हो गये।

सन् १९१६ की लखनऊ-कांग्रेसमें लोकमान्य जर्मनयुद्ध-में अंग्रेजोंको सहायता देनेके सर्वथा विरुद्ध थे। महात्मा गान्धी बिना शर्त सहायता देनेके पक्षमें थे। युद्धसमाप्तिपर भारतकी सहायताके बदले अंग्रेजोंकी ओरसे उसे रौलट एक्ट प्राप्त हुआ। देशने देखा कि लोकमान्यकी चेतावनी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। वे सदा स्वाधीनता एवं भारतीय संस्कृतिके लिये प्रयत्नशील रहे। देश आज स्वाधीन है, लोकमान्यका एक प्रयत्न पूर्ण हुआ; किंतु उनका गोवध-निषेध, भारतीय संस्कृतिके लिये प्रयत्न—क्या देशके अग्रणी उस महान् दिवंगत नेताको तुष्ट करेंगे?

लोकमान्यने खोजके सम्बन्धमें 'ओरायन' एवं 'आर्योंका आर्कटिक निवास'—ये दो ग्रन्थ लिखे सही, परंतु जीवनके पिछले दिनोंमें उन्होंने मान लिया था कि वे बहुत बड़ी भूलें कर गये हैं और इसका कारण अंग्रेजोंकी पाश्चात्त्य अन्वेषकोंकी पुस्तकें हैं। हमें विश्वस्त सूत्रसे ज्ञात हुआ है कि वे उन भूलोंको सुधारना भी चाहते थे, परंतु ३१ जुलाई सन् १९२० को उन्हें परलोकका निमन्त्रण आ पहुँचा। बम्बईमें पाँच लाख जनताने समुद्रतटतक उनके शरीरको पहुँचाया। महात्मा गान्धी भी उसमें थे। कहते हैं, लोकमान्यकी जलती चितामें उनके वियोगसे व्याकुल एक मुसलमान युवक कूद पड़ा था। उनकी लोकप्रियताने ही उन्हें लोकमान्य बनाया था। स्वाधीनता-संग्राममें वे भारतीय सांस्कृतिक योधा थे और अब भी उनका कार्य अधूरा ही है।

(७)

ब्रह्मचर्य, दाम्पत्य प्रेममय, वानप्रस्थ, संन्यास।
चारों आश्रम धर्म हमारे, समयोचित उल्लास॥
कभी अध्ययन, कभी गृह-कर्म;
कभी विश्रांति, कभी मुनिधर्म।
समझते हम जीवनका मर्म,
सदा सर्वत्र शान्ति या शर्म॥
हमें आत्मसन्तोष निरन्तर, ईश्वरका आधार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(८)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये वर्ण-व्यवस्था-भेद।
चिन्ता रहती नहीं वृत्तिकी, नहीं किसीको खेद॥
सभीके भिन्न-भिन्न व्यापार,
परस्पर करते पर-उपकार।
किसीका है न किसीपर भार,
चलाते सब मिलकर संसार॥
सबका सम सत्कार हृदयमें है, स्वाभाविक प्यार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(९)

विविध-शक्तियाँ,विविध लब्धियाँ,ऋद्धि-सिद्धिदातार।
विविध योग-विज्ञान आदि सब, मानस-बल-सञ्चार॥
सभीका ध्येय विश्व-कल्याण,
यही तप-ज्ञान-ध्यानका प्राण।
इसीमें है जीवनका त्राण,
जगत-हित बिना व्यक्ति म्रियमाण॥
शास्त्रोंका निर्माण हुआ अध्यात्म-दृष्टि-अनुसार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(१०)

ईसाई, इस्लाम, पारसी, जैन, बौद्ध-आचार।
जो पथ हितके हेतु बनाये, वे हमको स्वीकार॥
'चर्च', 'मस्जिद' या 'चैत्य' विहार,
शान्तिके हैं सब ही आगार।
'मसीहा', नबी, संत, अवतार—
हमारे प्रभुका सबपर प्यार।
सत्य प्रेमका अवलम्बन ले किया विश्व-उद्धार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(११)

कायर बनकर किया अहिंसाका न कभी अपमान।
जहाँ हुआ अन्याय, मचाया वहाँ घोर संग्राम॥
सत्यमें रक्खा हितका ध्यान,
प्रेममें रही न्याय-पहिचान।
नम्रताका न भूलकर मान,
बढ़ाया सदा आत्म-अभिमान॥
गुरु-जनका सम्मान किया, पर रहे स्वतन्त्र विचार।
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

(१२)

सभी धर्म ऐसे उदार हैं, प्रेम सभीका मूल।
निर्मल नीर बादलोंमें, पर मिली धरापर धूल॥
हमारा पन्थ महान् विशाल,
किंतु हममें है दम्भ-कुचाल।
स्वार्थका फैला करके जाल,
अरे, हम व्यर्थ बजाते गाल॥
'सूर्य-चन्द्र'के सत्य-प्रेमसे ज्योतिर्मय संसार!
हमारा हिंदू-धर्म उदार॥

स्वामी दयानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर

श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

श्रीबंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

श्रीबाल गङ्गाधर तिलक

लाला लाजपतराय

पं० श्रीमोतीलाल नेहरू

विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

'हे विश्वजनो, हे अमृतपुत्रो, हे दिव्य-धामवासी देवगण ! सुनो ! मैं उस महान् पुरुषको जानता हूँ, जो अन्धकारसे सर्वथा परे, परम ज्योतिर्मय है । उसे जानो ! उसे जानकर ही मृत्युके पार हम हो सकते हैं । इसके अतिरिक्त दूसरी राह नहीं है । हे मृत भारत ! तेरे लिये भी यही एकमात्र पथ है, अन्य नहीं ।'

—रवीन्द्रनाथ

बंगालका 'ठाकुर-परिवार' अपनी उदात्त विचारधारा, परोपकारवृत्ति, जनसेवाके साथ विपुल ऐश्वर्यके लिये भी प्रख्यात रहा है । 'गुरुदेव' इसी परिवारमें महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर-जैसे प्रमुख जननायक एवं गम्भीर विचारकके कनिष्ठ पुत्रके रूपमें ७ मई सन् १८६१ ई० को जोड़ासाँकूके विशाल राजप्रासादमें उत्पन्न हुए । भगवती लक्ष्मी एवं सरस्वती दोनोंका समान रूपसे यह कुल चिरकालसे कृपापात्र था । 'ब्रह्मसमाज' की विचारधाराका यही कुल प्रश्रय था । राजा-नवाबोंका अतुल ऐश्वर्य और वैसी ही शान-शौकतके साथ दार्शनिक चिन्तन, साहित्य-साधना, कला-सेवा और राष्ट्रोद्धार, समाज-सेवा, सुधारके आन्दोलनोंका नेतृत्व—ये ही सब ठाकुर-परिवारकी विशेषताएँ थीं । 'गुरुदेव' इसी वातावरणकी पृष्ठभूमिमें पले । यह ऐश्वर्य—स्वयं गुरुदेवका कहना था कि सेवकोंकी सेवा और निरीक्षण इतना अधिक था कि वह उनके लिये बन्धन बन गया था । वे तनिक भी अकेले या स्वतन्त्र न रह पाते थे । इस बन्धनने उन्हें गम्भीर और चिन्तनशील बना दिया । बचपनमें ही वे अद्भुत कल्पनाएँ करते और अपने कल्पनालोकमें निमग्न रहते ।

भाई-बहिनोंसे भरा परिवार और उसमें भी सब-के-सब साहित्य एवं कलाके विनोदी, इस गोष्ठीने शैशवमें ही 'गुरुदेव' को कवि बना दिया । वे जब ग्यारह वर्षके केवल स्कूली विद्यार्थी थे, 'विद्यापति-पदावली' एवं ऐसी ही पुरानी रचनाओंके अनुकरणपर तुकबंदियाँ करने लगे थे । उस समय बंगालमें कवि विहारीलालके 'गीतकाव्य' बहुत सम्मान पा रहे थे । गुरुदेवने उसी शैलीपर अपनी रचनाएँ प्रारम्भ कीं । केवल चार-पाँच वर्षोंमें ही गीत, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचनादि साहित्यके सभी क्षेत्रोंमें एक साथ उन्होंने प्रयोगात्मक कृतियोंकी भरमार कर दी । बँगला-साहित्यका ध्यान उसी अवस्थामें उनकी ओर खिंच गया । 'भुवनमोहिनी' उपन्यास, 'बनफूल' पद्य—ये गुरुदेवकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं, जो 'ज्ञानाङ्कुर', मासिक पत्रमें प्रकाशित हुईं । 'कालमृगया', 'वाल्मीकि-प्रतिभा' 'सन्ध्या-संगीत', 'छवि ओ गान', 'प्रकृतिर प्रतिशोध' 'ओ' ठाकुरानीर हाट' एवं 'कवि-काहिनी' प्रभृति प्रारम्भिक रचनाएँ बहुत प्रख्यात हैं और उन्हींमें वह अङ्कुर है, जो आगे विश्वतरुके रूपमें सबके सम्मुख आया ।

बीसवीं सदीका वह युगारम्भ ही था, जब अपनी अन्तः-सर्जनाको कर्म-जगत्में मूर्त करनेके लिये गुरुदेव अपनी सह-धर्मिणीके साथ अपने पूर्व-पुरुषोंकी उस तपोभूमि 'शान्ति-निकेतन' में आ गये थे । महाकवि उसे प्राचीन सांस्कृतिक शिक्षाकेन्द्रका मूर्तरूप देनेका स्वप्न लेकर आये थे । पाश्चात्य शिक्षाके दोषोंसे मुक्त उन्हें एक आदर्श संस्कृत आश्रम स्थापित करना था । सन् १९०१में इस प्रकार 'बोलपुर ब्रह्मचर्याश्रम' की स्थापना हुई । यही आश्रम थोड़े ही दिनोंमें 'विश्वभारती'-जैसी अन्ताराष्ट्रिय संस्था बन जायगा, यह तब किसने सोचा था । गुरुदेवने इसकी स्थापनाके लिये सपत्नीक अद्भुत त्याग किया था । अपना पुरीवाला मकान, बहुमूल्य स्वर्णा-भरण, पुस्तकें आदि सब बेचकर उन्होंने आश्रमकी आर्थिक कठिनाई दूर की और छात्रों तथा अध्यापकोंके साथ घुल-मिल गये । 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि ।' एक वर्ष भी आश्रमकी स्थापनाको नहीं हुआ था कि सहधर्मिणी, दो बच्चे, एक मित्र तथा पूज्य पिता—सभी एक-एक कर परधाम पधारे । कवि-हृदयपर यह बार-बार होनेवाला आघात ! लेकिन सुवर्ण तप्त होकर ज्योतिर्मय ही होता है, वेदनाकी महाज्वालामें तप्त भावना गम्भीरसे गम्भीरतम होती गयी । 'खेया', 'प्रायश्चित्त', 'राजा', 'गीताञ्जलि', 'गोरा', 'जीवनस्मृति', 'अचलायतन' और 'डाकघर'-जैसी उत्कृष्टतम कृतियाँ सन् १९०५ से १९१२ तकके अल्पकालमें निर्मित हुईं । सन् १९१२ में महाकविने विलायतयात्रा की । आयरिश कवि यीट्सने उनकी 'गीताञ्जलि' की ओर पाश्चात्य विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया । फलतः 'गीताञ्जलि' विश्वविश्रुत 'नोबेल पुरस्कार'से सम्मानित हुई । विश्वने भारतकी इस दिव्यविभूतिको 'विश्व-कवि' स्वीकार किया । गुरुदेव जब स्वदेश लौटे, उनकी ख्यातिने उनके वास्तविक रूपमें उन्हें उपस्थित किया । बंगालने हृदय खोलकर अपने इस 'मानस-सम्राट्' का स्वागत किया ।

लाला लाजपतराय

'लाला लाजपतराय व्यक्ति नहीं, संस्था थे। उन्हें अपने देश और सारे संसारसे प्रेम था।'—महात्मा गान्धी

लाला राधाकृष्णराय विद्यालयोंके निरीक्षक थे। उनका घर था लुधियाना जिलेके जगरावाँ प्रान्तमें। २८ जनवरी सन् १८६५ को अपने ननिहाल ढोंडी ग्राममें उत्पन्न होनेवाले बालक लाजपतने अपने इन पिताका नाम इतिहासमें अमर कर दिया। पिताने उनकी शिक्षाकी समुचित व्यवस्था की। प्रतिभाशाली बालक लाजपतराय शीघ्र ही शिक्षाके क्षेत्रमें आगे बढ़ गये। जब वे लाहौरमें मुख्तारी करने पहुँचे, स्वामी दयानन्द सरस्वतीके शिष्य गुरुदत्तकी वहाँ बड़ी धूम थी। लालाजीके विचारोंपर आर्यसमाजका गम्भीर प्रभाव पड़ा और आगे चलकर वे स्वयं आर्यसमाजके प्रमुख नेता हो गये।

२३ वर्षकी अवस्थामें लाला लाजपतराय प्रयाग-कांग्रेसमें सम्मिलित हुए। उन्होंने कांग्रेस-मञ्चसे पहला प्रभावशाली भाषण हिंदीमें दिया। शीघ्र ही वे लोकमान्य तिलकके साथ हो गये; क्योंकि नरम दलकी नीति उन्हें चापलूसी जान पड़ती थी। सन् १९०५ में जो कांग्रेस-शिष्टमण्डल लंदन गया, लालाजी उसमें एक प्रमुख सदस्य थे। लंदनसे लौटकर उन्होंने लोकमान्यकी नीतिका जोरोंसे समर्थन और प्रचार प्रारम्भ किया। सरकार उनसे चिढ़ उठी। सन् १९०७ में देशनिकाला देकर उन्हें माण्डले-जेल भेज दिया गया। माण्डले-से छूटनेपर लालाजी इंगलैंड चले गये।

सन् १९०९ में इंगलैंडसे लौटकर लालाजीने पण्डित मदनमोहन मालवीयजीके सहयोगसे हिंदूमहासभाकी स्थापना की। लालाजी राष्ट्रिय युद्धके सेनानी होनेके साथ सदा हिंदू-नेता रहे और उनकी स्वाधीनताका अर्थ सदा हिंदू-धर्म, हिंदू-संस्कृति एवं हिंदुस्थानकी सम्यक् स्वाधीनता था। वे हिंदू-संगठनके लिये सदा उद्योगशील रहे। सन् १९१२ में जब महात्मा गान्धीजीका दक्षिण-अफ्रिका-सत्याग्रह छिड़ा, तब लालाजीने महात्माजीको प्रचुर धन भेजकर सहायता की। उसी सत्याग्रहके सम्बन्धमें शिष्टमण्डलके साथ वे पुनः इंगलैंड गये और जब प्रथम जर्मन महासमरके समय उन्हें स्वदेश लौटनेका आज्ञापत्र देना ब्रिटिश सरकारने अस्वीकार कर दिया, तब वे वहाँसे अमेरिका चले गये। अमेरिकासे उन्होंने 'यंग इंडिया' पत्र निकालकर भारतीय स्वाधीनताकी माँगके लिये विदेशोंमें प्रचार प्रारम्भ किया। सन् १९१९ में पंजाब-हत्याकाण्डका समाचार पाकर लालाजी भारत आनेके लिये व्यग्र हो उठे। उन्होंने ब्रिटिश सरकारकी बड़ी कटु आलोचना की। अन्ततः २० फरवरी सन् १९२० को वे बम्बई पहुँचे। देशने उनका हृदय खोलकर स्वागत किया। महात्माजीके असहयोग-आन्दोलनमें उन्होंने पूरा भाग लिया और उस समयके कलकत्ता कांग्रेस-अधिवेशनके वे अध्यक्ष हुए। असहयोगका वह आन्दोलन—लाहौरके उसी डी० ए० वी० कालेजकी सीढ़ियोंपर बैठकर लालाजी सत्याग्रह करते थे, जिस कालेजके पहले वही सर्वे-सर्वा थे। सन् १९२१ में सरकारने उन्हें डेढ़ वर्षका कारावास-दण्ड दिया, पर वे अवधिसे पूर्व ही छोड़ दिये गये। उन्हें पुनः गिरफ्तार किया गया और वे १९२३ में छोड़े गये। कांग्रेसमें सक्रिय भाग लेते हुए भी वे हिंदू-महासभाके लिये तत्परतापूर्वक कार्य करते रहे।

सन् १९२८ में वह कुख्यात साइमन कमीशन आया। कांग्रेसने उसके बहिष्कारका निर्णय किया। लालाजी काले झंडे लेकर लाहौरमें विरोध-प्रदर्शनका नेतृत्व कर रहे थे। पुलिस नृशंसतापूर्वक जुलूसपर लाठियाँ चला रही थी। लालाजी पीछे हटनेवाले शूर नहीं थे। एक अंग्रेज सार्जेंटकी लाठीने १७ नवम्बर सन् १९२८ को सदाके लिये उन्हें मातृभूमिकी गोदमें सुला दिया। लालाजी गये—राष्ट्रिय आन्दोलनका एक उच्चतम नेता और हिंदू-संगठनका प्रबल स्तम्भ चला गया। लालाजीके पश्चात् तो कांग्रेस स्वदेशी संस्कृतिसे तटस्थ ही होती गयी। लाला लाजपतराय, वे निर्भीक सत्यनिष्ठ महा-पुरुष—उनका अपने सम्बन्धका कथन सबके मनन योग्य है। वे कहा करते थे—''मेरा मत 'सत्य' है। मेरा धर्म स्वराष्ट्रकी पूजा है। मेरा न्यायालय स्वयं मेरा अन्तःकरण है।''—रा० श्री०

महात्मा गान्धीजी

विश्वमें अनेक सुख्यात राजनैतिक पुरुष हुए हैं और होते रहेंगे, किन्तु महात्माजीके समान विश्वकी संस्कृतियोंमें एक झंकार उत्पन्न कर देनेवाले महापुरुष सदा विश्वमें नहीं आया करते। ऐसे महापुरुष तो कभी-कभी मानव-समुदायको जाग्रत् करने, उसे दैवी प्रकाश प्राप्त करनेका दिव्य सन्देश देने ही आते हैं।

'साधनकी चरम परिणति ही साध्य है; अतः अपवित्र, अनुचित, अनीतिपूर्ण साधनसे शुद्ध, पवित्र लक्ष्यकी प्राप्ति सम्भव नहीं। बुराईसे भलाईकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। लक्ष्य उच्च, पवित्र, आदर्श होना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है उसकी प्राप्तिके साधनका शुद्ध एवं पवित्र होना।' भारतके लिये यह नवीन बात नहीं है। धर्मसे ही धर्मकी प्राप्तिका हिंदू-संस्कृतिने अत्यन्त बलपूर्वक समर्थन किया है। युद्धमें भी असत्य, अन्याय यहाँ गर्हित माने गये हैं; किन्तु आजके मोहग्रस्त अपवित्र साधनोंको ही आदर्श माननेवाले विश्वके सम्मुख साधनकी शुद्धिका परम गम्भीर रूपमें उद्घोष करनेवाला महापुरुष संस्कृतिकी अन्तर्निहित वाणीका मूर्त प्रकाश बनकर आया था जगत्में।

आश्विन कृष्ण १२, संवत् १९२६ (२ अक्टूबर, सन् १८६९ ई०)की वह पावन तिथि धन्य है, जब विश्वने उस महापुरुषको प्राप्त किया और धन्य है वह गुजरातकी महामान्य भारतीय भूमि, जहाँ वह आया। कोई विशेषता नहीं है मोहनदास कर्मचन्द गान्धीके उस बाल्यकालमें और कोई विशेषता नहीं है उनके लन्दन जाकर अध्ययन करनेमें तथा बैरिस्टर होकर भारत लौटनेमें; किन्तु यह कहना सत्य नहीं होगा। सत्य, संयम, सादगीका उनका जीवन जन्मसे महापुरुषका जीवन है। सत्यपर स्थिरता, विलायतमें दृढ़ आचारनिष्ठा और सादगी—ये सामान्य जीवनकी बातें नहीं हैं और मातासे प्राप्त 'रघुपति राघव राजा राम' तथा 'रामायण', 'गीता' एवं 'नरसी'के पदोंका बीज तो इसी समय पड़ा और पल्लवित हुआ। महात्माजी आजीवन 'राम'नामके जापक रहे। गीता और रामायण उनके परमादर्श ग्रन्थ थे। उनका सम्पूर्ण जीवन नरसीका वह 'वैष्णव' जीवन था, जिसके सम्बन्धमें उन्होंने कहा है—'वैष्णव जन तो तेनें कहिये, जे पीड़ पराई जाणे रे।' जैसे यह पद बापूके हृदयमें नित्य बोलता रहा हो।

'राम'-नाम—महात्माजीके शब्दोंमें, वह उनका आपत्तिका सहायक और शक्तिका मूल स्रोत था। सत्य उनका लक्ष्य था। अहिंसा उनका साधन थी। सेवा उनकी वृत्ति थी। त्याग और संयम उनके धर्म थे; किंतु 'राम'-नाम उनका जीवन था। महात्माजीके आदर्शपर विचार करते समय उनके 'राम'-नामको छोड़ देनेपर हमारे सम्मुख उनका प्राण-हीन जीवन, क्रिया एवं शक्तिहीन आदर्श ही रह जाता है। वे इस दिव्य नामका जप, कीर्तन, स्मरण—सब करते। भगवान्पर अपार विश्वास ही उनके महान् धैर्य एवं कार्य-क्षमताका रहस्य है।

महात्माजी विलायतसे बैरिस्टर होकर लौटे, बैरिस्टरीके लिये ही दक्षिण-अफ्रिका गये थे। दक्षिण-अफ्रिकामें भारतीयोंका जो अपमान वहाँके गोरे करते थे, जो तिरस्कार वहाँ केवल सफेद चमड़ा न होनेसे सहना पड़ता था, उसका पद-पदपर अनुभव हुआ। 'मनुष्य मनुष्यका यह अपमान क्यों करे ?' मानवताकी पुकार वहीं कानोंमें पड़ी। 'अन्याय करना जितना बड़ा पाप है, उसे चुपचाप सह लेना भी उतना ही बड़ा पाप है!' महात्माजीने वहीं बड़ी दृढ़तासे अपने इस महावाक्यकी घोषणा की। जीवनमें वे इसी महावाक्यका सन्देश विश्वके उत्पीड़ित दुर्बलोंको सुनाते रहे।

'अन्यायका विरोध करते हुए भी अन्यायीके प्रति सद्भाव रखना ही सच्ची मानवता है। अन्यायी एक भ्रान्त व्यक्ति होता है, वह दया और प्रेमका पात्र है। प्रेमके द्वारा उसके हृदयपर विजय पाना ही अन्यायका ठीक निराकरण है। अन्यायका निषेध बलपूर्वक करना और अन्यायीके प्रति रोष या दण्डका प्रयोग करना एक भ्रान्त उपाय है। उससे अन्याय रुक भले जाय, उसका बीज और गहराईमें चला जाता है।' बापूके इन विचारोंने ही उन्हें विश्ववन्द्य बनाया। दक्षिण-अफ्रिकामें ही उनके अन्यायके प्रतिकार करनेके नूतन अस्त्र 'सविनय अवज्ञा'का जन्म हुआ। उनका यह अस्त्र जीवनमें 'असहयोग', 'सत्याग्रह' आदिके रूपमें उपस्थित होता रहा। अपमान, मार सहना, जेल तथा अनेक दूसरी यन्त्रणाएँ सत्याग्रहीको मिलनी अनिवार्य हैं। दक्षिण-अफ्रिकामें बेहद अपमान महात्माजी और उनके साथियोंको सहना पड़ा। गोरोंने उन्हें अनेक बार पीटा,

प्रसिद्ध 'गीताञ्जलि'के अंग्रेजी अनुवादपर गुरुदेवको 'नोबेल पुरस्कार' मिला था; परंतु बँगला-काव्य-मर्मज्ञ महाकविकी उत्कृष्टतम रचना 'गीताञ्जलि' न मानकर 'खेया'को मानते हैं। इसमें कविकी रहस्य-भावनाका उच्चतम रूप प्रस्फुटित हुआ है। यह अपूर्व गीति-संग्रह तब लिखा गया था, जब बंग-भंग-आन्दोलनमें राष्ट्रिय नेताके रूपमें थोड़े दिनोंके लिये वे मैदानमें आ गये थे। 'स्वदेशी समाज', 'राष्ट्रिय कोष', 'राखी-बन्धन' उसी जीवनकी ओजमयी कलाकृतियाँ हैं; किंतु उस कोलाहलपूर्ण संघर्षमय जीवनमें अपने स्थिर एकान्त कविरूपको तटस्थ रखकर 'खेया' का निर्माण तो सचमुच अद्भुत घटना है।

'गुरुदेव' विश्वमें सैनिक बनने नहीं आये थे। वे जनता एवं सैनिकोंके पथ-दर्शक अपनी भव्य भावमयी कलासे जीवन-प्रेरक गुरुदेव ही थे। आन्दोलनसे शीघ्र ही उनका तटस्थ हो जाना सहज स्वाभाविक था; किंतु देशका अनुराग तो उनका जीवन था। महात्माजीके सत्याग्रहसे पूर्व ही अपने 'धनंजय वैरागी' पात्रके रूपमें गुरुदेवने आदर्श सत्याग्रहीकी कल्पना प्रदान की। सरकारने—अंग्रेज सरकारने उन्हें 'सर' की उपाधि प्रदान की, जिसे जलियानवाला बागके काण्डके विरोधमें उन्होंने लौटा दिया।

देशकी दयनीय दशाके प्रति गुरुदेवके हृदयमें जितनी टीस थी, उतनी ही घृणा थी उन्हें संकुचित राष्ट्रियतासे। भारतीय स्वाधीनता उनके लिये अपनी स्वार्थ-सिद्धि नहीं थी। वे सदा उसके निखिल मानव-मुक्तिके रूपके आराधक थे। गुरुदेवने अटूट-अविरल रूपसे प्रतिवर्ष विभिन्न देशोंकी यात्राएँ कीं। इन सांस्कारिक यात्राओंका महत्त्व उनके साहित्य-सृजनसे कम महत्त्वका नहीं है। 'विश्व-बन्धुत्व'—'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाका प्रसार, पूर्व-पश्चिमके अन्तरका निवारण और विश्व-मानवकी प्रतिष्ठा इन यात्राओंका उद्देश्य था। प्रत्येक देशके विद्वानोंमें उन्हें असाधारण सम्मान प्राप्त था और 'एकत्व' की भावनाके प्रसारमें अपने व्यक्तित्वका उन्होंने पूरा उपयोग किया। प्रवचन, कवितापाठ, परस्पर बातचीत तथा पत्रव्यवहार-द्वारा गुरुदेवने संकुचित राष्ट्रवृत्तिकी कठोर भर्त्सना करते हुए मानवकी एकता तथा विश्व-परिवारकी भावना जाग्रत् करनेका अजस्र उद्योग किया। उनके ऐसे पत्र, प्रवचन अनेक संग्रहोंके रूपमें प्रकाशित हैं।

अपनी जीवन-सन्ध्याके निकट 'गुरुदेव' का व्यक्तित्व और प्रोज्ज्वल हो उठा था। ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटीने उन्हें डी० लिट्की उपाधिसे सन् १९४१ में सम्मानित किया। इसके पूर्व ही शान्ति-निकेतनमें उनका 'उत्तरायण' नामक कुटीर देश-विदेशके यात्रियोंके लिये तीर्थभूमि बन चुका था और वे वहाँ चाँदी-जैसे श्वेत दीर्घ श्मश्रुधारी, झुर्री पड़े गौरवर्ण ऋषिकल्प 'गुरुदेव' के दर्शन करने पधारते थे। गुरुदेवकी आकृति जितनी भव्य थी, उनकी वेश-भूषा वैसी ही किसी कविके उपयुक्त थी। ८१ वर्षकी अवस्थामें रोगशय्यापर पड़े-पड़े भी उन महामानवकी चिन्ता स्वार्थकलुष विश्वके लिये ही थी। उस समय भी उन्होंने 'सभ्यतार संकट' नामक ओजस्वी निबन्ध मानवताको सन्देश देनेके लिये लिखा। अन्तमें वह विदा-क्षण भी आया। ७ अगस्त सन् १९४१ को विश्वकवि 'गुरुदेव' ने कलकत्ता महानगरीमें इस धराका त्याग कर दिया। बंगाल या भारतका तो प्रश्न ही नहीं—मानवता रोयी, विश्व रोया और रोयी वह कलाकी अधिष्ठात्री, जिसकी गोदमें न केवल साहित्य, अपितु संगीत एवं चित्रकलाके क्षेत्रमें भी 'गुरुदेव' ने अनुपम निधियाँ अर्पित की थीं।

'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' विश्वसंस्कृतिके उस महापुरोहितने अपने 'शान्तिनिकेतन' तथा अपनी संस्था 'विश्वभारती' के द्वारा इस आर्ष भावनाको सार्थक करनेका श्लाघ्य प्रयत्न किया। उनके कारण विश्वमानसमें बंगाल-का, भारतका, भारतीय ऋषि-संस्कृतिका, भारतीय चिन्तनशीलताका गौरव जाग्रत् हुआ। मानवताको उन्होंने अपनी मञ्जुकलाकी मधुर तानोंसे जगाया, प्रबुद्ध किया और उसे शान्तिका समुज्ज्वल पथ दिखाया। आज स्थूलके प्रति आसक्त, अस्थिपर लड़नेवाले कुत्तोंसे भी गया बीता मानव क्या गुरुदेवकी उस वाणीको सुनेगा ? क्या उसके हृदयमें वह दिव्य झंकार उठेगी ? मानवताके त्राणका दूसरा मार्ग तो है नहीं। —सु०

महामना मालवीयजी

'मैं तो मालवीयजी महाराजका पुजारी हूँ। यौवनकालसे आजतक उनकी देशभक्तिका प्रवाह अविच्छिन्न है। मैं उनको सर्वश्रेष्ठ हिंदू मानता हूँ। वे आचारमें नियमित और विचारमें बड़े उदार हैं। वे किसीसे द्वेष कर ही नहीं सकते। उनके विशाल हृदयमें शत्रु भी समा सकते हैं।'

—महात्मा गान्धी

'मैं दावेके साथ कह सकती हूँ कि विभिन्न मतोंके मध्य केवल मालवीयजी महाराज ही भारतीय एकताकी मूर्ति बने खड़े हैं।'

—ऐनी बेसेंट

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयका जन्म तीर्थराज प्रयागमें २५ दिसम्बर, सन् १८६१ को हुआ। उनके पूर्वज मालवासे प्रयाग आ बसे थे। उनके पिता श्रीव्रजनाथजी पक्के सनातनधर्मी एवं आस्तिक थे। उनका भगवद्विश्वास अखण्ड था। श्रीमद्भागवतकी कथा या पूजा-पाठ ही आजीविका थी। कोई स्वतः बुला ले जाय तो पण्डितजी चले जाते। धर्मपत्नीके यह कहनेपर कि घरमें भोजनके लिये कुछ नहीं है, उनका बँधा उत्तर था—'कोई कथा या पूजाके लिये बुलाये, तब कुछ प्रबन्ध हो।' लेकिन दान लेनेके वे इतने विरोधी थे कि उदार पड़ोसियोंकी सहायता भी मालवीयजीकी माता छिपाकर ही स्वीकार करती थीं। ऐसे विशुद्ध आस्तिक माता-पिताका प्रभाव मदनमोहनपर पड़ना ही था। मिर्जापुरके प्रख्यात सनातनी पण्डित श्रीनन्दरामजीकी कन्या कुन्दनदेवीसे मालवीयजीका विवाह हुआ। उनका दाम्पत्य-जीवन बड़ा सुखी व्यतीत हुआ। सती-साध्वी पत्नीने सदा उनका अनुगमन किया।

पूज्य मालवीयजी कट्टर हिंदू थे। हिंदू-सिद्धान्तोंकी उन्हें सजीव मूर्ति कहना चाहिये। आचारमें अत्यन्त संयमी और विचारमें परम उदार—हिंदू-धर्मकी यह विशेषता उनमें बहुत स्पष्ट थी। उनका स्पर्शास्पर्शका विचार इतना पूर्ण था कि बड़े जंक्शनोंके प्लेटफार्मपर एक ओर चौका लगाकर स्वयं खिचड़ी बना लेना उनके लिये सामान्य बात थी। मालवीय-परिवारसे बाहर किसीके हाथका कच्चा भोजन वे नहीं करते थे। जब वे गोलमेजपरिषद्में महात्माजीके साथ लंदन गये, उनके साथ गङ्गाजल, मिट्टी और गौ भारतसे गयी और सब जानते हैं कि लंदनसे लौटनेपर उन्होंने समुद्रयात्राका सविधि प्रायश्चित्त किया था। इतने आचारप्रधान होनेपर भी उनका विचार इतना उदार था कि वे कभी किसी दूसरेपर कोई दबाव देते ही नहीं थे।

पूज्य मालवीयजीका गृह अपने अतिथि-सत्कारके लिये विख्यात था। उनके घरका चूल्हा प्रातः सूर्योदयके साथ जले जाता। कोई किसी समय प्रस्थान करनेवाला हो—जो आया है, उसे तो भोजन करके ही जाना चाहिये। रात्रिके एक बजेतक चौका चलता रहता। अतिथि, ब्राह्मण और गौ—यही तो हिंदूके आराध्य हैं। पूज्य मालवीयजीको लोग ब्राह्मणोंका पक्षपाती कहने लगे थे। वे कहा करते थे—'कोई ब्राह्मण मेरे पास किसी उद्देश्यसे आये और निराश लौटने लगे तो मेरे प्राण उससे पहले चले जाने चाहिये।' प्राणपणसे उन्होंने ब्राह्मणोंकी सेवा की और जीवनके अन्तिम दिनोंमें उनकी एक ही धुन थी—प्रत्येक समर्थ मिलनेवालेसे उस असमर्थ महाप्राणकी एक ही याचना होती थी—'मैं गायोंकी सेवा न कर सका। एक स्थानपर एक गोशालामें एक लाख गायें सुखसे पलें—मेरी यह लालसा रह गयी।' गो-सेवाके लिये, गोचर-भूमिके लिये, गोशालाओंके लिये उनका उद्योग कम नहीं था। उनसे किसी सामान्य व्यक्तिने भी गौके नामपर कोई सहायता चाही तो उन्होंने कभी अस्वीकार नहीं किया। उनका कहना था—'प्रत्येक हिंदूके घरमें कम-से-कम एक गाय रहनी ही चाहिये।'

'मैं पुराणोंकी सत्यताके सम्बन्धमें प्रत्येक समय शास्त्रार्थ करनेके लिये तैयार हूँ।' महामनाकी यह घोषणा केवल मौखिक नहीं थी। पुराणोंपर उनकी अगाध श्रद्धा थी। श्रीमद्भागवतका पाठ उनका नियमित रूपसे चलता था। लंदनके अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रममें भी उन्होंने अपने पाठमें विराम नहीं पड़ने दिया। उन्हें प्रायः सम्पूर्ण भागवत कण्ठ थी और जब वे गद्गद कण्ठसे भाव समझाते हुए श्रीमद्भागवतके श्लोक पढ़ने लगते थे, उनके दोनों नेत्रोंसे अजस्र अश्रुधारा चलती थी।

'एक साथ एक लाख ब्रह्मचारी एक स्थानपर सस्वर सामगान करें।' यह महत्त्वाकाङ्क्षा थी, जिसने महामनाको काशी हिंदू-विश्वविद्यालयकी स्थापनामें लगाया। विश्वविद्यालय

एक बार अधमरा-सा कर दिया। उनके दो अगले दाँत एक गोरेकी मारसे ही टूटे पर वे सदा दृढ़ और शान्त रहे; उनका कहना जो था—'सत्याग्रह दुर्बल एवं कायरका शस्त्र नहीं, वह सबल एवं मनस्वीका अभेद्य कवच है।' अंग्रेजोंने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, जब बोअर-युद्धमें वे स्वतः स्वयं सेवक बन गये। विश्वने कभी सोचा ही न था कि अपने-पर अत्याचार करनेवाले विपक्षीकी आपत्तिमें कोई उसका सेवक भी बन सकता है और वह भी बिना शर्त—शुद्ध सेवा-भावसे।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—जैसे गीताका यह वाक्य उनके जीवनमें ध्वनित होता हो। परिणाम क्या होगा, सहायक कितने हैं, प्रभाव क्या पड़ेगा—यह सब कुछ नहीं। कार्यकी माप उसके बाह्य परिणामसे नहीं, कर्ताके हृदयकी स्थितिसे होनी चाहिये। विशुद्ध साथी न मिलें तो अकेले प्रलयमारुतके सम्मुख स्थिरतासे खड़े होनेवाले उस महापुरुषको कितना समझा है किसीने! प्रवासी-भारतीय-समस्या, खिलाफत आन्दोलन, असहयोग-आन्दोलन, सत्याग्रह, पीड़ित-सेवा, ग्राम-सेवा और अन्तिम भीषण दिनोंकी वह नोआखाली-समस्या—सबमें वही जागरूकता, दृढ़ता और श्रेयकी ओर निश्चित पदोंसे बढ़नेकी प्रवृत्ति। साधनकी विशुद्धता तथा औद्धत्य-अन्यायका तीव्र प्रतिकार!

'विरोधीका हृदय परिवर्तन करना है और वह प्रेम तथा सेवासे ही होगा।' महात्माजीके इस सुनिश्चित सिद्धान्तको अनेकोंने भ्रान्त रूपमें देखा। अनेकोंने उसे चाटुकारी तथा पक्षपात कहा। भारतका दुर्भाग्य कि इसी विचारके वशीभूत एक हिंदू युवककी गोलियोंसे ही उन महापुरुषने शरीर छोड़ा। उस समय भी वे प्रार्थनाके लिये प्रार्थना-सभामें जा रहे थे। 'राम'—जिसका जीवन इस महामन्त्रसे ओत-प्रोत रहा हो, उसके जीवनका विलयन भी उसमें होना ही था।

अपने हाथसे कते सूतकी लँगोटी पहननेवाले; चर्खेको अहिंसाके प्रतीकके रूपमें स्वीकार करके भारतके प्राचीन ग्राम्योद्यम एवं ग्राम्य जीवनकी महत्ताको मशीनोंके वर्तमान युगमें भी उज्ज्वल करनेवाले; सहिष्णुता, त्याग, संयम और सादगीकी मूर्ति बापूके जीवनके सम्बन्धमें जितना लिखा गया है, उसके संग्रहसे एक पूरा बड़ा पुस्तकालय बन सकता है। भारतके उन राष्ट्रपुरुषकी स्वतः लिखी 'आत्मकथा' एक महापुरुषका आत्मजीवन है।

बापूने भारतको केवल स्वाधीनता ही नहीं दी। यद्यपि कांग्रेसके वे सदा प्राण रहे; हमारे आन्दोलन और हमारी स्वाधीनता उन्हींके तप, त्याग, मार्गदर्शन और लोकोत्तर व्यक्तित्वके पुरस्कार हैं, फिर भी राजनैतिक पुरुष (आजके शब्दोंमें कूटनीतिज्ञ) बापू कभी नहीं रहे। उन सत्यके शोधकका महत्त्व राजनीतिके क्षेत्रसे जीवनके क्षेत्रमें अधिक है। उन्होंने सुप्त भारतीय प्राणोंको इसलिये झकझोर दिया कि उन्हें विश्वास था कि स्वाधीन उद्‌बुद्ध भारत विश्वको शान्ति: अहिंसा, सत्यका सत्पथ दिखलायेगा। इसी महालक्ष्यको लेकर वे भारतीय स्वाधीनता-संग्रामके अमर सेनानी बने।

'हिमालय-जैसी भूल।' बापूकी यह महत्ता ही है कि वे अपनी भूलको कभी छोटी नहीं कहते थे। उन्होंने कभी अपनी भूलके लिये दुराग्रह करनेकी बात ही नहीं सोची। उनका जीवन ऋषियोंका सादा, श्रमपूर्ण, नैतिक जीवन रहा है। उनके आदेश भारतके ग्रामोंको अपनी प्राचीन संस्कृतिकी ओर लौटनेकी प्रबल प्रेरणा देते हैं। उन्होंने अथक उद्योग किये हैं इसके लिये। 'दूसरोंके बदले अपने दोषको देखो! दूसरोंको क्षमा करो। उनकी सेवा करो। उनकी सहायता करो और आवश्यकता पड़नेपर अन्यायको दृढ़तापूर्वक—पर शान्तिसे अस्वीकार कर दो।' बापूका जीवनके लिये यह सजीव सन्देश है।

विश्वको ईश्वर-विश्वास, भगवन्नाम, सत्य, अहिंसाका प्रशस्त मार्ग दिखानेवाले; जगत्‌के पीड़ित-दलित वर्गको 'सत्याग्रह'का दिव्यास्त्र देकर चैतन्य करनेवाले उन दिव्य पुरुषके प्रत्येक जीवन-कार्य एवं प्रयत्न ही आजके अशान्त जगत्‌को शान्ति दे सकता है, यदि मनुष्य उन्हें सचाईसे स्वीकार करे और अपनाये। —सु०

भारत-जननि

(रचयिता—श्रीशत्रुदमनप्रसादनारायण शर्मा; बी० ए०, एल्-एल्० बी०, विशारद)

शार्दूल-विक्रीडित छन्द

(१)

तू रत्नाकर-चीर-मण्डितशुभा गुञ्ज-प्रपा-रञ्जिणी ।
मातः कूट-पयोधरा प्रसवती गङ्गा-सुधा-धार तू ॥
तू है हैम-किरीट-शोभित-शिखा आपूर्ण-धान्याञ्चला ।
नाना-रत्न-मणि-प्रवाल-बहुला माता अपूर्णेश्वरि !

(२)

हे सूर्य्याग्नि-सुधाधर-त्रिनयने, पद्मासने, स्मानने !
शुभ्राकाश किरन्वितान तुझ पै है कीर्त्तनोंसे भरा ॥
हैं सारे वन-देश-केश विलसे पुष्प-द्रुमोंसे गुँथे ।
गङ्गा और सरस्वती रविसुता दीर्वा त्रिवेणी बनीं ॥

(३)

क्या ही श्रीनगरी शुभा विलसती भूषा ललाट-स्थिता ।
सौम्या तक्षशिला सु-पुष्करवती हैं भद्र कर्णेन्द्रियाँ ॥
इन्द्रप्रस्थ बना त्वदीय मुख है, ऐश्वर्यका केन्द्र जो ।
है कण्ठस्थल तीर्थराज, जिसमें थे वेद गाये गए ॥

(४)

काशी नाभि बनी महर्घ-वसना आनन्द-चित्कानना ।
औ यों दक्षिण-उत्तरा पथ बने तेरे भुजा-नाल हैं ॥
बङ्ग-प्रान्त, विहार वक्रगतितः पद्मासनोपाङ्ग हैं ।
हे सर्वावयवे, प्रहृष्ट-वदने, कल्याण-संवर्द्धिके ॥

(५)

सारी दिग्वधुएँ, अभीष्ट-वरदे ! सत्कीर्तिमें हैं लगी ।
सारे दिक्पति भी दशोपचरणोंसे अर्चनामें लगे ॥
पञ्चोपासन पञ्चभूत करते कर्मेन्द्रियोत्सर्गतः ।
भव्ये भारत-भूति भागवति ! तू है भास्वती भारती ॥

(६)

तेरे दिव्य अमूल्य दुग्ध-कणमें श्रीविष्णु-ब्रह्मेश हैं ।
हैं देवर्षि, सुरष्य, शेष विलसे क्षीरोदमें मग्न हो ॥
हैं वीणा-वर-दण्ड-मण्डित-करा वाणी बनी वाङ्मयी ।
रुद्राणी शिव-शक्ति साधन-परा, रामा रमा हैं रमी ॥

(७)

तेरे सौम्य शुभाङ्कमें पल चुके श्रीराम, श्रीकृष्ण हैं ।
श्रीसीता, वृषभानुजा कर चुकी हैं भूमिकाएँ यहाँ ॥
शुभ्रोज्ज्या-व्रज-मध्य संस्करण हैं तेरे शुभादर्शके ,
जो अद्यापि सचेत-से कर रहे सत्प्राण निष्प्राणके ॥

(८)

तेरे ही जल-वायुमें प्रथमतः सद्ज्ञानकी ज्योतिमें—
दूर्वा-संस्कृति-वाटिका कलन-ती वासन्तिकोल्लाससे ॥
तू ही प्राक्तन सभ्यता-प्रजननी अध्यात्म-भावान्विता ।
है सीमा-प्रतिमुक्त तू विहरती भू-स्वर्ग-संस्कारिका ॥

(९)

द्रुत-विलम्बित छन्द

जननि ! जीवन दे, जय-दायिनि !
सुकृत-भाग्य-समुन्नति-दायिनि ।
स्तुति करूँ किस भाँति, न जानता;
कर रहा नति अर्पित पादमें ॥

उनकी भारतको अमर भेंट है। विश्वविद्यालयके लिये कुछ सहायता प्राप्त किये बिना वे भोजन नहीं करते थे। जीवनके अन्तिम वर्षोंतक उनका यह नियम चलता रहा और तभी बंद हुआ, जब वे सर्वथा असमर्थ हो गये।

वृद्धावस्था, रोगशय्या, इतना दुर्बल शरीर कि उठकर बैठना कठिन, श्रवण एवं नेत्रोंमें शक्ति नहीं, कोई बात स्मरण नहीं रहती थी और इस स्थितिमें भी महामना विश्वविद्यालयके गरीब छात्रोंके सहायक पिता थे, दुखियोंके आश्रय थे, उत्पीड़ितोंके शरणद थे, राष्ट्रिय आन्दोलनके कर्णधारोंके मन्त्रदाता थे। सब उस पितामहके पास उस स्थितिमें भी पहुँच जाते और सन्तुष्ट होकर लौटते।

महामनाको राजनैतिक जीवनके लिये कालाकाँकर-नरेश राजा रामपालसिंहजीसे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। कालाकाँकरमें ही महामनाके पत्रकार-जीवनका प्रारम्भ हुआ। वहाँसे प्रयाग आनेपर उन्होंने 'अभ्युदय' और 'इंडियन ओपिनियन'का सम्पादन हाथमें लिया। सन् १९३१ में गोलमेजपरिषद्में लंदन जानेसे पूर्व सत्याग्रह-आन्दोलनके वे प्रमुख कर्णधार रहे थे और उनके व्यापक प्रभावके कारण अंग्रेज-सरकारको बहुत सोचना पड़ा था उन्हें केवल कुछ दिनोंके लिये भी बन्दी बनानेके सम्बन्धमें। एकमात्र महामना ही ऐसे राष्ट्रिय कांग्रेसके प्रमुख नेता थे, जिनका प्रभाव देशके प्रत्येक वर्गपर समान रूपसे था। महात्मा गाँधी उन्हें बड़ा भाई कहते थे। राजे-महाराजोंके वे पूज्य थे। धार्मिक जनताके देवता और सम्पन्न वर्गके परम आदरणीय थे। सरकारके उच्च कर्मचारी उनके प्रभावसे परिचित थे और उनका पूरा सम्मान करते थे।

हिंदू-महासभाके तो महामना जन्मदाता थे। हिंदू-संगठन, हिंदू-धर्म उनका प्राण था। उनका सदा एक ही सन्देश था—'प्रत्येक हिंदू-घरमें एक गाय हो। प्रत्येक गाँवमें अखाड़ा हो। प्रत्येक हिंदू युवक बलवान् बने!' लेकिन उनके मनमें द्वेषको स्थान ही नहीं था। वे तो स्पष्ट कहते थे—'विदेशी मत पहनो, यह कहना ही द्वेषमूलक है। हमें तो कहना है—स्वदेशी ही पहनो!' जातिगत विद्वेषको उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया।

नोआखालीका वह पैशाचिक हत्याकाण्ड, जराजर्जर, रोगकृश महामनाने वह समाचार सुना और उनका हृदय विद्ध हो गया। वह धक्का सम्हाल नहीं सके वे। यह सभी जानते हैं कि नोआखालीकाण्डने ही १२ नवम्बर सन् १९४६ को महामनाका बलिदान लिया। उनके अन्तिम सन्देशमें हिंदू-संगठन, हिंदू जागरणकी कातर पुकार है। उन्होंने कहा था—'जो हिंदुओंको शान्तिके साथ नहीं रहने देना चाहते, उनके साथ किसी प्रकारकी सहिष्णुता नहीं हो सकती।''''''हिंदू-संस्कृति और हिंदू-धर्म खतरेमें हैं। परिस्थिति संकटापन्न है। ऐसा समय आ गया है कि हिंदू एक होकर सेवा तथा सहायताके साधनोंको परिपुष्ट करें।' आज भी उन महापुरुषकी चेतावनी वैसी ही नहीं है—कैसे कहा जा सकता है।

एक सच्चा मानव, एक सच्चा आदर्श हिंदू, एक सच्चा महापुरुष आया और चला गया। भारतके राष्ट्रिय आन्दोलन-ने उससे बहुत कुछ पाया और बहुत कुछ पाया हिंदू-जातिने; किंतु यदि राष्ट्रके कर्णधार और हिंदू एक होकर उसके आदर्शको स्वीकार कर लेते, भारत सचमुच ऋषियोंका भारत हो जाता। हिंदू-संस्कृति पुनर्जीवन प्राप्त कर लेती; क्योंकि महामना स्वयं हिंदू-संस्कृति, सादगी, सदाचार एवं आदर्शकी जीवित प्रतिमा थे।

वन्द्य मालवीय! तुम्हें भूल न सकेंगे हम, दीनदुखियोंके सुखदायक तुम्हीं रहे।
पुरुष अनेक पुरुषोत्तम तुम्हीं थे एक, शर[1] हैं असंख्य किंतु सायक[2] तुम्हीं रहे॥
विश्वबन्धुताके गीत-गायक बहुत, पर सबके सुहृद, सब लायक तुम्हीं रहे।
होते जगतीमें जन-नायक अनेक, किंतु हिंदुओंके एक ही सहायक तुम्हीं रहे॥ ('राम')

—रा० श्री०

१. सरकंडे। २. लक्ष्य बींधनेवाला बाण।

हिंदू-संस्कृति अध्यात्मप्रधान है

प्रधान लक्ष्य भगवत्प्राप्ति

जीवनके सभी क्षेत्रोंमें व्याप्त सनातन परम्परासे चली आती हुई अध्यात्मप्रधान धर्ममय सुसंस्कृत 'विचार और आचारप्रणाली' का नाम ही हिंदू-संस्कृति है। हिंदू-संस्कृति-की यह निर्मल धारा अत्यन्त प्राचीनकालसे अविच्छिन्नरूपमें प्रवाहित है। अतएव हिंदू-संस्कृति सबसे प्राचीन और अपरिवर्तनीय सनातन भारतीय आर्य-संस्कृति है, यही वास्तव-में मानव-संस्कृति है। इस संस्कृतिमें मनुष्य-जीवनका प्रधान और एकमात्र लक्ष्य है—मोक्ष, ज्ञान या भगवत्प्राप्ति। इसीसे इसमें जीवनकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टा इसी लक्ष्यपर ध्यान रखकर की जाती है। इसीलिये हमारे पुरुषार्थ-चतुष्टयमें अन्तिम स्थान मोक्षको दिया गया है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सारांश यह कि हमारा अर्थ और काम (उपभोग) धर्मके द्वारा संयमित-नियमित होता है। धर्मरहित अर्थ और धर्मरहित उपभोग (काम) महान् अनर्थ उत्पन्न करके मनुष्यका विनाश कर देते हैं। रावण, वेन, कंस, दुर्योधन आदि इसके उदाहरण हैं। केवल 'अर्थ' और 'काम'से युक्त जीवन तो पशु-जीवन है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि 'जब धर्म लुप्त हो जाता है, तब अर्थ और काममें फँसे हुए लोग कुत्तों और बंदरोंके समान वर्णसंकर हो जाते हैं।* हिंदू-संस्कृतिमें अर्थ तथा कामका त्याग नहीं है। उनकी भी उपादेयता है, पर वे होने चाहिये धर्मके आश्रित। वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा
धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥
(अयोध्या० २१। ५६-५७)

'धर्मके फलस्वरूप सुख-सौभाग्यादिकी प्राप्तिमें जो धर्म, अर्थ, काम उपाय माने गये हैं, वे तीनों एक धर्ममें वर्तमान हैं। धर्मके अनुष्ठानसे इन तीनोंकी सिद्धि होती है, इसमें मुझे सन्देह नहीं है—जैसे पतिके अधीन रहनेवाली भार्या अतिथि-पूजनादि धर्ममें, मनोऽनुकूल होनेसे काममें और सुपुत्रवती होकर अर्थमें सहायिका होती है। जिस कर्ममें धर्म, अर्थ, काम—तीनों सन्निविष्ट न हों, पर जिससे धर्म बनता हो, वही कर्म करना चाहिये। धर्मको छोड़कर अर्थपरायण रहने-वालेसे लोग द्वेष करने लगते हैं और ऐसे ही कामात्मता भी प्रशंसाकी बात नहीं है।'

मनु महाराज कहते हैं कि जो अर्थ और काम धर्मके विरोधी हों, उन अर्थ और कामका त्याग कर देना चाहिये—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
(४। १७६)

और धर्म—परम धर्म वस्तुतः वही है, जो मनुष्यकी जीवनधाराका मुख श्रीभगवान्की ओर मोड़ दे तथा जिससे अविराम गतिसे बिना किञ्चित् भी इधर-उधर भटके जीवनप्रवाह निरन्तर समुद्रकी ओर बहनेवाली गङ्गाजीकी धाराके सदृश उसी दिशामें बहता रहे*—

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।

इसी प्रकार भगवान्के निमित्त किये जानेवाले आसक्ति-शून्य धर्मयुक्त कर्मोंका फल बन्धनमुक्ति, दिव्यलोकोंकी प्राप्ति, परमात्मरूप परम स्वातन्त्र्य (मोक्ष) की प्राप्ति एवं शाश्वत शान्तिकी उपलब्धि होती है†। वेदमें कहा गया है—

---

* तदाऽर्थधर्मश्च विलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः॥
(श्रीमद्भा० १। १८। ४५)

* स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
(श्रीमद्भा० १। २। ६)

'मनुष्योंके लिये सबसे बढ़कर परम धर्म वही है, जिससे श्रीभगवान्में अहैतुकी और कभी न टूटनेवाली भक्ति हो। ऐसी भक्तिसे सच्चिदानन्द परमात्माकी उपलब्धि करके वह कृतकृत्य हो जाता है।'

† धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः।
लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्यमसङ्गिनाम्॥
(श्रीमद्भा० ४। १४। १५)

'मनुष्य यदि मन, वाणी, शरीर और बुद्धिसे धर्मका आचरण करे तो वह धर्म उन्हें शोकरहित दिव्यलोक प्रदान करता है तथा यदि धर्म करनेवाले पुरुष स्वर्गादि लोकोंके भोगोंमें आसक्त न हों तो वही धर्म उन्हें मोक्षकी प्राप्ति करवा देता है।'

संस्कृतिके रक्षण और प्रसारमें बाधक तीन महाभ्रम

पाश्चात्त्य विद्वानोंने अज्ञानसे, मतिभ्रमसे, किसी कुटिल अभिसन्धिसे या अन्य किसी भी कारणसे हो—इन तीन महाभ्रमोंका प्रतिपादन, प्रचार और प्रसार किया—

(१) यहाँ आर्यजाति बाहरसे आयी है । भारतवर्ष उसका मूल निवास-स्थान नहीं है ।

(२) चार हजार वर्षसे पहलेका कोई इतिहास नहीं है ।

(३) जगत्में उत्तरोत्तर विकास—उन्नति हो रही है और भारतीय विद्वानोंके मस्तिष्कमें भी अधिकांशमें ये तीनों बातें प्रवेश कर गयीं । काल-प्रभावसे या दैवसंयोगसे उन्हीं विद्वानोंका सभी क्षेत्रोंमें प्रभाव बढ़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि जनतामें उत्तरोत्तर इन तीनों महाभ्रमोंका विस्तार होने लगा । इसीका यह फल है कि आज भारतीय लोगोंकी अपनी संस्कृति, अपने धर्म, अपने पूर्वज, अपने महाभारत-रामायणादि प्राचीन इतिहास, अपने धर्मग्रन्थों,—श्रुति-स्मृति और पुराण-ग्रन्थोंपर अवहेलना, अश्रद्धा और अनास्था बढ़ रही है !

हमलोग जब बाहरसे आये हुए हैं, तब यहाँकी भूमिपर हमारा कोई ममत्व क्यों होना चाहिये । यद्यपि आजके जगत्की देशभक्तिके प्रचारसे भारतवर्षको इस समय लोग अपनी जन्म-भूमि मानते हैं और इसके साथ अपनत्व भी है; परंतु जबतक इसे पूर्वजोंकी पवित्र पितृभूमि नहीं मानते, तबतक भावमें उतनी उच्चता नहीं आ सकती ।

चार हजार वर्ष पहलेका कोई इतिहास नहीं, इसका परिणाम हुआ कि हमारे वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण—सभी चार हजार वर्षके अंदर-अंदर बने हुए माने जाने लगे और इनमें केवल कवि-कल्पनाकी भावना होने लगी । पूर्वजोंके सच्चे गुण-गौरव कल्पनाकी आँधीमें उड़ गये । काल छोटी-सी संकुचित सीमामें आबद्ध होकर हमारा विशाल ज्ञानभण्डार और गौरवपूर्ण अतीत सर्वथा निष्प्रभ और व्यर्थ हो गया ।

तीसरे भ्रमने तो बहुत बड़ा अनर्थ किया । सृष्टिके आदिकालसे जगत्में उत्तरोत्तर विकास हो रहा है—इस मान्यताने अतीतके ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, सदाचार, आचार-विचार, बुद्धि-विवेक, शौर्य-वीर्य, त्याग-तपस्या, वैभव-ऐश्वर्य और भाव-प्रभाव—सभीपर पानी फेर दिया । आज जितनी उन्नति है, उतनी दस हजार वर्ष पहले नहीं थी; दस हजार वर्ष पहले जितनी थी, उतनी लाख वर्ष पहले नहीं थी । लाख वर्ष पहले जितनी थी, उतनी करोड़ वर्ष पहले नहीं थी । भ्रम तो यहाँतक फैलाया जा रहा था कि सृष्टिकी उम्र ही केवल चार-पाँच हजार वर्षकी है; परन्तु वह भ्रम तो अब टिक नहीं सका । इसलिये उसको तो लोग छोड़ रहे हैं, पर इस विकासवादका महाभ्रम अभी बड़े-बड़े मस्तिष्कोंमें भरा है ।

इन तीन भ्रमोंने हम भारतवासियोंको सहज परमुखापेक्षी और परानुकरणपरायण बना दिया है । इसीका एक ताजा उदाहरण हमारा 'नवविधान' है । इसमें आदिसे अन्ततक केवल विदेशीय विधानोंका आश्रय लिया गया है, अपने प्राचीन ग्रन्थोंमें शासन और राजनीतिपर जो विशद विचार किया गया है उसकी ओर देखा भी नहीं गया । इन्हीं भ्रमोंके कारण बाहरसे स्वराज्य मिल जानेपर भी हमारा मस्तिष्क अब भी परतन्त्र है । नीयत बुरी न होनेपर भी और अपने प्राचीन गौरवकी बातें प्रिय लगनेपर भी हमें यह विश्वास नहीं होता कि आजके जगत्की अपेक्षा हमारा प्राचीन जीवन बहुत उन्नत था और हमारा ज्ञानभण्डार बहुमूल्य रत्नोंसे भरा था । आज भी खोज करनेपर उसमें ऐसे-ऐसे रत्न मिल सकते हैं, जिनकी अन्यान्य उन्नत कहानेवाले देशोंको कल्पना भी नहीं है । यह अविश्वास इसीलिये है कि हमारे मनमें यह बात दृढ़ताके साथ जँच गयी है कि जगत्में उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है । आज जितनी उन्नति है, उतनी उन्नति पहले कभी थी ही नहीं । इसीलिये हम प्रत्येक विषयमें आजकी उन्नतिकी नकल करना चाहते हैं । यह घोर आत्मविस्मृति बड़ी ही बुरी है और इसीके कारण हमारे मस्तिष्कमें परतन्त्रताके विचारोंने अपना एक सुरक्षित स्थान बना लिया है ।

भारतवासियोंको गम्भीर विचार करके अपने ज्ञानके प्रकाशसे इन तीनों भ्रमोंके अन्धकारका नाश कर देना चाहिये—नहीं तो उन्नतिके नामपर अवनतिकी प्रबल धारामें बहते जाना रुकेगा ही नहीं ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६। ९२)

'धृति, क्षमा, दम (मनका संयम), अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी (विज्ञान), विद्या (अध्यात्मविद्या), सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।'

'श्रीमद्भागवतमें इस मानवधर्मको तीस लक्षणोंसे बतलाया गया है—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
(७। ११। ८–१२)

सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, निष्कपटता, सन्तोष, समदृष्टि, महापुरुषोंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल विपरीत होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, अन्न आदि पदार्थोंका प्राणियोंमें यथायोग्य विभाजन, उन सभी प्राणियोंको—विशेष करके मनुष्योंको अपना आत्मा और इष्टदेव ही समझना, संतोंकी परमगति, भगवान्‌के गुण-माहात्म्यादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—यह सभी मनुष्योंके लिये परम धर्म है। इस तीस लक्षणवाले धर्मके पालनसे सबके आत्मारूप भगवान् प्रसन्न होते हैं।

इन लक्षणोंपर विचार करके देखिये। जिस संस्कृतिमें धर्मके ये लक्षण हों, उससे जगत्‌का कोई भी प्राणी कैसे दुखी हो सकता है। मनुष्यमें ही नहीं, प्राणीमात्रमें आत्मबुद्धि या इष्टदेवबुद्धि रखना और अन्नादि पदार्थोंका सबमें समान भावसे यथायोग्य विभाग कर देना—इससे बढ़कर समवितरण और क्या हो सकता है?

श्रीभगवान्‌ने गीतामें तो यहाँतक कह दिया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३। १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष समस्त पापोंसे छूट जाते हैं; पर जो पापी मनुष्य अपने शरीर-पोषणके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो (अन्नकी जगह) पाप ही खाते हैं।'

इसीसे हिंदू-घरमें नित्य पञ्चमहायज्ञ होता है। संसारमें पाँच प्रकारके प्राणी हैं और उनके परस्पर सहयोगसे सबकी पुष्टि-तुष्टि और संरक्षण-संवर्धन होता है। ये पाँच हैं—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और इतर समस्त प्राणी। देवताओंसे (भूमि, जल, सूर्य, चन्द्रमा आदिके द्वारा) संसारको इष्टभोग प्राप्त होते हैं। ऋषि-महर्षियोंसे ज्ञान मिलता है, पितरोंसे भरण-पोषण और परम हितकी सद्भावना प्राप्त होती है। मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके द्वारा एक दूसरेकी सेवा करते हैं एवं पशु, पक्षी, वृक्ष-लतादि सबके सुखके लिये सदा अपनेको अर्पण किये रहते हैं। इन पाँचोंमें मनुष्य विशेषरूपसे योग्य और साधनसम्पन्न है। इसीलिये मनुष्यपर सबकी पुष्टिका दायित्व है। कर्मका उसीको अधिकार है। अतः मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ उपार्जन करे, उसमें सबका भाग समझे; क्योंकि वह सभीके सहयोगसे कमाता-खाता है—जीवन-यापन करता है। इसीसे यज्ञसे बचे हुए अन्नको अर्थात् इन पाँचोंके अपने-अपने भागोंको देनेके बाद जो बच रहता है, उस अन्नको जो खाता है, वह 'अमृत' खाता है। पर जो कमाईमेंसे दूसरोंका उचित भाग उन्हें न देकर सब अकेला हड़प जाता है, वह पाप खाता है।

आजकल कुछ लोग कहा करते हैं कि "हम तो इसीलिये 'साम्यवाद' चाहते हैं कि लोगोंको रोटी-कपड़ा मिले। हिंदू-संस्कृतिमें इस रोटी-कपड़ेकी कोई व्यवस्था नहीं है।" पर ऐसा कहनेवाले हिंदू-संस्कृतिके स्वरूपसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। असल बात तो यह है कि रोटी-कपड़ेकी जैसी व्यवस्था हिंदू-संस्कृतिमें है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं है। अन्य स्थानोंमें कहीं कुछ अधूरी व्यवस्था है तो वह किसी देश-

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(शुक्ल यजुर्वेद ४० । १-२)

'अखिल विश्वमें जो कुछ भी जड-चेतन जगत् है, यह सब ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको साथ रखते हुए, त्यागपूर्वक भोगते रहो। इसमें आसक्त मत होओ। किसीके भी धनकी इच्छा मत करो। इस जगत्में इस प्रकार ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म करते हुए सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करो। यों त्यागभावसे किये गये कर्म तुझ मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।'

श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
(३।९)

'यज्ञ (भगवान्) के निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य कर्मोंसे बन्धनको प्राप्त होता है। अतएव अर्जुन! तुम आसक्तिरहित होकर उस यज्ञ (भगवान्) के लिये ही भलीभाँति कर्म करो।'

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥
(११।२।३६)

'शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे अनेक जन्मों अथवा एक जन्मके स्वभाववश जो कुछ भी करे, सब परमपुरुष भगवान् श्रीनारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे।'

भगवान्ने गीतामें स्वयं समर्पणकी आज्ञा की है—
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९।२७)

'अर्जुन! तुम जो कर्म करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान देते हो और जो तप करते हो, वह सब मेरे अर्पण करो।'

इस अर्पणका फल भी भगवान् वहीं बतलाते हैं—
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(९।२८)

'इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्में अर्पण हो जाते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाले तुम शुभाशुभरूप कर्मबन्धनसे छूट जाओगे और उनसे छूटकर मुझको प्राप्त होओगे।'

हिंदू-संस्कृतिका प्रधान और मूल स्वरूप यही है। यह संस्कृति जीवको विषयासक्तिके नीचे स्तरसे उठाकर अध्यात्मके उच्च स्तरपर ले जाती है। इसका प्रत्येक साधन, विचार और कर्म आत्माको परमात्मातक पहुँचानेमें सहायक होता है।

धर्म और समवितरण

मोक्ष जीवनका ध्येय है। इसीलिये हिंदू-संस्कृतिमें धर्मके साथ जीवनका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। छोटे-से-छोटे कर्मसे लेकर बड़े-से-बड़े कर्ममें धर्म सदा संलग्न है। परम धर्म तो भगवान्की भक्ति ही है। पर उसके साथ कुछ ऐसे लक्षण धर्मके बतलाये गये हैं, जो सभीके लिये परम उपादेय हैं। श्रीमनुमहाराज कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(२।१२)

जो वेद और स्मृतिके द्वारा प्रतिपादित, सत्पुरुषोंके द्वारा आचरित और अपनेको प्रिय लगनेवाला हो*—ऐसा चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण बतलाया गया है।

* अपनेको प्रिय लगे, वैसा ही आचरण दूसरोंके प्रति करे। अपनेको सम्मान, प्रेम, हित, द्वेष-दम्भरहित सद्व्यवहार प्रिय लगता है, तो दूसरोंके साथ भी वैसा ही करना चाहिये। महाभारतमें आया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्मका सर्वस्व—सार सुनना और उसे धारण करना चाहिये। जो कुछ भी अपनेसे प्रतिकूल हो, दूसरोंके साथ भी वैसा व्यवहार न करे।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६।३२)

'अर्जुन ! जो योगी अपनी ही तरह समस्त भूतोंमें सम (आत्माको) देखता है और सुख या दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह परम श्रेष्ठ योगी माना गया है।'

यदि कहीं किसीके साथ कभी व्यवहारमें युद्धादि-जैसी क्रूर क्रिया करनी पड़ती है तो वैसे ही जैसे मनुष्य अपने किसी सड़े अङ्गका विकार निकालनेके लिये शस्त्रक्रिया (ऑपरेशन) कराता है। गीतामें भगवान्ने अर्जुनको स्थान-स्थानपर युद्धके लिये आज्ञा दी है। पर साथ ही यह कहा है कि राज्यकी आशासे, कामनासे, आसक्तिसे और अहंकारके वशमें होकर युद्ध न करो। युद्ध करो मेरी आज्ञा मानकर, मेरे लिये, मेरी प्रसन्नताके लिये, मेरा कर्म मानकर। ऐसे विकट कर्ममें भी न आसक्ति रहे, न किसीके साथ वैर रहे—रहे केवल भगवत्परायणता, भगवद्भक्ति और भगवत्कर्म। इसीका नाम अनन्य भक्ति है। इसीसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।*

यह हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है कि इसमें विषमतामें समता देखनेका तथा क्रूर कर्मोंमें भी अनासक्त और निर्वैर रहकर उन्हें भगवत्कर्म बनाने एवं उनमें भक्ति और परायणताका संयोग करनेका कौशल प्राप्त है।

व्यावहारिक अनेकतामें तात्त्विक एकता और प्रकृतिजनित जगत्‌की विषमतामें परमात्माकी नित्य समता देखना हिंदू-संस्कृतिकी विशेषता है। इसी संस्कृतिमें यह अनुभव करके बतलाया गया है कि यह सारा जगत् एक ही भगवान्‌से निकला है, उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें समाता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् ब्रह्म— (तैत्तिरीय० ३।१)

* मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११।५५)

अर्जुन ! जो पुरुष मेरे ही लिये कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है, समस्त प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह (अनन्य भक्तियुक्त पुरुष) मुझ (भगवान्) को ही प्राप्त होता है।

एवं इस सर्वगत परमात्माकी अपने-अपने कर्मोंके द्वारा पूजा करके मनुष्य जीवनकी परम और चरम सफलताको प्राप्त कर सकता है।*

वर्णधर्म

अपने-अपने कर्मोंके अनुसार भगवान्‌के विधानसे जीवको जिस वर्णमें (या जिस योनिमें) जन्म ग्रहण करना पड़ता है, उसके जो स्वाभाविक कर्म हैं; वही उसके 'अपने कर्म' (स्वकर्म) हैं। यही वर्णधर्म है। वर्णधर्ममें सबके लिये पृथक्-पृथक् रूपसे कर्म नियत हैं। वर्णधर्मके अनुसार जिस वर्ण या जातिकी जो पैतृक आजीविका है, उसीको अपनाकर उसीमें सन्तुष्ट रहना और उससे जो कुछ उपार्जन हो, उसको यथायोग्य रीतिसे समाजमें वितरण कर देना उसका कर्तव्य है। जन्मसे ही वृत्ति नियत होनेसे न तो किसीमें कभी प्रतिस्पर्धाका भाव आता है, न कोई किसीकी वृत्ति छीननेका प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त, वंशपरम्परासे आजीविकाके जो साधन चले आते हैं, स्वाभाविक ही उनमें उस वंशके लोग निपुण हो जाते हैं। उनके रक्त-मांसमें उसके भाव भरे रहते हैं। इससे उनका कार्य बहुत सुन्दर और सुचारुरूपसे सम्पन्न होता है।

वर्णोंमें न तो आत्माकी दृष्टिसे कोई भेद है और न कर्मभेदसे उनमें कोई छोटा-बड़ा है। अपने-अपने स्थानपर सभीका समान महत्त्व है। सभी अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरेके पूरक और सहायक हैं तथा सभीकी अपने-अपने स्थानपर विशिष्ट उपयोगिता है। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल तथा श्रमबलसे गौरवशाली है। यही इनका स्वधर्म है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्‌के दिव्य शरीरसे हुई है। ब्राह्मणकी भगवान्‌के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(ऋग्वेद १०।९०।१२)

* यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८।४६)

जिस (परमेश्वर) से सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जो इस समस्त जगत्में व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।

विशेषकी सीमामें ही अवरुद्ध है। वह भी केवल मनुष्योंके लिये और उन मनुष्योंके लिये है, जो अपने मतके हैं। परन्तु हिंदू-संस्कृतिमें यह व्यवस्था प्राणिमात्रके लिये है। यहाँ तो प्रत्येक जीवको भगवान् मानकर उसकी सेवा करनेका आदेश है।

> सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
> मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

व्यवहारमें सबसे अधिक ममत्वका व्यवहार सन्तानके प्रति होता है। देवर्षि नारदजी धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

> मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः।
> आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्॥
> (श्रीमद्भा० ७।१४।९)

'हरिन, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, साँप, पक्षी और मक्खी आदिको अपने निज पुत्रके समान समझे। उनमें और पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है।'

कितनी उदार संस्कृति है यह, जिसमें प्राणिमात्रको अभयदान ही नहीं, सच्चा स्नेहदान है और सबके लिये यथायोग्य वितरणकी सुव्यवस्था है। आजकल तो 'अधिक अन्न उपजाओ' की तरंगमें बंदर, हरिण और नीलगाय-जैसे पशुओंके सामूहिक संहारकी राक्षसी व्यवस्था हो रही है। आजका स्वार्थी मनुष्य किस स्तरपर आ गया है! आश्चर्य यह कि इन बन्दरमार लोगोंको प्राणिमात्रको आश्रय देनेवाली समतासम्पन्न उदार हिंदू-संस्कृतिमें साम्प्रदायिकताकी बू आती है! और इसकी निन्दा करनेमें उन्हें सुख मिलता है!!

समता

यह अवश्य है कि हिंदू-संस्कृतिमें समता विवेकपूर्ण है। हिंदू इस बातको जानते हैं कि समता आत्मामें होती है, शरीरके व्यवहारमें नहीं होती। हिंदू दार्शनिकोंका यह अनुभव है कि सृष्टिकी स्थिति प्रकृतिकी विषमतामें ही है। जहाँ प्रकृतिका वैषम्य मिट जाता है, वहाँ जगत्का अस्तित्व ही लोप हो जाता है। वह तो महाप्रलयकी अवस्था है, जिसमें प्रकृति देवी परमात्माके अंदर प्रविष्ट होकर सो जाती है।

इसीलिये हिंदू विद्वान् जिन जीवोंके आकार-प्रकार, खान-पान, व्यवहार-वर्तावमें कभी समता हो ही नहीं सकती, उनमें भी ब्रह्म—परमात्माको समभावसे विराजित देखते हैं। भगवान् कहते हैं—

> विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
> शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
> (गीता ५।१८)

'वे पण्डितजन विद्या-विनयसंपन्न ब्राह्मणमें, चाण्डालमें तथा गौ, हाथी और कुत्तेमें भी समदर्शी होते हैं।'

यहाँ कोई कह सकते हैं—'ब्राह्मण और चाण्डाल—दोनों ही मनुष्य हैं। इनमें समदर्शन ही क्यों, समान व्यवहार भी हो सकता है।' (यद्यपि यह संभव नहीं) उनसे यह कहना है कि मनुष्यकी बात तो ठीक है—पर गाय, हाथी, कुत्तेके साथ भी क्या सम व्यवहारकी बात कभी सोची जा सकती है? गौका दूध लोग चावसे पीते हैं, कुतियाका कोई नहीं पीता; हाथीकी सवारीमें गौरव माना जाता है, कुत्तेकी सवारी कोई नहीं करना चाहता। हाथी जितना खाता है, कुत्ता उतनेसे दबकर मर जा सकता है। हाथी, कुत्ते और गायके आकार-प्रकारमें भी बड़ा भेद है। इस अवस्थामें इनमें सम-व्यवहारकी बात कहना पागलपन मात्र है। पर व्यवहारमें विषमता होते हुए भी प्राणिमात्रमें एक ही आत्मा—एक ही भगवान् सदा विराज रहे हैं, इस बातको हिंदू देखता है। वह ब्राह्मणके साथ ब्राह्मणोचित, चाण्डालके साथ चाण्डालोचित तथा गौ, हाथी और कुत्तेके साथ उनके योग्य व्यवहार करता है; परन्तु उनमें नित्य एक ही परमात्माको देखनेके कारण किसीके साथ असद्व्यवहार नहीं करता और न व्यवहारकी विषमतासे उसके प्रेम और परमात्मभावमें ही न्यूनता आती है।

जिस प्रकार अपने मस्तक, हाथ, पैर आदि अङ्गोंमें आत्मभाव समान होनेके कारण मनुष्य उनके व्यवहारमें भेद रखता है—मस्तिष्कसे विचार करता है, मुँहसे खाता और बोलता है, हाथोंसे आदान-प्रदान करता, लिखता-पढ़ता है और पैरोंसे चलता है। एक अङ्गसे दूसरे अङ्गका काम नहीं लेता; क्योंकि वह जानता है कि यह संभव ही नहीं है। परन्तु सबके सुख-दुःखका समान रूपसे अनुभव करता है और समस्त शरीरमें समान प्रेम करता है। उसी प्रकार व्यवहारमें भेद रखता हुआ भी हिंदू प्रत्येक प्राणीके साथ आत्माके नाते सदा समभावापन्न रहता है, और वह जैसे अपने योगक्षेम तथा कल्याणके लिये प्रयत्न करता है, वैसे ही अन्यान्य जीवोंके लिये भी करता है।

सेवा करके प्रसादरूपसे जो प्राप्त होता है, उसीको अमृतरूप जानकर वह अपना काम चलाता है। इस आश्रममें जीवनका एक महान् उत्तरदायित्वयुक्त कर्मपूर्ण अंश बिताकर और अपने सुयोग्य त्यागभावापन्न उत्तराधिकारीपर घरका भार सौंपकर त्यागके पथमें और भी आगे बढ़नेके लिये वह 'वानप्रस्थ' आश्रममें पहुँचता है और अन्तमें चतुर्थाश्रम—संन्यासमें सम्यक् प्रकारसे सम्पूर्ण त्याग करके परमात्माके साथ एकात्मता प्राप्त करता है। चारों आश्रम उत्तरोत्तर अधिकाधिक त्यागकी स्थितिमें ले जानेवाले हैं और अपने-अपने पूर्वाश्रमकी सुदृढ़ भित्तिके आधारपर स्थित हैं।

विवाह

हिंदू-संस्कृतिमें विवाह कभी न टूटनेवाला एक परम पवित्र धार्मिक संस्कार है, यज्ञ है। वह इन्द्रियसुखभोगके लिये नहीं, बल्कि पुत्रोत्पादनके द्वारा परलोकगत पितरोंको सुख पहुँचाने और देवताओंको तुष्ट करनेके लिये है। इसमें विवाह-विच्छेदकी बात तो दूर रही, जन्म-जन्मान्तरतक पति-पत्नीका पवित्र सम्बन्ध बना रहता है। इसीसे हिंदू-स्त्रियाँ पतिके शवके साथ हँसते-हँसते सती हो जाती हैं। इस गये-गुजरे जमानेमें भी सतियोंके चमत्कार होते ही रहते हैं* ।

बड़ोंकी सेवा

हिंदू-संस्कृतिमें माता-पिता, गुरु और श्रेष्ठ पुरुषोंकी वन्दना तथा सेवाका बड़ा महत्त्व है। मनु महाराज कहते हैं—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते॥

(मनु० २। २२५, २२६, २२७, २३२)

'आचार्य, पिता, माता और बड़े भाई—इनका, इनसे सताये जानेपर भी, अपमान न करे। ब्राह्मणको तो विशेषरूपसे इनका अपमान नहीं करना चाहिये। क्योंकि आचार्य ब्रह्माकी मूर्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्ति, माता पृथ्वीकी मूर्ति

---

* अभी हालमें सीतापुरके चमखरि ग्राममें एक सती हो गयी है। इस सम्बन्धमें हमारे पास बहुत-से पत्र आये हैं। सभीमें लिखा है कि अग्नि अपने-आप प्रकट हो गयी थी। उन पत्रोंमेंसे एक पत्र यह है जो श्रीमनोहरलालजी वैद्यका लिखा हुआ है। हमने जाँचके लिये वहाँ अपने एक आदमीको भेजा था। उन्होंने भी इस घटनाको सर्वथा सत्य बतलाया है—

सतीका चमत्कार

ग्राम पातावोझ-महोली (सीतापुर) निवासी श्रीरामचरणलालके पुत्र श्रीसरयूप्रसादजी वैद्यकी सुपुत्री श्रीजयदेवीका जन्म महोलीमें हुआ था। श्रीजयदेवीके पिता जूनियर हाई स्कूल महोलीमें आज भी अध्यापक हैं। श्रीजयदेवी बचपनसे ही भगवान्का भजन, साधन और रामायणपाठमें विशेष रुचि रखती थीं। आजसे सात वर्ष आठ मास पूर्व उसका विवाह चमखरि ग्राम-निवासी श्रीद्वारकाप्रसादजी वैद्यके पुत्र श्रीरामेलालजीके साथ सम्पन्न हुआ। विवाह महोलीमें ही हुआ था।

श्रीजयदेवीजी चमखरि ग्राममें रहते हुए पातिव्रत-धर्मका पालन करती हुई पति एवं परिवारकी सेवामें अनुरक्त रहीं।

इस समय उनके पतिकी अवस्था २२ साल एवं श्रीजयदेवीजीका १९ वाँ वर्ष पूरा हो रहा है। इनके पतिदेव श्रीरामेलालजीका पौषकृष्ण १२ शुक्रवार ता० १६ दिसम्बर सन् १९४९ को सन्ध्या-समय ४ बजे स्वर्गवास हो गया। तब श्रीजयदेवीजीने सबसे कहा कि 'बिना स्नान किये हुए कोई भी व्यक्ति मेरे पतिके शवको स्पर्श न करे एवं न स्नान किये बिना कोई घरमें ही प्रवेश करे और कोई भी रोये नहीं। फिर अपने श्वशुर श्रीद्वारकाप्रसादजीसे कहा कि 'आप पुलिस सीतापुर तथा महोलीको सूचना कर दीजिये, जिससे पीछे आपको कोई परेशान न करे।' इतनेमें तो यह समाचार चारों ओर फैल गया।

तदनन्तर श्रीजयदेवीजी स्नानादिसे निवृत्त होकर रात्रिभर श्रीरामायण-पाठ करती रहीं। दूसरे दिन बारह बजे मध्याह्नकालतक पाठ, स्वाध्याय, भगवन्नाम-कीर्तन इत्यादि होता रहा। बादमें रथी श्मशान-घाटको रवाना हुई। हजारों आदमियोंकी भीड़ साथ थी। पुलिसके अधिकारियोंने कई प्रकारके प्रश्न श्रीसतीजीसे किये।

श्रीसतीजीने केवल इतना ही कहा, 'ईश्वर! तुम्हीं सबके एकमात्र सहायक हो। तुम्हीं मेरा बेड़ा पार लँघाओ।' भगवत्प्रार्थना करती हुई वे शवके आगे-आगे ग्रामसे दक्षिण तीन फर्लांगतक गयीं।

पौषकृष्ण १३ शनिवारको २ बजकर २० मिनटपर पतिका सिर अपनी गोदमें रखकर राम-राम करती हुई वे चितापर बैठ गयीं। सतीजीने पहले श्रीसूर्यभगवान्की ओर हाथ जोड़कर देखा। फिर नतमस्तक हो पुनः सूर्यभगवान्की ओर देखा। एकाएक उनके दोनों नेत्र अरुणिमामय हो गये, ललाट चमकने लगा। फिर अन्तिम बार सूर्यभगवान्की ओर देख दोनों हथेलियोंको घिसा। तुरंत ही अग्निदेव प्रज्वलित हो गये। सब लोग 'जय-जय' पुकार उठे।

उनके श्वशुर श्रीद्वारकाप्रसादजीने पूछा, 'बेटी! हमारे लिये क्या आज्ञा होती है?' तो कहा—'सर्वसम्पत्तिमान् होओगे।' फिर पिता सरयूप्रसादजी तथा दारोगाको आशीर्वाद देकर भगवान्का स्मरण करने लगीं और थोड़ी ही देरमें अग्निमय होकर अपने पतिसहित परम-धामको सिधार गयीं।

ये सब अपने-अपने कर्मका सुचारुरूपसे सम्पादन करते रहें तो जन्मान्तरमें वे उच्च वर्णके होते हैं। जैसे नाटक-मण्डली-में किसी अभिनेताके द्वारा अपने जिम्मेका अभिनय सफलता-के साथ सम्पन्न किये जानेपर उसे दूसरे श्रेष्ठ पात्रका अभिनय मिल जाता है, वैसे ही इस जगन्नाटकमें सफल अभिनेताको जन्मान्तरमें उच्च वर्णकी प्राप्ति होती है।

कर्म और पुनर्जन्म

हिंदू-संस्कृतिमें 'कर्म' और 'पुनर्जन्म'का सिद्धान्त अनुभव-सिद्धरूपसे मान्य है। कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है और कर्मानुसार जन्मान्तरकी प्राप्ति होती रहती है एवं जबतक भगवत्प्राप्ति या मुक्ति नहीं हो जाती, तबतक यह जन्म-मरण-का प्रवाह चलता ही रहता है। मरनेपर कर्मानुसार जीव आतिवाहिक देह प्राप्त करके तेजःप्रधान देव-देहसे स्वर्गादि लोकोंमें अथवा वायुप्रधान पितृ-प्रेतादि-देहसे पितृ-प्रेत-लोकोंमें जाता है; परंतु इसके सिद्धान्तमें अनन्तकालीन स्वर्ग या नरक नहीं है। स्वर्ग या नरकादिके सुख-दुःख भोगकर जीव पुनः अपने कर्मानुसारे अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेता है।

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है और फलमें परतन्त्र है। निषिद्ध कर्माचरणसे अन्धकारमय दुःखप्रद नरकादि लोक और नीच पशु-पक्षी आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं और पवित्र वैध कर्मोंके फलस्वरूप सुखमय स्वर्गादि लोक और उत्तम श्रेष्ठ वर्णकी मानव-योनि प्राप्त होती है। छान्दोग्यो-पनिषद्में कहा है—

रमणीयचरणाः······रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मण-योनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा······कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डाल-योनिं वा।

(५।१०।७)

'उन जीवोंमें जो अच्छे आचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरण-वाले होते हैं, वे तत्काल अशुभयोनिको प्राप्त होते हैं। वे कुत्तेकी योनि, शूकरयोनि या चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं।'

आश्रम-धर्म

वर्णव्यवस्थाकी भाँति ही हिंदू-संस्कृतिमें आश्रम-व्यवस्था है। हिंदू-संस्कृतिका साध्य त्याग है, भोग नहीं। संसारके तुच्छ, अल्प, सीमित और दुःखमिश्रित भोगोंमें आसक्ति न रखकर जीवनको त्यागमय बनाना इसमें महत्त्वकी बात मानी जाती है। हिंदू-संस्कृतिमें स्वाभाविक ही भोगी-की अपेक्षा त्यागीका स्थान ऊँचा है। महान् सम्राट् भी त्यागी महात्माओंकी चरणधूलि सिरपर चढ़ानेमें अपना सौभाग्य समझता है। किसके पास कितना अधिक धन-ऐश्वर्य है, इसका कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है इस बातका कि कौन कितना बड़ा त्यागी है। पाश्चात्योंके संगसे जबसे भारतने इस त्यागके महत्त्वको भुलाया और अपनी संस्कृतिके सिद्धान्तोंके विरुद्ध भोगैश्वर्यके पीछे पागल हुआ, तभीसे जीवनका लक्ष्य मानकर उसकी दृष्टि केवल अर्थ और अधिकारपर टिकने लगी और तभीसे अनाचार, दुराचार, चोरी, छल, कपट, चोर-बाजारी, रिश्वतखोरी आदि दोष आ गये और ये तबतक नहीं मिट सकेंगे, जबतक कि त्यागकी महत्ताका यथार्थ अनुभव न हो जायगा।

हमारे आश्रमधर्ममें आरम्भसे ही त्यागकी शिक्षा दी जाती है। 'ब्रह्मचर्याश्रम'में राजकुमार भी गुरुकुलमें उसी रूपसे रहता है, जिस रूपमें एक निर्धनका बालक। और नियमतः ही वहाँ समस्त विलास-सामग्रियोंका—ऐन्द्रिय सुखोपभोगोंका त्याग और मन-इन्द्रियका संयम रखना पड़ता है। त्यागकी इस प्रथम घाटीको पार करके वह 'गृहस्थाश्रम'में आता है, यहाँ उसे भोगोंमें रहकर त्यागी बनना पड़ता है। धन कमाता है पर अपने लिये नहीं, सारे समाजके लिये, विश्वके लिये—भगवान्के लिये। पुत्रोत्पादन करता है, पर अपने लिये नहीं, समाजके लिये, धर्मके लिये, भगवान्के लिये। वह संयमी और जितेन्द्रिय होता है। वह सारे समाजका सेवक होता है। तीनों आश्रमोंका और प्राणिमात्रका आश्रय होता है।* सबकी

* यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥
(मनु० ३।७७–७९)

'जैसे सब प्राणी प्राणवायुका आश्रय लेकर जीते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थाश्रमीका आश्रय लेकर जीते हैं; क्योंकि गृहस्थ ही नित्य विद्या और अन्नका दान देकर तीनों आश्रमवालोंको टिकाये रखता है, अतः गृहस्थाश्रमी पुरुष तीनों आश्रमोंसे श्रेष्ठ है। जिसको स्वर्गके अक्षय सुखकी तथा इस लोकमें सुखकी इच्छा हो, उसको प्रयत्नपूर्वक गृहस्थाश्रम धारण करना चाहिये, जो अजितेन्द्रिय पुरुषोंके द्वारा धारण नहीं किया जा सकता।'

परमादरणीय डा० हेडगेवार

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ।

उँगलियोंपर गिननेके लिये भी अपर्याप्त सिद्ध होनेवाले अंग्रेजोंको भारतपर शासन करते देखकर बच्चा केशवरावका मन आकुल हो जाता था । देशभक्ति माताके दूधके साथ ही उसके रग-रगमें भरी थी । नागपुर-किलेपर फहरानेवाले यूनियनजैकको उतारकर उसपर राष्ट्रध्वज फहरा देनेके लिये कुछ ही बच्चोंके साथ घरसे सुरंग खोदनेका साहस इसने बचपनमें ही किया । रहस्योद्घाटन होनेपर मा-बापने दाँतोंतले उँगली दबा ली । नागपुरके सनातनी ब्राह्मण पं० श्रीबलीरामजी पन्तको इस बच्चेका पिता बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ । बच्चेका पूरा नाम श्रीकेशवरावजी हेडगेवार था । सम्पत्तिहीन, पर प्रतिष्ठित वंशमें इन्होंने शक संवत् १८१२ (विक्रमीय संवत् १९४६) की प्रतिपदाके दिन जन्म लिया । इन्होंने बारहवाँ वसन्त भी नहीं देखा था कि नागपुरके सन् १९०२ के प्लेगमें इनके माता-पिता साथ ही परलोकवासी हुए ।

प्रारम्भिक जीवनपर इनके यशस्वी बड़े भाईके उग्र स्वभावका प्रभाव पड़ा । पर देशभक्त जीवनके लिये जिस शान्ति, मैत्री और प्रेमकी अपेक्षा थी; वह स्वतः इनमें आ गया । इनके अन्तःकरणमें राष्ट्रोद्धार और लोकसंग्रहकी ज्वलन्त भावनाएँ थीं, फलतः घोर अपराध माना जानेपर भी इन्होंने 'वन्दे मातरम्' आन्दोलन किया और विवश होकर अनुशासन-प्रिय हेडमास्टरने इन्हें स्कूलसे पृथक् कर दिया ।

सन् १९१० में आप कलकत्ता मेडिकल कालेजमें भरती हो गये । वहाँ आपने बंगवासियोंसे गहन आत्मीयता स्थापित की । दीन-दुखियोंकी सेवाके लिये आप सदा आगे रहने लगे । यह उत्तम गुण सङ्गीनोंके बलपर शासन करनेवालोंको कैसे सह्य होता, फलतः इनके पीछे पुलिस पड़ गयी । सन् १९१५-२४ तक अनेक संस्थाओंमें काम करते हुए आपने आसेतु हिमाचल समस्त हिंदुओंके संघटनको ही भारतोद्धारके लिये सर्वश्रेष्ठ और सुगम पथ समझा और इसीलिये आपने सन् १९२५ ई० की विजयादशमीको 'राष्ट्रिय स्वयंसेवक सङ्घ'की शुभ स्थापना की । इनकी निष्ठा, लगन, श्रम और स्नेहशील स्वभावके कारण इनके जीवनकालमें ही सङ्घ भारतके प्रत्येक प्रान्तमें व्याप्त हो गया ।

आपने सङ्घको अपना प्राण समझा और आजीवन ब्रह्मचारी रहे । सादा जीवन और उच्च विचारके साथ आपने हिंदू-समाज, हिंदू-धर्म और हिंदू-संस्कृतिके त्राणके लिये अपने बहुमूल्य जीवनका एक-एक कण लगा दिया । भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, राणा प्रताप, वीर शिवाजी और गुरुगोविन्दसिंह आदि वीर, तपस्वी और भारतके लिये सर्वस्वार्पण करनेवाले प्रातःस्मरणीय हिंदुओंके जीवन आपके पथके प्रकाश-स्तम्भ थे । यद्यपि सन् १९४० के जूनमें अस्वास्थ्यके कारण आपकी पाञ्चभौतिक काया पञ्चभूतोंमें समा गयी, फिर भी आप अबतक सङ्घके आदर्श, क्रियाशील और नैष्ठिक सदस्योंके ही नहीं, समस्त हिंदू-हृदयोंके प्राणप्रिय हैं और इस धरापर जबतक हिंदू जीवित हैं, तबतक आप अमर हैं । —शिवनाथ दुबे

कुछ चित्रोंका परिचय

हिंदू-संस्कृति—(सादा) बाहरी मुखपृष्ठपर—इसमें दिखाया गया है कि हिंदू-संस्कृतिका मूल उद्गम परमात्मा है। परमात्माका प्रतीक 'प्रणव' है । अतः प्रणवको—भगवान्‌को आधार मानकर इस संस्कृतिकी धारा चलती है । भगवान्‌का आश्रय होनेपर उसमें शुभका प्रादुर्भाव होता है । 'स्वस्तिक' ही शुभका प्रतीक है । इस शुभ भावके फलस्वरूप षोडश-दल कमलके विकासकी भाँति शुद्ध हृदयमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, दान, तप, संयम, कर्मफलमें विश्वास, पुनर्जन्ममें विश्वास, परलोकमें विश्वास, वर्णाश्रमधर्मका आचार, त्याग, दया, कर्तव्यपालन और शौर्य—इन १६ सद्गुणोंकी उत्पत्ति होती है । इनका परिणाम होता है—भक्ति, प्रेम, समता और सर्वात्मदर्शनकी प्राप्ति । इसके फलस्वरूप यहाँ मनुष्यका जीवन सदाचारयुक्त, शान्त, परमात्मनिष्ठ और आनन्दमय हो जाता है । और अन्तमें उसे परमात्मरूप भगवद्धामकी उपलब्धि हो जाती है । यों हिंदू भगवान्‌से ही निकलता है, भगवान्‌में ही रहता है और अन्तमें भगवान्‌में ही प्रवेश प्राप्त करता है ।

हिंदू-संस्कृति—(रंगीन) पृष्ठ मुखपृष्ठ—इसमें (१) राम-राज्यके रामदरबारमें कुत्तेकी भी फरियाद सुनी जा रही है, (२) हिंदू-संस्कृतिका परिचय राग-द्वेषरहित, तपस्वी, सत्य-अहिंसाकी प्रकटमूर्ति ऋषियोंके सादे-सीधे इस अरण्य-आश्रममें मिलता है, जहाँ त्रिकालज्ञ समदर्शी गुरु द्विज-बालकोंको योग्य शिक्षा दे रहे हैं । यज्ञकुण्डमें अग्नि प्रज्वलित है, और सिंह, गौ, हरिण एक साथ निवास करते हैं, (३) मोक्ष ही परम ध्येय है, यह मानकर नवयुवक राजकुमार सिद्धार्थ अपनी तरुणी पत्नी और नवजात शिशुको त्यागकर रात्रिके समय वैराग्यकी प्रबलतासे निकल जाते हैं, (४) धर्मपर अडिग रहनेवाले गुरु गोविन्दसिंहके पुत्र अपनेको हँसते-हँसते दीवालमें चुनवाकर बलिदानका अनुपम दृश्य उपस्थित कर रहे हैं और (५) आर्य-संस्कृतिके परम गौरवस्वरूप सतीत्वकी रक्षाके लिये भारतीय देवियाँ प्रज्वलित अग्नि-सरोवरमें कूद-कूदकर सानन्द

और बड़ा भाई अपनी ही दूसरी मूर्ति है (इनका अपमान करनेसे उन-उन देवताओंका अपमान करना माना जाता है)। बालकोंको जन्म देकर उनका पालन-पोषण करनेमें माता-पिताको जो दुःख सहना पड़ता है, उसका बदला सैकड़ों वर्ष सेवा करनेपर भी नहीं चुकाया जा सकता ।'

'जो गृहस्थी (माता, पिता और गुरु) इन तीनोंकी सेवामें तत्पर रहता है, वह तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करता है और स्वर्गमें सूर्यके सदृश अपने तेजस्वी शरीरके द्वारा प्रकाश करता हुआ आनन्दमें रहता है ।'

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥
(मनु० २ । १२१)

'जो मनुष्य नित्य बड़ोंको प्रणाम करता है और उनकी सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल चारों बढ़ते हैं ।'

हिंदू-संस्कृतिके कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षणोंका यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है । वस्तुतः हिंदू-संस्कृति अध्यात्मप्रधान है । व्यावहारिक लोकहितका पूरा ध्यान रखते हुए सत्य और न्यायपूर्ण साधनसे अनासक्त होकर लौकिक उन्नति करना और उसमें भी जीवनके चरम लक्ष्य भगवान्‌को कभी न भूलते हुए क्रमशः भगवान्‌की ओर बढ़ते रहना इसका प्रधान स्वरूप है । पवित्र भारतवर्षमें इस महान् संस्कृतिका उदय हुआ, इसीसे भारत धन्य है और धन्य रहेगा ।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
(विष्णुपुराण २ । ३ । २४)

'देवतालोग भी निरन्तर यही गाया करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और मोक्षके मार्गभूत भारतवर्षमें जन्म लिया है, वे पुरुष हम देवताओंकी अपेक्षा भी अधिक सौभाग्यशाली हैं ।'

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥
किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतै-
र्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना।
न यत्र नारायणपादपङ्कज-
स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात् ॥
कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ॥
(श्रीमद्भा० ५ । १९ । २१-२३)

देवता भारतवर्षमें उत्पन्न हुए मनुष्योंकी इस प्रकार महिमा गाते हैं—'अहा ! जिन जीवोंने भारतवर्षमें भगवान्‌की सेवाके योग्य मनुष्यजन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है ? अथवा इनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं ? इस परम सौभाग्यके लिये तो निरन्तर हम भी तरसते रहते हैं । हमें बड़े कठोर यज्ञ, तप, व्रत और दानादि करके जो यह तुच्छ स्वर्गका अधिकार प्राप्त हुआ है—इससे क्या लाभ है ? यहाँ तो इन्द्रियोंके भोगोंकी इतनी बहुलता है कि उससे दबे रहनेके कारण कभी श्रीनारायणके चरणकमलोंकी स्मृति होती ही नहीं । यह स्वर्ग तो क्या—जहाँके निवासियोंकी एक-एक कल्पकी आयु होती है, किंतु जहाँसे फिर संसार-चक्रमें लौटना पड़ता है, उन ब्रह्मलोकादिकी अपेक्षा भी भारतभूमिमें थोड़ी आयुवाले होकर जन्म लेना अच्छा है; क्योंकि यहाँ धीर पुरुष एक क्षणमें ही अपने इस मर्त्यशरीरसे किये हुए सम्पूर्ण कर्म श्रीभगवान्‌को अर्पण करके उनका अभयपद प्राप्त कर सकता है ।'

जगत्‌के लोग निष्पक्ष भावसे इस संस्कृतिके भव्य और दिव्य स्वरूपको समझें तो उन्हें बड़ा भारी आश्वासन मिलेगा और यहाँके निवासियोंका तो यह परम कर्तव्य ही है कि वे—जो आज अपने घरकी महान् संस्कृति और उसके पावन सिद्धान्तोंसे अनभिज्ञ रहकर परमुखापेक्षी बन रहे हैं, अपनी पवित्र आर्य-संस्कृतिकी अवहेलना करके केवल 'अर्थ' और 'अधिकार' के पीछे प्रमत्त होकर 'सनातनधर्म'के विनाशमें ही कल्याणकी भावना कर रहे हैं एवं फलस्वरूप उत्तरोत्तर पाप-तापके मलिन और दुःखप्रद पंकमें फँसे जा रहे हैं—शीघ्र चेतें, अपनी संस्कृतिको जानें, समझें और अपनायें । भारतवर्षका सिर ऊँचा करनेके लिये उसके पास कोई वस्तु थी तो वह उसकी अध्यात्मप्रधान संस्कृति ही थी । इस अध्यात्मको अपनाकर अपना और इसे आजके अशान्त जगत्‌को देकर उसका क्लेश दूर करके ही भारत अपने पुण्य कर्तव्यका पालन कर सकता है । भगवान् हमारी बुद्धिमें प्रकाश दें और अखिल विश्वका मङ्गल करें ।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

क्षमा-प्रार्थना

कई वर्षोंसे हिंदू-संस्कृति-अङ्कके प्रकाशनकी बात चल रही थी; परंतु विषय बहुत व्यापक होनेके कारण यह सोचा जा रहा था कि सब विषयोंपर पूर्णरूपसे विचार किया जाना तो सम्भव नहीं होगा। क्योंकि हिंदू-संस्कृतिका प्रत्येक विषय इतना विशद है कि उसपर पृथक् विशेषाङ्क निकाला जा सकता है और कुछ अधूरे-से विषयोंका विशेषाङ्क उपयुक्त नहीं होगा; परंतु हमारे आदरणीय ग्राहकों तथा मित्रोंने बहुत जोर दिया, तब हिंदू-संस्कृति-अङ्क प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया। विषय-सूची बहुत लंबी बन गयी। काट-छाँट करनेपर जितने विषय रहे, उनपर लेख लिखवानेका प्रयत्न किया गया। परंतु उनमें भी बहुत-से विषय छूट गये। तथापि 'कल्याण'के प्रेमी विद्वान् महानुभावोंने परिश्रम करके जो लेख लिखे, वे बहुत ही उत्तम और मनन करने योग्य हैं। इस दृष्टिसे यह अङ्क हमारी तुच्छ बुद्धिके अनुसार अधूरा होनेपर भी बहुत उपादेय हो गया है। पाठकोंको कहाँतक सन्तोषप्रद होगा, यह तो उनके पढ़नेपर ही पता लगेगा।

इस अङ्कमें ऐसे बहुत-से विषयोंपर लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनका सम्पादकोंको पूरा ज्ञान नहीं है। साथ ही लेखकोंने भी अपने-अपने ज्ञान, दृष्टिकोण तथा मतके अनुसार ही उनपर विवेचन किया है। ऐसी अवस्थामें लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये लेखक महानुभाव ही उत्तरदायी हैं। किन्हींको कोई सन्देह हो तो लेखक महोदयोंसे ही पूछना चाहिये।

हमारे परम आदरणीय संत-महात्माओं, आचार्यों, विद्वानों, कवियों तथा सम्माननीय अधिकारियोंने कृपापूर्वक लेख, कविता, सन्देश आदि भेजकर जो हमारा उपकार किया है, इसके लिये हम हृदयसे उनके कृतज्ञ हैं। लेख इतने अधिक आ गये कि सबका प्रकाशित करना असम्भव हो गया; इससे बहुत-से लेख प्रकाशित नहीं हो सके हैं। बहुत-से अधूरे तथा बहुत-सा अंश छोड़कर प्रकाशित किये गये हैं। इसके लिये हम हाथ जोड़कर सब महानुभावोंसे क्षमा चाहते हैं। लेखक महोदय हमारी विवशता समझकर क्षमा करेंगे। लेखोंके सम्पादन और मुद्रणमें कहीं कोई भूल हो गयी हो तो लेखक महोदय कृपया क्षमा करें।

इस अङ्कके लिये सामग्री एकत्र करने, लेख लिखने-लिखवाने, चित्रादि संग्रह करने, छायाचित्र उतरवाकर भेजनेमें और चित्रोंके ब्लाक बनाकर प्रकाशित करनेकी अनुमति देने आदिमें हमें अपने बहुत-से कृपालु महानुभावोंसे तथा संस्थाओंसे बड़ी सहायता मिली है। इनमें महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०; श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, डी० लिट्०; श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, डिप्टी कलक्टर; श्रीशार[illegible] प्रसादजी, मंत्री, मानस-संघ; स्वामीजी कृष्णानन्दजी महारा[illegible] पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०; पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी, डा० इन्द्रसेनजी, पं० श्रीवा[illegible] देवजी उपाध्याय, एम्० ए०; डा० श्रीरघुवीर, एम्० ए०, [illegible] एच्० डी०, डी० लिट्० एट् फिल्; श्रीशिवशरणजी, [illegible] श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा; श्रीविष्णुहरि वडेर, एम्० ए० एल-एल्० बी०; पं० श्रीरघुनाथजी शर्मा, बैंकोक (स्याम); पुज[illegible] श्रीशोभानाथजी, श्रीचमनलालजी और पं० श्रीहनूमान्जी श[illegible] भारतीय पुरातत्त्व-विभाग कोचीन-त्रिवाङ्कुर-सरकार, रे[illegible] बोर्ड और मानस-संघ, सतनाके नाम उल्लेखनीय हैं। [illegible] सहायताके लिये हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं।

कुछ लेख विभिन्न मासिक तथा साप्ताहिक पत्रोंसे [illegible] गये हैं, इसके लिये हम उनके सम्पादकों और सञ्चालक[illegible] प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

सम्पादन-विभागके मित्रोंमें सम्मान्य पण्डित श्रीलक्ष्म[illegible] नारायणजी गर्दे, पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री, श्रीसुदर[illegible] सिंहजी, श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी, श्रीशिवनाथजी दुबे, श्रीमाध[illegible] शरणजी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, श्रीरामलालजी [illegible] ए०, श्रीदुलीचन्द दुजारी आदि सभी सहयोगियों [illegible] मित्रोंने बड़ी तत्परतासे काम किया; इसीके फलस्वर[illegible] इतना सुन्दर अङ्क निकल सका है। अपने इन साथियों [illegible] धन्यवाद देकर हम उनके निर्मल प्रेममें बाधा [illegible] डालना चाहते।

बार-बार नुकसानकी बात सुनाकर हम अपने पाठकों [illegible] दुखी नहीं करना चाहते। परंतु इस बार कई कारणोंसे ह[illegible] पहलेके अनुमानसे बहुत ही अधिक नुकसान रह गया है [illegible] यह केवल सूचनामात्र है।

अन्तमें इस अङ्कमें रही हुई त्रुटियोंके लिये हम [illegible] क्षमा चाहते हैं और आशा करते हैं कि हमारे पाठक [illegible] अङ्कसे हिंदू-संस्कृतिके महान्, निर्मल, पवित्र, सर्वसुखद और कल्याणप्रद रूपका किंचित् आभास पाकर अ[illegible] कार्यक्रम निश्चय करेंगे और अपने जीवनको हिंदू-संस्कृ[illegible] परम-लक्ष्य श्रीभगवान्के विशेष समीप ले जायँगे।

सम्पादक { हनुमानप्रसाद पोद्दार
चिम्मनलाल गोस्वाम[illegible] }

अवगाहन कर रही हैं। इस चित्रमें हिंदू-संस्कृतिके प्रधान चिह्न गो, वृषभ, शङ्ख, कमल और प्रणव अङ्कित हैं। नीचे गन्धर्वोंका हरियश-कीर्तन चित्रित है।

हिंदू-संस्कृतिमें ऋषि-आश्रम—(रंगीन) पृष्ठ १—ऋषि और ऋषि-बालक यज्ञ-अध्ययनमें लगे हैं। पशु-पक्षी निर्भय विचर रहे हैं।

श्रीराधाकृष्ण-दर्पण-दर्शन—पृष्ठ २४—यह अत्यन्त सुन्दर कलापूर्ण पहाड़ी चित्र है। सामने खुली छत-पर पचीकारीके कामकी चौकीपर कीमखावका मसनद-तकिया लगा है। दो सखियाँ माला गूँथ रही हैं। फव्वारा चल रहा है। नीचे दूरपर पहाड़ोंके बीचमें सुन्दर कमलोंका सरोवर है। किनारेपर फूलोंसे लदे वृक्ष हैं और सामने सारस-पंक्ति विहार कर रही है। श्रीराधा-कृष्ण बड़ी तन्मयताके साथ दर्पणमें छवि देख रहे हैं। श्रीराधाकृष्णकी प्रसन्नता और तन्मयताका भाव बहुत ही आकर्षक है।

श्रीराधाकृष्णकी मुरली-लीला—पृष्ठ २५—यह भी पहाड़ी चित्रशैलीका अति सुन्दर चित्र है। चारों ओर नक्काशीका कार्य है। श्रीराधाकृष्णका भावसौन्दर्य बड़ा ही मनोहर और दर्शनीय है।

श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण और शरत्-पूर्णिमा (रासलीला)—(रंगीन) पृष्ठ ५६—ये दोनों नाथद्वाराकी कलमके बहुत सुन्दर सुनहरे चित्र हैं।

श्रीराम-लक्ष्मण-सीतासे भरत एवं माताओंका मिलन—पृष्ठ ८१—चित्रकूटके मिलनका सुन्दर दृश्य है।

वाल्मीकि-आश्रममें नारद—पृष्ठ ८१—देवर्षि श्रीनारद-जी महर्षि वाल्मीकिजीसे बातचीत कर रहे हैं। पर्वत, वृक्षावली, कुटियां आदिका दृश्य बड़ा ही मनोहर है।

उमा-महेश्वर—पृष्ठ २२५—यह हाथीदाँतकी बहुत ही सुन्दर मूर्ति है। त्रिवाङ्कुर स्टेटके पुरातत्त्व-विभागके अध्यक्ष श्री टी० ए० गोपीनाथ रावने एक Elements of Hindu Iconography नामक विशद ग्रन्थ तीन भागोंमें लिखा है। इसमें शास्त्रीय बहुत-से हिंदू-देवमूर्तियोंके प्रकारभेदका बड़ा ही विशद वर्णन है। इससे पता लगता है मूर्तियाँ मनमानी नहीं बनतीं। उनके सहस्रों शास्त्रीय भेद बहुत ही महत्त्वके हैं! इन्हीं शास्त्रीय वर्णनोंके अनुसार विभिन्न देव-मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। इस अङ्कमें इस 'उमा-महेश्वर'की मूर्तिके अतिरिक्त त्रिवाङ्कुर-कोचीन-सरकारके सौजन्यसे प्रकाशित जितनी मूर्तियोंके चित्र हैं, वे सभी इसी प्रकारकी शास्त्रीय मूर्तियाँ हैं।

माखनलीला—पृष्ठ ३३६—पहाड़ी (बसौली) चित्रशैली-का सुन्दर चित्र है। श्रीकृष्णका सखा ग्वालबालक ऊखलपर चढ़ा है, उसके कन्धोंपर चढ़े श्रीकृष्ण छींकेपर रक्खी मटकीसे माखन निकाल रहे हैं। दूसरे सखा और बंदरके हाथमें श्रीकृष्णके दिये हुए माखनके लौंदे हैं। गोपाङ्गनाने इस आनन्दका आस्वादन करनेके लिये मथानी छोड़कर अपने मुँहको छिपा रक्खा है।

दानलीला—पृष्ठ ३३९—श्रीकृष्ण और उनके सखा नाना प्रकारकी भावभङ्गिमासे दूध-दहीका दान ले रहे हैं।

शक्ति-शक्तिमान्‌का प्रेमस्वरूप—(सुनहरा) पृष्ठ ४४०—कलाकी दृष्टिसे यह चित्र बहुत ही सुन्दर है।

सृजन-पालन-संहार—(रंगीन) पृष्ठ ५१३—एक ही भगवान्‌के तीन स्वरूप सनातन धर्ममें माने गये हैं। ब्रह्माके रूपसे वे जगत्‌का तथा विविध योनियोंका सृजन करते हैं, विष्णुके रूपसे जल, वायु, अन्न, ओषधि आदिके द्वारा भाँति-भाँतिसे उनका पालन करते हैं और रुद्र (महादेव) के रूपसे उनका विविध रोगों, लड़ाइयों, अग्नि-जलादिके द्वारा संहार करते हैं।

श्रीराधाकृष्णका वर्षाविहार—पृष्ठ ७१२—वनमें वर्षासे बचनेके लिये श्रीराधाकृष्ण दोनों कामरीकी एक घूघी तानकर उसमें छिप जाते हैं। ग्वाल-बाल भी पेड़के खोडलमें छिप गये हैं। सामने एक सखी उन्हें देख रही है। ऊपर मेघोंसे भरा हुआ आकाश है, जिसमें बकपंक्ति उड़ रही है। प्रकृति और मानवके भावोंका उत्तम सामञ्जस्य इस चित्रमें है।

श्रीकृष्णका गौ चराकर लौटना—पृष्ठ ७१२—सन्ध्या—गोधूलिके समय वनसे लौट रहे हैं। इसमें श्रीकृष्ण, उनके सखा और गायोंके भाव देखने योग्य हैं। दिनभर प्रतीक्षामें बिताकर व्रजनारियाँ बड़ी उमंगसे फूल बरसाकर इन दिव्य गोपाल-का स्वागत कर रही हैं। यह चित्र बोस्टन-संग्रहालयमें सुरक्षित है। डाक्टर कुमारस्वामीने रंगोंमें इसे प्रकाशित किया था।

श्रीकृष्णका दावानल-पान—पृष्ठ ७१३—यह बसौली शैलीका चित्र है। यह शैली अपने चटकीले रंगोंके कारण बहुत विख्यात है।

पुण्यदानसे नरकके प्राणियोंकी मुक्ति—पृष्ठ १९३—महान् पुण्यात्मा महाराजा विपश्चित्‌को मरनेपर किसी साधारण पापके कारण नरकके मार्गसे ले जाया गया। वे जब नरकोंके समीप होकर आगे बढ़े तो नरक-यन्त्रणासे पीड़ित प्राणियोंको बड़ी शान्ति मिली। इसका कारण पूछनेपर उन्हें बतलाया गया कि 'आपके पुण्यमय शरीरसे छूकर बहनेवाली वायुमें इतना प्रभाव है कि उसके लगनेसे इन प्राणियोंकी यातना मिट गयी है। आपके दर्शनसे यमलोकके यन्त्र, शस्त्र, अग्नि आदि सब कोमल हो गये हैं।' इसपर राजाने कहा कि 'जब मेरे कारण इन पीड़ित प्राणियोंको सुख मिलता है, तब मैं यहाँ नरकमें ही रहूँगा।' अन्तमें स्वयं धर्मराज और इन्द्र वहाँ आये। उदारहृदय राजाने अपना सारा पुण्य नरकके प्राणियोंको अर्पण कर दिया। सब नरकके प्राणी नरकसे मुक्त हो गये। राजाको भी इस त्यागरूप पुण्यसे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी। इसका विस्तृत इतिहास मार्कण्डेयपुराणमें है।

श्रीहरिः

हिंदूकी कामना और प्रार्थना

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।

श्रीरघुनाथ कृपालु कृपातें संत सुभाव गहौंगो ॥

जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।

पर हित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥

परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहिं पावक न दहौंगो ।

बिगत मान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो ॥

परिहरि देह जनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ।

तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि भगति लहौंगो॥

—तुलसीदासजी

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका यत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७॥) और भारतवर्षसे बाहरके लिये १०) (१५ शिलिंग) नियत है। **बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।**

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) **इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।**

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता बदलनेकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क जनवरीका ही तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फरवरीसे दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) सात आना एक साधारण संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है; ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो सात आना बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुरानी फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१३) **ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये।** वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१५) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१६) **मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।**

(१७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुरके नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक "कल्याण" गोरखपुरके नामसे भेजने चाहिये।

(१८) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

नोट—सादी चिट्ठी या रजिस्ट्रीमें रुपये कभी नहीं भेजने चाहिये। ऐसा करना कानून-विरुद्ध है।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन, फरवरी सन् १९५०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जयहर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≋) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

हिंदू-संस्कृति-परिशिष्टाङ्क

यज्ञ-रक्षा

श्रीराम-लक्ष्मणद्वारा विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा

श्रीभारत-सावित्री

(लेखक—स्वामी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

'श्रीमहाभारत'के स्वर्गारोहणपर्वका अन्तिम श्लोकचतुष्टय 'भारत-सावित्री' नामसे प्रसिद्ध है। जिस प्रकार वेदोंका सार श्रीसावित्री है, उसी प्रकार पञ्चम वेदस्वरूप 'महाभारत'का सार श्रीभारत-सावित्री है। जिस प्रकार श्रीसावित्री नित्य ही उपास्या है, उसी प्रकार श्रीभारत-सावित्री नित्य अनुसरणीया है। जिस प्रकार अगम तथा अनन्त शब्दसागरकी सारभूता श्रीसावित्री वेदचतुष्टयरूपमें परिणत हुई है, उसी प्रकार आख्यानों तथा उपाख्यानोंसे पल्लवित एवं सुशोभित होकर श्रीभारत-सावित्री भी महाभारतरूप कल्पवृक्षमें परिणत हुई है। लक्षश्लोकात्मक महाभारतका पारायण करनेका सौभाग्य बहुतोंको नहीं होता, परंतु इस श्लोकचतुष्टयका पाठ करके तथा इसके अर्थानुसन्धानसे अनायास ही श्रीभारतपारायणका फल कोई भी आस्तिक बुद्धिशाली प्राप्त कर सकता है। इस कारण व्याख्या-सहित श्रीभारत-सावित्रीरूप उपहार 'कल्याण'के पाठकोंको भेंट किया जाता है।

प्रथम श्लोक

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥

अनादि कर्मफलसे जीव संसारमें गमनागमन करते हैं। संसार-परम्परासे कर्मचक्रके आवर्तनके कारण जीव हजारों पिता-माता तथा सौ-सौ स्त्री-पुत्रोंका साक्षात्कार लाभ करके दुश्छेद्य ममतासम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसी रीतिसे बहुतेरे माता तथा पिता, स्त्री तथा पुत्र प्राणीने पाये थे; परंतु अतीत संसार-प्रवाहमें वे सब बह गये, आज भी बहे जाते हैं तथा जबतक ज्ञानदृष्टिके उन्मीलनसे संसारमोह नष्ट न होगा, तबतक इसी तरहसे बहते ही जायँगे।

द्वितीय श्लोक

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

इस संसारमें अगणित आनन्दजनक घटनाएँ तथा अनन्त भीतिप्रद अवस्थाएँ नित्य ही उपस्थित होती हैं। जो लोग संसार-मोहसे विमूढ़ हैं, वे ही ऐसे आनन्दसे उत्फुल्ल तथा आतङ्कसे अभिभूत होते हैं। विचारोज्ज्वल-बुद्धिसम्पन्न पण्डित-लोग उस हर्ष एवं भीतिसे आविष्ट नहीं होते।

तृतीय श्लोक

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

मैं हाथ उठाकर जोरसे पुकारकर कह रहा हूँ; पर हा! कैसा आश्चर्य है कि कोई भी मेरी बात नहीं सुनता! मैं कहता हूँ कि एक धर्माचरणसे ही अर्थ तथा काम प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकारके फल देनेवाले धर्मका मनुष्य क्यों नहीं सेवन करता?

चतुर्थ श्लोक

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

काम, भय, लोभ तथा प्राणरक्षाके हेतु भी कदापि धर्म-त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म जीवकी शाश्वत सम्पदा है और सुख तथा दुःख आने-जानेवाले—अनित्य हैं। जीव नित्य पदार्थ है; परंतु इस जीवत्वलाभके उपकरण अथवा काम, भय तथा लोभके कारणसमूह अनित्य हैं। जिन देहोंको धारण करके प्राणी बड़े हुए हैं, जिन उद्दीपनाओं—काम, भय तथा लोभसे कभी भीत तथा कभी लुब्ध होते हैं, कभी हिताहित-विचाररहित हो जाते हैं, वे सब नहीं रहेंगे। सामयिक उद्दीपना-से जीवको धर्मपथसे भ्रष्ट करके वे सब अपना-अपना रास्ता लेंगे। परंतु जीवका अविनश्वर आत्मा रह जायगा तथा सुख-दुःखके नित्य सहचर धर्म तथा अधर्म जीवके साथ रहेंगे। परलोकके मार्गसे जिस समय जीव निःसङ्ग—एकाकी चलेगा, उस समय जो उसकी क्षुधाको अन्नरूपसे तथा पिपासाको जलरूपसे शान्त करेगा और पिता, माता, स्त्री, पुत्र, कन्या, बन्धु-बान्धव, आत्मीयोंके मिलनसे प्राप्त आनन्दभोगमें अभ्यस्त जीव जिस समय इन सबकी वियोगयन्त्रणासे अत्यन्त व्याकुल होगा, उस समय जो उसको शान्ति देगा, अनाथोंके नाथ उस 'धर्म'का सामयिक मोहवश कदापि परित्याग न करना चाहिये—

'न हि धर्मात्परः कश्चित्।'

फलश्रुति

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति॥

जो मनुष्य प्रातः उठकर इस भारत-सावित्रीका पाठ करता

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २००६, फरवरी १९५० { संख्या २ पूर्ण संख्या २७९

विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा

ठाढ़े यज्ञमंडप द्वार ।
राम-लक्ष्मण दोउ कौसिक यज्ञके रखवार ॥
हाथ सर-धनु पीठ तरकस वीर-वेस उदार ।
यज्ञपूरुष, यज्ञपूजित, यज्ञ-राखनहार ॥
होम निर्भय करत मुनिगन वेद-मन्त्र उचार ॥
लहत जीवन-लाह रघुपति रम्य रूप निहार ॥
विघ्न असुरनको कहा प्रभु-शक्ति अमित अपार ।
लोक-लीला करत हरि धरि भक्तहित अवतार ॥
—'राम'

उपनिषदोंकी सूक्तियाँ

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
(ईश० १)

अखिल ब्रह्माण्डमें यह जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है; इसलिये हे शिष्य ! तू त्याग-पूर्वक इसे उपभोग कर, किसीके भी धनको लेनेकी इच्छा न कर।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(ईश० २)

इस लोकमें (ईश्वर-पूजार्थ) कर्म करता हुआ ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करे; इस प्रकार त्यागभावसे ईश्वरार्थ किये जानेवाले कर्म तुझ मनुष्यके लिये हैं, अन्यथा (अन्य मार्ग) नहीं। ऐसा करनेसे मनुष्य कर्मसे लिप्त नहीं होता।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
(ईश० ७)

एकत्व देखनेवालेको मोह और शोक कहाँ ?

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
(ईश० ५)

वह चलता है, वह नहीं चलता; वह दूर है और पास भी है; वह इस सबके भीतर है और वही इस सबके बाहर है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
(ईश० ६)

जो सब प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और सब प्राणियोंमें आत्माको देखता है, वह इस सम्यग् दृष्टिके कारण किसीसे भी घृणा नहीं करता।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥
(केन० २ । ४)

बुद्धिकी समस्त वृत्तियोंके साक्षीरूपमें जिसने ब्रह्मको जान लिया है, वह अमृतरूप मोक्षको प्राप्त होता है, समाहित मनसे ज्ञानप्राप्तिका सामर्थ्यलाभ करता है और उस विद्या (ज्ञान) से अमृतत्वको प्राप्त करता है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केन० २ । ५)

इस जीवनको पाकर भी जिसने आत्माका साक्षात्कार नहीं किया, वह आत्मघाती है।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। (कठ० १ । १ । २७)

धनसे मनुष्य कभी तृप्त होनेवाला नहीं है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(कठ० १ । २ । ५)

अविद्यामें स्थित होकर भी अपनेको धीर एवं पण्डित माननेवाले मूढ़लोग नाना योनियोंमें भ्रमण करते हुए उसी प्रकार भटकते और ठोकरें खाते हैं, जैसे अन्धे मनुष्यके द्वारा ले जाये जानेवाले अन्धे।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठ० १ । २ । ६)

धनके मोहसे मूढ़ हुए प्रमादी अज्ञानीको परलोक नहीं सूझता। यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लोक ही सत्य है, इसके सिवा दूसरा कोई भी लोक सत्य नहीं है—यों माननेवाला अभिमानी मनुष्य बारंबार मेरे (यमराजके) वशमें आता है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(कठ० १ । २ । १६)

यह अक्षर ही तो ब्रह्म है, और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इस अक्षरको जानकर जो जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसे वही वस्तु प्राप्त हो जाती है।

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(कठ० १ । २ । १८)

नित्य चैतन्यरूप आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है। न यह किसीसे हुआ है और न इससे कोई हुआ है—अर्थात् इसका कारण या कार्य नहीं है। यह अजन्मा है, नित्य है,

है, वह महाभारत-पारायणका समग्र फल प्राप्त करके परब्रह्मको लाभ कर लेता है।

जन्म-जन्मान्तरकी धारावाहिक संसारमत्तता दूरीभूत करनेके लिये श्रीभारत-सावित्रीने प्रथम तथा द्वितीय श्लोकोंसे वैराग्यका उपदेश किया है। तृतीय श्लोकसे धर्माचरणके अभ्यासका उपदेश दिया है और चतुर्थ श्लोकसे अनित्य संसार, अनित्य सम्बन्ध, अनित्य सुख-दुःख तथा अनित्य भीतिका परित्याग करनेका उपदेश किया है। धर्म नित्य वस्तु है, नित्यप्रति इस नित्यधर्मके किसी भी प्रकार साधनाभ्याससे समय व्यतीत करना चाहिये। निरन्तर साधनसे प्रसन्न होकर वह धर्म अपना छद्मवेश त्यागकर 'तुम और मैं' इस व्यवधानका नाश करके परम धर्मरूपसे प्रकट होगा और जीवका चिरविफल जन्म तथा जीवन सफल हो जायगा—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।'
'अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन् किं करिष्यसि।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये॥'

(सिद्धान्त)

हिंदू

(रचयिता—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

शीश जगदीशके जो संमुख झुकाता, जिसे
माताके समान गऊ माता, वह हिंदू है;
भ्राता-बहनोंका अपमान है असह्य जिसे,
प्रान देके आन जो बचाता, वह हिंदू है।
देह चुनवाता है दिवारमें स्वधर्म-हेतु—
पर परधर्ममें न आता, वह हिंदू है,
खंड-खंड भारत विलोक अति आरत जो,
भारत अखंड जिसे भाता, वह हिंदू है॥

(२)

'हम परमात्माके अंश हैं सनातन' यों
बोध जिसमें है, नहीं भ्रान्तिकी भँवर है,
अनय-विरुद्ध भिड़नेको क्रुद्ध कालसे भी
युद्धमें समोद कसे रहता कमर है।
हाथ जोड़ता है नहीं, मुख मोड़ता है नहीं,
प्राण छोड़ता है, नहीं छोड़ता समर है,
वल्कल शरीर देता चीरके सदृश वीर—
हिंदू मरता है नहीं, हिंदू तो अमर है॥

(३)

कर्म-अनुसार होता जन्म है अनेक बार—
बात यह सत्य जानता जो, वह हिंदू है;
विधिमें, निषेधमें भी, भेद या अभेदमें भी,
वेदको प्रमान मानता जो, वह हिंदू है।
सत्ता परलोककी, महत्ता मान ईश्वरकी
धर्मकी ही हठ ठानता जो, वह हिंदू है;
मायामय जगके असार सपनेको छोड़
अपनेको पहचानता जो, वह हिंदू है॥

(४)

हिंदू वह, जो कि लघु भाईके भलाई हेतु
राज तज वनमें समोद चला जाता है,
हिंदू वह, जो कि प्राप्त राज्यको भी त्याज्य मान
भाईकी ही पादुकाको मस्तक चढ़ाता है।
हिंदू वह, भाँवरी दे काँवरी विठाके तात-
मातको भी साधभर काँधसे उठाता है;
हिंदू, जो पिताके लिये सकल सुखोंको त्याग
संयमकी आगमें जवानीको जलाता है॥

(५)

भूखे हुए बाघको शरीर सौंप हिंदू वीर
प्राण देके प्राण गऊ माताके बचाता है;
हिंदू मुसकाता मुग्ध उर्वशीको 'माता' कह
शाप सह लेता किंतु पाप न कमाता है।
हिंदू है दयालु इतना कि विश्व-प्राणियोंको
'वैश्वदेव' द्वारा अन्न-जल पहुँचाता है;
हिंदू है उदार इतना कि भयभीत देख
घाती शत्रुओंका भी सँघाती बन जाता है॥

ही सूक्ष्म और अविनाशी परब्रह्म है, उस समस्त प्राणियोंके परम कारणको ज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥
(मुण्डक० १ । २ । १०)

इष्ट (यज्ञ-याग आदि) और पूर्त (कूप-उद्यानादिके निर्माण) को श्रेष्ठ माननेवाले अत्यन्त मूढ़ मनुष्य उस सकाम कर्मके सिवा अन्य किसी वास्तविक श्रेयको नहीं जानते, वे पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गके उच्चतम स्थानमें जाकर वहाँके भोगोंका अनुभव करके इस मनुष्यलोकमें अथवा इससे भी हीनतर लोक (पशु आदि योनि) में प्रवेश करते हैं।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥
(मुण्डक० २ । १ । २)

अजन्मा, दिव्य, अमूर्त पुरुष बाहर और भीतर प्राण-रहित, मनरहित, शुद्ध, परम अक्षरसे भी परे है।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥
(मुण्डक० २ । २ । ३)

उपनिषद्में वर्णित प्रणवरूप महान् अस्त्र धनुषको लेकर, उसपर उपासनासे तीव्र किया हुआ बाण चढ़ाये और ब्रह्म-भावकी निष्ठावाले चित्तके द्वारा उसे खींचकर हे सौम्य ! उसी अक्षररूप लक्ष्यको वेधे।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
(मुण्डक० २ । २ । ४)

प्रणव—ॐकार धनुष है, बाण आत्मा है और बाणका लक्ष्य ब्रह्म कहा जाता है। जितेन्द्रिय पुरुषको उसे सावधानता-पूर्वक वेधना चाहिये और बाणके समान तन्मय हो जाना चाहिये।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
(मुण्डक० ३ । १ । ५)

सत्य, तपस्या, यथार्थ ज्ञान तथा निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे इस शरीरके भीतर ही हृदय-गुहामें परम निर्मल ज्योतिर्मय स्वयंप्रकाश परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, जिसे सम्पूर्ण दोषोंका नाश हो जानेपर यत्नशील यति ही देख पाते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥
(मुण्डक० ३ । १ । ६)

सत्यकी ही विजय होती है, असत्यकी नहीं। सत्य-धर्मसे ही ब्रह्मलोककी प्राप्तिका विस्तृत मार्ग—देवयान प्रकट होता है, जिसके द्वारा आप्तकाम महर्षिगण उस परमधाममें गमन करते हैं जहाँ वह सत्यका परम आश्रय परमात्मा अनावृतरूपसे स्थित है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥
(मुण्डक० ३ । २ । ३)

वे परमात्मा केवल प्रवचनसे—शास्त्रोंकी व्याख्या करनेसे, धारणावती बुद्धिसे या अधिक शास्त्रोंके अध्ययनसे भी नहीं प्राप्त होते। वे स्वयं ही दया करके जिसे अपना लेते हैं, उसीको इनकी प्राप्ति हो सकती है; उसके समक्ष वे अपने स्वरूपको अनावृत कर देते हैं।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
(मुण्डक० ३ । २ । ८)

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें मिलकर विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अविद्याकृत नाम-रूपसे विमुक्त होकर विद्वान् परसे पर दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(मुण्डक० ३ । १ । १)

शाश्वत है और पुराण है; शरीरके मारे जानेपर भी यह मरता नहीं ।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥
(कठ० १ । २ । २१)

बैठा हुआ ही दूर चला जाता है, सोता हुआ सर्वत्र चला जाता है; ऐश्वर्य-मदसे उन्मत्त न होनेवाले उस देवको मेरे सिवा (मुझ-जैसे आत्मज्ञ पुरुषोंके सिवा) दूसरा कौन जान सकता है ? कोई नहीं ।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
(कठ० १ । ३ । १२)

यह सबका आत्मरूप परम पुरुष परमात्मा समस्त प्राणियोंमें स्थित होकर भी मायाके पर्देमें छिपा रहनेके कारण प्रकाशमें नहीं आता। केवल सूक्ष्म तत्त्वोंको समझनेवाले पुरुषों-द्वारा ही वह अत्यन्त सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण बुद्धिसे देखा जाता है ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठ० २ । २ । ९)

जैसे समस्त ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि नाना रूपोंमें उनके समान रूपवाला ही हो रहा है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा ब्रह्म एक होकर भी नाना रूपोंमें उन्हीं-के-जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी है ।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥
(कठ० २ । २ । ११)

जैसे सब लोकोंका प्रकाशक सूर्य लोगोंके नेत्रोंके बाह्य दोषोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सब भूतोंका एक अन्तरात्मा परमेश्वर लोकोंके दुःखसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह सबमें रहकर भी सबसे अलग है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
(कठ० २ । २ । १५)

उस स्वप्रकाश परब्रह्मके समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं प्रकाशित होते, बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं; फिर यह लौकिक अग्नि तो कैसे प्रकाशित हो सकता है। उसके प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे) सब प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाशसे ही यह सब प्रकाशित हो रहा है ।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥
(कठ० २ । ३ । ७-८)

इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे व्यष्टि-बुद्धि श्रेष्ठ है, व्यष्टि-बुद्धिसे महान् आत्मा अर्थात् समष्टि-बुद्धि श्रेष्ठ है, समष्टि-बुद्धिसे अव्यक्त (मूल प्रकृति) उत्तम है; अव्यक्तसे श्रेष्ठ व्यापक और अलिङ्ग पुरुष है, जिसको जानकर जीव दुःखोंसे मुक्त होता तथा अमृतत्वरूप मोक्षको प्राप्त हो जाता है ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(कठ० २ । ३ । १४)

जब इस विद्वान्के हृदयमें स्थित सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मानव अमर हो जाता है और इसी शरीरमें ब्रह्मका अनुभव करता है ।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥
(कठ० २ । ३ । १५)

जब यहाँ इस जीवनमें ही इस विद्वान्के हृदयकी ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमृतस्वरूप हो जाता है। इतना ही वेदका उपदेश है, अधिक नहीं ।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥
(प्रश्न० ४ । ९)

यह जो देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला तथा कर्म करनेवाला विज्ञानस्वरूप पुरुष है, वह भी अविनाशी परमात्मामें भलीभाँति स्थित है ।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।
(मुण्डक० १ । १ । ६)

वह जो नित्य, सर्वत्र व्यापक, सबमें फैला हुआ, बहुत

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । (छान्दोग्य० ८ । ७ । १)

जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, भूखरहित, प्यासरहित, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प है, उसे खोजना चाहिये, उसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये ।

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति । (बृहदा० १ । ३ । २८)

असत्‌से मुझे सत्‌की ओर ले चलो, अँधेरेसे प्रकाशकी ओर ले चलो, मृत्युसे मुझे अमृतकी ओर ले चलो ।

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा । (बृहदा० १ । ४ । ८)

वह जो यह अन्तरतम आत्मा है, वह पुत्रसे भी अधिक प्रिय है, धनसे भी बढ़कर प्रिय है तथा अन्य सबसे भी अधिक प्रिय है ।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳसर्वं विदितम् ।

(बृहदा० २ । ४ । ५)

अरी मैत्रेयी ! सबकी कामनाके लिये सब प्रिय नहीं होते, आत्माकी कामनाके लिये ही सब प्रिय होते हैं । अरे ! आत्माको देखना चाहिये, सुनना चाहिये, मनन करना चाहिये, ध्यान करना चाहिये । अरी मैत्रेयी ! आत्माके देखने, सुनने, मनन करने और जाननेसे यह सब जान लिया जाता है ।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।

(बृहदा० ३ । ७ । १५)

जो सब भूतोंमें स्थित होकर सब भूतोंके भीतर रहता है, जिसको सर्वभूत नहीं जानते, जिसका सम्पूर्ण भूत शरीर है, जो सब भूतोंके भीतर रहकर उन्हें नियममें रखता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः । यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । (बृहदा० ४ । ४ । ५)

वह यह आत्मा ब्रह्म है, विज्ञानमय है, मनोमय है, प्राणमय है, चक्षुर्मय है और श्रोत्रमय है । मनुष्य जैसा करनेवाला और जैसे आचरणवाला होता है, उसीके अनुरूप बन जाता है । शुभकर्म करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष होता है और पापाचारी पापात्मा हो जाता है । पुण्यकर्मसे पुण्यात्मा होता है (पवित्र योनिमें जन्म ग्रहण करता है) और पापकर्मसे पापात्मा हो जाता है ।

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् ।
तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे ॥
(बृहदा० ४ । ४ । ६)

यह मनुष्य इस लोकमें जो कुछ कर्म करता है, परलोकमें उनका फल समाप्त करके उस लोकसे इस लोकमें फिर कर्म करनेके लिये आता है ।

अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा । (बृहदा० ४ । ५ । १४)

अरी मैत्रेयी ! यह आत्मा नाशरहित स्वरूपवाला है ।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥
(श्वेताश्वतर० १ । १५)

जैसे तिलोंमें तेल, दधिमें घी, स्रोतमें जल और अरणिमें अग्नि छिपा होता है, इसी प्रकार वह आत्मा अपने हृदयमें छिपा हुआ है । जो कोई साधक इसको सत्यसे और तपसे देखता है—चिन्तन करता रहता है, उसीके द्वारा यह आत्मा गृहीत होता है ।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥
(श्वेताश्वतर० २ । ८)

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि सिर, गला और छाती—इन तीनों स्थानोंपर उभरे हुए शरीरको सीधा और स्थिर करके तथा समस्त इन्द्रियोंको मनके द्वारा हृदयमें निरुद्ध करके ॐकाररूपी नौकाद्वारा सम्पूर्ण भयङ्कर स्रोतों (प्रवाहों) को पार कर जाय ।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥
(श्वेताश्वतर० २ । १०)

दो पक्षी साथ-साथ रहते हैं, दोनों परस्पर सखा हैं; वे एक ही वृक्षका आश्रय लेकर बैठे हैं। इनमेंसे एक तो पीपलके फलको स्वाद ले-लेकर खाता है और दूसरा खाता नहीं, केवल देखता है।

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

(तैत्तिरीय० १।११।१)

वेदका अध्ययन कराकर आचार्य शिष्यको शिक्षा देते हैं। सच बोल। धर्मका आचरण कर। स्वाध्यायसे प्रमाद मत कर। आचार्यके लिये प्रिय धन लाकर दे। सन्तान-परम्पराका उच्छेद मत कर। सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। आरोग्यादि शरीरकी कुशलतासे प्रमाद नहीं करना चाहिये। विभूतिसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। पढ़ने-पढ़ानेसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। देवकर्म और पितृकर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।

माताको देवताके समान पूजनेवाला हो। देवके समान पिताका पूजनेवाला हो। देवके समान आचार्यका पूजनेवाला हो। देवके समान अतिथिका पूजनेवाला हो। जो निर्दोष कर्म हैं, वे तुझे करने चाहिये। अन्य दोषयुक्त कर्म नहीं करने चाहिये। जो हमारे आचार्योंके सुन्दर आचरण हैं, वे तुझे नियमसे करने चाहिये, दूसरे (कर्म शाप देना आदि), यदि आचार्य करें, तो भी तुझे नहीं करने चाहिये।

रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। (तैत्तिरीय० २।७।१)

वह निश्चय ही रस है, इस रसको पाकर ही मनुष्य आनन्दवाला होता है। जो हृदयाकाशमें यह आनन्द न हो तो कौन श्वास ले, कौन प्रश्वास ले। यही आनन्द देता है।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।

(तैत्तिरीय० २।९।१)

ब्रह्मके आनन्दको जो जानता है, उसको किसीसे भय नहीं होता।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत। (छान्दोग्य० ३।१४।१)

यह सब निश्चय ब्रह्म ही है; इसीसे जगत् उत्पन्न होता है, इसीमें लय होता है और इसीमें चेष्टा करता है। इसलिये शान्त होकर उपासना करे; क्योंकि पुरुष निश्चयमय है। इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँसे मरकर होता है; इसलिये वह क्रतु यानी पक्का निश्चय करे।

ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म। (छान्दोग्य० ४।१०।५)

ॐ सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।

(छान्दोग्य० ५।१०।७)

उनमें जो सुन्दर—विशुद्ध आचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं; वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिय-योनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं। तथा जो मलिन आचरणवाले होते हैं, वे भी यथासम्भव शीघ्र ही मलिन (अधम) योनियोंमें जन्म लेते हैं। वे कूकरयोनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि ग्रहण करते हैं।

पाँच प्रकारके महापातक मनुष्यको घोर पतनके गर्तमें गिरानेवाले होते हैं—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति।

स्वर्णकी चोरी करनेवाला, शराबी, गुरुपत्नीगामी, ब्रह्महत्यारा—ये चारों पतित होते हैं और जो इनके साथ संसर्ग रखनेवाला है, वह पाँचवाँ भी महापापी है।

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छान्दोग्य० ७।२३।१)

'जो भूमा है; वह सुख है; अल्पमें सुख नहीं है। भूमा ही सुख है, भूमाको ही जानना चाहिये।'

एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते।

(छान्दोग्य० ८।५।३)

जिस आत्माको मनुष्य ब्रह्मचर्यसे प्राप्त करता है, वह आत्मा नष्ट नहीं होता।

सभी बड़े लोग ज्ञानमें बढ़े हुए पुरुषके किङ्कर हैं, उसके दासके भी दास हैं।

सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेत्।
(वज्रसूचिकोपनिषद्)

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है, यह भावना करे।

रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता॥
(महा० ३ । ३१)

मुने! यह शरीर बाहर और भीतर केवल खून और मांससे भरा है तथा एकमात्र नाशरूप धर्मवाला है। बताइये, इसमें क्या रमणीयता है?

द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥
(महा० ४ । ७२)

बन्ध और मोक्षके दो ही आश्रय हैं—ममता और ममताशून्यता। ममतासे प्राणी बन्धनमें पड़ता है, और ममतारहित होनेपर मुक्त हो जाता है।

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते।
यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते॥
(महा० ४ । ८८)

मनरूप व्याधिकी चिकित्साका उपाय मैं तुम्हें बतलाता हूँ—जो-जो वस्तु अपनेको प्यारी है, उस-उसका त्याग करनेवाला मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है।

तस्माद्वासनया युक्तं मनो बद्धं विदुर्बुधाः।
सम्यग्वासनया त्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते॥
(मुक्तिक० २ । १६)

वासनायुक्त मनको विद्वानोंने बद्ध बतलाया है और जो मन वासनासे सर्वथा शून्य हो चुका है, वह मुक्त कहलाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलमें अध्यात्ममूलक हिंदू-संस्कृति

(तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः)

(लेखक—पं० श्रीचन्द्रबलीजी पाण्डेय, एम्० ए०)

राजा दुष्यन्तने सूतसे कहा था—

सूत यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः।

सारथि! मैं जबतक तपोवनवासियोंसे मिलकर लौटूँ, तबतक घोड़ोंकी पीठ ठण्डी (गीली) करो।

किंतु आश्रमके द्वारपर पहुँचे नहीं कि उनमें यह भावना जगी—

**शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥**

यह तपोवन शान्त है और बाँह फड़क रही है। यहाँ इसका फल कहाँसे मिलेगा। अथवा भावीके लिये सब जगह द्वार हैं (सब जगह होनहार फल सकती है)।

भवितव्य होकर रहा और राजा दुष्यन्तको आमन्त्रण मिला 'परिभोग'का—

लतावलय! संतापहारक! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय।

हे सन्तापको हरनेवाले लताकुञ्ज! फिर परिभोगके लिये मैं तुम्हें आमन्त्रित करती हूँ।

इस परिभोगका परिणाम हुआ विषाद—शकुन्तलाकी भर्त्सना और दुष्यन्तका पश्चात्ताप! किंतु इससे भी बढ़कर हुआ दुष्यन्तके चरित्रपर प्रहार। कण्वके आश्रममें उसका आचरण जैसा रहा, वैसा उससे क्यों हो गया—इसकी मीमांसा अधिक नहीं हुई। हाँ, शंका और समाधानका कार्य अवश्य होता रहा। पर सच पूछिये तो इसका रहस्य सामाजिककी आँखसे आजतक ओझल ही रहा। तुलनाके लिये एक दूसरा प्रसङ्ग भी लीजिये। यह मरीचिका आश्रम है। यहाँ भी राजा और सूतका ही प्रसङ्ग है। हाँ, यह राजाका अपना सूत नहीं, सखा इन्द्रका सूत है। और इसीसे परिस्थिति भी यहाँकी कुछ और है। यहाँ मातलि राजासे कहता है—

अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् यावत्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि।

समतल, सब प्रकारसे शुद्ध, कंकड़, अग्नि और बालूसे रहित तथा शब्द, जल और आश्रय आदिकी दृष्टिसे सर्वथा अनुकूल और नेत्रोंको पीड़ा न देनेवाले गुहा आदि वायुशून्य स्थानमें मनको ध्यानमें लगानेका अभ्यास करे ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(श्वेताश्वतर० ३ । ८)

मैं इस आदित्य-वर्णवाले, अन्धकारसे पर महान् पुरुषको जानता हूँ; इसको जानकर ही मनुष्य मृत्युको लाँघ जाता है । मोक्षके लिये अन्य मार्ग नहीं है ।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
(श्वेताश्वतर० ३ । १९)

बिना हाथ पकड़नेवाला है, बिना पैर तेज दौड़नेवाला है, बिना आँखके देखता है, बिना कानके सुनता है; वह जाननेयोग्यको जानता है, उसका जाननेवाला नहीं है । उसको आदि, महान् पुरुष कहते हैं ।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । ७)

उस ईश्वरोंके भी परम ईश्वर, उस देवताओंके भी परम दैवत, पतियोंके परम पति, भुवनोंके ईश्वर, स्तवनके योग्य देवको हम परात्पररूपसे जानते हैं ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । १३)

जो एक नित्य चेतन परमात्मा बहुत-से नित्य चेतन आत्माओंके कर्मफल-भोगोंका विधान करता है, उस ज्ञानयोग और कर्मयोगसे प्राप्त करने योग्य सबके कारणरूप परमदेव परमात्माको जानकर मनुष्य सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम् ॥
(ब्रह्मबिन्दु० २ । ३)

मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है; विषयासक्त मन बन्धनके लिये है, और निर्विषय मन मुक्त माना जाता है ।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
(कैवल्य० १ । ३)

कर्मसे, संतानसे अथवा धनसे विद्वानोंने अमृतरूप मोक्ष नहीं प्राप्त किया है, किंतु एक त्यागसे ही उसे प्राप्त किया है ।

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः
शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः ।
अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि
निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ॥
(कैवल्य० १ । ५)

एकान्त देशमें पवित्र-मन होकर सुखासनसे बैठकर गर्दन, सिर और शरीरको समान रखकर परमहंस आश्रमवाला संन्यासी सब इन्द्रियोंको रोककर और भक्तिसे अपने गुरुको नमस्कार करके—

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं
विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम् ।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ॥
(कैवल्य० १ । ६)

अपने भीतर रजोगुणरहित विशुद्ध एवं विकासयुक्त हृदय-कमलका चिन्तन करे; फिर उस कमलके मध्यभागमें निर्मल, शोकरहित, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, शान्त, अमृत, जगत्के कारण शिवका ध्यान करे ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥
(ब्रह्मोपनिषद्)

जिसको न प्राप्त होकर मनसहित वाणी लौट आती है, वह जीवका आनन्द है, जिसको जानकर विद्वान् मुक्त हो जाता है ।

धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च ।
ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किङ्कराः शिष्यकिङ्कराः ॥
(मैत्रेयी० २ । २४)

जो धनमें बड़े, आयुमें बड़े और विद्यामें बड़े हैं—ये

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

मनकी लगाम लिये हुए विज्ञान-सारथिसे युक्त मनुष्य मार्गके अन्तको (पा लेता है और वह) विष्णुके परम पदको पा लेता है ।

निदान हमारा कहना है कि यदि वास्तवमें कालिदासका मर्म समझना है तो उनके 'अभिज्ञान' का अध्ययन इस ज्ञानसे करें और उनके अध्यात्मको आँखसे ओझल न होने दें । वाजिको शीतलकर 'सूत' की सुनें, अन्यथा परिभोग और परितापमें पड़े रहें । पार तो लग नहीं सकते, पातमें लगे रहें । वस्तुके अध्यात्मको आँखसे ओझल न होने देना हिंदू-संस्कृतिकी महत्ता है ।

जगद्गुरु हिंदू

(लेखक—श्रीआनन्ददेवगिरिजी)

आज ईसाकी इस बीसवीं शताब्दीमें भारतीय नवयुवकोंके अंदर अपनी संस्कृति और धर्मके प्रति एक प्रकारकी घृणा हो चली है । उनकी दृष्टिमें अपना कुछ मूल्य ही नहीं रह गया है । उनकी बुद्धिपर एक ऐसी भयानक छाया आ पड़ी है, जिससे रोम और ग्रीसकी संस्कृति, अरब और ईरानकी संस्कृति ही सब कुछ दीखती और उनकी अपनी संस्कृति—विश्वविजयिनी हिंदू-संस्कृति उन्हें सबसे हेय और सब संस्कृतियोंकी जूँठन ज्ञात होती है । हिंदू-विद्यार्थी और नवयुवकोंके अंदर इस प्रकारका भ्रम उत्पन्न करनेका मुख्य कारण (१) स्वयं उनकी अपनी संस्कृतिके प्रति अज्ञता और (२) भ्रामक पाश्चात्त्य साहित्यका अध्ययन ही है । आजके प्रमुख साहित्यकारोंमें माने जानेवाले श्रीयुत एच्० जी० वेल्सने अपनी पुस्तक 'दि हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड' में हिंदू-संस्कृतिको विश्वकी अन्य संस्कृतियोंमें अग्रगण्य न मानकर रोमन और ग्रीस संस्कृतियोंको अग्रणी बताया है । पर इससे विद्वान् लेखककी अज्ञता ही प्रकट होती है और ज्ञात होता है कि उन्होंने हिंदू-संस्कृति और धर्मके अध्ययन करनेका कभी प्रयत्न ही नहीं किया । अतएव उनका उपर्युक्त कथन निश्चय ही निष्पक्ष नहीं माना जा सकता । भारतीय विद्वानोंके विचार तो अपनी संस्कृतिके पक्षमें होंगे ही । पर इस लेखका मुख्य उद्देश्य यूरोपियन और अमेरिकन विद्वानोंके कतिपय विचारोंद्वारा यह सिद्ध करना है कि वास्तवमें ज्ञानके प्रत्येक क्षेत्रमें हिंदू विश्वका जगद्गुरु रह चुका है ।

आजसे युगों पूर्व स्मृतिकार मनुने विश्वको निमन्त्रण दिया था कि वह भारतके तपःपूत ऋषियोंसे आचार-विचारके सम्बन्धमें कुछ शिक्षा ले । यदि हम ध्यानसे देखें तो यह केवल वाग्जालमात्र नहीं है । वास्तवमें हिंदुओंमें ऐसी ही शक्ति थी और है भी (यदि वे अपनी यथार्थ शक्तिको जाग्रत्, प्रबुद्ध और प्रकट कर सकें) । जब विश्व असभ्य था यूरोप, अमेरिका, अफ्रिका आदि महाद्वीपोंके प्राणी गुफाओंमें निवास कर अपने नग्न शरीरोंको पत्तोंसे ढकते थे, उस समय सभ्य हिंदुओंने विश्वको जो प्रकाशकी किरणें दी थीं, उन्हें कुछ पूर्वी और पश्चिमी विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है । हिंदू-सभ्यता और हिंदू-धर्मकी अतिप्राचीनतामें श्रीप्लाइनी (Pliney), श्रीअबुलफजल, श्रीहीरेन (Prof. Heeren), मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) आदि विद्वान् सभी एकमत हैं । डा० गोकुलचन्द नारङ्गने अपनी पुस्तक 'रियल हिंदूइज्म' (Real Hinduism) में लिखा है कि प्रो० मैक्समूलर आदि सभी विद्वानोंने इसे स्वीकार किया है कि प्राचीन विश्वके सभी राष्ट्रोंकी सभ्यताका मूल स्रोत भारत ही है । भारतने विश्वके हरेक भागमें उपनिवेश बसाये थे और यही उपनिवेश बादमें मिस्र, यूनान, पारस्य, अमेरिका आदि नामोंसे विख्यात हुए । यही नहीं, मुद्राविनिमय, गणित, अर्थशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, साहित्य, अङ्कगणित, बीजगणित, अक्षर और अङ्कज्ञानदर्शन और चित्रकलाज्ञानके सभी अङ्गोंमें आजका विश्व हिंदुओंका ऋणी है ।

हिंदुओंने ही पहले-पहल मुद्राका निर्माण किया, जैसा श्रीप्रिंसेप (Princep) ने कहा है । ईसाके ८०० वर्ष पूर्व भी हिंदुओंमें विनिमयकी सुव्यवस्थित प्रथा प्रचलित थी । उस समयकी आवश्यकताओंके अनुसार हिंदुओंद्वारा सङ्गठित सरकार सर्वश्रेष्ठ थी और उनके द्वारा निर्धारित न्यायके नियम ही इजिप्शियन, परसियन, रोमन और ग्रीक नियमोंके आधार थे । जब अभी विश्वको अक्षरज्ञान भी न था, तब नालन्दा,

इस अशोक-वृक्षके नीचे आप बैठें, जबतक मैं मरीचिसे आपके आगमनका निवेदन करनेके लिये अवसर देखूँ।

मातलि इतना कहकर तृप्त न हुआ। जाते-जाते इतना और कह गया—

आयुष्मन् ! साधयाम्यहम् ।

आयुष्मन् ! मैं जाता हूँ।

मातलि गया और राजाकी चिन्ता जगी—

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते॥

मुझे मनोरथ पूर्ण होनेकी आशा नहीं। हे भुजा! व्यर्थ क्यों फड़कती है? मङ्गलका तिरस्कार पहले ही कर दिया, अब दुःख-ही-दुःख है (अथवा पहले तिरस्कृत कल्याण दुःखमें बदल जाता है)।

दूधका जला छाँछको फूँककर पीता है, पर भाग्यवश मक्खन मिल गया तो? पहले आश्रममें प्रविष्ट होते ही सुन पड़ा था—

इत इतः सख्यौ।

इस ओर, सखियो, इस ओर।

और राजाको सूझ पड़ा था—

अहो ! मधुरमासां दर्शनम्।

अहो! इनकी कैसी मधुर आकृति है।

इस आश्रममें खड़े-खड़े सुनायी दिया—

मा खलु चापलं कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम्॥

चपलता न करो। अरे! अपने स्वभावपर आ ही गया।

'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' की यह झाँकी यहींतक नहीं रही। परिणाम भी दोनोंका सच्चा रहा। पहले राजाने निश्चय किया—

भव हृदय साभिलाषं संप्रति संदेहनिर्णयो जातः।
आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्॥

हे हृदय! साभिलाष हो जाओ। अब सन्देहका निर्णय हो गया। जिसे अग्नि समझते थे, वही यह स्पर्शके योग्य रत्न क्योंकर हो रहा है?

किंतु इस बार सोचा—

किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः॥

मेरे हृदयमें इस बालकके प्रति औरस पुत्रके समान स्नेह क्यों हो रहा है?

और निर्णय किया—

नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

निश्चय ही सन्तानहीनताके कारण यह वात्सल्य मेरे हृदयमें है।

पहलेका परिणाम हुआ 'रत्न' का तिरस्कार और 'सत्त्व' की अवहेलना, किंतु दूसरेका प्रतिफल मिला—

दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते।

धर्म-पत्नीके समागम और पुत्रके मुखदर्शनपर आयुष्मान्‌को बधाई है।

कारण संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि पहलेमें निरा दुष्यन्त और दूसरेमें 'सारथि' साथ है, और 'सारथि' का सङ्केत है बुद्धि। कारण—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

आत्माको रथारोही समझो और शरीरको रथ। बुद्धिको सारथि जानो और मनको लगाम।

बुद्धि तो सारथि सिद्ध हुई और यह स्पष्ट हो गया कि कण्वके आश्रममें जो कुछ हुआ बुद्धिरहित दुष्यन्तके द्वारा हुआ; पर अभीतक 'आर्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः' का रहस्य कहाँ खुला? सो भी तो सामने ही है। देखिये—

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

इन्द्रियोंको घोड़ा कहा है। विद्वान् आत्मा, इन्द्रिय और मनसे युक्तको भोक्ता कहते हैं।

अस्तु, बुद्धिरहित भोक्ता दुष्यन्तका रूप आपके सामने आ गया और आपने यह भी देख लिया कि वास्तवमें 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का प्रतिपाद्य है—

ज्यौतिषके बारेमें श्रीवेबर (Prof, Weber) कहते हैं, 'अरब हिंदुओंके शिष्य थे।' मि० डेविसके गणनानुसार हिंदू ज्यौतिषविशारद पराशर ईसाके १३९१ वर्ष पूर्व हो चुके हैं। मि० कोलब्रूकने लिखा है कि 'आर्यभट्टको पृथ्वीका अपनी धुरीपर घूमना ज्ञात था। उन्होंने सूर्य और चन्द्रग्रहणके वास्तविक कारणका भी पता लगाया था। १७०२ ई०में जयसिंह द्वितीयने पाँच वेधशालाएँ जयपुर, मथुरा, बनारस, दिल्ली और उज्जैनमें बनवायी थीं। इसने डी० ला० हायरद्वारा १७०२ ई० में प्रकाशित ज्यौतिष-सूचियोंका भी परिशोधन किया था।'

गानविद्याके बारेमें मि० कोलमैनका केवल यह वाक्य उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा कि 'हिंदू-गानविद्याके सिद्धान्त हमारे सिद्धान्तों (यूरोपीय) से कहीं अच्छे हैं। कहाँतक लिखा जाय, मछली पकड़नेसे लेकर खनिज पदार्थोंतक सभी विषयोंपर पुस्तकें लिखी गयी थीं।'

अब लीजिये चित्रकलाको। श्रीहावेल (Mr. Havell) लिखते हैं कि 'भारतीय चित्रकलाका स्थान यूरोप और एशिया—दोनोंमें सर्वश्रेष्ठ है।' वे आगे लिखते हैं कि 'यदि यूरोपियन चित्रकलामें कोई नयी प्रेरणा आती है तो वह निश्चय पुनः पूर्वसे आवेगी।' मूर्तिकलाके लिये तो भारत सदैवसे विश्वका अग्रणी रहा है। श्रीविन्सेन्ट स्मिथ, कर्नल टॉड, प्रो० वेबर आदि भारतकी मूर्तिकलाको देखकर स्तब्ध रह गये हैं। अशोकका स्तम्भ, रामेश्वरम्‌का मन्दिर, इलोराकी गुफाएँ आज भी विश्वको चुनौती दे रही हैं। अजन्ताकी गुफाएँ आज भी भारतकी कीर्तिध्वजाको ऊँचा किये हैं।

हिंदुओंकी शासन-व्यवस्था, उनके राज्यनियम और न्यायविभागके सुगठनकी महत्ता तो निर्विवाद है। श्रीलुइ जेकोलियट (Louis Jacolliot) अपनी पुस्तक (Bible in India) में लिखते हैं, 'मनुस्मृति वह नींव है जिसपर इजिप्शियन, परशियन, ग्रीक और रोमन न्याय और नियमोंका भव्य प्रासाद खड़ा है। और आधुनिक यूरोपपर भी मनुका एक विशेष प्रभाव है।'

यह तो पश्चिमी विद्वानोंकी राय है, जो उन्होंने हिंदुओंके प्राचीन गौरवपर दी है और आज अमेरिका-जैसे उन्नत राष्ट्र भी हिंदुओंकी विद्वत्ताको स्वीकार करते हैं। स्वामी विवेकानन्दके अमेरिका-प्रवास-कालमें उन्होंने जो सफलता प्राप्त की, वह तो महान् थी ही; लेकिन उसी समय अमेरिकाके एक प्रसिद्ध पत्र 'न्यूयार्क हेरल्ड' ने लिखा था कि 'यह कितनी मूर्खताकी बात है कि हम (अमेरिकन) भारत-जैसे विद्वान् देशमें अपने प्रचारके निमित्त मिशनरी भेजें।'

स्पष्ट है कि हिंदू जगद्गुरु रह चुके हैं और यह भी निश्चित ही है कि आजकी त्रस्त मानवता यदि कहीं त्राण पायेगी तो वह भारतमें ही और हिंदू-संस्कृति ही उसे त्राण देगी। लेकिन आज आवश्यकता है हिंदुओंके जाग्रत् होनेकी, अपनी सभ्यता और संस्कृतिके प्रति अधिकाधिक श्रद्धासम्पन्न और संस्कृतिके अनुसार ही सच्चे क्रियाशील होनेकी—साथ ही संगठित भी हो जानेकी। 'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे।' हिंदूका अतीत उज्ज्वल रह चुका है और उसके वर्तमानपर छाया हुआ यह अन्धकार भी दूर हो सकता है यदि वह अपनी संस्कृतिसे सच्चा प्रेम करना सीखे और उसके अनुसार जीवन बनाने लगे।

अन्तमें स्वामी विवेकानन्दद्वारा दिये गये भाषणसे मैं निम्नलिखित पङ्क्तियाँ उद्धृतकर लेखनीको विराम देता हूँ—'यह वही भूमि है, जहाँसे दर्शन और आत्म-ज्ञानकी ऊँची लहरोंने बार-बार उठकर समस्त विश्वको प्लावित कर दिया था और यह वही भूमि है, जहाँसे एक बार पुनः उस ज्वार-भाटेके उठनेकी आवश्यकता है, जो पतनोन्मुख मानवताको नव-जीवन और शक्ति दे सके।'

विपत्ति-सम्पत्ति क्या है ?

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

कोई विपत्ति विपत्ति नहीं है और सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं है। भगवान् विष्णुका विस्मरण ही विपत्ति है और भगवान् नारायणकी स्मृति ही सम्पत्ति है।

तक्षशिला, श्रीधन्य और कटकॉके विश्वविद्यालय छात्रोंसे परिपूर्ण रहा करते थे।

जहाँतक भाषाका प्रश्न है इसे डा० वेलेंटाइन (Dr. Ballantyne) और वाप्प (Bopp)-जैसे विद्वानोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है कि 'संस्कृत ही एक ऐसी भाषा थी, जो विश्वभरमें प्रचलित थी और यही समस्त भारतीय और यूरोपियन (Indo-European) भाषाओंकी जननी भी है। हिंदुओंको अक्षर और भाषाज्ञान अनादिकालसे है और ईसाके २४०० वर्ष तथा इब्राहीमके ८०० वर्ष पूर्वकी लिखी पुस्तकेंतक पायी गयी हैं।'

अब लीजिये हिंदुओंके साहित्यको। जहाँतक वेदका प्रश्न है, सभी विद्वानोंने उसे सर्वश्रेष्ठ माना है। प्रो० मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) ने कहा है कि 'इसकी समानतामें विश्वसाहित्यने अबतक कुछ भी नहीं दिया।' प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक श्रीवाल्टेयर (Voltaire) ने जब ऋग्वेदको देखा तो वह आश्चर्यसे चिल्ला उठा कि 'केवल इसी देनके लिये पश्चिम पूर्वका सदा ऋणी रहेगा।' यदि वेदकी प्रशंसामें पश्चिमी विद्वानोंके विचारोंकी एक-एक पङ्क्ति भी लिखी जाय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक प्रस्तुत हो सकती है। प्रसिद्ध व्याकरणशास्त्री सर मोनियर विलियम्स (Sir Monier Williams) ने पाणिनिका व्याकरण देखकर कहा—'इससे बढ़कर विश्वने व्याकरणके नियम कभी बनाये ही नहीं। इसका एक-एक सूत्र आश्चर्यचकित कर देता है।' काव्यमें विश्वके किसी राष्ट्रने ऐसा साहित्य नहीं उत्पन्न किया, जो रामायण और महाभारतकी समानता कर सके। वेदोंके अनुवादक प्रिन्सपल ग्रिफिथ (Griffith) ने रामायणके बारेमें लिखा है—'विश्वके किसी भी काव्यमें कवित्व और नैतिकताका ऐसा सम्मिश्रण नहीं पाया जाता। रामायणकी समानता होमर-रचित तीन इलियड और महाभारतकी समानता बारह इलियड भी नहीं कर सकते।' भारतीय-नाट्यशास्त्रपर सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) ने लिखा है कि 'भारतीय नाटकोंकी समानतामें आज विश्वके उन्नततम राष्ट्रोंके नाटक भी नहीं आ सकते।' अभिज्ञानशाकुन्तलको पढ़कर तो जर्मनीका प्रसिद्ध कवि गेटे (Goethe) गद्गद हो उठा और उसने स्वयं भी एक कविता लिख दी। उसके प्रसिद्ध नाटक (Faust) की प्रस्तावना शकुन्तलाकी ही प्रेरणा है। हिंदुओंके गीत-काव्योंपर प्रो० हीरेनका मत है कि 'ग्रीक साहित्यकी तुकान्त और अतुकान्त दोनों प्रकारकी कविताएँ हिंदू गीत-काव्योंके सम्मुख परास्त हैं।' गीतगोविन्दको पढ़कर मन्त्रमुग्ध न होना किसीके लिये असम्भव है। मेघदूतके बारेमें श्रीफाउच (Fauche) ने लिखा है—'यूरोपियन साहित्यमें इसका जोड़ नहीं।' कथा-साहित्यमें श्रीएलफिंसटनके मतानुसार हिंदू विश्व-शिक्षक है।

अब दर्शनको लीजिये। मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) जैसे विद्वान्ने कहा है—'हिंदू-जाति दार्शनिकोंकी जाति है।' डा० डफ (Dr. Duff) कहते हैं कि 'यूरोपियन दर्शन हिंदू-दर्शनका अत्यन्त ऋणी है।' प्रो० गोल्डस्टकर (Prof. Goldstucker) को तो सब दर्शनोंका तत्त्व हिंदू-दर्शनोंमें मिलता है। सर मोनियर विलियम्सके अनुसार पिथागोरस और प्लेटो—दोनों अपने पुनर्जन्मसम्बन्धी प्रसिद्ध सिद्धान्तोंके लिये भारतीय दर्शनसे अत्यधिक प्रभावित हैं। प्राचीन पश्चिमीय दार्शनिक ही नहीं, बल्कि आधुनिक विश्व भी—और विशेषतः आजका यूरोपियन और अमेरिकन दार्शनिक जगत् भारतीय दर्शनसे बहुत प्रभावित है। स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्दके पर्यटनने तो अमेरिकाको विशुद्ध भारतीय दर्शनके बीच लाकर खड़ा किया है।

यह तो हुई दर्शनकी बात, पर विज्ञानकी कोटिमें भी प्राचीन भारत और हिंदू-संस्कृतिने बहुत कुछ दिया है। पहले चिकित्साशास्त्रपर दृष्टिपात कीजिये। लार्ड ऐम्पथिल (Lord Ampthile) ने जो सन् १९०५में मद्रासके गवर्नर थे, कहा था, 'चिकित्सा-विज्ञानकी जन्मभूमि भारत है। यहींसे पहले अरबवालोंने इसे सीखा और १७वीं शताब्दीके अन्तमें यूरोपियन चिकित्सकोंने इसे अरबवालोंसे सीखा।' शल्य-चिकित्साके बारेमें मि० मैनिङ्ग (Mr. Manning) ने लिखा है, 'हिंदुओंके शल्यसम्बन्धी यन्त्र अत्यन्त तीव्र हुआ करते थे। उनके द्वारा एक बालको भी दो बराबर भागोंमें बाँटना अत्यन्त सरल था।'

गणितमें भी हिंदुओंकी देन बेजोड़ है। वास्तवमें इस विज्ञानको इतना उन्नत करनेका श्रेय इन्हींको है। मि० मैनिङ्ग (Mr. Manning) लिखते हैं कि 'अरबोंने अङ्कगणित हिंदुओंसे सीखा और यूरोपवालोंने इसे अरबोंसे लिया।' सर मोनियर विलियम्सके कथनानुसार बीजगणित भी अरबोंने हिंदुओंसे सीखा। जहाँतक रेखागणितका प्रश्न है, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पीथागोरसका ४७ वाँ थ्योरम हिंदुओंने कई शताब्दियों पूर्व ही हल कर दिया था।

'मृतदेह लकड़ीके ढेरके समान स्तूपाकार हो गये थे; और तबसे आजतक इस प्रान्तमें सर्वत्र उनकी हड्डियाँ विखरी हुई पायी जाती हैं। यह बहुत प्राचीन समयकी बात है, क्योंकि हड्डियाँ बहुत बड़ी-बड़ी हैं।'* ह्वेनसांगने निश्चयपूर्वक कुरुक्षेत्र-युद्धमें मरे हुए व्यक्तियोंकी हड्डियाँ देखी थीं और वे तत्कालीन लोगोंके आकारकी अपेक्षा बहुत बड़ी थीं।

भारतमें प्राचीन अतिकाय कङ्काल

१९४१ ई० में कुरुक्षेत्रके समीप एक विलक्षण नर-करोटी पायी गयी थी। संवादपत्रोंमें उसका समाचार छपा था। खुदाई करनेसे सम्भव है कि भविष्यमें और भी चिह्न बाहर निकल सकें। भारतमें अन्यत्र भी वृहद् आकारके नरकङ्काल पाये गये हैं। प्रायः २५–३० वर्षों पहले मैंने समाचारपत्रोंमें पढ़ा था कि युक्त-प्रदेशमें किसी नदीकी धारके बीच एक अतिकाय नरकङ्काल पाया गया था, और वह जिला मजिस्ट्रेटके पास भेज दिया गया था। इस विषयमें मुझे और कुछ अधिक स्मरण नहीं होता।

प्रायः दस वर्ष पूर्व मध्यप्रदेशके होशंगाबाद जिलेमें सोहागपुर नगरके समीप एक वृहद् आकारका कङ्काल पाया गया था। खेदकी बात है कि इस कङ्कालका फोटो या उसका कोई अंश रक्खा नहीं गया।

कोलोराडोका अतिकाय कङ्काल

ता० ९–८–४७ ई० के नागपुरके 'हितवाद' नामक पत्रमें न्यूयार्कके 'ग्लोब' पत्रमें प्रकाशित एक समाचार छपा था। उससे यह ज्ञात हुआ था कि अमेरिकाके कोलोराडो मरुभूमिकी गुफामें अनेकों ९ फुट लंबे कङ्काल पाये गये हैं। अनुमान किया जाता है कि वह स्थान लगभग ८००० वर्ष पहले किसी प्राचीन जातिके राजवंशका समाधिस्थल था।†

अफ्रिकामें अन्वेषण

इंग्लैंडके प्रसिद्ध पत्र Illustrated London News के १९४७ ई० के ५ अक्टूबर और २ नवम्बर (५०४ पृ०) के अङ्कोंमें इस विषयपर एक लेख और चित्र प्रकाशित हुए हैं। उससे पता चलता है कि दक्षिण अफ्रिकाके प्रसिद्ध नृतत्त्वविद् डाक्टर एल. एस. बी. लीकी (Dr. L. S. B. Leakey) को १९४३ ई० में केनियाकी मैगजी झीलमें, अलरजेसलीमें, तथा उससे पहले टैंनगनिकाके Oldway Gorge में प्रस्तरीभूत कङ्काल मिले थे। वहाँ वेबून, हस्ती (सीधे दाँतवाले), मेष (भैंसके आकारका जीव) प्रभृति जीवोंके बहुत बड़े हाड़ और दाँत आदि भी पाये गये हैं।

डा० लीकीके मतसे प्रायः एक लाख पचीस हजार वर्ष पहले मनुष्यके साथ-साथ ये जीव भी रहते थे। करेन अन्ततः मेषके द्वारा पाला हुआ प्राणी है। तुलनात्मक चित्रोंद्वारा यह दिखलाया गया है कि आधुनिक प्राणीके शरीरकी अपेक्षा ये कितने बड़े थे। इस विषयमें कलकत्तेके स्टेट्समैनने सन् १९४७ फरवरी मासमें जो आलोचना प्रकाशित की थी, उसे नीचे उद्धृत किया जाता है*—

---

* Dead bodies were heaped together as sticks, and from that time till now the plains were everywhere covered by their bones. As this relates to a very remote period of time, the bones are very large ones.

(Beal: *Hiseuentsang*, p. 186)

† *Remains of 9 ft. men found*

Newyork, Aug. 7—The remains of men 9 feet tall have been found in the caves of America's Colorado desert, which is thought to be the burial place of people who lived perhaps 8000 years ago. Mummies and implements have been unearthed, along with skeletons of elephants and tigers. Hieroglyphic inscriptious in granite in the cave, believed to have been of a temple, may be a key to an ancient story.—'Globe'.

(Hitavada 9-8-47)

* The Darwinian theory that man is descended from the monkey required an intermediate creature showing the characteristics of both; and since this missing link could not be found, a number of later Biologists came to believe that the two species evolved out of a common ancestor at about the same time. Their hypothesis has also lacked verification. In the early thirties Mr. Leaky, the South African anthropologist, announced that he had discovered in Kenya human bones which were a million years old; but the date he wanted to assign to this specimen of homesapiens was disputed by other authorities. Now, however, the Professor of Anatomy at Oxford claims equal antiquity for what he calls Austraipithecus whose fossial remains have been dug out of a cave in South Africa and his conclusion is that more than a million years ago there were men and women in the world walking erect with their shoulders back, tilling the soil, wearing clothes

युगभेदसे मानव-देहका अपकर्ष

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा)

शास्त्रोंके अनुसार अनन्त कालके भीतर क्रमशः सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग बारंबार आते-जाते रहते हैं। और क्रमशः युगभेदसे मनुष्यकी परमायु और आकार आदिमें भी लघुता आती जाती है। सत्ययुगमें मानवशरीर आजकलके हस्तप्रमाणसे इक्कीस हाथका होता था; त्रेतामें चौदह, द्वापरमें सात तथा कलिमें आजकल साढ़े तीन हाथका होता है। पञ्चाङ्गोंसे भी युगोंके वर्णनमें यही देखनेमें आता है।

विष्णुपुराणमें लिखा है कि राजा शर्यातिके वंशधर कुशस्थलीके राजा रैवत ककुद्मी बहुत अन्वेषण करनेपर भी अपनी कन्या रेवतीके योग्य पात्र न पा सके। अन्तमें इस विषयमें ब्रह्मासे जिज्ञासा करनेके लिये वे कन्याको साथ लेकर ब्रह्मलोक गये। वहाँ वेदगान हो रहा था, अतएव उनको प्रतीक्षा करनी पड़ी। तत्पश्चात् ब्रह्मा उनसे बोले कि 'जबतक तुम यहाँ प्रतीक्षा करते रहे, तबतक अनेकों मानवीय युग व्यतीत हो गये। तुम्हारा समकालीन वहाँ कोई भी जीवित नहीं रहा है।' फिर ब्रह्माने उनको पृथ्वीपर लौटने और श्रीकृष्णके अंशभूत माया-मानुष श्रीबलदेवके साथ रेवतीका विवाह करनेकी आज्ञा दी।

> उच्चप्रमाणामिति तामवेक्ष्य
> स्वलाङ्गलाग्रेण च तालकेतुः।
> विनम्रयामास ततश्च सापि
> बभूव सद्यो वनिता यथान्या॥
> (विष्णुपुराण ४। १। ३८)

'तालकी ध्वजावाले भगवान् बलदेवजीने उस रेवतीको बहुत लंबे शरीरवाली देखकर अपने हलाग्रके द्वारा उसे नम्राकार कर दिया। तब रेवती तत्कालीन अन्य कन्याओंके समान छोटे आकारकी हो गयी।'

सूर्यवंशी भक्ताग्रगण्य अम्बरीषके भाई तथा सम्राट् मान्धाताके पुत्र राजा मुचुकुन्द सत्ययुगमें देवताओंके लिये असुरोंसे युद्ध करके थक गये। देवताओंने उनको वरदान दिया और उसके प्रभावसे वे एक गुफामें दीर्घ निद्रामें सो रहे थे। श्रीकृष्ण छल करके पीछा करनेवाले कालयवनको उस गुफामें ले गये। कालयवनने राजा मुचुकुन्दको भ्रमसे श्रीकृष्ण मानकर पैरोंसे मारा और उनकी दृष्टिमात्रसे जलकर भस्मकी ढेरी हो गया। मुचुकुन्दने भगवान्का स्तवनकर दूसरे जन्ममें जातिस्मरता और मोक्षप्राप्तिका वरदान प्राप्त किया।

> इत्युक्तः प्रणिपत्येशं जगतामच्युतं नृपः।
> गुहामुखाद्विनिष्क्रान्तः स ददर्शाल्पकान् नरान्॥
> ततः कलियुगं मत्वा प्राप्तं तप्तुं नृपस्तपः।
> नरनारायणस्थानं प्रययौ गन्धमादनम्॥
> (विष्णुपुराण ५। २४। ४-५)

राजा मुचुकुन्दने गुहासे बाहर आकर देखा कि दूसरे मनुष्य उनकी अपेक्षा बहुत छोटे आकारके हैं, और समझा कि कलियुगका आरम्भ हो गया है।

महाभारतके वनपर्वमें भी हनुमान्-भीम-संवादमें युग-भेदसे तेज, शक्ति और आकारके ह्रासकी बात आयी है।

पाश्चात्त्य विद्वानोंने आर्षशास्त्रोंके दीर्घ युग-परिमाण तथा पूर्वयुगके मानव-देहकी अत्यधिक उच्चताको लेकर कई जगह बड़ी हँसी उड़ायी है। इसका कारण यह है कि वे लोग Old Testament बाइबलके विश्वासी हैं। और बाइबलके मतसे पाँच हजार वर्षसे कुछ पूर्व पृथ्वीकी सृष्टि हुई थी।

आधुनिक क्रम-विकासवाद तथा जड-विज्ञानके प्रमाणके सामने हमें मौन हो जाना पड़ता है, और स्वभावतः हम शास्त्रवाक्योंकी सत्यताके विषयमें सन्देह करने लगते हैं।

परंतु अब अनुसन्धानके फलस्वरूप बाइबलकी सृष्टि-कथा पूर्णतया काल्पनिक प्रमाणित हो गयी है। बल्कि ऐसे और भी बहुतेरे नये तथ्योंका उद्घाटन हो रहा है, जिनसे निश्चयपूर्वक प्रमाणित होता है कि प्राचीन कालमें मानव और अन्य जीवोंके शरीर बहुत बड़े आकारके थे, और वे क्रमशः छोटे होते जा रहे हैं।

भारतमें शवदाहकी प्रथा सदासे चली आती है। इस कारणसे यहाँ प्राचीन कङ्कालोंका प्राप्त होना बहुत कठिन है। तथापि बीच-बीचमें कहीं-कहीं कङ्काल मिल जाते हैं।

ह्वेनसांगका वर्णन

सप्तम शताब्दीमें प्रसिद्ध चीनी परिव्राजक ह्वेनसांगकी भारत-भ्रमणकी कथासे शास्त्र-पुराणोंकी बातकी ही पुष्टि होती है। उसने 'कुरुक्षेत्र' को धर्मक्षेत्र (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः) के नामसे वर्णन किया है। कुरुक्षेत्रके युद्धके सम्बन्धमें उसने जो विवरण दिया है, उसके प्रामाणिक न होनेपर भी बादमें लिखा है कि—

सम्पर्कमें आकर बहुत-से लोग ईश्वरकी सत्तामें सन्देह करने लगे हैं।

परमेश्वर सर्वशक्तिमान् हैं, वे ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त विशाल सृष्टिकी रचना, पालन और संहार करते हैं। फिर वे क्या वानरके स्थानमें मनुष्यकी रचना नहीं कर सकते? दो वृक्षके पत्ते—यही क्यों, घासके दो तिनके कभी एक-से नहीं रचे गये। एक बूँद जलके बीच भी असंख्य जीव रहते हैं, जो केवल अणुवीक्षण-यन्त्रकी सहायतासे देखे जाते हैं।

आर्ष-शास्त्रोंमें मनुष्यका एक विशिष्ट स्थान, बल्कि प्राधान्य है; क्योंकि चतुर्दश भुवनोंमें एकमात्र पृथ्वी ही कर्मक्षेत्र है और मानव-शरीर ही एकमात्र कर्म करनेका साधन है। दूसरे सभी लोक भोगभूमियाँ हैं, और दूसरे सारे शरीर (यहाँतक कि देवशरीर भी) भोगशरीर हैं। उनमें तथा उनके द्वारा मुक्तिके उद्देश्यसे कोई कर्म नहीं होते। अतएव मनुष्य भगवान्‌की सृष्टिका श्रेष्ठ जीव है, नर-देह अत्यन्त दुर्लभ है। देवताको भी मुक्तिके लिये धराधाममें आकर मनुष्यदेह ग्रहणकर जन्म लेना पड़ता है।

हमलोगोंके लिये सामान्य ज्ञान लेकर तथा दो अक्षर अंग्रेजीके पढ़कर भारतके प्राचीन इतिहास और शास्त्र-सिद्धान्तको अवहेलनाकी दृष्टिसे देखना या उसकी हँसी उड़ाना उचित नहीं है। जगत्-पूज्य महर्षिगण केवल थोथी गल्प-रचना, भला किस उद्देश्यसे करते?

आज जो अनुसन्धान हो रहे हैं, उनसे पाश्चात्य अन्वेषकोंके मतसे भी निःसन्देह सिद्ध हो रहा है कि प्राचीन कालसे मानवदेह क्रमशः छोटा होता आ रहा है, तथा आजसे दस लाख वर्ष पूर्व भी सभ्य मानवका पृथ्वीपर अस्तित्व था। इससे शास्त्रोंमें जो युगभेदसे क्रमशः सब विषयोंमें अवनतिकी बात लिखी है, वह सर्वथा सत्य सिद्ध होती है।

प्रशान्त महासागरके देशोंमें हिंदू-संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

इस महासागरके एक ओर चीनका विशाल प्राचीन देश है और दूसरी ओर अमेरिकाका महाद्वीप, जो आधुनिक संस्कृतिका द्योतक है। इन दोनोंके बीच, इसकी गोदमें, हजारों छोटे-बड़े द्वीप हैं। इन सबमें तरह-तरहकी संस्कृतियोंके नमूने देखनेमें आते हैं। परंतु इधर जो खोज हुई है, उससे पता लगता है कि इनमें सबसे प्रधान हिंदू-संस्कृति थी, जिसका प्रभाव उन देशोंके इतिहास तथा जीवनपर पूरी तरह पड़ा है। यहाँ कई हिंदू-राज्योंका उत्थान और पतन हुआ, जिनका स्मरण दिलानेके लिये आज भी जहाँ-तहाँ कितने ही चिह्न मिलते हैं। प्रायः लोगोंकी धारणा है कि बौद्धमतके प्रचार तथा विस्तारके साथ भारतसे बाहरके देशोंमें हिंदू-संस्कृतिका सूत्रपात हुआ; परंतु इन देशोंकी संस्कृतिके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि यह मत भ्रान्त है। बौद्धोंके प्रभावसे बहुत पहले यहाँ विशुद्ध हिंदू अर्थात् 'वैदिक संस्कृति' के चिह्न पाये जाते हैं। जैसे-जैसे इतिहासके इस पृष्ठपर खोजका प्रकाश पड़ता जा रहा है, वैसे ही हमारी आँखोंके सामने 'बृहत्तर' अर्थात् 'विशाल' भारतका चित्र स्पष्ट होता जाता है। इन देशोंमें वैदिक संस्कृतिके जो चिह्न प्राप्त हुए हैं, संक्षेपमें हम यहाँ क्रमसे उन्हींको दिखलानेका प्रयत्न करेंगे।

चीन

अपने यहाँके इतिहास-पुराणोंमें चीनकी चर्चा अति प्राचीन कालसे मिलती है। वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्डमें सुग्रीवने जब वानरोंको विभिन्न देशोंमें सीताजीको खोजनेका आदेश दिया, तब उन्होंने उसमें चीनका भी नाम लिया है—

चीनान्परमचीनांश्च निहारांश्च पुनः पुनः।
अन्विष्य दरदांश्चैव हिमवन्तं तथैव च॥

महाभारतमें भी कई स्थानोंपर चीन तथा चीनियोंका उल्लेख मिलता है—

यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः।
(शान्ति० ६५ । १३)

विष्णुपुराणमें भी कहा गया है—

प्रियङ्गवो ह्युदाराश्च कोरदूषाः सचीनकाः।
(१ । ६ । २१)

मनुने यवन, शक, किरात, चीनी आदिकोंको 'आचार-भ्रष्ट क्षत्रिय' बतलाया है—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥

'डार्विन-सिद्धान्तके अनुगामी बंदरको मनुष्यका पूर्व-पुरुष मानते हैं। इसको प्रमाणित करनेके लिये दोनोंके मध्यवर्ती ऐसे एक जीवकी आवश्यकता है, जिसमें इन दोनों-की विशिष्टता पायी जाय। परंतु यह अदृश्य योगसूत्र पाया नहीं जाता। अतएव परवर्ती कालमें बहुतेरे प्राणि-विज्ञान-वेत्ता विश्वास करने लगे कि मनुष्य और वानर एक साधारण पूर्वपुरुषसे प्रायः एक ही कालमें पैदा हुए थे। परंतु इस युक्तिका समर्थन करनेवाले प्रमाण भी नहीं पाये जाते।

१९३०-३५ ई० के बीच, दक्षिण अफ्रिकाके नृतत्त्व-विद् मि० लीकी घोषणा करते हैं कि उन्होंने केनियामें दस लाख वर्ष पुराने नर-कङ्कालका पता लगाया है। परंतु दूसरे अन्वेषक लोग इस प्राचीनताको स्वीकार नहीं करते।

परंतु सम्प्रति आक्सफोर्डके शरीर-तत्त्वके एक अध्यापक-ने दक्षिण अफ्रिकाकी एक गुफामें कुछ प्राग्-ऐतिहासिक शिलीभूत हड्डियोंको खोदकर निकाला है। उन्होंने इनका नाम दिया है—'ऑस्ट्राइपिथेकस्'। और वे भी इनके प्रायः उतने ही प्राचीनत्वका दावा करते हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि लाखों वर्ष पूर्व भी पृथ्वीपर पुरुष-स्त्री थे, वे गलेको पीछे करके सीधे होकर चलते थे, बंदरकी तरह नहीं। वे खेती करते थे, कपड़े पहनते थे और आजकलकी प्राचीन जातियोंके समान व्यवहार करते थे। तथापि उनको ऑस्ट्राइ-पिथेकस् और वानरके बीचमें, खोज करनेपर भी, किसी सम्पर्क-का पता न लगा।'

यवद्वीप (जावा) और चीनदेशमें नवीन खोज

यूनाइटेड स्टेट्स अमेरिकासे प्रकाशित होनेवाले 'लाइफ' (Life) पत्रके १९४६ ई० के २८ अक्टूबरके अङ्कमें जो निबन्ध प्रकाशित हुआ है, उसका भावानुवाद यहाँ दिया जाता है। इससे पूर्णतः प्रमाणित होता है कि पूर्वकालमें मनुष्य-शरीर बड़े आकारका था और क्रमशः छोटा होता जा रहा है।

'फॉन कोनिग्स्वाल्ड एक प्राणितत्त्ववेत्ता हैं। वे विगत द्वितीय महायुद्धके पूर्व स्विस् गवर्नमेंट और कार्नेगी इन्स्टी-च्यूशनकी ओरसे यवद्वीप (जावा टापू) में गवेषणा करते थे।

and behaving more or less as primitive tribes behave today. Moreover he cannot discover any kinship between Austraipithecus and the ape."
—The Statesman, February, 1947.

वहाँ खुदाईके फलस्वरूप उनको प्राचीन कालके नर-कपालका एक टुकड़ा मिला। उसके बृहद् आकार और परिमाणसे जान पड़ता है कि चार लाख वर्षसे प्राचीन 'जावा मैन' (Pithecanthropus Erectus) के कङ्कालकी अपेक्षा भी ये प्राचीन हैं। इसका नामकरण हुआ है—पिथेकन्थ्रोपस् रोबस्टस् (Pithecanthropus Robustas)।

इसके अतिरिक्त उनको एक बड़े जबड़ेका टुकड़ा मिला था। वह अनुमानतः ४॥ लाखसे ५ लाख वर्ष पुराना होगा। इस जातिके मनुष्यका नाम रक्खा गया है—मेगन्थ्रोपस (Meganthropus)। इसके चित्रसे जान पड़ता है कि वह आधुनिक मनुष्यकी करोटीसे ड्योढ़ा या दुगना बड़ा होगा।

कोनिग्स्वाल्डने चीनमें हांगकांग और कैंटन नगरोंकी औषधकी दूकानोंसे इसकी अपेक्षा भी अधिक प्राचीन तीन दाँत प्राप्त किये हैं। चीनमें इस प्रकारके प्राचीन दाँतोंसे वीर्यवर्द्धक औषध तैयार की जाती है। और दाँत क्यांग्सि प्रदेशकी गुहासे पाये गये हैं। फोटोसे जान पड़ता है कि आधुनिक मनुष्यके दाँतसे इनकी लंबाई-चौड़ाई अन्ततः दुगुनी है। अबतक इनकी अपेक्षा प्राचीन नर-अस्थिका कहीं पता नहीं लगा है। इस मनुष्यका नाम रक्खा गया है—जिगेंटोपिथेकस् (Gigantopithecus)। यह सम्भवतः ४½ से ५ लाख वर्ष पुराना होगा।

पिथेकान्थ्रोपस् इरेक्टस्से लेकर जिगेंटोपिथेकस्पर्यन्त जो नर-कङ्कालके अवशेष पाये गये हैं, उनमें परवर्तीकी अपेक्षा पूर्ववर्ती क्रमशः अधिक बड़ा और भारी है।*

डारविनका क्रम-विकासवाद भ्रान्तिमूलक है

अबतक आधुनिक खोजोंके बारेमें जो कुछ कहा गया है, उससे डारविनके क्रमविकासवादकी सत्यताके सम्बन्धमें घोर सन्देह होता है। फलतः यह क्रम-विकासवाद भारतीय शास्त्रोंके सिद्धान्तोंके बिल्कुल विपरीत है। यद्यपि डारविनने भगवान्-को अस्वीकार नहीं किया, फिर भी उनके नवीन सिद्धान्तके

* Each type, from Pithecanthropus Erectus back to Gigantopithecus is larger, more massive and more primitive than the one before it. If Weidenreich is right, man's earliest known ancestor is Gigantopithecus, a huge creature perhaps twice the size of a modern Gorilla. (Life, October 28, 1946, p. 10)

और अप्सरा मेराने, जिसे उन्होंने शिवके प्रसादसे प्राप्त किया था, यहाँ सूर्यवंशका प्रसार किया। 'बाकसेई चामक्रोम' शिलालेखमें इसका वर्णन इस तरह किया गया है—

स्वायम्भुवं नमत कम्बुमुदीर्णकीर्ति
यस्यार्कसोमकुलसंगतिमाप्नुवन्ति ।
सत्सन्ततिः सकलशास्त्रतमोऽपहन्त्री
तेजस्विनी मृदुकरा कल्याभिपूर्णा ॥

अर्थात् कम्बु स्वायम्भुवकी प्रतिष्ठा करो, जो उत्कृष्ट महिमासे युक्त हैं और जिनका विश्रुत वंश सूर्यवंश और चन्द्रवंशमें सम्बन्ध पैदा करके सम्पूर्ण शास्त्रोंके अन्धकारको दूर करता है। इन्हीं कम्बुकी प्रजा 'कम्बुज' और उसीसे देश 'काम्बोज' कहलाया। ऊपर उद्धृत श्लोकमें मनुने भी 'कम्बोजों' का उल्लेख किया है। महाभारत 'शान्तिपर्व' में भी बतलाया गया है—

'पौण्ड्राः पुलिन्दारभटाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः।'

आधुनिक इतिहासकारोंने इन घटनाओंका काल ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दी माना है। तबसे लेकर चौदहवीं शताब्दीतक यहाँ हिंदुओंका शासन बना रहा। यहाँके राजा 'वर्मा' की उपाधि धारण करते थे, वे लोग भी शैव थे। साथ ही वैष्णव मतका भी प्रचार था। दोनोंका सम्मिश्रण 'हरिहर' की उपासनामें किया गया। सातवीं शताब्दीमें यहाँ बौद्धधर्मका प्रवेश हुआ और हिंदू-राजाओंने अपनी विख्यात उदारताके अनुसार इस मतको भी राज्यका संरक्षण प्रदान किया। कई नगरोंमें इन राजाओंने विशाल मन्दिर बनवाये थे। प्रसिद्ध नगर अङ्कोरमें, जिसका प्राचीन नाम 'यशोधारपुर' था, एक बड़ा भारी मन्दिर था, जो टूटी-फूटी हालतमें अब भी मौजूद है। इसके चारों ओर एक परिखा है, जो लगभग ७०० फुट चौड़ी है। इसको पार करनेके लिये सात सिरवाले नागके आकारके खंभोंपर ३६ फुट चौड़ा सेतु है। चार कोनोंपर १८० फुट ऊँची चार बुर्जें हैं। मन्दिरकी दीवारोंपर अप्सराओं और देवी-देवताओंके बड़े सुन्दर चित्र बने हुए हैं। सम्भवतः यह पहले विष्णु-मन्दिर था। अब हीनयान बौद्ध-मन्दिर बन गया है। देशभरमें यत्र-तत्र कितने ही शिलालेख मिले हैं, जो संस्कृतमें हैं और उनकी लेखनशैली साहित्यिक है। छठी शताब्दीके एक लेखमें बतलाया गया है कि ब्राह्मण सोमशर्माने एक स्थानपर रामायण, महाभारत और पुराणोंके प्रतिदिन पाठ चलते रहनेका प्रबन्ध किया। आज भी यहाँके राजमहलमें 'इन्द्रकी तलवार' रक्खी है, जिसकी रक्षा बड़ी सावधानीसे की जाती है। उत्सवोंपर उसका जुलूस बड़ी धूम-धामसे निकाला जाता है।

थाइलैंड

यह देश जो कम्बोडियाके पश्चिममें है, कुछ दिन पहले 'श्याम' के नामसे प्रसिद्ध था। इसका प्राचीन नाम 'द्वारावती' है। यहाँका प्राचीन इतिहास अभीतक पूर्णरूपसे नहीं प्राप्त हुआ है। ईसवी सन्‌की पाँचवीं तथा छठी शताब्दियोंके जो लेख मिले हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वैदिक धर्म और 'हीनयान बौद्धमत' दोनों ही उन दिनों प्रचलित थे। आजकल यद्यपि राजधर्म बौद्धमत ही है, तथापि रीति-रिवाजोंमें हिंदू-धर्मकी बहुत कुछ छाया दीख पड़ती है। यहाँके राजा रामचन्द्रके अवतार माने जाते हैं और उनका नाम भी प्रायः 'राम' पर होता है। राजा छठे रामने 'अयुधिया' (अयोध्या) नामक नगरको राजधानी बनाया। उत्तरी श्याममें 'लपबुरी' (लवपुरी) प्रसिद्ध नगर है, जिसके एक मन्दिरमें विष्णु, लक्ष्मी और कई ऋषियोंकी मूर्तियाँ हैं। सुखोदय और स्वर्गलोक नामक नगरोंमें भी कुछ मन्दिर हैं। यहाँकी आधुनिक राजधानी 'बैंकाक' में जो प्रधान बौद्धविहार है, उसके चाँदीके फाटकपर रामायणके दृश्य अङ्कित हैं। देशमें विकृतरूपसे रामायणकी कथाका भी प्रचार है। सन् १९२४ में प्रकाशित 'श्याम' नामक पुस्तकमें ग्रैहमने लिखा है कि यहाँ बारह-तेरह वर्षके बालकोंका एक संस्कार होता है, जिसमें शिखा-मुण्डन प्रधान है। उनकी रायमें यह संस्कार हिंदुओंके उपनयनसे बहुत मिलता है। वहाँ मुसल्मानोंतकमें इसकी चाल है। सन् १९४१ में प्रकाशित अपनी 'थाइलैंड' नामक पुस्तकमें स्वामी श्रीसदानन्दजीने भी इसपर प्रकाश डाला है।

मलाया प्रायद्वीप

यह पतला-सा प्रायद्वीप एशियाका सबसे दक्षिणी भाग है, जो महासागरमें घुसा हुआ है। 'मलय' शब्दसे मलाया बना हुआ है। 'वायुपुराण' में छः द्वीपोंके नाम दिये हैं, जिनमें मलयद्वीपका नाम भी आता है। यहाँ ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दीसे हिंदुओंका पता लगता है। एक चीनी इतिहाससे ज्ञात होता है कि छठी शताब्दीमें यहाँ एक राज्य था, जिसमें संस्कृत भाषा प्रचलित थी। यहाँ 'कटाह' नामका भी किसी समय एक राज्य था। पुराणोंमें 'कटाहद्वीप'-का वर्णन भी आया है। केडाह (कटाह) नामकी छोटी-सी

कौटिल्यने भी अपने 'अर्थशास्त्र' में चीनके रेशमका उल्लेख किया है—

तया कौशेयं चीनपट्टाश्च चीनभूमिजा व्याख्याताः ।

ईसाके ५०० वर्ष पूर्व यहाँ 'ता-ओ' मतका बहुत प्रचार हुआ, जिसके प्रवर्तक लओ-त्से माने जाते हैं। 'ता-ओ' शब्द निर्विकार निरुपाधिक परमतत्त्वका द्योतक है । यह परम्परागत शिक्षा अद्वैत-वेदान्तसे बहुत मिलती है। इसका मार्ग निवृत्ति या वैराग्य है । 'ता-ओ' के मूल-ग्रन्थ 'यो-किङ्ग' की रचना ईसासे ३४६८ वर्ष पूर्व मानी जाती है। इसमें सृष्टिके उत्पादनके लिये दो तत्त्व बतलाये गये हैं—'याङ्ग' (लिङ्ग) और 'यीन' (योनि), जिनसे अभिप्राय पुरुष और प्रकृतिसे है। इसमें चार युगोंकी भी चर्चा आयी है। इसके समकालीन ही कनफ्यूशस (कोङ्ग-त्से या कुङ्ग मुनि)-का सम्प्रदाय है, जिसमें प्रवृत्तिमार्गपर जोर दिया गया है और पितरोंका पूजन तथा उनमें श्रद्धा मुख्य उपासना बतलायी गयी है । इस सम्प्रदायके उपदेशोंपर वैदिक सनातनधर्मका प्रभाव प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। मानवसमाजके कल्याणसाधनके लिये भगवान् मनुके सारगर्भित उपदेशोंपर ही इनकी शिक्षा अवलम्बित है । व्यवहारके लिये इसमें मुख्य सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि 'किसीके साथ ऐसा बर्ताव न करो, जो तुम अपने लिये नहीं चाहते ।' यह तो—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।'

—का अनुवादमात्र है । हिंदू-स्त्रीकी तरह प्राचीन शैलीके अनुसार चीनी स्त्रीका भी यही कर्तव्य है कि वह बाल्यकालमें माता-पिता, विवाह हो जानेपर पति और विधवा होनेपर अपने पुत्रोंके अधीन रहे। मनुने भी यही बतलाया है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

'दि बर्थ आफ चाइना' (चीनका जन्म) नामक अपनी पुस्तकमें डा० क्रील लिखते हैं कि प्राचीन चीनियोंके रीति-रिवाज और उपासनाओंमें वैदिक प्रतीकों और यज्ञोंकी झलक दिखलायी पड़ती है । सरदारोंके लिये चीनमें 'मण्डारिन' शब्दका प्रयोग होता है, जो 'मंत्रिन्' शब्दका विकृत रूप जान पड़ता है । बौद्धमतका प्रवेश तो वहाँ ईसासे दो सौ वर्ष पहले हुआ, जैसा कि अब प्रायः सभी विद्वान् मानने लगे हैं। इस तरह चीनमें प्राचीन वैदिक संस्कृतिका ही पता लगता है ।

हिंदचीन

यह प्रदेश चीनके दक्षिणमें है । इसका आधुनिक 'अनाम' प्रान्तका प्राचीन नाम 'चम्पा' था। बहुत कालतक यह प्रदेश हिंदुओंके अधीन रहा। यहाँके हिंदू-नरेश अपनेको 'श्रीमार' के वंशज कहते थे, जिसका काल ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दी माना जाता है। इन्द्रवर्मन द्वितीयके एक शिलालेखमें, जो ७५७ शक-संवत्‌का है, बतलाया गया है कि प्रथम राजा ओजको स्वयं शिवने यहाँ भेजा। शिलालेखमें एक 'विचित्रसगर' का नाम आता है, जो द्वापरयुगके ५९११ वें वर्षमें बतलाया गया है। चौथी शताब्दीमें यहाँ मुख्य चार राज्य थे—कौठार, पाण्डुरङ्ग, विजय और अमरावती या इन्द्रपुरी । 'अनाम' की प्राचीन गाथाओंमें बतलाया गया है कि 'चम्पा' के प्राचीन निवासी वानरोंकी सन्तान हैं और इस सम्बन्धमें रामायणकी कथा संक्षेपमें दी हुई है। उन लोगोंका विश्वास था कि रामायणकी घटना चम्पामें ही हुई थी। यहाँके राजालोग शिवके उपासक थे। शिवकी मूर्ति तथा लिङ्ग दोनों रूपमें पूजन प्रचलित था। शिवके साथ शक्ति-उपासना भी चलती थी। इन देवताओंके अब भी यहाँ कितने ही विशाल मन्दिर टूटी-फूटी हालतमें मिलते हैं । यहाँके साहित्यमें रामायण, महाभारत, शिवपुराण, लिङ्गपुराणकी बहुत-सी कथाएँ आयी हैं । सिद्धान्तरूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य—ये चारों वर्ण माने जाते थे; परंतु व्यवहारमें ब्राह्मण, क्षत्रिय—इन दोका ही उल्लेख आता है। यहाँके हिंदू-नरेशोंका इतिहास डा० मजूमदारने सन् १९२७ में प्रकाशित अपने 'चम्पा' नामक ग्रन्थमें दिया है।

कम्बोडिया

इसके दक्षिण-पूर्वमें आधुनिक 'कम्बोडिया' देश है। यह भी पहले हिंदू-राज्य था और इसका नाम 'काम्बोज' था। यहाँके हिंदू राजवंशके सम्बन्धमें कई कथाएँ प्रसिद्ध हैं । कहा जाता है कि कौण्डिन्य नामक एक ब्राह्मणने, जिसको द्रोणपुत्र अश्वत्थामासे एक भाला प्राप्त हुआ था, यहाँ आकर नागकन्या सोमासे विवाह किया। उसीसे राजवंश चला। दूसरी अनुश्रुतिके अनुसार इन्द्रप्रस्थके राजा आदित्यवंशने अपने एक पुत्रको क्रुद्ध होकर देशसे निकाल दिया। उस राजकुमारने यहाँ आकर नागपुत्रीसे विवाह किया, जिससे राजवंशकी उत्पत्ति हुई। यह राजा अपनेको चन्द्रवंशी मानता था। इस राजघरानेका सम्बन्ध सूर्यवंशसे भी माना गया है। इस विषयकी ऐसी कहावत है—महर्षि कम्बु, स्वायम्भुव

''यहाँके प्राचीन निवासी 'वटप' जातिके लोगोंने उच्च धार्मिक विचार भारतसे सीखे थे।'' बौद्ध मूर्तियोंके साथ ही यहाँ भी हिंदू-मूर्तियाँ मिलती हैं। आसपासके देशोंमें पहलेसे ही हिंदू-धर्मका प्रचार था। ऐसी दशामें अनुमान यही होता है कि बौद्धमतका प्रवेश यहाँ बादमें ही हुआ और 'श्रीविजय' तथा 'शैलेन्द्र' सम्राटोंका संरक्षण पाकर वह सुमात्राका प्रधान मत बन गया।

फिलिपाइन

बोर्नियोसे फिर उत्तरकी ओर बढ़नेपर फिलिपाइन द्वीपसमूह मिलता है, जिसमें छोटे-बड़े मिलाकर लगभग छः सौ द्वीप हैं। यहाँ अतिप्राचीन कालसे हिंदू-संस्कृतिके चिह्न मिलते हैं। सन् १९२८ के 'फिलिपाइन मैगजिन' में प्रो० बेयर लिखते हैं कि 'यहाँके आभूषणों, रीति-रिवाजोंको देखते हुए मेरा यह निश्चित मत है कि यहाँकी संस्कृतिका आदिस्रोत भारत है।' सन् १९१९ में प्रकाशित 'पीपल्स आफ दि फिलिपाइन' नामक पुस्तकमें प्रो० क्रोबरका कहना है कि 'यहाँके धार्मिक विचार, रीति-रिवाज, नाम, शब्द, लेखन-शैली, कला-कौशल आदिपर हिंदू-प्रभाव प्रत्यक्ष है। यहाँके लोग ग्रहणका कारण राहुको मानते हैं और दिनके पाँच विभाग महेश्वर, काल, श्री, ब्रह्मा और विष्णुके नामसे करते हैं।' यहाँकी भाषा 'तगलॉग' में संस्कृत-शब्दोंकी भरमार है। तवेरा नामके एक विद्वान्ने ऐसे शब्दोंकी सन् १८८४ में एक तालिका तैयार की थी, जिसमेंके कुछ शब्द इस प्रकार हैं—अन्तल=अन्तर, असा=आशा, वंग्सी=वंशी, मनुसिया=मनुष्य, मुकस=मोक्ष, पलिभाषा=परिभाषा, पाप=पाप, कोस=कोष, वानी=वाणी, सन्दन=चन्दन, सील=शील, सिन्ता=चिन्ता, यम्बू=जम्बू। यहाँ भी कितने ही हिंदू देव-देवियोंकी मूर्तियाँ मिली हैं। कुछ प्राचीन लेख भी प्राप्त हुए हैं। विद्वानोंका मत है कि ईसवी सन्की पहली शताब्दीसे ही यहाँ हिंदू-प्रभावका पता लगता है। कुछ दिनोंतक फिलिपाइन जावा तथा बोर्नियोके हिंदू-राज्योंके अधीन रहा था। जब इसपर स्पेनका अधिकार हुआ, तब वहाँके लोगोंने प्राचीन-संस्कृतिके बहुत-से चिह्नोंको नष्ट कर डाला। जो कुछ अभी बचा हुआ है, श्रीहेरीके शब्दोंमें उससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'यहाँके निवासी अपनी प्राचीन संस्कृतिके लिये राष्ट्रोंकी माता—भारत—के ऋणी हैं।' सन् १९३० में प्रकाशित 'फिलिपाइन और भारत' नामक पुस्तकमें डा० रायने इस विषयपर अच्छा प्रकाश डाला है। (कहते हैं कि यहाँकी राजसभामें कानूनोंके आदि निर्माताके रूपमें 'मनु'का चित्र लगा है।)

जापान

यह 'सूर्योदयका देश' है। यहाँ बौद्धधर्मका प्रवेश ईसवी सन्की पाँचवीं शताब्दीमें हुआ। परंतु इसके बहुत पहलेसे यहाँ वैदिक धर्मके चिह्न मिल रहे हैं। जापानियोंके सामाजिक जीवन और रीति-रिवाजोंमें भी हिंदू-धर्मका प्रभाव झलकता है। यहाँ सूर्यकी उपासना मुख्य है, परंतु सूर्यको एक देवी माना जाता है। जापानी सम्राट् अपनेको 'सूर्यपुत्र' बतलाते हैं। यहाँका प्राचीन धर्म 'शिन्तो' है। इसमें पितृपूजन और राजभक्ति प्रधान है, जो वैदिक सनातन धर्मकी देन है। वंश-परम्परा पुरुषसे ही चलती है। गोद लेकर या जिस तरहसे भी हो; पुरुष-वंश चलाते रहना प्रत्येकका कर्तव्य है। जापानियोंकी मुख्य तीन प्राचीन श्रेणियाँ हैं—'सिनबेत्सु' (देवपुत्र अर्थात् ब्राह्मण), 'क्वत्वोबेत्सु' (राजवंश अर्थात् क्षत्रिय) और 'बेनबत्सु' (विदेशी)। सरदारश्रेणीके लिये 'समुराई' शब्दसे भी समरसे सम्बन्ध होनेके कारण क्षत्रियोंका ही अनुमान होता है। 'शिन्तो' धर्ममें 'अश्वमेध' के ढंगका एक यज्ञ भी होता था। यहाँके प्रधान 'ईसी-मन्दिर' में 'अरणी' द्वारा अग्नि उत्पन्न की जाती है और अग्निका बराबर पूजन होता है। इस तरह यहाँकी भी संस्कृतिमें वैदिक संस्कृतिके चिह्नोंकी बहुलता है।

अमेरिका

प्रशान्तसागरकी पूर्वी सीमापर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका है। यहाँके प्राचीन निवासी 'लाल भारतीय' (रेड इण्डियन) के जीवन और उनकी प्राचीन संस्कृतिके अध्ययनसे अब कई पाश्चात्य विद्वान् भी मानने लग गये हैं कि यहाँ किसी समय हिंदू-संस्कृतिका पूरा जोर था। इन लोगोंका सामाजिक जीवन बहुत कुछ भारतीयोंसे मिलता है। पहले उनके यहाँ भी स्त्रियोंके सती होनेकी चाल थी। मरनेपर प्रायः अग्निसंस्कार किया जाता था। सूर्यकी सर्वत्र उपासना होती थी। दक्षिणी अमेरिकामें कई जगह शिवलिङ्ग भी मिले हैं। गणेश-पूजन और नाग-पूजनकी भी चाल थी। ग्रहण लगनेपर वे भी स्नान, दान करते थे। एक प्रकारकी वर्ण-व्यवस्था अब भी उनमें प्रचलित है। वे भी मुख्य चार युग मानते हैं और समयका विभाग वर्ष, दिन आदिमें करते हैं। गिनती भी हिंदू-ढंगसे लिखी जाती है। इनके प्रमाणोंका श्रीचमनलालने 'हिंदू-अमेरिका' नामक पुस्तकमें अच्छा संग्रह किया है।

पहाड़ी है। उसपर एक टूटा हुआ मन्दिर पाया गया है, जिसमें दुर्गा, गणेश और नन्दीकी मूर्तियाँ मिली हैं। सन् १९२७में केम्ब्रिजसे प्रकाशित अपनी एक रिपोर्टमें श्रीइवान्सने लिखा है कि इससे यह सिद्ध होता है कि वहाँके प्राचीन निवासी हिंदू थे। डा० वेल्सकी राय है कि किसी समय इस प्रदेशमें हिंदुओंका पूरा प्रभाव अवश्य रहा होगा। आज भी 'श्रीथमरात' में ब्राह्मणोंकी कुछ बस्तियाँ हैं। रामायणका 'हिकायत सेरी राम'के नामसे यहाँ भी प्रचार है। जावा, सुमात्रा, श्याम आदि हिंदू-राज्योंसे इसका बहुत सम्बन्ध रहा। अभीतक क्रमबद्धरूपमें इसका प्राचीन इतिहास उपलब्ध नहीं हुआ है।

मलक्का

यह मलय प्रायद्वीपका दक्षिणी भाग है। इसके भी प्राचीन इतिहासका पता नहीं है; परंतु पुर्तगाली अल्बुकर्कके दिये हुए विवरणोंसे पता लगता है कि उन दिनों यहाँका राजा 'परमीसुरा' (परमेश्वर) था, जिसने जावाकी राजकुमारीके साथ विवाह किया था। यह कुछ कालतक सिंगापुरमें, जिसका प्राचीन नाम 'तुमासिक' था, भी रहा था। कहा जाता है कि परमेश्वरने ही इस द्वीपका नाम 'मलक्का' रखा था, जो जावाकी भाषाका शब्द है और जिसका अर्थ है 'मिलनेका स्थान'। पंद्रहवीं शताब्दीमें मुसल्मानोंका इसपर आधिपत्य हुआ, जिनसे पुर्तगालियोंने इसको छीन लिया। सन् १९३४ में प्रकाशित 'मलायाके इतिहास' में श्रीविन्सेंट लिखते हैं कि 'हिंदुओंके समयमें विद्वानोंका सम्मान होता था, धर्मका प्रचार था; परंतु मुसल्मान शासकोंको लड़ाई-झगड़ों और स्त्रियोंसे ही अवकाश न मिलता था।' चीनी लेखक है-यूका कहना है कि सन् १५३७ तक यहाँके लोग देवनागरी अक्षरोंका प्रयोग करते थे। विन्सेंटके अनुसार जोहोर, तेराक्की रियासतोंके सुल्तान अपने नामके आगे 'श्री' लिखते हैं। 'ब्रिटिश रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल' की संख्या ६१ में श्रीविलकिंसन लिखते हैं कि 'आज भी सरकारी भवनकी सीढ़ियोंपरसे एक पहाड़ीपर मकरकी मूर्ति दिखायी देती है, जो उस समयका स्मरण दिलाती है जब यहाँका राजा हिंदू था।'

सुमात्रा

'सुवर्णभूमि' या 'सुवर्णद्वीप' का उल्लेख अपने यहाँके प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुत आता है। वाल्मीकिरामायणके 'किष्किन्धाकाण्ड' में यह नाम भी आया है—

सुवर्णरूप्यकं चैव सुवर्णकरमण्डितम्।

'महाभारत, वनपर्व' में भी कहा गया है—

ततो गच्छेत्सुवर्णाख्यं त्रिपु लोकेपु विश्रुतम्।

कौटिल्यने भी अपने 'अर्थशास्त्र' में लिखा है कि स्वर्णभूमिमें उत्पन्न होनेवाला चन्दन चिकना और पीला होता है—

कालेयकः स्वर्णभूमिजः स्निग्धपीतकः।

'कथासरित्सागर' की कई कथाओंमें 'सुवर्णद्वीप' का नाम आया है। बौद्धजातकोंमें भी इसकी चर्चा है। यह कहना बड़ा कठिन है कि यह 'सुवर्णद्वीप' कहाँ है। ईसवी सन्की दूसरी शताब्दीमें लिखे हुए अपने भूगोलमें सिकन्दरियाके 'तोलेमी' ने 'क्राइसकोरा' द्वीपका उल्लेख किया है, जिसका अर्थ होता है—'सुवर्णद्वीप'। अरब लेखक अलबेरूनीने लिखा है कि 'जावज' द्वीपको हिंदूलोग 'सुवर्णद्वीप' कहते हैं। इससे तथा चीनियोंके वर्णनसे आधुनिक विद्वानोंका यह अनुमान है कि जावा, सुमात्रा, मलय आदिमेंसे ही किसीका नाम सुवर्णद्वीप है। डा० मजूमदारने ढाकासे १९३६ में प्रकाशित 'सुवर्णद्वीप' नामक पुस्तकमें इन सब मतोंपर विचार किया है और उनका कहना है कि सुमात्राको ही 'सुवर्णद्वीप' मानना ठीक है। यहाँ सोना भी निकलता है। सम्भव है इस ओरका द्वीपसमूह ही 'सुवर्णद्वीप' के नामसे प्रसिद्ध हो। वर्तमान सुमात्राद्वीप मलय प्रायद्वीपके दक्षिणमें है। कुछ मुसल्मान लेखकोंने इसका 'समुद्र' नामसे भी उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दीके चीनी लेखोंमें पहले-पहल सुमात्राके 'श्रीविजय' राज्यका वर्णन मिलता है। अरबोंने इसका नाम 'सरीबुज' दिया है। किसी समय 'श्रीविजय' एक विशाल साम्राज्य था, जिसमें सुमात्रा, जावा, मलय और श्याम भी शामिल थे। परंतु इस साम्राज्यका मूल स्थान कहाँ था, इसपर विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। उन्हीं दिनों 'शैलेन्द्र' साम्राज्यका भी पता चलता है। कुछ विद्वान् 'श्रीविजय' और 'शैलेन्द्र' दोनोंको एक ही मानते हैं, कुछ अलग-अलग। ये दोनों विषय अभी विवादग्रस्त हैं; परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि किसी समय इस द्वीपसमूहमें एक विशाल हिंदू-साम्राज्य था, जिसका चौदहवीं शताब्दीमें अन्त हुआ। बतलाया जाता है कि 'श्रीविजय' के शासक 'हीनयान' बौद्धमतके अनुयायी थे। परंतु जान पड़ता है कि बौद्धमत प्रवेश होनेके पहले यहाँ भी हिंदू-धर्मका प्रचार था। श्रीलेयव लिखते हैं कि

लोगोंमें शवको जलानेकी साधारण प्रथा थी; किंतु विशेष स्थितिके लोगोंको जलाया नहीं जाता था। वे विशेष प्रकारकी समिधाओंमें रख दिये जाते थे। यह स्मरण कर लेनेकी बात है कि हिंदू-समाजमें भी साधु-संन्यासी तथा महामारी आदिसे मरे व्यक्ति जलाये नहीं जाते। राजाओंका दाह-संस्कार बड़ी धूम-धामसे होता था। उसमें बहुत-सी विधियाँ की जातीं। इन विधियोंसे हिंदुओंकी उस सोमपायी श्रोत्रिय विप्रोंकी दाह-विधिका स्मरण आता है, जो अब भारतमें भी प्रायः लुप्त हो चुकी है। शवदाहके दूसरे दिन हिंदुओंकी भाँति ही मेक्सिको-के लोग भी अस्थि-चयन करते थे। यहीं यह स्मरण रखने-की बात है कि मेक्सिकन जातिमें सती होनेकी प्रथा थी। मृत व्यक्तिकी विधवा स्त्रियोंमें जिनकी इच्छा होती, वे मृत पुरुष-के साथ चितामें जल जातीं। राजाके शवके साथ अवश्य कुछ स्त्रियाँ जलती थीं। लेकिन स्त्रियोंके लिये जलना आवश्यक नहीं था। जो मृत व्यक्तिके साथ नहीं जलती थीं, उन्हें अपना शेष जीवन हिंदू-विधवाओंकी भाँति स्वेच्छापूर्वक अत्यन्त सादगी, संयम तथा कठोर तपस्याके नियमोंको पालन करते हुए व्यतीत करना पड़ता था।

यों तो अमेरिकाके प्रायः सभी भारतीय संस्कार ईसाई धर्मके प्रभावसे अब नष्ट हो चुके हैं, किंतु अब भी वे अपनी पुरानी मृतक-श्राद्ध-प्रथाको किसी-न-किसी रूपमें बनाये हुए हैं। वहाँ वर्षमें एक दिन 'सर्व-आत्मा-दिवस' मनाया जाता है। इस दिन सभी मृतात्माओंके लिये प्रार्थना की जाती है। उनके निमित्त अनेक प्रकारके व्यञ्जन बनाकर सहभोज होता है।

अन्त्येष्टि-संस्कारकी भाँति जन्म एवं विवाह-संस्कार भी अमेरिकामें हिंदुओंके संस्कारोंसे मिलते हुए ही थे। वहाँ सम्मिलित परिवारकी प्रथा थी। वहाँके लोग विशाल परिवार-की कामना करते थे। पुत्रोत्पत्तिके समय देवपूजन, प्रसूतिका-गृहमें अग्नि-स्थापन और एक प्रकारकी बालककी शुद्धिक्रिया प्राचीन अमेरिकन करते थे, जो नान्दीमुख श्राद्धसे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। यह हो जानेपर ज्योतिषी आकर बालकके भावी जीवनके सम्बन्धमें भविष्यवाणी कहते थे। यह जन्म-कुण्डली बनाने-जैसी प्रथा थी। जन्मदिनके पीछे नाम-करण होता था।

प्राचीन मेक्सिकोमें वर्तमान यूरोपीय प्रणयालापका सर्वथा अभाव था। विवाहका पूरा उत्तरदायित्व वर एवं कन्याके माता-पितापर था और वे ही उनका सम्बन्ध निश्चित करते थे। इस प्रकारके विवाहमें सबसे प्रथम एवं आवश्यक कार्य था ज्योतिषीको बुलाकर यह ज्ञात करना कि यह सम्बन्ध मङ्गल-दायक होगा या नहीं। ज्योतिषीकी अनुकूल सम्मति होनेपर ही सम्बन्ध निश्चित होता था। यह प्रथा हिंदुओंको छोड़ विश्वकी और किसी जातिमें नहीं है; वर-कन्याकी कुण्डली देखकर सम्बन्ध निश्चित करना हिंदुओंकी ही विशेषता है। विवाहके कार्यमें मेक्सिकोके लोगोंकी कुछ प्रथाएँ हिंदुओंकी प्रथाओंसे अभिन्न हैं। विवाहके पूर्व चार दिनोंतक वर एवं कन्याको वहाँ ओषधियोंके जलसे स्नान कराया जाता था। विवाहके समय वर-वधूका ग्रन्थि-बन्धन (दोनोंके दुपट्टे-के छोर एकमें बाँध देना) होता था। विवाहके उपरान्त वर जब वधूको लेकर घर आता, तब चार दिनोंतक दोनों संयमसे रहते और इस समय विभिन्न देवताओंकी उनसे पूजा करायी जाती। आज भी मेक्सिकोमें माता-पिताकी अनुमति विवाहसे पूर्व आवश्यक मानी जाती है।

मेक्सिकोके प्राचीन निवासियोंमें पुरुषका एकसे अधिक स्त्रियोंसे विवाह करना बुरा नहीं माना जाता था। राजाओंकी अनेक रानियाँ होना वहाँ साधारण बात थी। हिंदू-समाजकी भाँति वहाँ भी स्त्रियाँ सम्मान्य मानी जाती थीं, किंतु उनका स्वतन्त्र रहना या घरसे कहीं भी अकेले जाना उचित नहीं माना जाता था। स्त्री घरसे पति, पिता, भाईके साथ ही कहीं जा सकती थी। आज भी मेक्सिकोकी स्त्रियाँ अपरिचित पुरुषसे मिलना या बोलना पसंद नहीं करतीं। आज भी बाजारमें जाते समय उन्हें किसी वृद्धा स्त्री या सेवकके साथ-की आवश्यकता होती है। यद्यपि अब ये बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं, फिर भी रात्रिमें मेक्सिकोकी कोई साधारण नारी घरसे बाहर तबतक नहीं निकलेगी, जबतक परिवारका कोई व्यक्ति साथ न हो।

एक स्पैनिश लेखकका कहना है कि 'मेक्सिकोमें पहले युवक शीघ्र विवाहित हो जाते थे।' इस प्रकार वहाँ भारतके समान बाल-विवाहकी प्रथा भी थी। स्त्री गृहस्वामिनी होती थी और घरके सब कार्य वही करती थी। वहाँ स्त्री यदि कोई उग्रतर अपराध न करे तो अवध्य मानी जाती थी और स्त्री तथा बालकका वध एवं उन्हें अकारण दण्ड देना बहुत निन्दनीय माना जाता था।

मेक्सिकोमें राज्याभिषेक हिंदू-समाजकी भाँति ही बड़ी धूम-धामसे और विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न होता था। वहाँ राज्यका अधिकारी मृत नरेशका ज्येष्ठ पुत्र ही माना जाता था। उस समय राज्याभिषेकका पूरा कृत्य पुरोहितपर निर्भर करता

अमेरिकामें हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीव्रजभूषणजी शु० भट्ट)

यदि रहन-सहन, दर्शन-ज्ञान, शिक्षा-प्रणाली, जन्म और मृत्युसंस्कार, सतीप्रथा, आत्माके परलोक-गमनमें विश्वास, अग्नि प्रकट करना आदि मेक्सिकोकी अनेकों प्रथाओंको देखें तो वे भारतीय प्रथासे बहुत कुछ एकता रखती हैं और सिद्ध करती हैं कि निःसन्देह अमेरिका अपनी संस्कृतिके लिये भारतका ऋणी है। अमेरिकामें यूरोपीय जातिद्वारा वहाँकी मूल जातिके संस्कार तथा दूसरे चिह्न निर्दयतापूर्वक मिटा दिये गये हैं; परंतु जो स्पेननिवासी वहाँ प्रथम पहुँचे थे, उनमेंसे अनेकने वहाँकी स्थितिका वर्णन किया है। उन विद्वानोंके वर्णनका संक्षिप्त सार देनेसे यह सिद्ध हो जायगा कि अमेरिकाके मूल निवासी किस प्रकार भारतीय आचार-विचारका अनुसरण करते थे।

मध्य-अमेरिकाकी माया जाति, दक्षिण-अमेरिकाकी इन्का जाति और मेक्सिकोकी आस्तिक जाति—इन तीनोंकी शिक्षा-प्रणाली पूर्णतः हिंदुओंकी ऋषिकुल-शिक्षा-पद्धतिके समान थी। यह शिक्षा पुरोहितद्वारा दी जाती थी। बालक अपने घरोंसे पुरोहितके यहाँ भेज दिये जाते थे और वे वहीं रहते थे। उनका सबसे बड़ा कर्तव्य पुरोहितकी सेवा माना जाता था। उनका अधिकांश समय धार्मिक कृत्योंमें व्यतीत होता था और उन्हें कठोर नियन्त्रणमें रहना पड़ता था। बालकोंको ब्राह्ममुहूर्तमें उठना पड़ता और स्नानकी स्वच्छताके पश्चात् 'मग्वी विन्दुओं' (मेक्सिकन सोम) को एकत्र करने जाना पड़ता। स्नानके पश्चात् अघमर्षण-क्रियाएँ करते। इस प्रकार पुरोहितके यहाँ बालकोंको उनके वर्ग (जाति) के अनुसार भिन्न-भिन्न शिक्षा प्राप्त होती। बालक वहाँ बौद्धिक विकास, पुराण-पाठ, धार्मिक यज्ञ, अग्नि-रक्षण, युद्धकला आदिकी शिक्षा प्राप्त करते थे। सामरिक शिक्षणके विद्यापीठ पृथक् थे और उनमें सामन्त-पुत्र ही लिये जाते थे। यहाँ अनुशासन अत्यन्त कठोर रहता था। दूसरी शिक्षाओंके साथ यहाँ शारीरिक शिक्षणपर विशेष ध्यान रक्खा जाता था।

प्राचीन अमेरिकन सदाचार एवं सत्यके दृढ़ भक्त थे। स्पेनवासी वहाँ जाकर वहाँके लोगोंके उच्च आचार-विचार एवं असत्यसे घृणा देखकर स्तम्भित हो गये। फ्रेडरिक टॉमसनका कहना है—'यहाँके लोगोंकी धार्मिक भावना और असत्यसे घृणा देखकर स्पेनके लोग आश्चर्यमें पड़ गये। अभाग्यसे दोनों सभ्यताओं (अमेरिका और स्पेन) के सम्पर्कने स्थानीय विधानको शीघ्र बौद्धिक ह्रासकी सीमापर पहुँचा दिया।'

सत्य और आचारकी रक्षाके लिये वहाँ बहुत ही कठोर नियम बने थे। मर्यादा-भङ्गपर जो दण्ड दिये जाते थे, उनको देखकर भारतीय स्मृतियोंके कठोर दण्ड-विधान स्मरण आ जाते हैं।

अमेरिकामें स्थान-स्थानपर देवमन्दिर थे। अनेक बार माता-पिता रोगी बालकको मन्दिरमें चढ़ा देते या पुरोहितको भेंट कर देते। इस प्रकार भेंट किया हुआ बालक देवताका सेवक माना जाता। उसे पूरा जीवन कठोर नियमोंका पालन करते हुए देव-सेवामें बिताना पड़ता था। वहाँ भारतकी भाँति देवदासी प्रथा थी। मन्दिरमें उपहृत कुमारियाँ अनेक कठोर नियमोंका पालन करतीं। उनका मुख्य कर्तव्य अग्नि-रक्षण था। वे दिनमें एक समय भोजन करतीं। छोटे केश रखतीं। विवाहसे पूर्वतक इस प्रकार सभी लड़कियोंको मन्दिरकी सेवा करनी पड़ती। वहाँ उनके आचारका अत्यन्त कठोरतासे रक्षण होता। यदि कोई युवक उनसे बातचीत करनेका प्रयत्न भी करता तो उसे तत्काल प्राणदण्ड दे दिया जाता।

स्पेनके इतिहासज्ञ कहते हैं कि नित्य भोजनसे पूर्व प्रत्येक मेक्सिकोवासी अन्नका एक भाग लेकर उसे अग्निमें आहुति देता था। अपने सुखमय जीवनके लिये यह अग्निदेवताको कृतज्ञतापूर्वक दिया गया उपहार माना जाता था। इसी प्रकार युद्धसे पूर्व युद्धोद्यत सैनिकोंके एकत्र हो जानेपर पुरोहितद्वारा अग्नि प्रज्वलित की जाती और हवन करनेपर आक्रमण प्रारम्भ हो जाता।

मेक्सिकोके लोग भारतीयोंकी भाँति ही मृत्युके पश्चात्के जीवनमें विश्वास करते थे। वे भारतीय धारणाके अनुरूप ही युद्धमें मृत व्यक्तिकी श्रेष्ठ गतिमें विश्वास करते थे। ऐसे मृत पुरुषकी शव-यात्रामें हर्ष मनाया जाता था। वे आत्माके अमरत्व और पुनर्जन्मको मानते थे। भारतीय देवयान एवं पितृयान-गतियोंके समान ही जीवकी गति और उसके ले जानेवाले देवतादिकी भी उनकी एक अपनी मान्यता थी। वे इन्द्रदेवता और उनके स्वर्गमें विश्वास करते थे और पापी जीवकी यमलोककी कष्टमय यात्राको भी वे मानते थे। मेक्सिकोके

शिव-पार्वती (बर्मा थातोन्में प्राप्त)
ईस्वी नवम शताब्दीकी मूर्ति

चीनी तुर्किस्तानके खण्डहरमें प्राप्त
महेश्वरका चित्र

ईरानका शिव-मन्दिर